॥श्रीः॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१३०

श्रीमद्भिषग्भूषणभावमिश्रप्रणीतः

भावप्रकाशः

'विद्योतिनी'-नामिकया भाषाटीकया संवलितः

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

वाराणसी

6-4

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१३०

श्रीमद्भावमिश्रप्रणीत

भावप्रकाशः

सविवरण 'विद्योतिनी' हिन्दीव्याख्यापरिशिष्टसहितः

व्याख्याकारः

भिषग्रत्न श्री ब्रह्मशङ्कर शास्त्री

विवरणकारः

वनस्पतिविशेषज्ञः

श्री रूपलाल जी वैश्यः

प्रथम भाग (पूर्वार्द्धम्)

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा प्रचारक

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० ११३९

जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी–२२१००१ (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

मुद्रक : श्रीगोकुल मुद्रणालय, वाराणसी

संस्करण : सप्तम् वि० सं० २०४७

मूल्य : रु० २००-००

© चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

इस ग्रन्थ के परिष्कृत तथा परिवर्धित मूल पाठ एवं टीका, परिशिष्ट आदि के सर्वाधिकार प्रकाशक के अधीन हैं।

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्भा विश्वभारती

पो० बाक्स नं० १०८४

चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)

वाराणसी-२२१००१ (भारत)

फोन : ५४७६६

THE

KASHI SANSKRIT SERIES

130

*****

BHĀVAPRAKĀŚA

OF

ŚRĪ BHĀVA MIŚRA

Edited with

The 'Vidyotinī' Hindī Commentary, Notes and Appendix

By

ŚRĪ BRAHMAŚAṄKARA MIŚRA

AND

ŚRĪ RŪPALĀLAJĪ VAIŚYA

(Specialist in Botany)

(First Part)

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature

P. O. Chaukhambha, Post Box No. 1139

Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane

VARANASI–221 001 (INDIA)

© *Chaukhambha Sanskrit Sansthan, Varanasi*

Phone : 65889

Seventh Edition : 1990

Also can be had of—

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI

Post Box No. 84

Chowk (Opposite Chitra Cinema)

VARANASI–221 001

Phone : 65444

Printers :

SRIGOKUL MUDRANALAYA

Gopal Mandir Lane

Varanasi–221 001

प्राक्कथन

ग्रन्थ-प्रयोजन

इस लोक में धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इस पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति शरीर के द्वारा ही होती है। अतः शरीर को निरन्तर स्वस्थ रखना मानव का प्रथम कर्तव्य होता है। कहा भी है :—

धर्मार्थकाममोक्षाणां मूलमुक्तं कलेवरम्।
तच्च सर्वार्थसंसिद्ध्यै भवेद्यदि निरामयम्॥

शरीर को स्वस्थ रखने के लिये आयुर्वेद का ज्ञान परमावश्यक है। आयुर्वेद के द्वारा आयु के लिए हिताहित द्रव्यों का ज्ञान, रोगों का निदान तथा रोगों को दूर करने का ज्ञान प्राप्त होता है। कहा भी है :—

आयुर्हिताहितं व्याधेर्निदानं शमनं तथा।
विद्यते यत्र विद्वद्भिः स आयुर्वेद उच्यते॥

आयुर्वेद की उत्पत्ति

आधुनिक काल के उपलब्ध मान्य ग्रन्थों के आधार पर यदि आयुर्वेद के उत्पत्तिकाल का निर्णय किया जाय तो आयुर्वेद को अनादि अपौरुपेय कहना ही उचित होगा। चरक ने भी कहा है :—

'सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्, स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्।'

ब्रह्मा ने विश्वसृजन में प्राणियों की उत्पत्ति के पूर्व ही आयुर्वेद की रचना की।

'अनुत्पाद्यैव प्रजा आयुर्वेदमेवाऽग्रेऽसृजत्' (सुश्रुत)

सृष्टि से पूर्व आयुर्वेद की रचना का उसी प्रकार संभव है जिस प्रकार शिशु की उत्पत्ति के पूर्व स्तन्य की उत्पत्ति हो जाती है। 'बालस्योत्पत्तेः पूर्वं स्तन्योद्गमनमिव सृष्टेः प्रथमत आयुर्विज्ञानं स्वरतोऽपि सम्भति।' (काश्यपसंहिता)

आयुर्वेद का विकास

आयुर्वेदोत्पत्ति के पश्चात् ब्रह्मा ने पार्थिवसृष्टि करने के साथ ही साथ प्राणियों को विविध रोगों से बचाने के लिए दक्षप्रजापति को सर्वप्रथम आयुर्वेद का

उपदेश दिया। तदनन्तर दक्षप्रजापति ने अश्विनीकुमारों को आयुर्वेद का सांगोपांग ज्ञान इस रूप से कराया कि अश्विनीकुमारों ने अपने नाम पर एक संहिता का निर्माण ही कर डाला, जिसे देखकर देवराज इन्द्र भी मुग्ध हो उठे और उन्होंने स्वयं अश्विनीकुमारों से आयुर्वेद का अध्ययन किया।

इन्द्र से महर्षि आत्रेय और आत्रेय से अग्निवेश, भेल, जतुकर्ण, पराशर, क्षारपाणि तथा हारीत नामक ऋषियों ने आयुर्वेद की शिक्षा ग्रहण की और उन्होंने आयुर्वेद में पारंगत होकर अपने-अपने नाम से पृथक्-पृथक् विविध ग्रन्थों की रचना भी की। उपलब्ध विभिन्न संहिता ग्रन्थों में कुछ हेर-फेर के साथ प्रायः यही अवतरणक्रम निर्दिष्ट किया गया है। शल्यकर्म प्रधान ग्रन्थों में केवल सुश्रुतसंहिता तथा कायचिकित्सा के ग्रन्थों में चरकसंहिता, हारीतसंहिता एवं खण्डित रूप में भेलसंहिता और बालतन्त्र का विशेष तन्त्र 'काश्यपसंहिता या वृद्धजीवकीय तन्त्र उपलब्ध हैं। वास्तव में इनमें अधिकांश मौलिक न होकर प्रतिसंस्कृत एवं उत्तरकालीन भावों से प्रभावित हैं। अग्निवेश तन्त्र अब चरक प्रतिसंस्कृत रूप में—चरकसंहिता के रूप में—अधिक प्रसिद्ध है।

आचार्य चरक के पश्चात् महर्षि सुश्रुत का काल है। सुश्रुत विश्वामित्र के पुत्र थे। उन्होंने काशिराज दिवोदास, जो धन्वन्तरि के अवतार माने जाते थे, उनसे आयुर्वेद का अध्ययन कर 'सुश्रुत' नामक ग्रन्थ की रचना की। सुश्रुत ने अपने ग्रन्थ में शल्य-शालाक्य की चिकित्सा पर विशेष ध्यान दिया है। अतः सुश्रुत ग्रन्थ शल्य शालाक्य चिकित्सा के लिए अधिक प्रसिद्ध है।

आचार्य चरक और सुश्रुत के पश्चात् वाग्भट का काल प्रारम्भ हुआ। महाभारत के समय में आचार्य वाग्भट महाराज युधिष्ठिर के प्रधान चिकित्सक थे, ऐसा कुछ लोगों का कहना है। उस समय वाग्भट ने चरक और सुश्रुत के रचित ग्रन्थों के आधार पर 'अष्टांगहृदय' नामक ग्रन्थ रचा। 'अष्टांगहृदय' की महत्ता सूत्रों के लिए अधिक है। अतः समकक्ष होने से चरक, सुश्रुत और वाग्भट ये तीनों 'वृद्धत्रयी' कहे जाते हैं।

वाग्भट के पश्चात् उत्तरोत्तर माधवाचार्य, भावमिश्र (प्रस्तुत ग्रन्थकार), शार्ङ्गधर आदि आचार्यों का काल हुआ।

आचार्य भावमिश्र

भावमिश्र काशी के निवासी थे। आपके पिता का नाम लटकन मिश्र था। सन् १५५० ई० के लगभग में पुर्तगीजों के भारतवर्ष में पदार्पण करने के बाद आपने चिकित्सासम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रस्तुत भावप्रकाश ग्रन्थ का निर्माण किया।

इसमें आपने फिरंग आदि नवीन व्याधियों का विस्तृत वर्णन करके उसकी आयुर्वेदिक चिकित्सा में उस युग के प्रचलित ओषधि चीनी मूल को चोपचीनी के नाम से व्यवहृत किया है। किं बहुना, अभी तक प्राचीन ग्रन्थों में जिन द्रव्यों का वर्णन नहीं पाया जाता था, उनका भी आपने शास्त्रीय नाम देकर वैद्यक चिकित्सा में बरतने का महत्त्वपूर्ण प्रथम प्रयास किया है, जिससे आयुर्वेद में आपका एक बहुत बड़ा प्रमुख स्थान है।

कई ओषधियों का जैसे, बदक्शानी नास्पाती, खोरासानी और पारसीक वचा, सुलेमानी, खजूर, अहिफेन और कपूर आदि का आपने इस ग्रन्थ में नया योग दिया है।

पञ्चम संस्करण

इस संस्करण का संपादन तथा परिष्कार डा० गंगासहाय पाण्डेय ए० एम० एस०, भूतपूर्व अध्यापक—काशी हिन्दूविश्वविद्यालय ने अधिक परिश्रम और मनोयोग से किया है। पाण्डेय जी की लौहलेखनी से इस बार तो निघण्टु भाग का कलेवर ही बदल गया है। अल्प मूल्य में निघण्टु भाग छात्रों को सुलभ हो इस उद्देश्य से निघण्टु भाग का पृथक् संस्करण भी निकाला गया है।

निघण्टु भाग की विशेषता

प्रस्तुत संस्करण में विमर्श का आद्योन्त परिष्कार, अद्यतन वनौषधि अनुसंधान साहित्य का अन्तर्भाव एवं प्रत्येक वनस्पति का यथाशक्ति असंदिग्ध परिचय देने की चेष्टा की गई है। उन वनस्पतियों के शास्त्रोक्त विशिष्ट आमयिक प्रयोगों का भी यथास्थल उल्लेख किया गया है। संस्कृत के मूल श्लोकों का हिन्दी अनुवाद, भेषज द्रव्यों के भिन्न भारतीय भाषाओं में प्रचलित सही नाम, उनके अंग्रेजी व लैटिन के स्वीकृत नाम, वनस्पतियों के उत्पत्ति स्थान, उनका विशिष्ट परिचय, रासायनिक संगठन आदि का यथाशक्ति सही सही वर्णन दिया गया है। संदिग्ध एवं विवादास्पद स्थलों में विभिन्न विद्वानों के विचार एवं मतभेद के आधार के उल्लेख की चेष्टा की गई है। आशा है विद्वान् वैद्य, चिकित्सक, अध्यापक तथा छात्रों को इस संस्करण से विशेष लाभ होगा।

—ब्रह्मशङ्कर शास्त्री

साङ्केतिक-विवरण

अं०	अंग्रेजी
अ०	अरबी
अफ०	अफगानी
आसा०	आसामी
इरा०	इरानी
उ (डि)०	उडिया
उ० प्र०	उत्तर प्रदेश
क०	कर्नाटक
क० अ०	कल्पस्थान अध्याय
कश्मी०	कश्मीर
काठी०	काठियावाड
कुमा०	कुमाऊं
कों०	कोंकणी
खासि०	खासिया
गढ०	गढवाल
गु०	गुजराती
गो०	गोवा
ग्रा०	ग्राम
च०	चरक
चि०	चिकित्सास्थान
ता०	तामिल
तु०	तुलु
ते०	तेलगु
द०	दक्षिण
ध० नि०	धन्वन्तरीय निघण्टु
ने०	नेपाली
पं०	पंजाबी
पहा०	पहाड़ी
पाठा०	पाठान्तर
फा०	फारसी
बं०	बंगाली
बंब०	बंबई
भोटि०	भोटिया
म०	मराठी
मल०	मलयालम
मा०	मारवाड़ी
मि० ग्रा०	मिली ग्राम
मि०मि०	मिलीमीटर
मुंगे०	मुंगेर
यू०	यूनानी
र०	रत्ती
रा नि०	राजनिघण्टु
रा० पु०	राजपुताना
लि०	लिपचा
ले०	लेटिन
सं०	संस्कृत
सन्ता०	सन्ताल
सिं०	सिन्धी
सिलो०	सिलोनी
सु०	सुश्रुत
सू०	सूत्रस्थान
हि०	हिन्दी
Fam.	Family
Syn.	Synonym (पर्याय)

संक्षिप्त विषयसूची

प्रथम भाग

(१) आयुर्वेदप्रवक्तृप्रादुर्भाव प्रकरण — पृष्ठ

आयुर्वेद की निरुक्ति तथा प्रादुर्भाव। १–९

(२) सृष्टि प्रकरण

सृष्टिक्रम, प्रकृतिस्वरूपनिर्णय, प्रकृति-पुरुष का साधर्म्य–वैधर्म्य, सात्त्विक–राजस–तामस–प्रकृति के लक्षण, सप्तविध प्रकृतिस्वरूप निरूपण। ९–१९

(३) गर्भ प्रकरण

रजस्वला का स्वरूप, नियम तथा कर्तव्याकर्तव्य। गर्भावतरणक्रम। गर्भस्थ स्त्री, पुरुष वा नपुंसक सन्तान के लक्षण, निदान तथा वातादि दोषत्रय का स्वरूपनिरूपण, एवं गर्भस्थ सन्तान के रस–रक्त–मांस–मेदादि के वृद्धिक्रम तथा लक्षण आदि का विशद वर्णन, प्रसवमास की संख्या, सूतिकागृहनिर्माणप्रकार तथा आसन्नप्रसवा का लक्षण। २०–९५

(४) बाल प्रकरण

सन्तानोत्पत्त्यनन्तर कर्तव्य, धातृस्वरूप वर्णन, शिशुपरिचर्या, वातादि-प्रकृतिक शिशुलक्षण। ९६–१०७

(५) दिनचर्यादि प्रकरण

आनूपादि देशनिरूपण, दिनचर्या, रात्रिचर्या तथा वसन्तादि षट् ऋतुओं का वर्णन। १०७–१५७

(६) मिश्र प्रकरण

रोग की साध्यासाध्यता, चिकित्सा, रोगी, वैद्य तथा दूत के लक्षण, आयु-विचार, दीर्घायु स्वल्पायु रोगी के लक्षण तथा औषध-परीक्षादि। १५८–१९९

निघण्टुभाग

	पृष्ठ		पृष्ठ
हरीतक्यादिवर्गः	३	वारिवर्गः	७४७
कर्पूरादिवर्गः	१७३	दुग्धवर्गः	७५९
गुडूच्यादिवर्गः	२६९	दधिवर्गः	७६७
पुष्पवर्गः	४७९	तक्रवर्गः	७७१
वटादिवर्गः	५१३	नवनीतवर्गः	७७४
आम्रादिफलवर्गः	५५०	घृतवर्गः	७७५
धातूपधातु-रसोपरस-रत्नोपरत्न-विषोपविषवर्गः	६०२	मूत्रवर्गः	७७८
धान्यवर्गः	६३५	तैलवर्गः	७७९
शाकवर्गः	६६३	सन्धानवर्गः	७८३
मांसवर्गः	७०५	मधुवर्गः	७८८
कृतान्नवर्गः	७२४	इक्षुवर्गः	७९२
		अनेकार्थनामवर्गः	७९८

द्वितीयभाग

(७) मानपरिभाषादिप्रकरण

	पृष्ठ		पृष्ठ
मानपरिभाषा	८०९	रोगि-परीक्षा	९१७
भेषजविधानप्रकरणम्	८१३	परिशिष्ट	
धात्वादिशोधन-मारणविधिः	८२४	अस्थियों के विषय में संक्षिप्त विवरण	९३७
स्नेहपानविधिः	८५६	अकारादिक्रमानुसार निघण्टुभागस्थित द्रव्यों के व्यवहारोपयोगी अंग तथा उनकी मात्राएँ	९५५
पञ्चकर्मविधिः	८६१		
धूमपानादिविधिः	८८८		

विषय सूची

१. आयुर्वेदप्रवक्तृप्रादुर्भावप्रकरण

आयुर्वेद का लक्षण १
आयुर्वेद की निरुक्ति ,,
आयुर्वेद का उत्पत्तिक्रम २

२. सृष्टिप्रकरण

ग्रन्थोपक्रम ९
प्रकृति के स्वरूपविशेष १०
प्रकृति-पुरुष के समान धर्म ११
प्रकृति-पुरूष के विभिन्न धर्म ,,
प्रकृति के नाम तथा गुण १२
सत्त्वगुण से युक्त मन ,,
रजोगुण से युक्त मन ,,
तमोगुण से युक्त मन १३
महत्तत्त्व की उत्पत्ति ,,
अहङ्कार की उत्पत्ति और भेद १४
त्रिविध अहङ्कार के कार्य ,,
बुद्धि और कर्मेन्द्रिय से मन की अभिन्नता ,,
बुद्धीन्द्रियों के विषय १५
कर्मेन्द्रिय और मन के विषय ,,
पंचतन्मात्रों की उत्पत्ति के विषय ,,
पंचमहाभूतों की उत्पत्ति १६
आकाश के गुण ,,
वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी के गुण ,,
आठ प्रकृतियों में पहिली प्रकृति १७
सप्त प्रकृतियाँ ,,
सोलह विकार १८
जीवात्मा के निवासस्थान ,,
जीवात्मा और शरीरी ,,
जीवविषयक गुण १९

३. गर्भप्रकरण

रजस्वला स्त्री के स्वरूप २०
गर्भग्रहण के योग्य समय ,,
रजस्वला स्त्रियों के नियम ,,
रजस्वल. को नियम पालन नहीं करने पर दोष ,,
स्नानोत्तर रजस्वला का कर्त्तव्य २१
रजस्वला के साथ सम्भोग निषेध ,,
स्त्री योनि की नाड़ियाँ और उसकी विशेषता २२
सम विषम रात्रियों में स्त्री संभोग का फल ,,
स्त्री सम्भोग का विधान ,,
स्त्री सम्भोग में अयोग्य पुरुष २३
स्त्री के लिये पुरुष सम्भोग का विधान ,,
सम्भोग के अयोग्य स्त्री ,,
रजस्वला के साथ सम्भोग निषेध ,,
गर्भस्थिति का क्रम ,,
गर्भाशय के स्वरूप २४
गर्भ में जीव के प्रवेश करने का प्रकार २५
गर्भाशय का द्वार बन्द होने का समय ,,
यमज सन्तान उत्पन्न होने का कारण ,,
पुत्र, पुत्री और नपुंसक सन्तान होने के कारण २६
सद्यः गर्भवती हुई स्त्री के लक्षण २७
गर्भवती के लक्षण ,,
पुत्रगर्भवती के लक्षण ,,
कन्यागर्भवती के लक्षण. २८
नपुंसक गर्भ के लक्षण ,,
नपुंसकों के भेद तथा लक्षण ,,
अनस्थि सन्तानोत्पत्ति के लक्षण ३०
सन्तानों में चेष्टादिभेद के कारण ३१
गर्भ के लक्षण ,,
हृदय के स्वरूप ३२
शरीरस्थ दोषों का स्वरूप ३४
दोष शब्द की निरुक्ति ,,
त्रिदोषों में वायु के स्वरूप ३५
वायुओं के नाम, स्थान तथा कर्म ३६
पित्त के स्वरूप ३७
पित्तों के नाम ,,
पाचकादि पित्तों के स्थान तथा कर्म ३८
श्लेष्मा का स्वरूप ४१
क्लेदनादि कफों के स्थान ४२

अवलम्बन, रसन, स्नेहन तथा श्लेषण नामक कफ के कर्म	४३
धातु शब्द की निरुक्ति	"
धातुओं के कार्य	"
रस धातु की निरुक्ति	"
रस के स्वरूप	४४
रस के स्थान, कर्म और स्वरूप	"
रक्त के स्थान	४५
मांस के स्वरूप	"
मांसपेशियाँ तथा उनकी संख्यायें	"
मांसपेशियों के कर्म	४७
मेद का स्वरूप और स्थान	"
हड्डियों के स्वरूप और संख्याएँ	४८
हड्डियों के प्रयोजन	४९
मज्जा के स्वरूप और स्थान	५०
शुक्र की उत्पत्ति	"
आमाशय का स्थान	"
कफ का स्वरूप	५१
ग्रहणी का लक्षण	५२
चरकोक्त पञ्चाग्नि का निर्देश	"
आहार से रसादि का निर्माण	५३
मूत्र और पुरीषोत्सर्ग में कारण	"
आहार रस का कार्य	"
ओज के लक्षण	५७
स्त्रियों का वीर्य विकृत गर्भ में कारण	५९
शरीर में आहार-रस का सञ्चार	"
वाजीकरण ओषधियों का प्रयोजन	६०
शुक्रवर्धक पदार्थ	६१
बालकों के अदृश्य शुक्र में कारण	"
वृद्धावस्था में शुक्रवृद्धि का ह्रास	"
शुक्र के स्वरूप	६२
जीव का आश्रय	"
गर्भ उत्पन्न करनेवाले शुक्र के लक्षण	"
शुक्र के स्थान	"
शुक्र के निकलने के मार्ग	"
शुक्र के क्षरण होने में कारण	६३
आर्त्तव के स्वरूप	"
गर्भग्रहण के योग्य आर्त्तव	"
धातुगुण-वर्णन	६४
धातुओं के मल	"
उपधातु का लक्षण	"
आशय के लक्षण	६५
वाग्भटोक्त आशयों का क्रम	"
कलाओं के स्वरूप	"
मर्मस्थल के लक्षण	"
मर्मों की संख्या तथा स्थान	६६
मर्मों के कार्य	"
सद्यःप्राणहरण करनेवाले मर्मस्थल	"
शृङ्गाटक मर्म	"
अधिपति कर्म	"
कण्ठशिरा या शिरामातृका मर्म	६७
हृदय मर्म	"
बस्ति मर्म	"
कालान्तर में प्राणहर मर्म	"
वक्षो मर्म	"
स्तनरोहित मर्म	६८
अपलाप मर्म	"
अपस्तम्ब मर्म	"
सीमन्त मर्म	"
तल मर्म	"
क्षिप्र मर्म	"
इन्द्रबस्ति मर्म	६९
बृहती मर्म	"
पार्श्वसन्धि मर्म	"
कटीकतरुण मर्म	"
नितम्ब मर्म	"
विकलता करने वाले मर्मस्थल	"
लोहिताक्ष मर्म	७०
आणि मर्म	"
जानु मर्म	"
उर्वी मर्म	"
कूर्च मर्म	"
विटप मर्म	"
कूर्पर मर्म	७१
कुकुन्दर मर्म	"
कक्षधर मर्म	"
विधुर मर्म	"
कृकाटिका मर्म	"
अंस मर्म	"
अंसफलक मर्म	"
अपाङ्ग मर्म	"
नीला और मन्या मर्म	७२

फण फर्म ७२
आवर्त्त मर्म „
गुल्फ मर्म „
मणिबन्ध मर्म „
कूर्चशिरा मर्म ७३
विशल्यघ्न मर्म „
उत्क्षेप मर्म „
स्थपनी मर्म „
सन्धियों के लक्षण तथा संख्या ७४
कोष्ठगत सन्धियाँ „
ग्रीवा तथा उसके ऊपर की सन्धियाँ „
आठ प्रकार की सन्धियाँ ७५
शिराओं का वर्णन ७६
सिराओं के भेद ७७
स्नायु के स्वरूप तथा संख्या ७९
धमनियों की संख्या और स्थान ८०
कण्डराओं के स्वरूप और स्थान ८३
रन्ध्रों की संख्या और स्थान „
स्रोतों के लक्षण „
जालों के लक्षण और संख्या „
कूर्चों के लक्षण और संख्या ८४
रज्जुओं के लक्षण और संख्या „
सेवनियों के लक्षण और संख्या „
सङ्घातों की संख्या „
सीमन्तों के लक्षण और संख्या ८५
त्वचाओं के लक्षण और संख्या „
रोम तथा रोमकूप ८६
प्रत्येक मास में गर्भ की अवस्था ८७
गर्भिणी की इच्छा विशेष ८८
गर्भ में अङ्गोत्पत्ति ८९
पितृज-मातृज शरीराकृति ९०
गर्भ के विशेष उपकारक „
गर्भवृद्धि के हेतु ९२
दृष्टिमण्डल तथा रोमकूपों का वृद्धिनिषेध „
नख और केशों की वृद्धि में हेतु „
शरीर में चेतन-अचेतन अङ्ग „
गर्भ में मलादि त्याग न करने में कारण ९३
गर्भस्थ सन्तान के रोदन न करने के कारण „
गर्भवती स्त्रियों के कर्म „
गर्भिणी के न करने योग्य कर्म „
प्रसव का समय ९४
प्रसूतिकागृह का स्वरूप ९४
आसन्नप्रसवा के लक्षण „
आसन्नप्रसवा के उपचार „
आसन्नप्रसवा की परिचायिका ९५
जनयित्री स्त्रियों के करने योग्य कर्म „
प्रसवव्यथा से रहित गर्भिणी के कांखने से वैगुण्य „

४. बालप्रकरण

बालक के जन्म होने के बाद की विधि ९५
प्रसूता स्त्री के नियम ९६
प्रसूता स्त्री के नियम पालन का समय „
दूध का स्वरूप „
स्तनों से दूध उतरने का समय „
दूध निकलने के कारण ९७
दूध के कम निकलने में कारण „
दूध के बढ़ने में कारण „
कमल नामक धान्यविशेष „
दूध के दूषित होने के कारण „
दूषित दूध के लक्षण ९८
दूषित दुग्ध की शोधन विधि „
शुद्ध दूध के लक्षण „
धात्री के लक्षण „
दूध पिलाने के अयोग्य धात्री ९९
बालकों को दूध पिलाने की विधि „
अविधि स्तनपान कराने का दोष „
स्तन्य के अभाव में गो अथवा बकरी के दुग्ध १००
अन्नप्राशन का समय „
बालक की परिचर्या „
बालकों के लिये हितकर १०१
बालकों के कवलादि करने का समय „
बाल्यादि अवस्थाओं की सीमा „
प्रकृतियों के लक्षण १०२
वात-कफ प्रकृति के लक्षण १०३
द्वन्द्वज प्रकृति के लक्षण „
वाग्भटोक्त वात-कफ प्रकृति के लक्षण १०४

५. दिनचर्यादि प्रकरण

देशों के भेद १०७
अनूप देश के लक्षण „
जांगल देश के लक्षण „
साधारण देश के लक्षण १०८

दिनचर्या १०८
स्वस्थ पुरुष का लक्षण ,,
दिनचर्या-विधि १०९
पुरीषोत्सर्ग के वेग को रोकने से हानि ,,
अधोवायु रोकने से हानि ,,
मूत्र के वेग को रोकने से हानि ,,
दातौन करने की विधि ११०
जीभ सफा करने की विधि १११
कुल्ला करने की विधि ११२
नस्य लेने की विधि ,,
अंजन लगाने की विधि ,,
अंजन लगाने के अयोग्य व्यक्ति ११३
नाखून और बाल बनवाने की विधि ,,
नाक के बाल उखाड़ने में दोष ,,
बालों में कंघी लगाने के गुण ,,
दर्पण में मुख देखने के गुण ,,
व्यायाम के गुण ,,
बलार्ध का लक्षण ११४
व्यायाम करने के अयोग्य व्यक्ति ,,
अत्यन्त व्यायाम से दोष ,,
तेल लगाने के गुण ,,
सर्वाङ्ग में तेल लगाने के गुण ११५
शिर में तेल लगाने के गुण ,,
कानों में तेल डालने के गुण ,,
कान में तेल डालने का समय ,,
पैरों में तेल लगाने के गुण ,,
शरीर में तेल लगाकर स्नान के गुण ,,
अभ्यङ्ग के अयोग्य जन ११६
उबटन लगान के गुण ,,
स्नान की विधि ,,
आँवला मिश्रित जल के गुण ११७
स्नान करने के अयोग्य जन ,,
स्नानोत्तर देह पोंछने के गुण ,,
वस्त्रधारण करने का विधान ,,
ग्रीष्म ऋतु में वस्त्रधारण विधान ,,
वर्षाऋतु में वस्त्रधारण विधान ,,
नवीन वस्त्रधारण करने के गुण ११८
मलिन वस्त्रधारण करने के दोष ,,
शीतकाल में प्रलेप के योग्य द्रव्य ,,
उष्ण काल में प्रलेप के योग्य द्रव्य ,,
वर्षाकाल में प्रलेप के योग्य द्रव्य ,,
प्रलेप के गुणं ,,
सुगन्धित पुष्प तथा पत्र धारण के गुण ११८
भूषण धारण करने के गुण ११९
रत्नों के धारण करने के गुण ,,
सूर्यादि नवग्रहों को प्रसन्न करनेवाले रत्न ,,
सुन्दर वस्त्रादि धारण करने के गुण ,,
सिद्ध मन्त्र, महौषधादि धारण के गुण ,,
भोजन समय मङ्गल वस्तु दर्शन के गुण ,,
मङ्गलप्रद वस्तु १२०
खड़ाऊँ धारण करने के गुण ,,
स्वाभाविक मानुषी इच्छा ,,
भोजन की इच्छा रोकने से हानि ,,
प्यास रोकने से हानि ,,
नींद रोकने से हानि ,,
भूख लगने पर भोजन न करने से हानि ,,
भूख लगने पर भोजन करने का गुण १२१
भोजन का समय ,,
प्रातःकालीन भोजन का समय ,,
भोजन का अनियमित समय ,,
आहार परिपाक के लक्षण ,,
भोजन करने योग्य स्थान १२२
भोजन के समय शुभाशुभ दृष्टि ,,
भोजन करने योग्य पात्र ,,
जलपात्र का विधान १२३
भोजन के समय सबसे पहले भोज्य वस्तु ,,
भोजन के समय ब्रह्मादि का स्मरण १२४
भोजन का क्रम ,,
स्वादु अन्न के लक्षण और गुण ,,
अत्यन्त गर्म, शीतल, सूखा और गीला भोजन करने से दोष १२५
अत्यन्त शीघ्रता तथा धीरे-धीरे अन्न खाने के दोष ,,
गुरु अन्न का भोजन निषेध ,,
छै प्रकार का आहार ,,
स्वभाव और संस्कार से गुरु तथा स्वभाव से लघु भोज्य पदार्थों के परिमाण १२६
शुष्कादि द्रव्यों के भोजन से दोष १२७
सत्तू खाने की विधि ,,
सत्तू खाने में वर्ज्य कर्म ,,
बहुत तथा कम भोजन करने के दोष १२८
असमय में भोजन करने के दोष ,,
भोजन का समय व्यतीत होने पर भोजन करनेसे दोष ,,

भोजन का प्रमाण १२८
भोजन के बीच में थोड़ा-थोड़ा जलपान ”
भोजन के आरम्भ, मध्य अथवा अन्त में जल पीने का फल १२९
प्यासे के लिये भोजन और भूखे के लिये जलपान का निषेध ”
भोजन के अन्त में दुग्धपान विधि ”
भोजनोपरान्त आचमन विधि १३१
भोजनोपरान्त कर्म ”
भोजनोपरान्त वातादि की वृद्धि १३२
भोजनोपरान्त कफवृद्धि का प्रतीकार ”
पान खाने का समय तथा गुण ”
सुपारी के गुण १३३
खैर, चूना युक्त पान के गुण ”
पान के अग्र तथा मध्य भागों का परित्याग न करने से दोष १३४
पान के दो पीक थूकने के बाद खाने का विधान ”
अधिक पान खाने के दोष ”
पान खाने के अयोग्य पुरुष ”
भोजन के बाद टहलने के गुण ”
भोजनोपरान्त शयन विधि ”
सर्वदा बायें करवट लेटने का विधान १३५
शय्या का विधान ”
शय्या के विषय में अन्य मत ”
शरीर दबवाने के गुण ”
धीरे तथा जोरों से बहती हुई वायु सेवन के गुण ”
पूर्वी वायुसेवन से गुण १३६
दक्षिणी-पश्चिमी वायु के गुणदोष ”
उत्तरी वायु के गुण दोष ”
आग्नेय, नैर्ऋत्य, वायव्य, ईशान तथा चौतरफ बहनेवाली वायु के गुण ”
पङ्खे की वायु के गुण १३७
दिन में सोने का निषेध ”
दिन में सोने योग्य जन ”
शयन, मर्दन आदि का गुण ”
उदर में अन्न के ठहरने के कारण १३८
खाये हुए अन्न के उदर में न ठहरने के हेतु ”
भोजन के बाद परित्याग करने के योग्य अन्यान्य कर्म ”
अजीर्ण होने के कारण १३८
अध्यशन के लक्षण १३९
प्रातःकाल अजीर्ण मालूम पड़ने पर भोजन का उपयाय ”
दिन में स्त्रीसम्भोग का निषेध ”
बैठे रहने, चलने तथा धीरे-धीरे टहलने के गुण १४०
पगड़ी, मुरेठा आदि धारण करने के गुण ”
जूता पहनने के गुण ”
जूता न पहने से अवगुण ”
छाता तथा दण्ड धारण करने के गुण ”
पालकी, नौका, हाथी और घोड़े की सवारी करने के गुण १४१
धूप तथा छाया सेवन के गुण ”
वर्षा तथा कुहेसा के सेवन के गुण ”
अग्नि तथा धूपसेवन के गुण ”
सत्पुरुषों के आचरण ”
सन्ध्या समय में वर्ज्य कर्म १४४
चाँदनी, ओस और अन्धकार के गुण ”
रात्रिभोजन का विधान ”
इच्छा होने पर मैथुन न करने से दोष ”
स्त्रियों की बालादि अवस्था का विचार १४५
बाला, तरुणी और प्रौढा स्त्रीसेवन समय ”
सद्यः बल उत्पन्न करने वाले पदार्थ ”
सद्यः बल को हरण करने वाले पदार्थ ”
तरुणी और वृद्धा स्त्रीसंभोग का फल ”
नियमपूर्वक स्त्रीसंभोग के गुण १४६
ऋतुभेद से स्त्रीसेवन का प्रकार ”
वसन्तादि ऋतुओं में स्त्रीसेवन के काल ”
ऋतुभेद से स्त्रीसेवन के समय ”
स्त्रीसम्भोग का निषिद्ध समय ”
स्त्रीसम्भोग करने योग्य स्थान ”
स्त्रीसम्भोग के अयोग्य स्थान १४७
स्त्रीसम्भोग करने के समय पुत्रार्थी पुरुषों का वेषादि ”
मैथुन करने के अयोग्य पुरुष ”
मैथुन के योग्यायोग्य स्त्री ”
रजस्वला के साथ सम्भोग निषेध ”
संन्यासिनी के साथ सम्भोग निषेध ”
गर्भिणी के साथ सम्भोग निषेध ”
भूखे प्यासे आदि होकर तथा मध्याह्न में स्त्रीसंभोग करने से दोष ”

रुग्णावस्था या प्रातःकालमें मैथुन निषेध १४९
पशु योनि में मैथुन निषेध ,,
वेगरोकने से या विपरीत मैथुन करने से दोष ,,
स्खलित होते हुये शुक्रके रोकनेका निषेध ,,
मैथुन करने के बाद हितकारक द्रव्य ,,
अत्यन्त मैथुन करने से होनेवाले रोग ,,
रात्रि में सोने तथा जागने के गुण-दोष ,,
सुखपूर्वक नींद आने के लिये औषध १५०
सूर्योदय के पूर्व जल पीने के गुण ,,
उषःकाल में नासा जलपान के गुण ,,
नासाजलपान में जल का परिमाण १५१
नासाजलपान के विशेष गुण ,,
नासाजलपान के अयोग्य जन ,,
ऋतुभेद और ऋतुचर्या ,,
दक्षिणायन तथा उत्तरायण के लक्षण १५२
ऋतुओं के गुण-दोष ,,
ऋतुभेद से दोषों के उपचयापचयादि ,,
अकाल दोषों की वृद्धि १५४
दोषों के चय होने के लक्षण ,,
वर्षा ऋतु के नियम १५५
शरद् ऋतु के नियम ,,
हेमन्त ऋतु के नियम १५६
शिशिर ऋतु के नियम ,,
वसन्त ऋतु के नियम १५७
ग्रीष्म ऋतु के नियम ,,
ऋतुचर्याओं का आचरण करने से लाभ ,,

६. मिश्रप्रकरण

रोग के लक्षण १५८
चार प्रकार के रोग ,,
व्याधियों के भेद ,,
कर्मज व्याधि ,,
दोषज व्याधि १५९
कर्म तथा दोष दोनों से उत्पन्न व्याधि ,,
कर्मजादि रोगों के क्षीण होने के कारण ,,
साध्यादि भेद से तीन प्रकार के रोग १६०
याप्य के लक्षण ,,
साध्य-याप्य रोगों से युक्त रोगी की आवश्यक चिकित्सा ,,
उपद्रव के लक्षण ,,
अरिष्ट के लक्षण ,,
चिकित्सा के लक्षण १६०
चिकित्सा की विधि १६१
बिना समझे चिकित्सा करने में दोष ,,
रोग तथा औषध दोनों का ज्ञान होने पर गुण १६२
चिकित्सा करने की पद्धति १६३
अतिरिक्त तथा हीन चिकित्साका निषेध ,,
परस्पर भिन्न स्वरूपवाली चिकित्साओं का एकत्र विधान १६४
चिकित्सा करने से फल ,,
धनियों से धन लेकर चिकित्सा का विधान १६५
निःशुल्क चिकित्सा कराने में दोष ,,
वैद्य की चिकित्सावृत्ति का प्रसार ,,
रोगी के लक्षण ,,
चिकित्स्य रोगी के लक्षण ,,
अचिकित्स्य रोगी के लक्षण १६६
अचिकित्स्य की चिकित्सा निषेध ,,
दूत के लक्षण १६७
दूत के शकुन विचार ,,
चिकित्सक के लक्षण ,,
निषिद्ध वैद्य के लक्षण १६८
वैद्य का कर्त्तव्य ,,
आगन्तुक हेतु १६९
रोगी के प्रथम आयु का विचार १७०
दीर्घायु रोगी के लक्षण ,,
स्वल्प आयुवाले रोगियों के लक्षण १७१
गतायु को ओषधि से लाभ नहीं होने के कारण १७३
चिकित्सा में द्रव्य की आवश्यकता १७५
रोगी की परिचर्या करनेवाले का लक्षण ,,
औषध के लक्षण ,,
औषध ग्रहण करने की परीक्षा ,,
औषध की परीक्षा १७८
स्वभावतः हितकारक द्रव्य १७९
स्वभावतः अहितकर द्रव्य १८०
संयोग होने से विरुद्ध गुणकारी द्रव्य ,,
औषधियों के लेने का सङ्केत ,,
प्रतिनिधि द्रव्यों का संकेत ,,
द्रव्यों के अन्तर्गत रहने वाले पञ्च पदार्थों के कर्म १८३
मधुर रस के गुण-दोष १८४

अम्ल रस के गुण-दोष १८५
लवण रस के गुण-दोष ,,
कटु रस के गुण-दोष १८६
तिक्त रस के गुण-दोष ,,
कषाय रस के गुण-दोष १८७
मधुरादि रसों की अन्य विशेषता ,,
लघ्वादि गुणों से युक्त द्रव्यों के गुण १८८
पाचन गुण युक्त द्रव्य १९१
शमन तथा अनुलोमन गुणयुक्त द्रव्य ,,
स्रंसन तथा भेदन ,, १९२
रेचन तथा वमन ,, ,,
देहसंशोधन ,, १९३
ग्राही तथा स्तम्भन ,, ,,
छेदन तथा लेखन ,, ,,
वाजीकर तथा शुक्रल ,, १९४
शुक्र के जनक तथा रेचक गुणयुक्त द्रव्य १९४
शुक्रप्रवर्त्तक, स्तम्भक तथा क्षयकारक पदार्थ ,,
रसायन गुणयुक्त पदार्थ १९५
व्यवायि तथा विकाशि गुणयुक्त पदार्थ ,,
मदकारि गुणयुक्त पदार्थ १९६
विषगुणयुक्त पदार्थ ,,
प्रमाथि तथा अभिष्यन्दि गुणयुक्त पदार्थ ,,
विदादि गुणयुक्त द्रव्य १९७
योगवाही गुणयुक्त पदार्थ ,,
द्रव्यगत वीर्य के भेद ,,
उष्ण तथा शीत वीर्यों के गुण ,,
विपाक के लक्षण ,,
मधुरादि रसों का विपाकसम्बन्धी रस ,,
मधुरादि विपाकों के गुण १९८
प्रभाव के लक्षण ,,

भावप्रकाशनिघण्टु-विषयसूची

हरीतक्यादिवर्ग

हरीतकी के नाम और भेद ३
हरीतकी के उत्पत्तिस्थान ४
हरीतकी के लक्षण ,,
हरीतकी के प्रयोग और गुण ,,
हरीतकी का प्रभाव ५
हरड़ में रसों के रहने के स्थान ६
उत्तम हरड़ के लक्षण ,,
हरीतकी के प्रयोगभेद से गुणभेद ,,
हरीतकी का रासायनिक प्रयोग ,,
हरीतकी-सेवन करने के अयोग्य ,,
बहेड़े के नाम तथा गुण ९
आंवले के ,, १०
त्रिफला-लक्षण ,, १२
सोंठ के ,, ,,
अदरख के ,, १४
पीपर के ,, १५
मरिच के ,, १७
त्रिकटु-लक्षण ,, १९
पिपरामूल के ,, ,,
चतुरूषण-लक्षण ,, ,,
चव्य के ,, २०
गजपीपल के ,, ,,
चीता के ,, २१
पञ्चकोल के ,, २४
षडूषण के लक्षण ,, ,,
अजवायन के ,, २५
अजमोदा के ,, २६
खुरासानी अजवाइन के गुण २९
सफेद जीरा, स्याह जीरा तथा
मंगरैला के नाम तथा गुण ३०
धनियां के ,, ३३
सोया और सौंफ के ,, ३५
मेथी तथा वनमेथी के ,, ३७
चनसूर के ,, ३९
चतुर्बीज (चारदाना) के नाम तथा गुण ४०
हींग के नाम तथा गुण ,,
बच के ,, ४३
खुरासानी बच ,, ४५
महाभरी बच ,, ४७
चोबचीनी के ,, ,,
हपुषाद्वय के ,, ५०
वायविडङ्ग के ,, ५२
तुम्बुरु फल के ,, ५६
वंशलोचन ,, ५८
समुद्रफेन ,, ६०
अष्टवर्ग के ,, ६१
जीवक तथा ऋषभक के उत्पत्ति-स्थान,
लक्षण, नाम तथा गुण ,,
मेदा और महामेदा के उत्पत्तिस्थान,
लक्षण, नाम तथा गुण ,,
काकोली तथा क्षीरकाकोली के
उत्पत्तिस्थान, लक्षण, नाम तथा गुण ६२
ऋद्धि तथा वृद्धि के उत्पत्तिस्थान,
लक्षण, नाम तथा गुण ,,
अष्टवर्ग की प्रतिनिधि ओषधियां ६३
मुलहठी के नाम तथा गुण ६५
कबीला के ,, ६६
अमलतास के ,, ६८
कुटकी के ,, ६९
चिरायता के ,, ७२
इन्द्रयव के ,, ७६
मैनफल के ,, ७७
रास्ना के ,, ७९
नाकुलीकन्द के ,, ८२
मोइया के ,, ८६
तेजबल के ,, ८९
मालकांगनी के ,, ९०
कूठ के ,, ९१
कूठभेद पोहकरमूल ,, ९४

सत्यानाशी के नाम तथा गुण	९६
काकड़ासिङ्गी के ,,	९८
कायफल के ,,	१००
भारङ्गी के ,,	१०१
पाषाणभेद के ,,	१०५
धाय के ,,	१०८
मंजीठ के ,,	११०
कुसुम के ,,	११२
लाख के ,,	११३
हलदी के ,,	११४
कपूरहलदी या आमाहरदी के नाम तथा गुण	११६
बनहरदी के गुण	११७
दारुहलदी के नाम तथा गुण	११८
रसोत के बनाने की विधि, नाम तथा गुण	१२२
बाकुची के नाम तथा गुण	१२३
चकवड़ के ,,	१२५
अतीस के ,,	१२६
शाबरलोध्र और पटिया (पाठानी) लोध के नाम तथा गुण	१२८
लहसुन के नामादि तथा गुण	१३०
लहसुन सेवन करनेवालों के लिये हितकर तथा अहितकर पदार्थ	१३१
पियाज के नाम तथा गुण	१३४
भिलावा के नाम तथा उसके पके फल, मींगी और वृन्त के गुण	१३८
भांग के नाम तथा गुण	१४१
पोस्ता के ,,	१४५
अफीम की उत्पत्ति, नाम तथा गुण	१४७
खसखस के दाने के नाम तथा गुण	१५३
सेंधानमक के ,,	१५४
सांभर नमक के ,,	१५७
समुद्रनोन के ,,	१५८
बिरिया संचरनमक, ,,	१५९
काला नमक के ,,	१६१
खनिज लवण के ,,	,,
[illegible]माखार के ,,	१६२
जवाखार, सज्जी तथा सोरा के नाम तथा गुण	१६३
सुहागा के ,,	१६९
क्षारद्वय, क्षारत्रय तथा क्षाराष्टक का वर्णन और गुण	१७१
चूक के नाम तथा गुण	१७२

कर्पूरादिवर्ग

कपूर के नाम तथा गुण	१७३
चीनिया कपूर के गुण	१७५
कस्तूरी के नाम, भेद तथा गुण	१७८
कस्तूरी लता के गुण	१८३
गन्धमार्जार का वीर्य अर्थात् जवाद-कस्तूरी के गुण	१८४
चन्दन के नाम तथा गुण	१८६
पीत चन्दन के नाम तथा गुण	१९०
लाल चन्दन के ,,	१९१
पतङ्ग के ,,	१९३
मलयागिरि चन्दन की उत्तमता	१९४
देवदारु के नाम तथा गुण	१९६
सरल के ,,	१९७
तगर के ,,	१९९
पद्माख के ,,	२०२
गूगल के ,,	२०४
चीड के गोंद के ,,	२०८
राल के ,,	२११
कुन्दुरु के ,,	२१२
शिलारस के ,,	२१५
जायफल के ,,	२१६
जावित्री के ,,	२१८
लौंग के ,,	२१९
बड़ी इलायची ,,	२२१
छोटी इलायची ,,	२२२
तज के ,,	२२४
दालचीनी के ,,	२२६
तेजपात के ,,	२२८
नागकेशर के ,,	२२९
त्रिजातक तथा चातुर्जातक के गुण	२३२
केशर के नाम तथा गुण	,,
गोरोचन के ,,	२३५

सुगन्धि द्रव्य नख तथा नखी के नाम तथा गुण	२३६
सुगन्धवाला के ,,	२३७
वीरण के ,,	२३८
खस के ,,	२३९
जटामांसी के ,,	२४०
शैलेय के ,,	२४२
मोथा ,,	२४३
नागरमोथा के ,,	,,
कचूर के ,,	२४५
मुरा के ,,	२४६
कपूरकचरी के ,,	२४७
प्रियङ्गु के ,,	२४८
गन्धप्रियङ्गु के ,,	,,
प्रियङ्गु के फल के ,,	,,
रेणुका के ,,	२५१
गठिवन के ,,	२५२
थुनेर के ,,	२५३
भटेऊर के ,,	२५४
तालीसपत्र के ,,	२५५
शीतल चीनी के ,,	२५८
गन्धकोकिला-गन्धमालती के गुण	२६०
लमज्जक के विविध नाम तथा गुण	२६१
एलवालुक के ,,	२६२
केवटीमोथा के ,,	२६४
स्पृक्का के ,,	,,
पर्पटी के ,,	२६५
नलिका के ,,	२६६
पुण्डेरी के ,,	२६७

गुडूच्यादिवर्ग

गिलोय की उत्पत्ति, नाम तथा गुण	२६९
पान के ,,	२७१
बेल के ,,	२७४
गम्भारी के ,,	२७६
पाठल तथा घण्टापाठल के ,,	२७८
अगेथू या अरनी के ,,	२८१
सोनापाठा या अरलू के ,,	२८३
बृहत् पञ्चमूल के ,,	२८५
सरिवन के विविध नाम तथा गुण	२८५
पिठवन के ,,	२८६
बड़ी कटेरी ,,	२८८
भटकटैया के ,,	२८९
गोखरू के ,,	२९२
लघु पञ्चमूल के ,,	२९४
दशमूल के ,,	,,
जीवन्ती के ,,	२९५
मुगवन के ,,	२९६
वनउर्दी के ,,	२९७
जवनीय गण के ,,	२९८
एरण्ड के ,,	२९९
आक के ,,	३०२
सेहुंड के ,,	३०६
शातला के ,,	३१०
कलिहारी के ,,	३१२
करवीर के ,,	३१४
धतूर के ,,	३१७
अडूसा के ,,	३२०
पित्तपापड़ा के ,,	३२३
नीम के ,,	३२८
महानिम्ब के ,,	३३१
फरहद के ,,	३३४
कचनार के ,,	३३६
सहिजन के भेद, ,,	३३९
कोयले के ,,	३४२
सम्हालू के भेद, ,,	३४४
कुडा के ,,	३४६
करञ्ज के भेद, ,,	३४९
करंजी के ,,	३५३
गुञ्जा के ,,	३५४
कौंच के ,,	३५६
मांसरोहिणी के ,,	३५८
चिल्लक के ,,	३५९
टङ्कारी के ,,	३६०
वेतस के ,,	३६१
जलवेतस के ,,	३६२
इज्जल के ,,	,,
अंलोक के ,,	३६४

बलाचतुष्टय के विविध नाम तथा गुण		३६६
लक्ष्मणा के लक्षण	,,	३७२
सोनबेल के	,,	३७३
कपास के	,,	३७४
बांस के	,,	३७६
नरसल के	,,	३७७
सरपत तथा मूँज के	,,	३७९
कास के	,,	३८०
गोंद पटेट के	,,	३८१
पुरका के	,,	,,
कुश तथा डाभ के	,,	३८२
रोहिस (कत्तृण) के	,,	३८३
शरबाण के	,,	,,
हरी दूब के	,,	३८४
सफेद दूब के	,,	३८५
गांडर दूब के	,,	३८६
वाराहीकन्द के लक्षण	,,	,,
विदारीकन्द के	,,	३८७
काली मूसली के	,,	३८९
शतावरी के	,,	३९२
असगन्ध के	,,	३९३
पाढ के	,,	३९४
निसोत के	,,	३९७
छोटी दन्ती के फल के	,,	३९९
जमालगोटा के	,,	४०१
इन्द्रायण के	,,	४०३
नील के	,,	४०६
सरफोंका के	,,	४०७
विधारा के	,,	४०८
जवासा और धमासा के	,,	४११
मुण्डी तथा महामुण्डी के	,,	४१३
चिरचिरा के	,,	४१४
तालमखाना के	,,	४१६
हड़सङ्कारी के	,,	४१८
घीकुआर के	,,	४१९
पुनर्नवा के	,,	४२२
प्रसारणी के	,,	४२४
अनन्तमूल के	,,	४२५
माकुरा के	,,	४२९
शणपुष्पी के विविध नाम तथा गुण		४३०
त्रायमाणा के	,,	४३१
मूर्वा के	,,	४३३
मकोय के	,,	४३८
काकनासा के	,,	४३९
काकजङ्घा के	,,	४४१
नागपुष्पी के	,,	४४२
मेढ़ाशिंगी के	,,	४४३
हंसराज के	,,	४४४
सोमलता के	,,	४४५
अमरबेल के	,,	४४७
पातालगरुडी के	,,	४४८
बन्दा के	,,	४४९
वटपत्री के	,,	४५१
हिङ्गुपत्री के	,,	,,
वंशपत्री के	,,	४५२
मत्स्याक्षी के	,,	,,
सर्पाक्षी के	,,	,,
शङ्खपुष्पी के	,,	४५४
अर्कपुष्पी के	,,	४५५
लज्जावन्ती के	,,	४५६
अलम्बुषा के	,,	४५७
दुद्धी के	,,	४५८
भुँइ आमला के	,,	४६०
ब्राह्मी के	,,	४६१
मण्डूकपर्णी के	,,	,,
गूमा के	,,	४६३
हुरहुर के	,,	४६४
ब्रह्मसुवर्चला के	,,	,,
वन ककोड़ा के	,,	४६६
सनाय के	,,	४६७
देवदाली के	,,	४६८
जलपीपल के	,,	४७०
गोजिह्वा के	,,	४७१
नागदमनी के	,,	४७२
वीरतरु के	,,	४७३
नकछिकनी के	,,	४७४
कुकुरँवदा के	,,	४७५
सुदर्शन के	,,	४७६

मूसाकर्णी के नाम तथा गुण ४७६
मोरशिखा के " ४७७

पुष्पवर्ग

कमल के नाम तथा गुण ४७९
पद्मिनी के लक्षण " ४८०
कमल के नवीन पत्ते आदि के नाम ४८१
संवर्त्तिका के गुण "
कर्णिका के " "
किञ्जल्क के " ४८२
मृणाल के " "
स्थलकमल के नाम तथा गुण "
कुमुद के " ४८३
कुमुदिनी के " "
कह्लार के " ४८५
वारिपर्णी के " ४८६
शतपत्री के " ४८८
वासन्ती के " ४८९
वार्षिकी के " ४९०
जाई-पीलीजाई के " ४९१
जूही तथा सुवर्णजूही " ४९२
चम्पा के " ४९३
मौलसिरी के " ४९४
कदम्ब के " ४९५
कूजा के " ४९६
मल्लिका के " ४९७
माधवी के " "
केवड़ा के " ४९८
किङ्किरात के " ४९९
कर्णिका के " "
अशोक के " ५००
अम्लाटन के " ५०२
कटसरैया के " "
कुन्द के " ५०३
मुचुकुन्द के " ५०४
तिलक के " ५०५
दुपहरिया के " "
अदौल के " ५०६
सेन्दुरिया के " ५०७
अगस्तिया के नाम तथा गुण ५०८
तुलसी के " ५०९
मरुबा के " ५१०
दवना के " "
वनतुलसी के " ५११

वटादिवर्ग

बरगद के नाम तथा गुण ५१३
पीपल के " "
गजदण्डसहोरा के " ५१४
बेलिया पीपर के " ५१५
गूलर के " ५१६
कठूमर के " ५१७
पाखर के " ५१८
सिरस के " "
क्षीरिवृक्ष के " "
पंचवल्कल के " ५१९
साखू के " ५२०
सर्ज के " "
सलई के " ५२१
शीशम के " ५२२
अर्जुन के " ५२३
विजयसार के " ५२४
खैर के " ५२५
रोहेड़ा के " ५२७
बबूल के " ५२८
रीठा के " ५२९
पितौजिया के " ५३०
हिङ्गोट के " ५३१
जिङ्गिनी के " ५३२
तमाल के " "
तून के " ५३४
भोजपत्र के " ५३५
ढाक के " "
सेमर के " ५३७
मोचरस के " ५३८
काला सेमर के " "
धौ के " ५३९
धामिन के " ५४०

करील के विविध नाम तथा गुण ५४१
सहोरा के „ ५४२
बरना के „ „
कटभीं के „ ५४३
मोखा के „ ५४४
ढढोन के „ ५४५
शमी के „ „
छुतिवन के „ ५४६
तिरिच्छ के „ ५४७
सागोन के „ ५४९

आम्रादिफलवर्ग

आम के नाम तथा गुण ५५०
आम की मंजरी के गुण „
अमावट के लक्षण तथा गुण ५५१
आम के गुठली की मींगी के गुण ५५२
अम्बाडा के नाम तथा गुण ५५३
कलमी आम के „ „
कोशम्बी आम के „ ५५४
कटहर के „ ५५५
बड़हर के „ ५५६
केला के „ „
फूट के „ ५५८
नारियल के „ „
नारियल के जल के गुण „
तरबूज के नाम तथा गुण ५६०
खर्बूजा के „ ५६१
खीरा के „ „
सुपारी के „ ५६२
ताड़ के „ ५६३
नवीन ताड़ी के „ ५६४
बेल के „ ५६५
कैंथ के „ „
नारङ्गी के „ ५६६
तेंदू के „ ५६७
कुचिला अथवा मकरतेन्दुआ के नाम ५६८
बड़ी जामुन के नाम तथा गुण ५७०
छोटी जामुन के „ ५७१
छोटी बेर के नाम, भेद, लक्षण और गुण „
पानी आंवला के नाम तथा गुण ५७३
हरफारेवड़ी के नाम तथा गुण ५७४
करौंदा के „ „
चिरौंजी के „ ५७५
खिरनी के „ ५७६
कण्टाई के „ ५७७
कमलगट्टा के „ „
मखाना के „ ५७८
सिंघाड़ा के „ „
सेंट के „ ५७९
महुआ के „ „
फालसा के „ ५८०
सहतूत के „ ५८१
अनार के „ ५८२
लिसोड़ा के „ ५८३
निर्मली के „ ५८४
दाख के „ ५८५
खजूर के „ ५८६
सुलेमानी खजूर के „ ५८७
बादाम के „ ५८८
सेव के „ ५८९
नाशपाती के „ ५९०
पीलू के „ „
अखरोट के „ ५९१
बिजौरा नीबू के „ ५९२
चकोतरा नीबू के „ „
जम्बीरी नीबू के „ ५९४
कागजी नीबू „ ५९५
मीठे नीबू के „ ५९६
मोसम्बी के „ „
कमरख के „ ५९७
इमली के „ „
अमलबेंत के „ ५९९
कोकम के „ „
चतुरम्ल के लक्षण तथा गुण ६००
फलविषयक परिभाषा „

धातूपधातुरसोपरसरत्नोपरत्न विषोपविषवर्ग

धातुओं की संख्या ६०२
धातु शब्द की निरुक्ति „

सोने की उत्पत्ति ६०२
सोना का नाम „
उत्तम सवर्ण के लक्षण ६०३
निकृष्ट सुवर्ण के „ „
शुद्ध शोधित स्वर्णभस्म के गुण „
अशुद्ध शोधित भस्म के दोष „
चांदी की उत्पत्ति ६०४
चांदी के नाम „
चांदीभस्म के गुण „
अशुद्ध चांदीभस्म के दोष „
तामा की उत्पत्ति ६०५
तामा के नाम „
उत्तम निकृष्ट तामा के लक्षण „
शुद्ध ताम्र भस्म के गुण „
रांगा के नाम ६०६
शुद्ध रांगाभस्म के गुण „
जस्ता के नाम „
सीसा की उत्पत्ति और गुण „
अशुद्ध वंग तथा सीसा के दोष ६०७
लोहा की उत्पत्ति „
लोहा के गुण-दोष „
लोहभस्म सेवन करने वाले के लिये त्याज्य पदार्थ ६०८
सारलोह के लक्षण „
कान्तलोह के „ „
किट्टी के „ ६०९
उपधातुओं की संख्या „
सोनामाखी के नाम „
अशुद्ध सोनामाखी के दोष ६१०
रूपामाखी के नाम „
अशुद्ध रूपामाखी के दोष „
तूतिया तथा खपरिया के नाम तथा गुण „
कांसा के नाम तथा गुण ६११
पीतल के „ „
सिंदूर के „ „
शिलाजीत की उत्पत्ति, लक्षण तथा गुण ६१२
रस शब्द की निरुक्ति „
पारे की उत्पत्ति, भेद तथा नाम ६१३
पारे की सर्वश्रेष्ठता „
असंस्कृत पारे के सेवन का निषेध ६१४
उपरसों की संख्या ६१४
हिङ्गुल के नाम तथा गुण ६१५
गन्धक की उत्पत्ति, भेद तथा गुण „
अशुद्ध गन्धक के दोष ६१६
अभ्रक की उत्पत्ति, भेद तथा गुण „
अशुद्ध अभ्रक के दोष ६१८
हरताल के नाम, भेद, लक्षण तथा गुण „
मैनशिल के नाम व गुण ६१९
अशुद्ध मैनशिल के दोष „
सुरमा के नाम व गुण „
सुहागा के गुण ६२०
फिटकरी के नाम तथा गुण „
रेवटी के „ „
चुम्बक के „ „
गेरू के „ „
खड़िया के „ ६२१
बालू के „ „
खपरिया के „ „
कसीस के „ „
सोरठी मिट्टी के „ „
काली मिट्टी के „ ६२२
कीचड़ के „ „
कौड़ी के „ „
शङ्ख के „ „
बोल के „ „
कंकुष्ठ के „ ६२३
रेवन्द चीनी के „ ६२४
रत्न शब्द की निरुक्ति, नाम व संख्या ६२५
हीरा के नाम भेद व गुण ६२६
अशुद्ध हीरा के दोष ६२७
हीरे के भस्म के गुण „
पन्ना के नाम „
चुन्नी के „ „
पोखराज „ „
नीलम के „ „
लहसुनिया के नाम „
मोती के नाम व गुण ६२८
मूँगा के नाम „
रत्नों के गुण „

उपरत्नों का निरूपण व गुण ६२८
विष के नाम और भेद ६२९
वत्सनाभ विष का निरूपण „
हारिद्र विष का „ ६३०
सक्तुक विष का „ „
प्रदीपन विष का „ ६३१
सौराष्ट्रिक विष का „ „
श्रृङ्गिक विष का „ „
कालकूट विष का उत्पत्ति स्थान ६३२
हालाहल विष का स्वरूप ६३३
ब्रह्मपुत्र „ „ „
विष के भेद तथा गुण-दोष „
विषों के शोधन का निरूपण ६३४
उपविषों का निरूपण „

धान्यवर्ग

धान्यों के भेद ६३५
शालिधान्यादि के भेद, लक्षण तथा गुण „
वापित तथा अवापित शालि के गुण ६३६
रक्तशालि के गुण ६३७
व्रीहिधान्य के लक्षण व गुण „
षष्टिक (साठी चावल) के लक्षण, भेद व गुण ६३८
जौ लक्षण सहित भेद व गुण ६४०
गेहूँ के नाम लक्षण „ ६४२
मधूली के गुण „
शिम्बी धान्य के नाम व गुण ६४३
मूंग के गुण „
उड़द के गुण ६४४
बोड़ा व भटवांसु के नाम व गुण ६४५
मोठ के नाम तथा गुण ६४६
मसूर के „ ६४७
अरहर के „ „
चना के „ ६४८
मटर के „ ६४९
खेसारी के „ ६५०
कुलथी के „ „
तिल के „ ६५१
तीसी के „ ६५२
तोरी के „ ६५३
सरसों केनाम तथा गुण ६५४
राई के „ ६५५
क्षुद्रधान्य के „ ६५६
कङ्गुनी के „ „
चीना के „ ६५७
सामा के „ „
कोदो के „ ६५८
सरपतके बीज के „ ६५९
बांस के „ „
कुसुम के „ „
गरहेडुआ के „ ६६०
तीनी के „ „
जुआर के „ ६६१
धान्यविषयक परिभाषा „

शाकवर्ग

शाक का निरूपण ६६३
सभी प्रकार के शाकों के सामान्य गुण „
बथुआ के नाम तथा गुण „
पोई के „ ६६५
मरसा के „ „
चौलाई के „ ६६६
जल चौलाई के „ ६६७
पालक के „ ६६८
नाडीका शाक के „ „
पटुआ शाक के „ ६६९
कलमी शाक के „ „
नोनिया शाक के „ ६७०
तीनपतिया के „ ६७१
चूक के „ ६७२
भाफली के „ „
हुरहुर के „ ६७३
चौपतिया के „ „
मुरई के पत्ते के „ ६७४
गूमा के „ ६७५
अजवाइन के „ „
चकवड़ के „ „
थूहर के „ „
पित्तपापड़ा के „ „

गोभी के विविध नाम तथा गुण ६७६
परवल के " "
गिलोय के " "
कसौंदी के नाम तथा गुण "
चने के शाक का गुण ६७७
मटर के " ६७८
सरसों के " "
पुष्पशाकों के " "
अगस्त के फूल का "
केले के फूल का गुण "
सहजना के " "
सेमल के " ६७९
कुम्हड़ा के नाम तथा गुण "
कुम्हड़ी के " ६८०
लौकी के " ६८१
कड़वी तुम्बी के " ६८२
ककड़ी के " "
चचेंड़ा के " ६८३
करेला के " "
नेनुआं के " ६८४
तोरई के " ६८५
परवल के " ६८६
परवल के जड़ादि का गुण "
कुन्दूरी के नाम तथा गुण ६८७
सेम के " ६८८
सहँजने की फली के " ६८९
बैंगन के " "
डिंडिस के " ६९०
पिंडार के " "
ककोडा के " ६९१
डोडिका (करेरुवा) के " ६९२
कटेरी के " "
सरसों के नाम (डण्डी) का गुण "
सूरन के नाम तथा गुण ६९३
आलू के " ६९४
आलूमात्र के " "
अरुई के " ६९६
मूली के " "
गाजर के " ६९७
केराकन्द के " ६९९
मानकन्द के नाम तथा गुण ६९९
वाराही कन्द के " "
हस्तिकर्ण के " ७००
केमुआ के " "
कसेरू के भेद तथा गुण ७०१
शालूक कन्दों के नाम तथा गुण ७०२
निषिद्ध शाक "
संस्वेदज शाक के नाम तथा गुण ७०३

मांसवर्ग

मांस के नाम तथा गुण ७०५
जाङ्गल मांस के भेद, नाम तथा गुण "
आनूप मांस के भेद " "
जांगल जीवों की गणना ७०६
बिलों में रहने वाले जीवों के मांस गुण "
गुफा में रहने वाले " "
वृक्ष पर चढ़ने वाले " ७०७
कुरेद २ कर खाने वाले " "
प्रतुद पक्षियों के " ७०८
प्रसहसंज्ञक पक्षियों के " "
ग्राम्य पशुओं के " ७०९
कूलेचरसंज्ञक जीवों के " "
प्लवसंज्ञक पक्षियों के " "
कोशस्थ प्राणियों के " ७१०
पांव वाले प्राणियों के " "
मछलियों के नाम तथा गुण "
विविध मृगोंके मांस के गुण ७११
खरगोश के " ७१२
साही के " "
बटेर के ७१३
लवा पक्षी के " "
तीतर के " "
गवरैया के " ७१४
मुर्गा के " "
हरियल के " "
पडुकी के " "
मोर के " ७१५
कबूतर के " "
पक्षियों के अण्डों के गुण "

बकरा, बकरी के मांस के गुण ७१५
भेड़ के " ७१६
दुंबा के " "
बैल के " "
घोड़े के " ७१७
भैंसे के " "
मेढ़क के " "
कछुये के " "
तत्काल मारे गये जीवों के " ७१८
स्वयं मृत जीवों के " "
बुड्ढे बच्चे जीवों के " "
सर्पदष्ट जीवों के " "
विष आदि से मरे " "
जीवों के प्रधानता से " "
रोहू मछली के लक्षण तथा गुण ७१९
सिलन्द मछली के गुण "
भाकुर " ७२०
मोई " "
पाठीन " "
सींगी " "
हिल्सा " "
सौरी " "
गर्गरा " "
कवई " ७२१
वर्मी " "
दण्डारी " "
अरङ्गी " "
पपता " "
गरई " "
मंगुरी " "
टेंगरा " ७२२
पोठी " "
छोटी " "
सूखी " "
भूंजी " "
मछली के अण्डे के गुण "
कूएँ में रहने वाली मछली के गुण "
विशेष-विशेष ऋतुओं में विशेष-विशेष मछलियों के गुण ७२३

कृतान्नवर्ग

परिभाषा ७२४
भात बनाने की विधि तथा गुण "
दाल " "
खिचड़ी " ७२५
तापहरी " "
खीर " "
सेवई " ७२६
मैदा " "
मंडा " "
पूरी " ७२७
लप्सी " "
रोटी " "
बाटी " ७२८
जौ की रोटी के गुण "
चमसी बनाने की विधि "
धुआंस (छर्छरी) तथा उसकी रोटी बनाने की विधि और गुण "
चने की रोटी के गुण "
पीठी बनाने की विधि ७२९
बेढ़ई बनाने की विधि तथा गुण "
पापड़ " "
तेल, घृत में पूरी " ७३०
उड़द का सूखा बड़ा " "
काञ्जी का बड़ा " "
इमली के बड़े " ७३१
मूङ्ग के बड़े " "
पेठे की बरी " "
मूङ्ग की बरी " ७३२
अलीक मत्स्य " "
कढ़ी " "
अदरक-बड़ा " ७३३
बेसन " "
फुलौरी " "
शुद्ध मांस " ७३४
सेहंडुक मांस " "
अखनी मांस " "
हरीसा " ७३५
तला हुआ मांस " "

कबाब की विधि तथा गुण	७३५
मांस-सिंघाड़ा की ,,	७३६
सिद्धमांसरस का गुण	,,
शाक बनाने की विधि	,,
मंठक बनाने की विधि तथा गुण	७३७
गुजिया ,,	,,
कर्पूरनालिका ,,	७३८
फेनी ,,	,,
खास्ता पूरी ,,	,,
सेव के लड्डू ,,	७३९
बूंदी लड्डू ,,	,,
मोती चूर के लड्डू ,,	,,
दुग्धपूपिका ,,	,,
जलेबी ,,	७४०
सिखरन ,,	,,
शर्वत ,,	७४१
आम का पन्ना ,,	७४२
इमली का पन्ना ,,	,,
नीबू का पन्ना ,,	,,
धनिये का पानक ,,	,,
काञ्जी ,,	,,
जाली ,,	७४३
छाछ की विधि तथा गुण	,,
भोजनान्त में दूध पीने के गुण	,,
सत्तू बनाने की विधि तथा गुण	,,
यव मिश्रित चनेके सत्तू बनाने की विधि तथा गुण	७४४
चावल के सत्तू के गुण	,,
सत्तू के विषय में सामान्य परिभाषा	,,
बहुरी बनाने की विधि तथा गुण	,,
खील ,,	७४५
चिउड़ा ,,	,,
होरहा ,,	,,
ऊंबी ,,	,,
घुघुरी ,,	७४६
तिलकुट ,,	,,
पिण्याक ,,	,,
चावल के गुण ,,	,,

वारिवर्ग

जल के नाम, गुण तथा भेद	७४७
धाराजल के लक्षण गुण तथा भेद	७४७
गंगाजल के लक्षण तथा गुण	७४८
शरद् ऋतु में जल का निर्विष होना	,,
वर्षाऋतु में जल का सविष होना	,,
अनार्तव संज्ञक धारा जल के गुण	७४९
करका जल के लक्षण तथा गुण	,,
तौषार जल के ,,	,,
हैम जल के ,,	७५०
भौम जल के ,,	,,
जांगल जल के ,,	,,
नादेय जल के ,,	७५१
नदी जल के गुण-भेद	,,
औद्भिद् जल के लक्षण तथा गुण	७५२
नैर्झर जल के ,,	,,
सारस जल के ,,	,,
तडाग जल के ,,	,,
वाप्य जल के ,,	७५३
कौथ जल के ,,	,,
चौंज्य जल के ,,	,,
पाल्वल जल के ,,	७५४
विकिर जल के ,,	,,
कैदार जल के ,,	,,
वर्षा जल के ,,	,,
हेमंतादि जल के ,,	,,
अंशूदक जल के ,,	७५५
मासभेद से जल के ,,	,,
जलग्रहण करने का समय	७५६
जल पीने की विधि	,,
शीतल जलपान के गुण और निषेध	,,
थोड़ा जल पीने का निर्देश	,,
जलपान की आवश्यकता	,,
गुणावगुणकारी जल	७५७
दूषित जल की शुद्धि	,,
पीये हुए जल के पचने का समय	७५८

दुग्धवर्ग

दूध के नाम और गुण	७५९
दूध पीने योग्य मनुष्य	,,
गोदुग्ध के गुण	,,
काली आदि गायों के दुग्धः गुण	,,

नई ब्याई तथा बकेन गायों के दुग्ध-गुण ७६०
मृतवत्सा गायों के दुग्ध „ „
देशविशेष से गोदुग्ध के गुण „ „
आहारादि विशेष से गोदुग्ध के गुण „
भैंस के दूध के गुण „
बकरी के दूध के गुण „
हरिणियों के „ ७६२
भेड़ी के „ „
घोड़ी, ऊंटनी तथा हथिनी के दुग्ध गुण „
स्त्री दुग्ध के गुण „
धारोष्णादि दूध के गुण ७६३
पीयूष, किलाट, क्षीरशाक तथा तक्रपिंड के लक्षण तथा गुण „
मलाई के गुण ७६४
मीठा मिश्रित दूध के गुण „
प्रातः सायं दुग्धपान के गुण „
समय विशेष में दुग्धपान का विशेष गुण ७६५
मथित दुग्ध के गुण „
दुग्ध-फेन के गुण ७६६
निन्दित दुग्ध के लक्षण „

दधिवर्ग

दही के गुण तथा भेद ७६७
मन्द दही के लक्षण तथा गुण „
गाय, भैंस तथा बकरी के दही के गुण ७६८
मखनिया दही के गुण „
गालित दही के गुण ७६९
चीनी आदि मिश्रित दही के गुण „
रात्रि में दही खाने का निषेध „
ऋतु विशेष में दही खाने के विधि निषेध ७७०
विना विधि के दही सेवन का निषेध „
साढ़ी तथा मस्तु (दही) के लक्षण और गुण „

तक्रवर्ग

तक्र के नाम, विधि तथा गुण ७७१
घृत निकाले हुए तक्र के गुण ७७२
रोगादि भेद से तक्र भेद का विधान „
कच्चे-पके तक्र के गुण „
रोगादि भेद से तक्र सेवन का विधि-निषेध ७७२
गवादि के दही से बने तक्र के गुण ७७३

नवनीत वर्ग

मक्खन के नाम तथा गोदुग्ध से बने मक्खन के गुण ७७४
भैंस के दुग्ध से बने मक्खन के गुण „
दुग्ध से बने मक्खन के गुण „
ताजा मक्खन के गुण „
पुराने मक्खन के गुण „

घृतवर्ग

घृत के नाम तथा गुण ७७५
गौ, महिष तथा बकरी के घृत के गुण „
ऊँटनी के „ ७७६
भेड़ी के „ „
स्त्री-दुग्ध से „ „
घोड़ी के „ „
दूध से निकाले हुए „ „
पुराने व नवीन „ „
घृत प्रयोग करने के विषय ७७७

मूत्रवर्ग

गोमूत्र के गुण ७७८
मनुष्य के मूत्र का गुण „
मूत्र की सामान्य परिभाषा „

तैलवर्ग

तैल का लक्षण और गुण ७७९
तिल-तैल का गुण „
घृत तथा तैल की परिभाषा ७८०
सरसो तथा राई के तैल के गुण „
तोरी तथा अलसी के „ „
कुसुम के „ ७८१
पोस्ता तथा रेड़ी के „ „
राल के „ ७८२
सभी प्रकार के „ „

सन्धानवर्ग

कांजी के लक्षण तथा गुण ७८३
कांजी सेवन के अयोग्य मनुष्य „

तुषोदक के लक्षण तथा गुण		७८३
सौवीर के	,,	७८४
आरनाल के	,,	,,
धान्याम्ल के	,,	,,
शिण्डाकी के	,,	,,
शुक्त के	,,	,,
मद्य के लक्षण, भेद तथा गुण		७८५
अरिष्ट के लक्षण तथा गुण		,,
सुरा के	,,	,,
वारुणी के	,,	७८६
सीधु के	,,	,,
आसव के	,,	,,
नई-पुरानी मदिरा के गुण		,,
मद्य पीने का प्रकार		७८७
मद्य-गंध दूर करने का उपाय		,,

मधुवर्ग

मधु के नाम तथा गुण		७८८
माक्षिक मधु के लक्षण तथा गुण		,,
भ्रमरजातीय	,,	७८९
क्षौद्रजातीय	,,	,,
पौत्तिकजातीय	,,	,,
छात्रजातीय	,,	,,
आर्घ्यजातीय	,,	७९०
औद्दालक जातीय	,,	,,
दालजातीय	,,	,,
नये मधु के गुण		७९१
परिभाषा		,,
शीतल तथा उष्ण मधु का विधि-निषेध		,,
मोम के नाम तथा गुण		,,

इक्षुवर्ग

गन्ने के नाम तथा रस के गुण		७९२
पौंड्रक तथा भीरुक संज्ञक इक्षुरस के गुण		७९२
कोशकार इक्षुरस के गुण		,,
कांतार संज्ञक	,,	७९३
वंशक संज्ञक	,,	,,
शतपोरक संज्ञक	,,	,,
तापस संज्ञक	,,	,,
कांड संज्ञक	,,	,,
सूचीपत्रादि संज्ञक	,,	,,
मनोगुप्ता संज्ञक	,,	,,
नवीन तथा पक्वापक्व	,,	,,
अंगभेद से	,,	७९४
चूसे हुए	,,	,,
पिरे हुए	,,	,,
बासी	,,	,,
पकाये हुए	,,	,,
इक्षु-रस से बने पदार्थों के गुण		,,
फाणित (छोआ आदि) के लक्षण तथा गुण		७९५
मत्स्यण्डी (खंडराव)	,,	,,
गुड़ के लक्षण तथा गुण		,,
नवीन और पुराने गुड़ के गुण		,,
अनुपान भेद से गुड़ के गुण		७९६
खांड के गुण		,,
चीनी के लक्षण और गुण		,,
पुष्पसिता के	,,	,,
मधु-खंड के	,,	७९७
परिभाषा		,,

अनेकार्थनामवर्ग

दो अर्थ वाले शब्द	७९८
तीन अर्थ वाले शब्द	८०२
चार अर्थ वाले शब्द	८०७
बहुत अर्थ वाले शब्द	,,

निघण्टु-विवरण में आये हुए द्रव्यों की

अकाराद्यनुक्रमणिका

विषयाः	पृ०
अ	
अंकोट	३६५
अखरोट	५९२
अगस्त	५०८
अगर	१९४
अजमोदा	२७
अजवायन (जंगली)	,,
अजवायन (यवानी)	२५
अञ्जन (सुरमा)	६१२, ६१९, ७९९
अडूसा	३२१
अतिबला (कंघी)	३७०
अतीस	१२७
अदरख	१४
अनन्तमूल	४२७
अनार	५८२
अपराजिता	३४२
अफीम	१४७
अबरक	६१६
अम्बाड़ा	५५३
अमरवेल	४४७
अम्लबेतस्	५९९
अर्कपुष्पी	४५६
अर्जुन	५२३
अरङ्गी मछली	७२१
अरनी	२८१
अरहर	६४८
अरारी (करञ्जी)	३५३
अरुई	६९६
अलम्बुषा	४५७
अलाबू (लौकी)	६८१
अशोक	५००
अष्टवर्ग	६४

विषयाः	पृ०
असगन्ध	३९३
आ	
आक लाल	३०४
आक सफेद	३०४
आम्रावर्त्त (अमावट)	५५१
आम्र नवपल्लव	५५२
आम	,,
आमला	१०
आमा हलदी	११६
आलुकभेद	६९५
आरग्वध (अमलतास)	६८
इ	
इक्षु (ईख)	७२२
इज्जल (समुद्रफल)	३६३
इन्द्रयव	७६
इन्द्रायण	४०३
इन्द्रायण भेद	४०५
इमली	५९८
इल्लीस (हिलसा)	७२०
उ	
उड़द	६४४
उन्नाव	५७२
उपविष	६३४
उशवा, सार्सापरिला	४९
ऋ	
ऋष्य (मृग)	७११, ६९५
ए	
एकपुतिया लहसुन (दूसरी जाति)	१३४
एण (मृग)	७११
एरका	३८१
एरण्ड	२९९
एलवालुक	२६२

विषयाः	पृ०
क	
ककड़ी	६८२
ककोड़ा (खेकसा)	६९१
कंकुष्ठ	६२३
कङ्गुनी	६५६
कंटकारी	२९०, ६७८
कचनार	३३७
कचूर	२४५
कट्फल (कायफल)	१००
कटभी	५४३
कटसरैया	५०३
कटहर	५५५
कटुतुंबी (कड़वी तुम्बी)	६८२
कटुपर्णी (चोक)	९६
कठूमर	५१७
कड़वा परवल	६७५
कदम	४९६
कदली कन्द	६९९
कन्दूरी (कुन्दरू)	६८७
कनेर लाल	३१५
कनेर सफेद	,,
कनेर (पीत)	३१६
कपास	३७४
कपिकच्छू (केवाँच)	३५७
कपूर	१७३
कपूर कचरी	२४७
कमरख	५९७
कमल	४८०
कमलकन्द, भसींडा	७०२
कमलगट्टा	५७७
कर्कटशृङ्गी (काकड़ासिंगी)	९८

विषयाः	पृ०
कर्णिका	४८१
कर्णिकार	५००
करका-जल	७४९
करञ्ज	
(कंटकरञ्ज)	३५२
करञ्ज (वृक्षकरञ्ज)	३५०
करञ्ज	३५३
करील	५४१
करू	७१
करेला	६८३
करेली	,,
करौंदा	५७५
करौंदी	५७४
कलम्बी	६६९
कलमी आम	५५४
कलिहारी	३१३
कविका	
(कवई मछली)	७२१
कस्तूरी	१७८
कसीस	६२१
कसेरू	७०१
कसेरू छोटा	,,
कसौंदी	६७६
काकजंघा	४४१
काकनासा	४४०
कांच	६२८
काम्पिल्ल (कबीला)	६६
कालकूट विष	६३२
कालशाक	
(नाडीकाशाक)	६६८
कालाअडूसा	१२३
कालाजाजी	
(कलौंजी)	२२
काला मोखा	५४५
काली मिट्टी	६२२
कास	३८०
कांसा	६११
किङ्किरात	४९९
किरात (चिरायता)	७२

विषयाः	पृ०
कीचड़	६२२
कुकुरवँदा	४७५
कुचला	५६८
कुटकी	७०
कुन्द	५०३
कुन्दुरु	२१३
कुमुद	४८४
कुम्हड़ा	६८०
कुरङ्ग	७११
कुल्माष (घुघुरी)	७४६
कुलथी	६५१
कुलिञ्जन	४५
कुश (दर्भ)	३८२
कुष्ठ (कूट)	९१
कुसुम के बीज	६५९
कुसुम्भ	११२
कूजा	४९६
कूड़ा	३४७
कूटशाल्मलि	५३९
कूलेचर जीव	७०९
कूष्माण्डी (कोहला)	६८०
कृष्णजीरक	३२
कृष्णसारिवा	४२७
केमुक	७०१
केला	५५७
केवटीमोथा	२६४
केवड़ा	४९८
केशर	२३३, ४८२
कैथ	५६६
कैरविणीफल (बेरी)	५७९
कोकम	६००
केवांच (कपिकच्छू	
कौंच)	३५७
कोदो	६५८
कोलशिम्बी	६८८
कोशस्थ जीव	७१०
कोशाम्र	५५४
कौड़ी	६२७

विषयाः	पृ०
क्षारद्वय-क्षारत्रय-	
क्षाराष्टक	१७१
क्षुद्राग्निमन्थ	२८१
ख	
खड़िया	६२१
खपरिया	,,
खरगोश	७१२
खरबूज़ा	५६१
खर्जूरी-पिण्डखर्जूरी	
(खजूर)	५८७
खिरनी	५७६
खीरा	५६२
खुरासानी कुटकी	७२
खेसारी	६५०
खैर	५२५
ग	
गजदण्ड (सहोरा)	५१४
गजपीपल	२१
गठिवन	२५२
गण्डदूर्वा	
(गांड़र दूब)	३८६
गन्धक	६१५
गन्धकोकिला	२६०
गन्धप्रसारिणी	४२५
गन्धमालती	२६०
गम्भारी	२७७
गर्गर मत्स्य	७२०
गरई मछली	७२१
गरहेडुआ	६६०
गाँजा	१४२
गाजर	६९८
गिलोय	२६९
गिलोय शाक	६७६
गुञ्जा (श्वेत रक्त)	३५४
गुड	७९५
गुड़हर	५०६
गुलाब	४८८
गुहाशय जीव	७०६
गूगल	२०५

विषयाः	पृ०
गूमा	४६३, ६७५
गूलर	५१६
गेरू	६२०
गेहूँ	६४२
गोखरू (छोटा)	२९२
गोखरू (बड़ा)	२९३
गोजिह्वा	४७१, ६७६
गोंद पटेर (गुन्द्र)	३८१
गोमेद	६२७
गोलोचन	२३५
गोह	७०६
गौरखटी (सफेद खड़िया)	६२१
ग्राम्य (पशु)	७०९
घ	
घीकुआँर	४१९
घृत	७७१
च	
चकवड़	१२५
चकोतरा (नीबू)	५९४
चचेण्डा	६८३
चंचु	६७२
चणक (चना)	६४८
चन्दन	१८७
चन्द्रिका (हालों)	३९
चना	६४९
चनाखार	१६२
चम्पा	४९३
चमेली	४९१
चव्य	२०
चांगेरी	६७१
चांदी	६०४
चावल	६३९
चित्रक	२२

विषयाः	पृ०
चिपिटा (चिउड़ा)	७२९
चिरचिरा	४१४
चिरबिल्व (करंज-भेद)	३५३
चिरौंजी	५७५
चिल्हक	३५९
चीना	६५१
चीनिया कपूर	१७५
चुम्बक	६२०
चूक	१७२
चूका	६७२
चोपचीनी	४८
चौपतिया	६७४
चौलाई	६६६
छ	
छत्रक	७०१
छरीला	२४२
छुहारा	५८७
छोंकर	५४६
छोटी इलायची	२२२
छोटी जामुन	५७१
छोटी दूधी	४५९
ज	
जंगली उशबा	४९
जंगली तोरई	६८५
जंगली प्याज	१२६
जटामांसी	२४०
जवाद कस्तूरी	१८५
जमालगोटा	४०१
जमीरी नीबू	५९४
जल	७४७
जलकुम्भी	४८६
जलचौलाई	६६७
जलपीपल	४७०
जलमहुआ	५८०
जलवेतस	३६३
जलसिसिर	५४५
जव	६४१, ६४२

विषयाः	पृ०
जवाखार	१६३
जवाद कस्तूरी	१८५, ३२३
जवासा	४११
जस्ता	६०६
जामुन	५७०
जावित्री	२१८
जायफल	२१६
जारूल	५४८
जिङ्गिनी	५३२
जीवन्ती	२९५
जुआर	६६१
जूही	४९२
ज्योतिष्मती (मालकाँगनी)	९०
झ	
झड़बेर	५७३
ट	
टङ्कारी	३६०
टिंडा	६९०
ड	
डोडिका (करेरुआ)	६९२
ढ	
ढाक	५३६
ढाढोन	५४५
त	
तक्र	७७१
तगर	१९९
तज	२२५
तमाल	५३३
तरबूज	५६०
ताड़	५६४
तामा	६०५
तालमखाना	४१७
तालीसपत्र	२५५
त्रायमाण	४३२
तिधारा थूहर	३०९
तिनिस	५४८
तिरफल	५७

विषयाः	पृ०
तिरिच्छ	५४७
तिल	६५२
तिलक	५०५
तिलकुट	७४६
तिलखली	,,
तीनी	६६०
तीसी	६५३
तुम्बरु	५६
तुलसी	५०९
तूत	५८१
तूतिया	६१०
तून	५३४
तेजपात	२२८
तेजवती (तेजबल)	८९
तेंदू	५६७
तैल	७७९
तोरई	६८५
तोरी	६५४
त्रायमाण	४३३
त्रिफला	१२
थ	
थुनेर	२५४
थूहर	३०८
थूहरभेद	३०९
द	
दण्ड मत्स्य	७२१
दन्ती	४००
दवना	५११
दही	७६७
दाख	५८५
दानकुनी	४५५
दारुहलदी	११९
दालचीनी	२२६
दुद्धी	४५८
दुपहरिया	५०६
दुर्गन्ध खैर	५२७
दूध	७४२, ७५९
दूर्वा श्वेत	३८५

विषयाः	पृ०
देवदारु	१९६
देवदाली	४६९
ध	
धतूरा	३१७
धनियाँ	३४
धमासा	४१२
धातकी	१०९
धान्यवर्ग	६३५
धामिन	५४०
धूप सरल	१९८
धौं	५४०
न	
नकछिकनी	४७४
नख-नखी	२३७
नवनीत (मक्खन)	७७४
नरकट	३७८
नरसल	,,
नलिका	२६६
नाकुली	८२, ८५
नागकेसर	२३०
नागदन्ती	४०२
नागदमनी	४७३
नागपुष्पी	४४३
नागबला	३७१
नागरमोथा	२४४
नाड़ी हिंगु (डिकामली)	५५
नारङ्गी	५६६
नारियल	५५९
नाशपाती	५९०
निर्गुण्डी	३४४
निर्मली	५८४
निष्पाव	६४६
निसोथ	३९७
नींबू	५९५
नीम	३२९
नील	४०६
नीला चित्रक	२४
नीलदूर्वा	३८४

विषयाः	पृ०
नीलम	६२७
नेनुआँ	६८४
नेवारी	४८९
न्यङ्कु (मृग)	७११
प	
पट्टशाक(पटुआशाक)	६६९
पटोल-पत्र	६७६
पठानी लोध	१३०
पतङ्ग	१९३
पमार	६७५
पद्माख	२०२
पन्ना	६२७
परवल	६८६
पर्णमृग (जीव)	६०७
पर्पट	३२५
पर्पटी	२६६
पाकर	५१८
पाठा	३९५
पाठीन (बोआरी-मछली)	७२०
पाढ़ल	२७१
पाढ़ल सफेद (घंटापाढल)	२८०
पाताल गरुडी	४४९
पादी (जीवा)	७१०
पान	२७२
पानी आंमला	५७३
पारद (पारा)	६१३
पारसीक यवानी	२९
पारसीक वचा (खुरासानी वच)	४५
पारिजाता	३३५
पारीष पीपल	५१५
पालक	६६८
पाषाणभेद	१०५
पिण्ड-खजूर	५८७
पिण्डालु	६९१
पितौजिया	५३१
पित्तपापड़ा	६७५

विषयाः	पृ०
पिपलामूल	१९
पियाज	१३५
पीतचन्दन	१९०
पीतल	६११
पीपल	१५
पीपल	५१४
पीलु	५९१
पुंडेरी	२६७
पुखराज	६२७
पुनर्नवा	४२१–४२३
पुष्करमूल	९५
पृश्निपर्णी (पिठवन)	२८७
पृषत (मृग)	७११
पेठा	६७९
पोय	६६५
पोस्ता	१४५
पोस्तादाना	१५४
प्रतुद (पक्षी)	७१४
प्रदीपन विष	६३१
प्रसह (पक्षी)	७०८
प्रियङ्गु	२४८
प्रोष्ठी (पोठी मछली)	७२२
प्लव (पक्षी)	७०९
फ	
फटकिरी	६२०
फरहद	३३४
फाणित (राब)	७९५
फालसा	५८०
फूट	५५८
ब	
बकायन (महानिम्ब)	३३२
बंदा	४५०
बड़	५१३
बड़हल	५५६
बड़ी इलायची	२२१
बड़ी गुमची	१९३
बड़ी चोबचीनी	४९
बड़ी जामुन	५७०

विषयाः	पृ०
बथुआ	६६४
बनमेथी	३९
बबूल	५२९
बरना	५४२
बर्बरी	५१२
बला चतुष्टय	३६६
बला (बरियारा)	३६७
बहेड़ा	९
बाकुची	१२४
बादाम	५८८
बान्दा	४५०
बाणपुष्प	५०२
बालू	६२१
बाँस	३७६
बिजोरा	५९३
बिदारीकन्द	३८७
बिरियासंचर नमक	१६०
बृहती (बड़ी कटोरी)	२८८
बृहदग्निमंथ	२८२
बेंत	३६२
बेर	५७२
बेल	२७४, ५६५, ५५९
बेला	४९०
बेलिया पीपल	५११
बोल	६२२
ब्रह्मपुत्र विष	६३३
ब्राह्मी	४६१
ब्रीहिधान्य	६३७
भ	
भकुर (भाकुर मछली)	७२०
भटेउर	२५४
भंटा	६९०
भद्रमुंज	३८०
भसींडा	७०२
भांग	१४२
भांगरा	४२९
भार्गी (भारंगी)	१०२

विषयाः	पृ०
भिलावा	१३९
भूआमला	४६०
भूतृण	३८४
भोजपत्र	५३५
म	
मकर तेन्दुआ	५६८
मकोय	४३८
मखाना	५७८
मञ्जिष्ठा (मजीठ)	११०
मटर	६४९
मण्डूकपर्णी	४६२
मत्स्य	७१०
मत्स्याक्षी	४५२
मदन (मैनफल)	७७
मद्गुर मत्स्य	७२१
मदिरा	७८५
मधु	७८८
मयूरशिखा	४७८
मरुआ	५१०
मरिच	१७
मरसा लाल-सफेद	६६६
मल्लिका	४९७
मसूर	६४७
महानिंब	३३२
महाबला (सहदेई)	३६८
महाभरी बच	४७
महाशफरी (मछली)	७२१
महुआ	५७९
माचिका (मोइया)	८६
माधवी	४९७
मानकन्द	६९९
मांस	७०५
मांसरोहिणी	३५८
मानिक (चुन्नी)	६२७
माषपर्णी	२९७
मीठा नीबू	५९६
मुचकुन्द	५०४
मुण्डी	४१३

विषयाः	पृ०
मुण्डी (मृग)	७१२
मुद्गपर्णी	२९७
मुरा	२४६
मूँग	६४३
मूँगा	६२८
मूँज (भद्रमुंज)	३७९
मूत्र	७७८
मूर्वा	४३५
मूली	६९७
मूसली काली	३९०
मूसली सफेद	३९१
मूसा	७०६
मूसाकर्णी	४७७
मेथी	३७
मेढ़ाशिंगी	४४३
मैनसिल	६१९
मोखा	५४४
मोचरस	५३८
मोचिका (मोय)	७२०
मोठ	६४६
मोती	६२८
मोथा	२४३
मोरशिखा	४७७
मोसंबी	५९६
मौलसिरी	४९४
य	
यष्टीमधु (मुलेठी)	६५
र	
रक्तपुष्प अड़ूसा	३२२
रक्तशालि	६३७
रक्तार्क (अर्क)	३०४
रतालू	६९४
रसौत	१२२
राई	६५५
राजमाष	६४५
राजावर्त्त (रेवटी)	६२०
राजीव (मृग)	७१२
रामदाना	६६७

विषयाः	पृ०
राल	२११
रास्ना	७९
रीठा	५२९
रूपामाखी	६१०
रेणुका	२५१
रेह का नमक	१६२
रोहिस घास	३८३
रोहू मछली	७१९
रोहेड़ा	५२७
ल	
लक्ष्मणा	३७२
लज्जालु	४५७
लता कस्तूरी	१८३
लहसुन	१३१
लाख	११३
लामज्जक	२६१
लाल चन्दन	१९१
लालचिरचिरा	४१६
लाल चीता	२३
लिसोड़ा	५८३
लोणा छोटी-बड़ी	६७०
लोध	१२८
लोहबान	२१४
लौंग	२१९
व	
वंग (राँगा)	६०६
वंशपत्री	४५२
वंशलोचन	५८
वच	४३
वटपत्री	४५१
वत्सनाभ	६२९
वनककोड़ा	४६६
वनतुलसी	५११
वनहलदी	११७
वर्मीमत्स्य	७२१
वर्षाभू	४२२
वायविडङ्ग	५२
वाराही कंद	३८६

विषयाः	पृ०
विकङ्कत (कंटाई)	५७७
विजैसार	५२४
विडङ्ग भेद	५४
विदारीकन्द	३८८
विदारीकन्द (क्षीर-विदारी)	३८९
विशाला	४०५
विष्किर (पक्षी)	७१३
वीरतरु	४६३
विष्णुक्रान्ता	४५४
वीरण खस	२३९
वृद्धदारक	४०९
वृद्धदारु	४१०
वेतस (वेदमुश्क	३६१
वैदूर्यमणि	६२७
व्याघ्रैरण्ड	३०२
श	
शङ्ख	६२२
शङ्खपुष्पी	४५४
शङ्खालु	६९४
शणपुष्पी	४३०
शतावर	३९२
शम्बर	७१२
शर्करा	७९६
शल्लकी	२१२
शष्कुलीमत्स्य(सौरी)	७२०
शाल	५२०
शालपर्णी	२८५
शालिधान्य	६३५
शिम्बीधान्य	६४३
शिलाजीत	६१२
शिलारस	२१५
शिलीन्ध्र (शिलिन्द मछली)	७१९
शीतलचीनी	२५९
शीसम	५२२
शुक्लजीरक	३१

विषयाः	पृ०
शृङ्गिक विष	६३१
शृङ्गी (सींगी मछली)	७२०
श्वेतदूर्वा	३८५
श्वेतार्क	३०४
श्वेत सारिवा	४२७
ष	
षष्टिक धान्य	६३८
स	
सक्तुक विष	६३०
सज्जी	१६५
सतौना	५४६
सत्तू	७४३
सनाय	४६७
सन्तानिका (मलाई)	७६४
सपादमत्स्य	७२२
सप्तला	३१२
सप्तालुक	६९४
सफेद खैर	५२६
सफेद पाढ़ल (घंटोपादर)	२८०
सफेद सुरमा	६१९
समुद्र नमक	१५८
समुद्रफेन	६०
सम्हालु-निर्गुण्डी	३४४
सरफोंका	४०८
सरसो	६५३
सरल निर्यास	२०८
सर्जक	५२१
सर्पाक्षी	४५३
सहदेवी	३६९
सहिजना	३४०
सागोन	५४९
सातला	३११
साम्भर नमक	१५८
सालई	५२१
साँवा	६५८
सिंघाड़ा	५७८
सितोपला (मिश्री)	७९६
सिन्दुरिया	५०७
सिन्दूर	६११
सिरस	५१८
सिवार	४८७
सिहोरा	५४२
सीसा	६०६
सुगन्धवाला	२३७
सुगन्धवास्तुक	६६४
सुदर्शन	४७६
सुरमा	६१९
सुपारी	५६२
सुहागा	१६९
सूरनकन्द	६९३
सेंधानमक	१५४
सेम	६८८
सेमर	५३७
सेव	५८९
सोआ	३५
सोंचर नमक	१६१
सोंठ	१३
सोना	६०२
सोनापाठा	२८४
सोनामाखी	६०९
सोम	४४५
सोमलता	,,
सोरा (सुवर्चिका)	१६७
सोहागा	६२०
सौंफ	३६
सौराष्ट्रिकविष (सौराष्ट्रविष)	६३१
स्थलपद्म	४८२
स्पृक्का	२६५
स्वर्णकेतकी (पीला केवड़ा)	४९८
स्वर्णगैरिक(सोनागेरु)	६२०
स्वर्णवल्ली	३७४
ह	
हड़संघारी	४१८
हरताल	६१८
हरफारेवड़ी	५७४
हरसिंगार	३३५
हरिन	७११
हरिया शुकचिन	४९
हरीतकी	७
हलदी	११४
हस्त्यालुक	६९४
हस्तिकन्द	७००
हंसराज	४४४
हपुषा (हाऊबेर)	५०
हारिद्रविष	६३०
हालाहल (हलाहल-विष)	३६३
हिङ्गुपत्री	४५१
हिङ्गोट	५३१
हिलसा मछली	७२०
हींग	४१
हुरहुर	४६५
होला	७४५

द्वितीयो भागः

मानपरिभाषाप्रकरण

मागध मान ८०९
गीले तथा सूखे द्रव्यों के मान के विषय में परिभाषा ८११
कुडवसंज्ञक मानपात्र का लक्षण "
कालिङ्गमान "

भेषजविधानप्रकरण

कषाय के भेद ८१३
स्वरस बनाने की विधि "
चावल के धोवन की विधि ८१४
हिम बनाने की विधि "
मन्थ बनाने की विधि "
फाण्ट बनाने की विधि ८१५
कल्क बनाने की विधि "
चूर्ण बनाने की विधि "
अनुपान की मात्रा "
भावना की विधि ८१६
पुटपाक की विधि "
उष्णोदक की विधि "
क्षीरपाक की विधि "
क्वाथ बनाने की विधि "
क्वाथ में साफ शक्कर आदि डालने की मात्रा ८१७
औषध भक्षण की विधि ८१८
अवलेह बनाने की विधि "
गोली बनाने की विधि "
घृत और तेल बनाने की विधि ८१९
सिद्ध हुए स्नेह के लक्षण ८२१
स्नेह परिपाक के प्रकार "
दुग्धपाक तथा आमपाक के दोष "
मृदु आदि पाकों के विषय "
घी, तेल तथा गुड़ के बासी होने की महत्ता ८२२
सन्धानविधि "
आसव तथा अरिष्ट के लक्षण ८२१
सामान्य रूप से अरिष्ट की विधि "
सुरा तथा सुरा की जातियाँ "
वारुणी के लक्षण ८२३
शुक्त का लक्षण "
चुक्र का लक्षण "
तुषोदक, सौवीर, आरनल, काञ्जिक तथा शिण्डाकी के लक्षण "

धात्वादिशोधनमारणविधिप्रकरण

मारण करने के योग्य सुवर्ण का लक्षण ८२४
मारण के अयोग्य सुवर्ण "
सुवर्ण की शोधन विधि "
अशुद्ध सुवर्ण के दोष "
सुवर्ण मारण की विधि "
मारे हुए सोने का गुण ८२६
नहीं मारे हुए सोने के दोष ८२७
महापुट का प्रकार "
गजपुट का प्रकार "
वाराह तथा कौक्कुट पुट का प्रकार ८२८
कपोतपुट का प्रकार "
गोबर का लक्षण "
गोबर के पुट का प्रकार "
भाण्डपुट का प्रकार "
बालुकायन्त्र "
दोलायन्त्र ८२९
स्वेदनयन्त्र "
विद्याधरयन्त्र "
भूधरयन्त्र "
डमरुयन्त्र ८३०
मारणयोग्य चांदी के लक्षण "
मारण के अयोग्य चांदी "
चांदी के शोधन की विधि "
अशुद्ध चाँदी के दोष "
चाँदी मारने की विधि "

मारी हुई चाँदी के गुण	८३१
मारण के योग्य तामा के लक्षण	"
मारण के अयोग्य तामा के लक्षण	"
तामा के शोधन की विधि	"
तामे के ८ दोष	"
तामे के मारने की विधि	८३२
मारे हुए तामे के गुण	"
रांगा का स्वरूप	८३३
अशुद्ध वङ्ग के दोष	"
रांगा तथा सीसा के शोधन की विधि	"
रांगा के मारण की विधि	"
मारे हुए रांगा के गुण	८३४
सीसे का स्वरूप	"
सीसा के शोधन की विधि	"
सीसा के मारने की विधि	"
मारे हुए सीसा के गुण	८३५
अशुद्ध लोहा के दोष	"
लोहा के दोष की शान्ति के लिये शोधनविधि	"
लोहा की मारणविधि	"
मारे हुए लोहे के गुण	८३६
लौहभस्म खाने की मात्रा	"
लौहभस्म खाने के समय त्याज्य द्रव्य	८३७
धातुओं के मारने की साधारण विधि	"
अशुद्ध स्वर्णमाक्षिक के दोष	"
सोनामाखी शोधन की विधि	"
सोनामाखी मारने की विधि	"
रूपामाखी शोधने की विधि	"
रूपामाखी मारने की विधि	८३८
सोनामाखी तथा रूपामाखी के गुण	"
अशुद्ध तूतिया के शोधन की विधि	"
शुद्ध तूतिया के गुण	"
कांसा तथा पीतल के शोधन की विधि	"
कांसा तथा पीतल के मारने की विधि	८३९
मारे हुए कांसा तथा पीतल के गुण	"
सिन्दूर के शोधन की विधि	"
सिन्दूर के गुण	"
शिलाजीत के लक्षण	"
शिलाजीत शोधन की विधि	"
शुद्ध किये हुए शिलाजीत के गुण	८४१
रस की स्वेदनविधि	८४२
" मर्दनविधि	८४३
" मूर्च्छनविधि	"
" ऊर्ध्वपातनविधि	८४४
" अधःपातनविधि	"
पारे के दोषों को दूर करने की विधि	"
पारे के मारने की विधि	८४५
रसकपूर बनाने की विधि	८४६
सिन्दूररस बनाने की विधि	८४७
मारित-मूर्च्छित पारे के गुण	"
हिङ्गुल की शोधन विधि	८४८
शुद्ध हिङ्गुल के गुण	"
सिंगरफ से पारा निकालने की विधि	"
अशुद्ध गन्धक के दोष	"
गन्धक शोधने की विधि	"
शुद्ध गन्धक के गुण	८४९
अशुद्ध अभ्रक के दोष	"
अभ्रक शोधन-मारण विधि	"
धान्याभ्रक बनाने की विधि	८५०
मारे हुये अभ्रक के गुण	"
अशुद्ध हरताल के दोष	"
हरताल शोधने की विधि	"
हरताल मारने की विधि	"
शुद्धाशुद्ध हरताल के गुण	८५१
अशुद्ध मैनसिल का स्वरूप	"
मैनसिल शोधने की विधि	"
शुद्ध की हुई मैनसिल के गुण	"
खपरिया के शोधन की विधि	८५२
शुद्ध खपरिया के गुण	"
उपरसों के शोधन की साधारण विधि	"
अशुद्ध हीरे के दोष	"
हीरा शोधने की विधि	८५३
हीरा मारने की विधि	"
मारे हुए हीरे के गुण	"
शेष रत्नों की शोधन-मारणविधि	"
वत्सनाभ विष के लक्षण	८५४
विष शोधने की विधि	"
विष के गुण	"

उपविषों का निरूपण ८५५
द्रव्य के पूर्ण गुणयुक्त रहने की अवधि ,,
घी तथा तैल के विषय में विशेषता ,,

स्नेहपानविधिप्रकरण

स्नेह के भेद तथा विशेष नाम ८५६
घी तथा तैल पिलाने योग्य व्यक्ति ८५८
मज्जा तथा घी पिलाने योग्य व्यक्ति ,,
शीतादि समयों तथा वातादि दोषों के भेद से स्नेह पीने के समयों में भेद ,,
नस्य आदि लेने में तेल तथा घृत का प्रयोग ८५९
घी आदि के पीने में अनुपान ,,
स्नेह से द्वेष रखने वालों के लिये स्नेह-पान-विधि ,,
स्नेह के न पचने पर कर्त्त ,,
स्नेह न पचने की आशङ्का में कर्त्तव्य ,,
स्नेह पीने से उत्पन्न प्यास की शान्ति ८६०
स्नेह पीने के ...ग्य लोग ,,
स्नेहपान के ...ग्य लोग ,,
स्नेह...न द्वारा भली भाँति स्निग्ध हुए लोगों के लक्षण ,,
रूक्ष तथा अत्यन्त स्निग्ध हुए लोगों के लिये कर्त्तव्य ,,
स्नेहसेवन करने के गुण ८६१
स्नेहसेवन करने के समय त्याज्य कर्म ,,

पञ्चकर्मविधिप्रकरण

पञ्चकर्म के नाम ८६१
वमनकर्म में प्रथम वमन के योग्य समय और रोगियों का निर्देश ,,
वमन करने के अयोग्य लोगों का निर्देश ८६२
वमन कराने की विधि ,,
विरेचन के योग्य समय तथा व्यक्ति ८६५
मृदु, मध्यम तथा क्रूर कोष्ठ वाले मनुष्यों तथा उनके योग्य मात्रा एवं द्रव्यों का वर्णन ८६६
ऋतुभेद से विरेचन द्रव्यों में भेद ८६७
अभयादिमोदक ८६८
विरेचन लेने के बाद कर्त्तव्य ,,
न्यूनाधिक विरेचन का लक्षण और औषध ८६९
अनुवासन तथा निरूह के भेद ८७०
स्नेहवस्ति की विधि ,,
निरूहवस्ति की विधि ८७६
उत्क्लेशन वस्ति ८७८
दोषहर वस्ति ,,
शमन वस्ति ,,
लेखन वस्ति ,,
बृंहणवस्ति ८७९
पिच्छिलवस्ति ,,
निरूह वस्ति की मात्रा ,,
मधुतैलकवस्ति ,,
यापनवस्ति ८८०
युक्तरथवस्ति ,,
उत्तरवस्ति ,,
फलवर्त्ति की विधि ८८१
नस्यग्रहण की विधि ८८२
रेचन नस्य की मात्रा ,,
रेचन नस्य की विधि ८८३
नस्य औषध का प्रमाण ,,
रेचन नस्य के भेद ,,
रेचन नस्य के भेदों के लक्षण ,,
रेचन तथा स्नेहन नस्य के उपयोग ,,
रेचन ओषधियों के गुण ८८४
प्रधमन नस्य की ओषधियाँ ,,
स्नेहननस्य की कल्पना ,,
बृंहण नस्य की विधि ८८५
प्रतिमर्श की मात्रा ८८६
प्रतिमर्श का समय ,,
नस्य की सामान्य विधि ८८७
नस्य देने के पश्चात् निषिद्ध कर्म ,,
नस्य के हीनयोग तथा अतियोग की चिकित्सा ८८८
धूमपान की विधि ,,
धूमपान में ओषधि का कल्क ८९०
गृह में देने योग्य धूम ८९१
धूमपान में त्याग करने योग्य कार्य ,,
गण्डूष की विधि

गण्डूष के भेद	८९२
गण्डूष तथा कवल की ओषधियों का मान	,,
गण्डूष तथा कवल धारण करने में अवस्था की मर्यादा	,,
गण्डूष धारण के गुण	,,
कवलधारण की विधि	,,
प्रतिसारण की विधि	८९३
स्वेद की विधि	,,
तापस्वेद की विधि	८९५
ऊष्मस्वेद की विधि	,,
उपनाहस्वेद की विधि	८९६
द्रवस्वेद की विधि	८९७
सिर में तेल डालने की विधि	८९८
कान में तेल डालने की विधि	८९९
लेप की विधि	९००
दोषघ्न लेप	,,
विषघ्न लेप	,,
मुखकान्तिदायक लेप	९०१
लेप के दो भेद	,,
शोणितस्राव की विधि	,,
वातादि से दूषित रक्तों के लक्षण	९०२
शुद्ध रक्त के लक्षण	,,
रक्तस्राव के विषय	२०३
रक्तस्राव के साधन	,,
सिरामोक्षण के अयोग्य जन	,,
रुधिर की रक्षा करने का कारण	९०५
रक्त के अधिक निकल जाने पर वायु के कुपित होने की चिकित्सा	,,
उत्तम रीति से रक्तस्राव के लक्षण	,,
रक्तस्राव कराने के बाद त्याज्य	,,
नेत्र को स्वच्छ करने की विधि	,,
नेत्र को सेक करने की विधि	,,
नेत्र के आश्च्योतन विधि	९०६
पिण्डी की विधि	९०७
विडालक विधि	,,
तर्पण विधि	,,
तर्पण के योग्य नेत्रों के लक्षण	९०८
रोगभेद से तर्पण धारण करने के काल का भेद	९०८
यथार्थ तर्पण के चिह्न	,,
अतितर्पित नेत्र के लक्षण	९०९
पुटपाक की विधि और भेद	,,
पुटपाकों के धारण काल की अवधि	९१०
तिक्तक द्रव्य	,,
तर्पण तथा पुटपाक धारण किये हुये लोगों के लिये त्याज्य कर्म	,,
अञ्जन की विधि और भेद	,,
लेखनकारिणी वर्त्ति	९१२
रोपणकारिणी वर्त्ति	,,
स्नेहनकारिणी वर्त्ति	,,
लेखनकारिणी रसक्रिया	,,
रोपणकारिणी रसक्रिया	९१३
स्नेहनकारिणी रसक्रिया	,,
लेखन चूर्ण	,,
रोपण चूर्ण	,,
स्नेहन चूर्ण	,,
प्रत्यञ्जन सेवन विधि	९१४
नयनामृत चूर्ण	,,
दृष्टि को स्वच्छ करने वाली शलाका	,,
औषध खाने के पांच समय	,,
निरन्न कोष्ठ में ओषधि सेवन के गुण	९१५
अन्न के साथ ओषधि सेवन के गुण	९१६
ओषधि के पाकापाक का लक्षण	,,
रोगिपरीक्षाप्रकरण	
वाग्भटोक्त रोगी की परीक्षा	९१७
नेत्र की परीक्षा	९१८
जिह्वा की परीक्षा	,,
मूत्र की परीक्षा	,,
स्पर्शद्वारा नाडी की परीक्षा	९१९
रोग जानने के कारण	,,
हेतु का लक्षण	,,
संप्राप्ति के लक्षण	९२०
विकल्पसंप्राप्ति	९२१
प्राधान्यसंप्राप्ति	,,
बलसंप्राप्ति का व्याख्यान	,,
कालसंप्राप्ति का व्याख्यान	९२२

वातादि दोषों में कौन दोष किस ऋतु में प्रकुपित होता है ९२२
पूर्वरूप के लक्षण ,,
लक्षण के लक्षण ९२३
उपशय के लक्षण ,,
वायु के उपशय ९२४
पित्त के उपशय ,,
कफ के उपशय ,,
रोगों के निदान का विवेचन ,,
वायु के प्रकुपित होने के कारण ९२५
पित्त के प्रकुपित होने के कारण ९२६
विदाही के लक्षण ,,
कफ के प्रकुपित होने के कारण ९२७
रोग के कारण स्वरूप रोग की विचित्रता ९२८
स्वस्थ मनुष्य के लक्षण ९२९
अत्यन्त बढ़े हुए दोषादि के लक्षण ९३०
मेदोवृद्धि के लक्षण ९३१
अत्यन्त बढ़े हुये दोष, धातु तथा मलों के कम करने का प्रकार ९३२
क्षीण हुए दोषादि के लक्षण ,,
ओज के क्षय होने का कारण ९३३
ओज के क्षय होने के लक्षण ,,
मल के क्षय होने के लक्षण ,,
मूत्रादि के क्षय होने के लक्षण ,,
क्षीण हुये दोष, धातु तथा मलों को बढ़ाने की विधि ९३४
वात से क्षीण हुआ मनुष्य ,,
बल का क्षय होने में कारण ९३६
बलक्षय के लक्षण ,,
बलवृद्धि के कारण ,,
बलवान् तथा निर्बल के प्रधान लक्षण ,,
परिशिष्ट ९३७

श्रीमद्भावमिश्रप्रणीतः

भावप्रकाशः

'विद्योतिनी' हिन्दीव्याख्योपेतः

[पूर्वखण्डम्]

अथायुर्वेदप्रवक्तृप्रादुर्भावप्रकरणम् १।

गजमुखममरप्रवरं सिद्धिकरं विघ्नहर्तारम्।
गुरुमथ गजनयनप्रदमिष्टकरीमिष्टदेवतां वन्दे ॥ १ ॥

श्रीमद्गुरोर्गुरुपदं बहुशोऽभिवन्द्यायुर्वेदमाप्तुमनसोऽद्य शिशोर्हदीमाम्।
'भावप्रकाश'गतभावविभावनार्थं विद्योतिनीं ननु तनोत्यतनुं मुदाऽयम् ॥

देवताओं में सर्वश्रेष्ठ, अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, इन आठ सिद्धियों के देनेवाले और विघ्नों को दूर करनेवाले तथा हाथी के समान जिनका मुख है, ऐसे श्री गणेशजी और ज्ञानरूपी नेत्रों को देनेवाले श्रीगुरुदेव तथा अभीष्ट सिद्ध करनेवाले श्री इष्टदेव को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

कवेरुक्तिः—

आयुर्वेदागमनं क्रमेण येनाभवद्भूमौ। प्रथमं लिखामि तमहं नानातन्त्राणि संदृश्य ॥ २ ॥

जिस क्रमसे पृथ्वी पर आयुर्वेद अर्थात् वैद्यकशास्त्र का अवतरण हुआ, सबसे पहिले उसी (क्रम) को मैं अनेक महर्षिप्रणीत तन्त्रों (ग्रन्थों) को देखकर लिख रहा हूँ ॥ २ ॥

अथायुर्वेदस्य लक्षणमाह—

आयुर्हिताहितं व्याधेर्निदानं शमनं तथा। विद्यते यत्र विद्वद्भिः स आयुर्वेद उच्यते ॥ ३ ॥

आयुर्वेद का लक्षण—जिस शास्त्र में आयुष्य के लिये हितकारक और अहितकारक पदार्थों का उल्लेख हो और रोगों के निदान अर्थात् उत्पन्न होने का प्रधान कारण और उनकी शान्ति का उपाय अर्थात् चिकित्सा का वर्णन किया गया हो उसे विद्वान् लोग आयुर्वेद कहते हैं ॥ ३ ॥

अथायुर्वेदस्य निरुक्तिमाह—

अनेन पुरुषो यस्मादायुर्विन्दति वेत्ति च। तस्मान्मुनिवरैरेष आयुर्वेद इति स्मृतः ॥ ४ ॥

आयुर्वेद की निरुक्ति—इस शास्त्र के द्वारा प्राणिमात्र को दीर्घायुष्यत्व की प्राप्ति तथा आयु-विज्ञान विषयक सभी तथ्यों का ज्ञान होने के कारण दूसरों की आयु का परिज्ञान होता है, इसी से मुनिश्रेष्ठों ने इसे 'आयुर्वेद' संज्ञा दी है।

*शरीरजीवयोर्योगो जीवनं तेनावच्छिन्नः काल आयुः, आयुर्वेदद्वारा आयुष्याण्यनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि ज्ञात्वा तेषां सेवनत्यागाभ्यामारोग्येणायुर्विन्दति, तेनैव हेतुना परस्याप्यायुर्वेत्ति च ॥ ४ ॥

शरीर और जीव का जो संयोग है, उसे 'जीवन' कहते हैं और जितने समय तक वह संयोग बना रहता है, उतने समय का नाम आयु है। आयुर्वेद के द्वारा आयु के लिये हितकर तथा अहित-कर द्रव्य, गुण और कर्मों को जानकर तथा उनके सेवन और त्याग द्वारा अर्थात् आयु के लिये हितकर द्रव्य-गुण-कर्मों का सेवन और अहितकर द्रव्य-गुण-कर्मों का परित्याग करने के द्वारा, आरोग्य लाभ करने से मनुष्य दीर्घायु लाभ कर सकता तथा उक्त कारणों से दूसरे की आयु को भी जानने में समर्थ हो सकता है ॥ ४ ॥

क्रममाह, तत्रादौ ब्राह्मणः प्रादुर्भावः—

विधाताऽथर्वसर्वस्वमायुर्वेदं प्रकाशयन्। स्वनाम्ना संहितां चक्रे लक्षश्लोकमयीमृजुम् ॥५॥

आयुर्वेद का उत्पत्ति क्रम—सबसे पहले ब्रह्माजी ने अथर्ववेद का सर्वस्व अर्थात् सारभूत जो आयुर्वेद है, उसका प्रकाश करते हुए, अपने नामकी अर्थात् 'ब्रह्मसंहिता' इस नामकी एक १ लाख श्लोकोंवाली एक सरल संहिता बनाई ॥ ५ ॥

ततः प्रजापतिं दक्षं दक्षं सकलकर्मसु। विधिर्धीनीरधिः साङ्गमायुर्वेदमुपादिशत् ॥ ६ ॥

इसके बाद बुद्धि के समुद्र ब्रह्माजी ने सभी कार्यों के करने में निपुण दक्ष नामक प्रजापति को अङ्ग तथा उपाङ्गों के सहित यह (सम्पूर्ण) आयुर्वेद पढ़ाया ॥ ६ ॥

अथ दक्षप्रादुर्भावः—

अथ दक्षः क्रियादक्षः स्वर्वैद्यौ वेदमायुषः। वेदयामास विद्वांसौ सूर्यांशौ सुरसत्तमौ ॥ ७ ॥

दक्षप्रजापति से आयुर्वेद की उत्पत्ति—इसके (ब्रह्माजी से आयुर्वेद प्राप्त करने के) बाद सब क्रियाओं में निपुण दक्ष नामक प्रजापति ने स्वर्ग के वैद्य, देवगणों में श्रेष्ठ, सूर्य के पुत्र और विद्वान् दोनों अश्विनी-कुमारों को आयुर्वेद सिखाया ॥ ७ ॥

अथाश्विनीसुतप्रादुर्भावः—

दक्षादधीत्य दस्रौ वितनुतः संहितां स्वीयाम्।
सकलचिकित्सकलोकप्रतिपत्तिविवृद्धये धन्याम् ॥ ८ ॥

अश्विनी-कुमारों से आयुर्वेद की उत्पत्ति—दोनों अश्विनी-कुमारों ने दक्ष नामक प्रजापति से आयुर्वेद पढ़कर सभी चिकित्सक लोगों के ज्ञान की वृद्धि के लिए अपनी प्रशंसनीय संहिता (अश्विनीकुमारसंहिता) बनाई ॥ ८ ॥

स्वयम्भुवः शिरश्छिन्नं भैरवेण रुषाऽथ तत्। अश्विभ्यां संहितं तस्मात्तौ जातौ यज्ञभागिनौ ॥

इसके बाद जब क्रुद्ध होकर भैरवजी ने ब्रह्माजी का शिर काट डाला था, तब अश्विनीकुमारों ने उसे फिर से जोड़ दिया था। इस कारण उसी दिन से वे दोनों यज्ञमें भाग पाने के अधिकारी हुए ॥

देवासुरणे देवा दानवैर्ये क्षताः कृताः। अक्षतास्ते कृताः सद्यो दस्राभ्यामद्भुतं महत् ॥१०॥

जब देवता तथा दैत्यों का युद्ध हुआ, तब उसमें जिन देवताओं को दैत्यों ने घायल कर दिया था, उन सबों को अश्विनी-कुमारों ने तत्क्षण (चिकित्सा करके) क्षत (घाव) से रहित (चङ्गा) कर दिया, उस समय उन दोनों का वह कार्य अत्यन्त अद्भुत प्रतीत हुआ ॥ १० ॥

वज्रिणोऽभूद् भुजस्तम्भः स दस्राभ्यां चिकित्सितः।
सोमान्निपतितश्चन्द्रस्ताभ्यामेव सुखीकृतः ॥ ११ ॥

जब इन्द्र की भुजा का स्तम्भन हो गया था तथा चन्द्रमा जब सोमलोक से गिर पड़े थे, तब इन्हीं अश्विनी-कुमारों ने (चिकित्सा करके) उन्हें सुखी किया था ॥ ११ ॥

विशीर्णा दशनाः पूष्णो नेत्रे नष्टे भगस्य च। शशिनो राजयक्ष्माऽभूदश्विभ्यां ते चिकित्सिताः॥

जब पूषा नामक सूर्य के दांत टूट गये और भग नामक सूर्य के नेत्र फूट गये थे तथा चन्द्रमा को राजयक्ष्मा हो गया था, तब इन लोगों की भी चिकित्सा अश्विनी-कुमारों ने ही की थी ॥१२॥

भार्गवश्च्यवनः कामी वृद्धः सन् विकृतिं गतः। वीर्यवर्णस्वरोपेतः कृतोऽश्विभ्यां पुनर्युवा ॥

भृगु महर्षि के गोत्र में उत्पन्न कामी च्यवन ऋषि जब वृद्ध होने से कुरूप हो गये थे, तब अश्विनी-कुमारों ने (चिकित्सा द्वारा) वीर्य, वर्ण और स्वर से युक्त करके फिर से उन्हें युवा कर दिया था । १३ ।

एतैश्चान्यैश्च बहुभिः कर्मभिर्भिषजां वरौ। बभूवतुर्भृशं पूज्याविन्द्रादीनां दिवौकसाम् ॥

इन्हीं सब कार्यों एवं और-और भी बहुत से कार्यों के द्वारा वैद्यों में श्रेष्ठ ये दोनों अश्विनी-कुमार इन्द्रादिक देवताओं के अत्यन्त पूज्य हुए ॥ १४ ॥

अथेन्द्रप्रादुर्भावः—

संदृश्य दस्रयोरिन्द्रः कर्माण्येतानि यत्नवान्। आयुर्वेदं निरुद्वेगं तौ ययाचे शचीपतिः ॥१५॥

इन्द्र से आयुर्वेद की उत्पत्ति-शची (इन्द्र की स्त्री) पति इन्द्र ने अश्विनी-कुमारों के पूर्वोक्त कार्यों को देख कर अतिशय यत्नशील होते हुए उन दोनों से निरुद्वेग होकर आयुर्वेद प्राप्त करने की प्रार्थना की ॥ १५ ॥

नासत्यौ सत्यसन्धेन शक्रेण किल याचितौ। आयुर्वेदं यथाऽधीतं ददतुः शतमन्यवे ॥१६ ॥

तब सत्यसन्ध (दृढ़प्रतिज्ञ) इन्द्र के प्रार्थना करने पर अश्विनी-कुमारों ने जितना पढ़ा था, उतना सम्पूर्ण आयुर्वेद इन्द्र को पढ़ा दिया ॥ १६ ॥

नासत्याभ्यामधीत्यैव आयुर्वेदं शतक्रतुः। अध्यापयामास बहूनात्रेयप्रमुखान्मुनीन् ॥ १७ ॥

अश्विनी-कुमारोंसे आयुर्वेद पढ़कर इन्द्रने भी आत्रेयादिक बहुतसे मुनियोंको पढ़ाया ॥ १७ ॥

अथात्रेयप्रादुर्भावः—

एकदा जगदालोक्य गदाकुलमितस्ततः। चिन्तयामास भगवानात्रेयो मुनिपुङ्गवः ॥ १८ ॥

आत्रेय से आयुर्वेद की उत्पत्ति-एक समय मुनियों में श्रेष्ठ भगवान् आत्रेयजी इधर उधर (चारों तरफ) संसार के प्राणी को रोग से व्याकुल देखकर विचार करने लगे ॥ १८ ॥

किं करोमि क्व गच्छामि कथं लोका निरामयाः। भवन्ति सामयानेतान्न शक्नोमि निरीक्षितुम् ॥

मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? और किस उपाय से संसार के प्राणी रोग रहित हों? मैं इन सब को इस तरह रोग से युक्त अब अधिक देखने के लिये समर्थ नहीं हूँ ॥ १९ ॥

दयालुरहमत्यर्थं स्वभावो दुरतिक्रमः। एतेषां दुःखतो दुःखं ममापि हृदयेऽधिकम् ॥ २० ॥

क्योंकि मैं अत्यन्त दयालु स्वभाव का हूँ और स्वभाव दुरतिक्रम होता है अर्थात् स्वभाव को कोई कभी बदल नहीं सकता। अस्तु, इन सबों को दुःख होने से मेरे भी हृदय में दुःख हो रहा है ॥ २० ॥

आयुर्वेदं पठिष्यामि नैरुज्याय शरीरिणाम्। इति निश्चित्य गतवानात्रेयस्त्रिदशालयम् ॥२१॥

अतः इन प्राणियों के आरोग्यार्थ अब मैं आयुर्वेद पढूंगा। ऐसा निश्चय करके आत्रेय मुनि स्वर्गलोक (इन्द्रपुरी अमरावती) को गये ॥ २१ ॥

तत्र मन्दिरमिन्द्रस्य गत्वा शक्रं ददर्श सः। सिंहासनसमासीनं स्तूयमानं सुरर्षिभिः ॥२२॥
भासयन्तं दिशो भासा भास्करप्रतिमं त्विषा। आयुर्वेदमहाऽऽचार्यं शिरोधार्यं दिवौकसाम् ॥

वहाँ इन्द्र के भवन में जाकर देवर्षि लोगों से स्तुति किये जाते, सिंहासन पर बैठे, सूर्य के समान अपने प्रकाश से दशों दिशाओं को प्रकाशित करते हुए, आयुर्वेद के महान् आचार्य और देवताओं के शिरोमणि इन्द्र भगवान् को उन्होंने देखा ॥ २२–२३ ॥

शक्रस्तु तं निरीक्ष्यैव त्यक्तसिंहासनः स्थितः। तमग्रे पूजयामास भृशं भूरितपःकृशम् ॥२४॥
कुशलं परिपप्रच्छ तथाऽऽगमनकारणम्। स मुनिर्वक्तुमारेभे निजागमनकारणम् ॥ २५ ॥

इन्द्र भगवान् भी उन आत्रेयमुनि को देखते ही सिंहासन छोड़कर खड़े हो गये और तपस्या करने से जिनका शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया था, ऐसे उन (आत्रेयमुनि) का पहले भली भाँति पूजन किया, तत्पश्चात् कुशल तथा आने का कारण पूछा। तदनन्तर आत्रेय मुनि भी अपने आने का जो कारण था, उसे कहने लगे ॥ २४–२५ ॥

देवराज ! न राजाऽसि दिव एव यतो भवान्। विधात्रा विहितो यस्मात्त्रिलोकीलोकपालकः ॥
व्याधिभिर्व्यथिता लोकाः शोकाकुलितचेतसः। भूतले सन्ति सन्तापं तेषां हन्तुं कृपां कुरु ॥

आत्रेयने कहा—हे देवेन्द्र ! आप केवल स्वर्गलोक के ही राजा नहीं हैं, किन्तु विधाता ने आपको तीनों लोकों के लोगों का भी पालन करने के लिये राजा बनाया है। अतएव इस समय पृथ्वीतल में रोगों से पीड़ित तथा शोक से व्याकुल चित्तवाले जो प्राणी हैं, उन सबों का सन्ताप दूर करने की कृपा करें ॥ २६–२७ ॥

आयुर्वेदोपदेशं मे कुरु कारुण्यतो नृणाम्। तथेत्युक्त्वा सहस्राक्षोऽध्यापयामास तं मुनिम् ॥
मुनीन्द्र इन्द्रतः साङ्गमायुर्वेदमधीत्य सः। अभिनन्द्य तमाशीर्भिराजगाम पुनर्महीम् ॥२९॥

आत्रेयने कहा—हे देवेन्द्र ! प्राणियों के कल्याण के लिये दया करके आप मुझे आयुर्वेद का उपदेश कीजिये। यह सुन इन्द्रने 'तथास्तु' कहकर आत्रेय को आयुर्वेद पढ़ाया। तदनुसार मुनिश्रेष्ठ आत्रेय जी इन्द्र से शल्य-शालाक्य-कायचिकित्सा भूतविद्या-कौमारतन्त्र-अगदतन्त्र-रसायनतन्त्र और वाजीकरणतन्त्र इन ८ अङ्गों के सहित आयुर्वेद का अध्ययन कर और उन (इन्द्र) का आशीर्वाद द्वारा अभिनन्दन करके फिर पृथ्वी पर लौट आये ॥ २८–२९ ॥

अथात्रेयो मुनिश्रेष्ठो भगवान् करुणाऽऽकरः। स्वनाम्ना संहितां चक्रे नरवर्गानुकम्पया ॥३०॥
ततोऽग्निवेशं भेडञ्च जातूकर्णं पराशरम्। क्षीरपाणिञ्च हारीतमायुर्वेदमपाठयत् ॥ ३१ ॥

इसके बाद करुणा-निधान मुनिश्रेष्ठ भगवान् आत्रेय ने मनुष्य वर्ग पर कृपा करके अपने नाम से आत्रेयसंहिता नामक ग्रन्थ बनाया और अग्निवेश-भेड-जातूकर्ण-पराशर-क्षीरपाणि और हारीत इन ६ ऋषियों को आयुर्वेद पढ़ाया ॥ ३०–३१ ॥

तन्त्रस्य कर्ता प्रथममग्निवेशोऽभवत्पुरा। ततो भेडादयश्चक्रुः स्वं स्वं तन्त्रं कृतानि च ॥३२॥
श्रावयामासुरात्रेयं मुनिवृन्देन वन्दितम्। श्रुत्वा च तानि तन्त्राणि हृष्टोऽभूदत्रिनन्दनः ॥३३॥
यथावत्सूत्रितं दृष्ट्वा प्रहृष्टा मुनयोऽभवन्। दिवि देवर्षयो देवाः श्रुत्वा साध्विति चाब्रुवन् ॥

प्राचीन समय में उन ६ ऋषियों में से प्रथम तन्त्र (ग्रन्थ) के कर्त्ता अग्निवेश हुए। उनके बाद भेडादिक ऋषियोंने भी अपने २ नामसे एक २ तन्त्र बनाया और उन बनाये हुये अपने २

तन्त्रों को मुनिवृन्द से वन्दित महर्षि आत्रेयजी को सुनाया। उन तन्त्रों को सुन कर अत्रि महर्षि के पुत्र (आत्रेय) अत्यन्त प्रसन्न हुये और जैसे चाहिए वैसे बने हुये अपने २ तन्त्रों को देखकर तन्त्रकर्त्ता अग्निवेशादि ऋषिवृन्द भी अत्यन्त हर्षित हुए और स्वर्ग में देवर्षि तथा देवता लोगों ने भी उन तन्त्रों को सुनकर साधु २ अर्थात् 'बहुत अच्छा हुआ-बहुत अच्छा हुआ' ऐसा कहा ॥३२-३४॥

अथ भरद्वाजप्रादुर्भावः—

एकदा हिमवत्पार्श्वे दैवादागत्य सङ्गताः। मुनयो बहवस्तेषां नामभिः कथयाम्यहम् ॥ ३५ ॥
भरद्वाजो मुनिवरः प्रथमं समुपागतः। ततोऽङ्गिरास्ततो गर्गो मरीचिर्भृगुभार्गवौ ॥ ३६ ॥
पुलस्त्योऽगस्तिरसितो वसिष्ठः सपराशरः। हारीतो गौतमः सांख्यो मैत्रेयश्च्यवनोऽपि च ॥
जमदग्निश्च गार्ग्यश्च कश्यपः काश्यपोऽपि च। नारदो वामदेवश्च मार्कण्डेयः कपिञ्जलः ॥३८॥
शाण्डिल्यः सहकौण्डिन्यः शाकुनेयश्च शौनकः। आश्वलायनसांकृत्यौ विश्वामित्रः परीक्षकः॥३९॥
देवलो गालवो धौम्यः काप्यकात्यायनावुभौ। काङ्कायनो वैजवापः कुशिको बादरायणः॥४०॥
हिरण्याक्षश्च लौगाक्षिः शरलोमा च गोभिलः। वैखानसा बालखिल्यास्तथैवान्ये महर्षयः॥४१॥
ब्रह्मज्ञानस्य निधयो यमस्य नियमस्य च। तपसस्तेजसा दीप्ता हूयमाना इवाग्नयः ॥४२॥
सुखोपविष्टास्ते तत्र सर्वे चक्रुः कथामिमाम् ॥

भरद्वाज से आयुर्वेद की उत्पत्ति-एक समय अकस्मात् हिमालय प्रदेश में मुनि लोग इकट्ठे हुए। उनमें सब से पहले मुनियों में श्रेष्ठ भरद्वाजजी आये, तदनन्तर अङ्गिरा, फिर गर्ग, मरीचि, भृगु, भार्गव, पुलस्त्य, अगस्ति, असित और पराशर के सहित वशिष्ठ, हारीत, गौतम, सांख्य, मैत्रेय, च्यवन, जमदग्नि, गार्ग्य, कश्यप, काश्यप, नारद, वामदेव, मार्कण्डेय, कपिञ्जल और कौण्डिन्य के साथ शाण्डिल्य, शाकुनेय, शौनक, आश्वलायन, सांकृत्य, विश्वामित्र, परीक्षक, देवल, गालव, धौम्य, काप्य, कात्यायन, काङ्कायन, वैजवाप, कुशिक, बादरायण, हिरण्याक्ष, लौगाक्षि, शरलोमा, गोभिल, वैखानस और बालखिल्य तथा और भी महर्षि लोग आये और ब्रह्मज्ञान तथा यम-नियम के निधि, हवन जिसमें हो रहा हो ऐसे प्रदीप्त अग्नि के समान, तप के तेज से प्रकाशमान, उस पर्वत पर सुखपूर्वक बैठे हुए वे सब मुनि लोग (आपस में) यह बात चीत करने लगे ॥ ३५-४२॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां मूलमुक्तं कलेवरम्। तच्च सर्वार्थसंसिद्ध्यै भवेद्यदि निरामयम् ॥ ४३ ॥
तपःस्वाध्यायधर्माणां ब्रह्मचर्यव्रतायुषाम्। हर्त्तारः प्रसृता रोगा यत्र तत्र च सर्वतः ॥ ४४ ॥

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों का मूल शरीर है और वह (शरीर) सभी पुरुषार्थों को सिद्ध करने के लिए तब ही मूल हो सकता है जब रोग से रहित हो। लेकिन, तप, स्वाध्याय (वेदाध्ययन), धर्म, ब्रह्मचर्य और व्रत तथा आयु को नष्ट करनेवाले रोग जहाँ-तहाँ सभी स्थानों में फैले हुये हैं ॥ ४३-४४॥

रोगाः कार्श्यकरा बलक्षयकरा देहस्य चेष्टाहरा
दृष्टा इन्द्रियशक्तिसङ्क्षयकराः सर्वाङ्गपीडाकराः।
धर्मार्थाखिलकाममुक्तिषु महाविघ्नस्वरूपा बलात्
प्राणानाशु हरन्ति सन्ति यदि ते क्षेमं कुतः प्राणिनाम् ॥ ४५ ॥
तत्तेषां प्रशमाय कश्चन विधिश्चिन्त्यो भवद्भिर्बुधै-
र्योग्यैरित्यभिधाय संसदि भरद्वाजं मुनिं तेऽब्रुवन्।
त्वं योग्यो भगवन् सहस्रनयनं याचस्व लब्धं क्रमा-
दायुर्वेदमधीत्य यं गदभयान्मुक्ता भवामो वयम् ॥ ४६ ॥

(जो कि) प्राणियों के शरीरों को कृश, बल का नाश, देह की चेष्टा का हरण, इन्द्रियों की शक्ति का ह्रास और सम्पूर्ण अङ्गों में पीड़ा करनेवाले तथा धर्म, अर्थ और सम्पूर्ण कामना तथा मुक्ति के विषय में अत्यन्त विघ्नस्वरूप होकर बलपूर्वक तत्क्षण प्राणों का हरण कर लेते हैं। ऐसे ये रोग यदि वर्त्तमान हैं तो प्राणियों का कल्याण कहाँ से हो सकता है। अतः उन रोगों को दूर करने के लिये आप सब योग्य विद्वानों को कोई उपाय सोचना चाहिये। इस प्रकार सभा में कह कर उन लोगों ने भरद्वाज मुनि से कहा—हे भगवन्! आप इस कार्य को करने के योग्य हैं। अतः इन्द्र से आप ही आयुर्वेद पाने के लिये प्रार्थना करें। फिर इन्द्र से प्राप्त किया हुआ जो आयुर्वेद होगा, उसे हम लोग क्रम से पढ़कर रोगसम्बन्धी भय से मुक्त हो जावेंगे ॥ ४५-४६ ॥

इत्थं स मुनिभिर्योग्यैः प्रार्थितो विनयान्वितैः। भरद्वाजो मुनिश्रेष्ठो जगाम त्रिदशालयम् ॥४७॥
तत्रेन्द्रभवनं गत्वा सुरर्षिगणमध्यगम्। दृष्टवान् वृत्रहन्तारं दीप्यमानमिवानलम् ॥४८॥
दृष्ट्वैव स मुनिं प्राह भगवान् मघवा मुदा। धर्मज्ञ! स्वागतं तेऽथ मुनिं तं समपूजयत् ॥४९॥

इस प्रकार जब विनय से युक्त हो श्रेष्ठ मुनिवरों ने प्रार्थना की, तब मुनियों में श्रेष्ठ भरद्वाज जी स्वर्गलोक को गये। वहाँ इन्द्र के भवन में पहुँच कर उन्होंने प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशमान, देवर्षिगणों के मध्य में स्थित, वृत्रासुर को मारनेवाले इन्द्र को देखा। भरद्वाज मुनि को देखते ही भगवान् इन्द्र ने प्रसन्नता के साथ कहा—हे धर्म के जाननेवाले मुने! आपका स्वागत है। इसके बाद उन भरद्वाज मुनि का विधिपूर्वक पूजन किया ॥ ४७-४९ ॥

सोऽभिगम्य जयाशीर्भिरभिनन्द्य सुरेश्वरम्। ऋषीणां वचनं सम्यक् श्रावयामास तत्त्वतः ॥५०॥
व्याधयो हि समुत्पन्नाः सर्वप्राणिभयङ्कराः। तेषां प्रशमनोपायं यथावद्वक्तुमर्हसि ॥५१॥
अपाठयन् मुनिं साङ्गमायुर्वेदं शतक्रतुः। जीवेद्वर्षसहस्राणि देही नीरुङ् निशम्य यम् ॥५२॥

तदनन्तर उन भरद्वाज मुनि ने भी समीप जाकर जयशब्द युक्त आशीर्वादों से इन्द्र का अभिनन्दन करके ऋषियों के कहे हुये वचनों को यथार्थ रूप से भली भाँति कह सुनाया और कहा कि हे देवेन्द्र! इस समय संसार में सब प्राणियों के लिये भयङ्कर अनेक रोग उत्पन्न हुये हैं। उनके दूर करने का उपाय जिस तरह से हो, उस तरह से कहिये अर्थात् मुझे आयुर्वेद पढ़ाइये। भरद्वाज के इस वचन के सुनने के बाद इन्द्र ने मुनि को अङ्गों के सहित उस आयुर्वेद को पढ़ाया, जिसे सुनकर प्राणी रोग से रहित होकर हजारों वर्षों तक जी सकें ॥ ५०-५२ ॥

सोऽनन्तपारं त्रिस्कन्धमायुर्वेदं महामुनिः। यथावदचिरात्सर्वं बुबुधे तन्मना मुनिः ॥५३॥
तेनायुः सुचिरं लेभे भरद्वाजो निरामयम्। अन्यानपि मुनींश्चक्रे नीरुजः सुचिरायुषः ॥५४॥

महामुनि भरद्वाजजी ने तन्मनस्क होकर जिसके पार का अन्त नहीं है तथा जिसके हेतु–लिङ्ग और औषधरूपी तीन स्कन्ध हैं, ऐसे आयुर्वेद को जैसा का तैसा थोड़े ही दिनों में पूर्णरूपेण (इन्द्रसे) समझ लिया और उसी से रोग रहित होकर दीर्घ आयु को प्राप्त किया तथा दूसरे मुनियों को भी रोग से रहित दीर्घ आयुवाला बना दिया ॥ ५३-५४ ॥

तत्तन्त्रजनितज्ञानचक्षुषा ऋषयोऽखिलाः। गुणान्द्रव्याणि कर्माणि दृष्ट्वा तद्विधिमाश्रिताः ॥
आरोग्यं लेभिरे दीर्घमायुश्च सुखसंयुतम्। आयुर्वेदोक्तविधिनाऽन्येऽपि स्युर्मुनयो यथा ॥५६॥

तदनन्तर भरद्वाज मुनि के बनाये हुये तन्त्र (ग्रन्थ) से उत्पन्न ज्ञानरूपी नेत्रों के द्वारा सम्पूर्ण ऋषियों ने भी गुण–द्रव्य और कर्मों को देखकर तथा उस तन्त्र में कही हुई विधियों का आश्रय लेकर आरोग्य तथा सुख से युक्त दीर्घ आयु प्राप्त किया और उसी तरह अन्यान्य मुनियोंने भी आयुर्वेद में कही हुई विधियों के द्वारा आरोग्यता तथा सुख से युक्त दीर्घ आयु पायी ॥५५-५६॥

अथ चरकप्रादुर्भावः—

यदा मत्स्यावतारेण हरिणा वेद उद्धृतः। तदा शेषश्च तत्रैव वेदं साङ्गमवाप्तवान् ॥५७॥
अथर्वान्तर्गतं सम्यगायुर्वेदं च लब्धवान्। एकदा स महीवृत्तं द्रष्टुं चर इवागतः ॥५८॥
तत्र लोकान्गदैर्ग्रस्तान्व्यथया परिपीडितान्। स्थलेषु बहुषु व्यग्रान् म्रियमाणांश्च दृष्टवान्॥५९॥
तान्दृष्ट्वाऽतिदयायुक्तस्तेषां दुःखेन दुःखितः। अनन्तश्चिन्तयामास रोगोपशमकारणम्॥६०॥
सञ्चिन्त्य स स्वयं तत्र मुनेः पुत्रो बभूव ह। प्रसिद्धस्य विशुद्धस्य वेदवेदाङ्गवेदिनः ॥६१॥

चरक से आयुर्वेद की उत्पत्ति-जिस समय मत्स्यावतार द्वारा भगवान् विष्णु ने वेदों का उद्धार किया था। उस समय शेष भगवान् ने उसी स्थान पर अङ्गों के सहित वेदों को प्राप्त किया और अथर्ववेद के अन्तर्गत जो आयुर्वेद था, उसे भी भली भाँति से प्राप्त किया। एक समय वही शेषजी चर (जासूस) की भाँति छिपे तौर से भूलोक (संसार) का वृत्तान्त जानने के लिये पृथिवी पर आये और यहां उन्होंने बहुत से स्थानों पर लोगों को रोगों से ग्रस्त एवं व्यथा से अत्यन्त पीड़ित तथा व्यग्र एवं मरते हुये देखा। उन लोगों को देख कर वे अत्यन्त दया से युक्त हो उन सबों के दुःख से दुःखित होते हुये रोगों से निवृत्त होने का उपाय सोचने लगे। इस भाँति सोच विचार कर स्वयं शेष भगवान् इसी भूलोक में वेद और वेद के व्याकरणादि ६ अङ्गों के जाननेवाले 'विशुद्ध' नामक प्रसिद्ध मुनि के पुत्र हुए ॥ ५७–६१ ॥

यतश्चर इवायातो न ज्ञातः केनचिद्यतः। तस्माच्चरकनाम्नाऽसौ ख्यातश्च क्षितिमण्डले ॥६२॥
स भाति चरकाचार्यो देवाचार्यो यथा दिवि। सहस्रवदनस्यांशो येन ध्वंसो रुजां कृतः॥६३॥
आत्रेयस्य मुनेः शिष्या अग्निवेशादयोऽभवन्। मुनयो बहवस्तैश्च कृतं तन्त्रं स्वकं स्वकम् ॥
तेषां तन्त्राणि संस्कृत्य समाहृत्य विपश्चिता। चरकेणात्मनो नाम्ना ग्रन्थोऽयं चरकः कृतः ॥

यतः शेष भगवान् चर की भाँति छिप कर आये और किसीने उनको नहीं पहचाना। अतः वे 'चरक' नाम से भूमण्डल में विख्यात हुए जिन्होंने रोगों का नाश कर दिया वे शेषजी के अंश चरकाचार्य स्वर्ग में देवताओं के आचार्य बृहस्पति के समान संसार में सुशोभित हुए। पूर्वोक्त आत्रेय महर्षि के शिष्य अग्निवेशादि मुनिवरोंने अपने २ जिन २ तन्त्रों की रचना की थी उन सभी का प्रतिसंस्कार तथा सङ्ग्रह करके आचार्य चरक ने अपने नाम से 'चरक' ग्रन्थ बनाया ॥६२–६५॥

अथ धन्वन्तरिप्रादुर्भावः—

एकदा देवराजस्य दृष्टिर्निपतिता भुवि। तत्र तेन नरा दृष्टा व्याधिभिर्भृशपीडिताः ॥६६॥
तान्दृष्ट्वा हृदयं तस्य दयया परिपीडितम्। दयाऽऽर्द्रहृदयः शक्रो धन्वन्तरिमुवाच ह ॥६७॥
धन्वन्तरे! सुरश्रेष्ठ! भगवन्! किञ्चिदुच्यते। योग्यो भवसि भूतानामुपकारपरो भव ॥६८॥
उपकाराय लोकानां केन किं न कृतं पुरा। त्रैलोक्याधिपतिर्विष्णुरभून्मत्स्यादिरूपवान्॥६९॥
तस्मात्त्वं पृथिवीं याहि काशीमध्ये नृपो भव। प्रतीकाराय रोगाणामायुर्वेदं प्रकाशय ॥७०॥
इत्युक्त्वा सुरशार्दूलः सर्वभूतहितेप्सया। समस्तमायुषो वेदं धन्वन्तरिमुपादिशत् ॥७१॥

धन्वन्तरि से आयुर्वेद की उत्पत्ति-एक समय देवताओं के राजा इन्द्र की दृष्टि भूलोक पर पड़ी तो उन्होंने मनुष्यों को रोगों से अत्यन्त पीड़ित देखा। यह देख उनका हृदय दया से अत्यन्त पीड़ा युक्त हो गया और उन्होंने धन्वन्तरि से कहा-हे देवताओं में श्रेष्ठ, भगवान् धन्वन्तरि! मैं आप से कुछ कहता हूँ। क्योंकि उसके योग्य आप ही हैं। आप प्राणियों के उपकार करने में तत्पर हों। पहले समय में लोगों के उपकार के लिये किसने क्या नहीं किया, यहाँ तक कि त्रिलोकी के स्वामी विष्णु भगवान् ने भी (परोपकार के लिये) मछली आदि का रूप धारण किया था।

इसलिये आप पृथ्वीतल पर जावें और काशीपुरी में वहाँ के राजा होवें एवं रोगों को दूर करने के लिये आयुर्वेद का प्रकाश करें। ऐसा कह कर देवताओं में श्रेष्ठ भगवान् इन्द्र ने सकल प्राणियों को कल्याण प्राप्त कराने की इच्छा से धन्वन्तरि को समस्त आयुर्वेद सिखा दिया ॥ ६६–७१ ॥

अधीत्य चायुषो वेदमिन्द्राद्धन्वन्तरिः पुरा।
आगत्य पृथिवीं काश्यां जातो बाहुजवेश्मनि ॥ ७२ ॥
नाम्ना तु सोऽभवत्ख्यातो दिवोदास इति क्षितौ।
बाल एव विरक्तोऽभूच्चचार सुमहत्तपः ॥ ७३ ॥

यत्नेन महता ब्रह्मा तं काश्यामकरोन्नृपम्। ततो धन्वन्तरिर्लोकैः काशीराजोऽभिधीयते ॥
हिताय देहिनां स्वीया संहिता विहिताऽमुना। अथ विद्यार्थिनो लोकान्संहितां तामपाठयत् ॥

इस प्रकार इन्द्र भगवान् से आयुर्वेद का अध्ययन करके धन्वन्तरि पृथ्वीतल पर काशीपुरी में क्षत्रिय के घर में उत्पन्न हुये और 'दिवोदास' इस नाम से भूमण्डल में विख्यात हुये। वे लड़कपन से ही वैराग्य धारण कर बहुत बड़ा तप करने लगे। उसके बाद बड़े २ यत्नों से (किसी भाँति) ब्रह्मा ने उन्हें काशीपुरी का राजा बनाया। उसी दिन से लोग धन्वन्तरि को काशी का राजा कहने लगे। इन्होंने प्राणियों के हित के लिये अपने नाम से धन्वन्तरि नामक संहिता बनाई और विद्यार्थी लोगों को वही संहिता पढ़ाई ॥ ७२–७५ ॥

अथ सुश्रुतप्रादुर्भावः—

अथ ज्ञानदृशा विश्वामित्रप्रभृतयोऽविदन्। अयं धन्वन्तरिः काश्यां काशिराजोऽयमुच्यते ॥
विश्वामित्रो मुनिस्तेषु पुत्रं सुश्रुतमुक्तवान्। वत्स ! वाराणसीं गच्छ त्वं विश्वेश्वरवल्लभाम् ॥
तत्र नाम्ना दिवोदासः काशिराजोऽस्ति बाहुजः। स हि धन्वन्तरिः साक्षादायुर्वेदविदां वरः ॥
आयुर्वेदं पठस्व त्वं लोकोपकृतिहेतवे। सर्वप्राणिदया तीर्थमुपकारो महामखः ॥ ७९ ॥
पितुर्वचनमाकर्ण्य सुश्रुतः काशिकां गतः। तेन सार्द्धं समध्येतुं मुनिसूनुशतं ययौ ॥८०॥

सुश्रुत से आयुर्वेद की उत्पत्ति-जब विश्वामित्र आदि ऋषियों ने अपनी २ ज्ञानदृष्टि से देखा कि ये तो साक्षात् धन्वन्तरि हैं और ये काशीपुरी में 'काशिराज' नाम से कहे जाते हैं। तब विश्वामित्र ने सुश्रुत नामक पुत्र से कहा—हे वत्स ! तुम विश्वनाथजी की प्यारी वाराणसी (बनारस) जाओ। वहाँ पर 'दिवोदास' नाम से प्रसिद्ध जो क्षत्रिय काशी के राजा हैं, वे आयुर्वेद के जाननेवालों में श्रेष्ठ साक्षात् धन्वन्तरि हैं। अतः लोगों के उपकार के निमित्त तुम (उनसे) आयुर्वेद पढ़ो। क्योंकि सम्पूर्ण प्राणियों पर दया रखना ही तीर्थ है और उपकार करना ही बहुत भारी यज्ञ है। इस भाँति पिता का वचन सुन कर 'सुश्रुत' और उनके साथ पढ़ने के लिए और भी मुनियों के १०० पुत्र काशी गये ॥ ७६–८० ॥

अथ धन्वन्तरिं सर्वे वानप्रस्थाश्रमे स्थितम्। भगवन्तं सुरश्रेष्ठं मुनिभिर्बहुभिः स्तुतम् ॥८१॥
काशिराजं दिवोदासं तेऽपश्यन्विनयान्विताः। स्वागतं च तदा चाह दिवोदासो यशोधनः ॥
कुशलं परिपप्रच्छ तथाऽऽगमनकारणम्। ततस्ते सुश्रुतद्वारा कथयामासुरुत्तरम् ॥ ८३ ॥
भगवन्मानवान्दृष्ट्वा व्याधिभिः परिपीडितान्। क्रन्दतो म्रियमाणांश्च जाताऽस्माकं हृदि व्यथा ॥
आमयानां शमोपायं विज्ञातुं वयमागताः। आयुर्वेदं भवानस्मानध्यापयतु यत्नतः ॥ ८५ ॥

(काशी में) विनय से युक्त होते हुए उन सबों ने जिनकी स्तुति बहुत से मुनि लोग कर रहे थे, ऐसे देवताओं में श्रेष्ठ भगवान् धन्वन्तरि को वानप्रस्थाश्रम में स्थित काशिराज दिवोदास के रूप में वर्तमान देखा। यशोधन (यश को ही धन माननेवाले) राजा दिवोदास ने उन सबों का स्वागत

किया और कुशल तथा आने का कारण भी पूछा। उसके बाद उन सब मुनि के पुत्रों ने सुश्रुत के द्वारा उत्तर के रूप में यह कहा कि—हे भगवन्! रोगों से अत्यन्त पीडित अतएव क्रन्दन करते तथा मृत्यु को प्राप्त होते हुए मनुष्यों को देख कर हम लोगों के हृदय में व्यथा उत्पन्न हुई और उन लोगों के रोगों के शान्त होने का उपाय जानने के लिये हम सब यहाँ आये हैं। अतः आप यत्नपूर्वक हम लोगों को आयुर्वेद का अध्ययन करावें॥ ८१-८५॥

अङ्गीकृत्य वचस्तेषां नृपतिस्तानुपादिशत्। व्याख्यातं तेन ते यत्नाज्जगृहुर्मुनयो मुदा॥८६॥
काशिराजं जयाशीर्भिरभिनन्द्य मुदाऽन्विताः। सुश्रुताद्याः सुसिद्धार्था जग्मुर्गेहं स्वकं स्वकम्॥
प्रथमं सुश्रुतस्तेषु स्वतन्त्रं कृतवान्स्फुटम्। सुश्रुतस्य सखायोऽपि पृथक्तन्त्राणि तेनिरे॥८८॥
सुश्रुतेन कृतं तन्त्रं सुश्रुतं बहुभिर्यतः। तस्मात्सुश्रुतं नाम्ना विख्यातं क्षितिमण्डले॥ ८९॥

इति भावप्रकाशे पूर्वखण्डे आयुर्वेदप्रवक्तृप्रादुर्भावप्रकरणं समाप्तम्॥ १॥

उन लोगों की बात मान कर राजा दिवोदास ने उनको आयुर्वेद का उपदेश दिया और उन सब मुनियों ने भी राजा दिवोदास के बताये हुए आयुर्वेद को यत्नपूर्वक और प्रसन्नता के साथ ग्रहण किया। उसके बाद जय शब्द से युक्त आशीर्वादों से काशिराज दिवोदास का अभिनन्दन करके आयुर्वेद की प्राप्तिरूप प्रयोजन की भली भाँति सिद्धि हो जाने से प्रसन्नता से युक्त होते हुये सुश्रुत आदि सब मुनि पुनः अपने २ घर चले गये। उनमें से सबसे पहले सुश्रुत ने ही देखने में स्फुट अपना तन्त्र (ग्रन्थ) बनाया और उसके बाद सुश्रुत के साथी और मुनिपुत्रों ने भी पृथक् २ अपने २ तन्त्र बनाये। सुश्रुत के बनाये हुए तन्त्र को बहुतों ने भली भाँति सुना। अत एव वह सुश्रुत नाम से भूमण्डल में विख्यात हुआ॥ ८६-८९॥

इति 'विद्योतिनी' टीकायामायुर्वेदप्रवक्तृप्रादुर्भावप्रकरणं समाप्तम्॥ १॥

अथ सृष्टिप्रकरणं ग्रन्थारम्भश्च २।

आयुर्वेदाब्धिमध्यादतिमतिमुनयो योगरत्नानि यत्ना-
ल्लब्ध्वा स्वे स्वे निबन्धे दधुरखिलजनव्याधिविध्वंसनाय।
तत्तद्ग्रन्थाद् गृहीतैः सुवचनमणिभिर्भावमिश्रश्चिकित्सा-
शास्त्रे जाड्यान्धकारं प्रशमयितुमिमं संविधत्ते प्रकाशम्॥ १॥

अत्यन्त बुद्धिमान् मुनियों ने सब लोगों का रोग दूर करने के लिये आयुर्वेदरूपी समुद्र के मध्य से औषधों के योगरूपी रत्नों का यत्नपूर्वक लाभ (निकाल) कर उन्हें अपने बनाये हुये जिन २ निबन्धों (ग्रन्थों) में रखा था, 'भावमिश्र' चिकित्साशास्त्रविषयक जड़तारूप अन्धकार को दूर करने के लिये उन्हीं ग्रन्थों से सङ्ग्रह किये गये सुन्दर वचनरूपी मणियों के द्वारा प्रकाश अर्थात् भावप्रकाश नामक ग्रन्थ रच रहे हैं॥ १॥

श्रीपतिपदप्रसादादाशीर्भिर्भूमिदेवानाम्। भावप्रकाशनाम्ना ग्रन्थोऽयं पठ्यतां सर्वैः॥ २॥

लक्ष्मी के पति भगवान् विष्णु के चरणों के प्रसाद से और पृथ्वी के देवता तथा ब्राह्मणों के आशीर्वाद से सब लोग इस 'भावप्रकाश' नामक ग्रन्थ को पढ़ें॥ २॥

एतस्य निबन्धस्य फलं चिकित्सा, चिकित्सा च पुरुषस्य, पुरुषस्तु चतुर्विंशतितत्त्वजीवात्मसमवायस्तस्माच्चतुर्विंशतितत्त्वानां जीवात्मनश्च स्वरूपनिरूपणाय सृष्टिक्रममाह—

आत्मा ज्योतिश्चिदानन्दरूपो नित्यश्च निःस्पृहः। निर्गुणः प्रकृतेर्योगात्सगुणः कुरुते जगत् ॥३॥

इस निबन्ध (ग्रन्थ) के बनाने का मुख्य फल चिकित्सा है। वह चिकित्सा पुरुष की होती है और वह पुरुष चौबीस तत्त्व तथा जीवात्मा के समवाय अर्थात् समूह से रचा हुआ कहलाता है। अत एव उन तत्त्वों का तथा जीवात्मा के स्वरूप का निरूपण करने के लिये सृष्टि का क्रम कहते हैं—आत्मा-ज्योतिःस्वरूप, चिदानन्दरूप, नित्य, निःस्पृह और निर्गुण होता हुआ भी प्रकृति से युक्त होने से सगुण होकर जगत् को उत्पन्न करता है ॥ ३ ॥

*सगुणः = इच्छाऽऽदियुक्तः ॥ ३ ॥

'सगुणः' इस पद में 'इच्छा आदि गुणों से युक्त' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ३ ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणास्ते प्रकृतिः समाः। सा जडाऽपि जगत्कर्त्री परमात्मचिदव्ययात् ॥४॥

सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण प्रकृति में समान भाव से रहते हैं अर्थात् सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति कही जाती है और वह प्रकृति स्वयं जड़ होती हुई भी चैतन्यरूप अव्यय परमात्मा के आश्रय से जगत् का निर्माण करनेवाली हो जाती है अर्थात् प्रकृति और पुरुष इन दोनों के योग से ही सृष्टि-कार्य सम्पन्न होता है। केवल प्रकृति या पुरुष से सृष्टि नहीं हो सकती। क्योंकि पुरुष चैतन्यस्वरूप होते हुए भी स्वयं निर्गुण होने से तथा प्रकृति सगुण होती हुई भी स्वयं जड़ होने से पृथक् २ जगत् के निर्माण करने में समर्थ नहीं हैं ॥ ४ ॥

*सतः साधोर्भावः सत्त्वं = प्रकाशकं ज्ञानसुखहेतुः, रजो=रागात्मकं दुःखहेतुः, ताम्यति ग्लानिं प्राप्नोत्यनेनेति तमः = आवरकं मोहहेतुः, ते गुणाः समाः प्रकृतिरित्यर्थः। तथा सति न्यूनाधिकगुणा विकृतिः ॥ ४ ॥

सत् के भाव को सत्त्व कहते हैं। अतः सत्त्व गुण प्रकाश स्वभाववाला तथा ज्ञान का प्रकाशक है और ज्ञान तथा सुख का कारण भी है, अर्थात्-सत्त्व गुण के प्राधान्य में ज्ञान तथा सुख होते हैं। रज जो है, वह रागात्मक है और दुःख का कारण है। जिससे मनुष्य को ग्लानि हो, वह तमोगुण कहलाता है, अत एव तमोगुण बुद्धि का आच्छादन करनेवाला और मोह का मुख्य कारण है। समभाव को प्राप्त हुये वे तीनों गुण प्रकृति कहलाते हैं। ऐसा होने पर जब वे ही तीनों गुण न्यूनाधिक भाव को प्राप्त होते हैं, तब विकृति कहलाते हैं ॥ ४ ॥

अथ सुश्रुतमुपदिशन् धन्वन्तरिः प्रकृतेः स्वरूपविशेषमाह—

'सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षण-
मष्टरूपमखिलस्य जगतः सम्भवहेतुरव्यक्तंनामे'ति।

प्रकृति के स्वरूपविशेष—जो प्रकृति सब भूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदिकों) का कारण है और स्वयं कारण से रहित है तथा जो सत्त्व, रज और तमोगुणस्वरूपिणी एवं आठ रूपवाली तथा सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण है उसे अव्यक्त कहते हैं और उसी को मूलप्रकृति भी कहते हैं॥क॥

*अस्यायमर्थः—अव्यक्तं=न व्यज्यते स्मेत्यव्यक्तं मूलप्रकृत्यपरपर्यायम्, ततः सर्वभूतानां कारणं = समवायिकारणम्; अकारणं = न विद्यते कारणं यस्य तत्, सत्त्वरजस्तमोलक्षणं = समसत्त्वरजस्तमःस्वरूपम्; अष्टरूपम्=अव्यक्तं महान् अहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणीत्यष्टौ रूपाणि यस्य तत्, यत इन्द्रियाणां महाभूतानां च कारणतया महदादयोऽपि सप्त प्रकृतयः, एवमखिलस्य जगतः सम्भवहेतुरव्यक्तमित्युपसंहारः ॥ क ॥

उपर्युक्त 'अव्यक्त' का अर्थ यह है कि जो किसी से व्यक्त (प्रत्यक्ष योग्य) न हो। अव्यक्त का दूसरा नाम मूलप्रकृति भी है। मूलप्रकृति सब भूतों का समवायिकारण है। (जैसे वस्त्र का समवायिकारण सूत्र होता है) किन्तु मूलप्रकृति का कोई कारण नहीं है। वह साम्यावस्थाको प्राप्त हुए सत्त्वादिक तीन गुणवाली अव्यक्त-महान्-अहङ्कार और पांच तन्मात्र ये आठ रूपवाली है। इस जगह यह शङ्का होती है कि अव्यक्त ही प्रकृति है और महान्-अहङ्कार और पांच तन्मात्र ये सात अव्यक्त ही के विकार हैं। अतएव ये सब उसकी विकृति हुई। तब फिर किस तरह से सात महदादि प्रकृति के रूप कहे जा सकते हैं। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि महदादि सात विकृति हैं तथापि वे इन्द्रिय और पांच महाभूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) के कारण हैं। अतएव उन सबों को भी प्रकृति के रूप में गणना करते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण मूलप्रकृति (अव्यक्त) है। इस प्रकार यहां पर यह उपसंहार हुआ ॥ क ॥

अथ प्रकृतिपुरुषयोः साधर्म्यमाह—

'उभावप्यनादी उभावप्यनन्तौ उभावप्यलिङ्गौ
उभावपि नित्यौ उभावप्यपरौ उभावपि सर्वगतौ' इति ॥ ख ॥

प्रकृति-पुरुष के परस्पर समान धर्म—प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि, दोनों ही अनन्त, दोनों ही अलिङ्ग हैं। दोनों ही नित्य, दोनों ही अपर और दोनों ही सर्वगत अर्थात् सर्वत्र विद्यमान हैं ॥ ख ॥

***उभावप्यलिङ्गौ = लयं क्वचिदपि न यातः, उभावप्यपरौ = न विद्यते परोऽपरो याभ्यां तावपरौ ॥ ख ॥**

दोनों ही अलिङ्ग अर्थात् कभी किसी कारण में लय (नाश) को नहीं प्राप्त होनेवाले हैं, दोनों ही अपर हैं अर्थात् इन दोनों से परे और दूसरा कोई नहीं है ॥ ख ॥

अथातस्तयोर्वैधर्म्यमाह—

'एका तु प्रकृतिरचेतना त्रिगुणा बीजधर्मिणी प्रसवधर्मिण्यमध्यस्थधर्मिणी चे'ति ॥ ग ॥

प्रकृति-पुरुष के परस्पर विभिन्न धर्म—प्रकृति तो एक, अचेतना (चेतना से रहित), तीन गुणों वाली, बीजधर्मवाली, प्रसवधर्मवाली और अमध्यस्थ धर्मवाली है ॥ ग ॥

***अचेतना = जडा, त्रिगुणा = तुल्यगुणत्रयात्मिका, बीजधर्मिणी = सर्वेषां महदादीनां विकाराणां बीजत्वेनावस्थिता, प्रसवधर्मिणी = पुरुषेणाक्रान्ता क्षोभं प्राप्य साम्यमतिक्रम्य महदहङ्कारादिक्रमेण जगतः प्रसवित्री, अमध्यस्थधर्मिणी = सुखदुःखभोगभोगिनी, न तु सुखदुःखभोगादुदासीना ॥ ग ॥**

अचेतना अर्थात् जड़, तीन गुणोंवाली अर्थात् समान भाव को प्राप्त हुए तीन गुणोंवाली, बीजधर्मवाली अर्थात् सम्पूर्ण महत्तत्त्वादिक ७ विकारों के बीजरूप से स्थित, प्रसवधर्मवाली अर्थात् पुरुष से आक्रान्त होती हुई (जब पुरुष द्रष्टा और भोक्ता होता है, उस समय) क्षोभ को प्राप्त होकर और गुणों के समभाव को छोड़ कर महत्तत्त्व से अहङ्कार और अहङ्कार से ५ तन्मात्र इत्यादि क्रम से जगत् को उत्पन्न करनेवाली, अमध्यस्थ धर्मवाली अर्थात् सुख दुःख के भोगों को भोगनेवाली न कि सुख दुःख के भोग से उदासीन रहनेवाली है ॥ ग ॥

'पुरुषस्तु चेतनावान् निर्गुणोऽप्रसवधर्माऽबीजधर्मा मध्यस्थधर्मा चे'ति ॥ घ ॥

पुरुष तो (अनेक) चेतनावाला, निर्गुण, अप्रसवधर्म, अबीजधर्म तथा मध्यस्थ धर्म से युक्त है ॥घ॥'

***निर्गुणः = अविद्यमानसत्त्वादिगुणः, अबीजधर्मा = महाप्रलये महदादीनां विकाराणां प्रकृताविव तस्मिन्ननवस्थानाद्, मध्यस्थधर्मा = सुखदुःखेच्छाद्वेषादिभ्य उदासीनः ॥ घ ॥**

निर्गुण अर्थात् जिसमें सत्त्व, रज और तम इन में से कोई भी गुण वर्त्तमान न हो, अबीजधर्मा अर्थात् महाप्रलय होने पर महत्तत्त्वादिक विकार जिस तरह प्रकृति में रहते हैं, उस तरह पुरुष में न रहने से पुरुष प्रकृति की भाँति बीजधर्मवाला नहीं है। वह तो मध्यस्थधर्मा अर्थात् सुख दुःख इच्छा द्वेषादिक से उदासीन रहनेवाला है ॥ ४ ॥

अथ प्रकृतेर्नामान्याह—

प्रधानं प्रकृतिः शक्तिर्नित्या चाविकृतिस्तथा। एतानि तस्या नामानि पुरुषं या समाश्रिता ॥५॥

प्रकृति के नाम—जो प्रकृति पुरुष का भली प्रकार आश्रय लिये हुई है, उसके प्रधान प्रकृति, शक्ति, नित्या और अविकृति ये नाम हैं ॥ ५ ॥

अथ प्रकृतेर्गुणानाह—

सत्त्वं रजस्तमश्चेति विज्ञेयाः प्रकृतेर्गुणाः। तैश्च युक्तस्य चित्तस्य कथयाम्यखिलान् गुणान् ॥६॥

प्रकृति के गुण—सत्त्व, रज और तम ये तीनों प्रकृति के गुण हैं। इनसे युक्त चित्त (मन) के सम्पूर्ण गुणों को आगे कहते हैं ॥ ६ ॥

अथ सत्त्वगुणयुक्तस्य मनसो लक्षणमाह—

आस्तिक्यं प्रविभज्य भोजनमनुत्तापश्च तथ्यं वचो-
मेधाबुद्धिधृतिक्षमाश्च करुणा ज्ञानं च निर्दम्भता।
कर्मानिन्दितमस्पृहं च विनयो धर्मः सदैवादरा-
देते सत्त्वगुणान्वितस्य मनसो गीता गुणा ज्ञानिभिः ॥ ७ ॥

सत्त्वगुण से युक्त मन के लक्षण-आस्तिकपन, भक्ष्याभक्ष्य का विचार कर भोजन करना, उत्ताप न करना, सत्य बात बोलना, मेधा अर्थात् सुनी हुई बात को धारण करने की शक्ति रखनेवाली बुद्धि, धृति, क्षमा, करुणा, ज्ञान, निर्दम्भता, अनिन्दित (लोक-शास्त्र से जो निन्दित न हो) तथा स्पृहा से रहित कर्म, विनय और धर्म इन सब सत्त्वगुणों से युक्त मन के गुणों का ज्ञानियों ने सदैव आदर से वर्णन किया है ॥ ७ ॥

***अस्ति धर्ममोक्षपरलोकादिकमिति बुद्ध्या चरतीत्यास्तिकस्तस्य भाव आस्तिक्यम् , अनुत्तापः = अक्रोधः, धृतिः = भूतप्रेतस्मरक्रोधलोभाद्यावेशराहित्यम्, ज्ञानम् = आत्मज्ञानम् , निर्दम्भता = कपटाभावः, कर्म अनिन्दितम् , अस्पृहम् = निष्कामं च ॥ ७ ॥**

धर्म, मुक्ति और परलोक (स्वर्गादिक) ये सब यथार्थ में हैं, इस बुद्धि से इनकी प्राप्ति के लिये जो कर्म करते हैं, वे आस्तिक कहलाते हैं, और उनके भाव को आस्तिक्य (आस्तिकपन) कहते हैं। अनुत्ताप अर्थात् क्रोध से रहित होना, धृति अर्थात् भूत, प्रेत, काम, क्रोध और लोभादिकों के आवेश से बचकर रहना, ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान, निर्दम्भता अर्थात् कपट न रखना, अनिन्दित और अस्पृह, अर्थात् कामना से रहित कर्म ॥ ७ ॥

अथ रजोगुणयुक्तस्य मनसो लक्षणमाह—

क्रोधस्ताडनशीलता च बहुलं दुःखं सुखेच्छाऽधिका
दम्भः कामुकताऽप्यलीकवचनं चाधीरताऽहङ्कृतिः।
ऐश्वर्यादभिमानिताऽतिशयितानन्दोऽधिकश्चाटनं
प्रख्याता हि रजोगुणेन सहितस्यैते गुणाश्चेतसः ॥ ८ ॥

रजोगुण से युक्त मन के लक्षण—क्रोध करना, मारने पीटने का स्वभाव रखना, बहुत दुःख, करना, सुख की इच्छा अधिक रखना, दाम्भिक तथा कामी होना, झूठ बोलना, धैर्य न रखना,

अहङ्कार करना, ऐश्वर्य होने से अभिमान करना, अधिक आनन्द मानना और पृथ्वी में अधिक परिभ्रमण करना, ये सब रजोगुण से युक्त मन के गुण (लक्षण) प्रसिद्ध हैं ॥ ८ ॥

ॐअलीकवचनं = मिथ्याकथनम् , अटनं = पृथ्वीपरिभ्रमणम् ॥ ८ ॥

'अलीकवचन' का 'झूठ बोलना' तथा 'अटन' का पृथ्वी में परिभ्रमण करना है ॥ ८ ॥

अथ तमोगुणयुक्तस्य मनसो लक्षणमाह—

नास्तिक्यं सुविषण्णताऽतिशयितालस्यं च दुष्टा मतिः
प्रीतिर्निन्दितकर्मशर्मणि सदा निद्रालुताऽहर्निशम् ।
अज्ञानं किल सर्वतोऽपि सततं क्रोधान्धता मूढता
प्रख्याता हि तमोगुणेन सहितस्यैते गुणाश्चेतसः ॥ ९ ॥

तमोगुण से युक्त मन के लक्षण—नास्तिकपन रखना, अत्यन्त खेद से युक्त रहना, अत्यन्त आलस्य रखना, दुष्ट बुद्धि का होना, निन्दित कर्म करने से उत्पन्न सुखों में निरन्तर प्रीति रखना, दिनरात सोना, सभी विषयों में अज्ञान रहना, सदैव क्रोध से अन्धा रहना और मूर्खता करना, ये तमोगुण से युक्त मन के (लक्षण) हैं ॥ ९ ॥

तत्र प्रभूततत्त्वस्तु सात्त्विकः पुरुषः स्मृतः । राजसस्तामसश्चैव त्रिविधस्तेन मानवः ॥ १० ॥

उसमें अधिक सत्त्वगुणवाला पुरुष सात्त्विकी, अधिक रजोगुणवाला राजसी और अधिक तमोगुणवाला तामसी प्रकृति का मनुष्य कहलाता है। इस तरह तीन प्रकार के मनुष्य विश्व में होते हैं ॥ १० ॥

अथ महत्तत्त्वोत्पत्तिमाह—

ततोऽभवन्महत्तत्त्वं बुद्धितत्त्वापराभिधम् ।
त्रिगुणं सत्त्वबहुलं निर्मलं स्फटिकोपमम् । चिच्छायाप्राप्तचैतन्यं तदिच्छामयमीरितम् ॥११॥

महत्तत्त्व की उत्पत्ति—उस (समसत्त्व रजस्तमः स्वरूपिण प्रकृति) से महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ है उसका दूसरा नाम 'बुद्धितत्त्व' भी है। महत्तत्त्व यद्यपि त्रिगुणात्मक (तीन गुणोंवाला) है, तथापि वह अधिक सत्त्वगुणवाला है अर्थात उसमें और गुणों की अपेक्षा सत्त्वगुण अधिक है, और वह स्फटिक के समान निर्मल है। ऋषियों ने उसे चित (आत्मतत्त्व) का प्रतिबिम्ब पड़ने से चेतना को प्राप्त किया हुआ अत एव परमात्मा का इच्छामय कहा है ॥ ११ ॥

ॐ ततः प्रकृते स्त्रिगुणं = त्रयो गुणा यत्र तत् , तच्च सत्त्वबहुलम् , अत्रायमभिप्रायः—यथा निश्चले ह्रदादौ बहुद्रव्यपातात् तदीयं जलं वर्द्धते तथा चिद्रूपपुरुषेणाक्रमणात् तुल्यगुणत्रयात्मिकायाः प्रकृतेर्ज्ञानहेतुः प्रकाशकः सत्त्वगुणो वृद्धः अवृद्धसत्त्वतः प्रकृतेः सत्त्वबहुलं बुद्धितत्त्वमभवत् ॥ ११ ॥

उससे अर्थात प्रकृति से त्रिगुण अर्थात जिसमें सत्त्व, रज और तम, ये ३ गुण विद्यमान हों उसे त्रिगुण कहते हैं, और वह त्रिगुण कैसा हो कि 'सत्त्वबहुल' अर्थात सत्त्वादि ३ गुणों के मध्य में सत्त्वगुण ही जिसमें अधिक मात्रा से विद्यमान हो, वह सत्त्वबहुल कहलाता है। त्रिगुण और सत्त्वबहुल इन दोनों विशेषणों को यहाँ पर देने का अभिप्राय यह है कि—जैसे निश्चल (स्थिर) जलवाले तालाब आदि में बहुत से द्रव्य प्रस्तरादि गिर जाने से उसका जल बढ़ जाता है, उसी तरह चैतन्यरूप पुरुष के आक्रमण करने से अर्थात आत्मतत्त्व के द्रष्टा और भोक्ता होने से तुल्यगुणत्रयात्मिका प्रकृति का कारणरूप जो प्रकाशक सत्त्वगुण है, वह वृद्धि को प्राप्त हुआ। फिर सत्त्वगुण की वृद्धि होने से प्रकृति से अधिक सत्त्वगुणवाला बुद्धितत्त्व (महत्तत्त्व) उत्पन्न हुआ ॥ ११ ॥

अथाहङ्कारस्योत्पत्तिं तस्य त्रैविध्यमप्याह—

महतस्त्रिगुणाज्जातोऽहङ्कारस्त्रिगुणान्वितः। सात्त्विको राजसश्चापि तामसश्चेति स त्रिधा ॥१२॥

अहङ्कार की उत्पत्ति और भेद—त्रिगुणात्मक महत्तत्त्व से तीनों गुणों से युक्त अहङ्कारतत्त्व उत्पन्न होता है और वह सात्त्विक, राजस और तामस इन भेदों से तीन प्रकार का है ॥ १२ ॥

***महतो = बुद्धितत्त्वात्, त्रिगुणात्=त्रयो गुणा यत्र ततः, ननु महत्तत्त्वं त्रिगुणमुक्तमेव, किमर्थं महतस्त्रिगुणादिति विशेषणम्, सत्यम्, त्रिगुणादिति पुनर्विशेषणादुक्तं सत्त्वबहुलमिति विशेषणमत्र नानुवर्त्तते, तेनाहङ्कारोत्पादकं महत्तत्त्वं त्रिगुणमपि रजोबहुलं बोद्धव्यम्, अहङ्कारस्य रजोगुणान्वितस्य मनोधर्मत्वात्। अहङ्कारोऽभिमानव्यापारः। अहङ्कारस्त्रिविधस्तमाह—सात्त्विक इत्यादि ॥ १२ ॥**

महत्तत्त्व से अर्थात् बुद्धितत्त्व से, त्रिगुण से अर्थात् जिसमें तीन गुण विद्यमान हों उससे। यहां पर यदि कोई यह शङ्का करे कि 'महत्तत्त्व तो तीन गुणोंवाला है' ऐसा पहले कहा ही गया है पुनः उसका 'त्रिगुण' यह विशेषण यहां पर क्यों दिया? तो इसका उत्तर यह है कि पूर्व में महत्तत्त्व के दो विशेषण कह आये हैं, उनमें से प्रथम 'त्रिगुण' और द्वितीय 'सत्त्वबहुल' है। अब यदि यहां पर महत्तत्त्व का विशेषण न होता तो वह त्रिगुण और सत्त्वबहुल इन दो विशेषणों से विशिष्ट लिया जाता, अब उसमें से केवल 'त्रिगुण' विशेषण यहां पर देने से 'सत्त्वबहुल' यह दूसरा विशेषण महत्तत्त्व में नहीं लगाया गया। इससे यह सिद्ध हुआ कि अहङ्कार को उत्पन्न करनेवाला महत्तत्त्व यद्यपि त्रिगुण है तथापि उसे पूर्व की भाँति सत्त्वबहुल न समझ कर रजोबहुल (अधिक रजोगुणवाला) ही समझना चाहिये। क्योंकि रजोगुण से युक्त अहङ्कार मनका धर्म है, अभिमानरूपी व्यापार से युक्त जो है, उसे अहङ्कार कहते हैं। वह अहङ्कार तीन प्रकार का है, उसी को सात्त्विक इत्यादि से कहते हैं ॥ १२ ॥

अथ त्रिविधस्याहङ्कारस्य कार्यमाह—

जातानि सात्त्विकात्तस्मादिन्द्रियाणि सराजसात्। तानि श्रोत्रं त्वचो नेत्रं रसना नासिका तथा॥
वाग्घस्तचरणोपस्थगुदान्येकादशं मनः। पञ्च बुद्धीन्द्रियाण्याहुः प्राक्तनानीतराणि च ॥१४॥
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव कथयन्ति विपश्चितः ॥ १५ ॥

त्रिविध अहङ्कार के कार्य—राजस अहङ्कार से युक्त सात्त्विक अहङ्कार से जो इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई हैं, वे कान, त्वचा (चमड़ी), नेत्र, जिह्वा, नाक, वाणी, दोनों हाथ, दोनों पैर, मूत्रेन्द्रिय और गुदा, इस तरह से दश और ग्यारहवां मन है। इनमें से आरम्भ के पांच इन्द्रियों को बुद्धीन्द्रिय और बाद की पांच इन्द्रियों को पण्डित लोग कर्मेन्द्रिय कहते हैं ॥ १३–१५ ॥

***बुद्धीन्द्रियाणि बुद्धेराश्रयत्वात्, कर्मेन्द्रियाणि कर्माश्रयत्वात्, सात्त्विकाहङ्काराज्जातत्वादिन्द्रियाणि प्रकाशलक्षणानि, सत्त्वस्य प्रकाशकत्वात् ॥ १३–१५ ॥**

बुद्धि के आश्रित होने से श्रोत्रादि ५ इन्द्रियों को बुद्धीन्द्रिय और कर्म के आश्रित होने से वाणी आदि ५ इन्द्रियों को कर्मेन्द्रिय कहते हैं। सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न होने से इन्द्रियाँ प्रकाशलक्षण वाली हैं, क्योंकि सत्त्वगुण प्रकाशक है ॥ १३–१५ ॥

अथ मनस उभयेन्द्रियत्वमाह—

मनो बुद्धीन्द्रियं विज्ञैः कर्मेन्द्रियमपि स्मृतम्। मनोधिष्ठितमेवेदमिन्द्रियं यत्प्रवर्त्तते ॥१६॥

मन का बुद्धीन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय से अभिन्नता—पण्डित लोगों ने मनको बुद्धीन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों ही माना है, क्योंकि बुद्धिन्द्रियाँ या कर्मेन्द्रियाँ जो अपने अपने विषयों में प्रवृत्त

होती हैं, वे केवल मन के अधीन होने से ही, अर्थात् विना मन के कोई इन्द्रिय अपने विषय को ग्रहण करने में कभी भी समर्थ नहीं हो सकती ॥ १६ ।

अथेन्द्रियाणां विषयानाह—

शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धो ह्यनुक्रमात्। बुद्धीन्द्रियाणां विषयाः समाख्याता महर्षिभिः॥

बुद्धीन्द्रियों के विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये अनुक्रम से बुद्धीन्द्रियों के विषय हैं अर्थात् कानों का विषय शब्द, त्वचा का विषय स्पर्श, नेत्रों का विषय रूप, जिह्वा का विषय रस और नासिका का विषय गन्ध महर्षियों ने कहा है ॥ १७ ॥

वाच्यं ग्राह्यञ्च गन्तव्यमानन्दं त्याज्यमेव च। कर्मेन्द्रियाणां विषयाज्ज्ञानञ्च[1] विषयो हृदः॥

कर्मेन्द्रिय और मन के विषय—वाच्य, ग्राह्य, गन्तव्य, आनन्द, त्याज्य ये सब यथाक्रम से कर्मेन्द्रियों के विषय हैं अर्थात् वाणी का विषय वाच्य, हाथ का विषय ग्राह्य, पाँव का विषय गन्तव्य, लिङ्ग का विषय आनन्द तथा गुदा का विषय त्याज्य जानना चाहिये और मन का विषय ज्ञान अर्थात् हर एक विषयों की जानकारी रखना है ॥ १८ ॥

*हृदः = मनसः ॥ १८ ॥

यहां पर 'हृद' पद से 'मन' का ग्रहण करना चाहिये ॥ १८ ॥

अथ पञ्चतन्मात्रोत्पत्तिमाह—

तामसादप्यहङ्कारात्तन्मात्राणि सराजसात्। पञ्चाल्पसत्त्वसम्बन्धात्तल्लिङ्गानि भवन्ति हि॥
शब्दतन्मात्रकं स्पर्शतन्मात्रं रूपमात्रकम्। रसतन्मात्रकं गन्धतन्मात्रमिति तानि तु ॥२०॥

पंच तन्मात्रों की उत्पत्ति के विषय—राजस अहङ्कार से युक्त तामस अहङ्कार से पाँच प्रकार के तन्मात्र उत्पन्न होते हैं, सत्त्वगुण का थोड़ा सम्बन्ध होने से वे पाँच तन्मात्र तल्लिङ्ग अर्थात् राजस और तामस के जो मोहादिक चिह्न हैं, उनसे युक्त होते हैं। वे सब तन्मात्र शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र इस प्रकार से पाँच हैं ॥ १९–२० ॥

*तल्लिङ्गानि=मोहादिलिङ्गानि, तान्यद्भुतस्वभावानि[2] बाह्येन्द्रियाग्राह्याणि,[3] शब्दादीन्येव तन्मात्राणि, तानि च योगिभिरेव ग्राह्याणि, सा सा मात्रा यस्मिंस्तत् तन्मात्रम् ॥

शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र ये सब तल्लिङ्ग अर्थात् मोहादि लिङ्ग (चिह्न) वाले हैं। वे सब तन्मात्र अव्यक्त स्वभाव वाले हैं अर्थात् उन सबों का स्वभाव कैसा है यह कुछ नहीं मालूम पड़ता। अत एव वे बाह्येन्द्रिय कर्णादिकों से अग्राह्य हैं अर्थात् उनका ग्रहण इन्द्रियों से नहीं हो सकता। शब्दादि तन्मात्र हैं अर्थात् शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र इत्यादि क्रम से ५ तन्मात्र हैं और वे सब योगियों से ही ग्रहण करने योग्य हैं। साधारण लोग उन सबों का ग्रहण नहीं कर सकते, तन्मात्र—वही-वही मात्रा (शब्दादिक) जिसमें हों उसे तन्मात्र कहते हैं अर्थात् शब्दतन्मात्र में शब्द का, स्पर्शतन्मात्र में स्पर्श का, रूपतन्मात्र में रूप का, रसतन्मात्र में रस का और गन्धतन्मात्र में गन्ध की ही केवल सूक्ष्मातिसूक्ष्म मात्रा है। अतः ये सब शब्दादि तन्मात्र कहलाते हैं ॥ १९–२० ॥

अथ महाभूतोत्पत्तिमाह—

तन्मात्रेभ्यो वियद्वायुर्वह्निर्वारि वसुन्धरा। एतानि पञ्च जायन्ते महाभूतानि तत्क्रमात्॥

---

१. 'घ्रातव्य' इति पाठान्तरम्।

२. 'तान्यद्भुतस्वभावानी'ति पाठः सर्वत्रोपलभ्यते, किन्तु तदपेक्षयाऽस्यः पाठः साधीयानिति विभावनीयम्। ३. 'बाह्येन्द्रियग्राह्याणी'ति सर्वत्रोपलब्धः पाठो भ्रान्तिमूलकस्तस्मान्नादरणीयः।

पंचमहाभूतों की उत्पत्ति—शब्दादि पाँच तन्मात्रों से यथाक्रम आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं ॥ २१ ॥

*एकोत्तरपरिवृद्ध्या वियदादयो जायन्त इत्यर्थः। तद्यथा—शब्दतन्मात्राच्छब्दगुणं वियज्जायते, शब्दतन्मात्रसहितात्स्पर्शतन्मात्राच्छब्दस्पर्शगुणो वायुर्जायते, शब्दतन्मात्रस्पर्शतन्मात्रसहिताद्रूपतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपगुणो वह्निर्जायते, शब्दतन्मात्रस्पर्शतन्मात्ररूपतन्मात्रसहिताद्रसतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपरसगुणं वारि जायते, शब्दतन्मात्रस्पर्शतन्मात्ररूपतन्मात्ररसतन्मात्रसहिताद्गन्धतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा वसुन्धरा जायते ॥२१॥

पाँच तन्मात्रों से एक २ की उत्तरोत्तर वृद्धि द्वारा आकाशादि पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं। जैसे—शब्दतन्मात्र से शब्दगुणवाला आकाश उत्पन्न होता है।—शब्दतन्मात्र के सहित स्पर्शतन्मात्र से शब्द और स्पर्शगुणवाला वायु उत्पन्न होता है। शब्दतन्मात्र और स्पर्शतन्मात्र के सहित रूपतन्मात्र से शब्द, स्पर्श और रूप गुणवाला अग्नि उत्पन्न होता है। शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र और रूपतन्मात्र के सहित रसतन्मात्र से शब्द, स्पर्श, रूप और रस गुणवाला जल उत्पन्न होता है। इसी प्रकार से शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र और रसतन्मात्र के सहित गन्धतन्मात्र से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुणवाली पृथ्वी उत्पन्न होती है ॥ २१ ॥

अथ महाभूतानां गुणानाह, तत्रादौ वियद्गुणानाह—

शब्दः श्रोत्रेन्द्रियं चाऽपि च्छिद्राणि च विविक्तता। वियतः कथिता एते गुणा गुणविचारिभिः॥

आकाश के गुण—गुणों का विचार करनेवाले पण्डितों ने शब्द, कर्णेन्द्रिय, छिद्र और विविक्तता ये सब गुण आकाश के कहे हैं ॥ २२ ॥

*विविक्तता = शारीराणां[1] भावानां शिरास्नाय्वस्थिपेशीप्रभृतीनां जातिव्यक्तिभ्यां मिथः पृथक्त्वम् ॥ २२ ॥

विविक्तता = शिरा (कोमल नसें), स्नायु (दृढ़ नसें), हड्डी और मांसपेशी इत्यादि शरीर के अन्दर स्थित जो पदार्थ हैं, उन सबों को जाति और व्यक्ति के द्वारा परस्पर पृथक् करने का नाम विविक्तता है ॥ २२ ॥

अथ वायोर्गुणानाह—

स्पर्शस्त्वगिन्द्रियञ्चापि लघुता स्पन्दनं तनोः। चेष्टा सर्वशरीरस्य वायोरेते गुणाः स्मृताः॥

वायु के गुण—स्पर्श, त्वगिन्द्रिय, लघुता, शरीर का स्पन्दन (हिलना) और सब शरीर की चेष्टा ये गुण वायु के कहे गये हैं ॥ २३ ॥

अथ वह्नेर्गुणानाह—

रूपं नेत्रेन्द्रियं पाकः सन्तापस्तीक्ष्णता तथा। वर्णो भ्राजिष्णुताऽमर्षः शौर्यं वह्नेर्गुणा अमी॥

अग्नि के गुण—रूप, नेत्रेन्द्रिय, पाक, सन्ताप, तीक्ष्णता, वर्ण, भ्राजिष्णुता, अमर्ष और शूरता ये सब गुण अग्नि के कहे गये हैं ॥ २४ ॥

*रूपं = लावण्यम्। पाकः=उदराग्निना आहारपाकः। सन्तापः=औष्ण्यम्, तीक्ष्णता = आशुकारिता। वर्णो = गौरादिः। भ्राजिष्णुता = दीप्तिः। अमर्षः = क्रोधः ॥ २४ ॥

रूप = लावण्य (लुनाई), पाक = जठराग्नि के द्वारा उदरगत भोज्य पदार्थों का पचना, सन्ताप = गर्मी, तीक्ष्णता = हर एक कार्यों को शीघ्रता से करना, वर्ण = गोरा काला आदि शरीर का रंग, भ्राजिष्णुता = दीप्ति (कान्ति), अमर्ष = क्रोध ॥ २४ ॥

---

१. क्वचित् 'शरीराणाम्' इति पाठः।

अथ वारिगुणानाह—

रसो[1] रसेन्द्रियं शैत्यं स्नेहश्च गुरुता तथा। सर्वद्रवसमूहश्च शुक्रं वारिगुणाः स्मृताः॥ २५॥

जल के गुण—रस (मधुरादि ६ रस), रसेन्द्रिय (जिह्वाग्रवर्त्ती), शीतलता, स्नेह (चिकनाहट), गुरुता (भारीपन), सम्पूर्ण द्रव (बहनेवाले) पदार्थों का समूह और शुक्र ये सब गुण जल के कहे गये हैं॥ २५॥

अथ वसुन्धरागुणानाह—

गन्धो घ्राणेन्द्रियं चापि काठिन्यं गौरवं तथा। वसुन्धरा गुणा एते गदिता गुणवेदिभिः॥२६॥

पृथ्वी के गुण—गन्ध, घ्राणेन्द्रिय (नासिका के अग्रभाग में रहनेवाला इन्द्रिय), कठिनता और गुरुत्व ये सब गुण के विचार करनेवाले पण्डितों ने पृथ्वी के गुण कहे हैं॥ २६॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च तत्क्रमात्। तन्मात्राणां विशेषाःस्युःस्थूलभावमुपागताः॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच तत्क्रम से अर्थात् शब्दतन्मात्रादिक्रम से तन्मात्राओं ही के स्थूलभाव को प्राप्त हुये विशेष हैं, अर्थात् शब्दतन्मात्रादि ही स्थूलभावको प्राप्त होकर शब्द, स्पर्शादिरूप में परिणत हो जाते हैं॥ २७॥

*तत्क्रमात्=शब्दतन्मात्रादिक्रमात्। अनुभवयोग्यैः सुखदुःखमोहरूपैर्धर्मैर्विशेष्यन्त इति विशेषाः। अत्र कर्मणि घञ्प्रत्ययः। तन्मात्राणि त्वविशेषाणि यतस्तान्यनुभवयोग्यैः सुखादिभिर्विशेष्टुं न शक्यन्ते सूक्ष्मत्वात्॥ २७॥

'तत्क्रमात्' इस पद से 'शब्दतन्मात्रादि क्रम से' यह अर्थ समझना चाहिये। विशेष अर्थात् अनुभव के योग्य सुख, दुःख, मोहरूप धर्मों के द्वारा जिसका विशेष किया जाय उसे विशेष कहते हैं। यहाँ पर कर्म में घञ् प्रत्यय हुआ है। शब्दादि तन्मात्र जो हैं वे तो अविशेष हैं, क्योंकि अत्यन्त सूक्ष्म होने से अनुभव के योग्य सुखादिकों के द्वारा उनका विशेष नहीं किया जा सकता, स्थूलभाव को प्राप्त होने पर तो शब्द, स्पर्शादि रूप से उन तन्मात्रों का अनुभव योग्य सुखादिकों के द्वारा विशेष किया जा सकता है॥ २७॥

अथाष्टानां प्रकृतीनां मध्ये तावत् प्रथमां प्रकृतिमाह—

प्रकृतेः कारणायोगान्मता प्रकृतिरेव सा। महत्तत्त्वादयः सप्त शक्तेर्विकृतयः स्मृताः॥ २८॥

आठ प्रकार की प्रकृति में पहिली प्रकृति—प्रकृति अर्थात् अव्यक्त के सम्बन्ध में कारण का योग न होने से अर्थात् अव्यक्त (प्रकृति) का कोई कारण नहीं है अतः वही यथार्थ रूपसे प्रकृति इस नाम से कही जाती है और महत्तत्त्वादि ७ तो शक्ति अर्थात् प्रकृति की विकृति अर्थात् कार्य कहे जाते हैं॥

*प्रकृतिरेव=कारणमेव[2], न तु कस्यचित् कार्यमित्यर्थः[3]। शक्तेः प्रकृतेर्विकृतयः=कार्याणि॥

प्रकृति ही है अर्थात् सबों का कारण ही है, न कि किसी का कार्य है और महत्तत्त्वादि (महान्, अहङ्कार और पाँच तन्मात्र) सात शक्ति अर्थात् प्रकृति के विकृति अर्थात् कार्य हैं॥ २८॥

अथ सप्त प्रकृतीराह—

इन्द्रियाणां च भूतानां कारणत्वान्महर्षिभिः। महत्तत्त्वादयः सप्त प्रोक्ताः प्रकृतयोऽपि च॥२९॥

---

१. 'रसा' इति पाठान्तरम्।

२. क्वचित् 'कारणमि'ति पाठान्तरं तदसमीचीनम्। ३. अस्मात् परं—'कार्याणि; इन्द्रियाणां सर्वभूतानां कारणत्वान्महर्षिभिर्महत्तत्त्वादयः सप्त महानहङ्कारः पञ्च तन्मात्राणी'त्यधिकः पाठो लभ्यते किन्तु स भ्रान्तिमूलक एवेति नादरणीयः।

सप्त प्रकृतियाँ—महत्तत्वादिक ७ जो प्रकृति के कार्य हैं, वे इन्द्रियों और पाँच महाभूतों के कारण हैं। अतः महर्षियों ने इन्हें भी प्रकृति ही कहा है ॥ २९ ॥

*([1]कार्याणि, इन्द्रियाणां सर्वभूतानां कारणत्वान्महर्षिभिर्महत्तत्वादयः सप्त महानहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणीति प्रकृतयोऽपि प्रोक्ताः)। [[2]तथा सति प्रकृतिर्महानहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि चेत्यष्टौ प्रकृतयः] ॥ २९ ॥

जब कि इन्द्रियों का और पञ्च महाभूतों का कारण होने से प्रकृति के कार्यरूप महान्, अहङ्कार, पाँच तन्मात्र इस प्रकार से महत्तत्वादि ७ की महर्षियों ने प्रकृति के मध्य में गणना की है तो वैसा होने से प्रकृति, महान्, अहङ्कार और पांच तन्मात्र इस तरह से ये ८ प्रकृतियां हुई ॥ २९ ॥

अथ षोडश विकारानाह—

दशेन्द्रियाणि चित्तञ्च महाभूतानि पञ्च च। एतानि सृष्टिं जानद्भिर्विकाराः षोडश स्मृताः॥३०॥

सोलह विकार—सृष्टि के अर्थात् सृष्टि किस क्रम से होती है, इस विषय के जाननेवाले पण्डितों ने दश इन्द्रिय, चित्त और पाँच महाभूत ये जो १६ विकार के नाम से कहे हैं अर्थात् ये विकार कहलाते हैं ॥ ३० ॥

*विकाराः = कार्याणि ॥ ३० ॥

विकार का अर्थ है कार्य ॥ ३० ॥

अथ चतुर्विंशतितत्वान्युपसंहरञ्जीवात्मनः स्थानमाह—

एवं चतुर्विंशतिभिस्तत्वैः सिद्धे वपुर्गृहे। जीवात्मा नियतेर्निघ्नो वसति स्वान्तदूतवान् ॥३१॥

जीवात्मा के निवासस्थान—इस प्रकार चौबीस तत्वों से अर्थात् ८ प्रकृति और १६ विकारों से बने हुये शरीररूपी गृह में शुभ तथा अशुभ कर्मों के अधीन होता हुआ, मनरूपी दूत से युक्त होकर जीवात्मा निवास करता है ॥ ३१ ॥

*अत्र शब्दादीनां वियदादिमहाभूतगुणानां धर्मिभ्योऽभिन्नतया पृथक्त्वं निरस्यन्नुक्तानां तत्वानामुपसंहारमाह—चतुर्विंशतिभिरिति। तानि च प्रकृतयोऽष्टौ विकाराः षोडशेति। महत्तत्वादीनि[3] प्रकृत्यादीनां भावाः, नियतेः = शुभाशुभकर्मणः, निघ्नः = आयत्तः, स्वान्तदूतवान् = मनोदूतयुक्तः ॥ ३१ ॥

यहां आकाशादि पाँच महाभूतों के गुण जो शब्दादि (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) हैं, इन्हीं को 'धर्मी से धर्म अभिन्न होता है' इस नियम से पांच महाभूतों से पृथक्ता का खण्डन करते हुए अर्थात् जो लोग शब्दादिकों को महाभूतों से पृथक् मानते थे, उनके मत का खण्डन करते हुये और कहे हुए तत्वों का उपसंहार करते हुए 'चतुर्विंशतिभिस्तत्वैः' (२४ तत्वों से) ऐसा कहा। वे चौबीस तत्व ८ प्रकृति और १६ विकार ये हैं। महत्तत्वादि सब प्रकृति आदि के भाव अर्थात् कार्य हैं। यहाँ पर 'नियति' इस पद से 'शुभाशुभ कर्म' यह अर्थ समझना, निघ्नः = अर्थात् अधीन, स्वान्तदूतवान् = मनरूपी दूत से युक्त ॥ ३१ ॥

अथ जीवात्मा शरीरीत्युच्यत इत्याह—

स देही कथ्यते पापपुण्यदुःखसुखादिभिः। व्याप्तो बद्धश्च मनसा कृत्रिमैः कर्मबन्धनैः॥३२॥

जीवात्मा और शरीरी—वही जीवात्मा पाप-पुण्य और दुःख-सुख से व्याप्त तथा मन के द्वारा कृत्रिम कर्म के बन्धनों से बँधा हुआ शरीरी कहलाता है ॥ ३२ ॥

---

१. अयं कोष्ठस्थः पाठष्टीकाकृत्सम्मत इत्यत्र विभावनीयम्।

२. अयं कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः। ३. 'महत्तत्वानी'ति पाठः सर्वत्रोपलभ्यते किन्तु चिन्त्यः।

सः=जीवात्मा ॥ ३२ ॥

'सः' पद का अर्थ 'वह जीवात्मा' है ॥ ३२ ॥

तस्य देहिनः शरीरजीवात्मनोः संयोगकारकेण मनसा संयोगे ये ये गुणा उत्पद्यन्ते तानाह—

इच्छाद्वेषसुखासुखानि[1] विषयज्ञानं प्रयत्नो मनः
सङ्कल्पश्च विचारणा स्मृतिरथो बुद्धिः कलाविज्ञता।
प्राणस्योपरि यापनं गुदवशाद्वायोरधः प्रेरणं
नेत्रोन्मेषनिमेषकृत्यकरणोत्साहाश्च जीवे गुणाः ॥ ३३ ॥

जीव विषयक गुण – इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, विषयों का ज्ञान, प्रयत्न, मनःसङ्कल्प, विचारणा, स्मृति, बुद्धि, कलाओं की अभिज्ञता, प्राण का ऊपर की ओर लेजाना, गुदा के मार्ग से वायु का नीचे की ओर लेजाना, नेत्रों का उन्मेष और निमेष तथा कार्य करने में उत्साह, ये सब जीवविषयक गुण हैं ॥ ३३ ॥

इच्छा=सुखहेतुरभिलाषः। द्वेषो=दुःखहेतुर्मनोऽप्रवृत्तिः[2]। सुखं=प्रीतिः। [3]असुखम्=अप्रीतिः। विषयज्ञानं=शब्दादिज्ञानम्। प्रयत्नः=कार्ये तात्पर्यम्। मनः=संशयात्मकं, तस्य कर्मसङ्कल्पः। विचारणा=ऊहापोहाभ्यां वस्तुविमर्शः। स्मृतिः=पूर्वानुभूतस्यार्थस्य स्मरणम्। बुद्धिः=निश्चयात्मिका। कलाविज्ञता=शिल्पशास्त्रादिबोधः। प्राणस्य=हृदयस्थितस्य वायोरुपरि यापनम्=मुखादिप्रतिनयनम्। गुदवशाद्वायोरधःप्रेरणम्=अपानस्याधःप्रेरणम्। नेत्रोन्मेषनिमेषौ=नेत्रयोरुन्मीलननिमीलने। कृत्यकरणोत्साहः=कार्यारम्भे सामर्थ्येनोत्साहः। जीवे=मनोयुक्तस्य जीवात्मनः। अमी=इच्छादयो गुणाः ॥ ३३ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमन्मिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे सृष्टिप्रकरणं समाप्तम् ॥

इच्छा=सुखमूलक अभिलाष, द्वेष=दुःखमूलक मन की अप्रवृत्ति, सुख=प्रीति, असुख=अप्रीति, विषयज्ञान=शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध विषयक ज्ञान, प्रयत्न=कार्यविषयक तत्परता, मन=यह वस्तु है या नहीं इस प्रकार का संशय (सन्देह) करनेवाला, उसका सङ्कल्प=संशयात्मक मन का कर्म अर्थात् मन के द्वारा सङ्कल्प करना, विचारणा=ऊहापोह (तर्क वितर्क के द्वारा वस्तुविषयक विचार), स्मृति=पूर्व में अनुभूत अर्थ का स्मरण, बुद्धि=निश्चयात्मिका (यह यही वस्तु है दूसरा नहीं), कलाविज्ञता=शिल्प–शास्त्रादि का बोध, प्राणका अर्थात् हृदयस्थित वायु का ऊपर (मुखादि की) ओर लेजाना, गुदा के मार्ग से वायु का नीचे की ओर लेजाना अर्थात् अपान वायु का नीचे की ओर लेजाना, नेत्रों का उन्मेष और निमेष अर्थात् नेत्रों का खोलना और मूंदना, कार्य करने में उत्साह अर्थात् कार्य के आरम्भ करने में सामर्थ्य के अनुरूप उत्साह, जीव विषयक अर्थात् मन से युक्त जीवात्मा के ये इच्छा आदि गुण हैं ॥ ३३ ॥

इति श्रीभिषग्रत्नब्रह्मशङ्करशर्मसाहित्यशास्त्रिणा विरचितायां 'विद्योतिनी'-
भाषाटीकायां सृष्टिप्रकरणं समाप्तम् ॥ २ ॥

---

१. 'दुःखसुखानी'ति पाठान्तरम्। २. 'मनःप्रवृत्ति'रिति पाठान्तरम्।
३. 'अदुःखमि'ति पाठान्तरम्।

अथ गर्भप्रकरणम्

चिकित्सायां शरीरी ह्यधिकृतः स शरीरी यथोत्पद्यते तद्बोधयितुं गर्भोत्पत्तिक्रममाह।

गर्भोत्पत्तिभूमिस्तु रजस्वला स्त्री, ततो रजस्वलास्वरूपमाह—

द्वादशाद्वत्सरादूर्ध्वमापञ्चाशत्समाः स्त्रियः। मासि मासि भगद्वारा प्रकृत्यैवार्त्तवं स्रवेत् ॥१॥

रजस्वला स्त्री के स्वरूप—बारह वर्ष की अवस्था से लेकर पचास वर्ष की अवस्था तक की स्त्रियों के भग (योनि) के मार्ग से प्रत्येक महीने में स्वभावतः आर्त्तव (रज) निकलता रहता है ॥ १ ॥

अथ गर्भग्रहणयोग्यं समयमाह—

आर्त्तवस्रावदिवसाहतुः षोडश रात्रयः। गर्भग्रहणयोग्यस्तु स एव समयः स्मृतः ॥ २ ॥

गर्भ ग्रहण के योग्य समय—जिस दिन से रज निकलने लगता है, उस दिन से लेकर सोलहवीं रात्रि पर्यन्त समय को ऋतुकाल कहते हैं। यही १६ रात्रि व्यापी ऋतुकाल गर्भ धारण करने के योग्य समय है ॥ २ ॥

***सर्वासामेव चतुर्वर्णस्त्रीणां सर्ववादिसम्मतः पूर्वोक्तः समयः। ग्रन्थान्तरे तु विशेषः। तद्यथा—स्नानदिवसादूर्ध्वं द्वादशरात्रावधि ब्राह्मण्याः, दशरात्रावधि क्षत्रियायाः, अष्टरात्रावधि वैश्यायाः, षड्रात्रावधि शूद्राया गर्भधारणे शक्तिः ॥ २ ॥**

चारो वर्णों की सभी स्त्रियों के गर्भधारण करने के सम्बन्ध में पूर्वोक्त समय सभी विद्वानों के सम्मत है किन्तु दूसरे ग्रन्थों में इससे कुछ विशेष लिखा है, कि—जिस दिन रजस्वला स्त्री स्नान करके शुद्ध होती है, उस दिन से लेकर १२ रात्रि तक ब्राह्मणी, १० रात्रि तक क्षत्रिया, ८ रात्रि तक वैश्य और ६ रात्रि तक शूद्रा स्त्री की गर्भधारण करने में शक्ति (सामर्थ्य) रहती है ॥ २ ॥

अथ रजस्वलाया नियमानाह—

आर्त्तवस्रावदिवसादहिंसा ब्रह्मचारिणी। शयीत दर्भशय्यायां पश्येदपि पतिं न च ॥ ३ ॥
करे शरावे पर्णे वा हविष्यं त्र्यहमाहरेत्। अश्रुपातं नखच्छेदमभ्यङ्गमनुलेपनम् ॥ ४ ॥
नेत्रयोरञ्जनं स्नानं दिवास्वापं प्रधावनम्। अत्युच्चशब्दश्रवणं हसनं बहुभाषणम् ॥
आयासं भूमिखननं प्रवातञ्च विवर्जयेत् ॥ ५ ॥

रजस्वला स्त्रियों के नियम—रजस्वला स्त्री जिस दिन रजोधर्म हो जाय उस दिन से तीन दिन तक किसी जीव की हिंसा न करे, ब्रह्मचर्य से रहे, कुश की बनी हुई चटाई पर सोवे और पति का दर्शन न करे, तथा आँसू का गिराना (रोना), नखों का काटना या कटाना, तेल लगाना, चन्दनादिका लेप करना, आँखों में अंजन लगाना, स्नान करना, दिन में सोना, दौड़ना, अत्यन्त ऊँचे शब्दों का सुनना, हंसना, बहुत बोलना, परिश्रम करना, जमीन का खोदना, जहाँ पर अधिक वायु हो वहाँ पर बैठना, ये सब छोड़ देवे ॥ ३–५ ॥

एतस्या नियमाकरणे दोषानाह—

अज्ञानाद्वा प्रमादाद्वा लोभाद्वा दैवतश्च वा ॥ ६ ॥
सा चेत् कुर्यान्निषिद्धानि गर्भो दोषांस्तदाऽऽप्नुयात्। एतस्या रोदनाद्गर्भो भवेद्विकृतलोचनः ॥
नखच्छेदेन कुनखी कुष्ठी त्वभ्यङ्गतो भवेत्। अनुलेपात्तथा स्नानाद् दुःखशीलोऽञ्जनादहक् ॥
स्वापशीलो दिवास्वापाच्चञ्चलः स्यात् प्रधावनात्। अत्युच्चशब्दश्रवणाद्बधिरः खलु जायते ॥
तालुदन्तौष्ठजिह्वासु श्यावो हसनतो भवेत्। प्रलापी भूरिकथनादुन्मत्तस्तु परिश्रमात् ॥
स्खलते भूमिखननादुन्मत्तो वातसेवनात् ॥ १० ॥

रजस्वला स्त्री के नियम नहीं पालन करने पर दोष—यदि रजस्वला स्त्री अज्ञान के वश या असावधानता के वश या लोभ के वश अथवा दैव के वश होकर पूर्वोक्त अश्रुपातादि निषिद्ध कार्यों को करे तो उसका गर्भ दोषों को प्राप्त करता है, जैसे—रोने से विकृति नेत्रवाला, नखों के काटने से खराब नखोंवाला, तेल लगाने से कोढ़ी शरीर वाला, चन्दनादि का लेप तथा स्नान करने से सदा दुःखित रहनेवाला, अञ्जन लगाने से अन्धा, दिन में सोने से अधिक सोनेवाला, दौड़ने से चञ्चल स्वभाव वाला, अत्यन्त ऊँचे शब्द के सुनने से बहिरा, हँसने से तालु, दाँत, ओष्ठ और जिह्वा श्याव (कृष्णमिश्रित पीत वर्ण) वाला, अधिक बोलने से बकवाद करनेवाला, परिश्रम करने से पगला, भूमि खोदने से चलते २ लड़खड़ा कर गिर पड़नेवाला और जहां पर अधिक वायु हो वहां पर बैठने से गर्भस्थ शिशु पागल होता है ॥ ६-१० ॥

अथ रजस्वलाकृत्यम्—

पूर्वं पश्येदृतुस्नाता यादृशं नरमङ्गना । तादृशं जनयेत् पुत्रं ततः पश्येत्पतिं प्रियम् ॥ ११ ॥

स्नानोत्तर रजस्वला स्त्री का कर्त्तव्य—रजस्वला स्त्री ऋतुस्नान करके प्रथम जिस तरह के पुरुष को देखती है, उसी तरह के पुत्र को उत्पन्न करती है। अतः ऋतुस्नान करने के बाद सर्वप्रथम पति का अथवा जो अपना प्रिय हो उसका दर्शन करे ॥ ११ ॥

*प्रियमिति । भर्त्तर्यनासन्ने पुत्रादिकमपि पश्येत् ॥ ११ ॥

'प्रिय' शब्द का तात्पर्य यह है कि यदि पति पास में न हो तो अपने प्रिय पुत्रादि का ही दर्शन करे ॥ ११ ॥

चतुर्थादिदिवसेऽपि रजोनिवृत्तौ स्त्री पत्या सङ्गच्छेन्न तु रजेऽनुवृत्तौ । यत आह—

प्रवहत्सलिले क्षिप्तं द्रव्यं गच्छत्यधो यथा । तथा वहति रक्ते तु क्षिप्तं वीर्यमधो व्रजेत् ॥१२॥

चौथा पाँचवाँ आदि दिन होने पर यदि रजःस्राव बन्द हो गया हो तभी स्त्री पति के साथ सङ्ग करे, रजःस्राव हो रहा हो तो सङ्ग न करे। क्योंकि 'बहते हुये जल में फेंका हुआ द्रव्य जिस भाँति नीचे की तरफ बह कर चला जाता है, उसी भाँति रजःस्राव होते हुये में गिराया हुआ पुरुष का वीर्य बह कर नीचे की ओर चला जाता है अर्थात् गर्भाशय में नहीं ठहरने पाता, किन्तु रजःस्राव के साथ बाहर निकल जाता है ॥ १२ ॥

अथ भर्तृकृत्यम् । तत्र गर्भाधाने निषिद्धं विहितं च कालं तयोः फलञ्चाह—

आयुः क्षयभयाद्भर्त्ता प्रथमे दिवसे स्त्रियम् ॥ १३ ॥
द्वितीयेऽपि दिने रात्रौ त्यजेदृतुमतीं तथा । तत्र यश्चाहितो गर्भो जायमानो न जीवति ॥
आहितो यस्तृतीयेऽह्नि स्वल्पायुर्विकलाङ्गकः ॥ १४ ॥

रजस्वला स्त्री के साथ सम्भोग करने का निषेध—पति 'आयु का नाश होगा' इस भय से रजोधर्म का प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय दिन भी ऋतुमती स्त्री के साथ सङ्ग करना छोड़ देवे क्योंकि प्रथम और द्वितीय दिन में ऋतुमती स्त्री के साथ सङ्ग करने से आयु का क्षय होता है तथा जो गर्भ स्थित होता है, वह उत्पन्न होने पर जीता नहीं है और तीसरे दिन में जो गर्भ स्थित होता है, वह थोड़ी आयुवाला और विकलाङ्ग (न्यूनाधिक अङ्गोंवाला) होता है ॥ १३-१४ ॥

अतश्चतुर्थी षष्ठी स्यादष्टमी दशमी तथा। द्वादशी वाऽपि या रात्रिस्तस्यान्तां विधिना भजेत्॥

ऋतुमती के साथ सम्भोग करने का प्रशस्त दिन—चौथी, छठीं, आठवीं, दशवीं या बारहवीं जो रात्रि हो, उसमें विधि से ऋतुमती स्त्री के साथ सङ्ग करे ॥ १५ ॥

*विधिना = गर्भाधानोक्तविधिना ॥ १५ ॥

'विधिना' पदसे 'गर्भाधान के विषय में कही हुई विधि से' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १५ ॥

तन्त्रान्तरे—

अत्रोत्तरोत्तरं विद्यादायुरारोग्यमेव च। प्रजासौभाग्यमैश्वर्यं बलञ्चाभिगमात् फलम् ॥ १६॥

उपर्युक्त रात्रियों में स्त्रीगमन करने से उत्तरोत्तर आयु, आरोग्य, प्रजा (सन्तान) का सौभाग्य, ऐश्वर्य और बल की प्राप्ति होती है। अर्थात्—४ थी रात्रि में स्त्रीगमन करने से आयु, ६ठीं रात्रि में आरोग्य, ८ वीं रात्रि में प्रजा का सौभाग्य, १०वीं रात्रि में ऐश्वर्य और १२ वीं रात्रि में बल का लाभ होता है ॥ १६॥

अथ सर्वासां स्त्रीणां योनिमध्ये नाडीत्रयमस्तीत्याह—

मनोभवागारमुखेऽबलानां तिस्रो भवन्ति प्रमदाजनानाम्।
समीरणा चन्द्रमुखी च गौरी विशेषमासामुपवर्णयामि ॥ १७॥

स्त्रियों की योनि की नाड़ियाँ—अबला जो स्त्रियाँ हैं उनके भगद्वार में समीरणा, चान्द्रमसी और गौरी नाम की तीन नाड़ियाँ होती हैं। उन सबों की जो विशेषता है उसका वर्णन निम्न है॥

अथ तासां विशेषमाह—

प्रधानभूता मदनातपत्रे समीरणा नाम विशेषनाडी।
तस्या मुखे यत् पतितं तु वीर्यं तन्निष्फलं स्यादिति चन्द्रमौलिः ॥ १८॥
या चापरा चान्द्रमसी च नाडी कन्दर्पगेहे भवति प्रधाना।
सा सुन्दरी योषितमेव सूते साध्या भवेद्दपरतोरसवेषु ॥ १९॥
गौरीति नाडी यदुपस्थगर्भे प्रधानभूता भवति स्वभावात्।
पुत्रं प्रसूते बहुधाऽङ्गना सा कष्टोपभोग्या सुरतोपविष्टा ॥ २०॥

स्त्रीयोनि के नाड़ियों की विशेषता—मदनातपत्र (योनिद्वार) में प्रधानरूप से समीरणा नाम की जो एक विशेष प्रकार की नाड़ी है, उसके मुख में जो वीर्य पड़ जाता है, उसमे गर्भ स्थित नहीं होता और कन्दर्पगृह (भग) के मध्य में जो प्रधानरूप से चान्द्रमसी नाम की दूसरी नाड़ी होती है, उस नाडी के मुख में वीर्य गिरने पर वह सुन्दरी कन्या ही उत्पन्न करती है तथा वह स्त्री थोड़ी ही रतिक्रिया करने से साध्य हो जाती है और जिस स्त्री के भग के मध्य में गौरी नाम की प्रधानरूप से जो नाड़ी रहती है उसके मुख में यदि वीर्य गिरे तो स्वभावतः वह स्त्री पुत्र ही उत्पन्न करती है तथा रतिक्रिया में प्रायः करके कष्ट से साध्य होती है (जल्दी उसका स्खलन नहीं होता ऐसा चन्द्रमौलि आचार्य का मत है) ॥ १८–२०॥

अथ युग्मायुग्मरात्रीणां फलमाह—

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ॥ २१॥

सम तथा विषम रात्रियों में स्त्रीगमन करने का फल—युग्म अर्थात् ४ थी, ६ ठीं, ८ वीं, १० वीं, १२ वीं और १६ वीं रात्रियों में ऋतुमती स्त्रियों के साथ सङ्ग करने से पुत्र उत्पन्न होते हैं और अयुग्म अर्थात् ५ वीं, ७ वीं, ९ वीं, ११ वीं, १३ वीं, १५ वीं, रात्रियों में स्त्रीगमन करने से पुत्रियाँ उत्पन्न होती हैं॥ २१॥

तत्र दम्पत्योः सम्भोगे यादृक्पुमान्युक्तस्तादृगुच्यते—

स्नातश्चन्दनलिप्ताङ्गः सुगन्धसुमनोऽर्चितः। भुक्तवृष्यः सुवसनः सुवेशः समलङ्कृतः ॥२२॥
ताम्बूलवदनस्तस्यामनुरक्तोऽधिकस्मरः। पुत्रार्थी पुरुषो नारीमुपेयाच्छयने शुभे ॥ २३॥

पुरुष के लिये स्त्री सम्भोग का विधान—स्त्री के साथ सम्भोग करने के दिन पुत्रप्राप्ति की इच्छा रखनेवाला पुरुष स्नान करके, शरीर में चन्दन का लेप करके, सुगन्धित फूलों की माला आदि पहन

कर अथवा इत्र लगा कर, वीर्य को पैदा करनेवाले दुग्ध, घृतादि द्रव्य का भोजन करके, सुन्दर वस्त्र पहन कर, सुन्दर वेश बना कर तथा अच्छी तरह से अलंकृत होकर, मुख में पान का बीड़ा रक्खे हुये, अधिक कामान्वित तथा स्त्री में अनुरक्त होकर उत्तम शय्या पर स्त्री के पास जावे ॥ २२-२३ ॥

तत्रायोग्यं पुरुषमाह—

अत्याशितोऽधृतिः क्षुद्वान् सव्यथाङ्गः पिपासितः। बालो वृद्धोऽन्यवेगार्तस्त्यजेद्रोगी च मैथुनम्॥

स्त्री सम्भोग में अयोग्य पुरुष—जो अत्यन्त भोजन किये हो, भूखा और धैर्य से रहित हो तथा जिस के अङ्गों में दर्द हो रहा हो और जो प्यासा हो, बालक अथवा वृद्ध काम के वेग के अतिरिक्त अन्य मलमूत्रादि के वेग से व्याकुल तथा रोगी हो, वह पुरुष स्त्रीगमन करना छोड़ देवे ॥२४॥

तत्र स्त्री यादृशी योग्या तादृश्युच्यते—

पुरुषस्य गुणैर्युक्ता विहिता न्यूनभोजना। नारी ऋतुमती पुंसा सङ्गच्छेत्सु सुतार्थिनी ॥२५॥

स्त्री के लिये पुरुष सम्भोग का विधान—सम्भोग करने के समय पुरुष के लिये जो २ उचित गुण कह आये हैं उन २ गुणों से युक्त होकर स्वल्प भोजन किये हुई, पुत्रप्राप्ति की इच्छा रखनेवाली ऋतुमती स्त्री पुरुष के साथ सङ्ग करे ॥ २५ ॥

तत्रायोग्यां स्त्रियमाह—

रजस्वला व्याधिमती विशेषाद्योनिरोगिणी। वयोऽधिका च निष्कामा मलिना गर्भिणी तथा
एतासां सङ्गमात्पुंसां वैगुण्यानि भवन्ति हि ॥ २६ ॥

सम्भोग के अयोग्य—रजस्वला, रोगिणी पुरुष की अवस्था से अधिक अवस्थावाली, कामचेष्टा से रहित, मैली-कुचैली तथा गर्भिणी स्त्रियों के साथ सङ्ग करने से अनेक वैगुण्य (खराबियाँ) उत्पन्न होते हैं ॥ २६ ॥

*तत्र रजस्वला दिनत्रयं यावदृतौ निषिद्धा, यत उक्तम्—

*'प्रथमेऽहनि चाण्डाली द्वितीये ब्रह्मघातिनी। तृतीये रजकी पुंसां यथा वर्ज्या तथाङ्गना ॥'

रजस्वला स्त्री के साथ सम्भोग निषेध—रजोधर्म होने के दिन से लेकर तीन दिन तक रजस्वला स्त्री के साथ सङ्ग करना निषिद्ध है। क्योंकि शास्त्र में कहा है कि—'रजस्वला स्त्री प्रथम दिन चाण्डाली, दूसरे दिन ब्रह्मघातिनी, तीसरे दिन धोबिन की भाँति अस्पृश्य रहती है' ॥ १ ॥

* व्याधिमती च वर्ज्या। तत्र स्त्रीणां व्याधयः प्रदरादयस्तद्युक्ता निषिद्धा तत्रापि विशेषाद्योनिरोगिणी ॥ २६ ॥

'व्याधिमती च वर्ज्या' यहाँ 'व्याधिमती' का—प्रदरादि व्याधियुक्त अर्थ है। उसमें भी विशेष करके योनिसम्बन्धी रोगवाली स्त्री अवश्य निषिद्ध है ॥ २६ ॥

गर्भावतरणक्रममाह—

कामान्मिथुनसंयोगे शुद्धशोणितशुक्रजः। गर्भः सञ्जायते नार्याः स जातो बाल उच्यते ॥२७॥

गर्भस्थिति का क्रम—काम के वश से स्त्री और पुरुष का परस्पर संयोग होने पर शुद्ध रज और वीर्य से उत्पन्न होकर स्त्री को गर्भ होता है, वही गर्भ उदर से बाहर निकलने पर बाल (शिशु) कहलाता है ॥ २७ ॥

* गर्भः शुद्धः, अशुद्धस्तु गर्भोऽशुद्धशुक्रशोणितयोरपि दम्पत्योर्भवति यत आह—

*'दम्पत्योः कुष्ठबाहुल्याद् दुष्टशोणितशुक्रयोः। यदपत्यन्तयोर्जातं ज्ञेयं तदपि कुष्ठितम्' इति॥

'गर्भ' से 'शुद्ध गर्भ' अर्थ समझना चाहिये, क्योंकि जिन स्त्री-पुरुषों के रज और वीर्य वातादि दोषों से दुष्ट होते हैं। उनका जो गर्भ होता है, वह अशुद्ध कहलाता है जैसा कि कहा है—'अधिक

कुष्ठ (कोढ़) होने से जिन स्त्री और पुरुषों का रज और शुक्र दुष्ट हो गया है, उन लोगों की जो सन्तान होती है वह भी कुष्ठित अर्थात् कुष्ठयुक्त (कोढ़ी) होती है ॥ २ ॥'

· ⊛ कुष्ठं सञ्जातं यस्य तत् कुष्ठितम् । अत्र तारकादित्वादितच्प्रत्ययः ॥ २ ॥

जिसे कुष्ठ उत्पन्न हुआ हो वह 'कुष्ठित' कहलाता है यहाँ कुष्ठ शब्द से 'तारकादिभ्य इतच्' इस सूत्र से इतच् प्रत्यय होने पर कुष्ठित शब्द की सिद्धि हुई है ॥ २ ॥

यत्तु—'वातादिदुष्टरेतसः प्रजोत्पादने न समर्थाः' । इति सुश्रुतः । तत्र शुद्धप्रजोत्पादने न समर्था इति बोद्धव्यम् । रोगादिनाऽशुद्धास्तु प्रजा वातादिदुष्टशुक्रा अपि जनयन्ति जन्मान्धबधिरपङ्ग्वादि सम्भवात् ॥ २७ ॥

'सुश्रुत' में जो लिखा है कि 'वातादि दोषों से जिनके वीर्य दुष्ट हो गये हैं, वे सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते' वहाँ 'शुद्ध सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते' ऐसा समझना चाहिये । रोगादिकों के द्वारा अशुद्ध सन्तान वातादिक दोषों से दुष्ट शुक्रवाले उत्पन्न करते हैं, जन्म से अन्धे, बहिरे, लूले आदि देखने में आते हैं ॥ २७ ॥

ऋतौ स्त्रीपुंसयोर्योगे मकरध्वजवेगतः ॥ २८ ॥
मेढ्रयोन्यभिसङ्घर्षाच्छरीरोष्माऽनिलाहतः । पुंसः सर्वशरीरस्थं रेतो द्रावयतेऽथ तत् ॥ २९ ॥
वायुर्मेहनमार्गेण पातयत्यङ्गनाभगे ।
तत् संश्रुत्य व्यात्तमुखं याति गर्भाशयं प्रति । तत्र शुक्रवदायातेनार्त्तवेन युतं भवेत् ॥ ३० ॥

काम के वेग के वशीभूत होने से ऋतुकाल में जब स्त्री और पुरुष का संयोग होता है तब लिङ्ग और योनि के सङ्घर्ष (रगड़) से शरीर की ऊष्मा (गर्मी) वायु से आहत होकर पुरुष के सम्पूर्ण शरीर में स्थित वीर्य को द्रवित (बहने लायक पतला) कर देती है । उसके बाद वायु उसी द्रवित वीर्य को लिङ्ग के मार्ग से स्त्री की योनि में गिराता है । उसके बाद वही वीर्य बहकर जिसका मुंह खुला हुआ है ऐसे गर्भाशय में जाता है और गर्भाशय में वीर्य की भाँति आये हुए रज के साथ मिल जाता है ॥ २८–३० ॥

गर्भाशयस्य स्वरूपमाह—

शङ्खनाभ्याकृतिर्योनिस्त्र्यावर्त्ता सा च कीर्त्तिता तस्यास्तृतीये त्वावर्त्ते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता॥

गर्भाशय के स्वरूप—योनि को पण्डितोंने शङ्ख की नाभि (मुख के भीतर के भाग) के सदृश तीन आवर्त्तों से युक्त बतलाया है और उस योनि के तीसरे आवर्त्त में गर्भशय्या (गर्भाशय) है, ऐसा कहा है ॥ ३१ ॥

यथा रोहितमत्स्यस्य मुखं भवति रूपतः । तत्संस्थानां तथा रूपां गर्भशय्यां विदुर्बुधाः ॥

जिस प्रकार रोहू मछली का मुख देखने में होता है, गर्भाशय की भी आकृति और रूप उसी भाँति होते हैं ॥ ३२ ॥

⊛ अयमर्थः—गर्भशय्याया मुखं रोहितमत्स्यस्येव भवति यथा च रोहितमत्स्यस्य स्थितिर्जले भवति तथा पित्ताशयपक्वाशयमध्ये गर्भशय्यायाः स्थितिर्भवति रूपमपि तस्येव भवति यथा रोहितस्य मुखं स्वल्पमाशयस्तु महानित्यर्थः ॥ ३२ ॥

उपर्युक्त श्लोक का भाव यह है कि—गर्भाशय का मुख रोहित (रोहू) मछली की भाँति होता है जैसे रोहित मछली की स्थिति जल के मध्य में रहती है गर्भाशय की भी स्थिति उसी भाँति पित्ताशय और पक्वाशय के मध्य में रहती है और गर्भशय्या का रूप भी रोहित मछली की भाँति होता है अर्थात् जिस भाँति रोहित का मुखभाग बहुत कम चौड़ा होता है और आशय (मुख

के भीतर का भाग) बहुत चौड़ा होता है उसी भाँति गर्भाशय का भी मुखभाग बहुत छोटा और भीतर का भाग बहुत बड़ा होता है ॥ ३२ ॥

अथ गर्भे जीवप्रवेशप्रकारमाह—

शुक्रार्त्तवसमाश्लेषो यदैव खलु जायते ॥ ३३ ॥
जीवस्तदैव विशति युक्तः शुक्रार्त्तवान्तरः ।
सूर्यांशोः सूर्यमणित उभयस्माद्युताद्यथा । वह्निः सञ्जायते जीवस्तथा शुक्रार्तवाद्युतात् ॥

गर्भ में जीव के प्रवेश करने का प्रकार—जिस समय शुक्र और आर्त्तव (रज) का संयोग होता है, उस समय जीव उसी मिले हुए वीर्य और रज के भीतर प्रवेश करता है । सूर्य की किरण और सूर्यकान्तमणि इन दोनों का संयोग होने से जैसे अग्नि उत्पन्न होती है, उसी तरह शुक्र और रज का संयोग होने से जीव उत्पन्न होता है ॥ ३३-३४ ॥

आत्माऽनादिरनन्तश्चाऽव्यक्तो वक्तुं न शक्यते ॥ ३५ ॥
चिदानन्दैकरूपोऽयं मनसाऽपि न गम्यते ।
एवम्भूतोऽपि जगतो भाविनी बलवत्तया । अविद्यास्वीकृते कर्मवशो गर्भे विशत्यसौ ॥३६॥

जीवात्मा अनादि, अनन्त तथा अव्यक्त है अतएव इसके विषय में मुख से कुछ कहा नहीं जा सकता और वह चिदानन्दरूप (चैतन्य आनन्दस्वरूप) एक है अतः मन के लिये भी अगम्य है अर्थात् उसके स्वरूप की कल्पना मन भी नहीं कर सकता किन्तु जगत् की उत्पत्ति करनेवाली माया बलवती होने से कर्म के वश होकर अविद्या से स्वीकृत (अज्ञान से स्वीकार किये गये) गर्भ में प्रवेश करता है ॥ ३५-३६ ॥

*गर्भे = चतुर्विंशतितत्त्वमये ॥ ३५-३६ ॥

यहां 'गर्भे' पद से 'चौबीस तत्त्वों से बने हुए गर्भ में' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ३५-३६ ॥

स एव वेत्ता रसनो द्रष्टा घ्राता स्पृशत्यसौ । श्रोता वक्ता च कर्त्ता च गन्ता रन्तोत्सृजत्यपि ॥

(गर्भ में जाकर) वही जीवात्मा जाननेवाला, स्वाद ग्रहण करनेवाला, देखनेवाला, गन्ध ग्रहण करनेवाला, स्पर्श का बोध करनेवाला, सुननेवाला, बोलनेवाला, गमन करनेवाला, रमण करनेवाला तथा मलादि का त्याग करनेवाला होता है ॥ ३७ ॥

अथ गर्भाशयद्वारमुखसंवरणकालमाह—

दिने व्यतीते नियतं सङ्कुचत्यम्बुजं यथा । ऋतौ व्यतीते नार्यास्तु योनिः संव्रियते तथा ॥

गर्भाशय द्वार बन्द होने के समय—दिन के बीत जाने पर (रात्रि में) कमल जिस भांति नियतरूप से संकुचित हो जाया करता है । उसी भांति ऋतुकाल के बीत जाने पर स्त्रियों की योनि भी सङ्कुचित हो जाया करती हैं ॥ ३८ ॥

*ऋतौ = रजोदर्शनात् षोडशनिशाऽऽत्मके काले । योनिरत्र गर्भद्वारम् ॥ ३८ ॥

'ऋतु' पद से 'रजोदर्शन होने के दिन से लेकर १६ सोलह रात्रि पर्यन्त जो काल है' उसका बोध करना चाहिये और 'योनि' पद से 'गर्भाशय का द्वार' समझना चाहिये ॥ ३८ ॥

अथ यमजसन्तानोत्पत्तौ हेतुमाह—

बीजेऽन्तर्वायुना भिन्ने द्वौ जीवौ कुक्षिमागतौ । यमावित्यभिधीयेते धर्मेतरपुरःसरौ ॥३९॥

यमज (युग्म) सन्तान उत्पन्न होने का कारण—गर्भाशय के भीतर वायु के द्वारा जब रज वीर्य दो भागों में विभक्त हो जाता है तब जो दो जीव गर्भाशय में आते हैं, वे ही धर्मेतर-पुरःसर (धर्माधर्मजन्य) यमज कहलाते हैं ॥ ३९ ॥

अतौ धर्मेतरपुरःसरौ = धर्मस्तदितरोऽधर्मस्तौ पुरःसरौ ययोः, तेन यमौ धर्माधर्माभ्यां भवत इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

'धर्मेतरपुरःसरौ' इस पद का अर्थ यह है कि धर्म (पुण्यजनक कर्म) और उससे इतर अधर्म, ये दोनों पुरःसर अर्थात् गर्भ में आने के कारण हैं जिनके, इसका फलितार्थ यह हुआ कि यमज धर्म और अधर्म से उत्पन्न होते हैं ॥ ३९ ॥

अथ स्त्रीपुंसनपुंसकसन्तानोत्पत्तौ हेतुमाह—

आधिक्ये रेतसः पुत्रः कन्या स्यादार्त्तवेऽधिके । नपुंसकं तयोः साम्ये यथेच्छा[1] पारमेश्वरी ॥

पुत्र, पुत्री और नपुंसक सन्तान होने के कारण—शुक्र के अधिक होने से पुत्र, रज के अधिक होने से कन्या और रज तथा वीर्य का भाग बराबर होने से नपुंसक सन्तान उत्पन्न होती है। क्योंकि ऐसी परमेश्वर की इच्छा है ॥ ४० ॥

ननु एवं सति कथं पुत्रोत्पत्तिः सदैवार्त्तवस्यैव बाहुल्यात्। यत उक्तम्—
'आर्त्तवं चतुरञ्जलिप्रमाणं शुक्रं प्रसृतिमात्रम्' इति ।
वाग्भटेऽप्युक्तमात्रेयादिभिः—

'मज्जा मेदो वसा मूत्रपित्तश्लेष्मशकृन्त्यसृक्। रसो जलं च देहेऽस्मिन् एकैकाञ्जलिवर्द्धितम् ॥
पृथक् च प्रसृतं प्रोक्तमोजोमस्तिष्करेतसाम् । द्वावञ्जली तु दुग्धस्य चत्वारो रजसः स्त्रियः ॥
समधातोरिदं मानं विद्याद् वृद्धिक्षयादृते' ॥ ४ ॥

इस जगह शङ्का यह होती है कि—तब पुत्रोत्पत्ति कैसे होगी ? क्योंकि सदैव वीर्य की अपेक्षा रज का परिमाण अधिक रहता है। कहा भी है—'रज का परिमाण चार अञ्जलि और शुक्र का १ प्रसृति (आधी अञ्जलि) है'। 'वाग्भट' में आत्रेयादि महर्षियों ने भी इसी बात को कहा है कि—'मज्जा, मेद, वसा (चर्बी), मूत्र, पित्त, कफ, पुरीष (मल), रक्त, रस और जल ये सब द्रव्य मनुष्य की देह में क्रमसे एक की अपेक्षा दूसरे एक २ अञ्जलि अधिक है और ओज मस्तिष्क तथा शुक्र इन सबों का पृथक् २ एक २ अञ्जलि प्रमाण है और स्त्रियों के शरीर में दूध २ अञ्जलि और रज ४ अञ्जलि प्रमाण रहता है, क्षय और वृद्धि से भिन्न समान धातु वाले का ही यह प्रमाण जानना' ॥ ३–४ ॥

नैवं यतो गर्भाशयस्थमेव शुक्रमार्त्तवं च गर्भोत्पत्तिहेतुः, शुक्रं कदाचिदत्यन्तहर्षवशाद् दुग्धादिशुक्रलद्रव्यसेवनाद् शुक्रबाहुल्याद् गर्भाशये बहु स्रवति कदाचिद्दुर्मनस्त्वादिना शुक्राल्पत्वात्स्वल्पमिति, एवमार्त्तवमपीति न दोषः ॥

सुश्रुतः पुनराह—

'वैलक्षण्याच्छरीराणामस्थायित्वात्तथैव च। दोषधातुमलानां तु परिमाणं न विद्यते' ॥ ५ ॥

इसका उत्तर यह है कि—आपका शङ्का करना अनुचित है क्योंकि—गर्भाशय में ही स्थित जो शुक्र और रज हैं वे ही गर्भ उत्पन्न होने में कारण हैं न कि समस्त शरीर में स्थित रज और वीर्य। शुक्र कभी अत्यन्त हर्ष होने से अथवा दूध आदि शुक्र के बढ़ानेवाले द्रव्यों का सेवन करने से अथवा शुक्र की अधिकता होने से गर्भाशय में अधिक परिमाण में गिर पड़ता है और कभी दुःखित मन होने से अथवा शुक्र की कमी होने से थोड़ा ही गिरता है, इसी तरह से आर्त्तव के भी न्यूनाधिक्य होने का कारण समझना। सुश्रुत भी इसी विषय में कहते हैं कि—'शरीरों की विलक्षणता

---

१. परमेश्वरीति पाठान्तरं प्रामादिकम् ।

तथा दोषादिकों की अस्थिरता होने से दोष, धातु और मल इन पदार्थों के परिमाण की स्थिरता नहीं रहती' ॥ ५ ॥

*वैलक्षण्यात् दीर्घह्रस्वकृशादिभेदेन सादृश्याभावाद् अस्थायित्वात् वयोऽहर्निशर्त्तुभुक्तेष्वेकमात्रानवस्थानात् (५) ॥ ४० ॥

यहां पर 'विलक्षण्यात्' से 'दीर्घ (लम्बा) ह्रस्व (छोटा) और कृश (दुबला) आदि भेदों से परस्पर शरीरों का सादृश्य न होने से' और 'अस्थायित्वात्' से अवस्था, दिन, रात्रि, ऋतु (वसन्तादि) और भोजन इन सबों के आदि, मध्य और अन्त में दोषादिकों की मात्रा की स्थिरता न होने से' यह अर्थ समझना चाहिये (५) ॥ ४० ॥

एवं तामभिसङ्गम्य पुनर्मासाद् भजेदसौ ॥ ४१ ॥

पूर्वोक्त नियमों से ऋतुमती स्त्री का सङ्ग करने के बाद पुनः ऋतुमती होने पर एक मास के बाद उसका सङ्ग करे ॥ ४१ ॥

*मासादूर्ध्वमिति शेषः। अर्वाग्गमनेन गर्भद्वारविघट्टनाद् गर्भच्युतिप्रसङ्गः स्यात्, केचित्तु पुनः पुष्पदर्शनेन गर्भालाभनिश्चये मासादूर्ध्वं गच्छेद्, लब्धगर्भे नैव गच्छेदिति वदन्ति ॥ ४१ ॥

श्लोक में 'मासात्' की जगह 'मासादूर्ध्वम्' का प्रयोग करके 'एक महीने के बाद' यह अर्थ समझना चाहिये। क्योंकि एक महीने के पहिले स्त्रीगमन करने से गर्भाशय के द्वार पर धक्का लगकर गर्भ के गिर जाने का प्रसङ्ग आ जाता है। कोई तो कहते हैं कि—द्वितीय बार रजःस्राव होने से गर्भ की स्थिति नहीं हुई, ऐसा निश्चय होने पर १ महीने के बाद स्त्रीगमन करना चाहिये और यदि निश्चय हो जाय कि गर्भ है तो स्त्रीगमन नहीं करना चाहिये ॥ ४१ ॥

तत्र परिहार्यपरिहारार्थं सद्योगृहीतगर्भाया लक्षणमाह—

शुक्रशोणितयोर्योनेरस्रावोऽथ श्रमोद्भवः। सक्थिसादः पिपासा च ग्लानिः स्फूर्तिर्भगे भवेत् ॥

सद्यः गर्भवती हुई स्त्री के लक्षण—योनि के द्वार से शुक्र और रज का स्राव न होना, थकावट मालूम पड़ना, पैर का थहराना, प्यास का लगना, ग्लानि, भग का फड़कना, ये सब गर्भस्थिति के लक्षण मैथुन कर चुकने के बाद स्त्रियों में दिखाई पड़ते हैं ॥ ४२ ॥

अथ तस्या एवोत्तरकालीनं लक्षणमाह-

स्तनयोर्मुखकार्ष्ण्यं[1] स्याद्रोमराज्युद्गमस्तथा।
अक्षिपक्ष्माणि चाप्यस्याः संमील्यन्ते विशेषतः ॥ ४३ ॥

छर्दयेत्पथ्यभुक्चापि गन्धादुद्विजते शुभात्। प्रसेकः सदनं चैव गर्भिण्या [2]लिङ्गमुच्यते ॥४४॥

गर्भवती के लक्षण—दोनों स्तनों के मुख (चूचुक) का काला हो जाना, रोंगटों का खड़ा होना (रोमाञ्च होना), विशेष रूप से नेत्र की पलकों का गिरना, अच्छा भोजन करने पर भी वमन होना, अच्छे गन्धवाले द्रव्यों के सूँघने से भी चित्त का उद्विग्न हो जाना, मुंह से लार गिरना (जी मचलाना) और शरीर का शिथिल (आलस्ययुक्त) होना, ये सब गर्भवती स्त्रियों के लक्षण होते हैं ॥ ४३-४४ ॥

तत्र पुत्रगर्भवत्या लक्षणमाह—

पुत्रगर्भयुतायास्तु नार्या मासि द्वितीयके। गर्भो गर्भाशये लक्ष्यः पिण्डाकारोऽपरं शृणु ॥४५॥

---

१. कार्श्यमिति पाठान्तरमशुद्धम्। २. 'लिङ्ग उच्यते' इति पाठान्तरमसङ्गतम्।

पुत्र गर्भवती के लक्षण—जिसके गर्भ में पुत्र रहता है उस के गर्भ दूसरे महीने में पिण्ड के आकार के समान दिखाई पड़ते हैं और भी लक्षणों को सुनो— ॥ ४५ ॥

*पिण्डो = वर्त्तुलाकृतिः, 'मासि द्वितीयके' इत्यस्य 'गर्भः पिण्डाकारो लक्ष्यः' इत्यनेनैवान्वयो न त्वग्रिमश्लोकेऽपि ॥ ४५ ॥

श्लोक में 'पिण्ड' पद का अर्थ 'गोल' है और 'मासे द्वितीयके' (दूसरे महीने में) इस पद का अन्वय 'गर्भः पिण्डाकारो लक्ष्यः' (गर्भ पिण्डाकार दिखलाई पड़ता है) इस वाक्य के साथ है न कि आगे के श्लोकों के साथ ॥ ४५ ॥

दक्षिणाक्षिमहत्त्वं स्यात् प्राक्क्षीरं दक्षिणे स्तने । दक्षिणोरुः सुपुष्टः स्यात्प्रसन्नमुखवर्णता ॥
पुन्नामधेयद्रव्येषु स्वप्नेष्वपि मनोरथः । आम्रादिफलमाप्नोति स्वप्नेषु कमलादि च ॥४७॥

दहिने नेत्र का बड़ा हो जाना, दहिने स्तन में पहले दूध का उतरना, दक्षिण ऊरु (जंघा) का भलीभाँति पुष्ट होना, मुख के रंग का प्रसन्न (साफ) होना, स्वप्न में पुरुष संज्ञक द्रव्यों की अभिलाषा होना, स्वप्न में आम्रादि फलों और कमलादिक पुष्पों की प्राप्ति होना, ये सब लक्षण दूसरे महीने के बाद से प्रकट होते हैं ॥ ४६–४७ ॥

अथ कन्यागर्भवत्या लक्षणम्—

कन्या गर्भवती गर्भे पेशी मासि द्वितीयके । पुत्रगर्भस्य लिङ्गानि विपरीतानि चेक्षते ॥४८॥

कन्यागर्भवती स्त्रियों के लक्षण—जिसके गर्भ में कन्या रहती है, उस गर्भवती स्त्री का गर्भ दूसरे महीने में पेशी (लंबा) की तरह दिखलाई पड़ता है और पुत्रगर्भ के जो लक्षण हैं उनसे विपरीत लक्षण दिखलाई पड़ते हैं अर्थात् बायें नेत्र का बड़ा होना, बायें स्तन में पहले दूध उतरना इत्यादि विपरीत लक्षण समझना ॥ ४८ ॥

*पेशी दीर्घाकृतिः ॥ ४८ ॥

श्लोकमें 'पेशी' का अर्थ है लंबा आकारवाला ॥ ४८ ॥

अथ नपुंसकगर्भवत्या लक्षणमाह—

नपुंसकं यदा गर्भे भवेद् गर्भोऽर्बुदाकृतिः । उन्नते भवतः पार्श्वे पुरस्तादुदरं महत् ॥ ४९ ॥

नपुंसक गर्भ के लक्षण—यदि गर्भ में नपुंसक हो तो गर्भिणी का गर्भ आकार में अर्बुद के समान दिखाई पड़ता है और उदर के दोनों भाग ऊंचे तथा सम्मुख भाग बड़ा दिखाई पड़ता है ॥ ४९ ॥

*अर्बुदं = वर्त्तुलफलार्द्धतुल्यम् ॥ ४९ ॥

'अर्बुद' पद से 'गोलाकार फल के अर्धभाग के तुल्य' अर्थ समझना चाहिये ॥ ४९ ॥

नपुंसकविशेषानाह[1]—

आसेक्यश्च सुगन्धी च कुम्भीकश्चेर्ष्यकस्तथा ।
अमी सशुक्रा बोद्धव्या अशुक्रः षण्डसंज्ञकः[2] ॥ ५० ॥

नपुंसकों के भेद—आसेक्य, सुगन्धी, कुम्भीक और ईर्ष्यक, ये ४ प्रकार के नपुंसक को शुक्र होता है और षण्ढ नामक नपुंसक अशुक्र (शुक्ररहित) होता है ॥ ५० ॥

एतेषां लक्षणान्याह, तत्रादावासेक्यलक्षणमाह—

पित्रोस्तु स्वल्पवीर्यत्वादासेक्यः पुरुषो भवेत् । सशुक्रं प्राश्य लभते ध्वजोन्नतिमसंशयम् ॥

नपुंसकों के लक्षण—माता पिता का वीर्य कम होने से आसेक्य नामक नपुंसक पुरुष उत्पन्न होता है । जब वह शुक्र पान करता है तभी निश्चित रूप से उसका लिङ्ग चैतन्य होता है ॥ ५१ ॥

---

१. 'विशेषमाहे'ति पाठान्तरम् । २. 'षण्ड-खण्डे'ति च पाठान्तरे प्रामादिके ।

ॐपित्रोर्मातापित्रोः स्वल्पवीर्यत्वात् स्वल्पशुक्रात्तवत्वाद् , आसेक्यनामा मुखयोनीति नामान्तरम् । स शुक्रं प्राश्येति स पुरुषोऽन्यपुरुषेण मैथुनं कारयित्वा तस्य शुक्रं प्राश्य मेहनोत्थानं लभत इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

श्लोक में 'पित्रोः' पद से 'माता पिता का' और 'स्वल्पशुक्रार्तवात्' इसे 'रज और वीर्य कम होने से' ऐसा अर्थ समझना चाहिये। 'आसेक्य' का दूसरा नाम 'मुखयोनि' भी है, अतः आसेक्य नामक नपुंसक अर्थात् मुखयोनि नामक जो नपुंसक है, वह शुक्र का पान करके अर्थात् अन्य पुरुष से अपने मुख में मैथुन करा कर मुख में स्खलित हुये उस पुरुष के वीर्य का पान करके अपने लिङ्ग के खड़े होने की शक्ति को प्राप्त करता है ॥ ५१ ॥

अथ सुगन्धिनपुंसकलक्षणमाह—

यः पूतियोनौ जायेत स हि सौगन्धिको भवेत्। स योनिशेफसोर्गन्धमाघ्राय लभते बलम् ॥

जो दुर्गंध युक्त योनि से उत्पन्न होता है, वह सौगन्धिक नामक नपुंसक कहलाता है, और वह योनि तथा लिङ्ग के गन्ध को सूँघ कर मैथुन करने में सामर्थ्य प्राप्त करता है ॥ ५२ ॥

ॐसौगन्धिकः=सौगन्धिकनामा, नासायोनीति नामान्तरम् । बलं मैथुने शक्तिम् ॥५२॥

श्लोक में 'सौगन्धिक' का दूसरा नाम नासायोनि भी है। 'बल' पद का अर्थ 'मैथुन करने में शक्ति'-समझना चाहिये ॥ ५२ ॥

अथ कुम्भीनपुंसकलक्षणमाह—

स्वे गुदेऽब्रह्मचर्याद्यः स्त्रीषु पुंवत् प्रवर्त्तते। स कुम्भीक इति ज्ञेयो गुदयोनिस्तु स स्मृतः ॥

जो पुरुष अन्य पुरुष के द्वारा अपनी गुदा में मैथुन कराने पर मैथुन करने की शक्ति प्राप्त करता है, उसे कुम्भीक नामक नपुंसक समझना चाहिये। उसका दूसरा नाम 'गुदयोनि' भी प्रसिद्ध है॥५३॥

ॐअब्रह्मचर्याद् = ब्रह्मचर्यममैथुनम् ; अब्रह्मचर्यम् = मैथुनम् , किन्तु स्त्रीवदधोभूतः स्वे गुदे पुरुषान्तरेण मैथुनं कारयति, तस्मात् ॥ ५३ ॥

'अब्रह्मचर्यात्'—मैथुन से रहित, अत एव अब्रह्मचर्य का अर्थ मैथुन होने से इसका अर्थ जो 'अपनी गुदा में मैथुन कराने से' यह होता है, उसमें 'स्त्री की तरह स्वयं नीचे रह कर ऊपर से दूसरे पुरुष से अपनी गुदा में मैथुन कराने से' ऐसा अर्थ समझना चाहिये ॥ ५३ ॥

अथेर्ष्यकनपुंसकलक्षणमाह—

दृष्ट्वा व्यवायमन्येषां व्यवाये यः प्रवर्त्तते। ईर्ष्यकः स तु विज्ञेयो दृष्टियोनिस्तु स स्मृतः ॥

दूसरे पुरुष को मैथुन करते हुये देखकर जो मैथुन करने में प्रवृत्त होता है, उसे ईर्ष्यक नामक नपुंसक समझना चाहिये। इसका दूसरा नाम दृष्टियोनि भी प्रसिद्ध है ॥ ५४ ॥

अथ षण्ढनपुंसकलक्षणमाह—

यो भार्यायामृतौ मोहादङ्गनेव प्रवर्त्तते, तत्र स्त्रीचेष्टिताकारो जायते [1]षण्ढसंज्ञकः ॥ ५५ ॥

जो मोह (मूर्खता) वश हो कर ऋतुकाल में स्त्री की भाँति मैथुन करने में प्रवृत्त होता है अर्थात् स्वयं स्त्री की भाँति नीचे रह कर और स्त्री को अपने ऊपर उठाकर स्त्री से मैथुन कराता है और उस समय जो गर्भ होता है, उस से स्त्री की तरह चेष्टा और आकारवाला षण्ढ नामक नपुंसक उत्पन्न होता है ॥ ५५ ॥

ॐस्त्रीचेष्टिताकारः स्त्र्याकारश्मश्रुरहितः। स्त्रीचेष्टितः समेहनोऽपि पुरुषशक्तिरहितः ॥ ५५ ॥

---

१. 'षण्ढ=खण्डे'ति पाठान्तरे अशुद्धे।

'स्त्रीचेष्टिताकारः'=स्त्री की तरह दाढ़ी और मूँछ से रहित। 'स्त्रीचेष्टितः'='स्त्री की तरह चेष्टावाला' अर्थात् लिङ्ग होने पर भी पुरुष की जो मैथुन करने की शक्ति है, उससे रहित ॥५५॥

अथ नरचेष्टितायाः कन्याया उत्पत्तौ हेतुमाह—

ऋतौ ऋतौ पुरुषवत् प्रवर्तेताङ्गना यदि। तत्र कन्या यदि भवेत् सा भवेन्नरचेष्टिता ॥ ५६ ॥

पुरुष चेष्टावाली कन्या उत्पन्न होने के कारण—प्रत्येक ऋतुकाल में यदि स्त्री पुरुष की तरह (पुरुष के ऊपर चढ़कर) मैथुन करने के लिये प्रवृत्त हो और उससे यदि कन्या उत्पन्न हो तो वह पुरुषोंकी भाँति चेष्टा करनेवाली होती है ॥ ५६ ॥

*पुरुषवत् स्त्रियमारुह्य सा तस्या योनौ स्वयोनिघर्षणं करोति ॥ ५६ ॥

'पुरुष की भाँति चेष्टा करनेवाली' होती है अर्थात् (युवती होने पर) 'पुरुष की भाँति स्त्री के ऊपर चढ़ कर स्त्री की योनि में अपनी योनि को रगड़नेवाली होती है' ऐसा समझना चाहिये ॥

अपरा अपि गर्भप्रकृतीराह—

यदा नार्यावुपेयातां वृषस्यन्त्यौ कथञ्चन। मुञ्चन्त्यौ शुक्रमन्योन्यमनस्थिस्तत्र जायते ॥५७॥

अनस्थि सन्तानोत्पत्ति के लक्षण—यदि दो स्त्रियाँ काम से उन्मत्त हो करके परस्पर योनि रगड़ने के द्वारा शुक्र (रज) का त्याग करें, तो उससे अनस्थि सन्तान उत्पन्न होती है ॥ ५७ ॥

*अनस्थिः = अत्रेषदर्थेनञ् तेनाल्पकोमलास्थिरित्यर्थः ॥ ५७ ॥

'अनस्थि' पद में ईषदर्थ में नञ् होनेसे इसका 'थोड़ी और कोमल हड्डियोंवाली' अर्थ होता है ॥

ऋतुस्नाता तु या नारी स्वप्ने मैथुनमाचरेत्। आर्तवं वायुरादाय कुक्षौ गर्भं करोति हि ॥
मासि मासि प्रवर्द्धेत स गर्भो गर्भलक्षणः। कललं जायते तस्य वर्जितं पैतृकैर्गुणैः ॥ ५९ ॥

ऋतुस्नाता (रजोधर्म होने के बाद स्नान किये हुई) स्त्री यदि स्वप्न में मैथुन करे अर्थात् स्वप्न में देखे कि पुरुष उसके साथ मैथुन कर रहा है और वह भी उसमें प्रवृत्त हो रही है तो उस समय वायु उसके रज को गर्भाशय में पहुँचा कर गर्भ उत्पन्न कर देता है और वही गर्भ, गर्भ के लक्षणों से युक्त होकर महीने २ बढ़ा करता है, उसके बाद पैतृक गुणों से रहित वह गर्भ कललरूप (कीचड़ रूप) में उत्पन्न होता है ॥ ५८–५९ ॥

*गर्भलक्षणः=प्रकृतगर्भलक्षणः। पैतृकैर्गुणैः=केशश्मश्रुलोमनखदन्तशिरास्नायुधमनी-रेतःप्रभृतिभिः ॥ ५८–५९ ॥

'गर्भलक्षणः' का अर्थ है वस्तुतः गर्भ के लक्षणों से युक्त और 'पैतृकैर्गुणैः' का अर्थ—केश, दाढ़ी, मूँछ, रोम, नख, दाँत, शिरा, स्नायु, धमनी और शुक्र आदि से (वर्जितं=वर्जित) ॥५८–५९॥

सर्पवृश्चिककूष्माण्डाकृतयो[1] विकृताश्च ये। गर्भास्ते योषितस्ताश्च ज्ञेयाः पापकृतो भृशम् ॥
गर्भो वातप्रकोपेण दोहदे चापमानिते[2]। भवेत् कुब्जः कुणिः पङ्गुर्मूको मिन्मिन एव च ॥

जिन स्त्रियों को साँप, बिच्छू और कूष्माण्ड के आकार के तथा विकृत (कुष्ठादि विकारों से युक्त) जो गर्भ उत्पन्न होते हैं उन गर्भों को तथा उन स्त्रियों को अत्यन्त पापात्मा समझना चाहिये। गर्भिणी के दोहद को अपमानित करने पर अर्थात् गर्भिणी को अभिलषित वस्तु न देने पर वायु के कोप से गर्भ कुब्जा, कुणि (जिसका हाथ टेढ़ा मेढ़ा हो गया हो), पङ्गु (लुञ्ज पैरोंवाला), गूंगा और मिनमिना अर्थात् मिनमिना कर बोलनेवाला उत्पन्न होता है ॥ ६०–६१ ॥

---

१. 'कुष्माण्डे'ति पाठान्तरमसङ्गतम्। २. 'चावमानिते' इति पाठान्तरम्।

पुत्राणामाहाराचारचेष्टाभेदस्य हेतुमाह—

आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ। स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः॥६२॥

सन्तानों में चेष्टादि भेद के कारण—जिस तरह के आहार, आचार और चेष्टा से युक्त होकर स्त्री और पुरुष ऋतुकाल में मैथुन करते हैं, उन दोनों के पुत्र भी उत्पन्न होने पर उसी तरह के आहार, आचार और चेष्टा से युक्त होते हैं॥ ६२॥

*समुपेयातां संयोगं गच्छेताम्॥ ६२॥

'समुपेयाताम्' अर्थात् 'मैथुन के लिये परस्पर संयुक्त होते हैं'॥ ६२॥

अथ गर्भलक्षणमाह—

गर्भाशयगतं शुक्रमार्त्तवं जीवसंज्ञकः। प्रकृतिः सविकारा च तत्सर्वं गर्भसंज्ञकम्॥ ६३॥
कालेन वर्द्धितो गर्भो यदाङ्गोपाङ्गसंयुतः। भवेत्तदा स मुनिभिः शरीरीति निगद्यते॥ ६४॥

गर्भ के लक्षण—गर्भाशयगत शुक्र, रज, जीव और १६ विकारों से युक्त प्रकृति ये सब गर्भसंज्ञक हैं अर्थात् इन्हीं को गर्भ कहते हैं। काल पाकर बढ़ा हुआ गर्भ जब अङ्ग और उपाङ्गों से युक्त हो जाता है, तब उसे मुनि लोग 'शरीरी' कहते हैं॥ ६३-६४॥

*अङ्गोपाङ्गसंयुतः = व्यक्ताङ्गोपाङ्ग॥ ६३-६४॥

'अङ्गोपाङ्गसंयुतः' अर्थात् 'जब अङ्ग और उपाङ्ग व्यक्त हो जाते हैं'॥ ६३-६४॥

तस्य त्वङ्गान्युपाङ्गानि ज्ञात्वा सुश्रुतशास्त्रतः। मस्तकादभिधीयन्ते शिष्याः! शृणुत यत्नतः॥
आद्यमङ्गं शिरः प्रोक्तं तदुपाङ्गानि कुन्तलाः। तस्यान्तर्मस्तुलुङ्गं च ललाटं भ्रूयुगन्तथा॥६६॥
नेत्रद्वयं तयोरन्तर्वर्त्तेते द्वे कनीनिके। दृष्टिद्वयं कृष्णगोलौ श्वेतभागौ च वर्त्मनी॥६७॥
पक्ष्माण्यपाङ्गौ शङ्खौ च कर्णौ तच्छष्कुलीद्वयम्। पालिद्वयं कपोलौ च नासिका च प्रकीर्त्तिता॥
ओष्ठाधरौ च सृक्किण्यौ मुखं तालु हनुद्वयम्। दन्ताश्च दन्तवेष्टश्च रसना चिबुकङ्गलः॥६९॥
द्वितीयमङ्गं ग्रीवा तु यया मूर्द्धा विधार्यते। तृतीयं बाहुयुगलं तदुपाङ्गान्यथ ब्रुवे॥ ७०॥
तत्रोपरि मतौ स्कन्धौ प्रगण्डौ भवतस्त्वधः। कफोणियुग्मं तदधः प्रकोष्ठयुगलन्तथा॥७१॥
मणिबन्धौ तले हस्तौ तयोश्चाङ्गुलयो दश। नखाश्च दश ते स्थाप्या दश च्छेद्याः प्रकीर्त्तिताः॥

हे शिष्यो! मैं उस शरीरी के अङ्ग और उपाङ्गों को 'सुश्रुत' शास्त्र से जान कर मस्तक से आरम्भ करके कहता हूँ। तुम लोग उसे यत्नपूर्वक सुनो-पहिला अङ्ग शिर कहा है और उसके उपाङ्ग केश, मस्तक के अन्दर रहनेवाला मस्तुलुङ्ग (घृत की तरह एक प्रकार का पदार्थ), ललाट, दो भौंहें, दो नेत्र, दोनों नेत्रों के अन्दर रहनेवाली दो कनीनिकायें (पुतलियाँ), दो दृष्टिमण्डल (निगाह-जिससे दिखाई पड़ता है), दो कृष्ण वर्ण के मण्डल, दो श्वेत भाग, दो पलकें, दो पक्ष्म (नेत्रलोम), दो अपाङ्ग (नेत्रों के प्रान्तभाग), दो शङ्ख (मस्तक की हड्डी-कान के पास की कनपटी), दो कान, दो कान की शष्कुलि (कान के छिद्रप्रदेश), दो पाली (पत्ते की भाँति कान के नीचे का भाग), दो कपोल (गाल), नाक, ओष्ठ और अधर (नीचे का ओष्ठ), दो सृक्किणी (ओठों के दोनों प्रान्तभाग), मुख, तालु, दो हनु (दोनों कपोलों के नीचे तरफ के दोनों भाग), दाँत बबड़ा, (मसूड़ा), जिह्वा, चिबुक (ठोढी) और गला ये सब हैं। दूसरा अङ्ग ग्रीवा (गर्दन) है, जिसके आधार पर शिर स्थित है। तीसरा अङ्ग दोनों बाँहें हैं। अब उसके उपाङ्गों को कहते हैं-उसमें दोनों बाहुओं के ऊपर दो कन्धे और दोनों कन्धों के नीचे दो प्रगण्ड (बाजू) दोनों बाजुओं के नीचे दो कफोणि (केहुनी), उनके नीचे दो प्रकोष्ठ, उनके नीचे दो मणिबन्ध (कलाई), उसके नीचे दो हथेली और दो हाथ, दोनों हाथों की १० अङ्गुलियाँ, १० नख तथा उन नखों के

ऊपर के १० स्थाप्य (नहीं काटने योग्य) और नीचे के नखों के १० अग्रभाग छेद्य (काटने योग्य) कहे हुए हैं। ये सब दोनों बाहुओं के उपाङ्ग हैं ॥ ६५-७२ ॥

चतुर्थमङ्गं वक्षस्तु तदुपाङ्गान्यथ ब्रुवे। स्तनौ पुंसस्तथा नार्या विशेष उभयोरयम् ॥ ७३ ॥
यौवनागमने नार्याः पीवरौ भवतः स्तनौ। गर्भवत्याः प्रसूतायास्तावेव क्षीरपूरितौ ॥७४॥

चौथा अङ्ग वक्षःस्थल (छाती) है, अब उसके उपाङ्गों को कहते हैं—दो स्तन, स्त्री और पुरुष के जो दो स्तन हैं, उसमें विशेषता यह है कि युवावस्था आने पर स्त्री के दोनों स्तन मोटे हो जाते हैं और गर्भवती तथा प्रसूता स्त्री के वे ही दोनों स्तन दूध से भर जाते हैं और पुरुष के दोनों स्तन सदा एक ही अवस्था में बने रहते हैं ॥ ७३-७४ ॥

अथ हृदयस्य स्वरूपमाह—

हृदयं पुण्डरीकेण सदृशं स्यादधोमुखम्। जाग्रतस्तद्विकसति स्वपतस्तु निमीलति ॥ ७५ ॥
आशयस्तत्तु जीवस्य चेतनास्थानमुत्तमम्। अतस्तस्मिंस्तमोव्याप्ते प्राणिनः प्रस्वपन्ति हि ॥

हृदय के स्वरूप—हृदय कमल के सदृश होता है, किन्तु कमल की भाँति ऊर्ध्वमुख न होकर वह अधोमुखवाला होता है। प्राणी जब जागता रहता है तब वह विकसित (खिला) और जब सोता रहता है तब सङ्कुचित रहता है, वह हृदय जीव का आशय (रहने का स्थान) तथा सबसे बढ़कर प्रधान चेतना का स्थान है। अतएव जब वह (हृदय) तमोगुण से व्याप्त हो जाता है, तब प्राणिमात्र सो जाते हैं ॥ ७५-७६ ॥

चेतनास्थानमुत्तममिति। अयमभिप्रायः—
'चेतनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः। [1]केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना' ॥ ६ ॥

'उत्तम चेतना का स्थान है' इसके कहने का अभिप्राय यह है कि—'केश, लोम, नखों के अग्रभाग, अन्न का मल, द्रव पदार्थ मूत्रादिक और शब्दादि गुण, इन सब पदार्थों को छोड़कर इन्द्रियों के सहित सम्पूर्ण देह तथा मन चेतना का स्थान है' ॥ ६ ॥

इत्युक्तवता चरकेण सकलं शरीरं चेतनास्थानमुक्तं तदपेक्षया हृदयं विशेषतश्चेतनास्थानमिति ॥ ७५-७६ ॥

यद्यपि इस प्रकार कहते हुये चरक भगवान् ने सम्पूर्ण शरीर को चेतना का स्थान बतलाया है, तथापि और अङ्गों की अपेक्षा हृदय विशेषरूप से चेतना का स्थान है ऐसा समझना चाहिये ॥

कक्षयोर्वक्षसः सन्धी जत्रुणी समुदाहृते। कक्षे उभे समाख्याते तयोः स्यातां च वङ्क्षणौ ॥

दो जत्रु अर्थात् दोनों कक्षा (काँख) छाती के दो सन्धि और दोनों काँखों के दो वङ्क्षण (बाहुओं की सन्धि) अर्थात् बगल, ये सब वक्षःस्थल के उपाङ्ग हैं ॥ ७७ ॥

उदरं पञ्चमञ्चाङ्गं षष्ठं पार्श्वद्वयं मतम्। सपृष्ठवंशं पृष्ठं तु समस्तं सप्तमं स्मृतम् ॥ ७८ ॥
उपाङ्गानि च कथ्यन्ते तानि जानीहि यत्नतः। शोणिताज्जायते प्लीहा वामतो हृदयादधः ॥
रक्तवाहिशिराणां स मूलं ख्यातो महर्षिभिः। हृदयाद्वामतोऽधश्च फुप्फुसो रक्तफेनजः ॥८०॥
अधो दक्षिणतश्चापि हृदयाद्यकृतः स्थितिः। तत्तु रञ्जकपित्तस्य स्थानं शोणितजं मतम् ॥८१॥

पाँचवाँ अङ्ग (पेट), छठा अङ्ग दोनों पार्श्व (पँसुली) और सातवाँ अङ्ग पृष्ठवंश (मेरुदण्ड) के सहित समस्त पीठ है। अब उसके जिन उपाङ्गों को कहता हूँ, उन्हें यत्नपूर्वक समझो—हृदय के नीचे वामभाग में प्लीहा है, जो रक्त से उत्पन्न होती है और जिसे महर्षियों ने रक्तवाहिनी (जिसमें रक्त बहता है) शिराओं का मूल कहा है। हृदय के वाम भाग में नीचे की ओर फुफ्फुस

१: 'केशलोमनखाग्रं च मलं द्रव्यगुणै'रिति पाठान्तरमसङ्गतम्।

है, जो रक्त के फेन (झाग) से उत्पन्न होता है। हृदय के दक्षिण भाग में नीचे की ओर यकृत है, जिसे मुनियों ने रञ्जक पित्त का स्थान और रक्त से उत्पन्न हुआ माना है ॥ ७८-८१ ॥

अधस्तु दक्षिणे भागे हृदयात् क्लोम तिष्ठति। जलवाहिशिरामूलं तृष्णाऽऽच्छादनकृन्मतम्॥

हृदय के दक्षिण भाग में क्लोम रहता है, जिसे मुनियों ने जलवाहिनी शिराओं का मूल तथा तृष्णा (प्यास) का आच्छादन करनेवाला माना है ॥ ८२ ॥

*क्लोम = तिलकम्, एतत्तु वातरक्तजम्। अत्र वृद्धवाग्भटोऽप्याह—'रक्तादनिलसंयुक्तात् कालीयकसमुद्भवः' (६) इति ॥ ८२ ॥

'क्लोम'का नाम तिलक भी है और यह क्लोम वात युक्त रक्त से उत्पन्न होता है। इस विषय में 'वृद्ध वाग्भट' भी कहते हैं कि 'वायु युक्त रक्त से क्लोम अर्थात् कालीयक की उत्पत्ति होती है' (६) ॥

मेदःशोणितयोः सारात् [1]वृक्कयोर्युगलं भवेत्। तौ तु पुष्टिकरौ प्रोक्तौ जठरस्थस्य मेदसः ॥८३॥
अर्द्धव्यामेन हीनानि योषितोऽन्त्राणि निर्दिशेत् ॥ ८४ ॥
उक्ताः सार्द्धास्त्रयो व्यामाः पुंसामन्त्राणि सूरिभिः।
उन्दुकश्च कटी चापि त्रिकं बस्तिश्च वङ्क्षणौ। कण्डराणां प्ररोहः [2]स्यान्मेढ्रोऽध्वा वीर्यमूत्रयोः॥
स एव गर्भस्याधानं कुर्याद्गर्भाशये स्त्रियाः[3]। शङ्खनाभ्याकृतिर्योनिस्त्र्यावर्त्ता सा च कीर्त्तिता॥
तस्यास्तृतीये त्वावर्त्ते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता। वृषणौ भवतः सारात्कफासृङ्मांसमेदसाम्[4]॥
वीर्यवाहिशिराधारौ तौ मतौ पौरुषावहौ। गुदस्य मानं सर्वस्य सार्द्धं स्याच्चतुरङ्गुलम्॥
तत्र स्युर्वलयस्तिस्रः शङ्खावर्तनिभास्तु ताः। प्रवाहिणी भवेत्पूर्वा सार्द्धाङ्गुलमिता[5] मता॥
उत्सर्जनी तु तदधः सा सार्द्धाङ्गुलसम्मिता। तस्याधः संवरणी[6] स्यादेकाङ्गुलसमा मता॥
अर्द्धाङ्गुलप्रमाणं तु बुधैर्गुदमुखं मतम्। मलोत्सर्गस्य मार्गोऽयं पायुर्देहे विनिर्मितः॥ ९१ ॥
पुंसः प्रोथौ स्मृतौ यौ तु तौ नितम्बौ च योषितः। तयोः कुकुन्दरे स्यातां सक्थिनी त्वङ्गमष्टमम्॥
तदुपाङ्गानि च ब्रूमो जानुनी पिण्डिकाद्वयम्। जंघे द्वे घुटिके[7] पार्ष्णी तले च प्रपदे तथा॥
पादाङ्गुलयस्तत्र दश तासां नखा दश।

मेद और रक्त के सार से उत्पन्न हुए दो वृक्क (कुक्षि में स्थित दो गोलक) हैं, जो उदर स्थित मेद की पुष्टि करनेवाले कहे गये हैं, पण्डित लोगों ने पुरुषों के अन्त्रों (आँतों) की लम्बाई साढ़े तीन व्याम कही है (व्याम पद से दोनों भुजाओं की लम्बाई जितनी होती है, उतनी लम्बाई ली जाती है) और स्त्रियों के आँतों की लम्बाई पुरुषों की आँतों की लम्बाई से आधे व्याम हीन अर्थात् तीन व्याम कहा है. उन्दुक (मलाशय), कटि, त्रिक (पृष्ठवंश के नीचे की तीन हड्डी), बस्ति, दोनों वङ्क्षण (दोनों ऊरुओं की सन्धि अर्थात् जंघा और कटि की दोनों सन्धि), मेढ्र (लिङ्ग) यह कण्डराओं के प्ररोहों (अग्रभागों) से बना हुआ है तथा वीर्य और मूत्र के निकलने का मार्ग है, यही स्त्रियों के गर्भाशय में गर्भ का आधान करता है और स्त्रियों को मेढ्र के बदले योनि (भग) होती है, उनका रज और मूत्र इसी मार्ग से निकलता है। उसकी आकृति शङ्ख की नाभि की भाँति तीन आवर्त्तों से युक्त होती है और उसके तीसरे आवर्त्त में गर्भशय्या (गर्भाशय) स्थित रहती है। पुरुषों के कफ, रक्त और मेद के सार भाग से बने हुए दो वृषण (अण्डकोष) होते हैं, उन दोनों

१. 'वृष्कयो'रिति पाठान्तरम्। २. 'स्थानं तदि'ति पाठान्तरम्।
३. 'स्त्रियः' इति पाठान्तरम्। ४. 'कफासृग्भ्यां चे'ति पाठा०।
५. 'समे'ति पाठान्तरम्। ६. 'सम्वरणी'ति पाठान्तरम्।
७. 'घुण्टिके' इति पाठान्तरम्।

को ऋषियों ने वीर्यवहन करनेवाली शिराओं का आधार तथा पुरुषार्थ का देनेवाला (मैथुन करने के समय लिङ्ग को चैतन्य करने में प्रधान साधन) माना है। अत एव यह जिसको नहीं होता अथवा रोगाक्रान्त होता है तो वह मैथुन करने में समर्थ नहीं हो सकता। सम्पूर्ण गुदा का मान ४ अङ्गुल है, उसमें शङ्ख के आवर्त्त की भाँति तीन बली हैं, उसमें पहिली बली प्रवाहिणी नाम की है और उसका मान डेढ़ अङ्गुल का माना गया है। उसके नीचे उत्सर्जनी नाम की दूसरी बली है और उसका मान भी डेढ़ अङ्गुल है, फिर उसके नीचे संवरणी नाम की तीसरी बली है, जिसका मान एक अङ्गुल है और आधे अङ्गुल प्रमाण पण्डितों ने गुदा का मुख माना है। यही गुदामुख पायु कहलाता है। विधाता ने देह के बीच में इसी को अन्न के मल निकलने का मार्ग बनाया है। पुरुषों के जो दो प्रोथ (कूले) होते हैं, वे ही दोनों स्त्रियों के नितम्ब कहलाते हैं और उन दोनों (प्रोथ या नितम्बों) के दो कुकुन्दर अर्थात् नितम्बों के ऊपर के दो गड्ढे होते हैं, ये सब उदर के उपाङ्ग हैं। आठवाँ अङ्ग दोनों सक्थि अर्थात् दोनों पैर हैं। अब मैं इनके उपाङ्गों को कहता हूँ–दो जानु, दो पिंडली, दो जंघा, दो घुण्टिका (घुटने), दो एड़ी दो पैर के तलुये, दो चरण और दस पैर की अङ्गुलियाँ एवं उनके दस नख ये सब उपाङ्ग हैं ॥ ८३–९३ ॥

अथेदं शरीरमपरेणापि येन येन समवायिकारणेनोत्पद्यते तानि सर्वाण्याह—

अथ दोषाः प्रवक्ष्यन्ते धातवस्तदनन्तरम् ॥ ९४ ॥
आहारादेर्गतिस्तस्य परिणामश्च वक्ष्यते। आर्त्तवं चाथ धातूनां मलास्तदुपधातवः ॥ ९५ ॥
आशयाश्च कलाश्चापि मर्माण्यथ च सन्धयः। शिराश्च स्नायवश्चापि धमन्यः कण्डरास्तथा ॥
रन्ध्राणि भूरि स्रोतांसि जालैः कूर्चाश्च रज्जवः। सेवन्यश्चाथ सङ्घाताः सीमन्ताश्च तथा त्वचः॥
लोमानि लोमकूपाश्च देह एतन्मयो मतः।

शरीरोत्पत्ति में अन्यान्य समवायिकारण—अब प्रथम दोषों का वर्णन करेंगे, तदनन्तर धातुओं का, उसके बाद आहार आदि की गति और उसका परिणाम तथा आर्त्तव और धातुओं के मल तथा उपधातु, आशय, कला, मर्म, सन्धि, शिरा, स्नायु, धमनी, कण्डरा, रन्ध्र, स्रोत, जाल, कूर्च, रज्जु, सेवनी, सङ्घात, सीमन्त, त्वचा, लोम और लोमकूप, इन सबों का वर्णन करेंगे, क्योंकि इन्हीं सबों से शरीर बना हुआ है ॥ ९४–९७ ॥

तत्र दोषस्वरूपमाह वाग्भटः—

वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः ॥ ९८ ॥
विकृताविकृता देहं घ्नन्ति ते [1]वर्द्धयन्ति च। ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधो मध्योर्ध्वसंश्रयाः।
वयोऽहोरात्रिभुक्तानामन्तमध्यादिगाः क्रमात् ॥ ९९ ॥

शरीरस्थ दोषों का स्वरूप—वायु, पित्त और कफ संक्षेप से यही तीन दोष कहे गये हैं और ये विकृत (दुष्ट) होने से देह का नाश तथा अविकृत (शुद्ध) होने से शरीर को बढ़ाते हैं। यद्यपि ये सब दोष शरीर में व्याप्त होकर रहने वाले हैं तथापि हृदय और नाभि के नीचे, मध्य तथा ऊपर भाग में विशेषरूप से रहते हैं। वायु, पित्त और कफ ये अवस्था, दिन, रात्रि और भोजन इन सबों के अन्त, मध्य और आदि में क्रम से विशेष रूप से बलवान् रहते हैं अर्थात् वृद्धावस्था में वायु, युवावस्था में पित्त, बाल्यावस्था में कफ, दिन तथा रात्रि के अन्त में वायु, मध्य में पित्त, आरम्भ में कफ, भोजन के अन्त में (पचजाने पर) वायु, मध्य (पचने के समय) पित्त आरम्भ (भोजन कर चुकने के बाद) कफ की वृद्धि होती है ॥ ९८–९९ ॥

---

१. 'सम्' इति पाठान्तरम्।

दोषशब्दस्य निरुक्तिमाह—

धातवश्च मलाश्चापि दुष्यन्त्येभिर्यतस्ततः। वातपित्तकफा एते त्रयो दोषा इति स्मृताः॥

दोष शब्द की निरुक्ति—वात, पित्त और कफ ये ही तीनों धातुओं तथा सम्पूर्ण मल पदार्थों को दूषित कर देते हैं, इसी से ये वातादिक तीनों दोष कहलाते हैं॥ १००॥

***दोषा इत्यत्र 'दुष वैकृत्ये' इति दुषधातोर्दुष्यन्त्येभिरिति वाक्येन 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायामि'त्यनेन सूत्रेण करणेऽर्थे घञ्प्रत्ययः॥ १००॥**

'दोषाः' इस पद में 'दुष-वैकृत्ये' अर्थात् वैकृत्यार्थक दुष धातु से 'दुष्यन्त्येभिरिति वाक्येन' अर्थात् 'रस, रक्त आदि धातु और मल जिससे दूषित हों, उसे दोष कहते हैं' ऐसा अर्थ करने से 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्' इस सूत्र से करण अर्थ में घञ्प्रत्यय हुआ है॥ १००॥

ते धातवोऽपि विद्वद्भिर्गदिता देहधारणात्॥ १०१॥

वे ही वातादि देह को धारण करते हैं, इससे उनकी धातु संज्ञा भी है॥ १०१॥

यत आह सुश्रुतः—

***'विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा। धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा(७)इति'**

चन्द्र, सूर्य और वायु जिस प्रकार विसर्ग (अमृत बरसाना), आदान (रसादिकों का ग्रहण करना) और विक्षेप के द्वारा जगत् को धारण करते हैं, उसी प्रकार से कफ, पित्त और वायु भी देह को धारण करते हैं (७)॥ १०१॥

***अत्र यथासङ्ख्येनान्वयो बोद्धव्यः। विसर्गादानं वातस्यैव। विक्षेपः शीतोष्णादीनां विविधप्रकारेण प्रेरणम्(७)॥ १०१॥**

यहाँ पर विसर्ग, आदान और विक्षेप इन तीनों का कफ, पित्त और वायु इन तीनों के साथ तथा चन्द्रादिक तीनों के साथ क्रम से अन्वय समझना चाहिये। विसर्ग और आदान ये दो क्रियायें यद्यपि क्रमानुसार कफ और पित्त की हैं तथापि ये वायु के द्वारा ही होती हैं ऐसा समझना चाहिये। अतएव विक्षेप का अर्थ शीत और उष्णादिकों का अनेक प्रकार से प्रेरणा करना है अर्थात् जो शीत और उष्णादि हैं सो क्रम से कफ और पित्तजन्य होते हैं, किन्तु इनका अनेक प्रकार से प्रेरणा करना वायु का ही काम है, अतः स्वतन्त्र विक्षेपणक्रिया वायु की ही हुई (७)॥ १०१॥

मलाश्च ते रसादीनां मलिनीकरणान्मताः॥

ये ही वातादि तीन दोष, रसरक्तादिकों को मलिन कर देते हैं। अतएव 'मल' इस नाम से समझे जाते हैं॥

तत्र वायोः स्वरूपमाह—

दोषधातुमलादीनां नेता शीघ्रः समीरणः। रजोगुणमयः सूक्ष्मो रूक्षः शीतो लघुश्चलः॥

त्रिदोषों में वायु के स्वरूप—वायु, दोष (कफ, पित्त), धातु (रसरक्तादि) और मलादि पदार्थों का नेता, शीघ्रकारी, रजोगुण से युक्त, सूक्ष्म, रूक्ष (रूखा), शीतल, हलका और चञ्चल है॥

***नेता=स्थानान्तरं प्रापयिता। शीघ्रः=आशुकारी॥ १०२॥**

'नेता' का अर्थ है एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुँचानेवाला और 'शीघ्रः' का अर्थ है 'शीघ्रता करने वाला'॥ १०२॥

अन्यच्च—उत्साहोच्छ्वासनिःश्वासचेष्टावेगप्रवर्त्तनैः॥ १०३॥

सम्यग् गत्या च धातूनामिन्द्रियाणाञ्च पाटवैः। अनुगृह्णात्यविकृतो हृदयेन्द्रियचित्तधृक्॥

रजोगुणमयः सूक्ष्मः शीतो रूक्षो लघुश्चलः। खरो मृदुर्योगवाही संयोगादुभयार्थकृत्॥

दाहकृत् तेजसा युक्तः[1] शीतकृत्सोमसंश्रयात्। विभागकरणाद्वायुः प्रधानं दोषसंग्रहे॥
पक्काशयकटीसक्थिश्रोत्रास्थिस्पर्शनेन्द्रियम्। स्थानं वातस्य तत्रापि पक्वाशयः प्रधानं विशेषतः॥

अधिकृत (शुद्ध) वायु उत्साह, उच्छ्वास (श्वास का लेना), निःश्वास (श्वास का छोड़ना), चेष्टा, मलमूत्रादिक का वेग होना तथा उसका प्रवर्त्तन (त्याग करना), धातुओं की गति अच्छी रखना, इन्द्रियों को अपने २ विषयों के ग्रहण करने में सामर्थ्य देना, इन सब कार्यों से हृदय, इन्द्रिय और चित्त को धारण करता हुआ अनुग्रह (देह की रक्षा) किया करता है और वायु रजोगुण से युक्त, सूक्ष्म से सूक्ष्म स्रोतों में गमन करने वाला, शीतल, रूक्ष, लघु, चलनशील, खर, मृदु (नरम) योगवाही, संयोग विशेष होने से दोनों अर्थों का करनेवाला है अर्थात् तेज सम्बन्धी पदार्थों से युक्त होकर दाह करनेवाला हो जाता है और सोमसम्बन्धी पदार्थों से युक्त होकर शीत करनेवाला हो जाता है, शरीर के सभी पदार्थों को परस्पर विभाग (अलग २) करने से दोषों का जहां संग्रह किया गया है, वहां पर वायु ही प्रधान माना गया है और पक्काशय, कटि, सक्थि (जानु की ऊपरी भाग), श्रोत्र (कान), अस्थि (हड्डी) और स्पर्शनेन्द्रिय (त्वक्) ये सब वायु के स्थान हैं, इनमें विशेष करके पक्काशय ही वायु का स्थान है। उसकी अपेक्षा और सब स्थान गौण हैं॥ १०३-१०७॥

एको वायुः पित्तवन्नामस्थानकर्मभेदैः पञ्चविधस्तेषां वायूनां नामान्याह—

उदानस्तदनुप्राणः समानोऽपान एव च। व्यानश्चैतानि नामानि वायोः स्थानप्रभेदतः॥

५ प्रकार के वायुओं के नाम—उदान, प्राण, समान, अपान और व्यान ये ५ नाम वायु के स्थानों के भेद से हुये हैं॥ १०८॥

अथोदानादीनां स्थानान्याह—

कण्ठे हृदि तथाऽधस्तात्कोष्ठवह्नेर्मलाशये। सकलेऽपि शरीरेऽसौ क्रमेण पवनो वसेत्॥१०९॥

उदानादि वायुओं के स्थान—उदान वायु कंठ में, प्राण वायु हृदय में, समान वायु नाभिप्रदेश में, अपान वायु मलाशय में तथा व्यान वायु सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर रहता है॥ १०९॥

अथ तेषां कर्माण्याह—

उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः। तेन भाषितगीतादिप्रवृत्तिः कुपितस्तु सः॥११०॥
ऊर्ध्वजत्रुगतान् रोगान्विदधाति विशेषतः। यो वायुः प्राणनामाऽसौ मुखं गच्छति देहधृक्॥
सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणांश्चाप्यवलम्बते। प्रायशः कुरुते दुष्टो हिक्काश्वासादिकान् गदान्॥

उदानादि वायुओं के कर्म– कण्ठ देश में स्थित उदानसंज्ञक वायु जब कण्ठ के ऊपर होता है तब उससे प्राणी बोलने और गाने में प्रवृत्त होता है, और वही वायु जब कुपित होता है तब स्कंध और कक्षा की सन्धि में होने वाले रोगों को उत्पन्न करता है। देह का धारण करनेवाला हृदय में स्थित प्राणनामक वायु जब मुख की ओर जाता है तब भोजन के समय अन्न को पेट के अन्दर प्रवेश कराता है तथा प्राणों को अवलम्बन देता है और वही वायु जब कुपित होता है तब हिचकी, दमा आदि रोगों को पैदा करता है॥ ११०-११२॥

आमपक्काशयचरः समानो वह्निसङ्गतः। सोऽन्नं पचति तज्जांश्च विशेषान्विविनक्ति हि॥११३॥

आमाशय और पक्काशय में रहनेवाला समान नामक वायु जठराग्नि से युक्त होकर अन्न को पचाता है तथा अन्न से उत्पन्न हुए विशेष पदार्थों को अलग करता है॥ ११३॥

तज्जानित्यादि। अन्नगतान् रसमलमूत्रादीन् पृथक्करोतीत्यर्थः॥ ११३॥

---

१. 'युक्तम्' इति पाठान्तरमसङ्गतम्।

'तज्जान्' इत्यादि का अर्थ यह है कि अन्न से उत्पन्न हुए रस, मल और मूत्र आदि को पृथक् करता है ॥ ११३ ॥

स दुष्टो वह्निमान्द्यातिसारगुल्मान् करोति हि। पक्वाशयालयोऽपानः काले कर्षति चाप्ययम्॥ समीरणः शकृन्मूत्रशुक्रगर्भार्त्तवान्यधः। क्रुद्धस्तु कुरुते रोगान् घोरान्वस्तिगुदाश्रयान् ॥ शुक्रदोषप्रमेहांश्च व्यानापानप्रकोपजान्। कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवाहनोद्यतः[1] ॥ ११६ ॥ स्वेदाऽसृक्स्रावणश्चापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि। प्रस्पन्दनञ्चोद्वहनं पूरणञ्च विरेचनम्[2] ॥११७॥ धारणञ्चेति पञ्चैताश्चेष्टाः प्रोक्ता नभस्वतः। गत्यपक्षेपणोत्क्षेपनिमेषोन्मेषणादिकाः ॥

प्रायः सर्वाः क्रियास्तस्मिन् प्रतिबद्धाः शरीरिणाम् ॥ ११८ ॥

वही समान वायु जब कुपित होता है तब अग्निमान्द्य (जठराग्नि का मन्द), अतीसार और गुल्मरोग को पैदा करता है। पक्वाशय में रहनेवाला अपान नामक वायु मलमूत्रादि के निकलने के समय मल, मूत्र, वीर्य, गर्भ और रज इन सबों को नीचे की ओर खींचता है अर्थात् बाहर निकालता है और वही वायु जब कुपित हो जाता है तब बस्ति तथा गुदा में होनेवाले भयङ्कर रोगों को उत्पन्न करता है और व्यान तथा अपान के प्रकोप से उत्पन्न हुए शुक्रदोष और प्रमेह को भी उत्पन्न करता है। सम्पूर्ण शरीर में विचरण करनेवाला व्यान नामक वायु रस के वहन कराने में सदा उद्यत रहता है अर्थात् उसी की प्रेरणा से रस नाडियों में बहा करता है। वह स्वेद (पसीना) तथा रक्त को बहाता है और प्रस्पन्दन (धीरे २ हिलना), उद्वहन (रसादि का बहाना), पूरण (पूर्ण करना), विरेचन (निकालना) तथा धारण पांच प्रकार की चेष्टायें भी करता है) और प्राणियों की भी जो गति (गमन करना), अपक्षेपण (नीचे को फेंकना), उत्क्षेप (ऊपर को फेंकना), निमेष (नेत्र बन्द करना) और उन्मेष (नेत्र खोलना) आदि सम्पूर्ण क्रियायें होती हैं, ये सब उसी व्यान वायु के आश्रय से होती हैं ॥ ११४–११८ ॥

क्रुद्धः सः कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहगान्। युगपत् कुपिता एते देहं भिन्द्युरसंशयम् ॥

व्यान वायु जब कुपित होता है तब सम्पूर्ण शरीर के रोगों को प्रायः उत्पन्न करता है और उदानादि जो ५ प्रकार के वायु हैं, वे सब यदि साथ ही साथ कुपित हो जाते हैं तो निःसन्देह देह को भिन्न कर डालते हैं ॥ ११९ ॥

***देहं भिन्नं कुर्युर्मारयेयुरित्यर्थः ॥ ११९ ॥**

'देहं भिन्नं कुर्यात्' अर्थात् प्राणी को मार डाले' ॥ ११९ ॥

अथ पित्तस्य स्वरूपमाह—

पित्तमुष्णं द्रवं पीतं नीलं सत्वगुणोत्तरम्। सरं कटु लघु स्निग्धं तीक्ष्णमम्लन्तु पाकतः ॥

पित्त के स्वरूप—पित्त उष्ण (गरम), द्रव (पतला) पीला, नीला, प्रधान रूप से सत्त्व गुणवाला, सर (दस्त लानेवाला), कटु (कडुवा), लघु (हलका), स्निग्ध (घृतादिक की भाँति स्नेह से युक्त), तीक्ष्ण और पाक होने पर अम्ल (खट्टा) हो जाता है ॥ १२० ॥

***पीतं निरामम्। नीलं सामम् ॥ १२० ॥**

'पीतं' का निराम अर्थात् पाकको प्राप्त हुआ, पीला और 'नीलं' का साम अर्थात् बिना पका हुआ नीला ॥ १२० ॥

एकं पित्तं वातवन्नामस्थानकर्मभेदैः पञ्चविधम्। तेषां पित्तानां नामान्याह—

पाचकं रञ्जकञ्चापि साधकालोचके तथा। भ्राजकञ्चेति पित्तस्य नामानि स्थानभेदतः ॥१२१॥

---

१. 'संवहने'ति पाठान्तरम्। २. श्लोकोऽयं सर्वत्राग्रिमश्लोकानन्तरस्थो दृश्यते किन्तु विनोदिनीकारेण स क्रमो नादृतो योग्यता विरहादित्यूह्यम्।

पित्तों के नाम—स्थान के भेद से पित्त के पाचक, रञ्जक, साधक, आलोचक और भ्राजक ये ५ नाम हैं ॥ १२१ ॥

अथ पाचकादीनां स्थानान्याह—

अग्न्याशये यकृत्प्लीह्नोर्हृदये लोचनद्वये। त्वचि सर्वशरीरेषु पित्तं निवसति क्रमात् ॥१२२॥

पाचकादि पित्तों के स्थान—पाचकादि पाचक पित्त अग्न्याशय में, रञ्जक पित्त यकृत और प्लीहा में, साधक पित्त हृदय में, आलोचक पित्त दोनों नेत्रों में और भ्राजक पित्त सम्पूर्ण त्वचा में रहता है ॥ १२२ ॥

अथ तेषां कर्माण्याह—

पाचकं पचते भुक्तं शेषाग्निबलवर्द्धनम्। रसमूत्रपुरीषाणि विरेचयति नित्यशः ॥ १२३ ॥

पाचकादि पित्तों के कर्म—पाचक-संज्ञक-पित्त खाये हुए अन्न को पचाता तथा शेष अग्नियों के बल को बढ़ाता और रस, मूत्र तथा पुरीष (विष्ठा) का नित्य ही विरेचन (पृथक्) करता रहता है ॥ १२३ ॥

***पाचकं पित्तमामपक्वाशयमध्यस्थं षड्विधमाहारं भोज्यं भक्ष्यं चर्व्यं लेह्यं चूष्यं पेयं पचति, दोषरसमूत्रपुरीषाणि पृथक्करोति च। तदग्न्याशयस्थमेव स्वशक्त्या रसरञ्जनहृद्वस्थकफतमोऽपनोदनरूपग्रहणप्रभाप्रकाशनाभ्यङ्गलेपादिपाचनाद्यग्निकर्मणा शेषाणां पित्तस्थानानामनुग्रहं करोति। शेषाण्यपि पित्तस्थानानि यकृत्प्लीहादीनि भागेन गत्वा तत्र तत्र रसरञ्जनादिकर्मभिरुपकरोतीत्यर्थः। कथम्भूतं पाचकं पित्तं शेषाग्निबलवर्द्धनम्। शेषा अग्नयः पृथिव्यादिमहाभूतगुणाः। यत उक्तं चरकेण—**

'भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः।' इति ॥ ६ ॥

पाचक पित्त आमाशय और पक्वाशय के मध्य में स्थित होकर भोज्य, भक्ष्य, चर्व्य, लेह्य (चाटने लायक), चूष्य (चूसने लायक) और पेय (पीने लायक) इन ६ प्रकार के खाये हुये आहारों को पचाता और दोष, रस, मूत्र तथा पुरीष इन सबों को पृथक् २ करता है। वह पाचक पित्त अग्न्याशय में ही स्थित होकर अपनी सामर्थ्य से, रस का रञ्जक (लाल), हृदय में स्थित कफ का तथा तम का दूर, रूप का ग्रहण, प्रभा का प्रकाश, अभ्यङ्ग और लेपादि का पाक करना इत्यादि जो अग्नियों के कर्म हैं, उनके द्वारा शेष (अग्न्याशय के अतिरिक्त) जितने पित्त के स्थान हैं उन सबों के ऊपर अनुग्रह करता है, अर्थात् यकृत्प्लीहादि जो शेष पित्तस्थान हैं, उन सबों में जाकर अपने अंश से उन २ पित्तस्थानों का रस रञ्जन आदि कर्मों के द्वारा उपकार करता है, अर्थात् शेष अग्नियों के जो रस रञ्जनादि कार्य होते हैं वे सब इसी के अंश से होते हैं। 'पाचक पित्त शेष अग्नियों के बल को बढ़ानेवाला है' इसकी व्याख्या यह है कि 'शेष अग्नि अर्थात् पृथिव्यादि ५ महाभूतसम्बन्धी गुण (अग्नि)' क्योंकि चरक ने भी कहा है कि 'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश सम्बन्धी ५ ऊष्मा हैं' ॥ ६ ॥

***ऊष्माणः अग्नयः ॥ ६ ॥**

'ऊष्मा' पद से अग्नि समझना चाहिये ॥ ६ ॥

यत उक्तं वाग्भटे—'दोषधातुमलादीनामूष्मेत्यात्रेयशासनम् ॥ ७ ॥' इति

इसके अतिरिक्त और भी अग्नियों के सम्बन्ध में वाग्भट में कहा है—'दोष (वातादि ३), धातु (रसरक्तादि ७) और मलादि की ऊष्मा (अग्नि) होती है। ऐसा अत्रेय का शासन (मत) है ॥ ७ ॥

दोषधातुमलादीनामूष्मैवाग्निरित्यर्थः ॥ ७ ॥

यहाँ पर 'दोष, धातु और मलादि की ऊष्मा ही अग्नि होती है' ऐसा अर्थ समझना चाहिये ॥७॥

*रसादिधातुगताः सह तेषां बलवर्धनम्। यथा गृहे स्थापितानि रत्नानि [1]खद्योतवद्दूरभास्वराणि तान्यपि दीपज्योतिषा दूरप्रकाशकानि भवन्ति। तथा—अन्याशयस्थपाचकाग्नितेजसा सर्वेऽग्नयो बलवन्तो भवन्ति।

तथा च वाग्भटः—

अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तॄणामधिको मतः। तन्मलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः' इति॥८॥

रसादि ७ धातुओं के भी जो ७ अग्नि हैं, उन सबों के बल का पाचक पित्त बढ़ानेवाला है। जिस प्रकार गृह में रखे हुए रत्न यद्यपि खद्योत (जुगनू) की भाँति थोड़ी दूर तक में ही प्रकाश करनेवाले होते हैं अर्थात् जिस भाँति खद्योत का प्रकाश थोड़ी दूर तक रहता है उसी भाँति यद्यपि रत्नों का भी रहता है, तथापि वे ही रत्न दीप का प्रकाश पड़ने से दूर तक प्रकाश पहुँचानेवाले हो जाते हैं, उसी तरह से यहाँ पर भी आमाशय में स्थित पाचकाग्नि के तेज से ही शरीर के सभी अग्नि बलवान् होते हैं। इसी विषय में 'वाग्भट' ने भी कहा है कि—'जितने रसादिकों के पचानेवाले (रसादि सम्बन्धी अग्नि) हैं, उन सबों की अपेक्षा अन्न को पचानेवाला ही अग्नि अर्थात् अन्याशय में रहनेवाला पाचकाग्नि ही प्रधान समझा जाता है। क्योंकि पाचकाग्नि के अतिरिक्त शेष जो सम्पूर्ण अग्नि हैं उन सबों का मूल वही पाचकाग्नि है, क्योंकि उस पाचकाग्नि की वृद्धि तथा क्षय होने पर ही उन सब शेष अग्नियों की वृद्धि तथा क्षय होता है' ॥ ८ ॥

* ननु पित्तादन्योऽग्निराहोस्विदपित्तमेवाग्निरिति सन्देहः। उच्यते। पित्तस्योष्णादिगुणद्वारा आहारपाचनरञ्जनदर्शनादिकर्मणश्च न खलु पित्तव्यतिरेकेणान्योऽग्निः। तस्मादग्निरूपस्यैव पित्तस्य स्थानभेदात्पाचकरञ्जकसाधकालोचकभ्राजकसंज्ञाः। तथा च वाग्भट :—

'पाचकं तिलमानं स्यात् काठिन्याद्वास्य दोषता। अनुगृह्णात्यविकृतं पित्तं पाकोष्मदर्शनैः ॥
क्षुत्तृड्रुचिप्रभामेधाधीशौर्यतनुमार्दवैः। पित्तं पञ्चात्मकं तच्च पक्वामाशयमध्यगम् ॥१०॥
पञ्चभूतात्मकत्वेऽपि यत्तैजसगुणोदयम्। त्यक्तद्रवत्वं पाकादिकर्मणाऽनलशब्दितम् ॥ ११ ॥
पचत्यन्नं विभजते सारकिट्टौ पृथक् तथा। तत्रस्थमेव पित्तानां शेषाणामप्यनुग्रहम्।
करोति बलदानेन पाचकं नाम तत्स्मृतम् ॥ १२ ॥

अब यहाँ पर यह शङ्का होती है कि पित्त से अग्नि भिन्न है अथवा पित्त ही अग्नि है ? इसे दूर करने के लिए उत्तर यह है कि पित्त के ही उष्णादि गुणों द्वारा आहार का परिपाक होना, खून बनने के लिये अन्नरस का लाल होना और आँख से दिखाई पड़ना इत्यादि कर्म सम्पन्न होते हैं तब निःसन्देह पित्त से भिन्न अग्नि कोई पदार्थ नहीं है। अर्थात् पित्त ही अग्नि है अत एव अग्निरूपी पित्त के ही स्थानभेद होने से पाचक, रञ्जक, साधक, आलोचक और भ्राजक ये ५ नाम होते हैं और इसी विषय में वाग्भट भी कहते हैं कि 'पाचक पित्त प्रमाण में तिल के सदृश है और कठिन होने से यह दोष नहीं कहलाता, अर्थात् दोषों के मध्य में कहे हुये पित्त से भिन्न समझना चाहिये, और जब यह पित्त अधिकृत अर्थात् विकार युक्त नहीं रहता तब पाक, ऊष्मा, दर्शन-क्रिया, भूख, प्यास, रुचि, प्रभा, मेधा, बुद्धि, शूरता और शरीर की कोमलता इन सब कार्यों के करने से प्राणी का उपकार करता है और यह पाचक पित्त पञ्चभूतात्मक है तथा पक्वाशय और आमा-

---

१. 'खद्योतवद' इति पाठो भ्रान्तिमूलकः।

शय के मध्य में स्थित रहता है, किन्तु इसके पञ्चभूतात्मक होने पर भी इसमें तेज का ही गुण प्रधान रूप से रहता है। अत एव तेजोगुण का ही प्राधान्य होने से यह द्रवत्व से रहित (कठिन) होता है और पाकादि कर्म करने से यह अग्नि कहलाता तथा अन्न को पकाता है और उस (अन्न) के सारभाग रस तथा किट्टभाग (मलमूत्रादि) को अलग २ करता है, और उसी जगह अर्थात् पक्वाशय तथा आमाशय के मध्य में ही स्थित होकर भी शेष पित्तों को बलवान् बनाने से उन सबों का उपकार करता है। अत एव इसे पाचक पित्त कहते हैं ॥ ९-१२ ॥

*ननु यदि पित्ताग्न्योरभेदस्तदा कथं घृतं पित्तस्य शमकमग्नेर्दीपकमिति। तथा मत्स्याः पित्तं कुर्वन्ति न च तेऽग्निदीप्तिकरा इति। तथा पित्ताधिक्यात्तीक्ष्णोऽग्निरित्यपि कथं स्यात्। तथा समदोषः समाग्निश्चेत्यपि वक्तुं न युज्यते। तथा—'द्रवं स्निग्धमधोगञ्च पित्तं वह्निरतोऽन्यथेति। अत्रोच्यते।' पित्तमग्नेः सन्तताधिष्ठानम्। तथा चोक्तं तन्त्रान्तरे—

अग्निर्भिन्नगुणैर्युक्तः पित्तं भिन्नगुणैस्तथा ॥ १३ ॥

द्रवं स्निग्धमधोगञ्च पित्तं वह्निरतोऽन्यथा। तस्मात्तेजोमयं पित्तं पित्तोष्मा यः स शक्तिमान् ॥
स सञ्चरति कुक्षिस्थः सर्वतो धमनीमुखैः। सकायाग्निः स कायोष्मा स पक्ता स च जीवनम् ॥
अनन्यगतिरित्येवं देहे कायाग्निरुच्यते ॥ १५ ॥

अब इस जगह यह शङ्का होती है कि यदि पित्त और अग्नि का अभेद है अर्थात् दोनों एक हैं तो क्यों घृत पित्त का शमन करनेवाला तथा अग्नि का दीपन करनेवाला होता है तथा मत्स्य पित्त का उत्पन्न करनेवाला होता है किन्तु अग्नि का दीपन करनेवाला नहीं होता। पित्त की अधिकता से अग्नि तीक्ष्ण होता यह भी कैसे होता है तथा जिसके दोष समान होते हैं अर्थात् कोई दोष न्यूनाधिक रूप से नहीं रहते हैं तो उसका अग्नि सम (न विषम और न मन्द) होता है यह भी कहना ठीक नहीं हो सकता, तथा 'पित्त द्रव (पतला)', स्निग्ध (स्नेह युक्त), और अधोगामी होता है किन्तु अग्नि इसके विपरीत (द्रवत्वादि रहित) यह भी कहना कैसे ठीक हो सकता ? इसका उत्तर यह है कि पित्त अग्नि के निरन्तर रूप से रहने का स्थान है और इसी विषय को लेकर दूसरे तन्त्रों में मुनियों ने कहा है—'अग्नि और पित्त भिन्न गुणों से युक्त है अर्थात् अग्नि और पित्त के गुण भिन्न २ हैं। अतएव उसमें से पित्त-द्रव, स्निग्ध और अधोगामी है और अग्नि उस (पित्त) से विपरीत है, इसीसे पित्त तेजोमय है तथा पित्त की जो ऊष्मा है वह शक्तिमान् है और वह उदर में स्थित होकर भी धमनियों के द्वारा शरीर में चारों ओर सञ्चार करता रहता है। वही शरीर की अग्नि और गर्मी है तथा वही पचानेवाला प्राणियों का जीवन है और वही देह के बीच में उसके समान अन्य किसी की गति नहीं है, अतएव वह कायाग्नि कहलाता है' ॥ १३-१५ ॥

अन्यच्च—*वामपार्श्वाश्रितं नाभेः किञ्चित् सोमस्य मण्डलम् ॥ १६ ॥
तन्मध्ये मण्डलं सौरं तन्मध्येऽग्निर्व्यवस्थितः। जरायुमात्रप्रच्छन्नः काचकोशस्थदीपवत् ॥

ग्रन्थान्तरों में और भी लिखा है—'नाभि के वाम भाग में अत्यन्त छोटा सा एक चन्द्रमण्डल है, फिर उसके मध्य में सूर्यमण्डल है और उस सूर्यमण्डल के मध्य में अग्नि स्थित रहता है तथा वह काँच (शीशे) के कोश (चिमनी) के मध्य में स्थित दीप की भाँति जरायु मात्र से ढँका हुआ है' ॥

तथा च मधुकोषे—* 'द्रवतेजः समुदायात्मकस्यापि पित्तस्य तेजोभागोऽग्निरि'ति। तेन पित्तमप्यग्निवन्मन्यते। अतितापितायोगोलकवत्। परमार्थतस्तु—अग्निः पित्ताद्भिन्न एवेति सिद्धान्तः ॥ अत एवाह रसप्रदीपे—
'जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः। सौक्ष्म्याद्रसानाऽऽददानो विवक्तुं नैव शक्यते ॥

नाभिमध्ये[1] शरीरस्थ विशेषात्सोममण्डलम् । सोममण्डलमध्यस्थं विद्यात्सूर्यस्य मण्डलम् ॥
प्रदीपवत्तत्र नृणां स्थितो मध्ये हुताशनः । सूर्यो दिवि यथा तिष्ठंस्तेजोयुक्तैर्गभस्तिभिः ॥२०॥
विशोषयति सर्वाणि पल्वला निसरांसि च । तद्वच्छरीरिणां भुक्तं ज्वलनो नाभिमाश्रितः ॥
मयूखैः पचते क्षिप्रं नानाव्यञ्जनसंस्कृतम् । स्थूलकायेषु सत्त्वेषु यवमात्रः प्रमाणतः ॥ २२ ॥
ह्रस्वकायेषु सत्त्वेषु तिलमात्रः प्रमाणतः । कृमिकीटपतङ्गेषु बलामात्रोऽवतिष्ठते' ॥ २३ ॥

'मधुकोश' में भी यह कहा है कि—'द्रव के रूप में स्थित जो तेज है उसके समूहरूप से स्थित पित्त का जो तेजोभाग है वही अग्नि है' इससे पित्त को भी अग्नि की भाँति मुनि लोग मानते हैं, जैसे कि अत्यन्त तपाये हुये लोहे के गोले को भी अग्नि की तरह लोग मानते हैं। वस्तुतस्तु अग्नि पित्त से भिन्न ही है यही सिद्धान्त है। इसीसे 'रसप्रदीप' में भी कहा कि—'भगवान् जठर (उदर) स्थित अग्नि ईश्वर अर्थात् सामर्थ्यवान् तथा उदरस्थित अन्न के पचानेवाले हैं, उनके सम्पूर्ण रसों को ग्रहण करते हुए भी उनके रूप का भलीभाँति से वर्णन नहीं हो सकता, क्योंकि वे अत्यन्त सूक्ष्म है शरीर के मध्य में नाभिस्थल में जो सोम (चन्द्र) मण्डल नामक एक विशेष स्थान है, उसीके मध्य में सूर्यमण्डल नामक एक दूसरा भी मण्डल है और उसी सूर्यमण्डल में प्रत्येक मनुष्यों के शरीर में रहनेवाले अग्नि प्रदीप की भाँति रहते हैं। जिस भाँति सूर्य भगवान् आकाश में ही स्थित होकर तेज से युक्त अपने किरणों से सब पल्वल (छोटा जलाशय) और तालाबों को सुखाते रहते हैं, उसी भाँति अग्नि भी नाभि में स्थित होकर अनेक मनुष्यों के अनेक प्रकार के व्यञ्जनों से संस्कृत (युक्त) खाये हुये अन्न को अपनी किरणों के द्वारा अर्थात् अपने तेज से शीघ्र ही पचाते रहते हैं, मोटे (भारी) शरीरवाले हाथी आदि के शरीर में अग्नि यव (जौ) के बराबर, छोटे शरीरवाले (मनुष्यादि) जीवों के शरीर में तिल के बराबर कृमि, कीट (कीड़े) और पतङ्ग (उड़नेवाले मच्छड़) आदि जीवों के शरीर में बाल के बराबर रहते हैं ॥ १८-२३ ॥ १२३ ॥

इत्यलमप्रकृतिचिन्तनेन, पुनः प्रकृतमनुसरति—

रञ्जकं नाम यत्पित्तं तद्रसं शोणितं नयेत् । यत्तु साधकसंज्ञं तत्कुर्याद् बुद्धिं धृतिं स्मृतम् ॥

प्रकृति विषय का पुनः अनुसरण रञ्जक नाम का पित्त रस को रक्त के रूप में परिणत करता है साधक नाम का पित्त बुद्धि, धृति, स्मृति को उत्पन्न करता है ॥ १२४ ॥

*धृतिं = मेधाम् ॥ १२४ ॥

'धृति' का अर्थ है 'मेधा' अर्थात् धारण शक्तिवाली बुद्धि ॥ १२४ ॥

यदालोचकसंज्ञं तद्रूपग्रहणकारणम् । भ्राजकं कान्तिकारि स्याल्लेपाभ्यङ्गादिपाचकम्॥१२५॥

आलोचक नाम का जो पित्त है वह रूप ग्रहण का कारण है अर्थात् उसीके सामर्थ्य से रूप का ग्रहण होता है, तथा भ्राजक नाम का जो पित्त है, वह शरीर में कान्ति पैदा करता है तथा किये गये लेप और अभ्यङ्गादिकों को पचाता है ॥ १२५ ॥

अथ श्लेष्मस्वरूपमाह—

श्लेष्माश्वेतो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः शीतलस्तथा। तमोगुणाधिकः स्वादुर्विदग्धो लवणो भवेत्॥

श्लेष्मा (कफ) का स्वरूप—कफ श्वेत, गुरु (भारी), स्निग्ध (स्नेह से युक्त), पिच्छिल (फिसलने वाला) शीतल, प्रधानरूप से तमोगुणी, स्वादु (स्वादयुक्त) तथा विदग्ध (परिपक्व) होने से लवण रसयुक्त (नमकीन) हो जाता है ॥ १२६ ॥

---

१. 'नाभा'विति पाठान्तरम् ।

एकः श्लेष्मा वातपित्तवन्नामस्थानकर्मभेदैः पञ्चविधोऽतः श्लेष्मणां नामान्याह[1]—

कफस्यैतानि नामानि क्लेदनश्चावलम्बनः। रसनः स्नेहनश्चापि श्लेषणः स्थानभेदतः॥१२७॥

पाँच प्रकार के कफों के नाम—क्लेदन, अवलम्बन, रसन, स्नेहन और श्लेषण ये पाँच नाम कफ के स्थानभेद से हैं॥ १२७॥

अथ क्लेदनादीनां स्थानान्याह—

आमाशयेऽथ हृदये कण्ठे शिरसि सन्धिषु। स्थानेष्वेषु मनुष्याणां श्लेष्मा तिष्ठत्यनुक्रमात्॥

क्लेदनादि कफों के स्थान—क्लेदन कफ आमाशय में, अवलम्बन कफ हृदय में, रसन कफ कण्ठ में, स्नेहन कफ मस्तक में और श्लेषण कफ सन्धिसमूह में यथाक्रम से स्थित रहता है॥१२८॥

***'दोषाणां सकलशरीरव्यापिनामपि पञ्च पञ्च स्थानानी'ति बाहुल्याभिप्रायेणोक्तानि॥** तथा च वाग्भटः—**'इति प्रायेण दोषाणां स्थानान्यविकृतात्मनाम्।**

व्यापिनामपि जानीयात् कर्माणि च पृथक् पृथक्।' इति।

चरकश्च—**'ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रया॥ २४॥'** इति।

यद्यपि सभी (वातादि) दोष सारे शरीर में व्याप्त होकर रहते हैं, तथापि उन दोषों के पाँच २ स्थान हैं ऐसा जो कहा गया वह बाहुल्य के अभिप्राय से अर्थात् और स्थानों की अपेक्षा प्रत्येक दोष अपने पूर्वोक्त पाँचों स्थानों में अधिक रूप से रहते हैं। इसी विषय में 'वाग्भट' भी कहते हैं कि—जो विकृत नहीं हैं ऐसे सर्वशरीरव्यापी उन वातादि दोषों के प्रायः करके ये स्थान हैं अर्थात् पूर्वोक्त उन २ स्थानों में वे दोष अधिकता से रहते हैं ऐसा जानना चाहिये और उनके जो अलग २ कर्म हैं उन्हें भी जानना चाहिये।

चरक में भी कहा है कि—वे वातादि दोष सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर भी हृदय और नाभि के नीचे, मध्य और ऊपर के भाग में विशेष रूप से रहते हैं, अर्थात् वायु नाभि के नीचे पित्त हृदय तथा नाभि के मध्य में और कफ हृदय के ऊपर में विशेष रूप से रहता है॥ २४॥ १२८॥

अथ तत्तत्स्थानगतस्य श्लेष्मणः (कर्माणि वक्तुकामस्तत्रादौ क्लेदनस्य) कर्माण्याह—

क्लेदनः क्लेदयत्यन्नमात्मशक्त्याऽपराण्यपि। अनुगृह्णाति च श्लेष्मस्थानान्युदककर्मणा॥

क्लेदन नामक कफ के कार्य-क्लेदन नामक कफ भोजन किये हुये अन्नको क्लिन्न (गीला) करता है और अपनी सामर्थ्य से कफ के दूसरे और चौथे स्थानों का भी जलकर्म के द्वारा उपकार करता है॥

***अयमर्थः-क्लेदनोऽन्नं क्लेदयति तेन संहतमन्नं भेदं प्राप्नोति। अपराण्यपि श्लेष्मस्थानानि हृदयादीनि भागेन गत्वा तत्र तत्र हृदयालम्बनत्रिकसन्धारणरसग्रहणसमस्तेन्द्रियतर्पणसन्धिसंश्लेषणाद्युदककर्मभिरनुगृह्णाति उपकरोति। तदेवोत्तरत्रोच्यते॥ १२९॥**

ऊपर कहे हुए श्लोक का भाव यह है कि—क्लेदन नामक कफ खाये हुए अन्न को क्लेदयुक्त (गीला) करता है जिससे इकट्ठा हुआ अन्न अलग २ हो जाता है और दूसरे भाग जो कफ के स्थान हृदयादि हैं, उन सबों में वही क्लेदन नामक कफ भाग (अंश) से आकर हृदय का अवलम्बन, त्रिकसन्धान, रस ग्रहण करना, सम्पूर्ण इन्द्रियों को तृप्त करना और सभी सन्धियों को जोड़ना आदि जो उदक (जल) के कर्म हैं उनके द्वारा उन २ स्थानों का उपकार करता है। किस कर्म के द्वारा किस स्थान का क्या उपकार करता है उसे आगे के श्लोकों में कहते हैं॥ १२९॥

अथावलम्बनकफस्य कर्माण्याह—

रसयुक्तात्मवीर्येण हृदयस्यावलम्बनम्। त्रिकसन्धारणं चापि विदधात्यवलम्बनः॥ १३०॥

---

१. 'तन्नामान्याहे'ति पाठान्तरम्।

अवलम्बन नामक कफ के कर्म—अवलम्बन नामक कफ रस से युक्त होकर अपने वीर्य (सामर्थ्य) से हृदय का अवलम्बन और त्रिक का सन्धारण (भली भाँति से जुटा रहना) रूप कार्य करता है ॥ १३० ॥

*त्रिकं = शिरोबाहुद्वयसन्धिः ॥ १३० ॥

'त्रिक' का अर्थ है 'शिर और दोनों बाहुओं की सन्धि' ॥ १३० ॥

अथ रसनकफस्य कर्माण्याह—

उभावपि ततः सौम्यौ तिष्ठतश्चान्तिके यतः। यतो रसान्विजानीतो रसनारसनौ समौ ॥

रसक नामक कफ के कर्म—रसना और 'रसन' नामक कफ ये दोनों ही सौम्य गुण युक्त पदार्थ हैं। क्योंकि ये दोनों पास २ रहते हैं तथा रस के स्वाद को भी दोनों ही जानते हैं अर्थात् रस का आस्वादन लेने में दोनों ही की शक्ति रहती है। अतः ये दोनों ही समान भाव से माने जाते हैं ॥ १३१ ॥

*रसना = रसनेन्द्रियम्, रसनः = कण्ठस्थकफः ॥ १३१ ॥

'रसना' से 'रसनेन्द्रिय अर्थात् जिह्वाग्रवर्त्ती इन्द्रिय' और 'रसन' से 'कण्ठ में रहनेवाला कफ' ऐसा समझना चाहिये ॥ १३१ ॥

अथ स्नेहनश्लेषणकफयोः कर्माण्याह—

स्नेहनः स्नेहदानेन समस्तेन्द्रियतर्पणः। श्लेषणः सर्वसन्धीनां संश्लेषं विदधात्यसौ ॥१३२॥

स्नेहन और श्लेषण नामक कफों के कार्य—स्नेहन नामक कफ अपने स्नेहदान करने के द्वारा समस्त इन्द्रियों को तृप्त करता रहता है, तथा श्लेषण नामक कफ सम्पूर्ण सन्धियों को भली भांति जोडे रहता है ॥ १३२ ॥

अथ धातुशब्दस्य निरुक्तिमाह—

एते सप्त स्वयं स्थित्वा देहं दधति यन्नृणाम्। रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः ॥

'धातु' शब्द की निरुक्ति—रस, रक्त, मांस, मेद, हड्डी, मज्जा और शुक्र ये सात पदार्थ स्वयं स्थित होकर मनुष्यों के देह को धारण करते हैं। अत एव ये धातु कहलाते हैं ॥ १३३ ॥

*धातव इति। डुधाञ्धातोस्तुप्रत्ययः ॥ १३३ ॥

'धा' धातु से तु प्रत्यय होने पर प्रथमा बहुवचन में 'धातवः' सिद्ध होता है ॥ १३३ ॥

अथ धातूनां कर्माण्याह—

प्रीणनं जीवनं लेपः स्नेहो धारणपूरणे। गर्भोत्पादश्च कर्माणि धातूनां कथितानि हि ॥१३४॥

धातुओं के कार्य—प्रीणन (तृप्त करना), जीवन (जीवित रखना), लेप, स्नेह, धारण, पूरण और गर्भ को उत्पन्न करना, ये ७ कार्य रसादि धातुओं के यथाक्रम से हैं ॥ १३४ ॥

तत्र रसशब्दस्य निरुक्तिमाह—

गत्यर्थो[1] रसधा[2] तुर्यस्ततोऽभवदयं[3] रसः। सद्रवं सकलं देहे रसतीति रसः स्मृतः ॥१३५॥

रस धातु की निरुक्ति—गत्यर्थक (गति अर्थ में वर्त्तमान) 'रस' धातु से रस शब्द की सिद्धि होती है। यह द्रवयुक्त होकर सम्पूर्ण शरीर में गमन करता है अतः रस कहलाता है ॥ १३५ ॥

अथ रसस्य स्वरूपमाह—

सम्यक्पक्वस्य भुक्तस्य सारो निगदितो रसः। स तु द्रवः सितः शीतः स्वादुः स्निग्धश्चलो भवेत्

---

१. 'यत्पाथो' इति पाठान्तरम्। २. 'रसधातो'रिति पाठान्तरम्। ३. 'दपामि'ति पाठान्तरम्।

रस के स्वरूप—खाये हुये अन्न के भलीभाँति परिपक्व (पच) जाने पर उससे जो सार पदार्थ उत्पन्न होता है वही रस कहलाता है। वह रस द्रव (बहनेवाले पानी की भाँति), श्वेतवर्ण, शीतल, स्वादयुक्त, स्नेहयुक्त (चिकना) और चलनशील होता है ॥ १३५ ॥

*सारो यथा—गुडमधूकपुष्पबब्बूलत्वग्बदरीमूलादिभवः सारो मदिरा ॥ १३५ ॥

जैसे गुड, महुये का फूल, बबूल की छाल और बेर के मूलादि से निकाला हुआ सार मदिरा होता है। उसी भाँति अच्छी तरह से परिपक्व अन्न का सार रस होता है ॥ १३५ ॥

अथ रसस्य स्थानमाह—

सर्वदेहचरस्यापि रसस्य हृदयं स्थलम्। समानमरुता पूर्वं यद्वयं हृदये धृतः ॥ १३६ ॥

रस के स्थान—सम्पूर्ण देह में विचरनेवाला रसका मुख्य स्थान हृदय है। क्योंकि समान-वायु ने उसे शरीर के और भागों में जाने के पहले ही से हृदय में रख दिया है ॥ १३६ ॥

अथ रसस्य कर्माण्याह—

आरुह्य धमनीर्गत्वा धातून् सर्वानयं रसः। पुष्णाति तदनु स्वीयैर्व्याप्नोति च तनुं गुणः ॥

रस के कर्म—रस धमनी (नाड़ियों) में स्थित होकर उसी के द्वारा जाकर सम्पूर्ण रक्तादि ६ धातुओं को परिपुष्ट करता है। उसके बाद अपने गुणों के द्वारा शरीर में व्याप्त होकर रहता है ॥

*गुणैः = शीतस्निग्धपोषकत्वगुणैः ॥ १३७ ॥

'गुणैः' का अर्थ है शीत, स्निग्ध और पोषकत्व गुणों के द्वारा ॥ १३७ ॥

मन्दवह्निविदग्धस्तु कटुर्वाऽम्लो भवेद्रसः। स कुर्याद्बहुलान् रोगान् विषकृत्यं करोत्यपि ॥

जठराग्नि के मन्द होने से विदग्ध होकर अर्थात् अग्नि मन्द होने से भोजन का परिपाक ठीक न होने पर जो रस बनता है, वह कटु (चरपरा) अथवा अम्ल (खट्टा) होता है और वह (विदग्ध रस) अनेक रोगों को उत्पन्न करता है तथा विषकृत्य अर्थात् विष के समान मारणादि कृत्य भी करता है ॥ १३८ ॥

अथ रक्तस्य स्वरूपमाह—

यदा रसो यकृद्याति तत्र रञ्जकपित्ततः। रागं पाकं च सम्प्राप्य स भवेद्रक्तसंज्ञकः ॥१३९॥

रक्त के स्वरूप—जब रस यकृत् स्थान में जाता है तब वहाँ पर स्थित रञ्जक नामक पित्त के द्वारा लालवर्ण तथा परिपक्व होकर 'रक्त' नाम से कहलाने लगता है ॥ १३९ ॥

रक्तं सर्वशरीरस्थं जीवस्याधारमुत्तमम्। स्निग्धं गुरु चलं स्वादु विदग्धं पित्तवद्भवेत् ॥१४०॥

रक्त सम्पूर्ण शरीर में रहनेवाला, जीवात्मा का उत्तम आधार, स्निग्ध, गुरु (भारी), चलनशील और स्वादयुक्त होता है, यह विदग्ध (अच्छी तरह से परिपक्व) होने पर विदग्ध पित्त की भाँति हो जाता है ॥ १४० ॥

*पित्तवद्भवेत् = अम्लं भवेदित्यर्थः ॥ १४० ॥

'पित्तवद्भवेत्' का अर्थ है 'अम्ल हो जाना' ॥ १४० ॥

*जीवस्याधारमुत्तममिति। यत आह—

'जीवो वसति सर्वस्मिन्देहे तत्र विशेषतः।
वीर्ये रक्ते मले यस्मिन् क्षीणे याति क्षयं क्षणात्' ॥ २६ ॥ इति ॥

रक्त जीव का उत्तम आधार है। क्योंकि कहा भी है कि—जीव सम्पूर्ण देह में रहता है किन्तु वीर्य, रक्त, तथा मल में विशेषरूप से रहता है। क्योंकि वीर्यादि में से जिस किसी के क्षय हो जाने पर वह जीव उसी क्षण क्षय को प्राप्त हो जाता है अर्थात् मर जाता है ॥ २६ ॥

*वीर्ये रक्ते मले च शरीरारम्भके वाग्भटोक्तपरिमाणमिते शुद्धे जीवो विवसति न तु दुष्टे प्रवृद्धे च रक्तस्रावणोपदेशस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात् ॥ २६ ॥

'जीव, रक्त और मल में रहता है' इसका अभिप्राय यह है कि वाग्भट में कहे हुए रक्तादि के जो परिमाण है उन परिमाणों में स्थित अतएव शरीरारम्भक (शरीर को ठीक रखनेवाले) विशुद्ध रक्तादि में ही विशेषरूप से जीव रहता है, क्योंकि यदि ऐसा नहीं माना जाय तो दोष युक्त तथा बढ़े हुए रक्त के निकालने का जो उपदेश ऋषियों ने दिया है वह अनुचित समझा जायगा ॥२६॥

अथ रक्तस्य स्थानमाह—

यकृत् प्लीहा च रक्तस्य मुख्यस्थानन्तयोः स्थितम् ।
अन्यत्र संस्थितवतां रक्तानां पोषकं भवेत् ॥ १४१ ॥

रक्त के स्थान—यकृत (कलेजा) और प्लीहा (तिल्ली) ये दोनों रक्त के मुख्य स्थान है, इन दोनों स्थानों में स्थित जो रक्त है वही दूसरे स्थानोंमें स्थित रक्तों को परिपुष्ट करनेवाला होता है ॥ १४१ ॥

अथ मांसस्य स्वरूपमाह—

शोणितं स्वाग्निना पक्वं वायुना च घनीकृतम् । तदेव मांसं जानीयात्तस्य भेदानपि ब्रुवे ॥

मांस के स्वरूप—रक्त जब अपने अग्नि (ऊष्मा) द्वारा परिपक्व हो जाने पर वायु के द्वारा घन (जमकर कड़ा) हो जाता है तब 'मांस' इस नाम से कहा जाता है । उस मांस के जितने भेद होते हैं उन सबों को कहते हैं ॥ १४२ ॥

*शोणितमिति । शोणितस्थानगतत्वाद्रस एव शोणितसंज्ञां लभते । एवमग्रे रसस्यैव मांसादिव्यपदेशः ॥ १४२ ॥

उपर्युक्त श्लोक का तात्पर्य यह है कि रस ही जब रक्तस्थान में पहुँचता है तब रक्त नाम से और जब उसके आगे मांसादि के स्थानों में पहुँचता है तब मांसादि नाम से कहा जाता है अर्थात् रक्त-मांसादि सम्पूर्ण धातु एक रस का ही परिणाम है ॥ १४२ ॥

अथ मांसस्य पेशीमाह—

यथाऽर्थमूष्मणा युक्तो वायुः स्रोतांसि दारयेत् । अनुप्रविश्य पिशितं पेशीर्विभजते तथा ॥

मांस पेशी—वायु जैसा प्रयोजन है उसके अनुसार ऊष्मा से युक्त होकर स्रोतों (शिराओं) को विदीर्ण करता हुआ मांस के भीतर प्रवेश कर उसे पेशी के रूप में विभक्त करता है अर्थात् सूत्र के गुच्छे के रूप में परिणत कर देता है ॥ १४३ ॥

*यथाऽर्थं = यथाप्रयोजनम् ॥ १४३ ॥

'यथाऽर्थ' पद में 'अर्थ' पद का 'प्रयोजन' अर्थ होने से 'यथाऽर्थ' का 'जैसे प्रयोजन है उसके अनुसार' यह अर्थ होता है ॥ १४३ ॥

अथ मांसपेशीनां संख्यामाह—

मांसपेश्यः समाख्याता नृणां पञ्च शतानि हि ॥ १४४ ॥
तासां शतानि चत्वारि शाखासु कथितान्यथ ।
कोष्ठे षडुत्तरा षष्टिः कथिता मुनिपुङ्गवैः । ग्रीवाया ऊर्ध्वगास्तास्तु चतुस्त्रिंशत् प्रकीर्तिताः ॥

मांसपेशियों की संख्या—मनुष्यों के शरीर में कुल ५०० मांसपेशियाँ हैं, उनमें ४०० चारों शाखाओं में अर्थात् दोनों हाथों और दोनों पैरों में और उसके बाद कोष्ठ में अर्थात् गर्दन के नीचे से लेकर कमर तक ६६ और गर्दन के ऊपर भाग में ४४ मांसपेशियाँ होती हैं ॥ १४४-१४५ ॥

ताः शाखागताः प्राह—

*एकैकस्यान्तु पादाङ्गुल्यां तिस्रस्तिस्रस्ताः पञ्चदश १५। पादाग्रे दश १०। पादोपरि कूर्चसन्निविष्टा दश १०। गुल्फतलयोर्दश १०। गुल्फजानुनोरन्तरे विंशतिः २०। जानुनि पञ्च ५। ऊरौ विंशतिः २०। वङ्क्षणे दश १०। एवमेकस्मिन् सक्थिनि शतं भवन्ति। एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ। एतासां समष्टिश्चतुःशतम्।

शाखागत मांसपेशियाँ—एक एक पैर की अङ्गुलियों में तीन २ हैं इस प्रकार पाँचों अङ्गुलियों में कुल पन्द्रह, पैर के अग्रभाग में दश और पैर के ऊपर कूर्चस्थान में दश, गुल्फ और तालुओं में दश, गुल्फ और जानु के बीच में बीस और घुटने में पाँच, जाँघ में बीस और वङ्क्षण (ऊरु की सन्धि) में दश मांसपेशियाँ हैं, इसप्रकार सब मिलकर एक सक्थि अर्थात् पाँव के पंजे से लेकर जाँघ की सन्धि तक एक सौ मांसपेशियां हैं, इसी प्रकार दूसरे पाँव तथा दोनों बाहुओं में भी एक सौ मांसपेशियाँ होती हैं। इन सब का योगफल चार सौ होता है॥

अथ कोष्ठगताः प्राह—

*गुदे तिस्रः ३। शेफस्यैका १। सेवन्यामेका १। वृषणयोर्द्वे २। स्फिचोः पञ्च ५ पञ्च ५। वस्तिमूर्धनि द्वे २। उदरे पञ्च ५। नाभ्यामेका १। [1]पृष्ठोर्ध्वसन्निविष्टा उभयतः पञ्च ५। पञ्च ५ दीर्घाः। पार्श्वयोः षट् ६। वक्षसि दश १०। अक्षकांसौ प्रतिसमन्तात् सप्त ७। अक्षकौ अखुआ इति लोके। अंसौ स्कन्धौ। हृदि द्वे २। यकृति द्वे २। प्लीह्नि द्वे २ उण्डुके[2] द्वे २। एतासां समष्टिः षट्षष्टिः ६६॥

कोष्ठगत मांसपेशियाँ—गुदा में तीन, लिङ्ग में एक, सेवनी अर्थात् सीवन में एक, दोनों अण्डकोषों में दो, दोनों तरफ के स्फिचों (कूल्हों) में पाँच-पाँच, वस्ति के ऊपर भाग में दो, उदर में पाँच, नाभि में एक, पीठ के ऊपर मेरुदण्ड के दोनों तरफ लगी हुई लम्बी २ पाँच-पाँच (मिलकर दस), दोनों तरफ की पँसुलियों में तीन २ (मिलकर छ), छाती में दस, हँसुली और कन्धे के चारों तरफ सात, (यहाँ 'अक्षक' से लोक में प्रसिद्ध 'अखुआ' तथा 'अंस' से 'स्कन्ध' समझना चाहिये) हृदय में दो, यकृत् में दो, प्लीहा में दो और उण्डुक (मलाशय) में दो मांसपेशियाँ होती हैं। इन सब का योगफल ६६ होता है।

अथ ग्रीवोर्ध्वगाः प्राह—

*ग्रीवायाञ्चतस्रः ४। हन्वोरष्टौ ८। एका काकलके कण्ठमणौ [3]घण्टिकायामिति यावत्। गले एका १। तालुनि द्वे २। जिह्वायामेका १। ओष्ठयोर्द्वे २। नासायां द्वे २। नेत्रयोर्द्वे २। गण्डयोश्चतस्रः ४। कर्णयोर्द्वे २। ललाटे चतस्रः ४। शिरस्येका १। आसां समष्टिः चतुस्त्रिंशत् ३४। एवं मांसपेश्यः पञ्च शतानि ५०० भवन्ति॥ १४४–१४५॥

गर्दन के ऊपर भाग की मांसपेशियाँ—गर्दन में चार, दोनों हनुओं (कपोलों) के नीचे भागों में आठ, काकलक (कण्ठमणि) में एक, (कण्ठमणि को लोक में घण्टिका (टेंटुआ) कहते हैं) गले में एक, तालु में दो, जिह्वा में एक, दोनों ओठों में दो, दोनों नाक में दो, दोनों नेत्रों में दो, दोनों गण्डस्थलों में चार, दोनों कानों में दो, ललाट में चार और शिर में एक मांसपेशियाँ होती हैं। इन सबों का योगफल चौंतीस होता है। इस प्रकार सब मिलकर संपूर्ण शरीर में पाँच सौ मांसपेशियाँ होती हैं॥ १४४–१४५॥

---

१. 'पृष्ठोर्ध्वमि'ति पाठान्तरम्। २. 'तुण्डके' इति पाठान्तरं प्रामादिकम्।
३. 'घुण्टिकायामि'ति पाठान्तरम्।

स्त्रीणामपि भवन्त्येताः किन्तु विंशतिरुत्तरा । गर्भाशये गर्भमार्गे योनौ च स्तनयोरपि॥ १४६॥

स्त्रियों के भी इतनी ही मांसपेशियाँ होती हैं किन्तु गर्भाशय, गर्भमार्ग, योनि तथा दोनों स्तनों में बीस मांसपेशियाँ अधिक होती हैं ॥ १४६ ॥

*एताः पञ्चशतानि मांसपेश्यः स्त्रीणामधिका विंशतिर्यथा—गर्भाशये तिस्रः ३ । गर्भच्छिद्रसंस्थिताः शुक्रार्त्तवप्रवेशिन्यस्तिस्रः ३ । योनावभ्यन्तरतो मुखश्रिते प्रसृते द्वे २ । योनावेव बहिर्निर्गते स्रोतःपार्श्वद्वयस्थिते वर्तुले योनिकर्णिकेति यावत् द्वे २ । स्तनयोः पञ्च ५ पञ्च ५ । यौवने तासां वृद्धिर्भवति ॥ १४६ ॥

स्त्रियों के बीस अधिक मांसपेशियाँ—गर्भाशय में तीन, गर्भछिद्र अर्थात् गर्भमार्ग में स्थित शुक्र और आर्त्तव को गर्भाशय में प्रवेश करानेवाली तीन, योनि के भीतर मुखभाग की तरफ फैली हुई दो और योनि में ही बाहर की ओर निकली हुई स्रोत अर्थात् छिद्र के दोनों पार्श्वों में स्थित वर्तुलाकार (गोलाकार) योनिकर्णिका में दो तथा दोनों स्तनों में पाँच-पाँच मांसपेशियाँ होती हैं। युवावस्था होने पर स्त्रियों में इन मांसपेशियों की वृद्धि होती है ॥ १४६ ॥

पुंसां पेश्यः पुरस्ताद्याः प्रोक्ता मेहनमुष्कजाः । स्त्रीणामावृत्य तिष्ठन्ति फलमन्तर्गतं हि ताः ॥

पुरुष के लिङ्ग तथा दोनों अण्डकोषों में जितनी मांसपेशियाँ कह आये हैं, स्त्री के भीतर फल अर्थात् गर्भाशय को ढँक कर उतनी ही मांसपेशियाँ होती हैं ॥ १४६ ॥

*अस्यायमर्थः । पुंसां मेहनमुष्कयोश्च यास्तिस्रो मांसपेश्यः पूर्वमुक्तास्ताः स्त्रीणां मेहन-मुष्काभावात् फलं गर्भाशयमावृत्य तिष्ठन्ति गयदासस्त्वाह—

स्त्रीणां मांसपेश्यस्त्रिभिर्हीनानि पञ्चशतानि । तथा च भोजः—

पञ्च पेशीशतान्येव स्त्रीवर्जं विद्धि भूमिप ! अतश्च तिस्रो हीयन्ते स्त्रीणां शेफसि मुष्कयोः ॥२७॥

स्पष्टार्थ यह है कि पुरुष के लिङ्ग तथा दोनों अण्डकोषों में जो तीन मांसपेशियाँ पहले कह आये हैं, वे ही स्त्रियों के लिङ्ग तथा अण्डकोश न होने से फल अर्थात् गर्भाशय को ढँक कर रहती हैं, किन्तु इस जगह 'गयदास' यह कहते हैं कि—'स्त्रियों के पुरुषों की अपेक्षा तीन कम पाँच सौ मांस-पेशियाँ होती हैं अर्थात् चार सौ सत्तानवे होती हैं और इसी बात को 'भोज' भी कहते हैं कि—'हे राजन् ! मांशपेशियाँ तो पाँच सौ ही होती हैं, किन्तु स्त्रियों को इतनी नहीं होतीं, उसका कारण यह है कि लिङ्ग तथा दोनों अण्डकोष स्त्रियों के नहीं होते अतः स्त्रियों में इन स्थानों की तीन मांसपेशियाँ कम हो जाती हैं ॥ २७-१४७ ॥

अथ मांसपेशीनां कर्माण्याह—

शिरास्नाय्वस्थिपर्वाणि सन्धयश्च शरीरिणाम् । पेशीभिः संवृतान्येव बलवन्ति भवन्ति हि ॥१४८॥

मांशपेशियों के कर्म—प्राणियों की शिरा (नस) स्नायु (दृढ़ मोटी २ नसें), हड्डी, पर्व (पोरवे) और सन्धिस्थान ये सब मांसपेशियों से ढँके हुए रहने से बलवान् रहते हैं ॥ १४८ ॥

अथ मेदसः स्वरूपमाह—

यन्मांसं स्वाग्निना पक्वं तन्मेद इति कथ्यते । तदतीव गुरु स्निग्धं बलकार्यतिबृंहणम् ॥१४९॥

मेद का स्वरूप—जो मांस अपनी अग्नि से परिपक्व हो जाता है वही 'मेद' नाम से कहा जाता है और वह अत्यन्त गुरु, स्निग्ध, बलकारी तथा शरीर को अत्यन्त बढ़ानेवाला होता है ॥ १४९ ॥

अथ मेदसः स्थानमाह—

मेदो हि सर्वभूतानामुदरेष्वस्थि[1] संस्थितम् । अत एवोदरे वृद्धिःप्रायो मेदस्विनो भवेत् ॥१५०॥

---

१. 'ध्वस्थिषु' इति पाठान्तरम् ।

मेद का स्थान—मेद सभी प्राणियों में स्थित होता हुआ (लिपटा हुआ) उदर में विशेषरूप से रहता है, अतएव प्रायः करके मेदस्वी पुरुषों का उदर बढ़ जाता है ॥ १५० ॥

अथास्थ्नः स्वरूपमाह—

मेदो यत् स्वाग्निना पक्वं वायुना चातिशोषितम् ॥ १५१ ॥
तदस्थिसंज्ञां लभते स सारः सर्वविग्रहे । अभ्यन्तरगतैः सारैर्यथा तिष्ठन्ति भूरुहाः ॥१५२॥
अस्थिसारैस्तथा देहा ध्रियन्ते देहिनो ध्रुवम् । तस्माच्चिरविनष्टेषु त्वङ्मांसेषु शरीरिणाम् ॥
अस्थीनि न विनश्यन्ति सारा एतानि सर्वथा ॥ १५३ ॥

हड्डियों के स्वरूप—जब मेद (चर्बी) अपने अग्नि की गर्मी से परिपक्व होकर वायु से अत्यन्त सूख जाता है तब उसका अस्थि नाम पड़ जाता है और वही अस्थि (हड्डी) सम्पूर्ण शरीर में सार (दृढ़) पदार्थ है । जिस प्रकार सब वृक्षों के भीतर सार होने पर वे दृढ़रूप से ठहरे रहते हैं, उसी प्रकार प्राणियों के भी शरीर; अन्दर में स्थित सारस्वरूप हड्डियों के द्वारा ही ठहरे रहते हैं । इसीसे प्राणियों के चमड़े और मांस के भलीभाँति नष्ट हो जाने पर भी हड्डियाँ नष्ट नहीं होतीं । अतः ये हड्डियाँ सार (दृढ़ पदार्थ) कही जाती हैं ॥ १५१–१५३ ॥

आथास्थ्नां संख्यामाह—

शल्यतन्त्रेऽस्थिखण्डानां शतत्रयमुदाहृतम् ॥ १५४ ॥
तान्येवात्र निगद्यन्ते तेषां स्थानानि यानि च ।
सविंशतिशतं त्वस्थ्नां शाखासु कथितं बुधैः ॥ १५५ ॥
पार्श्वयोः श्रोणिफलके वक्षःपृष्ठोदरेषु च ॥
जानीयाद्भिषगेतेषु शतं सप्तदशोत्तरम् । ग्रीवायामूर्ध्वगं विद्यादस्थ्नां षष्टिं त्रिसंयुताम् ॥१५६॥

हड्डियों की संख्या—शल्यतन्त्र में हड्डियों के टुकड़ों की संख्या जो तीन सौ कही हुई है, तथा उन हड्डियों के जो २ स्थान हैं उन्हें भी कह रहे हैं । पण्डितों ने शाखाओं (हाथ पैरों) में एक सौ बीस, दोनों पार्श्वों (पँसुलियों) में और श्रोणिफल (कटिप्रदेश) तथा वक्षःस्थल पीठ और उदर इन सब स्थानों में एक सौ सत्रह, ग्रीवा (गर्दन) तथा ग्रीवा के ऊपर तिरसठ हड्डियाँ कही हैं ऐसा वैद्यों को जानना चाहिये ॥ १५४–१५६ ॥

तानि शाखागतान्याह—

*एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि तानि पञ्चदश १५ । पादतले ५ पञ्चास्थिशलाका-स्तदाधारभूतमेकमस्थि १ एवं षट् ६ । कूर्चे द्वे २ । गुल्फे द्वे २ । पार्ष्णावेकम् १ । जङ्घायां द्वे २ । जानुन्येकम् १ । ऊरावेकम् १ । एवं त्रिंशदेकस्मिन् सक्थिनि भवन्ति । एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ ॥

शाखागत हड्डियाँ पैर की प्रत्येक अङ्गुलियों में तीन-तीन, सब मिलकर पन्द्रह, पैर के तलुये में पाँच अस्थिशलाकाएँ (सलाई की भाँति हड्डी) और उन्हीं के आधारभूत एक हड्डी इस प्रकार सब मिलकर छ, कूर्च में दो, गुल्फ (पैर के गाँठ) में दो, पार्ष्णि (एड़ी) में एक, जङ्घा में (एड़ी से जानु पर्यन्त भाग में) दो, जानु (घुटना) में एक और ऊरु (जानु से ऊपर कटि के नीचे भाग तक) में एक हड्डियाँ हैं । इस प्रकार सब मिलकर तीस हड्डियाँ एक पैर में होती हैं, इसी प्रकार से दूसरे पैर तथा दोनों हाथों में भी तीस २ हड्डियाँ होती हैं ॥

अथ पार्श्वादिगतान्याह—

*पार्श्वयो षट्त्रिंशद् ३६ एवमेकस्मिन् द्वितीयेऽप्येवम् । शिश्ने भगे वा एकम् १ । गुदे एकम् १ । नितम्बयोरेकैकम् २ । त्रिके एकम् १ । वक्षस्यष्टौ ८ । पृष्ठे त्रिंशत् ३० । अक्षसंज्ञे द्वे २ ।

पार्श्वादि स्थानों की हड्डियां—दोनों पँसुलियों के प्रथम में छत्तीस और दूसरे में भी छत्तीस इस प्रकार बहत्तर, लिङ्ग अथवा भग में एक, गुदा में एक, दोनों ओर के नितम्बों (कटि के पीछे के दोनों भागों) में एक एक (दो), त्रिकस्थान में एक, वक्षःस्थल में आठ, पीठ में तीस और अक्षक (हँसुली) नामक दो हड्डियाँ हैं ॥

अथ ग्रीवोर्ध्वंगतान्याह—

*ग्रीवायां नव ९। कण्ठनाड्यां चत्वारि ४। हन्वोरेकैकम् २। दन्ता द्वात्रिंशत् ३२। नासायां त्रीणी ३। तालुन्येकम् १। गण्डयोरेकैकम् २। कर्णयोरकैकम् २। भ्रुवोरेकैकम् २। शिरसि षट् ६॥ १५४–१५६॥

ग्रीवा की हड्डियाँ—ग्रीवा में नौ, कण्ठ की नली में चार, दोनों हनुओं (दोनों कपोल के नीचे भागों) में एक एक (दो), दाँतों में बत्तीस, नाक में तीन, तालु में एक, दोनों गण्डस्थलों में एक एक (दो), दोनों भौंहों में एक एक (दो) और शिर में छ हड्डियाँ होती हैं ॥१५१–१५६॥

एतान्यस्थीनि पञ्चविधानि भवन्ति तानि यथा—

तरुणानि कपालानि रुचकानि भवन्ति हि। वलयानीति तानि स्युर्नलकानि च कानि चित्॥

हड्डियों की संज्ञा—जितनी हड्डियाँ होती हैं, उनमें से कोई तरुण, कोई कपाल, कोई रोचक, कोई वलय और कोई नलकसंज्ञक होती हैं ॥ १५७॥

अक्षिकोश श्रुतिघ्राणग्रीवासु तरुणानि च ॥ १५८॥

शिरःशङ्खकपोलेषु तालवं सप्रोथजानुषु। कपालानि भवन्त्येषु दन्तेषु रुचकानि च ॥ १५९॥

अक्षिकोश (जहाँ पर नेत्र रहता है), कान, नासिका और गर्दन इन स्थानों में जो हड्डियाँ होती हैं उन्हें तरुणसंज्ञक और शिर (मस्तक), कपोल, तालु, कन्धा, प्रोथ (कटि भाग में स्थित मांसपिण्ड शङ्ख अर्थात् कूले), जानु (घुटने) इन स्थानों मे जो हड्डियाँ होती हैं, उन्हें कपाल संज्ञक तथा दाँतों में जो होती हैं उन्हें रुचक संज्ञक जानना चाहिये। १५८–१५९॥

*जानुनितम्बांसगण्डतालुशङ्खशिरःसु कपालानि। दशनास्तु रुचकाः॥ १५८–१५९॥

जानु, नितम्ब, कन्धा, गण्डस्थल, तालु, शङ्ख और शिर में कपाल संज्ञक हड्डियाँ हैं और दाँत रुचक संज्ञक हड्डियाँ हैं ॥ १५८–१५९॥

पार्ष्ण्योः पार्श्वयुगे पृष्ठे वक्षोजठरपायुषु। पादयोर्वलयानि स्युर्नलकानि ब्रुवेऽधुना ॥१६०॥
हस्ते पादाङ्गुलितले कूर्च्चे च मणिबन्धके। बाहूजङ्घाद्वये चापि जानीयान्नलकानि तु ॥१६१॥

दोनों हाथ, दोनों पँसुली, पीठ, वक्षःस्थल, उदर, गुदा और दोनों पैरों में वलयसंज्ञक हड्डियाँ होती हैं। और हाथ तथा पैर की अंगुलियों के तल-भाग, कूर्च, मणिबन्ध (कलाई), बाहु और दोनों जङ्घा (जानु से नीचे और एड़ी के ऊपर वाला भाग) इन स्थानों में जो हड्डियाँ हैं उन्हें नलकसंज्ञक जानना चाहिये ॥ १६०–१६१॥

अथास्थ्नां प्रयोजनमाह—

मांसान्यन्त्राणि[1] बद्धानि शिराभिः स्नायुभिस्तथा।
अस्थीन्यालम्बनं कृत्वा न शीर्यन्ते पतन्ति च ॥ १६२॥

हड्डियों के प्रयोजन—शिरा (नस) और स्नायुओं (दृढ़ ठोस नसों) से बँधी हुई मांस और अंतड़ियाँ हड्डियों का सहारा लेकर स्थित हैं। अतएव वे न विदीर्ण होती हैं, न गिरती हैं अर्थात् हड्डी न होती तो वे नहीं रुक सकती थीं, अतएव इन सब को गिरने से रोकना ही हड्डियों का प्रयोजन समझना चाहिये ॥ १६२॥

१. 'मांसान्यत्र निबद्धानी'ति पाठान्तरम्।

अथ मज्जस्वरूपमाह—

अस्थि यत् स्वाग्निना पक्वं तस्य सारो भवेद्घनः। यः स्वेदवत् पृथग्भूतः स मज्जेत्यभिधीयते॥

मज्जा के स्वरूप—जब अस्थि अपने अग्नि से परिपक्व हो जाता है तब उसका जो सार होता है वह घन हो जाता है और वही सार जो अस्थि से स्वेद की भाँति अलग होकर अस्थि के मध्य में स्थित रहता है उसी अस्थि के सार को मज्जा कहते हैं ॥ १६३ ॥

अथ मज्जस्थानमाह—

स्थूलास्थिषु विशेषेण मज्जा त्वभ्यन्तरे स्थितः ॥ १६४ ॥

मज्जा के स्थान—मोटी २ हड्डियों के भीतर ही मज्जा विशेषरूप से रहती है। अतः मज्जा का स्थान मोटी २ हड्डियों के भीतर का भाग समझना चाहिये ॥ १६४ ॥

अथ शुक्रस्योत्पत्तिमाह—

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते। मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्ज्ञः शुक्रस्य सम्भवः ॥

शुक्र की उत्पत्ति—रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र की उत्पत्ति होती है ॥ १६५ ॥

***सुश्रुतस्येति[1] वचनेन शुक्रसम्भव उक्तः ॥ १६५ ॥**

ऊपर कहे हुए सुश्रुत के इसी वचन के द्वारा सिद्ध होता है कि मज्जा से शुक्र की उत्पत्ति होती है ॥

ननु 'मासेन रसः शुक्रो भवति स्त्रीणाञ्चार्त्तवं भवती'ति सुश्रुतस्यैव वचने रसादेव शुक्रस्योत्पत्तिरुच्यते तदेतत् कथं सङ्गच्छते ? इममेव सन्देहं दूरीकर्तुमहारादेर्गतिं परिणामञ्चाह—

यात्यामाशयमाहारः पूर्वं प्राणानिलेरितः। माधुर्यं फेनभावं च षड्रसोऽपि लभेत सः ॥१६६॥

आहारादि की गति और परिणाम—प्राणवायु से प्रेरित होकर आहार (भोजन) सबसे पहले आमाशय में जाता है और अम्लादि छ प्रकार के रसों में से चाहे जिस प्रकार के रस से युक्त हो, वहाँ पहुंच कर मधुरता तथा फेन भाव को प्राप्त करता है अर्थात् मीठा और झाग से युक्त हो जाता है ॥

***आहार इत्यत्र 'आह्रियते' इत्याहारः। 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायामि'ति सूत्रेण कर्मणि घञ्। स च षड्विधः। तथा च—**

आहार्यं षड्विधं भोज्यं भक्ष्यं चर्व्यंन्तथैव च ॥ २८ ॥

लेह्यं चूष्यं तथा पेयं तदुदाहरणानि तु। भोज्यमोदनसूपादि भक्ष्य मोदकमण्डकम् ॥ २९ ॥

चर्व्यं चिपिटधान्यादि रसालादि तु लेह्यते। चूष्यमाम्रफलेक्ष्वादि पीयते पानकं पयः ॥३०॥

'आहार' भोजन की संज्ञा है। 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्' इस पाणिनीय सूत्र से कर्म में 'आङ्' उपपद रहते 'हृ' धातु से घञ् प्रत्यय तथा वृद्धि होने से आहार पद की सिद्धि होती है। वह आहार छ प्रकार का होता है—भोज्य, भक्ष्य, चर्व्य, लेह्य, चूष्य और पेय। भोजन करने योग्य भात, दाल प्रभृति भोज्य, भक्षण करने के योग्य लड्डू, मण्डक प्रभृति भक्ष्य, चबाने लायक चिउड़ा, चना प्रभृति, चर्व्य, चाटने लायक रसाला (रस-युक्त चटनी) आदि लेह्य, चूसने योग्य आम, ईख आदि चूष्य और पीने योग्य शरबत, दूध आदि पेय कहाता है ॥ २८-३० ॥

*आमाशयमाह चरकः—

'नाभिस्तनान्तरे जन्तोराहुरामाशयं बुधाः' ॥ ३१ ॥

आमाशय का स्थान—'प्राणियों के नाभि और स्तन के मध्य में आमाशय रहता है ॥ ३१ ॥

---

१. 'शुक्रस्ये'ति पाठान्तरं चिन्त्यम्।

*अत्र विशेषमाह—

'नाभेर्वितस्तिमात्रं च कण्ठदेशात् षडङ्गुलम्। उरस्तदिति जानीयात् शेषे तु हृदयं मतम्॥
उरो रक्ताशयस्तस्मादधःश्लेष्माशयः स्मृतः। आमाशयस्तु तदधस्तदधो वह्न्याशयः' इति॥

'नाभि से एक बालिश्त (बीता) ऊपर से लेकर और कण्ठस्थल से छ अङ्गुल नीचे तक उरःस्थल (छाती) और उसके नीचे का भाग हृदय कहलाता है। उरःस्थल में रक्ताशय रहता है, उसके नीचे श्लेष्माशय, उसके नीचे आमाशय और उसके नीचे अग्न्याशय का भाग समझना चाहिये ॥ ३२-३३ ॥

*प्राणानिलेरित इति। हृदयाधिष्ठानेन प्राणनाम्ना वायुना मुखं गतेनान्तः प्रवेशितः।
तथा च सुश्रुतः—

यो वायुः प्राणनामाऽसौ मुखं गच्छति देहधृक्। सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणांश्चाप्यवलम्बते॥

'प्राणानिलेरितः' का भाव यह है कि—हृदय में रहने वाला प्राणनामक वायु मुख तक जाकर वहां पर स्थित अन्न-ग्रास को आमाशय में प्रवेश करता है। इसी विषय में सुश्रुत भी कहते हैं कि—देह को धारण करनेवाला प्राणनामक वायु जो मुख की ओर जाता रहता है वह अन्न को उदर में प्रवेश करता है और प्राणियों का अवलम्बन करता रहता है अर्थात् रक्षा किया करता है॥

*क्लेदननामा कफः क्लेदयति क्लेदनात्संहतं भिनत्ति च। उक्तं च सुश्रुते—
क्लेदनः क्लेदयत्यन्नं संहतं च भिनत्यतः' इति ॥ ३५ ॥

प्राण वायु द्वारा आमाशय में पहुँचाये गये उसी अन्न को क्लेदन नामक कफ क्लिन्न (गीला) करता है और क्लिन्न करने से इकट्ठे हुए अन्न को अलग २ करता है। यही विषय सुश्रुत में भी कहा है कि—'क्लेदन कफ अन्न को क्लिन्न करता है और इसी से संहत (इकट्ठे हुए) अन्न को भिन्न २ कर देता है ॥ ३५ ॥

*स आहारः षड्रसोऽप्यामाशये माधुर्यं लभते, आमाशयस्थस्य मधुरस्य कफस्य योगात्।

वह आहार पहले चाहे मीठा खट्टा आदि ६ रसों से किसी भी रस से युक्त क्यों न हो किन्तु आमाशय में पहुँचने पर आमाशय में स्थित मधुर रस से युक्त कफ के साथ योग हो जाने से मीठा ही हो जाता है।

*उक्तञ्च श्लेष्मस्वरूपम्—

श्लेष्मा श्वेतो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः शीतलस्तथा। तमोगुणाधिकः स्वादुर्विदग्धो लवणो भवेत्॥
फेनभावञ्च लभते जठरानलतेजसा। इति ॥ ३६ ॥

कफ का स्वरूप—कफ श्वेत, गुरु (वजनदार), स्निग्ध (चिकना), पिच्छिल (फिसलने वाला), शीतल, अधिक तमोगुण वाला, स्वादु (मधुर) और विदग्ध होने से लवण (नमकीन) होता है और जठराग्नि के तेज से आमाशय में स्थित माधुर्य को प्राप्त हुआ वह फेन युक्त हो जाता है ॥ ३६ ॥

*यत आह वाग्भटः—

'सन्धुक्षितः समानेन पचत्यामाशयस्थितम्।
औदर्योऽग्निर्यथाबाह्यः स्थालीस्थं तोयतण्डुलम्' इति ॥

वाग्भट ने भी कहा है कि—बाहर (रसोई की अग्नि जैसे बटुलोई में रखे हुये जल से युक्त चावल को पकाता है उसी भांति उदर की अग्नि (जठराग्नि) भी समान वायु से फूँक पाने पर तेज हो कर आमाशय में स्थित अन्न को पकाता है ॥ ३७ ॥

ॐअथ स एवाहारः प्राणवायुना प्रेरितस्ततः किञ्चित् स्खलितः पाचकाख्यपित्तोष्मणेषत्पक्वोऽम्लरसो भवति।

इसके बाद वही आहार प्राणवायु से प्रेरित होकर वहाँ से (आमाशय से) कुछ खसक कर पाचक नामक पित्त की ऊष्मा (गर्मी) से कुछ पक जाने पर खट्टा हो जाता है॥

*उक्तं च—**अथ पाचकपित्तेन विदग्धं चाम्लतां व्रजेत्॥ ३८॥**

कहा भी है कि—माधुर्य को प्राप्त करके प्राण वायु से प्रेरित होने के बाद, पाचक[1] पित्त से आहार विदग्ध (कुछ पका कुछ कच्चा) हो कर खट्टा हो जाता है॥ ३८॥

ॐपाचकपित्तेन पाचकपित्तस्योष्मणा॥ ३८॥

'पाचकपित्तेन' का अर्थ है पाचक पित्त की गर्मी से॥ ३८॥

ॐततः स एवाहारो नाभिमण्डलाधिष्ठानेन समाननाम्ना वायुना प्रेरितो ग्रहणीमभिनीयते॥ १६६॥

उसके बाद वही आहार नाभिमण्डल में रहनेवाले समान वायु से प्रेरित होकर ग्रहणी की ओर जाता है॥ १६६॥

ग्रहणीलक्षणमाह—

षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्त्तिता। आमपक्वाशयान्तःस्था ग्रहणी साऽभिधीयते॥

ग्रहणी का लक्षण—आमाशय और पक्वाशय के मध्य में स्थित, पित्तधरा नाम की जो छठी कला मुनियों ने कही है, वह ग्रहणी कहलाती है॥ १६७॥

ॐपित्तधरा=पाचकाख्यं पित्तं यदग्न्यधिष्ठानं तद्धारयति॥ १६७॥

'पित्तधरा' का अर्थ है अग्नि का अधिष्ठान (वासस्थान), जो पाचक नामक पित्त है उस को धारण करने वाली॥ १६७॥

तत्र ग्रहण्यामामाशयपक्वाशयमध्यवर्त्तिपाचकाख्यपित्ताधिष्ठानेनाग्निनाऽऽहारः पच्यते स कटुश्च भवतीत्याह[1]—

'ग्रहण्यां पच्यते कोष्ठे वह्निना जायते कटुः' इति॥ १६८॥

'ग्रहणी में कोष्ठस्थित अग्नि से आहार पकता है तथा कटु हो जाता है'॥ १६८॥

ॐअयमर्थः। आहारो ग्रहण्यां कोष्ठवह्निना ग्रहणीस्थितपाचकपित्तेन वह्निना पच्यते पच्यमानः स ग्रहणीस्थितस्य कटुरसस्य योगात् कटुर्भवति॥ १६८॥

तात्पर्य यह है कि—आहार ग्रहणी में जाने पर कोष्ठस्थित अग्नि से पचता है और पचता हुआ वह आहार ग्रहणी में स्थित कटुरस युक्त पित्त के संयोग से कटु हो जाता है॥ १६८॥

एतदाहारपाके विशेषमाह। शरीरं पाञ्चभौतिकम्। तत्र पञ्चसु भूतेषु पञ्चाग्नयस्तिष्ठन्ति, उक्तं च चरकेण[2]—

भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः।
पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान्पार्थिवादीन् पचन्त्यनु॥ १६९॥

पञ्च महाभूतों में चरकोक्त पञ्चाग्नि का निर्देश—भौम (भूमिसम्बन्धी), आप्य (जल सम्बन्धी), आग्नेय (अग्नि सम्बन्धी), वायव्य (वायु सम्बन्धी) और नाभस (आकाश सम्बन्धी) पाँच अग्नि हैं, ये सब अपने २ पृथ्वी आदि (पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश) के सम्बन्धी पाँच प्रकार के आहार के गुणों को पकाते हैं॥ १६९॥

---

१. 'भवति तथाचे'ति पाठान्तरम्। २. 'इत्याह चरक' इति पाठान्तरम्।

*अत्रोष्मपदेनाग्निरुच्यते ॥ १६९ ॥

यहाँ 'ऊष्मा' से 'अग्नि' का ग्रहण होता है ॥ १६९ ॥

आहारोऽपि पाञ्चभौतिकः तत्र पाचकरूपित्तस्थेनाग्निनोत्तेजितेन शरीरवर्त्तिना भूभागाग्निना आहारवर्त्तिभूभागः पच्यते । पक्वो भूभागः स्वकीयान् गुणानभिवर्द्धयति । एवं जलादिभागा अपि पच्यन्ते । तथा च सुश्रुते—

'पञ्चभूतात्मके देहे आहारः पाञ्चभौतिकः । विपक्वः पञ्चधा सम्यग्गुणान् स्वानभिवर्द्धयेद्' इति ॥

पञ्च महाभूतों से बने हुये शरीर में पञ्च महाभूत सम्बन्धी आहार पाँच प्रकार से अच्छी तरह परिपक्व होकर अपने गुणों को बढ़ाता है ॥ १७० ॥

*गुणशब्देनात्र गुणिनः पृथिव्यादय उच्यन्ते । तेन गुणान् शरीरवर्त्तिनः पार्थिवादीन् भागानभिवर्द्धयेदित्यर्थः ॥ १७० ॥

यहाँ 'गुण' पद से गुणी पृथिवी आदि का ग्रहण किया जाता है, इससे 'गुणों को अर्थात् शरीरवर्त्ती पृथ्वी आदि सम्बन्धी भागों को बढ़ाता है' ऐसा अर्थ समझना चाहिये ॥ १७० ॥

एवमहोरात्रेण पक्व आहारो मिष्टः पटुश्च मधुरो भवति । अम्लस्त्वम्लो भवति । कटुस्तिक्तः कषायश्च कटुर्भवति । उक्तञ्च—

मिष्टः पटुश्च मधुरमम्लोऽम्लं पच्यते रसः । कटुतिक्तकषायाणां विपाको जायते कटुः' इति ॥

कटु, तिक्त, कसैला आहार रस का स्वाद—'मीठा और नमकीन रस युक्त आहार पकने पर मधुर और खट्टा पकने पर खट्टा ही होता है, तथा कटु, तिक्त और कसैला का परिपाक कटु होता है ॥

एवं विपक्वस्याहारस्य सारो निगदितो रसः, शेषो ग्रहणीस्थो मलद्रवः मलद्रवस्य जलभागः शिराभिर्वस्तिं नीतो मूत्रं भवति । उक्तञ्च—

आहारस्य रसः सारः सारहीनो मलद्रवः । शिराभिस्तज्जलं नीतं वस्तिं मूत्रत्वमाप्नुयात् ॥
शेषं किट्टञ्च यत्तस्य तत्पुरीषं निगद्यते । समानवायुना नीतन्तत्तिष्ठति मलाशये ॥ १७३ ॥

आहार से रसादि का निर्माण—'आहार का सार भाग रस और सारहीन भाग मलद्रव कहलाता है, और मलद्रव का जो जलभाग होता है वह शिराओं द्वारा वस्ति में पहुँच कर मूत्र कहलाने लगता है, तथा उस मलद्रव का द्रव से हीन जो शेष भाग होता है वह पुरीष (विष्ठा) कहलाता है और वही पुरीष समान वायु के द्वारा पहुँचाये जाने पर मलाशय में जाकर ठहरता है ॥

तत्र [1]मलाशयस्थेनापानवायुना प्रेरितं मूत्रं मेढ्रभगमार्गेण पुरीषं गुदमार्गेण शरीराद् बहिर्याति । उक्तञ्च—

मूत्रञ्चोपस्थमार्गेण पुरीषं गुदमार्गतः । अपानवायुना क्षिप्तं बहिर्याति शरीरतः ॥१७४॥

मूत्र और पुरीषोत्सर्ग में कारण—'अपान वायु से प्रेरित होने पर उपस्थमार्ग से मूत्र और गुदा मार्ग से पुरीष शरीर के बाहर निकलता है ॥ १७४ ॥

*उपस्थः = शिश्नो भगश्च ॥ १७४ ॥

'उपस्थ' का अर्थ 'लिङ्ग और योनि' समझना चाहिये ॥ १७४ ॥

रसस्तु समानवायुना प्रेरितो धमनीमार्गेण शरीरारम्भकस्य रसस्य स्थानं हृदयं गत्वा तेन सह मिश्रितो भवति । उक्तञ्च—

रसस्तु हृदयं याति समानमरुतेरितः । स तु व्यानेन विक्षिप्तः सर्वान् धातून् विवर्द्धयेत् ॥१७५॥
केदारेषु यथा कुल्याः पुष्णन्ति विविधौषधीः । तथा कलेवरे धातून् सर्वान् वर्द्धयते रस ॥१७६॥

---

१. 'मलाशयेने'ति पाठान्तरं प्रामादिकम् ।

आहार रस का कार्य—समान वायु से प्रेरित होकर रस हृदय में जाता है और वहां से व्यान वायु के द्वारा फेंके जाने पर वह रस सम्पूर्ण धातुओं को बढ़ाता है। जिस प्रकार खेतों में स्थित अनेक प्रकार के धान्यादि ओषधियों को कुल्या (नहरें) पुष्ट किया करती हैं, उसी भांति रस भी शरीर में सब धातुओं को बढ़ाता रहता है ॥ १७५-१७६ ॥

रसस्तु तत्र तत्र त्रिधा विभज्यते। उक्तञ्च चरके—

स्थूलः सूक्ष्मस्तन्मलश्च तत्र तत्र त्रिधा रसः। स्वं स्थूलोंऽशः परं सूक्ष्मस्तन्मलो याति तन्मलम् ॥

आहार से उत्पन्न हुआ रस क्रम से शरीरारम्भ रसरक्तादि प्रत्येक धातुओं में जाकर प्रत्येक धातुओं के स्थानों में स्थूल, सूक्ष्म, और तन्मल (रस का मल) इस प्रकार से तीन अंशों में विभक्त हो जाता है और इनमें से स्थूलांश अपने स्थान में रहता है, सूक्ष्मांश दूसरे धातु में जाता है तथा रस का मलांश धातुओं के मल में जाता है ॥ १७७ ॥

अयमर्थः। स्थूलोंऽशः स्वं याति यथास्थितस्तिष्ठति, सूक्ष्मस्त्वंशः परं द्वितीयं धातुं याति, तन्मलो = रसादिमलः, तन्मलं = शरीरारम्भकं तत्तद्धातुमलं यातीत्यर्थः ॥ १७७ ॥

स्पष्टार्थ यह है कि रस का स्थूल भाग अपने स्थान में रहता है अर्थात् रस जिस धातु में जाता है स्थूल भाग उसी धातु में रह जाता है, और सूक्ष्म भाग दूसरे रक्तादि धातुओं में जाता है और उसका मल भाग अर्थात् रसादिकों का मल भाग उस के मल को अर्थात् शरीरारम्भक तत्तद्धातुओं के मल को जाता है ॥ १७७ ॥

यथा लौकिकाग्निनेक्षुरसः पच्यते तथा शरीरारम्भकस्य रसस्याग्निनाऽऽहाररसः पच्यते। पच्यमानः स पञ्चाहोरात्रात् सार्द्धदण्डमेकञ्च यावत् प्राक्तनरसधातावेव तिष्ठति। उक्तं च सुश्रुते—'स खलु रसस्त्रीणि त्रीणि कलासहस्राणि पञ्चदश कला एकैकस्मिन् धातावुपतिष्ठते'।

अत्र कलानां विंशतिर्मुहूर्त्तः, स च दण्डद्वयात्मकः ('इत्यभिप्रेत्याह)—तथा च भोजः—

धातौ रसादौ मज्जान्ते प्रत्येकं क्रमतो रसः। अहोरात्रात्स्वयं पञ्च सार्द्धं दण्डं च तिष्ठति ॥१७८॥

जिस प्रकार लोक की अग्नि से ईख का रस पकता है उसी प्रकार शरीर के आरम्भक रस के अग्नि से आहार का रस पकता है और पकता हुआ वह रस पांच अहोरात्र (रातदिन) १॥ डेढ़ दण्ड तक प्रथम जो रस धातु अर्थात् शरीराम्भक रस धातु है उसी में रहता है, इसी बात को सुश्रुत में भी कहा है कि-वही रस (आहार से उत्पन्न रस) एक २ धातु में (शरीराम्भक प्रत्येक रसादि धातु में) तीन हजार पन्द्रह (३०१५) कला परिमित काल तक रहता है। २० कला का १ मुहूर्त होता है तथा १ मुहूर्त दो दण्ड का होता है अतः उसमें अर्थात् ३०१५ कला में ५ अहोरात्र १॥ दण्ड होता है। इन्हीं सब अभिप्रायों को लेकर भोज ने भी कहा है कि —'शरीराम्भक रस धातु से लेकर मज्जाधातु तक प्रत्येक धातु में क्रम २ से जाकर रस प्रत्येक धातु में ५ अहोरात्र १॥ दण्ड तक रहता है ॥१७८॥

प्रत्येकमेकैकस्मिन्नित्यर्थः ॥ १७८ ॥

'प्रत्येकम्' का अर्थ 'एक २ धातु में' समझना चाहिये ॥ १७८ ॥

ततो यथा पच्यमानादिक्षुरसान्मलो निर्गच्छति तथा पच्यमानादाहाररसान्मलो निर्गच्छति स कफः। उक्तं च सुश्रुते—

कफः पित्तं मलः खेषु प्रस्वेदो नखरोम च। नेत्रविट् त्वक्षु च स्नेहो धातूनां क्रमशो मलाः ॥३९॥

धातुओं के मल—'कफ, पित्त, कर्णादि स्रोतों का मल, पसीना, नख, लोम, नेत्रमल और त्वचाओं के स्नेह, ये क्रम से धातुओं के मल हैं' ॥ ३९ ॥

---

१. कोऽप्ययं पाठः काचित्कः।

खेषु मलः = कर्णादि स्रोतोमलः ॥ ३९ ॥

'खेषु मलः' का अर्थ 'कर्णादि स्रोतों का मल' समझना चाहिये ॥ ३९ ॥

स च कफः प्राणानिलप्रेरितो धमनीमार्गेण शरीरारम्भकं क्लेदनाख्यं कफं गत्वा पुष्णाति, ततः सारभूतस्याहाररसस्य द्वौ भागौ भवतः स्थूलः सूक्ष्मश्च तत्र स्थूलो[1] भागः शरीरारम्भकं रसं पोषयति सकलशरीराधिष्ठानेन व्यानवायुना प्रेरितो धमनीभिः सञ्चरन् पोषणस्नेहनजठरानलोष्मकृतसन्तापनिवारणादिभिर्गुणैः सकलशरीरं पुष्णाति । ततः सूक्ष्मो[2] भागः प्राणवायुना प्रेरितो धमनीमार्गेण शरीरारम्भकस्य रक्तस्य स्थानं यकृत्प्लीहरूपं गत्वा तेन सह मिलितो भवति । ततः प्राक्तनस्य रक्तस्याग्निना पुनः पच्यमानः पञ्चाहोरात्रान्सार्द्धदण्डञ्च यावत् प्राक्तनरक्तधातावेव तिष्ठति । ततो यथा अग्निना पुनः पुनः पच्यमानादिक्षुविकाराद्वारं वारं मलं निर्गच्छति तथा पुनः पुनः पच्यमानादाहाररसात् प्रतिवारं मलं निर्गच्छति । तत्र रक्ताग्निना पच्यमानान्मलं पित्तं निर्गच्छति । तच्च पित्तं समानवायुना प्रेरितं धमनीमार्गेण शरीरारम्भकं पाचकाख्यं पित्तं गत्वा पुष्णाति ।

वह कफ प्राण वायु से प्रेरित होकर धमनी मार्ग से शरीरारम्भक क्लेदन नामक कफ को जाकर पुष्ट करता है, उस के बाद सारभूत आहारजात रस के दो भाग होते हैं एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म, उस में स्थूल भाग शरीरारम्भक रस को पुष्ट करता है, तथा सम्पूर्ण शरीर में रहनेवाले व्यान नामक वायु से प्रेरित होकर धमनियों के द्वारा सञ्चार करता हुआ अर्थात् वह करके पोषण, स्नेहन तथा जठरानल की गर्मी से उत्पन्न हुये सन्ताप के निवारण आदि गुणों से सम्पूर्ण शरीर को पुष्ट करता है । उस के बाद सूक्ष्मभाग प्राणवायु से प्रेरित हो कर धमनियों द्वारा शरीरारम्भक (शरीर को बनाने वाले) रक्त के स्थान पर अर्थात् यकृत् और प्लीहारूप रक्त के स्थान पर जाकर रक्त के साथ मिल जाता है । उस के बाद प्राचीन रक्त के अग्नि से पुनः पकता हुआ पांच अहोरात्र (दिन रात) और डेढ़ दण्ड तक उसी प्राचीन रक्तसंज्ञक धातु में स्थित रहता है । उसके बाद जैसे लोक में अग्नि से पुनः पुनः पकाये जाते हुये ईख के रस से बारबार मल निकलता है, वैसे ही पुनः पुनः पकाये जाते हुये आहार के रस से भी प्रति बार मल निकलता है । उसमें रक्त की अग्नि से पकाये जाते हुये आहार रस से जो मल निकलता है वह पित्त कहलाता और वह पित्त समान नामक वायु से प्रेरित होकर धमनी-मार्ग से जाकर शरीरारम्भक पाचक नामक पित्त को पुष्ट करता है ।

ततः सारभूतस्याहाररसस्य द्वौ भागौ भवतः स्थूलः सूक्ष्मश्च, स्थूलो[3] भागोरञ्जकाख्येन[4] पित्तेन[5] रक्तीकृतः शरीरारम्भकं रक्तं (पोषयन्[6]) व्यानवायुना प्रेरितो धमनीभिः सञ्चरन् सकलशरीरगतानि रुधिराणि पुष्णाति । ततः सूक्ष्मो[7] भागो व्यानवायुना प्रेरितो धमनीभिः शिराभिश्च शरीरारम्भकाणि मांसानि याति । ततो मांसाग्निना पुनः पच्यमानः पञ्चाहोरात्रात् सार्द्धदण्डञ्च यावन्मांसेष्वेव तिष्ठति । ततः पच्यमानात्तस्मान्मलं निर्गच्छति । तद्व्यानवायुना क्षिप्तं कर्णावागत्य कर्णविड् भवति ।

उसके बाद सारभूत उसी आहार-रस के दो भाग होते हैं, एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म, उसमें स्थूलभाग रञ्जकनामक पित्त के द्वारा रंगा जाने पर रक्तरूप होकर शरीरारम्भक रक्त को पुष्ट करता हुआ व्यान-वायु से प्रेरित होकर धमनियों के द्वारा संचार करता हुआ सम्पूर्ण शरीरस्थित रुधिर को पुष्ट करता है, उसके बाद सूक्ष्म भाग व्यान वायु से प्रेरित होकर धमनी और शिराओं के द्वारा

---

१. 'सूक्ष्म' इति पाठान्तरं प्रामादिकम् । २. 'स्थूल' इति पाठान्तरं प्रामादिकम् । ३. 'सूक्ष्म' इति पाठान्तरं चिन्त्यम् । ४. 'रञ्जकाग्निने'ति पाठान्तरम् । ५. 'पित्तेन स' इति पाठान्तरम् । ६. कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः । ७. 'स्थूल' इति पाठान्तरं चिन्त्यम् ।

शरीरारम्भक मांस में जाता है, उसके बाद मांस में स्थित अग्नि के द्वारा पुनः पुनः पकाया जाता हुआ पांच अहोरात्र और १॥ डेढ़ दण्ड तक मांस ही में स्थित रहता है, उसके बाद मांसाग्नि से पकाये जाते हुये उससे जो मल निकलता है, वह व्यान वायु से प्रेरित होने पर दोनों कानों में आकर कान का मैल होता है।

ततः सारभूतस्य रसस्य द्वौ भागौ भवतः। स्थूलः सूक्ष्मश्च। ततः स्थूलो[1] भागो मांसानि पुष्णाति। ततः सूक्ष्मो[2] भागो व्यानवायुना प्रेरितो धमनीभिः शरीरारम्भकस्य मेदसः स्थानमुदरं याति ततो मेदसोऽग्निना पुनः पच्यमानः पञ्चाहोरात्रात् सार्द्धदण्डं च यावन्मेदस्येव तिष्ठति। ततः पच्यमानात् तस्मान्मलो निर्गच्छति प्रस्वेदरूपः। स चः शीतः स्रोतस्येव तिष्ठति शरीरोष्मणा तप्तश्चेत्तदा व्यानवायुना प्रेरितः शिरामार्गैर्लोमकूपेभ्यो बहिर्याति 'जिह्वादन्तकक्षामेढ्रादिमलश्च मेदोमलमि' त्येके।

उसके बाद सारभूत उसी आहार-रसके दो भाग होते हैं, एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म, उसमें से स्थूल भाग मांस को पुष्ट करता है और सूक्ष्म भाग व्यान-वायु से प्रेरित होकर धमनियों के द्वारा शरीरारम्भक मेद के स्थान उदर में जाता है, उसके बाद मेद की अग्नि से फिर पकाया जाता हुआ वह पञ्च अहोरात्र और डेढ़ दण्ड तक उसी मेद में ठहरता है, उसके बाद मेद की अग्नि से पकाये जाते हुये उससे प्रस्वेद रूप (पसीना-रूपी) मल निकलता है और वह शीत (ठण्ढा) रहने पर तो स्रोतों ही में रहता है और शरीर की गर्मी से तप्त होने पर पिघल जाने से व्यान वायु से प्रेरित होकर शिराओं के मार्ग से रोमकूपों (रोएँ के छिद्रों) से बाहर निकलता है 'जीभ, दांत, कांख और मूत्रेन्द्रिय के मल को भी कोई २ मेद का मल कहते हैं' किन्तु यह सभी लोगों का मत नहीं है।

ततः सारभूतरसस्य द्वौ भागौ भवतः स्थूलः सूक्ष्मश्च, तत्र स्थूलो[3] भागो मेदः पुष्णाति, उदरे तिष्ठन् ([4]व्यानवायुना प्रेरितः स्रोतोमार्गैः सूक्ष्मास्थिस्थितान्यपि मेदांसि पुष्णाति। सूक्ष्मो भागो) व्यानवायुना प्रेरितो धमनीभिः शिराभिश्च शरीरारम्भकाण्यस्थीनि याति। ततोऽस्थ्यग्निना पुनः पच्यमानः पञ्चाहोरात्रात्सार्द्धदण्डञ्च यावदस्थिष्वेव तिष्ठति। ततः पच्यमानाद् तस्मान्मलो निर्गच्छति। स च व्यानवायुना प्रेरितः [5]शिरामार्गैर्गत्वाऽङ्गुलिषु नखास्तनौ लोमानि भवन्ति।

उसके बाद सारभूत रस के दो भाग होते हैं, एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म, उसमें से स्थूल भाग उदर में रहता हुआ मेद को पुष्ट करता है तथा वहां से व्यान वायु से प्रेरित होकर स्रोतों के मार्ग से जाकर सूक्ष्म (पतली) हड्डियों में भी स्थित मेद को पुष्ट करता है और सूक्ष्म भाग व्यानवायु से प्रेरित होकर धमनी और शिराओं के द्वारा शरीराम्भक हड्डी को जाता है, उसके बाद हड्डी की अग्नि से पुनः पकाया जाता हुआ पांच अहोरात्र और डेढ़ दण्ड तक हड्डियों ही में ठहरता है, उसके बाद पकाये जाते हुये उस सारभूत से जो मल निकल[illegible] है वही व्यान वायु से प्रेरित होकर शिराओं के मार्ग से आकर अङ्गुलियों में नख और शरीर में रोम हो जाता है।

ततः सारभूतस्य रसस्य द्वौ भागौ भवतः स्थूलः सूक्ष्मश्च। तत्र स्थूलो[6] भागोऽस्थीनि पुष्णाति ततः सूक्ष्मो[7] भागो व्यानवायुना प्रेरितः स्रोतोमार्गैर्मज्जस्थानानि स्थूलास्थ्यभ्यन्तराणि याति। ततो मज्जाग्निना पुनः पच्यमानः पञ्चाहोरात्राद् सार्द्धदण्डञ्च यावन्मज्जन्येव

---

१. 'सूक्ष्म' इति पाठान्तरमसङ्गतम्। २. 'स्थूल' इति पाठान्तरं चिन्त्यम्। ३. 'सूक्ष्म' इति पाठान्तरं चिन्त्यम्। ४. कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः। ५. 'शिराभिर्मार्गेणागत्यागत्ये'ति पाठान्तरम्। ६. 'सूक्ष्म' इति पाठान्तरम् सङ्गतम्;। ७. 'स्थूल' इति पाठान्तरमसङ्गतम्।

तिष्ठति, ततः पच्यमानात्तस्मान्मलं निर्गच्छति । तच्च व्यानवायुना प्रेरितं शिरामार्गेर्नयनयोरागत्य नेत्रविट् त्वक्षु स्नेहश्च भवति ।

उसके बाद सारभूत रस के दो भाग होते हैं, एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म उसमें से स्थूल भाग हड्डियों को पुष्ट करता है, उसके बाद सूक्ष्म भाग व्यानवायु से प्रेरित होकर स्रोतों के मार्ग से मज्जा के स्थान मोटी हड्डियों के भीतरी भाग को जाता है, उसके बाद मज्जा की अग्नि से फिर पकाया जाता हुआ पांच अहोरात्र और डेढ़ दण्ड तक मज्जा ही में ठहरता है, उसके बाद पकाये जाते हुये उससे जो मल निकलता है, वह व्यानवायु से प्रेरित होकर शिराओं के मार्ग से आकर नेत्रों में नेत्र का मल (कीचड़) और त्वचाओं में स्नेह (चिकनाहट) हो जाता है ।

ततः सारभूतस्य रसस्य द्वौ भागौ भवतः स्थूलः सूक्ष्मश्च, तत्र स्थूलो भागो मज्जानं पुष्णाति ततः सूक्ष्मो भागो व्यानवायुना प्रेरितो धमनीभिः शिराभिश्च शुक्रस्य स्थानं सकलं शरीरं गत्वा शरीरारम्भकेण शुक्रेण सह मिश्रितो भवति । ततः शुक्रस्याग्निना पुनः पच्यते पच्यमाने तस्मिन्मलं नास्ति । स हि सहस्रशो ध्मातसुवर्णवत् । इत्युत्तरत्रोपदिश्यते—

उसके बाद सारभूत रस के दो भाग होते हैं, एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म, उसमें से स्थूल भाग मज्जा को पुष्ट करता है और सूक्ष्म भाग व्यानवायु से प्रेरित होकर धमनी और शिराओं के द्वारा शुक्र के स्थान सम्पूर्ण शरीर में जाकर शरीरारम्भक शुक्र के साथ मिल जाता है । उसके बाद शुक्र के अग्नि से पुनः पकाया जाता है और पकते हुये उसमें फिर मल नहीं रहता है, क्योंकि वह हजार बार के तपाये हुये सोने के समान निर्मल हो जाता है, इसी बात को आगे के श्लोकों में कहते हैं ।

स्वाग्निभिः पच्यमानेषु मज्जान्तेषु रसादिषु । षट्सु धातुषु जायन्ते मलानि मुनयो जगुः ॥
यथा सहस्रधा ध्माते न मलं किल काञ्चने । तथा रसे मुहुः पक्वे न मलं शुक्रताङ्गते ॥१८०॥

'अपने २ अग्नियों से पकते हुये रस से लेकर मज्जा तक छ धातुओं में मल निकलता है' ऐसा मुनियों ने कहा है । जिस प्रकार हजार बार तपाये हुए सुवर्ण में मल नहीं रहता, उसी प्रकार बारंबार परिपक्व होने से जब आहाररस शुक्रत्व को प्राप्त हो जाता है तब उसमें भी मल नहीं रहता है ॥ १७९–१८० ॥

ततः सारभूतस्य रसस्य द्वौ भागौ भवतः स्थूलः सूक्ष्मश्च । तत्र स्थूलो भागः शरीरारम्भकं शुक्रं याति, सूक्ष्मः स्नेहभागं ओजस्तस्य लक्षणमाह—

ओजः सर्वशरीरस्थं स्निग्धं शीतं स्थिरं सितम् । सोमात्मकं शरीरस्य बलपुष्टिकरं मतम् ॥

ओज के लक्षण—ओज सम्पूर्ण शरीर में रहने वाला, स्निग्ध, शीतल (ठण्ढा), स्थिर, सफेद और सोमात्मक होता है तथा शरीर में बल और पुष्टि का करनेवाला होता है ॥ १८१ ॥

ॐ बलं = चेष्टापाटवम् । तथा च—'चेष्टासु पाटवं यत्तु बलं तदभिधीयते । यत्तु सुश्रुते—

'रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत्परं तेजस्तत्खलु ओजस्तदेव बलम्' इति । तेजस्तेजोद्रवः । अत्रायमभिप्रायः—यस्माद्रसादोजो भवति स रसः सर्वधातुस्थानगतत्वात्तद्धातुवन्मन्यत इति । सर्वधातूनां स्नेहमोजः, क्षीरे घृतमिव तदेव बलमिति । तत्कार्यकारणयोरभेदोपचारात् । अभेदकथनञ्च चिकित्सैक्यार्थम् ॥ १८१ ॥

यहाँ 'बल' पद से 'चेष्टा करने में सामर्थ्य' यह अर्थ समझा जाता है, क्योंकि अन्यत्र भी कहा है कि—'चेष्टा करने में जो पाटव अर्थात् सामर्थ्य (फुर्तीलापन) होता है उसी को पण्डित लोग 'बल' कहते हैं और 'सुश्रुत' में जो यह कहा है कि 'रस से लेकर शुक्र पर्यन्त सात धातुओं का जो

प्रधान तेज है वह ओज कहलाता है तथा वही बल भी कहलाता है' यहां पर 'तेज' पद से 'तेज सम्बन्धी द्रव' लिया जाता है। इस वाक्य में 'सुश्रुत' का यह अभिप्राय है कि—जिस रस से ओज होता है वह रस सब धातुओं के स्थान में जाता है अत एव जब जिन २ धातुओं के स्थान में जाता है तब उन २ धातुओं के तरह से उन २ स्थानों में वह समझा जाता है, अतएव सब धातुओं का स्नेह ओज है, अर्थात् जिस प्रकार से दूध में घी होता है उसी प्रकार से ओज भी धातुओं में होता है और 'वही बल भी कहलाता है' ऐसा जो कहा है वह कार्य और कारण का अभेद मानकर कहा है अर्थात् ओज और बल यद्यपि एक नहीं हैं क्योंकि ओज से बल की उत्पत्ति होने से ओज कारण है तथा बल कार्य है, तथापि कार्य और कारण का अभेद होने से 'ओज ही बल कहलाता है' यह कहना सङ्गत ही है और अभेद कथन का फल यह है कि कार्य और कारणरूप जो बल और ओज हैं इन दोनों की चिकित्सा का ऐक्य हो ॥ १८१ ॥

अन्यच्च—

गुरु शीतं मृदु स्निग्धं सान्द्रं स्वादु स्थिरं तथा। प्रसन्नं पिच्छिलं सूक्ष्ममोजो दशगुणं स्मृतम् ॥

ओज—गुरु (भारी), शीतल, मृदु, स्निग्ध, सान्द्र (गाढा), स्वादु (स्वादयुक्त), स्थिर, निर्मल, पिच्छिल और सूक्ष्म (सूक्ष्मस्रोतोगामी) इन दश गुणों से युक्त कहा गया है ॥ १८२ ॥

चरके तु—

अष्टबिन्दुप्रमाणं तदीषद्रक्तं सपीतकम्। [1]अग्नीषोमात्मकत्वेन द्विरूपं वर्णितन्तु तत् ॥१८३॥

चरक में तो—ओज को आठ बिन्दु प्रमाण तथा थोड़ा लाल तथा पीला वर्ण लिये हुये कहा है तथा अग्निसोमात्मक होने से दो तरह का कहा है अर्थात् ओज आग्नेय और सौम्य भेद से दो प्रकार का कहा है ॥ १८३ ॥

वाग्भटश्च—

ओजश्च तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम्। हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम् ॥
यस्य प्रवृद्धौ देहस्य तुष्टिपुष्टिबलोदयाः। यन्नाशे नियतो नाशो यस्मिंस्तिष्ठति जीवनम् ॥
निष्पद्यन्ते यतो[2] भावा विविधा देहसंश्रयाः। उत्साहप्रतिभाधैर्यलावण्यसुकुमारताः ॥

और 'वाग्भट' ने भी कहा है कि—रस से लेकर शुक्र पर्यन्त सात धातुओं का प्रधान तेज ओज कहलाता है और वह यद्यपि सर्वशरीर व्यापी है तथापि प्रधानरूप से हृदय ही में अवस्थित रहता है, तथा देह की स्थिति का कारण है अर्थात् ओज से ही शरीर रक्षित रहता है और ओज की वृद्धि होने पर शरीर में तुष्टि, पुष्टि और बल का उदय होता है, तथा ओज ही के नाश होने पर शरीर का निश्चय नाश हो जाता है और ओज ही के रहने पर प्राणियों का जीवन स्थित रहता है तथा ओज से ही उत्साह, प्रतिभा, धैर्य, लावण्य और सुकुमारता इत्यादि देह के आश्रित रहने वाले अनेक प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं ॥ १८४–१८६ ॥

ततः स्थूलो भागो रसो मासेन पुंसां शुक्रं स्त्रीणान्त्वार्त्तवं शुक्रञ्च भवति। उक्तञ्च सुश्रुते— 'एवं मासेन रसः शुक्रो भवति। [3]स्त्रीणामार्त्तवञ्चे'ति। चकारात् स्त्रीणामपि शुक्रं भवति।

अत एवोक्तं सुश्रुते—

योषितोऽपि स्रवत्येव शुक्रं पुंसः समागमे। तन्न गर्भस्य किञ्चित्तु न करोतीति न चिन्त्यते ॥

उसके बाद पूर्वोक्त प्रकार से आहार रस का स्थूल भाग एक मास में पुरुषों का शुक्र और स्त्रियों का आर्त्तव तथा शुक्र हो जाता है, और 'सुश्रुत' में भी कहा है कि 'इस प्रकार से १ मास में रस

---

१. 'अग्निसोमात्मकत्वेने'ति पाठान्तरम्। २. 'ततो' इति पाठान्तरम्। ३. 'स्त्रीणाञ्चे'ति पाठा०।

पुरुषों का शुक्र हो जाता है तथा स्त्रियों का आर्तव भी हो जाता है,' यहां पर मूल में 'च' का पाठ है अतएव उसका 'भी' अर्थ होने से यह समझा जाता है कि स्त्रियों को भी शुक्र होता है, ऐसा जानना चाहिये। इसी से सुश्रुत में पुनः स्पष्टरूप से भी कहा है कि—'पुरुषों के साथ समागम होने पर स्त्रियों के भी वीर्य स्खलित होता है, किन्तु वहां पर वह वीर्य गर्भ के लिये कुछ भी उपयोगी नहीं होता है ऐसा मुनि लोग मानते हैं ॥ १८७ ॥

ॐ गर्भस्य = शुद्धस्य।

'गर्भस्य' का अर्थ 'शुद्ध गर्भ का' समझना चाहिये।

*विकृतस्य तु गर्भस्य कारणं तदपि भवति। यत उक्तम्—

'यदा नार्यावुपेयातां वृषस्यन्त्यौ कथञ्चन। मुञ्चन्त्यौ शुक्रमन्योऽन्यमनस्थिस्तत्र जायते' इति॥

स्त्रियों का वीर्य विकृत गर्भ में कारण—जिस समय दो स्त्रियां कामातुरा होकर परस्पर समागम करने लगती हैं उस समय जो योनि पर योनि रगड़ने से उन दोनों के शुक्र स्खलित होने से गर्भ रहता है वह बिना हड्डी के होता है ॥ ४० ॥ १८७ ॥

एवञ्च—स्त्रीणां गर्भोपयोगि स्यादार्त्तवं सर्वसम्मतम्। तासामपि बलं वर्णं शुक्रं पुष्टिं करोति हि॥

स्त्रियों का आर्तव ही सर्वसम्मति से गर्भ के लिये उपयोगी सिद्ध होता है तथा शुक्र उन लोगों के बल, वर्ण और पुष्टि करने वाला है ॥ १८८ ॥

ॐएतेन स्त्रीणां सप्तमो धातुरार्त्तवं शुक्रमष्टममिति बोधितम्। आशयाधिक्यवत्[1] ॥१८८॥

आर्तव को ही गर्भ के लिये उपयोगी सिद्ध होने से यह समझा गया कि स्त्रियों का सातवां धातु आर्त्तव और आठवां धातु शुक्र होता है। स्त्रियों को पुरुषापेक्षया गर्भाशयादि के भांति धातु भी अधिक होते हैं ॥ १८८ ॥

एवञ्च—रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्ज्ञः शुक्रस्य सम्भवः ॥ १८९ ॥

इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि (हड्डी), अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र की उत्पत्ति होती है ॥ १८९ ॥

ॐएवं रस एव 'केदारकुल्या' न्यायेन सर्वान् धातून् पूरयन् मासेन नवदण्डोत्तरेण शुक्रमार्त्तवं भवतीति सिद्धान्तः। एवं सति रसाद्रक्तमित्यादि[2] सङ्गतमेव। ततो मांसम् = ततो रक्तोत्पत्तेरनन्तरं मांसं जायते रसादेवेत्यर्थः। मांसान्मेदः प्रजायत इति। मांसादनन्तरं मेदः प्रजायते रसादेवेत्यर्थः। मेदसोऽस्थि जायते, रसादेवेत्यर्थः। एवं ततो मज्जा (जायते[3], रसादेवेत्यर्थः।) ततः[4] शुद्धं शुक्रं (रसादेव[5]) सम्भवतीत्यर्थः ॥ १८९ ॥

इस प्रकार से आहार रस ही 'केदारकुल्या' न्याय से अर्थात् कुल्या (थोड़े जलवाली मनुष्यों द्वारा बनाई हुई नदी (नहर) जिस प्रकार केदार (खेत) स्थित धान्यादिकों का पोषण करती है, उसी प्रकार रस भी सम्पूर्ण धातुओं का पोषण करता हुआ एक मास और नौ दण्ड में शुक्र और आर्त्तव होता है, ऐसा सर्वसम्मत सिद्धान्त होने पर 'रस से रक्त' इत्यादि जो अभी ऊपर श्लोक में कह आये हैं वह सङ्गत ही है, अब उसी श्लोक की व्याख्या करते हुये कहते हैं कि—'रक्त से मांस' अर्थात् रक्तोत्पत्ति होने के बाद मांस उत्पन्न होता है वह भी वस्तुतः रस से ही उत्पन्न होता है,

---

१. अयं कोष्ठस्थः पाठः सर्वत्र १८८ तमश्लोकादुपरि लभ्यते किन्तु विनोदिनीकृताऽत्र स्थापित इति बोध्यम्। २. 'रक्तमिती'ति पाठान्तरमसमीचीनम्। ३. कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः। ४. 'अग्रे' इति पा०। ५. कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः।

तथा 'मांस से मेद उत्पन्न होता है' अर्थात् मांस के बाद रस से ही मेद उत्पन्न होता है, एवम् 'मेद से अस्थि उत्पन्न होता है' अर्थात् मेद के बाद रस से ही अस्थि उत्पन्न होती है। इसी प्रकार से 'अस्थि से मज्जा' अर्थात् अस्थि के बाद रस से ही मज्जा उत्पन्न होता है तथा 'मज्जा से शुक्र की उत्पत्ति होती है' अर्थात् मज्जा के बाद रस से ही शुद्ध शुक्र की उत्पत्ति होती है ॥ १८९ ॥

रसः शरीरे त्रिधा सञ्चरतीत्याह—

रसः शरीरे शब्दार्चिर्जलसन्तानवत् त्रिधा। सञ्चरत्यनुरूपोऽयं नित्यमेव हि देहिनाम् ॥१९०॥

शरीर में आहार-रस का सञ्चार—प्राणियों के शरीर के अनुरूप रस शब्द, अर्चि (ज्योति) और जल के सन्तान (प्रवाह) के तरह तीन प्रकार से नित्य ही संचार करता रहता है ॥ १९० ॥

***अस्यायमभिप्रायः। पुरुषास्तीक्ष्णाग्नयो मध्यमाग्नयो मन्दाग्नयश्च भवन्ति, तत्र तीक्ष्णाग्नीनां स रसः शब्दसन्तानवच्छीघ्रं सञ्चरति, मध्यमाग्नीनामर्चिःसन्तानवन्मध्यवेगेन चरति, मन्दाग्नीनां जलसन्तानवन्मदं चरति। तेन मासेन रसाच्छुक्रं भवतीति, यदुक्तं तन्मध्यमाग्नीनधिकृत्योक्तम्, दीप्ताग्नीनान्तु रसः किञ्चिन्न्यूनेन मासेन शुक्रं भवति, मन्दाग्नेः किञ्चिदधिकेन मासेनेति सिद्धान्तः ॥ १९० ॥**

इसका अभिप्राय यह है कि पुरुष तीन प्रकार के होते हैं—१ तीक्ष्णाग्निपुरुष, २ मध्यकाग्निपुरुष और ३ मन्दाग्निपुरुष। उनमें तीक्ष्ण अग्निवाले पुरुषों के शरीर में वह रस शब्द प्रवाह की भांति शीघ्रता से सञ्चार करता है, मध्यम अग्निवाले पुरुषों के शरीर में अर्चिः प्रवाह (ज्योतिः प्रवाह) की भांति मध्यवेग से सञ्चार करता है और मन्द अग्नि वाले पुरुषों के शरीर में जलप्रवाह की भांति मन्दवेग से सञ्चार करता है, इससे 'एक मास में रस से शुक्र होता है' ऐसा जो कहा गया है वह मध्यम अग्निवाले पुरुषों के ही विषय में कहा गया है, दीप्त (तीक्ष्ण) अग्नि वाले पुरुषों का तो रस कुछ कम एक मास में ही वीर्य हो जाता है, तथा मन्द अग्नि वाले पुरुषों का रस कुछ अधिक एक मास में वीर्य हो जाता है यह सिद्धान्त है ॥ १९० ॥

तर्हि वाजीकरिणीनामोषधीनां किं प्रयोजनमित्याह—

वाजीकरिण्य ओषध्यः स्वप्रभावगुणोच्छ्रयात्। विरेचयन्ति ताः शुक्रं विरेकिद्रव्यवन्नृणाम् ॥

वाजीकरण ओषधियों का प्रयोजन—वाजीकरण ओषधियाँ अपने प्रभाव की अधिकता से अथवा गुण की अधिकता से अथवा प्रभाव और गुण दोनों की अधिकता से विरेचन (दस्त कराने वाली) ओषधियों की भाँति शुक्र का विरेचन करती हैं ॥ १९१ ॥

***वाजीकरिण्यः = याभिरोषधीभिः पुरुषः शुक्राधिक्यात् स्त्रीषु वाजिवत् सामर्थ्यं प्राप्नोति ता वाजीकरिण्यः, स्वप्रभावगुणोच्छ्रयात् = तत्र काश्चिदोषध्यः स्वप्रभावाधिक्यात्, काश्चित् स्वगुणाधिक्यात्, काश्चित् स्वप्रभावगुणाधिक्यात्। तत्रसङ्कल्पपादलेपविशिष्टकान्तास्पर्शादयः स्वप्रभावाधिक्यात् शुक्रं विरेचयन्ति। घृतक्षीरादयः स्वगुणाधिक्यात् = स्निग्धत्वाधिक्यात्, माषादयः स्वप्रभावस्निग्धत्वादिगुणाधिक्यात्। वाजीकरिण्य इति बहुवचनमाद्यर्थानुवर्त्तनम्। वय्यबृंहणजीवनीयगणादयः, तद्वद्बोद्धव्याः। विरेचयन्ति = स्वप्रभावगुणाधिक्याच्छीघ्रमेव रसायुत्पादनपूर्वकं शुक्रं जनयित्वा प्रवर्त्तयन्ति ॥ १९१ ॥**

'वाजीकरण ओषधियाँ' अर्थात् जिन ओषधियों से पुरुष शुक्र की अधिकता होने से स्त्रियों के साथ रमण करने में घोड़े की भाँति सामर्थ्य प्राप्त करता है वे वाजीकरण ओषधियाँ कहलाती हैं। 'वाजीकरण ओषधियाँ अपने प्रभाव और गुण की अधिकता से शुक्र का विरेचन करती है' इसका अर्थ यह है कि वाजीकरण ओषधियों में से कोई अपने प्रभाव की अधिकता से, कोई अपने गुण की अधिकता से तथा कोई अपने प्रभाव और गुण दोनों की अधिकता से शुक्र का विरेचन करती हैं।

उनमें से सङ्कल्प (किसी स्त्री के विषय में चिन्ता आदि करना), पैर में विशेष औषध का लेप करना और विशिष्ट (सुन्दरी) स्त्रियों का स्पर्श करना आदि जितने हैं वे सब केवल अपने प्रभाव की अधिकता से ही शुक्र का विरेचन करती हैं। घी, दूध आदि अपने स्निग्धत्व रूप गुण की अधिकता से तथा माष (उड़द) आदि अपने प्रभाव और अपने स्निग्धत्व गुण आदि की अधिकता से शुक्र का विरेचन करती हैं। यहां 'वाजीकरिण्यः' इस बहुवचनान्त पद के प्रयोग करने से यह समझना चाहिये कि—'आदि' इस अर्थ का आनुवर्त्तन हो, अर्थात्—केवल वाजीकरण ओषधियों का ही बोध न हो किन्तु 'वाजीकरण आदि' अर्थात् वाजीकरण से भिन्न चरकोक्त बल्य, बृंहण तथा जीवनीय गुणादि ओषधियों का भी वाजीकरण ओषधियों की भांति ही बोध हो। 'वाजीकरण आदि ओषधियाँ अपने प्रभाव तथा गुण की अधिकता से शीघ्र ही विरेचन करती हैं' ऐसा कहने से यह समझना चाहिये कि अपने प्रभाव और गुण की अधिकता से शीघ्र ही रस रक्तादि धातुओं को उत्पन्न करने के अनन्तर शुक्र को भी उत्पन्न करके प्रवर्त्तन (विरेचन) करती है॥ १९१॥

यत आह[1]—

दुग्धं माषाश्च भल्लात[2] फलमज्जाऽऽमलानि च। जनकानि निगद्यन्ते रेचनानि च रेतसः॥

- शुक्रवर्धक पदार्थ—दूध, उड़द, भिलावा का फल तथा मींगी और आँवला ये सब ओषधियाँ शुक्र को उत्पन्न करनेवाली तथा विरेचन करनेवाली हैं॥ १९२॥

ननु बालानां कथं शुक्रं न दृश्यत इत्याह—

बालानां शुक्रमस्त्येव किन्तु सौक्ष्म्यान्न दृश्यते। पुष्पाणां मुकुले गन्धो यथा सन्नपि नाप्यते॥
तेषां तदेव तारुण्ये पुष्टत्वाद्व्यक्तिमेति हि। कुसुमानां प्रफुल्लानां गन्धः प्रादुर्भवेद्यथा॥१९४॥

बालकों के अदृश्य शुक्र में कारण—बालकों के भी शुक्र होता है किन्तु सूक्ष्म होने से नहीं दिखाई पड़ता जैसे कि पुष्पों की कच्ची कलियों में गन्ध होते हुए भी उसका घ्राणेन्द्रिय से कुछ भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। बालकों की तरुण अवस्था होने पर वही शुक्र पुष्ट हो जाने से दिखाई पड़ने लगता है, जैसे कि कलियों के खिलने पर पुष्पों का गन्ध मालूम पड़ने लगता है॥ १९३-१९४॥

रोमराज्यादयः पुंसां नारीणामपि यौवने। जायतेऽत्र च यो भेदो ज्ञेयो व्याख्यानतः स च॥

युवा अवस्था में पुरुषों के जैसे स्त्रियों के भी रोमावली आदि उत्पन्न होती हैं; किन्तु स्त्री और पुरुषों के रोमराजी आदि में जो भेद है, उसे निम्न व्याख्यान से जानना चाहिये॥ १९५॥

*व्याख्यानं यथा-पुंसां रोमराजीश्मश्रुप्रभृतयः।
नारीणान्तु रोमराजीस्तनस्तन्यार्त्तवप्रभृतयः॥

व्याख्यान यह है कि पुरुषों के रोमराजी-दाढ़ी, मूछ आदि-हैं और स्त्रियों के रोमराजी-स्तन, दुग्ध, आर्त्तव (रज) आदि-हैं॥ १९५॥

ननु अन्नरसो वृद्धस्य धातुवृद्धिं कथं न करोतीत्याह—

वार्द्धके वर्द्धमानेन वायुना रसशोषणात्। न तथा धातुवृद्धिः स्यात्ततस्तत्रानिलं जयेत्॥१९६॥

वृद्धावस्था में शुक्रवृद्धि का ह्रास—वृद्धा अवस्था में वृद्धि को प्राप्त हुये वायु के द्वारा रस के सूख जाने से युवावस्था की भाँति धातु की वृद्धि नहीं होती इसलिये उस अवस्था में वायु को जीतना चाहिये अर्थात्—जिस प्रकार के आहार-विहार करने से वायु वृद्धि को न प्राप्त होकर शान्त रहे वही करें॥ १९६॥

---

१. अतः परं क्वचित् 'उत्तरत्रे'त्यधिकः पाठोऽपि दृश्यते। २. 'भल्लातः'इति पाठान्तरमसमीचीनम्।

अथ शुक्रस्य स्वरूपमाह—

शुक्रं सौम्यं सितं स्निग्धं बलपुष्टिकरं स्मृतम् । गर्भबीजं वपुःसारो जीवस्याश्रय उत्तमः ॥

शुक्र के स्वरूप—शुक्र सौम्य (सोमात्मक), श्वेतवर्ण, स्निग्ध, बल और पुष्टि करनेवाला, गर्भ का बीज, शरीर का सार पदार्थ और जीवात्मा का उत्तम आश्रय है ॥ १९७ ॥

जीवस्याश्रय उत्तम इत्यत[1] आह—

जीवो वसति सर्वस्मिन्देहे तत्र विशेषतः । वीर्ये रक्ते मले यस्मिन् क्षीणे याति क्षयं क्षणात् ॥

जीव का आश्रय—यद्यपि जीव सम्पूर्ण शरीर में रहता है तथापि सम्पूर्ण शरीर की अपेक्षा विशेष रूप से वीर्य रक्त तथा मल में ही रहता है। क्योंकि इनमें से चाहे जिस किसी के नाश हो जाने पर तत्काल ही जीव का भी नाश हो जाता है ॥ १९८ ॥

अथ गर्भसञ्जननशुक्रस्य लक्षणमाह—

स्फटिकाभं द्रवं स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च । शुक्रमिच्छन्ति केचित्तु तैलक्षौद्रनिभञ्च तत् ॥

गर्भ उत्पन्न करनेवाले शुक्र के लक्षण—गर्भ को उत्पन्न करनेवाला शुक्र स्फटिक मणि के तुल्य निर्मल, द्रव, स्निग्ध, मधुर और शहद के समान गन्धवाला होता है, कोई २ गर्भोत्पादक शुक्र को तैल तथा शहद के सदृश वर्ण का मानते हैं ॥ १९९ ॥

अथ शुक्रस्य स्थानमाह—

यथा पयसि सर्पिस्तु गूढश्चेक्षौ[2] रसो यथा । एवं हि सकले काये शुक्रं तिष्ठति देहिनाम् ॥

शुक्र के स्थान—जिस प्रकार से दूध में घी, इक्षु (ऊख) में रस छिपा रहता है उसी भाँति प्राणियों के सम्पूर्ण शरीर के अन्दर शुक्र भी छिपा रहता है ॥ २०० ॥

***अत्र सर्पिर्दृष्टान्तो बहुशुक्रेऽल्पमथनेन सर्पिःशुक्रयोर्लाभात् । इक्षुरसदृष्टान्तस्तु स्वल्पशुक्रे पुंसि अतिपीडनेनेक्षुरसशुक्रयोर्लाभात् ॥ २०० ॥**

यहाँ पर घृत का दृष्टान्त जिसके शरीर में अधिक शुक्र है उसके विषय में समझना चाहिये, क्योंकि जैसे थोड़ा मथने से ही दुग्ध से घृत निकल आता है वैसे ही थोड़े मैथुन करने से अधिक शुक्रवाले पुरुष का भी शुक्र शरीर से बाहर निकल आता है और जो इक्षु-रस का दृष्टान्त है उसे अल्प शुक्रवाले पुरुष के विषय में समझना चाहिये, क्योंकि जिस प्रकार ईख को अत्यन्त पेरने से उसमें रस निकलता है; उसी प्रकार अधिक मैथुन करने से अल्प शुक्रवाले पुरुष का शुक्र निकलता है ॥ २०० ॥

अथ शुक्रस्य क्षरणमार्गमाह—

द्व्यङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे बस्तिद्वारस्य चाप्यधः । मूत्रस्रोतःपथाच्छुक्रं[3] पुरुषस्य प्रवर्त्तते ॥२०१॥

शुक्र के निकलने के मार्ग—बस्ति द्वार के नीचे भाग में दो अङ्गुल दक्षिण पार्श्व की तरफ मूत्रवाही शिरा के मार्ग से पुरुष का शुक्र प्रवृत्त होता है अर्थात् निकलता है ॥ २०१ ॥

***वृद्धवाग्भटोऽप्याह—'सप्तमी शुक्रधरा द्व्यङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे बस्तिद्वारस्य चाप्यधो मूत्रमार्गमाश्रिता सकलशरीरव्यापिनी शुक्रं प्रवर्त्तयती'ति सप्तमी कला ॥ २२१ ॥**

इसी विषय में 'वृद्ध वाग्भट' भी कहते हैं कि—बस्तिद्वार के नीचे के भाग में दो अङ्गुल दक्षिण पार्श्व की ओर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर रहनेवाली, शुक्रधरा (शुक्र को धारण करनेवाली) जो सातवीं कला मूत्र के मार्ग का आश्रय लेकर स्थित है, वही शुक्र को प्रवृत्त कराती है अर्थात् उसी से शुक्र का क्षरण होता है ॥ २०१ ॥

---

१. 'इत्याहे'ति पाठान्तरम् । २. 'चेक्षो'रिति पाठान्तरम् । ३. 'पथे' इति पाठान्तरम् ।

अथ शुक्रक्षरणकारणमाह—

कृत्स्नदेहस्थितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा । स्त्रीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात्तत् सम्प्रवर्त्तते ॥२०२॥

शुक्र के क्षरण होने में कारण—प्रसन्न मन होकर स्त्री के साथ मैथुन रूप व्यायाम करते हुए पुरुष के हर्ष के वश होने से; सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त शुक्र का क्षरण होता है; अर्थात् मैथुन के समय चित्त की प्रसन्नता तथा हर्ष होना यही शुक्रक्षरण के कारण हैं ॥ २०२ ॥

*स्त्रीषु व्यायच्छतः = स्त्रीसुरतरूपं व्यायामं कुर्वतः ॥ २०२ ॥

'स्त्रीषु व्यायच्छतः' इसका स्त्रीके साथ मैथुनरूप व्यायाम को करते हुए पुरुष के यह अर्थ है ॥

अन्यच्च—

शुक्रं कामेन कामिन्या दर्शनात् स्पर्शनादपि । शब्दसंश्रवणाद् ध्यानात् संयोगाच्च प्रवर्त्तते ॥

कामभाव से स्त्रियों के देखने, स्पर्श करने, शब्द सुनने, ध्यान करने तथा संयोग से शुक्र प्रवृत्त (स्खलित) होता है ॥ २०३ ॥

अथार्त्तवस्य स्वरूपमाह—

*स्त्रीणां रस एव मासेनार्त्तवं भवतीत्युक्त्वा पुनराह सुश्रुत[1] एव—

रसादेव रजः स्त्रीणां मासि मासि त्र्यहं स्रवेत् । तद्वर्षाद् द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥
मासेनोपचितं काले धमनीभ्यस्तदार्त्तवम् । ईषत्कृष्णं विवर्णं च वायुर्योनिमुखं[2] नयेत् ॥

आर्त्तव के स्वरूप—रस से ही स्त्रियों के रज उत्पन्न होकर प्रतिमास में तीन दिन तक निकलता रहता है और वह रज बारह वर्ष की अवस्था के बाद निकलता है और पचास वर्ष की अवस्था के बाद बन्द हो जाता है तथा प्रतिदिन एक मास तक थोड़ा २ करके सञ्चित होता रहता है बाद एक मास के स्राव का समय होने पर वायु उसे धमनियों के द्वारा योनि के मुख की तरफ ले आता है और उस समय वह देखने में कुछ विवर्ण तथा काले रङ्ग का मालूम पड़ता है ॥ २०४-२०५ ॥

गर्भग्रहणयोग्यस्यार्त्तवस्य लक्षणमाह—

शशासृक्प्रतिमं यत्तु यद्वा लाक्षारसोपमम् । तदार्त्तवं प्रशंसन्ति यद्वासो न विरञ्जयेत् ॥

गर्भ ग्रहण के योग्य आर्त्तव—जिस आर्त्तव का वर्ण खरगोश के रक्त के सदृश अथवा लाख के रस के सदृश हो तथा लगने पर जिससे कपड़े में दाग न पड़ सके ऐसे आर्त्तव की पण्डित लोग प्रशंसा करते हैं अर्थात् गर्भ ग्रहण के योग्य बतलाते हैं ॥ २०६ ॥

*आर्त्तवस्य वर्णद्वयाभिधानम् । वातादिप्रकृतिभेदेन वर्णभेदात् । 'यद्वासो न विरञ्जयेत् ।' यद्वासोलग्नं प्रक्षालितं तद्वासस्त्यजति न तु विकृतरक्तं कुर्यात् । ऋतुः = स्त्रीणां रजोदर्शनात् षोडशनिशाः, तत्र भवमार्त्तवम् , गृहीतगर्भाणां स्त्रीणामार्त्तववहानां स्रोतसां गर्भेणावरोधादार्त्तवं न स्रवति । किन्तु तदेवाधःप्रतिहतमूर्ध्वमागतमुपचीयमानमपरा भवति । अपरा तु औवर[3] इति लोके । शेषं चोर्ध्वतरमागतं पयोधरौ याति, तस्माद्गर्भिण्यः पीवरपयोधरा भवन्ति ॥ २०६ ॥

आर्त्तव का वर्ण जो दो प्रकार का कहा है वह वातादि प्रकृति भेद से वर्ण का भेद होने से, क्योंकि वातादि द्वारा वर्ण होता है। मूल में जो 'यद्वासो न विरञ्जयेत्' यह वाक्य है इसका अर्थ यह है कि जो आर्त्तव कपड़े में लगने पर धोने के बाद उस कपड़े को छोड़ देता है न कि विकृत रङ्ग का दाग से युक्त कर देता है। स्त्रियों के रजोदर्शन के दिन से लेकर सोलह रात्रि पर्यन्त जो

---

१. 'शुक्रत' इति पाठान्तरं चिन्त्यम् । २. 'योनेरि'ति पाठान्तरम् ।
३. 'आवरणा जरायू'रिति पाठान्तरम् ।

काल है उसे ऋतुकाल कहते हैं, उस ऋतुकाल में जो रज और रक्त निकलता है उसी को 'आर्त्तव' कहते हैं। गर्भवती स्त्रियों के आर्त्तव वहन करने वाली नाड़ियों का गर्भ के द्वारा अवरोध (रुकावट) होने से आर्त्तव बाहर नहीं निकलता किन्तु वही आर्त्तव नीचे से (गर्भ के द्वारा) रोके जाने पर ऊपर आकर इकट्ठा होता हुआ कुछ अंशों से अपरा अर्थात् जेर बन जाता है। इसी को लोक में 'ओवर' भी कहते हैं। और बाकी कुछ अंशों से जेर बननेके बाद वहाँ से ऊपर आकर दोनों स्तनों में जाता है, इसी से गर्भिणी स्त्रियाँ मोटे स्तनों वाली हो जाती हैं ॥ २०६ ॥

अथ धातुष्वतिरिक्तान् गुणानाह—

अतिरिक्ता गुणा रक्ते वह्नेर्मांसे तु पार्थिवाः। मेदस्यपां [1]भुवश्चास्थ्नि पृथिव्यनिलतेजसाम् ॥ मज्ज्ञि शुक्रे च सोमस्य मूत्रे च शिखिनो गुणाः। भुवस्तथाऽऽर्त्तवे स्वग्ने रसे क्षीरे तथाऽम्भसः ॥

धातुगुण—वर्णन—रक्त में अग्नि के, मांस में पृथ्वी के, मेद में पृथ्वी और जल के, अस्थि में पृथ्वी, वायु और अग्नि के, मज्जा और शुक्र में चन्द्र के, मूत्र में अग्नि के, आर्त्तव में पृथ्वी तथा अग्नि के और रस तथा दूध में जल के गुण अधिक हैं ॥ २०७-२०८ ॥

अथ धातूनां मलानाह—

कफः पित्तं मलः खेषु प्रस्वेदो नखलोम च। नेत्रविट्त्वक्षु[2] च स्नेहो धातूनां क्रमशो मलाः ॥

धातुओं के मल—कफ, पित्त, ख अर्थात् कर्णादिक स्रोतों के मल, पसीना, नख, लोम तथा नेत्र का मल तथा त्वचाओं के ऊपर के स्नेह, ये सब क्रम से रसादिक छै धातुओं के मल हैं ॥ २०९ ॥

***'नेत्रजिह्वाकपोलानां जलञ्च रसजं मलम्' इत्येके। खेषु मलः = कर्णादिस्रोतःसु मलः, 'रसनादन्तकक्षामेढ्रादिमलमपि मेदोमलम्' इत्येके। नेत्रविट्त्वचां स्नेहश्च मज्जमलः, शुक्रस्य मलमेव नास्ति सहस्रधा ध्मातसुवर्णस्येव ॥ २०९ ॥**

यहाँ कोई 'नेत्र, जिह्वा और कपोल के जल को रस का मल' बतलाते हैं। और 'खेषु मलः' इसका अर्थ 'कर्णादिक स्रोतों में स्थित मल' तथा कोई 'जिह्वा, दाँत, कक्षा (बगल), तथा लिङ्ग आदि के मल को भी मेद का मल' मानते हैं एवं नेत्रों के मल तथा त्वचाओं के ऊपर के स्नेह को मज्जा का मल तथा हजार बार तपाये हुये सुवर्ण में जैसे मल नहीं होता वैसे ही शुक्र में भी मल नहीं होता, ऐसा समझना चाहिये ॥ २०९ ॥

अथोपधातूनाह—

वनितानां प्रसूतानां धमनीभ्यां स्तनौ गतात्। रसादेव हि जायेत स्तन्यं स्तनयुगाश्रयम् ॥ शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्त्तिता। मेदसस्ताप्यमानस्य[3] स्नेहो वा कथिता वसा ॥

उपधातु का लक्षण—प्रसूता स्त्रियों के दोनों स्तनों में दो धमनियों के द्वारा प्राप्त हुये रस से ही दूध होता है और उसके आश्रय दोनों स्तन हैं अर्थात् वह दूध दोनों स्तनों में रहता है। और शुद्ध मांस का जो स्नेह होता है वह 'वसा' कहलाती है। अथवा तपाये जाते हुये मेद का जो स्नेह होता है वह 'वसा' कहलाती है ॥ २१०-२११ ॥

शार्ङ्गधरे तु—

स्तन्यं रजो वसा स्वेदो दन्ताः केशास्तथैव च। ओजश्च सप्तधातूनां क्रमात् सप्तोपधातवः ॥

'शार्ङ्गधर' में दूध, रज, वसा, पसीना, दाँत, केश और ओज, ये रसादिक सात धातुओं के क्रम से सात उपधातु हैं ॥ २१२ ॥

---

१. 'रसे' इति पाठान्तरं चिन्त्यम्। २. 'च त्वचः' इति पाठान्तरम्।
३. 'स्रवमाणस्ये'ति पाठान्तरम्।

अथाशयानाह—

उरोरक्ताशयस्तस्मादधः श्लेष्माशयः स्मृतः । आमाशयस्तु तदधस्तल्लिङ्गं चरकोऽवदत् ॥

आशय के लक्षण—वक्षःस्थल ही रक्ताशय है, उसके नीचे श्लेष्माशय (कफाशय) और उस के नीचे आमाशय है, ऐसा चरकने कहा है ॥ २१३ ॥

तद्यथा—*'नाभिस्तनान्तरं जन्तोराहुरामाशयं बुधाः' इति ॥ २१३ ॥

'नाभि और स्तन के बीच के भाग को पण्डितों ने आमाशय बतलाया है' ॥ २१३ ॥

आमाशयादधः पक्वाशयादूर्ध्वन्तु या कला । ग्रहणी नामिका सैव कथितः पाचकाशयः ॥
ऊर्ध्वमग्न्याशयो नाभेर्मध्यभागे व्यवस्थितः । तस्योपरि तिलं ज्ञेयं तदधः पवनाशयः ॥
पक्वाशयस्तु तदधः स एव तु मलाशयः । तदधः कथितो बस्तिः स हि मूत्राशयो मतः ॥

आमाशय के नीचे तथा पक्वाशय के ऊपर जो 'कला' है उसीका नाम 'ग्रहणी' है और वही 'पाचकाशय' कहलाता है । नाभि के मध्य में ऊपर की ओर 'अग्न्याशय' है और उसके ऊपर तिल (पाचकाग्नि) और नीचे 'पवनाशय' है । पुनः उसके नीचे पक्वाशय जो 'मलाशय' नाम से भी प्रसिद्ध है और उसके नीचे 'बस्ति' है जो 'मूत्राशय' कहलाता है ॥ २१४–२१६ ॥

आशयानुक्रमस्तु वाग्भटेनोक्तः स यथा—

कफाऽऽमपित्तवातानामाशया मलमूत्रयोः । पुरुषेभ्योऽधिकाश्चान्ये नारीणामाशयास्त्रयः ॥
धरा गर्भाशयः प्रोक्तः पित्तपक्वाशयान्तरे । स्तनौ प्रवृद्धौ तावेव बुधैः स्तन्याशयौ मतौ ॥

वाग्भटोक्त आशयों का क्रम—कफाशय, आमाशय, पित्ताशय, पवनाशय, मलाशय और मूत्राशय ये पुरुषों के क्रम से आशय हैं । स्त्रियों के इससे भिन्न अन्य तीन आशय अधिक होते हैं, जैसे—पित्ताशय और पक्वाशय के मध्य में 'धरा' है जिसे पण्डितोंने गर्भाशय और स्तनोंके वृद्ध होने पर उन्हीं को 'स्तन्याशय' कहा है ॥ २१७–२१८ ॥

अथ कलास्वरूपमाह—

स्नायुभिश्च प्रतिच्छन्नान् सन्ततांश्च जरायुणा । श्लेष्मणा वेष्टितांश्चापि कलाभागांस्तु तान्विदुः ॥
धात्वाशयान्तरे धातोर्यः क्लेदस्त्वभितिष्ठति । देहोष्मणाऽभिपक्वश्च सा कलेत्यभिधीयते ॥

कलाओं के स्वरूप—स्नायुओं से ढके हुये, जरायुओं से व्याप्त तथा कफ से वेष्टित धात्वाशयों के जो भाग हैं उन्हीं को कलाभाग समझना चाहिये । धात्वाशयों के मध्य में धातुओं का जो क्लेद (गीला) भाग है वह देह की ऊष्मा गर्मी से जब अत्यन्त परिपक्व हो जाता है तब उसे ही पण्डित लोग 'कला' कहते हैं ॥ २१९–२२० ॥

ताः सप्त—

आद्या मांसधरा प्रोक्ता द्वितीया रक्तधारिणी । मेदोधरा तृतीया तु चतुर्थी श्लेष्मधारिणी ॥
पञ्चमी तु मलं धत्ते षष्ठी पित्तधरा मता । रेतोधरा सप्तमी स्यादिति सप्त कलाः स्मृताः ॥

वे कलायें संख्या में सात हैं, जैसे—१ मांसधरा, २ रक्तधारिणी (रक्तधरा), ३ मेदोधरा, ४ श्लेष्मधारिणी (श्लेमधरा), ५ मल को धारण करनेवाली मलधरा, ६ पित्तधरा और ७ शुक्रधरा।

अथ मर्माण्याह—

सन्निपातः शिरास्नायुसन्धिमांसास्थिसम्भवः । मर्माणि तेषु तिष्ठन्ति प्राणाः खलु विशेषतः ॥

मर्मस्थल के लक्षण—शिरा, स्नायु, सन्धि, मांस और अस्थि इन सबों में से जो जहां जहां परस्पर संयुक्त होते हैं वे ही मर्मस्थल कहलाते हैं, अर्थात् एक शिरा के साथ दूसरी शिराके, एक स्नायु के साथ अन्य स्नायु के, एक सन्धि के साथ दूसरे सन्धि के, एक मांस के साथ दूसरे मांस के

और एक अस्थि के साथ दूसरे अस्थि के संयोगस्थल को मर्मस्थल कहते हैं। इन्हीं मर्मस्थलों में विशेष करके प्राण रहते हैं ॥ २२३ ॥

तेषां सङ्ख्याः स्थानं चाह—

सप्तोत्तरशतं सन्ति देहे मर्माणि देहिनाम्। तान्येकादश मांसे स्युरष्टावस्थिषु सन्ति हि ॥
सन्धीनां विंशतिस्तानि स्नायूनां सप्तविंशतिः। चत्वारिंशत्तथैकञ्च शिरामर्माणि तत्र तु ॥
द्वाविंशतिः सक्थियुगे तावन्त्येव [1]भुजद्वये। द्वादशोरसि कुक्षौ च पृष्ठदेशे चतुर्दश ॥२२६॥
ग्रीवायामूर्ध्वभागे तु सप्तत्रिंशन्मतानि हि। मर्माणि तानि सन्तीह पञ्चधा च भवन्ति हि ॥

मर्मों की संख्या तथा स्थान—मनुष्यों के शरीर में १०७ मर्मस्थल हैं। यथा—मांस में ११, अस्थि में ८, सन्धियों में २०, स्नायुओं में २७, शिराओं में ४१, दोनों पैरों में २२, दोनों बाहुओं में २२, वक्षः स्थल में ९, कुक्षि में ३, पीठ में १४ और ग्रीवा तथा ऊर्ध्वभाग में ३७ मर्म हैं तथा वे मर्म पांच प्रकार के होते हैं ॥ २२४–२२७ ॥

तान्याह—

सद्यःप्राणहराणि स्युर्मर्माण्येकोनविंशतिः। मर्मदेशास्त्रयस्त्रिंशत् स्युः कालान्तरमारकाः ॥
चत्वारिंशच्च चत्वारि वैकल्यं जनयन्ति हि। मर्माष्टकं रुजाकारि विशल्यघ्नं त्रिकं मतम् ॥

मर्मों के कार्य—१०७ मर्मों में से १९ मर्मस्थल तत्काल प्राण के हरण करनेवाले, ३३ कालान्तर में मारनेवाले, ४४ विकलता करनेवाले, ८ पीडा करनेवाले तथा ३ विशल्यघ्न मर्मस्थल हैं (जिस मर्मस्थल से बाण आदि निकाल लेने पर मृत्यु हो जाती है किन्तु मर्मस्थल में शल्य जितने क्षण रहता है उतने क्षण मृत्यु नहीं होती, उसे 'विशल्यघ्न' मर्मस्थल कहते हैं) इस प्रकार सद्यःप्राणहर १, कालान्तरमारक २, वैकल्यकर ३, रुजाकर ४ और विशल्यघ्न ५, ये पांच प्रकार के मर्मस्थल हुये ॥

तत्र सद्योमारकाणि मर्माण्याह—

शृङ्गाटकान्यधिपतिः शङ्खौ कण्ठशिरा गुदम्। हृदयं बस्तिनाभी च सद्यो घ्नन्ति हतानि चेत् ॥

उनमें से सद्यःप्राण हरण करनेवाले मर्मस्थल—शृङ्गाटक के ४, अधिपति के १, शङ्ख के २, कण्ठ की शिरा के ८, गुदा के १, हृदय के १, बस्ति के १, और नाभि के १, इन सब मर्मस्थलों में चोट लगने से शीघ्र प्राण नाश हो जाता है ॥ २३० ॥

❀शृङ्गाटकानि—घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वासन्तर्पणानां शिरामुखानां शिरसो मध्ये संयोगस्थानम्, तानि चत्वारि शिरामर्माणि चतुरङ्गुलप्रमाणानि हतानि घ्नन्ति=सद्योमारकाणि भवन्ति।

शृङ्गाटक मर्म—मस्तक के मध्य में जिन ४ स्थानों में नाक, कर्ण, नेत्र और जिह्वा का सन्तर्पण करनेवाली शिराओं का मुख एकत्र मिलता है, उन्हीं चारों स्थानों को शृङ्गाटक मर्म कहते हैं। ये शिरासम्बन्धी मर्म ४ अङ्गुल प्रमाण के ४ हैं। चोट लगने पर ये सद्यः प्राणों के हरण करनेवाले होते हैं।

❀अधिपतिः—मस्तकस्याभ्यन्तरे [2]शिरासन्धिसन्निपात उपरिष्टाद्रोमावर्त्तः, स एकः, सन्धिमर्मैतदर्धाङ्गुलप्रमाणं सद्योमारकम्।

अधिपति मर्म—मस्तक के भीतर शिरा सम्बन्धी सन्धियों का जो संयोग स्थान है उसके ऊपर बाहर रोमावर्त्त (भौरी) है, उसी को अधिपति मर्म कहते हैं। यह सन्धिसम्बन्धी मर्म एक है, इसका प्रमाण आधा अङ्गुल है, चोट लगने पर यह सद्यः प्राण का हरण करनेवाला होता है।

❀शङ्खः—भ्रुवोरन्तोपरि कर्णललाटयोर्मध्ये[3] तौ द्वौ, अस्थिमर्मणी सार्द्धाङ्गुले सद्योमारके।

---

१. 'तावन्त्येवे'ति पाठान्तरं चिन्त्यम्। २. सन्धिशिरसोरि'ति पाठान्तरं प्रामादिकम्।
३. 'कर्णललाटमध्य' इति पाठान्तरम्।

दोनों भौहों प्रान्तभाग के ऊपर कर्ण और ललाट के मध्य में दो शङ्ख नामक मर्म हैं, ये दोनों अस्थिसम्बन्धी मर्म १॥ अङ्गुल प्रमाण हैं । चोट लगने पर यह सद्यः प्राणनाशक होता है ।

***कण्ठशिराः, शिरा मातृकाः—ग्रीवाया[1] उभयपार्श्वयोश्चतस्रश्चतस्रः शिरास्ता अष्टौ शिरामर्माणि चतुरङ्गुलानि सद्योमारकाणि ।**

कण्ठशिरा या शिरामातृका मर्म—ग्रीवा के दोनों बगल में ४-४ शिरायें मिलकर ८ होते हैं । ये शिरासम्बन्धी मर्म ४ अङ्गुल प्रमाण हैं । चोट लगने पर सद्यः प्राणनाशक होते हैं ।

***गुदमर्म[2]—गुदःप्रसिद्धम् । एकम्मांसमर्मं चतुरङ्गुलं सद्योमारकम् ।**

गुदमर्म—गुदा नाम से प्रसिद्ध एक मांससम्बन्धी गुदमर्म ४ अङ्गुल प्रमाण का होता है । चोट लगने पर यह सद्यः प्राणनाशक है ।

***हृदयम्—स्तनयोर्मध्यमधिष्ठायोरस्यामाशयद्वारं सत्त्वरजस्तमसामधिष्ठानं हृदयं नामैकं शिरामर्मेदं चतुरङ्गुलं सद्योमारकम् ।**

हृदय मर्म—दोनों स्तनों के मध्य वक्षःस्थल में आमाशय का द्वार जो सत्व, रज और तम इन तीन गुणों का आश्रय स्थान है, वही हृदय नाम से प्रसिद्ध एक शिरासम्बन्धी मर्म ४ अङ्गुल प्रमाण का है । चोट लगने पर वह भी सद्यः प्राणनाशक है ।

*बस्तिमर्म—

बस्तिर्नाभिः पृष्ठकटी गुदवंक्षणशेफसाम् । मध्ये बस्तिस्तनुत्वक् च एकद्वारो ह्यधोमुखः ॥४१॥

बस्तिमर्म—नाभि, पीठ, कटि, गुदा, वंक्षण (ऊरुसन्धि) और लिङ्ग इन सब के मध्य में बस्ति है । बस्ति का चमड़ा पतला होता है तथा इसका एक द्वार होता है और मुख नीचे की ओर रहता है॥

***स्नायुमर्मेदश्चतुरङ्गुलं सद्योमारकम् ।**

स्नायुसम्बन्धी मर्म ४ अङ्गुल प्रमाण का होता है, चोट लगने पर यह सद्यः प्राणनाशक है ।

***नाभिमर्म—नाभिः प्रसिद्धा, शिरामर्मेदश्चतुरङ्गुलं सद्योमारकम् ॥ २३० ॥**

नाभिमर्म—यह नाभि नाम से प्रसिद्ध है । शिरासम्बन्धी यह मर्म ४ अङ्गुल प्रमाण में होता है, चोट लगने पर यह सद्यः प्राणनाशक है ॥ २३० ॥

कालान्तरहराणि मर्माण्याह—

वक्षोमर्माणि सीमन्ततलक्षिप्रेन्द्रबस्तयः ।
बृहत्यौ पार्श्वयोः सन्धी कटीकतरुणे च ये । नितम्बाविति चैतानि कालान्तरहराणि तु ॥२३१॥

कालान्तर (देर) में प्राणहरण करनेवाले मर्म—वक्षो मर्म ८, सीमन्त ५, तल ४, क्षिप्र ४, इन्द्रबस्ति ४, बृहती २, पसलियों की सन्धि २, कटीकतरुण २, नितम्ब २, इन सब मर्मस्थलों में चोट लगने पर कालान्तर में प्राणनाश होता है ॥ २३१ ॥

*वक्षोमर्माणि—

(स्तनमूल[3] स्तनरोहितापलापापस्तम्भाः । तत्र स्तनमूले—) स्तनयोरधस्ताद् द्व्यङ्गुलं यावत् स्तनमूले नाम द्वे शिरामर्मणी, तत्र कफपूर्णकोष्ठतया कालान्तरमारके ।

वक्षोमर्म—स्तनमूल २, स्तनरोहित २, अपलाप २, और अपस्तम्भ नामक २ मर्म, इस प्रकार ये ८ वक्षोमर्म हैं, उन में से दोनों स्तनों के नीचे दो दो अङ्गुल परिमित स्थान में स्तनमूल

---

१. 'ग्रीवाभि'ति पाठान्तरम् । २. 'गुदमर्मे' पाठः क्वाचित्कः ।
३. अयं कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः ।

नामक दो मर्म हैं, वे शिरा सम्बन्धी मर्म हैं, वहां चोट लगने पर कफ से पूर्ण कोष्ठ हो जाने से वे कालान्तर में प्राणनाश होता है।

स्तनरोहिते—स्तनयोरुपरि द्व्यङ्गुलं यावत्। द्वे मांसमर्मणी रक्तपूरितकोष्ठतया कालान्तरमारके[1]।

स्तनरोहित मर्म—दोनों स्तनों के ऊपर दो दो अङ्गुल परिमित स्थान में स्तनरोहित नामक ये मांस सम्बन्धी २ मर्म हैं, इन में चोट लगने पर रक्त से पूर्ण कोष्ठ हो जाने से कालान्तर में प्राण के हरण करनेवाले होते हैं।

अपलापौ—अंसकूटयोरधस्तात् पार्श्वयोरुपरि द्वे[2] शिरामर्मणी। अर्द्धाङ्गुले रक्तेन पूयताङ्गतेन कालान्तरमारके[3]।

अपलाप मर्म—दोनों ओर के अंसकूटों (कन्धे के ऊपर की उभरी हुई हड्डी) के नीचे एवं दोनों ओर पंसुलियों के ऊपर आधा अंगुल परिमित अपलाप नामक दो शिरासम्बन्धी मर्म हैं, इन में चोट लगने पर वहां के रक्त पूय (पीव) हो जाने से ये कालान्तर में मारक होते हैं।

अपस्तम्भौ—उरस उभयतो[4] नाड्यौ वातवहे शिरामर्मणी। अर्द्धाङ्गुले वातपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां च कालान्तरमारके।

अपस्तम्भ मर्म— वक्षःस्थलके दोनों पार्श्व (बगल) में वायु को वहन करनेवाली दोनों नाडियों में आधे अंगुल परिमित अपस्तम्भ नामक दो शिरासम्बन्धी मर्म हैं। इन में चोट लगने पर वात से पूर्ण कोष्ठ हो जाने से कास और श्वास उत्पन्न करके ये कालान्तर में प्राणनाशक होते हैं।

सीमन्ताः—शिरसि पञ्च सन्धयः सन्धिमर्माणि चतुरङ्गुलानि, उन्मादभयचित्तविनाशैः कालान्तरमारकाणि[5]।

सीमन्त मर्म—मस्तक में जो पांच सन्धियाँ हैं वे ही सीमन्तनामक मर्म हैं ये सन्धिसम्बन्धी पांच मर्म चार अङ्गुल परिमित हैं, इनमें चोट लगने पर उन्माद (पागलपन), भय और चित्त का विनाश, इन सब उपद्रवों के द्वारा ये कालान्तर से प्राणनाशक होते हैं।

तलानि—मध्याङ्गुलिमनुक्रम्य हस्तस्य मध्यन्तलमेवमपरस्य हस्तस्य, पादयोश्चैवं[6] चत्वारि तलानि मांसमर्माणि द्व्यङ्गुलानि रुजाभिः कालान्तरमारकाणि।

तलमर्म—दोनों हाथ पैर की बीचवाली अङ्गुली के सीध से लेकर हथेली तथा तलुओं के मध्य में दो अङ्गुल परिमित जो स्थान हैं वे ही तल नामक मर्म हैं, दोनों हथेलियों में दो और दोनों पैर के तलुओं में दो, इस प्रकार सब चार तल मर्म हैं। ये सब मांस सम्बन्धी मर्म हैं, इन में चोट लगने पर पीड़ा पहुँचने से ये कालान्तर में प्राणनाशक हो जाते हैं।

क्षिप्राणि—अङ्गुष्ठाङ्गुल्योर्मध्यं क्षिप्रम्। तच्च[7] हस्तयोर्द्वे पादयोर्द्वे चैवं चत्वारि स्नायुमर्माण्यर्द्धाङ्गुलान्याक्षेपकेण कालान्तरमारकाणि।

क्षिप्रमर्म—अङ्गुष्ठ और तर्जनी अङ्गुली के मध्य में क्षिप्रनामक मर्म हैं, वे दोनों हाथों में दो और दोनों पैरों में दो होने से कुल मिल कर चार क्षिप्र मर्म हैं, ये स्नायुसम्बन्धी मर्म हैं, तथा आधे अङ्गुल परिमित हैं, इन में चोट लगने पर आक्षेपक नामक वायु सम्बन्धी रोग के द्वारा ये कालान्तर में मारक होते हैं।

इन्द्रबस्तयः—प्रकोष्ठयोर्मध्ये द्वौ जङ्घयोर्मध्ये द्वौ। एवं चत्वारि मांसमर्माणि द्व्यङ्गुलानि शोणितक्षयेण कालान्तरमारकाणि[8]।

---

१. 'मारकावि'ति पा०। २. 'द्वावि'ति पा०। ३. 'मारकावि'ति पा०। ४. 'उभयोरि'ति पा०। ५. 'मारका' इति पा०। ६. 'चैवमि'ति पा०। ७. 'तानि चे'ति पा०। ८. 'मारका' इति पा०।

इन्द्रबस्ति मर्म—दोनों प्रकोष्ठों (कलाई से ऊपर केहुनी के नीचे के भागों) के मध्य में दो और दोनों जङ्घाओं (जानु से नीचे और एड़ी से ऊपर के भागों) के मध्य में दो, सब मिल कर चार और दो अङ्गुल परिमित मांससम्बन्धी इन्द्रबस्ति मर्म हैं। इनमें चोट लगने पर रक्त का क्षय होने से कालान्तर में ये प्राणनाशक होते हैं।

***बृहत्यौ—स्तनमूलादुभयतः पृष्ठवंशं यावत्। शिरामर्मणो अर्द्धाङ्गुले[1] शोणितातिप्रवृत्तिनिमित्तरुपद्रवैः कालान्तरमारके[2]।**

बृहती मर्म—दोनों स्तनों के मूल भाग से लेकर पृष्ठवंश (पीठ की डण्डे के समान हड्डी) तक जो स्थान हैं, उनमें आधे अङ्गुल परिमित बृहती नामक शिरासम्बन्धी दो मर्म हैं। इनमें चोट लगने पर अत्यन्त रक्त निकलने से जो उपद्रव होते हैं उनके द्वारा ये कालान्तर में प्राणनाशक होते हैं।

***पार्श्वसन्धी—जघनपार्श्वयोः सन्धी[3] शिरामर्मणी अर्द्धाङ्गुले[4] शोणितपूर्णकोष्ठतया कालान्तरमारके[5]।**

पार्श्वसन्धि मर्म—जघन और दोनों पार्श्वभाग (कांख के नीचे का हिस्सा कमरतक) की जो दो सन्धियाँ हैं उन्हीं को पार्श्व सन्धिनामक मर्म कहते हैं, ये आधे अङ्गुल परिमित शिरासम्बन्धी मर्म हैं। इनमें चोट लगने पर रक्त से पूर्ण कोष्ठ हो जाने से कालान्तर में ये प्राणनाशक होते हैं।

***कटीकतरुणे—त्रिकसन्निधाने उभयतः श्रोणिकाण्डं[6] लक्ष्यीकृत्यास्थिस्थिते अस्थिमर्मणी अर्द्धाङ्गुले शोणितक्षयात्पाण्डुविवर्णरूपं कृत्वा कालान्तरमारके।**

कटीकतरुण मर्म—त्रिक (पृष्ठवंश के नीचे की तीन हड्डी) के पास दोनों ओर दोनों श्रोणिकाण्डों को लक्ष्य करके जो दो हड्डियां हैं, उन्हीं में आधे अङ्गुल परिमित दो कटीकतरुण नामक अस्थिसम्बन्धी मर्म हैं, इनमें चोट लगाने पर रक्त का क्षय होने से पाण्डु तथा विवर्ण रूप करके ये कालान्तर में प्राणनाशक होते हैं।

***नितम्बौ-प्रसिद्धौ। द्वे[7] अस्थिमर्मणी अर्द्धाङ्गुलावधः कायशोषेण दौर्बल्येन च कालान्तरमारके[8] ॥ २३१ ॥**

नितम्बमर्म—नितम्ब नाम से प्रसिद्ध जो स्थान है, उसके दोनों भागों में आधे अङ्गुल परिमित दो अस्थिसम्बन्धी मर्म हैं, इनमें चोट लगने पर शरीर के नीचे भाग में शोष होने से तथा दुर्बलता होने से ये कालान्तर में प्राणनाशक होते हैं ॥ २३१ ॥

वैकल्यकराणि मर्माण्याह—।

लोहिताक्षाणिजानूर्वी[9] कूर्चा विटपकूर्पराः। कुकुन्दरे कक्षधरे विधुरे सकृकाटिके ॥२३२॥
अंसांसफलकापाङ्गा[10] नीले मन्ये फणे तथा। वैकल्यकरणान्याहुरावर्त्तौ द्वौ तथैव च ॥२३३॥

विकलता करनेवाले मर्मस्थल—लोहिताक्ष चार, आणि चार, जानु दो, ऊर्वी चार, कूर्च चार, विटप दो, कूर्पर दो, कुकुन्दर दो, कक्षधर दो, विधुर दो, कृकाटिका दो, अंस दो, अंसफलक दो, अपाङ्ग दो, नीला दो, मन्या दो, फण दो, और आवर्त्त दो, ये सब मर्मस्थल चोट लगने पर अङ्ग में विकलता उत्पन्न करनेवाले होते हैं ॥ २३२–२३३ ॥

***लोहिताक्षाणि—ऊर्व्या[11] ऊर्ध्वमधो वङ्क्षणसन्धेर्लोहिताक्षम्, ते च द्वे बाह्वोर्द्वे ऊर्वो-**

---

१. 'अर्द्धाङ्गुलावृत्ते' इति पा०। २. 'मारकाणी'तिपा०। ३. 'सन्धी प्रतो'ति पा०। ४. 'अर्द्धाङ्गुला'-विति पा०। ५. 'मारका' विति पा०। ६. 'लक्ष्मी'ति पा०। ७. 'द्वावि'ति पा०। ८. 'मारकावि'ति पा०। ९. 'जानूर्वोरि'ति पा०। १०. 'असांसफलकापाङ्गावि'ति पाठान्तरं प्रामादिकम्। ११. 'ऊर्वोरि'ति पा०।

रेवं तानि चत्वारि शिराममाण्यर्द्धाङ्गुलानि । वैकल्यकराणि । तत्र शोणितक्षयेण पक्षाघातः सक्थिसादो वा ।

लोहिताक्ष मर्म—ऊर्वी नामक मर्म के ऊपर और वंक्षण नामक सन्धि के नीचे लोहिताक्ष नामक मर्म रहता है, वे दोनों बाहुओं में दो तथा दोनों ऊरुओं में दो इस प्रकार कुल चार हैं, ये आधे अङ्गुल परिमित शिरासम्बन्धी मर्म कहलाते हैं, चोट लगने पर ये विकलता करनेवाले होते हैं। इन मर्मस्थलों में चोट लगने पर जब रुधिर का क्षय होता है तब पक्षाघात (वायु सम्बन्धी रोग) अथवा सन्थिसाद होता है।

*आणयः—जानुन ऊर्ध्वमुभयोः पार्श्वयोस्त्र्यङ्गुला एकस्मिन् जानुनि द्वे अपरस्मिन् द्वे एवञ्चतस्रः, स्नायुमर्माण्यर्द्धाङ्गुलानि वैकल्यकराणि, तत्र शोथाभिवृद्धिः सक्थिस्तम्भश्च ।

आणिमर्म—जानुओं के ऊपर दोनों ओर तीन अङ्गुल परिमिति जो स्थान है उसी को आणिमर्म कहते हैं। पैर में एक जानु के ऊपर दो और दूसरे पैर में जानु के ऊपर दो, इस प्रकार मिल कर चार आणिमर्म हैं। आधे अङ्गुल परिमित ये स्नायु सम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले हैं, इन मर्मों में चोट लगने पर शोथ की अधिकता तथा सक्थिस्तम्भ रोग होता है।

*जानुनी—जङ्घोर्वोः[1] सन्धी सन्धिमर्मणी द्व्यङ्गुले वैकल्यकरे तत्र खञ्जता ।

जानुमर्म—जङ्घा और ऊरु की जो दो सन्धियाँ हैं वे ही जानु नामक मर्म कहलाती हैं, ये दो अङ्गुल परिमित सन्धिसम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले हैं, इनमें चोट लगने पर खञ्जता (लङ्गड़ापन) रोग हो जाता है।

*[2]ऊर्व्यः—द्वे ऊर्वोर्मध्ये द्वे प्रगण्डयोर्मध्ये एवं चतस्रः, शिरामर्माणि एकाङ्गुल्यो वैकल्यकारिण्यस्तत्र[3] शोणितक्षयात्सक्थिबाह्वोः[4] शोषः ।

ऊर्वी मर्म—दोनों ऊरुओं के मध्य में दो और दोनों बाहुओं के मध्य में दो इस प्रकार मिल कर चार ऊर्वी मर्म हैं, ये एक अङ्गुल परिमित शिरा सम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले होते हैं, इनमें चोट लगने पर रक्तक्षय होने से सक्थि शोष (पैर का सूखना) और बाहुशोष (बाहु का सूखना) रोग हो जाता है।

*कूर्चाः—पादयोरङ्गुष्ठाङ्गुल्योर्मध्ये तयोरूर्ध्वमधश्च, [5]एवं चत्वारि स्नायुमर्माणि वैकल्यकराणि, तत्र पादयोर्भ्रमणवेपने भवतः ।

कूर्च मर्म—दोनों पैरों के अंगूठे और अङ्गुलियों के मध्य में ऊपर और नीचे दो दो करके कूर्चनामक चार स्नायु सम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले हैं, इनमें चोट लगने पर पैर का भ्रमण (घूमजाना) तथा कम्पन (काँपना) होता है।

*विटपे—द्वे वङ्क्षणवृषणयोर्मध्ये स्नायुमर्मणी एकाङ्गुले वैकल्यकरे च तत्र षाण्ढ्यमल्पशुक्रता वा ।

विटपमर्म—वङ्क्षण और अण्डकोश के मध्य में विटप नामक दो मर्म हैं, ये दोनों एक अङ्गुल परिमित स्नायुसम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले होते हैं, इनमें चोट लगने पर नपुंसकता अथवा शुक्र की अल्पता हो जाती है।

*कूर्परौ—कफोणिजौ द्वौ सन्धिमर्मणी द्व्यङ्गुलौ वैकल्यकरौ तत्र बाहुमध्ये सङ्कोचः ।

---

१. 'जङ्घयो'रिति पा० । २. 'ऊर्वोरि'ति पा० । ३. वैकल्पकर्य' इति पा० । ४. 'सक्थिशोष' इति पा० । ५. 'हस्तयोरधश्चे'ति पाठान्तरं चिन्त्यम् ।

कूर्परमर्म—दोनों कफोणि (केहुनी) कूर्परनामक मर्म कहलाते हैं, ये दोनों दो अङ्गुल परिमित सन्धिसम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले होते हैं, इनमें चोट लगने पर बाहु के मध्य में सङ्कोच होता है।

ॐकुकुन्दरे—नितम्बकूपकौ[1] द्वे[2] सन्धिमर्मणी अर्द्धाङ्गुले वैकल्यकरे, तत्र स्पर्शाज्ञानमधः-कायस्य चेष्टोपघातश्च।

कुकुन्दर मर्म—दोनों नितम्बों के ऊपर जो दो गड्ढे से हैं, वे ही कुकुन्दर नामक मर्म कहलाते हैं। ये आधे अङ्गुल परिमित सन्धिसम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले होते हैं। इनमें चोट लगने पर स्पर्शज्ञान का अभाव (सुन्न हो जाना) तथा शरीर के नीचे भाग की चेष्टाओं का नाश हो जाता है।

ॐकक्षधरे—वक्षःकक्षयोर्मध्ये द्वे स्नायुमर्मणी एकाङ्गुले वैकल्यकरे, तत्र पक्षाघातः।

कक्षधर मर्म—वक्षःस्थल तथा कक्ष (काँख) के मध्य में दोनों ओर दो कक्षधर नामक मर्म हैं, ये दोनों एक अङ्गुल परिमित स्नायुसम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले होते हैं, इनमें चोट लगने पर पक्षाघात होता है।

ॐविधुरे—कर्णपृष्ठतोऽधःसंश्रिते[3] किञ्चिन्निम्नाकारे द्वे स्नायुमर्मणी अर्द्धाङ्गुले वैकल्यकरे, तत्र बाधिर्यम्।

विधुरमर्म—दोनों कानों के पीछे नीचे के भाग में कुछ दबे हुये जो स्थान हैं उन्हीं स्थानों में विधुर नामक मर्म होता है, ये दोनों आधे अङ्गुल परिमित स्नायुसम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले होते हैं। इनमें चोट लगने पर बाधिर्य (बहरापन) रोग हो जाता है।

ॐकृकाटिके-शिरोग्रीवयोरुभयतः सन्धी द्वे सन्धिमर्मणी अर्द्धाङ्गुले वैकल्यकरे तत्र शिरःकम्पः।

कृकाटिका मर्म—शिर और ग्रीवा के दोनों भाग में जो दो सन्धियां हैं, वे ही कृकाटिका नामक मर्म हैं, ये आधे अङ्गुल परिमित सन्धिसम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले हैं, इनमें चोट लगने पर शिरःकम्प रोग होता है।

ॐअंसौ-स्कन्धौ स्नायुमर्मणी अर्द्धाङ्गुले वैकल्यकरे तत्र बाहुस्तम्भः।

अंसमर्म—दोनों अंस (कन्धे) ही अंस नामक मर्म कहलाते हैं, ये आधे अङ्गुल परिमित स्नायुसम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले हैं, इनमें चोट लगने पर बाहुस्तम्भ (बाहुओं का जकड़ जाना) रोग होता है।

ॐअंसफलके-पृष्ठोपरि पृष्ठवंशमुभयतस्त्रिकसम्बद्धे, (ग्रीवायमंसद्वयस्य च संयोगो यत्र तत्त्रिकम्।) अस्थिमर्मणी अर्द्धाङ्गुले वैकल्यकरे, तत्र बाह्वोः शून्यता शोषश्च।

अंसफलक मर्म-पीठ के ऊपर पृष्ठवंश (मेरुदण्ड) के दोनों ओर त्रिक से सम्बन्ध रखे हुये जो दो मर्म हैं वे ही अंसफलक नामक मर्म कहलाते हैं, (यहां पर 'त्रिक' पद से 'ग्रीवा में दोनों कन्धों का जहां पर संयोग होता है' उस स्थान को समझना चाहिये) ये आधे अङ्गुल परिमित अस्थिसम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले हैं, इनमें चोट लगने पर बाहुओं की शून्यता (सुन्न हो जाना) तथा शोष (सूख जाना) रोग होता है।

ॐअपाङ्गौ=नेत्रयोरन्तौ शिरामर्मणी अर्द्धाङ्गुलौ वैकल्यकरौ, तत्रान्ध्यं दृष्ट्युपघातो वा।

अपाङ्गमर्म—दोनों नेत्रों के जो दोनों प्रान्त भाग हैं वे ही अपाङ्ग मर्म कहलाते हैं दोनों आधे अङ्गुल परिमित शिरासम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले हैं, इनमें चोट लगने पर आन्ध्य (अन्धा हो जाना) अथवा दर्शन शक्ति का ह्रास हो जाता है।

---

१. 'कूर्पराविति' पाठान्तरं चिन्त्यम्। २. 'द्वावि'ति पा०। ३. 'पृष्ठाध' इति पा०।

*नीले मन्ये च-कण्ठनाडीमुभयतश्चतस्रो धमन्यः, द्वे नीले द्वे मन्ये। तत्र एका मन्या एका नीला एकस्मिन् पार्श्वे, एव[1] मन्या मन्या नीला च अपरस्मिन् पार्श्वे द्वे द्वे शिरा-मर्मणी द्व्यङ्गुले द्व्यङ्गुले वैकल्यकरे, तत्र मूकता [2]विकृतस्वरताऽरसग्राहिता च।

नीला और मन्या मर्म—कण्ठ-नली के दोनों ओर नीला और मन्या नामक चार धमनियाँ हैं। उनमें से एक पार्श्व में एक नीला, एक मन्या और दूसरे पार्श्व में एक नीला तथा एक मन्या नामक धमनियां रहती हैं। इन्हीं मन्या नामक धमनियों में मन्या मर्म और नीला नामक धमनियों में नीला मर्म रहता है। दो दो अङ्गुल परिमित ये दोनों शिरा सम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले हैं। इनमें चोट लगने पर मूकता (गूंगा हो जाना) या विकृतस्वरता (स्वर का विकृत हो जाना) अथवा अरसग्राहिता (किसी रस के भी स्वाद लेने की शक्ति का न रहना) हो जाता है।

*फणे-घ्राणमार्गमुभयतः ([3]स्रोतोमार्गप्रतिबद्धे अभ्यन्तरतः) मांसमर्मणी अर्द्धाङ्गुले वैकल्यकरे तत्र गन्धाज्ञानम्।

फणमर्म—नासामार्ग के दोनों ओर (नासिका के भीतर स्रोतोमार्ग से लगे हुये) फण नामक दो मर्म हैं, आधे अङ्गुल परिमित ये दोनों मांससम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले हैं, इनमें चोट लगने पर गन्ध ग्रहण करने की शक्ति का नाश हो जाता है।

*आवर्त्तौ-भ्रुवोरुपरि निम्नयोः सन्धिमर्मणी अर्द्धाङ्गुले वैकल्यकरे। तत्रान्ध्यं दृष्ट्युपघातो वा ॥ २३२-२३३ ॥

आवर्त्त मर्म—दोनों भौहों के ऊपर और नीचे जो दो सन्धियां हैं वे ही आवर्त्तक नामक मर्म कहलाती हैं, मर्म आधे अङ्गुल परिमित ये सन्धिसम्बन्धी विकलता करनेवाले हैं, इनमें चोट लगने पर अन्धता अथवा दर्शन शक्ति का ह्रास हो जाता है ॥ २३२-२३३ ॥

रुजाकराणि मर्माण्याह—

गुल्फौ द्वौ मणिबन्धौ द्वौ तथा कूर्चशिरांसि च।
रुजाकराणि [4]जानीयादष्टावेतानि बुद्धिमान् ॥ २३४ ॥

पीड़ा करनेवाले मर्म—दो गुल्फ (एँड़ी), दो मणिबन्ध (कलाई), चार कूर्च शिरा, ये आठ रुजाकर मर्म हैं अर्थात् इन मर्मस्थलों में चोट लगने पर अधिक पीड़ा होती है ॥ २३४ ॥

*गुल्फौ-घुण्टिके सन्धिमर्मणी [5]द्व्यङ्गुले रुजाकरे तत्र रुजा पादस्तम्भः खञ्जता च।

गुल्फमर्म—दोनों गुल्फ (एँड़ी) ही गुल्फ मर्म कहलाते हैं, ये दोनों सन्धि सम्बन्धी मर्म दो अङ्गुल परिमित और रुजा करनेवाले हैं, इनमें चोट लगने पर रुजा पादस्तम्भ (पैर का जकड़ जाना) अथवा खञ्जता (लंगड़ा हो जाना) होता है।

* मणिबन्धि [6]द्वौ-हस्तप्रकोष्ठसन्धी सन्धिमर्मणि द्व्यङ्गुलौ रुजाकरौ। तत्र हस्तयोः क्रियाराहित्यम्।

मणिबन्ध मर्म—दोनों मणिबन्ध (कलाई) को ही मणिबन्ध मर्म कहते हैं, ये दोनों सन्धि सम्बन्धी मर्म दो अङ्गुल परिमिति और रुजा करनेवाले हैं, इनमें चोट लगने पर हाथों की क्रिया (चेष्टा) नष्ट हो जाती है।

---

१. 'एवमन्ये'ति पाठः क्वचित्कः। २. 'विकृती'ति पाठान्तरम्।
३. अयं कोष्ठस्थः पाठः क्वचित्कः। ४. 'दृष्ट्वा चे'ति पाठान्तरम्।
५. द्व्यङ्गुलौ रुजाकरावि'ति पाठान्तरम्। ६. 'द्वौ मणिबन्धावि'ति पाठान्तरम्।

*कूर्चं शिरांसि—पादसन्धेरधः ([1]गुल्फसन्धेरधः) उभयत एकस्मिन् पादे ([2]द्वे द्वे च द्वितीये) एवञ्चत्वारि स्नायुमर्माण्येकाङ्गुलानि रुजाकराणि तत्र रुजा शोफश्च ॥ २३४ ॥

कूर्चशिरा मर्म—गुल्फसन्धि के नीचे भाग में दोनों तरफ एक एक करके जो मर्म हैं वे ही कूर्चशिरा नामक मर्म कहलाते हैं। एक पैर में गुल्फसन्धि के दोनों पार्श्व में दो, और दूसरे पैर में भी गुल्फसन्धि के दोनों तरफ दो इस प्रकार सब मिल कर चार कूर्चशिरा मर्म होते हैं, ये स्नायु सम्बन्धी मर्म एक अङ्गुल परिमित और रुजा करनेवाले हैं, इनमें चोट लगने पर रुजा (पीड़ा) और शोथ (सूजन) होता है ॥ २३४ ॥

अथ विशल्यघ्नानि मर्माण्याह—

उत्क्षेपौ [3]स्थपनी चैव विशल्यघ्नं त्रिकम्मतम् ॥ २३५ ॥

विशल्यघ्न मर्म—दो उत्क्षेप और एक स्थपनी, यही तीन मर्म विशल्यघ्न (शल्य के निकालने पर प्राणनाशक) कहलाते हैं ॥ २३५ ॥

*उत्क्षेपौ—शङ्खयोरुपरि [4]केशान् यावत्। स्नायुमर्मणी अर्द्धाङ्गुले तयोर्विद्धयोः-सशल्यो जीवेत्पाकात्पतितशल्यो वा, उद्धृतशल्यस्तु म्रियेत। अत एव विशल्यमुद्धृतशल्यं-हन्तीति विशल्यघ्नं मर्म।

उत्क्षेप मर्म—शिर में दोनों तरफ शङ्ख (कनपटी) के ऊपर केश पर्यन्त जो स्थान हैं उन्हीं स्थानों में उत्क्षेप नामक दो मर्म हैं, ये स्नायुसम्बन्धी मर्म आधे अङ्गुल परिमित हैं, इन मर्मों में जब शल्य (बाणादि) विध जाते हैं, तब जितने काल तक शल्य उनमें बिंधे (पड़े) रहते हैं उतने काल तक मनुष्य जीवित रहता है, और यदि बिंधे हुये स्थान के पक जाने पर उसमें से शल्य आप ही आप बाहर निकल आवे तो भी मनुष्य जीवित रह सकता है, किन्तु यदि बिंधे हुये शल्य को स्वयं निकाला जाय तो मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। ये विशल्यघ्न (बिंधे हुये शल्य के निकालने पर) प्राणियों के मारनेवाले हैं।

*स्थपनी—एका भ्रुवोर्मध्ये शिरामर्मैदमर्द्धाङ्गुलं विशल्यघ्नम् ॥ २३५ ॥

स्थपनी मर्म—दोनों भौहों के मध्यस्थल में एक स्थपनी नामक मर्म है। यह आधे अङ्गुल परिमित शिरासम्बन्धी मर्म विशल्यघ्न है ॥ २३५ ॥

सप्तरात्रान्तरे हन्युः सद्यः प्राणहराणि हि। कालान्तरप्राणहरं पक्षे मासे च मारकम् ॥२३७॥

सद्यः प्राणहरण करनेवाले जितने मर्म है वे सब सात रात्रि के अन्दर प्राण ले लेते हैं और कालान्तर में प्राणहरण करनेवाले जितने मर्म हैं वे सब एक पक्ष में या एक मास के अन्दर प्राण हरण करते हैं ॥ २३६ ॥

सद्यः प्राणहरश्चान्ते विद्धं कालेन मारयेत्। कालान्तरप्राणहरमन्ते विद्धन्तु दुःखदम् ॥२३६॥

सद्यः प्राणहरण करनेवाले पूर्वोक्त जितने मर्मस्थल हैं उनके समीप में शस्त्रादि से यदि चोट लग जाय तो कालान्तर में प्राणनाश होता है। और यदि कालान्तर में प्राणहरण करनेवाले पूर्वोक्त मर्मस्थलों के समीप में चोट लग जाय तो केवल दुःख देनेवाला (रुजा करनेवाला) ही होता है ॥

* अन्ते = मर्मसमीपे ॥ २३७ ॥

'अन्ते' इस पदका 'समीप में' ऐसा अर्थ समझना चाहिये ॥ २३७ ॥

---

१. अयं कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः। २. एतत्कोष्ठस्थपाठस्थाने 'एकमेकं च द्वितीये हस्तयोर्द्वे चे'ति पाठः क्वचिदुपलभ्यते स तु चिन्त्यः। ३. 'स्थापनी'ति पा०। ४. 'केशा' इति पा०।

मर्माण्यधिष्ठाय हि ये विकारा मूर्च्छन्ति काये विविधा नराणाम् ।
प्रायेण ते कृच्छ्रतमा भवन्ति वैद्येन यत्नैरपि साध्यमानाः ॥ २३८ ॥

मनुष्यों के शरीर में मर्मस्थलों का आश्रय लेकर चाहे जिस प्रकार के रोग उत्पन्न हों तथा वैद्य लोग यत्नपूर्वक चाहे जितनी चिकित्सा करें तो भी प्रायः करके देखा जाता है कि वे कष्टसाध्य ही होते हैं ॥ २३८ ॥

अथ सन्धयः ।

ते द्विविधाश्चेष्टावन्तः स्थिराश्च ।

शाखासु हन्वोः कट्यां च चेष्टावन्तो भवन्ति हि । शेषास्तु सन्धयः सर्वे स्थिरास्तज्ज्ञैरुदाहृताः॥

सन्धियों के लक्षण—सन्धियां दो प्रकार की होती हैं—चेष्टावाली और स्थिर । उनमें से दोनों हाथों, दोनों पैरों, दोनों हनुओं (कपोलों के नीचे की हड्डियों), और कटि (कमर) में जो सन्धियाँ हैं, वे चेष्टावाली हैं और शेष सब सन्धियां स्थिर (चेष्टाशून्य) हैं ॥ २३९ ॥

अथ सन्धिसंख्या आह—

कथिता देहिनां देहे सन्धयो द्वे शते दश । शाखासु तेऽष्टषष्टिश्च कोष्ठे स्त्वेकोनषष्टिका ॥२४०॥
ग्रीवाया ऊर्ध्वदेशे तु त्र्यशीतिस्ते प्रकीर्त्तिताः। प्रथमं परिगण्यन्ते तेषु शाखागता इह ॥२४१॥

सन्धियों की संख्या—देहधारी मनुष्यों के शरीर में २१० सन्धियां हैं । उनमें से ६८ सन्धियाँ चारो शाखाओं में, ५९ कोष्ठ (ग्रीवा से नीचे पैर के ऊपर) में और ८३ ग्रीवा से लेकर उसके ऊपर भाग में कही हुई हैं । उन पूर्वोक्त सन्धियों में से जितनी चारों शाखाओं में हैं, इस समय उन्हीं का सर्व प्रथम परिगणन किया जा रहा है ॥ २४०–२४१ ॥

*** एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां[1] त्रयस्त्रयो द्वावङ्गुष्ठे ते चतुर्दश । गुल्फजानुवंक्षणेष्वेकैकमेवं सप्तदश एकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति । एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ । एवमष्टषष्टिः शाखासु ।**

दोनों पैरों की चार २ अङ्गुलियों में तीन–तीन और अँगूठे में दो २ इस प्रकार एक पैर की पांचों अङ्गुलियों में चौदह सन्धियां हैं और गुल्फ (एँड़ी), जानु (घुटना) और वङ्क्षण (ऊरु सन्धि) में एक–एक सन्धियाँ हैं, इस प्रकार एक पैर में सब मिल कर सत्रह सन्धियां हैं । इसी तरह दूसरे पैर तथा दोनों बाहुओं की भी सन्धियां कही हुई हैं । इस प्रकार अड़सठ सन्धियाँ चार शाखाओं में होती हैं ।

अथ कोष्ठगतानाह—

*** त्रयः [2]कटीकपालेषु, चतुर्विंशतिः पृष्ठवंशे, तावन्त एव पार्श्वयोरष्टावुरसि, एवमेकोन षष्टिः कोष्ठे ।**

कोष्ठगत सन्धियाँ—कमर और कपालास्थि में तीन, पृष्ठवंश (मेरुदण्ड) में चौबीस, दोनों पसुलियों में चौबीस और वक्षःस्थल में आठ सन्धियाँ हैं । इस प्रकार सब मिलकर उनसठ सन्धियाँ कोष्ठ में होती हैं ।

अथ ग्रीवोर्ध्वगतानाह —

*** अष्टौ ग्रीवायां त्रयः कण्ठे [3]नाडीषु हृदयक्लोमफुफ्फुसनिबद्धास्त्वष्टादश । द्वात्रिंशद्दन्तमूलेषु, एकः कण्ठमणौ नासायाञ्च एकः, द्वौ द्वौ[4] वर्त्ममण्डलजौ नेत्राश्रयौ, गण्डकर्णशङ्खे-**

---

१. 'पदाङ्गुल्यात्रि'ति पा० । २. 'कटीकपोलेष्वि'ति पा० । ३. 'नाडीहृदयक्लोमफुफ्फुसेषु निबद्धास्त्वष्टादशेति'पा० । ४. 'द्वौ द्वौ वर्त्ममण्डलगण्डकर्णशङ्खेष्वि'ति पा० ।

ष्वेकैकः, द्वौ हनुसन्धौ, द्वावुपरिष्टाद् भ्रुवोः शङ्खयोश्चोपरिष्टात्, पञ्च शीर्षकपालेष्वेव मूर्ध्नीति[1]। कण्ठमणौ घण्टिकेति प्रसिद्धे। एते सन्धयोऽष्टविधा भवन्तीत्याहोत्तरत्र ॥२४०-२४१॥

ग्रीवा तथा उसके ऊपर की सन्धियाँ—ग्रीवा (गर्दन) में ३, कण्ठ में ३, हृदय क्लोम, और फुफ्फुस (फेफड़ा) के बँधी हुई नाडियों में १८, दाँतों के मूल में ३२, कण्ठमणि (घाँटी)में १, नासिका में १, नेत्र गत वर्त्म (पलक) मण्डल सम्बन्धी २, कपोल में २, कान में २, शङ्ख (कनपटी) में २, दोनों हनुओं में २, भौंहों के ऊपर २, दोनों शङ्ख के ऊपर २, शिर के कपोलों में ५ और मूर्धा में १ सन्धियाँ हैं। इस प्रकार ग्रीवा से लेकर ऊपर तक ८३ सन्धियाँ होती हैं। ये सब सन्धियाँ ८ प्रकार की होती हैं इसे आगे के श्लोकों से कहते हैं ॥ २४०-२४१ ॥

ते यथा—

कोरोदूखलसामुद्गाः प्रतरस्तूणसेवनी[2]। काकतुण्डं मण्डलञ्च शङ्खावर्तोऽष्टसन्धयः ॥ २४२ ॥

आठ प्रकार की सन्धियाँ—कोर, उदूखल, सामुद्ग, प्रतर, तूणसेवनी, काकतुण्ड, मण्डल और शङ्खावर्त्त, ये ८ प्रकार की सन्धियाँ होती हैं ॥ २४२ ॥

कोरः = गर्त्तः। नलिकेत्यन्ये। उदूखलः प्रसिद्धः, समुद्गः=सम्पुटः, समुद्ग एव सामुद्गः, अत्र स्वार्थे अण्। [3]प्रतरत्यनेनेति प्रतरो [4]वेलकः। तूणस्येव तूणीरस्य सेवनी स्यूतिस्तूणसेवनी। काकतुण्डं = काकमुखम्। मण्डलं प्रसिद्धम्। शङ्खस्यावर्त्तः शङ्खावर्त्तः। एते यथानामप्रकृतयः सन्धयो भवन्तीत्यर्थः।

एषामङ्गुलिमणिबन्धगुल्फजानुकूर्परेषु कोराः सन्धयः।
कक्षावंक्षणदन्तेषूदूखलाः। अंसपीठगुदभगनितम्बेषु सामुद्गाः।
गीवापृष्ठवंशयोस्तु प्रतराः। शिरःकटीकपालेषु [5]तूणसेवन्यः।

हन्वोरुभयतः काकतुण्डाख्याः। कण्ठहृदयक्लोमनाडीषु मण्डलाख्याः। [6]श्रोत्रशृङ्गाटकेषु शङ्खावर्त्ताः ॥ २४२ ॥

(१) कोर सन्धि को कोई 'गड्ढे' और कोई 'नली' के सदृश बतलाते हैं। (२) उदूखल सन्धि ओखली (धानकूटने का काष्ठपात्र विशेष) के सदृश होती है। (३) सामुद्ग सन्धि यहाँ समुद्ग पद से 'सम्पुट' समझना चाहिये। समुद्ग ही 'सामुद्ग' कहलाता है, यहाँ पर स्वार्थ में अण् प्रत्यय होने पर आदि पदकी वृद्धि होने से 'सामुद्ग' पद की सिद्धि होती है, यह 'सामुद्ग' सन्धि सम्पुट के आकार की होती है। (४) प्रतर सन्धि—जिससे जल में तैरा जा सके उसे प्रतर अर्थात् बेलन कहते हैं, 'प्रतर' सन्धि बेलन के आकार की होती है। (५) तूणसेवनी सन्धि–तूण अर्थात् बाण रखने के तरकश की भांति सेवनी (सिली हुई) के समान होने से तूणसेवनी सन्धि कहते हैं। (६) काकतुण्ड सन्धि—कौवे के मुख के समान होने से इसे काकतुण्ड सन्धि कहते हैं। (७) मण्डल सन्धि-लोक प्रसिद्ध मण्डल की भांति आकार होने से इसे मण्डलसन्धि कहते हैं। (८) शङ्खावर्त्त सन्धि–शङ्ख के आवर्त्त (नाभिचक्र) की भांति आवर्त्त होने से इसे शङ्खावर्त्त सन्धि कहते हैं। इन पूर्वोक्त सन्धियों के नाम आकृति के अनुसार रखे गये हैं। इन सन्धियों के मध्य में कोर नामक सन्धि अङ्गुलि, मणिबन्ध (कलाई), गुल्फ (एड़ी), जानु (घुटना), कूर्पर (केहुनी), इन स्थानों में होती है। कांख, वङ्क्षण (ऊरुसन्धि) और दाँतों में उदूखलनामक सन्धि होती है। कन्धा, पीठ, गुदा, भग और नितम्ब में सामुद्गनामक सन्धि होती है। गर्दन और मेरुदण्ड में प्रतर नामक सन्धि होती है। शिर, कमर

---

१. 'मूर्धनी'ति पा०। २. 'तूलसेविनी'ति पा०। ३. 'प्रतरन्त्यनेनेति' पा०।
४. 'भेलक' इति पा०। ५. 'तूलसेविन्य' इति पा०। ६. 'शिर' इति पा०।

और कपाल में तूणसेवनी नामक सन्धि होती है। दोनों हनुओं के दोनों तरफ काकतुण्ड नामक सन्धि होती है। कण्ठ, हृदय, क्लोम और नाड़ी में मण्डलनामक सन्धि होती है। कान और श्रृङ्गाटक में शङ्खावर्त्त नामक सन्धि होती है ॥ २४२ ॥

अस्थ्नां तु सन्धयो ह्येते केवलाः समुदाहृताः। पेशीस्नायु शिराणान्तु सन्धिसंख्या न विद्यते ॥

ऊपर जिन सन्धियों का उल्लेख किया गया है, वे केवल हड्डियों की ही हैं। मांसपेशी, स्नायु तथा शिराओं के सन्धियों की संख्या का उल्लेख नहीं किया गया है क्योंकि वे असङ्ख्य हैं ॥२४३॥

अथ शिरामाह—

सन्धिबन्धनकारिण्यो दोषधातुवहाः शिराः। नाभ्यां सर्वा निबद्धास्ताः प्रतन्वन्ति समन्ततः॥

शिराओं का वर्णन—सन्धियों को बांधनेवाली तथा दोष (वात, पित्त, कफ) और धातु (रस, रक्तादि) को वहन करनेवाली शरीर में जितनी शिरायें हैं वे सभी नाभि में बँधी हुई हैं और वहां ही से निकल कर चारों तरफ शाखा प्रशाखा द्वारा शरीर में फैली हुई हैं ॥ २४४ ॥

शरीरं सकलञ्चैतच्छिराभिः पोष्यते सदा। प्रणालीभिरिवारामाः कुल्याभिः क्षेत्रधान्यवत् ॥

जैसे जल की नाली द्वारा बगीचा आदि का तथा कुल्या (नहर) द्वारा खेत में धानों का पोषण हुआ करता है, उसी भांति शिराओं द्वारा समस्त शरीर का भी पोषण हुआ करता है ॥ २४५ ॥

अत्र प्रणालीभिः कुल्याभिरिति दृष्टान्तद्वयं स्थूलसूक्ष्मशिराभेदात् ॥ २४५ ॥

यहाँ प्रणाली और कुल्या जो दो दृष्टान्त दिये गये हैं वे स्थूल और सूक्ष्म इन दो प्रकार की शिराओं के भेद से हैं ॥ २४५ ॥

प्रसारणाकुञ्चनादिक्रियाभिः सततं तनौ। शिरा एवोपकुर्वन्ति ताः स्युः सप्तशतानि तु ॥२४६॥
यथा द्रुमदले साक्षाद् दृश्यन्ते प्रतताः शिराः। तथैव देहिनो देहे वर्त्तन्ते सकले शिराः ॥
नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणान्नाभिरुपाश्रिता। शिराभिरावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः ॥

अवयवों का फैलाना और सिकोड़ना आदि क्रियाओं द्वारा जो शिरायें शरीर का उपकार करती हैं, वे संख्या में ७०० हैं। जिस प्रकार वृक्षों के पत्तों में फैली हुई शिरायें (नसें) प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ती हैं, उसी प्रकार देहधारी मनुष्यादि के सम्पूर्ण शरीर में भी फैली हुई शिरायें (नसें) रहती हैं। प्राणियों प्राणवाहक शिरासमूह नाभि में स्थित रहता है, और नाभि भी प्राणवाहक शिरासमूहों के आश्रित रहती है। जैसे चक्र की नाभि (पहिये की मध्यका गोलाकार काष्ठ) अरक (काष्ठ के लम्बे २ टुकड़ों) के द्वारा घिरी हुई रहती हैं, वैसे ही शिराओं से नाभि आवृत (लिपटी) हुई रहती है ॥ २४६-२४८ ॥

उक्तं [1]यथा-तासां खलु मूलशिराश्चत्वारिंशत्। तासां दश वातवहाः, दश पित्तवहाः, दश श्लेष्मवहाः, दश रक्तवहाः, तासां खलु वातवहानां वातस्थानगतानां सपञ्चसप्तति शतं भवति[2]। तावत्य[3] एव पित्तवहाः पित्तस्थानगताः श्लेष्मवहास्ताः श्लेष्मस्थानगताः, रक्तवहा यकृत्प्लीहगताः। एवं शिराः सप्त शतानि भवन्ति। तत्र वातवहा एकस्मिन् सक्थिनि पञ्चविंशतिः, एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ। विशेषतः कोष्ठे चतुस्त्रिंशत्, तासां श्रोण्यां गुदमेढ्राश्रिसंश्रिता[4] अष्टौ। द्वे द्वे पार्श्वयोः। षट् ६ पृष्ठे। तावत्य एवोदरे ६। दश वक्षसि १०। एकचत्वारिंशद् ४१ जत्रुणि ऊर्ध्वम्। तासां चतुर्दश १४ ग्रीवायाम्। ४ चतस्रः कर्णयोः। ९ नव जिह्वायाम्। ६ षट् नासिकायाम्। ८ अष्टौ नेत्रयोः।

एवं वातवहानां सपञ्चसप्तति शतं भवति[5]। एवं विभागः पित्तवहानामपि विशेषस्तु

---

१. 'तद्यथे'ति पा०। २. 'भवन्ती'ति पा०। ३. अत्र सर्वत्र 'तावन्त्य' इति पा० 'तावत्य' इत्यत्र पदे बोध्यम्। ४. 'श्रिते'ति पा०। ५. 'भवन्ती'ति पा०।

पित्तावहा नेत्रयोर्दश १०। कर्णयोर्द्वे २। एवं रक्तवहाः। श्लेष्मवहास्तु षोडश १६ ग्रीवायाम्, कर्णयोर्द्वे २। एवं शिराणां सप्तशतानि व्याख्यातानि॥ २४६-२४८॥

सिराओं के भेद—पूर्वोक्त ७०० शिराओं में से मुख्य शिरायें ४० हैं, उनमें १० वायु को, १० पित्त को, १० कफ को और १० रक्त को वहन करने वाली हैं। उनमें से पूर्वोक्त वायु के स्थान में स्थित वायु को वहन करनेवाली जो मूल १० शिरायें हैं, वे ही शाखा प्रशाखा द्वारा १७५ हो जाती हैं। इसी प्रकार पित्त के स्थान में स्थित पित्त को वहन करनेवाली, कफ के स्थान में स्थित कफ को वहन करनेवाली और यकृत् तथा प्लीहा जो रक्त के स्थान हैं उनमें स्थित रक्त को वहन करनेवाली जो मुख्य दस दस शिरायें हैं उनमें से प्रत्येक शाखा प्रशाखा द्वारा वायु की भाँति १७५ हो जाती हैं। उनमें से वायु को वहन करनेवाली शिरायें एक पैर में २५ और दूसरे पैर में भी २५ हैं तथा दोनों बाहुओं में भी २५-२५ मिल कर ५० हैं, ऐसा समझना चाहिये। विशेषतः कोष्ठस्थान में वायु को वहन करने वाली ३४ शिरायें इस तरह से हैं—श्रोणि (कटि) गुदा और लिङ्ग आदि के आश्रित ८ दोनों पसुलियों में २-२ इस प्रकार ४, पीठ में ६, उदर में भी ६ और वक्षःस्थल में १०। जत्रु (ग्रीवा) के मूल भाग के ऊपर ४१ वात को वहन करनेवाली शिरायें इस तरह से हैं—ग्रीवा में १४, दोनों कानों में २-२ करके ४, जिह्वा में ९, नासिका में ६, दोनों नेत्रों में ४-४ करके ८। इस प्रकार वात को वहन करनेवाली मुख्य १० शिरायें शाखा प्रशाखा द्वारा १७५ होती हैं। इसी प्रकार पित्त को वहन करनेवाली १६५ शिराओं का भी विभाग होता है, किन्तु विशेष यह है कि पित्त को वहन करनेवाली शिरायें नेत्रों में १० और कानों में २ होती हैं। इस प्रकार अर्थात ठीक पित्तवहा शिराओं की भाँति ही १७५ रक्तवहा शिराओं का भी विभाग समझना चाहिये। कफ वहन करनेवाली १७५ शिराओं का भी विभाग इसी भाँति होता है, किन्तु भेद इतना ही है कि ग्रीवा में १६, और कानों में २ ही कफ वहन करनेवाली शिरायें होती हैं। इस प्रकार ७०० शिरायें मुनियों ने कही हैं॥ २४६-२४८॥

क्रियाणामप्रतीघातममोहं बुद्धिकर्मणाम्। करोत्यन्यान् गुणांश्चापि स्वाः शिराः पवनश्चरन्॥

वायु अपनी शिराओं में विचरण करता हुआ क्रियाओं का अप्रतिघात करता है, अर्थात शरीर की प्रसारणादि क्रियाओं में कोई बाधा नहीं आने देता और बुद्धिकर्मों का अमोह करता है अर्थात बुद्धिन्द्रियों को मोह नहीं होने देता, तथा अन्य गुणों को भी करता है॥ २४९॥

क्रियाणां=प्रसारणाकुञ्चनादीनाम्। अमोहं बुद्धिकर्मणाम्=बुद्धिन्द्रियाणां मनसो बुद्धेश्च स्वे स्वे विषये [1]ज्ञानं करोतीत्यर्थः। अन्यान् गुणान्=रसादिव्यापनद्वारा शरीरपोषणादीन्॥ २४९॥

'क्रियाओं का अप्रतीघात करता है' इसका अर्थ यह है कि फैलाना, सिकोड़ना आदि जितनी शरीर की क्रियायें हैं उन सबों का ठीक २ सम्पादन करता है तथा 'बुद्धिकर्मों का अमोह करता है' अर्थात बुद्धीन्द्रिय जो आँख, नाक, कान आदि हैं उनको तथा मन और बुद्धि को, अपने २ विषयों में ज्ञान प्रदान करता है। 'अन्य गुणों को करता है' अर्थात रसादिकों को सर्वत्र व्याप्त करने के द्वारा शरीर का पोषण करता है, ऐसा समझना चाहिये॥ २४९॥

यदा तु कुपितो वायुः स्वाः शिराः प्रतिपद्यते। तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते वातसम्भवाः॥

जिस समय वायु कुपित होकर अपनी सिराओं में विचरण करता है उस समय प्राणियों के शरीर में वायु से उत्पन्न होने वाले अनेक रोग उत्पन्न होते हैं॥ २५०॥

---

१. 'अज्ञानं ने'ति पा०।

भ्राजिष्णुतामन्नरुचिमग्निदीप्तिमरोगताम् । करोत्यन्यान् गुणांश्चापि पित्तमात्मशिराश्चरद्[1] ॥
पित्त जब अपनी शिराओं में विचरण करता है तब प्राणियों के शरीर में भ्राजिष्णुता (शरीर में कान्ति होना), अन्न में रुचि, जठराग्नि की दीप्ति, अरोगता (रोग का न होना) तथा अन्य भी गुणों को करता है ॥ २५१ ॥

अरोगतां=पैत्तिकरोगानुत्पत्तिं करोति । अन्यान् गुणान्=मेधाबुद्धिदर्शनशक्त्यादीन् ॥२५१॥
'अरोगतां' से 'पित्तसम्बन्धी रोग का उत्पन्न न होना' तथा 'अन्य भी गुणों को' इससे 'मेधा (धारणशक्ति), बुद्धि और देखने की शक्ति को' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २५१ ॥

यदा तु कुपितं पित्तं सेवते स्ववहाः शिराः । तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते पित्तसम्भवाः ॥२५२॥
किन्तु वही पित्त जब कुपित होकर अपनी शिराओं में विचरण करता है तब प्राणियों के शरीर में पित्त से उत्पन्न होनेवाले अनेक रोग उत्पन्न होते हैं ॥ २५२ ॥

स्नेहमङ्गेषु सन्धीनां स्थैर्यं बलमरोगताम् । करोत्यन्यान् गुणांश्चापि बलासःस्वाःशिराश्चरन् ॥
कफ जब अपनी शिराओं में विचरण करता है तब अङ्गों में स्निग्धता अर्थात् अङ्गों का रूक्ष न होना, सन्धियों की स्थिरता, बल, अरोगता आदि अन्य गुणों को भी करता है ॥ २५३ ॥

अरोगतां = श्लैष्मिकरोगानुत्पत्तिम् । अन्यान् गुणान् = बलपुष्ट्यादीन् ॥ २५३ ॥
'आरोगतां' पद से 'कफ सम्बन्धी रोगों का उत्पन्न न होना' तथा 'अन्य गुणों को' इससे 'बल तथा पुष्टि आदि को' ऐसा अर्थ समझना चाहिये ॥ २५३ ॥

यदा तु कुपितः श्लेष्मा स्वाः शिराः प्रतिपद्यते । तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते श्लेष्मसम्भवाः ॥
किन्तु वही कफ जब कुपित होकर अपनी शिराओं में विचरण करता है तब प्राणियों के कफ से उत्पन्न होनेवाले अनेक रोग उत्पन्न होते हैं ॥ २५४ ॥

धातूनां पूरणं[2] वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम् । स्वशिरासु चरद्रक्तं कुर्याच्चान्यान् गुणानपि ॥२५५॥
रक्त जब अपनी शिराओं में विचरण करता है तब प्राणियों के सम्पूर्ण धातुओं का पूरण करता है अर्थात् सब धातुओं की मात्रा पूर्ण रूप से बनाये रहता है और वर्ण अर्थात् शरीर के गौरादि वर्ण, जैसा चाहिये वैसा निश्चितरूप से स्पर्श का ज्ञान, तथा अन्य भी गुणों को करता है ॥ २५५ ॥

अन्यान् गुणान् = बलपुष्ट्यादीन् ॥ २५५ ॥
'अन्यान् गुणान्' अर्थात् 'बल तथा पुष्टि आदि गुणों को' ऐसा समझना चाहिये ॥ २५५ ॥

यदा तु कुपितं रक्तं सेवते स्ववहाः शिराः । तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते रक्तसम्भवाः ॥
किन्तु वही रक्त जब कुपित होकर अपनी शिराओं में विचरण करता है तब प्राणियों के रक्त से उत्पन्न होनेवाले अनेक रोग उत्पन्न होते हैं ॥ २५६ ॥

तत्रारुणा वातवहाः पूर्यन्ते वायुना शिराः ।
पित्तादुष्णाश्च[3] नीलाश्च शीता गौर्यः स्थिराः कफात् ।
असृग्धरास्तु ता रक्ताः स्युश्च नात्युष्णशीतलाः ॥ २५७ ॥

पूर्वोक्त सिराओं में से वायु को वहन करनेवाली शिरायें जब वायु से भरी रहती हैं तब देखने में अरुण वर्ण की मालूम पड़ती हैं । इसी भांति पित्तवहन करनेवाली शिरायें पित्त से नील वर्णकी तथा गरम और कफ वहन करनेवाली शिरायें कफ से शीतल; स्थिर तथा गौर वर्ण की मालूम पड़ती हैं, और जो रक्त वहन करनेवाली शिरायें हैं वे रक्त से न अत्यन्त गरम और न अत्यन्त शीतल तथा रक्त वर्ण की मालूम पड़ती हैं ॥ २५७ ॥

---

१. 'चरन्नि'ति पाठः प्रामादिकः । २. 'सम्यगि'ति पा० । ३. 'पित्तदुष्टाश्चे'ति पा० ।

अथ स्नायुः—

तत्र स्नायोः स्वरूपमाह—

मेदसः स्नेहमादाय शिरा स्नायुत्वमाप्नुयात्। शिराणां हि मृदुः पाकः स्नायूनान्तु ततः खरः॥
स्नायवो बन्धनानि स्युर्देहमांसास्थिमेदसाम्। सन्धीनामपि यत्तास्तु शिराभ्यः सुदृढाः स्मृताः॥

स्नायु के स्वरूप-जो शिरायें मेद के स्नेह भाग को ग्रहण कर लेती हैं वे ही पक कर स्नायु के रूप को प्राप्त कर लेती हैं, क्योंकि शिरा तथा स्नायु में इतना ही अन्तर है कि शिराओं का पाक मृदु होता है तथा स्नायुओं का पाक उसकी अपेक्षा खर होता है। सम्पूर्ण स्नायु देह में मांस, अस्थि, मेद और सन्धियों के बन्धन हैं अर्थात् इन्हीं से वे सब बँधे हुए हैं अत एव शिराओं की अपेक्षा ये सुदृढ़ कहे गये हैं ॥ २५८–२५९ ॥

नौर्यथा फलकास्तीर्णा बन्धनैर्बहुभिर्युता । नियुक्ताऽगाधसलिले भवेद्भारसहा भृशम् ॥२६०॥

जिस प्रकार फलकों (पटरों) से आस्तीर्ण तथा बहुत से रस्सी आदि से बँधी हुई नौका अगाध जल (समुद्रादिकों) में डाल देने पर अत्यन्त भार सँभालने में समर्थ होती है ॥ २६० ॥

*फलकैः = काष्ठपट्टैः । आस्तीर्णा = व्याप्ता ॥ २६० ॥

'फलकैः' अर्थात् काठ की पटरियों से, 'आस्तीर्णाः' अर्थात् व्याप्त ॥ २६० ॥

एवमेव शरीरेऽस्मिन्यावन्तः सन्धयः स्मृताः । स्नायुभिर्बहुभिर्बद्धास्तेन भारसहा नराः ॥

उसी प्रकार इस शरीर में जितनी सन्धियाँ हैं वे सब बहुत से स्नायुओं द्वारा बँधी हुई हैं, इसी से मनुस्यादि भार वहन करने में समर्थ होते हैं ॥ २६१ ॥

अथ स्नायुसंख्या आह—

शतानि नव जायन्ते शरीरे स्नायवो नृणाम् । तासां विवरणं ब्रूमः शिष्याः! शृणुत यत्नतः॥
शाखासु षट्शतानि स्युः कोष्ठे त्रिंशच्छतद्वयम्। ग्रीवाया [1]ऊर्ध्वदेशे तु स्नायूनां सप्ततिः स्मृता॥

स्नायुओं की संख्या-मनुष्यों के शरीर में जो ९०० स्नायु हैं, उन सबों का विवरण हम कह रहे हैं, हे शिष्यों ! तुम लोग यत्नपूर्वक सुनो । चारो शाखाओं में अर्थात् दोनों हाथों और दोनों पैरों में ६००, कोष्ठ में २३०, ग्रीवा से ऊपर भाग में ७० स्नायुयें हैं ॥ २६२–२६३ ॥

तत्र शाखागताः प्राह—

*एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां षट् षट् तानि त्रिंशत्। तावन्त्य एव तलकूर्चगुल्फेषु । तावन्त्य एव जङ्घायां, दश जानुनि । चत्वारिंशदूरौ । दश वङ्क्षणे । एवं सार्द्धंशतमेकस्मिन् सक्थिनि भवन्ति । एतेनेतरसक्थिबाहु च व्याख्यातौ ।

उनमें से शाखागत स्नायु—प्रत्येक पैर की अंगुलियों में ६–६ मिलकर ३०, पैर के तलुये, कूर्च तथा गुल्फ में ३०, जङ्घा में ३०, जानु में १०, उरु में ४० और वङ्क्षण में १०, इस प्रकार से सब मिलकर १५० स्नायु एक पैर में होते हैं। इसी प्रकार दूसरे पैर तथा दोनों बाहुओं में भी स्नायु की संख्या कही हुई है । इस भाँति शाखाओं में ६०० स्नायु होते हैं ।

अथ कोष्ठगताः प्राह—

*षष्टिः कट्यां, तावन्त्य एव पार्श्वयोः, अशीतिः पृष्ठे, त्रिंशदुरसि ।

कोष्ठगत स्नायुओं की संख्या—कमर में ६०, दोनों पसुलियों में ६०, पीठ में ८० और वक्षःस्थल में ३०, इस प्रकार सब २३० स्नायु कोष्ठ में होते हैं ।

---

१. 'मूर्ध्वदेश' इति पा० ।

अथ ग्रीवोर्ध्वगताः प्राह—

*षट्त्रिंशद् ग्रीवायाम्। चतुस्त्रिंशन्मूर्ध्नि। एवं स्नायूनां नवशतानि भवन्ति॥ २६२-२६३॥

ग्रीवा से ऊपर भाग में स्थित स्नायुओं की संख्या—३६ ग्रीवा (गर्दन) में, और ३४ स्नायु मूर्धा में हैं। इस भांति सब ७० स्नायु ग्रीवा से ऊपरी भाग में होते हैं। इस प्रकार सब मिल कर ९०० स्नायु होते हैं॥ २६२-२६३॥

अथ धमन्यः।

धमन्यो नाभितो जाताश्चतुर्विंशतिसंख्यया। दशोर्ध्वगा दशाधोगाः शेषास्तिर्यग्गताः स्मृताः॥

धमनियों की संख्या—जितनी धमनियां हैं वे सब नाभि से उत्पन्न हुई हैं, तथा गिनती में २४ हैं जिनमें से १० धमनियां नाभि से निकल कर ऊपर को गई हैं और १० नीचे को तथा शेष ४ धमनियां तिरछी गई हैं॥ २६४॥

*तत्रोर्ध्वगाः—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धप्रश्वासोच्छ्वासजृम्भितक्षुतहसितकथितरुदितगी[1]-तादिविशेषानभिवहन्त्यः शरीरं धारयन्ति।

प्रश्वासः = अन्तःप्रविशन्[2] वायुः। उच्छ्वासः = ऊर्ध्वं गच्छन् वायुः।

तास्तु हृदयं गतास्त्रिधा जायन्ते। तास्त्रिंशत्। तासां मध्ये द्वे द्वे वातपित्तकफशोणितरसान् वहतः। ता दश। अष्टभिः शब्दरसरूपगन्धान् गृह्णाति पुरुषः। द्वाभ्यां भाषते। द्वाभ्यां घोषते। द्वाभ्यां स्वपिति। द्वाभ्यां जागर्ति। द्वे अश्रुवाहिन्यौ। द्वे स्तन्यं स्त्रियावहतः, [स्तनसंश्रिते[3]] त एव शुक्रं नरस्य स्तनाभ्यामभिवहतः। एतास्त्रिंशत् (सविभागा[4] व्याख्याताः) एताभि(रूर्ध्वं नाभे[5])रुदरपार्श्वपृष्ठोरःस्कन्धग्रीवा[6] बाहवो धार्यन्ते चाल्यन्ते च।

उनमें से जो धमनियाँ ऊपर गई हुई हैं वे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, प्रश्वास, उच्छ्वास, जम्भाई, छींक, हँसी, बोलना, रोना और गीत आदि विशेष कर्मों को वहन करती हुई अर्थात् कार्यों का सम्पादन करती हुई शरीर को धारण करती हैं (यहाँ पर 'प्रश्वास' पद से 'उदर' में प्रवेश करता हुआ वायु' और 'उच्छ्वास' पद से 'ऊपर अर्थात् उदर से बाहर निकलता हुआ वायु' यह अर्थ समझना चाहिये)। पूर्वोक्त ऊपर जाने वाली वे ही १० धमनियाँ नाभि से हृदय में पहुँच कर प्रत्येक तीन २ हो जाती हैं, इस प्रकार वे ३० होती हैं। उनमें से २-२ वायु, पित्त, कफ, रक्त और रस को वहन करती हैं, इस प्रकार वे १० हैं और ८ धमनियों से मनुष्य शब्द, रस, रूप और गन्ध को ग्रहण करता है अर्थात् दो से शब्द, दो से रस इत्यादि क्रम से ग्रहण करता है। तथा दो धमनियों से बात करता है, दो से शब्द करता है, दो से सोता है, दो से जागता है, दो धमनियाँ आँसू वहन करनेवाली हैं और दो धमनियाँ स्त्रियों के स्तनों में रह कर दूध को वहन करती हैं और वे ही दोनों धमनियाँ पुरुषों के दोनों स्तनों में रह कर वहाँ ही से शुक्र को वहन करती हैं। इस प्रकार ये ३० धमनियाँ विभाग के साथ अर्थात् अलग २ कही गईं। ऊपर को जाने वाली इन्हीं तीस धमनियों द्वारा नाभि से ऊपर के भाग में स्थित उदर, पंसुली, पीठ, वक्षःस्थल, कन्धा, ग्रीवा और बाहु धारण किया जाता है और हिलाया डुलाया जाता है।

([7]अधोगताः प्राह—)

*अधोगतास्तु वातमूत्रपुरीषशुक्रार्तवादीनधो वहन्ति। तास्तु पित्ताशयं गतास्त्रिधा

---

१. 'कम्पिते'ति पा०। २. 'प्रविष्ट' इति पा०। ३. ४. ५. कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः। ६. 'ग्रीवाशिर' इति पा०। ७. कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः।

जायन्ते। तास्त्रिंशत्। तासां मध्ये द्वे द्वे वातपित्तकफशोणितरसान् वहतः। ता दश। द्वे अन्नवहे[1] अन्त्राश्रिते। द्वे तोयवहे। द्वे बस्तिगते मूत्रवहे। द्वे शुक्रस्य प्रादुर्भावाय। द्वे तद्विसर्गाय, त एव नारीणामार्त्तवप्रादुर्भावयतो विसृजतश्च[2]। द्वे स्थूलान्त्रप्रतिबद्धे पुरीषं विसृजतः। अष्टावन्यास्तिर्यग्गताः स्वेदमर्पयन्ति। एतास्त्रिंशत्। एताभिरधो नाभेः पक्वाशयकटीमूत्रपुरीषबस्तिगुदमेढ्रसक्थीनि धार्यन्ते याप्यन्ते च।

नाभि से नीचे की ओर गई हुई धमनियाँ—नीचे की ओर गई हुई धमनियाँ अधो वायु, मूत्र, पुरीष, शुक्र और आर्त्तव (रज) आदि को नीचे की ओर ले जाती हैं। और वे ही पित्ताशय में जाकर प्रत्येक तीन २ हो जाती हैं। इस प्रकार वे सब १० से ३० धमनियां हो जाती हैं। उनमें से दो दो वात, पित्त, कफ, रक्त और रस का वहन करती हैं, वे १० हैं और बाकी २० धमनियों में से दो धमनियां अतड़ियों के आश्रय रह कर अन्न को वहन करती हैं, दो धमनियां बस्ति (मूत्राशय) में स्थित होकर मूत्र वहन करती हैं। दो धमनियां शुक्र को उत्पन्न करने के लिये और दो शुक्र को त्याग करने के लिये होती हैं, और वे ही दो-दो धमनियाँ स्त्रियों के रज को उत्पन्न करती तथा निकालती हैं और दो धमनियां मोटी अँतड़ियों में बँधी हुई पुरीष का त्याग करती हैं, और बाकी ८ धमनियाँ तिरछी जाकर स्वेद (पसीना) उत्पन्न करती हैं, इस प्रकार ये ३० नाभि के अधोभाग की ओर गई हुई धमनियाँ होती हैं। ये ही सब धमनियाँ नाभिके नीचे भाग में स्थित पक्वाशय, कटि, मूत्र, पुरीष, गुदा, लिङ्ग और पैर को धारण करती और हिलाती डुलाती हैं।

(तिर्यग्गताः [3]प्राह—)

*तिर्यग्गतानां तु चतसृणामेकैका शतधा सहस्रधा चोत्तरोत्तरं विभज्यते। तास्तु असंख्येयास्ताभिरिदं शरीरं गवाक्षितम्, निबद्धमायतम्, गवाक्षवद् निबद्धमायतम्। गवाक्षो= वातायनम्, यथा गवाक्षे बहूनि छिद्राणि भवन्ति तथाऽस्मिन् देहे जालवद् शिरा व्याप्य तिष्ठन्तीति भावः। निबद्धमायतं गवाक्षितम्। [4]गवाक्षाकाररन्ध्रनिकरयुक्तं कृतमित्यर्थः। तासां मुखानि रोमकूपानि यैर्मुखैः स्वेदः स्रवति रसश्चाभिसन्तर्पयन्ति अन्तर्बहिश्च। तैरवाभ्यङ्गपरिषेकावगाहनालेपनवीर्याणि त्वचि पक्वानि अन्तः प्रवेशयन्ति। तैरेव स्पर्शं शुभमशुभं वा गृह्णन्ति॥ २६४॥

तिर्यग्गत धमनियाँ—तिर्यग्गत ४ धमनियों में हर एक में से उत्तरोत्तर विभक्त हो कर सैकड़ों, हजारों धमनियाँ हो जाती हैं, अतः उनकी संख्या नहीं हो सकती। उन्हीं असंख्य धमनियों से मनुष्यादि का यह शरीर गवाक्ष (हवा आने की जालीदार खिड़की) की भाँति सर्वत्र निबद्ध अर्थात् भर रहा है। यहां पर मूल में 'गवाक्षितं निबद्धमायतञ्च' यह जो लिखा है उसका अर्थ यह है कि 'गवाक्ष की भाँति बहुत दूर में अर्थात् सर्वत्र निबद्ध (भर रहा) है।' इसका भाव यह है कि 'गवाक्ष' (हवा के आने जाने की खिड़की) में जैसे बहुत से छिद्र होते हैं, उसी भाँति इस शरीर में भी जाल की भाँति शिरायें सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित हैं अर्थात् जालीदार खिड़की की भाँति छिद्र समूहों से युक्त हो रहा है। उन्हीं असंख्य शिराओं के मुख प्रत्येक रोमों के साथ लगे हुए हैं अत एव जो स्वेद (पसीना) निकलता है वह उन्हीं असंख्य शिराओं के मुख से ही निकलता है तथा उन्हीं के द्वारा देहस्थित रस भीतर बाहर सर्वत्र पहुँच कर सन्तर्पण करता (सींचता) रहता है और उन्हीं के द्वारा अभ्यङ्ग (तैलादि की मालिश करना), परिषेक (शीतल जलादिकों से सेचन करना),

---

१. 'अन्तर्वहे' इति पा०। २. 'प्रादुर्भावाय ते अधिस्रुतश्चे'ति पा०। ३. कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः। ४. 'गवाक्षाकारान्त्रे'ति पा०।

अवगाहन (स्नान करना) और आलेपन (चन्दनादि का लेप करना) इन सबों के वीर्य (प्रभाव) त्वचा में जब परिपक्व हो जाते हैं तब शरीर के भीतर प्रवेश करते हैं और उन्हीं के द्वारा पुरुष शुभ (भला) अथवा अशुभ (बुरा) स्पर्श का ज्ञान प्राप्त करता है ॥ २६४ ॥

यथा स्वभावतः खानि मृणालेषु बिसेषु च । धमनीनां तथा खानि रसो यैरभितश्चरेत् ॥२६५॥

जिस प्रकार से कमल के नाल तथा कन्दों में स्वभावतः बहुत से छिद्र होते हैं उसी प्रकार पूर्वोक्त धमनियों में भी छिद्र होते हैं । जिनसे कि रस चारों तरफ सञ्चार करता रहता है ॥ २६५ ॥

पञ्चाभिभूतास्त्वथ पञ्चकृत्वः पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयन्ति ।
पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयित्वा पञ्चत्वमायान्ति विनाशकाले ॥ २६६ ॥

पञ्चभूतात्मक धमनियाँ पाँच इन्द्रियों से विशिष्ट जीवात्मा को श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियों के अधिष्ठानों में संयोजित करती हैं अर्थात् क्रमानुसार प्रत्येक इन्द्रियों के अधिष्ठान में संयोजित करती हैं न कि एक ही समय में जीवात्मा को पाँचों इन्द्रियों के अधिष्ठानों में संयोजित करती हैं । एवं श्रोत्रादि पाँच बुद्धीन्द्रियों और इनसे उपलक्षित हस्तादि पांच कर्मेन्द्रियों को तथा ज्ञानेन्द्रिय और बुद्धीन्द्रिय संज्ञक मन को भी पृथिव्यादि सम्बन्धी पाँच बुद्धीन्द्रियों के गन्धादि विषयों में और उनमें उपलक्षित हस्तादि पाँच कर्मेन्द्रियों के विषयों में तथा मन के विषय मन्तव्य अर्थात् सभी इन्द्रियों के विषयों के ज्ञान करने में संयोजित करती हैं, तथा प्राणविनाश होने के समय सभी धमनियाँ पञ्चत्व अर्थात् आकाशादि पञ्च महाभूतों के भाव को प्राप्त हो जाती हैं । इसका भाव यह है कि— धमनियों की ही सहायता से जीवात्मा क्रम से श्रोत्रादि प्रत्येक इन्द्रियों के अधिष्ठानों का आश्रय लेता है तथा उसके आश्रय लेने के बाद वे ही इन्द्रियाँ अपने २ विषयों में संयोजित होती हैं यह प्रकृतावस्था की दशा है, विकृतावस्था में अपने २ महाभूतों के रूप में मिल जाती हैं ॥ २६६ ॥

***अस्यायमर्थः—धमन्यः कथम्भूताः पञ्चाभिभूताः, पञ्चभ्य आकाशादिमहाभूतेभ्यः, अभिसमन्ताद् भूताः । पञ्चेन्द्रियम् = पञ्च इन्द्रियाणि उभयात्मकं मनश्च यस्य तं पञ्चेन्द्रियं जीवात्मानम् । पञ्चसु = इन्द्रियाधिष्ठानेषु श्रोत्रादिषु । पञ्चकृत्वः = पञ्चवारान् , पर्यायेण न तु एकदैव, भावयन्ति = प्रापयन्ति । पञ्चेन्द्रियं = पञ्चानामिन्द्रियाणां समाहारः पञ्चेन्द्रियं श्रोत्रादि तदुपलक्षितं कर्मेन्द्रियं मनश्च । पञ्चसु = पृथिव्यादिषु बुद्धीन्द्रियविषयेषु तदुपलक्षितेषु हस्तादिषु कर्मेन्द्रियविषयेषु मन्तव्ये मनोविषये च । भावयित्वा = प्राप्य, संयोज्येति यावत् । विनाशकाले पञ्चत्वमाकाशादिभावमायान्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ २६६ ॥**

उपर्युक्त श्लोक स्थित पदों की व्याख्या करते हुये कहते हैं कि—धमनियाँ कैसी हैं कि–'पञ्चाभिभूताः' अर्थात् आकाशादि पञ्चमहाभूतों से अभिभूत (सर्वतोभाव से उत्पन्न) हैं । 'पञ्चेन्द्रियम्' अर्थात् पाँच श्रोत्रादि इन्द्रियाँ तथा उभयात्मक (बुद्धीन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय स्वरूप) मन जिसकी इन्द्रियाँ हैं ऐसे जीवात्मा को । 'पञ्चसु' अर्थात् श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियों के अधिष्ठानों में । 'पञ्चकृत्वः' अर्थात् पाँच बार पर्याय से (क्रम से) न कि एक समय में ही । 'भावयन्ति' अर्थात् प्राप्त (संयोजित) करती हैं । 'पञ्चेन्द्रियम्' अर्थात् पाँचों इन्द्रियों के समूह जो श्रोत्रादि बुद्धीन्द्रियाँ तथा उनसे उपलक्षित हस्तादि कर्मेन्द्रियाँ एवं मन हैं उन सबों को । 'पञ्चसु' अर्थात् पृथिव्यादि सम्बन्धी जो बुद्धीन्द्रियों के गन्धादि विषय हैं तथा उनसे उपलक्षित हस्तादि कर्मेन्द्रियों के भी जो ग्राह्यादि (सृष्टिप्रकरणोक्त) विषय हैं, एवं मन के भी जो मन्तव्य अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियों के विषयों का ज्ञानरूप विषय हैं उन सबों में 'भावयित्वा' अर्थात् प्राप्त (संयोजित) कर के । विनाश का काल उपस्थित होने पर 'पचत्वम्' अर्थात् आकाशादि ५ महाभूतों के भाव को प्राप्त करती हैं—पञ्च महाभूतों के रूप में मिल जाती हैं ॥ २६६ ॥

अथ कण्डराः—

महत्यः स्नायवः प्रोक्ताः कण्डरास्तास्तु षोडश । प्रसारणाकुञ्चनयोर्दृष्टं तासां प्रयोजनम् ॥
चतस्रो हस्तयोस्तासां तावत्यः[1] पादयोः स्मृताः ।
ग्रीवायामपि तावत्यस्तावत्यः[2] पृष्ठसङ्गताः ॥ २६७ ॥

कण्डराओं के स्वरूप और स्थान—बड़ी २ स्नायुओं को 'कण्डरा' कहते हैं, वे १६ हैं। कण्डराओं के द्वारा शरीर के अवयवों का फैलाना और सिकोड़ना क्रिया सम्पन्न होती हैं। उन १६ कण्डराओं में से ४ कण्डरायें दोनों हाथों में, ४ दोनों पैरों में, ४ गर्दन में और ४ ही पीठ में होती हैं ॥

*तत्र पादहस्तगतानां कण्डराणां नखाः प्ररोहाः। ग्रीवानिबन्धनानामधोभागगतानां प्ररोहो मेढ्रं। पृष्ठनिबन्धनानां प्ररोहा[3] नितम्बमूर्धोरुवक्षोऽक्षिस्तनपिण्डाः ॥ २६८ ॥

उनमें से जो हाथों और पैरों में रहनेवाली कण्डरायें हैं उनके प्ररोह (अङ्कुर) भाग नख हैं। गर्दन में बँधी हुई और नीचे की ओर गई हुई कण्डराओं का प्ररोह (अङ्कुर) भाग मेढ्र (लिङ्ग) है। और पीठ में बँधी हुई कण्डराओं के प्ररोह (अङ्कुर) भाग नितम्ब, मस्तक, ऊरु, वक्षःस्थल, नेत्र और स्तनपिण्ड हैं ॥ २६७–२६८ ॥

अथ रन्ध्राणि—

नेत्रश्रवणनासानां द्वे द्वे रन्ध्रे प्रकीर्त्तिते। मुखमेहनपायूनामेकैकं रन्ध्रमुच्यते ॥ २६९ ॥
दशमं मस्तके प्रोक्तं रन्ध्राणीति नृणां विदुः। स्त्रीणामन्यानि च त्रीणि स्तनयोर्गर्भवर्त्मनि ॥

रन्ध्रों की संख्या और स्थान - नेत्र, कान, नाक, में दो-दो, मुख, लिङ्ग तथा गुदा में एक-एक और मस्तक में एक छिद्र होता है। इस प्रकार पुरुषों के शरीर में १० छिद्र होते हैं। स्त्रियों के शरीर में दोनों स्तनों में दो और गर्भाशय में एक इस प्रकार ३ छिद्र अधिक होते हैं ॥

अथ स्रोतांसि—

मनःप्राणान्नपानीयदोषधातूपधातवः । धातूनां च मला मूत्रं मलमित्यादयस्तनौ ॥ २७१ ॥
सञ्चरन्ति हि यैर्मार्गैस्तानि स्रोतांसि लक्षणुः। बहूनि तानि संख्याय शक्यन्ते नैव भाषितुम्॥

स्रोतों के लक्षण—जिन मार्गों से मन, प्राण, अन्न, जल, दोष, धातु, उपधातु, धातुओं के मल, मूत्र और विष्ठा आदि पदार्थ शरीर में सञ्चार करते हैं उन्हीं मार्गों को स्रोत कहते हैं। वे इतने अधिक हैं कि गिन नहीं सकते अर्थात् असंख्य हैं ॥ २७१–२७२ ॥

अथ जालानि—

जालानि तु शिरास्नायुमांसास्थ्नामुद्भवन्ति हि। तानि चत्वारि चत्वारि सर्वाण्येव च षोडश॥

जालों के लक्षण और संख्या—शिरा (नसें), स्नायु, मांस और हड्डी इनका जाल होता है अर्थात् इन्हीं से जालों की उत्पत्ति होती है। वे जाल प्रत्येक शिरा आदि में चार २ हैं अत एव सब मिल कर सोलह हैं ॥ २७३ ॥

*निरन्तररन्ध्राणि[4] करकलितानि समूहितानि च जालानीव जालानि। तानि मणिबन्धगुल्फसंश्रितानि[5] परस्परनिबद्धानि परस्परसंश्लिष्टानि परस्परगवाक्षितानि चेति, यैर्गवाक्षितमिदं शरीरम्।

---

१. 'तावन्त्य' इति पा०। २. 'तावन्त्यस्तावन्त्य' इति पा०। ३. 'मूर्ध्नो' रिति पा०।
४. 'रन्ध्राणि करे'ति पा०। ५. 'संस्तृते'ति पाठान्तरं सार्वत्रिकं सुश्रुतासम्मतम्।

निरन्तर (सघन) छिद्रसमूहों से बने हुये समूह युक्त जाल की भांति होने से ये जाल कहलाते हैं। ये मणिबन्ध (कलाई) और गुल्फ (पादग्रन्थि) में स्थित परस्पर बँधे हुये तथा परस्पर मिले हुये हैं अत एव गवाक्ष (जालीदार खिड़की) की भाँति छिद्रयुक्त होते हैं। जिन (जालों) से यह शरीर गवाक्षित (जालीदार खिड़की की भांति) होता है॥

*अयमर्थः—एकस्मिन् मणिबन्धे एकं जालं शिरायाः, अपरं स्नायोः, तृतीयं मांसस्य, चतुर्थमस्थ्नः, एवं चत्वारि जालानि। एतेनेतरमणिबन्धो गुल्फौ च व्याख्यातौ। गवाक्षितं विरचितनिरन्तरजालाकाररन्ध्रनिकरपरिकलितमित्यर्थः॥ २७३॥

स्पष्ट अभिप्राय यह है कि—एक मणिबन्ध में एक जाल शिराओं का, दूसरा स्नायुओं का, तीसरा मांस का, चौथा हड्डियों का, इस प्रकार चार जाल हैं। इसी प्रकार दूसरे मणिबन्ध तथा दोनों गुल्फों (पैर की एड़ी) में चार २ जाल कहे हुये हैं। तथा इन जालों से यह शरीर गवाक्षित अर्थात्—सघन बुने हुये जाल के आकार की भांति छिद्रसमूहों से व्याप्त रहता है॥ २७३॥

अथ कूर्चाः—

कूर्चाः स्युर्हस्तयोर्द्वौ तु तावन्तौ पादयोरपि। ग्रीवायामेक एकस्तु मेढ्रे सर्वेऽपि षट् स्मृताः।
कूर्चा अपि शिरास्नायुमांसास्थिप्रभवाः[1] स्मृताः॥ २७४॥

कूर्चों के लक्षण और संख्या—दोनों हाथों में दो, दोनों पैरों में दो, ग्रीवा में एक और मेढ़ में एक, इस प्रकार सब मिलकर छै कूर्च हैं, कूर्च शिरा, स्नायु, मांस तथा अस्थियों से ही बने होते हैं। कूर्च (कूँचा) के समान आकृति होने से ये कूर्च कहलाते हैं॥ २७४॥

अथ रज्जवः—

पृष्ठवंशस्योभयत्र महत्यो मांसरज्जवः। चतस्रो मांसपेशीनां बन्धनं तत्प्रयोजनम्॥ २७५॥

रज्जुओं के लक्षण और संख्या—पृष्ठवंश (मेरुदण्ड) के दोनों तरफ-बड़ी २ चार मांस की रज्जु (डोरियां) हैं, उनमें से दो बाहर की तथा दो भीतर की हैं। इनका प्रयोजन केवल यह है कि मांसपेशियों को ऊपर नीचे से अस्थियों में बाँध कर रखें जिससे बिखर न जायँ॥ २७५॥

अथ सेवन्यः—

सेवन्यः सप्त तासां तु भवेयुः पञ्च मस्तके। एका शेफसि जिह्वायामेका विध्येन्न ताः क्वचित्॥

सेवनियों के लक्षण और संख्या—शरीर में सेवनी सात होती हैं, उनमें पाँच मस्तक में, एक लिङ्ग में, तथा एक जीभ में होती है। सेवनियों का कभी शस्त्रादि से वेध नहीं करना चाहिये। सिले हुए की भांति जो स्थान होता है उसीको सेवनी समझना चाहिये॥ २७६॥

अथ सङ्घाताः—

चतुर्दशास्थ्नां सङ्घातास्तेषां त्रयो गुल्फजानुवंक्षणेषु।
एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ त्रिकशिरसोरेकैकम्[2]॥ २७७॥

सङ्घातों की संख्या—हड्डियों के संघात (एक जगह रहना) शरीर में १४ हैं। उनमें से तीन सङ्घात गुल्फ (एड़ी), जानु और वङ्क्षण (ऊरुसन्धि) में हैं, इसी तरह दूसरे पैर के भी गुल्फ, जानु तथा वङ्क्षण में तीन सङ्घात हैं। तथा दोनों बाहुओं में भी तीन-तीन सङ्घात हैं अर्थात् दोनों बाहुओं के मणिबन्ध, कूर्पर (केहुनी) तथा वंक्षण (बगल) में भी तीन-तीन कुल छे सङ्घात हैं और त्रिकस्थान में एक तथा शिर में भी एक सङ्घात है॥ २७७॥

* अत्र तु त्रिकपदेन बाहुग्रीवास्थिसङ्घात उच्यते॥ २७७॥

---

१. 'प्रभव' इति पा०। २. 'रेकैक' इति पा०।

'त्रिक' पद से ग्रीवा और दोनों बाहुओं के मध्यमें स्थित अस्थिसङ्घात को समझना चाहिये ॥

अथ सीमन्ताः—

चतुर्दशैव सीमन्ताः कथिता मुनिपुङ्गवैः । सङ्घाताः सीविता यैस्तु सीमन्तास्ते प्रकीर्त्तिताः ॥

सीमन्तों के लक्षण और संख्या—मुनिश्रेष्ठों ने शरीर में चौदह सीमन्त कहे हैं। जिनसे अस्थियों के सङ्घात परस्पर जोड़े जाते हैं, वे सीमन्त कहलाते हैं ॥ २७८ ॥

*** यैः—अस्थिभिः ॥ २७८ ॥**

'जिन से' अर्थात् जिन हड्डियों से ॥ २७८ ॥

अथ त्वचः—

क्षीरस्य पच्यमानस्य यथा सन्तानिका भवेत् । पच्यमानस्य शुक्रस्य रजसश्च तथा त्वचः ॥
पूर्वावभासिनी तासां सिध्मस्थानं च सा स्मृता ॥ २७९ ॥

त्वचाओं के लक्षण और संख्या—जिस प्रकार अग्नि पर दूध के पकाये जाने पर उसके ऊपर सन्तानिका (मलाई) पड़ जाती है, उसी भांति धातुस्थित अग्नि से पकते हुए शुक्र तथा रज से भी जो उत्पन्न होता है वही त्वचा कहलाता है और एक के ऊपर दूसरी इस प्रकार से सब मिलकर सात प्रकार की त्वचायें हैं उनमें से सबसे पहली अवभासिनी नाम की त्वचा है, जो सिध्मनामक कोढ़ विशेष के उत्पन्न होने का स्थान है ॥ २७९ ॥

***अथावभासिनी—भ्राजकेन पित्तेनावभासनात् । परिणाहेन विस्तारितस्य व्रीहेः([1]विंशतिभागेष्व)ष्टादशो भागः प्रमाणं यस्याः। व्रीहिरत्रयवः, सा सिध्मपद्मकण्टकयोरधिष्ठानम् ॥**

त्वचा का जो 'अवभासिनी' नाम है वह भ्राजक नामक पित्त से अवभासित (दीप्त) होने से ही है। परिणाह अर्थात् चौड़ाई में फैलाये हुये व्रीहि का (जव की चौड़ाई का) बीस भाग करने पर उनमें से केवल १८ भागों को मिला कर जितनी चौड़ाई होती है उतने प्रमाण इस त्वचा की मुटाई होती है। यहाँ पर 'व्रीहि' इस पद से जव नामक अन्न का ग्रहण करना चाहिये। यह केवल 'सिध्म' उत्पन्न होने का स्थान नहीं है, बल्कि 'सिध्म' और 'पद्मकण्टक' दोनों ही का उत्पत्तिस्थान है ॥

द्वितीया लोहिता ज्ञेया तिलकालकजन्मभूः ॥ २८० ॥

दूसरी त्वचा का नाम 'लोहिता' है यह 'तिलकालक' का उत्पत्तिस्थान है ॥ २८० ॥

*** द्वितीया यवषोडशभागप्रमाणा तिलकालकन्यच्छव्यङ्गानामधिष्ठानम् ॥ २८० ॥**

दूसरी त्वचा की मुटाई जौ की चौड़ाई के २० भागों में से १६ भागों के बराबर होती है। यह केवल तिलकालक का ही नहीं किन्तु न्यच्छ और व्यङ्ग (झाईं) रोगों का भी उत्पत्तिस्थान है॥

तृतीया तु भवेच्छ्वेता स्थानं चर्मदलस्य सा ॥ २८१ ॥

तीसरी त्वचा श्वेता नाम की होती है जो चर्मदल नामक रोग का उत्पत्तिस्थान है ॥ २८१ ॥

*** सा यवद्वादशभागप्रमाणा चर्मदलाजगल्लिकामशकानामधिष्ठानम् ॥ २८१ ॥**

तीसरी त्वचा की मुटाई जव की चौड़ाई के २० भागों में से १२ भागों के बराबर होती है और वह केवल चर्मदल का ही नहीं, किन्तु अजगल्लिका और मस्सा का भी उत्पत्तिस्थान है ॥ २८१ ॥

ताम्रा चतुर्थी विज्ञेया किलासश्वित्रभूमिका ॥ २८२ ॥

चौथी त्वचा का नाम ताम्रा है, वह किलास तथा श्वित्र नामक कोढ़ का उत्पत्तिस्थान है ॥२८२॥

*** चतुर्थी यवाष्टभागप्रमाणा ॥ २८२ ॥**

चौथी त्वचा की मुटाई जव की चौड़ाई के बीस भागों में से ८ भागों के बराबर होती है ॥२८२॥

---

१. कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः ।

(पञ्चमी[1] वेदिनी नाम्ना पञ्चभागप्रमाणिका । विसर्पकुष्ठाधिष्ठाना ज्ञेया षष्ठी तु रोहिणी ॥ विख्याता रोहिणी षष्ठी ग्रन्थिगण्डापचीस्थितिः ॥ २८३ ॥)

पांचवीं त्वचा वेदिनी नाम की होती है। इसकी मुटाई जौ की चौड़ाई के २० भागों में से ५ भागों के बराबर होती है। यह विसर्प तथा कुष्ठों का उत्पत्तिस्थान है। छठी त्वचा रोहिणी नाम से प्रसिद्ध है, यह गाँठ, अपची और गलगण्ड रोग का उत्पत्तिस्थान है ॥ २८३ ॥

⊛ [2]व्रीहिमात्रप्रमाणा सा रोहिणी ग्रन्थ्यपचीगलगण्ड ([3]गण्ड) मालाऽर्बुदश्लीपदानामधिष्ठानम् ॥ २८३ ॥

'रोहिणी' नाम की जो छठीं त्वचा है, उसकी मुटाई एक जौ की चौड़ाई के बराबर है। वह केवल गाँठ, अपची और गलगण्ड का ही नहीं किन्तु गण्डमाला, अर्बुद और श्लीपद रोग का भी उत्पत्तिस्थान है ॥ २८३ ॥

स्थूला त्वक्सप्तमी ख्याता विद्रध्यादेः स्थितिश्च सा ॥ २८४ ॥

सातवीं त्वचा स्थूला नाम से प्रसिद्ध है और वह विद्रधि आदि रोगों का उत्पत्तिस्थान है॥२८४॥

⊛ सा सप्तमी व्रीहिद्वयप्रमाणा ॥ अत[4] एवोक्तं शार्ङ्गधरेण-स्थूला व्रीहिद्विमात्रयेति । सप्तापि त्वचः समुदिता विंशतितमभागोनषड्यवप्रमाणाः । षड्यवप्रमाणं तु अङ्गुष्ठोदरतुल्यम् । यत उक्तम्-'एतत् प्रमाणं मांसलेषु स्थलेषु बोद्धव्यम्, न तु ललाटसूचमाङ्गुल्यादिषु उदरे [5]त्वङ्गुष्ठप्रमाणमेव गाढं विध्येदि'ति ॥ २८४ ॥

सातवीं स्थूला नामक त्वचा की मुटाई दो जौ की चौड़ाई की भाँति होती है। क्योंकि 'शार्ङ्गधर' ने भी कहा है कि—'स्थूला नामक त्वचा की मुटाई दो जव के बराबर है' और इन सातो त्वचाओं की मुटाई सब मिलकर एक जौ के बीस भागों में से बीसवां भाग (अर्थात एक भाग) कम ६ जौ के चौड़ाई के भाँति है। ६ जौ की चौड़ाई तो हाथ के अंगूठे के उदर भाग की चौड़ाई के बराबर होती है। किन्तु यह प्रमाण (चौड़ाई) मांसल (मांस से भरे हुए) स्थूल भागों में ही जानना चाहिये; न कि ललाट, तथा पतली अंगुली आदि भागों में। क्योंकि कहा भी है कि 'पेट में यदि शस्त्र से वेध (छेदन) करना हो तो अंगूठे के उदर की चौड़ाई के बराबर गहरा छेदन करना चाहिये॥

अथ लोमानि लोमकूपाश्च ।

अस्थ्नो मलानि लोमानि चासंख्यानि भवन्ति हि ।
सन्ति यावन्ति लोमानि तावन्तो लोमकूपकाः ॥ २८५ ॥

रोम तथा रोमकूप—रोम हड्डियों के मल से उत्पन्न होते हैं और वे असङ्ख्य हैं। तथा शरीर में जितने रोम हैं उतने ही रोमकूप (छिद्र) भी हैं ॥ २८५ ॥

अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते । सन्निवेशश्च गात्राणां नान्यस्ते कारणान्तरम् ॥२८६॥

अङ्ग और प्रत्यङ्गों की उत्पत्ति तथा इन सबों का भिन्न २ प्रकार की बनावट स्वभाव से ही होती है। इसमें दूसरा कारण कोई नहीं है ॥ २८६ ॥

⊛निर्वृत्तिः = सिद्धिः । स्वभावात् = ईश्वरात् । सन्निवेशो = रचनाविशेषः ॥ २८६ ॥

'निर्वृत्ति' पद से सिद्धि अर्थात उत्पत्ति और 'स्वभाव' पद से 'ईश्वर की इच्छा' तथा 'सन्निवेश' पद से 'रचना विशेष' अर्थात 'बनावट' समझना चाहिये ॥ २८६ ॥

---

१. एतत्कोष्ठस्थपाठस्थाने क्वचित् 'पञ्चमी वेदिनी नाम्ना सर्वकुष्ठोद्भवा तु सा । विख्याता रोहिणी षष्ठी ग्रन्थिगण्डापचीस्थितिः' इति पाठो लभ्यते । २. 'सा पञ्चमी वेदिनी यवपञ्चभागप्रमाणिका । सा षष्ठी रोहिणी व्रीहिप्रमाणे'ति पाठान्तरम् । ३. क्वचिन्नोपलभ्यते कोष्ठस्थः पाठः । ४. 'तत' इति पाठान्तरम् । ५. 'उदरेत्वङ्गुष्ठप्रमाणमेव गाढं विध्येदि'ति पा० ।

अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तौ ये भवन्त्यगुणा गुणाः । ते ते गर्भस्य विज्ञेया धर्माधर्मनिमित्तजाः ॥२८७॥
दन्तानां पतनं जन्म पुनः पाते त्वसम्भवः । तलेष्वनुद्भवो लोम्नामेतत्सर्वं स्वभावतः ॥२८८॥

गर्भ के अङ्ग तथा उपाङ्गों के बनने में जो गुण अथवा अवगुण (दोष) हो जाते हैं वे उसी गर्भस्थ जीव के धर्म तथा अधर्म के निमित्त से ही होते हैं। बाल्यावस्था में दाँतों का गिरना तथा उसके बाद पुनः जमना और दुबारा जमे हुये दाँतों के गिरने पर पुनर्वार न जमना, एवं हथेली तथा तलुए में रोगों का न होना, ये सब स्वभाव (ईश्वरेच्छा) से होते हैं, इनमें कोई दूसरा कारण नहीं है ॥ २८७-२८८ ॥

गर्भे मासि मासि यद्भवति तदाह—

गर्भाशये निपतितं यादृक्शुक्रं तथाऽऽर्तवम् । तादृगेव द्रवीभूतं प्रथमे मासि तिष्ठति ॥२८९॥

प्रत्येक मास में गर्भ की अवस्था—गर्भाशय में जैसी अवस्था में शुक्र तथा रज गिरता है पहले महीने में वह वैसी (द्रवरूप में) ही रहता है ॥ २८९ ॥

मरुत्पित्तकफैस्तत्रस्थैः पच्यमानो[1] द्वितीयके । [2]कललस्थमहाभूतसमुदायो घनीभवेत् ॥२९०॥

दूसरे मास में गर्भाशय में स्थित वायु, पित्त और कफ की ऊष्मा से पकता हुआ कलल में स्थित पृथिव्यादि पञ्चमहाभूतों से बना हुआ कललस्वरूप शुक्र और रज घन हो जाता है ॥ २९० ॥

*अत्र मरुत्कफयोरपि पाकहेतुत्वमेव[3] तयोरप्यूष्मणोऽधिकरणत्वात् । यत उक्तं चरके 'भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः' इति ॥ २९० ॥

यहाँ पित्त की भाँति वायु और कफ को भी पाक का कारण समझना चाहिये क्योंकि इन दोनों में भी ऊष्मा होती है। अतएव चरक में भी कहा है कि—'भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश में रहनेवाली भी पाँच ऊष्मा है' ॥ २९० ॥

तृतीये मासि शिरसो हस्तयोः पादयोस्तथा । पिण्डकाः पञ्च सिध्यन्ति सूक्ष्माङ्गावयवास्तनोः ॥

तीसरे मास में शिर, दोनों हाथ और दोनों पैर इन पाँच अवयवों के स्थान में पाँच पिण्ड और शरीर के सूक्ष्मभाव से अङ्गों के अवयव भी निकलते हैं ॥ २९१ ॥

सर्वाण्यङ्गान्युपाङ्गानि चतुर्थे स्युः स्फुटानि हि । हृदयव्यक्तभावेन व्यज्यते चेतनाऽपि च ॥
तस्माच्चतुर्थे गर्भस्तु नाना वस्तूनि वाञ्छति । ततो द्विहृदया नारी दौहृदिनी मता ॥
दौहृदावज्ञया कुब्जं कुणिं षण्ढं च वामनम् । विकृताक्षमनक्षं वा पुत्रं नारी प्रसूयते ॥२९४॥
यतः स्त्री दौहृदं प्राप्य वीर्यवन्तं चिरायुषम् । पुत्रं प्रसूयते तस्मात्तस्यै वाञ्छितमर्पयेत् ॥

चौथे मास में जितने अङ्ग और उपाङ्ग हैं वे सभी स्फुट (साफ २ प्रगट) हो जाते हैं और साथ २ हृदय के व्यक्त हो जाने से चेतना भी व्यक्त हो जाती है। इसी से उस समय गर्भिणी स्त्री दो (एक अपना और दूसरा गर्भ का) हृदयवाली हो जाने से 'दौहृदिनी' कहलाने लगती है। अतएव दौहृद की अवज्ञा होने से अर्थात् गर्भिणी स्त्री अभिलषित वस्तु को न पाने से कुब्जा, लूला, नपुंसक, बौना, विकार से युक्त (बुरा) नेत्रोंवाला अथवा अन्धा बालक उत्पन्न करती है। क्योंकि गर्भिणी स्त्री दौहृद (अभिलषित वस्तु) पाकर के वीर्यशाली और दीर्घ आयुवाली सन्तान पैदा करती है, अतः गर्भिणी को जो वाञ्छित वस्तु हो देवे ॥ २९२-२९५ ॥

इन्द्रियार्थांस्तु यान्यान्सा भोक्तुमिच्छति गर्भिणी । गर्भाबाधभयात्तांस्तान्भिषगाहृत्य दापयेत् ॥

गर्भिणी स्त्री आंख, कान आदि जिन २ इन्द्रियों के विषयों को भोगने की इच्छा करे उन २ विषयों को न देने से भी गर्भ को बाधा पहुँचेगी इस भय से वैद्य मंगवा करके दिलावे ॥ २९६ ॥

---

१. 'पाच्यमानमि'ति पा० । २. 'कललस्थं महाभूतं समुदायमि'ति पा० । ३. 'हेतुत्वे' इति पा० ।

*भोक्तुमुपभोक्तुमित्यर्थः ॥ २९६ ॥

'भोग करने की' अर्थात् 'उपभोग करने की' ऐसा समझना चाहिये ॥ २९६ ॥

सा प्राप्तदौहृदा पुत्रं जनयेत्तु गुणान्वितम् । अलब्धदौहृदा गर्भे लभेतात्मनि वा भयम् ॥

इस प्रकार से अभिलषित वस्तु को प्राप्त किये हुई जो गर्भिणी स्त्री होती है वह गुण से युक्त सन्तान पैदा करती है और जो अभिलषित वस्तु को नहीं प्राप्त करती है वह अपने गर्भ अथवा शरीर के विषय में बाधा प्राप्त करती है ॥ २९७ ॥

येषु येष्विन्द्रियार्थेषु दौहृदे साऽवमानिता । प्रसूयते सुतं सार्ति तस्मिंस्तस्मिंस्तदिन्द्रिये ॥

*सार्ति = सव्यथम् ॥ २९८ ॥

जिन २ इन्द्रियों के विषय शब्द स्पर्शादि अभिलषित होते हुये भी यदि गर्भिणी को नहीं प्राप्त होते हैं तो वह उन २ इन्द्रियों ही के सम्बन्ध में पीड़ा युक्त सन्तान पैदा करती है अर्थात् जैसे गर्भिणी की इत्र सूँघने की इच्छा हुई और उसे इत्र नहीं प्राप्त हुआ तो उसके जो सन्तान पैदा होगी उसके घ्राणेन्द्रिय (नासिका) में अवश्य किसी न किसी रोग से पीड़ा पहुँचेगी ॥ २९८ ॥

दौहृदविशेषफलमाह—

राजसन्दर्शने यस्या दौहृदं जायते स्त्रियाः । अर्थवन्तं महाभागं कुमारं सा प्रसूयते ॥ २९९ ॥
दुकूलपट्टकौशेयभूषणादिषु दौहृदात् । अलङ्कारैषिणं पुत्रं ललितं सा प्रसूयते ॥ ३०० ॥

गर्भिणी की इच्छा विशेष—जिस गर्भिणी स्त्री की अभिलाषा राजा के दर्शन करने की हो वह धनवान् और भाग्यशाली सन्तान पैदा करती है। यदि उत्तम सूती अथवा रेशमी वस्त्र तथा भूषणादि धारण करने की अभिलाषा हो तो वह अलङ्कारों (आभूषणों) को चाहने वाली सुन्दर सन्तान पैदा करती है २९९-३०० ॥

आश्रमे सन्यतात्मानं धर्मशीलं प्रसूयते। देवताप्रतिमायां तु प्रसूते पार्षदोपमम् ॥ ३०१ ॥

यदि (तपस्वियों के) आश्रम देखने या वहां पर रहने के विषय में अभिलाषा हो तो मन को वश में रखने वाली धर्मशील सन्तान पैदा करती है। यदि देवताओं की प्रतिमा (मूर्त्ति) देखने अथवा पूजनादि करने की अभिलाषा हो तो पार्षद के समान सन्तान उत्पन्न करती है ॥ ३०१ ॥

*आश्रमे = तपस्विनामाश्रमे दौहृदात् , पार्षदोपमं = प्रमथोपमम् ॥ ३०१ ॥

'आश्रमे' का अर्थ प्रकरण वश 'तपस्वियों के आश्रम देखने या वहां पर रहने के विषय में अभिलाषा हो' ऐसा किया गया है और 'पार्षदोपमम्' इस पद से प्रमथ (भगवान् शङ्कर के पार्षद) के समान ऐसा अर्थ समझना चाहिये ॥ ३०१ ॥

दर्शने व्यालजातीनां हिंसाशीलं प्रसूयते । रक्ताक्षं लोमशं शूरं महिषामिषदौहृदात् ॥ ३०२ ॥
वाराहमांसे स्वप्नालुं शूरं सञ्जनयेत्सुतम् । मृगमांसे तु जङ्घालं[1] विक्रान्तं वनचारिणम् ॥
अतोऽनुक्तेषु या नारी दौहृदं विदधाति हि । शरीराचारशीलैः सा समानं जनयिष्यति ॥
पञ्चमे मानसं षष्ठे बुद्धिश्चातिप्रबुद्ध्यते । सर्वाण्यङ्गान्युपाङ्गानि भृशं व्यक्तानि सप्तमे ॥३०५॥
ओजोऽष्टमे सञ्चरति माता पुत्रौ मुहुः क्रमात् । तेन तौ म्लानमुदितौ स्यातां जातो न जीवति ॥

यदि हिंस्रजातिवाले व्याघ्रादि जीवों के देखने के विषय में अभिलाषा हो तो हिंसाशील सन्तान पैदा करती है। महिष (भैंसा) के मांस खाने की अभिलाषा होने से लाल नेत्रवाली, बहुत रोंये से युक्त शरीर वाली और शूर (पराक्रमी) सन्तान पैदा करती है। सूअर के मांस खाने की अभिलाषा होने से अधिक सोनेवाली और शूर सन्तान पैदा करती है। हरिण के मांस खाने की

---

१. 'तच्छायमि'ति पा० ।

अभिलाषा होने से जङ्गाल अर्थात् दौड़ लगानेवाली अथवा जङ्घा में अधिक ताकत रखनेवाली विक्रम से युक्त वन में विचरण करनेवाली सन्तान पैदा करती है। जो गर्भिणी स्त्री इन पूर्वोक्त जन्तुओं से भिन्न जन्तुओं के मांस खाने की इच्छा करे तो जैसा उस जन्तु का शरीर, आचरण और स्वभाव होगा उसी के समान शरीर, आचरण और स्वभाव रखनेवाली सन्तान पैदा करेगी। पांचवें महीने में मन और छठें महीने में बुद्धि उत्पन्न होती हैं। जितने अङ्ग तथा उपाङ्ग हैं वे सब सातवें महीने में भली भांति व्यक्त हो जाते हैं और आंठवें महीने में ओज उत्पन्न होता है। ओज माता तथा पुत्र (यहां पर 'पुत्र' शब्द उपलक्षणपरक है अतः सन्तान मात्र का बोधक समझना) दोनों में क्रम से बारंबार सञ्चार करता रहता है, अतः वे दोनों म्लान तथा हर्षित होते रहते हैं अर्थात् जिस समय ओज माता में सञ्चार करता है उस समय माता हर्षित और गर्भस्थ बालक म्लान हो जाता है; तथा जिस समय ओज बालक में सञ्चार करता है उस समय बालक हर्षित और माता म्लान हो जाती हैं, और आठवें महीने में उत्पन्न हुआ बालक प्रायः जीवित नहीं रहता है क्योंकि उस महीने में ओज स्थिर नहीं रहता है। यहां पर यह भी समझना चाहिये कि जिस समय ओज माता में चला गया होता है उस समय यदि बालक का जन्म होता है तो वह नहीं जीवित रहता है और यदि बालक ही में रहता है तो जन्म लेने पर जीवित रह सकता है॥ ३०२-३०६॥

न जीवत्यष्टमे जातस्तत्रौजो न स्थिरं यतः। तथा नैर्ऋत्यभागत्वाद्दापयेत्तद्बलिं ततः॥३०७॥

अष्टम मास में उत्पन्न हुई सन्तान के जीवित न रहने में एक यह भी कारण है कि नैर्ऋत्य नामक रुद्र के अनुचर का उस समय बालक के शरीर में अंश रहता है, अत एव वह अपनी पूजा प्राप्त करने की इच्छा से उस समय बालक को कष्ट देता है और पूजा न पाने पर मार डालता है, अतः उसकी शान्ति के लिये नैर्ऋत्य के उद्देश्य से बलि दिलानी चाहिये॥ ३०७॥

*नैर्ऋत्याय भागश्च बालेषु रुद्रेण दत्तः, यत उक्तं कुमारतन्त्रे='अष्टमे मासि नैर्ऋत्याय मांसोदनं बलिं दापयेदि'ति॥ ३०७॥

रुद्रने बालकों के शरीर में नैर्ऋत्य का भाग निर्दिष्ट कर दिया है। क्योंकि 'कुमारतन्त्र' में कहा भी है कि—'आठवें महीने में नैर्ऋत्य के लिये मांस और भात की बलि दिलावे'॥ ३०७॥

नवमे दशमे मासि नारी बालं प्रसूयते। एकादशे द्वादशे वा ततोऽन्यत्र विकारतः॥३०८॥

गर्भिणी स्त्री नवें या दशवें महीने में सन्तान पैदा किया करती हैं और कभी २ ग्यारहवें और बारहवें महीने में भी प्रसव करती हैं, इससे अधिक समय यदि हो जावे और प्रसव न हो तो यह समझना चाहिये कि कोई विकार गर्भ को हो गया है जिससे प्रसव नहीं हो रहा है॥३०८॥

गर्भे यदङ्गं प्रथमं भवति, तदाह—

शिरो भवति चाङ्गस्य पूर्वमित्याह शौनकः। शिरस्येवोपजायन्ते प्रधानानीन्द्रियाणि यत्॥
हृदयं जायते पूर्वं कृतवीर्योऽवदन्मुनिः। बुद्धेश्च मनसश्चापि यतस्तत्स्थानमीरितम्॥३१०॥
पाराशर्य इति प्राह पूर्वं नाभिसमुद्भवः। प्राणो यत्र स्थितो देहं वर्द्धयत्यूष्मसंयुतः॥३११॥
पाणिपादं भवेत्पूर्वं मार्कण्डेयमुनेर्मतम्। देहिनः सकलाश्चेष्टाः पाणिपादाश्रया यतः॥३१२॥
प्रथमं जायते कोष्ठं ततः सर्वांगसम्भवः। एतत्तु कथयामास गौतमो मुनिपुंगवः॥३१३॥
सर्वाण्यङ्गान्युपाङ्गानि युगपत्सम्भवन्ति हि। सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते मतं धन्वन्तरेरिदम्॥

गर्भ में अङ्गोत्पत्ति—शौनक मुनि यह कहते हैं कि—सब अङ्गों से पहले शिर उत्पन्न होता है क्योंकि जितनी प्रधान २ इन्द्रियां (आंख, नाक, कान, रसना नाम की ज्ञानेन्द्रियां) हैं वे सब शिर में ही उत्पन्न होती हैं और 'कृतवीर्य मुनि' कहते हैं कि—'प्रथम हृदय उत्पन्न होता है क्योंकि उसी को बुद्धि और मन के रहने का स्थान कहा है' और 'पाराशर्य' मुनि यह कहते हैं कि—'पहले नाभि

की उत्पत्ति होती है, क्योंकि उसी नाभि में स्थित हो कर ऊष्मा से युक्त होता हुआ प्राण शरीर को बढ़ाता है' यहां 'मार्कण्डेय' मुनि का मत यह है कि—'हाथ और पैर पहले उत्पन्न होता है क्योंकि-प्राणियों की जितनी चेष्टायें होती हैं, वे सब हाथ-पैर के सहारे से ही होती हैं' और मुनियों में श्रेष्ठ 'गौतम' मुनि ने तो इस विषय में यह कहा है कि—'पहले कोष्ठ (गर्दन से नीचे कमर तक के भाग) उत्पन्न होता है क्योंकि उसी कोष्ठ से सम्पूर्ण अङ्गों की उत्पत्ति होती है' किन्तु 'धन्वन्तरि' का मत यह है कि—'जितने अङ्ग तथा उपाङ्ग हैं वे सब साथ ही साथ उत्पन्न होते हैं किन्तु उस समय सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं पड़ते हैं' ॥ ३०९-३१४ ॥

आम्रस्याणुफले भवन्ति युगपन्मांसास्थिमज्जादयो
लक्ष्यन्ते न पृथक्पृथक्तनुतया पुष्टास्त एव स्फुटाः ।
एवं गर्भसमुद्भवे त्ववयवाः सर्वे भवन्त्येकदा
लक्ष्याः सूक्ष्मतया न ते प्रकटतामायान्ति वृद्धिं गताः ॥ ३१५ ॥

जैसे आम के अत्यन्त छोटे फल में मांस (गूदा), अस्थि (कुठली) और मज्जा (मींगी) आदि साथ ही साथ रहते हैं और अत्यन्त सूक्ष्म होने से अलग २ दिखलाई नहीं पड़ते और पुष्ट होने पर वे ही दिखलाई पड़ने लगते हैं, उसी भांति गर्भ रहने पर जितने अवयव हैं वे सभी एक साथ ही उसमें रहते हैं किन्तु सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं पड़ते और जब वे ही बढ़ जाते हैं तब साफ २ प्रकट हो जाते हैं ॥ ३१५ ॥

*मज्जादय इत्यादिशब्देन त्वक्केशरमज्जत्वगङ्कुरवृन्तानि गृह्यन्ते ॥ ३१५ ॥

'मज्जादय' इस पद में आदि शब्द से छिलका, केशर, मींगी के ऊपर का अत्यन्त पतला छिलका, अङ्कुर, वृन्त (ढेपी) इन सबों का ग्रहण होता है ॥ ३१५ ॥

अथ शरीरे पितृज-मातृज-रसजात्मजा भागा उच्यन्ते । तत्र—

केशाः श्मश्रु च लोमानि नखा दन्ताः शिरास्तथा । धमन्यः स्नायवः शुक्रमेतानि पितृजानि हि ॥
मांसासृङ्मज्जमेदांसि यकृत्प्लीहान्त्रनाभयः । हृदयं च गुदं चापि भवन्त्येतानि मातृतः ॥
शरीरोपचयो वर्णो बलं देहस्थितिस्तथा । रसादेतानि जायन्ते भिषजो मुनयो जगुः ॥३१८॥

पितृज-मातृज शरीराकृति—बाल, दाढ़ी, मूछ, रोम, नख, दांत, शिरा, धमनी, स्नायु और शुक्र ये सब पितृज (पिता से उत्पन्न हुये) कहलाते हैं। मांस, रक्त, मज्जा, मेदा, यकृत, प्लीहा, अँतड़ी, नाभि, हृदय और गुदा ये सब माता से उत्पन्न होते हैं अत एव मातृज कहलाते हैं। शरीर की वृद्धि, गौरादि वर्ण, बल और देह का स्थित रहना, ये सब रस से उत्पन्न होते हैं अत एव रसज कहलाते हैं ऐसा वैद्यक के जानकार मुनियों ने कहा है ॥ ३१६-३१८ ॥

ज्ञानं विज्ञानमायुश्च सुखदुःखादिकं तथा । इन्द्रियाणि च सर्वाणि भवन्त्येतानि चात्मनः ॥

ज्ञान, विज्ञान, आयु और सुख दुःखादि तथा सम्पूर्ण इन्द्रियां ये सब आत्मा से उत्पन्न होते हैं अत एव आत्मज कहलाते हैं ॥ ३१९ ॥

*(१सुख) दुःखादिकमित्यादिशब्देन नानायोनिजन्मादिकमुच्यते। आत्मनः = आत्मसन्निकर्षाद् न त्वात्मनो जायन्ते, आत्मनो निर्विकारात् प्रकृतिभावानुपपत्तेः ॥ ३१९ ॥

'सुखदुःखादिकम्' इस पद में स्थित आदि शब्द से अनेक प्रकार की योनियों में जन्म लेना आदि का भी ग्रहण करना चाहिये और 'आत्मा से उत्पन्न होते हैं' ऐसा कहने से यह समझना चाहिये कि आत्मा के सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं न कि साक्षात् आत्मा से ही उत्पन्न होते हैं, क्यों

१. कोष्ठस्थः पाठः क्वचित्कः ।

कि— आत्मा निर्विकार है अत एव वह प्रकृति के भावों को नहीं प्राप्त कर सकता अर्थात् प्रकृति के जैसे १६ विकार होते हैं वैसे इसके कोई भी विकार नहीं होते ॥ ३१९ ॥

गर्भस्य किंकि विशिष्टोपकारकं तदाह—

अग्नीषोमौ मही वायुर्नभः सत्त्वं रजस्तमः। पञ्चेन्द्रियाणि भूतात्मा गर्भं सञ्जीवयन्ति हि ॥

गर्भ के विशेष उपकारक – अग्नि, सोम, पृथ्वी, वायु, आकाश, सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण, पाँच इन्द्रियाँ और भूतात्मा ये सब गर्भ का संजीवन करते हैं अर्थात् इन्हीं सबों से गर्भ उत्पन्न और रक्षित तथा वर्धित होता है ॥ ३२० ॥

***अग्निरत्र–पाचकालोचकरञ्जकभ्राजकसाधकानाम्; तथा पाञ्चभौतिकानां तथा सप्तधातुगतानामग्नीनां शक्तिरूपतयाऽवस्थितो वाचोऽधिदेवत्वं प्राप्तो बोद्धव्यः, स च पाचकादिकर्मणा जीवयति। सोमश्च–पञ्चात्मकश्लेष्मरसशुक्रादीनां [1]तोयात्मकानां भावानां रसनेन्द्रियस्य [2] च शक्तिरूपतयाऽवस्थितो मनसश्चाधिदेवत्वं प्राप्तो बोद्धव्यः, स च सौम्यधातोरोजः प्रभृतेः पोषणेन पवनपावकसंशुष्कभागस्यार्द्रताविधानेन जीवयतीति शेषः। मही च–जलेन क्लिन्नस्यापि कठिनविधानेन। वायु–दोषधातुमलाङ्गोपाङ्गादीनां सञ्चारणेनोच्छ्वासनिःश्वासाभ्याञ्च। नभो—([3]ऽनिलोनलविदारितस्रोतसामूर्ध्वाधस्तिर्यगवकाशदानेन। सत्त्वं रजस्तम इति–) मनोरूपतया परिणतं जीवात्मनः शरीरान्तरे जीवनग्रहणमोचणे हेतुरिति तदपि जीवयति। पञ्चेन्द्रियाणि–श्रोत्रत्वङ्नेत्रजिह्वाघ्राणानि, शब्दादिग्रहणकर्मणा। भूतात्मा–कर्मपुरुषः स चाशेषस्यैव राशेश्चैतन्यहेतुर्जीवतीति ॥ ३२० ॥**

'अग्नि' पद से पाचक, आलोचक, रञ्जक, भ्राजक और साधक संज्ञक पाँच पित्त की ऊष्मा की तथा पाँच महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) सम्बन्धी अग्नि की और रस–रक्तादि सात धातुओं के मध्य में स्थित अग्नि की शक्तिरूप से अवस्थित एवं वाणी के अधिदेवत्व को प्राप्त हुआ अग्नि समझना चाहिये। वही अग्नि पाचकादि कर्म द्वारा गर्भ को जीवित रखता है। और 'सोम' शब्द से पांच प्रकार के श्लेष्मा, रस और शुक्रादि जितने जलात्मक भाव हैं उन सबों की तथा रसनेन्द्रिय की शक्तिरूप से अवस्थित एवं मन के अधिदेवत्व को प्राप्त हुए सोम को समझना चाहिये। वही सोम ओजः प्रभृति सौम्यधातु का पोषण करने से एवं वायु तथा अग्नि से शुष्क हुये भाग को आर्द्र करने से गर्भ को जीवित रखता है। पृथ्वी—जल से गीले हुये भाग को कठिन बनाने के द्वारा गर्भ का जीवित रखती है। वायु –दोष, धातु, मल, अङ्ग और उपाङ्गादिकों का सञ्चारण (चलाने फिराने) के द्वारा तथा उच्छ्वास (सांस लेना) और निःश्वास (सांस छोड़ना) के द्वारा गर्भ को जीवित रखता है। आकाश—वायु और अग्नि से विदीर्ण किये हुये स्रोतों को ऊपर, नीचे और तिरछे (अगल बगल) अवकाश देने के द्वारा गर्भ को जीवित रखता है। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—ये सब मन के रूप में परिणत होकर जीवात्मा का दूसरे शरीर में जीवन ग्रहण करने के अर्थात् दूसरे शरीर के धारण करने के तथा शरीरत्याग करने के कारण हैं, अत एव सत्त्वादि भी गर्भ को जीवित रखते हैं। पञ्चेन्द्रिय—अर्थात् कर्ण, त्वक्, नेत्र, जिह्वा और घ्राण ये पांच इन्द्रियां शब्दादिकों को ग्रहण करने के द्वारा गर्भ को जीवित रखती हैं। भूतात्मा—अर्थात् कर्मपुरुष सम्पूर्ण कर्मराशियों के ही चैतन्य का हेतु होकर गर्भ को जीवित रखता है। यह समझना चाहिये ॥ ३२० ॥

अपरं गर्भस्य जीवनोपायमाह—

गर्भस्य नाभिनाड्या तु नाडी रसवहा स्त्रियाः। संलग्ना तेन गर्भस्य वृद्धिर्भवति नित्यशः ॥३२१॥

---

१. सोमे'ति पा०। २. 'रसे'ति पा०। ३. कोष्ठस्थ पाठः क्वाचित्कः परन्तु समीचीनः।

गर्भ के जीवित रहने के हेतु—गर्भस्थ सन्तान की नाभि-नाडी के साथ माता की रस वहन करनेवाली नाडी मिली हुई रहती है, इसी से नित्य प्रति गर्भ की वृद्धि होती रहती है ॥ ३२१ ॥

निःश्वासोच्छ्वाससंक्षोभस्वप्नांशान्सोऽधिगच्छति। मातुर्निःश्वसितोच्छ्वाससंक्षोभस्वप्नसंभवान् ॥

माता के निःश्वास, उच्छ्वास, संक्षोभ (सञ्चलन) और निन्द्रा से सन्तान के भी निःश्वास, उच्छ्वास, संक्षोभ और निद्रासम्बन्धी सभी कार्य सम्पादित होते हैं ॥ ३२२ ॥

***संक्षोभः = सञ्चलनम्, माता निःश्वासादिकायाश्चेष्टाःकरोति तास्तागर्भोऽपि करोतीत्यर्थः ॥**

'संक्षोभ' पद से सञ्चलन अर्थ समझना चाहिये और सब का सारांश भी यही समझना चाहिये कि—माता जो २ निःश्वासादि चेष्टायें करती है गर्भ भी उन्हीं २ चेष्टाओं को करता है ॥ ३२२ ॥

अथ गर्भवृद्धेर्हेतूपायमाह—

गर्भस्य नाभिमध्ये तु ज्योतिःस्थानं ध्रुवं स्मृतम् । तदा धमति वातश्च देहस्तेनास्य वर्धते ॥
ऊष्मणा सहितश्चापि दारयत्यस्य मारुतः । ऊर्ध्वं तिर्यगधस्ताच्च स्रोतांसि तु यथा तथा ॥

गर्भवृद्धि के हेतु—गर्भस्थ सन्तान के नाभिमध्य में एक ज्योतिःस्थान रहता है । वायु उसी स्थान को आध्मापित (उत्तेजित) किया करता है अत एव उस गर्भ की वृद्धि हुआ करती है । अर्थात्-वायु ऊष्मा से युक्त होकर आधमन (फूंक) के द्वारा सन्तान के सम्पूर्ण स्रोतों के ऊपर नीचे और इधर-उधर सभी मार्गों में जैसे २ दारित (विस्तारित) करता जाता है वैसे २ सन्तान के देह की भी वृद्धि हुआ करती है ॥ ३२३-३२४ ॥

*** यथा दारयति विस्तारयति [1]तथा देहो बर्धत इति पूर्वेणान्वयः ॥ ३२३-३२४ ॥**

यहां पर ३२४ के श्लोक की टीका में जो 'जैसे दारित अर्थात् विस्तारित करता जाता है वैसे सन्तान के' इतना अंश है इसका पूर्व में ३२३ के 'श्लोक की टीका में' जो 'देह की वृद्धि हुआ करती है' यह अंश है उसके साथ अन्वय है ऐसा समझना चाहिये ॥ ३२३-३२४ ॥

दृष्टिरोमकूपानामवृद्धिमाह—

दृष्टिश्च रोमकूपाश्च न वर्धन्ते कदा च न । ध्रुवाण्येतानि मर्त्यानामिति धन्वन्तरेर्मतम् ॥३२५॥

दृष्टि मण्डल तथा रोमकूपों की वृद्धि निषेध—मनुष्यों के दृष्टिमण्डल तथा सम्पूर्ण रोमकूप, कभी नहीं बढ़ते अर्थात् अन्यान्य अङ्ग और उपाङ्ग सभी क्रमशः बढ़ते रहते हैं पर दृष्टिमण्डल तथा रोमकूप ये सब सदा एक भाव से ही रहते हैं । ऐसे 'धन्वन्तरि' भगवान् का मत है ॥३२५॥

नखकेशानां सदा वृद्धिमाह—

शरीरे क्षीयमाणेऽपि वर्धेते द्वाविमौ सदा । स्वभावं प्रकृतिं कृत्वा नखकेशाविति स्थितिः ॥३२६॥

नख और केशों की वृद्धि में हेतु—शरीर के क्षीण हो जाने पर भी नख और केश ये दोनों सदा बढ़ते ही रहते हैं क्योंकि इन दोनों की ऐसी ही स्थिति (मर्यादा) होती है कि—अपने २ स्वभाव को ही प्रकृति (कारण) करके नित्य बढ़ते रहते हैं । अर्थात् नख और केश के बढ़ने में उनका स्वभाव ही कारण है ॥ ३२६ ॥

*** प्रकृतिं कृत्वा = कारणं कृत्वा । स्थितिः = मर्यादा ॥ ३२६ ॥**

'प्रकृतिं कृत्वा' से 'कारण करके' और 'स्थिति' से 'मर्यादा' अर्थ समझना चाहिये ॥

चेतनाचेतनान्यङ्गान्याह—

चेतनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः । [2]केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना ॥ ३२७ ॥

---

१. 'तथा तथे'त्यधिकः पा० । २. 'केशलोमनखाग्रान्तमलद्रव्ये'ति पा० ।

शरीर में चेतन तथा अचेतन अङ्ग—केश, लोम, नखों के अग्रभाग, अन्न के मल, द्रव (मल मूत्रादि) और शब्दादि गुण को छोड़कर इन्द्रियों से युक्त समस्त देह और मन चेतना का अधिष्ठान है अर्थात् केशादि को छोड़कर इन्द्रिय, शरीर और मन में चेतना है ॥ ३२७ ॥

गर्भस्य वातविण्मूत्रोत्सर्गाकरणे कारणमाह—

वाताल्पत्वादयोगाच्च वायोः पक्वाशयस्य च । वातमूत्रपुरीषाणि गर्भस्थो न विमुञ्चति ॥३२८॥

गर्भ में मलादि त्याग न करने में कारण—वायु की अल्पता होने से तथा वायु और पक्वाशय का अयोग (स्वल्पसंयोग) होने से गर्भस्थ सन्तान वात, मूत्र और पुरीष (मल) का त्याग नहीं करता है ॥ ३२८ ॥

® अयोगात् = ईषद्योगात् ॥ ३२८ ॥

'अयोग' पद का 'स्वल्प योग (संयोग)' अर्थ समझना ॥ ३२८ ॥

गर्भारोदने कारणमाह—

जरायुणा मुखे छन्ने कण्ठे च कफवेष्टिते । वायोर्मार्गनिरोधाच्च न गर्भस्थः प्ररोदिति ॥३२९॥

गर्भस्थ सन्तान के रोदन न करने के कारण—गर्भस्थ सन्तान का मुख जरायु (गर्भ को वेष्टित करनेवाली झिल्ली) के द्वारा ढका रहने से तथा कण्ठ कफ से भरा रहने से वायु के आने-जाने का मार्ग रुका रहता है अत एव गर्भस्थ सन्तान रोदन नहीं करती है ॥ ३२९ ॥

अथ गर्भवतीकृत्याकृत्यानि । तत्रादौ गर्भिणीकृत्यान्याह—

गर्भिणी प्रथमादह्नः प्रहृष्टा भूषिता शुचिः । भवेच्छुक्लाम्बरधरा गुरुविप्रार्चने रता ॥३३०॥
भोज्यं तु मधुरप्रायं स्निग्धं हृद्यं द्रवं लघु । संस्कृतं दीपनीयं तु नित्यमेवोपयोजयेत् ॥३३१॥

गर्भवती स्त्रियों के कर्म—गर्भिणी स्त्री गर्भ के प्रथम दिन ही से प्रसन्न चित्त, भूषणों से भूषित, पवित्र और स्वच्छ वस्त्र को धारण करनेवाली और गुरुजन तथा ब्राह्मणों के पूजन में रत रहे और नित्य ही मधुर रस से युक्त स्निग्ध (घृतादिमिश्रित), हृदय को प्रिय, द्रव (पतला) लघु, संस्कृत (भलीभांति हिंग, जीरा आदि से छौंक कर उत्तम बनाये हुये) और अग्नि को दीपन करने वाले भोज्य पदार्थों का भोजन करे ॥ ३३०-३३१ ॥

अथ गर्भिण्या अकृत्यान्याह—

गर्भिणी न तु कुर्वीत व्यायाममपतर्पणम् । व्यवायं च न सेवेत न कुर्यादतितर्पणम् ॥३३२॥
रात्रौ जागरणं शोकं यानस्यारोहणं तथा । रक्तमोक्षं वेगरोधं न कुर्यादुत्कटासनम् ॥३३३॥
दोषाभिघातैर्गर्भिण्या यो यो भागः प्रपीड्यते । स स भागः शिशोस्तस्य गर्भस्थस्य प्रपीड्यते ॥
मलिनां विकृताकारां हीनाङ्गीं न स्पृशेत्स्त्रियम् । न जिघ्रेदपि दुर्गन्धं न पश्येद्वचनाप्रियम् ॥
वचांसि नापि शृणुयात्कर्णयोरप्रियाणि च । नाद्यं पर्युषितं शुष्कं भुञ्जीत क्वथितं न च ॥
चैत्यश्मशानवृक्षांश्च आर्ताश्चाप्ययशस्करान् । बहिर्निष्क्रमणं क्रोधं शून्यागारं च वर्जयेत् ॥
नोच्चैर्ब्रूयान्न तत्कुर्याद्येन गर्भो विनश्यति । तैलाभ्यङ्गोद्वर्तनं च नात्यर्थं कारयेदपि ॥३३८॥
नामृद्वास्तरणं कुर्यान्नात्युच्चं शयनासनम् । एतांस्तु नियमान्सर्वान्यत्नात्कुर्वीत गर्भिणी ॥

गर्भिणी के न करने योग्य कार्य—गर्भिणी स्त्री व्यायाम (परिश्रमसाध्य कार्य), अपतर्पण (शरीर जिससे क्षीण हो ऐसे उपवासादि कार्य) तथा मैथुन न करे और जिससे शरीर का सन्तर्पण हो ऐसे उत्तम हितकारी भोजनादि क्रियाओं को भी अत्यन्त न करे और रात्रि में जागरण (जागना), शोक, सवारी पर चढ़ना, फस्त खुलवाने आदि क्रियाओं के द्वारा रक्त निकालना, मल मूत्रादि के वेग को रोकना, उँकरू होकर बैठना, इन सब कर्मों को न करे क्योंकि वातादि दोषों से अथवा अभिघात (चोट लगने) से गर्भिणी के शरीर के जो-जो भाग पीड़ित होते हैं गर्भस्थ सन्तान के

शरीर के भी वे हीं भाग पीड़ित होते हैं। अत एव इस विषय में सदा सावधान रहना चाहिये। गर्भवती स्त्री मलिन, विकृतस्वरूपवाली, हीन अङ्गवाली स्त्रियों का स्पर्श न करे, दुर्गन्ध युक्त पदार्थों को न सूंघे, देखने में जो अप्रिय हों ऐसे पदार्थों को न देखे, सुनने में जो कानों को अप्रिय हों ऐसे वचनों को भी न सुने, पर्युषित (बासी) शुष्क अथवा क्वाथ किये हुये कढ़ी आदि भोज्य पदार्थों का भक्षण न करे। तथा चैत्य (ग्राम में प्रसिद्ध देवताओं से अधिष्ठित वृक्ष या स्थान), श्मशान, के वृक्ष तथा अकीर्त्ति (बदनामी) करनेवाले जितने विषय हैं वे सब, तथा बाहर निकलना (जहां तहां जाना आना), क्रोध, जनशून्य मकान में रहना, इन सबों का त्याग करे और जोर से चिल्लाकर बातचीत न करे तथा जिससे गर्भ नष्ट हो जाय ऐसे कार्य को न करे, एवं शरीर में तैल का मालिश करना और हल्दी, सरसों, आदि का उबटन लगाना ये सब अधिक न करे और यदि करे भी तो बहुत थोड़ा और कोमल गद्दा वगैरह बिछाकर सोवे और शय्या तथा आसन अत्यन्त ऊंचा न रखे, अर्थात् ऐसा रखे कि जिस पर आराम से चढ़कर बैठ सके। गर्भिणी स्त्री अति यत्नपूर्वक पूर्वोक्त इन सब नियमों का पालन करे ॥ ३१२-३३९ ॥

अथ प्रसवमासानाह—

नवमे दशमे मासि नारी गर्भं प्रसूयते। एकादशे द्वादशे वा ततोऽन्यत्र विकारतः ॥३४०॥

प्रसव का समय – नवम, या दशवें मास में गर्भिणी स्त्री सन्तान प्रसव करती है और कभी २ ग्यारहवें या बारहवें मास में भी प्रसव करती है। यदि इससे अधिक समय हो जाय तो यह समझना चाहिये कि किसी रोगवश विलम्ब हो रहा है अर्थात् या तो गर्भ की जगह कोई रोग है अथवा गर्भ में कोई विकार हो गया है ॥ ३४० ॥

अथ सूतिकागृहाकृतिमाह—

अष्टहस्तायतं चारुचतुर्हस्तविशालकम्। प्राचीद्वारमुदग्द्वारं[1] विदध्यात्सूतिकागृहम् ॥३४१॥

प्रसूतिकागृह का स्वरूप—आठ हाथ लम्बा और चार हाथ चौड़ा एवं पूर्व अथवा उत्तर द्वार वाला देखने में सुन्दर सूतिका गृह का निर्माण करना चाहिये ॥ ३४१ ॥

आसन्नप्रसवाया लक्षणमाह—

जाते हि शिथिले कुक्षौ मुक्ते हृदयबन्धने। सशूले जघने नारी विज्ञेया प्रसवोत्सुका ॥३४२॥
आसन्नप्रसवायास्तु कटीपृष्ठं तु सव्यथम्। भवेन्मुहुः प्रवृत्तिश्च मूत्रस्य च मलस्य च ॥३४३॥

आसन्नप्रसवा के लक्षण—कुक्षि (कोख) शिथिल होने पर तथा हृदयबन्धन (सन्तान की नाभि-नाड़ी के साथ माता की रसवहन करनेवाली नाड़ी का बंधन) मुक्त होने पर एवं जघनप्रदेश (स्त्री के कटि के नीचे का भाग) शूल की भाँति पीड़ा से युक्त होने पर गर्भिणी स्त्री प्रसव करने के लिये उत्सुक है ऐसा समझना चाहिये। आसन्नप्रसवा स्त्री की कमर और पीठ पीड़ा से युक्त होने लगती है तथा उसके मल और मूत्र की बारंबार प्रवृत्ति होती है ॥ ३४२-३४३ ॥

अथासन्नप्रसवाया उपचारमाह—

तैलेनाभ्यक्तगात्रान्तां संस्नातामुष्णवारिणा। यवागूं पाययेत्कोष्णां मात्रया घृतसंयुताम् ॥

आसन्नप्रसवा स्त्री के उपचार—आसन्नप्रसवा स्त्री के शरीर में भली भांति तैल का मालिश करके तथा गरम जल से स्नान करा के यथोचित मात्रा के साथ उसे कुछ २ गरम घी से युक्त यवागू पिलावे ॥ ३४४ ॥

---

१. 'प्राचीद्वाराग्न्युदग्द्वारमि'ति पा०

कृतोपधाने[1] मृदुनि विस्तीर्णे शयने शनैः। अभुग्नसक्थी चोत्ताना नारी तिष्ठेद्व्यथाऽन्विता॥

प्रसवव्यथा उपस्थित होने पर गर्भिणी स्त्री तकिया लगे हुये विस्तीर्ण कोमल शय्या पर दोनों ऊरुओं को असङ्कोचित भाव से अर्थात् सटे हुए न रखकर उत्तान (चित) होकर धीरे-धीरे लेट जाय॥ ३४५॥

*अभुग्नसक्थी = असङ्कोचितोरुः॥ ३४५॥

'अभुग्नसक्थी' अर्थात् 'दोनों ऊरुओं को असङ्कोचित भाव से रखकर'॥ ३४५॥

अथ जनयित्र्य आह—

चतस्रोऽशंकनीयाश्च स्रावणे कुशला हिताः। वृद्धाः परिचरेयुस्ताः सम्यक्छिन्ननखाः स्त्रियः॥

आसन्न प्रसवा की परिचारिका—प्रसव कराने में चतुर अशङ्कनीय (साहस युक्त), हिताकाङ्क्षिणी एवं वृद्धा जो हों ऐसी चार स्त्रियां अपने २ हाथ के बढ़े हुये नखों को भलीभांति कटाकर पीड़ायुक्त आसन्नप्रसवा स्त्री की परिचर्या करें॥ ३४६॥

अथ जनयित्रीकृत्यमाह—

अपत्यमार्गं तैलेन समभ्यज्य समन्ततः। एका तु तासु सुभगे प्रवाहस्वेति तां वदेत्॥३४७॥
अव्यथा मा प्रवाहिष्ठाः प्रवाहेथा व्यथा यदि। प्रवाहेथाः शनैः पूर्वं प्रगाढं च ततः परम्॥
ततो गाढतमं गर्भे योनिद्वारमुपागते। अपरासहितो गर्भो यावत्पतति भूतले॥ ३४९॥

जनयित्री स्त्रियों के करने योग्य कर्म—गर्भिणी स्त्री के योनिमार्ग के चारों तरफ तैल लगाकर भलीभांति चिकनाहट से युक्त कर के जनयित्रियों के मध्य में से एक स्त्री उन (गर्भिणी) से कहे 'हे सुभगे! प्रवाहण कर अर्थात् कांखो, किन्तु प्रसव सम्बन्धिनी व्यथा शान्त होने पर मत कांखो, यदि प्रसवव्यथा उपस्थित हो तो अवश्य कांखो और पहले धीरे २ कांखो, तदुपरान्त कुछ जोर से कांखो तथा कांखने से योनि के मुख पर सन्तान के उपस्थित हो जाने पर जब तक वह अपरा (जेर के साथ २) पृथ्वी पर न गिर पड़े तब तक अत्यन्त जोर से कांखो'। ये सब बातें गर्भिणी को समझा दे॥ ३४७-३४९॥

व्यथारहितायाः प्रवहणाद्वैगुण्यमाह—

मूकं वा बधिरं कुब्जं श्वासकासक्षयान्वितम्। सूते स्रस्ततनुं बालमकाले तु प्रवाहणात्॥
इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमन्मिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे गर्भप्रकरणं तृतीयम्॥३॥

प्रसवव्यथा से रहित गर्भिणी के कांखने से वैगुण्य—प्रसवव्यथा न रहने पर भी यदि गर्भिणी स्त्री प्रसव के लिये काँखे तो वह मूक, बधिर, कुब्ज (कुबड़ा), श्वास, कास से युक्त या शिथिल शरीरवाला बालक पैदा करती है॥ ३५०॥

इति भिषग्रत्नमिश्रोपाह्वश्रीब्रह्मशङ्करशर्मसाहित्यशास्त्रिणा विरचितायां
'विद्योतिनी' भाषाटीकायां गर्भप्रकरणं समाप्तम्॥ ३॥

अथ चतुर्थं बालप्रकरणम् ४।

अथ बालस्यजन्मोत्तरविधिः।

अथ बाले समुत्पन्ने विदधीत विधिं तथा[2]। यथैव [3]कुलवृद्धस्त्रीव्यवहारपरम्परा॥ १॥

बालक के जन्म होने के बाद की विधि—बालक के उत्पन्न होने पर अपने कुल की वृद्धा स्त्रियों की जैसी उस समय व्यवहार करने की परम्परा हो उसके अनुरूप विधि करे॥ १॥

१. 'मृदुभिरि'ति पा०। २. 'तत' इति पा०। ३. 'कुलवृद्धा स्त्री व्यवहारपरम्परे'ति पा०।

अथ प्रसूताया नियमानाह—

प्रसूता हितमाहारं विहारं च समाचरेत्। व्यायामं मैथुनं क्रोधं शीतसेवां विवर्जयेत् ॥ २ ॥ मिथ्याचारात्सूतिकाया यो व्याधिरुपजायते। स कृच्छ्रसाध्योऽसाध्यो वा भवेत्तत्पथ्यमाचरेत् ॥३॥

प्रसूता स्त्री के नियम—प्रसूता स्त्री हितकर आहार-विहार करे और व्यायाम (परिश्रम युक्त कार्य), मैथुन, क्रोध और शीतल उपचार का परित्याग करे। क्योंकि उपर्युक्त नियमों का पालन न करने से प्रसूता स्त्री को जो व्याधि उत्पन्न होती है वह कृच्छ्रसाध्य (कठिनता से दूर होनेवाली) अथवा असाध्य हो जाती है। अत एव प्रसूता स्त्री जो पथ्य हो उसी का सेवन करे ॥ २-३ ॥

प्रसूताया नियमसमयावधिमाह—

सर्वतः परिशुद्धा स्यात्स्निग्धपथ्याऽल्पभोजना। स्वेदाभ्यङ्गपरा नित्यं भवेन्मासमतन्द्रिता ॥४॥

प्रसूता स्त्री के नियम पालन करने का समय—प्रसूता स्त्री को प्रसव होने के बाद एक मास तक अत्यन्त सावधानी से शुद्ध होकर रहना चाहिये अर्थात् वस्त्रादिकों में लगे हुये जो खराब रक्तादि हों उसे भलीभांति साफ करके सदा स्वच्छ रहना चाहिये तथा स्निग्ध और पथ्य भोज्य पदार्थों का अल्प मात्रा में भोजन करना चाहिये और नित्य तेल की मालिश तथा स्वेद निकलवाना चाहिये ॥ ४ ॥

***सर्वतः परिशुद्धा तु अनवसृष्टदुष्टरुधिरा, अतन्द्रिता = सावधाना ॥ ४ ॥**

'सर्वतः परिशुद्धा' का यह अर्थ है कि—धोने वगैरह से वस्त्र में लगे हुये खराब रक्त को दूर करके सदा स्वच्छ रहे और 'अतन्द्रिता' का 'सावधानी से युक्त रहे' यह अर्थ समझना चाहिये ॥४॥

प्रसूता सार्धमासान्ते दृष्टे वा पुनरार्तवे। सूतिकानामहीना स्यादिति धन्वन्तरेर्मतम् ॥ ५ ॥ व्युपद्रवां विशुद्धां च विज्ञाय वरवर्णिनीम्। ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यो नियमं परिहारयेत् ॥६॥

प्रसव होने के डेढ़ महीने बाद अथवा पुनर्वार रजःस्राव दिखाई पड़ने के बाद प्रसूता स्त्री का 'सूतिका' यह नाम नहीं रह जाता ऐसा 'धन्वन्तरि' का मत है। प्रसव के चार महीना के बाद जब यह समझ पड़े कि प्रसूता स्त्री शुद्ध तथा उपद्रव से रहित हो गई है तो फिर उससे प्रसूता सम्बन्धी नियमों का पालन कराना बन्द कर देवे अर्थात् उसको यथेच्छ आहार-विहार करने दे ॥

अथ स्तन्यस्वरूपमाह—

रसप्रसादो मधुरः पक्वाहारनिमित्तजः। कृत्स्नाद्देहात्स्तनौ प्राप्तः स्तन्यमित्यभिधीयते ॥७॥

दूध का स्वरूप—परिपक्व आहार से उत्पन्न हुआ एवं मधुर रस से युक्त जो रस का सार भाग है वही देह के सम्पूर्ण भागों से धमनियों द्वारा दोनों स्तनों में प्राप्त होकर दूध होता है अत एव वही 'स्तन्य' कहलाता है ॥ ७ ॥

***रसप्रसादः = रसस्य सारः ॥ ७ ॥**

'रसप्रसादः' का अर्थ है 'रस का सार भाग' ॥ ७ ॥

अथ स्तन्यस्य प्रवृत्त्यवधिमाह—

स्तन्यं त्रिरात्रात्क्षीणां वा चतूरात्रादनन्तरम्। प्रवर्त्तयन्ति विवृता धमन्यो हृदये स्थिताः ॥८॥

प्रसूता स्त्रियों के स्तनों से दूध उतरने का समय—प्रसव होने के तीन अथवा चार रात्रि व्यतीत होने पर प्रसूता के हृदय में स्थित दूध को वहन करनेवाली धमनियों का मुख खुल जाने पर उनसे दूध निकलने लगता है ॥ ८ ॥

अथ स्तन्यप्रवृत्तिमाह—

पयः पुत्रस्य संस्पर्शाद्दर्शनात्स्मरणादपि।
ग्रहणादप्युरोजस्य शुक्रवत्सम्प्रवर्तते। स्नेहो निरन्तरस्तस्य प्रवाहे हेतुरुच्यते ॥ ९ ॥

दूध निकलने के कारण—अभिलषित स्त्रियों का दर्शन अथवा स्पर्शादि करने से जिस प्रकार शुक्र का क्षरण होता है उसी प्रकार पुत्र का भी दर्शन, स्पर्श अथवा स्मरण करने से तथा स्तनों को पकड़ने से भी माता का दूध निकलने लगता है। सुतरां दूध के निकलने में माता का प्रगाढ़ स्नेह ही कारण होता है॥ ९॥

अथ स्तन्यस्याल्पताहेतुमाह—

अवात्सल्याद्भयाच्छोकात्क्रोधादत्यपतर्पणात्। स्त्रीणां स्तन्यं भवेत्स्वल्पं गर्भान्तरविधारणात्॥१०॥

दूध के कम निकलने में कारण—अवात्सल्य (वात्सल्यहीनता) अर्थात् पुत्र में स्नेह न होना, भय, शोक, अत्यन्त अपतर्पण (भोजनादि से तृप्त न रहना), अथवा दूसरा गर्भ धारण करना, इन सब कारणों से स्त्रियों के कम दूध निकलने लगता है॥ १०॥

अथ स्तन्यस्य वृद्धिहेतुमाह—

शालिषष्टिकगोधूमान्मांसक्षुद्रझषानपि। कालशाकमलाबूं च नारिकेलं कसेरुकम्॥ ११॥
शृङ्गाटकं वरीं चापि विदारीकन्दमेव च। लशुनं दुग्धवृद्ध्यै स्त्री सेवेत सुमना भवेत्॥ १२॥
कलमस्य तण्डुलानां कल्कं या क्षीरपेषितं पिबति।
सा भवति भृशं तरुणी क्षीरभारेणैव तुङ्गकुचयुगला॥ १३॥

दूध के बढ़ने में कारण—शालि (अगहनी) और षष्टिक (साठी) धान्य, गेहूं, मांस, क्षुद्रमत्स्य (छोटी २ मछलियां), कालशाक (नरिचा), अलाबू (लौआ या लौकी), नारियल, कसेरू सिंगाड़ा, शतावर, विदारीकन्द और लहसुन इन सब द्रव्यों को दूध बढ़ने के लिये प्रसूता स्त्री सेवन करे और सुमना (प्रसन्न चित्त) रहे अर्थात् शालि, षष्टिकादि द्रव्यों के सेवन से दूध की वृद्धि होती है तथा माता का चित्त प्रसन्न रहने से भी दूध की वृद्धि होती है। 'कलम' नामक धान्य विशेष का चावल दूध के साथ पीस कर उसका कल्क (चटनी) बनाकर जो तरुणी स्त्री भक्षण करती है, वह दूध के भार से अत्यन्त उन्नत कुचोंवाली हो जाती है॥ ११-१३॥

कलमो धान्यविशेषस्तस्य लक्षणमाह—

कलमः कलिविख्यातो जायते स बृहद्ध्रदे[1]। काश्मीरदेश एवोक्तो महातण्डुलसंज्ञकः॥१४॥

कलम नामक धान्यविशेष का लक्षण—कलम नामक जो धान्य कलि में विख्यात है वह बड़े भारी ह्रद (जलाशय में) उत्पन्न होता है, उसी को काश्मीर देश में महातण्डुल नाम से कहते हैं॥

विदारिकन्दस्य रसं पिबेत्स्तन्यस्य वृद्धये। तच्चूर्णं तस्य वृद्ध्यर्थं पिबेद्वा क्षीरसंयुतम्॥

दूध की वृद्धि के लिये विदारीकन्द का रस अथवा विदारीकन्द का चूर्ण दूध में मिला कर पीवे॥ १५॥

अथ स्तन्यस्य दुष्टताहेतुमाह—

धात्र्या गुरुभिराहारैर्विहारैर्दोषलैस्तथा। देहे दोषाः प्रकुप्यन्ति ततः स्तन्यं प्रदुष्यति॥१६॥
मिथ्याऽऽहारविहारिण्या दुष्टा वातादयः स्त्रियाः। दूषयन्ति पयस्तेन शरीरं व्याधयः शिशोः॥

दूध के दूषित होने के कारण—गुरु (देर में पचनेवाला) भोजन, दोषजनक भोजन तथा विहार करने से वातादि दोष धात्री (दूध पिलानेवाली धाई अथवा माता) के देह में प्रकुपित हो जाते हैं अत एव दूध दूषित हो जाता है। अहित आहार तथा विहार करनेवाली स्त्री के वातादि दोष प्रकुपित होकर दूध को दूषित कर देते हैं और उसी दूषित दूध के पिलाने से बालक के शरीर में रोग पैदा होते हैं॥ १६-१७॥

---

१. 'बृहद्वने' इति पा०।

अथ दुष्टस्तन्यस्य लक्षणमाह—

कषायं सलिलप्लावि स्तन्यं मारुतदूषितम्। पित्तादम्लं च कटुकं राज्योऽम्भसि तु पीतिकाः॥१८॥
कफदुष्टं तु यत्तोये निमज्जति च पिच्छिलम्। द्वन्द्वजं तु द्विलिङ्गं स्यात्त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम्॥

दूषित दूध के लक्षण—वात से दूषित दूध कषाय (कसैला) रस से युक्त तथा जल में डालने पर तैरनेवाला होता है और पित्त से दूषित दुग्ध अम्ल (खट्टा) तथा कटु (कड़वा) रस से युक्त होता है और जल में डालने पर उसमें पीली रेखाएं दिखाई पड़ती हैं। कफ से दूषित जो दुग्ध होता है वह जल में डालने पर डूब जाता है तथा पिच्छिल (चिकनाहट से युक्त) होता है और जिसमें दो दोषों के लक्षण पाये जायँ वह दो दोषों से दूषित होने से द्वन्द्वज और जिसमें तीन दोषों के लक्षण पाये जायँ वह सान्निपातिक दूध कहलाता है॥ १८–१९॥

अथ दुष्टस्तन्य शोधनविधिमाह—

धात्री क्षीरविशुद्ध्यर्थं मुद्गयूषरसाशिनी। भार्ङ्गीदारुवचाः पिष्ट्वा पिबेत्सातिविषास्तथा॥

दूषित दुग्ध की शोधन विधि—दुग्ध दूषित होने पर उसकी शुद्धि के लिये धात्री को भोजन के साथ मूंग का यूष तथा मांसरस अर्थात् शुरवा पीना चाहिये और भारङ्गी, देवदारु, वच और अतीस भी पीसकर पीना चाहिये॥ २०॥

पाठामूर्वाऽब्दभूनिम्बदारुशुण्ठीकलिङ्गकैः। सारिवामत्स्यपित्ताऽऽद्यैः क्वाथः स्तन्यविशोधनः॥

पाठा, मूर्वा, नागरमोथा, चिरायता, देवदारु, सोंठ, इन्द्रजौ, सारिवा (अनन्त मूल) और कुटकी इन सब द्रव्यों का क्वाथ बनाकर पीने से भी दूध शुद्ध हो जाता है॥ २१॥

ॐमत्स्यपित्ता = कटुकी॥ २१॥

'मत्स्यपित्ता' से कुटकी का ग्रहण करना चाहिये॥ २१॥

पटोलनिम्बासनदारुपाठा मूर्वां गुडूचीं कटुरोहिणीं च।
[1]सनागरां च क्वथितां च तोये धात्री पिबेत्स्तन्यविशुद्धिहेतोः॥ २२॥

परवल, नीम, असन, (पीतसाल), देवदारु, पाठा, मूर्वा, गिलोय (गुरुच)' कुटकी और सोंठ इन सबों का क्वाथ दूध को शुद्ध करने के लिये धात्री पीवे॥ २२॥

अथ शुद्धस्तन्यस्य लक्षणमाह—

नीरे स्तन्यं यदेकं स्यादविवर्णमतन्तुमत्। पाण्डुरं तनु शीतं च तद्दुग्धं शुद्धमादिशेत्॥२३॥

शुद्ध दूध के लक्षण—जो दूध जल में डालने पर जल के साथ मिल जाय और दूसरे रङ्ग का न हो तथा तार न छूटे और देखने में पाण्डुर (पीत मिश्रित शुक्ल) वर्ण का हो तथा पतला और शीतल हो उसे शुद्ध समझना चाहिये॥ २३॥

धात्रीलक्षणमाह—

पीताय यदि बालस्य विदध्यादुपमातरम्। सुविचार्य गुणान्दोषान्कुर्याद्धात्रीं तदेदृशीम्॥२४॥
सवर्णां मध्यवयसां सच्छीलां मुदितां सदा। शुद्धदुग्धां बहुक्षीरां सवत्सामतिवत्सलाम्॥२५॥
स्वाधीनामल्पसन्तुष्टां कुलीनां सजनात्मजाम्। कैतवेन परित्यक्तां निजपुत्रशदृशां शिशौ॥२६॥

धात्री के लक्षण—बालक को दूध पिलाने के लिये यदि उपमाता (धाई) रखी जाय तो उसके गुण दोषों को भली भांति विचार कर ऐसी धाई रखे जो अपनी जाति की हो तथा मध्य अवस्था वाली, सुशीला, सदा प्रसन्न चित्त रहनेवाली, शुद्ध तथा अधिक दूधवाली, पुत्र से युक्त, बालकों पर अत्यन्त प्रेम रखनेवाली, अपने अधीन रहनेवाली, अल्प द्रव्यादि देने से भी सन्तुष्ट रहनेवाली,

१. 'सनागरं च क्वथितं चे'ति पा०।

अच्छे कुल में उत्पन्न हुई, सज्जन की पुत्री, कपट से रहित तथा बालक को अपने पुत्र ही की भांति देखनेवाली हो ॥ २४-२६ ॥

अथ निषिद्धां धात्रीमाह—

शोकाकुलाक्षुधार्ता च श्रान्ताव्याधिमती सदा ।
अत्युच्चा नितरां नीचा स्थूलातीव भृशं कृशा ॥ २७ ॥
गर्भिणी ज्वरिणी चापि लम्बोन्नतपयोधरा । अजीर्णभोजिनी चापि तथा पथ्यविवर्जिता ॥२८॥
आसक्ता क्षुद्रकार्येषु दुःखार्ता चञ्चलाऽपि च । एतासां स्तन्यपानेन शिशुर्भवति सामयः ॥२९॥

दूध पिलाने के अयोग्य धात्री के लक्षण—शोक से व्याकुल चित्तवाली, भूख से पीड़ित, थकी हुई, सदा रोग से घिरी हुई, अत्यन्त लम्बी, अत्यन्त नीची, अत्यन्त मोटी, अत्यन्त दुबली, गर्भिणी, ज्वर से युक्त, लम्बे तथा ऊंचे स्तनोंवाली, अजीर्ण होने पर भी भोजन करने वाली, कुपथ्य भोजनादि सेवन करनेवाली, क्षुद्र (नीच) कार्यों के करने में आसक्त चित्त वाली, दुःख से पीड़ित और चञ्चल चित्तवाली ऐसी धाइओं के दूध पीने से बालक रोगी हो जाता है ॥ २७-२९ ॥

अथ बालस्य स्तन्यपानविधिमाह—

तत्र माता प्रशस्ताङ्गी चाहतवस्त्रा पुरोमुखी । उपविश्यासने सम्यग्दक्षिणं स्तनमम्बुना ॥३०॥
प्रक्षाल्येषत्परिस्राव्य मन्त्राभ्यामभिमन्त्रितम् ।
उदङ्मुखं शिशुं क्रोडे शनैः सन्धाय पाययेत् ॥ ३१ ॥

बालकों को दूध पिलाने की विधि—बालक को दूध पिलाने के समय माता या धाई जो कोई हो वह अपने अङ्गों को स्नानादि से स्वच्छ सुन्दर वस्त्र पहने पूर्व की ओर मुख करके अच्छी तरह से आसन पर बैठे और प्रथम दक्षिण स्तन को जल से खूब धोकर थोड़ा सा दूध उसमें से निकाल कर फेंक दे। उसके बाद आगे लिखे हुये दो मन्त्रों से स्तन को अभिमन्त्रित करके बालक का मुख गोदी में उत्तर ओर रखकर धीरे से उसके मुख में स्तन देकर दूध पिलावे ॥३०-३१॥

*माता = इत्युपलक्षणम् । धात्री चेषत्परिस्राव्य ॥ ३१ ॥

'माता' यह उपलक्षण है। अतएव धात्री को भी उचित है कि—दूध पिलाने के समय स्तन को धोकर उससे थोड़ा सा दूध निकाल कर फेंक देवे ॥ ३०-३१ ॥

अन्यथा वैगुण्यमाह सुश्रुतः—

अस्रावितं स्तनं बालः पिबन्स्तन्येन भूयसा । पूर्णस्रोता वमीकासश्वासैर्भवति पीडितः ॥३२॥

अविधि स्तनपान कराने का दोष—यदि दूध पिलाने के पहले स्तन सें कुछ दूध निकाल कर बिना फेंके ही उसको बालक पीवे तो अधिक दूध मुख में चले जाने के कारण मुख में ऊपर का स्रोत भर जाने से बालक वमन, कास और श्वासरोग से पीडित होता है ॥ ३२ ॥

अथ स्तन्याभिमन्त्रणमाह—

क्षीरनीरनिधिस्तेऽस्तु स्तनयोः क्षीरपूरकः । सदैव सुभगो बालो भवत्वेष महाबलः ॥ ३३ ॥
पयोऽमृतसमं पीत्वा कुमारस्ते शुभानने ! । दीर्घमायुरवाप्नोतु देवाः प्राप्यामृतं यथा ॥३४॥

दूध अभिमन्त्रित करने के उपर्युक्त मन्त्रों के अर्थ—क्षीर समुद्र तुम्हारे दोनों स्तनों में दूध भरनेवाला हो तथा उसी दूध के पीने से यह बालक सदा सौभाग्यशाली और अत्यन्त बलवान् होवे और हे शुभानने ! जिस प्रकार देवता लोगों ने अमृतपान करके दीर्घ आयु प्राप्त किया, उसी प्रकार तुम्हारा पुत्र भी अमृत के समान इस दूध को पीकर दीर्घ आयु को प्राप्त करे ॥३३-३४॥

इमौ मन्त्रौ पित्रा अन्येन वा ब्राह्मणेन पठनीयौ। यावत् मन्त्रपाठस्तावद् मात्रा धात्र्या वा दक्षिणहस्तेन ([1]दक्षिण) स्तनस्पर्शः कार्यः ॥ ३३-३४ ॥

उपर्युक्त दोनों मन्त्रों का पिता अथवा दूसरा कोई ब्राह्मण पाठ करे और जब तक मन्त्र का पाठ हो तब तक माता या धात्री जो हो वह दक्षिण हाथ से दक्षिण स्तन का स्पर्श करती रहे ॥३३-३४॥

अथ जनन्याः क्षीराभावे धात्र्याश्चालाभे प्रकारमाह—

क्षीरसात्म्यतया क्षीरमाजं गव्यमथापि वा। दद्यादास्तन्यपर्याप्तेर्बालेभ्यो वीक्ष्य मात्रया ॥३५॥

स्तन्य के अभाव में गो अथवा बकरी के दुग्ध—यदि माता के स्तन में दूध न हो तथा कोई धात्री भी न मिले तो जितने दिन तक माता के स्तनों में अच्छी तरह दूध न उतर आवे अथवा जब तक दूध पीने की योग्यता होवे तब तक उपयुक्त मात्रा में बालक को बकरी अथवा गाय का दूध पिलावे, क्योंकि बालक को दूध ही सात्म्य (प्रकृत्यनुकूल) होता है ॥ ३५ ॥

क्षीरसात्म्यतयेति। यतः शिशोः क्षीरमेव सात्म्यं भवति न स्वन्नादिकम्। आस्तन्यपर्याप्तेरिति। यावत् स्त्रियाः स्तन्यस्य समन्ततोभावेन प्राप्तिर्भवति। अथवा यावत् स्तन्यपानस्य योग्यता भवेदित्यर्थः ॥ ३५ ॥

'बालक को बकरी या गाय का दूध ही पिलना चाहिये क्योंकि बालक को दूध ही सात्म्य होता है न कि अन्नादि' इसी भाव को व्यक्त करने के लिये मूल में 'क्षीरसात्म्यतया' यह पद दिया गया है तथा 'जब तक स्त्री के स्तनों में भली भांति दूध न उतर आवे और जब तक दूध पीने की योग्यता रहे' यह भाव व्यक्त करने के लिये 'आस्तन्यप्राप्तेः' यह पद दिया गया है ॥ ३५ ॥

अथ बालस्यान्नप्राशनसमयमाह—

यथोक्तविधिना बालं मासि षष्ठेऽष्टमेऽपि च। अन्नं सम्प्राशयेत्किञ्चित्ततस्तद्वर्धयेत्क्रमात् ॥३६॥

अन्नप्राशन का समय—छठें अथवा आठवें मास में शास्त्रोक्त विधि से बालक को थोड़ा सा अन्न प्रथम चटावे, उसके बाद अवस्थावृद्धि के अनुसार अन्न की मात्रा थोड़ी २ बढ़ावे ॥ ३६ ॥

अथ बालस्य परिचर्याविधिमाह—

बालमङ्के सुखं दध्यान्न चैनं तर्जयेत्क्वचित्। सहसा बोधयेन्नैव नायोग्यमुपवेशयेत् ॥ ३७ ॥

बालक की परिचर्या—बालक को जिस तरह से दुःख न हो उस तरह उठा कर गोदी में रखे और उसको कभी नहीं डरावे तथा सोते हुये उसको सहसा जगावे भी नहीं और यदि अयोग्य हो तो बैठावे भी नहीं ॥ ३७ ॥

अयोग्यमुपवेशनासमर्थम् ॥ ३७ ॥

'अयोग्य' पद का 'बैठने में असमर्थ' यह अर्थ करना चाहिये ॥ ३७ ॥

नाकृष्य स्थापयेत्क्रोडे न क्षिप्रं शयने क्षिपेत्।
रोदयेन्न क्वचित्कार्ये विधिमावश्यकं विना ॥ ३८ ॥

बालक को खींच कर गोद में न लेवे तथा जल्दी से शय्या पर सुलावे, आवश्यक कार्य (तैल मालिश आदि) के बिना किसी कार्य में कभी न रुलावे ॥ ३८ ॥

आवश्यको विधिः = भेषजदानतैलाभ्यङ्गोद्वर्तनादिः ॥ ३८ ॥

'आवश्यको विधिः' अर्थात् 'औषध देना, तेल लगाना, उबटना लगाना' आदि ॥ ३८ ॥

तच्चित्तमनुवर्तेत तं सदैवानुमोदयेत्। ([2]वातातपतडिद्वृष्टिधूमानलजलादितः)
निम्नोच्चस्थानतश्चापि रक्षेद्बालं प्रयत्नतः ॥ ३९ ॥

---

१. कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः। २. कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः।

बालक के मन के अनुसार चले तथा उसे सदा प्रसन्न रखे एवं वायु, घाम, बिजली, वर्षा, धूम, अग्नि, जल आदि से तथा नीचे ऊँचे स्थानों से भी उसे यत्न पूर्वक बचाता रहे ॥ ३९ ॥

अथ बालस्य स्वभावतो हितान्याह—

अभ्यङ्गोद्वर्त्तनस्नानं नेत्रयोरञ्जनं तथा—

वसनं मृदु यत्तच्च तथा मृद्वनुलेपनम् । जन्मप्रभृति पथ्यानि बालस्यैतानि सर्वथा ॥ ४० ॥

बालकों के लिये हितकर—तेल मालिश करना, उबटन लगाना, नहलाना, नेत्रों में अञ्जन लगाना, कोमल वस्त्र पहराना और मृदु पदार्थों का लेप करना, ये सब बालकों के लिये जन्म से ही हितकर होते हैं ॥ ४० ॥

अथ बालस्य कवलादेः समयमाह—

कवलः पञ्चमाद्वर्षादष्टमान्नस्यकर्म च । विरेकः षोडशाद्वर्षाद्विंशतेश्चैव मैथुनम् ॥ ४१ ॥

बालकों के कवलादि करने का समय—पांच वर्ष की अवस्था हो जाने के उपरान्त औषधों का कवल धारण करने का समय होता हैं तथा आठ वर्ष की अवस्था के बाद नास लेने का, सोलह वर्ष की अवस्था के बाद विरेचन (जुलाब लेने) का और बीस २० वर्ष की अवस्था के बाद मैथुन करने का समय प्रशस्त होता है। इन समयों से पहले यदि पूर्वोक्त कवलादिकों का प्रयोग कराया जाय तो हानि होती है ॥ ४१ ॥

अथ बाल्यादेरवधिमाह सुश्रुतः—

वयस्तु त्रिविधं बाल्यं मध्यमं वार्धकं तथा । ऊनषोडशवर्षस्तु नरो बालो निगद्यते ॥ ४२ ॥

त्रिविधः सोऽपि दुग्धाशी दुग्धान्नाशी तथाऽन्नभुक् ।
दुग्धाशी वर्षपर्यन्तं दुग्धान्नाशी शरद्द्वयम् ॥ ४३ ॥

तदुत्तरं स्यादन्नाशी एवं बालस्त्रिधा मतः । मध्ये षोडशसप्तत्योर्मध्यमः कथितो बुधैः ॥ ४४ ॥
[1]चतुर्धा मध्यमं वृद्धियुवपूर्णत्वहानितः । अवें द्वाविंशतेर्वृद्धिर्युवा स्यान्त्रिंशतो मतः ॥ ४५ ॥

सुश्रुतोक्त बाल्यादि अवस्थाओं की सीमा—अवस्था तीन प्रकार की होती है, १ बाल्यावस्था, २ मध्यावस्था और ३ वृद्धावस्था, इनमें मनुष्य जब तक सोलह वर्ष से कम अवस्था का होता है तब तक उसकी बाल्यावस्था कहलाती है अतः वह बालक कहा जाता है और वह बालक भी तीन प्रकार का होता है, १ दूध पीने वाला, २ दूध पीने और अन्न खाने वाला तथा ३ केवल अन्न खानेवाला, उसमें एक वर्ष तक केवल दूध पीने वाला, दो वर्ष तक दूध तथा अन्न खानेवाला और उसके बाद १५ वर्ष तक केवल अन्न खाने वाला, इस प्रकार के बालक होते हैं। पण्डित लोग १६ वर्ष से लेकर ७० वर्ष के मध्य की अवस्था को मध्यावस्था कहते हैं। वह चार प्रकार की होती हैं—१ वृद्धि की अवस्था २ युवावस्था ३ पूर्णावस्था और ४ क्षीणावस्था, इनमें से बीस वर्ष तक वीर्यादि की वृद्धि होने से यह वृद्धि की अवस्था कहलाती है तत्पश्चात्, तीस वर्ष तक की युवावस्था कहलाती है ॥४२–४५॥

चत्वारिंशत्समा यावत्तिष्ठेद्वीर्यादिपूरितः । ततः क्रमेण क्षीणः स्याद्यावद्भवति सप्ततिः ॥

४० वर्ष तक पूर्णावस्था कहलाती है क्योंकि इस अवस्था तक शरीर में वीर्यादि पूर्ण बने रहते हैं। उसके बाद क्रम २ से जब तक ७० वर्ष की अवस्था होती है तब तक वीर्यादि क्षीण हो जाते हैं अत एव यह क्षीणावस्था कहलाती है ॥ ४६ ॥

ॐवीर्यादीत्यादिशब्देन रसादिसर्वधात्विन्द्रियबलोत्साहा उच्यन्ते । क्षीणः=सर्वधात्विन्द्रियबलोत्साहैर्हीनः ॥ ४६ ॥

---

1. क्वचित् 'चतुर्धा मध्यमं प्राह युवा द्वात्रिंशतो मतः' इति पा०।

'वीर्यादिपूरितः' इस पद में स्थित 'आदि' शब्द से 'रस रक्तादि सम्पूर्ण धातु, इन्द्रियों का बल और उत्साह पूर्ण बने रहते हैं' ऐसा अर्थ समझना चाहिये और 'क्षीण' पद से 'सम्पूर्ण रसादि धातु, तथा इन्द्रियों का बल एवं उत्साह से हीन' ऐसा अर्थ समझना चाहिये ॥ ४६ ॥

ततस्तु सप्ततेरूर्ध्वं क्षीणधातुरसादिकः। क्षीयमाणेन्द्रियबलः क्षीणरेता दिने दिने ॥ ४७ ॥
वलीपलितखालित्ययुक्तः कर्मसु चाक्षमः। कासश्वासादिभिः क्लिष्टो वृद्धो भवति मानवः ॥

उसके बाद ७० वर्ष से ऊपर की अवस्था होने पर मनुष्यों के धातु, रस रक्तादि क्षीण होते हैं और दिनो दिन इन्द्रियों का बल क्षीण होता जाता है तथा शुक्र भी क्षीण हो जाता है और तब वह वली (झुर्री) पलित (बालों का सफेद होना) और खालित्य (शिर के बालों का झड़जाना) से युक्त तथा इन्द्रियों के द्वारा कार्य करने में असमर्थ हो जाता है एवं कास, (खांसी) और श्वास आदि रोगों से पीडित रहता है अतएव सत्तर वर्ष की अवस्था के बाद मनुष्य वृद्ध कहलाता है ॥

बाल्ये विवर्धते श्लेष्मा पित्तं स्यान्मध्यमेऽधिकम्। वार्धके वर्द्धते वायुर्विचार्यैतदुपक्रमेत् ॥

बाल्यावस्था में कफ की वृद्धि रहती है, मध्यावस्था में पित्त का आधिक्य रहता है और वृद्धवस्था में वायु बढ़ता है अत एव वैद्य को इसका विचार करके रोगी की चिकित्सा करनी चाहिए ॥ ४९ ॥

उपक्रमेत् = चिकित्सेत् ॥ ४९ ॥

'उपक्रमेत' का 'चिकित्सा करनी चाहिये' ? यह अर्थ होता है ॥ ४९ ॥

तन्त्रान्तरे तु —

[1]बाल्यं वृद्धिश्छविर्मेधा त्वग्दृष्टिः शुक्रविक्रमौ। बुद्धिः कर्मेन्द्रियं चेतो जीवितं[2] दशतो ह्रसेत् ॥

दूसरे ग्रन्थों में तो यह लिखा है कि—बाल्य (लड़कपन), वृद्धि (रस रक्तादि का बढ़ना), छवि (देह की कान्ति), मेधा (धारण करनेवाली बुद्धि), त्वक् (चमड़ा), दृष्टि (देखने की शक्ति), शुक्र, विक्रम, बुद्धि, कर्मेन्द्रिय (हाथ पैर आदि), चित्त और जीवन ये सब यथा क्रम से प्रति १० वर्ष के व्यतीत होने पर ह्रास को प्राप्त होते हैं अर्थात्-प्रथम दश वर्ष के बाद बाल्य द्वितीय दश (बीस) वर्ष बाद वृद्धि, तृतीय दश (तीस) वर्ष के बाद छवि इत्यादि क्रम से ह्रास को प्राप्त होते हैं ॥ ५० ॥

अथ प्रकृतिलक्षणान्याह—

सप्त प्रकृतयो नृणां वातापित्तात्कफात्तथा। संसर्गात्सन्निपाताच्च भवन्ति भिषजां मते ॥५१॥
शुक्रशोणितसंयोगे यो दोषस्तूत्कटो भवेत्। प्रकृतिर्जायते तेन तस्या लक्षणमुच्यते ॥ ५२ ॥

प्रकृतियों के लक्षण—वैद्यों के मत से सात प्रकार की मनुष्यों की प्रकृति होती है। उसमें वात से वात-प्रकृति १, पित्त से पित्त-प्रकृति २, कफ से कफ-प्रकृति ३, दो दोषों के मेल से द्वन्द्व-प्रकृति अर्थात् वातपित्त-प्रकृति ४, वातकफ-प्रकृति ५, पित्तकफ-प्रकृति ६ और तीनों दोषों से सान्निपातिक-प्रकृति ७ होती है। गर्भाधान के समय माता पिता के शुक्र और रज के संयोगकाल में जिन दोषों की अधिकता रहती है उन्हीं दोषों के अनुसार मनुष्यों को प्रकृतियाँ होती हैं। अन्य प्रकृतियों के लक्षण आगे कहते हैं ॥ ५१–५२ ॥

वाग्भटे तु आत्रेयादयः—

शुक्रासृग्गर्भिणीभोज्यचेष्टागर्भाशयार्तिषु[3]। यः स्याद्दोषोऽधिकस्तेन [4]प्रकृतिः सप्तधोदिता ॥

इसी विषय में 'आत्रेयादि महर्षि' 'वाग्भट' नामक ग्रन्थ में तो ऐसा कहते हैं कि—शुक्र, शोणित (रज), गर्भिणी स्त्रियों के भोज्य पदार्थ और चेष्टायें तथा गर्भाशय की पीड़ा इन सबों

---

१. 'बाल्यादि'ति पा०। २. 'क्रमत' इति पा०। ३. 'गर्भाशयान्तरे' इति पा०। ४. 'सर्वथोदिते'ति पा०।

में जिन दोषों की अधिकता होती है उन दोषों के अनुसार ही मनुष्यों की सात प्रकार की प्रकृति उत्पन्न होती है ।। ५२ ।।

सोऽपि दोषः स्वभावावस्थितो न तु दुष्टः, दुष्टेन तु शुक्रशोणितयोर्दुष्टौ शुद्धगर्भासम्भवात् ।। ५३ ।।

शुक्र शोणितादिगत जो अधिक दोष होते हैं उनके द्वारा प्रकृति का उत्पन्न होना जो कहा गया है उसमें दोष पद से दुष्टता को प्राप्त दोषों को नहीं समझना चाहिये किन्तु जो अपने स्वभाव में स्थित हों उन्हीं को प्रकृति का उत्पादक समझना चाहिये। क्योंकि दोषों के दुष्ट होने पर उनके द्वारा शुक्र और शोणित की भी दुष्टि हो जाती है और उन दोनों की दुष्टि से शुद्ध गर्भ की उत्पत्ति हो नहीं सकती अतः सर्वथा निर्दुष्ट दोषों ही को प्रकृति का उत्पादक समझना चाहिये ।। ५३ ।।

अथ वातादिप्रकृतयस्तत्रादौ वातप्रकृतिलक्षणमाह—

जागरूकोऽल्पकेशश्च स्फुटिताङ्घ्रिकरः कृशः। शीघ्रगो बहुवाग्रूक्षः स्वप्ने वियति गच्छति ॥
एवंविधः स विज्ञेयो वातप्रकृतिको नरः ॥ ५४ ॥

वात-प्रकृति के लक्षण – जागनेवाला, अल्पकेशों से युक्त, फटे हुये हाथ पैरवाला, दुबला पतला, शीघ्र चलनेवाला तथा बहुत बोलनेवाला एवं रूखे शरीर वाला और स्वप्न में आकाश में गमन करनेवाला जो मनुष्य होता है उसे वात-प्रकृति वाला समझना चाहिये ।। ५४ ।।

अथ पित्तप्रकृतिलक्षणमाह –

पित्तप्रकृतिको लोको यादृशोऽथ निगद्यते। अकालपलितो गौरः क्रोधी स्वेदी च बुद्धिमान् ॥
बहुभुक्ताम्रनेत्रश्च[1] स्वप्ने ज्योतींषि पश्यति। एवंविधो भवेद्यस्तु पित्तप्रकृतिको नरः ॥ ५६ ॥

पित्त प्रकृति के लक्षण – बिना वृद्धावस्था आये ही जिसके बाल सफेद हो जायँ, और जो गौर वर्ण का तथा क्रोधी हो, शरीर से पसीना अधिक निकले, बुद्धिमान्, बहुत भोजन करने वाला, ताम्र के वर्ण के समान नेत्रवाला और स्वप्न में सूर्य, बिजली आदि ज्योति से युक्त पदार्थों का देखनेवाला हो उसे पित्त प्रकृति वाला समझना चाहिये ।। ५५-५६ ।।

अथ श्लेष्मप्रकृतिलक्षणमाह –

श्यामकेशः क्षमी स्थूलो बहुवीर्यो महाबलः। स्वप्ने जलाशयालोकी श्लेष्मप्रकृतिको नरः ॥

कफ प्रकृति के लक्षण – काले बालों वाला, क्षमाशील, स्थूल शरीरवाला, वीर्यशाली, अत्यन्त बलवान् और स्वप्न में जलाशय (नदी, तालाब आदि) को देखनेवाला, जो मनुष्य हो उसे कफ प्रकृतिवाला समझना चाहिये ।। ५७ ।।

अथ द्वन्द्वजत्रिदोषजप्रकृतिलक्षणमाह—

दृश्यते प्रकृतौ यत्र रूपं दोषद्वयस्य तु। द्विसंसर्गेण जानीयात्सर्वलिङ्गैस्त्रिदोषजम् ॥ ५८ ॥

द्वन्द्वज तथा त्रिदोषज प्रकृति के लक्षण – जिसकी प्रवृत्ति में दो दोषों के लक्षण दिखाई पड़े उसे द्वन्द्वज और जिसकी प्रकृति में तीन दोषों के लक्षण दिखाई पड़े उसे त्रिदोषज-प्रकृतिवाला समझना चाहिये ।। ५८ ।।

अथ वातप्रकृतिलक्षणानि वाग्भटे—

[[2]विशुत्वादाशुकारित्वाद्बलित्वादन्यकोपनात्[3] ।
स्वातन्त्र्याद्बहुरोगत्वाद्दोषाणां प्रबलोऽनिलः] ॥ ५९ ॥

प्रायोऽत[4] एव पवनाध्युषिता मनुष्या दोषात्मकाः स्फुटितधूसरकेशगात्राः।

---

१. 'बहुभोक्ताऽस्त्रे'ति पा० । २. 'कोष्ठस्थः पाठः क्वचित्कः' । ३. 'अल्पकोपनादि'ति पा० । ४. 'प्रायस्य एवे'ति पा० ।

शीतद्विषश्चलधृतिस्मृतिबुद्धिचेष्टासौहार्दद्दृष्टिगतयोऽतिबहुप्रलापाः ॥ ६० ॥
अल्पपित्तबलजीवितनिद्राः सन्नसक्तचलजर्जरवाचः ।
नास्तिका बहुभुजः सविलासा गीतहास्यमृगयाकलिलोलाः ॥ ६१ ॥
मधुराम्लपटूष्णसात्म्यकांक्षाः कृशदीर्घाकृतयः सशब्दयाताः ।
न दृढा न जितेन्द्रिया न चार्या न च कान्तादयिता बहुप्रजा वा ॥ ६२ ॥
[1]नेत्राणि चैषां खरधूसराणि वृत्तान्यचारूणि मृतोपमानि ।
उन्मीलितानीव भवन्ति सुप्ते शैलद्रुमांस्ते गगनं च यान्ति ॥ ६३ ॥
अधन्या मत्सराध्माताः स्तेना प्रोद्बद्धपिण्डिकाः । श्वशृगालोष्ट्रगृध्राखुकाकानूकाश्च वातिकाः ॥

वाग्भटोक्त वात-प्रकृति के लक्षण—विभु (व्यापक) तथा शीघ्रकारी होने से एवं बली तथा दूसरे को कुपित करनेवाला और स्वतन्त्र तथा बहुत रोगों को उत्पन्न करनेवाला होने से सम्पूर्ण दोषों के मध्य में वायु सबसे प्रबल होता है, अत एव वात-प्रकृतिवाले मनुष्य प्रायः दोषों (अवगुणों) से युक्त होते हैं, उनके शरीर और केश फटे हुये तथा धूसर वर्ण के होते हैं और वे शीत से द्वेष रखने वाले होते हैं, उन सबों की धृति (धैर्य), शक्ति, बुद्धि, चेष्टा, मित्रता, दृष्टि और गति चञ्चल होती है, एवं वे बहुत बोलनेवाले होते हैं, उनमें पित्त, बल, जीवन और निद्रा ये सब थोड़ी मात्रा में होते हैं और वे साँय २ टूटे फूटे, जल्दी से एकला कर बोलने वाले, नास्तिक, बहुत भोजन करने वाले, विलास से युक्त, गान, हँसी (मजाक), शिकार, कलह, इन सबों में आसक्त होते हैं । उन सबों को मीठा, खट्टा, नमकीन और गर्म पदार्थ ही सात्म्य (हितकर) होते हैं तथा इन्हीं पदार्थों के खाने की इच्छा भी होती है । वे पतले तथा लम्बे शरीरवाले होते हैं और उनके चलने में शब्द होता है, तथा वे न तो दृढ़, न जितेन्द्रिय, न सज्जन, न स्त्रियों के प्रिय और न बहुत सन्तानवाले ही होते हैं और उन सबों के नेत्र तीक्ष्ण धूसर वर्ण वाले, गोल, देखने में भयङ्कर तथा सोने पर भी मुर्दे के समान कुछ खुले हुये होते हैं और वे स्वप्न में पर्वत तथा वृक्ष के ऊपर एवं आकाश में गमन करते हैं । वे भाग्यहीन, मत्सरता से युक्त अर्थात् दूसरे का भला न देख सकनेवाले और चोर होते हैं तथा उनके पांवों की पिण्डलियाँ गाँठदार होती हैं । वातप्रकृति वाले मनुष्यों का स्वभाव कुत्ता, स्यार, ऊँट, गृध्र, चूहा और उल्लू पक्षी के सदृश होता है । यहां पर सर्वत्र 'अनूक' पद का 'स्वभाव' अर्थ समझना चाहिये ॥ ५९–६४ ॥

अथ पित्तप्रकृतिलक्षणान्याह—

पित्तं वह्निर्वह्निजं वा यदस्मात्पित्तोद्रिक्तस्तीक्ष्णतृष्णाबुभुक्षुः ।
गौरोष्णाङ्गस्ताम्रहस्ताङ्घ्रिवक्त्रः[2] शूरो मानी पिङ्गकेशोऽल्परोमा ॥ ६५ ॥
दयितमाल्यविलेपनमण्डनः सुचरितः शुचिराश्रितवत्सलः ।
विभवसाहसबुद्धिबलान्वितो भवति भीषु गतिर्द्विषतामपि ॥ ६६ ॥
मेधावी प्रशिथिलसन्धिबन्धमांसो नारीणामनभिमतोऽल्पशुक्रकामः ।
आवासः[3] पलिततरंगनीलिकानां भुङ्क्तेऽन्नं मधुरकषायतिक्तशीतम् ॥ ६७ ॥
घर्मद्वेषी स्वेदनः पूतिगन्धिर्भूर्युच्चारक्रोधपानाशनेर्ष्यः ।
सुप्तः पश्येत्कर्णिकारान् पलाशान् दिग्दाहोल्काविद्युदर्कानलांश्च ॥ ६८ ॥
तनूनि पिङ्गानि चलानि चैषां तन्वल्पपक्ष्माणि हिमप्रियाणि ।
क्रोधेन मद्येन रवेश्च भासा रागं व्रजन्त्याशु विलोचनानि ॥ ६९ ॥

---

१. 'अक्षीणी'ति पा० ।   २. 'हस्तादियुग्म'इति 'हस्ताङ्घ्रिचक्षु'रिति च पा० ।
३. 'आवासः पलितव्यङ्गनीलिकाना'मिति पा० ।

मध्यायुषो मध्यबलाः पण्डिताः क्लेशभीरवः । व्याघ्रर्क्षकपिमार्जारवृकानूकाश्च पैत्तिकाः ॥

वाग्भटोक्त पित्तप्रकृति के लक्षण–पित्त स्वयं अग्नि अथवा अग्नि से उत्पन्न है अतः पित्तप्रकृतिवालों को भूख प्यास अधिक लगती है । वे गौर वर्ण तथा गरम शरीरवाले होते है, उनके हाथ पैर और मुख ताम्र वर्ण के होते हैं । वे शूर, मानी, पीले केशवाले तथा थोड़े रोगों से युक्त होते हैं और उनको पुष्पों की माला चन्दनादि का लेप और आभूषण प्रिय लगते हैं । वे सुन्दर चरित्र वाले, पवित्र, आश्रितों के ऊपर पुत्र की भांति प्रेम रखनेवाले, धन, साहस, बुद्धि तथा बल से युक्त, भय का विषय उपस्थित होने पर शत्रुओं को भी शरण देनेवाले और मेधावी होते हैं । उनके मांस तथा सन्धियों के बन्धन शिथिल होते हैं, वे स्त्रियों के प्रिय नहीं होते, क्योंकि उनमें शुक्र तथा कामचेष्टा कम होती है और वे पलित (बालों की सफेदी), झुर्रीं, और नीलिका रोगों के निवासस्थान तथा मीठा, कसैला, तीता और शीतल भोजन करनेवाले एवं घर्म (धूप) के साथ द्वेष करनेवाले होते हैं और उनके शरीर से स्वेद (पसीना) अधिक निकलता है तथा दुर्गन्ध आता है । उनमें विष्ठादि मल, क्रोध, पान (मद्यादि का पीना), भोजन व ईर्ष्या इन सबों की मात्रा अधिक रहती है । वे स्वप्न में कनेर, पलाश, दिशाओं का जलना, उल्का, बिजली, सूर्य और अग्नि को देखते हैं उनके नेत्रों के पलकों के ऊपर के रोम पतले और थोड़े होते हैं । उनकी आँखें पीली, चञ्चल शीत को पसन्द करनेवाली लम्बी, क्रोध, मद्य, तथा सूर्य की किरणों से शीघ्र रक्त वर्ण हो जाने वाली होती है । वे मध्यम आयु तथा बलवाले, पण्डित, क्लेश से डरने वाले और व्याघ्र, भालू, बन्दर, बिलार तथा भेड़िया के सदृश स्वभाववाले होते हैं । ६५-७० ॥

अथ कफप्रकृतिलक्षणान्याह—

श्लेष्मा सोमः श्लेष्मलस्तेन सौम्यो गूढस्निग्धश्लिष्टसन्ध्यस्थिमांसः ।
क्षुत्तृड्दुःखक्लेशधर्मैरतप्तो बुद्ध्या युक्तः सात्त्विकः सत्यसन्धः ॥ ७१ ॥
प्रियंगुदूर्वाशरकाण्डशस्त्रगोरोचनापद्मसुवर्णवर्णः ।
प्रलम्बबाहुः पृथुपीनवक्षामहाललाटो घननीलकेशः ॥ ७२ ॥
मृद्वङ्गः समसुविभक्तचारुदेहो [1]बह्वोजोरतिरसशुक्रपुत्रभृत्यः ।
धर्मात्मा वदति न निष्ठुरं च जातु प्रच्छन्नं वहति दृढं चिरं च वैरम् ॥ ७३ ॥
समदद्विरेन्द्रतुल्ययातो जलदाम्भोधिमृदङ्गसिंहघोषः ।
स्मृतिमानभियोगवान्विनीतो न च बाल्येऽप्यतिरोदनो न लोलः ॥ ७४ ॥
तिक्तं कषायं कटुकोष्णरूक्षमल्पं स भुंक्ते बलवांस्तथाऽपि ।
रक्तान्तसुस्निग्धविशालदीर्घसुव्यक्तशुक्लासितपक्ष्मलाक्षः ॥ ७५ ॥
अल्पव्याहारक्रोधपानाशनेहः प्राज्यायुर्वित्तो दीर्घदर्शी वदान्यः ।
श्राद्धो गम्भीरः स्थूललक्षः क्षमावा–नार्योनिद्रालुर्दीर्घसूत्रः कृतज्ञः ॥ ७६ ॥
ऋजुर्विपश्चित्सुभगः सलज्जो भक्तो गुरूणां स्थिरसौहृदश्च ।
स्वप्ने सपद्मान्सविहङ्गमालास्तोयाशयान्पश्यति तोयदांश्च ॥ ७७ ॥
ब्रह्मरुद्रेन्द्रवरुणतार्क्ष्यहंसगजाधिपैः । श्लेष्मप्रकृतयस्तुल्यास्तथा सिंहाश्वगोवृषैः ॥ ७८ ॥

वाग्भटोक्त कफप्रकृतिवालों के लक्षण—कफ सोमात्मक पदार्थ है, अतः कफ प्रकृति वाला मनुष्य सौम्य होता है । उसके सन्धि, अस्थि और मांस गूढ, स्निग्ध और परस्पर मिले हुये रहते हैं और वह भूख, प्यास, दुःख और क्लेश के धर्मों से सन्तप्त नहीं होता, वह बुद्धि से युक्त, सत्त्व गुण वाला, सत्यप्रतिज्ञ (अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करने वाला) होता है । उसका वर्ण प्रियङ्गु, दूब, मूंज,

---

१. 'बह्वाजा रतिरसशुक सपुत्रभृत्य' इति पा० ।

कुश, गोरोचन, कमल और सुवर्ण के समान होता है। उसकी बाहें लम्बी, ललाट चौड़ा और वक्षःस्थल चौड़ा तथा मोटा, केश घने तथा काले, अङ्ग कोमल और शरीर सम, सुविभक्त (अच्छी तरह से प्रत्येक अवयवों का विभाग हुआ) और सुन्दर होता है। उसमें ओज रति, रस, शुक्र, पुत्र और भृत्य इनका आधिक्य रहता है। वह धर्मात्मा, कभी निष्ठुर वचन नहीं बोलने वाला दृढ़ तथा चिरकाल तक गुप्त रूप से वैर रखनेवाला होता है। उसका गमन मतवाले हाथी के समान, कण्ठस्वर मेघ, समुद्र, मृदङ्ग और सिंह के शब्द के समान गम्भीर होता है। वह स्मरण शक्ति-वाला, उद्योगी, विनय से युक्त और लड़कपन में भी न अत्यन्त रोने वाला और न चञ्चलता से रहने वाला होता है। वह यद्यपि तीता, कसैला, कड़ुआ, गरम, रूखा तथा थोड़ा भोजन करता है तथाऽपि बलवान् होता है। उसके दोनों नेत्र प्रान्त भागों में रक्त वर्ण से युक्त, अत्यन्त स्निग्ध, बड़े और लम्बे शुक्ल तथा कृष्ण मण्डल जिसमें भली भांति से व्यक्त हो रहे हैं तथा सुन्दर नेत्र-लोमों (बरौनी) से युक्त होते हैं। वह बातचीत, क्रोध, पान, भोजन और ईर्ष्या इन सबों की थोड़ी मात्रा में करता है। वह बहुत आयु तथा धन से युक्त, दूर तक विचार करने वाला, उदार, श्रद्धा से युक्त, गम्भीर, क्षमाशील, श्रेष्ठ, अधिक सोनेवाला, दीर्घसूत्र (प्रारम्भ किये हुये कर्म को बहुत देर में समाप्त करने वाला) और कृतज्ञ होता है। वह सरल चित्त, विद्वान्, सुभग (देखने में सुन्दर या अच्छा ऐश्वर्यवान्), गुरुजनों की भक्ति रखनेवाला, स्थिर मैत्री रखने वाला, स्वप्न में कमल और पक्षियों के वृन्द से युक्त जलाशय तथा मेघ को देखने वाला होता है और कफ-प्रकृतिवाले मनुष्य ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, वरुण, गरुड़, हंस, गजेन्द्र, सिंह, घोड़ा, गौ और बैल के सदृश स्वभाव से युक्त होते हैं॥ ७१-७८॥

ननु प्रकृतिहेतूनां मध्ये योऽधिकः स स्वव्याधीन्कथं न करोतीत्याशंकायामाह —

विषजाता यथा कीटो न विषेण प्रबाध्यते। तद्वत्प्रकृतयो मर्त्यं शक्नुवन्ति न बाधितुम्॥७९॥

प्रकृति के हेतुभूत जो वातादि दोष हैं, उनके मध्य में जो अधिक होता है उसी के अनुसार प्रकृति होती है तो वही दोष अपनी प्रकृतिवाले मनुष्यों में अपने से उत्पन्न होनेवाली व्याधियों को क्यों नहीं उत्पन्न करता? इस शङ्का का उत्तर यह है कि—विष से उत्पन्न हुये कीड़े जैसे विष से पीडित नहीं होते, उसी प्रकार वातादि प्रकृतिवाले मनुष्यों को वातादि दोष पीड़ित करने के लिये समर्थ नहीं होते हैं॥ ७९॥

एतौ द्वौ नञौ अपि ईषदर्थे। तेन विषेण विषजदाहादिना ईषत् प्रबाध्यते, न तु भृशम्। तथा च प्रकृतयः प्रकृतिहेतवो दोषा बाधितुं न शक्नुवन्ति। करचरणस्फुटितत्व स्वेदनिद्राऽऽधिक्यादिना ईषद्बाधितुं शक्नुवन्त्येव, न ज्वरादिभिः॥ ७९॥

यहां पर मूल में जो दो स्थलों पर 'नञ्' (नहीं) शब्द का प्रयोग आया है वहां पर उन दोनों का 'थोड़े' इस अर्थ में प्रयोग हुआ है ऐसा समझना चाहिये, अत एव 'विष से पीडित तो नहीं होते हैं' इसका अर्थ 'विष से होनेवाले दाहादिक से किञ्चिन्मात्र ही पीड़ित होते हैं न कि अधिक मात्रा में ऐसा समझना चाहिये। तथा 'वातादि प्रकृतिवाले मनुष्यों को तत्तत् प्रकृतियों के हेतुभूत जो वातादि दोष हैं वे पीडित करने के लिये समर्थ नहीं होते हैं' इसका अर्थ 'हाथपैर का फटना, पसीने का अधिक निकलना और अधिक नींद आना इत्यादि से तो थोड़ी मात्रा में पीडित करने के लिये अवश्य ही समर्थ होते हैं न कि ज्वरादिकों से पीड़ित करने के लिये समर्थ होते हैं' ऐसा समझना चाहिये॥ ७९॥

प्रकोपो वाऽन्यभावो वा शमो वा नोपजायते। प्रकृतीनां स्वभावेन जायते तु गतायुषः॥८०॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमन्मिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे बालप्रकरणं चतुर्थम्॥४॥

वातादि प्रकृतिवाले मनुष्यों के शरीर में स्वभाव से ही वातादि दोषों का प्रकोप, अन्यभाव (बदल जाना), अथवा उपशम कभी होता ही नहीं यदि होता है तो उन्हीं लोगों को जिन लोगों की आयु समाप्त हो चुकी है अर्थात् जो जल्द मरनेवाले हैं ॥ ८० ॥

इति भिषग्रत्न मिश्रोपाह्वश्रीब्रह्मशङ्करशर्मसाहित्यशास्त्रिणा विरचितायां 'विद्योतिनी' भाषाटीकायां चतुर्थं बालप्रकरणं समाप्तम् ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमं दिनचर्यादिप्रकरणम् ॥ ५ ॥

अथ देशमाह—

भूमिदेशस्त्रिधाऽनूपो जांगलो मिश्रलक्षणः ॥ १ ॥

देशों के भेद—पृथ्वी में देश तीन प्रकार के होते हैं १ अनूप, २ जाङ्गल और ३ मिश्रलक्षण (अनूप तथा जाङ्गल के लक्षणों से युक्त अर्थात् साधारण) ॥ १ ॥

तत्रानूपलक्षणमाह—

नदीपल्वलशैलाढ्यः फुल्लोत्पलकुलैर्युतः । हंससारसकारंडचक्रवाकादिसेवितः ॥ २ ॥
शशवाराहमहिषरुरुरोहिकुलाकुलः । प्रभूतद्रुमपुष्पाढ्यो नीलशस्यफलान्वितः ॥ ३ ॥
अनेकशालिकेदारकदलीक्षुविभूषितः । अनूपदेशो ज्ञातव्यो वातश्लेष्मामयार्त्तिमान् ॥ ४ ॥

अनूपदेश के लक्षण—जो देश नदी, छोटे २ जलाशय और पर्वतों से भरे हुए हैं तथा खिले हुये जल में उत्पन्न होनेवाले कमलादि पुष्पों से युक्त, हंस, सारस, कारण्डव (काक के समान चोंच, लम्बे पांववाले काले वर्ण के) पक्षी और चक्रवाक (चकवा) आदि पक्षियों से सेवित, शश (खरगोश), सुअर, भैंसा, रुरु (मृग विशेष) तथा रोहि (मृग विशेष) आदि पशुओं के कुलों से व्याप्त, अनेक प्रकार के वृक्ष, पुष्पों तथा हरे २ शस्य (धान्य विशेष) और फलों से युक्त एवं अनेक प्रकार के शालि (धान्यविशेष) के खेत तथा केले और ईख के वृक्षों से सुशोभित है उसे वात तथा कफ सम्बन्धी रोगों को उत्पन्न करनेवाला अनूपदेश समझना चाहिये ॥ २–४ ॥

अथ जाङ्गललक्षणमाह—

आकाशसम[1] उच्चश्च स्वल्पपानीयपादपः । शमीकरीरबिल्वार्कपीलुकर्कंधुसङ्कुलः ॥ ५ ॥
हरिणैणर्क्षपृषतगोकर्णखरसङ्कुलः । सुस्वादुफलवान्देशो वातलो जाङ्गलः स्मृतः ॥ ६ ॥

जाङ्गल देश के लक्षण—जिस देश में आकाश के सदृश समतल और ऊँची जमीन थोड़े जल तथा वृक्षों से युक्त हो और शमी (छीकुर) करील, बेल, आक, (मदार), पीलु, तथा बेर के वृक्षों एवं हरिण, एण (कृष्ण मृग), रीछ, पृषत (श्वेतबिन्दु युक्त मृग), गोकर्ण (गौ के सदृश कानवाला) पशु और गदहा इन सबों से व्याप्त हो तथा जिसमें स्वाद युक्त (मीठे) फल लगे हों ऐसे देश को वातसम्बन्धी रोगों को उत्पन्न करनेवाला जाङ्गल देश समझना चाहिये ॥ ५–६ ॥

तन्त्रान्तरे तु—

बहूदकनगोऽनूपः कफमारुतरोगवान् । जाङ्गलोऽल्पाम्बुशाखी च पित्तासृङ्मारुतोत्तरः ॥७॥

दूसरे ग्रन्थों में अनूपादि देशों के विषय में यह लिखा है कि—जिसमें बहुतायत से जल तथा पर्वत हों उसे कफ तथा वायु सम्बन्धी रोगों को उत्पन्न करनेवाला अनूप देश समझना चाहिये

---

१. 'आकाशशुभ्र' इति पा० ।

और जहां थोड़े जल तथा वृक्ष हों उसे प्रधानरूप से पित्त, रुधिर तथा वायुसम्बन्धी रोगों को उत्पन्न करनेवाला जाङ्गल देश समझना चाहिये ॥ ७ ॥

अथ साधारणलक्षणमाह—

संसृष्टलक्षणो यस्तु देशः साधारणो मतः ।
समाः साधारणे यस्माच्छीतवर्षोष्णमारुताः । समता तेन दोषाणां तस्मात्साधारणो वरः ॥

साधारण देश के लक्षण—जिस देश में अनूप तथा जाङ्गल इन दोनों देशों के लक्षण पाये जायँ, उसे साधारण देश समझना चाहिये । साधारण देश में शीत, वर्षा, गर्मी और वायु समान रूप से होते हैं अत एव वात, पित्त और कफ इन दोषों की वहां पर समता होने से वह (साधारण) देश सब से उत्तम कहा गया है ॥ ८ ॥

सुश्रुतः—

उचिते वर्तमानस्य नास्ति दुर्देशजं भयम् । आहारस्वप्नचेष्टाऽऽदौ तद्देशस्य कृते सति ॥९॥

सुश्रुत में कहा है कि—किसी भी दुर्देश (जहां का जल, वायु अपने अनुकूल न हो उस देश) में जाने पर यदि आहार, विहार, निद्रा आदि के विषय में उचित आचरण किया जाय तो दुर्देश सम्बन्धी रोगादि का भय नहीं होता है ॥ ९ ॥

वृद्धवाग्भटः—

यस्य देशस्य यो जन्तुस्तज्जं तस्यौषधं हितम् । देशादन्यत्र वसतस्तत्तुल्यगुणमौषधम् ॥
एवे देशे निचिता दोषा अन्यस्मिन्कोपमागताः । बलवन्तस्तथा न स्युर्जलजाः स्थलजास्तथा ॥

'वृद्ध वाग्भट' कहते हैं कि—जिस देश का रहनेवाला जो प्राणी हो उसे उसी देश में उत्पन्न हुई ओषधि हितकर हो सकती है । उस देश (स्वदेश) से अन्यत्र निवास करते हुए प्राणी के लिये स्वदेश में उत्पन्न हुई हितकर ओषधि के तुल्य गुणवाली अन्य देश की भी ओषधि हितकर होती है अपने देश में सञ्चित हुये दोष यदि दूसरे देश में कुपित होवें तो उतने बलवान् नहीं होते, चाहे वे जलप्राय अथवा स्थलप्राय देश में उत्पन्न होनेवाले रोग क्यों न हों । अर्थात् अनूप देश में रहनेवाले पुरुषों के सञ्चित हुये दोष जाङ्गल देश में जाने पर यदि कुपित हो जायँ तो भी वे अपने देश की भाँति बलवान् नहीं होते । इसी प्रकार जाङ्गल देश में सञ्चित दोष अनूपदेश में बलवान् नहीं होते ॥

अथ दिनादिचर्याः—

मानवो येन विधिना स्वस्थस्तिष्ठति सर्वदा । तमेव कारयेद्वैद्यो यतः स्वास्थ्यं सदेप्सितम् ॥
दिनचर्यां निशाचर्यामृतुचर्यां यथोदिताम् । आचरन्पुरुषः स्वस्थः सदा तिष्ठति नान्यथा ॥

दिनादिचर्या—जैसा आहार विहारादि करने से मनुष्य सर्वदा स्वस्थ (नीरोग) रह सकता हो, वैद्य को उचित है कि–उसी विधि को उससे करावे । क्योंकि स्वास्थ्य सभी को वांछनीय है । शास्त्र में दिनचर्या, रात्रिचर्या और ऋतुचर्या जिस प्रकार से कही हुई है । उसी प्रकार से दिनचर्यादि का आचरण करने से मनुष्य सदा स्वस्थ रह सकता है । उसके विपरीत आचरण करने से स्वास्थ्य लाभ नहीं कर सकता है ॥ १२–१३ ॥

तत्र स्वस्थस्य लक्षणमाह सुश्रुतः—

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः । प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥१४॥

सुश्रुतोक्त स्वस्थ पुरुष का लक्षण—जिसके शरीर में वातादि दोष, अग्नि, धातु (रसरक्तादि), मल और क्रिया समान रूप से हों तथा जो आत्मा, इन्द्रिय तथा मन से प्रसन्न रहता हो, उसे स्वस्थ कहते हैं ॥ १४ ॥

*क्रिया अत्र कर्म, तेन समक्रियः = शरीरानुरूपकर्मा ॥ १४ ॥

'क्रिया' पद का अर्थ 'कर्म' है अतः 'समक्रिय' अर्थात् जिसके कर्म शरीर के अनुरूप होते हों ॥

अथ दिनचर्यामाह—

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत स्वस्थो रक्षार्थमायुषः। तत्र सर्वाघशान्त्यर्थं स्मरेद्धि मधुसूदनम् ॥
बुध्वाऽथादर्शसिद्धार्थं बिल्वगोरोचनस्रजाम्। दर्शनं स्पर्शनं कार्यं प्रबुद्धेन शुभावहम् ॥१६॥

दिनचर्या—स्वस्थ पुरुष अपनी आयु की रक्षा के लिए ब्राह्ममुहूर्त में (सूर्योदय से १॥ घण्टा पहले) सो कर उठे और उस समय सम्पूर्ण पापों को शान्त करने के लिये मधुसूदन भगवान् का स्मरण करे और उसे उचित है कि वह प्रथम दही, घी, दर्पण पीली सरसों, बेल, गोरोचन तथा पुष्पमाला का दर्शन तथा स्पर्श करे, क्योंकि यह शुभदायक होता है ॥ १५-१६ ॥

स्वमाननं घृते पश्येद् यदीच्छेच्चिरजीवितम् ॥
आयुष्यमुषसि प्रोक्तं मलादीनां विसर्जनम्। तदन्त्रकूजनाध्मानोदरगौरववारणम् ॥ १७ ॥

यदि दीर्घ जीवन लाभ करने की अभिलाषा हो तो अपने मुख को घृत में देखे और प्रातः काल में मल मूत्रादि का त्याग करना आयुष्य (आयु के लिये हितकर) तथा आँत का गुड़गुड़ाना, अफारा तथा पेट का भारीपन इन सबों का दूर करनेवाला कहा हुआ है ॥ १७ ॥

*आदिशब्देन वातमूत्रादीनां ग्रहणम् ॥ १७ ॥

'मलादि' में वात (अधोवायु) मूत्र आदि का ग्रहण करना चाहिये ॥ १७ ॥

अथ पुरीषवेगाभिघाताद्धानिमाह—

आटोपशूलौ परिकर्तिका च सङ्गः पुरीषस्य तथोर्ध्ववातः।
पुरीषमास्यादथवा निरेति पुरीषवेगेऽभिहते नरस्य ॥ १८ ॥

शौच की चेष्टा रोकने से हानि—पुरीष का वेग अर्थात् शौच की चेष्टा रोकने पर मनुष्य को आटोप (पेट में वेदना युक्त गुड़गुड़ शब्द का होना), शूल और 'परिकर्तिका' (गुदा में कतरने के सदृश पीडा) ये सब रोग होते हैं तथा मल का अवरोध और ऊर्ध्ववात अथवा मुख से मल निकलना, इन सबों में से कोई न कोई होने लगता है ॥ १८ ॥

*परिकर्तिका = गुदे परिकर्त्तनवत्पीडा। पुरीषस्य सङ्गः = निरोधः। ऊर्ध्ववातः = उद्गारबाहुल्यम् ॥ १८ ॥

'परिकर्तिका' का 'गुदा में कतरने के सदृश पीड़ा' 'पुरीषस्य सङ्गः' का 'मलका अवरोध' तथा 'ऊर्ध्ववात' का अधिक उद्गार (डकार) आना' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १८ ॥

अथ वातनिग्रहजान् दोषानाह—

वातमूत्रपुरीषाणां सङ्गो ध्मानं क्लमो रुजा। जठरे वातजाश्चान्ये रोगाः स्युर्वातनिग्रहात् ॥ १९ ॥

अधोवायु रोकने से हानि—अधोवायु रोकने से वात, मूत्र और मल का अवरोध, अफारा, क्लान्ति, पीड़ा एवं उदर में वायु से उत्पन्न होने वाले अन्यान्य रोग भी होते हैं ॥ १९ ॥

अथ मूत्रनिग्रहजान् दोषानाह—

बस्तिमेहनयोः शूलं मूत्रकृच्छ्रं शिरोरुजा। विनामो वङ्क्षणानाहः स्याल्लिङ्गं मूत्रनिग्रहे ॥२०॥

मूत्र के वेग रोकने से हानि—मूत्र के वेग रोकने से मूत्राशय तथा लिङ्ग में शूल, मूत्रकृच्छ्र, शिर में दर्द, विनाम तथा वङ्क्षणानाह, ये सब रोग होने लगते हैं ॥ २० ॥

*विनामः = शरीरस्य नम्रता। वङ्क्षणानाहः = वङ्क्षणस्याकर्षणवत्पीडा ॥ २० ॥

---

१. 'दुःखस्ये'ति पा०।

'विनाम' पद से 'पीडा होने से शरीर का झुक जाना' तथा 'वङ्क्षणानाह' पद से 'वङ्क्षण अर्थात् दोनों ऊरुओं के सन्धिस्थानों के खींचने की भांति पीड़ा होना, यह अर्थ समझना चाहिये ॥२०॥

न वेगितोऽन्यकार्यः स्यान्न वेगानीरयेद्बलात्। कामशोकभयक्रोधान्मनोवेगान्विधारयेत् ॥
गुदादिमलमार्गाणां शौचं कान्तिबलप्रदम्। पवित्रकरमाख्यातमलक्ष्मीकलिपापहृत् ॥ २२ ॥
प्रक्षालनं मतं पाण्योः पादयोः शुद्धिकारणम्। मलश्रमहरं वृष्यं चक्षुष्यं राजसापहम् ॥२३॥

शौच (पुरीषोत्सर्गादि) के समय अन्य कार्य नहीं करे और न शौच के वेग को बलात् रोके। वेग रोकने के विषय में केवल काम, शोक, भय, क्रोध तथा मन के वेग को अवश्य रोकना चाहिये। गुदा आदि जो मलादि के निकलने के मार्ग हैं, उनका सफा रखना कान्ति, बल, तथा पवित्र करने वाला और दरिद्रता तथा कलियुग के पापों को नाश करनेवाला है। शौचादि के बाद हाथ-पैर का भली भांति मिट्टी आदि से मलकर धोना—शुद्धिकारक, मलादि करने के समय उत्पन्न हुये श्रम को हरण करनेवाला, वृष्य (ओज पैदा करनेवाला अथवा मनको हर्षित किं वा शुक्र की वृद्धि करनेवाला), चक्षु के लिये हितकारी और रजोगुण को दूर करनेवाला है ॥२१-२३॥

अथ दन्तकाष्ठविधिमाह—

भक्षयेद्दन्तपवनं द्वादशाङ्गुलमायतम्। कनिष्ठिकाऽग्रवत्स्थूलमृज्वग्रन्थिं तथाऽव्रणम् ॥ २४ ॥
एकैकं घर्षयेद्दन्तं मृदुना कूर्चकेन तु। दन्तशोधनचूर्णेन दन्तमांसान्यबाधयन् ॥ २५ ॥

दातौन करने की विधि—बारह अङ्गुल लम्बी, कनिष्ठिका अंगुलि के अग्रभाग की भांति मोटी, सीधी, गांठ तथा व्रण से रहित अर्थात् चिकनी और कहीं से छिलके उचड़े हुये न हों, ऐसी दातौन लेकर उसकी मुलायम कूँची बनाकर उससे दांतों को साफ करने वाले चूर्ण (मञ्जन) के साथ जिस भांति से मसूड़ों में पीड़ा न हो उस भांति एक २ दांत को रगड़े ॥ २५-२५ ॥

क्षौद्रत्रिकटुकाक्तेन तैलसिन्धुभवेन वा। चूर्णेन तेजोवत्याश्च दन्तान्नित्यं विशोधयेत् ॥ २६ ॥

त्रिकटु (सोंठ, पीपल, काली मिर्च) का चूर्ण शहद में मिलाकर अथवा सेंधा नमक कडुआ तेल में मिलाकर अथवा तेजबल्कल के चूर्ण से नित्य दांतों को साफ करे ॥ २६ ॥

*तेजोवती = तेजवल्कल इति लोके प्रसिद्धा ॥ २६ ॥

'तेजोवती' 'तेज वल्कल' नाम से लोक में प्रसिद्ध है ॥ २६ ॥

मधुको मधुरे श्रेष्ठः करञ्जः कटुके तथा। निम्बः स्यात्तिक्तके श्रेष्ठः कषाये खदिरस्तथा ॥२७॥
समयं तु समालोक्य दोषं च प्रकृतिं तथा। यथोचितै रसैर्वीर्यैर्युक्तं द्रव्यं प्रयोजयेत् ॥२८॥
तेनास्य मुखवैरस्यदन्तजिह्वाऽऽस्यजा गदाः। रुचिवैशद्यलघुता न भवन्ति भवन्ति च ॥२९॥
अर्के वीर्ये वटे दीप्तिः करञ्जे विजयो भवेत्। प्लक्षे चैवार्थसम्पत्तिर्बदर्यां मधुरो ध्वनिः[1] ॥३०॥
खदिरे मुखसौगन्ध्यं बिल्वे तु विपुलं धनम्। उदुम्बरे तु वाक्सिद्धिराम्रे त्वारोग्यमेव च ॥
कदम्बे तु धृतिर्मेधा चम्पके च दृढा[2] मतिः। शिरीषे कीर्त्तिसौभाग्यमायुरारोग्यमेव च ॥
अपामार्गे धृतिर्मेधा प्रज्ञाशक्तिस्तथाऽसने[3]। दाडिम्यां सुन्दराकारः ककुभे कुटजे तथा ॥३३॥
जातीतगरमन्दारैर्दुःस्वप्नं च विनश्यति ॥ ३४ ॥

मीठी दातौन में महुआ, कटु रस में करञ्ज, तिक्तरस में नीम और कषाय (कसैला) रस में खैर की दातौन उत्तम होती है। समय, दोष तथा प्रकृति को समझकर उसके योग्य रस और वीर्य (शीत अथवा उष्ण) से युक्त जो द्रव्य हो उसी का दांत साफ करने के समय प्रयोग करे। ऐसा करने से मुख की विरसता, दांत, जीभ तथा मुख में उत्पन्न होने वाले रोग नहीं होते

---

१. 'मधुराशनः' इति पा०। २. 'दृढवाक्श्रुति'रिति पा०। ३. 'तथा ध्वनि'रिति पा०।

तथा भोजन करने में रुचि, मुख की स्वच्छता और शरीर में लघुता (हल्कापन) होती है। मदार की दातौन करने से वीर्य (शक्ति), बड़ की दातौन से दीप्ति, करञ्ज की दातौन से विजय, पाकर की दातौन से धन संपत्ति, बेर की दातौन से मधुर ध्वनि (मीठी आवाज), खैर की दातौन से मुख में सुगन्धि, बेल की दातौन से विपुल धन, गूलर की दातौन से वाक्सिद्धि (जो बात कहे उसका सिद्ध होना), आम की दातौन से आरोग्य, कदम्ब की दातौन से धैर्य तथा मेधा (धारणा शक्ति), चम्पक की दातौन से दृढ़ बुद्धि (स्थिर बुद्धि), सिरस की दातौन से कीर्त्ति, सौभाग्य, आयु तथा आरोग्य, चिरचिटा (चिचिड़ा) की दातौन से धैर्य तथा मेधा, विजयसार की दातौन से प्रज्ञा शक्ति (समझने की शक्ति), अनार, अर्जुन तथा कटुज (कुरैया) की दातौन से सुन्दर आकृति तथा चमेली, तगर और मदार की दातौन करने से दुःस्वप्न का नाश होता है ॥ २७-३४ ॥

गुर्वाकस्तालहिन्तालौ केतकश्च बृहत्तृणः। खर्जूरं नारिकेलं च सप्तैते तृणराजकाः ॥ ३५ ॥
तृणराजसमुत्पन्नं यः कुर्याद्दन्तधावनम्। नरश्चाण्डालयोनिः स्याद्यावद्गङ्गां न पश्यति ॥३६॥

सुपारी, ताल, हिंताल, केतकी, बांस, खजूर और नारियल के वृक्ष 'तृणराज' कहलाते हैं। इन तृणराज संज्ञक वृक्षों की जो दातौन करता है, वह जब तक गंगा का दर्शन नहीं करता तब तक चाण्डालों की भांति अस्पृश्य (अछूत) बना रहता है ॥ ३५–३६ ॥

न खादेद्गलताल्वोष्ठजिह्वादन्तगदेषु तत्। मुखस्य पाके शोथे च श्वासकासवमीषु च ॥३७॥

गला, तालु, ओठ, जिह्वा और दांत सम्बन्धी रोग होने पर और मुख के पकने तथा शोथ होने पर तथा श्वास, कास एवं वमन होने पर काठ की दातौन नहीं करनी चाहिये ॥ ३७ ॥

दुर्बलोऽजीर्णभुक्तश्च हिक्कामूर्च्छामदान्वितः। शिरोरुजार्तस्तृषितः श्रान्तः पानक्लमान्वितः ॥
अर्दितः कर्णशूली च नेत्ररोगी नवज्वरी। वर्जयेद्दन्तकाष्ठं तु हृदामययुतोऽपि च ॥ ३९ ॥

जो दुर्बल हो तथा भोजन किया हुआ अन्न जिसका परिपक्व न हुआ हो और हिचकी, मूर्च्छा, और मद रोग (मद्य पीने से उत्पन्न रोग) से युक्त हो, शिर की पीड़ा से दुःखी, प्यासा, परिश्रम करने से थका हुआ और मद्यपान करने से क्लान्त हुआ हो तथा जो वायु सम्बन्धी अर्दित रोग से युक्त हो और कर्णशूल, नेत्रसम्बन्धी रोग, नवीन ज्वर तथा हृद्रोग से युक्त हो वह काष्ठ की दातौन करना छोड़ दे ॥ ३८–३९ ॥

⊛ अजीर्णभुक्तः—न जीर्णं भुक्तं यस्य सः ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

'अजीर्णभुक्तः' से 'जिसका भोजन किया हुआ अन्न न पचा हो' यह अर्थ समझना चाहिये ॥

अथ जिह्वानिर्लेखनमाह—

जिह्वानिर्लेखनं हैमं राजतं ताम्रजं तथा। पाटितं मृदु तत्काष्ठं मृदुपत्रमयं तथा ॥ ४० ॥
दशाङ्गुलं मृदु स्निग्धं तेन जिह्वां लिखेत्सुखम्। तज्जिह्वामलवैरस्यदुर्गन्धजडताहरम् ॥ ४१ ॥

जीभ सफा करने की विधि—सोना, चांदी अथवा तामे की बनी जीभी से जीभ सफा करना चाहिये। अथवा १० अङ्गुल परिमित दांत साफ करने के लिये काठ की जिस दातौन को काम में लिया हो, उसी को चीर कर उसके द्वारा जीभ छीले किंवा दश अंगुल परिमित स्निग्ध (चिकन) और कोमल पल्लवों से बनी हुई जो जीभी हो उससे सुखपूर्वक जीभ छीले किन्तु इतना न छीले कि रक्त निकल आवे और दुःख मालूम पड़े, इस प्रकार से जीभ छीलने से जीभ का मल, विरसता, दुर्गन्ध एवं जड़ता दूर होती है ॥ ४०–४१ ॥

⊛ तत्काष्ठं दन्तशोधनयोग्यं काष्ठम् ॥ ४०–४१ ॥

'तत्काष्ठम्' अर्थात् दांत साफ करने के योग्य जो काठ की दातौन काम में ली हो, उसीको (ले) ॥ ४०–४१ ॥

अथ मुखगण्डूषमाह—

गण्डूषमपि कुर्वीत शीतेन पयसा मुहुः। कफतृष्णामलहरं मुखान्तःशुद्धिकारकम् ॥ ४२ ॥
सुखोष्णोदकगण्डूषः कफारुचिमलापहः। दन्तजाड्यहरश्चापि मुखलाघवकारकः ॥ ४३ ॥

कुल्ला करने की विधि—दांत साफ करने और जीभी करने के बाद शीतल जल से बारंबार गण्डूष (कुल्ला) भी करे, इससे कफ, प्यास और मुख का मल दूर होता है तथा मुख के भीतर की शुद्धि होती है। थोड़े गरम जल से कुल्ला करने से कफ, अरुचि, मुख का मल तथा दांतों की जड़ता दूर होती है एवं मुख हल्का होता है ॥ ४२–४३ ॥

विषमूर्च्छामदार्त्तानां शोषिणां रक्तपित्तिनाम्। कुपिताक्षिमलक्षीणरूक्षाणां स न शस्यते ॥

जो विष, मूर्च्छा और मद से पीड़ित हों तथा शोष और रक्त पित्त रोग से युक्त हों एवं जिनकी आंखें कुपित हों अर्थात् उठ आई हों, मल क्षीण हो गया हो तथा जो रूखे शरीरवाले हों ऐसे लोगों को थोड़े गरम जल से कुल्ला करना हितकर नहीं होता है ॥ ४४ ॥

*सः = सुखोष्णोदकगण्डूषः ॥ ४४ ॥

'सः' अर्थात् 'थोड़े गरम जल से कुल्ला करना' ॥ ४४ ॥

मुखप्रक्षालनं शीतपयसा रक्तपित्तजित्। मुखस्य पिडिकाशोषनीलिकाव्यङ्गनाशनम् ॥ ४५ ॥
कुर्याद्वाऽपि कदुष्णेन पयसाऽऽस्यविशोधनम्। कफवातहरं स्निग्धं मुखशोषविनाशनम् ॥४६॥

शीतल जल से मुख प्रक्षालन करने से रक्तपित्त, मुख की पिडकायें (मुहासे), शोष, नीलिका और व्यङ्ग (झाईं) ये सब रोग नष्ट होते हैं और थोड़े गरम जल से मुख प्रक्षालन करने से मुख की शुद्धि, कफ और वात का नाश, स्निग्धता, और मुख का शोष नष्ट होता है ॥ ४५–४६ ॥

अथ नस्यविधिमाह—

कटुतैलादि नस्यार्थे नित्याभ्यासेन योजयेत्। प्रातः श्लेष्मणि मध्याह्ने पित्ते सायं समीरणे॥
सुगन्धवदनाः स्निग्धनिःस्वना विमलेन्द्रियाः। निर्वलीपलितव्यङ्गा भवेयुर्नस्यशीलिनः ॥

नस्य लेने की विधि—प्रतिदिन अभ्यास करके सर्षप (कडुये) तेल आदि का नस्य कफ की अधिकता हो तो प्रातःकाल, पित्त की अधिकता हो तो दोपहर और वात की अधिकता हो तो सायंकाल में लेवे। जो लोग नित्य नस्य लेनेवाले होते हैं, उनका मुख सुगन्धित, स्वर (आवाज) स्निग्ध और इन्द्रियां विमल होती हैं और उन्हें असमय में वली (शरीर में सिकुड़न पड़ना), पलित, (बिना समय बालों का सफेद होना) और व्यङ्ग (झाईं) ये सब नहीं होते हैं ॥

अथाञ्जनविधिमाह—

सौवीरमञ्जनं नित्यं हितमक्ष्णोस्ततो भजेत्। लोचने भवतस्तेन मनोज्ञे सूक्ष्मदर्शने ॥४९॥

अञ्जन लगाने की विधि—सौवीर (सफेद सुरमा) का नित्य अञ्जन करना आंखों के लिये हितकर होता है, इसका सेवन करने से आंखें सुन्दर तथा सूक्ष्म वस्तुओं को भी देखने वाली होती हैं ॥

*सौवीरं = श्वेतसुरमा इति लोके प्रसिद्धम् ॥ ४९ ॥

'सौवीर' से 'लोक में प्रसिद्ध सफेद सुरमा' का ग्रहण होता है ॥ ४९ ॥

स्रोतोऽञ्जनं मतं श्रेष्ठं विशुद्धं सिन्धुसम्भवम्। दृष्टेः कण्डूमलहरं दाहक्लेदरुजापहम् ॥५०॥
अक्ष्णो रूपावहं चैव सहते मारुतातपौ। नेत्रे रोगा न जायन्ते तस्मादञ्जनमाचरेत् ॥५१॥

सिन्धु नामक पर्वत में उत्पन्न होने वाले बिना शुद्ध किये हुये भी स्रोतोऽञ्जन (कालासुरमा) श्रेष्ठ है क्योंकि—वह आंखों की खुजली, मल (कीचड़), दाह, क्लेद (नेत्रों से पानी बहना) और

पीड़ा इन सबों को दूर करता है तथा नेत्रों को सुन्दर बनाता है और वायु तथा धूप के सहन करने में समर्थ भी करता है। उससे नेत्र सम्बन्धी कोई रोग उत्पन्न नहीं होते हैं अत एव इसका अञ्जन करना चाहिये ॥ ५०–५१ ॥

ॐस्रोतोऽञ्जनं = कृष्णसुर्मा इति लोके। विशुद्धं शोधनं विनाऽपि। सिन्धुसम्भवं = सिन्धुनामा पर्वतस्तत्र सम्भवम् ॥ ५०–५१ ॥

'स्रोतोऽञ्जन' से 'काला सुरमा' और 'विशुद्ध' से 'बिना शोधा हुआ भी' तथा 'सिन्धुसंभव' से 'सिन्धु नामक पर्वत में उत्पन्न होने वाला, यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ५०–५१ ॥

अथाञ्जनायोग्यजनानाह—

रात्रौ जागरितः श्रान्तश्छर्दितो भुक्तवांस्तथा। ज्वरातुरः शिरः स्नातो नाक्ष्णोरञ्जनमाचरेत् ॥

अञ्जन लगाने के अयोग्य व्यक्ति—जो रात में जागा हुआ तथा थका हुआ और जिसे वमन हुआ हो एवं जो भोजन करके उठा हो तथा ज्वर से पीड़ित और शिर से स्नान किया हुआ हो उसे आंखों में अञ्जन नहीं लगाना चाहिये ॥ ५२ ॥

अथ नखादिकर्त्तनविधिमाह—

पञ्चरात्राच्चखश्मश्रुकेशरोमाणि कर्त्तयेत्। केशश्मश्रुनखादीनां कर्त्तनं सम्प्रसाधनम् ॥
पौष्टिकं धन्यमायुष्यं शौचकान्तिकरं परम् ॥ ५३ ॥

नाखून कटाने और बाल बनवाने की विधि—पांच रात्रि व्यतीत होने के बाद नख, दाढ़ी, मूछ, केश (शिर के बाल) और रोम कतरवावे (हजामत बनवावे) क्योंकि— केश, दाढ़ी, मूछ और नख आदि का कतरवाना अत्यन्त शोभाजनक, पुष्टिकारक, धन्य (धन प्राप्ति का कारण), आयु को बढ़ाने वाला, पवित्रता तथा कान्ति को उत्पन्न करनेवाला होता है ॥ ५३ ॥

ॐसम्प्रसाधनं = शोभाजनकम् ॥ ५३ ॥

'सम्प्रसाधन' का अर्थ है 'शोभाजनक' ॥ ५३ ॥

अथ नासालोमोत्पाटने दोषमाह—

उत्पाटयेत्तु लोमानि नासाया न कदाचन। तदुत्पाटनतो हष्टेर्दौर्बल्यं त्वरया भवेत् ॥ ५४ ॥

नाक के बाल उखाड़ने में दोष—नाक के बाल कभी नहीं उखाड़ना चाहिये, क्योंकि, उसके उखाड़ने से शीघ्र ही आंखों में दुर्बलता आ जाती है ॥ ५४ ॥

अथ केशप्रसाधनगुणानाह—

केशपाशे प्रकुर्वीत प्रसाधन्या प्रसाधनम्। केशप्रसाधनं केश्यं रजोजन्तुमलापहम् ॥ ५५ ॥

केशों को कङ्घी से साफ करने के गुण—प्रसाधनी (कङ्घी) द्वारा केश पाश (केशसमूह) का प्रसाधन (सफा) करे क्योंकि केशों का प्रसाधन (कंघी से सफा करना केशों के लिये हितकारी तथा धूलि और जन्तु (बालों में मैल के कारण उत्पन्न ढीलो वगैरह जन्तु) तथा मल को दूर करनेवाला है ॥ ५५ ॥

अथ दर्पणालोकनगुणानाह—

आदर्शालोकनं प्रोक्तं मङ्गल्यं कान्तिकारकम्। पौष्टिकं बल्यमायुष्यं पापालक्ष्मीविनाशनम् ॥

दर्पण में मुख देखने के गुण—दर्पण में मुख देखना मङ्गलप्रद, कान्तिकारक, पुष्टिकारक, बलदायक, आयु बढ़ानेवाला और पाप तथा दरिद्रता को दूर करनेवाला होता है ॥ ५६ ॥

अथ व्यायामगुणानाह—

लाघवं कर्मसामर्थ्यं विभक्तघनगात्रता। दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्च व्यायामादुपजायते ॥५७॥
व्यायामदृढगात्रस्य व्याधिर्नास्ति कदाचन। विरुद्धं वा विदग्धं वा भुक्तं शीघ्रं विपच्यते ॥

भवन्ति शीघ्रं नैतस्य देहे शिथिलतादयः। न चैवं सहसाऽऽक्रम्य जरा समधिरोहति ॥५९॥
न चास्ति सदृशं तेन किञ्चित्स्थौल्यापकर्षणम्। स सदा गुणमाधत्ते बलिनां स्निग्धभोजिनाम् ॥
वसन्ते शीतसमये सुतरां स हितो मतः। अन्यदाऽपि च कर्तव्यो बलार्धेन यथा बलम् ॥

व्यायाम (कसरत) के गुण—व्यायाम करने से शरीर की लघुता, कार्य करने में सामर्थ्य, शरीर के प्रत्येक अवयव दृढ़ एवं परस्पर सुविभक्त, बढ़े हुये दोषों का क्षय, तथा जठराग्नि की वृद्धि होती है। व्यायाम करने से जिनके अङ्ग दृढ़ हो गये हैं उन्हें कभी कोई व्याधियाँ नहीं उत्पन्न होतीं और भोजन किया हुआ अन्न चाहे वह विरुद्ध अथवा विदग्ध (अर्धपरिपक्व) हो सभी प्रकार का शीघ्र पच जाता है। उसके शरीर में शीघ्रता से शिथिलता आदि नहीं उत्पन्न होती, उसे जरा (वृद्धावस्था) भी सहसा आकर नहीं दबाती। व्यायाम के समान स्थूलता को दूर करनेवाला दूसरा कोई उपाय नहीं है। व्यायाम सदैव बलवान् तथा घृतादि स्निग्ध पदार्थ भक्षण करनेवाले पुरुषों के लिये गुण दायक होता है। वसन्त तथा शीत काल में व्यायाम अत्यन्त हितकारी माना गया है। किन्तु अन्य काल में भी बलानुसार बलार्ध से व्यायाम अवश्य करना चाहिये ॥ ५७-६१ ॥

अथ बलार्धस्य लक्षणमाह—

हृदयस्थो यदा वायुर्वक्त्रं शीघ्रं प्रपद्यते। मुखं च शोषं लभते तद्बलार्धस्य लक्षणम् ॥६२॥
किं वा ललाटे नासायां गात्रसन्धिषु कक्षयोः। यदा सञ्जायते स्वेदो बलार्धं तु तदादिशेत् ॥

बलार्ध का लक्षण—हृदयस्थित प्राण वायु जब मुख की ओर शीघ्र २ आने लगे तथा मुख सूखने लगे तब बलार्ध का लक्षण हुआ समझना चाहिये, अथवा जब ललाट, नासिका तथा शरीर की सन्धियों में एवं काँखों में पसीना होने लगे तब बलार्ध का लक्षण समझना चाहिये। अतः इन सब लक्षणों के प्रकट होने पर व्यायाम बन्द कर देवे ॥ ६२-६३ ॥

अथ व्यायामायोग्यजनानाह—

भुक्तवान्कृतसम्भोगः कासी श्वासी कृशः क्षयी। रक्तपित्ती क्षती शोषी न तं कुर्यात्कदाचन ॥

व्यायाम करने के अयोग्य जन—जो लोग भोजन तथा स्त्री के साथ संभोग किये हुये हों और कास, श्वास तथा क्षय रोग से युक्त एवं दुर्बल हों तथा रक्तपित्त, क्षत (घाव) तथा शोष रोग से युक्त हों वे कभी व्यायाम न करें ॥ ६४ ॥

अथातिव्यायामदोषमाह—

अतिव्यायामतः कासो ज्वरश्छर्दिः श्रमः क्लमः। तृष्णाक्षयः प्रतमको रक्तपित्तं च जायते॥६५॥

अत्यन्त व्यायाम करने से दोष—अत्यन्त व्यायाम करने से कास, ज्वर, श्रम, क्लान्ति, प्यास-क्षय, प्रतमकश्वास और रक्त-पित्त में रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ६५ ॥

अथाभ्यङ्गगुणानाह—

अभ्यङ्गं कारयेन्नित्यं सर्वेष्वङ्गेषु पुष्टिदम्। शिरः श्रवणपादेषु तं विशेषेण शीलयेत् ॥ ६६ ॥

तेल लगाने के गुण—सम्पूर्ण अङ्गों में अभ्यङ्ग (तेल की मालिश) नित्य कराना चाहिये, क्योंकि यह पुष्टिकारक है, उस में भी विशेष कर शिर, कान और पैर में तो अवश्य नित्य तैल लगाना तथा डालना चाहिये ॥ ६६ ॥

सार्षपं गन्धतैलं च यत्तैलं पुष्पवासितम्। अन्यद्रव्ययुतं तैलं न दुष्यति कदाचन ॥ ६७ ॥

सरसों का तेल, गन्ध तैल, (सुगन्धित द्रव्यों से निकाला हुआ तेल) और जो तैल फूलों से बसाया हुआ हो जैसे बेला, चमेली आदि का तेल अथवा जो अन्य द्रव्य से युक्त तैल हो वह कभी दोष कारक नहीं होता है ॥ ६७ ॥

*गन्धतैलं = गन्धद्रव्याणामगुर्वादीनामग्नियोगेन निष्कासितः स्नेहः ॥ ६७ ॥

'गन्धतैल' से सुगन्ध 'युक्त जो अगर आदि द्रव्य हैं, उनका अग्नि के योग से निकला हुआ तैल' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६८ ॥

अथ सर्वाङ्गेऽभ्यङ्गगुणानाह—

अभ्यङ्गो वातकफहृच्छ्रमशान्तिबलं सुखम् । निद्रावर्णमृदुत्वायुष्कृत्स्यात् देहपुष्टिकृत् ॥ ६८ ॥

सर्वाङ्ग में तैल लगाने के गुण—सम्पूर्ण अङ्गों में अभ्यङ्ग करना वात, कफ का हरण करने वाला, श्रम को दूर करने वाला तथा शरीर बल, सुख, निद्रा, वर्ण, कोमलता और आयु को करने वाला एवं अङ्गों को पुष्ट करनेवाला होता है ॥ ६८ ॥

अथ शिरस्यभ्यङ्गगुणानाह—

अभ्यङ्गः शीलितो मूर्ध्नि सकलेन्द्रियतर्पकः । दृष्टितुष्टिकरो हन्ति शिरोभूमिगतान्गदान् ॥
केशानां बहुतां दार्ढ्यं मृदुतां दीर्घतां तथा । कृष्णतां कुरुते कुर्याच्छिरसः पूर्णतामपि ॥७०॥

शिर में तैल लगाने के गुण—शिर में नित्य तैल लगाने से सम्पूर्ण इन्द्रियों का सन्तर्पण करने वाला, दर्शनशक्ति को पुष्ट करनेवाला और शिर में होने वाले सभी रोगों को दूर करने वाला तथा केशों की अधिकता, दृढ़ता, कोमलता, दीर्घता (लम्बे होना), कृष्णता (काला होना) तथा मस्तिष्क की पूर्णता भी करता है ॥ ६९-७० ॥

अथ कर्णयोस्तैलपूरणगुणानाह—

न कर्णरोगा न मलं न च मन्याहनुग्रहः । नोच्चैः श्रुतिर्न बाधिर्यं स्यान्नित्यं कर्णपूरणात् ॥

कानों में तैल डालने के गुण—कानों में नित्य तैल डालने से कान में 'कोई फुन्सी आदि रोग नहीं होते हैं, न मैल रहता है और न मन्याग्रह (मन्यानामक शिराओं का जकड़ जाना) अथवा हनुग्रह (हनुका जकड़जाना) नामक रोग उत्पन्न होता है एवं ऊँचे सुनना अथवा बाधिर्य (बहरापन) ये सब रोग नहीं होते हैं ॥ ७१ ॥

अथ कर्णयोस्तैलादिपूरणस्य योग्यसमयमाह—

रसाद्यैः पूरणं कर्णे भोजनात्प्राक्प्रशस्यते । तैलाद्यैः पूरणं कर्णे भास्करेऽस्तमुपागते ॥ ७२ ॥

कान में तैल डालने का समय—कान में किसी द्रव्य का रस डालना भोजन करने के पहले और सूर्य के अस्त होने पर (रात में) ही उत्तम होता है ॥ ७२ ॥

अथ पादाभ्यङ्गगुणानाह—

पादाभ्यङ्गश्च स्थैर्यनिद्राक्षिप्रसादकृत् । पादसुप्तिश्रमस्तम्भसङ्कोचस्फुटनप्रणुत् ॥ ७३ ॥
व्यायामक्षुण्णवपुषं पद्भ्यां सम्मर्दितं तथा । व्याधयो नोपसर्पन्ति वैनतेयमिवोरगाः ॥७४॥

पैरों में तैल लगाने के गुण—पैरों में तैल लगाना पैरों की स्थिरता, निद्रा तथा नेत्र की प्रसन्नता (निर्मलता) करता है और पैर का सुन्न हो जाना, श्रान्ति (थकावट), जकड़ जाना, सङ्कुचित हो जाना, बेवाय फटना इन सबों को दूर करता है। पैरों से व्यायाम (बैठकी) करने से तथा शरीर के थक जाने पर पैरों में तैल की मालिश कराने से रोग इस भाँति पास नहीं आते जैसे गरुड़ के पास सर्प नहीं आते हैं ॥ ७३-७४ ॥

अथ स्नेहयुक्तावगाहनगुणानाह—

लोमकूपशिराजालधमनीभिः[1] कलेवरे । तर्पयेद्बलमाधत्ते स्नेहयुक्तोऽवगाहने[2] ॥ ७५ ॥
अद्भिः संसिक्तमूलानां तरूणां पल्लवादयः । वर्द्धन्ते हि तथा नृणां स्नेहसंसिक्तधातवः ॥७६॥

---

१. 'लोमकूपं शिराजालं धमनीभि'रिति पा० । २. 'स्नेहे' इति पा० ।

शरीर में तेल लगाकर स्नान करने के गुण—शरीर में तेल लगाकर स्नान करने पर वह तेल रोमकूप, शिराओं का समूह और धमनियों के द्वारा शरीर में सञ्चारित होकर शरीर को तर्पित और बलिष्ठ करता है। जल से जिनके मूल सींचे गये हुये हैं, ऐसे वृक्षों के पल्लवादि जैसे बढ़ते हैं वैसे ही मनुष्यों के रक्तादि सम्पूर्ण धातु भी तेल की मालिश करने से बढ़ते हैं ॥ ७५-७६ ॥

अथाभ्यङ्गायोग्यजनानाह—

नवज्वरी अजीर्णी च नाभ्यक्तव्यः कथञ्चन। तथा विरिक्तो वान्तश्च निरूढो यश्च मानवः ॥

अभ्यङ्ग के अयोग्य जन—जो नवीन ज्वर और अजीर्ण रोग से युक्त हो, जिसने जुलाब लिया हो, जिसे दस्त होते हों अथवा वमन हुआ हो और जिसे निरूह वस्ति दी गई हो ऐसे मनुष्य को कभी तेल की मालिश नहीं करनी चाहिये ॥ ७७ ॥

⊛ निरूढः = दत्तो निरूहवस्तिर्यस्मै सः ॥ ७७ ॥

'निरूढ' पद का 'जिसे निरूहवस्ति दी गई हो' वह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७७ ॥

पूर्वयोः कृच्छ्रता व्याधेरसाध्यत्वमथापि वा। शेषाणां च त्विह प्रोक्ता वह्निसादादयो गदाः ॥

नवीन ज्वर तथा अजीर्ण रोगवाले दोनों रोगी यदि तैल की मालिश करावें तो उनके रोग कष्ट-साध्य अथवा असाध्य हो जाते हैं और बाकी बचे हुये जो विरिक्त, वान्त और निरूढ रोगी हैं वे यदि तैल की मालिश करावें तो उनको अग्निमान्द्य (जठराग्नि का मन्द हो जाना) आदि रोग हो जाते हैं ॥ ७८ ॥

⊛ पूर्वयोः = तरुणज्वरिणोऽजीर्णिनश्च ॥ ७८ ॥

'पूर्वयोः' इस पद से 'पूर्व के ७७ वें श्लोक के आरम्भ में कहे हुये नवीन ज्वर तथा अजीर्ण रोगवाले इन दो रोगियों' का ग्रहण करना चाहिये ॥ ७८ ॥

अथोद्वर्त्तनगुणानाह—

उद्वर्त्तनं कफहरं मेदोघ्नं शुक्रदं परम्। बल्यं शोणितकृच्चापि त्वक्प्रसादमृदुत्वकृत् ॥ ७९ ॥
मुखलेपाद्दृढं चक्षुः पीनो गण्डस्तथाऽऽननम्। कान्तमव्यङ्गपिडकं भवेत्कमलसन्निभम् ॥८०॥

उद्वर्त्तन (उबटन) लगाने के गुण—उद्वर्त्तन, कफ को हरण करनेवाला, मेद का नाशक, अत्यन्त वीर्यवर्धक, बलदायक, रक्त उत्पन्न करने वाला, त्वचा को निर्मल तथा कोमल करने वाला होता है। मुख में उबटन लगाने से नेत्र दृढ़ अर्थात् तीक्ष्ण दृष्टि होती है, और गण्डस्थल मोटा तथा मुख झाईं और मुहाँसे रहित होकर कमल की भाँति सुन्दर हो जाता है ॥ ७९ ॥ ८० ॥

अथ स्नानविधिमाह—

दीपनं वृष्यमायुष्यं स्नानमोजोबलप्रदम्। कण्डूमलश्रमस्वेदतन्द्रातृड्दाहपाप्मनुत् ॥ ८१ ॥
बाह्यैश्च सेकैः शीताद्यैरूष्माऽन्तर्याति पीडितः। नरस्य स्नानमात्रस्य दीप्यते तेन पावकः॥
शीतेन पयसा स्नानं रक्तपित्तप्रशान्तिकृत्। तदेवोष्णेन तोयेन बल्यं वातकफापहम् ॥८३॥
शिरः स्नानमचक्षुष्यमत्युष्णेनाम्बुना सदा। वातश्लेष्मप्रकोपे तु हितं तच्च प्रकीर्तितम् ॥

स्नान की विधि—स्नान, अग्नि को दीप्त करनेवाला, वृष्य (वीर्यवर्धक), आयु को बढ़ानेवाला, ओज तथा बल को देनेवाला, खुजली, मल, श्रम, पसीना, तन्द्रा, प्यास, दाह और पाप को दूर करनेवाला है। बाहर से शीतल जल का सेवन करनेसे शरीर की गर्मी बाहर नहीं निकल पाती किन्तु लौट कर शरीर के अन्दर ही चली जाती है। अत एव स्नान करते ही तुरन्त जठराग्नि दीप्त हो उठती है। शीतल जल से स्नान रक्तपित्त को शान्त करता है वही स्नान यदि गर्म जल से किया जाय तो बलदायक तथा वात और कफ का नाशक होता है। यदि शिर पर डाल कर अत्यन्त गर्म जल से सदा स्नान किया जाय तो नेत्रों के लिये अहितकर होता है किन्तु वात कफ के प्रकुपित होने पर उसी को ऋषियों ने हितकारी बतलाया है ॥ ८१-८४ ॥

अशीतेनाम्भसा स्नानं पयःपानं नवाः स्त्रियः। एतद्वो मानवाः पथ्यं स्निग्धमल्पं च भोजनम् ॥

उष्णजल के स्नान करना, दूध पीना, नवीन स्त्री के साथ संभोग करना, स्निग्ध (घृतादि पदार्थ मिश्रित) और स्वल्प भोजन करना लोगों के लिये हितकर है ॥ ८५ ॥

* हरिश्चन्द्रस्यैतत् ॥ ८५ ॥

यह (८५) श्लोकोक्ति 'हरिश्चन्द्र' का है ॥ ८५ ॥

अथामलकैः स्नानस्य गुणानाह—

यः सदाऽऽमलकैः स्नानं करोति स विनिश्चितम्। वलीपलितनिर्मुक्तो जीवेद्वर्षशतं नरः ॥

आँवला मिश्रित जल के गुण—जो मनुष्य आँवला मिले हुये जल से अथवा आँवला लगा कर सदा स्नान करता है वह निश्चय वली और पलित से मुक्त होकर सौ वर्ष जीता है ॥ ८६ ॥

अथ स्नानानर्हजनानाह—

स्नानं ज्वरेऽतिसारे च नेत्रकर्णानिलार्तिषु। आध्मानपीनसाजीर्णभुक्तवत्सु च गर्हितम् ॥८७॥

स्नान करने के अयोग्य जन—जिनको ज्वर या अतिसार हो या नेत्र तथा कानों में पीडा होती हो अथवा वात सम्बन्धी पीडा होती हो किंवा आध्मान (अफारा), पीनस, अथवा अजीर्ण रोग हुआ हो और जो भोजन कर चुका हो, ऐसे लोगों के लिये स्नान करना अनुचित है ॥ ८७ ॥

अथ स्नानोत्तरं वस्त्रेणाङ्गमार्जनस्य गुणानाह—

स्नानस्यानन्तरं सम्यग्वस्त्रेणाङ्गस्य मार्जनम्। कान्तिप्रदं शरीरस्य कण्डूत्वग्दोषनाशनम् ॥

स्नान करने के बाद अँगोछे से देह पोंछने के गुण—स्नान के बाद वस्त्र (अँगोछे) से अच्छी तरह अङ्गों का पोंछना—शरीर में कान्ति उत्पन्न करनेवाला तथा खुजली, एवं त्वग् गत दोषों को दूर करने वाला होता है ॥ ८८ ॥

अथ वस्त्रधारणगुणानाह, तत्रादौ शीतकाले धारणार्हवस्त्राणि तद्गुणवर्णनपूर्वकमाह—

कौशेयौर्णिकवस्त्रं च रक्तवस्त्रं तथैव च। वातश्लेष्महरं तत्तु शीतकाले विधारयेत् ॥ ८९ ॥

वस्त्र धारण करने का विधान—शीत ऋतु में कौशेय वस्त्र (पीताम्बर और तसर) तथा ऊनी वस्त्र एवं लाल वस्त्र ये सब वात तथा कफ को दूर करनेवाले हैं अत एव शीत काल में इन सबों को धारण करना चाहिये ॥ ८९ ॥

* कौशेयं = पट्टाम्बरं तसरवस्त्रं च ॥ ८९ ॥

'कौशेय' पद से पट्टवस्त्र (पीताम्बर) और 'तसर वस्त्र' का ग्रहण होता है ॥ ८९ ॥

अथोष्णकाले धारणार्हवस्त्राणि तद्गुणांश्चाह—

मेध्यं सुशीतं पित्तघ्नं कषायं वस्त्रमुच्यते। तद्धारयेदुष्णकाले तत्रापि लघु शस्यते ॥ ९० ॥

ग्रीष्म ऋतु में वस्त्र धारण करने का विधान—कषाय वस्त्र-पवित्र, सुशीतल और पित्त का नाशक कहा हुआ है, अत एव इसे उष्ण काल में धारण करना चाहिये। उसमें भी जो लघु अर्थात् पतला कषाय वस्त्र हो वह ग्रीष्मकाल में अधिक प्रशस्त होता है ॥ ९० ॥

* कषायं = कौङ्कुमी इति लोके। कषायरागरक्तं वा ॥ ९० ॥

'कषाय' पद से 'कौङ्कुमी'(कुमकुम)नाम से प्रसिद्ध अथवा जोगिया रंग का ग्रहण करना चाहिये ॥

अथ वर्षाकाले धारणार्हवस्त्राणि तद्गुणांश्चाह—

शुक्लं तु शुभदं वस्त्रं शीतातपनिवारणम्। न चोष्णं न च वा शीतं तत्तु वर्षासु धारयेत् ॥

वर्षाकाल में धारण करने योग्य वस्त्र—(सफेद) शुक्ल शुभ को देने वाला, शीत तथा आतप का निवारण करने वाला है। यह न तो उष्ण है और न शीतल ही है अत एव ऐसा ही वस्त्र वर्षा काल में धारण करना चाहिये ॥ ९१ ॥

अथ नवनिर्मलाम्बरधारणगुणानाह—

यशस्यं काम्यमायुष्यं श्रीमदानन्दवर्धनम्। त्वच्यं वशीकरं रुच्यं नवनिर्मलमम्बरम् ॥९२॥

नवीन तथा स्वच्छ वस्त्र धारण करने के गुण—नवीन सफेद वस्त्र यश को देने वाला, काम का उद्दीपन करने वाला, आयु का वर्धक, शोभा करने वाला, आनन्द स्वच्छ बढ़ानेवाला, त्वचा के लिये हितकारी, वशीकरण तथा रुचि को उत्पन्न करने वाला होता है ॥ ९२ ॥

*काम्यं = कामोद्दीपकम् ॥ ९२ ॥

'काम्य' पद से 'काम का उद्दीपन करनेवाला' अर्थ समझना चाहिये ॥ ९२ ॥

अथ मलिनवस्त्रधारणदोषानाह—

कदाऽपि न जनः सन्निर्धार्यं मलिनमम्बरम्। तत्तु कण्डूकृमिकरं ग्लान्यलक्ष्मीकरं परम् ॥

मलिन वस्त्र धारण करने के दोष—भले आदमियों को कभी भी मैला वस्त्र नहीं धारण करना चाहिये, क्योंकि वह खुजली तथा कृमि को उत्पन्न करने वाला और अत्यन्त ग्लानि तथा अशोभा और दरिद्रता को भी उत्पन्न करने वाला होता है ॥ ९३ ॥

*अलक्ष्मीः = अशोभा दारिद्र्यं च ॥ ९३ ॥

अलक्ष्मीः' पद से 'अशोभा तथा दरिद्रता' इन दोनों का ग्रहण करना चाहिये ॥ ९३ ॥

अथ प्रलेपगुणानाह, तत्रादौ शीतकाले प्रलेपार्हद्रव्यगुणानाह—

कुङ्कुमं चन्दनं चापि कृष्णागुरु च मिश्रितम्। उष्णं वातकफध्वंसि शीतकाले तदिष्यते ॥

शीतकाल में प्रलेप के योग्य द्रव्य—केशर, चन्दन और काला अगर इन सबों को एकत्र कर उनका लेप करना उष्ण तथा वात और कफनाशक है अत एव यह शीतकाल में उपयोगी होता है ॥

अथोष्णकाले प्रलेपनार्हद्रव्यगुणानाह—

चन्दनं घनसारेण वालकेन च मिश्रितम्। सुगन्धि परमं शीतमुष्णकाले प्रशस्यते ॥ ९५ ॥

उष्ण काल में प्रलेप के योग्य द्रव्य—कपूर और सुगन्धवाला के साथ चन्दन मिलाकर इसे प्रलेप करना उष्ण काल में उत्तम होता है, क्योंकि यह परम सुगन्धित तथा शीतल होता है ॥९५॥

*घनसारः = कर्पूरः, वालकम् = ह्रीबेरम् ॥ ९५ ॥

'घनसार' से 'कर्पूर' तथा 'वालक' से 'ह्रीबेर' (सुगन्धवाला) समझना चाहिये ॥ ९५ ॥

अथ वर्षाकाले प्रलेपार्हद्रव्यगुणानाह—

चन्दनं घुसृणोपेतं मृगनाभिसमायुतम्। न चोष्णं न च वा शीतं वर्षाकाले तदिष्यते ॥९६॥

वर्षाकाल में प्रलेप के योग्य द्रव्य—केशर और कस्तूरी से युक्त चन्दन का प्रलेप वर्षाकाल में प्रशस्त होता है। क्योंकि यह न तो शीतल होता है और न उष्ण होता है ॥ ९६ ॥

*घुसृणं = कुङ्कुमम्। मृगनाभिः = कस्तूरी ॥ ९६ ॥

'घुसृण' से 'कुङ्कुम' (केशर) और 'मृगनाभि' से 'कस्तूरी' का ग्रहण करना चाहिये ॥ ९६ ॥

अथ सामान्यतोऽनुलेपगुणवर्णनपूर्वकं तदनर्हाननभ्याह—

अनुलेपस्तृषामूर्च्छादुर्गन्धस्वेददाहजित्। सौभाग्यतेजस्त्वग्वर्णप्रीत्यौजोबलवर्धनः ॥

स स्नानानर्हलोकानामनुलेपोऽपि नो हितः ॥ ९७ ॥

प्रलेप के गुण—शरीर में सुगन्धित द्रव्यों का लेप, प्यास, मूर्च्छा, दुर्गन्ध, पसीना और दाह को दूर करता है तथा सौभाग्य, तेज, त्वचा का वर्ण, प्रीति, ओज तथा बल को बढ़ाता है और वही लेप उन लोगों को हितकर नहीं होता जो स्नान करने के अयोग्य होते हैं ॥ ९७ ॥

अथ पुष्पाभरणादिधारणगुणानाह, तत्रादौ सुगन्धिपुष्पपत्रधारणगुणानाह—

सुगन्धिपुष्पपत्राणां धारणं कान्तिकारकम्। पापरक्षोग्रहहरं कामदं श्रीविवर्द्धनम् ॥ ९८ ॥

सुगन्धित पुष्प तथा पत्र धारण करने के गुण—सुगन्धित पुष्प तथा पत्रों का धारण कान्ति को करने वाला, पाप, राक्षस तथा ग्रह बाधा को दूर करने वाला, कामोत्पादक एवं लक्ष्मी तथा सौभाग्यवर्धक होता है ॥ ९८ ॥

अथ भूषणधारणगुणानाह, तत्रादौ काञ्चनधारणगुणानाह—

भूषणैर्भूषयेदङ्गं यथायोग्यं विधानतः। शुचिसौभाग्यसन्तोषदायकं काञ्चनं स्मृतम् ॥ ९९ ॥

भूषण धारण करने के गुण—जिस अङ्ग में जिस भूषण के पहनने का विधान हो, उस अङ्ग को उसी भूषण से यथा योग्य भूषित करे, स्वर्ण का आभूषण पवित्रता, सौभाग्य और सन्तोष का देने वाला होता है ॥ ९९ ॥

अथ रत्नाभरणधारणगुणानाह—

ग्रहदृष्टिहरं पुष्टिकरं दुःस्वप्ननाशनम्। पापदौर्भाग्यशमनं रत्नाभरणधारणम् ॥ १०० ॥

रत्नों के धारण करने के गुण—रत्नजटित आभूषण धारण करना—जन्म कुण्डली में तन्वादि भावों पर दुष्ट ग्रहों के दृष्टिदोष को दूर करने वाला, पुष्टिकर्त्ता, दुःस्वप्नों को नष्ट करने वाला, एवं पाप और दौर्भाग्य को ध्वंस करने वाला होता है ॥ १०० ॥

अथ सूर्यादिनवग्रहप्रीतिकराणि रत्नान्याह—

माणिक्यं तरणेः सुजात्यममलं मुक्ताफलं शीतगो-
र्माहेयस्य च विद्रुमो निगदितः सौम्यस्य गारुत्मतम्।
देवेज्यस्य च पुष्परागमसुराचार्यस्य वज्रं शनेः
नीलं निर्मलमन्ययोश्च गदिते गोमेदवैदूर्यके ॥ १०१ ॥

सूर्यादि नवग्रहों को प्रसन्न करने वाले रत्न—सूर्यग्रह का माणिक्य (मानिक), चन्द्रग्रह का मोती, मङ्गलग्रह का मूंगा, बुधग्रह का मरकतमणि (पन्ना), गुरुग्रह का पोखराज, शुक्रग्रह का हीरा, शनिग्रह का नीलम एवं राहु और केतु का क्रम से गोमेद और वैदूर्यमणि है। इन रत्नों के धारण करने से पूर्वोक्त नवग्रह प्रसन्न होते हैं ॥ १०१ ॥

अथ वस्त्रशृङ्गाररत्नानां धारणगुणानाह—

वासःशृङ्गाररत्नानां धारणं प्रीतिवर्धनम्। रक्षोघ्नमर्थ्यमोजस्यं[1] सौभाग्यकरमुत्तमम् ॥१०२॥

सुन्दर वस्त्रादि धारण करने के गुण—वस्त्र तथा शृङ्गार (शोभा) प्रयोजक चिह्न सुगन्ध, माला, चन्दनादि अथवा शोभाप्रयोजक रत्नों का धारण, प्रसन्नता बढ़ाने वाला, राक्षसबाधा को दूर करने वाला, धन देने वाला, प्रयोजन सिद्ध करने वाला, ओज उत्पन्न करने वाला और उत्तम सौभाग्य करने वाला होता है ॥ १०२ ॥

अथ सिद्धमन्त्रमहौषध्यादिधारणगुणानाह—

सततं सिद्धमन्त्रस्य महौषध्यास्तथैव च। रोचनासर्षपादीनां[2] मङ्गल्यानां च धारणम् ॥
आयुर्लक्ष्मीकरं रक्षोहरं मङ्गलदं शुभम्। हिंस्रादिभयविध्वंसि वशीकरणकारणम् ॥ १०४ ॥

सिद्ध मन्त्र, महौषधादि धारण करने के गुण—सिद्ध मन्त्र, महौषधि, मङ्गलप्रद गोरोचन और सफेद सरसों आदि द्रव्यों का धारण, आयु तथा लक्ष्मी को बढ़ाने वाला, राक्षस बाधा दूर करने वाला, मङ्गल-प्रद, शुभजनक, हिंस्र-जीव व्याघ्रादि के भय को दूर करने वाला और वशीकरण का कारण है ॥ १०३-१०४ ॥

अथ भोजनविधिमाह, तत्रादौ भोजनकाले मङ्गलवस्तुदर्शनगुणानाह—

ततो भोजनवेलायां कुर्यान्म[3]ङ्गल्यदर्शनम्। तस्य प्रदर्शनं नित्यमायुर्धर्मविवर्धनम् ॥१०५॥

---

१. 'ओजस्यामि'ति पा०। २. 'माङ्गल्यानामि'ति पा०। ३. 'माङ्गल्ये'ति पा०।

मङ्गल वस्तुओं के दर्शन के गुण—स्नानोपरान्त वस्त्र-धारणादि कार्य कर चुकने के बाद भोजन करने के समय मङ्गलप्रद वस्तुओं का दर्शन करना चाहिये क्योंकि उन सबों का नित्य दर्शन आयु तथा धर्म को बढ़ाने वाला होता है ॥ १०५ ॥

अथ मङ्गलवस्तून्याह—

लोकेऽस्मिन्मङ्गलान्यष्टौ ब्राह्मणो गौर्हुताशनः। पुष्पस्त्रक्सर्पिरादित्य आपो राजा तथाऽष्टमः ॥

मङ्गलप्रद वस्तु—इस लोक में १ ब्राह्मण, २ गौ, ३ अग्नि, ४ पुष्पमाला, ५ घृत, ६ सूर्य, ७ जल तथा ८ राजा ये सब मङ्गलप्रद हैं ॥ १०६ ॥

अथ पादुकाधारणगुणानाह—

पादुकाधारणं कुर्यात्पूर्वं भोजनतः परम्। पादरोगहरं वृष्यं चक्षुष्यं चायुषो हितम् ॥१०७॥

खड़ाऊँ धारण करने के गुण—भोजन के पहले और पीछे खड़ाऊँ पहिनना चाहिये क्योंकि यह पैर सम्बन्धी रोगों को दूर करने वाला, वृष्य (वीर्यवर्धक), नेत्र के लिये हितकर और आयु को बढ़ाने वाला है ॥ १०७ ॥

अथ क्षुत्तृडाद्यवरोधे हानिमाह—

शरीरे जायते नित्यं वाञ्छा नृणां चतुर्विधा। बुभुक्षा च पिपासा च सुषुप्सा च रतिस्पृहा ॥

स्वाभाविक मानुषी इच्छा—मनुष्यों के शरीर में नित्य—१ भोजन करने की इच्छा, २ जल पीने की इच्छा, ३ सोने की इच्छा और ४ मैथुन करने की इच्छा उत्पन्न होती रहती है ॥ १०८ ॥

अथ भोजनेच्छाविघाते हानिमाह—

भोजनेच्छाविघातात्स्यादङ्गमर्दोऽरुचिः श्रमः। तन्द्रा लोचनदौर्बल्यं धातुदाहो बलक्षयः ॥

भोजन की इच्छा रोकने से हानि—भोजन की इच्छा रोकने से शरीर टूटना, भोजन में अरुचि, श्रम, तन्द्रा, नेत्रों में दुर्बलता, धातुओं का दाह (जठराग्नि के द्वारा रसादिकों का जलना) और बल का क्षय होता है ॥ १०९ ॥

अथ जलपानेच्छाविघाते हानिमाह—

विघातेन पिपासायाः शोषः कण्ठास्ययोर्भवेत्। श्रवणस्यावरोधश्च रक्तशोषो हृदि व्यथा ॥

प्यास रोकने से हानि—प्यास रोकने से कण्ठ और मुख सूखने लगता है तथा कान से शब्द नहीं सुनाई पड़ता और रक्त सूखने लगता है एवं हृदय में पीडा होने लगती है ॥ ११० ॥

अथ स्वापेच्छाविघाते हानिमाह—

निद्राविघाततो जृम्भा शिरोलोचनगौरवम्। अङ्गमर्दस्तथा तन्द्रा स्यादन्नपाक एव च ॥

नींद रोकने से हानि—नींद रोकने से जंभाई, आंख तथा शिर में भार मालूम पड़ना, शरीर का टूटना, तन्द्रा तथा अन्न का परिपाक न होना ये सब होने लगते हैं ॥ १११ ॥

अथ बुभुक्षायां सत्यामपि भोजनाकरणे दोषमाह—

बुभुक्षितो न योऽश्नाति तस्याहारेन्धनक्षयात्। मन्दीभवति कायाग्निर्यथा वाग्निर्निरिन्धनः ॥
आहारं पचति शिखी दोषानाहारवर्जितः। पचेद्[1] दोषक्षये धातून्प्राणान्धातुक्षयेऽपि च ॥

भूख लगने पर भोजन न करने से हानि—भूख लगने पर जो भोजन नहीं करता उसकी जठराग्नि भोज्य पदार्थ रूपी ईंधन के न रहने से, उसी तरह मन्द हो जाती है जैसे-लोक में इन्धन (लकड़ी) के न रहने पर अग्नि मन्द हो जाती है। जठराग्नि आहार (खाये हुए भोज्य पदार्थ) को पचाती है परन्तु आहार न मिलने पर पहले वातादि दोषों को पचाती है तत्पश्चात्

---

१. 'पचती'ति पा०।

दोषों का क्षय होने पर रस रक्तादि धातुओं को पचाती है और धातुओं का क्षय होने पर प्राणों को पचाती है अर्थात् भूख लगने पर भोजन न करने से क्रमशः प्राण तक नष्ट हो जाते हैं ॥११२-११३॥

अथ भोजनकरणे गुणानाह—

आहारः प्रीणनः सद्यो बलकृद् देहधारणः। स्मृत्यायुःशक्तिवर्णौजःसत्त्वशोभाविवर्धनः ॥

भूख लगने पर भोजन करने का गुण—भूख लगने पर भोजन प्रसन्नता को देने वाला, तत्काल बल उत्पन्न करने वाला, शरीर को स्थिर रखने वाला, स्मरण शक्ति, आयु, सामर्थ्य, शरीर का वर्ण, ओज, सत्त्व (वीर्यातिशय) और शोभा को बढ़ाने वाला होता है ॥ ११४ ॥

अथ भोजनसमयमाह—

यथोक्तगुणसम्पन्नं नरः सेवेत भोजनम्। विचार्य दोषकालादीन्कालयोरुभयोरपि ॥ ११५ ॥

भोजन का समय—मनुष्य को उचित है कि वह दोष, कालादि का विचार कर दोनों कालों में अन्न का भोजन करे ॥ ११५ ॥

*उभयोः कालयोः = प्रातःसायं च ॥ ११५ ॥

'उभयोः कालयोः' से 'प्रातःकाल तथा सायंकाल में' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ११५ ॥

तथा च—

सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं श्रुतिबोधितम्। नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः ॥

प्रातः और सायंकाल मनुष्यों के लिये भोजन करना वेद से अनुमोदित है। इन दो कालों के मध्यकाल में भोजन नहीं करना चाहिये, क्योंकि वेदानुमोदित अग्निहोत्र के समान भोजन करने की भी विधि है अर्थात् जिस प्रकार अग्निहोत्र प्रातः तथा सायंकाल ही में किया जाता है, उसी प्रकार भोजन भी प्रातः तथा सायंकाल ही में करना चाहिये ॥ ११६ ॥

प्रातः-प्रथमयामादुपरि द्वितीययामादर्वाक् (तदेवोत्तरत्राह[1]) तथा च—

याममध्ये न भोक्तव्यं यामयुग्मं न लङ्घयेत्। याममध्ये रसोत्पत्तिर्यामयुग्माद्बलक्षयः ॥

प्रातःकालीन भोजन का समय—प्रातःकाल एक प्रहर के मध्य और दो प्रहर के बाद भोजन करना उचित नहीं, क्योंकि एक प्रहर के अन्दर भोजन न करने से रसोत्पत्ति होती है और दूसरे प्रहर के व्यतीत होने पर भोजन करने से बल की हानि होती है (तस्मात् एक प्रहर के बाद दो प्रहर के मध्य (९ से १२ के अन्दर) भोजन करना चाहिये) ॥ ११७ ॥

अन्यच्च—

क्षुत्सम्भवति पक्वेषु रसदोषमलेषु च। काले वा यदि वाऽकाले सोऽन्नकाल उदाहृतः ॥

भूख लगने पर भोजन का अनियमित समय—वचन-रस, दोष और मल के परिपक्व होने पर ही भूख लगती है, अतः चाहे भोजन का समय हुआ हो या न हुआ हो किन्तु जभी भूख मालूम पड़े तभी भोजन का समय समझना चाहिये ॥ ११८ ॥

अथ जीर्णाहारस्य लक्षणमाह—

उद्गारशुद्धिरुत्साहो वेगोत्सर्गो यथोचितः। लघुता क्षुत्पिपासा च जीर्णाहारस्य लक्षणम् ॥

आहार परिपाक के लक्षण—जब शुद्ध उद्गार (डकार), चित्त में उत्साह, यथोचित रीति से मल मूत्रादि का वेग तथा उनका यथोचित त्याग एवं शरीर में हल्कापन भूख और प्यास भी मालूम पड़ने लगे तब भोजन किया हुआ पदार्थ पच गया है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ११९ ॥

---

१. कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः।

अथाहारस्थानमाह—

आहारं तु रहः[1] कुर्यान्निर्हारमपि सर्वदा ।
उभाभ्यां लक्ष्म्युपेतः स्यात्प्रकाशे[2] हीयते श्रिया[3] ॥ १२० ॥

भोजन करने योग्य स्थान—भोजन तथा मल मूत्र का त्याग सर्वदा एकान्त (निर्जन) स्थान में करना चाहिये, क्योंकि इस प्रकार करने से मनुष्य लक्ष्मी से युक्त होता है और इसके विपरीत (प्रकाश में, सब के सामने) करने पर लक्ष्मी से रहित दरिद्र होता है ॥ १२० ॥

निर्हारो = मलमूत्रोत्सर्गः ॥ १२० ॥

'निर्हार' पद से 'मल मूत्र का त्याग करना' अर्थ समझना चाहिये ॥ १२० ॥

अन्यच्च—आहारनिर्हारविहारयोगाः सदैव सद्भिर्विजने विधेयाः ॥ १२१ ॥

और भी कहा है कि—भोजन, मल, मूत्रादि का परित्याग तथा विहार (स्त्रीभोगादि) ये सब सद्विवेकी को सदा एकान्त ही में करना चाहिये ॥ १२१ ॥

[[4]अथभोजन काले शुभाशुभदृष्टिमाह—

पितृमातृसुहृद्वैद्यपाककृद्धंसबर्हिणाम् । सारसस्य चकोरस्य भोजने दृष्टिरुत्तमा ॥ १२२ ॥
हीनदीनक्षुधाऽऽर्त्तानां पापपाषण्डरोगिणाम् । कुक्कुटादेः शुनो दृष्टिर्भोजने नैव शोभना ॥

भोजन के समय शुभाशुभ दृष्टि—भोजन करते समय पिता, माता, मित्र, वैद्य, पाककर्त्ता एवं हंस, मयूर, सारस तथा चकोर इन सबों की दृष्टि उत्तम होती है और दीन, हीन, भूख से व्याकुल, पापी, पाखण्डी, रोगी तथा कुक्कुर, कुक्कुट (मुर्गा) आदि की दृष्टि पड़ना अशुभ (निषिद्ध) कहा गया है ॥ १२२-१२३ ॥

अथ भोजनपात्रमाह—

दोषहृद् दृष्टिदं पथ्यं हैमं भोजनभाजनम् । रौप्यं भवति चक्षुष्यं पित्तहृत्कफवातकृत् ॥१२४॥
कांस्यं बुद्धिप्रदं रुच्यं रक्तपित्तप्रसादनम् । पैत्तलं वातकृद्रूक्षमुष्णं कृमिकफप्रणुत् ॥१२५॥
आयसे काचपात्रे च भोजनं सिद्धिकारकम् । शोथपान्डुहरं बल्यं कामलाऽपहमुत्तमम् ॥
शैलेये मृण्मये पात्रे भोजनं श्रीनिवारणम् । दारूद्भवे विशेषेण रुचिदं श्लेष्मकारि च ॥१२७॥
पात्रं पत्रमयं रुच्यं दीनं विषपापनुत् ॥ १२७ ॥

भोजन करने योग्य पात्र—सुवर्ण का भोजन पात्र दोषों का नाशक, दृष्टिप्रद, (दर्शन शक्ति को देनेवाला) और पथ्य (स्वास्थ्यप्रद) होता हैं। चाँदी का भोजन पात्र आँख के लिये हितकारी, पित्त का हरण करने वाला, कफ और वातरोग करने वाला होता है। कांसे का भोजन पात्र बुद्धिप्रद, रुचि कर तथा रक्त पित्त का शान्त करने वाला होता है। पित्तल का भोजन पात्र वात जनक, रूक्षता कारक, उष्ण—वीर्य एवं कृमि तथा कफ का नाश करने वाला होता है। लोहा तथा काच का बना भोजन पात्र—इष्ट सिद्धि कारक और शोथ तथा पाण्डुरोग को हरण करनेवाला, बलकारी एवं कामला रोग को नष्ट करने वाला अतएव उत्तम होता है। पत्थर तथा मिट्टी का बना भोजन पात्र लक्ष्मी (धन) नाशक होता है। काठ का बना भोजनपात्र रुचि उत्पन्न करने वाला किन्तु उससे कफ की वृद्धि होती है और पत्तों से बना भोजन पात्र (पत्तल) हो तो वह भोजन में रुचि बढ़ाने वाला, अग्नि दीपक, विष तथा पाप को नष्ट करने वाला (उत्तम) होता है ॥ १२२–१२७ ॥

---

१. 'विजने' इति पा० । २. 'प्रकाशो' इति पा० । ३. 'श्रिया' इति पा० । ४. कोष्ठस्थः कचि पा० ।

अथ जलपात्रमाह—

जलपात्रं तु ताम्रस्य तदभावे मृदो हितम् ॥ १२८ ॥
पवित्रं शीतलं पात्रं रचितं स्फटिकेन यत् । काचेन रचितं तद्वत्तथा वैदूर्यसम्भवम् ॥ १२९ ॥

जलपात्र का विधान—जल के लिये तामे का जल पात्र उत्तम है, उसके अभाव में मिट्टी का भी जलपात्र हितकारी है। स्फटिक का बना हुआ जलपात्र पवित्र तथा शीतल होता है। उसी प्रकार काच तथा वैदूर्य रत्न का बना हुआ जलपात्र भी पवित्र तथा शीतल होता है ॥ १२८-१२९ ॥

अथ भोजने प्रथमभोज्यपदार्थमाह—

भोजनाग्रे सदा पथ्यं लवणार्द्रकभक्षणम् । अग्निसन्दीपनं रुच्यं जिह्वाकण्ठविशोधनम् ॥

भोजन के समय सबसे पहले भोज्य वस्तु—भोजन के समय सबसे पहले सदा नमक और अदरख भक्षण करना हितकारी है क्योंकि वह अग्निको दीपन करने वाला, रुचिकारक, जिह्वा और कण्ठ का शोधन करने वाला है ॥ १३० ॥

*ननु लवणस्य पित्तजनकत्वाद् आर्द्रकस्य कटुकत्वेन पित्तलत्वाद् बुभुक्षितस्य वृद्धपित्तस्य कथं प्रथमं लवणार्द्रकभक्षणमुचितम् । उच्यते—

'लवणं सैन्धवं ज्ञेयं चन्दनं रक्तचन्दनम्' ।

इति वचनाल्लवणमत्र सैन्धवम् , तत् त्रिदोषघ्नम् । यत आह गुणग्रन्थे—

सैन्धवं लवणं स्वादु दीपनं पाचनं लघु । स्निग्धं रुच्यं हिमं वृष्यं सूक्ष्मं नेत्र्यं त्रिदोषहृत् ॥

यहाँ शंका यह होती है कि नमक पित्तजनक एवं अदरख कडुवा होने से पित्त कारक होता है तब भूख लगने के समय जब कि मनुष्य का पित्त स्वतः बढ़ा रहता है तब स्वतः बढ़े हुये पित्त वाले मनुष्य को भोजन के पहले पित्त-वर्धक नमक के साथ अदरख खाना किस प्रकार उचित है? इसका उत्तर यह है कि—परिभाषा प्रकरण में 'लवण' का अर्थ सेंधानमक और 'चन्दन' का 'रक्त चन्दन' अर्थ किया गया है। अतः पूर्वोक्त श्लोक में भी लवण पद से सेंधा नमक ही ग्रहण होता है जो तीनों दोषों का नाशक है। ओषधियों के गुण बतलाने वाले ग्रन्थों में भी कहा है कि—सेंधा नमक—स्वादु, अग्निदीपक, अन्नपाचक, लघु, स्निग्ध, रुचिकारक, शीतल, वृष्य (वीर्य वर्धक), सूक्ष्म, नेत्रों के लिये हितकर तथा तीनों दोषों का नाशक है ॥ १ ॥

*आर्द्रकं तु कटुकमपि न पित्तविरोधि मधुरपाकित्वाद् । यत आह तत्रैव—

आर्द्रिका भेदिनी गुर्वी तीक्ष्णोष्णा दीपनी च सा । कटुका मधुरा पाके सूक्ष्मा वातकफापहा ॥

भोजन के प्रथम अदरख तो भक्षण करने लायक है ही क्योंकि अदरख के विषय में गुण ग्रन्थ में भी कहा है कि—'अदरख—भेदक, गुरु, तीक्ष्ण, उष्ण-वीर्य, अग्नि दीपक, कटु रस युक्त, पाक समय में मधुर रस युक्त, सूक्ष्म, वात और कफ का नाशक है' ॥ २ ॥

*अथ चान्यदपि लवणमार्द्रकं च नात्र पित्तविरोधि संयोगस्वभावात् । संयोगस्वरूपं[1] बलाढ्यम् । भोजनस्य पूर्वं लवणार्द्रकभक्षणबोधकवचनमेव प्रमाणयति ॥ १३० ॥]

इसके अतिरिक्त यह भी कहा है कि, यद्यपि लवण और अदरख पृथक् २ रूप से भले ही पित्त विरोधी हैं तथापि परस्पर दोनों के संयोग होने पर विलक्षण हो जाने से पित्तविरोधी नहीं होते हैं। क्योंकि इन दोनों के संयोग होने पर पित्त के साथ विरोध न करना ऐसा स्वभाव ही हो जाता है और भी इस बात को 'भोजन के पहले लवण और अदरख एक साथ खाना चाहिये' यह उपर्युक्त वचन भी प्रमाणित करता है ॥ १३० ॥

---

१. 'स्वभावे' इति पा० ।

(अथ [1]भोजनादौ) दृष्टिदोषविनाशाय ब्रह्मादीनां स्मरणमाह, तद्यथा—

अन्नं ब्रह्मा रसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः। इति सञ्चिन्त्य भुञ्जानं दृष्टिदोषो न बाधते॥
[2]अञ्जनागर्भसम्भूतं कुमारं ब्रह्मचारिणम्। दृष्टिदोषविनाशाय हनुमन्तं स्मराम्यहम्॥

भोजन के समय दृष्टिदोष निवारण के लिये ब्रह्मादि का स्मरण—'अन्न ब्रह्मा रूप है, रस विष्णु रूप है और भोजन करने वाला (आत्मा) महेश्वर रूप है' ऐसा विचार कर जो भोजन करता है उसे दृष्टि दोष नहीं होता। (दृष्टिदोष की शान्ति के लिये उपर्युक्त १३२ वां श्लोक का पाठ भी करना चाहिये। श्लोक का अर्थ यह है कि—) 'अञ्जना के गर्भ से उत्पन्न हुये पवन कुमार-ब्रह्मचारी श्री हनुमान् जी का दृष्टिदोष के नाश करने के लिये मैं स्मरण करता हूँ'॥

अथ भोजनक्रममाह—

अश्नीयात्तन्मना भूत्वा पूर्वं तु मधुरं रसम्। मध्येऽम्ललवणौ पश्चात्कटुतिक्तकषायकान्॥
फलान्यादौ समश्नीयाद्दाडिमादीनि बुद्धिमान्। विना मोचफलं तद्वद्वर्जनीया च कर्कटी॥

भोजन का क्रम—तन्मनस्क होकर लवणार्द्रक भक्षण करने के बाद पहले मधुर रस तदनन्तर मध्य में अम्ल (खट्टा) तथा लवण रस और अन्त में तीक्ष्ण, कडुआ तथा कसैला रसयुक्त पदार्थ भोजन करे। बुद्धिमान् लोग भोजन के पहले अनार आदि फलों को खावें किन्तु केला और ककड़ी आदि फल को कदापि न खावें॥ १३३॥ १३४॥

मृणालबिसशालूककन्देक्षुप्रभृतीनपि। पूर्वमेव हि भोज्यानि न तु भुक्त्वा कदाचन॥

कमल की नाल, बिस (भसीडा), शालूककन्द और ईख आदि तो भोजन के पहले ही खाना चाहिये भोजनोपरान्त ये सब कभी भी नहीं खाना चाहिये॥ १३५॥

*मृणालं = पद्मनालं, बिसं = बिससंज्ञकम्। शालूककन्दः = प्रसिद्धः॥ १३५॥

'मृणाल' से 'कमल की नाल' और 'बिस' से 'भसीडा' और 'शालूककन्द' तो प्रसिद्ध ही है।

गुरु पिष्टमयं द्रव्यं तण्डुलान्पृथुकानपि। न जातु भुक्तवान्खादेन्मात्रां खादेद् बुभुक्षितः॥

बुभुक्षित (भूखा) मनुष्य गुरु (देर में हजम होने वाला) पिष्टमय (कचौड़ी, बड़ा आदि) तथा चावल और चिउड़ा आदि पदार्थ उपयुक्त मात्रा में खा सकता है किन्तु भोजन कर चुकने के बाद पुनः उक्त पदार्थों को न खावे॥ १३६॥

घृतपूर्वं समश्नीयात्कठिनं प्राक् ततो मृदु। अन्ते पुनर्द्रवाशी तु बलारोग्येण मुञ्चति॥१३७॥

प्रथम घृत युक्त कठिन (रोटी, पुरी) तदनन्तर मृदु (भात) तत्पश्चात् सब के अन्त में द्रव (दही) आदि खाना चाहिये। इस नियम से भोजन करने वाला बल पूर्वक रोग से मुक्त होता है॥

*अयमर्थः-प्राग् घृतपूर्वं कठिनं समश्नीयाद् यथा काश्यादिवासिनः प्रथमं सव्यञ्जनां घृतपूर्वां रोटिकां भुञ्जन्ते, ततो मृदु ससूपादि ओदनं भुञ्जन्ते, अन्ते पुनर्द्रवाशिनः, भोजनान्ते दधितक्रदुग्धादि भुञ्जन्ते॥ १३७॥

पूर्वोक्त श्लोक का स्पष्टार्थ यह है कि जैसे—काशी आदि नगरों के निवासी जन पहले शाक के सहित घृत पूर्वक रोटी खाते हैं, उसके बाद मृदु पदार्थ अर्थात् दाल के सहित भात खाते हैं और अन्त में द्रव पदार्थ अर्थात् दही, मट्ठा (छाछ), दूध आदि खाते हैं (उसी प्रकार का भोजन उत्तम है)॥

अथ स्वाद्वन्नस्य लक्षणमाह—

यद्यत्स्वादुतरं तत्तद्विदध्यादुत्तरोत्तरम्। भुक्त्वा यत्प्रार्थ्यते भूयस्तदुक्तं स्वादु भोजनम्॥

---

१. कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः। २. 'अञ्जनी'ति पा०।

स्वादु अन्न के लक्षण—जो जो भोज्य पदार्थों में अत्यन्त स्वादिष्ट हों, उन २ को उत्तरोत्तर क्रम से भोजन करे अर्थात् प्रथम कम स्वादु तदनन्तर उससे अधिक स्वादु फिर उससे भी अधिक स्वादु पदार्थ खावे। जिस पदार्थ को खाकर पुनः मांगे उसे स्वादु भोज्य पदार्थ कहते हैं ॥ ११८ ॥

अथ स्वाद्वन्नस्य गुणमाह—

सौमनस्यं बलं पुष्टिमुत्साहं वृद्धिमायुषः। स्वादु सञ्जनयत्यन्नमस्वादु च विपर्ययम् ॥१३९॥

स्वादिष्ट अन्न के गुण—स्वादिष्ट अन्न भोजन करने पर चित्त की प्रसन्नता, बल, शरीर की पुष्टता, उत्साह और आयु की वृद्धि होती है और अस्वादिष्ट अन्न भोजन करने पर इसके विपरीत अर्थात् चित्तकी अप्रसन्नता, बलक्षय, अपुष्टता, उत्साह तथा आयु की हानि होती है ॥ १३९ ॥

अथात्युष्णान्नादिभोजने दोषानाह—

अत्युष्णान्नं बलं हन्ति शीतं शुष्कं च दुर्जरम्। अतिक्लिन्नं ग्लानिकरं युक्तियुक्तं हि भोजनम् ॥

अत्यन्त गर्म, शीतल, सूखा और गीला भोजन करने से दोष—अत्यन्त उष्ण अन्न भोजन करने से बल का नाश, शीतल तथा शुष्क अन्न खाने से देर में हजम और जलादि से अत्यन्त गीला अन्न ग्लानि उत्पन्न करने वाला होता है। अत एव सर्वदा युक्तियुक्त (न अत्यन्त उष्ण, न अत्यन्त शीतल, न अत्यन्त शुष्क और न अत्यन्त गीला) अन्न भोजन करना चाहिये ॥ १४० ॥

अथातिद्रुतविलम्बिताशनयोर्दोषानाह—

अतिद्रुताशिताहारे गुणान्दोषान्न विन्दति। भोज्यं शीतमहृद्यं च स्याद्विलम्बितमश्नतः ॥१४१॥

अत्यन्त शीघ्रता तथा अत्यन्त धीरे २ अन्न खाने के दोष—अत्यन्त शीघ्रता से भोजन करने पर भोज्य पदार्थों के गुण तथा दोषों का परिज्ञान नहीं हो पाता तथा अत्यन्त धीरे २ भोजन करने से भोज्य पदार्थ शीतल और अहृद्य (हृदय को अप्रिय) हो जाता है ॥ १४१ ॥

अथ गुर्वन्नं त्रिविधं तन्निवारयन्नाह—

मन्दानलो नरो द्रव्यं मात्रागुरु विवर्जयेत्। स्वभावतश्च गुरु यत्तथा संस्कारतो गुरु ॥१४२॥
मात्रागुरुस्तु मुद्गादिर्माषादिः प्रकृतेर्गुरुः। संस्कारगुरु पिष्टान्नं प्रोक्तमित्युपलक्षणम् ॥१४३॥

गुरु अन्न का भोजन निषेध—मन्द अग्निवाले मनुष्य मात्रा से, स्वभाव से और संस्कार से जो गुरु पाक अन्न हैं उनका भोजन करना छोड़ दें, उसमें मात्रा से गुरु-मूंग वगैरह हैं ये सब वस्तुतः लघु होते हुये भी अधिक मात्रा में खाने पर गुरु होते हैं। स्वभाव से गुरु-उड़द, मटर आदि हैं, ये सब लघुमात्रा में खाने से भी स्वभावतः परिपाक में गुरु ही होते हैं संस्कार से गुरु—पिष्टान्न (पिसा हुआ अन्न पिट्ठी) आदि होते हैं, ये सब पाकादि संस्कार से गुरु कहलाते हैं। यहाँ मुद्गादि उपलक्षण हैं अतः मन्दाग्नि वाले इन के सदृश अन्यान्य गुरु पदार्थों का भी भोजन नहीं करें ॥

अथाहारस्य षाड्विध्यमाह—

आहारं षड्विधं चूष्यं पेयं लेह्यं तथैव च। भोज्यं भक्ष्यं तथा चर्व्यं गुरु विद्याद्यथोत्तरम् ॥

छे प्रकार का आहार—आहार छ प्रकार का होता है १ चूष्य (चूसने लायक), २ पेय, (पीने लायक), ३ लेह्य (चाटने लायक), ४ भोज्य, (भोजन करने लायक), ५ भक्ष्य (दांतों से काट कर खाने लायक) और ६ चर्व्य (चबाने लायक) ये सब उत्तरोत्तर गुरु होते हैं ॥१४४॥

*चूष्यम् = इक्षुदाडिमादि, पेयं = पानकशर्करोदकादि, लेह्यं = रसाकाकथितादि, कथिता 'कढ़ी' इति लोके। भोज्यं = भक्तसूपादि, भक्ष्यं = लड्डुकमोदकादि, चर्व्यं = चिपिटचणकादि ॥ १४४ ॥

'चूष्य' से ईख, अनार आदि, 'पेय' से शक्कर और जल से बने हुये शर्बत आदि, 'लेह्य' से रसाला (सिखरन), 'कथिता' से लोक में प्रसिद्ध कढ़ी आदि, 'भोज्य' से भात, दाल आदि, 'भक्ष्य' से लड्डू-मोदक आदि और 'चर्व्य' से चिउड़ा, चना आदि का ग्रहण करना चाहिये ॥ १४४ ॥

अथ स्वभावगुरुसंस्कारगुरुणोः स्वभावलघुनश्च भक्ष्यस्य भोजनपरिमाणमाह—

गुरूणामर्धसौहित्यं लघूनां तृप्तिरिष्यते। द्रवो द्रवोत्तरश्चापि न मात्रागुरुरिष्यते ॥ १४५ ॥

स्वभाव और संस्कार से गुरु तथा स्वभाव से लघु भोज्य पदार्थों के परिमाण—जितनी मात्रा से भोजन करने पर आधी तृप्ति हो, उतनी ही मात्रा से गुरु द्रव्यों का और जितनी मात्रा से भोजन करने पर भली भाँति तृप्ति हो, उतनी ही मात्रा से लघुद्रव्यों का भोजन करना चाहिये। केवल द्रव तथा द्रवबहुल ये दोनों द्रव्य भोजन करने में मात्रा से अधिक होने पर भी 'मात्रा गुरु' नहीं माने जाते अर्थात् मुद्गादि की भाँति 'मात्रा गुरु' नहीं होते हैं ॥ १४५ ॥

*अयमर्थः-माषपिष्टाद्यादिभिरर्धसौहित्यं कर्तव्यं मुद्गादिभिः स्वभावादेव लघुभिर्मात्रया तृप्तिः, कर्तव्येत्यर्थः। द्रवः=पेयादिः, द्रवोत्तरः=तक्राद्यधिक ओदनादिः। मात्रातोऽधिकोऽपि मात्रागुरुर्न मन्तव्यः, पेयस्य सर्वतो लघुत्वात् ॥

उपर्युक्त श्लोक का सारार्थ यह है कि—उड़द, पिष्टान्न (पिसा हुआ) आदि सब 'स्वभाव गुरु' द्रव्य हैं, उन सबों का आधी तृप्ति होने पर्यन्त भोजन करना चाहिये। मूंग आदि जितने 'स्वभाव से लघु' द्रव्य हैं उन सबों का भली भाँति तृप्ति होने पर्यन्त भोजन करना चाहिये। द्रव अर्थात् पेयादि तथा द्रवोत्तर अर्थात् जिसमें तक्र (माठा) आदि द्रव-द्रव्य अधिक रूप से युक्त हुये हों ऐसे भात आदि मात्रा से अधिक होने पर भी 'मात्रा गुरु' नहीं होते क्योंकि पेय द्रव्य सभी प्रकार के भक्ष्य द्रव्यों की अपेक्षा लघु होते हैं।

*उक्तं च सुश्रुतेन—पेयलेह्यादिभक्ष्याणां गुरुर्विद्याद्यथोत्तरम् ॥ ३ ॥

पेयं=पेयादि। लेह्यं=रसालादि। आदिशब्दाद्भोज्यमोदनसूपादि। भक्ष्यं=मोदकादि ॥

'सुश्रुत' ने भी कहा है कि—'पेय और लेह्यादि भोज्य पदार्थों के मध्य में पेयादि उत्तरोत्तर एक की अपेक्षा दूसरे गुरु होते हैं। अतः सुतरां पेय, लेह्यादि भक्ष्य पदार्थों के मध्य में पेय ही सब से लघु हुआ' इस सुश्रुतोक्त वचन में 'पेय' से 'पेया' दूध आदि का तथा 'लेह्य' से 'सिखरन' आदि का ग्रहण होता है और 'पेयलेह्यादिभक्ष्याणाम्' इस में स्थित 'आदि' शब्द से 'भोज्य'—भात, दाल आदि का तथा भक्ष्य लड्डू आदि का भी ग्रहण करना चाहिये ॥ ३ । १४५ ॥

द्रवाढ्यमपि शुष्कं तु सम्यगेवोपपच्यते ॥

शुष्क द्रव्य यदि अधिक द्रव पदार्थ से युक्त हो तो भली भाँति उसका भोजन कर सकते हैं।

*अयमर्थः—शुष्कमपि स्रोतोरोधकमपि द्रवाढ्यं सम्यक्पाकं याति ॥

भावार्थ यह है कि—शुष्क द्रव्य स्रोतोरोधक होने पर भी बहुत द्रव द्रव्यों से संयुक्त हो जाने पर भोजन करने से परिपक्व हो जाता है।

अपक्वं तर्हि किम्भवतीत्यपेक्षामाह—

पिण्डीकृतमसंक्लिन्नं विदाहमुपगच्छति।

द्रव रूप पदार्थों से भली प्रकार नहीं भीगा हुआ शुष्क अन्न अपरिपक्व होकर पिंड के सदृश अर्धपरिपक्व अवस्था को प्राप्त हो जाता है ॥

*पिण्डीकृतमष्ठीलावद्भूतम्। असंक्लिन्नं=न सम्यगार्द्रम्। विदाहमुपगच्छति=विदग्धं भवतीत्यर्थः।

यहां 'पिंडीकृत' से 'पिंड के सदृश अष्ठीला (गांठ) की भाँति हुआ और 'असंक्लिन्न' से 'द्रव रूप पदार्थों से भली प्रकार नहीं गीला हुआ' तथा 'विदाहमुपगच्छति' से 'विदग्ध (अर्ध परिपक्व) अवस्था को प्राप्त हो जाता है' ऐसा समझना चाहिये ॥

अथ केवलस्य शुष्कान्नस्य दोषमाह—विशुष्कमन्नमित्यादि ।

विशुष्कमन्नमभ्यस्तं न पाकं साधु गच्छति ॥ १४६ ॥

केवल शुष्क अन्न सम्बन्धी दोष को 'विशुष्कमन्नम्' इत्यादि से कहते हैं—केवल जो शुष्क अन्न होता है वही भोजन करने पर भलीभाँति परिपक्व नहीं होता है ॥ १४६ ॥

अथ शुष्कादीनां वैगुण्यमाह—

शुष्कं विरुद्धं विष्टम्भि वह्निव्यापादकृद्भवेत्[1] ॥ १४७ ॥

शुष्कादि द्रव्यों के भोजन से दोष—शुष्क, विरुद्ध और विष्टम्भि इन सब द्रव्यों के भोजन करने से अग्नि मन्द हो जाती है ॥ १४७ ॥

शुष्कं = चिपिटकादि, विरुद्धं = क्षीरमत्स्यादि, विष्टम्भि = चणकमसूरादि, (वह्निव्यापादकृद्[2]) वह्निमान्द्यं कुर्यात् ॥ १४७ ॥

यहां 'शुष्क' पद से 'चिउड़ा' आदि, 'विरुद्ध' पद से 'दूध मछली' आदि और 'विष्टम्भि' पद से 'चना मसूर' आदि पदार्थों का और 'वह्निव्यापादकृद्' इस पद से 'अग्नि को मन्द कर देता है' ऐसा अर्थ समझना चाहिये ॥ १४७ ॥

अथ सक्तुभक्षणविधिमाह—

न भुक्त्वा न रदैश्छित्त्वा न निशायां न वा बहून् । न जलान्तरितानद्भिः सक्तूनद्यात् केवलान्

सत्तू खाने की विधि—भोजन कर चुकने के बाद और दांतों से चबा कर तथा रात्रि में एवं यदा कदा अधिक सत्तू नहीं खाना चाहिये, एवं जल से अन्तरित करके अर्थात् एकबार जल दूसरी बार सत्तु फिर तीसरी बार जल इस क्रम से सत्तू नहीं खाना चाहिये । और केवल जलसे अर्थात् केवल सूखा सत्तू को मुख में रख कर फिर जल के साथ नहीं निगलना चाहिये ॥ १४८ ॥

अथ सक्तुभक्षणे वर्जनीयानि सप्त कर्माण्याह—

पुनर्दानं पृथक्पानं सामिषं पयसा निशि । दन्तच्छेदमुष्णं च सप्त सक्तुषु वर्जयेत् ॥ १४९ ॥

सत्तू खाने में वर्ज्य कर्म—सत्तू भोजन करने के समय सात कर्मों को छोड़ना चाहिये, जैसे—१ सत्तू भोजन किये हुए को पुनः सत्तू देकर भोजन कराना, २ सत्तू खाकर अलग जलपान करना, ३ मांस के साथ सत्तू खाना, ४ दूध के साथ स सत्तू खाना ५ रात्रि में सत्तू खाना, ६ दांतों से चबाकर सत्तू खाना और ७ गरम सत्तू खाना ॥ १४९ ॥

सुश्रुतः—सक्तूनामाशु जीर्यत मृदुत्वादवलेहिका ॥ १५० ॥

सत्तू भोजन के विषय में 'सुश्रुत' का मत यह है कि सत्तू को अवलेह (चटनी की भाँति) बनाकर खाना चाहिये । क्योंकि सत्तू का अवलेह मृदु होने से जल्दी पच जाता है ॥ १५० ॥

[3]अथ विषमाशनस्य लक्षणमाह—

यथाकालेऽतिमात्रं यत् तद्भवेद्विषमाशनम् । बहुस्तोकमकाले वा ज्ञेयं तद्विषमाशनम् ॥१५१॥

विषमाशन के लक्षण—भोजन के समय अतिमात्रा से जो भोजन किया जाता है उसे अथवा कभी ज्यादा कभी कम और कभी असमय में जो भोजन किया जाता है उसे 'विषमाशन' कहते हैं ॥ १५१ ॥

१. 'वह्निव्यापदमावहेदि'ति पा० । २. कोष्ठस्थः पा० क्वाचित्कः । ३. कोष्ठस्थः पा० क्वाचित्कः ।

अथ बहुनोऽल्पस्य भक्षितस्य दोषमाह—

आलस्यगौरवाटोपसादांश्च कुरुतेऽधिकम्। हीनमात्रं तनोःकार्श्यं करोति च बलक्षयम् ॥

बहुत तथा कम भोजन करने के दोष—बहुत भोजन करने से शरीर में आलस्य, गुरुता (भारी पन), अटोप (पेट में पीड़ा युक्त गुड़ गुड़ शब्द) और अवसाद (अवसन्न होना) ये सब दोष उत्पन्न होते हैं और कम भोजन करने से शरीर में कृशता तथा बलक्षय होता है ॥१५२॥

अधिकम् = बह्वमिति यावत् ॥ १५२ ॥

'अधिक' से 'अधिक अन्न भोजन करना' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १५२ ॥

अथाकाले भुक्तस्य दोषमाह—

अप्राप्तकाले भुञ्जानो ह्यसमर्थतनुर्नरः। तांस्तान् व्याधीनवाप्नोति मरणं चाधिगच्छति ॥

असमय में भोजन करने के दोष—असमय में भोजन करने से मनुष्य असमर्थ शरीर हो जाता है और उसे असमय में भोजन करने से उत्पन्न होने वाली व्याधियां होती हैं जिससे उसकी मृत्यु भी हो जाती है ॥ १५३ ॥

अप्राप्तकाले कालादतिप्राग् भुञ्जानोऽसमर्थशरीरो भवति। तथा सति तांस्तान् व्याधीन् शिरोव्यथाविषूचिकाऽलसकविलम्बिकाऽऽदीन् प्राप्नोति। तेषामाधिक्ये मरणमपि प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १५३ ॥

भावार्थ यह है कि—भोजन करने के समय से बहुत पहले प्रतिदिन भोजन करने से मनुष्य असमर्थ शरीर हो जाता है और इससे उसे शिरदर्द, हैजा, अलसक और विलम्बिका आदि व्याधियां हो जाती हैं तथा उन व्याधियों के बढ़ने से अन्त में उसकी मृत्यु हो जाती है ॥ १५३ ॥

अथ भोजनकालेऽतीते सति भोजन करणे दोषानाह—

कालेतीतेऽश्नतो जन्तोर्वायुनोपहतेनले। कृच्छ्राद्विपच्यते भुक्तं न स्याच्चोक्तुं पुनः स्पृहा ॥

भोजन का समय व्यतीत होने पर भोजन करने से दोष-भोजन का समय व्यतीत होने पर भोजन करने वाले की जठराग्नि वायु से नष्ट (मन्द) हो जाती है। अत एव उसका भोजन किया हुआ अन्न कठिनाई से परिपक्व होता है तथा पुनः उसे खाने की इच्छा नहीं होती है ॥१५४॥

अथ भोजनप्रमाणमाह—

कुक्षेर्भागद्वयं भोज्यैस्तृतीये वारि पूरयेत्। वायोः सञ्चारणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥१५५॥
रसेनाद्यस्य रसना प्रथमेनोपतर्पिता। न तथा स्वादमाप्नोति ततः शोध्याम्बुनान्तरा॥१५६॥

भोजन का प्रमाण—उदर का दो भाग भोज्यपदार्थों से, तथा तीसरा भाग जल से, पूर्ण करना चाहिये और चौथा भाग वायु के सञ्चारण के लिये खाली छोड़ देना चाहिये। भोजन के समय प्रथम जो खाया जाता है उसके रससे जिह्वा तृप्त हो जाती है अतः जिह्वा जैसा पहले रसका स्वाद जानती वैसा बाद के रस का स्वाद नहीं जानती है। इसलिये एक रस के खाने के बाद दूसरे रस खाने के पहले बीच में जलपान द्वारा उसे (जीभ को) शुद्ध (साफ) कर लेना चाहिये ॥ १५५-१५६ ॥

अथाम्बुपानानम्बुपानयोर्निषेधपूर्वकं मुहुर्मुहुः स्वल्पमात्रया वारिपानमाह—

अत्यम्बुपानान्न विपच्यतेऽन्नमनम्बुपानाच्च स एव दोषः।
तस्मान्नरो वह्निविवर्धनाय मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि ॥ १५७ ॥

भोजन के बीच में थोड़ा थोड़ा जलपान की विधि--भोजन करते समय अधिक जलपान करने से तथा एक दम से जल न पीने से भी अन्न नहीं पचता है अतः जठराग्नि की दीप्ति के लिये भोजन के बीच में बारंबार थोड़ा २ जल अवश्य पीना चाहिये ॥ १५७ ॥

अथ भुक्तस्यादौ मध्येऽन्ते च जलपानस्य फलान्याह—

भुक्तस्यादौ जलं पीतं कार्श्यमन्दाग्निदोषकृत्। मध्येऽग्निदीपनं श्रेष्ठमन्ते स्थौल्यकफप्रदम्॥

भोजन के आरम्भ, मध्य अथवा अन्त में जल पीने का फल—भोजन के आरम्भ में जल पीने से कृशता तथा अग्नि की मन्दता दोष हो जाते हैं, मध्य में पीने से अग्नि का दीपन होने से उत्तम होता है और अन्त में पीने से शरीर की स्थूलता तथा कफ की वृद्धि होती है॥ १५८॥

अन्यच्च वाग्भटे—समस्थूलकृशा भुक्तमध्यान्तप्रथमाम्बुपाः॥ १५९॥

इस विषय में 'वाग्भट का मत है कि—भोजन के मध्य, अन्त और आदि में जल पान करने वाले मनुष्यों का शरीर क्रम से सम, स्थूल तथा, कृश होता है अर्थात् भोजन के मध्य में जलपान करने से शरीर सम (न स्थूल और न कृश), अन्त में करने से स्थूल तथा आदि में करने से कृश होता है॥ १५९॥

*भुक्तं=भोजनम्॥ १५-१५९॥

पूर्वोक्त दोनों श्लोकों में 'भुक्त' से 'भोजन' अर्थ समझना चाहिये॥ १५८-१५९॥

अथ तृषितक्षुधितयोः क्रमेण भोजनजलपानयोः सहेतुकं निषेधमाह—

तृषितस्तु न चाश्नीयात्क्षुधितो न पिबेज्जलम्। तृषितस्तु भवेद्गुल्मी क्षुधितस्तु जलोदरी॥

प्यासे के लिये भोजन और भूखे के लिये जलपान का निषेध—जो मनुष्य प्यासा हो, वह उसी समय भोजन न करे तथा जो भूखा हो वह उसी समय जलपान न करे क्योंकि भोजन करने से प्यासे को गुल्म तथा जलपान करने से भूखे को जलोदर रोग हो जाता है॥ १६०॥

अथ भोजनस्यादौ मध्येऽन्ते च मधुरादिपदार्थानां भोजनविधिं वर्णयन्

भोजनान्ते दुग्धपानविधिं सोपपत्तिकमाह—

ननु शिष्टा भोजनान्ते दुग्धं पिबन्ति तत्कथमुचितम्? यतस्त्रिधा विभक्तस्य भोजनकालस्य प्रथमो भागो वातस्य, द्वितीयः पित्तस्य, तृतीयः कफस्य। अत एवाह—

अश्नीयात्तन्मना भूत्वा पूर्वं तु मधुरं रसम्। मध्येऽम्ललवणौ पश्चात्कटुतिक्तकषायकान्॥

भोजन के अन्त में दुग्धपान विधि—शिष्ट लोग जो भोजन के अन्त में दूध पीते हैं वह कैसे उचित हो सकता है? क्योंकि—तीन भागों में विभक्त भोजन का प्रथम भाग वायु का, द्वितीय पित्त का और तृतीय कफ का है, अतः इन्हीं भागों में वायु आदि का प्रकोप काल होता है, अत एव कहा भी है कि—भोजन के समय तन्मनस्क होकर प्रथम मधुर, तदनन्तर मध्य में अम्ल तथा लवण रस युक्त पदार्थों का और सब के अन्त में कटु, तिक्त तथा कषाय रस युक्त पदार्थों का भोजन करना चाहिये॥ १६१॥

*अस्यायमभिप्रायः—भोजने पूर्वं भुक्तो मधुरो रसो बुभुक्षितस्य वातपित्तयोः शमको भवति। भोजनमध्ये भुक्तावम्ललवणौ पित्ताशये च वह्निवृद्धिं कुरुतः। भोजनान्तसमये भुक्ताः कटुतिक्तकषायरसाः कफं शमयन्तीति॥ १६१॥

पूर्वोक्त श्लोक का अभिप्राय यह है कि—भोजन करते समय यदि प्रथम प्रथम मधुर रस खाया जाय तो वह बुभुक्षित पुरुष का वायु तथा पित्त का शमन करता है और भोजन के मध्य में यदि अम्ल तथा लवण रस खाया जाय तो वे पित्ताशय में अग्निकी वृद्धि करते हैं एवं भोजन के अन्त में कटु, तिक्त तथा कषाय रस खाया जाय तो वे कफ को शमन करते हैं॥ १६१॥

[1] अतो भोजनाद्यवसानसमयस्य कफकालत्वात् तत्र कथं श्लेष्मजनकं दुग्धं पातुमुचितं भवति॥ यत उक्तम्—

---

१. 'अथे'ति पा०।

दुग्धं स्वादुरसं स्निग्धमोजस्यं धातुवर्धनम्। वातपित्तहरं वृष्यं श्लेष्मलं गुरु शीतलम्। इति॥

अतः भोजनान्त में कफ का समय होने से कफ को उत्पन्न करनेवाला दूध पीना कैसे उचित हो सकता है, क्योंकि कहा भी है कि—दूध स्वादु (मधुर) रस युक्त, स्निग्ध, ओज को उत्पन्न करने वाला, धातुवर्धक, वात और पित्त का हरण करने वाला, वृष्य (वीर्य वर्धक) कफकारी, गुरु और शीतल होता है ॥ १६२ ॥

उच्यते—

विदाहीन्यन्नपानानि यानि भुंक्ते हि मानवः। तद्विदाहप्रशान्त्यर्थं भोजनान्ते पयः पिबेत् ॥

मनुष्य जो कुछ दाह पैदा करने वाला अन्न पान रूपी भोज्य पदार्थ खाता है उनसे उत्पन्न होनेवाले दाह की शान्ति के लिये भोजन के अन्त में दूध पीवे ॥ १६३ ॥

तथा च ब्रह्मपुराणे—कुर्यात्क्षीरान्तमाहारं न दध्यन्तं कदाचन। इति।

लवणाम्लकटूष्णानि विदाहीन्यपि यानि तु। तद्दोषं हर्तुमाहारं मधुरेण समापयेत् ॥ १६४ ॥

'ब्रह्मपुराण' में भी कहा है कि—दूध पीकर ही भोजन की समाप्ति करनी चाहिये न कि दही खाकर। क्योंकि दाहोत्पादक लवण, अम्ल, कटु तथा उष्ण पदार्थ जो मनुष्य खाता है, उस के दाहकता रूप दोष को दूर करने के लिये मधुर रस युक्त पदार्थों को खाकर ही भोजन की समाप्ति करे ॥ १६४ ॥

भोजनावसानसमये दुग्धादिमधुरभोजनेनैव वर्धितः कफो लवणाम्लकटुभोजनजनितपित्तस्य वृद्धिं विनाशयति पित्तवृद्धिविनाशनेन कफस्यापि वृद्धिस्तु क्षीणा भवति। क्षीणाकफवृद्धिरग्निमांद्यादीन् व्याधीनुत्पादयितुं न शक्नोति ॥ १६४ ॥

भोजन के अन्त में दूध आदि मधुर पदार्थों के भोजन करने से बढ़ा हुआ कफ लवण, अम्ल और कटु पदार्थों के भोजन करने से उत्पन्न हुई पित्त की वृद्धि को दूर करता है और पित्त की वृद्धि का नाश करने से कफ की वृद्धि भी क्षीण हो जाती है। अत एव क्षीण हुई कफ की वृद्धि भी अग्नि-मन्दता आदि रोगों को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होती ॥ १६४ ॥

ननु शत्रोर्नाशनेन शत्रुहन्तुर्वृद्धिर्दृश्यते न तु क्षीणता, तत् कथं कफः क्षीयत इति[1]। उच्यते—बलवच्छत्रुविनाशनेन शत्रुहन्तुः क्षीणता च दृश्यते। तथा च—

नाशनात्प्रत्यनीकस्य स्वयं च क्षीयते यथा। वह्निसन्तप्तलोहस्य तप्ततां नाशयेज्जलम् ॥

अब प्रश्न यह उठता है कि लोक में शत्रु का नाश करने से शत्रु के नाश करने वाले की वृद्धि ही दिखलाई पड़ती है न कि क्षीणता, तब फिर किस प्रकार कफ की क्षीणता हुई अर्थात् वृद्धि प्राप्त हुआ कफ पित्त का नाश करके क्यों क्षीण हुआ? इसका उत्तर यह है कि—लोक में भी बलवान् शत्रु के नाश करने से शत्रु को नाश करनेवाले की क्षीणता दिखलाई पड़ती है जैसे कि जल अग्नि से तपे हुए लोहे की गर्माहट को नष्ट कर के स्वयं को क्षय को प्राप्त हो जाता है अर्थात् अपनी शीतलता रूपी शक्ति से रहित तथा छन २ करके जल जाने से कम वजन का हो जाता है वैसे ही प्रतिपक्षी पित्त का नाश करने से स्वयं कफ भी क्षीण हो जाता है ॥ १६५ ॥

ननु भोजनावसानसमये प्रयुक्ताः कटुतिक्तकषायरसाः[2] कफं शमयिष्यन्ति वातस्य वृद्धिं विधास्यन्तीति चेत्, तन्न। कट्वादीनां क्षीणशक्तिकत्वात्। तथा च—

यदेकं नाशयेद्दोषं तदन्यं वर्धयेत्कुतः। नाशने ह्येकदोषस्य यतस्तत्क्षीणशक्तिकम्। इति॥१६६॥

---

१. 'क्षीण' इति पा०। २. 'कटुतिक्तकषाया रसाः' इति पा०।

यहाँ यदि ऐसा कहें कि—भोजन के अन्त में खाया हुआ कटु, तिक्त और कषाय रस कफ का शमन करके वायु की वृद्धि अवश्य करेंगे तो वह ठीक नहीं, क्योंकि कटु, तिक्त और कषाय रस कफ के नाश करने पर क्षीणशक्ति हो जाने से वायु की वृद्धि करने में असमर्थ हो जाते हैं। अतः कहा भी है कि–जो एक दोष को नाश करता है वह दूसरे दोष को कैसे बढ़ा सकता है, क्योंकि एक दोष नाश करने में ही उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। अत एव कट्वादि रस वायु की वृद्धि नहीं कर सकते ॥ १६६ ॥

वस्तुतो य एव रसः प्राचुर्येण भुक्तस्तस्यैव सर्वे रसा वशा भवन्ति ॥ यत आह सुश्रुतः–
अधाः सर्वेऽपि गच्छन्ति बलिनो वश्यतां रसाः। यथा प्रकुपिता दोषा वशं यान्ति बलीयसः॥

वस्तुतः सच्ची बात तो यह है कि जो रस अधिक मात्रा में खाया जाता है उसी रस के अधीन शेष सभी रस होते हैं, अतः सुश्रुत ने भी कहा है कि—जिस प्रकार प्रकुपित सम्पूर्ण दोष अधिक बलवान् दोष के अधीन हो जाते हैं, उसी प्रकार खाये हुए पदार्थों के सभी रस भी खाये हुये बलवान् रस के वश हो जाते हैं ॥ १६७ ॥

***बलिनः = रसस्य। बलीयसः = दोषस्य ॥ १६७ ॥**

'बलिनः' से 'बलवान् रस का' तथा 'बलीयसः' से 'अधिक बलवान् दोष का' ऐसा अर्थ समझना चाहिये ॥ १६७ ॥

अथाचमनविधिमाह —

एवं भुक्त्वा समाचामे[1]द्रूक्षग्रहणपूर्वकम्। भोजने दन्तलग्नानि निर्हृत्याचमनं चरेत् ॥१६८॥
दन्तान्तरगतं चान्नं शोधनेनाहरेच्छनैः। कुर्यादनिर्हृतं तद्धि मुखस्यानिष्टगन्धताम् ॥१६९॥
दन्तलग्नमनिर्हार्यं लेपं मन्येत दन्तवत्। न तत्र बहुशः कुर्याद्यत्नं निर्हरणं प्रति ॥१७०॥

भोजनोपरान्त आचमन विधि—पूर्वोक्त नियम से भोजन करने के बाद पापड़ आदि का भोजन करके उससे मुख शुद्ध कर अथवा (मतान्तर से) भोजनोपरान्त नमक, मयदा आदि रूक्ष पदार्थों से हाथ मल कर कुल्ला करके आचमन करे, और दाँत में लगे हुये अन्नादि को खरका (तिनका) से निकाल कर पुनः आचमन करे और दाँतों के भीतर जो अन्न लगे हुये हों, उन्हें धीरे धीरे शोधन (खरिका से) सफा करे क्योंकि दाँत सफा न करने से मुख की दुर्गन्धता बनी रहती है। दाँतों में लगी हुई जो वस्तुयें निकालने पर भी न निकले अर्थात् अनिर्हार्य हों उन्हें बाहर निकालने के लिये विशेष यत्न नहीं करना चाहिये किन्तु उन्हें दाँत की भाँति ही लगा हुआ समझकर छोड़ दें ॥

आचम्य जलयुक्ताभ्यां पाणिभ्यां चक्षुषी स्पृशेत्।
[[2]भुक्त्वा पाणितलं घृष्ट्वा चक्षुषोर्यदि दीयते। अचिरेणैव तद्वारि तिमिराणि व्यपोहति] ॥

भोजनोपरान्त आचमन करके जल लगे हुये दोनों हाथों से दोनों नेत्रों का स्पर्श करना चाहिये। भोजन के बाद यदि हथेलियों को परस्पर रगड़ कर दोनों नेत्रों में लगावे तो हाथ में लगे हुये उसी जल के लगने से नेत्रगत तिमिरादि रोग शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥ १७१ ॥

अथ भोजनान्तरक्रियामाह—

भुक्त्वा च संस्मरेन्नित्यमगस्त्यादीन्सुखावहान् ॥ १७२ ॥
विष्णुरात्मा तथैवान्नं परिणामश्च वै यथा। सत्येन तेन मद्भुक्तं जीर्यत्वन्नमिदं तथा ॥१७३॥
अगस्तिरग्निर्वडवानलश्च भुक्तं ममान्नं जरयन्त्वशेषम् ॥
सुखं च मे तत्परिणामसम्भवं यच्छन्त्वरोगं मम 'चास्तु' देहम् ॥ १७४ ॥
अङ्गारकमगस्तिं च पावकं सूर्यमश्विनौ। पञ्चैतान्संस्मरेन्नित्यं भुक्तं तस्याशु जीर्यति ॥१७५॥

---

१. 'च्चूषे'ति पा०। २. कोष्ठस्थापाठः क्वाचित्कः।

भोजनोपरान्त कर्म—भोजनोपरान्त अगस्त्यादि मुनियों के (१७३-७४) श्लोकों से स्मरण करना चाहिये। इन श्लोकों के अर्थ ये हैं:—जैसे अनायास हमारी आत्मा विष्णु हैं। उसी सत्यस्वरूप विष्णु के द्वारा हमारा खाया हुआ यह अन्न पच जाय। अगस्ति, अग्नि और वडवानल ये सब मेरे खाये हुये अन्न को पूर्णरूप से पचावें तथा अन्न पचने से होने वाले सुखों को देवें और उन सबों की कृपा से हमारी देह रोगमुक्त हो। इस प्रकार मंगल, अगस्ति, अग्नि, सूर्य और अश्विनी-कुमार इन पांचों का जो कोई नित्य स्मरण करता है उसका खाया हुआ अन्न शीघ्र पच जाता है॥

इत्युच्चार्य स्वहस्तेन परिमार्ज्यं तथोदरम्। अनायासप्रदायीनि कुर्यात्कर्माण्यतन्द्रितः ॥१७६॥

इस प्रकार अगस्त्यादिकों का नामोच्चारण करके हाथों को उदर पर फेर कर अनायास (परिश्रम न मालूम पड़े ऐसे) कर्मों को अतन्द्रित होकर करे॥ १७६॥

*अतन्द्रितः = निरन्तरं जाग्रत् तिष्ठेद् न तु स्वप्यात्।

'भुक्तमात्रस्य तु स्वप्नाद्धन्त्यग्निं कुपितः कफः' ॥ इति वचनात् ॥ १७६ ॥

'अतन्द्रितः' अर्थात् दिन में भोजन करके निरन्तर जागता हुआ स्थित रहे किन्तु सोवे नहीं। 'जो कोई भोजन करने के पश्चात् ही सो जाता है उसका कफ कुपित होकर उसके जठराग्नि को नष्ट कर देता है।' (अतः भोजनोत्तर तन्द्रा से शून्य होकर रहे)॥ १७६॥

अथ भोजनोपरि वातादीनां वृद्धिक्रममाह—

जीर्णेऽन्ने वर्धते वायुर्विदग्धे पित्तमेधते॥ भुक्तमात्रे कफश्चापि क्रमोऽयं भोजनोपरि ॥१७७॥

भोजनोपरान्त वातादि की वृद्धि—अन्न के परिपक्व होने पर वायु और विदग्ध होने पर पित्त बढ़ता है, भोजन कर चुकने के बाद आरम्भ में ऐसा क्रम है॥ १७७॥

*विदग्धे = किञ्चित्पक्वे किञ्चिदपक्वे ॥ १७७ ॥

'विदग्ध' का 'कुछ पका और कुछ नहीं पका हुआ' अर्थ समझना चाहिये॥ १७७॥

अथ भुक्तमात्रे सञ्जातस्य कफस्य प्रतीकारमाह—

धूमेनापोह्य हृद्यैर्वा कषायकटुतिक्तकैः। पूगैः कर्पूरकस्तूरीलवंगसुमनः फलैः॥ १७८॥

फलैः कटुकषायैर्वा मुखवैशद्यकारिभिः। ताम्बूलपत्रसहितैः सुगन्धैर्वा विचक्षणः॥ १७९॥

भोजनोपरान्त कफ वृद्धिका प्रतीकार—भोजनोपरान्त धूम के द्वारा अथवा हृदय को प्रिय लगने वाले कषाय, कटु और तिक्त रस युक्त सुपारी, कपूर, कस्तूरी लवंग और जायफल खाने से अथवा मुख को शुद्ध करने वाले कटु तथा कषाय रसयुक्त इलायची, हरें आदि खाने से किंवा पान सहित सुगन्धित पदार्थों के खाने से सञ्चित कफ को दूर करे॥ १७८-१७९॥

*धूमेन=अगुर्वादिधूमेन, अपोह्य=कफं दूरीकृत्य, कषायकटुतिक्तकैः फलैः=कर्पूरकस्तूरी-लवंगादिभिः,पूगैः=क्रमुकैः। सुमनःफलैः=जातीफलैः,(कटु[1] कषायैः)=एलाहरीतक्यादिफलैः॥

'धूपेन' = 'अगर आदि के धूम से' 'अपोह्य' = संचित कफ को दूर करे, कषायकटुतिक्तकैः = कषाय, कटु और तिक्त रस युक्त कपूर, कस्तूरी, लौंग आदि फलों से, पूगैः = सुपारी से, सुमनः फलैः = जायफल से और 'कटुकषायैः' 'कटु और कषाय रससे युक्त इलायची, हरें आदि फलों से ऐसा अर्थ करना चाहिये॥ १७८-१७९॥

अथ ताम्बूलभक्षणसमयमाह—

रतौ सुप्तोत्थिते स्नाते भुक्तेवान्ते च संगरे। सभायां विदुषां राज्ञां कुर्यात्ताम्बूलचर्वणम्॥

पान खाने का समय—रति करने के समय, सो के उठने पर, वमन करने पर, युद्ध में तथा पण्डित और राजाओं की सभा में पान खाना चाहिये॥ १८०॥

---

१. कोष्ठस्थः पाठः कश्चित्कः।

अथ ताम्बूलगुणानाह—

ताम्बूलमुक्तं तीक्ष्णोष्णं रोचनं तुवरं सरम्। तिक्तं क्षारोषणं कामरक्तपित्तकरं लघु ॥१८१॥
वश्यं श्लेष्मास्यदौर्गन्ध्यमलवातश्रमापहम्। मुखवैशद्यसौगन्ध्यकान्तिसौष्ठवकारकम् ॥
हनुदन्तमलध्वंसि जिह्वेन्द्रियविशोधनम्। मुखप्रसेकशमनं गलामयविनाशनम् ॥ १८३ ॥

पान के गुण—पान तीक्ष्ण और उष्णवीर्य वाला, रुचिकारक, सारक (दस्तावर), तुवर (कसैला), तिक्त, क्षार और कटु रस से युक्त, कामोद्दीपक, रक्तपित्तवर्धक, हलका, लोगों को वश में करने वाला, कफ मुख की दुर्गन्धि, मल, वायु तथा श्रम इन सबों को दूर करने वाला, मुख की स्वच्छता तथा सुगन्धित करने वाला, शरीर की कान्ति तथा सुन्दरता को बढ़ानेवाला, हनु तथा दाँतों के मल को दूर करनेवाला, जिह्वेन्द्रिय की शुद्धि करनेवाला, मुख से लारों को गिरने से रोकने वाला और गले के समस्त रोगों को नष्ट करनेवाला है ॥ १८१–१८३ ॥

अथ नवीनताम्बूलगुणानाह—

नवं तदेव मधुरं कषायानुरसं गुरु। बलासजननं प्रायः पत्रशाकगुणं स्मृतम् ॥ १८४ ॥

नवीन पान के गुण—नया पान कसैला रस लिये हुए मधुर रसयुक्त पचने में भारी और कफजनक होता है। नया पान प्रायः करके पत्ते के शाक के समान गुणों से युक्त होता है ॥ १८४ ॥

अथ वङ्गदेशोद्भवताम्बूलगुणानाह—

वङ्गदेशोद्भवं पर्णं परं कटुरसं सरम्। पाचनं पित्तजनकमुष्णं कफहरं स्मृतम् ॥ १८५ ॥

बङ्गाल में उत्पन्न होने वाले पान के गुण—बंगला पान अत्यन्त कटु रस से युक्त, सर (दस्तावर), पाचक, पित्तजनक, उष्ण तथा कफ को दूर करने वाला होता है ॥ १८५ ॥

अथ पुराणताम्बूलगुणानाह—

पर्णं पुराणमकटु क्षुल्लकं तनु पाण्डुरम्। विशेषाद्गुणवद्धेयमन्यद्धीनगुणं स्मृतम् ॥ १८६ ॥

पुराने पान के गुण—पुराना पान अकटु (थोड़े कटु रस युक्त), छोटा, पतला, पाण्डु वर्ण (थोड़ी पिलाई लिये हुये श्वेतवर्ण) होता है, तथा पुराना पान विशेष गुणों से युक्त होता है और दूसरा अर्थात् नया पान इसकी अपेक्षा कम गुणवाला होता है ॥ १८६ ॥

अथ पूगीफलगुणानाह—

पूगं गुरु हिमं रूक्षं कषायं कफपित्तनुत्। मोहनं दीपनं रुच्यमास्यवैरस्यनाशनम् ॥ १८७ ॥
पूगं स्यात् दृढमध्यं यत्स्विन्नं वाऽपि त्रिदोषनुत्। सरसञ्चुर्वभिष्यन्दितद् भृशं वह्निनाशनम् ॥

सुपारी के गुण—सुपारी गुरु (पचने में भारी) शीत-वीर्य, रूक्ष, कषाय रसयुक्त, कफ और पित्त का नाशक, मोहजनक, अग्निदीपक, रुचिवर्धक और मुख की विरसता को दूर करने वाली होती है। जिस सुपारी का मध्य भाग कठिन हो अथवा जो उबाल कर बनाई गई (चिकनी सुपारी) हो वह त्रिदोष दूर करने वाली होती है। रस से युक्त नवीन सुपारी, भारी, अभिष्यन्दि (कफकारक) एवं अत्यन्त अग्निनाशक होती है ॥ १८७–१८८ ॥

अथ खदिरसुधाताम्बूलगुणानाह—

खदिरः कफपित्तघ्नश्चूर्णं वातबलासनुत्। संयोगस्त्रिदोषघ्नं सौमनस्यं करोति च ॥ १८९ ॥
मुखवैशद्यसौगन्ध्यकान्तिसौष्ठवकारकम्। प्रभाते पूगमधिकं मध्याह्ने खदिरं तथा ॥
निशासु चूर्णमधिकं ताम्बूलं भक्षयेत्सदा ॥ १९० ॥

खैर, चूना युक्त पान के गुण—खैर-कफ-पित्त का और चूना-वायु-कफ का नाशक है अत एव दोनों पान के साथ संयुक्त होकर त्रिदोष को दूर करने वाले होते हैं तथा चित्त की प्रसन्नता, मुख की स्वच्छता तथा सुगन्धि एवं शरीर में कान्ति और सुन्दरता को उत्पन्न करने वाले

होते हैं। प्रातः काल अधिक सुपारी, दोपहर को अधिक खैर एवं रात्रि में अधिक चूना मिला हुआ पान खाना चाहिये ॥ १८९–१९० ॥

अथ ताम्बूलपर्णाग्रमध्यादिभागापरित्यागे दोषानाह—

आयुरग्रे यशो मूले लक्ष्मीर्मध्ये व्यवस्थिता। तस्मादग्रं तथा मूलं मध्यं पर्णस्य वर्जयेत् ॥
पर्णमूले भवेद्व्याधिः पर्णाग्रे पापसम्भवः। पर्णमध्यं हरत्यायुः शिरा बुद्धिविनाशिनी ॥१९२॥

पान के अग्र तथा मध्य भागों के परित्याग न करने से दोष—पान के पत्ते के अग्रभाग में आयु, मूल, (डण्ठल) में यश, एवं मध्य में लक्ष्मी रहती हैं। अत एव पान का अग्र, मूल तथा मध्य भाग को निकाल कर फेंक देना चाहिये। पान का मूलभाग खाने से व्याधि, अग्र भाग खाने से पाप तथा मध्यभाग खाने से आयु का नाश होता है और पान के सिरा (नसों) के खाने से बुद्धि नष्ट होती है ॥ १९१–१९२ ॥

अथ ताम्बूलस्य पीतद्वयं परित्यज्य तृतीयात्पीतादनुपातव्यमित्याह—

आद्यं विषोपमं पीतं द्वितीयं भेदि दुर्जरम्। तृतीया[1]दनुपातव्यं सुधातुल्यं रसायनम् ॥१९३॥

पान के दो पीक थूकने के बाद खाने का विधान—पान का पहला पीक विष की भाँति, दूसरा पीक भेदी (मल को भेदन करने वाला) और दुर्जर (जल्दी नहीं पचने वाला) होता है। अत एव इन दोनों को थूकने के बाद तीसरे पीक से पान खाना चाहिये। ऐसा पान अमृत तुल्य और रसायन होता है ॥ १९३ ॥

अथाधिकताम्बूलभक्षणे दोषानाह—

ताम्बूलं नातिसेवेत न विरिक्तो बुभुक्षितः ॥ १९४ ॥
देहदृक्केशदन्ताग्निश्रोत्रवर्णबलक्षयः। शोषः पित्तानिलास्रं स्यादतिताम्बूलचर्वणात् ॥१९५॥

अधिक पान खाने से दोष—अधिक पान नहीं खाना चाहिये और जिसके दस्त आते हों तथा भूख लगी हो, उसे तो अधिक पान नहीं ही खाना चाहिये, क्योंकि अधिक पान खाने से देहदृष्टि-केश-दांत-जठराग्नि-श्रवण (सुनने की शक्ति)-वर्ण और बल का क्षय होता है और शोष तथा पित्त, वायु और रक्त की दुष्टि होती है ॥ १९४–१९५ ॥

अथ ताम्बूलभक्षणानर्हजनानाह—

ताम्बूलं न हितं दन्तदुर्बलेक्षणरोगिणाम्। विषमूर्च्छामदार्त्तानां क्षयिणां रक्तपित्तिनाम् ॥१९६॥

पान खाने के अयोग्य पुरुष—दांतरोग वाले, दुर्बल, नेत्ररोगी, विष, मूर्च्छा और मद रोग से युक्त क्षय तथा रक्तपित्त रोग वाले को पान खाना हितकर नहीं होता है ॥ १९६ ॥

अथ भोजनोत्तरं चंक्रमणगुणानाह—

भुक्त्वा शतपदं गच्छेच्छनैस्तेन तु जायते। अन्नसंघातशैथिल्यं ग्रीवाजानुकटीषु च ॥१९७॥

भोजन के बाद टहलने के गुण—भोजन करके धीरे धीरे सौ कदम तक टहलना चाहिये, ऐसा करने से भोजन किया हुआ अन्न का समूह उदर में शिथिल होता है एवं ग्रीवा, जानु (घुटना) तथा कमर को सुख पहुंचाता है ॥ १९७ ॥

अथ भोजनोत्तरमुपवेशनशयनादिफलान्याह—

भुक्त्वोपविशतस्तन्द्रा शयानस्य तु पुष्टता। आयुश्चङ्क्रममाणस्य मृत्युर्धावति धावतः ॥१९८॥

भोजनोपरान्त बैठने, लेटने, टहलने और दौड़ने से लाभ—भोजन करके तुरत बैठने से तन्द्रा, लेटने से शरीर की पुष्टता, धीरे धीरे सौ कदम टहलने से आयु की वृद्धि और दौड़ने से मृत्यु होती है ॥ १९८ ॥

---

१. 'दितु' इति पाठा०।

चंक्रममाणस्य = पदशतं शनैर्गच्छतः ॥ १९८ ॥

यहांपर 'चङ्क्रममाणस्य' का 'धीरे २ सौ कदम टहलने वाले की' यह अर्थ समझना चाहिये ॥

अथ भोजनोत्तरं शयनरीतिमाह—

श्वासानष्टौ समुत्तानस्तान् द्विःपार्श्वे तु दक्षिणे। ततस्तद्द्विगुणान्वामे पश्चात्स्वप्याद्यथासुखम् ॥

भोजनोपरान्त शयन विधि—भोजनोपरान्त प्रथम आठ श्वास तक उतान लेटे, उसके बाद उससे दूना (सोलह) श्वास तक दहिने करवट लेटे, उसके बाद उससे दूना (बत्तीस) श्वास तक बायें करवट लेटे तत्पश्चात् जैसी इच्छा हो वैसे लेटे ॥ १९९ ॥

अथ सर्वदा वामपार्श्वेन शयने हेतुमाह—

वामदिशायामनलो नाभेरूर्ध्वेऽस्ति जन्तूनाम्। तस्मात्तु वामपार्श्वे शयीत भुक्तप्रपाकार्थम् ॥

सर्वदा बायें करवट लेटने का विधान—प्राणियों के बाईं तरफ नाभि के ऊर्ध्व भाग में जठराग्नि रहती है, अतः खाये हुये अन्न के शीघ्र परिपाक होने के निमित्त मनुष्यों को सर्वदा बायें करवट सोना चाहिये ॥ २०० ॥

अथ शयनचर्यामाह, तत्रादौ खट्वादीनामुपरि शयनफलान्याह—

त्रिदोषशमनी खट्वा तूली वातकफापहा। भूशय्या बृंहणी वृष्या काष्ठपट्टी तु वातला ॥२०१॥

शय्या का विधान—खाट पर सोने से तीनों दोषों का शमन होता है, गद्दे पर सोने से वायु और कफ का नाश होता है, केवल पृथ्वी पर सोने से पुष्टता तथा वीर्य की वृद्धि होती है, तथा काठ के पटरों (तख्तों) पर सोने से वायु बढ़ता है ॥ २०१ ॥

अन्यः पुनराह—

भूशय्या वातलाऽतीवरूक्षा पित्तास्रनाशिनी। सुशय्याशयनं हृद्यं पुष्टिनिद्राधृतिप्रदम् ॥
श्रमानिलहरं वृष्यं विपरीतमतोऽन्यथा ॥ २०२ ॥

शय्या के विषय में अन्य मत—पृथ्वी पर शयन करना अत्यन्त वातजनक, रूक्षता का उत्पादक और रक्त पित्त का नाशक होता है। सुन्दर शय्या पर शयन करना हृदय के लिये प्रिय, पुष्टि, निद्रा और धैर्य का प्रदान करने वाला, श्रम तथा वायु को हरण करने वाला और वीर्यवर्धक होता है और इससे विपरीत बुरी शय्या पर शयन करना पूर्वोक्त गुणों से विरुद्ध फल देने वाला होता है ॥

अथ संवाहनगुणानाह—

संवाहनं मांसरक्तत्वक्प्रसादकरं परम्। प्रीतिनिद्राकरं वृष्यं कफवातश्रमापहम् ॥ २०३ ॥

शरीर दबवाने के गुण—शरीर दबवाना मांस, रक्त और त्वचा के लिये अत्यन्त सुखावह और मन की प्रसन्नता तथा निद्रा को उत्पन्न करनेवाला, वीर्यवर्धक एवं कफ, वायु और श्रम का दूर करने वाला होता है ॥ २०३ ॥

अथ प्रवाताप्रवातसेवनगुणानाह—

स्वेदमूर्च्छापिपासाघ्नमप्रवातमतोऽन्यथा। प्रवातं रौक्ष्यवैवर्ण्यस्तम्भकृद्दाहपित्तनुत् ॥२०४॥
सुखं प्रवातं सेवेत ग्रीष्मे शरदि चान्तरा। निर्वातमायुषे सेव्यमारोग्याय च सर्वदा ॥२०५॥

धीरे तथा जोरों से बहती हुई वायु सेवन के गुण—अधिक बहती हुई वायु का सेवन रूक्षता, विवर्णता तथा स्तब्धता (शरीर का जकड़न) करनेवाला, दाह तथा पित्त का नाशक, स्वेद (पसीना) मूर्च्छा और प्यास को दूर करनेवाला होता है और धीरे २ बहने वाली वायु का सेवन पूर्वोक्त गुणों से विपरीत फल देने वाला होता है। ग्रीष्म तथा शरद् ऋतु में बीच २ में सुखकर (शरीर तथा मन को प्रफुल्लित करने वाली) वायु का सेवन करना चाहिये और आयु तथा आरो-

ध्यता का नाश करने के लिये सर्वदा वायु रहित स्थान का सेवन करना (ऐसे स्थानों में टहलना) चाहिये ॥ २०४-२०५ ॥

अथ पूर्ववायुसेवनगुणदोषानाह—

पूर्वोऽनिलो गुरुः सोष्णः स्निग्धः पित्तास्रदूषकः। विदाही वातलः [1]श्रान्तिकफशोषवतां हितः॥

पूर्वी वायु (पुरवइया हवा) के सेवन से गुण दोष—पूर्वी वायु भारी, गरम, स्निग्ध, रक्त व पित्त को दूषित करने वाली और विशेष रूप से दाह उत्पन्न करने वाली तथा वायु के दोष को बढ़ाने वाली है किन्तु परिश्रम कफ तथा शोष से युक्त प्राणियों के लिये हितकर होती है ॥ २०६ ॥

स्वादुः पटुरभिष्यन्दी त्वग्दोषार्शोविषक्रिमीन्। सन्निपातं ज्वरं श्वासमामवातं च कोपयेत्॥

पूर्वी वायु स्वादु नमकीन अभिष्यन्दी होती है तथा त्वग्गत दोष, बवासीर, विष, क्रिमि, सन्निपातज्वर, श्वास और आमवात को कुपित करने वाली होती है ॥ २०७ ॥

*स्वादुः = भक्ष्यद्रव्येषु बाहुल्येन मधुररसजनकः ॥ २०७ ॥

'स्वादुः' से 'भक्षण योग्य पदार्थों में प्रायः मधुर रस (मिठास) उत्पन्न करनेवाली' ऐसा अर्थ समझना चाहिये ॥ २०७ ॥

अथ दक्षिणपश्चिमपवनयोर्गुणदोषानाह—

दक्षिणः पवनः स्वादुः पित्तरक्तहरो लघुः। वीर्येण शीतलो बलदश्चक्षुष्यो न तु वातलः॥
पश्चिमः पवनस्तीक्ष्णः शोषणो बलहृल्लघुः। मेदःपित्तकफध्वंसी प्रभञ्जनविवर्धनः॥२०९॥

दक्षिणी तथा पश्चिमी वायु सेवन के गुण दोष—दक्षिणी वायु स्वादु, पित्त रक्तनाशक, लघु, शीत, वीर्य, बलकारक तथा नेत्रों के लिये हितकर है किन्तु वातवर्धक नहीं है और पश्चिमी वायु तीक्ष्ण, शोष उत्पन्न करने वाली, बलहरण करने वाली, लघु, मेद, पित्त तथा कफ को नष्ट करने वाली तथा वातवर्धक है ॥ २०८-२०९ ॥

अथोत्तरवायोर्गुणदोषानाह—

उत्तरो मारुतः शीतः स्निग्धो दोषप्रकोपकृत्। क्लेदनः प्रकृतिस्थानां बलदो मधुरो मृदुः॥

उत्तरी वायु के गुण-दोष—उत्तरी वायु शीतल, स्निग्ध, दोषों को कुपित करने वाली, क्लेदजनक (आर्द्रता उत्पन्न करने वाली), प्रकृतिस्थ (स्वस्थ) पुरुषों को बल देनेवाली, मधुर तथा मृदु होती है ॥ २१० ॥

*दोषप्रकोपकृद् = आतुराणाम् ॥ २१० ॥

'दोषप्रकोपकृद्' अर्थात् 'रोगी पुरुषों के दोषों को कुपित करने वाली' ॥ २१० ॥

अथाग्नेयादिवायूनां गुणानाह—

आग्नेयो दाहकृद्रूक्षो नैर्ऋतो न विदाहकृत्। वायव्यस्तु भवेत्तिक्त ऐशानः कटुकः स्मृतः॥
विष्वग्वायुरनायुष्यः प्राणिनां बहुरोगकृत्। अतस्तं नैव सेवेत सेवितः स्यान्न शर्मणे॥२१२॥

आग्नेय, नैर्ऋत्य, वायव्य, ईशान तथा चौतरफ बहनेवाली वायु के गुण—आग्नेय (अग्निकोण की) वायु दाहजनक तथा रूक्ष होती है। नैर्ऋत (निर्ऋत्य कोण की) वायु दाहकारक नहीं होती है। वायव्य (वायव्य कोण की) वायु तिक्त होती है। ऐशान (ईशान कोण की) वायु कटु होती है। चारों दिशाओं की मिली हुई वायु आयु नाशक और प्राणियों के लिये बहुत रोग उत्पन्न करने वाली होती है उसके सेवन से कल्याण नहीं होता अतः उसका सेवन नहीं करना चाहिये ॥२११-२१२॥

अथ व्यजनतालवृन्तादिभववायूनां गुणानाह—

व्यजनस्यानिलो दाहस्वेदमूर्च्छाश्रमापहः। तालवृन्तभवो वातत्रिदोषशमको मतः॥२१३॥

---

१. 'श्रान्ती'ति पाठा०।

शाल्यजनजस्तूष्णो रक्तपित्तप्रकोपणः। चामरो वस्त्रसम्भूतो मायूरो वेत्रजस्तथा ॥ २१४ ॥
पूते दोषजिता वाताः स्निग्धा हृद्याः सुपूजिताः ॥ २१५ ॥

पङ्खे की वायु के गुण—पङ्खे मात्र की वायु–दाह, स्वेद, मूर्च्छा और श्रम को दूर करने वाली होती है। उसमें ताड़ के पत्तों से बने हुये पङ्खे की वायु वातादि तीनों दोषों को दूर करने वाली है। बांस के पङ्खे की वायु उष्ण एवं रक्तपित्त को कुपित करने वाली होती है। चमर, वस्त्र, मोर के तथा वेत के बने हुये पङ्खे की वायु स्निग्ध, हृदय को प्रिय अत एव प्रशंसनीय हैं ॥ २१३–२१५ ॥

अथ दिवास्वापप्रतिषेधमाह—

दिवा स्वापं न कुर्वीत यतोऽसौ स्यात्कफावहः। ग्रीष्मवर्ज्येषु कालेषु दिवास्वप्नो निषिध्यते ॥

दिन में सोने का निषेध—दिन में नहीं सोना चाहिये क्योंकि दिवास्वाप (दिन में सोना) कफकारक होता है। अतएव ग्रीष्म ऋतु को छोड़ अन्य सभी ऋतुओं में दिन में सोना निषिद्ध है ॥

अथ दिवास्वापयोग्यजनानाह—

उचितो हि दिवास्वप्नो नित्यं येषां शरीरिणाम्। वाताद्यः प्रकुप्यन्ति तेषामस्वपतां दिवा ॥
व्यायामप्रमदाऽध्ववाहनरतान् क्लान्तानतीसारिणः
शूलश्वासवतस्तृषापरिगतान् हिक्कामरुत्पीडितान् ॥
क्षीणान् क्षीणकफान्शिशून्मदहतान्वृद्धान्रसाजीर्णिनो–
रात्रौ जागरितान्निराशिरशनान्कामं दिवा स्वापयेत् ॥ २१८ ॥

दिन में सोने योग्य जन—जिन को दिन में सोने का अभ्यास हो वे यदि दिन में न सोवें तो उनके वातादि दोष कुपित हो जाते हैं अत एव ऐसे लोगों के लिये दिन में सोना निषिद्ध नहीं है। तथा कसरत करने वाले, रात्रि में स्त्रीसंभोग करने वाले, रास्ता चलने वाले, घोड़ा आदि वाहनों पर चढ़ने वाले, तथा थके हुये, अतीसार, शूल और श्वास रोगों से युक्त एवं प्यासे, हिचकी तथा वायु के रोग से पीड़ित, कृश, क्षीण कफ वाले, बच्चे, मदहत (अत्यन्त शराबी-नशेबाज), वृद्ध तथा अजीर्ण रोग से युक्त एवं रात्रि में जगे हुये तथा उपवास किये हुये हों, उन सबों को इच्छानुसार दिन में सोना चाहिये ॥ २१७–२१८ ॥

दिवा वा यदि वा रात्रौ निद्रा सात्मीकृता तु यैः। न तेषां स्वपतां दोषो जाग्रतां चोपजायते ॥

दिन तथा रात्रि में जिन्होंने सोना अपने प्रकृति के अनुकूल कर लिया है, वे यदि उस समय सोवें या जागें तो उन लोगों को कोई दोष (हानि) नहीं होता है ॥ २१९ ॥

*स्वपतां—दिवा इति यावत्। जाग्रतां = रात्राविति शेषः ॥ २१९ ॥

'स्वपताम्' अर्थात् दिन के समय सोवे और 'जाग्रताम्' अर्थात् रात्रि के समय जागे' ॥ २१९ ॥

अथ भोजनानन्तरं शयनफलमाह—

भोजनानन्तरं निद्रा वातं हरति पित्तहृत्। कफं करोति वपुषः पुष्टिं सौख्यं तनोति हि ॥२२०॥

भोजन के बाद सोने के गुण—भोजन के बाद का शयन वात-पित्त का हरण करने वाला, कफकारक तथा शरीर की पुष्टि और सुख की वृद्धि करने वाला होता है ॥ २२० ॥

अथ शयनमर्दनादीनां फलान्याह—

शयनं पित्तनाशाय वातनाशाय मर्दनम्। वमनं कफनाशाय ज्वरनाशाय लङ्घनम् ॥२२१॥
आसीनं घूर्णितं यत्तु नाभिष्यन्दि न रूक्षणम् ॥ २२२ ॥

शयन, मर्दन आदि का गुण—सोने से पित्त का, शरीर मलवाने से वायु का, वमन करने से कफ का और उपवास करने से ज्वर का नाश होता है और बैठना तथा घूमना न अभिष्यन्दी (कफकारक) है और न रूक्ष ही है ॥ २२१–२२२ ॥

अथापरानप्युदरेऽन्नस्य संस्थापनहेतूनाह—

शब्दान् स्पर्शांश्च रूपाणि रसान्गन्धान्मनःप्रियान् । भुक्तवानपि सेवेत तेनान्नं साधु तिष्ठति॥

उदर में अन्न के ठहरने के कारण—भोजन करने के बाद मन को प्रिय लगने वाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध का सेवन करने से खाया हुआ अन्न भली भांति (पेट में) ठहरता है ॥२२३॥

***उदरे इति शेषः ॥ २२३ ॥**

'भली भांति उदर में ठहरता है' ऐसा अर्थ जोड़ना (समझना) चाहिये ॥ २२३ ॥

अथान्नस्योदरेऽस्थितिहेतूनाह—

शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धो जुगुप्सितः । भुक्तमप्रयतं चान्नमतिहास्यं च वामयेत् ॥

खाये हुए अन्न का उदर में न ठहरने के हेतु—घृणित शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध एवं अपवित्र अन्न तथा अत्यन्त हँसना ये सब वमन हो जाने के कारण हैं ॥ २२४ ॥

***अप्रयतमपवित्रम् ॥ २२४ ॥**

'अप्रयतम्' का 'अपवित्र' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २२४ ॥

अथान्यदपि वर्जनीयमाह—

शयनं चाशनं चाति न भजेन्न द्रवाधिकम् । नाग्न्यातपौ न प्लवनं न यानं नापि वाहनम् ॥

भोजन के बाद परित्याग करने के योग्य अन्यान्य कर्म—भोजन के बाद अधिक देरतक सोना, बैठना तथा अधिक द्रव (पतला) पदार्थ और अग्नि तथा आतप (घाम) का सेवन, एवं जल में तैरना, मार्ग में चलना और घोड़े आदि की सवारी करना छोड़ देवे ॥ २२५ ॥

***प्लवनं=बाहुभ्यां जलप्रतरणम्, यानं=मार्गे चलनम् , वाहनमश्वादि ॥ २२५ ॥**

'प्लवन' से 'बाहुओं से जल में तैरना' तथा 'यान' से 'मार्ग में चलना' और 'वाहन' से 'घोड़े आदि की सवारी करना' अर्थ समझना चाहिये ॥ २२५ ॥

व्यायामं च व्यवायं च धावनं यानमेव च । युद्धं गीतं च पाठं च मुहूर्त्तं भुक्तवांस्त्यजेत् ॥

भोजनोपरान्त व्यायाम (कसरत), स्त्रीसम्भोग, दौड़ना, बैलगाड़ी आदि सवारी पर चढ़ना, युद्ध, गाना, पढ़ना तथा ऊपर कहे हुए कर्मों को एक मुहूर्त्त (लगभग पौन घण्टे) तक अवश्य त्याग देवे ॥ २२६ ॥

अथाजीर्णस्य हेतूनाह—

अत्यम्बुपानाद्विषमाशनाच्च सन्धारणात् स्वप्नविपर्ययाच्च ॥
कालेऽपि सात्म्यं लघु चापि भुक्तमन्नं पाकं भजते नरस्य ॥ २२७ ॥

अजीर्ण होने के कारण—ज्यादा जल पीने से, विषम (थोड़ा, बहुत या अबेर, सबेर,) भोजन करने से, मलमूत्रादि के वेग रोकने से, सोने का विपर्यय अर्थात् दिन में सोने तथा रात्रि में जागने से अथवा जिसको जिस समय सोना या जागना अभ्यस्त हो उस समय न सोने तथा न जागने से लघु तथा ठीक समय पर भोजन किया हुआ भी अन्न नहीं पचता है ॥ २२७ ॥

[*[1]सन्धारणात्=अधोवातमलमूत्रादीनाम्] ॥ २२७ ॥

'सन्धारणात्' का 'मलमूत्रादि के वेग रोकने से' यह अर्थ करना चाहिये ॥ २२७ ॥

ईर्ष्याभयक्रोधसमन्वितेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन ॥
विद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक्परिपाकमेति ॥ २२८ ॥

---

१. सर्वत्राग्रिमश्लोकादनन्तरं कोष्ठस्थ पाठोऽयं पठितः, तत्तु प्रमाद एवेति ।

जो ईर्ष्या, भय और क्रोध से युक्त तथा लोभी हैं एवं रोग तथा दीनता से पीड़ित और द्वेष से युक्त रहते हैं उनका भी भोजन किया हुआ अन्न भली भाँति परिपक्व नहीं होता, अतः अजीर्ण न हो इस के लिये सर्वथा उपर्युक्त कर्मों का त्याग करना चाहिये ॥ २२८ ॥

अथाध्यशनलक्षणमाह—

अजीर्णे भुज्यते यत्तु तदध्यशनमुच्यते ॥ २२९ ॥

अध्यशन के लक्षण—अजीर्ण होने पर भी जो भोजन किया जाता है, उसे अध्यशन कहते हैं ॥

तन्निवारयन्नाह—प्राग्भुक्ते चानले मन्दे द्विरह्नि न समाहरेत् ॥ २३० ॥

अध्यशन करने का निषेध—पहले का भोजन नहीं पचा हो तथा अग्नि मन्द हो तो दिन में दो बार भोजन नहीं करना चाहिये ॥ २३० ॥

*अस्यायमर्थः—प्रातर्भुक्ते अजीर्णे सति अहन्येव पुनर्न भुञ्जीतेत्यर्थः । रात्रौ पुनस्तथाऽपि सति भुञ्जीतैव । अत आह सुश्रुत एव—

'प्रातराशे त्वजीर्णे तु सायमाशो न दुष्यति' इति ॥ २३० ॥

इसका भावार्थ यह है कि—प्रातःकाल (९-१० बजे) का भोजन यदि जीर्ण (पचा) न हो तो पुनः दिन में ही केवल दुबारा नहीं खाना चाहिये, किन्तु रात्रि में तो अजीर्ण रहने पर भी भोजन करना ही चाहिये । इसी विषय में 'सुश्रुत' भी कहते हैं कि—'प्रातःकाल का भोजन अजीर्ण होने पर भी सायङ्काल भोजन करने पर दोष उत्पन्न नहीं करता है' ॥ २३० ॥

पूर्वे भुक्ते विदग्धेऽन्ने भुञ्जानो हन्ति पावकम् ॥ २३१ ॥

पूर्व का भोजन किया हुआ अन्न यदि विदग्ध (अर्धपरिपक्व) हो गया हो तो उस समय भोजन करने से अग्नि मन्द हो जाती है ॥ २३१ ॥

* अस्य त्वयमर्थः—पूर्वे भुक्ते रात्रिभुक्ते अन्ने विदग्धे किञ्चित् पक्के किञ्चिदपक्के प्रातर्भुञ्जानः पावकं हन्तीत्यर्थः ॥ २३१ ॥

वस्तुतः इसका अर्थ यह है कि—पूर्व में भोजन किया हुआ अर्थात् रात्रि में भोजन किया हुआ अन्न विदग्ध अर्थात् कुछ पक्व और कुछ न पक्व हुआ हो तो उस समय भोजन करने से अग्नि नष्ट हो जाती है ॥ २३१ ॥

अत आह—सायमाशे त्वजीर्णे तु प्रातर्भुक्तं विषोपमम् ॥ २३२ ॥ इति ॥

इसीलिये कहा भी है कि—यदि सायङ्काल का भोजन परिपक्व न हुआ हो तो प्रातःकाल भोजन करना विष तुल्य होता है ॥ २३२ ॥

अथ सायमाशाजीर्णे भोजनोपायमाह—

अवेद्यदि प्रातरजीर्णशङ्का तदाऽभयां नागरसैन्धवाभ्याम् ।
विचूर्णितां शीतजलेन भुक्त्वा भुञ्जीत चान्नं मितमन्नकाले ॥ २३३ ॥

प्रातःकाल अजीर्ण मालूम पड़ने पर भोजन का उपाय—प्रातःकाल यदि अजीर्ण की आशङ्का हो तो हर्रें, सोंठ और सेंधानमक का चूर्ण बनाकर शीतल जल के साथ खाकर भोजन का समय उपस्थित होने पर उस दिन थोड़ी मात्रा में भोजन करना चाहिये ॥ २३३ ॥

अथ दिवास्त्रीसंगनिषेधमाह—

आयुःक्षयभयाद्दिवा नाह्नि सेवेत कामिनीम् । अवशो यदि सेवेत [1]तदा ग्रीष्मवसन्तयोः ॥

---

१. शीतवसन्तयोरिति पाठा० ।

दिन में स्त्री सम्भोग का निषेध—बुद्धिमान् लोग आयु नाश होने के भय से दिन में स्त्री के साथ भोग न करें, यदि अवश होकर करना ही चाहे तो ग्रीष्म तथा वसन्त ऋतु में किसी २ दिन कर सकते हैं ॥ २३४ ॥

*अवशः = अजितेन्द्रियः ॥ २३४ ॥

'अवश' का 'इन्द्रियों के वशीभूत' (कामुक) अर्थ समझना चाहिये ॥ २३४ ॥

अथोपवेशनाटनादिगुणानाह—

आस्या वर्णकफस्थौल्यसौकुमार्यसुखप्रदा । अध्वा वर्णकफस्थौल्यसौकुमार्यविनाशनः ॥२३५॥
यत्तु चंक्रमणं नातिदेहपीडाकरं भवेत् । तदायुर्बलमेधाऽग्निप्रदमिन्द्रियबोधनम् ॥२३६॥

बैठे रहने, रास्ता चलने एवं धीरे २ टहलने के गुण—दोष—कहीं पर जाना-आना न करके केवल स्थिर भाव से एक स्थान पर बैठे रहने से शरीर का अच्छा वर्ण, कफ की वृद्धि, देह की स्थूलता, सुकुमारता और सुख होता है और अधिक पैदल चलने से इसके विपरीत देह के वर्ण, स्थूलता, सुकुमारता तथा कफ इन सबों का नाश होता है तथा चङ्क्रमण (धीरे २ टहलने) से देह में विशेष पीड़ा का अभाव और आयु, बल, मेधा तथा जठराग्नि एवं सम्पूर्ण इन्द्रियों की शक्ति की भी वृद्धि होती है ॥ २३५-२३६ ॥

अथोष्णीषधारणगुणानाह—

उष्णीषं कान्तिकृत्केश्यं रजोवातकफापहम् । लघु यच्छस्यते तस्माद् गुरु पित्ताक्षिरोगकृत् ॥

पगड़ी, मुरेठा आदि धारण करने के गुण-दोष—मस्तक पर उष्णीष (पगड़ी, साफा आदि) कान्ति को वृद्धि करने वाला, केश के लिये हितकारी, धूलि को दूर करने वाला अर्थात् धूलि से बालों को बचाने वाला और वात तथा कफ का नाशक होता है। परन्तु ये सब उत्तम गुण तभी होते हैं जब कि वह हलका हो। यदि उष्णीष भारी हुआ तो पित्त की वृद्धि और नेत्र सम्बन्धी रोग को उत्पन्न करने वाला होता है ॥ २३७ ॥

अथोपानद्धारणगुणानाह—

उपानद्धारणं नेत्र्यमायुष्यं पादरोगहृत् । सुखप्रचारमोजस्यं वृष्यं च परिकीर्त्तितम् ॥२३८॥

जूता पहनने के गुण—जूता पहनना नेत्र तथा आयु के लिये हितकर, पैर सम्बन्धी रोगों को दूर करने वाला, चलने फिरने में सुख देने वाला, ओजोवर्धक और वृष्य (बल तथा पुष्टिका वर्धक) है ॥ २३८ ॥

अथानुपानद्भ्यां पादाभ्यां चंक्रमणे दोषानाह—

पादाभ्यामनुपानद्भ्यां सदा चंक्रमणं नृणाम् । अनारोग्यमनायुष्यमिन्द्रियघ्नमदृष्टिदम् ॥

जूता न पहनने से अवगुण—बिना जूता पहने केवल पैदल सदा यातायात करना मनुष्यों के लिये आरोग्यता और आयु को नष्ट करने वाला एवं इन्द्रियों की तथा देखने की शक्ति का नाश करने वाला होता है ॥ २३९ ॥

अथ छत्रदंडधारणगुणानाह—

छत्रस्य धारणं वर्षातपवातरजोऽपहम् । हिमघ्नं हितमचणोश्च मङ्गल्यमपि कीर्त्तितम् ॥२४०॥
सत्त्वोत्साहबलस्थैर्यधैर्यतेजोविवर्धनम् । अवष्टम्भकरं चापि भयघ्नं दण्डधारणम् ॥ २४१ ॥

छाता तथा दण्ड धारण करने के गुण—छाता लगा कर चलना-वर्षा, आतप (घाम), हवा, धूलि तथा शीत से रक्षा करने वाला, नेत्रों के लिये हितकारी तथा मङ्गलप्रद होता है और दण्ड धारण करना-शक्ति, उत्साह, बल, स्थिरता, धैर्य तथा तेज का बढ़ाने वाला, सहारा देने वाला तथा भय को दूर करने वाला होता है ॥ २४०-२४१ ॥

अथ शिबिकाऽऽद्यारोहणगुणानाह—

ऊर्ध्वाच्छादनसंयुक्ता शिबिका सर्ववल्लभा । तस्यामारोहणं नृणां त्रिदोषशमकं मतम् ॥२४२॥
वातश्लेष्मगदार्त्तानामहिता भ्रमकृत्तरिः । पित्तानिलकरो हस्ती लक्ष्म्यायुःपुष्टिवर्द्धनः ॥
घोटकारोहणं वातपित्ताग्निश्रमकृन्मतम् । मेदोवर्णकफघ्नं च हितं तद्बलिनां परम् ॥२४४॥

पालकी, नौका, हाथी और घोड़े की सवारी करने के गुण—ऊपर से आवरण युक्त अर्थात् छाई हुई जो पालकी होती है, वह प्रायः सभी को प्रिय लगने वाली होती है । अतः उसमें चढ़ कर चलने से मनुष्यों के तीनों दोषों का शमन होता है । नौका पर सवार होकर जाना-वात तथा कफ रोग से पीड़ित लोगों के लिये अहितकारी तथा भ्रम (घुमटा) उत्पन्न करने वाला होता है । हाथी पर चढ़कर चलने से पित्त तथा वायु की उत्पत्ति एवं लक्ष्मी, आयु तथा पुष्टि की वृद्धि होती है । घोड़ा पर चढ़कर चलने से वायु, पित्त तथा जठराग्नि की वृद्धि एवं श्रान्ति (थकावट) की उत्पत्ति होती है तथा मेद, वर्ण और कफ का नाश होता है । घोड़े की सवारी बलवान् पुरुषों के लिये विशेष हितकर है । किन्तु दुर्बलों के लिये यह सवारी त्याज्य ही समझना चाहिये ॥ २४२–२४४ ॥

अथातपादीनां गुणानाह, तत्रादावातपच्छायासेवनयोर्गुणानाह—

आतपः स्वेदमूर्च्छाऽस्रपित्ततृष्णाक्लमभ्रमान् । दाहं विवर्णतां कुर्यादेतांश्छाया व्यपोहति ॥

-धूप तथा छाया सेवन के गुण—धूप का सेवन करना-स्वेद, मूर्छा, रक्त-पित्त, प्यास, क्लान्ति, भ्रम, दाह तथा विवर्णता को करता है तथा छाया का सेवन इन्हीं सबों को दूर करता है ॥ २४५ ॥

अथ वृष्टिकुहेल्योः सेवनगुणानाह—

वृष्टिर्वृष्या हिमा बल्या निद्राऽऽलस्यविधायिनी । भयावहा मोहकरी कुहेलिः कफवातला ॥

वर्षा तथा कुहेसा के सेवन के गुण—वर्षा का सेवन वृष्य (वीर्यवर्धक), शीतल, बलकारक, निद्रा तथा आलस्य को उत्पन्न करने वाला होता है । और कुहेसा का सेवन भयदायक, मोह उत्पन्न करने वाला और कफ तथा वायु को बढ़ाने वाला होता है ॥ २४६ ॥

कुहेलिः = कुआशा इति लोके ॥ २४६ ॥

'कुहेलिः' का 'कुआसा' (कुहेसा) अर्थ करना चाहिये ॥ २४६ ॥

अथाग्निधूमयोः सेवनगुणानाह—

अग्निर्वातकफस्तम्भशीतवेपथुनाशनः । आमाभिष्यन्दशमनो रक्तपित्तप्रकोपणः ॥२४७॥
सद्यः श्लेष्मकरो धूमो नेत्रयोरहितो भृशम् । शिरोगौरवकृच्चापि वातपित्तं च कोपयेत् ॥२४८॥

अग्नि तथा धूप सेवन के गुण—अग्निसेवन-वायु, कफ, स्तब्धता (शरीर का जकड़ जाना) शीत और कँपकँपी को दूर करने वाला, आमाभिष्यन्दन को शमन करने वाला और रक्त-पित्त को प्रकुपित करने वाला होता है । धूम सेवन—तत्काल कफ उत्पन्न करने वाला, नेत्रों के लिये अत्यन्त अहितकर, मस्तक को भारी करने वाला और वात तथा पित्त को कुपित करने वाला होता है ॥

अथ सदाचरणन्याह—

मैत्री[1] सद्भिः समं कुर्यात्स्नेहं सत्सु तु सर्वथा । संसर्गं साधुभिः कुर्यादसत्सङ्गं परित्यजेत् ॥२४९॥

सत्पुरुषों के आचरण—सज्जनों के साथ मैत्री तथा सब प्रकार से स्नेह करना चाहिये एवं साधु अर्थात् दूसरे की भलाई करने वाले सज्जनों ही के साथ हर प्रकारका सम्बन्ध रखे और नीच पुरुषों की सङ्गति छोड़ देनी चाहिये ॥ २४९ ॥

सत्सु सज्जनेषु । सर्वथा = मनोवाक्कर्मभिः ॥ २४९ ॥

'सत्' से 'सज्जन' तथा 'सर्वथा' से 'सब प्रकार से अर्थात् मन, वाणी तथा कर्म से' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २४९ ॥

---

१. 'मैत्रीं सद्भिरसद्भिश्च कुर्यादि'ति पा० ।

सेवेत देवभूदेववृद्धवैद्यनृपातिथीन्। विमुखान्नार्थिनः कुर्यान्नावमन्येत कानपि ॥२५०॥
गुरूणां सन्निधौ तिष्ठेत्सदैव विनयान्वितः। पादप्रसारणादीनि तत्र नैव समाचरेत् ॥२५१॥
अपकारपरेऽपि स्यादुपकारपरः पुमान्। आत्मवत्सकलान्पश्येद्वैरिणो दूरतो वसेत् ॥२५२॥
[१]न कञ्चिदात्मनः शत्रुं नात्मानं कस्यचिद्रिपुम्। प्रकाशयेन्नापमानं न च निःस्नेहतां प्रभोः ॥
नात्मानमुदके पश्येन्न नग्नः प्रविशेज्जलम्। तथा नाज्ञातगाम्भीर्यं न हिंस्रप्राणिसेवितम् ॥
काले हितं मितं सत्यं संवादि मधुरं वदेत्। भुञ्जीत मधुरप्रायं स्निग्धं काले हितं मितम् ॥२५५॥
न रात्रौ दधि भुञ्जीत न च निर्लवणं तथा। नामुद्गसूपं नाक्षौद्रं न चाप्यघृतशर्करम् ॥२५६॥
जनस्याशयमालक्ष्य यो यथा परितुष्यति। तं तथैवानुवर्तेत पराराधनपण्डितः ॥२५७॥

देवता, ब्राह्मण, वृद्ध, वैद्य, राजा और अतिथि की सेवा करनी चाहिये, याचकों को विमुख नहीं फेरना चाहिये और किसी का भी अपमान नहीं करना चाहिये, गुरुजनों के पास सदैव विनय से युक्त होकर रहना चाहिये तथा उनके पास पैर फैलाकर बैठना आदि कार्यों को नहीं करना चाहिये। जो बराबर अपकार करता हो उसके साथ बराबर उपकार ही करते रहना चाहिये और सब लोगों को अपने ही समान जानना चाहिये, तथा शत्रु से दूर हटकर रहना चाहिये। यदि अपना कोई शत्रु हो तथा वह स्वयं किसी का शत्रु हो तो इन दोनों के बातों को किसी के सामने प्रकट नहीं करना चाहिये तथा यदि किसी ने अपना अपमान किया हो तो इसे एवं अपने ऊपर यदि स्वामी की अकृपा हो जावे तो इसे भी प्रकट नहीं करना चाहिये। अपना प्रतिबिम्ब दर्पण की भांति जल में देखना तथा नग्न होकर जल में प्रवेश नहीं करना चाहिये और जिस जल की गहिराई न मालूम हो तथा जिस में हिंस्र जीव मगर आदि रहते हों ऐसे जल में नहीं पैठना चाहिये। जब बोलने का समय उपस्थित हो तब हितकर, सत्य, प्रसङ्ग के अनुकूल, और मधुर वचन थोड़े शब्दों में बोलना चाहिये। तथा जब भोजन का समय उपस्थित हो तब मधुर रस युक्त, स्निग्ध और हितकर थोड़ी मात्रा में भोजन करना चाहिये। रात्रि में दही नहीं खाना चाहिये और दिन में भी नमक, मूंग की दाल, शहद, घी और शक्कर इन सबों में से किसी को बिना मिलाये केवल दही नहीं खाना चाहिये। दूसरे मनुष्य के आशय को समझकर जो जिस प्रकार से प्रसन्न होवे उस के साथ उसी प्रकार का बर्ताव करना चाहिये क्यों कि – जो दूसरे को प्रसन्न करने में चतुर होते हैं, वे ऐसाही करते हैं ॥ २५०–२५७ ॥

नैकः सुखी न सर्वत्र विश्रब्धो न च शङ्कितः। नोद्यमे विरमेत्क्वापि हेतावीर्ष्येत्फले न तु ॥२५८॥

अकेले सुख भोग नहीं करना चाहिये अर्थात् दूसरे को भी सुख का उपभोग कराते हुए स्वयं सुख भोगना चाहिये और सर्वत्र सभी के ऊपर विश्वास तथा सन्देह भी नहीं करना चाहिये अर्थात् समझकर करना चाहिये। उद्योग करने से कभी विरत नहीं होना चाहिये तथा किसी भी व्यक्ति के फल अर्थात् उद्योगादि करने से प्राप्त हुये धनादि के विषय में ईर्ष्या (डाह) नहीं करना चाहिये ॥

*हेतौ = फलहेतौ उद्यमे, फले = धनादौ ॥ २५८ ॥

'हेतु' से 'फल प्राप्ति के हेतुस्वरूप उद्यम' तथा 'फल' से 'धनादि' अर्थ समझना चाहिये ॥२५८॥

वेगान्न धारयेज्जातु मनोवेगान्निवारयेत्। न पीडयेदिन्द्रियाणि न चैतानतिलालयेत् ॥२५९॥

मलमूत्रादि के वेगों को कभी रोकना नहीं चाहिये। किन्तु मन के वेग को सदा रोकना चाहिये। इन्द्रियों को पीडित अर्थात् एकाएक हठ पूर्वक विषयों से विरत नहीं करना चाहिये अर्थात् शनैः २ इन्द्रियों को वश में लाना चाहिये और इन्द्रियों का अत्यन्त लालन भी नहीं करना चाहिये अर्थात् शब्दस्पर्शादि विषयों का अधिक ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥ २५९ ॥

---

१. 'न किञ्चिदात्मनः शत्रूनि'ति पा०।

वर्षाऽऽतपादिषु च्छत्री दण्डी रात्रौ भयेषु च । सोपानत्कस्तनुं रक्षेद्विचरेद्युगमात्रदृक् ॥२६०॥

वर्षा तथा धूप आदि होनेपर छाता लगाकर एवं रात्रि तथा भय उपस्थित होने पर दण्ड धारण कर सर्वदा शरीर की रक्षा करनी चाहिये। जूता पहन कर आगे की ओर चार हाथ तक की भूमि को देखता हुआ चलना चाहिये ॥ २६० ॥

*युगमात्रदृक्=अग्रतो हस्तचतुष्टयमितां भूमिं पश्यन् ॥ २६० ॥

'युगमात्रदृक्' अर्थात् 'आगे चार हाथ तक की भूमि को देखता हुआ' ॥ २६० ॥

नदीं तरेन्न बाहुभ्यां नाग्निस्कन्धमभिव्रजेत् । सन्दिग्धनावं वृक्षं च नारोहेद्दुष्टयानकम् ॥

नदी को बाहुओं से तैर कर नहीं किन्तु नौका आदि से पार करना चाहिये और जिस ओर अग्नि-समूह हो उधर नहीं जाना चाहिये । जिस नौका पर सवार होने से डूबने का और जिस वृक्ष पर चढ़ने से टूट जाने या स्वयं गिर पड़ने का सन्देह हो ऐसी नौका तथा वृक्ष पर नहीं चढ़ना चाहिये । दुष्ट-वाहन-हाथी, घोड़ा आदि पर भी नहीं चढ़ना चाहिये ॥ २६१ ॥

*दुष्टयानं=दुष्टगजघोटकादि ॥ २६१ ॥

'दुष्टयान' अर्थात् 'बदमाश घोड़े और मतवाले हाथी आदि वाहन' ॥ २६१ ॥

नासंवृतमुखं कुर्यात्सभायां च विचक्षणः । कासं हासं[1] तथोद्गारं जृम्भणं क्षवथुं तथा ॥२६२॥
नासिकां न विकुष्णीयान्नासीतोत्कटकः क्वचित् । नोर्ध्वजानुश्चिरं तिष्ठेन्न नखेन लिखेद्भुवम् ॥
सम्मार्जनीरजो नैव देहे स्यात्कदाचन । न नखेन तृणं छिन्द्यान्नोच्छिष्टो ब्राह्मणं स्पृशेत् ॥
नोपरक्तं न चोद्यन्तं नास्तं यातं दिवाकरम् । सर्वथा न समीक्षेत न जले प्रतिबिम्बितम् ॥
नेक्षेत सततं सूक्ष्मं दीप्तामेध्याप्रियाणि च । पौरन्दरं धनुर्नैव दर्शयेत्कमपि क्वचित् ॥२६६॥
नेच्छेद्बलवता युद्धं न भारं शिरसा वहेत् । गात्रं न वादयेत्केशान्हस्तेन धुनुयान्न च ॥२६७॥
न गच्छेत्पूज्ययोर्मध्ये दम्पत्योरन्तरेण च । रिपोरन्नं न भुञ्जीत गणिकाऽन्नमपि क्वचित् ॥

बुद्धिमान् मनुष्य सभा के मध्य में हाथ आदि से बिना मुख ढँके, खाँसना, हँसना, उद्गार (डकार) तथा जँभाई लेना एवं छींकना तथा नाक से मैल निकालना इन सब कर्मों को न करे। (मल मूत्र त्याग करने के अतिरिक्त और) किसी समय में उत्कटासन (उँकरू) होकर तथा अधिक देर तक जानुओं (घुट्ठओं) को ऊँचे करके नहीं बैठे । नख से भूमि को न खोदे । शरीर पर कभी भी झाड़ू की धूलि न पड़ने दे । नख से तृण को न तोड़े । जूठे मुख होकर ब्राह्मण को न छुवे । ग्रहण के समय, उदय तथा अस्त होते हुये सूर्य को तथा जल में पड़े हुये सूर्य के प्रतिबिम्ब को भी कभी न देखे । निरन्तर सूक्ष्म, चमकती हुई, अपवित्र तथा अप्रिय वस्तु को न देखे । इन्द्र धनुष को कभी किसी दूसरे को न दिखावे । बलवान् पुरुष के साथ कभी युद्ध करने की इच्छा न करे । शिर के ऊपर बोझ रख कर न ढोवे । हाथ आदि से ठोक कर शरीर न बजावे । हाथ से केशों को कभी न हिलावे । पूज्य व्यक्तियों के तथा विवाहित स्त्री-पुरुष के मध्य से होकर न जावे और कभी भी शत्रु तथा वेश्या का अन्न न खावे ॥ २६२-२६८ ॥

प्रतिभूर्न भवेत्क्वापि न च साक्षी वृथा भवेत् ॥ २६९ ॥

कभी किसी का जामिन न होवे तथा व्यर्थ किसी का साक्षी (गवाह) भी न होवे ॥ २६९ ॥

*प्रतिभूः=जामिन् ॥ २६९ ॥

'प्रतिभूः' अर्थात् 'जामिन' जमानतदार ॥ २६९ ॥

स्त्यागं[2] न धारयेज्जातु द्यूतं दूरात्परित्यजेत् ॥ २७० ॥

---

१. 'श्वासमि'ति पाठा० । २. 'स्त्यागीमि'ति पाठा० ।

विश्वासं नाचरेत्स्त्रीणां ताः स्वतंत्रा न चारयेत्। रक्षणीयाः सदा यत्नाद्यौवने तु विशेषतः॥
न भिन्ने शयने स्वप्यादानेकविवरेऽपि च। नैको देवालये नैव रात्रौ तरुतलेऽपि च॥२७२॥
एवं दिनानि गमयेत्सदाचारपरः सदा। ततो रात्रिप्रयुक्तानि कुर्यात्कर्माणि मानवः॥२७३॥
इत्याचारं समासेन भाषितं यः समाचरेत्। स विंदत्यायुरारोग्यं प्रीतिं धर्मं धनं यशः॥

कभी किसी का धरोहर न रखे। जूवे का दूरही से परित्याग करे। स्त्रियों का कभी न विश्वास करे और न उन्हें कभी स्वतन्त्र होने दे, किन्तु उनकी यत्न पूर्वक सदा रक्षा करे, उसमें भी विशेष कर यौवन काल में सावधानी से रक्षा करे। टूटी हुई खाट तथा अनेक छिद्रों से युक्त स्थान पर और रात्रि में देवमन्दिर तथा पेड़ के तले अकेला न सोवे। मनुष्य को चाहिये कि वह इन पूर्वोक्त प्रकारों से सदाचार में तत्पर होकर दिन का समय व्यतीत करे और उसके बाद रात्रि में रात्रि के अनुकूल कर्त्तव्य कर्मों को करे। इस प्रकार से संक्षेप में कहे हुए इस सदाचार का जो मनुष्य भली प्रकार आचरण करता है वह आयु, आरोग्य, प्रीति, धर्म, धन तथा यश को प्राप्त करता है॥

अथ सन्ध्यायां निषिद्धकर्माण्याह—

एतानि पञ्च कर्माणि सन्ध्यायां वर्जयेद् बुधः। आहारं मैथुनं निद्रां संपाठं गतिमध्वनि॥

सन्ध्या समय में वर्ज्य कर्म सन्ध्या समय में (१) भोजन (२) मैथुन (स्त्री सङ्ग) (३) सोना (४) पढ़ना और (५) रास्ता चलना इन पांच कर्मों को बुद्धिमान् लोग न करें॥ २७५॥

अथ सन्ध्याकालिकनिषिद्धकर्माचरणे दोषानाह—

भोजनाज्जायते व्याधिर्मैथुनाद्गर्भवैकृतिः। निद्रया निःस्वता पाठादायुर्हानिर्गतेर्भयम्॥

सन्ध्या काल के निषिद्ध कर्म—सन्ध्या काल भोजन करने से व्याधि, मैथुन से गर्भ स्थिति होने पर उसमें विकार, सोने से दरिद्रता, पढ़ने से आयु की हानि और रास्ता चलने से भय होता है॥

अथ रात्रिचर्यामाह।

तत्रादौ ज्योत्स्नादीनां गुणानाह—

ज्योत्स्ना शीता स्मरानन्दप्रदा तृट्पित्तदाहहृत्। ततो हीनगुणः कुर्यादवश्यायोऽनिलं कफम्॥
तमो भयावहं मोहदिङ्मोहजनकं भवेत्। पित्तहृत्कफहृत्कामवर्धनं बलकृच्च तत्॥२७८॥

रात्रि की चाँदनी, ओस और अन्धकार के गुण—रात्रि की चाँदनी शीतल, कामदेवसम्बन्धी आनन्दको बढ़ाने वाली, प्यास, पित्त तथा दाह को दूर करने वाली होती है और रात्रि का ओस चाँदनी की अपेक्षा स्वल्पमात्रा में पूर्वोक्त गुणों से युक्त होता है किन्तु वायु और कफ को उत्पन्न करनेवाला होता है तथा रात्रिका अन्धकार भयदायक, मोह तथा दिशाओं के विषय में भ्रम उत्पन्न करने वाला, पित्त और कफ को दूर करने वाला, कामवर्धक एवं शरीर में कान्ति उत्पन्न करने वाला होता है॥ २७७–२७८॥

अथ रात्रौ भोजनस्य समयं परिमाणं चाह—

रात्रौ च भोजनं कुर्यात्प्रथमप्रहरान्तरे। किञ्चिदूनं समश्नीयाद् दुर्जरं तत्र वर्जयेत्॥२७९॥

रात्रि भोजन का विधान—रात्रि में प्रथम प्रहर के मध्य में ही दिन की अपेक्षा कुछ कम भोजन करना चाहिये, उसमें जो देर में पचने वाला आहार हो उसे नहीं खाना चाहिये॥२७९॥

अथ मैथुनमाह, तत्रादौ मैथुनेच्छायां सत्यामपि तदकरणे दोषानाह—

शरीरे जायते नित्यं देहिनः सुरतस्पृहा। अव्यवायान्मेहमेदोवृद्धिः शिथिलता तनोः॥ २८०॥

इच्छा होने पर मैथुन न करने से दोष—मनुष्यों के शरीर में प्रायः मैथुन करने की इच्छा नित्य ही उत्पन्न होती है, किन्तु जब प्रबल इच्छा हो उस समय यदि मैथुन न किया जाय तो उससे प्रमेह तथा मेद की वृद्धि और शरीर में शिथिलता होती है॥ २८०॥

अथ स्त्रीणां बालाद्यवस्थानामवधिमाह—

बालेति गीयते नारी यावद्वर्षाणि षोडश । ततस्तु तरुणी ज्ञेया द्वात्रिंशद्वत्सरावधि ॥ २८१ ॥

स्त्रियों की बालादि अवस्था का विचार—स्त्रियां १६ वर्ष तक 'बाला' उसके बाद ३२ वर्ष तक 'तरुणी' कहलाती हैं ॥ २८१ ॥

तदूर्ध्वमधिरूढा स्यात्पञ्चाशद्वत्सरावधि । वृद्धा तत्परतो ज्ञेया सुरतोत्सववर्जिता ॥ २८२ ॥

तदुपरान्त ५० वर्ष तक प्रौढ़ा तथा उसके बाद वृद्धा कहलाती हैं और उस समय उनके हृदय में कामचेष्टा बहुत कम होती है अतः सुन्दर रति के लिये वे त्याज्य हैं ॥ २८२ ॥

*अधिरूढा = प्रौढा ॥ २८२ ॥

'अधिरूढा' का 'प्रौढा' अर्थ समझना चाहिये ॥ २८२ ॥

अथ बालाऽऽदिस्त्रीणां सेवनस्य समयं फलञ्चाह—

निदाघशरदोर्बाला हिता विषयिणां[1] मता । तरुणी शीतसमये प्रौढा वर्षावसन्तयोः ॥२८३॥
नित्यं बाला सेव्यमाना नित्यं वर्धयते बलम् । तरुणी ह्रासयेच्छक्तिं प्रौढोत्पादयते जराम् ॥

बाला, तरुणी और प्रौढा स्त्री सेवन का समय—विषयी पुरुषों के लिये ग्रीष्म तथा शरद् ऋतु में 'बाला', शीतकाल में 'तरुणी' और वर्षा तथा वसन्त ऋतु में 'प्रौढा' स्त्री हितकारिणी मानी गई है। यदि नित्य 'बाला' स्त्री का सेवन किया जाय तो वह नित्य बल को बढ़ाती है, किन्तु नित्य सेवन करने से 'तरुणी' स्त्री शक्ति का ह्रास करती है तथा नित्य सेवन करने से 'प्रौढा' स्त्री पुरुष को वृद्धावस्था उत्पन्न करके वृद्ध बना देती है ॥ २८३–२८४ ॥

अथ सेवनेन सद्यः प्राणकराणि द्रव्याण्याह—

सद्यो मांसं नवं चान्नं बाला स्त्री क्षीरभोजनम् । घृतमुष्णोदके स्नानं सद्यःप्राणकराणि षट् ॥

सद्यः बल उत्पन्न करने वाले पदार्थ—१ ताजा मांस, २ नवीन अन्न, ३ बाला स्त्री, ४ दूध तथा ५ घृत का भोजन और ६ उष्णजल से स्नान ये ६ पदार्थ सद्यःप्राण (बल) उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥ २८५ ॥

*प्राणशब्दोऽत्र बलवाचकः ॥ २८५ ॥

'प्राण' शब्द यहाँ 'बल' का वाचक है ॥ २८५ ॥

अथ सेवनेन सद्यः प्राणहराणि द्रव्याण्याह—

पूतिमांसं स्त्रियो वृद्धा बालाऽर्कस्तरुणं दधि । प्रभाते मैथुनं निद्रा सद्यःप्राणहराणि षट् ॥२८६॥

सद्यः बल को हरण करने वाले पदार्थ—१ दुर्गन्धियुक्त मांस २ वृद्धा स्त्री, ३ कन्याराशिस्थित सूर्य की धूप, ४ तत्काल का जमाया हुआ दही, ५ प्रातः काल का मैथुन और ६ प्रातः काल में सोते रहना ये ६ पदार्थ सेवन करने पर प्राण (बल) के हरण करने वाले होते हैं ॥ २८६ ॥

*बालाऽर्कः = कन्याऽर्कः ॥ २८६ ॥

'बालार्कः' से 'कन्याराशिस्थित (क्वार का) सूर्य की धूप, यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २८६ ॥

अथ वृद्धस्य तरुणीगमने तरुणस्य च वृद्धागमने फलमाह—

वृद्धोऽपि तरुणीं गत्वा तरुणत्वमवाप्नुयात् । वयोऽधिकां स्त्रियं गत्वा तरुणः स्थविरायते ॥

तरुणी और वृद्धा स्त्रीसंभोग का फल—वृद्ध पुरुष यदि तरुणी स्त्री के साथ भोग करे तो वह भी तरुण हो जाता है और तरुण पुरुष यदि वृद्धा स्त्री के साथ संभोग करे तो वह भी वृद्ध की भांति हो जाता है ॥ २८७ ॥

---

[1] 'विषयिणी'ति पा० अयुक्तम् ।

अथ नियमपूर्वकं स्त्रीगमने गुणानाह—

आयुष्मन्तो मन्दजरा वपुर्वर्णबलान्विताः। स्थिरोपचितमांसाश्च भवन्ति स्त्रीषु संयताः॥२८८॥

नियम पूर्वक स्त्री संभोग के गुण—जो लोग स्त्रियों के विषय में संयत भाव से रहते हैं अर्थात् नियम पूर्वक स्त्रीगमन करते हैं, वे दीर्घ आयुवाले होते हैं तथा उन्हें वृद्धावस्था धीरे २ देर में आती है और उनके शरीर का वर्ण और बल देर तक बना रहता है तथा मांस की दृढ़ता तथा वृद्धि भी चिरकाल तक बनी रहती है ॥ २८८ ॥

अथर्तुभेदेन स्त्रीसेवनप्रकारमाह—

सेवेत कान्तः कामं बलाद्वाजीकृतो हिमे। प्रकामं तु निषेवेत मैथुनं शिशिरागमे ॥ २८९ ॥

ऋतु भेद से स्त्री सेवन का प्रकार—हेमन्त (अग्रहण तथा पौष) ऋतु में तो वाजीकरण औषधियाँ खाकर बलानुसार किन्तु शिशिर (माघ व फागुन) ऋतु में तो यथेच्छ स्त्री सेवन करना चाहिये ॥ २८९ ॥

अथ वसन्तादिष्वृतुषु कियता कालेन स्त्री सेवनं युक्तमित्याह—

त्र्यहाद्वसन्तशरदोः पक्षाद् वृष्टिनिदाघयोः ॥ २९० ॥

वसन्तादि ऋतुओं में स्त्रीसेवन के मध्यन्तर काल—वसन्त तथा शरद् ऋतु में तीन २ दिन के बाद और वर्षा तथा ग्रीष्म ऋतु में एक २ पक्ष (१५ दिन) के बाद स्त्री सम्भोग करना चाहिये ॥

सुश्रुतस्तु—

त्रिभिस्त्रिभिरहोभिर्हि समेयात्प्रमदां नरः। सर्वेष्वृतुषु घर्मे तु पक्षात्पक्षाद् व्रजेद् बुधः॥२९१॥

इस विषय में 'सुश्रुत' का मत है कि—सभी ऋतुओं में तीन २ दिन के बाद और ग्रीष्म ऋतु में एक २ पक्ष के बाद स्त्रीसङ्ग करे ॥ २९१ ॥

समेयात्संगच्छेत्। घर्मे = ग्रीष्मे ॥ २९१ ॥

'समेयात्' का 'स्त्रीसङ्ग करे' और 'घर्मे' का 'ग्रीष्म ऋतु में' यह अर्थ समझना चाहिये॥२९१॥

अथर्तुभेदेन स्त्रीसेवनसमयभेदमाह—

शीते रात्रौ दिवा ग्रीष्मे वसन्ते तु दिवा निशि। वर्षासु वारिदध्वाने शरत्सु सरसः[1]स्मरः॥

ऋतुभेद से स्त्रीसेवन के समय—शीतकाल में रात्रि में, ग्रीष्म ऋतु में दिन में, वसन्त ऋतु में दिन या रात्रि दोनों ही में, वर्षा ऋतु में जब बादल गरजे तब अन्य ऋतु में जब काम की प्रबलता हो तभी सम्भोग करना चाहिये ॥ २९२ ॥

अथ स्त्रीसेवननिषिद्धसमयमाह—

उपेयात्पुरुषो नारीं संध्ययोर्न च पर्वसु। गोसर्गे चार्द्धरात्रे च तथा मध्यदिनेऽपि च ॥२९३॥

स्त्रीसम्भोग का निषिद्ध समय—प्रातः और सायं की सन्ध्या, पर्व-दिन (अमावस्या पूर्णिमा आदि तिथि विशेष), गोसर्ग (गौओं को चराने के लिये प्रातः काल छोड़ने के समय), आधीरात तथा मध्याह्न (दोपहर) इन सब समयों में स्त्री के साथ सम्भोग नहीं करना चाहिये ॥ २९३ ॥

अथ स्त्रीसेवनयोग्यस्थानमाह—

विहारं भार्यया कुर्याद् देशेऽतिशयसंवृते। रम्ये श्राव्याङ्गनागाने सुगन्धे सुखमारुते॥२९४॥

स्त्रीसम्भोग करने योग्य स्थान—अत्यन्त गुप्त अर्थात् जहां किसी दूसरे व्यक्ति की दृष्टि न पड़ती हो, तथा रम्य और जहां पर स्त्रियों का सुमधुर गान सुनाई पड़ता हो एवं सुगन्धित तथा सुखकर वायु बह रही हो ऐसे स्थानों में स्त्री के साथ विहार (सम्भोगादि) कार्य करना चाहिये ॥

---

१. 'सरसी' ति पा० ।

अथ स्त्रीसेवनायोग्यस्थानमाह—

देशे गुरुजनासन्ने विवृतेऽतित्रपाकरे। श्रूयमाणे व्यथाहेतुवचने न रमेत ना ॥ २९५ ॥

स्त्रीसम्भोग के अयोग्य स्थान—जो स्थान गुरुजनों के स्थान के निकट हो तथा लोगों की दृष्टि पड़ने के लायक हो तथा अत्यन्त लज्जा उत्पन्न करनेवाला हो और वहां पर मन में व्यथा पहुंचाने वाले वचन सुनाई पड़ते हों ऐसे स्थान में स्त्री सम्भोग नहीं करना चाहिये ॥ २९५ ॥

अथ स्त्रीसेवनकालिकपुरुषाणां वेषादिकमाह—

स्नातश्चन्दनलिप्ताङ्गः सुगन्धः सुमनोऽन्वितः। भुक्तवृष्यः सुवसनः सुवेषः समलंकृतः ॥२९६॥
ताम्बूलवदनः पत्न्यामनुरक्तोऽधिकस्मरः। पुत्रार्थी पुरुषो नारीमुपेयाच्छयने शुभे ॥२९७॥

स्त्रीसंभोग करने के समय पुत्रार्थी पुरुषों का वेशादि—पुत्र प्राप्ति की इच्छा रखने वाले पुरुष स्नान करके शरीर में चन्दन, इत्र आदि सुगन्धित द्रव्य लगा कर, प्रसन्न चित्त से वीर्यवर्धक पदार्थ खाये हुये, सुन्दर वस्त्र तथा सुन्दर वेषसे भलीभांति अलङ्कृत होकर मुख में पान की बीड़ा रखे हुये, पत्नी के विषय में अनुरक्त होकर अधिक काम चेष्टा से युक्त सुन्दर शय्या पर स्त्री के साथ सम्भोग करे ॥ २९६–२९७ ॥

अथ मैथुनानर्हपुरुषानाह—

अत्याशितोऽधृतिः क्षुद्वान्सव्यथाङ्गः पिपासितः। बालो वृद्धोऽन्यवेगार्तस्त्यजेद्रोगी च मैथुनम्॥

मैथुन करने के अयोग्य पुरुष—अत्यन्त भोजन किया हुआ, काम से अधीर चित्त वाला, भूखा, अङ्ग पीड़ा से युक्त, प्यासा, बालक, वृद्ध, मूत्रादि वेगसे युक्त अथवा रोगी पुरुष को मैथुन नहीं करना चाहिये ॥ २९८ ॥

*रोगी = मैथुनसंवर्जनीयरोगयुक्तः ॥ २९८ ॥

'रोगी' अर्थात् 'जिस रोग में मैथुन करना वर्जित हो उस रोग से युक्त' रोगी ॥ २९८ ॥

अथ मैथुनयोग्याः स्त्रिय आह—

भार्यां रूपगुणोपेतां तुल्यशीलां कुलोद्भवाम्। अतिकामोऽभिकामां तु हृष्टो हृष्टामलंकृताम्॥
सेवेत प्रमदां युक्त्या वाजीकरणबृंहितः ॥ २९९ ॥

मैथुन के योग्य स्त्री—वाजीकरण औषधियों से मैथुन करने में विशेष शक्ति को प्राप्त कर रूप और सद्‌गुणों से युक्त, अपने समान शीलवाली, अच्छे कुल में उत्पन्न अत्यन्त कामासक्त, प्रसन्न चित्तवाली और अलङ्कारों से युक्त स्त्री के साथ विधिपूर्वक संभोग करना चाहिये ॥ २९९ ॥

अथ मैथुनायोग्याः स्त्रिय आह—

रजस्वलामकामां च मलिनामप्रियां तथा ॥ ३०० ॥
वर्णवृद्धां वयोवृद्धां तथा व्याधिप्रपीडिताम्। हीनाङ्गीं गर्भिणीं द्वेष्यां योनिरोगसमन्विताम्॥
सगोत्रां गुरुपत्नीं च तथा प्रव्रजितामपि। नाधिगच्छेत् पुमान्नारीं भूरिवैगुण्यशङ्कया ॥३०२॥

मैथुन के अयोग्य स्त्री – रजस्वला, काम चेष्टा से हीन, मलिन वेषवाली, मनको प्रिय न लगने वाली, अपने से बड़ी जाति व अवस्था वाली, रोग से पोड़ित, हीन अङ्गोंवाली, गर्भिणी, द्वेष्या (द्वेष करने वाली), योनिसम्बन्धी रोग वाली, अपने गोत्र में उत्पन्न हुई, गुरु की पत्नी तथा संन्यास ग्रहण किये हुई स्त्रियों के साथ पुरुष को कभी संभोग न करना चाहिये क्योंकि ऐसी स्त्रियों के साथ संभोग करने से हानि होती है ॥ ३००–३०२ ॥

अथ पुनर्विशेषेण रजस्वलागमने दोषानाह—

रजस्वलां गतवतो नरस्यासंयतात्मनः। दृष्ट्यायुस्तेजसां हानिरधर्मश्च ततो भवेत् ॥ ३०३ ॥

रजस्वला स्त्री के साथ संभोग करने से दोष—जो पुरुष इन्द्रिय के वशीभूत होकर रजस्वला स्त्री के साथ संभोग करते हैं उनकी दृष्टि, आयु तथा तेज की हानि और अधर्म भी होता है ॥ २०३ ॥

अथ पुनर्विशेषेण संन्यासिन्यादीनां स्त्रीणां गमने पर्वसु च स्त्रीगमने दोषमाह—

लिङ्गिनीं गुरुपत्नीं च सगोत्रामथ पर्वसु । वृद्धां च सन्ध्ययोश्चापि गच्छतो जीवनक्षयः ॥

संन्यासिनी आदि स्त्रियों के साथ संभोग करने में दोषान्तर—संन्यास ग्रहण किये हुई, गुरु की पत्नी, अपने गोत्र में उत्पन्न हुई, तथा वृद्धा स्त्रियों के साथ संभोग करने से तथा पर्व (अमावास्यादि विशेष तिथियों) में एवं दोनों काल की सन्ध्याओं में स्त्री गमन करने वाले पुरुष की आयु नष्ट होती है ॥ २०४ ॥

*लिङ्गिनीं = प्रव्रजिताम् ॥ २०४ ॥

'लिङ्गिनीं' पद का अर्थ है 'प्रव्रजिता अर्थात् संन्यास ग्रहण किये हुई ॥ २०४ ॥

अथ पुनर्विशेषेण गर्भिण्यादिषु गमने प्रकाशे स्त्रीसेवने च दोषानाह—

गर्भिण्यां गर्भपीडा स्याद्व्याधितायां बलक्षयः ॥ २०५ ॥

हीनाङ्गीं मलिनां द्वेष्यां क्षामां वन्ध्यामसंवृते । देशेऽभिगच्छतो रेतः क्षीणं ग्लानं मनो भवेत् ॥

गर्भिणी आदि स्त्रियों के साथ संभोग करने में दोषान्तर—गर्भिणी स्त्रियों के साथ संभोग करने से गर्भ को पीड़ा होती है, रोगिणी स्त्रियों के साथ गमन करने से बल का क्षय होता है। तथा हीन अङ्गवाली, मैली-कुचैली रहनेवाली, द्वेष्या (द्वेष करनेवाली), दुबली-पतली या बन्ध्या स्त्री के साथ अथवा खुले बेपर्दे स्थान में स्त्रीगमन करने से पुरुषों का वीर्य क्षीण तथा मन म्लान हो जाता ॥ २०५–२०६ ॥

*गर्भिणीं गर्भवासदिवसाद् द्वितीये मासि गर्भस्थितेरनिश्चये यथोक्तनक्षत्रादिकाभावे वा तृतीये मासि पुंसवने कृते नाभिगच्छेत् । यतो पुंसवनानन्तरमाह व्यासः—

ततस्त्यजेन्नदीतीरं देवखातोदकं तथा । भर्तुः शय्यां मृतापत्यां तथैवामिषभोजनम् ॥ ४ ॥

'गर्भिणी' अर्थात् गर्भ की स्थिति होने के दिन से दूसरे मास में अथवा गर्भस्थिति का अनिश्चय होने पर किंवा जैसा चाहिये वैसा ज्योतिः शास्त्रोक्त पुंसवन के योग्य नक्षत्रादि के न मिलने पर तीसरे मास में पुंसवन संस्कार हो चुकने पर गर्भिणी स्त्री का सङ्ग नहीं करना चाहिये। 'पुंसवन' के बाद गर्भिणी स्त्रियों के लिए व्यास का मत है कि—पुंसवन संस्कार हो चुकने के बाद गर्भिणी स्त्री नदी के तीर पर जाना, प्राकृतिक जलाशयों का जल पीना, पति की शय्या पर सोना अर्थात् मैथुन करना, मरी हुई सन्तान वाली स्त्रियों का साथ तथा मांस भोजन करना छोड़ देवे ॥ ४ ॥

*अन्यच्च—आमिषस्याशनं यत्नात्प्रमदा परिवर्जयेत् ।

देवारामनदीयानं प्रयोगं पुरुषस्य च ॥ ५ ॥ इति ॥ २०५–२०६ ॥

और भी कहा है कि—गर्भिणी स्त्री मांस का भोजन एवं देवमन्दिर, बगीचा, तथा नदी पर जाना तथा पुरुष के साथ सहवास, इन सब कर्मों का यत्नपूर्वक परित्याग कर देवे ॥५॥२०५–२०६॥

अथ बुभुक्षितादीनां पुरुषाणां स्त्रीसंभोगे मध्याह्ने स्त्रीसेवने च दोषानाह—

क्षुधितः क्षुब्धचित्तश्च मध्याह्ने तृषितोऽबलः । स्थितस्य हानिं शुक्रस्य वायोः कोपं च विन्दति ॥

भूखे प्यासे आदि होकर तथा मध्याह्न में स्त्रीसङ्ग करने से दोष—जो पुरुष भूखा हो अथवा जिसको क्षोभ प्राप्त हुआ हो या जो प्यासा अथवा निर्बल हो वह यदि स्त्रीसंभोग करे अथवा जो मध्याह्न में स्त्री प्रसङ्ग करे उसके अन्दर रहनेवाले शुक्र की हानि तथा वायु का कोप होता है ॥२०७॥

अथ व्याधितस्य पुंसस्तथा प्रत्यूषादिसमये स्त्रीगमने दोषानाह—

व्याधितस्य रुजा प्लीहा मूर्च्छा मृत्युश्च जायते । प्रत्यूषे चार्धरात्रे च वातपित्ते प्रकुप्यतः ॥

रुग्णावस्था या प्रातः काल में स्त्रीसंभोग से दोष—रोगी पुरुष यदि स्त्री प्रसङ्ग करे तो उसे पीड़ा, प्लीहा रोग तथा मूर्च्छा होती है और अन्त में मृत्यु तक भी हो जाती है। एवं जो पुरुष प्रत्यूष अर्थात् सूर्योदय के पूर्व अथवा आधीरात में स्त्रीप्रसङ्ग करता है उस के वात तथा पित्त कुपित हो जाते हैं ॥ ३०८ ॥

अथ तिर्यगादियोनौ मैथुने दोषानाह—

तिर्यग्योनावयोनौ वा दुष्टयोनौ तथैव च । उपदंशस्तथा वायोः कोपः शुक्रसुखक्षयः ॥३०९॥

पशु आदि की योनि में मैथुन करने के दोष—पशु की योनि अथवा अयोनि (गुदा वा कृत्रिम योनि) में एवं वातादि दोषों से दूषित योनि में मैथुन करने से उपदंश (गर्मी, सुजाक) या वायु का कोप, किंवा वीर्य तथा सुख का क्षय होता हैं ॥ ३०९ ॥

अथ मलमूत्रयोर्वेगावस्थायां मैथुने चलितशुक्रधारणे । विपरीत मैथुने च दोषमाह—

उच्चारिते मूत्रिते च रेतसश्च विधारणे । उत्ताने च भवेच्छीघ्रं शुक्राश्मर्यास्तु सम्भवः ॥

वेग रोकने से या विपरीत मैथुन करने से दोष—मल या मूत्रके वेगको रोककर मैथुन करने से तथा उतान होकर (विपरीत) मैथुन करने से अथवा मैथुनके समय शुक्र के वेगको रोकने से शीघ्र ही शुक्राश्मरी (वीर्य की पथरी) नामक रोग उत्पन्न होने की सम्भावना हो जाती है ॥३१०॥

अथ पुनर्विशेषेणोपस्थितशुक्रधारणनिषेधमाह—

सर्वमेतत्त्यजेत्तस्माद्यतो लोकद्वयाहितम् । शुक्रं तूपस्थितं मोहान्न सन्धार्यं कदा चन ॥३११॥

स्खलित होते हुये शुक्र के रोकने का निषेध-पूर्वोक्त इन सब बातों को मैथुन करने में छोड़ दे क्योंकि न छोड़ने से दोनों लोक में उसका अहित होता है और इन सबों में विशेष कर उपस्थित शुक्र का धारण तो भूल से भी कभी न करे ॥ ३११ ॥

अथ सुरतान्ते हितकराणि द्रव्याण्याह—

स्नानं सशर्करं क्षीरं भक्ष्यमैक्षवसंस्कृतम् । वातो मांसरसः स्वप्नः सुरतान्ते हिता अमी ॥

मैथुन करने के बाद हितकारक द्रव्य—स्नान, शक्कर (चीनी) मिला हुआ दूध, शक्कर मिला हुआ (मीठा) भोजन, वायु सेवन, मांस-रस (शुरुवा) और नींद से सो जाना ये सब कार्य मैथुन करने के बाद हितकर होते हैं ॥ ३१२ ॥

अथातिव्यवायजान् रोगानाह—

शूलकासज्वरश्वासकार्श्यपाण्ड्वामयक्षयः । अतिव्यवायाज्जायन्ते रोगाश्चाक्षेपकादयः ॥३१३॥

अत्यन्त मैथुन करने से होनेवाले रोग—अत्यन्त मैथुन करने से शूल, खांसी, ज्वर, श्वास (दमा), कृशता, पाण्डु, क्षय तथा आक्षेपक आदि रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ३१३ ॥

अथ रात्रिनिद्राजागरणयोर्गुणानाह—

रात्रौ जागरणं रूक्षं कफशोषविषार्त्तिजित् । निद्रा तु सेविताकाले धातुसाम्यमतन्द्रिताम् ॥
पुष्टिं वर्णं बलोत्साहं वह्निदीप्तिं करोति हि ॥ ३१५ ॥

रात्रि में सोने तथा जागने के गुण-दोष—रात्रि में जागना रूक्षताकारक तथा कफ-दोष व विष-सम्बन्धी पीडा का हरण करनेवाला है और समय पर निद्रा-सेवन करना (नींद से सो जाना) धातुओं की समता, तन्द्रा का न आना, पुष्टि, वर्ण, बल, उत्साह और जठराग्नि की दीप्ति इन सबों को करता है ॥ ३१४-३१५ ॥

अथ सुखपूर्वकनिद्रागमार्थमौषधमाह—

यो लेढि शयनसमये मधुमिश्रं बीजपूरदलचूर्णम् ।
स तु[1] लज्जाकरवातप्रसरनिरोधात्सुखं स्वपिति ॥ ३१६ ॥

सुखपूर्वक नींद आने के लिये औषध—जो सोने के समय बिजौरा नीबू के पत्ते का चूर्ण मधु के साथ खाता है, उसकी लज्जा पैदा करनेवाली अधोवायु का वेग रुक जाता है और वायु शमन होने से वह सुखपूर्वक सोता है ॥ ३१६ ॥

अथोषःकाले जलपानगुणानाह—

सवितुः समुदयकाले प्रसृतीः सलिलस्य पिबेदष्टौ । रोगजरापरिमुक्तो जीवेद्वत्सरशतं साग्रम् ॥

उषाकाल (सूर्योदय के पूर्व) जल पीने के गुण—सूर्य के उदय होने के आसन्न समय में जो आठ प्रसृति (पसर) जल पीता है वह रोग तथा वृद्धता से मुक्त होकर सौ वर्ष से अधिक जीता है ॥

*अस्य जलपानस्योपक्रमकालो[2] रात्रेश्चतुर्थप्रहरे प्रवेश । तथा च भोजः—

पिबति पर्युषितं जलमन्वहं तिमिरिणी चरमे प्रहरे यदि ॥ ६ ॥ इति

जलपान के प्रारम्भ करने का काल रात्रि के चौथे प्रहर से ही आरम्भ हो जाता है। क्योंकि इस विषय में 'भोज' का भी यह मत है कि 'यदि कोई रात्रि के अन्तिम प्रहर में नित्य बासी जल पीता है' इत्यादि ॥ ६ ॥

*एतज्जलपानकालमर्यादा सूर्योदयातिसन्निहितप्राक्[3] कालः । तथा च तन्त्रान्तरे—

अम्भसः प्रसृतीरष्टौ रवावनुदिते पिबेत् । वातपित्तकफाञ्जित्वा जीवेद्वर्षशतं सुखी ॥७॥ इति ।

इस जलपान के समय की मर्यादा सूर्योदय से अत्यन्त सन्निकट पूर्वका ही काल है । इसी विषय में दूसरे ग्रन्थ में भी लिखा है कि—'सूर्य उदय होनेके पहले ही जो आठ पसर जल पीता है वह वात, पित्त तथा कफ सम्बन्धी विकारों को हटाकर सुखपूर्वक सौ वर्ष तक जीता है' ॥ ७ ॥

*सलिलस्यात्र पर्युषितस्य ग्रहणं भोजवचनानुरोधात् ॥ ३१७ ॥

यहाँ पर जल से बासी जल का ग्रहण पूर्वोक्त 'भोज' के वचन के अनुरोध से ही किया जाता है ॥

अर्शःशोथग्रहण्यो ज्वरजठरजराकुष्ठमेदोविकारा-
मूत्राघातास्रपित्तश्रवणगलशिरःश्रोणिशूलाक्षिरोगाः ।
ये चान्ये वातपित्तक्षतजकफकृता व्याधयः सन्ति जन्तो
स्तांस्तानभ्यासयोगादपहरति पयः पीतमन्ते निशायाः ॥ ३१८ ॥

बवासीर, शोथ, ग्रहणी, ज्वर रोग, उदर—जरा—कोढ़ तथा मेद सम्बन्धी विकार और मूत्राघात, रक्तपित्त एवं कान—गला—शिर और कमर के शूल तथा नेत्र सम्बन्धी रोग अथवा इनके अतिरिक्त अन्य भी जो २ वात—पित्त—कफ और क्षतसे होने वाले रोग होते हैं वे सभी रात्रि के अन्त में जल पीने का अभ्यास करने से दूर हो जाते हैं ॥ ३१८ ॥

अथोषःकाले नासावारिपानगुणानाह—

विगतघननिशीथे प्रातरुत्थाय नित्यं पिबति खलु नरो यो घ्राणरन्ध्रेण वारि ।
स भवति मतिपूर्णश्चक्षुषा तार्क्ष्यतुल्यो वलिपलितविहीनः सर्वरोगैर्विमुक्तः ॥ ३१९ ॥

उषःकाल में नासिका से जल पीने के गुण—जब रात्रि का घना अन्धकार दूर हो अर्थात् प्रातःकाल हो जाय तब उठकर जो मनुष्य नित्य नासिका से जलपान करता है वह निश्चय ही बुद्धि से

१. 'जागृती'ति पा० । २. 'काले' इति पा० । ३. 'प्रात' इति पा० ।

पूर्ण होता है यथा उसके नेत्रों की दर्शन शक्ति गरुड़ के तुल्य होती है तथा वली और पलित रोगों से हीन होकर वह सब रोगों से मुक्त हो जाता है ॥ ३१९ ॥

*निशीथोऽत्र = निशान्धकारः ॥ ३१९ ॥

'निशीथ' से यहां 'रात्रिका अन्धकार' समझना चाहिये ॥ ३१९ ॥

अथ नासाजलपाने जलपरिमाणमाह—

पातव्यं नासया नीरं प्रसृतित्रयमात्रया ॥ ३२० ॥

नासाजलपान में जलका परिमाण—मनुष्य को नासिका के द्वारा तीन प्रसृति (पसर) प्रमाण जल पीना चाहिये ॥ ३२० ॥

अथ पुनर्विशेषेण नासाजलपाने गुणानाह—

व्यङ्गवलीपलितघ्नं पीनसवैस्वर्यकासशोथहरम्। रजनीक्षयेऽम्बुनस्यं रसायनं दृष्टिसञ्जननम् ॥

नासा जलपान के विशेष गुण—रात्रि व्यतीत होने पर नासा से जलपान करना व्यङ्ग (झांई), वली, पलित, पीनस, स्वरभङ्ग, खांसी और शोथ इन सब रोगों को दूर करता है तथा रसायन और दर्शनशक्ति को बढ़ाने वाला होता है ॥ ३२१ ॥

अथ नासावारिपानानर्हजनानाह—

स्नेहे पीते क्षते शुद्धावाध्माने स्तिमितोदरे। हिक्कायां कफवातोत्थे व्याधौ तद्वारि वारयेत् ॥

नासा जलपान के अयोग्यजन—जो स्नेह पान किये हों या जिन्हें क्षत हो गया हो अथवा जिन्होंने वमन या विरेचन द्वारा तत्काल में शरीर की शुद्धि की हो या जिन्हें उदर में आध्मान (अफरा) हो गया हो या पेट में स्तिमित हो गया हो अर्थात् मन्दाग्नि हो गई हो या जो हिचकी और कफ तथा वात से होनेवाली व्याधियों से युक्त हों उन्हें उस जल का पान नहीं करना चाहिये ॥

*तद्वारि नासा पेयम् ॥ ३२२ ॥

'तद्वारि' अर्थात् 'नासिका द्वारा पिये जानेवाले जलका' ॥ ३२२ ॥

अथर्तुचर्यामाह।

तत्रादौ नामनिर्देशपूर्वकमृतुषट्कमाह—

चयकोपशमा[1] यस्मिन्दोषाणां सम्भवन्ति हि। ऋतुषट्कं तदाख्यातं रवे राशिषु संक्रमात् ॥

ऋतुभेद और ऋतुचर्या—जिस समय दोषों की वृद्धि, कोप तथा शमन हुआ करता है, उस समय को ऋतु कहते हैं और वह रवि के मेषादि बारह राशियों में भ्रमण करने से ६ प्रकार का होता है ॥ ३२३ ॥

ग्रीष्मो मेषवृषौ प्रोक्तः प्रावृण्मिथुनकर्कटौ। सिंहकन्ये स्मृता वर्षा तुलावृश्चिकयोः शरत् ॥
धनुर्ग्राहौ च हेमन्तो वसन्तः कुम्भमीनयोः ॥ ३२५ ॥

जब सूर्य मेष तथा वृष राशि तक रहते हैं तब ग्रीष्म, और जब मिथुन तथा कर्क तक होते हैं तब प्रावृट्, इसी प्रकार सिंह से कन्या तक वर्षा, तुला से वृश्चिक तक शरद्, धन से मकर तक हेमन्त और कुम्भ से मीन तक वसन्त ऋतु कहलाता है ॥ ३२४–३२५ ॥

*मेषवृषौ रविणा संक्रान्तौ। एवं मिथुनकर्कटावित्यादि ॥ ३२४–३२५ ॥

'मेषवृषौ' पद से 'रवि से संक्रान्त मेष और वृष' इसी प्रकार 'मिथुनकर्कटौ' इत्यादि का भी अर्थ समझना चाहिये ॥ ३२४–३२५ ॥

अन्ये तु—

शिशिरः पुष्पसमयो ग्रीष्मो वर्षा शरद्धिमाः। माघादिमासयुग्मैः स्युर्ऋतवः षट् क्रमादमी ॥

---

१. 'समा' इति पा०।

ऋतुओं के विषय में अन्य मत—शिशिर वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् और हेमन्त ये ६ ऋतु माघ से लेकर दो २ महीने के एक २ ऋतु क्रम से होते हैं जैसे—माघ-फाल्गुन शिशिर, चैत्र-वैशाख वसन्त, ज्येष्ठ-आषाढ़ ग्रीष्म, श्रावण-भाद्रपद वर्षा, आश्विन-कार्तिक शरद् और अगहन-पौष हेमन्त ऋतु है ॥ ३२६ ॥

अथर्तुषट्कनामविषयकमतभेदे हेतुमाह—

गङ्गाया दक्षिणे देशे वृष्टेर्बहुलभावतः। उभौ मुनिभिराख्यातौ प्रावृड्वर्षाभिधावृतू ॥ ३२७ ॥
([1]तस्या एवोत्तरे देशे हिमप्रचुरभावतः। एतावुभौ समाख्यातौ हेमन्तशिशिरावृतू ॥३२८॥)

ऋतुओं के नाम में मतभेद का कारण—गङ्गा से दक्षिण देशों में अधिक वृष्टि होने से प्रावृड् तथा वर्षा ये दो पृथक् २ ऋतु मानते हैं किन्तु शीत कम होने से शिशिर ऋतु को नहीं मानते। इसी प्रकार गङ्गा के उत्तर देशों में हिम (ठण्ढक) अधिक होने से हेमन्त तथा शिशिर ये दो पृथक् २ ऋतु मानते हैं किन्तु वर्षा कम होने से प्रावृड् को नहीं मानते ॥ ३२७-३२८ ॥

अथ दक्षिणोत्तरायणयोर्लक्षणं गुणांश्चाह—

उत्तरायणमाद्यैस्तैः परैः स्याद्दक्षिणायनम्। आद्यमुष्णं बलहरं ततोऽन्यद्बहुलं हिमम् ॥३२९॥

दक्षिणायन तथा उत्तरायण के लक्षण और गुण—पूर्वोक्त ६ ऋतुओं में से प्रथम तीन (शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म) ऋतुओं में सूर्य 'उत्तरायण' और आगे के तीन (वर्षा, शरद् और हेमन्त) ऋतुओं में 'दक्षिणायन' होता है। इन में जो पहला उत्तरायण है वह उष्णप्रधान तथा बल का हरण करने वाला और दूसरा जो दक्षिणायन है वह हिम प्रधान तथा बल का देने वाला होता है ॥३२९॥

अथ ऋतूनां गुणदोषानाह—

हेमन्तः शीतलः स्निग्धः स्वादुर्जठरवह्निकृत्। शिशिरः शीतलोऽत्यन्त रूक्षो वाताग्निवर्धनः ॥

ऋतुओं के गुण-दोष—हेमन्त ऋतु मनुष्यों के लिये शीतल, स्निग्ध, स्वादु, जठराग्नि को बढ़ाने वाला और शिशिर ऋतु शीतल, अत्यन्त रूक्ष, वायु तथा अग्नि का बढ़ानेवाला होता है ॥

हेमन्तः स्वादुः प्रायेण द्रव्येषु स्वादुरसजनकः। एवमन्यत्रापि बोद्धव्यम् ॥ ३३० ॥

'हेमन्त स्वादु है अर्थात् प्रायः करके द्रव्यों में मधुर रस का उत्पादक है' यह समझना चाहिये। इसी भाँति आगे जहाँ कहीं मधुर, कटुकादि रसों का नाम भिन्न २ ऋतुओं के गुण वर्णन में आवे वहाँ द्रव्यों में उन २ रसों के उत्पादक वे ऋतुयें हैं ऐसा समझना चाहिये ॥ ३३० ॥

वसन्तो मधुरः स्निग्धः श्लेष्मवृद्धिकरश्च सः। ग्रीष्मो रूक्षोऽतिकटुकः पित्तकृत्कफनाशनः ॥
वर्षाः शीता विदाहिन्यो वह्निमान्द्यानिलप्रदाः। शरदुष्णा पित्तकर्त्री नृणां मध्यबलावहा ॥

वसन्त ऋतु-मधुर, स्निग्ध और कफ की वृद्धि करने वाला है। ग्रीष्म ऋतु—रूक्ष, अत्यन्त कटु, पित्त का उत्पादक तथा कफ का नाशक है। वर्षा ऋतु—शीतल, दाहकारक, अग्नि की मन्दता तथा वायु की वृद्धि करने वाला है और शरद् ऋतु—उष्ण, पित्त का उत्पादक तथा मध्यम बल को देने वाला है ॥ ३३१-३३२ ॥

अथ कस्मिन् ऋतौ कस्य दोषस्य चयप्रकोपोपशमा भवन्तीति सहेतुकमाह—

चयप्रकोपोपशमा वायोर्ग्रीष्मादिषु त्रिषु। वर्षाऽऽदिषु च पित्तस्य श्लेष्मणः शिशिरादिषु ॥

ऋतुभेद से दोषों के उपचयापचयादि—ग्रीष्मादि तीन ऋतुओं में वायु का, वर्षा आदि तीन ऋतुओं में पित्त का, शिशिर आदि तीन ऋतुओं में कफ का क्रम से चय (वृद्धि), प्रकोप तथा उपशम (शमन) होता है अर्थात् ग्रीष्म में वायु का चय, वर्षा में प्रकोप तथा शरद् में उपशम होता

---

१. कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः।

है। एवं पित्त का वर्षा में चय, शरद् में प्रकोप तथा हेमन्त में उपशम होता है और कफ का—शिशिर में चय, वसन्त में प्रकोप तथा ग्रीष्म में उपशम होता है॥ ३३३॥

चीयते लघुरूक्षाभिरोषधीभिः समीरणः। तद्विधस्तद्विधे देहे कालस्यौष्ण्यान्न कुप्यति॥

वायु स्वभावतः लघु तथा रूक्ष है और ग्रीष्म-काल में जितनी ओषधियां हैं वे सब भी लघु तथा रूक्ष हो जाती हैं अतएव ओषधियों के सेवन से वायु और भी लघु तथा रूक्ष हो जाता है और उस समय मनुष्यों का शरीर भी लघु तथा रूक्ष होता है अतएव पूर्वोक्त प्रकार की वायु पूर्वोक्त प्रकार की देह में केवल सञ्चित ही होता है अर्थात् क्रमशः बढ़ता ही रहता है किन्तु जो कुपित नहीं होता उसमें केवल ग्रीष्मकाल की उष्णता ही कारण है॥ ३३४॥

*तद्विधो रूक्षो लघुश्च। तद्विधे रूक्षे लघौ च॥ ३३४॥

'तद्विधः' (उक्त प्रकार की वायु) इस पद से 'रूक्ष और लघु स्वभाव वाली वायु और 'तद्विधे' (उक्त प्रकार के देह में) इस पद से' तात्कालिक रूक्ष और लघु स्वभाव वाली देह में' ऐसा अर्थ समझना चाहिये॥ ॥ ३३४॥

अद्भिरम्लविपाकाभिरोषधीभिश्च तादृशम्। पित्तं याति चयं कोपं न तु कालस्य शैत्यतः॥

पित्त स्वभावतः अम्लविपाकी है और वर्षा काल में जल और सभी ओषधियाँ भी अम्लविपाकी होती हैं अतएव उन्हीं अम्लविपाकी जल और ओषधियों के सेवन करने से अम्लविपाकी पित्त और भी अम्लविपाकी होकर मनुष्यों के शरीर में सञ्चित होने लगता है, किन्तु वर्षा का समय होने से शीत प्रबल रहता है अतएव उस समय वह (पित्त) कुपित नहीं होने पाता है॥ ३३५॥

*तादृशम् = अम्लविपाकम्॥ ३३५॥

'तादृशम्' का 'अम्ल विपाकी' यह अर्थ समझना चाहिये॥ ३३५॥

चीयते स्निग्धशीताभिरुदकौषधिभिः कफः। तुल्ये च काले देहे च स्कन्नत्वान्न प्रकुप्यति॥

कफ स्वभावतः स्निग्ध तथा शीतल पदार्थ है और शिशिर काल में जल और ओषधियां भी स्निग्ध तथा शीतल होती है अतएव ऐसे (स्निग्ध तथा शीतल) जल और ओषधियों के सेवन करने से स्निग्ध व शीतल स्वभाव कफ और भी स्निग्ध तथा शीतल हो जाता है और उस समय मनुष्यों का शरीर भी स्निग्ध व शीतल होता है अत एव जलादि के समान गुण वाले अर्थात् स्निग्ध तथा शीतल काल व देह में कफ सञ्चित होता है किन्तु स्कन्नत्व अर्थात् देह में शीत की अधिकता से शुष्क होने के कारण वह (कफ) कुपित नहीं होता है॥ ३३६॥

*तुल्ये च काले स्निग्धे शीतले च। स्कन्नत्वाद् देहे शुष्कत्वात्॥ ३३६॥

'तुल्ये च काले' इस पद का 'तात्कालिक जलादिकों के समान गुण वाले अर्थात् स्निग्ध व शीतल काल व देह में' और 'स्कन्नत्वाद्' इस-पद का 'देह में शुष्क हो जाने से' यह अर्थ समझना चाहिये॥ ३३६॥

हिमे याति शमं पित्तं वायुः श्लेष्मा च चीयते। स वायुः शिशिरे कोपं यात्येवोपचितः[1] कफः॥

हेमन्त ऋतु में पित्त का शमन एवं वायु और कफ का सञ्चय होता है और वही सञ्चित वायु शिशिर ऋतु में कुपित होती है और कफ उस समय केवल उपचित (वृद्धि को प्राप्त) हो कर रहता है॥ ३३७॥

हेमन्ते सञ्चितः श्लेष्मा शिशिरे त्वतिचीयते। शीतस्निग्धगुरुद्रव्यैः शैत्यस्कन्नो न कुप्यति॥

हेमन्त ऋतु में सञ्चित जो कफ है वह शिशिर ऋतु में शीतल, स्निग्ध और गुरुपाकी द्रव्यों के

---

१ 'यात्येवोपहित' इति पा०।

सेवन करने से अत्यन्त सञ्चित हो जाता है किन्तु शीत की अधिकता से कठिनता को प्राप्त हो जाने से कुपित नहीं होता ॥ ३३८ ॥

＊ स्कन्नः = कठिनीभूतः ॥ ३३८ ॥

'स्कन्न' का 'कठिनीभूत' अर्थात् 'कठिनता को प्राप्त हो जाने से' यह अर्थ समझना चाहिये ॥

इति कालस्वभावोऽयमाहाराद्विवशात्पुनः। चयादीन् यान्ति सद्योऽपि दोषाः काले विशेषतः॥

इन पूर्वोक्त प्रकारों से जो यह वातादि दोषों का चय, कोप और शम होता है, उसका कारण काल का स्वभाव ही जानना चाहिये। किन्तु आहारादि कारणवश से भी वातादि सभी दोष सद्यः चय, कोप तथा शमभाव को प्राप्त होते हैं और विशेष कर अहोरात्र में भी अपने २ समयों में चयादि प्राप्त होते हैं ॥ ३३९ ॥

＊([1]चयादीन्) चयकोपशमान् पूर्वाह्णे वसन्तस्य लिङ्गम्, मध्याह्ने ग्रीष्मस्य, अपराह्णे प्रावृषः, प्रदोषे वार्षिकम्। शारदमर्धरात्रे, प्रत्यूषसि हैमन्तमुपलक्षयेत्। एवमहोरात्रमपि वर्षमिव शीतोष्णवर्षा ([2]दिलक्षणम्) दोषोपचयप्रकोपोपशमैर्जानीयादिति सुश्रुतः[3] ॥

यहाँ 'चयादि' से 'चय, कोप तथा शम' का ग्रहण करना चाहिये और अहोरात्र में भी वातादि दोष अपने २ समयों में चयादि को प्राप्त होते हैं। इसी विषय में 'सुश्रुत' भी कहते हैं कि—'दिन के प्रथम भाग में वसन्त के, मध्याह्न में ग्रीष्म के, दिन के अन्त भाग में प्रावृड् के, प्रदोष में वर्षा के, अर्धरात्र में शरद के और प्रत्यूष (पिछली रात्रि) में हेमन्त के लक्षण उपस्थित होते हैं। इस प्रकार अहोरात्र को भी वर्ष की भाँति दोषों के चय, कोप तथा शम होने के द्वारा शीत, उष्ण तथा वर्षा आदि लक्षणों से युक्त समझना चाहिये' ॥ ३३९ ॥

अथाकाले दोषवृद्धिमाह—

चयकोपशमान्दोषा विहाराहारसेवनैः। समानैर्यान्त्यकालेऽपि विपरीतैर्विपर्ययम् ॥३४०॥

अकाल में दोषों की वृद्धि—तुल्य आहार-विहार का सेवन करने से वातादि सभी दोष अकाल में भी अर्थात् उनके चयादि होने का समय न होने पर भी चय, कोप तथा उपशम को प्राप्त होते हैं और विपरीत आहार-विहार के सेवन करने से दोषों के चयादि का भी विपर्यय हो जाता है ॥

＊समानैः = तुल्यैः, चयादियोग्यैरिति यावत्। विपर्ययं कालेऽपि वैपरीत्यं बोध्यम् ॥३४०॥

'समानैः' पदका 'तुल्य अर्थात् दोषों के चयादि होने के योग्य' और 'विपरीतैः' पद का 'चयादि होने के अयोग्य' तथा 'विपर्यय' पद का 'चयादि होने का काल उपस्थित होने पर भी विपरीत होता है अर्थात् दोषों का चयादि नहीं होता' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ३४० ॥

अथ दोषचयलक्षणमाह सुश्रुतः—

स्वस्थानस्थस्य दोषस्य वृद्धिः स्यात्स्तब्धकोष्ठता[4] ।
पीतावभासता वह्निमन्दता चाङ्गगौरवम् ॥ ३४१ ॥
आलस्यं चयहेतौ तु द्वेषश्च चयलक्षणम्। सञ्चये ऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरां गतिम् ॥
ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः ॥ ३४२ ॥

दोषों के चय होने के लक्षण—अपने स्थान में स्थित दोष की वृद्धि, कोष्ठ में स्तब्धता, शरीर में पीलापन, अग्नि की मन्दता, अङ्गों में गुरुता (भारीपन), आलस्य और दोषों के चय होने के

---

१. कोठस्थः पाठः क्वाचित्कः। २. कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः। ३. शमा इति पा०।
४. 'स्तब्धा'ति पा०।

कारण स्वरूप आहारादि से द्वेष (अरुचि) होना ये सब दोषों के चय होने के लक्षण हैं। सञ्चय होने के समय यदि औषधादि द्वारा दोषों को चिकित्सा कर दी जाय तो वे सञ्चय होने के बाद की गति अर्थात् प्रकोप को नहीं प्राप्त करते हैं। किन्तु चिकित्सा न करने से उत्तर गति (प्रकोप) को प्राप्त होने पर तो वे (दोष) अत्यन्त बलवान् हो जाते हैं। अतः सञ्चयावस्था ही में दोषों की चिकित्सा कर लेना उत्तम है ॥ ३४१-३४३ ॥

अथ वर्षर्तौ नियमानाह—

वर्षासु प्रबलो वायुस्तस्मान्मिष्टादयस्त्रयः। रसाः सेव्या विशेषेण पवनस्योपशान्तये ॥३४४॥

वर्षा ऋतु के नियम—वर्षाकाल में वायु प्रबल होती है अतः वायु की शान्ति के लिये विशेषरूप से मधुरादि तीनों रसों का सेवन करना चाहिये ॥ ३४४ ॥

मिष्टादयस्त्रयः = मधुराम्ललवणाः ॥ ३४४ ॥

'मधुरादयस्त्रयः' अर्थात् मधुर, अम्ल और लवण इन तीन रसों से युक्त ॥ ३४४ ॥

अवेद्वर्षासु वपुषः क्लिन्नत्वं यद्विशेषतः। यत्क्लेदशान्तये[1] सेव्या अपि कट्वादयस्त्रयः ॥

वर्षाकाल में प्रायः करके शरीर क्लिन्न (आर्द्र) रहा करता है, उसकी शान्ति के लिये कटु आदि तीनों रसों का भी सेवन करना चाहिये ॥ ३४५ ॥

कट्वादयस्त्रयः = कटुतिक्तकषायाः ॥ ३४५ ॥

'कट्वादयस्त्रयः' अर्थात् कटु, तिक्त तथा कसैला इन तीन रसों से युक्त ॥ ३४५ ॥

स्वेदनं मर्दनं सेव्यं दध्युष्णजाङ्गलामिषम्। शालयो[2] यवगोधूमा जलं कौपं जलं च्युतम् ॥
न भजेत्पूर्वपवनं वृष्टिं घर्मं हिमं श्रमम्। नदीतीरं दिवास्वप्नं रूक्षं नित्यं च मैथुनम् ॥३४७॥

वर्षाकाल में स्वेदन, मर्दन, गरम दही, जङ्गली जीवों का मांस, जौ, गेहूँ, शालि (अगहनि धान का चावल) और कूप तथा झरना का जलपान, पूर्वदिशा की वायु का सेवन, वर्षा में भीगना, घाम में घूमना, हिम (ओस) में सोना, परिश्रम, नदी के तट पर रहना, दिन में सोना, रूक्ष द्रव्यों का सेवन और नित्य मैथुन करना, इन सबको नहीं करना चाहिये ॥ ३४६-३४७ ॥

अथ शरदृतौ नियमानाह—

सर्पिः स्वादुकषायतिक्तकरसा यच्छीतलं यल्लघु क्षीरं
स्वच्छसितैक्षवः पटुरसः स्वल्पं पलं जाङ्गलम्।
गोधूमा यवमुद्गशालिसहिता नादेयमंशूदकं
चन्द्रश्चन्दमिन्दुरादिरजनी[3] माल्यं पटो निर्मलाः ॥ ३४८ ॥

शरद् ऋतु के नियम—शरदऋतु में, घृत, मधुर, कसैला तथा तिक्त रस, शीतल तथा लघु पदार्थ, दूध, साफ शक्कर, गुड़, नमकीन पदार्थ, थोड़ी मात्रा में जङ्गली जीवों का मांस, गेहूँ, यव, मूँग, शालि (अगहनी धान का चावल), नदी का जल, अंशूदक संज्ञक जल, चन्द्र (कपूर), चन्दन, चन्द्रकिरण (चाँदनी), रात्रि का प्रथम भाग अर्थात् रात्रि के प्रथम भाग में चाँदनी में बैठना, पुष्प माला और निर्मल वस्त्र ये सब हितकर हैं ॥ ३४८ ॥

[[4]अथांशूदकलक्षणमाह—

दिवसेऽर्ककरैर्जुष्टं निशि शीतकरांशुभिः। ज्ञेयमंशूदकं नाम स्निग्धं दोषत्रयापहम् ॥८॥]

अंशूदक—(उपर्युक्त श्लोक में 'अंशूदक' का यह अर्थ है कि) जिस जल में दिनभर सूर्य की

---

१. 'सञ्चयोपहता' इति पा०। २. गोधूमाः शालयो माषा इति पा०। ३. 'रात्रिरजनी'ति पा०।
४. कोष्ठस्थ पाठः क्वचिदमिमश्लोकानन्तरमुपलभ्यते।

और रात्रि भर चन्द्रमा की किरण पड़ती है उसका—'अंशूदक' नाम है। वह स्निग्ध एवं तीनों दोषों का नाशक होता है' ॥ ८ ॥

अत्र (समग्रदिवसप्राप्त्यर्थं[1] दिवापदमेवं निशापदं च) ॥ ८ ॥

'दिवस' तथा 'निशा' पद उक्त श्लोक में इसलिये पढ़ा गया है कि समग्र दिन लगातार सूर्य तथा समग्र रात्रि लगातार चन्द्र की किरणें पड़नी चाहिये ॥ ८ ॥

Ⓒचन्द्रः = कर्पूरः ॥ ३४८ ॥

(३४८ श्लोक में) 'चन्द्र' पद से 'कपूर' का ग्रहण करना चाहिये ॥ ३४८ ॥

विश्रामः सुहृदां गणेषु मधुरा वाचः सरः क्रीडनं
पित्तानां च विरेचनं बलवतो युक्तं शिरामोक्षणम् ।
एतांस्त्र घनावसानसमयेपथ्यानि सुञ्चेद्दधिव्यायाम-
माम्लकटूष्णतीक्ष्ण दिवसस्वप्नं हिमंचातपम् ॥ ३४९ ॥

मित्रों के बीच में विश्राम तथा मधुर वार्त्तालाप, तालाबों में क्रीडा, पित्त का विरेचन एवं जो बलवान् व्यक्ति हो उनका रक्तमोक्षण (फस्त खुलवाना) ये सब भी शरद ऋतु में हितकर है और दही, व्यायाम (कसरत), अम्ल, कटु, उष्ण और तीक्ष्ण पदार्थों का सेवन, दिन में सोना और ओस तथा घाम का सेवन करना वर्ज्य है ॥ ३४९ ॥

इक्षवः शालयो मुद्गाः सरोऽम्भः क्वथितं पयः । शरद्येतानि पथ्यानि प्रदोषे चेन्दुरश्मयः ॥

शरद् ऋतु में ईख, शालि (अगहनी धान), मूँग, तालाब का जल, औटाया हुआ जल एवं प्रदोष काल में चन्द्रकिरण का सेवन भी हितकर है ॥ ३५० ॥

अथ हेमन्तर्तौ नियमानाह—

प्रातर्भोजनमम्लमिष्टलवणानन्यङ्गमर्दं श्रमान्
गोधूमैक्षवमशालिमाषपिशितं पिष्टं नवान्नं तिलान् ।
कस्तूरीं घरकुङ्कुमागुरुयुतामुष्णाम्बुशौचं तथा
स्निग्धं स्त्रीषु सुखं गुरूष्णवसनं सेवेत हेमन्तके ॥ ३५१ ॥

हेमन्त ऋतु के नियम—हेमन्त ऋतु में प्रातःकाल भोजन, मधुर, अम्ल तथा लवण, रस युक्त पदार्थ का भक्षण, शरीर में तेल की मालिश, घाम, परिश्रम, गेहूँ, ईख के रस से बने पदार्थ, शलिधान का चावल, उड़द, मांस, पिष्टान्न (पीठी की बनी पकौड़ी आदि), नवीन अन्न, तिल, कस्तूरी, उत्तम केशर, अगर, गरम, जल से स्नान, कोई स्त्रियों के साथ स्नेह युक्त सुखप्रद व्यवहार और मोटा तथा गरम रुई या ऊनी वस्त्र का सेवन करना चाहिये ॥ ३५१ ॥

अथ शिशिरर्तौ नियमानाह—

शिशिरे शीतमधिकं रौक्ष्यं चादानकालजम् । विशेषतस्ततस्तत्र हेमन्तस्य मतो विधिः ॥

शिशिर ऋतु के नियम—शिशिर ऋतु में शीत अधिक पड़ता है और आदान का समय होने से अर्थात् उत्तरायण में सूर्य के द्वारा रस खींचे जाने से शरीर में रूक्षता भी अधिक रहती है अत एव विशेष रूप से इस ऋतु में भी पूर्वोक्त हेमन्त ऋतु के ही हितकर पदार्थों का सेवन करना चाहिये ॥ ३५२ ॥

---

१. कोष्ठान्तर्गतकोष्ठस्थपाठस्थाने क्वचित् 'समग्रप्राप्त्यर्थं दिवसे दिवापादद्वयं निशापादं चे'ति पा०।

अथ वसन्तौ नियमानाह—

वान्तिं नस्यमथाभयां च मधुना व्यायाममुद्वर्तनं
संसेवेत मधौ कफघ्नकवलं शूल्यं पलं जाङ्गलम्।
गोधूमान्बहुशालिभेदसहितान्मुद्गान्यवान्षष्टिकां-
ल्लेपश्चन्दनकुङ्कुमागुरुकृतं[2] रूक्षं कटूष्णं लघु॥ ३५३॥
मिष्टमम्लं दधि स्निग्धं दिवास्वप्नं च दुर्जरम्।
अवश्यायमपि प्राज्ञो वसन्ते परिवर्जयेत्॥

वसन्त ऋतु के नियम—वसन्त ऋतु में औषधों के द्वारा वमन तथा औषधों का नस लेना, मधु के साथ हरड़ का खाना, कसरत करना, उबटन लगाना, कफ नाशक औषधों का कुल्ला करना, लोहे की शलाका में खोंस कर अग्नि में सिके हुये जङ्गली जीवों का मांस खाना, गेहूँ, अनेक प्रकार के चावल, मूँग, यव और साठी चावल खाना, चन्दन, केसर और अगर का लेप करना और रूक्ष, कटु रसयुक्त, उष्ण तथा हल्के पदार्थों का सेवन करना हितकर हैं और मीठा, खट्टा तथा स्निग्ध पदार्थ एवं दही का खाना और दिन में सोना तथा देर में पचने वाले पदार्थों का खाना और ओस में सोना अहितकर है अतः वसन्त ऋतु में इन सबों का परित्याग अवश्य कर देवे॥ ३५३-३५४॥

अथ ग्रीष्मर्तुनियमानाह—

स्वादुस्निग्धहिमं लघु द्रवमयं द्रव्यं रसालां सितां-
सक्तुक्षीरमजाङ्गलानि सितया शालिं रसं मांसजम्।
शीतांशुं शयनं दिवा मलयजं शीतं पयः पानकं।
सेवेतोष्णदिने त्यजेत्तु कटुकक्षाराम्लघर्मश्रमान्॥ ३५५॥

ग्रीष्म ऋतु के नियम—ग्रीष्म ऋतु में मधुर रस युक्त, स्निग्ध, शीतल, पचने में हल्के द्रवरूप (पतला) द्रव्यों का सेवन, सिखरन, चीनी तथा चीनी मिले हुए सत्तू, दूध, जङ्गली जीवों से भिन्न जीवों का मांस, शालि धान्य के चावल, मांसरस, चन्द्रसेवन (चांदनी में सोना), दिन में सोना, चन्दन लगाना, शीतल जल और शर्बत पीना हितकर होता है और कटुक्षार (नमकीन) तथा अम्ल रस युक्त द्रव्यों का सेवन, घाम में रहना और परिश्रम करना अहितकर है अतः इन सब कामों को त्याग देना चाहिये॥ ३५५॥

अथ पूर्वोक्तर्तुचर्याऽऽचरणे फलमाह—

ऋतुष्वेषु य एतैस्तु विधिभिर्वर्तते नरः। दोषानृतुकृतान्नैव लभते स कदाचन॥ ३५६॥
इति श्रीलटकनतनय-श्रीमन्मिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे दिनचर्यादिप्रकरणं पञ्चमम्॥५॥

ऋतुचर्याओं का आचरण करने से लाभ—जिन २ ऋतुओं में जो २ विधियां कही हुई हैं, उन २ ऋतुओं में उन २ विधियों के अनुसार जो मनुष्य रहता है, उसे उन २ ऋतुओं में होने वाले कोई भी दोष कभी नहीं प्राप्त होते हैं॥ ३५६॥

इति भिषग्रत्न-श्रीब्रह्मशङ्करशर्मसाहित्यशास्त्रिणा विरचितायां 'विद्योतिनी'-
भाषाटीकायां दिनचर्यादिप्रकरणं समाप्तम्॥ ५॥

---

१. 'भुजेदि'ति पा०। २. 'लेपश्चन्दने'ति पा०।

अथ षष्ठं मिश्रप्रकरणम् ॥ ६ ॥

अथ वाग्भटोक्तं व्याधेर्लक्षणम्—

रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता। रोगा दुःखस्य दातारो ज्वरप्रभृतयो हि ते ॥ १ ॥

रोग के लक्षण—दोषों की विषमता ही को रोग तथा दोषों की समता ही को अरोगता (रोगों का न रहना) कहते हैं, इन में से जो रोग हैं वे प्राणियों को दुःख देनेवाले होते हैं और वे ज्वर आदि कहलाते हैं ॥ १ ॥

ते च स्वाभाविकाः केचित्केचिदागन्तवः स्मृताः।
मानसाः केचिदाख्याताः कथिताः केऽपि कायिकाः ॥ २ ॥

चार प्रकार के रोग—उन रोगों में कोई 'स्वाभाविक', कोई 'आगन्तुक', कोई 'मानस' और कोई 'कायिक' कहलाते हैं ॥ २ ॥

***तत्र स्वाभाविकाः = शरीरस्वभावादेव जाताः क्षुत्पिपासानिद्राजरामृत्युप्रभृतयः। अथवा स्वभावादुत्पत्तेर्जाता स्वाभाविकाः = सहजा इति यावत्। ते च जन्मान्धत्वादयः। आगन्तवोऽभिघातादिजनिताः। अथवा जन्मोत्तरभाविनः। मानसाः = कामक्रोधलोभमोह-भयाभिमानदैन्यपैशुन्यशोकविषादेर्ष्याऽसूयामात्सर्यप्रभृतयः, अथवा उन्मादापस्मारमूर्च्छा-भ्रममोहतमःसंन्यासप्रभृतयः। कायिकाः = पाण्डुरोगप्रभृतयः ॥ २ ॥**

उनमें 'स्वाभाविक' रोग वे कहलाते हैं जो शरीर के स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं, जैसे—भूख, प्यास, गाढ़ निद्रा, वृद्धता तथा मृत्यु आदि। अथवा जो जन्म से (माँ के पेट से) ही उत्पन्न होते हैं, वे भी 'स्वाभाविक' कहलाते हैं। जैसे—जन्म से ही अन्धा, बहिरा आदि। आगन्तुक-रोग वे हैं जो चोट आदि लगने से अथवा जन्म के बाद होनेवाले हैं। 'मानस' रोग वे कहलाते हैं, जो मनमें उत्पन्न होते हैं, जैसे-काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, अभिमान, दीनता, पिशुनता (चुगुलखोरी), शोक, विषाद, ईर्ष्या, असूया और मत्सरता आदि, अथवा उन्माद (पागलपन), अपस्मार (मिर्गी), मूर्छा, भ्रम, मोह, अन्धकार और संन्यास आदि। 'कायिक' रोग वे कहलाते हैं, जो शरीर में उत्पन्न होते हैं, जैसे-पाण्डु आदि ॥ २ ॥

अथ व्याधिभेदानाह—

कर्मजाः कथिताः केचिद्दोषजाः सन्ति चापरे। कर्मदोषोद्भवाश्चान्ये व्याधयस्त्रिविधाः स्मृताः ॥

व्याधियों के भेद—कोई व्याधियाँ 'कर्मज' और कोई 'दोषज' तथा कोई कर्मज तथा दोषज दोनों होने से 'कर्मदोषोद्भव' अर्थात् 'कर्मदोषज' कहलाती हैं। इस प्रकार हेतुभेद से व्याधियों के तीन भेद होते हैं ॥ ३ ॥

तत्र कर्मजान् व्याधीनाह—

***यत्प्राक्तनं दुष्कर्म प्रबलं केवलभोगनाश्यम्, प्रायश्चित्तनाश्यं वा, ततो जाताः, न तु दुष्टवातादिदोषेण जनितास्तथा—**

यथाशास्त्रं तु निर्णीतो यथाव्याधिचिकित्सितः।
न शमं याति यो व्याधिः स ज्ञेयः कर्मजो बुधैः ॥ १ ॥

'कर्मज' व्याधि—जो पूर्वजन्मकृत दुष्कर्म (पाप) प्रबल होते हैं वे केवल भोग से अथवा प्रायश्चित्त से नाश होने वाले होते हैं, अत एव जो व्याधियाँ उन्हीं से उत्पन्न हैं, किन्तु दूषित वातादि दोषों से नहीं उत्पन्न हुई हैं, वे ही 'कर्मज' कहलाती हैं। उसका लक्षण यह है कि—'जिसका शास्त्र-

नुसार निर्णय करके उसी निर्णीत के अनुकूल चिकित्सा भी हुई हो किन्तु फिर भी जो शान्त न हो उसी को 'कर्मज' व्याधि जानना चाहिये ॥ १ ॥

अथ दोषजान् व्याधीनाह—

*दोषजाः—मिथ्याऽऽहारविहारप्रकुपितवातपित्तकफजाः । ननु मिथ्याहारविहारणामपि प्राक्तनसुकृतेन नैरुज्यं दृश्यत एव । ततो दोषजेष्वपि प्राक्तनं दुष्कर्मैव कारणम्, तत्कथं दोषजा इति ? उच्यते-दोषजेष्वपि वस्तुत आदिकारणं दुष्कर्म वर्तत एव, किन्तु तत्र मिथ्याऽऽहार-विहारदूषिता दोषा हेतवो दृश्यन्त इति दोषजा इत्युच्यन्त इति समाधिः ।

'दोषज' व्याधि—'दोषज' व्याधि वे कहलाती हैं जो मिथ्या (अवैध) आहार-विहार करने से कुपित हुये वात, पित्त तथा कफ से उत्पन्न होती हैं । यहां यदि ऐसा कहा जाय कि जब मिथ्या आहार-विहार करने वाले लोगों को भी प्राक्तन पुण्य के बल से रोग रहित देखते हैं, अतः दोषों से उत्पन्न होने वाले रोगों का भी प्राक्तन पाप ही प्रधान कारण है, तब व्याधियां कैसे 'दोषज' होती हैं ? इसका उत्तर यह है कि—यद्यपि वास्तव में दोषज व्याधियों में भी प्राक्तन पाप ही प्रधान कारण होता है, किन्तु तो भी यहां पर मिथ्या आहार-विहार से दूषित दोष भी कारणरूप से अवश्य दिखाई पड़ते हैं अतः पूर्वोक्त व्याधियां दोषज कहलाती हैं ।

अथ कर्मदोषोद्भवान् व्याधीनाह—

स्वल्पदोषा गरीयांसस्ते ज्ञेयाः कर्मदोषजाः ॥ २ ॥

कर्म तथा दोष दोनों से उत्पन्न व्याधि—'जो व्याधियां स्वल्प दूषित वातादि दोषों से उत्पन्न होने पर भी अधिक बढ़ जांय, उन्हें 'कर्मदोषज' समझना चाहिये' ॥ २ ॥

*अत्र कारणं दुष्कर्म प्रबलं यतो दोषाल्पत्वेऽपि व्याधेर्गरीयस्त्वं तत्कर्मक्षयादेव क्षीणं भवति । दोषाः स्वल्पा अपि निदानत्वेनोक्ता दृश्यन्त एवेति दोषाणां कारणतां मन्यत इति कर्मदोषोद्भवाः ॥ ३ ॥

पूर्वोक्त 'कर्मदोषज' व्याधियों में प्राक्तन दुष्कर्म ही प्रबल कारण होते हैं क्योंकि दोषों की दुष्टता में कमी होने पर भी व्याधियों की भयङ्करता बनी रहती है और भोग के द्वारा कर्मक्षय होने से ही क्षीण होती है और दोषों की स्वल्पता होने पर भी वे उत्पन्न होने में निदान (कारण) रूप से दिखलाई पड़ते हैं । अतः वे (दोष) भी कारण माने जाते हैं । इस भांति से ये रोग 'कर्मदोषज' कहलाते हैं ॥ ३ ॥

अथ रोगक्षयहेतूनाह—

कर्मक्षयात्कर्मकृता दोषजाः स्वस्वभेषजैः । कर्मदोषोद्भवा यान्ति कर्मदोषक्षयात् क्षयम् ॥४॥

कर्मजादि रोगों के क्षीण होने के कारण—भोग के द्वारा प्राक्तन दुष्कर्मों का क्षय होने से 'कर्मज' व्याधियों का, अपनी २ औषधियों के अर्थात् जिस दोष की जो औषधियाँ हैं, उनके सेवन करने से 'दोषज' व्याधियों का एवं भोगों के द्वारा प्राक्तन अशुभ कर्मों तथा औषधियों के द्वारा दोषों के क्षय होने से 'कर्मदोषज' व्याधियों का क्षय होता है ॥ ४ ॥

*दोषजाः स्वस्वभेषजैरिति । दोषजेषु आदिकारणं दुष्कर्म तद्भेषजार्थं द्रव्यक्षयादिजनित-दुःखभोगेन कटुतिक्तकषायाद्यहृद्यभक्षणादिजनितदुःखभोगेन च क्षयं याति । शेषा दुष्टा हेतवो दोषास्ते स्वस्वभेषजैः क्षयं यान्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

'दोषजाः स्वस्वभेषजैः' इसका तात्पर्य यह है कि—दोषज व्याधियों में भी प्रधान कारण तो प्राक्तन दुष्कर्म ही है अतः वह (दुष्कर्म) औषध तयार करने में जो धन का क्षय होने से दुःख होता है उसी का भोग करने के द्वारा एवं कटु-तिक्त तथा कषायादि रसों से युक्त होने से अप्रिय

औषधों के भक्षण आदि से उत्पन्न हुये दुःख का भोग करने के द्वारा नष्ट होता है और इसके अतिरिक्त जो अवशिष्ट कारण वातादि दुष्ट दोष हैं, वे अपने २ औषधों के सेवन के द्वारा क्षीण होते हैं ॥४॥

अथ साध्यादिभेदेन त्रिविधान् रोगानाह—

साध्या याप्या असाध्याश्च व्याधयस्त्रिविधाः स्मृताः ।
सुखसाध्यः कष्टसाध्यो द्विविधः साध्य उच्यते ॥ ५ ॥

साध्यादि भेद से तीन प्रकार के रोग—साध्य, याप्य और असाध्य भेद से रोग तीन प्रकार के होते हैं उन में 'साध्य' भी दो प्रकार का होता है—सुखसाध्य और कष्टसाध्य ॥ ५ ॥

अथ याप्यलक्षणमाह—

यापनीयं तु तं विद्यात्क्रिया धारयते हि यम् । क्रियायां तु निवृत्तायां सद्यो यश्च विनश्यति ॥
प्राप्ता क्रिया धारयति सुखिनं याप्यमातुरम् । प्रपतिष्यदिवागारं स्तम्भो बलेन योजितः ॥७॥

'याप्य' के लक्षण—'याप्य' रोग उसे कहते हैं जिस रोग की चिकित्सा करने से रोगी स्वस्थ रहता हो, किन्तु चिकित्सा बन्द कर देने पर रोग बढ़ जाने से रोगी शीघ्र मर जाता हो । जैसे यत्नपूर्वक स्तम्भ खड़ा करने से गिरते हुए मकान खड़ा रहता है वैसे ही याप्य रोगों में उपयुक्त चिकित्सा करने से वह भी रोगी को मरने से बचा कर सुखपूर्वक रखता है ॥ ६-७ ॥

अथ साध्ययाप्ययोश्चिकित्साऽऽवश्यकत्वमित्याह—

साध्या याप्यत्वमायान्ति याप्याश्चासाध्यतां तथा । घ्नन्ति प्राणानसाध्यास्तु नराणामक्रियावताम्॥

साध्य-याप्य रोगों से युक्त रोगी की आवश्यक चिकित्सा—जिनकी चिकित्सा नहीं हो रही है ऐसे जो रोगी हैं, उनके जो साध्य रोग हैं वे याप्य के रूप में हो जाते हैं और जो याप्य रोग हैं, वे असाध्य के रूप में परिणत हो कर प्राणों को नष्ट कर देते हैं अतः इन सबों की चिकित्सा करना अत्यावश्यक है ॥ ८ ॥

*अक्रियावतां = चिकित्सारहितानाम् ॥ ८ ॥

'अक्रियावताम्' का 'चिकित्सा से रहित रोगी के' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ८ ॥

अथोपद्रवस्य लक्षणमाह—

रोगारम्भकदोषस्य प्रकोपादुपजायते । योऽन्यो विकारः स बुधैरुपद्रव इहोदितः ॥ ९ ॥

उपद्रव के लक्षण—कुपथ्यवश रोगों के उत्पन्न करने वाले दोषों के अत्यन्त कुपित होने से जो रोग के अतिरिक्त दूसरा विकार उत्पन्न हो जाता है, उसे 'उपद्रव' कहते हैं ॥ ९ ॥

अथारिष्टस्य लक्षणमाह—

रोगिणो मरणं यस्मादवश्यम्भावि लक्ष्यते । तल्लक्षणमरिष्टं स्याद्रिष्टं चापि तदुच्यते ॥१०॥

अरिष्ट के लक्षण—जिस लक्षण के प्रकट होने से 'रोगी अवश्य मर जायगा' ऐसा मालूम पड़े उसे 'अरिष्ट' तथा 'रिष्ट' भी कहते हैं ॥ १० ॥

अथ चिकित्साया लक्षणमाह—

या क्रिया व्याधिहरणी सा चिकित्सा निगद्यते । दोषधातुमलानां या साम्यकृत्सैव रोगहृत् ॥

चिकित्सा के लक्षण—जिस क्रिया के द्वारा व्याधि का नाश हो अर्थात् जो क्रिया दोष, धातु तथा मल, इन सबों को सम भाव में रखती हुई रोगों को हरण करनेवाली हो, उसी को 'चिकित्सा' कहते हैं ॥ ११ ॥

*क्रियाऽत्र कर्म । व्याधिर्ह्रियतेऽनयेति व्याधिहरणी । करणाधिकरणयोश्चेति सूत्रेण करणार्थे ल्युट् ॥ ११ ॥

'क्रिया' पद से 'कर्म (उपाय)' समझना चाहिये। 'जिससे व्याधि का नाश हो' ऐसा अर्थ करने से 'व्याधिहरणी' इस प्रयोग में 'करणाधिकरणयोश्च' इस पाणिनीय सूत्र से करण अर्थ में हृधातु से ल्युट् प्रत्यय होता है ॥ ११ ॥

तथा च—

याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः। सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां मतम्॥

चिकित्सा के लक्षणान्तर—जिन क्रियाओं के द्वारा शरीर में सम्पूर्ण धातु सम भाव को प्राप्त हो वही विकारों की 'चिकित्सा' और वैद्यों का कर्त्तव्य कर्म कहलाता है ॥ १२ ॥

या ह्युदीर्णं शमयति नान्यं व्याधिं करोति च। सा क्रिया न तु या व्याधिं हरत्यन्यमुदीरयेत्॥

जो क्रिया (चिकित्सा) उत्पन्न हुई व्याधि का शमन करती है और साथ २ किसी दूसरी व्याधि को उत्पन्न नहीं करती है वही क्रिया (चिकित्सा) है न कि जो एक व्याधि को दूर करती है तथा साथ २ दूसरी व्याधि को उत्पन्न भी करती है, वह चिकित्सा नहीं कहलाती ॥ १३ ॥

*** क्रियाऽत्र चिकित्सा। तथा चामरसिंहः—**

आरम्भो निष्कृतिः शिक्षा पूजनं सम्प्रधारणम्।
उपायः कर्म चेष्टा च चिकित्सा च नव क्रिया ॥ ३ ॥ इति ॥ १३ ॥

'क्रिया' पद से 'चिकित्सा' अर्थ ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि 'अमरकोष' में कहा है कि (१) आरम्भ, (२) निष्कृति (प्रायश्चित्त), (३) शिक्षा, (४) पूजन, (५) सम्प्रधारण (विचार), (६) उपाय, (७) कर्म (८) चेष्टा और (९) चिकित्सा ये ९ अर्थ क्रिया शब्द के होते हैं ॥३॥१३॥

अथ चिकित्साविध्युपदेशं कुर्वन्नाह—

जातमात्रश्चिकित्स्यः स्यान्नोपेक्ष्योऽल्पतया गदः।
वह्निशत्रुविषैस्तुल्यः स्वल्पोऽपि विकरोत्यसौ ॥ १४ ॥

चिकित्सा की विधि—उत्पन्न होते ही रोगों की चिकित्सा करनी उचित है न कि छोटा (तुच्छ) समझ कर उसकी उपेक्षा करनी चाहिये। क्योंकि रोग अग्नि, शत्रु तथा विष के तुल्य होता है अत एव छोटा होकर भी विशेष विकार उत्पन्न करता है ॥ १४ ॥

रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्। ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत् ॥ १५ ॥

वैद्य प्रथम रोगी की परीक्षा अर्थात् लक्षणों द्वारा कौन रोग है इस विषय में विचारे करे। उस के बाद औषध की परीक्षा अर्थात् इस रोग में कौन औषध देना उचित है, इसका विचार करे। तत्पश्चात् ज्ञानपूर्वक चिकित्सा कार्य शुरू करे ॥ १५ ॥

***अयमर्थः—भिषग् आदौ रोगं परीक्षेत = विचारयेत्। ततः पश्चाद्रोगौषधविचारानन्तरं ज्ञानपूर्वं सावधानो न त्वविज्ञाय कर्म, चिकित्सामौषधदानादिरूपां समाचरेदित्यर्थः ॥ १५ ॥**

उपर्युक्त श्लोक का तात्पर्यार्थ—वैद्य प्रथम रोग की परीक्षा करे अर्थात् उसका विचार करे। तत्पश्चात् अर्थात् रोग तथा औषध का विचार कर चुकने के बाद ज्ञानपूर्वक (सावधान हो कर) (न कि बिना समझे बूझे) औषध देना आदि चिकित्सारूपी कर्म को अच्छी तरह से करे ॥ १५ ॥

अथ रोगाज्ञानेन चिकित्साकरणे दोषमाह—

यस्तु रोगमविज्ञाय कर्माण्यारभते भिषक्। अप्यौषधविधानज्ञस्तस्य सिद्धिर्यदृच्छया ॥१६॥

बिना समझे चिकित्सा करने में दोष—जो वैद्य रोग को भली भाँति समझे बिना ही चिकित्सा आरम्भ कर देते हैं, वे भले ही औषधियों के विधान के जानने वाले क्यों न हों, किन्तु रोग ज्ञान

न होने से उनके कार्य (रोगी का रोग दूर करना रूप कार्य) की सिद्धि कभी होती है और कभी नहीं भी होती है ॥ १६ ॥

ॐस्वैरितया सिद्धिर्भवति नापि भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

'यदृच्छया स्वैरितया सिद्धिः' इस पद का 'सिद्धि कभी होती है और कभी न भी होती है' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १६ ॥

अन्यच्च—

भेषजं केवलं कर्तुं यो जानाति न चामयम् । वैद्यकर्म स चेत्कुर्याद्वधमर्हति राजतः ॥ १७ ॥

और भी कहा है कि जो वैद्य केवल ओषधियों का बनाना ही जानता है किन्तु रोग का पहिचानना नहीं जानता वह यदि वैद्यों का कर्म (चिकित्सा) करता हुआ कहीं पकड़ा जाय तो उसे राजा के यहाँ से प्राणदण्ड मिलना चाहिये ॥ १७ ॥

अथ रोगज्ञाने भेषजाज्ञाने दोषमाह—

यस्तु केवलरोगज्ञो भेषजेष्वविचक्षणः । तं वैद्यं प्राप्य रोगी स्याद्यथा नौर्नाविकं विना ॥१८॥

रोगों का परिज्ञान होने पर भी औषधों का ज्ञान न होने पर दोष—जो वैद्य केवल रोगों का ही जानने वाला हो किन्तु औषधों के विषय में जानकारी न रखता हो ऐसे वैद्य को पाकर रोगी की वैसी ही दशा होती है जैसे बिना नाविक (मल्लाह) के नौका की होती है ॥ १८ ॥

ॐ नाविकं=कर्णधारं विना यथा नौः सङ्कटे पतति तथा रोगीत्यर्थः ॥ १८ ॥

'नाविकं विना' का तात्पर्य यह है कि जैसे—मल्लाह के बिना नौका सङ्कट में पड़ जाती है वैसे ही रोगी भी पूर्वोक्त वैद्य के द्वारा सङ्कट में पड़ जाता है ॥ १८ ॥

अन्यच्च—

यस्तु केवलशास्त्रज्ञः क्रियास्वकुशलो भिषक् । स मुह्यत्यातुरं प्राप्य तथा [1]भीरुरिवाहवम् ॥

और भी कहा है कि जो वैद्य केवल आयुर्वेद शास्त्र का ज्ञाता होता है किन्तु चिकित्सा करने में मूर्ख होता है वह जब किसी रोगी को चिकित्सार्थ प्राप्त करता है तब वैसा ही किं कर्त्तव्य विमूढ़ हो जाता है जैसे कोई कायर पुरुष युद्धक्षेत्र को पाकर किं कर्त्तव्य विमूढ़ हो जाता है ॥ १९ ॥

अथ रोगौषधयोर्ज्ञाने गुणमाह—

यस्तु रोगविशेषज्ञः सर्वभैषज्यकोविदः । देशकालविभागज्ञस्तस्य सिद्धिर्न संशयः ॥ २० ॥

रोग तथा औषध दोनों का ज्ञान होने पर गुण—जो वैद्य रोगों की विशेषताओं का तथा सम्पूर्ण ओषधियों का एवं चिकित्सा करते समय देश तथा काल सम्बन्धी विभागों का भी ज्ञाता होता है उसके कार्य की सिद्धि होने में अर्थात् रोगियों के रोग दूर होने में कोई सन्देह नहीं होता है ॥ २० ॥

आद्यावन्तो रुजां ज्ञाने प्रयतेत चिकित्सकः । भेषजानां विधानेन ततः कुर्याच्चिकित्सितम् ॥

चिकित्सक को चाहिये कि वह पहले रोग का परिज्ञान करने में अर्थात् रोग की अवस्था कैसी है इसके समझने में आदि से लेकर अन्त तक प्रयत्न करे, तत्पश्चात् ओषधों का जैसा विधान हो उसके अनुकूल 'चिकित्सा' करे ॥ २१ ॥

चिकित्सितमित्यत्र भावे क्तः ॥ २१ ॥

'चिकित्सितम्' इस प्रयोग में भाव में क्त प्रत्यय होने से इसका 'चिकित्सा' अर्थ होता है ॥ २१ ॥

विकारनामाकुशलो न जिह्रीयात्कदाचन । न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः ॥

---

१. 'वीरं भीरुरिवाहवमि'ति पाठा० ।

यदि कोई वैद्य ऐसा हो कि वह सभी विकार अर्थात् रोगों का नाम न बतला सके तो उसे कभी लजाना नहीं चाहिये क्योंकि सम्पूर्ण रोगों की स्थिति नाम के द्वारा ही नियत नहीं है ॥ २२ ॥

*न जिह्रीयान्न लज्जेत् । ध्रुवा = नियता ॥ २२ ॥

'न जिह्रीयात्' का 'लजाना नहीं चाहिये' तथा ध्रुवा' पद का 'नियत' यह अर्थ समझना चाहिये ॥

नास्ति रोगो विना दोषैर्यस्मात्तस्माच्चिकित्सकः । अनुक्तमपि दोषाणां लिङ्गैर्व्याधिमुपाचरेत्॥

बिना दोषों के कोई रोग नहीं होता अतः चिकित्सक को चाहिये कि जिन रोगों के नामों का शास्त्रों में उल्लेख न हो तो भी दोषों के लक्षणों से ही उन रोगों की चिकित्सा करे ॥ २३ ॥

ये न कुर्वन्त्यसाध्यानां चिकित्सां ते भिषग्वराः। अतो वैद्यैः श्रमः कार्यः साध्यासाध्यपरीक्षणे ॥

जो वैद्य असाध्य रोगों की चिकित्सा नहीं करते वे परम चतुर कहलाते हैं अतः रोग साध्य अथवा असाध्य है, इसकी परीक्षा करने में वैद्यों को अवश्य श्रम करना चाहिये ॥ २४ ॥

* ([1]रोगज्ञानोपाया अग्रे वक्ष्यन्ते ॥ २४ ॥)

रोगज्ञान का उपाय आगे (चिकित्साप्रकरण में) कहेंगे ॥ २४ ॥

अथ चिकित्सापद्धतिमाह—

शीते शीतप्रतीकारमुष्णे तूष्णनिवारणम् । कृत्वा कुर्यात्क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत् ॥

चिकित्सा करने की पद्धति—शीत से उत्पन्न रोग में शीत का और गर्मी से उत्पन्न रोग में गर्मी का प्रतीकार कर जो उपयुक्त चिकित्सा हो उसे करना चाहिये। किन्तु चिकित्सा का समय उपस्थित होने पर उसे नहीं छोड़ना चाहिये ॥ २५ ॥

अप्राप्ते वा क्रियाकाले प्राप्ते वा न क्रिया कृता । क्रियाहीनाऽतिरिक्ता च साध्येष्वपि न सिध्यति ॥

चिकित्सा का समय होने के पूर्व ही चिकित्सा करने पर अथवा चिकित्सा का समय होने पर चिकित्सा न करके बाद में चिकित्सा करने पर किंवा हीन चिकित्सा अर्थात् प्रबल रोग में स्वल्प चिकित्सा अथवा अतिरिक्त चिकित्सा अर्थात् स्वल्प रोग में प्रबल चिकित्सा करने पर जो साध्य रोग हैं, उनमें भी लाभ नहीं होता अर्थात् रोग आराम नहीं होता है ॥ २६ ॥

* अयमर्थः—काले = चिकित्साऽवसरे। अप्राप्ते = अनागते। या क्रिया = चिकित्सा। यथा ज्वरे जीर्णतामप्राप्ते तरुण एव कषायदानक्रिया न सिद्धयति। या च क्रिया चिकित्साऽवसरे प्राप्ते न कृता। अर्थात्पश्चात्कृता। यथा दाहे कथञ्चिच्छान्ते पश्चाच्छीतानुलेपनादिक्रिया, तथा हीनाऽतिरिक्ता च क्रिया साध्येष्वपि न सिध्यति ॥ २६ ॥

यहां विशेष २ पदों का यह अर्थ है कि—'काल' अर्थात् चिकित्सा का अवसर, अप्राप्त अर्थात् 'नहीं प्राप्त होने पर' जो 'क्रिया' (चिकित्सा) है, वह साध्य रोगों में भी नहीं काम देती, जैसे कि यदि ज्वर जीर्ण न हुआ हो अर्थात् तरुण (नवीन) ही हो तो उस समय काढ़ा आदि देने के द्वारा चिकित्सा करना लाभदायक नहीं होता और जो चिकित्सा काल अर्थात् चिकित्सा का उपयुक्त समय प्राप्त होने पर नहीं की जाती अर्थात् पीछे (चिकित्सा का समय बीत जाने पर) की जाती है वह निष्फल होती है। जैसे कि किसी प्रकार से दाह के शान्त हो जाने पर पीछे शीतल लेपादि द्वारा चिकित्सा करना व्यर्थ होता है। उसी प्रकार रोग की अपेक्षा हीन चिकित्सा तथा अतिरिक्त (रोग की अपेक्षा अधिक) चिकित्सा भी साध्य रोगों में सिद्ध (लाभदायक) नहीं होती ॥ २६ ॥

अथातिरिक्तां हीनां च क्रियां वर्जयन्नाह—

विकारेऽल्पे महत्कर्म क्रिया लघ्वी गरीयसी । द्वयमेतदकौशल्यं कौशल्यं युक्तकर्मता ॥२७॥

---

१. कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः ।

क्रियायास्तु गुणालाभे क्रियामन्यां प्रयोजयेत् । पूर्वस्यां शान्तवेगायां न क्रियासङ्करो हितः ॥

अतिरिक्त तथा हीन चिकित्सा का निषेध-स्वल्प रोग में उग्र ओषधियों द्वारा बड़ी चिकित्सा करना तथा प्रबल रोग में मामूली ओषधियों द्वारा साधारण चिकित्सा करना दोनों ही चिकित्सक निपुण नहीं हैं इस बात के द्योतक होते हैं। अत एव चिकित्सक की निपुणता इसी में है कि वह रोग के अनुकूल साधारण या विशेष चिकित्सा करे। रोग की शान्ति के लिये जो चिकित्सा की जाय, उससे यदि लाभ न होता हो तो दूसरी चिकित्सा करनी चाहिये किन्तु वह भी उसी अवस्था में जब कि पूर्व की हुई चिकित्सा का वेग शान्त हो जाय, क्योंकि चिकित्साओं का मेल होना हितकारक नहीं होता ॥ २७–२८ ॥

भिन्नरूपाभिस्तु क्रियाभिः सांकर्यमपि न दोषाय । यत आह—

क्रियाभिस्तुल्यरूपाभिर्न क्रियासङ्करो हितः । ताभिस्तु भिन्नरूपाभिः साङ्कर्यं नैव दुष्यति ॥

परस्पर भिन्न स्वरूपवाली चिकित्साओं का एकत्र विधान—परस्पर समान स्वरूपवाली चिकित्साओं के द्वारा जो चिकित्सा का मेल होता है, वही हितकर नहीं होता किन्तु यदि वे ही भिन्न स्वरूप वाली होवें तो उनका मेल होना हितकारी ही होता है ॥ २९ ॥

• अत एवोक्तम्—

लङ्घनं वालुकास्वेदो नस्यं निष्ठीवनं तथा । अवलेहोऽञ्जनं चापि प्राक् प्रयोज्यं त्रिदोषजे ॥४॥

अत एव कहा है कि- लङ्घन (उपवास कराना), वालुकास्वेद (बालू के द्वारा पसीना निकलवाना), नस्य (ओषधियों के रस का नस लेना), निष्ठीवन (ओषधियों के द्वारा मुख से लार गिरवाना), अवलेह (ओषधियों की चटनी बना कर चटाना) और अञ्जन (आंखों में ओषधियों का अञ्जन लगाना), इन सब क्रियाओं का त्रिदोषज (सान्निपातिक) ज्वर में सबसे पहले प्रयोग करना चाहिये ॥ ४ ॥ २९ ॥

ॐ ज्वर इति शेषः ॥ ४ ॥ २९ ॥

यहां श्लोक में 'त्रिदोषजे' के आगे यद्यपि 'ज्वरे' ऐसा नहीं कहा गया है तथापि 'त्रिदोषज ज्वर में' ऐसा अर्थ समझना चाहिये ॥ ४ ॥ २९ ॥

न चैकान्तेन निर्दिष्टे शास्त्रे निविशते बुधः । स्वयमप्यत्र भिषजा तर्कणीयं चिकित्सता ॥३०॥

जो आयुर्वेद शास्त्र के विद्वान् चिकित्सक हैं वे केवल शास्त्र में कही हुई चिकित्साविधि के ऊपर निर्भर नहीं रहते हैं अतः वैद्य को चाहिये कि चिकित्सा करते समय स्वयं भी चिकित्सा के विषय में विचार करें ॥ ३० ॥

यत आह—

उत्पद्यते च साऽवस्था दोषकालबलं प्रति । यस्यां कार्यमकार्यं स्यात्कर्म कार्यं विवर्जितम् ॥

क्योंकि दोष, काल तथा बल के अनुसार कभी २ ऐसी भी अवस्था उपस्थित हो जाती है कि उस समय शास्त्र में कही हुई विधियों नहीं वर्ती जातीं किन्तु वर्जित विधि से ही काम ली जाती है ॥

ॐविवर्जितं कर्म कर्तव्यं भवतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

'विवर्जितं कर्म कर्तव्यं भवति' अर्थात् वर्जित की हुई 'विधियां' की जाती हैं' ॥ ३१ ॥

अथ चिकित्सायाः फलमाह—

क्वचिदर्थः क्वचिन्मैत्री क्वचिद्धर्मः क्वचिद्यशः । कर्माभ्यासः क्वचिच्चेति चिकित्सा नास्ति निष्फला ॥

आयुर्वेदोदितां युक्तिं कुर्वाणाश्च हिताय[1] ये । पुण्यायुर्वृद्धिसंयुक्ता नीरोगाश्च भवन्ति ते ॥

---

१. 'विहिताश्चे'ति पाठा० ।

चिकित्सा करने से फल—चिकित्सा करने से कहीं धन, कहीं मित्रता, कहीं धर्म, कहीं यश और कहीं चिकित्सा करने के अभ्यास का ही लाभ होता है। अत एव चिकित्सा कभी निष्फल नहीं होती। जो चिकित्सक केवल रोगी की हित कामना से ही आयुर्वेदशास्त्र में कही हुई युक्तियों से चिकित्सा करते हैं उनके पुण्य तथा आयु की वृद्धि होती है और वे नीरोग भी होते हैं ॥३२ ३३॥

अथ धनिभ्योऽर्थग्रहणं वैद्यानां समुचितमित्याह—

नैव कुर्वीत लोभेन चिकित्सापुण्यविक्रयम्। ईश्वराणां वसुमतां लिप्सेतार्थं तु वृत्तये ॥ ३४ ॥

धनियों से धन लेकर चिकित्सा का विधान—लोभ से धन लेकर चिकित्सा करने से उत्पन्न हुये महान् पुण्य का विक्रय न करे, किन्तु यदि जीवन निर्वाह के लिये धन लेना पड़े तो धनवान् तथा सामर्थ्यशाली से धन ग्रहण करने की इच्छा करे किन्तु गरीबों से धन न लेवे ॥ ३४ ॥

अथ निःशुल्ककारितचिकित्साफलमाह—

चिकित्सितं शरीरं यो न निष्क्रीणाति दुर्मतिः। स यत्करोति सुकृतं सर्वं तद्भिषगश्नुते ॥

निःशुल्क चिकित्सा कराने में दोष—जो मूढ़ रोगी आरोग्य लाभ करने के पश्चात् चिकित्सक को धनादि नहीं देता वह जो कुछ पुण्य करता है, सब वैद्य को मिल जाता है। (अतः वैद्य को शक्त्यनुसार अवश्य कुछ देकर चिकित्सा करानी चाहिये) ॥ ३५ ॥

अथ वैद्यवृत्तिः सर्वत्र सुसिद्धेत्याह—

न देशो मनुजैर्हीनो न मनुष्या निरामयाः। ततः सर्वत्र वैद्यानां सुसिद्धा एव वृत्तयः ॥

वैद्य की चिकित्सा-वृत्ति का प्रसार—कोई देश मनुष्यों से हीन नहीं है और कोई मनुष्य रोग से हीन नहीं है अतः सर्वत्र वैद्यों की वृत्ति (आजीविका) सर्वथा सिद्ध (बनी बनाई) है ॥ ३६ ॥

अथ चिकित्साया अङ्गान्याह—

रोगी दूतो भिषग्दीर्घमायुर्द्रव्यं सुसेवकः। सदौषधं चिकित्साया इत्यङ्गानि बुधा जगुः ॥

चिकित्सा के अङ्ग—१ रोगी, २ दूत, ३ वैद्य, ४ दीर्घ आयु, ५ द्रव्य, ६ सुन्दरसेवक और ७ उत्तम औषध इन सबों को चिकित्सा का अङ्ग कहा है अर्थात् बिना इनके चिकित्सा नहीं हो सकती ॥ ३७ ॥

तत्र रोगिणो लक्षणमाह—

रोगो यस्यास्ति रोगी स स चिकित्स्यस्तु यादृशः। यादृशश्चाचिकित्स्योऽपि वक्ष्यमाणो निशम्यताम् ॥

रोगी के लक्षण—जिसे रोग हो वह रोगी कहलाता है। वह रोगी जिस प्रकार चिकित्सा करने के योग्य अथवा अयोग्य होता है उसके लक्षण आगे कह रहे हैं ॥ ३८ ॥

तत्र चिकित्स्यस्य लक्षणमाह—

निजप्रकृतिवर्णाभ्यां युक्तः सत्त्वेन चक्षुषा। चिकित्स्यो भिषजां रोगी वैद्यभक्तो जितेन्द्रियः ॥

चिकित्स्य रोगी के लक्षण—वैद्यों के लिये वही रोगी चिकित्सा करने योग्य है जिसकी प्रकृति तथा शरीर का रङ्ग बदला न हो एवं सत्त्व से युक्त तथा देखने की शक्ति जिसकी बनी हो तथा वैद्य में भक्ति रखनेवाला और जितेन्द्रिय हो ॥ ३९ ॥

* सत्त्वं = व्यसनाभ्युदयक्रियादिष्वविह्वलताकरं, तेन युक्तः। चक्षुषा = चक्षुरुपलक्षितेन, ततोऽन्येनापीन्द्रियेण। चिकित्स्यः = रोगान्मोचयितव्यः ॥ ३९ ॥

सत्त्व से युक्त अर्थात् विपत्ति तथा अभ्युदय (तरक्की) होने पर विह्वल न होना 'सत्त्व' कहलाता है उससे युक्त तथा 'चक्षुरिन्द्रिय' यह उपलक्षण मात्र है अतः चक्षुरिन्द्रिय के साथ-साथ जिसकी और भी इन्द्रियाँ नाक, कान आदि अपने २ विषयों के ग्रहण करने योग्य बनी हों

एवं 'चिकित्स्य' पद से 'रोग से मुक्त करने योग्य अर्थात् चिकित्सा करने के योग्य' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ३९ ॥

अन्यच्च—

आयुष्मान्सत्त्ववान्साध्यो द्रव्यवान्मित्रवानपि। चिकित्स्यो भिषजां रोगी वैद्यवाक्यकृदास्तिकः॥

और भी कहा है कि वैद्य को उसी रोगी की चिकित्सा करनी चाहिये—जिसकी आयु शेष हो अर्थात् जो आयुष्मान् हो और सत्त्ववान् , साध्य रोग से युक्त, द्रव्यवान् , मित्रवान् (हितैषी), वैद्य के कथनानुसार कार्य करनेवाला और आस्तिक हो ॥ ४० ॥

ॐ आयुर्वेदोऽस्तीति मतिर्यस्य स आस्तिकः ॥ ४० ॥

यहाँ 'आस्तिक' से 'आयुर्वेद शास्त्र है ऐसी मति जिसकी हो, वह आस्तिक कहलाता है' ॥४०॥

अथाचिकित्स्यस्य लक्षणमाह—

चण्डः साहसिको भीरुः कृतघ्नो व्यग्र एव च। शोकाकुलो मुमूर्षुश्च विहीनः करणैश्च यः ॥
वैरी वैद्यविदग्धश्च श्रद्धाहीनश्च शङ्कितः। भिषजामविधेयः एयुर्नोपक्रम्या भिषग्विधाः ॥

अचिकित्स्य रोगी के लक्षण—अत्यन्त क्रोधी, विना विचार किये कार्य करने वाला, भीरु, कृतघ्न, व्यग्र, शोक से आकुल, मृत्यु की इच्छा रखने वाला, इन्द्रियों से विहीन, वैरी, वैद्यों के साथ धूर्त्तता करनेवाला तथा वैद्यों के वचनों पर न चलनेवाला एवं अपने को वैद्यों के समान माननेवाला रोगी चिकित्सा करने के योग्य नहीं होता है ॥ ४१-४२ ॥

ॐ चण्डोऽत्यन्तक्रोधशीलः। साहसिकः = अविचार्यकारी। भीरुर्भयशीलः। कृतघ्नो = वैद्यकृतोपकारलोपकः। व्यग्रः = व्याकुलः। विहीनः करणैश्च यः = [1]नेत्रादीन्द्रियशक्तिरहितः॥ वैरी न चिकित्स्यः कदाचिद्रोगोद्रेकेऽपवादभयात्। वैद्यविदग्धो = वैद्यधूर्त्तः। शंकितो = वैद्यविश्वासरहितः। भिषजामविधेयाः=वैद्यवचनाविधायिनः। भिषग्विधाः = वैद्यतुल्याः। एते न उपक्रम्याः = न चिकित्स्याः। तथा च सुश्रुतः—

स न सिद्ध्यति वैद्यस्तु गृहे यस्य न पूज्यते ॥ ४१-४२ ॥

यहाँ 'चण्ड' से 'अत्यन्त क्रोध करने का जिसका स्वभाव हो'। 'साहसिकः' से 'विना विचार किये कार्य करने वाला'। 'भीरुः' से 'डरपोक'। 'कृतघ्नः' से 'वैद्य के किये हुये उपकार को न मानने वाला'। 'व्यग्रः' से 'व्याकुल चित्त वाला' और 'विहीनः करणैश्च यः' से 'जो नेत्रादि इन्द्रियों की शक्ति से रहित हो' यह अर्थ समझना चाहिये। और 'वैरी' का नाम इसलिये लिया गया है, कि यदि उसकी चिकित्सा की जाय और बाद में कदाचित् उसका रोग बढ़ जाय तो वह अपवाद लगावेगा इस भय से वह अचिकित्स्य है। 'वैद्यविदग्धः' से 'वैद्यों के साथ धूर्त्तता करने वाला'। 'शङ्कितः' से 'वैद्य के ऊपर विश्वास नहीं रखने वाला'। 'भिषजामविधेयाः' से 'वैद्यों के वचन को न करने वाला'। 'भिषग्विधाः' से 'अपने को वैद्यों के समान मानने वाला'। 'एते न उपक्रम्याः' अर्थात् 'ये चिकित्सा करने के योग्य नहीं होते हैं'। यह अर्थ समझना चाहिये। इसी विषय में 'सुश्रुत' कहते हैं कि—'वह रोगी आरोग्य लाभ नहीं कर सकता जिसके गृह में वैद्य का सम्मान नहीं होता है' ॥ ४१-४२ ॥

अथाचिकित्स्यानां चिकित्सानिषेधमाह—

एतानुपाचरन् वैद्यो बहून् दोषानवाप्नुयात् ॥ ४३ ॥

अचिकित्स्य रोगियों की चिकित्सा का निषेध—पूर्वोक्त अचिकित्स्य रोगियों की यदि कोई वैद्य चिकित्सा करता है तो वह अनेक दोषों को प्राप्त करता है ॥ ४३ ॥

---

१. 'निजेन्द्रिये'ति पाठा०।

अथ दूतस्य लक्षणमाह—

यश्चिकित्सकमानेतुं याति दूतः स कथ्यते । स च यादृक् समुचितस्तादृगत्र निगद्यते ॥४४॥
दूताः सुजातयोऽव्यङ्गाः पटवो निर्मलाम्बराः । सुखिनोऽश्ववृषारूढाः शुभ्रपुष्पफलैर्युताः ॥
सजातयः सुचेष्टाश्च सजीवदिशि सङ्गताः । भिषजं समये प्राप्ता रोगिणः सुखहेतवे ॥ ४६ ॥

दूत के लक्षण—जो चिकित्सक को ले आने के लिये जाता है उसे दूत कहते हैं, वह जैसा उचित होता है वैसा कहते हैं—जो दूत होकर वैद्य के पास जाय वह अच्छी जाति का हो एवं किसी अङ्ग से हीन न हो तथा चतुर, स्वच्छ वस्त्र पहने हुये, सुखी (प्रसन्न चित्त), घोड़ा या बैलगाड़ी पर चढ़ा हुआ सफेद पुष्प एवं फल से युक्त सजातिक, अच्छी चेष्टा से युक्त, वैद्य के पास जाकर सजीव अर्थात् नासिका के जिस भाग से श्वास चलता हो उसी भाग में बैठने वाला और वैद्य के मिलने का जो समय हो उसी में उसके घर पहुंचने वाला इस प्रकार के जो दूत होते हैं वे ही रोगी के सुख के हेतु (सुख पहुँचाने वाले) होते हैं ॥ ४४-४६ ॥

* सजातयः = रोगिसमानजातयः ।

यस्यां प्राणमवहाति सा नाडी जीवसंज्ञिता ॥ ५ ॥ ४६ ॥

यहाँ 'सजातयः' से 'रोगी के समान जातिवाले' और 'सजीवदिशि सङ्गताः' पद में स्थित 'जीव' पद से यह अर्थ समझना चाहिये कि 'जिस नासिका में प्राणवायु अर्थात् श्वास बहता हो वह नाड़ी जीवसंज्ञक कहलाती है' और इससे यह भी समझना चाहिये कि 'यदि दहिना श्वास चलता हो तो दाहिनी ओर बायाँ श्वास चलता हो तो बायीं ओर वैद्य के पास जाकर बैठे' ॥ ४६ ॥

अथ दूतस्य यात्रायां शकुनविचारमाह—

वैद्याह्वानाय दूतस्य गच्छतो रोगिणः कृते । न शुभं सौम्यशकुनं प्रदीप्तं तु सुखावहम् ॥४७॥

दूत के शकुन विचार—रोगी के लिये वैद्य को बुलाने जाते हुये दूत को मार्ग में यदि सौम्य शकुन हों तो अशुभ और अग्नि आदि प्रदीप्त शकुन हों तो शुभसूचक होता है ॥ ४७ ॥

*प्रदीप्तमग्निम् ॥ ४७ ॥

यहाँ 'प्रदीप्त' पद से 'अग्नि' का ग्रहण करना चाहिये ॥ ४७ ॥

अथ दूतो रोगी च रिक्तहस्तो वैद्यं न पश्येदित्याह—

तथाहि-रिक्तहस्तो न पश्येत्तु राजानं भिषजं गुरुम् । दैवज्ञं देवतां मित्रं फलेन फलमादिशेत् ॥

दूत तथा रोगी को खाली हाथ राजा, वैद्य आदि के दर्शन करने का निषेध—खाली हाथ होकर राजा, वैद्य, गुरु, ज्योतिषी, देवता और मित्र का दर्शन नहीं करना चाहिये । नारियल आदि कोई फल लेकर दर्शन करने से शुभ फल की प्राप्ति होती है ॥ ४८ ॥

अथ सुवैद्यस्य लक्षणमाह—

चिकित्सां कुरुते यस्तु स चिकित्सक उच्यते । स च यादृक्समीचीनस्तादृशोऽपि निगद्यते ॥
तत्त्वाधिगतशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा स्वयंकृती । लघुहस्तः शुचिः शूरः सज्जोपस्करभेषजः ॥ ५० ॥
प्रत्युत्पन्नमतिर्धीमान् व्यवसायी प्रियंवदः । सत्यधर्मपरो यश्च वैद्य ईदृक् प्रशस्यते ॥ ५१ ॥

चिकित्सक के लक्षण—जो चिकित्सा करता है, वही चिकित्सक कहलाता है किन्तु आयुर्वेद शास्त्र के तत्त्व का जानने वाला, चिकित्सा करते हुये दूसरे (वैद्यों) को देखा हो तथा स्वयं भी चिकित्सा में निपुण हो एवं जिसके हाथ में रोगी को आरोग्य करने की सिद्धि हो और जो पवित्र और शूर हो तथा जिसके पास औषध प्रस्तुत (तयार) हो, प्रत्युत्पन्न मतिवाला अर्थात् जिसे समय पर कर्त्तव्य कर्म की स्फूर्ति होती हो और जो बुद्धिमान् , व्यवसायी (उद्योगी), प्रियभाषी, सत्य तथा धर्म में तत्पर रहनेवाला इन सब लक्षणों से युक्त हो वही श्रेष्ठ चिकित्सक कहलाता है ॥

ॐ दृष्टकर्मा = दृष्टा परेण कृता चिकित्सा येन सः। स्वयंकृती = स्वयं चिकित्साकुशलः। लघुहस्तः = सिद्धिमद्धस्तः ॥ ४९-५१ ॥

यहाँ 'दृष्टकर्मा' से 'जिसने चिकित्सा करते हुये दूसरे को देखा हो' एवं 'स्वयंकृती' से जो "स्वयं चिकित्सा करने में कुशल हो' तथा 'लघुहस्त' से 'जिसके हाथ में रोगी को आरोग्य करने की सिद्धि हो' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ४९-५१ ॥

अथ निषिद्धवैद्यस्य लक्षणमाह—

कुचैलः कर्कशः स्तब्धो ग्रामीणः स्वयमागतः। पञ्च वैद्या न पूज्यन्ते धन्वन्तरिसमा यदि ॥

निषिद्ध वैद्य के लक्षण—मैला-कुचेला रहनेवाला, अप्रिय बोलने वाला, अभिमानी, गंवार, बिना बुलाये आनेवाला ये ५ प्रकार के वैद्य यदि 'धन्वन्तरि' के समान हो क्यों न हों तो भी चिकित्सा कराने योग्य नहीं होते हैं ॥ ५२ ॥

ॐ कर्कशः = अप्रियवादी। स्तब्धः = साभिमानः। ग्रामीणः = व्यवहाराचतुरः ॥ ५२ ॥

यहाँ 'कर्कश' से 'अप्रिय बोलनेवाला' एवं 'स्तब्ध' से 'अभिमानी' और 'ग्रामीण' से 'गँवार अर्थात् लोक व्यवहार में मूर्ख' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ५२ ॥

अथ वैद्यस्य कर्माह—

व्याधेस्तत्त्वपरिज्ञानं वेदनायाश्च निग्रहः। एतद्वैद्यस्य वैद्यत्वं न वैद्यः प्रभुरायुषः ॥ ५३ ॥

वैद्य का कर्त्तव्य—रोग का यथार्थरूप से समझना तथा रोगी के कष्ट को दूर करना ये ही वस्तुतः वैद्य के मुख्य कर्म हैं, आयु का प्रभु तो वैद्य नहीं (भगवान् होता) है अर्थात् रोगी के मृत्यु को हटाना वैद्य का कर्म नहीं है ॥ ५३ ॥

ॐ अस्यायमर्थः—व्याधेः सम्यक् परिचयो [1]वेदनायाः शान्तिकरणं च वैद्यस्य कर्म, न तु वैद्य आयुषः प्रभुरित्यर्थः। अपरे तु एवं व्याचक्षते—व्याधेस्तत्त्वतः परिचयो वेदनायाः शान्तिकरणं च। एतदेव न वैद्यस्य वैद्यत्वं किन्तु वैद्य आयुषोऽपि प्रभुः, आगन्तुमृत्युशताहरणात्।

श्लोक का तात्पर्यार्थ यह है कि—रोग का भलीभाँति समझना तथा कष्ट को दूर करना ही वैद्य के मुख्य कर्त्तव्य हैं न कि वैद्य आयु बढ़ाने में समर्थ होते हैं। कोई तो उपर्युक्त वचन का यह अर्थ करते हैं कि यथार्थ रूप से रोग का पहिचानना तथा कष्ट को दूर करना ही केवल वैद्य के कर्म नहीं हैं किन्तु वैद्य आयु के बढ़ाने में भी समर्थ होते हैं। क्योंकि वे एक सौ जो 'आगन्तुक' संज्ञक मृत्यु हैं उनके दूर करने वाले होते हैं।

• तथा च सुश्रुते धन्वन्तरिः—

एकोत्तरं मृत्युशतमथर्वाणः प्रचक्षते। तत्रैकः कालसंयुक्तः शेषास्त्वागन्तवः स्मृताः ॥ ५ ॥

इसी विषय को 'सुश्रुत' में 'धन्वन्तरि' भी कहते हैं कि—अथर्ववेदान्तर्गत आयुर्वेद तत्त्वज्ञ के मतानुसार मृत्यु एक सौ एक प्रकार की होती है। उसमें एक कालसंज्ञक मृत्यु है और शेष एक सौ मृत्यु आगन्तुक संज्ञक हैं ॥ ५ ॥

ॐ अयमर्थः—अथर्वाणः अथर्वतत्त्वज्ञत्वेन अथर्वतुल्याः मृत्युमेकोत्तरशतं प्रचक्षते तत्रैको मृत्युः कालसंयुक्तः। कालः = आयुषोऽन्ते शरीरिणामवश्यं संहर्ता। सर्वैरुपायैर्निवारयितुमशक्यः स ब्रह्मादीनायुषोऽन्ते संहरति ॥ अत आह लिङ्गपुराणे कार्त्तिकेयं प्रति महादेवः—

'ममायुर्ग्रसते कालः कुतः पुत्र रसायनम् ॥ ६ ॥' इति ॥

---

१. 'व्यथाया' इति पा०।

उपर्युक्त श्लोकों का भावार्थ यह है कि—'अथर्वाणः' अर्थात 'अथर्ववेदान्तर्गत आयुर्वेद के तत्त्वों के ज्ञाता होने से विद्वान् भी लक्षणा के द्वारा अथर्व तुल्य ही समझे जाते हैं' अत एव 'अथर्वाणः' पद का प्रयोग हुआ है किन्तु वास्तव में उसका 'अथर्वतत्त्वज्ञ' ही अर्थ समझा जाता है। अस्तु, अथर्वतत्त्वज्ञ पण्डित लोग एक सौ एक प्रकार की मृत्यु कहते हैं उसमें से एक मृत्यु काल संयुक्त है अर्थात कालसंज्ञक है। कालसंज्ञक मृत्यु वह कहलाती है जो आयु के समाप्त होने के समय प्राणियों का अवश्य संहार करती है अर्थात सभी प्रकार के उपायों के करने पर भी जिसका निवारण नहीं होता। यहां तक कि ब्रह्मादि की भी आयु समाप्त होने पर उनका संहार करती है। अत एव 'लिङ्ग पुराण' में 'कार्त्तिकेय' के प्रति संहारकर्त्ता 'श्रीमहादेव जी' कहते हैं कि—'हे पुत्र! काल मेरी आयु का भी ग्रास करता है तब रसायन कहां है अर्थात कालसंज्ञक मृत्यु के लिये रसायन नहीं फल देता है'॥

॥ तेन कालेन संयुक्तः संहाराय नियुक्तः सोऽवश्यम्भावी। शेषाः शतं मृत्यवः, आगन्तवः = आगन्तुरूपहेतुजन्मानः कार्यकारणयोरभेदोपचारात्।

इस प्रकार काल संयुक्त जो मृत्यु है वह सम्पूर्ण जगत के संहार करने के लिये नियुक्त है अत एव वह अवश्य होने वाली मृत्यु कहलाती है। शेष जो १०० प्रकार की मृत्यु हैं ये 'आगन्तुक' कहलाती हैं अर्थात 'आगन्तुक' रूप कारणों से उत्पन्न होने वाली होती हैं अत एव 'आगन्तुक' कहलाती है। यहाँ 'आगन्तुक' से उत्पन्न होकर भी जो 'आगन्तुक' ही कहलाती है उसका कारण यह है कि कार्य और कारण का दार्शनिकों ने अभेद माना है अतः लाक्षणिक प्रयोग समझना चाहिये॥

॥ आगन्तवो हेतवो यथा—विषभक्षणमजीर्णमत्यन्तभोजनं च, दुर्देशजलपानम्, तथाऽतिबलवैरिव्याघ्रवनमहिषमत्तमातङ्गादिभिर्युद्धम्, दन्दशूकेन क्रीडनम्, अत्युच्चवृक्षाग्रारोहणम्, बाहुभ्यां महातरङ्गिणीतरणम्, एकाकिनो रात्रौ दुर्गे मार्गे गमनमित्यादि ॥ ५ ॥

आगन्तुक हेतु—विष भक्षण, अजीर्ण और अत्यन्त भोजन, दुष्ट देशों का (जहां का पानी लगता हो ऐसे देशों का) जल पीना तथा अत्यन्त बलवान् वैरी, व्याघ्र, जङ्गली भैंसा और मतवाला हाथी आदि के साथ युद्ध करना, विषधर सर्पादिकों के साथ खेल करना, अत्यन्त ऊंचे वृक्षों के अग्र भाग पर चढ़ना, हाथों से तैर कर बड़ी नदियों का पार करना, अकेले रात्रि में दुर्गम मार्ग से जाना इत्यादि आगन्तुक हेतु हैं॥ ५॥

॥ आगन्तुहेतुजा मृत्यवो दुर्निमित्तभाविभावनाबलत्वाद् आयुषि सत्यपि मारयन्ति। यथा मल्लिकातैलवर्तिवह्निषु विद्यमानेषु वात्यया दीपं नाशयति ॥ तथा च—
यथा सत्यपि तैलादौ दीपं निर्वापयेन्मरुत् ॥ एवमायुष्यहीनेऽपि हिंसन्त्यागन्तुमृत्यवः ॥

आगन्तुक हेतुओं से होनेवाली जितनी मृत्यु हैं वे सब हेतुओं के दुष्ट होने से होनहार की प्रबलता द्वारा आयु रहते हुए भी प्राणियों को मार डालती है। जैसे—दीपक, तैल, बत्ती और अग्नि के रहते हुये भी वात्या (आँधी) दीप को बुझा देती है। इसी विषय में ग्रन्थान्तर में भी कहा है कि—जिस प्रकार तैलादि के रहते हुये भी वायु दीपक को बुझा देती है उसी प्रकार आयु के रहते हुये भी आगन्तुक मृत्यु प्राणियों को नष्ट कर डालती है॥ ७॥

॥ किन्तु आगन्तुनिमित्तानि निवारयितुं च शक्यन्ते। यत आह सुश्रुते धन्वन्तरिः—
दोषागन्तुनिमित्तेभ्यो रसमन्त्रविशारदौ। रक्षेतां नृपतिं नित्यं यत्नाद्वैद्यपुरोहितौ ॥ ८ ॥

आगन्तुक मृत्युओं के जो उपर्युक्त कारण हैं उनका निवारण अवश्य हो सकता है क्योंकि इसी विषय में सुश्रुत ग्रन्थ में धन्वन्तरि कहते हैं कि-रसविशारद (पण्डित) वैद्य तथा मन्त्रविशारद पुरोहित इन दोनों को चाहिये कि वे दोष तथा विषादि आगन्तुक कारणों से यत्नपूर्वक राजा की रक्षा करें॥ ८॥

* वैद्यमन्त्रिणौ नृपतिं नित्यं यत्नाद्रक्षेताम् । कुतः ? दोषागन्तुनिमित्तेभ्यः । दोषाः = निषिद्धाहारविहारदूषिता वातपित्तकफा रोगोत्पादकाः, आगन्तवः = निषिद्धा विहारा अतिवैरिविग्रहादयः, ते निमित्तानि येषां, तेभ्यः = शतमृत्युभ्यः । वैद्यपुरोहितौ कथं शतं मृत्यून् निवारयितुं शक्तौ तदाह—यतस्तौ रसमन्त्रविशारदौ, प्रथमं वैद्यो दिनचर्यारात्रिचर्यर्तुचर्योक्ताहारविहाराभ्यां वातपित्तकफधातुमलान्समानेव रक्षति ततो रसज्ञत्वाद्रसैर्मृत्युञ्जयादिभिर्निषिद्धाहारविहारदूषितदोषजनितान्विकारान्मृत्युहेतूनपहरति । मन्त्री च सद्बुद्धिदानेन मृत्युहेतुभ्यो निषिद्धविहारेभ्यो नृपतिं निवारयति । तत आगन्तुमृत्यवो निवारयितुं शक्या नत्ववश्यम्भाविनः ॥ ५३ ॥

उपर्युक्त श्लोक का भावार्थ यह है कि—वैद्य और मन्त्री (पुरोहित) दोनों नित्य प्रति राजा की यत्नपूर्वक रक्षा करें, किससे ? तो वातादि दोष तथा विषादि आगन्तुक कारणों से अर्थात् दोष जो निषिद्ध आहार विहारादि करने से दूषित हुये अत एव रोगों के उत्पन्न करनेवाले वात, पित्त और कफ हैं तथा आगन्तुक जो निषिद्ध विहार तथा बलवान् शत्रु के साथ युद्ध करना इत्यादि हैं इन सब कारणों से उत्पन्न होनेवाली जो सौ प्रकार की मृत्यु हैं उनसे और वैद्य तथा पुरोहित ये दोनों कैसे सौ प्रकार की मृत्युओं को हटाने में समर्थ हो सकते हैं ? इस शङ्का की निवृत्ति करने के लिये कहते हैं—क्योंकि वे दोनों रसमन्त्र विशारद हैं अर्थात् वैद्य रसविशारद है और पुरोहित मन्त्रविशारद है उसमें प्रथम वैद्य दिनचर्या, रात्रिचर्या और ऋतुचर्या में कहे हुए आहार तथा विहार कराने से वात, पित्त, कफ इन धातुओं को तथा मल को समान भाव से रखकर रक्षा करे तदनन्तर वह रसविशारद अर्थात् रस का जानने वाला है अत एव रस जो मृत्युञ्जयादि हैं उनके द्वारा जो निषिद्ध आहार तथा विहार के करने से दूषित हुए दोषों से उत्पन्न होनेवाले मृत्यु के कारणस्वरूप विकार (रोग) हैं उनको दूर करे और मन्त्री अर्थात् पुरोहित सद्बुद्धि (अच्छी सलाह) देने के द्वारा मृत्यु के कारण जो निषिद्ध विहार बलवान् शत्रुओं के साथ लड़ना आदि हैं उनसे राजा को दूर रक्खे । इससे आगन्तुक मृत्यु निवारण करने के योग्य ही होती हैं न कि अवश्यम्भावी (नहीं निवारण करने के योग्य) होती हैं ॥ ८ ॥ ५३ ॥

अथायुर्विचारमाह—

भिषगादौ परीक्षेत रुग्णस्यायुः प्रयत्नतः । तत आयुषि विस्तीर्णे चिकित्सा सफला भवेत् ॥

रोगी के प्रथम आयु का विचार—वैद्य प्रथम यत्नपूर्वक रोगी के आयु की परीक्षा करे क्योंकि आयु रहने पर ही चिकित्सा सफल होती है ॥ ५४ ॥

अथ दीर्घायुषो लक्षणान्याह—

सौम्या दृष्टिर्भवेद्यस्य श्रोत्रं वक्त्रं तथैव च ।
स्वादु गन्धं विजानाति स साध्यो नात्र संशयः ॥ ५५ ॥
पाणिपादौ च यस्योष्णौ दाहः स्वल्पतरो भवेत् ।
जिह्वा तु कोमला यस्य स रोगी न विनश्यति ॥ ५६ ॥
स्वेदहीनो ज्वरो यस्य श्वासो नासिकया चरेत् ।
कण्ठश्च कफहीनः स्यात्स रोगी जीवति ध्रुवम् ॥ ५७ ॥
यस्य निद्रा सुखेन स्याच्छरीरं द्युतिमद्भवेत् ।
इन्द्रियाणि प्रसन्नानि स रोगी नैव नश्यति ॥ ५८ ॥

दीर्घायु रोगी के लक्षण—जिस रोगी के आँख, कान तथा मुख सौम्य (विकृति भाव को न प्राप्त) हों तथा जो रस का स्वाद तथा गन्ध की भलाई बुराई को भली भाँति जानता हो वह रोगी

निःसंशय साध्य होता है अर्थात् चिकित्सा करने से निश्चय आरोग्य लाम करता है। जिस रोगी के हाथ पैर गर्म हों, दाह बहुत थोड़ा होता हो, जिह्वा कोमल हो, स्वेद (पसीना) से रहित ज्वर हो, नासिका से श्वास चलता हो, गले में कफ न हो, सुखपूर्वक निद्रा आती हो, शरीर में कान्ति हो और इन्द्रियाँ प्रसन्न हों वह रोगी नहीं मरता है ॥ ५५-५८ ॥

अथ स्वल्पायुषो लक्षणान्याह—

शरीरशीलयोर्यस्य प्रकृतेर्विकृतिर्भवेत्। तदरिष्टं समासेन व्यासतश्च निबोध मे ॥ ५९ ॥

शृणोति विविधाञ्छब्दान्विपरीताञ्छृणोति च।
यो न शृणोति चाकस्मात्तं वदन्ति गतायुषम् ॥ ६० ॥

स्वल्प आयुवाले रोगियों के लक्षण—जिस रोगी के स्वाभाविक शरीर तथा स्वभाव में अन्तर पड़ गया हो, वह उसके लिये अरिष्ट के लक्षण होता है, यह संक्षेप से समझना चाहिये। विस्तृत रूप से अरिष्ट का कारण यह है कि जो रोगी शब्द न होने पर भी अनेक प्रकार के शब्दों को बराबर सुनता हो वा विपरीत शब्दों को सुनता हो अथवा अकस्मात् नहीं सुनने लगता हो उसे गतायु कहते हैं ॥ ५९-६० ॥

यस्तूष्णमिव गृह्णाति शीतमुष्णं च शीतवत्। उष्णगात्रोऽतिमात्रं यो भृशं शीतेन कम्पते ॥

जो शीतल वस्तु को उष्ण वस्तु की भाँति और उष्ण वस्तु को शीतल वस्तु की भाँति ग्रहण करता हो तथा जिसका शरीर वस्त्रादि के ओढने से गर्म होते हुये भी शीत से अत्यन्त कांपता हो उसे भी गतायु कहते हैं ॥ ६१ ॥

* तमपि गतायुषं वदन्तीत्यन्वयः ॥ ६१ ॥

यहां 'उसे भी लोग गतायु कहते हैं' 'यह अन्वय ऊपर के ६० श्लोक से लाकर किया जाता है।

प्रहारं नैव जानाति योऽङ्गच्छेदमथापि[1] वा। पांशुनेवावकीर्णानि यश्च गात्राणि मन्यते ॥

वर्णान्यता वा राज्यो वा यस्य गात्रे भवन्ति हि।
स्नातानुलिप्तं यं चापि भजन्ते नीलमक्षिकाः[2] ॥ ६३ ॥

विपरीतेन गृह्णाति रसान्यश्चोपयोजितान्। यो वा रसान्न संवेत्ति[3] तं गतासुं प्रचक्षते ॥६४॥

जो प्रहार नहीं जानता अर्थात् मारने पर जिसे चोट नहीं मालूम पड़ती या अङ्गों के काटने पर भी जिसे कुछ नहीं मालूम पड़ता और जो अपने अङ्गों को धूलि से भरा हुआ समझता है। एवं जिसके शरीर का वर्ण भिन्न प्रकार का या उसमें बहुत सी रेखायें हो जायँ और स्नान और चन्दनादि का अनुलेपन कर चुकने पर भी जिस के ऊपर नीली मक्खियां आकर बैठने लगें और जो जिस रस का उपयोग करता हो उसे उसके विरुद्ध अर्थात् मधुर को अम्ल और अम्ल को मधुर समझे अथवा किसी भी रस का जिसे ज्ञान न हो उसे लोग शीघ्र मरनेवाला रोगी कहते हैं ॥६२-६४॥

सुगन्धं वेत्ति दुर्गन्धं दुर्गन्धं च सुगन्धवत्। गृह्णाति योऽन्यथा गन्धं शान्ते दीपे निरामयः ॥

जो सुगन्ध को दुर्गन्ध और दुर्गन्ध को सुगन्ध समझे अथवा जो दीप के बुझाने पर जो गन्ध निकलता है उसे सूंघने पर उसके विपरीत गन्ध समझें तो रोगी को कौन कहे, यदि ऐसा स्वस्थ पुरुष भी समझे तो उसे भी गतायु समझना चाहिये ॥ ६५ ॥

रात्रौ सूर्यं ज्वलन्तं वा दिवा वा चन्द्रवर्चसम्।
दिवा ज्योतींषि यश्चापि ज्वलितानीव पश्यति ॥ ६६ ॥

जो रात्रि में सूर्य को चमकते हुये देखे या दिन में सूर्य को चन्द्रमा की भांति शीतल किरणों वाला देखे अथवा दिन में ताराओं को चमकता हुआ देखे तो उसे भी गतायु समझना चाहिये ॥६६॥

---

१. 'गच्छेदन्याथापी'ति पा०। २. 'मालिकाः' इति पा०। ३. 'सेवेते'ति पा०।

⊛ दिवा वा चन्द्रवर्चसं सूर्यमित्यन्वयः। ज्योतींषि = नक्षत्राणि ॥ ६६ ॥

यहां 'चन्द्रवर्चसम्' का 'सूर्यम्' इस पद के साथ अन्वय होता है और 'ज्योतींषि' पद का 'नक्षत्र (तारा)' अर्थ समझना चाहिये ॥ ६६ ॥

विद्युत्वतोऽसितान्मेघानगगने निर्घने घनान्। विमानयानप्रासादैर्यश्च सङ्कुलमम्बरम् ॥६७॥
यश्चानिलं मूर्तिमन्तमन्तरिक्षेऽवलोकते। धूमनीहारवासोभिरावृतामिव मेदिनीम् ॥ ६८ ॥
प्रदीप्तमिव यो लोकं यो वाप्लुतमिवाम्भसा। भूमिमष्टापदाकारां लेखाभिर्यश्च पश्यति ॥६९॥
यो न पश्यति ऋक्षाणि यश्च देवीमरुन्धतीम्। ध्रुवमाकाशगङ्गां च तं वदन्ति गतायुषम् ॥

आदर्शेऽम्बुनि घर्मे वा छायां यश्च न पश्यति।
पश्यत्येकाङ्गहीनां वा विकृतां वाऽन्यसत्त्वजाम् ॥ ७१ ॥

श्वकाककङ्कगृध्राणां प्रेतानां यक्षरक्षसाम्। आतुरो लभते मृत्युं स्वस्थो व्याधिमवाप्नुयात् ॥

जो मेघशून्य निर्मल आकाश में बिजलियों से युक्त घने काले बादलों को देखे तथा आकाश को विमान, वाहन तथा महलों से युक्त देखे और जो आकाश में वायु को मूर्तिमान् (साकार) के समान देखे या पृथ्वी को धूम, कुहरा और वस्त्र से ढँकी हुई के समान देखे या जो जगत् को जलते हुये के समान देखे और जो पृथ्वी को रेखाओं के द्वारा सुवर्ण के समान आकारवाली देखे एवं जो नक्षत्रों को अथवा अरुन्धती नामक तारा, ध्रुवनक्षत्र और आकाशगङ्गा को न देख सके तो उसे गतायु कहते हैं और जो दर्पण, जल वा धूप में अपने प्रतिबिम्ब को न देखता हो अथवा अपने प्रतिबिम्ब या छाया को एक किसी अङ्ग से हीन या विकृति रूपवाली, या कुत्ता, कौवा, कङ्कपक्षी, गिद्ध, प्रेत, यक्ष और राक्षस की अथवा इनसे अन्य किसी प्राणी की छाया के समान देखे तो यदि वह रोगी हो तो उस की मृत्यु निकट होती है और स्वस्थ हो तो उसे शीघ्र रोग होने की संभावना रहती है ॥६७-७२॥

ह्रीश्रियौ नश्यतो यस्य तेन ओजः स्मृतिः प्रभा। अकस्माच्च भजन्ते यं स गतासुरसंशयम् ॥

अकस्मात् जिसकी लज्जा, शोभा, तेज, ओज, स्मरणशक्ति और प्रतिभा ये सब नष्ट हो जायं या अकस्मात् ये सब प्राप्त हो जावें तो उसे निःसन्देह गतायु समझना चाहिये ॥ ७३ ॥

⊛ प्रभा = प्रतिभा ॥ ७३ ॥

यहां 'प्रभा' का 'प्रतिभा' अर्थ समझना चाहिये ॥ ७३ ॥

यस्याधरौष्ठः पतितः क्षिप्तोश्चोर्ध्वं तथोत्तरः। उभौ वा जाम्बवाभासौ दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥

आरक्ता दशना यस्य श्यावा वा स्युः पतन्ति वा।
खञ्जनप्रतिभा[1] वापि तं गतायुषमादिशेत् ॥ ७५ ॥
कृष्णा तथाऽनुलिप्ता च जिह्वा शून्या च यस्य वै।
कर्कशा वा भवेद्यस्य सोऽचिराद्विजहात्यसून् ॥ ७६ ॥

जिसका नीचेवाला ओष्ठ नीचे को लटक जाय और ऊपर का ओष्ठ ऊपर की ओर उठ जाय अथवा जामुन के रङ्ग का हो जाय तो उसका जीना दुर्लभ समझना चाहिये और जिसके सब दांत लाल वर्ण तथा श्याव अर्थात् धूम्र वर्ण के हो जायँ या गिर जायँ या खञ्जन पक्षी के तुल्य वर्ण के हो जायँ तो उसे गतायु समझना चाहिये और जिसकी जिह्वा काली पड़ जाय या मल से लिपटी हुई तथा रस ग्रहण करने में शून्य या कर्कश अर्थात् खुरदरी हो जाय तो वह बहुत शीघ्र प्राणों को छोड़ता है (मर जाता है) ॥ ७४-७६ ॥

कुटिला स्फुटिता वाऽपि शुष्का वा यस्य नासिका।
अवस्फूर्जति भग्ना वा स न जीवति मानवः ॥ ७७ ॥

---

१. 'प्रतिमे'ति पा०।

जिसकी नाक टेढ़ी, फटी सूखी वा झुकी सी हो या श्वास के वेग से जोर शब्द करती हो तो वह मनुष्य नहीं जीता है ।। ७७ ।।

* स्फूर्जंति = श्वासवेगेनोच्चैः शब्दं करोतीत्यर्थः ॥ ७७ ॥

'स्फूर्जंति' का 'श्वास के वेग से जोर शब्द करती हो' यह अर्थ समझना चाहिये ।। ७७ ।।

संक्षिप्ते विषमे स्तब्धे रूक्षे सास्रे च लोचने । स्यातां परिश्रुते यस्य स गतायुर्नरो ध्रुवम् ॥७८॥

जिसके दोनों नेत्र सङ्कुचित, विषम (छोटे बड़े), पथराये हुये, रूखे, आँसुओं से भरे अथवा आँसू गिरते हुये हों तो निश्चय उस मनुष्य को गतायु समझना चाहिये ॥ ७८ ॥

केशाः सीमन्तिनो यस्य संक्षिप्ते विनते भ्रुवौ ।
लुठन्ति चाक्षिपक्ष्माणि सोऽचिराद्याति मृत्यवे ॥ ७९ ॥

जिसके बालों में कङ्घी से सँवारने के समान बीच में सीमन्त (माँग) बन जाय एवं दोनों भौंहें सिकुड़ी तथा झुकी हुई हो जायँ या आंखों के ऊपर के बाल (बरौनी) झड़ जायँ तो वह शीघ्र मृत्यु को प्राप्त करता है ॥ ७९ ॥

* लुठन्ति = पतन्ति ॥ ७९ ॥

'लुठन्ति' का 'गिर जायँ' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७९ ॥

नाहरत्यन्नमास्यस्थं न धारयति यः शिरः । एकाग्रदृष्टिर्मूढात्मा सद्यः प्राणान्विमुञ्चति ॥८०॥
उत्थाप्यमानो बहुशः संमोहं योऽधिगच्छति । बलवान्दुर्बलो वापि तं पक्वं भिषगादिशेत् ॥
निद्रा निरन्तरं यस्य यो जागर्त्ति च सर्वदा । मुह्येद्वा वक्तुकामश्च प्रत्याख्येयः स जानता ॥

जो रोगी मुख में रखे हुए अन्न को नहीं निगल सके या शिर धारण न कर सके अर्थात् जिसका शिर सीधा करने पर भी लटक जाय या जिसकी दृष्टि एकाग्र अर्थात् एक ही लक्ष्य पर स्थिर हो जाय या जिसका मन भ्रान्त हो गया हो और जो बारंबार उठाने पर भी मोह को प्राप्त हो जाय ऐसा रोगी चाहे बलवान् हो अथवा दुर्बल हो किन्तु उसे वैद्य गण मरने के विषय में पक्व अर्थात् शीघ्र मरने वाला समझें, या जिसे निरन्तर नींद आती हो अथवा जो सदा जागता ही रहता हो या जो कुछ कहने की इच्छा करता हो किन्तु मोह को प्राप्त हो जाय अर्थात् जो कहना चाहे उसे भूल जाय ऐसे रोगी को, जो ज्ञानवान् वैद्य हों, उन्हें चाहिये कि चिकित्सा करने के सम्बन्ध में प्रत्याख्यान (इनकार) कर दें ॥ ८०-८२ ॥

उत्तरौष्ठं च यो लिह्यादुत्करांश्च करोति यः । प्रेतैर्वा भाषते सार्यं प्रेतरूपं तमादिशेत् ॥ ८३ ॥

जो रोगी ऊपर के ओष्ठ को चाटे या हाथ पैर फेंके या सायङ्काल में प्रेतों के साथ बात-चीत करे उसे वैद्य लोग प्रेतरूप अर्थात् मरा हुआ ही समझें ॥ ८३ ॥

* उत्करान् = हस्तपादादिविक्षेपान् ॥ ८३ ॥

'उत्करान्' पद का 'हाथ पैर फेंकना' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ८३ ॥

खेभ्यश्च रोमकूपेभ्यो यस्य रक्तं प्रवर्तते । पुरुषस्याविषार्तस्य स सद्यो जीवितं त्यजेत् ॥८४॥
सम्यक् चिकित्स्यमानस्य विकारो योऽभिवर्धते । प्रक्षीणबलमांसस्य लक्षणं तद्गतायुषः ॥

जिस रोगी के मुख, नासिका आदि छिद्रों से तथा रोमकूपों से रक्त बहने लगे तो वह अगर विष से पीड़ित नहीं है तो उसे शीघ्र मरने वाला समझना चाहिये । एवं जिसकी भली भाँति चिकित्सा होती हो किन्तु फिर भी उसका रोग बढ़ता ही जाता हो तथा उसका बल और मांस क्षीण हो गया हो तो उसके शीघ्र मरने के लक्षण उपस्थित हो गये हैं ऐसा समझना चाहिये ॥८४-८५॥

अथ गतायुषां पुरुषाणामोषधिप्रदानमकिञ्चित्करं भवतीत्यत्र हेतुमाह—

भूताः प्रेताः पिशाचाश्च रक्षांसि विविधानि च । मरणाभिमुखं जन्तुमुपसर्पन्ति नित्यशः ॥

तानि भेषजवीर्याणि [1]प्रतिघ्नन्ति जिघांसया। तस्मान्मोघाः क्रियाः सर्वा भवन्त्येव गतायुषः॥

गतायु को औषधि देने से कुछ लाभ नहीं होने के कारण—अनेक प्रकार के भूत, प्रेत, पिशाच और राक्षस ये सब मरने के समीप पहुँचे हुये प्राणियों के पास नित्य पहुँच कर मारने की इच्छा से उनके खाये हुए औषधों के प्रभाव को नष्ट कर दिया करते हैं, अत एव ऐसे गतायु पुरुषों के लिये की गई सभी चिकित्सायें व्यर्थ हो जाया करती हैं ॥ ८६–८७ ॥

ॐ ननु आयुषि सति चिकित्सायाः साफल्यमुक्तम्, आयुरस्ति चेत्तदा तदेव जीवनहेतुः, किं चिकित्साविधानेन? तत्र उच्यते। आयुषि सति चिकित्सायाः फलं वेदनानिग्रहः। उक्तञ्च—
आयुष्मान्पुरुषो जीवेत्सव्यथो भेषजं विना। भेषजेन पुनर्जीवेत्स एव हि निरामयः ॥ ९ ॥

यदि प्रश्न यह उपस्थित हो कि जब आयु रहने पर चिकित्सा का सफल होना कहा हुआ है तो यदि आयु है तो रोगी स्वतः जीवित रह सकता है क्योंकि रोगी के जीवित रहने का हेतु आयु होती है इससे फिर चिकित्सा करने से क्या फल है? उसका उत्तर यह है कि आयु के रहने पर जो चिकित्सा की जाती है उसका फल वेदना (रोगजनित पीड़ा) का दूर होना है क्योंकि कहा भी है कि—जिस रोगी की आयु दीर्घ है किन्तु चिकित्सा न की जाय तो वह बिना औषध के रोग जनित पीडा से युक्त होकर जीवित रह सकता है किन्तु यदि उसका औषध किया जाय तो वह रोगमुक्त होकर जीवित रहता है ॥ ९ ॥

ॐ किञ्च आयुषि सत्यपि रोगो चिकित्सां विना उत्थातुं न शक्नोति। यत आह चरकः—
सति चायुषि नोपायं विनोत्थातुं क्षमो रुजी। दर्शितश्चात्र दृष्टान्तः पङ्कमग्नो यथा गजः ॥१०॥

किञ्च आयु के रहने पर भी रोगी बिना चिकित्सा किये रोग से मुक्त होकर नहीं उठ सकता क्योंकि इसी विषय में चरक ने कहा भी है कि—आयु के रहने पर भी रोगी बिना चिकित्सा किये रोगमुक्त होकर नहीं उठ सकता इस विषय में कीचड़ में फँसे हुये हाथी का दृष्टान्त है अर्थात् जैसे कीचड़ में फँसा हाथी बिना उपाय किये उद्धार नहीं पाता वैसे ही रोगी भी बिना चिकित्सा किये रोग से छुटकारा नहीं पाता है ॥ १० ॥

ॐ किञ्च चिकित्सां विना आयुष्मानप्यवसीदति यत आह स एव—
सति चायुषि नष्टः स्यादामयैश्चाचिकित्सतः। यथा सत्यपि तैलादौ दीपो निर्वाति वात्यया॥

बिना चिकित्सा के आयुष्मान् अर्थात् जिस की आयु अवशिष्ट है ऐसा भी रोगी अवसन्न अर्थात् मर जाता है क्योंकि इसी विषय में उन्हीं चरक ने कहा है कि—आयु रहने पर भी चिकित्सा न करने से रोगों के बढ़ जाने से रोगी नष्ट हो जाता है, जैसे कि—तैलादि के रहने पर भी हवा से दीपक बुझ जाता है ॥ ११ ॥

* अत एवोक्तम्—साध्या याप्यत्वमायान्ति याप्या गच्छन्त्यसाध्यताम्।
हनन्ति प्राणानसाध्यास्तु नराणामक्रियावताम् ॥ १२ ॥ इति ॥

अतएव कहा है कि—जिसकी चिकित्सा नहीं होती उस रोगी के क्रमशः साध्य रोग 'याप्य' होकर असाध्य हो जाते हैं तथा असाध्य रोग प्राणों को नष्ट कर देते हैं ॥ १२ ॥

ॐ चिकित्सा तु अनिश्चितायुषोऽपि कर्तव्या यत आह—
तावत्प्रतिक्रिया कार्या यावदुच्छ्वसिति मानवः। कदाचिद्दैवयोगेन दृष्टारिष्टोऽपि जीवति॥

अनिश्चित आयु वालों की भी चिकित्सा अवश्य करनी चाहिये क्योंकि कहा भी है कि—तबतक रोगी की चिकित्सा करनी चाहिये जब तक वह श्वास लेता रहे क्योंकि कभी २ दैवयोग से ऐसा

१. 'प्रतीच्छन्ती'ति पाठा०।

रोगी भी जीवित होते देखा गया है जिसके कि सभी अरिष्ट के लक्षण प्रकट हो गये थे। अतः चिकित्सा करना प्रत्येक अवस्था में उचित ही है ॥ १३ ॥

ॐ इति तु यस्यासाध्यत्वं सन्दिग्धं तं प्रत्युक्तम् । येषु तु असाध्यता शास्त्रेण अनुभवेन विनिश्चता ते पुनर्न चिकित्स्याः । यत उक्तम्—

सद्वैद्यास्ते न येऽसाध्यानारभन्ते चिकित्सितुम् ॥ १४ ॥ इति ८६-८७ ॥

किन्तु उपर्युक्त वचन उन्हीं रोगियों के सम्बन्ध में समझना चाहिये जिन रोगियों की असाध्यता सन्दिग्धावस्था में हो और जिनकी असाध्यता शास्त्र तथा अनुभव से निश्चितावस्था में प्राप्त हो गई है अर्थात् जो निश्चयपूर्वक असाध्य हो गये हैं ऐसे रोगी तो पुनः चिकित्सा करने के योग्य नहीं ही हैं। क्योंकि कहा भी है कि—जो सद्वैद्य होते हैं वे असाध्य रोगियों की चिकित्सा करना प्रारम्भ ही नहीं करते ॥ ८६-८७ ॥

अथ द्रव्यावश्यकतामाह—

सर्वं द्रव्यमपेक्षन्ते रोगिप्रभृतयो यतः । विना वित्तं न भैषज्यं चिकित्साऽङ्गं ततो धनम् ॥

चिकित्सा में द्रव्य की आवश्यकता—रोगी, रोग आदि जितने हैं सभी द्रव्य (धन) की अपेक्षा करते हैं क्योंकि बिना द्रव्य के औषधि तयार हो नहीं सकती। अतः द्रव्य भी चिकित्सा का अङ्ग माना गया है ॥ ८८ ॥

अथ परिचारकस्य लक्षणमाह—

स्निग्धोऽजुगुप्सुर्बलवान्युक्तो व्याधितरक्षणे । वैद्यवाक्यकृदश्रान्तो युज्यते परिचारकः ॥८९॥

रोगी की परिचर्या करनेवाले (परिचारक) का लक्षण—रोगियों की परिचर्या करने के लिये वही परिचारक योग्य होता है, जो स्नेहयुक्त अर्थात् रोगी के ऊपर प्रसन्न रहने वाला तथा उसकी निन्दा नहीं करनेवाला, बलवान्, रोगी की रक्षा करने में तत्पर रहनेवाला, वैद्य के कथनानुसार कार्य करनेवाला और परिचर्या करने में नहीं थकने वाला हो ॥ ८९ ॥

ॐ स्निग्धः = प्रीतः, अजुगुप्सुः = अनिन्दकः ॥ ८९ ॥

यहाँ 'स्निग्ध' पद से 'रोगी के ऊपर प्रसन्न रहने वाला' तथा 'अजुगुप्सु' पद से 'रोगी की निन्दा नहीं करने वाला' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ८९ ॥

अथ भेषजस्य लक्षणमाह—

वैद्यो व्याधिं हरेद्येन तद्द्रव्यं प्रोक्तमौषधम् । तद्यादृशमवश्यं स्याद्रोगघ्नं तादृशं ब्रुवे ॥ ९० ॥

औषध के लक्षण—वैद्य जिस द्रव्य से व्याधि दूर करता है, उसी को औषध कहते हैं। वह (औषध) जैसा होने से रोग को अवश्य दूर करने वाला होता है वैसा आगे कहते हैं ॥ ९० ॥

अथौषधग्रहणपरिभाषामाह—

प्रशस्तदेशे सञ्जातं प्रशस्तेऽहनि चोद्धृतम् । अल्पमात्रं बहुगुणं गन्धवर्णरसान्वितम् ॥९१॥
दोषघ्नमग्लानिकरमधिकं न विकारि यत् । समीक्ष्य काले दत्तं च भेषजं स्याद् गुणावहम् ॥

औषध ग्रहण करने की परिभाषा—जो औषधि अच्छे देश (स्थान) में उत्पन्न और अच्छे दिन में उखाड़ी हुई हो और जो थोड़ी मात्रा में देने से भी फल देने वाली हो और बहुत गुण से युक्त हो, एवं जो स्वाभाविक-गन्ध, वर्ण और रस से युक्त हो तथा जो दोषों को दूर करनेवाली, ग्लानि नहीं उत्पन्न करनेवाली और अधिक मात्रा हो जाने पर भी कोई विकार नहीं उत्पन्न करनेवाली हो वही ओषधि यदि विचार करके समय उपस्थित होने पर दी जाय तो गुणकारक होती है ॥ ९१-९२ ॥

आग्नेया विन्ध्यशैलाद्याः सोम्यो हिमगिरिः स्मृतः । अतस्तदौषधानि स्युरनुरूपाणि हेतुभिः ॥

विन्ध्याचल आदि पर्वत 'आग्नेय' हैं और हिमालय पर्वत 'सौम्य' है। अतएव विन्ध्याचलादि पर्वतों पर उत्पन्न हुई ओषधियाँ भी अपने उत्पन्न होने के हेतुओं के अनुरूप ही आग्नेयादि गुण विशिष्ट होती हैं ॥ ९३ ॥

ॐ आग्नेयाः = अधिकाग्न्यंशाः, सौम्यः = अधिकसोमांशः । ओषध्य एवौषधानि । अत्र स्वार्थे अण् । अनुरूपाणि = सदृशानि ॥ ९३ ॥

इसका भाव यह है–विन्ध्यादि पर्वतों में अग्नि के अंश अधिक होने से वे 'आग्नेय' हैं और हिमालय में (सोमचन्द्रमा) का अधिक अंश होने से वह 'सौम्य' है। अतएव पूर्वोक्त इन स्थानों में उत्पन्न हुए औषध अपने उत्पन्न होने के हेतुओं के अनुरूप आग्नेयादि होते हैं अर्थात् आग्नेय संज्ञक विन्ध्याचल में उत्पन्न हुई ओषधियाँ 'आग्नेय' अर्थात् अधिक उष्णता से युक्त तथा सौम्यसंज्ञक हिमालय में उत्पन्न हुई ओषधियाँ 'सौम्य' अधिक शीतलता से युक्त होती हैं। यहाँ पर यह और समझना चाहिये कि ओषधियाँ ही औषध कहलाती हैं। क्योंकि–ओषधि शब्द से स्वार्थ में अण् प्रत्यय होने से 'यस्येति च' इस सूत्र से ओषधि के इकार का लोप होने से णित्वमान कर ओषधि के ओकार की आदि वृद्धि होने से औषध शब्द की सिद्धि होती है ॥ ९३ ॥

अन्येष्वपि प्ररोहन्ति वनेषूपवनेषु च । गृह्णीयात्तानि सुमनाः शुचिः प्रातः सुवासरे ॥
आदित्यसम्मुखो मौनी नमस्कृत्य शिवं हृदि । साधारणधराद्द्रव्यं गृह्णीयादुत्तराश्रितम् ॥

इसके अतिरिक्त अन्य स्थान वन और उपवनों में भी ओषधियां उत्पन्न होती हैं और पूर्वोक्त स्थानों में उत्पन्न होने वाली उन ओषधियों को प्रसन्न चित्त तथा पवित्र होकर शुभ दिनों में प्रातःकाल सूर्य की ओर मुख किये हुये मौन होकर तथा ध्यान द्वारा, हृदय स्थित शिवजी को नमस्कार कर ग्रहण करना चाहिये और साधारण पृथ्वी में उत्पन्न हुई ओषधियों को तो जहां पर स्वयं खड़ा हो वहां से उत्तर दिशा में उगी हुई हों उन्हीं को ग्रहण करना चाहिये ॥ ९४–९५ ॥

ॐ साधारणधराद्द्रव्यं = सर्वभूमिभवं द्रव्यम् । उत्तराश्रितं = स्वस्मादुत्तरदिग्भवम् ॥

यहां 'साधारणधराद्द्रव्यम्' पद का 'साधारण पृथ्वी में उत्पन्न हुई ओषधियों को' और 'उत्तराश्रितम्' पद का 'जहां पर स्वयं खड़ा हो वहां से जो उत्तर दिशा में उगी हुई हों उन्हीं को' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ९४–९५ ॥

वल्मीककुत्सितानूपश्मशानोषरमार्गजाः । जन्तुवह्निहिमव्याप्ता नौषध्यः कार्यसाधिकाः ॥

जो ओषधियां वल्मीक (विमौट), अशुद्ध स्थान, अनूप (प्रायः करके जल से युक्त) देश, श्मशान, ऊसर भूमि और मार्ग इन स्थानों में उत्पन्न हुई हो तथा जो जीवों से युक्त या अग्नि अथवा बर्फ से झुलस गई हों ऐसी ओषधियां कार्य सिद्ध करने वाली नहीं होतीं अर्थात् इनसे रोग दूर नहीं होता है ॥ ९६ ॥

शरद्यखिलकार्यार्थं ग्राह्यं सरसमौषधम् । विरेकवमनार्थं तु वसन्तान्ते समाहरेत् ॥ ९७ ॥

प्रत्येक कार्यों के लिये रस युक्त ओषधियों का शरद ऋतु में और वमन तथा विरेचन के लिये वसन्त ऋतु के मध्य में ओषधियों का संग्रह करना चाहिये ॥ ९७ ॥

ॐ वसन्तान्ते = वसन्तमध्ये । समाहरेत् = संगृह्णीयात् ॥ ९७ ॥

यहां 'वसन्तमध्ये' का 'वसन्त ऋतु के मध्य में' तथा 'समाहरेत' का 'संग्रह करना चाहिये' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ९७ ॥

अतिस्थूलजटा याः स्युस्तासां ग्राह्यास्त्वचो ध्रुवम् । गृह्णीयात्सूक्ष्ममूलानि सकलान्यपि बुद्धिमान् ॥

बुद्धिमान् व्यक्ति जिन ओषधियों के मूल भाग अत्यन्त स्थूल हों निश्चय ही उनके छिल्कों का और जिनके मूल भाग सूक्ष्म (पतले) हों उनके सभी अङ्गों को ग्रहण करें ॥ ९८ ॥

अन्यच्च—

महान्ति येषां मूलानि काष्ठगर्भाणि सर्वतः । तेषां तु वल्कलं ग्राह्यं ह्रस्वमूलानि सर्वशः ॥९९॥
न्यग्रोधादेस्त्वचो ग्राह्याः सारः स्याद्बीजकादितः । तालीसादेश्च पत्राणि फलं स्यात् त्रिफलादितः ॥
क्वचिन्मूलं क्वचित्कन्दः क्वचित्पत्रं क्वचित्फलम् । क्वचित्पुष्पं क्वचित्सर्वं क्वचित्सारः क्वचित्त्वचः ॥
चित्रकं सूरणं निम्बो वासा च त्रिफला क्रमात् । धातकी कण्टकारी च खदिरः क्षीरपादपः ॥
क्वचिच्चिम्बस्य गृह्णीयात्पत्राभावे त्वचामपि । बालं फलं तु बिल्वस्य पक्वमारग्वधस्य च ॥
अङ्गेऽनुक्ते जटा ग्राह्या भागेऽनुक्तेऽखिलं समम् । पात्रेऽनुक्ते मृदः पात्रं कालेऽनुक्ते त्वहर्मुखम् ॥

और भी कहा है कि—जिन ओषधियोंके मूल भाग बड़े (स्थूल) हों और उनके अन्दर लकड़ी हो तो उनके छिल्कों को और जिनके मूलभाग छोटे (पतले) हों उनके सभी भागों को ग्रहण करे तथा बड़ आदि वृक्षों की छाल और विजयसार आदि वृक्षों का सार (भीतर की लकड़ी) तथा तालीसपत्रादि के पत्र एवं त्रिफला आदि के फल लेने चाहिये। इस प्रकार और भी किसी ओषधियों का मूल, किसी का कन्द, किसी का पत्र, किसी का फल, किसी का पुष्प, किसी का सभी भाग, किसी का सारभाग और किसी का छिलका ही ग्रहण किया जाता है। जैसे—चित्त का मूल, सूरन का कन्द, नीम और अडूसे की पत्ती, त्रिफला (आँवरा, हर्रा और बहेड़ा) का फल, धाय का फूल, कटेरी (भटकटैया) का सर्वाङ्ग, खैर का सारभाग (लकड़ी) और दूध वाले वृक्षों की छाल ही ली जाती है नीम का पत्र यदि समय पर न मिले तो उसका छिल्का ही लेवे और बेल का कचा फल तथा अमलतास का पक्का फल लेवे। जहाँ पर जिस ओषधि के किसी विशेष भाग का उल्लेख न हो वहाँ उसका मूल भाग ही लेना चाहिये और जहाँ ओषधियों का परिमाण (तौल) नहीं लिखा हो वहाँ उन सबों को समभाग में लेना चाहिये। जहाँ कोई विशेष पात्र (बर्तन) का उल्लेख न हो वहां मिट्टी का पात्र लेना चाहिये और जहां किसी विशेष काल का निर्देश न किया गया हो वहां प्रातःकाल का ही ग्रहण करना चाहिये ॥ ९९–१०४ ॥

नवान्येव हि योज्यानि द्रव्याण्यखिलकर्मसु । विना विडङ्गकृष्णाभ्यां गुडधान्याज्यमाक्षिकैः ॥

सभी कार्यों में नवीन ही ओषधियां लेनी चाहिये किन्तु वायविडङ्ग, पीपर, गुड़, धान्य, घृत और शहद को पुराना ही लेना चाहिये ॥ १०५ ॥

* धान्यमन्नम् ॥ १०५ ॥

यहां 'धान्य' पद से 'अन्न अर्थात् चावल' का ग्रहण करना चाहिये ॥ १०५ ॥

पुराणं तु प्रशस्तं स्यात्ताम्बूलं काञ्जिकं तथा । शुष्कं नवीनद्रव्यं तु योज्यं सकलकर्मसु ॥१०६॥
आर्द्रन्तु द्विगुणं युञ्ज्यादेव सर्वत्र निश्चयः । गुडूची कुटजो वासा कूष्माण्डश्च शतावरी ॥
अश्वगन्धा सहचरः शतपुष्पा प्रसारिणी । प्रयोक्तव्याः सदैवार्द्रा द्विगुणं नैव कारयेत् ॥१०८॥

ताम्बूल (पान) और कांजी पुराना ही अच्छा होता है। सभी कार्यों में नवीन द्रव्य सुखाकर लेना चाहिये। जो गीली ओषधियां हैं उन्हें अन्य ओषधियों की अपेक्षा निश्चयपूर्वक सर्वत्र दूनी ही लेनी चाहिये। किन्तु गुरुच, कुड़ा (कोरैया), अडूसा, कूष्माण्ड (पेठा), सतावर, अश्वगन्ध, कटसरैया, सौंफ और प्रसारणी (गन्धप्रसारणी या पसरन) ये सभी ओषधियां यद्यपि सदा गीली ही लेने का विधान है तथापि दूनी नहीं लेनी चाहिये अर्थात् और ओषधियों के बराबर ही लेनी चाहिये ॥ १०६–१०८ ॥

* सहचरः = कुरण्टकः, 'कटसरैया' इति लोके ॥ १०६–१०८ ॥

यहां 'सहचर' से 'कुरण्टक अर्थात् लोक में प्रसिद्ध कटसरैया' का ही ग्रहण करना चाहिये ॥

अन्यच्च वासानिम्बपटोलकेतकबलाकूष्माण्डकेन्दीवरी-
वर्षाभूकुटजाश्च कन्दसहिता सा पूतिगन्धाऽमृता।
ऐन्द्री नागबला कुरण्टकपुरश्छत्राऽमृताः सर्वदा
सार्द्रा एव तु न क्वचिद् द्विगुणिताः कार्येषु योज्या बुधैः[1] ॥ १०९ ॥

इसी सम्बन्ध में अन्य वचन—अडूसा, नीम, परवल, केवड़ा, बला (खिरेटी या बरियारा), पेठा, सतावर, वर्षाभू (पुनर्नवा), कुड़ा, कन्द (कमल का कन्द आदि), गन्धप्रसारणी, गिलोय, इन्द्रवारुणी (इन्द्रायन), गुलशकरी, कटसरैया, सौंफ और दूर्वा ये सब औषधियाँ वैद्यों को सभी कार्यों में सदा गीली ही लेनी चाहिये तथा गीली होने से कभी दूनी मात्रा में नहीं किन्तु सममाग में ही लेनी चाहिये ॥ १०९ ॥

ॐ [2]इन्दीवरी = शतावरी। पूतिगन्धा = गन्धप्रसारणी। ऐन्द्री=इन्द्रवारुणी। नागबला = गुलशकरी। कुरण्टकः = पीतपुष्पः (कटसरैया)। पुरो = गुग्गुलुः ॥ १०९ ॥

यहां 'इन्दीवरी' से 'सतावर', 'पूतिगन्धा' से 'गन्धप्रसारणी', 'ऐन्द्री' से इन्द्रवारुणी (इन्द्रायन), 'नागबला' से 'गुलशकरी' 'कुरण्टक' से 'पीले फूल वाली 'कटसरैया' और 'पुर' से 'गुग्गुलु' का ग्रहण करना चाहिये ॥ १०९ ॥

घृतं तैलं च पानीयं कषायं व्यञ्जनादिकम्। पक्त्वा शीतीकृतं चोष्णं तत्सर्वं स्याद्विषोपमम्॥

घी, तैल, जल, क्वाथ (काढ़ा) और व्यञ्जन (भोज्यपदार्थ शाक) आदि ये सब द्रव्य अग्नि पर रखने से परिपक्व होकर शीतल होने पर पुनः आग पर रख कर यदि गरम किये जायँ तो विष की भाँति विकार युक्त हो जाते हैं अतः पुनः गरम नहीं करना चाहिये ॥ ११० ॥

अथ द्रव्याणां परीक्षामाह—

सूक्ष्मास्थिर्मांसला पथ्या सर्वकर्माणि पूजिता। विशाऽम्भसि निमज्जेद्या भल्लातक्यस्तथोत्तमाः॥
वराहमूर्द्धवत्कन्दो वाराहीकन्दसंज्ञकः। सौवर्चलं तु काचाभं सैन्धवं स्फटिकप्रभम् ॥११२॥
सुवर्णमाक्षिकं ज्ञेयं स्वर्णमाक्षिकमुत्तमम्। [3]ओड्रपुष्पप्रतीकाशा मनोह्वा चोत्तमा मता॥
श्रेष्ठं शिलाजतु ज्ञेयं प्रक्षिप्तं न विशीर्यते। तोयपूर्णे कांस्यपात्रे प्रतानेन विवर्धते ॥ ११४ ॥
कर्पूरस्तुवरः स्निग्ध एला सूक्ष्मफला वरा। श्वेतचन्दनमत्यन्तं सुगन्धि गुरुपूजितम्॥११५॥
रक्तचन्दनमत्यन्तं लोहितं प्रवरं मतम्। काकतुण्डनिभः स्निग्धो गुडः श्रेष्ठो गुरुर्मतः ॥११६॥
सुगन्धि लघु रूक्षं च सुरदारु वरं मतम्। सरलं स्निग्धमत्यर्थं सुगन्धि च गुणावहम् ॥११७॥
अतिपीता प्रशस्ता तु ज्ञेया दारुनिशा बुधैः। जातीफलं गुरु स्निग्धं समं शुभ्रान्तरं वरम् ॥

औषधियों की परीक्षा—जिस हरड़ में गुठली छोटी और गूदे अधिक हो तथा जो जल में डालने पर डूब जाय वह भी सभी कार्यों में लेने के लिये उत्तम होता है इसी प्रकार पतली गुठली से युक्त अधिक गूदे वाला एवं जल में डालने पर डूब जाने वाला भिलावा भी अच्छा होता है। जो वाराहीकन्द सूअर के शिर के आकार का होता है वह उत्तम है। सांभरनोन कांच के सदृश होने से उत्तम होता है। सेंधानमक स्फटिक के समान होने से उत्तम है। सोना मक्खी सोने के समान कान्ति वाली होने से उत्तम होती है। मैनशिल जवाकुसुम के समान वर्ण वाला होने से उत्तम होता है। शिलाजीत वही उत्तम कहलाता है जो जल से पूर्ण कांसे के पात्र में डालने से गल

---

१. 'वासा निम्बपटोलकेतकबलाकूष्माण्डकेन्दीवरी—वर्षाभूकुटजाश्वगन्धसहितास्ताः पूतिगन्धाऽमृता। मांसी नागबला कुरण्टकपुरौ हिङ्ग्वार्द्रकश्चेक्षवम् गृह्णीयात् सरमान्यमूनि न पुनः कुर्याद् द्विभागानि चे'ति पाठान्तरम्। २. 'इन्दी' इति पाठः क्वचिन्नोपलभ्यते। ३. 'इन्द्रे'ति पाठा०।

न जाय किन्तु उससे सूत के सदृश निकल कर चारो ओर बढ़े। कपूर कसैला तथा स्निग्ध होने से उत्तम होता है। सफेद चन्दन अत्यन्त सुगन्धि तथा गुरु (भारी) होने से उत्तम होता है। लालचन्दन अत्यन्त लाल होने से उत्तम होता है। अगर आकार में कौवे की चोंच के समान, स्निग्ध तथा गुरु (भारी) होने से उत्तम होता है। देवदारु सुगन्ध युक्त, हल्का और रूखा होने से उत्तम होता है। सरल (चीर की लकड़ी) अत्यन्त स्निग्ध और सुगन्ध युक्त होने से गुणकारी होता है। दारुहल्दी अत्यन्त पीली होने से उत्तम समझी जाती है। जायफल गुरु (भारी), स्निग्ध, सम आकार वाली और भीतर से सफेद होने से उत्तम होता है॥ १११–११८॥

मृद्वीका सोत्तमा ज्ञेया या स्याद्गोस्तनसन्निभा। करमर्दफलाकारा मध्यमा सा प्रकीर्तिता॥

जो दाख आकार में गौ के स्तन के समान हो वह उत्तम और जो आकार में करौंदे के समान हो उसे गुण में मध्यम समझना चाहिये॥ ११९॥

***गोस्तनसन्निभा 'मुनक्का' इति लोके। करमर्दकफलाकारा 'करम्बा' इति लोके॥ ११९॥**

जो दाख आकार में गौ के स्तन के समान होती है, उसे लोग 'मुनक्का' कहते हैं' और जो आकार में करौंदे के फल के समान होती है, उसे लोग 'करम्बा' (किसमिस) कहते हैं॥ ११९॥

खण्डं तु विमलं श्रेष्ठं चन्द्रकान्तसमप्रभम्। गव्याज्यसदृशं रुच्यं गन्धं मधु वरं मतम्॥१२०॥

जो खांड निर्मल तथा चन्द्रकान्त मणि के समान सफेद पीलाई लिये हुये हो वह उत्तम होती है। जो मधु (शहद) रङ्ग में गाय के घी के समान, रुचिकारक और सुगन्धित हो वह उत्तम समझा जाता है॥ १२०॥

अथ स्वभावतो हितानि द्रव्याण्याह—

शालीनां लोहितः शालिः षष्टिकेषु च षष्टिकः। शूकधान्येष्वपि यवो गोधूमः प्रवरो मतः॥
शिम्बीधान्ये वरो मुद्गो मसूरश्चाढकी तथा। रसेषु मधुरः श्रेष्ठो लवणेषु च सैन्धवः॥१२२॥

स्वभावतः हितकारक द्रव्य—शाली धानों मे लाल शाली धान्य, षष्टिक (६० दिन में पकनेवाले) धान्यों में षष्टिक (साठी) धान्य, शूक (टूँडीदार) धान्यों में यव (जौ) तथा गेहूँ उत्तम होता है। शिम्बी (फलीवाले) धान्यों में मूंग, मसूर तथा अरहर उत्तम होता है। छः प्रकार के रसों में मधुर रस उत्तम होता है। और नमक में सेंधानमक उत्तम होता है॥ १२१–१२२॥

दाडिमामलकं द्राक्षा खर्जूरं च परूषकम्। राजादनं मातुलुंगं फलवर्गेषु शस्यते॥ १२३॥

फलों के वर्गों में अनार, आँवला, दाख (अंगूर), खजूर (छुहारा), फालसा, खिरनी और बिजौरा निम्बू ये सब उत्तम होते हैं॥ १२३॥

***परूषकं 'फालसा' इति लोके। राजादनं 'खिरणी' इति लोके। मातुलुंगं 'बिजउरा' इति लोके॥ १२३॥**

यहाँ 'परूषक' से लोक में प्रसिद्ध 'फालसा' और 'राजादन' से लोकप्रसिद्ध 'खिरनी' तथा 'मातुलुङ्ग' से लोक में प्रसिद्ध 'बिजउरा नींबू' समझना चाहिये॥ १२३॥

पत्रशाकेषु वास्तूकं जीवन्ती पोतिका वरा। पटोलं फलशाकेषु कन्दशाकेषु सूरणम्॥१२४॥
एणः कुरङ्गो हरिणो जाङ्गलेषु प्रशस्यते। पक्षिणां तित्तिरिर्लावो वरो मत्स्येषु रोहितः॥१२५॥
हरिणस्ताम्रवर्णः स्यादेणः कृष्णतया मतः। कुरङ्गस्ताम्र उद्दिष्टो हरिणाकृतिको महान्॥१२६॥
जलेषु दिव्यं दुग्धेषु गव्यमाज्येषु गोभवम्। तैलेषु तिलजं तैलमैक्षवेषु सिता हिता॥१२७॥

पत्ते के शाकों में बथुआ, जीवन्ती और पोई ये सब उत्तम होते हैं। फल के शाकों में 'परवल' और कन्द के शाकों में 'सूरन' उत्तम होता है। जङ्गली जीवों के मांसों में एण, कुरङ्ग तथा हरिण

का मांस उत्तम होता है। पक्षियों में तीतर तथा लवा पक्षी का मांस उत्तम होता है। मछलियों में 'रोहू मछली' का मांस उत्तम होता है। एण, कुरङ्ग तथा हरिण का परस्पर भेद यह है कि—हरिण तामे के समान वर्ण वाला होता है तथा एण कृष्ण वर्ण का होता है एवं कुरङ्ग भी यद्यपि हरिण के समान ताम्रवर्ण का ही होता है तथापि उसकी अपेक्षा बड़ा होता है। जलों में आकाश का जल, दूधों में गाय का दूध, घृतों में गाय का घी, तेलों में तिल का तेल, ईख से बने हुये गुड़ादि में शक्कर ये सब उत्तम (हितकर) होते हैं ॥ १२४–१२७ ॥

अथ स्वभावादहितानि द्रव्याण्याह—

शिम्बीषु माषान्ग्रीष्मर्त्तौ लवणेष्वौषरं त्यजेत् । फलेषु लकुचं शाके सार्षपं न हितं मतम् ॥

स्वभावतः अहितकर द्रव्य—शिम्बीधान्यों में उरद और नमक में खारी (ऊसर पृथ्वी से उत्पन्न हुआ) नमक का ग्रीष्म ऋतु में सेवन करना छोड़ देना चाहिये, क्योंकि अहितकर होते हैं। फलों में बड़हर और शाकों में सरसों का शाक हितकर नहीं होता है ॥ १२८ ॥

गोमांसं ग्राम्यमांसेषु न हितं महिषीवसा । मेषीपयः कुसुम्भस्य तैलं त्याज्यं च फाणितम् ॥

गांव के जीवों के मांसों में गोमांस और वसा (चर्बी) में भैंस की वसा, दूधों में भेड़ी का दूध, तेलों में कुसुम का तेल और ईख के बने हुये पदार्थों में फाणित (राब) त्यागने के योग्य (अहितकर) होता है ॥ १२९ ॥

***इक्षुरसः परिपक्वो योऽर्धघनः फाणितम् । तद्धि 'छोयाराब' इति लोके ॥ १२९ ॥**

यहाँ 'फाणित' से यह समझना चाहिये कि जो ईख का रस पकाकर आधा पतला आधा गाढ़ा के हालत में रहता है, जिसे लोक में 'छोया राब (राब)' कहते हैं ॥ १२९ ॥

अथ संयोगविरुद्धानि द्रव्याण्याह—

मत्स्यमानूपमांसं च दुग्धयुक्तं विवर्जयेत् । कपोतं सर्षपस्नेहभर्जितं परिवर्जयेत् ॥ १३० ॥
मत्स्यानिक्षोर्विकारेण तथा क्षौद्रेण वर्जयेत् । सक्तून्मांसपयोयुक्तानुष्णैर्दधि विवर्जयेत् ॥
उष्णैर्नभोऽम्बुना क्षौद्रं पायसं कृसरान्वितम् । रम्भाफलं त्यजेत्तक्रदधिबिल्वफलान्वितम् ॥
दशाहमुषितं सर्पिः कांस्ये मधुघृतं समम् । कृतान्नं च कषायं च पुनरुष्णीकृतं त्यजेत् ॥१३३॥
एकत्र बहुमांसानि विरुध्यन्ते परस्परम् । मधु सर्पिर्वसा तैलं पानीयं वा पयस्तथा ॥१३४॥

संयोग होने से विरुद्ध गुणकारी द्रव्य—दूध के साथ मछली या अनूप देश के जीवों का मांस, सरसों के तेल में भुना हुआ कबूतर का मांस भोजन नहीं करना चाहिये एवं मछलियों को ईख के बने हुये गुड़ या शहद के साथ नहीं खाना चाहिये। इसी प्रकार मांस और दूध मिलाकर सत्तू, उष्ण द्रव्यों के साथ दही, द्रव्य तथा वर्षा के जल के साथ शहद, खिचड़ी के साथ खीर और मट्ठा, दही या बेल का फल, इनमें से किसी के भी साथ केले का फल नहीं खाना चाहिये। दश दिन तक कांसे के पात्र में रखा हुआ घी या समभाग में मिला हुआ शहद तथा घृत ये दोनों संयोग विरुद्ध होने से त्याज्य है। पकाया हुआ अन्न या पकाया हुआ काढ़ा शीतल होने पर पुनः यदि उष्ण किया गया हो तो ये दोनों भी त्याज्य हैं। अनेक प्रकार के मांस एकत्र पकाने से परस्पर विरुद्ध हो जाते हैं तथा शहद, घी, चर्बी, तेल, जल और दूध भी एकत्र पकाने से परस्पर विरुद्ध हो जाते हैं अतः ये सब भोजन के लिये सदा त्याज्य हैं ॥ १३०–१३४ ॥

अथ भेषजग्रहणसङ्केतमाह—

लवणं सैन्धवं प्रोक्तं चन्दनं रक्तचन्दनम् । चूर्णलेहासवस्नेहाः साध्या धवलचन्दनैः ॥
कषायलेपयोः प्रायो युज्यते रक्तचन्दनम् ॥ १३५ ॥
अन्तः सम्मार्जने ज्ञेया ह्यजमोदा यवानिका । बहिः सम्मार्जने सैव विज्ञातव्याऽजमोदिका ॥
पयः सर्पिः प्रयोगेषु गव्यमेव हि गृह्यते । शकृद्रसो गोमयको मूत्रं गोमूत्रमुच्यते ॥ १३७ ॥

ओषधियों के लेने का सङ्केत—केवल 'लवण' कहने से सेंधा नमक' और 'चन्दन' कहने से लाल चन्दन का सर्वत्र ग्रहण करना चाहिये। चूर्ण, अवलेह, आसव तथा तैल बनाने में 'सफेद चन्दन' ही लेना चाहिये। प्रायः करके काढ़ा तथा लेप में 'लाल चन्दन' का ही प्रयोग होता है। शरीर के भीतर भाग की शुद्धि के लिये जहाँ अजमोदा लेना कहा गया हो वहाँ जवाइन लेनी चाहिये तथा बाहर की शुद्धि अर्थात् प्रलेपादि के लिए जहाँ अजमोद लेना कहा हो वहाँ 'वनजवाइन' लेना चाहिये। जहाँ केवल दूध या घी का निर्देश किया गया हो वहाँ गाय के ही दूध और घी का प्रयोग करना चाहिये। जहाँ विष्ठा का रस लेने को कहा हो, वहाँ गौ के गोबर का रस लेना चाहिये। जहाँ केवल 'मूत्र' का निर्देश हो वहाँ गौ का ही मूत्र लेना चाहिये ॥ १३५-१३७ ॥

अथ प्रतिनिधिद्रव्याण्याह —

चित्रकाभावतो दन्ती क्षारः शिखरिजोऽथवा। अभावे धन्वयासस्य प्रक्षेप्या तु दुरालभा ॥

प्रतिनिधि द्रव्यों का संकेत—चित्रक (चित्त) के अभाव में दन्ती या अपामार्ग (चिचिड़ा) का क्षार और धन्वयास (मरुभूमि की जवासा या धमासा) के अभाव में दुरालभा (जवासा) लेना चाहिये ॥

*शिखरी = अपामार्गः ॥ १३८ ॥

यहाँ 'शिखरी' से 'अपामार्ग' अर्थात् 'चिचिड़ा' का ग्रहण करना चाहिये ॥ १३८ ॥

तगरस्याप्यभावे तु कुष्ठं दद्याद्भिषग्वरः। मूर्वाऽभावे त्वचो ग्राह्या जिङ्गिनीप्रभवा बुधैः ॥

जो तगर के अभाव में विद्वान् वैद्य कूठ और मूर्वा के अभाव में मजीठ की छाल लेवें ॥१३९॥

अहिंस्राया अभावे तु मानकन्दः प्रकीर्त्तितः। लक्ष्मणाया अभावे तु नीलकण्ठशिखा मता ॥

अहिंस्रा के अभाव में मानकन्द और लक्ष्मणा के अभाव में मयूरशिखा लेवें ॥ १४० ॥

*नीलकण्ठशिखा = मयूरशिखा ॥ १४० ॥

यहाँ 'नीलकण्ठशिखा' से 'मयूरशिखा' का ग्रहण करना चाहिये ॥ १४० ॥

बकुलाभावतो देयं कह्लारोत्पलपङ्कजम्। नीलोत्पलस्याभावे तु कुमुदं देयमिष्यते ॥ १४१ ॥
जातीपुष्पं न यत्रास्ति लवंगं तत्र दीयते। अर्कपर्णादिपयसो ह्यभावे तद्रसो मतः ॥ १४२ ॥
पौष्कराभावतः कुष्ठं तथा लाङ्गल्यभावतः। स्थौणेयकस्याभावे तु भिषग्भिर्दीयते गदः ॥१४३॥
चविकागजपिप्पल्यौ पिप्पलीमूलवत्स्मृतौ ॥ १४४ ॥

मौलसिरी के अभाव में कह्लार, नीलकमल या पद्म लेवे और नीलकमल के अभाव में कुमुद (कोई) का फूल (नीलोफर) लेवे। चमेली का फूल जहाँ न हो वहाँ उसके स्थान में लवङ्ग देना चाहिये। आक (मदार) के पत्ते आदि के दूध के अभाव में उसके पत्ते का रस लेना चाहिये। पोहकर मूल तथा कलिहारी के अभाव में कूठ और थुनेर के अभाव में कूठ लेना चाहिये। चव और गजपीपल ये दोनों पिपरामूल के समान माने गये हैं अतः दोनों के अभाव में इसे देना चाहिये ॥ १४१-१४४ ॥

अभावे सोमराज्यास्तु प्रपुन्नाडफलं मतम्। यदि न स्याद्दारुनिशा तदा देया निशा बुधैः ॥

वाकुची के अभाव में चकवड़ का फल और यदि दारुहल्दी न हो तब उसके अभाव में बुद्धिमान् वैद्य को हल्दी ही लेना चाहिये ॥ १४५ ॥

*सोमराजी = वाकुची। प्रपुन्नाडफलं = चक्रमर्दफलम्। दारुनिशा = दारुहरिद्रा। निशा = हरिद्रा ॥ १४५ ॥

यहां 'सोमराजी' से 'वाकुची' का और 'प्रपुन्नाड फल' से 'चकवड़ के फल का तथा दारुनिशा' से 'दारुहल्दी' का एवं 'निशा' से 'हल्दी' का बोध करना चाहिये ॥ १४५ ॥

रसाञ्जनस्याभावे तु [1]दार्वीक्वाथः प्रयुज्यते । सौराष्ट्र्यभावतो देया स्फटिका तद्गुणा जनैः ॥

रसौत के अभाव में दारुहल्दी के क्वाथ का प्रयोग करना चाहिये और सौराष्ट्र देश की मिट्टी अर्थात् सोरठी माटी के अभाव में उसी के समान गुणवाली फिटकिरी लेना चाहिये ॥ १४६ ॥

ॐसौराष्ट्री = 'सोरठी माटी' इति लोके । स्फटिका = 'फिट्किरी' इति लोके ॥ १४६ ॥

यहां 'सौराष्ट्री' से 'सोरठी माटी' नाम से लोकप्रसिद्ध द्रव्य का तथा 'स्फटिका' से 'फिट्किरी' का ग्रहण करना चाहिये ॥ १४६ ॥

तालीसपत्रकाभावे स्वर्णताली प्रशस्यते । भाङ्ग्यभावे तु तालीसं कण्टकारीजटाऽथवा ॥१४७॥

तालीसपत्र के अभाव में स्वर्णताली और भारङ्गी के अभाव में तालीस पत्र अथवा कटेरी (भटकटैया) का जड़ देना चाहिये ॥ १४७ ॥

रुचकाभावतो दद्याल्लवणं पांशुपूर्वकम् । अभावे मधुयष्ट्यास्तु धातकीं च प्रयोजयेत् ॥१४८॥

रुचक (कालानमक) के अभाव में खारीनमक (रेह का नमक) और मधुयष्टि (मुलहठी) के अभाव में धाय का फूल देना चाहिये ॥ १४८ ॥

ॐरुचकं = 'चौहार' इति लोके । पांशुलवणं = 'खारी' अथवा 'रेह' इति लोके ॥ १४८ ॥

यहां 'रुचक' से 'चौहार' नाम से लोक में प्रसिद्ध वस्तु को और 'पांशुलवण' से 'खारी अथवा रेह' को समझना चाहिये ॥ १४८ ॥

अम्लवेतसकाभावे चुक्रं दातव्यमिष्यते । द्राक्षा यदि न लभ्येत प्रदेयं काश्मरीफलम् ॥
तयोरभावे कुसुमं [2]मधूकस्य मतं बुधैः । लवङ्गकुसुमं देयं नखस्याभावतः पुनः ॥ १५० ॥
कस्तूर्यभावे कङ्कोलं देयणीयं विदुर्बुधाः । कङ्कोलस्याप्यभावे तु जातीपुष्पं प्रदीयते ॥ १५१ ॥
सुगन्धिमुस्तकं देयं कर्पूराभावतो बुधैः । कर्पूराभावतो देयं ग्रन्थिपर्णं विशेषतः ॥ १५२ ॥
कुङ्कुमाभावतो दद्यात्कुसुम्भकुसुमं नवम् । श्रीखण्डचन्दनाभावे कर्पूरं देयमिष्यते ॥ १५३ ॥
अभावे श्वेतयोर्वैद्यः प्रक्षिपेद्रक्तचन्दनम् । रक्तचन्दनकाभावे नवोशीरं विदुर्बुधाः ॥ १५४ ॥
मुस्ता चातिविषाभावे शिवाऽभावे शिवा मता । अभावे नागपुष्पस्य पद्मकेशरमिष्यते ॥

अमलवेत (अमलतास) के अभाव में चुक्र और 'दाख' के अभाव में गाम्भारी का फल तथा इन दोनों के अभाव में महुए का फूल देना चाहिये। नख नामक ओषधि के अभाव में लवङ्ग का फूल, कस्तूरी के अभाव में कङ्कोल और कङ्कोल के अभाव में चमेली का फूल देना चाहिये। कपूर के अभाव में सुगन्धमोथा या विशेष कर कपूर के अभाव में ग्रन्थिपर्ण (गठौना) देना चाहिये। इसी प्रकार केसर के अभाव में कुसुम का नवीन फल, सफेद चन्दन के अभाव में कर्पूर और इन दोनों (सफेद चन्दन और कर्पूर) के अभाव में लाल चन्दन, लाल चन्दन के अभाव में नवीन खस, अतीस के अभाव में मोथा, हरड़ के अभाव में आंवला और नागकेशर के अभाव में कमल का केशर देना चाहिये ॥ १४९-१५५ ॥

मेदाजीवककाकोलीऋद्धिद्वन्द्वेऽपि वाऽसति । वरीविदार्यश्वगन्धावाराहीश्च क्रमात् क्षिपेत् ॥

मेदा और महामेदा के अभाव में शतावरी, जीवक और ऋषभक के अभाव में विदारीकन्द, काकोली और क्षीरकाकोली के अभाव में असगन्ध और ऋद्धि तथा वृद्धि के अभाव में वाराहीकन्द डालना चाहिये ॥ १५६ ॥

ॐ वरी = शतावरी ॥ १५६ ॥

यहाँ 'वरी' से 'शतावरी' का ग्रहण करना चाहिये ॥ १५६ ॥

---

१. 'सम्यग् दार्वी'ति पाठा० । २. 'बन्धूकस्ये'ति पाठा० ।

वाराह्याश्च तथाऽभावे चर्मकारालुको मतः। वाराहीकन्दसंज्ञस्तु पश्चिमे गृष्टिसंज्ञकः ॥१५७॥
वाराहीकन्द एवान्यश्चर्मकारालुको मतः। अनूपसम्भवे देशे वराह इव लोमवान् ॥१५८॥
भल्लातकासहत्वे तु रक्तचन्दनमिष्यते। भल्लाताभावतश्चित्रं नलश्चेचोरभावतः ॥१५९॥
सुवर्णाभावतः स्वर्णमाक्षिकं प्रक्षिपेद् बुधः। श्वेतं तु माक्षिकं ज्ञेयं बुधै रजतवद् ध्रुवम् ॥
माक्षिकस्याप्यभावे तु प्रदद्यात्स्वर्णगैरिकम्। सुवर्णमथ वा रौप्यं मृतं यत्र न लभ्यते ॥१६१॥
तत्र कान्तेन कर्माणि भिषक्कुर्याद्विचक्षणः। कान्ताभावे तीक्ष्णलोहं योजयेद्वैद्यसत्तमः ॥
अभावे मौक्तिकस्यापि मुक्ताशुक्तिं प्रयोजयेत्। मधु यत्र न लभ्येत तत्र जीर्णगुडो मतः ॥
मत्स्यण्ड्यभावतो दद्युर्भिषजः सितशर्कराम्। असम्भवे सितायास्तु बुधैः खण्डं प्रयुज्यते ॥
क्षीराभावे रसो मौद्गो मासुरो वा प्रदीयते। अत्र प्रोक्तानि वस्तूनि यानि तेषु च तेषु च ॥
योज्यमेकतराभावे परं वैद्येन जानता। रसवीर्यविपाकाद्यैः समं द्रव्यं विचिन्त्य च ॥१६६॥
युञ्ज्यात्त[1] द्विधमन्यच्च द्रव्याणां तु रसादिवित्। योगे यदप्रधानं स्यात्तस्य प्रतिनिधिर्मतः ॥
यत्तु प्रधानं तस्यापि सदृशं नैव गृह्यते। व्याधेरयुक्तं यद्द्रव्यं गणोक्तमपि तत्यजेत् ॥
अनुक्तमपि युक्तं यद्योजयेत्तद्रसादिवित् ॥ १६८ ॥

वाराहीकन्द के अभाव में 'चर्मकारालु' लेना चाहिये। वाराहीकन्द को पश्चिम देश में गृष्टि (गेंठी) कहते हैं। वाराहीकन्द का ही दूसरा भेद 'चर्मकारालु' है। यह अनूपदेश में उत्पन्न होता है तथा इसके ऊपर सूअर की भाँति रोम होते हैं। भिलावा यदि सह्य न होता हो तो उसके स्थान पर लाल चन्दन डालना चाहिये। भिलावा के अभाव में चीता और ईख के अभाव में नरसल, सोना के अभाव में सोनामाखी डालना चाहिये। रूपामाखी का गुण चाँदी के तरह होता है अतः चाँदी के अभाव में रूपामाखी डालना चाहिये। माक्षिक (सोनामाखी तथा रूपामाखी) के अभाव में स्वर्णगैरिक (पीलागेरू) डालना चाहिये। यदि स्वर्ण या चाँदी का भस्म न मिले तो बुद्धिमान् वैद्य कान्तलौह (उसके भस्म) के और कान्तलौह के अभाव में तीक्ष्णलौह का एवं मोती के अभाव में मोती के सीप का प्रयोग करना चाहिये। जहाँ मधु न मिले वहाँ पुराने गुड़ से काम चलाना चाहिये। मिश्री के अभाव में सफेद चीनी का और शक्कर के अभाव में खाँड़ का प्रयोग करना चाहिये। दूध के अभाव में मूँग अथवा मसूर का जूस देना चाहिये। यहाँ जितने प्रतिनिधि द्रव्य जहाँ २ कहे गये हैं वहाँ २ जानकार वैद्य को एक के अभाव में दूसरे प्रतिनिधि द्रव्य का प्रयोग अवश्य करना चाहिये। जैसे दन्ती के अभाव में चित्रक और चित्रक के अभाव में दन्ती छोड़ना चाहिये। द्रव्यों तथा रसादिकों के जानने वाले वैद्यों को चाहिये कि वह इन प्रतिनिधि द्रव्यों के अतिरिक्त अन्य भी जो द्रव्य रस, वीर्य तथा विपाक आदि से समान हों उन्हें विचार कर एक के अभाव में दूसरे का प्रयोग करें। किसी औषधि के योग में जो अप्रधान औषध हों उनका प्रतिनिधि दूसरा औषध ले लेवें और जो प्रधान हों उसी के समान रसवीर्यादि वाली दूसरी औषध न लेवे अर्थात् प्रधान औषध का प्रतिनिधि दूसरा औषध न लेवे। जो द्रव्य व्याधि के लिये अयोग्य हो वह यदि उस रोग सम्बन्धी द्रव्यों की गणना में रहे तथापि उस द्रव्य को उस योग से निकाल देना चाहिये और जो योग में न कहा हो किन्तु योग्य हो तो उस द्रव्य को जो द्रव्यगत रसादि के वेत्ता वैद्य हों वे अवश्य प्रयोग करें ॥ १५७-१६८ ॥

अथ द्रव्यगतपञ्चपदार्थकर्माण्याह—

द्रव्ये रसो गुणो वीर्यं विपाकः शक्तिरेव च। पदार्थाः पञ्च तिष्ठन्ति स्वं स्वं कुर्वन्ति कर्म च ॥

---

१. 'विविधे'ति पाठा०।

द्रव्यों के अन्तर्गत रहनेवाले पञ्च पदार्थों के कर्म—द्रव्यों में १ रस, २ गुण, ३ वीर्य, ४ विपाक तथा ५ शक्ति इस प्रकार से ५ पदार्थ रहते हैं और अपने २ कर्मों को करते हैं ॥ १६९ ॥

तत्र (रसा[1]) वाग्भटः—

रसाः स्वाद्वम्ललवणतिक्तोषणकषायकाः । षड्द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वं बलावहाः ॥१७०॥

उसमें प्रथम 'रस' के विषय में 'वाग्भट' का मत है कि—१ मधुर, २ खट्टा, ३ नमकीन, ४ तीता, ५ कड़वा और ६ कसैला इस प्रकार से ६ रस योग्यतानुसार द्रव्यों में रहते हैं और ये पूर्व-पूर्व एक की अपेक्षा दूसरे बलकारक होते हैं अर्थात् कषाय की अपेक्षा कटु और कटु की अपेक्षा तिक्त, तिक्त की अपेक्षा लवण, लवण की अपेक्षा अम्ल तथा अम्ल की अपेक्षा मधुर रस अधिक बलकारक होता है ॥ १७० ॥

ⓐ ऊषणः = कटुः ॥ १७० ॥

यहाँ 'ऊषण' पद से 'कटु' समझना चाहिये ॥ १७० ॥

तत्राद्या मारुतं घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम् । कषायतिक्तमधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते ॥१७१॥
ये रसा वातशमना भवन्ति यदि तेषु वै । रौक्ष्यलाघवशैत्यानि न ते हन्युः समीरणम् ॥
ये रसाः पित्तशमना भवन्ति यदि तेषु वै । तीक्ष्णोष्णलघुताश्चैव नैते तत्कर्मकारिणः ॥
ये रसाः श्लेष्मशमना भवन्ति यदि तेषु वै । स्नेहगौरवशैत्यानि न ते हन्युः कफं तदा ॥

मधुरादि ६ प्रकार के रसों में प्रथम जो मधुर, अम्ल तथा लवण ये तीन रस हैं वे सेवन करने से वायु को नष्ट करते हैं और शेष जो तिक्त, कटु और कषाय तीन रस हैं वे कफ को दूर करते हैं एवं कषाय, तिक्त और मधुर ये तीन रस पित्त को दूर करते हैं। जो २ रस वातादि को नष्ट करते हैं उनसे भिन्न अवशिष्ट जो रस हैं, वे वातादि की वृद्धि करते हैं अर्थात् मधुर, अम्ल, लवण रस यदि वायु को नष्ट करते हैं तो अवशिष्ट तिक्त, कटु, कषाय, रस वायु की वृद्धि करते हैं एवं तिक्त, कटु, कषाय रस यदि कफ को नष्ट करते हैं तो अवशिष्ट मधुर, अम्ल, लवण रस कफ की वृद्धि करते हैं। इसी कषाय, तिक्त, मधुर रस यदि पित्त को नष्ट करते हैं तो अवशिष्ट अम्ल, लवण, कटु रस पित्त की वृद्धि करते हैं। जो रस वात को शमन करने वाले हैं उनमें यदि रूक्षता, लघुता तथा शीतलता ये गुण हों तो वे वायु को नाश करने में नहीं समर्थ होते हैं। जो रस पित्त के शमन करने वाले हैं उनमें यदि तीक्ष्णता, उष्णता तथा लघुता ये गुण हों तो वे पूर्वोक्त कर्म अर्थात् पित्तनाश करने में नहीं समर्थ होते हैं एवं जो रस कफ के शमन करने वाले हैं उनमें यदि स्नेह, गुरुता तथा शीतलता हो तो वे कफ के नाश करने में नहीं समर्थ होते हैं ॥ १७ –१७४ ॥

अथ मधुररसस्य गुणानाह—

मधुरो हि रसः शीतो धातुस्तन्यबलप्रदः । चक्षुष्यो वातपित्तघ्नः कुर्यात्स्थौल्यमलक्रिमीन् ॥
विषघ्नः [2]पिच्छिलश्चापि स्निग्धः प्रीत्यायुषोर्हितः । बालवृद्धक्षतक्षीणवर्णकेशेन्द्रियौजसाम् ॥
प्रशस्तो बृंहणः कण्ठ्यो गुरुः सन्धानकृन्मतः ॥ १७७ ॥

मधुर रस के गुण—मधुर रस शीतवीर्य, धातुवर्धक, स्तनों में दुग्ध की वृद्धि करने वाला, बलकारक, आँखों के लिये हितकर, वात पित्त को नष्ट करने वाला, शरीर में स्थूलता, मल तथा कृमि को उत्पन्न करने वाला, विषनाशक, पिच्छिल, स्निग्ध, प्रीतिजनक और आयु के लिये हितकर अर्थात् आयुवर्धक है एवं बालक, वृद्ध, क्षत (घाव) होने से क्षीण हुये व्यक्तियों के लिये तथा वर्ण,

---

१. कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः ।

२. 'रसेषु प्रवरश्चापी'ति पाठा० । तथा च पाठोऽयमन्ते क्वचिल्लभ्यते ।

केश, इन्द्रिय और ओज के लिये भी हितकर हैं तथा बृंहण (शरीर की वृद्धि करने वाला), कण्ठस्वर के लिये हितकर, गुरु और टूटी हुई हड्डियों को जोड़ने वाला होता है ॥ १७५-१७७ ॥

अथातियुक्तस्य मधुररसस्य गुणानाह—

सोऽतियुक्तो ज्वरश्वासगलगण्डार्बुदक्रिमीन् । स्थौल्याग्निमान्द्यमेहांश्च कुर्यान्मेदःकफामयान् ॥

मधुर रस के अत्यन्त सेवन से हानि—यदि मधुर रस का अत्यन्त सेवन किया जाय तो वह ज्वर, श्वास, गलगण्ड, अर्बुद, कृमि, स्थूलता, अग्नि की मन्दता, प्रमेह, मेद और कफ सम्बन्धी रोगों को उत्पन्न करता है ॥ १७८ ॥

अथाम्लस्य गुणानाह—

रसोऽम्लः पाचनो रुच्यः पित्तश्लेष्मास्रदो लघुः । लेखितोष्णो बहिः शीतः क्लेदनः पवनापहः ॥
स्निग्धस्तीक्ष्णः सरः शुक्रविबन्धानाहदृष्टिहा । हर्षणो रोमदन्तानामक्षिभ्रूविनिकोचनः ॥

अम्ल रस के गुण—अम्ल रस पाचक, रुचिकारक, पित्त, कफ और रुधिर को दूषित करने वाला, लघु, लेखन अर्थात् जमे हुये कफादि को हटानेवाला, उष्ण, बहिःशीत (स्पर्श में शीतल), क्लेद उत्पन्न करने वाला, वायुनाशक, स्निग्ध, तीक्ष्णवीर्य तथा दस्तावर है और वीर्य, विबन्ध (मलादि की विबद्धता), अनाह और दृष्टि को नष्ट करने वाला, रोम तथा दांतो को हर्षित करने वाला अर्थात् रोमाञ्च तथा दाँत खट्टा करने वाला और नेत्र तथा भौहों को संकुचित करने वाला होता है ॥ १७९-१८० ॥

* लेखितः = लेखनः । बहिःशीतः = स्पर्शे शीतः । विनिकोचनः = सङ्कोचनः ॥ १७९-१८० ॥

यहाँ 'लेखित' से 'लेखन' । 'बहिःशीत' से 'स्पर्श में शीतल' तथा 'विनिकोचन' से 'सङ्कुचित करने वाला' । यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १७९-१८० ॥

अथातियुक्तस्याम्लस्य गुणानाह—

सोऽतियुक्तो भ्रमं कुर्यात्तृड्दाहतिमिरज्वरान् । कण्डूपाण्डुत्ववीसर्पशोथविस्फोटकुष्ठकृत् ॥

अम्ल रस के अत्यन्त सेवन से हानि—अम्ल रस अत्यन्त सेवन करने से भ्रम, प्यास, दाह, तिमिर (नेत्रसम्बन्धी रोग), ज्वर, खुजली, पाण्डुता, वीसर्प, शोथ (सूजन), विस्फोटक और कुष्ठ (कोढ़) रोग उत्पन्न होता है ॥ १८१ ॥

अथ लवणस्य गुणानाह—

लवणः शोधनो रुच्यः पाचनः कफपित्तदः । पुंस्त्ववातहरः कायशैथिल्यमृदुताकरः ॥
बलघ्न[1] आस्यजलदः कपोलगलदाहकृत् ॥ १८२ ॥

लवण रस के गुण—लवण रस शोधन, वमन तथा विरेचन के द्वारा शरीर को शुद्ध करने-वाला, रुचिकारक, पाचन, कफ तथा पित्त का उत्पादक, पुरुषत्व (रतिशक्ति) तथा वात को नष्ट करने वाला, शरीर में शिथिलता तथा मृदुता को उत्पन्न करने वाला, बलनाशक, मुख में जल बढ़ाने वाला, कपोल तथा गले में दाह करने वाला होता है ॥ १८२ ॥

अथातियुक्तस्य लवणस्य गुणानाह—

सोऽतियुक्तोऽक्षिपाकास्रपित्तकोठक्षतादिकृत् ।
वलीपलितखालित्यकुष्ठवीसर्पतृट्प्रदः ॥ १८३ ॥

लवण रस के अत्यन्त सेवन से हानि—लवण रस का अत्यन्त सेवन नेत्रपाक, रक्तपित्त, कोठ और क्षत आदि रोगों को करनेवाला, वली (शरीर में सिलवट पड़ जाना), पलित, खालित्य, कोढ़, वीसर्प तथा प्यास को उत्पन्न करनेवाला होता है ॥ १८३ ॥

---

१. 'चक्षुर्नासास्ये' ति पाठा० ।

*कोठो = वरटीकृतदंशशोथवत् । पलितं = केशशुक्लता । खालित्यं = शिरसि केशनाशः ॥१८३॥

यहां 'कोठ' से 'वरटी (बरैं) के डंक मारने जैसा शोथ हो जाना'। 'पलित' से 'बालों का सफेद हो जाना'। 'खालित्य' से 'सिर के बालों का झड़जाना' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १८३ ॥

अथ कटुरसस्य गुणानाह—

कटुरुष्णश्च तीक्ष्णश्च विशदो वातपित्तकृत् ।
श्लेष्महृल्लघुराग्नेयः कृमिकण्डूविषापहः ॥ १८४ ॥
[1]शुक्रस्तन्यहरश्चापि मेदःस्थौल्यापकर्षणः ।
अश्रुदो नासिकाऽऽस्याक्षिजिह्वाऽग्रोद्वेजको मतः ॥ १८५ ॥
दीपनः पाचनो रुच्यो नासिकाशोषणो भृशम् ।
क्लेदमेदोवसामज्जशकृन्मूत्रोपशोषणः ॥ १८६ ॥
स्रोतःप्रकाशको रूक्षो मेध्यो वर्चोविबन्धकृत् ॥ १८७ ॥

कटुरस के गुण —कटुरस उष्ण और तीक्ष्ण, वीर्य, विशद, वात तथा पित्तकारक, कफनाशक, लघु, आग्नेय (अग्नि का अधिक भाग वाला), कृमि, खुजली और विष का दूर करने वाला, वीर्य तथा स्तनों में दुग्ध को नष्ट करने वाला, मेद तथा स्थूलता का हरण करने वाला, आँखों में आँसू लाने वाला, नासिका, मुख, नेत्र तथा जिह्वा के अग्रभाग में उद्वेग पैदा करनेवाला, दीपन, पाचन, रुचिकारक, नाक को अत्यन्त सुखाने वाला, क्लेद, मेद, वसा (चर्बी), मज्जा, विष्ठा तथा मूत्र को सुखाने वाला, स्रोतों को स्वच्छ करने वाला, रूक्ष, मेधाशक्ति के लिये हितकर अर्थात् बढ़ाने वाला और मल का अवरोधक होता है ॥ १८४-१८७ ॥

* आग्नेयः = अधिकाग्न्यंशः । मेध्यो = मेधायै हितः । वर्चोविबन्धकृत् = मलबन्धं करोति ॥ १८४-१८७ ॥

यहां 'आग्नेय' से 'अग्नि का अधिक भागवाला'। 'मेध्य' से 'मेधाशक्ति के लिये हितकर'। 'वर्चोविबन्धकृत' से 'मल का बाँधने वाला अर्थात् अवरोधक' यह अर्थ समझना चाहिये ॥१८४-१८७॥

अथातियुक्तस्य कटुरसस्य गुणानाह—

सोऽतियुक्तो भ्रान्तिदाहमुखताल्वोष्ठशोषकृत् ।
कण्ठादिपीडामूर्च्छाऽन्तर्दाहदो बलकान्तिहृत् ॥ १८८ ॥

कटुरस के अत्यन्त सेवन से हानि —कटुरस अत्यन्त सेवन करने से भ्रम और दाह करने वाला एवं मुख, तालु तथा ओष्ठ को सुखाने वाला, कण्ठ आदि में पीड़ा करने वाला और मूर्छा तथा अन्तर्दाह (शरीर के भीतर दाह) भी करने वाला तथा बल और कान्ति को हरण करनेवाला होता है ॥

अथ तिक्तरसस्य गुणानाह—

तिक्तः शीतस्तृषामूर्च्छाज्वरपित्तकफाञ्जयेत् ।
कृमिकुष्ठविषोत्क्लेददाहरक्तगदापहः ॥ १८९ ॥
रुच्यः स्वयमरोचिष्णुः कण्ठस्तन्यविशोधनः ।
वातलोऽग्निकरो नासाशोषणो रूक्षणो लघुः ॥ १९० ॥

तिक्तरस के गुण—तिक्तरस शीतवीर्य, प्यास, मूर्छा, ज्वर, पित्त तथा कफ को दूर करनेवाला, कृमि, कोढ़, विष, उत्क्लेद (जी मचलाना) दाह तथा रुधिर सम्बन्धी रोगों को दूर करनेवाला रुच्य, स्वयं रुचिकर नहीं लगनेवाला, कण्ठस्वर तथा दूध को शुद्ध करनेवाला, वायु का उत्पादक, अग्निको बढ़ानेवाला, नासिका को सुखानेवाला, रूक्ष तथा लघु होता है ॥ १८९-१९० ॥

---

१. 'रूक्ष' इति पाठा० ।

*रुच्यः = अन्येषु वस्तुषु रुचिमुत्पादयति। स्वयमरोचिष्णुः = यथा निम्बः स्वयं न रोचते अन्येषु वस्तुषु रुचिं करोति ॥ १८९-१९० ॥

यहां 'रुच्य' से 'अन्य वस्तुओं में रुचि उत्पन्न करनेवाला'। 'स्वयमरोचिष्णुः' से 'स्वयं रुचिकर नहीं लगनेवाला अर्थात् जैसे नीम स्वयं रुचिकर नहीं होता है तथा अन्य वस्तुओं में रुचि उत्पन्न करता है-' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १८९-१९० ॥

अथातियुक्तस्य तिक्तस्य गुणानाह—

सोऽतियुक्तः शिरःशूलमन्यास्तम्भश्रमार्त्तिकृत्।
कम्पमूर्च्छातृषाकारी बलशुक्रक्षयप्रदः ॥ १९१ ॥

तिक्तरस के अत्यन्त सेवन करने से हानि- तिक्तरस अत्यन्त सेवन करने से सिर में दर्द, मन्यास्तम्भ (मन्यानामक शिराओं का जकड़ जाना) श्रम, पीड़ा, कम्प, मूर्च्छा तथा प्यास उत्पन्न करने वाला और बल तथा शुक्र का क्षय करनेवाला होता है ॥ १९१ ॥

अथ कषायरसस्य गुणानाह—

कषायो रोपणो ग्राही स्तम्भनः शोधनस्तथा।
लेखनः पीडनः सौम्यः शोषणो वातकोपनः ॥ १९२ ॥
कफशोणितपित्तघ्नो रूक्षः शीतो लघुर्मतः।
त्वक्प्रसादन आमस्य स्तम्भनो विशदो मतः ॥
जिह्वाया जाड्यकृत्कण्ठस्रोतसां च विबन्धकृत् ॥ १९३ ॥

कषाय रस के गुण—कषाय रस घाव को भरनेवाला, मलपद्ध करनेवाला तथा स्तम्भन, शोधन, लेखन, पीडन, सौम्य, शोषण तथा वात को कुपित करनेवाला, कफ और रुधिर को नष्ट करनेवाला एवं रूक्ष, शीतवीर्य, लघु और त्वचा को साफ करने वाला, आम को रोकने वाला, विशद, जिह्वा की जड़ता को करने वाला और कण्ठ तथा स्रोतों में विबन्धता करनेवाला होता है ॥ १९२-१९३ ॥

*रोपणो व्रणस्य। स्तम्भनो गात्राणाम्। शोधनो व्रणस्य। लेखनो व्रणादुत्पन्नमांसस्य। पीडनो हृदयस्य वातकारित्वात्। सौम्यः = सोमादुत्पन्नः। शोषणो व्रणमज्जादीनाम् ॥१९३॥

यहां 'रोपण' से 'व्रण (घाव) को भरनेवाला'। 'स्तम्भन' से शरीर के अवयवों को जकड़ने वाला'। 'शोधन' से 'व्रण को शुद्ध करनेवाला'। 'लेखन' से 'क्षत (घाव) आदि में विकार युक्त उभरे हुए मांसों को छीलनेवाला'। 'पीडन' से 'वायुकारक होने से हृदय में पीड़ा करनेवाला'। 'सौम्य' से 'सोम पदार्थ से उत्पन्न होनेवाला' और 'शोषण' से 'व्रण तथा मज्जा आदि का सुखाने वाला' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १९२-१९३ ॥

अथातियुक्तस्य कषायस्य गुणानाह—

सोऽतियुक्तो ग्रहाध्मानहृत्पीडाक्षेपणादिकृत् ॥ १९४ ॥

कषायरस के अत्यन्त सेवन करने से दोष—कषायरस अत्यन्त सेवन करने से ग्रह (अङ्गों का जकड़ना), आध्मान (अफारा), हृदय में पीडा और आक्षेपादि रोगों को उत्पन्न करनेवाला होता है ॥ १९४ ॥

अथ मधुरादीनामपरान् विशेषानाह—

मधुरं श्लेष्मलं प्रायो जीर्णशालियवादृते।
मुद्गाद्गोधूमतः क्षौद्रात्सिताया जाङ्गलामिषात् ॥ १९५ ॥
अम्लं पित्तकरं प्रायो विना धात्रीं च दाडिमीम्।
लवणं प्रायशो द्वेषि नेत्रयोः सैन्धवं विना ॥ १९६ ॥

प्रायः कटु तथा तिक्तमवृष्यं वातकोपनम् ।
शुण्ठी कृष्णारसोनाभ्यां पटोलममृतां विना ॥ १९७ ॥

मधुरादि रसों की अन्य विशेषता—मधुररसयुक्त पदार्थ प्रायः करके कफकारक होते हैं परन्तु उनमें पुराना शालि धान्य का चावल, जव, मूँग, गेहूँ, शहद, साफ शक्कर और जङ्गली जीवों के मांस कफकारक नहीं होते हैं। अम्लरसयुक्त पदार्थ प्रायः करके पित्तकारक होते हैं, अत एव आमला और अनार को छोड़कर शेष अम्लरसयुक्त सभी पदार्थ पित्तकारक होते हैं। लवणरसयुक्त पदार्थों में सैन्धव (सेंधानमक) को छोड़कर प्रायः करके अन्य सभी नेत्रों के लिये अहितकर होते हैं। प्रायः करके कटु तथा तिक्तरसयुक्त पदार्थ अवृष्य (वीर्य के लिये अहितकर) और वात को कुपित करने वाले होते हैं, किन्तु उनमें सोंठ, पीपल, लहसुन, परवल और गुरुच अवृष्य तथा वात को कुपित करने वाले नहीं होते हैं ॥ १९५–१९७ ॥

([1]उक्तं च) चरकेऽपि—

पिप्पली नागरं वृष्यं कटु चावृष्यमुच्यते ।
प्रायशः स्तम्भनं प्रोक्तं कषायमभयां विना ॥ १९८ ॥
सामान्येनात्र निर्दिष्टा गुणाः षड्रससम्भवाः ।
रसानां योगतस्तु स्यादन्य एव गुणोदयः ॥ १९९ ॥
संयोगाद्विषतां याति समभाज्येन माक्षिकम् ।
अमृतत्वं विषं याति सर्पदष्टस्य वै यथा ॥ २०० ॥

इसी सम्बन्ध में 'चरक' में भी कहा है कि—कटुरसयुक्त पदार्थों में पीपल और सोंठ वृष्य (वीर्य के लिये हितकर) है तथा शेष अवृष्य (वीर्य के लिये अहितकर) है। कषायरसयुक्त पदार्थों में हर्रे को छोड़कर शेष पदार्थ शरीर को स्तम्भन करने वाले होते हैं। यहां सामान्यरूप से इस प्रकार मधुरादि ६ प्रकार के रसों के गुणों का निर्देश किया गया, किन्तु इनमें विशेषता यह है कि इन्हीं रसोंका परस्पर योग होने से अन्य प्रकार के ही गुणों का उदय हो जाता है। जैसे समभाग में घृत तथा मधु का योग होने से उन दोनों का विष के तुल्य हो जाता है और सर्प के काटने पर विष देना अमृत की भांति गुणकारी हो जाता है ॥ १९८–२०० ॥

आकाशादिसम्बन्धिद्रव्यगुणानाह—

लघुर्गुरुस्तथा स्निग्धो रूक्षस्तीक्ष्ण इति क्रमात् ।
नभोभूवारिवातानां वह्नेरेते गुणाः स्मृताः ॥ २०१ ॥

द्रव्यों में आकाशादि पांच महाभूत सम्बन्धी गुण-द्रव्यों में आकाश, पृथ्वी, जल, वायु तथा अग्नि सम्बन्धी क्रम से लघु, गुरु, स्निग्ध, रूक्ष तथा तीक्ष्ण ये गुण होते हैं। अर्थात्-आकाश के गुण लघु, पृथ्वी के गुण गुरु, जल के गुण स्निग्ध, वायु के गुण रूक्ष एवं अग्नि के गुण तीक्ष्ण होते हैं ॥ २०१ ॥

अथ लघ्वादिगुणवतां द्रव्याणां गुणानाह—

लघु पथ्यं परं प्रोक्तं कफघ्नं शीघ्रपाकि च ॥ २०२ ॥

लघ्वादि गुणों से युक्त द्रव्यों के गुण—लघु गुणयुक्त द्रव्य अत्यन्त पथ्य (हितकर), कफनाशक तथा शीघ्र पचनेवाला होता है ॥ २०२ ॥

* लघु = द्रव्यम् । एवं गुर्वादि । तथा चोक्तम्—

१. कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः ।

गुर्वादयो गुणा द्रव्ये पृथिव्यादौ रसाश्रये ।
रसेषु व्यपदिश्यन्ते साहचर्योपचारतः ॥ २०२ ॥

यहाँ 'लघु' पद का 'लघुगुण युक्त द्रव्य' अर्थ समझना चाहिये। इसी प्रकार से 'गुरु' आदि का भी अर्थ समझना चाहिये और इसके प्रमाण में अन्यत्र कहा भी है कि—रस के आश्रय पृथिव्यादि द्रव्यों में गुरु आदि गुण रहते हैं अत एव रस के साहचर्य (साथ २ रहने) से उसी के भाँति ये भी समझे जाते हैं अर्थात् जैसे अम्लादि रस कहने से अम्ल युक्त पदार्थ समझे जाते हैं वैसे ही गुरु आदि कहने से गुरु आदि गुणयुक्त पदार्थ समझे जाते हैं ॥ २०२ ॥

गुरु वातहरं पुष्टिश्लेष्मकृच्चिरपाकि च ।
स्निग्धं वातहरं श्लेष्मकारि वृष्यं बलावहम् ॥
रूक्षं समीरणकरं परं कफहरं मतम् ॥ २०३ ॥
तीक्ष्णं पित्तकरं प्रायो लेखनं कफवातहृत् ।
सुश्रुते तु गुणा एते विंशतिस्तान्ब्रुवे शृणु ॥ २०४ ॥
गुरुर्लघुः स्निग्धरूक्षौ तीक्ष्णः श्लक्ष्णः स्थिरः सरः ।
पिच्छिलो विशदः शीत उष्णश्च मृदुकर्कशौ ।
स्थूलः सूक्ष्मो द्रवः शुष्क आशुर्मन्दः स्मृता गुणाः ॥ २०५ ॥

गुरु गुणयुक्त पदार्थ—गुरु पदार्थ वातनाशक, पुष्टि तथा कफ कारक और देर में पचने वाला होता है। स्निग्धगुण युक्त पदार्थ—वातनाशक, कफकारक, वृष्य (वीर्य के लिये हितकर) तथा बलदायक होता है। रूक्ष गुण युक्त पदार्थ—अत्यन्त वातकारक तथा कफनाशक होता है। तीक्ष्णगुण युक्त पदार्थ—प्रायः करके पित्तकारक, लेखन और कफ तथा वात का हरण करने वाला होता है। 'सुश्रुत' में बीस प्रकार के ये गुण कहे हुये हैं - १ गुरु, २ लघु, ३ स्निग्ध, ४ रूक्ष, ५ तीक्ष्ण, ६ श्लक्ष्ण, ७ स्थिर, ८ सर, ९ पिच्छिल, १० विशद, ११ शीत, १२ उष्ण, १३ मृदु, १४ कर्कश, १५ स्थूल, १६ सूक्ष्म, १७ द्रव, १८ शुष्क, १९ आशु और २० मन्द ॥ २०३–२०५ ॥

तत्र गुरुलघुस्निग्धरूक्षतीक्ष्णगुणा उक्ता एव । (अन्येषान्त्वाह[1]—)
श्लक्ष्णः स्नेहं विनाऽपि स्यात्कठिनोऽपि हि चिक्कणः ॥ २०६ ॥

पूर्वोक्त २० गुणों में गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष तथा तीक्ष्ण गुणों का वर्णन हो चुका है अब अन्य गुणों का वर्णन इस प्रकार हैं- श्लक्ष्ण गुण युक्त पदार्थ-स्नेह के बिना तथा कठिन होते हुये भी चिक्कन होता है अर्थात् स्नेह गुण युक्त न होते हुये तथा कठिन होते हुये भी यदि उसमें श्लक्ष्ण गुण हो तो वह चिक्कन होता है ॥ २०६ ॥

स्थिरो वातमलस्तम्भी सरस्तेषां प्रवर्तकः ।
पिच्छिलस्तन्तुलो बल्यः सन्धानः श्लेष्मलो गुरुः ॥ २०७ ॥

स्थिर गुण युक्त पदार्थ—वायु और मल का स्तम्भन करने वाला होता है। सरगुण युक्त पदार्थ- वात और मल का प्रवर्त्तन करने वाला होता है। पिच्छिलगुण युक्त पदार्थ—तन्तुल (रेसे युक्त), बलकारक, सन्धानकारक, कफप्रद तथा गुरु होता है ॥ २०७ ॥

* सन्धानो भग्नस्य ॥ २०७ ॥
यहां 'सन्धान' से 'टूटे हुयें हड्डियों को जोड़ने वाला' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २०७ ॥

क्लेदच्छेदकरः ख्यातो विशदो व्रणरोपणः ।

---

१. कोष्ठस्थः पाठः क्वचित्कः ।

शीतस्तु ह्लादनः स्तम्भी मूर्च्छातृट्स्वेददाहनुत्।
उष्णो भवति शीतस्य विपरीतश्च पाचनः ॥ २०८ ॥

विशदगुण युक्त पदार्थ-क्लेद (आर्द्रता) को दूर करने में तथा व्रण को पूरा करने में प्रसिद्ध है। शीत गुण युक्त पदार्थ - सुख उत्पन्न करनेवाला, रक्त के अत्यन्त स्राव आदि को रोकनेवाला, मूर्च्छा, प्यास, पसीना और दाह इन सबों को दूर करने वाला होता है। उष्ण गुण युक्त पदार्थ - पूर्वोक्त शीत गुण युक्त पदार्थ के विपरीत गुण वाला होता है और व्रणादि को पकाने वाला होता है ॥ २०८ ॥

ह्लादनः = सुखजनकः, स्तम्भी = रक्तातिप्रवृत्त्यादीनाम्। उष्णः = शीतस्य विपरीतस्तेन असुखजनकः। रक्तातिप्रवृत्त्यादीनामस्तम्भनः। मूर्च्छातृट्स्वेददाहकृत्। पाचनो व्रणादीनाम् ॥ मृदुकर्कशौ प्रसिद्धौ ॥ २०८ ॥

यहाँ 'ह्लादन' पद का 'सुख उत्पन्न करने वाला'। 'स्तम्भी' पद का 'रक्त के अत्यन्त स्राव आदि को रोकने वाला'। 'उष्णः शीतस्य विपरीतः' पदों का उष्ण गुण युक्त तथा शीत गुण युक्त पदार्थ के विपरीत गुण वाला होता है अतः दुःखोत्पादक तथा रक्त के अत्यन्त स्राव आदि का करने वाला होता है, एवं मूर्च्छा, प्यास, पसीना और दाह इन सबों को भी करने वाला होता है' और 'पाचनः' पद का 'व्रण आदि का पकाने वाला' यह अर्थ समझना चाहिये। यहाँ पर मृदु तथा कर्कश गुण युक्त पदार्थों का अन्य गुण युक्त पदार्थों की भाँति वर्णन करने का यह कारण है कि 'वे प्रसिद्ध हैं' यह और भी समझ लेना चाहिये ॥ २०८ ॥

स्थूलः स्थौल्यकरो देहे स्रोतसामवरोधकृत् ॥ २०९ ॥
देहस्य सूक्ष्मच्छिद्रेषु विशेद्यत्सूक्ष्ममुच्यते।
द्रवः क्लेदकरो व्यापी शुष्कस्तद्विपरीतकः ॥ २१० ॥
आशुराशुकरो देहे धावत्यम्भसि तैलवत्।
मन्दः सकलकार्येषु शिथिलोऽल्पोऽपि कथ्यते ॥ २११ ॥

स्थूल गुण युक्त पदार्थ—शरीर में स्थूलता उत्पन्न करने वाला तथा सम्पूर्ण स्रोतों का अवरोध करने वाला होता है। सूक्ष्म गुण युक्त पदार्थ-वह कहलाता है जो शरीर के सूक्ष्मछिद्रों में भी प्रवेश कर सकता हो अर्थात् अपना गुण प्रकाशित कर सकता हो। द्रवगुण युक्त पदार्थ-शरीर में आर्द्रता करने वाला तथा व्याप्त होने वाला होता है। शुष्क गुण युक्त पदार्थ-पूर्वोक्त द्रव गुण युक्त पदार्थ के विपरीत गुण वाला होता है। आशु गुण युक्त पदार्थ—शरीर में शीघ्र कार्य करने वाला होता है अर्थात् जल में डाले हुये तैल की भाँति थोड़ी देर में सम्पूर्ण शरीर में दौड़ने (फैलने) वाला होता है। मन्द गुण युक्त पदार्थ-सम्पूर्ण कार्यों में शिथिलता करने वाला होता है तथा यही अल्प गुण युक्त पदार्थ भी कहलाता है ॥ २०९-२११ ॥

अथ गुणप्रस्तावाद्दीपनादयो गुणाः सलक्षणाः ([1]उच्यन्ते) तत्रादौ दीपनमाह—
पचेन्नामं वह्निकृच्च[2]दीपनं तद्यथा मिसिः ॥ २१२ ॥

दीपन पदार्थ के लक्षण और गुण —जो द्रव्य अग्नि को दीप्त करने वाला हो किन्तु आम को पचाने वाला न हो वह 'दीपन' गुण युक्त कहलाता है। जैसे—जटामांसी ॥ २१२ ॥

वह्निकृत् = वह्निदीप्तिकृत्। ननु यद्वह्निं प्रदीपयति तदामं कथं न पचेदित्याशङ्कायामुच्यते, दीपनद्रव्यं तावन्तं वह्निं प्रदीपयति यद्[2] अन्ने भोक्तुमिच्छामुत्पादयति, न त्वामं

1 कोष्ठस्थः पाठष्टीकाकृता स्थापितः। 2. 'यथे'ति पाठः क्वाचित्कः।

पक्तुं क्षमम्, यथा-सूक्ष्मदीपाग्निः उद्द्योतं करोति न तु बृहत्स्थालीस्थान् तण्डुलान् ओदनं कर्तुं क्षमः ॥

यहां 'वह्निकृत्' पद से 'अग्नि को दीप्त करने वाला' अर्थ समझना चाहिये। अब यहां यदि यह कहा जाय कि—जो द्रव्य अग्नि को प्रदीप्त करने वाला हो वह क्यों नहीं आम को पचाने वाला भी होता ? इसका उत्तर यह है कि दीपन गुण युक्त द्रव्य उतनी ही अग्नि को प्रदीप्त करता है जितने से अन्न खाने की इच्छा उत्पन्न हो, न कि आम को पचाने में भी समर्थ हो। जैसे कि सूक्ष्म रूप से जलती हुई अग्नि प्रकाश करती है किन्तु भारी बटुलोई में रखे हुये चावलों को पकाकर भात बनाने में समर्थ नहीं होती, इसी भांति दीपन द्रव्य को भी आम के पचाने में असमर्थ समझना चाहिये ॥ २१२ ॥

अथ पाचनमाह—

पचत्यामं न वह्निं च कुर्याद्यत्तद्धि पाचनम्।
नागकेशरवद्विद्याच्चित्रो दीपनपाचनः ॥ २१३ ॥

'पाचन' गुण युक्त द्रव्य—पाचन गुण युक्त द्रव्य वह कहलाता है जो नागकेशर की भांति आम को पचाता हो किन्तु अग्नि को प्रदीप्त न करता हो। 'चीता' को तो दीपन, पाचन इन दोनों गुणों से युक्त समझना चाहिये ॥ २१३ ॥

ननु यद्वह्निं न दीपयति तदामं कथं पचतीत्याशङ्कायामाह-पाचनं वह्निदीप्तिमकुर्वाणमप्यामं पचति; यथाऽन्याधानीस्थोऽङ्गारसमूहोऽन्नं पचति। न तु दीपवत्सर्वतः प्रदीपयति ॥

यहां यदि यह कहा जाय कि जो द्रव्य अग्नि को दीप्त नहीं कर सकता वह आम को कैसे पचा सकता है ? तो इसका उत्तर यह है कि--पाचन द्रव्य बिना अग्नि को दीप्त किये ही आम को पचाता है जैसे - दमचूल्हे में स्थित कोयले की अग्नि अन्न को पचाती है किन्तु दीपक की भाँति चारों ओर प्रकाश नहीं करती, वैसे ही पाचन द्रव्य को भी दीपन में असमर्थ समझना चाहिये ॥ २१३ ॥

अथ शमनमाह—

न शोधयति यद्दोषान्समान्नोदीरयत्यपि।
समीकरोति विषमाञ्छमनं तद्यथाऽमृता ॥ २१४ ॥

'शमन' गुण युक्त द्रव्य—जो द्रव्य-दोषों का शोधन नहीं करता और समभाव में स्थित दोषों को बढ़ाता भी नहीं है एवं विषमभाव में स्थित दोषों को समभाव में स्थित करता है वही 'शमन' गुण युक्त द्रव्य कहलाता है, जैसे-गुरुचि (गिलोय) ॥ २१४ ॥

यद् द्रव्यं दोषत्रयं न शोधयति, नोर्ध्वाधोमार्गाभ्यामानयति, समान्दोषान् नोदीरयति न वर्धयति (च[1]) शमनं तत् ॥ २१४ ॥

यहां 'यद्दोषान् न शोधयति' इन पदों से 'जो द्रव्य वातादि तीनों दोषों का शोधन नहीं करता अर्थात् ऊपर (मुखादि) और नीचे (गुदादि) मार्गों से बाहर नहीं निकालता है' और 'समान्नोदीरयत्यपि' इन पदों से 'समभाव में स्थित दोषों को बढ़ाता भी नहीं है' एवं 'शमनं तद्' इन पदों से 'वह शमन गुण युक्त कहलाता है' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २१४ ॥

अथानुलोमनमाह—

कृत्वा पाकं मलानां च भित्त्वा बन्धमधो नयेत्।
तच्चानुलोमनं ज्ञेयं यथा प्रोक्ता हरीतकी ॥ २१५ ॥

---

1. क्वचिन्नास्ति।

'अनुलोमन' गुण युक्त द्रव्य—जो द्रव्य मलों का परिपाक करके बन्ध (वायु के बन्ध) भेदन करके नीचे को ले जावे वह 'अनुलोमन' गुण युक्त कहलाता है। जैसे-हर्रा ॥ २१५ ॥

ॐमलानामपक्वानां वातपित्तश्लेष्मणां, बन्धं=वायुबन्धं भित्वा, अधो नयेत्=मलानधःपातयति।

यहां 'मलानाम्' से 'मलों का अर्थात् अपरिपक्व वात, पित्त और कफ का' तथा 'बन्धं भित्वा' से 'बन्ध का अर्थात् वायु के बन्ध का भेदन करके' और 'अधो नयेत्' से 'नीचे को ले जावे अर्थात् मलों को नीचे गिरावे' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २१५ ॥

अथ स्रंसनमाह—

पक्तव्यं यदपक्त्वैव श्लिष्टं कोष्ठे मलादिकम् ।
नयत्यधः स्रंसनं तद्यथा स्यात्कृतमालकम् ॥ २१६ ॥

'स्रंसन' गुण युक्त द्रव्य—जो द्रव्य कोष्ठस्थित पकने योग्य मलादिकों को बिना पकाये ही नीचे को फेंक देवे वह 'स्रंसन' गुण युक्त द्रव्य कहलाता है। जैसे - धनबहेरा ॥ २१६ ॥

ॐमलादिकम् आदिशब्दात् कफपित्ते। कृतमालः = धनबहेरा ([1]सोंदालवा) इति लोके ॥

यहां 'मलादिकम्' पद में स्थित 'आदि' शब्द से 'कफ और पित्त' का भी ग्रहण करना चाहिये और 'कृतमाल' पद से 'धनबहेरा' जिसे लोक में 'सोंदालवा' कहते हैं उसका ग्रहण करना चाहिये ॥

अथ भेदनमाह—

मलादिकमबद्धं यद्बद्धं वा पिण्डितं मलैः ।
भित्वाऽधः पातयति यद्भेदनं कटुकी यथा ॥ २१७ ॥

'भेदन' गुण युक्त द्रव्य—जो द्रव्य शिथिल अथवा गाढ़े एवं मलों से पिण्डाकार को प्राप्त हुये मलादि का भेदन करके नीचे गिराता है वह 'भेदन' गुण युक्त द्रव्य कहलाता है। जैसे—कुटकी ॥

ॐअबद्धं = शिथिलं, बद्धं = गाढं, मलैः = दोषैस्तत्रापि वातैः, बहुत्वमाधिक्यबोधनार्थं तैः पिण्डितं = गुटिकीकृतम् ॥ २१७ ॥

यहां 'अबद्ध' से शिथिल' और 'बद्ध' से 'गाढे' एवं 'मलैः' से 'दोषों से उसमें भी विशेष कर वायु से' यह अर्थ समझना चाहिये। यहां 'मलैः' पद में जो बहुवचन का निर्देश किया है वह अधिकता का बोध कराने के लिये है, अतः 'मलों से अर्थात् अधिक वायु से 'पिण्डित' (गुटिका-गोली) की भांति आकार को प्राप्त हुये' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २१७ ॥

अथ रेचनमाह—

विपक्वं यदपक्वं वा मलादि द्रवतां नयेत् ।
रेचयत्यपि तज्ज्ञेयं रेचनं त्रिवृता यथा ॥ २१८ ॥

'रेचन' गुण युक्त द्रव्य—जो द्रव्य पक्व अथवा अपक्व मलादिकों को द्रवीभूत (पतला) करके रेचन कराता है वह 'रेचन' गुण युक्त द्रव्य कहलाता है। जैसे—निसोथ ॥ २१८ ॥

ॐरेचयत्यपि = अधः पातयति च। त्रिवृता = पनिलर[2] इति लोके ॥ २१८ ॥

यहां 'रेचयत्यपि' से नीचे गिराता है अर्थात् रेचन करता है' तथा 'त्रिवृता' से 'तेओडि अथवा पनिलर' नाम से लोक प्रसिद्ध द्रव्य का ग्रहण करना चाहिये ॥ २१८ ॥

अथ वमनमाह—

अपक्वं पित्तश्लेष्माणं [3]बलादूर्ध्वं नयेत्तु यत् ।
वमनं तद्धि विज्ञेयं मदनस्य फलं यथा ॥ २१९ ॥

---

१. कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः । २. 'तेओडि' इति पाठा० । ३. 'नयत्यूर्ध्वमि'ति पाठा० ।

'वमन' गुण युक्त द्रव्य—जो द्रव्य अपक्व पित्त, कफ अन्न को बलपूर्वक ऊपर की ओर ले जाता है उसे 'वमन' गुण युक्त द्रव्य जानना चाहिये। जैसे—मयनफल ॥ २१९ ॥

***ऊर्ध्वं नयेन्मुखमार्गेण बहिष्कुर्यात् । मदनस्य फलं 'मयनफल' इति लोके ॥ २१९ ॥**

यहाँ 'ऊर्ध्वं नयेत्' से 'ऊपर की ओर लेजावे अर्थात् मुख के रास्ते से बाहर कर देवे' तथा 'मदनस्य फलम्' से लोकप्रसिद्ध 'मयनफल' को ग्रहण करना चाहिये ॥ २१९ ॥

अथ देहसंशोधनमाह—

स्थानाद्बहिर्नयेदूर्ध्वमधो वा मलसञ्चयम् ।
देहसंशोधनं तत्स्याद् देवदालीफलं यथा ॥ २२० ॥

'देहसंशोधन' गुण युक्त द्रव्य—जो द्रव्य सञ्चित हुये मल को उसके रहने के स्थान से ऊपर अथवा नीचे के मार्ग से निकाल कर बाहर कर देवे वह 'देह संशोधन' गुण युक्त द्रव्य कहलाता है। जैसे—देवदाली का फल (घघरवेल) ॥ २२० ॥

***देवदाली 'सोनैआ' इति लोके ॥ २२० ॥**

यहाँ 'देवदाली' से लोक प्रसिद्ध 'सोनैआ' का ग्रहण करना चाहिये ॥ २२० ॥

अथ ग्राह्याह—

दीपनं पाचनं यत्स्यादुष्णत्वाद् द्रवशोषकम् ।
ग्राहि तच्च यथा शुण्ठी जीरकं गजपिप्पली ॥ २२१ ॥

ग्राही गुण युक्त द्रव्य—जो दीपन तथा पाचन हो एवं उष्ण होने से द्रवपदार्थों का शोषण करने वाला हो वह ग्राही गुण युक्त पदार्थ कहलाता है। जैसे—सोंठ, जीरा और गजपीपल ॥ २२१ ॥

अथ स्तम्भनमाह—

रौक्ष्याच्छैत्यात्कषायत्वाल्लघुपाकाच्च यद्भवेत् ।
वातकृत्स्तम्भनं तत्स्याद्यथा वत्सकटुण्टुकौ ॥ २२१ ॥

स्तम्भन गुण युक्त द्रव्य—जो रूक्ष, शीतल, कषाय रस युक्त तथा लघुपाकी (शीघ्र पचनेवाला) होने से वातकारक होता है वह 'स्तम्भन' गुण युक्त पदार्थ कहलाता है। जैसे—कुरैआ और सोनापाठा ॥ २२२ ॥

***वातकृत् = प्रतिलोमवातकृत् । स्तम्भनमधोगामि मलादीनाम् । वत्सकः (कुरैआ) टुण्टुकः (सोनापाठा) ॥ २२२ ॥**

यहाँ 'वातकृत्' से 'वायुकारक अर्थात् अधोगामी वायु का प्रतिलोम करनेवाला अर्थात् ऊर्ध्वगामी करने वाला एवं ऊर्ध्वगामी को अधोगामी करने वाला' तथा 'स्तम्भन' पद से 'अधोगामी मलादि को रोकने वाला' और 'वत्सक' से 'कुरैआ' एवं 'टुण्टुक' से 'सोनापाठा' यह अर्थ समझना चाहिये ॥

अथ छेदनमाह—

श्लिष्टान्कफादिकान्दोषानुन्मूलयति यद्बलात् ।
छेदनं तद्यथा क्षारा मरिचानि शिलाजतु ॥ २२३ ॥

'छेदन' गुण युक्त द्रव्य—जो चिपके हुये कफादि दोषों को बलपूर्वक जड़ से अलग कर दे वह 'छेदन' गुण युक्त पदार्थ कहलाता है। जैसे—क्षारपदार्थ, मरिच और शिलाजीत ॥ २२३ ॥

***क्षाराः = यवक्षारादयः ॥ २२३ ॥**

यहाँ 'क्षार' से 'जवाखार' आदि का ग्रहण करना चाहिये ॥ २२३ ॥

अथ लेखनमाह—

धातून्मलान् वा देहस्य विशोष्योल्लेखयेच्च यत्।
लेखनं तद्यथा क्षौद्रं नीरमुष्णं वचा यवाः ॥ २२४ ॥

'लेखन' गुण युक्त द्रव्य—जो देह के धातुओं तथा मलों को सुखा कर उल्लेखन करे अर्थात् कृश कर दे वह 'लेखन' गुण युक्त पदार्थ कहलाता है। जैसे—शहद, गरम जल, वच तथा इन्द्रयव ॥

*उल्लेखयेत्कृशीकुर्यात्। लेखनं = कृशीकारकम्। क्षौद्रं = मधु। यवाः=इन्द्रयवाः ॥ २२४ ॥

यहां 'उल्लेखयेत्' से 'उल्लेखन करे अर्थात् कृश कर दे', 'लेखन' से 'जो कृश न हो उसे कृश कर देने वाला', 'क्षौद्र' से 'शहद' और 'यव' से 'इन्द्रयव' अर्थ समझना चाहिये ॥ २२४ ॥

अथ वाजीकरमाह—

यस्माद् द्रव्याद्भवेत्स्त्रीषु हर्षो वाजीकरं हि तत्।
यथाऽश्वगन्धा मुसली शर्करा च शतावरी ॥ २२५ ॥

'वाजीकर' गुण युक्त द्रव्य—जिस द्रव्य के सेवन से स्त्री के विषय में हर्ष हो वह 'वाजीकर' गुण युक्त पदार्थ कहलाता है। जैसे—असगन्ध, मुसली, शक्कर और शतावर ॥ २२५ ॥

*हर्षो = रन्तुं समुत्साहः ॥ २२५ ॥

यहाँ 'स्त्री के विषय में हर्ष अर्थात् स्त्री के साथ सम्भोग करने में उत्साह' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २२५ ॥

अथ शुक्रलमाह—

यस्माच्छुक्रस्य वृद्धिः स्याच्छुक्रलं हि तदुच्यते।
यथा नागबलाऽऽद्याः स्युर्बीजं च कपिकच्छुजम् ॥ २२६ ॥

'शुक्रल' युक्त द्रव्य गुण—जिस द्रव्य के सेवन से शुक्र की वृद्धि हो वह 'शुक्रल' गुण युक्त पदार्थ कहलाता है। जैसे—गुलशकरी आदि तथा केवांच का बीज ॥ २२६ ॥

*नागबला = गुल[1]शकरी इति लोके ॥ २२६ ॥

यहां 'नागबला' से लोक प्रसिद्ध 'गुलशकरी' का ग्रहण करना चाहिये ॥ २२६ ॥

अथ शुक्रस्य जनकं रेचकञ्चाह—

दुग्धं माषाश्च भल्लातफलमज्जामलानि च।
एतानि जनकानि स्यू रेचकानि च रेतसः ॥ २२७ ॥

शुक्र के जनक तथा रेचक गुण युक्त पदार्थ—दूध, उड़द, भिलावे के फल की मींगी और आंवला ये सब शुक्र के जनक तथा रेचक भी हैं ॥ २२७ ॥

*जनकानि = प्रभावाच्छीघ्रमेव रसाद्युत्पादनपूर्वकं शुक्रं जनयन्ति। रेचकानि = आधिक्यात्प्रवर्तयन्ति च ॥ २२७ ॥

यहां 'जनकानि' पद से अपने प्रभाव से शीघ्र ही रस रक्तादि को उत्पन्न करके शुक्र का उत्पन्न करने वाले' और 'रेचकानि' पद से वीर्य की अधिकता कर देने से क्षरण कराने वाले यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २२७ ॥

अथ शुक्रस्य प्रवर्त्तकं रेचकं स्तम्भकं क्षयकारकञ्चाह—

प्रवर्तिनी स्त्री शुक्रस्य रेचनं बृहतीफलम्।
जातीफलं स्तम्भकं स्यात्कालिङ्गं क्षयकारि च ॥ २२८ ॥

---

१. 'गोरक्षचाकुलिया' इति पाठा०।

शुक्र के प्रवर्त्तक (रेचक), स्तम्भक तथा क्षयकारक पदार्थ—'स्त्री'-शुक्र का प्रवर्त्तन (क्षरण) कराने वाली होती है। 'बड़ी भटकटैया'-रेचन अर्थात् क्षरण कराने वाली है। 'जायफल'—स्तम्भन करने वाला और कलींदा का फल अर्थात् 'तरबूज'—क्षयकारक होता है ॥ २२८ ॥

*स्त्री—स्मरणकीर्तनदर्शनसम्भाषणस्पर्शनचुम्बनालिङ्गननिधुवनैः समस्तव्यंस्तैश्च शुक्रस्य प्रवर्तिनी प्रवृत्तिकारिणी। रेचनं बृहतीफलम्, बृहत्कण्टकारीफलमपि शुक्रस्य रेचकं प्रवर्तकम् । कालिङ्गं-कालिन्दफलम्[1] ॥ २२८ ॥

यहाँ 'स्त्री शुक्रस्य प्रवर्त्तिनी' इन पदों से 'स्त्री—स्मरण, कीर्त्तन, दर्शन, सम्भाषण, स्पर्श, चुम्बन, आलिङ्गन और सम्भोग इन सब कर्मों को एक साथ करने से अथवा अलग २ चाहे जो कोई करने से शुक्र की प्रवर्त्तिनी अर्थात् प्रवर्त्तन (क्षरण) कराने वाली होती है।' 'रेचनं बृहतीफलम्' इन पदों से 'बड़ी भटकटैया का फल भी शुक्र का रेचक अर्थात् प्रवर्त्तक होता है' तथा 'कालिङ्गम्' पद से 'कलींदा का फल अर्थात् तरबूज' ये अर्थ समझना चाहिये ॥ २२८ ॥

अथ रसायनमाह—

रसायनन्तु तज्ज्ञेयं यज्जराव्याधिनाशनम् ।
यथा हरीतकी दन्ती गुग्गुलुश्च शिलाजतु ॥ २२९ ॥

रसायन गुण युक्त पदार्थ—'रसायन' गुण युक्त पदार्थ उसे कहते हैं जो वृद्धावस्था तथा व्याधियों को दूर करने वाला हो। जैसे—हरैं, दन्ती, गूगुल और शिलाजीत ॥ २२९ ॥

अथ व्यवाय्याह—

पूर्वं व्याप्याखिलं कायं ततः पाकञ्च गच्छति ।
व्यवायि तद् यथा भङ्गा फेनञ्चाहि समुद्भवम् ॥ २३० ॥

'व्यवायि' गुण युक्त पदार्थ—जो सेवन करने मात्र से ही सर्व प्रथम समस्त शरीर में अपनी क्रिया दिखाकर तदनन्तर परिपाक को प्राप्त होता है वह 'व्यवायि' गुण युक्त पदार्थ कहलाता है। जैसे—भाँग या अफीम ॥ २३० ॥

*अन्यद् द्रव्यं पक्वं तद्[2] गुणं करोति । व्यवायि तु अपक्वमेव स्वगुणैः सकलशरीरं व्याप्य पाकं याति । अहिसमुद्भवं फेनम् = अफीम ॥ २३० ॥

अन्य द्रव्य परिपक्व होने के बाद शरीर में अपना गुण दिखलाता है किन्तु 'व्यवायि' गुण युक्त द्रव्य बिना परिपक्व हुये ही अपने गुणों से सारे शरीर में व्याप्त होकर बाद में परिपाक को प्राप्त करता है-अर्थात् परिपक्व होता है। यहां 'अहि समुद्भवं फेनम्' इस पदसे 'अफीम' का ग्रहण करना चाहिये ॥ २३० ॥

अथ विकाश्याह—

सन्धिबन्धांस्तु शिथिलान्यत्करोति विकाशि तत् ।
विश्लेष्यौजश्च धातुभ्यो यथा क्रमुककोद्रवौ ॥ २३१ ॥

'विकाशि' गुण युक्त पदार्थ—जो धातुओं से 'ओज' को सुखा कर दूर करता है तथा सन्धिबन्धनों को शिथिल करता है वह 'विकाशि' गुण युक्त द्रव्य कहलाता है। जैसे—सुपारी या कोदो ॥

*धातुभ्यः = सकलशरीरस्थेभ्यो वीर्येभ्यः । ओजः = उपधातुविशेषं विशोष्य । क्रमुकं = पूगफलम् ॥ २३१ ॥

---

१. क्वचित् 'राजकर्कटी' क्वचिच्च 'कालिन्दीफलम्' इत्यपि पाठा० । २. 'तद्गुणमि'ति पा० चिन्त्यम् ।

धातुभ्यः' अर्थात् सकल शरीर में स्थित वीर्य से, 'ओजः' अर्थात् उपधातु विशेष को सुखा कर, तथा 'क्रमुक' अर्थात् 'सुपारी' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २३१ ॥

अथ मदकार्याह—

बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते।
तमोगुणप्रधानञ्च यथा मद्यं सुराऽऽदिकम् ॥ २३२ ॥

'मदकारि' गुण युक्त पदार्थ—जो द्रव्य सेवन करने से बुद्धि का लोप कर दे वह तमोगुण प्रधान 'मदकारि' गुण युक्त पदार्थ कहलाता है। जैसे—मद्य और सुरा आदि ॥ २६२ ॥

*मदकारि=मादकम् ॥ २३२ ॥

यहां 'मदकारि' से 'मादक' अर्थ समझना चाहिये ॥ २३२ ॥

अथ विषमाह—

व्यवायि च विकाशि स्याच्छ्लेष्मच्छेदि मदावहम्।
आग्नेयं जीवितहरं योगवाहि स्मृतं विषम् ॥ २३३ ॥

'विष' गुण युक्त पदार्थ—जो 'व्यवायि' विकाशी कफनाशक, मदकारक, आग्नेय, जीवन हरण करने वाला और योग वाही गुणों से युक्त होता है वह विष गुण युक्त पदार्थ कहलाता है अर्थात् विष में ये गुण होते हैं ॥ २३३ ॥

*व्यवायि—सकलकायगुणव्यापनपूर्वकपाकगमनशीलम्। विकाशि-ओजःशोषणपूर्वकसन्धिबन्धशिथिलीकरणशीलम्। मदावहं—तमोगुणाधिक्येन बुद्धिविध्वंसकम्। आग्नेयम्=अधिकाग्निगुणम्। योगवाहि-संसर्गिगुणग्राहकम्। विषं लक्ष्यं, दृष्टान्तो वत्सनाभसक्तुकादिभिः ॥ २३३ ॥

यहां 'व्यवायि' से 'सम्पूर्ण शरीर में गुणों से व्याप्त होते हुये परिपाक को प्राप्त होनेवाला' 'विकाशि' से 'ओज को सुखाते हुये सन्धि बन्धनों को शिथिल कर देनेवाला', 'मदावहम्' से 'तमोगुण की अधिकता होने से बुद्धि का विध्वंस करने वाला' 'आग्नेयम्' से 'अधिकता से अग्नि के गुणों से युक्त' और 'योगवाहि' से 'अपने संसर्गों के गुणों को ग्रहण करने वाला' यह अर्थ समझना चाहिये। यहां 'विष' लक्ष्य है अतः इसका दृष्टान्त वत्सनाभ तथा सक्तुक आदि विष-विशेष से समझना चाहिये ॥ २३३ ॥

अथ प्रमाथ्याह—

निजवीर्य्येण यद् द्रव्यं स्रोतोभ्यो दोषसञ्चयम्।
निरस्यति प्रमाथि स्यात्तद्यथा मरिचं वचा ॥ २३४ ॥

'प्रमाथि' गुण युक्त पदार्थ—जो द्रव्य अपने वीर्य के द्वारा स्रोतों से सञ्चित हुये दोषों को दूर करता है वह 'प्रमाथि' गुण युक्त पदार्थ कहलाता है। जैसे—मरिच, वच आदि ॥ २३४ ॥

*दोषाः=वातादयः ॥ २३४ ॥

यहां 'दोष' पदसे 'वातादि' का ग्रहण करना चाहिये ॥ २३४ ॥

अथाभिष्यन्द्याह—

पैच्छिल्याद्गौरवाद् द्रव्यं रुद्ध्वा रसवहाः शिराः।
धत्ते यद्गौरवं तत्स्यादभिष्यन्दि यथा दधि ॥ २३५ ॥

'अभिष्यन्दि' गुण युक्त पदार्थ—जो द्रव्य पिच्छिल तथा गुरु होने से रस वहन करने वाली शिराओं के मुखों का अवरोध कर शरीर में गुरुता उत्पन्न करे, वह 'अभिष्यन्दि' गुण युक्त पदार्थ कहलाता है। जैसे दही ॥ २३५ ॥

गौरवं शरीरे[1] ॥ २३५ ॥

यहाँ 'गौरवम्' पद से 'शरीर में गुरुता' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २३५ ॥

अथ विदाह्याह—

विदाहि द्रव्यमुद्गारमम्लं कुर्यात्तथा तृषाम् ।
हृदि दाहं च जनयेत्पाकं गच्छति तच्चिरात् ॥ २३६ ॥

'विदाहि' गुण युक्त द्रव्य—'विदाही' गुण युक्त द्रव्य वह कहलाता है जिसके सेवन करने से खट्टी डकार आवे, प्यास लगे, हृदय में दाह हो एवं देर से हजम हो ॥ २३६ ॥

अथ योगवाह्याह—

गृह्णाति योगवाहि द्रव्यं संसर्गिवस्तुगुणान् ।
पच्यमानं यथैतन्मधुजलतैलाज्यसूतलोहादिः ॥ २३७ ॥

'योगवाही' गुण युक्त पदार्थ—जो द्रव्य अन्य किसी द्रव्य के साथ पचता हुआ उसी अपने संसर्गी द्रव्य के सम्पूर्ण गुणों को ग्रहण करता है, वही 'योगवाहि' गुण युक्त कहलाता है। जैसे—मधु-जल-तैल-घी-पारा और लोहा आदि ॥ २३७ ॥

अथ वीर्यमाह, तत्र वाग्भटः—

उष्णशीतगुणोत्कर्षाद् बुधैर्वीर्यं द्विधा स्मृतम् ।
यत्सर्वमग्निषोमीयं दृश्यते भुवनत्रयम् ॥ २३८ ॥

द्रव्यगत वीर्य के भेद—संसार में उष्ण और शीत गुण अधिकता होने से द्रव्यों के वीर्य दो प्रकार के हैं क्योंकि तीनों लोक में सभी पदार्थ अग्निषोमीय अर्थात् अग्निसम्बन्धी 'आग्नेय' तथा सोमसम्बन्धी 'सौम्य' दिखाई पड़ते हैं ॥ २३८ ॥

अथ तद्गुणानाह—

उष्णं वातकफौ हन्यात् पित्तं[2] तु तनुते जराम् । शीतं वातकफातङ्कान्कुरुते पित्तहृत्परम् ॥

उष्ण तथा शीत वीर्यों के गुण—उष्णवीर्यवाला पदार्थ वात तथा कफ का नाश करता है और पित्त को बढ़ाता है एवं वृद्धावस्था को करता है और शीतवीर्य वाला पदार्थ वात तथा कफ सम्बन्धी रोगों को उत्पन्न करता है तथा पित्त को सर्वथा नाश करता है ॥ २३९ ॥

अन्यच-तत्रोष्णं भ्रमतृड्ग्लानिस्वेददाहाशुपाकताम् । शमञ्च वातकफयोः करोति शिशिरं पुनः ।
ह्लादनं जीवनं स्तम्भं प्रसादं रक्तपित्तयोः ॥ २४० ॥

वीर्य सम्बन्धी गुणों के सम्बन्ध में अन्य वचन यह भी है कि—उष्णवीर्य वाला पदार्थ भ्रम, प्यास, ग्लानि, स्वेद और दाह को उत्पन्न एवं शीघ्र पाक करता है तथा वात और कफ का शमन करता है और शीतवीर्य वाला पदार्थ आह्लादजनक, जीवन के लिये हितकारी, स्तम्भताकारक तथा रक्तपित्त को निर्मल करने वाला होता है ॥ २४० ॥

अथ विपाकमाह—

जाठरेणाग्निना योगाद्यदुदेति रसान्तरम् । रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः ॥

विपाक के लक्षण—मधुरादि ६ रसयुक्त पदार्थों में जठराग्नि के द्वारा परिपाक होने पर जो दूसरे प्रकार के रसों का उदय होता है वही 'विपाक' नाम से कहा जाता है ॥ २४१ ॥

अथ मधुरादिरसयुक्तपदार्थानां विपाकरसानाह—

मिष्टः पटुश्च मधुरमम्लोऽम्लं पच्यते रसः । कटुतिक्तकषायाणां पाकःस्यात्प्रायशः कटुः ॥

---

१. 'शरीरस्ये'ति पाठा० । २. 'हन्याच्छीतमि'ति पाठा० ।

मधुरादि रसों का विपाक सम्बन्धी रस—मधुर और लवण रस युक्त पदार्थ का विपाक मधुर होता है और अम्ल रस का विपाक अम्ल होता है एवं कटु, तिक्त तथा कषाय रस का विपाक प्रायः करके कटु होता है ॥ २४२ ॥

* तथा च वाग्भटः—

त्रिधा रसानां पाकः स्यात्स्वाद्वम्लकटुकात्मकः। प्रायः पदेन व्रीहिः स्यात्स्वादुरम्लो विपाकतः। शिवा कषाया मधुरा पाके, शुण्ठी कटुका मधुरपाकेत्यादि ॥ २४२ ॥

विपाक के सम्बन्ध में 'वाग्भट' का मत—मधुर, अम्ल तथा कटु रस भेद से विपाक तीन प्रकार का होता है और 'कटु, तिक्त तथा कषाय रस का विपाक प्रायः करके कटु होता है' इस जगह जो 'प्रायः' पद है उससे यह समझना चाहिये कि बहुत से स्थल पर उक्त नियम का व्यभिचार (नियमानुसार न होना) भी देखा जाता है। जैसे—व्रीहि (धान्य) मधुर रस युक्त है तथापि इसका नियमानुसार मधुर न होकर अम्ल ही विपाक होता है और हरड़ कषाय रस युक्त है, किन्तु विपाक मधुर होता है एवं सोंठ कटुरस युक्त है किन्तु विपाक मधुर होता है इत्यादि बातें और भी यहां समझना चाहिये ॥ २४२ ॥

अथ विपाकानां गुणानाह—

श्लेष्मकृन्मधुरः पाको वातपित्तहरो मतः। अम्लस्तु कुरुते पित्तं वातश्लेष्मगदापहः ॥ २४३ ॥
कटुः करोति पवनं कफं पित्तञ्च नाशयेत्। विशेष एवं रसतो विपाकानां निदर्शितः ॥ २४४ ॥

मधुरादि विपाकों के गुण—मधुरविपाक-कफकारक और वात पित्त को हरण करने वाला होता है। अम्लविपाक-पित्तकारक और वात तथा कफ सम्बन्धी रोगों का नाशक होता है और कटुविपाक—वातकारक एवं कफ तथा पित्त का नाशक होता है। यही विपाकसम्बन्धी रसों की विशेषता है ॥ २४३-२४४ ॥

अथ प्रभावमाह—

रसादिसाम्ये यत्कर्म विशिष्टं तत्प्रभावजम्। दन्ती रसाद्यैस्तुल्यापि[1] चित्रकस्य विरेचनी ॥ मधूकस्य च मृद्वीका घृतं क्षीरस्य दीपनम्। प्रभावस्तु यथा धात्री लकुचस्य रसादिभिः ॥ समाऽपि कुरुते दोषत्रितयस्य विनाशनम् ॥ २४७ ॥

प्रभाव के लक्षण—रसादि से तुल्यता होने पर भी किसी २ पदार्थों में जो कर्मों की विशेषता अर्थात् कर्मों की भिन्नता दिखाई पड़ती है वह प्रभावज अर्थात् उन्हीं पदार्थों के प्रभाव से उत्पन्न समझना चाहिये। जैसे—चीता के रसादि समान रसवाला होने पर भी दन्ती विरेचन (दस्तावर) होती है किन्तु चीता नहीं होता है। तथा महुए के फूल के साथ मुनक्के के एवं दूध के साथ घृत के रसादि की तुल्यता होने पर भी मुनक्का और घृत अग्नि का दीपक होता है किन्तु महुआ का फूल तथा दूध दीपक नहीं होता। लकुच अर्थात् बड़हर के रसादि के साथ आंवले की तुल्यता होने पर भी वह त्रिदोष का नाशक होता है किन्तु बड़हर नहीं होता तथा इस प्रकार की जो कर्मों में भिन्नता होती है, वह द्रव्यों के प्रभाववश से ही होती है, ऐसा समझना चाहिये ॥ २४५-२४७ ॥

कश्चित्केवलं द्रव्यं कर्म कुर्यात्प्रभावतः। ज्वरं हन्ति शिरोबद्धा सहदेवीजटा यथा ॥२४८॥

किसी २ स्थल में द्रव्य स्वयं ही कर्म करता है तथा किसी २ स्थल में प्रभाव द्वारा कर्म करता है। जैसे—सहदेवी की जड़, शिर में बांधने से ज्वर को दूर करती है ॥ २४८ ॥

---

१. 'तुल्यमपी'ति पाठान्तरं चिन्त्यम्।

* तथा नानौषधियोगेषु फलं प्रति स्वभाव एव आश्रयणीयो न तु यत्र रसादिरूपहेतु-विचारः कर्त्तव्यः। यत्र आह सुश्रुतः—

अमीमांसान्यचिन्त्यानि[1] प्रसिद्धानि स्वभावतः। आगमेनोपयोज्यानि भेषजानि विचक्षणैः॥
प्रत्यक्षलक्षणफलाः प्रसिद्धाश्च स्वभावतः। नौषधीहेतुभिर्विद्वान्परीक्षेत कदाचन॥ २४८॥

जहाँ अनेक प्रकार की ओषधियों का योग होने से जो फल होता है, वहाँ पर उस फल के होने में उन ओषधियों के योग के स्वभाव को ही हेतु समझना चाहिये न कि उन ओषधियों के रसादि को हेतु समझना चाहिये। क्योंकि 'सुश्रुत' में भी कहा है कि—जितने सम्पूर्ण गुण ओषधियों के प्रसिद्ध हैं, वे सब स्वभावतः हैं अतः उनके प्रयोग के विषय मे कोई मीमांसा (विचार) तथा चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। विद्वान् को चाहिये कि जैसा शास्त्र में ओषधियों के योगों का उपदेश किया गया है उसी के अनुसार वे प्रयोग करें और उन्हें यह भी करना चाहिये कि ओषधियां स्वभावतः प्रसिद्ध होती हैं क्योंकि उनके लक्षण तथा फल प्रत्यक्ष हैं। अत एव ओष-धियों के योगों में उनके रसादिकों को हेतु मान कर उनकी कभी वे परीक्षा न करें॥ २४८॥

विरुद्धगुणसंयोगे भूयसाऽल्पं हि जीयते॥ रसं विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तान्व्यपोहति॥२४९॥

इति मिश्रप्रकरणे मिश्रवर्गः प्रथमः समाप्तः॥ १॥

परस्पर विरुद्ध गुण युक्त ओषधियों का संयोग होने पर जो ओषधि प्रबल होती है, वह दुर्बल को दबा लेती है। जैसे—विपाक-रस को दबा लेता है और वीर्य-रस तथा विपाक इन दोनों को दबा लेता है एवं प्रभाव-रस विपाक तथा वीर्य इन तीनों को ही दबा लेता है॥ २४९॥

इति भिषग्रत्न श्रीब्रह्मशङ्करमिश्रसाहित्यशास्त्रिविरचितायां 'विद्योतिनी' टीकायां मिश्रप्रकरणे प्रथमो मिश्रवर्गः समाप्तः॥ १॥

---

१. 'अमी सामान्ये'ति पाठान्तरं प्रामादिकम्।

भावप्रकाशनिघण्टुः

अथ हरीतक्यादिवर्गः

रसगुणवीर्यविपाकप्रभावाणां स्वरूपाण्यभिधाय कुत्र द्रव्ये के रसगुणवीर्यविपाकप्रभावाः सन्तीति बोधयितुं द्रव्यगतान् रसगुणवीर्यविपाकप्रभावानाह।

तत्र प्रथमं हरीतक्या उत्पत्तिनामलक्षणगुणानाह

दक्षं प्रजापतिं स्वस्थमश्विनौ वाक्यमूचतुः। कुतो हरीतकी जाता तस्यास्तु कति जातयः ॥१॥
रसाः कति समाख्याताः कति चोपरसाः स्मृताः।
नामानि कति चोक्तानि किं वा तासां च लक्षणम् ॥ २ ॥
के च वर्णा गुणाः के च का च कुत्र प्रयुज्यते। केन द्रव्येण संयुक्ता कांश्च रोगान्व्यपोहति ॥३॥
प्रश्नमेतद्यथा पृष्टं भगवन्वक्तुमर्हसि। अश्विनोर्वचनं श्रुत्वा दक्षो वचनमब्रवीत् ॥ ४ ॥
पपात बिन्दुर्मेदिन्यां शक्रस्य पिबतोऽमृतम्। ततो दिव्यात्समुत्पन्ना सप्तजातिर्हरीतकी ॥५॥

रस, गुण, वीर्य, विपाक तथा प्रभाव के स्वरूपों को कहकर किस द्रव्य में कौन रस, कौन गुण, तथा कैसा वीर्य, विपाक एवं प्रभाव रहता है, इन सब को बताने के लिये प्रत्येक द्रव्यगत रस, गुण, वीर्य, विपाक तथा प्रभाव का वर्णन करते हैं। उसमें प्रथम हरीतकी (हरड़) की उत्पत्ति, नाम, लक्षण तथा गुणों को कहते हैं—

एक समय स्थिर चित्त से बैठे हुए भगवान् दक्ष प्रजापति से दोनों अश्विनीकुमारों ने यह बात कही कि—हे भगवान्! हरीतकी (हरड़) कहां से उत्पन्न हुई? और उसकी कितनी जातियां है? तथा उसमें प्रधान रूप से कौन-कौन रस और कौन-कौन उपरस कहे हुये हैं? एवं उसके कितने नाम कहे हुये हैं? और उन सबों के क्या-क्या लक्षण हैं? और उनका वर्ण कैसा है? उनमें गुण कौन-कौन हैं? और किस जाति के हरड़ का किस कार्य में प्रयोग किया जाता है? तथा किन द्रव्यों के साथ संयोग होने पर किन रोगों को दूर करती हैं? इन उपर्युक्त प्रश्नों का जैसा मैंने पूछा है वैसा ही आपको उत्तर देना उचित है। इस प्रकार से दोनों अश्विनीकुमारों के वचनों को सुनकर दक्षप्रजापति ने यह कहा कि—एक समय अमृत पान करते हुए भगवान् इन्द्र के मुख से दैवात् एक बूंद अमृत पृथ्वी पर गिर पड़ा तब उसी दिव्य अमृत बिन्दु से सात जाति वाली हरीतकी उत्पन्न हुई ॥ १–५ ॥

अथ हरीतकीनामान्याह

हरीतक्यभया पथ्या कायस्था पूतनाऽमृता। हैमवत्यव्यथा चापि चेतकी श्रेयसी शिवा ॥६॥
वयस्था विजया चापि जीवन्ती रोहिणीति च ॥ ७ ॥

हरीतकी के नाम—हरीतकी, अभया, पथ्या, कायस्था, पूतना, अमृता, हैमवती, अव्यथा, चेतकी, श्रेयसी, शिवा, वयस्था, विजया, जीवन्ती तथा रोहिणी ये सब 'हरीतकी' के नाम हैं॥६-७॥

अथ हरीतक्याः सप्तभेदानाह

विजया रोहिणी चैव पूतना चामृताऽभया। जीवन्ती चेतकी चेति पथ्यायाः[1] सप्तजातयः ॥

---

१. 'विज्ञेया' इति पा०।

हरीतकी के भेद—१ विजया, २ रोहिणी, ३ पूतना, ४ अमृता, ५ अभया, ६ जीवन्ती, ७ चेतकी ये हरीतकी की सात जातियां (भेद) हैं ॥ ८ ॥

अथ सप्तजातेर्हरीतक्या उत्पत्तिस्थानान्याह

[[1]विन्ध्याद्रौ विजया हिमाचलभवा स्याच्चेतकी पूतना
सिन्धौ स्यादथ रोहिणी निगदिता जाता प्रतिस्थानके ।
चम्पायाममृताऽभया च जनिता देशे सुराष्ट्राह्वये
जीवन्तीति हरीतकी निगदिता सप्त प्रभेदा बुधैः ॥ १ ॥]

हरीतकी के उत्पत्तिस्थान—विन्ध्य पर्वत पर विजया, हिमालय पर चेतकी, सिन्धु देश में पूतना, प्रत्येक स्थानों में रोहिणी, चम्पा देश में अमृता तथा अभया एवं सोरठ देश में जीवन्ती जाति की हरीतकी के उत्पन्न होने से उक्त प्रकार के सात भेद विद्वानों ने कहे हैं ॥ १ ॥

अथ तेषां पृथग्लक्षणान्याह

अलाबुवृत्ता विजया वृत्ता सा रोहिणी स्मृता। पूतनाऽस्थिमती सूक्ष्मा कथिता मांसलाऽमृता॥
पञ्चरेखाऽभया प्रोक्ता जीवन्ती स्वर्णवर्णिनी। त्रिरेखा चेतकी ज्ञेया सप्तानामियमाकृतिः॥१०॥

सात प्रकार की हरीतकी के पृथक् २ लक्षण—'विजया' हरीतकी लौकी की भाँति गोल, 'रोहिणी' का आकार गोल, 'पूतना' की गुठली बड़ी तथा आकार सूक्ष्म, 'अमृता' हरीतकी मांसल (गूदेदार), 'अभया' पांच रेखाओं से युक्त, 'जीवन्ती' सोने के समान रङ्ग वाली और 'चेतकी' तीन रेखाओं से युक्त होती है। इस प्रकार सातो प्रकार की हरीतकी के ये आकार हैं ॥ ९-१० ॥

अथ हरीतकीप्रयोगानाह

विजया सर्वरोगेषु रोहिणी व्रणरोहिणी। प्रलेपे पूतना योज्या शोधनार्थेऽमृता हिता ॥ ११ ॥
अक्षिरोगेऽभया शस्ता जीवन्ती सर्वरोगहृत्। चूर्णार्थे चेतकी शस्ता यथायुक्तं प्रयोजयेत् ॥
चेतकी द्विविधा प्रोक्ता श्वेता कृष्णा च वर्णतः। षडङ्गुलायता शुक्ला कृष्णा त्वेकाङ्गुला स्मृता॥
काचिदास्वादमात्रेण काचिद्गन्धेन भेदयेत्। काचित्स्पर्शेन दृष्ट्याऽन्या चतुर्द्धा भेदयेच्छिवा ॥
चेतकीपादपच्छायामुपसर्पन्ति ये नराः। भिद्यन्ते तत्क्षणादेव पशुपक्षिमृगादयः ॥ १५ ॥
चेतकी तु धृता हस्ते यावत्तिष्ठति देहिनः। तावद्भिद्येत वेगैस्तु प्रभावान्नात्र संशयः ॥ १६ ॥
नृपाणां सुकुमाराणां कृशानां भेषजद्विषाम्। चेतकी परमा शस्ता हिता सुखविरेचनी ॥१७॥
सप्तानामपि जातीनां प्रधाना विजया स्मृता। सुखप्रयोगा सुलभा सर्वरोगेषु शस्यते ॥१८॥

हरीतकी के प्रयोग—'विजया' हरीतकी का प्रयोग सभी रोगों में होता है। 'रोहिणी' व्रण पूरण करने वाली होती है। 'पूतना' का प्रलेप के लिये प्रयोग करना चाहिये। 'अमृता' शोधन कर्म के लिये हितकर है। आंख के रोगों में 'अभया' उत्तम होती है और 'जीवन्ती' सम्पूर्ण रोगों का हरण करने वाली होती है एवं चूर्ण के लिये 'चेतकी' उत्तम होती है। अतः जिस जाति की हरीतकी का जहां जिन रोगों में प्रयोग करना कहा हुआ है, उसका वहां पर प्रयोग करना चाहिये। 'चेतकी' श्वेत और कृष्ण दो प्रकार की होती है। उनमें शुक्ल वर्ण वाली ६ अङ्गुल की तथा कृष्ण वर्ण वाली एक अङ्गुल की लम्बी होती है। इनमें कोई हरीतकी खाने मात्र से, कोई सूंघने से, कोई स्पर्श करने से तथा कोई देखने मात्र से ही मल का भेदन करती है अर्थात् दस्त साफ होता है। इस प्रकार हरीतकी चार प्रकार से दस्त कराती है। जो मनुष्य चेतकी जाति की

१. कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः।

हरड़ के पेड़ की छाया के नीचे पहुंच जाते हैं, उनको उसी समय दस्त आने लगता है। यहां तक कि पशु, पक्षी, मृगादि की भी यही दशा हो जाती है और 'चेतकी' हरड़ को जब तक प्राणी अपने हाथ में धारण किये रहता है, तब तक उसके प्रभाव से उसे वेग से दस्त होता रहता है, इसमें सन्देह नहीं है। जो राजा हैं तथा सुकुमार या कृश हैं किंवा विरेचक औषध खाने से भागने वाले हैं, उनके लिये 'चेतकी' हरड़ परम हितकारी एवं उत्तम होती है। क्योंकि वह सुखपूर्वक दस्त लाती है। पूर्वोक्त सात जातियों में 'विजया' जाति की जो हरीतकी होती है, वही औरों की अपेक्षा प्रधान है क्योंकि सुलभ होने से उसका प्रयोग सुखपूर्वक होता है तथा वह सभी रोगों में देने के लिये भी उत्तम होती है॥ ११–१८॥

अथ हरीतकीगुणानाह

हरीतकी पञ्चरसाऽलवणा तुवरा परम्। रूक्षोष्णा दीपनी मेध्या स्वादुपाका रसायनी ॥१९॥
चक्षुष्या लघुरायुष्या बृंहणी चानुलोमिनी। श्वासकासप्रमेहार्शः कुष्ठशोथोदरक्रिमीन् ॥२०॥
वैस्वर्यग्रहणीरोगविबन्धविषमज्वरान्। गुल्माध्मानतृषाछर्दिहिक्काकण्डूहृदामयान् ॥ २१ ॥
कामलां शूलमानाहं प्लीहानञ्च यकृत्तथा। अश्मरीं मूत्रकृच्छ्रञ्च मूत्राघातञ्च नाशयेत् ॥२२॥

हरीतकी के गुण—हरड़ में लवण रस से भिन्न पांच (मधुर, अम्ल, कटु, कषाय, तिक्त) रस रहते हैं किन्तु औरों की अपेक्षा कषाय रस ही अधिक रहता है। हरीतकी रूक्ष, उष्णवीर्य अग्निदीपक, मेधा (धारणाशक्ति) के लिये हितकारी, मधुर विपाक वाली, रसायन (वृद्धावस्था तथा व्याधियों को दूर करने वाली), नेत्रों के लिये हितकर, पचने में लघु (जल्दी पचने वाली), आयुवर्धक, बृंहण (शरीर में मांसादि की वृद्धि करने वाली) और अनुलोमन (मलादि को नीचे की ओर प्रेरित करने वाली) होती है। इसके सेवन से श्वास, कास, प्रमेह, बवासीर, कुष्ठ, शोथ, पेट के कृमि (अथवा उदर सम्बन्धी रोग और कृमि), स्वरभेद (आवाज की खराबी), ग्रहणी सम्बन्धी रोग तथा विबन्ध (मलमूत्रादि की विबद्धता अर्थात् रुक जाना), विषमज्वर, गुल्म, उदराध्मान, तृषा, वमन, हिचकी, खुजली, हृद्रोग, कामला, शूल, आनाह, प्लीहा, यकृत्, अश्मरी (पथरी), मूत्रकृच्छ्र तथा मूत्राघात ये सब रोग दूर होते हैं॥ १९–२२॥

अथ हरीतक्याः प्रभावनिबन्धनं दोषहन्तृत्वं न तु रसनिबन्धनमित्याह

स्वादुतिक्तकषायत्वात्पित्तहृत्कफहृत्तु सा। कटुतिक्तकषायत्वादम्लत्वाद्वातहृच्छिवा ॥ २३ ॥
पित्तकृत्कटुकाम्लत्वाद्वातकृन्न कथं शिवा ॥ २४ ॥
प्रभावाद्दोषहन्तृत्वं सिद्धं यत्तत्प्रकाश्यते। हेतुभिः शिष्यबोधार्थं नापूर्वं क्रियतेऽधुना ॥ २५ ॥
कर्मान्यत्वं गुणैः साम्यं दृष्टमाश्रयभेदतः। यतस्ततो नेति चिन्त्यं धात्रीलकुचयोर्यथा ॥ २६ ॥

हरीतकी का प्रभाव—हरड़ में मधुर, तिक्त और कषाय रस रहता है, अतएव यह पित्तनाशक और कटु तिक्त तथा कषाय रस होने से कफनाशक है, तथा अम्ल रस होने से वायु का भी शमन करती है। अब यहां पर यह प्रश्न होता है कि जब हरड़ में कटु तथा अम्ल रस है, तब क्यों नहीं यह पित्त तथा वातकारक होती है? इसका उत्तर यह है कि—यहां पर जो हरड़ तीनों दोषों को दूर करती है वह इसके प्रभाव से ही सिद्ध है किन्तु फिर भी जो ऊपर हेतुओं का निर्देश करते हुये 'दोषों का नाश करना' बताया गया वह शिष्यों को समझाने के लिये, क्योंकि यह (दोषों का नाश करना) कोई अपूर्व बात नहीं कही गई, बल्कि जो कही गई वह उसके प्रभाव से पहले से ही सिद्ध था। तात्पर्य यह है कि वस्तुतः हरड़ जो दोषों का नाश करती है वह अपने प्रभाव से ही करता है। फिर जो पूर्व में यह कहा गया है कि—'मधुरादि रस होने से पित्तनाशक,

कटु तिक्तादि रस होने से कफनाशक, एवं अम्ल रस होने से वातनाशक', वह केवल शिष्यों को समझाने के लिये अर्थात् 'इन २ रसों में इन २ दोषों को दूर करने की शक्ति रहती है', शिष्यों को यही बात समझाने के लिये हेतुओं का निर्देश करते हुये हरड़ की त्रिदोषनाशकता बताई गई और जब कि—समान गुणों से युक्त होते हुये भी आश्रय भेद से द्रव्यों के कर्म में भिन्नता देखी जाती है तब हरड़ में स्थित जो कटु तथा अम्ल रस हैं, वह क्यों नहीं पित्त तथा वात को उत्पन्न करता है। इस विषय में हेतु विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है अर्थात् विचार करना व्यर्थ है क्योंकि वह सब बातें प्रभाव से होती हैं न कि रसादि हेतुओं से, अम्ल और कटु रस पित्त वात का जनक होने पर भी आश्रय विशेष में कर्म विशेष करने वाले होते हैं जैसे कि आंवला तथा बहेड़ा ये दोनों यद्यपि रसादिकों में तुल्य हैं किन्तु फल खाने (गुणों) में तुल्य नहीं हैं। इसी भांति हरड़ की त्रिदोषनाशकता के विषय में भी समझना चाहिये ॥ २३–२६ ॥

अथ हरीतक्यां तद्रसादीनां स्थानान्याह

पथ्याया मज्जनि स्वादुः स्नाय्वामम्लो व्यवस्थितः। वृन्ते तिक्तस्त्वचि कटुरस्थिस्थस्तुवरो रसः॥

हरड़ में रसों के रहने के स्थान—हरड़ की मींगी में मधुर रस, रेशों में अम्लरस, वृन्त (ढेपी) में तिक्तरस, छिल्के में कटु रस और गुठली में कषाय रस रहता है ॥ २७ ॥

अथोत्तमहरीतक्या लक्षणान्याह

नवा स्निग्धा घना वृत्ता गुर्वी क्षिप्ता च याऽम्भसि। निमज्जेत्सा प्रशस्ता च कथिताऽतिगुणप्रदा॥
नवादिगुणयुक्तत्वं तथैवात्र द्विकर्षता। हरीतक्याः फले यत्र द्वयं तच्छ्रेष्ठमुच्यते ॥ २९ ॥

उत्तम हरड़ के लक्षण—जो हरड़ नवीन, स्निग्ध, घन (ठोस), गोल और गुरु (वजनदार) हो तथा जल में डालने पर डूब जाय वह उत्तम और अत्यन्त गुणकारी मानी जाती है। जिस हरीतकी के फल में पूर्वोक्त नूतनता आदि सम्पूर्ण गुण हों एवं तौल भी उसका दो कर्ष अर्थात् दो बहेड़े के बराबर हो वह उत्तम कही जाती है ॥ २८–२९ ॥

अथ हरीतक्याः प्रयोगभेदेन फलभेदानाह

चर्विता वर्द्धयत्यग्निं पेषिता मलशोधिनी। स्विन्ना संग्राहिणी पथ्या भृष्टा प्रोक्ता त्रिदोषनुत्॥
उन्मीलिनी बुद्धिबलेन्द्रियाणां निर्मूलिनी पित्तकफानिलानाम्।
विस्रंसिनी मूत्रशकृन्मलानां हरीतकी स्यात् सह भोजनेन ॥ ३१ ॥
अन्नपानकृतान्दोषान्वातपित्तकफोद्भवान्। हरीतकी हरत्याशु भुक्तस्योपरि योजिता ॥३२॥
लवणेन कफं हन्ति पित्तं हन्ति सशर्करा। घृतेन वातजान् रोगान्सर्वरोगान्गुडान्विता ॥३३॥

हरीतकी के प्रयोग भेद से गुण भेद—हरीतकी यदि चबाकर खाई जाय तो जठराग्नि की वृद्धि करती है, शिला पर पीस कर खाई जाय तो मल शोधन करती है, उबाल कर खाई जाय तो मल रोकती है, भून कर खाई जाय तो त्रिदोष को दूर करती है और भोजन के साथ सेवन करने से बुद्धि, बल तथा इन्द्रियों को विकसित करने वाली, पित्त, कफ तथा वायु को नष्ट करने वाली, एवं मूत्र, विष्ठा तथा मल पदार्थों का विरेचन करने वाली होती है। यदि वही हरीतकी भोजन कर चुकने के बाद ऊपर से खाई जाय तो अन्न तथा पान सम्बन्धी दोषों को एवं वात पित्त तथा कफ से उत्पन्न होने वाले विकारों को शीघ्र हरने वाली होती है। सेंधा नमक के साथ खाने से कफ, शक्कर के साथ खाने से पित्त, घृत के साथ खाने से वात सम्बन्धी रोग और गुड़ के साथ खाने से समस्त व्याधियों को दूर करने वाली होती है ॥ ३०–३३ ॥

अथ रसायनगुणार्थिनां कृते हरीतकीप्रयोगविधिमाह

सिंधूत्थशर्कराशुण्ठीकणामधुगुडैः क्रमात्। वर्षादिष्वभया प्राश्या रसायनगुणैषिणा ॥ ३४ ॥

हरीतकी का रासायनिक प्रयोग—जो रसायन के गुणों को प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं उन्हें चाहिए कि वे वर्षा आदि छ ऋतुओं में क्रम से सेंधानमक, शक्कर, सोंठ, पीपल, मधु और गुड़ के साथ हरीतकी का सेवन करें, अर्थात् वर्षा ऋतु में सेंधानमक के साथ, शरद ऋतु में शक्कर के साथ, हेमन्त ऋतु में सोंठ के साथ, शिशिर ऋतु में पीपल के साथ, वसन्त ऋतु में मधु के साथ, एवं ग्रीष्म ऋतु में गुड़ के साथ हरीतकी सेवन करने से रसायन के फल की प्राप्ति होती है ॥

अथ हरीतकी भक्षणानर्हजनानाह

अध्वातिखिन्नो बलवर्जितश्च रूक्षः कृशो लङ्घनकर्शितश्च।
पित्ताधिको गर्भवती च नारी विमुक्तरक्तस्त्वभयां न खादेत् ॥ ३५ ॥

हरीतकी सेवन करने के अयोग्य व्यक्ति—रास्ता चलने से थके हुए, बल रहित, रूक्ष, कृश, उपवास किए, अधिक पित्त वाले व्यक्ति तथा गर्भवती स्त्री एवं जिसे रक्तमोक्षण कराया गया हो उन सबों को हरीतकी का सेवन नहीं करना चाहिये ॥ ३५ ॥

१ हरीतकी

हि०—हर, हरड, हर्रे, हरे, हड़, हर्ड, हर्रै, हरर। **ब०**—हरीतकी, बालहरीतकी, हरीतकी गाछ, नर्रा। **म०**—हरडा, हिरडा, हरडे, हर्त्तकी, हरडी, बालहरडी। **गु०**—हरडे, हिमज। **ते०**—करकचेट्टु, करकाप्प, करक्काय। **ता०**—कडुक्काय, करकैया, कडुकेमरम। **क०**—अणिलेय, अणिले, अनिलैकाय। **उड़ि०**—कर्रथा, हरिडा करेड़ा। **द०**—हलरा, कलरा। **मा०**—हरडे। **प०**—हड, हरड। **आसा०**—हिलिखा, सिलिका। **लिपचा०**—सिलिम। **सिक्कम०**—हन, सिलिमकंग, सिलिमकुंग। **मैसूर**—अलले। **कच्छार**—होरतकी। **फा०**—हलेलज अस्फर, हलैले जर्द, हलैलाह, हलेलह जर्द। **अ०**—अहलीलज़, एहलीलज़ कावली, अहलीलज़ अस्फर, जहलीलज़ अस्वद, हलेलज़ अस्फर। **अं०**—Myrobalans (माईरोबेलन्स), Chebulic Myrobalans (चेब्यूलिक माईरोबेलन्स)। **ले०**—(१) Terminalia chebula Retz (टर्मिनेलिया चेब्युला)। (२) Terminalia citrina Roxb (टर्मिनेलिया सिट्रिना)। **Fam. Combretaceae** (कॉम्ब्रिटेसी)।

हरीतकी—अत्यन्त सुगमता से सर्वत्र प्राप्त होने वाली किन्तु विविध गुण सम्पन्न औषधि का फल है। इसका वृक्ष हमारे देश के प्रायः सब प्रान्तों में कहीं न कहीं पाया जाता है। यह उत्तर भारत में बहुलता से उत्पन्न होती है। कुमाऊँ से बंगाल तक, आसाम, ब्रह्मा तथा दक्षिण में मद्रास प्रान्त, कोयम्बटूर, कनारा, पश्चिमघाट के पूर्वीय प्रान्तों में, गन्जाम, गोदावरी की तलहटी, सतपुरा पहाड़, गुजरात, बम्बई प्रान्त के घाटों के पास ऊँचे जंगलों में, कोंकण, मलाबार, विन्ध्याचल पहाड़, हिमालय पहाड़ एवं काबुल की ओर इसके वृक्ष अधिकता से देखने में आते हैं। इसका वाटिकाओं में भी रोपण करते हैं।

प्रायः इसका वृक्ष मध्यमाकार का होता है किन्तु कहीं-कहीं बड़े-बड़े वृक्ष भी देखने में आते हैं। नर्मदा के दक्षिण के वृक्ष १०० फीट तक ऊँचे होते हैं किन्तु उत्तर भारत में उत्पन्न हुए वृक्ष इतने बड़े नहीं होते। हरीतकी के वृक्ष वट, पीपल, आदि वृक्षों की तरह दीर्घायु नहीं होते हैं, बल्कि कालान्तर में सूख कर गिर जाया करते हैं। इसकी छाल कालापन युक्त भूरे रंग की चौथाई इञ्च तक मोटी होती है। लकड़ी-पक्की और बहुत मजबूत होती है। इमारत के काम के लिये

अच्छी समझी जाती है। यह किञ्चित् हरापन या पीलापन युक्त भूरे रंग के साथ खाकी रंग की होती है। टहनियों पर पत्ते सघन नहीं रहते, बल्कि न्यूनाधिक विपरीत रहते हैं। पत्ते-अडूसे के पत्तों से कुछ चौड़े महुवे के पत्तों के समान, ४ से ८ इञ्च तक लम्बे, किञ्चित् अंडाकार, नोकदार, सफेदी युक्त हरे और चमकदार होते हैं तथा स्पर्श में खुरदरे जान पड़ते हैं। वृन्त—१ इंच से कम एवं उसके अग्र भाग के ऊपरी पृष्ठ पर दो या अधिक सूक्ष्म ग्रन्थियां पाई जाती हैं। वसन्त ऋतु में पुराने पत्ते गिरकर नवीन पत्ते निकल आते हैं। फूल—बारीक आम की मंजरी के समान दिखाई देते हैं। और वे देखने में सफेदी मायल या कुछ पीले रंग के होते हैं तथा उनमें दुर्गन्ध आती है। फल—किञ्चित् लम्बाई युक्त गोलाकार होते हैं, सूखते-सूखते छिलके सिकुड़ जाते हैं और पांच कोणाकार या पांच रेखा युक्त दिखाई देने लगते हैं। शकल सूरत, आकार और डील-डौल एवं छोटे-बड़े, लम्बे, गोल इत्यादि भेदों से फल कई प्रकार के देखने में आते हैं।

पूर्व बंगाल, आसाम और ब्रह्मा में एक अन्य जाति पाई जाती है जिसे लेटिन में Terminalia citrina Roxb (टर्मिनेलिया सिट्रिना) कहते हैं। इसका वृक्ष ८० फीट तक ऊँचा होता है। इसके फल २ इंच तक लम्बे होते हैं।

हरीतकी के फल पूर्ण पकने तक वृक्ष में बहुत कम ठहरते हैं। प्रायः कच्ची अवस्था में ही गिर जाया करते हैं। पका फल उत्तम समझा जाता है। उत्तम फल वह है जो नया हो, और चिकना, गोल, भारी, तौल में कम से कम १॥ तोले से भी अधिक हो तथा पानी में डालने से डूब जाय। अपक्व अवस्था के छोटे, काले, द्राक्ष के समान फल मिलते हैं। यह बड़े हर्रे की अपेक्षा बहुत छोटे होते हैं। इन्हें हिन्दी में जंगी हरड़ एवं मराठी में बालहिरडा कहा जाता है। इनका स्वाद अधिक कसैला तथा कडुआ होता है।

किसी-किसी वाटिका में हरीतकी का वृक्ष नमूने की तरह देखने में आता है। वर्षा ऋतु में हरीतकी के छिलके को सुगमता से दूर कर गुठलियों को भूमि पर फेंक देने से ही कोई-कोई बीज अङ्कुरित होकर पौधे के रूप में बढ़ते हैं। पतझड़ में पुराने पत्ते गिर जाने से चैत के महीने में प्रायः इसके पौधे सूखे से दिखाई देते हैं। उस समय से ज्येष्ठ तक पौधों को पानी से कभी-कभी सींचना होता है। बरसात का पानी पड़ने पर नवीन पत्ते निकल आते हैं और पौधे हरे-भरे हो जाते हैं। उसी समय उनको उठाकर स्थायी रूप से इष्ट जगह पर रोपण करना चाहिये। बरसात का पानी जमा होकर जहां पर तर मिट्टी जमा होती है उस जगह पर रोपण किया हुआ पौधा सतेज होता है। साधारण वृक्षों की तरह परिचर्या करने से ही इसके वृक्ष तैयार हो जाते हैं।

आयुर्वेद में हरीतकी की जो सात जातियां कही गई हैं उनके आकार तथा रङ्ग रूप और गुण भी भिन्न-भिन्न होते हैं। आयुर्वेद में प्रत्येक जाति की हरड़ के गुणों का वर्णन बहुत ही विचार-पूर्वक किया गया है, परन्तु आजकल के पाश्चात्य विद्वान् लोग केवल दो ही प्रकार की हरीतकी को ग्राह्य मानते हैं। शेष जाति की हरीतकियों में यद्यपि प्रकार भेद मानते हैं, परन्तु गुणों में कुछ भेद नहीं मानते। इस संबंध में विशेष अनुसन्धान की आवश्यकता है।

रासायनिक संगठन—पक्व हरीतकी में करीब ३० प्रतिशत कसैला द्रव्य होता है जो चेब्यूलीनिक एसिड के कारण है। इसके अतिरिक्त टैनिक एसिड २०–४० प्रतिशत, गैलिक एसिड, राल आदि द्रव्य हैं। इसका विरेचक द्रव्य एन्थ्राकिनोन के समान है। बालहरड़ में एक हरे रंग की तैलीय राल मिलती है जिसे कभी-कभी माइरोबॅलानिन् कहा जाता है।

गुण और प्रयोग—हरीतकी श्रेष्ठ मृदु विरेचक द्रव्य है। इससे किसी प्रकार की हानि नहीं होती। शरीर की सभी क्रियाएं इसके सेवन से सुधरती हैं। इसका उपयोग जीर्ण ज्वर, अतिसार,

रक्तातिसार, अर्श, नेत्र रोग, अजीर्ण, प्रमेह, पाण्डु आदि में लाभकर होता है। जीर्ण कास, अर्श आदि में अगस्त्य हरीतकी एवं व्याघ्री हरीतकी आदि योगों के रूप में भी इसका व्यवहार किया जाता है।

हरीतकी अच्छा व्रण रोपक है। मुखव्रण, पुराने घावों तथा अर्श में इसका लेप लाभप्रद है। दंत मञ्जन के लिये इसका महीन चूर्ण उपयोगी है।

बाल-हरीतकी—यह मृदु विरेचक है। जीर्ण विबन्ध एवं अर्श में इसका अच्छा उपयोग होता है।

मात्रा—चूर्ण २ से ४ माशा।

अथ बिभीतकस्य नामानि गुणाँश्चाह

बिभीतकस्त्रिलिङ्गः स्यादक्षः[1] कर्षफलस्तु सः। कलिद्रुमो भूतवासस्तथा कलियुगालयः।
बिभीतकं स्वादुपाकं कषायं कफपित्तनुत्। उष्णवीर्यं हिमस्पर्शं भेदनं कासनाशनम् ॥३६॥
रूक्षं नेत्रहितं केश्यं कृमिवैस्वर्यनाशनम्। बिभीतमज्जातृट्छर्दिकफवातहरी लघुः ॥
कषायो मदकृच्चाथ धात्रीमज्जाऽपि तद्गुणः ॥ ३७ ॥

बहेड़े के नाम तथा गुण—बिभीतक, (यह शब्द तीनों लिङ्गों में होता है), अक्ष, कर्षफल, कलिद्रुम, भूतवास और कलियुगालय ये सब संस्कृत नाम बहेड़े के हैं। बहेड़ा—मधुर विपाक वाला, कषाय रसयुक्त, कफ व पित्त का नाशक, उष्णवीर्यवाला, शीतस्पर्श वाला, मल का भेदन करने वाला, कास का नाशक, रूक्ष, नेत्र तथा बालों के लिये हितकर, कृमि तथा स्वरभेद को दूर करने वाला होता है। बहेड़े की मींगी—प्यास, वमन और कफ एवं वायु का नाश करने वाली लघुपाकी, कषाय रस युक्त और मदकारक होती है। इसी भांति आंवले की मींगी के भी ये ही सब गुण हैं ॥ ३५-३७ ॥

२ बहेड़ा

हि०—बहेड़ा, फिनास, भैरा, बहेरा। बं०—बयड़ा, वोहेरा, बेहरी, वेहेड़ा। म०—बेहड़ा, बेहाड़ा, धाटींग, बहेला, बहड़ा। गु०—बेहेड़ा, बेड़ा। क०—तोड़े, तोरै, तारेकायि। ते०—तडिचेट्टु, बह्रा, ताड़ि, तनिक्काय, तनि तन्द्रा, तोन्दी। ता०—अक्कम, तन्री, तनितांडी, तोअण्डी, तोखांडी, तंरिक्कय, तनी, कट्टुएलुपय। मा०—बहेड़ा। प०—बहेड़ा। मु०—बहेड़ा। फा०—बलेले, बलेला, बलैलाह। अ०—बलेलज्। अं०—Beleric Myrobalans; (बेलेरिक् मैरोबेलन्स्)। Beddanut (बेड्डानट)। ले०—Terminalia belerica Roxb. (टर्मिनेलिया बेलेरिका)। Fam. Combretaceae (काम्ब्रिटेसी)।

हमारे देश के प्रायः सब प्रान्तों में बहेड़े का वृक्ष देखने में आता है, विशेष कर नीची पहाड़ियों पर अधिक पाया जाता है। यह जंगल, पहाड़ तथा ऊँची भूमि में उत्पन्न होता है।

वृक्ष—बहुत विशाल हुआ करता है। ऊँचाई ६० से १०० फीट तक होती है। स्तम्भ—मोटा, सीधा, खड़ा, गोलाकार होता है। छाल—आधा इञ्च तक मोटी, कालापन युक्त या नीलापन युक्त खाकी रंग की होती है। लकड़ी—हलकी खाकी या किञ्चित् पीलापन युक्त होती है। शाखायें—प्रायः ६ से १० फीट लम्बी होती हैं किन्तु कभी-कभी २० फीट लम्बी शाखायें भी देखने में आती हैं। पत्ते—महुवे के पत्तों के समान ३ से ८ इञ्च तक लम्बे तथा २-३ इञ्च चौड़े होते हैं। ये विषमवर्ती प्रायः छोटी-छोटी टहनियों के अन्त में सघन रहते हैं। प्रायः पतझड़ में इसके सब पत्ते गिर जाते हैं और चैत तक नवीन पत्ते निकल आते हैं। फूल—३ से ६ इञ्च तक लम्बी सीकों पर

---

१. 'स्यात्राक्षः' इति पाठा०।

नन्हें फूलों की मञ्जरियां आती हैं। ये मैले खाकी या फीके हरे रंग के होते हैं। **फल**—एक इञ्च लम्बा, गोल और अण्डाकार होता है।

पतझड़ में जब इसके पुराने पत्ते गिर जाते हैं और नवीन पत्ते आते रहते हैं, प्रायः उसी समय फूल भी आते हैं। शीतकाल के प्रारम्भ में उस पर फल लग जाते हैं और अगहन-पूस तक पक जाते हैं। वृक्ष से बबूल के गोंद के समान एक प्रकार का गोंद निकलता है। फलों की मींगी से तेल निकाला जाता है।

किसी-किसी वाटिका में बहेड़े का वृक्ष देखने में आता है। वर्षा के प्रारम्भ में छिलके रहित गुठलियों को भूमि पर फेंक देने से ही वे अङ्कुरित हो पौधे के रूप में परिणत होती हैं। इसकी परिचर्या हरीतकी के पौधों के समान करनी चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसके फल में १७% टैनिन द्रव्य रहता है तथा इसकी मींगी में २५% तक हलके पीले रंग का तैल रहता है। इसके अतिरिक्त राल, सैपोनिन आदि द्रव्य रहते हैं।

गुण और प्रयोग—बहेड़े का विशेष उपयोग त्रिफले के रूप में होता है। इसका अर्ध पक फल विरेचक और पूरा पका हुआ या सूखा फल संकोचक माना जाता है। इसका उपयोग खांसी, गले के रोग, स्वरभंग, ज्वर, उदर, प्लीहावृद्धि, अर्श, अतिसार, कुष्ठ आदि रोगों में होता है। यह मस्तिष्क के लिये बल्य है। नेत्र पर इसका लेप लाभकारी है।

इसकी मज्जा वेदनास्थापक, शोथघ्न और कुछ मदकारी है। मज्जा का तेल बालों के लिये अत्यन्त पौष्टिक, रंजक एवं कण्डूघ्न और दाहशामक है। मज्जा अथवा छिलके को भून कर मुख में रखने से खांसी में बहुत लाभ होता है।

मात्रा—चूर्ण ३–९ माशा।

अथामलक्या नामानि गुणाँश्चाह

वयस्यामलकी वृष्या जातीफलरसं शिवम्। धात्रीफलं श्रीफलं च तथामृतफलं स्मृतम्॥
त्रिष्वामलकमाख्यातं धात्री तिष्यफलाऽमृता॥ ३८॥
हरीतकीसमं धात्रीफलं किन्तु विशेषतः। रक्तपित्तप्रमेहघ्नं परं वृष्यं रसायनम्॥ ३९॥
हन्ति वातं तदम्लत्वात्पित्तं माधुर्यशैत्यतः। कफं रूक्षकषायत्वात्फलं धात्र्यास्त्रिदोषजित्॥४०॥
यस्य यस्य फलस्येह वीर्यं भवति यादृशम्। तस्य तस्यैव वीर्येण मज्जानमपि निर्दिशेत्॥४१॥

आंवले के नाम तथा गुण—वयस्या, आमलकी, वृष्या, जातीफलरसा, शिव, धात्रीफल, श्रीफल और अमृत फल ये सब आंवले के नाम हैं। आमलक (यह शब्द तीनों लिङ्गों में होता है), धात्री, तिष्यफला, अमृता ये भी आंवले के संस्कृत नाम हैं। हरड़ के जो २ गुण हैं, वे ही आंवले के भी हैं। किन्तु विशेष यह है कि—यह रक्तपित्त तथा प्रमेह का नाशक है और अत्यन्त वृष्य (वीर्य के लिये हितकर) एवं रसायन है। आमला—अम्ल रस युक्त होने से वायु को तथा मधुर रस युक्त और शीतल होने से पित्त को दूर करता है और रूक्ष तथा कषाय रस युक्त होने से कफ को दूर करता है। अतएव यह त्रिदोशनाशक है। यहां सर्वत्र यह समझना चाहिये कि जिन २ फलों का गुण जैसा उष्ण या शीतवीर्य हो उन २ फलों की मींगी का भी गुण वैसा ही उष्ण या शीतवीर्य होता है॥ ३८–४१॥

३ आमला

हि०—आमला, आँवला, आंवडा, आंवरा, औड़ा, औरा। **ब०**—आमला, आमरो, अमला, आमलकी। **म०**—आवले, आवली, आवलकाठी। **प०**—आमला, अम्बुल, अम्बली। **मा०**—आंवला।

गु०-आंवला, आमलां, आमली। क०-नेल्लि, नेल्लिकायि। ते०-उसरिकाय, उसरिक। उ०-अण्डा। आसा०-अमला, आमलकी। गारो०-अम्बरी। ता०-नेल्लिमरं, नेल्लिकाय। ब्रह्मा०-शब्जु, जिफियूसी। फा०-आमलज, आमलज् आमलय, आमलह, आमलाह, आम्लझ। अ०-आमलज्ज। अं०-Emblic Myrobalan (एम्ब्लिक् मैरोवेलन्); Indian gooseberry (इण्डियन गूसबेरी)। ले०-Phyllanthus emblica Linn. (फाइलेन्थस एम्ब्लिका); Emblica officinalis Gaertn. (एम्ब्लिका ऑफिसिनेलिस्)। Fam. Euphorbiaceae (यूफर्बियेसी)।

आमला भारतवर्ष के प्रायः सब उष्ण प्रदेशों में बागी और जंगली दोनों प्रकार का पाया जाता है। विशेषकर उत्तर भारत, अवध, विहार और पूर्वी देशों में इसकी उपज अधिक है। हिमालय पहाड़ के नीचे जम्बू से पूर्व की ओर तथा दक्षिण की ओर सिलोन तक उत्पन्न होता है तथा चीन एवं मलयद्वीप में भी मिलता है।

इसका वृक्ष-मध्यमाकार का सुहावना होता है, किन्तु जंगली वृक्ष ऊँचे कद का बड़ा होता है। छाल-चौथाई इञ्च मोटी हलके खाकी रङ्ग की एवं छिलकेदार होती है। लकड़ी—लाल रङ्ग की और मजबूत होती है। इसमें सार भाग नहीं होता है। पत्ते-छोटे इमली के पत्तों के समान और फूल-लाई के दानों के समान हरापन युक्त पीले रङ्ग के गुच्छों में शाखाओं से सटे रहते हैं। वसन्त ऋतु में जब इसके पुराने पत्ते झड़ जाते हैं तब वृक्ष पत्रशून्य दिखाई पड़ता है। उसी समय यह फूलता है और नवीन पत्ते निकलते हैं। फूलों में नीबू के फूल के समान मन्द सुगन्ध आती है। फल-डालियों में सटे हुये दिखाई देते हैं। वे गोल चमकदार और छ रेखाओं से युक्त होते हैं। कच्ची अवस्था में हरे, पकने पर हरापन युक्त किञ्चित पीले या सुर्ख और सूखने पर काले रङ्ग के होकर फांके पृथक् २ हो जाती हैं और साथ ही गुठली भी फट जाती है। उनसे त्रिकोणाकार छोटे २ बीज निकलते हैं। बीजों से तेल निकलता है।

बीज से ही इसके पौधे उत्पन्न होते हैं और थोड़े ही यत्न से साधारण वृक्षों की भांति प्रायः दुमट मिट्टी में इसके वृक्ष सतेज होते हैं। प्रायः वाटिकाओं में कलमी आमले के वृक्ष रोपित किये जाते हैं। जङ्गली के फल एक तोले तक और बागी कलमी आँवले के पांच तोले से अधिक भी देखने में आते हैं। बनारसी आंवले सर्वोत्तम समझे जाते हैं। किन्तु जितने आंवलों की यहां खपत होती है उतने उत्पन्न नहीं होते। खटिक लोग दूसरी जगह से मँगाकर बेचते हैं। पके फल बहुत कम मिलते हैं। प्रायः कच्ची अवस्था में ही तोड़कर बेंच लेते हैं।

रासायनिक संगठन—रासायनिक दृष्टि से इसके टैनिन में गैलिल एसिड, एलाइगिक एसिड और ग्लूकोज होता है। इसमें विटामिन 'सी' तथा पेक्टिन बहुत अधिक मात्रा में पाया जाता है। विटामिन 'सी' की मात्रा १०० ग्रा० में ६००-९२१ मि० ग्रा० तक पाई जाती है। आंवला के सूखे चूर्ण में भी विटामिन 'सी' पर्याप्त मात्रा में होती है क्योंकि इसके अन्दर का टैनिन 'सी' को नष्ट नहीं होने देता।

गुण और प्रयोग—आंवला एक अत्यंत महत्त्व की औषधि है। इसका बहुत अधिक प्रयोग किया जाता है। इसका ताजा फल रसायन, वृष्य, रक्तपित्त को दूर करने वाला, शीतल, मृदु विरेचक, मूत्रल एवं यकृत की क्रिया ठीक करने वाला है। इसका सूखा फल ग्राही, शीतल, दीपन, एवं रक्तस्रावरोधक है।

रसायन के लिये एक विशिष्ट प्रकार की विधि से सेवन करने का विधान चरक में किया गया है। ताजे सूखे आंवले के चूर्ण को लेकर उसको ताजे आंवले के रस की भावना देकर सुखाना चाहिए। यह जितनी अधिक बार दी जायेगी उतना ही गुणकारक होगा। कम से कम २१ भावना

देकर सुखाकर रखना चाहिये। इस चूर्ण की ३ से ६ माशा की मात्रा गोघृत तथा मधु (असमान मात्रा) के साथ दिन में दो बार लेनी चाहिये। इसी प्रकार च्यवनप्राश का भी उपयोग किया जा सकता है। इसके सेवन से शरीर की सभी क्रियाएँ सुधर कर शरीर पुष्ट एवं बलवान् बनता है। स्मृति, मेधा, कांति बढ़ती है। श्वास, कास, क्षय, पांडु, अग्निमान्ध, वीर्य दोष, आदि दूर होते हैं। आंवला एवं हल्दी का क्वाथ बस्तिशोथ एवं पित्त प्रकोपजन्य व्याधि में उपयोगी है। आंवले का रस मूत्रकृच्छ्र, रक्तपित्त, पित्तजशूल, कामला, हिक्का, वमन, जीर्ण विबन्ध में मिश्री मिलाकर शर्बत के रूप में बहुत लाभदायक है। प्रशीताद (Scurvy) रोग में भी यह बहुत उपयोगी है। आंवले का चूर्ण अर्श, अतिसार, संग्रहणी, अत्यार्तव एवं प्रतिश्याय में उपयोगी है।

पेड़ पर ही लगे हुये आंवलों को चीरने से जो रस निकलता है उससे आंख धोने से अक्षिशोथ दूर होता है। उसी प्रकार इसके बीजों की मींगी के क्वाथ से आंख धोने से आंखों का दर्द दूर होता है। अक्षिप्रक्षालन के लिये रात भर जल में भिगोये आंवले के चूर्ण का पानी भी उपयोगी है। लोह भस्म के साथ आंवले का उपयोग पाण्डु, कामला में विशेष लाभकर होता है।

आंवले के पत्तों का क्वाथ मुख व्रण में लाभदायी है। इसके कोमल पत्तों को छाछ के साथ देने से अजीर्ण और अतिसार में लाभ होता है।

आंवले का बस्तिप्रदेश पर लेप मूत्रावरोध में, एवं गर्भाशय मुख पर रक्त प्रदर में उपयोगी है। आंवले का विशेष उपयोग च्यवनप्राश, आमलकीरसायन, त्रिफला एवं धात्री लौह में किया गया है। मात्रा—चूर्ण ३ माशे से १ तोला तक।

अथ त्रिफलाया लक्षणनामगुणानाह

पथ्याबिभीतधात्रीणां फलैः स्यात्त्रिफला समैः। फलत्रिकञ्च त्रिफला सा वरा च प्रकीर्तिता॥
त्रिफला कफपित्तघ्नी मेहकुष्ठहरा सरा। चक्षुष्या दीपनी रुच्या विषमज्वरनाशिनी॥ ४३॥

त्रिफला के लक्षण, नाम तथा गुण—हरड़, बहेड़ा और आंवला इन तीनों के फल यदि समान भाग से एकत्र किये जायं तो यही त्रिफला कहलाता है। इसके फलत्रिक और वरा ये भी नामान्तर हैं। त्रिफला—कफ तथा पित्त को नाश करने वाली एवं प्रमेह व कुष्ठ को दूर करने वाली, दस्तावर, नेत्रों के लिये हितकर, अग्निदीपक, रुचिकारक एवं विषम ज्वर को नाश करने वाली होती है॥

त्रिफला

आजकल विद्वान् यद्यपि हरड़, बहेड़ा और आँवला—इन तीनों को एक साथ मिलाकर त्रिफला मानते हैं तो भी इनके सम भाग होने में मतभेद है। कोई एक भाग हरड, दो भाग बहेड़ा और तीन भाग आंवला एवं कोई एक भाग हरड, दो भाग बहेड़ा और चार भाग आंवला को त्रिफला कहते हैं। एक हरड, दो बहेड़े और चार आंवले को भी बहुत लोग त्रिफला मानते हैं। उसी प्रकार एक हरड़ से एक भाग हरड़, दो बहेड़ा से दो भाग बहेड़ा और चार आंवले से चार भाग आंवले समझते हैं किन्तु यदि एक हरड, दो बहेड़े और चार आंवले (बनारसी बड़े आंवले से भिन्न) लिये जायं तो ये प्रायः समभाग ही होते हैं।

अथ शुण्ठ्यानामानि गुणाँश्चाह

शुण्ठी विश्वा च विश्वञ्च नागरं विश्वभेषजम्। ऊषणं कटुभद्रञ्च शृङ्गवेरं महौषधम्॥ ४४॥
शुण्ठी रुच्यामवातघ्नी पाचनी कटुका लघुः। स्निग्धोष्णा मधुरा पाके कफवातविबन्धनुत्॥

वृष्या [1]स्वर्य्यावमिश्वासशूलकासहृदामयान्। हन्ति श्लीपदशोथार्श आनाहोदरमारुतान् ॥
आग्नेयगुणभूयिष्ठात्[2] तोयांशपरिशोषि यत्। संगृह्णाति मलं तत्तु ग्राहि शुण्ठ्यादयो यथा ॥
विबन्धभेदिनी या तु सा कथं ग्राहिणी भवेत्। शक्तिर्विबन्धभेदे स्याद्यतो न मलपातनो ॥

सोंठ के नाम तथा गुण—शुण्ठी, विश्वा, विश्व, नागर, विश्वभेषज, ऊषण, कटुभद्र, शृङ्गवेर और महौषध ये सब संस्कृत नाम सोंठ के हैं। सोंठ—रुचिकारक, आमवातनाशक, पाचक, कटुरस युक्त, लघुपाकी, स्निग्ध, उष्णवीर्य, विपाक में मधुर रस युक्त, कफ, वात और विबन्ध (विबद्धता) को दूर करने वाली, वृष्य, स्वर के लिये हितकारी, वमन, श्वास, शूल, कास, हृद्रोग, श्लीपद, शोथ, बवासीर, आनाह और उदर की वायु इन सबों को दूर करती है और जो द्रव्य अधिकतर अग्नि सम्बन्धी गुणों से युक्त होने से जलीय अंश को सुखाने वाला तथा मल का संग्राहक अर्थात् पतले मल के जलीय भाग को सुखाकर गाढ़ा करने वाला होता है वह 'ग्राही' कहलाता है, जैसे कि—सोंठ आदि। अब यहां पर प्रश्न उपस्थित होता है कि—जो सोंठ विबन्ध (बँधे हुये मल) का भेदन करने वाली होती है वह कैसे ग्राही होगी ? क्योंकि अभी आपने ग्राही द्रव्य का 'मल को गाढ़ा करना' लक्षण बतलाया है। इसका उत्तर यह है कि—इस द्रव्य का यह प्रभाव है कि—यह विबंध (मलबद्धता) के दूर करने में तो समर्थ होती है, किन्तु मल के गिराने में नहीं होती है क्योंकि आश्रय भेद से द्रव्यों के कर्मों में भी प्रभाववश भिन्नता हो ही जाती है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है ॥ ४४-४८ ॥

४ सोंठ

हिं०—सोंठ, सौठं, सूंठ, सिंघी। बं०—शुंठ, शुण्ठि, सुंट। मा०—सूंठ। **सिंहली०**—वेलिच इङ्गुरु। **गु०**—शुंठय, सुंठ, सूंठ। **क०**—शुंठि, शोंठि, ओणसुठि, वेनंशुठी। **ते०**—शोंठी, सोंठी, सोंटि। **ता०**—शुक्कु। **प०**—सुंड। **मला०**—चुक्क। **ब्रह्मी०**—गिन्सीखियाव। **फा०**—जञबील, अजबीलखुश्क। **अ०**—जन्जबीले आबिस। **अं०**—Dry Zingiber (ड्राइजिन्जिबेर) Ginger (जिंजर)। **ले०**—Zingiber officinale Roscoe (जिजिबेर ऑफिसिनेल)। Fam. Zingiberaceae (जिंजिबेरेसी)।

सुखाई आदी को सोंठ कहते हैं। सुखाने की विधि के अनुसार इसके स्वरूप में अंतर पाया जाता है। आदी को खूब स्वच्छ कर पानी या दूध में उबाल कर सुखाते हैं। प्रायः सोंठ दो प्रकार की होती है एक रक्ताभ भूरी और दूसरी सफेद। चूने के साथ शोधन करने से यह सफेद तथा टिकाऊ हो जाती है। जिनमें रेशे बहुत कम होते हैं, वह अच्छी समझी जाती है।

रासायनिक संगठन—सोंठ में १-३% उड़नशील तैल रहता है। जिंजेरोल तथा शोगोल नामक इसमें कटु द्रव्य हैं। इसके अतिरिक्त इसमें रेजिन तथा स्टार्च रहता है। अच्छी सोंठ में राख ६% से अधिक नहीं रहती जिसमें से जल में घुलनशील राख की मात्रा १.७% से कम न होनी चाहिये। इसमें मद्यसार में घुलनशील सत्व ४.५% से कम तथा जल में घुलनशील सत्व १०% से कम न होना चाहिये।

गुण और प्रयोग—सोंठ यह अनेक रोगों में अन्य औषधियों के साथ उपयोग में आती है। सोंठ, मिरिच और पीपल तीनों मिल कर त्रिकटु कहलाती हैं जिसका बहुत व्यवहार होता है। सोंठ यह एक उत्तम पाचक, कफघ्न, वातहर एवं उत्तेजक सुगन्धित द्रव्य है। इससे उदरगत वायु

---

१. 'सर्व्ये'ति पाठा०।
२. 'भूयिष्ठमि'ति पाठा०।

के कारण होने वाले उदरशूल, हृच्छूल में लाभ होता है। इसके सेवन से पाचन क्रिया ठीक होकर उदर में वायु का सञ्चय नहीं होता। जीर्ण सन्धिवात में विशेषतः वृद्धों में इसके फांट का नित्य रात में प्रयोग लाभकारी होता है। यह उष्ण एवं वातहर होने से किसी भी प्रकार की पीड़ा में लाभकारी है। गरम जल में सोंठ के चूर्ण का लेप शिरःशूल, वातनाड़ीशूल, एवं दन्तशूल में उपयोगी है। पसीना अधिक होकर हाथ और पैरों में शीत आने पर इसके चूर्ण को रगड़ने से रक्ताभिसरण की क्रिया ठीक होकर शीत दूर होता है।

यह कफघ्न होने के कारण इसका प्रयोग श्वास, कास, प्रतिश्याय, गले के रोग, स्वरभङ्ग इत्यादि में किया जाता है। इसके लिये इसका फांट बना कर लेना चाहिये। आमदोष दूर करने के लिये सोंठ के चूर्ण को घी के साथ रेंड के पत्तों में लपेट कर अग्नि में पुटपाक करना चाहिये और फिर इस चूर्ण को मिश्री के साथ सुबह लेना चाहिये। इससे आमातिसारजन्य शूल दूर होता है।

गुड़ के साथ सोंठ का उपयोग अर्श, अजीर्ण, अतिसार, गुल्म, शोथ, प्रमेह, कामला आदि में किया जाता है। बल्य औषधियों के साथ सोंठ का उपयोग क्षतक्षीण एवं दुर्बल रोगियों के लिये उपयोगी है। विरेचक औषधियों के साथ सोंठ लेने से हृल्लास, पेट में मरोड़ या ऐंठन नहीं होती।

मात्रा—चूर्ण २ से ८ रत्ती।

अथार्द्रकस्य नामानि गुणाँश्चाह

आर्द्रकं शृङ्गवेरं स्यात्कटुभद्रंतथाऽऽर्द्रिका। आर्द्रिका भेदिनी गुर्वी तीक्ष्णोष्णा दीपनी मता॥
कटुका मधुरा पाके रूक्षा वातकफापहा।
ये गुणाः कथिताः शुण्ठ्यास्तेऽपि सन्त्यार्द्रकेऽखिलाः ॥ ५० ॥
भोजनाग्रे सदा पथ्यं लवणार्द्रकभक्षणम्। अग्निसन्दीपनं रुच्यं जिह्वाकण्ठविशोधनम्॥५१॥
कुष्ठपाण्ड्वामये कृच्छ्रे रक्तपित्ते व्रणे ज्वरे। दाहे निदाघशरदोर्नैव पूजितमार्द्रकम् ॥ ५२ ॥

अदरख के नाम तथा गुण—आर्द्रक, शृङ्गवेर, कटुभद्र और आर्द्रिका ये संस्कृत नाम अदरख के हैं। **अदरख—**मल को भेदन करने वाली, पाक में गुरु, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, अग्निदीपक, कटुरसयुक्त, विपाक में मधुर रसयुक्त, रूक्ष, वात तथा कफ को नष्ट करने वाली होती है और जितने गुण पूर्व में सोंठ के कह आये हैं, सभी गुण अदरख में भी रहते हैं और भोजन करने के प्रथम सर्वदा सेंधा नमक के साथ अदरख खाना हितकारी होता है। क्योंकि यह अग्नि को दीप्त करने वाला, रुचिकारक, जिह्वा तथा कण्ठ का शोधन करने वाला होता है। कुष्ठ, पाण्डुरोग, मूत्रकृच्छ्र, रक्तपित्त, व्रण, ज्वर, दाह इन रोगों में एवं ग्रीष्म तथा शरद् ऋतुओं में अदरख खाना हितकर नहीं है॥ ४९–५२॥

५ अदरख

हि०-अदरख, आदी। **बं०**-आदा। **पं०**-अदरक, अद, अद्रक, आदा। **म०**-आले। **ते०**-अल्ल, अल्लमू। **ब्रह्मी०**-ख्येन, सेङ्ग, गिनसिन। **गु०**-आदु। **क०**-अल्ल, असिशोंठि, हसीसुण्ठी। **मा०**-आदो। **ता०**-शुक्क, इञ्जि। **मल०**-इञ्ची। **सिंहली०**-अमुइङ्गुरु। **फा०**-अन्जीबीले तर। **अ०**-जंजबीले रतब। **अं०**-Ginger root (जिञ्जर रूट)। **ले०**-Zingiber officinale (जिंजिबेर ऑफिसिनेल)।

भारतवर्ष के प्रायः सब प्रान्तों में अदरक की खेती की जाती है।

अदरक का **पौधा** प्रायः एक हाथ ऊँचा होता है। इसके **पत्ते** बांस के पत्तों के समान पर उनसे कुछ छोटे होते हैं। इसकी जड़ में जो कन्द होता है, उसी को अदरक कहते हैं। इसका फूल,

फल बहुत कम देखने में आता है। किसी २ पुराने पौधे पर फूल आते हैं। फूलों का रङ्ग जामुनी रङ्ग का होता है।

अदरक रेतीली भूमि में गोबर की खाद डाली हुई दुमट मिट्टी में अधिक उत्पन्न होती है। इसके लिये पर्याप्त वर्षा की आवश्यकता रहती है।

गुण और प्रयोग—आर्द्रक के रस का उपयोग शहद के साथ विशेष कर श्वास, कास आदि कफ रोगों में अनुपान के लिये किया जाता है। भोजन के पूर्व सेंधानमक और आदी के सेवन से भूख उड़ती है, जिह्वा एवं कण्ठ की शुद्धि होकर अन्न में रुचि भी बढ़ती है। आर्द्रक रस और प्याज का रस १-१ तोला लेने से उल्टी और जी मिचलाना दूर होता है।

मलाबार में जलोदर रोग में इसका रस, तीव्र मूत्रनिःसारक रूप में दिया जाता है। इसकी मात्रा धीरे २ बढ़ाई जाती है जिससे मूत्र की मात्रा भी बढ़ती जाती है। लेकिन पुराने हृदय रोग एवम् वृक्कविकार (ब्राइट्स डिसीज) में यह हानिकर है। गुड़ के साथ इसका फस शीतपित्त में उपयोगी है। आदी का रस गुनगुना गरम करके कान में डालने से कर्णशूल दूर होता है।

मात्रा—स्वरस ½–२ चम्मच।

अथ पिप्पल्या नामानि गुणाँश्चाह

पिप्पलं मागधी कृष्णा वैदेही चपला कणा। उपकुल्योषणा शौण्डी कोला स्यात्तीक्ष्णतण्डुला॥
पिप्पली दीपनी वृष्या स्वादुपाका रसायनी। अनुष्णा कटुका स्निग्धा वातश्लेष्महरी लघुः॥
पिप्पली रेचनी हन्ति श्वासकासोदरज्वरान्। कुष्ठप्रमेहगुल्मार्शः प्लीहशूलाममारुतान्॥५५॥
आर्द्रा कफप्रदा स्निग्धा शीतला मधुरा गुरुः। पित्तप्रशमनी सा तु शुष्का पित्तप्रकोपिणी॥५६॥
पिप्पली मधुसंयुक्ता मेदःकफविनाशिनी। श्वासकासज्वरहरी वृष्या मेध्याऽग्निवर्द्धिनी॥५७॥
जीर्णज्वरेऽग्निमान्द्ये च शस्यते गुडपिप्पली। कासाजीर्णारुचिश्वासहृत्पाण्डुकृमिरोगनुत्॥५८॥
द्विगुणः पिप्पलीचूर्णाद् गुडोऽत्र भिषजां मतः॥ ५८॥

पीपर के नाम तथा गुण—पिप्पली, मागधी, कृष्णा, वैदेही, चपला, कणा, उपकुल्या, ऊषणा, शौण्डी, कोला और तीक्ष्णतण्डुला ये सब संस्कृत नाम पीपर के हैं। **पीपर**–अग्निदीपक, वृष्य, पाक में मधुर रसयुक्त, रसायन, अनुष्ण (थोड़ी उष्ण), कटुरसयुक्त, स्निग्ध, वात तथा कफ नाशक, लघुपाकी और रेचक (दस्तावर) है। यह—श्वास, कास, उदररोग, ज्वर, कुष्ठ, प्रमेह, गुल्म, बवासीर, प्लीहा, शूल और आमवातनाशक है। **कच्ची पीपर**–कफकारी, स्निग्ध, शीतल, मधुर, गुरु और पित्त को शान्त करने वाली है। किन्तु **सूखी पीपर**–पित्त को कुपित करने वाली है। **मधु (शहद) से युक्त पीपर**–मेद, कफ, श्वास, कास और ज्वर का नाश करने वाली होती है एवं वृष्य, मेधा (धारणाशक्ति) के लिये हितकारी और अग्निवर्द्धक भी है। **गुड़ से युक्त पीपर**-जीर्णज्वर और अग्निमान्द्य में हितकर होती है एवं कास, अजीर्ण, अरुचि, श्वास, हृद्रोग, पाण्डु-रोग तथा कृमिरोग को दूर करने वाली भी होती है। यहां पर अर्थात् पीपर के साथ गुड़ मिलाने में पीपर के चूर्ण के तोल से दूना गुड़ मिलाना चाहिए ऐसा वैद्यों का मत है॥ ५३–५८॥

६ पीपल

हि०–पीपर, पीपल। **ब०**–पीपुल, पिपुल। **म०**–पिंपली। **गु०**–पीपर, लींडी पीपल, लिंडी पीपल। **क०**–हिप्पली। **ते०**–पिप्पलु, पिप्पलि, पिप्पल चेट्टु। **ता०**–तिप्पिली। **तु०**–इप्पली। **मला०**–तिप्पली। **ब्राह्मी०**–पौखीन। **गोम०**–हिपली। **मा०**–पीपल। **फा०**–पिलपिल दराज,

फिल्फिल् दराज़, पीपल दराज़। अ०–दारफिल्फिल् , डाल फिल्फिल्। अं०–Long pepper (लांग पीपर); Dried catkins (ड्राइड कॅटकिन्स)। ले०–Piper longum Linn. (पाइपर लांगम)। Chavica roxburghii (चविका रॉक्सबर्घाइ)। Fam. Piperaceae (पाइपरेसी)।

पीपल—इस देश से गरम प्रान्तों में पूर्व नेपाल से आसाम, खासिया के पहाड़ों पर, बंगाल में पश्चिम की ओर बम्बई तक तथा दक्षिण की ओर ट्रावनकोर तक पायी जाती है। सीलोन, मलाक्का तथा फिलीपाइन द्वीपों में भी यह पाई जाती है।

पीपल लता जाति की वनौषधि का फल है। इसकी बेल–अन्य लताओं की भाँति अधिक विस्तार में नहीं बढ़ती किन्तु थोड़ी ही दूरी में फैलती है। **जड़**–कुछ मोटी और खड़ी-सी होती है। उससे शाखाएँ निकल कर भूमि पर फैलतां हैं। **पत्ते**–२॥–३॥ इञ्च के घेरे में, गोलाकार, पान के पत्तों के आकार वाले कोमल होते हैं। ऊपर के पत्ते विनाल होते हैं। **फलगुच्छ**–१–१॥ इञ्च लम्बे और कृष्णाभ होते हैं जिनमें अत्यन्त छोटे-छोटे फल लगे रहते हैं।

एक दूसरी जाति की पीपल को पहाड़ी पीपल कहते हैं। इसका लेटिन नाम Piper sylvaticum Roxb. (पीपर सिलवेटिकम्) है। यह आसाम और बंगाल में अधिक उत्पन्न होती है। इसकी लता कई फीट तक बढ़ जाती है और सूखने पर आपस में लिपटी हुई मालूम होती है। **पत्ते**–पान के आकार वाले, उक्त पीपल के पत्तों से किञ्चित् बड़े होते हैं। **फलगुच्छ**–पौन से १॥ इञ्च लम्बे गोल होते हैं। इसको बङ्गाल के कविराज अधिक व्यवहार में लाते हैं।

पीपल छोटी और बड़ी—इन भेदों से दो प्रकार की होती हैं। इनमें छोटी अधिक गुणकारी समझी जाती है।

रासायनिक संगठन—इसमें १% उड़न शील तैल रहता है जिसमें से करीब ५–६·४% पाइपरीन, पाइपरीडीन एवं एक कटु राल (चविसीन), स्टार्च और स्नेह आदि द्रव्य रहते हैं।

गुण और प्रयोग—पीपल रसायन, सुगन्धि, दीपक, पाचक, उष्ण, वातहर और कफघ्न है। इसका उपयोग आनाह, अपचन, अग्निमान्द्य, उदरशूल, कास, श्वास, जीर्णज्वर, प्रसूतिज्वर, आमवात, गृध्रसी, कटिशूल, वातरक्त, अङ्गघात आदि रोगों में किया जाता है।

(१) मधु के साथ इसका चूर्ण नये वा पुराने कास, श्वास, स्वरभङ्ग तथा हिचकी में उपयोगी है।

(२) प्रसूतिज्वर में गर्भाशय शुद्धि के लिए इसका मधु के साथ अच्छा उपयोग होता है।

(३) वर्धमान पिप्पली का उपयोग रसायन के लिए एवं अधोशाखाघात, पुरानी खांसी, दमा, यक्ष्मा, प्लीहावृद्धि, उदर, अर्श आदि रोगों में बहुत लाभदायी है। इसके लिए प्रथम दिन ३ पीपल का फांट मधु अथवा शर्करा के साथ दिया जाता है फिर नित्य ३ पीपल बढ़ाई जाती है। इस प्रकार दसवें दिन ३० पीपल का फांट दिया जाता है। फिर इसी प्रकार ३ पीपल नित्य कम की जाती है। कुछ लोग आधा दूध और आधा जल में उबाल कर दूध शेष रहने पर उसी पीपल को खिलाकर ऊपर से वही दूध पिलाते हैं। इसके अतिरिक्त इसके चूर्ण को घृत और मधु के साथ उपयोग किया जा सकता है।

(४) पीपल चौसठ प्रहर घोंट कर उपयोग करने से जीर्ण ज्वर में विशेष लाभदायी होती है।

(५) सोंठ एवं पीपल से सिद्ध तैल की मालिश गृध्रसी, कटिशूल तथा अधोशाखाघात में उपयोग है।

(६) त्रिकटु और सहिजन के बीज की अगस्तिमूल के रस से घोंटकर उसका नस्य देने से बेहोशी, मूर्च्छा आदि दूर होती है।

मात्रा—चूर्ण १–४ र०। **दर्पनाशक**—जरेशक, बबूल का गोंद और इसबगोल।

अथ मरीचस्य नामानि गुणाँश्चाह

मरिचं वेल्लजं कृष्णमूषणं धर्मपत्तनम् ॥ ५९ ॥
मरिचं कटुकं तीक्ष्णं दीपनं कफवातजित् । उष्णं पित्तकरं रूक्षं श्वासशूलकृमीन्हरेत् ॥६०॥
तदार्द्रं मधुरं पाके नात्युष्णं कटुकं गुरु । किञ्चित्तीक्ष्णगुणं श्लेष्मप्रसेकि स्यादपित्तलम् ॥६१॥

मरिच के नाम तथा गुण—मरिच, वेल्लज, कृष्ण, ऊषण और धर्मपत्तन ये मरिच के संस्कृत नाम हैं। **मरिच**—कटुरस युक्त, तीक्ष्ण, अग्निदीपक, कफ तथा वायु को दूर करने वाला, उष्णवीर्य, पित्तकारक और रूक्ष है एवं श्वास, शूल तथा कृमिरोग को नष्ट करने वाला होता है। यदि यही **गीला (कच्चा)** हो तो—पाक में मधुर रस युक्त, थोड़ा उष्णवीर्य, कटुरस युक्त, पाक में गुरु, थोड़ा तीक्ष्ण गुण से युक्त, कफ को गिराने वाला और थोड़ा पित्तकारक होता है ॥ ५९–६१ ॥

७ मरिच

हि०—मरिच, मिरच, गोल मरिच, काली मरिच, दक्षिणी मरिच, गोल मिर्च, चोखा मिरच। **बं०**-मरिच, गोल मरिच, गोल मिरच, मुरिच, मोरिच। **म०**-मिरे, काली मिरीं। **क०**-ओल्ले-मेणसु। **गु०**-मरि, मरितीखा, मरी, कालामरी। **ते०**-मरिचमु, शव्यमु, मरियलु। **ता०**-मोलह् शेव्वियम्। **पं०**-काली मरिच, गोल मिरिच। **मा०**-काली मरिच। **मोटिया०**-स्पोट। **काश्मी०**-मर्ज। **सिन्धी०**-गूलमिरीएं। **मला०**-लइ, कुरु मुलक, कुरू मिलगु। **अफ०**-दारुगर्म। **फा०**-पिल्पिले अस्वद, फिल्फिल् अस्वद, स्याह गिर्द, हलपिला गिर्द, फिल्फिल् स्याह। **अ०**-फिल्फिले अवीद, फिल्फिल् गिर्द, फिल् फिलस्सोदाय, पिल्पिले गिर्द। **अं०**-Black pepper (ब्लॅक पेपर)। **ले०**-Piper nigrum, Linn. (पाइपर नाइग्रम् लिन.)। Fam. Piperaceae (पाइपरेसी)।

दक्षिण कोंकण, आसाम, मलावार तथा मलाया और स्याम इसका उत्पत्ति स्थान है। दक्षिण भारत के उष्ण और आर्द्र भागों में त्रिवांकुर, मलावार आदि खादर तथा गीली जमीन में यह अधिकता से उत्पन्न होती है। कच्छार, सिलहट, दार्जिलिंग, सहारनपुर और देहरादून के पास भी इसकी खेती की जाती है। वर्षा ऋतु में इसकी लता को पान के बेल के समान छोटे छोटे टुकड़े कर बड़े बड़े वृक्षों की जड़ में गाड़ देते हैं। ये लता रूप से बढ़ कर वृक्षों का सहारा पाने से उनके ऊपर चढ़ जाती हैं। **पत्ते** ५–७ इञ्च लम्बे तथा २–५ इञ्च चौड़े, गोलाकार, नुकीले तथा पान के पत्तों के आकार के होते हैं। **फल**—गुच्छों में लगते हैं। कच्ची अवस्था में फल हरे रङ्ग के होते हैं। उस अवस्था में चरपराहट कम होती है। जब पकने पर आते हैं तब उनका रङ्ग नारंग लाल हो जाता है। उसी समय तोड़ कर सुखा लेते हैं। सूखने पर काले रङ्ग के हो जाते हैं। पूरे पक जाने पर तोड़ने से चरपराहट कम हो जाती है।

पूर्वी मरिच की अपेक्षा दक्षिणी मरिच अधिक गुणदायक है। दक्षिणी मरिच ऊपर से भूरी तथा भीतर से हरियाली युक्त सफेद होती है। यह अधिक तीक्ष्ण होती है। पूर्वी मरिच ऊपर से अधिक काली और भीतर सफेद होती हैं। अधिक पके फलों को जब वे पीले हो जाते हैं तब तोड़कर पानी में फुला कर छिलके दूर करके सुखा लेते हैं। उसी को सफेद मरिच कहते हैं। मरिच के ऊपरी छिलके में कटु द्रव्य अधिक रहता है इसलिये सफेद मरिच कम कटु रहती है। **इस सफेद मरिच** को–**बं०** में 'सादा मरिच', **म०**–में 'पांढरेमिरे, **गु०**–में 'धोला मरी', **क०**–में 'विलेय मेणसु' और **ता०**–में 'मिलाओ' कहते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें उड़नशील, जल में न घुलनेवाला, पाइपरीन नामक एक

रवेदार क्षाराभ ५-९%, पाइपरीडीन ५%, चविसीन नामक कटुराल, एक अन्य हरे रंग की कटुराल ६%, उडनशील तैल १-२·५%, स्टार्च ३०%, ईथर में घुलनशील न उडने वाला पदार्थ ६%, प्रोटीड ७% तथा लिगनिन, गोंद आदि कुछ अन्य द्रव्य पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—मरिच का प्रयोग अनेक योगों में किया जाता है। यह सुगन्धि, उत्तेजक, पाचक, अग्निदीपक, रुचिकर, स्वेदकर, कफघ्न एवं कृमिहर है। इसका उत्तेजक प्रभाव आंत्र एवं मूत्र संस्थान की श्लेष्मल कला पर पड़ता है। इसके सेवन से मूत्र की मात्रा बढ़ती हैं और इसका उपयोग पुराने सुजाक में किया जाता है। इसके सेवन से आमाशयिक रस की वृद्धि होती है और पाचन की क्रिया सुधरती है। घृत के पाचन में यह विशेष उपयोगी है। इसका उपयोग आध्मान, अपचन, प्रवाहिका, आमाशय शैथिल्य आदि में अच्छा होता है।

(१) प्रवाहिका में इसके सूक्ष्म चूर्ण को हींग एवं अफीम के साथ दिया जाता है।

(२) स्याहजीरा एवं काली मिरच मधु के साथ नित्य सेवन से गुदा की श्लेष्मकला का संकोच होकर गुदभ्रंश एवं अर्श में बहुत लाभ होता है।

(३) इसके **पाइपरीन** नामक क्षार के ज्वरघ्न गुण के कारण इसका उपयोग मलेरिया में कीनीन के साथ अधिक प्रभावकारी है।

(४) विसूचिका के प्रारम्भ में मरिच, अफीम तथा हींग तीनों समान मात्रा में लेकर २ रत्ती की मात्रा में प्रत्येक २ या ४ घण्टे के बाद में देने से लाभ होता है।

(५) खांसी में मधु एवं घृत के साथ देने से लाभ होता है।

(६) पुराने जुकाम में इसको गुड़ एवं दही के साथ सेवन करना चाहिये।

अधिक मात्रा में मरिच के सेवन से उदरशूल, वमन, बस्ति एवं मूत्र मार्ग प्रदाह, उदर्द आदि विकार उत्पन्न होते हैं।

बाह्य प्रयोग—अनेक चर्म विकारों में एवं वायु के विकारों में किया जाता है।

(१) इससे सिद्ध तैल की मालिश आमवात, गठिया, अङ्गघात एवं कण्डू, पामा आदि में उपयोगी है।

(२) घृत के साथ इसका लेप अर्श के मस्से पर करने से वातार्शशूल एवं शिथिलता दूर होती है।

(३) फोड़े, फुन्सियों की आमावस्था में उनको बैठाने के लिए उन पर इसको पीस कर लगाया जाता है।

(४) विषैले कीड़ों के काटने पर विनेगार (सिरका) के साथ इसको पीस कर लगाना चाहिये।

(५) दही के साथ घिसकर इसके अञ्जन से अनेक नेत्र रोग जैसे रात्र्यंध, कण्डू आदि में लाभ होता है।

(६) सर की दद्रु के कारण यदि सर के बाल झड़ गये हों तो इसे प्याज और नमक के साथ लगाने से लाभ होता है। इसी प्रकार इसका लेप शिरःशूल में भी उपयोगी है।

(७) इसके क्वाथ से कुल्ला करने से दंतशूल दूर होता है एवं बढ़ी हुई उपजिह्वा में भी लाभ होता है।

(८) इसका दंतमञ्जनों में भी व्यवहार होता है।

मात्रा—चूर्ण २-४ रत्ती।

श्वेत मरिच—काली मरिच के समान ही गुण वाली लेकिन उससे कुछ हीन गुण होती है। इसका एक विशेष प्रयोग श्लीपद में शोथ के साथ बार २ ज्वर के आक्रमण को रोकने के लिए किया जाता है। बचनाग एक भाग और सफेदमरीच १५ भाग दूध में भिगोया जाता है। रोज

दूध बदल दिया जाता है। इस प्रकार ३ दिन करने के बाद आदी के रस में घोंटकर १८० की गोली बनाई जाती है। इसकी १ गोली दिन में ३ बार दी जाती है।

अथ त्रिकटुकनामलक्षणगुणानाह

विश्वोपकुल्या मरिचं त्रयं त्रिकटु कथ्यते। कटुत्रिकं तु त्रिकटु त्र्यूषणं व्योष उच्यते ॥६२॥
त्र्यूषणं दीपनं हन्ति श्वासकासत्वगामयान्। गुल्ममेहकफस्थौल्यमेदःश्लीपदपीनसान् ॥६३॥

त्रिकटु के लक्षण, नाम तथा गुण—सोंठ, पीपर तथा मरिच इन तीनों के योग को 'त्रिकटु' कहते हैं। कटुत्रिक, त्रिकटु, त्र्यूषण और व्योष ये संस्कृत नाम 'त्रिकटु' के हैं। **त्रिकटु**–अग्निदीपक होता है तथा श्वास, कास, चर्मसम्बन्धी रोग, गुल्म, मेह, कफ, स्थूलता, मेद, श्लीपद और पीनस इन सब रोगों को दूर करता है ॥ ६२–६३ ॥

अथ पिप्पलीमूलस्य नामानि गुणाँश्चाह

ग्रन्थिकं पिप्पलीमूलमूषणं चटकाशिरः। दीपनं पिप्पलीमूलं कटूष्णं पाचनं लघु ॥ ६४ ॥
रूक्षं पित्तकरं भेदि कफवातोदरापहम्। आनाहप्लीहगुल्मघ्नं कृमिश्वासक्षयापहम् ॥ ६५ ॥

पिपरामूल के नाम तथा गुण—ग्रन्थिक, पिप्पलीमूल, ऊषण और चटकाशिर ये संस्कृत नाम 'पिपरामूल' के हैं। **पिपरामूल**–अग्निदीपक, कटुरस वाला, उष्णवीर्य, पाचक, लघु, रूक्ष, पित्तकारक, मल को भेदन करने वाला, कफ, वायु एवम् उदर सम्बन्धी रोगों को दूर करने वाला होता है। तथा आनाह, प्लीहा, गुल्म, कृमि, श्वास और क्षय इन सब रोगों को नष्ट करने वाला होता है ॥ ६४–६५ ॥

८ पिपलामूल

हि०–पीपल.मूल, पीपरामूल। **बं०**–पिपुल मूल। **म०**–पिंपली मूल, पिंपलमूल, पिंपला मूल। **गु०**–पीपरी मूलना गंडोडा, पीपलो मूल, पीपरी मूल। **क०**–पिप्पलीयवरु, हिप्पलीयवेरु, हिप्पली मूल। **ते०**–मोडी, पिप्पली वेरु, पिप्ली दुम्प। **पं०**–पिप्पला मूल। **मा०**–पीपला मूल। **ता०**–पिप्पली मूल। **फा०**–फ़िल्फ़िलद्रे, फिल्फिल् मूयह। **अ०**–फिल्फिलादराज़, फिलफिले मोया। **अं०**–Piper root (पाइपर् रूट)। **ले०**–*Root of the Piper longum Linn.* (रूट ऑफ दी पाइपर् लॉङ्गम्)।

पीपल लता की गांठदार जड़ को पीपलामूल कहते हैं। इसकी जगह कितने पंसारी पीपल लता की मोटी शाखाओं को छोटे-छोटे टुकड़े कर बेचते हैं। इसलिये अच्छी तरह देख भाल कर खरीदना चाहिये।

गुण और प्रयोग—पीपला मूल पीपल के ही समान लेकिन कम गुण वाला है। यह पीपल से अधिक उत्तेजक है। डाक्टर देसाई के मतानुसार प्रसव होने में अधिक समय लग रहा हो तो पीपरामूल, ईश्वर मूल और हींग, पान के साथ खिलाना चाहिये जिससे पीड़ा बढ़कर प्रसव हो जाता है। प्रसव के पश्चात् तुरत इसका फांट देने से आवल (अपरा) गिरने में सहायता होती है।

अथ चतुरूषणस्य लक्षणगुणानाह

त्र्यूषणं सकणामूलं कथितं चतुरूषणम्। व्योषस्येव गुणाः प्रोक्ता अधिकाश्चतुरूषणे ॥ ६६ ॥

चतुरूषण के लक्षण, नाम तथा गुण—त्रिकटु (.सोठ, पीपर, मरिच) में यदि पिपरामूल मिला दिया जाय तो इसे चतुरूषण कहते हैं। पहले जितने गुण त्रिकटु के कहे आये हैं, वही सब गुण चतुरूषण में अधिक रूप से रहते हैं ॥ ६६ ॥

प्रयोग करने से यह सिद्ध हुआ है कि चतुरूषण ५ से ३० र० की मात्रा में दिन में दो वार न केवल खांसी, प्रतिश्याय, स्वरभंग में उपयोगी है बल्कि उदरशूल, आध्मान आदि में भी बहुत उपयोगी है।

अथ चव्यनामगुणानाह

भवेच्चव्यं तु चविका कथिता सा तथोषणा। कणामूलगुणं चव्यं विशेषाद् गुदजापहम्॥६७॥

चव्य के नाम तथा गुण—चव्य, चविका और ऊषण ये तीन संस्कृत नाम 'चव्य' के हैं। जो २ गुण 'पिपरामूल' के कह आये हैं वे ही सब 'चव्य' के भी होते हैं। केवल विशेषता यह है कि-यह अर्श (बवासीर) का नाशक होता है॥ ६७॥

९ चव्य

हिं०–चव्य, चाव, चाभ, चव। **बं०**–चेअर, चई, चोई। **म०**–चवक, कंकल, चावचीनी। **गु०**–चवक, **ते०**–सेवासु, चैकाणी, चव्यमु। **ता०**–चव्यं। **ले०**–*Piper chaba Hunter* (पाइपर् चबा हण्टर); *Piper officinarum Cas D. C.* (पाइपर् ऑफिसिनेरम्)। Fam. Piperaceae (पाइपरेसी)।

चव्य के विषय में विद्वानों में कुछ मतभेद हैं। भावप्रकाशकार आगे गजपिप्पली के वर्णन में लिखते हैं कि विद्वानों ने चव्य के फल को गजपिप्पली कहा है। अर्वाचीन विद्वानों ने गजपिप्पली एवं चव्य ये दो अलग वनस्पतियां मानी हैं। और यही कारण है कि ये दोनों द्रव्य संदिग्ध की श्रेणी में आ गये हैं। अधिकांश विद्वानों ने जिन दो द्रव्यों को माना है उन्हीं का यहाँ वर्णन किया जा रहा है। पाइपर चवा को चव्य कहा गया है।

भारत के अनेक प्रान्तों में यह लगाई हुई मिलती है। यह वनस्पति जावा, सुमात्रा, मलाया आदि देशों में विशेषरूप से उत्पन्न होती है। इसके फल तथा कांड का उपयोग किया जाता है। संभवतः यह फल सिंगापूर के रास्ते कलकत्ते में आकर बड़ी पीपर के नाम से विकता है।

यह लताजाति की वनस्पति बहुत दृढ होती है। इस पर किसी प्रकार के रोम इत्यादि नहीं होते। इसकी **शाखायें**–वृक्षों की डालियों से खूब लिपटती हुई बढ़ती हैं और सूखने पर पीलापन युक्त सफेद रङ्ग की हो जाती हैं। **पत्ते**–५–७ इञ्च लम्बे तथा २–२॥ से ३॥ इञ्च तक चौड़े, आयताकार, अण्डाकार, और किंचित् नुकीले होते हैं, सूखने पर फीके या पीलापन युक्त सफेद रंग के हो जाते हैं। उनके ऊपर का भाग चमकदार होता है। इन पर रक्तवर्ण के फूल और फलों के गुच्छे लगते हैं। ये गुच्छे १–३ इञ्च लम्बे और ½ इञ्च मोटे, अग्र की तरफ कुछ पतले एवं डण्ठल की तरफ मोटे गोल और भूरे रंग के होते हैं। **फल**–बहुत छोटे छोटे इञ्च के दसवें हिस्से के घेरे में अण्डाकृति आते हैं। ये फल सुगंधित एवं स्वाद में कटु होते हैं।

गुण और प्रयोग—चाभ का उपयोग पीपर के समान ही किया जाता है। यह उत्तेजक एवं पाचक है तथा शूल, आध्मान, वृक्करोग तथा विशेष कर खांसी, जुकाम आदि गले के रोगों में उपयोग में आता है। यूनानी मतानुसार इसके फल का नस्य अपस्मार में उपयोगी है।

मात्रा—चाभ चूर्ण–१ से २ माशे, चाभ फल चूर्ण—२–४ र०।

अथ गजपिप्पल्या नामानि गुणाँश्चाह

चविकायाः फलं प्राज्ञैः कथिता गजपिप्पली। कपिवल्ली कोलवल्ली श्रेयसी वशिरश्च सा॥६८॥
गजकृष्णा कटुर्वातश्लेष्महृद्वह्निवर्धिनी। उष्णा निहन्त्यतीसारं श्वासकण्ठामयक्रिमीन्॥६९॥

'गजपीपल' के नाम तथा गुण—'चव्य' के फल का ही नाम 'गजपीपल' है ऐसा वैद्य लोग कहते हैं। कपिवल्ली, कोलवल्ली, श्रेयसी और वशिर ये सब संस्कृत नाम 'गजपीपल' के हैं। **गजपीपल**-कटुरसयुक्त, वात कफ नाशक, अग्निवर्धक और उष्ण वीर्य होती हैं तथा अतिसार, श्वास, कण्ठसम्बन्धी रोग और कृमि का भी नाश करती है ॥ ६८–६९ ॥

गजपिप्पली के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ चव्य के फल को गजपिप्पली मानते हैं तो कुछ सिंडेप्सस् आफिसिनेलिस् के फल को मानते हैं। अधिकांश विद्वान सिं. आफिसिनेलिस् को गजपिप्पली मानते हैं जो ठीक भी मालूम होता है। कुछ बाजारों में ताडवृक्ष के बाल (पुं-पुष्प व्यूह) को काटकर गजपिप्पली के नाम से बेचते हैं।

१० गजपीपल

हि०-गजपीपर, गजपीपल। **बं०**-गजपीपल। **म०**-गजपिंपली, थोरपिंपली। **क०**-अड्केबीलुवल्लि। **गु०**-मोटो पीपर। **ते०**-एनुगा पिप्पल। **ता०**-अनै तिप्पली। **पं०**-गजपीपल। **सन्ताल०**-दरे झपक। **मल०**-अतितिप्पली, अनैतिप्पली। **ले०**-*Scindapsus officinalis, Schott* (सिन्डेप्सस् ऑफिसिनेलिस् स्काट); *Syn: Pothos officinalis Schott Melet* (पोथोस् ऑफिसिनेलिस्)। Fam. Araceae (ॲरासी)।

इसकी लता आर्द्र सपाट मैदानों में हिमालय के प्रान्तों में सिकम से पूर्व की ओर बंगाल, चट्टगांव, ब्रह्मा तथा सिवालिक के जंगलों में शाल वृक्षों पर चढ़ी हुई पाई जाती हैं।

इसका डंठल-गूदेदार एक इञ्च या इससे भी अधिक मोटा एवं गोल होता है। **पत्ते**-बड़े बड़े, जैसे-५ से १० इञ्च तक लम्बे और २॥ से ६ इञ्च तक चौड़े, अंडाकार, गाढ़े हरे होते हैं और शाखाओं पर विपरीत रहते हैं। **पत्र** वृन्त ३ से ६ इञ्च तक लम्बा और अन्त का हिस्सा हाथ की कोहनी के समान होता है एवं तलवार की म्यान के समान दिखाई पड़ता है। इसके भीतर का हिस्सा पीले रङ्ग का होता है। **फल**-रसयुक्त, गूदेदार, लगभग ६ इञ्च लम्बा, १।–१॥ इञ्च व्यास में और नीचे की ओर लटका हुआ रहता है। इसका आगे का हिस्सा नोकदार होता है। इसके फल के आडे कटे हुवे सूखे टुकड़े बाजार में बिकते हैं। ये १ इञ्च व्यास के, ½ इञ्च मोटे और भूरे रङ्ग के होते हैं। इनमें गन्ध नहीं रहती तथा उन्हें जल में भिगोकर रखने से ये फूल कर नरम हो जाते हैं। इनके बीच में बीज होते हैं और उनके चारों ओर चूने के सूई के समान दाने होते हैं। **बीज**-वृक्काकार, चिकने, गांजे के बीज से बड़े और भूरे रङ्ग के होते हैं। इसके पत्ते का शाक बनाकर खाते हैं।

गुण और प्रयोग-सूखा हुआ फल-तीक्ष्ण, पसीना लाने वाला, सुगन्धिकारक, वातहर, कृमिनाशक, उत्तेजक, पाचक, एवं बल्य है। आमातिसार, श्वास और खांसी में जब कफ की अधिकता रहती है तब इसका उपयोग किया जाता है। इसके फांट को देने से कफ ढीला होकर निकलता है। संताल लोग इसको आमवात, संधिवात आदि रोगों में स्थानीय लेप के रूप में लगाते हैं। इसका उपयोग सुगंधित द्रव्य के रूप में अन्य औषधियों के साथ किया जाता है। इसमें १४½% राख, गोंद तथा एक क्षाराभ रहता है।

मात्रा—फांट (१ में १०) २–६ ड्राम।

अथ चित्रकस्य नामानि गुणाँश्चाह

चित्रकोऽनलनामा च पाठी व्यालस्तथोषणः। चित्रकः कटुकः पाके वह्निकृत्पाचनो लघुः॥
रूक्षोष्णो ग्रहणीकुष्ठशोथार्शः कृमिकासनुत्। वातश्लेष्महरो ग्राही[1]वातघ्नः श्लेष्मपित्तहृत्॥

१. 'वातार्श' इति पाठा०।

'चीता' के नाम तथा गुण—चित्रक, अनलनामा (अग्नि के जितने नाम हैं वे सब 'चीता' के भी होते हैं), पाठी, व्याल तथा ऊषण ये सब संस्कृत नाम चीता के हैं। **चीता**-पाक में कटुरस युक्त, अग्निवर्धक, पाचक, लघु (शीघ्र पचने वाला), रूक्ष और उष्ण वीर्य वाला है और यह ग्रहणी, कुष्ठ, शोथ, अर्श, कृमि तथा कास का नाशक होता है। तथा वात और श्लेष्मा को दूर करने वाला, ग्राही, वात और श्लेष्म एवं पित्त का नाशक होता है ॥ ७०-७१ ॥

११ चित्रक

हि०-चीत, चीता, चित्रा, चित्रक, चित्ता, चितरक, चितउर। **बं०**-चिता, चितु। **म०**-चित्रक। **क०**-पेह्लीचित्रमूल, चित्रकमूल। **पं०**-चित्रा। **ते०**-अग्निमत, चित्रमूलं, तेह्लाचित्रा। **ला०**-पेंचीत्तर, कोदिवेल। **उ०**-धुर्वचिता। **गु०**-चित्रो, चित्रा, पितरो। **मला०**-वेह्लाकोटुवेरि, कोटुवेलि। **फा०**-वेख बरंदा, बेख बरंदह, शीतरह, शीतरुह, शीतरक, बेखबुरिंदा। **अ०**-शितरज, शितरझ, शीतरज हिन्दी, शैतरज। **अं०**-Ceylon Leadwort, White Leadwort (सीलोन लेडवोर्ट, ह्वाइट लेडवोर्ट)। **ले०**-*Plumbago zeylanica Linn.* (प्लम्बॅगो झेलॅनिका)। Fam. Plumbaginaceae (प्लम्बॅजिनासी)।

सफेद, लाल और नीले फूलों के भेद से चित्रक तीन प्रकार का होता है। कोई कोई पीले फूल का भी चित्रक बतलाते हैं किन्तु इसका उल्लेख किसी पुस्तक में देखा नहीं जाता। सफेद फूल का चित्रक बहुत मिलता है और लाल फूल का कहीं कहीं नमूने की तरह देखने में आता है और मिलता भी बहुत कम है। नीले फूल का चित्रक भी कम मिलता है जिससे नमूने की तरह भी बहुत कम ही वैद्य लोग देख पाये होंगे।

सफेद चित्रक इस देश के प्रायः सब प्रान्तों की जङ्गली झाड़ियों में देखा जाता है विशेष कर संयुक्त प्रान्त, बिहार, बङ्गाल, दक्षिण भारत, सीलोन और कुमाऊँ के पहाड़ों बहुत मिलता है। यह आप ही आप जङ्गली उत्पन्न होता है और कहीं कहीं वाटिकाओं में भी हैं।

इसका क्षुप २ से ५ फूट तक ऊँचा होता है और बारहों मास मिलता है। गर्मी के दिनों में पत्ते प्रायः कम दिखाई पड़ते हैं किन्तु बरसात में हरे भरे हो जाते हैं। कांड पर लम्बाई में धारियां होती हैं। **पत्ते**-विपरीत, १॥ से ३॥ इञ्च तक लम्बे, १ से १॥ इञ्च चौड़े, अण्डाकार, नोकदार, चिकने, कोमल और मोगरा के समान होते हैं। **फूल**-जाड़े के दिनों में चमेली के फूल के समान अत्यन्त सफेद फूल आते हैं। **फल**-यव के आकार वाले लम्बे, कच्ची अवस्था में हरे, पकने पर धूसर रङ्ग के, सूक्ष्म तथा चिपचिपे रोवों से भरे रहते हैं जो तोड़ने से आपस में सट जाते हैं और स्पर्श से लसीले जान पड़ते हैं। इसकी **छाल**-कालापन लिये भूरे रंग की, खड़े बल में कटी हुई और उस पर थोड़ी सी छोटी गांठें होती हैं। सूखी हुई जड़ तोड़ने से तुरत टूट जाती है। इसका स्वाद तीता, कडुआ और जिह्वा को सूई चुभोने के समान मालूम होता है। इसकी जड़ औषधि के काम आती है। यह हमेशा ताजी प्रयोग करनी चाहिये क्योंकि बहुत पुरानी होने पर यह गुणहीन हो जाती है।

रासायनिक संगठन—इसके मूल में प्लम्बॅजिन (Plumbagin) नामक एक रवेदार पदार्थ होता है। यह पीले रंग का, सुइयों के सदृश, दाहक एवं कटु पदार्थ है। यह मद्यसार एवं ईथर में अच्छी तरह घुल जाता है लेकिन उबलते हुवे जल में बहुत थोड़ा घुलता है और गरम करने पर कुछ अंश में उड़नशील है। इसका द्रवणांक ७२° श० है। भारतवर्ष में प्राप्त होने वाली

इसकी सभी जातियों में इसकी अधिक से अधिक मात्रा ०·९१% रहती है। सूखी जमीन में उत्पन्न होने वाले पुराने क्षुप में यह अधिक मात्रा में रहता है।

गुण और प्रयोग—चित्रक में रहने वाला प्लम्बॅजिन अल्प मात्रा में केन्द्रीय वातनाडी संस्थान को उत्तेजित करता है लेकिन अधिक मात्रा में वह दाहजनक एवं सम्मोहक विष है जिससे श्वसन-क्रिया बन्द होकर मृत्यु हो जाती है।

चित्रकमूल—अग्निदीपक, गर्भाशय संकोचक, स्वेदजनक, कुष्ठहर, अर्शहर, रसायन, वात एवं कफहर है। इसका उपयोग मन्दाग्नि, अपचन, आध्मान, ज्वर, आमवात, आमातिसार, संग्रहणी, कुष्ठ, शोथ, पाण्डु एवं अर्श आदि रोगों में किया जाता है।

अल्प मात्रा में यह पाचक संस्थान की श्लैष्मिक कला को उत्तेजित करके पाचक स्रावों की वृद्धि करता है जिससे भूख अच्छी लगती है। खाया हुआ जल्दी पचता है। अर्श में इसके प्रयोग से गुदवली की शिथिलता दूर होकर लाभ होता है। गर्भाशय के ऊपर इसकी बहुत तीव्र संकोचक क्रिया होती है जिससे गर्भिणी में इसको किसी भी समय प्रयोग करने से एक दो प्रहर में गर्भपात हो जाता है लेकिन गर्भ हमेशा मृत ही होता है। गर्भपात के लिये आंतरिक प्रयोग के साथ २ इसको गर्भाशयमुख में प्रविष्ट करते हैं या इसका लेप करते हैं। इसके प्रयोग में यदि विशेष सावधानी न रक्खी जाय तो इससे रक्तस्राव, धातुनाश एवं कोथ आदि गंभीर उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं। अतः इसका प्रयोग गर्भिणी में कभी भी न करना चाहिये।

विषम ज्वर में यकृत् प्लीहा वृद्धि होकर पाण्डु हो गया हो तो इसका सेवन करना चाहिये। सूतिका ज्वर में निर्गुण्डी के साथ इसके उपयोग से ज्वर कम होता है तथा दूषित आर्तव निकलकर मक्कलशूल भी दूर होता है।

(१) अग्निमांद्य, अरोचक, अजीर्ण, अतीसार आदि में चित्रक, वायविडङ्ग एवं मुस्ता का प्रयोग करना चाहिये।

(२) अर्श में इसे दही के साथ सेवन करना चाहिये।

(३) यकृत् एवं प्लीहा वृद्धि में इसका क्षार मट्ठे के साथ उपयोगी है।

(४) इसका उपयोग कुष्ठ, फिरङ्ग की द्वितीयावस्था आदि में लाभकारी है।

चित्रक मूल बाह्य प्रयोग में तीव्र कृमिघ्न, दाहजनक, एवं स्फोटोत्पादक है। आमवात, संधिशूल अङ्गघात आदि में इससे सिद्ध तैल की मालिश करने से लाभ होता है। प्लेग की गाठों पर गाठों को फोड़ने के लिये इसको काम में लाते हैं। श्वित्र एवं खालित्य में इसका लेप उपयोगी है।

आमवातादि में स्फोटोत्पादन के लिये इसका लेप १५,२० मिनट से अधिक न रखना चाहिये। इससे उत्पन्न स्फोटों में पीडा बहुत होती है इसलिये जहां तक हो उसका प्रयोग न किया जाय।

हानिकारक—फुफ्फुस, यकृत् और गर्भ।

दर्पनाशक—फुफ्फुस के लिये मस्तगी एवं बबूल का गोंद तथा यकृत् के लिये गुलाब के फूल एव चन्दन।

मात्रा—½ से २ माशा।

१२ लाल चीता

हि०—लाल चीत, लाल चीता, लालचित्रक, लाल चितउर इत्यादि। **बं०**-लालचिता, रक्तोचितो। **म०**-लालचित्रक। **क०**-केम्पू, चित्रमूल। **ते०**-येर्रांचित्रमूलम्। **ता०**-शिवप्पु चित्रमूलम्,

चितुरमोल, कोडिमूली । **उ०**-रक्तचिता, रकतचिता । **मला०**-चेक्कीकोट्टवेरी । **अं०**-Rose coloured Leadwort (रोज कलर्ड लेडवोर्ट)। **ले०**-*Plumbago rosea Linn.* (प्लम्बॅगो रोझिया)।

यह सिक्कम और खसिया की तराइयों में पाया जाता है। इसको वाटिकाओं में भी लगाते हैं परन्तु थोड़ी असावधानी से नष्ट हो जाता है।

इसका **क्षुप** २-४ फूट ऊंचा, सदा हरा भरा रहता है। गर्मी के दिनों में कुछ पुराने पत्ते सूखकर गिर जाते हैं। **पत्ते**-उक्त चित्रक के समान होते हैं। **फूल**-लाल और **फल** सफेद चीते के समान लसीले होते हैं।

लाल चित्रक गुणों में सफेद चित्रक की अपेक्षा अधिक प्रभाव शाली और तीव्र गुण सम्पन्न है, विशेष कर रुचिकारी, रसायन, शरीर को नवीन और स्थूल करने वाला, पारे को बांधनेवाला, लोहे को वेधने वाला तथा कुष्ठ को नष्ट करने वाला है। इसकी थोड़ी मात्रा उत्तेजक तथा अधिक मात्रा तीव्र मदकारी विष के समान हानिकारक होती है ॥ १२ ॥

१३ नीला चित्रक

ले०-*Plumbago capensis Thumb* (प्लम्बॅगो कॅपेनसिस थम्ब)

काले चित्रक का **क्षुप**-उक्त चित्रक के समान किन्तु पत्र चाक्रिक क्रम में आते है। पुष्प सफेदी युक्त नीले रङ्ग के होते हैं। यद्यपि यह दक्षिण अफ्रिका का आदिवासी है तथापि बागों में लगाया हुवा मिलता है।

लोग यह भी कहते हैं कि नीले चित्रक के सेवन करने से बाल काले हो जाते हैं और यदि गौ इसके क्षुप को केवल सूंघ ले अथवा इसकी जड़ दूध में डाली जावे तो दूध का रङ्ग काला हो जाता है। परन्तु इसमें कहां तक सत्यता है परीक्षा करने से ही मालूम हो सकती है।

अथ पञ्चकोलस्य लक्षणगुणानाह

पिप्पली पिप्पलीमूलं चव्यचित्रकनागरैः। पञ्चभिः कोलमात्रं यत्पञ्चकोलं तदुच्यते ॥७२॥
पञ्चकोलं रसे पाके कटुकं रुचिकृन्मतम्। तीक्ष्णोष्णं पाचनं श्रेष्ठं दीपनं कफवातनुत् ॥
गुल्मप्लीहोदरानाहशूलघ्नं पित्तकोपनम् ॥ ७३ ॥

'पञ्चकोल' के लक्षण तथा गुण—पीपल, पिपरामूल, चव्य, चीता तथा सोंठ ये सब पांच द्रव्य यदि कोलमात्र अर्थात् आधा २ तोला की मात्रा में एकत्र किये जांय तो उसी को 'पञ्चकोल' कहते हैं। **पञ्चकोल**-स्वाद तथा पाक में कटुरस युक्त, रुचिकारक, तीक्ष्ण तथा उष्णवीर्य होता है। तथा पाचक अत्यन्त अग्निदीपक, कफ-वात नाशक, गुल्म, प्लीहा, उदरसम्बन्धी रोग, आनाह और शूल का नाश करने वाला तथा पित्त को कुपित करने वाला होता है ॥ ७२-७३ ॥

मात्रा—५-१५ र० दिन में दो बार।

अथ षडूषणस्य लक्षणगुणानाह

पञ्चकोलं समरिचं षडूषणमुदाहृतम्। पञ्चकोलगुणं तत्तु रूक्षमुष्णं विषापहम् ॥ ७४ ॥

'षडूषण' के लक्षण तथा गुण—ऊपर कहे हुवे 'पञ्चकोल' के पीपल आदि पांचों द्रव्यों के साथ यदि छठां द्रव्य 'मरिच' भी सम भाग में मिला दिया जाय तो उसे 'षडूषण'' कहते हैं। पञ्चकोल के

जो गुण कह आये हैं वे ही सब 'षडूषण' के समझने चाहिये, अन्तर केवल इतना ही है कि यह रूक्ष, उष्ण तथा विषनाशक भी होता है ॥ ७४ ॥

अथ यवान्या नामानि गुणाँश्चाह

यवानिकोग्रगन्धा च ब्रह्मदर्भाऽजमोदिका ॥ ७५ ॥
सैवोक्ता दीप्यका दीप्या तथा स्याद्यवसाह्वया ।
यवानी पाचनी रुच्या तीक्ष्णोष्णा कटुका लघुः ७६ ॥
दीपनी च तथा तिक्ता पित्तला शुक्रशूलहृत् । वातश्लेष्मोदरानाहगुल्मप्लीहकृमिप्रणुत् ॥७७॥

'अजवायन' के नाम तथा गुण—यवानिका, उग्रगन्धा, ब्रह्मदर्भा, अजमोदिका, दीप्यका, दीप्या और यवसाह्वया ये सब नाम 'अजवाइन' के हैं। **अजवाइन**—पाचक, रुचिकारक, तीक्ष्ण तथा उष्णवीर्य, कटुरसयुक्त, परिपाक में लघु, अग्निदीपक, तिक्तरसयुक्त, पित्तवर्धक एवम् शुक्र तथा शूल की नाशक है। और यह वात, श्लेष्मा, उदरसम्बन्धी रोग, आनाह, गुल्म, प्लीहा तथा कृमि की भी नाशक है ॥ ७५-७७ ॥

१४ अजवायन (यवानी)

हि०-अजवायन, अजवाइन, अजमायन, जवाइन, जवायन, अजवां, अजोवां । **बं०**-यमानी, यउयान, योयान् , जोवान् । **मं०**-ओंवा, उंवा । **गु०**-अजमा, यवान, जवाइन, अजमो । **क०**-वोम, ओमु । **ते०**-वामु, ओममी, ओममु, ओमा । **ता०**-अमन, ओमम् , ओमन । **मा०**-अजवाण । **कच्छ०**-वोहरा । काश्मी०-जविन्द । **फा०**-नानुखा, झिनियानस नान्ख्वाह, जीनान् । **अ०**-कमूमे-'मुलकी, अमूसा, तोलिबउल खुब्जा । **अं०**-The Bishop's weed (दी विशॉप्स् वीड); Ajova seeds (अजोवां सीड्स्), Lovage (लोव्हाज) । **ले०**-*Carum copticum Benth & Hook* (करम् कोप्टिकम्); *Syn: Trachyspermum ammi Linn.* (ट्रॅकीस्पर्मम् अम्मी लिन); *Syn: Ptychotis ajowan DC* (प्टिकोटिस् अजोवां) । Fam. Umbelliferae (अंबेलिफेरी) ।

भारतवर्ष के प्रायः सब प्रान्तों में हरसाल खेतों में यह बोई जाती है विशेषकर इन्दौर तथा हैदराबाद राज्य में यह अधिकता से होती है। यह अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, पर्शिया, मिश्र और यूरोप आदि देशों में भी उत्पन्न होती है।

इसका **क्षुप** १ से ३-फुट तक ऊँचा, **पत्ते**—धनिये के पत्ते के समान कटीले, अनेक भागों में विभक्त, डालियों पर दूर-दूर आते हैं। **फूल**—छत्ते से, सफेद रंग के बारीक आते हैं। **फल**—नन्हें-नन्हें रहते हैं। छत्ते पकने पर फल निकाल लिए जाते जाते हैं। इन्हीं फलों को अजवायन कहते हैं। ये **फल** बहुत छोटे, दबे हुए, गोल अंडाकार, २ मि० मि० लम्बे, भूरे रंग के होते हैं। इनकी ऊपरी सतह पर छोटी गांठें एवं प्रत्येक अर्ध खण्ड पर पांच धारियां होती हैं। इसमें अजवायन की विशिष्ट गंध होती है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उड़नशील सुगन्धित तैल जिसे अजवाइन का तेल कहते हैं, २ से ३% पाया जाता है जिसमें से ४०-५०% थाइमॉल रहता है। इसमें पाये जाने वाला रवेदार पदार्थ स्टिअरोप्टिन, जिसे अजवाइन का फूल या अजवायन का सत्व कहते हैं डाक्टरी के थाइमॉल के समान होता है। इसके अतिरिक्त इसमें साइमोन, टरपेन आदि पदार्थ रहते हैं।

गुण और प्रयोग—अजवायन अग्निदीपक, पाचक, उष्ण, उद्वेष्ठन निरोधी, उत्तेजक, बल्य, कृमिघ्न, संक्रमण निरोधी, दुर्गन्धिनाशक एवं सड़न को दूर करने वाली है। इसका उपयोग अतिसार, कुचपन, अजीर्ण, उदरशूल, आध्मान, विसूचिका आदि रोगों में किया जाता है।

इसमें सरसों और मिर्चा का तीतापन, चिरायते का कडुआपन, एवं हींग का उद्वेष्ठन निरोधी गुण तीनों एक साथ हैं। इसका उपयोग अनेक औषधियों विशेषतया एरंड तैल की दुर्गन्ध को दूर करने के लिए किया जाता है। पुरानी खाँसी में जब कफ बहुत कम रहता है तब इसके प्रयोग से कफ ढीला होकर निकल जाता है। श्वास में गरम पानी के साथ इसका चूर्ण दिया जाता है या इसको चिलम में रखकर पीते हैं। अजवायन का चूर्ण और सेंधानमक अजीर्ण से उत्पन्न विकारों की घरेलू दवा है।

(१) उदरशूल, आध्मान आदि विकारों में अजवायन, सेंधानमक, सोंचरनमक, यवक्षार, हींग और आंवला इनके चूर्ण को ½ से १ माशा की मात्रा में मधु के साथ दिया जाता है।

(२) शराबियों को मद्य की आदत छुड़ाने के लिये शराब पीने की इच्छा होने पर इसे चबाने को दिया जाता है।

(३) बच्चों के रोगों में तथा हैजे में इसका अर्क बहुत उपयोगी है।

(४) **अजवायन का सत्**—बहुत अच्छा कृमिघ्न, सड़न को दूर करने वाला, प्रतिदूषक पदार्थ है। इसका उपयोग घोल के रूप में व्रण प्रक्षालन के लिये किया जाता है।

अजवायन का सत्, पेपरमिंट का सत् और कपूर तीनों मिलाने से एक तरल पदार्थ बनता है जिसका विसूचिका के प्रारम्भ में ३, ४ बूँद बतासे के साथ व्यवहार किया जाता है। इससे कै, दस्त कम होकर लाभ होता है। अमृतधारा जैसे प्रचलित पेटेण्ट योगों में ये ही औषधियाँ मूलतः रहती हैं। यह आंत्रिक कृमियों पर विशेषकर अंकुश कृमि में बहुत उपयोगी है। संधिशूल आदि में इसको लगाने से लाभ होता है। अजवायन का सत दंतशूल में उपयोगी है।

(५) इसकी पुल्टिस बनाकर उदरशूल, आमवात, सन्धिशूल आदि में सेंका जाता है। विसूचिका में हाथ, पैरों को तथा श्वास और खांसी में छाती को इससे सेंकने से लाभ होता है।

(६) इसके पत्तों का रस कृमियों को मारने के लिये काम में आता है एवं पत्तों को पीसकर कीड़ों के काटे हुए स्थानों पर लगाया जाता है। पत्तों के अन्य गुण शाकवर्ग में देखें।

मात्रा—चूर्ण–३ से ६ माशा, अर्क–१ से २ औंस, सत्–½ से १ र०।

अथ अजमोदाया नामानि गुणांश्चाह

अजमोदा खराश्वा च मायूरो[1] दीप्यकस्तथा। तथा ब्रह्मकुशा प्रोक्ता कारवीलो[2] चमस्तका।
अजमोदा कटुस्तीक्ष्णा दीपनी कफवातनुत्। उष्णा विदाहिनी हृद्या वृष्या बलकरी लघुः।
नेत्रामय[3]कृमिच्छर्दिहिक्काबस्तिरुजो हरेत् ॥ ७९ ॥

'अजमोदा' (बड़ीअजवाइन) के नाम तथा गुण—अजमोदा, खराश्वा, मायूरो, दीप्यक, ब्रह्मकुशा, कारवी और लोचमस्तका ये सब नाम 'अजमोदा' के हैं। **अजमोदा**—कटुरसयुक्त, तीक्ष्णवीर्य, अग्निदीपक, कफवातनाशक, उष्णवीर्य, विदाही, हृद्य (हृदय के लिये हितकर), वृष्य,

---

१. 'मयूर' इति पाठा०। २. 'च समस्तके'ति पाठा०। ३. 'कफे' पाठा०।

बलकारक और परिपाक में लघु होती है। और यह नेत्ररोग, कृमि, वमन, हिक्का (हिचकी) एवं बस्तिसम्बन्धी रोगों को नाश करने वाली होती है॥ ७८-७९॥

१५ अजमोदा

हि०-अजमोद, अजमोदा, अजमूदा, अजमोत। **बं०**-वनयमानी, रान्धुनी, अजसूद, चनु। **गु०**-बोडी अजमोद, अजमोद, बोडी अजमो। **ते०**-आजामोदा, वोमा, अशमदागां, वोमां, अजोदा-वोमरु। **मध्य प्र०**-रान्धुनी। **पं०**-भूतजटा। **ता०**-अशम, टागम, तागम, अशमता ओमान्। **म०**-अजमोदा वोवा, कोरंजा। **क०**-अजमोदा वोमा। **फा०**-करप्स। **अ०**-वज्रुल् करप्स। **अं०**-Celery fruit (सेलेरी फ्रूट); Apii fructus (अप्पाई फ्रक्टस्)। **ले०**-*Apium graveolens, Linn.* (एपिअम् ग्रॅविओलेन्स् लिन)। Fam. Umbelliferae (अंबेलिफेरी)।

युरोप, अमेरिका तथा भारतवर्ष में इसकी खेती की जाती है। पञ्जाब तथा उत्तर प्रदेश में इसकी विशेष खेती होती है। यह उत्तर पश्चिमी हिमालय तथा पञ्जाब के पहाड़ी प्रान्तों में भी उत्पन्न होता है।

इसका **क्षुप** २ से ३ फीट तक ऊँचा होता है। **पत्ते**—अनेक भागों में विभक्त, प्रत्येक भाग गहरे कटे किनारे वाले होते हैं। **फूल**-सफेद और छोटे छत्ते से होते हैं। **फल**-पीताभ, भूरा, गोलाभ अंडाकार, १ से १.५ मि. मि. लंबा, १.५ मि. मि. चौड़ा, ०.५ मि. मि. मोटा एवं प्रत्येक अर्धखण्ड पर ५ गहरी धारियों से युक्त होता है।

रासायनिक संगठन—इसके फलों में एक हलके पीले रङ्ग का उड़नशील तैल १.५-३% पाया जाता है जिसमें एक विशेष प्रकार की इसकी गन्ध होती है। इसके अतिरिक्त इसमें गन्धक, अॅपोइल Apoil) नामक एक विषैला पदार्थ, एक ग्लूकोसाइड अॅपीइन (Glucoside-Apiin), अल्ब्यूमिन्, गोंद और क्षार आदि पदार्थ रहते हैं।

गुण और प्रयोग—यह सुगन्धि, पाचक, वातानुलोमक, उत्तेजक, वातशामक, बल्य, मूत्रल, गर्भाशय संकोचक एवं हृद्य है। घरेलू औषधि के रूप में इसका उपयोग आमवात, उदरशूल, आध्मान, वमन, हिक्का, कुपचन आदि रोगों में किया जाता है। इसको वातरक्त, कृमि, मूत्राशय के रोग और नष्टार्तव में काम में लाते हैं।

इसके उद्वेष्टन निरोधी गुण के कारण श्वसनिका शोथ, श्वास एवं उदरशूल आदि विकारों में इसका व्यवहार किया जाता है। इसका पथरी के रोग में भी व्यवहार होता है। यकृत् और प्लीहा के रोगों में भी यह कुछ लाभदायी है। मसाले के रूप में भी इसका व्यवहार किया जाता है।

(१) इसका तैल उद्वेष्टन निरोधी, वातनाडियों के लिये बल्य एवं आमवाताभ संधिशोथ में लाभदायी है।

(२) इसका मूल रसायन एवं मूत्रल माना गया है और इसका उपयोग सर्वांग शोफ और शूल में किया जाता है।

(३) इसके मूल से बनी कॉफी मस्तिष्क एवं वातनाडियों के लिये बलदायक मानी गई है।

(४) यह अपस्मार एवं गर्भिणी के लिये हानिकारक माना गया है।

मात्रा—फल चूर्ण-१ से ४ माशा।

१६ अजवायन जंगली (१)

यह दो प्रकार की होती है जिनका अलग-अलग वर्णन नीचे संक्षेप में दिया गया है।

सं०—वन्ययमानी ? । **म०**—किरमिंजी अजवां । **बं०**—बनजोवान । **ले०**—Seseli indicum W. & A. (सिसिलीं इण्डिकम्) । Fam. Umbelliferae (अम्बेलीफेरी) ।

यह हिमालय के निचले भागों में देहरादून से लेकर गोरखपुर, बुंदेलखण्ड, आसाम, मध्य बंगाल तथा कारोमण्डल तक होती है।

इसके **क्षुप**-वर्षायु, ४ से १२ इञ्च तक ऊँचे, अनेक शाखा प्रशाखाओं से युक्त सघन देखने में आते हैं। **पत्ते**-विभक्त, कटे किनारे वाले और रोमश होते हैं। **फूल**—छत्ते से सफेदी युक्त गुलाबी रंग के, **फल**—बारीक छोटे-छोटे गोल, किञ्चित् लम्बे फीके पीले रंग के होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके फल प्रायः पशुओं के लिये औषधि के काम में अधिक आते हैं। यह उत्तेजकदीपन, पाचन, शूलघ्न, आंतों के लिये हितकारी तथा विशेषरूप से गोल कृमि का नाशक है।

इसके सेवन से पेट के आफरे में लाभ होता है और भूख बढ़ती है।

मात्रा—१ से ३ माशा।

१७ अजवायन जंगली (२)

हि०-वन अजवायन । **पं०**-माशो, रांगस्बुर, मरिज़ह । **फा०**-हाशा । **अं०**-Wild Thyme (वाइल्ड थाइम्) । **ले०**-*Thymus serpyllum Linn.* (थाइमस् सर्पाइलम्) । Fam. Labiatae (लेबिएटी) ।

यह हिमालय के गरम प्रांतों में काश्मीर से कुमाऊँ तक एवं ईरान में होती है।

यह क्षुप जाति की वनौषधि अनेक शाखा प्रशाखाओं से युक्त, सघन, कुछ रोमयुक्त, ६ से १२ इञ्च तक ऊँची और सुगन्धित होती है। **पत्ते**-अवृन्त, इञ्च के अष्टमांश से चतुर्थांश के घेरे में किञ्चित् आयताकार अण्डाकार होते हैं और उन पर तैलीय धब्बे होते हैं। **फूल**—बारीक बैंगनी रंग के गुच्छों में आते हैं। **फल**—बारीक और चिकने होते हैं।

इस औषधि का पञ्चांग व्यवहार में आता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उड़नशील सुगन्धित तैल ०·६%, टैनिन तथा गोंद पाया जाता है। इसमें थायमॉल (अजवायन का सत) बहुत ही थोड़ी मात्रा में होता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, सड़न को दूर करने वाली, मूत्रजनन, उत्तेजक, आंखों के लिये हितकर, श्वास एवं कफहर, ग्राही, कृमिघ्न, व्रणशोधक और व्रणरोपक है। सड़न को दूर करने का इसका गुण बहुत स्पष्ट है।

(१) इसका स्वरस, सिरका और मधु पुरानी खांसी, श्वास, कुक्कुर खांसी और घटसर्प तथा आंत्रिक व्रणों में दिया जाता है।

(२) अजीर्ण और अग्निमांद्य में सैन्धव के साथ इसको दिया जाता है। यह ग्राही है तथा इससे उदरशूल दूर होता है।

(३) बस्ति पीडा, बस्ति शोथ, तथा लसिकामेह (Chyluria) एवं मूत्र स्वच्छ न होने पर इसका क्वाथ मधु और सिरके के साथ दिया जाता है।

(४) चर्मरोग जैसे दाद, खुजली आदि में यह बहुत लाभदायी है।

(५) अग्निदग्ध व्रण पर इसका स्वरस घी के साथ लगाते हैं।

(६) सन्धिशोथ आदि में इसको रेंडी के तेल के साथ पीसकर लगाते हैं तथा इसका क्वाथ पीने को देते हैं।

(७) इसकी चटनी दृष्टि के लिये उपयोगी है।

(८) इसका धूपनार्थ प्रयोग करने से हवा शुद्ध होती है।

मात्रा—चूर्ण-$\frac{1}{2}$ से $\frac{3}{4}$ तोला। तेल-१ से ३ बूंद।

अथ पारसीकयवानीगुणानाह

पारसीकयवानी तु यवानीसदृशी गुणः। विशेषात्पाचनी रुच्या ग्राहिणी मादिनी गुरुः ॥८०॥

खुरासानी अजवाइन के गुण--पारसीकयवानी अर्थात् खुरासानी अजवाइन का भी गुण अजवाइन के समान ही जानना चाहिये। किन्तु विशेषता यह है कि यह पाचक, रुचिकारक, ग्राही, मादक तथा परिपाक में गुरु होती है ॥ ८० ॥

१८ पारसीक यवानी

हि०-खुरासानो अजवायन, खुरासानी अजवाइन, खुरसाना। **बं०**-खुरासानी अजोवान। **म०**-खुरासानी ओंवा, खुरासाण ओंवा। **गु०**-खुरासाणी अजमो, छुहारी अजमोद। **ते०**-कुरासानी वाम। **ता०**-कुरासानी योमाम। **पं०**-खुरासानी अजवाइन, बजरुल। **मा०**-खुरासानी अजवाण। **क०**-खुरासानी वोभं। **फा०**-तुख्म बज्र, बङ्गदिवाना, बञ्ज, तुख्मविनग, तुख्मेवंग। **अ०**-बज़रुल बञ्ज, अबींद शिकरान, बजुलबञ्ज, बज़रुल विनग। **यू०**-अजवायनी खुरसानी। **अं०**-Henbane (हेनबेन)। **ले०**-*Hyoscyamus niger, Linn.* (हायोसायामस् नाइगर लिन)। Fam. Solanaceae (सोलेनेसी)।

खुरासानी अजवायन केवल खुरासान देश में ही नहीं बल्कि इसके छोटे छोटे क्षुप योरप और मध्य एशिया के कई प्रान्तों के जङ्गलों तथा कूडों के ढेर पर उगे हुए रहते हैं। हमारे देश में पश्चिम हिमालय के गरम प्रान्तों में काश्मीर से गढ़वाल तक पाये जाते हैं और सहारनपुर, पूना, आगरा और अजमेर के आस पास के कितने ही स्थानों में इसकी खेती की जाती है।

इसकी अन्य जातियां H. reticulatus (हा. रेटिक्यूलॅटस), तथा H. muticus (हा. म्यूटिकस-कोहीभंग) होती हैं। H. muticus (हा. म्यूटिकस) अधिक विषैली होती है तथा यह पश्चिमी पंजाब और सिन्ध के जङ्गली प्रदेशों तथा नदियों के किनारों पर उत्पन्न होती है एवं हा. रेटिक्युलेटस् बलुचिस्तान में होती है। इसका **पौधा**-सीधा, रोमश, चिपचिपा, उग्रगंधयुक्त एवं १-३ फीट ऊँचा होता है। **पत्ते**-धतूरे के समान, कुछ कटे किनारेवाले, दन्तुर, नीचे के सवृन्त आयताकार, अंडाकार किन्तु ऊपर के अवृन्त अंडाकार होते हैं। **पुष्प**-पीले रंग के, पांच पंखडीवाले और आकार में तमाखू के फूलों के समान होते हैं तथा उन पर जामुनी रेखायें होती हैं। **फल**-अंडाकार, $\frac{1}{2}$ इंच व्यास के एवं दो खण्डों में विभक्त होते हैं। **बीज**-भूरे, धूसर, चिपटे, वृक्काकार, या घोंघा की तरह, १·५-१·७५ × १-१·२ × ०·५-०·७ मि. मि. बड़े, धारीदार, गंधहीन एवं अल्पतिक्त होते हैं।

हा. म्यूटिकस् के बीज-पीताभ, चिपटे, गोलाई लिये हुवे चौकोर, करीब उतने ही बड़े किन्तु सूक्ष्म गढ़ेदार, अल्प उग्रगंध युक्त किन्तु स्वादहीन होते हैं। बजार में दोनों मिले हुवे मिलते हैं जिसमें अन्य पदार्थ भी मिले हुवे पाये जाते हैं।

आयुर्वेद में बीजों का तथा आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में पत्र तथा पुष्पित अग्रभाग के विभिन्न कल्पों का उपयोग किया जाता है।

यूनानी चिकित्सकों के मत से खुरासानी अजवायन सफेद, काली और लाल तीन जाति की होती है। इनमें से काली विष के समान हानिकर और घातक मानी जाती है।

रासायनिक संगठन—इसकी पत्तियों में हायोसाएमिन (Hyoscyamine) नामक क्षाराभ तथा अल्प मात्रा में हायोसीन (Hyoscine , या स्कोपोलामाइन (Scopolamine), ॲट्रोपिन (Atropine), हायोसिप्रिन (Hyosciprin), कोलिन (Cholin). तैल, गोंद, ॲल्ब्यूमिन तथा पोटॅशियम नाइट्रेट २% आदि पदार्थ रहते हैं। इसकी विभिन्न जातियों में क्षाराभों की मात्रा भिन्न-भिन्न रहती है। सहारनपुर तथा काश्मीर में लगाये पौधों में इनकी मात्रा प्राकृत पौधों की अपेक्षा अधिक (·०३%) होती है, तथा ब्रिटिशफार्माकोपिया के प्रतिमान (·०५५%) के करीब होती है। इसके बीजों में हायोसाएमिन (Hyoscyamine), २५% तैल, तथा राख ४–५% होती है।

गुण और प्रयोग—यह अवसादक, वेदनाहर, स्वापजनक, उद्वेष्टन निरोधी, शामक, बल्य कनीनिका विकासि, दीपन, पाचन तथा कृमिघ्न है। यह बहुत अच्छा वेदनाहर एवं निद्राकर है। इससे अफीम के समान कब्जियत नहीं होती। इसकी क्रिया बेलाडोना की तरह होती है, लेकिन इससे मस्तिष्क कम उत्तेजित होता है और सुषुम्ना एवं आन्त्र पर इसकी अवसादक क्रिया होती है। इससे अनैच्छिक मांस पेशियों के उद्वेष्टन के कारण होने वाले शूल—जैसे नाग (Lead) शूल तथा मूत्रमार्ग प्रक्षोभ से उत्पन्न शूल—दूर होते हैं।

इसका उपयोग उन्माद, अपस्मार, अपतंत्रक, निद्राभंग, आक्षेप, नाडीशूल तथा अनेक मस्तिष्क के विकार एवं मानसिक अस्वस्थता में किया जाता है। सूखी खांसी एवं दमा में श्वसनिकाओं का संकोच दूर होकर लाभ होता है। यह विरेचक औषधियों से उत्पन्न मरोड को दूर करती है। पथरी एवं वस्तिशोथ आदि से उत्पन्न प्रक्षोभ में यवक्षार, पाठा तथा गुरुच के साथ यह बहुत गुणकारी है। अल्प मात्रा में देने से यह हृदय के लिये शामक है, और बल्य होने से हृदय की धड़कन में इससे लाभ होता है। पीडितार्तव, अनियमितार्तव में भी इसका अच्छा उपयोग होता है। मद्य के साथ इसके बीजों को पीसकर स्तनशोथ, अंडशोथ, यकृत पीडा एवं संधिशोथ में लगाने से शोथ एवं वेदना कम होती है। दांत के गड्ढे में इसके बीजों को पीस कर रखने से दंतशूल दूर होता है। इसको अंगारों पर जलाकर उसके धूएं को मुख में जाने देने से भी दंतशूल में लाभ होता है।

अधिक मात्रा में यह मादक विष है जिससे प्रलाप, संन्यास आदि होकर शीघ्र मृत्यु होती है। वृद्ध एवं दुर्बल इसकी अधिक मात्रा सहन नहीं कर सकते, लेकिन बच्चे अधिक मात्रा सहन कर सकते हैं।

मात्रा—पत्र चूर्ण १½–३ र., बीज चूर्ण १½–३ र., तरल एक्स्ट्रॅक्ट ३–६ बूंद, शुष्क एक्स्ट्रॅक्ट ⅛–½ र., टिंक्चर ३०–६० बूंद।

अथ शुक्लजीरककृष्णजीरककालिकानां नामानि गुणाँश्चाह

जीरको जरणोऽजाजी कणा स्याद्दीर्घजीरकः ॥ ८१ ॥
कृष्णजीरः सुगन्धश्च तथैवोद्गारशोधनः। कालाजाजी तु सुषवी कालिका चोपकालिका ॥८२॥
पृथ्वीका कारवी पृथ्वी पृथुकृष्णोपकुञ्चिका। उपकुञ्ची च कुञ्ची च बृहज्जीरक इत्यपि ॥८३॥
जीरकत्रितयं रूक्षं कटूष्णं दीपनं लघु। संग्राही पित्तलं मेध्यं गर्भाशयविशुद्धिकृत् ॥८४॥
ज्वरघ्नं पाचनं वृष्यं बल्यं रुच्यं कफापहम्। चक्षुष्यं पवनाध्मानगुल्मच्छर्द्यतिसार हृत् ॥८५॥

सफेद जीरा, स्याह जीरा तथा कलौंजी (मंगरैला) के नाम तथा गुण—उसमें से जीरक, जरण, अजाजी, कणा और दीर्घजीरक ये सब 'सफेद जीरा' के नाम हैं। कृष्णजीर, सुगन्ध और उद्गारशोधन ये नाम 'स्याहजीरा' के हैं और कालाजाजी (कोई २ काला तथा अजाजी ऐसा पृथक् दो नाम मानते हैं), सुषवी, कालिका, उपकालिका, पृथ्वीका, कारवी, पृथ्वी, पृथु, कृष्णा, उपकुञ्चिका, उपकुञ्ची, कुञ्ची और बृहज्जीरक ये सब नाम कलौंजी (मंगरैला) के हैं। **तीनों प्रकार के जीरे**—रूक्ष, कटुरसयुक्त, उष्णवीर्य, अग्निदीपक, परिपाक में लघु, संग्राही, पित्तकारक, मेधा के लिये हितकारी, गर्भाशय को शुद्ध करने वाले, ज्वरनाशक, पाचक, वृष्य (वीर्यवर्धक), बलकारक, रुचिजनक, कफनाशक, नेत्रों के लिये हितकारी और वायु, आध्मान, गुल्म, वमन और अतिसार को भी दूर करने वाले होते हैं॥ ८१-८५॥

१९ शुक्लजीरक (जीरा)

हि०–जीरा, सादाजीरा, साधारण जीरा, सफेद जीरा। **बं०**–सादाजीरे, शाहाजीरे, जीरे। **म०**–जीरें, पांढ़रे जीरे। **गु०**–जीरुं, शाकनु जीरुं, सादु जीरुं, धोलु जीरुं। **क०**–जीरिगे, बिलिय जिरिगे विलिय जीरगे। **ते०**–जिलकारा, जील करर, जील कर्र। **ता०**–शीरागम। **यू०**–रवामुने। **फा०**–जीरये सफेद। **अ०**–कमून अबियज़। **अं०**–Cumin seed (क्युमिन सीड)। **ले०**–*Cuminum cyminum Linn.* (क्युमिनम् साइमिनम्, लिन.)। Fam. Umbelliferae (अंबेलिफेरी)।

जीरा—एक सर्वप्रसिद्ध मसाले की वस्तु है। आसाम और बंगाल के सिवा प्रायः सब प्रान्तों में विशेषकर राजपूताना और उत्तर भारत के कई प्रान्तों में इसकी खेती की जाती है।

यह खेतों में प्रति वर्ष बोया जाता है। इस क्षुप जाति की वनस्पति की **शाखायें** पतली होती हैं। **पत्ते**–सौंफ के पत्तों के समान पतले-पतले, लम्बे तथा २-३ एक साथ रहते हैं। बारीक सफेद **फूलों** के छत्ते लगते हैं। **फल**—सौंफ के समान होता है॥ १८॥

रासायनिक संगठन—इसमें एक सुगन्धि, उडनशील तथा हलके पीले रङ्ग का तैल २·५-४% पाया जाता है। इस तैल में क्यूमिक ॲल्डिहाइड् (Cumic aldehyde) की मात्रा ५२% तक होती है जिसके अन्दर कई रासायनिक पदार्थ होते हैं। इस तैल को कृत्रिम रूप से थाइमॉल् (Thymol = अजवाइन का सत) में परिवर्तित किया जा सकता है जो अच्छा प्रतिदूषक (Antiseptic) और कृमिघ्न पदार्थ है। इसके अतिरिक्त इसमें स्थिर तैल १०% एवं पेन्टोसान (Pentosan) ६·७% होता है।

गुण और प्रयोग—यह पाचक, वातानुलोमक, मूत्रविरजनीय, वेदनाहर, उत्तेजक एवं संग्राही है। इसका उपयोग वमन, अतिसार, कुपचन, आध्मान, ज्वर तथा मूत्रजननेन्द्रिय संस्थान के रोग जैसे सुजाक, पथरी एवं मूत्रावरोध में किया जाता है। बालकों के पाचन के विकारों में यह अधिक उपयोगी है।

(१) ज्वर में पाचन सुधरकर भूख बढ़ती है, पेशाब साफ होती है और दाह शांति होती है इसमें गुड के साथ इसका प्रयोग करना चाहिये।

(२) अतिसार में दही के साथ इसको दिया जाता है। जीरकाद्यमोदक का उपयोग जीर्ण अतिसार, अपचन एवं अग्निमांद्यादि रोगों में किया जाता है। गर्भिणी में पित्तजन्य वांति में नींबू के रस के साथ देने से लाभ होता है।

(३) सुजाक आदि में निम्न चूर्ण १० रत्ती की मात्रा में देने से लाभ होता है—जीरा ४, खूनखराबा २, कलमीशोरा ५, धनियां ५ तथा गुलाब २ भाग।

(४) प्रसूता को देने से दुग्ध वृद्धि होती है।

(५) हिचकी में घृत के साथ इसका धूम्रपान बहुत उपयोगी है।

(६) इसको स्वरभंग एवं सर्पविष में भी उपयोगी बतलाया गया है।

(७) इसका बाह्यलेप पीडाहर है एवं यह अर्श, स्तन, अण्डकोष तथा उदर की पीड़ा पर लगाया जाता है और घृत, मधु एवं नमक के साथ बिच्छू के काटने पर लगाने से लाभ होता है। इसके क्वाथ से स्नान करने से खुजली दूर होती है तथा इससे सिद्ध तैल का चर्मरोगों में उपयोग होता है।

मात्रा—½-२ माशा

२० कृष्ण जीरक

हि०–काला जीरा, स्या जीरा, स्याह जीरा, कृष्णजीरा। **बं०**–काल जीरें, कृष्णजीरा। **म०**–शहाजीरें, शाहाजीरं, काळेजीरे। **गु०**–स्याजीरुं। **क०**–करिजीरके, करिजिरिगे। **ते०**–शिमइसपू। **ता०**–शिमइ शोम्बु। **मा०**–श्याजीरो। **चनाब०**–गूंयूं। **फा०**–सियाहजीरा, स्याहजीरा, जीरेस्याह, जीरयेस्याह। **अ०**–कमूने किरमानी, कमून अस्वद। **अं०**–Black Caraway seed (ब्लैक कॅरावे सीड)। **ले०**–*Carum carvi Linn.* (कॅरम् कॅरुइ)। Fam. Umbelliferae (अम्बेलिफेरी)।

इसका **क्षुप** उत्तरी हिमालय के पहाड़ी भागों में उत्पन्न होता है। इसकी खेती भारत के मैदानी भागों में एवं काश्मीर, कुमाऊँ, गढवाल, चम्बा आदि पहाड़ी स्थानों में की जाती है। यह अफगानिस्तान एवं ईरान में भी होता है। यह १-२ फूट ऊँचा, **शाखा**–कोमल, हरित, एकांतर; **पत्र**–बहुविभक्त; **पुष्प**–श्वेत, छत्राकार; **फल**–कुछ टेढ़ापन लिये लंबे, सुगंधि, भूरापन लिये हुये काले, करीब ७ मि० मि० तक लंबे एवं २ मि० मि० चौड़े एवं दोनों सिरों पर नोकीले होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उड़नशील तैल ३·१-७% पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह दीपन, पाचन, वातानुलोमक और स्तन्यजनन है। आध्मान, उदरशूल, अतिसार, अपचन, जीर्णज्वर आदि में इसका उपयोग किया जाता है। प्रसूतिकाल में दूध बढ़ाने के लिए इसको देते हैं। यूरोप में इसको शान्तिदायक, मस्तिष्क के लिए उत्तेजक और अपतंत्रक में उपयोगी मानते हैं।

(१) इसके तैल का उपयोग अन्य औषधियों को सुगन्धित करने के लिए एवं उनसे उत्पन्न हृल्लास और मरोड़ को दूर करने के लिए किया जाता है।

(२) इसके अर्क का उपयोग बच्चों का पेट फूलना, शूल आदि में अनुपान के रूप में किया जाता है।

(३) अर्श में सूजन हो तो इसके क्वाथ से सेकने से लाभ होता एवं गर्भाशय की पीडा में स्त्री को इसके क्वाथ में बैठाते हैं।

मात्रा—½-२ माशा।

नोट—एक अन्य प्रकार के जीरक का वर्णन जिसे संस्कृत में **अरण्यजीरक** और लैटिन में वर्नोनिया ॲन्थेलमिन्टिका; कॉम्पोसिटी (Vernonia anthelmintica Willd; Fam. Compositae) कहते हैं, परिशिष्ट में देखें।

२१ कालाजाजी (कलौंजी)

हि०–कलोंजी, कलवंजी, कलौंजी, मँगरेला, मंगरैल, मंगरैला। **बं०**–मोटा कालेजीरे, मोटकालजीर। **म०**–कलौंजी जीरें, कालेजीरे। **गु०**–कलौंजी जीरुं। **क०**–करि जीरिगे। **ते०**–नल्लजील कारा।

फा०-स्याहदाना । अ०-हब्बतुस्सोदा, शोनिज़ । अं०-Black cumin (ब्लॅक् क्युमिन्), Small fennel (स्मॉल फ़ेनेल), Nigella seed (निगेला सीड) । ले०-*Nigella sativa Linn.* (निगेला सॉटिवा, लिन.) । Fam. Ranunculaceae रेनन्क्युलेसी) ।

कलौंजी हमारे देश का सर्व प्रसिद्ध एक गरम मसाला है। यह प्रायः पूर्व के प्रान्तों में एवं विहार और पञ्जाव में अधिक बोई जाती है। दक्षिणी यूरोप तथा सीरिया में भी यह उत्पन्न होती है। इसका क्षुप छोटा, पत्ते लम्बे तथा कटे हुए, फूल-हलके नीले रंग के और फलियां ½ इञ्च लम्बी होती हैं। बीज-त्रिकोणाकार, तिल के समान पर तिल से किञ्चित् मोटे और अत्यन्त काले रङ्ग के होते हैं। इसका गूदा सफेद होता है और इसमें तीव्र गन्ध होती है।

रासायनिक संगठन—इसमें पीले रंग का उड़नशील तैल ०.५-१.४%, स्थिर तैल ३७.५%, राल, ॲल्ब्यूमिन्, शर्करा, गोंद, टॅनिन, ग्लूकोसाइड, मेलान्थिन, मेलान्थेजेनिन (१%) आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह सुगन्धित, वातानुलोमक, दीपन, पाचन, गर्भाशय शुद्धिकर, स्तन्य-वर्धक, स्वेदल एवं कृमिघ्न है। इसका उत्सर्ग त्वचा, वृक्क एवं स्तन द्वारा होता है तथा इनके स्रावों की वृद्धि होती है। अधिक मात्रा में इसके सेवन से शरीर की उष्णता बढ़ती है, नाडी की गति बढ़ती है तथा साथ ही साथ गर्भाशय संकोच होकर गर्भपात की भी संभावना रहती है।

सूतिका में इसका उपयोग चित्रकमूल के साथ करने से भूख बढ़ती है, पाचन ठीक होता है, गर्भाशय शुद्ध होता है तथा दूध भी बढ़ता है। पीडितार्तव वा नष्टार्तव में यह उपयोगी है। सूतिका ज्वर तथा विषमज्वर में इसका उपयोग किया जाता है। अग्निमांद्य, कुपचन तथा आध्मान आदि में अन्य औषधियों के साथ इसका प्रयोग लाभदायक है। हिचकी में मट्ठे के साथ देने से लाभ होता है। विरेचक औषधियों के साथ इसके उपयोग से मरोड़ नहीं होने पाती। यह मसाले के रूप में भी व्यवहार में आता है। इसका लेप हाथ और पैरों की सूजन पर करने से दर्द दूर होकर सूजन कम होती है। त्वक् रोगों में इससे सिद्ध तैल का व्यवहार करते हैं तथा इसका आंतरिक प्रयोग भी करते हैं।

मात्रा ½-१ माशा। **हानिकर**—गर्भिणी के लिये।

अथ धान्यकस्य नामानि गुणाँश्चाह

धान्यकं धानकं धान्यं धाना धानेयकं तथा। कुनटी धेनुका छत्रा कुस्तुम्बुरु वितुन्नकम् ॥८६॥
धान्यकं तुवरं स्निग्धमवृष्यं मूत्रलं लघु। तिक्तं कटूष्णवीर्यञ्च दीपनं पाचनं स्मृतम् ॥ ८७ ॥
ज्वरघ्नं रोचकं ग्राहि स्वादुपाकि त्रिदोषनुत्। तृष्णादाहवमिश्वासकासकार्श्यक्रिमिप्रणुत्॥८८॥
आर्द्रन्तु तद्गुणं स्वादु विशेषात्पित्तनाशनम्[१] ॥ ८८ ॥

धनियां के नाम तथा गुण—धान्यक, धानक, धान्य, धाना, धानेयक, कुनटी, धेनुका, छत्रा, कुस्तुम्बरु और वितुन्नक ये सब 'धनियां' के नाम हैं। **धनियां**—कषायरसयुक्त, स्निग्ध, अवृष्य, मूत्रजनक, लघु, तिक्त तथा कटुरस युक्त, उष्णवीर्य, अग्निदीपक, पाचक, ज्वरनाशक, रोचक, ग्राही, परिपाक में मधुररसयुक्त, त्रिदोष को दूर करने वाली, तृष्णा (प्यास), दाह, वमन, श्वास, कास, कृशता तथा कृमिरोग का नाश करने वाली है। कच्ची धनियां के भी गुण

---

१. 'पित्तनाशि तदि'ति पाठा०।

'धनियाँ' ही के समान हैं किन्तु विशेषता यह है कि यह मधुर रस युक्त तथा पित्त की विशेष रूप से नाशक होती है ॥ ८६- ८८ ॥

२२ धनियां

हि०—धनियां । **बं०**—धने । **म०**—धने, । कोथिंबीर, धगे । **गु०**—धाना, धाणा, कोथमीर । **क०**—कोथुंबुरी, कोथम्बरी, हविज । **ते०**—कोत्तिमिरि, धनियलु । **ता०**-कोटमल्लि, कोतमल्ली । **सिन्ध०**-धानु । **फा०**-कश्नीज । **अ०**-कज़बुरा, कजबुरह । **अं०** — Coriander fruit (कोरिअॅण्डर फ्रूट) । **लै०**—*Coriandrum sativum Linn.* (कोरिएण्ड्रम् सॅटिवम् लिन) । Fam. Umbelliferae (अंबेलिफेरी) ।

इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में एवं विदेशों में भी इसकी उपज की जाती है ।

इसका **पौधा** १-२ फुट ऊँचा, **शाखायें**-चिकनी, **पत्ते**-विपमवर्त्ती, जड़ के निकटवाले पत्ते गोलाकार, ३-४ या ५ भागों में विभक्त, प्रत्येक भाग कटे किनारे वाले और कँगूरेदार तथा शाखाओं के **पत्ते** सोआ, चनसुल आदि के पत्तों के समान होते हैं । **फूल**-छत्ते से सोया के फूल के समान सफेद या किंचित् गुलाबी रंग के आते हैं । **फल**-नन्हें नन्हें, अण्डाकार, गुच्छों में छत्राकार लगते हैं । सूखने पर वे दो टुकड़े होकर धनिये के नाम से बिकते हैं ।

रासायनिक संगठन—इसके फलों में एक उड़नशील तैल ०·५-१% तक पाया जाता है जिसमें ४५-५५% कोरिएन्ड्रॉल (Coriandrol, $C_{10}H_{18}O$) तथा कुछ अन्य पदार्थ रहते हैं । इसके अतिरिक्त इसमें स्थिर तैल १३%, वसीय पदार्थ १३%, गोंद, टॅनिन, मॅलिक् एसिड तथा राख ५% आदि पदार्थ पाये जाते हैं ।

गुण और प्रयोग—धनियां मूत्रल, दीपन, पाचन, वातानुलोमक, संग्राही, दाहशामक एवं पिपासाघ्न है ।

इसका उपयोग नेत्र रोग, ज्वरजन्यदाह, वमन, अतिसार, आमाजीर्ण, आध्मान, शूल आदि में किया जाता है । मसाले के रूप में, अनेक औषधियों को सुगन्धित करने के लिए तथा विरेचक औषधियां जैसे सनाय रेवाचीनी आदि से मरोड न हो इसलिए इसका व्यवहार किया जाता है ।

(१) ज्वर में दाह एवं प्यास की शान्ति के लिए इसका शीत कषाय मिश्री तथा मधु मिलाकर पिलाते हैं ।

(२) नेत्राभिष्यन्द में इसके क्वाथ को छानकर नेत्र बिन्दु के रूप में डालने से लाभ होता है । पहले एरण्ड तैल डालकर फिर इसका प्रयोग करना चाहिये । शीतला में आँख धोने के लिये इसके जल का व्यवहार किया जाता है जिससे उत्तरकालीन नेत्राभिष्यन्द एवं नेत्रव्रण आदि उपद्रवों का प्रतिषेध होता है ।

(३) इसके तैल का व्यवहार वातनाडी शूल एवं जोडों के दर्द में करते हैं तथा बच्चों के आध्मान जन्य शूल में १-४ बूँद मिश्री के साथ देते हैं ।

(४) कच्ची धनियां का लेप सरदर्द तथा भिलावे से उत्पन्न दाह पर किया जाता है ।

(५) पुराने घाव, सूजन तथा विषैले फोड़ों पर यवके आटे के साथ इसकी पुल्टिस उपयोगी है ।

(६) इसके क्वाथ में मिश्री मिलाकर रक्तार्श में देने से लाभ होता है ।

(७) क्षोभशामक होने के कारण धनियां के शीत कषाय का उपयोग अनुपान या सहपान के रूप में स्वप्नमेह एवं श्वेतप्रदर में किया जाता है ।

(८) जीर्ण प्रतिश्याय में धनियां का फाण्ट या बीजों का चूर्ण मिश्री के साथ प्रयुक्त होता है।

मात्रा—½ - ४ माशा।

अधिक मात्रा में सेवन से कामशक्ति का ह्रास तथा स्त्रियों में मासिक धर्म रुक जाता है। दर्पनाशक—मधु, दालचीनी और अण्डा।

अथ शतपुष्पामिश्रेययोर्नामानि गुणांश्चाह

शतपुष्पा शताह्वा च मधुरा कारवी मिसिः। अतिलम्बी सितच्छत्रा संहितच्छत्रिकाऽपि[1] च॥
छत्रा शालेयशालीनौ मिश्रेया मधुरा मिसिः। शतपुष्पा लघुस्तीक्ष्णा पित्तकृद्दीपनी कटुः॥
उष्णा ज्वरानिलश्लेष्मव्रणशूलाक्षिरोगहृत्। मिश्रेया तद्गुणा प्रोक्ता विशेषाद्योनिशूलनुत्॥
अग्निमान्द्यहरी हृद्या बद्धविट्कृमिशुक्रहृत्। रूक्षोष्णा पाचनी कासवमिश्लेष्मानिलाह्वरेत्॥

सोया और सौंफ के नाम तथा गुण—शतपुष्पा, शताह्वा, मधुरा, कारवी, मिसि, अतिलम्बी, सितच्छत्रा तथा संहितच्छत्रिका ये नाम सोये के हैं और छत्रा, शालेय, शालीन, मिश्रेया, मधुरा और मिसि ये सब नाम सौंफ के हैं। **सोया**—परिपाक में लघु, तीक्ष्ण, पित्तकारक, अग्निदीपक, कटुरसयुक्त, उष्णवीर्य तथा ज्वर, वातश्लेष्म, व्रण, शूल और नेत्रसम्बन्धी रोगों को दूर करने वाली है और **सौंफ** के भी सोये के समान ही गुण हैं किन्तु विशेष करके यह योनिसम्बन्धी शूल को दूर करने वाली, अग्नि की मन्दता को नाश करने वाली, हृदय के लिये हितकारक, मल की विबद्धता को दूर करने वाली, कृमि तथा शुक्र का नाश करने वाली, रूक्ष, उष्णवीर्य पाचक एवं कास, वमन, कफ तथा वायु को दूर करने वाली होती है॥ ८९-९२॥

२३ सोआ

हि०-सोआ, सोया, सोवा, वनसौंफ। **बं०**-शुलफा, शुल्फा। **पं०**-सोया। **म०**-बालंत शोप, शेपु। **क०**-सब्बसिगे। **गु०**-सुवा। **ते०**-पुशतकुफिविट्टुलु, सोम्पा। **मा०**-सोवा, सुवा। **ता०**-शतकुप्पी विरइ। **अं०**-Indian dill fruit (इन्डियन डिल फ्रुट)। **ले०**-Anethum sowa Kurz (अनेथम् सोवा)। *Peucedanum graveolens Linn.* (प्यूसिडॅनम् ग्रॅवियोलेन्स लिन) Fam. Umbelliferae (अंबेलिफेरी)।

युरोपीय जाति प्यूसिडॅनम् ग्रॅवियोलेन्स (Peucedanum graveolens) से भारतीय जाति में कुछ अन्तर होने के कारण भारतीय जाति को अनेथम सोवा (Anethum sowa) कहते हैं।

इस देश के सब प्रान्तों में विशेषकर गरम और शीत गरम प्रान्तों में इसकी खेती शीत ऋतु में की जाती है।

यह क्षुप जाति की वनस्पति १-३ फुट तक ऊँची होती है। **पत्ते**-कई भागों में विभक्त, बारीक और अत्यन्त कोमल होते हैं। **फूल**-छत्राकार किञ्चित् पीले रंग के होते हैं। फल-अंडाकार, चिपटे, उन्नतोदर, किनारे पर सपक्ष एवं प्रायः दोनों अर्धखण्ड मिले हुवे तथा आधार पर पतला डण्ठल लगा रहता है। ये विदेशी बीजों से कम चौड़े तथा अधिक उन्नतोदर और इनके पृष्ठ भाग की धारियां हलके रंग की होती हैं।

---

१. 'संहिते'ति पाठा०।

रासायनिक संगठन—इसके फलों में ३-३.५% एक उड़न शील तैल पाया जाता है। इस तैल में डिल एपिओल (Dill-apiole, $C_{12}H_{14}O_4$) नामक एक तैलीय पदार्थ रहता है जो पारस्ले एपिओल (Parsley apiole, $C_{12}H_{14}O_4$) के सदृश होते हुवे भी गुणों में उससे पृथक् (Isomeric = आइसोमेरिक्) रहता है। इसके अतिरिक्त इसमें एक तरल हाइड्रोकार्बन ॲनीथेन् (Hydrocarbon-anethene, $C_{10}H_{16}$) और कारवोन (Carvone) सदृश पदार्थ रहता है। विदेशी और भारतीय तैल में थोड़ा अन्तर होता है।

गुण और प्रयोग—सोआ दीपन, पाचन, वातानुलोमक, सुगन्धि, उत्तेजक, वातहर, गर्भाशय उत्तेजक एवं दुग्धवर्धक है।

बालकों के पचन विकारों में, विशेषकर आध्मान एवं शूल में चूने के जल के साथ इसके अर्क का बहुत व्यवहार किया जाता है। प्रसूता में भी वमन, अजीर्ण, हिक्का, आध्मान, शूल तथा दुग्ध वृद्धि आदि के लिये इसके क्वाथ का प्रयोग किया जाता है। अनार्तव में भी इसका प्रयोग करते हैं। केस और म्हसकर के मतानुसार अंकुश कृमि (Hookworm) में यह उपयोगी है।

(१) अतिसार में मेथी और सोआ घी में भूंनकर देते हैं।

(२) इसके पत्तों को तेल लगा कर गरम करके फोड़े फुन्सियों पर बांधने से वे जल्दी पक जाते हैं।

(३) इसके पत्ते तथा मूल को पीसकर जोड़ों की सूजन पर बांधने से लाभ होता है।

(४) विरेचक औषधियों के साथ इसके तैल या अर्क के व्यवहार से मरोड नहीं होती।

(५) चरक की राजयक्ष्मा की चिकित्सा में पार्श्वशूलहर लेप में इसका उल्लेख है।

मात्रा—फल चूर्ण - १-४ माशा, तैल—१-३ बूंद, अर्क—½-१ औंस।

संकेन्द्रित जल (ॲका कन्सेंन्ट्रेटा = Aqua Concentrata)—५-१५ बूंद।

२४ सौंफ

हि०—सौंफ, बड़ी सौंफ, सवँफ। **बं०**—मौरी, पान मौरी। **म०**—बड़ी [illegible]। **गु०**—वरीआली, वलीयारी। **क०**—वड़ी सोपु, सब्बसिगे। **मा०**—सौंफ। **प०**—सौंफ। **ते**० सोपु, पेद्दजिलकुर्रा। **ता०**—सोहिकिरे, शोम्बु। **फा०**—राज़्यानज़, राजयाना, बादियां, बादियान, राज़ियानह। **अ०**—[illegible]यानज़, असलुल एजियानज़, राज़ियाज़। **अं०**—Fennel Fruit (फेन्नेल फ्रूट)। **ले०**—***Foeniculum vulgare Mill.*** (फिनिक्यूलम् वल्गेरि); Syn.-Anethum foeniculum (एनेथम् फिनिक्यूलम्)। Fam. Umbelliferae (अंबेलिफेरी)।

प्रायः सब प्रान्तों के खेतों में यह बोई जाती है।

इसका **क्षुप** लम्बा, **पत्ते**—कई भागों में विभक्त सोये के पत्तों के समान, **फूल**—छत्राकार किञ्चित पीले रंग के और **फल**—६ से ७ मि. मि. लम्बे, ४ मि. मि. चौड़े, आयताकार, प्रायः अखण्डित एवं डंठल युक्त होते हैं। नये बीज हरे रंग के और पुराने होने पर पीलापन युक्त हो जाते हैं। जिन फलों का तेल निकाल लिया जाता है उनमें तैल की मात्रा कम हो जाती है और उनकी गन्ध भी कम होती है तथा वे अधिक गहरे रंग के हो जाते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उड़नशील तैल १-२.९% और स्थिर तैल ८.८-१५.८% रहता है। इस उडनशील तैल में एनीथॉल् (Anethol) ६०% तथा फेनकोन् (Fenchone)

आदि कुछ अन्य पदार्थ रहते हैं। विदेशी सौंफ की अपेक्षा भारतीय सौंफ में इस तैल की मात्रा कम रहती है।

गुण और प्रयोग—यह सुगन्धि, दीपन, पाचन, वातानुलोमक, दाहप्रशमन एवं मूत्रविरजनीय है।

इसका उपयोग विशेषरूप से मसाले के रूप में एवं मादक पेयों में सुगन्धि के लिये किया जाता है। इसका अर्क बच्चों के पाचन के विकार जैसे आध्मान, शूल आदि में दिया जाता है और अन्य औषधियों के अनुपान के रूप में भी व्यवहार करते हैं। इसका व्यवहार आमातिसार, अजीर्ण, आध्मान, ज्वर, खांसी, श्वास, वृक्करोग, प्लीहा वृद्धि, अनार्तव तथा दृष्टिमांद्य आदि रोगों में किया जाता है।

(१) इसको पीसकर पीने से पेशाब की जलन दूर होकर पेशाब साफ होती है।
(२) सूखी खांसी और मुख के विकारों में इसे मुख में रखने से लाभ होता है।
(३) इसके पत्र सुगन्धि, मूत्रल और स्वेदजनक होते हैं।
(४) इसका मूल विरेचक होता है।
(५) इसके फलों को पीसकर लेप करने से गरमी के दिनों में होने वाला चक्कर तथा शिर:शूल दूर होता है।
(६) आध्मान में इसके क्वाथ से वस्ति देने से लाभ होता है।

मात्रा—४ रत्ती से २ माशा तक।

नोट—एक अन्य प्रकार की सौंफ जिसे 'बादियाण' (Pimpinella anisum Linn. पिंपेनेला एनिसम्) कहते हैं उसका वर्णन परिशिष्ट में देखें।

अथ मेथीवनमेथीनामगुणानाह

**[1]मेथिकामेथिनी मेथी दीपनी बहुपत्रिका। बोधिनी बहुबीजा च ज्योतिर्गन्धफला[2] तथा।
वल्लरी चन्द्रिका मन्था मिश्रपुष्पा च कैरवी। कुञ्चिका बहुपर्णी च पीतबीजा[3] मुनिच्छदा॥
मेथिका वातशमनी श्लेष्मघ्नी ज्वरनाशिनी। ततः स्वल्पगुणा वन्या[4] वाजिनां सा तु पूजिता॥**

मेथी तथा वनमेथी के नाम तथा गुण—मेथिका, मेथिनी, मेथी, दीपनी, बहुपत्रिका, बोधिनी, बहुबीजा, ज्योतिः, गन्धफला, वल्लरी, चन्द्रिका, मन्था, मिश्रपुष्पा, कैरवी, कुञ्चिका, बहुपर्णी, पीतबीजा और मुनिच्छदा ये सब नाम मेथी के हैं। **मेथी**-वायु को शमन करने वाली, कफ को दूर करने वाली तथा ज्वर को नष्ट करने वाली है और **वनमेथी**-मेथी की अपेक्षा कम गुण वाली होती है, किन्तु वह घोड़ों के लिये अत्यन्त उत्तम (हितकर) होती है॥ ९३-९५॥

२५ मेथी

हि०-मेथी। **पं०-बं०-म०-गु०**-मेथी। **ते०**-मेंटुलु, मेंतुलु, मेंति। **ता०**-वण्डयम्, वेंडयम, वेन्दयम। **क०**-मेंत्रे। **मल**-उलुव। **फा०**-तुख्मशमलीत। **अ०**-बजरुल हुल्बा, बजरुलहुलबह, हुलबह।

---

१. 'मिथिनी'ति पाठा०। २. 'जाती'ति पाठा०।
३. 'पित्तजिद्वायुनुद्द्विधे'ति पाठा०। ४. 'बल्येऽति पाठा०।

अं०–Fenugreek (फेनुग्रीक)। ले०–*Trigonella foenumgraecum Linn.* (ट्राइगोनेल्ला फोएनम् ग्रेश्कम्)। Papilionaceae (पॅपिलिओनेसी)।

प्रायः सब प्रान्तों में इसकी खेती की जाती है परन्तु पञ्जाब और काश्मीर में यह आपही आप जङ्गल में उत्पन्न होती है।

इसका **क्षुप** ६ इञ्च से १६–१७ इञ्च तक ऊँचा होता है। **पत्ते** संयुक्त एवं प्रत्येक सींक पर तीन तीन पत्रक रहते हैं और वे आध से एक इञ्च तक लम्बे, अण्डाकार और बारीक कंगूरेदार होते हैं। **फूल**–नन्हें नन्हें हलके पीत रङ्ग के आते हैं। **फलियाँ**–गोल २–३ इञ्च लम्बी कुछ टेढ़ी सी नोकदार रहती हैं। प्रत्येक से १०–२० पीले रङ्ग के दाने निकलते हैं। इन्हीं का चिकित्सा में अधिक उपयोग करते हैं।

रासायनिक सङ्गठन—इसके **सूखे पञ्चाङ्ग** में प्रोटीन (Protein) की मात्रा १६%रहती है जिसमें से इसके ग्लोब्यूलिन (Globulin) में हिस्टॅडीन् (Histadine) की काफ़ी मात्रा रहती है। इसके ॲल्ब्यूमिन् (Albumin) भाग में फॉस्फोरस् (Phosphorus) तथा गन्धक रहता है।

इसके **बीजों** में ट्रिगोनेल्लिन (Trigonelline, $C_7H_7O_2N$), कोलीन (Choline) आदि क्षाराभ, एक पीत रञ्जक पदार्थ, स्थिरतैल ६%, प्रोटीन २२% तथा गोंद २८% रहता है। बीजों को जलाने से इसमें ७%राख निकलती है जिसमें से $\frac{1}{4}$ फॉस्फोरिक् एसिड (Phosphoric acid) रहता है। इसके बीजों में फॉस्फेट्स् (Phosphates), लेसिथिन् (Lecithin) और न्यूक्लिओ ॲल्ब्यूमिन् (Nucleo-albumin) रहने के कारण ये कॉडलिवर ऑइल (Cod-liver oil) के समान पोषक तथा बलकारक होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके **बीज** स्निग्ध, सुगन्धि, वातानुलोमक, अग्निदीपक, आध्मानहर, बल्य, वृष्य, वातहर, गर्भाशय सङ्कोचक, दुग्ध वृद्धिकर एवं शोथघ्न होते हैं। इसके **पत्र** शीतल, दाहशामक, शोथहर एवं मृदु विरेचक होते हैं।

(१) इसके बीजों से बनाये लड्डू का व्यवहार प्रसूता में किया जाता है जिससे भूख बढ़ती है, मल शुद्धि और आर्तवशुद्धि होती है। अजीर्ण, अग्निमांद्य, आमवात, एवं कामशक्ति की कमजोरी में भी ये उपयोगी हैं।

(२) रक्तातिसार एवं मसूरिका में इसके बीज भूँनकर और फिर उसका फांट बनाकर देते हैं।

(३) शरीर की पीड़ा में इसके बीजों को $\frac{1}{2}$–१ तोला की मात्रा में खिलाने से लाभ होता है।

(४) दुग्ध वृद्धि के लिये इसकी लप्सी बनाकर प्रसूता को दी जाती है।

(५) घी में भुने हुये मेथी के बीज, बादियाग और नमक का व्यवहार अतिसार रोकने के लिये करते हैं।

(६) इसके बीजों को कॉडलिवर आइल के स्थान पर दे सकते हैं और इसका व्यवहार गण्डमाला, फक्करोग, पाण्डु, वातरक्त, मधुमेह और औपसर्गिक रोगजन्य दौर्बल्य में किया जाता है।

(७) मिस्र में ज्वर रोकने के लिये इसको अङ्कुरित करके खिलाते हैं। मधुमेह में भी इससे लाभ होता है।

(८) चर्म को मुलायम और स्वच्छ रखने के लिये इसके बीजों का उपयोग किया जाता है। बालों के झड़ने पर तथा सूजन पर इसका लेप उपयोगी है। श्वेतप्रदर में इसकी पेसरी को धारण कराया जाता है।

(९) इसके पत्तों का भी लेप सूजन एवं दाह में किया जाता है। लू लगने में इसके पत्तों को पीसकर शरीर पर मलते हैं तथा आन्तरिक व्यवहार भी करते हैं जिससे दाह की शान्ति होती है। अल्पमूल्य में बल्य एवं पोषक होने के कारण पशुओं को भी खिलायी जाती है।

मात्रा—चूर्ण ½–१ तोला।

२६ बनमेथी

हि०—बनमेथी, जङ्गली मेथी। **पं०**—सिंजी। **सिन्ध**—जिर। **अ०**—अक्लिल्-उल्-मलिका। **अं०**–Sweet-cloves (स्वीट् क्लोव्हस्)। **ले०**—*Melilotus parviflora Desf.* मेलिलोटस् पार्विफ्लोरा); Syn.—Trifolium indicum Linn. (ट्रिफोलिअम् इण्डिकम्)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

पश्चिम प्रायद्वीप, बंगाल और उत्तरप्रदेश आदि स्थानों में यह आप ही आप उत्पन्न होती है।

इसका **क्षुप**—३० से ४५ मि० मि० ऊँचा तथा वर्षायु होता है। **पत्र**—संयुक्त तथा त्रिपत्रक होते हैं। **पत्रक**—१२ से १६ × ८ से १० मि० मि०, दन्तुर, अर्धभालाकार या अर्ध अंडाकार होते हैं। पुष्प—सूक्ष्म, पीतवर्ण की मंजरियों में आते हैं। **फली**—दीर्घवृत्ताकार, दबी हुई, दोनों छोर पर पतली एवं २·५ मि० मि० लंबे एक बीज युक्त होती है।

गुण और प्रयोग—इसके बीज ग्राही होते हैं तथा उदरशूल, अतिसार और आंत्र के विकारों में लाभदायक है। इसका व्यवहार कष्टार्तव, आमवात, गण्डमाला आदि में तथा रक्त शुद्धि के लिये किया जाता है। बच्चों के अतिसार में इसकी लप्सी का व्यवहार करते हैं।

अथ चन्द्रशूरस्य नामानि गुणाँश्चाह

चन्द्रिका चर्महन्त्री च पशुमेहनकारिका। नन्दिनी कारवी भद्रा वासपुष्पा सुवासरा ॥९६॥
चन्द्रशूरं हितं हिक्कावातश्लेष्मातिसारिणाम्। असृग्वातगदद्वेषि बलपुष्टिविवर्द्धनम् ॥९७॥

चनसूर के नाम तथा गुण—चन्द्रिका, चर्महन्त्री, पशुमेहनकारिका, नन्दिनी, कारवी, भद्रा, वासपुष्पा और सुवासरा ये नाम चनसूर के हैं। **चनसूर**—हिचकी, वात-श्लेष्मा और अतिसार ग्रस्त रोगी तथा रक्तवातग्रस्त रोगियों के लिए हितकर है और बल तथा पुष्टिवर्धक भी है ॥९६-९७॥

२७ चन्द्रिका (हालों)

हि०—हालों, हालिम, चनसुर, चन्दसुर, चन्द्रशूर। **बं०**—हालिम, हालिमा, हालो, चान्दसूर, अलेवेरी। **म०**—आलीव, हलिम, अहालीव। **गु०**—अशेलीओ, अशेरिया, आशाल बीज। **यू०**—तरम राह के बीज। **फा०**—तुख्म तरह तेजक। **अ०**—बाजरुज्जरजीर। **कुमा०**—हालिम। **ता०**—अलिविरइ। **ते०**—अदित यलु। **प०**—तेजक। **सि०**—अहेरो। **क०**—अलिबीज। **अं०**—Common Cress (कॉमनक्रेस)। **ले०**—*Lepidium sativum Linn.* (लेपिडियम् सेटिवम्) Fam. Cruciferae (क्रुसिफेरी)।

यह सब प्रान्तों में बोया जाता है। इसका **क्षुप**—१ से ३ फीट ऊँचा, मसृण या कुछ रोंएदार होता है। **पत्ते**—विभक्त होते हैं। **पुष्प**—सफेद तथा छोटे होते हैं। **फल**—०·२ इञ्च, चिपटे,

---

१. 'चन्द्रिकाया' इति पाठा०। २. 'वामपुष्पे'ति पाठा०।

अण्डाकार परन्तु अग्र पर भीतर की तरफ दबे हुये रहते हैं। बीज—छोटे, लाल तथा जल में डालने पर लुआबदार होते हैं। अधिकतर इसके बीजों का उपयोग करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में एक सुगन्धि उडनशील तथा स्थिर तैल पाया जाता है। इसमें आयोडीन (Iodine), लोह, फॉस्फेटस् (Phosphates), पोटॅश (Potash), कुछ लवण, एक तिक्त सत्त्व एवं जल आदि पदार्थ रहते हैं तथा गन्धक अधिक मात्रा में रहता है। इसके ग्लुकोसाइड (Glucoside) को ग्लुकोट्रोपोइओलिन (Glucotro-poeolin) कहते हैं।

गुण और प्रयोग—चनसुर रसायन, बल्य, वाजीकर, उत्तेजक, आनुलोमिक, दुग्धवर्धक एवं शूलहर है। इसका उपयोग प्रसूतावस्था, रक्तदोष, त्वचा के रोग, नेत्र रोग, यकृत और प्लीहा की जीर्ण वृद्धि, ग्रन्थिरोग, रक्तार्श, श्वास, कास एवं अतिसार आदि में किया जाता है।

(१) इसके फांट का व्यवहार आमाशय के प्रक्षोभ से उत्पन्न हिक्का में किया जाता है। इसको बार-बार थोड़ी-थोड़ी मात्रा में पिलाना चाहिये। इसी प्रकार प्रक्षोभजन्य अतिसार एवं ग्रहणी में भी इससे लाभ होता है।

(२) गरी के साथ इसकी बर्फी या दूध में लप्सी बनाकर प्रसूता को दिया जाता है। यह रसायन, पौष्टिक तथा दुग्धवर्धक है। इससे कटिशूल एवं श्वेतप्रदर में भी लाभ होता है। दूध में उबाल कर गर्भपात कराने के लिए प्रयोग में लाते हैं। पुरुषों के लिए भी यह रसायन तथा वाजीकर है एवं इसका व्यवहार शरीर की ऊँचाई बढ़ाने के लिए करते हैं।

(३) मिश्री के साथ इसका चूर्ण कुपचन, अतिसार एवं ग्रहणी आदि में देते हैं।

(४) नींबू के रस में पीसकर इसका लेप कटिशूल, आन्तरिक शोथ, आमवात तथा सन्धिशूल आदि में करते हैं।

(५) इसके पत्र मूत्रल तथा उत्तेजक होते हैं एवं इनका सलाद प्रशीताद (Scurvy = स्कर्वी) नामक रोग में व्यवहार में लाया जाता है।

(६) इसकी जड़ का व्यवहार फिरङ्ग तथा निस्तानिंका (Tenesmus = टेनेस्मस्) में किया जाता है।

मात्रा—½-१ तो०।

अथ चतुर्बीजगुणानाह

मेथिका चन्द्रशूरश्च कालाऽजाजी यवानिका। एतच्चतुष्टयं युक्तं चतुर्बीजमिति स्मृतम् ॥९८॥
तच्चूर्णं भक्षितं नित्यं निहन्ति पवनामयम्। अजीर्णं शूलमाध्मानं पार्श्वशूलं कटिव्यथाम् ॥

'चतुर्बीज' (चारदाना) के गुण—मेथी, चनसुर, मंगरैला और अजवाइन इन चारों के बीजों के योग को 'चतुर्बीज (चारदाना) कहते हैं और इस चतुर्बीज का चूर्ण बनाकर नित्य खाने से वात सम्बन्धी रोग, अजीर्ण, शूल, अध्मान, पार्श्वशूल और कमर का दर्द दूर होता है ॥ ९८-९९ ॥

अथ हिंगुनामगुणानाह

सहस्रवेधि जतुकं बाह्लीकं हिङ्गु रामठम् ॥ १०० ॥
हिङ्गूष्णं पाचनं रुच्यं तीक्ष्णं वातबलासनुत्¹। शूलगुल्मोदरानाहकृमिघ्नं पित्तवर्द्धनम् ॥

---

१. 'हृदि'ति पा०।

हींग के नाम तथा गुण—सहस्रवेधि, जतुक, बाह्लीक, हिङ्गु और रामठ ये सब नाम हींग के हैं। हींग उष्णवीर्य, पाचक, रुचिकारक, तीक्ष्ण, वात-श्लेष्म को दूर करने वाला, शूल, गुल्म, उदर सम्बन्धी रोग, आनाह (अफरा) और कृमियों को नष्ट करनेवाला एवम् पित्त को बढ़ाने वाला होता है॥ १००-१०१॥

२८ हींग

हि०—हींग। **बं०**—हिंगु। **पं०**—हिंगे, हींग। **म०**—हिंग। **मा०**—हींग। **गु०**—हिंगड़ो, वधारणी, हिंग बधारणी। **ते०**—इङ्गुव, इंगुर, इंगुरा। **ता०**—पेरुंगियम्, पेरुंग्यन्। **क०**—हिंगु। **फा०**—अंगूजह, अंगुजा, अंग्रुजेह-इलरी। **अ०**—हिल तीत, हिलतीस। **अं०**—Asafoetida (असेफीटिडा)। **ले०**—*Ferula narthex, Boiss*. (फेरुला नार्थेक्स, बॉयस.); F. alliacea Boiss. (फे. एलिएसिआ); Ferula foetida Regel (फेरुला फीटिडा)। Fam Umbelliferae (अंवेलिफेरी)।

हींग सर्व प्रसिद्ध वस्तु एक विदेशीय वृक्ष का निर्यास है। इसकी उपर्युक्त कई जातियां विभिन्न स्थानोंपर होती हैं जिनसे कुछ कुछ भिन्न प्रकार का निर्यास प्राप्त किया जाता है। अधिकांश मिलावटी हींग बिकती है। इनमें चोखी हींग, हीरा हींग, तलाव हींग इत्यादि अच्छी समझी जाती हैं। जो हींग रूमी मस्तगी के समान वर्ण वाली, गरम घी में डालने से लावा के समान खिल जाने वाली तथा लालिमा लिये भूरे या बादामी रंग की हो वह अच्छी मानी जाती है। उत्तम हींग की डली को तोड़ने से वह भाग बादामी रंग का दिखाई पड़ता है। इसका स्वाद कड़वा और लहसुन के समान खराशदार तथा इसकी गन्ध लहसुन के समान तीव्र होती है। पानी में घोलने से सफेद रंग की दीखाई पड़ती है।

हींग के वृक्ष काबुल, हिरात, खुरासान, फारस एवं अफगानिस्तान आदि प्रदेशों में उत्पन्न होते हैं तथा इस देश के पंजाब और काश्मीर में कहीं कहीं देखने में आते हैं। विभिन्न जातियों में थोड़ा बहुत स्वरूप में अंतर होता है।

इसका **वृक्ष** झाड़ के समान छोटा, ५ से ८-९ फीट तक ऊँचा होता है। **पत्ते** अनेक भागों में विभक्त, अजमोदे के पत्तों के समान कटे किनारे वाले एवं १-२ फूट लम्बे होते हैं तथा टहनियों के अन्त में **फूलों** के गुच्छे लगते हैं। **फल**-तिहाई से तीन चौथाई इञ्च के घेरे में अण्डाकार होते हैं।

चार वर्ष का वृक्ष होने पर इसको काटते हैं और भूमि के पास वाली जड़ को तिरछे तराशने से जो रस निकल कर सूख जाता है उसको दो दिन के बाद खुरच कर संग्रह कर लेते हैं। फिर दो दिन के बाद जड़ को उसी प्रकार ऊपर से तराश कर छोड़ देते हैं और सूखने पर खुरच कर इकट्ठा कर लेते हैं। यही सूखा हुआ पदार्थ हींग है। प्रत्येक वृक्ष से २-३ छटांक से ५-६ छटांक तक हींग मिल सकती है। देशी हींग की अपेक्षा काबुली हींग अच्छी होती है।

साधारण परीक्षा—(१) जल के साथ घोटने से इसका पीताभ दुधिया घोल बनता है जो क्षार मिलाने पर हरिताभ पीत हो जाता है।

(२) थोड़ेसे हींग को गन्धक के तेजाब के साथ गरम करने पर लाल से भूरे रंग का घोल बनता है। इस घोल को अधिक जल से विरल बनाकर (Dilute), छानकर (filtering) उसको क्षारीय करने से एक गाढ़े नीले रंग की चमक उत्पन्न होती है (Purplish-blue fluorescence)।

मिलावटें—हींग में कङ्कड़, वालू, मिट्टी, मूल के टुकड़े, गोदन्ती तथा गोंद आदि मिलाये रहते हैं।

रासायनिक संगठन—यह गन्धक का सेन्द्रिय योग है। इसमें लहसुन में पाये जाने वाला एक उड़नशील तैल ६-१७% रहता है। इस तैल में टरपेन्स (Terpenes), डाइसल्फाइड्स् (Disulphides, $C_7H_{14}S_2$ and $C_{11}H_{20}S_2$) और एक नीले रंग का तरल पदार्थ ($C_{10}H_{16}O$)n रहता है। इसमें राल ४०-६५% रहती है जिसमें ॲसारेसिनोटॅनॉल (Asaresinotannol), ॲसारेसिनोल फेरूलिक् एसिड इस्टर (Asaresinol ferulic acid ester) तथा फ्री फेरूलिक् एसिड (Free ferulic acid-1.3%) रहता है। इसके अतिरिक्त इसमें गोंद की मात्रा २५% रहती है। शुद्ध हींग में ६५-७५% मद्यसार मे घुलने वाले पदार्थ रहते हैं तथा राख ३-५% रहती है। इसकी राल का ऊर्ध्व पातन (Dry distillation) करने से अंबेलिफेरोन् (Umbelliferone) प्राप्त होता है लेकिन भारतीय जाति से यह प्राप्त नहीं होता।

गुण और प्रयोग—हींग दीपन, पाचन, वातानुलोमक, उद्वेष्टन निरोधि, उत्तेजक, कफदुर्गन्धिहर, कफनिःसारक, वातनाडियों के लिये बल्य, गर्भाशयसंकोचक एवं कृमिघ्न है। इसका उत्सर्ग फुफ्फुस, त्वचा, मूत्र तथा पसीने के द्वारा होता है।

इसका उपयोग आध्मान, शूल, अपस्मार, अपतन्त्रक, वातविकार, श्वास, कास, कुकास एवं हृच्छूल आदि में किया जाता है। हींग को घृत में भूनकर व्यवहार में लाया जाता है जिससे वमन नहीं होने पाता।

(१) फुफ्फुस के रोगों ने हींग का अच्छा उपयोग होता है। जीर्ण श्वास नलिका शोथ, दमा, कुकास, बच्चों के फुफ्फुसपाक एवं शुष्क कास आदि में इसका व्यवहार किया जाता है। इसके लिये जल के साथ हींग के घोल का व्यवहार करना चाहिये।

(२) आध्मान, शूल, विबन्ध एवं आमाशय तथा आन्त्र की शिथिलता में अजवाइन अथवा एलुवा और साबुन के साथ गोली बनाकर दिया जाता है। ऐसे विकारों में हिंग्वाष्टक चूर्ण अथवा हिंगुकर्पूरवटी का बहुत व्यवहार किया जाता है।

(३) विषमज्वर में प्रतिबन्धन की दृष्टि से अन्न के साथ हींग का व्यवहार किया जाता है।

(४) अपस्मार, अपतन्त्रक एवं तज्जन्य अन्य विकारों में इसका बहुत अच्छा उपयोग होता है।

(५) प्रसव के बाद इसके उपयोग से आर्तव शुद्धि होती है। बार बार होने वाले गर्भपात को रोकने के लिये भी इसका उपयोग करते हैं। गर्भ रहते ही ६ माशे हींग की ६० गोलियां बनाकर प्रारम्भ में १ गोली दिन में दो बार देते हैं। बाद में धीरे धीरे इसकी मात्रा बढ़ाते हुये १० गोली प्रतिदिन देते हैं और फिर प्रसवतक धीरे धीरे इसकी मात्रा कम करते हैं।

(६) आध्मान, शूल एवं आक्षेप आदि में २-३ माशा हींग जल के साथ घोटकर उसकी बस्ति दी जाती है। इससे सूत्र कृमि में भी लाभ होता है।

(७) सीलोन में नारियल के दूध में हींग को उबालकर सर्पदंश के स्थान पर लगाते हैं तथा पानी में इसको घोलकर नाक में भी टपकाते हैं। बिच्छू के काटने पर भी इसको लगाने से लाभ होता है।

(८) बच्चों के पेट फूलने पर इसका लेप पेट पर लगाते हैं तथा कुकास में छाती पर लेप करने से लाभ होता है। नारू तथा दाद पर इसको लगाने से लाभ होता है।

(९) हींग तथा अफीम की गोली दांत के दर्द में दांत के गढे में रखने से लाभ होता है।

(१०) हींग, लहसुन तथा सैंधव आदि पदार्थों से सिद्ध तैल कर्णरोगों में बहुत उपयोगी है। इसको ½-१ चम्मच दूध के साथ दिन में ३, ४ बार या सुबह ४ चम्मच एक साथ ही दूध और मिश्री के साथ पिलाते हैं एवं इसको गर्म करके कान में ३, ४ बूंद डालते हैं। यह तैल बहुत अच्छा प्रतिदूषक (Antiseptic) है एवं इसका अन्तर्बाह्य प्रयोग उपयोगी है।

मात्रा—२-८ रत्ती।

अथ वचाया नामानि गुणाँश्चाह

वचोग्रगन्धा षडग्रन्था गोलोमी शतपर्विका। क्षुद्रपत्री च मङ्गल्या जटिलोग्रा च लोमशा॥
वचोग्रगन्धा कटुका तिक्तोष्णा वान्तिवह्निकृत्। विबन्धाध्मानशूलघ्नी शकृन्मूत्रविशोधिनी॥
अपस्मारकफोन्मादभूतजन्त्वनिलान्हरेत्॥ १०३॥

वच के नाम तथा गुण—वचा, उग्रगन्धा, षड्ग्रन्था, गोलोमी, शतपर्विका, क्षुद्रपत्री, मङ्गल्या, जटिला, उग्रा और लोमशा ये सब नाम वच के हैं। वच-उग्रगन्ध युक्त, तिक्त तथा कटुरस वाली, उष्णवीर्य, वमनकारक, अग्निजनक, विबन्ध, आध्मान और शूलको नष्ट करने वाली एवं मल तथा मूत्र का शोधन करने वाली होती है। एवम् मिर्गी, कफ, उन्माद, भूतबाधा, कृमि तथा वायु को भी दूर करने वाली होती है॥ १०२-१०३॥

२९ वच

हि०-वच, घोरवच, घोड़वच। **बं०**-वच। **म०**-वेखण्ड। **ते०**-वासा, वस। **गु०**-वज, घोड़ावज। **क०**-बजे। **ता०**-वशाम्बु। **मला०**-व्वयम्पु। **गोमा०**-येखण्ड। **पं०**-बरि बोज। **फा०**-सोसन जर्द, अगरि तुर्की। **अ०**—उद्‌ल बुज, अकरुन, वज, विज। **यू०**-अकुरन्। **अं०**-Sweet Flag (स्वीट फ्लॅग)। **लै०**-*Acorus calamus, Linn.* (एकोरस् कॅलॅमस् , लिन.)। *Fam.* Araceae (एरॅसी)।

एशिया खण्ड का मध्य भाग तथा पूर्वी यूरोप वच का उत्पत्ति स्थान माना जाता है। मणीपुर, नागा पहाड़, काश्मीर, सिरमूर और युक्त प्रान्त के कितने ही देशों के दलदल और सजल स्थान, में यह उत्पन्न होती है।

यह गुल्म जाति की वनौषधि ३-४ हाथ ऊँची होती है। इसकी जड़ अन्य पौधों की जड़ की तरह सीधी नहीं रहती बल्कि बहुत सी जटा के सदृश जड़ की शाखायें चारों ओर फैली हुई रहती हैं और इसकी मुटाई मध्यमा उंगली के समान होती है। प्रत्येक गांठ के चारो ओर सघन रोवें से होते हैं। इसके पत्ते लम्बे, पतले और तलवार के समान रहते हैं। मंज़रियां सघन, विदण्डिक, २-४ इञ्च लम्बी, लम्ब गोल और ६-१८ इञ्च लम्बे पत्रकोशों से ढकी रहती हैं। वच के पौधों के सर्वाङ्ग में गन्ध आती है और इसकी जड़ में यह अत्यधिक होती है। मूलस्तम्भ तथा राइज़ोम (Rhizome) को टुकड़े टुकड़े कर बाजार में बेचते हैं। ये भूरे रङ्ग के और सुगन्धित होते हैं जिनके निचले हिस्से पर मूल के निशान रहते हैं तथा ऊपर के भाग में लम्बी गढेदार धारियां होती हैं।

बाजार में वच के नाम से प्रायः कुलिंजन (Alpinia galanga) की जड़ बेची जाती है। इसी लिये जहां वचा (Acorus calamus) की आवश्यकता हो वहां घोरवच नाम से ही औषधि खरीदनी चाहिये। वच के स्थान पर आंतरिक प्रयोग में बालवच का प्रयोग भी शास्त्रोक्त नहीं है न उचित ही है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक सुगन्धि उडनशील पीले रङ्ग का तैल १.५–३.५%, एकोरिन (Acorin) नामक मधु के समान पतला तिक्त सुगन्धि ग्लुकोसाइड, एकोरेटिन (Acoretin) नामक राल सदृश पदार्थ, कॅलामेन (Calamene) नामक रवेदार क्षाराभ तथा स्टार्च, गोंद, टॅनिन् एवं कॅल्शियम् ऑक्सॅलेट (Calcium oxalate) आदि पदार्थ रहते हैं। इसके उडनशील तैल में ॲसारिल् ॲल्डिहाइड् (Asaryl-aldehyde), ॲल्फापिनिन (a-pinene) एवं कॅम्फीन् (Camphene) आदि पदार्थ रहते हैं।

गुण और प्रयोग—वच वामक, कफनिःसारक, हृल्लासकर, उद्वेष्टन निरोधि, वातानुलोमक, दीपन, पाचन, मेध्य, वृष्य, कृमिघ्न एवं सुगन्धि है। अधिक मात्रा में देने से यह वामक है।

इसका उपयोग उन्माद, अपस्मार, अपतंत्रक, श्वास, कास, कण्ठरोग, जीर्ण अतिसार, संग्रहणी, आध्मान, शूल, मन्दज्वर, विषमज्वर, कर्णमूल ग्रन्थिशोथ एवं अश्मरी आदि रोगों में किया जाता है।

(१) अपस्मार, अपतन्त्रक एवं अंगघात आदि रोगों के लिये यह बहुत अच्छी औषधि है। इसके सेवन से धारणाशक्ति (मेधा) बढ़ती है। इसके लिये वच को मधु अथवा दूध के साथ अधिक दिन तक सेवन करना चाहिये। ब्राह्मी, शंखपुष्पी तथा वच तीनों समान मात्रा में लेकर इसके चूर्ण को ब्राह्मी के रस की ३ भावनाएं देनी चाहिये। इसको अथवा सारस्वत चूर्ण को ½ से १ माशा मधु एवं घृत के साथ कुछ दिन लेने से उन्माद, स्मरण शक्ति का ह्रास एवं वाणी की जडता आदि दूर होकर बुद्धि का विकास होता है। बेहोशी दूर करने के लिये अन्य औषधियों के साथ इसका अच्छा उपयोग होता है।

(२) यह अधिक मात्रा (१ से २ माशा) में वामक है तथा खांसी और श्वास में वमन कराने के लिये इसको नमक और गरम जल से पिलाना चाहिये। इससे बिना किसी कष्ट के कफ निकल जाता है। यह इपिकाक की अपेक्षा अधिक अच्छी औषधि है। सरदी, गले की सूजन, खांसी तथा बच्चों के सूक्ष्म श्वसनिका शोथ में इसका क्वाथ बहुत उपयोगी होता है। सूखी खांसी में इसका टुकड़ा मुख में रखने से लाभ होता है।

(३) इसमें रहने वाले टॅनिन के कारण इसका उपयोग जीर्ण अतिसार एवं संग्रहणी आदि में किया जाता है। इसके सेवन से आध्मान एवं शूल दूर होता है तथा पाचन सुधर कर भूख बढ़ती है। बच्चों के लिए इसको भूनकर देना चाहिए। यह कृमि तथा पथरी में भी लाभदायक है। दंतोद्भेद के समय इसको चबाने को बच्चों को देते हैं।

(४) मलेरिया आदि विषमज्वरों में अन्य औषधियों के साथ इसके उपयोग से अधिक लाभ होता है।

(५) जयपाल के विष को दूर करने के लिए इसको भूनकर जल के साथ पिलाना चाहिये।

(६) अर्श में भांग और अजवाइन के साथ इसकी धूनी देने से दर्द दूर होता है।

(७) इसका बाह्य प्रयोग अंगघात, आमवात, संधिपीडा, आध्मान, शूल तथा खांसी और श्वास में उपयोगी है।

(८) मक्खी एवं दीमक आदि कीटों का नाश करने के लिए इसका उपयोग होता है।

मात्रा---वामक-१ से २ माशा; अन्य गुणों के लिए-२-४ र०। **अधिक मात्रा से** शिरःशूल होता है। **दर्पनाशक**—सौंफ।

अथ पारसीक (खुरासानी) वचाया नामानि गुणाँश्चाह

पारसीकवचा शुक्ला प्रोक्ता हैमवतीति सा। हैमवत्युदिता तद्वद्वातं हन्ति विशेषतः ॥१०४॥

खुरासानी वच के नाम तथा गुण—पारसीकवचा, शुक्लवचा और हैमवती ये नाम खुरासानी वच के हैं। **खुरासानी वच**—शुक्लवर्ण की (सफेद) होती है तथा गुणों में पूर्वोक्त वच के समान ही होती है किन्तु विशेष करके यह वायु को दूर करनेवाली होती है॥ १०४॥

३० पारसीक वचा (खुरासानी वच)

पारसीक वचा (हैमवती) के संबंध में विद्वानों में कुछ मतभेद हैं। कुछ लोग इसी को बालवच भी कहते हैं। कुछ परम्परा ऐसी है कि आंतरिक प्रयोग में जब 'वचा' लेनी हो तो बालवच नाम से मिलने वाला द्रव्य लिया जाय एवं बाह्य प्रयोग मे 'वचा' के नाम से घोरवच लिया जाय। यद्यपि इसके लिए कोई शास्त्रीय आधार नहीं मिलता और प्रत्यक्षतः वचा के स्थान पर बाह्याभ्यन्तर प्रयोग में घोर बच का उपयोग अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। बालवच के नाम से भी बाजार में भिन्न-भिन्न मूल की गांठें बिकती हैं जिनमें से एक का विनिश्चय श्री ठा० बलवन्तसिंह जी ने किया है। इसका वैज्ञानिक नाम Paris polyphylla (पैरिस पॉलिफाइला) है तथा इसे हिन्दी में दुधवच एवं नेपाली में इसे सतुआ कहते हैं। इसकी मोटी मोटी गांठें जैसी होती हैं। डा० देसाई के मत से मजार पोश (कश्मी०) ले०—*Iris germanica Linn.* (आइरिस् जर्मेनिका) यह बाल बच है। यह कश्मीर में कब्र पर लगाई हुई मिलती है। बाजार में एक बहुत छोटे अन्य प्रकार के मूल भी बालवच के नाम से मिलते हैं।

अथ महाभरीवचा

यस्या लोके कुलिञ्जन इति नामान्तरं तस्या गुणानाह

सुगन्धाऽप्युग्रगन्धा च विशेषात्कफकासनुत्। सुस्वरत्वकरी रुच्या हृत्कण्ठमुखशोधिनी॥

महाभरी (कुलिञ्जन) के गुण-**महाभरी वच (कुलिंजन)** सुगन्ध तथा उग्रगन्ध युक्त होती है। विशेष करके यह कफ तथा खाँसी दूर करने वाली, स्वर को उत्तम करने वाली, रुचिजनक, हृदय, कण्ठ तथा मुख को शुद्ध करने वाली होती है॥ १०५॥

३१ कुलिंजन

हि०—कुलंजन, कुलिंजन, बड़ा कुलञ्जन। **बं०**—कुरची वच, महाभरी वच, कुलञ्जन। **म०**—कुलिंजन् , कोष्ट कोलञ्जन, मोठे कोलञ्जन। **गु०**—कुलिंजन जानु, कोलिंजन। **सिन्ध०**—कुञर, कंजर, कांठी। **ता०**—पेररत्तइ। **ते०**—पेद्दादुम्पराशष्ट्रकम्। **मला०**—पेरारट्टा। **क०**—धूम रास्मी। **ब्रह्मी०**—पदगोजी। **फा०**—खिरदारु, खरदारु, खुशरवे दारु एकलान्। **अ०**—इर्के खोलिंजान, खुलंजान, खुलांजाने कस्वी, खुलंजान्-ए-कबीर। **अं०**—Greater Galangal (ग्रेटर

गॅलंगाल); Java Galangal (जावा गॅलंगाल । ले०—*Alpinia galanga Willd.* (ॲल्पिनिया गॅलंगा) । Fam. Zingiberaceae (झिंजिबेरॅसी) ।

पहले यह जावा और सुमात्रा से आया करता था किन्तु अब बंगाल के पूर्व भाग, दक्षिण भारत, मालावार और गोमान्तक के जंगलों में यह अधिकता से उत्पन्न होता है ।

इसका **क्षुप** आमा हल्दी के आकार का ६-७ फीट ऊँचा होता है । **पत्ते**—९ से १८ इंच लम्बे, १½ से ४½ इञ्च चौड़े, चिकने, आयताकार-भालाकार होते हैं । **फूल**—हरे से सफेद छोटे छोटे आते हैं । **फल**—तिहाई इञ्च गोल नारङ्गी रङ्ग के होते हैं । बहुवर्षायु क्षुप होने के कारण काण्ड के सूख जाने पर भी इसकी जड़ जीवित रहती है । **जड़**—कन्दवत् और सुगन्ध युक्त होती है । इसको टुकड़े-टुकड़े कर सुखा करके बेंचते हैं । ये टुकड़े १ इञ्च से २॥ इञ्च तक मोटे, बाहर से लाल या मोर्चा के समान बादामी रङ्ग के और अन्दर से हलके नारङ्गी बादामी रङ्ग के होते हैं ।

रासायनिक संगठन—इसमें एक सुगन्धित हलके पीले रंग का तेल १·५-४·८% पाया जाता है जिसमें यूजेनॉल (Eugenol 25%), सिनेओल-डी-पिनेन् (Cineole-d-pinene , कॅडेनेन्स (Cadenens), बॅसोरिन् (Bassorin) एवं गॅलॅगिन् (Galangin) रहते हैं । इसके अतिरिक्त इसमें ३ पीले रवेदार पदार्थ कॅंफेराइड (Kaempferide, $C_{16}H_{12}O$, H_2O), गलॅगॉल् (Galangol), मॉनोमेथिल् ईथर ऑफ गॅलॅगिन् (Mono-methyl ether of galangin) और स्टार्च २३%, राल, टैनिन, फ्लोबॅफेन (Phlobaphane), वसा और मोम आदि पदार्थ रहते हैं ।

गुण और प्रयोग—प्राणियों में सिरा द्वारा इसके टिंक्चर या क्वाथ के प्रयोग से निम्न प्रभाव दिखलाई देते हैं । रक्त का दबाव पहले कम होकर बाद में ठीक हो जाता है । यह शायद औदरिक रक्तवाहिनियों के विस्फार के कारण होता है । रक्तवहसंस्थान तथा हृदय के ऊपर इसकी अवसादक क्रिया होती है । इसकी अल्प मात्रा से श्वसन क्रिया उत्तेजित तथा अधिक मात्रा से श्वसन केन्द्र का घात होकर अवसादित होता है । इसकी अल्प मात्रा से भी श्वसनिकाओं (Bronchioles) का विस्फार होता है । यह पाइलोकारपीन द्वारा कृत्रिम रूप से उत्पन्न श्वसनिकाओं के संकोच को भी दूर करता है । रक्त के दबाव के कम होने के कारण ही प्रारंभ में मूत्र की मात्रा कम होती है जो बाद में प्रकृत हो जाती है । पृथक्कृत (Isolated) गर्भाशय इसके प्रयोग से शिथिल होता है तथा उसके संकोच नियमित होने लगते हैं । पाचन-संस्थान के ऊपर इसकी क्रिया अन्य सुगन्धि उड़नशील तैलों की तरह होती है ।

कुलंजन उत्तेजक, कफनिःसारक, दीपक, पाचक, वातानुलोमक, बल्य तथा वृष्य है ।

इसका व्यवहार सरदी, जुकाम, आमवात, खांसी, श्वास, स्वर भंग एवं मधुमेह आदि में किया जाता है ।

(१) श्वास, खांसी, कुकास एवं सरदी के लिये यह बहुत अच्छी औषध है । बच्चों एवं वृद्धों के श्वसनसंस्थान के विकारों में इसको मधु के साथ चटाने से बहुत लाभ होता है । इससे श्वासकृच्छ्र दूर होकर ज्वर भी कम होता है । दमे में इसके उद्वेष्ठननिरोधि गुण के कारण लाभ होता है । गले के प्रदाह में इसको चूसने से लाभ होता है ।

(२) इसके सुगन्धि, पाचक तथा दीपक गुणों के कारण पाचन के विकारों में यह उपयोगी है तथा अन्य औषधियों को सुगन्धित करने के लिये इसका व्यवहार किया जाता है ।

(३) मधुमेह तथा अपने आप होने वाले मूत्रत्याग (Incontinence) में इसका क्वाथ लाभदायी है ।

(४) मुख की दुर्गन्धि दूर करने के लिये तथा वाजीकरण के लिये इसको चबाते हैं ।

(५) इससे सिद्ध तैल का उपयोग मुखदूषिका तथा कर्णपिटिका आदि चर्म रोगों में किया जाता है ।

(६) दन्तशूल में इसके चूर्ण को दांतों पर रगड़ते हैं ।

(७) अधिक पसीना आता हो तो इसके चूर्ण को शरीर पर रगड़ते हैं ।

(८) इसके बीज का भी उपयुक्त गुणों के लिये व्यवहार होता है ।

मात्रा—२ से ४ र., टिं. ½–१ ड्रा. ।

नोट—इसी की एक अन्य जाति जिसे अॅल्पीनिया आॅफिसिनेरम (Alpinia officinarum Hance) और **अं.** में लेसर् गॅलेंगल् (Lesser galangal) कहते हैं, उसका भी व्यवहार कुलंजन के स्थान पर किया जाता है तथा हीनश्रेणी की सोंठ अथवा घोरबच की मिलावट भी इसमें रहती है ।

अथ अपरा सुगन्धा स्थूलग्रन्थिः

यस्या लोके महाभरी इति नाम तस्या गुणानाह

स्थूलग्रन्थिः सुगन्धा स्यात्ततो हीनगुणा स्मृता ॥ १०६ ॥

महाभरी वच के गुण—जो मोटी गांठवाली तथा सुगन्धयुक्त (महाभरी) वच होती है वह पूर्वोक्त वच की अपेक्षा हीन गुण वाली होती है ॥ १०६ ॥

३२ महाभरीबच

हि०—महाभरा वच, महाभरी वच, कुलञ्जन भेद । **बं०**—महाभरी बच, नरकचूर । **पं०**—कचूर, नरकचूर । **मला०**—कठुइंचीकुआ । **ले०**—*Zingiber zerumbet Rosc. ex Smith* (जिंजिबर् जिरम्बेट्) । Fam. Zingiberaceae (झिंजिबेरॅसी) । इस देश के कई प्रान्तों में यह उत्पन्न होती है ।

इसका **क्षुप** गन्ने के समान ३ से ५ फीट ऊँचा और आध इञ्च गोल होता है । **पत्ते**—८–१२ इञ्च लम्बे, २–३ इञ्च चौंड़े, नरसल के पत्तों के समान किञ्चित् आयताकार-भालाकार एवं नोकदार होते हैं । १२ से १८ इञ्च तक लम्बी डण्डियों पर फूल आते हैं । **फूल**—फीके पीले रङ्ग के होते हैं । **फल**—एक इञ्च लम्बा दीर्घवृत्ताकार होता है । **बीज**—छोटे छोटे आयताकार काले रङ्ग के होते हैं । **मूलस्तम्भ**—कड़ा, द्विवर्षीय, भीतर से पीत, एवं स्वाद में कुछ आर्द्रक जैसा ही किन्तु कुछ कड़वाहट लिये हुए होता है । इसका **व्यवहार** खांसी, श्वास, कृमि, कुष्ठ तथा अन्य चर्मरोगों में किया जाता है एवं इसके अन्य गुण सोंठ की ही तरह हैं ।

अथ चोपचीनीति लोके या प्रसिद्धा तस्या नाम गुणाँश्चाह

द्वीपान्तरवचा किञ्चित्तिक्तोष्णा वह्निदीप्तिकृत् । विबन्धाध्मानशूलघ्नी शकृन्मूत्रविशोधिनी ॥
वातव्याधीनपस्मारमुन्मादं तनुवेदनाम् । व्यपोहति विशेषेण फिरङ्गामयनाशिनी ॥१०८॥

चोबचीनी के नाम तथा गुण–'द्वीपान्तरवचा' यह संस्कृत नाम चोबचीनी का है। **चोबचीनी**–कुछ तिक्तरसयुक्त, उष्णवीर्य, अग्निदीपक, विबन्ध, आध्मान तथा शूल को नष्ट करने वाली, मल तथा मूत्र का शोधन करने वाली होती है एवं वातव्याधि, अपस्मार (मिर्गी), उन्माद (पागलपन) और शरीर के दर्द को दूर करती है और विशेष करके यह फिरङ्गरोग के दूर करने में उत्तम होती है ॥ १०७–१०८ ॥

३३ चोपचीनी

हि०–चोपचीनी, तोपचीनी, चोबचीनी। **ब०**–तोपचीनी, कुमारिका, शूकचिन। **म०, गु०**–चोपचीनी। **ते०**–पिरङ्गीचेक्का। **ता०**–परङ्गिचेक्कई। **मला०**–चाइना पैवू या पैरू। **ने०**–चोपचीनी। **यू०**–खसिलियर आशसिनी। **फा०**–चोबचीनी। **अ०**–कशबचीनी, खुशबुस्सीनी। **अं०**–China root (चाइनारूट)। **लै०**–*Smilax china Linn.* (स्माइलॅक्स चाइना)। Fam. Liliaceae (लिलिएसी)।

वच की अनेक जातियों में चोपचीगी भी एक मानी गई है। यह चीन देश में अधिक उत्पन्न होती है और वहीं से इस देश में आती है। इस कारण इसका नाम द्वीपान्तरवचा रखा गया है।

यह लता जाति की वनौषधि बहुत विस्तार में फैलनेवाली होती है। इस लता की **जड़ को** ही चोपचीनी कहते हैं।

चोबचीनी ८–१० अङ्गुल लम्बी, आध से एक इञ्च तक मोटी, गांठदार, बेरेशा, खुरदरी तथा दृढ़ काष्ठवत् जड़ है। इसका स्वरूप सफेदी मायल पीत, गुलाबी एवं किंचित् कालापन युक्त होता है। अधिक पुरानी होने पर चोपचीनी में प्रायः घुन लग जाते हैं, जिससे वह छिद्र युक्त दिखाई देती है। घुनी हुई तथा गांठविहीन चोपचीनी को उपयोग में नहीं लाना चाहिये।

रासायनिक सङ्गठन—इसमें वसा, शर्करा, ग्लूकोसाइड, रञ्जक पदार्थ, सॅपोनिन्, गोंद तथा स्टार्च आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—सम्राट् चार्ल्स पंचम के वातरक्त (Gout) में इस औषधि की बहुत सफलता सिद्ध होने से इसका युरोप में बहुत प्रचार हुआ था। १७ हवीं शताब्दी में सार्सापरिला के समान इसका व्यवहार किया जाता रहा।

यह स्वेदल, स्नेहन, उत्तेजक, रसायन, रक्तशोधक, बल्य, वाजीकर, फिरंगहर तथा धातुओं को गलाने वाली (Resolvent = रीसॉल्वेन्ट) है।

(१) इसको दूध में उबाल कर इसमें मस्तगी, इलायची तथा दालचीनी मिलाकर इसका व्यवहार आमवात, वातरक्त, अपस्मार, जीर्ण वातविकार, कार्श्य, धातुक्षीणता, ग्रन्थिविकार तथा फिरंग की तृतीयावस्था में किया जाता है।

(२) अनन्तमूल के साथ इसको पुराने सिरदर्द में देने से लाभ होता है तथा आमवात एवं फिरङ्ग में भी इसका व्यवहार करते हैं।

(३) डा० देसाई के मतानुसार यह श्रेष्ठ रसायन है। इसकी क्रिया त्वचा, सन्धियों के बन्धन तथा रसग्रन्थियों पर होती है। सोज़ाक से उत्पन्न सन्धिशोथ आदि विकारों में तथा फिरङ्ग की द्वितीयावस्था तथा तृतीयावस्था में इससे बहुत लाभ होता है। पोटॅशियम् आयोडाइड् की अपेक्षा यह शीघ्र लाभकर निर्दुष्ट औषध है। फिरङ्गादि से उत्पन्न ग्रन्थिवृद्धि में इसके उपयोग से प्रथम वेदना कम होकर बाद में सूजन कम होती है। चोबचीनी जितना चूर्ण रूप में काम करती है उतना फाण्ट या क्वाथरूप में नहीं करती।

मात्रा—चूर्ण-½-१ तो०, सोंठ के साथ दूध में।

इस जाति की जिन अन्य औषधियों का व्यवहार किया जाता है प्रसंगतः उनका संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है।

(क) जङ्गली उशबा

हि०–जङ्गली उशबा, चोबचीनी। **बं०**–कुमारिका। **मल०**–कुरिबिलण्डि। **म०**–घोटवेल। **गु०**–गुटी। **ता०**–मलैतामर **ले०**–*Smilax macrophylla Roxb.* (स्माइलॅक्स मॅक्रोफाइला राक्स)।

यह एक बड़ी लता होती है जो समस्त भारत में उत्पन्न होती है। **पत्ते**—लम्बे, बड़े, अखण्ड और नुकीले रहते हैं जिन पर ५, ७ मोटी सिराएं होती हैं। कांटे दूर-दूर या प्रायः अनुपस्थित होते हैं। **पुष्प**—गुच्छों में आते हैं। **फल**—चने के समान गोल, हरित एवं पकने पर रक्तवर्ण के हो जाते हैं। **मूल**—बहुत तथा सार्सापरिला के समान लाल रंग की होती है। इसकी जड़ों का व्यवहार किया जाता है। इसकी जड़ें ताजी काम में लानी चाहिये।

गुण और प्रयोग—यह स्वेदल, मूत्रल, पौष्टिक, कामोद्दीपक और रसायन है। फिरङ्ग की द्वितीयावस्था, जीर्ण आमवात तथा सन्धिशोथ में इसका बहुत व्यवहार किया जाता है। फिरङ्ग से उत्पन्न होने वाले फोड़े-फुन्सियां, सन्धिवात, अस्थिशोथ, अस्थिवात और शूल तथा ग्रन्थियों की वृद्धि में उपयोगी है। पुराने चर्मरोग तथा गण्डमाला में इससे लाभ होता है। नेपाल में ३ माशा चूर्ण सोजाक तथा अन्य श्लैष्मिककला के स्रावों के लिए दिया जाता है।

मात्रा—१-२ तो० चूर्ण का क्वाथ दिन में एक बार।

(ख) बड़ी चोबचीनी

हि०–बड़ी चोबचीनी। **बं०**–हरिनाशुक्चिन। **म०**–गोटी शूकचिन। **पहा०**–हझिन। **ले०**–*Smilax glabra Roxb.* (स्माइलॅक्स ग्लॅब्रा राक्स)।

यह लता आसाम, सिलहट, खासिया की निम्न श्रेणियां एवं तेनासेरिम आदि स्थानों में उत्पन्न होती है। इसमें कांटे नहीं होते। **पत्र**—नुकीले, पतले, अधोभाग हलके रङ्ग का; **पुष्प**—सफेद विदण्डिक; **मूल**—चोबचीनी की तरह।

गुण और प्रयोग—इसके ताजे मूल का क्वाथ त्वक् रोग तथा फिरंग आदि रतिजन्य उपसर्गों से उत्पन्न फोड़े फुन्सी आदि में दिया जाता है।

(ग) हरिया शुकचिन

पहा०–हूरिन शूकचिन। **बं०**–गुचिआ शूकचिन। **ले०**–*Smilax lanceaefolia Roxb.* (स्माइलॅक्स लॅन्सिफोलिया)।

यह भी लता सिक्किम, हिमालय, आसाम एवं बर्मा में होती है। **पत्र**—पतले तथा उन पर ३ बड़ी शिराएँ रहती हैं। इसकी जड़ चोबचीनी के समान होती है जिसका व्यवहार किया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी जड़ का रस निकाल कर आमवात में पिलाते हैं तथा इसके कल्क को वेदनास्थान पर बांधते हैं।

(घ) उशबा, सार्सापरिला

हि०–उशबामग्रबी, सार्सापरिला। **अं०**–Sarsaparilla (सार्सापरिला)। **ले०**–*Smilax ornata Hook.* (स्माइलॅक्स ओर्नेटा)।

यह स्माइलॅक्स की उपर्युक्त विदेशी जाति तथा अन्य विदेशी जातियों के सुखाये हुए मूल हैं। कभी-कभी भौमिक काण्ड (राइजोम) के टुकड़े इसके साथ मिले रहते हैं।

यह बहुत लंबे, धारीदार एवं कुछ लालिमा लिये हुए होते हैं। स्थान भेद से तथा वर्ण, धारी एवं भौमिक या वायवीय भाग की अधिकता इत्यादि के कारण इसके स्वरूप में भिन्नता रहती है। यह प्रायः गंधहीन एवं कुछ मीठापन लिये हुए कटु होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें मुख्यतया सॅपोनिन् (Saponin) पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—फिरंग, आमवात, जीर्ण चर्म विकार एवं रक्तदोष के लिए यह बहुत प्रसिद्ध औषध रही है। यह कैसे कार्य करती है यह स्पष्ट नहीं है। संभवतः शारीरिक क्षमता को बढ़ाकर या अन्य औषध के प्रचूषण में सहायता का कार्य करती है। विदेशों में इसका उपयोग अनेक बल्य पेयों में किया जाता है। भारतीय सार्सापरिला के नाम से अनन्तमूल का उपयोग किया जाता है।

मात्रा—१ से ३ माशा।

अथ हपुषाद्वयम्

तन्मध्ये प्रथमं फलं मत्स्यसदृशं विस्रगन्धं द्वितीयमश्वत्थफलसदृशं मत्स्यगन्धम् , तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

हपुषा हवुषा विस्रा पराऽश्वत्थफला मता। मत्स्यागन्धाप्लीहहन्त्री विषघ्नी ध्वांक्षनाशिनी॥
हपुषा दीपनी तिक्ता मृदूष्णा तुवरा गुरुः। पित्तोदरसमीरार्शोग्रहणीगुल्मशूलहृत्॥
पराऽप्येतद्गुणा प्रोक्ता रूपभेदो द्वयोरपि॥ ११०॥

दो प्रकार का 'हाऊबेर' होता है। उसमें पहला जो आकार में मछली के समान तथा आम गन्धवाला होता है और दूसरा जो आकार में पीपल के फल के समान तथा मछली के समान गन्धवाला होता है, उन दोनों के नाम तथा गुण—

हपुषा, हवुषा और विस्रा ये तीन नाम प्रथम हाऊबेर के हैं और दूसरे के नाम-अश्वत्थफला, मत्स्यगन्धा, प्लीहहन्त्री, विषघ्नी और ध्वाङ्क्षनाशिनी (इसके खाने से कौवे मर जाते हैं) ये हैं। **प्रथम हाऊबेर**—अग्निदीपक, तिक्त तथा कषायरसयुक्त, मृदु, उष्णवीर्य, पाक में गुरु, पित्त, उदर और वात सम्बन्धी रोग, बवासीर, ग्रहणी, गुल्म तथा शूल को दूर करता है और दूसरा हाऊबेर भी इन्हीं पूर्वोक्त गुणों से युक्त होता है अन्तर केवल आकार तथा गन्ध मात्र में ही है।

३४ हपुषा (हाऊबेर)

हि०—हाऊबेर, हाऊबैर, आरार। **ब०**—हवुषा। **म०**—होश। **मा०**—हाऊबोर। **पं०**—हाऊबेर, पेत्थरी, अवहुल। **कुमा०**—चिचिया। **काश्मी०**—वेंथा, पेथरा। **फा०**—तुख्मदुलह, ओरस। **अ०**—अरअर, अवहाल, हब्बउलअरअर। **अं०**—Juniper berry (ज्युनिपेर बेरी)। **ले०**—*Juniperus communis Linn.* (ज्युनिपेरस् कम्युनिस, लिन)। Fam. Cupressaceae (क्यूपेसॅसी)।

हाऊबेर दो प्रकार का होता है। एक का संस्कृत नाम 'हपुषा' और दूसरे का 'अश्वत्थफला' है। **हपुषा** और **अश्वत्थफला** वास्तव में दोनों फल और गन्धभेद से दो द्रव्य हैं, परन्तु दोनों के गुण समान हैं और दोनों ही के वृक्ष भी समान ही होते हैं। **हपुषा**—मछली के समान आकृति का एवं आम गन्ध युक्त और **अश्वत्थफल**—मछली के समान गन्ध और पीपर (अश्वत्थ) वृक्ष के फलों के समान फलवाला होता है।

हपुषा के वृक्ष हिमालय के पश्चिमोत्तर भाग में कुमाऊँ से पश्चिम की ओर १२,५०० से १४,००० फीट की ऊंचाई तक देखने में आते हैं।

इसका वृक्ष बड़ा नहीं होता बल्कि इसका झाड़ होता है जो सघन, फैला हुआ, तथा बारहो मास हरा भरा रहता है। **पत्ते**—रेखाकार, नोकीले, ५ से १३ मि. मी. लंबे, एक साथ तीन-तीन एवं काण्ड से समकोण बनाते हुए होते हैं। **फूल**-पीत वर्ण के गुच्छों में आते हैं। **फल**-⅓-½ इञ्च के घेरे में गोलाकार, गूदेदार और पकने पर नीलापन युक्त काले या कुछ बैंगनी रङ्ग के दिखाई पड़ते हैं। इनके ऊपर रजावरण रहता है। अग्र भाग पर शल्कपत्र के त्रिविभक्त निशान रहते हैं और आधार पर भी शल्क पत्र के दो चक्र रहते हैं। प्रत्येक फल में तीन-तीन बीज रहते हैं जिनके पृष्ठ पर तैलग्रन्थियां पाई जाती हैं। फलों से तेल निकाला जाता है।

कुछ लोग **ले०**-टॅमॅरिक्स गॅलिका (Tamarix gallica Linn.), **हि०**-झाऊ तथा फ्लूजिया ल्यूकोपाइरस (Flueggea leucopyrus Willd) का ग्रहण करते हैं जो उचित नहीं है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उड़नशील तैल ०.२५%, राल १०%, मधुशर्करा ३३%, एक तिक्त पदार्थ ज्यूनिपेरिन (Juniperin), ऑक्सेलिक एसिड तथा कुछ आर्गेनिक् अम्ल (Organic acid) आदि पदार्थ रहते हैं।

इसी की एक अन्य जाति ज्यू. मॅक्रोपोडा (J. macropoda Boiss) के फल कुछ लम्बे रहते हैं तथा उसमें तैल की मात्रा ३.२४% पाई गई है।

गुण और प्रयोग—हाऊबेर सुगन्धित, मूत्रजनक, वातानुलोमक, आध्मानहर, पाचक, उत्तेजक, वृष्य, रक्तस्कन्दक, आर्तवजनक एवं उपसर्गनाशक है।

इसका उपयोग **उदर रोग, यकृत् प्लीहा के विकार,** आमवात, संधिशोथ, श्वास, जीर्ण श्वसनिकाशोथ, मुखपाक, अर्धावभेदक, **नया तथा पुराना सोजाक, श्वेतप्रदर,** कष्टार्तव, अनार्तव, मधुमेह तथा चर्मरोग में किया जाता है।

(१) यह एक उत्तेजक मूत्रजनक है। इसकी क्रिया प्रत्यक्ष वृक्क के ऊपर होकर मूत्र की मात्रा बढ़ती है। इसका उपयोग हृदय, यकृत् अथवा जीर्ण वृक्कशोथ के कारण उत्पन्न जलोदर में अन्य औषधियों के साथ किया जाता है। तीव्र वृक्क शोथ में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। बच्चों के वृक्कजन्य जलोदर में इससे लाभ होता है।

(२) आध्मान, शूल तथा पाचन के विकारों में इसको मद्यसार के साथ देते हैं।

(३) इसका **तैल** उत्तेजक, मूत्रल तथा वातानुलोमक है एवं इसका उपयोग कटिशूल, आध्मान तथा शूल में किया जाता है। उत्सर्ग के समय प्रत्याक्षेप क्रिया द्वारा यह गर्भाशय का संकोच करता है इसलिए आर्तवस्राव वृद्धि के लिए इसका उपयोग किया जाता है। इसके बाह्य प्रयोग से चर्म में प्रक्षोभ उत्पन्न होता है। वृक्क रोग में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

(४) इसका काष्ठ स्वेदल है तथा ग्वायकम और सासाफ्रास के बदले में प्रयुक्त होता है।

(५) हाऊबेर का रस एक अच्छा उपसर्ग नाशक है। स्थूलांत्र दण्डाणु (बी० कोलाइ) जैसे जीवाणुओं का भी यह नाश करता है। इसके धूम्र का व्यवहार किया जाता है तथा यह मांस तथा मद्यो के संरक्षण के लिये भी प्रयोग में आता है। जानपदिक संक्रामक रोगों के मरक (Pestilence) को रोकने की दृष्टि से यह उपयोगी समझा जाता है। मरक के समय इसके चूर्ण का दैनिक सेवन करने से व्याधि का प्रतिषेध होता है।

(६) बच्चों के राजयक्ष्मा में इसको पकाकर देने से भूख बढ़ती है, वजन बढ़ता है और लाभ होता है।

(७) इसके चूर्ण को आमवातादि में संधियों तथा सूजन पर मलते हैं।

(८) यह 'जिन' आदि आपानक मद्यों के निर्माण के लिये युरोप में व्यवहार में आता है।

मात्रा—चूर्ण-२-६ माशा। तैल—½ से १ बूंद पाचक, ४-६ बूंद मूत्रल। स्पिरिट (२० में १) २०-६० बूंद। फांट—२-३ औंस।

अथ विडङ्गस्य नामानि गुणाँश्चाह

पुंसि क्लीबे विडङ्गः स्यात्कृमिघ्नो जन्तुनाशनः। तण्डुलश्च तथा वेल्लममोघा चित्रतण्डुलः॥
विडङ्गं कटु तीक्ष्णोष्णं रूक्षं वह्निकरं लघु। शूलाध्मानोदरश्लेष्मकृमिवातविबन्धनुत् ॥११२॥

वायविडङ्ग के नाम तथा गुण—'विडङ्ग (यह शब्द पुल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग दोनों ही में व्यवहृत होता है), कृमिघ्न, जन्तुनाशन, तण्डुल, वेल्ल, अमोघा और चित्रतण्डुल ये सब वायविडङ्ग के पर्यायवाची शब्द हैं। **वायविडङ्ग**—कटुरसयुक्त, तीक्ष्ण और उष्ण वीर्य होता है तथा रूक्ष, अग्निवर्धक एवं पाक में लघु होता है और यह शूल, आध्मान, उदर, कफ, कृमि तथा वात रोग एवं विबद्धता को दूर करता है॥ १११-११२॥

३५ वायविडङ्ग

प्रायः सभी पंसारी **धनिये के समान** गोल-गोल किञ्चित् लाली युक्त बीज को वायविडङ्ग के नाम से बेचते हैं और अधिकांश वैद्य इसी को लेकर व्यवहार में लाते है किन्तु आज कल के कतिपय विद्वान् वैद्यों की सम्मति है कि **शास्त्रीय 'विडङ्ग'** वास्तव में आज कल व्यवहार में आने वाले फल वायविडङ्ग नही हैं बल्कि **'नाड़ीहिङ्गु'** (हिं०-डिकामाली) शास्त्रीय विडङ्ग है। उनके मत से **शास्त्रीय 'विडङ्ग'** की जगह **नाड़ीहिङ्गु** को उपयोग में लेना चाहिये। कुछ विद्वान् **काम्पिल्ल के फल** को ही वायविडङ्ग मानते हैं। इस प्रकार वायविडङ्ग एक भ्रमात्मक औषधि मानी जाने लगी है। किन्तु मेरी समझ में विडङ्ग और नाड़ीहिङ्गु एक वस्तु नहीं हैं और न वायविडङ्ग काम्पिल्ल का फल ही है। प्रचलित विडङ्ग में शास्त्रोक्त कृमिघ्न अग्निदीपक आदि गुण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं, अतः सर्वमान्य निर्णय होने तक इसीका व्यवहार औषधि-कार्यों में करना चाहिए।

हि०-वायविडङ्ग, वायभिडङ्ग, बायभिरङ्ग, भाभिरंग, बाविरंग। **ब०**-विरंग। **म०**-बावडिङ्ग, **गु०**-वावडीङ्ग। **क०**-वायुविडङ्ग, वायविलंग। **ते०**-वायुविडंगमु। **ता०**-वायुविलंगम। **पं०**-बबरंग, वाबरंग। **मा०**-वायबिरंग। **सिंहली०**-उम्बेलिया, अम्बेलिया। **ने०**-हिमलचेरी। **अ०**-बरंज कावली, बिरंज काबुली। **फा०**-बरंग कावली, बिरंज कावली, बिरङ्ग काबुली। **अं०**-Babreng; Fruits of Embelia ribes (बाब्रिंग, फ्रूट आफ एम्बेलिया राइब्स)। **ले०**-*Embelia ribes Burm.* (एम्बेलिया राइब्स)। Fam. Myrsinaceae (मिर्सिनेसी)।

यह मध्य हिमालय से भारतवर्ष के पहाड़ी भागों में तथा सिलोन से सिंगापुर तक बहुत पाया जाता है।

इसकी **झाड़ी**-बहुत विस्तार में बढ़ने वाली होती है। **छाल**-वातरन्ध्रों के कारण खुरदरी होती है। **टहनियां**-लंबी, पतली, लचीली, गोल एवं लंबे पर्व युक्त होती हैं। **पत्ते**-चर्मवत्,

२ से ४ इञ्च लंबे दीर्घवृत्ताकार, या कुछ भालाकार, तीक्ष्णाग्र, ऊपर से चमकीले एवं अधोतल पर हलके या कुछ रजताभ एवं सूक्ष्म रक्ताभ ग्रन्थियों से युक्त होते हैं। **फूल**–सफेद या किञ्चित् हरियाली लिये फीके पीले रंग के गुच्छों में आते हैं। **फल**–चौथाई इञ्च तक गोलाकार, पकने पर लाल रंगके किन्तु सूखने पर झुर्रीदार काले रंग के दीख पड़ते हैं। फलों में डण्ठल के साथ पांच पट्टों का पुष्प पात्र लगा रहता है और अग्र की तरफ नोकीला रहता है। फल तोड़ने पर चितकबरे लाल रंग के पतले आवरण से युक्त एक-एक बीज निकलता है, जो स्वाद में चरपरा और गरम मसाले के समान सुगन्धित होता है। चित्रतण्डुलः यह पर्याय इसी चितकबरे वर्ण का द्योतक है।

रासायनिक संगठन—इसके फलों में एम्बेलिक् एसिड (Embelic acid) या एम्बेलिन (Embelin, $C_{18}H_{28}O_4$) नामक एक सुनहरे पीले रंग का रवेदार पदार्थ २·५% पाया जाता है। यह जल से अघुलनशील तथा मद्यसार, ईथर, क्लोरोफार्म और बेंझीन में घुलनशील होता है। क्षारीय घोल में यह घुलकर घोल लाल रंग का हो जाता है। इसके अतिरिक्त अल्प मात्रा में क्रिस्टेम्बिन (Christembine) नामक एक क्षाराभ तथा तैल, उडनशील तैल, रञ्जक द्रव्य, टॅनिन एवं राल सदृश पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह उत्तम कृमिघ्न, वातानुलोमक, वातहर, दीपन, पाचन, वातनाडी संस्थान के लिये बल्य, रक्त शोधक, आनुलोमिक तथा रसायन है। रसग्रन्थियों पर इसका विशेष प्रभाव पड़ता है। इसका उत्सर्ग मूत्रद्वारा होता है जिससे मूत्र लाल रंग का हो जाता है।

(१) स्फीतकृमि (Tape-worm) के लिये यह अत्युत्तम औषधि है। मेलफर्न (Male-fern) के समान इससे मरोड नहीं होती और अधिक लाभ होता है। बच्चों को ४ माशा तथा बड़ों को ८ माशा चूर्ण मधु या दही के साथ सुबह खिलाकर ४ घंटे पश्चात् एरण्ड तैल अथवा कोई विरेचन देना चाहिये। अथवा कोष्ठ शुद्धि के पश्चात् रातमें इसका चूर्ण मठ्ठे के साथ देकर दूसरे दिन सुबह विरेचन देना चाहिये। इससे मरे हुए कृमि निकल जाते हैं। अन्य कृमियों पर इससे लाभ नहीं होता। इसका कृमिघ्न गुण एम्बेलिक् एसिड के कारण है। इसके लवण अमोनियम् एम्बेलेट (Ammonium embelate) (१३–३ र०) का भी उपयोग मधु के साथ अच्छा होता है। इसके पूर्व तथा पश्चात् एरण्ड तैल से विरेचन कराना चाहिये।

(२) यह एक अच्छा रसायन है। सुश्रुत में एक 'सर्वोपघातशमनीय' नामक प्रयोग बतलाया है। नित्य एक महीने तक विडंग के मगज का चूर्ण तथा मुलेठी खाकर ऊपर से ठण्डा जल पीना चाहिये। पथ्य में बिना नमक मूंग का आंवले के साथ सिद्ध किया यूष तथा घी और भात औषध पचने पर लें। इसके उपयोग से सब प्रकार के अर्श अच्छे होते हैं। ग्रहण शक्ति तथा धारणा शक्ति बढ़ती है। शरीर के सभी प्रकार के कृमि नष्ट होकर शरीर स्वस्थ होता है। इसके हर साल प्रयोग से मनुष्य निरोग तथा शतायु होता है। इससे सब प्रकार के पुराने रोग जैसे अर्श, संग्रहणी, प्रमेह, कुष्ठ, क्षय, श्वास, उपदंश एवं व्रण आदि अच्छे होते हैं तथा हैजा, प्लेग आदि उपसर्गों का भय नहीं रहता।

(३) बालकों के सभी रोगों की यह अच्छी औषधि है। सुखण्डी, आध्मान, शूल, कुपचन एवं अग्निमांद्य आदि में दूध में इसको डालकर उबालते हैं और वही दूध पिलाते हैं। इससे बच्चे तन्दुरुस्त रहते हैं। यदि इसके साथ अनन्तमूल भी दिया जाय तो अधिक लाभ होता है।

(४) गण्डमाला के लिये—वायविडङ्ग, गुग्गुल, मनःशिला तथा शृङ्गभस्म, मधु और घृत के साथ देने से धीरे २ लाभ होता है।

(५) चर्म रोगों में इसका आन्तरिक एवं बाह्य प्रयोग किया जाता है। दाद में इसके लेप से लाभ होता है।

(६) मज्जातन्तु के रोग जैसे अर्धांगघात, आक्षेप एवं अपस्मार आदि में लहसुन के साथ दूध में उबाल कर देना चाहिये।

(७) पीनस, शिरःशूल तथा अर्धावभेदक में इससे सिद्ध तैल के नस्य से लाभ होता है। शिरःशूल में कपाल पर इसकी मालिश करनी चाहिये।

(८) बिच्छू के काटने तथा सर्प दंश पर इसका उपयोग लिखा गया है।

(९) इसका ताजा रस शीतल, मूत्रल तथा आनुलोमिक होता है।

मात्रा—चूर्ण ४ से १६ माशा।

३६ विडङ्ग भेद

सं०-विडङ्गभेद। **हि०**-वायविडङ्ग भेद, वायविरङ्ग। **अवध०**-बेबरङ्ग। **देहरादून**-वायविरङ्ग, गैया। **गोंड**-कोपडली। **कुरकु०**-भारङ्गेली। **मु०**-आमटी, गोंदली, वार्वटी। **ने०**-कलय बोगोटी। **अं०**-Basal (बासल)।

ले०-E. tsjeriam-cottam, A. DC. (ए० त्स्जेरियम्-कोट्टम, ए० डीसी०)।

Fam. Myrsinaceae (मिरसिनॅसी)।

यह हिमालय पहाड़ के पूर्व की ओर बङ्गाल तथा दक्षिण की ओर सिलोन तक कहीं न कहीं पाया जाता है।

इसके **वृक्ष** छोटे और बहुत झाड़दार होते हैं। पत्ते कुछ अधिक बड़े होते हैं तथा शिराएँ कुछ मुरचई रोमावरण से युक्त होती हैं। **फूल**—हरियाली लिये सफेद रङ्ग या हरापन युक्त फीके पीले रङ्ग के बहुत छोटे छोटे आते हैं। **फल**—छोटे छोटे गोल होते हैं और लंबाई में महीन धारीदार होते हैं।

गुण और प्रयोग—यह वातानुलोमक, कृमिघ्न, अर्शोघ्न, शोथप्रतीकारक और रसायन है। इसका उपयोग विडङ्ग के समान किया जाता है। बाजार में दोनों ही जाति के फल मिले हुये रहते हैं।

(१) यह भी विडङ्ग के समान स्फीतकृमि नाशक होता है।

(२) गण्डमाला में अनन्तमूल के साथ इसका क्वाथ पिलाते हैं तथा ठण्डे जल में पीसकर गाठों पर लेप करते हैं।

(३) दन्तशूल में इसका चूर्ण हींग के साथ दांत के गढे में रखने से लाभ होता है तथा इसका मञ्जन में व्यवहार करते हैं। इसके मूल की छाल का भी इसमें उपयोग होता है।

(४) इसके कोमल पत्तों का सोंठ के साथ क्वाथ बनाकर गले की सूजन, मुख के छाले एवं व्रण में कवल कराने से लाभ होता है।

(५) न्यूमोनिया तथा अन्य छाती के विकारों में चावल की मांड़ के साथ इसकी छाल को उबाल कर पिलाते हैं तथा छाल पीसकर छाती पर लेप करते हैं। इसके फलों को पीसकर मक्खन के साथ छाती पर लगाने से फुफ्फुसावरण शोथ में लाभ होता है तथा शिरःशूल में भी इसी प्रकार कपाल में इसका लेप करते हैं।

२७ नाड़ी हिङ्गु (डिकामाली)

नाडीहिङ्गु पलाशाख्या। जन्तुका रामठी च सा ।
वंशपत्री च पिण्डाह्वा सुवीर्या हिङ्गुनाडिका ॥ रा. नि.

सं०-नाडीहिङ्गु, पलाशाख्या, जन्तुका, रामठी, वंशपत्री, पिण्डाह्वा, सुवीर्या, हिङ्गुनाडिका। **हि०**-नाडीहिङ्गु, नारीहींग, कलपतीहींग, डिकामाली, डिकेमाली, कमरी। **ब०**-हिंगुविशेष। **म०**-डिकेमाली। **गु०**-डीकामारी। **काठी०**-मालण, मालडी। **क०**-डिकामल्लि। **ता०**-कुंवै। **ते०**-गेरिविकि, करिंगा, तेल्लामंगा। **अ०**-कनखाम। **अं०**-Gummy Gardenia (गम्मी गार्डेनीया); Cambi resin (कॅम्बी रेसिन)। **ले०**-*Gardenia gummifera* **Linn.** (गार्डेनिया गम्मीफेरा)। Fam. Rubiaceae (रूबिएसी)।

इसके वृक्ष अधिकतया दक्षिण भारत में पाये जाते हैं। इसका **वृक्ष**—छोटा तथा झाड़दार होता है। **पत्ते**-विनाल, ४·५-७ × २-२·५ से० मी० बड़े, दीर्घवृत्ताभ आयताकार, स्वरूप में कुछ अमरूद के पत्तों के समान तथा चिकने, चमकीले होते हैं। **फूल**-सुगंधहीन, प्रारंभ में श्वेत किन्तु बाद में पीतवर्ण के १ से ३ साथ साथ रहते हैं। **फल**-२·५-३.८ से० मी०, आयताकार या दीर्घ वृत्ताभ, चिकना, लंबाई में धारीदार एवं नोकदार होता है।

इन पौधों की कोमल शाखाओं के बीच तथा कलियों में से जाड़े के दिनों में हरियाली लिए हुए किञ्चित् पीले रंग का **गोंद** निकलता है। उसी को **'डीकामाली'** कहते हैं। इसकी छाल से गोंद नहीं निकलता। जंगली गोंड लोग ठीकरों में इकट्ठा कर सुखा करके बाजार मे बेचते हैं। इस गोंद में छोटी छोटी लकड़ियां, फूस घास आदि मिली रहती है अत एव इसे गरम जल में घोल, छान एवं सुखा करके औषधि के काम में लेना चाहिये। शुद्ध डिकामाली में बिलार के मूत्र जैसी गन्ध आती है तथा वह कुछ आर्द्र एवं चमकीला रहता है और उसके चूर्ण बनाने में कठिनाई होती है।

गुण

नाड़ीहिङ्गु कटूष्णं च कफवातार्तिशान्तिकृत्। विष्टाविबन्धदोषघ्नमानाहामयहारि च (रा० नि०)

नाडीहिंगु—कटु, गरम, कफ और वात की पीड़ा को शमन करने वाली तथा विष्ठा, विबन्ध और आनाह रोग को नष्ट करने वाली है।

नाडीहिङ्गुस्तु कटुकस्तीक्ष्णश्चोष्णश्च दीपकः ।
कफवातमलस्तम्भमनोमोहामनाशनः ॥ (निघण्टुरत्नाकरः)

नाडीहिंगु—कटु, तीक्ष्ण, गरम, अग्निप्रदीपक तथा कफ, वात, मलबन्ध, मन का मोह और आम का नाश करनेवाली है।

रासायनिक संगठन—इसमें दो प्रकार के राल के सदृश पदार्थ रहते हैं जिसमें से गार्डेनिन् (Gardenin) रवेदार सुनहले पीले रंग का तथा दूसरा डिकेमाली (Dikemali) कुछ मुलायम तथा हरे रंग का होता है।

गुण और प्रयोग—यह उद्वेष्टन निरोधि, वातानुलोमक, अग्निदीपक, विरेचक, कृमिघ्न, ज्वरहर, स्वेदजनन, श्लेष्मनिःसारक, त्वक् दोषहर एवं प्रतिदूषक है।

गुणों में बायविडङ्ग और डिकामाली बहुत समानता रखती है। किन्तु शास्त्रों में बिडङ्ग को कृमिघ्न लिखा है और डिकामाली के विषय में उसकी कृमिघ्नता के गुण का स्पष्टीकरण नहीं किया

है। आधुनिक शोध द्वारा सिद्ध हुआ है कि डिकामाली भी विशेष कृमिघ्न है। नाड़ीहिङ्गु के प्रयोग से कोष्ठान्तर्गत वर्त्तुलाकार कृमि नष्ट या निर्जीव हो जाते हैं। वायविडङ्ग—पक्वाशय के लम्बे चिपटे कृमियों का विनाशक है। डिकामाली—इन कृमियों का नाश नहीं कर सकती। इससे गोल (Round) या कुछ लम्बे नन्हें नन्हें कृमियों का नाश होता है। डिकेमाली का फाँट नियत कालिक ज्वर में देने से कम्पन कम होता है। आन्त्र की विकृतियां जैसे आध्मान, कुपचन एवं शूल आदि में इससे लाभ होता है। बच्चों को दन्तोद्भव के समय जो पाखाना एवं कय आदि विकार होते हैं उसमें इससे अच्छा लाभ होता है। आध्मान में एलुवा के साथ पेट पर इसका लेप करते हैं तथा डिकेमाली खिलाते हैं। इसके फल विरेचक तथा कृमिघ्न होते हैं। मोटापा तथा प्लीहावृद्धि में इसका गोंद व्यवहार किया जाता है। बाहरी प्रयोग से दूषित व्रण साफ किये जाते हैं। इससे कीड़े नहीं पड़ने पाते तथा पड़े हुए कीड़े निकल जाते है और मक्खियां नहीं बैठने पातीं। इससे दन्तशूल में लाभ होता है। नारू में इसे ५ र० की मात्रा में देते हैं। अतएव नाड़ीहिङ्गु शास्त्रीय 'विडङ्ग' कदापि नहीं हो सकती। मात्रा—चूर्ण ½-२ र०।

अथ तुम्बुरुफलस्य नामानि गुणाँश्चाह

तुम्बुरुः सौरभः सौरो वनजः सानुजोऽन्धकः ॥ ११३ ॥
तुम्बुरु प्रथितं तिक्तं कटूपाकेऽपि तत्कटु। रूक्षोष्णं दीपनं तीक्ष्णं रुच्यं लघु विदाहि च ॥११४॥
वातश्लेष्माक्षिकर्णौष्ठशिरोरुग्गुरुताकृमीन्। कुष्ठशूलारुचिश्वासप्लीहकृच्छ्राणि नाशयेत् ॥११५॥

'तुम्बुरु' फल के नाम तथा गुण—तुम्बुरु, सौरभ, सौर, वनज, सानुज और अन्धक ये नाम 'तुम्बुरु फल' के हैं। तुम्बुरु फल—तिक्त तथा कटुरस युक्त है और विपाक में भी कटुरस युक्त है। यह रूक्ष, उष्णवीर्य, अग्निदीपक, तीक्ष्ण, रुचिजनक, पाक में लघु और विदाही होता है। यह वातश्लेष्म, नेत्र, कर्ण, ओष्ठ तथा शिर के रोगों को एवं गुरुता (शरीर का भारीपन), कृमि, कुष्ठ, शूल, अरुचि, श्वास, प्लीहा और मूत्रकृच्छ्र इन सब रोगों को भी दूर करता है॥ ११३-११५॥

३८ तुम्बुरु

हि०—तुम्बुरु, तुम्बुल, तेजफल। बं०—तम्बुल, तुम्बुरु फल, नेपाली धने, नेपाली धनिया। म०—नेपाली धनियां। मा०—तूगरू। क०—तुम्बुरु। ते०—तुम्दुरलु। पं०—तुम्बर। गु०—तुम्बुरुफल। लिपचा०—तंग्रु कंग। ले०—*Zanthoxylum alatum Roxb.* (झॅन्थोक्साइलम् ॲलॅटम्); *Zanthoxylum acanthopodium DC.* (झॅन्थोक्साइलम् एकॅन्थोपोडियम) दूसरी जाति। Fam. Rutaceae (रूटॅसी)।

यह हिमालय की गरम तराइयों में जम्मू से भूटान तक, खासिया पहाड़, टेहरी, गढ़वाल, नाग पहाड़, विजिगापट्टम और गंजाम के पहाड़ों पर पाया जाता है।

इसका वृक्ष—झाडीदार या क्वचित् छोटे वृक्षवत् रहता है। कांटे-सीधे, १-२ से. मी. लंबे एवं अंडाकार आधार के ऊपर रहते हैं। पत्ते—संयुक्त लंबे पत्र दण्ड वाले, एवं आधार की तरफ सपंख तथा गुलाबी एवं सीधे काँटों से युक्त होते हैं। पत्रक-५ से ११, भालाकार, न्यूनाधिक दन्तुर, ऊपर से चमकीले एवं नीचे से हलके रंग के होते हैं। छोटे छोटे पीले रङ्ग के फूलों के गुच्छे लगते हैं। फल-काली मरिच के समान झुमकों में रहते हैं, किन्तु उनके मुख फटे होते हैं। फलों में सुगन्धि आती है। इन फलों के ऊपर तेलिया राल की गाँठे

होती हैं तथा इनके अन्दर कागज के समान पड़दा रहता है। फल प्रायः खाली रहते हैं किन्तु कभी कभी उनके अन्दर गोल, काले चमकीले बीज रहते हैं। उत्तर हिन्दुस्तान में इसका व्यवहार किया जाता है। दक्षिण में इसके स्थान पर **ले०**–झॅ. ऱ्हेट्सा (Z. rhetsa DC.), **हि०**–चिरफल, तिरफल, के फल का व्यवहार किया जाता है जो तुंबुरु के फल से बड़े होते हैं। उन पर तेलिया राल की गांठें तथा अन्दर कागज के समान पडदा नहीं रहता। उनका स्वाद चटपटा अकरकरहा के समान एवं गन्ध संतरे के छिलके के समान होती है।

रासायनिक सङ्गठन—इसकी छाल में एक कड़ुवा पदार्थ, उड़नशील तैल और राल रहती है। यह कड़ुवा पदार्थ दारुहरिद्रा में पाये जाने वाले बर्बेरीन (Berberine) के सदृश होता है। इसके फलों में एक उड़नशील तैल, राल, एक अम्ल पदार्थ और एक रवेदार पदार्थ झॅन्थोक्थाइलिन् (Xanthoxylin) पाया जाता है। यह तैल यूकॅलिप्टस् (Eucalyptus) तैल के सदृश गन्ध एवं गुणवाला होता है।

गुण और प्रयोग—यह सुगन्धि, उष्ण, दीपन, पाचन, वातानुलोमक, ग्राही और उत्तेजक है। इसकी क्रिया गन्धाबिरोझा तथा यूकॅलिप्टस् तेल के समान होती है। इसके छाल की क्रिया दारुहरिद्रा के समान होती है।

(१) ज्वर, कुपचन, अतिसार, हैजा एवं मंदाग्नि आदि में इसके मूलत्वक् और फल का फांट **उत्तेजक** तथा बल्य औषध के रूप में दिया जाता है।

(२) दमें में इसका गुडाखू बना कर धूम्रपान उपयोगी है।

(३) गले की सूजन में इसके ताजे पत्तों को पीस कर चावल के आटे के साथ गरम करके बांधने से लाभ होता है।

(४) यह एक अच्छा प्रतिदूषक (Antiseptic) होने के कारण व्रणों के लिये इसके फलों का आन्तरिक तथा बाह्य प्रयोग किया जाता है। इसके मूलत्वक् काथ से व्रण प्रक्षालन से लाभ होता है।

(५) इसके फलों का व्यवहार **दन्तशूल** में किया जाता है। इसकी दातुन दाँतों के लिये अच्छी समझी जाती है एवं छाल तथा फल का दन्तमञ्जनों में प्रयोग किया जाता है।

(६) इसका तैल प्रतिदूषक, कीटाणुनाशक तथा दुर्गन्धिहर है।

मात्रा—फल—२–५ र., छाल—१–२ तो. फांट बना कर।

३९ तिरफल

सं०–तुंबरु। **म०**–चिरफल, तिसल। **ते०**– इरतचै। **ता०**–राचामम्। **क०**–जिसुमी मारा। **ले०**-*Zanthoxylum rhetsa* DC (झॅन्थोक्साइलम् ऱ्हेट्सा)। Fam. Rutaceae (रुटॅसी)।

यह मध्यम ऊंचाई का कटीला वृक्ष दक्षिण में विशेषकर कोंकण में होता है। इसके **पत्ते**—सदलपर्ण एवं मोटी टहनियों के अग्र पर समूहबद्ध होकर रहते हैं। **पत्रक**—प्रायः १९–२५, तून के सदृश, आयताकार या प्रासवत् , अखण्ड या गोल दन्तुर धार वाले होते हैं। **पुष्प**-छोटे, पीले, गुच्छों के रूप में। **फल**–गुच्छों के रूप में, कच्ची अवस्था में हरे तथा बाद में काले से हो जाते हैं। अन्य वर्णन ऊपर तुम्बुरु के साथ दिया गया है। इसके फल तथा जड़ की छाल का प्रयोग किया जाता है।

रासायनिक सङ्गठन—तुम्बुरु के समान तैल, राल आदि।

गुण और प्रयोग-इसके गुण तुम्बुरु के समान हैं। इसके मूलत्वक् की क्रिया दारुहरिद्रा, मझेरियून, चोबेह्यात या पीतचम्पक के छाल की तरह होती है। इसकी जड़ सुगन्धि, कड़वी मूत्रल तथा पौष्टिक है।

(१) इसके फल उत्तेजक, ग्राही, दीपन एवं पाचन होते हैं और इनका व्यवहार, आध्मान, कुपचन, अजीर्ण एवं अतिसार आदि में किया जाता है। सड़ी हुई मछलियों के खाने से उत्पन्न अजीर्ण, वमन एवं अतिसार में इसका व्यवहार करते हैं। मछली खाने वालों के लिये यह पाचक है। तिरफल तथा अजवायन का अर्क हैजे में दिया जाता है। आमवात में मधु के साथ इसे खिलाते हैं।

(२) मूलत्वक्—शिथिलताजन्य कुपचन में प्रयोग में लाई जाती है। यह मूत्रल होती है। दन्तशूल में तथा लकवा से जिह्वा का कार्य ठीक न होता हो तो इसे चबाने को देते हैं। जीर्ण आमवात में भी इससे लाभ होता है। यह वृष्य, कड़वी और सुगन्धि होती है और फल की तरह भी इसका उपयोग किया जाता है।

मात्रा—बीज निकाले फल का चूर्ण—१-२ र. मधु के साथ; मूलत्वक् १-२ तो. फांट बना कर नित्य एक बार।

अथ वंशलोचनस्य नामानि गुणांश्चाह

स्याद्वंशरोचना वांशी तुगाक्षीरी तुगाशुभा। त्वक्क्षीरी वंशजा शुभ्रा वंशक्षीरी च वैणवी॥
वंशजा बृंहणी वृष्या बल्या स्वाद्वी च शीतला। तृष्णाकासज्वरश्वासक्षयपित्तास्रकामलाः॥
हरेत्कुष्ठं व्रणं पाण्डुं कषाया वातकृच्छ्रजित्॥ ११७॥

वंशलोचन के नाम तथा गुण—वंशरोचना, वांशी, तुगाक्षीरी, तुगा, शुभा, त्वक्क्षीरी, वंशजा, शुभ्रा, वंशक्षीरी और वैणवी ये नाम वंशलोचन के हैं। **वंशलोचन**—बृंहण (धातुवर्धक), वृष्य (वीर्यवर्धक), बलकारक, स्वादु, कषाय रसयुक्त और शीतल होता है और यह तृष्णा, कास, ज्वर, श्वास, क्षय, रक्तपित्त, कामला, कुष्ठ, व्रण, पाण्डु, वात तथा मूत्रकृच्छ्र को दूर करता है॥

४० वंशलोचन

हि०—वंशलोचन, वंशलोचन। **बं०**—बांस कावर। **म०**—वंसलोचन। **गु०**—वंशकपूर। बांसकपूर। **क०**—वंशलोचना, वंशरोचना, वंशरोचना। **ते०**—तवक्षीरी, तरक्षीरी, वंशलोचनमु। **ता०**—वंशलोचनम्। **फा०**—तवासीर, तवासीर। **अ०**—तवाशीर। **अं०**—Bamboo Manna (बाम्बूमन्ना)। **ले०**—*Bambusa arundinacia Willd* (बांबुजा अरूण्डिनेसिया)। Fam-Gramineae (ग्रॅमिनी)।

बांस के वृक्ष भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रान्तों में उत्पन्न होते हैं, विशेषकर बङ्गाल की तरफ इसकी खेती होती है।

मोटे और दृढ बांस के भीतर एवं बड़े मोटे पोली जाती के पहाड़ी बांसों के भीतर जिसे नजला बांस कहते हैं जब सफेद रस सूखकर कंकर के समान बन जाता है, तब इस सफेद कंकरी को वंशलोचन कहते हैं। यह केवल मादा जाति के ही बांसों में जमता है। बांसों को

काट कर जब फाड़ते हैं तब किसी-किसी बांस के भीतर से यह निकलता है। कहते हैं कि स्वाती नक्षत्र का जल बांस के भीतर पड़ने से उसमें वंशलोचन उत्पन्न होता है। असली वंशलोचन नीलापन युक्त सफेद रङ्ग का होता है, लकड़ी पर घिसने पर रेशा नहीं उभरती तथा जल में डालने पर पारदर्शक हो जाता हैं लेकिन मिट्टी के तेल में डालने पर पारदर्शकता कम हो जाती है। स्वाद में यह फीका होता है। लेकिन आजकल बाजार में प्रायः नकली वंशलोचन ही बिकता है जो देखने में बहुत सुन्दर नीली आभा युक्त बड़े-बड़े कंकड़ों के रूप में होता है। पहले असली वंशलोचन जावा, सिङ्गापूर आदि से आता था। अब तो शायद किसी रासायनिक विधि से यह तैयार करके असली के नाम पर बिका करता है जिसका स्वाद कुछ तीक्ष्ण रहता है। वंशलोचन के अतिरिक्त बांस के कोमल प्रांकुर, पत्र, गांठ, वीज तथा मूल का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—वंशलोचन में सिलिका (Silica) ९०% या सिलिसिक् एसिड के हाइड्रेट के रूप में सिलिकम् (Silicum as hydrate of silicic acid), मंडूर (Peroxide of iron), पोटॅश (Potash), चूना, ॲल्यूमिनिया (Aluminia) तथा कुछ वानस्पतिक पदार्थ जैसे कोलिन (Colin); बिटेन (Betain). न्यूक्लिएस (Nuclease), यूरिएस (Urease ; प्रभूजिन एवं कार्बोज के पाचक किण्व तथा स्नेहविश्लेयक किण्व (Proteolytic, diastatic and emulsifying enzymes) तथा सायनोजेनेटिक् ग्लुकोसाइड (Cyanogenetic glucoside) आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

बांस की राख में सिलिका २८, चूना ४, मॅग्नेशिया ६, पोटॅशियम् ३४, सोडियम् १२, क्लोरीन २, गंधक १० भाग और कुछ जल रहता है। कुछ लोग इसके क्षार को तथा असली वंशलोचन को गरम करके जल में डालते हैं और सूखने पर वंशलोचन के स्थान पर बेचते हैं।

गुण और प्रयोग—(१) वंशलोचन उत्तेजक, ज्वरहर, कफनिःसारक, बल्य, वृष्य, प्यास-शमन करने वाला, उद्वेष्टननिरोधि एवं ग्राही होता हैं। इससे श्वसनसंस्थान की श्लेष्मलकला को पुष्टि मिलती है तथा कफ की मात्रा कम होती है। इससे बने हुए सितोपलादि चूर्ण का व्यवहार जीर्णज्वर, श्वास, कास, क्षय, मन्दाग्नि, कमजोरी, कफ में खून जाना, दाह, पूयमेह, मूत्रदाह तथा वातविकार एवं सर्पदंश में किया जाता है। ग्राही औषधियों के साथ जीर्ण संग्रहणी तथा आन्तरिक रक्तस्रावों में इसका उपयोग करते हैं।

(२ इसकी कोमल गांठ तथा पत्रों का क्वाथ गर्भाशय संकोचक होता है। इसका उपयोग प्रसूता में आर्तवशुद्धि के लिए एवं अन्य आर्तव विकारों में किया जाता है।

(३) इसके कोमलपत्र का उपयोग कफ से खून जाना, कुष्ठ, ज्वर तथा बच्चों के सूत्रकृमि में किया जाता है।

(४) इसके प्रांकुर (Shoots) का रस निकाल कर कृमियुक्त घावों पर डाला जाता है तथा बाद में उसका पोल्टिस उन पर बांध दिया जाता है। जिन लोगों का पाचन ठीक नहीं होता उनको इसके कोमल प्रांकुरों से बने सिरके का उपयोग मांस मछली के साथ उपयोगी होता है। इससे भूख बढ़ती है तथा पाचन भी ठीक होता है।

(५) इसकी गाठों को पीसकर जोड़ों के दर्द पर उसका बन्धन उपयोगी है।

(६) इसके बीज को गरीब लोग चावल के रूप में खाते हैं।

(७) इसका मूल विस्फोटक व्याधियों (Eruptive affections) में बहुत उपयोगी है तथा दाद पर लाभदायक है।

(८) इसके पुष्परस का उपयोग कर्णबिन्दु के रूप में कर्णशूल एवं बाधिर्य आदि में किया जाता है।

मात्रा—चूर्ण ½-२ माशा।

अथ समुद्रफेनस्य नामानि गुणांश्चाह

समुद्रफेनः फेनश्च हिण्डीरोऽब्धिकफस्तथा ॥ ११८ ॥

समुद्रफेनश्चक्षुष्यो लेखनः शीतलश्च सः। कषायो विषपित्तघ्नः कर्णरुक्कफहृत्सरः ॥११९॥

समुद्रफेन के नाम तथा गुण—समुद्रफेन, फेन, हिण्डीर और अब्धिकफ ये सब नाम 'समुद्रफेन' के हैं। **समुद्रफेन**—नेत्रों के लिये हितकर, लेखन, शीतल, कषाय रस युक्त, विष और पित्त का नाशक, कर्णरोग तथा कफ का भी नाशक और यह सारक भी होता है ॥ ११८-११९ ॥

४१ समुद्रफेन

हि०—समुद्रफेन, समुन्दरफेन, दर्या का कफ। **ब०**—समुद्रेर फेना, समुद्रफेला। **म०**—समुद्रफेण। **मा०**—समन्दरझाग। **पं०**—समुन्द्रझाग, समुद्रझाग। **गु०**—समुद्रफिण। **क०**—समुद्रनालिगे। **मल०, ता०**—कड़ल नीरे। **ते०**—सोरुपेनक, समुद्रपुनुरुगु। **फा०**—कफदरिया। **अ०**—जुबदुल्लहेरे, जब्दुल बहेर। **अं०**—Cuttle Fish Bone (कटिल फिश बोन); Os Sepiae (ऑस् सेपी)। **लें०**—Sepia *officinalis* (सेपिया ऑफिसिनॅलिस्)। **जाति** (Family)-Cephalopoda (सिफॅलोपोडा)। **वर्ग** (Class)-Mollusca (मोल्यूस्का)।

समुद्रफेन यह समुद्र का झाग नहीं है वरन् यह एक समुद्री जीव (मछली) का अस्थिपञ्जर (या कवच) है जो कुछ समय बाद विशेष आकृति का हो जाता है और समुद्र के पानी पर तैरता रहता है। इसके टुकड़े १-३ इञ्च चौड़े और ५-१० इञ्च लम्बे होते हैं। ये लम्बे, चिपटे, आयताकार अथवा अण्डाकार, सफेदी लिये हुवे, कठोर तथा भंगुर होते हैं। इसकी बाह्य सतह कई परतों से बनी दिखलाई देती है तथा सुचूर्ण्य होती है। भीतरी सतह कठोर, सुषिर एवं आसानी से टूटने वाली होती है। इसका स्वाद फीका, तीक्ष्ण तथा क्षारीय होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें कॅल्शियम् कार्बोनेट (Calcium Carbonate) ८०-८५% तथा फास्फेट, सल्फेट और सिलिका (Silica) आदि पदार्थ रहते हैं।

गुण और प्रयोग—इसका आन्तरिक प्रयोग बहुत कम होता है। यह खड़िया के समान अम्लत्व दूर करने वाला तथा ग्राही एवं स्थानिक उपशामक है।

(१) इसका सूक्ष्म चूर्ण कर्णस्राव तथा कर्णपीडा के लिए कानों में डालते हैं। मुख तथा दातों के विकारों में यह दन्तमञ्जन की तरह उपयोग में आता है तथा झांई, मुहांसे, व्यंग तथा चर्म के अन्य विकारों में इसका सूक्ष्मचूर्ण या नींबू के रस के साथ इसका लेप लगाया जाता है। अम्हौरी में गुलाब जल के साथ शरीर पर इसे लगाते हैं।

(२) इसका नेत्र रोगों में विशिष्ट स्थान है। लेखन गुण के कारण नेत्रशुक्ल, जाला, धुंध आदि में सुरमा के समान या सुरमा में मिलाकर इसे काम में लाते हैं। वर्त्मदाह में इसे गुलाब जल और सैन्धव के साथ महीन पीसकर आंख में लगाते हैं।

(३) कर्णस्राव में इसे तैल में सिद्ध करके उसका उपयोग करते हैं।

(४) यद्यपि आयुर्वेद में इसका आंतरिक प्रयोग नहीं दिखाई देता तथापि यह चूने का अच्छा सेन्द्रिय योग है जिसका आन्तरिक उपयोग भी किया जा सकता है।

मात्रा—२ से ८ रत्ती।

अथाष्टवर्गस्य लक्षणगुणानाह

जीवकर्षभकौ मेदे काकोल्यौ ऋद्धिवृद्धिके ॥ १२० ॥
अष्टवर्गोऽष्टभिर्द्रव्यैः कथितश्चरकादिभिः ॥ १२१ ॥
अष्टवर्गो हिमः स्वादुर्बृंहणः शुक्रलो गुरुः। भग्नसन्धानकृत्कामबलासबलवर्द्धनः॥
वातपित्तास्रतृड्दाहज्वरमेहक्षयप्रणुत् ॥ १२२ ॥

अष्टवर्ग के लक्षण तथा गुण—जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, ऋद्धि और वृद्धि इन सब आठ द्रव्यों को चरकादि मुनिगण 'अष्टवर्ग' नाम से व्यवहार करते हैं। **अष्टवर्ग**—शीतवीर्य, स्वादिष्ट, बृंहण (धातुवर्धक), शुक्रजनक, विपाक में गुरु, भग्नसन्धानकारक (टूटी हुई हड्डियों को जोड़ने वाला), काम, कफ तथा बल को बढ़ाने वाला, वात, पित्त, रक्त, तृष्णा, दाह, ज्वर, प्रमेह और क्षय रोग को दूर करने वाला होता है ॥ १२०–१२२ ॥

तत्रादौ जीवकर्षभकयोरुत्पत्तिलक्षणनामगुणानाह

जीवकर्षभकौ ज्ञेयौ हिमाद्रिशिखरोद्भवौ। रसोनकन्दवत्कन्दौ निःसारौ सूक्ष्मपत्रकौ ॥१२३॥
जीवकः कूर्चकाकार ऋषभो वृषशृङ्गवत्। जीवको मधुरः शृङ्गो ह्रस्वाङ्गः कूर्चशीर्षकः ॥१२४॥
ऋषभो वृषभो धीरो विषाणी द्राक्ष इत्यपि। जीवकर्षभकौ बल्यौ शीतौ शुक्रकफप्रदौ॥
मधुरौ पित्तदाहास्रकार्श्यवातक्षयापहौ ॥ १२५ ॥

अष्टवर्गान्तर्गत जीवक तथा ऋषभक के उत्पत्ति स्थान, लक्षण, नाम तथा गुण—जीवक और ऋषभक ये दोनों औषधियां हिमालय पर्वत के शिखर के ऊपर उत्पन्न होती हैं। इन दोनों के कन्द ठीक लहसुन के कन्द के समान होते हैं और ये निःसार होते हैं तथा पत्ते सूक्ष्म होते हैं। उसमें जीवक का आकार कूंची के समान होता है और ऋषभक बैल के सींग की भांति होता है। जीवक, मधुर, शृङ्ग, ह्रस्वाङ्ग और कूर्चशीर्षक ये नाम जीवक के हैं। तथा ऋषभ, वृषभ, धीर, विषाणी और द्राक्ष ये नाम ऋषभक के हैं। ये दोनों बलकारक, शीतवीर्य, शुक्र तथा कफ के वर्धक, मधुर रसयुक्त, पित्त, दाह, रक्तदोष, कृशता, वात तथा क्षयरोग के दूर करने वाले होते हैं ॥ १२३–१२५ ॥

अथ मेदामहामेदयोरुत्पत्तिलक्षणनामगुणानाह

महामेदाऽभिधः कन्दो मोरङ्गादौ प्रजायते ॥ १२६ ॥
महामेदा वनीमेदा स्यादित्युक्तं मुनीश्वरैः ॥ १२७ ॥

शुक्लार्द्रकनिभः कन्दो लताजातः सुपाण्डुरः। महामेदाभिधो ज्ञेयो मेदालक्षणमुच्यते॥
शुक्लकन्दो नखच्छेद्यो मेदोधातुमिव स्रवेत्। यः स मेदेति विज्ञेयो जिज्ञासातत्परैर्जनैः॥
शल्यपर्णी[1] मणिच्छिद्रा मेदा मेदोभवाध्वरा। महामेदा वसुच्छिद्रा त्रिदन्ती देवतामणिः॥
मेदायुगं गुरु स्वादु वृष्यं स्तन्यकफावहम्। बृंहणं शीतलं पित्तरक्तवातज्वरप्रणुत् ॥१३१॥

---

१. 'स्वल्पपर्णी'ति पाठा०।

मेदा और महामेदा के उत्पत्तिस्थान, लक्षण, नाम तथा गुण—उसमें महामेदा नामक कन्द मोरङ्ग (नेपाल का दक्षिणपूर्वभाग) आदि प्रदेशों में उत्पन्न होता है। महामेदा, वनीमेदा है ऐसा मुनीश्वरों ने कहा है। महामेदा लता से उत्पन्न होती है तथा इसका कन्द पाण्डुवर्ण का, सफेद अदरख के समान होता है। ये महामेदा के लक्षण हुये, अब मेदा के भी लक्षण कहते हैं—जिसके कन्द सफेद हों तथा जिसमें नख से काटने पर मेदधातु के समान एक प्रकार का रस निकलता हो उसे मेदा समझना चाहिये। शल्यपर्णी, मणिच्छिद्रा, मेदा, मेदोभवा और अध्वरा ये नाम मेदा के हैं। महामेदा, वसुच्छिद्रा, त्रिदन्ती और देवतामणि ये नाम महामेदा के हैं। **उक्त दोनों प्रकार का मेदा**—ये दोनों परिपाक में गुरु, स्वादिष्ट, वीर्यवर्धक, दुग्ध तथा कफ को बढ़ाने वाले, धातुवर्धक, शीतल, पित्त, रक्तसम्बन्धी दोष, वायु तथा ज्वर को दूर करने वाले होते हैं॥ १२६–१३१॥

अथ काकोलीक्षीरकाकोल्योरुत्पत्तिलक्षणनामगुणानाह

जायते क्षीरकाकोली महामेदोद्भवस्थले॥ १३२॥
यत्र स्यात्क्षीरकाकोली काकोली तत्र जायते।
पीवरीसदृशः कन्दः सक्षीरः[1] प्रियगन्धवान्॥ १३३॥
साप्रोक्ताक्षीरकाकोली काकोलीलिङ्गमुच्यते। यथास्यात्क्षीरकाकोली काकोल्यपि तथा भवेत्॥
एषा किञ्चिद्भवेत्कृष्णा भेदोऽयमुभयोरपि। काकोली वायसोली च वीरा कायस्थिका तथा॥
सा शुक्ला क्षीरकाकोली वयस्था क्षीरवल्लिका॥
कथिता क्षीरिणी धीरा[2] क्षीरशुक्ला पयस्विनी॥ १३६॥
काकोलीयुगलं शीतं शुक्रलं मधुरं गुरु। बृंहणं वातदाहास्रपित्तशोषज्वरापहम्॥ १३७॥

काकोली तथा क्षीरकाकोली के उत्पत्तिस्थान, लक्षण, नाम तथा गुण—महामेदा के उत्पन्न होने का जहां स्थान है, वहीं पर क्षीरकाकोली भी उत्पन्न होती है। और जहां पर क्षीरकाकोली उत्पन्न होती है, वहां पर काकोली भी होती है। क्षीरकाकोली का कन्द पीवरी (शतावर) के समान होता है और काटने पर उसमें से दूध निकलता है तथा यह प्रिय गन्ध से युक्त होता है। अब काकोली के लक्षण कहते हैं—जिस प्रकार की क्षीरकाकोली होती है उसी प्रकार की काकोली भी होती है। किन्तु दोनों में भेद यह है कि काकोली, क्षीरकाकोली की अपेक्षा कुछ कृष्णवर्ण की होती है। काकोली, वायसोली, वीरा और कायस्थिका ये नाम काकोली के हैं और शुक्ला, क्षीरकाकोली, वयस्था, क्षीरवल्लिका, क्षीरिणी, धीरा, क्षीरशुक्ला और पयस्विनी ये नाम क्षीरकाकोली के हैं। **उक्त दोनों प्रकार की काकोली**—शीतल, शुक्रवर्धक, मधुर, गुरु, बृंहण (धातुवर्धक), वात, दाह, रक्तपित्त (या रक्तदोष तथा पित्त), शोष और ज्वर की नाशक होती है॥ १३२–१३७॥

अथ ऋद्धिवृद्ध्योरुत्पत्तिलक्षणनामगुणानाह

ऋद्धिर्वृद्धिश्च कन्दौ द्वौ भवतः कोशलेऽचले[3]। श्वेतलोमान्वितः कन्दो लताजातः सरन्ध्रकः॥
स एव ऋद्धिर्वृद्धिश्च भेदमप्येतयोर्ब्रुवे। तूलग्रन्थिसमा ऋद्धिर्वामावर्त्तफला च सा॥१३९॥
वृद्धिस्तु दक्षिणावर्त्तफला प्रोक्ता महर्षिभिः।
ऋद्धिर्योग्यं[4] सिद्धिलक्ष्म्यौ वृद्धेरप्याह्वया इमे॥ १४०॥

---

१. 'क्षीरं स्रवति गन्धवानि'ति पाठा०। २. 'धीरे'ति पाठा०।
३. 'कोशयामले' इति पाठान्तरम्। ४. 'ऋद्धियुग्ममि'ति पाठा०।

ऋद्धिर्बल्या त्रिदोषघ्नी शुक्रला मधुरा गुरुः।
प्राणैश्वर्यकरी मूर्च्छारक्तपित्तविनाशिनी ॥ १४१ ॥
वृद्धिर्गर्भप्रदा शीता बृंहणी मधुरा स्मृता।
वृष्या पित्तास्रशमनी क्षतकासक्षयापहा ॥ १४२ ॥

ऋद्धि तथा वृद्धि के उत्पत्तिस्थान, लक्षण, नाम तथा गुण—ऋद्धि और वृद्धि ये दोनों कन्द कोशल पर्वत में उत्पन्न होते हैं। ऋद्धि का कन्द सफेद रोयें से युक्त, लता से उत्पन्न होने वाला तथा छिद्रों से युक्त होता है। और वृद्धि भी इसी प्रकार की होती है, किन्तु इन दोनों का जो परस्पर भेद है उसे अब कहता हूँ—ऋद्धि कपास की गांठ के समान आकार वाली तथा बायें तरफ से आवर्त्तशील फल वाली होती है। और वृद्धि—दहिने तरफ से आवर्त्तशील फलवाली होती है ऐसा महर्षि लोग कहते हैं। उक्त दोनों प्रकार की ऋद्धि (ऋद्धि-वृद्धि) के योग्य, सिद्धि और लक्ष्मी ये तीन नाम हैं। **ऋद्धि**-बलकारक, त्रिदोष को दूर करने वाली, शुक्रवर्धक, मधुर रस युक्त, पाक में गुरु और प्राणप्रद, ऐश्वर्यजनक, एवं मूर्च्छा और रक्त पित्त को नाश करने वाली होती है। **वृद्धि**-गर्भजनक, शीतल, बृंहण (धातुवर्धक), मधुर रसयुक्त, वृष्य (वीर्यवर्धक), रक्तपित्त को शमन करने वाली, क्षत (उरःक्षतादिक). कास तथा क्षय को दूर करने वाली होती है ॥ १३८-१४२ ॥

राज्ञामप्यष्टवर्गस्तु यतोऽयमतिदुर्लभः।
तस्मादस्य प्रतिनिधिं गृह्णीयात्तद्गुणं भिषक् ॥ १४३ ॥

साधारण लोगों को कौन कहे अष्टवर्ग की उक्त औषधियां राजाओं को भी दुर्लभ हैं। अतः वैद्य को चाहिये कि वे इसके समान गुण वाली प्रतिनिधि औषधियों को काम में लावें ॥ १४३ ॥

***मुख्यसदृशः = प्रतिनिधिः ॥ १४३ ॥**

यहां पर 'प्रतिनिधि' पद का 'मुख्य के सदृश' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १४३ ॥

अथाष्टवर्गस्य प्रतिनिधिमाह

मेदाजीवककाकोलीऋद्धिद्वन्द्वेऽपि चासति।
वरीविदार्यश्वगन्धावाराहीश्च क्रमात् क्षिपेत् ॥ १४४ ॥

अष्टवर्ग की प्रतिनिधि औषधियाँ—दोनों प्रकार की मेदा, दोनों प्रकार के जीवक, दोनों प्रकार की काकोली तथा दोनों प्रकार की ऋद्धि के स्थान में क्रम से शतावर, विदारीकन्द, असगन्ध और वाराहीकन्द इन औषधियों को डालना चाहिये ॥ १४४ ॥

***मेदामहामेदास्थाने शतावरीमूलम्। जीवकर्षभकस्थाने विदारीमूलम्। काकोलीक्षीरकाकोलीस्थाने अश्वगन्धामूलम्। ऋद्धिवृद्धिस्थाने वाराहीकन्दं गुणैस्तत्तुल्यं क्षिपेत् ॥ १४४ ॥**

यहां पर 'मेदा और महामेदा के स्थान में सतावर का मूल, जीवक तथा ऋषभक के स्थान में विदारीकन्द का मूल, काकोली तथा क्षीरकाकोली के स्थान में असगन्ध का मूल, एवं ऋद्धि तथा वृद्धि के स्थान में वाराही कन्द को गुणों में पूर्वोक्त औषधियों के समान समझकर डालें' ऐसा समझना चाहिये ॥ १४२ ॥

४२ अष्टवर्ग

नाम	उत्पत्तिस्थान	सामान्यरूप	परस्पर पार्थक्य	शा० प्रतिनिधि
१ जीवक	हिमालय पर्वत शिखर	कन्द-रसोन के समान पत्र-सूक्ष्म सारहीन	कूंची के समान	विदारीकन्द
२ ऋषभक	,, ,,	,,	बैल के सींग के समान	,,
३ मेदा	मोरङ्ग (नेपाल का दक्षिण-पूर्व भाग	कन्द-मेद के सदृश स्राव नख से छेद्य	शुक्लवर्ण	शतावरी मूल
४ महामेदा	,,	कन्द-शुक्ल आर्द्रक के समान, लताजात	पाण्डुरवर्ण	,,
५ काकोली	,,	कन्द-शतावरी सदृश सक्षीर सुगन्धयुक्त	अधिक कृष्णवर्ण	अश्वगंधा का मूल
६ क्षीरकाकोली	,,	,,	कम कृष्णवर्ण	,,
७ ऋद्धि	कोशलपर्वत	कन्द-श्वेतलोमयुक्त लताजात छिद्रयुक्त	कपास की गांठ के समान वामावर्तफल	वाराहीकन्द
८ वृद्धि	,,	,,	दक्षिणावर्तफल	,,

इस समय अष्टवर्ग की कोई भी औषधि सच्ची नहीं मिलती है। यों तो अष्टवर्ग के बेचनेवाले कितने फर्म हो गये हैं, इनमें 'अष्टवर्ग कार्यालय देहरादून' प्रसिद्ध है परन्तु अष्टवर्ग के देखने और शास्त्रों से मिलान करने से कोई भी असली नहीं सिद्ध होती। अष्टवर्ग के अभाव में मेदा-महामेदा की जगह शतावर, जीवक—ऋषभक की जगह विदारीकन्द, काकोली—क्षीरकालोली की जगह असगन्ध और ऋद्धि—वृद्धि की जगह वाराहीकन्द डालने को कहा गया है। परन्तु आजकल के कतिपय विद्वान् वैद्य शतावर, विदारीकन्द, असगन्ध और वाराहीकन्द को अष्टवर्ग का प्रतिनिधि नहीं मानते। क्योंकि इनमें अष्टवर्ग का अत्यन्त न्यून गुण पाया जाता है। इसलिए अष्टवर्ग की जगह निम्नाङ्कित औषधियां देना उत्तम बतलाते हैं।

जीवक	अभाव में	बहमन सफेद या गुडूची
ऋषभक	,,	बहमन लाल या लम्बा सालब या वंशलोचन
मेंदा	,,	सालंमिश्री
महामेदा	,,	शकाकुल मिश्री या प्रसारिणी
काकोली	,,	काली मूसली
क्षीरकाकोली	,,	श्वेत मूसली
ऋद्धि	,,	चिड़िया कन्द या बला या उटङ्गण के बीज
वृद्धि	,,	सालब पंजा या महाबला या बीजबंद

अथ यष्टीमधुनामगुणानाह

यष्टीमधु तथा यष्टीमधुकं क्लीतकं तथा । अन्यत्क्लीतनकं तत्तु भवेत्तोये मधूलिका ॥ १४५ ॥
यष्टी हिमा गुरुः स्वाद्वी चक्षुष्या बलवर्णकृत् । सुस्निग्धा शुक्रला केश्या स्वर्या पित्तानिलास्रजित् ।
व्रणशोथविषच्छर्दितृष्णाग्लानिक्षयापहा ॥ १४६ ॥

मुलहठी के नाम तथा गुण - यष्टीमधु, यष्टीमधुक और क्लीतनक ये सब मुलहठी के नाम हैं। और अन्य प्रकार की भी एक मुलहठी होती है जो कि जल में उत्पन्न होती है जिसका नाम 'मधूलिका' है। **मुलहठी**—शीतवीर्य, गुरु, मधुररसयुक्त, नेत्रों के लिये हितकर, बलकारक तथा वर्ण को सुन्दर करने वाली, सुस्निग्ध, वीर्यजनक, केशों के लिये हितकर, स्वर को सुधारने वाली, पित्त, वात तथा रक्त के प्रकोप को शमन करने वाली, व्रण, शोथ, विष, वमन, प्यास, ग्लानि तथा क्षय रोग को दूर करने वाली होती है ॥ १४५-१४६ ॥

४३ यष्टीमधु

हि०–मुलहठी, मुलेटी, मुलेठी, मीठी लकड़ी, जेठीमध । **ब०**–यष्टिमधु । **म०**–जेष्टिमध । **गु०**–जेठीमध । **क०**–जेष्टमधु । **ते०**–यष्टिमधुकम । **पं०**–मुलेटी । **मा०**–मलहठी । **ता०**–अतिमधुरं । **फा०**–आसरेहमहक, विखेमहक । **अ०**–असलुसूस । **अं०**–Liquorice Root (लिकोरिस् रूट) । **ले०**–*Glycyrrhiza glabra, Linn.* (ग्लिसहाइझा ग्लॅब्रा, लिन.) । Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी) ।

इसका क्षुप अरब, फारस की खाड़ी, अफगानिस्तान, तुर्किस्तान एवं साइबेरिया आदि स्थानों में उत्पन्न होता है। इसकी उपज पञ्जाब तथा चेनाब से लेकर पेशावर आदि हिमालय के निचले हिस्से में तथा अंडमान द्वीप एवं वर्मा में होती है। वलूचिस्तान तथा चित्राल में भी यह उत्पन्न होता है। काश्मीर में बरमूला घाटी में इसको उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त हुई है।

इसका क्षुप २-४ फूट ऊँचा होता है। **पत्रक**–छोटे, ४ से ७ जोड़े, आयताकार से चौड़ाई लिये हुवे भालाकार; अपरिमित सदण्डक **पुष्प व्यूह; पुष्प**–बैंगनीवर्ण के, लगभग ½ इञ्च लम्बे; **फली**–छोटी, बारीक, ½-१ इञ्च लम्बी, चिपटी; **बीज**–बहुत या २-३ होते हैं। इसकी जड़ तथा भौमिक तने को सुखा कर छाल सहित अथवा छाल निकालकर बाजार में मुलेटी के नाम से बेचा जाता है। ये लम्बे टुकड़े, पीताभ बादामी रंग के झुर्रीदार होते हैं तथा छाल निकाले हुवे हलके पीले रंग के रेशेदार होते हैं। इनमें एक प्रकार की हल्की गन्ध तथा स्वाद मीठा होता है।

स्थान भेद से इसकी अन्य जातियां होती हैं जिनके स्वाद में अन्तर रहता है। यूनानी मत से ३ प्रकार की मुलेठी मानी गई है जिसमें से मिश्र की उत्तम, अरब की मध्यम तथा तुरुष्क वा फारस की अधम होती है जो उत्तरोत्तर कम मीठी होती हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें एक सफेद, मीठा, रवेदार पदार्थ ग्लिसहाइझिन् (Glycyrrhizin) ५-१०% पाया जाता है जिसमें ग्लिसहाइझिक् एसिड (Glycyrrhizic acid) से बने चूना तथा पोटॅशियम् (Potassium) के लवण होते हैं। यह एसिड भी शुभ्र रवेदार होता है तथा इसका द्रवणांक २५° श० होता है। यह चीनी से ५० गुना अधिक मीठा होता है। गरम जल में ग्लिसहाइझिन् का बना घोल ठंडा होने पर गाढ़ा हो जाता है। इसके अतिरिक्त मुलेठी में ५-१०% शर्करा, ३०% स्टार्च, प्रभुजिन, स्नेह, राल एवं ॲसपेराजिन् (Asparagin) करीब
5 १% होता है।

गुण और प्रयोग—मुलेठी मधुर, शीतल, स्नेहन, बल्य, वृष्य, रसायन, कफशामक, स्वर्य, नेत्र्य, मूत्रजनन, स्तन्यवर्धक, शोथहर एवं व्रणरोपक गुणों से युक्त होती है।

(१) इसमें स्नेहन तथा सौम्य कफ निःसारक गुण होने के कारण इसका मुख्य उपयोग स्वरभंग, कास, श्वसनिका शोथ एवं गलशोथ आदि में किया जाता है। इसके लिये इसके टुकड़े को मुख में रख कर चूसने को दिया जाता है तथा तीसी के साथ इसके क्वाथ का उपयोग किया जाता है।

(२) मीठी होने के कारण क्वाथों को मधुर बनाने के लिये तथा अनेक औषधियां जैसे सनाय, एलुवा आदि को सुस्वादु बनाने के लिये तथा खांसी के लिये चूसने की गोलियों में इसका उपयोग करते हैं। इसके चूर्ण का उपयोग गोली बनाने में सहायक द्रव्य के रूप में व्यवहार में आता है।

(३) मूत्र मार्ग के प्रक्षोभ में यह बहुत उपयोगी है। इससे पेशाब की जलन दूर होती है।

(४) अम्लपित्त में इसके उपयोग से आमाशयिक अम्ल कम होकर शूल दूर होता है।

(५) चीन में इसका व्यवहार रसायन औषधि की दृष्टि से बहुत किया जाता रहा तथा अपने यहां भी इसे रसायन, बल्य तथा शुक्रल मानते हैं।

(६) इसका सत्त्व **रब्बेसूस**, जो काले रंग का तथा मीठा होता है, का व्यवहार खांसी एवं गले की तकलीफ आदि में चूसने के लिए किया जाता है।

(७) सुश्रुत में 'सर्वोपघातशमनीय' योग में इसका अन्तर्भाव किया गया है। इस प्रकार सभी प्रकार के अभिघातों से उत्पन्न लक्षणों में इसका प्रयोग उत्तम माना गया है।

(८) इसका उपयोग क्षतक्षीण, रक्तवमन, हृद्रोग एवं अपस्मार आदि में भी किया जाता है। दूध अथवा घृत और मधु के साथ इसको देना चाहिये।

(९) घृत के साथ इसके कल्क का प्रयोग घावों पर लगाने के लिये उपयोगी है। भिलावे से यदि त्वक्शोथ हो गया हो तो मुलेठी और तिल को दूध में पीस कर लेप करने से लाभ होता है।

मात्रा—चूर्ण-१-४ माशा।

अथ काम्पिल्लस्य नामगुणानाह

काम्पिल्लः कर्कशश्चन्द्रो रक्ताङ्गो रोचनोऽपि च ॥
काम्पिल्लः कफपित्तास्रकृमिगुल्मोदरव्रणान्। हन्ति रेची कटूष्णश्च मेहानाहविषाश्मनुत् ॥

कबीला के नाम तथा गुण—काम्पिल्ल, कर्कश, चन्द्र, रक्ताङ्ग और रोचन ये नाम कबीला के हैं। कबीला-कफ, रक्तपित्त, कृमि, गुल्म, उदररोग एवं व्रण (घाव) को दूर करता है। तथा यह रेचक (दस्तावर), कटु रस युक्त और उष्णवीर्य है। एवं प्रमेह, आनाह, विष तथा पथरी को नष्ट करने वाला होता है ॥ १४७ ॥

४४ काम्पिल्ल (कबीला)

हिं०—कबीला, कमीला, काम्बीला। **बं०**—कमिला, कमलागुरी। **म०**—शेन्द्रि कपिला। **गु०**—कपीलो। **क०**—वसारे, चन्द्रहिट्टू। **पं०**—कमल। **ते०**—कुम्कुम। **ता०**—कपिला रङ्ग, कपिला पोडि। **मला०**—पोनागम। **फा०**—कम्बिलाय, कमीलह, कम्बेला। **अ०**—कम्बील, किम्बील, वार्स। **अं०**—Kamala (कमला)। **ले०**—*Mallotus philippinensis, Muell-*

Arg. (मॅलोटस् फिलिपाइनेनसिस, मुएल-आर्ग.) । Fam. Euphorbiaceae (यूफोर्बिएसी) ।

यह प्रायः सब गरम प्रान्तों में हिमालय पहाड़ के नीचे से पूरब की ओर सिन्ध से दक्षिण, बंगाल, ब्रह्मा, सिंगापुर, सिलोन एवं मलाया द्वीप समूह आदि प्रान्तों में पाया जाता है।

इसका सदा हरित **वृक्ष**–मध्यमाकार का २५–३० फीट तक ऊंचा होता है। **छाल**–चौथाई इंच मोटी, खाकी रङ्ग की फटी सी और भीतर से लाल दिखाई पड़ती है। **पत्ते**-गूलर के पत्तों के समान ३ से ९ इञ्च तक लम्बे, अंडाकार, नोकदार, विषमवर्ती और निम्न पृष्ठ रोमश रक्ताभ होते हैं। कार्तिक से पूस तक फूल फल आते हैं और उष्णकाल में फल पकते हैं। **फूल**–छोटे छोटे भूरापन युक्त लाल रङ्ग के आते हैं। **फल**–त्रिदल आकार में झरबेर के समान और पकने पर लाल रवेदार रज से ढका रहता है। इसी लाल रज को कबीला कहते हैं। **बीज**–चिकने, गोल और काले होते हैं।

'कबीला वायविडङ्ग की रज का नाम है' यह कहना भ्रमात्मक है। कबीला के बीजों को कहीं कहीं वायविडङ्ग की जगह व्यवहार में लाते हैं जो अनुचित है। वास्तव में वायविडङ्ग और कबीले के वृक्ष एक नहीं, दो भिन्न-भिन्न हैं।

इस वृक्ष के फलों के ऊपर के पराग (ग्रन्थि तथा रोम) को कबीला कहते हैं। फल पक जाने पर उनको कपड़े में डालकर अथवा हाथ से रगड़ कर इसे अलग करते हैं। इस लाल बदामी रंग की बुकनी में न तो स्वाद होता है न गन्ध। इसमें से जो रोम, ग्रन्थि युक्त होते हैं उनका डण्ठल एक कोशा का (प्रायः नहीं रहता) तथा ऊपर का भाग गोल ४०–१०० म्यू व्यास का एवं २०–५० अण्डाकार या व्यस्तलट्वाकार कोषाओं से युक्त होता है। ये कोशाएं एक आधारीय कोशा के ऊपर चक्राकाररूप में एक रालीय निर्यास नें डूबी हुई रहती हैं। बिना ग्रन्थि के रोम बहुत कम होते हैं जिनके अन्तिम भाग नुकीले तथा मुड़े हुये होते हैं। इनके अतिरिक्त इसमें फल के छिलके एवं बालू के कण आदि पदार्थ मिले रहते हैं।

परीक्षा—इसमें यदि निशास्ता वा कुसुम्भ की मिलावट हो तो अणुवीक्षण यन्त्र से पहचान सकते हैं। लाल मिट्टी, बालू वा मण्डूर की मिलावट हो तो इसे जल में डालने पर मिट्टी आदि नीचे बैठ जाती है। ऊपर जो बुकनी तैरती है उसे सुखाकर काम में लाना चाहिये। जल से भींगी हुई उंगली से शुद्ध कबीले को उठाकर सफेद कागज पर जोर से लकीर खींचने या रगड़ने से पीले रंग का निशान होता है। शुद्ध कबीले में राख ९% से अधिक नहीं होनी चाहिये तथा अम्ल में न घुलनेवाली राख ६% से अधिक नहीं होनी चाहिये। ईथर में घुलने वाले सत्व जो उड़नशील नहीं होते, उनकी शुष्क अवस्था में मात्रा ६६% से कम न होनी चाहिये। यह शीत जल में अघुलनशील, उष्णजल में अल्प घुलनशील एवं क्षार, मद्यसार और ईथर में घुलनशील होता है, जिससे लाल रंग का घोल बनता है।

रासायनिक संगठन—इसमें रोटलेरिन् (Rottlerin, $C_{31}H_{30}O_8$) नामक एक रवेदार पदार्थ से युक्त एक बदामी लाल रंग की राल होती है। यह ईथर में घुलनशील तथा जल में अघुलनशील होती है। इसके अतिरिक्त आइसो-रोटलेरिन् (Iso-rottlerin) नामक पदार्थ रहता है जो शायद रोटलेरिन् का अशुद्ध स्वरूप है। इनके अतिरिक्त इसमें पीले रवेदार पदार्थ, पीली और लाल राल एवं मोम आदि रहते हैं। अल्प मात्रा में उड़नशील तैल, स्टार्च, शर्करा, टॅनिन् एवं ऑक्सॅलिक तथा साइट्रिक एसिड भी पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—कबीला कृमिघ्न, विरेचक, त्वक्दोषहर एवं व्रण रोपक है। स्फीत कृमि के लिये यह अच्छी औषधि है। अधिक मात्रा से हृल्लास तथा बेहोशी आती है। चेष्टावह नाडी तथा

पेशियों पर इसकी अवसादक क्रिया होती है तथा अन्नवह प्रणाली के ऊपर इसका प्रक्षोभक प्रभाव पड़ता है।

(१) कुछ लेखकों ने इसे सभी प्रकार के आंत्रस्थ कृमियों के लिये उपयोगी बतलाया है लेकिन इसका विशेष प्रभाव स्फीत कृमि (Tape worms) पर पड़ता है। मेलफर्न की अपेक्षा यह कम प्रभावशाली है लेकिन इससे वमन आदि नहीं होता और दुर्बल एवं बच्चों के लिये यह उसकी अपेक्षा अच्छी औषधि है। इसके लिये अतिरिक्त विरेचन की आवश्यकता नहीं होती न कोई पूर्व विरेचन की। २ से ८ माशा चूर्ण दूध, दही, मधु या सुगन्धित पेय के साथ खिला देते हैं। तीसरे या चौथे दस्त में कृमि निकल जाते हैं। यदि ४ घण्टे के बाद भी शौच न हो तो एरण्ड तैल देना चाहिये। इसका कृमिघ्न गुण संभवतः इसके अवसादक प्रभाव के कारण है।

(२) इसका बाह्य प्रयोग तैल में मिलाकर दाद, खुजली, चकत्ते, व्रण एवं अग्निदग्ध व्रण आदि में बहुत लाभदायी है। सिर के खालित्य में शतधौत घृत के साथ लगाने से लाभ होता है।

(३) इस वृक्ष के पत्ते एवं मूल आदि का चर्म रोगों में अनेक प्रकार से प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—चूर्ण २-८ माशा। बच्चों को ५ र० मधु से, इससे अधिक एक साथ न दें, यदि गुण न हो तो दूसरे दिन पुनः दें।

अथारग्वधस्य (धानवहेरा, अमलतास) नामगुणानाह

आरग्वधो राजवृक्षः शम्पाकश्चतुरङ्गुलः। आरेवतो व्याधिघातः कृतमालः सुवर्णकः॥१४८॥
कर्णिकारो दीर्घफलः स्वर्णाङ्गः स्वर्णभूषणः। आरग्वधोगुरुः स्वादुः शीतलः स्रंसनोत्तमः[1]॥
ज्वरहृद्रोगपित्तास्रवातोदावर्तशूलनुत्। तत्फलं स्रंसनं रुच्यं कुष्ठपित्तकफापहम्॥
ज्वरे तु सततं पथ्यं कोष्ठशुद्धिकरं परम्॥ १५०॥

अमलतास (धनवहेरा) के नाम तथा गुण—आरग्वध, राजवृक्ष, शम्पाक, चतुरङ्गुल, आरवेत, व्याधिघात, कृतमाल, सुवर्णक, कर्णिकार, दीर्घफल, स्वर्णाङ्ग और स्वर्णफल ये नाम अमलतास के हैं।

अमलतास—गुरु, मधुर, शीतल और उत्तम रेचक है। यह ज्वर, हृद्रोग, रक्तपित्त, वायु, उदावर्त्त और शूल को दूर करता है। **अमलतास का फल**—मृदु रेचक, रुचिकारक, कुष्ठ, पित्त तथा कफ को दूर करने वाला होता है। यह ज्वर में सदा हितकर होता है एवं कोष्ठ को अत्यन्त शुद्ध करने वाला होता है॥ १४८-१६०॥

४५ आरग्वध (अमलतास)

हि०-अमलतास, सोनहाली। **बं०**-सोन्दाली, सोनालु, बन्दर लाठी। **म०**-बाहवा। **क०**-कक्केमर। **ते०**-रेलचेट्टु। **गु०**-गरमालो। **पं०**-अमलतास, करङ्गल, कनियार। **ता०**-कोन्नेमर, शरकोन्ने, कोरैकाय। **फा०**-ख्यारेचम्बर। **अ०**-ख्यारे शम्बर, ख्यारशम्बर। **अं०**-Pudding Pipe Tree (पुडिंग पाइप ट्री) या Indian Laburnum (इण्डियन लॅबर्नम्), या Purging Cassia (पर्जिंग केशिया)। **लै०**-*Cassia fistula, Linn.* (केशिया फिस्चुला, लिन.)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है।

---

१. 'मृदु'रिति पा०।

इसका वृक्ष—मध्यमाकार का होता है, किन्तु कहीं कहीं बड़े वृक्ष भी देखने में आते हैं। लकड़ी बहुत मजबूत होती है। १२ से १८ इञ्च तक की लम्बी लम्बी सींकों पर ४ से ८ जोड़े पत्ते लगते हैं जो १॥ से ३॥ इञ्च तक लम्बे, अण्डाकार होते हैं। १०-२० इञ्च तक की लम्बी टहनियों पर सुनहले चमकीले पीले पीले रङ्ग के पांच पांच दल वाले फूलों के घनहरे लगते हैं, जो चैत के अन्त से ज्येष्ठ तक वृक्षों को सुशोभित करते हैं। जेठ में पतली पतली सलाई के समान हरी हरी फलियां निकल कर वर्षा के अन्त तक १-२ फीट लम्बी १ इञ्च तक मोटी हरी हरी फलियां लटकती दिखाई पड़ती हैं। फिर हेमन्त के अन्त से काला रूप धारण करके वसन्त में पक जाती हैं। फलियों के भीतर पुरानी चवन्नी बराबर गोल गोल पतले पतले काले रस से लिपटे हुए परत रहते हैं और परतों के बीच सिरस के बीज के समान बीज होते हैं।

रासायनिक संगठन—अमलतास के गूदे में गोंद, पेक्टिन (Pectin), रंजक पदार्थ, शर्करा, अल्प मात्रा में एक मधुगंधि उड़नशील तैल तथा हाइड्रोक्सिमेथिल्-अन्थ्रॉक्विनोन् (Hydroxy-methyl-anthraquinones) आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—(१) अमलतास की गुद्दी आनुलोमिक, दाहशामक एवं वेदना स्थापक है। यह मृदु विरेचनों में सर्वश्रेष्ठ है। इसका प्रयोग ज्वरावस्था में तथा सुकुमार, बाल, गर्भिणी एवं कोमल प्रकृति की नारियों में किया जाता है। मृदु विरेचन के लिये इसके स्वतंत्र प्रयोग की अपेक्षा सनाय के साथ बनाया हुआ अवलेह (Confectio senna) अधिक अच्छा है जिससे मरोड, हृल्लास, शूल, आध्मान आदि नहीं होते जो स्वतन्त्र प्रयोग में अधिक मात्रा में लेने से होते हैं। इससे बनो गुलकन्द का भी व्यवहार किया जाता है। रक्त की उष्णता बढ़ने पर अथवा मल संचय होकर वातरक्त एवं आमवात आदि रोग उत्पन्न होने पर विरेचन के लिये इसका उपयोग करते हैं। जिन्हें कब्जियत की शिकायत हमेशा रहती है उन्हें अल्प मात्रा में इसे बराबर सेवन कराया जाता है। अधिक दिन प्रयोग से मूत्र का रंग गहरे बादामी रंग का हो जाता है। ज्वर में अथवा मधुमेह में विरेचन की आवश्यकता हो तो इसका उपयोग कर सकते हैं। कॉफी के सत्व में इसकी मिलावट की जाती है। इसका लेप आमवात, वातरक्त एवं व्रणशोथ आदि पर किया जाता है।

(२) इसके बीज वामक होते हैं तथा ५-७ बीजों का चूर्ण वमन के लिये दिया जाता है।

(३) इसकी छाल के क्वाथ से कवल करने से गले की गांठों की सूजन कम होती है।

(४) इसके पत्तों का रस अर्दित में पिलाया जाता है तथा जिस अंग का घात हुआ हो वहां इससे मला जाता है। दाद तथा भिलावें की सूजन पर इसके लगाने से लाभ होता है।

(५) इसकी मूल तीव्र विरेचक एवं ज्वरहर होती है।

मात्रा—गुद्दी ४-८ माशा।

अथ कटुकाया नामगुणानाह

कट्वी तु कटुका तिक्ता कृष्णभेदा कटम्भरा[1] ॥
अशोका मत्स्यशकला चक्राङ्गी शकुलादनी ॥
मत्स्यपित्ता काण्डरुहा रोहिणी कटुरोहिणी ॥ १५१ ॥

---

१. 'कटुम्बरे'ति पा०।

कट्वी तु कटुका पाके तिक्ता रूक्षा हिमा लघुः।
भेदिनी दीपनी हृद्या कफपित्तज्वरापहा। प्रमेहश्वासकासास्रदाहकुष्ठक्रिमिप्रणुत्॥ १५२॥

कुटकी के नाम तथा गुण—कट्वी, कटुका, तिक्ता, कृष्णभेदा, कटम्भरा, अशोका, मत्स्यशकला, चक्राङ्गी, शकुलादनी, मत्स्यपित्ता, काण्डरुहा, रोहिणी और कटुरोहिणी ये सब कुटकी के नाम हैं। कुटकी—तिक्त रसयुक्त, परिपाक में कटु रसयुक्त, रूक्ष, शीतल, लघु, मलको भेदन करने वाली, अग्निदीपक, हृदय के लिये हितकर, कफ, पित्तज्वर, प्रमेह, श्वास, कास, रक्त दोष, दाह, कुष्ठ तथा कृमि का नाश करने वाली होती है॥ १५१–१५२॥

४६ कुटकी

हि०-कुटकी, कटुकी, कटुका। ब०-कटकी। म०-केदारकडू, काली कुटकी। गु०-कालकडू कडू। ते०-कटुकुरोणी। क०-कटुक रोहणी, कटुकरोहिनी। ता०-कटुकु रोगणी। फा०-खर्बके-हिन्दी। अ०-सर्वके अस्वद, खानेखर्वेल। अं०-Picrorhiza (पिक्रोहाइझा)। ले०-*Picrorhiza kurroa Royle ex Benth.* (पिक्रोहाइझा कुर्रो)। Fam. Scrophulariaceae (स्क्रोफ्युलॅरियासी)।

यह हिमालय पहाड़ की ९०००–१५००० फीट ऊँची चोटियों पर काश्मीर से सिक्कम तक बहुत उत्पन्न होती है।

इसका क्षुप रोमश होता है। इसका **भौमिक तना** बहुवर्षायु, छोटी उँगली के समान मोटा एवं ६ से १०–१२ इञ्च तक लम्बा होता है। **पत्ते** २–४ इञ्च लम्बे, स्रुवाकार, जड़ की ओर संकुचित, आगे की ओर चौड़े, किञ्चित चिकने और कटे हुए झालरदार किनारे वाले होते हैं। क्षुप के बीच से एक डण्डी निकलती है जिसके अन्त में फूलों के गुच्छे लगते हैं। फूल-नीले या सफेद रङ्ग के आते हैं। फली-चौथाई इञ्च की होती है।

कुटकी इस क्षुप के मूल (भौमिकतनें-Rhizome) को कहते हैं। यह १ से २ इञ्च लम्बे, कपिश लोहबान की तरह रंग वाले, खुरदरे एवं मुड़े हुए टुकड़े होते हैं। इन पर छोटी छोटी चक्राकार गांठें तथा गिरे हुए पत्तों एवं मूल के निशान रहते हैं। यह एक तरफ मोटी तथा दूसरी तरफ पतली होती है तथा इसमें एक प्रकार की हलकी गन्ध होती है। इसका स्वाद अत्यन्त कडुवा होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें पिक्रोहाइझिन् (Picrorhizin) नामक एक कडुआ रवेदार मधुमेय (Glycoside) २६.६% पाया जाता है, जिसका उदांशन (Hydrolysis) होने पर पिक्रोहीझेटिन् (Picrorhizetin) एवं एक प्रकार की मधु शर्करा (Dextrose) प्राप्त होती है। यह मधुमेय जल, मद्यसार, एसिटोन (Acetone) और एथिल् ॲसिटेट् (Ethyl acetate) में घुलनशील एवं क्लोरोफॉर्म (Chloroform), बेंझिन (Benzene) और ईथर (Ether) में अघुलनशील होता है। यह अत्यन्त जलग्राही (Hygroscopic) होता है। इसके अतिरिक्त इसमें मधुशर्करा, मोम एवं कॅथार्टिक् ॲसिड् (Cathartic acid) आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह एक उत्तम **कटुआपौष्टिक**, दीपक, पाचक, **पित्तविरेचक** और **नियतकालिक ज्वरहर है**। इसकी क्रिया आंत्र एवं यकृत पर होती है। यह अल्प मात्रा में संस्रन तथा अधिक मात्रा में विरेचक होती है। जेन्शियन की तरह तिक्त पौष्टिक के रूप में इसका प्रयोग किया जाता है। इसका गुण इन्द्रायण के सदृश होता है।

इसका उपयोग नियतकालिकज्वर, शीतज्वर, कामला, पांडु, यकृत विकार, श्वास, कुपचन, हृद्रोग, संग्रहणी, आन्त्र की शिथिलता तथा बच्चों के कृमि विकारों में किया जाता है।

(१) पुनरावर्तित ज्वरों में इससे अच्छा लाभ होता है लेकिन इसको अधिक मात्रा में (३-४ माशा) देना पड़ता है। अविशिष्ट स्वरूप के सभी पुराण मन्द ज्वरों में, विशेषकर विबन्धयुक्त ज्वर में, इससे अच्छा लाभ होता है। इससे ज्वर जनित दाह की शान्ति होती है।

(२) हृदय के ऊपर इसकी क्रिया डिजिटॅलिस् की तरह होती है। हृदय की अकार्य क्षमता जनित यकृत् वृद्धि एवं उदरशोथ में इसको अधिक मात्रा में क्वाथ के रूप में देने से पतले दस्त होकर लाभ होता है तथा हृदय को बल प्राप्त होता है।

(३) आरोग्यवर्धिनी गुटिका में इसकी आधी मात्रा रहती है।

मात्रा—चूर्ण ५-१० रत्ती। जीर्णज्वर में—३-४ माशा।

प्रतिनिधि एवं व्यामिश्रण—(क) कुटकी के ही नाम से जेन्शियाना कुर्रो (Gentiana kurroo, Royle; Fam. Gentianaceae) के मूल जिन्हें 'करू' कहा जाता है, बेचे जाते हैं। ये बाह्य स्वरूप में कुटकी के ही समान दिखलाई देते हैं, लेकिन दोनों की सूक्ष्म रचना में भेद होता है। इनके अनुप्रस्थ विच्छेद (Transverse section) में अन्तर स्पष्ट दिखलाई देता है। जें० कुर्रो में रसारोहण नलिका (Vessel) के कोष्ठावरणों की वृद्धि से उत्पन्न मोटाई, चक्राकार (Annular) या सीढ़ी के डण्डों की तरह मोटी रेखाकार (Scalariform) होती है, लेकिन कुटकी (P. kurroa) में यह मोटाई विन्दुमय (Pitted) होती है। कुटकी (P. kurroa) में मूल के मध्य भाग में रहने वाले कोष्ठ जिन्हें पिथकोष्ठ (Pith cells) कहा जाता है, वे विन्दुमय आवरण (Pitted walled) वाले होते हैं लेकिन ये कोष्ठ जे० कुर्रो में अनुपस्थित रहते हैं। गुण धर्म की दृष्टि से भारतीय जे० कुर्रो विदेशी जेन्शियाना का अच्छा प्रतिनिधि समझा जाता है।

(ख) जे० कुर्रो के अतिरिक्त इसमें एक तीक्ष्ण औषधि **ले०**–*Helleborus niger Linn.* (हेलीबोरस् नाइगर्) मिली हुई रहती है, जिसको पहचानना आवश्यक है। इसके टुकड़े १ से ३ इञ्च लंबे और ½ इञ्च से कम मोटे होते हैं। बाह्य पृष्ठ चिकना, टूटे हुवे मूल के निशानों से युक्त एवं हलके रंग का होता है। यह टुकड़े बहुत हलके तथा दो अंगुलियों के बीच नख से दबाने पर दब जाने वाले होते हैं।

४६ (क) करू

सं०–त्रायमाण ? **हि०, बं०**–करू, कुटकी। **पं०**–कमल फूल, नीलकंठ। **बंम्ब०**–पाषाणभेद, जिंतीयाण। **अं०**–Indian Gentian (इण्डियन् जेन्शियन्)। **ले०**–*Gentiana kurroo Royle* (जेन्शियाना कुर्रो)। Fam. Gentianaceae (जेन्शियानॅसी)।

इसका **क्षुप** काश्मीर तथा हिमालय के उत्तरी पश्चिमी शिखरों पर ५०००-११००० फीट की ऊंचाई तक पाया जाता है। **पत्र**–मूलीय; कोषमय आधार वाले, ३-५ इञ्च लम्बे, रेखाकार (Linear ; **पुष्प**–नीले सफेद दागों से युक्त; **मूल**–हलका, पीला, चौपहल; **फली**–लम्बी। चिकित्सा में इसके भौमिक तने तथा मूल का व्यवहार किया जाता है। कुटकी तथा विदेशी 'जेन्शियन्' के स्थान पर इसका प्रयोग किया जाता है। इसकी अन्य जातियों का भी इसी प्रकार व्यवहार किया जाता है। इसके टुकड़े १ इञ्च लम्बे एवं इन पर चक्राकार धारियां होती हैं तथा ये ऐंठे हुए से प्रतीत होते हैं। अन्य पार्थक्य ऊपर लिखा गया है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक कड़ुवा पदार्थ तथा एक पारदर्शक राल के समान पीले रंग-का विना स्वाद का पदार्थ २०% पाया जाता है जो क्षारीय घोल में नहीं घुलता। इसमें जेन्शिय

पिक्रिन (Gentiopicrin) नहीं होता जिसे विदेशी जेन्शियन् (G lutea) का प्रभावकारी द्रव्य समझा जाता है। शायद यह इसके ताजे मूल से प्राप्त हो सकता है।

गुण और प्रयोग—यह कडुआ तथा बल्य है। इससे आमाशयिक रसों की अभिवृद्धि होकर भूख बढ़ती है। अधिक मात्रा में सेवन करने पर यह विरेचन कराती है। इसका स्वाद एवं गन्ध अच्छी होने के कारण अनेक बल्य एवं पाचक औषधियों के साथ इसका प्रयोग किया जाता है। इसमें टॅनिन न होने के कारण यह ग्राही भी नहीं होता है। ज्वर में इससे लाभ होता है।

मात्रा—चूर्ण ५-१५ र०।

४६ (ख) खुरासानी कुटकी

हि०-खुरासानी कुटकी। **गु०**-कडू। **म०**-कडू। **अ०**-खेरतिक। **इरान**-खेरबेकसीआ। **अं०**-Black hellebore (ब्लॅक् हेलीबोर), Christmas rose (क्रिस्टमस् रोझ)। **ले०**-*Helleborus niger Linn.* (हेलीबोरस नाइगर)। Fam. Ranunculaceae) (रेनन्क्युलेसी)।

इस वनस्पति के मूल नेपाल, हिमालय और अरब से आते हैं। कुटकी में इसकी मिलावट रहती है। विशेष वर्णन कुटकी के साथ दिया गया है।

रासायनिक संगठन—इसमें हेल्लेबोरिन् (Helleborin) तथा हेल्लेबोरेइन् (Helleborein) नामक पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह हृद्य, ज्वरहर, वेदनाहर, विरेचक, आर्तववृद्धिकर एवं कृमिघ्न है। अधिक मात्रा में यह विषैली औषधि है। इससे हृदयातिपात होकर मृत्यु हो सकती है। अधिक मात्रा से प्रथम वमन और विरेचन प्रारम्भ होता है, फिर नाडी की गति कम होते होते मृत्यु हो सकती है।

(१) हृदय की अकार्यक्षमता के कारण उत्पन्न जलोदर में पुनर्नवा, अपामार्ग, चिरायता एवं सोंठ के साथ इसका क्वाथ बहुत लाभकर होता है। हृदय पर इसकी क्रिया डिजिटेलिस् के समान होती है। इससे हृदय को बल मिलता है एवं नाडी की गति मंद होकर नाडी बलवान् होती है और जलोदर दूर होता है।

(२) वेदनायुक्त ज्वर जैसे फुफ्फुस पाक, तीव्र सन्धि शोथ एवं प्रसूतिज्वर आदि में इसके प्रयोग से लाभ होता है। इन रोगों में इसकी क्रिया वत्सनाभ के समान होती है।

(३) इसके क्वाथ से व्रण प्रक्षालन करने से व्रणपीडा दूर होती है। यह स्थानिक वेदनाहर भी है।

मात्रा—चूर्ण ४-८ र०।

अथ किरातकस्य (चिरायता) नामगुणानाह

किराततिक्तः कैरातः कटुतिक्तः किरातकः ॥ १५३ ॥
काण्डतिक्तोऽनार्यतिक्तो भूनिम्बो रामसेनकः ॥
किरातकोऽन्यो नैपालः सोऽर्द्धतिक्तो ज्वरान्तकः ॥ १५४ ॥
किरातः सारको रूक्षः शीतलस्तिक्तको लघुः।
सन्निपातज्वरश्वासकफपित्तास्रदाहनुत्। कासशोथतृषाकुष्ठज्वरव्रणकृमिप्रणुत् ॥ १५५ ॥

चिरायता के नाम तथा गुण—किराततिक्त, कैरात, कटुतिक्त, किरातक, काण्डतिक्त, अनार्यतिक्त भूनिम्ब और रामसेनक ये सब चिरायता के नाम हैं। नेपाल देश में एक प्रकार की चिरायता उत्पन्न होती है जो कि इसकी अपेक्षा आधा तिक्तरसयुक्त होती है। अत एव उसे 'अर्धतिक्त' कहते हैं। वह ज्वरनाशक होती है। **चिरायता**— सारक (दस्तावर), रूक्ष, शीतल, तिक्तरसयुक्त एवं लघु होती है एवं सन्निपातज्वर, श्वास, कफ, पित्त, रक्तदोष, दाह, कास, शोथ, प्यास, कुष्ठ, ज्वर, व्रण और कृमि इन सबों को दूर करती है॥ १५३–१५५॥

४७ किरात (चिरायता)

हि०-चिरायता, चिरेता, चिरैता, चिराइता। **बं०**-चिराता, चिरेता। **म०**-काडेचिराईत, चिराइता। **गु०**-करियातुं। **क०**-नेलबेवु। **ते०**-नीलवेमु। **ता०**-निलवेम्बु। **फा०**-नोनिहाद, मोनिहादन्दी। **अ०**-कसबुज्जरीरा, कस्बुझ्झारिरा, कसबुल् रायरह। **अं०**-Chireta। चिरेटा)। **ले०**-*Swertia Chirata* (Buch-*Ham*)। (स्वर्शिया चिराटा) Fam. Gentianaceae (जेन्शियानॅसी)।

चिरायता हिमालय पहाड़ के गरम प्रान्तों में काश्मीर से भूटान तक और खासिया के पहाड़ पर उत्पन्न होता है।

प्रायः पृथ्वी के सब देशों में १८० प्रकार का चिरायता पाया जाता है, इनमें हमारे देश में ३७ प्रकार का होने का अनुभव किया गया है। जिस चिरायते को हम लोग व्यवहार में लाते हैं और जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है, वह हिमालय पहाड़ के लगभग ४ हजार से १० हजार फीट ऊँची चोटियों पर तथा खासिया के पहाड़ पर ४ हजार से ५ हजार फीट की ऊँची चोटियों पर उत्पन्न होता है।

इसका वर्षायु **क्षुप**-दो फीट से ५ फीट तक ऊँचा होता है। **कांड**-नारंगी कालासा या जामुनी, मूल की तरफ गोल, मोटा, ऊपर बहुशाखा युक्त तथा चौपहल; **पत्र**-चौड़े भालाकार, ४ × १·५ इञ्च, चिकने, नोकदार, ३ से ७ शिराओं से युक्त, विपरीत; **दलपत्र**-हरित पीत, परंतु बैंगनी रंग की छाया भी हो सकती है। प्रत्येक विच्छेद पर दो दो हरिताभ और रोमश ग्रन्थियाँ होती हैं। फूलने पर इसमें डोंडी लगती है जिनमें बहुत, बारीक बीज निकलते हैं। पुष्पित होने पर सम्पूर्ण क्षुप को उखाड़ कर सुखाकर बेचते हैं जिसका औषधि में व्यवहार होता है। यह अत्यन्त कडवा होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें चिरातिन् (Chiratin, $C_{52}H_{96}O_{30}$) और ओफेलिक् एसिड (Ophelic acid, $C_{26}H_{40}O_{20}$) नामक दो कडुवे द्रव्य १·४२–१·५२% रहते हैं। इनमें पहला हलके पीले रंग का पदार्थ है एवं दूसरा भी हलके पीले बादामी रंग का, आर्द्र, चासनी की तरह पदार्थ होता है जो जल तथा मद्यसार में घुल जाता है। इसके अतिरिक्त इसमें यवक्षार, चूना, राल एवं ओलिक् (Oleic), पामिटिक् (Palmitic) और स्टियरिक् अम्ल (Stearic acids) आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—चिरायता दीपन, पाचन, तिक्तपौष्टिक, ज्वरहर, दाहप्रशमन, पित्तविरेचक एवं कृमिघ्न है। जेन्शियन की तरह ही यह लाभदायक है। इसके प्रयोग से भूख बढ़ती है, पाखाना साफ होता है तथा पुराने ज्वर में लाभ होता है। इसका उपयोग स्वतन्त्र की अपेक्षा अन्य औषधियों के साथ अधिक किया जाता है।

इसका प्रयोग ज्वर, विषमज्वर, दाह, अग्निमान्द्य, शैथिल्यप्रधान कुपचन, आध्मान, अम्लपित्त, यकृत विकार, कामला, पांडु, श्वास, शोथ, गण्डमाला तथा क्रमिरोग एवं व्रण में किया जाता है।

(१) पुराने ज्वर में जब अग्निमांद्य तथा शरीर में दाह रहता है तब इसके फांट या चूर्ण से लाभ होता है। सुदर्शन चूर्ण, जिसमें इसकी आधी मात्रा रहती है, बहुत व्यवहार में आता है।

(२) रोग संनिवृत्तावस्था में पाचन सुधारने के लिए तथा अग्निवृद्धि के लिए बल्य औषधि के रूप में इसके फाण्ट का व्यवहार लौंग दालचीनी आदि सुगन्धि औषधियों के साथ किया जाता है।

(३) हिचकी, गर्भिणीवमन एवं मद्यपान करने वालों में यदि वमन हो तो इसके चूर्ण वा क्वाथ का प्रयोग मधु या शर्करा मिलाकर करते हैं।

(४) वातरक्त में बल्य औषधि की तरह इसका प्रयोग किया जाता है।

(५) उष्ण कटिबन्धज यकृत विकारों में धनियां तथा चिरायते का क्वाथ मधु के साथ देने से लाभ होता है।

(६) भूनिम्बादि चूर्ण जिसमें चिरायता, कुटकी, त्रिकटु, मुस्तक, इन्द्रयव, कुरैया की छाल एवं चित्रक आदि पदार्थ रहते हैं, उसका व्यवहार कुपचन, संग्रहणी, ज्वर तथा क्रमिरोग में किया जाता है।

(७) सुदर्शन चूर्ण तथा टङ्कण क्षार का दो तीन बार बाह्य प्रयोग करने से 'अजगल्लिका' (Impetigo contagiosa) नामक फुन्सियों में पारद मलहर की अपेक्षा अधिक लाभ होता है।

(८) जीर्णज्वर में पांडु तथा कृशता होने पर किराताादि तैल से अभ्यङ्ग कराया जाता है।

मात्रा—चूर्ण ४–१५ रत्ती।

प्रतिनिधि—ये सभी जेन्शियानेसी (Gentianaceae) वर्ग के हैं।

(१) S. purpurascens Wall. (स्व० परप्यूरासेन्स्)—यह पश्चिमोत्तर हिमालय के गरम प्रान्तों में काश्मीर से कुमाऊँ तक प्राप्त होता है। कांड छोटे; शाखाएँ फैली हुई; पत्र आयताकार वा भालाकार, १½ × ·७ इञ्च; दलपत्र हलके सुर्खी लिये बैंगनी रंग के और उनके आधार पर एक कालाचक्र, विच्छेद बाहर की ओर मुड़े हुये और एक एक ग्रन्थि से युक्त होते हैं।

(२) S. decussata Nimmo ex Grah. (स्व० डिकसेटा)—म०-सिलाजित, महाबलेश्वर—कडु, द०-कर्वि।

इसका छोटा क्षुप दक्षिण के पश्चिमी भागों में होता है। कांड चौपहल; पुष्प श्वेत। इसके टुकड़े २ इञ्च लम्बे एवं हंस के पंख के इतने मोटे होते हैं। ये महाबलेश्वर में बिकते हैं। स्वाद अत्यन्त कडुआ। गुण करू (जें. कुर्रो) की तरह।

(३) S. chinensis Franchet (स्व० चाइनेन्सिस्)—जापानी चिरायता का क्षुप छोटा एवं ४–१४ इञ्च ऊँचा होता है। कांड बहुत बारीक। यह स्वाद में चिरायते की अपेक्षा अधिक कडुआ होता है।

(४) S. paniculata Wall. (स्व० पॅनिक्युलॅटा) बं०-कड़वी।

(५) S. perennis Linn. (स्व० पेरेन्निस्)।

(६) S. corymbosa Wight (स्व० कोरिम्बोसा)।

(७) S. affinis Clarke (स्व० अफिनिस्)।

(८) Exacum bicolor Roxb. (एक्झॉकम् बाइकलर)—हि० बड़ा चिरायता।

इसका क्षुप दक्षिण में कोंकण में बरसात के दिनों में उत्पन्न होता है। पुष्प श्वेत और सुन्दर। दलपत्रों के अन्तिम हिस्से जरा नीले से रहते हैं। गुण—पौष्टिक, अग्निवर्धक एवं करू की तरह।

(९) E. tetragonum Roxb. (ए. टेट्रागोनम्)—हि०-तितखन, म०- ऊदकिराईत।

इसका वर्षायु क्षुप उत्तर हिन्दुस्तान के पहाड़ी प्रदेश एवं हिमालय पर उत्पन्न होता है। यह एक हाथ ऊँचा, कांड चौपहल; पत्र-विपरीत, विनाल, शल्याकृति लेकिन कुछ चौड़े, एक अङ्गुल लम्बे और ५ शिरायुक्त; पुष्प नीले। गुण-दीपन एवं कड़ुवापौष्टिक। इसका प्रयोग जीर्णज्वर तथा कुपचन में किया जाता है।

(१०) Erythraea roxburghii G. Don (एरिथ्रिआ रॉक्सबर्गाय)। ब०-गिर्मि। म०-लुन्तक।

इसका छोटा सा क्षुप कोंकण में बरसात के बाद उत्पन्न होता है। पुष्प सुन्दर, गुलाबी एवं सितारों के समान। स्वाद कड़ुवा। गुण—इसको कडूनाई भी कहते हैं तथा पौष्टिक कड़ुवी औषधि की तरह बङ्गाल में व्यवहार में आती है। कुपचन तथा ज्वर में इसका प्रयोग किया जाता है।

(११) Enicostemma littorale Blume (एनिकोस्टेमा लिटोरेल)—हि०, म०-छोटा चिरायता, गु०-मामिज्वा; ते०-नेलगलिल।

इसका छोटा क्षुप सभी जगह किन्तु समुद्र के किनारे तथा तर जमीन में अधिक होता है। यह बंगाल में नहीं होता। गुजरात तथा उत्तरी कोंकण में बहुत होता है। इसका क्षुप एक बित्ता ऊँचा एवं बहुत शाखायुक्त होता है। कांड सीधा, चौपहल एवं मूल से ऊपर तक पत्र युक्त। पत्र विपरीत, विनाल, शल्याकृति, सनाय वा इमली की तरह एवं ३ शिरायुक्त। पुष्प श्वेत, छोटे, विनाल, प्रत्येक कोण में ३, ३। फल गोल फली। स्वाद अत्यन्त कड़ुवा। इसके पञ्चांग का व्यवहार गुजरात तथा मद्रास में अधिक किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह दीपन, पाचन, वातानुलोमक, आनुलोमिक एवं तिक्त पौष्टिक है। इसको रत्ती दो रत्ती मात्रा में कुपचन में देते हैं।

व्यामिश्रण—इनमें से प्रथम दो जेन्शियानेसी (Gentianaceae) वर्ग के हैं।

(१) S. angustifolia Buch.-Ham. (स्व० अँगस्टिफोलिया)—इसका कांड चौपहल एवं पंखयुक्त होता है। यह स्वाद में चिरायते की अपेक्षा कम कटु होता है एवं इसमें पिथ कोष (Pith cells) बहुत ही अल्प रहते हैं।

(२) S. alata Royle ex D. Don (स्व० ॲलाट)—यह बिलकुल कड़ुवा नहीं होता। इसमें पिथ (Pith) पूर्ण संवर्धित रहता है। चिरायता इससे अधिक गहरे रंग का, स्वाद में अत्यन्त कड़ुवा और इसका पिथ (Pith) संतत (Continuous) रहता है।

(३) Rubia cordifolia Linn. (रूबिया कॉर्डिफोलिया) (Fam.—Rubiaceae-रूबिएसी) - इसकी पहचान इसके बैंगनी (Purple) रंग से हो जाती है।

(४) Andrographis paniculata Nees (Fam. Acanthaceae-ॲकेथेन्सी) (अंड्रोग्राफिस् पॅनिक्युलॅटा) - हि० कालमेघ।

इसके कांड हरे, अनेक सीधी, पतली विपरीत शाखाएँ एवं पत्र भालाकार और हरे होते हैं जिससे इसका भेद किया जा सकता है। देशी चिरायता के नाम से यह बजार में बिकता है।

अथेन्द्रयवस्य नामगुणानाह

उक्तं कुटजबीजं तु यवमिन्द्रयवं तथा। कलिङ्गं चापि कालिङ्गं तथा भद्रयवा अपि ॥१५६॥

इन्द्रयव के नाम तथा गुण—कुटज (कुडा या कुरैया) के बीज को इन्द्रयव कहते हैं उसके नाम—कुटजबीज, यव, इन्द्रयव, कलिङ्ग, लिङ्गका और भद्रयव ये सब हैं ॥ १५६ ॥

***इति क्लीबेऽमरोप्याह ॥ १५६ ॥**

'अमरसिंहने 'अमरकोश' में इन्द्रयव को नपुंसकलिङ्ग कहा है ॥ १५६ ॥

क्वचिदिन्द्रस्य नामैव भवेत्तदभिधायकम्। फलानीन्द्रयवास्तस्य तथा भद्रयवा अपि ॥१५७॥

कहीं पर इन्द्र के जो नाम हैं वे ही इन्द्रजव के भी समझे जाते हैं और कुरैया के फल का इन्द्रयव तथा भद्रयव नाम हैं ॥ १५७ ॥

***इति धन्वन्तरिः प्राह ॥ १५७ ॥**

यहां पर यह और समझना चाहिये कि यह वचन 'धन्वन्तरि' भगवान् का है, इससे इन्द्रयव का पुल्लिङ्ग में भी प्रयोग होता है ॥ १५७ ॥

इन्द्रयवं त्रिदोषघ्नं संग्राहि कटु शीतलम् ॥ १५८ ॥
ज्वरातीसाररक्तार्शोवमिवीसर्पकुष्ठनुत्। दीपनं गुदकीलास्रवातास्रश्लेष्मशूलजित् ॥ १५९ ॥

इन्द्रजव त्रिदोषनाशक, संग्राही, कटु रस युक्त और शीतल है। यह ज्वर, अतीसार, खूनी बवासीर, वमन, वीसर्प एवं कुष्ठ को दूर करने वाला, अग्निदीपक एवं गुदकील, रक्तदोष, वातरक्त, कफ तथा शूल को दूर करता है ॥ १५८–१५९ ॥

४८ इन्द्रयव

हि०–इन्द्रजव, कडवा इन्द्रजव। **गु०**–इन्दर जव, इन्द्र जव। **म०**–कुड्याचे बी। **ले०**–*Holarrhena antidysenterica Wall.* (हॉलेरहीना एन्टिडिसेन्टेरिका)। Fam. Apocynaceae (एपोसाइनेसी)।

कुड़ा वृक्ष की फलियों के बीज को 'इन्द्रजव' कहते हैं। यह देखने में जई के आकार का होता है। इन्द्रजव कड़वा और इन्द्रजव मीठा इन भेदों से यह दो प्रकार का होता है। मीठा या कम कड़वा इन्द्रजव, कुटज भेद, राइटिया टिन्क्टोरिया (Wrightia tinctoria R. Br.) के बीज को कहते हैं जो कम गुण वाला होता है। इनका शेष परिचय कुटज वृक्ष के प्रकरण में दिया जायगा।

गुण और प्रयोग—यह कडुवा, दीपन, संग्राही, ज्वरहर, कृमिघ्न, वातानुलोमक, वृष्य, बल्य एवं रक्तसंग्राहक है।

इसका प्रयोग रक्तातिसार, ज्वरातिसार, शीतज्वर, रक्तार्श, संग्रहणी, प्रवाहिका, पथरी तथा श्वास एवं पुराने फुफ्फुस विकारों में किया जाता है। इसको भूनकर फांट, क्वाथ या चूर्ण के रूप में दिया जाता है।

(१) बच्चों के रक्तातिसार में कडवा इन्द्रजव एवं नागरमोथा के क्वाथ में मधु मिलाकर दिया जाता है।

(२) रक्तार्श में सोंठ के साथ इसके क्वाथ को देने से लाभ होता है। इसको दूध के साथ क्वाथ करके देने से इसमें बहुत लाभ होता है।

(३) कुपचन, उदरशूल एवं अग्निमान्द्य आदि के लिये इसके चूर्ण को अल्प मात्रा में नित्य लेने से लाभ होता है। वमन में इसको भूनकर या फांट या क्वाथ बनाकर देना चाहिये।

(४) पुराने फुफ्फुस के विकार तथा दमा में इसका व्यवहार किया जाता है।

(५) पार्यायिकज्वर तथा शीतज्वर में इसको गुडुच के साथ क्वाथ बनाकर देना चाहिये। नित्य इन्द्रजव का चूर्ण खाते रहने से शीतज्वर नहीं आता।

(६) पूयदन्त (Pyorrhœa) में मसूड़ों पर इसके चूर्ण को मलने से रक्तस्राव कम होता है तथा पूय एवं दुर्गन्धि दूर होती है।

मात्रा—चूर्ण १-४ माशा भूनकर या ½-१ तो० क्वाथ बनाकर।

मीठा इन्द्रयव बलवर्धक है तथा धातुपौष्टिक के रूप में इसका प्रयोग किया जाता है।

अथ मदनस्य (मैनफल) नामगुणानाह

मदनश्छर्दनः पिण्डो नटः[1] पिण्डीतकस्तथा। करहाटो मरुवकः शल्यको विषपुष्पकः॥१६०॥
मदनो मधुरस्तिक्तो वीर्योष्णो लेखनो लघुः। वान्तिकृद्विद्रधिहरः प्रतिश्यायव्रणान्तकः॥
रूक्षः कुष्ठकफानाहशोथगुल्मव्रणापहः॥ १६१॥

मैनफल के नाम तथा गुण—मदन, छर्दन, पिण्ड, नट, पिण्डीतक, करहाट, मरुवक, शल्यक तथा विषपुष्पक ये सब मैनफल के नाम हैं। **मैनफल**—मधुर तथा तिक्तरसयुक्त, उष्णवीर्य, लेखन, लघु, वमनकारक, विद्रधिरोग को दूर करने वाला, प्रतिश्याय (जुकाम) और व्रणका नाशक, रूक्ष एवं कुष्ठ, कफ, आनाह, शोथ, गुल्म तथा क्षत को दूर करने वाला होता है॥ १६०-१६१॥

४९ मदन (मैनफल)

हि०–मैनफल, मयनफल। **ब०**–मेनफल, मयना कांटार गाछ। **म०**–गेल, गेलफल। **गु०**–मींडोल, मींढल। **क०**–मंगरिकै। **ते०**–वसन्त कड़िमि चेट्टु, मण्डचेट्टु, मंगचेट्टु। **ता०**–मरकलन्, पुंगारै,। **ने०**–मैदल। **फा०**–झुझ्-उल्-कुच्। **अ०**–जौजुल् कौसल। **अं०**–Emetic Nut (एमेटिक नट्), Bushy Gardenia (बुशी गार्डेनिया)। **लै०**–*Randia dumetorum* *Lam.* (रॅंडिया ड्युमेटोरम्)। Fam. *Rubiaceae* (रूबियेसी)।

यह हिमालय के साधारण प्रदेश में जम्मू से पूरब की ओर सिक्कम तथा दक्षिण की ओर चट्टगांव, खासिया पहाड़, सिलहट आदि प्रान्तों में पाया जाता है।

इसका वृक्ष—१-२॥ इञ्च लम्बे लम्बे मजबूत पत्र कोणीय कांटों से भरा हुआ छोटे कद का होता है। **छाल**–भूरे रङ्ग की, **लकड़ी**–सफेद या भूरे रङ्ग की होती है। **पत्ते**–१-२ इञ्च लम्बे ऊपर से लट्वाकार और नीचे की ओर क्रमशः पतले होकर पंखयुक्त पत्रनाल में परिवर्तित होते हैं और प्रायः दलबद्ध होकर रहते हैं। **फूल**–पांच पंखड़ी वाले किञ्चित हरिताभ, सफेद और सुगन्धयुक्त होते हैं। **फल**–जङ्गली अन्जीर, सुपारी या अखरोट के आकार के होते हैं और पकने पर पीले पड़ जाते हैं। **बीज**–श्रीहीदाने के समान होते हैं। इन्हीं फलों को मैनफल कहते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके फल में सॅपोनिन् (Saponin) तथा व्हॅलेरियानिक् एसिड (Valerianic acid), मोम, राल एवं रञ्जक पदार्थ आदि पाये जाते हैं।

---

१. 'राठः' इति पाठा०।

गुण और प्रयोग—मैनफल बहुत अच्छा वमन द्रव्य माना गया है। प्राचीन शास्त्रकारों ने इसके बीजों को एक विशेष प्रकार से संग्रह कर व्यवहार करने को लिखा है। नये ग्रन्थकार इसके बीज वा फल की छाल को वामक नहीं मानते लेकिन इसके गूदे (Pulp) को वामक मानते हैं। डा० देसाई प्राचीन मत से सहमत हैं। कुछ भी हो सम्पूर्ण फल वामक अवश्य है। कुछ विद्वान् इसको इपीकाक् का अच्छा प्रतिनिधि बतलाते हैं। इसका उपयोग गर्भपात कराने के लिये किया जाता हैं तथा यह मछलियों के लिये विषैला है।

(१) एक फल कूट कर २३ तो० जल में १ घंटा भिगोकर रखना चाहिये। फिर पत्थर के खरल में घोंटकर, कपड़े से छान कर, उसमें थोड़ा मधु तथा पीपर मिलाकर खाली पेट पिलाने से १ घण्टे बाद १–२ साफ वमन हो जाता हैं और कभी कभी बाद में विरेचन भी होता है। इस वामक प्रयोग को हृष्ट-पुष्ट मनुष्य में व्यवहार में लाना चाहिये।

(२) इसके २–३ फलों के गूदे को कूट कर ½ पाव जल में १०–१५ मिनट मसल कर छानकर प्रयोग किया जाय तो प्रायः १० मिनट में हृल्लास और वमन शुरू हो जाता है। इसको देने के बाद उष्ण जल पिलाने से और भी वमन होता है। या केवल १ फल का गूदा भी पर्याप्त हो सकता है।

(३) इसके गूदे को सुखाकर रख सकते हैं तथा १ से ४ माशे तक वामक औषधि के रूप में या २½–५ र० कफनिःसारक एवं स्वेदल औषधि के रूप में व्यवहार में ला सकते हैं।

(४) मुलेठी मन्दार एवं मैनफल का चूर्ण २–७ र० देने से श्वास तथा खाँसी में लाभ होता हैं एवं अधिक मात्रा में (१०–३० र०) अजीर्ण, शूल, शिरःशूल और अण्डकोष शोथ में वमन कराने के लिये देते हैं।

(५) अन्य सुगन्धि औषधियों के साथ रक्तातिसार, पार्यायिक ज्वर एवं शिरःशूल में इसके गूदे को देते हैं। अतिसार में १ से २ माशा गूदा दिया जाता है। यह इपीकाक् का अच्छा प्रतिनिधि है।

(६) इसके गूदे का टिंक्चर १५–६० बूंद कुकास एवं पागलपन में तथा उद्वेष्टन निरोधि एवं शामक औषधि के रूप में व्यवहार में लाया जाता है।

(७) इसका फलत्वक् एवं बीज विरेचक एवं कृमिघ्न है एवं बच्चों में पित्तमयता तथा कृमि दूर करने के लिये व्यवहार मे आता है।

(८) इसके वृक्ष की छाल का बाह्य लेप शोथहर एवं वेदनाहर है एवं आमवात, फोड़े तथा चोट एवं हड्डियों की पीडा पर लगाया जाता है। अतिसार, संग्रहणी, ज्वर तथा आमवात में इस वृक्ष की छाल का आन्तरिक प्रयोग भी किया जाता है। कांजी के साथ इसके फल को पीस कर नाभि के चारों तरफ लगाने से उदरशूल दूर होता है। मुखदूषिका (acne) एवं फोड़े आदि में इसके फल के लेप से लाभ होता है।

(९) बच्चों में दन्तोत्भेद के समय ज्वर आदि होने पर इसके गूदे के चूर्ण को तालू तथा मसूढ़ों पर रगड़ते हैं।

(१०) वन्ध्यत्व दूर करने के लिये ६ माशा इसके बीज के चूर्ण को दूध, शक्कर वा केशर के साथ खिलाना चाहिये तथा ८, १० रत्ती चूर्ण की गुड़ के साथ बत्ती बनाकर योनि में धारण करानी चाहिये। इस प्रयोग से गर्भाशय शोथ आदि विकार दूर होकर कष्टार्तव एवं अनियमितार्तव आदि में भी लाभ होता हैं।

(११) सर्पविष में यह औषधि लाभदायक है। इसके मूल को बैल के मूत्र में पीसकर अंजन कराया जाता हैं तथा शुष्क मज्जा का आन्तरिक प्रयोग (५–१५ र०) करते हैं।

मात्रा—वामक-१ फल का हिम। गूदे का चूर्ण १–४ माशा। अन्य गुणों के लिये २–४ रत्ती।

अथ रास्नाया नामगुणानाह

रास्ना युक्तरसा रस्या सुवहा रसना रसा। एलापर्णी च सुरसा सुगन्धा श्रेयसी तथा ॥१६२॥
रास्नाऽऽमपाचिनी तिक्ता गुरूष्णा कफवातजित् ॥ १६३ ॥
शोथश्वाससमीरास्रवातशूलोदरापहा । कासज्वरविषाशीतिवातिकामयसिध्महृत् ॥ १६४ ॥

रास्ना के नाम तथा गुण—रास्ना, युक्तरसा, रस्या सुवहा, रसना, रसा, एलापर्णी, सुरसा, सुगन्धा तथा श्रेयसी ये सब रास्ना के नाम हैं। रास्ना—आम को पचाने वाली, तिक्तरस युक्त, गुरु, उष्णवीर्य और कफ वात नाशक है तथा शोथ, श्वास, वातरक्त, वातशूल, उदर रोग, कास, ज्वर, विष, अस्सी (८०) प्रकार के वात रोग तथा सिध्म इन सब को दूर करती है ॥१६३–१६४॥

५० रास्ना

आज कल वैद्य समाज में रास्ना एक भ्रमात्मक औषधि मानी जा रही है। वात विकारों के लिये आयुर्वेद में इसका प्रयोग रास्नादि, महारास्नादि क्वाथ के रूप में बहुत किया जाता है। भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न औषधि रास्ना नाम से ली जाती है। प्राचीन ग्रन्थों में इसके परिचय में निम्न श्लोक प्राप्र होते हैं।

रास्ना तु त्रिविधा प्रोक्ता मूलं पत्रं तृणं तथा।
ज्ञेयौ मूलदलौ श्रेष्ठौ तृणरास्ना तु मध्यमा ॥ (रा. नि.)
अथ रास्ना भृङ्गपत्रा पाषाणादौ प्रजायते।
गिरौ च लघु-रास्ना स्यात् ततो हीनगुणा स्मृता ॥

सुगन्धमूला, एलापर्णी ॥ (शिवदत्तः)

नीचे रास्ना नाम से ली जाने वाली विभिन्न वनस्पतियों का वर्णन अलग २ किया गया है।

(१) Pluchea lanceolata Oliver & Hiern (प्लूचिया लॅन्सिओलॅटा)। Fam-Compositae (काम्पोझिटी)। **हि०**-रायसन, रोशना, वायसुरई। **पं०**-रासन। **सिन्ध०**-कौरसन। **रा० पु०**-छोटा कलिया। **अलीगढ़**-वनसेरई, वनसोरई, वायसुरई। **आगरा**-छोटी कलिया। **कानपुर**-सुरही, सोरहि। **बिहार**-रोशना, रचना, रोचना।

यह अपर बंगाल, बिहार, अवध, कानपुर और पश्चिम की ओर पञ्जाब तथा सिन्ध तक पाई जाती है। पत्तों का आकार रास्ना अर्थात् जिह्वा के सदृश होने से इस का नाम रास्ना रखा गया है। इसी के आधार पर **उत्तर प्रदेश, पश्चिमोत्तर प्रदेश** आदि जगहों के अधिकांश वैद्य वायसुरई को ही 'रास्ना' मानते हैं। बिहार के ग्रामीण इसको 'रचना' और 'रोचना' के नाम से पुकारते हैं। मालूम होता है कि—रचना शब्द रसना का अपभ्रंश है। बिहार के अधिकांश वैद्य भी इसको उपयोग में लाते हैं। श्रीमान् ठा० बलवन्तसिंहजी इसी को उपयोग में लाने की सलाह देते हैं।

इसका क्षुप १-२ फीट ऊँचा, अनेक शाखा प्रशाखा करके झाड़दार तथा उन पर असंख्य बारीक भूरे रङ्ग के रोवें होते हैं। पत्ते-१-२ इञ्च लम्बे सनाय के पत्तों के आकार वाले किन्तु उससे बड़े होते हैं तथा सूखने पर पीलापन लिये भूरे रङ्ग के हो जाते हैं। पर्णवृन्त छोटा एवं ऐंठा हुआ होता है। पतली पतली शाखाओं के अन्त में नन्हे नन्हे बैंगनी रङ्ग के फूलों की घुण्डियां लगती हैं।

गुण और प्रयोग—इसके पत्र सनाय की तरह भेदन हैं तथा सनाय के स्थान पर प्रयोग में आते हैं।

(२) Inula racemosa Hook. f. (इनुला रेसिमोसा)। Fam. Compositae (कॉम्पोझिटी)। **फा०-रासन,** कुष्ठ-इ-शामी। **अ०**-जंजबीलशमी। **ईरान०**-पिल् गुप् घार्ष। **कश्मीर**-पोष्कर।

डा० देसाई अन्य शास्त्रज्ञों के साथ सहमत होते हुए रास्ना के स्थान पर इसी क्षुप के मूल को व्यवहार करने की सलाह देते हैं क्योंकि इसके गुण रास्ना से मिलते जुलते हैं। कुछ अन्य विद्वान् इनूला को **पुष्करमूल** मानते हैं।

स्थान भेद से इसके क्षुप की ३, ४ जातियां पाई जाती हैं। यह काश्मीर तथा उत्तर-पश्चिम हिमालय में होती हैं। भारत में जहां जहां सुगन्ध कूठ होता है वहां वहां यह उत्पन्न होने से तथा उसके समान दिखलाई देने से कूठ में इसकी मिलावट की जाती है।

रासन का क्षुप ५ फीट तक ऊंचा एवं दृढ होता है। **पत्र**-चर्मवत्, ऊपर से खुरदरे एवं नीचे से घनरोमश तथा दन्तुर होते हैं। आधारीय पत्र ८-१८ इञ्च × ५-८ इञ्च बड़े, दीर्घ वृत्ताकार-भालाकार एवं लम्बे वृन्त से युक्त होते हैं। काण्डपत्र अंडाकार-आयताकार, अर्धकाण्डासक्त एवं प्रायः आधार पर गहराईतक खंडित होते हैं। **पुष्प**-पीत वर्ण के १·५-२ इञ्च व्यास के गुच्छों में आते हैं। **फल**-छोटे, महीन एवं अग्र पर रक्ताभ रोमयुक्त होते हैं। इसकी ताजी जड़ में ओरिस् एवं कर्पूर जैसी तीव्र गंध होती है जो रखने पर कम हो जाती है।

रासायनिक संगठन—रासन में अल्प मात्रा में उड़नशील तैल और इनुलिन् (Inulin) होता है। तैल में एलेन्टोलॅक्टोन (Alantolactone, $C_{15} H_{20} O_2$) नामक एक कृमिनाशक, कफनिःसारक एवं मूत्रल द्रव्य होता है।

गुण और प्रयोग—यह पाचन, वातहर, कफहर, श्वासहर एवं गर्भाशय संकोचक है। इसका क्वाथ आध्मान, उदरशूल, कुपचन, अनार्तव, कष्टार्तव, फुफ्फुस विकार जैसे दमा, जीर्ण श्वसनिका शोथ, क्षय, फुफ्फुसावरण शोथ एवं आमवात तथा अन्य वातिक रोगों में दिया जाता है। इससे ज्वर तथा सूजन कम होती है तथा वेदना दूर होती है।

कण्डू आदि त्वचा के रोगों में इसके क्वाथ को शरीर पर लगाया जाता है। मूल को गोमूत्र में रगड़ कर खुजली, दाद एवं पामा आदि पर लगाया जाता है। राजयक्ष्मा के जन्तुओं से उत्पन्न त्वचा के व्रणों में इससे लाभ होता है। जन्तुओं के विष को दूर करने के लिये इसका उपयोग करते हैं तथा इससे वेदना कम होती है।

प्रतिनिधि—कूठ।

(३) Vanda roxburghii R. Br. (वॅण्डा रॉक्सबर्गाइ)। Fam. Orchidaceae (ओरचिडॅसी)। **बांदा, बंगीय रास्ना। बं०**-रास्ना। **संताल**-दरेबंकि। **क०**-मरबाले। **ते०**-कनपचेट्टू, वदनिके, नेरदानचेट्टू।

यह बंगाल, बिहार, गुजरात तथा कोंकण से ट्रावनकोर तक प्राप्त होते हैं। इसके पौधे प्रायः आम और मधूक वृक्षों की डालियों पर उगे हुए पाये जाते हैं। **काण्ड** १-२ फीट लम्बा तथा उसकी ग्रन्थियों से अनेक मोटे और मांसल वातलम्बी (Epiphytic = एपिफाइटिक्) मूल निकले रहते हैं। **पत्तियां**-६-८ इञ्च लंबी, मध्य पर्शुक पर गहरी और दो कतारों में निकली हुई रहती हैं। **सदण्डिक पुष्पमंजरियां** पत्तियों से लम्बी होती हैं। **पुष्प** व्यास में १½-२ इञ्च और पंखड़ियां प्रायः मिश्रित वर्ण की होती हैं। वे अधिकतर पीताभ और कभी कभी नीलाभ होती हैं और उनके कुछ भागों में बदामी, बैंगनी तथा सफेद रंग भी होते हैं। **फल**—३-३½ इञ्च लम्बा और सन्धियों पर रीढदार होता है। इसके **मूल** का उपयोग किया जाता है।

बंगाल के अधिकांश कविराज इसी को उपयोग में लाते हैं। वे प्रायः वाटिकाओं में आम के वृक्षों की मोटी टहनियों के ऊपर की खरदरी छाल को पृथक् कर उस पर उक्त रासन की शोरियां युक्त बिठा रस्सी से बांध कुछ मिट्टी का अंश दे पानी से कुछ रोज सींचा करते हैं।

गुण और प्रयोग—आमवातादि में इससे कुछ लाभ होता है। ज्वर में सर्वाङ्ग पर इसके पत्तों का लेप किया जाता है। कर्णस्राव में इसके पत्तों का रस कान में डालते हैं। अनेक वातविकारों तथा आमवातादि में बाह्य प्रयोग के लिये इससे बने तेल का उपयोग किया जाता है। यह फिरङ्ग की द्वितीयावस्था तथा वृश्चिक दंश पर लाभदायक है।

(४) Saccolabium papillosum Lindl. (सॅक्कोलेबिअम् पॅपिल्लोसम्)। Fam Orchidaceae (ऑरचिडॅसी)। **क०**-मरबाले। **म०**-कानमेर।

इसके बांदे भी आम्रवृक्ष के ऊपर होने वाले बांदों की तरह दिखलाई देते हैं।

गुण और प्रयोग—यह तिक्त पौष्टिक है तथा इसका आमवातादि में प्रयोग होता है। केले के पत्तों में इसके पत्ते लपेटकर पुटपाक करके उसके रस को मधु के साथ कर्णपिटिका के लिये कान में डालते हैं जिससे कर्णपीडा दूर होती है।

(५) Tylophora asthmatica W. & A. (टाइलोफोरा एस्थ्मेटिका)। **Fam. Asclepiadaceae** एस्क्लेपिएडॅसी)।

हि०-अंतमूल, जंगली पिकवन। **ब०**-अन्तोमूल। **म०**-पितकारी, खडकी रास्ना। **ता०**-नायपाले। **ते०**-वेरिंपल। **मल०**-वल्लीपाल। **क०**-किरूमंजि। **उडि०**-मेंडी। **सं०**-मूलिनी, मूलरास्ना, पित्तवल्ली, आन्त्रपाचक।

इसकी **लता** उत्तरी बंगाल, आसाम, कछार, उडीसा, कोंकण, दक्षिणी भारत, कनारा, मद्रास प्रान्त एवं पूर्व पाकिस्तान, बर्मा, मलाक्का द्वीप तथा लंका आदि स्थानों पर पायी जाती है। यह रेतीली भूमि पर अधिक होती है। बंबई के बजार में रास्ना के नाम से इसके मूल भी बिकते हैं।

इसकी बहुवर्षायु लता होती है। **पत्र**-२ से ५ इञ्च लम्बे, १ से २ इञ्च चौड़े, लट्वाकार या अंडाकार, तीक्ष्णाग्र वा लम्बाग्र, आधार पर तांबूलाकार, अखण्ड, सनाल, ऊपरी पृष्ठ चिकना, अधोपृष्ठ रोमश भूरे रंग का, ताजी अवस्था में स्वाद एवं गंध हृल्लासकर एवं सूखने पर गन्धहीन एवं रुचिहीन। **पुष्प**-बहुत, छोटे, हलके पीले रंग के, अन्दर से बैंगनी एवं गुच्छों में। **फल**-(Follicle)—२ से ४ इञ्च लंबा अग्र की तरफ नुकीला होता जाता है। **मूल**-बहुत लम्बे, मांसल, अनेक, बारीक, हलके पीले या मटमैले तन्तुयुक्त, अन्दर से हलके पीले रंग के, आसानी से टूटने वाले, गन्धहीन, स्वाद प्रारंभ में मीठा लेकिन बाद में कटु। इसकी लता ईश्वरमूल की तरह दिखलाई देती है लेकिन उसके पत्र के दोनों पृष्ठ हरे और चिकने तथा पुष्प बड़े होते हैं। **इसके मूल तथा पत्र का व्यवहार किया जाता है** जिनमें **पत्र अधिक गुणकारी है**।

रासायनिक संगठन—इसमें टाइलोफोराइन् (Tylophorine, $C_{24}H_{27}O_4N$), टाइलोफोरिनाइन् (Tylophorinine, $C_{23}H_{27}O_4N, 0.5 H_2O$), ये दो रवेदार क्षाराभ, एक उडनशील तैल ०.२६%, एक रंगहीन रवेदार अन्य पदार्थ ०.१८%, खनिज (Mineral matter) १५% तथा एक वामक द्रव्य आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके मूल तथा पत्र अच्छे वामक, कफनिःसारक, स्वेदल, रक्तशोधक, आनुलोमिक एवं आमपाचक हैं। यह एपीकॅक् के अच्छे प्रतिनिधि हैं। अल्प मात्रा में इससे खांसी दमा, बच्चों की कुक्कुर खांसी, अतिसार एवं संग्रहणी आदि में बहुत लाभ होता है। अधिक मात्रा में यह वामक तथा अधिक बार प्रयोग से वमन के साथ विरेचन भी होता है।

(१) यह १ मा० की मात्रा में चूर्ण के रूप में अतिसार, रक्तातिसार एवं संग्रहणी आदि में देने से बहुत लाभ होता है। इसके साथ सोंठ, गोंद या अल्प मात्रा में अफीम मिलाई जा सकती है।

(२) कफ विकारों में इसके चूर्ण को घोडवच एवं मुलेठी आदि के साथ देने से लाभ होता है।

(३) प्रसूति के बाद स्रावशुद्धि के लिए इसका उपयोग करते हैं।

(४) अजीर्ण आदि में वमन कराने के लिये ४ इञ्च लंबी ताजी जड़ की छाल जल में घिस कर देने से वमन होता है या १-२ माशा पत्र चूर्ण जल के साथ दिया जाता है।

(५) इसको रसायन तथा रक्तशोधक मानते हैं एवं आमवात, फिरंगज आमवाताभ विकृति, सन्धिवात, शरीरपीडा एवं सर्पदंश आदि में इसका उपयोग करते हैं।

(६) वातरक्त में इसके मूल का बाह्यलेप किया जाता है।

मात्रा—½-१ र०; वामक १-२ मा०।

इन उपर्युक्त वनस्पतियों के अतिरिक्त मद्रास की तरफ **कुलिञ्जन** का व्यवहार **रास्ना** के नाम से कुछ लोग करते हैं तथा **धवलबरुआ और सर्पाक्षी**-ले० ओफिओराइझा मुन्गोस् (Ophiorrhiza mungos Linn.) एवं अन्य अनेक औषधियां भी रास्ना नाम से ली जाती हैं। इनमें से प्रथम ३ औषधियां अधिक प्रचलित है।

नोटः—सर्पाक्षी का वर्णन गुडूच्यादि वर्ग तथा धवलबरुआ का वर्णन नाकुली में किया गया है।

अथ (रास्नाभेदः) नाकुली नामगुणानाह

नाकुली सुरसा नागसुगन्धा गन्धनाकुली। नकुलेष्टा भुजङ्गाक्षी सर्पाङ्गी विषनाशिनी॥
नाकुली तुवरा तिक्ता कटुकोष्णा विनाशयेत्। भोगिलूतावृश्चिकाखुविषज्वरकृमिव्रणान्॥

नाकुलीकन्द के नाम तथा गुण—नाकुली, सुरसा, नागसुगन्धा, गन्धनाकुली, नकुलेष्टा, भुजङ्गाक्षी, सर्पाङ्गी तथा विषनाशिनी ये सब नाम 'नाकुलीकन्द' के हैं। **नाकुलीकन्द**—कषाय, तिक्त एवं कटुरसयुक्त तथा उष्णवीर्य होता है। और सर्प, मकड़ी, विच्छू तथा मूसा इन सर्वों के विषको दूर करने वाला एवं ज्वर, कृमि तथा व्रण को भी नष्ट करने वाला होता है॥ १६५-१६६॥

५१ नाकुली (धवलबरुआ, सर्पगन्धा)

हि०—नकुलकन्द, नाकुलीकन्द, नाई, हरकाई चन्द्रा, रास्नाभेद, छोटाचांद। उड़ीसा, विहार-धन्बेरुआ, धनबरुआ, धवलबरुआ, सनोचाडो। **बं०**—नाकुली, गन्धरास्ना, चन्द्र। **म०**—अडकई, चन्द्र। **गु०**—नोलवेल, अमेलपोदी। **क०**—सूत्रनाभि। **ते०**—पातालअगंधि। **मा०**—हरकय। **मलया०**—चुवन्ना

अविलपोरी । फा०–छोटाचान्दा । ले०–*Rauwolfia serpentina Benth. ex Kurz-* (रॉवोल्फिया सर्पेन्टाइना) । Fam. Apocynaceae (एपोसाइनेसी) ।

वैद्य समाज में नकुलकन्द भी एक सन्दिग्ध वनौषधि है ।

कुछ लोगों ने नाकुली को ले०–एरिस्टोलोकिआ इन्डिका (Aristolochia indica Linn.), ईशरमूल लिखा है तथा श्री डा० बलवन्त सिंह जी भी उनसे सहमत होते हुए सर्पगन्धा नाम भी उसी के (नाकुली) लिये तथा धवलबरुआ के लिए राजनिघण्टु का जम्बू नाम उचित समझते हैं जिसको श्री भगीरथ स्वामी ने माना है । प्राचीन ग्रंथों में केवल सुश्रुत के अमानुषोपसर्गाध्याय में मानसरोगहर अपराजितगण में सर्पगन्धा नाम का उल्लेख मिलता है । यहां पर पहले वर्णन 'रावोल्फिया' का दिया जा रहा है जिसके बाद ईश्वरमूल का स्वतंत्र वर्णन दिया जावेगा ।

धवलबरुआ के क्षुप हिमालय के निचले प्रदेशों में सरहिन्द से लेकर पूर्व में आसाम तक विशेष कर देहरादून, सिवालिक पहाड़ी भाग तथा रोहिलखण्ड, उत्तरी अवध और गोरखपूर के हिमालय के निचले भाग में ४००० फीट की ऊँचाई तक एवं कोंकण, उत्तरी कनारा, दक्षिणी महाराष्ट्र प्रान्त, मद्रास के पूर्वी तथा पश्चिमी घाट में ३००० फीट तक और विहार के अनेक भाग में जैसे पटना, भागलपूर तथा उत्तरी एवं मध्य बंगाल, बर्मा, श्याम और जावा आदि स्थानों में पाये जाते हैं ।

इसका **क्षुप** छोटा, आकर्षक, १ से २ फीट ऊँचा क्वचित् ३ फीट तक ऊँचा होता है । **पत्र**–हरे, चमकीले, ३–७ इंच लम्बे, १॥–२॥ इंच चौड़े, भालाकार या व्यस्तभालाकार, तीक्ष्णाग्र या लम्बाग्र, आधार की ओर पतले होकर ½ इञ्च पत्रनाल से युक्त एवं टहनी के प्रत्येक गांठ पर ३–४ के चक्रों में (Whorled) । **पुष्प**–श्वेत या साधारण गुलाबी गुच्छों में, २–४ इञ्च लम्बे पुष्प दण्डों पर । **फल**–छोटे, मांसल एक या दो दो जुड़े हुये पकने पर बैंगनी काले । **मूल**–सर्प की तरह टेढ़ा मेढ़ा, करीब १६ इञ्च तक लम्बा, ॥। इ० मोटा, खुरदरा, कुछ कुछ झुर्रियों से युक्त, शाखाओं से युक्त और उस पर लम्बाई में धारियां रहती हैं । इसे तोड़ने पर **भग्न** छोटा एवं अनियमित । मूल की छाल धूसरित पीत (Greyish yellow) तथा अन्दर का काष्ठ श्वेताभ । स्वाद में अत्यन्त कडवा तथा गन्धहीन । इसके मूल को तोड़कर कटे भाग पर २ भाग शोरे का तेजाब (Nitric acid) और १ भाग जल मिले घोल के २ बूंद डालने से मेड्युलरी रेज् (Medullary rays) विशेष कर अन्तःचर्म (Cortex) के पास वाले भाग रंगीन हो जाते हैं । इस क्षुप के ३, ४ साल पुराने पौधे के मूल को शरद्काल में संग्रह कर छाल सहित सुखाकर व्यवहार में लाया जाता है ।

रासायनिक संगठन—विहार में उत्पन्न मूल में सम्पूर्ण क्षाराभ की मात्रा ०·८–१·३% रहती है जिसमें अज्मॅलाइन् (Ajmaline, $C_{20}H_{26}O_2N_2$, 3 H_2O), अज्मॅलीनाइन् (Ajmalinine, $C_{20}H_{26}O_3N_2$, 1·5 H_2O), अज्मॅलीसाइन् (Ajmalicine) तथा पीत **वर्ण के क्षाराभ** सर्पेन्टाइन् (Serpentine, $C_{20}H_{20}O_3N_2$, 1.5 H_2O), सर्पेन्टिनाइन् (Serpentinine, $C_{20}H_{20}O_2N_5$, 1.5 H_2O) तथा बिना रवेदार (Amorphous) क्षार (Bases) रहते हैं । देहरादून से प्राप्त जड़ में सम्पूर्ण क्षाराभ की मात्रा १–१·३% तक रहती है लेकिन उसमें पीत वर्ण के क्षाराभ नहीं रहते तथा इसमें अज्मॅलाइन् और अज्मॅलीनाइन् के समसंगठन (Isomeric) वाले दो क्षार द्रव्य रहते हैं । इनके अतिरिक्त उभयविध प्रतिक्रिया (Amphoteric character) वाले कुछ दूसरे भी क्षाराभ होते हैं । इन क्षाराभों के अतिरिक्त इसके मूल में एक तैलीय राल (Oleoresin) और सरपोस्टेरॉल (Serposterol, $C_{30}H_{48}O_2$) रहता है ।

इसमें के अजमॅलाइन, सर्पेन्टाइन् और सर्पेन्टिनाइन् क्षाराभ केन्द्रीय वातनाड़ी संस्थान को उत्तेजित करते हैं जिसमें से सर्पेन्टाइन् अधिक प्रभावशाली तथा विषैला है। इन ३ क्षाराभों से रहित सम्पूर्ण क्षाराभ तथा मद्यसारीय सत्व (Alcoholic extract) में शामक (Sedative) एवं निद्राकर (Hypnotic) गुण हैं। कुछ क्षाराभ निश्चित रूप से हृदय, रक्तवाहिनी एवं रक्तवाहिनी नियन्त्रक केन्द्र (Vaso-motor centre) के लिये अवसादक (Depressant) हैं।

इसका निद्राकर (Hypnotic) प्रभाव क्षाराभ की अपेक्षा प्रधानतया इसके रालीय भाग में है। इसके शामक गुणों के कारण पागलपन एवं अन्य मानसिक व्याधियों में इसके मूल का बहुत व्यवहार हो रहा है तथा इसके मद्यसारीय सत्व का उपयोग रक्तचाप (Blood pressure) को कम करने के लिये किया जा रहा है।

इधर कुछ दिनों से इस औषधि के संबंध में विदेशों में विशेष अनुसन्धान किया जा रहा है और इसके कार्यकारी सत्व को रीसर्पाइन् (Reserpine) नाम दिया गया है जो मूल की अपेक्षा १ हजार गुना अधिक कार्यकारी कहा जाता है। यह नाड़ीकन्दों में अवरोध (Ganglionic blockade) उत्पन्न नहीं करता वरन् ऐसा मालूम होता है कि रक्तचाप को कम करने का इसका प्रभाव कुछ अंश में स्वतन्त्र नाड़ी संस्थान के केन्द्रीय निरोध (Central inhibition of sympathetic nervous system) के कारण है।

गुण और प्रयोग—यह तिक्त पौष्टिक, शामक, निद्राकर, ज्वरहर, गर्भाशय उत्तेजक एवं विषहर है। इसका उपयोग बालातिसार और हैजे में ईश्वर मूल के साथ, उदरशूल में जंगली एरण्डमूल के साथ, रक्तातिसार में कुटज के साथ तथा जीर्णज्वर में मिरिच, घोडवच, डिकेमाली, चिरायता एवं विडलवण के साथ किया जाता रहा है। प्रसव के समय आवि (Uterine contraction) वृद्धि के लिये एवं सर्पविष एवं अन्यान्य विषों को दूर करने के लिये भी इसको उपयोग में लाते हैं। सर्पविष में इसके १ से २ तो० मूल को जल में घिसकर पिलाते हैं तथा इसका लेप भी किया जाता है। नेत्र शुक्र में इसके पत्तों का रस आँख में डालते हैं।

उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त यह औषधि युक्तप्रान्त तथा बिहार के प्रान्तों में पागल की दवा के नाम से बहुत दिनोंसे प्रसिद्ध है तथा इस कार्य के लिये बहुत दिनों से सफलतापूर्वक व्यवहार में लाई जा रही है। इधर विदेशी शास्त्रज्ञों ने इसके गुणों से आकृष्ट होकर इसका प्रयोग करना शुरू किया है तथा आज यह **रक्तचाप (Hyperpiesis), वातिक उन्माद, अनिद्रा एवं अन्यान्य मानसिक विकारों के लिये बहुत उत्कृष्ट औषधि सिद्ध हुई है।**

इस औषधि के प्रारम्भ करने के पश्चात् ३ से ७ दिनों में इसका असर प्रारम्भ होता है तथा ३–६ सप्ताह में इसका पूर्ण प्रभाव स्पष्ट होता है तथा इसको बन्द करने के पश्चात् १ से ३ सप्ताह में इसका असर निकल जाता है। इसके उपयोग से मानसिक प्रक्षोभ दूर होकर शान्ति मिलती है एवं शिरःशूल, भ्रम आदि दूर होते हैं। रक्त चाप (Blood pressure) की अधिकता के लिये यह सबसे कम विषैली तथा उत्कृष्ट औषधि है। इसमें एक विशेष लाभ यह है कि इससे एकाएक आसन परिवर्तनजन्य रक्तभाराल्पता (Postural hypotension) तथा बहुत अधिक रक्तभाराल्पता नहीं होती। अधिक मात्रा में लेने से अतिसार या अनिष्ट स्वप्न (Nightmares) होते हैं लेकिन कोई तीव्र दुष्परिणाम नहीं होते। इसके अवांछनीय गुण जैसे रक्तचाप की कमी एवं मन्दहृदयता आदि चिकित्सा काल में बराबर बने रहते हैं। इसके उपयोग के समय नाक में रक्ताधिक्य (Nasal congestion), शरीर भार वृद्धि, बृहदांत्र की गति वृद्धि तथा कुछ लोगों में मैथुन शक्ति (Libido) का ह्रास होता है। इसके उपयोग से निद्रा की अपेक्षा

तन्द्रा आती है तथा घबड़ाहट, चिड़चिड़ापन, तनाव, हृदय की धड़कन, एवं थकावट आदि दूर होकर रोगी को बहुत आराम मिलता है।

रक्तभार की अधिकता में प्रथम इसी औषधि को प्रारम्भ करना चाहिये। इसके चूर्ण की मात्रा १ रत्ती से लेकर १ माशे तक दी जा सकती है। यदि ६ सप्ताह में लाभ न हो तो अन्य औषधियां उसके साथ मिलाई जा सकती हैं। अंग्रेजी दवा की दुकानों में इसकी गोलियां तथा इसके सत्व की गोलियां बिकती हैं जिनका उपयोग सुगमता की दृष्टि से किया जा सकता है। रीसर्पाइन नामक इसके सत्व का उपयोग तमकश्वास, सव्रणस्थूलान्त्रशोथ (Ulcerative colitis), पैत्तिकशूल, वृक्कशूल एवं मानसिक अवसाद (Mental depression) आदि अवस्थाओं में नहीं करना चाहिये।

व्यामिश्रण—इसमें रा. कॅनेसेन्स (R. canescens Linn.) तथा रा. डेन्सिफ्लोरा (R. densiflora Benth.) के मूल की मिलावट होती है।

मात्रा—चूर्ण १ से २ माशा।

५२ नाकुली ? (ईश्वरमूल)

सं०-नाकुली, ईश्वरी, अर्कमूल। **हि०**-ईशरमूल, रूद्रजटा। **म०**-सापसण। **ब०**-ईशरमूल। **गु०**-नोलवेल। **ता०**-इचचुरामूली। **ते०**-ईश्वरवेरु। **उडि०**-गोपोकरोनि। **अ०, फा०**-जरवन्दे हिन्दी। **उर्दू०**-शपेसन्द। **अं०**-Indian birthwort (इन्डियन बर्थवर्ट)। Aristolochia indica Linn. (एरिस्टोलोकिआ इन्डिका)। Fam. Aristolochiaceae (एरिस्टोलोकिएसी)।

इसकी लता भारतवर्ष के सभी भागों में विशेष कर दक्षिण कोंकण में होती है। इस **लता के कांड** लम्बे, ·२-·४ इञ्च मोटे, गोल, चिकने तथा लम्बाई में धारियों से युक्त एवं कर्पूरवत् गंधयुक्त होते हैं। **पत्र**-हरे, डण्ठल की तरफ चौड़े तथा अग्र पर नुकीले विभिन्न आकार के एवं ५ शिराओं से युक्त। **पुष्प**-सदण्डिक हरित। **बीज**-अण्डाकार, चपटे एवं पंखयुक्त। **मूल**-गांठदार, शाखाओं से युक्त, मोटा भाग ·४-·६ इञ्च, हलके बादामी रंग के तथा मूलत्वक् मोटी, कहीं २ अलग भई हुई। **काष्ठ**-श्वेत। **भग्न**-तन्तुमय। **स्वाद**-कुछ कडुआ। इसके पञ्चांग का व्यवहार होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें ॲरिस्टोलोचीन (Aristolochine) नामक तीन विभिन्न क्षार (Bases) पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त इसमें ३ भूयात्य अम्ल (Nitrogenous acids) जिन्हें ॲरिस्टिनिक् (Aristinic), ॲरिस्टिडिनिक् (Aristidinic) और ॲरिस्टोलिक् (Aristolic) अम्ल कहते हैं तथा एक उड़नशील तैल जिसमें शायद बोर्निओल (Borneol) रहता है एवं राल, टॅनिन् एवं स्टार्च आदि पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह बल्य, उत्तेजक, गर्भाशयसंकोचक, ज्वरहर, शूलहर तथा विषहर है। अल्प मात्रा में यह आमाशय के लिये उत्तेजक है लेकिन अधिक मात्रा में स्थानिक प्रक्षोभ उत्पन्न होकर हृल्लास, मरोड, शूल तथा कभी २ वमन एवं कुंथन भी होता है। ॲरिस्टोलोचीन् (Aristolochine) की क्रिया ॲलोइन (Aloin) के समान होती है लेकिन उससे यह विषैला है। यह उच्च श्रेणी के जानवरों में पाचन संस्थान तथा वृक्क में प्रक्षोभ उत्पन्न करता है तथा संन्यास एवं श्वसनाघात से मृत्यु होती है।

(१) इसके चूर्णका उपयोग ज्वर, आमवात, संधिशोथ एवं जलोदर आदि में बहुत लाभदायक है।

(२) प्रसव के समय आविवृद्धि के लिये पिपरामूल के साथ देते हैं तथा अनार्तव, कष्टार्तव एवं प्रसव पश्चात् भी इसका उपयोग किया जाता है। गर्भपात करने के लिये भी इसका लोग उपयोग करते हैं।

(३) मिरिच के साथ इसका प्रयोग पाचन के विकार जैसे कुपचन, अतिसार एवं शूल आदि में बहुत लाभदायक है। बच्चों में दन्तोद्भव के समय इसका अधिक व्यवहार किया जाता है।

(४) सर्पविष तथा अन्य विषों के लिये भी इसका बहुत व्यवहार किया जाता है। सर्पविष में इसके पत्तों का रस अथवा चूर्ण को काली मिर्च के साथ खिलाते हैं तथा बाह्य लेप भी करते हैं।

(५) मधु के साथ श्वित्र पर इसका स्वरस लगाया जाता है।

(६) बच्चों के विबन्ध में इसके पत्तों का लेप उदर पर किया जाता है।

व्यामिश्रण—इसकी कई जातियां इस औषधि में मिली रहती हैं जिसमें से ॲ० ब्रॅक्टियाटा (A. bracteata Retz.), ॲ० टॅगॅला (A. tagala Cham.) आदि मुख्य हैं जिनके पत्र की आकृति में अन्तर रहता है।

मात्रा—पंचाङ्ग चूर्ण ५-१५ र०; टिंक्चर ½-१ तो०।

अथ माचिका

(पश्चिमदेशे 'मोइआ' इति लोके प्रसिद्धो वृक्षविशेषः) तस्या नामानि गुणाँश्चाह—

**माचिकाप्रस्थिकाऽम्बष्ठा तथा चाम्बालिकांऽम्बिका। मयूरविदला केशीसहस्रा बालमूलिका॥
माचिकाऽम्ला रसे पाके कषाया शीतला लघुः। पक्कातीसारपित्तास्रकफकण्ठामयापहा॥**

मोइया (पश्चिम देश में प्रसिद्ध वृक्ष विशेष) के नाम तथा गुण—माचिका, प्रस्थिका, अम्बष्ठा, अम्बालिका, अंबिका, मयूरविदला, केशी, सहस्रा और बालमूलिका ये सब मोइया के नाम हैं! **मोइया**—अम्लरसयुक्त, परिपाक में कषाय रसयुक्त, शीतल तथा लघु होती है और पक्कातीसार, रक्तपित्त, कफ तथा कण्ठसम्बन्धी रोगों को दूर करती है॥ १६७-१६८॥

५३ माचिका (मोइया)

माचिका के सम्बन्ध में विद्वानों में कुछ मतभेद है। कुछ लोगों ने इसको (ले०) सोलॅनम् नाइग्रम् (Solanum nigrum) लिखा है लेकिन यह तो काकमाची (छोटी मकोय) का नाम है। अन्य लोगों ने इसको (ले०) हिबिसकस् कॅन्नाबिनम् (Hibiscus cannabinus) लिखा है जो पटुआ (पटसन) का नाम है तथा इसके गुण भी शास्त्रीय माचिका के गुणों से मिलते नहीं। छोटी माई तथा बड़ी माई जिन्हें क्रमशः (ले०) टॅमॅरिक्स् आर्टिक्युलेटा तथा टॅ. गॅलिका (Tamarix articulata & T. gallica) कहते हैं उनके गुण माचिका के शास्त्रीय गुणों से मिलते होने के कारण इन्हीं का व्यवहार माचिका नाम से करना चाहिये। माई के अर्थ में माचिका का वर्णन नीचे दिया जा रहा है तथा प्रसङ्गवश पटुआ का वर्णन भी आगे दिया जायगा। कुछ लोगों ने बड़ी माई को झाऊबेर माना है जो गलत है। झाऊबेर का वर्णन पहले ५० पृष्ठ पर आ चुका है।

(क) Tamarix articulata Vahl (टॅमॅरिक्स् आर्टिक्युलेटा)। Fam. Tamaricaceae (टॅमॅरिकॅसी)।

सं०—झावुक। **हिं०**—लाल झाऊ, झाव, (कृमिगृह-छोटी माई)। **बं०, गु०**—झाऊ। **पं०**—परवन, फंरस, फरवा। **सिं०**—लई, असरेले। **इरा०**—मझ़्बर् अझ़्वा। **यू०**—सुम्रत् अल् अस्ल।

इसकी झाडी उत्तर भारत में नदी के किनारों पर उत्पन्न होती है। सिंध तथा पञ्जाब में यह अधिकता से पाई जाती है तथा इसकी उपज भी की जाती है।

इस झाड़ी के कृमि गृहों (Galls-गॉलस्) को छोटी माई, मगिया मैन, छोटी मैन आदि कहा जाता है। यद्यपि इन्हें लोग फल कहते हैं तथापि ये फल न हो कर एक प्रकार के कृमियों द्वारा निर्मित गृह होते हैं। ये गोल, ग्रन्थि युक्त, चने के बराबर तथा पीताभ धूसरित रङ्ग के होते हैं। ये त्रिकोणाकृति के नहीं होते। औषधि में ये कृमिगृह, इसकी छाल तथा पञ्चांग के क्षार का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक सङ्गठन—छोटी माई में माजूफल में होने वाला गॅलिक् (Gallic) तथा टॅनिक् (Tannic) अम्ल बहुत होता है। रेतीली तथा समुद्र के किनारे होने वाली झाड़ी के पंचांग की राख में खारा नमक (Sodium sulphate सोडियम् सल्फेट) बहुत होता है।

गुण और प्रयोग—छोटी माई माजूफल के समान ही गुण वाली है। यह ग्राही, स्तम्भन तथा रक्त स्रावावरोधक है। इसकी छाल तिक्त, ग्राही तथा बल्य होती है। छोटी माई का प्रयोग माजूफल के स्थान पर किया जाता है।

(१) यह उत्तम संग्राही होने के कारण पित्तज अतिसार, रक्तातिसार तथा रक्तार्श में उपयोगी है।

(२) इसमें रक्तस्तम्भक गुण बहुत प्रबल होता है। अतः इसका उपयोग रक्तष्ठीवन, नासारक्त स्राव तथा प्रदर आदि रक्त स्रावी व्याधियों में मुख द्वारा एवं स्थानीय प्रयोग के रूप में किया जाता है।

(३) गुल्म, प्लीहा, श्वेत प्रदर, शीघ्रपतन एवं शुक्रतारल्य आदि में भी इससे लाभ होता है।

(४) इसकी छाल, कबीला एवं तैल का प्रयोग वाजीकरण के लिये किया जाता है।

(५) इसका प्रलेप सिर के अपरस (Eczema-एक्झिमा) में किया जाता है।

(६) गलशुण्डी वृद्धि तथा दन्तशूल में इसके चूर्ण का मञ्जन तथा काढ़े का कुल्ला कराया जाता है।

मात्रा—छो. माई चूर्ण २-४ मा०; छाल ½-१ तो० क्वाथ बना कर।

(ख) Tamarix gallica Linn. (टॅमॅरिक्स गॅलिका)।

Fam. Tamaricaceae (टॅमॅरिकॅसी)।

सं०-झावुक। **हि०**-झाऊ, झाव, पडवास, (कृमिगृह-बड़ी माई)। **बं०**-बोनझाऊ, झाउ, (कृमिगृह-बड़ी माई)। **म०**-झाऊ, (कृमिगृह-मगिया माई, बड़ी मुई)। **पं०**-झाऊ, पिलची, (कृमिगृह-बड़ी मांही)। **ता०**-सिरूसवुक्कु। **ते०**-एरूसारू। **उर्दू**-जहेव। **इरा०**-गझनाझू। **यू०**-सुम्रात उल् तुर्फाह्। **अं०**-Tamarix (टॅमॅरिक्स), Tamarisk (टॅमॅरिस्क)।

इसकी झाड़ी भारत के सभी भागों में विशेष कर पञ्जाब तथा उत्तर प्रदेश में होती है। बंगाल में यह नदियों के किनारों एवं आर्द्र भूमि में उत्पन्न होती है। यह सिन्ध, बलूचिस्तान, इरान एवं अफगानिस्तान में भी बहुत होती है।

इसकी झाड़ी छोटी माई की झाड़ी की अपेक्षा बड़ी होती है तथा कभी २ इसके छोटे वृक्ष भी देखने में आते हैं। शाखाएं-पतली तथा आपस में मिली हुई। पत्र-सूक्ष्म, विनाकोषयुक्त, चिकने,

वल्क सदृश एवं तीक्ष्णाग्र। पुष्प-द्विलिङ्गी, बहुत छोटे, $\frac{1}{10}$ इञ्च के घेरे में, श्वेत वा गुलाबी, शाखाओं के अन्त में गुच्छों के रूपमें। फली $\frac{1}{10}$ इञ्च लम्बी। कृमिगृह (Galls-=गॉलस्) गोल, जायफल इतने बड़े, तीन कोणयुक्त, गांठदार, पीले, हरिताभ मटमैले तथा पुराने होने पर धूसरित तथा स्वाद में कषाय एवं कड़वे।

इसके विदेशी वृक्षों से एक प्रकार की शर्करा प्राप्त होती है जिसे गझंजबीन कहते हैं। यह शर्करा यहां की जलवायु में पतली हो जाती है तथा बजार में मधु के समान गाढा पीत पदार्थ इस नाम से मिलता है। बजारू शर्करा में अन्य वृक्षों से प्राप्त शर्कराएं भी मिली रहती हैं। भारतीय वृक्षों से यह शर्करा प्राप्त नहीं होती।

रासायनिक संघटन—इसमें ४०% तक टॅनिक् ॲसिड होता है। गझंजबीन में विभिन्न शर्कराएं होती हैं।

गुण और प्रयोग—इसके कृमिगृह (गॉल) माजूफल तथा छो. माई के समान ग्राही, स्तम्भन तथा रक्तस्तम्भक होते हैं। गझंजबीन मृदु विरेचक तथा कफघ्न है। इससे पाखाना पतला होता है लेकिन इससे आंत्र को कोई नुकसान नहीं होता। इसके पञ्चाङ्ग की राख मूत्रल एवं स्रंसन होती है तथा पञ्चाङ्ग का क्वाथ ग्राही, शिथिलता दूर करने वाला एवं बल्य होता है।

(१) गझंजबीन मीठा तथा सौम्य होने के कारण बच्चों को दस्त साफ होने के लिये व्यवहार में लाया जाता है। इसके लिये इसको दूध के साथ दे सकते हैं। अनेक विरेचक एवं कफघ्न मिश्रणों में यह प्रयुक्त होता है।

(२) कृमिगृह (गॉल) का प्रयोग माजूफल के स्थानपर किया जाता है। ग्राही होने के कारण यह अतिसार, आमातिसार, संग्रहणी, अत्यार्तव, रक्तष्ठीवन एवं प्रदर में लाभदायक है। इसके लिये चतुर्गुण जल में इसका फांट बनाकर २ से ४ तोले की मात्रा में पिलाते हैं।

(३) इसके फांट का उपयोग दुष्ट व्रण तथा बद (Bubo) के प्रक्षालन के लिये तथा मुखपाक, गले की तकलीफ एवं दन्त तथा मसूढ़ों की दुर्बलता में कुल्ला करने के लिये किया जाता है।

(४) इसके पत्तों का लेप शोथघ्न है तथा प्लीहा एवं यकृत वृद्धि पर इसका लेप किया जाता है। मसूरिका, दूषित व्रण एवं अर्श में इसका धूआं दिया जाता है।

(५) काले रंग का इसके पञ्चाङ्ग का घन क्वाथ झाव नाम से काठियावाड़ में बिकता है तथा गलशुण्डी वृद्धि, गले को शिथिलता तथा शुष्क कास में इसको चटाते हैं।

(६) इसके कृमिगृह (गॉल) का चूर्ण ४ से ८ माशा, अफीम २ माशा, एवं हॅसलीन २ तो० इनका मलहम बनाकर व्रण युक्त अर्श एवं गुद विदार (Anal fissure=ॲनलफिशर्) पर लगाते हैं। यह मलहम विदेशी गॉल से बने इसी प्रकार के डाक्टरी मलहम के समान ही लाभदायक होता है।

(७) झाऊ की लकड़ी के पात्र में जल पीने से प्लीहा वृद्धि शीघ्र कम हो जाती है।

मात्रा—कृमि गृह (गॉल) चूर्ण २-४ माशा; गझंजबीन १-३ माशा।

(ग) Hibiscus cannabinus Linn. (हिबिस्कस् कॅन्नाबिनस्)।

Fam. Malvaceae (माल्वॅसी)।

सं०-माचिका (?) अंबष्ठा। **हि०**-मोइया, अम्बारी, पटसन, पटुवा, सन, कुद्रुम। **बं०**-मेस्तापाट। **क०**-पुडोन। **म०**-अम्बाडी। **गु०**-भिंडी, अम्बोई। **ता०**-फलुङ्गु। **ते०**-गोंगुकुरू। **सन्ता०**-डरेकुद्रुम। **उडि०**-कनुरिया। **सिन्ध**-सज्जाडो। **अं०**-Indian hemp (इण्डियन हेम्प); Jute

(जूट); Deccan hemp (डेक्कन हेम्प); Bimlipatam Jute (बिमलीपटम् जूट), Ambari hemp (अम्बारी हेम्प)।

प्रायः सब प्रान्तों में इसकी खेती की जाती है परन्तु पश्चिमीघाट के पूर्व में यह आपही आप जङ्गली उत्पन्न होता है।

इसका क्षुप–३ से ५–६ हाथ तक ऊँचा होता है और इस पर सूक्ष्म काँटेदार रोवें होते हैं। जड़ की ओर के पत्ते गोलाकार किञ्चित् कटे किनारे वाले होते हैं किन्तु ज्यों ज्यों पौधे बढ़ते जाते हैं त्यों त्यों पत्ते का आकार बदलता जाता है। ऊपर के पत्ते ५–७ भागों में विभक्त हो जाते हैं और प्रत्येक भाग दन्तुर होता है। फूल–पीले रंग के आते हैं। पुष्पदल के मध्य का हिस्सा बैंगनी रंग का होता है। डोडी (फल)–गोलाकार नुकीली होती हैं। बीज–भूरे रंग के होते हैं। इसका सर्वाङ्ग खट्टा होता है। तन्तु (Fibre के लिए इसकी काफी खेती की जाती है, विशेषकर दक्षिण में।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में एक प्रकार का खाने योग्य तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके पत्र तथा पुष्प विरेचक, रुचिकारक तथा हृद्य हैं। पित्तमयता में इनका शाक बनाकर खाया जाता है। इसके पुष्पों का १ तो० स्वरस मरिच एवं मिश्री के साथ पित्त प्रकोप में दिया जाता है, जिससे शौच साफ हो जाता है।

इसके बीजों के तैल को पीडा एवं मोच आदि पर मलते हैं तथा पुष्टि एवं वाजीकरण के लिए इस तैल का सेवन करते हैं। तीसी और तिल में तेल निकालते समय इसके बीज की मिलावट की जाती है।

अथ तेजवती।

(तेजवल्कल[1] 'तेजबल' इति च लोके) तस्या नामानि गुणाँश्चाह—

तेजस्विनी तेजवती तेजोह्वा तेजनी तथा॥ १६९॥
तेजस्विनी कफश्वासकासास्यामयवातहृत्।
पाचन्युष्णा कटुस्तिक्तारुचिवह्निप्रदीपिनी॥ १७०॥

तेजवती (तेजवल्कल या तेजबल नाम से भी लोक में प्रसिद्ध द्रव्य) के नाम तथा गुण - तेजस्विनी, तेजवती, तेजोह्वा तथा तेजनी ये सब तेजबल के नाम हैं। तेजबल–कफ श्वास, कास, मुखसम्बन्धीरोग तथा वायु को नष्ट करनेवाला होता है। तथा यह पाचक, उष्णवीर्य, कटु तथा तिक्तरसयुक्त, रुचिकारक एवम् अग्निदीपक होता है॥ १६९–१७०॥

५४ तेजवती (तेजबल)

हि०–तेजबल। म०–बं०–गु०–तेजबल। अं०–Toothache Tree (टूथएक ट्री)। लें०–Zanthoxylum alatum Roxb. (झॅन्थोक्साइलम् एलॅटम्)। Fam. Rutaceae (रूटेसी)।

जिस वनौषधि का परिचय 'तुम्बुरु' के नाम से दिया जा चुका है उसी वृक्ष की छाल को तेजबल और कालीमिरच के आकार वाले तथा फटे मुखवाले फल को 'तुम्बुरु' कहते हैं। कुछ लोगों ने उसी वंश की अन्य जाति को तेजबल लिखा है जिसके फलों को भी दन्तशूल में चबाने के लिए देते हैं।

---

१. 'तेजबल' स्थाने 'तेजपात' इति पाठान्तरम्।

अथ ज्योतिष्मती (मालकांगनी) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

ज्योतिष्मती स्यात्कटभी ज्योतिष्का कङ्गुनीति च।
पारावतपदी पिण्या[1] लता प्रोक्ता ककुन्दनी ॥ ७१ ॥
ज्योतिष्मती कटुस्तिक्ता सरा कफसमीरजित्।
अत्युष्णा वामनी तीक्ष्णा वह्निबुद्धिस्मृतिप्रदा ॥

मालकांगनी के नाम तथा गुण—ज्योतिष्मती, कटभी, ज्योतिष्का, कङ्गुनी, पारावतपदी, पिण्या, लता और ककुन्दनी ये सब नाम मालकांगनी के हैं। मालकांगनी-कटु तथा तिक्तरस युक्त, सारक (दस्तावर), कफ वातनाशक, अत्यन्त उष्णवीर्य, वमन करानेवाली और तीक्ष्ण एवं जठराग्नि, बुद्धि तथा स्मरणशक्ति को बढ़ाने वाली होती है॥ १७१-१७२ ॥

५५ ज्योतिष्मती (मालकांगनी)

हि०—मालकांगनी, मालकौनी, मालटांगुन। **ब०**—लताफटकी, वनउच्छे। **म०**—मालकांगोणी, करडकंगोनी, पिंगवी, पेंगी। **क०**—करिगन्ने। **ते०**—बावंजी। **गु०, मा०**—मालकांगणां। **ता०**—वलुलुवै। **फा०**—काल। **अ०**—हब्बे किल्किल्। **अं०**—Staff tree (स्टाफ् ट्री)। **ले०**—*Celastrus paniculatus Willd.* (सिलॅस्ट्रस् पॅनिक्युलेटस्)। Fam. Celastraceae (सिलेस्ट्रेसी)।

यह हिमालय पहाड़ के उष्ण तथा साधारण जगहों में पञ्जाब, झेलम के आसपास तक समस्त भारतवर्ष की पहाड़ी भूमि में, पूर्वी बंगाल, बिहार, दक्षिण भारत, ब्रह्मा और सिलोन आदि प्रदेशों में होती है।

इसकी सुविस्तृत काष्ठमय लता होती है जिसकी नवीन शाखाओं पर बहुत श्वेत बिन्दु पड़े रहते हैं। पत्ते-विषमवर्त्ती लगते हैं और आकार में कई प्रकार के होते हैं तथा गोलाई लिये किञ्चित लम्बे, ऊपर से लट्वाकार, चिकने, चर्मवत् और नुकीले तथा गोल दांतो से युक्त धार वाले होते हैं। प्रायः इनकी लम्बाई २ से ४ इञ्च तक और चौड़ाई १॥ से ३ इञ्च तक होती है। फूल-आध इञ्च के घेरे में पीलापन लिये हरे रंग के होते हैं। इन पर आध आध इञ्च के डोडे (डेंडी) लगते हैं जो गोलाई लिये किञ्चित् चिपटे, चमकीले, कच्ची अवस्था में हरे और पक्व होने पर पीले रंग के होते हैं और उनके आगे का हिस्सा फटे रहने से बीज दिखलाई पड़ते हैं। आषाढ़ एवं श्रावण के महीने में जब इसमें पक्व फलों के गुच्छे लगते हैं तब यह लता बहुत सुन्दर प्रतीत होती है। प्रत्येक फल में ३ खण्ड होते हैं। उनमें ३ से ६ तक लगभग तिहाई इञ्च के काले बीज होते हैं और वे एक प्रकार के लाल आवरण से ढके रहते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में एक गाढ़ा, रक्ताभ, कड़वा और गन्धयुक्त तैल ३०%, एक कड़वी राल, राख ५% और टॅनिन् आदि द्रव्य रहते हैं। इसके बीजों को जलाकर पाताल यन्त्र द्वारा भी एक तैल निकाल सकते हैं।

गुण और प्रयोग—मालकांगनी के बीज उष्ण, स्वेदजनन, उत्तेजक, बुद्धि एवं स्मृतिवर्धक, वातहर, वातनाड़ी बल्य एवं त्वक्दोषहर हैं।

(१) इसके बीजों के साथ लोहबान, लवंग, जायफल और जावित्री मिलाकर पाताल यन्त्र द्वारा एक तैल निकाला जाता है जिसे **कृष्णतैल** (Black oil) या ओलियम् नाइग्रम् (Oleum Nigrum) कहते हैं। यह तैल विजगापट्टम्, मसुलिपट्टम् और एल्लोर आदि स्थानों में बिकता है।

---

१. 'पण्ये'ति पाठान्तरम्।

यह तैल अत्यन्त उत्तेजक, मूत्रनिःसारक तथा स्वेदल होता है। नवीन बेरी बेरी (Beri Beri) नामक रोग में १० से १५ बूंद इस तैल को देने से बहुत लाभ होता है। या इसके बीजों को क्रमशः बढ़ाते हुये एक दिन में ५० बीजों तक सोंठ के साथ देते हैं। पहले इससे मूत्र की मात्रा बढ़ती है और बाद में जलशोथ कम होकर फिर संवेदनाशक्ति वापस आती है। जलोदर में भी इस तैल से लाभ होता है। मलेरिया ज्वर जैसी पीडा जब आमवात में होती है तब तथा अङ्गघात आदि में इसको रक्तोत्क्लेशक (Rubefacient) के रूप में लगाते हैं। बुद्धि बढ़ाने के लिये आठगुने मक्खन में इसे मिलाकर सर में लगाया जाता है।

(२) इसके बीजों को दबाकर भी तेल निकाला जाता है। २ से १० बूंद की मात्रा में आमाशय के रोगों में एवं बुद्धि तथा स्मृतिवृद्धि के लिये इसको खिलाते हैं। सुश्रुत में इस तैल को ज्लोदर के लिये हींग तथा जवाखार के साथ दूध में पीने को लिखा है। रसरत्नसमुच्चय में इसके तेल को स्मृति एवं बुद्धि वृद्धि के लिये बहुत उपयोगी माना है।

(३) इसके बीजों का क्वाथ अन्य सुगन्धित औषधों के साथ आमवात, वातरक्त, अंगघातादि वातरोग एवं कुष्ठ में लाभदायक है।

(४) इसके बीजों को व्रण के ऊपर पीसकर लगाने से न भरने वाले व्रण जल्दी भरते हैं।

मात्रा—कृष्णतैल-मूत्र वृद्धिकर १०–३० बूंद। स्वेदजनक ५–१५ बूंद।
ज्ञानतन्तु उत्तेजक १०–१५ बूंद।
दबाकर निकाला तैल २–१० बूंद।

अथ कुष्ठम् (कूठ) तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कुष्ठं रोगाह्वयं वाप्यं[1] पारिभव्यं तथोत्पलम्॥
कुष्ठमुष्णं कटु स्वादु शुक्रलं तिक्तकं लघु। हन्ति वातास्रवीसर्पकासकुष्ठमरुत्कफान्॥१७३॥

कूठ के नाम तथा गुण—कुष्ठ, रोगाह्वय (रोगवाची शब्द), वाप्य, पारिभाव्य तथा उत्पल ये सब कूठ के नाम हैं। कूठ-उष्णवीर्य, कटु, स्वादु तथा तिक्त रसयुक्त, शुक्रजनक और लघु होता है। और यह वातरक्त, विसर्प, कास, कुष्ठ, वायु तथा कफ को दूर करता है॥ १७३॥

५६ कुष्ठ (कूठ)

हि०-कूठ, कूट, कुष्ट। बं०-पाचक, कुर। म०-कोष्ठ, उपलेट। गु०-उपलेट, कठ। क०-कोष्ट। ते०-चेंगुलकोष्टम्। प०-कुठ्ठ, कुट, कोठ। फा०-कुष्ठ-ई-तल्ख। अ०-कुस्तबेहेरी। काश्मी०-पोस्तखै, कूठ। भोटिया०-कुष्ट। ता०-कोष्टम्, गोष्टम्। अं०-Costus root (कोस्टस् रूट)। ले०-*Saussurea lappa, C. B Clarke* (सॉस्सुरिया लप्पा)। Fam. Compositae (कॉम्पोझिटी)।

इसके क्षुप काश्मीर तथा उसके आसपास के आर्द्र ढालों पर ८०००–१३००० फीट की ऊंचाई पर तथा चेनाब और झेलम नदियों के आसपास के प्रदेशों में १००००–१३००० फीट की ऊंचाई पर पाये जाते हैं।

---

१. व्याप्यमाप्यं वेति पाठान्तरे।

इसका बहुवर्षायु क्षुप-बहुत दृढ़ होता है। काण्ड स्वावलम्बी, ४–७ फीट ऊँचा, भद्दा, जड़ की ओर छोटी उङ्गली प्रमाण मोटा होता है।

पत्ते-कौशेय सदृश, विषम दन्तुर, खण्डित, आधरीय बहुत लम्बे, २–४ फीट, त्रिकोणाकार, लम्बे खण्डयुक्त सपंख डण्ठलवाले तथा ऊपर के छोटे। फूल-दृढ़ १ से १। इञ्च गोल, विनाल, गुच्छेदार, गहरे नील बैंगनी रंग के या काले। फल-०·३१ इञ्च तक लम्बे, दबे हुये, मुड़े हुये चर्मलफल (Achene)। मूल-हलके मुरचई लाल या काले बादामी, हलके, दृढ, सीधे, १ से ३ इञ्च लम्बे, १ से १½ इञ्च मोटे, छोटे छोटे उभारों से युक्त; मोटे टुकड़े अन्दर से पोले; इसके ठीक कटे हुये पृष्ठ में ३ भाग स्पष्ट दिखाई देते हैं जिसमें से बाहरी भाग अंगूठी की तरह गोल, बीच का काष्ठमय भाग कुछ हलके रंग का तथा महीन किरणों के समान धारियों से युक्त एवं अन्दर में मध्यभाग; भग्न-छोटा तथा शृङ्गवत् (Horny); गंध-मधुर; स्वाद-कुछ कडवा। इन्हीं मूलों का व्यवहार औषध में किया जाता है। चक्रपाणि ने अच्छे कूठ की पहचान यह दी है कि उसे तोड़ने पर नीचे उसके कण अलग होकर नहीं गिरते तथा वह मृगशृङ्ग के समान होता है।

कुछ लोग मीठा और कडवा कूठ करके दो भेद करते हैं और मीठा कूठ, पुष्करमूल को कहते हैं। शास्त्रीय गुणों में पुष्करमूल कटु, तिक्त कहा गया है लेकिन कूठ कटु और स्वादु लिखा गया है। इससे यह बात स्पष्ट है कि मीठा कूठ, पुष्करमूल नहीं है। कुछ लोगों ने इसका समाधान इस प्रकार किया है कि परिपक्व कूठ की मूल कडवी तथा अपक्व कूठ की मूल कुछ मीठी होती है। फारसी लेखक तिक्त कुष्ठ को कुस्त-ई-तल्ख और मीठे कूठ को कुस्त-ई-सिरीन् लिखते हैं और मीठे कूठ को पुष्कर मूल का अंग्रेजी नाम ओरिसरूट बतलाते हैं।

कूठ काश्मीर से चीन को बहुत जाता है जिसे वहां लोग धूप की तरह व्यवहार में लाते हैं। ऊनी वस्त्रों की कृमियों से रक्षा करने के लिये कूठ के टुकड़ों को उनमें रखते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके मूल में एक उड़नशील तैल १·५–२·५%, एक सॉस्सुराइन (Saussurine) नामक क्षाराभ ·०५%, राल ६%, इन्युलिन (Inulin) १८%, तैल, पोटॅशियम् नाइट्रेट (Potassium nitrate), शर्करा तथा टॅनिन आदि द्रव्य रहते हैं। एक अन्य कुष्ठिन (Kushtin, $C_{20}H_{26}O_3$) नामक तरल पदार्थ भी इससे प्राप्त होता है। इसके उड़नशील तैल में कोस्टस् लॅक्टोन (Costus lactone, $C_{15}H_{20}O_2$) ११, कोस्टुसिक् एसिड (Costusic acid, $C_{15}H_{22}O_2$) १४, डीहाइड्रोकोस्टस् लॅक्टोन (Dihydrocostus lactone) १५, अॅप्लोटॉक्सिन (Aplotoxin) २०, अॅल्फा-कोस्टेन (a-costene) ६, बीटा-कोस्टेन (B-Costene) ६, फेलॅन्ड्रेन (Phelandrene) ०·४, कॅम्फेन (Camphene) ०·४, तथा टरपेन अॅल्कोहोल (Terpene alcohol) ०·२% पाया जाता है। इसके पत्तों में भी क्षाराभ आदि पाये जाते हैं लेकिन उडनशील तैल नहीं रहता। कुछ लोगों के मत से इसमें वॅलेरिक् अम्ल (Valeric acid) के लवण तथा इसकी राख से मॅंगनीज (Manganese) भी पाया जाता है।

सॉस्सुराइन नामक क्षाराभ की क्रिया सुषुम्नाशीर्ष (Medulla) स्थित प्राणदा (Vagus) नाडी केन्द्र पर तथा श्वसनिका (Bronchioles) एवं पचनसंस्थान (Gastro-intestinal tract) की अनैच्छिक (Involuntary) मांसपेशी तन्तुओं पर अवसादक (Depressant) होती है जिससे श्वसनिकाओं का विस्फार (Relaxation) होता है। इससे रक्तचाप की कुछ वृद्धि होती है जो लगातार बनी रहती है तथा हृदय, विशेष कर उसके निलय (Ventricles) के संकोच तथा विस्फार की शक्ति बढ़ती है। श्वसनिका विस्फार की क्रिया अॅड्रेनलीन (Adrenaline) के जितनी तीव्र नहीं होती न यह उतनी जल्दी कार्य ही करता है लेकिन इसका प्रभाव अधिक समय तक बना रहता है।

इसमें का उड़नशील तैल (Volatile oil) जीवाणुओं के लिये, विशेष कर स्तवक तथा माला गोलाणु (Staphylo and Streptococcus) के लिए प्रतिदूषक (Antiseptic) तथा उपसर्ग नाशक (Disinfectant) है। यह वातानुलोमक, हृदयोत्तेजक, कफनिःसारक एवं मूत्रल है तथा अनैच्छिक मांसपेशी तन्तुओं को यह शिथिल करता है जिससे श्वसनिकाओं का विस्फार होता है। केन्द्रीय वातनाडी संस्थान पर इसका प्रभाव अन्य उडनशील तैलों की तरह ही होता है। इसका उत्सर्ग वृक्क तथा फुफ्फुसों द्वारा होता है जिससे यह मूत्रल तथा कफनिःसारक है।

इसका प्रवाही सत्व अधिक मात्रा में (१०-२० सी० सी०) यदि सेवन किया जाय तो उदर में कुछ प्रक्षोभ तथा बेचैनी होती है तथा तन्द्रा उत्पन्न होती है।

कूठ का धूम्रपान केन्द्रीय वातनाडी संस्थान (Central Nervous System) में अवसाद उत्पन्न करता है और शायद यही कारण है कि अफीम के स्थान पर इसका धूम्रपान किया जाता है।

गुण और प्रयोग—कूठ उष्ण, दीपन, पाचन, सुगन्धि, उत्तेजक कफनिःसारक, उद्वेष्टननिरोधी, कुछ मूत्रल, वाजीकर, रसायन, आर्तवजनन, व्रणशोधक एवं रोपक, त्वक्दोषहर, प्रतिदूषक (Antiseptic) तथा उपसर्गनाशक (Disinfectant) है।

इसका उपयोग फुफ्फुस विकार जैसे तमकश्वास, कास एवं कुपचन, विसूचिका, जीर्ण चर्मरोग, उन्माद, अपस्मारादि वातरोग, आमवात, वातकफज्वर, नष्टार्तव, कष्टार्तव, हृदयोदर, जलोदर तथा शिरःशूल आदि में किया जाता है।

(१) **तमकश्वास** (Asthma) के लिए यह औषध बहुत ही लाभदायक सिद्ध हुई है। इसके लिए इसका मद्यसारीय प्रवाही सत्व ½-२ ड्राम की मात्रा में या इसका चूर्ण दिन में ३, ४ बार दिया जाता है। रात को सोते समय तथा जब भी श्वास के आवेग की सम्भावना हो तो इसकी एक मात्रा देने से आवेग नहीं आता न इससे ॲड्रिनॅलीन (Adrenaline) के इन्जेक्शन वा दमे की सिगरेट आदि की तरह निद्रानाश आदि दुष्परिणाम ही होते हैं क्योंकि यह उद्वेष्टन निरोधि होने के साथ-साथ केन्द्रीय वातनाडी संस्थान पर इसका अवसादक प्रभाव भी होता है। इस औषध को १०, १५ दिन लगातार देकर फिर कुछ दिन रोककर देखना चाहिये कि फिर दौरा तो नहीं होता। यदि फिर दौरा हो तो फिर इसे देना चाहिये। इसका न तो कोई संचायि (Cumulative) दुष्परिणाम होता है न सहनशीलता (Tolerance) ही उत्पन्न होती है जिससे प्रत्येक बार मात्रा में वृद्धि करनी पड़े। इस औषध के प्रयोग के समय तमकश्वास के कारणों की अवश्य खोज करनी चाहिये तथा उनको दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि जब तक कारण दूर नहीं होंगे तब तक स्थायी लाभ नहीं हो सकेगा। यह प्राणदा नाडी की उत्तेजना से होने वाले आवेगों (व्हॅगोटोनिक् टाइप = Vagotonic type) को रोकने में विशेष समर्थ है। इसके क्षाराभ तथा तैल दोनों संयुक्त मिलकर कार्य करते हैं। तैल श्वसनिकाओं के उद्वेष्टन को दूर करने के साथ-साथ श्लेष्मा को भी बाहर निकालता है तथा उससे श्लेष्मलकला की सूजन दूर होती है। इसके प्रवाही सत्व को पोटॅशियम् आयोडाइड् के मिश्रण के साथ भी दे सकते हैं। इसका अल्प मात्रा में धूम्रपान भी लाभदायक है।

(२) पाचन के विकार जैसे अजीर्ण, कुपचन, शूल, आध्मान, अतिसार एवं विसूचिका आदि में इससे युक्त अग्निमुख चूर्ण (चक्र.) १०-२० र० की मात्रा में सुरा आदि के साथ लाभदायक है। विसूचिका में बड़ी इलायची के साथ इसका फांट दिया जाता है। हृद्दौर्बल्यजन्य जलोदर में भी इससे पाचन सुधरता है तथा मूत्रवृद्धि होकर लाभ होता है।

(३) आमवात में इसके चूर्ण को एरण्ड तैल के साथ खिलाते हैं तथा इसका बाह्यलेप भी करते हैं।

(४) रसायन के लिये इसके चूर्ण को घृत तथा मधु के साथ नित्य सुबह चाटना चाहिये जिससे किसी भी प्रकार के रोग नहीं होने पाते तथा आयु की वृद्धि एवं शरीर की कांति बढ़ती है। **अथर्ववेद** में भी इसके रसायन गुणों के साथ इसे शिरोरोग, तृतीयक ज्वर, कुष्ठ एवं कृमि रोगों के लिये उपयोगी माना है लेकिन आधुनिक विद्वान् मलेरिया, आंत्रिक कृमि, महत्कुष्ठ एवं आमवातादि में अनुपयोगी बतलाते हैं।

(५) बार-बार आनेवाली हिक्का में यह औषध लाभदायक है। इसमें कूठ तथा राल का धूम्रपान कराया जाता है।

(६) चर्मरोगों में यह बहुत लाभदायक सिद्ध हुई है। व्रणों पर इसके मलहम का उपयोग किया जाता है। अरुंषिका (सर के क्लेदयुक्त फोड़े फुन्सी) में इसका चूर्ण खपरैल में भूनकर तेल के साथ लगाया जाता है जिससे खुजली, जलन, पीडा एवं सर के व्रण आदि अच्छे होते हैं। मुख कान्ति वृद्धि के लिये इसे नींबू के रस में ७ दिन भिगोकर मधु के साथ मुख पर लगाना चाहिये।

(७) एरण्डमूल के साथ इसको कांजी में पीसकर उसके लेप से शिरःशूल दूर होता है।

(८) यह गुलाबजल में पीसकर हाथ पैरों की सूजन, उदरवृद्धि, शिरःशूल तथा मोच आदि पर लगाया जाता है।

(९) चीन में इसका उपयोग बालों को काला करने के लिए मसाले के रूप में एवं धूपन के लिये किया जाता है तथा दन्तशूल में कस्तूरी के साथ उसे लगाते हैं। बालों को धोने के काम में भी इसका उपयोग होता है।

मात्रा—चूर्ण २–१५ र०; तरलसत्व ½–२ ड्राम।

प्रतिनिधि तथा व्यामिश्रण—कभी कभी सॉस्सुरिया हाइपोल्यूका (Saussurea hypoleuca) के मूल इसके प्रतिनिधि के रूप में व्यवहार में आते हैं। इसमें कभी-कभी लॅबियेटी (Labiateae) वर्ग की सॅलविया लॅनेटा (Salvia lanata) या लिगुलॅरिया (Ligularia) के मूल, निर्विष (Kyllingia triceps), रास्ना भेद (Inula racemosa), कुछ हीन जाति के ॲकोनाइट (Aconite) के मूल एवं सेनेसिओ जॅक्वेमॉन्टियानस् (Senecio jacquemontianus) जिसे काश्मीर में पोष्कर कहते हैं आदि का व्यामिश्रण किया जाता है जिनको सूक्ष्मदर्शन यन्त्र एवं अन्य आकारादि द्वारा अलग पहचान सकते हैं। दक्षिण की तरफ कहीं-कहीं संभवतः केमुक (Costus speciosus-कोस्टस् स्पेसिओसस्) इसके स्थान पर लिया जाता रहा।

अथ कुष्ठभेदः–पुष्करमूलम् , तस्य नामानि गुणाँश्चाह

उक्तं पुष्करमूलं तु पौष्करं पुष्करञ्च तत्। पद्मपत्रञ्च काश्मीरं कुष्ठभेदमिमं जगुः ॥१७४॥
पौष्करं कटुकं तिक्तमुक्तं वातकफज्वरान्। हन्ति शोथारुचिश्वासान्विशेषात्पार्श्वशूलनुत्॥

कूठ के भेद पोहकर मूल के नाम तथा गुण—पुष्करमूल, पौष्कर, पुष्कर, पद्मपत्र, काश्मीर और कुष्ठभेद ये सब पोहकर मूल के नाम हैं। पोहकरमूल-कटु तथा तिक्त रसयुक्त होता है और वात कफ ज्वर, शोथ, अरुचि तथा श्वास को दूर करता है। और यह विशेषतः पार्श्वशूल को नष्ट करने वाला होता है॥ १७४–१७५॥

५७ पुष्करमूल

हि०–पोहकरमूल, पुष्करमूल । **बं०**–पुष्करमूल, कुष्ठविशेष । **म०**–पुष्करमूल, बालवेखण्ड । **गु०**–पोहकरमूल । **पं०**–पोहकरमूल, इरसा । **काश्मी०**–पातालपद्मिनी । **अ०**–सोसन इरसा । **फा०**–बेख-इ-बनफ्शा । **अं०**–Orris root (ओरिस रूट) । **ले०**–*Iris germanica, Linn.* (आइरिस् जर्मॅनिका, लिन) । Fam. Iridaceae (आइरिडॅसी) ।

पुष्करमूल के सम्बन्ध में विद्वानों में कुछ मतभेद है । कुछ लोगों ने यह लिखा है कि पुष्कर-मूल के अभाव में कूठ लेना चाहिये । प्राचीन समय में इसका अभाव होगा ऐसा प्रतीत नहीं होता । आधुनिक विद्वानों में डा० देसाई ने पुष्करमूल को (ले०) आइरिस् जर्मॅनिका (Iris germanica)माना है लेकिन उसी को वह बालवच (हैमवती, श्वेतवचा) भी मानते हैं । कुछ अन्य विद्वान् पुष्करमूल को (ले०) इनूला रेसिमोसा (Inula racemosa) मानते हैं जिसको डा० देसाई ने 'रास्ना' माना है तथा बालवच (हैमवती, श्वेतवचा) को (ले०) आइरिस व्हेरसिकोलर (Iris versicolor) मानते हैं ।

सभी विद्वान् पुष्करमूल का अंग्रेजी नाम ओरिस रूट (Orris Root) लिखते हैं । ओरिस रूट, (ले०) आइरिस् फ्लोरेंटिना (Iris florentina Linn) का मूल है । बम्बई के बजार में (अं०) ओरिस् रूट नाम से अधिकतर (ले०) आइरिस् जर्मॅनिका के मूल बिकते हैं, जो उसी जाति का है । गुणों की दृष्टि से (ले०) आइरिस् जर्मॅनिका के गुण कूठ से मिलते जुलते होने से इसका ग्रहण उचित जान पड़ता है । कुछ लोग कमल की जड़ को पुष्करमूल के नाम से लेते हैं जो बिलकुल गलत मालूम होता है । कूठ के स्थान पर लिये जाने वाले द्रव्यों को भी इसके स्थान पर कुछ लोग लेते हैं जो उचित नहीं है ।

(ले०) इनूला रेसिमोसा का वर्णन 'रास्ना' के अन्तर्गत किया जा चुका है । यहां पर निम्न वर्णन (ले०) आइरिस् जर्मॅनिका का किया जा रहा है ।

यह इरान तथा काश्मीर में उत्पन्न होता है तथा काश्मीर में इसकी उपज भी की जाती है । इसका छोटा पौधा होता है । **पत्ते**–अनेक, चौड़े तथा तलवार के आकार के होते हैं । पुष्प-लम्बे दंड पर आते हैं । **मूल**–कठोर, पीताभश्वेत, ५ से १० से० मी० लम्बे तथा २–३ से० मी० चौड़े टुकड़ों में, चिपटे, वार्षिक वृद्धि के कारण उत्पन्न सान्तर संकोच युक्त, सुगन्ध युक्त एवं स्वाद में तिक्त रहते हैं । ३ साल पुराने पौधे की जड़ निकाल कर छील कर हल्की धूप में ५–६ दिन सुखाते हैं फिर३ वर्ष तक बंद करके रखते हैं तब इसमें गन्ध आती है । ताजी अवस्था में यह गन्धहीन एवं स्वाद में कुछ कटु रहता है । मूल का उपयोग चिकित्सा के अतिरिक्त पाउडर में तथा सुगन्ध द्रव्य के रूप में किया जाता है ।

रासायनिक संगठन—इसमें उड़नशील तैल, आइरिडीन (Iridin) ग्लूकोसाइड, स्टार्च, शर्करा, राल, टैनिन तथा कॅल्शियम ऑक्झेलेट आदि पदार्थ पाये जाते हैं ।

गुण और प्रयोग—इसके गुण कूठ के समान हैं तथा यह उष्ण, आनुलोमिक, मूत्रजनन, उत्तेजक, शोथघ्न एवं व्रणरोपक है । अधिक मात्रा में यह विरेचक तथा वामक है ।

इसका उपयोग श्वास, कास, पार्श्वशूल, कुपचन, अरुचि तथा पित्ताशय की बीमारियों में किया जाता है । हकीम लोग इसको विरेचक एवं मूत्रल मानते हैं तथा यकृत् के विकारों में इसका प्रयोग करते हैं । दंतशूल तथा दांत हिलते हों तब एवं मुख दुर्गन्धि में इसके चूर्ण से मञ्जन किया

जाता है तथा इसके टुकड़े को मुख में रखकर चूसते भी हैं। केशतैलों को सुगन्धित करने के लिये इसका व्यवहार किया जाता है। छोटे व्रणों तथा फोड़े फुन्सियों पर इसका लेप लाभदायक है।

मात्रा—२ से १५ र०।

अथ कटुपर्णी (चोक) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

कटुपर्णी हैमवती हेमक्षीरी हिमावती। हेमाह्वा पीतदुग्धा च तन्मूलं चोकमुच्यते ॥१७६॥
हेमाह्वा रेचनी तिक्ता भेदिन्युत्क्लेशकारिणी। कृमिकण्डूविषानाहकफपित्तास्रकुष्ठनुत् ॥१७७॥

सत्यानाशी (चोक) के नाम तथा गुण—कटुपर्णी, हैमवती, हेमक्षीरी, हिमावती, हेमाह्वा और पीतदुग्धा ये सब सत्यानाशी के नाम हैं और इसी के जड़ भाग को चोक कहते हैं।

सत्यानाशी—रेचक, तिक्तरसयुक्त, भेदक (मल को भेदन करने वाली) और उत्क्लेश कारक होती है एवम् कृमि, खुजली, विष, आनाह, कफ, पित्त, रक्त विकार और कुष्ठ को दूर करने वाली होती है॥ १७६–१७७॥

५८ कटुपर्णी (चोक)

हि०–सत्यानाशी, पीला धतूरा, फरंगी धतूरा, उजर कांटा, सियाल कांटा, भड़भांड़, चोक। **बं०**–सोनाखिरणी, शियाल कांटा, बड़ो सियाल कांटा। **म०**–कांटे धोत्रा। **गु०**–दारूडी। **क०**–अरसिन उन्मत्त। **ता०**–ब्रह्मदण्डु, कुडियोट्टि, कुरुक्कुम चेडि। **ते०**–ब्रह्मदण्डी चेट्टु। **पं०**–कण्डियारी, स्यालकांटा, भटमिल, सत्यनशा, भेरवण्ड, भटकटेया। **सन्ता०**–गोकुहल जानम। **पश्चिमो०**–भरभुरवा, कडवह कण्टेला। **मला०**–पोन्नुम्मत्तम्। **उड़ि०**–कांटाकुशम। **अं०**–Mexican poppy (मेक्सिकन पॉप्पी), Prickly poppy (प्रिक्ली पॉप्पी), Yellow thistle (यलो थिसल्)। **ले०**–*Argemone mexicana Linn.* (आर्जिमोन् मेक्सिकाना)।

Fam. Papaveraceae (पॅपॅहेरॅसी)।

यह सब प्रान्तों के खेत, मैदान, झाड़ी, खण्डहर, सड़क के किनारे आदि गन्दी जमीन में उत्पन्न होती है। शिमले में ५००० फीट ऊँची भूमि पर भी पाई जाती है।

सत्यानाशी क्षुप जाति की वनस्पति २ से ४ फीट तक ऊँची, अनेक शाखाओं से युक्त सघन होती है। इसके क्षुप, पत्ते, फल इत्यादि पर तीक्ष्ण कांटे होते हैं। डण्डी और पत्तों को तोड़ने से पीला दूध निकलता है। पत्ते ३ से ७ इञ्च तक लम्बे, कटे हुए, तीक्ष्ण कँटीले नोक वाले, सफेद धब्बों से युक्त तथा रेशेवाले होते हैं। फूल–कटोरी नुमा चमकीले पीले रंग के आते हैं और वे खुले मुख होते हैं। फल–लम्बे तथा गोल होते हैं और उनसे राई के समान काले रंग के बीज निकलते हैं। वैशाख, ज्येष्ठ की गरमी से इसका क्षुप सूख कर नष्ट हो जाता है। फल के सूखने पर बीज भूमि पर गिर जाते हैं और वे ही शरद ऋतु में अङ्कुरित हो पौधे के रूप में परिणत हो जाते हैं। इसकी जड़ का नाम 'चोक' है।

कुछ विद्वान् इस पौधे को विदेशी मानते हैं तथा इसे प्राचीन 'स्वर्णक्षीरी' नहीं मानते। इस वनस्पति के ताजे मूल, क्षीर, बीज तथा तैलादि का औषध में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—पहले ऐसा समझा जाता रहा कि इस वनस्पति के पत्तों तथा फलियों में मॉर्फीन (Morphine) या आर्जेमोनाइन् (Argemonine) क्षाराभ पाये जाते हैं लेकिन

बाद के प्रयोगों से ज्ञात हुआ कि इसमें इस प्रकार के कोई क्षाराभ नहीं रहते लेकिन बर्बेरीन (Perberine) तथा प्रोटोपाइन (Protopine) नामक अन्य क्षाराभ होते हैं। इसके बीजों में एक गहरे बदामी रंग का, स्वादहीन तैल २२% पाया जाता है जो पहले पतला रहता है लेकिन बाद में रखने पर गाढ़ा होता जाता है। इसके अतिरिक्त इन बीजों में कार्बोहाइड्रेट्स (Carbohydrates) एवं अॅल्ब्यूमिन (Albumin) ४९%, आर्द्रता ९% तथा राख ६% पाई जाती है। इस राख में क्षारीय फॉस्फेट (Phosphate) तथा सल्फेट (Sulphate) पाये जाते हैं। इस वनस्पति में पीले रंग का दूध बहुत होता है जिसमें अल्प मात्रा में बर्बेरीन (Berberine) होता है। पोटॅशियम् नाइट्रेट (Potassium nitrate) लवण भी इसमें होता है।

गुण और प्रयोग—यह विरेचक, रसायन, कुष्ठघ्न एवं कृमिघ्न है तथा इसका प्रयोग फिरंग, उपदंश, सोजाक, कुष्ठ, चर्मरोग तथा नेत्र विकारों में किया जाता है।

(१) इसके बीजों का तेल मृदुरेचक, रसायन, कुष्ठघ्न एवं त्वचा के रोगों में लाभदायक है। यह ३० बूंद की मात्रा में शर्करा के साथ दिया जाता है। इसके नये बीज वामक होने के कारण इन बीजों को एक साल रख कर फिर तेल निकालते हैं तथा ताजे निकाले तेल का ही उपयोग अच्छा होता है। इसमें एरण्ड तैल के समान न तो कोई दुर्गन्ध या खराब स्वाद होता है न इससे मरोड आदि होती है तथा यह अल्प मात्रा में प्रभावशाली होता है। आमातिसार, संग्रहणी, विसूचिका उदरशूल, विबन्ध युक्त उदरशूल एवं सर्वांगशोथ आदि में इसका उपयोग किया जाता है। फिरङ्ग तथा उपदंश में इसके बीजों का प्रयोग विरेचन के लिये किया जाता है। कुष्ठ, दाद, विसर्प, श्वित्र एवं अन्यान्य पीडा एवं दाहयुक्त चर्मविकारों में इसका तैल लगाया जाता है जिससे शान्ति मिलती है।

(२) इसके बीज वामक तथा उत्क्लेशकारक होने के कारण इनका उपयोग गले के विकार, फुफ्फुस विकार, कास, कुकास एवं तमकश्वास आदि में लाभदायक होता है। इसमें कोई उद्वेष्टन निरोधि गुण नहीं है जो तमकश्वास में लाभदायक होता हो। ये रेचक तथा वेदनास्थापक भी होते हैं। दांतों में गड्ढे होकर पीड़ा होती हो तो इनके धूम्रपान से लाभ होता है।

(३) इस पौधे में जो पीले रंग का दूध होता है वह रसायन, कुष्ठघ्न, मूत्रजनन, व्रणशोधक तथा रोपक, शोथप्रतिकारक, ज्वरहर एवं नेत्र के लिये हितकारक होता है। फिरंग, उपदंश एवं सोजाक आदि में 'किडमार' (Aristolochia bracteata Retz) के रस के साथ इसको पिलाते हैं। मलेरिया आदि जीर्ण विषमज्वरों में नींबू के रस में इसे घोंट कर पिलाते हैं। सोजाक में इसको घी के साथ देने से भी लाभ होता है। जलोदर एवं कामला आदि में भी इसका व्यवहार किया जाता है।

नेत्राभिष्यन्द में पलकों पर इसको लगाते हैं तथा नेत्रशुक्र, अधिमांस एवं दृष्टिमांद्य आदि में घी के साथ १ बूंद इसे आंखों में डालते हैं। इससे किसी प्रकार की हानि नहीं होती। सर्वदा के प्रयोग के लिये इसको सुखाकर रख सकते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर घी या दूध में घिसकर उपयोग में ला सकते हैं।

पुराने व्रण, फिरंगादि से उत्पन्न व्रण एवं खुजली (Scabies) आदि में इसको लगाने से लाभ होता है।

(४) इसका मूल रसायन, कृमिघ्न तथा कुष्ठघ्न है। फिरंग, उपदंश, सोजाक, अश्मरी तथा अन्य चर्मरोगों में इसका क्वाथ दिया जाता है एवं इसका लेप भी करते हैं। स्फीत कृमि (Tape-worm) के लिये इसके चूर्ण को ४ माशा की मात्रा में खिलाते हैं। बिच्छू काटने पर इसकी ताजी जड़ को घिस कर लगाते हैं।

(५) कुष्ठ (Leprosy) में इसके स्वरस को १ तोले की मात्रा में ४० दिन तक रोज सवेरे दूध के साथ पिलाने से लाभ होता है। यह रसायन एवं बलवर्धक है तथा फिरंगादि में भी यह लाभदायक होता है।

(६) सरसों में इसके बीजों की मिलावट करके तेल निकालते हैं। ऐसा मिलावटी तेल बहुत हानिकार होता है तथा इससे बेरीबेरी (Beri beri) एवं एपिडेमिक् ड्राप्सी (Epidemic dropsy) नामक रोग होते हैं जिसमें पैरों में सूजन, हृदय की दुर्बलता, पचनसंस्थान के विकार एवं वात नाडी शोथ आदि होते हैं।

परीक्षा—सरसों के तेल में इसकी मिलावट है या नहीं इसकी निम्न परीक्षाएँ की जाती हैं।

(क) सरसों के तेल के बराबर शोरे का तेजाब (Nitric acid–नाइट्रिक् एसिड) मिलाकर हिलाने से मिलावट न होने पर धूसर लाल (Brownish red) या नारंग (Orange) रंग उत्पन्न नहीं होता।

(ख) ३ मि. लि. सरसों का तेल, १ मि. लि. ग्लेशियल् अॅसेटिक् अॅसिड Glacial acetic acid) तथा क्यूप्रिक् अॅसिटेट (Cupric acetate) के जलीय ३% घोल का ३ मि. लि. धीरे २ हिलावें। फिर जलयुक्त पात्र में इसके पात्र को रख कर १५ मिनट गरम करके फिर अच्छी तरह हिला कर रख दें। मिलावट न होने पर अवक्षेप नहीं होता तथा इसके जलीय भाग में नीले रंग से हरे रंग में कोई परिवर्तन नहीं होता।

मात्रा—बीज तैल ३० बूँद; बीज ½ तो०; पीतवर्ण का दुग्ध १–२ माशा; मूल २–४ माशा।

अथ कर्कटशृङ्गी (काकड़ासिंगी) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

शृङ्गी कर्कटशृङ्गी च स्यात्कुलीरविषाणिका। अजशृङ्गी च चक्रा च कर्कटाख्या च कीर्तिता॥
शृङ्गी कषाया तिक्तोष्णा कफवातक्षयज्वरान्। श्वासोर्ध्ववाततृट्कासहिक्काऽरुचिवमीन्हरेत्॥

काकरासिङ्गी के नाम तथा गुण—शृङ्गी, कर्कटशृङ्गी, कुलीरविषाणिका, अजशृङ्गी, चक्रा और कर्कटाख्या ये सब काकड़ासिङ्गी के नाम हैं। काकरासिङ्गी–कषाय तथा तिक्तरस युक्त एवं उष्णवीर्य होती है। और यह कफ, वात, क्षय, ज्वर, श्वास, ऊर्ध्ववात, प्यास, कास, हिचकी, अरुचि तथा वमन को दूर करने वाली होती है॥ १७८–१७९॥

५९ कर्कटशृङ्गी (ककड़ासिंगी)

हि०–ककड़ासिंगी, काकड़ासिंगी, काकरासिंगी (घो), ककड़ाव। बं०–कांकराशृङ्गी। म०–काकड़शिंगी। क०–कर्कटश्रृङ्गी, दुष्टपुचत्तु। ते०–काकर सिंगी। ता०–कात्तकट शिंगी। मा०–काकड़ाशिंगी। पं०–ककर, सुमाक। गु०–काकड़ा सींगी। काश्मी०–कक्कर। ले०–*Pistacia integerrima, Stew. ex Brandis* (पिस्टॅसिया इंटिजिरिमा)। Fam. Anacardiaceae (अॅनॅकाडिएसी)।

इसके वृक्ष उत्तर पश्चिमी हिमालय के बाहरी कतारों पर १५००–८००० फीट की ऊँचाई तक तथा पंजाब, सीमाप्रान्त आदि स्थानों पर पाये जाते हैं।

इसके वृक्ष मध्यमाकार के होते हैं। छाल-सफेद रंग की। पत्र–युग्म अथवा अयुग्मपक्षाकार तथा ६–९ इञ्च लम्बे। पत्रक–४–६ जोड़े, किञ्चित् सनाल, भालाकार, लम्बे नोक तथा सरल धार

---

१. 'वक्के'ति पाठान्तर प्रामादिकम्।

वाले और चिकने। कोपलें (नवीन पत्र) लाल रंग की। पुष्प–स्त्रीपुष्प और पुंपुष्प अलग २ वृक्षों पर तथा सवृन्त काण्डज पुष्पसमूहों में एवं बाह्य कोषों (पंखुडियों) से हीन। अष्ठिफल (Drupe) शुष्क, चिकने, झुर्रीदार, गोल, बहुत छोटे, एवं पकने पर धूसर वर्ण के हो जाते हैं।

इस वृक्ष की पत्तियों, पर्णवृन्तों तथा टहनियों पर एक प्रकार की लम्बी २ शृंगवत् रचना लगी रहती है जिन्हें कृमिगृह (Galls–गॉलस) कहते हैं। ये एक प्रकार के कीड़ों, जिन्हें एफिस (Aphis) कहा जाता है द्वारा निर्मित होते हैं। इन कृमिगृहों को ही काकरासिंगी कहते हैं। ये विभिन्न नाप के ३–९ इञ्च लम्बे, पोले, एवं कड़े होते हैं। इनका बाह्य पृष्ठ हलका हरिताभ बादामी रंग का, पतला तथा झालरदार (Fimbriated) दिखलाई देता है। इसको तोड़ने पर अन्दर का पृष्ठ रक्ताभ दिखलाई देता है जो महीन रजः कणों से ढका रहता है। सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा देखने से यह सिद्ध हुआ है कि ये कण उन कीड़ों के मृतदेह तथा उनके मल हैं। काकरासिंगी का चूर्ण स्वाद में अत्यन्त कसैला तथा कुछ कड़वा होता है तथा इसमें तारपीन के तेल की तरह गन्ध आती है।

तिंतिडीक जाति (Rhus) के वृक्षों में भी कृमिगृह बनते हैं परन्तु वे काकरासिंगी से भिन्न हैं। कुछ लोगों ने भ्रम से कर्कट वृक्ष का नाम हस् सक्सिडेनिया (Rhus succedanea Linn.) दे दिया है जो उचित नहीं है।

प्राचीन ग्रन्थों में इसके कीड़ों से उत्पन्न होने के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता लेकिन कास आदि के लिये इसका बहुत प्रयोग किया गया है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक हलके हरिताभ पीतवर्ण का एवं तारपीन के तेल की तरह गन्धवाला उड़नशील तैल १·३%, रवेदार हाइड्रोकार्बन (Hydrocarbon) ३·४%, टॅनिन ६०%, गम मॅस्टिक (Gum mastic) ५%, एक रालीय पदार्थ तथा दो अन्य रवेदार अम्ल पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह बल्य, कफनिःसारक, उष्ण एवं ग्राही है। इसमें के उड़नशील तैल के कारण इससे तमकश्वास कास, श्वासनलिका शोथ एवं राजयक्ष्मा आदि में अच्छा लाभ होता है। इससे श्लेष्मिककला को बल मिलकर कफ बाहर निकलने लगता है एवं नया कफ बनने नहीं पाता। इसमें टॅनिन बहुत होने के कारण इसका अतिसारादि में भी अन्य औषध के साथ उपयोग किया जाता है। आमाशय के प्रकोप से उत्पन्न वमन, हिक्का, जीर्ण अतिसार, आमातिसार तथा उपजिह्विका की वृद्धि से उत्पन्न खांसी आदि में इसको देने से अच्छा लाभ होता है। बच्चों के लिये यह विशेष लाभदायक है। वयस्कों के लिये इसकी साधारण मात्रा १० र० की है।

(१) इसके चूर्ण को घृत में भूनकर उसमें मिश्री मिलाकर संग्रहणी (Dysentery) में देने से बहुत लाभ होता है।

(२) बच्चों में दन्तोद्भव के समय जब खांसी, ज्वर, अतिसार एवं पाचन के विकार आदि होते हैं, तब काकरासिंगी, अतीस एवं छोटी पीपल समान मात्रा में लेकर उसके चूर्ण को ½–२ र० की मात्रा में मधु के साथ चटाने से बहुत लाभ होता है। इस चूर्ण में नागरमोथा भी कुछ लोग मिलाते हैं। बच्चों के श्वास में मूली के फल एवं इसके चूर्ण को मधु तथा घृत के साथ चटाने से लाभ होता है।

(३) शुष्क कास तथा अन्य श्वसन संस्थान के विकारों में काकरासिंगी, भारङ्गीमूल, सोंठ, छोटी पीपल, कचूर तथा मुनक्का इन का चूर्ण १५ र० की मात्रा में मधु के साथ देना चाहिये।

(४) कफज छर्दि में नागरमोथा एवं इसका चूर्ण मधु के साथ चटाने से लाभ होता है।

(५) इसका बाह्य लेप सोरियॅसिस् (Psoriasis) नामक जीर्ण चर्मरोग में किया जाता है तथा मसूड़ों आदि से खून जाता हो तो इसके क्वाथ से गण्डूष कराया जाता है।

मात्रा—चूर्ण ½–२ मा०।

अथ कट्फलस्य (कायफल) नामानि गुणांश्चाह

कट्फलः सोमवल्कश्च कैटर्य्यः कुम्भिकाऽपि च। श्रीपर्णिका कुमुदिका भद्रा भद्रवतीति च॥ कट्फलस्तुवरस्तिक्त कटुर्वातकफज्वरान्। हन्ति श्वासप्रमेहार्शः कासकण्ठामयारुचीः ॥१८१॥

कायफल के नाम तथा गुण—कटफल, सोमवल्क, कैटर्य, कुम्भिका, श्रीपर्णिका, कुमुदिका, भद्रा और भद्रवती ये सब कायफल के नाम हैं। कायफल—कषाय, तिक्त तथा कटु रसयुक्त होता है तथा वात, कफ, ज्वर, श्वास, प्रमेह, बवासीर, कास, कण्ठसम्बन्धी रोग तथा अरुचि को दूर करता है॥ १८०–१८१॥

६० कट्फल (कायफल)

हि०-कायफर, कायफल, काफल। ब०-कायछाल, कायफल, कट्फल। क०-किरिशिवनि। ते०-कैदर्यमु। म०-मा०-गु०-पं०-कायफल। खासिया०-डिंगसोलिर। ता०-मरुदम्पतै। फा०-दारशीशान्। अ०-उदुल्बर्क, अजूरी। अं०-Box Myrtle; Bay-berry (बाक्स मिर्टल्; बे-बेरी)। ले०-*Myrica nagi, Thunb.*; (मायरिका नेगी) Fam. Myricaceae (मायरिकेसी)।

यह हिमालय के साधारण उष्ण प्रदेशों में रावी से पूरब की ओर, खासिया पहाड़, सिलहट तक, ३–६ हजार फीट के बीच पाया जाता है और सिंगापुर में भी इसके वृक्ष देखने में आते हैं। चीन तथा जापान में इसकी बहुत उपज की जाती है।

इसके मध्यम उंचाई के सदाहरित वृक्ष होते हैं। छाल बादामी धूसर अथवा कृष्णाभ, भारी, सुगन्धित, करीब ½ इञ्च मोटी और खुरदरी होती है। काष्ठ–½ इञ्च से १ इञ्च मोटा, बिना रेशे का और रक्ताभ बादामी होता है। पत्रनाल, मञ्जरी तथा नवीन शाखाओं पर बादामी रोमावरण होता है। पत्ते–४ से ८ इञ्च लम्बे तथा १½–२ इञ्च चौड़े, ऊपर से भालाकार अथवा कुछ २ आयताकार भी और उनके अधः पृष्ठ प्रायः मुरचई रंग के होते हैं। फूल–लाल। फल ½ इञ्च लम्बे, अण्डाकार, कुछ चिपटे, पृष्ठ पर दानेदार और पकने पर रक्ताभ या पीताभ बादामी होते हैं। फलों में मोम की तरह एक तेल होता है। ये फल स्वाद में कुछ खट्टे होते हैं। इन्हें सिलहट में 'सोफी' कहते हैं जिन्हें लोग खाते हैं।

यद्यपि इस वृक्ष का नाम कायफल है तब भी औषधार्थ इसकी छाल का ही प्रयोग 'कायफल' नाम से किया जाता है। इस छाल को सूंघने से छींक आती है तथा इसे जल में डालने पर जल लाल हो जाता है। आधुनिक विद्वान् इसके फल का भी औषधार्थ प्रयोग बतलाते हैं।

भ्रमवश कितने वैद्य जंगली जायफल, ले०-मायरिस्टिका मलबारिका (Myristica malabarica Lam.) के वृक्ष को कायफल का वृक्ष बतलाते हैं। जंगली जायफल के फल के ऊपर जावित्री के समान जो छिलका होता है उसको रामपत्री कहते हैं। कायफल के फल का छिलका न जावित्री के समान होता है और न रामपत्री कहलाता है। कुछ लोगों ने इस वृक्ष को कुम्भी वृक्ष, ले०-कॅरेया आर्बोरिया (Careya arborea Roxb.) माना है जो गलत है।

रासायनिक संगठन—इसमें कुछ टॅनिन, शर्करा सम द्रव्य तथा कुछ लवण रहते हैं। इसके चूर्ण मे एक मायरिसेटिन (Myricetin) नामक रञ्जक पदार्थ प्राप्त होता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, ग्राही, स्वेदजनक, कफघ्न, वातहर, शोथघ्न, शिरोविरेचक, उत्तेजक तथा गर्भाशयसंकोचक है। अधिक मात्रा में लेने से इससे वमन होता है तथा थकावट मालूम होती है।

इसका प्रयोग घरेलू औषध के रूप में अनेक रोगों में किया जाता है।

(१) सोंठ एवं दालचीनी के साथ इसका क्वाथ प्रतिश्याय, गले की सूजन, मुखपाक, स्वरभंग, तमकश्वास, जीर्ण श्वासनलिका शोथ, कास तथा अग्निमांद्य, अरुचि, आध्मान, कुपचन, आमातिसार, रक्तातिसार, मूत्रातिसार, गण्डमाला एवं गृध्रसी आदि में दिया जाता है।

(२) अर्श में कत्था, हींग एवं कपूर के साथ या घृत के साथ इसका लेप लाभदायक है तथा इसका आन्तरिक प्रयोग भी किया जाता है।

(३) केशर, काले तिल तथा सनई के बीजों को इसके साथ पूर्ण मात्रा में गुड के साथ देते हैं जिससे कष्टार्तव में अच्छा लाभ होता है। इसके देने के कुछ देर बाद भोजन देना चाहिये नहीं तो जी मिचलाने लगता है। इसके चूर्ण का पिचु भी योनि में धारण कराया जाता है।

(४) प्रतिश्याय, चक्कर, शिरःशूल एवं अपस्मार आदि में इसके नस्य से लाभ होता है।

(५) इसके क्वाथ से व्रण प्रक्षालन किया जाता है तथा इसका चूर्ण व्रणों पर डाला जाता है। इसको घिसकर सूजन, चोट एवं मोच आदि पर लगाने से लाभ होता है।

(६) इसका तैल व्रणों के लिये लाभदायक है तथा संधिशूल में इसे लगाते हैं।

(७) सिरके में इसे घिसकर मसूढ़ों पर रगड़ने से दंतशूल दूर होता है तथा मसूढ़े मजबूत होते हैं।

(८) इससे सिद्ध तैल का प्रयोग कर्णशूल में कर्णबिन्दू के रूप में किया जाता है।

(९) हैजे में हाथ पर ठंडे हो जाने पर इसके चूर्ण को सोंठ के साथ मिलाकर हाथ पैरों पर मलते हैं।

(१०) इसके फलों को उबालने से एक मोम के सदृश पदार्थ निकलता है जिसका व्रण पूरण के लिये प्रयोग करते हैं।

मात्रा—चूर्ण १०-३० र० आर्द्रक रस एवं मधु के साथ। बच्चों को १-२ र०।

अथ भार्गी (भारङ्गी) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

भार्गी भृगुभवा पद्मा फञ्जी ब्राह्मणयष्टिका। ब्राह्मण्यङ्गारवल्ली च खरशाकश्च हञ्जिका ॥१८२॥
भार्गी रूक्षा कटुस्तिक्ता रुच्योष्णा पाचनी लघुः। दीपनी तुवरा गुल्मरक्तनुन्नाशयेद् ध्रुवम् ॥
शोथकासकफश्वासपीनसज्वरमारुतान् ॥ १८३ ॥

भारङ्गी (बभनेटी) के नाम तथा गुण—भार्गी, भृगुभवा, पद्मा, फञ्जी, ब्राह्मणयष्टिका, ब्राह्मणी, अङ्गारवल्ली, खरशाक और हञ्जिका ये सब नाम भारङ्गी के हैं। भारङ्गी—रूक्ष, कटु, कषाय तथा तिक्तरसयुक्त रुचिजनक, उष्णवीर्य, पाचक, लघु तथा अग्निदीपक होती है। एवं-गुल्म, रक्तदोष, शोथ, कास, कफ, श्वास, पीनस, ज्वर और वायु को नष्ट करती है ॥ १८२-१८३ ॥

६१ भार्गी (भारङ्गी)

भारङ्गी के विषय में विद्वानों में कुछ मतभेद हैं तथा इस नाम से ४ वनस्पतियों की छाल ली जाती है। बङ्गाल में काशिया नामक डाक्टरी ओषधि का प्रतिनिधि 'ख' का व्यवहार भारङ्गी नाम से होता है। श्रीमान् ठा० बलवन्तसिंहजी अपनी 'वनौषधि दर्शिका' नामक पुस्तक में लिखते हैं कि भारङ्गी नाम से बाजार में विकनेवाली छाल क्लेरोडेंड्रान (Clerodendron) की नहीं मालूम होती जिसे अधिकांश लोगों ने भारङ्गी माना है तथा यह संभवतः 'ख' की ही छाल हो। डा० देसाई 'क' को ही शास्त्रीय भारङ्गी मानते हैं तथा अन्य अधिकांश विद्वानों ने भी इसे ही भारङ्गी माना है। अन्य दो 'ग' तथा 'घ' वनस्पतियों का भी कहीं २ व्यवहार होता है। इन चारो वनस्पतियों का अलग २ वर्णन नीचे दिया जा रहा है।

प्राचीन समय में इसका आन्तरिक प्रयोग श्वास, कास आदि में किया गया है तथा सुश्रुत (उ० अ० ६१) में अपस्मार के लिये एक विशेष प्रकार से निर्मित सुरा का प्रयोग बतलाया गया है। इसका बाह्य प्रयोग गण्डमाला, कुरंड (वृद्धि) तथा शस्त्रक्षत में किया गया है।

(क) Clerodendron serratum, Spreng. (क्लेरोडेन्ड्रोन् सेर्रटम्, स्प्रेंग)। Fam. Verbenaceae (वर्बिनॅसी)। **हि०**–भारङ्गी, भारिङ्गी, ब्रह्मयष्टि, बभनेटी। **बं०**–बामन हाटी, भुइजाम। **म०**–भारङ्ग। **गु०**–भारङ्गी। **क०**–गंटुभारङ्गी। **ते०**–नालनिरेदु। **ने०**–चूया। **पं०**–भाड़ङ्गी। **मा०**–भाराङ्गमूल। **ता०**–चेरूटेकु। **जौनसार०**–वनबाकरी। **फा०**–हज़िका।

यह हिमालय में सतलज से खासिया पहाड़ और आसाम तक तथा ब्रह्मा, नीलगिरी, पश्चिम घाट थाना, रत्नागिरी और सिलोन में पाई जाती है। इसके पौधे ३ से ५ हजार फीट की ऊँचाई तक प्रायः पर्वतों के घासवाले ढालों पर होते हैं।

भारङ्गी क्षुप जाति की वनौषधि ४-८ फीट तक ऊँची होती है। **शाखाएँ**–इसके काष्ठमय मूलस्तम्भ से प्रतिवर्ष शाखाएँ निकलती हैं। प्रत्येक गांठ पर तीन-तीन पत्ते रहते हैं जो ४ से ८ इञ्च लम्बे, १½–२½ इञ्च चौड़े, आयताकार, अंडाकार–आयताकार या भालाकार, तीक्ष्ण दन्तुर तथा शिराओं के ५ जोड़ों से युक्त होते हैं। **फूल**–सफेद या कुछ नोले रङ्ग के आते हैं। **फल**–चौथाई इञ्च लम्बे, गोल, काले, पकने पर जामुनी रङ्ग के हो जाते हैं। इस क्षुप की छाल या जड़ का व्यवहार किया जाता है।

अधिकांश विद्वान् इसको ही शास्त्रीय भारङ्गी मानते हैं लेकिन श्रीमान् ठा० बलवन्तसिंहजी लिखते हैं कि इस नाम से जो छाल बाजारों में बिकती है वह इस वनस्पति की न होकर सम्भवतः निम्न वर्णित 'ख' की छाल हो। क्योंकि बाजार की छाल मोटी होती है जो इस छोटे से क्षुप की नहीं हो सकती।

रासायनिक संगठन—इसमें एक नारङ्गी रंग का रालीय पदार्थ, स्टार्च तथा अन्य तिक्त पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, कफघ्न, श्वासहर, वातघ्न, दीपन, पाचन तथा शोथघ्न है। इसका प्रयोग श्वास, कास, प्रतिश्याय, यक्ष्मज कास, फुफ्फुस विकार, वातकफज्वर तथा आमवात में किया जाता है। इसमें ज्वरघ्न तथा कफघ्न गुण अल्प मात्रा में होने के कारण ज्वर में इसके साथ अन्य ज्वरहर औषधियां देनी पड़ती हैं तथा कफज व्याधियों में काकड़ासिंगी या कायफल इसके साथ दिया जाता है। प्रतिश्याय एवं कफयुक्त श्वास आदि में इसके साथ सोंठ या घोड़बच देते हैं।

इसके पत्तों का पोल्टिस बनाकर फोड़ों के ऊपर लगाते हैं। उपदंशजन्य सन्धिवात में इसका गोंद लाभदायक है। इसके पत्तों तथा कोमल डालियों का रस परिसर्प (हरपीज) एवं पेंफीगस् नामक विस्फोटों पर लगाया जाता है। रत्नागिरी में इसके पत्तों का शाक मलेरिया में खाते हैं। इसके बीजों का चूर्ण घी में भूनकर शोथ में रसायन के रूप में खाते हैं।

मात्रा—चूर्ण १½–३ मा०।

(ख) Picrasma quassioides, Ben. (पिक्रॅस्मा क्वॅसिओइडिस्, बेन)। Fam. Simarubaceae (सिमॅरूबॅसी)। हि०–भारङ्गी, करूई-तिथाई। बं०–भुरुंगी। म०–कशशिंग। पं०–तिथु, बेरिङ्ग, पुथोरिन। ने०–शामवारिंगी। अं०–Quassia (क्वॅसिया)।

यह हिमालय के बाहरी भाग में चेनाब से लेकर पूर्व की ओर ३०००–८००० फीट की ऊँचाई पर तथा चम्बा, कुलू, बशहर, उत्तरी गढ़वाल में ६०००–८००० फीट की ऊँचाई पर एवं नेपाल, भूटान तथा आसाम में खासी एवं नागा पहाड़ियों पर ३०००–८००० फीट की ऊँचाई पर पायी जाती है।

इसकी बड़ी-बड़ी झाड़ी या छोटे वृक्ष होते हैं जिनमें थोड़ी परन्तु मजबूत शाखायें होती हैं जिनपर प्रायः सफेद दाग होते हैं। पत्र–अयुग्म पक्षाकार, ९–१५ इञ्च लंम्बे, अरलु वृक्ष के पत्तों के समान तथा रक्तरोमश मालूम होते हैं। पत्रक–९–१५, अभिलट्वाकार, आरावत तथा उनका अग्र लम्बा होता है एवं सबसे नीचे के पत्रक बहुत छोटे तथा उपपत्रों के समान होते हैं। पुष्प–हलके हरे रङ्ग के, पार्श्विक तथा सवृन्त-काण्डज पुष्पव्यूहों में। अष्ठिफल–बहुत छोटे, पकने पर काले रंग के तथा प्रत्येक फल में एक बीज होता है।

इस क्षुप के टुकड़ों या छाल का व्यवहार बंगाल में भारंगा नाम से किया जाता है। यह पीताभ श्वेत या चमकीले पीले रंग के, हलके, लचीले लेकिन आसानी से टूटने वाले, गन्धहीन तथा स्वाद में अत्यन्त कड़वे होते हैं। यह डाक्टरी की क्वाशिया नामक वनस्पति का अच्छा प्रतिनिधि है।

रासायनिक संगठन—इसमें पिक्रॅस्मिन् (Picrasmin) से ठीक मिलता जुलता एक क्षाराभ ०·०५%, एक क्वासीन् (Quassin) नामक कडवा पदार्थ तथा एक अन्य प्रभायुक्त एवं क्लोरोफार्म में घुलनशील कडवा पदार्थ ०·१५% पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह एक अत्यन्त कटु द्रव्य है। इसका प्रयोग आमाशय के दौर्बल्य से उत्पन्न अग्निमान्द्य में लाभदायक होता है लेकिन अधिक मात्रा में लेने से इससे प्रक्षोभ होकर वमन होता है। इसमें अन्य कडवे द्रव्यों की तरह टॅनिन् न होने के कारण इसको लोह के साथ प्रयोग कर सकते हैं। इसको फांट या हिम के रूप में अधिकतर व्यवहार करते हैं।

पंजाब में ज्वर एवं कृमियों के लिये इसकी छाल तथा पत्तों का व्यवहार किया जाता है। सूत्रकृमि (Thread-worm) के लिये इसके फांट (१ में १०) की बस्ति दी जाती है। इसके पत्तों को पीसकर खुजली आदि में लगाते हैं। इसके सत्वों का उपयोग बागवानी में जन्तुओं का नाश करने के लिये किया जाता है।

मात्रा—चूर्ण १–४ रत्ती। हिम ½–१ औंस।

(ग) Premna herbacea, Roxb. (प्रेम्ना हर्बेसिया रॉक्स्ब.)। Fam. Verbenaceae (वर्बिनॅसी)। हि०–भारंगी। बं०–भुइजाम। क०–नयित याग। ता०–शिरूकेट। ने०–चूअ। कों०–निर्विश। लेप०–ई।

इसकी छोटी झाड़ी हिमालय तथा दक्षिण में कोंकण के पहाड़ी भागों में बरसात के दिनों में होती है। इसका वायवीय भाग मुलायम एवं शात्रकीय होने से यह ऊँचा नहीं होता तथा पत्तियाँ जमीन पर फैली रहती हैं। पत्ते–४ इंच तक लंबे, २ से ३ इंच चौड़े, विनाल, अभिलट्वाकार, शिराओं पर मृदुरोमश एवं शिराएँ ५ युग्म होती हैं। पुष्प–छोटे, श्वेत, एवं १⅔ इञ्च व्यास के समस्थ काण्डज गुच्छ में आते हैं। फल–⅓ इञ्च एवं गोल होता है। मूल–जमीन के नीचे, लंबे परंतु थोड़ी थोड़ी दूर पर गांठदार होते हैं। ये गन्धहीन एवं स्वाद में कड़वे होते हैं तथा इनका चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके मूलत्वक् में एक नारङ्गी बादामी रङ्ग की अम्ल राल तथा अत्यल्प मात्रा में एक क्षाराभ तथा कुछ स्टार्च रहता है। इसमें टॅनिन् नहीं होता।

गुण और प्रयोग—भारङ्गी नाम से यद्यपि कोंकण की तरफ इसका व्यवहार होता है तब भी इसमें भारङ्गी के गुण नहीं हैं। डा० देसाई लिखते हैं कि इसका उपयोग करके देखा गया लेकिन इसमें भारङ्गी के गुण नहीं मालूम पड़े। प्रतिश्याय आदि में इसका उपयोग करते हैं। तमकश्वास में इसका कल्क सोंठ तथा उष्ण जल के साथ या भारङ्गी मूल को आर्द्रक स्वरस या उष्ण जल के साथ देते हैं। शिरःशूल में इसकी जड़ उष्ण जल में घिसकर सर में लगाई जाती है। कानों में व्रण होने पर इसको मधु में घिसकर कान में डालते हैं। गठिया में इसका उपयोग करते हैं। इसे विहार में गठिया, गेंठिया कहते भी हैं। इसके बीजों को मट्ठे में उबाल कर उदर रोग में शौच साफ होने के लिये प्रयुक्त करते हैं।

(घ) Clerodendrum siphonanthus. (R. Br.) C. B. Clarke (क्लेरोडेन्ड्रम् सिफोनेन्थस्)। Fam. Verbenaceae (वर्बिनेसी)। **हि०**–चिनगारी, भारंगी। **सं०**–ब्रह्मयष्टिका। **बं०**–बामनहाटी। **पं०**–अरनि।

इसके क्षुप हिमालय में तथा दक्षिण के पर्वतीय भागों में मिलते हैं। यह ४–६ फीट ऊँचा होता है। कांड–१ इञ्च तक मोटा, नालीदार तथा भीतर से पोला होता है। पत्ते–प्रति चक्र में ३–५ की संख्या में तथा ६ से ९ इञ्च लम्बे, १ से १॥ इञ्च चौड़े, पतले भालाकार, विनाल तथा कड़े होते हैं। पुष्प–९–१८ इञ्च लम्बी डंडी पर सफेद रंग के कुछ रक्तिमा लिये हुये होते हैं। पुष्पकोश की नली ३–४ इञ्च लम्बी होती है। फल–गोलाकार, ⅔ इञ्च लम्बे एवं जामुनी रंग के होते हैं तथा बाह्यपुट गहरे लाल रंग का एवं बढ़ा हुआ होता है। बीज–१ से ४ तक जुड़े हुए होते हैं। मूलका स्वाद-कड़वा तथा कषाय होता है तथा औषधि कार्य में इसी का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसका मुख्य सत्व एक क्षाराभ होता है।

गुण और प्रयोग—इसके पोले कांड के टुकड़े बंगाल में तागे में पिरोकर कई रोगों से बचने के लिये पहने जाते हैं। इसका मूल खांसी तथा तमक श्वास में दिया जाता है। राजयक्ष्मा में इसके मूल का कल्क तथा सोंठ को उष्ण जल के साथ खिलाते हैं। इसके पत्तों का रस घी के साथ मिला कर परिसर्प में लगाया जाता है। मांसक्षय वाले बच्चों को इससे सिद्ध तैल की मालिश की जाती है।

अथ पाषाणभेदः, तस्य नामानि गुणांश्चाह

पाषाणभेदकोऽश्मघ्नो गिरिभिद्भिन्नयोजिनी। अश्मभेदो हिमस्तिक्तः कषायो बस्तिशोधनः॥
भेदनो हन्ति दोषार्शोगुल्मकृच्छ्राश्महृद्रुजः। योनिरोगान्प्रमेहांश्च प्लीहशूलव्रणानि च॥

पाषाणभेद के नाम तथा गुण—पाषाणभेदक, अश्मघ्न, गिरिभिद और भिन्नयोजिनी ये सब पाषाणभेद के नाम हैं। पाषाणभेद—शीतल तथा तिक्त और कषायरस युक्त, बस्ति (मूत्राशय) का शोधन करने वाला और भेदक होता है। और वातादिक दोष, बवासीर, गुल्म, मूत्रकृच्छ्र, पथरी, हृद्रोग, योनिरोग, प्रमेह, प्लीहा, शूल तथा व्रण को दूर करता है॥ १८४-१८५॥

६२ पाषाणभेद

पाषाणभेद एक संदिग्ध वस्तु है। इसके स्थान पर अनेक वनस्पतियाँ ली जाती हैं तथा विभिन्न विद्वान् भिन्न-भिन्न वनस्पतियों को पाषाणभेद मानते हैं। राजनिघण्टु में पाषाणभेदक, वटपत्री, शिलावल्का तथा चतुष्पत्री ये पाषाणभेद के चार भेद वर्णित हैं। निम्नलिखित वनस्पतियों को भिन्न-भिन्न आधुनिक विद्वान् पाषाणभेद मानते हैं।

१. Saxifraga ligulata, Wall. (सॅक्सिफ्रेगा लिग्युलेटा, वॉल,)।
   Fam. Saxifragaceae (सॅक्सिफ्रॅगासी)।
२. Aerva lanata, Juss. (एर्वा लॅनेटा, जस.)।
   Fam. Amaranthaceae (ॲमरेन्थेसी)।
३. Kalanchoe pinnata Pers. (कॅलन्चो पिन्नॅटा पर्स.)।
   Fam. Crassulaceae (क्रॅसुलसी)।
४. Coleus aromaticus, Benth. (कोलिअस् ॲरोमेटिकस्, वेन्थ.)।
   Fam. Labiatae (लेबियेटी)।
५. Homonoia riparia, Lour. (होमोनोइया राइपेरिया, लोर)।
   Fam. Euphorbiaceae (यूफोर्बियेसी)।
६. Rotula aquatica Lour. (रोटूला अॅक्वॅटिका लोर.)।
   Fam Boraginaceae (बोरॅजिनॅसी)।
७. Ocimum basilicum Linn. (ओसिमम् बॅसिलिकम् लिन.)।
   Fam. Labiatae (लेबिएटी)।

इन वनस्पतियों के अतिरिक्त कुछ लोगों ने एक खनिज पाषाणभेद भी लिखा है लेकिन उसका विशेष वर्णन नहीं मिलता है। उपर्युक्त वनस्पतियों में से अधिकांश मूत्रल अवश्य हैं लेकिन प्रथम वनस्पति सॅक्सिफ्रेगा लिग्युलेटा का ही ग्रहण पाषाणभेद नाम से उचित है। उपर्युक्त वनस्पतियों का अलग-अलग वर्णन आगे दिया जा रहा है। ओसिसम् बॅसिलिकम् का वर्णन आगे तुलसी के साथ दिया जावेगा।

(१) Saxifraga ligulata, Wall. (सॅक्सिफ्रेगा लिग्युलेटा, वाल.)।
   Fam. Saxifragaceae (सॅक्सिफ्रॅगासी)।

सं०—पाषाणभेद, वटपत्रीभेद। हि०—पखानभेद, सिलफडा, पोपल, वनपत्रक, दकचु। म०—पाषाणभेद। पं०—शफ्रोकी। ने०—सोहंपे सोआ। का०—बयेव। रावी—सप्रोत्री। खासिया—अतिभ। चिनाब—वल्पिआ। कुमाऊँ—शिलफोडा।

इसके पौधे काश्मीर, नेपाल तथा हिमालय के मध्य भाग में प्रायः ५००० फीट के ऊपर पर्वतों की ढालों पर पत्थरों की दरारों में बहुतायत से निकलते रहते हैं।

यह क्षुप जाति की वनस्पति बारहो मास पायी जाती है। मूलस्तम्भ—रक्ताभ (भीतर श्फेद) और लगभग एक इञ्च मोटा होता है। इससे पतले उपमूल निकलकर पत्थरों के बीच में फैले रहते

है। पत्र–मांसल, चिकने, कुछ-कुछ गोलाई लिये, प्रायः ३–५ इञ्च व्यास में, किनारे पर सूक्ष्म सघन शूकों से युक्त (Ciliate = सीलियेट) तथा निचले पृष्ठ पर प्रायः गुलाबी रंग के होते हैं। एक स्थान में प्रायः ३ या ४ पत्तियों से अधिक नहीं निकलतीं। फूल–छोटे, सफेद, गुलाबी या जामुनी रंग के आते हैं। फल–नीलाभ श्वेत तथा छोटे होते हैं।

इनके **मोटे मूल के टुकड़े** बाजार में बिकते हैं। ये टुकड़े करीब १–२ इञ्च लम्बे, $\frac{1}{2}$–१ इञ्च मोटे, कपिशवर्ण के, कड़े एवं इनकी छाल खुरदरी तथा झुर्रीदार होती है। इन पर टूटे हुवे उपमूलों के निशान एवं गोल गढ़े रहते हैं। इनका आन्तरिक भाग सफेद होता है। इनका स्वाद कुछ सुगन्धित एवं कसैला होता है। कुछ लोग इसे वटपत्री मानते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके मूल में चूना ११$\frac{1}{2}$%, टॅनिक् तथा गॅलिक् ॲसिड १५$\frac{1}{2}$%, शर्करा ५$\frac{1}{2}$%, गोंद २$\frac{3}{4}$%, अॅल्ब्यूमिन् ७$\frac{3}{4}$%, स्टार्च १९%, खनिजक्षार ३$\frac{3}{4}$% तथा कॅल्शियम् ऑक्झॅलेट् (Calcium oxalate) ११$\frac{3}{4}$% होता है।

गुण और प्रयोग—इसका मूल स्नेहन, मूत्रजनन, अश्मरीघ्न, ग्राही एवं श्लेष्मघ्न है। इससे मूत्र की वृद्धि होकर उसकी अस्वच्छता दूर होती है तथा अश्मरी भी घुलकर निकल जाती है।

इसका उपयोग मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, अश्मरी, बस्तिरोग, आमातिसार एवं कास आदि फुफ्फुस विकारों में किया जाता है।

(१) वृक्कशूल एवं अश्मरी आदि में इससे बहुत लाभ होता है।

(२) बच्चों में इसको दूध में घिसकर देने से पेशाब की अस्वच्छता दूर होती है। दन्तोद्भेद के समय जब मुख में व्रण होते हैं तब इसको मधु के साथ घिसकर लगाते हैं।

(३) फोड़ों एवं नेत्राभिष्यन्द में इसका लेप किया जाता है।

(४) ग्राही होने के कारण आमातिसार में इससे लाभ होता है। आंत्र के लिए बल्य होने के कारण ज्वर में अतिसार होने पर इसका उपयोग किया जाता है। आन्त्रशिथिलता के कारण उत्पन्न अतिसार में भी प्रयोग किया जा सकता है।

मात्रा—चूर्ण ५–१० र०।

(२) Aerva lanata, Juss. (एरुवा लॅनेटा, जस.)।
Fam. Amaranthaceae (ॲमॅरेन्थेसी)।

सं०–आदानपाकी, शतकाभेदी ? हि०–गोरखगांजा, गोरखबूटी, कपुरीजड़ी। बं०–चय। गु०-गोरख गांजो, कपुरी मधुरी। म०–कपुरफुटी, कुत्रपिंडी। पं०–भु(बु) इकल्लान। सिं०–बुइ। ता०–चिरूबूले। ते०–पेंडिदोंड। क०–बिलेसुलि। मला०–चिरापूल।

इसके छोटे बहुवर्षायु क्षुप सभी स्थानों में मैदानों में पाये जाते हैं। कांड–अनेक, लचीले लेकिन स्वावलम्बी तथा श्वेत रोमों से युक्त। पत्र–एकांतरित, प्रधान काण्ड पर एक इञ्च तक लम्बे, आधा इञ्च तक चौड़े तथा अन्य शाखाओं पर छोटे, दीर्घ वृत्ताकार या अर्धं अंडाकार या कुछ गोलाई लिए हुये एवं अधोतल पर श्वेतरोमयुक्त होते हैं। पुष्प–छोटे, हरिताभ श्वेत, गुच्छों में आते हैं। फल–चर्मल फल होता है जिसमें चमकीला काला बीज होता है। मूल–अनन्तमूल के समान और कपूर सदृश गन्धयुक्त।

इसके पुष्पों को उत्तर हिन्दुस्तान में **भु(बु) इकल्लान** एवं गुजरात में बूर कहते हैं।

गुण और प्रयोग—यह स्नेहन, मूत्रजनन, वेदनाहर, अश्मरीघ्न, कृमिघ्न एवं कासहर है। इसकी क्रिया अपामार्ग की तरह होती है।

बस्तिस्थ अश्मरी में इसके पुष्पों का फांट देने से बहुत लाभ होता है। मूत्रकृच्छ्र में इसके मूल का क्वाथ देने से मूत्र की राशि बढ़कर लाभ होता है। तमकश्वास में इसकी सूखी पत्तियों तथा पुष्पों का धूम्रपान किया जाता है।

Kalanchoe pinnata pers. (कॅलॅन्चो पिन्नॅटा पर्स.)। Fam. Crassulaceae (क्रासुलेसी)।

सं०–पर्णबीज। **हि०**–जखमेहयात, अहिरावण, महिरावण, पथरचूर। **बं०**–कोप्पाता। **म०**–घायमारी। **क०**–काडुसले।

इसके मांसल, बहुवर्षायु क्षुप भारतवर्ष के सभी भागों में उत्पन्न होते हैं लेकिन दक्षिणी बंगाल में अधिक पाये जाते हैं।

कांड–स्वावलम्बी, मोटा, पोला, लाल तथा ४ फीट तक ऊँचा। **पत्र**–नीचे के प्रायः साधारण किन्तु ऊपर के संयुक्त, ३-५ या कभी ७ पत्रकों से युक्त। पत्रक–गोलदन्तुर, विपरीत क्रम में, मांसल एवं लट्वाकार। पुष्प–बड़े, नलिकाकार, २ इञ्च लम्बे, रक्ताभ हरित तथा नीचे की ओर झुके हुये। इसके पत्तों के मूल से अंकुर प्ररोह निकलकर नया पौधा उत्पन्न हो जाता है। इसके पत्तों एवं स्वरस का औषध में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके स्वरस में कॅल्शियम् सल्फेट् (Calcium Sulphate) तथा ॲसिड टारट्रेट् ऑफ पोटॅशियम् (Acid Tartrate of Potassium) एवं बचे हुए कल्क में कॅल्शियम् ऑक्झॅलेट् (Calcium oxalate) होता है।

गुण और प्रयोग—इसके पत्ते व्रणशोधक, व्रणरोपक, रक्तस्तम्भक, ग्राही तथा प्रतिदूषक हैं। इसका उपयोग रक्तस्राव, चोट, अतिसार, अश्मरी एवं विसूचिका आदि में किया जाता है। यह रक्तवाहिनी केशिकाओं का संकोच करके रक्तस्राव रोकता है इसलिये आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार के रक्तस्राव में लाभदायक है।

(१) रक्तयुक्त अतिसार में इसके पत्तों का रस $\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{2}$ तोला, जीरा तथा दुगने घी के साथ देने से खून गिरना बन्द होता है।

(२) चोट, मोच, सभी प्रकार के व्रण, फोड़े एवं कीटदंश आदि पर इसके पत्तों को जरा गरम करके कूचकर बांधने से सूजन, रक्तिमा एवं वेदना कम होकर लाभ होता है। घावों के लिये यह बहुत ही अच्छी औषधि है। नये व्रण का इतने जल्दी व्रण पूरण होता है कि बाद में निशान तक नहीं रहता।

मात्रा—$\frac{1}{4}$-$\frac{1}{2}$ तो०।

(४) Coleus aromaticus, Benth. (कोलिअस् ॲरोमेटिकस्, बेन्थ.) Fam. Labiatae (लॅबियेटी)।

सं०–पाषाणभेदी। **हि०**–पाथरचुर, पत्थरचूर, पाषाणभेद। **बं०**–पाथर कुची, अम्ल कुची, पातेरचूर। **म०**–पानांचा ओवा। **गो०**–ओवापान। **ता०**–कर्पूरवल्ली। **अं०**–Country borage (कन्ट्री बोरेज)।

इसका बहुवर्षायु क्षुप भारतवर्ष के सभी प्रान्तों में तथा लङ्का में बगीचों आदि में रोपण किया जाता है। राजपुताना में वन्य अवस्था में भी मिलता है।

इसका **क्षुप** १-३ फीट ऊँचा; **कांड**–सरस; **पत्र**–मोटे, सरस, गूदेदार, दन्तुर, रोमश, १-३ इञ्च के घेरे में, गोलाकार, सुगन्धयुक्त एवं स्वाद में कटु। **पुष्प**–पुराने क्षुपों में $\frac{1}{2}$ इञ्च लम्बे, हलके बैंगनी तथा गुच्छों में आते हैं।

मद्य को सुगन्धित करने के लिये इसका उपयोग करते हैं। औषध में इसके पञ्चाङ्ग का व्यवहार किया जाता है। मवेशियों के रोगों में भी इसे व्यवहार में लाते हैं। बंगाल की तरफ पाषाण भेद नाम से इसका उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक कारहॅक्रॉल (Carvacrol) नामक उड़नशील तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह दीपन, पाचन, वातनुलोमक, उद्वेष्ठननिरोधि एवं अश्मरीघ्न है।

इसका उपयोग अपचन, आध्मान, उदरशूल, दमा, जीर्णकास, अपस्मार एवं मूत्रसंस्थान के रोगों में किया जाता है।

(१) अपचन, उदरशूल एवं आध्मान आदि में एक दो पत्तियों के ही उपयोग से शीघ्र लाभ होता है। बच्चों के उदरशूल में यह विशेष लाभदायक है।

(२) दमा, जीर्णकास एवं अपस्मार आदि में इसका क्वाथ दिया जाता है।

(३) नेत्राभिष्यन्द में इसका स्वरस पलकों पर लगाने से वेदना कम होती है।

(४) शिरःशूल तथा गोजर के काटने पर इसको पीसकर लगाने से वेदना दूर होती है।

मात्रा—स्वरस ५–६ बूंद शर्करा के साथ।

(५) Homonoia riparia, Lour. (होमोनोइया राइपेरिया, लोर.)। Fam. Euphorbiaceae (यूफोर्बियेसी)।

सं०—पाषाणभेदक। **हि०**—छोटा पाषाणभेद। **ता०**—चेप्पुंजेरिञ्जल। **ने०**—खोलासइस। **बर्मा**—मोमाका।

इसकी हमेशा हरी रहने वाली झाडी आसाम, उत्तरी बंगाल, पश्चिम प्रायद्वीप, बर्मा तथा मध्य प्रदेश में उत्पन्न होती है। इसके पत्र–३ से ६ इञ्च लम्बे तथा $\frac{1}{2}$–$\frac{3}{4}$ इञ्च तक चौड़े होते हैं। पुष्प–मंजरी में छोटे-छोटे आते हैं। इसकी जड़ का उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह मूत्रल तथा मृदुविरेचक होता है। इसका क्वाथ अर्श, मूत्राशय की अश्मरी, सोजाक एवं फिरंग में प्रयुक्त होता है।

(६) Rotula aquatica Lour. (रोटूला ॲक्वॅटिका लोर.)। Fam. Boraginaceae (बोरॅजिनॅसी)। **सं०**—पाषाणभेद। **ता०**—चेप्पुनेरिञ्जल।

यह सभी स्थानों पर विशेषकर नदी के कछार में होता है। इसकी छोटी झाडी होती है। पत्ते–$\frac{1}{2}$–१ इंच लंबे, बिनाल, सुवाकार तथा न्यूनाधिक रोमश होते हैं। पुष्प–छोटे तथा गुलाबी रंग के आते हैं।

गुण और प्रयोग—इसका मूल पाषाणभेदक के समान अर्श, मूत्राशय की अश्मरी, एवं फिरंगादि रतिजन्य रोगों में व्यवहृत होता है।

अथ धातकी (धाई) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

धातकी धातुपुष्पी च ताम्रपुष्पी च कुञ्जरा।
सुभिक्षा बहुपुष्पी च वह्निज्वाला च सा स्मृता ॥ १८५ ॥
धातकी कटुका शीता मृदुकृत्तुवरा लघुः। तृष्णाऽतीसारपित्तास्रविषक्रिमिविसर्पजित्॥

---

१. 'मदकृदि'ति पाठ०।

धायके नाम तथा गुण—धातकी, धातुपुष्पी, ताम्रपुष्पी, कुञ्जरा, सुभिक्षा, बहुपुष्पी और वह्निज्वाला ये सब धाय के नाम हैं। धाय–कटु तथा कषायरसयुक्त, शीतवीर्य, मृदुकारक (पाठान्तर मदकारक) और लघु है और यह प्यास, अतीसार, रक्तपित्त, विष, कृमि और विसर्प को दूर करती है॥ १८६–१८७॥

६३ धातकी

हि०–धातकी, धवई, धाई, धाओला, धावा, धाय (धांय के फूल)। **बं०**–धाइफुल। **मं०**–धायटी, धावस। **गु०**–धावणी, धावडी ना फूल। **क०**–धातकि। **ते०**–सेरिंजी, एर्रापुर्वु। **उ०**–जातिको। **पं०**–धा। **अवध**–धेती। **ने०**–दहिरी। **ले०**–*Woodfordia floribunda, Salisb.* (वुडफोर्डिआ फ्लोरीबंडा. सॅलिस्ब.); Syn. Woodfordia fruticosa Kurz. (वुडफोर्डिआ फ्रूटिकोसा, कुर्ज.)। Fam. Lythraceae (लिथ्रेसी)।

धातकी के क्षुप प्रायः सब प्रान्तों में कहीं न कहीं देखने में आते हैं। ये पहाड़ों में ५ हजार फीट की ऊँचाई तक एवं देहरादून के जंगलों में बहुतायत से पाये जाते हैं तथा वाटिकाओं में भी रोपण किये जाते हैं।

इसका **क्षुप** बड़ा तथा १०–१२ फीट तक ऊँचा होता है। **शाखाएं**–लम्बी, फैली हुई और सघन रहती हैं। नवीन शाखाओं तथा पत्तियों पर काले-काले विन्दु होते हैं। पत्ते-समवर्ती या कुछ विषमवर्ती और कहीं-कहीं तीन-तीन पत्ते एक साथ गुच्छों में दिखाई पड़ते हैं। वे २–४ इञ्च लम्बे, $\frac{3}{4}$–१$\frac{1}{4}$ इञ्च चौड़े, भालाकार या लट्वाकार-भालाकार, नोकदार तथा सरलधार होते हैं। **पुष्प**–$\frac{1}{2}$ से $\frac{3}{4}$ इञ्च, चमकीले लालरंग के नलिकाकार फूल आते हैं। यह शाखाओं के संपूर्ण काण्ड से छोटे-छोटे गुच्छों में निकले रहते हैं। **बीजकोष**—छोटा और बीज—चिकने भूरे रंग के होते हैं। औषधि के लिये इसके फूलों का व्यवहार किया जाता है तथा इससे रेशम रंगने के लिये एक लाल रंग निकाला जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके फूलों में २०$\frac{1}{2}$% टॅनिन् होता है तथा इसके क्षुप से एक प्रकार का गोंद भी निकलता है जो रंगने के काम आता है।

गुण और प्रयोग—इसके फूल संग्राहक, उत्तेजक, विषहर, रक्तस्राव रोकने वाले एवं व्रणशोधक तथा व्रणरोपक होते हैं। इनका प्रयोग अतिसार, रक्तातिसार, ज्वरातिसार, प्रवाहिका, संग्रहणी, रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर, अर्श, यकृत विकार, सर्पविष तथा व्रण में किया जाता है। गर्भिणी में उत्तेजक औषध के रूप में बिना किसी हानि के इसका प्रयोग किया जा सकता है। अतिसार आदि में इसके साथ अन्य औषधियाँ भी दी जाती है। आसवों में सन्धान क्रिया ठीक होने एवं उसका रंग सुन्दर बनाने के लिये इसका बहुत प्रयोग किया जाता है।

(१) अतिसार एवं प्रवाहिका आदि में मट्ठे या मधु के साथ इसका पुष्पचूर्ण दिया जाता है या धाय के फूल, बेल की गुद्दी, लोध्र की छाल, सुगन्धवाला एवं गजपीपल सब समान लेकर, २ तोले का क्वाथ बना कर प्रयोग करते हैं। बच्चों के अतिसार में भी इसका प्रयोग कर सकते हैं।

(२) मधु के साथ इसका चूर्ण या अवलेह रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर एवं अर्श आदि में लाभदायक है। श्वेतप्रदर में १ तोला पुष्प चावल के धोवन के साथ दिया जाता है।

(३) कोंकण की तरफ 'मण्यारी' नामक सर्पविष के लिये यह रामवांण औषध मानी जाती है। इसके लिये धाय के पत्तों का स्वरस पिलाते हैं, नाक में डालते हैं एवं शरीर पर उसे मलते हैं।

(४) पैत्तिक शिरःशूल में इसके पत्तों का स्वरस सिर पर लगाया जाता है तथा उसके साथ-साथ मुख में तैल का कवलग्रह किया जाता है।

(५) पानीदार विस्फोटों एवं दुर्गन्धयुक्त व्रणों में स्राव को कम करने के लिये तथा व्रण पूरण के लिये इसके पुष्पचूर्ण का उपयोग किया जाता है तथा इसके क्वाथ से व्रण प्रक्षालन भी करते हैं।

(६) आसवारिष्टों में शीघ्र किण्वोत्पत्ति के लिए धाय के फूलों का व्यवहार किया जाता है। इससे सन्धान भली प्रकार हो जाता है।

मात्रा—पुष्पचूर्ण १-२ माशा।

अथ मञ्जिष्ठा (मंजीठ) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

मञ्जिष्ठा विकसा जिङ्गी समङ्गा कालमेषिका ॥ १८८ ॥
मण्डूकपर्णी भण्डीरी भण्डी योजनवल्ल्यपि। रसायन्यरुणा काला रक्ताङ्गी रक्तयष्टिका।
भण्डीतकी च गण्डीरी मञ्जूषा वस्त्ररञ्जिनी। मञ्जिष्ठा मधुरा तिक्ता कषाया स्वरवर्णकृत्।
गुरुरुष्णा विषश्लेष्मशोथयोन्यक्षिकर्णरुक्। रक्तातीसारकुष्ठास्रवीसर्पव्रणमेहनुत् ॥ १९१ ॥

मंजीठ के नाम तथा गुण—मंजिष्ठा, विकसा, जिङ्गी, समङ्गा, कालमेषिका, मण्डूकपर्णी, भण्डीरी, भण्डी, योजनवल्ली, रसायनी, अरुणा, काला, रक्ताङ्गी, रक्तयष्टिका, भण्डीतकी, गण्डीरी, मञ्जूषा और वस्त्ररञ्जिनी ये सब मंजीठ के नाम हैं। मंजीठ-मधुर, तिक्त तथा कषाय रस युक्त, स्वर को उत्तम करने वाली तथा वर्ण को उज्ज्वल करने वाली, गुरु, तथा उष्णवीर्य होती है और विष, कफ, शोथ, योनि, नेत्र तथा कर्ण सम्बन्धी रोग, रक्तातिसार, कुष्ठ, रक्तदोष, विसर्प, व्रण और प्रमेह दूर करने वाली होती है ॥ १८८-१९१ ॥

६४ मञ्जिष्ठा (मजीठ)

हि०—मजीठ, मंजीठ। **बं०**—मंजिष्ठा। **म०**—मञ्जिष्ठ। **ते०**—मञ्जिष्ठतीठी, ताम्रवल्ली, मण्डास्टिक। **ता०**—मञ्जिट्टी, मन्दित्ता। **गु०**—मजीठ। **पं०**—मञीठ। **मल०**—पून्त। **फा०**—रोदक। **अ०**—फुव्वहुत, फुव्वाह, फौहुल अवागीन। **अं०**—Madder root (मॅडर रूट); Indian madder (इण्डियन् मॅडर)। **ले०**—*Rubia cordifolia, Linn.* (रूबिया कॉर्डिफोलिया, लिन.)।

Fam. Rubiaceae (रूबिएसी)।

मजीठ इस देश की पहाड़ी भूमि में पश्चिमोत्तर हिमालय से पूर्व की ओर तथा दक्षिण की ओर नीलगिरी, सीलोन और मलाका एवं नेपाल में ८ हजार फीट तक उत्पन्न होती है।

यह लता जाति की वनौषधि बहुत विस्तार में दूर दूर तक फैल जाती है। इसकी लम्बी जड़ भूमि के भीतर दूर तक घुस जाती है। **डठल**—कई गज लम्बा, गावदुम, खुरदरा, जड़ की ओर कठोर। **छाल**—सफेदी मायल किन्तु भीतर का भाग लाल होता है। शाखा प्रशाखाओं करके सघन बेल निकटवर्त्ती वृक्षों पर चढ़कर फैलती है। **पत्ते**—प्रत्येक ग्रन्थि पर चार चार के चक्रों में, जिसमें से दो बड़े होते हैं। ये १॥ से ४ इञ्च लम्बे, लट्वाकार-ताम्बूलाकार, नोकीले, खरस्पर्श युक्त या चिकने होते हैं। **पत्रनाल**—२ से ४ इञ्च लम्बा होता है। **पुष्प**-नन्हें नन्हें श्वेतवर्ण के गुच्छों में रहते हैं। **फल**-काले, चने के बराबर तथा दो बीजों से युक्त होते हैं। **मूल**-लम्बे, लम्बगोल तथा ताजी अवस्था में लाल तथा सूखने पर कुछ काले हो जाते हैं। मूल का स्वाद

प्रारम्भ में मिठास लिये हुवे, लेकिन बाद में कुछ तीता और कड़वा होता है। इन्हीं मूलों का औषध में व्यवहार किया जाता है।

बाजार में नेपाली, ईरानी, अफगानी तथा हिन्दुस्तानी नाम से चार प्रकार के मूल बिकते हैं जिसमें से अफगानी मूल जो सिन्ध के रास्ते से आता है वह अच्छा समझा जाता है तथा हिन्दुस्तानी कनिष्ठ मानते हैं। इनका व्यवहार रंगने के काम में भी किया जाता है। इसका पर्याय नाम जो 'समङ्गा' दिया गया है उसके विषय में विद्वानों में मतभेद है। इसकी कभी कभी चिरायते में मिलावट रहती है।

रासायनिक संगठन—इसके मूल में राल, गोंद, शर्करा, चूने के योग एवं रञ्जक पदार्थ पाये जाते हैं। रंजक द्रव्यों में रक्त रवेदार परप्यूरिन् (Purpurin , पीत ग्लूकोसाइड मंजिस्टिन एव गॅरेन्सिन् (Manji-tin & Garancin), नारंगरक्त ॲलिझॅरिन् (Alizarin) एवं पीत क्झॅथाइन् (Xanthine) आदि पाये जाते हैं।

गुण तथा प्रयोग—यह रक्तशोधक, ग्राही, पौष्टिक, गर्भाशय संकोचक, शोथघ्न, त्वग्दोषहर, वेदनास्थापक, मूत्रल एवं व्रणरोपक है। अल्पमात्रा में देने से इससे मस्तिष्क एवं वातनाड़ियों पर शामक प्रभाव पड़ता है लेकिन अधिक मात्रा में देने से कुछ भ्रम उत्पन्न होता है। इससे मूत्र एवं दुग्ध का रंग लाल हो जाता है। इसका क्वाथ अङ्गघात, कामला, मूत्रावरोध, अश्मरी, आर्तवविकार, अनार्तव, शोथ, रक्तातिसार, प्रमेह, छाती के शोथयुक्त विकार एवं चर्मरोग आदि में दिया जाता है।

(१) मंजिष्ठादि क्वाथ का उपयोग चर्मरोगों में बहुत लाभदायक है। इसके प्रयोग से त्वचा की रक्ताभिसरण क्रिया बढ़ कर उसकी विनिमय क्रिया में परिवर्तन होता है। इससे वातरक्त, दाद, खुजली, श्वित्र एवं व्यंग आदि में बहुत लाभ होता है।

(२) यह गर्भाशय संकोचक होने से प्रसव में बाद गर्भाशय शुद्धि के लिये इसके साथ ईश्वर मूल, पिपरामूल आदि अन्य औषधियों का प्रयोग किया जाता है। इससे गर्भाशय संकोच होकर स्राव की वृद्धि होती है तथा पीडा कम होती है।

(३) अश्मरी में शस्त्रकर्म करने के पूर्व एक बार इसका प्रयोग करके देखना चाहिये। इसके चूर्ण को १ माशे की मात्रा में दिन मे ३ बार देना चाहिये। इससे सभी प्रकार की पथरी गलकर निकल जाती है। यदि इससे लाभ न हुआ तो फिर शस्त्रकर्म किया जा सकता है।

(४) यह फक्करोग (Rickets) राजयक्ष्मा, आंत्रिकशैथिल्य एवं दुर्गंध युक्त जीर्ण अतिसार आदि में भी लाभदायक है। राजयक्ष्मज अतिसार एवं आंत्रिक व्रणों में इसके उपयोग से वेदना की शांति होती है। फुफ्फुसावरणशोथ (प्लुरिसी–Pleurisy) आदि छाती के विकारों में भी इससे लाभ होता है।

(५) मंजिष्ठमेह में चन्दन के साथ इसका क्वाथ दिया जाता है।

(६) मधु के साथ इसको घिस कर लगाने से व्यङ्ग, दाद एवं श्वित्र आदि जीर्ण चर्मरोगों में बहुत लाभ होता है। लोध्र एवं चन्दन के साथ पीस कर इसे लगाने से विसर्प में लाभ होता है।

(७) मञ्जीठ, अर्जुन, मुलेठी एवं सुगन्धवाला इनका क्वाथ अस्थिभग्न में पिलाया जाता है तथा उसी का लेप भी करते हैं। केवल मञ्जीठ एवं मुलेठी को काञ्जी में पीस कर लगाने से भी शोथ कम होकर पीडा कम होती है।

(८) अग्निदग्ध व्रण पर मञ्जीठ, रक्तचन्दन तथा मूर्वा से सिद्ध घृत का उपयोग किया जाता है। इससे पीड़ा का शमन होकर व्रण दूर होता है।

(९) इसके फल का प्रयोग यकृत् के कारण उत्पन्न अवरोध में किया जाता है।

मात्रा—मूल चूर्ण १ से ३ माशा दिन में तीन बार।

अथ कुसुम्भम्, तस्य नामानि गुणाँश्चाह

स्यात्कुसुम्भं वह्निशिखं वस्त्ररञ्जकमित्यपि। कुसुम्भं वातलं कृच्छ्ररक्तपित्तकफापहम् ॥१९२॥

कुसुम के नाम तथा गुण—कुसुम्भ, वह्निशिख और वस्त्ररञ्जक ये नाम कुसुम के हैं। कुसुम-वातकारक तथा मूत्रकृच्छ्र, रक्तपित्त और कफ का नाश करने वाला होता है ॥ १९२ ॥

६५ कुसुम्भ

हि०—कुसुम, कसुम्भ, बर्रें। बं०—कुसुम फूल। म०—करडई। गु०—कसुम्बो। क०—कसुम्बे। ते०—लत्तुक, लक्क, बंगारमु, वंगारम, आग्निशिखा, कुसुम्बा वित्तुलु। पं०—कूसम, कर्तुम, कुत्तु म, करर। उ० प्र०—बर्रे, करें। फा०—खस्कदाने, गुलेमस्कर। अ०—अखरीज, झरतम। अं०—Safflower (सॅफ्फ्लावर); Parrot seed (पॅरट्सीड); Bastard saffron (बॅस्टर्ड सॅफ्रॉन्)। ले०—*Carthamus tinctorius, Linn.* (कार्थेमस् टिंक्टोरियस्, लिन.)। Fam. Compositae (कॉम्पोझिटी)।

इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में इसकी खेती की जाती है। इसका क्षुप १–३ फीट ऊँचा होता है। पत्ते–लम्बे, किनारों पर कटे हुए, नुकीले और काँटेदार होते हैं। पुष्प–केसरिया लाल रंग के पुष्प गोल गुच्छों में आते हैं। फल–चतुष्कोणीय चर्मल फल आते हैं। बीज–सफेद, चिकने तथा शंख की आकृति के समान होते हैं।

कृषिजन्य इसके अनेक प्रभेद पाये जाते हैं तथापि इनका वर्गीकरण दो वर्गों में किया जा सकता है।

एक में काँटे होते हैं और दूसरे में काँटे नहीं होते। काँटे वाले की अपेक्षा बिना काँटे वाले के फूलों से बहुत उत्तम रंग निकलता है। काँटेवाले पौधे तैल की दृष्टि से अच्छे समझे जाते हैं। इसके पुष्पों के किञ्जल्क केसर के समान दिखलाई देते हैं तथा केसर में इनकी मिलावट की जाती है। असली केसर के तन्तु सुगन्धित तथा एक रङ्ग के होते हैं किन्तु कुसुम के किंजल्क तन्तु गन्धरहित तथा श्वेत धब्बों से युक्त होते हैं। इसके बीज, पंचांग, तैल, पुष्प एवं मूल का व्यवहार चिकित्सा में किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पुष्पों में जल में अविलेय कार्थामिन् (Carthamin) नामक एक लाल रंग एवं जल में विलेय अन्य पीत रंग पाये जाते हैं। इसके बीजों में २०–३०% तक एक स्थिर तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके बीज विरेचक, मूत्रल तथा बल्य होते हैं। इसका पुष्प विरेचक, स्वेदजनन, बल्य एवं आर्तव वृद्धिकर होता है। तैल विरेचक, एवं व्रणरोपक है। इसका मूल मूत्रल तथा पंचांग उष्ण होता है।

(१) इसके कोमल पत्तों का शाक प्रतिश्याय में खाया जाता है। इसके पत्तों में रेनेट् (Rennet) की तरह दूध जमाने की शक्ति होती है।

(२) इसके शुष्क पुष्पों को ४ माशे की मात्रा में कामला में देते हैं। इसका फांट स्वेदल होता है तथा प्रतिश्याय, कष्टार्तव एवं मांसपेशीय आमवात (Muscular rheumatism–मसक्यूलर ह्यूमॅटिजम्) में दिया जाता है तथा इसका हिम रोमान्तिका आदि विस्फोटक ज्वरों में (Eruptive fevers-एरप्टिह फीवरस्) में विस्फोट बाहर निकालने के लिये प्रयुक्त करते हैं।

(३) इसके बीजों से प्राप्त तैल खाने के काम आता है। बाजारू मोठे तेल में तथा घी में इसकी मिलावट करते हैं। इससे पाखाना साफ होता है। प्रमेह में इसके तैल को खाने से लाभ होता है। खुजली में इसको ५, ६ बार लगाने से बहुत लाभ होता है। आमवात एवं सन्धिशोथ में इसकी मालिश की जाती है तथा व्रणों पर इसको लगाते हैं। सुगन्धि के काम के लिए विदेशों में इसका निर्यात किया जाता है। कुछ लोगों ने इसके पंचांग से सिद्ध तिलतैल का व्यवहार सन्धिशोथ, आमवात, अङ्गघात, खुजली एवं पुराने घाव आदि में लगाने के लिये लिखा है। कुसुम बीजतैल का प्रयोग भी इसके स्थान पर किया जा सकता है। इसकी खली टिकाऊ होती है तथा जानवरों के खाने के काम में एवं ऊख आदि के लिये खाद के रूप में काम में ली जाती है। साबुन एवं तैलीय रंगों में भी खली का उपयोग होता है।

(४) इसके बीज द्राक्षारस के साथ अश्मरी एवं मूत्रकृच्छ्र में लाभदायक हैं। इसके बीजों की मांड मृदुविरेचक होती है एवं उदरशूल तथा आमवात में दी जाती है। प्रसूता में गर्भाशय की पीड़ा हो तो इसकी पुल्टिस् बनाकर पेडू पर बांधा जाता है।

मात्रा—शुष्क पुष्प चूर्ण २-४ माशा। बीज २-४ माशा।

अथ लाक्षा (लाही) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

लाक्षा पलंकषालक्तो यावो वृक्षामयो जतुः। लाक्षा वर्ण्या हिमा बल्या स्निग्धा च तुवरा लघुः॥
(ब्राह्मण्यङ्गारवल्ली[1] च खरशाखा च हञ्जिका)। अनुष्णा कफपित्तास्रहिक्काकासज्वरप्रणुत्।
व्रणोरःक्षतवीसर्पकृमिकुष्ठगदापहा। अलक्तको गुणैस्तद्वद्विशेषाद्व्यङ्गनाशनः॥ १९५॥

लाख के नाम तथा गुण—लाक्षा, पलङ्कषा, अलक्त, याव, वृक्षामय, और जतु ये सब लाख के पर्यायवाची शब्द हैं। किसी किसी पुस्तकों में ब्राह्मणी, अङ्गारवल्ली, खरशाखा और हञ्जिका ये अधिक पर्याय मिलते हैं। लाख-शरीर के वर्ण को उज्वल करने वाली, शीतल, बलकारक, स्निग्ध, कषायरसयुक्त, लघु और अनुष्ण (थोड़ी गरम) होता है तथा यह कफ, रक्तपित्त (पित्त, रक्त) हिचकी, कास, ज्वर, व्रण, उरःक्षत, विसर्प, कृमि और कुष्ठरोग को दूर करने वाली होती है। लाख से उत्पन्न हुये अलक्तक (महावर) में भी उपरोक्त लाख के सभी गुण होते हैं किन्तु विशेषतः यह व्यङ्गरोग (झांई) की नाशक होता है॥ १९३-१९५॥

६६ लाख

हि०—लाख, लाही, लाई। बं०-गाला, लाहा। प०, मा०, गु०, म०-लाख। क०-अरगु। ते०-लक्का, लक्का, लाका। ता०-अरकु। फा०-लाक। अ०-लुक, लुक मकसूल। अं०-Lac (लॅक) या Shell lac (शेल लॅक)। ले०-कीटनाम—Laccifer lacca (Kerr) (लॅसिफेर लॅक्का)। Fam. Lacciferidae (लसिफेरिडी)।

---

१. कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः।

लाख—पुराने वृक्षों की डालियों पर एक प्रकार के बारीक कीड़ों द्वारा स्वरक्षणार्थ निर्मित रक्ताभ या गाढ़े भूरे रङ्ग का रालदार पदार्थ है। बेर, पाकड़, पीपल आदि वृक्षों पर ये कीड़े इसे बनाते हैं। इनमें पीपल वृक्ष की लाही सर्वोत्तम समझी जाती है। वैशाख और आश्विन के महीने में व्यापारी लोग वृक्षों से छुड़ाकर सुखाते हैं। इसको साफकर कपड़े की लम्बी थैलियों में भरकर गरम करते हैं जिससे लाख गलकर टपकती है। चपड़ा बनाने के लिये गरम करने के पूर्व इसमें हरताल का घोल मिलाते हैं तथा बाद में उसे खींच खींचकर पतला बनाते हैं। लाख को औटाकर लाल रङ्ग तैयार करते हैं और उसे सेमल की रूई में तरकर महावर बनाते हैं। लाख के रङ्ग की बनी हुई रोशनाई बहुत पक्की होती है। औषध की अपेक्षा लाख का अन्य कार्यों में बहुत उपयोग होता है तथा यह निर्यात व्यापार की एक प्रमुख वस्तु है। विदेशों में उत्पन्न न होने से यहाँ से इसका काफी निर्यात किया जाता है। इससे निर्मित रङ्ग का अब बहुत कम उपयोग होता है। उत्तरप्रदेश में मिरजापुर में इसके कारखाने हैं।

गुण और प्रयोग—लाख शीतल, रक्तपित्तघ्न, ज्वरनाशक, दाहशामक, बल्य एवं वर्ण्य है। इसका उपयोग रक्तप्रदर, ऊर्ध्वग रक्तपित्त, उरःक्षत, ज्वर, दाह, रक्तविकार एवं कास आदि में किया जाता है।

(१) रक्तप्रदर एवं उरःक्षत आदि में इसे दूध में उबालकर या घी में पकाकर फिर चूर्ण करके उसमें दूध मिलाकर पिलाते हैं। इसके चूर्ण को मधु तथा दूध के साथ भी दिया जा सकता है। साफ धोलकर बुकनी की हुई पीपल की कच्ची लाह १ माशा एवं घृत में भूना हुआ शुद्ध गैरिक ४ रत्ती दूध के साथ ऊर्ध्वग रक्तपित्त में देने से बहुत लाभ होता है।

(२) इससे सिद्ध लाक्षादि, अङ्गारकादि एवं चन्दनबलालाक्षादि आदि तैलों का उपयोग जीर्णज्वर, राजयक्ष्मा एवं दाह आदि में अभ्यङ्ग के लिये किया जाता है।

(३) कृमिदन्त तथा व्रणों पर इसको लगाया जाता है।

मात्रा—१-३ माशा।

अथ हरिद्रा तस्या नामानि गुणाँश्चाह

हरिद्रा काञ्चनी पीता निशाऽऽख्या वरवर्णिनी। कृमिघ्नी हलदी योषित्प्रिया हट्टविलासिनी[1]।
हरिद्रा कटुका तिक्ता रूक्षोष्णा कफपित्तनुत्। वर्ण्या त्वग्दोषमेहास्रशोथपाण्डुव्रणापहा॥

हलदी के नाम तथा गुण—हरिद्रा, काञ्चनी, पीता, निशाऽऽख्या (रात्रिवाची सभी शब्द), वरवर्णिनी, कृमिघ्नी, हल्दी, योषित्प्रिया और हट्टविलासिनी ये नाम हल्दी के हैं। हलदी-कटु तथा तिक्तरस युक्त, रूक्ष, उष्णवीर्य, कफ पित्त नाशक, शरीर के वर्ण को उज्ज्वल करने वाली एवन् चर्मदोष, प्रमेह, रक्तविकार, शोथ, पाण्डु तथा व्रण को दूर करने वाली होती है॥ १९६-१९७॥

६७ हलदी

हि०-हलदी, हरदी, हर्दी, हल्दी। बं०-हलुद। म०-हलद। गु०-हलदर। क०-अरसिन, अरिसिन। ते०-पसुपु। पं०-हलदी, हलदर, हलज। ता०-मंजल। मला०-मन्जल। फा०-जर्द चोब। अ०-उरुकुस्सफ। अं०-Turmeric (टर्मेरिक्)। ले०-*Curcuma longa, Linn.* (कर्क्युमा लॉगा, लिन.)। Fam. Zingiberaceae (झिंजिबेरॅसी)।

---

१. 'हरविलासिनी'ति पाठा०

हल्दी—एक बहुत प्रसिद्ध प्रतिदिन के व्यवहार में आने वाली वस्तु प्रायः सब प्रान्तों के खेत में रोपण की जाती है लेकिन बंबई, मद्रास तथा बंगाल में इसकी विशेष रूप से उपज की जाती है। चीन एवं जावा आदि देशों में भी इसकी उपज होती है। इसका **क्षुप**—२-३ फीट ऊंचा होता है। **पत्ते**—केले के नवीन पौधे से निकले हुए पत्ते के समान १-१॥ फुट लम्बे तथा ६-७ इञ्च चौड़े उतने ही लम्बे पर्णवृन्त से युक्त, आयताकार-भालाकार एवं पर्णतल की तरफ कुछ नुकीले होते हैं। पत्तों में आम के समान गन्ध आती है। **फूल**—अवृन्त काण्डज क्रम में निकले हुवे, पीतवर्ण के, संख्या में अल्प तथा करीब १⅓ इञ्च लंबे; **पुष्पदण्ड**—६ इञ्च या अधिक लम्बा तथा पत्रनाल द्वारा आवृत; पुष्पदण्ड की पत्तियां हलके हरे रंग की होती हैं। इसकी जड़ के नीचे अदरक के समान अदरक से बड़े-बड़े कन्द होते हैं। यह सर्वाङ्ग पीला होता है। इसी कन्द को हल्दी कहते हैं। ये कन्द विभिन्न आकार के, मूल एवं पर्णवृन्तों के चिह्नों से युक्त होते हैं। अन्दर का भाग पीला या नारंगपीत। **भग्न**—शृङ्गवत्। **गन्ध**—मधुर। **स्वाद**—कडवा। चूसने पर लालास्राव का वर्ण भी पीत हो जाता है। रंगने के काम में बिना उबाली हलदी का व्यवहार किया जाता है और खाने के काम में हल्दी को उबाल कर सुखाकर प्रयुक्त करते हैं। उबालने से उष्णवीर्य हल्दी की तीव्रता कम हो जाती है। प्रमेह आदि कफ प्रधान व्यक्तियों में कच्ची हल्दी का रस सहपान या अनुपान के रूप में प्रयुक्त करते हैं।

हलदी को एक विशेष विधि से तयार कर बाजार में बेची जाती है। पहले कन्दों को अलग करके साफ करते हैं। फिर मुलायम होने तक जल में उबालते हैं। स्थान भेद के अनुसार ३० मिनट से ६ घंटे तक उबाला जाता है। उबालते समय इसी के कुछ पत्तों को भी जल में डालते हैं। थोड़ा गोबर मिलाने से इसका रंग अच्छा हो जाता है। फिर इन्हें खुली हवा में फैलाकर बार-बार पलट कर धीरे-धीरे सुखाते हैं। सूखने पर रगड़कर साफ करके उपयोग में लाते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें करक्यूमिन् (Curcumin, $C_{21}H_{20}O_6$) नामक एक पीला एवं रवेदार रंजक पदार्थ होता है जो मद्यसार में पूर्णतया घुल जाता है जिससे गहरे पीले रंग का घोल बनता है। इस घोल में क्षार मिलाने से घोल रक्ताभ बादामी वर्ण का हो जाता है। इसके अतिरिक्त हलदी में ५-६% उडनशील तैल होता है जिसमें कर्पूरवत् गन्ध आती है तथा इस तैल में करक्यूमेन (Curcumen) नामक एक टरपेन (Terpene) होता है जो स्नेहद्रव्य कोलेस्टेरॉल (Cholesterol) को घुलाने के लिए बहुत अच्छा द्रव्य है। हलदी में उपर्युक्त पदार्थों के अतिरिक्त स्टार्च (Starch) २४%, तथा अॅल्ब्युमिनाएड्स् (Albuminoids) ३०% होते हैं।

गुण और प्रयोग—हलदी उष्ण, उत्तेजक, सुगन्धि, रक्तशोधक, त्वग्दोषहर, शोथहर, दीपन, ग्राही, कफघ्न, वातहर, विषघ्न एवं व्रण के लिए लाभदायक है। मसाले के रूप में इसका नित्य व्यवहार होते हुए भी यह एक बहुत अच्छी औषध है।

इसका उपयोग प्रतिश्याय, कफविकार, चर्मरोग, रक्तविकार, प्रमेह, कामला, यकृत् विकार, पार्यायिक ज्वर, अतिसार, संग्रहणी, व्रण एवं नेत्राभिष्यन्द में किया जाता है।

(१) प्रतिश्याय, खांसी, प्रमेह, प्रदर एवं नेत्राभिष्यन्द आदि रोगों में जिनमें श्लेष्मा का अत्यधिक स्राव होता है, इसको दूध में उबालकर गुड़ मिलाकर पिलाते हैं। प्रतिश्याय की प्रारंभिक अवस्था में रात के समय इसके धूएँ को नाक से सुंघाते हैं तथा उसके बाद कुछ देर तक जल नहीं पीने देते। इससे बहुत जल्दी लाभ होता है। खांसी में इसको भूनकर १-२ माशा मधु अथवा घृत के साथ चटाने से लाभ होता है।

(२) आंवले का रस, हलदी तथा मधु इसके प्रयोग से सभी प्रकार के प्रमेहों में अच्छा लाभ होता है। प्रदर में इसके साथ गुग्गुलु या रसांजन का प्रयोग करते हैं।

(३) खुजली, पामा, दाद, शीतपित्त, उदर्द, फोड़े एवं विचर्चिका आदि रक्तविकार एवं चर्मरोगों में यह बहुत लाभदायक है। इसके लिए हलदी का चूर्ण गोमूत्र के साथ खिलाया जाता है एवं मक्खन के साथ स्थानोय लेप भी करते हैं। इसके विशेष योग हरिद्राखंड का १ तो० की मात्रा में नित्य कुछ समय तक लेने से उपर्युक्त विकारों में पर्याप्त लाभ होता है।

(४) चूना या सज्जी खार हलदी के साथ मिलाकर मोच, ऐंठन, चोट, पिचित व्रण एवं पुराने घावों पर लगाने से बहुत लाभ होता है। इसके साथ हलदी तथा मिश्री को खिलाते भी हैं। विच्छू एवं सर्प आदि के काटने पर वेदना शान्ति के लिए इसका धूआं देते हैं। हलदी एवं फिटकिरी (१ में २०) के सूक्ष्म चूर्ण का कर्णस्राव में कान में प्रधमन करते हैं।

(५) सभी प्रकार के नेत्राभिष्यन्द के लिए यह बहुत लाभदायक है। एक भाग हलदी २० भाग जल में उबाल कर छानकर उसे आंख में बार-बार डालते हैं जिससे आंख की वेदना कम होती है तथा कीचड़ आना भी कम होता है। इसके क्वाथ से रंगे हुए कपड़े का व्यवहार नेत्राच्छादन के लिए किया जाता है।

(६) श्लीपद में इसको गुड़ एवं गोमूत्र के साथ प्रयोग कराया जाता है।

(७) शिरःशूल एवं जोंक के काटने पर रक्तप्रवाह को रोकने के लिए इसका लेप लाभदायक है। चक्कर आता हो तो ताजी हलदी का सिरपर लेप करने से लाभ होता है। घृतकुमारी के गूदे में इसको घिसकर शोथयुक्त अर्श पर लगाते हैं।

(८) भूतोन्माद एवं योषापस्मार आदि में इसका धूआं दिया जाता है।

(९) हलदी के ताजे पत्तों का उपयोग मछली भूनने में एवं घृत की दुर्गन्ध को दूर करने के लिए उपयोग में लाते हैं। ताजी हलदी का अचार भी बनाया जाता है।

मात्रा—चूर्ण २-४ माशा।

अथ कर्पूरहरिद्राया नामानि गुणांश्चाह

दार्वीभेदा[1]ऽऽम्रगन्धा च सुरभीदारुदारु च। कर्पूरा पद्मपत्रा स्यात्सुरीम[2]त्सुरतारका॥
आम्रगंधिर्हरिद्रा या सा शीता वातला मता। पित्तहृन्मधुरा तिक्ता सर्वकण्डूविनाशिनी॥

कपूरहलदी या आमाहरदी के नाम तथा गुण—दार्वीभेदा (यह दारुहलदी के भेद में है अतः दार्वीभेदा भी नाम है), आम्रगन्धा (आम के फल के समान गन्ध होने से आम्रगन्धा भी कहते हैं), सुरभीदारु, दारु, कर्पूरा, पद्मपत्रा सुरीमत और सुरतारका (पाठान्तर में सुरभी और सुरनायिका) ये सब आमाहरदी के पर्यायवाचक शब्द हैं। जो हलदी आम के फल के समान गन्ध वाली होती है वह शीतल, वातकारक, पित्त को दूर करने वाली, मधुर तथा तिक्त रसयुक्त एवं सब प्रकार की खुजली का नाश करनेवाली होती है॥ १९८-१९९॥

६८—आमाहलदी

हि०—अमिया हलदी, आमाइल (र) द, आमाहलदी। बं०—आम आदा। म०—अम्बे हलद, अम्बा हलद। गु०—आम्बा हलदर। क०—हुली आरसीन। ते०—कारुपुसुपु। ता०—पशु मंजल।

---

१. 'दार्वीभेदे'ति पाठान्तरमसङ्गतम्। २. 'सुरभी सुरनायिके'ति पाठा०।

मा०-आंबा हलदी। पं०-अंबिया हलदी। फा०-दारचोबह। अ०-दारहल्द। अं०-Mango ginger (मैंगो जिंजर)। ले०-*Curcuma amada Roxb.* (कर्क्युमा अमाडा)। Fam. Zingiberaceae (झिंजिबेरेसी)।

आमाहलदी के क्षुप प्रायः सब प्रान्तों में कहीं न कहीं पाये जाते हैं। बंगाल और कोंकण में इसकी खेती की जाती है। इसका डंठल मोटा होता है। कन्द-हलदी की गाँठों से बड़े बड़े, आर्द्रक के समान, हलके पीले रंग के एवं आम्र की तरह गन्धयुक्त होते हैं। क्षुप-२-३ फीट तक ऊँचा होता है। पत्ते-१-१॥ फुट लम्बे, ५-६ इञ्च चौड़े, आयताकार दीर्घवृत्ताकार और नुकीले होते हैं। फूल-फीके पीले रंग के आते हैं। गाँठों को छोटे छोटे टुकड़े कर सुखा लेते हैं। डा० देसाई लिखते हैं कि बम्बई में आमाहलदी नाम से जो गाँठें बिकती हैं वे वनहरिद्रा की होती हैं। कुछ विद्वानों ने आमाहलदी का ले० नाम वनहरिद्रा वाला लिखा है। आमाहलदी का बंगाल में अधिक प्रयोग होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उड़नशील तैल, राल, शर्करा, गोंद, स्टार्च, ॲल्ब्यूमिनॉइड्स, ऑर्गेनिक् अम्ल तथा राख आदि पदार्थ प्राप्त होते हैं।

गुण और प्रयोग—यह वातानुलोमक, शीतल, सुगन्धि, दीपन, पाचन एवं ग्राही है। इसके गुण आर्द्रक के समान दीपन एवं वातानुलोमक हैं लेकिन आर्द्रक उष्ण है और यह शीतल है।

इसका उपयोग हलदी के स्थान पर किया जाता है। सुगन्धित होने के कारण इसे चटनी आदि में उपयोग में लाते हैं। मिठाइयों में आम की गन्ध लाने के लिये इसके फांट का व्यवहार करते हैं। चोट एवं खुजली आदि में इसका लेप किया जाता है। लताकरञ्ज के पत्र रस के साथ कृमि रोग में इसका उपयोग किया जाता है।

मात्रा—चूर्ण २-४ माशा।

अथ वनहरिद्राया नामगुणानाह

अरण्यहलदीकन्दः कुष्ठवातास्रनाशनः॥ २००॥

वनहरदी के गुण—वनहलदी का कन्द-कुष्ठ तथा वातरक्त का नाशक होता है॥ २००॥

६९ वनहलदी

हिं०-वनहरदी, वनहलदी, जंगली हलदी। बं०-वनहलुद, वनहलद। म०-वेडीहलद, रानहलद। क०-काडरसन। ते०-अड़वि पसुपु, कस्तुरि पसुपु। ता०-कस्तुरि मंजल। गु०-वनहलदर, कपूरकाचली। पं०, मा०-जंगली हलदी। मला०-कट्टुमञ्जल। अं०-Wild turmeric (वाइल्ड टर्मेरिक्); Yellow zedoary (यलो झिडोरी); Cochin turmeric (कोचीन टर्मेरिक्)। ले०-*Curcuma aromatica Salisb.* (कर्क्युमा ॲरोमॅटिका)। Fam. Zingiberaceae (झिंजिबेरेसी)।

वनहलदी—इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में कहीं न कहीं पाई जाती है। विशेषकर बंगाल एवं दक्षिण के कोचीन, मैसूर, अल्वारा आदि स्थानों में अधिक देखने में आती है। इसका क्षुप वर्षजीवी होता है। गरमी में इसका क्षुप सूख जाता है किन्तु भूमि के भीतर इसकी गांठे जीवित रहती हैं और वर्षा ऋतु में वे अंकुरित हो पौधे के रूप में परिणत होती हैं। पत्ते जब कोमल अवस्था के होते हैं तब उनके बीच का भाग जामुनी रंग का होता है। जब यह अंकुरित होता है

तभी इसमें फूल आते हैं। जड़ के नीचे काला सा पीले रंग का कन्द होता है। अच्छी खाद आदि होने से ये कन्द काफी बड़े होते हैं। साधारणतः बीच की गाठें अण्डे के समान, २ इञ्च से बड़ी, कालीसी चक्राकार कड़ों से युक्त तथा अनेक मोटी उपमूलों से युक्त होती हैं। उपमूलों के अंतिम भाग में बदाम के बराबर नारंगपीत गांठे होती हैं। बीच की गाठों के बगलवाली गाठें अंगुली सदृश मोटी होती हैं तथा उनसे थोड़े से मांसल मूल निकले रहते हैं। जंगली हरदी का अन्दर का भाग गाढ़े नारंगी रंग का; गन्ध हरदी से तेज तथा कर्पूर मिश्रित सोंठ के समान; स्वाद कर्पूर के समान एवं हल्लासकारक होता है। हरदी के स्थान में रंगने के काम में यह आती हैं। त्रावणकोर में इससे तिखुर निकालते हैं।

रासायनिक संगठन—हरिद्रा के समान।

गुण और प्रयोग— इसके गुण हलदी की ही तरह होते हैं। रक्तविकार एवं चर्मरोगों में अन्य औषधियों के साथ इसका व्यवहार किया जाता है।

(१) सर्पविष में जंगली हलदी, कुष्ठ, अजवायन तथा मैनसिल का धूम दिया जाता है।

(२) विस्फोटक ज्वरों में दानों को बाहर निकालने के लिये इसे २–४ र० खिलाते हैं तथा इसका बाह्यलेप भी करते हैं।

(३) खुजली, चोट, सूजन एवं मोच आदि में इसका लेप अथवा इससे सिद्ध तैल का व्यवहार किया जाता है।

(४) शिरःशूल में लोहबान के साथ इसे घिसकर लेप करते हैं।

मात्रा—१–२ मा०।

नोट—उपर्युक्त हरिद्राओं के अतिरिक्त बंगाल में एक **कालीहलदी** (नरकचूर, नीलकण्ठ) होती है जिसे कर्क्यूमा केसिआ (Curcuma caesia Roxb.) कहते हैं। इसकी गांठें काली सी धूसरित वर्ण की एवं चक्राकार कड़ों से युक्त होती हैं। अन्दर का भाग धूसर नील वर्ण का, अत्यन्त कड़ा एवं शृङ्ग के समान होता है। इनका स्वाद एवं गन्ध कर्पूर के समान होता है।

गुण और प्रयोग— इसके गुण कचूर की तरह होते हैं। सौन्दर्य प्रसाधनों (Cosmetics–कॉसमेटिक्स) में इसका उपयोग किया जाता है। इसका उबटन पसीना लाने के लिए व्यवहार में लाया जाता है। बंगाल में इसकी ताजी गांठों का उपयोग हलदी की तरह किया जाता है।

अथ दारुहरिद्राया नामानि गुणांश्चाह

दार्वी दारुहरिद्रा च पर्जन्या पर्जनीति च। कटङ्कटेरी पीता च भवेत्सैव पचम्पचा॥
सैव कालीयकः प्रोक्तस्तथा कालेयकोऽपि च॥ २०१॥
पीतद्रुश्च हरिद्रुश्चपीतदारु[१] च पीतकम्। दार्वी निशागुणा किन्तु नेत्र कर्णास्यरोगनुत्॥

दारुहरदी के नाम तथा गुण—दार्वी, दारुहरिद्रा, पर्जन्या, पर्जनी, कटङ्कटेरी, पीता, पचम्पचा, कालीयक, कालेयक, पीतद्रु, हरिद्रु, पीतदारु और पीतक ये सब दारुहलदी के पर्यायवाची शब्द हैं। **दारुहलदी**—के गुण यद्यपि हलदी के समान ही होते हैं तथापि यह विशेषतः नेत्र, कर्ण तथा मुख-सम्बन्धी रोगों को दूर करने वाली होती है॥ २०१–२०२॥

---

१. 'कपीतकमि'ति पाठा० चिन्त्यम्।

७० दारुहलदी

हि०-दारुहलदी, दारुहरदी, दारहलद। बं०-दारुहरिद्रा। म०-दारुहलद, जरकि हलद। गु०-दारुहलदर। मा०-दारुहलदी। क०-दोड्डा मरद रिसिन। तै०-मनिपसुपु। ता०-मर मञ्जिल। कुमा०-चित्रा, कीलमोरा। प०-सुमलु। ने०-चित्रा। फा०-दार चोबह, फिलझरह। अ०-दार हलक। अं०-Indian berberry (इण्डियन बरबेरी)। ले०-*Berberis species* (बर्बेरिस् की विभिन्न जातियां)। Fam. Berberidaceae (बर्बेरिडॅसी)।

दारुहलदी की १२-१३ जाति की कटकित झाड़ियां अधिकतर हिमालय के पहाड़ों पर तथा आसाम में पाई जाती हैं। इनमें से चार जातियां मध्य तथा दक्षिण भारत (निलगिरी पर्वत) में पाई जाती हैं। छोटा नागपूर के पारसनाथ की पहाड़ी पर भी एक भेद पाया जाता है। इनमें से विशेषरूप से ब० ॲरिस्टॅटा एवं ३, ४ अन्य पौधों का उपयोग चिकित्सा में किया जाता है जिनका वर्णन आगे दिया जा रहा है। गुणों की दृष्टि से इनमें विशेष अन्तर न होने से सभी के गुण और प्रयोग एक साथ दिये गये हैं। दारुहलदी के मूल, काष्ठ, कांड, फल (जिसे झरिष्क कहते हैं) एवं सत्व (रसौंत) का व्यवहार किया जाता है। रसौंत का स्वतन्त्र वर्णन किया गया है। झरिष्क-ये कालाई लिये लाल तथा सूखने पर काले अंगूर की तरह दिखलाई देते हैं। ये काले अंगूर से छोटे तथा अधिकांश में बीजहीन होते हैं। इनका स्वाद खट्टा या रुचिकर खटमिट्ठा होता है।

(क) Berberis aristata, DC. (बर्बेरिस् ॲरिस्टॅटा, डीसी०)।

जौन०—काशमोई। गढ०—किंगोरा।

इसके क्षुप हिमालय पर्वत पर ६००० से १०५०० फीट की ऊँचाई पर एवं निलगिरी के पहाड़ों पर पाये जाते हैं। इसका क्षुप-बड़ा, पतनशील (Deciduous-डेसिड्यूअस्), कंटीला एवं साधारणतः ६ से १२ फीट तक ऊँचा लेकिन कभी कभी १५ फीट तक ऊँचा एवं ८ इञ्च व्यास के कांड से युक्त होता है। शाखाएँ-श्वेताभ या हलके पीताभ धूसर वर्ण की होती हैं। पत्ते-१·५-४ इञ्च लम्बे, ½-१ इञ्च चौड़े, अभिलट्वाकार, चर्मवत्, सूक्ष्म शिराओं से युक्त, सरल धार वाले या दूर दूर पर तीक्ष्ण कांटों से युक्त एवं उनका अधोपृष्ठ हलके हरे रङ्ग का होता है। फूल-स्वर्ण-पीत पुष्प २-३ इञ्च लम्बी मंजरियों में आते हैं। फल-बीजिमांसल फल (Berry-बेरी), अण्डाकार, नीले बैंगनी रङ्ग के चमकीले एवं रजावृत होते हैं। मूल-पीताभ बादामी, नलिकाकार, कुछ गांठदार, कड़े, मजबूत लेकिन लचीले, साधारणतः कटे हुवे टुकड़ों के रूप में एवं थोड़े सी शाखाओं से युक्त होते हैं। छाल-अंदर से गहरे बादामी रङ्ग की, मुलायम एवं तोड़ने पर चूर्ण रूप में हो जाती है। काष्ठ-नींबू के समान पीतवर्ण का, स्पष्ट एवं संकरी मज्जक किरणों से युक्त, जिसमें मज्जक प्रायः नहीं होता और यदि हो तो चमकीले पीतवर्ण का होता है। इसके काष्ठ में ताजी अवस्था में हलकी गन्ध एवं इसका स्वाद कड़वा होता है। इसको कितना भी उबालें तो भी यह पीला ही रहता है।

(ख) B. asiatica, Roxb. ex DC. (ब० एशियाटिका, राक्सब. एक्स डीसी.)।

हि०-किलमोरा, किंगोरा। ने०-माटे किस्सी, चित्रा।

इसके क्षुप प्रायः २-८ हजार फीट के बीच या कभी कभी नीचे भी हिमालय की घाटियों में भूटान, गढवाल, बिहार, पारसनाथ की पहाड़ी तथा अफगानिस्तान आदि स्थानों पर पाये जाते हैं।

इसका क्षुप करीब ८ फीट ऊँचा होता है। शाखाएँ धूसर वर्ण की होती हैं। इसकी पत्तियां अण्डाकार या लट्वाकार आयताकार, १–२½ इञ्च लम्बी एवं चर्मवत् होती हैं। पत्तियों का शिराजाल ऊपरी पृष्ठ पर घना तथा दृढ होता है। पुष्प–मञ्जरियों में निकलते हैं। इसके फल कृष्ण नील होते हैं।

(ग) B. lycium, Royle. (बा० लाइसियम्, रायलि.)।

हि०–चतरोई, काशमल, दारुहरिद्रा।

इसके क्षुप ३–७ हजार फीट की ऊँचाई पर पश्चिमी हिमालय में गढवाल से हजारा तक एवं चकरौता तथा मसूरी के नीचे विशेषरूप में प्राप्त होते हैं। ये छोटे एवं समूहबद्ध होकर आते हैं।

इसके पत्ते प्रायः पतले तथा लम्बे होते हैं एवं शिराजाल घना नहीं होता। इसके फल विशेष मांसल नहीं होते।

रासायनिक संगठन—बर्बेरिस् की विभिन्न उपजातियों में कम से कम आठ प्रकार के विभिन्न क्षाराभ पाये गये हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—बर्बेरिन् (Berberine), (ऑक्सिअॅकॅन्थाइन् (Oxyacanthine), बर्बेमाइन् (Berbamine), पामॅटाइन (Palmatine), जॅट्रोर्होझाइन् (Jatrorrhizine), कोलंबॅमाइन् (Columbamine), बर्बेरूबाइन् (Berberrubine) एवं हाइड्रॅस्टाइन् (Hydrastine)। इनमें से प्रथम तीन विशेष महत्व के हैं तथा शेष विभिन्न अन्य वनस्पतियों के विशिष्ट क्षाराभ हैं। बर्बेरिन् (Berberine, $C_{20}H_{19}NO_5$), शीत जल में घुलनशील, मद्यसार में कम घुलनशील, पीतवर्ण का एवं सूइयों के आकार का क्षाराभ है। यह काष्ठ एवं छाल की अपेक्षा मूल में अधिक होता है। यह क्षाराभ और भी कई वनस्पतियों में पाया जाता है। इसके लवण भी बनाये गये हैं।

इसके अतिरिक्त इसमें कषाय द्रव्य, गोंद एवं स्टार्च आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

इसके फल में मॅलिक् (Malic), टार्ट्रिक् (Tartric) एवं साइट्रिक् (Citric) अम्ल पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—दारुहलदी के मूल एवं काष्ठ बल्य, तिक्त पौष्टिक, दीपन, पाचन, ग्राही, पित्तविरेचक, ज्वरहर, पार्यायिक ज्वरहर, स्वेदल, श्लेष्मघ्न, रसायन एवं त्वक् दोषहर हैं।

इसका उपयोग मलेरिया आदि विषम ज्वर, कुपचन, फिरङ्ग, गण्डमाला, अपची, त्वक्दोष, भगंदर, प्रदर, अत्यार्तव, व्रण, गर्भिणीवमन, यकृत्प्लीहावृद्धि, कामला एवं सर्पदंश आदि में किया जाता है।

(१) मलेरिया तथा अन्य विषमज्वरों में इसके क्वाथ का उपयोग किया जाता है। ज्वर के साथ हृल्लास, वमन, विरेचन, शिरःशूल एवं थकावट अधिक होती है तब इसके क्वाथ का उपयोग रसौत की अपेक्षा अच्छा होता है। ज्वर में इसके पूर्व विरेचन देना चाहिये। इससे पसीना होकर ज्वर उतर जाता है। क्विनीन की तरह हृदयावसाद एवं बाधिर्य आदि इससे नहीं होते तथा प्लीहा की वृद्धि कम हो जाती है। ज्वर अच्छा होने के पश्चात् इसके उपयोग से भूख आदि बढ़ती हैं। यद्यपि उपर्युक्त गुणों के लिये इसका उपयोग किया जाता रहा लेकिन नवीन प्रयोगों से देखा गया कि इसके क्षाराभ बर्बेरिन् सल्फेट (Berberine Sulphate) को १½–२½ र० की मात्रा में दिन में ३ बार ३ दिन तक देने पर भी किसी प्रकार का लाभ नहीं हुवा। मलेरिया में इससे एक लाभ अवश्य होता है कि इसके देने से प्लीहा आदि धातुओं में छिपे हुवे मलेरिया के कीटाणु रक्त में आ जाते हैं जिससे रक्त परीक्षा में दिखलाई देने से निदान में आसानी होती है। क्विनीन के साथ ज्वर की चिकित्सा में इसका उपयोग लाभदायक है।

(२) बर्बेरिन् (Berberine)—यह क्षाराभ अत्यंत विषैला नहीं है लेकिन अधिक मात्रा में देने से अवश्य विषैला है एवं मृत्यु भी हो सकती है। इसका प्रचूषण आन्त्र एवं सूचिकाभरण द्वारा हो सकता है। बिल्ली एवं कुत्तों को उनके वजन के प्रति किलोग्राम के लिये २ मिलीग्राम की मात्रा में देने से हृदय पर अवसादक प्रभाव पडता है तथा रक्तवाहिनियों का विस्फार होता है। यह क्रिया उन्हीं अंगों के ऊपर प्रत्यक्ष प्रभाव से एवं प्राणदा (Vagus = व्हागस्) नाडी की उत्तेजना से होती है। प्राणियों में मृत्युत्तर परीक्षण द्वारा देखा गया कि इससे फुफ्फुसों में अत्यन्त रक्ताधिक्य एवं हृदय के अलिन्दों (Auricle = ऑरिकल) का विस्फार होकर मृत्यु होती है। इससे वृक्कों में शोथ एवं रक्तस्राव होता है तथा इससे केन्द्रीय वातनाडीसंस्थान के कन्दों की कोशाओं को नुकसान पहुँचता है। यह श्वसन के लिये भी अवसादक है लेकिन १–१० मिलीग्राम की मात्रा में यह आन्त्र, गर्भाशय एवं श्वसनिका की अनैच्छिक मांसपेशियों को उत्तेजित करता है जिससे श्वसनका में संकोच उत्पन्न होता है।

साधारण मात्रा में हृदय पर इसका उत्तेजक प्रभाव पड़ता है जिससे हृदय की पोषक रक्तवाहिनियो में रक्तप्रवाह की वृद्धि होती है लेकिन अधिक मात्रा में देने पर यह अवसादक है। इससे श्वेतकणों की वृद्धि होती है। मलेरिया में निदान की दृष्टि से प्रोद्दीपक रूप में (Provocative dose–प्रोव्होकेटिव्ह डोस) इसका उपयोग लाभदायक है जिससे छिपे हुये कीटाणु रक्त में आजाते हैं तथा रक्तपरीक्षण में दिखलाई देने लगते हैं। यह चर्म के नीचे की धातुओं ए श्लैष्मिक कला के लिये स्थानिक रूप से सौम्य स्वापजनक होने के कारण वेदनास्थापन के लिए प्रयुक्त होता है। किनीन जो कि कोशाओं के जीवरस (प्रोटोप्लाज्म्–Protoplasm) के लिये विषैला होता है उसकी अपेक्षा ८० गुना कम शक्ति का इसका घोल (८०, ००० में १) लीशमॅनिया ट्रॉपिका (Leishmania tropica) नामक प्राच्यव्रण उत्पन्न करने वाले कीटाणु के संवर्ध की वृद्धि रोकने में समर्थ होता है। यह प्राच्यव्रण (Oriental sore–ओरियन्टल् सोर) की चिकित्सा के लिये सफल औषधि है। बर्बेरिन् ॲसिड सल्फेट ·५–१% घोल की १–२ सी० सी० मात्रा व्रण के किनारों पर अत्यन्त महीन सूचिका द्वारा ४, ५ जगह दी जाती है। सूचिकाभरण हफ्ते में एक वार किया जाता है। साधारणतः ३ हफ्तों में व्रण अच्छा हो जाता है लेकिन द्वितीयक उपसर्ग की तीव्रता के अनुसार २–१२ हफ्ते भी अच्छा होने में लग सकते हैं। यदि एक से अधिक व्रण हों तो एक दिन में २ व्रणों से अधिक एवं हफ्ते में ४ व्रणों से अधिक, (विशेष कर जब व्रण बड़े हो) में सूचिकाभरण नहीं करना चाहिये। चिकित्साकाल मे व्रण का बन्धन उचित रूप में करना चाहिये। इस औषधि का तयार घोल ओरिसॉल (Orisol) नाम से बिकता है।

(३) दारुहलदी पित्त एवं मूत्रमार्ग की विकृति में लाभदायक है। पित्त एवं मूत्राश्मरी, तृष्णा, दाह एवं हृल्लास आदि के लिये इसका उपयोग किया जाता है। वस्तिशोथ एवं प्रमेह आदि में आंवले के रस एवं मधु के साथ इसको देते हैं। गर्भाशय शैथिल्य के कारण उत्पन्न रक्तप्रदर में तथा श्वेतप्रदर में मधु के साथ इसके क्वाथ का सेवन करने से लाभ होता है। कामला में मधु के साथ इसका क्वाथ दिया जाता है। मूलत्वक् का क्वाथ तृणाणुनाशक (Bactericidal–बॅक्टेरिसाइडल्) है तथा जीर्ण व्रणों में व्रण प्रक्षालन के लिये लाभदायक है।

(४) दारुहलदी के फल सौम्य विरेचक, शीतल एवं रोचक होते हैं।

प्रतिनिधि एवं व्यामिश्रण—उत्तर भारत में इसमें विशेष मिलावट नहीं होती लेकिन बंबई की तरफ इसमें कई प्रकार की वनस्पतियों के काष्ठ को हलदी में उबाल कर बेचते हैं। झाडकी

हल्दी (Coscinium fenestratum (Gaertn.) Colebr. (कॉसिनिअम् फेनेस्ट्रॅटम्) के कांड को भी इसके स्थान पर देते हैं।

मात्रा—चूर्ण २-३ माशा, टिंक्चर ½-२ ड्रा०, बर्बेरिन् के लवण १-५ ग्रेन।

अथ दार्वीक्वाथजातं रसाञ्जनम्। तस्य निर्माणविधिं नामानि गुणांश्चाह

दार्वीक्वाथसमं क्षीरं पादं पक्त्वा यदा घनम्। तदा रसाञ्जनाख्यं तन्नेत्रयोः परमं हितम्॥ रसाञ्जनं तार्क्ष्यशैलं रसगर्भञ्च तार्क्ष्यजम्। रसाञ्जनं कटु श्लेष्मविषनेत्रविकारनुत्॥२०४॥ उष्णं रसायनं तिक्तं छेदनं व्रणदोषहृत्॥ २०५॥

दारुहलदी के क्वाथ से तैयार होने वाले रसोत के बनाने की विधि, नाम तथा गुण—दारुहलदी का काढ़ा बनाकर उसी के बराबर उसमें दूध डाल कर औटावें। बाद को जब चौथाई भाग शेष रह जाय तब उतार लें और उसमें से जो गाढ़ा भाग हो उसे अलग कर लें। उसी को रसोत कहते हैं। वह नेत्रों के लिये परम हितकर होता है। रसाञ्जन, तार्क्ष्यशैल, रसगर्भ और तार्क्ष्यज ये रसोत के नाम हैं। **रसोत**—कटु तथा तिक्त रस युक्त, कफ, विष तथा नेत्र सम्बन्धी विकारों को दूर करने वाला, उष्ण वीर्य, रसायन, छेदक (पिण्डी भाव को प्राप्त हुये कफादिकों को काट काट कर अलग करने वाला), एवम् व्रणसम्बन्धी दोषों को नष्ट करने वाला होता है॥ २०३-२०५॥

७१ रसौत

हि०-रसोत, रसौत, रसवत। **बं०**-रसांजन। **म०**-रसवत, रसांजन। **गु०**-रसवंती। **क०**-रसांजन। **ते०**-रसांजनमु। **मा०**-रसोत। **पं०**-रसौंत। **फा०**-फिलजह्रः। **अ०**-हुलुज़ेहिंदी। **अं०**-Extract of Indian Berberis (एक्स्ट्रॅक्ट ऑफ इण्डियन् बर्बेरिस्)। **ले०**-*Extractum Berberis* (एक्स्ट्रॅक्टम् बर्बेरिस्)

रसोत—कालापन लिये भूरे रङ्ग की, गोंद के समान मुलायम तथा पानी और मदिरा में घुलने वाली दारुहलदी के क्वाथ और बकरी के दूध से बनी हुई औषधि है। इसका स्वाद कड़वा तथा कसैला होता है। इसको बनाने के लिये वर्षा के आखिर में इसके क्षुप को काट कर उसके पंचांग का क्वाथ बना कर बाद में उसे गाढा बनाते हैं। कुछ लोग क्वाथ में बराबर मात्रा में बकरी का दूध मिलाकर फिर गाढा करते हैं। इस बात में मतभेद है कि रसौत केवल ब० लाइसियम् के मूल एवं काष्ठ से बनता है या ब० एशियाटिका से या दोनों से। बाजार में बिकने वाला रसौत प्रायः दोनों के मिश्रण से बनाया जाता है। इसमें लकड़ी, मिट्टी आदि पदार्थ मिले रहते हैं। इसलिये इसे १० गुने गरम जल में मिलाकर छान कर सुखाते हैं एवं बचे हुये भाग में मद्यसार मिलाकर छानकर उस मद्यसार को ऊर्ध्वपातन यन्त्र द्वारा अलग कर गाढे भाग को उपर्युक्त जल से सुखाये गाढे भाग में मिलाकर बन्द शीशी में रखकर काम में लाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह कडवा पौष्टिक, ज्वरहर, पार्यायिक ज्वरहर, स्वेदल, अर्शोघ्न, शोथघ्न, रक्तशोधक, श्लेष्मघ्न, व्रणरोपक एवं नेत्रविकारहर है।

इसका आन्तरिक उपयोग ज्वर, यकृत् प्लीहा वृद्धि, कामला, अर्श, एवं आमाशय तथा पक्वाशय के व्रण (Gastric & duodenal ulcer-गॅस्ट्रिक् अँड ड्युओडेनल् अल्सर) में लाभदायक है। इसका बाह्य प्रयोग अर्श, प्राच्यव्रण, कटे हुये भाग, फोड़े फुन्सियां एवं पुराने व्रण आदि में किया जाता है।

(१) विषमज्वर के सभी प्रकारों में इसको १५ र० दिन में ३ बार जल के साथ देते हैं। क्वाथ की अपेक्षा यह ज्यादा अच्छा होता है। इससे ज्वर का शमन होकर प्लीहा वृद्धि भी कम होती है। इसके प्रयोग में पहले विरेचन देना चाहिये तथा इसकी पूर्ण मात्रा खाली पेट पर देनी चाहिये। औषधि लेने के पश्चात् रोगी को कपड़ा ओढा कर सुलाना चाहिये। थोड़ी देर में रोगी को प्यास मालूम पड़ती है तथा जी घबड़ाने लगता है लेकिन उसको जल पीने न दें। एक घण्टे में पसीना निकलने लगता है तथा कमजोरी मालूम होती है। उसके बाद शरीर पोंछ कर लाजमण्ड या चावल का मांड और दूध पीने को दें। इसके बाद रोगी प्रायः सो जाता है तथा उस दिन ज्वर की पारी नहीं आती। इस प्रयोग में एक दोष यह है कि रोगी को कभी पहले रक्तातिसार हुआ हो तो वह फिर उभड़ जाता है।

(२) नये एवं पुराने नेत्राभिष्यन्द में इसको पलकों पर लगाने से बहुत लाभ होता है। इसके साथ इसमें अफीम, सैन्धव एवं फिटकिरी मिलाई जा सकती है।

(३) रक्तार्श में इसको २ से ८ र० मक्खन के साथ खिलाया जाता है एवं इसके घोल (३२ में १) से अर्श को धोते हैं।

(४) कपूर एवं मक्खन के साथ बना इसका मलहम फोड़े, फुन्सियां, कटे हुये भाग एवं पुराने घावों पर लाभदायक है। मधु के साथ मिलाकर मुख के अन्दर के व्रणों पर एवं अन्य व्रणों पर लगाते हैं। शोथ पर इसके लेप से लाभ होता है। मुखरोग में इसके घोल से गण्डूष कराते हैं। प्राच्यव्रण के लिये भी यह लाभदायक है क्योंकि इसमें क्षाराभ की पर्याप्त मात्रा रहती है।

मात्रा—½–२ मा०।

अथ बाकुची। तस्या नामानि तत्फलस्य च गुणाँश्चाह

अवल्गुजो बाकुची स्यात्सोमराजी सुपर्णिका।
शशिलेखा कृष्णफला सोमा पूतिफलीति च ॥ २०६ ॥
सोमवल्ली कालमेषी कुष्ठघ्नी च प्रकीर्त्तिता। बाकुची मधुरा तिक्ता कटुपाका रसायनी ॥
विष्टम्भहृद्धिमा रुच्या सरा श्लेष्मास्रपित्तनुत्।
रूक्षा हृद्या श्वासकुष्ठमेहज्वरकृमिप्रणुत् ॥ २०८ ॥
तत्फलं पित्तलं कुष्ठकफानिलहरं कटु। केश्यं त्वच्यं कृमिश्वासकासशोथामपाण्डुनुत् ॥२०९॥[1]

बाकुची के नाम और उसके तथा उसके फल के गुण—अवल्गुज, बाकुची, सोमराजी, सुपर्णिका, शशिलेखा, कृष्णफला, सोमा, पूतिफली, सोमवल्ली, कालमेषी और कुष्ठघ्नी ये सब बाकुची के नामान्तर हैं। बाकुची-मधुर तथा तिक्तरस युक्त, विपाक में कटुरस युक्त, रसायन, विष्टम्भ को दूर करने वाली, शीतवीर्य, रुचिजनक, सारक (दस्तावर), कफ तथा रक्तपित्त को दूर करने वाली होती है तथा यह रूक्ष, हृदय के लिए हितकर तथा श्वास, कुष्ठ, प्रमेह, ज्वर और कृमि को नष्ट करने वाली होती है। इसका फल—पित्तकारक, कुष्ठ, कफ और वात को दूर करने वाला, कटुरसयुक्त, केश तथा त्वचा के लिए हितकारी होता है तथा कृमि, श्वास, कास, शोथ आम और पाण्डु इन सब रोगों को नष्ट करने वाला होता है ॥ २०६–२०९ ॥

---

१. पाठा० वमिश्वास।

७२ बाकुची

हि०–बाकुची, बकुची, बावची, वावची, सोमराजी । **बं०**–लताकस्तूरी, हाकुच । **म०**–बावची । **गु०**–बाबची, वावची । **क०**–वाउचिगे । **ते०**–भवचि, कालाजिउजा । **ता०**–कर्पोकरशि । **फा०**–बावकुचि । **अं०**–Psoralea seed (सोरॅलिया सीड); Malaya tea (मलाया टी) । **ले०**–*Psoralea corylifolia, Linn.* (सोरॅलिया कोरिलीफोलिया, लिन.) । Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी) ।

बाकुची—प्रायः सब प्रान्तों के जंगली झाड़ियों में तथा खादर अथवा कंकरीली भूमि में उत्पन्न होती है एवं सिलोन में भी प्राप्त होती है । अमेरिका में भी इसकी कई उपजातियां होती हैं जिनके गुण भी इसी के समान हैं ।

इसका **क्षुप**–१–४ फीट तक ऊँचा, वर्षायु एवं स्वावलम्बी होता है । **पत्ते**–१–३ इञ्च के घेरे में छोटी अरणी के पत्तों के समान गोलाकार होते हैं । ये नालयुक्त, कड़े, चिकने, लहरदार दन्तुर एवं इनके दोनों पृष्ठों पर काले धब्बे होते हैं । इन ग्रन्थियों के चिह्न शाखाओं पर भी होते हैं । १०–३० छोटे, नीले बैंगनी रंग के **पुष्प**–१ से २ इञ्च लम्बे पुष्पदण्ड पर आते हैं । **फली**–छोटी, गोल, काली, चिकनी, एक बीज युक्त, अस्फोटी एवं फलभित्ति बीज से चिपकी होती है । **बीज**–बाकुची वास्तव में फल ही है जिसकी फलभित्ति बीजावरण से चिपकी रहती है । यह अण्डाकार, आयताकार, कुछ चिपटे, चिकने, अग्र की तरफ नुकीलें, काले रंग के एवं महीन गढ़ों से युक्त होते हैं तथा तालद्वारा बड़ा करके देखने पर नहाने के स्पञ्ज की तरह दिखलाई देते हैं । इसको चबाने पर एक तीव्र गन्ध आती है तथा इनका स्वाद कडवा, तीता एवं दाहजनक होता है । औषधि कार्य में इनका तथा इनसे निकले तैल का व्यवहार किया जाता है ।

नोट—कुछ विद्वानों ने सोमराजी नाम से ले० वर्नोनिया ॲन्थेलर्मिंटिका (Vernonia anthelmintica Willd.) का ग्रहण किया है लेकिन वह नाम तो अरण्यजीरक का है जिसका वर्णन परिशिष्ट में किया गया है ।

रासायनिक संगठन—बाकुची के फलों में राल, उड़नशील तैल, तारपीन की तरह तैल, स्थिर तैल, एवं सोरॅलेन् (Psoralen) तथा आइसो-सोरॅलेन् (Iso-psoralen) नामक दो रवेदार पदार्थ पाये जाते हैं । बाकुची के कृमिघ्न तथा त्वच्य गुण इन्हीं रवेदार पदार्थों के मिश्रण से हैं । यह तैल में घुलने वाले (फ्युरोकाउमरिन्स्–Furocoumarins) हैं । प्रथम सोरॅलेन अंजीर से प्राप्त होने वाले फिक्युसिन् (Ficusin) के समान होता है । इसकी फलभित्ति (Pericarp पेरीकार्प) से सोरॅलिडिन् (Psoralidin) नामक एक अन्य रवेदार पदार्थ भी प्राप्त होता है ।

गुण और प्रयोग—यह सौम्य उत्तेजक, वातनाडियों के लिए बल्य, कृमिघ्न, त्वक् दोषहर, व्रण शोधक, व्रणरोपक, मृदुविरेचक, मूत्रल, स्वेदल एवं वृष्य है ।

इसका अन्तः वाह्य प्रयोग श्वित्र, कुष्ठ, पामा, कण्डू, गजचर्म (सोरियासिस्–Psoriasis) एवं चर्म के अन्य शोथयुक्त विकारों में किया जाता है ।

(१) श्वित्र में चौथाई भाग हरताल के साथ गोमूत्र में पीस कर इसका लेप लाभदायक होता है । खैर एवं आंवले के क्वाथ के साथ इसके चूर्ण का सेवन भी लाभदायक है । सालभर तक यदि बाकुची एवं काले तिल का सेवन करें तो सभी प्रकार के कुष्ठ अच्छे होकर शरीर की कान्ति बढ़ती है । इसको जल के साथ पीस कर भी लेप किया जा सकता है । नवीन तथा युवावस्था के श्वेत कुष्ठ रोग में शीघ्र लाभ होता है किन्तु अधिक दिन तक लगाना पड़ता है । इससे दाग लाल हो जाते हैं ।

(२) बाकुची में रहने वाला तैल ही प्रधान कार्यकारी भाग है। यह तैल चर्म के ऊपर रहने वाले मालागोलाणुओं (Streptococci) के लिये घातक है। अंतस्त्वचीय धमनिकाओं के ऊपर इसका निश्चित प्रभाव पड़ता है जिससे इनका विस्फार होकर वहां रक्तरस (Plasma-प्लाज्मा) का प्रवाह बढ़ जाता है। इससे चर्म लाल हो जाता है तथा रञ्जक कोषों (मेलॅनोब्लास्टस्-Melanoblasts) को उत्तेजना मिलकर रञ्जक का निर्माण होता है। यह रञ्जक, सफेद दागों में फैलकर उसका वर्ण परिवर्तन कर देता है। अधिकांश लोगों में इससे सफेद दाग लाल हो जाते हैं लेकिन कुछ (५%) लोगों में इससे छाले पड़ जाते हैं इसलिए इसको अन्य चीजों के साथ आवश्यक प्रमाण में मिश्रण कर लेना चाहिये जिससे दागों में केवल लाली आ जाय। श्वित्र के साथ-साथ यदि अन्य आंत्रिक विकार जैसे आमातिसार आदि हों तो उनकी भी चिकित्सा साथ-साथ करनी चाहिये।

(३) फिरंगेतर श्वित्र में बाकुची के तैलीय राल सदृश सत्व (Oleo-resinous extract) का लेप लाभदायक होता है। इस सत्व में सोरॅलेन् तथा आइसो-सोरॅलेन् दोनों ही रहते हैं। इसको चॉलमोगरा के तेल के साथ मिलाकर लगाया जाता है तथा आन्तरिक प्रयोग भी करते हैं जिससे श्वित्र, सिध्म तथा सोरियासिस् में लाभ होता है। लगाने के लिये इसके साथ २ भाग चॉलमोगरा का तेल तथा २ भाग लॅनोलिन् मिलाकर मलहम बनाकर दिन में एक, दो बार दागों पर मलना चाहिये। करीब ३ महीने में लाभ होता है।

मात्रा—बीज चूर्ण १-३ माशा।

अथ चक्रमर्दः (चकवड)। तस्य नामानि तत्फलस्य च गुणांश्चाह

चक्रमर्दः प्रपुन्नाटो दद्रुघ्नो मेषलोचनः। पद्माटः स्यादेडगजश्चक्री पुन्नाट इत्यपि ॥२१०॥
चक्रमर्दो लघुः स्वादू रूक्षः पित्तानिलापहः। हृद्यो हिमः कफश्वासकुष्ठदद्रुकृमीन्हरेत् ॥२११॥
हन्त्युष्णं तत्फलं कुष्ठकण्डूदद्रूविषानिलान्। गुल्मकासक्रिमिश्वासनाशनं कटुकं स्मृतम् ॥२१२॥

चकवड़ के नाम और उसके तथा उसके फल के गुण—चक्रमर्द, प्रपुन्नाट, दद्रुघ्न, मेषलोचन, पद्माट, एडगज, चक्री और पुन्नाट ये सब चकवड़ के नामान्तर हैं। चकवड़-लघु, स्वादिष्ट, रूक्ष, पित्तवात (वातपित्त) नाशक, हृदय के लिए हितकर, शीतवीर्य, कफ, श्वास, कुष्ठ, दद्रु (दाद) और कृमि को नष्ट करने वाला होता है। चकवड़ का फल—उष्णवीर्य और कटु रस युक्त होता है एवम् कुष्ठ, खुजली, दाद, विष, वायु, गुल्म, कास, कृमि और श्वास इन सब रोगों को दूर करने वाला होता है ॥ २१०-२१२ ॥

७३ चकवड़

हि०-चकवड़, पवांड़, पवांर। **बं०**-चकुन्दा, पनेवार। **म०**-तरोटा, टाकला। **गु०**-कुंवाडीयो। **क०**-तगचे। **ते०**-तगिरिस। **ता०**-उशिद्गरै। **पं०**-पंवार, चकुन्दा। **फा०**-संगेसतूया। **अ०**-कुल्व। **अं०**-Fetid cassia (फीटिड कॅशिया)। **ले०**-*Cassia tora Linn.* (कॅशिया टोरा, लिन.)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों के जङ्गल, झाड़ी, खेत, मैदान, कूड़ा करकट, सड़क के किनारे एवं गन्दे स्थानों में आप ही आप उत्पन्न होता है।

इसका २-५ फीट तक ऊँचा एकवर्षायु क्षुप वर्षा ऋतु में बहुतायत से उत्पन्न होता है। **पत्र**-संयुक्त पक्षाकार और पत्रक-तीन जोड़े, अभिलट्वाकार, १-२ इञ्च लंबे, चिकने, मचकीले, दुर्गन्ध

युक्त एवं स्पष्ट शिराजाल से युक्त होते हैं। इसके निचले पत्रकों के बीच में एक ग्रन्थि होती है। **पुष्प**-छोटे पीले रंग के अक्षकोणीय एवं दो-दो के जोड़े में आते हैं। **फलियां**-४-८ इञ्च लम्बी, पतली, चौकोनी, कुछ मुड़ी हुई तथा इनका अग्र नुकीला होता है। **बीज**-बहुत, कड़े एवं मेथी के समान होते हैं। इसके कोमल पत्तों का साग बनाया जाता है तथा औषधि में पंचाग का व्यवहार किया जाता है।

इसी का एक दूसरा भेद है जिसे कॅशिया ऑब्ट्यूसिफोलिया (Cassia obtusifolia) कहते हैं। इसका क्षुप भी ऊपर के क्षुप के समान ही होता है लेकिन इसमें दुर्गन्ध नहीं होती तथा इसके आधारीय पत्रकद्वय के बीच में एक ग्रन्थि होती है।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में एमोडिन (Emodin) नामक एक ग्लूकोसाइड पाया जाता है जो क्राइसोफेनिक् एसिड (Chrysophanic acid) की तरह होता है। इसके पत्तों में कॅथार्टिन (Cathartin) नामक एक विरेचक द्रव्य तथा लाल रंग होता है।

गुण और प्रयोग—इसके बीज बल्य, दीपन, पाचन एवं त्वक् दोषहर होते हैं तथा पत्र विरेचक, कृमिघ्न एवं पार्यायिक ज्वरहर होते हैं।

(१) इसके बीज की क्रिया त्वचा पर होती है। दाद, खुजली, कुष्ठ, सिध्म, पामा एवं छाजन (एक्झिमा) आदि में यह बहुत लाभदायक है। जिन रोगों में त्वचा मोटी हो जाती है उनमें इससे विशेष लाभ होता है। दाद में मूली के पत्ते के साथ या नींबू के रस के साथ या करञ्ज के तेल के साथ पीस कर इसे लगाया जाता है। छाजन में मट्ठे के साथ पीस कर लगाते हैं। सिध्म के लिये कांजी में पीसकर लगाना चाहिये। व्रणवस्तु के स्थान पर उत्पन्न होनेवाली तन्तु युक्त गांठों (कीलॉएड-Cheloid) के लिये इसके बीजों को सेहुंड के दूध में भिगोकर फिर गोमूत्र में पीस कर लेप करने से लाभ होता है। अर्धावभेदक आदि शिरोरोग में कांजी के साथ इसका लेप उपयोगी है। इसका सेवन कॉफी के रूप में भी किया जाता है।

(२) इसके पत्तों का क्वाथ बच्चों के विकारों में विशेषकर दन्तोद्भेद के समय ज्वर आदि होने पर मृदु विरेचक के रूपमें दिया जाता है। इसका रस भिलावे से उत्पन्न दाह पर लगाया जाता है। इसका पोल्टिस बनाकर फोडों पर बांधने से फोड़े जल्दी पक जाते हैं एवं वातरक्त, गृध्रसी तथा संधिवात में भी इनके बांधने से वेदना कम होती है। इसके पत्तों को एरण्ड तैल में भूनकर दुर्गंध युक्त व्रणों में पुल्टिस के रूप में प्रयोग से लाभ होता है।

मात्रा—बीज चूर्ण १-२ माशा।

अथातिविषा (अतीस)। तस्या नामगुणानाह

विषा त्वतिविषा विश्वा शृङ्गी प्रतिविषाऽरुणा। शुक्लकन्दा चोपविषा भङ्गुरा घुणवल्लभा॥
विषा सोष्णा कटुस्तिक्ता पाचनी दीपनी हरेत्। कफपित्तातिसारामविषकासवमिक्रिमीन्॥

अतीस के नाम तथा गुण—विषा, अतिविषा, विश्वा, शृङ्गी, प्रतिविषा, अरुणा, शुक्लकन्दा, उपविषा, भङ्गुरा और घुणवल्लभा ये सब अतीस के नाम हैं। **अतीस**—उष्णवीर्य, कटु तथा तिक्तरस युक्त, पाचक तथा अग्निदीपक होती है एवम् कफ, पित्त, अतिसार, आम, विष, कास, वमन और कृमि इन सब रोगों को दूर करनेवाली होती है॥ २१३-२१४॥

७४ अतीस

हि०-अतीस। बं०-आतइच। म०-अतिविष। पं०-अतीस। ते०-अतिवस। क०-अतिविपा। गु०-अतिवखनी कली। ता०-अतिवदयम। भोटि०-अइस। अं०-Indian Atees (इन्डियन् अतीस)। ले०-*Aconitun heterophyllum, Wall.* (एकोनाइटम् हेटरोफाइलम्, वाल.); Fam. Ranunculaceae (रॅनन्क्युलेसी)।

यह हिमालय पहाड़ में कुमाऊँ से हसोरा तक शिमला और इसके आस पास में तथा चन्वा प्रान्त में ६ से १५ हजार फुट ऊँची चोटियों पर पाया जाता है।

इसका **क्षुप**-२ से ४ फीट ऊँचा होता है। **काण्ड**-गोल, सीधा तथा विभिन्न आकार वाली पत्तियों से घिरा होता है। **पत्र**-नीचे के पत्तों के फलक प्रायः पांच विच्छेदों से युक्त एवं गोलाई लिये हुये ताम्बूलाकार या लट्वाकार-ताम्बूलाकार होते हैं। ऊपर के पत्ते छोटे तथा धार पर दन्तुर होते हैं। **पुष्प**-नील अथवा हरितनील, १ से १॥ इञ्च लम्बे एवं चमकीले होते हैं। आभ्यंतर पुट का एक दल सबसे बड़ा और फणाकार होता है। **मूल**-मूल में दो कन्द होते हैं जिनमें एक पिछले वर्ष का और दूसरा नये वर्ष का होता है। नवीन कन्द लम्बगोल या शंकाकार, हाथी की सूंड की तरह, १ इञ्च लम्बा तथा ¼ से ½ इञ्च मोटा होता है। कन्दत्वक्-पतली तथा श्वेताभ, फीके राख के रङ्ग की तरह होती है। कन्द-स्वाद में अत्यंत कडुवा, आसानी से टूट जाने वाला और भीतर से श्वेत तथा पिष्टमय पदार्थ से युक्त रहता है। इसे तोड़ने पर श्वेत मध्य भाग के चारों तरफ ४ काले धब्बे दिखलाई देते हैं। इनमें गन्ध नहीं रहती। इसमें कीडे बहुत जल्दी लग जाते हैं तथा कीडे लगने पर यह निःसत्व हो जाता है इसलिये औषधि में बिना कीडे लगे हुवे अच्छे मूलकन्द का ही व्यवहार करना चाहिये।

अन्य निघण्टुकारों ने वर्ण भेद से इसके ३, ४ भेद लिखे हैं लेकिन आजकल केवल एक ही भेद और मिलता है। जिसका वर्णन नीचे दिया गया है।

(क) Aconitum palmatum D. Don (एकोनाइटम् पार्मेटम्) हि०-बखमा। सं०-प्रतिविषा।

इसके क्षुप पूर्वी हिमालय में सिकिम, गुर्वाल तथा मिश्री पर्वतों में पाये जाते हैं।

इसके **मूल** अतीस की अपेक्षा अधिक लम्बे, कम मोटे, तोड़ने में सख्त, अधिक काले रङ्ग के तथा वजन में बहुत भारी होते हैं। इन पर गांठें होती हैं। गुण आदि में यह अतीस के समान ही है।

रासायनिक संगठन—वत्सनाभ वर्ग की औषधि होने पर भी यह विषैली नहीं है। इसमें एक अत्यन्त कडवा बिना रवेदार क्षाराभ अतीसिन (Atisine) होता है जो विषैला नहीं है। इसके अतिरिक्त इसमें एकोनाइटिक् एसिड (Aconitic acid), टॅनिक एसिड, अधिक मात्रा में पिष्टमय पदार्थ, वसा तथा ओलिइक्, पामिटिक् एवं स्टियरिक ग्लिसराइड्स (Oleic, Palmitic and Stearic Glycerides) के मिश्रण तथा गोंद, इक्षु शर्करा एवं राख २% आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—अतीस दीपन, पाचन, तिक्तपौष्टिक, ग्राही, वृष्य, बल्य एवं विषमज्वरहर है। इसके सेवन से शरीर की विनिमय क्रिया सुधरती है। इसको ४-८ माशा देने पर भी विषैला परिणाम नहीं होता।

इसका प्रयोग आमातिसार, विषमज्वर, कास, वमन, कुपचन, शूल, नवीन शोथयुक्त विकार एवं बालरोगों में किया जाता है।

(१) तिक्तपौष्टिक तथा ग्राही होने के कारण अतिसार एवं संग्रहणी में इससे अच्छा लाभ होता है। बच्चों के वमन, अतिसार, ज्वर एवं खांसी में इससे बहुत लाभ होता है। इससे पाखाना पीला होकर मात्रा कम होती है। बच्चों तथा प्रसूता में यदि अतिसार हो तो इसके साथ शृङ्ग भस्म देना चाहिये। अतीस के साथ भांग एवं घोड़बच मिलाकर अतिसार में दिया जाता है। इसके साथ सुगन्धि, कड़ुवी पौष्टिक तथा ग्राही अन्य औषधियां मिलाने से ज्यादा लाभ होता है।

(२) इसको अधिक मात्रा में देने पर ही इसका ज्वरघ्न गुण स्पष्ट होता है लेकिन उस मात्रा में ज्वर कम होने के साथ-साथ विबन्ध भी हो जाता है जो विषमज्वर के लिये अहितकारक है। इसलिये विषमज्वर में इसकी अपेक्षा कुटकी ज्यादा लाभदायक होती है। ज्वर पश्चात् दौर्बल्य दूर करने के लिये दीपनीय एवं तिक्त पौष्टिक के रूप में इसका उपयोग अधिक अच्छा है। ज्वरातिसार के लिये यह अत्युत्तम औषधि है। इसमें १५ र० अतीस तथा १५ र० रसाञ्जन जल के साथ देते हैं। इसके साथ सुगन्धि पदार्थ मिलाने से ज्यादा लाभ होता है। बड़ों की अपेक्षा बच्चों के ज्वरातिसार में यह ज्यादा उपयोगी है।

(३) मूषिकविष में इसको मधु के साथ सुबह चटाया जाता है।

(४) कृमियों को निकालने के लिये इसके साथ विडंग का प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—चूर्ण ½-२ मा० ज्वरातिसार, अतिसार में। चूर्ण-२-४ र० बल्य, तिक्तपौष्टिक।

अथ लोध्रः 'शावरलोध्र–पटियालोध' इति लोके प्रसिद्धयोर्नामगुणानाह

लोध्रस्तिल्वस्तिरीटश्च शावरो गालवस्तथा।
द्वितीयः पट्टिकालोध्रः क्रमुकः स्थूलवल्कलः। जीर्णपत्रो बृहत्पत्रः पट्टी लाक्षाप्रसादनः॥
लोध्रो ग्राही लघुः शीतश्चक्षुष्यः कफपित्तनुत्। कषायो रक्तपित्तासृग्ज्वरातीसारशोथहृत्॥

शावरलोध्र और पटियालोध के नाम तथा गुण—लोध्र, तिल्व, तिरीट, शावर, गालव ये नाम लोध अर्थात् सावरलोध के हैं और दूसरा जो पटिआलोध (पटानी लोध) है उसके-पट्टिकालोध्र, क्रमुक, स्थूलवल्कल, जीर्णपत्र, बृहत्पत्र, पट्टी और लाक्षाप्रसादन ये सब नाम हैं। दोनों प्रकार के लोध—ग्राही, लघु, शीतवीर्य, नेत्रों के लिए हितकर, कफपित्तनाशक, कषायरस युक्त, रक्तपित्त, रक्तविकार, ज्वर, अतिसार और शोथनाशक होते हैं॥ २१५-२१६॥

७५ लोध

हि०-लोध। बं०-म०-क०-लोध,लोध्र। गु०-लोधर। ते०-लोद्दुगचेट्टु। अ०-मुगाम। अं०-Lodh (लोध); Symplocos Bark (सिम्प्लोकोस् बार्क)। ले०-*Symplocos racemosa, Roxb.* (सिम्प्लोकॉस् रेसिमोसा, राक्स्.)। Fam. Symplocaceae (सिंम्प्लोकेसी)।

यह भारत के पूर्वोत्तर प्रान्त नेपाल, कुमाऊँ से आसाम, बंगाल, छोटा नागपूर, बर्मा आदि प्रदेशों के जङ्गल और छोटे पहाड़ों में पाया जाता है।

इसका छोटा वृक्ष-२० फुट तक ऊँचा होता है। छाल-खुरदरी और गहरे धूसर (Grey) वर्ण की होती हैं। काट-(Blaze-ब्लेज़)—आधा इञ्च तक मोटा, रेशेदार, हलका पीला परन्तु हलके नारंगीभूरे रंग की रेखाओं से युक्त होता है। पत्ते-३॥ से ७ इञ्च लम्बे, अण्डाकार-आयताकार या अण्डाकार-भालाकार; पत्राग्र-तीक्ष्ण, कुण्ठितलम्ब या कुण्ठित; पत्र तट-आरावत, अस्पष्ट गोलदन्तुर या क्वचित् अखण्ड; पत्र पृष्ठ-कोमल पत्तों का ऊपर का पृष्ठ चिक्कण तथा अधोपृष्ठ मृदु रोमश, तथा अन्य पत्रों के पृष्ठ चिक्कण या मध्यशिरा पर कुछ रोमों से युक्त, चमकीले तथा

ऊपर का पृष्ठ गहरे हरे रङ्ग का; शिराएं-बगल की शिराएं सूखे हुवे पत्तों में स्पष्ट, ५-९ जोड़ी एवं पत्रवृन्त-३ से ३ इञ्च लम्बा होता है। आश्विन से अगहन तक फूल फल आते हैं। फूल-गुच्छों में, पीले और सुगन्धित होते हैं। फल-अष्ठिफल, प्रायः आध इञ्च लम्बे, आयताकार, चिक्कण, बैंगनी काले रङ्ग के एवं उनका बाह्यकोष चिपका रहता है। इसकी छाल का व्यवहार किया जाता है। इसका बाह्यपृष्ठ चिकना धूसरित हरा (यदि कार्क (Cork) के साथ हो तो) तथा आडी धारियों से युक्त, अंदर का पृष्ठ हलका पीला लेकिन रक्ताभ बादामी दिखलाई देता है तथा इसमें लम्बाई में गढ़ेदार धारियां होती हैं। भग्न-छोटा, बाह्य भाग में दानेदार लेकिन अन्दर का कुछ तन्तु युक्त। बाह्य भाग (Cortical) रक्ताभ बादामी रङ्ग का। गन्ध-हलकी मधुर लेकिन बन्द डिब्बों में रखने पर तेज हो जाता है। स्वाद-मधुर, सुगन्धि तथा कुछ दाहजनक।

नोट—एक अन्य प्रकार के पठानी लोध्र का वर्णन आगे किया गया है। लोध्र तथा पठानीलोध्र दोनों ही के गुण करीब करीब समान ही हैं तथा दोनों ग्राही एवं अतिसारादि में लाभदायक होते हैं। लोध्र का एक पर्याय तिल्वक आया है। चरक के कल्पस्थान में तिल्वक् के मूल की (अन्दर की त्वचा रहित) बाह्य त्वचा का उपयोग विरेचन कराने के लिये किया गया है। इससे भ्रम होता है कि एक ही वस्तु विरेचक तथा ग्राही कैसे हो सकती है। व्यवहार में भी लोध्र की छाल विरेचक नहीं होती। शावर या पठानी लोध दोनों की मूल त्वक् का प्रयोग किया गया किन्तु उससे विरेचन नहीं हुआ। इसके संबन्ध में एक श्लोक मिलता है।

तिल्वकोऽपि तदाकारो बृहत्पत्रो विशेषतः।
रक्तत्वचो विरेकी च बृहल्लोध्रेति कथ्यते॥

डल्हण तिल्वक् के सम्बन्ध में लिखते हैं—**तिल्वकः रोध्रः, अन्ये तु रोध्राकारो रक्तत्वक्को बृहत्पत्रो वैरेचनिकः।** इससे मालूम होता है कि लाल छाल वाला, दीर्घ पत्र वाला एवं विरेचक गुणवाला कोई लोध्र के समान वृक्ष होता है जो तिल्वक है। अभी इसका निर्णय नहीं हो पाया है। कुछ विद्वानों ने तिल्वक् के स्थान पर रेवाचीनी की छाल का उपयोग विरेचन के लिये करने को कहा है।

रासायनिक संगठन—लोध की छाल में सम्पूर्ण क्षाराभ की मात्रा करीब ०·३२% होती है जिसमें से एक रवेदार क्षाराभ लोटयुराइन (Loturine) ०·२४%, अन्य चूर्णरूप में क्षाराभ लोटयुरिडाइन (Loturidine) ०·०६% एवं एक और रवेदार क्षाराभ कोल्लोटयुराइन (Colloturine) ०·०२% होते हैं। इसकी राख में सोडियम् कार्बोनेट (Sodium carbonate) रहता है तथा छाल में लाल रंजक पदार्थ बहुत अधिक मात्रा में होते हैं। इसमें टॅनिन द्रव्य नहीं होते। इसमें का लोटयुराइन क्षाराभ अॅब्राइन (Abrine) एवं हारमॅन (Harman) के सदृश होता है। इसके सभी क्षाराभ विरल अम्ल घोल में अत्यन्त तेज नील-नीललोहितातीत चमक उत्पन्न करते हैं।

गुण और प्रयोग—लोध की छाल ग्राही, शीतल, रक्तस्तंभक, श्लेष्मघ्न, व्रणरोपक, शोथघ्न, बल्य एवं चक्षुष्य है। इससे छोटी रक्तवाहिनियों का संकोच होकर रक्तस्राव बन्द होता है। इससे श्लैष्मिक त्वचा को शक्ति प्राप्त होकर एवं उसका संकोच होकर श्लेष्मा की उत्पत्ति कम होती है।

इसका उपयोग अतिसार, प्रवाहिका, रक्तातिसार, रक्तप्रदर, अत्यार्तव, श्वेतप्रदर, सर्वाङ्गशोथ, 9 यकृद्विकार, ज्वर एवं नेत्ररोगों में किया जाता है।

(१) लोध्र अतिसार एवं प्रवाहिका के लिये बहुत अच्छी औषधि है। इसमें इसके प्रवाही सत्त्व को ½ ड्रा० की मात्रा में देने से इपीकाक से जिनको लाभ नहीं हुआ था उन्हें भी लाभ हुआ। इसमें बेल की गुद्दी, कुचला एवं कुरैया की छाल के साथ इसका प्रयोग करते हैं या इसके साथ मुलेठी, अनार का छिलका एवं कायफल का प्रयोग किया जाता है।

(२) रक्तप्रदर में इसके चूर्ण को १० र० की मात्रा में दिन में ३, ४ बार मिश्री के साथ ३, ४ दिन तक देने से बहुत लाभ होता है। इससे गर्भाशय का संकोच होकर उसकी शिथिलता दूर होती है जिससे रक्तप्रदर एवं श्वेतप्रदर आदि में यह उपयोगी है। गर्भिणी में ७ वें या ८ वें महीने में यदि गर्भ में अधिक चलन हो तो इसे छोटी पीपल एवं मधु के साथ चटाने से गर्भाशय संकोच होकर चलन कम हो जाता है।

(३) आंखों में लाली तथा सूजन होने पर इसको पलकों के चारों तरफ लगाते हैं। इसके साथ मुलेठी, रसौंत एवं भुनी फिटकिरी का उपयोग लेप में किया जाता है।

(४) श्लीपद (Filaria = फाइलेरिया) के कारण उत्पन्न पायसमेह (Chyluria = काइलूरिया) तथा फीलपांव (Elephantiasis = एलिफॅन्टियासिस्) में यह लाभदायक सिद्ध हुआ है।

(५) कुष्ठ एवं व्रण आदि में इसका अंतः बाह्य प्रयोग किया जाता है। प्रसूता में योनिक्षत के लिये इसका लेप उपयोगी है। गलशुण्डिका वृद्धि एवं मसूढ़ों से यदि खून जाता हो तो इसके क्वाथ से गण्डूष कराते हैं तथा रसौंत, नागरमोथा एवं लोध्र का मधु के साथ मसूढ़ों पर लेप करते हैं। सूजन पर लोध्र के लेप से सूजन कम हो जाती है।

मात्रा—चूर्ण ५-१० र०।

७६ पठानी लोध।

हि०-पठानी लोध। बं०-पटिया लोध। गु०-पठाणी लोधर। पं०-पठानी लोद, लान्दर, लोज, लोश। म०-पट्टी लोध्र। ते०-तेल्ल लुट्टुगु। क०-बिली लोध्र। सिन्ध०-लोदर, पठानी लोध। ले०-*Symplocos crataegoides Buch. Ham.* (सिम्प्लोकॉस् क्रेटेगॉइडिस्)। (Fam. Symplocaceae (सिम्प्लोकेसी)।

इसके वृक्ष हिमालय में सिन्ध नदी से आसाम तक, खासिया पहाड़ और मरतबान के पहाड़ों में ३-९ हजार फीट की ऊँचाई पर पाये जाते हैं। यह वृक्ष-२० फुट तक ऊँचा होता है। छाल-हलके सफेद रंग की और कार्क युक्त होती है तथा उस पर खड़ी नालियां रहती हैं। काट-आधा इञ्च मोटा, हलका पीला व रेशेदार होता है। पत्ते-२-४ इञ्च लम्बे, १-१॥ इञ्च चौड़े, पतले, अण्डाकार या लट्वाकार, लंबाग्र और अग्र की ओर तीक्ष्ण दन्तुर होते हैं तथा सूखने पर पीले रङ्ग के हो जाते हैं। फूल-सफेद, समशिखाकार गुच्छों में तथा सुगन्धित होते हैं। इसके फूलों की सुगन्धि दूर तक जान पड़ती है। फल-चौथाई इञ्च से तिहाई इञ्च तक लम्बे तथा गोल होते हैं। उनसे मुड़ा हुआ गोल बीज निकलता है। इसके गुण और प्रयोग आदि सब उपर्युक्त लोध्र के समान ही हैं।

अथ लशुनः, तस्य नामान्याह

लशुनस्तु रसोनः स्यादुग्रगन्धो महौषधम्। अरिष्टो म्लेच्छकन्दश्च यवनेष्टो रसोनकः॥२१७॥

लहसुनके नाम—लशुन, रसोन, उग्रगन्ध, महौषध, अरिष्ट, म्लेच्छकन्द, यवनेष्ट और रसोनक ये नाम लहसुन के हैं॥ २१७॥

अथ लशुनोत्पत्तिमाह

यदाऽमृतं वैनतेयो जहार सुरसत्तमात्। तदा ततोऽपतद् बिन्दुः स रसोनोऽभवद् भुवि॥

लहसुन की उत्पत्ति—जिस समय गरुडने इन्द्र के पास से अमृत हरण किया था उस समय स अमृत) से जो बिन्दु (अमृत-बिन्दु) पृथ्वी पर गिरा उसी से लहसुन की उत्पत्ति हुई ॥२१८॥

अथ रसोनशब्दस्य निरुक्तिमाह

पञ्चभिश्च रसैर्युक्तो रसेनाम्लेन वर्जितः। तस्माद्रसोन इत्युक्तो द्रव्याणां गुणवेदिभिः॥

लहसुन के 'रसोन' नामकी व्युत्पत्ति—लहसुन में ६ प्रकार के रसों में से ५ प्रकार के रस रहते हैं किन्तु केवल एक अम्ल रस नहीं रहता है, अत एव रस अर्थात् केवल अम्ल रस से ऊन अर्थात् शून्य रहने से द्रव्यों के गुणादिक जानने वाले विद्वानों ने इसका 'रसोन' नाम रक्खा है॥

अथ लशुने रसस्थानान्याह

कटुकश्चापि मूलेषु तिक्तः पत्रेषु संस्थितः। नाले कषाय उद्दिष्टो नालाग्रे लवणः स्मृतः॥
बीजे तु मधुरः प्रोक्तो रसस्तद्गुणवेदिभिः॥ २२०॥

लहसुन में कटु आदि पांचो रसों के रहने के स्थान—इसके मूलभाग में कटु रस रहता है पत्तों में तिक्त रस, नाल में कषाय रस, नाल के अग्रभाग में लवण रस तथा बीज में मधुर रस रहता है, ऐसा लहसुन के गुणों के जानने वाले विद्वानों ने कहा है॥ २२०॥

अथ लशुनगुणानाह

रसोनो बृंहणो वृष्यः स्निग्धोष्णः पाचनः सरः। रसे पाके च कटुकस्तीक्ष्णो मधुरको मतः॥
भग्नसन्धानकृत्कण्ठ्यो गुरुः पित्तास्रवृद्धिदः। बलवर्णकरो मेधाहितो नेत्र्यो रसायनः॥२२२॥
हृद्रोगजीर्णज्वरकुक्षिशूल-विबन्धगुल्मारुचिकासशोफान्।
दुर्नामकुष्ठानलसादजन्तु-समीरणश्वासकफांश्च हन्ति॥ २२३॥

लहसुन के गुण—लहसुन बृंहण (धातुवर्धक), वृष्य (वीर्यवर्धक), स्निग्ध, उष्णवीर्य, पाचक तथा सारक होता है। और वह रस तथा पाक में कटु तथा मधुर रस युक्त, तीक्ष्ण, भग्न-सन्धान-कारक (टूटी हड्डियों को जोड़ने वाला), कण्ठ को हितकारी, गुरु, पित्त एवं रक्तवर्धक, शरीर में बल तथा वर्ण को उत्पन्न करने वाला, मेधाशक्ति तथा नेत्रों के लिये हितकर और रसायन होता है। एवं हृद्रोग, जीर्णज्वर, कुक्षिशूल, मल तथा वातादिक की विबन्धता, गुल्म, अरुचि, कास, शोथ, बवासीर, कुष्ठ, अग्निमान्द्य, कृमि, वायु, श्वास और कफ को नष्ट करता है॥ २२१-२२३॥

अथ लशुनसेविनां हिताहितपदार्थानाह

मद्यं मांसं तथाऽम्लञ्च हितं लशुनसेविनाम्। व्यायाममातपं रोषमतिनीरं पयो गुडम्॥
रसोनमश्नन् पुरुषस्त्यजेदेतान् निरन्तरम्॥ २२५॥

लहसुन सेवन करनेवालों के लिये हितकर तथा अहितकर पदार्थ—मद्य, मांस तथा अम्लरस-युक्त भक्ष्य पदार्थ ये सब लहसुन खाने वालों के लिये हितकर हैं। और व्यायाम, आतप (धूप में फिरना), क्रोध करना, अत्यन्त जल पीना, दूध और गुड़ इन सबों को लहसुन खाने वाले पुरुष सदा छोड़ दें, क्योंकि ये सब अहितकर हैं॥ २२४-२२५॥

७७ लहसुन।

हि०—लहसुन, लशुन। बं०—रसुन। म०—लसूण। क०—बेल्लुळ्ळि। ते०—वेल्लुल्लि, तेल्लगड्डा। ता०—वल्लइपुंडु। गु०—लसण। सिंधी—थोम। आसा०—नहरु। भोटि०—गोक्पस। फा०—सीर।

अ०–सूम, फूम । **यू०**–स्कूर्दून । अ०–Garlic (गार्लिक) । **ले०**–*Allium sativum, Linn.* (एलियम् सटाइवम् , लिन०) । Fam. Liliaceae (लिलिएसी.) ।

यह प्रायः सब प्रान्तों में बोया जाता है । विशेषकर पश्चिमोत्तर प्रदेश, गढ़वाल, कुमाऊँ, पंजाब एवं काश्मीर आदि में अधिक उत्पन्न होता है ।

इसका बहुवर्षायु **क्षुप**–करीब १ फुट तक ऊँचा होता है । **पत्र**–चिपटे, लम्बे, १ इञ्च से कम चौड़े एवं इनका अग्र लम्बा होता है । **पत्रकोश**–३–४ इञ्च लम्बा होता है तथा पुष्प व्यूह को घेरे रहता है । **पुष्पव्यूह**–सवृन्त मूर्धज, छोटे, घने एवं पतले, शुष्क कोणपुष्पकों से युक्त होते हैं । इसके कन्द को लहसुन कहा जाता है जिसके अन्दर ८–२० जावा होते हैं । इसमें एक विशिष्ट प्रकार की तीव्र गन्ध तथा इसका स्वाद विशिष्ट प्रकार का कटु होता है ।

रासायनिक संगठन—इसमें एक बादामी पीले रंग का उडनशील तैल ०·१–०·३% पाया जाता है जिसका वि. गु. १·०४६–१·०५७ होता है । इस तैल में प्रधान रूप से ॲलिल् डाइसल्फाइड् (Allyl disulphide, $C_6 H_{10} S_2$) तथा ॲलिल्–प्रॉपिल् डाइसल्फाइड् (Allyl-propyl disulphide) एवं अल्प मात्रा में उच्च श्रेणी के पॉलीसल्फाइड्स (Polysulphides) पाये जाते हैं । इसके अतिरिक्त लहसुन के मद्यसारीय सत्त्व से एक ॲलीसिन् (Allicin, $C_6 H_{10} S_2 O$) नामक प्रतितृणाण्वीय (Antibacterial) तरल द्रव्य प्राप्त किया गया है । इसके साथ ही साथ ॲलीसेशन् I तथा ॲलीसेशन् II (Allicetion I and Allicetion II) नामक दो अत्यन्त तीव्र प्रतिजैविक (Antibiotics) पदार्थ भी पाये गये हैं जो ईथर (Ether) में घुलनशील लेकिन जल में न घुलने वाले होते हैं ।

गुण और प्रयोग—लहसुन एक बहुत ही उपयोगी औषधि है । प्राचीन काल से इसका प्रयोग किया जाता रहा है और आधुनिक विद्वानों ने भी इसकी भूरि–भूरि प्रशंसा की है । राजयक्ष्मा (Tuberculosis) एवं अन्य फुफ्फुसविकार, वातविकार, शैथिल्यप्रधान कुपचन (Atonic dyspepsia) एवं व्रण आदि के लिये यह बहुत ही लाभदायक सिद्ध हुआ है । काश्यपसंहिता ने लशुनकल्प नामक एक स्वतन्त्र अध्याय में इसका वर्णन किया गया है । धार्मिक ग्रन्थों में इसका सेवन निषिद्ध माना है ।

लहसुन उष्ण, दीपन, पाचन, वातहर, स्वेदजनन, मूत्रल, उत्तेजक, कफनिःसारक, बल्य, वृष्य, रसायन, दुर्गन्धहर एवं उत्तम प्रतिदूषक (Antiseptic) है । इसमें जो उड़नशील तैल होता है उसका उत्सर्ग त्वचा, फफ्फुस एवं वृक्क द्वारा होता है । फुफ्फुस से उत्सर्ग के समय इससे कफ ढीला हो जाता है तथा उसमें के जीवाणुओं का नाश होकर कफ की दुर्गन्ध दूर होती है । बात नाडी संस्थान पर इसका उत्तेजक प्रभाव पड़ता है । अधिक मात्रा में इसके प्रयोग से वमन, विरेचन एवं शिरःशूल आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं । बच्चों में इसका सावधानी के साथ प्रयोग करना चाहिये । अधिक मात्रा में सेवन करने पर कभी कभी मृत्यु भी हो सकती है ।

इसका बाह्य प्रयोग त्वग्रागकारक (Rubefacient) एवं प्रतिदूषक औषधि के रूप में किया जाता है । अधिक समय तक त्वचा के साथ सम्पर्क होने से स्फोट उत्पन्न होते हैं ।

(१) यक्ष्मा दण्डाणु से उत्पन्न सभी विकृतियों जैसे फुफ्फुसविकार, स्वरयन्त्रशोथ, चर्मविकार, अस्थिव्रण एवं नाडीव्रण आदि में यह निश्चित लाभदायक सिद्ध हुआ है । लहसुन के रस को इनमें पिलाया जाता है तथा इसका स्थानिक उपयोग भी किया जाता है । स्वरयंत्र शोथ में इसका टिंक्चर ½–१ ड्रा. दिन में २, ३ बार देते हैं । पुराने कफविकार जैसे कास, श्वास, स्वरभङ्ग

श्वसनिका शोथ, श्वसनिकाभिस्तीर्णता (Bronchiectasis) एवं श्वासकृच्छ्र आदि में इसका अवलेह बनाकर उपयोग किया जाता है। लहसुन एवं वायविडङ्ग का सेवन भी लाभदायक है। बच्चों के कुकास में इसको ३,४ घण्टे पर सुंघाया जाता है तथा इसके रस को पिलाते भी हैं जिससे कष्ट कम हो जाता है। फुफ्फुसकोथ (Gangrene of lungs) में इसके टिंक्चर (५ में १) का उपयोग बहुत सफल रहा है। प्रारम्भ में इसको कम मात्रा में देना चाहिये तथा बाद में २० बूंद तक दिन में ३ बार देना चाहिये। थोड़े ही समय में ज्वर, कफ की दुर्गन्ध, स्वेदाधिक्य एवं अग्निमांद्य आदि दूर होकर लाभ होता है। इसी प्रकार खण्डीय फुफ्फुसपाक (Lobar pneumonia) में भी इसके टिंक्चर को ३० बूंद हर चार घण्टे पर जल के साथ देने से ४८ घण्टे के अन्दर ही लाभ मालूम होने लगता है तथा ५, ६ दिन में ज्वर कम हो जाता है। इन सभी विकारों में आन्तरिक प्रयोग के साथ-साथ इसको छाती पर लगाते भी हैं।

(२) वायविडङ्ग के साथ इसका क्षीरपाक सभी वातविकार में जैसे गृध्रसी, कटिग्रह, अर्दित, पक्षाघात, एकाङ्गघात, ऊरुस्तम्भ, अपतन्त्रक एवं अपस्मार आदि में लाभदायक है। आन्तरिक प्रयोग के साथ इससे सिद्ध तैल की मालिश भी की जाती है। अपस्मार में इसका फांट भोजन के पूर्व एवं पश्चात् देने का विधान है। अपतन्त्रक में इसको सुंघाया जाता है। इसी प्रकार ठण्डक लगने से उत्पन्न पीडा, जीर्ण आमवात एवं संधिशोथ तथा शिरःशूल आदि में इसको खिलाया जाता है तथा बाह्य लेप भी किया जाता है। बच्चों के वात विकारों में इसकी मालिश विशेष लाभदायक है।

(३) शैथिल्यप्रधान कुपचन (Atonic dyspepsia), आध्मान, उदरशूल, विसूचिका, वमन, गुल्म, उदावर्त, आंव एवं केंचुवों की बीमारी में इसका बहुत प्रयोग किया जाता है। केचुवा (Round worms) में १०–३० बूंद रस दूध में मिलाकर पिलाते हैं। वातगुल्म में इसको पीस कर घृत के साथ खिलाने से लाभ होता है। ग्रहणीव्रण (Duodenal ulcer) में भी इसको लाभदायक माना गया है।

(४) विषमज्वर में इसको तैल या घृत के साथ सुबह खिलाने से लाभ होता है। आन्त्रिक एवं तन्द्राभ ज्वर (Typhoid and Typhus) के प्रतिबन्धन के लिये इसके टिंक्चर को १ ड्रा. हर ४ या ६ घण्टे पर शरबत के साथ देते हैं। यदि रोग के प्रारम्भ में ही इसका प्रयोग किया जावेगा तो ज्वर बढ़ने नहीं पावेगा। इसका उपयोग आन्त्रिक प्रतिदूषक (Intestinal antiseptic औषधि के रूप में किसी भी अवस्था में किया जा सकता है। बच्चों को ½ ड्रा. की मात्रा में शरबत के साथ पर्याप्त है।

(५) हृद्रोग में इसके प्रयोग से आध्मान कम हो कर हृदय के ऊपर का दबाव दूर होता है जिससे हृदय को बल प्राप्त होकर मूत्र अधिक होने लगता है तथा सर्वाङ्गशोथ एवं जलोदर में लाभ होता है।

(६) इसके स्वरस को ३, ४ भाग जल में मिला कर क्षत तथा दुर्गन्धित व्रण प्रक्षालन के काम में लाया जाता है जिससे वेदना कम हो कर व्रण जल्दी ठीक होता है। कार्बोलिक् एसिड (Carbolic acid) की अपेक्षा इससे धातुओं को कम नुकसान होता है। इसी प्रकार शोथ, विद्रधि, बालतोड एवं दाद आदि पर इसका लेप लाभदायक है। इससे सिद्ध सर्षप तैल का उपयोग खुजली (पामा) में किया जाता है।

रोहिणी (Diphtheria) नामक अत्यन्त उग्र गले के विकार में इसकी एक, एक कली चूसने को दी जाती है। ३, ४ घण्टे में १ छटांक तक लहसुन दिया जाता है। विकृत कला (Membrane) के दूर होने पर दिन भर में १ छटांक तक लहसुन देना चाहिये। शिशुओं के लिये इसके रस को २०–३० बूंद हर चार घण्टे पर शरबत के साथ देना चाहिये। एक रोगी में नाडीव्रण

(Sinus) के लिये इसके ताजे स्वरस को २ बूंद को मात्रा में हर छठे दिन स्थानिक सूचिकाभरण किया गया जिससे ४ इञ्च गहरा नाडीव्रण २ महीने के अन्दर ठीक हो गया।

उपजिह्वा शोथ में इसका स्थानिक प्रयोग सिल्हर नाइट्रेट् (Silver nitrate) की अपेक्षा अच्छा होता है।

(७) कर्णशूल में इसके गुनगुने रस का या इससे सिद्ध तैल का उपयोग लाभदायक है। इससे बाधिर्य में भी लाभ होता है।

(८) आर्तवप्रवर्तक होने के कारण इसका उपयोग अनार्तव एवं कष्टार्तव आदि में किया जाता है। गर्भिणी में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

(९). मवेशियों में ॲन्थ्राक्स (Anthrax) नामक रोग के प्रतिबन्धन के लिये एवं सर्पविषादि में बाह्याभ्यन्तर प्रयोग किया जाता है।

हानिनिवारक— कतीरा, धनियां एवं बादाम का तेल।

मात्रा—स्वरस १०—३० बूंद; कल्क २-३ माशा।

७८ एकपुतिया लहसुन

हि०-लहसुन, एककांदा लहसुन, एककली लहसुन, एकपुती लहसुन, एकपुतिया लहसुन। **बं०**-गंधुन। **अं०**-Shallot (शॅल्लोट), One Clove Garlic (वन क्लोव गार्लिक)। **ले०**-*Allium ascalonicum Linn.* (एलियम् ॲस्कॅलोनिकम् लिन) Fam. Liliaceae (लिलिएसी)।

यह अनेक प्रान्तों में उत्पन्न होता है। इसकी जड़ दो वर्ष या इससे कुछ अधिक ही जीवित रह सकती है। इसके साथ कई एक अण्डाकार लम्बे जावे रहते हैं। यह १-१। इञ्च तक लम्बा और मध्यमा अङ्गुली के समान मोटा होता है। **पत्ते**-उक्त लहसुन के समान लम्बे, पतले, चिकने और पोले से होते हैं। जड़ से ही अनेक पत्ते निकलते हैं और पत्तों के बीच से दण्ड निकलता है जो एक दो फुट लम्बा, नीचे फूला हुआ किन्तु क्रमशः ऊपर संकुचित और गोल होता है। इसके अन्त में लट्टू के समान फूलों का गुच्छा लगता है। प्रत्येक गुच्छे में लगभग २०० तक नन्हें श्वेत वर्ण के फूल रहते हैं। वे प्याज के फूलों के समान दिखाई पड़ते हैं। इसके कन्द में एक ही जावा रहती है तथा यह कोमल प्याज की तरह दिखलाई देता है।

गुण और प्रयोग—इसके गुण लहसुन की तरह ही होते हैं लेकिन विशेष कर यह वृष्य है। वाजीकरण के लिये इसको घी में भून कर मधु के साथ सेवन कराया जाता है। कर्णशूल में इसका टुकड़ा कान के अन्दर रखते हैं। इसके उपयोग से आर्त्तव शुद्धि होती है।

नोट—प्याज की तरह लाल रंग का एक और **जंगली लहसुन** होता है जो ईरान में अधिक होता है। उसे **ले०** में-एलियम् लेप्टोफाइलम्, वॉल (Allium leptophyllum, Wall.), **ईरान में**-सीर-इ-पिआझक् एवं **अरब में**-थूम-एल-बरी कहा जाता है।

गुण और प्रयोग—यह स्वेदल होता है। इसका अचार कुपचन में व्यवहार में लाया जाता है।

अथ पलाण्डुः (पियाज), तस्य नामगुणानाह

पलाण्डुर्यवनेष्टश्च दुर्गन्धो मुखदूषकः। पलाण्डुस्तु बुधैर्ज्ञेयो रसोनसदृशो गुणैः॥ २२६॥
स्वादुः पाके रसेऽनुष्णः कफकृन्नातिपित्तलः। हरते केवलं वातं बलवीर्यकरो गुरुः॥ २२७॥

पियाज के नाम तथा गुण—पलाण्डु, यवनेष्ट, दुर्गन्ध और मुखदूषक ये सब पियाज के नाम हैं। पियाज को गुणों में लहसुन के समान समझना चाहिये। **पियाज**—रस तथा पाक में मधुर रस

युक्त, अनुष्ण (ईषत् उष्णवीर्य) एवं कफकारक होता है। और यह अत्यन्त पित्तकारक नहीं होता है। यह केवल वातहर होता है तथा बल और वीर्य को करनेवाला एवं गुरु होता है।

७९. पियाज

हि०–पियाज, प्याज। बं०–पेयाज। पं०–गण्डा। म०–कांदा। ते०, क०–नीरूल्लि। गु०–डुङ्गली, कांदो। मा०–कांदो, कांदा। ता०–वेंगयम। फा०–प्याज। सिन्ध०–लुनु, बसर। मला०–बवंग। अ०–बस्ल। अं०–Onion (ओनियन्)। ले०–*Allium cepa, Linn.* (एलियम् सिपा, लिन०)। Fam. Liliaceae (लिलिएसी)।

प्याज की खेती प्रायः सब प्रान्तों में की जाती है। इसका **पौधा**–हाथ डेढ हाथ ऊँचा होता है। **पत्र**-दो कतारों में तथा पुप्पदंड से छोटे होते हैं। इनके बीच से दंड निकलता है। इसके ऊपर लट्टू के समान गोल गुम्मजदार गुच्छों में सुहावने हरापन लिये सफेद फूल लगते हैं। इनमें से तिकोने काले बीज निकलते हैं। इसके नीचे जो कन्द बैठता है उसी को प्याज कहते हैं। किंचित् गुलाबी और सफेद रंगों के भेद से प्याज दो जाति का होता है। दोनों के पौधे एक समान होते हैं। औषधि में लाल जाति का प्याज उपयोग में लाना चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उग्रगन्धि एवं कटु तैल तथा गन्धक के सेन्द्रीय योग पाये जाते हैं। इसके बाह्य छिलके में एक क्वेर्सेटीन (Quercetin) नामक पीत रञ्जक पदार्थ होता है तथा कंद में शर्करा भी होती है।

गुण और प्रयोग—पियाज का उपयोग प्राचीन काल से आहार द्रव्य के रूप में किया जा रहा है। गरुडपुराण में पलांडुगुटिका का पाठ है।

यह किंचित् उष्ण, कफनिःसारक, उत्तेजक, वृष्य, बल्य, मूत्रजनन, आर्तवजनन, अग्निवर्धक, आनुलोमिक एवं उत्तम वातहर है। इसके सेवन से कफ ढीला होकर निकलने लगता है एवं दूषित पित्त भी निकल जाता है।

(१) बच्चों एवं वृद्धों के कफविकारों में विशेषकर जब ज्वर न हो तब यह लाभदायक है। कच्चे प्याज के रस को मिश्री मिलाकर बच्चों को चटाया जाता है तथा वृद्धों में इसको पकाकर देते हैं। क्षयजकास में इससे कष्ट कम हो जाता है। श्वसनीयों के जीर्ण शोथ के लिये लाभदायक औषधियों में यह श्रेष्ठ औषधि है।

(२) वाजीकरण के लिये इसके रस को मधु एवं घृत के साथ दिया जाता है।

(३) अर्श में इसके रस को १–२ तो० मिश्री के साथ पिलाते हैं या प्याज को पकाकर उसमें मिश्री, घी तथा जीरा मिलाकर खिलाते हैं एवं गरम २ मस्सों पर बांधते हैं।

(४) मसूढों की सूजन तथा शूल में इसको नमक के साथ खिलाते हैं।

(५) इसका क्वाथ आन्त्रावरोध, अर्श, कामला एवं गुदभ्रंश आदि में लाभदायक है।

(६) विसूचिका में इसके रस के साथ चूने का पानी मिलाकर पिलाते हैं। अग्नि वृद्धि के लिये सिरके के साथ इसका प्रयोग किया जाता है। प्लेग आदि मरक के समय कच्चे प्याज या सिरके के साथ इसका उपयोग किया जाता है।

(७) अपतत्रक तथा नासिका से रक्तस्राव होने पर इसका नस्य कराया जाता है। चक्कर आता हो तो इसको सुंघाते हैं।

(८) कर्णपिटिका में इसका पुटपाक करके साधारण गरम रस कान में डालने से शूल कम हो जाता है। इसके बीच के टुकड़े को भी कान में रखने से लाभ होता है।

(९) अंधता तथा धुन्ध आदि विकारों में इसका रस मधु में मिलाकर नेत्र में लगाते हैं तथा रात्र्यंध में नमक के साथ इसका रस डालते हैं।

(१०) इसको घी में भूनकर उसका पोल्टिस गांठ, फोड़े, बद एवं व्रण आदि पर लगाया जाता है। आमवातादि संधिविकार एवं अन्य दाह, कण्डू आदि चर्म रोगों में इसके रस को सरसों के तेल में मिलाकर मलते हैं।

(११) बिच्छू तथा अन्य कीड़ों के काटने पर इसमें रस को लगाने से दाह एवं वेदना की शांति होती हैं।

(१२) प्याज के **बीज** बाजीकर होते हैं। इसको पीसकर मधु के साथ खालित्य, व्यंग एवं झांई आदि पर लगाते हैं। दाद में सिरका में पीसकर इसे लगाते हैं एवं मस्सों पर नमक के साथ इसका उपयोग किया जाता है।

८० जंगली प्याज

उपर्युक्त प्याज के अतिरिक्त इसी वर्ग का एक जंगली प्याज होता है जिसकी दो तीन किस्में भारतवर्ष में पाई जाती हैं। यह डाक्टरी स्किल (Squill) नामक औषधि अर्जिनीया मॅरिटिमा (Urginea maritima (Linn.) Baker) की श्वेत उपजाति जो भूमध्यसागरीय तट पर होती है उसका अच्छा प्रतिनिधि है। यह अत्यन्त उपयोगी होने के कारण यहां उसका वर्णन दिया जा रहा है। लोग इसे रा० नि० एवं नि० र० का कोलकंद मानते हैं। दोनों निघण्टुकार उसे 'वान्तिशमनकृत्' लिखते हैं लेकिन जंगली प्याज 'वान्तिजननः' होता है।

(क) ले०—*Urginea indica*, Kunth. (अर्जिनिया इण्डिका, कुंथ)। Fam. Liliaceae (लिलिएसी) सं०—कोलकन्द, वनपलांडु। हि०, बं०—कांदा, जंगली प्याज। गु०—जंगली कांदो, पाण कंदो। म०—रानकांदा, कोलकांदा, कोचिंदा। ता०—नेरि वंगायम्। ते०—अडवितेलु गड्ड। पं०—कफोर, कचवरसल अ०—उन्सुले हिंदी। फा०—पियाज सहराई। अं०—Indian Squill (इण्डियन स्किल)।

यह पश्चिमी हिमालय में ७००० फीट तक, गढवाल, कुमाऊं, बिहार एवं कारोमंडल तट तथा कोंकण के रेतीले किनारों एवं पश्चिमी घाट पर पाया जाता है।

यह वनस्पति सुदर्शन सदृश होती है। **पत्र**—मूलीय, ६–१८ इञ्च लम्बे, प्याज से बड़े और चौड़े, चिपटे, रेखाकार एवं नोकदार होते हैं। पत्रों के निकलने से पूर्व बीच से सदण्डिक पुष्पध्वज (Scape–स्केप) निकलता है जिस पर हरिताभ श्वेत पुष्प निकलते हैं। **फल**—सामान्यस्फोटी फल (Capsule-कॅपसूल) अण्डाकार, ॥–॥। इञ्च लंबे, दोनों ओर क्रमशः पतले होते हुवे एवं ६–९ बीजों से युक्त होते हैं। **बीज**—छोटे, दीर्घवृत्ताकार, चिपटे तथा काले होते हैं।

इसका कन्द प्याज की तरह २–४ इञ्च लम्बा, लट्वाकार एवं परिच्छदपत्रक (Tunicated Bulb-ट्यूनिकेटेड बल्ब) स्वरूप का होता है। इसके कटे हुये टुकड़े मुड़े हुए, चिपटे, विभिन्न आकार के आधे से दो इञ्च लंबे, दोनों छोर की तरफ क्रमशः पतले होते हुए, कभी कभी तीन या चार एक साथ, काण्डक से चिपके हुए, लंबाई में रीढदार ए हलके पीताभ बादामी या हलके पीत विभिन्न वर्ण के होते हैं। ये छिलके शुष्क अवस्था में सहज चूर्ण बनाने लायक एवं आर्द्र हो जाने पर चिमड़े एवं लचीले हो जाते हैं। इनमें गंध नहीं होती तथा इनका स्वाद तिक्त एवं कटु होता है। ताजा कन्द खाने से जीभ पर कण्डू मालूम होती है। पहिले वर्ष के नींबू के इतने बड़े कन्द

का व्यवहार करना चाहिये। पुष्पित होने पर इसके कोमल कंदों को निकाल कर, उनके ऊपर के पतले छिलकों को हटा कर, उनके टुकड़े करके सुखाकर शुष्क स्थान में रखा जाता है। इसका चूर्ण हवा से जल सोख लेता है इसलिये इसको बिलकुल शुष्क बंद पात्र में रखना चाहिये।

(ख) Scilla indica, Baker (सिल्ला इण्डिका, बेकर)। हि०, बं०–सुफेदी खस। बंबई–भुइकांदा। ता०–शिरू–नेरि–वेंगयम्।

यह दक्षिणी पेनिन्सुला में कोंकण एवं नागपूर से दक्षिण की तरफ समुद्र के किनारे रेतीली भूमि में उत्पन्न होता है। इसी से मिलती-जुलती एक जाति सि० होहेनॅकेरी (S. hohenackeri) पंजाब में मिलती है। इनके कन्द श्वेताभ बादामी, अंशच्छद पत्रक (Scaly bulb) स्वरूप के, जायफल के इतने बड़े, गोल या अंडाकार एवं कभी-कभी बगल से दबे हुए होते हैं। इनके मांसल छिलके (शल्क पत्र) बहुत चिकने होते हैं एवं इनके किनारे परस्पर ढके रहने के कारण इनका एक ही पर्त मालूम होता है।

(क) और (ख) दोनों ही के गुण समान हैं तथा बाजार में दोनों के कंद मिले हुवे बिकते हैं तथा इनके शुष्क टुकड़े भी बिकते हैं। ये कंद विदेशी कंदों से कुछ छोटे होते हुए भी उन्हीं की तरह कडवे एवं हृल्लासकारक होते हैं। (क) और (ख) के कंदों में यही अन्तर है कि (क) के कन्द परिच्छद पत्रक (Tunicated bulb-ट्यूनिकेटेड बल्ब) स्वरूप के एवं (ख) के कंद अंशच्छदपत्रक (Scaly bulb–स्केली बल्ब) स्वरूप के होते हैं।

रासायनिक संगठन—ताजे कंद में सिल्लारेन-ए (Scillaren–A, $C_{36}H_{52}O_{13}$) नामक एक रवेदार ग्लाइकोसाइड (Glycoside) तथा सिल्लारेन–बी (Scillaren–B) नामक चूर्ण रूप का ग्लाइकोसाइड (Glycoside) पाया जाता है जिनमें से दूसरे में कम से कम दो ग्लाइकोसाइड मिले रहते हैं। इनमें से सिल्लारेन-ए जल में बहुत कम घुलता है और सिल्लारेन–बी जल और क्लोरोफार्म में घुलने वाला एवं ॲल्कोहोल या ईथर में न घुलने वाला होता है। कंद में जिस अनुपात में ये दोनों ग्लाइकोसाइड रहते हैं उनका सिल्लारेन (Scillaren) नामक मिश्रण जल में सरलता से घुल जाता है तथा वह बहुत दिन तक खराब भी नहीं होता। भारतीय स्क्विल में उपर्युक्त ग्लाइकोसाइड के अतिरिक्त गोंद, कर्बोज, फाइटोस्टेरॉल् (Phytosterol) एवं कॅल्शियम् ऑक्झॅलेट् (Calcium oxalate) आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, तिक्त, कफनिःसारक, हृदयोत्तेजक, हृद्य, मूत्रविरेचक तथा उत्क्लेश एवं वमनकारक है। इसकी क्रिया डिजिटॅलिस् (Digitalis) के समान होती है जिससे हृदय की गति कम होती है एवं हृदय का कार्य ठीक होने से हृदय को बल प्राप्त होता है। पचन-संस्थान द्वारा इसका प्रचूषण कम होने के कारण इसको अधिक मात्रा में देना पड़ता है लेकिन अधिक मात्रा में इससे महास्रोत में प्रक्षोभ होकर वमन, अतिसार एवं रक्तातिसार होता है। यह स्थानिक प्रक्षोभक प्रभाव इसमें के रेफाइड्स् (Raphides) के कारण होता है। हृदय पर इसका प्रभाव प्रत्यक्ष मांसपेशी की अपेक्षा प्राणदा नाडी (Vagus nerve) के द्वारा अधिक होता है। डिजिटॅलिस् की अपेक्षा इसकी क्रिया शीघ्र एवं अस्थायी होने के कारण इससे संचायी दुष्परिणाम नहीं होते।

अल्प मात्रा में इसके प्रयोग से आमाशय में साधारण प्रक्षोभ होकर प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा कफ निकलने लगता है।

वृक्क द्वारा उत्सर्ग के समय वृक्क कोशाओं को उत्तेजित करने के कारण डिजिटॅलिस् की अपेक्षा इससे मूत्रविरेचन अधिक होता है। अधिक मात्रा में रक्तमेह भी हो सकता है। इसका नूतन वृक्क रोगों में प्रयोग नहीं करना चाहिये।

(१) हृदयोदर, सर्वांग शोफ एवं जलोदर आदि में इसका उपयोग किया जाता है। जिन व्यक्तियों में डिजिटॅलिस् के प्रति असहनशीलता होती है उनमें तथा जिनको जीर्ण कफविकार भी साथ २ रहते हैं उन्हें यह ज्यादा उपयोगी है। इससे काफी मात्रा में मूत्रस्राव होता है। इसका मूत्रल प्रभाव प्रत्यक्ष वृक्क कोशाओं की उत्तेजना से एवं रक्ताभिसरण की क्रिया ठीक होने से है। हृदयोदर में गेजपिल (Guy's Pill) नामक पारद एवं डिजिटॅलिस् के साथ बनी इसकी गोलियों का व्यवहार किया जाता है।

(२) बच्चों के जीर्ण श्वसनी विकारों में इसके शर्बत का उपयोग १०-१५ बूंद की मात्रा में किया जाता है। जीर्ण कफ विकारों में इससे तीन तरह से लाभ होता है। जीर्ण कफविकारों में हृदय के दक्षिण विभाग में जो शिथिलता आई रहती है वह दूर होती है, कफ ढीला होकर निकलने लगता है एवं पाचन सुधरकर शौच भी साफ होने लगता है। जिनमें कफ बहुत एवं चिपचिपा होता है उनमें इससे विशेष लाभ होता है। नूतन कफविकारों में इसका प्रयोग नहीं किया जाता। इपीकॅक् की अपेक्षा अधिक प्रक्षोभक होने के कारण वमन के लिये भी इसका उपयोग नहीं करते हैं।

(३) पादकंटक (Corn = कॉर्न) पर इसके कंद को पकाकर पीसकर गरम गरम बांधते हैं तथा मस्सों (Warts = वार्ट्स) पर इसके चूर्ण को मला जाता है।

मात्रा—शुष्क चूर्ण ½-१½ र०; सिरप् (शर्बत) ३०-६० बूंद; टिंक्चर ५-३० बूंद।

अथ भल्लातकः (भिलावा), तन्नाम तत्पक्वफलमज्जवृन्तानां तस्य च गुणानाह

भल्लातकं त्रिषु प्रोक्तमरुष्कोऽरुष्करोऽग्निकः। तथैवाग्निमुखी भल्ली वीरवृक्षश्च शोफकृत्॥
भल्लातकफलं पक्वं स्वादुपाकरसं लघु। कषायं पाचनं स्निग्धं तीक्ष्णोष्णं छेदि भेदनम्॥
मेध्यं वह्निकरं हन्ति कफवातव्रणोदरम्। कुष्ठार्शोग्रहणीगुल्मशोफानाहज्वरक्रिमीन्॥
तन्मज्जा मधुरा वृष्या बृंहणी वातपित्तहा। वृन्तमारुष्करं स्वादु पित्तघ्नं केश्यमग्निकृत्॥

भिलावा के नाम तथा उसके पके फल, मींगी और वृन्त के गुण— भल्लातक (यह शब्द तीनों लिङ्ग में होता है), अरुष्क, अरुष्कर, अग्निक, अग्निमुखी, भल्ली, वीरवृक्ष और शोफकृत ये सब भिलावा के पर्यायवाची नाम हैं। भिलावे का पका फल-पाक में मधुर रस युक्त, लघु, मधुर एवं कषाय रस युक्त, पाचक, स्निग्ध तीक्ष्ण तथा उष्णवीर्य, छेदी, भेदक, मेध्य (धारणशक्तिके लिये हितकर) एवं अग्निवर्धक होता है। यह कफ, वायु, व्रण, उदररोग, कुष्ठ, बवासीर, संग्रहणी गुल्म, शोथ, आनाह, ज्वर तथा कृमि रोग को दूर करता है। भिलावे की मींगी— मधुर रस युक्त, वृष्य, बृंहण एवं वात पित्त को शान्त करने वाली होती है। भिलावे का वृन्त (ढेंपी जिसमें फल लगा रहता है) मधुर रस युक्त, पित्तनाशक, बालों के लिये हितकर तथा अग्निवर्धक होता है॥ २२८-२३१॥

अथ सामान्यतो भल्लातकगुणानाह

भल्लातकः कषायोष्णः शुक्रलो मधुरो लघुः । वातश्लेष्मोदरानाहकुष्ठार्शोग्रहणीगदान् ॥
हन्ति गुल्मज्वरश्वित्रवह्निमान्द्यकृमिव्रणान् ॥ २३२ ॥

साधारण रूप से भिलावे का गुण—भिलावा-कषाय तथा मधुर रसयुक्त, उष्णवीर्य, वीर्यवर्धक एवं लघु होता है और यह वातकफ, उदररोग, आनाह, कुष्ठ, बवासीर, संग्रहणी, गुल्म, ज्वर, श्वित्रकुष्ठ, अग्निमान्द्य, कृमिरोग तथा व्रण को दूर करता है ॥ २३२ ॥

८९ भिलावा ।

हि०, पं०-भिलावा, भेला । **बं**--भेला, भेलातुकी । **म०**-बिब्बा । **गु०, मा०**-भिलामो । **क०**-गेरकायि । **ते०**-जिडिचेट्टु, जीड़ीविट्टुलु । **ता०**-शेनकोट्टै । **मला०**-चेर्मर । **फा०**-बलादुर, बिलादुर । **अ०**-हब्बुल्कल्ब, हब्बुल्फ़ह्म । **अं०**-The Marking-nut tree (दि मार्किङ्ग नट् ट्री । **ले०**-*Semecarpus anacardium, Linn.* (सेमेकार्पस् ॲनाकार्डियम् , लिन.) Fam-Anacardiaceae (ॲनाकार्डिएसी) ।

भिलावे के वृक्ष इस देश के विशेष कर गरम प्रान्तों में एवं हिमालय के निचले भागों में ३५०० फीट की ऊंचाई तक सतलज से पूर्व की ओर आसाम तक उत्पन्न होते हैं ।

इसका वृक्ष-देखने में सुन्दर २० से ४० फीट तक ऊँचा होता है । छाल-एक इञ्च मोटी धूसर रंग की होती है । छाल पर चोट मारने से उसमें से एक प्रकार का दाहजनक भूरे रंग का गाढा रस निकलता है जो वार्निश बनाने के काम में आता है । लकड़ी-खाकी मिश्रित लाली युक्त सफेदी या भूरे रङ्ग की होती है । छोटी २ शाखाओं के नीचे कुछ तीक्ष्ण रोवें होते हैं । डालियों के अन्त में सघन पत्ते रहते हैं और वे ९ से २४ इञ्च तक लम्बे तथा ५ से १४ इञ्च तक चौड़े, ऊपर से लट्वाकार-आयताकार एवं सरल धारवाले होते हैं । माघ में पुराने पत्ते गिर जाते हैं और फागुन में नवीन पत्ते निकल आते हैं, माघ फागुन में इसका वृक्ष फूलता है किन्तु इसके सिवाय कई बार वृक्षों पर फूल देखने में आते हैं । नन्हें २ फूलों की मञ्जरियाँ आती हैं । पुष्पदल· हरापन युक्त सफेद या हरापन युक्त पीले होते हैं । फल-एक इञ्च लम्बा तथा पौन इञ्च चौड़ा, चिपटा सा, हृदयाकृति, चमकीले काले रंग का तथा चिकना होता है । कच्चे फलों में दूध जैसा श्वेत वर्ण का रस होता है जो पकने पर कुछ गाढ़ा एवं काले रंग का हो जाता है । इस फल का आधारभाग मांसल तथा नारंगी वर्ण के स्तम्भक से बना होता है जो खाने के काम आता है । फलत्वक् में एक स्फोटकारक विषैला रस होता है जिससे धोबी कपड़ों में निशान लगाने की स्याही बनाते हैं । फल के अन्दर की मज्जा स्वादिष्ट होती है तथा वह भी खाने के काम आती है । कुछ लोगों में पुष्पित भल्लातक वृक्ष के पास सोने से या पुष्पपराग की हवा लगने से शरीर पर सूजन आ जाती है ।

भल्लातक शोधन—औषधि में प्रयोग के लिये अच्छे सुपक्व तथा जल में डालने पर जो डूब जाँय ऐसे भिलावों को लेकर कतर कर ईंट के टुकड़ों के साथ बोरे के अन्दर रगड़ कर फिर धोकर काम में लाना चाहिये । इससे उसके अन्दर का तैल सदृश रस कम होकर उसकी तीव्रता कम हो जाती है । इसके शोधन के पूर्व मुख, हाथ एवं पैर आदि खुले अंगों पर नारियल का तैल लगा लेना चाहिये । कुछ लोग फलों को केवल उबाल कर ठंडे जल से धोकर काम में लाते हैं ।

रासायनिक संगठन—इसके रासायनिक संगठन के विषय में कुछ मतभेद हैं और अभी संशोधन की आवश्यकता है। लेकिन इतना निश्चित है कि फलत्वक् के स्वरस में एक दाहजनक तैलीय पदार्थ एवं मज्जा में काजू की तरह पौष्टिक द्रव्य और एक प्रकार का तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—भिलावा उष्ण, रसायन, मेध्य, वाजीकर, वातकफहर, मूत्रजनन, वातनाडीबल्य, अग्निवर्धक, व्रणोत्पादक एवं कुष्ठघ्न है। इसका प्रचूषण बहुत जल्दी होता है लेकिन उत्सर्ग बहुत देर में होता है। आमाशय एवं उत्तरगुद पर इसकी विशेष क्रिया होती है। यकृत पर उत्तेजक क्रिया होने से पित्तस्राव ठीक होता है जिससे भूख बढ़ती है एवं रक्ताभिसरण और विनिमय क्रिया ठीक होने से अर्श में लाभ होता है। त्वचा से उत्सर्ग के समय स्वेद आता है तथा त्वचा लाल हो जाती है। वृक्क पर उत्तेजक प्रभाव होने के कारण प्रारम्भ में मूत्र की मात्रा बढ़ती है लेकिन बाद में कम हो जाती है तथा कभी कभी मूत्र में खून भी आ जाता है। इसका वाजीकर प्रभाव वातनाड़ियों की उत्तेजना से एवं प्रत्यक्षतया मूत्रनलिका के प्रक्षोभ से होता है। प्रत्यक्ष मांसपेशियों की अपेक्षा वातनाड़ियों को बलप्राप्त होने से यह अनेक वातरोगों में लाभदायक है। इससे नाड़ी की गति बढ़ती है तथा हृदय का कार्य भी ठीक होने लगता है। रसग्रन्थियों की उत्तेजना से श्वेतकणों की वृद्धि होती है जिससे शोथ आदि में लाभ होता है। इस प्रकार शरीर की सभी क्रियाएं ठीक होने से योग्यरूप में सेवन से इसको अमृत के समान लाभदायक एवं रसायन मानते हैं।

बाह्य त्वचा पर भिलावे का तेल लगने से त्वचा काली होकर जलन होती है एवं फोड़े होकर व्रण उत्पन्न होते हैं। उचित रूप में प्रयोग करने से आन्तरिक प्रयोग में इस प्रकार के लक्षण नहीं होते।

इसका उपयोग अर्श, वातविकार, कफविकार, फिरंग, गण्डमाला, कृमि, विसूचिका, गुल्म, आमवात एवं कुष्ठ आदि रोगों में किया जाता है।

(१) भिलावे को दीपक पर गरम करने से जो तेल टपकता है वह दूध में टपकाकर हरिद्रा एवं मिश्री मिलाकर फुफ्फुस विकारों में रात के समय दिया जाता है। प्रारम्भ में एक बूंद तथा धीरे-धीरे इसे बढ़ाते हैं। तमकश्वास पीडित रोगियों के लिये शीत ऋतु में इसका नित्य प्रयोग लाभदायक है। उपजिह्वा एवं गलतोरणिका की शिथिलता से उत्पन्न कास में भी इससे लाभ होता है। फुफ्फुसपाक में मुलेठी के साथ भिलावा दिया जाता है।

(२) अग्निमांद्य, कुपचन, आनाह, विबन्ध, ग्रहणी, अर्श, उदर, गुल्म एवं विसूचिका आदि रोगों में इसका बहुत प्रयोग किया जाता है। इससे स्निग्ध पदार्थों का पाचन अच्छी तरह से होता है। अर्श में भिलावा, हर्रा एवं तिल समान मात्रा में लेकर दुगने गुड के साथ गोली बनाकर ३–६ माशा खिलाते हैं तथा इसका धुआं भी दिया जाता है। हैजे में एक भिलावे को आधा तोला इमली के साथ पीसकर २ तोला लहसुन के रस के साथ पिलाते हैं।

(३) रसायन के लिये १ भिलावे को काटकर एवं कूटकर १६ गुने जल में उबाल कर आधा रहने पर फिर ८ गुना दूध मिलाकर फिर उबाले तथा आधा शेष रहने पर उस क्षीर को छानकर १–२ तो० की मात्रा में प्रयोग करे। इसके पूर्व थोड़ासा घी मुख में चारों तरफ लगा लेना चाहिये तथा थोड़ासा घी निगलना भी चाहिये। प्रत्येक वर्ष शीत ऋतु में इसका उपयोग करने से किसी प्रकार के रोग नहीं होने पाते।

(४) वातनाडी शोथ, गृध्रसी, अर्दित, अंगघात, ऊरूस्तम्भ, मस्तिष्कावरण शोथ तथा मानसिक कार्य अधिक करने के कारण उत्पन्न थकावट में इसको इमली की पत्ती, लहसुन, वायविडङ्ग, नारियल का रस एवं मिश्री के साथ खिलाते हैं।

(५) भिलावा १ भाग, काजू ६ भाग एवं शहद १ भाग अच्छी तरह घोटकर २ माशा दिन में ४ बार देने से नूतन तथा तीव्र आमवात में दो तीन दिन में ही लाभ होता है। जीर्ण आमवात में विशेष लाभ नहीं होता है।

(६) गण्डमाला के लिये भिलावा २, अजवायन २ एवं पारद १ इसको घोंटकर चने बराबर इसकी गोली दही के साथ खिलाई जाती है।

(७) इसके तैल का आंतरिक एवं वाह्य प्रयोग किया जाता है। एक से दो बूंद तैल किसी अन्य तिलादि अक्षोभक तैल में मिलाकर फिरंग, गण्डमाला, कुपचन, अर्श, नाडी दौर्बल्य, चर्मरोग, कृमि, अपस्मार, अंगघात, आमवात एवं श्वास आदि रोगों में दिया जाता है।

(८) इसका क्वाथ दुग्ध एवं घृत के साथ नाडी शोथ, वातवलासक, संखिया के विष से उत्पन्न नाडीविकार एवं आर्तवविकार में लाभदायक है।

(९) इसके तैल का वाह्यप्रयोग प्रतिक्षोभक (Counter irritant) एवं स्फोटोत्पादक (Vesicant) के रूप में किया जाता है। जीर्ण त्वचा के रोगों में इसका ज्यादा उपयोग होता है। चर्मकील, दद्रु, किलास सन्धिपीडा, मोच, श्वित्र, गजचर्म, कुब्ज ग्रन्थि एवं प्लीहावृद्धि आदि पर सूई के नोक से कई जगह इसको लगाते हैं या इसको मक्खन के साथ मिलाकर मलहम के रूप में प्रयोग करते हैं।

(१०) इसकी मज्जा वाजीकर होती है। गरी एवं चिरौंजी के साथ इसका पाक सेवन कराया जाता है।

विषैला प्रभाव—किसी किसी को भिलावा सहन नहीं होता है। इससे मूत्र का रंग गहरा, शरीर में दाह, खुजली, चकत्ते, अतिसार, ज्वर एवं कभी-कभी रक्तमेह, फोड़े फूट कर व्रण एवं उन्माद आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। प्रारम्भ में मूत्र की मात्रा कम होती है तथा उसका रंग धुंधला होने लगता है। गुदा एवं शिश्नेन्द्रिय के मुख पर कण्डू उत्पन्न होती है। प्रारंभिक लक्षण उत्पन्न होते ही औषधि को बन्द कर नारियल का दूध या इमली की पत्ती का रस या तिल एवं नारियल खाने को देना चाहिये। शरीर पर नारियल का तेल, घी, राल या नागद्रव (Lead lotion-लेड लोशन) का वाह्य उपयोग करना चाहिये।

पथ्य—भिलावे के प्रयोग के समय घी, दूध एवं चावल का सेवन अधिक करना चाहिये।

वर्ज्य—धूप में घूमना, स्त्रीसहवास, मांसभक्षण, नमक, व्यायाम एवं तैलाभ्यङ्ग आदि छोड़ देना चाहिये।

निषेध—पैत्तिक विकार, रक्तस्रावी प्रवृत्ति, गर्भिणी, बाल, वृद्ध, अतिसार, वृक्कशोथ एवं उष्ण काल में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

मात्रा—तैल—१-२ बूंद, अवलेह—¼-½ तो०, क्षीरपाक—१-२ तो०।

अथ भङ्गा (भांग), तस्या नाम गुणानाह

भङ्गा गञ्जा मातुलानी मादिनी विजया जया ॥ २३३ ॥
भङ्गा कफहरी तिक्ता ग्राहिणी पाचनी लघुः। तीक्ष्णोष्णा पित्तला मोहमदवाग्वह्निवर्द्धिनी ॥

भांग के नाम तथा गुण—भङ्गा, गञ्जा, मातुलानी, मादिनी, विजया और जया ये सब भांग के पर्यायवाची नाम हैं। **भांग**-कफ को दूर करने वाली, तिक्तरस युक्त, ग्राही, पाचक, लघु, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, पित्तकारक तथा मोह, मद, वाणी और जठराग्नि को बढ़ाने वाली होती है॥

८२ भांग

हिं०-भांग, भंग, बूटी। बं०-सिद्धि। म०-पं०-मा०-भांग। गु०-भांग। ते०-गंजायि। ब्रह्मो०-बिन। मा०-बूटी। क०-भंगी। ता०-कञ्जा। फा०-क(कि)नब, बंग। अ०-हशीश, बर्कुल ख्याल।

गांजा

हिं०-गांजा, गंजा, गांझा। बं०, म०-गांजा। ता०-गांजा, येला। गु०-गांजो। ते०-गाञ्जाई, बंगि-अकु। फा०-किन्नब। अ०-कु(कि)न्नब। अं०-Indian hemp (इण्डियन हेम्प), Cannabis (कॅन्नाबिस्)। ले०-*Cannabis sativa, Linn.* (कॅन्नाबिस् सेटाइहा, लिन.); Cannabis indica Lam. (कॅन्नाबिस् इण्डिका लॅम.)। Fam. Cannabinaceae (कॅन्नॅबिनॅसी)।

इसका पौधा भारतवर्ष में हिमालय के निचले प्रदेशों में करीब २ अपने स्वाभाविक रूप में उत्पन्न होता है तथा पंजाब से पूर्व की ओर बंगाल एवं बिहार तक तथा दक्षिण की ओर परती भूमि में बहुतायत से प्राप्त होता है। उत्तरप्रदेश के अल्मोड़ा, गढ़वाल तथा नैनीताल जिलों में इसकी उपज की जाती है। ट्रावनकोर तथा काश्मीर में भी अल्प मात्रा में इसकी उपज की जाती है। भांग का पौधा पश्चिमी तथा मध्य एशिया का नैसर्गिक (Native-नेटिह) माना जाता है। मुंगेर, पञ्जाब, नागपुर, बहराइच आदि जिलों की भंग अच्छी समझी जाती है। इसका **क्षुप**-सीधा ३ से ८ फीट एवं कभी-कभी १६ फीट तक ऊंचा होता है। **पत्ते**-नीचे के समवर्ती और विषमवर्ती दोनों प्रकार के करतलाकार तथा आधार तक कटे हुवे होते हैं। ऊपर वाले पत्ते १-५ भागों में विभक्त और नीचे वाले ५ से ११ खण्ड में कटे हुए तथा ३ से ८ इञ्च के घेरे में रेखाकार-भालाकार दिखाई पड़ते हैं। इनके खण्ड तीक्ष्ण दन्तुर, लम्बाग्रयुक्त, आधार की तरफ संकुचित तथा इनका ऊर्ध्व पृष्ठ गहरे हरे रंग का खुरदरा एवं अधोपृष्ठ हलके रंग का मृदुरोमश होता है। **फूल**-हलके पीत-हरित रंग के, अद्विलिंगी एवं गुच्छेदार होते हैं। **फल**-बहुत छोटे, कुछ दबे हुवे, बीज के समान चर्मल फल (Achene=एचीनी), स्थायी परिपुष्प (Perianth=पेरियँथ) से आवृत एवं एक २ बीजों से युक्त होते हैं।

भांग के क्षुप स्त्री जाति और पुरुष जाति इन भेदों से दो प्रकार के होते हैं। स्त्री जाति का क्षुप कुछ अधिक ऊँचा तथा उसमें पत्र बहुतायत से तथा गहरे वर्ण के होते हैं। इसका क्षुप पुरुष जाति के क्षुप की अपेक्षा ५, ६ सप्ताह अधिक समय में परिपुष्ट होता है। **भांग**-यह उपज किये हुए या अपने आप उत्पन्न इस क्षुप के स्त्री एवं पुरुष जाति के सूखे हुए पत्तों को कहते हैं। इसमें पुरुष जाति के पुष्प भी होते हैं। पुरुष जाति के पुष्प, पत्तों की अपेक्षा अधिक मादक नहीं होते जैसा कि स्त्री जाति के पुष्प होते हैं। जून एवं जुलाई के महीने में अधिक ऊँचाई पर होने वाले क्षुपों का एवं मई और जून में मैदानी प्रान्तों वाले क्षुपों का संग्रह किया जाता है। उन्हें काटकर ओस तथा धूप में बार २ रख कर सुखाते हैं तथा सूखने पर दबाकर रखा जाता है। **गांजा**-उपज किये हुए स्त्री जाति के क्षुपकी सूखी हुई रालदार पुष्पमञ्जरी को गांजा कहते हैं। इसका रंग मटमैला, हरा, स्वाद कुछ कटु एवं गंध विशिष्ट प्रकार की मादक होती है। गांजे की जटा १॥ इञ्च से २॥ इञ्च तक लम्बी तथा चौड़ी होती है। एक २ इञ्च लम्बी लकड़ियों के चारों ओर फूलदार शाखाएँ

लगी रहती हैं। **चरस**–गांजा के वृक्ष से एक लसदार राल के समान रस निकल कर जम जाता है उसी को चरस कहते हैं। ओस पड़ने के पश्चात सुबह चमड़े का कपड़ा पहन कर वृक्षों में रगड़ने से समस्त चरस कपड़े पर लग जाता है उसी को चमड़े से पृथक् कर गोले या ढेले बना लेते हैं। या हाथ और पैरों से पुष्पमञ्जरियों को रगड़ कर हाथ पैरों में चिपके हुए भाग को खुरच कर जमा कर लेते हैं। हिन्दुस्तान में उत्पन्न हुए वृक्षों से चरस पृथक् नहीं की जाती इसलिये यहां गांजा तैयार हो जाता है। भारतवर्ष में चरस यारकंद से, काश्मीर के लेह के रास्ते आता है। भारत के दक्षिण तथा पश्चिम में अधिकतर गांजा नाम से भांग और गांजा दोनों का प्रयोग होता है। भांग तो पीस कर बनाये हुये पेय को अधिकतर कहा जाता है। पुरी की तरफ गांजे को ही पीसकर बने पेय को भांग कहा जाता है। भांग, गांजा, चरस तथा बीजों का औषध में व्यवहार किया जाता है तथा मादक पेय एवं धूम्रपान आदि के व्यसन के रूप में लोग इनका बहुत व्यवहार करते हैं। चरक सुश्रुतादि प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं हैं लेकिन बाद में ग्रन्थकारों ने इनका भांग नाम से अधिकतर उपयोग किया हैं।

शोधन–भांग तथा गांजे को दूध में दोलायंत्र में पकाकर जल से धोकर सुखाकर प्रयोग में लाना चाहिये।

रासायनिक संगठन—गांजे में कॅन्नाबिनोन् (Cannabinone) नामक एक मुलायम बादामी रंग की राल होती है। इस राल का प्रधान तत्व एक लाल रग का गाढा मादक (Narcotic) तैल होता है जो वायु के साथ संपर्क में आने पर गाढा तथा अल्प वीर्य हो जाता है। इस तैल में एक कॅन्नाबिनोल् (Cannabinol, $C_{21}H_{26}O_2$) नामक विषैला तत्व रहता है जो इसमें का कार्यकारी तत्व नहीं है। इस राल के अतिरिक्त इसमें गोंद, शर्करा, कॅल्शियम् फॉस्फेट् (Calcium phosphate), अत्यल्प मात्रा में उड़नशील तैल, सेन्द्रिय अम्ल, कलमी सोरा एवं नौसादर आदि पदार्थ पाये जाते हैं। अफ्रीकी, अमेरीकी एवं भारतीय किस्मों के गुणों में विशेष अन्तर नहीं है तथा शुष्क अवस्था में अच्छी तरह रखने से बहुत दिन तक इसके गुण भी कम नहीं होते। गांजे में करीब २६%, भांग में १०% एवं चरस में ४०% राल होती है।

गुण और प्रयोग—भाग एवं गांजे के गुण करीब २ समान ही हैं लेकिन भांग की क्रिया विशेषतः आमाशय एवं आंत्र पर, अधिक होती है तथा यह गांजे की अपेक्षा अधिक ग्राही होती है।

यह उत्तेजक, वेदनाहर, शांतिकारक, क्षुधावर्धक, आह्लादकारक, सौमनस्यजनन, स्वापजनन, आक्षेपनिरोधी (Anticonvulsant), उद्वेष्टननिरोधी (Antispasmodic), गर्भाशयसंकोचक, मूत्रजनन, संग्राही, बल्य, वाजीकर एवं स्थानिक स्वापजनन है।

इसकी प्रधान क्रिया मस्तिष्क पर होती है। सेवन के पश्चात करीब आधे घंटे में इसका प्रभाव मालूम होने लगता है। गांजे के धूम्रपान के पश्चात तुरत असर होता है। इसकी क्रिया अफीम तथा मद्यसार की तरह होती है लेकिन इसके वीर्य में विभिन्नता होने के कारण इसका प्रभाव अनिश्चित होता है। अल्प मात्रा में इसके सेवन से कुछ उत्तेजना आती है तथा आह्लाद मालूम होने लगता है। किसी भी कार्य में मन एकाग्र होता है। इसके प्रभाव से काल एवं व्यक्तित्व का ज्ञान नहीं रहता तथा ऐसा मालूम होता है कि घण्टों तक आनन्द से बीता जब कि केवल कुछ मिनट ही बीते रहते हैं। अधिक मात्रा में प्रलाप होता है तथा तत्पश्चात निद्रा आती है। निद्रा के पश्चात अफीम की तरह इससे थकावट नहीं आती तथा उतना विबन्ध भी नहीं होता। आक्षेप

निरोधी, उद्वेष्टन निरोधी एवं वेदनाहर गुण बहुत स्पष्ट हैं। भांग से बने पेय से मूत्र की मात्रा बढती है। इसका गर्भाशय संकोचक प्रभाव प्रत्यक्ष मांसपेशी के संकोच एवं अप्रत्यक्षतया नाडी-संस्थान के द्वारा होता है। सांवेदनिक नाडियों की संवेदना शक्ति का घात होने से चर्म में शून्यता तथा झुनझुनाहट होती है। नाडी की गति उत्तेजना की अवस्था में बढ़ जाती है तथा बेहोशी की अवस्था में कम हो जाती है। उत्तेजना की अवस्था में श्वसन क्रिया शीघ्र होने लगती है।

साधारण मात्रा में इसके व्यसन से शारीरिक वा मानसिक कोई विकृति नहीं होती है। यह धारणा कि इसके व्यसन से पागलपन (Insanity) की प्रवृत्ति बढती है सिद्ध नहीं हुई है। अधिक मात्रा में यदि निरन्तर उपयोग किया जाय तो शरीर एवं मन को हानि पहुँचती है तथा आत्म-सम्मान का ह्रास एवं नैतिक पतन हो जाता है।

(१) संग्रहणी, अतिसार, रक्तातिसार, कुपचन, आमाशय में पीड़ा एवं विसूचिका में अन्य औषधों के साथ इसका उपयोग किया जाता है। इससे भूख बढ़ती है एवं उद्वेष्टन तथा पीडा दूर होती है। विरेचक औषधों के साथ प्रयोग से मरोड़ नहीं होती। विसूचिका के प्रारम्भ में ही इसको देने से लाभ होता है। अतिसार के पश्चात् रोग निवृत्तावस्था में इसका पानक शान्तिदायक औषध के रूप में व्यवहार में आता है।

(२) वेदनाहर गुण के कारण पुराने सिर दर्द, सूर्यावर्त (Migraine = माइग्रेन), रजोनिवृत्ति के समय होनेवाले एवं थकावट आदि से उत्पन्न शिरःशूल में इसका उपयोग किया जाता है। वातनाड़ीशोथ में गांजा के साथ पारद देते हैं एवं वातनाड़ीपीड़ा में गांजा, सोमल एवं लोह देते हैं। टेबीज् डॉर्सेलिस् (Tabes dorsalis) नामक फिरंग से उत्पन्न रोग में एक प्रकार की विद्युत् के समान चपल एवं तीव्र पीड़ा (Lightning pains) होती है जिसमें गांजे से लाभ होता है।

(३) वेदनाहर एवं उद्वेष्टननिरोधी गुण के कारण आन्त्रिक, पैत्तिक एवं वृक्क शूल तथा बस्ति उद्वेष्टन एवं सोजाक से उत्पन्न वेदनायुक्त शिश्नोत्थान (Chordee) में इसका उपयोग किया जाता है। अपतन्त्रक, कम्पवात, वातिक वमन एवं बालकों के आक्षेप में इससे लाभ होता है।

धनुर्वात (Tetanus) के लिये यह बहुत लाभदायक है। इसको अधिक मात्रा में एवं अधिक दिन तक प्रयोग करना पड़ता है। जलसंत्रास (Hybrophobia) में आक्षेप कम करने के लिये इसको देते हैं।

(४) स्वापजनन गुण के कारण निद्रानाश विशेष कर वृद्धावस्था के निद्रानाश (Senile insomnia) में इसका उपयोग किया जाता है।

(५) गांजा से गर्भाशय में सङ्कोच होता है एवं वेदना भी कम होती है जिससे पीडितार्तव, अत्यार्तव तथा प्रसव के समय आवि वृद्धि के लिये इसको देते हैं। बीजकोश पीडा (Ovarian irritation) में इसको देते हैं।

(६) अर्श में इसके आन्तरिक प्रयोग के साथ भांग को दूध में उबाल कर पीस कर उसकी टिकिया बाँधते हैं। हरिद्रा, प्याज तथा तिल के साथ पीस कर लेप करने से एवं इसके धूएँ से भी लाभ होता है।

(७) गांजा अत्यन्त वाजीकर है। मस्तिष्क के ऊपर प्रभाव से आह्लाद उत्पन्न होकर कामवासना बढ़ती है एवं रक्ताभिसरण को उत्तेजना मिलने से शिश्न अधिक कठोर हो जाता है। इसके साथ २ संवेदना शक्ति के ह्रास से अधिक काल तक घर्षण करने से भी शुक्र पात नहीं होता। अफीम, धतूरा एवं अन्य औषधों के साथ बने पाक का प्रयोग नपुंसकता एवं शीघ्रपतन आदि में किया जाता है।

(८) शुष्क कास, कुकास एवं तमक श्वास में इसको खिलाते हैं अथवा इसका धूम्रपान कराते हैं। फुफ्फुसावरण शोथ में पीड़ा शमन के लिये अफीम की अपेक्षा यह अधिक अच्छी है।

(९) जीर्ण आमवात में इसको खिलाते हैं तथा इसके बीजों का तेल मालिश किया जाता है।

(१०) स्थानिक वेदनाशामक होने के कारण विसर्प, वातिक पीड़ा, खुजली एवं जलन में इसका लेप उपयोगी है। अरुंषिका (Dandruff) तथा जूं आदि में सर पर इसका लेप करते हैं।

चरस—यह मदकारी, शुक्रस्तम्भन, मूर्च्छा एवं हृदयदौर्बल्य कारक है। इससे हृल्लास, विबन्ध एवं शिरःशूल आदि नहीं होते तथा तम्बाखू के साथ इसका धूम्रपान उन्माद एवं अपतन्त्रक आदि में शामक औषध के रूप में किया जाता है।

विषैला प्रभाव—भांग एवं गांजा आदि अधिक मात्रा में लेने से आंखें लाल हो जाती हैं। चेहरा फूल सा जाता है, पैर लड़खड़ाते हैं तथा बुद्धि एवं स्मृति का नाश, अग्निमान्ध, अनिद्रा, दौर्बल्य, प्रलाप एवं शिरःशूल आदि लक्षण होते हैं। कचित् हृदयातिपात से मृत्यु होती है।

हानिनिवारक—वमन कराना एवं दूध, दही, घृत तथा नारंगी, अनार, अमरूद आदि फलों के रस पिलाना चाहिये।

मात्रा—भांग १–४ र०; गांजा ½–१ र०; चरस ¼–½ र०।

अथ खाखसः (पोस्ता)। तस्य नामानि तत्फलोद्भववल्कलगुणानाह

तिलभेदः खसतिलः खाखसश्चापि स स्मृतः। स्यात् खाखसफलोद्भूतं वल्कलं शीतलं लघु॥
ग्राहि तिक्तं कषायञ्च वातकृत् कफकासहृत्[1] ॥ २३६ ॥
धातूनां शोषकं रूक्षमदकृद्वाग्विवर्धनम्[2]। मुहुर्मोहकरं रुच्यं सेवनात्पुंस्त्वनाशनम् ॥२३७॥

पोस्ता के नाम तथा गुण—तिलभेद, खसतिल और खाखस ये सब नाम पोस्ता के हैं। पोस्ता के फल का छिलका शीतल, लघु, ग्राही, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, वातकारक, कफ तथा कास को दूर करने वाला, धातुओं को सुखाने वाला, रूक्ष, मदकारक, वाणी को बढ़ाने वाला, बार-बार मोहकारक, रुचिकारक और नित्य सेवन करने से पुरुषत्व को नाश करने वाला होता है ॥२३५-२३७॥

८३ पोस्ता

क्षुपनाम—हि०–पोस्ता। बं०–पोस्तार गाछ। अ०–नबातुल खश्खाश। फा०–कोकनार। ले०–*Papaver somniferum, Linn.* (पॅपेवर सॉम्निफेरम्, लिन.)। Fam. Papaveraceae (पॅपॅवेरॅसी)।

फलनाम—हि०–पोस्त, पोस्ता, खसखस का फल, पोस्त के डोडे। बं०–पोस्तोढेरी। म०–अफूचे बोंड, खसखशीचे बोंड। गु०–अफीणना डोडा। ते०–गसुगसालु। ता०–गशगशा चेड्डि। मला०–कशकशा चेटि। फा०–पोस्ते कोकनार। अ०–किश्रुल खश्खाश बुस्तानी। अं०–Poppy Capsule (पॉपी कैप्स्यूल्)। ले०–*Papaveris capsulae* (पॅपेवेरिस् कॅप्स्यूली)।

अफीम के क्षुप को पोस्ता कहा जाता है। यह क्षुप बाहर से भारतवर्ष में आया है लेकिन यहां की जलवायु अनुकूल होने के कारण इसकी यहां खेती की जाने लगी। चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट एवं चक्रदत्त में अफीम का उल्लेख नहीं है। शार्ङ्गधर (१४, १५ वीं शताब्दी) एवं भावप्रकाश

---

१. 'तद् कफास्रे'ति पा०। २. 'मेहमदवाग्वह्विवर्धनमि'ति पा०।

(१६ वीं शताब्दी) में इसका प्रयोग किया गया है। अफीम की जानकारी के पूर्व लोग पोस्ते की डोडी का उपयोग उत्तेजक एवं मादक पेय के रूप में करते थे। अफीम की खोज सम्भवतः सर्वप्रथम ग्रीस में हुई तथा पहली शताब्दी में 'एशिया माइनर' इसके व्यापार का केन्द्र रहा। अरबों ने इसका प्रचार चीन एवं भारतवर्ष में किया। मुगलों के समय भारत में इसकी व्यापकरूप में खेती की जाती थी जिससे लोग इसकी डोडी का उपयोग 'कुकनार' नामक मादक पेय के रूप में करते थे। यहां से चीन एवं पूर्वीय देशों को काफी मात्रा में अफीम जाती थी। पंजाब में 'पोस्त' नाम से कुकनार की तरह पेय का प्रयोग किया जाता था। अंग्रेजों के समय इसकी खेती पर व्यापक नियन्त्रण के कारण धीरे धीरे इसकी खेती कम होती गई तथा पोस्ते की डोडी का भी उपयोग कम हो गया। अंग्रेजों के समय इसकी उपज के ३ केन्द्र थे। बिहार एवं बंगाल की अफीम 'पटना या बंगाली' अफीम, उत्तर प्रदेश की अफीम 'बनारसी' एवं राजपुताना के ग्वालियर, भोपाल तथा बड़ोदा आदि स्थानों की अफीम 'मालवा' अफीम कहलाती थी। पञ्जाब के कुछ भागों में धार्मिक आधार पर इसके खेती को छूट है अन्यथा इसकी खेती के लिये अनुमति पत्र लेना पड़ता है तथा पूरी उपज सरकार निश्चित मूल्य पर खरीद लेती है।

आजकल इसकी खेती उत्तरप्रदेश, पूर्वी पञ्जाब, राजपुताना एवं मध्यभारत में की जाती है। एशिया, यूरोप एवं उत्तरी अफ्रीका के साधारण उष्ण प्रदेशों में भी इसकी खेती की जाती है। अक्तूबर, नवम्बर महीने में इसके बीजों को बोते हैं। दिसम्बर में सरकारी अफसर खेत की जांच करते हैं। जनवरी से मार्च तक अफीम का संग्रह करके अप्रिल से जून तक बिकने के लिये भेजी जाती है।

काले, लाल और सफेद फूलों के भेद से पोस्त तीन प्रकार के होते हैं। इनमें सफेद फूल वाला पोस्त सबसे अधिक प्रायः सम्पूर्ण भारतवर्ष में होता है। संयुक्तप्रान्त, बिहार और बङ्गाल की ओर सफेद ही होता है। इसका एक वर्षायु क्षुप–३–४ फुट तक ऊंचा होता है। **कांड**–चिकना चमकीला हरित क्वचित् अल्प रोमश एवं अल्प शाखा युक्त होता है। **पत्र**–आयताकार, विषम दन्तुर, अल्पशः तरंगी या खण्डित एवं उनका हृदयाकृति फलकमूल कांड को घेरे रहता है। **फूल**–कटोरीनुमे बहुत सुहावने दिखाई पड़ते हैं। फूल खिलने के एक महीने बाद पुष्पदल के बीच डोंडी (फल) लगती है। **डोंडी** (Capsule)—अण्डाकार या करीब-करीब वर्तुलाकार, २–३ इञ्च के घेरे में एवं कभी-कभी आधार एवं शीर्ष पर दबी हुई होती है। इसका शीर्ष टोप की तरह कंगूरेदार, १२–१५ कंगूरों से युक्त एक बड़े कुक्षि (Stigma = स्टिग्मा) से बना होता है। इसका आधार संकुचित होकर एक ग्रीवा बनाता है जो पुष्प दण्ड की तरफ फैली हुई रहती है। इसका रंग हलका पीताभ या भूरा एवं इस पर कुछ काले रंग के धब्बे रहते हैं। इसकी महीन एवं भिदुर फल भित्ति से अन्दर की तरफ १२–१५ महीन अन्तर्भित्तियां निकली रहती हैं जो बीच में आपस में मिलती नहीं। इसमें शीर्ष पर कुक्षि के ठीक नीचे चारों तरफ कई छिद्र बन जाते हैं जिनसे बीज बाहर निकल कर बीज स्फुटन (Dehiscence) होता है। इसी डोंडी से अफीम निकाली जाती है। सफेद फूल वाले पोस्ते से मॉर्फीन (Morphine) सबसे कम निकलती है। बाजार में मिलने वाली डोंडी टूटी-फूटी तथा उन पर लम्बाई में या आडेबल में चीरे लगे होते हैं। डोंडी के खानों के भीतर छोटे-छोटे करीब-करीब सफेद रंग के वृक्काकृति अनेक बीज होते हैं। इनकी सतह जालीदार एवं किनारे सीधे होते हैं। ये गन्धहीन एवं इनका स्वाद मधुर एवं कुछ कड़वा होता है।

काले या नीले फूल तथा काले डण्ठल वाला पोस्ता राजपुताना एवं मध्यभारत में बहुत पाया जाता है। इसका पौधा बहुत छोटा और डोंडे भी बहुत छोटे-छोटे होते हैं। इसमें मॉर्फीन (Morphine) श्वेत जाति की अपेक्षा तिगुनी निकलती है।

लाल फूल वाला पोस्ता हिमालय पहाड़ में पाया जाता है। काश्मीर और उत्तरीय भारत के मैदानों में २-३ प्रकार का लाल फूल का पोस्ता स्वयं उत्पन्न होता है। उसके फूलों को 'गुललाला' कहते हैं। इसके डोंडे से गहरे रंग के पोस्तदाने निकलते हैं। लाल फूल वाले पोस्ते से मॉर्फीन मध्यम मात्रा में निकलती है।

रासायनिक संगठन—पोस्ते की डोंडी में ०.१-०.३% मॉर्फीन (Morphine) एवं अत्यल्प मात्रा में कोडीन (Codeine), पॅपॅहेराइन (Papaverine) एवं नार्कोटीन (Narcotine) आदि क्षाराभ एवं मेकोनिक एसिड (Meconic acid) आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—पोस्ते की डोंडी में अल्प मात्रा में अफीम के क्षाराभ होने के कारण यह निद्राकर, मादक, वेदनाहर, ग्राही एवं रक्तस्तम्भक होती है।

(१) वेदनाहर एवं निद्राजनक होने के कारण इसके फांट या क्वाथ को शिरःशूल, अर्धावभेदक, पार्श्वशूल, कटिशूल, गृध्रसी, उन्माद एवं अनिद्रा आदि में पिलाते हैं तथा इसका स्थानीय लेप किया जाता है। गले के दर्द में इससे गण्डूष कराते हैं।

(२) ग्राही औषधियों के साथ अतिसार एवं संग्रहणी में इसका चूर्ण बहुत लाभदायक है। रक्तातिसार में देने से रक्त गिरना भी बन्द हो जाता है। बच्चों के दन्तोद्भेद के समय होने वाले अतिसार में इसका प्रयोग किया जाता है।

(३) मोच, सूजन एवं चमड़े के छिल जाने आदि में इसके फांट या क्वाथ से सेंका जाता है।

(४) शुष्क कास में अन्य औषधों के साथ इसके चूर्ण का उपयोग लाभदायक है।

(५) पीडायुक्त नेत्राभिष्यन्द में इसका लेप नेत्र के चारों तरफ लगाते हैं।

(६) कर्णपीडा में इसके क्वाथ से सेंका जाता है।

(७) कोकनार नामक मादक पेय के रूप में इसका बहुत प्रयोग किया जाता था एवं अफीम की जानकारी के पूर्व भी मादक एवं उत्तेजक पेय तथा शामक औषध के रूप में इसका व्यवहार किया जाता था।

मात्रा—१-२ माशा।

अथाहिफेनकम् (अफीम)। तस्य नामगुणानाह

उक्तं खसफलक्षीरमाफूकमहिफेनकम्। आफूकं शोषणं ग्राहि श्लेष्मघ्नं वातपित्तलम्।
तथा खसफलोद्भूतवल्कलप्रायमित्यपि ॥ २३८ ॥

अफीम की उत्पत्ति, नाम तथा गुण—पोस्ता के फल के दूध से अफीम बनती है। अतः इसे खसफलक्षीर भी कहते हैं। खसफलक्षीर, आफूक और अहिफेनक ये नाम अफीम के हैं। अफीम-रक्तादि धातुओं की शोषक, ग्राही, कफनाशक एवं वातरक्तकारक होती है तथा पोस्ता के फल के छिल्के के जितने गुण हैं वे भी इसमें रहते हैं ॥ २३८ ॥

८४ अफीम।

हि०—अफीम, अफयून। **बं०**—आफिम। **म०**—अफू। **मला०**—आलन। **मा०**—अफीम, अमल। **गु०**—अफीण। **ते०**—अमिनि। **क०**—अफिनि। **ता०**—अबिनी। **अ०**—अफ्यून, लबनुल् खश्खाश। **अं०**—Opium (ओपियम्)।

उक्त पोस्त के डोडे से अफीम निकाली जाती है। माघ के महीने में इस पर फूल आने के दो सप्ताह बाद डोडे अफीम निकालने लायक जब बड़े हो जाते हैं तब कच्चे (Unripe) डोडों के चौतरफा प्रायः शाम को चीरा कर देते हैं और प्रातःकाल लोहे के चमचा से चीरा द्वारा निकला हुआ दुधिया गोंद उठा लेते हैं। इसी प्रकार ३-४ दिन अन्तर देकर चीरा करते हैं और गोंद इकट्ठा करते हैं। जमीन पर गिरे हुए फूलों को इकट्ठा कर अफीम बाँधने का काम उनसे लिया जाता है।

इस प्रकार दूधिया गोंद को इकट्ठा कर कांसे की थाली में रख देते हैं और उसमें से जो जल निकलता है उसको फेंक देते हैं। प्रायः एक मास में गाढ़ा होने पर मिट्टी के पात्र में रख देते हैं। यही अफीम है। अफीम सरकार का व्यवसाय होने से सरकारी गुदाम में जमा की जाती है। सरकारी अफीम तीन प्रकार की होती है। पटना अफीम, बनारसी अफीम और मालवा अफीम। मालवा की अफीम सबसे अच्छी समझी जाती है। **भारतीय अफीम** घनाकार (Cubical) करीब १ सेर के टुकड़ों में पतले नेपाली कागज में लपेटी रहती है। यह कठोर एवं भिदूर (Brittle) या कुछ लचीली होती है। इसका आन्तरिक भाग गहरे बादामी (Dark brown) रंग का, चमकीला, चिकना एवं समांग (Homogeneous) होता है। इसमें एक विशिष्ट प्रकार की तीव्र अप्रिय गन्ध होती है तथा इसका स्वाद कडवा होता है। भारतीय अफीम आबकारी एवं औषधीय ऐसे दो प्रकार की होती है। पहले अफीम की खपत चीन देश में बहुत होती थी परन्तु वहां वालों के अफीम खाने के व्यसन को बहुत कमकर देने से तथा सरकारी नियंत्रण के कारण हमारे देश की अफीम की खेती बहुत कम हो गई है और कई एक सरकारी गुदाम भी तोड़ दिये गये हैं। सन् १७९७ में स्थापित गाजीपुर की अफीम फैक्टरी, जो आज भी विश्व में सबसे बड़ी फैक्टरी है, उसका उत्पादन पहले से बहुत घट गया है। आजकल वहां प्रति वर्ष १२ हजार मन से अधिक अफीम तैयार नहीं होती जहां पहले १। लाख मन तक प्रतिवर्ष तैयार होती थी। स्वदेश में १५०० मन वार्षिक की खपत है जिसमें से उड़ीसा सबसे बड़ा खरीददार है। इसके बाद पेप्सू, पंजाब तथा उत्तरप्रदेश का क्रम है। कारखाने से करीब ३००० रूपये प्रतिमन के भाव से अफीम निकलती है।

अफीम बहुधा मिलावटी होती है। इसका वज़न बढ़ाने के लिये धूर्त लोग पोस्तदाने के पत्ते तथा अनेक वस्तुएँ मिला देते हैं जिससे औषधि के काम में यह अनुपयोगी हो जाती है। इसलिये वैद्यों को परीक्षा करके व्यवहार करनी चाहिये।

परीक्षा—(१) करीब ०.१ ग्रा. अफीम को ५ सी. सी. जल में गरम कर, फिल्टर कागज से छान करके (Filtration) उस द्रव में फेरिक् क्लोराइड् (Ferric chloride) के घोल के कुछ बूँद डालने से एक गहरा बैंगनी लाल (Deep purplish-red) रंग उत्पन्न होता है। यह रंग उस घोल में मंद नमक के तेजाब (Dilute hydrochloric acid) के कुछ बूँद डालने से या उसी प्रकार मर्क्यूरिक् क्लोराइड् (Mercuric chloride) के घोल के मिलाने से मिटता नहीं।

(२) ०.२ ग्रा. अफीम के चूर्ण को ५ सी. सी. क्लोरोफॉर्म एवं अमोनिया (Ammonia) के मंद घोल के कुछ बूँदों के साथ १० मिनट हिलावें। फिर एक शीशे की तश्तरी में रख दें जिससे क्लोरोफॉर्म उड़ जाय, जिसके उड़ जाने के बाद बाहर की तरफ एक धूसर श्वेत रवेदार पदार्थ का वलय रह जाता है। इसमें यदि फॉरमॅल्डिहाइड् (Formaldehyde) के घोल का १ बूँद और गन्धक के तेजाब (Sulphuric acid) के पांच बूँद का मिश्रण मिलाया जाय तो गाढ़ा किरमिजी (Crimson) रंग उत्पन्न होता है।

प्रमाप (Standard)—अफीम में ९.५% से कम मॉर्फीन (Morphine) नहीं होनी चाहिये।

अच्छी अफीम धूप में रखने से जल्दी पिघलने लगती है, अग्नि पर डालने से जलने लगती है पर कोयला नहीं बनती, जलते समय उसकी ज्वाला स्वच्छ निकलती है, मल या धूआं विशेष नहीं होता और बुझाने से अत्यन्त तीव्र और मादक गन्ध निकलती है। स्वच्छ अफीम को १०-५ मिनट सूँघने से नींद आती है।

शोधन—बाजारू अफीम को जल में घोलकर, छानकर मंद आंच पर गाढ़ा कर लें। फिर इसको आर्द्रक स्वरस की २१ भावना देकर औषध के काम में लाना चाहिये।

भारतीय अफीम के अतिरिक्त तुर्की, यूरोपीय एवं पर्शियन अफीम होती है जिनके क्षाराभों की मात्रा में कुछ अन्तर होता है तथा उनके स्वरूप में भी कुछ अन्तर होता है। अफीम की उत्तमता उसमें की मॉर्फीन की मात्रा पर निर्भर रहती है। भारतीय अफीम इस दृष्टि से काफी अच्छी होती है।

रासायनिक संगठन—भारतीय औषधि अफीम में अनेक क्षाराभ पाये जाते हैं जिनकी मात्रा में भी समय समय पर फरक रहता है। इसमें मॉर्फीन (Morphine) ७-१२%, नार्कोटीन (Narcotine) १.५-१२.५%, कोडीन (Codeine) ०.३-४.०% तथा थीबेन (Thebaine), पॅपेहेराइन (Papaverine) एवं लॉडॅनाइन (Laudanine) आदि प्रमुख हैं। इन क्षाराभों के अतिरिक्त इसमें अॅसेटिक् (Acetic), लॅक्टिक् (Lactic), सल्फ्यूरिक् (Sulphuric) एवं मेकोनिक् (Meconic), इतने प्रकार के अम्ल (Acids), गोंद एवं पेक्टीन (Pectin) की तरह पदार्थ, अॅल्ब्यूमिन् , मोम, स्नेह, कॅउट्चौक् (Caoutchouc), राल, उड़नशील तैल, गन्धयुक्त द्रव्य, मेकोनिन् (Meconin) तथा अमोनियम् , कॅल्शियम् एवं मॅग्नेशियम् के लवण आदि पदार्थ पाये जाते हैं। व्यापारी अफीम में (शुष्क अवस्था में) मॉर्फीन की मात्रा कम ज्यादा (५-२१%) रहती है। कुछ अन्य देशों से प्राप्त अफीम में की मॉर्फीन की मात्रा—तुर्की ५-१४%, पर्शियन ६-१४%, चाइनीज १.५-११%, बोहेमिया ११-१२%, तुर्कस्तान ५-१८%, आस्ट्रेलिया ४-११%। पहले यह समझा जाता था कि भारतीय अफीम में मार्फीन की मात्रा कम होने के कारण वह औषध के उपयोग की नहीं होती। लेकिन सन् १९१४ के बाद औषधोपयोगी अफीम के उत्पादन के लिये विशेष प्रयत्न किया गया जिससे इसमें की मॉर्फीन की मात्रा बढ़ती गई और अब यह अच्छी से अच्छी तुर्की अफीम से औषधीय गुण में समता रखती है। भारतीय अफीम में एक और विशेषता यह है कि अन्य देशों की अपेक्षा यहां की अफीम में कोडीन (Codeine) नामक क्षाराभ अधिक होता है। नार्कोटीन (Narcotine) नामक क्षाराभ पटना की अफीम में मार्फीन की अपेक्षा दुगना, मालवा की अफीम में मॉर्फीन से कुछ अधिक लेकिन स्मिर्ना (Smyrna-तुर्की का एक स्थान) की अफीम में मार्फीन की अपेक्षा बहुत कम होता है।

अफीम एवं मॉर्फीन के गुण एवं कार्य—यह उष्ण, तिक्त, रूक्ष, वेदनाहर, निद्राजनक, शामक, मादक, कफघ्न, कासघ्न, स्वेदजनन, शोथघ्न, ग्राही, रक्तस्तम्भन, प्रसेकावरोधक एवं अल्प मात्रा में उत्तेजक, आह्लादकारक तथा वाजीकर है।

इसकी प्रधान क्रिया केन्द्रीय वातनाडी संस्थान पर होती है। अल्प मात्रा में इससे कुछ उत्तेजना होती है। मन को आनन्द मालूम होता है। विचारशक्ति बढ़ती है। उत्साह बढ़ता है। कामवासना बढ़ती है। किसी काम में मन एकाग्र होता है। वेदना, खांसी, थकावट, क्षुधा तथा

अन्य प्रकार की अप्रिय संवेदनाओं का ज्ञान कम होता है। मन शान्त होकर निद्रा आती है। अधिक मात्रा में अवसाद होकर स्पर्शज्ञान तथा सुख एवं दुःख के समझने की शक्ति कम होती है तथा कुछ बेहोशी सी मालूम होकर नींद आती है। नींद के बाद सर में दर्द तथा हल्लास मालूम होता है। वातनाडियों पर इसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

हृदय के ऊपर इसका कोई विशेष परिणाम नहीं होता केवल प्राणदा (Vagus) नाडी केन्द्र की उत्तेजना से इसकी गति कम होकर उसे बल प्राप्त होता है। अधिक मात्रा में श्वसनकेन्द्र के अवसाद के कारण अन्य दुष्परिणाम दिखलाई देते हैं।

इसकी अल्प मात्रा से श्वसन क्रिया मंद लेकिन गम्भीर होती है। अधिक मात्रा में लेने से श्वसनकेन्द्र का अवसाद होकर श्वसन बहुत कम होते हुवे बाद में अनियमित हो जाता है। श्वसनकेन्द्र के घात एवं श्वासावरोध से मृत्यु होती है। कासकेन्द्र बहुत ही अल्प मात्रा से अवसादित होता है। औषधीय मात्रा से श्वसनियों का अल्प विस्फार होता है लेकिन अधिक मात्रा में संकोच हो जाता है।

इससे सभी प्रकार के स्राव कम होते हैं किन्तु पसीना एवं दुग्ध कम नहीं होता है। पाचक स्राव कम होता है जिससे भूख कम हो जाती है। अफीम में अन्य क्षाराभ होने के कारण आन्त्र की पुरस्सरण क्रिया अधिक कम होती है। इससे विबन्ध होता हैं तथा वेदनाहर होने के कारण शूल दूर होता है। स्राव कम होने से मुख, जीभ तथा गला सूखने लगता है।

चर्मगत रक्तवाहिनियों के विस्फार एवं स्वेद पिण्डों की उत्तेजना से पसीना अधिक होता है जिससे शरीर का ताप कम होता है। गला एवं चेहरे की रक्तवाहिनियों के विस्फार से कान गरम हो जाते हैं।

इससे मूत्र की मात्रा पर कोई परिणाम नहीं होता, लेकिन कभी कभी बस्तिद्वार के संकोच से कुछ रुकावट हो जाती है। कुछ विद्वानों के मत से मधुमेही के मूत्र में शर्करा की मात्रा तथा यूरिया (Urea) की मात्रा कम हो जाती है। वृक्क की विकृति में इसका उत्सर्ग शीघ्र न होने के कारण सावधानी के साथ इसका प्रयोग करना चाहिये। केन्द्रीय प्रभाव से, प्रारम्भ में वमन केन्द्र की उत्तेजना से वमन होता है, लेकिन अधिक मात्रा सेवन करने पर केन्द्रावसाद होजाने के कारण वामक द्रव्यों के प्रयोग से भी वमन नहीं होता।

केन्द्रीय प्रभाव से आंखों की पुतलियों का संकोच होता है। इसमें स्थानिक वेदनाहरण का गुण नहीं है। इसका प्रचूषण श्लैष्मिक कला तथा छिले हुवे चर्म से होता है। वेदनाहर प्रभाव केन्द्रीय प्रभाव के कारण होता है।

बच्चों एवं स्तनपान कराने वाली स्त्रियों में सावधानी के साथ इसका प्रयोग करना चाहिये। यदि रोगी को यह न बताया जाय की उसे अफीम दी जा रही है तो लगातार कई दिन तक देते रहने पर भी अफीम की आदत नहीं पड़ती।

अफीम के अन्य क्षाराभ—अफीम का मादक प्रभाव मुख्यतया मॉर्फीन के कारण है तथा अन्य परिणाम इतर क्षाराभों के कारण होते हैं। मॉर्फीन, पॅपेव्हेराइन, कोडीन, नार्कोटीन तथा थीबेन में मादक प्रभाव क्रमशः कम कम होता जाता है। प्रचूषण देर में होने के कारण मॉर्फीन की अपेक्षा अफीम का परिणाम देर में होता है लेकिन वह अधिक समय तक स्थायी रहता है। नार्कोटीन तथा पॅपेव्हेराइन आन्त्रिक मांसपेशियों को शिथिल करते हैं जब कि मॉर्फीन एवं कोडीन उनके तनाव को बढ़ाते हैं जिससे अफीम अधिक विबन्ध करने वाली होती है। नार्कोटीन एवं पॅपेव्हेराइन श्वसन केन्द्र को उत्तेजित करते हैं। मॉर्फीन एवं कोडीन की विषाक्तता नार्कोटीन बढ़ाता है। इसी प्रकार नार्कोटीन एवं पॅपेव्हेराइन,

मॉर्फीन के कार्य को बढ़ाते हैं। कोडीन एवं नार्कोटीन का सम्मिलित प्रभाव मॉर्फीन की तरह होता है जब कि दोनों अलग अलग बहुत ही अल्प प्रभावशाली हैं। ३ मि. ग्रा. नार्कोटीन तथा ३ मि. ग्रा. मॉर्फीन का सम्मिलित प्रभाव ६० मि. ग्रा. मॉर्फीन के बराबर होता है। कोडीन कास के केन्द्र को बहुत अल्प मात्रा में अवसादित करता है तथा मधुमेही में शर्करा की मात्रा कम करता है। थीबेन नामक क्षाराभ कुपीलुसत्व के सदृश सुषुम्ना को उत्तेजित करता है।

अफीम तथा मॉर्फीन के प्रयोग

(१) अल्प मात्रा में अफीम का उपयोग उत्तेजक औषध के रूप में बहुत अच्छा होता है। डर लगना, उदासीनता, चिन्तायुक्त वृत्ति, खेदवृत्ति, थोड़े से क्रोध से हाथ पैर कांपने लगना, थकावट एवं वृद्धावस्था में जीवन से निराश होना ऐसी परिस्थितियों में इससे बहुत लाभ होता है। निरोगी अवस्था में प्रयोग से कामवासना बढ़ती है।

(२) बहुत विचार करना, बहुत अभ्यास करना, चिन्ता तथा जिन जिन व्याधियों में पीडा की वजह से नींद न आती हो उनमें इसको निद्रा के ३ घण्टे पूर्व उपयोग किया जाता है।

(३) शूल, पीडा एवं प्रक्षोभ आदि के लिये यह बहुत ही उपयोगी है। इसका उपयोग गृध्रसी, वातनाडी शोथ, कटिशूल, सन्धिशूल, पार्श्वशूल, कष्टार्तव, चोट, शरीर का जलना, अस्थिभग्न, सन्धिभंग शस्त्रक्रिया के पूर्व एवं पश्चात, आन्त्रिकशूल, पैत्तिकशूल, वृक्कशूल, अश्मरी, आमाशयिक शूल, आमाशय प्रक्षोभ, आमाशयिक व्रण, आन्त्रिक व्रण एवं कर्कटार्बुद आदि में किया जाता है। वृक्कजन्य आक्षेप में मूत्रल औषधों के साथ इसे देते हैं।

(४) अतिसार एवं संग्रहणी आदि में जब मल पक्व हो जाता है लेकिन ग्रहणी दौर्बल्य से दस्त बन्द नहीं होते तब अन्य ग्राही औषधियों के साथ इसकी गोली का प्रयोग किया जाता है। ऐसी अवस्थाओं में जातीफलादि रस (भै० र०) या दुग्धवटी (भै० र०) का अच्छा उपयोग होता है। विसूचिका की प्रारंभिक अवस्था में अहिफेनासव के रूप में इसका उपयोग किया जा सकता है लेकिन शीताङ्ग अवस्था में इसका प्रयोग न करें। टायफॉइड (आन्त्रिक ज्वर) में अतिसार हो तो इससे दस्त कम होने के साथ साथ वातिक लक्षणों में भी लाभ होता है। डर, घबड़ाहट तथा अन्य मानसिक कमजोरी के कारण होने वाले अतिसार में भी इससे लाभ होता है।

(५) प्रतिश्याय के प्रारम्भ में स्वेदल औषध के रूप में इसको देते हैं।

(६) रक्तष्ठीवन में इसका उपयोग किया जाता है। इससे रक्त का दबाव कम होता है, हृदय की गति मन्द होती है, खांसी कम होती है, मानसिक चिन्ता दूर होती है एवं नींद आती है। रक्तातिसार तथा आमाशयव्रण में आंत्रिक गति कम होकर लाभ होता है।

(७) शुष्क कास, दमा, कुकास, फुफ्फुसावरण शोथ एवं क्षयज ग्रन्थियों की वृद्धि से प्रक्षोभ होकर सूखी खांसी आती हो तो इसको मधु के साथ चटाने से लाभ होता है। जिसमें कफ बहुत जमा हो और जिसमें खांसी कफ निकल जाने के लिये आरही हो उसमें अफीम का प्रयोग नहीं करना चाहिये। श्वासकृच्छ्र, नीलीमा एवं श्वसनमार्ग में अवरोध हो तो इसका प्रयोग न करें। दमें में इसके प्रयोग से आदत पड़ने की सम्भावना रहती है इसलिये जहां तक हो प्रयोग न करें।

(८) हृदय एवं रक्तवाहिनियों के कारण यदि श्वासकृच्छ्र हो तो इससे बहुत लाभ होता है लेकिन यदि जलोदर आदि के दबाव से हृदय का कार्य ठीक न होता हो तो इसका प्रयोग न करें।

(९) प्रचुर लालास्राव, श्वेतप्रदर एवं मधुमेह में इससे लाभ होता है। मधुमेह में अफीम का प्रयोग बहुत किया जाता है लेकिन कर्नल चोपरा के मत से इसमें बिलकुल लाभ नहीं होता।

(१०) मलेरिया आदि विषमज्वरों में इससे लाभ होता है ऐसी धारणा थी। जिन जिन स्थानों में अफीम का सेवन किया जाता है वहां मलेरिया कम होता है ऐसी धारणा थी। कुछ विद्वानों ने इसके नार्कोटीन (Narcotine) नामक क्षाराभ को $\frac{१}{२}$–१$\frac{१}{२}$ र० की मात्रा में मलेरिया में सफलतापूर्वक प्रयोग किया लेकिन कर्नल चोपरा के प्रयोगों के द्वारा यह ज्ञात होता है कि इससे मलेरिया के कीटाणुओं पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं होता। यह बात अवश्य है कि अफीम या नार्कोटीन मस्तिष्क के उन स्थानों का जहां सूक्ष्मतर वेदनाओं का ज्ञान होता है (Algesic areas of brain), अवसाद उत्पन्न करती है जिससे ज्वर में होने वाले शिरःशूल, बेचैनी एवं शरीर में पीड़ा आदि लक्षण कम होकर तथा पसीना आकर ज्वर कम होने से लाभ प्रतीत होता है। मस्तिष्क या उसके आवरण में शोथ होने से यदि ज्वर हो तो इसका प्रयोग न करें।

(११) गर्भपात में शामक औषध के रूप में अफीम या मॉर्फीन का पूर्ण मात्रा में उपयोग किया जाता है। अत्यार्तव एवं रक्तप्रदर आदि में नार्कोटीन से व्युत्पन्न अन्य स्टिप्टिसीन (Stypticin) या स्टिप्टॉल (Styptol) आदि का उपयोग आन्तरिक एवं स्थानिक पिचु आदि के रूप में व्यवहार किया जाता है।

(१२) फुफ्फुसावरण शोथ, आमवात एवं कटिशूल आदि में इसका पोल्टिस लगाया जाता है या १ छ० गरी या तिल के तेल में ३ मा० अफीम मिला कर मालिश की जाती है। मलाशय, श्रोणिगुहा की पीडा एवं परिकर्तिका आदि में अफीम की गुदवर्ति या बस्ति का उपयोग किया जाता है। शोथयुक्त अर्श पर माजूफल के साथ अफीम का मल्हम लगाया जाता है। कर्णशूल में ग्लिसरीन के साथ इसके टिंक्चर को कान में डालने से लाभ होता है।

अफीम के विष लक्षण—अफीम अधिक मात्रा में लेने से या आत्महत्या के लिये प्रयोग से घातक होती है। प्रथम तन्द्रा मालूम होती है। रोगी को उस समय जगाया जा सकता है लेकिन धीरे २ तन्द्रा बढ़ कर सन्यास का रूप धारण कर लेती है तब रोगी को जगाया नहीं जा सकता। आंखों की पुतलियां बिलकुल संकुचित हो जाती हैं लेकिन मृत्यु के कुछ मिनट पूर्व पुतलियां विकसित हो जाती हैं। शरीर ठण्डा और पसीने से तर हो जाता है। चेहरा, ओठ एवं अङ्गुलियां नीली पड़ने लगती हैं। नाडी अत्यन्त क्षीण तथा मन्द होती हैं। श्वास मन्द, अनियमित तथा अन्तिम अवस्था में घरघराहट युक्त हो जाता है। प्रत्याक्षिप्त क्रियाएं लुप्त हो जाती हैं। अन्त में श्वासावरोध से मृत्यु हो जाती है। अवसादावस्था प्रायः ४ से ६ घण्टे रहती है और ६ से १२ घण्टे में मृत्यु हो जाती है।

विष चिकित्सा—(१) सर्वप्रथम रोगी को रीठे का जल या सरसों या राई जल के साथ या तूतिया १० र० जल के साथ पिलाकर वमन कराना चाहिये। लेकिन प्रायः वमन केन्द्र के अवसादित होने के कारण वमन नहीं होता इसलिये सबसे अच्छा यह है कि स्टमक् पम्प या साइफन् के द्वारा आमाशय प्रक्षालन कराया जाय। सर्वप्रथम रोगी को २–४ र० पोटेशियम् परमॅग्नेट २ से ६ छ० जल के साथ पिला दें। फिर उसी के हलके घोल से आमाशय प्रक्षालन तब तक करें जब तक घोल का रंग उसी तरह नहीं रहता।

(२) श्वसन केन्द्र को उत्तेजित करने के लिये बार २ गरम कॉफी का क्वाथ पिलाना तथा ॲट्रोपीन, स्ट्रिक्नीन् $\frac{१}{६०}$ ग्रेन, कोरामीन एवं लेप्टॅझॉल् आदि का सूचिकाभरण करना, कृत्रिम श्वसन कराना या श्वसन यन्त्रों का उपयोग करना, ऑक्सीजन तथा कार्बन डाइ ऑक्साइड् को सुंघाना आदि उपचार करना चाहिये। अफीम आदि के अवसादक तथा मादक विषैले प्रभाव को दूर करने के लिये उसके ठीक विरोधी कार्य करने वाली एक नई औषध नॅलोर्फीन हाइड्रोक्लोराइड्

(Nalorphine Hydrochloride) ५–१० मि. ग्रा. की मात्रा में शिरा द्वारा दी जाती है। लेथिड्रोन (Lethidrone, Burr. & Well.) एवं नेल्लाइन हाइड्रोक्लोराइड (Nalline hydrochloride, Merck) नाम से यह डाक्टरी दुकानों में मिलती है। बच्चों में ०·२५ मि. ग्रा. हर दो मिनट पर कई वार दी जाती है। अन्य औषधों में चन्द्रोदय, कस्तूरी, जुन्दबेदस्तर, हींग, जद्वार या जहरमोहरा पिष्टी आदि को शहद के साथ वार-वार चटाना चाहिये।

(३) रोगी को सोने न दें। वार-वार उस पर ठंडा एवं गरम जल छिड़कते रहें। रोगी को पकड़कर चलावें। तीक्ष्ण नस्य, सरसों का लेप, वार-वार हिलाना आदि क्रियाओं से रोगी को जगावें।

अफीम के व्यसन के दुष्परिणाम—कुछ दिन लगातार अफीम खाने से उसकी आदत पड़ जाती है तथा उससे लाभ होने के लिये प्रत्येक समय मात्रा भी बढ़ानी पड़ती है। अफीमची २½–१० र० तक बिना किसी तीव्र दुष्परिणाम के अफीम का सेवन कर सकता है। इसके व्यसन से नैतिकपतन, कृशता, पाण्डु, मांसपेशियों की दुर्बलता, मांसपेशियों के कार्य में असमन्वयता, थकावट, नाडी की दुर्बलता, कंप, अग्निमांद्य, पाचन की खराबी, विबंध, निद्रानाश, तन्द्रा, नपुंसकता, अनार्तव एवं आंखों की पुतलियों का संकुचित होना आदि लक्षण होते हैं। लेकिन यदि अफीमची की अफीम बंद कर दी जाय तो भी मानसिक उत्तेजना, बेचैनी, आमाशय में पीडा, जलन एवं कभी-कभी वमन, विरेचन, स्वेदाधिक्य, पुरुषों में वीर्यपात और स्त्रियों में प्रहर्ष आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। एकाएक बंद करने से दुर्बल या वृद्ध लोगों में कभी-कभी अत्यन्त दौर्बल्य, अवसाद एवं निपात होकर मृत्यु भी हो सकती है।

अफीम छुड़ाने के उपाय—बच्चों में या जो दिन भर में २½ रत्ती से कम अफीम सेवन करते हैं या जो दुर्बल एवं वृद्ध नहीं है तथा किसी तीव्र शारीरिक रोग से पीडित नहीं है उनमें एकाएक अफीम बंद की जा सकती है। ३ दिन तक तकलीफ रहती है लेकिन बाद में ठीक हो जाती है। यदि हृल्लास, अतिसार एवं मानसिक प्रक्षोभ आदि लक्षण हों तो क्षारीय मिश्रण तथा शामक औषधों का प्रयोग करना चाहिये। निपात आदि के लिये ॲड्रिनॅलीन का सूचिकाभरण तथा चाय, कोको एवं अमोनिया आदि का प्रयोग करें।

सबसे सरल उपाय यह है कि धीरे-धीरे अफीम की मात्रा कम की जाय। कुचला, चिरायता एवं मिरिच आदि के साथ अफीम की गोलियां बनाकर उसका उपयोग करें। गोलियों में धीरे-धीरे अफीम कम करें। आहार में लेसिथिन नामक प्रभूजिन का उपयोग भी लाभदायक है। यह अंडे तथा सोयाबीन आदि में होता है। अल्प मात्रा में मद्य एवं कुछ शामक औषधों का उपयोग भी किया जा सकता है।

मात्रा—अफीम ½–१ र०; टिंक्चर ओपिआइ ५–३० बूंद, एक साल से कम उम्र के बच्चों को ½–१ बूंद से अधिक नहीं।

अथ खाखसतिलाः । तेषां नाम गुणाँश्चाह

उच्यन्ते खसबीजानि ते खाखसतिला अपि ॥ २३२ ॥
खसबीजानि बल्यानि वृष्याणि सुगुरूणि च । जनयन्ति कफं तानि शमयन्ति समीरणम्॥

खसखस के दाने के नाम तथा गुण—पोस्ता के दाने के ही खसबीज तथा खाखसतिल ये दोनों नाम संस्कृत में होते हैं। खसखस के दाने–बलकारक, वृष्य (वीर्यवर्धक) और अत्यन्त गुरुपाकी होते हैं तथा ये कफ के उत्पन्न करने वाले एवं वायु को शमन करने वाले होते हैं॥

८५ पोस्तादाना

हि०–पोस्तदाना, दाना, खसखस, खसखस के दाने, खसबीज। बं०–पोस्तदाना, पोस्तबीज। म०–गु०–खसखस। ता०–गशगश। मला०–कशकश। फा०–तुख्मे कोकनार। अ०–बज़रुल् खश्खाश। अं०–Poppy Seeds (पॉपी सीड्स)।

उक्त पोस्तवृक्ष के डोडें से निकले हुये बीज को पोस्तदाना कहते हैं। इसके स्वरूपादि का वर्णन पोस्ते की डोंडी के साथ किया गया है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक प्रकार का अप्रक्षोभक तैल पाया जाता है। इसमें कोई क्षाराभ नहीं पाया जाता।

गुण और प्रयोग—अफीम की जानकारी के पूर्व इन बीजों का व्यवहार आहार द्रव्य के रूप में किया जाता था। यह स्नेहन, निद्राजनक, पोषक तथा साधारण ग्राही होते हैं। मिठाइयों के ऊपर इसको छिड़का जाता है। इसका हलवा बनाकर खाया जाता है। निद्रानाश, दौर्बल्य, शुष्क कास एवं बस्ति विकार आदि में इसको पीसकर शर्करा या मधु के साथ खिलाया जाता है। इसका बाह्यलेप वेदनाहर माना जाता है।

इसके तैल का ऑलिव आईल की तरह ½–१ तो० की मात्रा में प्रयोग करते हैं। यह निद्राजनक है एवं शिरःशूल में इसको सिर पर लगाते हैं तथा कर्णशूल में इसे कान में डालते हैं।

अथ सैन्धवः। तस्य नामगुणानाह

सैन्धवोऽस्त्री शीतशिवं मणिमन्थश्च सिन्धुजम्। सैन्धवं लवणं स्वादु दीपनं पाचनं लघु।
स्निग्धं रुच्यं हिमं वृष्यं सूक्ष्मं नेत्र्यं त्रिदोषहृत्॥ २४१॥

सेंधानमक के नाम तथा गुण—सैन्धव (यह पुल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग में होता है), शीतशिव, मणिमन्थ और सिन्धुज ये संस्कृत नाम सेंधा नमक के हैं। सेंधानमक-स्वादिष्ट, अग्निदीपक, पाचक, लघु, स्निग्ध, रुचिकारक, शीतवीर्य, वृष्य, सूक्ष्म (सूक्ष्म स्रोतों में भी प्रवेश करके प्रभाव दिखाने वाला), नेत्रों के लिये हितकारी तथा तीनों दोषों को दूर करने वाला होता है॥ २४१॥

८६ सेंधानमक

हि०–सेंधानमक, सेंधानोन, लाहौरीनमक। बं०–सैंधवलवण। म०–सैंधवमीठ। गु०–सिंधालुण क०–सैंधव, सैंधवलवण। मा०–सीधोलूण। ते०–सैंधवलवणं, सिंधु उपु। पं०–सेंधानमक। ता०–इन्दु उप्पु। फा०–नमकेसंग। अ०–मिलहे तबरजद। अं०–Chloride of Sodium (क्लोराइड् ऑफ सोडियम्); Rock-salt (रॉक्साल्ट); Bay salt (बे साल्ट)। ले०–*Sodii chloridum* (सोडिआइ क्लोराइडम्)।

सेंधानमक एक सुप्रसिद्ध नमक सिन्ध देश की खानों से निकलता है। पत्थर के ढोंके के समान इसके बड़े-बड़े टुकड़े आते हैं। यह सब प्रकार के नमकों में शुद्ध नमक समझा जाता है। सिन्धु नदी के पूर्व में होने वाला नमक कुछ लाल रंग का होता है! इसमें पोटॅशियम् तथा मॅग्नेशियम् के कुछ लवण मिले रहते हैं। इन खानों में ऊपर का स्तर कुछ मटमैला होता है लेकिन नीचे का स्तर शुद्ध होता है। इस नमक को 'लाहोरी' नमक कहते हैं। सिन्धु नदी के

पश्चिम की खानों में नमक के स्तर के ऊपर गोदन्ती का एक स्तर रहता है। इसमें पोटेशियम् तथा मॅग्नेशियम् के लवण नहीं होते। इस नमक को 'कोहटी' या 'निमक सब्ज' कहते हैं। खानों से प्राप्त होने वाला एक और स्फटिक के समान पारदर्शक नमक होता है जिसे 'निमक शीश' (रसार्णव-मणिमंथ) और (अं) सल्जेम् (Salgem) कहते हैं।

उत्पत्ति—स्थानभेद से नमक की कई जातियां होती हैं लेकिन सबों में खाने का नमक रहता है। अन्य अशुद्धियों के कारण उनमें स्वाद, स्वरूप तथा गुणों में अंतर रहता है। सभी नमकों का मूल स्रोत समुद्र ही है। जहां आज पहाड़ हैं वहां भी किसी जमाने में समुद्र था और वहां का हिस्सा समुद्र से अलग होने से वहां का जल सूखकर नमक जम गया। कालान्तर से उस पर मिट्टी आदि जमती गई तथा यह पृथ्वी के अंदर नमक की खानों के रूप में रह गया।

भारत में खाने का नमक ३ प्रकार से प्राप्त होता है।

(१) समुद्र के जल को सूर्य की उष्णता से या उबालकर जो नमक तैयार किया जाता है उसे 'सामुद्र' कहते हैं।

(२) खारे तालाब, खारे झरने तथा खारे कूओं का जल या खारी मिट्टी पानी में घोलकर उस घोल को उबाल कर या धूप में सुखाकर तैयार करते हैं।

(३) पृथ्वी के अन्दर रहने वाली नमक की खानों से प्राप्त जिसे सैंधव कहते हैं।

बंबई तथा मद्रास का समुद्र किनारा, पंजाब का पहाड़ी नमक, राजपूताना की झीलें तथा विभिन्न स्थानों की रेह इनसे बहुत नमक प्राप्त होता है लेकिन सबसे अच्छा नमक सैंधव होता है। यद्यपि भारतवर्ष में नमक बहुत पाया जाता है तथा और अधिक बनाया भी जा सकता है तो भी ब्रिटिशकाल में सरकारी नियंत्रण के कारण विदेशों से भी नमक का आयात होता था।

गुण और प्रयोग—नमक शरीर का एक अत्यन्त आवश्यक पदार्थ है तथा रक्त रस (Serum) का प्रधान खनिज द्रव्य है। यह रक्त में निश्चित अनुपात में रहता है तथा शरीर के जलीयांश एवं लवणों के नियन्त्रण में सहायक होता है। कुछ मात्रा में यह धातुओं में संचित भी रहता है लेकिन जितना भी अधिक होता है यह मूत्र एवं पसीना आदि द्वारा शरीर से बाहर निकल जाता है। नमक की क्रिया ऑसमोटिक् दबाव के परिवर्तन से होती है। यह पूर्णतः एक भौतिक क्रिया होती है। यदि एक पात्र के बीच एक अर्ध प्रवेश्य परदा (Semi permeable membrane) लगाकर दोनों तरफ नमक के घोल भर दें जिसमें एक में नमक ज्यादा रहे और दूसरे में कम रहे तो कुछ देर बाद यह दिखलाई देगा कि जिसमें नमक अधिक रहा उस तरफ कम नमक वाले भाग से जल आकर्षित होकर धीरे-धीरे दोनों भाग के घोल एक ही समान हो जावेंगे। इस भौतिक परिवर्तन को 'ऑसमोटिक्' (Osmotic) क्रिया कहते हैं। रक्त के बराबर ऑसमोटिक् बल के लवण घोल को समबल लवणजल (Isotonic saline) कहते हैं। यह ०.९%नमक का घोल होता है। रक्त से अधिक बलवाले घोल को अतिबल लवणजल (Hypertonic saline) एवं रक्त से कम बलवाले घोल को हीनबल लवणजल (Hypotonic saline) कहते हैं। यदि अतिबल लवणजल का सिरा द्वारा सूचिकाभरण किया जाय तो रक्त का ऑसमोटिक् दबाव अधिक होगा जिससे समीपस्थ लसिका से जलापहरण होकर रक्त की मात्रा बढ़ेगी। रक्त के लाल कणों से भी द्रवापकर्षण होने से वे भी सिकुड़ जावेंगे। इसी प्रकार हीनबल लवणजल से रक्त के लाल कण जल खींच कर फूल जावेंगे। शरीर में जब भी विभिन्न बल वाले घोल समीप आते हैं इसी प्रकार की क्रिया होती है।

सैंधव रूचिकारक, अग्निदीपक, पाचक, वातानुलोमक, नेत्र्य, व्रण रोपक एवं व्रण शोधक है। अल्प मात्रा से इससे पाचक स्रावों की वृद्धि होती है लेकिन अधिक मात्रा में आमाशयिक प्रक्षोभ होकर वमन एवं जलापकर्षण द्वारा कभी-कभी विरेचन होता है। अल्पबल लवणजल का प्रचूषण आसानी से हो जाता है लेकिन अन्यों का कम होता है। अतिबल लवणजल के सूचिकाभरण से ऑसमोटिक् क्रिया द्वारा रक्त की मात्रा बढ़ती है जिससे मूत्र एवं पसीना आदि की मात्रा बढ़ जाती है।

कुछ लोगों के मत से नमक का अधिक सेवन बहुत ही लाभदायक एवं आयु को बढ़ाने वाला होता है लेकिन आयुर्वेदानुसार नमक का अधिक उपयोग हानिकर है।

(१) कुपचन, आध्मान एवं शूल आदि में अन्य औषधों के साथ इसका उपयोग किया जाता है। विसूचिका में जब शरीर से वमन एवं विरेचन के कारण बहुत सा द्रव तथा लवण निकल जाते हैं और शरीर ठण्डा होकर रोगी मरणासन्न हो जाता है ऐसी अवस्था में अतिबल लवणजल का सिरा द्वारा सूचिकाभरण बहुत ही आश्चर्यजनक लाभदायक होता है। इससे फिर से रक्त प्रवाह शुरु होकर रोगी बच जाता है। इसके लिये जिस घोल का उपयोग किया जाता है। उसके १ पाइंट परिस्रुत जल में शुद्ध नामक १२० ग्रे., पोटॅशियम् क्लोराइड् (Potassium chloride) ६ ग्रे. एवं कैल्शियम् क्लोराइड् (Calcium chloride) ४ ग्रे. रहता है। यदि शरीर में अम्लता अधिक हो तथा पोषण की भी आवश्यकता हो तो इसीमें सोडाबाईकार्ब (Soda bi carb) ४० ग्रे. एवं ग्लूकोज (Glucose) १४ ग्रे. मिलाया जाता है।

अतिसार, रक्तातिसार एवं अत्यधिक रक्त स्राव आदि में जलापहरण के कारण निपात (Collapse) एवं स्तब्धता (Shock) आदि होने पर समबल लवणजल के सिरा द्वारा सूचिकाभरण से बहुत लाभ होता है। इसी प्रकार मूत्र विषमयता (Uraemia), गर्भिणी विषमयता (Eclampsia) एवं कार्बन मॉनऑक्साइड (Carbon monoxide) नामक कोयले के धूएँ के विषैले प्रभाव आदि अवस्थाओं में इसी प्रकार के समबल लवणजल (०.९%) का उपयोग विष की तीव्रता कम करने के लिये किया जाता है। शरीर अत्यधिक दुर्बल हो गया हो तथा पोषण की त्वरित आवश्यकता हो तो ५% ग्लूकोज के साथ समबल लवणजल का उपयोग लाभदायक होता है।

इन उपर्युक्त अवस्थाओं में सिरा के अतिरिक्त चर्म के नीचे, मुख द्वारा एवं गुदा द्वारा लवणजल का उपयोग किया जा सकता है। गुदा द्वारा, २ माशे नमक करीब ५ छटांक जल में घोलकर रोगी को उत्तान लिटा कर तथा कूल्हों को कुछ ऊँचा करके रबर की नली द्वारा हर चार घण्टे पर दिया जाता है। घोल की उष्णता शरीर की उष्णता के बराबर या कुछ अधिक होनी चाहिये।

(२) डा. ब्रुक मलेरिया के लिये एक प्रयोग लिखते हैं। एक मुट्ठीभर नमक को कढ़ाई में डालकर मन्द आंच पर कुछ बादामी रंग होने तक भूनते हैं। इसमें से १ तो. नमक जल के साथ सुबह खाली पेट रोगी को दिया जाता है। इसके पश्चात् प्यास बहुत लगे तो थोड़ा-थोड़ा जल पीने को दें। २, ३ घण्टे तक खाने को कुछ भी न दें। बाद में बहुत भूख लगने पर हलका पौष्टिक आहार दें। रोगी को ठण्डक से बच कर रहना चाहिये। डा० ब्रुक का कहना है कि इसके एक ही बार के प्रयोग से मलेरिया दूर हो जाता है या कभी २ दो बार प्रयोग करना पड़ सकता है।

(३) व्रण, नाडीव्रण एवं दूषित क्षत आदि के प्रक्षालन के लिये परमबल लवणजल का प्रयोग किया जाता है-तथा विरल कपड़े (गॉज) की पट्टी इस घोल में भिगो कर व्रण पर रखी जाती है। इससे व्रणित भाग में लसिकास्राव एवं श्वेतकणों की वृद्धि होकर व्रण शुद्ध होकर जल्दी

अच्छा होता है। इस चिकित्सा में अन्य प्रतिदूषकों (Antiseptics) की तरह शरीर की कोषाओं को कुछ भी नुकसान नहीं पहुँचता।

(४) श्वसनक ज्वर (न्युमोनिया) में नमक की पोटली बना कर उससे छाती को सेंका जाता है जिससे कफ ढीला हो कर निकलता है तथा वेदना शांत होती है। इसका आंतरिक प्रयोग ४ र. की मात्रा में जल के साथ किया जा सकता है। संधिवात, आमवात, गंडमाला एवं आमाशयिक पीड़ा आदि में भी पोटली से सेंकने से लाभ होता है।

(५) इन्फ्लुएंझा, प्रतिश्याय एवं शिरःशूल तथा स्वास्थ वृद्धि के लिये १ तोला नमक १ सेर जल में डाल कर उसका नस्य बहुत लाभदायक है।

(६) गले की खराबी में कदुष्ण जल में नमक डाल कर उससे गरारा करना चाहिये। गला एवं तालु की शिथिलता होने पर ठंडे पानी में नमक डाल कर कुल्ला कराने से लाभ होता है।

(७) यदि गलती से जोंक गले के अन्दर चली जाय तो लवण जल पिलाते हैं। इसी प्रकार सिल्वर नाइट्रेट (Silver nitrate) नामक चांदी के दाहक क्षार के विष क दूर करने के लिये इसको पिलाते हैं।

(८) जीर्ण आमवात, गृध्रसी तथा अन्य पीडायुक्त संधि विकारों में एवं बिच्छू के काटने पर २०% उष्ण लवण जल में अवगाह किया जाता है तथा लवण जल पिलाते भी हैं।

(९) सूत्रकृमि (Thread worm) में इसकी वस्ति दी जाती है।

(१०) वमन कराने के लिये यह अत्युत्तम औषध है। अल्प मात्रा (२%) में देने से यदि वमन होता हो तो रुक जाता है।

(११) मांसपेशियों की दुर्बलता में नमकयुक्त ठण्डे जल की धारा से बहुत लाभ होता है विशेषकर वर्धमान लड़कियों की पीठ की दुर्बलता में इसका अच्छा उपयोग होता है। करीब १५ सेर जल में ३ सेर नमक डाल कर स्नान करने से रक्तप्रवाह बढ़ता है तथा स्फूर्ति मालूम होती है। मांसपेशियों की पीडा, चर्म रोग, मोच एवं मरोड आदि में भी स्नान से लाभ होता है।

निषेध—किसी भी प्रकार के शोफ, जलोदर तथा अन्य रोग जिनमें शरीर के अन्दर द्रव पदार्थों का संचय होता है उनमें नमक का प्रयोग नहीं करना चाहिये। रक्तभाराधिक्य, चर्मरोग एवं अत्यधिक प्यास आदि में भी इसका निषेध है। अधिक मात्रा में सिरा द्वारा लवणजल के प्रयोग से कभी-कभी इक्षुमेह (Glycosuria), साधारण ज्वर एवं क्वचित् मूत्र में अॅल्ब्यूमिन का निकलना आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। फुफ्फुस शोफ (Oedema of lungs) तथा हृदय अधिक भार सहन करने में असमर्थ हो तब सिरा द्वारा लवणजल का प्रयोग न करें नहीं तो मृत्यु की सम्भावना रहती है।

अथ शाकम्भरीयम्। तस्य नामगुणानाह

शाकम्भरीयं कथितं गडाख्यं रोमकं तथा ॥ २४२ ॥
गडाख्यं लघु वातघ्नमत्युष्णं भेदिपित्तलम्।
तीक्ष्णोष्णं चापि सूक्ष्मञ्चाभिष्यन्दिकटुपाकि च ॥ २४३ ॥

सांभर नमक के नाम तथा गुण—शाकम्भरीय के ही, गडाख्य (गडलवण) तथा रोमक पर्यायवाची शब्द हैं। सांभर नमक—लघु, वायुनाशक, अत्यन्त उष्णवीर्य, भेदी (मलादिक का भेदन

---

१. 'तीक्ष्णं व्यवायी'ति पाठान्तरम्।

करनेवाला), पित्तजनक, तीक्ष्णोष्णवीर्य, सूक्ष्म, अभिष्यन्दी तथा विपाक में कटुरस युक्त होता है ॥ ४२-४३ ॥

८७ साम्भरनमक।

हि०-साम्हर नमक, साम्भरनोन, सांभर निमक। बं०-साभरलुण, शाम्भारि लवण। म०—सांवर मीठ, सांभर लोण। गु०-वड़ागरू मीठ, साम्भरमोह, सामरलून। क०-गाड़लवड, गाढ़ लवण। फा०-मिलहे अत्रकीर, नमक साम्भर। अ०-मलह् उल् अवकर।

राजपुताना की झीलों के जल को सुखा कर जो नमक प्राप्त किया जाता है वह सांभर नमक कहलाता है। राजपुताना में सांवर नामक एक २० मील लम्बी तथा ५ मील चौड़ी झील है। इसमें ४ नदियां बहती हैं। बरसात में उसमें पानी जमा होता है। गर्मी में जल सूख जाता है। इसके २० भाग नमक में १५ भाग खाने का नमक, १ भाग सर्जिका (सोडियम् कार्वोनेट) तथा ३ भाग खारोनोन (सोडियम् सल्फेट) तथा अल्प मात्रा में आयोडीन एवं सोरे के लवण रहते हैं। यहां के जल को क्यारियों में जमा करते हैं जिसके सूर्य की गरमी से सूखने से उसमें का नमक अलग हो जाता है। जलमें अन्य अशुद्धियां रह जाती हैं जिसे फिर से झाल में डाल देते हैं। नमकीन जलको सुखा कर बनाये हुए नमकों में यह सबसे अच्छा होता है। इसका स्वाद कुछ कटु होता है।

गुण और प्रयोग—इसके गुण भी सैंधव की तरह होते हैं लेकिन वह उससे न्यून गुण वाला है।

अथ सामुद्रं लवणं (पाङ्गा) तस्य नामगुणानाह

सामुद्रं यत्तु लवणमक्षीवं वशिरञ्च तत्। समुद्रजं सागरजं लवणोदधिसम्भवम् ॥ २४४ ॥
सामुद्रं मधुरं पाके सतिक्तं मधुरं गुरु। नात्युष्णं दीपनं भेदि सक्षारमविदाहि च ॥
श्लेष्मलं वातनुत्तीक्ष्णमरूक्षं[१] नातिशीतलम् ॥ २४५ ॥

समुद्रनोन (पांगा) के नाम तथा गुण—समुद्रलवण के ही अक्षीव, वशिर, समुद्रज, सागरज और लवणोदधिसम्भव ये संस्कृत नाम हैं। **समुद्र नमक**—पाक में मधुररस युक्त, स्वाद में तिक्तरस मिश्रित मधुररस युक्त और गुरु होता है। यह अत्यन्त उष्णवीर्य नहीं होता है। यह दीपद, भेदी, क्षारगुण युक्त, अविदाही (दाह नहीं पैदा करने वाला), कफकारक, वातनाशक एवं तीक्ष्ण होता है। यह रूखा तथा अत्यन्त शीतल भी नहीं होता है ॥ २४४-२४५ ॥

८८ समुद्रनमक

हि०-पांगनिमक, पंगानोन, समुद्रनिमक, समुद्रीनोन। बं०-पांगा। म०-मीठ। गु०-मीठुं, दरियाइ लूण। ते०, ता०-उप्पु। फा०-नमक, नमक दरिया। अ०-मिलह शोरी, मलहे उल् मुहीत। अं०-Salt (साल्ट)। ले०-*Sodii muras* (सोडिआइ मुरास्)।

समुद्र के खारे पानी से बनाये हुए नमक को समुद्र नमक कहते हैं। भारत में आवश्यक नमक का ३७% भाग बंबई के समुद्री तट से निर्मित होता है। नमक निकालने के लिये विभिन्न देशों में हवा की उष्णता के अनुसार विभिन्न पद्धतियां काम में लाई जाती हैं। समुद्र के किनारे पर छोटे-छोटे गढ़े बनाते हैं जिसमें समुद्र का जल धीरे-धीरे भरता है। सूर्य की गरमी से उसमें

---

(१) तिक्तेति' पाठान्तरम्।

का जलीय अंश सूखने लगता है। १०० भाग जल में ३७ भाग नमक घुलता है। नमक को घुलने के लिये जितने जल की आवश्यकता होती है उससे कम जल जब सूख कर रह जाता है तब उसमें का नमक अलग होकर नीचे जमने लगता है। जैसे-जैसे नमक जमता है वैसे-वैसे उसे निकल कर जमा करते जाते हैं। उस नमक की राशि में से मॅग्नेशियम् क्लोरायड (Magnesium chloride) निस्यंदित होकर निकल जाता है। समुद्री जल में खाने के नमक के साथ पोटॅशियम् क्लोराइड (Potassium chloride), मॅग्नेशियम् क्लोराइड् (Magnesium chloride), मॅग्नेशियम् सल्फेट् (Magnesium sulphate) एवं कॅल्शियम् सल्फेट् (Calcium sulphate) आदि द्रव्य रहते हैं जो खाने के नमक निकालने के बाद उस जल में रह जाते हैं। इस कड़वे जल में से इन पदार्थों को विभिन्न पद्धतियों से अलग कर लेते हैं। बाजारू समुद्री नमक कुछ आर्द्र रहता है उसका कारण यह है कि उसमें मॅग्नेशियम् एवं कॅल्शियम् क्लोराइड्स् के कुछ अंश रह जाते हैं। शुद्ध नमक आर्द्र नहीं होता तथा इसका १ भाग २$\frac{3}{5}$ भाग जल में घुल जाता है।

गुण और प्रयोग—सामुद्र लवण के गुण सैंधव के समान होते हुवे भी इसमें जो अन्य पदार्थ रहते हैं उनके कारण कुछ अंतर पड़ता है।

(१) समुद्र में स्नान करने से जो चुमचुमाहट होती है उसके कारण शरीर का रक्त प्रवाह बढ़ जाता है तथा उससे शरीर में स्फूर्ति मालूम पड़ती है।

(२) समुद्री जल का मांसपेश्यन्तर्गत सूचिकाभरण अजीर्ण, शोष, जीर्ण चर्मविकार तथा बच्चों के पचनसंस्थान के विकारों में लाभदायक माना जाता है।

(३) समुद्री नमक में आयोडीन (Iodine) रहने के कारण गलगण्ड (Goitre) के प्रतिबंधन की दृष्टि से इसका उपयोग लाभदायक माना जाता है।

(४) पाण्डु, आमाशयिक व्रण, प्रतिश्याय, वातनाडीशोथ, नाड्यवसन्नता एवं पचनसंस्थान की दुर्बलता में समुद्री जल का उपयोग रोगनाशकरूप में किया जाता है। फ्रांस में बच्चों की जीवनी शक्ति (Vitality) बढ़ाने के लिये इसका प्रयोग करते हैं।

अथ बिडलवणम् (बिरियासंचर)। तस्य नामगुणानाह

बिडं पाक्यञ्च कृतकं तथा द्राविडमासुरम्।
बिडं सक्षारमूर्ध्वाधःकफवातानुलोमनम् ॥ २४६ ॥

बिरिया संचर नमक के नाम तथा गुण—बिड, पाक्य, कृतक, द्राविड तथा आसुर ये सब बिरिया संचर नमक के संस्कृत नाम हैं। **बिरिया संचर नमक**—क्षार गुण युक्त (विकृत त्वचा मांसादिकों को गला कर दूर करने वाला) होता है, तथा ऊपर (मुखादि) के मार्ग से कफ एवम् नीचे (गुदादि) के मार्ग से वायु का अनुलोमन करने वाला अर्थात् कफ को मुखादि से निकालने वाला और अपान वायु को अधोगामी करने वाला होता है ॥ २४६ ॥

ऊर्ध्वं कफमधो वातं सञ्चारयेदित्यर्थः ॥ २४६ ॥

यहां पर 'ऊर्ध्वाधःकफवातानुलोमनम्' का—'ऊपर मुखादि की ओर कफ को एवं नीचे गुदादि की ओर अपान वायु को संचारित करने वाला' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २४६ ॥

दीपनं लघु तीक्ष्णोष्णं रूक्षं रुच्यं व्यवायि च।
विबन्धानाहविष्टम्भहृद्रुग्गौरवशूलनुत् ॥ २४७ ॥

विरिया संचर नमक—अग्निदीपक, लघु (शीघ्र पच जाने वाला) तीक्ष्ण तथा उष्णवीर्य, रूक्ष, रुचिकारक, व्यवायि (परिपक्व होने के पहले ही शरीर में प्रभाव दिखाने वाला), विबन्ध, आनाह, विष्टम्भ, हृद्रोग, शरीर की गुरुता तथा शूल को नष्ट करने वाला भी होता है॥

८९ विरिया संचर नमक।

हि०–विरिया (आ) नमक, विरिया संचर नमक, विरिया सोंचर नमक, कटीला नमक, कालानमक। बं०–विट्नुन। म०–पादेलोण, विडलोण। गु०–विड लवण।

विडलवण क्या है इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। श्रीयुत द० अ० कुलकर्णी जी ने अपनी रसरत्नसमुच्चय की टीका में इसका स्पष्टीकरण किया है। जो क्षार, अम्ल, गंधक तथा नमक आदि पदार्थ पारद में दिये हुवे ग्रास को जीर्ण करने के लिये प्रयुक्त होते थे उन्हें विड कहा जाता था। बाद में इस शब्द का प्रयोग अन्य धातुओं को पारद में जीर्ण कराने के लिये एवं भिन्न-भिन्न धातुओं के शोधन अथवा द्रावण के लिये प्रयुक्त द्रव्यों के लिये किया जाने लगा। इसके पश्चात् रसशास्त्र की अवनति के काल में उपर्युक्त दोनों अर्थ भूल गये और विड का प्रयोग नमक के साथ करके बिडनमक के रूप में कालानमक के लिये आजकल किया जा रहा है। यह कालानमक मनुष्य के खाये हुवे ग्रास अथवा गुरु भोजन को जीर्ण अथवा हजम कराने में समर्थ होने के कारण बिडनमक या कालानमक यह अर्थ ही अब व्यवहार में विशेष रूढ हो गया है।

सुश्रुत की टीका में डल्हण लिखते हैं कि 'कृत्रिमं स्वनाम्ना ख्यातं, तच्च प्रसारिणी कल्कभक्तलवणसंयोगादग्निदाहेन निवृत्तम्' अर्थात् प्रसारिणी का कल्क, भात तथा नमक आदि को जलाकर बनाया हुआ नमक। गुजरात की ओर उपर्युक्त चीजों को गढ़े में डालकर जलाते हैं तथा १०, १५ दिन बाद उसमें से नमक के ढेले निकाल कर व्यवहार करते हैं।

कुछ लोगों ने सौवर्चल लवण को कालानमक लिखा है।

आजकल बिडलवण नाम से जिस काले नमक का व्यवहार किया जाता है उसके बनाने की निम्न विधि है। यह हिसार जिले में भिवानी नामक ग्राम में अधिक बनाया जाता है। १ मन सेंधानमक तथा हर्रा, आंवला तथा सज्जीखार (व्यापार का सोडियम् कार्बोनेट) प्रत्येक आधा सेर लेकर सब चीजों को कूट कर एवं मिलाकर मिट्टी की हांडियों में पकाते हैं। जब सब चीजें गलकर एक हो जाती हैं तब आंच को बन्द करके ठंडा होने पर नमक के ढोकों को निकाल लिया जाता है। एक अन्य विधि यह है कि २८ सेर सांभर नमक तथा ५० तो० आंवला चूर्ण को मिला कर उसका चतुर्थांश एक संकरे मुंह की हांडी में रखकर गरम करें तथा लाल होने पर बाकी चूर्ण में से थोड़ा थोड़ा उस हांडी में डालते जांय। करीब ६ घण्टे पश्चात् २४ सेर के लगभग काला नमक तैयार हो जावेगा।

यह काला नमक गहरे लाल काले से चमकीले रंग का, नमकीन एवं विशिष्ट गंधयुक्त होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें प्रधानतया (९५%) खाने का नमक तथा अत्यल्प मात्रा में खारी नोंन (Sodium Sulphate-सोडियम् सल्फेट), ॲल्यूमिना, मॅग्नेशिया, फेरिक् ऑक्साइड् एवं आयर्न सल्फाइड् आदि पदार्थ पाये जाते हैं। इसकी गन्ध इसके आयर्न सल्फाइड् के कारण रहती है लेकिन इसमें यह बहुत अल्प (१०० में १ से कम) मात्रा में रहता है।

गुण और प्रयोग—यह अग्निदीपक, वातानुलोमक, विरेचक एवं बल्य है। इसका प्रयोग प्लीहावृद्धि, यकृत् विकार, आध्मान, शूल, अपचन एवं अन्य आन्त्रिक विकारों में किया जाता है।

मात्रा—२–८ रत्ती।

अथ सौवर्चलं लवणम् । तस्य नामगुणानाह

सौवर्चलं स्याद् रुचकं मन्थपाकश्च तन्मतम्[1] । रुचकं रोचनं भेदि दीपनं पाचनं परम् ॥
सस्नेहं वातनुन्नातिपित्तलं विशदं लघु । उद्गारशुद्धिदं सूक्ष्मं विबन्धानाहशूलजित् ॥२४९॥

काला नमक के नाम तथा गुण – सौवर्चल, रुचक और मन्थपाक ये सब काला नमक के संस्कृत नाम हैं। कालानमक–रोचक, भेदक, अग्निदीपक, अत्यन्त पाचक, स्नेहयुक्त, वातनाशक एवम् अत्यन्त पित्तजनक नहीं होता है। तथा यह विशद गुण युक्त, हलका, उद्गार (डकार) को शुद्ध करने वाला, सूक्ष्म (सूक्ष्म स्रोतोगामी), विबन्ध, आनाह तथा शूल का नाश करने वाला है ॥ २४८-२४९ ॥

९० सोंचर नमक।

हि०-कालानमक, सोंचर नमक, चौहार कोड़ा, चोहार कोरानोन, चौहार कारा, चौहार काला। बं०-संचल लवण। म०-सोनचक मीठ। गु०-संचल। क०-चौवर्चल। ते०-नालु उपु। फा०-नमक सिया, नमक स्याह। यू०-नमक काला। अ०-माला अस्वद, मलह अस्वद। अं०-Black Salt (ब्लॅक साल्ट), Sochal Salt (सोचल साल्ट)। ले०-*Unaqua Sodium Chloride* (अनकुआ सोडियम् क्लोराइड)।

जिस प्रकार विडलवण के सम्बन्ध में मतभेद है उसी तरह सौवर्चल लवण के सम्बन्ध में भी मतभेद हैं। कुछ लोगों ने इसे काललवण लिखा है। कुछ लोगों ने यह लिखा है कि जो सौवर्चल निर्गन्ध होता है वह काललवण है तथा वह दक्षिण समुद्र के समीप बनता है। डा० देसाई लिखते हैं 'रसग्रन्थों में सौवर्चल नाम शोरे को दिया गया है। सु = सुष्ठु, वर्चः = दिप्ति, अल् = प्राप्ति, सर्वथा अलति अनेन इति सौवर्चलं = जिसके कारण भली प्रकार प्रकाश पड़ता है अर्थात् 'वह्न्युत्तेजक'। श्रीयुत द. अ. कुलकर्णीजी लिखते हैं 'जिस मिट्टी से शोरा प्राप्त किया जाता है उसे लुनिया मिट्टी कहते हैं तथा उस मिट्टी में कुछ खाने का नमक भी रहता है जिसे अलग कर लिया जाता है। ऐसे नमक में कुछ शोरे का अंश रहता है। शोरे के साथ-साथ पैदा होने के कारण तथा शोरे की कुछ मात्रा इसमें रहने के कारण इसको सोंचर अथवा सोवर्चल कहते हैं।

सोंचर नमक बनाने की निम्न विधि प्रचलित है। सज्जी माटी को जल में घोल दिया जाता है फिर उसमें थोड़ा थोड़ा खाने का नमक डालते जाते हैं और जितना घुलता है उतना घुलने देते हैं। फिर इस घोल को छानकर अग्नि से सुखाते हैं। यह कुछ गहरे रङ्ग का होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें खाने का नमक, खारी नोंन (सोडा सल्फ) एवं सज्जीखार (कॉस्टिक् सोडा) रहता है लेकिन सोडियम् कार्बोनेट नहीं रहता।

गुण और प्रयोग—इसका उपयोग विड लवण के स्थान पर भी किया जाता है। यह अग्नि-दीपक, पाचक एवं विरेचक होता है। इसका उपयोग शूल, गुल्म, आन्त्रकृमि एवं संग्रहणी आदि में किया जाता है।

मात्रा—२-८ रत्ती।

अथ खानिजं लवणम्। तस्य नामगुणानाह

औद्भिदं पांशुलवणं यज्जातं भूमितः स्वयम्। क्षारं गुरु कटु स्निग्धं शीतलं वातनाशनम् ॥

खानिज लवण अर्थात् रेहगवा नोन के नाम, उत्पत्ति तथा गुण—औद्भिद तथा पांशुलवण

१. 'अक्षपाकं च धातुमत्' इति पाठा०।

ये दो नाम संस्कृत में उस नमक का है जो कि जमीन से स्वयम् उत्पन्न होता है। रेहगवा नोन–क्षार गुणयुक्त, गुरु, कटुरसयुक्त, स्निग्ध, शीतल और वातनाशक होता है॥ २०५॥

९१ रेह का नमक

हि०–रेहगवा नोन, रेह का नमक, मटिया नोन, शोरा नोन। बं०–फूला लवण।

जांगल देश की खारी भूमि में रेह उत्पन्न होती है। उत्तरप्रदेश, पञ्जाब, बिहार एवं बंगाल आदि प्रान्तों की ऊसर जमीन में भी रेह होती है। उसी रेह से बना हुआ नमक रेहगवा नोन कहलाता है। जिस प्रकार की मिट्टी होगी उसी प्रकार का नमक प्राप्त होता है। जिस मिट्टी से शोरा अलग किया जाता है उससे प्राप्त नमक में शोरे का अंश रहता है। ऐसे नमक को कुछ लोग सौवर्चल लवण मानते हैं। तथा सज्जी मिट्टी से प्राप्त नमक में सज्जीखार की कुछ मात्रा रहती है। इसे वे औद्भिद लवण या रेहगवा नोन मानते हैं। कुछ भी हो जो ऊसर मिट्टी से नमक निकाला जाता है उसे रेहगवा नोन कहा जाता है। यह नमक कुछ तीता, कडवा एवं क्षारीय होता है।

रासायनिक संगठन—इस नमक में काफी मात्रा में खारी नोन (सोडा सल्फ) तथा अल्प मात्रा में सोडियम् कार्बोनेट एवं मॅग्नेशियम् सल्फेट रहते हैं।

गुण और प्रयोग—रोचक, दीपन एवं पाचन गुण के कारण सभी पाचन योगों में इसका व्यवहार किया जाता है। सामान्य मात्रा में मूत्रल भी होता है। योगों के अतिरिक्त स्वतन्त्ररूप में लवणों का प्रयोग बहुत कम किया जाता है। वमन कराने के लिए प्रायः सैन्धव ही प्रयुक्त होता है।

मात्रा—४ रत्ती से १ माशा।

नोट—उपर्युक्त लवणों के अतिरिक्त चरक (वि. अ. ८) के लवण स्कन्ध में एवं सुश्रुत (सू. अ. ४६) में इतर विशिष्ट लवणों का उल्लेख किया गया है।

अथ चणकाम्लकम्। तस्य गुणानाह

चणकाम्लकमत्युष्णं दीपनं दन्तहर्षणम्। लवणानुरसं रुच्यं शूलाजीर्णविबन्धनुत्॥ २५१॥

चनाखार के नाम तथा गुण—चनाखार को संस्कृत में चणकाम्ल कहते हैं। चणकाम्ल—अत्यन्त उष्णवीर्य, अग्निदीपक, दन्तहर्षण (दन्तहर्ष अर्थात् दांतों में खट्टापन लग जाने से चबाने में असमर्थ कर देने वाला), कुछ लवण रस युक्त, रुचिकारक, शूल, अजीर्ण तथा विबन्ध को दूर करने वाला होता है॥ २५१॥

९२ चनाखार

हि०–चने का खारा, चनाखार, चनक लोनी, चने का सिरका। म०–हरभऱ्याची आंब। गु०–चणा नो खार।

मार्गशीर्ष के महीने में जब चने के क्षुप लवण युक्त हो जाते हैं तब मलमल का सफेद कपड़ा लेकर प्रतिदिन प्रातःकाल उक्त क्षुपों पर फेर, उन पर पड़े हुए ओस की बूँदों से उसको तर कर सुखा दे। इस प्रकार एक मास करके उस कपड़े को पानी में खूब मलकर उसका अम्ल पदार्थ निकाल ले। फिर उस पानी को ५–७ घण्टे स्थिर छोड कर उसका पानी नितार ले। नीचे जमे

हुए पदार्थ को सुखा ले और पानी को अग्नि पर औंटा कर उसको भी सुखा ले। फिर दोनों को एक में मिला कर सुरक्षित रख दें। उपर्युक्त विधि के अतिरिक्त केवल रात में या सुबह मलमल का कपड़ा चने के क्षुपों पर डाल कर सुबह उसको निचोड़ लेते हैं। जो द्रव प्राप्त होता है उसे उसी द्रव रूप में या सुखा कर काम में लाया जाता है। कुछ लोग क्षार-निर्माण विधि की तरह चने का क्षुप जलाकर उससे क्षार निकालते हैं वह गलत है क्योंकि उसमें तो केवल क्षार (पोटॅशियम् कार्बोनेट) ही रहता है। यहां जो गुण दिये गये हैं वे अम्ल के हैं। इसलिये ऊपर दी हुई विधि से ही इसे बनाना चाहिये न कि क्षाररूप में।

रासायनिक संगठन—यद्यपि इसे चनाखार लिखा गया है लेकिन इसमें अम्ल द्रव्य होते हैं। इसमें ऑक्झॅलिक् (Oxalic), मॅलिक् (Malic) एवं ॲसेटिक् (Acetic) आदि अम्ल पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—चणकाम्ल का उपयोग उदरशूल, अजीर्ण, बच्चों के आमातिसार, अग्निमांद्य, विबन्ध तथा कष्टार्तव में किया जाता है। इसको जल में मिला कर लू लगने पर तथा ज्वर में देने से तृषा, दाह एवं सन्ताप कम होता है। अजीर्ण में इसको सिरका के साथ मिला कर पिलाते हैं। लौंग तथा मिश्री के साथ इसको जल में मिलाकर हैजे में देने से लाभ होता है। मधुमेह एवं पथरी में इसका प्रयोग हानिकारक है।

मात्रा—१-२ रत्ती या ५-१० बूंद।

अथ यवक्षारः स्वर्जिका सुवर्चिका च। तन्नामगुणानाह

पाक्यं क्षारो यवक्षारो यावशूको यवाग्रजः। स्वर्जिकाऽपि स्मृतः क्षारः कापोतः सुखवर्चकः॥
कथितः स्वर्जिकाभेदो विशेषज्ञैः सुवर्चिका। यवक्षारो लघुः स्निग्धः सुसूक्ष्मो वह्निदीपनः॥
निहन्ति शूलवातामश्लेष्मश्वासगलामयान्। पाण्ड्वर्शोग्रहणीगुल्मानाहप्लीहहृदामयान्॥
स्वर्जिकाऽल्पगुणा तस्माद्विज्ञेया गुल्मशूलहृत्।
सुवर्चिका स्वर्जिकावद् बोद्धव्या गुणतो जनैः॥ २५५॥

जवाखार, सज्जी तथा सोरा के नाम और गुण—पाक्य, क्षार, यवक्षार, यावशूक और यवाग्रज ये सब जवाखार के संस्कृत नाम हैं। स्वर्जिका, क्षार, कापोत और सुखवर्चक ये सब सज्जी के संस्कृत नाम हैं। जवाखार की भाँति इसका भी संस्कृत में क्षार नाम है। द्रव्यों की विशेषताओं के ज्ञाता वैद्य जन सोरा को सज्जी का ही भेद बतलाते हैं। इसे संस्कृत में सुवर्चिका कहते हैं। **जवाखार**—लघु, स्निग्ध, अत्यन्त सूक्ष्म (सूक्ष्म स्रोतोगामी) तथा अग्निदीपक होता है एवम् यह शूल, वायु, आम, कफ, श्वास, गलरोग, पाण्डुरोग, बवासीर, संग्रहणी, गुल्म, आनाह, प्लीहा और हृद्रोग का नाश करता है। **सज्जी**—इसे जवाखार की अपेक्षा न्यून गुणवाली तथा विशेष करके गुल्म तथा शूल को दूर करने वाली समझना चाहिये। **सुवर्चिका** (सोरा)?—इसे लोग गुणों में सज्जी के समान ही समझें, ऐसा वैद्यों का मत है॥ २५२-२५५॥

९३ जवाखार।

हि०—जवाखार, जवखार। बं०—यवक्षार। म०—झाडाचे मीठ, जवाखार। गु०—जवाखार, खारो। ता०—मरवप्पु। ते०—मानुवप्पु। मल०—कारम्। क०—मरदउप्पु। अं०—Impure carbonate of potash (इम्प्योअर कार्बोनेट ऑफ् पोटॅश्)। ले०—*Potasii carbonas* (पोटॅसाइ कार्बोनस्)।

जब यव क्षुपों पर बाल निकलने वाले हों तब पञ्चांग को संग्रह कर सुखा दें। और सुखाने पर आग लगा कर राख बना उसको २४ घंटे आठगुने पानी में भिगो दें। यदि पञ्चांग जलाने के बाद उसकी राख काली रहे तो जल में डालने के पूर्व उसे कढ़ाई में डाल कर राख सफेद होने तक पकाना चाहिए। फिर ऊपर का स्वच्छ जल नितार लें अथवा फिल्टर से पानी को छान लें। उस स्वच्छ जल को किसी कलईदार कड़ाही में अग्नि पर पकावें। पानी सूखने पर कड़ाही में जमे हुए क्षार को खुरच कर सुरक्षित रखें। इसी को जवाखार कहते हैं। यवक्षार नाम से औषध में उपर्युक्त विधि से तैयार किये हुए क्षार का व्यवहार करना चाहिये। इस क्षार में अधिकांश मात्रा पोटॅशियम् कार्बोनेट (Potassium carbonate) की रहती है तथा कुछ अन्य पदार्थ भी रहते हैं। इसी प्रकार अधिकांश वृक्षों की राख में भी पोटॅशियम् कार्बोनेट रहता है। तथा उनके अन्दर रहने वाले अन्य विभिन्न पदार्थों के कारण विभिन्न क्षारों के गुणों में अन्तर पाया जाता है। काष्ठमय झाड़ियों की अपेक्षा रसयुक्त वर्षायु क्षुपों में यह अधिक पाया जाता है।

व्यापार की दृष्टिसे पोटॅशियम् कार्बोनेट्, आर्टिमिसिआ या वर्मवुड् (Artemisia; Wormwood) नामक वृक्षों से, बीटरूट् (Beet–root) से, मेंड़ के बालों को धो कर उस घोल से, सोराखार से एवं पोटॅशियम् सल्फेट (Potassium sulphate) आदि से प्राप्त किया जाता है। भूमि में पोटॅशियम् के लवण रहते हैं। वृक्ष भूमि से इनका शोषण कर लेते हैं। इनके बिना वृक्षों की वृद्धि नहीं होती।

उपर्युक्त क्षार मृदुक्षार कहलाता है। तीक्ष्ण क्षार बनाने के लिये क्षारोदक (वृक्ष को जला कर बनाई राख के जलीय भाग) में चूना मिलाना चाहिये तथा बाद में उस घोल को सुखाना चाहिये। यह अत्यन्त दाहक होता है तथा इसमें पोटॅशियम् हाइड्रोऑक्साइड् रहता है। यवक्षार का स्वाद राखी के समान किन्तु कुछ नमकीन होता है।

गुण और प्रयोग—यवक्षार अग्निदीपक, मृदुविरेचक, अम्लतानाशक, रक्तशोधक, सौम्य मूत्रल, कफनिःसारक एवं कुछ स्वेदजनक है।

इसका उपयोग शूल, अजीर्ण, अम्लपित्त, अम्लोत्कर्ष, मूत्रकृच्छ्र, यकृत प्लीहा एवं अन्यग्रन्थियों की वृद्धि, ज्वर, अर्श, कामला एवं गुल्म में किया जाता है।

(१) जीर्ण आमाशयशोथ तथा आमाशय में श्लेष्मा की अधिकता होने पर भोजन के २० मिनट पूर्व यवक्षार का उपयोग अन्य सुगन्धि एवं तिक्त औषधों के साथ किया जाता है जिससे श्लेष्मा कम हो कर पाचक स्रावों की उत्पत्ति होती है तथा पाचन ठीक होता है। परिणाम शूल एवं अम्लपित्त आदि विकारों में भोजन के २ घंटे पश्चात् इसके उपयोग से अम्लता की अधिकता से होने वाला शूल नहीं होता। नींबू के रस के साथ फेनायमान मिश्रण के रूप में लेने से आमाशय पर शामक प्रभाव होकर वमन में लाभ होता है।

(२) यकृत, प्लीहावृद्धि एवं गुल्म आदि में बड़ाहर्रा, रोहितक की छाल एवं छोटी पीपल के काथ के साथ इसका उपयोग किया जाता है। इसके उपयोग से आन्त्रिक श्लेष्मा कम होकर पित्त मार्ग का अवरोध दूर होने से कामला में लाभ होता है।

(३) इसके उपयोग से कफ पतला होकर निकलने लगता है। शुष्क कास तथा श्वसनिका-शोथ आदि में ४ रत्ती यवक्षार, १० बूंद अडूसा का रस तथा २ रत्ती लौंग का चूर्ण देने से लाभ होता है।

(४) ज्वर तथा अन्य अम्लोत्कर्ष की अवस्थाओं में इसका उपयोग किया जाता है। ज्वर में स्वेदल रूप में पसीना लाने के लिये नीम के रस या काथ के साथ इसका उपयोग लाभदायक है।

(५) इससे वृक्कों को उत्तेजना मिलने से मूत्रोत्सर्ग अधिक होता है। मूत्रकृच्छ्रता में इससे प्रक्षोभ का शमन होकर पेशाब की जलन दूर होती है। मूत्र की प्रतिक्रिया क्षारीय होने से यूरिक् एसिड (Uric acid) का उत्सर्ग अधिक हो कर आमवात, वातरक्त तथा यूरिक् एसिड से बनने वाली पथरी में लाभ होता है।

(६) इसके घोलका बाह्य प्रयोग शीतपित्त, उदर्द, खुजली, श्वित्र, विचर्चिका एवं कीटदंश पर किया जाता है। इससे त्वचा के ऊपर का तैलीय अंश घुल कर निकल जाता है जिससे सादे जल की अपेक्षा इसके घोल से त्वचा अधिक साफ हो जाती है।

अधिक मात्रा में इसके प्रयोग से अतिसार, शोथ, फॉस्फेट्स से बनने वाली पथरी आदि व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं तथा वृक्क भी विकार ग्रस्त हो जाते हैं।

मात्रा—१-२ रत्ती।

९४ सज्जी।

हि०-सज्जी, सज्जीखार, सज्जीमिट्टी। बं०-साजिखार, साजीमाटी, साजी खार। म०-सज्जीखार, साजी। मा०-साजीक्षार। गु०-साजीखार। क०-साजीखारुं, साजी खार, सज्जीखार। ता०-सज्जीकारं। पं०-सज्जी, लोटा सज्जी, खगनखार। फा०-संजार कलिया, अशखार। अ०-कलिमास्कर, कलिवशव्बुल असफर। अं०-Barilla (बॅरिला-खारे वृक्ष की राख); Impure Carbonate of Soda (इम्प्योअर कार्बोनेट ऑफ् सोडा)।

सज्जी—सफेदी लिए भूरे रंग का एक प्रसिद्ध खार है। औषध के अतिरिक्त कांच, साबुन एवं कागज आदि अनेक पदार्थों के निर्माण में इसका उपयोग किया जाता है। सज्जी कई प्रकार से बनाई जाती है जिनका संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

(१) समुद्र के किनारे तथा क्षारीय भूमि में उत्पन्न होने वाले कुछ वृक्ष होते हैं, उनकी राख में सज्जी होती है। समुद्र के सेवार में भी सज्जी होती है जिसकी राख को केल्प (Kelp) कहा जाता है। ये स्पंज के समान कड़े गट्ठे होते हैं तथा इसमें ३-८% सज्जी होती है। खारे वृक्षों की राख को खार सज्जी (Barilla-बॅरिला) कहा जाता है जिनमें २५-४०% सज्जी होती है। भारतवर्ष में निम्न तीन वर्ग के खारे वृक्ष पाये जाते हैं—चिनोपोडिएसी (Chenopodiaceae), सॅलिकोर्निसी (Salicorniceae) एवं सॅल्सोलेसी (Salsolaceae)। पंजाब में अक्तूबर से जनवरी तक सज्जी बनाने के कारखाने काम करते हैं। खारे वृक्षों को सुखाकर ६ फीट गोल एवं ३ फीट गहरे गढ़े में डालकर धीरे-धीरे जलाते हैं। गढ़े में हांडियों को नीचे छेद कर उल्टे मुंह रखते हैं। कुछ समय बाद राख में से पतला द्रव निकल कर हांडियों में जमता है। ४ दिन वैसे ही अपने आप ठंडा होने देते हैं। हांडियों में जो सज्जी जमा होती है उसे वहां लोटासज्जी कहा जाता है। हांडियों के बाहर जो सज्जी जमती है वह अशुद्ध होती है। लोटासज्जी कॅरोक्साइलॉन् ग्रिफिथिआइ (Caroxylon Griffithii) नामक वृक्ष से बनाई जाती है। यह सबसे शुद्ध होती है तथा औषध में इसका व्यवहार किया जाता है। मांटगोमरी प्रांत में इसे खगनखार कहा जाता है। दूसरे वृक्षों से प्राप्त सज्जी जो हलके दर्जे की होती है उसे भूलीसज्जी कहते हैं। लोटासज्जी को औषध में व्यवहार में लाने के पूर्व शोधन कर लेना चाहिये। इसके लिये इसे दुगुने जल में बंद पात्र में २ घंटे उबालते हैं तथा बार-बार हिलाते जाते हैं। फिर ऊपर के गरम तरल भाग को छान कर तामचिनी की कढ़ाईयों में मन्द आंच पर सुखाते हैं। बचे हुवे नीचे के भाग में फिर जल डालकर उबाल कर ऊपर का द्रव छान कर सुखाते हैं। इस

प्रकार प्राप्त हुई सज्जी को फिर उष्ण जल में घोल कर सुखाते हैं जिससे इसकेरवे बनते हैं। इन्हें बंद बोतलों में रखना चाहिये।

(२) भारतवर्ष के अनेक प्रान्तों में ऊसर अथवा रेहाल भूमि होती है। ऐसी भूमि में सज्जी, खारीनोन (सोडियम् सल्फेट), नमक एवं सोरा आदि मिले रहते हैं। भिन्न-भिन्न स्थानों की रेह में इनकी मात्रा कम ज्यादा हुआ करती है तथा और भी कुछ पदार्थ उसमें रहते हैं। जिस रेह में सज्जी की अधिकता होती है उसे सज्जी माटी या धोबी की मट्टी कहा जाता है। उत्तरप्रदेश में गंगा और जमुना नदी के बीच के प्रदेश में रेह बहुत होती है। इसमें ८८% सज्जी होती है। जिस स्थान में रेह अधिक होती है वहां इसका जमीन पर बरफ की तरह सफेद स्तर स्पष्ट दिखलाई देता है। हिमालय से जो नदियां बहती आती हैं वे अपने साथ विभिन्न क्षार तथा लवणों को बहा ले आती हैं। ये आसपास की जमीन में जमा होते हैं। गरमी के दिनों में उष्णता से जब नीचे का जल ऊपर आता है तब उसके साथ ये क्षार ऊपर आकर जम जाते हैं। जिस रेह में सज्जी अधिक होती है उसे जल में घोल कर एवं नितार–छानकर सुखा लेते हैं।

(३) मध्यप्रांत में लोणार तालाब से भी सज्जी बनाई जाती है। यह रेह से प्राप्त सज्जी से शुद्ध होती है। इस तालाब में सज्जी के बड़े-बड़े टुकड़े भी मिलते हैं तथा उसके जल को सुखाकर भी सज्जी प्राप्त करते हैं। इस तालाब से सोडियम् बाइकार्बोनेट (Sodium bicarbonate, $NaHCO_3$), सं०–द्रोणलवण भी प्राप्त होता है। इसको दोने में लेकर जमाते हैं। इसलिये इसे द्रोण लवण कहा जाता है।

(४) उपर्युक्त विधियों के अतिरिक्त खाने के नमक एवं खारीनोन आदि से भी सज्जी बनाई जाती है।

शुद्ध सज्जी को सुरतीखार कहा जाता है तथा बाजारी अशुद्ध सज्जी को बांगडखार कहते हैं। सर्वप्रथम लिखे हुए प्रकार की शुद्ध सज्जी का औषध में व्यवहार करना चाहिये। यह शुभ्र, गंधहीन, अस्वादु, कुछ नमकीन एवं ताजी अवस्था में रवेदार होती है। खुली हवा में रखने पर इस पर बुरादा जम जाता है। यह जल में विलेय लेकिन मद्यसार में अविलेय होती है।

रासायनिक संगठन—इसमें प्रधानतया सोडियम् कार्बोनेट (Sodium carbonate, $Na_2Co_3 10H_2O$) रहता है।

गुण और प्रयोग—सज्जी के गुण यवक्षार के गुणों के समान ही हैं किन्तु उससे यह कुछ हीनगुण युक्त है। यह दीपन, पाचन, मूत्रल, कफनिःसारक, अम्लतानाशक एवं आध्मानहर है।

इसका उपयोग कास, श्वास, अजीर्ण, अम्लपित्त, शूल, आध्मान, मूत्रकृच्छ्र, आमवात एवं गुल्म आदि रोगों में किया जाता है।

(१) अग्निमांद्य, अजीर्ण एवं परिणामशूल में सज्जीखार, यवक्षार एवं पञ्चलवण सब समान मात्रा में लेकर नींबू के रस की भावना देकर १० रत्ती की मात्रा में दिया जाता है।

(२) सज्जीखार ५ भाग, यवक्षार ५ भा०, सोंठ ४ भा०, सोंचलनमक ४ भा० एवं छोटी पीपल ३ भा० इनका चूर्ण अजीर्ण एवं शूल आदि में गरम जल के साथ दिया जाता है।

(३) अनेक चर्म रोगों में इसके हल्के घोल में अवगाहन कराया जाता है एवं जले हुए भाग पर १०% घोल की पट्टी रखने से पीडा शांत होती है। सज्जीखार एवं यवक्षार दोनों को जल में मिलाकर फोड़े पर लगाने से फोड़ा जल्दी फूटकर बह जाता है।

मात्रा—१–२ र०

नोट—पाश्चात्य चिकित्सा में यवक्षार (पोटेशियम् कार्बोनेट) एवं सज्जीखार (सोडियम् कार्बोनेट) की अपेक्षा आंतरिक प्रयोग के लिये पोटेशियम् बाइकार्बोनेट एवं सोडियम् बाइकार्बोनेट का अधिक प्रयोग किया जाता है क्योंकि ये अधिक सौम्य होते हैं। इनमें भी पोटेशियम् के लवण शरीर में एक निश्चित अनुपात में रहते हैं। जब तक इन्हें अत्यधिक मात्रा में या सिरा द्वारा प्रयोग नहीं करते तब तक इनके प्रभाव में विशेष अंतर दिखलाई नहीं देता। भारतवर्ष के लोणार तालाब की सज्जी में सोडियम् बाइ कार्बोनेट रहता है।

९५ सोरा (सुवर्चिका)

सं०–सौरक्षार, सूर्यक्षार, सौवर्चल, वह्न्युत्तेजक, सुवर्चिका, कर्पूर शिलाजतु। हि०–सोरा, कलमी सोरा, सोराखार। बं०–सोरा। गु०–सुरोखार। पं०–कल्मीशोर। ता०–पोत्तिवुप्पु। अ०–अब्कर। फा०–शोरा। अं०–Saltpetre (साल्टपीटर = पहाड़ी नमक); Potassium Nitrate (पोटेशियम् नाइट्रेट)। ले०–*Potassii Nitras* (पोटेसिआइ नाइट्रास्)।

भारतवर्ष में सोरे की जानकारी बहुत दिनों से है। शुक्रनीति एवं रसार्णव में इसे सौवर्चल लिखा है। माधवविरचित आयुर्वेद-प्रकाश में सोरे को 'कर्पूराभं शिलाजतु सोरकाख्यं तु पाण्डुरम्' ऐसा लिखकर अग्निबाण में इसका उपयोग होता है, ऐसा लिखा है। रसपद्धति में 'श्वेतं शिलाजतु वह्न्युत्तेजकं' लिखा है तथा उचित रोगोपयोग भी दिया है। रसरत्नसमुच्चय में भी 'कर्पूर शिलाजतु' नाम से इसका उल्लेख है तथा गुण भी सोरे से मिलते हैं। इसका मारण अथवा सत्त्वपातन नहीं किया जाता' यह निर्देश ध्यान देने योग्य है। और भी अनेक स्थानों पर इसका उल्लेख मिलता है। मूल में यह आया है कि 'सुवर्चिका स्वर्जिकावद् बोद्धव्या गुणतो जनैः' यह बात भ्रमात्मक मालूम होती है। या तो सज्जी का ही कोई भेद होगा जिसके लिए सुवर्चिका शब्द का प्रयोग भावप्रकाशकार ने किया हो या डा० देसाई के कथनानुसार भावप्रकाशकार का कथन गलत हो। इसी प्रकार 'सौवर्चल' शब्द के विषय में भी मतभेद है। जिसके संबन्ध में सौवर्चल लवण के अन्तर्गत विवेचन किया गया है। यहां सोरे का वर्णन दिया जा रहा है।

प्राचीनकाल में भारतवर्ष से सोरे के निर्यात का व्यापार बहुत था लेकिन अंग्रेजों के नियन्त्रण के कारण इसका व्यापार बहुत कम हो गया। यहां उत्तर हिन्दुस्तान, पंजाब, सिंध एवं गङ्गा नदी के बीच के प्रदेश तथा बिहार में यह बहुत उत्पन्न होता है। बिहार में तो यह सबसे अधिक उत्पन्न होता है। वहां पर जमीन पर ओस की तरह जमा हुआ सोरे का पतला स्तर दिखलाई देता है।

लकड़ी, गोबर आदि की राख, जानवरों की विष्ठा, मूत्र, कुछ बरसात एवं उष्णता तथा एक प्रकार के कृमि इन सबकी सहायता से सोरा बनता है इसलिए इसे पूतिलवण और कृमिज क्षार ये नाम दिये गये हैं। बरसात के पूर्व गांव के आस पास की भूमि ½ इञ्च तक खोदकर उसे जल में मिलाते हैं फिर ऊपर के जल को उबाल कर या सूर्यताप से सुखाकर सोरा निकालते हैं। फिर से अशुद्ध सोरे को साफ किया जाता है। कलमीशोरा काफी शुद्ध रहता है। इसमें ९०% शुद्ध सोरा रहता है। बिहार में सोरा निकालने वाले लोगों को लुनिया कहा जाता है। सोरे के साथ ही साथ उस मिट्टी में खारीनोन एवं खाने का नमक भी होता है जिसे अलग कर लिया जाता है। ऐसे नमक को पंजाब में 'कल्लीनून' या 'निमकशोर' एवं बिहार में 'पकवानिमक' कहा जाता है जिसे कुछ लोगों ने सौवर्चल लवण माना है। सोरा, सोडियम् नाइट्रेट (Sodium Nitrate) तथा पोटेशियम् क्लोराइड् (Potassium Chloride) के परस्पर संयोग के द्वारा कृत्रिम रूप से भी बनाया जाता है।

—बाजारू सोरे में ४०–६४% शुद्ध सोरा होता है और बाकी नमक रहता है। कलमी-शोरा . शुद्ध होता है। शोरे को साफ करने के लिये एक तांबे के पात्र में शोरे के बराबर उबलते जल में उसे घोलते हैं तथा मोटे कपड़े से लकड़ी की थालियों में छानते हैं। जब घोल ठंडा होने लगता है तब उसे लकड़ी से हिलाते जाते हैं जिससे इसका दानेदार चूर्ण प्राप्त होता है। औषध–प्रयोग में लाने से पूर्व इलायची के क्वाथ से इसमें ३ बार भावना देनी चाहिये। अशुद्ध सोरे के प्रयोग से दाह, मूर्च्छा, रक्तपित्त, श्रम, अग्निमांद्य एवं विड्ग्रह आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। अशुद्ध के सेवन से उत्पन्न विकारों की शान्ति के लिए ३ माशा कालीमरिच का चूर्ण घृत के साथ ७ दिन तक प्रातःकाल में सेवन करना चाहिये।

शुद्ध सोरा रंगहीन दानेदार चूर्ण रूप में या षट्फलक स्फटिक रूप में होता है। इसका स्वाद शीतल एवं कुछ नमकीन होता है। अंगारे पर डालने से एकदम जलने लगता है। इसमें का है आक्सीजन अलग होने में समर्थ होने के कारण किसी गंधक आदि ज्वलनशील पदार्थ के साथ इसे मिलाकर गरम करने से एकाएक बहुत तीव्र उष्णता उत्पन्न होती है जिसमें चांदी का सिक्का तक गल जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें पोटॅशियम् नाइट्रेट (Potassium nitrate, KNO_3) रहता है। अल्प मात्रा में सोरे में कुछ नाइट्राइट्स (Nitrites) भी पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह कटु, तीक्ष्ण, मूत्रविरेचनीय, स्वेदजनन, श्लेष्महर एवं शोथहर है। इसका गाढा घोल आमाशय एवं आंत्र में तीव्र प्रक्षोभ उत्पन्न करता है जिससे रक्तवमन, रक्तातिसार तथा हृदयातिपात होकर मृत्यु भी हो सकती है। हृदय के लिए यह अवसादक होने के कारण हृदय की गति कम होती है तथा उसका बल भी कम हो जाता है। यह रक्त कणों के आक्सीजन ग्रहण करने की शक्ति को घटाता है एवं इससे रक्त जमने की क्रिया भी घट जाती है। इसका मूत्रल प्रभाव वृक्क द्वारा अधिक मूत्र के छनने (Filtration) से होता है तथा अधिकांश मात्रा मे यह मूत्र द्वारा उत्सर्गित हो जाता है।

इसका उपयोग मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, ज्वर, शोथ, प्लीहावृद्धि, पाण्डु, कामला, प्रमेह एवं अग्निमांद्य आदि में किया जाता है।

(१) मूत्रकृच्छ्र एवं अश्मरी में इसको गोखरू के काढे के साथ पिलाते हैं तथा बड़ के पत्तों को पीस कर तथा उसमें सोरा मिला कर पेड़ू पर लेप करते हैं।

(२) पुराने सोजाक में सोरा ५, दालचीनी ४, हर्रा ३, पाषाणभेद ३, इलायची ५ एवं चीनी २० भाग, इसका अवलेह ४ माशा की मात्रा में उपयोगी हैं। सोरा ५ रत्ती की मात्रा में भिंडी के क्वाथ के साथ देने से भी सोजाक में लाभ होता है।

(३) श्वेत प्रदर (ल्यूकोरिया) में ५ र० सोरा तथा तथा २½ र० फिटकिरी का चूर्ण दिन में ३ बार दिया जाता है।

(४) तमक श्वास के आवेग को रोकने के लिये इसके २०% घोल में सुखाए हुए सोखते के कागज को जलाकर उसका धूआँ नाक से सूंघने से आवेग रुक जाता है।

(५) ज्वर में मद्य, शर्करा एवं उष्ण जल के साथ १० र० सोरा देने से पसीना हो कर ज्वर कम हो जाता है।

(६) वातरक्त (गाउट) एवं मदात्ययजन्य शिरःशूल के निवारण के लिये सोरा १० र० एवं पोटॅशियम् बाइकार्बोनेट १५ र० एक बोतल सोडावाटर के साथ पिलाने से आवेग रुक जाता है। आमवात में अर्कमूल के चूर्ण के साथ या मांड के साथ इसको दिया जाता है।

(७) उरस्तोय (प्लूरिसी), सद्रव हृदयावरणशोथ (पेरीकार्डाइटिस्) एवं जलोदर आदि में पुनर्नवा, काली कुटकी, सोंठ आदि के क्वाथ के साथ इसका प्रयोग करते हैं।

(८) ५ साल से बड़े बच्चों की खांसी में सोरा ५, हीराकसीस ४, नौसादर ४ एवं गन्धक ४ भाग इनका चूर्ण ½ र० की मात्रा में देते हैं।

(९) शिरःशूल, शोथ, आमवातज सन्धिपीडा, मोच एवं चोट आदि पर नवसादर एवं सोरा जल में घोल कर उसमें कपड़ा भिगो कर उसकी पट्टी रखी जाती है।

(१०) औषध के अतिरिक्त सोरे का उपयोग बन्दूक की बारूद, तेजाब, रंगने का काम, मांस-मछली-संरक्षण, खाद, कांच के निर्माण में द्रावण के रूप में एवं आतिशबाजी आदि में किया जाता है।

अधिक मात्रा से—हृदय की दुर्बलता, आमाशय एवं आंत्र में प्रक्षोभ, वृक्कशोथ एवं वस्तिशोथ होता है। इन व्याधियों से पीडित व्यक्तियों में इसका उपयोग भी नहीं करना चाहिये।

हानिनिवारक—कतीरा एवं मधु।

मात्रा—२-१० र०

अथ टङ्कणक्षारः (सुहागाखार)। तस्य नामगुणानाह

सौभाग्यं टङ्कणं क्षारं धातुद्रावकमुच्यते। टङ्कणं वह्निकृद्रूक्षं कफहृद्वातपित्तकृत्॥ २५६॥

सुहागा के नाम तथा गुण—सौभाग्य, टङ्कण, क्षार तथा धातुद्रावक ये नाम संस्कृत में सुहागा के हैं। सुहागा—अग्निकारक, रूक्ष, कफनाशक एवं वातपित्तकारक होता है॥ २५६॥

९६ सुहागा

हि०—सुहागा, सोहागा, टिंकाल। **बं०**—सोहागा। **तिब्बत**—चूतस्ले (साधारण), तस्लेमेटांग (अच्छा), चूसल। **म०**—टांकणखार। **मा०**—सोगो। **काश्मी०**—बुत। **गु०**—खडियाखार, टंकणखार। **क०**—विलिगर। **पं०**—सुहागा। **ता०**—वेंगा(का)रं। **ते०**—एलिगारम्, वेल्लिगारं। **फा०**—त(ति)न्कार। **अ०**—बोरक। **अं०**—Borax (बोरॅक्स); Sodium Borate (सोडियम् बोरेट); Biborate of Soda (बाइबोरेट ऑफ सोडा)। **ले०**—*Sodii Biboras* (सोडिआई बाइबोरास)।

सुहागा एक प्रसिद्ध खनिज द्रव्य है। भारतवर्ष में इसकी जानकारी बहुत प्राचीन काल से रही है कि लेकिन युरोप वालों को १७ वीं शताब्दी के अन्त तक इसकी अधिक जानकारी नहीं थी। सर्वप्रथम दक्षिण भारत से युरोप में इसका प्रचार हुआ। यह स्वाभाविक एवं कृत्रिम (रासायनिक विधि द्वारा बनाया) दो प्रकार का होता है। चूना, गोदन्ती एवं नमक आदि पदार्थों के साथ तथा स्वतन्त्र रूप में यह प्राप्त होता है। हिमालय की पर्वतश्रेणियां, काश्मीर, लङ्का एवं विशेष रूप से तिब्बत इसके उत्पत्ति-स्थान हैं। तिब्बत से आने वाले चौकोर स्फटिक होते हैं। इन्हें चौकिया सोहागा कहा जाता है जिसका औषधि के लिये व्यवहार करते हैं। इसी को संभवतः आयुर्वेद-प्रकाश में 'नीलकण्ठ' कहा गया है जिसमें नीली आभा रहती है। इन पर मिट्टी लगी रहती है। अंगुली से रगड़कर मिट्टी हटाने पर तेलिया स्पर्श मालूम होता है। खुली हवा में टङ्कण का जलीयांश निकल जाता है जिससे उसके ऊपर सफेद बुरादा जम जाता है। इसलिये इस पर घी या चर्बी लगा देते हैं।

शुद्ध टङ्कण स्फटिक सदृश, वर्णरहित, पारभासक, चमकीला, गन्धहीन, स्वाद में कुछ नमकीन एवं कसैला तथा अल्पक्षारीय होता है। इससे गरम करने पर इसका जलीयांश निकल जाता है

और यह फूलकर छिद्रयुक्त ढेला सा हो जाता है। यही इसकी शोधन की विधि भी है क्योंकि इस पर जो चर्बी आदि लगी रहती है वह गरम करने से जल जाती है। अशुद्ध सुहागे के सेवन से चर्बी आदि के कारण वांति और भ्रम आदि उत्पन्न होते हैं।

औषध के अतिरिक्त मिट्टी के बर्तनों पर चमक लाने में, मीना बनाने में, बनावटी रत्नों के निर्माण, वार्निश रंग के काम, धातुओं के शोधन एवं द्रावण आदि के लिये इसका उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—यह सोडियम् तथा बोरिक् एसिड के संयोग से बनता है। इसका रासायनिक सूत्र $Na_2 B_4 O_7, 10 H_2 O$ है।

गुण और प्रयोग—टङ्कण, उष्ण, रूक्ष, कफहर, दीपन, हृद्य, आध्मानहर, विषदोषहर, आर्तव-प्रवर्तक एवं व्रणरोपक है। इसका उपयोग अम्लपित्त, आध्मान, कफज्वर, प्लीहावृद्धि, रक्तप्रदर, अनार्तव, कष्टार्तव, प्रसव के समय आविवृद्धि के लिये तथा इसके सौम्य प्रतिदूषक होने के कारण बाह्य प्रयोग के लिये किया जाता है।

(१) बच्चों के कफयुक्त ज्वर, कास विशेषकर गले की खराबी से उत्पन्न होने पर, दुर्गन्धयुक्त अतिसार, अपस्मार तथा आक्षेप आदि में इसका प्रयोग किया जाता है। परिश्रुत जल में बनाया हुआ इसका १० प्रतिशत का घोल सिरा द्वारा सूचीवेध से देने पर अपस्मार में बहुत लाभकर होता है।

(२) इसका मूत्र के द्वारा शीघ्र उत्सर्ग होने के कारण जल तथा यूरिया का अधिक उत्सर्ग होता है। यह मूत्र को क्षारीय करता है तथा इसी प्रतिक्रिया में मूत्र जननेन्द्रिय संस्थान के लिये अच्छा प्रतिदूषक है। इसके प्रयोग से दूषित मूत्र साफ हो जाता है।

(३) सौम्य प्रतिदूषक (Antiseptic) होने के कारण इसका बाह्य प्रयोग बहुत किया जाता है। प्रक्षोभकारक न होने के कारण कोमल श्लेष्मलकला के उपसर्ग में लाभदायक है। क्षत, व्रण, खुजली, विचर्चिका, दाद, जले हुये व्रण आदि के लिये व्रणप्रक्षालन एवं मलहम के रूप में इसका उपयोग किया जाता है। श्वेतप्रदर, सोजाक, दुर्गन्धयुक्त नासास्राव एवं कर्णस्राव आदि में इसके २½% घोल को पिचकारी के द्वारा प्रयोग करते हैं। नेत्राभिष्यन्द में फिटकिरी के साथ इसके घोल से अक्षिप्रक्षालन किया जाता है। दाह एवं शोथयुक्त मुखपाक में मधु के साथ इसका लेप किया जाता है तथा पारदविषजन्य लालास्राव तथा अन्य मुखविकारों में इसके घोल का उपयोग कुल्ला करने के लिये किया जाता है। स्वरभङ्ग में इसकी टिकिया मुख में रखकर चूसने से लाभ होता है। बोल के साथ इसका उपयोग मसूढ़ों के व्रणों पर लाभदायक है। २ छ० जल में ४ माशा सुहागा डालकर उससे प्रक्षालन से योनि एवं गुदकंडू दूर होती है।

उष्ण जल में इसके घोल में मोजे तर कर उसका उपयोग करने से पैरों के पसीने की दुर्गन्ध दूर होती है। अम्हौरी आदि में इससे युक्त पाउडर का उपयोग किया जाता है।

मात्रा—२-८ र०।

नोट—टङ्कण एवं गन्धक के तेजाब के संयोग से बोरिक् एसिड (Boric acid) बनता है जिसके गुण-धर्म एवं प्रयोग सब टङ्कण के समान ही हैं किन्तु यह कुछ अम्ल है। अन्नसंरक्षण (Food preservation) में पहले इसका बहुत प्रयोग किया जाता था लेकिन इसके विषैले परिणाम दृष्टिगोचर होने के कारण इस कार्य में अब इसका प्रयोग नहीं किया जाता।

अधिक मात्रा में इनके प्रयोग से अग्निमान्द्य, वमन, विरेचन, मांसपेशी-दुर्बलता, मूत्र में ॲल्ब्यूमिन् एवं अत्यन्त थकावट आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। अधिक दिन तक बाह्य या आभ्यन्तर

प्रयोग से बालों का झड़ना, विचर्चिका, गजचर्म, त्वक्शोफ, त्वक्शोथ, मुख में प्रक्षोभ, मसूढ़ों पर एक धूसर रेखा तथा अन्य चर्मविकार आदि होते हैं। वृक्क रोगियों में विषैले परिणाम की अधिक सम्भावना रहती है।

अथ क्षारद्वयं क्षारत्रयं क्षाराष्टकं च तेषां लक्षणानि गुणांश्चाह

स्वर्जिका यावशूकश्च क्षारद्वयमुदाहृतम्।
टङ्कणेन युतं तत्तु क्षारत्रयमुदीरितम्॥ २५७॥
मिलितं तूक्तगुणकृद्विशेषाद् गुल्महृत्परम्।
पलाशवज्रिशिखरिचिञ्चाऽर्कतिलनालजाः॥ २५८॥
यवजः स्वर्जिका चेति क्षाराष्टकमुदाहृतम्।
क्षारा एतेऽग्निना तुल्या गुल्मशूलहरा भृशम्॥ २५९॥

क्षारद्वय, क्षारत्रय, तथा क्षाराष्टक का वर्णन और गुण—**क्षारद्वय**—सज्जी तथा जवाखार को क्षारद्वय कहते हैं। **क्षारत्रय**—क्षारद्वय (सज्जी तथा जवाखार) में यदि सुहागा मिला दिया जाय तो उसे क्षारत्रय कहते हैं। इन तीनों प्रकार के क्षारों के जो गुण ऊपर पृथक् पृथक् कह आये हैं वे ही सब एकत्र मिल जाने पर भी उपर्युक्त गुणवाले होते हैं किन्तु विशेषरूप से गुल्म दूर करने में उत्तम होते हैं।

पलाशक्षार, सेहुंडक्षार, चिचिड़ाक्षार, इमलीक्षार, मदारक्षार, तिलनालका क्षार, जवाखार तथा सज्जी इन सब क्षारों के योग का क्षाराष्टक कहते हैं। ये सब क्षार अग्नि के तुल्य हैं तथा गुल्म एवं शूल के नाश करने में उत्तम होते हैं॥ २५७-२५९॥

९७ क्षारद्वय-क्षारत्रय-क्षाराष्टक

क्षार बनाने की क्रियाः—क्षार बनाने के लिये बड़े वृक्ष की छाल और गुल्म तथा क्षुप जाति की वनस्पति का पञ्चांग लेना चाहिये। इष्ट पदार्थ को जला कर उसकी सफेद भस्म (राख) संग्रहकर किसी मिट्टी के पात्र में रख उसमें चौगुना जल छोड़ भली प्रकार घोलकर एक सुरक्षित स्थान में रख दें। कुछ लोग राख को जल में डालकर कुछ देर उबालते हैं जिससे उसमें के क्षार आसानी से जल में घुल जाते हैं। दो-एक दिन के बाद ऊपर का जल नितार लें अथवा फिल्टर से छान लें। नीचे जमे हुए पदार्थ में फिर से चौगुना जल डालकर, उबालकर फिर ऊपर का जल नितार लें। फिर दोनों नितारे हुए जल को कड़ाही में छोड़ अग्नि पर चढ़ाकर जल औटावें। सूख जाने पर पात्र के पेंदे में जमा हुआ पदार्थ खुरचकर निकाल सुरक्षित रखें। उपर्युक्त विधि से जो क्षार तैयार होता है वह **मृदुक्षार** कहलाता है। इसमें प्रायः कुछ पदार्थों के साथ साथ सोडियम् एवं पोटेशियम् तत्वों के कार्बोनेट लवण हुआ करते हैं। यदि क्षारयुक्त जल को औटाते समय पूरी तरह न औटाकर आधा औटाने के बाद उस द्रव में चूना और शखनाभि आदि पदार्थों की कुछ भस्म मूल राखी की चौथाई मात्रा में डालकर और थोड़ा उबालकर तथा छानकर प्राप्त द्रव को पूरी तरह औटावें तो **तीक्ष्णक्षार** प्राप्त होता है। इसमें थोड़ी बहुत मात्रा में प्रायः सोडियम् और पोटेशियम् तत्वों के हाइड्रोक्साइड्स रहते हैं जो अत्यन्त दाहक होते हैं। दाहजनक होने के कारण ही उन्हें तीक्ष्णक्षार (Caustic alkalies) कहा जाता है।

अथ चुक्रम् (चूक)। तन्नामगुणानाह

चुक्रं सहस्रवेधि स्याद्रसाम्लं शुक्तमित्यपि। चुक्रमत्यम्लमुष्णञ्च दीपनं पाचनं परम् ॥ २६० ॥
शूलगुल्मविबन्धामवातश्लेष्महरं सरम्। वमितृष्णाऽऽस्यवैरस्यहृत्पीडावह्निमान्द्यहृत् ॥२६१॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे
द्वितीयो हरीतक्यादिवर्गः समाप्तः ॥ २ ॥

चूक के नाम तथा गुण—चुक्र, सहस्रवेधि, रसाम्ल तथा शुक्त ये सब चूक के संस्कृत नाम हैं। चूक–अत्यन्त खट्टा, उष्णवीर्य, अग्निदीपक तथा अत्यन्त पाचक होता है और यह शूल, गुल्म, विबन्ध, आमवात तथा कफ का नाशक और दस्तावर होता है तथा वमन, प्यास, मुख की विरसता, हृदय की पीडा एवम् अग्नि की मन्दता को दूर करता है ॥ २६०–२६१ ॥

९८ चूक

हि०–चूक, चूका। मा०–चूका। गु०–चुका।

चूक—काले रङ्ग का एक तरल पदार्थ अत्यन्त खट्टा होता है। खट्टा अनार, नीबू, इमली, आमला इत्यादि कितने ही खट्टे पदार्थों के रस से चूक बनाया जाता है। इन में अनार का बना हुआ चूक अच्छा समझा जाता है। चुक नाम से श्वेत, पारदर्शक स्फटिक भी मिलते हैं। जो खट्टे होते हैं।

यूनानी वाले कहते हैं कि चूक एक पहाड़ी फल का स्वरस है जिसको पहाड़ी मनुष्य लाते हैं। आगे शाकवर्ग में भी एक चुक्रिक नामक शाक का वर्णन आया है।

अथ कर्पूरादिवर्गः

अथ कर्पूरम् । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

पुंसि क्लीबे च कर्पूरः सिताभ्रो हिमवालुकः । घनसारश्चन्द्रसंज्ञो हिमनामाऽपि स स्मृतः॥
कर्पूरः शीतलो वृष्यश्चक्षुष्यो लेखनो लघुः । सुरभिर्मधुरस्तिक्तः कफपित्तविषापहः ॥ २ ॥
दाहतृष्णाऽस्यवैरस्यमेदोदौर्गन्ध्यनाशनः । कर्पूरो द्विविधः प्रोक्तः पक्वापक्वप्रभेदतः ।
पक्वात्कर्पूरतः प्राहुरपक्वं गुणवत्तरम् ॥ ३ ॥

अब कर्पूरादिवर्ग आरम्भ होता है, उसमें प्रथम कर्पूर के नाम तथा गुण—कर्पूर (यह पुंल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग में होता है), सिताभ्र, हिमवालुक, घनसार, चन्द्रसंज्ञ (चन्द्रमा के जितने नाम हैं वे सभी इसके पर्यायवाचक शब्द हैं) और हिमनामा (जितने हिम के नाम हैं वे सभी इसके पर्यायवाची शब्द हैं) ये सब कपूर के संस्कृत नाम हैं। कपूर—शीतल, वृष्य (वीर्यवर्धक), नेत्रों के लिये हितकर, लेखन, लघु, सुगन्धयुक्त, मधुर तथा तिक्त रस युक्त एवम्–कफ, पित्त, विष, दाह, प्यास, मुख की विरसता, मेदरोग तथा दुर्गन्ध को नष्ट करने वाला होता है। पक्व तथा अपक्व इन भेदों से कपूर दो प्रकार का होता है। पक्व की अपेक्षा अपक्व कपूर अधिक गुणकारी होता है ऐसा वैद्य लोग कहते हैं ॥ १–३ ॥

१ कपूर

हि०–कपूर, भीमसेनी कपूर, बरास कपूर। बं०–कर्पूर। मा०–कापूर। म०–कापूर। गु०–कपुर। ते०, ता०–कर्पूरम्। फा०–कापूर। अ०–काफ़ूर। यू०–रियाही काफ़ूर। अं०–Camphor (कॅम्फर); Borneo Camphor (बोर्निओ कॅम्फर)। ले०–*Camphora* (कॅम्फोरा)।

कपूर—यह एक उड़नशील जमा हुआ श्वेत तैलीय पदार्थ है। यह ४ प्रकार का होता है। (१) भीमसेनी या बरास कपूर, (२) चीनी या जापानी कपूर, (३) पत्री या नागी कपूर, ब्ल्यूमिया कॅम्फर (Blumea Camphor), (४) रासायनिक विधि द्वारा निर्मित कृत्रिम (Synthetic–सिंथेटिक्) कपूर।

(१) भीमसेनी कपूर - इसके बहुत बड़े वृक्ष बोर्निओ तथा सुमात्रा में होते हैं। इसे ले०—Dryobalanops camphora Colebr.; Fam. Dipterocarpaceae (ड्रायोबॅलेनॉप्स कॅम्फोरा कोले- डिप्टेरोकार्पेसी) कहते हैं जो भारतीय साल से मिलता-जुलता है। इसके वृक्ष भारतवर्ष में नहीं पाये जाते। इधर कुछ वृक्षों को लगाने का प्रयत्न किया गयाहै। औषध में बहुत प्राचीन काल से कपूर नाम से इसका व्यवहार किया जाता है। प्राचीनों ने कर्पूर का अपक्व भेद जो कहा है वह संभवतः यही है क्योंकि यह, वृक्ष में जहां पोल हो अथवा चीरे पड़े हों वहां जमा हुआ ही प्राप्त होता है। इसको चीनी कपूर की तरह पकाकर बनाना नहीं पड़ता। इस वृक्ष से एक तरल द्रव्य भी प्राप्त होता है जिसे कर्पूर तैल (Camphor oil of Borneo) कहा जाता है।

यह कपूर चीनी कपूर की अपेक्षा भारी होने के कारण जल में डूब जाता है। यह हवा की उष्णता से उड़ता नहीं। इसे बोतलों में रखने पर इसके कण बोतल पर जमा नहीं होते। यह

चीनी कपूर की अपेक्षा अधिक उष्णता से जलता है। इसमें कपूर के अतिरिक्त कुछ अम्बर आदि की मिश्रित गन्ध आती है। इसके छोटे, बड़े, गोल स्फटिक होते हैं जो सफेद, चमकीले, चिकने, कुछ कड़े, चूर्ण करने में चीनी कपूर की अपेक्षा देर में चूर्ण होने वाले एवं वायु से आर्द्रता को न सोखने वाले होते हैं। यह कपूर बहुत महंगा होता है। इसका रासायनिक संगठन $C_{10}H_{18}O_1$ है। इसके गुण एवं प्रयोग आदि सब चीनी कपूर के समान ही हैं लेकिन यह त्वचा की रक्तवाहिनियों का अधिक विस्फार करता है तथा चीनी कपूर की अपेक्षा बाह्य प्रयोग में कम दाहजनक है। यह मस्तिष्क के लिये अधिक अवसादक है तथा चीनी कपूर की अपेक्षा अधिक मात्रा में दिया जा सकता है। इसके गुणधर्मों का वर्णन आगे चीनी कपूर के साथ ही दिया गया है।

भीमसेनी कपूर के अभाव में निम्न विधि से बनाये हुये कपूर का व्यवहार किया जाता है। दूब, शीतल मिरच इलायची और जौ हरड इनको समान मात्रा में पीसकर एक बटलुई में बिछा दें और उस पर कपूर के छोटे छोटे टुकड़े पानी में भिगो कर रख दें तथा कुछ घी भी डाल दें। उस बटलुई पर केले का पत्ता ढांक कर उस पर एक दूसरा पीतल का कटोरा रख दें। इस कटोरे में थोड़ा जल डाल दें। फिर बटलुई को जलयुक्त पात्र में रखकर मन्द आंच पर गरम करें। ऊपर के कटोरे का पानी गरम होने पर उसे निकाल कर ठण्डा पानी डालते रहें। जब सब कपूर उड़कर ऊपर जम जाय तब उसे निकालकर व्यवहार करें।

(२) **चीनी या जापानी कपूर**—यह तमाल जाति के वृक्षों से बनाया जाता है। इसका विशेष वर्णन आगे किया गया है।

(३) **पत्री या नागी कपूर**—वस्तुतः भारतीय कपूर यही है। यद्यपि इसके क्षुप भारतवर्ष में बहुत होते हैं जिनसे बहुत कपूर निकाला जा सकता है तथापि अपने यहां इससे कपूर नहीं निकाला जाता। भारत में जितना भी कपूर आवश्यक होता है वह विदेशों से ही आता है। पत्री कपूर कुकरौंधा जाति के क्षुपों से प्राप्त होता है। इस क्षुप के कई भेद हैं जिनमें ये प्रधान हैं—Blumea balsamifera, DC., B. lacera, DC., B. densiflora, B DC., malcolmii Hook. f. (ब्ल्यूमिया बाल्समीफेरा, ब्ल्यू. लॅसेरा, ब्ल्यू. डेन्सिफ्लोरा, ब्ल्यू. मालकोलमाइ)। यह Compositae (काम्पोझिटी) वर्ग के क्षुप हैं। यह हिमालय में नेपाल से सिक्किम तक तथा दक्षिणी पठार के पश्चिमी भाग में १७००–२५०० फीट तक पाये जाते हैं। ब्ल्यू. डेन्सिफ्लोरा का छोटा क्षुप आसाम, खासिया पहाड़, चटगांव एवं अन्य स्थानों में पाया जाता है। ब्ल्यू. बाल्समीफेरा के क्षुप बर्मा में इतने अधिक उत्पन्न होते हैं कि वह आधे संसार की कपूर की पूर्ति कर सकता है। ब्ल्यूमिया के अतिरिक्त तुलसी की जाति में ऑसिमम् किलिमॅन्डसूचॅरिकम् (Ocimum kilimandscharicum) तथा 'कर्पूर' (बं.) (Limnophila gratioloides R. Br. लिम्नोफाइला ग्रॅटियोलॉइडीस्) आदि अन्य अनेक वनस्पतियों में कपूर की गन्ध आती है जिनसे कपूर प्राप्त किया जा सकता है। पत्री कपूर का रासायनिक संगठन भीमसेनी कपूर से मिलता-जुलता है।

(४) **कृत्रिम कपूर**—भारतवर्ष में यद्यपि ब्ल्यूमिया से काफी कपूर निकाला जा सकता है तथापि अब रासायनिक विधि द्वारा कृत्रिम कपूर बनाया जाने लगा है जो वृक्षों से प्राप्त कपूर से सस्ता होता है। औषध की अपेक्षा कपूर का अन्य सेल्यूलाइड् आदि बनाने में बहुत उपयोग होता है।

नोट—राजनिघण्टु में रस, गुण, वीर्य के अनुसार कपूर के पोतास, भीमसेन, शीतकर, शंकरावास, प्रांशु, पिंज, अब्दसार हिमयुता, बालुका, जूटिका, तुषार, हिम, शीतल एवं पक्किका (पिचका) ये १४ भेद लिखे हुये हैं। फिर शिर, मध्य और तल, इन भेदों से तीन प्रकार का

माना है। स्तम्भ के अग्रभाग मे होने वाला कपूर शिरसंज्ञक, मध्य में—मध्यम और पत्तों के तले होने वाला तलसंज्ञक है। प्रकाशवान्, स्वच्छ और फूला हुआ शिर; सामान्य फूला हुआ और स्वच्छ मध्यम और तल में होने वाला चूर्णवत् कुछ पीला सा होता है। अन्य प्रकार से-स्तम्भ के गर्भ में स्थित कपूर उत्तम; स्तम्भ के बाहर होने वाला.मध्यम जो निर्मल, कुछ पीलापन युक्त एवं चमकीला होता हैं; तथा कड़ा, सफेद, रूखा और फूला हुआ बाह्य कपूर कहलाता है। आगे खाने योग्य कपूर के ये लक्षण दिये हैं—साफ, भंगरइया के पत्तों के समान छोटे २ टुकड़ों वाला, बहुत हलका, बिलकुल सफेद, स्वाद में तिक्त रस वाला, शीतल. हृदय को प्रिय. घन, आह्लादकारक सुगन्ध युक्त, स्नेहहीन, कड़े परतों से युक्त तथा चमकीला कपूर राजयोग्य होता है और अन्य प्रकार के कपूर के खाने से व्रण एवं स्फोट आदि उत्पन्न होते हैं। इन्होंने 'चीनक' नाम से एक अन्य कृत्रिम भेद भी माना है।

धन्वन्तरि निघण्टु में कपूर के भेद नहीं लिखे हुए हैं। कपूर का चरक में दशेमानि में उल्लेख नहीं है लेकिन सू. अ. ५ में 'धार्याण्यास्येन वैशद्यरुचिसौगन्ध्यमिच्छता।······तथा कर्पूर-निर्यासं·········' ऐसा उल्लेख है। सुश्रुत सू. अ. ४५ में तिक्त, सुगन्धि, शीतल, लघु, लेखन आदि इसके गुण लिखे हैं एवं तृष्णा, मुखशोष तथा अरुचि आदि में उपयोगी लिखा है। अष्टांगसंग्रह (वृद्धवाग्भट) में लिखा है—'रुचिवैशद्यसौगन्ध्यमिच्छन् वक्त्रेण धारयेत्। जातीलवंग कर्पूर—'। चक्रदत्त, वृन्द आदि ने कास, श्वास, प्रमेह एवं ग्रहणी की चिकित्सा में कपूर का उपयोग नहीं लिखा है लेकिन रसचिकित्सा वालों ने इसका प्रयोग उपर्युक्त रोगों में किया है।

अथ चीनाककर्पूरः [चिनिया]। तस्य नामानि गुणांश्चाह

चीनाकसंज्ञः कर्पूरः कफक्षयकरः स्मृतः। कुष्ठकण्डूवमिहरस्तथा तिक्तरसश्च सः॥ ४॥

चीनिया कपूर के गुण—चीनिया कपूर को संस्कृत में चीनक कर्पूर कहते हैं। यह—कफ को नष्ट करने वाला तथा कुष्ठ, खुजली और वमन को भी दूर करने वाला एवम् तिक्त रस से युक्त होता है॥ ४॥

२ चीनिया कपूर

हि०-चीनिया कपूर, चीनी कपूर, जापानी कपूर, फारमोसा कपूर। बं०-चीनेर कर्पूर। म०-चीनी कापूर। गु०-चिनाई कपूर। यू०-कैसूरी कपूर। ले०-*Cinnamomum camphora Nees & Eberm.* (सिनॅमोमम् कॅम्फोरा नीज, एब.)। Fam. Lauraceae (लॉरेसी)।

इसके वृक्ष कोचीन चाइना से लेकर शंघाई तक तथा हैनाम से दक्षिणी जापान तक पाये जाते हैं। भारत में देहरादून, कलकत्ता, मैसूर एवं नीलगिरी पर्वत आदि स्थानों में इसके वृक्षों को उगाया गया है। दक्षिण की जलवायु इसके लिये अधिक उपयुक्त है लेकिन भारत में लगाये वृक्षों में कपूर कम निकलता है।

इसका वृक्ष देखने में सुन्दर, ऊँचा तथा सदाहरित होता है। पत्ते-अण्डाकार, चिकने, चमकीले, नोंक की ओर संकुचित, २ से ४ इञ्च लम्बे, एकान्तर एवं पीताभ हरित होते हैं। छाल-यह बाहर से खुरदरी और अन्दर से चिकनी होती है। फूल—छोटे-छोटे पीताभ श्वेत या रक्ताभ-

श्वेत बौर के समान आते हैं। फल—गहरे हरे रंग के मटर के समान तथा गुच्छों में आते हैं। बीज—छोटे तथा कपूर की गन्धयुक्त होते हैं।

इस वृक्ष के सभी भागों में विशेष कोशाएं होती हैं जिनमें कपूर बनता है। कपूर निकालने के लिये इसकी लकड़ी को टुकड़े-टुकड़े करके भपके के द्वारा गरम करते हैं जिससे लकड़ी में का कपूर उड़कर ऊपर जम जाता है। उस कपूर को फिर से ऊर्ध्वपातन विधि द्वारा शुद्ध कर लिया जाता है। प्राचीनों ने कपूर का जो पक्व भेद कहा है वह यही है क्योंकि इसे लकड़ी को पकाकर निकालते हैं। इसके पत्तों से भी कुछ कपूर प्राप्त होता है।

यह कपूर रंगहीन, सफेद या पारदर्शक, स्फटिकों में, बेडौल डलियों में, चौकोर टिकियों में तथा चूर्णरूप में होता है। यह जल पर तैरता है तथा इसका विशिष्ट गुरुत्व ०·९९५ है। इसकी गन्ध तीक्ष्ण एवं विशिष्ट प्रकार की होती है तथा स्वाद कड़ुवा एवं तीता होता है। एवं बाद में ठंडक मालूम होती है। यह जलाने से तुरत जलता है तथा हवा की उष्णता से धीरे-धीरे उड़ जाता है। इसका १ भाग ७०० भाग जल में, १ भाग मद्यसार (९०%) में, ४ भाग तैल में, ½ भाग क्लोरोफॉर्म में घुलता है तथा इथर में यह बहुत घुलता है। अजवाइन का सत्त्व या पेपरमिंट के साथ इसको मिलाने से पतला द्रव बनता है। भीमसेनी कपूर से इसका भेद पीछे लिखा गया है।

रासायनिक संगठन—यह एक प्रकार का घन उड़नशील तैल (स्टियरोप्टेनस्–Stearoptenes) है। इसका रासायनिक सूत्र $C_{10}H_{16}O$ है। ऊर्ध्वपातन द्वारा कपूर के अतिरिक्त एक तैल भी पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—कपूर वातहर, दीपन, कफघ्न, कासहर, ज्वरघ्न, स्वेदजनन, कामोत्तेजक (अल्पमात्रा में), कामवासना कम करने वाला (अधिक मात्रा में), स्तन्यनाशन तथा मस्तिष्क, हृदय एवं श्वसन के लिये उत्तेजक, उद्वेष्टन-निरोधी, सौम्य-प्रतिदूषक, स्थानिक त्वग्रागकारक (प्रारंभ में), स्वापजनन (बाद में), शोथहर तथा वेदनाहर है। अधिक मात्रा में यह दाहजनक एवं मादक विष है।

(१) यह आमाशय में पहुँच कर वहां रक्ताभिसरण क्रिया की वृद्धि करता है जिससे पाचक रसों की वृद्धि होती है तथा वायु का अनुलोमन होता है। इसके कारण अतिसार, उष्णकालीन अतिसार, वमन, विसूचिका की प्रारंभिक अवस्था, आध्मान, शूल एवं भूतोन्माद के कारण उत्पन्न वमन आदि में इससे बहुत लाभ होता है। विसूचिका के प्रारम्भ में कर्पूरासव (भै० र०) बताशे के साथ बार बार देने से लाभ होता है। कपूर, अजवाइन का सत्त्व तथा पेपरमिंट तीनों समान मात्रा में मिलाकर उस द्रव को १–२ बूंद बताशे में रख कर देने से भी उपर्युक्त विकारों में लाभ होता है। कर्पूररस (भै० र०) अतिसार, प्रवाहिका एवं संग्रहणी में दस्त कम करने के लिये दिया जाता है। बच्चों के आध्मान एवं शूल में कर्पूराम्बु का उपयोग एवं बड़ों में कर्पूरासव का उपयोग लाभदायक है।

(२) इसके सेवन से त्वचा की रक्तवाहिनियों का विस्फार होता है तथा पसीना अधिक होता है जिससे ज्वर में यह ताप को कम करता है। मसूरिका, रोमान्तिका, आन्त्रिकज्वर एवं ग्रन्थिज्वर आदि में कर्पूराम्बु का उपयोग १–२ औंस की मात्रा में किया जाता है जिससे हृदय को बल मिलता है एवं ताप भी कम हो जाता है। कर्पूराम्बु बनाने के लिये कपूर को महीन कपड़े में बांधकर जल में डुबोते हैं तथा बाद में उस जल का प्रयोग करते हैं।

(३) श्वसन, हृदय तथा रक्ताभिसरण के लिये कपूर उत्तेजक माना जाता है। स्वस्थ हृदय की अपेक्षा दुर्बल, अवसादित तथा अनियमित गति युक्त हृदय पर इसका प्रभाव अधिक होता है।

इसका प्रभाव प्रत्यक्षतया हृदय के ऊपर तथा श्वसन के उत्तेजित होने से अप्रत्यक्षतया होता है। ज्वर, फुफ्फुसपाक एवं सन्निपात आदि में यदि हृदय को दुर्बलता से नाडी दुर्बल हो जाय, हृदयातिपात के लक्षण हों तो कर्पूरहिंगुवटिका ४–४ घंटे पर या १ भाग कपूर आठ भाग दूध में घोंट कर ½ चम्मच ४–४ घंटे पर देने से लाभ होता है। कर्पूरहिंगुवटिका बनाने के लिये १ भाग कपूर, १ भाग हींग तथा थोड़ा सा मधु एक साथ घोंटकर २ र० की गोली बनावें तथा आर्द्रक रस के साथ खिलावें। रोगी गोली निगलने में असमर्थ होने पर आर्द्रक रस में घोंट कर आवश्यक होने पर ½ र० कस्तूरी मिलाकर चटावें। कर्पूर का तैलीय सूचिकाभरण हृदय एवं श्वसन को उत्तेजित करने के लिये प्रयोग किया जाता है।

(४) अवसादक तथा नशीली औषधियों के दुष्परिणाम से जब श्वसन क्रिया अवसादित होती है तब कपूर के प्रयोग से उत्तेजना आकर श्वास की गति तथा उसकी गहराई बढ़ती है। कुकास, तमकश्वास एवं जीर्ण श्वसनिकाशोथ आदि कफविकारों में इसके प्रयोग से श्लेष्मलकला का रक्तप्रवाह बढ़कर कफ पतला होकर निकलने लगता है। तमकश्वास में कर्पूरहिंगुवटिका ४–४ घंटे पर जब तक दमे का जोर रहता है, देते हैं। प्रतिश्याय में कर्पूरासव या समान मात्रा में कपूर एवं मद्यसार को मिलाकर ५ बूंद को मात्रा में दिया जाता है एवं कपूर को सुंघाया भी जाता है।

(५) यह मस्तिष्क को उत्तेजित करता है जिससे प्रारंभ में संपूर्ण शरीर में उत्तेजना, चक्कर, विचारों में असंगति, गति में असहयोग तथा विषैली मात्रा में आक्षेप एवं बेहोशी आदि लक्षण होते हैं। किसी-किसी में हँसने-नाचने की प्रवृत्ति होती है तो किसी में तन्द्रा आती है। वातिक हृदय की धड़कन, कम्पवात, अपस्मार, योषापस्मार एवं उन्माद आदि में कपूर को थोड़े से मद्यसार के साथ घोंट कर गोली बनाकर १–२ र० की मात्रा में ३–४ बार देते हैं।

(६) अत्यधिक कामोत्तेजना, सुजाक से उत्पन्न पीडायुक्त शिश्नोत्थान एवं वीर्यपात आदि में कपूर का अधिक मात्रा में उपयोग किया जाता है। वीर्यपात में सोते समय २ र० कपूर की गोली खुरासानी अजवाइन के साथ खिलाते हैं। स्त्रियों में अत्यधिक कामवासना, जननेन्द्रिय-कण्डू, गर्भाशय पीडा एवं कष्टार्तव में १ से २ र० कपूर दिन में २ बार खिलाते हैं। स्त्रियों में दुग्ध कम करने के लिये इसको खिलाते हैं तथा स्तनों पर इसका लेप करते हैं।

(७) कपूर का स्थानिक एवं बाह्य प्रयोग बहुत किया जाता है। इससे स्थानिक रक्तवाहिनियों की उत्तेजना से उष्णता एवं रक्तिमा उत्पन्न होती है। प्रारम्भ में इससे सांवेदनिक वातनाडियां उत्तेजित होती हैं लेकिन बाद में अवसादित होने के कारण शीतलता का अनुभव होता है तथा पीडा दूर होती है। इसका प्रतिदूषक गुण बहुत अल्प है। यह त्वग्रागकारक एवं प्रतिक्षोभक होने के कारण ४ गुने तेल में मिला कर जीर्ण आमवात, मोच, मरोड़, चोट, मांसपेशियों में ऐंठन होने से उत्पन्न पीडा, कटिशूल, पार्श्वशूल एवं जीर्ण कास, बच्चों की खांसी, फुफ्फुसपाक एवं फुफ्फुसावरणशोथ आदि में इसकी मालिश की जाती है। जननेन्द्रिय कण्डू एवं विचर्चिका में जसद भस्म एवं कपूर तैल में मिलाकर लगाते हैं। दांत में गढा होने के कारण दर्द होता हो तो कपूर का मद्यसार में घोल बनाकर उसका फाहा गढे में रखते हैं। मुखदुर्गन्धि में स्वल्प खदिरवटिका (भै० र०) अथवा कपूर, कबाबचीनी एवं टंकणक्षार की गोली मुख में रखने से लाभ होता है। दन्तमंजनों में कपूर का उपयोग किया जाता है। जीर्ण व्रणों में तथा कण्डू में इसका अवचूर्णन किया जाता है।

विषैला प्रभाव—अत्यधिक मात्रा में कपूर के सेवन से आमाशयोर्ध्व भाग में पीडा, हृल्लास, कभी-कभी वमन, चक्कर, दृष्टिमान्द्य, प्रलाप, उन्माद, अपस्मार के समान आक्षेप, श्यावता, अंगघात, शीतलप्रस्वेद, मूत्रकृच्छ्र, संन्यास एवं मृत्यु होती है।

विष चिकित्सा—वामक द्रव्यों का प्रयोग एवं शीत तथा उष्ण निरूहण बस्ति का क्रम से बारंबार प्रयोग तथा प्रतिक्षोभक, विरेचक एवं उत्तेजक औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। कुपीलु सत्त्व का सूचिकाभरण आवश्यकतानुसार किया जाता है। मद्यसार एवं तैलीय पदार्थों का प्रयोग नहीं करना चाहिये क्योंकि कपूर उनमें घुल जाता है।

जीर्ण विषैला प्रभाव—कुछ युवा स्त्रियों में सौन्दर्य वृद्धि के लिये कपूर खाने की आदत पड़ जाती है जिसको छुड़ाना कठिन होता है। इसके कारण साधारण मानसिक उत्तेजना, तन्द्रा, अत्यधिक दौर्बल्य एवं पाण्डुता आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

नोट—कपूर का चूर्ण बनाने के लिये खरल में घोटते समय रेक्टिफाइड स्पिरिट से कपूर आर्द्र कर लेने से आसानी से चूर्ण बन जाता है तथा खरल में चिपकता नहीं।

मात्रा—१-२ र०; आसव—५-२० बूंद; कर्पूराम्बु—१-२ औं०।

अथ कस्तूरी। तस्या नामभेदगुणानाह

मृगनाभिर्मृगमदः कथितस्तु सहस्रभित्। कस्तूरिका च कस्तूरी वेधमुख्या च सा स्मृता॥
कामरूपोद्भवा कृष्णा नैपाली नीलवर्णयुक्। काश्मीरी कपिलच्छाया कस्तूरी त्रिविधा स्मृता॥
कामरूपोद्भवा श्रेष्ठा नैपाली मध्यमा भवेत्। काश्मीरदेशसम्भूता कस्तूरी ह्यधमा मता॥
कस्तूरिका कटुस्तिक्ता क्षारोष्णा शुक्रला गुरुः। कफवातविषच्छर्दिशीतदौर्गन्ध्यशोषहृत्॥

कस्तूरी के नाम, भेद तथा गुण—मृगनाभि, मृगमद, सहस्रभिद्, कस्तूरिका, कस्तूरी, और वेधमुख्या ये सब कस्तूरी के संस्कृत नाम हैं। वर्णभेद से कस्तूरी तीन प्रकार की होती है जैसे—१ कामरूप (कामरूदेश) में उत्पन्न होने वाली कस्तूरी कृष्णवर्ण की (काली) होती है। २ नेपाल देश में उत्पन्न होनेवाली नीले रङ्ग की होती है। ३ कश्मीर देश में उत्पन्न होने वाली कपिल वर्ण की होती है। इनमें से कामरू देश की कस्तूरी उत्तम, नेपाल देश की मध्यम एवम् कश्मीर देश की अधम गुण वाली होती है। कस्तूरी-कटु तथा तिक्त रस युक्त, क्षार गुण विशिष्ट, उष्णवीर्य, वीर्यजनक और गुरु होती है। यह कफ, वायु, विष, वमन, शीत, दुर्गन्ध और शोष को दूर करने वाली होती है॥ ५-८॥

३ कस्तूरी।

हि०-कस्तूरी, मृगनाभि, मृगनाफा। **बं०**-मृगनाभि। **ते०**-कास्तूरी। **म०-गु०-क०-ता०**-कस्तूरी। **फा०**-मुश्क। **अ०**-मिस्क। **अं०**-Musk (मस्क)। **ले०**-*Moschus* (मोस्कस्)।

हिरन की कई जातियाँ होती हैं किन्तु सब जाति के हिरनों से कस्तूरी नहीं निकलती। जिस हिरन से कस्तूरी निकलती है उसको संस्कृत में 'कस्तूरीमृग', यूनानी में 'हिरनमुस्की' और लेटिन में मोस्कस् मोस्कीफेरस् (Moschus moschiferus; Fam. Cervidae) कहते हैं। यह मृग उत्तरी भारत, नेपाल, आसाम, कश्मीर, मध्य एशिया, तिब्बत, भूतान, चीन एवं रूस आदि स्थानों में ७०००-८००० फीट ऊंची पहाड़ी चोटियों पर सघन जंगलों में पाया जाता है। यह विशेष कर तिब्बत में अधिक होते हैं। यह हिरन की जाति का बहुत सुहावना और सुन्दर मृग होता है किन्तु न इसके सींग होते हैं न दुम। यह मृग करीब २० इंच ऊँचा, लोह के समान गहरे धूसर वर्ण का, अत्यन्त सशंक स्वभाव का प्राणी होता है। इसके ऊपरी जबड़े में दो लंबे दंष्ट

होते हैं जो बाहर नीचे की ओर हुक की तरह निकले रहते हैं। इसका मुंह लंबा, पैर पतले तथा सीधे एवं बाल रूखे और लम्बे होते हैं। इसके लिंगेन्द्रिय के मणि को ढांकने वाले चमड़े के प्रवर्धन से बनी हुई एक थैली होती है जिसके सूखे हुये स्राव को 'कस्तूरी' कहते हैं। नर हिरन में ही यह पायी जाती है। यह थैली नाभि के पास, नाभि एवं शिश्नावरण के बीच में स्थित रहती है। यह अंडाकार, १½–३ इञ्च लम्बी एवं १–२ इञ्च चौड़ी होती है। इसके अग्रभाग में केशयुक्त एक छोटासा छिद्र होता है तथा पिछले भाग में एक सिकुड़न सी होती है जो शिश्नाग्रचर्म के मुख से मिल जाती है। इसके अन्दर के चिकने आवरण की अनियमित तहों के कारण यह कई अपूर्ण विभागों में बटी होती है। कस्तूरी, युवावस्था के मृगों में उनके मदकाल (Rutting season) में अधिक मात्रा में होती है तथा उसी समय उसकी शक्ति एवं गन्ध अधिक रहती है। यह काल करीब १ महीने का होता है। रा० नि० में भी लिखा है कि—'बाले जरति च हरिणे क्षीणे रोगिणि च मन्दगन्धयुता। कामातुरे च तरुणे कस्तूरी बहलपरिमला भवति॥' बालक, वृद्ध, क्षीण और रोगी हिरन की कस्तूरी मन्द गन्ध वाली होती है तथा कामातुर और तरुण हिरन की कस्तूरी अत्यन्त सुगन्धित होती है। जब उक्त हिरन की नाभि में कस्तूरी बन जाती है तब उसमें से कस्तूरी की गन्ध आती है और वह मृग किसी दूसरे पदार्थ की गन्ध समझ कर इधर-उधर घूम-घूम कर वृक्षों को सूंघा करता है जिससे बहेलिये आसानी से पहचान कर उसको मार डालते हैं और नाभि को काट लेते हैं। स्वस्थ वयस्क प्राणी में करीब २½ तो० कस्तूरी पाई जाती है। १ साल के बच्चे में कस्तूरी नहीं होती तथा २ साल के बच्चे में करीब ६–७ माशे होती है जो दुधिया रहती है। वृद्ध प्राणि में भी ७ माशे से अधिक नहीं होती। इसमें सुगन्ध ही एक मनोहर गुण है जो बहुत तीव्र स्वतन्त्र प्रकार की और शीघ्र फैलने वाली होती है। इसका स्वाद सुगन्ध युक्त कड़वा होता है।

कस्तूरी के प्रकार[1]—मृग के शिकार के बाद इन नाभों को निकाल कर धूप एवं हवा में सुखाते हैं। फिर इन नाभों को मृग के बालों में लपेट कर चमड़े की थैलियों मे बन्द किया जाता है तथा बाद में सीलबन्द डब्बों में या अन्दर से टीन का अस्तर लगे हुवे लकड़ी के बक्सों में बन्द कर बाहर भेजा जाता है।

व्यापार की कस्तूरी ३ प्रकार की होती है। (१) रूस की कस्तूरी—इसमें गन्ध बहुत कम होती है (२) आसाम की कस्तूरी—यह बहुत अच्छी तथा तीव्र गन्ध युक्त होती है तथा इसका रंग काला होता है। सम्भवतः प्राचीनों ने कामरूप कस्तूरी इसी को कहा है। (३) चीन की कस्तूरी–यह सबसे मंहगी होती हैं क्योंकि अन्य हीन श्रेणी की कस्तूरी में जो कभी कभी अमोनिया आदि की अप्रिय गन्ध होती है वह इसमें बिलकुल नहीं होती। यह कस्तूरी तिब्बत से ही चीन को जाती है। एक अन्य तीक्ष्ण अप्रिय गन्ध वाली कस्तूरी कॅबर्डाइन् नामक होती है जो मंगोलिया एवं मंचूरिया के उत्तरी भाग तथा पूर्वी साइबेरिया से आती है।

उत्तम कस्तूरी—रक्ताभश्याम वर्ण की, गोल बड़े दानेवाली, तीक्ष्ण गन्ध वाली, स्वाद में तिक्त, हलकी एवं मुलायम कस्तूरी उत्तम होती है। इसकी गन्ध बहुत स्थायी रहती है तथा ३०००

---

१. कपिला पिङ्गला कृष्णा कस्तूरी त्रिविधा क्रमात्। नेपालेऽपि च काश्मीरे कामरूपे च जायते॥ साऽप्येका खरिका ततश्च तिलका ज्ञेया कुलित्थाऽपरा, पिण्डाऽन्यापि च नायिकेति च परा या पञ्चभेदाभिधा। सा शुद्धा मृगनाभितः क्रमवशादेषा क्षितीशोचिता पक्षत्यादिदिनत्रयेषु जनिता कस्तूरिका स्तूयते॥ चूर्णाकृतिस्तु खरिका तिलका तिलाभा, कौलत्थबीजसदृशी च कुलित्थिका च। स्थूला ततः कियदियं किल पिण्डिकाख्या तस्याश्च किंचिदधिका यदि नायिका सा॥ रा. नि.।

गुना विरल (Dilute) करने पर भी गन्ध मालूम हो जाती है। यह कहा जाता है कि शिकार के समय इसकी तीव्र गन्ध से शिकारियों के वातनाडी संस्थान, आंख एवं कान पर बुरा असर पड़ता है। चीनी व्यापारियों का कहना है कि मदकाल में जब मृग में कस्तूरी की गन्ध तीव्र हो जाती है तब उसके प्रक्षोभ के कारण वह अपने खुरों से उसे खुरच खुरच कर निकाल देता है। ऐसी कस्तूरी मृगों के आवास स्थानों में पड़ी हुई पाई जाती है। लेकिन ऐसी कस्तूरी बहुत कठिनाई से ही मिलती है।

असली कस्तूरी की पहचान –कस्तूरी की मांग बहुत होने के कारण तथा कठिनाई से मिलने के कारण इसमें मिलावट की जाती है। असली कस्तूरी मिलना बहुत कठिन है। व्यापारी लोग सूखा हुआ रक्त, यकृत तथा दाल, गेहूँ एवं जव के दाने आदि मिला देते हैं। केवल गन्ध से कस्तूरी की पहचान करना कठिन है क्योंकि इसके सम्पर्क में आये पदार्थ को यह सुगन्धित कर देता है।

चीन तथा तिब्बती व्यापारियों के यहाँ पहचान की कुछ पद्धतियाँ प्रचलित हैं जो वैज्ञानिक न होते हुये भी कुछ हदतक उपयोगी हैं।

(१) कस्तूरी के दानों को जल में डालने पर यदि दाने वैसे ही रहें तो असली और यदि वे घुल जाँय तो मिलावटी। रा० नि० में भी लिखा है 'यदप्सु न्यस्ता नैव वैवर्ण्यमीयात्कस्तूरी सा राजभोग्या प्रशस्ता'। जिस कस्तूरी को जल में डालने पर उसके वर्ण में परिवर्तन नहीं होता वह उत्तम होती है।

(२) जलते लकड़ी के अंगारे पर कस्तूरी के दाने डालने पर यदि वह पिघल कर उसमें से बुद्बुदे निकलें तो असली और यदि वह एक दम कड़ी होकर कोयला बन जाय तो नकली। रा० नि० में भी लिखा है कि 'दाहं या नैति वह्नौ शिमिशिमिति चिरं चर्मगन्धा हुताशे, सा कस्तूरी प्रशस्ता वरमृगतनुजा राजते राजभोग्या।

(३) असली कस्तूरी को गाड़ दें तब भी उसकी गन्ध में कोई परिवर्तन नहीं होता।

(४) असली कस्तूरी मुलायम होती है तथा मिलावट होने पर वह कड़ी होती है।

(५) पंजाब की तरफ एक परीक्षा प्रचलित है कि हींग में एक तागे को डालकर निकालते हैं फिर उसे नाभे में डालकर निकालते हैं। यदि हींग की गन्ध उस तागे में रहे तो कस्तूरी नकली मानते हैं।

(६) कागज में रखने पर इससे कागज में पीला दाग पड़ जाता है तथा जलाने पर इसमें मूत्र की गन्ध आती है।

(७) कपूर, वॅलेरियन, लहसुन, हाइड्रोसाइनिक् एसिड एवं अर्गट का चूर्ण आदि के सम्पर्क में आने पर कस्तूरी की गन्ध नष्ट हो जाती है।

कृत्रिम कस्तूरी (Artificial or synthetic musk)—कस्तूरी की मांग बहुत होने के कारण तथा मृग का शिकार करते, करते कहीं उनकी जाति ही नष्ट न हो जाय इस डर से कृत्रिम रूप से कस्तूरी बनाने की तरफ वैज्ञानिकों का ध्यान आकृष्ट हुआ तथा रासायनिक विधि से कृत्रिम कस्तूरी

---

१ या स्निग्धा धूमगन्धा वहति विनिहिता पीततां पाथसोऽन्तः निःशेषं या निविष्टा भवति हुतवहे भस्मसादेव सद्यः। या च न्यस्ता तुलायां कलयति गुरुतां मर्दिता रूक्षतां च ज्ञेया कस्तूरिकेयं खलु कृतमतिभिः कृत्रिमा नैव सेव्या॥ रा. नि.।

अब बनाई जाने लगी है। कृत्रिम कस्तूरी पीताभश्वेत रंग की तथा रवेदार होती है। इनमें बहुत तीव्र तथा स्थायी गन्ध होती है जो कस्तूरी से मिलती-जुलती होते हुये भी प्राकृतिक कस्तूरी से अलग मालूम होती है। मस्क क्झाइलेन् [Musk xylene, C_6 $(CH_3)_2$ (C_4H_9) $(NO_2)_3$]—यह परिवर्तनशील दो स्थायी एवं अस्थायी रवेदार स्वरूपों में प्राप्त होती है। मस्क कीटोन् [Musk ketone, $C_6(CH_3)_2(C_4H_9)(CO\,CH_3)(NO_2)_2$]—इसकी गन्ध प्राकृतिक कस्तूरी से मिलती जुलती होती है लेकिन मस्क क्झाइलेन के इतनी तीव्र नहीं होती। मस्क ॲम्ब्रेट्टी [Musk ambrette, $C_6H(C_4H_9)(CH_3)(OCH_3)(NO_2)_2$]—यह कृत्रिम कस्तूरी में सबसे अच्छी मानी जाती है। इनके अतिरिक्त ॲल्डिहाइड् मस्क (Aldehyde musk), साइनो मस्क (Cyano musk) एवं ॲझिमिडो मस्क (Azimido musk) आदि कृत्रिम कस्तूरी होती हैं जिनका क्वचित् प्रयोग होता है। कृत्रिम कस्तूरी विषैली नहीं होती तथा सुगन्धि के लिये अधिकतर व्यवहार में लाई जाती है लेकिन प्राकृतिक कस्तूरी की अपेक्षा यह हीन श्रेणी की होती है।

अन्य प्राणियों एवं वनस्पतियों में कस्तूरी—कस्तूरी की गन्ध के समान गन्धवाले पदार्थ विभिन्न देशों में पाये जानेवाले अनेक प्रकार के प्राणियों एवं वनस्पतियों में पाये जाते हैं। 'अमेरिकन कस्तूरी' नाम से एक प्रकार के चूहे से प्राप्त द्रव्य का उपयोग सुगन्धि के लिये किया जाता है। कुछ प्राणियों के नाम आगे दिये जा रहे हैं—ॲण्टीलोप डॉरकस् (Antilope dorcas) नामक एक प्रकार का हिरन, कॅप्रा आइबेक्स् (Capra ibex) नामक बकरा जिसके रक्त में गन्ध होती है, मस्टेला फॉइना (Mustela foina) नामक नेवले के समान जानवर जिसकी विष्ठा में गन्ध होती है, ओव्हिबोस मॉस्कॅटस् (Ovibos moschatus) नामक बैल जिसके मांस को भारतवर्ष में खाया जाता है, बॉस इण्डिकस् (Bos indicus) नामक एक बैल, डाइकॉटिलिज टॉरक्वटस् (Dicotyles torqatus) नामक सूअर की जाति का प्राणी, ॲनस् मॉस्कॅटा (Anas moschata) नामक बत्तख, क्रोकोडाइलस् व्हल्गॅरिस् (Crocodilus vulgaris) नामक मगर, वाइवेर्रा सिवेट्टा (Viverra civetta) नामक गन्धमार्जार, कॅस्टर फाइबर (Castor fibre) नामक ऊद बिलाव तथा अनेक प्रकार के समुद्री कछुवे एवं सर्प।

संसार के विभिन्न स्थानों में पाई जाने वाली अनेक वनस्पतियों में कस्तूरी की गन्ध पाई जाती है जिनमें से भारत में लताकस्तूरी के बीज, कुजई (Rosa moschata Herrm.–रोझा मास्कॅटा), कद्दू, झूफ़ह–यविस् (Hyssopus officinalis Linn.–हाइस्सोपस् ऑफिसिनॅलिस्), सीलोन में पाया जानेवाला बड़ा गोखरू तथा हींग की जाति का वृक्ष आदि अपने यहां पाये जाते हैं। यद्यपि उपर्युक्त अनेक जान्तव एवं वानस्पतिक द्रव्यों में कस्तूरी से मिलती जुलती गन्ध आती है तथापि व्यापार में कस्तूरी का स्रोत कस्तूरी मृग ही है।

रासायनिक संगठन—कस्तूरी को बाष्प के साथ आसवन (Distill) तथा शुद्ध करने से एक गाढा रंगहीन तैल प्राप्त होता है जिसमें कस्तूरी की बहुत तेज गन्ध होती है। यह तैल एक प्रकार का कीटोन (Ketone) है जिसे मस्कोन कहा जाता है। एक अन्य कीटोन भी इसमें होता है जिसके विषय में अभी अधिक ज्ञान नहीं है। इनके अतिरिक्त कस्तूरी में वसा, मोम, कोलेस्टेरिन, ओलीन, जिलेटिन एवं ॲल्ब्यूमिन सदृश पदार्थ, राल एवं अमोनिया आदि पदार्थ पाये जाते हैं। गन्धक के तेजाब की बाष्प पर इसको सुखाने से इसकी गन्ध बिलकुल चली जाती है जो फिर से हवा एवं आर्द्रता के सम्पर्क में आने से आ जाती है। कस्तूरी में ८% राख पाई जाती है जिसमें सोडियम्, पोटॅशियम् एवं कॅल्शियम् के क्लोराइड्स रहते हैं। कस्तूरी मज्जसार में

१०–२०% एवं जल में करीब ५०–७५% घुल जाती है। सौ डिग्री उष्णता पर सुखाने से २०–३०% इसका तौल कम हो जाता है।

गुण और प्रयोग—कस्तूरी कटु, तिक्त, उष्ण, वृष्य, बल्य, विषघ्न, सौमनस्यजनन, हृदय एवं मस्तिष्क के लिये बलप्रद, आक्षेपहर, उद्वेष्टननिरोधी तथा कफविकार, वातविकार, शीत, दुर्गन्ध एवं शोथ को दूर करने वाली होती है।

यह सुषुम्नाशीर्ष के लिये अत्यन्त तीव्र उत्तेजक तथा निपात (Collapse) में बहुत लाभदायक मानी जाती है। इससे रक्तप्रवाह की वृद्धि होती है तथा नाडियों में तनाव (Tension) बढ़ता है। यह मूत्रजननेन्द्रिय एवं श्वसन केन्द्र के लिये उत्तेजक है। इससे प्रथम रक्तवह संस्थान एवं मस्तिष्क को उत्तेजना मिलती है तथा बाद में इसका मादक एवं स्वेदजनक प्रभाव दिखलाई देता है। वातप्रकृति के लोगों में यह ज्यादा प्रभावशाली होती है। इसका उत्सर्ग मूत्र, स्वेद एवं दुग्ध के द्वारा होता है। मुदालियर, डेविड एवं रेड्डी (१९२९) के प्रयोगों से यह देखा गया कि जिन लोगों में श्वेतकणापकर्ष (Leucopenia–ल्यूकोपेनिया) हुआ रहता है उनमें कस्तूरी के टिंक्चर के १०–२० बूंद १ औंस जल के साथ पिलाने से ½–१ घण्टे में श्वेत कणों की वृद्धि होती है। स्वस्थ व्यक्ति में कम प्रभाव दिखलाई देता है। डा. कर्नल चोपरा लिखते हैं कि उपर्युक्त तथ्य गलत हैं। उनके प्रयोग में स्वस्थ एवं कालज्वर पीडित रोगियों में जिनमें श्वेतकणापकर्ष हुआ रहता है, ½ र. कस्तूरी भोजन के २½ घण्टे पश्चात् खिला कर उसके २, ३ घंटे बाद उन लोगों की तथा उनके रक्त की परीक्षा की गई। सात दिन तक यह प्रयोग किया गया। उनके मत से नाडी की गति, रक्त का दबाव, तनाव, श्वेतकणों की संख्या आदि किसी में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। कुछ लोगों ने कस्तूरी खाने के बाद आमाशय में कुछ उष्णता तथा अच्छेपन का अनुभव किया जो प्रभाव किसी वातानुलोमक मिश्रण (Carminative mixture) की तरह मालूम होता था। कर्नल चोपरा के मत से कस्तूरी का हृदय, श्वसन एवं वातनाडीसंस्थान के लिये उत्तेजक एवं वृष्य प्रभाव कस्तूरी की तीव्र गंध के कारण नासिका द्वारा प्रत्यावर्त्तन क्रिया (Reflex-action–रिफ्लेक्स ऍक्शन) के कारण एवं आमाशय में कुछ प्रक्षोभ के कारण है लेकिन अपस्मार, कंपवात एवं बच्चों के आक्षेप में इसकी उपयोगिता का कोई आधार नहीं है। अपतन्त्रक आदि अन्य आक्षेपयुक्त रोगों में होंग, वॅलेरियन आदि तीव्र गन्धयुक्त औषधों की तरह एवं कुकास तथा शूल आदि में अन्य सुगन्धि तैलों की तरह इसका प्रभाव पड़ता है। कर्नल चोपरा का कहना है कि कस्तूरी को वृथा अधिक महत्त्व दिया गया है और उसमें कोई विशेष औषधीय गुण नहीं है। उनका कहना है कि अधिकतर कस्तूरी मिलावटी होने के कारण अत्यन्त विश्वस्त स्थानों से प्राप्त कस्तूरी का ही प्रयोग किया गया था। कस्तूरी को थोड़े से मद्यसार में घोंटकर फिर उसमें जल मिलाकर २४ घण्टे रख कर, छान कर प्रयोग किया गया। इसमें करीब ७०–७५% भाग घुल जाता है।

कस्तूरी का उपयोग योषापस्मार, हिक्का, उद्वेष्टनयुक्त तमकश्वास, हृदय एवं मस्तिष्क की दुर्बलता, हृदय की धड़कन, वातिक उन्माद, अपस्मार, संन्यास, विस्मृति, पक्षाघात, अर्दित, शून्यता, कंपवात, कुकास, शूल, बच्चों के आक्षेप आदि वातिक तथा श्लैष्मिक विकारों में एवं उत्तेजक तथा हृद्य औषध के रूप में आन्त्रिक ज्वर, फुफ्फुसपाक, श्वसनिका शोथ, प्लेग एवं मस्तिष्कावरण शोथ आदि में किया जाता है। हृदय की दुर्बलता के लिये चन्द्रोदय, बृहत् कस्तूरीभैरव का उपयोग बलामूल के साथ लाभदायक है।

उद्वेष्टन निरोधि प्रभाव के कारण हनुस्तम्भ, जलसंत्रास, तीव्र श्वसनावरोध एवं कुकास आदि में इसका प्रयोग किया जाता है। अन्य औषधों के साथ वाजीकरण के लिये इसका बहुत उपयोग करते हैं। दक्षिण के वैद्य बच्चों के आक्षेप में अफीम के साथ कस्तूरी का प्रयोग करते हैं। मन्दज्वर, जीर्णकास, दुर्बलता, वातरक्त एवं विसूचिका आदि में यह लाभदायक है।

कस्तूरी का प्रयोग मधु के साथ अथवा मृगमदासव (भै. र.) के रूप में तथा मकरध्वज के साथ किया जाता है। उष्ण प्रकृति वालों के लिये यह हानिकारक तथा शिरःशूलजनक होती है तथा इसके दुष्परिणाम को दूर करने के लिये गुलाबजल एवं वंशलोचन का प्रयोग करना चाहिये।

मात्रा—१-४ र०, आसव या टिंक्चर—१०-३० बूंद।

अथ लताकस्तूरी (मुष्कबीज)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

लता कस्तूरिका तिक्ता स्वाद्वी वृष्या हिमा लघुः।
चक्षुष्या छेदिनी श्लेष्मतृष्णावस्त्यास्यरोगहृत् ॥ ९ ॥

लता कस्तूरी के गुण—लताकस्तूरी-तिक्त रस युक्त, सुस्वादु, वृष्य (वीर्यवर्धक), शीतवीर्य, लघु, नेत्रों के लिये हितकर, छेदक (गाढे कफादि का छेदन करने वाली), कफ, प्यास, बस्ति तथा मुखसम्बन्धी रोग को दूर करने वाली होती है॥ ९ ॥

४ लता कस्तूरी

हि०, बं०—लताकस्तूरी, कस्तूरी दाना, मुष्कदाना। म०—कस्तूरीभेंडा। मा०--मुष्कदाणा। गु०--लता कस्तूरी। ते०—कर्पूरीबेंड। ता०—वेत्तिलै कस्तूरी, कट्टुक कस्तूरी। पं.--धोनार कस्तूरी। अ०—हब्बुल्मि(मु)ष्क। फा०—मुष्कदाना। अं०—Musk-mallow (मस्क-मॅलो)। ले०—*Hibiscus abelmoschus, Linn.* (हिबिस्कस् एबेल्मोस्कस्, लिन.)। Fam. Malvaceae (माल्वॅसी)।

यह बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश तथा विशेषकर इस देशके गरम प्रदेशों में उत्पन्न होता है। इसको बागों में लगाते हैं और यह आपही आप जंगली भी उत्पन्न होती है।

इसका क्षुप—२-३फुट तक ऊँचा, रोमश तथा जंगली भिंडी के क्षुप के आकार वाला होता है किन्तु कहीं कहीं इससे भी ऊँचा क्षुप देखने में आता है। पत्ते-भिंडी के पत्तों के आकारवाले, गोलाकार गहरे कटे किनारीदार एवं ३ से ५ भागों में विभक्त रहते हैं। फूल—भिंडी के फूलों के समान ही ३-४ इञ्च के घेरे में घंटाकार चमकीले पीले रंग के होते हैं। फली—२॥-३ इञ्च लम्बी, पहलूदार रोमश किञ्चित् नुकीली भिंडी की ही तरह होती है और बीज—भिण्डी के बीजों के समान किन्तु वृक्काकार, कुछ चिपटे तथा काले रंग के होते हैं।

इन बीजों को मसलने से कस्तूरी की तरह गंध आती है। इसके पत्र, मूल तथा बीजों का औषध में व्यवहार किया जाता है।

लताकस्तूरी के नाम से यह बोध होता है कि इसकी लता होती है। 'निघण्टुरत्नाकर' में लिखा है कि इसकी लता दक्षिण में पाई जाती है परन्तु लता देखने में नहीं आती, इसका क्षुप ही होता है जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। श्रीविश्वनाथजी द्विवेदी अपनी भावप्रकाश की टीका में लताकस्तूरी का पर्याय वेदमुश्क लिखते हैं। वास्तव में वेदमुश्क लताकस्तूरी से अलग है

तथा उसका लेटिन नाम सॅलिक्स कॅप्रिया (Salix caprea Linn.) है। चरक-सुश्रुतादि ग्रन्थों में मुखशुद्धि के लिये एवं मुख में रुचि तथा सुगन्धि लाने के लिये मुख में धारण करने के लिये जातीफल, कटुक, पूग, कंकोल, ताम्बूल, सूक्ष्मैला, लवङ्ग एवं कर्पूर का उपयोग लिखा है। टीकाकारों ने कटुक शब्द का अर्थ लताकस्तूरी किया है। कुछ लोगों ने कटुक का अर्थ लघुकक्कोल (छोटी कबाबचीनी) किया है तथा कक्कोल का अर्थ बृहत्कक्कोल (बड़ी कबाबचीनी) किया है।

रासायनिक संगठन—इसमें गोंद, एक रवेदार पदार्थ, सुगन्धद्रव्य, राल, अल्ब्यूमिन एवं एक उड़नशील तैल रहता है। यह तैल हरापन लिये पीला होता है तथा वायु में खुला रखने पर गाढ़ा हो जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके बीज शीतल, दीपन, वाजीकर, बल्य, वातानुलोमक, नेत्र्य, रोचक, बस्तिशोधक, तृषाशामक एवं उद्वेष्टननिरोधी हैं।

इनका उपयोग कफरोग, बस्तिविकार, मुखरोग, अपतन्त्रक, दुर्बलता, स्नायुदौर्बल्य, कुञ्चन, अग्निमान्द्य एवं ज्वर में किया जाता है।

(१) इसके फाण्ट को २ से ४ तो० की मात्रा में कफविकार, तमकश्वास एवं ज्वर में दिया जाता है। इससे श्वासमार्ग में स्निग्धता उत्पन्न होकर श्वासनलिकाओं का उद्वेष्टन दूर होता है। उत्तेजक होने के कारण इससे हृदय को भी बल प्राप्त होता है।

(२) इसको मुख में रखकर चबाने से मुख स्वच्छ एवं सुगन्धित होता है तथा खाने पर रुचि बढ़ती है। स्वरभङ्ग एवं मुखशोष में इसका धूम्रपान उपयोगी है।

(३) २½ औंस बीज तथा २० औंस मद्यसार में इसका टिंक्चर बनाकर १–२ ड्रा० की मात्रा में उत्तेजक, उद्वेष्टननिरोधी एवं वातानुलोमक रूप में अपतंत्रक, दुर्बलता तथा अन्य वातिक विकारों में दिया जाता है।

(४) सूखी खुजली में दूध में पीसकर इसके उबटन का प्रयोग किया जाता है। सर्पदंश पर इसके चूर्ण को मद्यसार में भिगोकर लगाते हैं तथा आन्तरिक प्रयोग भी करते हैं। महीन चूर्ण को नेत्र में लगाने से लाभ होता है।

(५) इसके मूल तथा पत्तों का लुआब निकाल कर मिश्री मिलाकर सोजाक, रतिजन्य रोग एवं वस्तिविकारों में दिया जाता है। शुक्रमेह में बीजों का चूर्ण खिलाते हैं।

(६) औषधीय तैलों को सुगन्धित करने के लिये इसके बीजों का उपयोग किया जाता है।

(७) कॉफी के साथ इसका प्रयोग किया जाता है।

अधिक मात्रा—२ ड्रा० से अधिक टिंक्चर के प्रयोग से शिरःशूल एवं चक्कर आते हैं।

मात्रा—चूर्ण २–४ मा०; टिंक्चर—१–२ ड्रा०।

अथ गन्धमार्जारवीर्यम् (जबादकस्तूरी)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

गन्धमार्जारवीर्यन्तु वीर्यकृत्कफवातहृत्। कण्डूकुष्ठहरं नेत्र्यं सुगन्धं स्वेदगन्धनुत्॥ १०॥

गन्धमार्जार का वीर्य अर्थात् जबादकस्तूरी के गुण—गन्धमार्जारवीर्य—वीर्यजनक, कफवातनाशक, खुजली तथा कुष्ठ को दूर करने वाला, नेत्रों के लिये हितकर, सुगन्धयुक्त तथा पसीने की दुर्गन्ध को दूर करने वाला होता है॥ १०॥

५ जबाद कस्तूरी

हि०-जबाद कस्तूरी, जवाद, बंट अज़ीर, मुश्क बिलाव कस्तूरी, गन्ध ओतु। गु०-जवादियां कस्तूरी। ता०-पुनुगु, जबादी। अ०-ज(ज़ु)ब्बाद, ज(ज़ु)बाद। अं०-Civet (सिव्हेट)। प्राणिनाम—हि०-मुश्क बिल्ली, खतास। ने०-भ्रान। बं०-माचभोंदर, बगदास, पूडोगंद। ता०-पुनुगु पूने। फा०-गुर्बए जबाद। अं०-Civet cat (सिव्हेट कॅट)। ले०-*Viverra zibetha, Linn.* (वाइ-वेर्रा झिबेथा, लिन.)।

यह सुगन्धिपदार्थ गन्धमार्जार नामक एक प्रकार की बिल्ली के पूंछ के नीचे की थैली से प्राप्त द्रव्य है। यह प्राणी अफ्रिका, दक्षिण एशिया एवं भारतवर्ष के मालाबार प्रान्त में पाया जाता है। इसका कद बिल्ली का सा किन्तु दुम बड़ी लम्बी होती है। शरीर पर गहरे रंग के धब्बे होते हैं। गुदा और जननेन्द्रिय के बीच में पूंछ के नीचे एक बड़ी थैली होती है जो दो भागों में विभक्त रहती है। इस थैली में जो द्रव पदार्थ बनता है उसको भी सिव्हेट ही नाम दिया जाता है। प्राकृतिक दशा में सिव्हेट की गन्ध अत्यन्त तीक्ष्ण या असह्य होती है, किन्तु जब वह अन्य वस्तुओं के साथ मिलाकर तैयार की जाती है, तो उसमें कस्तूरी की सी सुगन्ध आने लगती है। इस बिल्ली को एक तंग पिंजरे में खड़ाकर देते हैं और थैली में से द्रव पदार्थ को निचोड़ लेते हैं।

मलाबार की तरफ कृषक लोग खेतों में बांस गाड़ देते हैं। यह मार्जार उस पर अपना शिश्न घर्षण करके वीर्य निकाल देता है जो बांस पर लग जाता है। कृषक लोग उसे संग्रह करके बेच देते हैं।

कई लोग इस मार्जार को मारकर उसका अण्डकोष उल्टा करके ग्रन्थियां फेंक देते हैं और उल्टे हुवे कोष में तृण भरकर शुष्क करके बेच देते हैं। कलकत्ता में यह शुष्क कोष 'खट्टाशी' नाम से मिलता है। बंगाली वैद्य नारायण तैल आदि को सुगन्धित करने के लिये खट्टाशी उसमें छोड़कर मन्द अग्नि से पकाते हैं।

गन्धमार्जारवीर्य नया होने पर पीताभ श्वेत वर्ण का, नरम और प्रायः मधु के समान गाढ़ा होता है। पुराना होने पर रंग में कुछ श्यामता आ जाती है। यह श्वेत रंग का निकृष्ट समझा जाता है। दक्षिण भारत के बंगलोर, मैसूर, मदुरा आदि शहरों में यह पुनुगु या जबादी नाम से सुगन्धि द्रव्य बेचने वालों के यहां मिलता है। इसमें छोटे बाल, तन्तु, लकड़ी तथा अमोनिया आदि मिले रहते हैं।

परीक्षा—'गंजबादावर्द' में जबाद की परीक्षण विधि इस प्रकार लिखी है—

इसे सुतली के सिरे पर लगाकर अग्नि के समीप रखने से पिघल कर तेल हो जाय तो कृत्रिम और यदि एकत्रीभूत होकर सिरे पर लगा रहे तो असली समझे। इसे अग्नि पर गरम करें या दोनों हाथों से इतना मलें कि गरमी पैदा हो जाय, उस समय सूंघने से जो चीज़ उसमें मिली होगी वह व्यक्त हो जायगी।

रासायनिक संगठन—इसमें स्वतन्त्र अमोनिया, राल, वसा, कार्यकारी सत्त्व एवं उड़नशील तैल आदि पदार्थ पाये जाते हैं जिनके कारण इसमें सुगन्ध होती है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, वृष्य, नेत्र्य, सुगन्धि, उत्तेजक, सौमनस्यजनन, आविजनन, हृदय एवं ज्ञानेन्द्रियों के लिये बलकारक, उद्वेष्टननिरोधी तथा कफ, वायु, कण्डू और स्वेद की दुर्गन्ध को दूर करने वाला एवं स्थानिक पीडाशामक है। इसका प्रयोग अपतन्त्रक, वातनाडी दुर्बलता-

जन्य शैथिल्य, नपुंसकता एवं सुखप्रसूति के लिये किया जाता है। सुगन्धि के काम में तथा धूपों में इसका औषध की अपेक्षा अधिक प्रयोग किया जाता है। नीचे कुछ यूनानी प्रयोगों को दिया जाता है।

(१) मद्य या अन्य औषधों के साथ २ र० की मात्रा में देने से मन उल्लसित होता है एवं मूर्च्छा, हृदय की धड़कन एवं उदासीनता आदि में लाभ होता है।

(२) १॥ माशा जबाद, थोड़ा सा केशर एवं मुर्गे का मांसरस प्रसव के समय पिलाने से सुखपूर्वक प्रसव होता है।

(३) प्रतिश्याय, शिरःशूल और अर्धावभेदक में इसको सूंघने से लाभ होता है।

(४) बादाम के तेल में घिसकर कान में डालने से श्रवणशक्ति बढ़ती है।

(५) शिश्नपर लेप करके संभोग करने से अधिक आनन्द होता है तथा गर्भधारणा नहीं होती।

(६) इसके मर्दन से दर्द दूर होता है। व्रणशोथ पर लेप करने से वह पककर जल्दी अच्छा होता है।

मात्रा—१-२ माशा।

नोट—एक अन्य सुगन्धि, जान्तव द्रव्य का प्रयोग यूनानी चिकित्सा में किया जाता है, जिसे **जुंदबेदस्तर** कहते हैं। यह कॅस्टर फाइबर (Castor fibe.) नामक उदबिलाव की जाति के एक प्राणी के जननांगकोश में संचित पदार्थ है। यह कोश २॥ इञ्च लंबे, भारी तथा खाकी श्यामवर्ण के होते हैं। इसके भीतर कालासा या पीलापन लिये हुये एक लाल रंग का राल जैसा पदार्थ होता है जिसमें कस्तूरी जैसी गंध होती है एवं इसका स्वाद कुछ तीता होता है। इसका सुगंधि के अतिरिक्त वातकफ-विकारों में अगद के रूप में तथा तिलाओं में उपयोग करते हैं।

मात्रा—२ से ४ रत्ती।

अथ चन्दनम्। तस्य नामान्याह

श्रीखण्डं चन्दनं न स्त्री भद्रश्रीस्तैलपर्णिकः। गन्धसारो मलयजस्तथा चन्द्रद्युतिश्च सः ॥११॥

चन्दन के नाम—श्रीखण्ड, चन्दन (यह पुंल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग में होता है), भद्रश्री, तैलपर्णिक, गन्धसार, मलयज और चन्द्रद्युति ये सब चन्दन के संस्कृत नाम हैं ॥ ११ ॥

अथोत्तमचन्दनस्य लक्षणमाह

स्वादे तिक्तं कषे पीतं छेदे रक्तं तनौ सितम्। ग्रन्थिकोटरसंयुक्तं चन्दनं श्रेष्ठमुच्यते ॥१२॥

श्रेष्ठ चन्दन के लक्षण जो चन्दन स्वाद में तिक्त रस युक्त, घिसने में पीले वर्ण का, टुकड़े करने पर लाल वर्ण का एवम् देखने में श्वेत वर्ण का हो तथा गाँठ और कोटर (खोड़रा) से युक्त हो तो श्रेष्ठ कहलाता है ॥ १२ ॥

अथ चन्दनस्य गुणानाह

चन्दनं शीतलं रूक्षं तिक्तमाह्लादनं लघु। श्रमशोषविषश्लेष्मतृष्णापित्तास्रदाहनुत् ॥ १३ ॥

चन्दन के गुण—चन्दन—शीतवीर्य, रूक्ष तिक्त रस युक्त, चित्त को आह्लादित करने वाला और लघु होता है तथा श्रम, शोष, विष, कफ, प्यास, पित्तविकार, रक्तदोष और दाह को दूर करने वाला होता है ॥ १३ ॥

६ चन्दन

हि०–चंदन, सफेद चंदन। बं०–म०–चंदन। क०–श्रीगन्धमर। गु०–सुखड़। ता०–चंदन मरं। ते०–गंधपु चेक्का। फा०–संदले सफेद। अ०–संदले अब्यज। अं०–Sandalwood (सॅन्डलवुड)। ले०–*Santalum album, Linn.* (सॅन्टॅलम् ॲल्बम्)। Fam. Santalaceae (सॅन्टॅलेसी)।

यह मैसूर, कुर्ग, कोयम्बटूर एवं मद्रास के दक्षिणी भागों में ४००० फीट की ऊँचाई तक उत्पन्न होता है तथा इसकी उपज भी की जाती है। करीब ६००० वर्ग मील का क्षेत्र इससे व्याप्त है जिसमें से ८५%भाग मैसूर एवं कुर्ग में है। कहीं कहीं वाटिकाओं में भी रोपण करते हैं।

इसका वृक्ष सदाहरित, २०–३० फीट ऊँचा एवं अर्धपराश्रयी स्वरूप का होता है क्योंकि यह दूसरे आस-पास के घास, झाड़ी, क्षुप एवं वृक्षों से कुछ अंशों में पोषक द्रव्यों का शोषण करता है। उद्भेद के कुछ महीने पश्चात् ही इसके मूल आस पास के पेड़–पौधों के मूल में घुस जाते हैं तथा उनसे खाद्य द्रव्यों का शोषण करते हैं। छोटे पौधों को बहुत सावधानी के साथ इतर पोषित (Host) वृक्षों के साथ पुनः रोपण किया जाता है। यदि सावधानी के साथ रोपण न किया जाय और पास २ रोपण किया जाय तो स्पाइक (Spike) नामक रोग से ये बहुत जल्दी नष्ट हो जाते हैं। इसकी छाल–कालापन युक्त भूरे रंग की, अन्तर छाल–लाल, लकड़ी–तेल युक्त दृढ़ और सार भाग–पीलापन युक्त भूरे रंग का तथा सुगन्धित होता है। पत्ते–विपरीत, २–३ इञ्च लम्बे, अडाकार–लट्वाकार एवं उपपत्र रहित होते हैं। फूल–छोटे, निर्गन्ध, जामुनी रंग के तथा गुच्छों में आते हैं। फल–मांसल, गोल एवं कृष्णाभ बैंगनी रंग के होते हैं। इसका केवल काष्ठसार ही सुगंधित होता है।

कठिन, पहाड़ी तथा लाल भूमि में उत्पन्न वृक्षों में तैल अधिक होता है। उपजाऊ भूमि में तैल की मात्रा कम होती है। इसके वृक्षों को यद्यपि अन्य स्थानों में रोपित करने का प्रयत्न किया गया तथापि उसमें बहुत कम सफलता मिली। इसके वृक्ष १८–२० वर्षों में परिपक्व होते हैं तब तक इसमें काष्ठसार सतह से २ इञ्च अंदर तक विकसित हो जाता है। इस अवस्था में वृक्षों को काटते हैं। बाहर की छाल एवं बाहरी रसकाष्ठ (Sapwood–सॅपवुड) तथा डालियां जो गंधहीन होती हैं उन्हें फेंक दिया जाता है। अंदर के काष्ठसार (Heart wood–हार्टवुड) को करीब २½ फीट लंबे टुकड़ो में काटकर बंद गोदामों में सूखने के लिये रख दिया जाता है। ऐसा समझा जाता है कि इससे इसकी सुगन्ध और अच्छी हो जाती है। वृक्ष का तिहाई भाग करीब काष्ठसार होता है।

काष्ठसार के टुकड़ों तथा बुरादे से आसवन (Distillation–डिस्टिलेशन) के द्वारा तैल निकालते हैं। इसकी उड़नशीलता कम होने के कारण एवं इसका काष्ठ अधिक सघन होने के कारण तैल बहुत धीरे धीरे निकलता है तथा इसमें व्यय भी अधिक होता है। इसके मूल से भी तैल निकाला जाता है जो काष्ठ की अपेक्षा अधिक मात्रा में एवं अधिक अच्छा होता है। औसतन १ टन (२८ मन) काष्ठ से १०५–११० पौण्ड तैल निकलता है। अधिकांश वृक्षों पर राज्य का अधिकार है तथा बंगलौर एवं मैसूर में इसके तैल निकालने के कारखाने हैं। राज्य को अमेरिका आदि देशों में इसके निर्यात से बहुत आमदनी होती है।

अन्य देशों में कुछ ऐसे वृक्ष पाये गये हैं जिनसे भारतीय चन्दन तैल सदृश तैल प्राप्त होता है लेकिन वह उतना अच्छा नहीं होता। पूर्वी जावा से चन्दन के ही वृक्ष से निकाला हुआ मॅकेस्सर सॅन्डलॅवुड् ऑइल (Macassar sandalwood oil) आता है लेकिन उसमें भारतीय

तैल जैसी सुगंध नहीं होती। वेस्ट इण्डियन सॅन्डलवुड् ऑइल (West Indian sandalwood oil) यह चंदन के वृक्ष से नहीं निकालते वरन् फ्यूसॅनस् ॲक्यूमिनेटस् (Fusanus acuminatus) से निकालते हैं तथा ईस्ट अफ्रिकन सॅन्डलवुड् ऑइल (East African sandalwood oil) ऑसिरिस् टेनुइफोलिया (Osyris tenuifolia) से निकालते हैं। वेस्ट ऑस्ट्रेलियन् सॅन्डलवुड् ऑइल (West Australian sandalwood oil) यह फ्यूसॅनस् स्पाइकॅटस् (Fusanus spicatus) से निकालते हैं जो कुछ परिवर्तन करने के पश्चात् भारतीय तैल जैसा बन जाता है एवं व्यापार में भारतीय तैल की प्रतिद्वन्द्विता कर सकता है।

चन्दन के भेद—प्राचीन निघण्टुकारों ने चन्दन के कई भेद लिखे हैं। ध. नि. में चन्दन (श्वेतचन्दन), रक्त चन्दन कुचन्दन, कालीयक और बर्बरीक ये पांच प्रकार के चन्दन के भेद लिखे हैं। रा नि. में बेट्ट और सुक्कडि नामक (श्वेत) चन्दन के दो भेद एवं रक्त चन्दन, पतंग (कुचन्दन), कालीयक, बर्बरक तथा हरिचन्दन ये सब मिलाकर ७ प्रकार लिखे हैं। भावप्रकाश में चन्दन, रक्तचन्दन, कालीयक (पीतचन्दन) एवं कुचन्दन (पत्रांग) ये ४ भेद लिखे हैं। ध. नि. ने हरिचन्दन का स्वतन्त्र उल्लेख न करके रक्तचन्दन के पर्याय में हरिचन्दन लिखा है तथा भावप्रकाशकार ने कालीयक (पीतचन्दन) के पर्याय में हरिचन्दन को लिखा है।

श्वेतचन्दन—रा. नि. ने श्वेतचन्दन के दो भेद किये हैं। आर्द्र अवस्था में वृक्ष को काटने पर प्राप्त चन्दन को बेट्ट संज्ञा दी है। अपने आप वृक्ष के सूख जाने पर काटे हुवे चन्दन को सुक्कडि कहा है। कुछ लोगों का मत है कि मलय पर्वत के पास के बेट्ट नामक पर्वत से प्राप्त चन्दन 'बेट्टचन्दन' है। इसी प्रकार 'बर्बर' नामक चन्दन का जो भेद लिखा है वह भी श्वेत ही होता है तथा वह बर्बर नामक पहाड़ पर उत्पन्न होता है। ध. नि. इसे निर्गन्ध एवं रा. नि. सुगन्धि युक्त मानते हैं। श्वेतचन्दन के जो अन्य पर्याय भद्रश्री, तैलपर्ण एवं गोशीर्ष आदि दिये गये हैं वे मलय पर्वत, तिलपर्ण तथा गोशीर्ष पर्वत पर पाये जाने वाले चन्दनों के नाम हैं, ऐसा मानते हैं।

चन्दन के प्रयोग के संबन्ध में लिखा है—**'उक्ते चन्दनशब्दे तु गृह्यते रक्तचन्दनम्। चूर्णस्नेहासवा लेहाः साध्याः धवलचन्दनैः॥ कषायलेपयोः प्रायो युज्यते रक्तचन्दनम्॥'** योग में सामान्य चन्दन शब्द से रक्तचन्दन का ग्रहण करना चाहिये। चूर्ण, तैल, घृतादि, आसव-अरिष्टादि एवं लेह में चन्दन से श्वेत चन्दन का ग्रहण करना चाहिये तथा कषाय स्वरस आदि एवं लेप के लिये रक्तचन्दन का ग्रहण करना चाहिये। चरक के कई गणों में चन्दन का उल्लेख एवं सुश्रुत के कई गणों में चन्दन तथा कुचन्दन का प्रयोग आया है। सालसारादि गण में कालीयक का भी उल्लेख है। डल्हण ने सालसारादिगण एवं पटोलादिगण में कुचन्दन का अर्थ रक्त चन्दन किया है। जब कुचन्दन से रक्त चन्दन एवं चन्दन से भी रक्त चन्दन लिया जावेगा तो दो अलग लिखने का क्या अभिप्राय है? सु० सू० अ० ३८ में प्रियंग्वादिगण में कुचन्दन का अर्थ रक्त चन्दन न करके मलयाद्रि चन्दन किया है तथा चन्दन का अर्थ रक्त चंदन किया है। गुडूच्यादिगण में चन्दन से रक्तचन्दन लिया है। इस प्रकार **'चन्दने रक्तचन्दनम्'** यह उचित नहीं मालूम पड़ता तथा चूर्णादि में श्वेत एवं कषायादि में रक्तचन्दन का प्रयोग भी ऋषि सम्मत नहीं मालूम पड़ता। जिस प्रकार का प्रयोग हो वैसा अर्थ लेना चाहिये। सुगन्धि आदि के लिये श्वेत चन्दन एवं रक्तपित्तादि में रक्त चन्दन का प्रयोग उचित है।

रासायनिक संगठन—इसके काष्ठसार में २·५-६% तक एक उड़नशील तैल, राल एवं टॅनिक एसिड आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

चन्दन का तैल हलके पीले रंग का, गाढ़ा, चिपचिपा, स्वाद में कडवा एवं किंचित् तीता तथा तीव्र विशिष्ट गन्धवाला होता है। यह २०° से. उष्णता पर ५ भाग मद्यसार (७०%) में घुल जाता है। इसका विशिष्ट गुरुत्व ०.९७३—०.९८५ होता है। इस तैल में ९०% तक ॲल्फा-सॅण्टेलॉल एवं बीटा-सॅण्टेलॉल (a-santalol and B-santalol, C_{15} $H_{24}O$) नामक दो समाजिक (Isomeric-आइसोमेरिक्) सेस्क्विटर्पेन् ॲल्कोहोल्स (Sesquiterpene alcohols) पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त इस तैल में ॲल्डिहाइड्स (Aldehydes) एवं कीटोन (Ketone) द्रव्य पाये जाते हैं।

इस तैल में देवदार का तैल (Cidarwood oil) १० % तक एवं रेंडी का तेल आदि अन्य तैलों की मिलावट की जाती है जिनकी पहचान इसके भौतिक परिवर्तन से की जा सकती है।

गुण और प्रयोग—श्वेत चन्दन कड़वा, शीतल, रूक्ष, दाहशामक, पिपासाहर, ग्राही, हृदय-संरक्षक, विषघ्न, वर्ण्य, कण्डूघ्न, वृष्य, आह्लादकारक, रक्तप्रसादक, मूत्रल, दुर्गन्धहर एवं अंगमर्द-शामक है।

इसका उपयोग ज्वर, रक्तपित्त, पैत्तिक विकार, तृषा, दाह, वमन, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, रक्तमेह, श्वेतप्रदर, रक्तप्रदर, उष्णवात (सोजाक), रक्तातिसार तथा अनेक चर्मरोगों में किया जाता है।

(१) पित्तज्वर, तीव्रज्वर एवं जीर्णज्वर में चंदन के प्रयोग से दाह एवं तृषा की शांति होती है तथा स्वेद उत्पन्न होकर ज्वर भी कम होता है। ज्वर के कारण हृदय पर जो विषैला परिणाम होता है वह भी इसके देने से नहीं होता।

(२) नारियल के जल में चन्दन घिसकर २ तो० की मात्रा में पिलाने से प्यास कम होती है।

(३) चन्दन को चावल की धोवन में घिस कर मिश्री एवं मधु मिलाकर पिलाने से रक्तातिसार, दाह, तृष्णा एवं प्रमेह आदि में लाभ होता है। इसी प्रकार मूत्रदाह, मूत्राघात, रक्तमेह एवं सोजाक में चन्दन को चावल की धोवन में घिस कर मिश्री मिलाकर पिलाते हैं।

(४) आंवले के रस के साथ चन्दन देने से वमन बंद होता है।

(५) दुर्गंध युक्त श्वेतप्रदर, रक्तप्रदर एवं प्रमेह आदि में चंदन का क्वाथ उपयोगी है।

(६) ग्रीष्मऋतु में शीतल, आह्लाददायक पेय के रूप में चन्दन पानक (शरबत) का उपयोग किया जाता है। इससे आमाशयगत उष्णता कम होती है। हृदय, यकृत तथा आमाशय को बल प्राप्त होता है एवं दाह, तृष्णा शांत होती है।

(७) त्वक् शोथ, विसर्प, फोड़े-फुन्सी, कण्डू, अत्यधिक स्वेद एवं अम्हौरी आदि में चंदन एवं कपूर, गुलाब जल में घिसकर लगाते हैं। ज्वर में शरीर में पीडा हो तब इसको लगाने से लाभ होता है। शिरःशूल में लगाने से शिरःशूल दूर होता है।

चन्दन का तैल—यह उत्तम मूत्रजनन, मूत्रमार्ग के लिये प्रतिदूषक, वृक्कोत्तेजक, त्वग्दोषहर, कृमिघ्न, कफनिःसारक एवं स्नेहन है। इससे वृक्क को कोई नुकसान नहीं होता। इसका उत्सर्ग मूत्रजननेंद्रिय संस्थान तथा फुफ्फुसों द्वारा होता है और उत्सर्ग के समय इनके स्रावों की वृद्धि होती है तथा जीवाणुनाशन भी होता है। सेवन के पश्चात् गले में खुश्की एवं प्यास तथा अधिक मात्रा में शूलवत् वेदना एवं कटिप्रदेश में भारीपन मालूम होता है।

इसका प्रयोग सोजाक, वस्तिशोथ, गवीनीमुखशोथ, जीर्णकास, विषम ज्वर एवं खुजली (पामा) में तथा सुगन्धि के लिये किया जाता है।

(१) नये अथवा पुराने सोजाक में इसको १५-२० बूंद दिन में ३ बार देने से बहुत लाभ होता है। यदि जलन अधिक हो तो ५-१० बूँद हर घंटे पर दें। कोपाइबा (Copaiba) की तरह

इससे मूत्रादि में दुर्गन्ध नहीं आती। इसे पूयस्राव बंद होने के २ हफ्ते बाद तक देना चाहिये जिससे फिर से न हो। इसमें इलायची एवं वंशलोचन के साथ या सोंठ या अजवायन के फांट के साथ भी इसका प्रयोग किया जाता है।

(२) जीर्ण बस्तिशोथ (Cystitis), गवीनीमुख शोथ (Pyelitis–पाइलाइटिस्), बस्ति के राजयक्ष्मा उपसर्ग से यदि बार बार पेशाब होती हो एवं मूत्रकृच्छ्र में इसको बताशे में डालकर दूध के साथ देते हैं। यह क्षारीय मूत्र में ही प्रतिदूषक का कार्य करता है इसलिये साथ में क्षारीय औषधों का प्रयोग आवश्यक है।

(३) दुर्गन्धित कफयुक्त कास में २-३ बूँद बताशे पर डालकर देते हैं।

(४) खुजली (पामा–Scabies) में इसको लगाने से लाभ होता है। कर्णशूल, दंतशूल एवं शोथ आदि पर तथा अनेक चर्मरोगों में इसका स्थानिक उपयोग किया जाता है। नाक पर की फुन्सियों पर दुगुने सरसों के तेल में मिलाकर इसे लगाते हैं।

चन्दन के बीज—पेसरी के रूप में गर्भपात के लिये इसका प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—चूर्ण २-४ मा०, तैल ५-१५ बूँद।

अथ पीतचन्दनम्। (कलम्बक इति लोके)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कालीयकं[1] तु कालीयं पीताभं हरिचन्दनम् ॥ १४ ॥
हरिप्रियं कालसारं तथा कालानुसार्यकम्। कालीयकं रक्तगुणं विशेषाद् व्यङ्गनाशनम्॥१५॥

पीत चन्दन अर्थात् जिसे लोक में 'कलम्बक' कहते हैं उसके नाम तथा गुण—कालीयक, कालीय, पीताभ, हरिचन्दन, हरिप्रिय, कालसार तथा कालानुसार्यक ये सात पीले चन्दन के संस्कृत नाम हैं। पीलाचन्दन—गुणों में रक्तचन्दन के समान ही होता है किन्तु विशेषता यह है कि यह विशेष रूप से व्यङ्ग (मुख की झाँई) को भी दूर करने वाला होता है ॥ १४-१५ ॥

७ पीतचन्दन

हि०-पीतचन्दन, पीला चन्दन, कलंबक। बं-कलंबा। म०-पिंवळे चन्दन। फा०-संदल अबियज।

नवीन औद्भिदी विज्ञों के अनुसार पीत चन्दन का स्वतन्त्र कोई वृक्ष नहीं पाया जाता। ध० नि० एवं भावप्रकाश में उत्तम श्वेत चन्दन के विषय में लिखा है कि 'कषे पीतम्', अर्थात् घिसने पर जो पीतवर्ण का हो वह उत्तम श्वेत चन्दन होता है। इसी प्रकार ध० नि० में 'मलयोत्थम् पीतकाष्ठम् चतुर्थं हरिचन्दनम्', लिखा है जिससे ज्ञात होता है कि पीतचन्दन मलयपर्वत पर ही होता है। श्वेत चन्दन का उत्पत्ति स्थान भी मलय पर्वत दिया हुआ है। इस प्रकार उत्पत्ति स्थान एवं घिसने पर पीतवर्ण दोनों चन्दनों के एक ही हैं केवल ऊपर से देखने में पीत चन्दन कुछ अधिक पीला तथा श्वेत चन्दन पीताभ श्वेत होता है। इसलिये यदि उत्तम पीतवर्ण के काष्ठसार को पीतचन्दन एवं कुछ श्वेत बर्ण के काष्ठसार को श्वेत चन्दन मान लिया जाय तो पीत चन्दन की संगति लग सकती है।

---

१. कलम्बकं इति पाठा०।

दूसरा द्रव्य जिसके तरफ ध्यान जाता है वह है कलंबा (Calumba)। यह अफ्रीका में होनेवाली एक लता जेटिओहाइझा पामेटा (Jateorhiza palmata Miers; Fam. Menispermaceae) के पीतवर्ण के मूल के टुकड़े हैं जिनका आधुनिक चिकित्सा में तिक्त पौष्टिक एवं दीपन द्रव्य के रूप में प्रयोग किया जाता है। यह भारत में भी लगाई हुई मिलती है एवं इसका भारतीय प्रतिनिधि है 'झाड की हलदी' (पृष्ठ १२२) जिसको दक्षिण में दारुहरिद्रा के स्थान पर व्यवहार करते हैं। इस भारतीय द्रव्य को सीलोन कलंबा या नकली कलंबा भी कहा जाता है। दारुहरिद्रा के पर्यायों में भी 'कालीयक' आता है। इन बातों से ऐसा आभास होता है कि संभवतः 'झाड़ की हलदी' (नकली कलंबा) या कलंबा पीतचन्दन हो।

अथ रक्तचन्दनम्। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

रक्तचन्दनमाख्यातं रक्ताङ्गं क्षुद्रचन्दनम्। तिलपर्णं रक्तसारं तत्प्रवालफलं स्मृतम् ॥ १६ ॥
रक्तं शीतं गुरु स्वादुच्छर्दितृष्णाऽस्रपित्तहृत्। तिक्तं नेत्रहितं वृष्यं ज्वरव्रणविषापहम् ॥ १७ ॥

लाल चन्दन के नाम तथा गुण—रक्तचंदन, रक्ताङ्ग, क्षुद्रचंदन, तिलपर्ण, रक्तसार और प्रवालफल ये सब लाल चंदन के संस्कृत नाम हैं। लाल चन्दन—शीतवीर्य, गुरु, स्वादु तथा तिक्त रस युक्त तथा वमन, प्यास और रक्तपित्त को दूर करने वाला होता है। यह नेत्रों के लिये हितकर, वृष्य और ज्वर, व्रण तथा विष को दूर करने वाला होता है ॥ १६–१७ ॥

८ लालचन्दन

हि०-लाल चंदन, रक्तचंदन। वं, म०-रक्तचंदन। गु०-रतांजली। ते०-रक्तचंदनम्। ता०-शेन् चंदनम्। पं, मा०-लाल चंदन। मला०-रक्तशंदनम्। फा०-संदले सुर्ख। अ०-संदले अहमर। अं०-Red Sanders Wood (रेड सॅण्डर्स वुड); Red Sandal Wood (रेड सॅण्डल वुड)। ले०-*Pterocarpus santalinus, Linn. f.* (प्टेरोकार्पस् सॅन्टॅलिनस्, लिन.)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह दक्षिण भारत में विशेष कर कुडापा, उत्तर आरकोट, कर्नूल के दक्षिण भाग एवं चिंगलपुट में १५०० फीट की ऊंचाई तक पाया जाता है। यह दक्षिण भारत तथा फिलीपाइन द्वीपों में नैसर्गिक रूप में उत्पन्न होता है।

इसका वृक्ष–२५ फुट तक ऊँचा होता है। छाल-कालापन युक्त भूरे रङ्ग की, लकड़ी–दृढ़ तथा काष्ठसार–अत्यंत कठिन एवं कालापन युक्त लाल रंग का होता है। पत्ते–संयुक्त, प्रायः पत्रक तीन, १½–३ इञ्च लम्बे, गोलाई युक्त अंडाकार एवं कुण्ठिताग्र होते हैं। पत्तों के अधोपृष्ठ हलके वर्ण के एवं मृदु रोमश होते हैं। फूल–अल्प, पीताभ श्वेत एवं सवृंतकाण्डज गुच्छों में आते हैं। फलियाँ–करीब १½ इञ्च व्यासकी, टेढ़ी, आधार की तरफ कम चौड़ी एवं छोटे से डंठल से युक्त होती हैं।

इसके काष्ठसार का औषध में व्यवहार किया जाता है। यह गहरे काले से लाल रंग का, अत्यंत कठोर, वजन में भारी एवं रेशेदार होता है। यह लम्बाई में आसानी से टूट जाता है। इसके सफाई से कटे हुये अनुप्रस्थ विच्छेद में (Transverse section) में वार्षिक चक्र (Annual rings) नहीं होते किन्तु गहरे रंग की घन काष्ठतंतुओं (Wood fibres) की स्पर्श समतलीय (Tangential) पट्टियाँ (Bands) होती हैं जो कम चौड़ी, हलके रंग की काष्ठ तंतुमित्तिक (Wood parenchyma) की करीब करीब संतत पट्टियों से एकांतरित रहती हैं। इन

पट्टियों के अन्दर के किनारों पर महावाहिनियाँ (Vessels) दूर-दूर पर विन्यस्त रहती हैं। इन पट्टियों को समकोण में काटती हुई अत्यंत महीन, हलके रंग की मज्जक किरणें (Medullary rays) होती हैं जो १० गुना बड़ा करके ही देखी जा सकती हैं। इसका बुरादा बाजार में मिलता है। इससे मद्यसार का रंग गहरा लाल हो जाता है लेकिन जल में बहुत कम इसका भाग घुलता है। इसमें गन्ध नहीं होती तथा स्वाद कुछ कसैला होता है।

नोट—यद्यपि इसे रक्तचंदन कहा गया है तथापि इसमें चंदन के समान सुगंध नहीं होती। रा. नि. में एक सुगंधि युक्त लालचंदन का उल्लेख 'हरिचंदन' नाम से किया है लेकिन यह भी लिखा है कि यह दिव्य होता है एवं दुर्लभ होता है। कुछ लोगों ने रक्तचंदन से पतंग का ग्रहण किया है क्योंकि वह भी रक्तचंदन से मिलता-जुलता होता है लेकिन वह इस वृक्ष से अलग वृक्ष है जिसका आगे वर्णन दिया गया है। 'निघण्टुआदर्श' में कुचंदन का ले० नाम अॅडेनेन्थेरा पॅव्होनिना लिन. (Adenanthera pavonina Linn.) बं०-रक्तकंबल; बम्ब०-थोरलीगुञ, वाल; हि०-बड़ी गुमची, रक्तचंदन लिखकर 'वनौषधि दर्पण' से उद्धृत उसकी टीका में लिखा है कि 'कुचंदन यह रा. नि. का पतंग है जिसका रक्तचंदन के स्थान पर प्रयोग किया जाता है।' लेकिन पतंग का वृक्ष अलग होता है जिसे सिझलपिनिआ सप्पन कहते हैं। बड़ी घुमची को रक्तचंदन अथवा पतंग मानना उचित नहीं। इस प्रकार रक्तचंदन एवं पतंग के अलग अलग वृक्ष पाये जाते हैं। केवल रा. नि. का सुगंध युक्त लालचंदन (हरिचंदन) अभी तक नहीं प्राप्त हो सका है। संभव है वनस्पतियों का व्यापक अनुसंधान होने पर इस विषय का अंतिम निर्णय किया जा सके।

रासायनिक संगठन—इसमें सॅन्टॅलिन् (सॅन्टॅलिक् एसिड) [Santalin (santalic acid)] नामक एक रंजक द्रव्य तथा डेसॉक्सि सॅण्टलिन् नामक एक अन्य पदार्थ पाया जाता है। सॅन्टॅलिन् से मद्यसारमें रक्त के समान लाल रंग, ईथर में पीला, अमोनिया एवं दाहक क्षार में नीललोहित रंग आता है। यह जल में नहीं घुलता। इसके अतिरिक्त लालचन्दन में प्टेरोकार्पिन (Pterocarpin), होमो-प्टेरोकार्पिन (Homo-pterocarpin) एवं सॅन्टाल् ये तीन रंगहीन रवेदार पदार्थ पाये जाते हैं। इसमें मद्यसार में घुलनशील पदार्थ २% से कम एवं राख २% से अधिक न होनी चाहिये। इसके मद्यसारीय घोल से इसके रंग को खनिज अम्लों (Mineral acids) के द्वारा निस्सादित (Precipitated) किया जा सकता है।

गुण और प्रयोग—रक्तचन्दन शीतल, बल्य, सौम्य एवं ग्राही है। इसका बाह्य लेप शीतल, शोथघ्न एवं व्रणरोपक है।

इसका प्रयोग पैत्तिक विकार, रक्तदोष, रक्तार्श, रक्तपित्त, अतिसार, संग्रहणी एवं शिरःशूल, शोथ तथा त्वचा के रोगों में किया जाता है। रंजक द्रव्य के रूप में इसका अधिक उपयोग किया जाता है।

(१) शोथ, फोड़े, व्रण, अम्हौरी तथा शिरःशूल में इसको शीतल प्रलेप के रूप में जल में घिसकर लगाते हैं। पलकों की सूजन पर इसे लगाने से सूजन दूर होती है।

(२) ग्राही होने के कारण अन्य ओषधों के साथ इसका क्वाथ अतिसार एवं संग्रहणी आदि में प्रयोग किया जाता है।

(३) रक्तार्श में इसे दूध में पीसकर पिलाते हैं एवं जल में घिसकर लेप भी करते हैं।

(४) इसके मद्यसारीय घोल से खनिज अम्लों के द्वारा इसके रंजक द्रव्य को निस्सादित कर लिया जाता है जिसका उपयोग रंजन के लिये करते हैं। कंपाउण्ड टिंक्चर ऑफ् लव्हेण्डर में इसी का रंग होता है।

मात्रा—४ र०-८ र०।

बड़ी गुमची

Adenanthera pavonina Linn ; Fam. Leguminosae (ॲडेनेन्थेरा पॅह्वोनिना लिन, लेग्यूमिनोसी)—यह पूर्वी हिमालय तथा पश्चिमी पेनिन्सुला में पाया जाता है। इसके बीजों का प्रयोग फोड़े तथा सूजन आदि पर किया जाता है तथा छाल का उपयोग आमवात एवं रक्तष्ठीवन में किया जाता है।

अथ पतङ्गम् (बकम्)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

पतङ्गं रक्तसारञ्च सुरङ्गं रञ्जनं तथा। पट्टरञ्जकमाख्यातं पत्तूरञ्च कुचन्दनम्॥ १८॥
पतङ्गं मधुरं शीतं पित्तश्लेष्मव्रणास्रनुत्। हरिचन्दनवद्वेद्यं विशेषाद्दाहनाशनम्॥ १९॥

पतङ्ग के नाम तथा गुण—पतङ्ग, रक्तसार, सुरङ्ग, रञ्जन, पट्टरञ्जक, पत्तूर और कुचन्दन ये सब पतङ्ग के संस्कृत नाम हैं। पतङ्ग-मधुररस युक्त, शीतवीर्य एवम् पित्त-कफ, व्रण और रक्तदोष को दूर करने वाला होता है। यद्यपि पतङ्ग का गुण पीले चन्दन के समान ही होता है तथापि इसे विशेष करके दाहनाशक समझना चाहिये॥ १८-१९॥

९ पतङ्ग

हि०—पतङ्ग, बक, बकम काठ, आल। बं०—बकम काष्ठ, बोकोम। म०, गु०—पतङ्ग। ते०—बुक्क-पुचेट्टु। ता०—वरतंगि, शप्पङ्गु। मला०—चप्पनम्। फा०, अ०—बकम। अं०—Sappan Wood (सॅप्पन वुड)। ले०—*Caesalpinia sappan Linn.* (सिझल्पिनिया सॅप्पन)। Fam. Caesalpiniaceae (सिझल्पिनिएसी)।

यह पूर्व और पश्चिम प्रायद्वीप एवं मद्रास प्रान्त में अधिक पाया जाता है। बंगाल और बिहार के किसी किसी स्थान में देखने में आता है।

इसका वृक्ष-छोटा एवं कांटेदार होता है। लकड़ी दृढ़, सारभाग-नारङ्गी या चमकीले लाल रङ्ग का होता है। पत्ते- संयुक्त, उपपक्ष ८ से १२ जोड़े; पत्रक – १० से १८ जोड़े, $\frac{३}{४}$ इञ्च तक लंबे, आयताकार, न्यूनाधिक विनाल, गोलाग्र एवं मध्य शिरा के दोनों तरफ के भाग असमान होते हैं। फूल—किंचित् पीताभ रंग के आते हैं। फलियां – चिपटी, ३–४ इञ्च × १$\frac{१}{२}$–२ इञ्च बड़ी होती हैं। प्रत्येक में ३–४ बीज होते हैं। इसके काष्ठसार का उपयोग किया जाता है। यह लाल-चन्दन जैसी, फीके लाल रंग की, कड़ी एवं निर्गन्ध होती है। बाजार में सिंगापुरी, धुनसरी और सिलीनी इन तीन नामों से इसकी लकड़ी मिलती है।

रासायनिक संगठन—इसमें सॅप्पन रेड (Sappan red) नामक एक लाल रंग, गॅलिक एवं टॅनिक् एसिड तथा उड़नशील तैल आदि पाये जाते हैं। इसमें का रंग हीमॅटोक्साइलिन (Haematoxylin) से मिलता-जुलता होता है तथा ईथर, मद्यसार एवं जल में घुल जाता है। पतंग का कार्यकारी सत्त्व हीमॅटीन (Haematin) से मिलता-जुलता तथा ब्रॅसिलिन (Brasilin) के समान होता है। इसकी राल में एक रवेदार पदार्थ पाया जाता है जो यदि आस्रुत करके पोटॅश के साथ गलाया जाए तो रीसॉर्सिन (Resorcin) प्राप्त होता है।

गुण और प्रयोग—यह ग्राही, रक्तसंग्राहक, गर्भाशय के लिये उत्तेजक एवं संकोचक, श्लेष्मघ्न एवं व्रणरोपक है।

(१) फुफ्फुस, गर्भाशय एवं आन्त्र आदि स्थानों से रक्तस्राव होने पर इसका क्वाथ पिलाने से लाभ होता है।

(२) पुराने व्रणों पर इसके महीन चूर्ण का अवचूर्णन करने से व्रण जल्दी अच्छे होते हैं तथा स्थानिक रक्तस्राव भी बन्द होता है। इसके क्वाथ की पट्टी रखने से स्थानिक रक्तस्राव रुक जाता है। श्वेत प्रदर में इसके क्वाथ की बस्ति दी जाती है। पतंग एवं बनफ्शा के क्वाथ से मांसार्बुदों का प्रक्षालन करने से पीडा एवं दुर्गन्धि कम हो जाती है। लिचेन (Lichen) नामक त्वग्रोग में इसे पीस कर इसका लेप करते हैं।

मात्रा—१-२ माशा।

अथ सर्वेषां चन्दनानां मध्ये मलयजस्य श्रेष्ठतामाह

चन्दनानि तु सर्वाणि सदृशानि रसादिभिः। गन्धेन तु विशेषोऽस्ति पूर्वः श्रेष्ठतमो गुणैः॥

सभी प्रकार के चन्दनों में मलयागिरी चन्दन की उत्तमता—यद्यपि रसादिकों में प्रायः सभी प्रकार के चन्दन समान ही होते हैं, उनमें विशेषता केवल गन्ध की ही रहती है। तथापि उनमें सर्वप्रथम जो मलयागिरी चंदन है, वही गुणों में सर्वश्रेष्ठ होता है॥ २०॥

अथागुरु कृष्णागुरु च (अगर, काला अगर) तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

अगुरु प्रवरं लोहं राजार्हं योगजं तथा। वंशिकं कृमिजं वाऽपि कृमिजग्धमनार्यकम्॥ २१॥
अगुरूष्णं कटु त्वच्यं तिक्तं तीक्ष्णञ्च पित्तलम्। लघु कर्णाक्षिरोगघ्नं शीतवातकफप्रणुत्॥२२॥
कृष्णं गुणाधिकं तत्तु लोहवद्वारी मज्जति। अगुरुप्रभवः स्नेहः कृष्णागुरुसमः स्मृतः॥ २३॥

अगर तथा काले अगर के नाम और गुण एवं अगर के तेल के गुण—अगुरु, प्रवर, लोह, राजार्ह, योगज, वंशिक, कृमिज, कृमिजग्ध और अनार्यक ये सब अगर के संस्कृत नाम हैं।

अगर—ऊष्णवीर्य, कटु तथा तिक्त रस युक्त, त्वचा के लिये हितकारी, तीक्ष्ण, पित्तजनक, लघु एवम् कान व नेत्र संबंधी रोगों को दूर करने वाला तथा शीत, वात व कफ को नष्ट करने वाला होता है।

काला अगर—यह अगर की अपेक्षा अधिक गुणकारी होता है तथा पानी में डालने से लोहे की भांति डूब जाने वाला होता है।

अगर का तेल—अगर से निकाला हुआ तेल गुणों में काले अगर के समान ही समझा जाता है॥ २१-२३॥

१० अगर

हि०-अगर, काला अगर। **बं०**-अगर काष्ठ, अगरु चन्दन। **म०, गु०**-अगर। **पं०**-ऊद, ऊदफारसी। **क०, ता०, ते०**-कृष्णाअगरु। **अ०**-ऊद खाम। **अं०**-Eagle-wood (ईगल वुड)। **ले०**-*Aquilaria agallocha Roxb.* (एक्विलेरिया एगेलोचा राक्स.) Fam. Thymelaeaceae (थाइमेलिएसी)।

यह पूर्व हिमालय, आसाम, भूटान, खासिया पहाड़ एवं सिलहट आदि प्रान्तों में पाया जाता है।

इसका वृक्ष—बड़ा, ६०–७० फीट ऊँचा, ५–८ फीट व्यास का धारीदार एवं सदाहरित रहता हैं। काष्ठ—लकड़ी मुलायम, हलकी, लचीली, श्वेत या हलकी पीताभ श्वेत, एवं इसमें कोई विशेष गंध नहीं होती। इसमें वार्षिक वृद्धि के वलय नहीं होते तथा मध्यम या छोटे आकार की ३ से ४ अरीय (Radial) वाहिकाओं (Vessels) की कतारें एवं इनके बीच तन्तुगुच्छों का फ्लोएम (Phloem) रहता है। काष्ठसार अलग नहीं दिखलाई देता। पत्ते—विपरीत, २–४·५×·८–२ इञ्च बड़े, आयताकार भालाकार, या कुछ दीर्घवृत्ताकार, चिकने, तथा बहुत छोटे नाल से युक्त होते हैं। पुष्प—श्वेत रंग के गुच्छों में आते हैं। फल—१·५–२ इञ्च लंबे, अभिअंडाकार एवं मृदु रोमावृत होते हैं।

अगर-यह सुगन्धित द्रव्य पुराने वृक्षों के काष्ठ में कहीं कहीं पाया जाता है। यह एक विशेष प्रकार के फफूंद (Fungi Imperfecti) के द्वारा निर्मित विकृतिजन्य परिणाम है। प्राचीनों ने संभवतः इसीलिये इसे 'कृमिजं' कहा है। विकृत भाग कालासा तेलिया हो जाता है। जिस वृक्ष में इस प्रकार परिवर्तन हुआ रहता है उन्हें दूर से देखने से ही पता लग जाता है। जहां शाखाएँ विभक्त होती हैं वहां यह अधिक होता है।

सिलहट का अगर अच्छा होता है। इसमें के तैलीय अंश के अनुसार इसका रंग हलका या गहरा काला होता है। इसके कोमल काष्ठ के छिद्रों में राल जैसा पदार्थ जमा रहता है।

यद्यपि अन्य निघंटुकारों ने इसके कई भेद लिखे हैं तथापि जो अगर देखने में काले रङ्ग का, वजन में भारी, चबाने पर चिपचिपाहट युक्त और पानी में डालने से डूब जाय तथा दियासलाई जला कर लगा देने से जलने लगे वह अगर उत्तम है। इसका स्वाद कड़वा, कसैला तथा तेलिया मालूम होता है। इसमें हलकी मधुर गन्ध होती है जो इसे जलाने पर चारों तरफ फैलती है। सिलहट की तरफ अगर का इत्र बहुत निकाला जाता है। यह निम्न श्रेणी के मुलायम तथा पीताभ श्वेत अगर से निकालते हैं जो करीब ०·७५ से २·५% निकलता है।

नोट—भारतवर्ष में प्राचीन कालसे अगर का उपयोग सुगन्धि, धूप तथा शीतहर प्रलेप[1] के रूप में किया जा रहा है। अगर तिक्त होते हुए भी उष्ण होता है।[2] सुश्रुत इसके तैल को 'दुष्टव्रणशोधन, कृमिकफकुष्ठानिलहर एवं तिक्त, कटु, कषाय मानते हैं (सू. अ. ४५)। सुश्रुत के अनुसार जिसके व्रण में अगरु की गन्ध आती हो उस मनुष्य को मुमूर्षु समझाना चाहिये (सू. अ. २८)। वाग्भट इसे रसायन मानते हैं। धूप तथा अगरबत्ती बनाने में इसका उपयोग किया जाता है। इसकी छाल से आसाम में कागज भी बनाया करते थे।

रासायनिक संगठन—इसमें ईथर में घुलने वाला एक उड़नशील तैल (इत्र) होता है तथा मद्यसार में घुलने वाली एक राल होती है जो ईथर में नहीं घुलती। मद्यसार में ४८% घुलनशील भाग होता है।

गुण और प्रयोग—अगर उष्ण, सुगन्धि, उत्तेजक, वातनाडी संस्थान के लिये उत्तेजक, वाजीकर, श्वास एवं कफ हर, वातानुलोमक, शीत प्रशमन, रसायन एवं त्वक् रोगों में लाभदायक है।

(१) वातरक्त तथा आमवात में इसको देते हैं तथा सन्धिशोथ पर लेप भी करते हैं।

(२) ज्वर में इसका फांट पिलाने से प्यास कम होती है एवं रोगी को स्फूर्ति मालूम पड़ती है।

---

१. रास्नागुरुणी शीतापनयनप्रलेपनानाम्। (च. सू. अ. २५)

२. अर्कागुरुगुडूचीनां तिक्तानामुष्णमुच्यते। (च. सू. अ. २६)

(३) चक्कर आना, अंगघात तथा अन्य वातविकारों में इसको खिलाते हैं एवं बाह्य लेप भी करते हैं।

(४) हिचकी में मधु के साथ इसके चूर्ण को खिलाया जाता है।

(५) अग्निमान्द्य, अरुचि, वमन, अतिसार तथा आंव आदि में इसका चूर्ण खिलाया जाता है।

(६) अगर एवं ईश्वरमूल को पीस कर शिरःशूल में एवं बच्चों की खांसी में छाती पर उसका लेप किया जाता है। इससे खुजली एवं दाह कम होने के कारण रक्त त्वचा (Erythema), त्वक् शोथ, विचर्चिका, गजचर्म एवं फोड़े आदि में इसको जल में घिस कर लगाते हैं। वातिक पीडा में भी इससे लाभ होता है। इससे जूं आदि में भी लाभ होता है।

(७) अगर का इत्र—१-२ बूंद इत्र पान पर लगा कर खिलाने से तमकश्वास में आराम मिलता है। वाजीकरण के लिये इसके पुराने इत्र को पान के साथ खिलाते हैं।

मात्रा – चूर्ण ५-१५ र०; इत्र १-२ बूंद।

अथ देवदारु। तस्य नामानि गुणांश्चाह

देवदारु स्मृतं दारुभद्रं दार्विन्द्रदारु च। मस्तदारु द्रुकिलिमं किलिमं सुरभूरुहः ॥ २४ ॥
देवदारु लघु स्निग्धं तिक्तोष्णं कटुपाकि च। विबन्धाध्मानशोथामतन्द्राहिक्काज्वरास्रजित्।
प्रमेहपीनसश्लेष्मकासकण्डूसमीरनुत् ॥ २५ ॥

देवदारु के नाम तथा गुण—देवदारु, दारुभद्र, दारु, इन्द्रदारु, मस्तदारु, द्रुकिलिम, किलिम और सुरभूरुह ये सब देवदारु के संस्कृत नाम हैं। देवदारु-लघु, स्निग्ध, तिक्त रसयुक्त, उष्णवीर्य, विपाक में कटुरसयुक्त, एवम् विबन्ध, आध्मान, शोथ, आम, तन्द्रा, हिचकी, ज्वर, रक्तदोष, प्रमेह, पीनस, कफ, खांसी, खुजली तथा वायु को नष्ट करने वाला होता है ॥ २४-२५ ॥

११ देवदारु

हि०, म०, गु०–देवदार। **बं०**–देवदारु। **पहाड़ी**–केलोन। **ते०**–देवदारि चेट्टु। **पं०**–केलु। **ता०**–देवदारु चेडि। **फा०**–देवदार। **अं०**–Himalayan cedar (हिमालय सिडार); Pinus deodar (पाइनस् देवदार। **ले०**–*Cedrus deodara (Roxb.) Loud.* (सेड्रस् देवदार)। Fam. Pinaceae (पिनेसी)।

पश्चिमोत्तर हिमालय में कुमाऊँ से पूर्व की ओर यह पाया जाता है। जौनसार और गढवाल में ७ से ८॥ हजार फीट के बीच का भाग देवदारु वृक्षमाला का प्रधान उत्पत्ति स्थान है। इसका वृक्ष–बहुत विशाल, चिरायु, सुन्दर, १६० से १८० फीट तक ऊँचा तथा कहीं कहीं इससे अधिक ऊँचा होता है। शाखाएं–दिगन्तसम फैली हुई परन्तु शाखाग्र कुछ नीचे की ओर झुके हुये रहते हैं। पत्ते-त्रिकोण युक्त, सूच्याकार, १-१॥ इञ्च लम्बे, लम्बी टहनियों पर एकाकी और पेचदार क्रम से निकले हुये और छोटी टहनियों पर गुच्छों में निकले हुये रहते हैं। फल—शाखाग्रों पर, एकाकी, ४-५ इञ्च लम्बे और ३-४ इञ्च मोटे होते हैं। बीज–½ इञ्च तक लम्बे, त्रिकोणाकार या अर्धचन्द्राकार और पक्ष युक्त होते हैं। बीजपत्र लगभग १० होते हैं।

देवदार की सुगन्ध युक्त लकड़ी (काष्ठसार) पीताभ बादामी रंग की तथा तैल से भरी होती है। लकडी को जलाकर एक तैल निकालते हैं जिसे केलोन का तेल कहा जाता है। यह तैल बहुत पतला होता है।

औषध में काष्ठसार, तैल, पत्र एवं कोमल शाखाओं का व्यवहार किया जाता है। दक्षिण तथा गुजरात की तरफ देवदार नाम से सरल (चीड़ की) की लकड़ी बिकती है।

नोट—चरक एवं सुश्रुत में इसका अनेक रोगों में उपयोग किया गया है।

रासायनिक संगठन— इसमें केलोन का तैल नामक एक तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग – देवदार स्वेदजनन, मूत्रजनन, वातानुलोमक, वात-कफहर एवं त्वग्दोषहर है। इसका तैल टर्पेण्टाइन के समान गुण वाला होता है लेकिन उससे यह कुछ न्यून गुण वाला है।

देवदार का प्रयोग ज्वर, जीर्ण आमवात, शिरःशूल, श्लीपद, जलोदर, कास, श्वास, अतिसार, वातिक विकार, शोथ, अश्मरी तथा व्रण में किया जाता है। इसके तैल का प्रयोग कुष्ठ, कफ, कास एवं त्वचा के रोगों में किया जाता है।

(१) ज्वर में इसको देने से काफी पसीना निकलता है तथा मूत्र की मात्रा भी बढ़ती है। ज्वर चाहे शोथ से हो या कफजन्य हो इसके प्रयोग से शोथ कम होता है तथा कफ की दुर्गंध दूर होकर कफ कम होता है।

(२) जलोदर में देवदार, सहेजन की छाल तथा अपामार्ग प्रत्येक ½ तो० गोमूत्र में पीसकर देने से मूत्र द्वारा जल निकल जाता है तथा रोगी को स्फूर्ति मालूम पड़ती है।

(३) सोजाक, फिरंग, वातरक्त एवं आमवात में देवदार्वादि क्वाथ का रसायन के रूप में प्रयोग करते हैं।

(४) श्लीपद में इसको सरसों के तैल के साथ खिलाते हैं तथा चित्रक के साथ गोमूत्र में पीस कर लगाते हैं।

(५) वातिक हृद्रोग में देवदार एवं सोंठ को पीसकर पिलाने से हृदय की धड़कन तथा शूल आदि दूर होते हैं।

(६) हिक्का तथा श्वास में इसका क्वाथ पीने से लाभ होता है।

(७) शिरःशूल में इसे जल में घिस कर कपाल पर लगाते हैं। पुराने शोथ पर हलदी एवं गुग्गुलु के साथ इसका लेप किया जाता है।

(८) इसका तैल–कुष्ठ में बहुत लाभदायक माना जाता है। इसको अधिक मात्रा में देना पड़ता है। जीर्ण त्वचा के रोगों में इसको खिलाते है तथा बाह्य लगाते भी हैं। इससे पुराने तथा दुर्गन्ध युक्त व्रण अच्छे हो जाते हैं। कर्णशूल में इसका तैल डालने से आराम मिलता है। कफज कास में त्रिकटु एवं यवक्षार के साथ इसका प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—चूर्ण ३–६ माशा; तैल १०–४० बूंद।

अथ सरलः (धूप)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

सरलः पीतवृक्षः स्यात्तथा सुरभिदारुकः। सरलो मधुरस्तिक्तो कटुपाकरसो लघुः॥ २६॥
स्निग्धोष्णः कर्णकण्ठाक्षिरोगरक्षोहरः स्मृतः। कफानिलस्वेददाहकासमूर्च्छाव्रणापहः॥ २७॥

सरल (धूप) अर्थात् चीडके नाम तथा गुण.— सरल, पीतवृक्ष और सुरभिदारुक ये सब संस्कृत नाम चीडके हैं। चीड–मधुर तथा तिक्तरस युक्त, विपाक में कटुरस युक्त, लघु, स्निग्ध तथा उष्ण वीर्य होता है एवम् कर्ण, कण्ठ तथा नेत्र सम्बन्धी रोग, रक्षोग्रह, कफ, वायु, स्वेद (पसीना), दाह, खाँसी, मूर्च्छा तथा व्रण को दूर करने वाला होता है ॥ २६–२७ ॥

१२ धूप सरल।

हि०–धूप सरल, चिर, चीढ़, चीड। बं०–सरलगाछ, तार्पीन तैलेर गाछ। म०–सरल। गु०–सरल देवदार, तेलियो देवदार। ता०–शिरसाल। नेपा०–धूप सल्सी। अ०–शज्रतुल् बक, सनोवर हिन्दी। फा०–दरख्ते वसक। अं०–Long-leaved Pine (लॉंग लीव्ड पाइन); Chir Pine (चीर पाइन)। ले०–*Pinus longifolia Roxb.* (पाइनस् लॉंगिफोलिया रॉक्स.)। Fam. Pinaceae (पिनॅसी)।

इसके वृक्ष हिमालय में अफगानिस्तान से लेकर काश्मीर, पञ्जाब, उत्तर प्रदेश, भूटान तथा आसाम एवं बर्मा में २०००–६००० फीट की ऊंचाई तक प्रायः समूहबद्ध होकर उगे हुए पाये जाते हैं। इसकी ४, ५ जातियाँ भारतवर्ष में पाई जाती हैं जिनमें से पा. एक्सेल्सा वाल. (P. excelsa Wall.) तथा पा. खास्या रायली (P. khasya Royle) मुख्य हैं।

चीड के प्रकाशप्रिय विशाल वृक्ष बहुत सीधे (सरल) तथा १००–१५० फीट ऊंचे होते हैं। स्तम्भ–सीधा, गोल एवं घेरा ५–७ फीट या १२ फीट तक होता है। छाल–खुरदरी, ऊंची नीची, गढेदार एवं १-२ इञ्च मोटी होती है। काष्ठ–स्निग्ध तथा तीक्ष्णगन्धी होता है। पत्ते—छोटी छोटी टहनियों के अन्त में ९ १२ इञ्च लम्बे, पतले, कुछ कुछ त्रिकोणयुक्त, हलके हरे रंग के एवं तीन तीन के समूह में पाये जाते हैं। माघ से चैत्र तक फूलों के गुच्छे लगते हैं। एक वर्ष के उपरान्त में इसके फल या डोडे पकते हैं। नरमञ्जरी प्रायः ½ इञ्च लम्बी और सामूहिक शंक्वाकार फल (Cone) एकाकी अथवा २–५ तक एक साथ रहते हैं जिनमें प्रत्येक ४·८ इञ्च लम्बा और ३·५ इञ्च मोटा लट्वाकार होता है। बीजवाहक पत्रों का अग्र मुड़ा हुआ, मोटा, प्रायः एक तीक्ष्ण काले नोक और पृष्ठ पर ४-५ कोणों से युक्त होता है। चैत्र वैशाख में फल फट जाते हैं जिनमें से बीज निकलते हैं तथा फल वृक्ष पर ही लगे रहते हैं। बीज ½ इञ्च से कुछ कम लम्बा, चिपटा, पंखयुक्त (पंख बीज से बड़ा और पतला) और ऊपर से भालाकार होता है।

पा० एक्सेल्सा (चील या कैल) नामक इसकी उपजाति ६-१० हजार फीट के बीच उत्तरप्रदेश एवं पञ्जाब में पाई जाती है। इसके पत्ते नीलहरित और ५-६ तक प्रतिगुच्छे में होते हैं। सामूहिक फल लम्बगोल होते हैं और बीजवाहक पत्रों के अग्र बहुत मोटे नहीं होते।

रासायनिक संगठन—इसके बहिःकाष्ठ (Sapwood) से सहज अथवा क्षत करने से एक प्रकार का तेलिया निर्यास निकल कर जम जाता है जिसे गन्धाबिरोजा कहते हैं। पहले यह सफेद कुछ पतला और गाढ़ा होता है। इसके बाद उत्तरोत्तर अधिक गाढ़ा एवं पीला फिर गहरा पीला हो जाता है। यह चिपचिपा, मुलायम तथा उग्रगन्धयुक्त होता है। पा० एक्सेल्सा में निर्यास कम निकलता है पर अधिक अच्छा होता है।

गन्धाबिरोजा को बिना जल के ऊर्ध्वनलिका यन्त्र में गरम करके एक गाढ़ा तथा लाल रंग का तैल निकालते हैं जिसे खन्नुतेल या (पं०) सतबिरोजा कहते हैं। इसमें गन्धाबिरोजा की गन्ध रहती है।

विरोजे का आभ्यन्तरिक प्रयोग करने के लिये निम्नलिखित विधि से शुद्ध किये हुये विरोजे का व्यवहार करना चाहिये। समभाग दूध और जल भरे हुवे पात्र पर कपड़ा बांध, उस पर गन्धाविरोजा डाल कर नीचे आंच देते हैं, जिससे विरोजा कपड़े से टपक कर नीचे के पात्र में जम जाता जाता है। इसको निकाल कर सुखा कर रख लें।

गन्धाविरोजा को वाष्प के साथ ऊर्ध्व नलिका यन्त्र द्वारा गरम करने से एक रंगहीन तैल प्राप्त होता है जिसे तारपीन का तेल (Turpentine oil) कहते हैं। ५६ पौंड गन्धाविरोजा से ८ पौंड तैल निकलता है। तैल निकालने के बाद जो अवशेष रह जाता है उसे डाक्टरी में रेजिन या कोलोफोनि (Resin, Colophony) कहा जाता है। इसे छान कर उबलते हुये जल के साथ कड़ाई में डाल कर घोटते हैं। जिससे एक काला सा मधु के समान गाढ़ा पदार्थ तैयार होता है जिसे गन्धाविरोजा का डामर कहते हैं। यह युरोपीय बरगंडी पिच के समान होता है। यहां पर सरल (चीड़) वृक्ष के गुण और प्रयोग दिये जा रहे हैं। आगे 'सरलनिर्यास' के अन्तर्गत गन्धाविरोजा तथा तारपीन के तैल आदि के गुण और प्रयोग दिये गये हैं।

गुण और प्रयोग—यह सुगन्धि, दुर्गन्धहर, उत्तेजक, दीपन, वातानुलोमक, स्वेदल, मूत्रल, प्रतिदूषक एवं कफहर है।

इसका आन्तरिक उपयोग अन्य औषधों के साथ क्वाथ के रूप में दाह, कास, मूर्च्छा, आध्मान, अङ्गघात आदि वातिक व्याधियां, अश्मरी, कफज्वर, कृमि, श्लेष्मातिसार एवं वातज हिक्का में किया जाता है।

इसका लेप व्रग, शोथ, कंठमाला, जन्तुओं के दंश, त्वचा के अनेक विकार एवं वातव्याधियों में किया जाता है। व्रण में इसकी छाल का धूआं दिया जाता है। इसकी लकड़ी को कपड़ा लपेट कर तथा घृत में डुबोकर जलाते हैं तथा जो तेल टपकता है उसे कान में डालने से कर्णशूल दूर होता है। व्रणरोपण तैलों में इसका उपयोग किया जाता है।

मात्रा—२ माशा।

अथ तगरं पिण्डतगरं च तयोर्नामानि गुणांश्चाह

कालानुसार्यं तगरं कुटिलं नहुषं नतम्। अपरं पिण्डतगरं दण्डहस्ती च बर्हिणम्॥ २८॥
तगरद्वयमुष्णं स्यात्स्वादु स्निग्धं लघु स्मृतम्। विषापस्मारशूलाक्षिरोगदोषत्रयापहम्॥२९॥

अब तगर तथा तगर भेद एवम् दोनों के नाम और गुण—तगर दो प्रकार का होता है उसमें प्रथम प्रकार के तगर के—कालानुसार्य, तगर, कुटिल, नहुष और नत ये सब संस्कृत नाम हैं। दूसरे प्रकार के तगर के—पिण्डतगर, दण्डहस्ती और बर्हिण ये सब संस्कृत नाम हैं। दोनों प्रकार के तगर-उष्णवीर्य स्वादिष्ट, स्निग्ध तथा लघु होते हैं। यह विष, अपस्मार (मिर्गीरोग), शूल, नेत्ररोग तथा त्रिदोष को दूर करने वाले होते हैं॥ २८-२९॥

१३ तगर।

हि०—तगर, सुगन्ध बाला, मुश्क बाला। बं०—तगर पादुका, शुमिशो, असारून। म०—तगर गण्ठोडा, तगरमूल। गु०—तगर गण्ठोडा। फा०—असारून। उर्दू—रिशवाल। पं०—बालमुश्क, मुश्कवली। अं०—Indian Valerian Rhizome (इन्डियन वेलेरियन हाइजोम)।

ले०-*Valeriana wallichii* DC. (वॅलेरिआना वालिशिआइ)। Fam. Valerianaceae (वॅलेरिॲनेसी)।

तगर क्या है इसके सम्बन्ध में पहले मतभेद था। कुछ लोग श्वेत पुष्पवाले एक छोटे वृक्ष टेबर्नी मोन्टॅना कोरोनेरिया (Tabernae montana coronaria R. Br.), हि०-चांदनी के मूल को तगर मानते थे। कहीं कहीं श्यामवर्ण की चंदन जैसी वजनदार लकड़ी विकती है। बंगाल में कोई जल में उत्पन्न होने वाली घास तथा पंजाब में कोई पीले काष्ठ आदि का व्यवहार किया जाता रहा। लेकिन अब निर्विवाद रूप से यह सिद्ध हो गया है कि ऊपर लिखे हुवे वेलेरिआना वालिशिआइ का मूलस्तम्भ (मूल) ही तगर है। बाजार में यह 'सुगन्ध वाला' के नाम से बिकता है तथा इसे वैद्य 'वालकम् या हीवेर' के स्थान पर प्रयोग करते रहे हैं। वास्तव में यह सुगन्धवाला नहीं है। वालक या हीवेर (सुगन्धवाला) का स्वतन्त्र वर्णन आगे दिया हुआ है। बाजार में 'तगर' नाम से जो द्रव्य बिकता है वह कोई निर्गन्ध काष्ठ है और किसी सुगन्धित द्रव्य के साथ रख कर गन्धयुक्त बना दिया जाता है।

भारतीय तगर–पाश्चात्य चिकित्सा में व्यवहार में लाये जाने वाले विदेशी वॅलेरियन, वॅलेरिआना ऑफिसिनॅलिस् लिन. (Valeriana officinalis Linn.) के स्थान में उत्तम प्रतिनिधि माना जाता है। यद्यपि भारतीय तगर अपने यहां पर्याप्त होता है तथापि व्यापारी तगर अधिकतर अफगानिस्तान से निर्यात किया हुआ रहता है। भारत में विदेशी तगर (वे० ऑफिसिनॅलिस्) बहुत थोड़ी मात्रा में काश्मीर के उत्तर में सोनमर्ग स्थान पर ८ से ९ हजार फीट की ऊँचाई पर पाया जाता है। इसकी अन्य उपजाति वे० हार्डविकाई वाल. (V. hardwickii Wall.) भी वे० वालिचिआइ के साथ पाई जाती है। बाजार में इस तगर को सुगन्धबाला एवं असारुन नाम से लोग बेचते हैं। श्री ठा० दलजीतसिंहजी द्वारा लिखित यूनानी द्रव्यगुण विज्ञान में असारुन का ले० नाम असारुम् युरोपियम् लिन., एरिस्टोलोकिएसी (Asarum europaeum Linn.; Fam. Aristolochiaceae) लिखा हुआ है। स्वरूपादि का वर्णन भी उसी का (अ० युरोपियम्) मालूम पड़ता है लेकिन गुण धर्म जो लिखे हैं वे तगर (वेलेरियन) से मिलते लिखे हैं। इन्होंने इसका एक प्रतिनिधि भारतीय भेद माना है जिसको 'तुग्गुर' नाम दिया है। डा० देसाई ने तगर (वेलेरिआना वालिचिआइ) एवं असरून (अ० युरोपिअम्) का अलग अलग वर्णन किया है तथा दोनों के गुण धर्म भी अलग लिखे हैं। डा० देसाई ने असरुन को वामक, शिरोविरेचक, स्वेदजनन, कफघ्न, स्रंसन एवं शोथघ्न लिखा है जो तगर से भिन्न हैं। इसके परिचय में लिखा है कि असरुन की जड़ में मिरिच जैसी गन्ध तथा स्वाद कटु (तीता) होता है तथा इसके पंचाग के चूर्ण को सूंघने से छींक आती है। तगर का स्वाद कडवा एवं गन्ध अलग प्रकार की होती है। डा० चोप्रा भी डा० देसाई के मत से सहमत हैं। डा० देसाई ने यह स्पष्ट लिखा है कि असरून के समान ही दिखलाई देने वाली लेकिन गुणों में भिन्न एक दूसरी वनस्पति है जिसको तुग्गुर कहते हैं तथा उसका लोग असरुन के स्थान पर व्यवहार करते हैं। इस दृष्टि से बाजार में सुगन्धबाला के नाम से बिकने वाला द्रव्य असली तगर (वेलेरिअन) है एवं इसे असारुन नाम देना या असारुन के स्थान पर प्रयोग करना उचित नहीं है। असारुन अलग द्रव्य है। इसी प्रकार सुगन्धवाला भी अलग द्रव्य है। बाजार में तगर नाम से बिकने वाले कृष्ण वर्ण के काष्ठ-चूर्ण आदि को भी तगर नहीं मानना चाहिये।

इसके क्षुप हिमालय पहाड़ के साधारण भाग में काश्मीर से भूटान तक ४ से १२ हजार फीट की ऊंचाई पर तथा खासिया के पहाड़ों पर ४ से ६ हजार फीट की ऊंचाई पर बहुत पाये जाते हैं।

इसका क्षुप (Herb)-किंचित रोमश एवं बहुवर्षायु होता है। **मूलस्तम्भ**–मोटा, अधोगामी मोटे तन्तुओंसे युक्त एवं जमीन में दिगन्तसम फैला रहता है। **काण्ड**–१५-४५ से. मी. ऊंचे एवं प्रायः गुच्छेदार होते हैं। **पत्ते**–आधारीय पत्र प्रायः २॥-७॥ से. मी. व्यास में, लम्बे नाल से युक्त, लट्वाकार, आधार पर गहरे ताम्बूलाकार, तीक्ष्णाग्र तथा धारयुक्त दन्तुर या लहरदार होते हैं। काण्डपत्र संख्या में थोड़े, बहुत छोटे एवं अखंड या खंडित होते हैं। **फूल**–श्वेत रंग के या कुछ कुछ गुलाबी होते हैं और समशिख क्रम से शाखाओं पर पाये जाते हैं। ये प्रायः एकलिंगी होते हैं तथा पुंपुष्प एवं स्त्रीपुष्प अलग-अलग क्षुपों पर होते हैं। **वृन्तपत्रक** (Bracteoles)–फल के इतने लम्बे, आयताकार-रेखाकार होते हैं। **बाह्यकोश**–पुष्पित होते समय बाह्यदल के खंड क्वचित व्यक्त लेकिन बाद में करीब १२, रेखाकार, रोमयुक्त खण्डों में दिखलाई देते हैं। **आभ्यन्तर कोश**–यह कुप्पी के आकार का, पांच खण्डों से युक्त तथा फैला हुआ होता है। **पुंकेशर**–संख्या में ३ होते हैं। **स्त्रीकेशरी**–कुक्षिवृन्त पतला, अविभाजित तथा कुक्षि अग्र में स्थित रहती है। **अंडाशय**–३ गह्वरों वाला होता है। **फल**–रोमश या करीब-करीब रोमहीन होते हैं।

इसके मूल तथा मूलस्तम्भ का व्यवहार औषध में किया जाता है। मूलस्तम्भ के अत्यन्त गांठदार, टेढ़े मेढ़े, खुरदरे, हलके पीताभ बादामी (Dull yellowish–brown) रंग के, ४-८ से. मी लम्बे तथा ५–१० मि. मी. मोटे टुकड़े होते हैं। यह कुछ चिपटे से होते हैं। इनके ऊपरी पृष्ठ पर अनेक टूटे हुवे पत्तों के निशान तथा अधोपृष्ठ पर टूटे हुवे मूल के निशान रहते हैं तथा अधोपृष्ठ से कुछ मोटे मूल निकले हुवे रहते हैं। इसका भग्न–छोटा तथा कंटकित होता है। इसका स्पष्ट अनुप्रस्थ (Transverse) विच्छेद करके देखने से गहरे रंग का बाह्यक (Cortex), मज्जक (Pith), एधा (Cambium) की स्पष्ट रेखा एवं चौड़े मज्जक किरणों (Medullary rays) से पृथक् किये हुवे १२-१५ छोटे हलके रंग के दारूपूलों (Xylem bundles) का वर्तुल आदि भाग दिखलाई देते हैं। इसके मूल बहुत से, ६-७ मि. मी. लम्बे एवं १-२ मि. मी. मोटे या कभी-कभी नहीं भी रहते। इसके अन्दर का भाग हलके वर्ण का काष्ठमय एवं छाल गहरे रंग की होती है। तगर में एक विशिष्ट उग्र गन्ध होती है तथा इसका स्वाद कड़वा होता है।

रासायनिक संगठन—भारतीय वेलेरियन (तगर) में एक उड़नशील तैल ०·५–२·१२% पाया जाता है। वसन्त ऋतु में संग्रहीत ताजे मूल में इसकी अधिकतम मात्रा होती है। इस तैल में प्रधानतया सेस्क्विटर्पेन् (Sesquiterpenes), वेलेरिक् एसिड (Valeric acid) एवं टर्पेन अल्कोहोल (Terpene alcohols) स्वतन्त्र या ईस्टर के रूप में संयुक्त अवस्था में पाये जाते हैं। इस तैल के अतिरिक्त इसमें ॲराचिडिक् एसिड (Arachidic acid), हेन्ट्रियाकोन्टेन (Hentriacontane) तथा स्नेहीय अम्लों के मिश्रण रहते हैं। ताजे मूल में जल में घुलनशील कार्यकारी पदार्थ अल्प मात्रा में पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह वातहर, उद्वेष्टननिरोधी, रक्ताभिसरण एवं वातनाड़ी तन्तुओं के लिये उत्तेजक, चेतनाकारक, स्वापजनक, वातानुलोमक, केन्द्रीय वातनाड़ीसंस्थान के लिये अवसादक एवं स्थानिक वेदनास्थापक तथा व्रणरोपक है। अल्प मात्रा में देने से अन्य सुगन्धित तैलों की तरह इससे आमाशयोर्ध्वप्रदेश में उष्णता मालूम होती है, नाडी की गति बढ़ती है तथा कुछ मानसिक उत्तेजना होती है। इससे सांवेदनिक नाडियों के अग्र में बधिरता उत्पन्न होती है। अधिक मात्रा में इसको देने से चक्कर आने लगते हैं, हिचकी आती है, वमन होता है, एवं हृदयावसाद होता है।

(१) अपतन्त्रक, अतत्वाभिनिवेश (Hypochondriasis–हाइपोकॉन्ड्रियासिस्), अशान्ति तथा इसी प्रकार की मानसिक व्यथाओं में इसका बहुत प्रयोग किया जाता है। इसके साथ यशदभस्म का उपयोग भी किया जाता है। इसका यह प्रभाव संभवतः इसके अरुचिकारक स्वाद एवं उग्र गन्ध के कारण होता है। कंपवात में भी कभी-कभी इसका उपयोग किया जाता है।

(२) जीर्ण ज्वर के कारण जब हृदय तथा सम्पूर्ण शरीर में शिथिलता आई रहती है तथा त्रिदोष की तीव्रता रहती है तब इसके देने से हृदय को बल मिलता है एवं प्रलाप, अस्वस्थता आदि दूर होकर रोगी को चेतना आती है। बेहोशी एवं हृदय की धड़कन में इसका तैल २-५ बूंद की मात्रा में गोंद के साथ मिलाकर दालचीनी के फांट के साथ देते हैं।

(३) यह वातानुलोमक होने के कारण आध्मान आदि में इससे लाभ होता है।

(४) कुकास, तमकश्वास, जीर्णविबन्ध, पीडायुक्त व्रण, घाव, अस्थिभग्न एवं तीव्र आमवात में शोथयुक्त संधिशूल कम करने के लिये इसके फांट का उपयोग करते हैं।

(५) वातनाड़ी संस्थान के रोगों के कारण उत्पन्न मधुमेह तथा बहुमूत्र में इसके साथ सूक्ष्म मात्रा में अफीम का प्रयोग किया जाता है।

(६) विषम ज्वर में मनःशिला, यशदभस्म, तगर, भांग या अफीम को पान के रस के साथ गोली बनाकर देते हैं जिससे ज्वर के कारण उत्पन्न मानसिक तथा शारीरिक थकावट कम होती है। शीत ज्वर में पारी न आकर केवल शिरःशूल या उदरशूल हो तो तगर एवं यशदभस्म को देते हैं।

मात्रा—चूर्ण २–८ र०।

अथ पद्मकम्। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

पद्मकं पद्मगन्धि स्यात्तथा पद्माह्वयं स्मृतम्। पद्मकं तुवरं तिक्तं शीतलं वातलं लघु ॥ ३० ॥
वीसर्पदाहविस्फोटकुष्ठश्लेष्मास्रपित्तनुत्। गर्भसंस्थापनं रुच्यं[1] वमिव्रणतृषाप्रणुत् ॥ ३१ ॥

पद्माख के नाम तथा गुण—पद्मक, पद्मगन्धि तथा पद्माहय (कमल के पर्याय वाचक समस्त शब्द) ये सब पद्माख के संस्कृत नाम हैं। पद्माख—कषाय तथा तिक्तरस युक्त, शीतवीर्य, वातजनक तथा लघु होता है एवं विसर्प, दाह, विस्फोट, कुष्ठ, कफ और रक्तपित्त को दूर करता है। यह गर्भ का स्थापन करने वाला, रुचिकारक एवं वमन, व्रण तथा तृषा को दूर करने वाला होता है। ॥ ३०–३१ ॥

१४ पद्माख

हि०–पद्माक, पद्माख, पदुम काठ, फाजा। बं०–पद्म काष्ठ। म०–पद्म काष्ठ, पद्मक। गु०–पद्मकनुं लाकडुं, पद्मकाष्ठ। क०–पद्मक। पं०–चमिअरी। लिपचा०–कोंगकी। अं०–Mild Himalaya Cherry (माइल्ड हिमालय चेरी)। ले०–*Prunus puddum Roxb. ex Wall.* (प्रूनस् पड्डुम् , राक्सब्.)। Fam. Rosaceae (रोज़ेसी)।

यह गरम हिमालय में शिमला, गढ़वाल से सिक्कम और भूटान तक एवं दक्षिण में कुडाईकनाल और उटकमंड में पाया जाता है।

१. 'वृष्यमिति पाठा०।

इसका वृक्ष मध्यमाकार का अचिरस्थायी होता है। छाल—फीके भूरे रङ्ग की या कालापन युक्त भूरे रङ्ग की और चमकीली होती है। इमसे पतली चमकीली पपड़ियां छूटती रहती हैं। काष्ठसार रक्ताभ तथा सुगन्ध युक्त होता है। पत्ते—३-५ इञ्च लम्बे, १-१॥ इञ्च चौड़े, भालाकार लट्वाकार, लम्बे नोकवाले, चिकने और दोहरे दांतों वाले होते हैं। फूल—सफेद गुलाबी या लाल रङ्ग के आते हैं और पतझड़ के बाद नवीन पत्ते निकलने के पहले ही खिल जाते हैं। फल—छोटे छोटे गोलाकार या अण्डाकार होते हैं और वे पीले या गुलाबी रङ्ग के दिखाई पड़ते हैं। इन फलों को लोग खाते हैं तथा इनसे एक प्रकार का मद्य बनाते हैं।

बाजार में पद्मकाष्ठ के कांड के टुकड़े बिकते हैं। ये वजन में भारी तथा इनके छाल का वर्ण कृष्ण-रक्त रहता है। छाल पर आड़ी खांचे रहती हैं। इसे हाथ से रगड़ने से आल्हादकारक तथा मृदु सुगन्ध आती है। इनके भीतर का भाग रक्तपीताभ श्वेतवर्ण का होता है।

पद्मकाष्ठ हमेशा नया काम में लाना चाहिये क्योंकि कालान्तर से उसका औषधधर्म नष्ट हो जाता है। पद्माख का क्वाथ बनाकर प्रयोग नहीं करना चाहिये क्योंकि इसे उबालने के इसका सत्व उड़ जाता है। इसका हमेशा गुनगुने जल में फांट बनाकर प्रयोग करना चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में एक अत्यन्त विषैला द्रव्य हाइड्रोसायेनिक एसिड् (Hydrocyanic acid) तथा ॲमिग्डॅलिन् (Amygdalin) इत्यादि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—पद्माख शीतल, रक्तस्तम्भक, तिक्तपौष्टिक, छर्दिनिग्रहण, स्तम्भन, वेदनास्थापक, वर्ण्य, गर्भस्थैर्यकर एवं ज्वरहर है। इसका वेदनाहर गुण इसके विषैले सत्व में है तथा स्तम्भन एवं तिक्तपौष्टिक गुण काष्ठ में है। इसके विषैले सत्व की क्रिया सम्पूर्ण शरीर पर एवं विशेषकर जीवनीय केन्द्र स्थान पर शामक रूप में होती है।

(१) अपचन के कारण आमाशय को श्लेष्मल त्वचा में शोथ होकर वमन एवं अतिसार होने पर तथा आमाशय के व्रण में इसको दिया जाता है। इससे व्रण की वेदना कम होती है तथा स्तम्भन गुण के कारण अतिसार तथा वमन में लाभ होता है। इसके फांट से भी वमन तथा हृल्लास में लाभ होता है।

(२) श्वसनकेन्द्र के ऊपर इसके शामक प्रभाव के कारण शुष्क कास एवं क्षयज प्रस्वेद कम हो जाता है। हिक्का एवं श्वास में इसको मधु के साथ चटाते हैं।

(३) हृदय के केन्द्रस्थान के शमन के कारण हृदय की धड़कन तथा हृदय के वामपटल रोग से रक्त का पीछे बहना (Mitral regurgitation) एवं हृदय पर मेद संचित होकर एक प्रकार की जो खांसी होती है उसमें यह गुणकारक है।

(४) रक्तपित्त में चन्दन, शर्करा एवं तंडुल जल के साथ इसको देते हैं।

(५) गर्भपात रोकने के लिये इसे जल में घिस कर पिलाते हैं। चरक एवं सुश्रुत ने इसे गर्भस्थैर्यकर नहीं माना है।

(६) जननेन्द्रिय की शुष्क कण्डू में इसे शीतल जल में घिसकर लगाते हैं। शुष्क कण्डू युक्त त्वचा के रोगों में इसके लेप से त्वचा शुद्ध होकर कान्ति बढ़ती है।

मात्रा—५-१५ र०। इसमें तीव्र विषैला द्रव्य होने के कारण भली प्रकार विचार करके इसका प्रयोग करें।

अथ गुग्गुलुः । तस्य नामान्याह

गुग्गुलुर्देवधूपश्च जटायुः कौशिकः पुरः । कुम्भोलूखलकं क्लीबे महिषाक्षः पलङ्कषः ॥ ३२ ॥

गूगल के नाम—गुग्गुलु, देवधूप, जटायु, कौशिक, पुर, कुम्भोलूखलक (नपुंसकलिङ्ग), महिषाक्ष और पलङ्कष ये सब गूगल के संस्कृत नाम हैं ॥ ३२ ॥

गुग्गुलुभेदानाह

महिषाक्षो महानीलः कुमुदः पद्म इत्यपि । हिरण्यः पञ्चमो ज्ञेयो गुग्गुलोः पञ्च जातयः ॥३३॥

गूगल के भेद—१ महिषाक्ष, २ महानील, ३ कुमुद, ४ पद्म, ५ हिरण्य इस प्रकार से गूगल के ५ पांच भेद जानना चाहिये ॥ ३३ ॥

तेषां लक्षणानि गुणाँश्चाह

भृङ्गाञ्जनसवर्णस्तु महिषाक्ष इति स्मृतः । महानीलस्तु विज्ञेयः स्वनामसमलक्षणः ॥ ३४ ॥
कुमुदः कुमुदाभः स्यात्पद्मो माणिक्यसन्निभः । हिरण्याख्यस्तु[१] हेमाभः पञ्चानां लिङ्गमीरितम् ॥
महिषाक्षो महानीलो गजेन्द्राणां हितावुभौ । हयानां कुमुदः पद्मः स्वस्त्यारोग्यकरौ परौ ॥
विशेषेण मनुष्याणां कनकः परिकीर्त्तितः । कदाचिन्महिषाक्षश्च मतः कैश्चिन्नृणामपि ॥ ३७ ॥

क्रम से उन्हीं ५ प्रकार के गूगलों के लक्षण एवं गुण—१ जो गूगल भौंरा या स्रोतोंजन के समान काले रङ्ग का होता है वह 'महिषाक्ष' कहलाता है। २ महानील नामक गूगल का लक्षण अपने नाम के अनुरूप ही है अर्थात् वह अत्यन्त नीलवर्ण का होता है। ३ कुमुद नामक गूगल— कुमुद (कुई) पुष्प के समान वर्ण वाला होता है। ४ पद्म नामक गूगल—मानिक के समान वर्ण वाला होता है। ५ हिरण्याख्य गूगल – सोने के समान वर्ण वाला होता है। इनमें से महिषाक्ष तथा महानील ये दोनों गूगल हाथियों के लिये हितकारी होते हैं। कुमुद तथा पद्म ये दोनों गूगल घोड़ों के लिये अत्यन्त कल्याणकारक तथा आरोग्यदायक होते हैं। कनक अर्थात् हिरण्यनामक गूगल तो विशेष करके मनुष्यों के लिये हितकर होता है। कोई-कोई ऐसा भी कहते हैं कि मनुष्य के लिये कहीं-कहीं महिषाक्ष गूगल भी हितकारी होता है ॥ ३४-३७ ॥

सामान्यतो गुग्गुलुगुणानाह

गुग्गुलुर्विशदस्तिक्तो वीर्योष्णः पित्तलः सरः ।
कषायः कटुकः पाके कटू रूक्षो लघुः परः ॥ ३८ ॥
भग्नसन्धानकृद् वृष्यः सूक्ष्मः स्वर्यो रसायनः ।
दीपनः पिच्छिलो बल्यः कफवातव्रणापचीः ॥ ३९ ॥

मेदोमेहाश्मवातांश्च क्लेदकुष्ठाममारुतान् । पिडकाग्रन्थिशोफार्शोगण्डमालाकृमीञ्जयेत् ॥४०॥
माधुर्याच्छमयेद्वातं कषायत्वाच्च पित्तहा । तिक्तत्वाद् कफजित्तेन गुग्गुलुः सर्वदोषहा ॥४१॥

सामान्यरूप से गूगल के गुण —गूगल-विशद गुण युक्त, तिक्त-कषाय तथा कटुरसयुक्त, उष्णवीर्य, पित्तजनक, सारक (दस्तावर), विपाक में कटुरस युक्त, रूक्ष एवं अत्यन्त लघु होता है। यह टूटे हुये हड्डियों को जोड़ने वाला, वृष्य, सूक्ष्म (सूक्ष्मस्रोतोगामी), स्वर को उत्तम करने वाला, रसायन, अग्निदीपक, पिच्छिलगुणयुक्त तथा बलकारक होता है एवम्—कफ-वात, व्रण, अपची, मेदरोग, प्रमेह, पथरी, वातरोग, क्लेद, कुष्ठ, आमवात, पिडका, ग्रन्थिरोग, शोथ, बवासीर,

१. 'हिरण्याक्षस्तु' इति पाठा० ।

गण्डमाला तथा कृमिरोग का नाशक होता है। गूगल—मधुर रस युक्त होने से वात को, कषाय रसयुक्त होने से पित्त को और तिक्त रस युक्त होने से कफ को नष्ट करने वाला होता है, अतः यह सम्पूर्ण दोषों का नाशक कहा हुआ है॥ ३८-४१॥

नवीनस्य प्राचीनस्य च गुग्गुलोर्लक्षणं गुणाँश्चाह

स नवो बृंहणो वृष्यः पुराणस्त्वतिलेखनः॥ ४२॥
स्निग्धः काञ्चनसकाशः पक्वजम्बूफलोपमः।
नूतनो गुग्गुलुः प्रोक्त सुगन्धिर्यस्तु पिच्छिलः॥ ४३॥
शुष्को दुर्गन्धकश्चैव त्यक्तप्रकृतिवर्णकः। पुराणः स तु विज्ञेयो गुग्गुलुर्वीर्यवर्जितः॥ ४४॥

नवीन और पुराने गूगल के गुण तथा लक्षण—नवीन गूगल—बृंहण (धातुवर्धक) तथा वृष्य (वीर्यजनक) होता है और पुराना गूगल—अतिलेखन (शरीर के धातु तथा मलों को सुखा कर खुरचने वाला) होता है। नवीन गूगल वह कहलाता है जो स्निग्ध, सोने के समान वर्ण वाला, पके हुये जामुन के समान स्वरूप वाला, सुगन्ध युक्त तथा पिच्छिल गुण युक्त होता है। पुराना गूगल—वह कहलाता है कि जो शुष्क, दुर्गन्धयुक्त, स्वाभाविक वर्ण हीन तथा वीर्य रहित होता है॥ ४२-४४॥

गुग्गुलुसेविनां त्याज्यान्याह

अम्लं तीक्ष्णमजीर्णञ्च व्यवायं श्रममातपम्। मद्यं रोषं त्यजेत्सम्यग् गुणार्थी पुरसेवकः॥४५॥

गूगल सेवन करने वालों के लिये अहितकर अत एव त्याज्य विषय—गूगल का सेवन करने वाला पुरुष यदि गूगल का भली भांति गुण प्राप्त करना चाहे तो वह अम्ल रस युक्त, तीक्ष्ण तथा अजीर्णकारक द्रव्य, मैथुन, परिश्रम, धूप में फिरना, शराब पीना तथा क्रोध करना छोड़ दे॥

१५ गूगल

हि०—गूगल, गुग्गुल। बं—गुग्गुल, मुकुल। म०—गुग्गुल। गु०—गुगल। क०—गुग्गुल। ते०—गुक्कुलु चेट्टु। ता०—मैशाक्षी, गुक्कल। सिंध—गुगरू। फा०—बूएजहूदीन। अ०—मुक्ल-अर्जक, अफ्लात(तू)न। अं०—Indian Bdellium (इण्डियन डेलिअम्)। ले०—*Balsamodendron mukul Hook. ex Stocks* (बाल्सेमोडेन्ड्रोन् मुकुल, हुक एक्स स्टॉक्स)। Fam. Burseracae (बर्सेरेसी)।

गुगल के वृक्ष—सिन्ध, राजपुताना, खानदेश, बरार, मैसूर, काठियावाड एवं बेलरी आदि स्थानों में अधिक पाये जाते हैं।

इसका वृक्ष—छोटा, ४ से ८ फीट ऊँचा एवं झाड़ीदार होता है जिसकी मोटी फैली हुई शाखाओं के अग्रभाग कंटकित होते हैं। छाल-हरापन युक्त पीली होती है। इससे कागज के समान लम्बे, पतले, चमकीले परत निकलते रहते हैं। लकड़ी-सफेद और कोमल होती है। पत्ते-पत्रक १ से ३ तक, ऊपर से लट्वाकार, अग्र की तरफ दन्तमय धार वाले, चिकने, चमकीले तथा विशेष कर छोटी मोटी प्रशाखाओं के अन्त में रहते हैं। फूल-४-५ दल वाले, छोटे-छोटे तथा भूरापन लिये लाल रंग के आते हैं। फल—छोटे छोटे, मांसल, लंबगोल तथा पकने पर लाल हो जाते हैं।

उक्त वृक्ष की त्वचा में जाड़े के दिनों में घाव करने से एक प्रकार का तैलीय रालदार गोंद (Oleo gum-resin) निकलता है जिसे गूगल कहते हैं।

गूगल के प्रकार—आकृति, रंग एवं स्थान भेद से गूगल कई प्रकार का होता है। ऊपर मूल में पांच प्रकार के भेद लिखे हुए हैं। यूनानी वाले भी इसके पांच भेद मानते हैं।

(१) मुक्ले सकलाबी–यह भूरा होता है। (२) मुक्ले अरबी–यह यमन में पैदा होता है और ललाई लिये भूरा या बैंगनी होता है। (३) मुक्ले अर्जक–यह ललाई लिये होता है। (४) मुक्ले यहूद–यह पिलाई लिये होता है। (५) मुक्ले हिंदी–यह भारतवर्ष में होता है।

बाजार में तीन तरह का गूगल बिकता है जिसमें से प्रथम दो तो गूगल हैं और तीसरा सलई का गोंद है। केवल गूगल कहने से कभी-कभी सलई का गोंद (कुंदुरू) भी व्यापारी दे देते हैं।

(१) कण गूगल—यह मारवाड़ से आता है तथा ललाई लिये पीले रंग का होता है। यह भैंसागूगल से नरम होता है। यह अच्छा माना जाता है। (२) भैंसागूगल–यह सिंध तथा कच्छ से आता है। यह हलका हरापन लिये पीले रंग का, टेढ़े मेढ़े, छोटे-बड़े गट्ठों में होता है। इस पर मैल, बाल एवं छाल के टुकड़े आदि चिपके रहते हैं। यह मोम जैसा नरम लेकिन दबाने से भुरभुरा, कड़वा एवं देवदार के समान गंध वाला होता है। इसे जलाने पर गुब्बारे जैसे निकल कर फूटते हैं। इसे जल में घिसने से हरापन लिये सफेद मिश्रण बनता है। यह हलकी जात का होता है। (३) सलई का गोंद–इसका वर्णन आगे किया गया है। यह लाल रंग का होता है तथा जलाने पर अच्छी तरह जलता है।

उत्तम गूगल—चमकीला, चिपचिपा, मधुर गंध वाला, कुछ पीला (ताजा), पुराना होने पर कालासा, स्वाद में कडवा तथा आसानी से टूटता है। तोड़ने पर अन्दर से हरी एवं लाल चमक वाला होता है। इसे उष्ण जल में घिसने पर हरी चमक युक्त सफेद रंग का मिश्रण बनता है। इसे जलाने पर यह अच्छी तरह जलता नहीं तथा फूलकर महीन पपड़ी निकलती है। व्यापारी लोग जली हुई लकड़ी आदि में अनेक प्रकार के चिपचिपे गोंद लगाकर गोले बनाकर बेचते हैं इसलिये अच्छी तरह परीक्षा कर खरीदना चाहिये। हमेशा नये गूगल का ही व्यवहार करना चाहिये क्योंकि रखने से यह खराब हो जाता है।

गूगल शोधन—गूगल के बराबर त्रिफला एवं गुडुच लेकर उसे मोटा कूटकर अष्टगुण जल में अर्धांश शेष क्वाथ करें। फिर क्वाथ को छानकर उसमें गूगल को कपड़े में बांध उसकी पोटली लटकावें तथा मंद आंच पर स्वेदन करें। बार-बार उस क्वाथ को करछुल से पोटली पर डालते जाँय। जब सब गूगल छनकर क्वाथ में आ जावे तब कपड़े में का मैला फेंक दें तथा क्वाथ को ऊपर-ऊपर से निकाल लें। नीचे जमे हुये गाढ़े भाग को अलग कर दें। गूगल मिश्रित क्वाथ को मंद आंच पर गाढा करें। जब गाढा होने लगे तो उसमें थोड़ा घी डाल दें जिससे जलने न पावे। बाद में उसे खूब अच्छी तरह कूटकर ऊपर घी लगाकर रखें। यद्यपि इस विधि से शोधन करने की परिपाटी है तथापि संभवतः इस विधि से गूगल कुछ हीनवीर्य हो जाता होगा क्योंकि आधुनिक विद्वानों का मत है कि गूगल के गुण विशेष कर उसमें के सुगंधि तत्वों पर निर्भर होते हैं। इसलिये गूगल को केवल खूब अच्छी तरह बीनकर उसमें घी डालकर बहुत कूटकर व्यवहार करें तो ज्यादा उपयुक्त हो सकता है। कुछ लोग त्रिफला क्वाथ के स्थान पर दुग्ध अथवा दशमूल क्वाथ का व्यवहार भी करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उड़नशील तैल, रालदार गोंद (Gum resin) एवं एक कडवा सत्व पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—गूगल रसायन, त्रिदोषघ्न, वृष्य, बल्य, स्नेहन, स्रंसन, वातानुलोमक, आमाशयोत्तेजक, दीपन, वातहर, वातनाडी संस्थान के लिये पुष्टिकारक, उत्तेजक कफनिःसारक तथा

श्लेष्मल त्वचा के लिये उत्तेजक, संकोचक एवं प्रतिदूषक, श्वेतकायाणुवर्धक, भक्षकायाणुकार्यवृद्धिकर, त्वग्दोषहर, व्रणशोधन, व्रणरोपण, शोथघ्न, रक्तवर्धक एवं आर्तवजनन है। नया गूगल बृंहण एवं वृष्य होता है तथा पुराना कर्षण (लेखन) होता है। इसकी क्रिया बोल (Myrrha-मिह) जैसी होती है।

इसके सेवन के पश्चात् आमाशय में उष्णता मालूम होती है। इसका प्रचूषण बहुत जल्दी होता है। इसके गुण संभवतः इसमें के सुगंधि तत्त्वों के ऊपर निर्भर रहते हैं। इसका उत्सर्ग चर्म, श्लेष्मलत्वचा एवं वृक्कों से होता है तथा उत्सर्ग के समय यह उन-उन अंगों को उत्तेजित करता है तथा जीवाणुनाशन का भी कार्य करता है। विना किसी दुष्परिणाण के इसका बहुत दिन तक प्रयोग किया जा सकता है। कभी-कभी इससे कोपैवा (Copaiba) की तरह त्वचा पर लाल चकत्ते और क्वचित् वृक्क प्रक्षोभ के लक्षण दिखलाई देते हैं जो औषध बन्द करने से ठीक हो जाते हैं।

इसका उपयोग जीर्ण कफरोग, वातरोग, नाड्यवसन्नता, गृध्रसी, अर्दित, अग्निमांद्य, अपचन, अतिसार, प्रवाहिका, कंठमाला, ग्रंथि, विद्रधि, कुष्ठ, फिरंग, सोजाक, विभिन्न अवयवों के शोथयुक्त विकार, शोफ, उदर, चर्मरोग, व्रण, भगंदर, कृमि, पांडु, अर्श, प्रमेह, गर्भाशय विकार एवं मेदोवृद्धि में उन उन अवयवों पर कार्य करने वाली प्रयोजक औषधों के साथ किया जाता है।

(१) पुराने कफ विकारों में इसको छोटी पीपल, अडूसा, मधु एवं घृत के साथ दिया जाता है। राजयक्ष्मा में इसके प्रयोग से कफ की मात्रा कम होती है तथा जीवाणुनाशन भी होता है। जिन रोगों में कफ अत्यधिक एवं चिपचिपा होता है उसमें इससे विशेष लाभ होता है। दुर्बल, पांडुयुक्त एवं मध्यम आयु के लोगों में यह विशेष लाभदायक होता है। इसके साथ लोहभस्म का प्रयोग किया जा सकता है। श्वास में इसको घृत के साथ खिलाते हैं।

(२) आमाशय शिथिलता एवं अभिस्तीर्णता में इसके प्रयोग से क्षुधावृद्धि होती है तथा पाचन सुधरता है। अतिसार, प्रवाहिका, आंत्रप्रदाह एवं क्षयज अतिसार आदि में आंत्रिक प्रतिदूषक (Intestinal antiseptic) के रूप में सुगंधि द्रव्य, इन्द्रजव, एलुवा और गुड आदि के साथ यह दिया जाता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में इसका अधिक प्रभाव पड़ता है।

(३) यह रक्तशोधक, प्रतिदूषक, संपूर्ण शरीर को उत्तेजक एवं बलदायक होने के कारण अनेक शोथयुक्त अवस्थाओं जैसे स्वरयंत्रशोथ, श्वसनीशोथ, कुकास, उरःस्तोय, क्षयज उदरावरणशोथजन्य जलोदर, कंठमाला एवं मूत्रसंस्थान के गवीनीमुखशोथ, बस्तिशोथ तथा जीर्ण गर्भाशयशोथ एवं फिरंग आदि में लाभकर होता है। इनमें हर ४ या ६ घंटे के अन्तर पर इसको देते हैं। कंठमाला में पारद, सोमल एवं वायविडंग के साथ गूगल देते हैं। फिरंगादि में अनंतमूल के साथ एवं जीर्ण आमवात या सोजाक से संधिशोथ होने पर गूगल एवं शिलाजतु का प्रयोग किया जाता है। संधिशोथ पर इसका लेप भी करते हैं। सोजाक तथा बस्तिशोथ में गुडुच के साथ इसको देते हैं। उरःस्तोय एवं जलोदर आदि में इससे स्रवित जल का शोषण हो जाता है।

(४) गूगल की गर्भाशय के ऊपर बहुत अच्छी क्रिया होती है। तरुणस्त्रियों के अनार्त्तव में गूगल, एलुवा तथा कसीस की गोलियां खिलाई जाती हैं। श्वेत प्रदर में तथा उसके कारण वन्ध्यत्व हो तो रसौंत के साथ इसे अधिक मात्रा में देते हैं।

(५) अंगघात, अर्दित, उरुस्तंभ, गृध्रसी एवं वातनाडी शूल में कैशोर गुग्गुलु से बहुत लाभ होता है। ऊरुस्तंभ में गोमूत्र के साथ एवं गृध्रसी में रास्ना एवं घृत के साथ इसको देते हैं।

(६) आमवात, कटिशूल एवं संधिपीडा में इसका बाह्याभ्यंतर प्रयोग किया जाता है। रास्नादि क्वाथ के साथ योगराज या त्रयोदशांग गुग्गुलु का उपयोग अच्छा होता है।

(७) कुष्ठ में इससे साधारण स्वास्थ्य अच्छा होता है तथा इसके प्रयोग से दुर्बलता तथा नाडीशूल आदि ठीक होता है। सभी प्रकार के चर्मरोगों में गूगल लाभदायक माना जाता है। इससे कंडू कम होती है तथा त्वचा का वर्ण सुन्दर हो जाता है।

(८) व्रणशोधक, व्रणरोपक एवं प्रतिदूषक होने के कारण इसका बाह्य प्रयोग बहुत किया जाता है। १० ड्राम जल में १ ड्राम इसका टिंक्चर (९०% मद्यसार में २०%) मिलाकर मसूड़ों की सूजन, पायरिया, दांतों में गढे हो जाना, गले के व्रण, जीर्ण ग्रसनिकाशोथ एवं गलतुण्डिकाशोथ में गंडूष कराया जाता है। पुराने व्रणों के प्रक्षालन के लिये भी इसका उपयोग करते हैं। फोड़ों की प्रारंभिक अवस्था में इसके गरम लेप से फोड़े बैठ जाते हैं। घी में इसका मलहम बनाकर पुराने व्रणों में प्रयोग किया जाता है। कंठमाला में गूगल को उष्ण जल में घिसकर दिन में तीन चार बार मोटा लेप करने से गांठें बैठ जाती हैं। अर्श में इसका लेप एवं धूआं दिया जाता है। आमाशयोर्ध्वप्रदेश में इसे लगाने से हिचकी तुरत रुकती है। प्राच्यव्रण (Delhi boil) नामक दिल्ली की तरफ होने वाले व्रण में गूगल, गंधक, सोहागा तथा कत्था इसका मलहम लगाया जाता है। मुखरोगों में गूगल को मुख में रखकर चूसने से लाभ होता है।

मात्रा—२-८ रत्ती।

अथ सरलनिर्यासगुग्गुलुः। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

श्रीवासः सरलस्रावः श्रीवेष्टो वृक्षधूपकः। श्रीवासो मधुरस्तिक्तः स्निग्धोष्णस्तुवरः सरः॥
पित्तलो वातमूर्द्धाक्षिस्वररोगकफापहः। रक्षोघ्नः स्वेददौर्गन्ध्ययूकाकण्डूव्रणप्रणुत्॥ ४७॥

सरलनिर्यास अर्थात् चीड़ के गोंद (गन्धाबिरोजा) के नाम तथा गुण—श्रीवास, सरलस्राव, श्रीवेष्ट और वृक्षधूपक ये सब गन्धाबिरोजा के संस्कृत नाम हैं। गन्धाबिरोजा—मधुर तिक्त तथा कषाय रस युक्त, स्निग्ध, उष्णवीर्य, दस्तावर, पित्तजनक एवं वायु, मस्तक, नेत्र तथा स्वरसम्बन्धी रोग, कफ, रक्षोग्रहबाधा, स्वेद, दुर्गन्ध, जूयें, खुजली और घाव को दूर करता है॥

१६ सरल निर्यास

हि०—गन्धाबिरोजा, बिहरोजा, बिरोजा, सरल का गोंद, चीड का गोंद। म०—सरलडीक। गु०—बेरजो। क०—श्रीवेष्टक। ता०—पिनैमारू। लिपचा०—ग्निरट। भो०—टीडोंग। नेपा०—धूप। पहाड़ी—बिरजेलसा, लीसा। फा०—बारजद, बरजद। अ०—किन्न। अं०—Oleo-resin of Pine (ओलियो रेजिन् ऑफ् पाइन्)। ले०—*Oleo-resina of Pinus longifolia and other species* (ओलियो रेझिना ऑफ पाइनस लांगिफोलिया अण्ड अदर स्पिसीज)। Fam. Pinaceae (पिनॅसी)।

धूपसरल वृक्ष (चीड) के निर्यास को गन्धाबिरोजा कहा जाता है। इसके वृक्ष तथा स्वरूपादि का वर्णन पहले सरल वृक्ष (पृष्ठ १९८) के अन्तर्गत किया जा चुका है।

रासायनिक संगठन—इसमें करीब २०% तारपीन का तेल (Turpentine oil) होता है जो ऊर्ध्वपातन यंत्र द्वारा निकाला जाता है। लगभग ८०% भाग अवशेष रहता है। इसे डाक्टरी में रेझिन (रजन) या कोलोफोनि (Resin, colophony) कहते हैं। रेझिन (रजन) पारभासक

हलके अम्बर के वर्ण का, चमकीला एवं आसानी से टूटने वाला घन पदार्थ होता है। यह तोड़ने पर अन्दर से चमकीला दिखाई देता है। इसम तारपीन सदृश स्वाद एवं गन्ध होती है। यह जलमें अविलेय किन्तु मद्यसार तथा ईथर आदि में आसानी से घुल जाता है।

तारपीन का तेल—यह सरल वृक्ष के निर्यास (गन्धाबिरोजा) से बाष्प के साथ ऊर्ध्व नलिका यन्त्र से निकाला हुआ तैल है। औषध की अपेक्षा अन्य उद्योगों में इसकी बहुत खपत होती है। सुगन्धि द्रव्य, कृत्रिम कर्पूर, तैलीय रंग एवं वार्निश बनाने में इसका उपयोग किया जाता है। इस तेल को संसार भर की आवश्यकता का ६७% भाग अमेरिका एवं २२% भाग फ्रांस पूर्ति करता है इतने अधिक वहां इसके वृक्ष पाये जाते हैं। भारतवर्ष में भी यद्यपि इसके वृक्ष बहुत पाये जाते हैं तथापि जंगली प्रदेशों में यातायात की कठिनाइयों के कारण अभी बहुत कम वृक्षों के निर्यास से तैल निकाला जाता है। भवाली, जाल्लो तथा बरेली के पास चित्तरबकगंज आदि स्थानों में इसके निकालने के कारखाने हैं।

यह तैल रंगहीन एवं स्वच्छ होता है। इसमें एक विशिष्ट प्रकार की गन्ध होती है तथा इसका स्वाद कटु एवं कुछ तिक्त होता है। कुछ दिन के बाद तथा इसे खुला रखने पर इसके स्वाद तथा गन्ध दोनों बढ़ जाते हैं जो अधिक अप्रिय हो जाते हैं। इसका विशिष्ट गुरुत्व ०.८६०–०.८७० है। यह सातगुने मद्यसार (९०%) में तथा ईथर, क्लोरोफॉर्म, कार्बन डाइसल्फाइड, विजलीयित (Dehydrated) मद्यसार एवं ग्लेशियल् ऍसेटिक् एसिड् में चाहे जिस मात्रा में घुल जाता है। भारतीय व्यापारी तैल में ३७.६% ॲल्फा-कॅरेन् (a-carene) एवं ॲल्फा–डी–टर्पेन्स (a-d-terpenes), १.७% ॲल्फा–एल्–टर्पेन् (a–l-terpene), २४.८% एल्–पिनेन् (l–pinene), ९.७% नोपिनेन् (Nopinene), या बीटा–पिनेन् (B–pinene), २०.३% लॉंगिफोलीन् (Longifoline) एवं अल्प मात्रा में सिल्व्हेस्ट्रीन (Sylvestrene) एवं डाइपेण्टीन (Dipentene) आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

अमेरीका और फ्रांस के तैल में प्रधानतया पिनेन् अधिक होते हैं। भारतीय तारपीन के तैल में उपयुक्त पिनेन् की अपर्याप्त मात्रा होने के कारण कृत्रिम कर्पूर निर्माण के यह अयोग्य होता है। भारतीय तैल आसानी से जारित (Oxidized) होने के कारण तथा सूखने पर अधिक राल निकलने के कारण विदेशी तैल की अपेक्षा हीन श्रेणी का समझा जाता है लेकिन अन्य उद्योगों में इसका उपयोग किया जा सकता है। इस तैल को प्रकाशहीन, ठंडी जगह में बंद बोतलों में रखना चाहिये।

गुण और प्रयोग—गन्धाबिरोजा एवं तारपीन के तेल के गुण लगभग समान ही होने के कारण दोनों का एक साथ ही वर्णन किया गया है।

यह वातानुलोमक, श्लेष्मनिःसारक, कफघ्न, स्वेदजनन, मूत्रजनन, रक्तस्तम्भक, उत्तेजक, कृमिघ्न, शोथघ्न, वातहर, व्रणरोपक, दुर्गन्धिनाशक एवं अल्प प्रतिदूषक (Antiseptic) है।

इसको चर्म पर मर्दन करने से प्रारम्भ में त्वचा लाल हो जाती है तथा प्रक्षोभ उत्पन्न होता है, पश्चात् नाडयग्रों के अवसाद से शून्यता उत्पन्न होती है। इससे सूक्ष्म रक्तवाहिनीयों का संकोच होकर बाह्य (स्थानिक) रक्तस्राव रुक जाता है। अधिक मर्दन से त्वचा में स्फोट आदि भी उत्पन्न होते हैं।

इसका प्रचूषण महास्रोत, श्वसनसंस्थान एवं त्वचा द्वारा होता है तथा उत्सर्ग मूत्र एवं श्वसनसंस्थान से होता है। उत्सर्ग के समय श्वास में इसकी गन्ध तथा मूत्र में बनफ्शाह (Vio-
14 let–व्हायोलेट) की गन्ध आती है।

अल्प मात्रा में बार-बार देने से प्रथम वृक्कों की उत्तेजना से मूत्र की मात्रा बढ़ती है लेकिन अधिक काल तक प्रयोग करते रहने से मूत्र में जलन, प्रक्षोभ एवं कभी-कभी तीव्र मूत्रकृच्छ्र होता है। वृक्कों में शोथ उत्पन्न होने से मूत्र की मात्रा कम होती है एवं मूत्र में अल्ब्यूमिन एवं कभी-कभी रक्त भी जाने लगता है। अधिक मात्रा में महास्रोत में प्रक्षोभ से तीव्र विरेचन एवं रक्तातिसार तथा तन्द्रा, सारे शरीर में शिथिलता, अवसाद, सांवेदनिक नाडियों का घात, प्रत्याक्षेप क्रिया का घात एवं संन्यास आदि लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। उपर्युक्त परिणाम अधिक मात्रा में तैल को सूंघने से भी हो सकते हैं।

(१) यह उत्तम वातानुलोमक होने के कारण आध्मानजन्य शूल के लिये बहुत उपयोगी है। तारपीन के तेल को गोंद के साथ घोंट कर थोडी चीनी एवं जल मिलाकर रोगी को दिया जाता है। इससे स्फीतकृमियों का भी नाश होता है। आमाशयिक व्रण से अथवा अन्य कारणों से आंत्र से रक्तस्राव होता हो तो इसको देने से सूक्ष्म रक्तवाहिनीयों का संकोच हो कर रक्तस्राव रुक जाता है। आन्त्रिक ज्वर (Typhoid) में न केवल वातानुलोमक प्रभाव के कारण आध्मान (Tympanitis) में लाभ होता है वरन् इसकी उपस्थिति में इस रोगोत्पादक दण्डाणु की वृद्धि रुक जाने से प्रत्यक्ष इस रोग में भी लाभ होता है। इसमें १५-३० बूंद हर घण्टे पर कई बार दिया जाता है।

(२) जीर्ण श्वसनीशोथ (Bronchitis) में इसको देने से कफ निकलने लगता है तथा जीवाणुओं का नाश होने से दुर्गन्ध भी दूर होता है। रोगी के कमरे में तैल को छिड़कने से अपने आप यह श्वास में जाकर अपना कार्य करता है। कफक्षय एवं रक्तष्ठीवन में भी इसको खिलाया जाता है तथा सूंघने को भी दिया जाता है। फुफ्फुसों के कोथ में इससे विशेष लाभ होता है। तारपीन का तेल २½ तो०, मुलेठी २½ तो० एवं मधु २ तो० एक साथ घोंट कर ३०-६० र० की मात्रा में इन विकारों में दिया जाता है।

(३) पुराने सोजाक (Gleet) एवं बस्तिशोथ में खन्नू का तेल १-३ बूंद या शुद्ध गन्धाविराजा १ से २ ड्रा० खिलाते हैं। इन अवस्थाओं में 'पूय मेहारि वटी' को दिन भर में २-४ गोलियां दारुहरिद्रा कषाय के अनुपान से खिलाई जाती हैं। इसको बनाने के लिये शुद्ध गन्धाबिरोजा १ तो०, शुद्ध राल २½ तो०, गूगल ५ तो०, रूमीमस्तगी २½ तो० एवं चन्दन का तैल २½ तो० इन सब को घोंट कर १॥ माशे की गोलियां बनाई जाती हैं।

(४) जीर्ण कोष्ठबद्धता, आध्मान एवं सूत्रकृमि में ६०-१२० बूंद ताडपीन का तेल एवं ४ पाइण्ट साबुन युक्त जल की बस्ति बहुत ही लाभदायक होती है।

(५) इसमें रेंडी का तेल मिलाकर आमवात, कटिशूल, सन्धिपीडा एवं वातनाडी शूल में लगाया जाता है। आन्तरिक शोथ विशेष कर उदरगत शोथ एवं आध्मान में इससे स्वेदन किया जाता है। फलालेन जैसे कपड़े को उष्ण जल में निचोड़ कर उस पर थोड़ा सा तैल छिड़क कर उससे सेंका जाता है। पुराने कफविकारों में इसको रूमाल पर डालकर सूंघने को दिया जाता है तथा छाती पर इसको लगाते हैं।

(६) गजचर्म, व्रण, क्षत तथा अन्य चर्मविकारों में गन्धाबिरोजा का मलहम उपयोग में आता है। क्षत में तैल से स्थानिक रक्तस्राव भी रुक जाती है। मुख के शल्य कर्म में साधारण रक्तस्राव को रोकने के लिये तैल का प्रयोग किया जाता है। गन्धाबिरोजा का उपयोग अनेक प्रकार के मलहमों तथा धूप आदि में किया जाता है। कण्ठमाला में इसके लेप से लाभ होता है

गन्धाविरोजा का **डामर** जीर्ण कास एवं राजयक्ष्मा आदि में दिया जाता है। इसके **रजन** (रेझिन, कोलोफोनि) का व्यवहार मलहम बनाने में विशेष रूप से होता है। यह अल्प प्रतिदूषक तथा पुराने व्रणों के लिये लाभदायक होता है।

मात्रा—तैल ३-१० बूंद; कृमिघ्न १२०-२४० बूंद; शुद्ध गन्धाबिरोजा १-२ मा०।

अथ रालः । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

रालस्तु शालनिर्यासस्तथा सर्ज्जरसः स्मृतः। देवधूपो यक्षधूपस्तथा सर्वरसश्च सः॥ ४८॥
रालो हिमो गुरुस्तिक्तः कषायो ग्राहको हरेत्। दोषास्रस्वेदवीसर्पज्वरव्रणविपादिकाः॥
ग्रहभग्नाग्निदग्धांश्च शूलातीसारनाशनः॥ ४९॥

राल के नाम तथा गुण—राल, सालनिर्यास, सर्जरस, देवधूप, यक्षधूप तथा सर्वरस ये राल के संस्कृत नाम हैं। राल—शीतवीर्य, गुरु, तिक्त तथा कषाय रस युक्त एवं ग्राही होती है। यह-दोष (वातादिक), रक्तविकार, स्वेद, विसर्प, ज्वर, व्रण, विपादिका, ग्रहबाधा को दूर करती है तथा भग्न अर्थात् हड्डी के टूट जाने पर फायदा करती है और अग्नि से जल जाने पर भी लाभ करती हैं एवं शूल तथा अतीसार को नष्ट करती है॥ ४८-४९॥

१७ राल

हि०-राल, रार, धूना, शाल (साखू) का निर्यास। **बं०**-धुना, राल, डम्मर। **म०**-राल पिंवली। **गु०**-राल। **क०**-सर्ज्जरस। **ते०**-सर्ज्जरसमु, सर्ज्ज। **पं०**-राल, अर्लु। **फा०**-राल मगरबी, रातियानः। **अ०**-रातीनज, कैकहर। **अं०**-Resin of Sal Tree (रेझिन् ऑफ् साल ट्री)। **ले०**-*Resina of Shorea robusta Gaertn. f.* (रेझिना ऑफ् शोरिआ रोबस्टा गार्ट.)। Fam. Dipterocarpaceae (डिप्टेरोकार्पेसी)।

शालवृक्ष के गोंद को राल कहते हैं। यह सफेदी लिये पीली किञ्चित् कालापन मिश्रित होती है। नयी अवस्था में यह रंगहीन एवं पारदर्शक होती है। इसमें तारपीन की राल के सदृश गन्ध नहीं होती तथा इसमें स्वाद भी नहीं होता। यह तैल में मिल जाती है तथा आसानी से जलती है।

नोट—राल के लिये चरक सुश्रुत में सर्जरस शब्द प्रयुक्त हुआ है। शालनिर्यास शब्द चरक सुश्रुत में देखने में नहीं आता। वैद्य लोग राल से शाल की राल का व्यवहार करते हैं जो अधिकतर सिंगापूर से आती है। डाक्टरी में व्यवहार में लाई जाने वाली राल जिसे रजन (रेझिन) कहते हैं वह गन्धाबिरोजा से तारपीन के तैल निकालने के पश्चात् बचा हुआ अवशेष है। शाल (साखु) के वृक्ष का वर्णन आगे वटादिवर्ग में आया है। **सर्ज वृक्ष** (शाल भेद) तथा उससे प्राप्त होने वाली राल जिसे **चन्द्रस** कहते हैं उसका भी वर्णन वटादि वर्ग में है।

गुण और प्रयोग—राल उत्तम व्रणशोधन, व्रणरोपण, रक्तस्तम्भन, ग्राही एवं जीवाणुनाशक होती है। यह रेझिन (रजन) का अच्छा प्रतिनिधि मानी जाती है।

(१) राल के मलहम का बहुत व्यवहार किया जाता है। इसके लगाने से स्थानिक रक्तप्रवाह बढ़ता है तथा जीवाणुनाशन का भी कार्य होता है। फोड़े आदि पर लगाने से बिना पीड़ा के वे फूट कर जल्दी अच्छे हो जाते हैं। नवीन शोथ हो तो बिना फूटे ही बैठ भी जाते हैं। इसके मलहम का उपयोग खुजली, पामा, बिवाई (विपादिका), पुराने व्रण एवं अग्निदग्ध व्रण आदि में

किया जाता है। मलहम बनाने के लिये राल ४, मोम ४, तिल का तैल ४ एवं घृत ३ इन सबको जरा गरम करके एक में घोंट कर मिला दें।

(२) आमवातिक पीडा एवं कटिशूल में ब्राण्डी के साथ या अंडे की सफेदी के साथ लगाने से लाभ होता है।

(३) खांसी, श्वास, अतिसार, कुपचन एवं सोजाक में राल खिलाई जाती है। बच्चों के रक्तयुक्त आंव में तथा रक्तार्श में चीनी के साथ इसका अधिक अच्छा उपयोग होता है।

(४) वाजीकरण के लिए १० र० राल ½ सेर दूध के साथ नित्य प्रातः सेवन की जाती है।

मात्रा—४-८ रत्ती।

अथ कुन्दरुः (सुगन्धद्रव्यं शल्लकीनिर्यासः)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

कुन्दुरुस्तु मुकुन्दः स्यात्सुगन्धः कुन्द इत्यपि ॥ ५० ॥

कुन्दुरुर्मधुरस्तिक्तस्तीक्ष्णस्त्वच्यः कटुर्हरेत्। ज्वरस्वेदग्रहालक्ष्मीमुखरोगकफानिलान् ॥५१॥

कुन्दुरु (सुगन्ध द्रव्य) जो कि शल्लकी का गोंद है उसके नाम तथा गुण—कुन्दुरु, मुकुन्द, सुगन्ध तथा कुन्द ये सब कुन्दुरु के संस्कृत नाम हैं। कुन्दुरु-मधुर, तिक्त तथा कटु रसयुक्त, तीक्ष्ण एवं त्वचा के लिये हितकारी होता है। यह ज्वर, स्वेद, ग्रहबाधा, अलक्ष्मी, मुखरोग, कफ और वायु को दूर करता है ॥ ५०-५१ ॥

नोट—प्राचीनों ने शल्लकी (सलई) के निर्यास को ही कुन्दुरु माना है लेकिन बाजार में मिलने वाला कुन्दुरु सलई का निर्यास न होते हुए भी उसी जाति के विदेशी वृक्ष का निर्यास है जो अफ्रीका एवं अरब से आता है। इसका व्यापार मुख्यतया बंबई में होता है। गुणों की दृष्टि से भारतीय सलई के गोंद एवं कुन्दुरु में विशेष अन्तर नहीं है। पार्थक्य के लिये भारतीय निर्यास को 'सलई गूगल' एवं विदेशी निर्यास को 'कुन्दुरु' लिखा गया है तथा दोनों का अलग २ वर्णन किया गया है। बाजार में गूगल नाम से सलई का गूगल एवं कणगूगल (गुग्गुलु) दोनों ही बिकते हैं इसलिये खरीदते समय शल्लकी निर्यास की आवश्यकता होने पर 'सलई गूगल' मांगना चाहिये एवं गुग्गुलु की आवश्यकता होने पर कणगूगल नाम से खरीदना चाहिये। सलई वृक्ष का वर्णन वटादिवर्ग में किया गया है। यद्यपि कुन्दरु का अरबी नाम लबान है तथापि लोबान या लोहबान यह अन्य द्रव्य है, उसका भी प्रसंगतः संक्षेप में वर्णन किया गया है। कुन्दुरू शाक का वर्णन आगे शाकवर्ग में किया हुआ है।

१८ शल्लकी निर्यास (सलई गूगल)

हि०—सलई गूगल, गूगल, लबान। बं०—सलैधूप। गु०—धूपडो। म०—सालईचा डीक। अजमेर—गंधविरोझ। अं०—Indian olibanum or Frankincense (इण्डियन् ओलिबॅनम् या फ्रॅंकिन्सेन्स)। ले०—*Gum resin of Boswellia serrata Roxb.* (गमरेझिन ऑफ् बॉस्वेलिया सेरेटा रॉक्स)। Fam. Burseraceae (बर्सेरेसी)।

यह शल्लकी (सलई) वृक्ष का गोंद है। यह कुछ आर्द्र, चिपचिपा, रक्ताभ पीतवर्ण का एवं सुगंधयुक्त होता है। यह जलाने पर कणगूगल की अपेक्षा जल्दी जलता है। जल में डालने पर यह सफेद दिखलाई देता है तथा मद्यसार या जल के साथ घोटने पर सफेद घोल बनता है। नवंबर से जुलाई तक के समय इसके वृक्षों को नीचे छीलते हैं तथा जो स्राव निकलता है उसे

संग्रह करते हैं। ताजी अवस्था में यह कनाडा बाल्सम की तरह दिखलाई देता है। प्राचीनों ने कुन्दुरु इसे ही माना है।

रासायनिक संगठन—इसमें गोंद, उड़नशील तैल एवं राल के समान एक अन्य द्रव्य रहता है।

गुण और प्रयोग—यह स्नेहन, स्रंसन, रक्तशोधक, कफनिःसारक, उत्तेजक, मूत्रल, आर्तवजनन एवं त्वच्य है। इसके गुण मिढ तथा गूगल के समान हैं।

इसका उपयोग ज्वर, स्वेद, जीर्ण कफविकार, रक्तविकार, प्रदर, रक्तातिसार, मुखरोग, कास, श्वास, मूत्रविकार, आर्तवविकार, वातनाडीसंस्थान के रोग, श्लेष्मल त्वचा के कफयुक्त विकार, पाण्डु एवं अनेक प्रकार के ग्रंथि, फोड़े एवं व्रण आदि में किया जाता है। इसका प्रयोग अन्य उपयुक्त औषधों के साथ गोली या चूर्णरूप में किया जाता है।

(१) पुराने एवं गढेदार व्रणों में टंकण, गन्धक, खैर एवं सलई गूगल का मलहम बहुत लाभदायक होता है। दुर्गंधित व्रणों में गरी का तेल या नीबू के रस में इसे मिलाकर लगाने से लाभ होता है।

(२) इसको गरम जल में घिसकर गण्डमाला, ग्रन्थि, बद, संधिवात एवं अस्थिशोथ आदि में लगाया जाता है एवं खिलाते भी हैं।

(३) पुराने सोजाक एवं फिरङ्ग में स्नेहन औषधों के साथ इसका उपयोग किया जाता है।

(४) दुर्गंधयुक्त श्वास में बबूल के गोंद के साथ इसका प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—५-१० र०।

१८ (अ) कुन्दुरु

हि०-कुन्दुरु, लबान, कुन्दुर, थुस। बं०-कुन्दुरुखोटी। म०-इ (वि) सेस। बं०-कुंदो। फा०-कुन्दुर। अ०-कुन्दुरे जकर, लबान, वस्तज। अं०-Olibanum (ऑलिबॅनम्), Frankincense (फ्रॅंकिन्सेस)। ले०-*Gum resin of Boswellia carterii Birdw. & other sp.* (गम रेजिन ऑफ बॉस्वेलिया कार्टेराइ बर्ड, अण्डॅ अदर स्पीसीज) Fam. Burseraceae (बर्सेरॅसी)।

यह शल्लकी (सलई) की ही जाति के विदेशी वृक्ष का गोंद है जो अरब तथा अफ्रीका के एबीसीनिया नामकस्थान से आता है। बाजार में कुन्दुरु के नाम से यही बिकता है एवं बम्बई में इसका आयात होता है।

इसके छोटे, बड़े एवं अण्डाकार ५-२५ मि. मी. बड़े टुकड़े होते हैं जो कभी-कभी आपस में चिपके रहते हैं। इसका बाह्य स्तर मटमैला एवं पीताभ, नीलाभ या हरी आभा युक्त होता है। यह आसानी से टूट जाता है। भीतरी सतह चिकनी तथा अर्धपारदर्शक होती है। यह जलाने में जल्दी जलता है। यह सुगन्धित तथा स्वाद में कुछ कड़वा होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें गोंद तथा एक राल सदृश अन्य पदार्थ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह सुगन्धि, उत्तेजक, कफनिःसारक, ग्राही तथा शोथहर है। इसके गुण सलई के गूगल के समान हैं। इसकी क्रिया श्लेष्मल त्वचा पर होती है। श्वसनसंस्थान की श्लेष्मल त्वचा पर इसका विशेष प्रभाव पड़ता है। पाश्चात्य चिकित्सा के बाल्सम् पेरु तथा बाल्सम् टोलू के समान यह कार्य करता है किन्तु इससे आमाशय में कम प्रक्षोभ होता है।

(१) इसका उत्सर्ग श्वसनसंस्थान के द्वारा होने के कारण जीर्ण कफ विकार तथा अत्यन्त लसदार कफ गिरना आदि अवस्थाओं में इसे बदाम, शर्करा तथा जल के साथ खिलाते हैं। इससे

कफ की दुर्गन्ध दूर होती है तथा कफ कम होकर खांसी कम होती है। इसका धूम्रपान भी कराते हैं।

(२) सोजाक में इसको ५ र० की मात्रा में बदाम आदि के साथ या गोली के रूप में खिलाते हैं।

(३) कुन्दुरु, खसखस का तेल एवं सफेद मोम इनको मन्द आंच पर पिघला कर कपड़े से छान कर इस मलहम का प्रयोग ग्रन्थि, शोथ तथा व्रणों पर किया जाता है। बच्चों के फोड़े फुन्सी जल्दी फूट कर अच्छे हो जाते हैं। पाषाणगर्दभ पर लगाने से सूजन दूर हो जाती है। कार्वकल पर इसका मलहम विशेष उपयोगी है।

(४) इसको बाष्प पर जल के साथ गरम करने से एक चिकट गोंद बनाता है। इसमें अफीम, धतूरा, खुरासानी अजवायन या बेलाडोना आदि मिलाकर, मोटे कपड़े पर लगाकर इसकी पट्टी को पीडायुक्त अङ्गों पर लगाने से वहां की रक्तवाहिनीयों का संकोच होने से तथा उस अंग की गति कम होने से पीड़ा शान्त होती है।

मात्रा—१०-३० रत्ती।

१८ (ब) लोहबान

हिं०-लोहबान, लोबान। म०-ऊद। गु०-लोबान। अं०-Benzoin (बेन्झोइन)। ले०-*Benzoinum* (बेन्झोइनम्)। वृक्षनाम—Styrax benzoin Dryand (स्टाइरॅक्स बेंझोइन ड्रायॅड)।

यह एक प्रकार का रालयुक्त गोंद है जिसके वृक्ष भारत में नहीं पाये जाते। इसके दो प्रकार मिलते हैं। उपर्युक्त नाम के वृक्ष से प्राप्त द्रव्य सुमात्रा बेंझोइन कहलाता है एवं दूसरे वृक्ष Styrax tonkinensis (Pierre) Craib ex Hartwich (स्टाइरॅक्स टॉन्किनेन्सिस्) से प्राप्त द्रव्य को स्याम बेंझोइन कहते हैं। इनके अतिरिक्त इसी जाति के अन्य वृक्षों से भी यह द्रव्य प्राप्त होता है। इसमें पर्याप्त मिलावट भी की जाती है।

सुमात्रा बेंझोइन में कुछ अपारदर्शक, श्वेताभ या रक्ताभ बदाम या कौडी के आकार के टुकड़े, रालदार रक्ताभ भूरे या धूसर भूरे द्रव्य के साथ मिले हुए रहते हैं। इसका स्वाद कुछ तीता तथा गंध हलकी किन्तु अप्रिय नहीं होती।

स्याम बेंझोइन के टुकड़े विभिन्न नाप के या चौपहल तथा कुछ चिपटे होते हैं। यह बाहर से पीताभ भूरे या रक्ताभ भूरे किन्तु अन्दर से दुधिया श्वेत और अपारदर्शक होते हैं। चौपहल टुकड़ों में चमकीले रक्ताभ भूरे रंग के लंब गोल टुकड़े राल के साथ मिले हुवे रहते हैं। इसमें वॅनिला की तरह गंध तथा बाल्सम् का विशिष्ट स्वाद होता है।

लोहबान को हलके हलके गरम करने से श्वेत वर्ण का धूँआ निकलता है जो ठंडी जगह पर रवेदार पदार्थ के रूप में जम जाता है। पोटॅशियम् परमग्नेट के घोल के साथ इसके चूर्ण को गरम करने से सुमात्रा बेंझोइन हो तो बेन्झेल्डिहाइड की हलकी गंध आती है। ५ सी. सी. लोबान का ईथरीय सत्व लेकर उसमें २, ३ बूंद गंधक का तेजाब मिलावे तो सुमात्रा बेंझोइन होने पर रक्ताभ भूरा एवं स्याम बेंझोइन में गहरा गुलाबी लाल रंग हो जाता है। ९० प्र० श० मद्यसार में पहले प्रकार का ७५% एवं दूसरे प्रकार का ९०% घुल जाता है।

गुण और प्रयोग—लोबान कफ निःसारक एवं प्रतिदूषक है। पुरानी खांसी में बदाम तथा गोंद के साथ इसको देने से कफ बाहर निकलने में मदद होती है। बस्तिशोथ आदि में भी इसको देते हैं। विभिन्न प्रकार के चर्म रोग तथा व्रण आदि में इसका बाह्य प्रयोग लाभदायक है।

अथ शिलारसः । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

सिह्लकस्तु तुरुष्कः स्याद्यतो यवनदेशजः । कपितैलश्च संख्यातस्तथा च कपिनामकः ॥८२॥
सिह्लकःकटुकःस्वादुःस्निग्धोष्णःशुक्रकान्तिकृत् । वृष्यःकण्ठ्यःस्वेदकुष्ठज्वरदाहग्रहापहः ॥८३॥

शिलारस के नाम तथा गुण—यवनों (मुसलमानों) के देश में उत्पन्न होने से शिलारस को संस्कृत में तुरुष्क कहते हैं। सिह्लक, कपितैल, कपिनामक (अर्थात् कपि के पर्यायवाची सभी शब्द शिलारस के नामान्तर हैं) ये सब शिलारस के संस्कृत नाम हैं।

शिलारस—कटुरस युक्त, स्वादु, स्निग्ध, उष्णवीर्य, शुक्रजनक, कान्तिकारक, वृष्य तथा कण्ठ के लिये हितकारी होता है। यह स्वेद, कुष्ठ, ज्वर, दाह तथा ग्रहबाधा को दूर करने वाला होता है॥

१९ शिलारस

हि०, म०, बं०, क०—शिलारस। सिलारेस। गु०—शेलारस। ता०—नेरिअरिशिप्पाल। मल०-रसमाल। ते०-शिलारसम्। मा०-शिलारस। फा०-अम्बर माइअ, अस्ले लवनी। अ०—मीअः साइला, लब्नी, वृक्षनाम-जिर्व, उस्तुरक। अं०-Liquid Storax (लिक्विड स्टोरॅक्स)। ले -(वृक्ष नाम) *Liquidamber orientalis Miller* (लिक्विडम्बर ओरीएण्टॅलिस् मिलर)। Fam. Hamamelidaceae (हेमॅमेलिडेसी)।

शिलारस अरब देश से आता है। यह गोंद के समान एक सुगन्ध द्रव्य है। इसके वृक्ष एशिया माइनर में होते हैं। इसी वर्ग का अन्य वृक्ष ले. ॲल्टिञ्जिया एक्सेलसा नोरोन्हा (Altingia excelsa Noronha) आसाम, भूटान, बर्मा, पूर्वी बंगाल, पेगू, चीन, मलाया और जावा आदि देशों में होता है जिससे निकले हुए शिलारस को विदेशी शिलारस का अच्छा प्रतिनिधि मानते हैं। इसका वृक्ष मध्यमाकार का अनेक शाखायुक्त; पत्ते-करतलाकार ५ खण्डयुक्त; पुष्प-पीत वर्ण के गोल गुच्छों में आते हैं। ३ या ४ वर्ष पुराने वृक्ष की छाल को चोट पहुँचाने से भीतरी छाल में स्राव जमा होता है। फिर बाहरी छाल को हटाकर भीतरी छाल को जल में उबालने से उसके साथ लगा हुआ शिलारस जल पर तैरने लगता है जिसे अलग कर लेते हैं।

शिलारस का आयात प्रधानतः फ्रांस से होता है। यह मधु के समान गाढा, वजन में जल से भारी, पिलाई लिए लाल या भूरे रग का, मुलायम, चिपचिपा तथा तैलीय राल सदृश पदार्थ है। नये शिलारस में मिट्टी के तेल जैसी गन्ध होती है लेकिन पुराना होने पर अच्छी गन्ध आने लगती है। इसका स्वाद तीता होता है। इसकी अन्य जाति के वृक्षों से भी यह प्राप्त किया जाता है।

शोधन—पाश्चात्य चिकित्सा में इसको शुद्ध करके व्यवहार करते हैं। मद्यसार में इसे घोल एवं छान कर उस द्रव को उड़ जाने देते हैं तथा जो बचा रहता है उसे व्यवहार करते हैं। यह पीताभ भूरा, चिपचिपा, कुछ पारदर्शक एवं विशिष्ट सुगंध एवं स्वादयुक्त होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक तैलीय द्रव के साथ मिली हुई एक राल रहती है। राल में सिनेमिक एसिड (Cinnamic acid) के साथ संयुक्त स्टोरेसिनॉल् (Storesinol) नामक द्रव्य रहता है। तैलीय द्रव पदार्थ में स्टाइरॉल् (Styrol), एथिल सिनॅमेट (Ethyl cinnamate) एवं स्टाइरॅसिन (Styracin) ये पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—शिलारस कफघ्न, मूत्रल, प्रतिदूषक, क्रमिघ्न, कण्डूघ्न, व्रणरोपक एवं व्रणशोधक है। इसका कफघ्न धर्म सौम्य है। इसकी क्रिया लोहबान, बाल्सम् पेरु तथा बाल्सम् टोलू

सदृश होती है। इसका उत्सर्ग वृक्क तथा फुफ्फुस द्वारा होता है। कभी-कभी इससे वृक्क शोथ भी हो सकता है। औषधि तैलों को सुगन्धित करने के लिए इसका उपयोग किया जाता है। चरक में वात व्याधि के बला तैल के पाठ में 'तुरुष्क' का प्रयोग किया हुआ है।

(१) जीर्ण कास आदि कफविकारों में तथा राजयक्ष्मा में इसको अण्डे की सफेदी के साथ घोंटकर शहद मिलाकर चटाते हैं। इससे फुफ्फुसों को बल मिलता है।

(२) पुराना सोजाक एवं बस्तिशोथ आदि में मुलेठी के साथ इसको खिलाते हैं।

(३) त्वचा के रोगों में शिलारस का बहुत प्रयोग किया जाता है। इससे जूं तथा खुजली उत्पन्न करने वाले कीटाणुओं का नाश होता है। इसे चौगुने तिल के तेल में मिलाकर पामा (Scabies), सिध्म तथा जीर्ण दाहयुक्त अपरस में लगाते हैं, इससे खुजली बहुत जल्दी कम हो जाती है। क्षयज व्रणों पर अकेले इसे लगाते हैं। इससे स्थानिक रक्ताभिसरण की वृद्धि होती है तथा क्षयज दण्डाणुओं का नाश होता है। वृषण शोथ में इसको लगाकर ऊपर से तम्बाखू या धतूरे का पत्ता बांधने से लाभ होता है।

मात्रा—५-१० रत्ती।

अथ जातीफलम्। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

जातीफलं जातिकोशं मालतीफलमित्यपि। जातीफलं रसे तिक्तं तीक्ष्णोष्णं रोचनं लघु॥
कटुकं दीपनं ग्राहि स्वर्यं श्लेष्मानिलापहम्॥ ५४॥
निहन्ति मुखवैरस्यं मलदौर्गन्ध्यकृष्णताः। कृमिकासवमिश्वासशोषपीनसहृद्रुजः॥५५॥

जायफल के नाम तथा गुण—जातीफल, जातिकोश और मालतीफल ये सब 'जायफल' के संस्कृत नाम हैं। जायफल—रस में तिक्त होता है एवं तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, रोचक, लघु और कटुरस युक्त भी होता है तथा अग्निदीपक, ग्राही एवं बिगड़े हुए गले के स्वर को ठीक करनेवाला होता है, तथा कफ, वात, मुख की विरसता, मलकी दुर्गन्ध एवं कालापन तथा कृमि, खांसी, वमन, श्वास, शोष, पीनस और हृद्रोग इन सबों को दूर करने वाला होता है॥ ५४-५५॥

२० जायफल

हि०—जायफल, जायफर। बं०, गु०—जायफल। म०—जायफल, बांडा जायफल। पं०—जयफल। ते०—जाजिकाय। क०—जाजिकै। ता०—जाडिक्कै। ब्रह्मी०—झाडि फू। सिलो०—जडिका। मलाया—बुशपल। फा०—जौज बूया। अ०—जौज़ बव्वा, जौजुत्तीब। अं०—Nutmeg (नटमेग)। ले०—*Myristica fragrans, Houtt* (मायरिस्टिका फ्रॅग्रेन्स, हाउट)। Fam. Myristicaceae (मायरिस्टिकॅसी)।

जायफल—सुमात्रा, जावा, सिंगापूर, मोलुक्का, पिनांग एवं लंका तथा वेस्ट इण्डीज में अधिकता से उत्पन्न होता है। इस देश में इसके वृक्ष से फल पाना कष्ट साध्य है। नीलगिरी पर्वत के पूर्वीय भाग में कनूर की घाटी में बर्लियार के सरकारी बगीचों में तथा और दक्षिण में कोर्टलम् की पहाड़ियों पर इसके पेड़ लगाये गये हैं।

इसका वृक्ष-सेव के वृक्ष के समान होता है और देखने में बहुत सुहावना हरे रङ्ग का मालूम पड़ता है। पत्ते-२ से ५ इञ्च तक लम्बे, १॥ इञ्च तक चौड़े, चर्मवत्, लंबे पर्णवृन्त से युक्त, अंडाकार या आयताकार भालाकार तथा हलके पीले-भूरे से रंग के होते हैं। फूल-छोटे-छोटे सफेद रङ्ग के

गोलाकार आते हैं। फल-गोल, अण्डाकार १॥ से २ इञ्च लम्बे, रक्ताभ या पीताभ तथा पकने पर दो फांकों में फट जाते हैं। इनके फटने पर कड़े आवरण से युक्त जायफल (सूखे हुए बीज) को घेरे हुवे जावित्री का लाल वर्ण का वेष्टन दिखाई देता है। जावित्री के अन्दर जायफल रहता है जिसका औषध में व्यवहार किया जाता है। जायफल अंडाकार, गोल तथा एक इञ्च के घेरे में होता है। बाहर से यह खाकीपन लिये हुए भूरा तथा सिकुड़ा हुआ दिखलाई पड़ता है और भीतर का रङ्ग मैला गुलाबी जिसमें ललिमा लिये हुए भूरे रंग के तंतुओं का जाल होता है। इसकी गन्ध एक स्वतन्त्र प्रकार की तेज और स्वाद सुगन्ध युक्त कड़वा होता है।

औषध के अतिरिक्त जायफल तथा इसके तैल का उपयोग मसाले, साबुन तथा सुगंधि आदि में किया जाता है।

रासायनिक संगठन—जायफल में ५-१५% एक पतला हलके पीले रंग का उड़नशील तैल पाया जाता है जो इसमें का कार्यकारी तत्व है। इसमें २४-४०% एक स्थिर तैल भी होता है जिससे साबुन की तरह गाढा एक स्नैहिक पदार्थ प्राप्त होता है। इसे बांडा साबुन या नटमेग-बटर (Nutmeg-butter) कहते हैं। इसकी पीले रंग की साबुन की तरह बट्टियां बिकती हैं। इसके स्नैहिक अम्लों में प्रधानतया (करीब ६१%) मायरिस्टिक् एसिड (Myristic acid) रहता है। इनके अतिरिक्त जायफल में सुगंधि बालसम् , स्टार्च तथा रेशेदार पदार्थ पाये जाते हैं। इसके उड़नशील तैल में मुख्यतया यूजेनॉल (Eugenol) तथा आइसो यूजेनॉल (Iso-eugenol) पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—जायफल तथा इसका तैल सुगंधि, ग्राही, दीपन, वातानुलोमक, उत्तेजक, मादक, पौष्टिक, वाजीकर, स्तंभन, मुख दौर्गन्ध्यहर तथा वेदना स्थापन है। इसके सेवन के पश्चात आमाशयिक पाचक रसों की वृद्धि होने से भूख बढ़ती है तथा पाचन सुधरता है एवं वायु का अनुलोमन भी होता है।

अधिक मात्रा में इसका मस्तिष्क पर प्रभाव कपूर के विषैले परिणाम के सदृश होता है। गतिनियंत्रक केन्द्र की उत्तेजना से अपस्मार सदृश आक्षेप आते हैं। यह तीव्र संज्ञाहर (Narcotic) हैं तथा इससे चक्कर तथा संन्यास आदि उत्पन्न हो जाता है।

इसका प्रयोग कुपचन, अग्निमांद्य, आध्मान, अतिसार, हृल्लास, वमन, गले के रोग, कफ तथा वातविकार, हृद दौर्बल्य, क्लीबत्व, शीघ्रपतन एवं अनिद्रा आदि में किया जाता है। विरेचक औषधों के ऐंठन, मरोड आदि दुष्परिणामों को दूर करने के लिये तथा अन्य उत्तेजक एवं वातानुलोमक औषधों के निर्माण में इसके तेल का पाश्चात्य चिकित्सा में बहुत उपयोग किया जाता है।

(१) उदरशूल, अतिसार एवं बच्चों के आमातिसार आदि में इसे भूनकर नशा आने की मात्रा में देते हैं। वातानुलोमक तथा उत्तेजक गुणों के लिये इसके तैल को मिश्री के साथ खिलाते हैं। अजीर्ण में प्यास बहुत लगे तथा वमन होता हो तो इसका हिम लाभदायक होता है।

(२) अफीम के साथ अनेक स्तंभक योगों में इसका उपयोग किया जाता है।

(३) शिरःशूल, नाड़ीशूल, प्रसव कालीन कटिशूल, अंगघात तथा विपादिका में इसको जल में घिसकर लगाने से लाभ होता है। व्यंग तथा नीलिमा में इसको जल में घिसकर लगाया जाता है। मुखदुर्गंधि दूर करने के लिये इसे चबाते हैं।

(४) इसके तैल में ओलिह ऑइल मिलाकर जीर्ण आमवात में मालिश की जाती है। तैल से दंतशूल में लाभ होता है। इसका गाढा तैल वेदनाहर होता है तथा जीर्ण संधिशोथ, मोच

एवं मरोड में मालिश किया जाता है। विसूचिका में हाथ एवं पैरों की ऐठन में भी इसके मलने से लाभ होता है।

प्रतिनिधि एवं व्यामिश्रण—बंबई जायफल, रामफल या जंगली जायफल नाम से माथूरिस्टिका मलबारिका लॅम (Myristica malabarica Lam.) के फलों को लोग इसके स्थान पर व्यवहार करते हैं इसके वृक्ष कोंकण, कर्नाटक तथा उत्तर मलवार प्रान्तों में पाये जाते हैं। इससे जो पत्री निकलती है उसे रामपत्री या बंबई की जायपत्री कहते हैं। ये जंगली जायफल अधिक लंबे, कम चौड़े, किंचित् मुलायम एवं करीब २ गंधहीन होते हैं। ये जायफल की अपेक्षा हीन गुण वाले होते हैं।

कभी २ खराब जायफल तथा मिट्टी आदि मिलाकर सांचे के द्वारा बने हुवे नकली जायफल भी बाजार में बिकते हैं।

मात्रा—चूर्ण २-८ र०; तैल १-५ बूंद।

अथ जातीपत्री। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

जातीफलस्य त्वक् प्रोक्ता जातीपत्री भिषग्वरैः ॥ ५६ ॥
जातीपत्री लघुः स्वादुः कटुष्णा रुचिवर्णकृत्। कफकासवमिश्वासतृष्णाकृमिविषापहा ॥५७॥

जावित्री के नाम तथा गुण—वैद्यों में जो श्रेष्ठ हैं वे लोग 'जायफल' के छिल्के को ही 'जावित्री' कहते हैं। जातीपत्री या जातिपत्री और जातिकोष आदि संस्कृत नाम 'जावित्री' के हैं। जावित्री-लघु, स्वादिष्ट, कटुरसयुक्त, उष्णवीर्य, रुचिजनक तथा वर्णकारक होती है एवम् यह कफ, खांसी, वमन, श्वास, तृष्णा, कृमि और विषविकार इन सबों को दूर करने वाली भी होती है॥

२१ जावित्री

हि०—जावित्री, जायपत्री। **बं०**—जायित्री, जैत्री। **म०**—जायपत्री। **गु०**—जावंत्री। **क०**—जायपत्री। **ते०**—जातिपत्री। **फा०**—बज्वाज। **अ०**—बस्बास (सः)। **अं०**—Mace (मेस)। **ले०**—*Myristica fragrans Houtt* (मायरिस्टिका फ्रॅग्रेन्स हाउट)। Fam. Myristicaceae (मायरिस्टिकॅसी)।

जिस वृक्ष से जायफल उत्पन्न होता है उसी से जावित्री भी उत्पन्न होती है। इस वृक्ष के वास्तविक फल के भीतर के बीज (जायफल) से लिपटा हुआ लालरङ्ग का जालीदार जो वेष्टन दिखाई देता है वही जावित्री है। अन्य वानस्पतिक वर्णन जायफल के साथ पहले किया जा चुका है।

रासायनिक संगठन—इसमें जायफल की तरह ही एक उड़नशील तैल ८-१७% पाया जाता है। इसके अतिरिक्त स्थिर तैल, राल, वसा, शर्करा, डेक्स्ट्रीन एवं गोंद आदि पदार्थ इसमें होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके गुण जायफल के समान होते हैं। यह दीपन, पाचन, वातानुलोमक, कफहर, रूचिकर, वर्ण्य एवं वृष्य है।

इसका उपयोग कास, कफयुक्त श्वास, क्षयरोग, मन्दज्वर, वमन, आंतों के जीर्ण विकार, विसूचिका एवं कृमि आदि में किया जाता है।

मात्रा— २-८ र०।

अथ लवङ्गम् । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

लवङ्गं देवकुसुमं श्रीसंज्ञं श्रीप्रसूनकम् । लवङ्गं कटुकं तिक्तं लघु नेत्रहितं हिमम् ॥ ५८ ॥
दीपनं पाचनं रुच्यं कफपित्तास्रनाशकृत् । तृष्णां छर्दिं तथाऽऽध्मानं शूलमाशु विनाशयेत् ।
कासं श्वासञ्च हिक्काञ्च क्षयं क्षपयति ध्रुवम् ॥ ५९ ॥

लौंग के नाम तथा गुण—लवङ्ग, देवकुसुम, श्रीसंज्ञ (लक्ष्मीवाचक सम्पूर्ण शब्द लवङ्गवाचक हैं) और श्रीप्रसूनक ये सब 'लौंग' के संस्कृत नाम हैं । लौंग— कटु तथा तिक्त रस युक्त, लघु, नेत्र के लिये हितकर, शीतवीर्य, अग्नि को दीप्त करने वाली, पाचक एवम् रुचिकारक होती है तथा कफ, पित्त, रक्तविकार, तृषा, वमन, आध्मान, शूल, कास, श्वास, हिचकी एवम् क्षय इन सब रोगों को प्रायः शीघ्र तथा निश्चय दूर करती है ॥ ५८–५९ ॥

लौंग

हि०–लौंग, लौंग, लवंग । बं०, म०–लवग । गु०–लवींग । क०–लवंग कलिका, रूंग । ते०–करवप्पु, लवंगमु । ता०–किरांबु । मा०–लौंग । फा०–मेखक । अ०–करन्फल, करन्फूल । अं०–Cloves (क्लोव्स) । ले०–*Caryophyllus aromaticus Linn.* (कॅरियोफालस् एरोमॅटिकस् लिन.); *Eugenia aromatica Kuntze* (यूजेनिया एरोमॅटिका कुंझे); *Syzygium aromaticum (Linn.) Merr. & L. M. Perry* (सिझिगियन् एरोमॅटिकम् (लिन.) मेर. पेरी) । Fam. Myrtaceae (मिर्टेसी) ।

इसका वृक्ष मोलूक्का द्वीप में नैसर्गिक रूप से उत्पन्न होता है । झंजिवार तथा पेम्बा में इसकी बहुत खेती की जाती है तथा करीब ९०% लौंग की पूर्ति वहीं से होती है । पेनांग, मेडागास्कर, मॉरिशस् एवं सीलोन आदि स्थानों में भी इसकी खेती की जाती है । भारतवर्ष में दक्षिण भारत में अल्प मात्रा में इसकी खेती का प्रयत्न किया गया है । इसके वृक्ष-प्रायः १२–१३ हाथ ऊँचे और सतेज होते हैं तथा देखने में बहुत सुहावने लगते हैं । काण्ड-इसकी लकड़ी कठोर होती है तथा इस पर धूसर वर्ण की चिकनी छाल होती है । पत्ते-अभिमुख, सवृन्त, ४ इञ्च लम्बे, २ इञ्च चौड़े, लट्वाकार–आयताकार; फलकमूल एव अग्र दोनों पतले एवं लम्बे; पत्रतट अखण्ड किन्तु लहरदार एवं मध्य नाडी के दोनों तरफ अनेक समानान्तर नाडियाँ होती हैं । पत्ते चमकीले हरे रंग के होते हैं तथा मसलने से इनमें सुगन्ध आती है । पुष्प-हलके नीलारुण (Purple) रंग के, ६ मि० मि० लम्बे तथा अत्यन्त तीव्र आह्लादकारक सुगन्ध वाले होते हैं ।

इस वृक्ष की सुखी हुई पुष्प कलिकाओं को लौंग कहा जाता है । ये पहले हरी होती हैं । बाद में जब इनका रंग किरमिजी हो जाता है तब इन्हें वृक्षों से तोड़कर सुखा लिया जाता है । इसी समय इनमें तैल की मात्रा अधिकतम रहती है । लौंग १०–१७·५ मि० मि० लम्बी तथा रक्ताभ बादामी रंग की होती है । इसके नीचे का भाग जो हाइपॅन्थियम् (Hypanthium) से बना होता है वह चौकोर तथा कुछ चपटा होता है तथा नख से दबाने पर उसमें से तेल निकलता है एवं इसके अग्र भाग में दो कोष रहते हैं जिनके अन्दर अक्षलग्न जरायु से लगे हुए अनेक बीजीभव (Ovule) होते हैं । लौंग के ऊपर के भाग में मोटे, नुकीले तथा फैले हुए ४ बाह्यदल होते हैं जिनके बीच में गुम्बजाकृति हलके रंग के, न फैले हुए, पतले तथा अनियतारूढ़ (Imbricate) ४ अन्तर्दल होते हैं । अन्तर्दलों के अन्दर अनेक अन्दर की तरफ मुड़े हुए पुंकेशर होते हैं तथा एक स्त्री केशर होता है जिसका कुक्षिवृन्त सीधा तथा कड़ा होता है । लौंग में अत्यन्त तीव्र मसालेदार गन्ध होती है तथा इसका स्वाद कटु होता है ।

रासायनिक संगठन—इसमें १५-२०% एक उड़नशील तैल पाया जाता है जिसमें ८५-९२% यूजेनॉल (Eugenol, $C_{10} H_{12} O_2$) रहता है। इसके अतिरिक्त लौंग में टॅनिन् (गॅलोटॅनिक् ॲसिड् १३%) एवं फाइटोस्टेराल सदृश एक कॅरियोफाइलीन् (Caryophyllene) नामक गन्धहीन, स्वादरहित, रंगहीन रवेदार पदार्थ पाया जाता है।

लौंग के तेल में फेनॉल के समान यूजेनॉल नामक एक महत्त्व का पदार्थ रहता है। इसके अतिरिक्त तैल में ॲसिटिल् यूजेनॉल (Acetyl eugenol 10%), मेथिल् सॅलिसिलेट (Methyl salicylate , मेथिलॲमिलकीटोन् (Methylamylketone, $C_5 H_{11} C OCH_3$); ह्वॅनिलिन् (Vanillin), कॅरियोफाइलीन् (Caryophyllene) तथा फर्फ्यूरॉल् (Furfurol, $C_5 H_4 O_2$) ये पदार्थ पाये जाते हैं। यह तैल ताजी अवस्था में रंगहीन या हलके पीले रंग का होता है लेकिन वह पुराना होने पर या खुला रखने पर गहरे रक्ताभ बादामी रंग का हो जाता है।

गुण और प्रयोग—लौंग सुगन्धि, पाचक, वातानुलोमक, उत्तेजक, अग्निदीपक, उद्वेष्टननिरोधि, कफघ्न, मूत्रजनन, रुचिकर, दुर्गन्धनाशक, श्वेतकणवर्धक, वृष्य एवं कृमिघ्न है। यह स्थानिक वेदनाहर, व्रणरोपक एवं व्रणशोधक है।

इसका उपयोग उदरशूल, आध्मान, अजीर्ण, कास, तृष्णा, वमन, विसूचिका, क्षय तथा सुगन्धि पदार्थ के रूप में मसाले आदि में किया जाता है।

(१) लौंग के फांट (४० में १) को १ से २ तोला की मात्रा में विसूचिका में प्यास की शान्ति के लिये देते हैं। इससे जी मिचलाना भी कम होता है तथा वमन कम हो जाता है। गर्भिणी-वमन में इसके चूर्ण को मधु के साथ चटाया जाता है।

(२) अजीर्ण, आध्मान एवं उदरशूल आदि में इसका फांट या चूर्ण खिलाया जाता है।

(३) गले की सूजन, कुकास, कास, मुख एवं श्वास की दुर्गन्ध तथा जीमिचलाना आदि में लौंग दिये पर भून कर या उसी तरह मुख में रख कर चूसते हैं। इससे मसूड़े मजबूत होते हैं।

(४) प्रतिश्याय एवं मस्तकशूल में लौंग को गरम जल में घिस कर ललाट पर लगाते हैं।

लौंग का तैल—इसके गुण भी लौंग के समान ही होते हैं। इसका उत्सर्ग वृक्क, चर्म, श्वसनसंस्थान, आंत्र तथा यकृत् आदि से होता है। चरक-सुश्रुत में इसका उल्लेख नहीं मिलता। सिगरेट के लिये प्रयुक्त तम्बाकू को सुगन्धित करने के लिये जावा, सुमात्रा तथा जापान आदि स्थानों में इसका उपयोग किया जाता है। अनेक औषधों को सुगन्धित करने के लिये तथा विरेचक औषधों के साथ मरोड़ आदि न हो इसलिये इसका उपयोग करते हैं। मच्छर भगाने के लिये सोते समय इसे थोड़ा सा खुले अङ्गों पर लगा देने से मच्छर नहीं काटते। तैलों को सुगन्धित करने के लिये तथा पदार्थ संरक्षण के लिये इसका प्रयोग किया जाता है।

इसका बाह्य प्रभाव कपूर के सदृश होता है। यह स्थानिक उत्तेजक, त्वग्रागकारक, प्रतिक्षोभक, अल्पवेदनाहर, कृमिघ्न, सड़न को रोकने वाला एवं प्रतिदूषक है।

(१) मिश्री पर डाल कर या गोंद के साथ मिश्रण के रूप में इसको आन्त्रिकशूल तथा आध्मान में खिलाते हैं

(२) क्षयजकास में कफ कम करने के लिये इसको खिलाते हैं।

(३) दन्तशूल में दांत के गढ़े में इसका फाहा रखने से बहुत लाभ होता है। सन्धिपीडा, गृध्रसी, कटिशूल एवं वातनाडीशूल आदि में इसको लगाया जाता है। तिलाओं में इसका प्रयोग किया जाता है।

प्रतिनिधि तथा व्यामिश्रण—बाजार में तैल निकाली हुई लौंग भी बिकती है। इसे नख से दबाने पर तैल नहीं निकलता तथा उबले जल में डालने पर यह तैरती है एवं इसका रंग भी कुछ हलका रहता है। लौंग के चूर्ण में डंठल के टुकड़े का चूर्ण मिला दिया जाता है। लौंग के पक्व फल भी मदरक्लोव्हस (Mother cloves) नाम से बिकते हैं लेकिन उनमें तैल बहुत कम रहता है तथा उनके बीज में रहने वाले बड़े स्टार्च के कण से इनकी पहचान की जा सकती है। टूटे हुए पुंकेसर, अन्तर्दल एवं विकसित फूल जिनके पुंकेसर एवं अन्तर्दल निकाल लिये गये हों इनका मिश्रण लौंग के चूर्ण में व्यापारी कर देते हैं। लौंग में १५% से कम तैल नहीं होना चाहिये।

मात्रा—चूर्ण १–२½ रत्ती; तैल १–३ बूंद।

अथ स्थूलैला (बड़ी इलायची) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

एला स्थूला च बहुला पृथ्वीका त्रिपुटाऽपि च ॥ ६० ॥
भद्रैला बृहदेला च चन्द्रबाला च निष्कुटिः। स्थूलैला कटुका पाके रसे चानलकृल्लघुः[1] ॥
रूक्षोष्णा श्लेष्मपित्तास्रकण्डूश्वासतृषाऽपहा। हृल्लासविषबस्त्यास्यशिरोरुग्वमिकासनुत् ॥६२॥

बड़ी इलायची के नाम तथा गुण—एला, स्थूला, बहुला, पृथ्वीका, त्रिपुटा, भद्रैला, बृहदेला, चन्द्रबाला, निष्कुटि तथा स्थूलैला ये सब संस्कृत नाम 'बड़ी इलायची' के हैं। बड़ी इलायची–पाक तथा रस (स्वाद) में कटु होती है एवं अग्निजनक, लघु, रूक्ष और उष्णवीर्य होती हैं। यह कफ, पित्त, रक्तविकार, कण्डू (खुजली), श्वास, तृषा, हृल्लास (वमन मालूम पड़ना अर्थात् जीमिचलाना), विष एवं बस्ति, मुख तथा शिर सम्बन्धी रोग, वमन तथा खासी को दूर करने वाली होती है ॥ ६०–६२ ॥

२३ बड़ी इलायची

हि०–बड़ी इलायची, पूर्वी इलायची, लाल इलायची। बं०–बड़ा इलाची। म०–मोठी एलची, मोठे वेलदोड़े। गु०–एलचा, मोटी एलची। ते०–पेद्दायेलाकी। ता०–पेरेलम, पेरिय एलके। क०–डोड्डु एलाकी। फा०–हीलकलाँ। अ०–काकुले कुबार, काकुले जंजी। अं०–Nepal or Greater Cardamom (नेपाल या ग्रेटर कार्डेमोम्); Amomum (ॲमोमम्)। ले०–*Amomum subulatum Roxb.* (एमोमम् सबुलॅटम् राक्स)। Fam. Zingiberaceae (झिंजिबेरॅसी)।

इसकी खेती नेपाल, बंगाल, सिक्किम तथा आसाम के पहाड़ी मार्गों के पास में गीली भूमि में की जाती है।

इसका क्षुप–आमा हलदी के समान होता है और उसकी जड़ के नीचे कन्द रहता है। पत्रदण्ड–३–४ फुट ऊँचा होता है। पत्ते–१–२ फुट लम्बे, ३–४ इञ्च चौड़े, आयताकार-भालाकार, हरे एवं चिकने होते हैं। फूल–अवृन्तकाण्डज व्यूहों (Spike) में नलिकाकार सफेद रङ्ग के आते हैं। फल–किञ्चित् लम्बाई लिये गोल, १ इञ्च तक लम्बे तथा लाल भूरे रङ्ग के होते हैं। बीज–शर्करायुक्त गाढे गूदे के कारण आपस में चिपके हुए अनेक बीज प्रत्येक कोष में होते हैं।

---

१. 'चानिलकृल्लघुः' इति पाठा० अशुद्धम्।

बड़ी इलायची की बहुत-सी उपजातियाँ भारतवर्ष में पाई जाती हैं जिनमें से (ले०) अमोमम् ॲरोमॅटिकम् राक्स (Amomum aromaticum Roxb.); हिं०, बं०-**मोरंग इलायची** पूर्वी बंगाल तथा आसाम के आस-पास बहुत उत्पन्न होती है। यह बंगाल कार्डेमोम् (Bengal Cardamom) नाम से भी कही जाती है। हिमालय की तराई में आसाम तथा बंगाल के आर्द्र प्रदेशों में इसकी खेती की जाती है। इसके **क्षुप**-के २-३ फीट लम्बे काण्ड, राइझोम से एक साथ गुच्छों में निकलते हैं। **पुष्प**-हलके पीले रग के अवृन्तकाण्डज व्यूहों में निकलते हैं। **फल**-अभि-अण्डाकार या लट्वाकार करीब बड़े जायफल के इतने बड़े कुछ खुरदरे तथा ३ हिस्सों में विभक्त होते हैं। **बीज**-प्रत्येक कोष में अनेक तथा करीब ३ मि० मि० लम्बे होते हैं।

रासायनिक संगठन—बड़ी इलायची में एक हलके पीले रंग का उडनशील तैल पाया जाता है। इस तैल में सिनिओल् (Cineol) नामक पदार्थ बहुत रहता है।

गुण और प्रयोग—यह किंचित् उष्ण, पाचक, सुगन्धि, उत्तेजक एवं वातानुलोमक है। इसके गुण छोटी इलायची के सदृश हैं तथा उसके प्रतिनिधि रूप में इसका व्यवहार किया जाता है। प्राचीन ग्रन्थों में बड़ी एला का बहुत कम प्रयोग किया गया है। इलायची के स्थान में हमेशा छोटी इलायची का ही प्रयोग करना चाहिये जबतक कि विशेष रूप से बड़ी इलायची के लेने का निर्देश न हो। अनेक कड़वी, उत्तेजक तथा विरेचक औषधों के साथ इसका उपयोग किया जाता है। इसके तैल का उपयोग सुगन्ध के लिये करते हैं।

मन्दाग्नि, आध्मान, शूल, अतिसार, यकृत्शोथ तथा मूत्रकृच्छ्र में इसका उपयोग किया जाता है।

(१) दाँत तथा मसूढ़ों के विकारों में इसके क्वाथ से कुल्ला कराया जाता है।

(२) पचन संस्थान के कुछ विकारों में जिनमें आन्त्रिक स्राव गाढ़े तथा कम हो जाते हैं इसको ५ र० की मात्रा में खिलाते हैं। इससे पित्त का स्राव ठीक होकर यकृत्शोथ कम होता है।

(३) मूत्रल औषध के रूप में अश्मरी में इसको खरबूजे के बीज के साथ खिलाते हैं।

(४) नाडीशूल में २ माशे की मात्रा में इसको किनीन के साथ देने से लाभ होता है।

मात्रा—५-१५ र०।

अथैला (गुजराती इलायची)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

सूक्ष्मोपकुञ्चिका तुत्था कोरङ्गी द्राविडी त्रुटिः। एला सूक्ष्मा कफश्वासकासार्शोमूत्रकृच्छ्रहृत्।
रसे तु कटुका शीता लघ्वी वातहरी मता॥ ६२॥

छोटी इलायची (गुजराती इलायची) के नाम तथा गुण—सूक्ष्मा, उपकुञ्चिका, तुत्था, कोरङ्गी, द्राविडी, त्रुटि तथा सूक्ष्मैला ये सब 'छोटी इलायची' के संस्कृत नाम हैं।

छोटी इलायची—कफ, श्वास, कास, अर्श (बवासीर) और मूत्रकृच्छ्र इन सब रोगों को दूर करने वाली होती है तथा कटु रसयुक्त, शीतवीर्य, लघु एवं वातनाशक होती है॥ ६२॥

२४ छोटी इलायची

हिं०—छोटी इलायची, गुजराती इलायची, चौहरा इलायची, सफेद इलायची। **बं०**—छोट इलायच। **गु०**—एलची कागदी, एलची, मलबारी एलची। **म०**—बारीक वेलदोड़े, एलची। **ते०**-

एलाक्कि। ता०-एलाक्के, चिन्न एलं। मा०-छोटी इलायची। क०-एलाक्कि। फा०-हीलबवा, हील, खैरबवा, इलायची खुर्द, हीलउन्सा। अ०-काकुलह सिगार, ख़ूशमीर। अं०-Cardamom Fruit (कार्डेमोम् फ्रूट); Lesser Cardamom (लेसर कार्डेमोम्)। ले०-*Elettaria cardamomum Maton* (इलेट्टेरिआ कार्डेमोमम् मेटन)। Fam. Zingiberaceae झिंजीबेरेसी)।

यह पश्चिम तथा दक्षिण भारत में, कनारा, मैसूर, कुर्ग, वैनाड, ट्रावंकोर तथा कोचीन में आर्द्र पहाड़ी जंगलों में उत्पन्न होती है। सीलोन तथा दक्षिणी प्रायःद्वीप के चाय, कॉफी एवं रबर के बगानों में इसकी खेती की जाती है। बर्मा के जंगलों में भी यह उत्पन्न होती है।

इसका क्षुप-अदरख के क्षुप के समान तथा बहुवर्षायु होता है और इसकी जड़ के नीचे मोटा, मांसल तथा अनुप्रस्थ फैला हुआ राइझोम (भौमिक काण्ड) रहता है। राइझोम से ८-२० की संख्या में सीधे, चिकने, हरे रंग के चमकीले तथा ६-९ फीट ऊँचे काण्ड निकलते रहते हैं जिन पर एकान्तरित पत्र लगे होते हैं। पत्ते-१-२ फुट लम्बे, ३ इञ्च तक चौड़े, आयताकार-भालाकार तथा कोषाकार होते हैं। पुष्पदण्ड-कांड के आधार भाग से १-२ फीट लम्बा पुष्पदण्ड निकला रहता है जो जमीन पर फैला रहता है। पुष्प-पुष्पव्यूहों में तथा किंचित् नील लोहिताभ वर्णयुक्त छोटे-छोटे होते हैं। पंखड़ियों के ओष्ठ श्वेत होते हैं। फल-हलके पीले या हरिताभ पीत रङ्ग के, १-२ से० मि० लम्बे, अण्डाकार, बड़े फल कुछ तिकोने, ३ कोषवाले, अनेक महीन खड़ी धारियों से युक्त सामान्य स्फोटी फल (Capsule) होते हैं जिनका स्फुटन पार्श्विक सन्धियों (Loculicidal) पर होता है। बीज-फलों के अन्दर अनेक छोटेबीज होते हैं जो प्रत्येक कोष में दो-दो कतारों में एवं अक्षलग्न जरायु से लगे हुए एक साथ रहते हैं। यह हलके या गहरे रक्ताभ भूरे रङ्ग के, ४ मि० मि० लम्बे, ३ मि० मि० चौड़े, अनियमित कोण युक्त, कड़े एवं ६-८ आड़ी झुर्रियों (Rugae-रूगी) से युक्त होते हैं। प्रत्येक बीज महीन वर्णहीन आवरण (Aril -ॲरिल्) से युक्त रहता है। इसका स्वाद कुछ कटु तथा शीतल एवं गन्ध मनोहर होती है। इलायची के प्रयोग के समय ही उसके बीजों को निकालना चाहिये। निकाल कर रखे हुए बीज खराब हो जाते हैं।

भेद-(१) मैसूरी इलायची ही अधिकतर बिकती है। यह अण्डाकार, १०-२० मि० मि० लम्बी,हलके क्रीम के रंग की, करीब-करीब चिकनी तथा मजबूत रहती है। यह मलाबारी इलायची की अपेक्षा अधिक टिकाऊ रहती है।

(२) मलबारी इलायची कुछ छोटी, कम चौड़ी, भरी हुई एवं लम्बाई में झुर्रीदार रहती है।

(३) मंगलोरी इलायची, मलबारी इलायची की ही तरह होती है किन्तु यह गोल, बड़ी तथा इसकी सतह खुरदरी होती है।

(४) अलेप्पी इलायची, मलबारी इलायची की ही सदृश किन्तु हरी या हरिताभ पीत रङ्ग की रहती हैं।

रासायनिक संगठन—छोटी इलायची के बीजों में ३-८% एक उड़नशील तैल पाया जाता है जिसमें प्रधान रूप में टर्पीनिन् (Terpinene) एवं टर्पिनिओल् (Terpineol) रहते हैं। इसमें टर्पिनिल् ॲसिटेट (Terpinyl acetate) एवं अल्प मात्रा में सीनिओल् (Cineol) भी पाये जाते जाते हैं। उड़नशील तैल के अतिरिक्त बीजों में ३-४% स्टार्च, नाइट्रोजन युक्त गोंद एवं पीत रञ्जक द्रव्य पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—छोटी इलायची दीपन, पाचन, रोचन, मूत्रल, वातानुलोमक, उत्तेजक एवं सुगन्धि है। अन्य सुगन्धि पदार्थों के साथ वातानुलोमक औषधों में तथा विरेचक औषधों के साथ मरोड़ न हो इसलिये इसका उपयोग किया जाता है। पाश्चात्य चिकित्सा में जीरा, दालचीनी,

कोचीनेल (इद्रगोप) एवं ग्लीसरीन के साथ छोटी इलायची का बना हुआ मद्यसारीय टिंक्चर औषधों को सुगन्धित एवं रंजित करने के लिये बहुत व्यवहार में लाया जाता है।

छोटी इलायची का उपयोग श्वास, कास, क्षय, अर्श, मूत्रकृच्छ्र, अजीर्ण, अतिसार, आध्मान एवं उदर शूल में किया जाता है।

(१) पचन नलिका के शिथिलता प्रधान रोगों में तथा दाहयुक्त रोगों में इसका बहुत प्रयोग किया जाता है। आंत्रिक रस की उत्पत्ति कम होती हो तथा पित्त का उचित रूप से स्राव न होता हो ऐसी अवस्थाओं के लिये यह अमूल्य औषध है। वमन तथा हृल्लास में इसका फांट पिलाते हैं। उदर शूल, आध्मान एवं मरोड आदि में इलायची २ ड्राम, धनियां २ ड्राम, दालचीनी ४ ड्राम, मुनक्का १ औंस, रक्त चन्दन २ ड्राम एवं मद्यसार (४५%) १ पांइट इसका टिंक्चर २-८ बूंद देने से बहुत लाभ होता है। केले के अजीर्ण में इलायची का उपयोग किया जाता है। आंव तथा प्रवाहिका में मक्खन के साथ इसका चूर्ण खिलाया जाता है। यकृत् शोथ में ५ र० की मात्रा में इससे बहुत लाभ होता है।

(२) वृक्क के पीडायुक्त विकारों में खरबूजे के बीज के साथ इसे खिलाते हैं। इससे मूत्र की मात्रा बढ़ती है। सोजाक में तथा वाजीकरण के लिये इसका प्रयोग किया जाता है। मूत्रकृच्छ्र में आंवले के रस के साथ या दही के पानी के साथ इसका चूर्ण लाभदायक होता है।

(३) नेत्र रोगों में इसके सूक्ष्म चूर्ण को बकरी के मूत्र की भावना देकर अञ्जन कराया जाता है।

(४) हृदय की धड़कन में पिप्पलीमूल के साथ इसको घी में मिला कर खिलाते हैं। गुल्म में भी इससे लाभ होता है।

(५) नाडीशूल में १५ र० की मात्रा में छोटी इलायची का चूर्ण थोड़ी सी किनीन के साथ मिला कर देने से बहुत लाभ होता है। मस्तिष्क तथा वातनाड़ियों की थकावट में यह लाभदायक होती है।

(६) चक्कर आते हों तो छिलके सहित इसका क्वाथ गुड़ मिला कर पिलाया जाता है।

प्रतिनिधि तथा व्यामिश्रण—लंका से आने वाली एक जंगली छोटी इलायची होती है जो कुछ लम्बी, सिकुड़ी हुई एवं गहरे धूसरित भूरे रंग की होती है। इसके बीजों में करीब ४ झुर्रियां होती हैं। एक अन्य ॲमोमम् केपुलेगा स्प्रेग, बर्कि (Amomum kepulaga Sprague & Burkill) नामक क्षुप से प्राप्त इलायची के बीजों में कपूर की तरह स्वाद रहता है तथा उसमें करीब १४ खण्डित झुर्रियां रहती हैं।

इसमें बूरा लगी हुई, अपक्व, कीड़ों द्वारा खाई हुई एवं फटी हुई इलायची का व्यामिश्रण रहता है।

मात्रा—चूर्ण ५-१५ रत्ती।

अथ त्वक्पत्रम् (तज)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

त्वक्पत्रञ्च वराङ्गं स्याद् भृङ्गं चोचं तथोत्कटम्। त्वचं लघूष्णं कटुकं स्वादु तिक्तञ्च रूक्षकम्॥
पित्तलं कफवातघ्नं कण्डूवामारुचिनाशनम्। हृद्वस्तिरोगवातार्शःकृमिपीनसशुक्रहृत्॥ ६५॥

तज के नाम तथा गुणः—त्वक्पत्र, वराङ्ग, भृङ्ग, चोच, उत्कट और त्वच ये सब 'तज' के संस्कृत नाम हैं। तज–लघु, उष्णवीर्य, कटु तथा तिक्त रस युक्त, स्वादिष्ट और रूक्ष होती है एवं

यह पित्त उत्पन्न करने वाली, कफ तथा वात को दूर करने वाली, खुजली, आम, अरुचि, हृद्रोग, वस्तिसम्बन्धी रोग, वात, अर्श, कृमि पीनस तथा शुक्र का भी नाश करने वाली होती है ॥६४-६५॥

तज—दालचीनी का ही एक भेद है। दालचीनी के अनेक जातियों के वृक्ष पाये जाते हैं। लंका से आने वाली दालचीनी पतली छाल वाली होती है जो सबसे अच्छी होती है। इसके वृक्ष को (ले.) सिनेमोमम् झेलॅनिकम् कहते हैं। उसका वर्णन आगे स्वतंत्र किया गया है। एक दालचीनी चीन देश से आती है जिसके वृक्ष को (ले.) सिनेमोमम् कॅशिआ कहा जाता है। इसी के जाति का एक वृक्ष भारतवर्ष में पाया जाता है जिसे (ले.) सिनेमोमम् तमाल कहते हैं। इसी की छाल को कुछ लोग तज कहते हैं तथा इसके पत्तों को तमालपत्र (तेजपत्र) कहते हैं। इसको कहीं-कहीं दालचीनी नाम से ही या असली सिगापुरी दालचीनी में मिलावट करके बेचते हैं क्योंकि सिगापुरी दालचीनी बहुत मंहगी होने के कारण बजार में कम आती है। इसके अनेक जाति के वृक्ष होने के कारण भिन्न-भिन्न लेखकों ने दालचीनी, तज तथा तमालपत्र इनके लेटिन नाम अलग-अलग दिये हैं। प्रायः मोटी छाल को तज एवं पतली छाल को दालचीनी कहा जाता है। तेजपत्र और तज एक ही वृक्ष के छाल और पत्र हैं। कुछ इन्हें अलग-अलग वृक्षों के मानते हैं। यहां पर वर्णन चीनी दालचीनी का किया जा रहा है। तेजपत्र तथा असली दालचीनी का आगे स्वतंत्र वर्णन किया गया है। कुछ लोग मोटी जाति की तज को **नालुका** नाम से भी बेचते हैं जिसका लेपादि में बहुत व्यवहार किया जाता है।

२५ तज

हि०, गु०, उर्दू—तज। **बं०**-दालचीनी। **म०, उडिया**-दालचीनी। **पं०**-लुरुण्डु। **ता०, मल०**-लवंगपत्ते। **अं०**-Cassia cinnamon (कॅशिआ सिनॅमोन्), Chinese cassia (चाइनीज कॅशिआ)। **ले०**-*Cinnamomum cassia, Blume* (सिनॅमोमम् कॅशिआ, ब्लूम)। Fam. Lauraceae (लॉरेसी)।

चीन एवं बर्मा में अवा नामक स्थान में इसकी खेती की जाती है।

इसका वृक्ष चिकना तथा सदाहरित होता है। **पत्ते**-आयताकार-भालाकार या भालाकार, पतले ६-८ मि. मि. लम्बे पर्णवृन्त से युक्त, तीन नाडियों से युक्त, फलक मूल की तरफ कुछ संकुचित होते हुये, ३-४ इञ्च लम्बे, लम्बाग्र युक्त, चर्मवत एवं अस्पष्ट नाडीजाल से युक्त होते हैं। **पुष्प**-छोटे तथा परिपुष्प (Perianth) के बराबर या कुछ अधिक लम्बे तथा पतले पुष्पवृन्त (Pedicle) से युक्त, बहुवर्ध्यक्ष सवृन्तकाण्डज पुष्पव्यूहों में, पत्र के अक्ष में या छोटी शाखाओं के अन्त में रहते हैं। परिपुष्प करीब ३ मि. मि. लम्बे तथा कुछ सिल्क के समान रहते हैं जिनके दल (पंखुडियां) आयताकार भालाकार होते हैं। **फल**-मटर के बराबर, चिकने, अण्डाकार एवं रसदार अष्ठिफल (Drupes) होते हैं। परिपुष्पासन बहुत बढ़ा हुआ नहीं होता तथा वह ६ खण्डों में विभक्त रहता है जिनके अग्र कटे हुये मालूम पड़ते हैं या प्रायः खण्ड पूर्ण रूप में स्थायी रहते हैं। इसके काण्ड की सूखी हुई छाल को **चीनी दालचीनी** कहते हैं। यह २-४० से. मि. लम्बी तथा मुडी होती है। बाहर से यह हलके धूसर भूरे रंग की, करीब-करीब चिकनी तथा कुछ आडी झुर्रियों से युक्त रहती है। अन्दर से यह रक्ताभ भूरे रंग की एवं रेशेदार होती है। इसे तोड़ने से भग्न छोटा तथा असम होता है। इसकी गन्ध मनोहर एवं स्वाद उष्ण, मधुर तथा सुगन्धि रहता है।

रासायनिक संगठन—इसमें ०·८% उड़नशील तैल, ४% राल, १४·६% गोंद युक्त निस्सार (टैनिन सहित), ६४·३% लिगनिन (Lignin) तथा बॅस्सोरिन (Bassorin), १६·३% जल एवं रंजक द्रव्य ये पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—चीनी दालचीनी बहुत ही आल्हादकारक एवं फलप्रद सुगन्धि द्रव्यों में से है। यह उष्ण, आमाशय के लिये उत्तेजक, वातानुलोमक एवं ग्राही है।

यह सार्वदेहिक उत्तेजक की अपेक्षा स्थानिक उत्तेजक है। यद्यपि इसका स्वतंत्र प्रयोग कम किया जाता है तथापि इसके फांट या चूर्ण से हृल्लास दूर होता है तथा आध्मान में लाभ होता है। अतिसार में अन्य ग्राही औषधों के साथ तथा अन्य अनेक मिश्रणों में सहायक द्रव्य के रूप में इसका व्यवहार किया जाता है।

मात्रा—२½—१० र०।

अथ दारुसिता (दालचीनी)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

त्वक्स्वाद्वी तु तनुत्वक्यस्यात्तथा दारुसिता मता ॥ ६६ ॥
उक्ता दारुसिता स्वाद्वी तिक्ताचनिलपित्तहृत्।
सुरभिः शुक्रलाबल्या[1] मुखशोषतृषापहा ॥ ६७ ॥

दालचीनी के नाम तथा गुण—त्वक्, स्वाद्वी, किंवा त्वक्स्वाद्वी, तनुत्वक् तथा दारुसिता ये सब 'दालचीनी' के संस्कृत नाम हैं। दालचीनी-स्वादिष्ट, तिक्तरसयुक्त, वातपित्तनाशक, सुगन्धयुक्त, शुक्रजनक, बलकारक, ('वर्ण्या' पाठान्तर में-शरीर के रङ्ग को सुन्दर करने वाली), मुखशोष तथा तृषा को दूर करने वाली होती है ॥ ६६-६७ ॥

२६ दालचीनी

हि०-दालचीनी, दारचीनी। बं०-दारुचीनी। म०-दालचीनी। गु०-तज। ते०, मल०-लवंग पत्तै। ता०-कन्नलवंग पत्तै। अ०-दारसीनी, किर्फा। फा०-दारचीनी। अं०-Cinnamon Bark (सिनॅमोन् बार्क)। ले०-*Cinnamomum Zeylanicum Blume* (सिन्नॅमोमन् झेलॅनिकन्, ब्लूम)। Fam. Lauraceae (लॉरेसी)।

इसके वृक्ष लंका तथा दक्षिणी भारत में पाये जाते हैं। लंका, दक्षिण भारत, मार्टिनिक्यू, कैन्ने, जमइका, ब्राझील तथा सेचिलीस में इसकी खेती की जाती है।

इसका वृक्ष-साधारण ऊंचाई का एवं सदा हरित होता है। छाल-कुछ मोटी, चिकनी तथा हलके रंग की होती है। छोटी शाखाएं कुछ दबी हुई एवं नये भाग चिकने रहते हैं किन्तु कलिकाएं महीन सिल्क की तरह रहती हैं। पत्ते-प्रायः विपरीत, कड़े तथा चर्मवत, ३-८ इञ्च लम्बे, १॥-३ इञ्च चौड़े, लट्वाकार या लट्वाकार-भालाकार, नुकीले अग्रयुक्त. चिकने, ऊपर से चमकीले किन्तु नीचे से कुछ हलके एवं फलकमूल की तरफ तीक्ष्ण या गोलाई लिये हुए होते हैं। नाडियां-३-५ प्रधान नाड़ियां रहती हैं जिनके बीच महीन जालीदार नाडियां रहती हैं। पर्णवृन्त-½-१ इञ्च लंबा तथा ऊपर से चपटा रहता है। पुष्प-बहुत एवं प्रायः पत्तों से लंबे सवृन्तकाण्डज पुष्पव्यूहों में जो सिल्क की तरह मृदुरोमश होते हैं। पुष्पदंड (Peduncle) लंबे, प्रायः एक साथ गुच्छों में, चिकने या मृदुरोमश एवं पुष्पवृन्त (Pedicle) लम्बे होते हैं। परिपुष्प ५-६ मि० मि० लंबे; नलिका १ इञ्च लम्बी एवं दल मृदुरोमश, आयताकार या कुछ अभि-लट्वाकार, एवं प्रायः कुण्ठिताग्र रहते हैं। फल-१.३-१.७ से० मि० लंबे, आयताकार या लट्वाकार-आयताकार, शुष्क या किंचित मांसल, गहरे बैंगनी रंग के एवं ८ मि० मि० व्यास के संवृद्ध घंटिकाकार परिपुष्प से घिरे हुये रहते हैं।

---

१. वर्ण्या इति पाठः।

इस वृक्ष के झाड़ियों को काटने के बाद उत्पन्न नवीन प्ररोहों की सूखी हुई अन्दर की छाल को औषध के लिये लिया जाता है। इसे सीलोनी दालचीनी कहा जाता है। यह सर्वोत्तम दालचीनी होती है। इसकी एक साथ बंधी हुई लंबी जूड़ियां आती हैं। बाह्य सतह हलके पीताभ भूरे रंग की एवं लंबाई में लहरदार रेखाओं से युक्त तथा प्रायः छोटे दागों या छिद्रों से युक्त होती है। अन्दर से यह गहरे रंग की एवं लम्बाई में हलकी धारियों से युक्त होती है। यह बहुत ही पतली, ०·५ मि० मि० मोटी एवं आसानी से टूटने वाली होती है। इसमें मनोहर गन्ध रहती है तथा इसका स्वाद उष्ण, मधुर एवं सुगन्धि रहता है।

रासायनिक संगठन—सिलोनी दालचीनी में ०.५-१% उड़नशील तैल, टैनिन तथा गोंद ये पदार्थ पाये जाते हैं।

दालचीनी का तैल नया रहने पर हलके पीले रंग का रहता है जो पुराना होने पर रक्ताभ भूरे रंग का हो जाता है। इसमें दालचीनी जैसी ही गन्ध एवं स्वाद रहता है। इस तैल में ६०-७५% सिनॅमॅल्डिहाइड् (Cinnamaldehyde), करीब १०% यूजेनॉल (Eugenol) एवं अल्प मात्रा में मेथिल्-एन्-ॲमिल् कीटोन् (Methyl-n-amyl ketone), पी-साइमीन (p-cymene), एल्-फेलॅन्ड्रीन (l-phellandrene), एल्-ॲल्फा-पिनीन (l-a-pinene), एल्-लिनॅलूल् (l-linalool), क्यूमिक् ॲल्डिहाइड् (Cumic aldehyde), नोनिल् ॲल्डिहाइड् (Nonyl aldehyde), कॅर्योफाइलीन (Caryophylline) एवं ब्यूट्रिक ॲसिड के ईस्टर (Esters of butyric acid) ये पदार्थ पाये जाते हैं।

दालचीनी के पत्तों में भी किञ्चित गहरे रंग का एक उड़नशील तैल पाया जाता है। लेकिन यह तैल दालचीनी के तेल से बिलकुल भिन्न है। इसमें कुछ लौंग जैसी तीव्र गन्ध आती है तथा आमवातादि में इसकी मालिश की जाती है। इसमें ७०-९५% यूजेनॉल रहने के कारण लौंग के तैल सदृश इसका उपयोग किया जा सकता है। दालचीनी के तेल में पत्तों के तेल की मिलावट की जाती है जिसकी पहचान उसमें की बढ़ी हुई यूजेनॉल् की मात्रा एवं घटी हुई सिनॅमिक् ॲल्डिहाइड् की मात्रा से की जा सकती है। इसमें रासायनिक विधि द्वारा निर्मित सिनॅमिक् ॲल्डिहाइड् की मिलावट करते हैं जिसकी पहचान उसमें के क्लोरीन की उपस्थिति, बढ़े हुये विशिष्ट गुरुत्व, भुजायन देशना (Refractive index) एवं ॲल्डिहाइड् से की जा सकती है।

गुण और प्रयोग—दालचीनी उष्ण, सुगन्धि, वातानुलोमक, साधारण ग्राही, दीपन, पाचन, उत्तेजक, गर्भाशय उत्तेजक, स्तम्भन, शोणितास्थापक, श्वेतकणवर्धक, आक्षेपहर एवं कृमिघ्न है। दालचीनी का तेल वातानुलोमक, प्रतिदूषक, उत्तेजक, आर्तवप्रवर्त्तक, वातहर, वेदनाहर, व्रणशोधक एवं व्रणरोपक है।

(१) यह उत्तम दीपन होने के कारण इससे आमाशय रस की वृद्धि होकर अन्न का पाचन ठीक होता है तथा वायु का अनुलोमन होता है। आमाशय के रोगों में इसका बहुत प्रयोग किया जाता है। आध्मान, मरोड़, आमाशयिक शूल एवं वमन में इसके तैल को मिश्री के साथ खिलाते हैं। हृल्लास एवं वमन में इसको चूसने से या इसके क्वाथ से लाभ होता है। अतिसार, पुरानी आंव एवं ग्रहणी आदि में इसके क्वाथ से शौच कम होता है, वायु नहीं होता एवं पचननलिका को बल मिलता है। आन्त्रिक ज्वर (Typhoid) में आन्त्रिक प्रतिदूषक औषध के रूप में अन्य औषधों के साथ इसके तैल को देते हैं। इससे आध्मान नहीं होता।

(२) राजयक्ष्मा दण्डाणु के उपसर्ग में तैल का व्यवहार किया जाता है। सिनॅमिक् एसिड का परिणाम इन जन्तुओं पर होता है। क्षयजव्रण पर इसको लगाते हैं।

(३) गर्भाशय उत्तेजक होने के कारण प्रसूति के समय आवि वृद्धि के लिये पिपरामूल एवं भांग के साथ इसका प्रयोग करते है। अत्यार्तव में गर्भाशय की शिथिलता कम करने के लिये अशोक के साथ इसे देते हैं।

(४) रक्तस्राव में इसके क्वाथ से लाभ होता है। फुफ्फुस एवं गर्भाशय से रक्तस्राव में इसका प्रयोग करते हैं।

(५) प्रतिश्याय तथा एन्फ्लुएंजा में इसके तैल को मिश्री के साथ या कॅपसूल में भरकर खिलाते हैं तथा रुमाल पर डाल कर सूंघने को देते हैं।

(६) इसके तैल को दांत के गढे में रखने से दर्द दूर होता है। नाडीशूल एवं जिह्वा के लकवे में इसका प्रयोग किया जाता है। चूसने वाली गोलियों में सुगंध द्रव्य के रूप में इसका उपयोग किया जाता है।

(७) बड़ी मात्रा में दालचीनी का उपयोग कैन्सर में किया गया है। औषध के अतिरिक्त मसालों में इसका बहुत प्रयोग करते हैं। तैल का सुगंध द्रव्य रूप में बहुत व्यवहार करते हैं तथा औषध संरक्षण के रूप में भी कभी-कभी व्यवहार किया जाता है।

मात्रा—चूर्ण २½-१० र०; तैल १-३ बूंद।

अथ पत्रकम्। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

पत्रं तमालपत्रञ्च तथा स्यात्पत्रनामकम्। पत्रकं मधुरं किञ्चित्तीक्ष्णोष्णं पिच्छिलं लघु।
निहन्ति कफवातार्शोहृल्लासारुचिपीनसान्॥ ६८॥

तेजपात के नाम तथा गुण—पत्र, तमालपत्र, पत्रनामक (अर्थात् पत्रवाचक सभी शब्द इसके पर्यायवाचक हैं) एवम् पत्रक ये सब 'तेजपात' के संस्कृत नाम हैं। तेजपात-मधुर रस युक्त, किञ्चित् तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, पिच्छिल और लघु होता है एवम् यह कफ, वात, अर्श, हृल्लास (उबकाई), अरुचि तथा पीनस इन सबों को दूर करने वाला होता है॥ ६८॥

२७ तेजपात

हि०-तमालपत्र, पत्रज, तेजपत्ता, तेजपत्र, गुरन्द्रा। बं०-तेजपत्र। म०-तमालपत्र। ते०-आकुपत्री, तालीस पत्री। ने०-चेटा सिंकोली। गु०-तमालपत्र। आसा०-दोपती। ता०-कट्टु-करुवपत्ते। अ०-साजजेहिन्दी। ले०-*Cinnamomum tamala Nees & Eberm* (सिनॅमोमम् तमाल नीज, एवर्म)। Fam. Lauraceae (लॉरेसी)।

इसका वृक्ष हिमालय में ३ से ७ हजार फीट की ऊंचाई पर पाया जाता है। मौतारगढ़ में ये समूहबद्ध होकर बहुत अधिक संख्या में पाये जाते हैं। पूर्वी बंगाल तथा खासिया एवं जैन्तिया पहाड़ियों पर तथा वर्मा में भी पाये जाते हैं।

इसका वृक्ष मध्यमाकार का, करीब २५ फीट ऊंचा, साढ़े चार फीट के घेरे में एवं सुगन्धयुक्त होता है और वह बारहो मास हरा भरा रहता है। छाल-पतली, शिकनदार, खुरदरी, गहरे भूरे रङ्ग की या कृष्णाभ होती है। काट-आधा इञ्च मोटा, गुलावी या ललाई लिये हुये भूरे रंग का और बाहर की ओर श्वेत रेखांकित होता है। पत्ते-प्रायः ५-८ इञ्च लम्बे, २-३ इञ्च चौडे, लट्वाकार-आयताकार या भालाकार, नोकदार, चिकने, चर्मवत्, विपरीत या एकान्तर तथा आधार से अग्रतक ३ शिराओं से युक्त एवं ७.५-१३ मि० मि० लम्बे पर्णवृन्त से

युक्त होते हैं। नवीन पत्तियां कुछ-कुछ गुलाबी रंग की रहती हैं। फूल—७.५ मि० मि० लंबे, हलके पीताभरंग के, ५–१५ से० मी० लंबे सवृन्तकाण्डज पुष्पव्यूहों (Panicles) में रहते हैं। परिपुष्प खंड ६, आयताकार, सिल्क की तरह मृदुरोमश जो पुष्पित होने पर मध्य के नीचे से टूट जाते हैं। पूर्ण पुंकेसर ९ रहते हैं। फल—आध इञ्च लंबे, अंडाकार, मांसल एवं काले रंग के रहते हैं। ये फल कुछ बढ़े हुये परिपुष्प नाल पर लगे रहते हैं जिनके परिपुष्प खंड अग्रपर कटे हुए (Truncated) मालूम पड़ते हैं।

इसके सूखे हुए अपक्व फल का काला नागकेशर नाम से दक्षिण भारत में व्यवहार होता है। अर्श के लिए यदि नागकेशर का प्रयोग करना हो तो इसका प्रयोग अधिक उचित मालूम होता है क्योंकि तमाल पत्र के शास्त्रीय गुणों में अर्श का उल्लेख मिलता है।

इसकी छाल को हि०—तज, बं—नालुका तथा अ०—सलीखा कहते हैं। यही भारतीय दालचीनी है जिसको सिलोनी दालचीनी के स्थान पर या मिलावट के रूप में उपयोग में लाते हैं। इसी के पत्ते तेजपात या तमालपत्र नामसे अधिकतर बेचे जाते हैं। कुछ लोगों के मत से तेजपात तथा तज अलग-अलग वृक्षों के पत्ते तथा छाल हैं। इसकी छाल सिलोनी दालचीनी की अपेक्षा मोटी, तेजी में कम तथा जल के साथ पीसने से पिच्छिलता युक्त हो जाती है। नवीन मत से सिलोनी तथा चीनी दालचीनी के गुण पहले लिखे जा चुके हैं तथा भारतीय के गुणों में नवीन दृष्टि से कोई विशेष अन्तर न होने के कारण इनको अलग नहीं लिखा है।

नोट:- भावप्रकाशकार त्वक्पत्र (तज) के गुणों में 'पित्तलं' तथा 'शुक्रहृत' लिखते हैं। दारुसिता (सिलोनी दालचीनी) के गुणों में 'पित्तहृत' एवं 'शुक्रला' लिखते हैं। दारुसिता के अन्य नाम 'स्वाद्वी', 'तनुत्वक्' लिखे हैं जिससे दारुसिता यह सिलोनी दालचीनी होगी ऐसा लगता है। इस दृष्टि से सिलोनी तथा भारतीय दालचीनी के गुण भावप्रकाशकार के मत से बिलकुल अलग हैं। भावप्रकाशोक्त तीसरे द्रव्य पत्रक (तेजपात) के गुण त्वक्पत्र से मिलते-जुलते हैं। इससे ऐसा मालूम होता है कि त्वक्पत्र (तज, भारतीय दालचीनी) के वृक्ष के पत्ते ही तेजपत्र हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें एक प्रकार का लौंग के समान गन्ध वाला उड़नशील तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—तेजपत्र उष्ण, लघु, वातहर, दीपन, स्वेदजनन, मूत्रजनन तथा उत्तेजक हैं। इसका प्रयोग कफ, वात, अर्श, हृल्लास, अरुचि एवं पीनस में किया जाता है। कुपचन, उदरस्थवायु, उदरशूल एवं अतिसार आदि पचननलिका के रोगों में, सब तरह के कफविकारों में एवं गर्भाशय की शिथिलता में इसका उपयोग करते हैं। गर्भाशय की शिथिलता दूर होकर गर्भाधान होने के लिये तथा गर्भस्राव न हो इसलिये इसका प्रयोग करते हैं। यह वातहर होने के कारण बच्चों के सभी प्रकार के रोगों में एवं आमवात में इसको खिलाते हैं।

मात्रा—१–४ माशा।

अथ नागकेशरः। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

नागपुष्पः स्मृतो नागः केशरो नागकेशरः। चाम्पेयो नागकिञ्जल्कः कथितः काञ्चनाह्वयः॥

नागकेशर के नाम तथा गुण—नागपुष्प, नाग, केशर, नागकेशर, चाम्पेय, नागकिञ्जल्क तथा काञ्चनाह्वय (काञ्चन के वाचक सभी शब्द इसके पर्यायवाची हैं) ये सब पुंल्लिंगी शब्द 'नागकेशर' वृक्षवाची हैं॥ ६९॥

*अयं पुष्पे तु क्लीबे ॥ ६९ ॥

किन्तु यहाँ पर यह भी समझना चाहिये कि यदि उक्त सभी शब्द नपुंसकलिङ्गी हों तो 'नागकेसर के पुष्प' को कहने वाले होते हैं ॥ ६९ ॥

नागपुष्पं कषायोष्णं रूक्षं लघ्वामपाचनम् ॥ ७० ॥
ज्वरकण्डूतृषास्वेदच्छर्दिहृल्लासनाशनम् । दौर्गन्ध्यकुष्ठवीसर्पकफपित्तविषापहम् ॥ ७१ ॥

नागकेशर (नागकेशर का फूल)—कषायरसयुक्त, उष्णवीर्य, रूक्ष, लघु तथा आम को पचाने वाला होता है एवं यह ज्वर, खुजली, तृषा, पसीना, वमन, हृल्लास, दुर्गन्ध, कुष्ठ, विसर्प, कफ, पित्त और विष को दूर करने वाला होता है ॥ ७०-७१ ॥

२८ नागकेसर (१)

हिं०-नागकेसर, नागेसर, पीला नागकेशर, नागचम्पा । बं०-नागेश्वर । म०-नागकेसर, नागचांफा (वृक्ष) । गु०-पीलु नागकेसर । क०-नागसम्पिगे । ते०-नागकेसरमु । ता०-चेरु नगपू । अ०-मिस्कुरुम्मान । फा०-नारेमुश्क । अं०-Cobra's Saffron (कोबराज सॅफ्रॉन) । ले०-*Mesua ferrea Linn.* (मेसुआ फेरिआ लिन) । Fam. Guttiferae (गटिफेरी) ।

यह पूर्वी हिमालय, आसाम, ब्रह्मा, दक्षिण हिन्दुस्तान और पूर्व बंगाल के पहाड़ों पर पाया जाता है । इसको बगीचों में भी लगाया जा सकता है ।

इसका छोटा सुन्दर वृक्ष होता है और वह सदा हराभरा रहता है । स्तम्भ-सीधा, छाल-चिकनी और राख के रङ्ग की होती है । पत्ते-विपरीत, ३ से ५ इञ्च तक लम्बे तथा १-१॥ इञ्च चौड़े, आयताकार-भालाकार एवं तीक्ष्णाग्र युक्त होते हैं । इनका ऊपरी पृष्ठ चमकीला और नीचे का श्वेताभ तथा रज से आवृत होता है । शिराएँ सघन और स्पष्ट होती हैं । नये पत्ते लाल रंग के होते हैं । फूल-१ से ३ इञ्च के घेरे में सफेद रङ्ग के सुगन्धयुक्त वसन्त ऋतु में आते हैं । इनमें अन्तर्दल चार होते हैं । इन्हीं फूलों के भीतर के पीले केसरिया रंग के नरकेसर के गुच्छ को नागकेसर कहते हैं । यही असली (पीला) नागकेशर है जिसका औषध में व्यवहार करना चाहिये । फल-एक इञ्च से बड़े, अंडाकार तथा कुछ नुकीले एवं प्रवृद्ध बाह्यदल से घिरे हुये होते हैं । एक-एक फल से १ से ४ तक चिकने, कोणयुक्त एवं भूरे रंग के बीज निकलते हैं ।

नोट—नागकेसर के सम्बन्ध में लोगों में भ्रम है । अधिकांश विद्वानों ने उपर्युक्त मेसुआ फेरिआ के पुष्पों के नरकेसर गुच्छ को नागकेसर माना है जिसके गुण एवं प्रयोग यहां दिये गये हैं । इसी वर्ग के दक्षिण की तरफ होने वाले वृक्ष ओक्रोकार्पस् लॉंगीफोलिअस् (Ochrocarpus longifolius) की पुष्प-कलिकाओं को लाल नागकेशर के नाम से बेंचा जाता है । इसी प्रकार काला नागकेशर के नाम से भारतीय या चीनी दालचीनी के फल बेचे जाते हैं जिसके गुण दालचीनी के समान ही होते हैं । एक बात ध्यान देने की यह है कि नागकेसर के शास्त्रीय गुणों में अर्श का उल्लेख नहीं है । चरक में तथा व्यवहार में रक्तार्श के लिये इसका प्रयोग मिलता है । तज के गुणों में अर्श का उल्लेख है तथा उसके फल का उपयोग काला नागकेशर नाम से व्यवहार में कहीं-कहीं आता है । मेसुआ फेरिया के गुणादि के पश्चात् ओक्रोकार्पस् लॉंगीफोलिअस् का वर्णन किया गया है ।

रासायनिक संगठन—इसके फलों में एक तैलीय राल रहती है जिससे सुगंधित, हल्के पीले रंग का एक उड़नशील तैल प्राप्त होता है । कठोर फलभित्ति में टॅनिन रहता है । बीजों

में एक स्थिर तैल पाया जाता है। राल मद्यसार में कम घुलती है लेकिन बेन्झॉल में संपूर्णतया घुलती है। इसके अतिरिक्त इसमें दो कड़वे पदार्थ भी पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—नागकेसर संग्राही, गर्भ स्थापक, किंचित उष्ण, रक्तसंग्राहक, आमपाचक एवं दीपक है। इसकी छाल तथा मूल तिक्त एवं सुगन्धि हैं। इसकी छाल कुछ संग्राही होती है। इसके कच्चे फल सुगंधि, कटु तथा विरेचक होते हैं।

(१) रक्तार्श में मक्खन तथा मिश्री के साथ इसे खिलाने से रक्त गिरना बन्द हो जाता है। शतधौत घृत में मिलाकर इसमें लेप भी किया जाता है।

(२) गुद द्वार की जलन, रक्तातिसार, वमन, हिक्का, तृष्णा, रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर एवं अतिस्वेद आदि में नागकेसर का प्रयोग करते हैं।

(३) बहुत कफयुक्त खांसी में इसे देते हैं।

(४) अतिस्वेद में इसका लेप या इसके सूक्ष्म चूर्ण का भी बाह्य प्रयोग किया जाता है।

(५) इसकी छाल एवं मूल का क्वाथ खांसी एवं आमाशय प्रक्षोभ (Gastritis) में दिया जाता है।

(६) तीव्र प्रतिश्याय में इसके पत्तों का उपनाह सर पर लगाते हैं।

(७) इसके बीजों का तैल शरीर की पीड़ा, जोड़ों में दर्द तथा खुजली (पामा) एवं अन्य चर्मरोगों में लगाया जाता है।

(८) इसके पत्ते तथा फूलों का उपयोग बिच्छू एवं सर्पदंश में किया जाता है।

(९) हाथ-पैरों की जलन में नागकेशर को शतधौत घृत में मिलाकार लगाने से जलन दूर होती है।

मात्रा—४ र० से १ माशा।

लाल नागकेशर (२)

सं०-सुरपुन्नाग, नमेरु, सुरपर्णिका। हि०-लाल नागकेशर। म०-सुरंगी (वृक्ष), गोडी उंडी (फल), तांबडे नागकेशर। गु०-रातु नागकेशर। अं०-Alexandrian Laurel (अॅलेक्झॅन्ड्रियन् लॉरेल्)। लै०-*Ochrocarpus longifolius* Benth. & Hook. f. (ओक्रोकार्पस् लॉगिफोलिअस् बेन्थ, हुक्)। Fam. Guttiferae (गटिफेरी)।

यह पश्चिम प्रायद्वीप के जंगलों में कनारा से कोंकण तक पाया जाता है। उत्तरी सरकार में यह लगाया हुआ मिलता है।

इसका वृक्ष साधारण ऊँचा तथा सदाहरित होता है। पत्ते-६-८ इञ्च लम्बे, २॥-२॥ इञ्च चौड़े, आयताकार, मोटे, चर्मवत् एवं सुन्दर शिराजाल से युक्त होते हैं। पुष्प-अनेक, ४ अन्तर्दल वाले, लाल रेखांकित, श्वेत रंग के, गुच्छों में आते हैं। फल-१ इञ्च लंबे, अण्डाकार, नुकीले तथा एक बीज से युक्त होते हैं। फलों के गूदों को लोग खाते हैं। सूखी हुई पुष्पकलिकाओं को लाल नागकेशर कहा जाता है। यह गोल, नुकीले, नारंगरक्त रंग के तथा करीब ½ इञ्च लम्बे पुष्पवृन्त से युक्त होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसका उपयोग असली नागकेशर (मेसुआ फेरिआ) के स्थान पर किया जाता है। गुणों में उसके समान होते हुए भी यह कुछ न्यून गुण वाला है। इसके पुष्पों का अर्क निकालकर ज्वर में रोगी के स्नान के लिये प्रयोग करते हैं। इससे रोगी को आह्लाद मालूम होता

है। यह उत्तेजक, सुगंधि, ग्राही, कडुवा एवं दीपन है। अत्यधिक प्यास, आमाशयिक प्रक्षोभ, अर्श, कुपचन तथा अतिसार में इसका प्रयोग करते हैं।

मात्रा—१-३ माशा।

नोट—कुछ लोग इसी वर्ग के पुन्नाग वृक्ष की कलिकाओं का भी उपयोग नागकेशर के नाम से करते हैं। इसे ले०-*Calophyllum inophyllum Linn.* (कॅलोफाइलम् आइनोफाइलम् लिन); हि०-सुलतानचंपा; म०-उंडी, उंडल कहते हैं। इसका बहुत सुन्दर वृक्ष दक्षिण भारत के समुद्री किनारे पर तथा अन्य स्थानों पर लगाया हुआ मिलता है। पत्ते-बड़ के पत्र जैसे लम्बगोल ४ से ६ इञ्च लम्बे तथा ३ से ४ इञ्च चौड़े होते हैं। पुष्प-सफेद रंग के चार दल वाले और सुगंधित होते हैं। फल-गोल, १ से १½ इञ्च लम्बे, चिकने तथा पीले रंग के आते हैं। इसके बीजों से तैल निकालते हैं, जिसे सर्पन का तैल कहते हैं।

पुन्नाग-यह मधुर, शीत सुगन्धि और पित्तनाशक है। इसका तैल पुराने संधिगत में मालिश करते हैं। खुजली तथा सर की फुन्सियों में तैल लगाते हैं। सोजाक में इस तैल को खिलाते हैं।

अथ त्रिजातकं चातुर्जातकं च। तयोर्लक्षणं गुणाँश्चाह

त्वगेलापत्रकैस्तुल्यैस्त्रिसुगन्धि त्रिजातकम्। नागकेशरसंयुक्तं चातुर्जातकमुच्यते ॥ ७२ ॥
तद् द्वयं रोचनं रूक्षं तीक्ष्णोष्णं मुखगन्धहृत्। लघुपित्ताग्निकृद्वर्ण्यं कफवातविषापहम् ॥७३॥

त्रिजातक' तथा 'चातुर्जातक' बोधक द्रव्य तथा उनके एकत्र गुण—दालचीनी, इलायची और तेजपात इन्हीं तीनों द्रव्यों का समभाग में योग होने से उसे 'त्रिसुगन्धि' या 'त्रिजातक' कहते हैं और यदि उन्हीं द्रव्यों में समभाग से 'नागकेशर' भी मिला दी जाय तो उसे 'चातुर्जातक' कहते हैं। त्रिजातक तथा चातुर्जातक-रुचिकारक, रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, मुख की दुर्गन्ध को दूर करने वाले, लघु, पित्त तथा अग्निवर्धक, वर्ण्य (शरीर के रङ्ग को उत्तम करने वाले), कफ, वात तथा विष को नष्ट करने वाले होते हैं ॥ ७२-७३ ॥

अथ कुङ्कुमम् (केशर)। तस्य नामानि सलक्षणभेदान् गुणाँश्चाह

कुङ्कुमं घुसृणं रक्तं काश्मीरं पीतकं वरम्। संकोचं पिशुनं धीरं बाह्लीकं शोणिताभिधम् ॥
काश्मीरदेशजे क्षेत्रे कुङ्कुमं यद्भवेद्धि तत्। सूक्ष्मकेशरमारक्तं पद्मगन्धि तदुत्तमम् ॥७५॥
बाह्लीकदेशसञ्जातं कुङ्कुमं पाण्डुरं स्मृतम्। केतकीगन्धयुक्तं तन्मध्यमं सूक्ष्मकेशरम् ॥७६॥
कुङ्कुमं पारसीकं यन्मधुगन्धि तदीरितम्। ईषत्पाण्डुरवर्णं तदधमं स्थूलकेशरम् ॥७७॥
कुङ्कुमं कटुकं स्निग्धं शिरोरुग्व्रणजन्तुजित्। तिक्तं वमिहरं वर्ण्यं व्यङ्गदोषत्रयापहम् ॥७८॥

केशर के नाम—कुङ्कुम, घुसृण, रक्त, काश्मीर, पीतक, वर, सङ्कोच, पिशुन, धीर, बाह्लीक और शोणिताभिध (रक्तवाची सभी शब्द) ये सब केशर के संस्कृत नाम हैं।

देश भेद से केशर की उत्तमता एवं उसके लक्षण—काश्मीर देश के खेतों में जो 'केशर' उत्पन्न होता है वह सूक्ष्म केशरों से युक्त, कुछ रक्त वर्ण वाला तथा कमल की समान सुन्दर गन्ध से युक्त होता है एवं वह 'उत्तम' माना जाता है। जो 'बाह्लीक' (बुखारा) देश में उत्पन्न होने वाला 'केशर' होता है वह पाण्डुर (शुक्ल तथा पीतवर्ण युक्त) वर्ण का एवं 'केतकी' के समान गंध

से युक्त होता है। यह सूक्ष्म केशरों से युक्त होता है और 'मध्यम' माना जाता है। जो 'पारसीक' (फारस) देश में उत्पन्न होने वाला केशर होता है वह मधु (शहद) के समान गन्ध वाला, कुछ पाण्डुर वर्णयुक्त तथा मोटे केशरों से युक्त होता है और वह 'अधम' माना जाता है।

केशर—कटु तथा तिक्त रसयुक्त, स्निग्ध और वर्ण्य (शरीर के वर्ण के लिये हितकर) होता है तथा यह शिरोरोग, व्रण, कृमि, वमन, व्यङ्ग (झाईं) तथा त्रिदोष इन सबों को नष्ट करने वाला होता है॥ ७४-७८॥

२९ केशर

हि०-केशर। म०, गु०-केशर। बं०-जाफरान। क०-कुङ्कुम। ते०-कुङ्कुम पुव। ता०-कुङ्कुमपु। फा०-करकीमास। अं०-जाफरान। अं०-Saffron (सॅफ्रॉन)।

ले०-*Crocus sativus Linn.* (क्रोकस् सेटाइवस् लिन.)। Fam. Iridaceae (इरिडॅसी)।

केशर का नैसर्गिक उत्पत्ति स्थान दक्षिण योरप है। यह स्पेन से बम्बई में बहुत आता है और भारतवर्ष के बाजारों में बिकता है। ईरान, स्पेन, फ्रान्स, इटली, ग्रीस, तुर्की, चीन और फारस आदि देशों में इसकी खेती की जाती है। हमारे देश के काश्मीर में पम्पूर (४३०० फीट) नामक स्थान पर तथा जम्मू के किश्तवाड़ में इसकी खेती की जाती है। यहाँ का उत्पन्न हुआ केसर भावप्रकाशकार की दृष्टि से सर्वोत्तम समझा गया है।

इसका बहुवर्षायु क्षुप १॥ फुट तक ऊँचा होता है। जड़ के नीचे प्याज के समान गांठदार कन्द (Corm) होता है। इसमें कांड नहीं होता। पत्ते-घास के समान लम्बे, पतले, पनालीदार और जड़ ही से निकले हुए मूलपत्र (Radicle leaf) रहते हैं। इनके किनारे पीछे की तरफ मुड़े हुए होते हैं। आश्विन कार्तिक में इस पर फूल आते हैं। फूल-एकाकी या गुच्छों में, नीललोहित वर्ण के, पत्तों के साथ ही शरदृतु में आते हैं। नीचे के पत्रकोश (Spathe), पुष्पध्वज (Scape) को घेरे रहते हैं तथा दो हिस्सों में विभक्त रहते हैं। परिपुष्प (Perianth) निवापसम (Funnel-shaped), नाल (Tube) पतला, दल ६ खण्डों में विभक्त दो श्रेणियों में एवं नाल का कण्ठ श्मश्रुल (बालों से युक्त) रहता है। कण्ठ पर ३ पुंकेशर (Stamen) रहते हैं एवं परागाशय (Anther) पीतवर्ण का रहता है। कुक्षिवृन्त (Style) परिपुष्प के बाहर निकले हुए (Exserted), नारंगरक्त रंग के, मुद्गराकार, अखण्ड या खण्डित रहते हैं। फल-सामान्य स्फोटी फल (Capsule) आयताकार एवं बीज गोल होते हैं।

इन फूलों के स्त्री केशर के सूखे हुए अग्रभाग जिन्हें कुक्षि (Stigma) कहा जाता है उन्हें ही केशर कहते हैं। कुक्षि (Stigma) ३, कुक्षिवृन्त के ऊपर लगी हुई या अलग, करीब १ इञ्च लम्बी गहरे लाल से लेकर हलके रक्ताभ भूरे रंग की एवं सामान्य दन्तुर या लहरदार होती है। कुक्षिवृन्त (Styles) करीब १ से. मि. लम्बे, करीब-करीब रम्भाकार, ठोस, पीताभ भूरे से लेकर पीताभ नारंगी रंग के रहते हैं। इसमें विशिष्ट प्रकार की तीव्र सुगन्ध रहती है तथा इसका स्वाद सुगन्धि तथा कड़वापन लिये हुए होता है।

केशर के पौधे को बीज या उसके कन्द द्वारा लगाया जा सकता है। साधारणतः १ एकड़ भूमि से करीब ५०-५५ पौंड ताजा केशर प्राप्त होता है जो सूखने पर १०-११ पौंड रह जाता है। इसकी खेती तथा माल के तैयार करने में बहुत सावधानी की आवश्यकता रहती है। सूर्योदय के पहले जब फूल लगभग खिलने को होते हैं तब उनको तोड़ लेते हैं। उसमें से केशर को तोड़कर चलनी में डालकर मन्द आंच पर सुखाते हैं। केशर को हमेशा प्रकाशहीन बन्द पात्र में रखना चाहिये।

रासायनिक संगठन—केशर में एक स्नेहीय तैल ८-१३%, करीब १% उड़नशील तैल, एक रंगहीन कडुआ पिक्रोक्रोसिन (Picrocrocin) नामक ग्लाइकोसाइड् एवं क्रोसेटिन (Crocetin) नामक रंजक द्रव्य का क्रोसिन (Crocin) ग्लाइकोसाइड् ये पदार्थ पाये जाते हैं। क्रोसेटिन नामक रवेदार रंजक द्रव्य ३ प्रकार का होता है। अॅल्फा क्रोसेटिन (a-crocetin, C_{24} H_{28} O_5) ०.७%, बीटा क्रोसेटिन (B-crocetin, C_{25} H_{30} O_5) ०.७%, एवं गामा क्रोसेटिन (V-crocetin, C_{26} H_{32} O_5) ०.३% रहता है। क्रोसिन (Crocin) यह लाल रंग का चूर्ण होता है जो जल तथा मद्यसार में आसानी से घुल जाता है। संकेन्द्रित गन्धक के तेजाब में इसका गहरे नीले रंग का घोल बनता है जो रखने पर नील लोहित, रक्त तथा अन्त में भूरे रंग का हो जाता है। शोरे के तेजाब से यह हरे रंग का हो जाता है।

गुण और प्रयोग—केशर उष्ण, सुगन्धि, दीपन, पाचन, उद्वेष्टन-निरोधि, मनःप्रसादकर, रुचिकर, वर्ण्य, बल्य, कामोत्तेजक, विषघ्न, आर्तवजनक, मूत्रल एवं अल्प वेदनाहर है। आमाशयोत्तेजक एवं उद्वेष्टननिरोधि गुणों के लिये यह बहुत प्रसिद्ध है तथा यह श्रेष्ठ उत्तेजक एवं वृष्य औषध मानी जाती है। यह वातनाड़ियों के लिये शामक है। सुगन्धित रञ्जक द्रव्य के रूप में इसका बहुत व्यवहार किया जाता है। इसके उड़नशील तैल में अन्य उड़नशील तैलों की तरह ही गुण होते हैं।

इसका उपयोग अतिसार, शूल, मूत्रकृच्छ्र, अनार्तव, पीडितार्तव, कास, श्वास, कण्ठरोग, यकृत-विकार, आमवात, नाड़ीशूल एवं शिरोरोगों में किया जाता है।

(१) पीडितार्तव में इसको पूर्ण मात्रा में देने से शूल कम होता है तथा आर्तव स्राव ठीक होने लगता है। गर्भाशय के पीड़ा युक्त विकारों में इसकी गोली योनि में धारण कराई जाती है। स्तनों पर इसके लेप से दूध बढ़ता है।

(२) मूत्राघात में १ तोला केशर मधुयुक्त जल में रात में भिगों कर सुबह उसे पिलाने से लाभ होता है। (सु. उ. अ. ५८-३०)

(३) बच्चों की सरदी में गरम दूध में केशर खिलाते हैं, तथा ललाट एवं छाती पर लगाते हैं।

(४) केसर तथा शर्करा को घृत में भून कर उसके नस्य से सूर्यावर्त एवं अर्धावभेदक आदि में लाभ होता है। शिरःशूल में इसे मस्तक पर लगाते हैं।

(५) मसूरिका तथा रोमान्तिका आदि में दाने बाहर निकालने के लिये इसे देते हैं।

(६) बच्चों के अतिसार, आध्मान तथा उदर शूल में इसे खिलाते हैं तथा पेट पर लगाते हैं।

प्रमाप तथा परीक्षा—केशर बहुमूल्य होने के कारण इसमें अनेक चीजों की मिलावट रहती है, इसलिये इसको अच्छी तरह परीक्षा कर खरीदना चाहिये। कुछ परीक्षाएँ यहाँ दी जा रही हैं। स्पिरिट में केशर डालने पर यद्यपि स्पिरिट रंगीन हो जाता है तथापि केशर के तन्तु अपने प्राकृतिक रंग में ही रहते हैं। इसे गन्धक के तेजाब (Sulphuric acid) में डालने से गहरा नीला रंग उत्पन्न होता है। जल में घुलनशील पदार्थ ५८% से कम न हों। मद्यसार (९०%) में घुलनशील पदार्थ ६०% से कम न हों। राख ७.५०% से अधिक न हो १००° उष्णता पर सुखाने से १४% से अधिक वजन कम न हों। कुक्षिवृन्त (Styles) १०% से अधिक न हों। इतर ऑर्गेनिक् द्रव्य २% से अधिक न हों। रंग की तीव्रता-इसको ०.०२ ग्राम की मात्रा में १०० सी. सी. जल में मिलाने पर पीत वर्ण का घोल बनता है जिसके रंग की तीव्रता ०.१%

पोटॅशियम् डाइक्रोमेट (Potassium dichromate) के घोल के समान या उससे कम नहीं होनी चाहिये।

व्यामिश्रण—इसमें केशर पुष्प के ही कुक्षिवृन्त, पुंकेशर, आभ्यन्तर कोश एवं गेंदा (कॅलेण्डुला ऑफिसिनेलिस्) के मेथिल् आरेंज के द्वारा रंगे हुये पुष्प, कुसुम पुष्प के केशर तथा एक बीज पत्रीय पुष्प आदि मिलाये रहते हैं। कभी कभी सत्त्व निकाला हुआ केसर रंग करके बेचा जाता है। केसर का वजन बढ़ाने के लिये जल, तैल, शर्करा, ग्लूकोज, ग्लिसरीन तथा पोटॅशियम् या अमोनियम् नाइट्रेट के घोल आदि का उपयोग करते हैं।

मात्रा—२-४ र०।

अथ गोरोचना। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

गोरोचना तु मङ्गल्या वन्द्या गौरी च रोचना। गोरोचना हिमा तिक्ता वश्या मङ्गलकान्तिदा।
विषालक्ष्मीग्रहोन्मादगर्भस्रावक्षतासुहृत् ॥ ७९ ॥

गोरोचन के नाम तथा गुण—गोरोचना, मङ्गल्या, वन्द्या, गौरी और रोचना ये सब गोरोचन के संस्कृत नाम हैं। **गोरोचन**—शीतवीर्य, तिक्तरस युक्त, वश्य (वशीकारक), मङ्गल तथा कान्ति को बढ़ाने वाला एवं विष, अलक्ष्मी (दरिद्रता), ग्रहबाधा, उन्माद (पागलपन), गर्भस्राव तथा क्षतज रक्तस्राव को दूर करने वाला होता है ॥ ७९ ॥

३० गोलोचन

हि०-गोलोचन, गोरोचन। बं०-गोरोचना। म०-गोरोचन। गु०-गोरूचन्दन, गोरोचन। ते०-गोरोचनमु। ता०-गोरोचनम्। फा०-संगगाव। अ०-हजरुल् बकर। अं०-Gall-stone (गॉल-स्टोन); Serpent stone (सर्पेण्ट स्टोन)। ले०-*Bezoar* (बेझोर)।

गाय अथवा बैल के पित्ताशय में से अश्मरी के समान सुपारी से लकर नींबू तक का गोल अथवा कुछ गोलाई लिये त्रिकोणाकार जो पदार्थ निकलता है उसको गोरोचन कहते हैं। यह ऊपर से कुछ मटमैला पीला और तोड़ने पर भीतर से पर्तदार पीले रंग का होता है। यह कठोर नहीं, कुछ मुलायम होता है। किसी किसी का रङ्ग नारंगी या लाली युक्त होता है। इसी प्रकार किसी किसी बकरी और ऊँट के पेट से भी कंकड़ी निकलती है, 'कुछ ग्रन्थों में गाय के मस्तक का पित्त गोरोचन है' ऐसा उल्लेख मिलता है। हाथी के मस्तक में मिलने वाली गजमुक्ता और सर्प के फण में मिलने वाली मणि के सादृश्य के लिए गो-मस्तक से इसकी उत्पत्ति की परिकल्पना की गई होगी।

इसका स्वाद कुछ कड़वा होता है तथा इसमें कुछ सुगन्ध भी होती है। औषध के अतिरिक्त तंत्र शास्त्र में मोहन तथा वशीकरण के लिये इसका पर्याप्त उपयोग किया जाता है। गोपित्त में कुछ पदार्थों का मिश्रण कर बनाया हुआ नकली गोरोचन भी बिकता है।

गुण और प्रयोग—गोरोचन शीतल, सुगन्धि, मृदु विरेचक, तिक्त, श्वित्रहर, मूत्रल, अश्मरीघ्न, बृंहण, आर्तवजनक एवं विषहर है।

इसका उपयोग उन्माद, अपस्मार, अपतंत्रक, आक्षेप, रोमान्तिका, मसूरिका, कुक्कास, अतिसार, कफज्वर, कामला, पाण्डु, गर्भस्राव, पित्त की न्यूनता एवं आन्त्रिक विकार आदि में किया जाता है।

(१) अपस्मार में इसको २ माशे की मात्रा में गुलाब जल में घिस कर पिलाने से पुनराक्रमण नहीं होता, ऐसा हकीम मानते हैं। यूनानी में इसका लेप श्वित्र, चेहरे के काले दाग, चर्म रोग तथा नेत्र के जाले में लाभदायक मानते हैं।

(२) मसूरिका आदि में उष्णता कम करने के लिये इसको खिलाया जाता है।

(३) बच्चों के अतिसार, कुकास एवं हरे दस्त आना आदि में इसको खिलाने से लाभ होता है।

मात्रा—१-२ र०।

नोट—पाश्चात्य चिकित्सा में गोपित्त को शुद्ध करके व्यवहार करने की पद्धति है। गोरोचन के स्थान में उसका प्रयोग करना उचित नहीं है। प्रसंगतः उसका भी वर्णन यहाँ किया गया है।

ले०-*Extractum fellis bovini* (एक्स्ट्रॅक्टम् फेलिस् बोहिनि)। अं०-Purified Ox-Gall (प्यूरिफाइड् ऑक्स-गॉल्)। हि०-गौ या बैल का शुद्ध पित्त, जहरमोहरा।

ताजे पित्त को सुखाकर जब चतुर्थांश शेष रहे तो उसमें मद्यसार (९०%) मिलाकर छानकर गोली बनाने लायक हो उतना सुखा लें। इसमें पित्त के लवण तथा रञ्जक पदार्थ पाये जाते हैं। यह गहरे पीताभ हरे रंग का लचीला पदार्थ होता है। इसका स्वाद कडुआ तथा अरुचिकर होता है। यह जल तथा मद्यसार दोनों में घुल जाता है। इसको विशिष्ट आवरण युक्त गोलियों के रूप में भोजन के २ घण्टे पश्चात् प्रयोग करते हैं।

गुण और प्रयोग—यह कड़वा पदार्थ होते हुये भी वानस्पतिक कड़वे पदार्थों के उतना अच्छा दीपन पदार्थ नहीं है। इससे पित्त का स्राव ठीक होने लगता है। जिनमें पित्त का उचित स्राव न होने के कारण अपचन तथा विबन्ध रहता है उनमें इसका उपयोग करते हैं। यह अग्न्याशय के स्नेह पाचक स्रावों को बढ़ाता है तथा स्नेह द्रव्यों के प्रचूषण में सहायक होता है। स्नेह द्रव्यों का प्रचूषण ठीक होने के कारण उसमें घुलने वाले जीवतिक्ति (हिटामिन्) 'ए', 'डि' तथा 'के' का भी ठीक प्रचूषण होता है। रक्तस्राव की अवस्था में रक्त को जमाने वाले पदार्थों में से रक्त में प्रोथ्रौंबिन् (Prothrombin) के निर्माण के लिये हिटामिन् 'के' की बहुत आवश्यकता रहती है। जब मल बहुत कड़ा हो जाता है तब इसको २०-३० ग्रेन की मात्रा में १ या २ औंस जल में घोल कर पिचकारी द्वारा वस्ति के रूप में देते हैं।

मात्रा—५-१५ ग्रेन।

अथ नखं नखी च (गन्धद्रव्यम्) तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

नखं व्याघ्रनखं व्याघ्रायुधं तच्चक्रकारकम् ॥ ८० ॥
नखं स्वल्पं नखी प्रोक्ता हनुर्हट्टविलासिनी। नखद्वयं ग्रहश्लेष्मवातास्रज्वरकुष्ठहृत् ॥ ८१ ॥
लघूष्णं शुक्रलं वर्ण्यं स्वादु व्रणविषापहम्। अलक्ष्मीमुखदौर्गन्ध्यहृत्पाकरसयोः कटु ॥ ८२ ॥

सुगन्धि द्रव्य नख तथा नखी के नाम तथा गुण—नख, व्याघ्रनख, व्याघ्रायुध और चक्रकारक ये सब संस्कृत नाम नख के हैं और दूसरा छोटा नख होता है उसे नखी कहते हैं उसके संस्कृत नाम—हनु तथा हट्टविलासिनी ये दो हैं। दोनों प्रकार के नख-ग्रहबाधा, कफ, वात, रक्तविकार (किंवा वातरक्त), ज्वर तथा कुष्ठ रोग को दूर करते हैं एवं लघु, उष्णवीर्य, शुक्रजनक, वर्णकारक, स्वादिष्ट, व्रण तथा विषनाशक, एवं अलक्ष्मी (दरिद्रता) तथा मुख की दुर्गन्ध को हरण करने वाले, पाक एवं रस में कटु रसयुक्त होते हैं ॥ ८०-८२ ॥

३१ नख-नखी

हि०-नख, नखी, छोटा नख। बं०-नखी गन्ध द्रव्य, छोट नखी। म०-नखला, वाघनख। ते०-नखमुचिप्प। गु०-नखला, सावजना नख। क०-नख, बाघनख। फा०-नाखून पर्य्या। अ०-अज़फ़ारुतिब, इकलिलुलमुलुक। अं०-Land snail (लँड स्नेल)। ले०-*Helix aspera* (हेलिक्स अँस्पेरा); *Achatina fulica* (अँचॅटिना फूलिका)।

नख एक सुगन्धि द्रव्य है। यद्यपि इसे नख, व्याघ्रनख आदि नाम दिये गये हैं तथापि यह किसी जानवर का नाखून नहीं है। यह एक प्रकार के सीप की जाति के समुद्री जीव के मुख के ऊपर का आवरण है जो नख सदृश होने के कारण नख कहा जाता है। भावप्रकाशकार ने इनके दो भेद लिखे हैं। बड़े को नख या व्याघ्रनख तथा छोटे को नखी लिखा है। अन्य ग्रन्थों में नखी के आकृति के अनुसार ५ भेद लिखे हैं। बेर के पत्ते के सदृश, कमलदल सदृश, घोड़े के खुर की आकृति के, हाथी के कान के समान आकार वाले तथा सुअर के कान के समान ये पांच प्रकार होते हैं। इनमें से सुअर के कान के समान निषिद्ध माना गया है। कुछ लोगों ने हाथी के कान सदृश और घोड़े के खुर के समान आकृति वाले नख का उपयोग गन्धयोगों में तथा बेर या कमलदल सदृश नख का उपयोग धूपन में बतलाया है।

यह गहरे भूरे रंग का तथा अनेक पटलों से बना हुआ कठोर, अपारदर्शक तथा नख के सदृश होता है। इसके उन्नतोदर पृष्ठ पर परत साफ दिखलाई देते हैं। इसको जलाने से दुर्गन्ध आती है लेकिन तैल के साथ पकाने से तैल सुगन्धित होता है। अन्य ग्रन्थों में इसके शोधन का विधान मिलता है। भैंस के गोबरयुक्त जल, तिन्तिड़ी जल या मृत्तिकायुक्त जल के साथ स्वेदन करके, प्रक्षालन करने के पश्चात् भून कर गुडहरीतकी मिले जल में बुझाते हैं। फिर पीस कर उपयोग में लाते हैं। चरक में प्रायोगिक धूम्रपान की वर्ति के योग में (सू. अ. ५ श्लो. २०), क्षयथुचिकित्सा (चि. अ. १६) में शैलेयकादि तैल और प्रदेह में, महासुगन्धहस्ती नामक अगद के योग में (चि. अ. २३), अमृतादि तैल (चि. अ. २८) तथा वातरक्त चिकित्सा (चि. अ. २९) में शतपुष्पादि तैल के योग में अन्य द्रव्यों के साथ नख का प्रयोग लिखा है। सुश्रुत में एलादिगण में व्याघ्रनख का उल्लेख है। तैलों को सुगन्धित करने के लिये इसका अधिक उपयोग होता है।

अथ वालम् [सुगन्धवाला]। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

वालं ह्रीवेरबर्हिष्ठोदीच्यं केशाम्बुनाम च। वालकं शीतलं रूक्षं लघु दीपनपाचनम्॥
हृल्लासारुचिवीसर्पहृद्रोगामातिसारजित्॥ ८३॥

सुगन्धवाला के नाम तथा गुण—वाल, ह्रीबेर, बर्हिष्ठ, उदीच्य, केशनाम (केशवाचक सभी शब्द), एवं अम्बुनाम (जलवाची सभी शब्द) तथा बालक ये सब 'सुगन्धवाला' के संस्कृत नाम हैं। सुगन्धवाला-शीतवीर्य, रूक्ष, लघु, अग्निदीपक तथा पाचक होती है और यह हृल्लास (जीमिचलाना), अरुचि, वीसर्प, हृद्रोग, आम तथा अतिसार इन सब रोगों को दूर करने वाली होती है॥ ८३॥

३२ सुगन्धबाला

हि०-सुगन्धवाला, नेत्रवाला। बं०-बाला। म०-काला वाला। गु०-वालो, कालो वालो। क०-वलरकसी गिडा। ते०-मुत्तुपलागमु, एर्राकुटी। ता०-पेरामुटिवेर। ले०-*Pavonia odorata Willd.* (पॅवोनिया ओडोरेटा विल्ड)। Fam. Malvaceae (मालवॅसी)।

सुगन्धवाला - पश्चिमोत्तर प्रदेश, सिन्ध, पश्चिम प्रायद्वीप और सिलोन में अधिक उत्पन्न होती है। इसके क्षुप में थोड़ी सी कस्तूरी की सुगन्ध रहती है।

इसका क्षुप-सीधा तथा १॥-३ फीट ऊँचा होता है और समस्त क्षुप पर बारीक रोवें होते हैं। पत्ते-१ से ३ इञ्च लम्बे गोलाकार हृदयाकृति, कंघी के पत्तों के आकार वाले, ३ से ५ भागों में थोड़ी दूर तक विभक्त और ऊपर के पत्ते दन्तुर होते हैं। पत्तों को मसलने से चिपचिपापन मालूम होता है। शाखाओं के अन्त में फूलों के गुच्छे लगते हैं। पुष्पदल-किञ्चित हलके गुलाबी रङ्ग के होते हैं। फल-अण्डाकृति, छोटे एवं चने बराबर होते हैं। बीज-भूरे रंग के, तैल से युक्त लेकिन गन्धहीन होते हैं। मूल-७-८ इञ्च लम्बे, प्रायः ऐंठे हुए तथा अधिक से अधिक ½ इञ्च मोटे, चिकने, भूरे रंग के तथा अनेक उपमूलों से युक्त रहते हैं। इसमें कस्तूरी के समान सुगन्ध रहती है। औषध में इन्हीं मूलों का व्यवहार किया जाता है।

नोट—बाजार में सुगन्धबाला के नाम से मिलने वाला गांठदार द्रव्य सुगन्धवाला नहीं है। उसे असली तगर मानते हैं। उसका वर्णन पहले किया गया है। कुछ लोगों ने इसके लैटिन नाम में खस का लेटिन नाम दिया है, वह उचित नहीं है। कुछ लोगों ने खस जाति के ही दूसरे तृण का लैटिन नाम सुगन्धवाला के लिए दिया है जिसको कुछ लोग खस का ही पर्याय मानते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें लुआबदार पदार्थ तथा उत्तेजक सुगन्धि द्रव्य हैं।

गुण और प्रयोग—सुगन्धवाला शीतल, स्नेहन, दीपन, वातानुलोमक, उत्तेजक एवं बल्य है।

इसका उपयोग ज्वर, रक्तपित्त, दाह, तृषा, हृल्लास, वमन, अतिसार, व्रणशोथ एवं विसर्प में किया जाता है।

(१) किसी भी प्रकार के ज्वर में षडंग पानीय के रूप में नागरमोथा, पित्तपापडा, खस, श्वेत चन्दन, सुगन्धवाला एवं सोंठ का क्वाथ देने से ज्वर का दाह एवं प्यास कम हो जाती है।

(२) वेल के साथ इसका उपयोग संग्रहणी में लाभकर होता है। अतिसार में आदी के साथ इसको फाण्ट बना कर पिलाते हैं। बच्चों के अतिसार में चावल के धोवन के साथ मिश्री, मधु तथा सुगन्धवाला देते हैं। वमन, हृल्लास आदि में भी तण्डुलोदक के साथ इसको देते हैं।

(३) रक्तपित्त में चन्दन, मिश्री तथा तण्डुलोदक के साथ इसका प्रयोग किया गया है।

(४) विसर्प में इसके चूर्ण को घृत के साथ लेप करते हैं। श्वित्र में इसकी जली हुई काली राख का लेप लाभदायक माना जाता है।

मात्रा—३-६ माशा।

अथ वीरणम्। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

स्याद्वीरणं वीरतरुर्वीरश्च बहुमूलकम्। वीरणं पाचनं शीतं वान्तिहृल्लघु तिक्तकम्॥ ८४॥
स्तम्भनं ज्वरनुद् भ्रान्तिमदजित्कफपित्तहृत्। तृष्णाऽस्रविषवीसर्पकृच्छ्रदाहव्रणापहम्॥८५॥

वीरण अर्थात् गांडर घास के नाम तथा गुण—वीरण, वीरतरु, वीर और बहुमूलक ये नाम संस्कृत में वीरण के हैं। वीरण-पाचक, शीतवीर्य, वमन को दूर करने वाला, लघु, तिक्त रसयुक्त एवम् स्तम्भन होता है। यह ज्वर, भ्रमरोग, मदरोग, कफ, पित्त, तृषा, रक्तप्रकोप, विष, वीसर्प, मूत्रकृच्छ्र, दाह और व्रण को दूर करने वाला होता है॥ ८४-८५॥

अथोशीरम् । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

वीरणस्य तु मूलं स्यादुशीरं नलदञ्च तत् । अमृणालञ्च सेव्यञ्च समगन्धिकमित्यपि ॥८६॥
उशीरं पाचनं शीतं स्तम्भनं लघु तिक्तकम् ॥ ८७ ॥
मधुरं ज्वरहृद्वान्तिमदनुत्कफपित्तहृत् । तृष्णाऽस्रविषवीसर्पदाहकृच्छ्रव्रणापहम् ॥ ८८ ॥

खस के नाम तथा गुण –'वीरण' नामक घास के जड़ को 'खस' कहते हैं। उसके संस्कृत नाम–उशीर, नलद, अमृणाल, सेव्य और समगन्धिक ये सब हैं। खस–पाचक, शीतवीर्य, स्तम्भन, लघु, तिक्त तथा मधुर रस युक्त होता है और यह ज्वर, वमन, मदरोग, कफ, पित्त, तृषा, रक्तप्रकोप, विष, वीसर्प, दाह, मूत्रकृच्छ्र और व्रण को दूर करने वाला होता है ॥ ८६–८८ ॥

३३ वीरण–खस

हि०–खस, वीरन मूल, गांडर, बेना। बं०–वेणर मूल, खसखस। म०–वाला। गु०–वालो। क०–मुडिवाल। ते०–वेट्टिवेलु। ता०–वेट्टिवेर। फा०–रेशये वाला, दीखेवाला। अं०–Cuscus grass (कस्कस ग्रास) ले०–*Andropogon muricatus Retz.* (एन्ड्रोपोगोन् म्युरिकॅटस् रेज़.); *Vetiveria zizanioides (Linn.) Nash* (वेटिवेरिया झाइझेनिऑइडिस् (लिन) नॅश)। Fam. Gramineae (ग्रॅमिनी)।

यह इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है। यह अधिकतर खुले हुये दलदल वाले स्थानों में होता है।

खस–तृणजातीय औषधि का क्षुप २ से ५ फुट तक ऊँचा एवं दृढ होता है। यह गुच्छबद्ध और समूह बद्ध होकर उगता है। पत्ते–सरकण्डे के समान १–२ फुट लम्बे और पतले होते हैं। ये दो कतारों में तथा आधार पर परस्पराच्छादित रहते हैं। मूलीयपत्र कुछ अधिक लम्बे रहते हैं। मध्यशिरा दबी हुई तथा पत्तों के किनारों पर दूर दूर पर तीक्ष्ण कांटे रहते हैं। फूलों का धनहरा पीलापन या किंचित् लाली युक्त होता है। इसकी जड़ सुगन्धित होती है। इसी को खस कहते हैं। औषध के अतिरिक्त ग्रीष्म ऋतु में इसके बने परदे एवं पखों आदि का उपयोग किया जाता है। सुगन्धि के लिये इसके इत्र का भी बहुत व्यवहार होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें उड़नशील तैल, राल, रंजक पदार्थ, अम्लद्रव्य, चूने का लवण, लौहभस्म तथा काष्ठयुक्त पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—खस शीतल, तिक्त, स्तम्भक, पाचक, पित्तनाशक, मूत्रजनक, पसीनें की दुर्गंध दूर करने वाला, ज्वरहर, दाहशामक, स्तन्यजनक, वमन को रोकने वाला, श्रमहर एवं जल को सुगन्धित करने वाला है।

इसका उपयोग फांट के रूप में पित्तज्वर, प्रसूति ज्वर, तृष्णा, दाह, मूत्रकृच्छ्र, रक्तपित्त, विष, स्वेद दुर्गन्धि, वमन, कुष्ठ एवं आमाशयिक प्रक्षोभ आदि में किया जाता है। इसका लेप दाह, त्वचा के रोग तथा पसीने को रोकने वाला है।

(१) वमन को रोकने के लिये ½ तो० खस को १ पाव उबलते जल में डालकर उसके फांट को पिलाते हैं। इसके साथ धनियां का भी उपयोग लाभदायक है। विसूचिका में वमन रोकने के लिये २ बूँद इत्र बताशा में भरकर खिलाते हैं।

(२) पसीने की अधिकता तथा मसूरिका में इसका लेप किया जाता है।

(३) लोहबान के साथ चिलम मे रखकर या सिगरेट बनाकर इसका धूम्रपान करने से शिरःशूल दूर होता है।

मात्रा—२–४ माशा।

अथ जटामांसी । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

जटामांसी भूतजटा जटिला च तपस्विनी । मांसी तिक्ता कषाया च मेध्या कान्तिबलप्रदा ॥
स्वाद्वी हिमा त्रिदोषास्रदाहवीसर्पकुष्ठनुत् ॥ ८९ ॥

जटामांसी (बालछड़) के नाम तथा गुण—जटामांसी, भूतजटा, जटिला, तपस्विनी और मांसी ये सब संस्कृत नाम जटामांसी के हैं। जटामांसी (बाल छड़)-तिक्त तथा कषाय रस युक्त, मेधाजनक, कान्तिकारक, बलप्रद, स्वादिष्ट और शीतवीर्य होती है और यह त्रिदोष, रक्तप्रकोप, दाह, वीसर्प एवम् कुष्ठ को दूर करने वाली होती है ॥ ८९ ॥

३४ जटामांसी

हि०-जटामांसी, बालछड़ । बं०-,गु०-,-म०-जटामांसी । ते०-जटामांशी । क०-जेटामावशा । पं०-बिल्लीलोटन । ता०-जटामाशी । का०-भूतिजटा । सु०-सम्बुल । फा०-नारदे हिन्दी । अ०-सुंबुलुत्तीबे हिन्दी, सुम्बुले हिन्दी । अं०-Spikenard (स्पाइकनार्ड); Indian Nard (इण्डियन नार्ड); Nardus root (नार्डस् रूट) । ले०-*Nardostachys jatamansi DC.* (नार्डोस्टॅकिस् जटामांसी डीसी.) । Fam. Valerianaceae (वॅलेरियानॅसी) ।

जटामांसी—यह हिमालय के जङ्गलों में कुमाऊँ से सिक्कम तक १७ हजार फीट की ऊँचाई पर तथा भूटान में उत्पन्न होती है । इसका बहुवर्षायु क्षुप सीधा खड़ा रहता है । राइझोम (भौमिक तना) काष्ठमय, लम्बा, मजबूत एवं सूखे हुये रेशेदार पर्णवृन्त से युक्त रहता है । भूमि के ऊपर जड़ से कई शाखाए निकलती हैं और वे ६-७ अंगुल तक सघन बारीक जटाकार रोयें से भरी रहती हैं । पत्ते-जटा को छोड़ कर ऊपर ६-७ इञ्च लम्बे तथा १ इञ्च चौड़े, जड़ की ओर संकुचित, मृदु रोमश या चिकने मूलीय पत्ते रहते हैं । काण्डपत्र-एक या दो जोड़े, १-३ इञ्च लम्बे, अवृन्त, आयताकार या उपलट्वाकार होते हैं । डंडियों के अन्त में सफेद या किंचित् गुलाबी रङ्ग के छोटे-छोटे फूलों के गुच्छे लगते हैं । फल-छोटे-छोटे गोल, सफेद रोएँदार तथा उनके ऊपर वाह्यकोष के अंडाकार, तीक्ष्ण, दन्तुर बाह्यदल लगे रहते हैं ।

इसके सूखे हुवे राइझोम (भौमिक तना) तथा मूल का औषध में व्यवहार किया जाता है । इसका मूल गहरे धूसर (Grey) रंग का, छोटी अंगुली के बराबर मोटा तथा रक्ताभ भूरे रंग के रोओं से युक्त होता है । ये रोएदार तन्तु इसके सूखे हुये पर्णवृन्त तथा मूल के भाग हैं जिनके आपस में मिलने से जटासी बन जाती है । अन्दर से यह रक्ताभ भूरे रंग की होती है । इसमें एक प्रकार की विशिष्ट गन्ध (असली तगर के समान) होती है तथा इसका स्वाद सुगन्धियुक्त कडुवा होता है । इसको हमेशा ताजी खरीदना चाहिये ।

नोट—अन्य निघण्टुओं में गन्धमांसी, आकाशमांसी, कृष्णा सुगन्धमांसी आदि भेद लिखे हुवे हैं । प्राचीन ग्रन्थों में इसके स्वतन्त्र उपयोग बहुत कम मिलते हैं ।

रासायनिक संगठन—इसमें का प्रधान तत्त्व एक उड़नशील तैल है जो ०.३-०.४% पाया जाता है । यह तैल हलके पीले रंग का कुछ हरिताभ, जल से हलका, हवा में जमने वाला, कपूर के समान गन्ध वाला, कड़वा तथा तीता होता है । इस तैल में ईस्टर, अल्कोहल तथा सेस्की टर्पेन हाइड्रोकार्बन पदार्थ होते हैं । इस तैल के अतिरिक्त जटामांसी में ३% एक रवेदार किन्तु जल में न घुलने वाला अम्ल द्रव्य तथा राल पाई जाती है ।

गुण और प्रयोग—जटामांसी शीतल, सुगन्धि, दीपन, पाचन, बल्य, रक्ताभिसरणोत्तेजक, उद्वेष्टननिरोधि, वातानुलोमक, मूत्रल, मृदुविरेचक, आर्तवजनन, वातनाड़ीशामक, संज्ञास्थापन,

मेध्य, त्रिदोषघ्न, केश्य, ज्वरहर, त्वग्दोषहर, कान्तिवर्धक, वेदनास्थापन, हृदयबल्य एवं सौमनस्य जनन है। इसके सेवन से क्षुधा बढ़ती है, पाचन ठीक होता है किन्तु कोष्ठबद्धता नहीं होती। इसके सेवन से उदर में उष्णता मालूम होती है, डकार आती है, संपूर्ण शरीर में उष्णता मालूम होकर पसीना आता है, मूत्र की मात्रा बढ़ती है तथा नाड़ी सबल होती है। मस्तिष्क एव नाड़ी तन्तुओं पर इसकी पोषक तथा उत्तेजक क्रिया होती है। अल्प मात्रा में बहुत दिन देते रहने से मन की चञ्चलता शान्त होती है, काम करने में उत्साह बढ़ता है तथा नाडी का बल बढ़ता है।

अपस्मार, अपतन्त्रक तथा अन्य आक्षेपयुक्त व्याधियों में इसका बहुत प्रयोग किया जाता है।

(१) मस्तिष्क तथा नाड़ी तन्तुओं के विकारों में जटामांसी बहुत लाभप्रद होती है। शराबियों को व्रण होने पर या उन पर कोई शस्त्रक्रिया करने पर उनको एक तरह का भ्रमणयुक्त कम्प उत्पन्न होता है। ऐसी अवस्था में जटामांसी के प्रयोग से पर्याप्त लाभ होता है। अत्यन्त मानसिक परिश्रम या अस्थैर्य से थकावट उत्पन्न होने पर इसका सेवन नाडियों के लिए बलकारक तथा श्रमहर होता है। अपतन्त्रक में इससे आवेग कम होते हैं। शिरःशूल के लिये यह उत्कृष्ट औषध है। मानसिक आघात में यह बहुत जल्दी काम करती है। हींग, कस्तूरी आदि की अपेक्षा जटामांसी इन विकारों में अधिक उपयोगी तथा शीघ्र कार्यकर मानी जाती है। भूतावेश जैसी चेष्टाओं में जटामांसी, ब्राह्मी स्वरस तथा घोडबच का मधु के साथ प्रयोग करते हैं। अपस्मार, अपतन्त्रक, हृदय की धड़कन, कम्पवात तथा अन्य आक्षेपयुक्त व्याधियों में इसका फाण्ट बहुत प्रभावशाली माना जाता है। इनमें इसे १ से २ औंस की मात्रा में दिन में ३ बार पिलाते हैं। अपस्मार में इसके तैल का २–५ बूँद की मात्रा में सेवन कराया जाता है।

(२) रक्ताभिसरण ठीक न होता हो तो यह बहुत ही उपयुक्त औषध है। इससे मस्तिष्कगत रक्तप्रवाह सन्तुलित होता है जिससे सर का भारीपन, चक्कर, मूर्च्छा, आंखों के सामने अंधियारी, सुनाई कम पड़ना आदि में लाभ होता है। हृदय की धड़कन, कमजोरी तथा हृदय के कारण उदर में वायु सञ्चित होने पर इसे सुगन्ध द्रव्य तथा नवसादर के साथ खिलाते हैं। इससे रक्तवाहिनियों का संकोच होकर रक्तपित्त, विसर्प तथा रक्तस्राव में लाभ होता है।

(३) जटामांसी ४, दालचीनी १, शीतलचीनी १, सौंफ १, सोंठ १ तथा मिश्री ८ भाग इनके चूर्ण को ३–९ माशे की मात्रा में आध्मान, शूल, आमाशयिक शूल तथा आक्षेपयुक्त विकारों में देते हैं। बच्चों के आध्मान, उदरशूल, सुशिक्षितों तथा नाजुक प्रकृति की स्त्रियों के मन्दशूल, कुपचन आदि पचन संस्थान के विकारों में जटामांसी और नवसादर के साथ सुगन्धि द्रव्यों को मिलाकर देते हैं। इससे पित्त का स्राव ठीक होकर पाचन सुधरता है।

(४) औपसर्गिक शोथयुक्त ज्वरों में त्रिदोष की वृद्धि होने से रोगी प्रलाप करता है तथा सन्निपात के लक्षण दिखलाई देने लगते हैं। इन अवस्थाओं में इसके प्रयोग से शीघ्र लाक्षणिक लाभ होता है। इससे रक्ताभिसरण ठीक होता है, नाडी तन्तुओं को बल मिलता है, कफ ढीला होता है, दाह कम होता है तथा शोथ में भी लाभ होता है। विषम ज्वर में भी इससे पर्याप्त लाभ होता है।

(५) विस्फोट एवं व्रणों में इसके लेप से जलन तथा पीडा कम होती है। मुखपाक में भी इससे जलन तथा पीडा का शमन होता है। झांई-व्यङ्ग आदि त्वग्दोषों में उबटन के रूप में व्यवहार करने से त्वचा की कान्ति बढ़ती है। यह बालों के लिये भी लाभदायक है। शिरःशूल में इसका लेप करते हैं। दन्तशूल में इससे मञ्जन कराते हैं। मुखदुर्गन्ध में इसे चबाते हैं। स्वेदाधिक्य में इसके चूर्ण का उपयोग मर्दन के लिये करते हैं। बेहोशी में इसे पीसकर आंखों पर लेप करते हैं।

(६) पीडितार्तव में इसके सेवन से पीड़ा कम होती है तथा आर्तव स्राव ठीक होने लगता है। स्त्रियों में रजोनिवृत्ति के काल में कुछ विशिष्ट मानसिक तथा शारीरिक अवसाद के लक्षण उत्पन्न होते हैं ऐसी अवस्थाओं में जटामांसी बहुत उपयोगी होती है।

मात्रा—५-१० रत्ती।

अथ शैलेयम् (भूरिछरीला)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

शैलेयन्तु शिलापुष्पं वृद्धं कालानुसार्य्यकम् ॥ ९० ॥
शैलेयं शीतलं हृद्यं कफपित्तहरं लघु। कण्डूकुष्ठाश्मरीदाहविष हृद् गुदरक्तहृत्[1] ॥ ९१ ॥

शैलेय (भूरिछरीला) के नाम तथा गुण—शैलेय, शिलापुष्प, वृद्ध और कालानुसार्यक ये सब संस्कृत नाम भूरिछरीला के हैं। भूरिछरीला—शीतवीर्य, हृद्य (हृदय को हितकर), कफ तथा पित्तनाशक, लघु, एवम् खुजली, कुष्ठ, पथरी, दाह, विष तथा गुदा से रक्त गिरना इन सब को दूर करने वाला है।

२५ छरीला

हि०-छरीला, भूरिछरीला, पत्थरफूल। बं-शैलज। म०-दगडफूल। गु०-पत्थरफूल, छडीलो। क०-कल्लहुवु। ते०-शैलेय मनेद्रव्यमु, रतिपंचे। ता०-कलपसी। फा०-उशनह, गुलेसंग। अ०-उश्नः। अं०-Stone flowers (स्टोन फ्लावर्स); Yellow Lichen (यलो लाइचेन)। ले०-*Parmelia perlata Ach.* (पार्मेलिया परलॅटा आक०)। Fam. Parmeliaceae (पार्मेलियॅसी)।

छरीला—यह क्षुद्र वनस्पति पहाड़ी जमीन के पत्थरों पर उत्पन्न होती है और जान पड़ता है मानो यह पत्थर से ही अपना आहार लेती है। यह हिमालय और नीलगिरि के पहाड़ों पर पाई जाती है। यह वृक्षों और दीवालों पर भी पाई जाती है। यह हरी पेडीसी सञ्चित होकर जब सूख कर उतरती है तब इसके ऊपर का पृष्ठ काला और नीचे का सफेद होता है। जो अधिक सफेद होती है वही अच्छी समझी जाती है। इसकी कई जातियां पाई जाती हैं। इसका स्वाद फीका तिक्त-कषाय होता है। औषध के लिये हमेशा नया तथा सुगन्धयुक्त छरीला काम में लेना चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसमें पीत रवेदार पदार्थ, गोंद, लाइचेनिन एवं क्राइसोफेनिक् एसिड, ये पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—छरीला शीतल, सुगन्धि, हृद्य, सौम्य मूत्रल, दीपन, वेदनास्थापन, ग्राही एवं शोथहर है। यह कफ, पित्त, दाह, तृषा, वमन, श्वास, व्रण, कण्डू, अश्मरी, विष, हृल्लास, गुदरक्तस्राव एवं रक्तविकार दूर करने वाला है। पेशाब रुकने पर १ तो० छरीला के फांट में मिश्री एवं जीरा मिलाकर पिलाते हैं तथा इसे गरम जल में भिगोकर कमर पर बांधते हैं। इसे ठण्डे जल में पीस कर सर पर लेप करने से शिरःशूल दूर होता है। व्रण पर इसे लगाने से लाभ होता है। यकृत् शूल निवारण के लिये इसका उपयोग करते हैं। अञ्जन के योगों में भी इसका प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—२-४ माशा।

---

१. विषहृल्लासरक्तजित् इति पाठा०।

अथ मुस्तकं-नागरमुस्तकञ्च। (मोथा-नागरमोथा)। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

मुस्तकं न स्त्रियां मुस्तं त्रिषु वारिदनामकम्। कुरुविन्दश्च संख्यातोऽपरः क्रोडकसेरुकः॥९२॥
भद्रमुस्तञ्च गुन्द्रा च तथा नागरमुस्तकः। मुस्तं कटु हिमं ग्राहि तिक्तं दीपनपाचनम्॥९३॥
कषायं कफपित्तास्रतृड्ज्वरारुचिजन्तुहृत्। अनूपदेशे यज्जातं मुस्तकं तत्प्रशस्यते।
तत्रापि मुनिभिः प्रोक्तं वरं नागरमुस्तकम्॥ ९४॥

मोथा तथा नागरमोथा के नाम और गुण – मुस्तक (इसका स्त्रीलिङ्ग को छोड़ कर शेष लिङ्गों में प्रयोग होता है, मुस्त (यह तीनों लिङ्गों में होता है), वारिदनामक (मेघवाची सभी शब्द) और कुरुविन्द ये सब संस्कृत नाम मोथा के हैं। दूसरे प्रकार का जो मोथा है जिसे नागरमोथा कहते हैं, उसके संस्कृत नाम—क्रोडकसेरुक, भद्रमुस्त, गुन्द्रा तथा नागरमुस्तक ये सब हैं। मोथा–कटुतिक्त तथा कषाय रस युक्त, शीतवीर्य, ग्राही, अग्निदीपक तथा पाचक होता है और यह कफ, पित्त, रक्तकोप, तृषा, ज्वर, अरुचि और कृमि का नाशक होता है। जो 'मोथा' अनूप देश में उत्पन्न होता है वही श्रेष्ठ होता है। उसमें भी मुनियों ने 'नागरमोथा' को ही सर्वश्रेष्ठ बतलाया है।

३६ मोथा

हि०–मोथा। बं–मुता, मुथा। म०–मोथा, बिम्बल, भद्रमुष्टि। गु०–मोथ। क०–कोरनारि। तै०–तुंगमुस्ते। ता०–कोरइ किलंगु। फा०–मुश्के जर्मी। अ०–सोअ(अ)द कूफी। अं०–Nut-grass (नट्ग्रास)। ले०–*Cyperus rotundus Linn.* (साइपेरस् रोटन्डस् लिन.)। Fam. Cyperaceae (साइपेरॅसी)।

मोथा इस देश के सब प्रान्तों में बहुलता से होता है। यह तृणजातीय वनस्पति बारहो मास पायी जाती है किन्तु बरसात में सर्वत्र देखने में आती है। इसमें मूलीय पत्रगुच्छ होता है जो एक कठोर कन्द सदृश भौमिककाण्ड से निकलता है। नीचे सूत्राकार अन्तर्भूमिशायी कांड भी प्रायः होते हैं जिनमें पौन से एक इञ्च के घेरे में अंडाकार कंद निकले रहते हैं जो कसेरू के समान ऊपर से काले रंग के और भीतर से लालीयुक्त सफेद होते हैं और इनमें सुगन्ध आती है। डंडी–पतली; ६ से २४ इञ्च तक ऊँची, त्रिकोणाकर तथा पत्तों के बीच से निकली रहती है। पत्ते–लम्बे और पतले होते हैं। डंडी के अग्रपर समस्थमूर्धजक्रम में पुष्पवाहक शाखायें निकलती हैं जो छोटे-छोटे अवृन्त काण्डजव्यूहों का संयुक्तव्यूह होती हैं। पुष्पव्यूह का आधार भाग तीन पत्रसदृश कोणपुष्पकों से घिरा रहता है। इसके काले-काले कंदों का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

नोट—भावप्रकाशकार ने मोथा एवं नागरमोथा ये दो भेद यहां लिखे हैं तथा मुस्ता का एक अन्य कैवर्तमुस्ता (जलजमुस्ता, केवटीमोथा) भेद आगे लिखा है। नागरमोथा का ही दूसरा नाम भद्रमुस्ता लिखा है। अन्य निघण्टुओं में भद्रमुस्ता अलग लिखा है। सब मोथे के गुण करीब-करीब समान ही हैं तथा एक दूसरे के स्थान पर इनका उपयोग किया जा सकता है। अनूप देश में होने वाला नागरमोथा अधिक प्रशस्त माना गया है। यह हमेशा ताजा तथा सुगन्धयुक्त खरीदना चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसमें एक सुगन्धित उड़नशील तैल, वसा, शर्करा, गोंद, कार्बोहाइड्रेट, अॅल्ब्यूमिन सदृश पदार्थ, तन्तु तथा राख एवं अत्यल्प मात्रा में क्षाराभ आदि पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—मोथा ग्राही, दीपक, पाचक, स्वेदजनक, मूत्रजनक, स्तन्यवर्धक, आर्तवजनक, किञ्चित गर्भाशयोत्तेजक, केशवर्धक, व्रणरोपक एवं कृमिघ्न है।

(१) कुपचन, वमन एवं अतिसार यदि आमाशय तथा आन्त्र के विकारों में इसका बहुत प्रयोग किया जाता है। आमातिसार में ताजे कन्द को आर्द्रक के साथ पीसकर मधु मिला कर खिलाते हैं। इसमें २० मोथे के कन्दों को ३ गुने दूध तथा जल में उबाल कर दूध शेष रहने पर छानकर पिलाते हैं। सभी प्रकार के अतिसार में इसके क्वाथ में (क्वाथ ठंडा होने पर) मधु मिलाकर पिलाने से लाभ होता है।

(२) स्वेदजनक, मूत्रजनक एवं उत्तेजक होने से यह ज्वर, ज्वरातिसार एवं पित्त ज्वर में उपयोगी है।

(३) विसूचिका तथा मदात्यय में तृषा शान्ति के लिये इसके शीतल क्वाथ को पिलाते हैं।

(४) अक्षिव्रण में इसे घृत में भूनकर पीसकर लगाने से ३, ४ दिन में लाभ होता है। आँख की फूली एवं लालिमा में बकरी के मूत्र में इसे पीसकर उसका अंजन किया जाता है।

(५) इसकी ताजी जड़ को घिसकर गोघृत मिलाकर व्रण पर लगाते हैं तथा इसको जल में पीसकर दुग्धवृद्धि के लिये स्तन पर लेप करते हैं।

(६) रोमन लोग आर्तवजनन औषध के रूप में गर्भाशय की बीमारियों में इसका व्यवहार करते थे।

मात्रा—३-६ माशा।

३७ नागर मोथा

हि०-नागर मोथा। बं०-नागरमथा। म०-नागरमोथा, लवाला। मा०-नागर मोथो। गु०-नागरमोथ। क०-कोन्नरि गड्डे। ते०-नागमुस्तेलु। ता०-मुट्टाकाचि। फा०-मुश्के जमीं। अ०-सोअद कूफी। ले०-*Cyperus scariosus R. Br.* (साइपेरस् स्कॅरिओसस् आर. ब्र.)। Fam. Cyperaceae (साइपेरॅसी)।

नागरमोथा-मोथे के समान तृणजातीय वनौषधि बंगाल, पेगु, उत्तरप्रदेश एवं पूर्व तथा दक्षिण के भागों के तालाब तथा सजल स्थान में पाया जाता है। इसकी डंडी १६ से ३६ इञ्च तक ऊँची, पतली त्रिकोणाकार होती है। जड़ के नीचे कंदवत् लम्बे-लम्बे, अंगुली प्रमाण मोटे, दबे हुये गहरे भूरे रंग के जो अन्तर्भूमिशायी काण्ड होते हैं उन्हीं को नागरमोथा कहते हैं जिनका चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—मोथा के समान।

गुण और प्रयोग—नागरमोथा शीतल, दीपन, पाचन, वातानुलोमक, ग्राही, स्वेदजनन, कफघ्न, मेध्य, तृष्णानिग्रहण, स्तन्यजनन, स्तन्यशोधन, कण्डूघ्न, मूत्रजनन, उत्तेजक तथा जन्तुनाशक है। इसका उपयोग मोथे के समान ही किया जाता है। यद्यपि इसमें इतने उपयुक्त धर्म हैं तथापि इसका प्रयोग अन्य औषधों के साथ अधिक किया जाता है।

(१) अरुचि, आमातिसार, वमन, रक्तार्श तथा कुपचन में नागरमोथा गुणकारी है। संग्रहणी में इससे बहुत लाभ होता है।

(२) ज्वर, प्रसूतिज्वर तथा पैत्तिक ज्वर में हमेशा इसका प्रयोग करना चाहिये। इससे प्यास कम होती है, पसीना आता है, उत्तेजना आती है, जीभ का स्वरूप अच्छा होता है, पेशाब साफ होता है तथा गर्भाशय का थोड़ा सा संकोच भी होता है। प्रसूता को दुग्ध शुद्धि तथा वृद्धि के लिये इसको खिलाते हैं तथा जल में घिस कर स्तन पर लेप करते हैं। इससे स्तन की दूध की गाँठें कम होती हैं।

(३) परमा में नागरमोथा बहुत लाभदायक है। यह प्रथम एवं द्वितीयावस्था में दिया जाता है।

(४) अपस्मार में उत्तर दिशा में होने वाले मोथे को पीसकर समान वर्ण वाली सवत्सा गौ के दुग्ध के साथ पिलाने से लाभ होता है।

(५) इसका जन्तुघ्न धर्म अधिक मात्रा में देने से ही मालूम होता है। कंडू में इसका लेप किया जाता है।

मात्रा—३-६ माशा।

अथ कर्चूरः । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कर्चूरो वेधमुख्यश्च द्राविडः कल्पकः शटी। कर्चूरो दीपनो रुच्यः कटुकस्तिक्त एव च ॥९५॥
सुगन्धिः कटुपाकः स्यात्कुष्ठार्शोव्रणकासनुत्।
उष्णो लघुर्हरेच्छ्वासं गुल्मवातकफक्रिमीन् ॥ ९६ ॥

कचूर के नाम तथा गुण—कर्चूर वेधमुख्य, द्राविड, कल्पक और शटी ये सब संस्कृत नाम कचूर के हैं। कचूर—कटु तथा तिक्त रस युक्त, अग्निदीपक, रुचिकारक, सुगंध युक्त, पाक में कटुरस युक्त, उष्णवीर्य और लघु होता है एवं यह कुष्ठ, बवासीर, व्रण, खांसी, श्वास, गुल्म, वात, कफ और कृमि इन सब रोगों का नाशक होता है ॥ ९५-९६ ॥

३८ कचूर

हि०-कचूर। बं०-शटी, एकांगी, शोरी, कचूरा। म०-कचोरा। गु०-कचूरो, षट् कपूरो। ते०-कचोरमु। ता०-किच्छिलिक किझंगु। क--कचोरा। अ०-जरंबाद, एरकुल् काफुर। फा०-कजूर। अं०-Zedoary (झिडोअरी)। ले०-*Curcuma zedoaria Rosc.* (कर्क्युमा झेडोरिआ रास्)। Fam. Zingiberaceae (झिंजिबेरेसी)।

पूर्व हिमालय, सिंहल द्वीप, कनारा का तटीय प्रदेश तथा बर्मा के पश्चिम में यह आपही आप उत्पन्न होता है ओर कई प्रान्तों में रोपित किया हुआ भी पाया जाता है।

इसका क्षुप-तीन चार फीट ऊँचा हलदी के समान होता है और जड़ के नीचे अनेक कंद होते हैं। उनको कचरा कर सुखा लेते हैं। इसी को कचूर कहते हैं। पत्त—१-२ फीट लंबे, आयताकार, लंबाग्र और नीचे की ओर क्रमशः संकुचित होकर पत्रवृन्त में परिणत हो जाते हैं। ये कुछ कालापन लिये हुये तथा मध्य शिरा पर नीलारुण रंगीन धब्बों से युक्त होते हैं। पुष्पदंड पत्तियों के पहले निकलता है। कोणपुष्पक रक्ताभ और ऊपर के अपुष्प पत्र अधिक लाल होते हैं। फूल—नलिकाकार पीले रंग के आते हैं। फल-त्रिकोणाकार और बीज अंडाकार और सफेद होते हैं। अन्तर्भूमिशायी कन्द लंबगोल, भीतर हलके पीले और पूर्णतः विकसित रहते हैं। मूलाग्र कन्द अनेक और भीतर मुक्तावर्ण के होते हैं। अन्तर्भूमिशायी कंद कर्पूर तुल्य प्रियगंध वाले होते हैं। इन्हीं कंदों का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। इसकी पत्तियों को मछली भूनने के काम में लाते हैं। इसी क्षुप के समान काली हलदी का क्षुप होता है जिसका वर्णन पृ० ११८ पर किया गया है।

कर्चूर का पर्याय शटी क्यों पड़ा इस सम्बन्ध में श्री ठा० बलवन्तसिंह जी का मत है कि प्राचीन ग्रन्थों में 'कर्चूर' का उल्लेख नहीं है, शठी का है। इस शठी (कपूरकचरी) की उपलब्धि कम होने के कारण उसके स्थान पर प्रतिनिधिरूप में कचूर का उपयोग होने लगा तथा उसे भी शठी

नाम दे दिया गया। शटी (कचूर) और शठी (कपूरकचरी) यह थोड़ा सा नामभेद कोई योजनापूर्वक पार्थक्य दिखलाने के लिये नहीं रखा होगा। बल्कि गलती से ऐसे दो नाम पड़ गये होंगे।

रासायनिक संगठन—इसमें उड़नशील तैल, कटु मुलायम राल, गोंद, स्टार्च, शर्करा एवं ऑर्गेनिक् अम्ल आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—कचूर सुगंधि, रुचिकर, दीपन, स्वर्य, कफहर, वातहर, मूत्रजनन एवं हृद्य है।

इसका उपयोग कास, श्वास, अजीर्ण, अर्श, हिक्का, ज्वर, संग्रहणी, प्लीहा, गुल्म, कुष्ठ, कृमि एवं व्रण में किया जाता है।

(१) मुख को साफ करने के लिये इसको चबाते हैं। गायक इसको आवाज साफ करने के लिये चूसते हैं। इससे खांसी एवं गले की खराश में लाभ होता है।

(२) इसके ताजे कंदों का पाक या खण्ड प्रसूता के लिए पौष्टिक माना जाता है।

(३) विषमज्वर, प्रतिश्याय तथा शरीर में पीडा हो तो कचूर, छोटी पीपल एवं दालचीनी का क्वाथ मधु मिलाकर पिलाते हैं तथा पीडा में इसका लेप करते हैं।

(४) श्वेत प्रदर तथा पूयमेह में यह बहुत लाभप्रद है। परमा में इसके फांट से जलन कम होकर पेशाब साफ होता है।

(५) जलोदर में इसके पत्तों का रस पिलाया जाता है। गांठों तथा फोड़े आदि पर इसके पत्तों को पीसकर बांधा जाता है। अर्श तथा अतिसार में इसका शाक के रूप में प्रयोग लाभप्रद माना जाता है।

(६) बच्चों के आक्षेप में कंबोडियन माताएं इसको चबाकर सर तथा शरीर पर लगाती हैं।

(७) मोच में इसको पीसकर फिटकिरी मिलाकर लगाते हैं।

मात्रा—१-४ माशा।

अथ मुरा (मुरहरी, एकाङ्गी)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

मुरा गन्धकुटी दैत्या सुरभिः शालपर्णिका ॥ ९७ ॥
मुरा तिक्ता हिमा स्वाद्वी लघ्वी पित्तानिलापहा।
ज्वरासृग्भूतरक्षोघ्नी कुष्ठकासविनाशिनी ॥ ९८ ॥

मुरा (एकाङ्गी) के नाम तथा गुण—मुरा, गन्धकुटी, दैत्या, सुरभि और शालपर्णिका ये सब संस्कृत नाम मुरा के हैं। मुरा-तिक्त रस युक्त, शीतवीर्य, स्वादिष्ट और लघु होती है एवं यह पित्त, वात, ज्वर, रक्तविकार, भूत और राक्षस सम्बन्धी बाधा, कुष्ठ तथा खांसी इन सबों को दूर करने वाली होती है ॥ ९७-९८ ॥

३९ मुरा

मुरा नामक गन्धद्रव्य के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ लोग इसे मरोडफली (Helicteres isora Linn. हेलिक्टेरिस आइसोरा लिन.) मानते है, जो उचित नहीं मालूम होता। डा० कर्नल चोपरा की पुस्तक में एरिथ्रिना स्ट्रिक्टा राक्सब. (Erythrina stricta Roxb.) का संस्कृत नाम मुरा लिखा मिलता है। पंजाबी में मुर्दा नाम साइनेन्थस् का दिया है जिसके पुष्पों का दमे में उपयोग होता है। कुछ लोग इसे कचूर, कपूरकचरी या जटामांसी का भेद मानते हैं। अधिक संभव है यह कपूरकचरी का भेद हो।

अथ गन्धपलाशी (कपूरकचरी) (सुगन्धिद्रव्यं काश्मीरे प्रसिद्धम्)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

शठी पलाशी षड्ग्रन्था सुव्रता गन्धमूलिका।
गन्धारिका गन्धवधूर्वधूः पृथुपलाशिका ॥ ९९ ॥
भवेद्गन्धपलाशी तु कषाया ग्राहिणी लघुः।
तिक्ता तीक्ष्णा च कटुकाऽनुष्णाऽऽस्यमलनाशिनी।
शोथकासव्रणश्वासशूलसिध्मग्रहापहा[1] ॥ १०० ॥

कपूर कचरी जो कि काश्मीर देश में प्रसिद्ध एक प्रकार का सुगन्धि द्रव्य है, उसके नाम तथा गुण - शठी, पलाशी, षड्ग्रन्था, सुव्रता, गन्धमूलिका, गन्धारिका, गन्धवधू, वधू, पृथुपलाशिका और गन्धपलाशी ये सब संस्कृत नाम 'कपूर कचरी' के हैं। कपूर कचरी-कटु, तिक्त तथा कषाय रस युक्त, ग्राही, लघु, तीक्ष्ण तथा थोड़ा उष्णवीर्य होती है एवम् यह मुख के मल को दूर करने वाली, शोथ, खांसी, व्रण, श्वास, शूल, सिध्म (दा [illegible]) और ग्रहबाधा इन सबों को दूर करने वाली है ॥ ९९-१०० ॥

४० कपूर कचरी

हि०-गंधपलाशी, कपूर कचरी, सितरूटी। बं०-शठी, गन्ध शटी। म०-कपूर कचरी। गु०-कपूर काचरी। क०-गन्ध शठी। ता०-शिमैकिचिलिक् किशंगु। पं०-कचूर कचु, शेदूरी। लै०-*Hedychium spicatum Ham. ex Smith* (हेडिचिअम् स्पाइकॅटम् हॅम्. एक्स स्मिथ)। Fam. Zingiberaceae (झिंजिबेरॅसी)।

यह हिमालय के साधारण प्रान्त, पंजाब, नेपाल और कुमाऊँ में अधिक उत्पन्न होती है।

यह क्षुप जाति की वनौषधि है। जड़-बहुवर्षायु, कन्दवत् भूमि के भीतर समतल बढ़ती है। इसी को सुखा कर कार्य में लेते हैं। डंठल-लम्बा पत्रयुक्त होता है। पत्ते-हल्दी के पत्तों के समान एक फुट लम्बे, अनियमित चौड़े एवं आयताकार-मालाकार होते हैं। फूल-सफेद आते हैं। फल-त्रिकोष्ठयुक्त, गोलाकार और चिकना होता है।

इसके मूलस्तंभ (मूल) को काटकर सुखाये हुये, छोटे बड़े सुगंधित टुकड़े बाजार में बिकते हैं। यह सफेद रंग के एवं पिष्टमय रहते हैं। इनका बाह्यत्वक् रक्ताभ भूरे रंग का होता है। इसका स्वाद कड़वा एवं तीता रहता है। अबीर के निर्माण एवं गुडाखु को सुगन्धित करने के लिये इसका उपयोग किया जाता है। कपूर कचरी नाम से इसी वर्ग के 'चन्द्रमूल' (Kaempferia galangal Linn. केम्फेरिआ गॅलन्गल् लिन)[2] के मूल के टुकड़े भी व्यवहार में लाये जाते हैं जो इसी के समान होते हैं। बाजार में एक चीना कपूर कचरी नामक औषध भी बिकती है जो देखने में अच्छी होते हुये भी उसमें सुगन्ध कम रहती है।

---

१. हिध्म इति पाठा०।

२. चन्द्रमूल के क्षुप दक्षिण की तरफ बगीचों में लगाये मिलते हैं। इसमें १४% खनिज द्रव्य, सुगंधि तैल, ४% गोंद तथा अधिक मात्रा में पिष्टमय पदार्थ रहते हैं। यह मूत्रल, वातानुलोमक, उत्तेजक एवं कफनिःसारक है। सर्दी-खाँसी में इससे सिद्ध तैल को नाक तथा छाती पर लगाते हैं एवं मधु के साथ १-२ रत्ती चूर्ण चटाते हैं। मुख को सुवासित करने के लिये इसके छोटे टुकड़े को मुख में रखते हैं। इसके उबटन का भी प्रयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें स्टार्च, गोंद, सेल्युलोज, अल्ब्यूमिन्, तैल, राल एवं सुगन्धि द्रव्य पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—कपूरकचरी उष्ण, ग्राही, लघु, कटु, तिक्त, दीपन एवं वातानुलोमक होती है। इसका उपयोग कास, श्वास, हिचकी, वमन, अपतंत्रक, शूल एवं व्रण में किया जाता है। दंतशूल में इसके मंजन से लाभ होता है। इससे मुख की दुर्गन्धि दूर होती है।

मात्रा—१-४ माशा।

अथ प्रियङ्गुर्गन्धप्रियङ्गुश्च। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

प्रियङ्गुः फलिनी कान्ता लता च महिलाऽऽह्वया ॥ १०१ ॥
गुन्द्रा गन्धफला श्यामा विष्वक्सेनाङ्गनाप्रिया।
प्रियङ्गुः शीतला तिक्ता तुवराऽनिलपित्तहृत् ॥ १०२ ॥
[1]रक्तातीसारदौर्गन्ध्यस्वेददाहज्वरापहा।
(वान्तिभ्रान्त्यतिसारघ्नी वक्त्रजाड्यविनाशिनी) ॥
गुल्मतृड्विषमोहघ्नी[2] तद्वद् गन्धप्रियङ्गुका ॥ १०३ ॥

'प्रियङ्गु' तथा 'गन्धप्रियङ्गु' के नाम और गुण—प्रियङ्गु, फलिनी, कान्ता, लता, महिलाह्वया (स्त्रीवाचक सभी शब्द), गुन्द्रा, गन्धफला, श्यामा, विष्वक्सेनाङ्गना और प्रिया ये सब संस्कृत नाम 'प्रियङ्गु' के हैं। प्रियङ्गु—तिक्त तथा कषाय रसयुक्त और शीतवीर्य होती है। यह वात, पित्त, रक्तातिसार, दुर्गन्ध, पसीना, दाह, ज्वर, (वमन, चक्कर, अतिसार, मुँह की जड़ता) गुल्म, तृषा, विष और मोह इन सब रोगों को दूर करती है। इसी भाँति 'गन्धप्रियङ्गु' के भी गुण होते हैं ॥ १०१-१०३ ॥

अथ तत्फलगुणानप्याह

तत्फलं मधुरं रूक्षं कषायं शीतलं गुरु। विबन्धाध्मानबलकृत्संग्राहि कफपित्तजित् ॥ १०४ ॥

प्रियङ्गु का फल—मधुर तथा कषाय रसयुक्त, रूक्ष, शीतवीर्य और गुरु होता है। यह विबन्धकारक, आध्मानकारक, बलकारक एवं संग्राही तथा कफपित्त नाशक होता है ॥ १०४ ॥

४१ प्रियङ्गु

प्रियङ्गु के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। इसी निघण्टु के धान्यवर्ग में कंगु (कंगुनी धान्य) के पर्याय में भी प्रियङ्गु नाम दिया हुआ है। इससे भ्रम होता है कि क्या यहाँ पर वर्णित प्रियङ्गु तथा धान्यवर्गोक्त प्रियङ्गु एक ही हैं? प्रियङ्गु से कौन सा प्रियङ्गु लिया जाय? वास्तव में कङ्गु के पर्याय में केवल प्रियङ्गु नाम देने से ही प्रियंगु से कंगु धान्य लेना उचित नहीं है। दोनों के गुण बिलकुल भिन्न हैं। जहां पर टीकाकारों ने स्पष्ट रूप से प्रियंगु के लिये कंगु लेने का निर्देश किया हो वहीं पर प्रियंगु के लिये कंगु का उपयोग किया जा सकता है अन्यथा प्रियंगु से कर्पूरादिवर्गोक्त प्रियंगु ही लेना उचित है। कुछ लोगों ने कंगु से पार्थक्य करने के लिये इसको गंधप्रियंगु लिखा है लेकिन भावप्रकाशकार ने यहां पर प्रियंगु तथा गंधप्रियंगु दो द्रव्यों का उल्लेख किया है। यहां

---

१. रक्तातियोग इति पाठा०। २. मेहघ्नी इति पाठा०।

पर इन दोनों के गुण समान बतलाये हैं। धान्यवर्गोक्त कंगु, जिसका एक पर्याय प्रियंगु है, उसके तथा यहां पर उल्लिखित प्रियंगु के गुण समान नहीं हैं, यह बात ध्यान में रखने की है। निम्नलिखित वर्णन केवल यहीं पर वर्णित प्रियंगु का है, कङ्गु (धान्य) का नहीं।

यहां पर उपर्युक्त श्लोकों में जिन दो द्रव्यों का उल्लेख किया गया है, उनके लिये गंधप्रियङ्गु नाम देना ठीक है। हो सकता है कि प्रियङ्गु के संदिग्ध द्रव्य रहने के कारण दो विभिन्न प्रकार के द्रव्यों का उपयोग भावप्रकाशकार के समय होता रहा हो, जिनमें से एक में गंध हो तथा दूसरे में गंध न हो या बहुत कम हो अथवा एक ही प्रकार के दो क्षुप हों जिनमें से एक में गंध हो और दूसरा निर्गंध हो, जिसका आगे स्पष्टीकरण होगा।

आजकल इसी उपर्युक्त 'प्रियङ्गु, गंधप्रियङ्गु' के लिये ३ प्रकार के द्रव्यों का उपयोग किया जा रहा है। बंबई की तरफ घऊँला नाम से प्रुनस् महालिब् (Prunus mahaleb) की फलमज्जा बिकती है, जिसका उपयोग प्रियङ्गु के रूप में वहां पर करते हैं। बंबई प्रान्त में श्वेतचंदन, घऊँला एवं कपूरकचरी को जल में पीस कर सुगंधित लेप के लिये प्रयोग किया जाता है। चरक ने रक्तपित्त में दाहशांति के लिये चन्दन और प्रियङ्गु के लेपन से उपलिप्त स्त्रियों के स्पर्श का विधान किया है।[1] यह मज्जा छोटी चिरौंजी जैसी, गोधूमवर्ण की, स्वाद में तिक्त एवं सुगन्धित होती है। दूसरा द्रव्य अॅग्लेइआ रॉक्सबर्घियाना (Aglaia roxburghiana) के फल हैं जो कुछ गोल, छोटे, निंब फल सदृश एवं सूखने पर सिकुड़नदार दिखलाई देते हैं। इनका व्यवहार बहुत दिनों से होता आ रहा है लेकिन इसमें गंध नाम मात्र की होती है। तीसरा द्रव्य कॅलिकार्पा मॅक्रोफाइला (Callicarpa macrophylla) नामक गुल्म (झाड़ी) की पुष्प कलिकायें हैं जो छोटी-छोटी कङ्गुनी धान्य सदृश होती हैं। इसका वर्णन अभिनव बूटी दर्पण में है लेकिन वहां पर इसका लेटिन नाम नहीं लिखा है। इसके लेटिन नाम के साथ इसका वर्णन श्रीमान् ठा० बलवन्त सिंह जी ने 'वनौषधिदर्शिका' एवं 'बिहार की वनस्पतियाँ' इन पुस्तकों में किया है। मूल श्लोक एवं अन्य निघंटुओं में दिये हुए फलिनी, कृष्णपुष्पी, गन्धफला, कृशाङ्गी, महिलाह्वया, पर्णभेदनी आदि इसके रूपपरिचयात्मक पर्याय इसमें कुछ मिलते होने के कारण इसको प्रियङ्गु मानते हैं। एक बात ध्यान देने की है कि इसकी झाड़ी या गुल्म होता है। यह लता नहीं है। पुष्प भी श्वेत वर्ण के होते हैं। श्रीमान् बाबू भीमचन्द्र चटर्जी द्वारा लिखित 'दि एकॉनॉमिक बोटॅनी ऑफ इण्डिया' से 'अभिनव बूटी दर्पण' में कुछ अंश उद्धृत किया गया है जिसमें वे लिखते हैं कि 'नेपाल, चटगाँव तथा पूर्व बंगाल के कुछ भागों में इसी का व्यवहार प्रियङ्गु के रूप में लोग करते हैं। नेपाल में दयालो तथा श्वेतदयालो नाम से उपयोग में लाई जाने वाली लताओं का वर्णन उपर्युक्त लता से ठीक मिलता है। श्वेतदयालो तथा दयालो एक ही समान हैं किन्तु अन्तर इतना ही है कि श्वेतदयालो गन्धयुक्त होती है एवं इसके पत्ते कुछ बड़े, अधिक श्वेत तथा स्पर्श में खुरदरे होते हैं। इससे मालूम होता है कि भावप्रकाशोक्त प्रियङ्गु तथा गन्धप्रियङ्गु यह दयालो तथा श्वेतदयालो हैं। जिला गढ़वाल और अल्मोड़ा में दहिया के नाम से यह प्रसिद्ध है तथा कुमाऊँ प्रान्त के वैद्य इसको प्रियङ्गु मानते हैं।'

इन तीन द्रव्यों के अतिरिक्त मेंहदी के फूल, कुमुदनी, सरसों के फूल, मालकांगुनी एवं गोंदनी आदि को भी कुछ लोग प्रियंगु मानते हैं। चरक में संधानीय, शोणितास्थापन, पुरीष संग्रहणीय एवं मूत्रविरजनीय गणों में तथा सुश्रुत में अञ्जनादि, एलादि तथा प्रियंग्वादिगणों में प्रियंगु का

---

१. प्रियङ्गुकाचन्दनरूषितानां स्पर्शाः प्रियाणां च वराङ्गनानाम्। (च. चि. अ. ४)

उल्लेख है। चरक ने रक्त और पित्त की अतिवृद्धि को शान्त करने वालों में गन्धप्रियंगु को श्रेष्ठ माना है (च. सू. अ. २५)। उपर्युक्त तीन द्रव्यों का वर्णन यहां दिया जा रहा है।

प्रियंगु १ (फूलप्रियंगु)

हि०-प्रियंगु। फूलप्रियंगु, गन्धप्रियंगु, बुंडुड, बूढीघासी, डइया, दहिया। बं०-मथुरा। नेपा०-दयालो, श्वेतदयालो। पं०-सुमाली। ले०-*Callicarpa macrophylla Vahl* (कॅलिकार्पा मॅक्रोफाइला वाह्.)। Fam. Verbenaceae (वर्बिनॅसी)।

यह जंगलों के किनारे, घाट और ऊँची चढ़ाइयों तथा खुले हुये जंगल और परती भूमि में होता है। यह नेपाल, देहरादून के जलप्राय स्थानों, बंगाल तथा बिहार के अनेक स्थानों में पाया जाता है। बलिया स्टेशन के अहाते में लगे हुए इसी प्रकार के एक क्षुप का उल्लेख चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय से प्रकाशित 'सचित्र अभिनव बूटीदर्पण' में किया हुआ है।

इसका गुल्म—४ से ८ फीट ऊंचा, और तूल रोमश होता है। शाखाएँ—अनियमित रूप से फैली रहती हैं। पत्ते—५ से १० इंच लंबे, अंडाकार, या अंडाकार-भालाकार, लम्बाग्र, ऊपर चिकने, नीचे तूलरोमश एवं किनारा गोल दन्तुर होता है। पुष्प—गुलाबी, सघन द्विविभक्त १ से ३ इंच व्यास के गुच्छों में आते हैं। फल—सफेद एवं ·१२-·१८ इंच व्यास के होते हैं। डालियाँ पुष्पगुच्छों के बोझ से झुक जाती हैं।

इसकी छोटी छोटी प्रियंगु धान्य सदृश पुष्प कलिकाएँ फूल प्रियंगु के नाम से मिलती हैं। इनमें मसलने पर गन्ध भी होती है। शास्त्रीय गन्धप्रियंगु यही मालूम होती है। ग्रामीण लोग गठिया में इसकी पत्तियों से सेंक करते हैं।

प्रियंगु २ (घऊँला)

हि०-प्रियंगु, महालिब। म०-गहुला, गावल। गु०-घऊंला। अ०-महलिब। ले०-*Prunus mahaleb Linn.* (प्रूनस् महालिब् लिन.)। Fam. Rosaceae (रोझॅसी)।

यह बलोचिस्तान में पाया जाता है। इसका गुल्म अनेक फैली हुई तथा सीधी शाखाओं से युक्त होता है। पत्ते-कुछ लंबाई लिये अंडाकार एवं दन्तुर होते हैं। पुष्प-श्वेत रंग के; फल-छोटे, अंडाकार एवं नोकीले होते हैं। घऊंला नाम से प्रियंगु की मज्जा बंबई के बाजार में बिकती है। यह छोटी चिरौंजी जैसी, गोधूम वर्ण की, कड़वी और सुगंधित होती है। सुगंधि लेप में श्वेत चन्दन तथा कपूर कचरी के साथ इसका उपयोग बंबई प्रान्त में लोग करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में अल्प मात्रा में पद्मकाष्ठ में पाया जाने वाला हाइड्रोसायेनिक् एसिड (Hydrocyanic acid) नामक तीव्र विष रहने के कारण इसका उपयोग सावधानी के साथ करना चाहिये। इसके अतिरिक्त इसमें काउमॅरिन् (Coumarin), सॅलीसिलिक् एसिड (Salicylic acid) एवं ॲमिग्डॅलिन् (Amygdalin) ये पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह तिक्त पौष्टिक, वेदनाहर, दीपन एवं मूत्रल है। इसका उपयोग पीडायुक्त कुपचन, आमाशय के क्षत तथा आमाशय के अर्बुद में करते हैं।

मात्रा—२-५ रत्ती।

प्रियंगु ३

हि०-प्रियंगु। कं०-तेतिलकामि। ले०-*Aglaia roxburghiana Miq.* (अंग्लेइआ राक्स बर्घियाना मिक्.)। Fam. Meliaceae (मेलियॅसी)।

यह पश्चिमी प्रायद्वीप में कोंकण और मिदनापूर से दक्षिण की ओर सिलोन तक ६००० फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

इसका साधारण वृक्ष होता है। छाल किंचित खाकी रंग की और चिकनी होती है। लकड़ी मजबूत तथा चमकीले लाल रंग की होती है। पत्ते-पक्षवत् पत्ते ३-१० इञ्च लम्बे और उनके पत्रक संख्या में ५, १$\frac{3}{4}$ से ५$\frac{1}{2}$ इञ्च लम्बे, पतले अण्डाकार या अण्डाकार-प्रासवत् और चिकने होते हैं। पुष्प-व्यास में १ इञ्च से कम, पीताभ और पत्ती के बराबर लम्बी मञ्जरियों में होते हैं जो पत्र कोण के ऊपर निकलती हैं। फल-कुछ कुछ गोल, निम्बफल सदृश, $\frac{1}{2}$-$\frac{3}{4}$ इञ्च व्यास के, रोमश तथा हरिण के रंग के रहते हैं जो सूखने पर भूरे रंग के सिकुड़नदार तथा आकार में छोटे हो जाते हैं। इसमें १ या २ बीज रहते हैं जो चिपटे करीब $\frac{1}{2}$ इञ्च लम्बे (ताजी अवस्था में) तथा एक तरफ से उन्नतोदर रहते हैं। बीज का स्वाद खट्टा तथा कसैला रहता है। ताजी अवस्था में इसमें सुगन्ध रहती है जो सूखने पर नहीं रहती।

इसके फलों का उपयोग बहुत दिनों से प्रियंगु के नाम से किया जा रहा है। हो सकता है कि भावप्रकाशकार ने प्रियंगु का जो फल लिखा है वह यही हो।

गुण और प्रयोग—यह शीतल एवं ग्राही होता है। इसका उपयोग ज्वर, पित्त तथा शोथयुक्त रोगों में किया जाता है।

मात्रा—१-३ माशा।

अथ रेणुका। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

रेणुकाराजपुत्री च नन्दिनी कपिला द्विजा। भस्मगन्धा पाण्डुपुत्री स्मृता कौन्ती हरेणुका॥
रेणुका कटुका पाके तिक्ताऽनुष्णा कटुर्लघुः। पित्तला दीपनी मेध्या पाचनी गर्भपातिनी।
बलासवातकृच्चैव[1] तृट्कण्डूविषदाहनुत्॥ १०६॥

रेणुका के नाम तथा गुण—रेणुका, राजपुत्री, नन्दिनी, कपिला, द्विजा, भस्मगन्धा, पाण्डुपुत्री, कौन्ती तथा हरेणुका ये सब पर्यायवाची शब्द रेणुका के हैं। रेणुका-पाक में कटुरसयुक्त, किंचित् उष्णवीर्य, तिक्त तथा कटुरस युक्त और लघु होती है एवम् यह पित्तजनक, अग्निदीपक, मेधा के लिये हितकर, पाचक, गर्भ गिराने वाली, कफ तथा वातकारक होती है। यह तृषा, खुजली, विष और दाह को दूर करती है॥ १०५-१०६॥

४२ रेणुका

रेणुका एक संदिग्ध औषध है। रेणुक बीज नाम से विदेश में होने वाली निर्गुण्डी की जाति के वृक्ष के फल बिकते हैं। लेकिन संभवतः ये फल शास्त्रीय रेणुका नहीं हैं। शास्त्रीय रेणुका शायद पिप्पलीवर्ग की पाइपर ऑरेण्टिएकम् वाल्. (Piper aurantiacum Wall.) के फल हैं। कुछ लोग निर्गुण्डी के बीज को ही रेणुका कहते हैं जो उसके प्रतिनिधि हो सकते हैं।

चरक में शिरोविरेचन एवं वमनोपग गणों में रेणुक बीज का पाठ है। ग्रहणी के मध्वरिष्ट में एवं व्रणपीडन रूप में रेणुका का उल्लेख है। चरक, सुश्रुत तथा रा. नि. इसको गर्भपातक नहीं मानते। सुश्रुत में हरेणुका का उल्लेख एलादिगण, पिप्पल्यादिगण में तथा रेणुका का उल्लेख कटुवर्ग में एवं भगंदर, नाडी, उपदंश व्रण तथा विष में इसका प्रयोग किया गया है।

---

१. बलासवातवैक्लव्य इति पाठा०।
तृष्णादाहविषक्लैब्यकफवातविनाशिनी॥ (नि. र.)

यहाँ पर वर्णन विदेश से आने वाले निर्गुण्डी की जाति के वृक्ष के फलों का किया गया है।

हि०–रेणुका, रेणुक, संभालू का बीज। गु०–इरेणु। म०–रेणुक बीज। इरा०–पंजनगुश्त। अ०–अथलक्। ले०–*Vitex agnus-castus Linn.* (वाइटेक्स् एग्नस्-कास्टस् लिन.)। Fam. Verbenaceae (व्हर्बिनॅसी)।

यह बलूचिस्तान, अफगानिस्तान, पश्चिम एशिया, भूमध्यसागरीय प्रदेश आदि प्रदेशों में होता है। देहरादून के 'वैज्ञानिक बाग' में यह लगाया हुआ है।

इसका गुल्म या वृक्ष होता है जिसकी शाखाएं चौपहल होती हैं। पत्ते–लम्बे पत्रनाल से युक्त, करतलाकार संयुक्त, पत्रक पांच कभी-कभी सात भी, भालाकार और लम्बे नोक वाले होते है। फल–साधारण मटर के बराबर, अण्डाकृति तथा धूसर वर्ण के होते हैं। बाह्य दल एवं वृन्त इसमें लगा रहता है। ये फल बहुत कड़े रहते हैं तथा काटने पर इसके अन्दर ४ खण्ड दिखलाई देते हैं जिनमें एक-एक छोटा चिपटा बीज रहता है। भारतीय निर्गुण्डी के फल से ये फल करीब आधे छोटे होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें कास्टाइन (Castine) नामक एक कडुवा पदार्थ, उडनशील दाहजनक पदार्थ, अम्लद्रव्य एवं तैल, ये पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—ईरानी रेणुक बीज स्तम्भन, शोथघ्न, आनुलोमिक, मूत्रजनन एवं उत्तेजक हैं। प्लीहावृद्धि तथा यकृत रोग के कारण उत्पन्न जलोदर में इसको देते हैं। हिचकी में छोटी पीपल के साथ इसको खिलाते हैं।

मात्रा—४ र०-१ मा०।

अथ ग्रन्थिपर्णम् (गठिवन)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

ग्रन्थिपर्णं ग्रन्थिकञ्च काकपुच्छञ्च गुच्छकम्। नीलपुष्पं सुगन्धञ्च कथितं तैलपर्णकम्॥
ग्रन्थिपर्णं तिक्ततीक्ष्णं कटूष्णं दीपनं लघु। कफवातविषश्वासकण्डूदौर्गन्ध्यनाशनम्॥१०८॥

गठिवन के नाम तथा गुण—ग्रन्थिपर्ण, ग्रन्थिक, काकपुच्छ, गुच्छक, नीलपुष्प, सुगन्ध और तैलपर्णक ये सब संस्कृत नाम गठिवन के हैं। गठिवन–तिक्त तथा कटुरस युक्त, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, अग्निदीपक तथा लघु होता है। यह कफ, वात, विष, श्वास, खुजली और दुर्गन्ध इन सबों को दूर करनेवाला होता है॥ १०७-१०८॥

४३ गठिवन

गठिवन का स्वरूप भी संदिग्ध ही है। आगे स्थौणेयक तथा चोरक नामक दो ग्रन्थिपर्ण के भेद दिये हुवे हैं वे भी संदिग्ध ही हैं। कुछ विद्वान् इन तीनों नामों को एक दूसरे का पर्याय मानते हैं। तालीसपत्र के स्थान पर प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों में से एक द्रव्य का स्थानिक नाम थुनेर होने से कुछ विद्वान् उसे ही स्थौणेयक मानते हैं। इस तरह यदि ग्रन्थिपर्ण एवं चोरक को थुनेर सजातीय माना जाय तो ये सब द्रव्य तालीसपत्र (थुनेर) के वर्ग के हो जाते हैं।

श्री शालिग्राम जी ने इसे आसाम की ओर बहुत उत्पन्न होने वाली तृण जाति की गांठदार सुगन्धित वनस्पति माना है जिसमें पत्ते अंगुली के समान लम्बे-लम्बे और फूल नीले गुच्छों में आते हैं। कुछ लोग वनतुलसी को गठिवन मानते हैं।

श्री डॉ. वा. ग. देसाई ने ग्रन्थितृण नाम से एक वनस्पति का वर्णन किया है। उसके गुण शास्त्रोय ग्रन्थिपर्ण से मिलते नहीं फिर भी साद्दश्य होने से उसका संक्षेप में यहाँ वर्णन दिया जाता है।

सं०-ग्रन्थितृण। हि०-केस्री, मचोटी। पं०-मचूटि, केस्रु। काश्मी०-द्रोब। सिं०-एंद्राणी। इरा०-इझार, वंदुक। अं०-Knot-grass (नॉट्-ग्रास्)। ले०-*Polygonum aviculare Linn.* (पॉलिगोनम् एविक्युलेर लिन.)। Fam. Polygonaceae (पॉलिगोनॅसी)।

यह काश्मीर से कुमाऊँ तक ६ से १२ हजार फीट की ऊँचाई में होता है। इसका छोटा सा क्षुप होता है। जड़-लम्बी, कुछ काष्ठमय एवं चिमडी होती है तथा उससे अनेक उपमूल निकले रहते हैं। शाखाएं-बहुत सी, जमीन पर फैली हुई एवं गोल होती हैं। इसकी टहनियों की ग्रंथियाँ बहुत गांठदार होती हैं तथा वहीं से पत्र निकलते हैं। पत्र-एकान्तर, शल्याकृति, अखण्ड, धूसर रंग के एवं १ इञ्च से छोटे होते हैं। पुष्प-श्वेत या लाल रंग के होते हैं। फल-त्रिकोणयुक्त, हरे एवं अग्रपर सूक्ष्म झुर्रीदार, चमकीले एवं काले होते हैं। सिन्ध में बीजों को बीजबंद कहते हैं। बला के बीजों को भी अनेक स्थानों में बीजबंद कहा जाता है। चिकित्सा में इसके मूल, पञ्चाग एवं बीजों का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें पोलिगोनिक् अम्ल तथा सुगन्धित तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी जड़ रक्तसंग्राहक, मूत्रजनन, अश्मरीघ्न, आनुलोमिक, ज्वरघ्न एवं कफघ्न है। बीज स्रंसन, मूत्रजनन एवं वामक होते हैं।

(१) अश्मरी या मूत्रकृच्छ्र में इसके पंचाग के क्वाथ या मूल रस का प्रयोग अधिक मात्रा में करने से बहुत लाभ होता है।

(२) जीर्ण अतिसार में मूल रस या पञ्चाग रस देते हैं।

(३) विषमज्वर में मूल रस का उपयोग करते हैं।

(४) फुफ्फुस विकारों में विशेष कर श्वसनिका शोथ एवं कुकास में पञ्चाग क्वाथ पिलाते हैं।

(५) सूखी हुई जड़ को पीसकर लगाने से वेदना कम होती है। विसर्प, वस्तिपीडा एवं आंव की पीडा में पत्तों का लेप किया जाता है।

अथ स्थौणेयकम्।

(ग्रन्थिपर्णस्यैव भेदः, ईषत्सुगन्धं 'थुनेर' इति लोके प्रसिद्धम्)

तस्य नामानि गुणाँश्चाह

स्थौणेयकं बर्हिबर्हं शुकबर्हञ्च कुक्कुरम्। शीर्णरोमशुकञ्चापि शुकपुष्पं शुकच्छदम् ॥१०९॥
स्थौणेयकं कटु स्वादु तिक्तं स्निग्धं त्रिदोषनुत्॥ ११०॥
मेधाशुक्रकरं रुच्यं रक्षोघ्नं ज्वरजन्तुजित्।
हन्ति कुष्ठास्रतृड्दाहदौर्गन्ध्यतिलकालकान्॥ १११॥

'गठिवन' के ही भेद में थोड़ी सुगन्ध से युक्त जो 'थुनेर' नाम से लोक में प्रसिद्ध औषध है, उसके नाम तथा गुण—स्थौणेयक, बर्हिबर्ह, शुकबर्ह, कुक्कुर, शीर्णरोम, शुक, शुकपुष्प और शुकच्छद ये सब संस्कृत नाम 'थुनेर' के हैं। थुनेर—कटु, तिक्तरस युक्त, स्वादिष्ट, स्निग्ध, तीन दोषों को दूर करने वाला, मेधा तथा शुक्र को बढ़ाने वाला, रुचिकारक, रक्षोग्रहनाशक एवं ज्वर, कृमि, कुष्ठ, रक्तविकार, तृषा, दाह, दुर्गन्ध और तिलकालक नामक रोग इन सबों को दूर करने वाला होता है॥ १०९-१११॥

४४ थुनेर

स्थौणेयक भी एक संदिग्ध औषध है। इसे ग्रन्थिपर्ण का भेद माना गया है लेकिन जब ग्रन्थिपर्ण ही संदिग्ध है तब इसका निर्णय कैसे किया जा सकता है। तालीसपत्र नाम से लिये जाने वाले द्रव्यों में से एक का स्थानिक नाम थुनेर है। इसलिये कुछ लोग इस थुनेर को स्थौणेयक मानते हैं। थुनेर का वर्णन तालीसपत्र के साथ किया गया है। चरक में स्थौणेयक का उपयोग अगुर्वादि तैल में (चि. अ. ३), मृतसञ्जीवन अगद में (चि. अ. २३), बलातैल में (चि. अ. २८) एवं मदनफल उत्कारिकामोदक योग में (क. अ. १) किया गया है। सुश्रुत में एलादिगण (सू. अ. ३८) में इसका पाठ है।

कुछ लोगों ने ले०-*Clerodendrum infortunatum, Linn.*; Fam. Verbenaceae (क्लेरोडेन्ड्रम् इन्फोर्च्युनेटम् लिन, वर्बिनॅसी), हि०–भांट, सं०–कारी, भाण्डीर को स्थौणेयक लिखा है। इसके १२ फीट तक ऊँचे क्षुप प्रायः सभी स्थानों में पाये जाते हैं। प्रत्येक भाग कटु और दुर्गन्धयुक्त होता है। पत्र–विपरीत, ४–९ इञ्च लम्बे, ३–६ इञ्च चौड़े, लट्वाकार, लम्बे नोक एवं लम्बे पत्रनाल से युक्त होते हैं। बाह्यपुट स्थायी, वर्धनशील और लाल होता है। आभ्यन्तर पुट रक्ताभ श्वेत होता है। इसके पत्र एवं मूल का उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—भांट तिक्त पौष्टिक, उत्तम आनुलोमिक, पित्तसारक, कृमिघ्न एवं ज्वरघ्न है। तृतीयक तथा चतुर्थक ज्वर में यह लाभदायक है। बच्चों को इसके पत्र का चूर्ण २–५ रत्ती मधु एवं सुगन्ध द्रव्यों के साथ दिया जाता है। केंचुवे में इसके पत्र–रस को पिलाते हैं तथा बस्ति भी देते हैं। उदरशूल एवं अतिसार में इसकी जड़ को मट्ठे में पीस कर देते हैं। त्वचा के रोगों (खुजली) में इसका बाह्याभ्यन्तर प्रयोग करते हैं।

अथ ग्रन्थिपर्णस्यैव भेदः। 'भटेउर' इति नेपालदेशे भवति। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

निशाचरो धनहरः कितवो गणहासकः। चोरकः शङ्कितश्चण्डो दुष्पत्रः क्षेमको रिपुः।
चोरको[1] मधुरस्तिक्तः कटुः पाके कटुर्लघुः ॥ ११२ ॥
तीक्ष्णो हृद्यो हिमो हन्ति कुष्ठकण्डूकफानिलान्। रक्षोऽश्रीस्वेदमेदोऽस्रज्वरगन्धविषव्रणान् ॥

'गठिवन' का ही भेद 'भटेउर' है जो कि नेपाल देश में उत्पन्न होता है, उसके नाम तथा गुण—निशाचर, धनहर, कितव, गणहासक, चोरक, शङ्कित, चण्ड, दुष्पत्र, क्षेमक और रिपु ये सब संस्कृत नामक 'भटेउर' के हैं। भटेउर–मधुर, तिक्त तथा कटुरसयुक्त, पाक में कटु, लघु, तीक्ष्ण, हृदय के लिये हितकर और शीतवीर्य है। यह—कुष्ठ, खुजली, कफ, वात, रक्षोग्रह, अलक्ष्मी, पसीना, मेदरोग, रक्तविकार, ज्वर, दुर्गन्ध, विष और व्रण इन सबों को दूर करता है ॥११०–११३॥

४५ भटेउर (चोरक)

चोरक यह भी सन्दिग्ध है। इसे ग्रन्थिपर्ण का भेद माना गया है। कुछ लोगों ने स्थौणेयक एवं चोरक को एक ही वनस्पति माना है। चरक में 'संज्ञास्थापन दशेमानि' में इसका उल्लेख है। धूपन द्रव्यों के साथ इसका उल्लेख है और उन्मादोक्त महापैशाचिक घृत में इसका प्रयोग किया

१. रोचको इति पाठा०।

गया है। अपस्मार, हिक्का, श्वास एवं पीनस, नासारोग आदि में भी चोरक का उल्लेख है। कुछ लोग पान की जड़ का व्यवहार 'चोरक' नाम से करते हैं।

पञ्जाब की तरफ चोरा नाम से एक द्रव्य मिलता है। इसका लेटिन नाम *Angelica glauca Edgw.*; Fam. Umbelliferae (ॲन्जेलिका ग्लॉका, एज., अम्बेलिफेरी) दिया हुआ है।

यह पश्चिम हिमालय में काश्मीर से लेकर सिमला तक ८०००–१०००० की ऊँचाई पर पाया जाता है।

इसका क्षुप ४–७ फीट ऊँचा होता है। **काण्ड**–चिकना, स्वावलम्वी, पोला तथा महीन प्रसीताओं से युक्त रहता है। पत्ते–प्रायः बड़े, १–३ पक्षवत् होते हैं। पत्रक-संख्या में ३, अण्डाकार या भालाकार, अनियमित एवं तीक्ष्ण दांतों से युक्त, ऊपरी पृष्ठ गहरे रंग का एवं अधोपृष्ठ क्षोदलिप्त रहता है। पुष्प–बहुत सफेद या नीलारुण रंग के तथा सवृन्तमूर्धज पुष्पव्यूहों में आते हैं। फल–चिकने, चिपटे आयताकार, १३ मि. मि. लम्बे एवं ६ मि. मि. चौड़े होते हैं।

गुण और प्रयोग—यह हृद्य एवं उत्तेजक है और आध्मान एवं कुपचन में भी उपयोगी है।

अथ तालीसपत्रम्। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

तालीसमुक्तं पत्राढ्यं धात्रीपत्रञ्च तत्स्मृतम् ॥ ११४ ॥
तालीसं लघु तीक्ष्णोष्णं श्वासकासकफानिलान्। निहन्त्यरुचिगुल्मामवह्निमांद्यक्षयामयान् ॥

तालीसपत्र के नाम तथा गुण—तालीस, पत्राढ्य और धात्रीपत्र से संस्कृत नाम 'तालीसपत्र' के हैं। तालीसपत्र–लघु, तीक्ष्ण और उष्णवीर्य होता है एवं यह–श्वास, खांसी, कफ, वात, अरुचि, गुल्म, आम, अग्नि की मन्दता और क्षयरोग इन सबों को दूर करता है ॥ ११४–११५ ॥

४६ तालीसपत्र

तालीसपत्र—यह नाम विभिन्न वर्गों के वृक्षों के पत्तों को भिन्न स्थानों में दिया हुआ दिखलाई देता है। पहले लोग प्राचीनामलक–फ्लॅकोर्टिआ कॅटाफ्रॅक्टा राक्स (Flacourtia cataphracta Roxb.) के पत्तों को तालीसपत्र कहा करते थे। दक्षिण में कहीं कहीं तमालपत्र–सिनॅमोमम् तमाल (Cinnamomum tamal) के पत्रों को तालीसपत्र कहा जाता है। उत्तर प्रदेश, राजपूताना, महाराष्ट्र एवं गुजरात आदि के वैद्य टेक्सस् बॅकेटा (Taxus baccata) के पत्तों का व्यवहार तालीस पत्र के नाम से करते हैं। इसे कुछ लोग स्थौणेयक भी मानते हैं। बंगाल के वैद्य एबिस् वेब्बिआना (Abies webbiana) के पत्तों का व्यवहार तालीसपत्र के रूप में करते हैं। नेपाल एवं पंजाब के कुछ वैद्य तालीसफर, रोडोडेन्ड्रोन एन्थोपोगोन (Rhododendron anthopogon) के पत्तों का व्यवहार करते हैं जिसकी २, ३ अन्य उपजातियाँ भी होती हैं। प्राचीनामलक का वर्णन आगे फलवर्ग में आया है तथा तमाल पत्र का वर्णन पहले (पृष्ठ २२८) किया जा चुका है। यहाँ पर बाकी तीनों का अलग-अलग वर्णन किया गया है।

चरक में दशेमानि में इसका उल्लेख नहीं है। सुश्रुत में शिरोविरेचकगण में इसका पाठ है। तालीसपत्र के शास्त्रीय गुण इस प्रकार दिये हुए हैं—यह तिक्त, कटु, मधुर, उष्ण, लघु, तीक्ष्ण, शिरोविरेचन तथा कफ, वात, कास, श्वास, क्षय, वमन, अरुचि, गुल्म, आम, अग्निमांद्य और कृमि का नाश करने वाला है।

तालीसपत्र १

हि०-तालीसपत्र, थूनो, बिर्मी । गढ०-थुनेर । काश्मी०-पोस्तिल । बंब०-तालीसपत्र, बर्मि । बं०-बिर्मी । नेपा०-तेहीरे । खासि०-दिगंरुहेर् । अ०-अर्नब । अं०-Himalayan Yew (हिमालयन् यू) । *Taxus baccata Linn.* (टॅक्सस् बॅकेटा लिन.) । Fam. Taxaceae (टॅक्सॅसी) ।

हिमालय के काश्मीर, पूर्वी पंजाब का पहाड़ा प्रदेश, गढवाल, अफगानिस्तान तथा अपर बर्मा आदि स्थानों में ६-१० हजार फीट की ऊँचाई पर इसके मध्यम ऊँचाई के सदाहरित वृक्ष पाये जाते हैं । कहीं कहीं १०० फीट तक ऊँचे झोपड़ाकृतिक वृक्ष होते हैं ।

इसका स्तंभ छोटा किन्तु उसकी गोलाई १०, १२ फीट होती है । छाल-पतली, किंचित् लाली-युक्त खाकी रंग की होती है । लकड़ी-दृढ, बाहरी भाग सफेद तथा अंदर का भाग रक्ताभ श्वेत होता है । पत्ते-दो कतारों में निकले रहते हैं । ये १-१॥ इञ्च लंबे, दशमांश इञ्च चौड़े, रेखाकार, कड़े, चिपटे, नोकीले, ऊपरी पृष्ठ पर गहरे हरे रंग के और अधःपृष्ठ पर हलके पीले या मुरचई रंग के होते हैं । शिरा एक और पत्रनाल छोटा होता है । पत्तिओं से विशेषतः सूखने पर एक प्रकार की गंध आती है । लालकोष में घिरा हुआ हरिताभ बीज होता है जो शीर्ष पर खुला रहता है । पहाड़ी लोग इसकी छाल से एक प्रकार का चाय सदृश पानक बनाकर पीते हैं और इसके फलों को खाते हैं ।

यद्यपि युक्तप्रान्त, राजपूताना, महाराष्ट्र एवं गुजरात आदि के वैद्य तालीसपत्र के स्थान पर इसका प्रयोग करते हैं तथापि थुनेर नाम से इसके **स्थौणेयक** होने की अधिक संभावना है। बिर्मि नाम से उत्तरी भारत में आर्तव प्रवर्तक एवं शामक औषध के रूप में तथा अपस्मार, अपतंत्रक तथा नाडीदौर्बल्य आदि में इसके पत्तों का व्यवहार किया जाता है ।

रासायनिक संगठन—इसके बीज तथा पत्र में एक विषैला द्रव्य है जो बीज के ऊपर के लालकोष में नहीं होता । इसमें टॅक्सीन (Taxine) नामक एक क्षाराभ पाया जाता है ।

गुण और प्रयोग—तालीसपत्र अवसादक, उद्वेष्टननिरोधि, आर्तवजनन, वातानुलोमक, कफनिःसारक एवं बल्य है । इसकी क्रिया कुछ डिजिटॅलिस् के समान होती है । अल्प मात्रा में प्रयोग करने पर नाडी एवं श्वास की गति कम होती है । मध्यम मात्रा में श्वास बढ़ता है तथा हृत्स्पन्द होता है । इससे गर्भाशय का संकोच होता है । गर्भपात कराने के लिये प्रयुक्त करने पर गर्भपात नहीं होता लेकिन मृत्यु हो सकती है । बड़ी मात्रा से विषैला परिणाम होने से चक्कर, वमन, आक्षेप, नशा, आंखों की पुतलियों का विस्फार, मंदश्वास एवं श्वसनकृच्छ्र होकर मृत्यु होती है । विषैले परिणाम से आमाशय, आंत तथा वृक्कों में शोथ भी हो जाता है । डिजिटॅलिस् के समान इसका संचायी प्रभाव नहीं होता ।

अपस्मार आदि आक्षेप युक्त व्याधियों में इसका प्रयोग किया जाता है । शुष्क कास, श्वासनलिका के जीर्णशोथ एवं तमक श्वास आदि में देने से खांसी की तकलीफ कम हो जाती है । प्रसूता को इसका फांट दिया जाता है । बस्तिशोथ में भी इससे लाभ होता है ।

मात्रा—१-२ र० ।

तालीसपत्र २

हि०, बं०-तालीसपत्र । गढ०-चिलिराघ । काश्मी०-बाहर, बुदुल । कनवार-स्पुन । नेपा०-गोब्रिअ सुलह । कुमा०-राघ । भूता०-दुम्शिंग । अं०-Himalayan Siver Fer

(हिमालयन् सिल्वर फर)। ले०-*Abies webbiana Lindl.* (एबिस् वेबिआना लिंड)। Fam. Pinaceae (पिनॅसी)।

इसके ऊँचे सदाहरित वृक्ष हिमालय पर सिक्किम, भूटान के प्रदेश में ९ से १३ हजार फीट की ऊँचाई पर पाये जाते हैं।

इसके वृक्ष १५० फीट तक ऊँचे एवं स्तम्भ की गोलाई ३० फीट तक होती है। छाल-खाकी युक्त भूरे रंग की और खुरदरी होती हैं। नवीन शाखाएं प्रायः सूक्ष्म और भूरे रोमों से ढकी हुई रहती हैं। शाखाएँ प्रायः झुकी हुई रहती हैं। पत्ते-१-२ इञ्च लंबे, दशमांश इञ्च चौड़े, पतले, रेखाकार और काण्ड से पेचदार क्रम से निकले हुवे परन्तु देखने में केवल दो कतारों में निकले हुए से मालूम होते हैं। इनका ऊपरी पृष्ठ चमकीला तथा गहरे हरे रंग का होता है और अधःपृष्ठ पर मध्यशिरा के दोनों ओर दो दो सफेद धुंधली रेखाएँ होती हैं। पत्ते नताग्र होते हैं और अग्र पर प्रायः दो तीक्ष्ण और कठोर नोक निकले रहते हैं। फल-लंब गोल या आयताकार, २-४ इञ्च का और पकने पर गहरे बैंगनी रंग का होता है। बीज-करीब इञ्च का षष्ठमांश लम्बा होता है।

इस जाति में मोरिण्डा नामक, ले०-एबिस् पिण्ड्रो (Abies pindrow) वृक्ष भी होता है जो इससे बहुत मिलता जुलता है। इसमें नवीन शाखाएँ रोमरहित और पत्तियां २-३ इञ्च लम्बी, दो कतारों में निकली हुई और दो दिशाओं में फैली हुई रहती हैं। एबिस् वेबिआना में वे ऊपर की ओर हर दिशा में फैली हुई रहती हैं। इसके फल भी दूसरे की अपेक्षा छोटे और मोटे होते हैं। ये जौनसार में प्रायः १० हजार फीट के नीचे (देववन, मुंडाली आदि में) पाये जाते हैं।

प्रायः पूर्वी भारत में एबिस् वेबिआना के ही पत्र तालीशपत्र के नाम से बेचे जाते हैं। बंगाल के वैद्य इसी का व्यवहार करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उड़नशील तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह दीपन, पाचन, वातानुलोमक, कफनिःसारक, ग्राही एवं बल्य है। इसका उपयोग जीर्ण श्वास, कास, राज्यक्ष्मा, अग्निमांद्य, अरुचि एवं बस्तिविकार में किया जाता है।

(१) तालीसादि चूर्ण १०-२० र० की मात्रा में श्वास, कास, रक्तपित्त, अग्निमांद्य एवं अतिसार आदि में दिया जाता है। बच्चों के श्वसनी फुफ्फुस पाक में १½ र० चूर्ण तथा कस्तूरी वटी १ र० की ६ मात्रा बना कर हर ४ घण्टे पर देने से लाभ होता है।

(२) इसके पत्तों का स्वरस ५-१० बूँद जल या दुग्ध के साथ बच्चों के दंतोद्भेद के समय होने वाले ज्वर एवं कफविकार आदि में दिया जाता है। बंगाल में प्रसूता को बल्य औषध की तरह इसे देते हैं।

(३) स्वरभंग, जीर्णश्वसनिका शोथ, राजयक्ष्मा तथा अन्य कफविकारों में इसके क्वाथ या फांट का उपयोग करते हैं।

(४) इसके पत्तों का चूर्ण मधु एवं वासा स्वरस के साथ कास, श्वास तथा रक्तष्ठीवन में दिया जाता है।

मात्रा—१-२ माशा।

तालीसपत्र ३

इसकी कई उपजातियाँ होती हैं जिनमें से २, ३ के पत्तों का प्रयोग तालीसपत्र के स्थान पर नेपाल तथा पंजाब के कुछ वैद्य करते हैं। इनका सक्षेप में वर्णन किया गया है।

(क) हि०–तालीसफर, तालीसपर । काश्मी०–तजक्तुम । झेलम०–निचनी, रतनकाट, नेरा । पं०–तालिस्री । ले०–*Rhododendron anthopogon D. Don.* (रोडोडेन्ड्रॉन् एन्थोपोगोन् डी. डोन) । Fam. Ericaceae (एरिकॅसी) ।

यह हिमालय में १०–१४ हजार फीट की ऊँचाई पर काश्मीर से भूटान तक उत्पन्न होता है।

इसके सदा हरित गंधयुक्त छोटे छोटे क्षुप १ से १॥ फीट ऊँचे होते हैं। शाखाओं पर वल्क पत्र और खुरदरापन होता है। पत्ते-सनाल, १–१॥ इञ्च लंबे, अंडाकार या चौडे आयताकार, ऊपरी पृष्ठ पर चमकदार और अधःपृष्ठ पर भूरे रोमावरण से युक्त होते हैं। शाखाओं के अन्त में फूलों का गुच्छा लगता है। फूल–किंचित् पीले आते हैं। फल–बहुत छोटे और अंडाकार होते हैं। बीज–बहुत सूक्ष्म तथा दीर्घवृत्ताकार होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके पत्तों का धूम्रपान लाभदायक माना जाता है। पत्ते–उत्तेजक तथा सुगंधित होते हैं। इसके चूर्ण के नस्य से छींके आती हैं। ऐसी धारणा है कि हिमालय के पूर्वभाग में अधिक ऊँचाई पर चढ़ते समय शिरःशूल तथा हृल्लास उत्पन्न करने वाली वनस्पतियों में से एक यह हो।

मात्रा—२–८ रत्ती।

(ख) गढवाल–सिमारेस । ने०, हि०–चेरैलु । काश्मी०–गग्गर । कुमाऊं–चिमुल। ले०–*Rhododendron campanulatum D. Don* (रोडोडेन्ड्रॉन् कम्पॅनुलॅटम् डी. डोन)।

यह भी हिमालय में काश्मीर से भूटान तक पाया जाता है। इसका गुल्म–कुछ बड़ा; पत्ते–३–५ इञ्च लंबे, दीर्घवृत्ताकार, आयताकार तथा दोनों सिरों पर गोल होते हैं। नीचे के पृष्ठ पर दालचीनी रंग के सघन रोमों से शिराएं ढकी रहती हैं। पुष्प–बैंगनी या नीलापन लिये श्वेत रंग के आते हैं।

गुण और प्रयोग–इसके पत्ते बकरियों के लिये विषैले समझे जाते हैं। अर्धावभेदक तथा प्रतिश्याय में तम्बाकू के साथ इसके पत्तों का नस्य के रूप में प्रयोग किया जाता है। जीर्ण आमवात, फिरंग तथा गृध्रसी में इसके पत्तों का आभ्यन्तरिक उपयोग किया जाता है। नेपाल में इसके पंचाग का प्रयोग जीर्ण ज्वर तथा राजयक्ष्मा में किया जाता है।

मात्रा—२–८ र०।

(ग) गढवाल–सिमरिस। भोटिया–तसलसुमा। यू०, हि०–तालीसफर। ले०–*Rhododendron lepidotum Wall.* (रोडोडेन्ड्रॉन् लेपिडोटम् वाल.)।

यह भी हिमालय में काश्मीर से भूटान तक पाया जाता है।

इसका क्षुप छोटा तथा गन्धयुक्त होता है। पत्ते–$\frac{3}{4}$ इञ्च से १॥। इञ्च लम्बे, प्रायः विनाल, ऊपर से लट्वाकार और कुण्ठिताग्र या मालाकार और कुछ नोकीले और अधःपृष्ठ श्वेत या मुरचई रंग के रोमावरण से ढका हुआ रहता है। फूल–लाल, बैंगनी या पीले, ३–४ के गुच्छों में या अकेले रहते हैं। फल–छोटे, ५ धारीयुक्त होते हैं तथा बीज छोटे–छोटे अण्डाकार होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके गुण (क) के समान ही हैं।

अथ कङ्कोलं सुगन्धिद्रव्यम् 'सीतलचीनी' इति लोके।
तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कङ्कोलं[1] कोलकं प्रोक्तं तथा कोषफलं स्मृतम्।
कङ्कोलं लघु तीक्ष्णोष्णं तिक्तं हृद्यं रुचिप्रदम्। आस्यदौर्गन्ध्यहृद्रोगकफवातामयान्ध्यहृत्॥

---

१. कक्कोलं इति पाठा०।

'कङ्कोल नामक' सुगन्ध द्रव्य जो कि शीतल चीनी नाम से प्रसिद्ध है उसके नाम तथा गुण—कङ्कोल, कोलक और कोपफल ये सब संस्कृत नाम 'शीतलचीनी' के हैं। शीतलचीनी-लघु, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, तिक्त रस युक्त, हृदय को हितकर तथा रुचिकारक होती है। यह मुख की दुर्गन्धता, हृद्रोग, कफ तथा वातरोग और आन्ध्य (आँखों से न दीखना) इन सबों को दूर करती है ॥ ११६ ॥

४७ शीतलचीनी

हि०-शीतलचीनी, कबाबचीनी, कङ्कोल, शीतलमिर्च। बं०-कबाबचिनि, सुगन्धमरिच। म०-कङ्कोल, कापूरचीनी। गु०-चणकबाब। क०-गन्धमेणसु। ते०-चलवमिरियालु। ता०-वालिमलगु। फा०-कबाबह, कबाबचीनी। अ० हब्बुल् उरूस, कबाबेसीनी। अं०-Cubebs (क्यूबेब्स्); Tailed Pepper (टेल्ड पेप्पर)। ले०-*Piper cubeba Linn. f.* (पाइपर क्यूबेबा लिन.)। Fam. Piperaceae (पाइपेरॅसी)।

शीतलचीनी—यह एक लता जाति की वनस्पति का पूर्ण रूप से विकसित किन्तु अपक्व अवस्था में सुखाया हुआ फल है, जो काली मरिच के समान होता है। यह जावा, सुमात्रा तथा बोर्निओं में होती है। लङ्का में इसकी खेती की जाती है। भारतवर्ष में विशेष कर मैसूर में इसकी कुछ उपज की जाती है।

इसकी आरोही बहुवर्षायु लता होती है। कांड-चिकना, लचीला एवं जोड़दार होता है। पत्ते-अखंड, सवृन्त, आयताकार या लट्वाकार-आयताकार, नोकीले, गोल या हृद्वत् पर्णतलवाले, चर्मवत् तथा चिकने होते हैं। शिराएँ बहुत होती हैं। पुष्प-अद्विलिंगी तथा अवृन्त-काण्डज पुष्पव्यूहों में आते हैं। फल-गोल, अष्ठिफल होते हैं जिनमें आधार की तरफ डंठल लगा रहता है। हरी अवस्था में ही इन्हें तोड़कर धूप में सुखा लिया जाता है।

यह अपक्व फल काली मिर्च के समान, गोल, झुर्रीदार गहरे भूरे रंग के एवं करीब ४ मि० मि० व्यास के सूखे हुवे होते हैं। इसके शिखर पर त्रिकोणयुक्त कुक्षि लगी रहती है तथा आधार पर ४ मि० मि० लंबा डंठल रहता है। इसके अन्दर एक बीज रहता है। इसको चबाने से मनोरम तीक्ष्ण मसालेदार विशिष्ट गन्ध आती है; स्वाद कडुआ, चरपरा तथा जीभ ठंडी मालूम पड़ती है। औषध में इन्हीं फलों का व्यवहार किया जाता है। कुछ लोग इसके दो भेद मानते हैं। छोटे तथा पतले छिलके वाले फलों को शीतलचीनी एवं बड़े तथा मोटे छिलके वाले फलों को कबाबचीनी कहा जाता है। वास्तव में एक ही लता के यह फल होते हैं। प्राचीन काल से मुखशुद्धि के लिये पान के साथ या स्वतन्त्र रूप में तथा मसालों में इसका प्रयोग किया जाता रहा है।

रासायनिक संगठन—कबाबचीनी में उड़नशील तैल ५-२०%, क्यूबेबिन् (Cubebin, $C_{20} H_{20} O_6$), राल, तैल, स्टार्च, गोंद, क्यूबेबिक् एसिड (Cubebic acid) करीब ०·९६% तथा कॅल्शियम ऑक्झॅलेट, फॉस्फेट एवं मॅलेट तथा मॅग्नेशियम् मॅलेट ये पदार्थ पाये जाते हैं। इसमें के प्रधान गुणकारी तत्व उड़नशील तैल एवं क्यूबेबिक् एसिड हैं। पुराने कबाबचीनी द्वारा निकाले तैल में गंधहीन एवं पारदर्शक एक प्रकार का कर्पूर (Camphor of cubeb, $C_{15} H_{26} O$) पाया जाता है।

इसमें का उड़नशील तैल स्वच्छ, हलके पीताभ या नीलाभ हरित रंग का, विशिष्ट गंधयुक्त एवं उष्ण कर्पूरवत् स्वादवाला होता है। इस तैल में प्रधान रूप में टर्पेन्स् (Terpenes) एवं सेस्क्विटर्पेन्स् (Sesquiterpenes) पाये जाते हैं। भारतीय कबाबचीनी में भी उपर्युक्त तैल से मिलता

जुलता उड़नशील तैल पाया जाता है। तैल को शीत तथा प्रकाशहीन स्थान में बन्द बोतलों में रखना चाहिये।

परीक्षा—किसी श्वेत पात्र में कबाबचीनी का चूर्ण रखकर उस पर १ बूंद गंधक का तेजाब रखकर ऊपर से देखने से नीलारुण (Purple) रंग दिखलाई देता है। अच्छी कबाबचीनी में सिकुड़े हुये अविकसित फल १०% से अधिक, कांड ५% से अधिक, इनको छोड़कर अन्य पदार्थ २% से अधिक, राख ८% से अधिक एवं अम्ल में न घुलने वाला राख २% से अधिक न होनी चाहिये।

गुण और प्रयोग—कबाबचीनी उष्ण, उत्तेजक, कफघ्न, वातघ्न, प्रतिदूषक (Antiseptic), मूत्रजनक, दीपन, पाचन, रुचिकर, वृष्य, तृष्णा शामक तथा मुख की दुर्गन्ध एवं जडतानाशक है। इसमें स्थानिक प्रक्षोभक गुणों के कारण यह श्लेष्मकला के लिये उत्तेजक है। प्रचूषण के पश्चात् इसके कार्यकारीसत्व का उत्सर्ग वृक्क एवं श्वसनसंस्थान द्वारा होता है। मूत्रजननेन्द्रिय संस्थान की श्लेष्मकला पर इसका स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। अधिक मात्रा में सेवन करने पर यह पाचनक्रिया विकृत कर देती है। त्वचा की उत्तेजना से कभी-कभी खुजली भी उत्पन्न होती है।

(१) प्रतिदूषक एवं मूत्रल औषध की तरह इसे पुराने सोजाक में देते हैं। ३०-६० र० चूर्ण दुग्ध के साथ या २½ र० फिटकिरी के साथ दिन में ३ बार देते हैं। इससे बस्तिशोथ में भी लाभ होता है।

(२) श्वसन संस्थान के विकारों में प्रतिदूषक एवं उत्तेजक कफनिःसारक रूप में खदिरादि गुटिका जैसी चूसने की गोली बनाकर उसे चूसने को दिया जाता है। गले की शिथिलता तथा मुखपाक आदि में भी इससे लाभ होता है। गायक गला साफ करने के लिये इसको चूसते हैं। खांसी आदि में इसके चूर्ण को मधु के साथ चटाते हैं। इसका धूम्रपान श्वास में लाभदायक है।

(३) नाक के श्लेष्मा को कम करने के लिये इसके नस्य का उपयोग किया जाता है।

(४) इसके तैल को मूत्रजननेन्द्रिय संस्थान के रोग, बस्तिशोथ, सोजाक तथा सोजाक की पुरानी अवस्था में शर्करा के साथ या गोंद के साथ एमलशन बनाकर या कॅपसूल में रख कर प्रयोग करते हैं। जीर्ण श्वसनिका शोथ में इसको उष्ण जल मे डालकर उसकी वाष्प सूंघी जाती है।

मात्रा—चूर्ण १-४ माशा। तैल ५-२० बूंद।

अथ गन्धकोकिला गन्धमालती च। तयोर्गुणानाह

स्निग्धोष्णा कफहृत्तिक्ता सुगन्धा गन्धकोकिला। गन्धकोकिलया तुल्या विज्ञेया गन्धमालती॥

'गन्धकोकिला' तथा 'गन्धमालती' के गुण—गन्धकोकिला-तिक्तरसयुक्त, स्निग्ध, सुगन्धयुक्त, उष्णवीर्य एवं कफनाशक होती है। 'गन्धकोकिला' के समान 'गन्धमालती' के भी गुण समझना चाहिये॥ ११७॥

४८ गन्धकोकिला एवं गन्धमालती

ये दोनों ही संदिग्ध गन्ध द्रव्य हैं। बाजार में गन्धकोकिला नाम से एक प्रकार के फल बिकते हैं जो देखने में हवुषा के समान किन्तु कुछ चिपटे होते हैं। गन्धमालती नाम से एक प्रकार की जड़ के छोटे-छोटे टुकड़े मिलते हैं जो रेशेदार किंचित् बादामी रंग के होते हैं।

आगे पुष्पवर्ग में मालती (जाती, चमेली) एवं स्वर्णजाती का वर्णन आया है। मालती (रतेड) नामक एक अन्य लता होती है जिसे कुछ लोगों ने गंधमालती लिखा है। इसकी एक अन्य उपजाति

भी पाई जाती है। निघंटुकारों ने जो जातीभेद लिखा है वह संभवतः यही रतेड हो या यह यहाँ पर वर्णित गन्धमालती हो। गन्धमालती (रतेड) का लैटिन नाम (Aganosma caryophyllata G. Don.) (अॅगॅनोस्मा कॅरियोफाइलॅटा जी० डोन) एवं इसी के भेद का A. calycina A. DC. (अॅ० कॅलिसिना ए० डी० सी०) है जिनका संक्षेप में यहाँ वर्णन किया गया है।

ले०–*Aganosma caryophyllata G. Don.* (अॅगॅनोस्मा कॅरियोफाइलॅटा जी. डोन.)। Fam. Apocynaceae (एपोसाइनेसी)। हि०, बं०–मालती। संथा०–रतेड़।

यह बंगाल, मुंगेर, उत्तरी सरकार एवं दक्षिण में होती है।

इसकी लता–विस्तार में फैलने वाली तथा आरोही होती हैं। पत्ते–लट्वाकार या अण्डाकार ३–५·५ × १·५–३ इञ्च बड़े, पर्णशिराएं रक्ताभ, आमने सामने के पत्ते कभी-कभी छोटे बड़े एवं फलक का आधार तिरछा होता है। पुष्प–बड़े, श्वेत, सुगंधि, तथा समस्त काण्डज गुच्छों में आते हैं। आभ्यंतर नाल नीचे पतला किन्तु ऊपर चौड़ा रहता है। फली–दो-दो, अग्र पर जुड़ी हुई एवं ४ से १४ इञ्च लंबी तथा अग्र की ओर क्रमशः संकुचित रहती हैं।

गुण और प्रयोग—यह वामक है। इसके पत्तों का पैत्तिक विकारों में प्रयोग करते हैं। पानी से अंगुलियों के बीच जब पक जाता है तब इसकी अग्रय कलिकाओं का स्वरस लगाया जाता है। इसके पुष्पों का नेत्र विकारों में प्रयोग करते हैं।

अथ लामज्जकम्। (उशीरवत् पीतच्छवितृणविशेषः)। तस्य नामगुणानाह

लामज्जकं सुनालं स्यादमृणालं लवं[1] लघु। इष्टकापथकं सेव्यं नलदञ्चावदातकम् ॥११८॥
लामज्जकं हिमं तिक्तं लघु दोषत्रयास्रजित्। त्वगामयस्वेदकृच्छ्रदाहपित्तास्ररोगनुत् ॥११९॥

'लामज्जक' जो कि 'वीरण' घास की भाँति पीत वर्ण का एक विशेष तृण होता है उसके नाम तथा गुण—लामज्जक, सुनाल, अमृणाल, लव, लघु, इष्टकापथक, सेव्य, नउद और अवदातक ये सब संस्कृत नाम 'लामज्जक' के हैं। लामज्जक–तिक्तरसयुक्त, शीतवीर्य और लघु होता है एवं यह त्रिदोष, रक्तविकार, चर्मरोग, पसीना, मूत्रकृच्छ्र, दाह और रक्तपित्त इन सबों को दूर करता है॥

४९ लामज्जक

लामज्जक भी संदिग्ध द्रव्य है। भावप्रकाशकार इसे खस की तरह का पीतवर्ण का तृणविशेष मानते हैं। कुछ ग्रंथकारों का कहना है कि जब तक इसका निर्णय नहीं हो जाता तब तक लामज्जक के स्थान पर खस का व्यवहार करना चाहिये। कुछ नवीन ग्रन्थकारों ने लामज्जक का ले० नाम Cymbopogon jwarankusa (साइम्बोपोगोन् ज्वरांकुश) लिखा है। श्रीयुत यादव जी अपनी द्रव्यगुणविज्ञान पुस्तक में लिखते हैं कि यह (साइम्बो-ज्वरांकुश) यूनानी औषध विक्रेताओं के यहाँ इजखिर नाम से बिकता है तथा इजखिर उष्णवीर्य द्रव्य होने से इसे लामज्जक नहीं मान सकते। वे इसे भूतृण मानते हैं।

बाजार में एक पीतवर्ण का खस मिलता है। हो सकता है कि उसका लैटिन नाम ज्ञात न हो या वह खस का ही भेद हो लेकिन लामज्जक के स्थान पर उसका प्रयोग किया जा सकता है। यहाँ निम्न वर्णन साइम्बोपोगोन् ज्वरांकुश का किया गया है।

हि०–लखवी, लामज्जक, करनकुश, घाटजारी। मिर्जापुर–इन्द्रबगई। बं०–कारांकुस। म०–पित्रलावाला। पं०–खूर, इमरंकुश। गु०–पिलो वालो। ते०–पासनगड्डि। ता०–कामाट्चिपिल्लु।

१. लयमिति पाठा०।

क०–करिलावचा। अ०–इज़्खिर। इरा०–गुर्गियाह। ले०–*Andropogon jwarancusa Jones* (एन्ड्रोपोगॉन् ज्वरान्कुश जोन्स); Cymbopogon jwarankusa Schult. (साइम्बोपोगॉन् ज्वरान्कुश शुल्ट)। Fam. Gramineae (ग्रॅमिनी)।

लामज्जक—यह सुगन्धित घास हिमालय, उत्तरप्रदेश, पञ्जाब, सिन्ध और बंबई में उत्पन्न होती है।

यह तृण जाति की वनौषधि ३–६ फुट ऊँची होती है। पत्ते–चिपटे, चिकने, कड़े, २ फीट तक लंबे, ०·२ इञ्च चौड़े और ऊपर की ओर क्रमशः कम चौड़े होकर लंबे पतले नोकवाले होते हैं। पत्रकोश स्थाई, टेढ़े और उनके गुच्छों के बीच में डंडी निकली रहती है। जड़–लंबी, गुच्छेदार, कोमल, स्वाद में कड़वी, तीती एवं अत्यन्त सुगंधित तथा पीले रङ्ग की होती है। इसके पंचाग का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके घास में करीब १% सुगंधित तैल होता है।

गुण और प्रयोग—इसके फूल रक्तस्तंभक हैं तथा जड़ एवं पत्ते वातानुलोमक, उत्तेजक, आर्तवजनन, मूत्रजनन, स्वेदजनक एवं अल्प मात्रा में कफघ्न हैं।

रक्तस्राव रोकने के लिये इसके फूलों को क्षत पर बाँधते हैं। इसके पंचांग को पीस कर शोथ पर लेप किया जाता है। ज्वर में पंचांग के क्वाथ से स्नान कराते हैं। द्राक्षासव में इसका पंचांग डाल कर गरम करके देने से पेशाब बहुत होता है। आमवात में विरेचन औषध के साथ इसे देते हैं। इसमें अल्प मात्रा में कफघ्न गुण होने के कारण कफ रोगों में दाह कम करने के लिये इसका प्रयोग किया जाता है। गर्भाशय का थोड़ा संकोच करने के कारण इसको प्रसूति ज्वर में देते हैं। वातरक्त में इसका उपयोग किया जाता है। बच्चों के कुपचन के लिए भी यह उत्तम है।

मात्रा—½–१ तो०।

अथैलवालुकम्। (कङ्कोलसदृशं कुष्ठगन्धि)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

एलवालुकमैलेयं सुगन्धि हरिवालुकम्। ऐलवालुकमेलालु कपित्थत्वच[1]मीरितम्॥१२०॥
एलालु कटुकं पाके कषायं शीतलं लघु। हन्तिकण्डूव्रणच्छर्दितृट्कासारुचिहृद्रुजः॥
बलासविषपित्तास्रकुष्ठमूत्रगदक्रिमीन्॥ १२१॥

एलवालुक जो कि देखने में 'शीतलचीनी' की भाँति तथा गंध में 'कूठ' के समान होती है, उसके नाम तथा गुण—एलवालुक, ऐलेय, सुगन्धि, हरिवालुक, ऐलवालुक, एलालु और कपित्थत्वग् ये सब संस्कृत नाम 'एलवालुक' के हैं। एलवालुक–कषाय रस युक्त किन्तु पाक में कटुरसयुक्त, शीतवीर्य और लघु होती है। यह खुजली, व्रण, वमन, प्यास, खांसी, अरुचि, हृद्रोग, कफ, विष, रक्तपित्त, कुष्ठ मूत्ररोग और कृमिरोग इन सबों को दूर करती है॥ १२०–१२१॥

५० एलवालुक

एलवालुक संदिग्ध द्रव्य है। भावप्रकाशकार इसे 'कंकोलसदृशं कुष्ठगंधि' मानते हैं। चरक में शुक्रशोधन और वेदनास्थापन दशेमानि में एवं कषायस्कंध में इसका उल्लेख है। आसवयोनि में इसकी छाल का उल्लेख है। अर्शोक्त अभयारिष्ट, उन्मादोक्त कल्याणकघृत तथा पांडु के बीजकारिष्ट में इसका पाठ है। सुश्रुत के लोध्रादिगण में इसका पाठ है।

---

१. कपित्थफल इति पाठा०।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट है कि एलवालुक, ॲलोज् (मुसब्बर) नहीं हो सकता जैसा कि कुछ लोग मानते हैं क्योंकि एलवालुक का पाठ त्वगासवयोनि में होने से यह कोई वृक्ष है ऐसा मालूम होता है। अधिकांश विद्वान् प्रुनस् सिरेसस् को एलवालुक मानते हैं क्योंकि इसका एक नाम आलुवालु है। यह शायद एलवालुक का अपभ्रंश हो। डा० देसाई, गिसेकिआ फॉर्नेसिओइडिस् को एल्वालुक मानते हैं। इन दोनों का संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है। कुछ लोगों ने मुकिआ स्काब्रेला आर्न० (Mukia scabrella Arn.) को माना है जो दीपन, मृदुविरेचन एवं मूत्रजनन है तथा जिसके पत्तों का प्रयोग चक्कर में, बीजों का प्रयोग स्वेद लाने के लिये एवं मूल का आध्मान में उपयोग किया जाता है।

एलवालुक १

हि०-आलूवालू। पं०-गिलास। अं०-Dwarf cherry (ड्वार्फचेरी)। ले०-*Prunus cerasus Linn.* (प्रुनस् सिरॅसस् लिन.)। Fam. Rosaceae (रोझॅसी)।

इसके वृक्ष हिमालय के पर्वतों में लगाये हुए मिलते हैं.

इसके पत्ते-२-३ इञ्च लंबे, १-१॥ इञ्च चौड़े, लट्वाकार-अंडाकार, अग्र यकायक नोकीला तथा किनारा दन्तुर (तीक्ष्णाग्रगोल दांत) होता है। पुष्प-श्वेत या गुलाबी एवं; फल-गोल, चिकना, चमकीला और घेरे में आधा इञ्च तक होता है। इसके बीज बाजार में बिकते हैं जिनकी मज्जा का औषध में व्यवहार किया जाता है। इसका स्वाद कडुवा एवं सुगन्धित रहता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उड़नशील तैल एवं पद्मकाष्ठ आदि में पाया जाने वाला हाइड्रोसायेनिक् एसिड (Hydrocyanic acid) नामक तीव्र विष रहता है।

गुण और प्रयोग—यह कडुवा पौष्टिक एवं वेदनास्थापक है। मज्जा तन्तु के रोगों में इसका व्यवहार किया जाता है। इसके अन्य गुण उपर्युक्त विष के समान हैं। इसकी छाल ग्राही एवं ज्वरहर होती है।

मात्रा—२-५ र०।

एलवालुक २

हि०-बालूका साग। बं०-वालुक। म०-व (वा) लुची भाजी। ता०-मनल्किरै। ते०-एसकदन्तिकुर। ले०-*Gisekia pharnaceoides Linn.* (गिसेकिआ फार्नेसिओइडिस् लिन.)। Fam. Ficoidaceae (फिकोइडॅसी)।

यह वनस्पति पंजाब, सिंध, दक्षिण तथा सिलोन में होती हैं। इसके क्षुप छोटे, फैले हुवे तथा अनेक शाखाओं से युक्त होते हैं। पत्र-विपरीत, मांसल, अखंड, अंडाकृति, करीब १ इञ्च लंबे तथा आधार की तरफ नोकीले होते हैं। पुष्प-अनेक; फल-बाह्यदल से आवृत झिल्लीदार होते हैं। बीज-काले से, पृष्ठ पर गोलाई लिये हुए एवं श्वेत छोटी ग्रंथियों से युक्त होते हैं। बंगाल में वालुक नाम से यह बीज बिकते हैं। औषध में पंचांग का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—पत्तों में बालू की तरह क्षार के कंकड रहते हैं। इसी से इसे बालू का साग कहा जाता है।

गुण और प्रयोग—इसका पंचाङ्ग सुगंधि, आनुलोमिक एवं कृमिघ्न है। कृमिरोग में इसके पंचांग का रस १ औंस तथा शीतजल १ औंस मिलाकर सुबह खाली पेट पिलाते हैं। हर दूसरे दिन ३, ४ बार के प्रयोग से स्फीतकृमि (Taenia) मर कर निकल जाते हैं।

अथ कैवर्तीमुस्तकम् (केवटी मोथा)। तस्य नामलक्षणगुणानाह

कुटन्नटं दासपुरं बालेयं परिपेलवम्। प्लवगोपुरगोनर्दकैवर्तीमुस्तकानि च ॥ १२२ ॥

मुस्तावत्पेलवपुरं[1]शुकाभं[2] स्याद्वितुन्नकं ॥ १२३ ॥

वितुन्नकं हिमं तिक्तं कषायं कटु कान्तिदम्। कफपित्तास्रवीसर्पकुष्ठकण्डूविषप्रणुत् ॥१२४॥

'केवटीमोथा' के नाम लक्षण तथा गुण—कुटन्नट, दासपुर, बालेय, परिपेलव, प्लव, गोपुर, गोनर्द, कैवर्तीमुस्तक और वितुन्नक ये सब संस्कृत नाम 'केवटीमोथा' के हैं। केवटीमोथा के लक्षण– यह मोथा की भांति, कोमल दलकोश तथा शुक की भांति वर्ण से युक्त होता है। केवटीमोथा—कटु, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, शीतवीर्य और कान्तिवर्धक होता है और यह कफ, पित्त, रक्तविकार, वीसर्प कुष्ठ, खुजली तथा विष को दूर करता है ॥ १२२–१२४ ॥

❀ 'केवटीमोथा'—'गुडतजी' इति च लोके। इदं तु वितुन्नकनाम्नो वृक्षस्य त्वग मुस्ताकृतिः ॥ १२२–१२४ ॥

यहां पर यह भी समझना चाहिये कि लोक में 'केवटीमोथा' गुडतजी नाम से भी प्रसिद्ध है तथा यह वितुन्नकनामक वृक्ष का छिलका है एवं आकार में मोथा की भांति होने से इसे केवटीमोथा कहते हैं ॥ १२२–१२४ ॥

५१ केवटीमोथा

कैवर्तमुस्तक का उपर्युक्त वर्णन भ्रमात्मक मालूम पड़ता है। मुस्ता के आकारवाली वितुन्नक नामक वृक्ष की छाल कैवर्तमुस्तक है यह उपर्युक्त वर्णन से मालूम होता है। केवटीमोथा नाम से ग्रन्थिसदृश छोटे काले कन्द मिलते हैं जो मोथा वर्ग (Cyperus) के ही होते हैं। इसके गुणों में तथा मोथे के गुणों में विशेष अन्तर नहीं है। इसलिये इन्हें कैवर्तमुस्तक माना जा सकता है।

डा. देसाई ने ले.-Celosia argentea Linn.; Fam. Amaranthaceae (सेलोसिआ आर्जेण्टिआ, लिन. ॲमॅरेन्थेसी) का संस्कृत नाम शितवार, वितुन्नक लिखा है। इसे हि. में सुर्वाली, सफेद मुर्गा कहा जाता है। शाकवर्ग में वर्णित, शितिवार यही मालूम होता है। शितिवार के पर्यायों में 'सुनिषण्णक' शब्द भी आता है किन्तु ये दो भिन्न द्रव्य मालूम होते हैं। सुनिषण्णक यह चौपतिया साग है जिसका वर्णन आगे शाकवर्ग में किया गया है। शितिवार यह सुर्वाली होने की अधिक संभावना है। इसका क्षुप समस्त भारत में होता है। यह ३ फीट ऊँचा, पत्ते-एकान्तर, लम्बे, पतले तथा कम चौड़े; पुष्प-सफेद तथा गुलाबी एवं क्षुप के अन्त में गुच्छों में; फली-दीर्घ वृत्ताकार छोटी; बीज-बहुत, काले से भूरे रंग के होते हैं। पत्तों का शाक खाते हैं तथा बीजों का भी व्यवहार किया जाता है। बीज शीतल, स्नेहन तथा पौष्टिक होते हैं। १ तोला बीज, मिश्री तथा उष्ण दुग्ध के साथ कामोत्तेजना के लिये देते हैं। बीजों का फांट अतिसार में तथा मूत्राघात में मिश्री एवं बीज का उपयोग किया जाता है।

मात्रा—½–१ तोला।

अथ स्पृक्का (असवरग)। सुगन्धिद्रव्यम् (शाकविशेषः)। 'लङ्काइकपुरी'ति लोके च। तस्या नामगुणानाह

स्पृक्काऽसृग् ब्राह्मणी देवी मरुन्माला लता लघुः।

समुद्रान्ता वधूः कोटिवर्षा लङ्कोपिकेत्यपि ॥ १२५ ॥

---

१. पुटमिति पाठ०। २. शुकाभमिति पाठ०।

स्पृक्का स्वाद्वी हिमा वृष्या तिक्ता निखिलदोषनुत्।
कुष्ठकण्डूविषस्वेददाहाश्री ज्वररक्तहृत् ॥ १२६ ॥

स्पृक्का (असवरग) जो कि सुगन्धिद्रव्यों में से एक प्रकार का शाक ही है तथा जिसे लोक में 'लङ्कोईकपुरी' भी कहते हैं, उसके नाम तथा गुण—स्पृक्का, असृग्, ब्राह्मणी, देवी, मरुन्माला, लता, लघु, समुद्रान्ता, वधू, कोटिवर्षा और लङ्कोपिका ये सब संस्कृत नाम 'स्पृक्का' के हैं। स्पृक्का—स्वादिष्ट, शीतवीर्य, वृष्य, तिक्त रसयुक्त तथा सम्पूर्ण दोषों को दूर करने वाली होती हैं एवं यह कुष्ठ, खुजली, विष, पसीना, दाह, अलक्ष्मी, ज्वर तथा रक्तविकार को नष्ट करती है ॥ १२५-१२६ ॥

५२ स्पृक्का।

स्पृक्का भी एक सन्दिग्ध द्रव्य है। डल्हण ने इसे 'कुटिलपुष्पा सुगन्धिद्रव्यमौत्तरापथिकम्' (सु. सू. ३८) लिखा है। चरक में भी इसका उल्लेख है। कुछ लोगों ने इसका ले. नाम मार्सिलिआ क्वाड्रिफोलिएटा (Marsilia quadrifoliata) तथा कुछ ने ट्राइफोलिअम् ऑफिसिनेल् (Trifolium officinale) लिखा है जो उचित नहीं मालूम पड़ता। डा० देसाई ने एनिसोमेलिस् मलबारिका को स्पृक्का लिखा है। वर्णन एवं गुण-धर्म की दृष्टि से यह उचित मालूम होता है अतः इसी का वर्णन किया जा रहा है।

गु०—मखमली चोधारो। म०—कपुरीमधुरी, कालोतुंबो, गावजवान, चोधारा। क०—कर्ितुंबे। ते०—मोगबीराकु। ता०—पेथिमसरी। अं०—Malabar catmint (मॅलॅबर् केट्मिण्ट्)। ले०—*Anisomeles malabarica R. Br.* (एनिसोमेलिस् मलबारिका र० ब्र०)। Fam. Labiatae (लेबिएटी)।

इसका क्षुप अत्यन्त रोमश तथा झाड़ीदार दक्षिण भारत में होता है। यह ४-६ फीट ऊँचा रहता है। पत्ते—मोटे, लंबगोल, कुछ शल्याकृति, दन्तुर तथा सवृन्त रहते हैं। पुष्प-हलके जामुनी रंग के रहते हैं। इसके पत्र सुगन्धि एवं कडवे रहते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें उड़नशील तैल तथा एक कडुवा क्षाराभ रहता है।

गुण और प्रयोग—यह उत्तम स्वेदजनन, शीतप्रशमन तथा उत्तेजक है। यह तीव्र औषध है। उदर शूल, अपचन तथा कुपचन में इसे खिलाते हैं तथा इसका पेट पर लेप भी करते हैं। बच्चों में दंतोद्भेद के समय होने वाले विकारों में इससे अच्छा लाभ होता है। कृमिज्वर तथा अन्य ज्वरों में विशेष कर जीर्ण ज्वर में इससे लाभ होता है। आमवातादि में इसके उड़नशील तैल को लगाया जाता है तथा पत्तों के क्वाथ से सेंका जाता है। तैल का भी आंतरिक प्रयोग पाचन के विकारों में किया जाता है।

मात्रा—स्वरस ¼-½ चम्मच। तैल २-५ बूंद।

'पर्पटी' इति प्रसिद्धं 'पद्मावती' इति चोत्तरदेशे, सुगन्धि द्रव्यम्।
अथ पर्पटी [पनडी]। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

पर्पटी रञ्जना कृष्णा जतुका जननी जनी। जतुकृष्णाऽग्निसंस्पर्शा जतुकृच्चक्रवर्त्तिनी ॥ १२७ ॥
पर्पटी तुवरा तिक्ता शिशिरा वर्णकृल्लघुः। विषव्रणहरी कण्डूकफपित्तास्रकुष्ठनुत् ॥ १२८ ॥

---

१. दाहास्र इति पाठा०।

'पर्पटी' जो कि 'पद्मावती' नाम से उत्तरदेश में प्रसिद्ध सुगन्धित द्रव्य है उसके नाम तथा गुण – पर्पटी, रञ्जना, कृष्णा, जतुका, जननी, जनी, जतुकृष्णा, अग्निसंस्पर्शा, जतुकृत और चक्रवर्त्तिनी ये सब संस्कृत नाम 'पर्पटी' के हैं। पर्पटी-कषाय तथा तिक्त रसयुक्त, शीतवीर्य, शरीर के वर्ण को उज्वल करने वाली और लघु होती है। यह विष, व्रण, खुजली, कफ, पित्तरक्त और कुष्ठ को दूर करने वाली है॥ १२७–१२८॥

५३ पर्पटी

सुगन्धि पानडी के स्वरूप के बारे में भी पर्याप्त मत भिन्नता है।

डा. देसाई ने गु०-सुगन्धी पानडी नाम से एक क्षुप का वर्णन किया है जिसका नीचे वर्णन दिया गया है।

सं०-पाची। हि०-पाचोली। बं०-पाटचोली, पाचपट। गु०-सुगन्धीपानडी। म०-पांच। कोंक-माली। ले०-*Pogostemon patchouli Hook. f.* (पोगोस्टेमॉन् पाचौली हुक.)। Fam. Labiatae (लेबिएटी)।

इसका स्वावलम्बी, अनेक शाखायुक्त क्षुप कोंकण में प्रसिद्ध है। यह जंगलों में होता है तथा इसकी उपज भी की जाती है। उपज से इसकी आकृति में परिवर्तन हो जाता है। पत्ते-अंडाकृति, दन्तुर तथा लंबे वृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प-बहुत छोटे तथा तुलसी की तरह गुच्छों में आते हैं। यह क्षुप बहुत सुगन्धित होता है। इसके पत्तों का उपयोग औषध में किया जाता है। रेशमी तथा ऊनी वस्त्रों में कीड़े न लगें इसलिये उनमें इसके पत्ते रखते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें एक अत्यन्त सुगन्धि उड़नशील तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह रक्तस्तम्भक, मूत्रजनन तथा वातानुलोमक है। रक्तमूत्र में १ माशा भांग के साथ २ तोला पत्तों का रस देते हैं।

मात्रा—½-१ चम्मच।

अथ नलिका। उत्तरापथे प्रसिद्धा सुगन्धा प्रवालाकृतिः 'यवारी' इति च क्वचित्प्रसिद्धा। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

नलिका विद्रुमलता कपोतचरणा नटी। धमन्यञ्जनकेशी च निर्मध्या[1] सुषिरा नली॥१२९॥
नलिका शीतला लघ्वी चक्षुष्या कफपित्तहृत्। कृच्छ्राश्मवाततृष्णाऽस्रकुष्ठकण्डूज्वरापहा॥

'नलिका' जो कि उत्तरदेश में प्रसिद्ध सुगन्धि द्रव्य देखने में मूंगे के समान होती है और जो कि कहीं-कहीं 'यवारी' नाम से भी प्रसिद्ध है उसके नाम तथा गुण—नलिका, विद्रुमलता, कपोतचरणा, नटी, धमनी, अञ्जनकेशी, निर्मध्या, सुषिरा और नली ये सब संस्कृत नाम नलिका के हैं। नलिका—शीतवीर्य, लघु तथा नेत्र के लिये हितकर होती है। यह कफ, पित्त, मूत्रकृच्छ्र, पथरी, वात, तृषा, रक्तदोष, कुष्ठ, खुजली तथा ज्वर को दूर करती है॥ १२९–१३०॥

५४ नलिका

नलिका नामक गन्धद्रव्य भी सन्दिग्ध है। कुछ लोग इसे रतनजोत मानते हैं। रतनजोत भी कुछ हदतक सन्दिग्ध ही है। नालुका नाम से एक सुगन्धित गोल मुड़ी हुई छाल के टुकड़े

---

१. निर्मथ्या इति पाठा०।

या चूर्ण बाजार में बिकता है। यह तज की ही एक जाति है। इसे नलिका कहा जा सकता है कि नहीं, यह कहना कठिन है। नालुका का विशेष उपयोग शोथहर लेप के रूप में बहुत किया जाता है।

अथ प्रपौण्डरीकम्। सुगन्धि द्रव्यम् [पुण्डेरी] इति लोके प्रसिद्धम्। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

प्रपौण्डरीकं पौण्डर्यं चक्षुष्यं पौण्डरीयकम्।
पौण्डर्यं मधुरं तिक्तं कषायं शुक्रलं हिमम्।
चक्षुष्यं मधुरं पाके वर्ण्यं पित्तकफप्रणुत्॥ १३१ ॥

'पुण्डेरी' इस नाम से लोक में प्रसिद्ध सुगन्धि द्रव्य के नाम तथा गुण— प्रपौण्डरीक, पौण्डर्य, चक्षुष्य और पौण्डरीयक ये सब संस्कृत नाम 'पुण्डेरी' के हैं। पुण्डेरी-मधुर, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, शुक्रजनक, शीतवीर्य, नेत्र के लिये हितकर, पाक में मधुर और शरीर के वर्ण को उत्तम करने वाला तथा पित्तकफ का नाशक है॥ १३१ ॥

५५ पुण्डेरी

प्रपौण्डरीक भी एक संदिग्ध द्रव्य है। कुछ लोगों ने पुण्डरीक तथा प्रपौण्डरीक में नाम तथा गुण सादृश्य होने से दोनों को एक मान लिया है लेकिन यह उचित नहीं है। पुण्डरीक श्वेत कमल का नाम है। पुण्डरीक नाम से सुश्रुत (क. अ. २) में कन्दविष का उल्लेख है। 'पुण्डरीकेण रक्तत्वमक्ष्णोर्वृद्धिस्तथोदरे।' प्रपौण्डरीक का एक नाम 'चक्षुष्य' होने से 'चाकसू' नामक वनस्पति को प्रपौण्डरीक के स्थान पर लिया जा सकता है। डा. देसाई ने चाकसू को 'वन्यकुलत्थ' लिखा है। वन्यकुलत्थ-रक्तपित्तकृत, शीतल, कफवातहर एवं कषाय रसयुक्त होती है। कुछ लोग यूनानी द्रव्य ममीरा मानते हैं क्योंकि उसका नेत्र रोगों में बहुत व्यवहार होता है। निम्न वर्णन चाकसू का है।

सं०-चक्षुष्या, अरण्यकुलत्थिका। हि०-चाक्षुस्, चाकसू। पं०-चकसू। गु०-चीमेड। काठि०-चमेड। म०-चिनोल, कानकुटी, चिम्न। ता०-करुकानम्। ते०-चनुपाल विट्टुलु। कं०-कोड, निन्द्रताछ। अ०-जश्मीज़ज, हब्बुस्सूदान। फा०-चश्मीज़ज, चशुम। ले०-*Cassia absus Linn.* (कॅसिआ एब्सस् लिन.)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

यह प्रायः सर्वत्र प्राप्त होता है।

इसके एक वर्षायु क्षुप ८-१८ इञ्च ऊँचे होते हैं। पत्रनाल बड़ा और पत्रदण्ड पर प्रत्येक पत्रकद्वय के बीच एक रेखाकार ग्रन्थि होती है। पत्रक संख्या में ४, आयताकार, .६-.९ इञ्च लंबे, करीब २ कुण्ठिताग्र और मध्यशिरा के दोनों ओर के उनके दोनों भाग आधार पर असमान होते हैं। पुष्प सवृन्त पीले या लाल जिसमें केवल ४ पुंकेशर होते हैं और जो अग्रस्थ मंजरी में रहते हैं। फली-चिपटी, रोमश तथा १-१½ इञ्च लंबी होती है। बीज-संख्या में पांच, चमकीले, काले भूरे, चिकने, चिपटे, अंडाकृति किन्तु एक सिरा पतला और लंबाई तथा चौड़ाई में $\frac{1}{6}$ इञ्च होते हैं। बीज का कवच निकाल देने से पीले रंग की तथा कडवी मज्जा निकलती है।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में २½% राख होती है। उसमें मैंगेनीझ का अंश रहता है।

गुण और प्रयोग—यह संग्राहक एवं नेत्राभिष्यंदप्रशमन है। पूययुक्त नेत्राभिष्यंद में भुने हुए बीजों की मज्जा का ½ र० चूर्ण पलकों के अन्दर रखते हैं। बीजों को पानी में साने हुए गेहूँ के आटे में रख, गरम राख में गरम कर, छिलका निकाल कर नेत्ररोगों में प्रयोग किया जाता है। चाकसू के २१ बीज तथा सफेद चंदन ५ माशे रात में जल में भिगो कर सुबह उस जल को छानकर पिलाने से रक्त मूत्र ठीक होता है।

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे वर्गप्रकरणे तृतीयः कर्पूरादिवर्गः समाप्तः ॥ ३ ॥

अथ गुडूच्यादिवर्गः

अथ गुडूची । तस्या उत्पत्ति नामानि गुणाँश्चाह

अथ लङ्केश्वरो मानी रावणो राक्षसाधिपः रामपत्नीं बलात्सीतां जहार मदनातुरः ॥ १ ॥
ततस्तं बलवान् रामो रिपुं जायाऽपहारिणम् । वृतो वानरसैन्येन जघान रणमूर्धनि ॥ २ ॥
हते तस्मिन्सुराराती रावणे बलगर्विते । देवराजः सहस्राक्षः परितुष्टश्च राघवे ॥ ३ ॥
तत्र ये वानराः केचिद्राक्षसैर्निहता रणे । तानिन्द्रो जीवयामास संसिच्यामृतवृष्टिभिः ॥ ४ ॥
ततो येषु प्रदेशेषु कपिगात्रात्परिच्युताः । पीयूषबिन्दवः पेतुस्तेभ्यो जाता गुडूचिका ॥ ५ ॥
गुडूची मधुपर्णी स्यादमृताऽमृतवल्लरी । छिन्ना छिन्नरुहा छिन्नोद्भवा वत्सादनीति च ॥ ६ ॥
जीवन्ती तन्त्रिका सोमा सोमवल्ली च कुण्डली । चक्रलक्षणिका धीरा विशल्या च रसायनी ॥
चन्द्रहासा वयस्था च मण्डली देवनिर्मिता । गुडूची कटुका तिक्ता स्वादुपाका रसायनी ॥८॥
संग्राहिणी कषायोष्णा लघ्वी बल्याऽग्निदीपिनी । दोषत्रयामतृड्दाहमेहकासांश्च पाण्डुताम् ॥
कामलाकुष्ठवातास्रज्वरक्रिमिवमीन्हरेत् । (प्रमेहश्वासकासार्शः कृच्छ्रहृद्रोगवातनुत्) ॥१०॥

अब यहां से गुडूच्यादिवर्ग आरम्भ होता है । उसमें प्रथम 'गिलोय' की उत्पत्ति, नाम तथा गुण कहते हैं ।

उत्पत्ति—जब कि अभिमानी, लङ्का के राजा, राक्षसों के स्वामी रावण ने कामातुर हो श्रीरामचन्द्रजी की पत्नी श्रीसीताजी को बलपूर्वक हरण किया, तब बलवान् श्रीरामचन्द्रजी ने स्त्री के हरण करनेवाले उस शत्रु (रावण) को वानरों की सेनाओं से युक्त हो युद्ध में मारा । बल से गर्वीले, देवताओं के शत्रु उस रावण के मारे जाने पर हजार नेत्रों वाले देवताओं के राजा इन्द्र, श्रीरामचन्द्रजी पर अत्यन्त प्रसन्न हुये और उन्होंने उस युद्ध में जो कोई वानर राक्षसों के द्वारा मारे गये थे उन्हें अमृत की वर्षा से सींचकर जिला दिया । उसके बाद जिन स्थानों पर बानरों के शरीर से अमृत की बूँदे पृथ्वी पर गिरीं, उनसे 'गिलोय' की उत्पत्ति हुई ।

नाम—गुडूची, मधुपर्णी, अमृता, अमृतवल्लरी, छिन्ना, छिन्नरुहा, छिन्नोद्भवा, वत्सादनी, जीवन्ती, तन्त्रिका, सोमा, सोमवल्ली, कुण्डली, चक्रलक्षणिका, धीरा, विशल्या, रसायनी, चन्द्रहासा, वयस्था, मण्डली और देवनिर्मिता ये सब संस्कृत नाम 'गिलोय' के हैं ।

गुण—गिलोय कटु, तिक्त तथा कषाय रस युक्त एवं विपाक में मधुर रसयुक्त, रसायन, संग्राही, उष्णवीर्य, लघु, बलकारक, अग्निदीपक तथा त्रिदोष, आम, तृषा, दाह, मेह, कास, पाण्डुरोग, कामला, कुष्ट, वातरक्त, ज्वर, क्रिमि और वमि को दूर करती है । (यह प्रमेह, श्वास, कास, अर्श, मूत्रकृच्छ्र, हृद्रोग और वात इन सबों का नाश करने वाली होती है) ॥ १–१० ॥

इसके पत्तों के गुण आगे शाकवर्ग में लिख हुवे हैं ।

१ गिलोय

हि०-गिलोय, गुरुच, गुडुच । बं०-गुलंच, पालो (सत्व) । म०-गुलवेल, गरुड़ वेल । गु०-गलो । क०-अमरदवल्ली, अमृत वल्ली । ते०-तिप्पतीगे । ता०-शिन्दिलकोडि, अमृडवल्ली । उ०-गुलंचा । पं०-गिळो । क०-गरुड़वेल । मला०-अम्रितु । गोआ०-अमृतवेल । फा०-गिलोई,

गिलोय। अ०-गिलोइ। अं०-टिनोस्पोरा (Tinospora)। ले०-*Tinospora cordifolia* (*Willd.*) *Miers* (टिनोस्पोरा कॉर्डिफोलिया मायर्स)। Fam. Menispermaceae (मेनिस्पर्मेसी)।

गिलोय—प्रायः सब प्रान्तों के जंगल झाडियों में पाई जाती है विशेष कर गरम प्रान्तों में अधिक होती है। देहरादून और सहारनपुर के जङ्गलों मे बहुत पायी जाती है।

इसकी बहुवर्षायु, चिकनी एवं मांसल लता-बहुत विस्तार में वृक्षों पर फैल जाती है। शाखाओं से डोरे के समान शोरियाँ निकल कर भूमि की ओर लटकती हैं। पत्ते-पान के समान, २-४ इञ्च के घेरे में गोलाकार नुकीले, चिकने, पतले, ७-९ शिराओं से युक्त एवं १-३ इञ्च लंबे पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। प्रायः वसन्त ऋतु में इसके पुराने पत्ते पीले होकर गिर जाते हैं और ज्येष्ठ तक नवीन पत्ते निकल आते हैं। उसी समय हरापन युक्त पीले रंग के अथवा केवल पीले रंग के फूलों के गुच्छे आते हैं। फल-मटर के समान होते हैं और पकने पर ये लाल हो जाते हैं। बीज-कुछ टेढ़े तथा चिकने होते हैं।

इसके मूल तथा कांड का व्यवहार औषध के लिये किया जाता है। ताजी अवस्था में कांड की छाल हरी तथा मांसल रहती है तथा उस पर पतली भूरे रंग की बाह्य त्वचा रहती है जिसकी पपड़ी निकलती रहती है। इस पर छोटे-छोटे गठ्ठे होते हैं। इसको काटने से अन्दर का भाग चक्राकार दिखाई देता है। ताजी एवं हरी गुडुच ज्यादा लाभप्रद होती है। गरमी में मई महीने के आखिर में इसका संग्रह करना चाहिये। प्रयोग के पूर्व इसके ऊपर की छाल खुरचकर निकाल दी जाती है। इसमें गन्ध नहीं होती किन्तु स्वाद कडवा होता है।

इससे कुछ भिन्न इसकी एक दूसरी जाति प्रायः बड़ी (४"-९"×८"), मृदु रोमश और प्रायः त्रिखण्ड पत्तियों वाली होती है। इसके बीज के कठोर आवरण पर छोटे-छोटे दाने होते हैं। इसे सं०-पद्मगुडूची, बं०-पद्मगुलंच, माल०, पं०-बड़ी सरसटीलत एवं ले०-Tinospora malabarica (Lam.) Miers (टिनोस्पोरा मलबारिका मायर्स) कहते हैं। दोनों के गुण और स्वरूप में स्थूलरूप से कोई अन्तर न मिलने के कारण दोनों का ही व्यवहार गुडूची के नाम से किया जाता है। इसे कुछ विद्वानों ने सुदर्शन माना है।

रासायनिक संगठन—इसकी ताजी कांड त्वक् में तीन रवेदार पदार्थ, गिलोइन ग्लूकोसाइड (Giloin, C_{23} H_{32} O_{10}, $5H_2O$), गिलोइनिन नामक कडवा पदार्थ (Giloinin, C_{17} H_{18} O_5) तथा गिलोस्टेरॉल (Gilosterol, C_{28} H_{48} O) पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें बर्बेरिन (Berberine) एवं मोम की तरह का एक पदार्थ पाया जाता है।

गुडूचीसत्व—अच्छी मोटी गुडुच बरसात के पूर्व संग्रहकर ऊपर की छाल छुड़ाकर साफ धोकर छोटे टुकड़े बना पत्थर के खरल में महीन कूट डाले। इसमें चौगुना जल डाल १२-२४ घंटा भींगने के बाद अच्छी तरह मसलकर कपड़े से छान ले। सत्व नीचे बैठने के बाद ऊपर का जल धीरे से नितार कर सत्व को सुखाकर बन्द बोतलों में रखें। कुछ लोग नितरे हुवे जल में फिर से उसी गुडुच को मसल एवं उबाल कर छान लेते हैं तथा उस द्रव को पहले निकाले हुये सत्व में मिलाकर धूप में सुखा लेते हैं जिससे इसमें उष्ण जल में घुलनशील पदार्थ भी आजाते हैं। कुछ लोग नितारे हुये जल को औटाकर स्वतन्त्र प्रयोग भी करते हैं।

गुण और प्रयोग—गुडुच कडवी, उष्ण, त्रिदोषघ्न, रसायन, बल्य, ज्वरहर, दीपन, मूत्रजनन, त्वग्रोगहर; पित्तसारक तथा विषघ्न है। नवीन अनुसंधानों से गुडुची का व्याधिप्रतिकारक गुण व्यापक रूप में प्रमाणित हुआ है। जीर्ण पूतिकेन्द्र (Chronic septic focus) जनित विकार,

जीर्ण विषमज्वर तथा यकृत् की हीनकार्यता आदि में कुछ काल तक गुडूची का प्रयोग करते रहने से अवश्य लाभ होता है।

इसका प्रयोग त्वग्रोग, विषमज्वर, जीर्णज्वर, कुष्ठ, वातरक्त, प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, कामला, पांडु, मन्दाग्नि, वमन, तृषा, दाह, रक्तार्श एवं कृमि आदि अनेक रोगों में किया जाता है।

(१) ताजी गिलोय को साफ धोकर बनाया कल्क १० तो० एवं अनन्तमूल का चूर्ण १० तो० इनको १०० तो० उबलते जल में बन्द पात्र में दो घंटे बन्द रखें। फिर मसल कर छान लें। यह फांट उत्तम रसायन एवं मूत्रजनन है। कुष्ठ, फिरङ्गोपदंश की द्वितीयावस्था, वातरक्त तथा जीर्ण आमवात में यह बहुत लाभदायक होता है। ज्वर के पश्चात् उत्पन्न दौर्बल्य तथा अन्य दौर्बल्य युक्त व्याधियों में इसका उपयोग पौष्टिक रूप में किया जाता है। इसको ५-१० तो० दिन में ३ बार पिलाते हैं।

(२) सौम्य विषमज्वर तथा जीर्णज्वर में जो शीत मालूम पड़ता है वह इसके क्वाथ से दूर होता है। जीर्णज्वर में इसके क्वाथ में या स्वरस में छोटी पीपल एवं मधु मिलाकर पिलाते हैं जिससे ज्वर, कफ, प्लीहावृद्धि एवं अरुचि आदि दूर होती है।

(३) प्रमेह, नवीन सोजाक तथा अन्य मूत्रविकारों में इसका स्वरस अधिक मात्रा में दिया जाता है। अधिक मात्रा से पाखाना भी साफ होता है। प्रमेह में २-३ ड्रा० स्वरस पाषाणभेद-चूर्ण ५-८ र० एवं मधु के साथ या दुग्ध एवं शर्करा के साथ दिन में ३ बार पिलाते हैं। गुडुच, हरिद्रा एवं आंवला इनका क्वाथ अथवा गुडुची स्वरस एवं मधु का प्रयोग भी लाभदायक होता है।

(४) गुडूची से पित्तमार्ग का अभिष्यन्द कम होने के कारण पित्त का स्राव ठीक होने लगता है। कुपचन, मन्द उदरशूल तथा कामला में इसका उपयोग किया जाता है। कामला में इसका स्वरस मधु मिलाकर सुबह पिलाना चाहिये। इसमें गुडुच के पत्तों का कल्क तक्र के साथ लाभदायक होता है। पैत्तिक वमन में इसका स्वरस पिलाने से लाभ होता है।

(५) त्वग्रोगों में यह प्रधान औषध है। इनमें एक हाथ प्रमाण में गुडुच, गुग्गुलु के साथ या कड़वी नीम या हरिद्रा, खदिर एवं आंवला के साथ देते हैं। इससे कंडू, दाह, दाग एवं चकत्ते आदि अच्छे होते हैं। वातरक्त में दुग्ध के साथ सिद्ध किया हुआ इसका तैल लाभदायक माना जाता है। पित्ताधिक्य युक्त वातरक्त में इसका क्वाथ पिलाते हैं।

(६) अर्श में इसका स्वरस या चूर्ण तक्र के अनुपान से देते हैं।

(७) स्तन्यशुद्धि के लिये इसका क्वाथ पिलाया जाता है।

(८) रसायन रूप में इसका स्वरस या मधु एवं गुड के साथ इसके चूर्ण का प्रयोग किया जाता है।

(९) गुडूचीसत्व—ज्वरहर रूप में इसका बहुत उपयोग किया जाने से इसे भारतीय क्विनीन कहा जाता है। प्लीहावृद्धि एवं बस्तिशोथ में यह बहुत उपयोगी है। आंव, जीर्ण अतिसार, रक्तातिसार, अम्लपित्त, मूत्रविकार एवं शुक्रक्षय में यह लाभदायक है। औषधीय गुणों के अतिरिक्त यह उत्तम पोषक पदार्थ भी है।

मात्रा—चूर्ण १-३ मा०, क्वाथ ४-८ तो०; सत्व ५-१५ र०।

अथ नागवल्ली (पान)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

ताम्बूलवल्ली ताम्बूली नागिनी नागवल्लरी। ताम्बूलं विशदं रुच्यं तीक्ष्णोष्णं तुवरं सरम्॥११॥
वश्यं तिक्तं कटु क्षारं रक्तपित्तकरं लघु। बल्यं श्लेष्मास्यदौर्गन्ध्यमलवातश्रमापहम्॥१२॥

पान के नाम तथा गुण-ताम्बूलवल्ली, ताम्बूली, नागिनी, नागवल्लरी और ताम्बूल ये सब संस्कृत नाम 'पान' के हैं। पान-विशदगुणयुक्त, रुचिकारक, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, कसैला, दस्तावर, वशकारक, तिक्त, कटु रसयुक्त, क्षार गुणयुक्त, रक्तपित्त का उत्पादक, लघु तथा बलकारक होता है। यह कफ, मुख को दुर्गन्धता, मल, वात तथा श्रम को दूर करता है ॥ ११-१२ ॥

२ पान

हि०-पान बं०-पान । म०-नागवेल, विड्याचेपान । ते०-तमाल पाकु । ता०-वेत्तिलै। गु०, मा०-नागरवेल । मला०-वेत्तिल । फा०-तंबोल, बर्ग तम्बोल । अ०-तंबूल । अं०-Betel Leaf (बिटल लीफ)। ले०-*Piper betle Linn.* (पाइपर बीटल लिन.)। Fam. Piperaceae (पाइपरेसी)।

पान-सर्वप्रसिद्ध और सर्वप्रिय एक बेल के पत्र हैं। भारतवर्ष, लंका एवं मलयद्वीप के उष्ण एवं आर्द्र प्रदेशों में इसकी खेती की जाती है। इसकी मूलारोहिणी लता-अत्यन्त सुहावनी और कोमल होती है। कांड-अर्धकाष्ठमय, मजबूत तथा गांठों पर मोटा रहता है। पत्ते-पीपल के पत्तों के समान, बड़े, चौड़े अंडाकार, कुछ हृदयाकृति, कुछ लंबाग्र, प्रायः ७ शिराओं से युक्त, चिकने, मोटे एवं करीब १ इञ्च लंबे पर्णवृन्त से युक्त रहते हैं। पुष्प-अवृन्त काण्डज (Spike) पुष्पव्यूहों में आते हैं। फल-करीब दो इञ्च लंबे, मांसल, लटकने हुये व्यूहाक्ष में छोटे-छोटे बहुत फल रहते हैं। पान में मनोहर गंध रहती है तथा इसका स्वाद कुछ उष्ण एवं सुगंधयुक्त रहता है।

इसके खेत की जमीन बीच में ऊँचा और दोनों किनारे नीची होती है। इससे खेत में पानी नहीं ठहरता। धूप और पाले से बचाव के लिये खेत के चारों ओर फूस की दीवार और छाजनी बना देते हैं। खेत के भीतर क्यारी बनाकर फरहद, जियल इत्यादि की डालियाँ लगा देते हैं। इन्हीं के सहारे पान की बेल फैलती है। बंगला, सांची, महोबा, महाराज पुरी, बिलोआ, कपुरी, फुलवा इत्यादि नामों से इसकी कई जातियाँ होती हैं। ध० नि० में इसके कृष्ण और शुभ्र ये दो भेद लिखे हुये हैं। रा० नि० में श्रीवाटी (सिरिवाडीपान), अम्लवाटी (अंबाडेपर्ण), सतसा (सातसीपर्ण), गुहागरे (अडगरपर्ण), अम्लसरा (मालव में होने वाला अंगरापर्ण), पटुलिका (आंध्र में होने वाला पोटकुली पर्ण) एवं हेसणीया (समुद्रदेशपर्ण) ये पान के सात भेद लिखे हैं जिनके अलग-अलग गुण भी लिखे हैं।[1] स्थानादि भेद से पान विभिन्न प्रकार का होता है। अति प्राचीनकाल से अपने

---

१. श्रीवाटी मधुरा तीक्ष्णा वातपित्तकफापहा।
रसाढ्या सरसा रुच्या विपाके शिशिरा स्मृता ॥
स्यादम्लवाटी कटुकाम्लतिक्ता तीक्ष्णा तथोष्णा मुखपाककर्त्री।
विदाहपित्तास्रविकोपनी च विष्टंभदा वातनिबर्हणी च ॥
सतसा मधुरा तीक्ष्णा कटुरुष्णा च पाचनी। गुल्मोदराध्मानहरा रुचिकृद्दीपनी परा ॥
गुहागरे सप्तशिरा प्रसिद्धा तत्पर्णजूतातिरसाऽतिरुच्या।
सुगन्धितीक्ष्णा मधुरातिहृद्या सन्दीपनी पुंस्त्वकराऽतिबल्या ॥
नाम्नाऽन्याऽम्लसरा सुतीक्ष्णमधुरा रुच्या हिमा दाहनुत्।
पित्तोद्रेकहरा सुदीपनकरी बल्या मुखमोदनी ॥
स्त्रीसौभाग्यविवर्धनी मदकरी राज्ञां सदा वल्लभा।
गुल्माऽऽध्मानविबन्धजिच्च कथिता, सा मालवे तु स्थिता ॥
अन्ध्रे पटुलिका नाम कषायोष्णा कटुस्तथा। मलापकर्षा कंठस्य पित्तकृद्वातनाशनी ॥
हेसणीया कटुस्तीक्ष्णा हृद्या दीर्घदला च सा। कफवातहरा रुच्या कटुर्दीपनपाचनी ॥ (रा०नि०)

यहां पान का व्यवहार मुखशुद्धि, रुचिवृद्धि एवं सुगन्धि के लिये किया जाता है। चरक में मात्राशितीय अध्याय में 'धार्याण्यास्येन वैशद्यरुचिसौगन्ध्यमिच्छता…कंकोलकफलं पत्रं तांबूलस्य शुभं तथा' एवं सुश्रुत में अन्नपानविधि अध्याय में इसका उल्लेख है।

रासायनिक संगठन—पान के पत्तों में एक सुगन्धि उड़नशील तैल (०.२–१.०%), स्टार्च, शर्करा, टॅनिन एवं डायास्टेस (Diastase, 0.8–1.8%) ये पदार्थ पाये जाते हैं। इसका तैल हलके पीले रंग का, सुगन्धि, स्वाद में तीक्ष्ण तथा दाहकारक एवं ०.९५८–१.०५७ वि० गु० वाला रहता है। इस तैल में चविकॉल (Chavicol), कॅडेनीन (Cadenene), चविबेटॉल (Chavibetol), यूजेनॉल का समाजिक (Isomeride of Eugenol) एवं सेस्क्विटर्पेन (Sesquiterpene) ये पदार्थ पाये जाते हैं। जावा एवं मनिला के तैल में फेनॉल (Phenols) की मात्रा बहुत (५५%) रहती है। पुराने पत्तों की अपेक्षा नवीन पत्तों में तैल, डायास्टेस एवं शर्करा की मात्रा अधिक रहती है। चविकॉल यह कार्बोलिक एसिड की अपेक्षा ५ गुना अधिक प्रतिदूषक (Antiseptic) है जो इसके स्वरस में रहता है।

गुण और प्रयोग—पान उत्तम दीपन, पाचन, श्लेष्मघ्न, वातहर, पित्तप्रकोपक, उष्ण, स्वर्य, सुगंधि, शोथघ्न, व्रणरोपक, प्रतिदूषक, कृमिघ्न, वृष्य एवं मुंह की कंडू–मल–क्लेद–दुर्गंध नाशक है।

इसका प्रयोग पीनस, कास, कफविकार, आध्मान तथा शोथादि में एवं कफविकारों में अनुपान के रूप में बहुत किया जाता है। सुपारी, चूना, कत्था एवं इलायची आदि पान के पत्ते में रख कर उसका बीड़ा बनाकर मुखशुद्धि आदि के लिये लोग खाते हैं। इसको खाते खाते लोगों को इसका व्यसन हो जाता है। कोकेन खाने वाले पान में कोकेन रखकर खाते हैं। कई औषधों को पान में रख कर खाने की प्रथा है।

जिसने पान कभी नहीं खाया है उसे प्रथम इसके सेवन के पश्चात् मुंह में जलनसी मालूम होती है, गले में एक तरह की जकड़न मालूम होती है, स्वाद ग्रहण करने की शक्ति कम होती है एवं मुंह आदि में छाले पड़ जाते हैं। कुछ देर तक बेचैनी, जी का धंसना, मूर्च्छा, संन्यास, कुछ उत्तेजना एवं स्वेदोत्पत्ति आदि लक्षण किसी किसी में होते हैं।

इसके तैल के सेवन के पश्चात् मुख तथा आमाशय में उष्णता का अनुभव होता है। प्रारंभ में केन्द्रीय वातनाडी संस्थान की उत्तेजना के पश्चात् अधिक मात्रा से एक तरह का नशा उत्पन्न होता है। इसमें डायास्टेस (Diastase) की पर्याप्त मात्रा होने के कारण यह स्टार्च आदि पिष्टमय पदार्थों के पाचन में सहायक होता है। इसके अतिरिक्त पान चबाने से लालास्राव की वृद्धि होती है जो पाचन में सहायक होती है। भात खाने वालों में इससे विशेष लाभ होता है और यदि वे पान बंद कर दें तो उनका पाचन ठीक नहीं होता।

पान खाने का जिन्हें व्यसन हो जाता है उन्हें पान खाने से अच्छा मालूम होता है। उनका मन प्रसन्न होता है, थकावट दूर होती है, प्यास तथा भूख मालूम नहीं पड़ती एवं कुछ कामोत्तेजना होती है। यह तीव्र मादक नहीं होता तथा इसके व्यसन से कोई विषैले परिणाम नहीं होते। सोकर उठने पर, स्नान के पश्चात्, भोजन के पश्चात् एवं वमन के पश्चात्, पान के सेवन का विधान है।[1]

(१) कफप्रधान रोगों में यह बहुत लाभदायक होता है। तमक श्वास, श्वसनिका शोथ एवं स्वरयंत्र शोथ आदि में पान का रस पिलाते हैं एवं पान को ऊपर से बांधते हैं। बच्चों के कास,

---

१. पथ्यं सुप्तोत्थिते स्नाते भुक्ते वांते च संगरे। सभायां विदुषां राज्ञां कुर्यात् तांबूलचर्वणम्॥

श्वासकृच्छ्, श्वसनिकाशोथ एवं प्रतिश्याय आदि में पान के पत्तों को एरंडतैल लगाकर, गरम कर छाती पर बांधने से बहुत लाभ होता है।

(२) रोहिणी (डिफ्थीरिया Diphtheria) नामक बच्चों में अधिक होने वाले घातक गले के विकार में ४ पत्तों का रस थोड़े गरम पानी में मिलाकर गरारा करने को देते हैं। पान के तैल को १ बूंद की मात्रा में करीब आध पाव उष्ण जल में मिलाकर इसी प्रकार प्रयोग करते हैं तथा उसकी बाष्प सूंघते हैं।

(३) गांठ, शोथ एवं व्रण पर इसके पत्तों को गरम कर बांधने से शोथ एवं वेदना कम होती है एवं व्रण जल्दी अच्छा होता है। इसी प्रकार स्तनों पर बांधने से दुग्ध रुक जाता है तथा सूजन कम होती है। पान के रस में थोड़ा चूना मिलाकर शोथ आदि पर पोल्टिस के रूप में व्यवहार करते हैं।

(४) कोंकण की तरफ पान के फलों को मधु के साथ खांसी में देते हैं।

(५) उड़ीसा में इसके मूल को काली मिर्च के साथ संततिनियमन के लिये सेवन करते हैं।

(६) नेत्राभिष्यंद एवं रतौंधी में पत्तों का रस मधु मिलाकर आंख में डाला जाता है।

निषेध—नेत्ररोग, रक्तपित्त, क्षत, वातविकार, विषबाधा, शोष, मदात्यय, मोह एवं मूर्च्छा में इसका सेवन निषिद्ध है।[1]

मात्रा—स्वरस ½–१ तो०।

अथ विल्वः (बेल)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

विल्वः शाण्डिल्यशैलूषौ मालूरश्रीफलावपि।[2] श्रीफलस्तुवरस्तिक्तो ग्राही रूक्षोऽग्निपित्तकृत्।
वातश्लेष्महरो बल्यो लघुरुष्णश्च पाचनः॥ १३॥

बेल के नाम तथा गुण—विल्व, शाण्डिल्य, शैलूष, मालूर और श्रीफल ये सब संस्कृत नाम बेल के हैं। बेल-कषाय तथा तिक्त रस युक्त, ग्राही, रूक्ष, अग्निवर्धक, पित्तकारक, वात कफनाशक, बलकारक, लघु, उष्णवीर्य तथा पाचक है॥ १३॥

३ बेल

हि०—बेल, श्रीफल। बं०, म०—बेल। गु०—बीली। क०—बेलपत्रे। ते०—मारेडु, बिल्वपंडु। ता०—बिल्वम्, बिल्वपझम। मा०—बील, बोलो। मल०—कुवलप-पझम। सिन्ध०—बिल, कटोरी। उडि०—बेलो। अ०—सफरजले हिंदी। फा०—बेह हिंदी, बल, शुल। अं०—Bengal Quince (बेंगॉल् क्विन्स); Bael fruit (बेल फ्रूट)। ले०—*Aegle marmelos Corr.* (इगल् मार्मेलोस् कॉर)। Fam. Rutaceae (रूटॅसी)।

यह आसाम, ब्रह्मा, बंगाल, बिहार, युक्तप्रान्त, अवध, झेलम, मध्य और दक्षिण हिन्दुस्तान तथा सिलोन में जंगली और प्रायः सभी स्थानों में बागी दोनों प्रकार से उत्पन्न होता है।

इसका वृक्ष—मध्यमाकार का ५० फुट से भी ऊँचा होता है। शाखाओं पर सीधे, मोटे, तीक्ष्ण एक इञ्च तक लम्बे कांटे होते हैं। टहनियों पर पत्ते विषमवर्ती रहते हैं। प्रत्येक सींक पर तीन-तीन

---

१. न नेत्ररोगे न च रक्तपित्ते क्षते न वाते न विषे न शोषे।
मदात्यये नापि च मोहमूर्च्छाश्वासेषु ताम्बूलमुशन्ति वैद्याः॥ (सुषेणदेवः)

२. गन्धगर्भः शलाटुश्च कण्टकी च सदाफलः। (कश्चित्कः)

पत्रकों से युक्त पत्ते रहते हैं। पत्रक-कसौंदी के पत्तों के आकार वाले एवं अंडाकार-मालाकार होते हैं। बीचवाला पत्ता अन्य दो से कुछ बड़ा होता है। फाल्गुन-चैत्र में पुराने पत्ते गिर जाते हैं और चैत्र-वैशाख में क्रम से नवीन पत्ते निकल आते हैं। इसी समय में हरियाली लिये सफेद रङ्ग के, ४, ५ पंखडियों (अन्तर्दल) वाले एवं करीब १ इञ्च चौड़े फूल लगते हैं और उनमें मधु के समान मन्द गन्ध निकलती है। फल (बीजिमांसल फल–Berry)-गोलाकार ३–८ इञ्च व्यास के, हरिताभ रंग के, पकने पर पीताभ भूरे रंग के एवं चिकने होते हैं। बहिर्भित्ति (Epicarp) से बाह्य कठोर काष्ठमय छिलका बनता है जो करीब ३ मि. मि. मोटा, रक्ताभ रंग का एवं अन्दर से रेशेदार होता है। मध्यभित्ति एवं अन्तर्भित्ति से गूदा बनता है जो आवरण से चिपका हुआ तथा हलके रक्ताभ नारंगी रंग का होता है। बीज–बहुत, १०–१५ समूहों में, बिनौले के सदृश सफेद रोमों से युक्त एवं चिकने तथा रंगहीन गोंद से लिपटे रहते हैं। फलों में मन्द सुगंध आती है तथा इनका स्वाद गोंद की तरह होता है। बेल के दो तरह के फल होते हैं। लगाये हुये फल बड़े, सुस्वादु एवं कम बीज वाले होते हैं। जंगली फल छोटे, कुछ मादक एवं इसके बीज अधिक गोंद से लिपटे होते हैं तथा ये मछली मारने के काम में आते हैं।

बेल अपने यहां बहुत पवित्र माना गया है। सूतिकागार के निर्माण में एवं सूतिका के पलंग की लकड़ी बेल की लेने का चरकादि में विधान है। सुश्रुत में मेधायुष्कामीय अध्याय (चि० अ० २८) में विशिष्ट पद्धतिसे ऋग्वेदोक्त श्रीसूक्त के द्वारा बिल्व की आहुति आदि का विधान किया है जिससे अलक्ष्मी का नाश एवं आयुवृद्धि होती है।

बेल के मूल, त्वचा, पक्व-अपक्व फल, पत्र एवं पुष्प का औषध में व्यवहार किया जाता है। चूर्णादि के लिये कच्चे फल का, मुरब्बे के लिये अधपके फल का और पानक के लिये परिपक्व फल का गूदा लेना चाहिये। दशमूल आदि कषायों में मूल या वृक्ष की त्वचा ली जाती है।

रासायनिक संगठन—बेल के फलों में गोंद एवं पेक्टिन (Pectin) के अतिरिक्त प्रह्रासक (Reducing) शर्करा ३·७%, संपूर्णशर्करा ४·६%, तैल जिसमें मार्मेलोसिन (Marmelosin, $C_{13}H_{12}O_3$) नामक एक महत्व का रवेदार पदार्थ रहता है तथा उड़नशील तैल रहता है। पक्व फलों में टॅनिन सदृश पदार्थ अत्यल्प मात्रा में रहते हैं। इसके मूल, पत्र एवं छाल में प्रह्रासक शर्करा एवं टॅनिन पाया जाता है। इसके बीजों में एक हलके पीले रंग का तैल होता है।

गुण और प्रयोग—कच्चा बेल कटु, तिक्त, कषाय, स्निग्ध, उष्ण, दीपन, ग्राही, वात-कफनाशक एवं आन्त्र को बल देने वाला है। पक्व फल मधुर, सुगन्धि, गुरु, विदाही, विष्टम्भि, दुर्जर, दोषकर, आनुलोमिक एवं दुर्गन्धयुक्त अधोवायु उत्पन्न करने वाला है। बिल्वपत्र वातहर, शोथहर, ज्वरहर, श्लेष्मनिःसारक, ग्राही एवं आमशूलघ्न होते हैं। बिल्वमूल–वातनाडीसंस्थान के लिये शामक, मधुर, छर्दिघ्न एवं वातहर है। पुष्प-अतिसार, तृषा एवं वमन में लाभदायक होते हैं। इसकी मज्जा का तैल उष्ण एवं उत्तम वातहर माना जाता है। इसके बीज–१॥ माशे की मात्रा में अच्छे विरेचक होते हैं।

बिल्व का उपयोग अतिसार, प्रवाहिका, संग्रहणी, मधुमेह, कर्णरोग, वातरोग, वमन, कामला, अर्श, शोथ एवं ज्वर में किया जाता है।

(१) इसके पके फल का गूदा मृदुविरेचक होने के कारण इसका जल में शर्बत बनाकर लेने से जीर्ण विबन्ध, अर्श, आध्मान एवं कुपचन में लाभ होता है। जिन्हें बार-बार विबन्ध एवं अतिसार क्रमशः हुआ करता है उन्हें नित्य सुबह यह दिया जाता है। स्निग्ध एवं मृदुविरेचक रूप में यह प्रवाहिका की रोग-निर्मुक्तावस्था एवं संग्रहणी की प्रारंभिक अवस्था में दिया जाता

है। प्रवाहिका में इसको लेते रहने से विबन्ध नहीं होता जिससे आन्त्रिक व्रण जल्दी अच्छे होते हैं। संग्रहणी (Sprue) की प्रारंभिक अवस्था में ताजा फल तथा शर्करा से अवश्य लाभ होता है।

(२) भुना हुआ कच्चा फल या कच्चे फल का सुखाया हुआ गूदा ग्राही एवं दीपन होने के कारण अतिसार, रक्तातिसार एवं प्रवाहिका में दिया जाता है। जब ज्वर न हो, रोगी दुर्बल हो तथा पाचन खराब हो गया हो तब इससे विशेष लाभ होता है। आंव, रक्त एवं कुंथन युक्त तीव्र प्रवाहिका में यद्यपि इसके चूर्ण को लाभदायक माना गया है तथापि इन अवस्थाओं की अपेक्षा जीर्ण विकारों में इसका गुणकारी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। इसके सेवन के पश्चात् धीरे-धीरे रक्त कम होकर पाखाना बँधा होने लगता है। अधिक दिन लेते रहने से आंव भी कम हो जाती है तथा बाद में बिलकुल नहीं रहती। जीर्ण आंव की शिकायत होने पर इसके साथ बड़ी सोंफ एवं घोडवच मिलाकर क्वाथ बनाकर देते हैं। रक्तपित्त वाले रोगी को आंव होने पर यह विशेष लाभदायक है। अरारुट के साथ इसकी पेया बनाकर देने से आन्त्र को बल प्राप्त होता है। प्रवाहिका में बेल का कल्क, तिल का कल्क, दही की मलाई तथा घृत देते हैं। पित्त एवं रक्तातिसार में इसकी मज्जा एवं मुलेठी, शर्करा, मधु एवं तंडुलांबु के साथ देने से लाभ होता है। बिल्व एवं गुड़ का प्रयोग आमशूल, विबंध, कुक्षिशूल तथा रक्तातिसार में लाभदायक होता है। अत्युग्र ग्रहणी में बिल्व के साथ सोंठ एवं गुड़ मिलाकर सेवन करे एवं आहार में तक्र का सेवन करें। पुराने विकारों में बेल का मुरब्बा भी लाभदायक होता है। पुराने सोजाक में ताजा गूदा एवं कबाबचीनी दूध के साथ देते हैं।

(३) अर्श में सुखोष्ण मूलक्वाथ में रोगी को बैठावें। रक्तार्श में बिल्वमज्जा एवं तक्र का उपयोग लाभदायक होता है।

(४) बेल की जड़ शामक होने के कारण हृदय की धड़कन, उदासीनता, निद्रानाश तथा पागलपन इनमें दी जाती है। विषमज्वर में इसके जड़ की छाल का क्वाथ पिलाते हैं। जीरा एवं मूलत्वक् को पीसकर घी के साथ शुक्र-तारल्य में देते हैं। विषैले जन्तुओं के दंश में इसका लेप किया जाता है। बच्चों को जब कै एवं दस्त होते हैं तब इसको चावल के मांड के साथ उबालकर वह मांड चीनी मिलाकर देते हैं।

(५) इसके ताजे पत्तों का स्वरस ज्वर, कफज्वर, अभिष्यन्द, शोथ तथा कफ विकारों में देते हैं। दमा में इसका क्वाथ देते हैं। नेत्राभिष्यन्द में इसका स्वरस देते हैं तथा पत्तों का लेप पलकों पर करते हैं। शोथयुक्त विकारों में तथा व्रण पर पत्तों का पुल्टिस लाभदायक होता है। इसका स्वरस काली मिर्च के साथ जलशोथ, विबंध एवं कामला में देते हैं। यह शरीर को दुर्गंध को भी दूर करता है। मधुमेह में १-२ तोला स्वरस देने से लाभ होता है।

(६) बिल्वफल को गोमूत्र के साथ पीसकर अजाक्षीर के साथ तैल सिद्ध कर कर्णबिन्दु के रूप में प्रयोग करने से बाधिर्य में लाभ होता है।

मात्रा—चूर्ण २-८ माशा; प्रवाहीसत्व ½-२ ड्राम; क्वाथ ½-२ औंस।

अथ गम्भारी। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

गम्भारी भद्रपर्णी च श्रीपर्णी मधुपर्णिका। काश्मीरी काश्मरी हीरा काश्मर्यः पीतरोहिणी॥१४॥
कृष्णवृन्ता मधुरसा महाकुसुमिकाऽपि च। काश्मरी तुवरा तिक्ता वीर्योष्णा मधुरा गुरुः॥१५॥
दीपनी पाचनी मेध्या भेदिनी भ्रमशोषजित्। दोषतृष्णाऽऽमशूलार्शोविषदाहज्वरापहा॥१६॥

गम्भारी के नाम तथा गुण—गम्भारी, भद्रपर्णी, श्रीपर्णी, मधुपर्णिका, काश्मीरी, काश्मरी, हीरा, काश्मर्य, पीतरोहिणी, कृष्णवृन्ता, मधुरसा और महाकुसुमिका ये सब संस्कृत नाम गम्भारी के हैं। गम्भारी-मधुर, कषाय तथा तिक्त रस युक्त, उष्णवीर्य, गुरु, अग्निदीपक, पाचक, मेधा के लिये हितकर तथा मलभेदक होती है। वह भ्रम, शोष, वातादिक दोष, तृषा, आम, शूल, बवासीर, विष, दाह और ज्वर इन सब रोगों को दूर करने वाली होती है॥ १४–१६॥

अथ गम्भारीफलगुणानाह

तत्फलं बृंहणं वृष्यं गुरु केश्यं रसायनम्। वातपित्ततृषारक्तक्षयमूत्रविबन्धनुत्॥ १७॥
स्वादु पाके हिमं स्निग्धं तुवराम्लं विशुद्धिकृत्। हन्याद्दाहतृषावातरक्तपित्तक्षतक्षयान्॥१८॥

इसके फल के गुण—इसका फल बृंहण (धातुवर्धक), वृष्य (वीर्यवर्धक), गुरु, बालों के लिये हितकर और रसायन होता है। यह वात, पित्त, तृषा, रक्तक्षय, मूत्र-सम्बन्धी विबद्धता का नाशक है और पाक में मधुर रस, स्वाद में कषाय तथा अम्ल रसयुक्त, शीतवीर्य, स्निग्ध एवं शुद्धिकारक होता है। यह दाह, तृषा, वात, रक्तपित्त, क्षत और क्षय इन सब रोगों को दूर करता है॥१७–१८॥

४ गम्भारी

हि०, पं०—गम्भारी, खम्भारि, कम्भार, गम्भार, गम्हार, कुम्हार, कासमर। बं०—गामार गाछ, गम्बार। म०—शिवंण। गु०—शीवण, सवन। क०—सीवनी। ते०—गुमारटेक। ता०—गुमड़ी। आसाम-गोमरी। गरो०—बोल्को बक। मा०—शेवण, शिवण, कुम्भेरन। ले०—*Gmelina arborea Linn.* (मेलीना आर्बोरिआ लिन.)। Fam. Verbenaceae (वर्बिनेसी)।

गम्भारी—इस देश के कई प्रान्तों में उत्पन्न होती है, विशेषकर दक्षिण, कोंकण, मध्यभारत, बरार, सिलोन, पश्चिमोत्तर-हिमालय, चट्टगांव, पूर्व बङ्गाल एवं बिहार आदि प्रान्तों में पाई जाती है। इसका वृक्ष-बड़ा होता है। ऊँचाई में कहीं-कहीं ६० फुट से भी ऊँचा वृक्ष देखने में आता है। छाल का रंग सफेद, ताजी छाल किञ्चित् पीलापन युक्त हरियाली लिये सफेद तथा सफेदी लिये भूरे रंग की होती है। छाल पर काले चिह्न या छोटे-छोटे गोल दाने होते हैं। इसकी टहनियां-श्वेताभ एवं रोमश होती हैं। काट-प्रायः आधा इञ्च मोटा, बिना रेशे का और हलका या गहरा नारंगी रंग से मिला रहता है। पत्ते-४–९ इञ्च लम्बे, ३–७ इञ्च चौड़े, लट्वाकार, चौड़े, प्रायः हृद्वत्, नोकीले, अधरतल पर प्रायः क्षोदलिप्त, २–६ इञ्च लम्बे वृन्त से युक्त और आमने-सामने, परन्तु प्रायः एक सन्धि के दोनों पत्ते कुछ छोटे-बड़े होते हैं। वसन्त ऋतु में पुराने पत्ते गिरकर नये पत्ते निकलते हैं। इसी समय ३–८ इञ्च लम्बी मंजरियों में रक्ताभ या पीले रंग के १–१·५ इञ्च लम्बे फूल आते हैं और उन पर भूरे रंग की छींटें रहती हैं। फल-बहेड़े के समान परन्तु कुछ लम्बाई लिये अष्ठिल, अण्डाकार, ·७५–१ इञ्च व्यास वाले और २–१ कोश तथा बीज वाले होते हैं। वे जेठ आषाढ़ तक पक कर भूमि में गिर पड़ते हैं।

इसके दो भेद भी पाये जाते हैं जिनमें से एक में पुष्पव्यूह बड़े होते हैं तथा दूसरे में पत्ते कुछ छोटे, चर्मल, अधर तल पर नसें उभरी हुई तथा पुष्पव्यूह छोटे होते हैं।

यह दशमूल गण की औषध है। इसका 'कासमर' नाम काश्मर्य का और 'गम्हार' गम्भारी का अपभ्रंश है। इसके फल, मूल, त्वक एवं पत्र का चिकित्सा में उपयोग होता है।

रासायनिक संगठन—इसके मूल में पीतवर्ण का गाढ़ा तैल, राल, क्षाराभ, बेन्जोइक् एसिड एवं मैंगनीज रहित राख ये पदार्थ पाये जाते हैं। इसके फल में ब्यूटिरिक् (Butyric)

तथा टार्टरिक (Tartaric) अम्ल, क्षाराभ, शर्करासदृश पदार्थ, राल तथा अत्यल्प टैनिन ये पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके कोमल पत्र शीतल तथा स्नेहन; फल तृषाहर, दाहशामक, स्नेहन एवं रक्तपित्तघ्न; मूल कटु, दीपन, बल्य एवं आनुलोमिक; पुष्प बल्य, वृष्य एवं रक्तपित्तनाशक; बीजतैल कफ एवं पित्त का शमन करने वाला है।

(१) इसके कोमल पत्तों का स्वरस दुग्ध के साथ सोजाक में देते हैं। ग्रीष्मऋतु में होने वाले शिरःशूल में पत्तों को दुग्ध में पीसकर सर पर मलते हैं।

(२) दाह तथा तृषायुक्त पैत्तिक ज्वर मे इसके फल की मज्जा का शीतल काथ शर्करा मिलाकर पिलाते हैं। रक्तपित्त में मधु के साथ इसके फल की मज्जा का प्रयोग किया जाता है। वायु के कारण गर्भशोष या बालशोष हो तो मुलेठी के साथ इससे सिद्ध दुग्ध का उपयोग लाभदायक होता है।

(३) इसके मूल का काथ ज्वर, अपचन तथा शोथ में देते हैं। मुलेठी के साथ बनाया हुआ इसका काथ मधु एवं शर्करा मिलाकर दुग्धवृद्धि के लिये देते हैं। स्तनपुष्टि के लिये इसके रस से सिद्ध तिल तैल में रूई भिगोकर उसके धारण का विधान है।

मात्रा—मूलचूर्ण ३–६ माशा; फल १-३ माशा।

प्रतिनिधि एवं व्यामिश्रण—(क) अरिया कासमर या बूढीकासमर के नाम की एक अन्य वृक्ष जाति (Premna flavescens Ham.–प्रेम्ना फ्लॅवेसेन्स हॅम्) भी पाई जाती है जिसके पत्ते गंभारी के पत्तों से मिलते-जुलते हैं। इसकी पत्तियों में एक मंद प्रिय गंध होती है और इसके पुष्प तथा फल बहुत छोटे होते हैं जिनसे इसका भेद मालूम हो जाता है।

(ख) हि०–तुम्री, पिंडार, धवलपेड, पानी-गम्हार। म०–सिवनी, पितारी। बं०–पितालि। ले०–*Trewia nudiflora Linn.* (ट्रेविआ न्युडिफ्लोरा लिन.)। Fam. Euphorbiaceae (यूफोर्बिएसी)।

इसके भी गम्हार एवं सिवनी (म.) नाम होने के कारण वास्तविक गम्हार के स्थान पर इसका कहीं-कहीं प्रयोग लोग करते हैं। इसके बड़े-बड़े वृक्ष होते हैं। छाल–चिकनी और धूसर वर्ण की होती है। पत्ते–लट्वाकार, ३–८ इञ्च लंबे एवं ४–७ इञ्च चौड़े होते हैं। पर्णमूल गोल या हृद्वत और पर्णवृन्त १·५–४ इञ्च लंबा होता है। पुष्प–हरित-पीत होते हैं और नवीन पत्तियों के आने के पहले ही निकलते हैं। नरपुष्पों की मंजरियां ४–८ इञ्च लंबी और नीचे की ओर लटकी हुई तथा स्त्री-पुष्प एकाकी अथवा २–३ और अग्रग्र होते हैं। फल–पकने पर छोटे आलू के समान दिखाई देता है। नवीन शाखाओं पर जातच्युत उपपत्रों के कारण उभरी हुई स्पष्ट रेखाएं होती हैं जिनके द्वारा वास्तविक गम्हार से इसकी भिन्नता मालूम होती है। इसके अतिरिक्त गम्हार की तरह इसकी पत्ती में दो छोटी पीली ग्रन्थियां नहीं होती यद्यपि दोनों के शिराक्रम में बहुत साम्य होता है। इसके मूल का उपयोग किया जाता है। मूल की छाल मोटी एवं चिकनी हलके भूरे रंग की होती है। इसका स्वाद कसैला एवं कडवा होता है। आमवात एवं वातरक्त में मूल को खिलाते हैं तथा लेप करते हैं। इससे उदरवात, पित्त एवं आमदोष का निर्हरण होता है।

अथ पाटला (पाढल) घण्टापाटलिश्च । तयोर्नामानि गुणांश्चाह

पाटलिः पाटलाऽमोघा मधुदूतो फलेरुहा । कृष्णवृन्ता कुबेराक्षी[1] कालस्थाल्यलिवल्लभा ॥१९॥
ताम्रपुष्पी च कथिताऽपरा स्यात्पाटला सिता । मुष्कको मोक्षको घण्टापाटलिः काष्ठपाटला ॥२०॥

---

१. काचस्थाली इति पाठा०।

पाढल तथा घण्टापाढल के नाम और गुण—पाटलि, पाटला, अमोघा, मधुदूती, फलेरुहा, कृष्णवृन्ता, कुबेराक्षी, कालस्थाली, अलिवल्लभा और ताम्रपुष्पी ये सब संस्कृत नाम 'पाढल' के हैं। और जो दूसरा 'घण्टापाढल' है उसके संस्कृत नाम—पाटला सिता, मुष्कक, मोक्षक, घण्टापाटलि तथा काष्ठपाटला ये सब हैं ॥ १९-२० ॥

पाटला तुवरा तिक्ताऽनुष्णा दोषत्रयापहा । अरुचिश्वासशोथास्रच्छर्दिहिक्कातृषाहरी ॥ २१ ॥

पाढल—कषाय तथा तिक्तरस युक्त एवं अनुष्णवीर्य है। यह त्रिदोष, अरुचि, श्वास, शोथ, रक्तप्रकोप, वमन, हिचकी और तृषा को दूर करने वाली है ॥ २१ ॥

अथ तत्पुष्पफलयोर्गुणानाह

पुष्पं कषायं मधुरं हिमं हृद्यं कफास्रनुत् । पित्तातिसारहृत्कण्ठ्यं फलं हिक्काऽस्रपित्तहृत् ॥२२॥

इसके फूल तथा फल के गुण—फूल-कषाय तथा मधुररस युक्त, शीतवीर्य, हृदय को हितकर तथा कफ, रक्तविकार और पित्तातिसार का नाशक एवं कण्ठ के लिये हितकर है। फल-हिचकी तथा रक्तपित्त का नाशक है ॥ २२ ॥

नोट—भावप्रकाशकार पाटला के दो भेद लिखते हैं एक 'पाटला' तथा दूसरी 'सिता पाटला'। किन्तु दोनों के गुणों में कोई भेद नहीं लिखा है। आधुनिक ग्रन्थकारों ने भी इसके दो प्रकार के वृक्षों का वर्णन किया है जिसमें से नं० ५ (पाटला) के पुष्प बाहर से लाल किन्तु अन्दर से पीली रेखाओं से युक्त होते हैं। यह दक्षिण में कम होने के कारण इसके स्थान पर वहां नं० ६ (सिता पाटला) का प्रयोग किया जाता है जिसके पुष्प पीले तथा गुलाबी रंग के होते हैं। श्री ठा० बलवन्तसिंह जी का मत है-काष्ठपाटला, मोक्षक यह भिन्न वर्ग तथा प्रजाति का वृक्ष है जिसका लैटिन नाम Schrebera swietenioides Roxb. (श्रेबेरा स्वीटेनिओइडिस् राक्स.); Fam. Oleaceae (ओलिएसी) है तथा इसी के क्षार को क्षारश्रेष्ठ कहा गया है। भावप्रकाशकार ने भी इसका (मोक्षक) स्वतंत्र वर्णन आगे वटादिवर्ग में किया है। इस दृष्टि से मोक्षक यह पाटला का पर्याय असमीचीन लगता है।

५ पाढ़ल

हि०-पाढ़ल, पाडर, पारल। बं०-पारुल गाछ। म०, गु०-पाड़ल। क०-हुडै। उ०-बोरो, पाटुली। पं०-पाढ़ल, पाडल। कोल०-कंडियोर। सन्ता०-पसरी, पडेर। ने०-परैर। लि०-सिगियन। गोंड०-उन्तकार, पढ़र। मील०-पन, ढन। मा०-पाडल, पडियालु। ले०-*Stereospermum suaveolens DC.* (स्टेरिओस्पर्मम् स्वावियोलेन्स डीसी)। Fam. Bignoniaceae (बिग्नोनिएसी)।

यह प्रायः समस्त भारत, हिमालय की तराई से ट्रावनकोर और टेन सरीम तक तथा सिलोन में किन्तु श्वेत भेद की अपेक्षा कुछ शुष्क भागों में पाया जाता है। इसका वृक्ष-३० से ६० फुट तक ऊँचा एवं सुन्दर होता है। इसके ऊँचे स्तम्भ पर शाखाएँ दिखाई पड़ती हैं। इसके नवीन भाग चिपचिपे, रोमश और ग्रन्थिमय होते हैं। छाल-चौथाई इञ्च मोटी, लगभग चिकनी, धूसर और काटने पर हलके पीले रंग की होती है और उसमें कड़े तथा मुलायम पर्त बारी बारी से निकलते हैं। पत्ते-विपरीत, १-२ फीट लम्बे और अयुग्म पक्षाकार होते हैं। पत्रक-संख्या में ५-९ प्रायः ७, अण्डाकार या आयताकार, ३-८ इञ्च लम्बे, २-३॥ इञ्च चौड़े, यकायक लम्बाग्र, अवृन्त या छोटे

वृन्त वाले, प्रायः मृदुरोमश परन्तु छोटे पौधे के पत्रक खुरखुरे और तीक्ष्ण दन्तुर होते हैं। वसन्त ऋतु में इसके पुराने पत्ते गिरकर नवीन पत्ते निकल आते हैं और प्रायः इसी समय वृक्षों पर नलिकाकार फूल आते हैं। पुष्प–सुगन्धित, १–१·५ इञ्च लम्बे, बाहर से लाल परन्तु भीतर पीली रेखाओं से युक्त होते हैं। फलियाँ–१८ से २४ इञ्च तक लम्बी, गोल एवं पृष्ठ पर बिन्दुकित होती हैं। बीज–सपक्ष होते हैं और कार्क सदृश और लम्बगोल रचनाओं में छिपे रहते हैं।

यह भी दशमूलगण का एक प्रसिद्ध द्रव्य है। इसके फल के भीतर से लम्बगोल टुकड़े निकाल कर जुलपित्ती तथा अधकपारी में बाँधे जाते हैं इसलिए कहीं-कहीं इस वृक्ष को अधकपारी कहते हैं। इसका छाल, पुष्प तथा फलमज्जा का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके सूखे हुए फूलों में शर्करा, एक तरह का लुआब तथा मांसल पदार्थ पाये जाते हैं। पुष्प जल में डालने से जल सुगन्धित हो जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके पुष्प वाजीकर, पौष्टिक एवं शीतल होते हैं। इसकी छाल कफघ्न, वातहर, अधोभाग दोषहर, त्रिदोषघ्न, विषघ्न एवं शोथहर है।

कफ तथा वातप्रधान रोगों में पाटला का प्रयोग करते हैं।

(१) फूलों का रस मधु के साथ हिचकी में देते हैं।

(२) मधुमेह, अश्मरी एवं मूत्राघात में इसके पंचांग का क्षार तैल के साथ खिलाते हैं।

(३) इसके छाल का फांट अम्लपित्त में देते हैं।

(४) इसके फूलों का गुलकन्द पौष्टिक माना जाता है।

(५) इसके मूल के घन क्वाथ में तैल मिलाकर अग्निदग्ध व्रण पर लगाते हैं तथा कोमल पत्तों से व्रणबन्धन करते हैं।

मात्रा—चूर्ण १–३ माशा।

६ सफेद पाढ़ल (घंटा पाढ़र)

हि०–सफेद पाढ़ल, पाडर, परारी, घण्टा पाढ़र, कठपाडर। **बं०**–घंटा पारुल। **म०, गु०**–पाडल। **ता०**–पादिरि। **ते०**–कलिगोट्टु। **कोल०**–कंडियोर। **ने०**–परारी। **भील०**–पडुरनी। **उ०**–कोंगारी पाटुली। **अं०**–Trumpet flower (ट्रम्पेट फ्लावर्)। **लै०**–*Stereospermum chelonoides DC.* (स्टेरिओस्पर्मम् केलोनॉइडिस् डीसी.)।

यह आसाम से सिलोन तक की गीली भूमि में, कुमाऊँ के पहाड़ पर, मध्य और दक्षिण हिन्दुस्तान तथा राजपूताना आदि कई प्रान्तों में होता है। यह दक्षिण में पहाड़ी प्रान्तों में विशेषकर पाया जाता है।

इसका वृक्ष ३०–४० फुट तक ऊँचा होता है तथा कहीं-कहीं ६० फुट तक ऊँचा वृक्ष भी देखने में आता है। **स्तम्भ**–सीधा, बहुत ऊँचा एवं मोटा होता है और उस पर अनेक शाखा-प्रशाखाएँ होती हैं। नीचे की शाखाएँ भूमि के समानान्तर एवं ऊपर की सीधी होती हैं। **छाल**–भूरे रंग की, मोटी तथा खुरदरी होती हैं। **पत्ते**–१२–१८ इञ्च लम्बे, अयुग्म पक्षाकार, विपरीत और छोटी-छोटी टहनियों के अग्रपर समूहबद्ध होकर रहते हैं। **पत्रक**–संख्या में ७–११, चिकने, अंडाकार और ३·५–५ इञ्च बड़े होते हैं। **फूल**–बड़े, तूर्याकृति, पीले और गुलाबी रंग के, सुगन्धित एवं रुचिकर होते हैं। **फलियां**–१०–२० इञ्च लम्बी, पतली, घेरे में गोल न होकर सपक्ष या चार उभरी हुई रेखाओं से युक्त होती हैं।

प्रथम पाढल दक्षिण में कम मिलने के कारण वहां इस वृक्ष की छाल तथा पुष्प का पाटला के स्थान पर प्रयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक रवेदार कडवा पदार्थ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह शीतल, वातहर एवं ज्वरघ्न है। मस्तिष्क तथा वातनाडी संस्थान पर इसकी अवसादक क्रिया होती है।

इसके मूल का फांट ज्वर में रोगी को शांतता लाने के लिये देते हैं। इसके फूलों का रस पाचन ठीक होकर दूषित पित्त का निर्हरण हो इसलिये देते हैं।

मात्रा—चूर्ण १-३ माशा।

अथाग्निमन्थः। (अगेथू, अरनी इति च लोके) तस्य नामानि गुणाँश्चाह

अग्निमन्थो जयःसस्याच्छ्रीपर्णी गणिकारिका। जया जयन्ती तर्कारी नादेयी वैजयन्तिका॥
अग्निमन्थः श्वयथुनुद्वीर्योष्णः कफवातहृत्। पाण्डुनुत्कटुकस्तिक्तस्तुवरो मधुरोऽग्निदः॥२४॥

अगेथू या अरनी के नाम तथा गुण—अग्निमन्थ, जय, श्रीपर्णी, गणिकारिका, जया, जयन्ती, तर्कारी, नादेयी और वैजयन्तिका ये सब संस्कृत नाम 'अगेथू' या 'अरनी' के हैं। अरनी या अगेथू शोथनाशक, उष्णवीर्य, कफवात तथा पाण्डु रोग को दूर करने वाला, कटु, तिक्त, कषाय तथा मधुर रस युक्त एवं अग्निवर्धक है॥ २३-२४॥

नोट—भावप्रकाशकार ने यद्यपि एक ही अग्निमंथ का वर्णन किया है तथापि अन्य निघंटुओं में लघु एवं बृहद् ऐसे दो भेद अग्निमंथ के लिखे हैं। दोनों के गुणों में विशेष अन्तर नहीं हैं किन्तु लघु अग्निमंथ को लेप, उपनाह एवं शोफ में विशेष उपयोगी लिखा है। 'लघ्वाग्निमंथस्य गुणाः प्रोक्ताः वृद्धाग्निमंथवत्। विशेषाल्लेपने चोपनाहे शोफे च कीर्तितः॥' (नि. र.)। सुश्रुत के वरुणादि गण में तर्कारी और अग्निमंथ ये दोनों शब्द आये हैं। इससे ऐसा मालूम होता है कि ये दोनों भिन्न द्रव्य हैं। आधुनिक ग्रन्थकारों ने प्रेम्ना इन्टेग्रिफोलिआ (बृहद् अग्निमंथ) एवं क्लेरोडेन्ड्रम् फ्लोमाइडीस् (क्षुद्र अग्निमंथ) ऐसे दो द्रव्यों का वर्णन किया है। ये दोनों ही एक वर्ग के हैं तथा इनके गुणों में भी साम्य होने के कारण दोनों को एक दूसरे के स्थान में प्रयोग किया जा सकता है। इनमें से प्रथम को कुछ लोगों ने तर्कारी माना है तथा द्वितीय को अग्निमंथ माना है। कुछ लोग इसके विपरीत मानते हैं जो अधिक उचित है क्योंकि क्लो० फ्लोमाइडिस्का स्थानिक नाम 'टेकार', तर्कारी का अपभ्रंश मालूम होता है। यहां दोनों का अलग अलग वर्णन दिया जा रहा है।

७ क्षुद्राग्निमंथ

हिं०-अरनी (णी), टेकार, उरिन। बं०-अरनी, गणियारी। संथा-रनजोत। मुंगे०-रैन। गु०-अरणी। म०-ऐरण, टांकली। ता०-थलंजी ते०-तलूकि। क०-तग्गि। मल०-तिरूतालि। ले०-*Clerodendrum phlomidis Linn. f.* (क्लेरोडेन्ड्रम् फ्लोमाइडीस् लिन.)। Fam. Verbenaceae (वर्बिनेसी)।

यह महाराष्ट्र, गुजरात, सिंध आदि सब प्रान्तों में प्रायः बाडों पर या सूखी जगहों में पाई जाती है।

इसके गुल्म बड़े (छोटे वृक्ष), प्रायः शाखाएं प्रसरणशील और टहनियां हलके खाकी रंग की तथा मृदुरोमश होती हैं। पत्ते-विपरीत, चौड़े लट्वाकार अथवा कुछ-कुछ तिर्यगायताकार, अखण्ड या दूर-दूर गोलदन्तुर, प्रायः २×१·५ इञ्च बड़े, सवृन्त और मृदुरोमश (नवीन) या चिकने होते हैं। पुष्प-श्वेत, सुगंधि, पत्रकोणीय या अग्रग्र गुच्छों में आते हैं। आभ्यंतर नाल

·७५-१ इञ्च बड़ा और मुख व्यास में ·७५ इञ्च होता है। फल-अष्ठिल फल, करौंदे इतने बड़े, शीर्ष पर दबे हुए परन्तु अन्त में शुष्क होकर चार खण्डों में फट जाते हैं। जानवरों के प्रवाहिका तथा कृमिरोग में क्षुद्राग्निमंथ का उपयोग ग्रामीण करते हैं। बृहद् अग्निमंथ के अभाव में इसके पंचांग, मूल तथा पत्र का उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, दीपन, सारक, बल्य, रसायन, शोथहर एवं वातकफहर है।
वायु, कफ तथा सूजन जिन-जिन रोगों में होती हैं उनमें इसका उपयोग करते हैं। आमवात तथा अन्तरित ज्वर में इसकी जड़ सोंठ एवं मिरिच के साथ दी जाती है। इसके मूल का क्वाथ सोजाक, विस्फोटक ज्वरों की रोगमुक्तावस्था, आमवात तथा नाडीशूल में देते हैं। इसके पत्र तथा काण्ड का उपयोग मधुमेह में उपयोगी पाया गया है। आध्मान में इसके पत्ररस से लाभ होता है। मोच तथा शरीरपीडा में पत्तों को पीसकर उसका लेप किया जाता है। त्वचा के रोगों में ½ औं० पत्ररस दिन में दो बार पिलाते हैं।

मात्रा—चूर्ण १-२ माशा।

८ बृहदग्निमंथ

हि०—अरनी, अरणी, अंगेथु, गणियारी, गनियार, गनियारी, वाकर। **बं०**—गनिर, गनियारि। **मा०**—अरणी। **म०**—नरवेल, अरणी। **पं०**—अगेथु, गनियार। **गु०**—अरणी। **संथा०**—कण्ड्रा-मिया। **फा०**—गनियार। **अवधी**—गन्नियारी। **गढ़वाल**—बकोरचा। **ता०**—इरुमै मुल्लै, मुन्नै। **ने०**—गिनेरी। **उडि०**—गन्धीना। **ते०**—घेबुनेल्लि। **मला०**—अप्पेल। **उत्क०**—अगबिथ। **ले०**—*Premna integrifolia Linn* (प्रेम्ना इन्टेग्रिफोलिआ लिन)। Fam. Verbenaceae (वर्बिनेसी)।

यह बङ्गाल, बिहार, मध्यप्रदेश, अवध, गढ़वाल, राजपूताना, दक्षिण-हिन्दुस्तान, बम्बई, सिलोन तथा अन्यान्य प्रान्तों में विशेष रूप से समुद्री किनारों पर पाई जाती है।

इसका झाड़ीदार वृक्ष-२०-३५ फ़ुट तक ऊँचा होता है। स्तम्भ छोटा तथा बहुत सी काँटेदार टहनियां नीचे लटकी हुई रहती हैं। छाल-पतली सफेदी-युक्त हलके पीले रंग की और लकड़ी हल्की किंचित् दृढ़ होती है। पत्ते-विपरीत, लंबे, पर्णवृन्त से युक्त, साधारण हृदयाकृति किन्तु अग्र कुछ कटा हुआ तथा चिकने रहते हैं। चैत्र-वैशाख में छोटे-छोटे हरापन लिये सफेद रंग के फूल झूमकों में आते हैं। फल-छोटी मकोय के समान झूमकों में लगते हैं और पकने पर काले हो जाते हैं। पूरे वृक्ष में एक प्रकार की उग्र गंध आती है। इसका स्वाद खट्टा सा तथा कषाय रहता है। इसके मूल तथा पत्तों का व्यवहार किया जाता है।

इसका एक अन्य भेद प्रेम्ना लॅटिफोलिया राक्स. (Premna latifolia Roxb.) पाया जाता है। इसके पत्ते कुछ-कुछ दुर्गन्धयुक्त, प्रायः लट्वाकार, कभी-कभी अंडाकार, ३-५ इञ्च लंबे, २-३ इञ्च चौड़े, अखंड, लबे नोकवाले तथा एक ओर (नीचे) या नवीन रहने पर दोनों तलों पर मृदुरोमश होते हैं। पुष्पव्यूह-त्रि-विभक्त और व्यास में २-५ इञ्च, रोमश और कोण पुष्पकों से युक्त होता है। बाह्यकोश शीर्ष पर दन्तुर होता है और दांत पांच होते हैं। आभ्यन्तर कोश स्पष्टतः द्वयोष्ठ होता है। फल-गोल, अग्रपर दबा हुआ और ·२५ इञ्च बड़ा होता है।

इसका जो भेद इस प्रान्त के शाल वनों में मिलता है उसे प्रे० मक्रोनॅटा राक्स (P. mucronata Roxb. कहते हैं। यह नम स्थानों में प्रायः बहुत बड़ा हो जाता है। नवीन शाखाओं पर प्रायः १-३ इञ्च लंबे मजबूत काँटे होते हैं और इनकी पत्तियां तीन-तीन या चार-चार एक चक्र में होती हैं। काट प्रायः ½ इञ्च मोटा, सफेद और बिना रेशे का होता है। पत्तियां मसलने पर

गंधयुक्त और सूखने पर काली हो जाती हैं। इस वृक्ष की लकड़िओं को परस्पर रगड़ने से आग पैदा होती है। इसके अन्य भी कई भेद होते हैं।

गुण और प्रयोग—यह कटु, उष्ण, तिक्त, शोथघ्न, वातहर, दीपन, श्लेष्मघ्न, ज्वरघ्न, सारक, शीत प्रशमन, अनुवासनोपग तथा गर्भाशय के लिये अवसादक है।

इसका प्रयोग वातरोग, कफरोग, शोथ, आमवात, नाडीशूल, पांडु, अर्श, अग्निमांद्य, विबंध, प्रतिश्याय, ज्वर एवं पार्यायिक तथा विस्फोटक ज्वर में किया जाता है।

(१) इसकी २ छटाक जड़ को चौगुने जल में १५ मिनट उबाल कर १–२ छटाक की मात्रा में दीपन, पाचन, पौष्टिक रूप में दो बार पिलाते हैं।

(२) गंडमाला तथा शोथ में इसको खिलाते हैं तथा बाह्य लेप भी करते हैं। ग्रन्थि पर बांस के पत्तों के साथ इसकी जड़ का लेप करने से लाभ होता है।

(३) अर्श में इसके क्वाथ में बैठाने से पीड़ा शांत होती है।

(४) उरुस्तम्भ में इसकी जड़ को गोमूत्र में पीस कर लेप करते हैं या करंज के साथ क्वाथ बनाकर उससे सिंचन करते हैं।

(५) वसामेह तथा इक्षुमेह में इसकी जड़ का क्वाथ पिलाया जाता है।

(६) इसकी जड़ को पीसकर घृत के साथ सेवन करने से १ सप्ताह में शीतपित्त, उदर्द तथा कोठ आदि अच्छे होते हैं।

(७) अतिस्थौल्य में इसका रस दिया जाता है।

मात्रा—चूर्ण १–२ माशा।

अथ श्योनाकः (सोनापाठा–अरलू)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

श्योनाकः शोषणश्च स्यान्नटकट्वङ्गटुण्टुकाः। मण्डूकपर्णपत्त्रोर्णशुकनासकुटन्नटाः ॥ २५ ॥
दीर्घवृन्तोऽरलुश्चापि पृथुशिम्बः कटम्भरः। श्योनाको दीपनः पाके कटुकस्तुवरो हिमः।
ग्राही तिक्तोऽनिलश्लेष्मपित्तकासप्रणाशनः ॥ २६ ॥

सोनापाठा या अरलू के नाम तथा गुण—श्योनाक, शोषण, नट, कट्वङ्ग, टुण्टुक, मण्डूकपर्ण, पत्रोर्ण, शुकनास, कुटन्नट, दीर्घवृन्त, अरलु, पृथुशिम्ब और कटम्भर ये सब संस्कृत नाम 'सोनापाठा' के हैं। **सोनापाठा**–अग्निदीपक, पाक में कटुरस तथा स्वाद में कषाय और तिक्तरस से युक्त, शीतवीर्य और मलसंग्राहक है। यह वात, कफ, पित्त तथा कास का विनाशक है ॥ २५–२६ ॥

अथ श्योनाकस्य बालप्रौढफलयोर्गुणानाह

टुण्टुकस्य फलं बालं रूक्षं वातकफापहम् ॥ २७ ॥
हृद्यं कषायं मधुरं रोचनं लघु दीपनम्। गुल्मार्शःकृमिहृत् प्रौढं गुरु वातप्रकोपणम् ॥ २८ ॥

इसके कोमल तथा प्रौढ फल के गुण—सोनापाठा का कोमल फल रूक्ष, वातकफनाशक, हृदय को हितकर, कषाय तथा मधुररस युक्त, रोचक, लघु तथा अग्निदीपक एवं गुल्म, बवासीर तथा कृमि का नाशक होता है। इसका प्रौढ़ (पूरा तैयार) फल–गुरु तथा वात को प्रकुपित करने वाला होता है ॥ २७–२८ ॥

९ सोनापाठा

हि०—सोनापाठा, शोनाक, सोनपत्ता, टेंटू, अरलु। बं०-शोण, सोनागाछ। म०-टेंटू। गु०-टेंडु। ते०-दुन्दिलुम, पंपन। उ०-पम्पोनिया। पं०-मुलिन, तारपलङ्ग। ता०-पन, वंग। ने०-तोतिल्ल। कोल०-अरेंगेवनुं। सन्ता०-बनडाटक। गोंड०-जयमंगल। आसा०-केरिंग। का०-तातर। वर्मा-क्योंग-शा। सिलो०-तोतिल्ल। ले०-*Oroxylum indicum Vent.* (ओरोक्झाइलम् इण्डिकम् वेन्ट)। Fam. Bignoniaceae (बिग्नोनिएसी)।

यह सब प्रान्तों में कहीं-कहीं पाया जाता है किन्तु पश्चिम प्रान्त की सूखी भूमि में यह देखने में नहीं आता।

इसका वृक्ष-मध्यमाकार का होता है तथा शाखाएँ थोड़ी होती हैं। छाल-चौथाई इञ्च तक मोटी, कार्कयुक्त तथा बादामी सफेद रङ्ग की चिकनी, हलकी और कोमल होती है। इसको काटने से किंचित् हरियाली लिये रस निकलता है। काट-½-१ इञ्च मोटा, अन्दर की ओर रेशेदार, पीला और बाहर की ओर हरिताभ होता है। लकड़ी-पीलापन युक्त सफेद, हलकी और साररहित होती है। पत्ते-२-४ फोट लम्बे, द्विपक्षवत् सदल तथा शाखाग्रों पर प्रायः समूहबद्ध होकर पाये जाते हैं। पत्रनाल और पत्रदण्ड पर दाने पड़े होते हैं। पत्रक-२॥ ५ इञ्च लम्बे, १॥-४ इञ्च चौड़े, लट्वाकार या अण्डाकार, लम्बाग्र तथा अखण्ड होते हैं। फूल-बहुत बड़े, मांसल और जामुनी रंग के तथा अग्र्य मंजरियों में सवृन्तकाण्डज क्रम से निकले रहते हैं। इनकी गन्ध अच्छी नहीं होती। फलियाँ-१-३ फुट लम्बी, २-३॥ इञ्च चौड़ी, चिपटी, तलवार के समान टेढ़ी एवं कठोर होती हैं। बीज-सफेद, चिपटे, गोल, २-३ इञ्च व्यास वाले तथा आधार के अतिरिक्त चारों ओर पंखयुक्त होते हैं। इसके मूल की छाल का दशमूल में उपयोग किया जाता है। यह हलके पीले रंग की रहती है तथा इसका स्वाद कुछ कडवा तथा कुछ तीता रहता है। इसमें गन्ध नहीं होती।

रा० नि० ने इसके यद्यपि दो भेद लिखे हैं तथापि गुणों में अन्तर नहीं लिखा है। कुछ लोग 'अरलू' नाम से Ailanthus excelsa Roxb. (ऐलेन्थस् एक्सेल्सा राक्स.) लेते हैं और उसी को रा० नि० का श्योनाक भेद मानते हैं। ऐलेन्थस् एक्सेल्सा को कुछ लोगों ने महानिंब माना है।

रासायनिक संगठन्—इसकी छाल में ओरोक्झाइलिन् (Oroxylin) नामक एक कडुवा रवेदार ग्लूकोसाइड, कटुपदार्थ, पेक्टिन, तैल एवं मोम आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—सोनापाठा के मूल की छाल उत्तम स्वेदजनन, कुछ वेदनास्थापन, दीपन, बस्तिरोगहर, स्तम्भन, व्रणरोपण एवं शोथहर है। इसके बीज रेचक होते हैं। इसकी छाल का प्रयोग आमवात, अतिसार, कास, अरुचि एवं ज्वर में किया जाता है।

(१) शोथ तथा वातप्रधान रोगों में श्योनाकमूल देते हैं। यह नवीन आमवात में बहुत लाभ करता है। सोंठ के साथ इसका फांट (१ : १०) बनाकर १ औंस दिन में त्रिवार देते हैं। इसके चूर्ण के साथ अफीम मिलाई जा सकती है। यह डोवर्स् पाउडर (Dover's powder) की अपेक्षा उत्तम स्वेदजनन तथा वेदनाहर है। छाल का क्वाथ अधिक स्तम्भन होने के कारण इसके फांट का प्रयोग उचित है। विबन्ध होने पर एरंड तैल का प्रयोग करना चाहिये। आमवात में इसके क्वाथ से शोथयुक्त संधियों को सेंकते हैं जिससे सूजन तथा पीड़ा कम होती है।

(२) इसकी छाल के कल्क तथा पद्मकेसर को गंभारी एवं कमल के पत्तों में लपेटकर, पुटपाक करके निकला हुआ रस शीत होने पर मधु मिलाकर, अतिसार में दिया जाता है।

(३) इसकी छाल से सिद्ध तैल का उपयोग कर्णस्राव तथा कर्णशूल में किया जाता है। बहुत दिन के प्रयोग के बाद इससे लाभ होता है।

(४) कहा जाता है कि अठन्नी भर छाल पीसकर छानकर दूध के साथ पिलाने से मिर्गी में लाभ होता है।

(५) कर्णमूल शोथ में इसके बीज और इरिमेद दोनों पीसकर लगाये तथा पिलाये जाते हैं।

मात्रा—चूर्ण १०–२० र० त्रिकटु के साथ।

अथ बृहत्पञ्चमूलम्। तस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

श्रीफलः सर्वतोभद्रा पाटला गणिकारिका। श्योनाकः पञ्चभिश्चैतैः पञ्चमूलं महन्मतम् ॥२९॥
पञ्चमूलं महत् तिक्तं कषायँ कफवातनुत्। मधुरं श्वासकासघ्नमुष्णं लघ्वग्निदीपनम् ॥ ३० ॥

बृहत् पञ्चमूल के लक्षण तथा गुण—बेल, गम्भारी, पाढल, अरनी और सोनापाठा इन पांचों वृक्षों के मूल एकत्र करने से 'बृहत् पञ्चमूल' होता है। बृहत् पञ्चमूल-तिक्त, कषाय तथा मधुर रसयुक्त, कफवात-नाशक एवं श्वास तथा कास को दूर करने वाला, उष्णवीर्य, लघु और अग्निदीपक होता है ॥ २९–३० ॥

अथ शालपर्णी (सरिवन) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

शालपर्णी[1] स्थिरा सौम्या त्रिपर्णी पीवरी गुहा।
विदारिगन्धा दीर्घाङ्गी[2] दीर्घपत्राऽंशुमत्यपि ॥ ३१ ॥
शालपर्णी गुरुश्छर्दिज्वरश्वासातिसारजित् ॥ ३२ ॥
शोषदोषत्रयहरी बृंहण्युक्ता रसायनी। तिक्ता विषहरी स्वादुः क्षतकासक्रिमिप्रणुत् ॥३३॥

'सरिवन' के नाम तथा गुण—शालपर्णी, स्थिरा, सौम्या, त्रिपर्णी, पीवरी, गुहा, विदारिगन्धा, दीर्घाङ्गी, दीर्घपत्रा तथा अंशुमती ये सब संस्कृत नाम 'सरिवन' के हैं। सरिवन-पाक में गुरु और वमन, ज्वर, श्वास, अतीसार, शोष तथा त्रिदोष का नाशक है एवं बृंहण, रसायन, तिक्त तथा मधुर रसयुक्त और विष, क्षयकास तथा कृमि का भी नाशक है ॥ ३१–३३ ॥

१० शालपर्णी

हि०-सरिवन, सालवन, गौरी, सर, दिंथ रौथ। बं०-शालपान, शलपानी, छालानी। म०-सालवण, रानभाल। पं०-सरिवन, समेर। गु०-सालवण, समेरवो, पांदडियो। क०-भुई शेंवरा मरुवल होने, मरुल होन्ने, काडगांजि। ते०-सप्पा कुपोव, सप्पा कपोवा, शिया कुपना, कोल कुपोन्ना, गिता नरम। उ०-शार पाणि। ले०-*Desmodium gangeticum DC.* (डेस्मोडिअम् गॅन्जेटिकम् डीसी.)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

यह भारत में प्रायः सर्वत्र प्राप्त होती है विशेषकर दून के शाल वनों में अधिक होती है।

इसके पौधे (उपक्षुप)-स्वावलम्बी परन्तु झुकी और फैली हुई शाखाओं से युक्त और २–४ फीट ऊँचे होते हैं। काण्ड-किंचित् कोणदार होते हैं। पत्ते-एकपत्रक, ३–६ इञ्च लंबे,

१. शालिपर्णी इति पाठा०। २. दीर्घाग्री इति पाठा०।

भिन्न भिन्न चौड़ाई के भालाकार-आयताकार या कम चौड़े और लट्वाकार तथा क्रमशः तीक्ष्णाग्र होते हैं। इनका अपर पृष्ठ मसृण, हरे रंग का और अधर पृष्ठ फीके हरे रंग का और रोमश होता है। पुष्प-श्वेताभ गुलाबी या जामुनी रंग के और ६-१२ इञ्च लंबी, विरल, पतली तथा अग्रज मंजरियों में श्रावणमास में लगते हैं। फली-आधा से पौन इञ्च लंबी, ६-८ संधियों की, टेढ़ी और टेढ़े सूक्ष्म रोमों से युक्त होने के कारण कपड़ों में चिपक जाने वाली होती है। जमीन पर फैले हुये अथवा न्यूनाधिक स्वावलंबी दोनों प्रकार के पौधे होते हैं। अल्प वृद्धि वाले पौधों में पत्ते केवल ½-१½ इञ्च लंबे और अति वृद्धि वाले पौधों में ३-६ इञ्च लंबे पत्ते होते हैं। इसके पत्तों का आकार शालपर्ण सदृश होने के कारण इसे शालपर्णी माना जाता है। इसके मूल तथा पंचांग का चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है। इस जाति तथा वर्ग के कुछ अन्य पौधों को भी शालपर्णी के नाम से ग्रहण कर लिया जाता है।

शालपर्णी और पृश्निपर्णी के विषय में वैद्यों में मतभेद है। कहीं-कहीं के वैद्य उसे शालपर्णी मानते हैं जिसे आगे पृश्निपर्णी लिखा गया है और इस शालपर्णी को वे पृश्निपर्णी मानते हैं। पृश्निपर्णी के पर्याय में क्रोष्टुविन्ना शब्द आया है जो Uraria (यूरेरिआ) जाति की पुच्छाकार मंजरी वाले क्षुपों के लिये ही उपयुक्त हो सकता है। इस दृष्टि से Uraria picta Desv. (यूरेरिआ पिक्टा डेस्व.) को पृश्निपर्णी मानना उचित मालूम पड़ता है। Uraria lagopoides DC. (यूरेरिआ लॅगोपाइडिस् डीसी.) के पत्र शालपत्र जैसे होने के कारण उसे शालपर्णी माना जा सकता है। कुछ लोग शालिपर्णी से शालिधान्य के क्षुप जैसे पत्र वाले क्षुद मानते हैं। इसी तरह इसके विभिन्न निघण्टुओं में दिये हुये पर्याय नामों के आधार पर लोग विभिन्न क्षुपों को शालपर्णी या पृश्निपर्णी सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।

गुण और प्रयोग—शालपर्णी उष्ण, ज्वरघ्न, शोथघ्न, मूत्रजनन, बल्य, रसायन, वयस्थापन, बृंहण, सर्वदोषहर, अंगमर्द प्रशमन तथा विषघ्न है। इससे मूत्रदाह कम होता है।

इसका प्रयोग ज्वर, वातरोग, अतिसार, वमन, शोथ, प्रमेह, अर्श, कृमि, राजयक्ष्मा एवं क्षत कास में किया जाता है। श्वासनलिकाशोथ, फुफ्फुसशोथ तथा सूतिकाज्वर में इससे विशेष लाभ होता है। इसके पंचांग के क्वाथ में कालीमिर्च मिलाकर रक्तविकार में प्रयोग करते हैं।

मात्रा—चूर्ण ½-१ तोला।

अथ पृश्निपर्णी (पिठवन) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

पृश्निपर्णी पृथक्पर्णी चित्रपर्ण्यहिपर्ण्यपि[1]।
क्रोष्टुविन्ना सिंहपुच्छी कलशी धावनिर्गुहा ॥ ३४ ॥
पृश्निपर्णी त्रिदोषघ्नी वृष्योष्णा मधुराऽसरा।
हन्ति दाहज्वरश्वासरक्तातीसारतृड्वमीः ॥ ३५ ॥

पिठवन के नाम तथा गुण—पृश्निपर्णी, पृथक्पर्णी, चित्रपर्णी, अहिपर्णी, क्रोष्टुविन्ना, सिंहपुच्छी, कलशी, धावनी और गुहा ये सब संस्कृत नाम पिठवन के हैं। **पिठवन**—त्रिदोष को दूर करने वाली, वृष्य, उष्णवीर्य, मधुररस युक्त तथा संग्राही होती है। यह दाह, ज्वर, श्वास, रक्तातिसार, तृषा और वमन को दूर करती है ॥ ३४-३५ ॥

---

१. अंघ्रिपर्ण्यपि इति पाठा०।

११ पृश्निपर्णी (१)

हि०-पिठवन, डाब्रा। बं०-शंकरजटा। पं०-देतेर्दानी। म०-पृश्निपर्णी, पिठवण। गु०-पीठवण, पीलो समेरवो। ले०-*Uraria picta Desv.* (युरेरिआ पिक्टा डेस्व.)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

यह देहरादून और बाहरी हिमालय में प्रायः ऊसर भूमि एवं खुले हुए जंगलों में पाया जाता है।

इसके क्षुप-२-६ फीट ऊँचे, स्वावलम्बी तथा अल्प शाखाओं वाले होते हैं जिसमें पत्ते एक ही क्षुप में भिन्न तरह के होते हैं। पत्ते-नीचे के पत्ते छोटे और लगभग वृत्ताकार, इनके ऊपर ३-५ पत्रक सदलपर्ण जिनके पत्रक रेखाकार और इनके साथ कभी-कभी बड़े-बड़े आयताकार, भालाकार, ६ × १$\frac{1}{2}$ इञ्च बड़े अपत्रक पर्ण भी रहते हैं। ऊपर के पत्ते ५-९ पत्रक तथा पत्रक ३$\frac{1}{2}$-६ इञ्च बड़े होते हैं। पत्रकों के मध्य में पीलापन लिये भूरे या पीले सफेद रंग के पट्टे होते हैं। पुष्प-छोटे, लाल और ३-४ इञ्च लम्बी, सघन, अग्रय और दंभाकार मंजरियों में निकले रहते हैं। फलवती होने पर ये मंजरियां पुच्छाकार मालूम होती हैं। फली-छोटी तथा ३-६ संधियों वाली होती है। अधिकांश लोग इसे पृश्निपर्णी मानते हैं। इसे शालपर्णी मानना उचित नहीं है। पृश्निपर्णी (२) को शालपर्णी माना जा सकता है क्योंकि उसके पत्र शालपत्र जैसे होते हैं।

गुण और प्रयोग—पृश्निपर्णी उष्ण, लघु, त्रिदोषघ्न, दीपनीय, वृष्य, वातहर, संग्राही, सन्धानी, शोथहर, अंगमर्द प्रशमन तथा जीवाणुनाशक है।

इसका उपयोग ज्वर, कास, रक्तातिसार, रक्तार्श, तृषा एवं दाह में किया जाता है।

(१) बला तथा पृश्निपर्णी का क्वाथ, रक्तार्श एवं मदात्यय में लाभदायक है।

(२) अस्थिभग्न में मांसरस के साथ इसके मूल का चूर्ण २१ दिन तक सेवन करना चाहिये।

(३) इसके पंचांग का स्वरस फुरसा (Echis carinata) नामक सर्प के विष में लाभदायक माना जाता है।

मात्रा—$\frac{1}{2}$-१ तोला।

१२ पृश्निपर्णी (२)

हि०-पिठवन, पिठोनी, पितवन। बं०-चाकुले, चाकुलिआ। म०-डवला, पिठवण। पं०-पिठोनी, पिठौनी। मा०-पिठपन। गु०-नहानो समेरवो। क०-नवियल बोने। ते०-कोलकूपौन्ना। ले०-*Uraria lagopoides DC.* (युरेरिआ लॅगोपॉइडिस् डीसी.)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

यह नेपाल, बंगाल, छोटानागपूर तथा अन्य उष्ण प्रान्तों के जंगली स्थानों में होती है।

इसके क्षुप-बहुवर्षायु काष्ठीय मूल से प्रतिवर्ष निकलते हैं। शाखाएँ-प्रसरी या अत्यन्त-प्रसरी और लगभग १२ इञ्च लम्बी होती हैं, जो मूल के समीप निकलती हैं। पत्ते-किंचित वृत्ताकार या चौड़ाई लिये हुए आयताकार, एकपत्रक और त्रिपत्रक दोनों प्रकार के पत्ते मिले हुए या कभी-कभी केवल अपत्रक पत्ते होते हैं। पुष्प-पुष्पमंजरी ८-१२ इञ्च तक लम्बी, गोल तथा पुच्छाकार होती है जो स्थायी बाह्यकोश के पंख सदृश खण्डों के कारण बहुत सघन और शृगालपुच्छ (क्रोष्टुविन्ना) जैसी दिखाई देती हैं इसीसे कहीं-कहीं जंगलों में इसे सियारपुछिया भी कहते हैं। फली-एक इञ्च लम्बी, टेढ़ी-मेढ़ी तथा चिकनी होती है। इसके मूल का व्यवहार किया जाता है।

इसकी एक अन्य जाति युरेरिआ हॅमोसा वाल. (Uraria hamosa Wall.) होती है जिसमें मंजरियाँ लम्बी परन्तु सघन नहीं होतीं तथा पर्ण एकपत्रक या त्रिपत्रक होते हैं। इसे उड़ीसा में सालपानी (शालपर्णी) कहते हैं। वस्तुतः 'सालपानी' नाम कई जाति के पौधों को दिया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह रसायन, बल्य, श्लेष्मघ्न एवं त्रिदोषघ्न है। इसके मूल का व्यवहार ½–१ तोला की मात्रा में किया जाता है।

अथ वार्त्ताकी (बड़ी कटेरी) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

वार्त्ताकी क्षुद्रभण्टाकी महती बृहती कुली।
हिङ्गुली राष्ट्रिका सिंही महोट्ठी दुष्प्रधर्षिणी।
बृहती ग्राहिणी हृद्या पाचनी कफवातहृत्॥ ३६॥
कटुतिक्ताऽऽस्यवैरस्यमलारोचकनाशिनी।
उष्णा कुष्ठज्वरश्वासशूलकासाग्निमान्द्यजित्॥ ३७॥

बड़ी कटेरी के नाम तथा गुण—वार्त्ताकी, क्षुद्रभण्टाकी, महती, बृहती, कुली, हिङ्गुली, राष्ट्रिका, सिंही, महोट्ठी और दुष्प्रधर्षिणी ये सब संस्कृत नाम बड़ी कटेरी के हैं। बड़ी कटेरी-संग्राही (मलरोधक), हृदय को हितकर, पाचक, कफवात-नाशक, कटु तथा तिक्तरस-युक्त होती है। यह मुखकी विरसता तथा मल और अरुचि का नाश करने वाली, उष्णवीर्य तथा कुष्ठ, ज्वर, श्वास, शूल, कास और अग्नि की मन्दता इन सबों को दूर करने वाली होती है॥ ३६–३७॥

१३ बृहती (बड़ी कटेरी)

हि०-बनभंटा, बनभांटा, बड़ी कटाई, बड़ी कटेरी, बरहंटा, अंजड। बं०-व्याकुड, व्याकुर। म०-डोरले, चिंचुरटी वांगी। गु०-उभी रिंगणी। ते०-तेल्ल मुलक। ता०-पप्पर मुल्लीं। क०-किरिगुलि। मा०-उभोकटाली। मला०-चेरुचुन्ड। पं०-कंडयारी। फा०-कटाई कलाँ। ले०-*Solanum indicum Linn.* (सोलॅनम् इण्डिकम् लिन.)। Fam. Solanaceae (सोलेनॅसी)।

यह भारत के प्रायः सब प्रान्तों में कहीं न कहीं पाई जाती है, विशेषकर ऊसर भूमि में अधिक मिलती है।

इसका क्षुप-३-६ फीट ऊँचा ठीक भण्टे के क्षुप के समान होता है। शाखाएँ-श्वेत रोमश और किंचित टेढ़े तथा मृदु कांटों से भरी रहती हैं। पत्ते-३ से ६ इञ्च तक लम्बे तथा १ से ४ इञ्च तक चौड़े, कटे किनारे वाले या लहरदार, ठीक भण्टे के पत्तों के आकार के लट्वाकार या आयताकार होते हैं। अधरतल पर रोमश होने के कारण ये मैले सफेद रंग के और ऊपरी तल पर तारकाकार रोमों के कारण कुछ-कुछ खुरखुरे होते हैं। नीचे के तल पर मध्यपर्शुका पर अथवा नसों पर मृदु कंटकों से युक्त रहते हैं। फूल-भंटा के फूल के समान बैंगनी रंग के या कभी-कभी श्वेताभ, ·७५ इञ्च व्यास के और पांच दल वाले होते हैं। फल-गोल, कच्ची अवस्था में हरे, पकने पर पीले, तिहाई इञ्च व्यास के एवं प्रायः चिकने होते हैं। इनका स्थायी बाह्यकोश पहले जैसा छोटा ही रहता है। फल तथा फूल सालभर लगते रहते हैं। ताजे फल कड़वे तथा कटु रहते हैं लेकिन सूखने पर इनका कड़वापन चला जाता है।

इसका एक भेद ठंडे तथा आर्द्र स्थानों में पाया जाता है जिसे ले०-*Solanum torvum Swartz* (सोलॅनम् टॉर्वम् स्वार्ज़) तथा सं०-श्वेतबृहती कहते हैं।

इसके क्षुप–६–१० फीट ऊँचे तथा उपर्युक्त बृहती के समान होते हैं। ये अधिक ऊँचे, सीधे तथा शाखाएँ अल्प, सीधी, प्रायः मुलायम और उन पर कांटे बहुत कम होते हैं। पत्ते–३–७ इञ्च लम्बे, २–४ इञ्च चौड़े, ऊपर कम और नीचे अधिक रोमश (रोम तारकाकार) होते हैं। कांटे भी प्रायः मध्यशिरा पर नीचे की ओर केवल एक या दो होते हैं। फूल–श्वेत तथा बाह्य-कोश में कांटे नहीं होते। फल–पहले से बड़े, ·५ इञ्च व्यास के तथा पीले होते हैं।

इसका एक अन्य भेद शुष्क भागों में पाया जाता है जिसे ले०–*Solanum melongena Linn.* (सोलॅनम् मेलोंगेना लिन.) एवं हि०–वनभण्टा, जंगली बैंगन, रोको, ठोको, गठेगनी कहते हैं।

यह बैंगन की ही जंगली जाति होती है जिसमें कांटे होते हैं। पत्ते-अंडाकार, ४-७ इञ्च बड़े, न्यूनाधिक अखंड, लहरदार या किंचित् खंडित (खंडगोल) होते हैं। फूल–नीले और प्रायः व्यास में १ इञ्च होते हैं। बाह्यकोश फल में बढ़ा हुआ रहता है। फल–चिकने, श्वेताभ-पीत, गोल और व्यास में करीब १ इञ्च होते हैं। इसके कृषिजन्य भेद में फल के रंग तथा आकारादि में बहुत भिन्नता आ जाती है।

नोट—प्राचीनों ने बृहतीद्वय का उल्लेख किया है जिससे कुछ लोग बृहती (बड़ी कटेरी) तथा कंटकारी (भटकटैया) ये दो द्रव्य लेते हैं। कुछ लोगों का मत है कि बृहतीद्वय अलग हैं तथा कंटकारी अलग है। बृहती के कई भेद प्राप्त भी होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें सोलेनीन एवं सोलेनिडीन नामक दो क्षाराभ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, दीपन, पाचन, ग्राही, वातघ्न, कफघ्न, हृद्य, कण्ठ्य, हिक्का-निग्रहण, शोथहर तथा अंगमर्द प्रशमन है।

इसका मूल कफ रोगों में दिया जाता है। इससे ज्वर कम होता है एवं श्वासावरोध कम होता है। इसके प्रयोग से उदरगत वात कम होने से शूल एवं मरोड़ दूर होती है। मूत्रकृच्छ्र में इसका उपयोग करते हैं। त्वग्रोगों में इसके पत्तों का लेप किया जाता है। वमन रोकने के लिये इसके पत्तों का स्वरस आर्द्रक के साथ पिलाते हैं। इसके फल अग्निदीपक माने जाते हैं तथा शिरःशूल में इसका लेप लाभदायक होता है।

मात्रा—चूर्ण १–२ माशा।

अथ कण्टकारी (भटकटैया, कटेरी)। तस्या नामान्याह

कण्टकारी तु दुःस्पर्शा क्षुद्रा व्याघ्री निदिग्धिका। कण्टालिका कण्टकिनी धावनी बृहती तथा॥

भटकटैया के नाम—कण्टकारी, दुःस्पर्शा, क्षुद्रा, व्याघ्री, निदिग्धिका, कण्टालिका, कण्टकिनी, धावनी और बृहती ये सब संस्कृत नाम भटकटैया के हैं॥ ३८॥

* उभे च बृहत्यौ। यत आह सुश्रुतः—

क्षुद्रा या क्षुद्रभण्टाकी बृहतीति निगद्यते॥ ३८॥

दोनों ही अर्थात् बड़ी कटेरी तथा भटकटैया (छोटी कटेरी) 'बृहती' कहलाती हैं क्योंकि 'सुश्रुत' महर्षि ने भी कहा है कि—क्षुद्रा (भटकटैया) और क्षुद्रभण्टाकी (बड़ी कटेरी) जो यह
19 दो प्रकार की कटेरी होती है वे दोनों ही 'बृहती' नाम से कहलाती हैं॥ ३८॥

अथ श्वेतपुष्पायाः कण्टकार्या नामान्याह

श्वेता क्षुद्रा चन्द्रहासा लक्ष्मणा क्षेत्रदूतिका। गर्भदा चन्द्रमा चन्द्री चन्द्रपुष्पा प्रियङ्करी॥३९॥

सफेद फूल वाली भटकटैया के नाम—श्वेता, क्षुद्रा, चन्द्रहासा, लक्ष्मणा, क्षेत्रदूतिका, गर्भदा, चन्द्रमा, चन्द्री, चन्द्रपुष्पा और प्रियङ्करी ये सब संस्कृत नाम सफेद फूल वाली भटकटैया के हैं॥ ३९॥

अथ कण्टकारीगुणानाह

कण्टकारी सरा तिक्ता कटुका दीपनी लघुः॥ ४०॥
रूक्षोष्णा पाचनी कासश्वासज्वरकफानिलान्। निहन्ति पीनसं पार्श्वपीडाकृमिहृदामयान्॥४१॥

भटकटैया के गुण—भटकटैया-दस्तावर, तिक्त तथा कटुरसयुक्त, अग्निदीपक, लघु, रूक्ष, उष्णवीर्य और पाचक होती है। यह खांसी, श्वास, ज्वर, कफ, वात, पीनस, पार्श्वपीडा (पसुली का दर्द), कृमि तथा हृद्रोग इन सबों को दूर करती है॥ ४०-४१॥

अथ कण्टकारीद्वयफलगुणानाह

तयोः फलं कटु रसे पाके च कटुकं भवेत्। शुक्रस्य रेचनं भेदि तिक्तं पित्ताग्निकृल्लघु॥
हन्यात्कफमरुत्कण्डूकासमेदःकृमिज्वरान्॥ ४२॥

दोनों कटेरियों के फल के गुण—छोटी तथा बड़ी कटेरी के फल—पाक में कटुरसयुक्त, शुक्र का रेचन करने वाले, मल को भेदन करने वाले, कटु तथा तिक्तरस-युक्त, पित्त तथा अग्निवर्धक और लघु होते हैं और कफ, वात, खुजली, खाँसी, मेदरोग, कृमि तथा ज्वर को दूर करने वाले होते हैं॥ ४२॥

अथ श्वेतपुष्पकण्टकार्या गुणानाह

तद्वत्प्रोक्ता सिता क्षुद्रा विशेषाद् गर्भकारिणी॥ ४३॥

श्वेत फूल वाली भटकटैया के गुण—सफेद फूल वाली भटकटैया भी पूर्वोक्त इन सभी गुणों से युक्त होती है तथापि विशेष करके यह गर्भ धारण कराने वाली होती है॥ ४३॥

१४ कंटकारी

हि०—कटेरी, लघुकटाई, कंटकारी, छोटी कटाई, भटकटैया, रेंगनी, रिंगणी, कटाली, कटयाली। बं०—कंटकारी। म०—रिङ्गणी, भुईरिङ्गणी। गु०—बेठी भोरिंगणी, भोयरिंगणी। क०—नेल्ल गुल्लु। ते०—चल्लन मुलग। मा०—पसरकटाई। पं०—कंडियारी, वरुम्ब। ता०—कंडनकत्तरि। अ०—हदक, हसिम, शौकतुल्अकरब। फा०—बादंगानबर्री, कटाई खुर्द। ले०—*Solanum xanthocarpum Schrad & Wendl* (सोलॅनम् झॅन्थोकार्पम् श्रॅड, वेण्ड.)। Fam. Solanaceae (सोलेनॅसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में और सब प्रकार की मिट्टी में पाई जाती है परन्तु रेतीली भूमि में यह अधिक उत्पन्न होती है। दक्षिण-पूर्व एशिया, मलाया एवं आस्ट्रेलिया के उष्ण प्रदेशों में भी यह पाई जाती है।

इसका परिप्रसरी क्षुप-बहुवर्षायु तथा अत्यन्त कांटेदार होता है। काण्ड-टेढ़े-मेढ़े एवं अनेक शाखाओं से युक्त रहते हैं। कांटे-सीधे, पीले, चिकने, चमकीले एवं ·५-·७ इञ्च तक लम्बे होते हैं। इनमें साथ में छोटे कांटे भी होते हैं। पत्ते-२-४ इञ्च लम्बे, १-३ इञ्च चौड़े, लट्वाकार, आयताकार या अण्डाकार, गहरे कटे हुए या पक्षवत् खण्डित होते हैं। पत्रखण्ड पुनः खण्डित या दन्तुर होते हैं। ये तारकाकार रोमों के कारण खुरदुरे होते हैं। फूल-गहरे नीले रंग के आते हैं। फल-गोल, ·५-१ इञ्च व्यास के, चिकने और पीले या कभी कभी सफेद होते हैं तथा हरी धारियों से युक्त होते हैं। बीज-चिकने एवं छोटे होते हैं। इसके मूल का उपयोग किया जाता है। यह हमेशा ताजा उपयोग में लाना चाहिये।

श्वेतकंटकारी का पौधा वर्षायु, कुछ छोटा एवं हलके रंग का होता है। पुष्प श्वेत रंग के आते हैं। मूल छोटा एवं पतला तथा शाखायुक्त होता है। यह शीतऋतु में होता है तथा वर्षा में गल जाता है। श्वेतकंटकारी का एक पर्याय लक्ष्मणा होने के कारण तथा यह भी 'गर्भकारिणी' होने के कारण 'लक्ष्मणा' के स्थान पर इसका उपयोग किया जाता है। लक्ष्मणा का आगे स्वतंत्र वर्णन आया है। यह पौधा उपर्युक्त कंटकारी का केवल स्थानभेद से उत्पन्न प्रकार (Variety) है या स्वतंत्र जाति (Species) है इस संबंध में अभी शोध चालू है। इसके स्वतंत्र स्पीसीज सिद्ध होने की अधिक संभावना है।

रासायनिक संगठन—इसमें सोलेनीन सदृश सोलेकार्पिडिन (Solacarpidin, $C_{26}H_{44}O_3N$) नामक एक क्षाराभ बहुत अल्पमात्रा में होता है जो फल में अधिक होता है। पत्तों की अपेक्षा मूल में यह अधिक होता है। इसके पंचांग में पोटॅशियम् क्लोराइड् एवं पोटॅशियम् नाइट्रेट् (Potassium chloride and Potassium nitrate) पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह उत्तम मूत्रल, कफनिःसारक एवं ज्वरहर है। इसके बीज वेदनास्थापक हैं। इसका उपयोग कास, श्वास, प्रतिश्याय, ज्वर, अंगमर्द, पार्श्वपीडा, हृद्रोग, आध्मान, विबंध, अश्मरी तथा वमन में किया जाता है।

(१) गुडुच एवं इसकी जड़ का क्वाथ ज्वर एवं कास में बल्य रूप में दिया जाता है। इससे शरीर की पीड़ा कम होती है, कुछ पसीना होता है एवं मूत्र की मात्रा भी कुछ बढ़ती है।

(२) इससे गला एवं श्वासनलिका की शुष्कता कम होकर कफ ढीला होने लगता है इसलिये गले का शोथ, स्वरयन्त्रशोथ एवं श्वासनलिकाशोथ इनकी प्रथमावस्था में इससे अच्छा लाभ होता है। कफ की प्रथमावस्था में मूल के क्वाथ के साथ मधु एवं सैंधव दिया जाता है। द्वितीयावस्था में पत्रस्वरस या मूलक्वाथ में छोटीपीपल एवं मधु मिलाकर देते हैं जिससे खाँसी की तकलीफ कम होती है। तमक श्वास एवं उद्वेष्टन युक्त कास में इसके मूल के क्वाथ में सैंधव एवं हींग मिलाकर देते हैं। सुश्रुत ने तमक श्वास के लिये इसका मूलचूर्ण १ तोला तथा हींग ½ तोला, मधु के साथ ३ दिन सेवन करने को लिखा है। कास, श्वास तथा स्वरभेद में इससे सिद्ध घृत का उपयोग लिखा है। कास में इसके स्वरस से सिद्ध मुद्गयूष आँवले की खटाई डालकर उपयोग करने को लिखा है।

(३) इसके मूल का स्वरस मद्य मिलाकर पिलाने से वमन बन्द होता है।

(४) इसके मूल के क्वाथ को मूत्रकृच्छ्र, बस्तिगत अश्मरी एवं जलोदर में देते हैं। मूत्रदोष में इसके स्वरस में मधु मिलाकर पिलाते हैं। अश्मरी में बृहती तथा कंटकारी के मूल का चूर्ण मीठे दही के साथ ७ दिन पीने का विधान है।

(५) इसके बीज के धूम्रपान से कृमिदन्तजन्य शूल कम होता है तथा कभी-कभी तत्काल लाभ होता है। मुखपाक में पंचांग क्वाथ से गण्डूष कराते हैं। पीड़ायुक्त अर्श में इसके बीज की धूनी दी जाती है। वेदनायुक्त अंगोंपर इसके पत्तों का लेप किया जाता है।

(६) आमवात में इसके पत्रस्वरस में काली मिर्च मिलाकर पिलाते हैं तथा पत्तों का लेप करते हैं।

(७) गले की सूजन में फलों का स्वरस उपयोगी है।

(८) सोजाक में पंचांग का क्वाथ पिलाते हैं।

मात्रा—पत्रस्वरस ½–१ तोला; मूलक्वाथ (अष्टमांश) २–४ तोला; मूलचूर्ण १–२ माशा।

श्वेतकंटकारी—इसकी ताजी जड़ दूध में पीसकर मासिक के चौथे दिन पिलाने से गर्भधारणा होती है।

अथ गोक्षुरः। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

गोक्षुरः क्षुरकोऽपि स्यात्त्रिकण्टः स्वादुकण्टकः। गोकण्टको गोक्षुरको वनश्रृङ्गाट इत्यपि॥४४॥
पलङ्कषा श्वदंष्ट्रा च तथा स्यादिक्षुगन्धिका। गोक्षुरः शीतलः स्वादुर्बलकृद्बस्तिशोधनः॥४५॥
मधुरो दीपनो वृष्यः पुष्टिदश्चाश्मरीहरः। प्रमेहश्वासकासार्शःकृच्छ्रहृद्रोगवातनुत्॥४६॥

गोखरू के नाम तथा गुण—गोक्षुर, क्षुरक, त्रिकण्ट, स्वादुकण्टक, गोकण्टक, गोक्षुरक, वनश्रृङ्गाट, पलङ्कषा, श्वदंष्ट्रा तथा इक्षुगन्धिका ये सब संस्कृत नाम गोखरू के हैं। गोखरू-शीतवीर्य, स्वादु, बलकारक, बस्तिशोधक, मधुररसयुक्त, अग्निदीपक, वृष्य तथा पुष्टिकारक होता है। यह पथरी, प्रमेह, श्वास, खांसी, बवासीर, मूत्रकृच्छ्र, हृद्रोग तथा वात को दूर करने वाला होता है॥ ४४–४६॥

१५ गोखरू (छोटा)

हि०-गोखरू छोटा गोखरू, हाथीचिकार। बं०-गोक्षुर, गोखुरी। म०-सराटे, काटे गोखरू। क०-नेगिलुमुल्लु, नेग्लु। गु०-न्हाना गोखरू, बेठा गोखरू। ते०-पल्लेरु मुल्लु। ता०-नेरिंजिल, नेरुंजी। प०-भक्खड़ा, भखर। फा०-खारे खसक, खारे मेहगोशा। अ०-हसक, बजरक खस्क। अं०-Small Caltrops (स्मॉल् कॅल्ट्रोप्स्)। ले०-*Tribulus terrestris Linn.* (ट्रिब्युलस् टेरेस्ट्रिस् लिन.)। Fam. Zygophyllaceae (झाइगोफालॅइसी).

छोटा गोखरू-प्रसर जाति की वनौषधि है। यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है विशेषकर बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश, पश्चिमोत्तरप्रदेश, राजपूताना और मद्रास में अधिक उत्पन्न होता है। यह अन्य उष्णप्रदेशों में भी पाया जाता है।

इसका प्रसर-१½ फीट से ४ फीट के घेरे में भूमि पर फैला हुआ रहता है। मूल-पतला, चीमड़, करीब ५ इञ्च लम्बा, गोल एवं हलके भूरे रंग का रहता है। इसमें थोड़ी सी सुगन्ध रहती है एवं इसका स्वाद कुछ मिठास लिये हुए कसैला होता है। शाखाएँ-१–२ फीट लम्बी, रोमश तथा जमीन पर फैली हुई रहती हैं। पत्ते-विपरीत, २–३ इञ्च लम्बे, प्रायः असम तथा जोड़ी में आते हैं। पत्रक-आयताकार, ४–७ जोड़े, छोटे, ०·८–१·२ से. मि. लम्बे, आधार की तरफ कुछ तिरछे एवं इनका अग्र रोमश रहता है। फूल-छोटे छोटे, पाँच पंखड़ी वाले, पीले रंग के तथा पत्रकोणों में आते हैं। फल-छोटे-छोटे गोल किञ्चित् चिपटे होते हैं और उनपर पाँच जोड़े बड़े कांटे लगे रहते हैं। ये पाँच दलवाले होते हैं और सूखने पर प्रायः पाँचों दल त्रिकोणाकार पृथक् पृथक् हो जाते हैं तथा उनके दोनों छोर पर एक-एक बड़े कांटे, आधार पर दो छोटे कांटे एवं अन्य सतह पर सूक्ष्म कांटे रहते हैं। प्रत्येक दल में अनेक बीज पाये जाते हैं जिनके बीच में आडे परत होते हैं।

इसके मूल एवं फल का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। प्रायः चूर्ण के लिये फल एवं क्वाथ के लिये मूल काम में लेते हैं।

इसी का एक जातिभेद सिंध, पंजाब तथा बलुचिस्तान में होता है। इसे ले०-*Tribulus alatus Del.* (ट्रिब्युलस् एलॅटस् डेल्); अं०-*Winged caltrops* (विंग्ड् कॅल्ट्रोप्स्); सिंध-लतक; हिं०-गोखुरेकलान; पं०-हसक कहते हैं। इसके फल एक तरफ मोटे तथा दूसरी तरफ संकुचित होते हैं एवं इसे पंख रहते हैं। इनमें दो बीज होते हैं। इसके गुण गोखरू के समान ही होते हैं। इससे पाखाना साफ होता है एवं प्रसूता को इसके फल की पेया पिलाते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके फलों में अत्यल्प मात्रा में एक क्षाराभ, ३.५%स्थिर तैल, कुछ उड़नशील तैल, राल एवं अधिक मात्रा में नाइट्रेट (Nitrates) ये पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—गोखरू शीतल, स्नेहन, मूत्रविरेचनीय, शोथहर, वातहर, बल्य, वृष्य एवं वेदनास्थापन है। मूत्र-संस्थान की श्लेष्मकला पर इसका प्रभाव बकु (Buchu) के पत्र एवं उवाअर्सी (Uva-ursi) के पुष्प सदृश होता है। इसका मूत्रल प्रभाव इसमें के नाइट्रेट एवं उड़नशील तैल के कारण होता है। यह शीतवीर्य होते हुये वृक्कोत्तेजक है। अधिक मात्रा से इससे शौच साफ होता है।

इसका उपयोग मूत्रकृच्छ्र, सोजाक, अश्मरी, बस्तिरोग, वृक्कविकार, प्रमेह, स्वप्नदोष, नपुंसकता एवं वीर्यक्षीणता में किया जाता है।

इसके फलों का फांट वृक्कविकार, अश्मरी तथा वातरक्त में मूत्रल औषधि के रूप में बहुत उपयोगी है। इसका उपयोग मूत्राघात, कास तथा हृदयविकार में भी किया जाता है। सोजाक तथा बस्तिशोथ में इसका क्वाथ देते हैं। इसका वेदना स्थापन गुण अल्प होने के कारण इसके साथ खोरासानी अजवाइन या अफीम मिलाई जाती है।

मूत्रकृच्छ्र में इससे सिद्ध दुग्ध का प्रयोग किया जाता है। मूत्र बहुत अम्ल होने पर तथा मूत्रकृच्छ्र में इसके क्वाथ में यवक्षार मिलाकर देते हैं। बस्तिशोथ या वृक्कशोथ में जब मूत्र क्षारीय, दुर्गन्ध युक्त एवं गंदला रहता है तब इसके क्वाथ में शिलाजीत देते हैं।

इसके चूर्ण को मधु के साथ खाकर ऊपर से बकरी का दूध सात दिन पीने से अश्मरी में लाभ होता है।

गोखरू तथा तिल इनका समभाग चूर्ण मधु एवं बकरी के दूध के साथ सेवन करने से हस्तमैथुनजन्य षांढ्य में लाभ होता है। गर्भाशय शुद्ध होकर वन्ध्यत्व नष्ट होने के लिये गोखरू देते हैं।

मात्रा—३-६ माशा।

१६ गोखरू बड़ा

हि०-बड़ा गोखरू, फरीदबूटी, दक्षिणी गोखरू। बं०-बड गोखरू। म०-मोठें गोखरू। गु०-ऊभा गोखरू, म्होटा गोखरू, कडवा गोखरू। पं०-गोखरू कलां, बड़ा मखडा (रा)। उडि०-गोक्षुरा। क०-आनेनेगिगलु। ते०-पेद्दा पल्लेरु। ता०-पेरूनेरूंजि। मल०-कट्टुनेरिंजल। सिंहा०-अतिनेरंचि। अ०-हसके कबीर। फा०-खारेखस के कलां, खसके कलाँ। ले०-*Pedalium murex Linn.* (पेडॅलिअम् म्युरेक्स लिन.)। Fam. Pedaliaceae (पेडॅलिएसी)।

यह दक्षिण में समुद्र के किनारे, गुजरात तथा सिलोन में बहुत उत्पन्न होता है।

इसका क्षुप-वर्षायु, नरम, मांसल तथा चिकना होता है। शाखाएँ-६-१८ इञ्च लम्बी तथा उत्थित प्रसरी होती हैं। पत्ते-न्यूनाधिक विपरीत, १-२ इञ्च लम्बे, अण्डाकार तथा लहरदार दन्तुर किनारे वाले होते हैं। पुष्प-पीले रंग के, १ इञ्च लम्बे तथा पत्रकोणों में निकले हुए होते हैं।

इनको मसलने से कस्तूरी जैसी सुगन्ध आती है। फल-चौकोनी, करीब ½ इञ्च लम्बा, ⅓ इञ्च चौड़ा तथा आधार की ओर प्रत्येक कोन पर एक-एक सीधा काँटा होता है। इसके ऊपर का भाग शंकाकार और भीतर से दो कोशवाला होता है। बीज-प्रत्येक कोश में दो दो बीज होते हैं। इसके पत्तों को जल में डालने पर जल एकदम लुआबदार हो जाता है। इसमें न स्वाद होता है न गन्ध होती है तथा कुछ समय बाद इसका लुआब भी निकल जाता है। इसके पत्ते तथा फलों का चिकित्सा में व्यवहार होता है।

रासायनिक संगठन—इसके फलों में एक क्षाराभ, वसा, राल तथा राख ५% होती है।

गुण और प्रयोग—बड़ा गोखरू स्नेहन, मूत्रजनन, बल्य तथा वाजीकर है। इसका मूत्रजनन धर्म बहुत उत्तम है तथा त्वरित मालूम पड़ता है।

(१) नये सोजाक में ताजे पंचांग का हिम करीब एक पाव की मात्रा में प्रत्येक समय ताजा बनाकर देना चाहिए। फल का काढ़ा देना हो तो उसके साथ मुलेठी एवं नागरमोथा मिलाना चाहिये। इससे मूत्रत्याग के समय जलन नहीं होती। इसके पत्तों का चूर्ण एक तोला दुग्ध एवं शर्करा के साथ सोजाक में तथा तज्जन्य संधिवात में देते हैं।

(२) स्वप्नदोष, कामशक्ति का ह्रास तथा अपने आप पेशाब हो जाना इन अवस्थाओं में इसके फल का फांट देते हैं। २½ तोला फल चूर्ण को २५ तोला उबलते जल में डालकर १ घंटे पश्चात् छान लें तथा बार-बार थोड़ा-थोड़ा पिलावें। फलचूर्ण को २ माशे की मात्रा में शर्करा, घृत एवं दुग्ध के साथ भी दे सकते हैं। इसका पौष्टिक तथा वाजीकर गुण कभी कभी स्पष्ट प्रतीत होता है।

(३) प्रसूति रोग में फलों का क्वाथ या पत्रस्वरस पिलाते हैं।

(४) यकृत तथा प्लीहा वृद्धि में पंचांग का रस या क्वाथ पिलाते हैं।

मात्रा—पत्रचूर्ण १ तोला; फल २-३ तोला फांट बनाकर ; फलचूर्ण २-४ माशा।

अथ लघुपंचमूलम्। तस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

शालपर्णी पृश्निपर्णी वार्त्ताकी कण्टकारिका। गोक्षुरः पञ्चभिश्चैतैः कनिष्ठं पञ्चमूलकम्॥
पञ्चमूलं लघु स्वादु बल्यं पित्तानिलापहम्। नात्युष्णं बृंहणं ग्राहि ज्वरश्वासाश्मरीप्रणुत्॥

लघु पञ्चमूल के लक्षण तथा गुण—सरिवन, पिठवन, बड़ी कटेरी, भटकटैया और गोखरू इन पांचों के मूल एकत्र करने से लघु पञ्चमूल कहलाता है। लघुपञ्चमूल-लघु, स्वादु, बलकारक, वातपित्त-नाशक, बृंहण ग्राही एवम् ज्वर, श्वास और पथरी को दूर करने वाला होता है तथा यह अत्यन्त उष्णवीर्य नहीं होता है॥ ४७-४८॥

अथ दशमूलम्। तस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

उभाभ्यां पञ्चमूलाभ्यां दशमूलमुदाहृतम्।
दशमूलं त्रिदोषघ्नं श्वासकासशिरोरुजः। तन्द्राशोथज्वरानाहपार्श्वपीडाऽरुचीर्हरेत्॥ ४९॥

दशमूल के लक्षण तथा गुण—पूर्वोक्त दोनों अर्थात् बृहत् तथा लघु पञ्चमूल के योग को दशमूल कहते हैं। दशमूल-त्रिदोषनाशक तथा श्वास, खांसी, शिर की पीड़ा, तन्द्रा, शोथ, ज्वर, आनाह, पार्श्वपीडा (पंसुलीका दर्द) एवम् अरुचि को दूर करनेवाला होता है॥ ४९॥

अथ जीवन्ती (शाकविशेषः-शर्करावन्मधुरपुष्पा व्रततिर्भवति)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

जीवन्ती जीवनी जीवा जीवनीया मधुस्रवा। माङ्गल्यनामधेया च शाकश्रेष्ठा पयस्विनी॥
जीवन्ती शीतला स्वादुः स्निग्धा दोषत्रयापहा। रसायनी बलकरी चक्षुष्या ग्राहिणी लघुः॥

जीवन्ती (जो कि एक प्रकार की शाक है तथा शक्कर के समान मीठे फूलों वाली लता होती है) के नाम तथा गुण-जीवन्ती, जीवनी, जीवा, जीवनीया, मधुस्रवा, माङ्गल्यनामधेया (मङ्गलवाचक सभी शब्द इनके पर्यायवाचक होते हैं), शाकश्रेष्ठा तथा पयस्विनी ये सब संस्कृत नाम जीवन्ती के हैं। जीवन्ती-शीतवीर्य, स्वादु, स्निग्ध, त्रिदोषनाशक, रसायन, बलकारक, नेत्र को हितकर, ग्राही और लघु होती है ॥ ५०-५१ ॥

नोट—जीवन्ती नामक शाकश्रेष्ठ के विषय मतभेद हैं। कुछ लोग जीवन्ती, स्वर्णजीवन्ती एवं ह्रस्व तथा दीर्घजीवन्ती आदि इसके भेद मानते हैं। अधिकांश विद्वान् लेप्टाडेनिआ रेटिक्युलॅटा (Leptadenia reticulata W. & A.) को जीवन्ती मानते हैं। कुछ लोग डेन्ड्रोबिअम् मेक्रीइ (Dendrobium macraei) को जीवन्ती मानते हैं। इन्हीं दो का यहाँ वर्णन किया गया है। कुछ लोगों ने ड्रेगिआ होल्युबिलिस् (Dregia volubilis) को जीवन्ती लिखा है जिसे कहीं २ 'लाखन' कहा जाता है तथा उसका मूर्वा के स्थान पर कहीं कहीं प्रयोग किया जाता है। पंजाबी में जिउन्ती नाम सिमिसिफ्यूजा फिटिडा (Cimicifuga foetida) को दिया हुआ है जो जीवन्ती शाक से बिलकुल भिन्न मालूम होती है।

श्रीयुत यादवजी ने इसके दो लेटिन नाम लेप्टाडेनिआ रेटिक्युलेटा एवं होलोस्टेमा एन्युलेर लिखे हैं तथा इसके नव्यमत में श्री डा० देसाई के होलोस्टेमा र्हिडिआनम् का वर्णन किया है। होलोस्टेमा र्हिडिआनम् (हो० एन्युलेर) को कुछ विद्वानों ने अर्कपुष्पी माना है तथा उसे जीवन्ती का भेद लिखा है। अर्कपुष्पी का आगे स्वतंत्र वर्णन आया हुआ है।

१७ जीवन्ती (१)

हि०-जीवन्ती, डोडी। गु०-दोडी, डोडी, खरखोडी, राडारुडी। म०-डोडी, राईदोडी, खीरखोडी। ले०-*Leptadenia reticulata W. & A.* (लेप्टाडेनिआ रेटिक्युलॅटा)। Fam. Asclepiadaceae (एस्क्लेपिएडॅसी)।

यह लता सहारनपुर, शिवालिक के नीचे तथा बरकाला, रानीपूर एवं दक्षिण में भी मिलती है। देहरादून में मोथ्रुनवाला के समीप घास के मैदानों में भी होती है। इसकी मधुर कलियों का रुचिकर शाक बनता है अतः शाकश्रेष्ठ जीवन्ती इसे मानना चाहिये

इसकी लता-क्षुपजातीय तथा चक्रारोही होती है। इसके पुराने काण्ड कार्क युक्त होते हैं और नवीन भाग श्वेताभ मृदु रोमश होते हैं। पत्ते-२-३ इञ्च लम्बे, १-१॥ इञ्च चौड़े, लट्वाकार-आयताकार या अंडाकार, नोकीले, सरल धार, चर्म सदृश और अधःपृष्ठ पर नीलाभ श्वेत रज से ढके होते हैं। इनका आधार प्रायः गोल या नोकीला होता है। पुष्प-कुछ मटमैले हरिताभ पीत रंग के होते हैं। फलियां-एकाकी, २-३ इञ्च लंबी, ॥-॥। इञ्च मोटी, सीधी, सरस परन्तु कठोर, चिकनी और उनका अग्रभाग मोटा परन्तु चोंचदार (टेढ़ा) होता है।

गुण और प्रयोग—जीवन्ती जीवनीय, शीतल, मधुर, लघु, त्रिदोषनाशक, चक्षुष्य, स्वर्य, ग्राही, बल्य एवं वृष्य है।

इसका उपयोग रक्तपित्त, क्षय, दाह, ज्वर, अतिसार, विषदोष, नक्तान्ध्य एवं व्रण में किया जाता है।

(१) ज्वरजन्य दाह में इसके मूल के क्वाथ में घृत मिलाकर पीने से लाभ होता है।

(२) इसका साग घृत के साथ पकाकर खाने से रतौंधी में लाभ होता है।

(३) अतीसार में इसका साग दही, अनार तथा स्नेह के साथ उपयोगी होता है।

मात्रा—३-६ माशा।

१८ जीवन्ती (२)

सं-स्वर्ण जीवन्ती (?)। हि०-जिवसाग्। बं-जिबै, जीवन्ती। गु०-जिवन्ती। ले०-*Dendrobium macraei Lindl.* (डेन्ड्रोबिअम् मेक्रीइ लिंड)। Fam. Orchidaceae (ऑर्किडॅसी)।

यह हिमालय पहाड़, खासिया पहाड़, सिक्किम, नीलगिरि के पहाड़ एवं दक्षिण, सीलोन, वर्मा तथा मलाया आदि में होती है।

इसके बांदे जामुन के वृक्षों पर पाये जाते हैं। जड (भौमिक काण्ड)-प्रसरणशील तथा वलय युक्त होती है जिससे अनेक लटकते हुवे, चमकीले तथा २-३ फीट लंबे काण्ड निकले रहते हैं। काण्ड पर विभिन्न दूरी पर मूलकाकार, कुछ दबे हुवे चमकीले तथा २-२॥ इञ्च लंबे कूटकंद (Pseuodobulbs) रहते हैं। पत्र-कूटकंद के अग्रभाग से, एकाकी, ४-८ इञ्च लंबा, करीब १ इञ्च चौड़ा, रेखाकार-आयताकार, कुण्ठिताग्र एवं अनेक समानान्तर पतली शिराओं से युक्त होता है। पुष्प-पत्र के आधार से निकले हुवे, १-३, करीब १ इञ्च बड़े तथा श्वेत वर्ण के रहते हैं। इनके ओष्ठ एवं चंचु (Spur) पीतवर्ण के रहते हैं। पुष्प कुछ ही घंटे विकसित रहते हैं।

इसके पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह लघु, मधुर, शीतल, रसायन, स्नेहन, बल्य एवं वृष्य है। इसका उपयोग श्वास, कास, गले के विकार, क्षय, ज्वर, दाह, नेत्रविकार एवं रक्तविकार में किया जाता है। इसके पंचांग का क्वाथ अन्य सुगंधि पदार्थों के साथ त्रिदोष में देते हैं। धातुपात के कारण उत्पन्न दौर्बल्य में क्वाथ पिलाते हैं।

मात्रा—३ से ६ माशा।

अथ मुद्गपर्णी। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

मुद्गपर्णी काकपर्णी सूर्यपर्ण्यल्पिका[1] सहा ॥ ५२ ॥
काकमुद्गा च सा प्रोक्ता तथा मार्जारगन्धिका।
मुद्गपर्णी हिमा रूक्षा तिक्ता स्वादुश्च शुक्रला ॥ ५३ ॥
चक्षुष्या क्षतशोथघ्नी ग्राहिणी ज्वरदाहनुत्।
दोषत्रयहरी लघ्वी ग्रहण्यर्शोऽतिसारजित् ॥ ५४ ॥

मुगवन के नाम तथा गुण—मुद्गपर्णी, काकपर्णी, सूर्यपर्णी, अल्पिका, सहा, काकमुद्गा और मार्जारगन्धिका ये सब संस्कृत नाम मुगवन के हैं। मुगवन-शीतवीर्य, रूक्ष, तिक्तरसयुक्त, स्वादु, शुक्रजनक, नेत्र को हितकर, क्षत तथा शोथ का नाशक, ग्राही, ज्वर तथा दाह को दूर करने वाली, त्रिदोषनाशक तथा लघु होती है एवम् ग्रहणी, बवासीर तथा अतिसार को दूर करने वाली होती है ॥ ५२-५४ ॥

---

१. शूर्पपर्ण्यल्पिका इति पाठा०।

१९ मुद्गपर्णी

हि०-मुगवन, मुंगानी, वनमूंग, जंगली मूंग, रखाल कलमी। बं०-मुंगानी। म०-रानमुग। गु०-जंगली मग, अडवाऊ मग। क०-कोइसरु, आवरेगिड। ते०-कारु पेसारा, पिल्ल पेसर चेट्टु, कलवन्द चेट्टु। पं०-मुगवन। ता०-नरिप्पयरू। ले०-*Phaseolus trilobus Ait.* (फेसिओलस् ट्राइलोवस् एट.)। Fam. Leguminosae ((लेगुमिनोसी)।

यह मूँग के समान ही लता जाति की वनौषधि प्रायः सब प्रान्तों में उत्पन्न होती है। इसके काण्ड प्रसरी, १-२ फीट लम्बे, रोमश या चिकने होते हैं। पत्रक-कद में प्रायः बहुत परिवर्तनशील होते हैं और प्रायः वृन्त से छोटे ही होते हैं। ये प्रायः सर्वदा खण्डित, खण्ड तीन और गोल होते हैं। उपपत्र बहुत बड़े और पीठ से जुड़े हुए (प्रायः ½ तक) होते हैं। उपपत्रक छोटे परन्तु पर्णवत् होते हैं। मंजरी के शीर्ष पर पुष्पगुच्छ और बड़ा पुष्पदंड होता है। फली—पतली, लगभग २ इंच लम्बी एवं चिकनी होती है। बीज-६-१२ और श्वेताभ होते हैं।

इसके बीजों को कभी-कभी गरीब लोग खाने के लिये एकत्र करते हैं। पत्रकों के आकार के अनुसार इसे सूर्यपर्णी कह सकते हैं।

गुण और प्रयोग—मुद्गपर्णी शीतल, जीवनीय, शुक्रजनन, बलप्रद, चक्षुष्य एवं शामक है। इसका प्रयोग वातरक्त, क्षय, ज्वर एवं दाह में किया जाता है। बिहार में ज्वर के लिये इसके पञ्चांग का प्रयोग किया जाता है। जीर्ण ज्वर में पुष्टि एवं निद्रा लाने के लिये इसके पत्तों का क्वाथ पिलाया जाता है। चूहे के विषमें सिन्धुवार, मुद्गपर्णी एवं माषपर्णी मधु के साथ खाने से लाभ होता है।

मात्रा—२-४ माशा।

अथ माषपर्णी। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

माषपर्णी सूर्यपर्णी काम्बोजी हयपुच्छिका।
पाण्डुलोमशपर्णी च कृष्णवृन्ता महासहा॥ ५५॥
माषपर्णी हिमा तिक्ता रूक्षा शुक्रबलासकृत्।
मधुरा ग्राहिणी शोथवातपित्तज्वरास्रजित्॥ ५६॥

बनउर्दी के नाम तथा गुण—माषपर्णी, सूर्यपर्णी, काम्बोजी, हयपुच्छिका, पाण्डुलोमशपर्णी, कृष्णवृन्ता और महासहा ये सब संस्कृत नाम बनउर्दी के हैं। बनउर्दी-शीतवीर्य, तिक्त तथा मधुररसयुक्त, रूक्ष, ग्राही, शुक्रजनक तथा कफकारक होती है। एवम् यह शोथ, वात, पित्त, ज्वर और रक्तविकार को दूर करने वाली होती है॥ ५५-५६॥

२० माषपर्णी

हि०—मषवन, माषोनी, बन उड़दी, जंगली उड़द, बनउर्दी, बनउड़द। बं०-माषानी। म०—रानउड़ीद। गु०-जंगली अड़द। क०-काडद्यु, काडुलंद। ते०-रानो डिंडु, कारु मिनुरु। ता०-कट्टु अलदूं। ले०-*Teramnus labialis Spreng* (टेरॅम्नस् लेबिएलिस् स्प्रेंग)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

यह सब प्रान्तों के जंगल झाड़ियों में कहीं न कहीं उत्पन्न होती है। यह लता जाति की वनौषधि झाड़ियों पर लिपटती हुई (चक्रारोही) बढ़ती है और वर्षा ऋतु में अधिक पाई जाती है। पत्ते-त्रिपत्रक और पत्रक भिन्न-भिन्न कद के होते हैं। पत्रक-कभी ·६-१·३ इञ्च और कभी

१-३ इञ्च लम्बे होते हैं। ये अण्डाकार या लट्वाकार (अग्रय पत्रक कभी-कभी अभिलट्वाकार), नीचे के तल पर तलशायी रोमों से युक्त होते हैं। सवृन्त पुष्पों की मञ्जरी बहुत पतली १½-५ इञ्च लम्बी और पुष्प-गुलाबी, नीलारुण या सफेद होते हैं। फली-पतली लम्बी सीधी या कुछ-कुछ टेढी होती है। बीज-ताज़ी अवस्था में लाल तथा सूखने पर काले तथा संख्या में लगभग १० होते हैं।

गुण और प्रयोग—माषपर्णी शीतल, बल्य, वृष्य, पुष्टिकारक, शुक्रजनन एवं जीवनीय है। इसका उपयोग ज्वर, दाह, रक्तपित्त, वातविकार, अंगघात एवं आमवात में किया जाता है। चरक ने वाजीकरण के लिये माषपर्णी खिलाई हुई समान वर्ण वत्सवाली प्रथम-प्रसवा गौ का दुग्ध, मधु, शर्करा एवं घृत के साथ सेवन करने का विधान किया है। इससे सिद्ध तैल का पिचुधारण वातिक प्रदर में लाभदायक माना जाता है।

मात्रा—२-४ माशा।

अथ जीवनीयगणः। तस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

अष्टवर्गः सयष्टीको जीवन्ती मुद्गपर्णिका।
माषपर्णी गणोऽयं तु जीवनीय इति स्मृतः॥ ५७॥
जीवनो मधुरश्चापि नाम्ना स परिकीर्त्तितः।
जीवनीयगणः प्रोक्तः शुक्रकृद् बृंहणो हिमः॥ ५८॥
गुरुर्गर्भप्रदः स्तन्यकफकृत्पित्तरक्तहृत्। तृष्णां शोषं ज्वरं दाहं रक्तपित्तं व्यपोहति॥ ५९॥

जीवनीय गण के लक्षण तथा गुण—जीवक, ऋषभकादि पूर्वोक्त अष्टवर्ग की औषधियाँ, मुलेठी, जीवन्ती (डोंडी), मुगवन और बनउर्दी इन सब औषधियों को जीवनीयगण कहते हैं। जीवनीय गण का ही नामान्तर जीवन (जीवन गण या मधुर (मधुर गण) भी ऋषियों ने कहा है। जीवनीय गण-शुक्रजनक, बृंहण, शीतवीर्य, गुरु, गर्भप्रद, स्तन्य (दुग्धवर्धक) तथा कफकारक एवं पित्त तथा रक्तदोष को दूर करने वाला तथा तृषा, शोष, ज्वर, दाह और रक्तपित्त इन सबों को नष्ट करने वाला होता है॥ ५७-५९॥

अथ शुक्लरक्तैरण्डौ। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

शुक्ल एरण्ड आमण्डश्चित्रो गन्धर्वहस्तकः। पञ्चाङ्गुलो वर्द्धमानो दीर्घदण्डो व्यडम्बकः॥६०॥
वातारिस्तरुणश्चापि रुवूकश्च निगद्यते। रक्तोऽपरो रुवूकः स्यादुरुवूको रुवुस्तथा॥ ६१॥
व्याघ्रपुच्छश्च वातारिश्चञ्चुरुत्तानपत्रकः। एरण्डयुग्मं मधुरमुष्णं गुरु विनाशयेत्॥ ६२॥
शूलशोथकटीवस्तिशिरःपीडोदरज्वरान्। व्रध्नश्वासकफानाहकासकुष्ठाममारुतान्॥ ६३॥

सफेद एरण्ड तथा लाल एरण्ड के नाम एवम् गुण—शुक्लैरण्ड, आमण्ड, चित्र, गन्धर्वहस्तक, पञ्चाङ्गुल, वर्धमान, दीर्घदण्ड, व्यडम्बक, वातारि, तरुण और रुवूक ये सब संस्कृत नाम सफेद एरण्ड के हैं। रक्तैरण्ड, रुवूक, उरुवूक, रुवु, व्याघ्रपुच्छ, वातारि, चञ्चु और उत्तानपत्रक ये सब लाल एरण्ड के संस्कृत नाम हैं। दोनों एरण्ड-मधुररसयुक्त, उष्णवीर्य तथा गुरु होते हैं एवम् ये दोनों-शूल, शोथ एवं कटि, वस्ति तथा शिरकी पीडा, उदररोग, ज्वर, व्रध्ननामक-रोग, श्वास, कफ, आनाह, खाँसी, कुष्ठ और आमवात इन सबों को दूर करते हैं॥ ६०-६३॥

अथैरण्डपत्राग्रपत्रफलमज्जगुणानाह

एरण्डपत्रं वातघ्नं कफक्रिमिविनाशनम् ।
मूत्रकृच्छ्रहरं चापि पित्तरक्तप्रकोपणम् । वातार्यग्रदलं गुल्मवस्तिशूलहरं परम् ॥ ६४ ॥
कफवातकृमीन्हन्ति वृद्धिं सप्तविधामपि । एरण्डफलमत्युष्णं गुल्मशूलानिलापहम् ॥ ६५ ॥
यकृत्प्लीहोदरार्शोघ्नं कटुकं दीपनं परम् ।
तद्वन्मज्जा च विडभेदी वातश्लेष्मोदरापहः ॥ ६६ ॥

एरण्ड के पत्ते, फुनगी, फल तथा मीगी के गुण—एरण्ड के पत्ते-वातनाशक तथा कफ, कृमि और मूत्रकृच्छ्र को दूर करनेवाले एवम् पित्त तथा रक्त को कुपित करनेवाले होते हैं। कोमल पत्ते (अग्रभाग के पत्ते) गुल्म और वस्ति-शूल को अत्यन्त दूर करनेवाले तथा कफ, वात, कृमि और सात प्रकार के वृद्धि रोग (अण्डवृद्धि) को भी दूर करने वाले होते हैं। एरण्ड के फल-अत्यन्त उष्णवीर्य, गुल्म, शूल, वायु, यकृत, प्लीहा, उदररोग तथा बवासीर को दूर करनेवाले एवम् कटुरस-युक्त तथा अत्यन्त अग्निदीपक होते हैं। फल की मींगी भी गुणों में इसके फलों के समान होती हुई भी मल को भेदन करने वाली एवं वात, कफ तथा उदर-सम्बन्धी रोगों को दूर करने वाली होती है ॥ ६४–६६ ॥

नोट—भावप्रकाशकार ने श्वेत एवं रक्त भेद से एरण्ड के दो भेद लिखे हैं, यद्यपि दोनों के गुण समान ही होते हैं। सामान्यतः इसके दो भेद पाये जाते हैं। एक भेद बहुवर्षायु एवं बड़े फल तथा बड़े और लाल बीजों वाला होता है। दूसरा भेद एकवर्षायु एवं छोटे, भूरे और चित्तीदार बीजों वाला होता है। यह प्रतिवर्ष बोया जाता है। प्रथम में ४०% तैल होता है लेकिन वह अधिकतर जलाने एवं स्निग्धीकरण के काम आता है। इसके पत्तों का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। दूसरे में तैल ३७% होता है जो चिकित्सा में अधिकतर काम आता है। इसके मूल का भी उपयोग चिकित्सा में किया जाता है।

एक अन्य प्रकार का एरंड भी मिलता है जिसे व्याघ्रैरण्ड कहते हैं। इसके गुण एरंड से काफी भिन्न हैं। इसकी एक दूसरी जाति होती है जिसे लाल व्याघ्रैरण्ड कहते हैं। एरंड के पश्चात व्याघ्रैरण्ड का वर्णन किया गया है।

२१ एरण्ड

हि०-अरंड, एरंड, एरंडी, रेंडी। बं०-भेरेंडा। म०-एरंड, एरंडी। गु०-एरंडो, एरंडियो, दिवेली। ते०-आमुडामु, एरंडमु। ता०-आमणक्कम्। मल०-चिट्टामणक्कु, आवणक्का। क० हरलु। फा०-बेदञीर, तुख्मे बेदञीर। अ०-खिरवा, वञ्जुल, ख्रिर्वअ। अं०-Castor-Oil plant (कॅस्टर ऑइल् प्लान्ट)। लै०-*Ricinus communis Linn.* (रिसिनस् कॉम्युनिस् लिन.)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

प्रायः सब प्रान्तों में एरण्ड की खेती की जाती है। यह अपने आप ही मैदानों, सड़कों के किनारे, परती जमीन एवं पहाड़ियों की खाली भूमि में उत्पन्न हुआ पाया जाता है।

इसका क्षुप-एक वर्षायु, ऊँचा, चिकना तथा क्षोदलिप्त रहता है। कभी-कभी यह झाड़ीदार या छोटे वृक्षसदृश भी हो जाता है। पत्ते-एकांतर, चौड़े, खंडित (त्रिपादानुत्तर-पाणिवत), खण्ड ७ या अधिक एवं पत्रतट आरावत दन्तुर होता है। पुष्प-द्विलिंगी तथा सवृन्त-काण्डज पुष्पव्यूहों में आते हैं जिसमें पुंपुष्प पुष्पव्यूह के ऊपर के भाग में रहते हैं तथा स्त्रीपुष्प नीचे के भाग में रहते हैं। फल-गोल-गोल सघन गुम्बजदार लगते हैं, तथा उन पर मुलायम मुलायम

काँटे से होते हैं। फल पकने पर धूप की गरमी से फट जाते हैं और बीज भूमि में गिर पड़ते हैं। उसी समय गुच्छों को तोड़कर संग्रह करते हैं। प्रत्येक फल में तीन-तीन बीज होते हैं। बीज-गोल आयताकार तथा कुछ चिपटे, ४-१२ मि. मि. लंबे, एक तरफ से चिपटे किन्तु दूसरी तरफ कुछ गोल, लंबाई की अपेक्षा ⅔ चौड़े एवं ⅓ मोटे होते हैं। बीज का बाह्य त्वक् पतला, भिदुर, चिकना, चमकीला, भूरे रंग का तथा चितकबरा रहता है। इसका अन्तरत्वक् पतला और मुलायम होता है। बीजावरण में ऊपर द्वारक के समीप एक सफेद बाह्य वृद्धि होती है जिससे कुछ २ ढँका हुआ वृन्तयु (Hilum) होता है। बीजावरण को हटा देने पर स्थूल तथा पीताभ श्वेत भ्रूणपोष (Endosperm) दिखाई देता है जिसके अन्दर तैलीय खाद्य पदार्थ संचित रहता है। भ्रूणपोष के मध्य में गर्भ होता है जिसमें दो पतले पत्र-सदृश बीजपत्र और उनके बीच छोटा भ्रूणाक्ष होता है। बीजों में नाममात्र की गंध एवं किंचित् तीता स्वाद होता है।

एरण्ड का अपने यहां बहुत प्राचीन काल से प्रयोग होता आ रहा है। इसकी इतनी अधिक खेती होती है जिससे इसके तेल का एवं बीजों का बहुत अधिक मात्रा में निर्यात होता है। तैल विशेषकर साबुन बनाने, मशीनों के स्निग्धीकरण (Lubrication) एवं चर्म-व्यवसाय आदि उद्योगों में उपयोग में लाया जाता है। चिकित्सा की दृष्टि से उत्तम प्रकार का तेल अपने यहाँ कम निकाला जाता है यद्यपि उसमें विशेष बाधाएँ नहीं हैं। उत्तम तेल फ्रांस तथा इटली से आता है। इसमें पहले बीजों को खूब अच्छी तरह साफ कर, ऊपर का छिलका हटा, बिना उष्णता पहुँचाये केवल दबाव के द्वारा तेल निकालते हैं। प्रथम दबाव में करीब आधा तेल निकालते हैं; इसे औषधि कार्य में व्यवहृत किया जाता है। फिर दुबारा दबाव देने पर करीब १६% तेल निकलता है वह अन्य व्यवसायों में काम में लाया जाता है। शीतविधि द्वारा निकाले तैल का स्वाद एवं गन्ध कम अप्रिय होता है। उष्ण विधि में बीजों को जल के साथ उबालते हैं। गरमी के कारण तैल जल पर नितर आता है। फिर इस तैल को अलग कर लेते हैं। दूसरी विधि में तैल को दबाव से ही निकालते हैं किन्तु बाहर से मंद आँच भी देनी पड़ती है। उष्णता से पतला हो जाने के कारण तेल अधिक मात्रा में तथा आसानी से निकलता है। इस तैल को धूप में रखकर शुभ्र बनाते हैं तथा बाद में जल के साथ उबालते हैं जिससे इसमें के अन्य पदार्थ निकलकर तेल स्वच्छ हो जाता है।

रासायनिक संगठन—रेंड के बीजों में करीब ५०% तैल रहता है। तैल निकालने के पश्चात् बची हुई खली में रिसिनाइन (Ricinine) नामक रवेदार पदार्थ, रिसिन (Ricin) नामक विषैला पदार्थ, तीव्र कार्य करने वाला लाइपेस् (Lipase) नामक किण्व एवं अन्य किण्व पाये जाते हैं।

इसके तैल में अनेक ग्लिसराइड्स (Glycerides) रहते हैं जिसमें से प्रधान स्नेहीय अम्ल रिसिनोलिक् एसिड (Ricinoleic acid, $C_{18} H_{34} O_3$) है जो इसका विरेचक द्रव्य माना जाता है। स्नेहीय अम्लों के ओलिक् (Oleic), लिनोलिक् (Linoleic) एवं अल्प मात्रा में स्टियरिक (Stearic) तथा हाइड्रॉक्सि स्टियरिक् (Hydroxy stearic) अम्ल पाये जाते हैं।

इसके बीजों में रिसिन नामक जो विषैला तत्त्व है वह इतना अधिक तीव्र है कि २, ३ बीज से मृत्यु तक हो सकती है। मुख की अपेक्षा सूचीवेध द्वारा प्रवेश करने से इसके विषैले परिणाम अधिक दिखलाई देते हैं। इससे आंत्र में रक्तस्रावयुक्त शोथ हो जाता है। इसमें कोई विरेचक गुण नहीं रहता। रिसिन एरण्ड तैल में नहीं पाया जाता। औषधि कार्य में बीजों का प्रयोग करते समय बीजों को दो फाक करके भीतर की जीभी जिसमें यह विष अधिक रहता है निकाल देना

चाहिये। कुछ समय तक दुग्ध में भिगोने एवं एक दो बार उबालने से भी इस विष का पर्याप्त शोधन होता है।

गुण और प्रयोग—एरंड तैल सौम्य, संस्रन, स्तन्यजनन, दाहशामक एवं वातहर है। इसका मूल वृष्य एवं वातहर है। एरंड भेदनीय, स्वेदोपग, अगमर्दप्रशमन, अधोभागहर एवं वातसंशमन है।

एरंड तैल बहुत अच्छा विरेचक द्रव्य है। इसका प्रभाव क्षुद्रांत्र (ग्रहणी) पर होता है। यह आंत्र की ग्रन्थियों एवं पुरस्सरण क्रिया को उत्तेजित करता है जिससे २-६ घंटों में साधारण विरेचन होता है। इससे साधारण पतले २-४ पाखाने होते हैं। आखिरी पाखाने के साथ तैल निकल जाता है तथा कभी कभी मरोड़ होती है। इसका कुछ अंश प्रचूषण के पश्चात् स्तन द्वारा उत्सर्गित होने के कारण स्तनपान करने वाले बच्चों को भी विरेचन हो जाता है। कुछ लोगों को इसकी आदत पड़ जाती है तथा कुछ लोगों मे इससे विरेचन के पश्चात् विबंध हो जाता है। यह सम्भवतः बृहदांत्र की शिथिलता के कारण होता है जो २, ३ दिन रहती है।

बाल, वृद्ध, स्त्री, गर्भिणी एवं प्रसूता के लिये तथा अर्शविकार, गुदविदार, उदरगत शल्यकर्म, श्रोणिविकार, उदरावरणशोथ, जीर्ण विबंध तथा ज्वरजन्य विबंध आदि अवस्थाओं के लिये यह उत्तम तथा हानिरहित सौम्य विरेचक है। अजीर्णजन्य अतिसार विशेषकर बच्चों में होनेवाले अतिसार में इससे लाभ होता है। तीव्र प्रवाहिका के प्रारंभ में अहिफेन के साथ इसका प्रयोग लाभदायक होता है तथा जीर्ण विकार में भी इसका उपयोग किया जाता है। एरंड तैल को सुबह खाली पेट आदी के रस के साथ दिया जाता है। सोंठ के फांट के साथ या उष्ण चाय, कॉफी आदि के साथ भी इसको दे सकते हैं। शीतऋतु में इसको कुछ उष्ण करके देना चाहिये। इसके स्वाद एवं गंध को दूर करने के लिये इसे कैप्सूल में बंदकर या गोंद के साथ एमल्शन् बनाकर ले सकते हैं। बड़ों में इसकी प्रभावोत्पादक न्यूनतम एवं अधिकतम मात्रा ३० बूँद से लेकर १ पाव तक की है लेकिन प्रायः २ तोला की मात्रा मृदुरेचन के लिए पर्याप्त होती है। नवजात शिशु के लिये छोटे चाय के चम्मच बराबर मात्रा कोई बड़ी मात्रा नहीं है। विबंध में एरंड तैल की बस्ति भी दी जाती है।

कटिशूल, गृध्रसी, पार्श्वशूल, हृदयशूल, आमवात एवं संधिशोथ में इसके मूल का क्वाथ सोंठ के साथ पिलाने से लाभ होता है। इन अवस्थाओं में इसके तैल को शिलाजतु के साथ पिलाते हैं तथा इसकी मालिश भी करते हैं। नूतन तथा जीर्ण आमवात में नित्य सुबह एरंड तैल का प्रयोग लाभदायक है।

स्तनों पर इसके तैल को मर्दन कर ऊपर से एरंड पत्र बाँधने से उसमें की गाँठें विलीन होकर स्तन्य-वृद्धि होती है। स्तन-चूचुक-विदार में इसके तैल को लगाने से लाभ होता है।

आँखों में कोई चीज चली जावे तो स्वच्छ एरंड तैल डालने से वह निकल जाती है तथा आँखों की खुरखुराहट दूर होती है।

अर्श में एरंड तैल तथा घृतकुमारी का स्वरस मिलाकर लगाने से जलन कम होती है।

शिरःशूल में रेंडी के तैल की मालिश से लाभ होता है। दाह के शमन के लिये एरंडमज्जा को बकरी के दूध में पीसकर पादतल में मलते हैं। एरंड तैल के मर्दन से भी दाह का शमन होता है।

मात्रा—तैल १-२ तोला; मूलचूर्ण ¼-½ तोला।

२२ व्याघ्रैरण्ड

हि०-व्याघ्रैरन्ड, जंगली एरंड। बं०-बागा भेरेन्दा, बाघभेरंड। म०-मोंगली एरंड। गोवा-गलमर्क। कोंक-काडएरडि। ता०-कट्टमनक्कु। ते०-अडविआमुदमु। क०-कडहरलु। अ०, फा०-डंडेनहरी। ले०-*Jatropha curcas Linn.* (जॅट्रोफा कर्कस् लिन.)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

यह दक्षिण अमेरिका का आदिवासी है किन्तु प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है। दक्षिण में इसे लोग घरों में लगाते हैं।

इसका वृक्ष-छोटा एवं करीब १०-२० फीट ऊँचा होता है। इसकी छाल धूसरवर्ण की एवं काष्ठ मुलायम होता है। पत्ते-चिकने, बड़े, व्यास में ४-६ इञ्च एवं ३-५ खंडों में विभक्त होते हैं। पुष्प-पीताभवर्ण के होते हैं। फल-हरे रंग के, १ इञ्च लम्बे एवं सूखने पर भी बहुत दिन तक पेड़ में लगे रहते हैं। इसके बीजों में तैल होता है। इसके पत्तों को तोड़ने से सफेद रंग का बहुत दूध निकलता है। इसके दूध एवं मूल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

इसी की दूसरी जाति जॅट्रोफा गॉसिपिफोलिआ लिन. (J. gossipifolia Linn.), लाल व्याघ्रैरण्ड सड़कों के किनारे तथा ऊसर भूमि में और अधिक मात्रा में उगी हुई पाई जाती है। इसके पौधे ३-६ फीट ऊँचे, पत्ते ३-५ खंडों में विभक्त एवं पुष्प लाल होते हैं। पत्रतट, पर्णवृन्त और उपपत्रों के ऊपर श्लेष्मोत्पादक ग्रंथियाँ रोमों के रूप में रहती हैं जिससे यह पौधा स्पर्श में चिपचिपा होता है। इसके मूल में कपूर जैसी गंध आती है। इसकी दातुन अच्छी समझी जाती है।

रासायनिक संगठन—व्याघ्रैरंड के बीजों में हलके पीले रंग का तैल ३० %, शर्करा, स्टार्च तथा कर्सिन (Curcin) नामक रिसिन जैसा विषैला पदार्थ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—व्याघ्रैरण्ड का दुग्ध रक्तसांग्राहिक तथा व्रणरोपक है। इसकी जड़ वातानुलोमक, पाचन एवं ग्राही है। इसका तैल जमालगोटे जैसा तीव्र विरेचक होता है तथा इसकी क्रिया अनियन्त्रित होने के कारण तैल का आन्तरिक व्यवहार नहीं किया जाता।

इसके दुग्ध को क्षतपर लगाने से कोलोडिअन की तरह एक पतला स्तर व्रण पर बन जाता है जिससे रक्तस्राव रुकता है, उपसर्ग से व्रण की रक्षा होती है तथा व्रण का संकोच होने से व्रण जल्दी अच्छा होता है। इसे पामा, दाद, तथा छाजन पर लगाते हैं। इसके पत्तों के क्वाथ का भी इसी तरह उपयोग होता है एवं इससे कुल्ला करने से मसूड़े से खून जाना बन्द होकर दाँत मजबूत होते हैं। इसकी दतुअन से भी लाभ होता है। इसके तैल को खुजली, परिसर्प, छाजन तथा अन्य चर्मरोगों में एवं आमवात में लगाते हैं तथा व्रणशोधन के लिये भी इसका उपयोग करते हैं। दुग्धवृद्धि के लिये इसके पत्तों को जरा सा गरमकर स्तन पर बाँधते हैं या इसके क्वाथ से सेंककर फिर उन्हीं पत्तों को बाँधते हैं।

कोंकण की तरफ अजीर्ण, अतिसार तथा उदरशूल के लिये इसकी एक अंगुल लम्बी ताजी जड़, ७ दाना काली मिर्च एवं थोड़ा हींग इन सब को पीसकर उसका रस मट्ठे के साथ पिलाते हैं।

अथ शुक्लरक्तार्कौ [सफेद आक-लाल आक]। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

श्वेतार्को गणरूपः स्यान्मन्दारो वसुकोऽपि च। श्वेतपुष्पः सदापुष्पः स चालर्कः प्रतापसः॥

रक्तोऽपरोऽर्कनामा स्यादर्कपर्णो विकीरणः।

रक्तपुष्पः शुक्लफलस्तथाऽऽस्फोटः प्रकीर्त्तितः॥ ६८॥

अर्कद्वयं सरं वातकुष्ठकण्डूविषव्रणान् ।
निहन्ति प्लीहगुल्मार्शःश्लेष्मोदरशकृत्क्रमीन् ॥ ६९ ॥

सफेद आक तथा लाल आक के नाम और गुण—श्वेतार्क, गणरूप, मन्दार, वसुक, श्वेतपुष्प, सदापुष्प, अलर्क और प्रतापस ये सब संस्कृत नाम सफेद आक के हैं। लाल आक के संस्कृत नाम—रक्तार्क, अर्कनामा (सूर्य के वाचक सभी शब्द इसके पर्यायवाचक हैं), अर्कपर्ण, विकीरण, रक्तपुष्प, शुक्लफल तथा आस्फोट हैं । दोनों प्रकार के आक-दस्तावर तथा वात, कुष्ठ, खुजली, विष, व्रण, प्लीहा, गुल्म, बवासीर, कफ, उदररोग एवं मल के कृमि इन सबों को नष्ट करते हैं ॥ ६७–६९ ॥

अथ शुक्लरक्तार्कयोः पुष्पगुणानाह

अलर्ककुसुमं वृष्यं लघु दीपनपाचनम् । अरोचकप्रसेकार्शःकासश्वासनिवारणम् ॥ ७० ॥
रक्तार्कपुष्पं मधुरं सतिक्तं कुष्ठकृमिघ्नं कफनाशनञ्च ।
अर्शो विषं हन्ति च रक्तपित्तं संग्राहि गुल्मे श्वयथौ हितं तत् ॥ ७१ ॥

सफेद आक तथा लाल आक के फूल के गुण—सफेद आक का फूल—वृष्य, लघु, अग्निदीपक तथा पाचक होता है एवम् यह अरुचि, प्रसेक (मुख से लार गिरना), बवासीर, खाँसी तथा श्वास को दूर करता है। लाल आक का फूल—मधुर तथा थोड़ा तिक्त रसयुक्त, संग्राही, गुल्म तथा शोथ में हितकर होता है एवम् यह कुष्ठ, कृमि, कफ, बवासीर, विष तथा रक्तपित्त को दूर करने वाला होता है ॥ ७०–७१ ॥

अथार्कदुग्धगुणानाह

क्षीरमर्कस्य तिक्तोष्णं स्निग्धं सलवणं लघु । कुष्ठगुल्मोदरहरं श्रेष्ठमेतद्विरेचनम् ॥ ७२ ॥

'आक' के दूध के गुण—यह तिक्त तथा कुछ लवणरस से युक्त, उष्णवीर्य, स्निग्ध और लघु होता है एवम् यह कुष्ठ, गुल्म तथा उदर रोग को दूर करता है और इसके प्रयोग से उत्तम विरेचन होता है ॥ ७२ ॥

नोट—चरक ने अर्क का एक ही भेद लिखा है। सुश्रुत ने अर्क एवं अलर्क ये दो भेद लिखे हैं। भावप्रकाशकार श्वेत एवं रक्त ये दो भेद लिखते हैं। धन्वन्तरि निघण्टु में अर्क एवं राजार्क ये दो भेद दिये हैं। राजनिघण्टु में अर्क, राजार्क, शुक्लार्क एवं श्वेतमन्दारक ये ४ भेद लिखे हैं। राजार्क के जो अन्य पर्याय रा० नि० में दिये हैं वे भावप्रकाशोक्त श्वेतार्क से मिलते हैं। अरुणदत्त ने मन्दारक को श्वेतपुष्प लिखा है (सू. अ. १५)। इससे अनुमान होता है कि राजार्क तथा श्वेतमन्दारक ये श्वेतार्क के ही भेद होंगे। रा. नि. ने राजार्क को सदापुष्प एवं श्वेत मन्दारक को दीर्घपुष्प लिखा है। इससे ऐसा मालूम होता है कि श्वेत पुष्पवाले किन्तु जिसमें बारहो मास पुष्प आते हों उसे राजार्क एवं जिसके पुष्प श्वेत एवं दीर्घ हों उसे मन्दारक कहा गया हो।

आधुनिक ग्रन्थों में इसके दो भेद पाये जाते हैं किन्तु उनके लेटिन नामों में विद्वानों में मतभेद हैं। केलोट्रोपिस् जाइगेन्टीआ को कुछ विद्वान् श्वेतार्क (अलर्क, मदार) तथा केलोट्रोपिस् प्रोसेरा को रक्तार्क (अर्क) मानते हैं किन्तु अन्य विद्वान् इसके विपरीत मानते हैं। यहां पर दोनों का वानस्पतिक वर्णन अलग-अलग दिया गया है। चिकित्सा की दृष्टि से मंदार के सभी भेदों के गुण समान होते हैं। रक्तार्क या श्वेतार्क के भेद से उपयोगिता में कोई अन्तर नहीं होता।

२३ श्वेतार्क

सं०–अलर्क, मंदार। हि०–मदार, आक। म०–रूई, आक। बं०–आकंद। गु०–आकडो। ता०–वदावडम, एरुक्कु। ते०–मंदारमु, जिल्लेडु। क०–एक्क। मल०–एरिक्का। अ०–उषर, उषार। फा०–खरक, जहूक। अं०–मडार (Mudar); जायगॅन्टिक् स्वॅलोवर्ट (Gigantic Swallow-wort)। ले०–*Calotropis gigantea* (Linn.) R. Br. ex Ait. (कॅलोट्रोपिस् जाइगेन्टीआ लिन.)। Fam. Asclepiadaceae (एस्क्लेपिएडॅसी)।

यह हिमालय में ३००० फीट की ऊँचाई तक तथा पंजाब से लेकर दक्षिण भारत, आसाम, लंका एवं सिंगापूर में ऊसर भूमि में पाता जाता है। यह मलाया द्वीप तथा दक्षिण चीन में भी होता है।

इसका क्षुप या छोटा वृक्ष—बहुवर्षायु तथा ८–१० फीट तक ऊँचा रहता है। पत्र–अवृन्त, मोटे, क्षोदलिप्त हरे रंग के, अंडाकार या अभिलट्वाकार–आयताकार, ४–८ इञ्च लंबे, १.५–४ इञ्च चौड़े एवं पर्णतल की तरफ संकुचित हृदयाकार या प्रायः काण्ड को कुछ घेरे रहते हैं। पुष्प–१.५–२ इञ्च व्यास के, गंधहीन तथा अन्तर्दल फैले हुये एवं नीललोहित (Purplish) या श्वेत रंग के होते हैं। फल–करीब ४ इञ्च लंबे, मुड़े हुवे एवं फूलो से एक सेवनीक फल (Follicle) रहते हैं। बीज–महीन सिल्क की तरह गुच्छेदार रूई से युक्त तथा छोटे एवं चिपटे होते हैं। इसकी शाखाओं तथा पत्रादि से दुग्ध निकलता है। इसके गुण और प्रयोग आगे रक्तार्क के साथ ही दिये गये हैं।

२४ रक्तार्क (अर्क)

ले०—*Calotropis procera* (*Ait.*) *R. Br.* (कॅलोट्रॉपिस् प्रोसेरा एट.)।

यह भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रान्तों में उष्ण एवं शुष्क स्थानों में पाया जाता है। यह हिमालय के निचले भागों में तथा उत्तर-पश्चिम में उसके समीप के मैदानों में अधिक होता है। बजीरिस्तान, अफगानिस्तान, पर्शिआ, अरब, इजिप्त तथा अफ्रीका का उष्ण प्रदेश इन स्थानों में भी यह पाया जाता है। इसका क्षुप–स्वावलंबी एवं प्रायः ६–८ फीट ऊँचा होता है। पत्र–अवृन्त, प्रायः २।–६ इञ्च लंबे, १॥–३। इञ्च चौड़े, चौड़े लट्वाकार–आयताकार, अण्डाकार या अभिलट्वाकार होते हैं। पुष्प–१ इञ्च व्यास के, सुगन्ध युक्त एवं गुच्छों में आते हैं। अन्तर्दल श्वेताभ रहते हैं तथा सीधे ऊपर की ओर उठे हुये दलखण्डों के ऊपर जामुनी (आनीलारुण) रंग के दाग होते हैं। फल–३–४ इञ्च लंबे, २–३ इञ्च चौड़े, गोल अंडाकार होते हैं। बीज–रूईदार श्वेतार्क की तरह ही होते हैं। इसके पत्ते आदि से भी दूध निकलता है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के अर्क के मूल, पत्र, पुष्प एवं क्षीर आदि का औषध में उपयोग किया जाता है। इनके मूल की छाल का विशेष उपयोग किया जाता है। इसके छोटे, मुड़े हुवे, २–५ मि. मि. मोटे एवं २–३.५ से. मि. चौड़े टुकड़े होते हैं। कभी-कभी इनमें उपमूल लगे रहते हैं। इसका बाह्यभाग मुलायम, हलके पीतवर्ण (Buff) का एवं लम्बाई में नालीदार होता है एवं अन्दर की सतह हलके पीले रंग की एवं रवेदार होती है। इसका भग्न छोटा एवं दुग्ध युक्त होता है। इसमें गंध नहीं होती तथा इसका स्वाद कडुआ एवं तीता होता है। ग्रीष्मऋतु में पुराने से पुराने बड़े (के. जाइगेन्टीआ) क्षुप के मूल की छाल को निकाल कर, शीतल जल से जल्दी धोकर खुली हवा में सुखावें। धूप में न रखें। जब उसमें का दूध सूख जाय तब ऊपर की कार्कयुक्त सतह निकाल कर बाकी भाग को सुखा एवं चूर्ण बना हवाबंद बोतलों में रखें।

औषध के अतिरिक्त इसके बीजों की रूई एवं छाल से तन्तुनिर्माण किया जा सकता है। इसके दुग्ध का चमड़े के व्यवसाय में उपयोग किया जाता है। इससे नये चमड़े की दुर्गंध दूर होकर उसका रंग पीला हो जाता है। चमड़े के बालों को साफ करने के लिये भी इसका उपयोग करते हैं।

इसके किसी-किसी वृक्ष पर एक प्रकार का शर्करावत् निर्यास संग्रहीत होता है ऐसा हकीम मानते हैं जिसे 'सुक्करूलउपर' कहा जाता है। जिन जातियों में लड़कियों की हत्या की प्रथा है उनमें इसके दुग्ध को जबरदस्ती बच्चे को पिलाते हैं। गर्भपात के लिये भी इसका आन्तरिक तथा स्थानिक प्रयोग करते हैं।

रासायनिक संगठन—कै. जाइगैन्टीआ के मूल की छाल में बीटा-एमाइरिन (B. amyrin) एवं जाइगेन्टीओल् (Giganteol) तथा आइसो जाइगेन्टीओल् (Iso Giganteol) ये दो सभाजिक रवेदार सुषव (Isomeric crystalline alcohols) पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसकी मूलत्वक् कटु, तिक्त, उष्ण, दीपन, पाचन, स्वेदजनन, पित्तस्रावी, कफघ्न, वामक, उद्वेष्टननिरोधी, रसग्रंथी एवं त्वचा के लिये उत्तेजक, जीवनविनिमय क्रिया को उत्तेजित करने वाली, वल्य एवं रसायन है। अल्प मात्रा में यह उत्तम स्वेदल एवं कफनिःसारक होते हुए भी अधिक मात्रा से इससे वमन, विरेचन तथा प्रक्षोभ उत्पन्न होता है। इसका वामक प्रभाव आमाशयप्रक्षोभ एवं वमनकेन्द्र की उत्तेजना से होता है। इसका उद्वेष्टननिरोधी गुण साधारण है किन्तु उसका श्वासनलिकाओं पर स्पष्ट प्रभाव दिखलाई देता है। रसायन होने के कारण इसे वानस्पतिक पारद कहा जाता है। इससे यकृत् की क्रिया अच्छी होकर पित्तस्राव ठीक होने लगता है। इसका उत्सर्ग त्वचा के द्वारा होने के कारण इससे त्वचा पर उत्तेजक प्रभाव दिखलाई देता है एवं छोटी रक्तवाहिनियों का विस्फार होता है।

(१) रक्तविकार, कुष्ठ, उपदंश या किसी भी कारण से उत्पन्न व्रण में इसका आंतरिक एवं बाह्य प्रयोग करते हैं। श्लीपद में इसके साथ रसकपूर या रससिन्दूर, सुरमा (स्रोतोञ्जन) एवं सांमरसंगिभस्म देते हैं तथा कांजी में पीसकर शोथ पर लेप करते हैं। उपदंश में पारद की तरह इसका उपयोग होता है। उपदंश की द्वितीयावस्था में त्वचा पर उत्पन्न चकत्ते आदि इससे कम होते हैं। वद (Bubo) तथा गंडमाला में इसको खिलाते तथा इसके दूध को लगाते है। सभी प्रकार के चर्मरोगों में छाल को जल में पीस कर लगाते हैं या खुजली अधिक होने पर निमोली के तैल में घिसकर लगाते हैं। विशेषकर पुराने त्वग्रोगों में इससे अधिक लाभ होता है।

(२) सभी प्रकार के कफविकारों में इससे लाभ होता है। १५-३० र० चूर्ण को खिलाने से इपिकाक की तरह १ घंटे के अंदर वमन होकर कफ बाहर निकल जाता है तथा कभी कभी विरेचन भी होता है। प्रतिश्याय तथा गले का नूतन शोथ, श्वासनलिकाशोथ आदि में घोडबच के साथ अर्कादिचूर्ण (अर्कचूर्ण २, अफीम १, सैंधव ७; मात्रा-२-७ र०) का उपयोग किया जाता है। तमकश्वास तथा श्वसनिकाभिस्तीर्णता (Bronchiactasis) आदि व्याधियों में इसके प्रयोग से पर्याप्त लाभ होता है।

(३) यकृत् एवं प्लीहावृद्धि तथा उससे उत्पन्न उदर, पित्त का स्राव ठीक न होने के कारण उत्पन्न अतिसार तथा नई एवं पुरानी आँव में इसका बहुत उपयोग किया जाता है। आँव में छाल को ३०-४० रत्ती की बड़ी मात्रा में देना चाहिये किन्तु इसके साथ अफीम एवं सुगन्धि पदार्थ भी देने चाहिए अन्यथा वमन की संभावना रहती है। कुपचन में २ रत्ती छाल देने से पचनशक्ति बढ़ती है।

(४) जीर्ण ज्वर एवं विसर्गी ज्वर में इसका फांट पिलाते हैं। मलेरिया में इसकी छाल पान के साथ खिलाते हैं।

(५) जीर्ण आमवात में अर्कादिचूर्ण सोंठ के साथ रात को देने से पसीना होता है, संधिशूल कम होता है एवं निद्रा आती है।

इसके दुग्ध का मोटा लेप करने से त्वचा का दाह होकर फोड़े उत्पन्न होते हैं किन्तु पतला लेप अल्प वेदनाहर एवं लोमशातक है। इसके आन्तरिक प्रयोग से अत्यन्त विरेचन होता है। इसके गुण भी मूल की तरह ही होते हैं किन्तु इसका कम जादा प्रभाव होता है।

(१) यकृत एवं प्लीहावृद्धि तथा तज्जन्य उदर में इसका आन्तरिक प्रयोग करते हैं।

(२) मोच, मरोड़ एवं संधिशोथ में नमक में इसको मिलाकर लगाने से सूजन कम होती है। दारुहरिद्रा के चूर्ण में इसको मिलाकर उसकी बत्ती भगंदर तथा नाडीव्रण में डालते हैं। दाद एवं छाजन आदि त्वचा के रोगों में एवं आमवात में इसको हल्दी के साथ तिल के तैल में उबालकर मालिश करते हैं। अर्श में यद्यपि इसका लेप करते हैं तथापि इससे बहुत तकलीफ होती है। मुखरोगों में मधु के साथ इसे लगाते हैं। क्रिमिदन्त में दाँत के गढ़े में इसे लगाने से दर्द कम होता है।

इसके पुष्प दीपन, पाचन, कफघ्न एवं उद्वेष्टननिरोधी हैं। मूल की अपेक्षा ये गुण इसमें अधिक स्पष्ट दिखलाई देते हैं।

(१) क्षुधानाश तथा कुपचन में इससे अच्छा लाभ होता है।

(२) खाँसी एवं दमा में इसके फूलों को राब में उबालकर देते हैं।

इसके पत्ते वातहर, शोथहर, व्रणशोधक, व्रणरोपक एवं आनुलोमिक हैं।

(१) जीर्ण व्रण पर इसका चूर्ण डालने से व्रण जल्दी अच्छे होते हैं।

(२) इसके पत्तों को रेंडी का तेल लगाकर गरम करके सूजन पर बांधने से सूजन तथा पीड़ा कम होती है।

(३) बच्चों के आध्मान में पेट पर इनको बांधने से एकाधबार पाखाना होकर आध्मान कम होता है।

(४) इसके पत्तों को तेल में उबाल कर चोट पर उसकी मालिश की जाती है।

(५) इसके पत्ते एवं सैंधव को समान भाग में लेकर बन्द हाँडी में गरम करके बनाई हुई राख तक्र के साथ उदररोग में देते हैं।

मात्रा-मूलत्वक्चूर्ण १½-२½ रत्ती; वामक १५-३० रत्ती; दुग्ध १-२ रत्ती; पत्रचूर्ण २ रत्ती-१ माशा; फूल १-३ रत्ती।

अथ सेहुण्डः [सेहुण्ड, थूहर]। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

सेहुण्डः सिंहतुण्डः स्याद्वज्री वज्रद्रुमोऽपि च।
सुधासमन्तदुग्धा च स्नुक् स्त्रियां स्यात्स्नुही गुडा ॥ ७३ ॥
सेहुण्डो रेचनस्तीक्ष्णो दीपनः कटुको गुरुः।
[1]शूलामाष्ठीलिकाऽऽध्मानकफगुल्मोदरानिलान् ॥ ७४ ॥

---

१. शूलमष्ठीलिका इति पाठा०।

[१]उन्मादमोहकुष्ठार्शः शोथमेदोऽश्मपाण्डुताः ।
व्रणशोथज्वरप्लीहविषदूषीविषं हरेत् ॥ ७५ ॥

सेहुंड (थूहर) के नाम तथा गुण-- सेहुंड, सिंहतुण्ड, वज्री, वज्रद्रुम, सुधा, समन्तदुग्धा, स्नुक् (स्नुह्), स्नुही (स्त्रीलिङ्ग में होता है) और गुडा ये सब संस्कृत नाम थूहर के हैं। थूहर-रेचक, तीक्ष्ण, अग्निदीपक, कटु रस युक्त तथा गुरु होता है। यह—शूल, आमदोष, अष्ठीलिका, आध्मान, कफ-गुल्म, उदररोग, .:त, उन्माद (पागलपन), मोह (मूर्च्छा), कुष्ठ, बवासीर, शोथ, मेदरोग, पथरी, पाण्डुरोग, व्रणशोथ, ज्वर, प्लीहा, विष और दूषीविष को दूर करता है ॥ ७३-७५ ॥

अथ स्नुहीदुग्धगुणानाह

उष्णवीर्यं स्नुहीक्षीरं स्निग्धञ्च कटुकं लघु । गुल्मिनां कुष्ठिनाञ्चापि तथैवोदररोगिणाम् ॥७६॥
हितमेतद्विरेकार्थं ये चान्ये दीर्घरोगिणः ।

थूहर का दूध—उष्णवीर्य, स्निग्ध, कटुरसयुक्त और लघु होता है तथा यह गुल्म, कुष्ठ और उदररोग वालों के लिये एवम् जो दीर्घकाल से रोगी हैं उनके लिये भी विरेचन कराने में हितकर है ॥ ७६-७७ ॥

नोटः—सेहुण्ड की कई जातियां पाई जाती हैं। जिस सेहुण्ड में बहुत कांटे हों वह, अल्प एवं तीक्ष्ण कांटे वाले सेहुण्ड की अपेक्षा अच्छा माना गया है।[२] इसी प्रकार २-३ वर्ष पुराने सेहुण्डवृक्ष से शिशिर-ऋतु के अन्त में दुग्ध निकाल कर व्यवहार करने को लिखा है।[३] सुश्रुत ने (सु. अ. ३९) अधोभागहरगण में सेहुण्ड के मूल और क्षीर दोनों का उपयोग करने को लिखा है तथा स्नुक् एवं महावृक्ष ये दो अलग-अलग द्रव्य लिखे हैं। सुश्रुतने (सु. अ. ३८) श्यामादिगण में सुधा नाम से इसका उल्लेख किया है। चरक ने इसके दुग्ध को तीव्रतम विरेचन माना है तथा उचित प्रयोग से यह दोषों के महान् संचय को भी शीघ्र हरता है ऐसा लिखा है। किन्तु मृदुकोष्ठ वाले में, दोषों का संचय अल्प होने पर एवं अन्य उपाय से रोगी अच्छा हो सकता हो तो इसके प्रयोग का निषेध किया है।[४] चरक (सू. अ. १) में षोडशमूलिनी औषधियों में अधोगुडा शब्द आया है। उसका अर्थ श्रीभगीरथजी स्वामी ने 'गुडायाः (स्नुहेः) अधः (अधोभागः मूल) इति अधोगुडा' यह लिखा है तथा श्रीयादवजी ने इसका समर्थन किया है। (द्रव्यगुणविज्ञानम् , उत्तरार्ध द्वितीय खण्ड, पृ० ३३०) ।

---

१. मेह इति पाठा० ।

२. द्विविधः स मतो यश्च बहुभिश्चैव कण्टकैः ।
सुतीक्ष्णैः कण्टकैरल्पैः प्रवरो बहुकण्टकः । (च. क. अ. १०)

३. तं विभज्याहरेत्क्षीरं शस्त्रेण मतिमान् भिषक् ।
द्विवर्षं वा त्रिवर्षं वा शिशिरान्ते विशेषतः ॥ (च. क. अ. १०)

४. विरेचनानां सर्वेषां सुधा तीक्ष्णतमा मता । संघातं हि भिनत्याशु दोषाणां कष्टविभ्रमा ॥
तस्मान्नैषा मृदौ कोष्ठे प्रयोक्तव्या कदाचन । न दोषनिचये चाल्पे सति चान्यपरिक्रमे ॥
पाण्डुरोगोदरे गुल्मे कुष्ठे दूषीविषार्दिते । श्वयथौ मधुमेहे च दोषविभ्रान्तचेतसि ॥
रोगैरेवंविधैर्ग्रस्तं ज्ञात्वा सप्राणमातुरम् । प्रयोजयेन्महावृक्षं सम्यक्स छत्रचारितः ।
सद्यो हरति दोषाणां महान्तमपि संचयम् । (च. क अ. १०)

आधुनिक उद्भिदवेत्ताओं ने इसकी निम्नलिखित जातियों का वर्णन किया है। यु० तिरुकेडि को कुछ लोगों ने सातला माना है तथा उसका वर्णन सप्तला के अन्तर्गत किया गया है।

१. Euphorbia neriifolia Linn. (युफोर्बिआ नेराइफोलिया लिन.); सेहुण्ड, थोहर, मन्सासिज।

२. E. nivulia Buch. & Ham. (यु० निवुलिया बुच; हैम'); एटके, सिज, सेहुण्ड।

३. E. antiquorum Linn. (यु० ऐन्टिक्वोरम् लिन.); तिधारा सेहुण्ड।

४. E. trigona Haw. (यु०ट्राइगोना हॉ.); तिधारा सेहुण्डभेद।

५. E. triucalli Linn. (यु० तिरुकेह्लि लिन.); लंकासिज, अंगुलिया थूहर, छिमिया सेहुण्ड।

६. E. royleana Boiss (यु० रायलिआना बाएस); थोर, सुरू।

२५ थूहर

हि०-थूहर, सेंहुड, सेंहुर, सेंड, मुठरिया सीज, मुठिया सीज, सौझ, थोहर, एटके। बं०-मनसा सिज। म०-वई निवडुङ्ग, मिनगुटथोर। गु०-थोर, कांटलो, कंटालो। ते०-आकुजे, मुडु। ता०, क०, मल-इल्लैकल्लि। फा०-लादनाम्। अ०-ज़कुमफय्युंन। अं०-Milk Hedge (मिल्क हेज), Common Dulkhedge (कामन् डक हेज)। ले०-*Euphorbia neriifolia Linn.* (युफोर्बिआ नेराइफोलिआ लिन.)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

यह बङ्गाल, बिहार, उत्तरप्रदेश, पश्चिमोत्तरप्रदेश, दक्षिण तथा अन्य प्रान्तों में पाया जाता है। इसका झाड़-१०-१५ फीट तक ऊँचा होता है। शाखाएँ-सीधी और गूदेदार होती हैं। इसके डंठल और शाखाओं पर जगह-जगह कांटे रहते हैं और कांटे चौथाई से आध इञ्च तक लम्बे जोड़े में होते हैं। इन कंटकीभूत उपपत्रों के परस्पर मिलने से काण्ड पञ्चकोणीय बन जाता है। लकड़ी-कोमल होती है। प्रायः शाखाओं के अन्त में चारों ओर से गुच्छाकार पत्ते लगे रहते हैं। वे पत्थरचट्टे के समान मोटे, ६ से १२ इञ्च तक लम्बे, अभि-लट्वाकार होते हैं। अधःपत्रावलि (Involucre) पीताभ होती है। फूल-छोटे-छोटे हरापनयुक्त पीले और फल-आधा इञ्च तक चौड़े होते हैं। बीज-चपटे तथा कोमल लोमयुक्त होते हैं। इसकी शाखाओं और पत्तों से दूध निकलता है।

इसकी दूसरी जाति यु० निवुलिया बुच, हैम (E. nivulia Buch. & Ham.) के वृक्ष-१०-३० फीट ऊँचे, शाखाएँ-सीधी, गोल, खण्डमय, चक्राकार क्रम में निकली हुई और सीधे दो-दो एक साथ कंटकीभूत उपपत्रों से युक्त होते हैं। पत्ते-अस्थायी, मांसल, ९ इञ्च लम्बे, २½ इञ्च चौड़े, रेखाकार अभिप्रासवत् अथवा स्रुवाकार कुण्ठिताग्र और अवृन्त होते हैं। शीत व ग्रीष्मकाल में पत्ते नहीं रहते। एकाभव्यूह (Cyathium) में अधः पत्रावलि (Involucre) पीली होती है। ये पौधे विशेषकर शुष्क तथा नग्न पहाड़ियों पर अधिक होते हैं। पहली जाति के पौधे गांवों की बाड़ों पर अधिक पाये जाते हैं।

चिकित्सा में इनके ताजे वा सुखाये दुग्ध, पत्र एवं मूल का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें युफोर्बिन, राल, गोंद, रबर की तरह पदार्थ एवं कॅल्शियम् मॅलेट ये पदार्थ पाये जाते हैं। सेहुण्ड की जाति में पाये जाने वाला दाहजनक द्रव्य इसमें बहुत रहता है।

गुण और प्रयोग—इसका क्षीर अत्यन्त तीव्र विरेचन है। इससे वमन तथा पानी की तरह जुलाब होते हैं। इसके काण्ड का रस रेचन है। इसके पत्र का रस मूत्रजनन है। इसके मूल का रस उत्तेजक एवं उद्वेष्टनविरोधि है।

(१) उदररोग में इसका क्षीर देते हैं। मिरिच को इसके क्षीर में डुबोकर सुखाकर रखते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर १–२ मिरिच के दाने खिलाते हैं। इसी प्रकार पिप्पली, लौङ्ग एवं त्रिवृतमूल आदि को इसके क्षीर की भावना देकर उनका उपयोग अत्यन्त तीव्र विरेचन की आवश्यकता होने पर करते हैं। उदर रोगी को विबन्ध होने पर भोजन के पूर्व इसके पत्तों का शाक खिलाते हैं। क्षीर चर्म पर लगने से दाह उत्पन्न होकर फोड़े उत्पन्न होते हैं।

(२) इसकी जड़ को मिरिच के साथ सूतिका-ज्वर एवं सर्पविष में देते हैं।

(३) इसके कांड का स्वरस त्वचा पर मलने से त्वचा लाल होती है। चर्मकील (Warts) में इसे लगाने से वे गिर पड़ते हैं। जीर्ण आमवात में संधिपीड़ा होने पर इसका स्वरस निंबौली के तेल में मिलाकर मलते हैं। इसके कांड को भूनकर उसका स्वरस निकाल कर मधु, टंकणक्षार तथा अडूसा के साथ कफविकारों में देते हैं। केवल स्वरस को कर्णशूल में डालते हैं।

(४) तमकश्वास में पत्तों का स्वरस या कांड का रस मधु के साथ देते हैं। पत्तों के अन्य गुण आगे शाक वर्ग में दिये हुये हैं।

(५) व्रण में इसके क्षीर को घृत के साथ मिलाकर लगाया जाता है।

मात्रा—मूल २ से ४ रत्ती; स्वरस २-५ बूँद; क्षीर ½–१ रत्ती।

२६ तिधारा थूहर

सं०-वज्रकण्टक, वज्री। हि०-तिधारासेंहुड, तिधारा थूहर। बं०-वाजबारग, तेशिरेमनसा, तेकाँटासिज। म०-तीनधारी निवडुंग। ता०, मल०-चतुरकल्ली। ते०-बोम्मजेमुडु। अं०-Triangular sponge (ट्रायन्गुलर स्पॉन्ज्)। ले०-*Euphorbia antiquorum Linn.* (युफोर्बिआ एन्टिकोरम् लिन.)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

यह प्रायः सभी प्रान्तों में पाया जाता है। इसके वृक्ष-१२-२५ फीट ऊँचे होते हैं। काण्डखण्डमय और शाखाएँ-प्रायः ३ या कभी-कभी ४-५ पक्षों वाली होती हैं। इन पर कंटकीभूत उपपत्र होते हैं जो छोटे होते हैं। काण्डखण्ड भी इसमें छोटे होते हैं तथा ऊपर के काण्डखंड प्रायः उतने ही लम्बे होते हैं जितने मोटे। पत्ते-छोटे-छोटे होते हैं तथा सब वृक्षों में नहीं होते। पुष्प-द्विलिंगी प्रायः ½ इञ्च बड़े हरिताभ पीत या लाल रंग के होते हैं। फल-½ इञ्च बड़े होते हैं। इसके दुग्ध, मूल एवं काण्ड का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें युफोर्बिन ३५%, दो प्रकार की राल जिनमें से एक ईथर में घुलनशील तथा दूसरी न घुलने वाली, गोंद एवं रबर सदृश पदार्थ १·५% ये द्रव्य पाये जाते हैं। थूहर के जाति में पाया जाने वाला दाहजनक द्रव्य इसमें बहुत अल्प मात्रा में है।

गुण और प्रयोग—यह कफघ्न, ज्वरघ्न, रेचन एवं रक्तशोधक है। इससे कफ पतला होकर मुख एवं गुदा के द्वारा निकल जाता है। इसका प्रयोग प्लीहावृद्धि, कामला, कुष्ठ तथा सर्पविष में किया जाता है।

(१) बच्चों के कफविकारों में इसके कांड को गरम कर निकाले हुए रस में टंकणक्षार, मधु एवं अडूसा मिलाकर बहुत प्रयोग किया जाता है। बच्चों को इससे नुकसान नहीं होता। यदि मात्रा अधिक भी हो जाय तो इससे अधिक से अधिक एकाध वमन होता है तथा पाखाना साफ होता है।

(२) इसके मूल का क्वाथ जीर्ण आमवात एवं उपदंश में दिया जाता है।

(३) इसके दुग्ध को आमवातिक पीडा, दंतशूल एवं मस्से आदि में लगाते हैं।

(४) इसके दुग्ध को बेसन के साथ पकाकर गोली बनाकर सोजाक में देते हैं।

मात्रा—काण्डस्वरस बच्चों को १½-३ माशा; बड़ों को १½-२ तोला।

अथ सेहुण्डभेदः शातला। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

शातला सप्तला सारा विमला विदुला च सा। तथा निगदिता भूरिफेना चर्मकषेत्यपि॥
शातला कटुका पाके वातला शीतला लघुः। तिक्ता शोथकफानाहपित्तोदावर्त्तरक्तजित्॥

शातला (सेंहुड़ भेद) के नाम एवम् गुण—शातला, सप्तला, सारा, विमला, विदुला, भूरिफेना और चर्मकषा ये सब संस्कृत नाम शातला के हैं।

शातला—पाक में कटु, वातकारक, शीतवीर्य, लघु और तिक्तरसयुक्त होती है तथा यह शोथ, कफ, आनाह, पित्त, उदावर्त तथा रक्त-प्रकोप का नाश करती है॥ ७८-७९॥

नोटः—सप्तला एक संदिग्ध द्रव्य है—चरक क. अ. ११ में 'सप्तला शंखिनी' कल्प का वर्णन है। वहाँ सप्तला के मूल का एवं शंखिनी के फल का जो अधिक शुष्क न हों तथा जिनका छिलका निकाल दिया गया हो उनका व्यवहार कफ की अधिकतायुक्त गुल्म, गरदोष, हृद्रोग, कुष्ठ, शोफ एवं उदररोग में करने को लिखा है क्योंकि यह विकासि, तीक्ष्ण एवं रूक्ष होता है।[1] चरक ने विरेचनद्रव्यों में (सू. अ. २., वि. अ. ८) इसका उल्लेख किया है। सुश्रुत में श्यामादिगण में एवं उभयतोभागहर द्रव्यों में इसके स्वरस का तथा अधोभागहर द्रव्यों में मूल का उपयोग लिखा है। सप्तला के साथ प्रायः प्रत्येक स्थान पर शंखिनी का उल्लेख मिलता है। टीकाकारों ने शंखिनी को यवतिक्ता तथा कहीं यवतिक्ता भेद लिखा है। सप्तला का अर्थ कहीं पर स्नुहीभेद तथा कहीं पर यवतिक्ताभेद किया गया है। कहीं पर 'बुध्नामाहुः' तथा 'अपरे श्रीफलिकामाहुः' इस प्रकार उल्लेख करते हुए बुध्ना या श्रीफलिका नामक वनस्पति की तरफ निर्देश किया है। कुछ लोगों ने पीतदुग्ध सेंहुंण्ड को सप्तला लिखा है। उपर्युक्त वर्णन से यह मालूम होता है कि सप्तला यह कोई सेंहुड का ही भेद होगा। कुछ आधुनिक विद्वानों ने युफोर्बिआ तिरुकेल्लि लिन. (Euphorbia tirucalli Linn.), अंगुलिया थूहर-नामक सेंहुड के भेद को सप्तला माना है। श्रीमान् ठा. बलवन्त सिंह जी ने युफोर्बिआ ड्रैकन्क्युलॉइड्स्, लॅम (Euphorbia dracunculoides Lam.)-तितली के लिये सप्तला होने की सम्भावना पर विचार करने को लिखा है। (बिहार की वनस्पतियाँ, पृ. २४)

कुछ अन्य विद्वानों ने सप्तला को शिकाकाई (Acacia concinna DC.) लिखा है। सप्तला को 'विमला', 'भूरिफेना' एवं 'चर्मकषा' ये पर्याय शिकाकाई के होने की सम्भावना दर्शित करते हैं तथा यह भी वामक एवं विरेचक है। कुछ लोगों ने ले०-*Origanum vulgare Linn.* (ओरिगॅनम् वलगेर् लिन.), हि०-सथरा, Fam. Labiatae (लेबिएटी) को सप्तला लिखा है जिसमें का सुगन्धि उड़नशील तैल उत्तेजक एवं अतिसार में बल्य होता है तथा आमवात, दन्तशूल एवं कर्णशूल में उसका उपयोग किया जाता है।

यहाँ अंगुलिया थूहर, तितली एवं शिकाकाई तीनों का अलग अलग वर्णन किया गया है।

---

१. ते गुल्मगरहृद्रोगकुष्ठशोफोदरादिषु। विकासितीक्ष्णरूक्षत्वाद्योज्ये श्लेष्माधिकेषु तु। नातिशुष्कं फलं ग्राह्यं शंखिन्या निस्तुषीकृतम्। सप्तलायाश्च मूलानि गृहीत्वा भाजने क्षिपेत्॥

२७ सातला १ (अंगुलिया थूहर)

हिं०-अंगुलिया थूहर, छिमिया सेहुण्ड। बं०-जटालंका, लंकासिज। म०-निवल, थोर, शेर। गु०-डांडलीओ थोर, खरसाणी थोर। ता०-कल्लि। ते०-जेमुदु। क०-मोंडगलि। मल०-तिरुकल्लि। ले०-*Euphorbia tirucalli Linn* (युफोर्बिआ तिरुकॅल्लि लिन.)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

यह बंगाल, बिहार, सिन्ध, कोंकण एवं गुजरात आदि स्थानों में पाया जाता है। इसका आदिम स्थान अफ्रीका है।

इसका वृक्ष-छोटा, १५-२० फीट ऊँचा होता है। इसे कहीं से काटने से बहुत दूध निकलता है। इसकी मुख्य शाखायें सीधी परन्तु उपशाखायें हरी, चिकनी, चमकीली, गोल (घेरे में), चक्राकार निकली हुई और बहुत पतली होती हैं। इसपर कांटे नहीं होते। पत्ते-बरसात में ½ इञ्च तक लम्बे एवं गूदेदार पत्र निकलते हैं। पुष्प-उपशाखाओं के बीच, छोटे एवं प्रायः स्त्री पुष्प रहते हैं। फल-५ मि. मि. चपटा एवं बीज-अंडाकार तथा, चिकना रहता है। इसके दुग्ध से मछली मरती है। इसके दुग्ध एवं छाल का प्रयोग चिकित्सा में किया जाता है।

रासायनिक संगठन—थूहर की तरह।

गुण और प्रयोग—इसका दुग्ध अत्यन्त प्रक्षोभकारक है। इससे वमन एवं विरेचन होता है तथा त्वचा पर इसे लगाने से फोड़े उत्पन्न होते हैं।

जीर्ण उपदंश में संधिपीडा के लिये इसके दुग्ध का प्रयोग करते हैं। नाडीशूल में दुग्ध का लेप लाभदायक होता है। इसको लगाने से मस्से गल कर गिर पड़ते हैं। इसको लगाते समय इसमें तिल का तेल मिला लेना चाहिये।

विरेचन के लिये २ बूंद दुग्ध, बेसन एवं मधु के साथ गोली बना कर दिया जाता है। इसके कोमल कांड एवं मूल का क्वाथ उदरशूल में दिया जाता है।

मात्रा—दुग्ध १-२ रत्ती।

२८ सातला २ (शिकाकाई)

हिं०-शिकाकाई, सिकाकाई, चिकेकाई ऐला। बं०-बनरीठा। म०-शिकेकाई। गु० चिकाखाई। ता०-शीयक्काय्। ते०-शीकाय। क०-शिगे। ले०-*Acacia concinna DC.* (एकेसिआ कॉन्सिन्ना डीसी.)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

उत्तर भारत तथा हिमालय में उत्पन्न होने वाले वृक्ष गुणों की दृष्टि से दक्षिण में होने वालों की अपेक्षा श्रेष्ठ माने जाते हैं। इसके गुल्म प्रायः कम मिलते हैं किन्तु सभी स्थानों पर पाये जाते हैं।

इसका गुल्म (क्षुप)-बहुत फैला हुआ, अत्यन्त कांटेदार एवं लंबी आरोही शाखाओं से युक्त रहता है। उपशाखायें हल्की श्वेताभ और टेढे, मजबूत कांटो की पांच कतारों से युक्त रहती हैं। पत्ते-पक्षाकार एवं पत्रक खट्टे होते हैं। फूल-मुण्डक (Capitulum) पीताभ श्वेत या गुलाबी रंग के लगभग ½ इञ्च व्यास में होते हैं। फली-३-५ इञ्च लम्बी, १ इञ्च चौड़ी, मोटी, मांसल, चोंचदार एवं बीजों के बीच बीच संधियों पर संकुचित होती है। इसका स्वाद रीठे के समान परन्तु अधिक खट्टा, कम कडवा तथा अधिक तीता रहता है। इसे पानी में भिगोकर मसलने से रीठे के समान झाग निकलता है। सिर के बाल एवं रेशमी वस्त्र धोने के लिये इसका उपयोग करते हैं। इसके पत्र एवं फली का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसकी फली में सॅपोनिन् (Saponin) ११.२%, मॅलिक् एसिड् (Malic acid) १२.७५%, राल १%, ग्लूकोज् १३.९%, गोंद एवं रंजक द्रव्य २१.५%, तन्तु २२% एवं राख ३.७५% रहती है।

गुण और प्रयोग—इसकी फली उत्तेजक, कफघ्न, वामक एवं आनुलोमिक है। इसकी क्रिया रीठा या सेनेगा जैसी होती है। इससे नाडी की गति कम होती है तथा मूत्र की मात्रा बढ़ती है। इसके पत्र खट्टे, रोचक, यकृत् उत्तेजक तथा विरेचन होते हैं। इमली के बदले इनका उपयोग किया जा सकता है।

(२) पुराने कफविकारों में कफ पतला करने के लिये एवं श्वासावरोध कम करने के लिये इसके फलीयों का फांट (१-२०) २ से ४ तोले की मात्रा में देते हैं। इससे पाखाना भी साफ होता है।

(२) कामला में काली मिरिच के साथ इसके पत्तों का उपयोग किया जाता है। इससे विरेचन तथा कभी-कभी वमन भी होता है तथा पित्त का स्राव उचित होने लगता है। यकृत की क्रिया ठीक न होती हो तो भोजन में खटाई के लिये इसके पत्तों का एवं लाल मिर्चा के स्थान पर काली मिरच का उपयोग किया जाता है।

(३) इसके फली के क्वाथ से बाल धोने से जूंए आदि मरती हैं, रूसी नष्ट होती है तथा केशवृद्धि होती है। क्वाथ में बत्ती डुबोकर बच्चों के गुदा में डालने से पाखाना होकर कंडी निकल जाती है।

मात्रा—फली का फांट २-४ तो०। पत्रचूर्ण २-४ माशा।

२९ सप्तला ३ (तितली)

हि०–जायची, तितली। **संथा०**–परवा। **बं०**–छागल पुपटी, जायची। **पं०**–कंगी। **मद्रा०**–तिल्का-काड। **ले०**–*Euphorbia dracunculoides Lam.* (युफोर्बिआ ड्रॅकन्क्युलॉइडिस् लॅम्)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

इसके क्षुप-एकवर्षायु, प्रायः ४–८ इञ्च ऊँचे, चिकने तथा सामान्यतः धूसर वर्ण के होते हैं। इसमें पीताभ क्षीर होता है। शाखायें प्रायः द्विविभक्त क्रम में निकली हुई रहती हैं। पत्ते-अभिमुख (नीचे कुन्तल) अवृन्त, रेखाकार, रेखाकार प्रासवत् या रेखाकार आयताकार और ·७-२ इञ्च लम्बे होते हैं। पुष्प-पुष्पाकार व्यूह एकाकी और द्विविभक्त काण्ड के बीच में होते हैं।

इसे कुछ लोग यवतिक्ता भी मानते हैं क्योंकि जव आदि के साथ खेतों में ही इसके क्षुप अधिकतर पाये जाते हैं। श्रीयुत् ठा. बलवन्त सिंह जी ने इसे सप्तला या शंखिनी होने की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है तथा उनके मत से इसकी सप्तला होने की अधिक सम्भावना है।

वास्तविक सुदाब (Ruta graveolens Linn; Fam. Rutaceae रूटा-ग्रॅविओलेन्स) के स्थान पर कहीं-कहीं पंसारी इसको बेचते हैं जो गलत है।

ग्रामीण इसके बीज तैल को जलाने के काम में लेते हैं। चर्म रोगों में भी यह उपयोगी बतलाया जाता है।

अथ कलिहारी। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

कलिहारी तु हलिनी लाङ्गली शक्रपुष्प्यपि। विशल्याऽग्निशिखाऽनन्ता वह्निवक्त्रा च गर्भनुत्॥
कलिहारी सरा कुष्ठशोफार्शोव्रणशूलजित्॥ ८०॥
सक्षारा श्लेष्मजित्तिक्ता कटुका तुवराऽपि च। तीक्ष्णोष्णा कृमिहृल्लघ्वी पित्तला गर्भपातिनी॥८१॥

कलिहारी के नाम तथा गुण—कलिहारी, हलिनी, लाङ्गली, शक्रपुष्पी, विशल्या, अग्निशिखा, अनन्ता, वह्निवक्त्रा और गर्भनुत ये सब संस्कृत नाम 'कलिहारी' के हैं। कलिहारी-दस्तावर, कुष्ठ, शोथ, बवासीर, व्रण तथा शूल को नष्ट करनेवाली, क्षारगुणयुक्त, कफनाशक तथा तिक्त, कटु और कषायरसयुक्त, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, कृमि को दूर करनेवाली, लघु, पित्तजनक तथा गर्भ को गिरानेवाली होती है ॥ ८०-८१ ॥

३० कलिहारी

हि०-कलिहारी, कलिकारी, करियारी, कलहिंस, कलारी, लांगुली, करिहारी। बं०-विषलांगुली, उलटचण्डाल। म०-कललावी, इंदै, लालि, खड्यानाग, नागकरिआ। गु०-कलगारी, दूधियोवछनाग। क०-लांगुलिक। पं०-मलिम, करियारी। मा०-राजाराड। ते०-अग्निशिखा, अडविनाभी। ता०-कलईपैकिशंगु। मल०-मेशोन्नि। अं०-The glory lily (दि ग्लोरी लिलि), Tiger's claws (टाइगर्स क्लॉज़)। ले०-*Gloriosa superba Linn.* (ग्लोरिओजा सुपर्बा लिन.)। Fam. Liliaceae (लिलीएसी)।

भारत के प्रायः सभी प्रान्तों के जंगल झाड़ियों में आप ही आप उत्पन्न होती है तथा वर्मा एवं लंका में भी पाई जाती है

इसकी लता-मृदु, आरोहणशील और सुन्दर होती है जो झाड़ियों या छोटे वृक्षों के ऊपर चढ़ी हुई पाई जाती है। काण्ड-पतला, कलम जितनी मोटाई का, गोल, मृदु एवं हरे रंग का होता है। यह १॥-२ फीट लम्बी होने पर भूमि की ओर नत हो जाती है किन्तु जब उसे किसी दूसरे वृक्ष का आश्रय मिलता है तब उसके सहारे ८-१० फुट तक ऊँची बढ़ जाती है। यह चौमासे के प्रारंभ में निकलती है और शीतकालके पहले ही सूख जाती है। इसका भौमिक तना हलाकार टेढ़ा, बेलनाकार परन्तु जगह-जगह कुछ संकुचित रहता है। इसीसे प्रतिवर्ष इसकी पुनरुत्पत्ति होती है। पत्ते-विषमवर्ती, ३ से ९ इञ्च तक लम्बे, पौन से एक इञ्च तक चौड़े, प्रायः विनाल, लट्वाकार-भालाकार एवं उनके अग्र सूत्राकार होते हैं जिनसे आश्रय को लपेट कर यह बढ़ती है। वर्षा के अन्त में इसमें फूल आते हैं। फूल-व्यास में ३-४ इञ्च, अधोमुखी और सुन्दर होते हैं। पुष्पनाल-३-६ इञ्च लंबा और उसका अग्र टेढ़ा होता है। पंखुड़ियाँ-६, लहरदार, नीचे आधार की ओर पीताभ, ऊपर नारंगी लाल और अन्त में पूर्णतः लाल होती हैं तथा जैसे-जैसे इनका विकास होता है वैसे-वैसे इनका रंग भी पीत से रक्त होता जाता है। फलियाँ-केराव की फलियों के समान होती हैं। उनमें केराव के आकार के गोल-गोल लाल रङ्ग के बीज होते हैं।

कंदों के भेद से कलिहारी दो प्रकार की मानी जाती है। जिसका कन्द लम्बा, गोल, दो भागों में विभक्त अथवा दो लम्बे टुकड़े समकोण के समान जुड़े हुए होते हैं वह पुरुषजाति और जिसका कन्द गोल, किञ्चित् लम्बा एक ही रहता है वह स्त्री जाति कहलाती है। पुरुषजाति की जड़-फूलने के समय संग्रह करनी चाहिये और स्त्रीजाति का कन्द फलने के बाद संग्रह किया जाता है।

इसके कन्द (भौमिक तना) का व्यवहार किया जाता है। यह श्वेत, मृदु, मांसल और स्वाद में तिक्त होता है। इसकी गणना सप्त उपविषों में की गई है यद्यपि यह साधारण मात्रा में विषैला नहीं है। सुखप्रसव एवं अपरापातन के लिये इसके लेप धारण आदि का विधान है।

लांगली यह नाम कैंवाच के लिये भी आया हुआ है। कुछ लोग भूल से कोस्टस् स्पेसिओसस् (Costus speciosus (Koenn.) Sm.) को लांगली मानते हैं जो वास्तव में केमुक है।

शोधन—इसके कन्द को टुकड़े कर चार-पांच दिन कुछ सैंधव मिश्रित तक्र में भिंगोकर गरम जल से धोकर सुखा लेने से इसका विष कम हो जाता है। प्रतिदिन तक्र नया डालना चाहिये। १ दिन गोमूत्र में भिंगोकर रखने से भी यह शुद्ध हो जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें दो रालें, कषाय द्रव्य, एक कडुआ विषैला क्षाराभ सुपर्बाइन (Superbine) एवं अन्य क्षाराभ ग्लोरिओसाइन (Gloriosine) ये द्रव्य पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह कटु, उष्ण, दीपन, बल्य, वामक, रेचक, पित्तविरेचक, गर्भघातक एवं कृमिघ्न है। इससे आपेक्ष एवं पचननलिका तथा गर्भाशय का दाह होता है। १-२ रत्ती की मात्रा में इससे भूख एवं शक्ति बढ़ती है।

इसका प्रयोग साजाक, त्वग्रोग, बिच्छू एवं सर्पविष, कुष्ठ, अर्श एवं कृमि में किया जाता है। यह गर्भ के लिये हानिप्रद माना जाता है।

(१) इसके कंद को कूट कर जल में बहुत देर तक धोते हैं जिससे नीचे पिष्टवत् पदार्थ जमता है। उसका प्रयोग सोजाक में करते हैं।

(२) इसके कंद को पीसकर शुष्क त्वग्रोगों में एवं बिच्छू आदि के काटने पर करते हैं जिससे वेदना कम होती है।

मात्रा—१-२ रत्ती।

अथ श्वेतरक्तकरवीरौ। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

करवीरः श्वेतपुष्पः शतकुम्भोऽश्वमारकः। द्वितीयो रक्तपुष्पश्च चण्डातो लगुडस्तथा॥ ८२॥
करवीरद्वयं तिक्तं कषायं कटुकञ्च तत्। व्रणलाघवकृन्नेत्रकोपकुष्ठव्रणापहम्॥ ८३॥
वीर्योष्णं कृमिकण्डूघ्नं भक्षितं विषवन्मतम्॥ ८४॥

सफेद और लाल करवीर (कनेर) के नाम तथा गुण—करवीर, श्वेतपुष्प, शतकुम्भ और अश्वमारक ये सब 'सफेद कनेर' के संस्कृत नाम हैं। 'लाल कनेर' के संस्कृतनाम-रक्तपुष्प, चण्डात और लगुड ये सब हैं। दोनों कनेर-तिक्त, कषाय और कटुरसयुक्त, उष्णवीर्य और व्रण में लघुता कारक होते हैं एवम् ये दोनों नेत्रकोप (नेत्रसम्बन्धी रोगविशेष), कुष्ठ, व्रण, कृमि और खुजली को नष्ट करते हैं। यह खा लेने पर विष की भाँति हानिकारक होते हैं॥ ८२-८४॥

नोट—भावप्रकाशकार ने इसके श्वेत एवं रक्त ये दो भेद लिखे हैं। धन्वन्तरीनिघंटु में भी इसके दो भेद मिलते हैं किन्तु राजनिघंटु ने श्वेत, रक्त, पीत एवं कृष्ण ये ४ भेद लिखे हैं। यह अत्यन्त विषैला होने के कारण इसका आंतरिक प्रयोग बहुत कम मिलता है। भावप्रकाश में 'भक्षितं विषवन्मतम्' एवं ध० नि० में 'प्रक्षेपाद्विषमन्यथा' ऐसा लिखने से मालूम होता है कि इसका बाह्य प्रयोग ही अधिक किया जाता था। चरक एवं सुश्रुत में भी कुष्ठ एवं व्रण आदि के लिये इसके प्रयोग मिलते हैं। किन्तु चरक में कुष्ठ के लिये एवं सुश्रुत में अश्मरी और उदर के लिये इसके आन्तरिक प्रयोग भी मिलते हैं।[१] आन्तरिक प्रयोग के समय बहुत सावधानी की आवश्यकता है।

---

१. स्नाने पाने च मतः तथाष्टमश्चाश्वमारस्य (च. चि. अ ७-९५)। दूष्योदीरणं तु प्रत्याख्याय.........शुद्धकोष्ठन्तु मद्येन अश्वमारकगुंजाकाकादनो मूलकल्कं पाययेत् इक्षुकाण्डानि वा (सु. चि. अ. १४-८)। तिलापामार्गकदलीपलाशयववल्कजः। क्षारः पेयोऽविमूत्रेण शर्करानाशनः परः। पाटलाकरवीराणां क्षारमेवं समाचरेत् (सु. चि. अ. ७-२२-२३)।

आधुनिक विद्वानों ने श्वेत, रक्त एवं पीत इन ३ भेदों का ही उल्लेख किया है। कृष्ण करवीर का उल्लेख नहीं मिलता। श्वेत एवं रक्त करवीर का एक ही लेटिन नाम है। केवल पुष्प वर्ण में भिन्नता है। यहाँ पर श्वेत एवं रक्त का एक साथ तथा उसके पश्चात् पीत करवीर का वर्णन किया गया है। चिकित्सा में श्वेत एवं रक्त करवीर का ही अधिक व्यवहार किया जाता है।

३१ कनेर (श्वेत एवं रक्त)

हिं०-कनेर, कनइल, कनैल, करवीर। बं०-कराबी, करवी। म०-कण्हेर। गु०-कणेर, करेण। ता०-अलरी। ते०-कस्तूरिपट्टे, गन्नेस। क०-कणगिलु। मल०-कणावीरम्। संथा०-राजबाहा। पं०-कनिर। अ०-दिफ्ली, सम्मुलहिमार। फा०-खरजह्रा। अं०-Sweet-scented oleander (स्वीट सेंटेड ओलिएण्डर), Rooseberry spurge (रूजबेरी स्पर्ज)। ले०-*Nerium odorum Soland* (नेरियम् ओडोरम् सोलॅड)। Fam. Apocynaceae (एपोसाइनेसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है। दक्षिण एवं उत्तरप्रदेश में यह जंगली होता है। बगीचों में फूलों के लिये यह लगाया हुआ मिलता है।

इसका क्षुप-मजबूत, सदा हरित, सीधी शाखाओं से युक्त एवं प्रायः १० फीट से अधिक ऊँचा नहीं होता। पत्ते-४-६ इञ्च लंबे, करीब १ इञ्च चौड़े, नुकीले एवं एक साथ ३-३ रहते हैं। फूल-सुगन्धयुक्त, श्वेत, रक्त एवं गुलाबी वर्ण के, करीब १½ इञ्च व्यास के एवं व्यस्त छत्राकार (Salver shaped) होते हैं। फली-करीब ५-६ इञ्च लंबी, चिपटी एवं गोलाकार होती है। बीज-भूरे वर्ण के रोमावृत अनेक बीज होते हैं। इसके काण्ड को काटने से दुग्ध बहता है।

इसके सभी भाग विषैले होते हैं। जानवर इसको नहीं खाते। आत्मघात, परहत्या एवं गर्भपात आदि के लिये इसके जड़ को खाते हैं। इसके पुष्प शिवजी को चढ़ाये जाते हैं। इसके मूलत्वक् एवं पत्र का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके मूल में नेरिओडोरिन (Neriodorin) नामक जल में अविलेय तथा नेरिओ डोरेन (Neriodorein) नामक जल में विलेय ये दो कडुवे पदार्थ पाये जाते हैं जो हृदय के लिये अत्यन्त विषैले होते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें उड़नशील तैल, कषायाम्ल, मोम, डिजिटॅलिन के सदृश नेरिन (Neriene) नामक रवेदार पदार्थ एवं रोसेजिनीन (Rosaginine) नामक ग्लुकोसाइड ये पदार्थ पाये जाते हैं। इसके पत्तों में ओलिएण्ड्रिन (Oleandrine) नामक क्षाराभ, सूडोक्युरारीन (Pseudocurarine) नामक ग्लुकोसाइड एवं नेरीन तथा नेरिएण्टाइन (Neriantine) ये द्रव्य पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, चक्षुष्य, ज्वरहर, शोथघ्न, हृदय के लिये घातक एवं कुष्ठ, कण्डू, नेत्रप्रकोप, स्वरोग तथा व्रण के लिये लाभदायक है। यह सब प्राणियों के लिये विषैला है। अल्प मात्रा में इसके मूल की क्रिया हृदय पर पीत कनेर की तरह होती है। मूल तीव्र मूत्रल एवं डिजिटॅलिस् तथा स्ट्रोफॅन्थस् के सदृश हृदय के लिये बलदायक है। पीत कनेर की अपेक्षा यह अधिक तीव्र है। ओलिएण्ड्रिन के सूचिकाभरण से हृदय की गति १०-१२ तक प्रतिमिनट कम हो जाती है जो स्वस्थावस्था में ७२-८० तक रहती है। यदि इसको और देते रहें तो हृदय एवं श्वसन दोनों की क्रिया बन्द हो जाती है। इसका आन्तरिक प्रयोग बहुत सावधानी के साथ करना चाहिये।

(१) अल्प मात्रा में हृद्रोग एवं तज्जन्य जलोदर में इसका बहुत सावधानी के साथ प्रयोग करने से मूत्रोत्सर्ग होकर जलोदर कम होता है। इसे खाली पेट नहीं देना चाहिये। अधिक मात्रा से शीत आकर नाडी की गति बहुत कम हो जाती है, आक्षेप आते हैं एवं हृदय तथा श्वसन क्रिया बन्द पड़ती है।

(२) सर्पदंश में इसकी जड़ की छाल १–२ रत्ती की मात्रा में या १–२ पत्ते थोड़े-थोड़े अन्तर से देते हैं। इतनी अधिक मात्रा से वमन तथा एकाध दो पाखाना हो जाता है। ज्यादा से ज्यादा यह ६ माशे तक दिया जाता है।

(३) इसकी जड़ की छाल एवं पत्तों का बाह्य प्रयोग ही अधिक किया जाता है। त्वग्रोग, व्रणशोथ, कुष्ठ, कण्डु, शुष्क एवं पपड़ी युक्त त्वचा के विकारों में इसके मूल को तैल में पकाकर उस तैल की मालिश करते हैं। शोथ में पत्ते के क्वाथ से सेंकते हैं। व्रण, अर्श, कुष्ठ, दाद तथा चकत्ता आदि पर इसकी जड़ को गोमूत्र में घिसकर लगाने से शोथ एवं पीडा कम होती है। अधिक दीर्घ व्रण में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये अन्यथा इसमें के सत्त्व का शोषण होकर तीव्र विषैले सार्वदैहिक परिणाम हो सकते हैं। उपदंशजन्य व्रण पर इसके मूल को जल में घिसकर लगाने से वेदना कम होती है एवं इसी प्रकार इसके पत्तों के क्वाथ से प्रक्षालन करने से भी लाभ होता है। इसके पंचांग के स्वरस से सिद्ध तैल का व्यवहार पामा, कण्डू आदि त्वचा के रोगों में किया जाता है। नेत्रकोप में कोमल पत्तों को तोड़ने से प्राप्त रस को डालने से लाभ होता है। पलित में इसको दूध में पीसकर लगाने से लाभ होता है।

मात्रा—मूलत्वक चूर्ण $\frac{1}{2}$–१ रत्ती।

३२ कनेर (पीत)

हि०-पीला कनेर। बं०-कल्केफुल, कोलका फूल। म०-पिंवली कण्हेर। गु०-पीली करेण। ता०-पच्चैअलरि। ते०-पच्चागन्नेरु। अं०-Yellow oleander (यलो ओलिएण्डर); Exile Tree (एक्साइल् ट्री); Lucky nut (लकी नट)। ले०-*Thevetia neriifolia Juss.* (थिवेटिआ नेराइफोलिआ जस्.)। Fam. Apocynaceae (एपोसाइनेसी)।

यह प्रायः सभी प्रान्तों में पाया जाता है। उष्ण प्रदेशों में यह अधिक होता है। यह अमेरिका का आदिवासी है परन्तु अब भारत में सर्वत्र फैल गया है। इसके पुष्पों के लिये यह बगीचों में लगाया जाता है।

इसका क्षुप-सदाहरित, सुन्दर एवं करीब १२ फीट ऊँचा होता है। पत्ते-रेखाकार-भालाकार, चमकीले एवं नुकीले होते हैं। फूल-घंटाकृति, पीतवर्ण के, किञ्चित गन्धयुक्त, पाँच दलवाले तथा शाखाओं के अग्र पर होते हैं। फल-गोल, कच्ची अवस्था में हलके हरे रंग का तथा पकने पर भूरे रंग का १$\frac{1}{2}$–२ इञ्च व्यास का होता है जिसके अन्दर एक विशिष्ट त्रिकोणाकृति गुठली होती है। बीज-गुठली के अन्दर हलके पीतवर्ण के २ बीज रहते हैं। इसके प्रत्येक भाग से दुग्ध निकलता है।

इसके बीज अत्यन्त विषैले होते हैं तथा आत्महत्या, परहत्या एवं गर्भपात आदि के लिये प्रयोग किये जाते हैं। जानवरों के लिये भी यह विषैले होते हैं। इसकी छाल का व्यवहार चिकित्सा में किया जाता है। कोमल टहनियों को छाल को खुली हवा में सुखाकर प्रयोग करना चाहिये। सुखाकर रखी हुई छाल कुछ महीनों में निःसत्त्व हो जाती है।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों के गूदे में ५७% तैल पाया जाता है जिससे एक थिवेटीन (Thevetin) नामक रवेदार, श्वेतवर्ण का ग्लूकोसाइड प्राप्त किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें अन्य विषैले तत्त्व भी रहते हैं। इसकी छाल में भी यह पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसका क्षीर दाहजनक तथा तीव्र विषैला है। इसकी छाल कड़वी, भेदन, प्रभावशाली ज्वरघ्न तथा नियतकालिक-ज्वरप्रतिबन्धक है। छाल की मात्रा अधिक होने

से पानी की तरह पतले दस्त एवं वमन होता है। इसके फल से वमन होता है। छाल की क्रिया तीव्र होने के कारण इसको हमेशा कम मात्रा में ही प्रयोग करना चाहिये।

बिल्ली में इसके ग्लूकोसाइड के सूचिकाभरण से देखा गया है कि ·२ ग्राम प्रति कि. ग्राम की मात्रा में देने से वह दो घण्टे के अन्दर मर जाती है। इसका मुख्य विषैला परिणाम हृदय की मांसपेशियों पर होता है।

तीव्र विषैला होने के कारण इसका आन्तरिक प्रयोग बहुत कम किया जाता है।

(१) पार्यायिक ज्वर में इसकी छाल का टिंक्चर (५ मे १) १०, १५ बूँद की मात्रा में दिन में ३ बार दिया जाता है। १ रत्ती इसकी छाल का चूर्ण १५ रत्ती सिंकोना के बराबर गुणकारक होता है। ½ रत्ती घनकाथ देने से ज्वर की पारी नहीं आती। ज्वर आने पर फांट का प्रयोग करते हैं। इसको खाली पेट कभी भी प्रयोग न करें। इससे बहुत पसीना होकर शरीर ठंडा होता है। यदि थकावट हो तो उष्ण दुग्ध एवं थोड़ी अच्छी मदिरा देनी चाहिये।

(२) हृदयरोग तथा हृदयोदर में इसके प्रयोग से हृदय को बल मिलता है जिससे रुधिराभिसरणक्रिया ठीक होने लगती है। वृक्कों में रक्ताभिसरण अधिक होने से मूत्रोत्सर्ग अधिक होकर उदर कम होता है। इसका यह प्रभाव डिजिटॅलिस् तथा इसी प्रकार कार्य करने वाली अन्य औषधियों जैसे कडू (हेलीबोर नाइग्रम्), श्वेत रक्त कनेर एवं जंगली प्याज आदि की तरह होता है। इस प्रकार की औषधियों का मिश्रण करके नहीं देना चाहिये। इनके साथ स्वेदजनन, मूत्रजनन तथा विरेचन द्रव्यों का प्रयोग किया जा सकता है।

मात्रा—टिंक्चर (५ में १) १०-१५ बूँद; घनकाथ ½ रत्ती।

अथ धत्तूरः। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

धत्तूरधूर्त्तधुत्तूरा उन्मत्तः कनकाह्वयः। देवता कितवस्तूरी महामोही शिवप्रियः ॥ ८५॥
मातुलो मदनश्चास्य फले मातुलपुत्रकः। धत्तूरो मदवर्णाग्निवातकृज्ज्वरकुष्ठनुत् ॥ ८६॥
कषायो मधुरस्तिक्तो यूकालिक्षाविनाशकः। उष्णो गुरुर्व्रणश्लेष्मकण्डूकृमिविषापहः ॥ ८७॥

धतूर के नाम तथा गुण—धत्तूर, धूर्त्त, धुत्तूर, उन्मत्त, कनकाह्वय (सुवर्ण वाचक सभी शब्द), देवता, कितव, तूरी, महामोही, शिवप्रिय, मातुल और मदन ये सब इसके संस्कृत नाम हैं। इसके फल को 'मातुलपुत्रक' कहते हैं। धतूरा—मद, वर्ण तथा वातकारक एवं जठराग्निवर्धक, ज्वर-कुष्ठ-नाशक, कषाय, मधुर तथा तिक्तरसयुक्त, जूयें और लीखों को दूर करने वाला, उष्णवीर्य, गुरु तथा व्रण, कफ, खुजली, कृमि एवं विष का नाशक होता है॥ ८५-८७॥

३३ धतूरा

हिं०-धतूर, धतूरा, धातूरा। बं०-धुतुरा, धुत्तूरा। म०-धोत्रा। गु०-धंतूरो, धत्तूरो। पं०-धत्तूर, धत्तूरा। मल०-उन्मं, उन्मत्तं। क०-मदकुणिके। ते०-उम्मेत्त, धुत्तुरम्। ता०-उम्मत्तई। फा०-तातूरह, तातूरा। अ०-जौजमासम, जौजुल्मासेल। अं०-Datura (दतुरा), Thornapple (थार्नेपल्)। Fam. Solanaceae (सोलेनॅसी)।

नोट—राजनिघण्टु ने इसके श्वेत, नील, कृष्ण, रक्त एवं पीत ये पाँच भेद लिखे हैं तथा उनमें से कृष्ण पुष्पवाला अधिक गुणकारी माना है[1]। धन्वन्तरिनिघंटु एवं इसमें इसके भेदों का उल्लेख

१. सितनीलकृष्णलोहितपीतप्रसवाश्च सन्ति धत्तूराः।
सामान्यगुणोपेतास्तेषु गुणाढ्यस्तु कृष्णकुसुमः स्यात्॥

नहीं है। चरक में धुत्तूर का उल्लेख नहीं है किन्तु 'कनक' का उल्लेख आया है[1]। लेकिन टीकाकारों ने कनक के कई अर्थ किये हैं। सुश्रुत ने अलर्कविष में इसका उपयोग लिखा है[2]। यद्यपि तमक श्वास में इसका बहुत उपयोग होता आ रहा है तथापि प्राचीनों ने इसका उल्लेख नहीं किया है।

आधुनिक विद्वानों ने भी इसके कई भेदों का वर्णन किया है। इनके गुणों में विशेष अन्तर नहीं है। पाश्चात्य चिकित्सा में स्ट्रॅमोनिअम् (राजधतूरा) का उपयोग किया जाता है, जिसके बीज काले होते हैं।

यहाँ पर कुछ भेदों का वानस्पतिक वर्णन अलग-अलग किया गया है। किन्तु गुणों में साम्य होने के कारण उनको एक साथ ही लिखा गया है।

(क) ले०-Datura stramonium Linn. (दतूरा स्ट्रॅमोनिअम् लिन.), Datura tatula Linn. (दतूरा टॅट्ुला लिन.), हि०-राजधतूरा।

यह हिमालय के मन्द कटिबन्ध में काश्मीर से लेकर सिक्किम तक ९००० फीट की ऊँचाई तक, मध्य भारत के पहाड़ी प्रदेश, दक्षिणी एवं अन्य प्रान्तों में भी पाया जाता है।

इसका क्षुप-एकवर्षायु तथा करीब २-४ फीट ऊँचा होता है। काण्ड-हरा या जामुनी रंग का काला होता है। पत्ते-अण्डाकार, धार पर लहरदार या गहरे विच्छेदों से युक्त, करीब ७ इञ्च लंबे, ५ इञ्च चौड़े, हलके हरे रंग के, चिकने (कोमल पत्र-लोमयुक्त) तथा पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। इनमें उग्रगन्ध रहती है तथा इनका स्वाद कडवा एवं अरुचिकारक होता है। पुष्प-श्वेत भूरे या कभी-कभी बैंगनी आभायुक्त, दलपत्र करीब ३-६ इञ्च लंबे तथा संख्या में ५ रहते हैं। फल-अण्डाकार, ऊर्ध्वमुख, चार खण्डों से युक्त तथा कठोर, लंबे एवं छोटे कंटकों से ढका हुआ, शीर्ष पर चार फांक में खुलनेवाला एवं इसके आधार पर बाहर और नीचे की ओर मुड़ा हुआ स्थायी प्रवृद्ध बाह्यदल रहता है। बीज-चिपटे, वृक्काकार, करीब ३ मि० मि० लंबे, २ मि० मि० चौड़े, १ मि० मि० मोटे, काले से भूरे रंग के, खुरदरे, स्वाद में कडवे, तैलीय एवं अत्यल्प गन्धवाले रहते हैं।

दतूरा टॅटुला के क्षुप ऊपर के समान ही होते हैं। इसके काण्ड, पर्णवृन्त एवं पत्तों की प्रधान शिराएँ कुछ लालिमा किये हुए होती हैं एवं दलपत्र ताजी अवस्था में बैंगनीपन लिये हुए नीले रंग के तथा सूखने पर बैंगनी आभायुक्त हरे रंग के होते हैं। इसके पत्ते पहले की अपेक्षा कुछ गहरे हरे रंग के होते हैं।

इनके बीज, पुष्पयुक्त अग्रभाग एवं पत्तों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। पाश्चात्य वैद्यक में इसके टिंक्चर एवं शुष्क तथा प्रवाही सत्व का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों एवं पुष्पयुक्त अग्रभाग में क्षाराभ की मात्रा ०·४७-०·६५% होती है जिसमें मुख्यतया हायोसायमीन (Hyoscyamine) एवं अल्पमात्रा में ॲट्रोपीन (Atropine) तथा हायोसीन (Hyoscine) रहते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें क्लोरोजेनिक एसिड (Chlorogenic acid) एवं गहरे रंग का उड़नशील तैल (०·०४५%) पाया जाता है।

इसके बीजों में क्षाराभ की मात्रा ०·१-०·५% (औसतन ०·२%) रहती है जिसमें हायोसायमीन अधिक एवं ॲट्रोपीन तथा हायोसीन अल्प रहते हैं। इसमें १५-३०% स्थिर तैल भी होता है।

---

१. च. चि. अ. ७, अ. २३।

२. श्वेतो पुनर्नवाश्चास्य दद्याद्धत्तूरकायुताम।(सु. क. अ. ७)

(ख) ले०–Datura metel Linn. (दतूरा मेटल् लिन.)। हिं–काला धतूरा।

यह भारतवर्ष के प्रायः सभी मार्गों में परती भूमि में पाया जाता है।

इसका पौधा–वर्षायु, ३–५ फीट ऊँचा एवं चिकना होता है। पत्ते–अंडाकार–भालाकार, कुछ लहरदार, नोकीले, पर्णवृन्त की तरफ असम, कुछ दन्तुर या खण्डित, ऊपर के दोनों पृष्ठों पर चिकने, पतले, अकेले या युग्म जिसमें से एक बड़ा (७–८ इञ्च) एक छोटा एवं प्रायः ४ इञ्च लंबे तथा ३ इञ्च चौड़े होते हैं। पुष्प–सीधे एवं ६·५–७ इञ्च लम्बे होते हैं। आभ्यन्तर दल श्वेत, प्रायः बाहर से नीललोहित एवं अन्दर से पीताभ होते हैं। फल–गोलाकार, लटकते हुये, छोटे काँटों से युक्त, १। इञ्च व्यास के एवं इनका स्फुटन अनियमित होता है। बीज–कर्णाकृति, चिपटे, ४–५ मि० मि० लम्बे, ३–४ मि० मि० चौड़े एवं १ मि० मि० मोटे होते हैं। इनका किनारा लहरदार, मोटा तथा ३ धारियों से युक्त होता है। इनकी बाह्य सतह पीताभ, भूरी तथा गढेदार होती है। इनमें गन्ध नहीं होती तथा इनका स्वाद कड़वा होता है।

(ग) ले०–Datura innoxia Miller (दतूरा इन्नॉक्सिआ मिलर)।

यह यद्यपि मेक्सिको का आदिवासी है तथापि अपने यहाँ भी अब बहुत उत्पन्न होता है।

यह (घ) के समान ही होता है किन्तु यह मृदुरोमश होता है तथा इसके आभ्यन्तर कोश १० कोणों से युक्त होते हैं। इसके फल के काँटे कमजोर होते हैं तथा बीज भूरे रङ्ग के होते हैं।

रासायनिक सङ्गठन—(ख) एवं (ग) के पत्तों में क्षाराभ की मात्रा ०·२५–०·५५% रहती है जिसमें मुख्यतया हायोसायमीन एवं अल्पमात्रा में हायोसीन रहता है।

ख—के बीजों में हायोसीन ०·२% एवं अल्पमात्रा में हायोसायमीन रहता है। इसके अतिरिक्त राल एवं तैल भी इसमें पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—धतूरा के पत्ते एवं बीज वेदनाहर, उद्वेष्टननिरोधी, संज्ञानाशक, कासहर, श्वासहर, नियतकालिकज्वरप्रतिबन्धक एवं शोथहर हैं। धतूरे की क्रिया बेलाडोना (Belladona) की तरह होती है किन्तु श्वासनलिकाओं पर इसकी क्रिया अधिक तीव्र होने के कारण उनका अधिक विस्फार होता है। यह ॲसीटिल्कोलीन् (Acetylcholine) के कार्य को रोकता है जिससे श्वासनलिकाओं में रहने वाले प्राणदा (Vagus) नाड़ी के अग्रों का घात होने से श्वासनलिकाओं का विस्फार होता है। कभी-कभी इससे हृदय की गति में अनियमितता आती है। इससे विबन्ध नहीं होता। अधिक मात्रा में यह अत्यन्त तीव्र विष है। कुछ लोगों में यह उन्मादकारक होने के कारण उनके लिये यह वाजीकर है।

(१) तमक श्वास में उद्वेष्टन रोकने के लिये इसका बहुत प्रयोग किया जाता है। इसके चूर्ण का धूँआ या इसकी बनी सिगरेट का धूम्रपान इसमें लाभदायक होता है। इसका आन्तरिक प्रयोग भी किया जाता है। धूएँ के लिए धतूरा को पत्ती, कलमी सोरा, काले चाय की पत्ती, लोबेलिआ एवं अनीसी का तेल इनसे बना हुआ मिश्रण (पल्व लोबेलिआ कम्पाउण्ड) मिलता है जिसमें से चाय की चम्मच बराबर चूर्ण को कमरे में जलाते हैं।

(२) पारी से आने वाले शीतज्वर में इसके बीज दही के साथ ज्वर आने के पूर्व खिलाते हैं। इससे ज्वरजन्य कष्ट कम होता है।

(३) उदरशूल, पित्ताश्मरीशूल एवं वृक्कशूल आदि में वेदनाहर एवं उद्वेष्टननिरोधीरूप में इसका उपयोग करते हैं।

(४) शोथ पर इसके पत्तों का लेप करने से वेदना एवं शोथ कम होता है। अण्डशोथ, आमवात, सन्धिशोथ, आध्मान, फुफ्फुसावरणशोथ, नाडीशूल एवं गृध्रसी आदि में इसके पत्तों के क्वाथ

से सेंक, पत्तों का बन्धन या इससे सिद्ध तैल की मालिश की जाती है। इसके पत्तों के स्वरस का भी उपयोग किया जाता है। शोथयुक्त अर्श तथा गुदविदार में इसका मलहम उपयोगी है। अनेक चर्मरोगों में तथा वातिकविकारों में इससे सिद्ध तैल का उपयोग किया जाता है। स्तनशोथ पर हरिद्रा के साथ इसका पोल्टिस बाँधने से शोथ एवं दुग्ध कम होता है।

(५) उन्माद, धनुर्वात एवं जलसंत्रास आदि में इसका प्रयोग करते हैं।

शोधन—इसके बीजों को दुग्ध से साथ दोलायन्त्र में शोधन कर लेना आवश्यक है।

विषपरिणाम—इसके बीजों को ठग लोग दूसरों को बेहोश कर लूटने के लिये अन्नादि के साथ मिलाकर खिला दिया करते हैं या इसकी सिगरेट आदि पिला देते हैं। इससे गले में शुष्कता, चक्कर, चेहरा लाल, आँखों की पुतलियों का विकास, उन्माद, प्रलाप, एवं संन्यास ये लक्षण होकर मृत्यु हो सकती है। उन्माद में रोगी काल्पनिक वस्तुओं को पकड़ने जैसी क्रियायें करने लगता है।

विषचिकित्सा—वमन, आमाशयप्रक्षालन, उत्तेजक औषधियों का प्रयोग, शीतल जल से छींटा देना एवं कृत्रिम श्वसन करना चाहिये। प्रलाप अधिक होने पर अफीम का उपयोग किया जा सकता है। शर्करा मिश्रित दुग्ध तथा घृत पिलाना भी हितकर है। बिनौले की गरी को दुग्ध के साथ पीसकर पिलाते हैं। कपास के पंचांग का क्वाथ, चौलाई की जड़, गिलोय, दही, नीबू का रस इनका उपयोग भी किया जाता है।

पाश्चात्य वैद्यक के फाइसोस्टिग्मीन् या पाइलोकार्पीन नाइट्रेट ($\frac{1}{6}$–$\frac{1}{2}$ ग्रेन) इनका प्रयोग बहुत सावधानीपूर्वक किया जा सकता है।

मात्रा—बीजचूर्ण $\frac{1}{2}$–१ रत्ती; पत्रचूर्ण $\frac{1}{2}$–१$\frac{1}{2}$ रत्ती; धूम्रपान के लिये पत्रचूर्ण ५–१५ रत्ती; बीज का टिंक्चर (४ में १) ५–१५ बूँद (५ बूँद से प्रारम्भ करें); टिंक्चर स्ट्रॅमोनिअन् ५–३० बूँद।

अथाटरूषः [अडूसा]। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

वासको वासिका वासा भिषङ्माता च सिंहिका। सिंहास्यो वाजिदन्ता स्यादाटरूषोऽटरूषकः॥
अटरूपो वृषस्ताम्रः सिंहपर्णश्च स स्मृतः। वासको वातकृत्स्वर्यः कफपित्तास्रनाशनः॥८९॥
तिक्तस्तुवरको हृद्यो लघुशीतस्तृडर्त्तिहृत्। श्वासकासज्वरच्छर्दिमेहकुष्ठक्षयापहः॥ ९०॥

अडूसा के नाम तथा गुण—वासक, वासिका, वासा, भिषङ्माता, सिंहिका, सिंहास्य, वाजिदन्ता, आटरूप, अटरूषक, अटरूप, वृष, ताम्र और सिंहपर्ण ये सब संस्कृत नाम अडूसा के हैं। अडूसा–वातकारक, स्वर उत्तम करनेवाला, तिक्त तथा कषाय–रसयुक्त, हृदय को हितकर, लघु और शीतवीर्य होता है। यह–कफ, पित्त, रक्तकोप (या रक्तपित्त), तृषा, श्वास, खांसी, ज्वर, वमन, प्रमेह, कुष्ठ एवं क्षय को दूर करता है॥ ८८–९०॥

नोट—प्राचीन ग्रन्थों में अडूसा एक ही प्रकार का लिखा है। श्री डा. देसाई ने अडूसा, अधाटोडा वासिका (Adhatoda vasica) के अतिरिक्त एक श्वेत (रक्तपुष्प) अडूसा, जस्टिसिआ पिक्टा (Justicia picta) एवं अन्य काला अडूसा (नील निर्गुण्डी), जस्टिसिआ जेण्डारुसा (Justicia gendarussa) इनका वर्णन किया है। केरल देश में अडूसा का अन्य छोटा भेद अधाटोडा बेड्डोमी सी. बी. क्ला. (Adhatoda beddomei C. B. Clarke) का अधिक व्यवहार किया जाता है क्योंकि वह अधिक गुणकारी होता है ऐसा कोट्टयम से प्रकाशित 'आयुर्वेदिक् फ्लोरा मेडिका' में लिखा हुआ है। उसके पुष्प बिलकुल श्वेत होते हैं।

३५ अडूसा

हि०-अडूसा, अडुस, अरुस, वाकस, विसोटा, रूसा, अरुशा। बं०-बासक, बाकस। म०-अडुलसा। मा०-अडुसो। गु०-अरडुसो (सी)। क०-आडुसोगे। ते०-आडा सारं, अडुसरमु। मल०-वलिय आटलोटकम्। ता० अटतोटै। पं०-भेकर। फा०-बाँसः, खाजा। अ० इशीशतुरसुआल। अं०-Malabar nut (मलाबारनट)। ले०-*Adhatoda vasica, Nees.* (अधाटोडा वासिका नीज) Fam. Acanthaceae (एकॅन्थेसी)।

यह भारतवर्ष के प्रायः सब प्रान्तों में एवं हिमालय के निचले भागों में ४००० फीट की ऊंचाई तक उत्पन्न होता है।

इसका क्षुप-सदाहरित, झाड़ीदार, दुर्गन्धयुक्त, ३-८ फीट ऊँचा एवं प्रायः समूहबद्ध होकर उगता है। काण्ड की गाँठें फूली हुई रहती हैं। पत्ते-५-८ इञ्च लम्बे, १॥-२॥ इञ्च चौड़े, भालाकार या अण्डाकार, दोनों सिरों पर नोकीले, अखण्ड, अत्यन्त सूक्ष्म मृदुरोमश, विशेषकर नये पत्ते एवं ½-१ इञ्च लम्बे पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प-श्वेत, विनाल, द्वयोष्ठी एवं १.२ इञ्च लम्बे होते हैं तथा १-३ इञ्च लम्बी मञ्जरियों में पाये जाते हैं जो उपशाखाओं के अग्र पर प्रायः समूहबद्ध रहती हैं। पुष्पों पर २ टेढ़ी बैंगनी धारियाँ होती हैं। इसमें बड़े बड़े कोणपुष्पक और वृन्तपत्र भी रहते हैं। फली-पौन इञ्च लम्बी, तिहाई इञ्च चौड़ी, मुद्गराकार, लम्बाई में धारीदार मृदुरोमश एवं ४ छोटे बीजों से युक्त होती है। इसके पत्तों से एक प्रकार का पीला रंग निकलता है। इसके पत्र, पुष्प एवं मूलत्वक् का व्यवहार चिकित्सा में किया जाता है। मूलत्वक् पुराने क्षुप की लेनी चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में एक कड़ुवा रवेदार क्षाराभ वॅसिसिन (Vasicine, $C_{11}H_{12}N_2O$) करीब ·२५%, अधाटोडिक एसिड, उड़नशील तैल, वसा, राल, शर्करा, गोंद एवं पीत रंजक द्रव्य ये पाये जाते हैं। मूलत्वक् में भी क्षाराभ की करीब इतनी ही मात्रा होती है। यह क्षाराभ मद्यसार में घुलनशील, शीत जल में अल्प एवं उष्ण जल में अधिक घुलनशील होता है। यह क्षाराभ हरमल (Peganum harmala) में पाये जाने वाले पेगॅनीन (Peganine) के सदृश होता है।

गुण और प्रयोग—अडूसा उत्तेजक, कफनिःसारक, शीतवीर्य, उद्वेष्टननिरोधी, स्वर्य, कृमिघ्न, कुष्ठहर, रक्तपित्तघ्न, श्वासहर, कासहर एवं क्षयघ्न है। इसके पुष्प तिक्त, कटु, ज्वरघ्न, मूत्रजनन, उद्वेष्टननिरोधी एवं शीतल हैं। इसकी मूलत्वक् ज्वरघ्न, मूत्रजनन, कफनिःसारक, नियतकालिक-ज्वरहर, कृमिघ्न एवं शोथप्रशमन है। उद्वेष्टननिरोधी गुण मूल एवं पत्र की अपेक्षा पुष्पों में एवं कफनिःसारक गुण पत्तों की अपेक्षा मूल में अधिक रहता है। पत्र स्वेदजनन हैं। इसका प्रधान गुण कफ को पतला करना एवं आसानी से बाहर निकालना है। अधिक मात्रा में इससे वमन एवं विरेचन होता है।

इसमें के क्षाराभ वासिसिन को जानवरों में शिरान्तर्गत सूचिकाभरण से देखा गया कि रक्तसंवहन एवं महास्रोत पर इसका कोई प्रभाव नहीं होता। इससे श्वासनलिकाओं में अल्प किन्तु स्थायी विस्फार होता है जो ॲट्रोपीन साथ में देने से अधिक हो जाता है। इसमें का कफनिःसारक गुण सम्भवतः मुख्यतया इसमें के उड़नशील तैल के कारण है।

इसके पत्ते निम्न श्रेणी के जलाश्रयी जीव, वुरा, पराश्रयो जीवाणु, मच्छर, मक्खी एवं गोबर आदि के लिये विषैले माने जाते हैं।

(१) कफविकारों में इसका बहुत प्रयोग करते हैं। नवीन श्वसनीशोथ में इससे आराम मिलता है विशेषकर जब कफ गाढा तथा चिपचिपा होता है। जीर्ण श्वसनीशोथ में इससे खांसी में आराम मिलता है तथा कफ ढीला होकर आसानी से बाहर निकल जाता है। कफयुक्त प्रलेपक ज्वर में इसका बहुत उपयोग करते हैं। इनमें इसके पुटपाक करके निकाले स्वरस को ½–१½ तो० की मात्रा में आर्द्रकस्वरस या छोटी पीपल, कुछ सैंधव एवं मधु के साथ देते हैं। श्वास, कास एवं रक्तपित्त में अडूसा, द्राक्षा एवं हर्रा इनका क्वाथ मधु एवं शर्करा के साथ उपयोगी है। नये श्वसनीशोथ में कण्टकारी, जवासा, नागरमोथा, सोंठ एवं अडूसा इनका क्वाथ उपयोगी है। बच्चों के कफविकारों में इसके स्वरस के साथ टंकण देते हैं। वासावलेह का भी अच्छा उपयोग होता है।

(२) राजयक्ष्मा में हाथ-पैर आदि में जलन, ज्वर एवं ऊर्ध्वग रक्तपित्त होने पर वासाघृत (च. चि. अ. ८) का उपयोग किया जाता है। इसमें पत्रस्वरस, वंशलोचन, तालीसपत्र, कोहडे का रस एवं मधु भी दिया जाता है। नवीन प्रयोगों से देखा गया है कि राजयक्ष्मा में इसका कोई प्रभाव नहीं है। केवल इससे वातनाडियों पर शामक प्रभाव के कारण एवं कफ के पतला होने से खाँसी में आराम मिलता है।

(३) तमकश्वास में इसके पत्तों का धूम्रपान लाभदायक है। इसके साथ धतूरे के पत्र का उपयोग करने से जल्दी गुण होता है। इसका आंतरिक प्रयोग भी किया जाता है। इससे सिद्ध घृत का प्रयोग करते हैं। यह तमकश्वास के आवेग को बन्द करने में समर्थ नहीं है।

(४) रक्तपित्त में इसका स्वरस मधु के साथ देते हैं। इसके फूलों के गुलकंद तथा पत्रचूर्ण का भी उपयोग किया जाता है। वासाघृत (च. चि. अ. ४) मधु के साथ सेवन करने से रक्तपित्त जल्दी रुकता है।

(५) मलेरिया में इसके पत्तों के चूर्ण या मूलत्वक्चूर्ण का उपयोग करते हैं।

(६) आध्मान, अतिसार एवं प्रवाहिका में इसका स्वरस दिया जाता है। इससे आंत्रस्थ जीवाणुओं का नाश होता है एवं अन्न का सड़न रुकता है।

(७) आमवातिक संधिशोथ, शोथ एवं नाडीशूल आदि में पत्तों का पोल्टिस लगाया जाता है।

(८) त्वचा के रोगों में इसका रस पिलाते हैं तथा इसके पत्तों का लेप एवं क्वाथ से स्नान आदि कराते हैं।

(९) जंतुघ्न होने के कारण इसके पत्तों को जल में रखने पर जल खराब नहीं होता। इसके पत्तों में फल बांध कर रखने से फल सड़ता नहीं। इसका मद्यसारीय अर्क मक्खी, पिस्सू एवं मच्छर आदि के लिये घातक होता है। खेत में इसके पत्तों का खाद देने से इनमें रोग नहीं होते। ऊनी कपड़ों में इसके पत्ते रखने से कीड़े नहीं लगते।

मात्रा—पत्रचूर्ण १–२ माशा, स्वरस ½–१½ तोला, मूलत्वक् ४ र०–१ माशा, पुष्प ५-१० र० क्वाथ १–२ तो०।

३५ रक्तपुष्प अडूसा

ले०–*Justicia picta Linn.* (जस्टिसिआ पिक्टा लिन)। Fam. Acanthaceae (एकॅन्थेसी)।

यह बागों में लगाया हुआ मिलता है। इसके क्षुप बड़े होते हैं। इसके पत्ते दीर्घवृत्ताकार, ३–८ इञ्च बड़े, गहरे हरे रंग के एवं इन पर सफेद छींटे रहते हैं। इसके काण्ड की गांठें फूली हुई और रक्ताभ होती हैं। इसमें गहरे लाल वर्ण के पुष्प आते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके गुण अडूसा के समान ही होते हैं किन्तु इसमें स्नेहन एवं शोथघ्न ये गुण अधिक हैं। बच्चों के गले में जब कफ से घुरघुराहट होती है तब इसके पत्तों का पुटपाक करके निकाला स्वरस एवं टंकणक्षार देते हैं। इसको मधु एवं छोटी पीपल के साथ भी दिया जाता है। दुग्ध के कारण स्तन में शोथ होने पर या अन्य स्थान में शोथ होने पर इसके पत्तों को नारियल के रस में पीसकर बांधने से सूजन कम होती है।

मात्रा—बच्चों में १०–२० बूँद स्वरस मधु एवं छोटी पीपल के साथ।

३६ काला अडूसा

सं०-नीलनिर्गुण्डी ? **हिं०**-काला अडूसा, नील निर्गुण्डी। **बं०**-जगतमदन, मामलक। **म०**-काला अडूलसा, कालोशंबालू। **बंब०**-वाकस। **ता०, मल०**-करुनोचचि। **ते०**-नल्लनोचिलि। **ले०**-*Justicia gendarussa Burm.* (जस्टिसिआ जेन्डारुसा बर्म)। Fam. Acanthaceae (एकॅन्थेसी)।

इसके क्षुप बागों में रास्ते के किनारों पर लगाये जाते हैं।

इसके **क्षुप**-२–४ फीट ऊँचे होते हैं। **काण्ड**-कभी कभी धारीदार होते हैं। **पत्ते**-३–५ इञ्च लम्बे, प्रासवत् या रेखाकार प्रासवत्, चिकने एवं $\frac{1}{4}$ इञ्च लम्बे पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। **पुष्प**-बरसात में श्वेतवर्ण के पुष्प अवृन्त काण्डज क्रम में निकले रहते हैं। पुष्पों के अन्दर जामुनी रंग के चिह्न रहते हैं। **बीजकोष** $\frac{1}{2}$ इञ्च, सूक्ष्म, लोमयुक्त तथा ४ बीजों से युक्त होता है। इसके पत्तों में मनोहर गन्ध आती है। इसके पत्तों का स्वरस चिकित्सा में उपयोग में लाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, ज्वरघ्न, कफनिःसारक, वामक एवं रेचन है। यह वनस्पति अत्यन्त तीव्र होती है इसलिये बाल एवं वृद्ध में इसका उपयोग नहीं करना चाहिये। इससे वमन एवं विरेचन होने लगता है। इसके प्रयोग के समय चावल की मांड़ घृत डालकर देनी चाहिये।

(१) फुफ्फुस के विकारों में इसका प्रयोग करते हैं। तीव्र कफविकारों में इसके २–४ पत्ते एवं अपामार्ग की राख $\frac{1}{2}$ तो०, एक तोला मधु के साथ देते हैं। न्युमोनिया (Pneumonia) में चार पत्तों का रस, सहेजन की छाल का रस एवं सामुद्र नमक मधु के साथ देते हैं।

(२) ज्वर एवं आमवात में इससे पसीना निकलता है। आमवात में इसके पत्तों के क्वाथ से सेकने से आराम मिलता है।

(३) इसका रस सरसों के तेल के साथ पिलाने से वमन होता है।

(४) इसके रस को तैल में मिलाकर गांठों पर लगाया जाता है।

अथ पर्पटः [पित्तपापडा]। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

पर्पटो वरतिक्तश्च स्मृतः पर्पटकश्च सः। कथितः पांशुपर्यायस्तथा कवचनामकः॥ ९१॥
पर्पटो हन्ति पित्तास्रभ्रमतृष्णाकफज्वरान्। संग्राही शीतलस्तिक्तो दाहनुद्वातलो लघुः॥ ९२॥

पित्तपापड़ा के नाम तथा गुण—पर्पट, वरतिक्त, पर्पटक, पांशुपर्याय ('पांशु' वाचक सभी शब्द इसके पर्यायवाची हैं) एवं कवचनामक ('कवच'वाची सभी शब्द इसके पर्यायवाचक हैं) ये सब संस्कृत नाम 'पित्तपापड़ा' के हैं। पित्तपापड़ा-संग्राही, शीतवीर्य, तिक्तरसयुक्त, दाह को दूर करने वाला, वातकारक और लघु होता है एवं यह पित्त, रक्तदोष, भ्रमरोग, तृषा, कफ और ज्वर इन सबों को नष्ट करता है॥ ९१–९२॥

नोट—पित्तपापड़ा के नाम से विभिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न वर्गों की वनस्पतियों का एवं उनके उपभेदों का उपयोग किया जाता है इस कारण इसके लेटिन नामों में पर्याप्त विभिन्नता पाई जाती है। जिन द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है उनमें उपर्युक्त शास्त्रीय गुणों में से कुछ न कुछ पाये जाते हैं। अन्य निघण्टुओं में भी उपर्युक्त प्रकार के ही गुण लिखे हैं। चरक में तृष्णानिग्रहण गण में इसका पाठ है एवं रक्तपित्त, ज्वर, कुष्ठ, संग्रहणी, पांडु एवं अतिसार आदि में इसका उपयोग किया गया है।

विभिन्न ग्रन्थों में निम्नलिखित विभिन्न वनस्पतियों का पर्पट नाम से उल्लेख है :—

(१) Oldenlandia corymbosa, Linn. Fam. ; Rubiaceae (ओल्डेन्लेण्डिआ कोरिम्बोसा, लिन. रुबिएसी), बं०-खेतपापड़ा।

इसका बंगाल में अधिक व्यवहार किया जाता है। श्रीयुत यादवजी ने अपनी पुस्तक में जो नव्य मत दिया है उसे श्री डॉ० देसाई ने इसी वर्ग के हेडिओटिस् बाइफ्लोरा (Hedyotis biflora) के अन्तर्गत किया है। लेकिन डॉ० देसाई ने इसका बंगाली नाम खेतपापरा ही लिखा है। श्री डॉ० चोप्रा ने खेतपापरा का नाम ओ० बाइफ्लोरा, लिन. (O. biflora, Linn.) लिखा है। श्री बापालालजी की पुस्तक में हे० बर्मानिआना (H. burmanniana) का भी उल्लेख है। इन उपर्युक्त नामों से ऐसा मालूम होता है कि ये या तो एक दूसरे के पर्याय हों या एक ही वनस्पति के उपभेदों में से हों।

(२) Fumaria indica, Pugsley; Fam. Fumariaceae (फ्युमेरिया इण्डिका, पग्स्ले, फ्युमेरिएसी), हिं-शाहतराभेद—यह शाहतरा, फ्यु० ऑफिसिनॅलिस् (Fumaria officinalis) का भेद है। इन दोनों का व्यवहार पंजाब, सिंध, राजपुताना, उत्तरप्रदेश और बिहार के वैद्य पर्पट नाम से करते हैं ऐसा श्री यादवजी ने लिखा है।

(३) Polycarpea corymbosa, Lam. ; Fam. Caryophyllaceae (पॉलिकार्पिआ कोरिम्बोसा, लॅम् , कॅरियोफाइलेसी)। श्री ठा० बलवन्तसिंहजी लिखते हैं कि उत्तरप्रदेश में अनेक स्थानों पर पर्पट के नाम से इसका व्यवहार किया जाता है।

(४) (क) Justicia procumbens, Linn. ; Fam. Acanthaceae (जस्टिसिआ प्रोकम्बेन्स, लिन, एकेन्थेसी)। बम्ब०-घांटी पित्तपापडा। इसे श्री डा. चोपरा ने नं० २ का प्रतिनिधि लिखा है। कुछ लोगों ने ज. डिफ्यूजा विल्ड (J. diffusa Wild) को घांटी पित्तपापड़ा माना है।

(ख) Rungia repens, Nees. ; Fam. Acanthaceae (रंजिआ रिपेन्स, नीज; एकन्थेसी)। श्री यादवजी ने लिखा है कि गुजरात के वैद्य 'खडसलियो' नाम से इसका व्यवहार करते हैं। श्री बापालालजी ने नं० ४ (क) को 'खडसलीयो पीतपापडो' लिखा है।

(ग) Rungia parviflora, Nees. (रंजिआ पार्विफ्लोरा, नीज.)—इसका भी 'खडसलीयो' नाम से व्यवहार किया जाता है।

(घ) Peristrophe bicalyculata Nees. ; Fam. Acanthaceae (पेरिस्ट्रोफ बाइकॅलिकुलेटा. नीज. एकेन्थेसी)। श्री डा० सखाराम अर्जुन ने 'बाम्बेड्रग्स' पुस्तक में इसका 'घाटीपित्तपापड़ा, नाम से उल्लेख किया है। इसका विशेष वर्णन आगे काकजंघा के अन्तर्गत किया गया है।

(५) Glossocardia linearifolia, Cass. ; Fam. Compositae (ग्लॉसोकार्डिआ लिनिएरिफोलिआ, कॅस; कॉम्पोझिटी)। श्री डा० देसाई ने इसका 'पूना' का नाम पित्तपापडा दिया है तथा अन्य प्रान्तों में भी कहीं-कहीं इसका पित्तपापड़ा के स्थान पर व्यवहार किया जाता है।

(६) Mollugo stricta, Linn.; Fam. Ficoidaceae (मोल्युगो स्ट्रिक्टा, लिन.; फिकोइडीसी)। श्री डॉ० देसाई ने इसका संस्कृत नाम 'पर्पटका' लिखा है।

३७ पर्पट (१)

सं०-क्षेत्रपर्पट, पर्पट। हिं०-दमनपापड़ा। बं०-खेतपापड़ा। म०-परिपाठ, पाप्टी। गु०-परपट। ता०-पर्पदागम। ते०-वेरिनेल्लावेमु। गोआ-पोपटो, कझुरी। ले०-*Oldenanldia corymbosa Linn.* (ओल्डेन्लेण्डिआ कोरिम्बोसा लिन.); Fam. Rubiaceae (रुबिएसी)।

यह भारतवर्ष के प्रायः सभी भागों में ६००० फीट की ऊँचाई तक होता है। इसके क्षुप गीले स्थानों एवं सूखे धान के खेतों में पाये जाते हैं।

इसका क्षुप-वर्षायु, ३-१५ इञ्च ऊँचा, अनेक शाखाओंवाला, प्रसरणशील, प्रायः चिकना या कभी-कभी मृदुरोमश होता है। पत्ते-रेखाकार, रेखाकार-भालाकार या पतले लम्बे परन्तु अण्डाकार प्रासवत् एवं ·५-२ इञ्च लम्बे होते हैं। पुष्प-सूक्ष्म, प्रायः दो-दो एक साथ और सफेद होते हैं। फली-गोलाकार एवं चिकनी होती है। बीज-हलके भूरे रंग के एवं कोणयुक्त होते हैं। इसके तथा इसके अन्य उपभेदों के ताजे अथवा सुखाये हुये पौधे का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। बंगाल के वैद्य पर्पट के नाम से इसका प्रयोग करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके पंचांग में दो समान प्रकार के क्षाराभ बाइफ्लोरीन एवं बाइफ्लोरोन (Biflorine and Biflorone) तथा एक रंजित द्रव्य ये पदार्थ पाये जाते हैं। क्षाराभ की मात्रा शुष्क पौधे के वजन के अनुपात में ०·१२% तक रहती है। इसकी राख में सोडियम्, पोटेशियम् एवं कॅल्शियम् के क्षार विशेषकर क्लोराइड पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—खेतपापड़ा, शीतल, ज्वरघ्न, दाहशामक, कफघ्न, तिक्तपौष्टिक एवं अल्प स्तम्भन है। इसका उपयोग ज्वर, यकृद्विकार, कामला एवं कृमि में किया जाता है।

(१) पित्त तथा वातप्रधान ज्वर में इसका बहुत उपयोग किया जाता है। अर्धविसर्गी ज्वर एवं जीर्ण मलेरिया में इसका क्वाथ दिया जाता है। इससे शरीर का दाह, तृष्णा, आमाशयिक प्रक्षोभ, भ्रम एवं सुस्ती आदि दूर होती है तथा पसीना एवं पेशाब अधिक होती है। पित्तज्वर में इसके साथ 'शाहतराभेद' का उपयोग करते हैं। सन्ततज्वर में वमन, विरेचन, भ्रम एवं शरीर में शिथिलता आदि लक्षण होने पर इसके साथ हंसराज, ब्राह्मी, चन्दन, खस, नागरमोथा, गुडुच एवं हरी चाय का क्वाथ बनाकर पिलाते हैं। खेतपापड़ा, गुडुच, नागरमोथा, चिरायता एवं घोडवच इनका पंचभद्र नामक क्वाथ सब प्रकार के ज्वरों में दिया जाता है। दाहशान्ति के लिये चन्दन एवं इसका लेप किया जाता है। इसके स्वरस को हाथ-पैर की जलन में लगाते हैं।

(२) क्षेत्रपर्पट, रोमान्तिका (Measles) के लिए बिलकुल निश्चित औषध मानी जाती है।

(३) गले एवं श्वासनलिका की सूजन में इसके धूम्रपान से कफ ढीला होकर शीघ्र गिरने लगता है। तमकश्वास में छोटी पीपल, मुलेठी एवं क्षेत्रपर्पट मधु के साथ देते हैं तथा इससे थोड़ा धूम्रपान भी कराते हैं।

मात्रा—२ से ८ माशा।

३८ पर्पट (२)

हिं०-शाहतराभेद, पित्तपापड़ा, धमगजरा। ब०-बनशुल्फा। म०-पित्तपापड़ा, शातरा। गु०-पित्तपापड़ा। ता०-तुरा। ते०-चाटराशि। अ०-शाहतरज। फा०-शाहतर। ले०-*Fumaria indica* Pugsley (फ्युमेरिआ इण्डिका, पग्स्ले); Fam. Fumariaceae (फ्युमॅरिएसी)।

यह पंजाब दिल्ली, चित्तौड़ एवं खानदेश तथा अन्य सभी प्रान्तों में गेहूँ के खेतों में जाड़े के दिनों में पाया जाता है।

इसका क्षुप-(क्षुद्र वनस्पति) अनेक शाखाओं वाला स्वावलम्बी या प्रसरणशील एवं ½-१ फूट ऊँचा होता है। पत्ते-गाजर के पत्ते के समान बहु विभक्त होते हैं। **पुष्प**-श्वेताभ या गुलाबीलाल, सिरे पर जामुनी रंग के और ·२-·३ इञ्च लम्बे होते हैं। पुष्प के बाह्यदल दो, आभ्यन्तर दल २-२, और इनमें बाहरवाले नीचे की ओर चोंचदार, भीतर के दोनों ऊपर की ओर संयुक्त, पुंकेशर ६, तीन-तीन एक साथ मिले हुए रहते हैं। फल-गोलाकार और बीज छोटे होते हैं। इसके पंचांग का उपयोग किया जाता है। शाहतरा-नामक फारस से आने वाला द्रव्य इसी की दूसरी जाति फ्यु० ऑफिसिनॅलिस् लिन (F. officinalis Linn.) से प्राप्त होता है। यह स्वाद में कडुआ, कुछ तीता एवं कषाय रहता है। भारतीय की अपेक्षा फारसी शाहतरा अधिक गुणकारी होता है तथा उसी का अधिक प्रयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—शाहतरा में फ्युमॅरिक् ॲसिड (Fumaric acid) एवं फ्युमेरिन (Fumarine) नामक एक क्षाराभ रहता है। क्षाराभ की मात्रा ६% तक रहती है जिस पर इसके गुण निर्भर हैं।

गुण और प्रयोग—शाहतरा स्वेदजनन, मूत्रल, स्रंसन एवं तिक्तपौष्टिक है। इसकी क्रिया 'चांटीपित्तपापडा' के समान होता है किन्तु उससे यह अधिक लाभदायक है।

इसके पंचांग के क्वाथ का उपयोग ज्वर, प्रतिश्याय, रक्तविकार, गंडमाला, राजयक्ष्मा दण्डाणुजन्य त्वचा के विकार, यकृतपीडा, कुष्ठ, उपदंश एवं अन्य त्वचा के विकारों में किया जाता है। कफज्वर में गोल मिरिच के साथ इसका क्वाथ देते हैं। पित्तज्वर में इसका क्वाथ बहुत ही लाभदायक है। प्रतिश्याय आदि में इसका बहुत व्यवहार करते हैं। इससे पसीना होता है, पेशाव अधिक होता है शरीरपीडा कम होती है एवं पाखाना साफ होता है। इसके लिये २½ तोला शाहतरा, बनफशाह ½ तोला, मिरिच एवं सोंठ ¼ तोला, मुनक्का १ तोला एवं जल १ सेर इनका चतुर्थांश क्वाथ बनाकर ५ तोला दिन में ३-४ बार देते हैं। आंत्रशैथिल्य से उत्पन्न कुपचन में शाहतरा लाभदायक है।

मात्रा—क्वाथ २½ से ५ तोला; चूर्ण २ से ७ माशा।

३९ पर्पट (३)

हिं०-पित्तपापडा प्रतिनिधि। **गु०**-झीणा पाननो ओखराड़। **ता०**-निलैसेदचि। **ले०**-*Polycarpea corymbosa Lam.* (पॉलिकार्पिआ कोरिम्बोसा लॅम्)। Fam. Caryophyllaceae (कॅरियोफाइलेसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है। उत्तरप्रदेश में पूर्वी जिलों में क्वार-कार्तिक महीने में प्रायः बाजरे के खेतों में इसके पौधे उगे हुए मिलते हैं और ग्रामीण पित्तप्रकोप की शान्ति के लिये इसका पित्तपापडा के नाम से व्यवहार करते हैं। उत्तरप्रदेश में अनेक स्थानों पर पर्पट के नाम से इसका व्यवहार किया जाता है। छोटा नागपूर तथा सोन के आसपास पथरीली एवं बलुई जमीन में यह पाया जाता है।

इसका क्षुप-अनेक शाखाओं से युक्त ३-६ इञ्च ऊँचा एवं कभी १२ इञ्च ऊँचा होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें साबुनसत्त्व पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसका उपयोग सर्पादि के दंश में विषनिवारण के लिये बाह्याभ्यन्तर करते हैं। इसके पत्तों को पीसकर, व्रण, व्रणशोथ एवं फोड़े आदि पर बाँधते हैं। इसके पत्तों का स्वरस राब के साथ कामला में पिलाया जाता है।

मात्रा—१-३ माशा।

४० पर्पट (४)

म०-घांटी पित्तपापड़ा। ता०-नेरिपुट्टी। ले०-*Justicia procumbens Linn.* (जस्टिसिआ प्रोकम्बेन्स लिन.)। Fam. Acanthaceae (एकॅन्थेसी)।

यह दक्षिण में बरसात के दिनों में अधिक होता है।

इसका क्षुप-करीब ९-१० इञ्च ऊँचा होता है। इसके पत्ते-$\frac{3}{4}$-१$\frac{1}{2}$ इञ्च लम्बे, $\frac{1}{4}$-$\frac{3}{4}$ इञ्च चौडे तथा सूक्ष्मरोमावृत होते हैं। फूल—छोटे तथा हलके जामुनी रंग के होते हैं। पुष्पित होने पर इनको उखाड़ कर सुखाकर रखना चाहिये। इसकी गंध हृल्लासकारक होती है। इसी वर्ग के अन्य क्षुपों का भी पर्पट नाम से कहीं-कहीं व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक कडुआ क्षाराभ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह मूत्रल, मृदुविरेचक एवं स्वेदकारक है। कडुए पदार्थों के साथ इसका क्वाथ पित्तज्वर में देने से पसीना होता है, दाह कम होता है, पेशाब अधिक होता है एवं एक दो पाखाना होकर यकृत्शोथ एवं यकृतपीडा कम होती है। नेत्राभिष्यन्द में इसके पत्रस्वरस को डालने से लाभ होता है। इसका शाहतरा के स्थान पर प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—१-३ माशा।

J. diffusa Willd. (ज. डिफ्यूजा विल्ड.) के मूल का उपयोग मुंडा जाति के लोग पागलपन में करते हैं। यह रांची, सरकार तथा डेक्कन में होता है।

४१ पर्पट (५)

हिं०-सेरी, दांतरीसा। बम्ब०-फत्तरसुबा। पूना-पित्तपापड़ा। ते०-परपलकम्। ले०-*Glossocardia linearifolia Cass.* (ग्लॉसोकार्डिआ लिनिएरिफोलिआ कॅस्.)। Fam. Compositae (कॉम्पोझिटी)।

यह मध्यभारत, दक्षिण तथा अन्य प्रान्तों में प्रायः चट्टानों के ऊपर पाया जाता है।

इसका क्षुप-छोटा, सुन्दर, गंधयुक्त, १-६ इञ्च या कभी-कभी १० इञ्च तक ऊँचा, चिकना तथा अनेक शाखाओं वाला होता है। पत्ते-१-२ बार पक्षवत्-खण्डित, एकान्तर और खण्ड रेखाकार होते हैं। पुष्प-छोटे तथा पीले रंग के मुण्डकों (Capitulum) में आते हैं। प्रान्तीय जिह्वाकार पुष्प, स्त्रीपुष्प और प्रायः अकेला रहता है। केन्द्रीय पुष्प उभयलिंग, संख्या में कम और नालाकार होते हैं। अधःपत्रावलि (Involucre) के पत्र बाहर की ओर प्रायः संख्या में तीन और छोटे तथा भीतर के आयताकार, बड़े और धार पर झिल्ली सदृश होते हैं। इसका स्वाद कडुआ एवं गन्ध साधारण सोवा जैसी होती है। इसके पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके मूल में उड़नशील तैल तथा पत्र, पुष्प एवं काण्ड में एक क्षाराभ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह स्वेदजनन, ज्वरघ्न एवं गर्भाशयसंकोचक है। इसके गुण पित्तपापड़ा जैसे ही होते हैं किन्तु इसकी क्रिया यकृत् की अपेक्षा गर्भाशय पर अधिक होती है। इसका क्वाथ अन्य सुगंधि पदार्थों के साथ अनार्तव एवं पीडितार्तव में दिया जाता है। दाँतों से रक्तस्राव होने पर या दन्तकृमि में इसका उपयोग किया जाता है।

मात्रा—१-२ माशा।

४२ पर्पट (६)

सं०-पर्पटका। हिं०-तपझाड। बं०-जोलपप्र। बम्ब०-खरस। ले०-*Mollugo stricta Linn.* (मोल्युगो स्ट्रिक्टा लिन.)। Fam. Ficoidaceae (फिकोइडिसी)।

यह प्रायः सब जगह ऊसर या जोताऊ भूमि में होता है।

इसका क्षुप-(क्षुद्र वनस्पति) ३-१० इञ्च ऊँचा होता है। शाखायें-अनेक, पतली, नालीदार या कोणयुक्त होती हैं। पत्ते-अभिमुख या चक्राभास क्रम में निकले हुये, .५-१.७ इञ्च लम्बे तथा प्रायः मांसल होते हैं। पुष्प-सूक्ष्म, हरित या श्वेत होतें हैं। फल-आयताकार और तीन पक्षवाला होता है। इसका स्वाद कड़वा होता है। इसका साग बनाकर खाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह दीपन, आनुलोमिक, विषमज्वरहर एवं आर्तवजनन है। प्रसूता को इसकी साग खिलाई जाती है। इससे भूख बढ़ती है, पाखाना साफ होता है तथा आर्तवशुद्धि होती है। विषमज्वर में भी इसे खिलाते हैं।

अथ निम्बः। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

निम्बः स्यात्पिचुमर्दश्च पिचुमन्दश्च तिक्तकः। अरिष्टः पारिभद्रश्च हिङ्गुनिर्यास इत्यपि॥९३॥
निम्बः शीतो लघुर्ग्राही कटुपाकोऽग्निवातनुत्[१]।
अहृद्यः श्रमतृट्कासज्वरारुचिकृमिप्रणुत्। व्रणपित्तकफच्छर्दिकुष्ठहृल्लासमेहनुत्॥ ९४॥

नीम के नाम तथा गुण—निम्ब, पिचुमर्द, पिचुमन्द, तिक्तक, अरिष्ट, पारिभद्र और हिङ्गुनिर्यास ये सब संस्कृत नाम 'नीम' के हैं। नीम-शीतवीर्य, लघु, ग्राही, पाक में कटुरसयुक्त, जठराग्नि को मन्द करनेवाला, हृदय को अहितकर तथा वात, श्रम, तृषा, खाँसी, ज्वर, अरुचि, कृमि, व्रण, पित्त, कफ, वमन, कुष्ठ, हृल्लास तथा प्रमेह इन सबों का नाशक होता है॥

अथ निम्बस्य पत्रफलयोर्गुणानाह

निम्बपत्रं स्मृतं नेत्र्यं कृमिपित्तविषप्रणुत्। वातलं कटुपाकञ्च सर्वारोचककुष्ठनुत्॥ ९५॥
निम्बफलं रसे तिक्तं पाके तु कटुभेदनम्। स्निग्धं लघूष्णं कुष्ठघ्नं गुल्मार्शःकृमिमेहनुत्॥९६॥

'नीम' के पत्ते तथा फलों के गुण : नीम के पत्ते—नेत्र को हितकर, कृमि-पित्त-विष के नाशक, वातकारक, पाक में कटुरसयुक्त तथा सभी प्रकार की अरुचि और कुष्ठ को दूर करने वाले होते हैं। नीम का फल—रस में तिक्त तथा पाक में कटु, मल का भेदन करने वाला, स्निग्ध, लघु, उष्णवीर्य कुष्ठ, गुल्म, बवासीर, कृमि तथा प्रमेह का नाशक होता है॥ ९५-९६॥

---

१. कृत इति पाठा०।

४३ नीम

हि०-नीम। बं०-निम, निमगाछ। म०-निंब, लिंब, कडूनिंब, बालंतनिंब। गु०-लींबडो, लीमडो। पं०-निंब, निम। उरि०-नीमो। ता०-वेप्पु, वेम्बु। ते० वेप। मल०-आर्यवेप्पू, वेप्पू। क०-वेविनमर। अ०-आजाद दख्तुल हिंद। फा०-नीब। अं०-Neem Tree (नीम ट्री), Margosa (मार्गोसा), Indian Lilac (इन्डियन् लिलॅक्)। ले०-*Azadirachta indica, A. Juss* (एझाडिरेक्टा इन्डिका, ए. जस); *Melia azadirachta, Linn.* (मेलिआएझाडिरेक्टा, लिन.)। Fam. Meliaceae (मेलिएसी)।

नीम के लगाये वृक्ष इस देश के सभी प्रान्तों में पाये जाते हैं और सभी लोग इसको भली-भाँति जानते हैं। दक्षिण एवं बर्मा के शुष्क जंगलों में यह जंगली स्वरूप में पाया जाता है। यह ४०-५० फीट ऊँचा, अनेक शाखा-प्रशाखाओं से युक्त, सघन और छायादार होता है। छोटी-छोटी टहनियों के अन्त में ८-१५ इञ्च लम्बे असमपक्षवत् पत्ते रहते हैं। पत्रक-संख्या में १४-१९, विपरीत या एकान्तर, टेढ़े, भालाकार, ४-५ अंगुल लम्बे, १-१½ अंगुल चौड़े, नुकीले और दन्तुर होते हैं। वसन्त ऋतु में पुराने पत्ते गिर जाते हैं और नवीन पत्ते निकलने के साथ छोटे छोटे सफेद रंग के सुगंधयुक्त फूलों के गुच्छे लगते हैं। फल-करीब ½ इञ्च खिरनी के समान लम्बाई लिये गोल होते हैं जिसमें एक एक बीज होते हैं। बीजों को निम्बोली कहते हैं। इसकी छाल से एक स्वच्छ, चमकीला अम्बर के वर्ण का गोंद निकलता है।

इसकी छाल करीब १० मि. मि. मोटी, बाहर से भूरे-धूसर वर्ण की, खुरदरी शल्कसम एवं फटी हुई तथा अन्दर से पीताभ, परतदार एवं मोटे रेशों से युक्त होती है।

इसकी छाल, मूलत्वक्, पत्र, गोंद, फल, बीज, पुष्प, ताडी एवं तैल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके काण्डत्वक् में एक कडुवा पदार्थ मार्गोसीन (Margosine), निम्बिडिन (Nimbidin, 0·5%), निम्बिन (Nimbin, $C_{28} H_{40} O_8$, 0·03%), निम्बिनिन् (Nimbinin $C_{27} H_{30} O_9$), निम्बोस्टेरोल् एवं पुष्पों में पाये जाने वाले उड़नशील तैल की तरह एक उड़नशील तैल ये पदार्थ पाये जाते हैं। इसमें करीब ६% टॅनिन भी रहता है। इसके बाह्यत्वक् में टॅनिन अधिक रहता है तथा अन्तस्त्वक में कडुवे पदार्थ पाये जाते हैं। इसके अन्तस्त्वक् का क्वाथ बनाना चाहिये। इसके पत्तों में भी कडुवा पदार्थ रहता है जो छाल की अपेक्षा कम मात्रा में होते हुए भी जल में अधिक मात्रा में एवं जल्दी घुलता है।

इसके बीजों में ३१% तक एक तेल रहता है जो गहरे पीले रंग का, कडुवा, तीता एवं दुर्गन्धयुक्त होता है। इसमें करीब २% कडुवे पदार्थ रहते हैं जिनमें निम्बिन, निम्बिनिन, निम्बिडिन एवं तैल में घुलनशील एक द्रव निम्बिडोल (Nimbidol, 0·6%) ये पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त इस तैल में ओलिक् ॲसिड (Oleic acid, 49-61·9%), लिनोलिक् ॲसिड (Linoleic acid, 2·12–15%), पामिटिक् ॲसिड् (Palmitic acid, 12·62–15%), स्टियरिक् ॲसिड् (Stearic acid, 14·4–21·3%), ॲरॅचिडिक् ॲसिड् (Arachidic acid, 1·3-1·8%), एवं लिंग्नोसेरिक ॲसिड् (Lignoceric acid, 0·74%) ये रहते हैं। इस तैल के साबुन बनाने लायक भाग से बचे हुए हिस्से में निम्बोस्टेरॉल रहता है।

इस तैल में 0·427% गंधक पाया जाता है। इसके तैल से अत्यन्त कडुआ एवं जल में घुलने वाला सोडियम् मार्गोसेट (Sodium margosate, B. C. P. W.) नामक एक लवण बनाया गया है।

गुण और प्रयोग—इसकी अन्दर की छाल शीतल, कडुवी, पौष्टिक, नियतकालिकज्वर-प्रतिबन्धक, ग्राही, त्वग्दोषहर, कृमिघ्न एवं रसायन है। सम्पूर्ण छाल अधिक ग्राही होती है। त्वचा पर निम्बत्वक् की क्रिया सोमल की तरह होती है। इसका ज्वरघ्न गुण सिंकोना की तरह है। इसकी मूलत्वक् कृमिघ्न (आन्त्रिक) मानी जाती है।

इसके पत्ते शोथघ्न, त्वचा के लिये उत्तेजक, त्वग्दोषहर, व्रणशोधक, व्रणरोपक, कृमिघ्न, प्रतिदूषक, यकृतोत्तेजक, कुष्ठहर एवं अधिक मात्रा में वामक होते हैं।

इसका तेल उष्ण, वातहर, प्रतिदूषक, व्रणशोधक, व्रणरोपक, उत्तेजक, केश्य, कृमिघ्न, कुष्ठघ्न एवं रसायन है। निम्ब के सभी अङ्गों की अपेक्षा इसका तैल अधिक प्रभावशाली है।

(१) नीम की छाल का चूर्ण **मलेरिया** के लिये बहुत लाभदायक है। शोथयुक्त ज्वर एवं विषमज्वर तथा ज्वर के पश्चात् दौर्बल्य दूर करने के लिये इसके चूर्ण या क्वाथ का उपयोग किया जाता है। किनीन आदि से जब लाभ नहीं होता तब इसका उपयोग करते हैं। ज्वर में इसके साथ धनियाँ, सोंठ, लौंग, दालचीनी या मिरिच, चिरायता तथा ग्राहीपन कम करने के लिये कुटकी का उपयोग किया जाता है। श्वेतप्रदर में बबूल की छाल एवं नीम की छाल का क्वाथ लाभदायक होता है।

(२) इसके पत्तों का उपयोग त्वचा के विकार, व्रण, क्षत तथा कुष्ठ में किया जाता है। चर्मविकारों में इससे स्नान कराया जाता है। व्रण, पामा, कण्डू, छाजन, अरुंपिका, दूषितव्रण, पुराने व्रण एवं अन्य चर्मविकारों में इससे स्नान कराते हैं, इसके पत्तों को पीस कर बाँधते है या इससे सिद्ध घृत का मलहम आदि लगाते हैं। अर्श, बद, गांठ एवं व्रणशोथ में इसका पोल्टिस बाँधा जाता है। विचर्चिका (Weeping eczema) में यदि इसके पत्तों को पीस कर बाँध दें और जब तक अपने से निकले नहीं तब तक रहने दें तो बहुत जल्दी लाभ होता है। कुष्ठ में इसके पञ्चाङ्ग के चूर्ण या क्वाथ का स्नान, पान एवं लेपादि में उपयोग होता है। इसके पत्तों को पीस कर आँवला या हरीतकी के साथ खाने से कुष्ठ में लाभ होता है। यद्यपि इसके पत्तों का स्वरस आन्त्र के कृमियों (केंचुआ) में लाभदायक माना जाता है तथापि श्रीकेस और म्हसकर का मत है कि ४ ड्राम की मात्रा में इसके प्रयोग से कोई लाभ नहीं हुआ। इसके देने के पहले और पश्चात् विरेचन नहीं दिया गया था। फिरंग में इसका रस १ पाव की मात्रा में सुबह शाम पिलाते हैं। सोजाक में शिश्न में शोथ होकर मूत्र रुकता है तब इसके क्वाथ में रोगी को बैठाते हैं जिससे पेशाब होने लगती है। कामला में अधिक मात्रा में इसका स्वरस मधु के साथ सुबह पिलाया जाता है। इसके साथ सोंठ भी देते हैं। कभी-कभी अधिक मात्रा से वमन हो जाता है। प्रसूता को प्रथम दिन से ही इसका स्वरस देने से हर प्रकार से लाभ होता है। इससे गर्भाशय का संकोच होकर स्राव की शुद्धि होती है एवं शोथ कम होता है। भूख लगना, पाखाना साफ होना, ज्वर न आना या कम आना एवं बच्चे का स्वास्थ्य अच्छा रहना ये सब लाभ इसके देने से होते हैं। मसूरिका (Small pox) में इसके पत्तों से हवा की जाती है एवं रोगी के बिस्तर पर इसको बिछाते हैं। इसके कोमल पत्तों की दो रत्ती की गोली बना कर मुलेठी के साथ देने से लाभ होता है। पत्तों को पुस्तक तथा कपड़े आदि में रखने से कीड़े नहीं लगते। ज्वर में घृत एवं मधु के साथ इसके पत्तों का धूप दिया जाता है।

(३) इसके तैल का कुष्ठ फिरंग, श्लीपद, व्रण, दूषितव्रण, गण्डमाला, आमवात एवं विषमज्वर में उपयोग किया जाता है। कुष्ठ, फिरंग, त्वचा के रोग एवं विषमज्वर आदि में इसको ५-१० बूँद की मात्रा में दिन में २ बार देते हैं। इसका बाह्य प्रयोग भी करते हैं।

अपची, नाडीव्रण, पामा, कण्डू, छाजन, दद्रु, विसर्प, आमवात, उददं, शीतपित्त एवं दूषित व्रण में तैल को लगाते हैं। कुष्ठव्रण में इसके साथ चौलमोगरा का तैल मिलाकर लगाते हैं। तैल से दाह होने पर इसमें ½ तिलतैल मिलाकर उपयोग करना चाहिये। आमवात में इसकी मालिश के साथ-साथ इसका आन्तरिक प्रयोग भी किया जाता है। शिरःशूल में सर पर इसको मलते हैं। खालित्य एवं पालित्य में इसके नस्य का विधान है। आन्त्रिक कृमि में पत्रस्वरस की तरह इसके तैल को १–४ ड्राम की मात्रा में देने से लाभ नहीं देखा गया, यद्यपि पूर्ण मात्रा से किसी-किसी में अतिसार, हृल्लास तथा बेचैनी होती है।

इसके तैल से बने हुए लवण सोडियम या पोटेशियम् मार्गोसेट (Margosate) का उपयोग त्वचा, मांसपेशी तथा सिरा के द्वारा किया जाता है। इसका शरीर में जीवाणुविरोधी कार्य होता है। पामा (Scabies), छाजन (Eczema) एवं स्फोट (Pemphigus) में इससे अच्छा लाभ होता है। फिरंग की प्रथम एवं द्वितीयावस्था में चिकित्सा जिनमें नहीं की गई उनकी अपेक्षा इसके द्वारा अधिक लाभ होता है। इसमें इसे ०.०१–०.३२ ग्राम सूचिकाभरण द्वारा दिया जाता है। फिरंग की तृतीयावस्था या द्वितीयावस्था के अन्त के ग्रन्थि (गमा) तथा त्वचा के विकार इससे जल्दी अच्छे होते हैं, यद्यपि इसका परिणाम पाश्चात्य चिकित्सा की अन्य पारद, आयोडाइड आदि औषधियों के इतना संतोषजनक नहीं होता। कुष्ठ एवं फिरंगादि में तैल की अपेक्षा इसके सूचिकाभरण एवं मार्गोसिक् अॅसिड के स्थानिक प्रयोग से अधिक लाभ होता है।

(४) इसके फल विरेचक एवं स्नेहन हैं तथा कृमि, अर्श एवं मूत्रविकार में इनका उपयोग करते हैं। अर्श में इसके बीज को गुड़ के साथ खिलाते हैं।

(५) इसके पुष्प का फांट ज्वर के पश्चात् बल्यरूप में एवं पाचन की खराबी में देते हैं।

(६) इसकी ताड़ी में शर्करा, अॅल्ब्युमिन, गोंद एवं लौह, खटिक तथा अल्युमिनिअम् के लवण होते हैं। यह दीपन, पोषक, बलप्रद, कृमिघ्न, रसायन एवं चर्मविकारों में लाभदायक मानी जाती है।

मात्रा—अन्तरत्वक् चूर्ण २–४ माशा; स्वरस ½–१ छटाँक; तैल ५–१० बूँद।

अथ महानिम्बः। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

महानिम्बः स्मृतो द्रेका रम्यको विषमुष्टिकः। केशमुष्टिर्निम्बकश्च कार्मुको जीव इत्यपि ॥९७॥
महानिम्बो हिमो रूक्षस्तिक्तो ग्राही कषायकः ॥ ९८ ॥
कफपित्तभ्रमच्छर्दिकुष्ठहृल्लासरक्तजित्। प्रमेहश्वासगुल्मार्शोमूषिकाविषनाशनः ॥ ९९ ॥

महानिम्ब के नाम तथा गुण—महानिम्ब, द्रेका, रम्यक, विषमुष्टिक, केशमुष्टि, निम्बक, कार्मुक और जीव ये सब संस्कृत नाम 'बकायन' के हैं। बकायन-शीतवीर्य, रूक्ष, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त और ग्राही (मलावरोधक) होता है। यह कफ, पित्त, भ्रम, वमन, कुष्ठ, हृल्लास, रक्तदोष, प्रमेह, श्वास, गुल्म, बवासीर और चूहे का विष इन सबों का नाशक होता है॥

नोट—महानिंब के विषय में कुछ भ्रम है। भावप्रकाश, धन्वन्तरि एवं मदनपाल निघंटुओं में निंब तथा महानिंब ये दो भेद मिलते हैं। राजनिघंटु में एक तृतीय भेद कैडर्य का उल्लेख किया है। कैडर्य नाम कायफल के लिये आता है। किन्तु टीकाकारों ने उसका अर्थ पर्वतनिंब भी किया है। चरक एवं सुश्रुत में 'पर्वतनिंब' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है।. कुछ लोगों ने कैडर्य को

मीठा नीम, ले०-मुरया कोनिजीआई स्प्रेंग (Murraya koenigii Spreng) माना है किन्तु रा० नि० ने कैडर्य का स्वाद कटु तिक्त कषाय लिखा है। एइलेन्थस् एक्सेल्सा राक्स (Ailanthus excelsa Roxb) को कुछ लोगों ने महानिंब माना है जिसको पंजाबी में 'अरुअ' कहने के कारण कुछ लोग अरलू के स्थान पर प्रयोग करते हैं या अरलू (श्योनाक) का भेद मानते हैं। अधिकांश लोगों ने बकायन को, जिसका ले०-नाम मेलिआ एझेडॅरॅक् (Melia azedarach) है उसे महानिंब माना है। निघंटुओं में महानिंब का पर्याय 'द्रेका' दिया हुआ है तथा बकायन को पंजाब में द्रेक कहते भी हैं। अर्श में महानिम्ब का प्रयोग वाग्भट ने किया है (चि० अ० ८) एवं वैद्य तथा हकीमी में बकायन के फलों का प्रयोग प्रचलित है। महानिंब का 'अक्षीर' यह पर्याय अन्य निघंटुओं ने दिया है तथा निंब का पर्याय 'हिंगुनिर्यास' दिया हुआ है जो क्रमशः बकायन एवं नीम की ओर संकेत करते हैं। सुश्रुत में पिप्पल्यादिगण (सू० अ० ३८) में महानिंब के फल का एवं अधोभागहरवर्ग (सू० अ० ३९) में 'रम्यक' नाम से इसकी त्वचा का उल्लेख है।

आकाश नीम—नीम चमेली नामक वृक्ष होता है। इसका लेटिन नाम मिलिंगटोनिया हॉर्टॅन्सिस् लिन, (Millingtonia hortensis Linn. fi; Fam. Bignoniaceae) है। इसके सुन्दर ऊँचे वृक्ष होते हैं जो बगीचों में इसके सुन्दर पत्र एवं श्वेत सुगंधित पुष्पों के लिये लगाये जाते हैं। इसमें एक तिक्त द्रव्य तथा टॅनिन् होता है तथा ज्वरघ्न गुण के लिये इसका प्रयोग करते हैं।

यहाँ पर दोनों प्रकार के महानिम्बों का वर्णन अलग-अलग किया गया है।

४४ (क) महानिंब (बकायन)

हि०-बकायन, बकाइन, महानीम। बं०-घोड़ानिम, महानिम। म०-बकाणानिंब। गु०-बकानलिंबडो। क०-बेट्टदबेउ। ते०-तुरक बेवक, कोंड वेप। ता०-मलैवेम्बु। पं०-द्रेक, धरेक, बकइन। कोल०-गरनिम। आसाम०-थमगा। ने०-बकैनु। सिन्धु०-बकयुन, द्रेक। फा०-आजाद दरख्त। अ०-बान्, हबींत। अं०-Persian Lilac (पर्शियन् लिलॅक्); The Bead Tree (बीड ट्री)। ले०-*Melia azedarach Linn.* (मेलिआ एझेडॅरॅक् लिन)। *Fam.* Meliaceae (मेलिएसी)।

प्रायः सब प्रान्तों में इसका वृक्ष पाया जाता है। बकायन का वृक्ष सुन्दर, मध्यमाकार का, नीम वृक्ष से छोटा और अचिरस्थायी होता है। नीम के पत्तों के समान इसके भी पत्ते होते हैं। **पत्ते**-प्रायः त्रिपक्षवत्, २ फीट लम्बे और शाखाओं पर दलवद्ध होकर रहते हैं। **पत्रक**-प्रासवत्, आरावत् दन्तुर, लम्बाग्र, नीम जैसे किन्तु उससे कुछ कम लम्बे तथा कम मुड़े हुए होते हैं। **पुष्प**-लिलॅक (Lilac) एवं सुगन्धित रहते हैं जिसके आभ्यंतर दल फैले हुए, श्वेत या बैंगनी रंग के होते हैं तथा बीच में पुंकेसरों की गहरे बैंगनी रंग की नलिका रहती है। **फल**-नीम की तरह अष्ठिल फल प्रायः १ इञ्च से कम लम्बे होते हैं। **बीज**-प्रत्येक फल में ५ बीज होते हैं जिनके बीच में मणि के समान छिद्र होता है जिसके कारण इनकी माला बनाई जाती है।

इसके मूल की ताजी अन्तस्त्वक्, पुष्प, फलमज्जा एवं पत्र का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसकी अन्तस्त्वक् में हलके पीतवर्ण का, कडुआ तथा राल की तरह का पदार्थ रहता है जो उबलते जल में घुलता है। बाह्यत्वक् में टॅनिन् रहता है। इसमें शर्करा भी पाई जाती है।

गुण और प्रयोग—बकायन के गुण साधारणतः नीम के समान हैं। यह कृमिघ्न, त्वग्दोषहर, गर्भाशयसंकोचक, वेदनाहर, अर्शोघ्न एवं शोधन है। अधिक मात्रा में यह वामक, विरेचक एवं संज्ञानाशन है। इससे केंचुए मरते हैं।

प्रसूता में शिरःशूल एवं गर्भाशयपीडा कम करने के लिये इसके पुष्पों को पीसकर सर पर एवं पेड़ू पर बाँधते हैं। रक्तविकार के कारण उत्पन्न कुष्ठ, गण्डमाला एवं खालित्य आदि त्वचा के विकारों में इसके बीज, छाल या पत्रस्वरस को देते हैं। अर्श में इसके फल की मज्जा का उपयोग किया जाता है। इसके पुष्प एवं पत्तों को पीसकर स्नायविक शिरःशूल में लेप करते हैं। इसके पत्तों का क्वाथ हिस्टीरिया में पिलाते हैं।

मात्रा—छाल ३ से ६ माशा; फलमज्जा २ से ८ रत्ती।

४५ (ख) महानिंब

हिं०-महानिंब, घोडाकरंज। बं०-महानिम। म०-महारूख। गु०-मोटो अडुंसो, अरलवो। पं०-अरूअ। ता०-पेरुमरुत्तु। ते०-पेद्दमानु। क०-दोड्डुमणि। मल०-पेरुमरम्। उरि०-महानिम, महाल। ले०-*Ailanthus excelsa Roxb.* (एइलेन्थस् एक्सेल्सा राक्स)। Fam. Simarubaceae (सिमारुबेसी)।

यह भारत के कई प्रान्त—उत्तरप्रदेश, विहार, पश्चिमी पेनिनसुला, कर्नाटक एवं गुजरात आदि में पाया जाता है।

इसका वृक्ष ६० से ८० फीट ऊँचा होता है। छाल-धूसर वर्ण की होती है। पत्ते-२-३ फीट लंबे, पक्षवत्, संयुक्त पत्र होते हैं। पत्रक-३½″-६″ लंबे, २-३″ चौड़े, अधरतल पर रोमश, नोकदार, दन्तुर धारवाले, तिरछे आधारवाले, संख्या में १०-१३ जोड़े, १-२″ लंबे वृन्त से युक्त एवं आधार के पास दो रोमश ग्रंथियों से युक्त होते हैं। पत्तों में उग्र गंध आती है। पुष्प-पीताभ, बड़ी-बड़ी मंजरियों में आते हैं। फल-छीमी की तरह बीच से फूला हुआ एवं अन्त में अकुड़ेदार होता है जिसमें एक बीज रहता है। इसकी लकड़ी हलकी तथा मुलायम होती है।

इसकी छाल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। इसमें गन्ध नहीं होती किन्तु इसका स्वाद बहुत कडवा होता है। यह मोटी, खुरदरी तथा रवेदार होती है। इसका बाह्यभाग तथा अन्दर का भाग पीताभ श्वेत रहता है तथा अन्दर रेशे मालूम होते हैं। भिंगाने से यह फूलती है, चिपचिपी होती है तथा उसमें अप्रिय गन्ध आती है।

इसे कुछ लोगों ने महानिंब तथा कुछ लोगों ने श्योनाक-भेद माना है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में एइलेन्टिक् ॲसिड (Ailantic acid) नामक एक अत्यन्त कडुआ, रक्ताभ भूरे रंग का पदार्थ पाया जाता है जो जल में आसानी से घुल जाता है किन्तु मद्यसार में आसानी से नहीं घुलता।

गुण और प्रयोग—यह कडुआ, पौष्टिक, दीपन, ग्राही एवं ज्वरहर है। इसका प्रभाव कुरैया के समान होता है।

प्रसूता को इसके पत्रस्वरस या ताजी छाल के रस को नारियल के दूध, गुड़, मधु एवं सुगंधित पदार्थों के साथ खीर बनाकर देने से प्रसवपश्चात् पीडा कम होती है। इसकी छाल एवं पत्तों का क्वाथ प्रसवपश्चात् दौर्बल्य के लिये बल्यरूप में देते हैं। जीर्णज्वर या दौर्बल्य में इसके प्रयोग से बल बढ़ता है। अग्निमांद्य में इसके छाल का रस १½ औं० की मात्रा में दिन में दो बार

देते हैं। एइलेन्टिक् एसिड को बल्य एवं रसायनरूप में ३-१३ र० की मात्रा में दिया जाता है किन्तु अधिक मात्रा में इससे हृल्लास, वमन एवं विरेचन होता है।

मात्रा—$\frac{1}{4}$-$\frac{1}{2}$ तो०।

अथ पारिभद्रः (फरहद)। तस्य नामानि तत्पत्रस्य च गुणाँश्चाह

पारिभद्रो निम्बतरुर्मन्दारः पारिजातकः।
पारिभद्रोऽनिलश्लेष्मशोथमेदःकृमिप्रणुत्। तत्पत्रं पित्तरोगघ्नं कर्णव्याधिविनाशनम्[1] ॥१००॥

फरहद के नाम तथा गुण—पारिभद्र, निंबतरु, मन्दार और पारिजातक ये सब संस्कृत नाम फरहद के हैं। फरहद—वायु, कफ, शोथ, मेदरोग और कृमि का नाशक होता है। इसके पत्ते—पित्तरोग तथा कान के रोगों को दूर करने वाले होते हैं॥ १००॥

नोट—पारिभद्र के जो पर्याय निंबतरु, मंदार एवं पारिजातक दिये हुये हैं उनसे कुछ भ्रम उत्पन्न होता है। इसी प्रकार देवदार एवं पर्वतनिंब के लिये भी पारिभद्र नाम का उपयोग किया गया है। पारिभद्र से अधिकांश विद्वान् फरहद का ग्रहण करते हैं। संदर्भ के आधार पर या टीकाकारों के मतानुसार पारिभद्र का अर्थ निंब, देवदार या पारिजातक किया जा सकता है। पारिजाता यह नाम हरसिंगार के लिये अधिक प्रचलित होने के कारण एवं पारिभद्र का पारिजातक यह पर्याय होने के कारण हरसिंगार को ही कुछ लोग पारिभद्र मानते हैं। कुछ विद्वानों के मत से हरसिंगार 'शेफालिका' हो सकती है किन्तु भावप्रकाशकार तथा अन्य निघंटुकारों ने शेफाली(लिका) को निर्गुण्डीभेद लिखा है।

पारिभद्रक नाम से सुश्रुत ने पूतनाप्रतिषेध (उ. अ. ३२-३) के लिये एवं कृमि (उ. अ. ५४-२६) के लिये उपयोग लिखा है। पारिजातक नाम से प्लीहोदर (चि. १४-१२) में एवं पारिजात नाम से उदकमेह (चि. ११-८) में उल्लेख है। यहाँ पर फरहद एवं हरसिंगार दोनों का अलग-अलग वर्णन किया गया है।

४६ फरहद

हि०—फरहद, पांगारा। **बं०**—पाल् ते मादार। **म०**—पाङ्गारा। **गु०**—पांडेरवो, पनरवो। **क०**—होंगर, हलिवाणदमर। **ते०**—मोदुगो, बरिदे चेट्टु, वारिजमु। **ता०**—कल्याण मुरुक्क। **अं०**—Coral Tree (कोरल ट्री)। **ले०**—*Erythrina indica Lam.* (एरिथ्रिना इण्डिका लॅम.)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में कहीं न कहीं पाया जाता है, विशेषकर कोंकण और उत्तर कनारा में अधिक मिलता है।

इसका वृक्ष मध्यमाकार का, शीघ्रता से बढ़ने वाला तथा समय पाकर नष्ट हो जाने वाला होता है। कोमल डालियों पर सीधे, काले रङ्ग के तीक्ष्ण काँटे रहते हैं। छाल—चिकनी तथा हरी, भूरी, हलकी पीली या श्वेत खड़ी रेखाओं से युक्त एवं पतली पपड़ियाँ छूटने पर हरी होती है। पत्ते—पलाशपत्र के समान त्रिदल होते हैं। पत्रक ४-६ इञ्च के घेरे में गोलाकार और किञ्चित नुकीले होते हैं। अग्र का पत्रक सबसे बड़ा होता है। पुष्पदंड ४ इञ्च लम्बा और मंजरी प्रायः ६ इञ्च लम्बी होती है। फूल—अत्यन्त रक्त वर्ण के सुहावने दिखाई पड़ते हैं। पुष्प का बाह्यकोश एक ओर मूल तक फट जाता है और अग्र पर पाँच दाँत बन जाते हैं। आभ्यंतर दल पाँच होते हैं

१. पुष्पं पित्तरुजं हन्ति कर्णव्याधिं विनाशयेत्॥ (नि. र.)

जिनमें एक सबसे बड़ा होता है। इनके बीच से लाल पुंकेसरों का गुच्छा निकला रहता है। इनमें गन्ध नहीं होती। फलियाँ–६-१० इञ्च लम्बी, चिपटी, चोंचदार, किंचित् टेढ़ी, ताजी अवस्था में हरी किन्तु बाद में काली हो जाती हैं। बीज-संख्या में ६-१२, चिकने, भूरे या लाल, अंडाकार तथा करीब १ इञ्च बड़े होते हैं।

इसी का एक उपभेद होता है जिसके पुष्प मटमैले श्वेताभ रंग के होते हैं।

इसकी दूसरी जाति ए. सुबरोजा राक्स. (E. suberosa Roxb.), धवलढाक-उत्तर-भारत में अधिक होती है। इसके वृक्ष छोटे होते हैं। इसकी छाल मोटी कार्क वाली, पत्रक चौड़े लट्वाकार या तिर्यगायताकार एवं पुष्प का बाह्यकोश द्वयोष्ठक होता है।

फरहद की छाल एवं पत्र का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। छाल ह्लासकारक तो होती है किन्तु कड़वी नहीं होती।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में दो प्रकार की राल एवं एक कड़वा एरिथेराइन (Erytl erine) नामक विषैला क्षाराभ पाया जाता है जो कुचले के क्षाराभ स्ट्रिकनीन (Strychnine) के विषैले प्रभाव का निवारक (Antidote) माना जाता है। यह क्षाराभ पत्तों में भी पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—फरहद की छाल ज्वरहर, ग्राही, बल्य, कृमिघ्न, स्वप्नजनन एवं शोथहर होती है। इसके पत्ते मूत्रल, मृदुविरेचक, आर्तवजनन, दुग्धवर्धक, शोथहर, व्रणशोधक एवं कृमिघ्न होते हैं। केन्द्रीयवातनाडीसंस्थान के ऊपर इसकी छाल का शामक प्रभाव पड़ने के कारण उसकी क्रिया कम होती है या बन्द होती है। हृदय पर भी इसका शामक प्रभाव पड़ता है। कुचले के प्रभाव के विरुद्ध इसका प्रभाव पड़ता है।

इसकी छाल को रक्तयुक्त आँव, ज्वर तथा निद्रा लाने के लिये प्रयोग करते हैं। नेत्राभिष्यंद में छाल को पीसकर पलकों पर लगाते हैं। इसकी छाल के अन्दर के भाग पर घी लगाकर तथा उस पर घी के दिये का काजल जमाकर इसका नेत्र के विकारों में अञ्जन कराया जाता है। वाजीकरण के लिये सफेद फूल के फरहद की कोमल जड़ को पीस कर शीतल दूध के साथ पिलाते हैं।

इसके पत्तों का स्वरस फिरंग, उपदंश, ज्वर, अनार्तव, कष्टार्तव, मूत्रकृच्छ्र एवं कृमि में पिलाया जाता है। व्रणप्रक्षालन के लिये एवं कर्णशूल, दंतशूल आदि के लिये भी इसका उपयोग करते है। पत्तों का लेप शोथ, बद, संधिपीडा तथा व्रण पर किया जाता है। इससे वेदना कम होती है। आर्तवशुद्धि तथा दुग्धवृद्धि के लिये नारियल के दूध के साथ इसके पत्तों को उबालकर बनाया हुआ क्वाथ प्रसूता को पिलाया जाता है।

मात्रा—त्वक्चूर्ण $\frac{1}{2}$–१ तो०; पत्रस्वरस $\frac{1}{2}$–१ तो०।

४७ पारिजाता, हरसिंगार

सं०–शेफालिका। हि०–हरसिंगार, पारिजाता, कूरी, सिहारु। बं०–शेफालिका, शिउली। म०–पारिजातक। गु०–हारशणगार। पं०–कूरी, पकर। ता०–पवलमल्लिकै। ते०–पगडमल्ले। मल०–पविझमल्लि। क०–पारिजात। अं०–Night Jasmine (नाइट जस्मीन); Weeping Nyctanthes (वीपिंग् निक्टेन्थिस्); Tree of Sorrow (ट्री ऑफ् सारो)। ले०–*Nyctanthes arbor-tristis, Linn.* (निक्टॅन्थिस् आर्बोर्-ट्रिस्टिस्, लिन.)। Fam. Oleaceae (ओलिएसी)।

यह मध्यभारत तथा हिमालय के निचले प्रदेशों में बहुत होता है। यह प्रायः सब प्रांतों के बागों में लगाया हुआ मिलता है।

इसका वृक्ष—छोटा, झाड़ीदार तथा कभी-कभी २५-३० फीट ऊँचा होता है। छाल—हलके भूरे रंग की तथा खुरदरी होती है। काष्ठ—श्वेत तथा हरित हलके लाल या पीताभ भूरे रंग का होता है। पत्ते—जपापत्र की तरह, करीब ४ इञ्च लम्बे, २½ इञ्च चौड़े, विपरीत, स्पर्श में अत्यन्त रूक्ष (खर), नुकीले, अंडाकार, आधार को तरफ गोल, नीचे का पृष्ठ मृदुरोमश, पत्रतट अखंड या दूर-दूर पर कुछ दन्तुर एवं मजबूत पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प—अत्यन्त सुगन्धित होते हैं। इनकी पंखड़ियाँ श्वेत एवं पुष्पवृन्त केसरिया वर्ण के होते हैं। ये रात को खिलते हैं तथा सुबह झड़ जाते हैं। फल—चिपटे, गोल, हरे रंग के, करीब ¾ इञ्च व्यास के एवं किनारे पर दबे हुए रहते हैं। बाद में ये भिदुर एवं भूरे रंग के हो जाते हैं। बीज—छोटे, दो, चिपटे तथा अंडाकार होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके पुष्पों में एक सुगंधित उड़नशील तैल रहता है। पुष्पवृन्त से एक प्रकार का रंग निकाला जाता है जिससे रेशमी बस्त्र रंगा जाता है। इसके पत्तों में एक निक्टेन्थाइन (Nyctanthine) नामक क्षाराभ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—पारिजातक ज्वरघ्न; कफघ्न, यकृत उत्तेजक, मृदुविरेचक एवं शामक है। इसके पत्र सॅन्टोनिन् (Santonin) जैसे कृमिघ्न, ज्वरघ्न, तिक्तपौष्टिक, पित्तद्रावक एवं मृदुविरेचक होते हैं। बच्चों के लिये इसके पत्तों का स्वरस अच्छा मृदुविरेचक होता है।

(१) इसके पत्तों का (शेफालिकादलैः) मंद आंच पर बनाया हुआ क्वाथ गृध्रसी (Sciatica) के लिये बहुत लाभदायक माना जाता है (चक्रदत्त) : शेफालिका यह नाम नीलनिर्गुण्डी के पर्याय में आया हुआ है तथा व्यवहार में निर्गुण्डी का उपयोग गृध्रसी में किया जाता है। इस दृष्टि से हरसिंगार के पत्तों की अपेक्षा निर्गुण्डी का प्रयोग उचित मालूम पड़ता है।

(२) जीर्ण ज्वर के लिये इसके ७-८ कोमल पत्तों का स्वरस, आर्द्रकस्वरस एवं मधु मिलाकर देते हैं। मलेरिया में यह बहुत लाभदायक है। जीर्ण मलेरिया में इसके साथ त्रिकटु का प्रयोग उचित है। इससे यकृत एवं प्लीहावृद्धि कम होती है। पाण्डु होने पर इसके साथ लौह का प्रयोग किया जाता है। इसके सेवन के समय पथ्य में दुग्ध, घृत एवं शर्करा का अधिक उपयोग किया जाता है।

(३) बच्चों के कृमि (केचुए) के लिये पत्तों के स्वरस को चीनी मिलाकर देते हैं।

(४) खांसी तथा दमा में इसकी छाल के चूर्ण को १-२ र० की मात्रा में पान में रखकर दिन में ३-४ बार देने से कफ का चिपचिपापन कम होता है।

(५) इसके बीजों को जल में पीसकर सर के गंज पर लगाते हैं जिससे नये बाल उगते हैं।

मात्रा—पत्र २-४; छालचूर्ण १-२ र०।

अथ काञ्चनारो रक्तकाञ्चनारश्च, तयोर्नामानि तत्पुष्पस्य गुणाँश्चाह

काञ्चनारः काञ्चनको गण्डारिः शोणपुष्पकः ॥ १०१ ॥
कोविदारश्च मरिकः कुद्दालो युगपत्रकः।
कुण्डली ताम्रपुष्पश्चाश्मन्तकः स्वल्पकेशरी ॥ १०२ ॥
काञ्चनारो हिमो ग्राही तुवरः श्लेष्मपित्तनुत्। कृमिकुष्ठगुदभ्रंशगण्डमालाव्रणापहः ॥१०३॥

कोविदारोऽपि तद्वत्स्यात्तयोः पुष्पं लघु स्मृतम् ।
रूक्षं संग्राहि पित्तास्रप्रदरक्षयकासनुत् ॥ १०४ ॥

कचनार तथा लाल कचनार के नाम और गुण—काञ्चनार, काञ्चनक, गण्डारि और शोणपुष्पक ये सब संस्कृत नाम कचनार के हैं। कचनारभेद कोविदार के संस्कृत नाम—कोविदार, मरिक, कुद्दाल, युगपत्रक, कुण्डली, ताम्रपुष्प, अश्मन्तक और स्वल्पकेशरी ये सब हैं। कचनार–शीतवीर्य, मलावरोधक, कषायरसयुक्त, कफ, पित्त, कृमि, कुष्ठ, गुदभ्रंश, गण्डमाला और व्रण को दूर करनेवाला होता है। इसी प्रकार से कचनारभेद कोविदार के भी गुण हैं। दोनों कचनारों के फूल-लघु, रूक्ष, मलावरोधक एवं पित्त, रक्त-प्रदर, क्षय तथा कास (खांसी) को दूर करने वाले होते हैं ॥ १०१–१०४ ॥

नोट—भावप्रकाशकार ने काञ्चनार एवं कोविदार ये दो भेद लिखे हैं किन्तु दोनों के गुण समान ही लिखे हैं। रा० नि० एवं ध० नि० ने कोविदार एवं काञ्चनार ये पर्यायरूप में लिये हैं किन्तु रा० नि० ने इसके 'पीत पुष्प', 'गिरिज', 'महापुष्प' आदि अन्य पर्यायों का भी उल्लेख किया है। नि० र० ने पीत, रक्त एवं श्वेत ये ३ भेद दिये हैं तथा उनके गुणों का स्वतंत्र उल्लेख किया है।

आधुनिक उद्भिद्वेत्ताओं ने भी इसकी कई जातियों का उल्लेख किया है। बौहिनिआ वेरिगेटा (Bauhinia variegata) को अधिकांश लोगों ने काञ्चनार माना है। इसके पुष्प चमकीले बैंगनी, गुलाबी, किरमिजी, श्वेत आदि रंगों के होते हैं। इसी प्रकार बौहिनिआ पर्प्यूरिआ (B. purpurea) को कोविदार मानते हैं क्योंकि इसको कहीं-कहीं स्थानिक भाषा में कोइलार कहते हैं जो संभवतः कोविदार का अपभ्रंश है। इसके पुष्प गहरे गुलाबी, नीलारुण या चमकीले बैंगनी आदि रंगों के होते हैं। इससे ऐसा मालूम होता है कि केवल पुष्पवर्ण के आधार पर कोविदार या काञ्चनार का भेद नहीं किया जा सकता। वास्तव में इनके गुणों में अन्तर न होने के कारण इसकी आवश्यकता भी नहीं है। वैसे तो ध० नि० एवं रा० नि० ने इन्हें पर्याय ही माना है। कुछ लोगों ने श्वेत पुष्प को काञ्चनार एवं रक्तपुष्प को कोविदार माना है :

बौ० टोमेन्टोसा (B. tomentosa) के पुष्प पीतवर्ण के होते हैं।

भावप्रकाशकार ने कोविदार के पर्याय में अश्मंतक का उल्लेख किया है। रा० नि० एवं ध० नि० दोनों ने अश्मंतक का कोविदार से अलग स्वतंत्र वर्णन किया है। श्री ठा० बलवन्तसिंह जी 'बिहार की वनस्पतियां, नामक पुस्तक में लिखते हैं, 'उपर्युक्त दोनों जातियों को [इसी वर्ग के बौ० रेसिमोसा लॅम. (B. racemosa Lam.) एवं बौ० मलबारिका राक्स. (B. malabarice Roxb.)] कुछ ग्रन्थकारों ने प्राचीनों का अश्मंतक माना है, परन्तु इसमें सन्देह है।'

४८ कचनार

(क) हिं०-कचनार, कञ्चनार, कचनाल, गोरिआव। बं०-काञ्चन, रक्त काञ्चन। कोल०-जुरजु, बुज, बुरंग। म०-कोरल, काञ्चन। सन्ता०-झिंजर। गु०-चम्पाकाटी। ने०-टकी। मल०-चुवन्नमंदारम्। क०-कैंयुमन्दार। ते०-देवकाञ्चनमु। ता०-सेगपुमुन्थरी। अं-Mountain Ebony (माउन्टेन् एबोनी)। ले०-*Bauhinia variegata Linn.* (बौहिनिया वेरिगेटा लिन.)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

यह हिमालय के निचले प्रदेशों में, सिकम की ओर तथा सब प्रान्तों में उत्पन्न होता है। इसका वृक्ष मध्यमाकार का अचिरस्थायी होता है। छाल-भूरे रङ्ग की और लकड़ी-किञ्चिद

भूरापन युक्त बादामी रङ्ग की होती है। पत्ते-एकान्तर, ३-६ इञ्च लंबे तथा उतने ही चौड़े, द्विखण्डित, खण्ड लगभग चौथाई या तिहाई दूरी तक गहरे (युग्मपत्र), पत्राग्र गोल, पंखे की तरह फैली हुई संख्या में १३-१५ शिराओं वाले एवं करीब एक इञ्च लंबे वृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प-शीत ऋतु में पत्ते गिर जाने के पश्चात ही सुगंधित पुष्प गिरे हुए पत्तों के कोणों से निकले रहते हैं। पुष्पदंड छोटे तथा आपक्व या नीलारुण रंग के होते हैं। कलिकाएँ घेरे में गोलाई लिये होती है। पुष्प-बड़े, श्वेत, गुलाबी, चमकीले बैंगनी तथा किरमिजी रङ्ग के होते हैं। श्वेत पुष्पों का एक या अधिक दलपत्र चित्रित पीतवर्ण का होता है। दलपत्रों में मजबूत मध्यशिरा होती है और आधार से लाल बैंगनी रंग की शिराएँ निकली रहती हैं। फली-लंबी, चिपटी कुछ मुड़ी हुई, करीब १ फुट तक लंबी एवं १०-१५ बीजों से युक्त होती है।

(ख) सं०-कोविदार। हिं०-कोविदार, खैरवाल, सोना, कोइना (ला) र। बं०-देवकाञ्चन, रक्तकाञ्चन। संथा०-सिंहरा। ता०-मंदारि, पेद्दाआरि। ते०-कांचनम्। ले०-*Bauhinia purpurea Linn.* (बौहिनिआ पर्प्युरिआ लिन.)।

इसके भी (क) की तरह के ही मध्यम ऊँचाई के वृक्ष होते हैं। ये छोटे रहने पर ही फूलने-फलने लगते हैं। पत्ते-बहुत गहराई तक कटे हुए, आयताकार, ५-७ इञ्च लम्बे, खंड के अग्र प्रायः कोणीय एवं पत्रसिराएँ ९-११ रहती हैं। पुष्प-पुष्पकलिका गहरे हरे या भूरे रंग की एवं पाँच कोणों से युक्त होती है। पुष्प (क) की अपेक्षा छोटे, पाँच दलपत्रों से युक्त, चमकीले बैंगनी, नीलारुण या गहरे गुलाबी रंग के होते हैं। काञ्चनार तथा कोविदार दोनों में बाह्यनाल लंबा और पूर्ण पुंकेशर ३-५ होते हैं। फली-लम्बी हरिताभ बैंगनी रंग की होती है। इसकी जड़ विषैली होती है।

(ग) सं०-पीत कोविदार। ता०-तिरूवत्ती। ते०-कांचीनी। म०-सोन। सिलो०-कहपेतन। ले०-*Bauhinia tomentosa Linn.* (बौहिनिया टोमेन्टोसा लिन.)।

यह लंका में अधिक होता है। इसके पुष्प पीतवर्ण के किन्तु आधार की तरफ कुछ हलके भूरे या किरमिजी रंग के धब्बों से युक्त होते हैं।

सभी की छाल, पत्र एवं पुष्पों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। कोमल कलिकाओं का शाक बनाया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में टैनिन होता है। इससे एक प्रकार का गोंद भी निकलता है।

गुण और प्रयोग—कांचनार की छाल, ग्राही, रसायन, बल्य, व्रणशोधक एवं व्रणरोपक है। इसके पुष्प रक्तपित्तहर हैं। छाल की क्रिया त्वचा तथा रसग्रंथियों पर होती है जिससे वहाँ की विनिमयक्रिया सुधरती है। इसकी अधिक मात्रा से वमन तथा विरेचन होता है।

(१) गंडमाला तथा अपची में इसकी छाल का बहुत प्रयोग किया जाता है। इसका क्वाथ गुग्गुल के साथ पिलाते हैं तथा इससे व्रणप्रक्षालन करते हैं। गंडमाला में सोंठ एवं इसका चूर्ण चावल के धोवन के साथ देते हैं। इसकी छाल को पीसकर लेप भी करते हैं। नये रोग में इससे अधिक लाभ होता है। इसकी छाल का क्वाथ कुष्ठ, चर्मरोग, अतिसार एवं व्रण में दिया जाता है। मसूरिका में इसके क्वाथ में सुवर्णमाक्षिक भस्म डालकर पिलाते हैं। खदिरफल, दाडिमपुष्प एवं इसकी छाल के क्वाथ से कुल्ला करने से अधिक लालास्राव तथा गले के विकारों में लाभ होता है।

रक्तपित्त में इसके पुष्प का चूर्ण मधु के साथ चटाते हैं तथा इसकी शाक खिलाते हैं। पुष्पों का क्वाथ रक्तप्रदर, रक्तार्श, रक्तमेह तथा कास एवं रक्तातिसार आदि में दिया जाता है। मृदुविरेचक रूप में इसके पुष्पों को चीनी के साथ खिलाते हैं।

इसके मूल का चूर्ण मट्ठे के साथ अर्श में दिया जाता है। मूल का क्वाथ अपचन तथा आध्मान में दिया जाता है।

मात्रा—त्वक्चूर्ण २-४ माशा। पुष्पकलिकाचूर्ण १-२ माशा।

अथ शोभाञ्जनः (सहिजना), (श्यामः श्वेतो रक्तश्च)
तन्नामानि तद्गुणाँश्चाह

शोभाञ्जनः शिग्रुतीक्ष्णगन्धकाक्षीवमोचकाः।
तद्बीजं श्वेतमरिचं मधुशिग्रुः सलोहितः। शिग्रुः कटुः कटुः पाके तीक्ष्णोष्णो मधुरो लघुः॥१०५॥
दीपनो रोचनो रूक्षः क्षारस्तिक्तो विदाहकृत्। संग्राही शुक्रलो हृद्यः पित्तरक्तप्रकोपणः॥१०६॥
चक्षुष्यः कफवातघ्नो विद्रधिश्वयथुक्रिमीन्। मेदोऽपचीविषप्लीहगुल्मगण्डव्रणान्हरेत्॥१०७॥
श्वेतः प्रोक्तगुणो ज्ञेयो विशेषाद्दाहकृद्भवेत्।
प्लीहानं विद्रधिं हन्ति व्रणघ्नः पित्तरक्तहृत्। मधुशिग्रुः प्रोक्तगुणो विशेषाद्दीपनः सरः॥१०८॥

सहिजन के भेद, नाम तथा गुण—सहिजन के १. श्याम सहिजन, २. श्वेत सहिजन तथा ३. लाल सहिजन इस प्रकार से ३ भेद होते हैं। शोभाञ्जन, शिग्रु, तीक्ष्णगन्धक, अक्षीव और मोचक ये सब संस्कृतनाम सहजन के हैं। सहजन के बीज को 'श्वेतमरिच' कहते हैं। जो 'लाल सहजन' होता है उसे 'मधुशिग्रु' कहते हैं। शिग्रु अर्थात् श्याम सहजन—स्वाद तथा पाक में कटुरसयुक्त, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, मधुर, लघु, अग्निदीपक, रोचक, रूक्ष, क्षार, तिक्तरसयुक्त, विदाहकारक, मलावरोधक, शुक्रजनक, हृदय को हितकर, पित्त-रक्त को कुपित करने वाला, नेत्रों को हितकर, कफ-वात-नाशक एवं विद्रधि, शोथ, कृमि, मेदरोग, अपची, विष, प्लीहा, गुल्म, गलगण्ड और व्रण का नाशक होता है। इसी प्रकार से 'सफेद सहजन' के भी गुण हैं किन्तु वह विशेष करके दाहकारक तथा प्लीहा, विद्रधि, व्रण और पित्त-रक्त का नाशक होता है। मधुशिग्रु अर्थात् 'लाल सहजन' के भी पूर्वोक्त सभी गुण हैं किन्तु विशेष करके वह अग्निदीपक तथा सारक (दस्तावर) होता है॥

अथ शिग्रुवल्कलपत्रस्वरसगुणानाह

शिग्रुवल्कलपत्राणां स्वरसः परमार्त्तिहृत्॥ १०९॥

सहजन की छाल तथा पत्तों के स्वरस के गुण—सहजन की छाल तथा पत्तों का स्वरस असह्य पीड़ा को दूर करता है॥ १०९॥

अथ शिग्रुबीजगुणानाह

चक्षुष्यं शिग्रुजं बीजं तीक्ष्णोष्णं विषनाशनम्। अवृष्यं कफवातघ्नं तन्नस्येन शिरोऽर्त्तिनुत्॥११०॥

सहजन के बीज—नेत्रों को हितकर, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, विषनाशक, अवृष्य और कफ-वात-नाशक होते हैं। सहजन के बीजों का चूर्ण करके नस्य लेने (सूंघने) से शिर की पीड़ा दूर होती है। इसके पुष्प तथा पुष्प-मधु के गुण आगे शाकवर्ग में दिये हुवे हैं॥ ११०॥

५९ सहिजना

हि०-सहिजना, सहिजन, सहजन, सहजना, सैजन, मुनगा। बं०-सजिना। म०-शेवगा, शेगटा। मा०-सहिजनो, सर्हिजणो। क०-नुग्गे। ते०-मुनग। गु०-सेकटो, सरगवो। ता०-मोरुङ्गै, मुरिणकै। पं०-सोंहजना। मला०-मुरिण्णा। ब्राह्मी०-डोडलों विन। यू०-सिनोह। फा०-सर्व-कोही। अं०-Horse Radish Tree (हॉर्स रेडिश ट्री); Drum Stick Tree (ड्रम स्टिक् ट्री)। ले०-*Moringa pterygosperma Gaertn.* (मोरिङ्गा टेरीगोस्पर्मा गेर्ट.)। Fam. Moringaceae (मोरिंगेसी)।

यह हिमालय के निचले प्रदेशों में चेनाब से लेकर अवध तक जंगलीरूप में तथा भारत के प्रायः सभी प्रांतों में एवं बर्मा में लगाया हुआ मिलता है।

इसका वृक्ष साधारण वृक्षों के समान छोटा, २०-२५ फुट ऊँचा होता है। छाल-चिकनी, मोटी, कार्कयुक्त, भूरे रङ्ग की एवं लम्बाई में फटी हुई और लकड़ी कमजोर होती है। पत्ते-संयुक्त, प्रायः त्रिपक्षवत् तथा १-३ फीट कचिद् ५ फीट तक लंबे होते हैं। पत्रक-अंडाकार, लट्वाकार, विपरीत एवं करीब ½-¾ इञ्च लंबे होते हैं। कार्तिक महीने से बसन्त ऋतु के आरम्भ तक फूलों के गुच्छे टहनियों के अन्त में दिखाई पड़ते हैं। पुष्प-श्वेतवर्ण के तथा मधु की तरह गन्धवाले होते हैं। फलियाँ-गोल, त्रिकोणाकार, अंगुलिप्रमाण मोटी, ९-२० इञ्च लम्बी, बीजों के बीच बीच में पतली एवं बड़ी-बड़ी खड़ी ९ रेखाओं से युक्त होती हैं। उनमें सफेद, सपक्ष, त्रिकोणाकार तथा लगभग १ इञ्च लंबे बीज होते हैं। बीजों को सफेद मरिच भी कहते हैं। इससे गोंद भी निकलता है जो पहले दुधिया रहता है किन्तु बाद में वायु का सम्पर्क होने पर ऊपर से गुलाबी या लाल हो जाता है। इसकी कच्ची सेमों का साग और अचार बनाते हैं। इसकी छाल के रेशों से कागज, चटाई, डोरी आदि बनाते हैं। जानवर—विशेषकर ऊँट—इसकी टहनिओं को खाते हैं।

इसके मूल, मूल की ताजी छाल, फली, पत्र, बीज एवं गोंद आदि का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। इसकी जड़ बाहर से खुरदरी, जालीदार, हलके भूरे रंग की एवं अन्दर से श्वेत रंग की होती है। हार्सरेडिश की तरह इसका स्वाद कुछ तीता एवं गन्ध भी तीक्ष्ण होती है।

मोरिंगा कोन्केनेन्सिस् निम्मो (Moringa concanensis Nimmo) नामक एक जाति दक्षिण राजपूताना तथा सिन्ध में होती है। इसकी फलियाँ कडवी होती हैं। इसके पुष्प अधिकांश लाल होते हैं।

लाल, काले एवं श्वेतपुष्प भेद से सहजन ३ प्रकार का माना जाता है। अधिकांश श्वेतपुष्प का ही सहजन देखा जाता है। सम्भव है स्थानभेद से कहीं कहीं रक्त तथा श्यामवर्ण के भी सहजन प्राप्त होते हों। भावप्रकाशकार रक्तपुष्प वाले को मधुशिग्रु कहते हैं। संभव है इस (श्वेत जो अधिकांश मिलता है) वृक्ष के पुष्पों में मधु की तरह गंध होने से इसका नाम मधुशिग्रु दिया हो।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में करीब ३६% एक निर्गन्ध स्वच्छ तैल रहता है जो सूक्ष्म यन्त्रों में स्निग्धीकरण के काम आता है। यह रखने से खराब भी नहीं होता। बेन ऑइल (Ben-oil) नामक तैल जो घड़ीसाज व्यवहार में लाते हैं वह अधिकतर अफ्रीका में होने वाले इसी की जाति के वृक्ष (M. aptera, मो. आप्टेरा) के बीजों से निकाला जाता है। सुगंध-व्यवसाय में भी इसक उपयोग करते हैं। अस्थिर गन्ध भी इसमें स्थायी हो जाती है।

इसके मूल में स्पाइरोचिन् (Spirochin) नामक कार्यशील क्षारीय द्रव्य (Basic) एवं टेरिगोस्पर्मिन् (Pterygospermin) नामक एक प्रतिजैविकीय पदार्थ (Antibiotic) रहता है। इसमें एक उग्र दुर्गन्धयुक्त तैल भी पाया जाता है।

स्पाइरोचिन नामक क्रियाशील द्रव्य ग्रामग्राही (Gram positive) उपसर्गों, विशेषकर स्तबक गोलाणु एवं मालागोलाणुजन्य (Staphylococcal and streptococcal) उपसर्गों में लाभदायक है। यह अधिच्छदीय (Epithelial) कोषाओं की कार्यवृद्धि करता है तथा इसमें कुछ वेदनाहरण का भी गुण है। वातनाडियों पर इसका सामान्यतया अवसादक प्रभाव (General paralysing effect) पड़ता है। इससे गर्भाशय के अनियमित संकोचों का शमन होकर उसे बल मिलता है।

प्टेरिगोस्पर्मिन अनेक प्रकार के छत्राणुओं (Fungi) की वृद्धि को रोकता है। इसके साथ अल्प मात्रा में न्यूक्लिक् ॲसिड (Nucleic acid) होने पर इसकी कार्यशीलता बहुत बढ़ जाती है। यह ७५००० में १ एवं ४०००० में १ इस अल्प प्रमाण में क्रमशः ग्रामग्राही एवं ग्रामत्यागी (Gram negative) जीवाणुविरोधी कार्य करता है। ॲलिसिन् (Allicin) की तरह यह रक्त एवं आमाशयिक रस की उपस्थिति में कार्यशील रहता है किन्तु अग्न्याशयिक रस (Pancreatic Juice) की उपस्थिति में इसकी कार्यशीलता नष्ट हो जाती है।

गुण और प्रयोग—सहिजन के मूल की ताजी छाल उष्ण, कटु, दीपन, पाचन, उत्तेजक, वातानुलोमक, वातहर, कफहर, कृमिघ्न, शिरोविरेचन, स्वेदजनन, मूत्रजनन, चक्षुष्य, शोथहर एवं व्रणदोषनाशक है। वृक्कशोथ में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। इसका बाह्यलेप त्वग्रागकारक है।

इसका उपयोग अपची, गुल्म, विद्रधि, शोथ, प्लीहावृद्धि, कृमि, रजःकृच्छ्र, हिक्का, श्वास, कफज्वर, पाचन के विकार एवं व्रण में किया जाता है।

इसके नये वृक्ष की मूल को ज्वर, अपस्मार, अपतंत्रक, अंगघात, जीर्ण आमवात, जलोदर, यकृद्वृद्धि, प्लीहावृद्धि तथा अपचन में देते हैं। सैंधव एवं हींग के साथ मूलत्वक् का क्वाथ विद्रधि, शोथ, फोड़े, अश्मरी, अपस्मार एवं अपतंत्रक में दिया जाता है। संत्रे का छिलका, जायफल एवं इसकी मूलत्वक् का मद्यसारीय अर्क मूर्च्छा, चक्कर, स्नायविक दौर्बल्य, अपतंत्रक, आध्मान एवं उद्वेष्टनयुक्त आंत्रिक विकारों में लाभदायक है। मुखजाड्य, अर्दित, पक्षाघात आदि वातनाडीसंस्थान के रोगों में इसका स्वरस दिया जाता है।

व्रणशोथ पर छाल को पीसकर लेप करते हैं तथा खिलाते हैं। गले की शिथिलता, मुखविकार, कृमिदंत में इसके क्वाथ से कुल्ला कराते हैं। इसकी ताजी जड़ को सरसों एवं आदी के साथ पीसकर प्रतिक्षोभक एवं विस्फोटकारक प्रलेप के रूप में उपयोग करते हैं। संधिशोथ तथा शरीर की पीड़ा में छाल का उष्ण लेप थोड़ी देर के लिये करते हैं।

इसके बीजों के तेल की संधिवात, आमवात तथा वातरक्त में मालिश करते हैं। मूर्च्छा में बीजों का चूर्ण नाक में डालते हैं।

इसका गोंद ग्राही होता है तथा आमवात में प्रयोग किया जाता है। इसके पुष्प को दूध में उबालकर वाजीकरण के लिये पिलाते हैं। इसकी फली का साग आंत्रकृमिप्रतिबंधक मानते हैं। इसके कोमल पत्तों का साग खाने से शौच साफ होता है।

मात्रा—मूलत्वक् ४ से ८ माशा।

अथ श्वेतपुष्पा नीलपुष्पा चापराजिता (कोयल) तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

आस्फोता गिरिकर्णी स्याद्विष्णुक्रान्ताऽपराजिता । अपराजिते कटू मेध्ये शीते कण्ठ्ये सुदृष्टिदे ॥
कुष्ठमूत्रत्रिदोषामशोथव्रणविषापहे । कषाये कटुके पाके तिक्ते च स्मृतिबुद्धिदे ॥ ११२ ॥

सफेद तथा नीले फूल की कोयल के नाम तथा गुण—आस्फोता, गिरिकर्णी, विष्णुक्रान्ता और अपराजिता ये दोनों प्रकार की 'कोयल' के संस्कृत नाम हैं। दोनों कोयल-कटु, तिक्त तथा कषायरसयुक्त, मेधा के लिये हितकर, शीतवीर्य, कण्ठस्वर को उत्तम बनाने वाली, देखने की शक्ति को बढ़ाने वाली तथा कुष्ठ, मूत्ररोग, त्रिदोष, आम, शोथ, व्रण एवं विष को नष्ट करनेवाली, विपाक में कटुरसयुक्त, स्मृति तथा बुद्धि को देने वाली होती है ॥ १११–११२ ॥

नोट—भावप्रकाशकार आस्फोता, गिरिकर्णी, विष्णुक्रान्ता तथा अपराजिता ये चार पर्याय लिखते हैं। ध. नि. एवं रा. नि. में इसके 'अश्वखुर', 'श्वेतस्पन्दा' आदि अन्य पर्याय दिये हुए हैं किन्तु विष्णुक्रान्ता का वहाँ उल्लेख नहीं है। आगे शंखपुष्पीभेद में विष्णुक्रान्ता[1] का उन्होंने स्वतन्त्र उल्लेख किया है जिसके ध. नि. ने नील, शुक्ल एवं रक्तपुष्पभेद से ३ भेद किये हैं। वहाँ पर रा. नि. ने (शंखपुष्पी के अतिरिक्त) नीलपुष्पा, अपराजिता ये पर्याय विष्णुक्रान्ता के दिये हैं। भावप्रकाशकार शंखपुष्पी के पर्यायों में विष्णुक्रान्ता का उल्लेख नहीं करते।

अधिकांश विद्वानों ने अपराजिता को क्लिटोरिआ टर्नेटिआ लिन. (Clitoria ternatea Linn.) माना है तथा इसके नील एवं श्वेतपुष्प भेद पाये भी जाते हैं। किन्तु केरल में इसका (क्लि. टर्नेटिआ को) शंखपुष्पी नाम से व्यवहार करते हैं ऐसा उल्लेख 'आयुर्वेदिक फ्लोरा मेडिका' में है। इसी प्रकार एव्होल्व्हयूलस् अॅल्सिनॉइडीस् लिन. (Evolvulus alsinoides Linn.) जिसे अधिकांश विद्वान् शंखपुष्पी मानते हैं उसका केरल में विष्णुक्रान्ता नाम से व्यवहार किया जाता है।

श्री ठा० बलवन्तसिंह जी का मत है कि एव्होल्व्हयूलस् अॅल्सिनाइडीस् (पुष्प नीले) को ही विष्णुक्रान्ता मानना चाहिये तथा नीलापराजिता को विष्णुक्रान्ता नहीं मानना चाहिये। इसी प्रकार शंखपुष्पी के पुष्पों का श्वेत होना आवश्यक होने के कारण ए. अल्सिनॉइडीस् से मिलती जुलती उसी वर्ग की अन्य जाति कन्व्हॉल्व्हयुलस् प्लुरिकॉलिस् चाइसी (Convolvulus pluricaulis Choisy) को शंखपुष्पी मानना चाहिये जिसके पुष्प हलके गुलाबी या श्वेत रंग के पाये जाते हैं तथा जिनके गुणों में विशेष अन्तर नहीं है। कुछ लोगों ने कन्स्कोरा डिकसेटा शुल्ट (Canscora decussata Schult) को शंखपुष्पी माना है।

शंखपुष्पी का आगे स्वतन्त्र वर्णन किया गया है। यहां अपराजिता (क्लिटोरिआ टर्नेटिआ) का वर्णन किया गया है।

५० अपराजिता

हि०—अपराजिता, कोयल, कालीज़र। बं०—अपराजिता। म०—गोकर्णी, काजली, गोकर्ण। पं०—धनन्तर। गु०—गरणी। क०—शंखपुष्प, गिरिकर्णिके। ता०—काकणनकोटी। ते०—दिटेन। मल०—शंखपुष्पम्। इरा०—मझेरियुन्-इ-हिंदी। अं०—Winged-leaved clitoria (विंग्ड लिव्ड क्लिटोरिआ)। ले०—*Clitoria ternatea Linn.* (क्लिटोरिआ टर्नेटिआ लिन.)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी.)।

---

१. विष्णुक्रान्ता कटुस्तिक्ता कफवातामयापहा। (ध. नि.)

यह सब प्रान्तों में पाई जाती है। अधिकतर यह बगीचों में लगाई हुई मिलती है। बस्तियों के आस-पास वन्य अवस्था में भी कभी-कभी दिखाई देती है। पुष्पभेद से यह नील एवं श्वेत दो प्रकार की होती है।

इसकी लता–बहुवर्षायु, सुन्दर तथा पतले काण्ड की होती है। यह वृक्षों या झाड़ियों पर लिपटती हुई (चक्रारोही) बढ़ती है। पत्ते-संयुक्त, असम-पक्षवत (Imparipinnate) रहते हैं। पत्रक-प्रायः ५ कभी-कभी ७, अण्डाकार एवं १-२ इञ्च लम्बे होते हैं। पुष्प–जलसीप के आकार वाले नलीयुक्त, गोल, चमकीले नीले अथवा कभी-कभी श्वेत पुष्प, १½-२ इञ्च बड़े एवं पत्रकोणीय पुष्पदण्ड में एकाकी रहते हैं। ध्वजदल चम्मच के आकार का और पक्षदलों के नीचे फैला रहता है। कोणपुष्पक बड़े, स्थायी तथा पर्णसदृश होते हैं। फली–२-४ इञ्च लम्बी, चिपटी, नुकीली तथा सीधी या बहुत थोड़ी मुड़ी हुई होती है। बीज-६-१० अण्डाकार, चिपटे, चिकने तथा गहरे भूरे रंग के होते हैं।

इसके मूल का अधिक उपयोग किया जाता है। इसके पुष्प, पत्र एवं बीज आदि का भी उपयोग करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसकी जड की छाल में स्टार्च, टैनिन, राल तथा ११% राख होती है। बीज में तैल, कड़ुवी भूरे रङ्ग की राल तथा ६% राख होती है।

गुण और प्रयोग—इसकी जड़ भेदन, मूत्रल एवं वेदनास्थापन है। इससे वमन भी होता है। वमन के साथ-साथ पेट में दर्द होकर विरेचन भी होता है। कभी-कभी वमन नहीं भी होता। इसके बीज जलप की तरह किन्तु सौम्य भेदन तथा अल्प मूत्रजनन हैं। विरेचन के लिये बीजों के साथ सोंठ एवं सैंधव का उपयोग किया जाता है।

इसका उपयोग उदर, कफविकार, ज्वर, मूत्रविकार, गलगण्ड, गण्डमाला, अपची, शोथ, नेत्ररोग, उन्माद, आमवात, कुष्ठ एवं विष में किया जाता है।

(१) सभी प्रकार के जलोदर में विरेचन के लिये इसका उपयोग करते है। इससे विष का निर्हरण होता है।

(२) शुक्रमेह, बस्तिशोथ एवं मूत्रकृच्छ्र में इसकी जड़ का फांट पिलाया जाता है।

(३) बच्चों के कास-श्वास में बीजों को सेंक पीसकर थोड़ा गुड़ एवं सैंधव मिलाकर पिलाने से दस्त के साथ कफ निकल कर आराम मिलता है। कफ विकारों में मूल को दूध के साथ पिलाते हैं।

(४) अर्धावभेदक में श्वेत अपराजिता की जड़ के स्वरस का नस्य कराया जाता है।

(५) इसके पत्तों का रस, आर्द्रकरस के साथ पसीना रोकने के लिये देते हैं। त्वग्रोगों में पत्तों का फांट पिलाते हैं। कान के चारों तरफ सूजन होकर ग्रन्थियों की वृद्धि होने पर पत्तों को सैंधव के साथ पीसकर लगाते हैं।

(६) सर्पविष में इसकी जड़ की छाल तथा निर्गुंण्डी मूलत्वक् को जल में पीस कर पिलाने से लाभ होता है। (च० चि० अ० २५)

मात्रा—मूलत्वक् चूर्ण १-३ माशा; बीजचूर्ण १०-२० र०।

अथ सिन्दुवारः (मेडड़ी-सेन्दुवार) निर्गुण्डी (नीलसम्हालू) इति च तयोर्नामानि गुणांश्चाह

सिन्दुवारः श्वेतपुष्पः सिन्दुकः सिन्दुवारकः ।
नीलपुष्पी तु निर्गुण्डी शेफाली सुवहा च सा ॥ ११३ ॥
सिन्दुकः स्मृतिदस्तिक्तः कषायः कटुको लघुः ।
केश्यो नेत्रहितो हन्ति शूलशोथाममारुतान् । कृमिकुष्ठारुचिश्लेष्मज्वरान्नीलापि तद्विधा ॥

सम्हालू जिसे लोक म मेडडी तथा सेन्दुवार कहते हैं, उसके भेद, नाम तथा गुण—सम्हालू दो प्रकार का होता है एक सफेद फूल वाला, दूसरा नीले फूल वाला। सफेद फूल वाले सम्हालू के संस्कृत नाम—सिन्दुवार, सिन्दुक और सिन्दुवारक ये सब हैं। नीले फूल वाले सम्हालू के संस्कृत नाम—निर्गुण्डी, शेफाली और सुवहा ये सब हैं। सम्हालू-(सफेद फूल वाला) स्मरणशक्तिवर्धक, तिक्त, कषाय और कटुरसयुक्त, लघु, केश तथा नेत्र के लिये हितकारी होता है एवं यह शूल, शोथ, आमवात, कृमि, कुष्ठ, अरुचि और कफ-ज्वर को नष्ट करता है। इसी भांति नीले फूल वाले सम्हालू के भी गुण हैं ॥ ११३-११४ ॥

अथ सिन्दुवारपत्रगुणानाह

सिन्दुवारदलं जन्तुवातश्लेष्महरं लघु ॥ ११५ ॥

सम्हालू के पत्तों के गुण—सम्हालू के पत्ते—कृमि, वात और कफ को दूर करने वाले तथा लघु होते हैं ॥ ११५ ॥

नोट—सम्हालू के दो भेदों का भावप्रकाशकार ने वर्णन किया है। 'निर्गुण्डी' यह नीले सम्हालू के लिये कहा गया है। निर्गुण्डी का ही पर्याय शेफाली दिया गया है। ध० नि० ने 'सिन्दुवार' के श्वेत एवं नील भेद दिये हैं तथा 'शेफालिका' के भी निर्गुण्डी (नीलपुष्प) एवं शुक्ला ये भेद दिये हैं। इसी प्रकार रा० नि० एवं म० नि० ने भी शेफाली से नील (निर्गुण्डी) का ग्रहण किया है। श्री ठा० बलवन्त सिंहजी शेफालिका यह नाम हरसिंगार (Nyctanthes arbortristis) के लिए उचित समझते हैं। हरसिंगार का वर्णन पहले पृष्ठ ३३५ पर किया गया है।

कुछ लोगों ने 'नीलनिर्गुण्डी' नाम जस्टिसिआ जेन्डारुसा (Justicia gendarussa) को दिया है जिसका पृष्ठ २२३ पर वर्णन किया गया है।

आधुनिक उद्भिज्जवेत्ताओं ने भी इसके कई भेदों का वर्णन किया है। वाइटेक्स नेगुण्डो (Vitex negundo) में श्वेत या हलके नीले दोनों प्रकार के पुष्प पाये जाते हैं तथा पत्रक भी अखंड या दन्तुर दोनों प्रकार के होते हैं। इसके अतिरिक्त इसका एक भेद वाइटेक्स ट्राइफोलिआ (Vitex trifolia) भी पाया जाता है। रेणुकबीज, जिनका पृष्ठ २५१ पर वर्णन किया गया है वे भी ईरान में होनेवाली निर्गुण्डी जाति के वृक्षों के फल हैं।

५१ सम्हालू-निर्गुण्डी

हि०-सम्भालू, सम्हालू, सन्दुआर, सिनुआर, मेउड़ी। बं०-निशिन्दा। म०-लिंगड, निगड, निर्गुण्डी। पं०-बन्न, भरवन, मौरा। गु०-नगोड़, नगड। ता०-नोच्चि। म०-करिनोचि। ते०-वाविली, तेल्लावाविलि। क०-बिलिनेक्कि। फा०-पंजंबगुश्त। अ०-असलक। अं०-Five Leaved Chaste Tree (फाइव लीव्ड चेस्ट ट्री), Indian Privet (इण्डियन

प्रिवेट)। ले०-*Vitex negundo Linn.* (वाइटेक्स नेगुण्डो लिन.)। Fam. Verbenaceae (वर्बिनेसी)।

इसके वृक्ष प्रायः सब प्रान्त के वन, उपवन, नदियों के किनारे, गावों के आसपास की परती जमीन में और बागों में भी पाये जाते हैं।

इसके बड़े बड़े गुल्म प्रायः ६-२८ फीट ऊँचे अथवा कभी कभी बड़े वृक्ष के समान होते हैं। इस पर श्वेताभ रोमावरण होता है। छाल-पतली, चिकनी तथा धूसरवर्ण की होती है। पत्ते-सदल तथा ३-५ पत्रकों से युक्त होते हैं। पत्रक-भालाकार, लम्बाग्र, अखण्ड या गोल दन्तुर, २-५ इञ्च लम्बे, ½-१½ इञ्च चौड़े तथा छोटे बड़े आकार के होते हैं। अग्र का पत्रक लम्बा एवं उसका वृन्त भी लम्बा होता है। नीचे के पत्रक या बगल वाले पत्रक छोटे तथा छोटे या बिना वृन्त के होते हैं। ये ऊपर से हरे तथा नीचे श्वेताभवर्ण के होते हैं। पुष्प-आयताकार और २-८ इञ्च लम्बी मञ्जरियों में निकले रहते हैं। ये श्वेत या हलके नीले (बैंगनी) रङ्ग के होते हैं। फल-छोटे, गोल, $\frac{1}{8}$ इञ्च व्यास के तथा पकने पर काले रङ्ग के होते हैं।

इसकी जड़ पर एक पराश्रयी वनस्पति पाई जाती है जो एलेक्ट्रा पॅराझिटिका वेर. चित्रकूटेन्सिस् (Alectra parasitica, A. Rich, Var. Chitrakutensis) है। यह वर्षाकाल में होती है तथा अक्तूबर नवंबर तक परिपक्व होने पर इसके कंद को संग्रह कर सुखा कर इसका चूर्ण बना प्रयोग करते हैं। बिहार के वैद्य इसको गलितकुष्ठ के लिये उपयोगी बतलाते हैं। प्रारंभिक परीक्षण से देखा गया है कि ४ ग्राम दैनिक विभक्त मात्रा से लाभ होता है। अधिक मात्रा से अतिसारादि उपद्रव होते हैं। (प्रसाद, बी. एन्; लेप्रसी रिव्यू, जुलाई ६२ खण्ड XXXIII, अंक ३.)

इसकी एक दूसरी जाति होती है जिसे (ले०) वाइटेक्स ट्राइफोलिया लिन. (Vitex trifolia Linn.) कहते हैं। इसके पत्ते-१-३ पत्रक होते हैं। पत्रक-१-३ इञ्च लम्बे, सभी अवृन्त, अभिलट्वाकार या अभिलट्वाकार-आयताकार, अखण्ड तथा किञ्चित् कुण्ठिताग्र होते हैं। पुष्प-हलके नीले वर्ण के होते हैं। फल-काले रङ्ग के तथा $\frac{1}{6}$ इञ्च व्यास में होते हैं।

इनके पंचांग तथा पत्तों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। कुछ विद्वानों के मत से दन्तुर पत्र अधिक लाभदायक माने जाते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में एक रंगहीन गन्धयुक्त उड़नशील तैल तथा एक राल होती है। इसके बीजों में अम्ल राल, कषाय आर्गेनिक अम्ल, मॅलिक् एसिड, अत्यल्प क्षाराभ तथा रंजक द्रव्य होते हैं।

गुण और प्रयोग—यह कटु, तिक्त, कषाय, उष्ण, लघु, दीपन, वेदनास्थापन, वातहर, कफहर, ज्वरघ्न. मूत्रजनन, आर्तवजन, कृमिघ्न, मस्तिष्कबलदायक, शोथघ्न, विषहर, बल्य एवं रसायन है। शोथघ्न, वेदनास्थापन एवं वातहर गुण बहुत प्रभावशाली हैं। इसके पुष्प शीतल तथा पित्तनाशक हैं। (सु. सू. अ. ४६)

इसका प्रयोग आमवात, वातव्याधि, कास, ज्वर, प्रदर, शूल, अपचन, आध्मान, अपची, क्षय, कुष्ठ, शोथ, व्रण, प्लीहावृद्धि एवं कृमि में किया जाता है। सभी प्रकार के रोगों में शिलाजतु के साथ इसका प्रयोग लाभदायक होता है।

(१) शोथयुक्त सभी व्याधियों में यह बहुत ही लाभदायक है। फुफ्फुसशोथ, फुफ्फुसावरणशोथ, उदरावरणशोथ, किसी प्रकार का संधिशोथ, तीव्र आमवातिक संधिशोथ एवं सोजाक में कभी-कभी होनेवाले अंडशोथ में इसका अन्तर्बाह्य प्रयोग करते हैं। इसके पत्तों को पीसकर हाँडी में

गरम कर शोथ पर दिन में ३, ४ बार बाँधना चाहिये। इसके साथ करञ्ज, नीम तथा धतूरे के पत्तों का भी उपयोग करने से अधिक लाभ होता है। निर्गुण्डी में आनुलोमिक गुण न होने के कारण शोथ में प्रारंभ में नागदन्ती या रसकपूर जैसे विरेचक औषध का उपयोग करना चाहिये।

(२) कफज्वर, फुफ्फुसपाक तथा फुफ्फुसावरणशोथ आदि में इसके पत्तों का स्वरस या क्वाथ छोटी पीपल के साथ पिलाते हैं तथा पत्तों से सेकते हैं। प्रतिश्याय तथा गले के शोथ में इसके सूखे पत्तों का धूम्रपान कराया जाता है तथा पत्तों का क्वाथ छोटी पीपल एवं घोडबच के साथ पिलाते हैं। कास में पत्रस्वरससिद्धघृत का उपयोग लाभदायक है। राजयक्ष्मा में इसके पंचांग के स्वरस से सिद्ध घृत या स्वरस में घृत मिलाकर प्रयोग करते हैं।

(३) आमवात में निर्गुण्डी, तुलसी एवं भँगरैया का स्वरस अजवायन के चूर्ण के साथ देते हैं तथा पत्तों से सेंकते हैं। गृध्रसी में नीले पुष्पवाली निर्गुण्डी के पत्तों का क्वाथ पिलाते हैं तथा पत्तों से सेंकते हैं।

(४) शीतज्वर, विषमज्वर एवं सूतिकाज्वर आदि में इसके पत्तों का चूर्ण, पंचांगस्वरस, फांट या क्वाथ को देते हैं तथा इसके क्वाथ से शरीर पोंछते हैं। इससे शरीर का दाह एवं दुर्गन्धि कम होती है। विषमज्वर में प्लीहावृद्धि होने पर इसके पत्र एवं हरीतकी को गोमूत्र के साथ देते हैं या पत्तों को कुटकी एवं रसौत के साथ देते हैं। सूतिकाज्वर में इससे आर्तवशुद्धि होती है तथा गर्भाशय एवं उसके आसपास के अङ्गों का शोथ भी कम होता है। इसमें आन्तरिक प्रयोग के साथ इसके पत्तों को गरम करके बाँधते हैं। ज्वर में वमन तथा तृषाशान्ति के लिये इसके पुष्प मधु के साथ खिलाते हैं।

(५) नहरुवा कृमि में इसको खिलाते हैं तथा इससे सेंकते हैं।

(६) इसके मूल एवं पत्रस्वरस से सिद्ध तैल का शोथ, व्रण, नाडीव्रण, कुष्ठ, अपची, गंडमाला तथा सन्धिपीड़ा में व्यवहार किया जाता है। कर्णपूय में मधु के साथ इस तैल को कान में डालते हैं।

(७) सोजाक में पेशाब रुकने पर इसके उष्ण क्वाथ में रोगी को बैठाते हैं।

(८) पाँव की जलन में पत्तों को बाँधते हैं। शिरःशूल में पत्तों को पीसकर सर पर बाँधते हैं तथा फलों के चूर्ण का नस्य देते हैं। सोते समय सर के नीचे पत्तों का तकिया भी रखते हैं।

(९) कीड़े आदि से रक्षा करने के लिये चावल, कपड़े तथा पुस्तकों में इसके पत्ते रखते हैं।

मात्रा—पत्रस्वरस १-२ तो०; पत्रचूर्ण $\frac{1}{4}$-$\frac{1}{2}$ तो०; मूलत्वक् १-३ मा०।

अथ कुटजः (कुडा-कोरैया) तस्य नामगुणानाह

कुटजः कूटजः कौटो वत्सको गिरिमल्लिका ॥ ११६ ॥
कालिङ्गः शक्रशाखी च मल्लिकापुष्प इत्यपि। इन्द्रो यवफलः प्रोक्तो वृक्षकः पाण्डुरद्रुमः ॥
कुटजः कटुको रूक्षो दीपनस्तुवरो हिमः। अर्शोऽतिसारपित्तास्रकफतृष्णाऽऽमकुष्ठनुत् ॥

कुडा के नाम तथा गुण—कुटज, कूटज, कौट, वत्सक, गिरिमल्लिका, कालिङ्ग, शक्रशाखी, मल्लिकापुष्प, इन्द्र (इन्द्र पर्यायवाचक सभी शब्द), यवफल, वृक्षक और पाण्डुरद्रुम ये सब कुडा के संस्कृत नाम हैं।

कुडा—कटु तथा कषायरसयुक्त, रूक्ष, अग्निदीपक और शीतवीर्य होता है। एवम् यह बवासीर, अतिसार, पित्त, रक्त, कफ, तृषा आम तथा कुष्ठ को दूर करता है ॥ ११७-११८ ॥

५२ कुड़ा

हि०-कूड़ा, कोरयां, कुड़ा, कौरैयाँ, कुरैय्याँ। बं०-कुरचि। म०-पांढरा कुड़ा। गु०-कडो। क०-कोरासिमिन। ते०-काककोडिसे, पला कोडसा। उ०-कुड़िया। ता०-वेप्पालै, कोडगपल। मल०-वेनपाला। फा०-जबाने गुजस्खे तल्ख। अ०-लसनुल्लास फिरुलमुर्र, तिवाज। अं०-Kurchi, Conessi or Tellicherry Bark (कुर्चि, कोनेसि या तेल्लिचेरि बार्क)। ले०-*Holarrhena antidysenterica Wall.* (होलेर्हेना एन्टिडिसेन्टेरिका वाल्)। Fam. Apocynaceae (एपोसाइनेसी)।

यह भारतवर्ष के प्रायः सभी भागों में आर्द्र भूमि को छोड़कर तथा हिमालय की ४००० फीट ऊँची चोटियों पर उत्पन्न होता है। इसके छोटे छोटे वृक्ष दून और सहारनपुर के जङ्गलों में बहुत होते हैं। कहीं कहीं इसको रोपित भी किया जाता है।

कूड़े का वृक्ष बहुत ऊँचा नहीं होता, प्रायः ८-१० हाथ ऊँचा वृक्ष देखने में आता है। छाल—चौथाई इञ्च तक मोटी, खुरदरी, भूरे रंग की होती है। लकड़ी हलकी पीली और कोमल होती है। पत्ते - ५-१० इञ्च लम्बे तथा २-४ इञ्च चौड़े, नोकीले, लट्वाकार-अण्डाकार या कुछ आयताकार चिकने या मृदुरोमश एवं प्रधान शिराएँ१०-१४ युग्म होती हैं। फूल-सफेद आते हैं और उनमें कुछ सुगन्धि जान पड़ती है। फलियाँ—दो दो एक साथ परन्तु असंयुक्त, ८ से १६ इञ्च तक लम्बी, पतली, तिहाई इञ्च मोटी और कुछ टेढ़ी होती हैं। बीज—जई के समान आध इञ्च तक लम्बे, रेखाकार, आयताकार और अन्त के सिरे पर प्रायः हलके भूरे रङ्ग के रोमगुच्छ से युक्त होते हैं। इन्हें इन्द्रजव कहते हैं, और वे स्वाद में कड़वे होते हैं। इन्द्रजव तथा इसकी आर्द्र छाल का विशेष व्यवहार किया जाता है। इसी वृक्ष को श्वेत कुटज या पुंकुटज कहा जाता है तथा गुण में यह 'प्रतिनिधि तथा व्यामिश्रण' में लिखित राइटिया टिन्क्टोरिया, सं०—कृष्ण कुटज या स्त्रीकुटज जिसके बीजों को मीठा इन्द्रजव कहते हैं उससे उत्कृष्ट है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल एवं बीजों में अनेक प्रकार के क्षाराभ (Alkaloids) पाये जाते हैं जिनमें कोनेसाइन (Conessine, $C_{24}H_{40}N_2$), कुर्चिन (Kurchine, $C_{23}H_{38}N_2$), कुर्चिसीन (Kurchicine, $C_{20}H_{36}ON_2$) तथा होलेर्हेनाइन (Holarrhenine, $C_{24}H_{38}ON_2$) आदि मुख्य हैं। इसकी छाल में सम्पूर्ण क्षाराभों की अधिकतम मात्रा ४·५% से अधिक नहीं होती तथा बीजों में यह छाल की अपेक्षा कम होते हैं। प्रायः छाल में १·५% और बीज में ·०२५% यह रहते हैं।

इसके विभिन्न क्षाराभों का प्रयोग जानवरों पर तथा मनुष्यों में किया गया है तथा उसके परिणामों का अध्ययन किया गया है जिसमें सम्पूर्ण क्षाराभ अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है।

(१) संपूर्ण क्षाराभ (Total alkaloids)—नवीन आमातिसार (Acute Amoebic Dysentery) में इसकी ½ र० (१ ग्रेन) की मात्रा में प्रतिदिन पेश्यन्तर्य सूचिकाभरण करने से एमेटीन (Emetine) की अपेक्षा अधिक लाभ हुआ। एमेटीन के समान इससे कोई विषैला प्रभाव जैसे अवसाद (Depression), वमन, प्रक्षोभ (Irritation) एवं संचायि (Cumulative) प्रभाव नहीं हुआ। इसको प्र. दि. १ र० (२ ग्रेन) की मात्रा में भी सूचिकाभरण करने से एमेटिन के समान शारीरिक वा मानसिक किसी भी प्रकार का अवसाद (Depression) नहीं होता। सिवाय अत्यधिक मात्रा के इसका गर्भाशय पर कोई विषैला प्रभाव नहीं पड़ता। इसके सूचिकाभरण के स्थान पर केवल कुछ पीड़ा एवं सूजन हो जाती है जो २४ से ४८ घन्टे में दूर हो जाती है। इससे कोई स्थानिक कोथ (Necrosis) या रक्तस्राव नहीं होता जैसा एमेटीन में होता है। पुराने रोगियों में इसके सूचिकाभरण से विशेष लाभ नहीं होता।

(२) कुरची बिस्मथ आयोडाइड Kurchi bismuth iodide) – यह नारंगी लाल रंग का चूर्ण होता है। इसमें २७% सम्पूर्ण क्षाराभ तथा २२.८५% बिस्मथ तथा आयोडीन (Iodine) ५०.१५% रहता है। पुराने आमातिसार (Chronic Amoebic Dysentery) में इसका मुख द्वारा प्रयोग लाभदायक है। इसको ५ र० (१० ग्रेन) दिन में दो बार १० से २० दिन तक दिया जाता है। इससे नाडी की गति, वेग, बल एवं रक्त के दबाव पर कोई दुष्परिणाम नहीं होता। हृद्-विकारों के रोगियों में भी इसके देने से कोई विषैला प्रभाव नहीं दिखलाई देता। एमेटीन के समान वमन, अतिसार आदि अन्य प्रक्षोभक उपद्रव भी इसके प्रयोग से नहीं होते न कोई संचायि (Cumulative) प्रभाव ही होता है। इसके सेवन से ½ घंटा पूर्व क्षारीय मिश्रण देना चाहिये क्योंकि प्रायः अतिसार में पाखाने की प्रतिक्रिया अम्ल होती है जिसमें कुरची कम प्रभावशाली होती है। उपर्युक्त सूचिकाभरण के साथ इसका प्रयोग किया जा सकता है अथवा इसके साथ एमेटीन की सूई भी दी जा सकती है। इन क्षाराभों का प्रभाव अमीबाजन्य यकृत विकृति पर अभी निश्चित नहीं हुआ है।

(३) कोनेसाइन (Conessine)—इस क्षाराभ को भी सूचिकाभरण द्वारा दिया जा सकता है लेकिन इसकी अपेक्षा संपूर्ण क्षाराभ का प्रयोग करना अधिक अच्छा है। जानवरों में प्रयोग से मालूम हुआ है कि यह हृदय, श्वसन-संस्थान तथा मस्तिष्क के लिये हानिकर है। यह २८०,००० में १ हिस्से के अनुपात में भी अमीबा के लिये क्षारीय घोल में ८ मिनट में तथा बिना क्षारीय घोल में १८ मिनट में घातक है जब कि एमेटीन २००,००० में १ भाग में घातक होती है। इसके सूचिकाभरण से भी संपूर्ण क्षाराभ के समान स्थानिक प्रतिक्रिया होती है लेकिन जानवरों के समान मनुष्यों में कोई विशेष विषैला प्रभाव नहीं पड़ता। एक विशेष महत्त्व की बात यह है कि यह क्षाराभ परख नली (In vitro) में क्षय दण्डाणु (Tubercle bacillus) की वृद्धि रोकने में समर्थ है

गुण और प्रयोग—इसकी आर्द्र छाल कड़वी, अग्निदीपक, पाचक, ग्राही, अतिसारहर, ज्वरहर एवं रक्तसंग्राहक है।

इसका प्रयोग रक्तातिसार, संग्रहणी, प्रवाहिका, ज्वरातिसार, जीर्णज्वर, पचन संस्थान के अनेक विकार, श्वास एवं वृक्कशूल आदि रोगों में किया जाता है। इसको पुटपाक, अवलेह, क्वाथ, फांट, चूर्ण या अरिष्ट के रूप में व्यवहार में लाते हैं। सुगन्धि, संग्राही तथा अतिसार-नाशक अन्य औषधियों के साथ इसके क्वाथ या चूर्ण का प्रयोग लाभदायक है। इसकी छाल को खट्टे मट्ठे के साथ पीस कर लेने से अधिक गुण होता है। यह बच्चों एवं गर्भिणी में बिना किसी भय के दी जा सकती है।

(१) अतिसार की किसी भी अवस्था में यह औषधि बहुत लाभदायक सिद्ध हुई है। विशेष कर रक्तातिसार तथा पुराने आमातिसार (Chronic amoebic dysentery) में इसके प्रवाही सत्त्व (Liquid extract) का स्वतंत्र प्रयोग या उसके साथ इसबगोल, एरंड तैल या इन्द्रजव आदि को देने से बहुत लाभ होता है। इसके क्वाथ या फांट के साथ अतीस, घोडबच या मोचरस मिलाकर दे सकते हैं। एमेटीन के सूचिकाभरण के साथ इसको मुख द्वारा लेने से अधिक लाभ देखा गया है। इससे बनी हुई औषधियां जैसे कुर्चिसॉल (Kurchisol), कुर्चिलाइड (Kurchi-loid), कुर्चिबार्क एक्स्ट्राक्ट (Kurchi bark extract) आदि डाक्टरी दुकानों में बिकती हैं जिनका प्रयोग सुगम है एवं उनके क्षाराभों की मात्रा भी निश्चित रहती है। कुटज एपिकाकुआन्हा के समान कार्यकर औषधि है तथा उसमें इसके कुछ भी दोष नहीं हैं। आयुर्वेदिक योगों में

अवलेहादि के अतिरिक्त कुटजाष्टक क्काथ (शार्ङ्ग.) एवं पाठाद्य चूर्ण (चक्र.), लघु एवं बृहद् गंगाधर चूर्ण आदि उपयोगी हैं।

(२) प्रसूति के पश्चात् योनिमार्ग की शिथिलता दूर करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है।

(३) जीर्ण ज्वर में इसका प्रयोग लाभदायक सिद्ध हुआ है। इससे सिनकोना की तरह वमन, हृल्लास, शिरःशूल आदि नहीं होता।

(४) इसकी कोमल फली तथा पत्रों की साग बच्चों में केचुवें की बीमारी में देते हैं।

(५) इसका लेप आमवात एवं संधिशोथ में लाभदायक है तथा जलशोथ में इसके चूर्ण को शरीर पर मला जाता है।

(६) दन्तशूल में इसके क्काथ से कुल्ला करने से लाभ होता है।

मात्रा—त्वक् चूर्ण १–४ मा; त्वक् चूर्ण १–४ तो. क्काथ बना कर; फांट (१० में १) १ से २ औंस; प्रवाहीसत्त्व ६०–१२० बूंद; कुर्चि बिस्मथ आयोडाइड ४ ग्रा. द्वि. प्र. दि. २ हफ्ते तक।

नोट—इन्द्रयव प्रकरण भी देखें।

प्रतिनिधि और व्यामिश्रण—(क) राइटिया (Wrightia) की विभिन्न उपजातियाँ जैसे—रा० टिन्क्टोरिया, रा० टोमेन्टोसा, (W. tinctoria R. Br.; W. tomentosa Roem. & Schult.) विशेषकर रा० टिन्क्टोरिया का गलती से अथवा मिलावट के रूप में कुटज के स्थान पर प्रयोग किया जाता रहा लेकिन इनमें कार्यकारी औषधि गुण बहुत ही अल्प मात्रा में रहते हैं। इसके वृक्ष छोटे तथा इसकी छाल लाल-भूरे रंग की करीब-करीब चिकनी होती है। इसके मूल गहरे भूरे रङ्ग के या काले तथा कुटज से कम कडुवे होते हैं। इसके पत्र कुटज से छोटे होते हैं। इसके पुष्प श्वेत चमेली की तरह तथा सुगन्धित होते हैं। फलियाँ दो-दो एक साथ अग्रपर परस्पर जुड़ी हुई (फटने के समय दोनों अलग), ३-१२ इञ्च लम्बी और पृष्ठ पर सफेद दागों से युक्त होती हैं। बीज $\frac{१}{२}$ से $\frac{३}{४}$ इञ्च लम्बे, आधार के निचले सिरे पर श्वेत रेशमी तूल गुच्छ से युक्त एवं अन्त में नुकीले होते हैं। संस्कृत में इसको असित कुटज या स्त्रीकुटज कहते हैं तथा इसके बीजों को हिन्दी में मीठा इन्द्रजव कहा जाता है।

गुण और प्रयोग—अल्प मात्रा में इससे आमाशय तथा यकृत की क्रिया सुधरती है लेकिन अधिक मात्रा से वमन तथा विरेचन होता है।

(१) इसके पत्तों का स्वरस $\frac{१}{२}$ चम्मच की मात्रा में कर्नाटक, तेलगुप्रांत और मद्रास की तरफ कामला के लिये बहुत व्यवहार में आता है।

(२) सड़े हुये दाँत के गढ़े के अन्दर इसके पत्तों को पीसकर रखने से दन्तशूल दूर होता है लेकिन यह मसूड़े तथा गाल में नहीं लगाना चाहिये, अन्यथा इससे दाह उत्पन्न होता है।

(३) इसके पत्तों तथा छाल का क्काथ अन्य कडुवी औषधियों के साथ दीपक, पाचक, बल्य तथा ज्वरहर है। इसका उपयोग ज्वर के पश्चात् अथवा अन्य तीव्र रोगों की संनिवृत्तावस्था में एवं पचनसंस्थान के विकारों (Bowel complaints) में किया जाता है।

(४) मीठा इन्द्रजव बलवर्धक है तथा धातुपौष्टिक के रूप में इसका प्रयोग किया जाता है।

अथ कण्टककरञ्जघृतकरञ्जौ। (करञ्ज-करञ्जभेद)। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

करञ्जो नक्तमालश्च करजश्चिरबिल्वकः। घृतपूर्णकरञ्जोऽन्यः प्रकीर्यः पूतिकोऽपि च॥ ११९॥
स चोक्तः पूतिकरञ्जः सोमवल्कश्च स स्मृतः।

करञ्जः कटुकस्तीक्ष्णो वीर्योष्णो योनिदोषहृत्।
कुष्ठोदावर्त्तगुल्मार्शोव्रणक्रिमिकफापहः ॥ १२० ॥

करञ्ज के भेद, नाम तथा गुण—करञ्ज के दो भेद होते हैं—१ कण्टककरञ्ज, २ घृतकरञ्ज। 'कण्टककरञ्ज' के संस्कृत नाम—करञ्ज, नक्तमाल, करज और चिरबिल्वक ये सब हैं। 'घृतकरञ्ज' के संस्कृत नाम—प्रकीर्य, पूतिक, पूतिकरञ्ज और सोमवल्क ये सब हैं। करञ्ज—कटुरसयुक्त, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, योनिदोष को दूर करने वाला तथा कुष्ठ, उदावर्त्त, गुल्म, बवासीर, व्रण, कृमि तथा कफ का नाशक होता है ॥ ११९-१२० ॥

अथ करञ्जपत्रफलगुणानाह

तत्पत्रं कफवातार्शःकृमिशोथहरं परम्। भेदनं कटुकं पाके वीर्योष्णं पित्तलं लघु ॥ १२१ ॥
तत्फलं कफवातघ्नं मेहार्शःकृमिकुष्ठजित्। घृतपूर्णकरञ्जोऽपि करञ्जसदृशो गुणैः ॥ १२२ ॥

करञ्ज के पत्ते तथा फलों के गुण—करञ्ज के पत्ते कफ, वायु, बवासीर, कृमि तथा शोथ को अत्यन्त नष्ट करने वाले होते हैं। ये मल को भेदन करने वाले, पाक में कटु रस युक्त, उष्णवीर्य, पित्तजनक तथा लघु होते हैं। इसके फल—कफ, वात, प्रमेह, बवासीर कृमि और कुष्ठ नाशक होते हैं। घृतकरञ्ज के गुण भी करञ्ज के समान ही हैं ॥ १२१-१२२ ॥

नोट—भावप्रकाशकार करञ्ज के ३ भेद १. करञ्ज (नक्तमाल, चिरबिल्व), २. घृतकरञ्ज (प्रकीर्य, पूतिकरञ्ज, सोमवल्क) एवं ३ करञ्जी (उदकीर्य, षड्ग्रन्था, हस्तिवारुणी) लिखते हैं जिनमें से प्रथम दो के गुण समान लिखे हैं। अन्य निघंटुकारों ने भी इसके कई भेदों का उल्लेख किया है किन्तु इनके पर्यायवाची नामों के कारण भ्रम उत्पन्न होता है। उन्हीं नामों को किसी ने एक के साथ जोड़ा है तो किसी ने दूसरों के साथ जोड़ा है। इस तरह यह कहना कठिन है कि जिसे भावप्रकाशकार करञ्ज लिखते हैं उसी को अन्य निघंटुकारों ने करञ्ज माना है या जिसे ये घृतकरञ्ज एवं करञ्जी लिखते हैं उसे ही अन्य निघंटुकारों ने भी घृतकरञ्ज एवं करञ्जी माना है।

आधुनिक विद्वानों ने भी (वृक्ष) करञ्ज, कंटकरञ्ज एवं चिरबिल्व नाम से इसके ३ भेदों का वर्णन किया है। भावप्रकाशकार चिरबिल्व करञ्ज का पर्याय मानते हैं। कुछ विद्वान् उदकीर्य नाम करञ्ज को देते हैं जो यहाँ करञ्जी के लिये आता है। प्रकीर्य नाम कण्टकरञ्ज के लिये कहा जाता है। यहां पर वृक्ष करञ्ज एवं लताकरञ्ज का स्वतन्त्र वर्णन किया गया है तथा करञ्जी के अन्तर्गत चिरबिल्व का वर्णन किया गया है।

५३ करञ्ज (वृक्ष करञ्ज)

सं०—करञ्ज, नक्तमाल, उदकीर्य। हिं०—करञ्ज, करञ्जवा, किरमाल, पापर, दिठोरी। बं०—डहर करञ्जा। म०—करञ्ज। गु०—कणझी, करञ्ज। पं०—सूचचेइन। ता०—पुंगम्, पुंकु। ते०—पुंगु, कानुगुचेट्टु। मला०—पोन्नम्, उन्नेमरम्। कं०—हॊंगे। अं०—Smooth Leaved Pongamia (स्मूथ लीव्ड पोंगेमिया), Indian Beech (इण्डियन बीच)। ले०—*Pongamia glabra Vent.* (पोन्गेमिआ ग्लॅब्रा वेण्ट.)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है। सड़कों के किनारे, बगीचों में एवं नदी तथा समुद्री किनारों पर यह बहुत पाया जाता है। इसका वृक्ष साधारण वृक्षों की ऊँचाई का होता है और सदा हरा-भरा रहता है। इसकी छाया ठण्डी और प्रिय होती है। शाखायें लटकी हुई

होती हैं। पत्ते—पक्षवत, ८-१४ इञ्च लम्बे एवं पत्रदण्ड आधार पर फूला हुआ होता है। पत्रक—हरे रङ्ग के चमकीले, चिकने, संख्या में ५-७, आयताकार या लट्वाकार, नुकीले, २-५ इञ्च लम्बे एवं छोटे वृन्त से युक्त होते हैं। फूल—जरा गुलाबी और आसमानी छाया लिये हुये श्वेतवर्ण के गुच्छों में आते हैं। एक दलपत्र बड़ा होता है जो अन्य चार दलपत्रों को ढक कर रखता है। सूखने के पहिले ही असंख्य संख्या में पुष्प जमीन पर गिर कर भूमि को आच्छादित कर देते हैं। फलियाँ—चिकनी, चिपटी, कठोर, एक बीजयुक्त, गहरे धूसर रङ्ग की तथा १-२ इञ्च लम्बी सेम के आकार की होती हैं। बीज—चिपटे कृष्णाभ रक्त वर्ण के कुछ सिकुडनदार गोलाई लिये आयताकार एवं तैल युक्त होते हैं।

इसके पत्र, कांड एवं मूल की त्वचा, तैल एवं बीजों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। बीजों का तैल जलाने के काम भी आता है।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में २७-३६·४% एक कडुवा, भूरे रङ्ग का एवं विशिष्ट गन्ध का तैल पाया जाता है। इसे पोन्गेमॉल (Pongamal) या होंगे तैल (Hongay oil) कहते हैं। इस तैल से करंजीन (Karanjin, S_{18} H_{12} O_4) नामक एक रवेदार पदार्थ प्राप्त किया गया है। बीजों में अत्यल्प मात्रा में उडनशील तैल रहता है। इसकी छाल में एक क्षाराभ एवं हरिताभ भूरे रंग की अम्लस्वभावी राल पाई जाती है।

गुण और प्रयोग—करंज कुष्ठघ्न, आमवातघ्न, कृमिघ्न, व्रणरोपण, कासहर, पाचन एवं त्वचा के रोगों में लाभदायक है।

(१) इसके बीजों का तैल बहुत अच्छा कृमिघ्न, पराश्रयी जीवाणुनाशक तथा व्रणरोपक है। खुजली (Scabies) के लिये यह बहुत उपयोगी है। यह दद्रु, पामा, विचर्चिका, विसर्प, सर की खुजली, परिसर्प (Herpes) आदि त्वचा के रोगों में एवं संधिवात में लाभदायक है। त्वचा के रोगों में इसके साथ समान मात्रा में नींबू का रस मिलाकर लगाते हैं।

(२) वातिक पीडा, आमवात तथा संधिवात में इसके पत्तों के क्वाथ से सेंकते हैं तथा इसके बीजों के तैल से मालिश करते हैं।

(३) दुर्गन्धयुक्त व्रण की शुद्धि के लिए तथा नाडीव्रण के पूरण के लिये इसके मूल का स्वरस लगाते हैं।

(४) सोजाक में इसकी जड़ का स्वरस, नारियल का दूध एवं चूने का जल मिलाकर देते हैं।

(५) इसके बीजों का चूर्ण ज्वरहर तथा बल्य मानते हैं। कुकास एवं अन्य प्रकार की खाँसी में इसके बीज को घिसकर देने से लाभ होता है।

(६) इसके पत्तों को अपचन, अतिसार, आध्मान तथा गुल्म में खिलाते हैं। इससे उदरशूल कम होता है एवं अन्न का पाचन भी ठीक होता है। शीतपित्त में पत्र-स्वरस, दही, नमक एवं काली मिर्च के साथ देते हैं।

(७) मधुमेह में इसके पुष्पों का फाण्ट पिलाते हैं। खालित्य में पुष्प पीस कर सर पर बाँधते हैं।

(८) व्रणशोथ पर इसके पत्तों को निर्गुण्डी के पत्तों के साथ पीस कर बाँधने से सूजन कम हो जाती है।

(९) रक्तार्श में इसके मूल को गोमूत्र में पीस कर पिलाते हैं तथा पथ्य में तक्र देते हैं।

मात्रा—बीज ½-२½ रत्ती बच्चों को, १ माशा बड़ों को;

मूलस्वरस ३ माशा; छाल १-३ माशा।

५४ करंज (कंट करंज)

सं०–पूतिकरंज, लताकरंज, कण्टकिकरंज, विटपकरंज, कुवेराक्ष, प्रकीर्य। **हिं०**–करंज, करंजवा, करंजुआ, कंटकरंज (जा), कंजा, करंजु, कट्कलेजा, सागरगोटा। **बं०**–काँटा करंजा, नाटा करंजा, नाटा। **म०**–सागर गोटा, गजा, गजरघोटा, गाजगा। **गु०**–कांचका, कांक। **क०**–गज्जिकेकायि। **ते०**–गचकाय। **ता०**–कझ शिकें। **मला०**–कलंचिकुरु। **फा०**–खाये इब्लीस। **अ०**–अक्तमक्त, इज़्ज़ुलविलादत। **अं०**–Bonduc nut (बॉण्डक् नट्); Physic nut (फिझिक् नट्); Fever nut (फीवर् नट्)। **लै०**–*Caesalpinia bonducella Fleming* (सिसल्पिनिआ बॉण्ड्युसेल्ला फ्लेमिंग); C. crista Linn. (सि. क्रिस्टा लिन.)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

यह भारतवर्ष, वर्मा एवं लंका के उष्ण प्रदेशों में विशेषकर समुद्री किनारों पर तथा पहाड़ियों पर २५०० फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है। यह बंगाल तथा दक्षिण में बहुत होता है। इसे खेत और बागों की मेंड पर लगाते हैं।

इसके सघन एवं विस्तृत काँटेदार गुल्म या लता होती है। शाखाएं–फैली हुई तथा आरोहणशील होती हैं। इन पर सीधे, तीक्ष्ण तथा पीले रंग के काँटे होते हैं। छोटी शाखाएं घनरोमश होती हैं। उपपत्र (Stipules) ६–८ जोड़े, २–३ इञ्च लंबे तथा पत्र के आधार पर रहते हैं। पत्ते–संयुक्त द्विपक्षाकार तथा १–२ फीट लंबे होते हैं। पत्रदण्ड के कांटे टेढ़े होते हैं। पत्रक–६–९ जोड़े, $\frac{3}{4}$–१$\frac{1}{2}$ इञ्च लंबे, $\frac{1}{2}$–१ इञ्च चौड़े, मुलायम, पतले, लट्वाकार, आयताकार, रोमश कुण्ठिताग्र, ऊपर से चिकने किन्तु अधो पृष्ठ मृदुरोमश एवं अत्यन्त सूक्ष्म वृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प–हल्के पीले तथा लंबी मंजरियों में होते हैं। फलियां–चौड़ी, आयताकार, २–३ इञ्च लंबी, करीब २ इञ्च चौड़ी, १–२ बीजों से युक्त और ऊपर से कांटों से ढकी रहती हैं। बीज–संख्या में १–२, गोल या अंडाकार, करीब $\frac{1}{2}$–$\frac{3}{4}$ इञ्च बड़े, सीसे के रंग के चिकने तथा कठोर आवरण वाले होते हैं। बीजों के अन्दर पीताभ श्वेत रंग का गूदा रहता है जो स्वाद में अत्यन्त कडवा होता है।

बीजों को फूलने तक सेंक कर या केवल फोड़कर अन्दर का गूदा निकालकर काम में लाया जाता है। इसके अतिरिक्त पत्र एवं मूलत्वक् का भी चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। इसके बीजों में मज्जा करीब ४२% एवं छिलका ५८% होता है।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में बोण्डयुसिन (Bonducin, $C_{20}H_{28}O_8$) नामक एक कडुआ ग्लुकोसाइड चूर्णरूप में पाया जाता है। यह श्वेत रंग का होता है। यह जल में नहीं घुलता किन्तु मद्यसार तथा तैलों में घुल जाता है। इसके अतिरिक्त बीजों में २०–२४% हलके पीले रंग का गाढा दुर्गन्धयुक्त तैल, स्टार्च, शर्करा, सिटोस्टेरॉल् (Sitosterol), फाइटोस्टेराल् (Phytosterol) एवं हेप्टोकोसेन (Heptocosane) ये पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके बीजों की मज्जा उष्ण, रूक्ष, बल्य, नियतकालिक ज्वर प्रतिबन्धक, ज्वरहर, शोथघ्न, अल्प स्तम्भन, रक्तस्तम्भक, वेदनाहर एवं कृमिघ्न है। इसका उपयोग विषमज्वर, सूतिकाज्वर, शूल, श्वास, वातविकार, चर्मरोग, शोथ एवं व्रण आदि में किया जाता है।

(१) इसके बीज अर्धविसर्गीज्वर, साधारणज्वर, संतत ज्वर, शीतज्वर तथा विशेषकर मलेरिया (Malaria) के लिये बहुत ही लाभदायक हैं। बीजों का चूर्ण काली मिरिच के साथ ५–१० र० की मात्रा में ज्वर आने के पूर्व दिया जाता है। इसे खाली पेट नहीं देना चाहिये। किनीन की तरह ही यह लाभदायक माना जाता है। ज्वर के पश्चात् बल्य रूप में भी इसका प्रयोग करते हैं।

(२) सूतिकाज्वर में या प्रसूतावस्था में बीजों के प्रयोग करने से सभी प्रकार से लाभ होता है। इससे ज्वर कम होता है। गर्भाशय का संकोच होता है, शूल कम होता है, आर्तव शुद्धि होती है एवं यदि कहीं व्रण हुआ हो तो वह भी अच्छा हो जाता है।

(३) उदरशूल में वेदना कम करने के लिये तथा वमन में करीब १ बीज की ½ मज्जा, २, ३ लौंग के साथ देते हैं। शूल में इसका धूम्रपान भी लाभदायक होता है। अजीर्ण में हींग के साथ इसका उपयोग किया जाता है। कुपचन में मिरिच के साथ इसका चूर्ण मट्ठे के साथ देते हैं। रक्तातिसार में गाँजा के साथ इसका उपयोग किया जाता है।

(४) क्षयज कास तथा श्वास में बीजों का क्वाथ पिलाते हैं।

(५) इसके बीजों का चूर्ण एरंडपत्र पर डालकर अंडवृद्धि एवं अंडशोथ पर बाँधते हैं तथा इसको खिलाते हैं। इसके (पूतिकरंज) पत्तों का स्वरस श्लीपद में लाभदायक होता है (सु० चि० १९)। बीजों को पीसकर एरंड तैल के साथ अन्य प्रकार के शोथ पर भी बाँधते हैं।

(६) बीजों को दबाकर निकाला हुआ तैल मुँह पर के दाग, तारुण्यपिटिका एवं आमवात में लगाया जाता है। कर्णस्राव में इसे डालते हैं। दुष्टव्रण एवं क्षत आदि में इससे लाभ होता है। बीजों को तैल में पकाकर सिद्ध किया हुआ तैल भी इस प्रकार उपयोग में लाया जाता है।

(७) इसकी जड़ एवं पत्ते ज्वरघ्न हैं। इसके पत्तों का स्वरस जीर्णज्वर, शीतपित्त, उपदंश की द्वितीयावस्था में उत्पन्न चर्मविकार, कृमि एवं यकृत विकार में दिया जाता है।

मात्रा—बीजमज्जा ५–१० र०; मूल ५–१० र०; पत्रस्वरस १–२ तो०।

अथ करंजी (अरारी)। तस्या नामगुणानाह

उदकीर्यस्तृतीयोऽन्यः षड्ग्रन्था हस्तिवारुणी।
मर्कटी वायसी चापि करञ्जी करभञ्जिका ॥ १२३ ॥
करञ्जी स्तम्भनी तिक्ता तुवरा कटुपाकिनी।
वीर्योष्णा वमिपित्तार्शःकृमिकुष्ठप्रमेहजित् ॥ १२४ ॥

करञ्ज के उक्त भेदों से भिन्न एक तीसरा करञ्ज और होता है जिसे करञ्जी (अरारी) कहते हैं, उसके नाम तथा गुण—उदकीर्य, षड्ग्रन्था, हस्तिवारुणी, मर्कटी, वायसी, करञ्जी और करभञ्जिका ये सब करञ्जी के संस्कृत नाम हैं। करञ्जी–स्तम्भक, तिक्त तथा कषाय रस युक्त, पाक में कटु रस युक्त और उष्णवीर्य होती है। यह—वमन, पित्त, बवासीर, कृमि, कुष्ठ तथा प्रमेह को दूर करने वाली होती है ॥ १२३–१२४ ॥

नोट—यह भी करंज का एक भेद है। पहले वर्णन किये हुए वृक्ष करंज एवं लताकरंज के अतिरिक्त एक तीसरा भेद चिरबिल्व नाम से पाया जाता है जिसका यहाँ वर्णन किया गया है। भावप्रकाशकार चिरबिल्व नाम नक्तमाल के पर्याय में लेते हैं। कुछ लोग उदकीर्य नाम नक्तमाल के लिये उचित मानते हैं जो यहाँ करंजी के पर्याय में आया है।

५५ चिरबिल्व (करंजभेद)

सं०–चिरबिल्व, पूतिकरंज। हिं०–चिलबिल, चिरमिल, पापरी, करंजी, बनचिल्ला। म०–वावल। गु०–कणझो. चरेल। उड़ि०–दुरंजा, करंजी। ता०–अयम्। ते०–जविलि क०–रसविज। ले०–*Holoptelia integrifolia* Planch. (हॉलोप्टेलिआ इन्टेग्रिफोलिआ प्लँच)। Fam. Ulmaceae (अलमॅसी)।

यह हिमालय के निचले प्रदेश, अजमेर, बुंदेलखंड, बिहार, आसाम एवं पश्चिम प्रायद्वीप में प्रायः घाटियों तथा नदियों के किनारे पाया जाता है।

इसके वृक्ष-छोटे या बड़े एवं करंज के समान ही दिखलाई देते हैं। शाखाएँ-लटकी हुई, गुच्छाकार तथा श्वेत रंग की होती हैं। काण्ड-मजबूत होता है। पत्ते-दो कतारों में निकले हुये, अण्डाकार या लट्वाकार, प्रायः (परिपक्व) अखण्ड, २·४·५ इञ्च लम्बे, १·५-७·७५ इञ्च चौड़े, नोकदार, दुर्गन्ध युक्त एवं बिन्दुकित होते हैं। हरे पत्तों में पारदर्शक बिन्दु होते हैं। शुष्क पत्तों में अधर तल पर छोटे छोटे उभरे हुये बिन्दु दिखाई देते हैं। पुष्प-बहुत छोटे, हरित, शाखाओं के अग्र पर गुच्छों में पतझड़ होने पर निकलते हैं। फल-सपक्ष, चिपटा, प्रायः १ इञ्च लम्बा, गोल या अण्डाकार एवं नताग्र होता है। फल भेद से इसके ३, ४ भेदों का उल्लेख है। इसके पत्तों एवं काष्ठ में दुर्गन्ध होती है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में लुआबदार पदार्थ बहुत होता है।

गुण और प्रयोग—यह शोथहर, शोणितोत्क्लेशक एवं करंज के समान गुण वाला है। इसकी छाल को उबाल कर उसका लुआब अथवा मूल को पीस कर संधिशोथ पर लगाते हैं तथा उबली हुई छाल को ऊपर से बांध देते हैं। इसके पत्तों का कल्क तैल में उबाल कर वह तैल व्रण पर लगाते हैं। दाद पर बीज को जल में घिसकर लगाया जाता है।

अथ गुञ्जा-श्वेता रक्ता च। तयोर्नामगुणानाह

श्वेता गुञ्जोच्चटा प्रोक्ता कृष्णला चापि सा स्मृता।
रक्ता सा काकचिञ्ची स्यात्काकणन्ती च रक्तिका ॥ १२५ ॥
काकादनी काकपीलुः सा स्मृता काकवल्लरी।
गुञ्जाद्वयन्तु केश्यं स्याद्वातपित्तज्वरापहम् ॥ १२६ ॥
मुखशोषभ्रमश्वासतृष्णामदविनाशनम्। नेत्रामयहरं वृष्यं बल्यं कण्डूं व्रणं हरेत् ॥ १२७ ॥
कृमीन्द्रलुप्तकुष्ठानि रक्ता च धवलाऽपि ॥ १२८ ॥

सफेद तथा लाल गुञ्जा के नाम तथा गुण—श्वेतगुंजा, उच्चटा (श्वेतोच्चटा), और कृष्णला ये सब संस्कृत नाम सफेद घुँघुची के हैं। लाल घुँघुची के संस्कृत नाम—रक्तगुञ्जा, काकचिञ्ची, काकणन्ती, रक्तिका, काकादनी, काकपीलु और काकवल्लरी ये सब हैं। दोनों प्रकार की घुँघुची केश के लिये हितकर, वात, पित्त, ज्वर, मुख का सूखना, भ्रमरोग, श्वास, तृषा, मद तथा नेत्ररोग को नष्ट करने वाली होती है। यह वृष्य, बलकारक तथा खुजली, व्रण, कृमि, इन्द्रलुप्तरोग तथा कुष्ठ इन सबों को भी दूर करनेवाली होती है ॥ १२५-१२८ ॥

५६ गुञ्जा (श्वेत, रक्त)

हि०-गुंजा, घुंघची, घुँघुची, चिरमी, चिरमिटी, घुमची, करजनी, रत्ती, चौंटली। बं०-कुँच। म०-गुञ्ज। गु०-चणोठी। क०-गुलगुंति, गुरुगुजी। मल०-कुन्नि। ता०-कुन्थमणि, कुँरि। पं०-चमँटी। ते०-गुरुगिंज। फा०-चश्मे खरूस, सुर्ख। अं०-Jequirity (जेक्विरिटी)। ले०-*Abrus precatorius Linn.* (एब्रस् प्रिकेटोरिअस् लिन.)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

गुंजा प्रायः सब प्रान्तों के जङ्गल-झाड़ियों में उत्पन्न होती है तथा हिमालय में ३००० फीट की ऊँचाई तक पायी जाती है। इसकी लता-सुन्दर तथा चक्रारोही होती है। शाखायें-पतली,

लचीली तथा काष्ठमय होती हैं। यह बरसात के दिनों में खूब हरी भरी दिखाई देती है। पत्ते-इमली के जैसे, २-३½ इञ्च लम्बे, युग्म पक्षाकार होते हैं। पत्रक-१०-२० जोड़े, विपरीत, आधे से एक इञ्च लम्बे, ⅙ इञ्च तक चौड़े, रेखाकार-आयताकार, अखण्ड तथा दोनों सिरों पर कुछ गोल एवं स्वाद में मीठे रहते हैं। पुष्प-वर्षाकाल में ३ इञ्च लम्बी और गुच्छे में निकली हुई मञ्जरियों में प्रायः सफेद या गुलाबी छाया लिये हुये या हलके बैंगनी रङ्ग के आते हैं। फली-१-१½ इञ्च लम्बी नुकीली तथा गुच्छों में आती है। यह शीतकाल के अन्त तक पक जाती है। बीज-छोटे, चिकने, चमकीले, कड़े, काले दाग के साथ और सिन्दूरवर्ण के या कभी कभी बिलकुल श्वेत रंग के या बिलकुल काले, संख्या में ३-६ तथा अण्डाकार होते हैं। इसकी जड़-काष्ठमय, अनेक शाखाओं से युक्त टेढ़ी मेढ़ी होती है।

नोट—मूलविषों के अन्तर्गत सुश्रुत में इसका उल्लेख है (सु० क० अ० २)। चरक में स्थावर विष वर्ग में इसका पाठ नहीं है। उच्चटा नाम से वाजीकरण के लिये इसका प्रयोग किया गया है। गुञ्जा बीज में जो विष होता है वह उबालने से नष्ट हो जाता है तथा इसका विषैला प्रभाव केवल अधस्त्वगीय प्रवेश से ही होता है। वंगसेन ने गृध्रसी में वेदना शान्ति के लिये शिराप्रच्छन्न करके गुञ्जाकल्क लेप का निर्देश किया है।[1] बाह्य प्रयोग में गुञ्जा की उपयोगिता होने पर शुद्ध गुञ्जाबीज का ही व्यवहार करना चाहिये।

इसकी जड़ गुणों में कुछ कुछ मुलेठी के समान होती है तथा उसमें भी मुलेठी में पाया जाने वाला ग्लिसिहाइझिन् (Glycyrrhizin) नामक तत्त्व होता है। इस कारण कभी कभी मुलेठी के प्रतिनिधि रूप में यह ले ली जाती है। किन्तु इसे मुलेठी मानना उचित नहीं है। गुञ्जा की जड़, शोधित (श्वेत) बीज एवं पत्र का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—गुंजा के बीजों में ॲब्रिन् (Abrin) नामक एक विषैला तथा प्रक्षोभक प्रभूजिन जातीय द्रव्य है। इसके अतिरिक्त बीजों में विषैले प्रभूजिन जातीय अन्य द्रव्य, वसाविच्छेदक किण्व (Fat-splitting enzyme), ॲब्रूसिक् ॲसिड (Abrussic acid), हीमॅग्लूटिनिन् (Haemagglutinin) एवं यूरिएस् (Urease) पाये जाते हैं। बीजों के छिलकों में लाल रंजक द्रव्य होता है।

इसके मूल में मुलेठी में पाया जाने वाला द्रव्य ग्लिसिहाइझिन् (Glycyrrhizin) करीब १.५% एवं अम्ल राल ८% पाई जाती है।

इसके पत्तों में भी करीब १०% ग्लिसिहाइझिन् (Glycyrrhizin) एवं ॲब्रिन् (Abrin) रहता है।

ॲब्रिन् (Abrin) यह अत्यन्त विषैला द्रव्य है। इसमें ग्लोब्युलिन् (Globulin) एवं ॲल्ब्युमोस (Albumose) ये दो प्रभूजिन (Protein) होते है जिनमें से प्रथम अधिक शक्तिशाली है। यह द्रव्य उबालने से नष्ट हो जाता है। इसको एरंड बीज में पाये जाने वाले रिसिन (Ricin) सदृश मानते हैं। शरीर भार के प्रति किलोग्राम के लिये $\frac{1}{1000}$ से $\frac{1}{2000}$ मिलिग्राम की मात्रा में इसका अधस्त्वगीय सूचिकाभरण घातक होता है। बीजों के क्वाथ को आँखों में डालने से भी मृत्यु हो सकती है क्योंकि वहां अत्यन्त तीव्र प्रक्षोभ उत्पन्न होता है तथा विष का प्रचूषण होता है। त्वचान्तर्गत प्रयोग से स्थानिक अत्यन्त तीव्र प्रक्षोभ उत्पन्न होकर शोथ एवं त्वचा में रक्तस्राव होता है। मुख द्वारा सेवन से इससे अल्प या बिलकुल ही प्रक्षोभ नहीं होता एवं आमाशय में पहुँचने पर यह विषरहित हो जाता है। जानवरों में अतिसूक्ष्मातिसूक्ष्म मात्रा में

---

१. द्वित्रिस्थानेषु गृध्रस्यां शिरा प्रच्छन्नवेधिता। गुञ्जाकल्केन लिप्ता च सद्यस्त्यजति वेदनाम्॥वंगसे०॥

सूचिकाभरण से उनमें इस विष के प्रति सहनशीलता उत्पन्न हो जाती है। चर्मकार चर्म के लोभ में जानवरों को मारने के लिये बीजों की वर्ति बनाकर चमड़े में प्रवेश करते थे। गर्भपात कराने के लिये भी इस प्रकार की वर्तियों का उपयोग किया जाता था।

शोधन—श्वेतगुंजा के बीज गोदुग्ध में १ प्रहर उबाल कर, छिलके निकाल कर गरम जल से धोकर फिर प्रयोग करना चाहिये। कांजी में भी स्वेदन करने से इनकी शुद्धि हो जाती है।

विष प्रभाव—बिना शोधन के बीजों का प्रयोग तीव्र वामक एवं विरेचक होता है। अधिक मात्रा में प्रयोग से भी इस प्रकार के विसूचिका सदृश लक्षण उत्पन्न होते हैं। यदि इसके प्रयोग से बेचैनी आदि हो तो चौलाई का रस मिश्री मिला कर पिलाना चाहिये तथा ऊपर से दूध पिलाना चाहिये।

गुण और प्रयोग—गुंजा की जड़ की क्रिया मुलेठी की तरह होती है। पत्ते भी मधुर होते हैं। यह भी मुलेठी की ही तरह मधुर, स्नेहन, कफ शामक, मूत्रजनन एवं व्रणरोपण है। इसके बीज उष्ण, बल्य, वृष्य, केश्य, वातहर एवं स्थानिक प्रक्षोभक हैं।

(१) स्वरभंग में श्वेत गुंजा के पत्र कबाबचीनी के साथ या अकेले मिश्री मिलाकर चूसने को दिये जाते हैं। मुखपाक में भी पत्र चूसने से लाभ होता है। वेदनायुक्त शोथ पर पत्र स्वरस या पत्र कल्क को तैल में मिलाकर लगाया जाता है। व्रण पर भी इसका उपयोग करते हैं। उपदंश में लाल गुंजा के पत्र ½ माशा, जीरा २ माशा तथा मिश्री १ तोला मिलाकर दिन में दो बार ७ दिन तक प्रयोग किया जाता है।

(२) वीर्य विकार में २ माशे जड़ को दूध में पका कर भोजन के पूर्व रात में देते हैं। कास तथा मूत्र रोगों में भी जड़ का अन्य औषधों के साथ उपयोग करते हैं।

(३) इसकी जड़ तथा फल से सिद्ध तैल गण्डमाला, गलग्रन्थि आदि पर लगाया जाता है तथा उसका नस्य देते हैं।

(४) दाद तथा खुजली पर बीजों के कल्क तथा भृंगराजपत्र-स्वरस से सिद्ध तैल का उपयोग किया जाता है। श्वेत कुष्ठ में तैलपाक के पूर्व उसमें चित्रककल्क मिलाते हैं। पत्रस्वरस का भी चित्रकमूल के साथ श्वेत कुष्ठ में प्रयोग किया जाता है।

(५) अँग्रिन या छिलका निकाले बीजों का फांट आँखों की फूली या रोहा में प्रक्षोभक औषध के रूप में उपयोग किया जाता था किन्तु कभी-कभी इससे अनियंत्रित शोथ आदि होकर आँख भी नष्ट हो जाने के कारण अब इसका उपयोग नहीं करते हैं।

(६) बीजों का कल्क खालित्य, गृध्रसी, अंगघात तथा अन्य वातिक विकारों पर लगाते हैं।

मात्रा—मूल २-४ माशा, बीज ½–१½ रत्ती।

अथ कपिकच्छूः (कौंच) । तस्या नामगुणानाह

कपिकच्छूरात्मगुप्ता वृष्या प्रोक्ता च मर्कटी। अजडा कण्डुरा व्यङ्गा दुःस्पर्शा प्रावृषायणी॥
लाङ्गली शूकशिम्बी च सैव प्रोक्ता महर्षिभिः।
कपिकच्छूर्भृशं वृष्या मधुरा बृंहणी गुरुः। तिक्ता वातहरी बल्या कफपित्तास्रनाशिनी॥

कौंच (केवांच) के नाम तथा गुण—कपिकच्छू, आत्मगुप्ता, वृष्या, मर्कटी, अजडा, कण्डुरा, व्यङ्गा, दुःस्पर्शा, प्रावृषायणी, लाङ्गली और शूकशिम्बी ये सब कौंच के पर्यायवाचक शब्द महर्षियों ने कहे हैं। कौंच—अत्यन्त वृष्य, मधुर तथा तिक्तरस युक्त, बृंहण, गुरु, वातनाशक, बलकारक तथा कफ, पित्त एवम् रक्तदोष नाशक है॥ १२९-१३०॥

अथ तद्बीजगुणानाह

तद्बीजं वातशमनं स्मृतं वाजीकरं परम् ॥ १३१ ॥

इसके बीज के गुण—कौंच के बीज-वातशामक एवम् अत्यन्त वाजीकरण हैं ॥ १३१ ॥

५७ कपिकच्छू (केवाँच)

हि०-केवाँच, कौंच, कौंछ, केवाछ, खुजनी। बं०-आलकुशी। म०-खाज कुहिली, कुहिली, कवच। गु०-कवच, कौंचा। क०-नासुगुन्नी। ते०-पिल्ली अडुगु। ता०-पुनाइक काली, पुनैकलि। पं०-कवांच, कूंच। अं०-Cowhage (काउहेज); Cowitch (काउइच)। ले०-*Mucuna pruriens Bek.* (म्युक्युना प्रुरिएन्स बेक्)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

यह भारतवर्ष के सभी मैदानी भागों में एवं लंका तथा बर्मा में पाया जाता है। यह सभी उष्ण प्रदेशों में होता है एवं इसकी खेती भी की जाती है।

इसकी लता-पतली, चक्रारोही, एकवर्षायु तथा चौमासे में अधिक होती है। पत्ते-त्रिपत्रक एवं २½-५½ इञ्च लंबे पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। पत्रक-३-६ इञ्च लम्बे, पार्श्वपत्रक किञ्चित् हृद्वत् और लट्वाकार एवं अग्रस्थ पत्रक तिर्यगायताकार (Rhomboid), पतले तथा ऊपर चिकने किन्तु अधर तल पर तलशयी रोमों से युक्त होते हैं। पुष्प-नीलारुण (Purple), १½ इञ्च तक लम्बे, सघन, लटकी हुई और ६-१२ इञ्च लम्बी मंजरियों में आते हैं। फली-२-३ इञ्च लम्बी, ½ इञ्च चौड़ी, दोनों अग्रों पर विपरीत दिशाओं में टेढ़ी, कुछ फूली सी एवं लम्बाई में धारियों से युक्त होती है। यह भूरे रंग के करीब ०·१ इञ्च लम्बे सघन दृढ रोमों से ढकी रहती है। ये रोम शरीर में लगाने से अत्यन्त खुजली उत्पन्न हो कर दाह तथा सूजन उत्पन्न होती है। बीज-प्रत्येक फली में ५-६ काले चमकीले तथा अन्तर्भित्ति के पतले आवरण में ढके रहते हैं।

कौंच जंगली और बागी दो प्रकार का होता है, जंगली के फलियों के ऊपर तीक्ष्ण रोवें होते हैं। इसके शरीर में लगने से खुजलाहट, सूजन और पीड़ा उत्पन्न होती है। बागी किवाँच को बाग और खेतों में लगाते हैं। यह दो प्रकार का होता है। एक की फलियों के ऊपर रोवें कम होते हैं और उनमें अधिक तीक्ष्णता नहीं होती और दूसरे में रोवें नहीं होते हैं। दोनों की तरकारी बनती है। किन्तु इसकी तरकारी सर्वप्रिय नहीं होती। रोवें निकाल कर ही तरकारी बनाते हैं।

नोट—चरक में ऋषभी नाम से बल्यवर्ग में, कच्छुरा नाम से पुरीषविरजनीय गण में एवं मधुरस्कंध में ऋष्यप्रोक्ता नाम से तथा सुश्रुत में कच्छुरा नाम से विदारिगन्धादि गण तथा वातसंशमनवर्ग में इसका उल्लेख है। 'पंजाब में सफेद रंग के कौंच के बीज पन्सारी बेचते हैं। ये चरक में लिखी हुई काकाण्डोला[1] नाम की सेम की जाति के बीज हैं' (श्री यादवजी कृत द्रव्यगुणविज्ञानम्, उत्तरार्ध द्वितीय खण्ड, पृष्ठ १७३)।

इसके बीज, मूल एवं फली के ऊपर के रोमों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। चिकित्सा की दृष्टि से जंगली केंवाच के बीजों का ही व्यवहार करना चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसमें राल, टॅनिन, वसा एवं मॅन्गॅनीझ रहता है। बीजों की मज्जा की अपेक्षा ऊपर के छिलके में मॅन्गॅनीझ (Manganese) अधिक रहता है

गुण और प्रयोग—केवांच के बीज पौष्टिक, उत्तेजक, वाजीकर एवं वातशामक होते हैं। फली के ऊपर के रोम उत्तम आंत्रकृमिघ्न होते हैं। इसकी जड़ वातनाडियों के लिये बल्य, उत्तेजक एवं मूत्रजनन है। रोम के स्थानिक प्रयोग से कण्डू, दाह, शोथ एवं स्फोट उत्पन्न होता है।

---

१. काकाण्डोलात्मगुप्तानां माषवत्फलमादिशेत् (चरक सू० अ० २७-३२)।

(१) इसके रोमों को घृत, मधु या गुड़ के साथ गोला बनाकर केंचुए की बीमारी में खिला देते हैं। इससे प्रक्षोभ उत्पन्न होकर कृमि बाहर निकलते हैं। इसके पश्चात् विरेचन देना आवश्यक हैं।

(२) इसके बीजों की मज्जा का चूर्ण या पाक (वानरीवटिका) आदि बनाकर वाजीकरण के लिये प्रयोग किया जाता है। प्रायः वाजीकरण के प्रत्येक योग में इसका उपयोग किया जाता है।

(३) इसकी जड़ का क्वाथ या स्वरस वातनाडी-दौर्बल्य, अंगघात, अर्दित एवं अवबाहुक आदि वातरोगों में तथा ज्वर में भ्रम उत्पन्न होने पर देते हैं। यह मूत्रजनन होने के कारण इसे वृक्करोग में पिलाते हैं तथा शरीर पर लेप भी करते हैं। हैजा में इसके फांट में मधु मिलाकर पिलाने से लाभ होता है। पक्वातिसार तथा रक्तातिसार में मूल का कल्क दिया जाता है तथा पथ्य में मूलसिद्ध दुग्ध का प्रयोग करते हैं (सु० उ० अ० ४०-७४)। श्लीपद में मूल का लेप किया जाता है। इसके मूलक्वाथ के धारण से योनिसंकोच होता है (भा० प्र०)।

(४) इसके रोमों से बनाया हुआ मलहम स्थानिक उत्तेजक तथा साधारण स्फोटोत्पादक माना जाता है।

मात्रा—बीजचूर्ण २-६ माशा; रोम ५-१० रत्ती।

अथ मांसरोहिणी। तस्या नामगुणानाह

मांसरोहिण्यतिरुहा वृत्ता चर्मकषा[1] वसा[2]। प्रहारवल्ली विकशा वीरवत्यपि कथ्यते॥
स्यान्मांसरोहिणी वृष्या सरा दोषत्रयापहा॥ १३२॥

मांसरोहिणी के नाम तथा गुण—मांसरोहिणी, अतिरुहा (अग्निरुहा), वृत्ता, चर्मकषा, वसा, प्रहारवल्ली, विकशा और वीरवती ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। मांसरोहिणी—वीर्यवर्द्धक, सारक (दस्तावर) और त्रिदोषनाशक है॥ १३२॥

५८ मांसरोहिणी

हि०-मांसरोहिणी, रोहण, रोहिनी, रोहन, रोहिना, रकत रोहन। म०, बं०-रोहण। गु०-रोण, रोहणी। कोल०-रोहिनी। सन्ता०-रोहन। गोंड०-सोइमि। भील०-रोयटा। ता०-शेम्मरम्। क०-स्वामीमर। ते०-सूमि, सोमिडमनु। अं०-Red wood tree (रेड वुड् ट्री) ले०-*Soymida febrifuga A. Juss.* (सॉयमिडा फेब्रीफ्युजा ए. जस्.)। Fam. Meliaceae (मेलिएसी)।

यह प्रायद्वीप से उत्तर की तरफ मेरवारा तक तथा मिर्जापुर एवं छोटा नागपुर आदि स्थानों में पाई जाती है।

इसका वृक्ष-बहुत ऊँचा और स्तम्भ मोटा होता है। इसकी छाल-तिहाई इञ्च मोटी नीलापन युक्त खाकी अथवा कालापनयुक्त भूरे रंग की एवं कड़वी होती है। लकड़ी-ललाईयुक्त भूरे रंग की और खूब टिकाऊ होती है। पत्ते-पक्षवत् तथा ९-१८ इञ्च लंबे होते हैं। पत्रक-२ से ४ इञ्च तक लम्बे, अण्डाकार या आयताकार, लगभग अवृन्त, चिकने, तिर्यक् आधार वाले तथा संख्या में ३ से ६ जोड़े होते हैं। नवीन पत्ते ग्रंथियों से युक्त और लाल होते हैं। पत्रक-दण्ड तथा

---

१. चर्मकरी इति पाठा०।
२. कृशा इति पाठा०—गुण तथा आकृति की दृष्टि से इसका वसा पर्याय अधिक उचित है।

पत्रक-सिरा सर्वदा लाल बनी रहती है। फूल—नन्हें-नन्हें हरियाली लिये सफेद रंग के अग्रथ मंजरियों में आते हैं। फल—१ से २॥ इञ्च बड़े, बहुत कठोर, भूरे लाल रंग के किन्तु पकने पर काले एवं अग्र पर खुल जाते हैं। प्रत्येक फल में अगणित पङ्खदार बीज होते हैं जो आषाढ़, श्रावण में पककर गिर जाते हैं।

इसकी छाल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

नोट—चरक में बल्य एवं सुश्रुत में न्यग्रोधादिगण में इसका उल्लेख है। सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने रोहिणी का अर्थ कुटकी, कायफल, कड़ुवी तुम्बी तथा हरीतकी भेद आदि किये हैं। इसके रक्तरोहक, रोहिनी आदि प्रचलित नाम मांसरोहिणी के समानार्थक मालूम होते हैं तथा इसकी छाल भी मांसवर्ण की होती है। इस दृष्टि से इसके मांसरोहिणी होने में सन्देह नहीं मालूम पड़ता। अन्य निघंटुकारों ने इसके गुणों में 'ग्राही' लिखा है जो अधिक उचित मालूम पड़ता है। उपर्युक्त डल्हण की टीका के अनुसार यदि किसी द्रव्य को रोहिणी माना जाय तो उस अवस्था में 'सरा' यह उचित हो सकता है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में एक रंगहीन, जल में न घुलने वाला किन्तु मद्यसार में घुलनशील राल्युक्त कड़वा पदार्थ एवं अधिक मात्रा में टॅनिक् ॲसिड् तथा गॅलिक् ॲसिड् रहता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल शीत, ग्राही, तिक्त, कषाय, वृष्य, पौष्टिक, अल्प नियतकालिक ज्वर-प्रतिबन्धक, सन्धानीय, व्रणरोपण एवं कण्ठशुद्धिकर है। अधिक मात्रा में इससे चक्कर एवं संज्ञानाश होता है। ओक वृक्ष की छाल की तरह इसका क्वाथ बाह्य प्रयोग में व्यवहार में लाते हैं। आन्तरिक प्रयोग के लिये चूर्ण का ही व्यवहार उचित है।

(१) विसर्गी या जीर्णज्वरों में शरीर व आंतों में जब शिथिलता आती है तब इसका चूर्ण देते हैं। मलेरिया में इसका क्वाथ १ औंस की मात्रा में दिन में ३ बार देने से लाभ होता है।

(२) पुरानी आंव तथा अतिसार में इससे अच्छा लाभ होता है।

(३) इसकी छाल के क्वाथ से व्रण धोते हैं, बस्ति देते हैं तथा कुल्ले कराते हैं।

मात्रा—त्वक् चूर्ण ३० रत्ती त्रिवार।

अथ चिल्लकः 'चिल्ल' इति लोके तस्य नामगुणानाह

चिल्लको वातनिर्हारः श्लेष्मघ्नो धातुपुष्टिकृत्। आग्नेयो विषवद्यस्य फलं मत्स्यनिषूदनम् ॥१३३॥

चिल्लक के गुण—चिल्लक वातनाशक, कफ को दूर करने वाला, धातु की पुष्टि करने वाला और आग्नेय (अत्यन्त गरम) होता है और इसका फल-विषतुल्य मछलियों को मारने वाला होता है ॥ १३३ ॥

५९ चिल्लक

हि०—चिल्ला, चिलर, चिल्लक। म०—मस्सी, करी लैंज। संथा०—चोरचो। खर०—वेरी। कोल—रोरी। उड़ि०—गिरटि। ले०—*Casearia tomentosa Roxb.* (केसिएरिआ टोमेण्टोसा राक्स.)। Fam. Samydaceae (सॅमिडेसी)।

यह सब जगह पाया जाता है। शाल वनों के पास या झाड़ीदार जंगलों में यह बहुत होता है। इसके वृक्ष-छोटे एवं शाखाएँ दिगन्तसम फैली हुई होती हैं। छाल—मोटी- भंगुर एवं चौकोर

टुकड़ों में छूटती है। काष्ठ-पीताभ श्वेत, कठोर एवं खुरदरा होता है। पत्ते-आयताकार (छोटे लट्वाकार या अण्डाकार), अधरपृष्ठ की नसों पर मृदु रोमश, २-७ इञ्च लम्बे, २ इञ्च चौड़े एवं दन्तुर होते हैं। पत्रसिरायें रक्ताभ होती हैं। पुष्प-हरिताभ पीत वर्ण के पुष्प नवीन टहनिओं पर आते हैं। फल-मांसल, अण्डाकृति, ¾ इञ्च बड़े, कडवे एवं ६ रेखाओं से युक्त होते हैं। फलों का चूर्ण पानी में डाल देने से मछलियां मर जाती हैं। इसके सभी भागों का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

नोट—अन्य निघण्टुओं में इसका उल्लेख नहीं पाया जाता। इसकी एक दूसरी उपजाति केसिएरिआ एस्क्युलेण्टा राक्स. (C esculenta Roxb.), के मूल एवं पत्र का उपयोग सप्तरंगा या स्वर्णमूला नाम से यकृत-वृद्धि, अर्श तथा यकृतोद्भव मधुमेह में किया जाता है।

गुण और प्रयोग—जलशोथ में फल का गूदा खिलाते हैं, सर्वांग में छाल का लेप करते हैं तथा पत्रक्वाथ से स्नान कराते हैं। इससे पेशाब अधिक होती है।

अथ टङ्कारी। तस्या गुणानाह

टङ्कारी वातजित्तिक्ता श्लेष्मघ्नी दीपनी लघुः। शोथोदरव्यथाहन्त्री हिता पीठविसर्पिणाम् ॥१३४॥

टङ्कारी के गुण—टङ्कारी वातनाशक, तिक्तरसयुक्त कफघ्न, अग्निदीपक, पाक में लघु तथा शोथ एवं उदररोग को दूर करने वाली होती है। यह पीठ पर के विसर्प के लिये हितकर है॥१३४॥

नोट—टंकारी का उल्लेख अन्य निघण्टुओं में नहीं मिलता। लघु अग्निमन्थ (Clerodendrum phlomidis) को कहीं-कहीं 'टेंकारी' कहते हैं जो 'तर्कारी' का अपभ्रंश मालूम पड़ता है। इसका वर्णन २८१ पृष्ठ पर किया गया है। टंकारी नाम से फाइसेलिस् मिनिमा (Physalis minima) का वर्णन आधुनिक उद्भिदवेत्ताओं ने किया है जिसका यहाँ वर्णन किया जा रहा है। यह विदेश से आने वाले मकोय की जाति के फल 'काकनज' (Physalis alkekenji Linn.) के प्रतिनिधि माने जाते हैं। डॉ॰ देसाई ने सम्भवतः इसका उल्लेख फा. इण्डिका (P. indica) नाम से किया है।

६० टंकारी

सं०-टंकारी, लक्ष्मीप्रिया, चिरपोटा। हिं०-तुलसीपति। बं०-बनटेपारि। म०-थानमोडी, चिरबोटी, चिरबुटले। गु०-पोपटी, पपोटी। पं०-हुब्बककनज। क०-बोंडुल। ता०-सिसयक्कालि। ते०-कुपण्टे। ले०-*Physalis mimima Linn.* (फाइसेलिस् मिनिमा लिन.)। Fam. Solanaceae (सोलेनेसी)।

यह सब प्रान्तों में पाया जाता है। इसका क्षुप-६-१८ इञ्च ऊँचा, नरम लोमयुक्त एवं वर्षजीवी होता है। पत्ते-२ इञ्च लंबे, अण्डाकार तथा दन्तुर होते हैं। पुष्प-घण्टाकृति, पीतवर्ण तथा ½ इञ्च बड़े होते हैं। फल-१½ इञ्च लम्बा, ½ इञ्च चौड़ा, लाल रंग का रुचिकर होता है जिसमें छोटे-छोटे अनेक बीज होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके फल बलकारक, मूत्रजनन एवं विरेचक होते हैं। 'काकनज' के स्थान पर इनका उपयोग किया जाता है। सोजाक में फलों को खिलाते हैं। स्तनशिथिलता दूर करने के लिये इसके पंचांग को चावल की धोवन में पीस कर लेप करते हैं। मलावष्टम्भ में इसके फलों का पाक बहुत लाभदायक है। तमकश्वास में इसकी जड़ तथा टंकण का लावा मधु के साथ देने से श्वासावरोध कम होकर कफ निकलता है।

मात्रा—३-६ माशा।

अथ वेतसः। तस्य नामगुणानाह

वेतसो नम्रकः प्रोक्तो वानीरो वञ्जुलस्तथा। अभ्रपुष्पश्च विदुलो रथः शीतश्च कीर्त्तितः॥
वेतसः शीतलो दाहशोथार्शोयोनिरुक्प्रणुत्। हन्ति वीसर्पकृच्छ्रास्रपित्ताश्मरिकफानिलान्॥

वेतस के नाम तथा गुण—वेतस, नम्रक, वानीर, वञ्जुल, अभ्रपुष्प, विदुल, रथ और शीत ये सब वेतस के नाम हैं। वेतस-शीतल है तथा दाह, शोथ, अर्श (बवासीर), योनिरोग, विसर्प, मूत्रकृच्छ्र, रक्तपित्त, अश्मरी (पथरी), कफ तथा वात को दूर करने वाला है॥ १३५-१३६॥

नोट—वेतस के विषय में विद्वानों में मतभेद है। भावप्रकाश, ध० नि०, रा० नि० आदि में वेतस तथा जलवेतस इन दो भेदों का उल्लेख है। रा० नि० ने वेत्र[1] नाम से एक स्वतन्त्र द्रव्य का भी उल्लेख किया है। अन्य निघंटुओं ने वेतस के पर्याय में या स्वतंत्ररूप से वेत्र का उल्लेख नहीं किया है। कुछ विद्वान् वेतस से बेंत का ग्रहण करते हैं जो कॅलॅमस् टेनुइस् (*Calamus tenuis*) है। कुछ लोगों के मत से वेतस से वेदमुश्क का ग्रहण उचित है जो सॅलिक्स कॅप्रिआ (*Salix caprea*) है। कुछ विद्वानों के मत से इसी जाति के सॅ० अॅल्बा (S. alba) को वेतस मानना चाहिये। इसी जाति के अन्य उपभेद (जलमाला) सॅ० टेट्रास्पर्मा (S. tetrasperma) एवं सॅ० अॅक्मोफाइला (S. acmophylla) को जलवेतस माना जाता है।

भावप्रकाशकार वंजुल और वानीर पर्याय में लिखते हैं किन्तु चरक[2] में दोनों का साथ-साथ उल्लेख होने से ऐसा मालूम होता है कि ये दो अलग वनस्पतियाँ हैं। च० चि० अ० ४-३६ में वेत्र तथा वेतस भी साथ-साथ आये हैं जिससे ये भी दो अलग द्रव्य हैं ऐसा मालूम होता है। वंजुल नाम से चरक में वेदनास्थापन महाकषाय में एवं आसवयोनिसार वृक्षों (सु० अ० २५) में तथा सुश्रुत में न्यग्रोधादिगण में उल्लेख है। 'विदुल' नाम चरक में वमनोपग महाकषाय (सू. अ. ४) में आया है जिसका अर्थ चक्रपाणि हिज्जल करते हैं। सुश्रुत (सू. अ. ३९) में ऊर्ध्वभागहरगण में विदुल आता है वहाँ डल्हण उसका अर्थ वेतस करते हैं। श्रीयुत यादव जी विदुल नाम हिज्जल के पर्याय में मानते हैं। हिज्जल (समुद्रफल) में वामक गुण देखा भी जाता है। चरक में वेतस नाम से उसकी मूलत्वक् का उपयोग रक्तपित्त (चि. अ. ४) में एवं सुश्रुत में जीर्णज्वर (उ. अ. ३९) में मूल का उपयोग किया हुआ है। चरक में वेत्र नाम से रक्तपित्त (चि. अ. ४), शोथ (चि. अ. १२) एवं ऊरुस्तम्भ (चि. अ. २७) में उपयोग किया गया है।

गुणों की दृष्टि से वेदमुश्क के गुण भावप्रकाशोक्त वेतस से मिलते हैं। यहाँ पर वेदमुश्क एवं बेंत का अलग अलग वर्णन किया गया है। जलवेतस के अन्तर्गत वेदमुश्क की अन्य उपजाति जलमाला का वर्णन किया गया है।

६१ वेतस १ (वेदमुश्क)

सं०-वेतस, वानीर, गन्धपुष्प। हिं०, पं०-वेदमुश्क। पश्तो०-खगवल। अ०-खिलाफुल् बलखी। फा०-वेदेमुश्क, गुर्बखेद। अं०-Willow विलो; Sallow (सॅलो)। ले०-*Salix caprea Linn.* (सॅलिक्स कॅप्रिआ लिन.)। Fam. Salicaceae (सॅलिकॅसी)।

---

१. वेत्रो वेतो योगिदण्डः सुदण्डो मृदुपर्वकः।
वेत्रः पंचविधः शैत्यकषायो भूतपित्तहृत्॥ रा. नि.

२. क. अ. १, ९; सि. अ. १०, १९।

यह फारस, ईरान, उत्तरपश्चिम सीमाप्रान्त एवं भारतवर्ष में काश्मीर तथा पंजाब में होता है।

इसका वृक्ष–छोटा तथा १५–३० फीट ऊँचा होता है। छाल–पतली, लचीली, कषाय एवं बहुत कड़वी होती है। पत्ते–एकांतर, हरे, बड़े, अंडाकार, दन्तुर एवं नुकीले होते हैं। मध्यशिरा ऊपर के पृष्ठ पर कुछ श्वेत किन्तु अधोपृष्ठ पर रोमश होती है। पुष्प–पीतवर्ण के तथा सुगन्धित होते हैं।

इसके पंचांग का व्यवहार किया जाता है। इसके पुष्पों से बनाये अर्क का 'अर्क बेदमुश्क' नाम से यूनानी चिकित्सा में बहुत व्यवहार किया जाता है। इससे स्रवित हुई शर्करा, बेद अंगबीन का भी उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में ४–१०% टॅनिक ऍसिड, २–७% एक रवेदार ग्लूकोसाइड, सॅलीसिन (Salicin), मोम, वसा एवं गोंद होता है। इसके पुष्पों में एक सुगन्धित उड़नशील तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल ग्राही, शीतल, ज्वरहर, दाहप्रशमन, वेदनास्थापक, मूत्रल, शिरःशूल नाशक, हृदय को बल देने वाली, उत्तेजक एवं वाजीकर है। इसके पुष्प रोचक एवं पत्ते ज्वरहर होते हैं।

(१) इसकी छाल का क्वाथ विषम ज्वर, पैत्तिक ज्वर, नूतन आमवात तथा कफक्षय में देते हैं। इससे दाह, शिरःशूल, संधिपीड़ा, संधिशोथ एवं रक्तष्ठीवन कम होता है। अर्श में छाल का लेप किया जाता है। रक्तष्ठीवन में इसके काण्ड की राख खिलाते हैं।

(२) इसके फूलों का अर्क उष्ण ज्वर तथा हृदय की धड़कन में पिलाते हैं। नेत्राभिष्यन्द तथा शिरःशूल में इसमें कपड़ा भिगो कर उसकी पट्टी रखते हैं।

मात्रा—छाल ½–१ तो०; अर्क १–२ तोला।

६२ वेतस २ (बेंत)

सं०–वेत्र, वेतस ?। **हिं०**–बेंत। **बं०**–छांचि वेत। **म०**–वेंत। **क०**–वेतसु। **गु०**–नेतर। **ते०**–जतयुर् कुलों। **पं०**–बैंत। **ता०**–वेत्तम्। **फा०**–बेंत, हज़ां खिरज़ा। **अ०**–खीरज़ा, खलाफ, हरजां। **अं०**–Cane (केन)। **लै०**–*Calamus tenuis Roxb.* (कॅलॅमस् टेनुइस् राक्स.)। Fam. Palmeae (पामेइ)।

यह जलप्राय भूमि में २ हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

इसकी **लता**—सघन, आरोही तथा काँटेदार होती है। यह काँटों की सहायता से फैलती है। **काण्ड**–चिकना, हरा, और कोषमय पत्राधारों से ढँका हुआ रहता है। **पत्ते**–२–४ फीट लंबे, पक्षाकार और पत्रदण्ड काँटों से युक्त होते हैं। **पत्रक**–६–१२ इञ्च लंबे, ½–¾ इञ्च चौड़े, रेखाकार, मालाकार, नुकीले एवं तीन शिराओं से युक्त होते हैं। पत्रक के किनारे तथा शिरा पर भी काँटे होते हैं। पत्रनाल और पत्रकोष पर भी प्रायः १ इञ्च तक लंबे और सीधे काँटे होते हैं। पत्रकोष से चाबुक के सदृश ८ फीट तक लंबी एक रचना फ्लॅजेलम् (Flagellum) निकली रहती है जिस पर भी टेढ़े काँटे होते हैं। **पुष्प**–पत्रकोषों के अन्दर एकलिंगी पुष्पों की विदण्डिक मंजरियाँ पाई जाती हैं। **फल**–प्रायः ½ इञ्च लंबा एवं काले किनारे के वल्कपत्रों से ढका हुआ रहता है। शीतऋतु में फल पक जाते हैं। बेंत की कई जातियाँ पाई जाती हैं।

गुण और प्रयोग—इसको कुछ विद्वान् वेतस मानते हैं तथा वेतस के स्थान पर इसका प्रयोग करते हैं। इसकी जड़ ज्वरहर, पित्तहर, पौष्टिक एवं विरेचक मानी जाती है। इसके फल का गूदा ग्राही होता है। इसके कोमल अंकुरों का शाक तिक्तपौष्टिक माना जाता है।

अथ जलवेतसः। तस्य नामगुणानाह

निकुञ्चकः परिव्याधो नादेयो जलवेतसः। जलजो वेतसः शीतः [1]कुष्ठहृद्वातकोपनः ॥ १३७ ॥

जलवेतस के नाम तथा गुण—निकुञ्चक, परिव्याध, नादेय और जलवेतस ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। जलवेतस-शीतल, कुष्ठनाशक तथा वात को कुपित करनेवाला होता है ॥ १३७ ॥

६३ जलवेतस (जलमाला)

सं०-जलवेतस, वंजुल ? हिं०-जलमाला, सुकूलवेत, वंद। म०-वालुज। बं०-पानिजामा। ता०-अत्रुपलै। ते०-एतिपाल। फा०-बेदसादा, बेदलैला। अ०-खिलाफ्, सफ्साफ। ले०-*Salix tetrasperma Roxb.* (सॅलिक्स टेट्रास्पर्मा राक्स)। Fam. Salicaceae (सॅलिकॅसी)।

इसका वृक्ष प्रायः नदी नालों के किनारे पाया जाता है। हिमालय में ६००० फीट की ऊँचाई तक यह होता है। काश्मीर तथा पश्चिमोत्तर प्रान्त में इसे लगाते हैं।

इसका वृक्ष-साधारण ऊँचा तथा सुन्दर होता है। छाल-कृष्णाभ, तन्तुमय, चिमड़, कड़वी, कषाय तथा कुछ सुगन्धित होती है। पत्ते-३-६ इञ्च लंबे, रेखाकार-मालाकार, चिकने, पत्रोदर हरा, पत्रपृष्ठ सफेद एवं पत्रवृन्त लाल रंग का होता है। पुष्प-सफेदी लिये पीले और कुछ सुगन्धित मंजरियों में आते हैं। फल-करीब ५ इञ्च लम्बा होता है तथा प्रत्येक फल में ४-६ बीज होते हैं। इसकी छाल एवं पत्र का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। इसके लचीले पतले काण्ड से टोकरियाँ बनायी जाती हैं। इसकी अन्य उपजातियों को वेत, लैला, मजनूँ तथा भैंसा आदि नामों से पुकारा जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके गुण भी वेदमुश्क की तरह ही हैं। इसकी छाल पौष्टिक, ज्वरघ्न, तथा नियतकालिकज्वरप्रतिबंधक है। रक्तातिसार, यकृत् एवं प्लीहा शोथ तथा कामला में इसके ताजे पत्तों का रस देते हैं।

मात्रा—छाल ½-१ तो०; रस २-५ तो०; अर्क ५-१० तो०।

अथेज्जलः (समुद्रफल इति लोके) तस्य नामगुणानाह

इज्जलो हिज्जलश्चापि निचुलश्चाम्बुजस्तथा। जलवेतसवद्वेद्यो हिज्जलोऽयं विषापहः ॥ १३८ ॥

इज्जल (समुद्रफल) के नाम तथा गुण—इज्जल, हिज्जल, निचुल और अम्बुज, ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। इज्जल-गुणों में 'जलवेतस' के ही समान है तथा विशेषतः यह विषनाशक है॥१३८॥

६४ इज्जल (समुद्रफल)

हि०-इज्जल, इंजर, हिज्जल, समुद्रफल। बं०-हिज्जल। म०-सतफल, समुद्रफल। गु०-समुद्र फल। मा०-समंदर फल। आसा०-हिंडोल। सन्ता०-हिंजल। कोल०-सपरंग। उरि०-

---

१. संग्राही इति पाठ०।

किजोलो। ते०-कणपु, कणिगि। ता०-समुद्रपुछानि। क०-कँपुकणगिन। मल०-चरियसंस्करवढि। ले०-*Barringtonia acutangula* (*Linn*). *Gaertn.* (बॅरिंगटोनिआ एक्युटेन्युला, (लिन) गार्ट)। Fam. Lecythidaceae (लेसिथिडॅसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है किन्तु बंगाल तथा दक्षिण में अधिक देखने में आता है। इसका वृक्ष-मध्यमाकार का और बारहों मास हरा-भरा रहता है। छाल-आध इञ्च तक मोटी कालापन युक्त भूरे रङ्ग की और खुरदरी होती है। पत्ते-अभि-लट्वाकार या अभिप्रासवत्, २×५ इञ्च या कभी-कभी ३×४ इञ्च बड़े, सूक्ष्म दन्तुर तथा ½ इञ्च लंबे वृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प-लाल रंग के पुष्प करीब २ फीट लंबी, नीचे लटकती हुई सवृन्त काण्डज मंजरियों में आते हैं तथा जल्दी ही झड़ जाते हैं। पुंकेशर लालवर्ण के होते हैं। फल-१।-१॥ इञ्च लंबा, बादाम जैसा, चार उभारों से युक्त और अग्र पर स्थायी वाह्यपुट के साथ रहता है। यह ताजी अवस्था में लाल किन्तु पकने पर काला तथा कठोर हो जाता है। इसे जल में भिगोने पर यह मुलायम हो जाता है। इसका स्वाद प्रारंभ में मधुर तथा बाद में कडवा और मितली लाने वाला होता है। फल की छाल पतली रहती है तथा इसमें १ बीज रहता है। इसके फल का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। इसकी छाल मछलियों के लिये विषैली है।

नोट—मदनपालनिघण्टु में निचुल नाम जलवेतस के पर्याय में आया है किन्तु उसमें हिज्जल का भी स्वतंत्र वर्णन किया हुआ है। ध० नि० में भी निचुल नाम वेतस के पर्याय में आया है। वास्तव में निचुल नाम हिज्जल (समुद्रफल) के लिये ही उचित है जिसका ऊपर वर्णन किया गया है। चरक (सू० अ० २) में निचुल नाम से विरेचनद्रव्यों में इसका उल्लेख है। श्रीयुत यादवजी ने 'विदुल' नाम इसके (हिज्जल) पर्याय में माना है जो गुणों की दृष्टि से उचित मालूम पड़ता है किन्तु भावप्रकाशकार विदुल नाम वेतस के पर्याय में लिखते हैं। चक्रपाणि विदुल का अर्थ वमनोपग महाकषाय (सू० अ० ४) की टीका में हिज्जल करते हैं किन्तु दूसरे स्थान (च० सि० अ० १०-३८) में विदुल का अर्थ वेतस भी किया मिलता है।

रासायनिक संगठन—इसके फल में साबुन की तरह एक पदार्थ रहता है। फल के चूर्ण को जल में हिलाने से फेन निकलता है जो बहुत देर तक रहता है। फेन का स्वाद प्रारंभ में मधुर एवं बाद में कडवा तथा तीता मालूम होता है।

गुण और प्रयोग—समुद्रफल कफघ्न, वामक, आनुलोमिक एवं वेदनास्थापन है। इसकी क्रिया मदनफल की तरह होती है। वृद्धों में मदनफल तथा बच्चों में समुद्रफल देते हैं। इसकी जड़ कडवी तथा पार्यायिक ज्वर में लाभदायक होती है।

(१) बच्चों के प्रतिश्याय, कास, फुफ्फुसपाक आदि कफविकारों में इसे देते हैं। यदि इसके देने के पश्चात् वमन न हो तो नमक डालकर उष्ण जल पिलाना चाहिये। इससे वमन होकर कफ निकल जाता है तथा पाखाना भी होता है। यदि इसके प्रयोग से कुछ दुष्परिणाम मालूम पड़े तो चावल की मांड घी मिलाकर दें। समुद्रफल को पीसकर छाती तथा पेट पर भी लगाते हैं।

(२) तमकश्वास में ६ माशा समुद्रफल व सफेद कोयल की जड़ ६ माशे दूध में घिसकर देते हैं जिससे वमन-विरेचन होकर आराम मिलता है।

(३) शिरःशूल में इसके बीजों का नस्य लाभदायक होता है।

(४) इसके पत्तों का रस मधु मिलाकर आमातिसार में देने से लाभ होता है।

(५) आँखों से पानी जाता हो तो समुद्रफल को जल में घिसकर लगाने से लाभ होता है।

(६) उदरशूल, आनाह आदि में नमक, अजवायन के साथ इसका चूर्ण दिया जाता है।

(७) पार्यायिक ज्वरों में काली मिर्च एवं तुलसी पत्र के साथ इसे देते हैं।

मात्रा—१-२ रत्ती।

अथाङ्कोटः (अङ्कोल-ढेरा)। तस्य नामगुणानाह

अङ्कोटो दीर्घकीलः स्यादङ्कोलश्च निकोचकः। अङ्कोटकः कटुस्तीक्ष्णः स्निग्धोष्णस्तुवरो लघुः॥
रेचनः कृमिशूलामशोफग्रहविषापहः। विसर्पकफपित्तास्रमूषकाहिविषापहः॥ १४० ॥

अंकोट के नाम तथा गुण—अंकोट, दीर्घकील, अङ्कोल और निकोचक ये सब 'अङ्कोल' के नाम हैं। अङ्कोल-कटु तथा कषाय (कसेला) रसयुक्त, तीक्ष्ण तथा उष्णवीर्य, स्निग्ध, लघु (हलका), रेचक (दस्तावर) होता है एवं कृमि, शूल, आम, शोथ (सूजन), ग्रहबाधा, विष, विसर्प, कफ, पित्त, रक्तविकार एवं मूसा तथा सर्प के विष को दूर करने वाला होता है॥१३९-१४०॥

अथाङ्कोटफलस्य गुणानाह

तत्फलं शीतलं स्वादु श्लेष्मघ्नं बृंहणं गुरु। बल्यं विरेचनं वातपित्तदाहक्षयास्रजित्॥१४१॥

अङ्कोल के फल का गुण—अङ्कोल का फल-शीतल, स्वादिष्ट, कफनाशक, बृंहण, पाक में गुरु, बलकारक, विरेचक एवं वायु, पित्त, दाह, क्षय तथा रक्तविकार को दूर करने वाला होता है॥ १४१॥

६५ अङ्कोट

हि०-अङ्कोल, ढेरा, टेरा, ढेला। बं०-आंकोड, बाघ, आंकडा. अकरकंटा। म०-अंकोल। गु०-आंकोल, अंकोल। क०-अंकोले-मर। ते०-कुडगु; अंकोलमु। ता०-अलंगी। सन्ता०-डेला, ढेला। ले०-*Alangium lamarckii thwaites* (एलॅन्जिअम् लेमार्कीइ थ्वेट्स)। Fam. Alangiaceae (एलेन्जियेसी)।

यह मध्य और दक्षिण भारत, उत्तर-प्रदेश, बंगाल, बिहार, हिमालय की घाटी से गङ्गा तक और राजपुताना आदि कई प्रान्तों में पाया जाता है। यह प्रायः नदी-नालों की ढालों पर अधिक होता है।

इसका छोटा वृक्ष, काँटेदार देखने में सुन्दर और सघन होता है। छाल—धूसर रङ्ग की, मोटी एवं खुरदरी होती है। जड़-भारी, पीताभ, तेलिया तथा मजबूत होती है। जड़ की छाल, दालचीनी की अपेक्षा भूरे रङ्ग की रहती है। पत्ते-कनेर के पत्तों के समान तीन से पाँच इञ्च लम्बे, १ से २। इञ्च चौड़े, आयताकार, आयताकार-प्रासवत् या कोई अंडाकार होते हैं। पुष्पोद्गम के पूर्व पत्ते गिर जाते हैं। फूल-सुगन्धित सफेद रङ्ग के होते हैं। फल-कच्ची अवस्था में नीले और पकने पर जामुनी लाल, ·४-·६ इञ्च बड़े तथा मांसल होते हैं। बीज-गुठलीदार और बड़े होते हैं। Aesculus indica colebr. (एस्क्युलस् इण्डिका कोले.) को 'कंडार, बंखोर, अंकोल' आदि नामों से क्वचित वर्णित किया जाता है किन्तु प्रस्तुत अङ्कोट के प्रतिनिधि के रूप में उक्त वनस्पति का व्यवहार नहीं करना चाहिये।

इसकी जड़ की छाल, पत्र, बीज एवं बीज तैल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। इसका स्वाद कड़वा एवं गन्ध अप्रिय होती है।

रासायनिक संगठन—इसकी जड़ की छाल में अॅलेन्जाइन (Alangine) नामक एक कड़वा क्षाराभ एवं पोटॅशियम् क्लोराइड (Potassium chloride) पाया जाता है। इस क्षाराभ के रवे नहीं बनते तथा यह जल में भी नहीं घुलता। यह मद्यसार में घुल जाता है।

बिल्ली में अॅलेन्जाइन सल्फेट (Alangine sulphate) नामक इसके लवण के शिरान्तर्गत सूचिकाभरण से रक्तनिपीड कम होता है जो १, २ मिनट में ही स्वाभाविक हो जाता है। इससे हृदय अवसादित होता है तथा आन्त्र की पुरःसरण क्रिया बढती है। इससे श्वास अनियमित हो जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल उष्ण, कड़वी, वामक, स्वेदजनक, मूत्रल, रेचक, ज्वरहर, कृमिघ्न एवं विषहर है। अल्प मात्रा में (१–३ र०) यह हृल्लासकारक, स्वेदजनन एवं मूत्रल है। अधिक मात्रा (३ माशा) में यह वामक एवं विरेचक है। इसके गुण मदार तथा एपिकाक के समान हैं। वामक मात्रा में प्रयोग से आमाशय में दाह तथा हृदय एवं रक्तवाहिनियों पर अवसादक प्रभाव पड़ता है।

(१) कुष्ठ, उपदंश तथा सभी प्रकार के त्वचा के विकारों में इसकी मूलत्वक् ½–१ रत्ती की मात्रा में दिन में तीन बार देते हैं तथा बीज तैल या जड को पीसकर लगाते हैं।

(२) प्रतिश्याय, इन्फ्लुएन्जा एवं संधिपीडा युक्त ज्वर (डेंग्यु) में इसकी जड़ घोडवच या सोंठ के साथ चावल की मांड में उबालकर देते हैं तथा पत्तों को पीसकर जरा गरम कर पीड़ा-युक्त स्थान पर बाँधते हैं।

(३) यकृतोदर, जलोदर एवं वृक्कजन्य शोफ में इसकी मूलत्वक् ३ रत्ती की मात्रा में देने से विरेचन होता है तथा यकृत् की क्रिया सुधरती है। इसके साथ यवक्षार का प्रयोग करने से मूत्र भी बढ़ता है।

(४) चूहे के विष में तथा सर्पविष में यह लाभदायक माना जाता है। सर्प विष में २० रत्ती की मात्रा में मूल का चूर्ण चावल की धोवन के साथ देते हैं।

मात्रा—मूलत्वक् १–३ रत्ती; वामक ३ माशा।

अथ बलाचतुष्टयम् तस्य नामगुणानाह

बलावाट्यालिका वाट्या सैव वाट्यालकाऽपि च। महाबला पीतपुष्पा सहदेवी च सा स्मृता
ततोऽन्याऽतिबला ऋष्यप्रोक्ता कङ्कतिका च सा। गाङ्गेरुकी नागबला झषा ह्रस्वगवेधुका॥

बलाचतुष्टय (चारों प्रकार के बला) के नाम तथा गुण—(१) बला, वाट्यालिका, वाट्या तथा वाट्यालका ये सब नाम बला (खिरैंटो) के हैं। (२) महाबला, पीतपुष्पा और सहदेवी ये सब नाम महाबला के हैं। (३) अतिबला, ऋष्यप्रोक्ता और कङ्कतिका ये सब अतिबला (कंघी) के नाम हैं। (४) गांगेरुकी, नागबला, झषा तथा ह्रस्वगवेधुका ये सब नाम नागबला के हैं॥ १४२–१४३॥

बलाचतुष्टयं शीतं मधुरं बलकान्तिकृत्। स्निग्धं ग्राहि समीरास्रपित्तास्रक्षतनाशनम्॥

बलाचतुष्टय—शीतवीर्य, मधुररसयुक्त, बलकारक, कान्तिकारक, स्निग्ध एवं ग्राही होता है और वायु रक्तपित्त, रक्तविकार तथा व्रण को दूर करने वाला होता है॥ १४४॥

खरियारा, सहदेवी, ककहिया, गुलशकरी, इति बलाचतुष्टयम्॥ १४४॥

यहाँ पर 'बलाचतुष्टय' से १. बरियारा, २. सहदेई, ३. ककहिया, ४. गुलशकरी— इन चारों को ही समझना चाहिये ॥ १४४ ॥

बलामूलत्वचश्चूर्णं पीतं सक्षीरशर्करम् । मूत्रातिसारं हरति दृष्टमेतन्न संशयः ॥ १४५ ॥
हरेन्महाबला कृच्छ्रम् भवेद्वातानुलोमिनी । हन्यादतिबला मेहं पयसा सितया समम्॥१४६॥

'बरियारे' के जड़ की छाल का चूर्ण यदि दूध तथा शक्कर के साथ मिलाकर पीया जाय तो मूत्रातिसार को दूर करता है, यह परीक्षा करके देखा गया है, अत एव इसमें सन्देह नहीं करना चाहिये । 'महाबला' मूत्रकृच्छ्र को दूर करती है तथा इससे वायु का अनुलोमन भी होता है । 'ककहिआ' का चूर्ण दूध तथा चीनी के साथ खाने से प्रमेह नष्ट होता है ॥ १४५–१४६ ॥

नोट—भावप्रकाशकार बला के ४ भेद लिखते हैं । आधुनिक उद्भिज्जवेत्ताओं ने भी बला प्रजाति (Sida) की कई जातियों का वर्णन किया है । इनमें से अतिबला (कंघी) निस्संदेह ॲब्युटिलॉन् (Abutilon) प्रजाति की वनस्पति है । अधिकांश विद्वानों ने सिडा कॉर्डिफोलिआ (Sida cordifolia) को बला माना है, किन्तु श्री ठा० बलवन्तसिंह जी ने (पीत पुष्प) सिडा रॉम्बिफोलिया (Sida rhombifolia) को वास्तविक बला लिखा है जिसको अन्य विद्वानों ने महाबला माना है । कुछ विद्वान् रॉम्बिफोलिआ का अन्य उपभेद (श्वेत पुष्प) सिडा रॉम्बोइडिआ (Sida rhomboidea) को महाबला मानते हैं । भावप्रकाशकार महाबला के पर्याय में सहदेवी लिखते हैं लेकिन वास्तव में सहदेवी यह भिन्न वर्ग की व्हर्नोनिआ सिनेरिआ (Vernonia cinerea) है । चरक-सुश्रुत में महाबला नाम नहीं आया है किन्तु सहदेवा नाम है । सम्भव है कि चरक, सुश्रुतोक्त सहदेवा ही महाबला हो तथा गलती से सहदेवा के स्थान पर सहदेवी छप गया हो ।

नागबला—के सम्बन्ध में अधिक मतभेद हैं । सिडा व्हेरोनिसीफोलिआ या सिडा ह्युमिलिस् (Sida veronicaefolia; Syn–Sida humilis) को अधिकांश विद्वान् नागबला मानते हैं । यह भूमि पर सर्प की तरह टेढ़ी-मेढ़ी फैलती है । कुछ विद्वान् गुलसकरी लो नागबला मानते हैं क्योंकि नागबला के पर्याय में गांगेरुकी आया है । गुलसकरी के ले० नाम के विषय में भी मतभेद है । सिडा स्पाइनोसा (Sida spinosa) को कुछ लोगों ने गुलसकरी लिखा है किन्तु श्री ठा० बलवन्तसिंह जी ने उसे अशुद्ध बतलाया है तथा वे ग्रेविआ हिर्सुटा (Grewia hirsuta) को गुलसकरी मानते हैं । नागबला का चतुष्फला पर्याय इसके लिये उपयुक्त मालूम होता है । इसे तथा इसके अन्य भेद ग्रे० पोप्यूलिफोलिया (Grewia populifolia) को गांगेरुकी (गंगरेन) कहते हैं जिससे इन्हें नागबला माना जाता है । इनके अतिरिक्त सिडा ॲक्यूटा (Sida acuta) एवं अन्य भेद भी पाये जाते हैं । यहां पर संक्षेप में उपर्युक्त भेदों का स्वतन्त्र वर्णन किया गया है । वास्तव में गुणों की दृष्टि से इनमें विशेष अन्तर न होने के कारण एक के स्थान में दूसरे का व्यवहार किया जा सकता है ।

६६ बला (बरियारा)

हिं०-बरियार, बरियारा, बरियाल, खरेंठी, खरैंटी, खिरैंटी । बीजबन्द (बीज) । बं०-बेडेला । म०-चिकणा । गु०-बलदाणा (बीज), खरेटी, बल, बला । क०-किसंगी, हेट्टुटि-गिडा । ते०-चिरिबेण्डा, मुत्तवु । ता०-अखिल-मनैपुण्डु । मा०-खरेंटी । पं०-खरैहटी, सिमक । अं०-Country mallow (कंन्ट्री मॅलो); Sida (सिडा) । ले०-*Sida cordifolia Linn.* (सिडा कॉर्डिफोलिआ लिन.) । Fam. Malvaceae (माल्वेसी) ।

यह सब प्रान्तों में प्रायः बारहों मास पाया जाता है। किन्तु वर्षा ऋतु में इसकी बहुलता खेतों और मेड़ों पर देखने में आती है। इसकी जड़ और डंडी बहुत मजबूत होती है जो आसानी से नहीं टूटती।

इसका क्षुप—छोटा, २-४ फीट ऊँचा, स्वावलम्बी, मृदुरोमश तथा अनेक शाखाओं से युक्त रहता है। स्तम्भ-काष्ठमय एवं रेशेदार होता है। छाल-हल्के पीताभ भूरे रङ्ग की होती है। पत्ते-१-२ इञ्च लम्बे, हृदयाकृति, लट्वाकार-आयताकार, तूलरोमश, गोलदन्तुर, ७-९ शिराओं से युक्त एवं ½-१½ इञ्च लम्बे पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प-बरसात के अन्त में छोटे पीले रङ्ग के फूल आते हैं जिनमें ७-१० स्त्रीकेसर होते हैं। फल-छोटे, मूग जितने बड़े होते हैं। बीज-गहरे भूरे या काले रङ्ग के छोटे बीज रहते हैं जिन्हें बीजबन्द कहा जाता है। ग्रन्थितृण (पृ० २५३) के बीजों को भी बीजबन्द कहा जाता है। जड़-प्रायः २-५ इञ्च लम्बी तथा ½ इञ्च मोटी होती है। इसकी जड़, पत्र, बीज एवं पञ्चांग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पञ्चांग में एक क्षाराभ, तैल, फाइटोस्टेरॉल् (Phytosterol), म्यूसिन, राल, रालीय अम्ल एवं पोटॉशियम् नाइट्रेट (Potassium nitrate) ये पदार्थ पाये जाते हैं। इसके पत्र, काण्ड एवं मूल में क्षाराभ की मात्रा ०.०८५% रहती है किन्तु बीजों में यह ०.३% होती है। इसके क्षाराभ में प्रधान अंश एफेड्रीन (Ephedrine) का रहता है।

गुण और प्रयोग—बला (बरियरा) शीतवीर्य, बल्य, रसायन, वृष्य, प्रजास्थापन, संग्राही वातपित्तहर एवं स्निग्ध है।

इसका उपयोग रक्तपित्त, प्रमेह, प्रदर, वातविकार एवं व्रण में किया जाता है।

(१) शुक्रमेह में इसके पञ्चांग का स्वरस देने से लाभ होता है।

(२) श्वेत प्रदर, बारबार पेशाब होना तथा सोजाक में इसके जड़ की छाल का चूर्ण शर्करा तथा दुग्ध के साथ प्रयोग करते हैं।

(३) अर्धाङ्ग, अर्दित, मन्यास्तम्भ, अवबाहुक, गृध्रसी तथा शिरःशूल आदि वातविकारों में इसकी केवल जड़ या हींग और सैंधव मिलाकर जड़ का प्रयोग करते हैं तथा दुग्ध के साथ सिद्ध तैल का बाह्य प्रयोग करते हैं।

(४) नेत्राभिष्यंद में इसके पत्र पीसकर बाँधते हैं।

(५) उपदंश, फिरंग तथा क्षत में इसकी जड़ को पीसकर बाँधने से व्रण जल्दी अच्छे होते हैं। पञ्चांग के क्वाथ से व्रण प्रक्षालन भी किया जाता है।

(६) (महा) बला की जड़ एवं सोंठ का क्वाथ कम्पयुक्त विषम ज्वरों में लाभदायक होता है।

(७) हृदय को बल देने के लिये मकरध्वज तथा कस्तूरी के साथ इसका प्रयोग करते हैं।

(८) राजयक्ष्मा में दूध के साथ इसकी जड़ से सिद्ध घृत का उपयोग मधु मिलाकर करते हैं।

(९) श्लीपद में (महा) बला की जड़ एवं हरिताल पीसकर लेप करते हैं।

(१०) रसायन के लिये इसकी जड़ (½-१ पल) को दूध के साथ पीसकर पिलाते हैं तथा आहार में घृत युक्त दूध भात खिलाते हैं। इससे आयु वृद्धि होती है।

मात्रा—मूल ६ माशा-१ तोला, पञ्चांग ६ मा०-१ तोला।

६७ महाबला, सहदेवी ?

सं०-सहदेवा, क्षेत्रबला। हि०-सहदेई, सहदेया, पीतबला। बं-पीतबेडेला। म०-चिकणी, सहदेवी, तुपकड़ी। गु०-खेतराऊबल, खेतराऊबलदाणा। पं-सहदेवि। ते०-मयिलमाणिक्यन्।

ता०-मयिरमाणिक्कम्। ले०-*Sida rhombifolia Linn.* (सिडा रॉम्बिफोलिया लिन.)। Fam. Malvaceae (माल्वेसी)।

यह क्षुप जाति की वनौषधि प्रायः सब प्रान्तों में कहीं न कहीं पाई जाती है। यह ऊसर भूमि में अधिक होती है। उसका क्षुप १-४ फीट ऊँचा, झाड़दार और सीधा होता है। पत्ते-२-३ इंच लम्बे, अभिलट्वाकार या तिर्यगायताकार तथा दन्तुर होते हैं। फूल-पीले रङ्ग के बरियारे के फूलों के आकार वाले किन्तु उनसे कुछ बड़े होते हैं। फल-बरियारे के ही समान होते हैं।

यह एक परिवर्तनशील जाति बतलाई जाती है जिसके अन्तर्गत कई उपभेद बतलाये गये हैं। इसी के उपभेद सिडा रॉम्बॉइडिआ (Sida rhomboidea) के पुष्प श्वेतवर्ण के होते हैं।

यद्यपि भावप्रकाशकार इसे सहदेवी लिखते हैं तथापि यह वास्तविक सहदेवी नहीं है। सहदेवा यह नाम इसके लिये अधिक उपयुक्त है क्योंकि चरक सुश्रुत में बला के भेदों में सहदेवा का उल्लेख है। सहदेवी का आगे स्वतंत्र वर्णन किया गया है जो भिन्न वर्ग की वनस्पति है।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में लुआब बहुत होता है।

गुण और प्रयोग—इसके गुण भी बला सदृश ही होते हैं। शीतज्वर तथा आमवात में सोंठ के साथ इसकी जड़ का क्वाथ पिलाते हैं। मूत्रकृच्छ्र में इसकी जड़ के क्वाथ से वेदना कम होती है। क्षत पर मूलस्वरस की पट्टी रखने से व्रण जल्दी अच्छा होता है। हरिताल के साथ इसकी जड़ के लेप से श्लीपद में लाभ होता है।

मात्रा—६ मा० से १ तोला।

६८ सहदेवी

सं०-सहदेवी। हिं०—सहदेई, सहदैया। बं-छोट कुकासिमा। म०-सहदेवी, सायिदेवि, सादोडी। गु०-सदोडी, शेदरडी। ता०-नैचिट्टे। ते०-घेरिट्टेकरनिना। मल०-पिरिना। क०-सहदेवी। अं०-Fleabane (फ्लीबेन)। ले०-*Vernonia cinerea Less.* (व्हर्नोनिआ सिनेरिआ लेस्)। Fam. Compositae (कॉम्पोझिटी)।

यह बरसात के दिनों में परित्यक्त भूमि में सब जगह होती है।

इसका क्षुप-स्वावलंबी अथवा प्रसरणशील, रोमश तथा ८ इञ्च से ३ फीट तक ऊँचा होता है। काण्ड-पतला, रेखा युक्त एवं रोमश होता है। शाखायें-प्रायः श्वेताभ रोमश होती हैं। पत्ते-कई तरह के अर्थात् रेखाकार, अंडाकार, लट्वाकार या अभि लट्वाकार, अखंड या दन्तुर, रोमश, अवृन्त अथवा क्रमशः संकुचित होकर सूक्ष्म वृन्त से लगे होते हैं। पुष्प-हलके जामुनी रंग के पुष्प ·२५ इञ्च लंबे और आयताकार मुण्डक में आते हैं। अधःपत्रावलि-घंटिकाकार, ·२ इञ्च लंबी और उसके पत्र प्रायः रेखाकार, लंबाग्र और उनका अग्र कंटक सदृश तीक्ष्ण होता है।

यह सहदेवी बलाभेद नहीं है किन्तु जिस सहदेवी के बारे में यह मान्यता है कि जड़ शिखा में बाँधने से ज्वर कम होता है वह यही है।

गुण और प्रयोग—यह शीतवीर्य, स्वेदजनक, कृमिघ्न एवं शोथहर है। ज्वर में पसीना लाने के लिये इसका क्वाथ या स्वरस पिलाते हैं तथा शरीर पर लगाते हैं। अर्श में इसका स्वरस दिया जाता है। यह पेशाब की जलन तथा वस्ति के उद्वेष्टन में लाभदायक है। इसका लेप शोथ में उपयोगी है।

इसके बीज कृमिनाशक, विषहर तथा घोड़ों के लिये पौष्टिक माने जाते हैं। नेत्राभिष्यन्द में पुष्पों का व्यवहार किया जाता है।

मात्रा—स्वरस ६ मा०-१ तोला; बीज ४ र०-१ मा०।

६९ अतिबला (कंघी)

हि०-कंघी, ककहीं, ककहिया, कंगही। **बं०**-पेटारी। **म०**-मुद्रा, मुद्रिका, करंडी, पेटारी। **पं०**-पीली बूटी, अतिखिरते। **गु०**-खपाट, कांसकी, डावली। **मा०**-डाबी। **क०**-श्रीमुद्रिगिडा। **ते०**-तुत्तुरुबेंड। **सिन्ध०**-सिम्बुल। **सन्ता०**-मिरुबहा। **ता०**-तुत्ति। **फा०**-दरख्ते शाहनाह। **अ०**-मश्तुलगूल। **अं०**-Indian Mallow (इण्डियन् मॅलो)। **ले०**-*Abutilon indicum* (*Linn.*) *Sw.* (एब्युटिलोन् इन्डिकम् (लिन.) स्व.)। Fam. Malvaceae (माल्वेसी)।

यह वनौषधि प्रायः गरम प्रान्तों में अधिक पाई जाती है। इसका **क्षुप**-झाड़दार, २-२॥ हाथ ऊँचा और पुराना होने पर ४-५ हाथ तक ऊँचा देखा जाता है। इस पर मृदु श्वेताभ मखमली रोमावरण होता है। **पत्ते**-एकांतर, $\frac{3}{4}$-१ इञ्च लम्बे, गिलोय के पत्तों के आकार वाले, दन्तुर, मृदु-रोमश तथा लम्बे वृन्त से युक्त होते हैं। **फूल**-पीले नारङ्गी रङ्ग के प्रायः सन्ध्याकाल में खिलते हैं। **फल**-चक्राकार गोल कंघी की तरह होते हैं। इनसे प्रायः बालक छापा किया करते हैं। **बीज**-बरियारे के बीजों से कुछ बड़े होते हैं। इन्हें भी बीजबंद कहा जाता है।

इसकी एक दूसरी जाति होती है जिसे हिं०-बड़ी कंघी, ले०-*Abutilon hirtum G. Don.* (एब्युटिलोन् हिर्टम् जी. डॉन्.) कहते हैं। इसमें मृदुरोमावरण के अतिरिक्त चिपचिपे रोम तथा शाखाओं और पुष्पदंडों पर लम्बे मुलायम रोयें भी होते हैं। इसका भी अतिबला के नाम से प्रयोग किया जा सकता है।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में लुआब बहुत होता है जो उष्ण जल में आ जाता है। पत्तों की राख १६% होती है जिसमें क्षारीय सल्फेट, क्लोराइड, मॅग्नेशियम् फास्फेट यथा कॅल्शियम् कार्बोनेट आदि लवण होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसकी जड़ वातहर, रसायन, मूत्रजनन; बीज स्नेहन, मृदुरेचन, वाजीकर, कासहर; छाल मूत्रजनन एवं पत्र स्नेहन, वेदनाहर हैं।

(१) सोजाक, मूत्रकृच्छ्र एवं वस्तिविकार आदि में इसके पत्तों का क्वाथ या बीजों का प्रयोग बहुत लाभदायक होता है। मूत्रकृच्छ्र तथा रक्तमूत्र में मूल का क्वाथ लाभदायक है। प्रमेह में पेशाब साफ होने के लिये दूध एवं शर्करा के साथ इसकी छाल देते हैं।

(२) मसूढ़े ढीले हों तथा दाँत में दर्द हो तो इसके पत्ते के क्वाथ से कुल्ला कराते हैं। वेदना-युक्त स्थान पर इससे सेंकते हैं। व्रण तथा फोड़े आदि पर इसके पुष्प तथा पत्तों का लेप किया जाता है।

(३) ज्वर में दाहशान्ति के लिये इसके पत्ते तथा मूल का क्वाथ दिया जाता है।

(४) रक्तप्रदर में इसकी जड़ का चूर्ण शर्करा एवं मधु के साथ दिया जाता है।

(५) इसके बीज नपुंसकता, अर्श, सोजाक तथा वस्तिविकारों में दिये जाते हैं।

(६) पित्तातिसार में पत्रस्वरस में घृत मिलाकर खिलाते हैं।

(७) गुदा पर इसके बीजों के धूप से सूत्र-कृमि नष्ट होते हैं।

मात्रा—मूल ६ माशा-१ तोला; बीज ४-८ माशा।

७० नागबला १

सं०-भूमिबला, नागबला, विश्वदेवा। हिं०-फरीदबूटी ? म०-भुईबल, भुईचिकणा। गु०-भोंयबल। बं०-जोंका। ता०-पलुपन्दु। ते०-गायपूआकु। ले०-*Sida veronicaefolia Lam.* (सिडा व्हेरोनिसीफोलिआ लॅम्.) Syn-Sida humilis Cav. (सिडा ह्युमिलिस् कॅव्ह.)। Fam. Malvaceae (माल्वेसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाई जाती है। इसका क्षुप (प्रसर)-बहुवर्षायु, रोमश, लम्बी शाखाओं से युक्त तथा जमीन पर अथवा झाड़ियों पर फैला हुआ होता है। भूमि पर सर्प की तरह टेढ़े-मेढ़े यह फैला होने के कारण इसे नागबला कहते हैं। पत्ते-½-१ इञ्च लम्बे, प्रायः लट्वाकार, हृद्वत, दन्तुर, रोमश तथा लंबाग्र होते हैं। पुष्प-पीले रङ्ग के छोटे अनेक पुष्प आते हैं।

गुण और प्रयोग—गर्भिणी अतिसार में इसके पत्तों का फाण्ट देते हैं। मूत्र-कृच्छ्र में पुष्प तथा कोमल फल चीनी के साथ देते हैं। क्षत तथा ठोकर लगने पर पत्तों को पीसकर बाँधते हैं।

नागबला की जड़—यह बहुत उत्तम रसायन, पुष्टिदायक आयुवर्धक तथा बलवर्धक मानी गयी है। राजयक्ष्मा तथा क्षतक्षय आदि में यह बहुत लाभदायक मानी जाती है। रसायन के लिये इसकी जड़ की छाल ½-१ तोले दूध में पीसकर अथवा घृत एवं मधु के साथ इसका चूर्ण-सेवन का विधान है। पथ्य में घृत दुग्धयुक्त रक्तशालि अथवा साठी चावल का भात खावे (च. चि. अ. १)। इसी प्रकार प्रतिदिन ½ तोले से बढ़ाकर ४ तोले तक की मात्रा में इसका चूर्ण दूध के साथ खावे तथा आहार में दूध ही पीवे। क्षतक्षयी के लिये इस प्रकार एक महीने प्रयोग से पुष्टि, आयु, बल तथा आरोग्य की वृद्धि होती है (च० चि० अ० ११)। राजयक्ष्मा में दूध के साथ नागबला का चूर्ण सेवन करने से लाभ होता है (सु० उ० अ० ४१)। शोढल ने घृत एवं मधु के साथ क्षय के लिये इसका प्रयोग लिखा है। हृद्रोग, कास तथा श्वास में भी दूध के साथ इसका चूर्ण दिया जाता है (चक्र)।

उपर्युक्त गुण जिसमें मिलें वही शास्त्रीय नागबला हो सकती है। **मात्रा**—मूल ½ से १ तो०।

७१ नागबला २ (गुलसकरी ?)

सं०-कण्टकिनीबला। हिं०-गुलशकरी, जङ्गली मेथी। बं०-गोरक्षचाकुले, वोन मेथी। म०-नागबला। मा०-गङ्गेरण। पं०-गङ्गेरण, गङ्गेरन। गु०-कांटालोबल। फा०-शनबलिदेवरी। अ०-शमलोदेदस्ती। ले०-*Sida spinosa Linn.* (सिडा स्पाइनोसा लिन.)। Fam. Malvaceae (माल्वेसी)। यह इस देश के अधिक उष्ण भागों में पश्चिमोत्तर प्रदेश से दक्षिण तक पाई जाती है।

इसका क्षुप-अनेक शाखाओं से युक्त, स्वावलम्बी तथा श्वेताभ वर्ण का होता है। शाखाएँ-पतली, खुरदरी एवं किञ्चित सूक्ष्म रोवेंदार होती हैं। पत्ते-१-१½ इञ्च लम्बे, अंडाकार, कुछ नुकीले, दन्तुर और मोटे होते हैं। पत्तों के नीचे सन्धि पर प्रायः तीक्ष्ण कांटे होते हैं। फूल-आध इञ्च के घेरे में गोलाकार, ५ पंखड़ियों से युक्त सफेद रङ्ग के आते हैं। फल-पाँच पंखड़ीवाले होते हैं तथा सूखने पर ५ भाग हो जाते हैं। बीज-५-२ बीज होते हैं। कुछ विद्वानों ने इसके दो भेद माने हैं जिसमें श्वेतपुष्प के क्षुप को सि० अॅल्बा (S. alba) तथा पीतपुष्प वाले को सि० अॅल्निफोलिआ (S. alnifolia) लिखा है। इसकी जड़ तथा पत्तों का उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके पत्र स्नेहन तथा मूत्रजनन हैं। इसकी जड़ बल्य तथा ज्वरघ्न है। विषम ज्वर में मूलत्वक तथा सोंठ का क्वाथ पिलाते हैं। मूत्रकृच्छ्र, सोजाक तथा मूत्रेन्द्रिय के अन्य विकारों में इसके पत्तों का उपयोग किया जाता है। मात्रा—६ माशा-१ तोला।

७२ नागबला ३ (गुलसकरी, गांगेरुकी)

सं०-गुडशर्करा। **हि०**-गुलसकरी, कुकुरांड, कुकुरबिचा। **संता०**-सेतकट, सेताण्डीर। **बिहा०**-सेतारेपडी, सेतापेट्ट, सेताजरका। **म०**-गोवाली। **ले०**-*Grewia hirsuta, Vanb.* (ग्रेविआ हिर्सुटा, वॅन्ब)। Fam. Tiliaceae (टिलिएसी)। यह उत्तरपश्चिम भारत, नेपाल तथा कोंकण में पाया जाता है।

इसके **क्षुप**-१½-३ फीट ऊँचे तथा रोमश होते हैं। इसकी जड़ के पास से अनेक शाखायें निकली रहती हैं। **पत्ते**-विचित्र प्रकार के, रेखाकार, लट्वाकार-भालाकार या गोलाई लिये हुये आयताकार, लम्बाग्र, अल्पवृन्त युक्त तथा तीक्ष्ण दन्तुर होते हैं। **पुष्प**-पीतवर्ण के होते हैं। **फल**-प्रायः चार खण्ड वाले तथा मृदुरोमों से ढँके रहते हैं।

नागबला का चतुष्फला यह पर्याय इसे उपयुक्त होने के कारण कुछ इसे नागबला मानते हैं। किन्तु श्री ठा० बलवन्त सिंह जी इसे गुलसकरी मानते हैं तथा इसे 'गुडशर्करा' का अपभ्रंश मानते हैं। अन्य विद्वानों ने गुलसकरी पूर्वोक्त नागबला २ को माना है।

इसे या इससे मिलती जुलती एक छोटी वृक्ष जाति ग्रेविआ पोप्युलीफोलिया वाह्. (Grewia populifolia Vahl.) को गांगेरुकी (गंगरेन) कहते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि यह ग्रे० पोप्युलीफोलिआ ही गांगेरुकी है जिसे नागबला नहीं मानना चाहिये क्योंकि गांगेरुकी यह नागबला का पर्याय मानना उचित नहीं। गांगेरुक (फल) का चरक सू० अ० २७ तथा सू० अ० ४६ में उल्लेख है। गांगेरुक (फल) यह धन्वन के समान गुण वाला मधुर, कुछ कषाय, शीतल तथा पित्त-कफनाशक है। तलवार आदि से घाव होने पर इसके (गाङ्गेरुकी) मूल का स्वरस उसमें भरकर बाँधने से वेदना नष्ट होती है (शा० ध० म० खं० अ० १-२०)।

गुण और प्रयोग—शुक्र-दौर्बल्य में इसके मूल का उपयोग किया जाता है। फोड़े पर इसके मूल को पीसकर बांधने से फोड़ा पककर जल्दी अच्छा होता है। आमातिसार में इसके पत्तों के क्वाथ से बहुत लाभ होता है।

अथ लक्ष्मणा। तस्या लक्षणगुणानाह

पुत्रकाकाररक्ताल्पबिन्दुभिर्लाञ्छितच्छदा ॥ १४७ ॥
लक्ष्मणा पुत्रजननी बस्तगन्धाकृतिर्भवेत्। कथिता पुत्रदाऽवश्या लक्ष्मणा मुनिपुङ्गवैः॥१४८॥

'लक्ष्मणा' के लक्षण तथा गुण—जिसके पत्तों पर लाल रङ्ग के छोटे-छोटे बिन्दुओं से पुरुष का आकार बना हो, तथा जो देखने में बस्तगन्धा (वन अजवायन) के समान मालूम पड़े उसे पुत्र को उत्पन्न करने वाली 'लक्ष्मणा' समझनी चाहिये। श्रेष्ठ मुनियों ने इसे अवश्य पुत्र देनेवाली बतलाया है॥ १४७-१४८॥

७३ लक्ष्मणा

लक्ष्मणा यह एक सन्दिग्ध वनस्पति है। भावप्रकाशकार इसके परिचय में लिखते हैं कि इसके पत्तों पर पुरुषाकृति रक्त-चिह्न होते हैं तथा इसका आकार बस्तगन्धा की तरह होता है। बस्तगन्धा

का अर्थ कुछ लोगों ने वन अजवायन किया है। कुछ ने इसका अर्थ बकरे की गन्ध सदृश गन्ध वाला किया है जो उचित नहीं मालूम पड़ता। तुलसी की तरह के क्षुप को भी बस्तगन्धा कहा गया है। मदनपाल निघण्टु में लक्ष्मणा के परिचय में 'गोक्षीरसदृशं पुष्पं र मवल्लिसमन्वितम्। रक्तबिन्दुयुतं पत्रं लक्ष्मणाऽऽकार उच्यते' लिखा है। कोश में लक्ष्मणा का अर्थ हंस जाति का पक्षी दिया हुआ है। ध० नि० एवं रा० नि० में एक विशेष प्रकार की श्वेत कंटकारी का लक्ष्मणा नाम से उल्लेख किया हुआ है किन्तु रा० नि० ने आगे मूलकादि वर्ग में फिर से लक्ष्मणा नामक अन्य वनस्पति का उल्लेख किया है जिसके गुणों में 'स्त्रीवन्ध्यत्वविनाशिनी' दिया हुआ है। इससे ऐसा मालूम होता है कि उस समय भी श्वेत जाति की कंटकारीविशेष को लक्ष्मणा मानते थे जैसा आजकल कुछ विद्वान् मानते हैं। यद्यपि श्वेत कंटकारी में गर्भकारक गुण हैं तथापि लक्ष्मणा उससे भिन्न है क्योंकि एक ही स्थान पर दोनों का उल्लेख मिलता है (अ० हृ० शा० अ० १–४०)। अन्य निघंटुओं ने इसे शीत, मधुर, रसायन, बल्य, त्रिदोषघ्न एवं स्त्रीवन्ध्यत्वविनाशक लिखा है। पुत्रप्राप्ति के लिये सुश्रुत (शा० अ० २–३३) में लक्ष्मणा को दूध के साथ कूचकर उसका रस दाहिने नासा पुट में डालने के लिये लिखा है। नवजात शिशु के लिये उत्पन्न होने के दूसरे दिन लक्ष्मणासिद्ध घृत के पान कराने का विधान है (सु० शा० अ० १०)। वन्ध्यत्व नाशन के लिये इसकी जड़ को दूध के साथ सेवन करने का विधान है।

चीन में ॲरॅलिआ क्विन्क्वीफोलिआ (Aralia quinquefolia; Fam. Araliaceae) नामक एक पौधा पाया जाता है जिसे वहाँ जिन्सेंग (Ginseng) कहते हैं। इसकी जड़ को वहाँ अत्यन्त प्रभावशाली औषध मानते हैं। संभवतः इसका कारण इसका मानवाकृति से सादृश्य हो सकता है। इसको वहाँ के चिकित्सक रोग निवारक एवं जराव्याधि विनाशक मानते हैं। लक्ष्मणा के वर्णन में 'पुत्रकाकार' का अर्थ यदि मानवाकृति कंद करे तो दोनों में पर्याप्त साम्यता मालूम होती है क्योंकि जितना महत्व अपने यहाँ लक्ष्मणा को दिया जाता है वैसा ही जिन्सेंग को चीन में दिया जाता है। इसका पौधा छोटा एवं पत्ते करतलाकार होते हैं। इसकी जड़ का स्वाद कुछ कडुआ तथा सुगन्धयुक्त होता है।

निम्नलिखित वनस्पतियों को लक्ष्मणा नाम दिया हुआ मिलता है किन्तु इनके लक्ष्मणा होने में सन्देह है।

(क) Ipomoea sepiaria Koen. (आइपोमिआ सेपिएरिआ कोएन्.)
Fam. Convolvulaceae (कन्वोल्व्युलेसी)। गु०—हनुमानवेल।

(ख) Atropa mandragora (एट्रोपा मेण्ड्रागोरा)। Fam. Atropaceae (एट्रोपेसी)। संभवतः इस वनस्पति का उचित नाम Mandragora autumnalis Spreng; Fam. Solanaceae (मॅन्ड्रागोरा ऑटम्नॅलिस् स्प्रे.; सोलेनॅसी) है।

(ग) Smithia geminiflora Roth (स्मिथिआ जेमिनिफ्लोरा रॉथ)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

(घ) Biophytum sensitivum (Linn.) DC. (बायोफाइटम् सेन्सिटिव्हम् डीसी.)। Fam. Geraniaceae (जिरॅनिएसी)।

अथ स्वर्णवल्ली (सोनबेल)। तस्या नामगुणानाह

स्वर्णवल्लीरक्तफला काकायुः काकवल्लरी। स्वर्णवल्ली शिरःपीडां त्रिदोषान्हन्ति दुग्धदा॥१४९॥

'सोनबेल' के नाम तथा गुण—स्वर्णवल्ली, रक्तफला, काकायु और काकवल्लरी ये सब संस्कृत

नाम 'सोनवेल' के हैं। सोनवेल—शिर की पीड़ा तथा त्रिदोष को दूर करती है, एवं दूध को बढ़ाने वाली होती है ॥ १४९ ॥

७४ स्वर्णवल्ली

'स्वर्णवल्ली' की लता कैसी होती है, इस सम्बन्ध में कोई वर्णन अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलता। रक्तफला विशेषण के उल्लेख के कारण आकाशवल्ली इसका पर्याय नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त आकाशवल्ली का स्वतन्त्र रूप में भी भावप्रकाशकार ने इसी वर्ग में वर्णन किया है। प्राचीन ग्रन्थों में भी स्वर्णवल्ली का स्वतन्त्र रूप में कोई विशिष्ट प्रयोग वर्णित नहीं है। इसीलिये व्यवहार में भी इसका शुद्ध या व्यामिश्रित रूप उपलब्ध नहीं है।

अथ कार्पासी (कपास)। तस्या नामगुणानाह

कार्पासी तुण्डकेशी च समुद्रान्ता च कथ्यते। कार्पासकी लघु कोष्णा मधुरा वातनाशिनी॥

'कपास' के नाम तथा गुण – कार्पासी, तुण्डकेशी और समुद्रान्ता ये सब नाम 'कपास' के हैं। कपास—लघु, किञ्चित् उष्णवीर्य, मधुर तथा वातनाशक होता है ॥ १५० ॥

अथ तत्पत्रबीजयोर्गुणानाह

तत्पलाशं समीरघ्नं रक्तकृन्मूत्रवर्द्धनम्। तत्कर्णपिडकानादपूयास्रावविनाशनम् ॥ १५१ ॥
तद्बीजं स्तन्यदं वृष्यं स्निग्धं कफकरं गुरु ॥ १५२ ॥

इसके पत्ते तथा बीजों के गुण—कपास के पत्ते-वायुनाशक, रक्त तथा मूत्रवर्धक होते हैं एवम् कर्णपिडका (कान की फुन्सी), कर्णनाद (कान में शब्द होना) और कर्णपूयास्राव (कान से पीव का आना) इन सब को नाश करने वाले होते हैं। कपास के बीज-दुग्धवर्धक, वृष्य (वीर्यवर्धक), स्निग्ध, कफकारक तथा पाक में गुरु होते हैं ॥ १५१-१५२ ॥

७५ कपास

हि०-कपास, रूई। म०-कापसी, कापूस। गु०-बोण, कपास। बं०-कार्पास, तुला। ते०-पत्तिचेट्टु, कार्पासमु। क०-हत्ति। ता०-परुत्ति। फा०-पंबः। अ०-नवातुलकुल। अं०-Cotton Plant (कॉटन प्लॅण्ट), Indian Cotton (इण्डियन कॉटन)। ले०-*Gossypium herbaceum Linn.* (गॉसिपिअम् हर्बेसिअम् लिन.); Fam. Malvaceae (मालवेसी)।

कपास के बीज के नाम—हि०-बिनौला। म०-सरकी। गु०-कपासिया। मा०-कांकड़ा। अ०-हब्बुलकुतन। फा०-पंबः दाना।

कपास या रूई यह सुप्रसिद्ध द्रव्य है। भारतवर्ष के अनेक भागों में बहुलता से इसकी खेती की जाती है। मिस्र, अमेरिका तथा संसार के अन्य उष्ण प्रदेशों में भी इसकी खेती की जाती है।

यह गुल्म जाति की वनस्पति ४-५ फीट तक ऊँची होती है। इसके पत्ते-हाथ के पंजे के समान कई भागों में विभक्त रहते हैं। प्रायः ३ से ७ भाग तक देखने में आते हैं। फूल-घंटाकार पीले रङ्ग के होते हैं, उनके बीच का हिस्सा बैंगनी रङ्ग का होता है। फल-डोडी या फल गोलाकार होता है तथा उसके भीतर सफेद रूई से लिपटे हुये ५-७ बीज होते हैं। बीज-किंचित् काले रङ्ग के, चने के समान गोल होते हैं और उनके भीतर सफेद मज्जा होती है। जड़-बाहर से पीले रङ्ग की तथा अन्दर से सफेद होती है। जड़ की छाल गंधयुक्त, पतली, चिमड़, रेशेदार, धारीदार एवं

करीब १ फीट तक लम्बी होती है। छाल का स्वाद कुछ तीता एवं कषाय होता है। प्रतिवर्ष प्रायः चौमासे के आरम्भ में खेतों में बीजों को रोपण करते हैं, और फाल्गुन-चैत में रूई संग्रह कर पौधे को काट कर खेत साफ कर देते हैं।

जाति—इसकी निम्न अन्य जातियाँ भी पाई जाती हैं। देशभेद से भी यह अनेक प्रकार का होता है।

उद्यान कार्पास—सं०–उद्यानकार्पास। हि०–नर्मा। म०–देवकापसीण। गु०–हिरवगो। पं०–कपस। संता०–बुदिकरकोम। ले०–*Gossypium arboreum Linn.* (गॉसिपिअम् आर्बोरिअम् लिन.)।

यह एक प्रकार की कपास होती है, जिसका बागों में रोपण करते हैं। इसके पौधे–बहुवर्षायु, ८–१० फीट तक ऊँचे होते हैं। पत्ते और फल भी कुछ बड़े होते हैं, तथा फूल लाल रङ्ग के होते हैं।

अरण्य कार्पासी—सं०–भारद्वाजी (च० सू० अ० ४, रा० नि०)। हि०–जंगली कपास, वनकपासी। म०–रानकापूस। ले०–*Thespesia lampas Dalz & Gibs* (थेस्पेसिआ लॅम्पस् डा., गि.)।

यह जाति जंगलों में स्वयं उत्पन्न होती है। इसके क्षुप–झाड़ीदार, दृढ़ तथा ४–६ फीट ऊँचे होते हैं। पत्ते–करतलाकार, ३ खण्डयुक्त या अखण्ड एवं व्यास में ४–५ इञ्च होते हैं। फूल–पीले रङ्ग के तथा मध्य में प्रायः लाल रङ्ग के होते हैं। इसकी रुई कुछ पीताभ होती है।

रासायनिक संगठन—कपास की जड़ की छाल में एक रङ्गहीन या पीताभ अम्ल राल ८% तक पाई जाती है जो आक्सीजन के संयोग से चमकीले रक्ताभ भूरे रङ्ग की हो जाती है। इसके अतिरिक्त इसमें डिहाइड्रोक्सि बेन्जोइक एसिड (Dihydroxy benzoic acid), सॅलिसिलिक् एसिड (Salicylic acid), स्नेहाम्ल, बिटेन (Betaine), सेरिल अॅल्कोहोल् (Ceryl alcohol), फाइटोस्टेरॉल् (Phytosterol), शर्करा एवं फेनॉल के सदृश दो पदार्थ पाये जाते हैं। बीजों में १०–२९% हलके पीले रङ्ग का गन्धहीन तथा स्वादहीन तैल पाया जाता है जिसमें ग्लिसराइड्स, स्नेहाम्ल, फॉस्फोलिपिन् (Phospholipin), फाइटोस्टेरॉल् (Phytosterols) तथा रंजक द्रव्य पाये जाते हैं। तैल के फेनॉलयुक्त भाग से एक सुनहले वर्ण का गॉसिपॉल् (Gossypol) नामक विषैला रवेदार पदार्थ पाया जाता है जो जल में नहीं घुलता किन्तु मद्यसार आदि अन्य द्रवों में घुलता है। यह छाल में पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—कपास के बीज–स्तन्यजनन, स्नेहन, स्रंसन, श्लेष्म-निःसारक, बल्य एवं नाडीसंस्थान के लिये पौष्टिक हैं। इसकी रुई उपशोषण तथा रक्षण है। पुष्प–उत्तेजक तथा सौमनस्यजनन हैं। कोमल पत्ते–स्नेहन तथा मूत्रजनन हैं। तैल–स्नेहन, पौष्टिक तथा अधिक मात्रा में स्निग्ध विरेचक है।

इसकी जड़ की छाल गर्भाशयसंकोचक एवं आर्तवजनन है। गर्भाशय पर इसकी क्रिया अर्गट (Ergot) की तरह होती है। इससे गर्भाशय का अच्छी तरह संकोच होकर रक्तस्राव रुकता है। इसकी अधिक मात्रा से गर्भपात होता है।

(१) प्रसव के बाद इसकी छाल का क्वाथ पिलाने से गर्भाशय का संकोच होता है। यह आँवल (अपरा) गिरने के बाद पिलाना चाहिए। यदि आधे घण्टे में गर्भाशय संकुचित होकर गेंद की तरह न मालूम पड़े तथा नाडी की गति तेज हो तो फिर दुबारा इसे देना चाहिये।

पीडितार्तव तथा शीत से उत्पन्न अनार्तव में छाल के क्वाथ से लाभ होता है। श्वेत प्रदर में इसकी जड़ को चावल के धोवन के साथ देते हैं।

(२) प्रसूता को दुग्ध वृद्धि के लिये बीजों की पेया बनाकर देते हैं। बीजों की चाय प्रवाहिका में उपयोगी है। शीतज्वर में ज्वर के पूर्व इसका क्वाथ पिलाते हैं।

(३) इसके पुष्पों का शरबत उदासीनता-प्रधान मानसिक रोगों (Hypochondriasis) में पिलाते हैं।

(४) घाव में रुई जलाकर भरने से रक्तस्राव रुकता है तथा घाव जल्दी अच्छा होता है। रुई का उपयोग शीत से रक्षा, उष्णता पहुँचाने तथा व्रण संरक्षण के लिये करते हैं।

(५) इसके कोमल पत्तों का रस आमातिसार में देते हैं।

मात्रा—मूलत्वक् २–४ माशा; बीजचूर्ण ३–६ माशा।

बनकपासी[१]—इसका उपयोग कपास की तरह ही किया जाता है। इसकी जड़ तथा फल सोजाक में देते हैं।

नर्मा—इसमें कपास की अपेक्षा स्निग्धता अधिक रहने के कारण इसके पत्ते तथा जड़ का लेपों में अधिक उपयोग करते हैं। मूत्रकृच्छ्र मे पत्तों को दूध में पीसकर पिलाते हैं।

अथ वंशः (बांस)। तस्य नामगुणानाह

वंशस्त्वक्सारकर्मारत्वचिसारतृणध्वजाः। शतपर्वा यवफलो वेणुमस्करतेजनाः॥ १५३॥
वंशः सरो हिमः स्वादुः कषायो बस्तिशोधनः। छेदनः कफपित्तघ्नः कुष्ठास्रव्रणशोथजित्॥

'बाँस' के नाम तथा गुण—वंश, त्वक्सार, कर्मार, त्वचिसार, तृणध्वज, शतपर्वा, यवफल, वेणु, मस्कर और तेजन ये सब नाम 'बाँस' के हैं। बाँस—सारक, शीतवीर्य, स्वादिष्ट, कषायरस-युक्त, बस्तिशोधक, छेदक, कफपित्तनाशक एवं कुष्ठ, रक्तविकार, व्रण तथा शोथ इन सब को दूर करने वाला होता है॥ १५३–१५४॥

अथ वंशस्य करीरयवयोर्गुणानाह

तत्करीरः कटुः पाके रसे रूक्षो गुरुः सरः। कषायः कफकृत्स्वादुर्विदाही वातपित्तलः॥१५५॥
तद्यवास्तु सरा रूक्षाः कषायाः कटुपाकिनः। वातपित्तकरा उष्णा बद्धमूत्राः कफापहाः॥

'बाँस' के अङ्कुर तथा यव (चावल) के गुण—बाँस का अङ्कुर—पाक में कटु रसयुक्त, रूक्ष, गुरु, सारक, कटु तथा कषायरसयुक्त, कफकारक, स्वादिष्ट, दाहजनक एवं वात-पित्त को उत्पन्न करने वाला होता है। बांस के यव (चावल)—सारक, रूक्ष, कषायरसयुक्त, पाक में कटुरसयुक्त, वातपित्तकारक, उष्णवीर्य, मूत्ररोधक तथा कफनाशक होते हैं॥ १५५–१५६॥

७६ बाँस

हि०–बाँस। गु०–बाँस। म०–बांबू। बं०–बाँश। ते०–वेदरू, बोंगा। ता०–मुंगिल कोल०–कटंगा। मा०–बांब। सन्ताल०–माट। अ०–कसब। अं०–Bamboo (बांबू)। ले०–*Bambusa arundinacea Willd.* (बांबुसा अरुन्डिनेसिया विल्ड)। Fam. Gramineae (ग्रॅमिनी)।

---

१. भारद्वाजी हिमा रुच्या व्रणशस्त्रक्षतापहा। (रा. नि.)

बाँस इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में उत्पन्न किया जाता है और छोटी-छोटी पहाड़ियों के आस-पास आप ही आप जंगली भी उत्पन्न होता है। छोटे, बड़े, मोटे, पतले, ठोस और पोले इन भेदों से बांस कई प्रकार का होता है। इसकी ऊँचाई ३०-४० फीट से १०० फीट तक होती है और मोटाई ३-४ से १२-१६ इंच तक होती है। इसके पत्ते-१-१॥ इञ्च चौड़े और ५-६ इञ्च तक लम्बे होते हैं। प्रायः बाँस का वृक्ष पुराना होने पर फूलता-फलता है और कोई-कोई बाँस अवधि के पूर्व ही फूलने-फलने लगता है। इसके फूल-छोटे-छोटे सफेद होते हैं और फल-जइ के आकार के दिखाई पड़ते हैं। इसको वेणुबीज कहते हैं। इसकी कई अन्य जातियाँ होती हैं। बाँस के संबंध में शेष वर्णन वंशलोचन के साथ पृष्ठ ५८ पर किया गया है।

अथ नलः (नरसल) तस्य नामगुणानाह

नलः पोटगलः शून्यमध्यश्च धमनस्तथा। नलस्तु मधुरस्तिक्तः कषायः कफरक्तजित्।
उष्णो हृद्वस्तियोन्यर्त्तिदाहपित्तविसर्पहृत् ॥ १५७ ॥

'नरसल' के नाम तथा गुण—नल, पोटगल, शून्यमध्य और धमन ये सब नाम 'नरसल' के हैं। नरसल—मधुर, तिक्त तथा कषायरसयुक्त और उष्णवीर्य होता है, एवम् कफ, रक्तविकार, हृदय, बस्ति तथा योनि सम्बन्धी पीड़ा, दाह, पित्त और विसर्प को दूर करने वाला होता है॥ १५७ ॥

नोट—नल के सम्बन्ध में जो वर्णन निघंटुओं में मिलता है उससे कुछ भ्रम उत्पन्न होता है। भावप्रकाशकार नल का एक ही भेद लिखते हैं तथा इन्होंने इसे उष्णवीर्य लिखा है किन्तु इसको पित्तविकार, कफविकार, रक्तदोष एवं विसर्प इत्यादि में लाभदायक माना है। रा० नि० तथा ध० नि० में नल एवं महानल (देवनाल) ये दो भेद मिलते हैं जिनमें से नल को शीतवीर्य एवं रक्तपित्तहर माना है तथा महानल को अधिक वीर्यशाली एवं रसक्रिया में उपयोगी लिखा है। नल के जो प्रयोग सुश्रुत-चरकादि में मिलते हैं उनसे ऐसा मालूम होता है कि यह शीतवीर्य है तथा पित्त विकार, विसर्प, मूत्रविकार आदि में उपयोगी है। उन प्रयोगों में इसके साथ कुश, दूर्वा आदि पित्तशामक एवं मूत्रजनक इसी प्रकार के द्रव्यों का उल्लेख है जिससे ऐसा अनुमान होता है कि नल भी इन्हीं के वर्ग का द्रव्य है। कुछ आधुनिक ग्रन्थकारों ने ग्रेमिनी (Gramineae) वर्ग के फ्रॅग्माइटीज कर्का (Phragmites kirka) को नल माना है। इसी वर्ग में कुश, दूर्वा आदि द्रव्य भी आते हैं।

कुछ अन्य आधुनिक विद्वानों ने नल को लोबेलिआ निकोटिआनिफोलिआ (Lobelia nicotianaefolia) माना है जो कम्पॅनुलेसी (Campanulaceae) वर्ग का है तथा जिसका पाश्चात्य चिकित्सा में कफनिःसारक रूप में तमकश्वास के लिये प्रयोग किया जाता है। यह विषैला द्रव्य है। नल के परिचय में कहीं पर 'वंशपत्रो मृदुच्छदः। छिद्रांत्रो नर्तको रन्ध्री मृत्युपुष्पो विभीषणः' यह भी श्लोक मिलता है जो उपर्युक्त लोबेलिआ के लिये अधिक उचित मालूम पड़ता है। भावप्रकाशकार भी नल को उष्ण एवं कफहर मानते हैं किन्तु इन्होंने भी इसका वर्णन कुश, कास, दूर्वा आदि के साथ किया है अतः नल के ग्रॅमिनी वर्ग के फ्रॅग्माइटीज कर्का होने की संभावना भी कम नहीं है। स्वरूप की दृष्टि से दोनों द्रव्यों में पर्याप्त साम्यता पाई जाती है। लोबेलिआ दक्षिण की तरफ ही प्राप्त होता है। यहाँ पर दोनों द्रव्यों का अलग-अलग वर्णन किया गया है।

७७ नरकट

हि०–नरकट। म०–नल। गु०–नाली, नाहरी। कोल०–जंकई। ले०–*Phragmites kirka Trin.* (फ्रॅग्माइटीज कर्का ट्रिन.)। Fam. Gramineae (ग्रॅमिनी)।

यह दलदलों या नदियों के किनारे होता है।

इसका पौधा–१०–२० फीट ऊँचा तथा बाँस की तरह दिखलाई देता है। इसके कांड के पर्व पीले तथा छोटे होते हैं। लंबे भूमिशायी कांडों द्वारा ये शीघ्र अपनी संख्या-वृद्धि करते हैं। पत्ते-कड़े, सीधे, खड़े, १–२ फीट लंबे एवं १ से १½ इञ्च चौड़े होते हैं। पुष्पव्यूह की छोटी दण्डिकायें धूसर या भूरे रंग की होती हैं।

इसका एक अन्य भेद अरुण्डो डोनॅक्स लिन. (Arundo donax Linn.) भी पाया जाता है जो ६–१२ फीट ऊँचा होता है।

इसके मूल का क्वाथ स्नेहन, मूत्रल, आर्तवजनन एवं दुग्ध कम करने वाला है। इसमें ग्रेमाइन (Gramine, $C_{11}H_{14}N_2$) तथा डोनेक्सेराइन (Donaxarine, $C_{15}H_{16}O_2N_2$) नामक दो क्षाराभ पाये जाते हैं जिनमें से प्रथम की अल्पमात्रा से कुत्ते में रक्त दबाव बढ़ता है किन्तु अधिक मात्रा से कम हो जाता है।

७८ नरसल, देवनल

हि०–नरसल, नल। म०–देवनल, बोकेनल, ढवनल, नल। बं०–बड़ानल। क०–काडहोगे सोप्पु। ता०–काट्टुपुगैयिलै। कच्छ०–आँची। गु०–नाली। ते०–अडवियोगाकु। अं०–Wild tobacco (वाइल्ड टोबॅको); Lobelia (लोबेलिआ)। ले०–*Lobelia nicotianaefolia Heyne.* (लोबेलिआ निकोटिआनिफोलिआ हेन्.)। Fam. Lobeliaceae (लोबेलियेसी)।

यह पश्चिमी घाट में बम्बई से त्रावनकोर तक २–७ हजार फीट की ऊँचाई तक, कोंकण, माथेरान, दक्षिण, महाराष्ट्र का दक्षिण प्रदेश, नीलगिरी, मलाबार तथा मैसूर में पाया जाता है।

इसका क्षुप–५–१२ फीट ऊँचा, द्विवर्षायु या बहुवर्षायु होता है। काण्ड–ऊपर की तरफ पोला तथा ऊपर की ओर इससे शाखाएँ निकली रहती हैं। पत्ते–तंबाकू की तरह, संख्या में बहुत, हलके हरे रंग के, छोटे पर्णवृन्त से युक्त, नीचे के १२×२ इञ्च बड़े तथा ऊपर के क्रमशः छोटे, मालाकार, महीन दाँतों से युक्त एवं मृदुरोमश होते हैं। पुष्प–जामुनी आभायुक्त, श्वेत वर्ण के, १ फीट तक लंबी मंजरिओं में आते हैं। फल–८ मि० मि० व्यास के गोल सामान्य स्फोटीफल होते हैं। बीज–बहुत छोटे, अंडाकार, दबे हुवे, पीताभ भूरे रंग के तथा स्वाद में अत्यन्त तीते होते हैं। इसके पुष्पदंड पर एक गाढा, पीले रंग का स्राव जमा हुआ पाया जाता है। इसमें एक प्रकार की अप्रिय गंध होती है। इसके वायवीय भाग को अक्तूबर तथा नवम्बर में तोड़कर छाया में सुखाकर उपयोग में लाया जाता है। सूखे हुए पौधे पर राल की तरह एक पदार्थ लगा रहता है तथा इसका स्वाद उष्ण एवं तीता होता है। इसकी धूल से नाक तथा गले में तंबाकू की तरह प्रक्षोभ होता है। इसकी नली से बन्सी बनाई जाती है जिसे कोंकण में पावा कहते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें मुख्यतया लोबेलीन (Lobeline, $C_{22}H_{27}O_2N$) नामक एक क्षाराभ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—लोबेलीन की क्रिया बहुत कुछ तंबाकू में पाये जाने वाले निकोटीन (Nicotine) की तरह होती है। इससे हल्लास उत्पन्न होकर कफ निकलता है। पाश्चात्य

चिकित्सा में उद्वेष्टनयुक्त श्वसनिकाशोथ (Bronchitis) के लिए इसका बहुत उपयोग किया जाता है। तमकश्वास (Asthma) में आवेग के समय तथा बाद में भी इसके टिंक्चर का १० बूँद दिन में ३ वार अन्य औषधियों के साथ उपयोग किया जाता है। उद्वेष्टनयुक्त कास में भी इससे लाभ होता है। इसके श्वसनकेन्द्र को उत्तेजित करने के कारण फुफ्फुसपाक तथा कार्बन मॉन् आक्साइड एवं मॉर्फीन की विषाक्तता में इसका उत्तेजक रूप में प्रयोग करते हैं।

इसकी फली या पत्तों को थोड़ी देर चबाने से चक्कर, शिरःशूल, कंप एवं अन्त में हृल्लास तथा वमन होता है। पूर्ण मात्रा से शीघ्र ही तीव्र वमन होता है तथा इसके साथ-साथ हृल्लास, प्रस्वेद तथा शिथिलता उत्पन्न होती है।

विष प्रभाव—अधिक मात्रा से उपर्युक्त लक्षण अत्यंत तीव्र होते हैं तथा साथ में गले में जलन, ऐच्छिक क्रियाओं का धीरे धीरे ह्रास, तीव्र तथा कमजोर नाडी, शैत्य, निपात एवं मूर्च्छा या संन्यास होता है। कुछ में मृत्यु के पूर्व आक्षेप होते हैं। मृत्यु श्वसन के रुकने से होती है। ५–८ र० पत्रचूर्ण या बीज से तीव्र वमन होता है तथा ४ माशे (१ ड्राम) पत्रचूर्ण से मृत्यु हुई है। इसका विषैला परिणाम इसके प्रयोग के पश्चात् कभी-कभी वमन के द्वारा औषधि न निकलने के कारण होता है। **मात्रा**—चूर्ण ½–१½ र०; टिंक्चर लोबेलिआ इथेरिआ ५–१५ बूँद।

प्रतिनिधि एवं व्यामिश्रण—(१) लोबेलिआ एक्सेल्सा (Lobelia excelsa Lesch.) का इसके प्रतिनिधि के रूप में व्यवहार किया जाता है। यह इसी की तरह होता है किन्तु इसमें मुलायम रोमयुक्त मोटे पत्र होते हैं तथा मंजरी बैंगनी आभायुक्त हलके पीताभ रंग के घने पुष्पों से युक्त होती है। इसके परागाशय (Anther) पृष्ठ भाग पर चिकने होते हैं।

(२) लोबेलिआ इन्फ्लेटा लिन. (Lobelia inflata Linn.) का पाश्चात्य चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है जो अमेरिका में उत्पन्न होता है।

(३) वर्बस्कम् थॅप्सस लिन. (Verbascum thapsus Linn.); Fam. Scrophulariaceae (स्क्रोफ्युलेरिएसी) तथा कम्पोझिटी (Compositae) वर्ग के पौधों की कभी-कभी इसमें मिलावट रहती है।

अथ भद्रमुञ्जः (रामशर-सरपत इति वा) मुञ्जश्च (मूंज)। तयोर्नामगुणानाह

भद्रमुञ्जः शरो बाणस्तेजनश्चेक्षुवेष्टनः ॥ १५८ ॥
मुञ्जो मुञ्जातको बाणः स्थूलदर्भः सुमेखलः।
मुञ्जद्वयन्तु मधुरं तुवरं शिशिरं तथा ॥ १५९ ॥
दाहतृष्णाविसर्पास्रमूत्रकृच्छ्राक्षिरोगजित्। दोषत्रयहरं वृष्यं मेखलासूपयुज्यते ॥ १६० ॥

'सरपत' तथा 'मूँज' के नाम और गुण—भद्रमुञ्ज, शर, बाण, तेजन और इक्षुवेष्टन ये सब नाम 'सरपत' के हैं। मुञ्ज, मुञ्जातक, बाण, स्थूलदर्भ और सुमेखल ये सब नाम 'मूञ्ज' के हैं। उक्त दोनों प्रकार के मूञ्ज—मधुर, कषाय रसयुक्त, शीतवीर्य और वृष्य होते हैं एवं दाह, तृषा, विसर्प, रक्तविकार, मूत्रकृच्छ्र, नेत्ररोग तथा त्रिदोष को दूर करनेवाले होते हैं, और 'मेखला' बनाने में इनका उपयोग होता है॥ १५८–१६० ॥

७९ भद्रमुञ्ज

हि०–भद्रमुञ्ज, रामसर, सरपत, कंडा। **क०**–रामसपु, सरगोलु। **सन्ताल०**–सर। **ते०**–वेलु-पोनिक। **सिन्ध०**–सर। **बं०**–शर। **म०**–शर। **पं०**–करकाना। **गु०**–तीरकांस। **ले०**–*Saccharum munja Roxb.* (सॅकेरम् मुंज राक्स.)। Fam. Gramineae (ग्रॅमिनी)।

भद्रमुञ्ज—यह उत्तर भारत, पंजाब तथा गंगा के ऊपरी मैदान में उत्पन्न होता है।

यह तृणजाति की बहुवर्षायु वनस्पति प्रायः नदियों के किनारे गुच्छों में उगती है। यह १२ से १८ फीट तक ऊँचा होता है। **पत्ते**—बहुत पतले-पतले, ५–७ फीट लम्बे, ।।।–१ इञ्च चौड़े तथा तीक्ष्णाग्र होते हैं। डंठल के अन्त में पीताभ सफेद से रक्ताभ बैंगनी बारीक फूलों का धनहरा लगता है। इसके कांड, पत्र तथा पत्रकोषों से निकाले रेशे काम में लिये जाते हैं। इसकी एक और जाति होती है जिसे मूंज कहा जाता है जो आकार प्रकार में छोटी होती है।

शर तथा मूंज की जड़ का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह शीतल, तृष्णानिग्राहक, मूत्रल एवं वृष्य है। व्रण में तथा प्रसूता के कमरे में इसकी जड़ से धूपन किया जाता है।

मात्रा—मूल ३–६ माशा।

अथ कासः। तस्य नामगुणानाह

> कासः कासेक्षुरुद्दिष्टः स्यादिक्षुरसस्तथा।
> इक्ष्वालिकेक्षुगन्धा च तथा पोटगलः स्मृतः॥ १६१॥
> कासः स्यान्मधुरस्तिक्तः स्वादुपाको हिमः सरः।
> मूत्रकृच्छ्राश्मदाहास्रक्षयपित्तजरोगजित्॥ १६२॥

'कास' के नाम तथा गुण—कास, कासेक्षु, इक्षुरस, इक्ष्वालिका, इक्षुगन्धा तथा पोटगल ये सब नाम कास के हैं। कास—मधुर तथा तिक्तरसयुक्त, विपाक में मधुर, शीतवीर्य और सारक होता है एवं मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी (पथरी), दाह, रक्तविकार, क्षय तथा पित्त सम्बन्धी रोग को दूर करता है॥ १६१–१६२॥

८० कास

हिं०–कास, कासी, कांस घास। **बं**–केशे। **म०**–कसई। **गु०**–कांसडो। **क०**–किरयिकागच्छ, कासलु। **ते०**–रेलु। **ता०**–नाणल्। **मा०**–कास। **अं०**–Thactch grass (थॅच ग्रास)। **अं०**–Saccharum spontaneum Linn. (सॅकेरम् स्पॉण्टेनियम् लिन.)। Fam. Graminese (ग्रॅमिनी)।

यह सभी प्रान्तों में उत्पन्न होता है।

कास तृणजातीय वनस्पति प्रायः नदियों के किनारे तथा दलदलों के आस-पास अधिक देखने में आती है। इसके पौधे ५–७ फीट (कभी-कभी १८ फीट तक) ऊँचे होते हैं। काण्ड ठोस होते हैं। **पत्ते**–१–२।। फीट लम्बे, बहुत कम चौड़े ($\frac{1}{8}$–$\frac{1}{2}$ इञ्च) तथा उनके किनारे मुड़े हुये होते हैं। **पुष्पदण्ड**–।।।–२ फीट लम्बा होता है जिस पर श्वेत वर्ण के पुष्प गुच्छों में आते हैं। शरदऋतु में ये पुष्पित होते हैं तथा शीत ऋतु में फलते हैं। इसका प्रायः छप्पर और टट्टी बनाने में उपयोग किया जाता है। इसके मूल का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी जड़ स्तन्यजनन एवं मूत्रल है। इसका उपयोग मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, रक्तार्श, रक्तप्रदर एवं कपोत, पारावत आदि के मांस के खाने से उत्पन्न अजीर्ण में किया जाता है।

मात्रा—मूल ३–६ माशा।

अथ गुन्द्रः (पटेर-गोंदपटेर इति च)। तस्य नामगुणानाह

गुन्द्रः पटेरको गुल्मः शृङ्गवेराभमूलकः। गुन्द्रः कषायो मधुरः शिशिरः पित्तरक्तजित्।
स्तन्यशुक्ररजोमूत्रशोधनो मूत्रकृच्छ्रहृत् ॥ १६३ ॥

गोंद पटेर के नाम तथा गुण—गुन्द्र, पटेरक, गुल्म और शृङ्गवेराभमूलक ये सब नाम 'गोंदपटेर' के हैं। **गोंद पटेर**-कषाय तथा मधुर रसयुक्त, शीतवीर्य, रक्तपित्त एवं मूत्रकृच्छ्र को दूर करनेवाला, एवं दूध, शुक्र, रज और मूत्र का शोधन करनेवाला होता है ॥ १६३ ॥

८१ गोंद पटेर (गुन्द्र)

हि०-पटेर, गोंदपटेर। म०-रामबाण। ले०-*Typha angustata Bory &Chaub.* (टाइफा अँगस्टॅटा बो., चौ.)। Fam. Typhaceae (टाइफेसी)।

नोट—आगे वर्णित एरका और गोंदपटेर एक ही जाति की वनस्पतियाँ हैं। इनका वर्णन आगे एक साथ ही किया गया है।

अथैरका (मोथीतृणविशेषः)। तस्या नामगुणानाह

एरका गुन्द्रमूला च शिविर्गुन्द्रा शरीति च। एरका शिशिरा वृष्या चक्षुष्या वातकोपिनी।
मूत्रकृच्छ्राश्मरीदाहपित्तशोणितनाशिनी ॥ १६४ ॥

'एरका' के नाम तथा गुण—एरका, गुन्द्रमूला, शिवि, गुन्द्रा और शरी ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। **एरका**-शीतवीर्य, वृष्य, नेत्रों के लिये हितकर, वात को कुपित करने वाली एवं मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, दाह, पित्त तथा रक्तविकार को दूर करने वाली होती है ॥ १६४ ॥

८२ एरका

हि०-एरका, पटेरा। बं०-होगला। म०-रामबाण। गु०-घाबाजरीयुं। अं०-Elephant grass (एलिफेण्ट ग्रास)। ले०-*Typha elephantina Roxb.* (टाइफा एलिफेण्टीना रा.)। Fam. Typhaceae (टाइफेसी)।

एरका—पश्चिमोत्तर हिन्दुस्तान आसाम एवं दक्षिण तक के दलदलों में एवं सिंधु के डेल्टा में अधिक पाई जाती है। यह दलदलों में उत्पन्न होने वाली तृणजातीय वनस्पति ६ से १२ फीट तक लम्बी होती है तथा यह समूहबद्ध होकर उगती है। **पत्ते**-मूलीय, ४–६ फीट लंबे, पौन से डेढ़ इञ्च तक चौड़े और नतोदर होते हैं। इनकी धार अग्र की ओर लहरदार होती है। **पुष्प**-नारीपुष्पों की विदण्डिक मंजरियाँ ८–२० इञ्च लंबी और भूरी नारंगी रंग की होती हैं। इन्हीं पुष्पदण्डों से ८-२२ इञ्च लंबी नरपुष्पों की मंजरियाँ भी निकली रहती हैं। इसकी एक दूसरी जाति T. angustata (टाइफा अँगस्टेटा) भी पाई जाती है। इनमें मुख्य भेद दोनों की पत्तियों में होता है। पहली जाति में कोषमय पत्राधार के ऊपर पत्ती का घेरा त्रिभुजाकार और दूसरी जाति में कचित् गोलाकार होता है। इनकी पत्तियों की चटाइयाँ बनती हैं।

गुण और प्रयोग—यह शीतल, मूत्रल, ग्राही, वीर्यवर्धक, चक्षुष्य तथा अश्मरी, दाह एवं रक्तपित्तनाशक है। इसके पुष्पों को कूचकर व्रण पर बांधने से व्रण जल्दी भर जाता है।

मात्रा—३-६ माशा।

अथ कुशः (कुशा) क्षुरपत्रश्च (डाभ) तयोर्नामानि गुणांश्चाह

कुशो दर्भस्तथा बर्हिः सूच्यग्रो यज्ञभूषणः।
ततोऽन्यो दीर्घपत्रः स्यात्क्षुरपत्रस्तथैव च॥ १६५॥
दर्भद्वयं त्रिदोषघ्नं मधुरं तुवरं हिमम्।
मूत्रकृच्छ्राश्मरीतृष्णावस्तिरुक्प्रदरास्रजित्॥ १६६॥

कुश तथा डाभ के नाम और गुण—कुश, दर्भ, बर्हि, सूच्यग्र और यज्ञभूषण ये सब 'कुशा' के नाम हैं, और दीर्घपत्र एवं क्षुरपत्र ये दो नाम 'डाभ' के हैं। दर्भद्वय (उपर्युक्त कुशा तथा डाभ ये दोनों)—त्रिदोषनाशक, मधुर तथा कषायरसयुक्त, शीतल एवं मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी (पथरी), तृषा, बस्तिसम्बन्धी रोग तथा रक्त प्रदर को दूर करने वाले होते हैं॥ १६५-१६६॥

८३ कुश, दर्भ

हि०-कुशा, दाभ, कुस घास। म०-दर्भ। बं०-कुश। पं०-दभ, द्रभ। गु०-दामडो, दरभ। क०-वीलीय, बुट्टशशी। ते०-कुश, दर्बालु। ता०-दर्भ। ले०-*Eragrostis cynosuroides Beauv.* (इरेग्रॉस्टिस् साइनोसुरोइडीस् बी.); Syn. Desmostachya bipinnata Stapf (डिस्मोस्टेचिआ बाइपिन्नॉटा स्टा.)। Fam. Gramineae (ग्रॉमिनी)।

कुश—मूञ्ज की जाति की मूञ्ज से छोटी एक प्रकार की घास है। इसके पत्ते, काण्ड, धनहरा आदि मूञ्ज के ही आकार के परन्तु मूञ्ज से छोटे होते हैं। यह खुले हुए घास के मैदानों में सर्वत्र पाया जाता है।

इसके पौधे मोटे, बहुवर्षायु, दृढ़ तथा १-३ फीट ऊँचे होते हैं। मूलस्तम्भ-सीधा खड़ा परन्तु बहुत गहराई तक होता है। पत्ते-१८ इञ्च तक लम्बे, ·२ इञ्च चौड़े, अग्र पर काँटे की तरह तीक्ष्ण और पत्रतट सूक्ष्म रोमों के कारण तेज धार का होता है। पुष्पदण्ड-६-१८ इञ्च लम्बा तथा सीधा होता है। बीज-⅛ इञ्च लम्बे, अण्डाकार तथा चपटे होते हैं। वर्षाऋतु में पुष्प तथा शीतऋतु में फल लगते हैं।

इसकी छोटी जाति को कुश तथा बड़ी जाति को दर्भ कहते हैं। दर्भ के पत्ते लम्बे तथा खर होते हैं। चरक सुश्रुत में कुश, काश तथा दर्भ इनका एक साथ अनेक स्थानों में प्रयोग आया है। डल्हण ने इन तीनों का परिचय इस प्रकार दिया है—कुशः ह्रस्वदर्भः। ह्रस्वो मृदुः सूचीपत्रः॥ कासः चामरपुष्पः चामरपत्रः॥ दर्भः पृथुलः खरपत्रः दीर्घः॥ रा० नि० ने इसका एक श्वेत दर्भ भेद लिखा है जिसे अधिक गुणकारी माना है। इनके मूल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

गुण और प्रयोग—कुश एवं दर्भ शीतल, मूत्रविरेचन, स्तन्यजनन एवं पिपासाहर है। प्रदर, आँव, दाह, रक्तार्श, अश्मरी एवं बस्तिविकारों में इसका उपयोग किया जाता है। प्रदर, रक्तप्रदर एवं रक्तार्श में इसकी जड़ एवं बला को चावल के धोवन के साथ पीसकर देने से लाभ होता है। मात्रा—३-६ माशा।

अथ कत्तृणम् (रोहिस इति च)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कत्तृणं रौहिषं देवजग्धं सौगन्धिकं तथा। भूतिकं ध्यामपौरञ्च श्यामकं धूपगन्धिकम् ॥
रौहिषं तुवरं तिक्तं कटुपाकं व्यपोहति। हृत्कण्ठव्याधिपित्तास्रशूलकासकफज्वरान् ॥१६८॥

'रोहिस' नाम से प्रसिद्ध कत्तृण के नाम तथा गुण—कत्तृण, रौहिष, देवजग्ध, सौगन्धिक, भूतिक, ध्यामपौर, श्यामक तथा धूमगन्धिक ये सब 'रोहिस'वाचक शब्द हैं। **रोहिस**–स्वाद में कषाय तथा तिक्तरसयुक्त एवं विपाक में कटुरसयुक्त होता है और हृदय तथा कण्ठसम्बन्धी रोग, पित्तरक्त (रक्त पित्त), शूल, कास (खाँसी) तथा कफज्वर को नष्ट करता है ॥ १६७–१६८ ॥

८४ रोहिष घास

हि०–रोहिस, रूसा घास, रतइर, मिरचा गन्ध। बं०–अगम घास। म०–रोहिषगवत। क०–डुंल्लु। फा०–खवालमागून, खलालमामून, खवालमामून। गु०–रोंडसो। अं०–Rosha Grass (रोशा ग्रास)। ले०–*Cymbopogon schoenanthus Linn.* (साइम्बोपोगोन् स्कीनैन्थस् लिन.)। Fam. Gramineae (ग्रेमिनी)।

यह मध्य भारत, दक्षिण और पश्चिमोत्तर प्रान्त तथा पञ्जाब में अधिक पाई जाती है। यह बन उपवनों में आप ही आप उत्पन्न होती है और वाटिकाओं में भी रोपण की जाती है।

यह ५-६ फीट ऊँची एक सुगन्धित घास है। इसकी जड़ बारहों मास जीवित रहती है। काण्ड–चिकने, पत्रयुक्त तथा प्रायः रक्ताभ होते हैं। **पत्ते**–बहुत लम्बे, क्रमशः पतले, चिकने, कोमल, नुकीले, कांडासक्त तथा आधार पर गोल या तांबूलाकार होते हैं। पत्तों को मसलने से सुगन्ध आती है। **पुष्प**–लाल, बादामी रङ्ग के पत्रकोश से ढकी हुई विदण्डिक मञ्जरियां आती हैं। वर्षा एवं शीतकाल में फूल-फल आते हैं।

रासायनिक संगठन—इसकी पत्तियों से एक सुगन्धित तेल (Geranium oil–जिरेनियम् ऑयल्) निकाला जाता है। कोमल घास से तेल अधिक एवं उत्तम प्रकार का निकलता है। इसका रङ्ग फीका ललाई लिये जामुनी रङ्ग का होता है। इसमें गन्ध गुलाब जैसी तथा स्वाद में यह अदरख की तरह चरपरा एवं रुचिकर होता है।

गुण और प्रयोग—इसमें का तेल उष्ण, स्वेदजनन, मूत्रजनन, ज्वरघ्न, उत्तेजक, चेतनाकारक एवं त्वग्रागकारक है। नूतन आमवात में तैल मलने से लाभ होता है। गंजापन (इन्द्रलुप्त) पर इस तैल को मलते हैं। प्रतिश्याय, ज्वर, अजीर्ण तथा कफविकारों में इसके क्वाथ से लाभ होता है।

मात्रा—३–६ माशा।

अथ भूतृणम् (शरवाण) तस्य नामगुणानाह

गुह्यबीजं तु भूतीकं सुगन्धं जम्बुकप्रियम्। भूतृणं तु भवेच्छत्रा मालातृणकमित्यपि ॥१६९॥
भूतृणं कटुकं तिक्तं तीक्ष्णोष्णं रेचनं लघु। विदाहि दीपनं रूक्षमनेत्र्यं मुखशोधनम् ॥१७०॥
अवृष्यं बहुविट्कञ्च पित्तरक्तप्रदूषणम् ॥ १७१ ॥

शरवाण के नाम तथा गुण—गुह्यबीज, भूतीक, सुगन्ध, जम्बुकप्रिय, भूतृण, छत्रा और मालातृणक ये सब शरवाण के नाम हैं। **शरवाण**–कटु तथा तिक्तरसयुक्त, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, रेचक, लघुपाकी, दाहजनक, अग्निदीपक, रूक्ष, नेत्रों के लिये अहितकर, मुख को शुद्ध करनेवाला,

अवृष्य (वीर्यवृद्धि नहीं करने वाला), अत्यन्त मल उत्पन्न करने वाला और पित्तरक्त को दूषित करने वाला होता है ॥ १६९-१७१ ॥

नोट—भूतृण के लेटिन नाम के सम्बन्ध में मतभेद हैं। श्री यादवजी ने साइम्बोपोगोन् ज्वरांकुश (Cymbopogon jwarankusa) को भूतृण माना है जिसका वर्णन पहले पृष्ठ २६१ पर 'लामज्जक' के अन्तर्गत किया जा चुका है। कुछ विद्वानों ने हरी चाय, साइम्बोगोन् साइट्रेस् (Cymbopogon citratus) को भूतृण माना है किन्तु इसे श्री यादवजी 'जम्बीरतृण' मानते हैं जिसका चरक सू० अ० २७ में हरित वर्ग में एवं सुश्रुत सू० अ० ४६ में शाक वर्ग में वर्णन आया है। यहाँ पर निम्न वर्णन हरीचाय का किया गया है।

८५ भूतृण ? (हरीचाय)

हि० शरबाण, भूतृण, गन्धतृण, अगियाखर, हरीचाय, गन्धबेना। बं०-गन्धतृण। गु०-लीलीचा। म०-हिरवा चहा, ओला चहा। क०-मज्जिगेहुल्लु। पं०-गन्धतृण, शरवाण, रामकपूर। ता०-कपूर पुल्ल। ते०-चिप्पगड्डि। अं०-Lemon Grass (लेमन् ग्रास)। ले०-*Cymbopogon-citratus (DC.) Stapf.* (साइम्बोपोगॉन् साइट्रेटस् डीसी. स्टा०); *Andropogon citratus DC.* (एण्ड्रोपोगॉन साइट्रेटस डीसी.)। Fam. Gramineae (ग्रॅमिनी)।

यह भारतवर्ष के अनेक प्रान्तों में विशेषकर पंजाब और संयुक्त प्रान्त की पहाड़ी भूमि तथा वाटिकाओं में भी उत्पन्न होती है। यह ५-७ फीट ऊँची घास है। पत्ते-३-४ फीट लम्बे, पौन इंच चौड़े होते हैं। पुष्प-उभयलिङ्गी पुष्प की मञ्जरियाँ वर्षाकाल में आती हैं। इसकी पत्ती को मसलने से उसमें से नींबू की तरह सुगन्ध आती है। इस तृण का फांट बनाकर उसमें दूध और चीनी मिलाकर चाय की तरह पीते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें एक सुगन्धित उड़नशील तैल होता है जिसे Indian Melissa oil (इंडियन् मेलिसा ऑइल्), Indian oil of Verbena (इण्डियन् ऑइल् ऑफ् वर्वेना) कहते हैं। यह गहरे पीत या भूरे से लाल रङ्ग का नींबू की गन्ध जैसा होता है। इस तैल में प्रधान रूप से सिट्राल् (Citral, $C_{10}H_{16}O$) नामक पदार्थ होता है जिसे आयोनॉन् (Ionone) नामक एक अन्य पदार्थ में रासायनिक विधि से परिवर्तित किया जा सकता है। आयोनान् का सुगन्धि द्रव्यों एवं विटामिन् ए (Vitamin A) के बनाने में उपयोग होता है। आयोनॉन् में व्हायोलेट जैसी तीव्र सुगन्ध होती है।

गुण और प्रयोग—हरी चाय उष्ण, स्वेदजनन, मूत्रजनन, ज्वरघ्न, वातानुलोमन, उत्तेजक, चेतनाकारक, उद्वेष्टननिरोधि, मुखशुद्धिकर, कफवातहर, दीपन, पाचन एवं रुचिकर है। इसका तैल बाह्य प्रयोग में त्वग्रागकारक एवं वातहर है।

प्रतिश्याय, ज्वर, वमन, अतिसार, आध्मान, शूल, आक्षेप एवं विसूचिका में इसके फाण्ट से बहुत लाभ होता है। विसूचिका में इससे वमन रुकता है एवं उत्तेजना आती है। इसका तैल आध्मान, शूल तथा विसूचिका में $\frac{1}{2}$-२ बूँद की मात्रा में देते हैं। मलेरिया ज्वर में हरी चाय का उपयोग किया जाता है। कटिशूल, आमवात तथा पीडा आदि में इसके तैल की मालिश की जाती है।

मात्रा—तैल $\frac{1}{2}$-२ बूँद, तृण ३-६ माशा।

अथ नीलदूर्वा (हरीदूब) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

नीलदूर्वा रुहाऽनन्ता भार्गवी शतपर्विका। शष्पं सहस्रवीर्या च शतवल्ली च कीर्तिता ॥१७२॥
नीलदूर्वा हिमा तिक्ता मधुरा तुवरा हरेत्। कफपित्तास्रवीसर्पतृष्णादाहत्वगामयान् ॥१७३॥

'हरी दूब' के नाम तथा गुण – नीलदूर्वा, रुहा, अनन्ता, भार्गवी, शतपर्विका, शष्प, सहस्रवीर्या और शतवल्ली ये सब 'हरी दूब' के नाम हैं। हरी दूब-शीतवीर्य, तिक्त, मधुर तथा कषायरसयुक्त एवं कफ, पित्तरक्त, विसर्प, तृषा, दाह और चर्मरोग को दूर करने वाली होती है ॥ १७२-१७३ ॥

हि०-हरी दूब, नीली दूब, रामघास। बं०-नीलदूर्वा, दूर्वा। म०-नीलदूर्वा, हरली, नीली-हरियाली। संथाल०-धोबीघास। गु०-खडओ, लीलीओ, धरो। क०-गरिके। पं०-दूबड़ा। ते०-दूलु, गरिकेग। ता०-अरुवमपिल्लू। अ०-उञ्ज। फा०-मर्ग। अं०-Creeping Cynodon (क्रीपिंग साइनोडोन्)। ले०-*Cynodon dactylon (Linn.) Pers.* (साइनोडॉन् डॅक्टीलोन पर्स.)। Fam. Gramineae (ग्रॅमिनी)।

दूब-तृणजाति की वनस्पति सब प्रान्तों के वन, उपवन, खेत सब जगह उत्पन्न होती है। गर्मी के दिनों में प्रायः सूख सी जाती हैं, परन्तु बरसात का पानी पड़ने से फिर हरी-भरी हो जाती है। जलाशय और कुंये के पास बारहों मास हरी भरी देखने में आती है। इसकी डंडियाँ पतली-पतली होती हैं, और भूमि पर फैली हुई रहती हैं। अन्तवाली शाखायें जिन पर कोमल बारीक फूल आते हैं, वे जमीन से उठी रहती हैं। पत्ते-पतले, ४-६ अंगुल लंबे, रेखाकार होते हैं। बीज-बहुत छोटे होते हैं।

गुण और प्रयोग—दूर्वा शीतल, वर्ण्य, प्रजास्थापन, रक्तस्कंदन, व्रणरोपण, मूत्रजनन तथा कफपित्तहर है।

(१) बस्तिशोथ, सोजाक तथा मूत्रमार्ग के दाह में इसकी जड़ का क्वाथ पिलाते हैं।

(२) त्वचा के रोगों में इसकी जड़ का क्वाथ पिलाते हैं। सद्योव्रण तथा त्वचा के रोगों में इसकी पत्तियों का लेप उपयोगी है। इससे रक्तस्राव रुकता है।

(३) अतिसार, पैत्तिक वमन, उदर, जलोदर, अत्यार्तव, गर्भपात, उन्माद, अपस्मार तथा रक्तमेह आदि में इसका स्वरस पिलाया जाता है।

(४) नेत्राभिष्यंद में पत्र-कल्क का लेप करते हैं।

(५) अर्श में जलन कम करने के लिये पत्तों का लेप किया जाता है।

मात्रा—स्वरस ६ माशा-१ तोला; मूल ३-६ माशा।

अथ श्वेतदूर्वा। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

दूर्वा शुक्ला तु गोलोमी शतवीर्या च कथ्यते।
श्वेता दूर्वा कषाया स्यात्स्वाद्वी व्रण्या च जीवनी। तिक्ता हिमा विसर्पास्रतृट्पित्तकफदाहहृत्॥

'सफेद दूब' के नाम तथा गुण—शुक्लदूर्वा, गोलोमी और शीतवीर्या ये नाम सफेद दूब के हैं। सफेद दूब-कषाय, तिक्त एवं स्वादु रसयुक्त, व्रण (घाव) के लिये हितकर, जीवनशक्ति को बढ़ाने वाली, शीतवीर्य एवं विसर्प, रक्तविकार, तृषा, पित्त, कफ तथा दाह को दूर करने वाली होती हैं ॥ १७४ ॥

८७ श्वेत दूर्वा

हि०—सफेद दूब।

यह भी दूब के समान ही घास है जिसके पत्ते सफेदीपन लिये होते हैं। यह कोई भिन्न जाति है या केवल स्थान-भेद से इसमें सफेद पत्ते होते हैं यह कहना कठिन है। अभी इसमें अनुसंधान की आवश्यकता है। यह अधिक पित्तशामक मानी जाती है।

अथ गण्डदूर्वा (गांडरदूब) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

गण्डदूर्वा तु गण्डाली मत्स्याक्षी शकुलादनी। गण्डदूर्वा हिमा लोहद्राविणी ग्राहिणी लघुः॥ तिक्ता कषाया मधुरा वातकृत्कटुपाकिनी। दाहतृष्णाबलासास्रकुष्ठपित्तज्वरापहा॥ १७६॥

गांडर दूब के नाम तथा गुण—गण्डदूर्वा, गण्डाली, मत्स्याक्षी और शकुलादनी, ये सब नाम गांडर दूब के हैं। गांडर दूब-शीतवीर्य, लोहे को पिघलाने वाली, मलसंग्राहक (मल को रोकने वाली), लघु, तिक्त, कषाय एवं मधुर रसयुक्त, विपाक में कटु रसयुक्त, वातकारक एवं दाह, तृषा कफ, रक्तविकार, कुष्ठ तथा पित्तज्वर को दूर करने वाली होती है॥ १७५-१७६॥

८८ गण्डदूर्वा

हि०-गांडरदूब, गठीलादूब, गण्डदूर्वा।

गांडरदूब-दूब की जाति की एक वनस्पति है, जो दूब से बड़ी होती है और यह प्रायः जलाशयों के किनारे अधिक उत्पन्न होती है। उसकी डंठी मोटी और बड़ी होती है। पत्ते-दूब के समान परन्तु दूब से बहुत बड़े होते हैं। गांठे मोटी होती हैं।

वाराहीकन्दः (गेठी इति लोके)। तस्य लक्षणनामगुणानाह

वाराहीकन्दसंज्ञस्तु पश्चिमे गृष्टिसंज्ञकः। वाराहीकन्द एवान्यैश्चर्मकारालुको मतः॥१७७॥ अनूपसम्भवे देशे वराह इव लोमवान्। वाराहवदना गृष्टिर्वरदेत्यपि कथ्यते॥ १७८॥

वाराही तु रसे स्वाद्वी तिक्ता पाके पुनः कटुः।

शुक्रायुःस्वरवर्णाग्निबलपित्तविवर्द्धिनी। कफकुष्ठमरुन्मेहकृमिहच्च रसायनी॥ १७९॥

वाराहीकन्द के लक्षण नाम और गुण - जिसका 'वाराहीकन्द' नाम है, उसी को पश्चिम देश में 'गृष्टि' कहते हैं और 'वाराहीकन्द' को ही कुछ लोग 'चर्मकारालुक' कहते हैं। अनूप (जलप्राय) देश में यह सूअर के बालों की तरह कठिन रोम से युक्त कन्द वाला होता है। इसके वाराहवदना, गृष्टि, वरदा ये सब नाम हैं।

वाराहीकन्द-यह मधुर तथा तिक्तरसयुक्त, पाक में कटु और रसायन एवं शुक्र, आयु, स्वर, वर्ण, जठराग्नि, बल और पित्त को बढ़ाने वाला एवं कफ, कुष्ठ, वात, प्रमेह तथा कृमि को दूर करने वाला होता है॥ १७७-१७९॥

नोट—वाराही कंद के स्थान पर डायोस्कोरिआ बल्बिफेरा (Dioscorea bulbifera) एवं टेक्का एस्पेरा (Tecca aspera) इन दो द्रव्यों का उपयोग किया जाता है। अधिकांश विद्वान् प्रथम के कंद को वाराही कन्द मानते हैं। उसकी अनेक उपजातियां भी पाई जाती हैं। यहां दोनों का अलग-अलग वर्णन किया गया है।

८९ वाराही कन्द (१)

हिं०-वाराही कन्द, गेंठी। म०-डुक्कर कन्द, कडूकरांदा। गु०-डुक्करकंद, वणा वेल। बं०-रतालु। ले०-*Dioscorea bulbifera Linn.* (डायोस्कोरिआ बल्बिफेरा लिन)। Fam. Dioscoreaceae (डायोस्कोरिएसी)।

यह दून और सहारनपूर के वनों में ५ हजार फीट की ऊँचाई तक तथा सभी स्थानों में पाया जाता है।

इसकी लता—आरोही तथा वामावर्त होती है। कांड-चिकने तथा पत्रकोणों में लगभग १ इञ्च व्यास की कन्द सदृश रचनाएँ होती हैं। पत्ते-साधारण एकान्तर, ३॥–६ इञ्च लंबे, १॥।–४ इञ्च चौड़े, पतले, पुच्छाकार लंबे नोकवाले तथा आधार पर तांबूलाकार होते हैं। इनके आधारीय खण्ड गोल और पत्राधार पर ९ शिराएँ होती हैं। पुष्प-नरपुष्पों की मंजरियाँ नीचे की ओर लटकी हुई, २–४ इञ्च लंबी और प्रायः पत्रकोणों में समूहबद्ध होकर निकली हुई रहती हैं। नारीपुष्पों की मञ्जरियाँ ४–१० इञ्च लंबी होती हैं। फल-३ पंख वाले और बीज भी आधार पर सपंख होते हैं। कन्द-छोटे आकार का भूरे रंग का होता है जिस पर सूअर की तरह रोम होते हैं। यह भीतर से पीताभ श्वेत होता है। इसकी अन्य जातियों का भी प्रयोग किया जाता है। कुछ में कन्द बहुत गहरे बैठते हैं तथा वे अधिक मुलायम होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसकी लता में एक विषैला ग्लूकोसाइड पाया जाता है। इसके कंद में स्टार्च होता है।

गुण और प्रयोग—यह कुछ रक्तसंग्राहक तथा ग्राही है। रक्तातिसार, प्रवाहिका, उदरशूल, अर्श आदि रोगों में इसके फलों को जीरा तथा शर्करा के साथ देते हैं। त्वचा के रोगों में भी इसका व्यवहार किया जाता है।

मात्रा—३–६ माशा।

९० वाराहीकंद (२)

हि०-वाराहीकंद, भेवर के कंद, भेवर की वेल। ले०-*Tacca aspera Roxb.* (टॅक्का एस्पेरा राक्स.)। Fam. Taccaceae (टॅक्केसी)।

यह बर्मा, चटगांव, तेनासरिम तथा मलय प्रायद्वीप में होता है।

इसका क्षुप-बहुवर्षायु एवं मूलस्तंभ कंदवत्, आयताकार, एवं मुड़ा हुआ रहता है। पत्ते-दीर्घवृत्ताकार, अंडाकार, ८–१६×४–८ इञ्च; लंबाग्र, शिराएँ स्पष्ट एवं उनके बीच का भाग उभरा हुआ होता है। पुष्प-हरिताभ बैंगनी कुछ पीत होते हैं। फल-करीब १॥ इञ्च लंबा, आयताकार तथा मांसल होता है।

गुण और प्रयोग—इसके कंद बल्य होते हैं तथा इनका उपयोग रक्तपित्त एवं चर्मरोगों में किया जाता है।

मात्रा—३–६ माशा।

अथ विदारीकन्दः। तस्य नामगुणानाह

विदारी स्वादुकन्दा च सा तु क्रोष्ट्री सिता स्मृता।
इक्षुगन्धा क्षीरवल्ली क्षीरशुक्ला पयस्विनी ॥ १८० ॥
विदारी मधुरा स्निग्धा बृंहणी स्तन्यशुक्रदा ॥ १८१ ॥
शीता स्वर्या मूत्रला च जीवनी बलवर्णदा।
गुरुः पित्तास्रपवनदाहान् हन्ति रसायनी ॥ १८२ ॥

विदारी कन्द के नाम तथा गुण—विदारी, स्वादुकन्दा, क्रोष्ट्री, सिता, इक्षुगन्धा, क्षीरवल्ली, क्षीरशुक्ला तथा पयस्विनी के सब नाम विदारीकन्द के हैं।

विदारीकन्द—मधुर रसयुक्त, स्निग्ध, बृंहण, दुग्धवर्धक और शुक्र को बढ़ाने वाला, शीतवीर्य, स्वर को उत्तम बनाने वाला, मूत्रकारक, जीवनी शक्ति बढ़ाने वाला, बल तथा

वर्ण को देनेवाला, गुरु, रसायन एवं पित्त, रक्त, वायु और दाह को नष्ट करने वाला होता है ॥ १८१–१८२ ॥

विदारीकन्द के विदारी एवं क्षीरविदारी ये दो भेद चरक ने मधुरस्कंध (वि. अ. ८) में लिखे हैं। प्युरेरिआ ट्युबरोजा (Pueraria tuberosa) को विदारी एवं आइपोमिआ डिजिटेटा (Ipomoea digitata) को क्षीरविदारी अधिकांश विद्वानों ने माना है। 'भुइकुम्हडा' नाम उपर्युक्त दोनों कन्दों को तथा ट्राईकोसॅन्थिस् कॉर्डेटा राक्स (Trichosanthes cordata Roxb.) के कन्द को भी देते हैं। सम्भव है डायोस्कोरिएसी (Dioscoreaceae) वर्ग जिस वर्ग का वाराहकन्द है उसी वर्ग के विदारी एवं क्षीरविदारी भी हों। उत्तरप्रदेश में अधिकतर प्यु. ट्युबरोजा को एवं बंगाल में आ. डिजिटेटा को विदारीकन्द माना जाता है। एक क्षीर युक्त लता लेट्सोमिया सेटोसा राक्स (Lettsomia setosa, Roxb.) के कन्द का स्तन्यवर्धक के रूप में प्रयोग प्रचलित है। संभव है यह क्षीरविदारी हो। यहाँ पर प्रथम दो का अलग-अलग वर्णन किया गया है।

९१ विदारीकन्द (१)

हि०-विदारीकन्द, विलाईकन्द, भुइकुम्भड़ा, सुराल, पाताल कोहड़ा। म०-बेंदर, घोडवेल। गु०-खाखर वेल, फगियो, फगड़ानो वेली, विदारी। बं०-शिमीय। ते०-दारी, नेल्लगुम्मुडु। मा०—गोरवेल। ले०-*Pueraria tuberosa DC.* (प्युरॅरिआ ट्युबरोजा डीसी.) Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह कोंकण के पहाडों पर, दक्षिण, कनारा, पश्चिम-हिमालय, शिमला, कुमाऊ, नेपाल, विन्ध्याचल, उड़ीसा और छोटा नागपुर में उत्पन्न होता है और विहार में भी कहीं-कहीं पाया जाता है। यह नदी-नालों के करारों में अधिक पाया जाता है।

यह अत्यन्त विस्तार में फैलने वाली लताजाति की वनस्पति अचिरस्थायी होती है। इसका कांड पोला-सा होता है। छाल–भूरे रङ्ग की आध इञ्च तक मोटी होती है। लकड़ी–छिद्रयुक्त कोमल होती है। पत्ते–पलाश के समान पक्षाकार त्रिपत्रक होते हैं। पत्रक–४-६ इञ्च लम्बे, ३-४ इञ्च चौड़े, अग्रथ पत्रक तिर्यगायताकार और पार्श्वपत्रक तिरछे लट्वाकार तथा अधरतल पर श्वेत तलशायी रेशमतुल्य सघन रोओं से युक्त होते हैं। पुष्प–६–१८ इञ्च लम्बी मंजरियों में आते हैं। पुष्प नीले या नीलरक्त रङ्ग के सुन्दर दिखलाई देते हैं। फलियाँ–२-३ इञ्च तक लम्बी, चिपटी, बीजों के बीच दबी हुई और खाकी रङ्ग के रोवों से भरी रहती हैं। प्रत्येक फली में २–६ तक बीज रहते हैं। प्रायः पत्तों के गिरने पर नवीन पत्तों के निकलने के प्रथम ही फूल आते हैं।

जमीन के नीचे इसमें प्रायः कई कन्द रहते हैं, जो कांड से दृढ़मूल शाखा के द्वारा जुड़े रहते हैं और नीचे भी मूल शाखा पुनः निकली रहती है। इन्हीं को विदारीकन्द कहते हैं। यह गोल कुम्हड़े के आकार के भूरे रङ्ग का एवं लम्बाई में २ फीट तक तथा घेरे में २॥ फीट तक बड़ा होता है। पुराना कन्द २० सेर से भी अधिक वजन का देखने में आता है, किन्तु छोटे कन्द की अपेक्षा बड़े कन्द हीनवीर्य समझे जाते हैं। छोटे कन्द उखाड़ने के बाद कुछ दिनों तक बिगड़ते नहीं हैं परन्तु बड़े कन्द बहुत जल्द सड़-गल जाते हैं। छोटे-छोटे कन्दों के पतले-पतले कतरे कर सुखाने से वे दूध के समान श्वेत दिखाई पड़ते हैं तथा विदारीकन्द नाम से बाजार में बिकते हैं। बड़े कन्द की अपेक्षा छोटे कन्द का स्वाद अच्छा और मीठा होता है। छोटे-छोटे मुलायम और नवीन कन्द हरिद्वार आदि की सब्जीमण्डियों में 'सराल' के नाम से बिकते हैं। कन्दों में कुछ-कुछ मुलेठी का स्वाद आता है इसलिये विदारी को 'स्वादुकन्दा', 'इक्षुविदारी'

आदि नाम दिया गया है। ये लताएँ घोड़ों को बहुत प्रिय होती हैं जिससे इन्हें 'गजवाजिप्रिया' 'घोड़बेल' कहा गया है।

गुण और प्रयोग—यह स्तन्यजनन, मूत्रजनन तथा पौष्टिक है। शोथ पर पीस कर इसे बांधते हैं। बल एवं दुग्धवृद्धि के लिये इसका प्रयोग किया जाता है। अधिक मात्रा से इससे वमन होता है।

मात्रा—¼-½ तोला।

९२ विदारीकन्द (२) क्षीरविदारी

हि०-बिलाईकन्द, विदारीकन्द, भुइकुम्हड़ा। बं०-भुइ कुमड़ा। म०-भुईकोहला। गु०-विदारीकन्द। क०-नेलकुम्बल। ते०-मत्तपलतिगा, नेल्लगुम्मुडु। मल०-मोतल्कूंट। ता०-फलमोदिक। ले०-*Ipomoea digitata Linn.* (आइपोमिया डिजिटॅटा लिन.)। Fam. Convolvulaceae (कॉन्वॉल्व्युलेसी)।

यह भारतवर्ष के उष्ण कटिबंध में विशेषकर आर्द्र प्रदेशों जैसे बङ्गाल, आसाम आदि में पाया जाता है।

यह लता जाति की वनस्पति झाड़दार और विस्तार में फैलने वाली होती है। पत्ते-३-७ इञ्च के घेरे में हाथ के पन्जे के समान ५-७ भागों में विभक्त रहते हैं। फूल—नलिकाकार, चौथाई इञ्च गोल ऊपर का भाग १॥ इञ्च से २॥ इञ्च के घेरे में होता है, और यह बैंगनी रङ्ग का दिखाई पड़ता है। फल-चार छिलके वाले गोलाकार छोटे-छोटे होते हैं और वे झूमकों में आते हैं। उनके भीतर एक प्रकार की पर्तदार रूई से ढके हुये त्रिकोणाकार अर्द्धगोल बीज रहते हैं। बीजों के रोपण करने से लता उत्पन्न होती है। इसके नीचे जो कन्द बैठता है वह रतालू के आकार का होता है। इसका वजन एक सेर से अधिक नहीं होता। कन्द बाहर से भूरे रङ्ग का तथा खुरदरा होता है। काटने पर अन्दर से यह श्वेत रङ्ग का दिखाई देता है तथा उसमें से बहुत क्षीर निकलता है। इसकी सुखाई हुई कचरी बहुत हलकी रहती है तथा उसमें मण्डल दिखलाई देते हैं। इसका स्वाद पिष्टमय, कुछ कसैला एवं कड़ुवा सा होता है।

रासायनिक संगठन—इसके कन्द में पिष्टमय पदार्थ अधिक होता है। इसके अतिरिक्त १०% शर्करा, एवं अत्यन्त अल्प प्रमाण में जालप में पायी जाने वाली आनुलोमिक राल होती है।

गुण और प्रयोग—यह अनुलोमक, पित्तसारक, स्तन्यजनक, स्नेहक तथा उत्तम पौष्टिक है। इससे भूख लगती है, अन्न पचता है, शौच साफ होता है, शरीर का वर्ण सुधरता है एवं वजन बढ़ता है। काडलीहर तैल से अधिक अच्छा इससे कार्य होता है।

किसी भी कारण से शिथिलता आयी हो और वजन कम हुआ हो तो इसके चूर्ण को घृत में भूनकर दूध एवं शर्करा के साथ पेया बनाकर देने से बहुत जल्दी वजन बढ़ता है। यकृत एवं प्लीहावृद्धि में इसका चूर्ण देने से पित्तस्राव ठीक होकर शौच साफ होता है। दुग्धवृद्धि के लिये द्राक्षासव के साथ इसे देते हैं।

मात्रा—कन्द चूर्ण ¼-½ तोला।

अथ मुशलीकन्दः। तस्य लक्षणगुणानाह

तालमूली तु विद्वद्भिर्मुशली परिकीर्त्तिता।
मुशली मधुरा वृष्या वीर्योष्णा बृंहणी गुरुः।
तिक्ता रसायनी हन्ति गुदजान्यनिलं तथा॥ १८३॥

काली मूसली के नाम तथा गुण—विद्वान् लोग 'तालमूली ही को 'मुशली' कहते हैं, अर्थात तालमूली, मुशली ये दोनों नाम 'काली मूसली' के हैं। काली मूसली–मधुर तथा तिक्त रस युक्त, वृष्य (वीर्यवर्धक), उष्णवीर्य, बृंहण (रक्तादिधातुवर्धक), गुरुपाकी, रसायन एवम् अर्श (बवासीर) तथा वात का नाशक होता है॥ १८३॥

मुसली दो प्रकार की होती है। काली एवं सफेद। काली मुसली का लेटिन नाम कर्क्युलिगो ऑर्किओइडिस् (Curculigo orchioides) एवं सफेद मुसली का एस्पेरेगस् एडस्केन्डेन्स् (Asparagus adscendens) है। जो दो विभिन्न वर्गों की है। कुछ लोग क्लोरोफाइटम् एरून्डिनेसिअम् (Chlorophytum arundinaceum) को सफेद मुसली मानते हैं। यहाँ पर इनका अलग अलग वर्णन किया गया है।

९३ काली मूसली

हि०–स्याह मूसली, काली मूशली। म०,गु०–काली मूसली। बं०–तालमूली। क०–नेलताल। ते०–नेल तडि गड्डा। ता०–निलधनैका। पं०–स्याह मूसली। मा०–काली मूसली। फा०–मुशली स्याह। अ०–मुसली भवियज। ले०–*Curculigo orchioides Gaertn.*(कर्क्युलिगो ऑर्किओइडिस् गार्ट)। Fam. Amaryllidaceae (ॲमेरिलिडेसी)।

यह बंगाल, बिहार, युक्तप्रान्त, दक्षिण देश के बाँस के वनों में तथा हिमालय में यमुना से खासिया पहाड़ तक प्रायः सर्वत्र उत्पन्न होती है।

काली मूसली—तृणजातीय वनौषधि, वर्षा ऋतु में घास अथवा दूसरे वृक्षों की छाया में देखने में आती है। ४–५ पत्ते वाले खजूर के वृक्ष की तरह इसका नवीन क्षुप होता है। मूलस्तम्भ सीधा और मोटा होता है। पुरानी चक्राकार पत्र सन्धिओं के कारण यह ताल वृक्ष के स्कन्ध जैसा दिखलाई देता है। इसकी सन्धियों से सूत्राकार परन्तु मांसल उपमूल निकलते रहते हैं और शीर्ष से लगभग ३ या ४ पत्ते भूमि के ऊपर निकलते रहते हैं। इसके पत्ते–बिना डंठल के खजूर के पत्तों से कुछ पतले, सकरे और प्रासवत होते हैं। इसकी लम्बाई ६ से १८ इञ्च तक और चौड़ाई १–१॥ इञ्च तक होती है। पुष्पदण्ड–छोटा, बीच से निकला हुआ, ऊपर की ओर क्रमशः मोटा (Clavate) और कुछ चिपटा होता है। इसके फूल–नलिकाकार पीले रङ्ग के दो कतारों में होते हैं। फल–½ इञ्च तक लम्बे, अण्डाकार होते हैं। बीज–काले और चमकीले होते हैं। इसके मूलस्तम्भ का चिकित्सा में व्यवहार होता है। यह बाहर से काले भूरे रङ्ग का तथा अन्दर से श्वेत होता है। दो वर्ष पुराने क्षुप का कन्द प्रयोग में लाना चाहिये। इसका स्वाद कुछ कडुवा तथा लवाबदार होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें तैलीय द्रव्य १½%, राल तथा कषाय द्रव्य ४%, गोंद २०%, पिष्टमय पदार्थ ४३½%, सीठी १४% एवं जल ४½% रहता है। सूखे कन्द से ८½% राख मिलती है जिसमें कॅल्शियम ऑक्जॅलेट (Calcium oxalate) रहता है।

गुण और प्रयोग—काली मुसली स्नेहन, मूत्रजनन, बल्य तथा कुछ वृष्य है। मूत्रमार्ग पर इसकी विशेष क्रिया होती है। अर्श, कामला, श्वास, अतिसार तथा शूल में इसका उपयोग किया जाता है। त्रावणकोर की तरफ दूध के साथ इसकी पेया बनाकर सोजाक, मूत्रकृच्छ्र तथा अयार्तव में बहुत प्रयोग करते हैं। रोगयुक्तावस्था में इसका सेवन किया जाता है। अनेक वृष्य पाकों में इसका उपयोग किया गया है। जङ्गली लोग चोट तथा अस्थिभङ्ग पर इसका बाह्य प्रयोग करते हैं।

मात्रा—कन्द ¼–½ तो०।

९४ सफेद मूसली (१)

सं०-श्वेत मुशली, मुसली। हि०-सफेद मुशली, खैरूव। म०-सफेद मुसली, पाटली मुसली। गु०-धोली मुसली। ता०-तन्निरविट्टां। ते०-सल्लोगडडा। मल०-शेडेवेली। अ, फा०-शकाकुले हिन्दी। ले०-*Asparagus adscendens Roxb.* (एस्पेरेगस् एड्स्केन्डेन्स् राक्स.)। Fam. Liliaceae (लिलिएसी)।

यह पश्चिम हिमालय, पञ्जाब, गुजरात, रतलाम, बम्बई, रुहेलखण्ड, अवध तथा मध्य भारत में पाया जाता है। उत्तम सफेद मुसली रतलाम से आती है।

इसका क्षुप-स्वावलम्बी तथा कांटेदार होता है। शाखाएँ-झुकी हुई, आरोहणशील, धूसर-वर्ण की नालीदार और कोणयुक्त होती हैं। प्रधान कांड-लम्बा, ऊँचा, मोटा, गोल और चिकना होता है। कांटे-आधे से पौन इंच लम्बे, सीधे और मोटे होते हैं। पत्राभास काण्ड-आधे से दो इञ्च लम्बे, केशाकार, गोल ६-२० की संख्या में एक साथ गुच्छबद्ध रहते हैं।

मूलस्तम्भ से श्वेत, कन्दसदृश तथा लम्बगोल मूलों का गुच्छा निकला रहता है। छाल निकालकर सुखाई हुई सफेद, झुर्रीदार, २-२½ इञ्च लम्बी, सूजा के इतनी मोटी, कुछ ऐंठी हुई, कड़ी तथा आसानी से टूटने वाली, जड़ें बाजार में मिलती हैं। अधिक से अधिक यह ½ इञ्च मोटी रहती है। इसका स्वाद लबाबदार किन्तु अच्छा रहता है। इसे पानी में डालने से यह फूलकर शतावरी जैसी दिखलाई देती है।

रासायनिक सङ्गठन—इसके जल में घुलनशील भाग ७७½%, जल ६% तथा सीठी १२½% रहती है। जलविलेय भाग में मांसल पदार्थ रहता है। इसमें पिष्ट बिल्कुल नहीं रहता। सूखी हुई जड़ में ३½% राख रहती है।

गुण और प्रयोग—यह शीत, लघु, स्नेहन एवं उत्तम बल्य है।

इसमें स्टार्च न होने के कारण इसको मधुमेह में दिया जा सकता है। सभी प्रकार के दौर्बल्य में १ तोला चूर्ण १ तोला चीनी मिलाकर दूध के साथ देते हैं। नपुंसकता, शुक्रमेह, प्रदर, अतिसार तथा प्रवाहिका में इसे देते हैं।

मात्रा—चूर्ण ½ से १ तोला।

९५ सफेद मूसली (२)

हि०-सफेद मूसली, गेरेंग अडा। ले०-*Chlorophytum arundinaceum Baker* (क्लोरोफाइटम् एरुण्डिनेसिअम् बेकर)। Fam. Liliaceae (लिलिएसी)।

यह इस देश के कई प्रान्तों में प्रायः बरसात के दिनों में देखने में आती है, इसका क्षुप होता है। पत्ते- १५"×२·५" बड़े तथा प्रासवत् होते हैं। पुष्पध्वज पहले, ५-१५" इञ्च लम्बा और पुष्प श्वेत होते हैं। पुष्पों की भाजी बनाकर खाई जाती है। इसकी जड़ के पास लम्बे सूत्राकार जड़ों के गुच्छे निकलते हैं। जिनके अग्र पर मोटे, बेलनाकार, १-१·५"×·५-·६ इञ्च बड़े कन्द होते हैं जो भीतर से भूरे सफेद रङ्ग के होते हैं। इसकी अन्य दो जातियाँ C. laxum Br. (क्लो. लॅक्सम्) एवं C. tuberosum Baker (क्लो. ट्युबरोजम्) भी पाई जाती है।

इन कन्दों को कुछ लोग सफेद मुसली मानते हैं तथा पहले जिस सफेद मुसली का वर्णन किया जा चुका है उसे शतावरी भेद मानते हैं। इसका भी उपयोग सफेद मुसली के समान किया जाता है।

अथ शतावरी महाशतावरी च । तयोर्नामानि तयोस्तदङ्कुरस्य च गुणांश्चाह

शतावरी बहुसुता भीरुरिन्दीवरी वरी । नारायणी शतपदी शतवीर्या च पीवरी ॥ १८४ ॥
महाशतावरी चान्या शतमूल्यूर्ध्वकण्टिका । सहस्रवीर्या हेतुश्च ऋष्यप्रोक्ता महोदरी ॥१८५॥
शतावरी गुरुः शीता तिक्ता स्वाद्वी रसायनी ।
मेधाऽग्निपुष्टिदा स्निग्धा नेत्र्या गुल्मातिसारजित् ॥ १८६ ॥
शुक्रस्तन्यकरी बल्या वातपित्तास्रशोथजित् ।
महाशतावरी मेध्या हृद्या वृष्या रसायनी ॥ १८७ ॥
शीतवीर्या निहन्त्यर्शोग्रहणीनयनामयान् । तदङ्कुरस्त्रिदोषघ्नो लघुरर्शःक्षयापहः ॥ १८८ ॥

'छोटी शतावर' तथा 'बड़ी शतावर' के नाम और गुण तथा उन दोनों के अङ्कुर के क्रम से गुण—शतावरी, बहुसुता, भीरुः, इन्दीवरी, वरी, नारायणी, शतपदी, शतवीर्या और पीवरी ये सब नाम 'छोटी शतावर' के हैं। 'बड़ी शतावर' के नाम-महाशतावरी, शतमूली, ऊर्ध्वकण्टिका, सहस्रवीर्या, हेतुः, ऋष्यप्रोक्ता और महोदरी ये सब हैं। छोटी शतावर-मधुर तथा तिक्त रसयुक्त, गुरु, शीतवीर्य, रसायन, मेधा (धारणा शक्ति) कारक, जठराग्निवर्धक, पुष्टिदायक, स्निग्ध, नेत्रों के लिये हितकर, शुक्रवर्धक, स्तनों में दूध बढ़ाने वाली, बलकारक एवम् गुल्म, अतिसार, वात, पित्तरक्त तथा शोथ को दूर करने वाली होती है। बड़ी शतावर-मेधा तथा हृदय के लिये, हितकर, वृष्य, रसायन, शीतवीर्य, एवम् अर्श, ग्रहणी तथा नेत्ररोग को दूर करने वाली होती है। इन दोनों के अङ्कुर-लघु एवम् त्रिदोष, अर्श तथा क्षय के नाशक होते हैं ॥ १८४-१८८ ॥

९६ शतावर

हि०-सतावर, सतावरि, सतमूली, शतावर, सरनोई। बं०-शतमूली। म०-शतावरी। गु०-शतावरी। ता०-पाणियनाकु। ले०-*Asparagus racemosus Willd.* (एसपेरेगस् रेसिमोसस् विल्ड.)। Fam. Liliaceae (लिलिएसी)।

शतावर—इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में उत्पन्न होती है। उत्तरी भारत में यह अधिक होती है। इसका क्षुप-कांटेदार, बहुवर्षायु, आरोहणशील तथा लता की तरह अनेक शाखाओं से युक्त फैला हुआ रहता है। शाखायें-त्रिकोण युक्त, चिकनी किन्तु रेखान्वित होती हैं। इसमें वास्तविक पत्र के स्थान पर कांटे होते हैं। कांटे-कुछ कुछ टेढ़े तथा ¼-½ इञ्च लम्बे होते हैं। पत्राभासकाण्ड-पत्र की तरह दिखलाई देने वाले, कांटों के कोणों में सूत्राकार पतले ½-१ इञ्च लम्बे तथा दृढ़ पत्राभास काण्ड के गुच्छे होते हैं। फूल-छोटे, सफेद रङ्ग के तथा सुगन्धित गुच्छों में आते हैं। फल-छोटे छोटे, गोल तथा पकने पर लाल रंग के हो जाते हैं, जिनमें १-२ बीज रहते हैं। मूलस्तम्भ से कन्दसदृश श्वेत लम्बगोल परन्तु दोनों सिरों पर पतले मूलों के गुच्छे निकले रहते हैं जिनका चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

जाति—इसकी एक बड़ी जाति होती है जिसे सं-महाशतावरी एवं ले०-*A. sarmentosus Linn.* (ए. सार्मेन्टोसस् लिन.) कहते हैं। यह दक्षिण में होती है। इसकी लता बड़ी होती है तथा इसके मूलस्तम्भ से बहुत से कन्द निकले रहते हैं जो स्वादहीन होते हैं। इसकी एक कण्टकहीन जाति 'शरजोई', कौण्टा, ले०-A. filicinus Buch. & Ham. (ए० फिलिसिनस् बु. हैम.) जौनसार में ९ हजार फीट की ऊँचाई तक पाई जाती है। यह स्वावलम्बी होती है।

इसमें कांटे नहीं होते एवं पत्राभासकाण्ड चिपटे होते हैं। सफेद मुसली (१), शतावरी जाति की है।

रासायनिक संगठन—दोनों शतावरी के ताजे कन्दों में जल में घुलने वाला पदार्थ ५२ $\frac{1}{2}$%, सीठी ३३$\frac{1}{2}$% तथा जल ९% रहता है। जल में घुलनशील भाग में ७% शर्करा होती है। शुष्ककन्द की राख ४% निकलती है।

गुण और प्रयोग—शतावरी मधुर, शीत, गुरु, स्नेहन, स्तन्यजनन, मूत्रजनन, शुक्रजनन बल्य, वृष्य, वयःस्थापन, चक्षुष्य, अग्निवर्धक, अल्पसग्राहक एवं त्रिदोषघ्न है।

इसका उपयोग अन्य औषधों के साथ नपुंसकता, शुक्रमेह, शुक्रतारल्य, नेत्ररोग, अतिसार, ग्रहणी, मूत्रकृच्छ्र, रक्तपित्त तथा अपस्मार में किया जाता है। बलवृद्धि के लिये दुग्ध एवं शर्करा के साथ इसकी पेया बनाकर देते हैं। इसके अङ्कुरों की तरकारी कुपचन में देते हैं। इससे सिद्ध तैलों का बाह्य प्रयोग शिरोरोग, चर्मरोग, वातव्याधि तथा दौर्बल्य में करते हैं।

मात्रा—२ तोला दुग्ध के साथ।

अथाश्वगन्धा। तस्या नामगुणानाह

गन्धान्ता वाजिनामादिरश्वगन्धा हयाह्वया। वराहकर्णी वरदा बलदा कुष्ठगन्धिनी॥१८९॥
अश्वगन्धाऽनिलश्लेष्मश्वित्रशोथक्षयापहा। बल्या रसायनी तिक्ता कषायोष्णाऽतिशुक्रला॥

'असगन्ध' के नाम और गुण—अश्वगन्धा, हयाह्वया (हय के पर्यायवाचक समस्त शब्द इसके द्योतक हैं), वराहकर्णी, वरदा, बलदा, कुष्ठगन्धिनी और वाजी (घोड़ा) के जितने पर्यायवाचक शब्द हैं वे आदि में लगाकर अन्त में 'गन्ध' शब्द लगाने से जितने शब्द हों, उन सबों को इसका पर्यायवाची शब्द समझना चाहिये, जैसे—वाजिगन्धा, हयगन्धा इत्यादि।

असगन्ध—तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, उष्णवीर्य, बलकारक अत्यन्त शुक्रवर्धक, रसायन एवं वात, कफ, श्वित्र (श्वेत कुष्ठ), शोथ और क्षय को दूर करने वाला होता है॥ १८९–१९०॥

९७ असगन्ध

हि०—असगन्ध, अश्वगन्धा, नागोरी असगन्ध। **बं०**—अश्वगन्धा, आसकन्द, ढोरगुंज। **गु०**—आसन्ध। **संथा०**—घोड़ा हन, घोड़ाआकुन। **क०**—अंगरवेरु। **ते०**—पैन्नेरुगड्डु, पिल्ली आंङ्गा, अश्वगन्धी। **ता०**—चुवदिगं। **फा०**—बेहमनबर्री। **अं०**—Winter cherry (विंटरचेरी)। **लै०**—*Withania somnifera Dunal* (विथेनिआ सॉम्नीफेरा)। Fam. Solanaceae (सोलेनेसी)।

असगन्ध इस देश के अनेक भागों के कुछ गरम और साधारण प्रान्तों में विशेषकर पश्चिम के शुष्क प्रदेशों मे अधिक होती है। भारत के अतिरिक्त यह लङ्का, अफ़गानिस्तान, बलूचिस्तान, सिंध, भूमध्यसागरीय प्रदेश, उत्तमाशाअन्तरीप, आदि देशों में पाई जाती है। मालवा में इसकी खेती की जाती है। इसका क्षुप—भंटा के क्षुप के समान सघन होता है। इसकी ऊँचाई—३–४ फीट की होती है। शाखायें—टेढ़ी मेढ़ी तारकाकार रोमों से युक्त होती हैं। पत्ते—अखंड, लटवाकार, लगभग कुण्ठिताग्र, सरलधार से युक्त, २–४ इञ्च लम्बे १–२ इञ्च चौड़े, सूक्ष्म तारकाकार रोमों से युक्त, फलकमूल क्रमशः संकुचित एवं $\frac{1}{4}$–$\frac{1}{2}$ इञ्च तक लम्बे पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प—प्रायः ५ एक साथ सचूडाकार गुच्छों में, छोटे, हरिताभ या पीताभ पत्रकोणों में निकलते हैं। फल—पत्रदण्ड के पास $\frac{1}{4}$ इञ्च बड़े फल लगते हैं और वे प्रवृद्ध बाह्य कोश के पतले छिलके के परदे में रहते हैं। उनका आकार मटर के समान होता है और पकने पर वे

लाल हो जाते हैं। फलों से दूध जम जाता है। बीज-वनमण्टा के बीज के समान छोटे छोटे चिपटे बीज होते हैं। इसका क्षुप ३-४ वर्ष के बाद नष्ट हो जाता है।

इसकी जड़ १-१½ फीट लम्बी, १-१½ इञ्च मोटी, मूली की तरह शंकाकार, मजबूत, चिकनी, बाहर से हलके भूरे रङ्ग की तथा अन्दर से श्वेत होती है। मूल का मन छोटा तथा स्टार्च युक्त होता है। ताजी जड में अश्व के मूत्र सदृश गन्ध आती है जिससे इसे अश्वगन्धा कहा जाता है। इसका स्वाद कड़वा तथा तीक्ष्ण होता है।

नोट—असगन्ध दो प्रकार की होती है। एक जिसका ऊपर वर्णन किया गया है तथा दूसरी नागौरी असगन्ध के नाम से बाजार में बिकने वाली। इन दोनों की जड़ें भिन्न दिखलाई देने के कारण ऐसा अनुमान था कि नागौरी असगन्ध यह उपर्युक्त असगंध का कोई कृषिजन्य परिवर्तित रूप हो। किन्तु नई खोज से यह सिद्ध किया गया है कि नागौरी असगंध की स्वतन्त्र जाति (Species) ही होती है जिसका नया नामकरण विथेनिया अश्वगंधा (Withania ashwagandha) किया गया है।

वाजीकर, बल्य तथा बृंहण गुण के लिये खाने के काम में बाजारी असगन्ध (नागौरी) लेना चाहिये तथा वातघ्न गुण के लिये अपस्मारादि व्याधियों में, लेपादि बाह्य प्रयोगों में तथा तैलादि में उपर्युक्त असगन्ध के मूल लेने चाहिये। इसका दुग्ध में स्वेदन करके शोधन कर लेना चाहिये। असगन्ध के पञ्चांग तथा विशेषकर जड़ का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसकी जड़ में उड़नशील तैल, रवेदार विथेनियॉल (Withaniol $C_{25}H_{35}O_5$) नामक पदार्थ, हेन्ट्रियाकॉन्टेन् (Hentriacontane), फाइटोस्टेरॉल तथा तैल ये पदार्थ होते हैं। इनके अतिरिक्त इसमें ३ विभिन्न क्षाराभ (Alkaloid) होते हैं जिनमें से सॉम्निफेरिन् (Somniferin $C_{12}H_{16}N_2$) रवेदार होता है।

गुण और प्रयोग—नागौरी (बाजारी) असगन्ध उष्ण, मधुर, बृंहणीय, बल्य, रसायन, वृष्य एवं शोथहर है। क्षय, बालशोष, सुखण्डी, वार्धक्य आदि में इसके ½-१ तो० चूर्ण को थोड़े घृत में गरम कर दूध एवं शर्करा मिलाकर देते हैं। यह उत्तम पौष्टिक है। बच्चों के लिये यह बहुत ही अच्छा है। इससे बच्चों का सूखना बन्द हो जाता है। स्त्रियों के कटिशूल एवं श्वेत प्रदर में इससे लाभ होता है।

जङ्गली असगन्ध—अवसादक, स्वापजनक एवं मूत्रजनक है। इसका अवसादक प्रभाव वातनाडियों पर होता है न कि हृदयपर। अल्प मात्रा में धतूरे जैसा मद इससे उत्पन्न होता है तथा कामोत्तेजना होती है।

बद, ग्रन्थि, शोथ तथा फोड़े आदि पर इसके लेप से लाभ होता है। तिलाओं में इसका उपयोग किया जाता है इससे सिद्ध तैल दौर्बल्य तथा वातव्याधि में मालिश के उपयोग में आता है।

इसके बीज स्वापजनन एवं मूत्रजनन हैं। अधिक मात्रा में विषैले होते हैं। आमवात में इसके ताजे पत्ते बाँधते हैं।

मात्रा—नागौरी असगन्ध चूर्ण ३-६ माशा।

अथ पाठा (पाढी)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

पाठाऽम्बष्ठाऽम्बष्ठकी च प्राचीना पापचेलिका। एकाष्ठीला रसा प्रोक्ता पाठिका वरतिक्तिका॥
पाठोष्णा कटुका तीक्ष्णा वातश्लेष्महरी लघुः।
हन्ति शूलज्वरच्छर्दिकुष्ठातीसारहृद्रुजः। दाहकण्डूविषश्वासकृमिगुल्मगरव्रणान्॥ १९३॥

'पाढ' के नाम तथा गुण—पाठा, अम्बष्ठा, अम्बष्ठकी, प्राचीना, पापचेलिका, एकाष्ठीला, रसा, पाठिका और वरतिक्तिका ये सब नाम 'पाढ' के हैं। पाढ—उष्णवीर्य, कटुरसयुक्त, तीक्ष्ण, लघु, वात-कफनाशक एवं शूल, ज्वर, वमन, कुष्ठ, अतीसार, हृद्रोग, दाह, कण्डू (खुजली), विष, श्वास, क्रिमि, गुल्म, उदररोग और व्रण को दूर करने वाली होती है॥ १९१-१९२॥

प्राचीनों ने पाठा के दो भेद माने हैं। एक लघु पाठा तथा दूसरी राजपाठा (बड़ी पाठा) इनमें से लघु पाठा यह सिसॅम्पेलॉस् पॅरेरा (Cissampelos pareira) है। राजपाठा या पाठा ही के स्थान पर इसी वर्ग की अन्य वनस्पतियों का भी उपयोग विभिन्न स्थानों में किया जाता है। साइक्लिआ पेल्टेटा (Cyclea peltata) एवं साइक्लिआ बर्मेनी (Cyclea burmanni)- यह केवल आसाम एवं खासिया पर्वत से पूर्व की तरफ तथा दक्षिण में पश्चिमी, पूर्वी घाट एवं कोंकण में पाई जाती है तथा दक्षिण में इन्हीं का अधिक प्रयोग छोटी एवं बड़ी पाठा के नाम से किया जाता है यद्यपि सि० पॅरेरा भी वहाँ पाई जाती है। उत्तरी भारत में यह (साइक्लिआ) नहीं पाई जाती, किन्तु स्टिफॅनिआ हर्नेण्डिफोलिआ (Stephania hernandifolia) नामक बड़ी जाति पाई जाती है, जिसे राजपाठा कह सकते हैं। बंगाल की तरफ आकनादि नाम से इसका अधिक उपयोग किया जाता है। गुजरात तथा काठियावाड में इसी वर्ग की पातालगरुडी का उपयोग पाठा के स्थान पर करते हैं जो उचित नहीं है। एक ही वर्ग की तथा स्वरूप-गुणादि में साम्य होने के कारण पाठा नाम से इनका उपयोग भिन्न भिन्न स्थानों में किया जाता है।

९८ पाठा

सं०-लघुपाठा, पीलुफला, अविद्धकर्णी। हि०-पाठा, पाठ, पाढ, पाठी, पाढी, पुरइन पाढी। बं०-आकनादि, निमुक, एकलेजा। म०-पहाड़ वेल। गु०-वेणीवेल, करेढियुं। क०-पडवलि। ता०-अप्पाट्टा. पोंमुतूतै। गोवा०-पारवेल। ते०-पाटा, विरुबोड्डि। ले०-*Cissampelos pareira Linn.* (सिसॅम्पेलॉस् पॅरेरा लिन.)। अं०-Velvet leaf (वेल्वेट लीफ)। Fam. Menispermaceae (मेनिस्पर्मेसी)।

यह इस देश के सभी उष्ण एवं साधारण भागों में सिंध, पंजाब, शिमला, देहरादून तथा दक्षिण में कोंकण से लंका तक पाई जाती है। एशिया, पूर्व अफ्रिका तथा अमेरिका के उष्ण प्रदेशों में भी होती है।

यह लता-खुली हुई पथरीली जगहों में प्रायः छोटे वृक्षों और झाडियों पर फैली हुई पाई जाती है। शाखाएँ-पतली, सीधी एवं क्वचित् लोमयुक्त होती हैं। पत्र-लट्वाकार या कभी-कभी वृत्ताकार-वृक्काकार हृदयाकृति, एकांतर, १-४ इञ्च बड़े, नोकरहित एवं क्वचित् नुकीले रहते हैं। पर्णनाल प्रायः पृष्ठ भाग से जुड़ा हुवा तथा पृष्ठ के बराबर या अधिक लंबा होता है। पुष्प-एकलिंग, छोटे, श्वेताभ, किंचित् पीत वर्ण के वर्षा काल में आते हैं। नरमंजरी लंबी, अनेक पुष्पों से युक्त, मृदुरोमश तथा पत्रकोणों से निकली रहती है। फल-रक्त या नारंग वर्ण के, कुछ गोलाकार, ४ मि. मि. बड़े एवं रोमावृत रहते हैं। बीज-मुड़े हुवे होते हैं।

इसके मूल का उपयोग चिकित्सा में किया जाता है। इसकी सूखी हुई जड़ के लंबे गोल, अण्डाकार या दबे हुये टुकड़े, कभी-कभी लंबाई में टूटे हुये मिलते हैं। ये व्यास में ½ से ४ इञ्च तक मोटे एवं ४ इञ्च से लेकर ४ फीट तक लंबे होते हैं। बाहर से ये भूरे बादामी रंग के तथा लंबाई में झुर्रीदार होते हैं। इन झुर्रियों पर अनुप्रस्थ चक्राकार कुछ उभार रहते हैं। अन्दर से ये काष्ठमय, पीताभ भूरे रंग के एवं सुषिर होते हैं तथा इनमें स्पष्ट किन्तु प्रायः अपूर्ण चक्राकार

रेखाएँ तथा मज्जक किरणें (Medullary rays) दिखलाई देती हैं। इनका स्वाद प्रारम्भ में कुछ मधुर एवं सुगन्धित तथा बाद में अत्यन्त कडुवा होता है।

रासायनिक संगठन—इसकी जड में ०·७२% क्षाराभ पाये जाते हैं जिसमें बेबीराइन (Bebeerine) भी रहता है। अल्प मात्रा में एक रवेदार डेयामेट्टीन (Deyamettin) नामक पदार्थ एवं एक राल पाई जाती है।

गुण एवं प्रयोग—पाठामूल, उष्ण, तिक्त, ग्राही, स्तन्यशोधक, ज्वरहर, बल्य, बस्तिशोधक एवं मूत्रजनक है। अल्प मात्रा में इससे भूख बढ़ती है, अन्न का पाचन होता है तथा आंत्र की श्लेष्मलकला को बल मिलता है। अधिक मात्रा से पाखाना साफ होता है। संपूर्ण क्षाराभ का अनैच्छिक मांसपेशी पर अवसादक प्रभाव पड़ता है।

इसका उपयोग कुपचन, अतिसार, ज्वर, मूत्रविकार, शोफ, कास, आर्तव-विकार एवं अर्श में किया जाता है। पॅरेरारूट (Pareira root) जो कि कोण्ड्रोडेण्ड्रोन टोमेण्टोजम् (Chondrodendron tomentosum Ruiz & Pav.) की जड़ है उसके स्थान पर इसका उपयोग किया जाता है। मूत्रमार्ग की श्लेष्मल त्वचा पर इसका शामक संग्राही एवं बलदायक प्रभाव पड़ता है। यह वस्ति के लिये उत्तम प्रतिदूषक (Antiseptic) है।

(१) मूत्रसंस्थान के विकारों में इसकी जड़ का फांट दिया जाता है। वस्तिशोथ, अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, सान्द्रमेह, रक्तमूत्र तथा अन्य विकारों में इससे अच्छा लाभ होता है। इन विकारों में इसे अधिक मात्रा में देते हैं। इसके साथ मुलेठी तथा गुडूची का प्रयोग अधिक उपयोगी है।

(२) कुपचन, उदरशूल, अतिसार, रक्तातिसार एवं ज्वरातीसार आदि विकारों में इसको अन्य सुगन्धि द्रव्यों के साथ देते हैं।

मात्रा—चूर्ण १ से ३ माशा।

प्रतिनिधि—

(१) ले०—*Stephania hernandifolia* (*Willd.*) *Walp.* (स्टिफॅनिआ हर्नेण्डिफोलिआ, वाल्प)। सं०—राजपाठा। बं०—आकनादि, नेमुक।

यह भी देखने में पाठा के समान लता होती है किन्तु दोनों की पुष्पमंजरिओं में अन्तर होता है। पाठा में बाह्यकोश के दल ४ (पुं-पुष्प) और २ (स्त्री-पुष्प) एवं आभ्यंतर दल ४ संयुक्त (पुं-पुष्प) और १ (स्त्री-पुष्प) होते हैं। इसमें बाह्य कोश के दल ६-१० एवं आभ्यंतर दल ३-५ होते हैं। इसमें पाठा की अपेक्षा पत्ते बड़े (३–५"×२½–४") और शिराजाल कम सघन होता है। इसके फल बड़े एवं बीज मुड़कर करीब करीब गोल हो जाते हैं।

इसमें कुछ सॅपोनिन् (Saponin) होते हैं। इसकी जड़ का भी उपयोग पाठा की तरह अतिसार, कुपचन तथा मूत्रविकारों में किया जाता है। इसका सत्त्व मेढक के लिये अत्यन्त विषैला होता है।

(२) ले०—*Cyclea peltata H. f. & T.* (साइक्लिआ पेल्टेटा)। सं०—राजपाठा भेद। म०—पाडल, पाडावल। गु०—कालीपाट।

यह लता आसाम तथा खासिया से पूर्व की तरफ एवं दक्षिण में कोंकण, माथेरान, महाबलेश्वर तथा सिलोन तक पाई जाती है।

इसकी शाखाएँ—धारीदार एवं अल्प रोमश होती हैं। पत्ते—पतले, रोमश, ३–६"×२-४" बड़े एवं १–२½" लंबे पर्णवृन्त से युक्त रहते हैं। पर्णवृन्त पाठा की तरह ही फलक से पृष्ठ की ओर

जुड़ा रहता है। पुष्प—बहुत छोटे, हरे रंग के एवं फल वृक्काकार तथा रोमश रहते हैं। इसी का एक और भेद सा. बर्मेनी (C. burmanni Miers.) भी पाया जाता है।

लघु पाठा (सि. पॅरेरा) में बाह्य कोश के दल आपस में मिले नहीं रहते किन्तु इसमें ये मिले हुवे तथा संख्या में ४-८ होते हैं।

दक्षिण में पाठा नाम से इसका बहुत उपयोग किया जाता है। इसके पंचांग का उपयोग होता है।

गुण और प्रयोग—यह कड़वी, वातहर, स्वेदजनक एवं मूत्रजनक है। छोटे बच्चों के उदर शूल, आँव, अतिसार एवं अर्श में इसकी जड़ पीस कर देते हैं। इसके साथ अतीस एवं करंज देते हैं। पैत्तिक कुपचन में इसका स्वरस सोंठ के साथ देते हैं। प्रमेह में मट्ठे के साथ जड़ देते हैं।

मात्रा—मूल चूर्ण ½ से १ माशा।

अथ श्वेता त्रिवृत् (निसोत श्वेत)। तस्या नामगुणानाह

श्वेता त्रिवृत् त्रिभण्डी स्यात् त्रिवृता त्रिपुटाऽपि च। सर्वानुभूतिः सरला निशोत्रा रेचनीति च॥
श्वेता त्रिवृद्रेचनी स्यात्स्वादुरुष्णा समीरहृत्। रूक्षा पित्तज्वरश्लेष्मपित्तशोथोदरापहा॥१९४॥

सफेद निसोत के नाम तथा गुण—श्वेता त्रिवृत , त्रिभण्डी, त्रिवृता, त्रिपुटा, सर्वानुभूति, सरला, निशोत्रा और रेचनी ये सब नाम सफेद निसोत के हैं।

सफेद निसोत—रेचक, स्वादु, उष्णवीर्य, रूक्ष, वातनाशक एवं पित्तज्वर, कफ, पित्त, शोथ और उदररोग को दूर करने वाली होती हैं॥ १९३-१९४॥

९९ निसोत

हिं०-निसोत, निशोथ, पितोहरी। **बं०**-तेउड़ी, तिउरी, दूधकलमी। **म०**-निशोत्तर, तेंड, फुटकरी, शेतवड। **क०**-तिगडे। **ते०**-तेल्ल, तेगड़। **ता०**-शिवदै, चिवदै। **गु०**-नसोतर। **अ०**-तुर्बुद। **अं०**-Turpeth root (टरपेथ रूट); Indian Jalap (इण्डियन जालप)। **ले०**-*Operculina turpethum, Silva Manso* (ऑपेर्क्युलिना टर्पेथम्, सिल्वा मॅन्सो); Syn. *Ipomoea turpethum R. Br.* (आइपोमिआ टरपेथम्)। Fam. Convolvulaceae (कॉन्वॉल्व्युलेसी)।

निशोत इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में ३००० फीट की ऊँचाई तक पाई जाती है। बगीचों में लगाई हुई भी मिलती है। लंका, मलाया द्वीप एवं ऑस्ट्रेलिया में भी यह अधिक होती है।

यह लता जाति की वनौषधि बारहो मास पाई जाती है परन्तु वर्षा ऋतु में विस्तार से फैली अधिक देखने में आती है। इसका काण्ड तीन धार वाला होता है इसलिये इसको त्रिवृता कहते हैं। यह बहुत लंबा, आरोही तथा ऐंठा हुआ रहता है। पुराना होने पर यह कुछ कड़ा, भूरे रङ्ग का तथा मृदु रोमश हो जाता है। स्राव कुछ कुछ दुग्धसदृश होता है। **पत्ते**—नीचे के पत्ते चौड़ाई लिये हुए लट्वाकार, हृद्वत, प्रायः २-४ इञ्च लम्बे, ½ से ३ इञ्च तक चौड़े, लम्बाग्र तथा तीक्ष्णाग्र होते हैं। ऊपर के पत्ते प्रायः आयताकार, कुण्ठित रोमश अग्रयुक्त एवं सवृन्त (वृन्त ·७५-३ इञ्च लम्बे) होते हैं। **पुष्प**—घंटिकाकार सफेद तथा २-३ इञ्च लम्बे होते हैं। परागाशय (Anthers) जल्दी ही आपस में ऐंठ जाते हैं। **फल**—½-¾ इंच बड़े तथा गोल होते हैं। फलत्वक् का बाहरी भाग जब फट जाता है तो भीतरी पारदर्श परदा रह जाता है जिसके अन्दर दो गह्वर और ४-१ काले एवं चिकने बीज होते हैं।

इसकी जड़ लम्बी, पतली, मांसल एवं बहुत शाखायुक्त होती है। बाहर से भूरे या अरुणाभ धूसर रङ्ग के ½–२ इञ्च तक मोटे तथा एक तरफ फटे हुए टुकड़े मिलते हैं। इस पर बाहर से गहरी धारियां होती हैं जिससे यह देखने में रस्सी की तरह दिखलाई देती है। इसका भग्न छाल में छोटा एवं काष्ठ में रेशेदार होता है। इसमें साधारण गन्ध एवं स्वाद में यह अरुचिकर होती है।

आयुर्वेद में दो प्रकार की त्रिवृत् का वर्णन किया गया है। एक अरुण (श्वेताभ) या दूसरी श्याम (काली) रङ्ग की। काली निशोथ अधिक तीव्र होने के कारण मूर्च्छा, दाह, भ्रम आदि उपद्रव करती है। अधिक दोष होने पर तथा क्रूरकोष्ठवालों के लिए इसका उपयोग किया जा सकता है। अच्छी भूमि में उत्पन्न, गम्भीर, श्लक्ष्ण तथा सरल मूल को लेकर उसके भीतर का काष्ठ भाग निकाल दें और बाहरी त्वचा को सुखाकर रख लें (च० उ० अ० ७)। बाजार में इसमें काण्डके टुकड़े भी मिले रहते हैं जिनमें विरेचक गुण कम रहता है। वास्तव में निसोत की एक ही लता पाई जाती है। बाजार में श्वेत और कृष्ण ये भेद बिकते हैं और यह चिन्हार नामक लता (जिसके मूर्वा होने की अधिक संभावना है) के काण्ड हैं। वास्तविक निसोत कहीं कहीं विधारा नाम से भी बेची जाती है।

रासायनिक संगठन—इसकी जड़ में ५–१०% एक राल पाई जाती है जिसका कुछ भाग ईथर में घुलनशील रहता है जो अॅल्फा-टर्पेथीन् (A–turpethin) एवं बीटा-टर्पेथिन (B-turpethin) का मिश्रण होता है। ईथर में अविलेय राल को टर्पेथिन् (Turpethin) कहते हैं। राल के अतिरिक्त कुछ उड़नशील तैल, वसायुक्त द्रव्य, अल्ब्यूमिन, स्टार्च, पीत रञ्जक पदार्थ, लिगनिन् एवं लौहऑक्साइड पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—निशोथ विरेचक, भेदनीय एवं अधोभागहर है। यह सुखविरेचनों में श्रेष्ठ मानी गई है। पाश्चात्य चिकित्सा में प्रयुक्त जालप (Jalap) की तरह ही इसके भी गुण हैं। इससे पतले एवं पीले रङ्ग के दस्त होते हैं। पेट में मरोड़ न हो इसलिये इसके साथ सोंठ जैसे सुगन्धि पदार्थ तथा सैंधव का उपयोग किया जाता है। जालप की अपेक्षा यह अल्प एवं विलम्ब से कार्य करती है इसलिये इसकी अपेक्षा अधिक मात्रा में देना पड़ता है किन्तु इससे किसी प्रकार का दुष्परिणाम नहीं होता। इसका स्वाद एवं गन्ध भी हृल्लासकारक नहीं होती।

ज्वर, रक्तपित्त, अर्श, विसर्प, वातशोफ, कामला एवं राजयक्ष्मा आदि में इसका प्रयोग किया जाता है। वातरोग, विशेषतः आघातयुक्त या खिन्नवृत्ति रहने पर यह उपयोगी है। अर्श, उदर एवं गुल्म में इसकी शाक का उपयोग करते हैं।

मात्रा—३–५ माशा।

अथ श्यामा त्रिवृत् (काली निसोत)। तस्या नामानि गुणांश्चाह

त्रिवृच्छ्यामाऽर्द्धचन्द्रा च पालिन्दी च सुषेणिका।
मसूरविदला काली कैषिका कालमेषिका ॥
श्यामा त्रिवृत्ततो हीनगुणा तीव्रविरेचिनी।
मूर्च्छादाहमदभ्रान्तिकण्ठोत्कर्षणकारिणी ॥ १९६ ॥

'काली निसोत' के नाम तथा गुण—श्यामा, त्रिवृत, अर्धचन्द्रा, पालिन्दी, सुषेणिका, मसूरविदला, काली, कैषिका और कालमेषिका ये सब 'काली निसोत' के नाम हैं। काली निसोत

सफेद निसोत की अपेक्षा हीन गुणवाली तथा तीव्र रेचक होती है एवं मूर्च्छा, दाह, मद और भ्रान्ति को उत्पन्न करने वाली एवं कण्ठ का उत्कर्षण करने वाली होती है (पृष्ठ ३९८ भी देखें) ॥ १९५-१९६ ॥

अथ लघुदन्ती बृहद्दन्ती च (एरण्डवत्पत्रविटपा) तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

लघुदन्ती विशल्या च स्यादुदुम्बरपर्ण्यपि । तथैरण्डफला शीघ्रा श्येनघण्टा घुणप्रिया ॥१९७॥
वाराहाङ्गी च कथिता निकुम्भश्च मकूलकः ।
द्रवन्ती शम्बरी चित्रा प्रत्यक्पर्ण्याखुपर्ण्यपि ॥ १९८ ॥
उपचित्रा श्रुतश्रोणी न्यग्रोधी च तथा वृषा ।
दन्तीद्वयं सरं पाकं रसे च कटु दीपनम् ॥ १९९ ॥
गुदाङ्कुराश्मशूलास्रकण्डूकुष्ठविदाहनुत् । तीक्ष्णोष्णं हन्ति पित्तास्रकफशोथोदरक्रिमीन् ॥

छोटी दन्ती तथा बड़ी दन्ती के नाम और गुण—लघुदन्ती, विशल्या, उदुम्बरपर्णी, एरण्डफला, शीघ्रा, श्येनघण्टा, घुणप्रिया, वाराहाङ्गी, निकुम्भ और मकूलक ये सब नाम छोटी दन्ती के हैं। द्रवन्ती, शम्बरी, चित्रा, प्रत्यक्पर्णी, आखुपर्णी, उपचित्रा, श्रुतश्रोणी, न्यग्रोधी और वृषा ये सब नाम बड़ी दन्ती के हैं। इसके पत्ते और शाखायें एरण्ड (रेंड़) की तरह होती हैं। दोनों प्रकार की दन्ती—स्वाद तथा विपाक में कटुरस युक्त, सारक, अग्निदीपक, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य एवं अर्श के मस्से, पथरी, शूल, रक्तविकार, कण्डू (खुजली), कुष्ठ, दाह, पित्तरक्त, कफ, शोथ, उदररोग और क्रिमि को नष्ट करने वाली होती है ॥ १९७-२०० ॥

नोट—भावप्रकाशकार दन्ती के दो भेद लघुदन्ती एवं द्रवन्ती (बृहद्दन्ती) लिखते हैं। इनमें लघुदन्ती यह प्रसिद्ध है जिसे ले० में बॅलिओस्पर्मम् मॉन्टेनम् कहते हैं। द्रवन्ती के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ लोगों ने व्याघ्रैरण्ड (जेट्रोफा कर्कस्) को द्रवन्ती माना है। किन्तु इसकी जड़ में रेचक गुण न होने के कारण श्री यादवजी इसको स्वीकार नहीं करते। भावप्रकाशकार आगे 'क्षुद्रदन्तीफलं तु स्यान्मधुरं रसपाकयोः' एवं उसके आगे 'जयपालो दन्तिबीजं विख्यातं.........' लिखते हैं। लघुदन्ती के बीज जयपाल नहीं हैं यह निश्चित है किन्तु इसका स्वतन्त्र वृक्ष होता है जिसे ले० में क्रोटन् टिग्लिअम् कहते हैं। इसलिये 'जयपालो दन्तीबीजं विख्यातम्' में दन्ती का अर्थ बृहद्दन्ती (द्रवन्ती) किया जाय तो उपर्युक्त श्लोक का अर्थ ठीक हो जाता है। यदि भावप्रकाशकार को यहाँ दन्ती से लघुदन्ती का तात्पर्य होता तो वह स्पष्ट लिखते क्योंकि पहले वह 'क्षुद्रदन्तीफलं तु स्यान्मधुरं.........' ऐसा क्षुद्रदन्तीफल के लिये स्पष्ट लिख चुके हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यदि द्रवन्ती (बृहद्दन्ती) यह जयपाल वृक्ष को मान लिया जाय तो सब सन्देह दूर हो जाता है। श्री यादवजी का भी मत जयपाल वृक्ष को द्रवन्ती मानने की तरफ है। कुछ लोगों ने क्रोटन पॉलिएण्ड्रम् (Croton polyandrum) को द्रवन्ती माना है किन्तु वास्तव में यह केवल दन्ती (बॅलिओस्पर्मम् मोन्टेनम्) का पर्याय है न कि कोई अलग भेद। चरक में दन्ती का एक तीसरा भेद नागदन्ती आया है। इसे श्री डॉ० वा० ग० देसाई एवं श्री ठा० बलवन्त सिंह जी ने क्रोटन् ऑब्लॉंगिफोलिआ माना है जो सर्वसम्मत है। यहाँ पर, द्रवन्ती (जयपाल वृक्ष) एवं नागदन्ती का अलग-अलग वर्णन किया गया है। जेट्रोफाकर्कस् (व्याघ्रैरण्ड) का वर्णन पहले पृष्ठ ३०२ पर किया जा चुका है।

१०० दन्ती

हि०–दन्ती, छोटीदन्ती, ताम्बा। **म०**–दान्ती, लघुदन्ती, दांतरा। **ब०**–दन्ती, हाकुन। **ते०**–कोंदाआमादम्। **ता०**–नागदन्ती। **गु०**–दन्ती। **फा०**–दन्द, वेदञ्जीर खताई। **अ०**–हब्बुस्सला। **लै०**–*Boliospermum montanum Muell-Arg.* (बॅलिओस्पर्मम् मॉन्टेनम् मुएल आर.)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

छोटी दन्ती प्रायः सब प्रान्तों में पाई जाती है। विशेषकर काश्मीर से भूटान तक तथा आसाम और खासिया पहाड़ से चटगाँव तक एवं दक्षिण में कोंकण ट्रावनकोर तक जङ्गलों में उत्पन्न होती है। आर्द्र स्थानों में प्रायः अन्य वृक्षों आदि की छायादार जगहों में अधिक पाई जाती है।

यह गुल्म–जाति की वनस्पति ३ से ६ फीट तक ऊँची होती है। प्रायः जड़ से ही अधिक शाखाएँ निकलती हैं। पत्ते–प्रायः अञ्जीर और गूलर के आकार के होते हैं, इस लिये इसको उदुम्बरपर्णी कहते हैं। लम्बाई, चौड़ाई में इसका आकार भिन्न-भिन्न होता है। नीचे वाले पत्ते ६ से १२ इञ्च लम्बे, अञ्जीर के पत्तों के समान कटे किनारे वाले ३ से ५ भागों में विभक्त तथा किञ्चित् नुकीले होते हैं और ऊपर वाले पत्ते गूलर के पत्तों के आकार वाले २-३ इञ्च लम्बे और भालाकार होते हैं। फूल–एकलिंगी, गुच्छाकार हरिताभ रंग के होते हैं। फल–किंचित् रोमश, ३ खण्ड का एवं करीब ½ इञ्च लम्बा होता है। बीज–भूरे, वाह्यवृद्धि से युक्त तथा एरण्ड से छोटे होते हैं। इसकी जड़ एवं बीज औषधि के काम में आते हैं। जड़–अङ्गुली के बराबर मोटी, सीधी और कभी-कभी टूटी हुई होती है। जड़ की छाल भूरे रंग की खुरदरी एवं काष्ठ भाग श्वेत, पीताभ, मुलायम किन्तु चीमड़ रहता है। यद्यपि जमालगोटे को दन्तीबीज कहते हैं तथापि जमालगोटा उक्त दन्ती का बीज नहीं है।

संग्रहविधि–दन्ती तथा द्रवन्ती के हाथी दाँत के सदृश कठिन, स्थूल एवं श्याम ताम्र वर्ण के मूल को छोटी पीपल के चूर्ण एवं मधु का लेप करके कुशा के बीच में रख कर मिट्टी का लेप करके पुटपाक करे। फिर धूप में सुखा लें। इस प्रकार अग्नि एवं धूप से इसका विकाशी गुण नष्ट हो जाता है। (च० क० अ० १२)

रासायनिक संगठन—इसकी जड़ में राल एवं स्टार्च पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—दन्ती की जड़, कटु, उष्ण, शोथघ्न, ज्वरघ्न, रेचन एवं कफपित्तनाशक है। इसका उपयोग, उदर, जलोदर, शोथ, कामला, यकृद्विकार, आध्मान, गुल्म, अर्श एवं ज्वर में किया जाता है। इसके बीज अत्यन्त तीव्र रेचन होते हैं। इसके बीजों का तैल तिक्त, कटु, कषाय एवं अधोभाग दोषहर है तथा कृमि, कुष्ठ, कफ, वात और दूष्योदर को दूर करने वाला एवं दुष्टव्रणशोधक है।

(१) ज्वर में तक्र के साथ इसकी जड़ देने से यकृत् की क्रिया ठीक होकर शौच के द्वारा दूषित पित्त निकल जाता है।

(२) जलोदर, हृदयोदर, यकृदुदर, वृक्कविकृतिजन्य उदर आदि में इसकी जड़ का विरेचनार्थ प्रयोग करते हैं। कामला में भी विरेचन के लिये इसका उपयोग करते हैं।

(३) श्वास में इसके पत्तों का उपयोग किया जाता है।

(४) त्वचा के विकारों में इसका उपयोग किया जाता है।

(५) इसके बीज एवं तैल जमालगोटे की तरह तीव्र रेचक होते हैं।

प्रयोगविधि—इसको सौंफ आदि सुगन्धि पदार्थों के साथ क्वाथ के रूप में देना चाहिये। अधिक मात्रा में यह क्षोभक एवं मादक है जिसके निवारण के लिये मधुर-स्निग्ध पदार्थ, शर्बत तथा दूध आदि का उपयोग करना चाहिये।

मात्रा—१-३ माशा; बीज ½-१ र०।

अथ लघुदन्तीफलम्। तस्य गुणानाह

क्षुद्रदन्तीफलं तु स्यान्मधुरं रसपाकयोः। शीतलं सृष्टविण्मूत्रं गरशोथकफापहम्॥ २०१॥

छोटी दन्ती के फल का गुण—छोटी दन्ती का फल—रस और पाक में मधुर रसयुक्त, शीतवीर्य, मल और मूत्र को निकालने वाला, विष शोथ तथा कफ का नाशक होता है॥ २०१॥

अथ जयपालः (जमालगोटा)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

जयपालो दन्तिबीजं विख्यातं तिन्तिडीफलम्। जयपालो गुरुः स्निग्धो रेची पित्तकफापहः॥

जमालगोटा के नाम तथा गुण—जयपाल, दन्तिबीज, तिन्तिडीफल ये सब जमालगोटा के विख्यात नाम हैं। जमालगोटा—गुरु, स्निग्ध, रेचक एवं पित्त-कफ का नाशक होता है॥ २०२॥

नोट—यहाँ दन्तिबीज का अर्थ बड़ीदन्ती (द्रवन्ती) का बीज उचित मालूम पड़ता है क्योंकि क्षुद्रदन्ती का बीज जयपाल नहीं है।

१७१ जमालगोटा (द्रवन्तीबीज)

हि०—जमालगोटा। बं०, म०—जयपाल। प०—जपोलोटा। गु०—नेपालो। ता०—नेवलिम्। ते०—नेपालवेमु। क०—नेपाल, जापालबांज। तुख्मे बेदअंजीर, तुख्मे बेदंजीरखताई। अ०—हब्बुस्सलातीन। फा०—तुख्मे बेदअंजीर खताई। अं०—Croton oil seed (क्रोटन् ऑइल सीड)। ले०—*Croton tiglium Linn.* (क्रोटन् टिग्लिअम् लिन.)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

यह आसाम, बंगाल, ब्रह्मा तथा समस्त भारत में पाया जाता है। इसका वृक्ष—छोटा होता है और वह बारहो मास हरा-भरा रहता है। इसकी शाखायें रोमयुक्त छोटी-छोटी होती हैं। पत्ते—२-४ इञ्च लम्बे, चौड़े अण्डाकार, चिकने, नोकीले, दन्तुर और ३-५ शिराओं से युक्त होते हैं। फूल—हरिताभ पीत रङ्ग के मंजरी के रूप में आते हैं। फल—प्रायः १ इञ्च लम्बे अण्डाकार और त्रिकोणयुक्त होते हैं। बीज—बादामी रङ्ग के होते हैं जिन्हें जयपाल (जमालगोटा) कहा जाता है। इसके बीज एवं बीज-तैल का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

शोधन—आयुर्वेद में शोधन करके ही जमालगोटे का व्यवहार किया जाता है। जमालगोटे के छिलके एवं दो दलों के बीच के अंकुर (जीभ) को निकाल, गोदुग्ध में ३ घण्टे तक स्वेदन करे। फिर शीतल होने पर गरम जल से धो, नींबू के रस के पीस, मिट्टी के कोरे तवे पर बिछा कर सुखा ले। इस प्रकार करने से यह शुद्ध हो जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में एक स्थिर तैल. टिग्लिनिक् अम्ल (Tiglinic acid), क्रोटनिक् या क्वार्टेनिलिक अम्ल (Crotonic or quartenylic acid) एवं क्रोटन तैल (Croton oil) रहता है। क्रोटन तैल में मुख्य क्रियाशील तत्त्व क्रोटोनोलिक अम्ल (Crotonolic acid) होता हैं जिसके अतिरिक्त टिग्लिक् अम्ल या मैथिल् क्रोटनिक अम्ल (Tiglic acid

or Methyl crotonic acid), क्रोटोनाल् (Crotonol) जिसमें रेचनगुण नहीं होता किन्तु जो त्वचा के लिये प्रक्षोभक होता है, कुछ उड़नशील तैल जिनके कारण इसमें गन्ध होती है एवं कुछ स्नेहाम्ल पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह कटु, उष्ण, विरेचन, दीपन, कफवातहर, कृमि एवं जलोदर नाशक है। बाह्य प्रयोग में यह प्रक्षोभक एवं विस्फोटजनक है। यह अत्यन्त तीव्र रेचन है। अधिक मात्रा में यह विष है। इसके तैल के एक बूँद प्रयोग से पचीसो पतले दस्त होते हैं तथा पेट में बहुत मरोड़ होता है। इससे आन्त्र की श्लेष्मकला में कुछ शोथ भी हो जाता है। यद्यपि इससे कृमि भी गिरते हैं तथापि कृमि के लिये इसका प्रयोग नहीं करते, रक्तगत जलीय अंश को जब जल्दी कम करना रहता है तब इसका उपयोग करते हैं।

(१) मस्तिष्कगत रक्तस्रावजन्य अर्धांग आदि में इसका प्रयोग करते हैं। इससे जलीय अंश कम होकर रक्तस्राव कम होता है तथा मस्तिष्कगत दबाव कम होता है। रोगी बेहोश हो तो तैल का एक बूंद मक्खन में मिलाकर जीभ पर लगा दें।

(२) हृदयोदर में भी जलीय अंश को कम करने के लिये इसका प्रयोग करते हैं, किन्तु कभी-कभी इसके प्रयोग के बाद दस्त बन्द नहीं होते।

(३) आमवात, सन्धिशोथ, वातविकार तथा तिलाओं के रूप में इसके तैल का बाह्य प्रयोग किया जाता है।

विषप्रभाव—इसकी अधिक मात्रा से दाह, मरोड़, शूल, रक्तयुक्त दस्त, एवं दौर्बल्य आदि लक्षण होते हैं। इसके निवारण के लिये जल में कत्था घिसकर या नींबू का रस पिलावे।

मात्रा—बीज ¼-½ र०, तैल ½-१ बूंद मक्खन के साथ।

१०२ नागदन्ती

नागदन्ती कटुस्तिक्ता रूक्षा वातकफापहा। मेधाकृद्विषदोषघ्नी पाचनो शोथनाशिनी॥
गुल्मशूलोदरव्याधिकुष्ठदोषनिकृन्तनी॥ (रा० नि०)

सं०-हस्तिदन्ती (च० सू० अ० १), नागदन्ती (च० वि० अ० ८)। **हि०**-हकूम, पुतेर, पुधरी, चुक। **म०**-धणसर। **बं०**-बरागाच्छ। **ने०**-अच। **ते०**-भुतन् कुसुम। **ले०**-*Croton oblongifolius, Roxb.* (क्रोटन् ऑब्लॉंगिफोलिअस्, राक्स.)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

यह प्रायः समस्त भारत में विशेषकर दक्षिण कोंकण, लंका, बंगाल, बिहार एवं बर्मा में होता है। इसका वृक्ष-छोटे आकार का तथा दूर से देखने पर आम की तरह दिखाई देता है। **मूलस्तम्भ**—सीधा एवं छाल चिकनी तथा राख के रङ्ग की होती है। **पत्ते**—६-१२ इञ्च लम्बे, सवृन्त, चिमड़े, एकान्तर तथा शाखाओं पर समूहबद्ध, दन्तुर, आयताकार या अण्डाकार तथा चिकने होते हैं। **पुष्प**-एकलिङ्ग, हलके हरे रङ्ग के, ५-१२ इञ्च लम्बी मंजरियों में आते हैं। **फल**-गोल, मांसल, ४५ इन्च बड़े एवं ६ धारियों से युक्त होते हैं। **बीज**-चिकने और भूरे रंग के होते हैं। **मूल**-ऐंठी हुई एवं कुछ चिपटी होती है। इसकी छाल मोटी, खुरदरी, भूरे रङ्ग की एवं अन्दर से पीली एवं उस पर कुछ भूरे रङ्ग के धब्बे होते हैं। मूलत्वक् का स्वाद कपूर की तरह तीता एवं सुगन्धयुक्त होता है। इसकी मूलत्वक्, पत्र एवं बीजों का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग-इसकी मूलत्वक् शोथघ्न, ज्वरघ्न, रेचक, शिरोविरेचक एवं विषनाशक है।

(१) तीव्र शोथयुक्त आभ्यन्तर विकार (Acute inflammatory conditions) जैसे-न्युमोनिया, फुफ्फुसावरण शोथ, अण्डशोथ, यकृत शोथ, फोड़ा तथा गलका आदि अवस्थाओं में

इनको निर्गुण्डी तथा करञ्ज के साथ देने से लाभ होता है। इनमें इसका बाह्य लेप भी करते हैं। इसकी अधिक मात्रा से सिवाय विरेचन के कोई अन्य तीव्र परिणाम नहीं होता एवं विरेचन से लाभ ही रहता है।

(२) ज्वर में नवसादर के साथ इसका उपयोग करते हैं। इससे यकृत की क्रिया ठीक होकर पित्त की शुद्धि होती है एवं दूषित पित्त शौच द्वारा निकल जाता है तथा यकृत्दाह कम होता है। यकृत के शोथ में यह बहुत ही उत्तम औषध है।

(३) सर्पविष में इसको १ से २ तोला की मात्रा में हर दो घण्टे पर देते हैं। कोंकण में इसका बहुत प्रचार है।

मात्रा—½-१ तोला सुगन्धि द्रव्यों के साथ।

अथेन्द्रवारुणी महेन्द्रवारुणी च। (इन्द्रायण–बड़ी इन्द्रायण)। तयोर्नामगुणानाह

ऐन्द्रीन्द्रवारुणी चित्रा गवाक्षी च गवादनी।
वारुणी च पराऽप्युक्ता सा विशाला महाफला॥ २०३॥
श्वेतपुष्पा मृगाक्षी च मृगैर्वारुर्मृगादनी। गवादनीद्वयं तिक्तं पाके कटु सरं लघु॥२०४॥
वीर्योष्णं कामलापित्तकफप्लीहोदरापहम्॥ २०५॥
श्वासकासापहं कुष्ठगुल्मग्रन्थिव्रणप्रणुत्। प्रमेहमूढगर्भामगण्डामयविषापहम्॥ २०६॥

'इन्द्रायण' तथा 'बड़ी इन्द्रायण' के नाम और गुण—ऐन्द्री, इन्द्रवारुणी, चित्रा, गवाक्षी, गवादनी और वारुणी ये सब नाम 'इन्द्रायण' के हैं। दूसरी जो 'बड़ी इन्द्रायण' है, उसके नाम—विशाला, महाफला, श्वेतपुष्पा, मृगाक्षी, मृगैर्वारु और मृगादनी ये सब हैं। इन्द्रायण-बड़ी इन्द्रायण ये दोनों—स्वाद में तिक्त रस और विपाक में कटु रसयुक्त, सारक, लघु, उष्णवीर्य एवम् कामला, पित्त, कफ, प्लीहा, उदररोग, श्वास, कास, कुष्ठ, गुल्म, ग्रन्थि, व्रण, प्रमेह, मूढगर्भ, आमदोष, गण्डरोग (गलगण्ड, गण्डमाला आदि) तथा विष को दूर करने वाली होती हैं॥

नोट—उपर्युक्त इन्द्रवारुणी एवं विशाला के अतिरिक्त इन्द्रवारुणी का एक अन्य भी भेद पाया जाता है। ध. नि. ने भी ३ भेद लिखे हैं।

१०३ इन्द्रायण

हि०—इनारुन, इन्द्रायण, इन्दायन, इन्द्रारुन। बं०—राखालशा। म०—इन्द्रावण, कडुवृंदावन, कडु इन्द्रायण। मा०—तूमणबेल, तूसतूंबा, तूस। गु०—इन्द्रवरणा, इन्द्रावणा। क०—हानेक्के, हावुमेक्के कायि। ते०—एतिपुच्छा, एटिपुच्चा, पुस्तकाय, पापर, एटि पुच्चकायि। ता०—पेयक्कुमुट्टि, पेदिकारि। कौड, तुम्बी, घोरुम्बा, तुम्बा। फा०—खुरबुज एतलख, हिन्दबानहे तलख। अ०—हंजल, अलकम। अं०—Colocynth (कोलोसिंथ)। ले०—*Citrullus colocynthis Schrad* (सिट्रयुलस् कोलोसिन्थिस् श्रेड)। Fam. Cucurbitacae (कुकुर्बिटेसी)।

यह बङ्गाल, बिहार, मध्यप्रदेश, पश्चिमोत्तर प्रदेश, मध्य और दक्षिण भारत तथा राजपूताना आदि अनेक प्रान्तों में पाई जाती है। रेतीली भूमि में अधिक उत्पन्न होती है तथा गङ्गा, यमुना सोन, सरयू आदि नदियों के दियारे में बाहुल्य से देखने में आती है। जहाँ यह अधिक रहती है वहाँ दूसरे अन्न की उत्पत्ति अधिक परिमाण में नहीं होती। इस कारण किसान लोग इसको

समूल नष्ट करने के प्रयत्न में लगे रहते हैं। यह एशिया एवं अफ्रीका के उष्ण प्रदेशों में भी पाई जाती है।

यह लता जाति की वनस्पति वर्षजीवी या बहुवर्षजीवी भी होती है। वर्षा ऋतु के सिवा सब ऋतुओं में मिलती है। वर्षा ऋतु में नदियों की बाढ़ के कारण रेतीली भूमि के पानी में डूबने से इसकी लता नष्ट हो जाती है, किन्तु जड़ सजीव रहती है और वही वर्षान्त के बाद अंकुरित होकर लता रूप में बढ़ करके वसन्त ऋतु तथा गरमी के दिनों में फूल, फल देती है। जिस भूमि में वर्षा का पानी इकट्ठा नहीं होता अथवा जहाँ नदियों की बाढ़ नहीं आती, वहां ऊँची भूमि वाली लता नष्ट नहीं होती, बल्कि वर्षा ऋतु में भी फूल-फल देती रहती है। फलों का संग्रह करना गरमी में ही अच्छा होता है, क्योंकि इसके फल कड़ी धूप के कारण खूब सूख जाते हैं और बिगड़ने नहीं पाते तथा बरसात में संग्रह किये हुए फल प्रायः सड़-गल कर खराब हो जाते हैं। इसकी लता बहुधा भूमि पर फैली एवं स्पर्श में अत्यन्त कर्कश होती है। इसके सूत्र (Tendrils) निःशाख या द्विशाख होते हैं। **पत्ते**–विषमवर्त्ती, २–२॥ इञ्च के घेरे में लम्बे-चौड़े, ऊपर से हलके हरे एवं नीचे से धूसर रंग के, स्पर्श में कर्कश, अनियमित कटे किनारे वाले तथा तरबूज के पत्तों के आकार वाले त्रिकोणाकार होते हैं। खेतों में रोपण की हुई इन्द्रायण के पत्ते बड़े एवं तरबूज के पत्तों के बराबर दिखलाई पड़ते हैं। **फूल**–पाँच पंखड़ी वाले, हलके पीले रङ्ग के तथा व्यास में ·५–·७ इञ्च होते हैं। **फल**–२–२॥ इञ्च के घेरे में गोलाकार, कच्ची अवस्था में हरे रंग के और पकने पर सन्तरे के समान पीले रंग के सफेद छींटेदार एवं चिकने होते हैं। फलों के भीतर किंचित् पीलापनयुक्त सफेद रङ्ग की, सूखी हुई सुषिर एवं अत्यन्त कड़वी गूदी होती है और गूदी के बीच छोटे-छोटे ¾–⅙ इञ्च बड़े, चिपटे, तरबूज के बीज के आकार वाले, हलके भूरे रङ्ग के **बीज**–होते हैं। फल का **छिलका**–कोमल होता है। मूल एवं बीज विरहित फल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। पाश्चात्य चिकित्सा में केवल अपक्व फल की सुखाई हुई मज्जा का व्यवहार करते हैं। इसके सभी अङ्ग कड़वे होते हैं तथा इसकी सूखी गर्द नाक एवं आंखों में जाने से अत्यन्त प्रक्षोभ करती है।

रासायनिक संगठन—इसकी फलमज्जा में एक कड़ुवा विरेचक क्षाराभ, विरेचक रालें एवं अल्प मात्रा में ग्लाइकोसाइड् पाया जाता है। ये सभी अनियत रूप (Amorphous) होते हैं। इनके अतिरिक्त अॅल्फा एलॅटेरिन् (a-elaterin) आदि अन्य द्रव्य जो होते हैं उनका कोई विशिष्ट प्रभाव नहीं होता। छिलका निकाले फल में बीजों की मात्रा ७५% होती है। बीजों में २५% तैल, अत्यल्प मात्रा में एक क्षाराभ, एक किण्व (Enzyme) एवं फाइटोस्टेरॉल् (Phytosterol) द्रव्य होते हैं।

इसके मूल में अॅल्फा एलॅटेरिन (a-elaterin), सॅपोनिन् (Saponin) तथा कुछ राल पाई जाती है।

गुण और प्रयोग— इसकी फलमज्जा अत्यन्त कड़वी एवं तीव्र विरेचक है। इसकी १–२ रत्ती की मात्रा से २, ३ घंटे में पानी जैसे पतले दस्त होते हैं। इससे यद्यपि मूत्र की मात्रा भी बढ़ती है तथापि इस कार्य के लिये इसका प्रयोग नहीं करते क्योंकि इससे बहुत मरोड़ होती है। इसका अल्पमात्रा में शोषण होकर मूत्र एवं दुग्ध द्वारा उत्सर्ग होता है। इसकी अधिक मात्रा से विषला परिणाम होकर मृत्यु होती है। इसकी विषैली मात्रा ०·६–१ ग्राम (४–८ रत्ती) एवं घातक मात्रा ४ ग्राम (३० रत्ती) है। एक स्त्री ने गर्भपात के लिए ६० रत्ती की मात्रा खाई किन्तु ५० घंटे में इसकी मृत्यु हुई।

इसकी जड़ विरेचक एवं शोथहर है। बीजों में विरेचक गुण नहीं है।

(१) कफप्रधान रोगों में इसका प्रयोग करते हैं। इससे स्रोतोवरोध दूर होता है। आमवात, संधिशोथ, जलोदर, कामला, यकृद्दाल्युदर, प्लीहोदर तथा तीव्र विबन्ध में इसकी जड़ का चूर्ण सोंठ एवं गुड़ के साथ देते हैं। पाश्चात्य चिकित्सा में प्रयुक्त एक्स्ट्रैक्टम कोलोसिन्थिडिस् कम्पोजिटम् (Extractum Colocynthidis Compositum) का भी व्यवहार किया जा सकता है। अनार्तव में मूल का उपयोग करते हैं।

(२) इसकी जड़ को नूतन शोथ पर लेप करते हैं। स्तनशोथ तथा बच्चों के उदर आदि पर इसको जल में घिस कर लगाते हैं।

(३) इसके बीजों के तैल का उपयोग बाल काले रहने के लिये करते हैं।

विष चिकित्सा—कषाय द्रव्य (Dil. Tannic acid solution) से आमाशय प्रक्षालन के पश्चात् दुग्ध पिलाना चाहिये।

मात्रा—फलचूर्ण १-२½ रत्ती; मूलचूर्ण १-३ माशा।

१०४ इन्द्रायण भेद

हिं०-भाकुरा। म०-विसलंबी। बं०-गोमुक। गु०-कोठिंबन। पं०-कचरी। ले०-*Cucumis trigonus, Roxb.* (कुकुमिस् ट्राइगोनस्, रॉक्स.)। Fam. Cucurbitaceae (कुकुर्बिटेसी)।

यह भारतवर्ष के प्रायः सब प्रान्तों में खुली हुई शुष्क जगहों में कहीं न कहीं पायी जाती है।

यह लता जातिकी वनौषधि प्रसरणशील एवं स्पर्श में कर्कश होती है। इसमें तंतु (Tendrils) निःशाख होते हैं। यद्यपि इसके लता पत्र नष्ट हो जाते हैं परन्तु इसकी जड़ भूमि के भीतर जीवित रहती है। समय आने पर उसी जड़ में से अंकुर निकल कर लता रूप में परिणत होता है। पत्ते-स्पर्श में कर्कश, १-२ इञ्च लम्बे तथा चौड़े (कभी-कभी और बड़े), गोलाकार किन्तु पांच से सात भागों में विभक्त रहते हैं और प्रत्येक भाग किंचित् लम्बाई युक्त गोलाकार, अग्र पर गोल और कुछ दंतुर सा होता है। पुष्प-पीले रंग के और व्यास में ½ इञ्च बडे होते हैं। पुरुष जाति के फूल गुच्छों में और स्त्री जाति के फूल एक-एक करके आते हैं। फल-चिकने दरबूज के आकारवाले गोलाकार, किंचित् त्रिकोणाकार, १॥ इञ्च लम्बे और १। इञ्च मोटे तथा १० हरी रेखाओं से युक्त होते हैं। पकने पर ये रेखाएं हलके पीले रंग की हो जाती हैं। इसकी मज्जा कडुवी होती है। बीज-श्वेत एवं दीर्घ वृत्ताभ होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके फल में कोलोसिन्थिन (Colocynthin) या तत्सम पदार्थ पाया जाता है। बीजों से निकाला तैल जलाने के काम आता है।

गुण और प्रयोग—इन्द्रायण के स्थान पर इसका उपयोग किया जाता है। इसकी मज्जा कडुवी तथा तीव्र विरेचक होती है। इसके मूल का क्वाथ सौम्य विरेचक होता है। इसके बीज शीतल, ग्राही तथा पित्त विकार में उपयोगी होते हैं।

१०५ विशाला (महाकाल, इन्द्रायण भेद)

सं०-विशाला, महाकाल। हिं०-लाल इन्द्रायण, महुरार, महर। म०-कौंडल, काकनोंडि, कवंडल। गु०-रातां इन्द्रायणां। बं-माकाल। ता०-कुरट्टै। ते०-अब्वरगूद। क०-कालेमंदलि। अ०-हंजले-अहमर। फा०-हंजले सुर्ख। ले०-*Trichosanthes palmata, Roxb.* (ट्राइकोसैन्थिस् पामेटा, रॉक्स)। Fam. Cucurbitaceae (कुकुर्बिटेसी)।

इसकी विशाल आरोही लता झाडियों पर फैली हुई अथवा ऊँचे वृक्षों पर चढ़ी हुई पाई जाती है। शाखाएं लम्बी तथा नीचे की ओर लटकी हुई रहती हैं। सूत्र (Tendrils) २-५ शाखाओं वाले होते हैं। पत्ते-२½-५ इञ्च लम्बे तथा उतने ही चौड़े, दन्तुर, प्रायः पाणिवत खण्डित, खण्ड ३-५ एवं प्रायः अधर तल पर फैली हुई गाढे रंग की गोल ग्रन्थियों से युक्त होते हैं। पुष्प-श्वेत एवं व्यास में २½-३ इञ्च होते हैं। फल-१½-२ इञ्च व्यास के गोल या दीर्घ वृत्ताभ, पकने पर लाल रंग के एवं १० नारंगी रंग की पतली धारियों से युक्त होता है। फल का छिलका मोटा होता है एवं मज्जा कृष्णाभ हरित होती है। बीज-दीर्घ वृत्ताभ एवं चिकने होते हैं।

इसकी जड़ एवं मूल का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक ट्राइकोसैन्थिन् (Trichosanthin) नामक कडवा द्रव्य पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी फलत्वक् वामक किन्तु अल्प मात्रा में कफनिःसारक है। मज्जा भेदन है। मूल श्वयथुहर एवं ज्वरहर है। यद्यपि जंगली जाति के फल तीव्र विरेचक होते हैं किन्तु रोपित विशाला के फल पकाकर खाने योग्य हो जाते हैं।

तमक श्वास, डिफ्थीरिया एवं गले के शोथयुक्त विकार तथा श्वासनलिका-शोथ में कफ चिपचिपा होकर श्वासावरोध होता है तब इसके फलत्वक् या मूल की छाल को थोड़ा सा चिलम में रख कर धूम्रपान कराते हैं जिससे वमन होकर कफ निकलने लगता है। कभी-कभी रक्त भी गिरता है। इससे श्वासावरोध कम होता है एवं गले की सूजन भी कम होती हैं। फुफ्फुस-शोथ में मूलत्वक् का क्वाथ देने से ज्वर एवं श्वासावरोध कम होता है।

व्रणशोथ पर इसकी जड़ घिस कर लगाते हैं। स्तनशोथ, गलका, कार्बंकल आदि फोड़े पर इन्द्रायण की जड़ के साथ इसकी जड़ को शीतल जल में घिस कर मोटा लेप करते हैं। इसके फल, से सिद्ध गरी का तेल कर्णस्राव में डालते हैं तथा शिरःशूल एवं प्रतिश्याय में प्रयोग करते हैं।

मात्रा—फलत्वक् ½-१ र० दिन में ३ बार।

अथ नीली [नील]। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

नीली तु नीलिनी तूणी काला दोला च नीलिका।
रञ्जनी श्रीफली तुच्छा ग्रामीणा मधुपर्णिका॥ २०७॥
क्लीतका कालकेशी च नीलपुष्पा च सा स्मृता।
नीलिनी रेचनी तिक्ता केश्या मोहभ्रमापहा॥ २०८॥
उष्णा हन्त्युदरप्लीहवातरक्तकफानिलान्। आमवातमुदावर्त्तं मदं च विषमुद्धतम्॥ २०९॥

'नील' के नाम तथा गुण—नीली, नीलिनी, तूणी, काला, दोला, नीलिका, रञ्जनी, श्रीफली, तुच्छा, ग्रामीणा, मधुपर्णिका, क्लीतका, कालकेशी और नीलपुष्पा ये सब नाम 'नील' के हैं। नील-तिक्त रसयुक्त, रेचक, बालों के लिये हितकर, उष्णवीर्य, एवम् मोह, भ्रम, उदररोग, प्लीहा, वातरक्त, कफ, वायु, आमवात, उदावर्त्त, मदरोग और उग्र विष को दूर करने वाली होती है॥

१०६ नील

हि०—नीली, नीली वृक्ष, लील। **म०**-गुली, नील। **बं०**—नील। **मा०**—लील। **गु०**-गली। **क०**—नीली। **ता०**—अवरि। **ते०**—निली चेट्टु, अविरि। **फा०**-नील, नीलज, हिमामजतुन।

अ०-नीलज, वस्मा। अं०-Indigo (इण्डीगो)। ले०-*Indigofera tinctoria Linn.* (इण्डीगोफेरा टिङ्क्टोरीआ, लिन.)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

पहले इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में नील रङ्ग के लिये नीलहे साहेब लोग इसकी खेती करते थे। किन्तु इस समय कृत्रिम नील रङ्ग के आने से इसकी खेती प्रायः नष्ट ही हो गयी है।

इसका क्षुप-४ से ६ फीट तक ऊँचा होता है। शाखाएं-पतली, दुर्बल, कोणदार, अल्प-रोमयुक्त एवं फैली हुई होती हैं। पत्ते-असम पक्षवत् संयुक्त पत्र होते हैं। पत्रक-३-६ जोड़े, शरपुंखा के समान, अंडाकार या अंडाकार लट्वाकार, ०·५-०·९ इञ्च लंबे, पतले तथा कालापन लिये हुए हरे रंग के होते हैं। तोड़ने से इसके पत्ते सीधे टूटते हैं। पुष्प-पतली पत्रकोणज मंजरियों में हलके नीलाभ गुलाबी रंग के आते हैं। फलियाँ-पतली एक इञ्च तक लंबी होती हैं, जिनमें ८ से १२ तक बीज होते हैं। इसकी कई अन्य जातियाँ होती हैं। इसकी जड़, पत्र, बीज तथा नील रंग का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पौधों को सड़ा करके एक इण्डिकन् (Indican) नामक ग्लूकोसाईड् प्राप्त किया जाता है। इसके पौधे से ५०% तक नील प्राप्त किया जाता है।

गुण और प्रयोग—नील रंग का बाह्यलेप दाहशामक, व्रणरोपण, त्वग्दोषहर, केशवर्धक एवं केशरंजक है।

यह विषघ्न, यकृदुत्तेजक, शामक, विरेचन, अल्प मूत्रजनन, कासहर एवं कृमिघ्न है। अधिक मात्रा से पतले दस्त होते हैं। किन्तु अल्प मात्रा से इससे शौच साफ होता है। अन्य गुण गौण हैं। इसकी जड़ में भी यही गुण कम मात्रा में पाये जाते हैं। पत्तों में जड़ की अपेक्षा और कम गुण होता है।

(१) यकृत् एवं प्लीहा वृद्धि तथा जलोदर में मूल का घन देते हैं। अर्श में इसके साथ-साथ नील तथा पत्तों का लेप भी करते हैं। इसका उपयोग कुकास तथा न्युमोनिया में भी होता है।

(२) अपस्मार तथा लघु वातविकारों में नील देते हैं।

(३) पागल कुत्ता काटने पर इसका स्वरस २ औंस की मात्रा में पिलाते हैं तथा दंशस्थान पर पत्तों का लेप करते हैं। इतनी अधिक मात्रा से कुछ शिरःशूल तथा विरेचन होता है। यह संखिया के विष में भी उपयोगी है।

(४) त्वचा के विकार में नील का बहुत अधिक प्रयोग कराते हैं। दग्धव्रण एवं जीर्णव्रण आदि में इसका लेप करने से व्रण जल्दी अच्छे होते हैं। खिजाबों में पत्तों का उपयोग किया जाता है। विषैले जन्तुओं के काटने पर इसका लेप उपयोगी है।

मात्रा—नील $\frac{1}{2}$-र०; मूल का घन १-२ र०; क्वाथ ५-१० तो०।

अथ शरपुङ्खः [सरफोंका]। तस्य नामलक्षणगुणानाह

शरपुङ्खः प्लीहशत्रुर्नीलीवृक्षाकृतिश्च सः। शरपुङ्खो यकृत्प्लीहगुल्मव्रणविषापहः।
तिक्तः कषायः कासास्रश्वासज्वरहरो लघुः॥ २१०॥

सरफोंका के नाम तथा गुण-शरपुंख, प्लीहशत्रु और नीलीवृक्षाकृति (नीलवृक्ष के समान आकारवाला) ये सब नाम 'सरफोंका' के हैं। सरफोंका-तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, लघु एवम्-यकृत, प्लीहा, गुल्म, व्रण, विष, कास, रक्तविकार, श्वास और ज्वर को दूर करता है॥ २१०॥

१८७ सरफोंका।

हि०—सरफोंका, सरफोंक। तं०—वननील। **म०**—उन्हाली। **गु०**—शरपंखो। **ते०**—तेल वेंपलि, मुलु वेम्पली। **क०**—फंकी। **पं०**—झोंजरु। **ता०**—काट्‌कोरिनिल्। **लै०** *Tephrosia purpurea, Linn.* (टेफ्रोसिया पर्पुरिया, लिन.)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

सरफोंका-क्षुपजाति की वनस्पति प्रायः सब प्रान्तों में आपही आप उत्पन्न होती है। यह हिमालय में ६००० फीट की ऊँचाई तक पाई जाती है। इसका क्षुप-लगभग १-२॥ फीट ऊँचा, झाड़दार, सीधा एवं बहुत शाखाओं से युक्त होता है। कांड चिकने या किंचित् रोमश होते हैं। **पत्ते**—२-६ इञ्च लंबे होते हैं। पत्रक संख्या में १३-२१, $\frac{1}{2}$-१ इञ्च लंबे, नील या मेथी के पत्तों के समान आयताकार, नताग्र या रोमशाग्र एवं ऊपर से चिकने किन्तु नीचे से अस्पष्ट मृदु रोमश होते हैं। पत्रक को तोडने से वह बाण के पुंख के आकार के समान टूटता है इसलिये इसे शरपुंखा कहा जाता है। **फूल**—$\frac{1}{2}$ इञ्च लंबे; सवृन्त, लाल या जामुनी एवं ५ इञ्च लंबी मंजरियों में निकले रहते हैं। **फली**—१$\frac{1}{2}$-२ इञ्च लंबी, अल्प मुड़ी हुई, ६-१० बीजों से युक्त एवं अन्ततः चिकनी होती है। यह बरसात में अधिक होता है।

इसकी जड़ एवं पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

नोट—इसके एक अन्य भेद श्वेत शरपुंखा का भी उल्लेख है जो रसायन आदि में उपयोगी होती है। T. villosa Pers. (टे० विलोसा पर्स.) नामक एक भेद पाया जाता है जिसका क्षुप छोटा, जमीन पर फैला हुआ एवं श्वेतरोम से आवृत रहता है। संभवतः यही शास्त्रीय श्वेत शरपुंखा है।

रासायनिक संगठन—इसकी जड़ में टेफ्रोसिन् (Tephrosin), डेग्युलिन् (Deguelin), आइसो टेफ्रोसिन् (Isotephrosin), रोटेनॉन् (Rotenone) आदि द्रव्य पाये जाते हैं। पत्तों में करीब २% ओसिरिटिन् (Osyritin) नामक ग्लूकोसाइड् होता है। पंचांग में करीब ६% राख निकलती है जिसमें थोड़ी मात्रा में मैंगनीज़ रहता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, कडुवा, आनुलोमिक, पित्तसारक, मूत्रजनक, कफघ्न, विषहर, बल्य, कृमिघ्न एवं रक्तशोधन है। इसकी जड़ का उपयोग आध्मान, कुपचन, जीर्ण अतिसार, कास, पैत्तिक ज्वर, यकृत-प्लीहवृद्धि एवं रक्तस्राव में किया जाता है।

(१) यकृत एवं प्लीहावृद्धि में इसकी जड़ को हरीतकी के साथ देने में अच्छा लाभ होता है। गुल्म में पंचांग का क्षार ४ माशे हरीतकी के साथ देते हैं। अर्श में तक्र के साथ जड़ को देते हैं। रक्तस्राव में तण्डुलाम्बु के साथ इसको देते हैं।

(२) कास में मूल का धूम्रपान कराया जाता है।

(३) उदरशूल में जड़ की ताजी छाल मिरिच के साथ पीसकर गोली बनाकर देते हैं।

(४) खुजली में बीजों का लेप या बीजतैल का लेप उपयोगी है। गंडमाला में मूल का लेप किया जाता है।

मात्रा—मूलचूर्ण ३-६ माशा; स्वरस १-२ तोला; क्षार १-२ माशा।

अथ वृद्धदारुकः (विधारा)। तस्य नामगुणानाह

['वृद्धदारुक आवेगी छागान्त्री वृष्यगन्धिका। वृद्धदारुः कषायोष्णः कटुस्तिक्तो रसायनः॥ वृष्यो वातामवातार्शःशोथमेहकफप्रणुत्। शुक्रायुर्बलमेधाऽग्निस्वरकान्तिकरः सरः॥ २॥]

१. अयं कोष्ठस्थः पाठः क्वचित्कस्तथाऽप्युपयोगित्वादत्रोल्लिखितः।

'विधारा' के नाम तथा गुण—वृद्धदारुक, आवेगी, छागान्त्री और वृष्यगन्धिका ये नाम 'विधारा' के हैं। विधारा—कषाय, कटु तथा तिक्त रसयुक्त, रसायन, वृष्य (वीर्यवर्धक), सारक, उष्णवीर्य तथा शुक्र आयु, बल, मेधाशक्ति, जठराग्नि, स्वर और कान्ति को उत्पन्न करने वाला, एवम् वायु, आमवात, अर्श, शोथ, प्रमेह तथा कफ का नाशक है॥ १-२॥

विधारा भी एक संदिग्ध द्रव्य है। कुछ विद्वान् घावपत्ता को विधारा मानते हैं। डा० बलवन्तसिंहजी के मत से आइपोमिया पेटलॉएडिआ (Ipomoea petaloidea, Chois.) या कम से कम इसी कुल की कोई लता विधारा हो सकती है। श्री डा० देसाई ने आइपोमिआ बाइलोबा (Ipomoea biloba, Forsk.) की जड़ को वृद्धदारक माना है। अष्टांगसंग्रह की टीका में इसका परिचय इस प्रकार है।

त्रिकोणकाण्डा सुबहुप्रताना फलेषु पीता कुसुमेषु रक्ता।
पत्रैः सदुग्धैः मृदुरोमवद्भिस्ताम्बूलतुल्यैर्घनमूलकन्दैः॥

उपर्युक्त वर्णन से यह निश्चित ही मालूम होता है कि विधारा अवश्य ही त्रिवृत कुल की ही लता है। यहाँ पर उपर्युक्त तीनों का संक्षेप में वर्णन किया गया है।

१०८ वृद्धदारक (घावपत्ता)

सं०—वृद्धदारु। हि०—समुद्रशोख, घावपत्ता, विधारा। म०—समुद्रशोक। गु०—समुदरशोष, वरधारो। बं०—बिजताड़, बिद्धताडक। ते०—समुद्रपाल। ता०—समुद्रपच्चै। अं०—Elephant Creeper)। ले०—*Argyreia speciosa, Sweet.* (आर्जीरिआ स्पेसिओजा, स्वीट.)। Fam. Convolvulaceae (कन्वोल्व्युलेसी)।

यह पश्चिमी शुष्क प्रदेशों को छोड़कर भारतवर्ष के सब भागों में १००० फीट की ऊँचाई तक पाई जाती है।

इसकी लता—बड़ी एवं वृक्षों पर फैली हुई होती है। नवीन शाखाओं पर श्वेताभ या तूल रोमश सघन-आवरण रहता है। पत्ते—लट्वाकार, हृद्वत, व्यास में ६–१२ इञ्च, कुण्ठित या तीक्ष्णाग्र, ऊपरी पृष्ठ पर चिकने, अधः पृष्ठ पर मखमली श्वेताभ रोमावरण से युक्त एवं ३–९ इञ्च लम्बे पर्ण वृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प—घंटाकृति, २–३ इञ्च बड़े, बाहर से सफेद और तूल रोमश एवं भीतर से गहरे गुलाबी या जामुनी रंग के होते हैं। फल—लम्बगोल, ½ इञ्च बड़े, कच्ची अवस्था में हलके हरिताभ तथा पकने पर पीताभ भूरे रंग के होते हैं। बीज—भूरापन लिये सफेद रंग के तथा ३ धार वाले होते हैं।

इसके काण्ड के टुकड़े एवं जड़ का विधारा नाम से प्रयोग होता है। इसके पत्तों का एवं नई लता की जड़ का भी चिकित्सा में व्यवहार होता है।

गुण और प्रयोग—इसकी जड़ को ३–६ माशा देने से दस्त साफ होता है। बंगाल में पौष्टिक रूप से इसकी जड़ का प्रयोग करते हैं। आमवात तथा वात विकारों में इसकी जड़ से लाभ होता है। आमवात में इसके पत्तों को पीस कर गरम करके संधिशोथ पर बांधते हैं। व्रण-शोथ पर इसके पत्तों को बांधते हैं।

असगंध एवं विधारे का सम भाग चूर्ण ३ माशा दूध के साथ सेवन से श्वेत प्रदर में लाभ होता है।

मात्रा – मूल चूर्ण १॥–३ माशा।

१०९ वृद्धदारु (दोपातीलता)

सं०–वृद्धदारु, मर्यादवल्ली[1]। हि०–दोपातीलता, विधारा। बं०–छागलखुरी। म०–मर्यादवेल, मर्दावेल। गु०–मरजादवेल। क०, ता०–अडुंबु। ले०–*Ipomoea biloba, Forsk.* (आइपोमिआ बाइलोबा फॉर.)। Fam. Convolvulaceae (कन्वोल्व्युलेसी)।

यह भारतवर्ष के सभी भागों में, विशेषतया समुद्र के किनारे रेतीली भूमि में अधिक पाई जाती है।

इसकी लता–बहुवर्षायु तथा विस्तृत फैलने वाली होती है। काण्ड–रेती पर फैले हुये, नये रहने पर मांसल एवं जामुनी रंग के तथा पुराने होने पर रस्सी की तरह हो जाते हैं। पत्ते–मोटे १·५–२·५ इञ्च लंबे तथा प्रायः उससे अधिक चौड़े एवं अग्र से द्विविभक्त होने के कारण कचनार की तरह दिखलाई देते हैं। पत्ते बकरे के खुर सदृश दिखलाई देने के कारण इसे छागलखुरी कहते हैं। आधार की तरफ पत्ते स्फानवत् होते हैं तथा वहाँ दो बड़ी रंगीन ग्रंथियाँ होती हैं। पुष्प–बड़े तथा रक्ताभ जामुनी रंग के होते हैं। फल–आधा इञ्च बड़े, अंडाकार तथा चिकने होते हैं। बीज–मृदुरोमश होते हैं। मूल–बड़ा लंबा, काष्ठमय, मजबूत, ऐंठा हुआ, करीब ½ इञ्च मोटा तथा अनेक उपमूलों से युक्त रहता है। इसकी जड़ एवं पत्तों का चिकित्सा में व्यवहार करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके पञ्चांग में राल ७·२७%, अल्प मात्रा में उड़नशील तैल, बहुत लुआबदार पदार्थ तथा समुद्र के अनेक क्षार एवं स्नेहन पदार्थ रहते हैं। जड में गाढ़ा पीले रंग का दूध, पिष्ट पदार्थ एवं क्षाराभ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके पत्ते शोथहर, वेदनास्थापक, कासहर, एवं मूत्रजनक हैं। मूल अनन्तमूल की तरह रसायन है तथा इसका सुखाया हुआ स्वरस रेचक होता है।

(१) आमवात तथा संधिशोथ में इसकी जड़ देते हैं तथा पत्तों को पीसकर लेप करते हैं।

(२) जलोदर, उदरशूल तथा कास में इसका पत्र-स्वरस पिलाते हैं।

(३) शोथ, बद, जलशोथ, शिरःशूल एवं मोच आदि में पत्तों को पीस कर बांधते हैं।

मात्रा—पत्रस्वरस ½–१ तो०, शुष्कमूल ¼–½ तो०, सुखाया हुआ मूल स्वरस ५–६ र०।

११० वृद्धदारु

ले०–*Ipomoea petaloidea, Chois.* (आइपोमिआ पेटलॉइडिआ कॉय.)। Fam. Convolvulaceae (कन्वोल्व्युलेसी)।

इसकी लता बहुत विस्तृत तथा झाड़दार होती है। काण्ड–चिकना तथा उस पर २–४ उभरी हुई रेखायें अथवा पंख सदृश धारायें होती हैं। पत्ते–नीचे के लट्वाकार, प्रायः ७ इञ्च × ५·५ इञ्च बड़े, २-३ इञ्च के वृन्त से युक्त और ऊपर में लट्वाकार–प्रासवत् से प्रासवत्–आयताकार, १·५-३ इञ्च एवं चिकने तथा रक्ताभ एवं दृढ़ मध्यपर्शुक वाले होते हैं। पत्राग्र–द्विविभक्त या कुण्ठित रोमश होता है। पुष्प–न्यूनाधिक पीत (कभी-कभी श्वेत भी) होते हैं। फल–आधा इञ्च अंडाकार होता है। बीज–छोटे तथा सूक्ष्म लहरदार होते हैं।

इसके काण्ड एवं मूल के टुकड़े विधारा के नाम से प्रयोग में लाये जाते हैं।

---

१. मर्यादवल्लिका शीता ग्राहिणी सारिका गुरुः। पाककाले चोष्णा स्याद्वातला गर्भकारिणी॥ विसूचिकां च शूलं च वान्तिं चामं च नाशयेत्॥ (नि० र०)

अथ यवासो दुरालभा च। [जवासा-धमासा] तयोर्नामानि गुणांश्चाह

यासो यवासो दुःस्पर्शो धन्वयासः कुनाशकः। दुरालभा दुरालम्भा समुद्रान्ता च रोदिनी॥
गान्धारी कच्छुराऽनन्ता कषाया हरिविग्रहा। यासः स्वादुः सरस्तिक्तस्तुवरः शीतलो लघुः॥
कफमेदोमदभ्रान्तिपित्तासृक्कुष्ठकासजित्। तृष्णाविसर्पवातास्रवमिज्वरहरः स्मृतः ॥२१३॥
यवासस्य गुणैस्तुल्या बुधैरुक्ता दुरालभा ॥ २१४ ॥

'जवासा' और 'धमासा' के नाम तथा गुण—यास, यवास, दुःस्पर्श, धन्वयास और कुनाशक ये नाम 'जवासा' के हैं। दुरालभा, दुरालम्भा, समुद्रान्ता, रोदिनी, गान्धारी, कच्छुरा, अनन्ता, कषाया और हरिविग्रहा इतने नाम 'धमासा' के हैं। जवासा—मधुर, तिक्त और कषाय रसयुक्त, सारक, शीतवीर्य, लघु एवं कफ, मेद, मदरोग, भ्रान्ति, रक्तपित्त, कुष्ठ, कास, तृष्णा, विसर्प, वातरक्त, वमन और ज्वर को दूर करता है। धमासा-इसे पण्डितों ने 'जवासा' के समान गुणवाला बताया है। यवासा (जवासा) तथा दुरालभा (धमासा) ये दो भिन्न द्रव्य हैं। गुणों में समानता होने के कारण कहीं-कहीं एक दूसरे के स्थान में इनका प्रयोग हुआ है। धन्वयास (मरुभूमि में होने वाला यवास) यह दुरालभा का पर्याय अधिक उचित है॥ २११-२१४॥

१११ जवासा

हिं०, म०—जवासा, यवासा। बं० जवसा। गु०—जवासो। फा०—खारेशुतुर, शुतुरखार। अ०—अलगुल, हाज़। अं०—Arabian or Persian Manna Plant (अरेबियन या पर्शियन मन्नाप्लांट)। ले०—*Alhagi camelorum, Fisch.* (अल्हागी कॅमेलोरम् फिस्.)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह दक्षिण महाराष्ट्र, गुजरात, सिंध, बलूचिस्तान, पंजाब, उत्तरप्रदेश तथा राजपुताना में होता है। यह शुष्क ऊसर भूमि में या नदियों के किनारे पाया जाता है। ग्रीष्म में जब अन्य वनस्पतियाँ सूख जाती हैं तब यह हरा भरा रहता है।

इसके गुल्म—छोटे-छोटे १–२॥ हाथ ऊँचे, अनेक शाखाओं से युक्त कांटेदार होते हैं। पत्ते—छोटे-छोटे, चिकने, आयताकार, रोमश कुंठिताग्र तथा नीचे की ओर झुके हुए होते हैं। पत्रकोणों में सामान्य शाखाओं के अतिरिक्त प्रायः १½ इञ्च तक लम्बे कांटे होते हैं। फूल—वसन्त में लाल रंग के फूल १½ इञ्च लम्बी मंजरियों में आते हैं। फली—एक इन्च लम्बी, सीधी या टेढ़ी तथा मालाकार होती है।

यास शर्करा[1]—यवासा के क्षुप से एक प्रकार का निर्यास निकल कर कुछ रक्ताभ या भूरापन लिये सफेद रंग के दानों के रूप में जम जाता है उसे यूनानी में तुरंजबीन नाम से बहुत व्यवहार में लाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि यह फारस से संगृहीत होकर भारत में आती है। भारतीय पौधों से यह शर्करा प्राप्त होती है या नहीं इसकी जानकारी नहीं है। डल्हण ने 'यवासक्वाथघनीभावात्-शर्करा कृता यवासशर्करा' लिखा है अर्थात् इसके घनसत्त्व को वह यासशर्करा मानते हैं।

रासायनिक संगठन—इसकी शर्करा में कई प्रकार की शर्करा जैसे इक्षुशर्करा २६·४%, इतर शर्करा (Invert sugar, 11·6%) एवं मेलिझिटोज (Melizitose 4?·1%) पायी जाती है।

---

१. कषायमधुरा शीता सतिक्ता यासशर्करा। (च. सू. अ. २७)
यवासशर्करा मधुरकषाया तिक्तानुरसा श्लेष्महरा सरा च। (सु. सू. अ. ४५)

गुण और प्रयोग— यवासा-शीतवीर्य, कफघ्न, स्वेदजनन, मूत्रजनन, आनुलोमिक एवं पित्त-हर है। इसका उपयोग प्रतिश्याय, कास, श्वास, ज्वर, रक्तपित्त, भ्रम, तृषा एवं अर्श में किया जाता है। ऊँट को यह खाने को देते हैं।

(१) मुलेठी एवं जवासे का मिश्रित घन क्वाथ कफज विकारों की प्रारम्भिक अवस्थाओं में बहुत लाभदायक है। इनमें इसका क्वाथ पीने को देते हैं तथा इसके बाष्प से धूपन कराते हैं जिससे कफ ढीला हो कर निकलने लगता है। तमक श्वास में इसका धूम्रपान लाभदायक है।

(२) अर्श में इसके आन्तरिक प्रयोग के साथ इसके क्वाथ से धोते हैं या पंचांग का लेप करते हैं। आमवात में इससे सिद्ध तैल का बाह्य प्रयोग किया जाता है।

तुरंजबीन—यह कफहर, वृष्य, पित्तविरेचक एवं मृदु सारक है। बच्चों या मृदुकोष्ठ वालों के लिये सारक रूप में या अन्य सारक औषधियों की शक्ति बढ़ाने के लिये यह प्रयोग में लाया जाता है।

मात्रा—क्वाथ ४-८ तोला; घनसत्त्व ४-८ रत्ती, यासशर्करा १-३ माशा।

११२ धमासा

हि०-धमासा, हिंगुआ, धमहर। **बं०**-दुरालभा। **मा०-गु०**-धमासो। **म०**-धमासा। **पं०**-धमाह, धमाहा। **फा०**-बादा वर्द। **अ०**-शुकाई। **लै०**-*Fagonia arabica Linn.* (फैगोनिया अरेबिका लिन.)। Fam. Zygophyllaceae (झाइगोफाइलेसी)।

यह पंजाब, प० राजपुताना, दक्षिण, प० खानदेश, कछ, सिंध, बलूचिस्तान, वजीरिस्तान तथा पश्चिम में अफगानिस्तान तक पाया जाता है।

इसका **क्षुप**-फीके हरे रंग का अनेक शाखाओं वाला, छोटा फैला हुआ, १-३ फीट ऊँचा तथा तीक्ष्ण काँटेदार होता है। **पत्र**-विपरीत; पत्रक-१-३ इञ्च लम्बे, अखंड, रेखाकार दीर्घवृत्ताकार होते हैं। दो पत्र चार कांटे तथा एक पुष्प यह चक्राकार क्रम में एक साथ रहते हैं। **पुष्प**-पत्रकोण में फीके गुलाबी रंग के फूल आते हैं। **फल**-पांच खंड वाला तथा शीर्ष पर एक कांटा रहता है। घास के रंग के इसके टुकड़े बाजार में बिकते हैं। इसका स्वाद लुआबदार तथा जल में डालने पर ये चिपचिपे हो जाते हैं। इसके पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

गुण और प्रयोग—धमासा शीतवीर्य, ज्वरहर, कफहर, दाहप्रशमन, तृष्णानिग्रहण, मूत्रजनन, कोथप्रशमन, एवं व्रणरोपण है।

अर्श, दाह, वमन, भ्रम, प्रलाप, विषमज्वर एवं रक्तपित्त[1] में इसके हिम का प्रयोग करते हैं। मसूरिका के प्रतिबंधन के लिये भी इसे देते हैं।

(१) ज्वर में आधे से ४ तोला चूर्ण का हिम पिलाते हैं तथा इसी हिम से शरीर भी पोंछते हैं जिससे प्यास कम होती है तथा शरीर का दाह एवं कंडू कम होती है। कफज ज्वर में तथा गले और श्वसनसंस्थान के विकारों में इससे अच्छा लाभ होता है। इससे गले की खुश्की कम हो कर कफ निकलने लगता है। श्वास में धूम्रपान लाभदायक है। इसको ईख के रस के साथ उबाल कर अवलेह बनाते हैं जिसको गले तथा फुफ्फुसों के विकारों में अनुपान के रूप में प्रयोग करते हैं। इसकी गोली मुख में रखकर चूसते हैं।

(२) इसके क्वाथ से व्रण-प्रक्षालन करने से बिना पूय हुये व्रण जल्दी अच्छा होता है। मुख-पाक में इसके क्वाथ से गण्डूष करने से लाभ होता है।

मात्रा—½-१ तोला हिम बना कर।

---

१. अनन्ता संग्राहकरक्तपित्तप्रशमनानाम् (च० सू० अ० २५)

अथ मुण्डी महामुण्डी च । तयोर्नामगुणानाह

मुण्डी भिक्षुरपि प्रोक्ता श्रावणी च तपोधना ।
श्रवणाह्वा मुण्डतिका तथा श्रवणशीर्षका ॥ २१५ ॥
महाश्रावणिकाऽन्या तु सा स्मृता भूकदम्बिका ।
कदम्बपुष्पिका च स्यादव्यथाऽतितपस्विनी ॥ २१६ ॥
मुण्डतिका कटुः पाके वीर्योष्णा मधुरा लघुः ।
मेध्या गण्डापचीकृच्छ्रकृमियोन्यर्त्तिपाण्डुनुत् ॥ २१७ ॥
श्लीपदारुच्यपस्मारप्लीहमेदोगुदार्तिहृत् ।
महामुण्डी च तत्तुल्या गुणैरुक्ता महर्षिभिः ॥ २१८ ॥

मुण्डी तथा महामुण्डी के नाम व गुण—मुण्डी, भिक्षु, श्रावणी, तपोधना, श्रवणाह्वा, मुण्डतिका और श्रवणशीर्षका इतने नाम 'मुण्डी' के हैं। महामुण्डी के नाम-महाश्रावणिका, भूकदम्बिका, कदम्बपुष्पिका, अव्यथा और अतितपस्विनी ये सब हैं। मुण्डी-विपाक में कटु, स्वाद में मधुर रसयुक्त, उष्णवीर्य, लघु, मेधा के लिये हितकर एवं गलगण्ड, अपची, मूत्रकृच्छ्र, कृमिरोग, योनिरोग, पाण्डु, श्लीपद, अरुची, अपस्मार (मिर्गी), प्लीहा, मेदरोग तथा गुदा सम्बन्धी पीड़ा (अर्श) को दूर करने वाली होती है। महामुण्डी-इसे महर्षियों ने गुणों में 'मुण्डी' के समान ही बतलाया है ॥ २१५-२१८ ॥

११३ मुण्डी

हि०-मुण्डी, गोरखमुण्डी। बं०-मुरमुरिया, छागल नादी। म०-मुण्डी, बरस वोडी। गु०-गोरखमुण्डी, बोडीयोकल्हार। ते०-बोडे सोंर, बोडा तरपु। ता०-कोट्टक, कोट्टक करण्डई। मला०-मिरनगनी, अट्टकामनी। अ०-कमदर्युस्। फा०-रानदरूम्मी-तरख। ले०-*Sphaeranthus indicus Linn.* (स्फिरॅन्थस् इण्डिकस् लिन.)। Fam. Compositae (कॉम्पोझिटी)।

यह प्रसरजाति की वनौषधि भारतवर्ष के प्रायः सब गरम प्रान्तों में, हिमालय में कुमाऊं से सिकम ५००० फीट की ऊँचाई तक तथा आसाम, सिलहट एवं दक्षिण की ओर सिलोन तक पाई जाती है। जलाशयों के समीप जहाँ वर्षा का पानी इकट्ठा होकर शरद ऋतु में सूख गया हो, धान, जव, गेहूं, चने आदि के खेतों में, चैत्र, वैशाख के महीने में बहुलता से देखने में आती है।

यह प्रतिवर्ष वर्षा के बाद जाड़े के दिनों में उत्पन्न होती है और बरसात का पानी पड़ने पर सड़-गल कर नष्ट हो जाती है। इसका क्षुप-सुगन्धित, अनेक शाखाओं से युक्त एक फुट तक ऊँचा होता है किन्तु डाण्डयों के कोमल होने से प्रायः भूमि की ओर नत होकर प्रसररूप में १-२ फीट के घेरे में फैल जाता है। शाखायें-कोमल, किञ्चित रोमयुक्त तथा सपक्ष होती हैं। पत्ते-अवृन्त, आगे लट्वाकार या आगे प्रासवत्, दन्तुर, आधार की तरफ संकुचित होकर काण्ड सम्पृक्त, मृदुरोमश तथा १-२ इञ्च लम्बे होते हैं। मुण्डक-पत्राभिमुख, किरमिजीरंग के, विपमलिग, संयुक्त, ५-७५ इञ्च लम्बे, व्यूहाक्ष दीर्घित और अधःपत्रावलि के पत्र रेखाकार तथा तीक्ष्णाग्र होते हैं।

इसके पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

भेद—बंगाल तथा सिलहट की तरफ दलदल वाले स्थानों में स्फिरॅन्थस् अफ्रिकॅनस लिन S. africanus Linn.) नामक एक भेद पाया जाता है जिसमें काण्ड के ऊपर के पक्षों पर

रोम नहीं होते, पत्र १-३ इञ्च लम्बे, मुण्डक ¼-½ इञ्च तथा अधःपत्रावलि के पत्र बहुत छोटे तथा तीक्ष्ण नहीं होते।

दक्षिण में मैसूर, त्रावनकोर की तरफ धान के खेतों में एक भेद स्फिरॅन्थस् अमेरन्थॉइडिस् (S. amaranthoides) पाया जाता है जिसमें काण्ड कभी-कभी छोटी उंगली बराबर मोटा किन्तु छोटा, शाखायें-८-१२ इञ्च, पत्ते-२-४ इञ्च लम्बे तथा मुण्डक ½-१ इञ्च बड़े होते हैं। संभवतः यह दूसरा भेद, महामुण्डी हो सकता है।

रासायनिक संगठन—इसमें स्फेरेन्थाईन (Sphaeranthine) नामक एक कडुवा क्षाराभ तथा ताजे पुष्पित पौधे में ·०२२% एक उड़नशील तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—मुंडी दीपन, मूत्रजनन, आनुलोमिक, रक्तशोधक, रसायन, बल्य एवं कृमिघ्न है। इसकी जड़ एवं बीज कृमिघ्न हैं। पुष्प-रसायन, शीतल तथा बल्य हैं। फल या पंचांग मछलियों के लिये विषैला है। इसमें का तैल त्वचा एवं मूत्र द्वारा उत्सर्गित होता है।

(१) मूत्रेन्द्रिय विकार में इससे लाभ होता है। सम्पूर्ण मूत्र मार्ग का शोधन होकर बार-बार पेशाब होना कम होता है। परमा तथा जीर्ण अष्ठीला शोथ (Chronic Prostatitis) में इससे लाभ होता है। इसमें इसका अर्क भी देते हैं।

(२) त्वचा के रोगों में इसका लेप करते हैं तथा इसके क्वाथ को पिलाते हैं। वातरक्त में इसका चूर्ण मधु एवं घृत के साथ देते हैं तथा अनुपान में गुडूची क्वाथ पिलाते हैं। गात्र दौर्गन्ध्य में मुण्डीचूर्ण कांजी के साथ देते हैं। बार-बार फोड़े फुन्सी होने में इससे लाभ होता है।

(३) ग्रंथि, गण्डमाला, अपची, दौर्बल्य, श्लीपद, अर्श आदि जीर्ण रोगों में इसको अधिक देने से लाभ होता है। इनमें इसका स्वरस पिलाते हैं।

मात्रा—पुष्प चूर्ण १-२ माशा; स्वरस १-२ तोला।

अथापामार्गः [चिरचिरा]। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

अपामार्गस्तु शिखरी ह्यधःशल्यो मयूरकः।
मर्कटी दुर्ग्रहा चापि किणिही खरमञ्जरी॥ २१९॥
अपामार्गः सरस्तीक्ष्णो दीपनस्तिक्तकः कटुः। पाचनो रोचनश्छर्दिकफमेदोऽनिलापहः।
निहन्ति हृद्रुजाध्मानार्शःकण्डूशूलोदरापचीः॥ २२०॥

'चिरचिरा' के नाम तथा गुण—अपामार्ग, शिखरी, अधःशल्य, मयूरक, मर्कटी, दुर्ग्रहा, किणिही, खरमञ्जरी इतने नाम 'चिरचिरा' के हैं। **चिरचिरा**-तिक्त तथा कटु रसयुक्त, सारक, तीक्ष्ण, अग्निदीपक, पाचक, रोचक (भोजन में रुचि उत्पन्न करनेवाला) एवं वमन, कफ, मेद, वायु, हृद्रोग, आध्मान (अफरा), अर्श, कण्डु, शूल, उदररोग और अपची को दूर करता है॥

२१४ चिरचिरा।

हि०-लटजीरा, चिचिरी, चिरचिरा, चिचड़ा। म०-आघाड़ा। बं०-आपांग। गु०-अघेड़ो। क०-उत्तरणी। ते०-अपामार्गमु। मा०-आंधी झाड़ो, ओंगा। ता०-नायु रुवि। मला०-वलियकटलाट। फा०-खारवाझ गूनह। अ०-अत्कुमह। अं०-The Prickly-Chaff Flower (दी प्रिक्ली-चॅफ फ्लावर)। ले०-*Achyranthes aspera, Linn.* (एचिरेन्थिस् एस्पेरा लिन.)। Fam. Amaranthaceae (एमेरेन्थेसी)।

यह शहर या गाँव के बाहर बागों या जंगलों में बिना बोए ही उत्पन्न होता है। यह प्रायः भारतवर्ष के सब प्रान्तों में ३००० फीट तक पाया जाता है। इसका क्षुप–स्वावलंबी, १–३ फीट ऊँचा तथा शाखायें कुछ आरोहणशील एवं पर्वों के ऊपर मोटी होती हैं। पत्ते–चौलाई के पत्तों की तरह कुछ गोल, अंडाकार, नोकीले एवं १–५ इञ्च लंबे होते हैं। इसके पत्तों और कांड पर बहुत सूक्ष्म सफेद-सफेद रोम होते हैं। पुष्पदंड लगभग डेढ़ फुट तक लम्बा होता है उस पर कुछ लाल गुलाबी पीलापन लिये हुए फूल निकलते हैं। उसी दंड पर कांटेदार छोटे-छोटे फल उल्टे लगते हैं। ये कांटेदार फल कपड़े पर चिपट जाते हैं इसलिए कहीं-कहीं इसे 'कुत्ता' नाम से भी पुकारते हैं। जब फल पक जाते हैं तो इनके अन्दर से चावल निकलते हैं। इसके मूल, बीज, पत्र एवं पंचांगक्षार का चिकित्सा में प्रयोग करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके पत्र में २४, शाखाओं में ८ तथा मूल में ८½% राख रहती है। इसमें यवक्षार बहुत पाया जाता है जो पत्तों में २१½, शाखाओं में ३८ तथा मूल में २८½% रहता है। इसके अतिरिक्त चूना, सोराखार, नमक, लौह तथा गन्धक आदि अन्य द्रव्य इसमें पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—अपामार्ग, उष्ण, तिक्त, कटु, तीक्ष्ण, दीपन, पाचन, पित्तविरेचक, वामक, मूत्रजनन, कफघ्न, विषघ्न, कृमिघ्न, अम्लतानाशक एवं शिरोविरेचन (बीज) है।

इसका प्रयोग कफ, मेद, वात, अर्श, आनाह, शूल, जलोदर, शोफ, अपची, व्रण, त्वचा के विकार, कुष्ठ एवं सर्पादि के विष में करते हैं।

(१) कुपचन, आमाशय की शिथिलता, पीड़ा एवं हृल्लास में अपामार्ग, अन्य कडुवे पदार्थों के साथ भोजन के पूर्व देते हैं जिससे पाचक रस की वृद्धि होती है तथा शूल कम होता है। भोजनोपरांत देने से अम्लता कम होती है तथा श्लेष्मा का विलयन होता है। इसमें भोजन के २–३ घण्टे बाद गरम-गरम क्वाथ देते हैं। इसका यकृत पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है। इससे पित्तवाहिनी नलिका का शोथ कम होकर पित्तस्राव उचित होता है। पित्ताश्मरी तथा अर्श में इससे अच्छा लाभ होता है। अर्श में इसकी जड़ को तण्डुलोदक के साथ पीसकर मधु मिलाकर देते हैं। रक्तार्श में बीज का लेप भी उपयोगी होता है।

(२) मूत्रेन्द्रिय विकारों में इसके साथ मुलेठी, गोखरू तथा पाठा का उपयोग करते हैं। वृक्कजन्य जलोदर में इससे लाभ होता है। इससे मूत्र की अम्लता कम होने से तथा इसका दाहशामक प्रभाव होने के कारण परमा, बस्तिशोथ, वृक्कशोथ तथा अश्मरी में इसको देते हैं। अश्मरी में इसका क्षार भेड़ के मूत्र के साथ दिया जाता है।

(३) जीर्ण कफ विकारों में इसका क्षार बहुत ही लाभदायक होता है। इससे गाढ़ा कफ पतला होकर निकलने लगता है। इसमें चतुःषष्टि पिप्पली, अतीस, कुपीलु, घृत एवं मधु के साथ अपामार्गक्षार दिया जाता है।

(४) सर्पविष, वृश्चिकदंश, मूषिक विष तथा पागल कुत्ते के काटने पर इसका उपयोग करते हैं। इनमें मूल, पंचांग या बीज का लेप तथा मूल पीसकर पिलाते हैं।

(५) आँख की फूली में इसकी जड़ को मधु के साथ पीसकर अंजन कराते हैं। दन्तशूल में पत्रस्वरस मसूढ़ों पर मलते हैं तथा दाँतों के गढ़ों में क्षार भरते हैं। इससे दतुअन करने से लाभ होता है। बाधिर्य, कर्णशूल तथा कर्ण नाद में इससे सिद्ध तैल कान में डालते हैं। सन्धिशोथ में पत्ते

को पीसपर गरमकर बाँधते हैं। इसके पंचांग के क्वाथ से स्नान कराने से कण्डू दूर होती है। सद्यः क्षत में खून रोकने के लिये इसका पत्रस्वरस लगाते हैं।

मात्रा—मूल तथा बीज ½–१ तोला; क्षार ४–८ रत्ती; मूल क्वाथ १½–५ तोला।

अथ रक्तापामार्गः [लाल चिरचिरा]। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

रक्तोऽन्यो वशिरो वृत्तफलो धामार्गवोऽपि च।
प्रत्यक्पर्णी केशपर्णी कथिता कपिपिप्पली॥ २२१॥
अपामार्गोऽरुणो वातविष्टम्भी कफहृद्धिमः। रूक्षः पूर्वगुणैर्न्यूनः कथितो गुणवेदिभिः॥

'लाल चिरचिरा' के नाम तथा गुण—दूसरा जो 'लाल चिरचिरा' है उसके नाम—वशिर, वृत्तफल, धामार्गव, प्रत्यक्पर्णी, केशपर्णी, कपिपिप्पली ये सब हैं। लाल चिरचिरा-वायु को स्तब्ध करने वाला, कफनाशक, शीतवीर्य तथा रूक्ष होता है। इसे द्रव्यगुण के जानने वालों ने उपर्युक्त चिरचिरा के गुणों से न्यून गुणवाला बताया है॥ २२१–२२२॥

११५ लाल चिरचिरा

हि०—लाल ओंगा; लाल चिरचिरा। बं०—रक्तापांग। म०—तांबड़ा आघाड़ा, लाल आगाड़ा। गु०—रातो अघेड़ो।

लाल चिरचिरे का क्षुप उक्त (सफेद) चिरचिरे के समान ही होता है। पत्ते इत्यादि भी एक ही समान होते हैं। परन्तु पत्ते पर लाल धब्बे होते हैं और काण्ड पर भी कुछ ललाई होती है। इसके पत्ते सफेद की अपेक्षा कुछ मोटे और बड़े होते हैं और बीज कुछ पतले होते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से इसकी एक अन्य जाति (Species), ए. बाइडेन्टेटा ब्लूम (A. bidentata Blume) का उल्लेख मिलता है किन्तु वह रक्त भेद ही है ऐसा नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वानों ने एक भेद (Variety), ए. रुब्रो. फुस्का (A. rubro-fusca) का उल्लेख किया है।

अथापामार्गफलगुणानाह

अपामार्गफलं स्वादु रसे पाके च दुर्जरम्। विष्टम्भि वातलं रूक्षं रक्तपित्तप्रसादनम्॥

'चिरचिरा' के फल का गुण—यह रस तथा विपाक में मधुर रस युक्त, दुर्जर (जल्दी हजम नहीं होने वाला), विष्टब्धताकारक, वातजनक, रूक्ष तथा रक्तपित्त को दूर करने वाला होता है॥ २२३॥

अथ कोकिलाक्षः (तालमखाना)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कोकिलाक्षस्तु काकेक्षुरिक्षुरः क्षुरकः क्षुरः। भिक्षुः काण्डेक्षुरप्युक्त इक्षुगन्धेक्षुवालिका॥
क्षुरकः शीतलो वृष्यः स्वाद्वम्लः पिच्छिलस्तथा।
तिक्तो वातामशोथाश्मतृष्णादृष्ट्यनिलास्रजित्॥ २२५॥

'तालमखाना' के नाम और गुण—कोकिलाक्ष, काकेक्षु, इक्षुर, क्षुरक, क्षुर, भिक्षु, काण्डेक्षु, इक्षुगन्धा और इक्षुवालिका ये सब नाम तालमखाना के हैं। तालमखाना—शीतवीर्य, वृष्य, मधुर,

अम्ल तथा तिक्त रसयुक्त, पिच्छिल एवं वात, आम, शोथ, अश्मरी (पथरी), तृषा, दृष्टि रोग और वातरक्त को दूर करने वाला होता है ॥ २२४–२२५ ॥

११६ तालमखाना

हि०-तालमखाना । बं०-कुलियाखारा, कुलेखाड़ा । गु०-एखरो । म०-तालीखाना, कोल सुन्दा । ते०-गोलिमिडि केट्टु, निर्गुंविवेरु । क०-कुलुगोलिके, वलिकेल । ता०-निरमुल्ली । ले०-*Hygrophila spinosa, T. And.* (हाइग्रोफिला स्पाइनोसा) । Syn. Asteracantha longifolia Nees (एस्टेराकेन्था लाँगिफोलिआ नीज)। Fam. Acanthaceae (एकेन्थेसी) ।

तालमखाना-क्षुपजाति की वनस्पति प्रायः समस्त भारत में ताल, तलैया में जल के निकट उत्पन्न होती है। इसके छोटे छोटे क्षुप-गूमा के समान पर गूमा से बड़े, गठीले और कहीं कहीं २-२½ हाथ तक ऊँचे देखे जाते हैं। गाँठों के चारों ओर प्रायः १ इञ्च लम्बे पीले रङ्ग के तीक्ष्ण काँटे होते हैं, जो प्रायः ६-६ की सख्या में चक्रिक क्रम से निकले रहते हैं। पत्ते-अवृन्त, गांठों पर चक्रिक क्रम में ६ की संख्या में जिनमें से बाहरी दो पत्ते अधिक लम्बे (७" × ०.९"), आयताकार-भालाकार या अभिभालाकार तथा भीतरी ४ पत्ते १½ इञ्च लंबे होते हैं। पुष्प-गांठों पर समूहबद्ध होकर ४ जोड़े में नीले बैंगनी रङ्ग के करीब १½ इञ्च लम्बे तथा द्वयोष्ठ होते हैं। फल-पतला, चिपटा ८ मि० मि० लंबा, रेखाकार, आयताकार नुकीला तथा ४-८ बीजों से युक्त होता है। बीज-छोटे रक्ताभ और रोमश होते हैं। बीजों को जल में भिगाने से लुआब बनता है।

इसके बीज, मूल, पत्र एवं पंचांग के क्षार का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में २३% एक पीले रङ्ग का स्थिर तैल पाया जाता है। इसके अतिरिक्त डायास्टेस (Diastase), लाइपेस (Lipase) एवं प्रोटिएस (Protease) ये द्रव्य भी इसमें होते हैं।

गुण और प्रयोग—यह शीतल, मूत्रजनन, मधुर, स्निग्ध, शुक्रशोधन, स्तन्यजनन, संतर्पण, बल्य एवं वृष्य हैं। इसकी जड़ तथा बीजों में विशेष रूप से मूत्रल गुण है। बीजों में रहने वाले पोटाशियम् के लवण एवं पिच्छिल द्रव्य के कारण इसका मूत्रल प्रभाव पड़ता है।

इसका उपयोग जलोदर, यकृतोदर, शोथ, मूत्रकृच्छ्र, परमा, बस्तिशोथ कामला, वातरक्त, एवं जननेन्द्रिय-विकारों में किया जाता है। यकृत में अवरोध उत्पन्न होने के कारण उत्पन्न शोथ में इससे लाभ होता है।

(१) परमा तथा बस्तिशोथ में इसके मूल का क्वाथ देते हैं जिससे मूत्र की वृद्धि होती है तथा वेदना कम होती है। इसमें बीजों को भी दूध के साथ दिया जाता है।

(२) यकृतोदर में मूल का क्वाथ या पञ्चांग की राख देते हैं।

(३) शोथ में भी इसकी राख गोमूत्र या जल के साथ देते हैं।

(४) वाजीकरण के लिये केवाँच एवं इसके बीजों का शर्करायुक्त चूर्ण धारोष्ण दुग्ध के साथ देते हैं।

(५) कास में पत्ते उपयोगी होते हैं तथा सन्धि-पीड़ा एवं परमा में इसका लेप किया जाता है।

27 **मात्रा**—मूलक्वाथ ४ तो०; बीजचूर्ण २-४ माशा; क्षार २-५ र०; भस्म १-२ माशा।

अथास्थिसंहारः (हड़संहारी)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

ग्रन्थिमानस्थिसंहारीवज्राङ्गीवाऽस्थिशृङ्खला। अस्थिसंहारकः प्रोक्तोवातश्लेष्महरोऽस्थियुक्॥
उष्णः सरः कृमिघ्नश्चदुर्नामघ्नोऽक्षिरोगजित्। रूक्षः स्वादुर्लघुर्वृष्यः पाचनः पित्तलः स्मृतः॥

हड़संघारी के नाम व गुण—ग्रन्थिमान्, अस्थिसंहारी, वज्राङ्गी, अस्थिशृंखला, ये सब हड़संघारी के नाम हैं। हड़संघारी—वात-कफनाशक, टूटी हुई हड्डियों को जोड़नेवाली, उष्णवीर्य, सारक तथा कृमि, अर्श (बवासीर) और नेत्र रोग को दूर करने वाली, रूक्ष, स्वादिष्ट, लघु, वृष्य, पाचक और पित्तजनक होती है ॥ २२६–२२७ ॥

अथ तद्वटिकाया निर्माणविधिं गुणांश्चाह

काण्डं त्वग्विरहितमस्थिशृङ्खलाया-माषार्द्धद्विदलमकञ्चुकं तदर्द्धम्।
संपिष्टं सुतनु ततस्तिलस्य तैले-संपक्वं वटकमतीव वातहारि ॥ २२८ ॥

इसकी वटिका बनाने की विधि तथा गुण—हड़संघारी के टुकड़ों के छिलके को दूर कर उसमें छिल्का अलग की हुई उरद के दाल को आधा परिमाण मिलाकर पीसने के बाद टिकिया बनाकर तिल के तेल में पका डाले, यह टिकिया वात को हरण करने वाली होती है ॥ २२८ ॥

११७ हड़संघारी

हि०-हड़जोड़, हड़संघारी, हड़जोड़ी, हड़जोरवा। बं०-हाड़भांगा, हाड़जोड़ा। गु०-हाड़ साँकल। म०-कांडवेल। क०-मंगरवल्ली। ते०-नाल्लेरु, नुल्लेरोत्तिगे। ता०-पेरंडै। ले०-*Vitis quadrangularis, Wall.* (वाइटिस् कॉड्रॅन्ग्युलेरिस्, वाल.); Syn. Cissus quadrangularis, Linn. (सिसस् कॉड्रॅन्ग्युलेरिस्, लिन.)। Fam. Vitaceae (वाइटेसी)।

हड़जोड़ी—लता जाति की वनौषधि प्रायः गरम प्रदेशों में अधिक होती है। यह वाटिकाओं आदि में लगाई हुई अधिक पायी जाती है।

जिस प्रकार लतायें वृक्षों की डालियों से लिपटती हुई फैलती हैं उस प्रकार यह नहीं बढ़ती पर वृक्षों का सहारा ले उस पर चढ़ती और लटकती रहती हैं। काण्ड–चौपहल, हरा, बीच-बीच में सन्धियों से युक्त एवं मांसल होता है। संधियों पर सूत्र होते हैं और नवीन काण्ड संधियों पर तन्तुओं के विपरीत दिशा में पत्र होते हैं। पत्र-एकान्तर, छोटे वृन्तवाले, हृदय चौड़े, १–२ इंच बड़े, मोटे, दन्तुर, उपपत्रयुक्त एवं संख्या में अल्प रहते हैं। पुष्प-छोटे तथा हरित-श्वेतवर्ण के आते हैं। फल-गोल, करीब ६ मि० मि० बड़े, पकने पर लाल तथा एक बीजयुक्त होते हैं। बीज-हलके भूरे रंग के, ५ मि० मि० बड़े तथा चिकने होते हैं। दक्षिण की तरफ कोमल काण्ड एवं पत्तों का साग बना कर खाते हैं। काण्ड तोड़ने पर बहुत रस निकलता है। इसके काण्ड एवं पत्तों का उपयोग चिकित्सा में किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें कॅल्शियम् ऑक्जॅलेट् (Calcium oxalate) एवं १०० ग्राम ताजे पौधे में २६७ मि० ग्रा० कॅरोटीन (Carotene); १०० ग्रा० कोमल काण्ड में ३९८ मि० ग्रा०, नीचे के भाग में २३२ मि० ग्रा० तथा ताजे स्वरस में ४७९ मि० ग्राम विटामिन सी (Vitamin C) की मात्रा पाई जाती है।

गुण और प्रयोग—यह रूक्ष, वात-कफशामक, रक्तशोधक, दीपन, पाचन, अर्शोघ्न, वृष्य, सन्धानीय एवं रक्तसंग्राहक है।

इसका प्रयोग अस्थिभंग, पाचनविकार, स्कर्वी (Scurvy), आर्तवविकार, तमकश्वास एवं रक्तदोष में किया जाता है।

(१) कुपचन में कोमल काण्ड एवं पत्तों का शाक खिलाते हैं या इनको बन्द पात्र में जलाकर उसकी राख खिलाते हैं।

(२) आर्तव की अधिकता में इसका स्वरस, गोपीचन्दन, घृत एवं मधु खिलाते हैं।

(३) तमकश्वास में काण्ड को पीसकर देते हैं।

(४) अस्थिभंग में इसका बाह्याभ्यन्तर प्रयोग किया जाता है।

(५) कर्णस्राव एवं नासा से रक्तस्राव होने पर इसका स्वरस डालते हैं।

मात्रा—स्वरस १ से २ तोला।

अथ कुमारी (घीकुआँर)। तस्या नामगुणानाह

कुमारी गृहकन्या च कन्या घृतकुमारिका। कुमारी भेदनी शीता तिक्ता नेत्र्या रसायनी॥
मधुरा बृंहणी बल्या वृष्या वातविषप्रणुत्। गुल्मप्लीहयकृद्वृद्धिकफज्वरहरी हरेत्॥
ग्रन्थ्यग्निदग्धविस्फोटपित्तरक्तत्वगामयान्॥ २३०॥

'घीकुआर' के नाम तथा गुण—कुमारी, गृहकन्या, कन्या और घृतकुमारिका ये नाम 'घीकुआर' के हैं। घीकुआर—मल को भेदन करने वाली, शीतल, तिक्त तथा मधुर रसयुक्त, नेत्रों के लिये हितकर, रसायन, बृंहण, बलकारक, वृष्य एवं वात, विष, गुल्म, प्लीहा, यकृत की वृद्धि, कफज्वर, ग्रन्थि, अग्निदग्ध (आग से जलजाना), विस्फोटक, पित्त, रक्तविकार और चर्मरोग को नाश करने वाली होती है॥ २२९-२३०॥

११८ घीकुआँर

हि०-घीकुआँर, ग्वार पाठा, घीग्वार, कारपाठी। बं०-घृतकुमारी। म०-कोरफड, कोरकांड। गु०-कुंवार। क०-लोलिसर। ते०-कलबन्द। ता०-कत्तालै। फा०-दरखते सिब्र। अ०-तसब्बार अलसी। ले०-*Aloe barbadensis, Mill.* (एलो बार्बाडेन्सिस् मिल.)। Syn. A. vera Tourn. ex Linn. (एलो वेरा)। Fam. Liliaceae (लिलिएसी)।

कुमारीसार—ऐलेयक, कृष्ण बोल। हि०-एलुआ, एलुवा, मुसब्बर। म०-कालाबोल, एलिया। बं०-मोषब्बर। गु०-एलियो। फा०-शबयार। अ०-सिब्र। अं०-Common Indian Aloe (कॉमन् इण्डियन् एलो); Curacao Aloe (क्युराकाओ एलो); Barbados Aloe (बार्बाडोस् एलो)। Musabbar (मुसब्बर)।

यह भारतवर्ष में प्रायः सर्वत्र होती है। इसका क्षुप-छोटा, बहुवर्षायु, मांसल एवं १ से २ फीट ऊँचा होता है। पत्ते-मांसल, मोटे, हरे, भालाकार, सीधे फैले हुये, कुछ नतोदर, १ से २ फीट लम्बे ४ इञ्च तक चौड़े एवं दन्तुर होते हैं। इनके भीतर घी के समान पीताभ गूदा रहता है। पुष्प-पत्तों के बीच से लम्बा पुष्पदण्ड निकलता हैं जिसमें रक्ताभ पीत पुष्प आते हैं।

भारतवर्ष में इसके २-३ भेद (Varieties) पाये जाते हैं। दक्षिण एवं मध्यप्रदेश में होने वाले के पत्ते आधार की तरफ नीलारुण रंग के एवं उनके कांटे कम दृढ़ होते हैं। मद्रास से रामेश्वरम् तक समुद्री किनारे पर होने वाले क्षुप छोटे तथा उनके दांत सामान्य दन्तुर (Dentate) होते हैं। काठियावाड के किनारे होने वाले क्षुप से जाफराबादी मुसब्बर प्राप्त किया जाता है। इसे गलती से कुछ लोगों ने ए० अबीसीनिया कहा है।

इसके पत्तों को काटने से एक पीले रंग का पिच्छिल रस निकलता है जिसे संग्रह करके गाढ़ा कर लेते हैं। शीत होने पर यह जम जाता है जिसे एलुआ कहते हैं। विभिन्न स्थानों से प्राप्त घीकुवार तथा गाढ़ा बनाने की भिन्न विधि के परिणामस्वरूप यह कई प्रकार का मिलता है। यदि सूर्यताप से या हलकी आंच पर रस गरम करके बनाया जाता है तो यह कुछ चिकना तथा अपारदर्शक बनता है जिसे यकृताभ (Hepatic) एलुवा कहते हैं। किन्तु यदि रस को तीव्र अग्नि पर जल्दी से गाढ़ा करते हैं तो यह कुछ पारदर्शक बनता है जिसे ग्लासी या विट्रिअस (Glassy or vitreous) एलो कहते हैं। इसमें एक प्रकार की विशिष्ट गंध आती है तथा इसका स्वाद कड़ुआ एवं हृल्लासकारक होता है।

एलुआ के भेद—ब्रिटिशफार्माकोपिआ में चार प्रकार का एलुआ राजमान्य है।

(१) Curacao or Barbados aloes (क्यूराकाओ या बार्बाडोस् एलो)—यह चाकलेटी बादामी रङ्ग का होता है जो इसके भेद Var. officinalis (ऑफिसिनॅलिस्) से बनाते हैं।

(२) Socotrine aloes (सोकोट्राइन एलो)—यह A. perryi (ए० पेरी) से प्राप्त होता है तथा इसका रंग पीताभ या कृष्णाभ बादामी होता है।

(३) Zangibar aloes (जंजिबार एलो)—यह भी ए० पेरी से प्राप्त किया जाता है किन्तु इसका वर्ण यकृताभ बादामी होता है।

(४) Cape aloes (केप एलो)—यह A. ferox (ए० फेरॉक्स) से प्राप्त करते हैं तथा इसका वर्ण गहरा बादामी या हरिताभ बादामी रहता है। इन चार में से यही लाल स्वरूप का होता है।

इनके अतिरिक्त केप एलो सदृश नेटाल एलो, अरबी कोका-एलो एवं जाफर बादी एलो आदि भेद भी पाये जाते हैं।

परीक्षा एवं प्रमाण—इसमें काला कत्था, पत्थर या लोहा आदि की मिलावट करते हैं। मद्यसारीय घोल की नील लोहितातीत प्रकाश में परीक्षा करने पर इसके घोल का वर्ण गहरा बादामी एवं कत्थे सा काला दिखाई देता है। एलुआ में आर्द्रता ११% से कम, राख ४% से कम, मद्यसार में अविलेय भाग १०% से कम एवं जल में विलेय भाग ५०% से अधिक होता है। शोरे के तेजाब में इसका चूर्ण डालने से बादामी या रक्ताभ बादामी घोल बनता है तथा फेन निकलता है।

रासायनिक संगठन—एलुआ में एलोइन (Aloin) नामक एक कार्यकारी तत्त्व रहता है जो कई ग्लुकोसाइड का मिश्रण है। एलोइन की मात्रा पहले में ३०%, दूसरे तथा तीसरे भेद में उससे कम एवं चौथे में १०% रहती है। एलोइन का मुख्य भाग Berbaloin (बार्बालोइन) नामक हलका पीला ग्लुकोसाइड है जो जल में विलेय होता है। इनके अतिरिक्त Isobarbaloin (आइसोबार्बालोइन) जो केवल क्युराकाओ एलो में रहता है एवं B barbaloin (बिटा बार्बालोइन), Aloe-emodin (एलो एमोडिन), राल तथा जल में घुलनशील कुछ पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण एवं प्रयोग—घीकुऑर तिक्त, मधुर, शीतवीर्य, भेदन, दीपन, पाचन, बल्य, शोथहर, व्रणरोपण, नेत्र्य एवं शोणितास्थापन है।

एलुआ भेदन, उष्ण, तीक्ष्ण, आर्तवजनन एवं कृमिघ्न है। अल्पमात्रा में यह दीपन-पाचन, तिक्त एवं बल्य है। इससे यकृत् की क्रिया में सुधार होकर अन्न का सात्म्यीकरण ठीक होता है। अधिक मात्रा (१–२ रत्ती) से पेट में मरोड़ होकर १०–१२ घंटे में विरेचन होता है। इसका

प्रभाव बड़ी आंत पर होता है, जिससे कटिस्थ अंगों जैसे गर्भाशय, गुदा तथा अन्य अवयवों में रक्ताधिक्य होता है।

(१) विरेचक गुण के कारण विबन्ध में इसका प्रयोग अन्य वातानुलोमक एवं उद्वेष्टन निरोधी औषधियों के साथ करते हैं। गर्भिणी या स्तनपान कराने वाली स्त्रियों में इसका प्रयोग नहीं करते। बाजार में बिकने वाली अनेक विरेचक औषधियों में यह रहता है। घीकुआँर के रस का भी सैन्धव एवं हरिद्रा के साथ विबन्ध, गुल्म, पांडु, पाचनविकार तथा यकृत् प्लीहा रोगों में उपयोग करते हैं।

(२) स्त्रियों के विकार जैसे अनार्तव, पांडु, विबंध में इसको देने से लाभ होता है।

(३) इसके स्वरस का बाह्य लेप स्तनशोथ, नेत्राभिष्यन्द, चर्मविकार, अर्श एवं व्रण में हरिद्रा के साथ करने से शोथ एवं दाह कम होता है। सूत्रकृमि में एलुवा की वस्ति देते हैं।

मात्रा—स्वरस १-२ तोला; एलुवा १-२ रत्ती।

पुनर्नवा

पुनर्नवा के दो भेद-रक्त एवं श्वेत, निघण्टुओं में मिलते हैं। रा. नि. में एक नील भेद भी लिखा है, जो दिखलाई नहीं देता। दो भिन्न वर्गों की दो वनस्पतियाँ Boerhaavia diffusa (बोएर्हेविया डिफ्यूजा) एवं Trianthema portulacastrum (ट्राएन्थेमा पोर्टुलेकॅस्ट्रम्-पथरी) का उपयोग पुनर्नवा के नाम से हो रहा है। इनमें से प्रथम को अधिकांश विद्वानों ने रक्त-पुनर्नवा माना है जो उचित नहीं है। वास्तव में प्रथम में ही रक्तपुष्प एवं श्वेतपुष्प के भेद से दो भेद पाये जाते हैं तथा द्वितीय में भी श्वेतपुष्प एवं रक्तपुष्प भेद देखे जाते हैं। ऐसी स्थिति में केवल बोएर्हेविया को रक्त पुनर्नवा एवं ट्राएन्थिमा (पथरी) को श्वेतपुनर्नवा मानना उचित नहीं है। रा. नि. में पुनर्नवा के भेदों के अतिरिक्त वर्षाभू एवं वशुक[1] नामों से दो अलग वनस्पतियों का उल्लेख किया गया है। पुनर्नवा के पर्यायों में क्षुद्रवर्षाभू यह पर्याय आया हुआ है। श्री ठा० बलवन्त सिंह जी पुनर्नवा और वर्षाभू दो भिन्न वनस्पतियाँ मानते हैं न कि पर्याय। इस सम्बन्ध में 'बिहार की वनस्पतियाँ' नामक पुस्तक में वे लिखते हैं—

'मेरे मत से पुनर्नवा और वर्षाभू दो सर्वथा भिन्न वनस्पतियाँ हैं परन्तु दोनों के रूप और गुणों में बहुत कुछ साम्य होने से निघण्टुकारों ने दोनों में बहुत गड़बड़ कर दिया है। अनेक स्थान के वैद्य आज भी इसे ही (ट्राएन्थिमा) पुनर्नवा और कुछ इसे केवल श्वेतपुनर्नवा मानते हैं। स्मरण रखना चाहिये कि श्वेत और रक्त भेद पुनर्नवा और वर्षाभू दोनों में ही होते हैं। अतः रक्तपुनर्नवा और श्वेतपुनर्नवा Boerhaavia (बोएर्हेविया) जातियों को और रक्तवर्षाभू तथा श्वेतवर्षाभू Trianthema (ट्राएन्थेमा-पथरी) की जातियों को कहना चाहिये। वर्षाभू की ही किसी जाति को वशुक-मानना चाहिये।'

उपर्युक्त स्पष्टीकरण के आधार पर The Wealth of India (Raw Materials) Vol I नामक पुस्तक में उल्लिखित श्री चक्रवर्ती का यह मत कि B. diffusa को रक्तपुनर्नवा एवं T. portulacastrum को श्वेत पुनर्नवा मानना चाहिये उचित नहीं मालूम पड़ता। दोनों वनस्पतियों में गुणों में कुछ समता पाई जाती है जिस कारण संभव है निघण्टुकारों ने दोनों नामों को पर्याय में दिया हो। निघण्टुकारों ने वर्ण के आधार पर श्वेत एवं रक्त के गुण अलग लिखे हैं या इन दो उपर्युक्त भेदों के अलग-अलग गुण दिये हैं यह कहना कठिन है।

१. वर्षाभूवशुकौ वर्णकफमान्द्यानिलापहौ। शाके रूक्षतरौ गुल्मप्लीहशूलापहारकौ॥

वर्षाभू (पथरी) केवल बरसात में उगती है तथा शीतकाल तक सूख जाती है इसी कारण इसे वर्षाभू कहा गया है। पुनर्नवा यद्यपि वर्षाकाल में अधिक होती है तथापि अन्य ऋतुओं में भी मिलती हैं। यहाँ पर दोनों का अलग-अलग वर्णन किया गया है।

अथ श्वेतपुनर्नवा। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

पुनर्नवा श्वेतमूला शोथघ्नी दीर्घपत्रिका। कटुः कषायानुरसा पाण्डुघ्नी दीपनी परा।
शोफानिलगरश्लेष्महरी ब्रध्नोदरप्रणुत्॥ २३१॥

सफेद पुनर्नवा के नाम और गुण—पुनर्नवा, श्वेतमूला, शोथघ्नी और दीर्घपत्रिका इतने नाम सफेद पुनर्नवा के हैं। सफेद पुनर्नवा—कटु तथा कषाय रसयुक्त, पाण्डुरोगनाशक, अत्यन्त अग्निदीपक एवं शोथ, वायु, विष, कफ, ब्रध्न और उदररोग को दूर करने वाली होती है॥ २३१॥

अथ रक्तपुष्पा पुनर्नवा। तस्या नामगुणानाह

पुनर्नवाऽपरा रक्ता रक्तपुष्पा शिलाटिका। शोथघ्नी क्षुद्रवर्षाभूर्वर्षकेतुः कठिल्लकः॥ २३२॥
पुनर्नवाऽरुणा तिक्ता कटुपाका हिमा लघुः। वातला ग्राहिणी श्लेष्मपित्तरक्तविनाशिनी॥

लाल पुनर्नवा के नाम व गुण—रक्तपुनर्नवा, रक्तपुष्पा, शिलाटिका, शोथघ्नी, क्षुद्रवर्षाभू, वर्षकेतु और कठिल्लक ये सब हैं। लाल पुनर्नवा—तिक्त रसयुक्त, विपाक में कटु रसयुक्त, शीतल, हलकी, वातकारक, मलसंग्राही एवं कफ, पित्त और रक्तविकार को दूर करने वाली होती है॥ २३२–२३३॥

११९ वर्षाभू (पथरी)

हि०–सफेद पुनर्नवा, पथरी, विषखपरा, सुफेद गदपुरना। बं०–साबुनी। म०–वसु। गु०–साटोडी। क०–विलेगणजलि, मुच्चुकोनि। ते०–गलिजेरू। ता०–शरूनै। पं०–विशकापरा। ले०–*Trianthema portulacastrum Linn.* (ट्राएन्थेमा पोर्टुलेकॅस्ट्रम्, लिन.)। Fam. Ficoidaceae (फिकॉइडेसी)।

यह भारतवर्ष के सभी भागों में एवं बलूचिस्तान, लंका तथा अन्य उष्ण प्रदेशों में पाई जाती है। इसका क्षुप-प्रसरणशील, मांसल तथा अनेक द्विविभक्त शाखाओं वाला होता है। यह बरसात में उगता है और शीत काल तक सूख जाता है। कोमल अवस्था में पुनर्नवा जैसा दिखलाई देने के कारण कुछ लोग इसे श्वेत पुनर्नवा मानते हैं। पत्तियाँ–मांसल लगभग अभिमुख, किन्तु प्रत्येक जोड़े में एक छोटी तथा दूसरी बड़ी, ऊपर वाली बड़ी १८ से २७ मि. मि. लंबी, १८–३१ मि. मि. चौड़ी तथा नीचे की ९–१८ मि. मि. लंबी एवं ६–१८ मि. मि. चौड़ी, चिकनी, अभिलट्वाकार, आयताकार या अण्डाकार, प्रायः लाल एवं लहरदार धार वाली होती हैं। पर्णवृन्त ६–१८ मि. मि. लंबा, आधार की तरफ फैला हुआ एवं पतला रहता है। पुष्प–एकाकी, विनाल, श्वेत या गुलाबी रंग के फूल द्विविभक्त शाखाओं के बीच से निकलते हैं। नरकेसर संख्या में १०–२० होते हैं। बीजकोश छोटा एवं १–५ काले रंग के वृक्काकार छोटे बीजों से युक्त होता है। जड़–ताजी अवस्था में कुछ मधुराभ किन्तु सूखने पर कडुवी एवं हृल्लास कारक होती है।

इसकी जड़ एवं पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—पुनर्नवा में पाया जाने वाला क्षाराभ पुनर्नवीन (Punarnavine) इसमें भी पाया जाता है जो शुष्क द्रव्य में ०·०१% तक होता है। इसके अतिरिक्त सेपोनिन् (Saponin) एवं एक अन्य क्षाराभ जिसका रासायनिक सूत्र $C_{32} H_{46} O_6 N_2$ है, पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके पत्र मूत्रल होते हैं तथा इनका उपयोग पुनर्नवा जैसा होता है किन्तु जड़-तीव्ररेचन होती है। गर्भिणी को देने पर आंत्र-प्रक्षोभ के साथ साथ गर्भाशय पर भी प्रभाव होने से कभी कभी गर्भपात भी होता है। इसके पत्तों का शाक दीपन वातहर एवं कफघ्न है।

(१) जिनमें तीव्र विरेचन की आवश्यकता रहती है उन रोगों में इसके मूल का चूर्ण सोंठ के साथ मिला कर २, ३ बार में थोड़ा-थोड़ा करके देते हैं। यकृतोदर, जीर्ण मलावष्टम्भ एवं तज्जन्य कंडु आदि त्वचा के रोग तथा पांडु में इसे देते हैं। इससे रेचन होकर शोथ कम हो जाता है। इससे श्वास में भी लाभ होता है।

(२) गर्भाशय विकार के कारण उत्पन्न अनार्तव में भी इसका प्रयोग करते हैं।

मात्रा—१५ ६० गुंजा।

१२० पुनर्नवा

हि०-लाल पुनर्नवा, सांठ, गदहपुर्ना। बं०-पुनर्नवा। म०-पुनर्नवा, घेंटुली। गु०-राती साटोडी, वसेडो। क०-सनाडिका। ते०-अटात मामिडि। पं०-खट्टन। ता०-मुकरत्ते। अ०-इन्दकूकी। अं०-Hogweed; Horse purslene (हागवीड, हॉर्स पर्सलेन)। ले०-*Boerhaavia diffusa Linn.* (बोएर्हेविया डिफ्यूझा लिन.)। Fam. Nyctaginaceae (निक्टॅजिनेसी)।

यह भी भारतवर्ष, बलूचिस्तान, लंका तथा अन्य उष्ण प्रदेशों में पाया जाता है। यह रेतीली तथा परती जमीन में अधिक होता है। इसका क्षुप-फैलने वाला, बहुवर्षायु, मृदुरोमश या चिकना होता है। इसके काण्ड ०·६-०·९ मी. लम्बे, प्रायः ललाई लिये हुये कड़े, पतले, गोल एवं पर्वसन्धि पर मोटे होते हैं। क्वचित् केवल हरे काण्ड के क्षुप भी देखने में आते हैं। शाखाएँ कई गज तक फैल जाती हैं। पत्ते-सनाल, चौड़े, लट्वाकार, प्रत्येक पर्वसन्धि पर छोटे बड़े जोड़े में। बड़े २·५-३·७ से. मी. लम्बे एवं छोटे १२-१७ मि. मी. लम्बे तथा अधर तल पर श्वेताभ चिकने होते हैं। पुष्प-छोटे, गुलाबी या श्वेत लगभग अवृन्त, ४-१० की संख्या में एक लम्बे दण्ड पर आते हैं। पुंकेशर २-३ होते हैं। फल-६ मि. मी. लम्बा, ५ धारीदार, चिपचिपा तथा एक बीज से युक्त होता है। जड़-बड़ी तथा मूलकाकार होती है।

भेद-इसके दो भेद और पाये जाते हैं। एक में मूल कन्दसदृश तथा पत्रादि छोटे होते हैं। यह शुष्क भूमि में अधिक होती है। दूसरी लता जाति की होती है। इसे B. repanda, Willd (बो. रिपॅन्डा, वाइल्ड) कहते हैं। यह आरोहणशील या प्रसरणशील होती है। इसमें आमने सामने के दोनों पत्ते प्रायः कद में समान होते हैं। इसकी जड़ कन्द सदृश मोटी किन्तु भंगुर होती है।

चिकित्सा में इसके पत्र एवं मूल का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में पुनर्नवीन (Punarnavine) नामक कार्यकारी क्षाराभ की मात्रा शुष्क द्रव्य में ०·०१% तक होती है। मूल में संपूर्ण क्षाराभ की मात्रा ०·०४% होती है। इसके अतिरिक्त इसमें पोटॅशियम् नाइट्रेट (Potassium nitrate), सल्फेट (Sulp-

hates), क्लोराइड (Chlorides) ६·५% एवं स्थिर तैल होता है। बिल्ली में क्षाराभ के शिरान्तर्गत सूचिकाभरण से रक्त का दबाव बढ़ता है तथा मूत्रत्याग अधिक होता है।

गुण और प्रयोग—पुनर्नवा मधुर, तिक्त, उष्ण, रूक्ष, स्वेदोपग, वयःस्थापन, विरेचन, दीपन, मूत्रविरेचन, कफघ्न, अधिक मात्रा में वामक एवं शोथहर है।

इसका प्रयोग शोथ, सर्वांगशोथ, उदर, कामला, मूत्राल्पता, पाण्डु, हृद्रोग, श्वास, उरःक्षत, सोजाक, विषविकार एवं नेत्रविकारों में किया जाता है।

(१) पुनर्नवा के मूत्रल गुण के कारण अनेक शोथयुक्त विकारों में इसका प्रयोग किया जाता है। नूतन यकृत विकार तथा जीर्ण उदरावरणशोथ के कारण उत्पन्न जलोदर में अन्य मूत्रल औषधियों की अपेक्षा इसका विशेष प्रभाव पड़ता है। जब वृक्क का कार्य ठीक होता रहता है उस अवस्था में यह अच्छा कार्य करती है। इसमें उपस्थित पोटेशियम् के लवण इसमें के कार्यकारी क्षाराभ के कार्य को बढ़ाते हैं। उन रोगियों में जिनके मूत्र में अल्ब्यूमिन अधिक रहता है उतना अच्छा मूत्रल प्रभाव नहीं पड़ता। यकृत, वृक्क, उदरावरण आदि अवयवों में जब बहुत अधिक अवयवीय विकार हो जाता है तब इससे केवल अस्थायी लाभ होता है शोथ में इसको पीस कर गरम कर लेप भी करते हैं।

(२) हृद्रोग में कास, श्वास, जलोदर एवं पैर की सूजन कम करने के लिये कुटकी, चिरायता एवं सोंठ के साथ इसका प्रयोग करते हैं। हृदय पर इसकी क्रिया कुछ डिजिटैलिन सदृश होती है।

(३) कामला में पित्त के निर्हरण के लिये इसका प्रयोग करते हैं।

(४) कफयुक्त श्वास में तथा श्वसनिकाशोथ में सोंठ तथा वच के साथ इसको देने से कफ निकलता है। अधिक मात्रा से वमन होकर भी कफ निकल जाता है।

(५) इसके शाक का उपयोग शोथ में तथा कुपचन में करते हैं।

(६) अभिष्यन्द आदि नेत्र रोगों में इसको ताजी जड़ मधु में पीस कर आँख में लगाते हैं तथा आंतरिक प्रयोग भी करते हैं।

(७) वृश्चिकदंश, सर्पदंश, मूषिकविष आदि में इसका बाह्य एवं आंतरिक प्रयोग लाभदायक माना जाता है।

(८) रसायन के लिये इसके मूल के उपयोग का विधान है।

मात्रा—मूल-स्वरस ६ मा०–१ तो०; पत्रस्वरस १–२ तो०। वामक–मूल चूर्ण ५–१० माशा।

अथ गन्धप्रसारणी (पसरन)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

प्रसारणी राजबला भद्रपर्णी प्रतानिनी। सरणी सारणी भद्रा बला चापि कटम्भरा ॥२३४॥
प्रसारणी गुरुर्वृष्या बलसन्धानकृत्सरा। वीर्योष्णा वातहृत्तिक्ता वातरक्तकफापहा ॥२३५॥

प्रसारणी के नाम तथा गुण—प्रसारणी, राजबला, भद्रपर्णी, प्रतानिनी, सरणी, सारणी, भद्रा, बला और कटम्भरा इतने नाम 'पसरन' के हैं। प्रसारणी–तिक्तरसयुक्त, गुरु, वृष्य, बलकारी, सन्धानकारक, सारक, उष्णवीर्य एवं वात, वातरक्त और कफ को दूर करने वाली होती है॥

नोट—गंधप्रसारणी नाम से उत्तर भारत में पेडेरिया फिटीडा (Paederia foetida) का व्यवहार किया जा रहा है। दक्षिण में केरल में प्रसारणी नाम से मेरेमिया ट्राइडेन्टटा (Meremia tridentata Hall) का व्यवहार किया जाता है ऐसा 'आयुर्वेदिक फ्लोरामेडिका, कोट्टयम्' नामक पुस्तक में दिया हुआ है। कहीं कहीं कन्वॉल्व्यूलस् आर्वेन्सिस् (Convolvulus

arvensis Linn.) का प्रसारणी नाम से व्यवहार किया जाता है। राजस्थान में (हि०) खींप, (ले०) लेप्टाडेनिया स्पारशियम् वा० (Leptadenia spartium Wt.—Asclepiadaceae) का व्यवहार किया जाता है। इस दृष्टि से शास्त्रीय प्रसारणी का निर्णय अभी नहीं हो सका है।

१२१ गन्धप्रसारिणी

हि०—प्रसारणी, प्रसरनी, पसरन, गन्धाली। बं०—गन्ध भादुलिया। म०—प्रसारण, हिरनवेल। गु०—प्रसारणि। ते०—सविरेला। आसाम०—वेडोली सुट्टा। ले०—*Paederia foetida Linn.* (पैडेरिया फिटीडा लिन.)। Fam. Rubiaceae (रूबिएसी)।

मध्य और पूर्व हिमालय में ५००० फीट तक तथा कलकत्ता की तरफ एवं मलाया में उत्पन्न होती है।

यह लताजाति की वनौषधि बहुत विस्तार में फैलने वाली होती है। इसकी डंडियां—पतली, चिकनी, लम्बी एवं मजबूत होती हैं। नवीन शाखाएं—कोमल होती हैं। पुरानी लताओं की जड़—१–१॥ इञ्च मोटी होती है। पत्ते—अभिमुख (आमने सामने), आकार में छोटे बड़े, २ से ६ इञ्च तक लम्बे, १–२॥ इञ्च चौड़े, अण्डाकार-लट्वाकार, आयताकार-लट्वाकार या लम्बे लट्वाकार, नोकीले एवं लम्बे पत्रदण्ड से युक्त होते हैं। दोनों पत्तों के बीच में प्रतिग्रन्थि पर दो-दो संयुक्त पुंखपत्र होते हैं। पुष्प—जामुनी गुलाबी रंग के, नलिकाकार पुष्प-मंजरियों में आते हैं। फल—चिपटा, चिकना, पांच रेखाओं से युक्त तथा १ बीजयुक्त होता है। बीज—चिकना, चिपटा एवं पतले आवरण से युक्त होता है।

इसकी लताओं में एक प्रकार की बुरी गन्ध होती है। जहाँ यह फैली हुई होती है वहां इसके निकट जाने पर इसकी बुरी गन्ध जान पड़ती है किन्तु जब इसको मसलते हैं तब बड़ी बुरी गन्ध पैदा होती है। पत्तों को उबाल कर क्वाथ बनाने पर दुर्गन्ध नष्ट हो जाती है।

इसकी जड़ एवं पत्रादि का उपयोग किया जाता है। इसको मूल के साथ शरद्काल में उखाड़ कर संग्रह करना चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसमें उडनशील तैल एवं एक क्षाराभ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, तिक्त, सर, गुरु, वृष्य, बल्य एवं वातकफ-शामक है। मूल की अधिक मात्रा से वमन होता है।

(१) आमवात, वातरक्त तथा संधिविकार में इसका बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रयोग बहुत लाभदायक माना जाता है। इसको खिलाते हैं तथा लेप करते हैं। इसके साथ चित्रकमूल एवं त्रिकटु का भी उपयोग लाभदायक है। साथ में पत्तों का शाक भी खिलाते हैं।

(२) वातविकारों में इसके तैल का अभ्यङ्ग एवं आन्तरिक प्रयोग बहुत लाभदायक है।

(३) उदरशूल, आनाह एवं विबन्ध में पत्तों का कल्क उष्ण करके खिलाते हैं।

मात्रा—स्वरस १–२ तोला; चूर्ण २–४ माशा।

अथ कृष्णशारिवा (करिआवांसा)। तस्या नामान्याह

कृष्णा तु शारिवा श्यामा गोपी गोपवधूश्च सा ॥ २३६ ॥

कृष्णशारिवा (काली अनन्तमूल) के नाम—शारिवा, श्यामा, गोपी और गोपवधू ये नाम कृष्णशारिवा के हैं ॥ २३६ ॥

छद्वयं जम्बूवत्पत्रा सुगन्धा 'कलघण्टिके'ति प्रसिद्धा।
गोपी—गोपस्य स्त्री, पुंयोगात् ङीप्॥ २३६॥

इसके पत्ते जामुन के पत्तों के समान होते हैं, और इसमें सुगन्धि होती है। एवं यह 'कल-घण्टिका' के नाम से प्रसिद्ध है।

यहाँ पर 'गोपी' इस पद में 'गोप की स्त्री' इस अर्थ में 'पुंयोगादाख्यायाम्' (४-१-४८) इस सूत्र से पुंयोग होने से 'गोप' शब्द से 'ङीप्' प्रत्यय हुआ है, ऐसा समझना चाहिये॥ २३६॥

अथ श्वेतशारिवा। तस्या नामान्याह

धवला शारिवा गोपा गोपकन्या कृशोदरी।
स्फोटा श्यामा गोपवल्ली लताऽऽस्फोता च चन्दना॥ २३७॥

श्वेतशारिवा के नाम—धवलशारिवा, शारिवा, गोपा, गोपकन्या, कृशोदरी, स्फोटा, श्यामा, गोपवल्ली, लता, आस्फोता और चन्दना ये नाम श्वेत शारिवा के हैं॥ २३७॥

छद्वयमपि जम्बूवत्पत्रा दुग्धगर्भा व्रततिर्भवति। गोपा-गां पातीति गोपा, गोपकन्या। श्यामापदेन कृष्णा श्वेताऽपि शारिवा कथ्यते, शाश्वतेन शारिवामात्रे शारिवापदस्य प्रयुक्तत्वात्। तद्यथा—

'शारिवायां निशि श्यामाश्यामौ च हरितासितौ' इति॥ २३७॥

यह भी जामुन के समान पत्तोंवाली तथा दुग्धगर्भा (भीतर जिसके दूध हो ऐसी) लता होती है। यहाँ पर 'गोपा' का 'गायों को पालन करने वाली' अर्थ है। 'आतोऽनुपसर्गे कः (३-२-३) इस सूत्र से कप्रत्यय हुआ बाद को टाप् प्रत्यय होने से 'गोपा' पद सिद्ध हुआ ऐसा समझना चाहिये। और 'श्यामा' पद से काली तथा श्वेत दोनों शारिवा को समझना चाहिये। क्योंकि 'शाश्वत' कोशकार ने 'शारिवा' पद को शारिवा मात्र में (दोनों शारिवा में) प्रयोग किया है 'शारिवायाम्०' इत्यादि से॥ २३७॥

अथ सारिवाद्वयस्य गुणानाह

सारिवायुगलं स्वादु स्निग्धं शुक्रकरं गुरु। अग्निमान्द्यारुचिश्वासकासामविषनाशनम्।
दोषत्रयास्रप्रदरज्वरातीसारनाशनम्॥ २३८॥

दोनों शारिवा (अनन्तमूल) के गुण - दोनों शारिवा—स्वादिष्ट, स्निग्ध, शुक्र को उत्पन्न करने वाली, गुरु एवं अग्निमन्दता, अरुचि, श्वास (दमा), खांसी, आम, विष, त्रिदोष, रक्तप्रदर, ज्वर और अतिसार को नष्ट करती है॥ २३८॥

नोट- सारिवा के दो भेद श्वेत एवं कृष्ण ये हैं। इसमें से श्वेत सारिवा, अनन्तमूल (कपूरी) है। कृष्णसारिवा के स्थान पर करण्टा एवं दुधलत दो चीजों का व्यवहार किया जाता है। अनन्तमूल (श्वेत सारिवा) कम मिलने के कारण उत्तरप्रदेश के बाजारों में अधिकतर सारिवा के नाम से करण्टा के काण्ड बिकते हैं। जब केवल सारिवा लेने को लिखा हो तब अनन्तमूल लेना चाहिये एवं सारिवाद्वय लिखा हो तब अनन्तमूल एवं दुधलत या करण्टा का ग्रहण उचित है। करण्टा की पत्तियाँ कुछ-कुछ जामुन की पत्ती से मिलती जुलती होने के कारण इसे 'जम्बुपत्रा

सारिवा' भी कहते हैं। यहाँ सबका वानस्पतिक वर्णन अलग अलग किया गया है एवं गुण प्रयोगादि अनन्तमूल के दिये हैं।

१२२ कृष्णसारिवा, दुधलत

सं०-कृष्णसारिवा। हि०-कालीसर, काली अनन्तमूल, दुधलत। बं०-कृष्ण अनन्तमूल, श्यामालता। म०-श्यामलता। क०-करीडंबु। ते०-नलतिग। ले०-*Ichnocarpus fruitescens R. Br.* (इक्नोकार्पस् फ्रूटेसेन्स)। Fam. Apocynaceae (एपोसाइनेसी)।

यह हिमालय प्रान्त के नैपाल, गङ्गा नदी के आस-पास, बङ्गाल, आसाम, सिलहट, चटगाँव और दक्षिण आदि प्रायः सभी प्रान्तों में उत्पन्न होती है। यह लता जाति की वनौषधि छोटे वृक्षों या गुल्मों पर चढ़ जाती है और सदा हरी भरी रहती है। शाखाएँ-प्रायः मुरचई रङ्ग की होती हैं। पत्ते-अण्डाकार या चौड़ाई लिए हुए आयताकार, तीक्ष्णाग्र, या कुछ-कुछ लम्बाग्र, चिकने, २-३ इञ्च लम्बे तथा $\frac{3}{4}$ से १$\frac{1}{2}$ इञ्च चौड़े एवं $\frac{1}{4}$ इञ्च लम्बे वृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प-१-३ इञ्च लम्बी पुष्पमञ्जरियाँ पत्रकोण या शाखाग्र से निकलती रहती हैं जिनमें छोटे-छोटे श्वेत सुगन्धित पुष्प रहते हैं। आभ्यन्तर दलों के खण्ड रोमश एवं मरोड़े हुए रहते हैं। फलियाँ-लम्बी एवं दो-दो एक साथ रहती हैं। बीज-नालीदार एवं रोमगुच्छ से युक्त होते हैं।

इसकी जड़ अनन्तमूल जैसी ही दिखलाई देती है। इस पर की छाल कृष्णाभ भूरे रंग की एवं काष्ठ से चिपकी रहती है। काष्ठ भाग अनन्तमूल की अपेक्षा अधिक कड़ा रहता है। क्वचित् यह फटी हुई रहती है। इसमें अनन्तमूल जैसी गन्ध नहीं रहती।

गुण और प्रयोग—इसके गुणधर्म अनन्तमूल जैसे ही हैं। सारिवाद्वय कहने पर इसका (कृष्ण) एवं अनन्तमूल (श्वेत) का ग्रहण करते हैं। ज्वर में पत्रयुक्त काण्ड का क्वाथ देते हैं।

कृष्ण सारिवा नाम से या अनन्तमूल के स्थान पर कहीं-कहीं निम्नलिखित लता का व्यवहार किया जाता है।

१२३ कृष्णसारिवा, जम्बुपत्राकारिका, करण्टा

ले०-*Cryptolepis buchanani Roem. & Schult.* (क्रिप्टोलेपिस् बुचनेनी रो. शु.)। Fam. Asclepiadaceae (एस्क्लेपिएडेसी)।

इसकी लता भारतवर्ष के सभी भागों में होती है। यह बहुत फैलने वाली एवं काष्ठीय होती है। पत्ते-चिकने, आयताकार, अण्डाकार, जामुन के पत्र-सदृश क्षोद लिप्त रहते हैं। पत्रसिराएँ पत्रतट के पहले ही परस्पर मिली हुई रहती हैं। पुष्प-पाण्डुरपीत और फलियाँ-दो-दो एक साथ रहती हैं। काण्डत्वक्-रक्ताभ कृष्ण एवं पतले परतों में छूटने वाली होती है। इस लता से अत्यधिक दूध निकलता है। इसके मूल में कोई गन्ध नहीं होती।

१२४ श्वेतसारिवा, अनन्तमूल, कपूरी

हि०-अनन्तमूल, कपूरी, सालसा। बं०-अनन्तमूल। म०-उपलसर, उपलसरी। गु०-उपलसरी, कागड़ियों कुंढेर, कपूरी मधुरी। ते०-पालसुगन्धी। ता०-नन्नारी। क०-नमडवेरू। अं०-Indian Sarsaparilla (इण्डियन् सारसापरिला)। ले०-*Hemidesmus indicus R. Br.* (हेमीडेस्मस् इण्डिकस्)। Fam. Asclepiadaceae (एस्क्लेपिएडेसी)।

यह इस देश के सब प्रान्तों में विशेषतः बिहार, बंगाल, सुन्दरबन, पश्चिमी घाट, मध्य प्रदेश, दक्षिण एवं लंका में पाई जाती है। इसकी लता-बहुवर्षायु, पतली, फैलने वाली या लपेट कर चढ़ने वाली गुल्मजातीय होती है। मूलस्तम्भ-काष्ठमय होता है। काण्ड-पतला, गोल,

चिकना या सूक्ष्म रोमयुक्त, लम्बाई में सूक्ष्म धारियों से युक्त एवं पर्व पर मोटा होता है। पत्र-विपरीत परन्तु प्रायः दूर-दूर, विभिन्न आकार के दीर्घवृत्त आयताकार से लेकर रेखाकार भालाकार, २-४ इञ्च लम्बे तथा विभिन्न चौड़ाई के (·३-१·५ इञ्च), ऊपर से चिकने, गहरे हरे रंग के एवं सफेद चिह्नों से युक्त, नीचे से हलके रंग के या कभी कभी श्वेत मृदुरोमश, नोकीले किन्तु चौड़े, पत्र के अग्र कुण्ठित, जालिका विन्यास युक्त एवं ३-४ मि. मि. लम्बे पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प-छोटे, बाहर से हरिताभ किन्तु भीतर बैंगनी रंग के पत्र कोणीय गुच्छों में आते हैं। फली-४-६ इञ्च लंबी, पतली, गोल, दो दो एक साथ परन्तु अपसारी, अग्र की ओर क्रमशः संकुचित, सीधी या कुछ टेढ़ी-मेढ़ी, सूक्ष्म धारीदार तथा चिकनी होती है। बीज-६-८ मि. मि. लम्बे, अण्डाकार, आयताकार, चिपटे, काले रंग के एवं श्वेत रोमगुच्छ से युक्त होते हैं।

मूल-इसके मूल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। यह करीब १२ इञ्च लम्बा, ३-६ मि. मि. मोटा, गोल, कठोर, मुड़ा हुआ कुछ पतले उपमूलों से युक्त, बाहर से गहरे बादामी रंग का तथा कभी-कभी कुछ भूरे रंग का होता है। मध्य भाग पीत एवं काष्ठमय रहता है जिसके चारों ओर का भाग श्वेत रहता है। इसकी छाल भूरे रंग की, कार्क युक्त, चौड़ाई में फटी हुई एवं लम्बाई में धारीदार एवं आसानी से मध्य भाग से अलग की जा सकती है। इसमें कुछ कपूर जैसी मधुर गन्ध आती है तथा इसका स्वाद कुछ कडुआ, तिक्त किन्तु रोचक होता है। इसके स्थान पर करण्टा के काण्ड भी बिकते हैं जिसमें गन्ध नहीं होती। पुरानी गन्धहीन हो जाने पर इसका व्यवहार नहीं करना चाहिये। इसमें उड़नशील गन्धयुक्त कार्यकारी तत्त्व होने के कारण इसका क्वाथ न बनाकर फाँट बना व्यवहार करना चाहिये। यह तत्त्व विशेषतया इसकी छाल में रहता है इसलिये पतली-पतली जड़ या जड़ की छाल का उपयोग करना चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसकी ताजी जड़ में ०·२२५% एक उड़नशील तैल होता हैं जिसका ८०% भाग एक काउमॅरिन (Coumarin) सदृश गन्धयुक्त रवेदार पदार्थ (2-Hydroxy-4-Methoxy benzaldehyde) से युक्त होता है। इसके अतिरिक्त दो स्टेराल् (Sterol-Hemidesterol, Hemidesmol), राल, कषाय द्रव्य, शर्करा, कुछ ठोस पदार्थ एवं कुछ ग्लाइकोसाइड (Glycoside) ये पदार्थ इसमें पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—अनन्तमूल मूत्रविरेचन, मूत्रविरजन, स्वेदजनन, अग्निवर्धक, त्वक्-दोषहर, रक्तशोधक, वर्ण्य, जीवनविनिमय क्रिया के लिए उत्तेजक, रसायन, बल्य, दाहप्रशमन, पुरीषसंग्रहणीय एवं स्तन्यशोधन है। इसका प्रयोग ज्वर, कुष्ठ, कण्डू आदि चर्म रोग, फिरंग, जीर्ण आमवात, प्रदर, अग्निमांद्य, अरुचि, अतिसार, प्रमेह एवं श्वास-कासादि में किया जाता है। इसके फांट से मूत्र की मात्रा दुगनी या चौगुनी बढ़ती है तथापि इससे वृक्क को कोई हानि नहीं होती। इसका स्वेदजनन कार्य साधारण है इसलिये साथ में अन्य ज्वरघ्न ओषधियों का प्रयोग करना चाहिये। इसमें जीवन-विनिमय क्रिया को उत्तेजित करने वाला धर्म बहुत महत्त्व का है। इसके साथ गुडूची एवं सुगन्धि द्रव्य मिलाकर प्रयोग करने से अधिक लाभ होता है।

(१) वृक्कशोथ जिसमें मूत्र की मात्रा कम हो, मूत्र गाढा एवं लाल रंग का हो तब इसका फांट गुडुच एवं जीरे के साथ देने से मूत्रमार्ग का शोथ तथा दाह कम होता है।

(२) फिरंग की द्वितीयावस्था तथा अन्य चर्म रोगों में इसको गुडुच के साथ देने से अच्छा लाभ होता है।

(३) बच्चों की दुर्बलता तथा पाण्डु आदि में वायविडंग के साथ इसको देने से बहुत लाभ होता है।

(४) प्रदर में इससे अच्छा लाभ होता है। उपदंश या सोंजाक से गर्भस्राव होता हो तो इसका प्रारम्भ से ही उपयोग करते हैं। इससे बच्चा गौर वर्ण का होता है।

(५) व्रण पर इसकी मूल का लेप करते हैं। नेत्राभिष्यंद में इसका दुग्ध डालते हैं।

मात्रा—फांट ५-१० तोला; कल्क ३-६ माशा।

अथ भृङ्गराजः (भाँगरा)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

भृङ्गराजो भृङ्गरजो मार्कवो भृङ्ग एव च। अङ्गारकः केशराजो भृङ्गारः केशरञ्जनः ॥२३९॥
भृङ्गारः कटुकस्तीक्ष्णो रूक्षोष्णः कफवातनुत्॥ २४०॥
केश्यस्त्वच्यः कृमिश्वासकासशोथामपाण्डुनुत्। दन्त्यो रसायनो बल्यः कुष्ठनेत्रशिरोऽर्त्तिनुत्॥

भाङ्गरा के नाम तथा गुण—भाङ्गरा के संस्कृत नाम-भृङ्गराज, भृङ्गरज, मार्कव, भृङ्ग, अङ्गारक, केशराज, भृङ्गार और केशरञ्जन ये सब हैं। भांगरा-कटुरसयुक्त, तीक्ष्ण, रूक्ष, गरम, कफ-वात नाशक, केशों के लिये हितकर, त्वचा को साफ करने वाला, दाँतों के लिये हितकर, रसायन, बलकारक एवं कृमि, श्वास, कास, शोथ, आम, पाण्डुरोग, कुष्ठ, नेत्ररोग तथा शिरोरोग को दूर करता है॥ २३९-२४१॥

नोट—अन्य निघंटुओं में इसके श्वेत, पीत एवं कृष्ण (नील) इन तीन भेदों का वर्णन है। कृष्ण भृङ्गराज क्या है, इसका निर्णय नहीं हुआ है। श्वेत पुष्प का भृङ्गराज सर्वत्र पाया जाता है जिसे Eclipta alba (एक्लिप्टा एल्बा) कहते हैं। पीत पुष्प का भृङ्गराज बंगाल, आसाम, कोंकण तथा मद्रास के समतल भागों में होता है जिसे Wedelia calendulacea (वेडेलिआ कॅलेण्डुलेसिआ) कहते हैं। दोनों एक ही वर्ग के हैं तथा गुणों की दृष्टि से दोनों में विशेष अन्तर नहीं है इसलिये दोनों के गुण तथा प्रयोग एक साथ ही दिये हैं।

१२५ भाङ्गरा

हि०—भाङ्गरा, भङ्गरा, भंगरैया। बं-भीमराज, केशुरिया, केसरी। म०—माका। गु०-भांगरो। क०-गर्ग। ते०-गुंटकल, लगरा। ता०—करीशलकन्नी। फा०—जमर्दर। अ०-कदीमुलबित। ले०—*Eclipta alba Hassk.* (एक्लिप्टा एल्बा हास्क.)। Fam. Compositae (कम्पोझिटी)।

श्वेत भांगरा—इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में आर्द्र स्थानों में उत्पन्न होता है। प पर यह ६००० फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

इसका क्षुप-प्रसर की तरह भूमि पर फैला हुआ रहता है। शाखायें अनेक, भूमि से उठी हुई, खुरखुरी और ग्रन्थियों पर प्रायः मूलयुक्त रहती हैं। पत्ते-छोटे बड़े विविध आकार वाले दो इञ्च तक लम्बे, चौथाई इञ्च चौड़े, अण्डाकार या आयताकार, नोकीले और विपरीत रहते हैं। पुष्प-छोटे वृन्त से युक्त एवं छोटे छोटे मुण्डकों में आते हैं जिनमें प्रान्तीय पुष्प स्त्रीलिंग और जिह्वाकार एवं केन्द्रीय पुष्प घंटिकाकार होते हैं।

पीले फूल का भाङ्गरा—आसाम, बङ्गाल, कोंकण तथा मद्रास आदि प्रान्तों में पाया जाता है। इसको लेटिन् में Wedelia calendulacea Less. (वेडेलिआ कॅलेण्डुलेसिया लेस.) कहते हैं। इसका प्रसर १८ इञ्च तक बड़ा होता है। इसके काण्ड जमीन के नीचे प्रायः १-२ फीट लंबाई में फैले रहते हैं जिनसे स्वावलम्बी शाखायें ऊपर की ओर निकली रहती हैं। पत्ते-आयताकार प्रासवत, २-३ इंच लंबे, लगभग अखण्ड या दन्तुर होते हैं। अधः पत्रावली के पत्र लगभग

दो चक्रों में और बाहर के ३-५ पत्र बड़े एवं पर्णाकार होते हैं। पुष्पों के मुण्डक पीले होते हैं जिसमें प्रान्तीय जिह्वाकार पुष्प संख्या में लगभग आठ होते हैं।

भृङ्गराज के स्वरस एवं पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। इसको उबालने से इसका गुण नष्ट होता है इसलिये इसके स्वरस का प्रयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन – श्वेत भृङ्गराज में अधिक मात्रा में राल तथा एक्लिप्टाइन (Ecliptine) एवं निकोटीन (Nicotine) नामक क्षाराभ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—भृङ्गराज तिक्त, उष्ण, दीपन, पाचन, वातानुलोमक, रसायन, कफ वातहर, चक्षुष्य, त्वग्दोषहर, केश्य एवं वर्ण्य है। इसका प्रयोग कुपचन, यकृतविकार, पाण्डु, कास, श्वास, कुष्ठ, चर्म रोग एवं पलित में करते हैं। इसकी अधिक मात्रा से वमन होता है।

(१) यकृत पर इसकी विशेष क्रिया होती है जिससे पाचन सुधर कर शरीर की सभी क्रियाएं ठीक होती हैं। यकृत दोष के कारण उत्पन्न यकृत वृद्धि, प्लीहा वृद्धि, कामला, अर्श, उदर, शिरःशूल, त्वचा के रोग, चक्कर आदि में इससे लाभ होता है।

(२) जीर्ण चर्मरोग जैसे कुष्ठ, कण्डू, व्रण, पलित, इन्द्रलुप्त तथा वृश्चिक-दंशपर इसका लेप करते हैं तथा पिलाते हैं। बाल काला करने के लिये तथा बढ़ाने के लिये इसका रस काशीश के साथ लेप करते हैं। अग्निदग्ध व्रण पर मरवा, मेंहदी तथा इसकी पत्ती का लेप करने से जलन दूर होती है तथा व्रण का दाग भी नहीं रहता। इससे सिद्ध तैल का नस्य, केश्य रूप में प्रयोग किया जाता है जिससे शिरःशूल, दृष्टिमान्द्य एवं पालित्य आदि में लाभ होता है।

(३) रसायन के लिये विशेष कर नील भृङ्गराज के सेवन का विधान है। एक महीने तक इसके स्वरस-पान के साथ दुग्धाहार पर रहने से बल एवं वीर्य की वृद्धि होती है तथा शतायु होता है।

(४) छोटे बच्चों की खांसी में इसका १-२ बूंद स्वरस मधु के साथ देते हैं, जिससे गले की घरघराहट भी कम होती है।

(५) इसके बीज वाजीकर होते हैं।

मात्रा—स्वरस ½-१ तोला; बीज १-३ माशा।

अथ शणपुष्पी। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

शणपुष्पी स्मृता घण्टा शणपुष्पसमाकृतिः। शणपुष्पी कटुस्तिक्ता वामिनी कफपित्तजित्॥२४२॥

शणपुष्पी के नाम तथा गुण—शणपुष्पी, घण्टा तथा शणपुष्पसमाकृति (शणपुष्प के समान आकृति वाली) ये नाम 'शणपुष्पी' के हैं। शणपुष्पी-यह कटु तथा तिक्तरसयुक्त, वमन कराने वाली एवं कफ-पित्तनाशक होती है॥ २४२॥

१०६ शणपुष्पी

हि०-शनपुष्पी, सुनक, सनई, बनसन, पटसन, झुनझुनिया। बं०-वनशण। म०-घागरी, तिरत, खुलखुल। गु०-घुघणे। क०-गिजि गिल। ते०-घेलेफेरिंटा। ता०-वेल्लैनिकलुकिलुप्पै। ले०-*Crotalaria verrucosa Linn.* (क्रोटेलेरिया वेरुकोसा लिन.)। Fam. Leguminoceae (लेगुमिनोसी)।

शणपुष्पी—प्रायः भारत के गरम प्रान्तों में उत्पन्न होती है और सिलोन में भी पाई जाती है।

इसका क्षुप-सीधा, अनेक शाखाओं से युक्त एवं २-४ फीट ऊँचा होता है। शाखाएँ चार धारी-युक्त होती हैं। पत्ते—चौड़ाई लिये तिर्यगायताकार, १-२ इञ्च बड़े क्वचित् इससे भी बड़े, गोल-दन्तुर या कभी-कभी अल्प खण्डित लहरदार, मृदुरोमश एवं छोटे वृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प—पर्ण विपरीत या अग्रग, २-७ पुष्प युक्त मंजरियों में, १·५-२" बड़े नील या पीताभ आते हैं। फली—अल्पवृन्त युक्त, १ इञ्च लंबी, एवं १२ या अधिक बीजों से युक्त होती है।

इसके पत्तों का चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह तिक्त, पित्तनाशक, कफघ्न एवं स्नेहन है। पत्तों का लेप शीतल एवं त्वग्दोषहर है। त्वचा के विकारों में इनका बाह्याभ्यंतर प्रयोग करते हैं। पत्तों के स्वरस से लाला-स्राव कम होता है।

अथ त्रायमाणा। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

बलभद्रा त्रायमाणा त्रायन्ती गिरिजाऽनुजा। त्रायन्ती तुवरा तिक्ता सरा पित्तकफापहा।
ज्वरहृद्रोगगुल्मार्शोभ्रमशूलविषप्रणुत्॥ २४३॥

त्रायमाणा के नाम तथा गुण—बलभद्रा, त्रायमाणा, त्रायन्ती, गिरिजा तथा अनुजा ये नाम 'त्रायमाणा' के हैं। त्रायमाणा-तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, सारक, पित्त कफनाशक एवम् ज्वर, हृद्रोग, गुल्म, अर्श, भ्रम, शूल और विष को दूर करने वाली होती है॥ २४३॥

नोट—त्रायमाण एक संदिग्ध द्रव्य हो गया है। विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न द्रव्यों का त्रायमाण नाम से उल्लेख किया है किन्तु आजकल अधिकांश विद्वान् जेन्शियाना कुर्रो (Gentiana kurroo Royle) को त्रायमाण मानते हैं। इसका वर्णन पहले कुटकी के वर्णन के पश्चात् किया जा चुका है (पृष्ठ-७१) क्योंकि कुटकी में प्रायः इसकी मिलावट रहती है। जिन गुणों के लिये आचार्यों ने त्रायमाण का प्रयोग किया है वे इसमें मिलते हैं तथा इसका प्रादेशिक पर्वतीय नाम त्रायमाण भी कहीं-कहीं मिलता है। तिक्त, सारक आदि गुण तथा ज्वर, गुल्म आदि में लाभ करने के कारण एवं पर्वतीय स्थानों में होने वाले (गिरिजा) इस अत्यन्त उपयोगी द्रव्य की त्रायमाणा होने की अधिक संभावना है। चरक में तिक्त स्कंध में (वि. अ. ८), रक्तपित्त के लिये (चि. अ. ४), ज्वर में (चि. अ. ३), गुल्म की चिकित्सा में (चि. अ. ५), पैत्तिक अतिसार में (चि. अ. १०) एवं विसर्प में (चि. अ. ११) तथा सुश्रुत में लाक्षादिगण (सू. अ० ३८) में इसका उल्लेख है। इसके संबंध में अन्य मतों का संक्षेप में उल्लेख अप्रासंगिक न होगा।

(१) श्री डा० वा० ग० देसाई ने ओषधि-संग्रह नामक ग्रन्थ में त्रायमाण नाम से डेल्फिनिअम् झलिल् (Delphinium zalil) का वर्णन किया है जिसका पंचांग ईरान से आता है। इसका पंजाबी नाम उन्होंने 'गाफिझ', ईरानी नाम झलिल् अदफ़क् (अस्परग) दिया है। मुहीते आजम नामक ग्रंथ में गाफिस का संस्कृत नाम त्रायमाण दिया है। इसी पुस्तक में डा० देसाई ने 'घाफिथ्', गाफिस् नाम से ईरान में होने वाला जेन्शियाना का भेद जेन्शियाना डेहुरिका (Gentiana dehurica) का उल्लेख किया है। इससे मालूम होता है कि ईरान से आनेवाले इन दोनों द्रव्यों को गाफिस् के नाम से प्रयोग करते हैं।

(२) श्री यादवजी ने 'द्रव्यगुणविज्ञान' में श्री वैद्यराज विद्याधरजी विद्यालंकार, पो० सोलन, जि० शिमला के मत का उल्लेख करते हुए एक वनस्पति का वर्णन किया है, किन्तु उसके लेटिन नाम को नहीं लिखा है। श्री प्रियव्रतजी शर्मा ने 'द्रव्यगुणविज्ञान' में त्रायमाणानाम से जेन्शियाना

कुर्रो का वर्णन किया है जो उपर्युक्त श्री यादवजी की पुस्तक में वर्णित वनस्पति से मिलता है। इससे ऐसा मालूम होता है कि श्री यादव जी की पुस्तक में की वनस्पति जेन्शियाना कुर्रो ही है किन्तु इन्होंने इसमें श्री देसाई के जिस नव्यमत का उल्लेख किया है वह श्री देसाई ने अपनी पुस्तक में डेल्फिनिअम् के अन्तर्गत किया है न कि जेन्शियाना के वर्णन में।

(३) श्री ठाकुर दलजीत सिंहजी 'यूनानी द्रव्यगुणविज्ञान' में गाफिस नाम से जे० डेहुरिका का वर्णन करते हैं जिसका भारतीय भेद जे० कुर्रो मानते हैं। इसका स्थानीय नाम त्रायमाण होने का उल्लेख है।

(४) कुछ वंगीय वैद्य, त्रायमाण नाम से शुष्क उदुम्बर जातीय अन्यफल 'बलाडुमूर', 'भुइं-डुमूर' Ficus heterophylla (फिकस् हेटेरोफाइला) या उसके भेद का प्रयोग करते हैं जिसमें सारक गुण न होकर कुछ स्तंभन गुण ही होता है।

(५) कुछ लोग बनफसा को, कुछ पियारांगा या कहीं कहीं ममीरी नाम से भी बिकने वाली थॅलिक्ट्रम् फोलियोलोसम् (Thalictrum foliolosum) की जड़ को त्रायमाणा मानते हैं। ममीरी का नेत्र रोगों में अधिक उपयोग होता है किन्तु त्रायमाणा के गुणों में उसके नेत्र्य होने के संबंध में कुछ भी उल्लेख नहीं है।

पहले कुटकी के साथ जेन्शियाना कुर्रो का वर्णन (पृष्ठ-७१) किया जा चुका है। यहाँ अन्य द्रव्यों का वर्णन किया जा रहा है।

१८७ त्रायमाण (१)

ले०-*Delphinium zalil Aitch. & Hemsl* (डेल्फिनिअम् जलील ऐ., हे.)। Fam. Ranunculaceae (रेनन्क्युलेसी)। हिं-असबर्। बं०-गुड्जलील। पं०-असवर्ग, गाफिस्। इरा०-झलिल् असफ़क्। अ०-झरिर।

अफगानिस्तान, फारस आदि देशों में यह होता है। इसका क्षुप बहुवर्षायु होता है। पत्र-छोटे तथा पीताभ होते हैं। पुष्प-चमकीले, पीले रंग के मृदुरोमश तथा उनके नीचे कोमल कांटे रहते हैं। फल-छोटे, शिराओं से युक्त, नोकदार, डंठलदार एवं तीन कोष्ठयुक्त होता है। बीज-कोणयुक्त, हलके भूरे या कपिल रंग के होते हैं। जड़-लंबी होती है। इसके पुष्पयुक्त पंचांग का आयात होता है जो वस्त्र रंगने के काम आता है। यह हलके हरिताभ पीले रंग का एवं ताजी अवस्था में मधु जैसा सुगंधित रहता है।

रासायनिक संगठन—इसमें आइसोर्हॅम्नेटिन् (Isorhamnetin, $C_{16}H_{12}O_7$), क्वेर्सेटिन् (Quercetin) तथा संभवतः केम्फेरोल (Kaempferol) नामक तत्त्व पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह तिक्त, पौष्टिक, मूत्रजनन, कोष्ठवातप्रशमन, आनुलोमिक, दीपन, वेदनाहर एवं अपक्षालक (detergent) है। इससे पित्तस्राव होता है, जिससे पाचन उत्तेजित होता है। भूख लगती है तथा शौच साफ होता है। इसका क्वाथ बनाकर दिया जाता है। अधिक मात्रा से हानि होती है।

इसका प्रयोग कुपचन, आध्मान, अग्निमांद्य, उदरशूल, अर्श, कामला, प्लीहावृद्धि, शोथ, सभी प्रकार के उदर, जीर्णज्वर एवं पित्तज्वर में किया जाता है। पित्तज्वर में इसका अधिक उपयोग करते हैं।

इसकी राख नींबू के रस के साथ मिलाकर या घृत के साथ खुजली आदि त्वचा के रोगों में लगाई जाती है। जव के आटे के साथ इसके पञ्चांग का चूर्ण पकाकर उसकी लुगदी सूजन या फोड़े पर बाँधते हैं।

मात्रा—½-१ तो० क्वाथ बनाकर।

१२८ त्रायमाण (२)

ले०-*Thalictrum foliolosum DC.* थॅलिक्ट्रम् फोलिओलोसम् डीसी.)। Fam. Ranunculaceae (रेनन्क्युलेसी)। हिं०-ममीरा, पीली जड़ी, शुद्रक, चवन्नीगाछ। बं०-गुरवियानि। बंब-ममीरी, पीआरंग। अ०-ममीरा चीनी।

त्रायमाण सदृश कुछ गुण इसमें मिलने के कारण इसको कुछ लोग त्रायमाण मानते हैं। यह नेत्र्य होने के कारण वास्तविक ममीरी Coptis teeta Wall (कॉप्टिस् टीटा वाल्) का प्रतिनिधि भी इसे मानते हैं। पिआरंग नाम से बजार में बिकनेवाला द्रव्य इसी की जड़ है, ऐसा मानते हैं, किन्तु इसमें सन्देह है।

यह हिमालय में सर्वत्र ५००० से ८००० फीट तक एवं खासिआ पहाड़ों पर ४००० से ६००० फीट की ऊँचाई तक होता है। इसका क्षुप-३-४ फीट ऊँचा, बहुवर्षायु तथा दृढ़ होता है। पत्ते-पक्षाकार संयुक्त एवं पत्राधार कोषमय होता है। पत्रक-४·६ मि० मि०, बड़ी चवन्नी की तरह गोलाई लिये हुए तथा धार पर प्रायः गोल दन्तुर होते हैं। पुष्प-श्वेत या हलके हरे रंग के गुच्छे में आते हैं। फल-छोटे, आयताकार, दोनों तरफ नोकीले तथा धारीदार होते हैं।

मूलस्तम्भ—गाँठदार, पतले उपमूलों से युक्त एवं तोड़ने पर पीला होता है। इसका स्वाद कडुवा होता है। इसके मूल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें ८३% बर्बेरीन (Berberine) एवं थॉलिक्ट्राइन् (Thalictrine) नामक तत्त्व होते हैं। मूल में का यह भाग जल में आसानी से घुल जाता है किन्तु मद्यसार में कम घुलता है।

गुण और प्रयोग—यह तिक्त-पौष्टिक, विषमज्वरनाशक, सारक, एवं मूत्रल है। इसका प्रयोग विषमज्वर, अग्निमांद्य, कुपचन एवं रोगनिवृत्ति के पश्चात् की दुर्बलता में करते हैं। नेत्ररोग में इसको घिसकर पलकों पर लेप करते हैं।

मात्रा—२-५ रत्ती।

१२९ त्रायमाण (३)

ले०-*Ficus heterophylla Linn. f.* (फिकस् हेटेरोफाइला लिन); Fam. Moraceae (मोरेसी)। बं०-भुइडुमूर, बालाडुमूर।

इसे बंगीय वैद्य त्रायमाण नाम से प्रयोग में लाते हैं। यह भारत के सभी उष्ण स्थानों में होता है। इसका गुल्म-झाड़दार या कभी-कभी जमीन या चट्टानों पर फैला हुआ होता है। शाखाएँ-मृदुरोमश होती हैं। पत्ते-सनाल, आकार में छोटे बड़े, अण्डाकार या कुछ भालाकार खुरदरे एवं कटे किनारेवाले होते हैं। फल-का अग्र भाग मोटा तथा गोलाकार होता है। बीज-गोलाकार होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके मूल का रस शूल में देते हैं। इसके पत्तों का रस दूध के साथ अतिसार में दिया जाता है। कास, श्वास में इसके मूल की छाल धनिया के साथ चूर्ण रूप में दी जाती है।

अथ मूर्वा। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

मूर्वा मधुरसा देवी मोरटा तेजनी स्रुवा। मधुलिका मधुश्रेणी गोकर्णी पीलुपर्ण्यपि ॥२४४॥
मूर्वा सरा गुरुः स्वादुस्तिक्ता पित्तास्रमेहनुत्। त्रिदोषतृष्णाहृद्रोगकण्डूकुष्ठज्वरापहा ॥२४५॥

मूर्वा के नाम तथा गुण—मूर्वा, मधुरसा, देवी, मोरटा, तेजनी, स्रुवा, मधूलिका, मधुश्रेणी, गोकर्णी और पीलुपर्णी ये सब नाम मूर्वा के हैं। मूर्वा स्वादिष्ट, तिक्त रसयुक्त, सारक, गुरु एवं पित्तरक्त, प्रमेह, त्रिदोष, तृषा, हृद्रोग, कण्डू (खुजली), कुष्ठ तथा ज्वर को दूर करने वाली होती है॥

मूर्वा एक संदिग्ध द्रव्य है। अनेक स्थानों पर विभिन्न प्रयोगों में मूर्वा का उल्लेख मिलता है। सुश्रुत के टीकाकार डल्हण के समय ही यह द्रव्य संदिग्ध रहा है ऐसा उनकी टीका से मालूम होता है। क्योंकि उन्होंने उसके परिचय में निम्न तीन प्रकार के मतों का विभिन्न स्थानों पर वर्णन किया है।

(१) मूर्वा चोरस्नायुः, यथा पूर्वदेशे गुणान् कुर्वन्ति धनुषाम् (सु· सू. अ. २२);
मूर्वा कन्दलीसदृशः स्वल्पविटपः 'एगौड़' इति लोके। (सु. सू. अ. २९)

(२) मूर्वा धनुर्गुणोपयोग्या 'दुधऊ' इति लोके।

(३) अन्ये कोविदारयुग्मपत्रां लताविशेषां मूर्वामाचक्षते।

इन वचनों से ऐसा मालूम पड़ता है कि प्रथम एवं द्वितीय मत उन्हें कुछ मान्य थे और तृतीय मत स्वीकार्य नहीं था। इसी प्रकार श्रीकण्ठ (सन् १२००–१२५०) ने 'मूर्वा स्वनामख्याता तदभावे जिङ्गलमूलम्' लिखा है जिससे यह अनुभव होता है कि उनके समय में भी यह द्रव्य सन्दिग्ध रहा है।

विभिन्न निघण्टुओं के अनुसार मूर्वा मधुर, तिक्त, सर, गुरु, त्रिदोषशामक एवं ज्वर, प्रमेह, हृद्रोग, कुष्ठ, वमन एवं पाण्डु रोग में लाभदायक है। सुश्रुत में आरग्वधादिगण, पटोलादिगण, पित्तसंशमन वर्ग एवं विरेचन विकल्प अध्याय में इसका उल्लेख है। चरक में तृप्तिघ्न, स्तन्यशोधन, दशेमानि में एवं तिक्तस्कन्ध में इसका पाठ है। क्षीरशोधन एवं वमनोपग द्रव्य के रूप में भी इसका उल्लेख है।

इसके स्वरूप-वर्णन से ऐसा मालूम होता है कि यह कोई मजबूत रेशेवाली लता विशेष होगी जिसका मौर्वी आदि बनाने में उपयोग किया जाता रहा है। विभिन्न निघण्टुओं ने इसके रूप-परिचयात्मक जो नाम दिये हैं वे सम्भवतः एक ही वनस्पति के लिये नहीं हैं। आज मूर्वा नाम से ली जानेवाली वनस्पतियों में से किसी में एक तो दूसरी में दूसरा नाम सार्थक मालूम पड़ता है। सम्भव है कि प्रत्यक्षतः न देखने के कारण विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रयुक्त सभी नामों को एक साथ पर्याय में लिख दिया गया है। इसी प्रकार मोरटा को कुछ निघण्टुकारों ने इसके पर्याय में लिखा है और कुछ ने मूर्वा-विशेष कहकर दूसरे द्रव्य के रूप में भी उल्लेख किया है।

निम्नलिखित द्रव्यों का मूर्वा नाम से प्रयोग हो रहा है।

(१) मरुआबेल, चिन्हार—सम्भवतः डल्हण ने इसे ही-धनुर्गुणोपयोग्या 'दुधऊ' इति लोके-कहा है। अतिरसा, गोकर्णी, स्रुवा आदि पर्याय इसके लिये उचित मालूम पड़ते हैं। यह क्षीरबहुल-लता होती है। रॉक्सबर्ग के मतानुसार वनस्पति सृष्टि में अत्यन्त मजबूत रेशों में इसके काण्डत्वक् के निकाले हुये रेशों की गणना की जानी चाहिये। इसके स्थानिक थारू नाम मारवो या मरुआबेल मूर्वा से मिलते-जुलते मालूम पड़ते हैं। इसमें मूर्वा के गुण भी मिलते हैं। इन्हीं आधारों से श्री ठा० बलवन्तसिंहजी ने इसे मूर्वा माना है।

(२) वंगीय मूर्वा—यह डल्हणोक्त प्रथम द्रव्य चोरस्नायु या एगौड़ मालूम पड़ता है। इसे बंगाल के वैद्य मूर्वा मानते हैं।

(३) मालझन, मालुआ बेल—सम्भवतः यही डल्हणोक्त कोविदारयुग्मपत्रा वा अन्योक्त पृथक्पर्णी है जिसकी बड़ी विस्तृत लतायें होती हैं तथा पत्ते कचनार जैसे द्विविभक्त होते हैं।

(४) मोरबेल, रानजाई—बम्बई के तरफ इसको मूर्वा मानते हैं। इसके लिये त्रिपर्णी नाम सार्थक मालूम पड़ता है।

(५) सुगन्धरी, मोरहरी—चित्रकूट में यह मुरहरी नाम से प्रसिद्ध है। मधुरसा, पीलुपर्णी, तेजनी आदि पर्याय इसके लिये उपयुक्त प्रतीत होते हैं। सम्भवतः डल्हण-निर्णीत मोरटा यह हो।

(६) मरोडफली—इसके ऐंठे हुये फलों को उत्तरप्रदेश में मूर्वा नाम से लिया जाता है जो वास्तव में 'आवर्तनी' है न कि मूर्वा।

संक्षेप में प्रत्येक का स्वतन्त्र वर्णन यहाँ किया जा रहा है। इनमें से चिन्हार की मूर्वा होने की अधिक सम्भावना है।

१३० मूर्वा (१)

मिर्जापुर–जरतोर, चिन्हार। थारू–मारवी, मरूआबेल। खर–सिटी, चिटी। संथा–कोंगा, सिटकी। ले०–*Marsdenia tenacissima. W. & A.* (मार्सडेनिया टेनॅसिस्सिमा)। Fam. Asclepiadaceae (एस्क्लेपिएडॅसी)।

यह दून के खैर के जंगल, हिमालय के नीचे का भाग तथा बिहार में प्रायः शुष्क पर्वत-मालाओं एवं झाड़ीदार जंगलों में पाई जाती है।

इसकी लता–मोटी, मजबूत काण्ड की, दुग्धयुक्त एवं चक्रारोही होती है। इसका नवीन भाग रोमश एवं काण्डत्वक् धूसर, कार्कयुक्त एवं नालीदार होता है। पत्ते–४-६ इञ्च लम्बे, ३-४ इञ्च चौड़े स्पर्श में मखमली तलवाले, चौड़ाई लिये हुये लट्वाकार, लम्बाग्र एवं आधार की तरफ फलकमूल यकायक बहुत गहरा फटा हुआ हृद्वत् होता है। पत्रनाल–२·५ इञ्च लम्बा होता है। पुष्प–हरित-पीत प्रायः दुर्गन्धयुक्त एवं गुच्छों में आते हैं। फली–४·५-५ इञ्च लम्बी एवं व्यास में १·२-१·४ इञ्च, रोमश और आधार से एक तिहाई दूरी पर सबसे अधिक मोटी होती है।

नवीन शाखाओं की त्वचा से सफेद रेशम जैसे रेशे निकलते हैं जिनसे मछली मारने की रस्सी एवं धनुष की डोरी (मौर्वी) बनाई जाती है। यह विषमज्वर में बहुत उपयोगी बतलायी जाती है। इसका मूल तथा काण्ड सफेद निसोथ (श्वेत त्रिवृत) के नाम से बाजार में बिकता है। (ठा० बलवन्तसिंह)

इसकी एक दूसरी उपजाति M. hamiltonii, Wight (मॉ. हमिल्टोनाई) भी मिलती है जिसे मोरन जड़ा भी कहीं-कहीं कहते हैं। इसमें पुष्प छोटे और आभ्यन्तर कोश बाहर से सफेद होते हैं।

लाखन—नामक एक और इसी वर्ग की बड़ी लता होती है जिसे लकवा में बहुत लाभदायक समझा जाता है। इसका ले० नाम Dregia volubilis Benth. ex Hook. f. (ड्रेगिया वॉल्यूबिलिस्) है।

१३१ मूर्वा (२)

सं०–चोरस्नायु ? बं०, म०–चणरूप। बं–गोराचक्र, मूर्वा। उ० प्र०–नागदमन। ले०–*Sansevieria roxburghiana Schult.* (सॅन्सेवेरिया रॉक्सबर्घियाना शु०); Fam. Haemodoraceae (हिमोडोरॅसी)।

यह कारोमंडल तट पर पाया जाता है। बगीचों में गमलों में यह लगाया हुआ मिलता है।

इसमें जमीन के नीचे दिगन्तसम फैला हुआ अन्तर्भूमिशायी काण्ड होता है, जिससे जगह-जगह पत्रगुच्छ ऊपर निकले रहते हैं।

पत्ते–खड़े, १२–१८" लम्बे, १–१·३" चौड़े, अधरतल पर उन्नतोदर, बीच में सबसे अधिक चौड़े, दोनों तटों पर श्वेताभ पट्टियों से युक्त होने के कारण चित्रित एवं इनका अग्र तीक्ष्ण, कठोर एवं १ इञ्च लम्बा होता है। पत्तों के बीच से पुष्पध्वज–निकलता है। व्यूह सवृन्त काण्डज, घना १२"×२" बड़ा एवं पुष्प २–३ एक साथ उन्नत स्थानों से निकलते हैं।

इससे भी मजबूत रेशे निकलते हैं, जिनका मौर्वी बनाने में उपयोग होता है। पूर्वी भारत, बंगाल एवं उड़ीसा में इसका मूर्वा के नाम से प्रयोग कहीं-कहीं होता है।

इसके पत्र एवं मूल का चिकित्सा में उपयोग होता है।

गुण और प्रयोग—पुरानी खाँसी में इसकी जड़ का रस मधु के साथ देते हैं। इसके कोमल पत्तों का रस बच्चों को गले का कफ ढीला होकर निकालने के लिये देते हैं।

१३२ मूर्वा (३)

सं०–कोविदार युग्मपत्रा, पृथक्पर्णी। **हि०**–मालझंन, माहुल, मालो, महुलाइन। **बं०**–चेहुर **ते०**–अड्डा। **था०**–महुलन। **खर०**–महुलान। **संथा**–लमकलर, गोमलर। **उ०**–सियालपत्ता। **ले०**–*Bauhinia vahlii W. & A.* (बौहिनिया वाहली)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह हिमालय के निम्न भागों में ३००० फीट तक एवं आसाम, मध्यप्रदेश तथा बिहार में नम एवं छायादार स्थानों में वृक्षों पर फैली हुई पाई जाती है।

इसकी लता–बहुत बड़ी तथा आरोहणशील होती है। शाखाओं के अग्र पर प्रायः दो-दो सूत्र रहते हैं। नवीन शाखाओं, पत्रनालों एवं पत्तों के अधः पृष्ठों पर रक्ताभ या मखमली रोमावरण होता है। पत्ते– १ से १½ फीट तक चौड़े, चौड़ाई में कभी-कभी अधिक नहीं तो लम्बाई-चौड़ाई में बराबर, द्विखण्डित, खण्ड गहराई तक कटे हुये एवं फलकमूल गहरा, हृद्वत होता है। पुष्प–श्वेत तथा मलाई के रंग के, समस्थ काण्डज व्यूह में आते हैं। फली–कठोर, ६–१२ इञ्च लम्बी, १½–२ इञ्च चौड़ी एवं रोमश होती है।

इसके पत्तों के पत्तल आदि बनाये जाते हैं। छाल के रेशों से रस्सियाँ बनाई जाती हैं। इसकी फलियों को आग में चिटका कर बीज निकाले जाते हैं, जिन्हें खाते हैं।

देहरादून के व्यापारियों द्वारा इसके मूल मूर्वा–नाम से बेचे जाते हैं। डल्हण ने इसका माल नाम से उल्लेख किया है एवं इसे कोविदार सदृश पर्ण वाला कहा है। डल्हण के समय से ही कुछ लोग इसे मूर्वा नाम से प्रयोग करते रहे हैं। किन्तु वह मत डल्हण को मान्य नहीं था क्योंकि अश्मंतक के परिचय में उसके लिये 'मालुया-सदृशपत्रः' लिखा है न कि 'मूर्वासदृशपत्रः'।

इसमें एक गोंद होता है। वाह्यत्वक् में टैनिन की मात्रा १७% एवं काण्ड में ७% होती है।

इसका मूल ज्वरघ्न, फल अतिसारघ्न एवं मूल-स्वरस क्षय में पिलाने के लिये लाभदायक माना जाता है। बीज बल्य माने जाते हैं।

१३३ मूर्वा (४)

हि०–चुरनहार। **उ०**–गोलरंग। **देह०**–बेलकंगु, बेलकम। **म०**–रानजाई। **गु०**–मोरवेल। **ले०**–*Clematis gouriana Roxb.* (क्लेमॅटिस् गोरियाना राक्स.)। Fam. Ranunculaceae (रेनन्क्युलेसी)।

यह पश्चिम हिमालय में ५००० फीट तक एवं भारत के सभी प्रान्तों में १ से ३ हजार फीट तक होती है।

यह लता जाति का एक विस्तृत क्षुप है, जिसकी कई उपजातियाँ इस प्रान्त में पाई जाती हैं। नवीन भाग मृदु रोमश होता है। पत्ते-संयुक्त पक्षवत् होते हैं। पत्रनाल सूत्रसदृश होता है, जिससे ये लताएँ दूसरे वृक्षों पर चढ़ती हैं। पत्रक-अण्डाकार, आयताकार, हृद्वत् तीक्ष्णाग्र, एवं ऊपर से चमकीले होते हैं। पुष्प-प्रायः श्वेत वर्ण के एवं त्रिविभक्त मञ्जरियों में होते हैं। फल-रोमश एवं पंखवद् पुच्छदार होते हैं।

महाराष्ट्र के कुछ लोगों ने इसे मूर्वा माना है, किन्तु इसके किसी भाग से रेशे नहीं निकलते; इसलिये इसे मूर्वा मानना उचित नहीं है। मूर्वा को 'धनुर्गुणोपयोग्या' होना आवश्यक है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक तिक्त विषैला तत्त्व पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह स्रंसन, कुष्ठघ्न एवं स्वेदजनन है। इसके पत्ते तथा ताजे काण्ड को पीसकर चर्म पर लगाने से छाले पड़ते हैं।

उपदंश, गण्डमाला, रक्तपित्त, कुष्ठ एवं खुजली में इसके पञ्चांग का फांट देते हैं। इससे त्वचा की विनिमय-क्रिया ठीक होती है। ज्वर एवं नये सन्धिवात में इससे लाभ होता है।

१३४ मूर्वा (५)

सं०-पीलुपर्णी, मधुरसा, तेजनी, मोरटा। चित्रकूट-मुरहरी। **ता०**-भूमि चक्करे। **ते०**-मोरिनिका। **गु०**-विका। **लै०**-*Maerua arenaria Hook. f. & Th.* (मेरुआ एरेनेरिया हुक.)। Fam. Capparidaceae (कॅपेरिडेसी)।

यह पंजाब, सिंधु, गुजरात, दक्षिण एवं मध्यभारत में होती है।

इसकी आरोही झाड़ीदार लता होती है। पत्र-१ से २ इञ्च लम्बे, $\frac{1}{2}$-१ इञ्च चौड़े, अण्डाकार-आयताकार, कुण्ठिताग्र एवं चिकने होते हैं। पुष्प-हरिताभ श्वेत, समशिख (कोरिम्ब) गुच्छों में आते हैं। फल-हलके भूरे रंग के तथा प्रत्येक बीजों के बीच में संकुचित होते हैं। बीज-भूरे, गोल तथा काँटेदार होते हैं।

इसकी जड़ रसायन, बल्य एवं उत्तेजक मानी जाती है।

१३५ मूर्वा (६)

सं०-मूर्वा, आवर्तनी, आवर्तमाला। **हि०**-मरोडफली, मरोरफली, ऐंठनी, गोमठी। **म०**-केवण, मुरडशेंग। **बं०**-आरमोरा। **गु०**-मरडासिंग, मरडासिंगी। **ता०**-वलंबुरी। **ते०**-आडामति। **लै०**-*Helicteres isora Linn.* (हेलिक्टेरीज आइसोरा लिन,); Fam. Sterculiaceae. (स्टर्क्यूलिएसी)।

यह पश्चिम एवं मध्य भारत के शुष्क जंगलों में, बिहार से लेकर जम्मू तक तथा पश्चिमी पेनिनसुला में पाई जाती है।

इसका गुल्म या छोटा वृक्ष होता है। पत्ते-फालसे की तरह तथा ऊपर से खुरदरे होते हैं, मध्यनाड़ी के भाग असमान होते हैं। शिराएँ-५-७ होती हैं। पुष्प-टेढ़े, अनियताकार तथा लालरंग के होते हैं। फल-१-२ इंच लम्बे ऐंठे हुये तथा पाँच खण्ड युक्त होते हैं। यह पाँच स्त्री-केशरों से बने हुए होते हैं। इनका मूर्वा नाम गलती से प्रयोग किया जा रहा है। इसकी छाल से सफेद दृढ़ रेशे भी निकाले जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह शीतल, कषाय, त्रिदोषघ्न एवं कृमिनाशक है।

इसके फल स्नेहन एवं ग्राही होते हैं तथा बच्चों के मरोड़ एवं आनाह में लाभदायक हैं।

इसकी छाल या फल अतिसार तथा प्रवाहिका में लाभदायक है। शूल में मूल, छाल या फल दिया जाता है। पेट की बीमारियों में इसका चूर्ण भूनकर २½–३ माशे की मात्रा में घृत एवं शर्करा के साथ दिया जाता है।

इसके मूल की छाल का क्वाथ मधुमेह में दिया जाता है। खुजली में इसके फल को घिस कर लेप करने से लाभ होता है।

मात्रा—१½–३ माशा।

अथ काकमाची (मकोय)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

काकमाची ध्वाङ्क्षमाची काकाह्वा चैव वायसी। काकमाची त्रिदोषघ्नी स्निग्धोष्णा स्वरशुक्रदा॥
तिक्ता रसायनी शोथकुष्ठार्शोज्वरमेहजित्। कटुर्नेत्रहिता हिक्काच्छर्दिहृद्रोगनाशिनी॥२४७॥

मकोय के नाम तथा गुण—काकमाची, ध्वाङ्क्षमाची, काकाह्वा और वायसी ये सब नाम मकोय के हैं। मकोय—तिक्त तथा कटुरस युक्त, त्रिदोषनाशक, स्निग्ध, उष्ण, स्वर को ठीक करने वाली, शुक्रजनन, रसायन, नेत्र के लिये हितकर एवं शोथ, कुष्ठ, अर्श (बवासीर), ज्वर, प्रमेह, हिक्का, वमन और हृद्रोग को दूर करने वाली होती है॥ २४६–२४७॥

१३६ मकोय

हि०–मकोय, छोटी मकोय। बं०–काकमाची, गुडकामाई। म०–कानोणी। गु०–पीलुडी। फा०–रूबाहतुर्बुक। अ०–इनबुस्सालव। अं०–Garden Nightshade (गार्डेन नाइटशेड)। ले०–*Solanum nigrum Linn.* (सोलॅनम् नाइग्रम् लिन.)। Fam. Solanaceae (सोलेनॅसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में एवं ८००० फीट तक पश्चिम हिमालय में उत्पन्न होती है।

इसका क्षुप–१–१॥ हाथ तक ऊँचा होता है और शाखायें–सघन होती हैं। यह गर्मी में नष्ट हो जाता है और वर्षा के अन्त में उत्पन्न हो जाड़े में खूब हरा-भरा दिखलाई पड़ता है। इसके पत्ते–अखण्ड, लहरदार या कभी कभी दन्तुर या खण्डित, लट्वाकार, प्रासवत् लट्वाकार या आयताकार, ४×१·७ इञ्च तक बड़े और उनका फलक–प्रायः वृन्त पर नीचे तक फैला रहता है। पुष्प–छोटे, सफेद और पत्रकोण से हट कर निकले हुए पुष्पदंड पर समस्थ मूर्धज क्रम में निकले रहते हैं। फल–गोल और पकने पर काले हो जाते हैं। कभी-कभी लाल या पीले भी होते हैं।

इसके फल एवं पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। चरक में तिक्तस्कन्ध में इसका पाठ है। इसके शाक का प्रयोग चरक ने वातरक्त, अर्श, ऊरुस्तम्भ आदि में किया है।

रासायनिक संगठन—इसमें सोलेनिन (Solanin) नामक एक क्षाराभ पाया जाता है। इसके अतिरिक्त सॅपोनिन् भी इसमें होता है। इसमें का विषैला द्रव्य बहुत अल्प मात्रा में इसमें होता है। इसकी विषाक्तता की परीक्षा करने के लिए भेड़ों को खिला कर देखा गया है।

गुण और प्रयोग—यह त्रिदोषशामक, अनुष्णशीत, तिक्त, कटु, रसायन, कुष्ठघ्न, भेदन (सारक), मूत्रजनन, वृष्य, स्वेदजनन एवं वेदनाहर है। इसके ताजे पत्तों का स्वरस गरम करके दिया जाता है। इसके फल ज्वर, अतिसार, नेत्ररोग एवं हृद्रोग में लाभदायक हैं।

इसका प्रयोग शोथ, कुष्ठ, नेत्र रोग, हृद्रोग, जीर्णयकृत्-वृद्धि, रक्तष्ठीवन, अर्श, ज्वर एवं कंडू में किया जाता है।

(१) इसका प्रधान कार्य यकृत् पर होता है। जीर्ण यकृत्वृद्धि, अर्श, उदर, रक्तष्ठीवन, चर्मरोग तथा आंव आदि यकृत् विकार के कारण होने वाले रोगों में इससे लाभ होता है। इससे शौच साफ होता है तथा मूत्र द्वारा भी दोष निकलते हैं।

(२) जीर्ण चर्म रोग विशेषकर कंडू, सोराइसिस् (Psoriasis) तथा दाद में इसके कोमल कांड तथा पत्तों का शाक खिलाते हैं एवं पत्रलेप भी करते हैं।

(३) किसी भी प्रकार के शोथ में इसका बाह्यान्तर प्रयोग लाभदायक है। इसका शाक शोथ में खिलाते हैं। जलशोथ में इसका स्वरस अधिक मात्रा में दिया जाता है।

मात्रा—स्वरस १-२ तोला।

अथ काकनासा। तस्या नामगुणानाह

काकनासा तु काकाङ्गी काकतुण्डफला च सा ॥ २४८ ॥
काकनासा कषायोष्णा कटुका रसपाकयोः।
कफघ्नी वामनी तिक्ता शोथार्शश्वित्रकुष्ठहृत् ॥ २४९ ॥

काकनासा के नाम तथा गुण—काकनासा, काकाङ्गी और काकतुण्डफला ये नाम काकनासा के हैं। काकनासा—कषाय, कटु तथा तिक्त रसयुक्त, उष्णवीर्य, विपाक में कटु रसयुक्त, कफनाशक, वमन कराने वाली एवं शोथ, अर्श, सफेद कुष्ठ को दूर करने वाली होती है ॥ २४८-२४९ ॥

काकनासा संदिग्ध द्रव्य है। कई वनस्पतियों के फलों को जो काक तुण्ड सदृश दिखलाई देते हैं, काकनासा नाम से ग्रहण किया जाता है। चरक में मधुर स्कन्ध में तथा च्यवनप्राश में इसका उल्लेख है। कासचिकित्सा के त्र्यूषणादि घृत में एवं अपस्मार, योनिरोग आदि की चिकित्सा में उल्लेख है। सुश्रुत में अनुवासनवस्ति-द्रव्यों में इसका उल्लेख है। चक्रपाणि एवं डल्हण की टीकाओं में इसे 'वायसफला' लिखा हुवा है। अन्य टीकाकारों ने इसका प्रादेशिक नाम कौवाटोटी, कौवाठोडी, कौवाडोडी आदि दिया है। कहीं-कहीं काकनासा एवं काकजंघा ये एक दूसरे के पर्याय दिये हैं, जो उचित नहीं मालूम होता। इस वनस्पति के निर्णय में काकतुण्डवत् फल का होना आवश्यक है। साथ ही इसमें उष्ण, कटु, कफनाशक, वामक एवं चर्मरोगनाशक गुण भी होना आवश्यक है। अर्वाचीन निघंटुकारों एवं टीकाकारों ने जिन विभिन्न वनस्पतियों का उल्लेख कौवाटोडी या काकनासा नाम से किया है उनमें अधिकांश विदेशी वनस्पतियां हैं जो कुछ काल से यहां भी प्रचुर होने लग गई हैं। काकनासा तो चरक-सुश्रुत के समय से चली आ रही है ऐसी अवस्था में इन्हें काकनासा मानना कहाँ तक उचित होगा? काकनासा के स्थान पर ली जाने वाली कुछ वनस्पतियों का संक्षेप में यहाँ वर्णन किया गया है। पटोलभेद, कौआरोटी, ले०-*Trichosanthes cucumerina Linn.* (ट्राइकोसॅन्थिस् क्युकुमेरिना लिन.) के फल पकने पर कौवे खाते हैं इसलिये कुछ लोग इसके काकनासा होने का अनुमान करते हैं। इसका वणन पटोल के साथ किया गया है। कुछ लोगों ने Pentatropis microphylla W. & A. (पेन्टाट्रोपिस् माइक्रोफाइला); Fam. Asclepiadaceae (एस्क्लेपिएडेसी) को तथा कुछ ने बृहती (Solanum indicum Linn. सोलेनम् इण्डिकम्) को काकनासा माना है।

१३७ काकनासा (१)

ले०-*Asclepias curassavica Linn.* (एस्क्लेपिअस् कुरेसॅविका लिन.): Fam. Asclepiadaceae (एस्क्लेपिएडेसी)। सं०-काकतुण्डी, रक्तपुष्पा । बं०-कुरकी, कुर्की। पं०-काकतुण्डी । अं०-Bastard Ipecacuanha (बॅस्टर्ड इपेकॅक्युआन्हा)।

यह वेस्ट इण्डीज का विदेशी पौधा है किन्तु अब बागों में तथा गावों के आस-पास मिलता है।

इसका क्षुप-स्वावलम्बी तथा २ फीट ऊँचा होता है। पत्र-आमने-सामने, २-३ इञ्च लम्बे, भालाकार या आयताकार-भालाकार होते हैं। पुष्प-नारङ्ग या (स्कारलेट) रक्त रंग के गुच्छों में आते हैं। फली-दो-दो एक साथ, ३ इञ्च लम्बी तथा काकतुण्ड सदृश होती है। जड़-बहुत, पतली, हलके पीले रंग की तथा भीतर से श्वेत रहती है। स्वाद कडुवा तथा तीता होता है। इसमें दुग्ध होता है। इसकी जड़, पञ्चांग एवं पत्र का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पञ्चांग में एस्क्लेपिॲडिन् (Asclepiadin) नामक एक ग्लुकोसाइड होता है। इसकी जड़ में विंसेटॉक्सिन (Vincetoxin) नामक द्रव्य होता है जिसकी क्रिया इमेटीन (Emetine) सदृश होती है।

गुण और प्रयोग—इसके कार्यकारी तत्त्व की क्रिया इमेटीन सदृश होती है। अर्क से भी इसका सादृश्य है। इससे रक्तवाहिनियों का संकोच एवं बड़ी धमनियों का विस्फार होता है। हृदय के लिये यह अवसादक है। अल्प मात्रा में यह आमाशय उत्तेजक, यकृत के लिये उत्तेजक, पित्तस्रावक, स्वेदजनन एवं कफघ्न है। अधिक मात्रा में यह वामक एवं विरेचक है।

इसका प्रयोग कृमि, रक्तस्राव, राजयक्ष्मा, सोजाक, आमातिसार तथा अर्श में किया जाता है।

(१) इसके पत्तों या पुष्पों का लेप रक्तस्राव रोकने के लिये करते हैं।

(२) कफविकारों में इसको देने से कफ पतला होकर निकलता है।

(३) सोजाक में इसका क्वाथ ताजा बनाकर देते हैं।

१३८ काकनासा (२)

हि०-बिछुआ। म०-विंचु। बं०-बाघनोकी। ले०-*Martynia diandra Glox.* (मार्टिनिआ डाइएण्ड्रा ग्लोक्स.) Fam. Pedaliaceae (पेडॅलिएसी)।

यह मेक्सिको (Mexico) का आदिवासी होते हुये भी भारत में काफी फैल गया है तथा कूड़े आदि के स्थानों पर होता है।

इसका क्षुप-३, ४ फीट ऊँचा, मोटा, स्पर्श में मृदुरोमश, चिपचिपा तथा भीगा हुआ सा होता है। पत्ते-६-९ इञ्च लम्बे, विपरीत, तांबूलाकार, दूर-दूर पर दन्तुर एवं तट पर लहरदार होते हैं एवं इनका पृष्ठ प्रायः ओसकणों के समान एक चिपचिपे पदार्थ के सूक्ष्म बिन्दुओं से ढका रहता है। फूल-३-४ इञ्च लम्बी और अग्रग मंजरियों में नीचे की ओर लटके हुये, गुलाबी या गहरे बैंगनी रंग के एवं आकार में तिलपुष्प के समान होते हैं। फल-काले रङ्ग का, बहुत कठोर, अग्र पर दो तीक्ष्ण एवं टेढ़े कांटों से युक्त होता है। इन फलों का भ्रमवश काकनासा या वृश्चिकाली नाम से प्रयोग चल रहा है, जो गलत है। फल का स्वरूप कुछ कुछ बिच्छू के समान होने से तथा बिच्छू के काटने पर इसका लेप उपयोग में आने से इसे बिछुआ कहते हैं।

गुण और प्रयोग—बिच्छू के काटने पर इसके फल को घिस कर लेप करते हैं। भपके से फल का निकाला हुआ तैल पामा आदि चर्म रोगों में उपयोगी बतलाया गया है। इसके पत्तों को अपस्मार में प्रयोग करते हैं तथा अपची में लेप करते हैं।

१३९ काकनासा (२)

ले०-*Thunbergia alata Boj.* (थन्बर्जिआ एलेटा); Fam. Acanthaceae (एकेन्थेसी)।

यह लता संभवतः अफ्रीका की आदिवासी है। अपने यहाँ उद्यानों में लगाई हुई पाई जाती है।

इसकी लता पतली तथा आरोही होती है। पत्ते-मृदुरोमश, लट्वाकार, हृदयाकार, एवं वृन्त प्रायः सपंख रहता है। पुष्प-पीत या श्वेताभ एवं भूरे या बैंगनी रंग की आँख से युक्त होते हैं। फल-काकतुण्ड सदृश होते हैं। कुछ लोग इसे काकनासा मानते हैं।

अथ काकजङ्घा। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

काकजङ्घा नदीकान्ता काकतिक्ता सुलोमशा। पारावतपदी दासी काका चापि प्रकीर्त्तिता॥
काकजंघा हिमा तिक्ता कषाया कफपित्तजित्। निहन्ति ज्वरपित्तास्रज्वरकण्डूविषक्रिमीन्॥

काकजङ्घा के नाम तथा गुण—काकजङ्घा, नदीकान्ता, काकतिक्ता, सुलोमशा, पारावतपदी, दासी और काका ये सब नाम काकजङ्घा के हैं। काकजङ्घा-शीतवीर्य, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त एवं कफ, पित्त, ज्वर, रक्तपित्त, व्रण (घाव), कण्डू (खुजली), विष और क्रिमि को दूर करनेवाली होती हैं॥ २५०-२५१॥

नोट-काकजङ्घा के स्थान पर उत्तर प्रदेश में मसी का ग्रहण किया जाता है किन्तु यह निःसंदिग्ध रूप से काकजङ्घा नहीं माना जा सकता। डॉ० देसाई ने Leea hirta (लीआ हिर्टा) को काकजङ्घा माना है। श्री डा. बलवन्तसिंह जी ने 'सिमजंगा' नामक वृक्ष की तरफ ध्यान आकर्षित किया है क्योंकि उसके स्थानिक नाम तथा गुण काकजङ्घा से मिलते-जुलते हैं। शास्त्रीय गुणों की दृष्टि से काकजङ्घा विषमज्वरनाशक, कफ-पित्तशामक, तिक्त, चर्मरोगनाशक एवं रक्तपित्त, बाधिर्य, क्षत, विष, एवं कृमि में लाभदायक होनी चाहिये। रा. नि. एवं ध. नि. इसे उष्ण मानते हैं। काकनासा, काकजङ्घा, काकमाची आदि काकसम्बन्धी वनस्पतियों का उल्लेख ग्रन्थों में आया है और टीकाकारों ने कहीं २ एक को दूसरे का पर्याय बतलाया है।

१४० काकजङ्घा (१)

हि०-काकजंघा, मसी। बं०-नासकागा। म०-रान किरायता। ले०-*Peristrophe bicalyculata Nees* (पेरिस्ट्रोफ बाईकेलीक्युलेटा नीस्)। Fam. Acanthaceae (एकेन्थेसी)।

यह सर्वत्र पाया जाता है। इसका क्षुप-३-६ फीट ऊँचा एवं शाखायें-प्रसरणशील होती हैं। काण्ड-षट्कोण एवं सन्धियाँ फूली हुई रहती हैं। पत्ते-रोमश, नोक वाले तथा नीचे बड़े एवं ऊपर छोटे होते हैं। नीचे के पत्ते ४·२५" × २·७५" होते हैं। पुष्पवाहक शाखाएँ अत्यन्त शाखाओं से युक्त और अन्तिम छोटी २ शाखाएँ केवल दो २ पुष्पों वाली होती हैं जिनमें प्रायः एक पुष्प अर्ध विकसित रहता है। पुष्प-छोटे, गुलाबी या जामुनी रंग के आते हैं।

गुण और प्रयोग—काकजंघा के स्थान पर उत्तरप्रदेश में इसी का व्यवहार किया जा रहा है। किन्तु इसके काकजंघा होने में सन्देह है। इसको सर्पविष में उपयोगी बतलाया जाता है।

१४१ काकजंघा (२)

सं०-काकजंघा। हि०-चिरईगोड़ा, मिजुरगोरवा। असा०-ओसाई। बं०-बोरूना गोडा। ले०-*Vitex peduncularis Wall.* (वाइटेक्स पेडन्क्युलेरिस् वाल.)। Fam. Verbenaceae (वर्बिनेसी)।

यह बिहार, मध्यप्रदेश, आसाम तथा पूर्वी बंगाल से तेनासरिम् तक होता है।

इसके वृक्ष-छोटे २०, २५ फीट ऊँचे, एवं शाखाएँ मृदुरोमश होती हैं। पत्ते-संयुक्त एवं त्रिपत्रक होते हैं। पत्रक-लम्बे, भालाकार, ४·५"×१" बड़े, नोकीले, अधरतल पर सूक्ष्म पीतवर्ण की ग्रन्थियों से युक्त होते हैं। वृन्त प्रायः सपक्ष होते हैं। पुष्प-६-११ इञ्च लम्बी मञ्जरियों में श्वेतवर्ण के तथा कण्ठ में पीले पुष्प आते हैं। फल-मांसल, गुठलीदार एवं ·३५-·४ इञ्च बड़ा होता है।

इसके पत्तों का व्यवहार किया जाता है। इसकी एक अन्य जाति V. leucoxylon Linn. (वा ल्यूकोक्साइलोन् लिन.) पायी जाती है।

इनके स्थानिक नाम सिमजंघा, मुरगी-गोडा, चिरई गोडा आदि काकजंघा के समानार्थक मालूम पड़ते हैं तथा इसका जंगली लोग विशिष्ट विषमज्वर Blackwater Fever (ब्लॅक वाटर फीवर) में प्रयोग भी करते हैं। काकजंघा को शास्त्रकारों ने विषमज्वर में उपयोगी बतलाया है। वरुण वृक्ष के पत्तों की तरह इसकी त्रिपत्रक पत्तियाँ होने के कारण इसे कहीं-कहीं वरुना भी कहते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में एक उड़नशील तैल, अधिक मात्रा में टॅनिन्, गोंददार पदार्थ एवं कुछ ग्लूकोसाइड सदृश पदार्थ होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके पत्तों का फांट मलेरिया जैसे ज्वरों में विशेषकर Blackwater fever (ब्लॅक वाटर फीवर) में प्रयोग किया जाता है। दो औंस ताजे या छाया में सुखाये पत्तों को ४० औंस जल में ५।१० मिनट उबाल कर १ घंटा सीझने देते हैं। चाय की तरह बना यह फांट कुछ चीनी मिला कर दिन भर में ८ से १० औंस की मात्रा में दिया जाता है।

१४२ काकजंघा (३)

सं०, हि०, बं०, म०-काकजंघा। ले०-*Leea hirta Roxb.* (लीआ हिर्टा राक्स.)। Fam. Vitaceae (विटेसी)।

यह सिक्किम हिमालय, आसाम, पूर्व बंगाल, सिलहट एवं अण्डमान में होती है। इसकी १·२-३ मी. ऊँची झाड़ी होती है। नये काण्ड मृदुरोमश; पत्ते-संयुक्त; पत्रक-७·५-१८×२·५-४·५ से. मी., आयताकार या अण्डाकार-आयताकार, लम्बाग्र, असम दन्तुर, रोमश, अधोपृष्ठ गोल, चिपटे, चकत्तों से युक्त एवं पत्रदण्ड कोणदार; पुष्प-श्वेत मंजरियों में; फल-६ मि० मि० व्यास के, दबे हुवे गोल एवं पकने पर काले होते हैं। इसकी जड़ को चिकित्सा में व्यवहार करते हैं।

गुण और प्रयोग—यह स्नेहन तथा संग्राहक है। इसके पंचांग में क्षयनाशक गुण भी पाया गया है।

अथ नागपुष्पी। तस्या नामानि गुणांश्चाह

नागपुष्पी श्वेतपुष्पा नागिनी रामदूतिका। नागिनी रोचनी तिक्ता तीक्ष्णोष्णा कफपित्तनुत्।
विनिहन्ति विषं शूलं योनिदोषवमिक्रिमीन् ॥ २५२ ॥

नागपुष्पी के नाम तथा गुण—नागपुष्पी, श्वेतपुष्पा, नागिनी और रामदूतिका ये नाम नागपुष्पी के हैं। नागपुष्पी—तिक्त रसयुक्त, रोचक, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य एवं कफ, पित्त, विष, शूल, योनिसम्बन्धी दोष, वमन तथा क्रिमि को नष्ट करने वाली होती है ॥ २५२ ॥

१४३ नागपुष्पी

हि०-नागपुष्पी । म०-नागाली ।

नागपुष्पी लता जाति की वनौषधि जङ्गल में वृक्षों पर फैली हुई रहती है। एक २ शाखा में एक २ पत्ता होता है। फूल-सफेद और काले रंग के होते हैं। बेल के नीचे कन्द बैठता है। उपर्युक्त वर्णन सुना जाता है किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से इसका निर्णय अभी नहीं हो सका है। नागपुष्पी का उल्लेख रा. नि., ध. नि. में नहीं मिलता। चिकित्सा में भी इसका विशेष प्रयोग नहीं होता।

अथ मेषशृंगी (मेढाशिङ्गी)। तस्या नामानि तत्फलस्य च गुणाँश्चाह

मेषश्रृङ्गी विषाणी स्यान्मेषवल्ल्यजश्रृङ्गिका। मेषश्रृङ्गी रसे तिक्ता वातला श्वासकासहृत् ॥
रूक्षा पाके कटुः पित्तव्रणश्लेष्माक्षिशूलनुत् ॥ २५४ ॥
मेषश्रृङ्गीफलं तिक्तं कुष्ठमेहकफप्रणुत्। दीपनं स्रंसनं कासक्रिमिव्रणविषापहम् ॥ २५५ ॥

मेढ़ाशिंगी के नाम तथा गुण—मेषश्रृङ्गी, विषाणी, मेषवल्ली और अजश्रृङ्गिका ये सब संस्कृत नाम हैं। मेढ़ाशिंगी-तिक्त रसयुक्त, वातकारक, रूक्ष, विपाक में कटु रसयुक्त एवं श्वास, कास, पित्त, व्रण, कफ और नेत्रशूल को दूर करने वाली होती है। मेढ़ाशिंगी का फल—तिक्त रसयुक्त, अग्निदीपक, स्रंसन एवं कुष्ठ, प्रमेह, कफ, कास, कृमि, व्रण और विष को नष्ट करने वाला होता है ॥ २५३-२५५ ॥

नोट—मेषश्रृङ्गी भी सन्दिग्ध द्रव्य है। अधिकांश विद्वानों ने 'गुडमार' को मेषश्रृङ्गी माना है। कुछ ने 'मरोडफली' को मेषश्रृङ्गी माना है। मरोडफली को कुछ मूर्वा के स्थान पर ग्रहण करते हैं जिसका पहले मूर्वा के अन्तर्गत वर्णन किया जा चुका है। मेषश्रृङ्गी का सुश्रुत में वरुणादिगण एवं सालसारादिगण में उल्लेख है। सुश्रुत में वरुणादिगण में अजश्रृङ्गी एवं मेषश्रृङ्गी दोनों का एक जगह पाठ किया है इससे ये दो अलग द्रव्य मालूम पड़ते हैं किन्तु भावप्रकाश एवं ध. नि. दोनों का पर्याय के रूप में उल्लेख करते हैं। चरक में तिल्वक कल्प एवं शीतज्वरोक्त अगुर्वादि तैल में उल्लेख है। सुश्रुत ने विष एवं अक्षिविकार में इसका प्रयोग किया है। यहाँ गुडमार का संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है।

१४४ मेढ़ाशिंगी

सं०-मधुनाशिनी। हि०-मेढ़ासिंगी, गुडमार। बं०-मेषसिंगी। म०-मेढ़ाशिंगी, कावकी। ता०-शिरुकुरंज। ते०-पोडापत्री। ले०-*Gymnema sylvestre R. Br.* (जिमनेमा सिल्वेस्ट्रे)। Fam. Asclepiadaceae (एस्क्लेपिएडेसी)।

यह कोंकण, त्रावणकोर, गोवा, दक्षिण भारत में विशेष रूप से होती है। बिहार एवं उ० प्र० में भी कहीं-कहीं मिलती है तथा बागों में लगाई हुई पाई जाती है।

इसकी लता—चक्रारोही, पतले काण्ड की, काष्ठमय, रोमश तथा बहुत फैली हुई होती है। पत्ते-अभिमुख, अण्डाकार-आयताकार या लट्वाकार, कभी-कभी हृद्वत्, १-२ इञ्च लम्बे, कभी-कभी ३ इञ्च लम्बे, नोकदार एवं मृदुरोमश होते हैं। पुष्प-सूक्ष्म, पीले, समस्थ मूर्धजक्रम में निकले

हुए एवं आभ्यन्तर कोश घण्टिकाकार-चक्राकार होते हैं। फली-२-३ इञ्च लम्बी, '२-'३ इञ्च मोटी, कठोर, मालाकर क्रमशः नोकीली होती है। दो में से प्रायः एक फली का विकास नहीं होता। इसके सर्वांग में दूध होता है। मूल-१-½ इञ्च मोटा तथा बाहर से मुलायम एवं उस पर बीच-बीच में सीधी, लंबाई में गढ़ेदार नालियां होती हैं। मूल सूखने पर छाल पतली होकर आड़े-बल में फट जाती है। इसका स्वाद साधारण कड़वा होता है।

इसकी पत्तियों को चबाने से जीभ की स्वाद ग्रहणशक्ति नष्ट हो जाती है जिससे १-२ घण्टे तक मधुर तथा तिक्तरस का स्वाद नहीं मालूम पड़ता। इसी से इसे गुडमार या मधुनाशिनी कहते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें Gymnemic acid (जिम्नेमिक् एसिड) नामक एक पदार्थ होता है। पत्तों में ॲन्थ्राक्विनोन कम्पाउण्ड (Anthraquinone compound) होता है।

गुण और प्रयोग—इसके गुण इपिकाक तथा उतरण जैसे हैं। यह कफघ्न तथा वामक है। इसके पत्तों के सेवन से मधुमेह में लाभ होता है।

(१) मधुमेह में इसके पत्तों को चबाने से या इसके पत्र चूर्ण को १-२ माशे की मात्रा में गोदुग्ध वा मधु के साथ सेवन से लाभ होता है।

(२) जड़ की छाल से हृल्लास, स्वेदोत्पत्ति एवं अधिक मात्रा (१५-३० र०) से वमन होता है। इससे कफ निकलता है एवं शरीर पीड़ा कम होती है।

(३) सर्पदंश में मूल का क्वाथ पिलाते हैं तथा लेप करते हैं जिससे वमन, विरेचन होकर विष कम होता है। बाद में उत्तेजक औषधियाँ देते हैं।

(४) पत्तों को पीसकर सूजन तथा व्रण पर लेप करते हैं।

मात्रा—पत्रचूर्ण १-२ माशा, मूलत्वक् १-२ र० कफघ्न, १५-३० र० वामक।

अथ हंसपदी (हंसराज)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

हंसपादी हंसपदी कीटमाता त्रिपादिका। हंसपादी गुरुः शीता हन्ति रक्तविषव्रणान्।
विसर्पदाहातीसारलूताभूताग्निरोहिणीः॥ २५६॥

हंसराज के नाम तथा गुण—हंसपादी, हंसपदी, कीटमाता और त्रिपादिका ये संस्कृत नाम हंसराज के हैं। हंसराज—गुरु, शीतवीर्य एवं रक्तविकार, विष, व्रण, विसर्प, दाह, अतीसार, लूता-विष, भूतग्रह और अग्निरोहिणी (कक्षास्फोट) को दूर करती है॥ २५६॥

१४५ हंसराज

हि०-हंसपदी, समलपत्ती, हंसराज, गोधापदी। **बं०**-गोयलिया लता, कालीसाइ। **गु०**-हंस-राजा। **म०**-हंसपदी, हंसराजा। **फा०**-परसा उशां, परस्यां वशां। **अ०**-शारूजीनां, शारूल अर्ज। **अं०**-Maiden hair (मैडेन हेयर)। **ले०**-*Adiantum lunulatum Burm.* (एडी-एण्टम् लुनुलेटम् बर्म.)। Fam. Polypodiaceae (पॉलिपोडिएसी)।

यह उत्तरी भारत के आर्द्र स्थानों में एवं दक्षिण के पश्चिमी मैदानों तथा पहाड़ियों के निचले भागों में होती है।

यह वनस्पति सुन्दर तथा छोटी होती है। इसमें अन्तर्भूमिशायी कांड होता है। इससे केवल पत्ते बाहर निकले रहते हैं। पत्रदण्ड काला, चमकीला होता है। पत्रक-कुछ-कुछ वृत्ताकार या अण्डाकार, आयताकार, '५-१'३ इंच लम्बे, अग्र की ओर का किनारा सरल और आधार की

ओर का किनारा घुमावदार होता है। इसमें पुष्प नहीं होते। अधर तल के किनारे पर बीजाणु कोष (Sporagia) होते हैं। इसका चरक में कण्ठ्य महाकषाय, मधुर स्कन्ध तथा सुश्रुत में विदारिगन्धादि गण में पाठ है। चिकित्सा में पंचांग का व्यवहार किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह मधुर, शीत, कण्ठ्य, कुछ ग्राही, कफघ्न एवं कुछ मूत्रजनन है। अधिक मात्रा से वमन होता है। इसका प्रयोग ज्वर, रक्तविकार, विसर्प, विषविकार एवं कण्ठ विकार में करते हैं। बच्चों के कास में इससे लाभ होता है। इसके पंचांग का शरबत बना कर ½–१ तो० की मात्रा में प्रयोग करते हैं।

मात्रा—१०-२० रत्ती।

अथ सोमलता। तस्या नामगुणानाह

सोमवल्ली सोमलता सोमक्षीरी द्विजप्रिया। सोमवल्ली त्रिदोषघ्नी कटुस्तिक्ता रसायनी॥

सोमलता के नाम तथा गुण—सोमवल्ली, सोमलता, सोमक्षीरी और द्विजप्रिया ये सब सोमलता के पर्यायवाची शब्द हैं। सोमलता-कटु तथा तिक्तरसयुक्त, त्रिदोषनाशक एवं रसायन होती है॥

सोमलता

सोमलता नामक दिव्य औषधि क्या है? इस सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने विचार किया है किन्तु अभी तक इसका निर्णय नहीं हो सका है। वास्तव में सुश्रुत में ही इसके संबंध में लिखा है कि अधर्मी, कृतघ्न, भेषजद्वेषी तथा ब्राह्मणद्वेषी लोगों को यह दिखलाई नहीं देती। आधुनिक युग में कौन सा ऐसा व्यक्ति होगा जो किसी न किसी अवगुण से युक्त न हो। उपर्युक्त वचन से ऐसा प्रतीत होता है कि यह वनस्पति उस काल में भी अप्राप्य या दुष्प्राप्य रही हो और उसके स्थान पर उसके प्रतिनिधि द्रव्यों का प्रयोग होता रहा हो। सोम का वर्णन ऋग्वेद तथा पौराणिक साहित्य में भी है। यज्ञ के पूर्व आनन्ददायक पेय के रूप में सोमरस-पान किया जाता रहा। सोम को ओषधिराज लिखा है। इसी प्रकार के एक द्रव्य का उल्लेख प्राचीन पारसी धर्म ग्रंथ 'जन्द अवस्ता' में है, जिसे होम कहते हैं। संभव है होम यह सोम का परिवर्तित रूप हो। इसी आधार पर होम नाम से प्रयुक्त द्रव्यों को कुछ विद्वानों ने सोम माना है।

सुश्रुत में इसके संबंध में विशद वर्णन मिलता है। यह हिमालय, विन्ध्य, काश्मीर, मलय आदि स्थानों में होती है। इसके स्थान, नाम, आकृति, वीर्य भेद से २४ प्रकार होते हैं। इस लता में शुक्ल पक्ष में एक-एक पत्र प्रतिदिन बढ़ कर पूर्णिमा को १५ पत्ते हो जाते हैं तथा कृष्ण पक्ष में एक-एक पत्र घट कर अमावस्या को यह बिना पत्र के हो जाती है। इस लता में दुग्ध होता है तथा नीचे कन्द भी होता है। कायाकल्प के लिये कुटी प्रावेशिक विधि से इसके सेवन का वर्णन सुश्रुत में किया है। यह श्रेष्ठ मादक द्रव्य है। इससे बल, वाकशक्ति, स्फूर्ति, सौमनस्य एवं अमरत्व की प्राप्ति होती है। प्रत्येक रोग को दूर कर यह मन को आनन्द देने वाली लता है। इसमें अन्य मादक द्रव्यों का कोई दोष नहीं होता।

सोम के नाम से जिनका उल्लेख किया जाता है उनमें से कुछ का संक्षेप में यहाँ वर्णन दिया गया है, यद्यपि दिव्य गुण वाली सोम इनमें से कोई मालूम नहीं पड़ती।

१४६ सोम (१)

सं०—सोम। हि०—टुटगंठा। पं०—अमसानिया, बुदशुर, चेवा। स०-फोत्र। ई०—होम, हुम्। क०—खम, खंड। अं०—Ephedra; Ma-huang (एफेड्रा, मा-हॉग)। ले०-*Ephedra ger-*

ardiana (Wall) Stapf; E. nebrodensis (Tineo) Stapf (एफेड्रा जेरार्डिआना; ए. नेब्रोडेन्सिस्)। Fam. Gnetaceae (ग्नेटॅसी)।

इनमें से ए. जेरार्डिआना हिमालय के शुष्क एवं ऊँचे स्थानों में ७-१६ हजार फीट तक बहुत होता है। पंगी, लाहौल, कनवार, सिमला जिले के शाकी स्थान, कश्मीर एवं लद्दाख में बहुत होता है। ए० नेब्रोडेन्सिस्, लाहौल, पश्चिमी तिब्बत, बलूचिस्तान एवं वजीरीस्तान में होता है।

औषध के लिए इसके कांड का संग्रह वसन्त ऋतु में करते हैं।

ए० जेरार्डिआना का क्षुप-छोटा, सर्पणशील, कडा तथा गुच्छे के रूप में होता है। शाखाएं-प्रतिग्रंथि पर दो और अभिमुख या अनेक एक चक्र में निकली रहती हैं। ये सीधी, हरी एवं रेखा युक्त होती हैं। पर्व करीब ½ इञ्च से १½ इञ्च लम्बे होते हैं तथा दियासलाई की सींक की तरह दिखलाई देते हैं। पुराने काण्ड की त्वचा धूसर हो जाती है। पत्ते-वल्क सदृश होते हैं और प्रत्येक ग्रन्थि पर इन वल्कपत्रों के मिलने से एक पीताभ या भूरा करीब २ मि. मि. लंबा द्विविभक्त कोष बना होता है। पुष्प-नरपुष्पों की अण्डाकार विदण्डिक मंजरियाँ अकेली या २-३ के गुच्छे में रहती हैं जिनमें ४-८ नरपुष्प होते हैं। नारीपुष्पों की मंजरी प्रायः अकेली और १-२ पुष्पों से युक्त होती है। फल-७·५-१० मि. मि. लम्बा, लट्वाकार, लाल, मधुर तथा खाने लायक होता है। बीज-१-२ दोनों तरफ फूले हुये होते हैं।

काण्ड में तीव्र गन्ध होती है तथा इसका स्वाद कषाय होता है।

रासायनिक संगठन—इसके काण्ड में लीहो-एफेड्रीन (l-ephedrine), डेक्स्ट्रो-फाय-एफेड्रीन (d-f-ephedrine) तथा तत्सम अन्य क्षाराभ पाये जाते हैं। भारतीय एफेड्रा में संपूर्ण क्षाराभ की मात्रा ०·२८-२·८% तक पाई जाती है तथा उसमें l-ephedrine (लीहो-एफेड्रीन) की मात्रा ७०% तक होती है।

गुण और प्रयोग—एफेड्रा के गुण-धर्म उसमें के उपर्युक्त दो क्षाराभों के कारण होते हैं, जिनमें से द्वितीय का रक्तभार, श्वसनिका एवं मस्तिष्क के उच्च केन्द्रों पर हलका प्रभाव पड़ता है। यह कम विषैला है तथा इसमें अन्य आनुबन्धिक दोष कम होते हैं। तमक श्वास (Asthma) के आवेगों को रोकने के लिये सोम का सत्व (Extract) उपयोगी है। विशुद्ध क्षाराभों की अपेक्षा यह सस्ता होने के कारण गरीबों के लिये यह अधिक अच्छा पड़ता है।

हृदय को उत्तेजना (Cardiac stimulant) देने की दृष्टि से भी यह उपयोगी है। इसका टिंक्चर (Tincture), एपिडेमिक ड्रॉप्सी (Epidemic dropsy) के कारण उत्पन्न हृदय दौर्बल्य (Left heart failure) में बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। न्युमोनिया, डिप्थेरिया आदि औपसर्गिक रोगों के कारण उत्पन्न हृदय की विषाक्तता में यह बहुत ही अच्छा हृदयोत्तेजक सिद्ध हुआ है। हृदय की कायिक विकृति में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। इसके प्रवाही सत्त्व की ५ सी० सी० मात्रा में ½ ग्रेन सम्पूर्ण क्षाराभ होते हैं।

मात्रा—सोमतत्त्व क्षाराभ (एफेड्रीन) ½-१½ ग्रेन; टिंक्चर एफेड्रा ३०—६० बूंद।

१४७ सोम (२)

सं०—सोम, सौम्या (राजनिघण्टु)। **हिं०**—सोम, सोमलता, बाघ दूध। **म०**—रानशेर, **मुं०**—कुलुतोआ (शेर का दूध)। **ले०**—*Sarcostemma brevistigma W. & A.* (सार्कोस्टेमा ब्रेविस्टिग्मा); Fam. Asclepiadaceae (एस्क्लेपिएडेसी)।

यह कोंकण, डेक्कन, उत्तरी सरकार, कर्नाटक तथा हॉर्सलीकोंडा में ४५०० फीट तक शुष्क पत्थरों के बीच होती है। रांची, सिंगभूमि, मुंगेर, पुरी तथा बंगाल में भी पायी जाती है।

यह प्रसरणशील वनस्पति होती है जो चट्टानों तथा झाड़ियों पर फैली रहती है। इसमें दूध बहुत होता है। इसमें पत्ते-स्थाई नहीं होते जिससे शाखा-काण्ड हरे, चिकने, $\frac{1}{8}$–$\frac{1}{4}$ इञ्च व्यास के तथा ४–८ इञ्च की दूरी पर संधियुक्त होते हैं। पुष्प-श्वेत, $\frac{3}{5}$ इञ्च व्यास में, सुगन्धित और प्रायः शाखाओं पर सवृन्त मूर्धज (Umbel) क्रम में निकले रहते हैं। फली-पतली, ४–५ इञ्च लम्बी क्रमशः नुकीली तथा सीधी होती है।

इसका सोम-प्रतिनिधि के रूप में व्यवहार किया जाता है। कुछ तो वास्तविक सोम ही इसे मानते हैं। राजनिघण्टु ने इसका सोमवल्ली प्रतिनिधि के रूप में वर्णन किया है—

सौम्या महिषवल्ली च प्रतिसोमाऽन्त्रवल्लिका।
अपत्रवल्लिका प्रोक्ता काण्डशाखा षडाह्वया।
रसवीर्यविपाके च सोमवल्लीसमा स्मृता॥ रा० नि०

गुण और प्रयोग—अर्क दुग्ध की तरह इसके दूध का भी उपयोग होता है जो बहुत गुणकारी माना जाता है और इसी लिये इसको बाघ दूध कहते हैं। राक्सवर्ग के मतानुसार इसका दूध खट्टा होता है तथा यात्री तृषा शमन के लिये इसका उपयोग करते हैं। शुष्क काण्ड वामक माना जाता है।

अथाकाशवल्ली (अमरबेल)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

आकाशवल्ली तु बुधैः कथिताऽमरवल्लरी॥ २५८॥
खवल्ली ग्राहिणी तिक्ता पिच्छिलाऽक्ष्यामयापहा। तुवराऽग्निकरी हृद्या पित्तश्लेष्मामनाशिनी

अमरबेल के नाम तथा गुण—आकाशवल्ली का ही पर्यायवाचक शब्द अमरवल्लरी है, ऐसा पण्डित लोग कहते हैं, अर्थात्-आकाशवल्ली, खवल्ली, अमरवल्लरी ये नाम अमरबेल के हैं।

अमरबेल—तिक्त तथा कषाय रस युक्त, मलसंग्राहक, पिच्छिल, नेत्ररोगनाशक, जठराग्नि-वर्धक, हृदय के लिये हितकर एवं पित्त, कफ तथा आम को नष्ट करनेवाली होती है॥ २५८-२५९॥

नोट—प्राचीन ग्रन्थों में अमरबेल का उल्लेख नहीं है। अमृत 'ली शब्द आया है, जिसका अर्थ टीकाकारों ने गुडूची किया है। कुछ विद्वानों ने अमरबेल नाम (Cuscuta reflexa (कस्कुटा रिफ्लेक्सा) को दिया है तथा आकाशबेल (Cassytha filiformis) कॅसिथा फिलिफॉर्मिस् को दिया है। दोनों ही पराश्रयी लताएँ (Parasitic climber) हैं। दोनों एक स्थान पर उगी हुई नहीं पाई जातीं। दोनो का स्वतन्त्र वर्णन किया गया है।

१४८ अमरबेल (१)

हि०-आकाश बेल, अमर बेल। बं०-आलोक लता। म०-आकाश वेल, अमर वेल। गु०-अमर वेल। अ०-मून, कसूस। पं०-निराधार। फा०-अफ्तीमून। अं०-Dordar (डॉडॅर) ले०-*Cuscuta reflexa Roxb.* (कसकुटा रिफ्लेक्सा राक्स.)। Fam. Convolvulaceae (कॉन्व्हॉल्व्हुलेसी)।

यह भारत के सभी मैदानी भागों में तथा ८००० फीट की ऊँचाई तक पाई जाती है।

इसकी लता—परोपजीवी होती है तथा जिस किसी वृक्ष पर फैलती है उसे अपने बोझ से झुका तक देती है। कभी-कभी इतनी फैलती है कि सारे वृक्ष को ढक देती है। अधिकतर बेर,

बबूल के वृक्षों पर फैली रहती है। इसमें पत्ते नहीं होते। काण्ड–पतले एवं प्रायः पीले रंग के आपस में गुथे हुये होते हैं। पुष्प $\frac{1}{8}$–$\frac{1}{6}$ इञ्च लम्बे, श्वेताभ या गुलाबी, सुगंधित, नलिकाकार, एकाकी या गुच्छों में आते हैं। फल–$\frac{1}{8}$–$\frac{1}{6}$ इञ्च व्यास के, दबे हुवे, गोल एवं मांसल होते हैं। इसके मूल आधारादि वृक्ष के कांडों से संसक्त रहते हैं, जहाँ से वे अपना आहार ग्रहण करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें कुस्कुटिन (Cuscutin) नामक एक रवेदार रंजक पदार्थ ०·२% होता है। इसके अतिरिक्त लॅक्टोन (Lactone) के समान गुण वाला कस्कुटॅलिन् (Cuscutalin) १%, बदामी रंग का मोम ०·१% तथा अपचायक शर्करा (Reducing sugar) होती है।

इसके बीजों में स्थिर तैल ३%, रंजक द्रव्य अमरबेलिन (Amarbelin), कड़वी राल तथा अपचायक शर्करा (Reducing sugar) पाई जाती हैं।

गुण और प्रयोग—यह आनुलोमक, पित्तसारक, तथा यकृतोत्तेजक है। आश्रयी वृक्ष के अनुसार इसके गुण-धर्म में कुछ परिवर्तन हो सकता है।

(१) इसका फाण्ट खुजली तथा व्रण-प्रक्षालन के काम में आता है।

(२) यकृत् वृद्धि तथा विबंध हो तो इसका रस देने से दूषित पित्त निकल जाता है तथा विबंध भी दूर होता है।

(३) इसके बीजों को उबाल कर उससे पेट सेंकने से वायु का अनुलोमन होता है।

(४) कुछ लोगों ने इसका घाघरबेल नाम से उल्लेख किया है तथा लिखा है कि पंजाब में दाइयाँ इसके क्वाथ को गर्भपात कराने के लिये प्रयोग में लाती हैं।

१४९ अमर बेल (२)

हि०–अमर बेल। **ले०**–*Cassytha filiformis Linn.* (कॅसिथा फ़िलिफॉर्मिस् लिन.)। Fam. Lauraceae (लॉरेसी)।

यह भारत में सभी स्थानों पर विशेषकर समुद्री किनारों पर अधिक होती है।

इसकी लता–पराश्रयी, पत्रहीन, उपर्युक्त प्रथम अमरबेल की तरह होती है, तथा शाल, करौंदा, कुटज तथा जामुन आदि वृक्षों पर फैली रहती है। इसका रंग पहली की अपेक्षा अधिक हरा होता है। पुष्प–अवृन्त, श्वेत, ·५–१·५ इञ्च लम्बी मंजरियों में रहते हैं और उनके आधार पर तीन चौड़े तथा लम्बे और लट्वाकार कोणपुष्पक होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें एक क्षाराभ होता है।

गुण और प्रयोग—यह बल्य, केश्य, व्रणरोपण एवं वृष्य है।

(१) इससे सर के बाल धोने से जूयें आदि नष्ट होते हैं। इसे पीसकर तेल में मिलाकर केश वृद्धि के लिये काम में लाते हैं। मक्खन तथा सोंठ के साथ इसे व्रणरोपण के लिये काम में लाते हैं।

(२) इसका क्वाथ यकृत प्लीहोदर, गण्डमाला, क्षय आदि लक्षणयुक्त व्याधि में प्रयोग करते हैं।

अथ पातालगरुडी। तस्या नामगुणानाह

छिलिहिण्टो महामूलः पातालगरुडाह्वयः। छिलिहिण्टः परं वृष्यः कफघ्नः पवनापहः ॥२६०॥

'पातालगरुडी' के नाम तथा गुण—छिलिहिण्ट, महामूल, पातालगरुड, ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। पातालगरुडी—अत्यन्त वृष्य (वीर्यवर्धक), कफ तथा वायु को शमन करने वाली होती है ॥ २६० ॥

१५० पाताल गरुड़ी

हि०-पातालगरुड़ी, छिरेटा, फरीदबूटी, चिरहिंटा, छिरहटा, जलजमनी । बं०-हयेर । म०-वासनवेल, भुयूँपाडल, तान्हीचावेल । गु०-पातालगलोरी, वेवड़ी । ते०-दूसरैतिगे । क०-दागुडी । ता०-कातुक कोदी । ले०-*Cocculus hirsutus (Linn.) Diels* (कॉक्युलस् हिर्सुटस्) । Fam. Menispermaceae (मेनिस्पर्मेसी) ।

यह इस देश के प्रायः सब गरम और साधारण प्रान्तों में हिमालय से दक्षिण तक पायी जाती है ।

इसकी आरोही लता-झाड़ियों आदि पर फैली हुई रहती है । शाखायें तथा पत्र मृदु श्वेताभ रोमावरण से ढके रहते हैं । पत्ते-इनके आकार और कद में बड़ी विभिन्नता रहती है । नीचे के पत्ते प्रायः लट्वाकार, आयताकार, ३″×२″ तक बड़े और ऊपर के क्रमशः छोटे और आयताकार होते हैं । पुष्प-एकलिंग, हरिताभ एवं सूक्ष्म होते हैं । फल-काले बैंगनी रङ्ग के, चने के बराबर, एवं चिकने होते हैं तथा इनके भीतर काला रस रहता है । पुष्प वर्षा में एवं फल शीत में लगते हैं । मूल-काफी नीचे चला जाता है तथा मजबूत होता है ।

इसके पत्तों को जल में मसलने से जल जम जाता है । इसलिये इसे जलजमनी कहते हैं । इसकी जड़ को सर्पविष में बहुत उपयोगी बतलाया गया है इसलिये इसका पातालगरुड़ी नाम सार्थक मालूम पड़ता है । प्राचीन ग्रन्थों में इसका वर्णन नहीं पाया जाता । इसकी जड़ एवं पत्तों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है । पाठामूल के स्थान पर इसकी जड़ ली जाती है ।

गुण और प्रयोग—इसकी जड़ उष्ण, स्वेदजनन, सौम्य, बलवर्धक, मूत्रजनन, मूत्रमार्ग के लिये शामक एवं ग्राही, ज्वरहर, वायुहर एवं शोधन है । यह सार्सापरिला की तरह उपयोगी है । पत्ते दाहप्रशमन, मूत्रजनन, शोथहर, स्तन्यजनन एवं त्वक्दोष नाशक हैं ।

(१) इसकी जड़ का बकरी के दूध में तैयार किया हुआ क्वाथ पीपल, सोंठ, आदि सुगन्धि द्रव्यों के साथ जीर्ण आमवात, विशेषकर यदि उपदंश के कारण उत्पन्न हो, सन्धिशोथ तथा त्वचा के रोगों में देते हैं ।

(२) जमाया हुआ स्वरस शीतवीर्य होने के कारण जीरक एवं मिश्री के साथ नूतन सोजाक में बहुत उपयोगी है ।

(३) पत्तों को पीसकर शोथ, चोट आदि पर बाँधने से लालिमा एवं पीड़ा कम होती है । शिरःशूल में भी बाँधते हैं ।

(४) इसकी जड़ का प्रयोग वस्तिशोथ तथा अन्य प्रमेहों में किया जाता है ।

मात्रा—स्वरस १-२ तोला; मूल-३-६ माशा ।

अथ वन्दा । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

वन्दा वृक्षादनी वृक्षभक्ष्या वृक्षरुहाऽपि च । वन्दाकः स्याद्धिमस्तिक्तः कषायो मधुरो रसे ।
मङ्गल्यः कफवातास्ररक्षोव्रणविषापहः ॥ २६१ ॥

'वन्दा' के नाम तथा गुण—वन्दा, वृक्षादनी, वृक्षभक्ष्या, वृक्षरुहा और वन्दाक ये नाम 'वान्दा' के हैं । बान्दा-तिक्त, कषाय तथा मधुर रसयुक्त, शीतवीर्य, मङ्गलप्रद एवं कफ, वातरक्त, राक्षसबाधा, व्रण और विष को दूर करता है ॥ २६१ ॥

१५१ बान्दा (१)

हि०–बन्दा, बांदा, बंदाक । बं०–बरमांदा, मान्दा । म०–बांडागुल । गु०–बांदो । ते०–बादनीका । अ०–खरकतानां । ले०–*Loranthus longiflorus Desr.* (लोरॅन्थस् लॉंगिफ्लोरस् डेस. ; Syn. Dendrophthoe falcata (Linn. f.) Etting. (डेन्ड्रोफ्थो फॅलकेटा । Fam. Loranthaceae (लोरॅन्थेसी) ।

यह भारत में सर्वत्र पाया जाता है । इस कुल की वनस्पतियाँ अर्धपराश्रयी होती हैं । जिन वृक्षों के ऊपर यह उगती है, उनसे अपना भोजन ग्रहण करती है तथा स्वतः हरी होने के कारण स्वयं भी अपने लिये भोजन निर्माण करती है ।

उपर्युक्त बांदा अनेक प्रकार के वृक्षों पर उगा हुआ पाया जाता है । यह काष्ठीय होता है । शाखायें–चिकनी, चीमड़, कुछ लटकती हुई तथा कुछ सीधी एवं ३–४ फीट लम्बी होती हैं । पत्ते–३-६ इञ्च लम्बे, १–२ इञ्च चौड़े, चिकने, अनेक आकार के तथा मोटे होते हैं । फूल–रक्त, नारङ्ग या गुलाबी रंग के, १–२ इञ्च लम्बे और उनका सवर्ण कोश नालाकार होता है । फल–मांसल एवं बीज चिपचिपे होते हैं । इसके पुष्प एवं पत्तों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है ।

गुण और प्रयोग–यह शीत, कषाय, कफघ्न, वातनाशक, मूत्रविरेचनीय, रक्तविकार नाशक एवं व्रणरोपक है ।

(१) शोथ पर इसके पत्तों एवं पुष्प को पीस-गरम कर लेप करने से सूजन दूर होती है ।

(२) इसके पुष्पों का प्रभाव हृदय एवं रक्तवाहिनियों पर होता है । हृदयोद्भूत श्वास, क्षयोद्भूत श्वास, फुफ्फुसशोथ, रक्तपित्त, अपस्मार, उन्माद एवं ज्वर में प्रलाप होने पर इसे देते हैं ।

मात्रा—स्वरस १–२ तोला ।

नोट—उपर्युक्त बांदे की और दो-तीन जातियां होती हैं । इनके अतिरिक्त एक अन्य प्रजाति का बांदा होता है । जिसकी भी दो उपजातियां पाई जाती हैं । इनमें किशमिश काबली प्रभावकर द्रव्य है जिसका संक्षेप में यहां वर्णन किया गया है ।

१५२ बाँदा (२)

ले०–*Viscum album Linn.* (विस्कम् अॅल्बम् लिन.); Fam. Loranthaceae (लोरॅन्थेसी) । जौ०–चुल्लू का बांदा । यू०–किशमिश काबली । अ०–दिब्क, मबीजजे असली ।

यह हिमालय में काश्मीर से नेपाल तक ३०००–७००० फीट तक होता है । ये प्रायः अखरोट एवं गुलाब कुल के पौधों पर उगते हैं । कहीं-कहीं रास्ना पत्र के नाम से भी इनका प्रयोग होता है ।

इसके क्षुप-पराश्रयी होते हैं । इसके सब भाग हरे होते हैं । शाखाएं–द्विविभक्त या चाक्रिक क्रम में निकली रहती हैं । पत्ते–२ इञ्च लम्बे, ½ इञ्च चौड़े, विनाल, आयताकार या ऊपर से मालाकार होते हैं । आधार पर इनमें ३–५ शिराएं होती हैं । पुष्प–प्रति गुच्छे में ३–५ पुष्प होते हैं । फल–½ इञ्च लम्बे, सफेद, चिकने तथा पारदर्शक होते हैं । बाजार में मटर जितने बड़े, नरम, झुर्रीदार और भूरे रंग के सूखे फल मिलते हैं । इनके भीतर एक छोटा बीज तथा चिपचिपा पदार्थ होता है ।

इन फलों का चिकित्सा में प्रयोग होता है ।

गुण और प्रयोग—इसकी क्रिया हृदय पर डिजिटॅलिस सदृश होती है, जिससे हृदय को बल मिलता है तथा मूत्र की वृद्धि होती है । गर्भाशय पर इसका प्रभाव अर्गट की तरह होता है, जिससे गर्भाशय का संकोच होता है

(१) हृद्रोग एवं जलोदर में इसे देने से लाभ होता है ।

(२) अत्यार्तव एवं प्रसवोत्तर रक्तस्राव में पिपरामूल के साथ इसका फाण्ट देने से लाभ होता है ।

(३) प्लीहावृद्धि, अपस्मार, कटिपीडा, गुल्म, अर्श क्षत, व्रण, कर्णपूय आदि में इसका व्यवहार किया जाता है ।

मात्रा—फल ५–१५ रत्ती ।

अथ वटपत्री । तस्या नामगुणानाह

वटपत्री तु कथिता मोहिन्यैरावती बुधैः । वटपत्री कषायोष्णा योनिमूत्रगदपहा ॥२६२॥

'वटपत्री' के नाम तथा गुण—वटपत्री को विद्वान् लोग मोहिनी और ऐरावती कहते हैं। वटपत्री-कषाय रसयुक्त, उष्णवीर्य एवम् योनि तथा मूत्रसम्बन्धी रोगों को दूर करने वाली होती है ॥ २६२ ॥

१५३ वटपत्री

इसका निर्णय अभीतक नहीं हो सका है। निम्नलिखित वनस्पति को कुछ विद्वान् वटपत्री मानते हैं।

ले०-*Saxifraga ligulata Wall.* (सॅक्सीफ्रेगा लीगुलेटा वाल.)। Fam. Saxifragaceae (सॅक्सीफ्रेगॅसी) ।

यह पाषाणभेद का ही भेद है तथा इसका वर्णन हरीतक्यादि वर्ग में पाषाणभेद के अंतर्गत पृष्ठ १०५ पर किया गया है ।

अथ हिङ्गुपत्री । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

हिङ्गुपत्री तु कवरी पृथ्वीका पृथुका पृथुः ॥ २६३ ॥
हिङ्गुपत्री भवेद्रुच्या तीक्ष्णोष्णा पाचनी कटुः । हृद्वस्तिरुग्विबन्धार्शःश्लेष्मगुल्मानिलापहा ॥

हिङ्गुपत्री के नाम तथा गुण—हिङ्गुपत्री, कवरी, पृथ्वीका, पृथुका और पृथु ये सब नाम हिङ्गुपत्री के हैं । हिङ्गुपत्री-कटुरसयुक्त, रुचिजनक, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, पाचक एवं हृद्रोग, बस्तिरोग, विबन्ध, अर्श, कफ, गुल्म और वायु को दूर करने वाली होती है ॥ २६३–२६४ ॥

१५४ हिंगुपत्री

हिंगुपत्री तथा आगे वर्णन की हुई वंशपत्री के विषय में थोड़ा मतभेद है । चरक में अपस्मार एवं उन्माद की चिकित्सा में क्रमशः हिंगुपत्री एवं हिंगुशिवाटिका इनका प्रयोग आया है। इसकी टीका में चक्रपाणि 'वंशपत्री' लिखते हैं। 'नाडीहिंगु' या 'डीकामाली' जिसका वर्णन पहले हरीतक्यादि वर्ग में किया जा चुका है, उसे 'हिंगुपत्री' कह सकते हैं, क्योंकि उसकी पत्र-कलिकाओं के ऊपर किसी-किसी ऋतु में पीला गोंद बूंद के रूप में निकला रहता है। इसकी छाल कट जाने पर वहाँ से भी गोंद निकलता है । इसमें उग्र गन्ध होती है । इसे डीकामाली या नाडीहिंगु कहते हैं। इस आधार पर नाडीहिंगु को हिंगुपत्री माना जा सकता है। हरीतक्यादि वर्ग में पृष्ठ ५५ पर नाडी हिंगु (डिकामाली) का वर्णन देखें ।

वंशपत्री । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

वंशपत्री वेणुपत्री पिण्डा हिङ्गुशिवाटिका । हिङ्गुपत्रीगुणा विज्ञैर्वंशपत्री च कीर्त्तिता ॥२६५॥

वंशपत्री के नाम तथा गुण—वंशपत्री, वेणुपत्री, पिण्डा और हिङ्गुशिवाटिका ये नाम वंशपत्री के हैं। वंशपत्री-इसे विद्वानों ने गुणों में हिङ्गुपत्री के समान बताया है ॥ २६५ ॥

१५५ वंशपत्री

वंशपत्री भी संदिग्ध है। भावप्रकाशकार इसके गुण हिङ्गुपत्री की तरह ही बतलाते हैं। चक्रपाणि हिङ्गुपत्री की टीका में वंशपत्री लिखते हैं। सम्भव है ये दोनों एक ही हों और टीकामाली या नाडीहिङ्गु के ही पर्याय हों। हींग का पेड़ जिस प्रजाति (Genus) का है उसी प्रजाति (Ferula-फेरूला) के एक अन्य पेड़ के पत्ते देखने में कुछ बांस के पत्तों की तरह दिखलाई देते हैं। सम्भव है उसी में से किसी का वंशपत्री नाम हो।

अथ मत्स्याक्षी । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

मत्स्याक्षी बाह्लिका मत्स्यगन्धा मत्स्यादनीति च। मत्स्याक्षी ग्राहिणी शीतकुष्ठपित्तकफास्रजित्।
लघुस्तिक्ता कषाया च स्वाद्वी कटुविपाकिनी ॥ २६६ ॥

मत्स्याक्षी के नाम तथा गुण—मत्स्याक्षी, वाह्लिका, मत्स्यगन्धा और मत्स्यादनी ये नाम मत्स्याक्षी के हैं। मत्स्याक्षी—मलसंग्राहक, शीतवीर्य, लघु, तिक्त तथा कषाय रस युक्त, स्वादिष्ट, विपाक में कटुरस युक्त एवं कुष्ठ, पित्त, कफ और रक्तविकार को दूर करने वाली होती है ॥ २६६ ॥

नोट—यह भी संदिग्ध द्रव्य है। ब्राह्मी के पर्याय में अमरसिंह ने मत्स्याक्षी लिखा है। कुछ गुडरी साग को मत्स्याक्षी कहते हैं। संक्षेप में इसका यहाँ वर्णन किया है।

१५६ मत्स्याक्षी ? गुडरी साग

ले०-*Alternanthera sessilis, (Linn.) R. Br.* (आल्टरनेन्थेरा सेसिलिस्); Fam. Amaranthaceae (एमरेन्थेसी)। बं०-शालिञ्च।

यह भारत के सभी उष्ण प्रदेशों में नम जगहों में पाया जाता है।

इसका क्षुप-परिप्रसरी अथवा ग्रन्थिमूल प्रसरी होता है। कभी-कभी शाखायें उत्थित प्रसरी होकर आस-पास की झाड़ियों पर फैली रहती हैं। पत्ते-लम्बे, अण्डाकार, आयताकार या अन्य प्रकार के भी होते हैं। पुष्प-श्वेत या गुलाबी रंग के मुण्डकाकार गुच्छों में आते हैं। पुष्प खिलने पर आधार भाग में गुलाबी और ऊपर सफेद होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके नूतन भाग पौष्टिक (Nutritious) होते हैं तथा इसमें प्रोटीन (Protein) ५% तथा लौह १६·७ मि० ग्रा० प्रति १०० ग्रा० होता है।

गुण और प्रयोग—यह ज्वरहर, पित्त-विरेचक तथा दुग्धवर्धक है। इसके पत्रशाक का उपयोग किया जाता है।

अथ सर्पाक्षी ('सरहटी-गण्डिनी'ति च)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

सर्पाक्षी स्यात् गण्डाली तथा नाडीकलापकः ॥ २६७ ॥
सर्पाक्षी कटुका तिक्ता सोष्णा क्रमिनिकृन्तनी । वृश्चिकोन्दुरुसर्पाणां विषघ्नी व्रणरोपिणी ॥

सर्पाक्षी के नाम तथा गुण—सर्पाक्षी, गण्डाली और नाडीकलापक ये नाम सर्पाक्षी के हैं।

सर्पाक्षी—कटु तथा तिक्त रसयुक्त, उष्णवीर्य, व्रण का रोपण करने वाली, कृमिनाशक तथा विच्छू, मूषक और सर्प के विषों को नष्ट करने वाली है ॥ २६७-२६८ ॥

नोट—सर्पाक्षी भी बिलकुल निःसंदिग्ध द्रव्य नहीं है। रास्ना के नाम से लिये जाने वाले द्रव्यों में से एक ऑफिओराइझा मुन्गोस् को कुछ लोगों ने सर्पाक्षी माना है। कुछ ने पॉलिगोनम् प्लेबेजम् को सर्पाक्षी माना है। दूर्वा के पर्याय में सर्पाक्षी, मीनाक्षी ये शब्द आये हैं। डल्हण ने कल्पस्थान अ० ६ में इसे 'रक्तपुष्पा पूर्वदेशे प्रसिद्धा' एवं अ० ८-११७ में 'लोहितपुष्पा शंखपुष्पी-भेदा' लिखा है। वंगीय ब्राह्मी के साथ कुछ विद्वानों ने इसका वर्णन किया है। यहाँ संक्षेप में दोनों का वर्णन किया गया है।

१५७ सर्पाक्षी (१)

लै०-*Ophiorrhiza mungos Linn.* (ऑफिओराइझा मुन्गोस् लिन.)। Fam. Rubiaceae (रूबिएसी)। सं०-सर्पाक्षी। हि०-सरहटी। वं०-गन्धनाकुली। म०-मुंगसवेल, नागवेली। ता०-कीरिप्पुंडु। कौंक०-गर्डपातालि। क०-पाताल गरुड।

यह खासिया पहाड़ एवं आसाम में २००० फीट तक, एवं पश्चिमीघाट, ट्रावनकोर एवं तिनेवेल्ली के पहाड़ों पर होता है।

इसका क्षुप-करीब ४५-६० सें० मी० बड़ा होता है। पत्ते-१०-२० से० मी० बड़े, भालाकार, आधार की तरफ संकुचित, लम्बाग्र एवं ऊपर से चमकीले हरे रंग के होते हैं। पुष्प-श्वेत; फली-छोटी; एवं बीज-अनेक तथा भूरे रंग के होते हैं। मूल-बहुत मजबूत, टेढ़े-मेढ़े, ६ इञ्च लम्बे, स्वाद में कड़वे, तथा उसकी छाल पतली एवं कपिशवर्ण की होती है। कहीं-कहीं मूल का रास्ना के नाम से उपयोग किया जाता है। चिकित्सा में मूल का उपयोग होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें स्टार्च, राल, स्नेह तथा एक क्षाराभ रहता है।

गुण और प्रयोग—यह तिक्त पौष्टिक, दीपन एवं पाचन है। इसकी जड़ का क्वाथ कुपचन, अतिसार आदि में दिया जाता है। लंका में सर्पदंश, वृश्चिक दंश, कुत्ते का विष आदि के लिये इसकी बहुत प्रशंसा है।

१५८ सर्पाक्षी ? (२) मुनियारा

लै०-*Polygonum plebejum R. Br.* (पॉलिगोनम् प्लेबेजम्); Fam. Polygonaceae (पॉलिगोनेसी)। हि०-रानी फूल।

यह भरत के सभी उष्ण स्थानों में तथा कभी-कभी ७००० फीट की ऊँचाई पर काश्मीर से भूटान तक होती है।

इसके क्षुप-प्रसरी होते हैं। मूल के पास से अनेक शाखायें निकल कर इतस्ततः फैली रहती हैं पुष्पित अवस्था में शाखायें २-८ इञ्च तक लम्बी होती हैं। पत्ते-रेखाकार, आयताकार एवं छोटे पौधों में अभिलट्वाकार, तथा ४-१७ मि. मि. लम्बे होते हैं। उपपत्र छोटे एवं झालरदार होते हैं। पुष्प-छोटे, गुलाबी एवं फल-चिकने, चमकीले एवं त्रिकोणाकृति होते हैं। इसके कई भेदोपभेद होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसका शाक की तरह उपयोग किया जाता है। इसकी जड़ का आन्त्र विकारों में एवं पंचांग का चूर्ण न्युमोनिया में दिया जाता है।

अथ शङ्खपुष्पी । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

शङ्खपुष्पी तु शङ्खाह्वा मङ्गल्यकुसुमाऽपि च । शङ्खपुष्पी सरा मेध्या वृष्या मानसरोगहृत् ॥
रसायनी कषायोष्णा स्मृतिकान्तिबलाग्निदा । दोषापस्मारभूतालक्ष्मीकुष्ठक्रिमिविषप्रणुत् २७०

शङ्खपुष्पी के नाम तथा गुण—शङ्खपुष्पी, शङ्खाह्वा (शङ्ख के पर्यायवाची सब शब्द), मङ्गल्य-कुसुमा ये सब नाम 'शङ्खपुष्पी' के हैं। शङ्खपुष्पी-कषाय रस युक्त, उष्णवीर्य, सारक, मेधा के लिये हितकर, वृष्य, मानसरोग को दूर करने वाली, रसायन, स्मृतिशक्ति, कान्ति, बल, जठराग्नि इन सबों को बढ़ाने वाली एवं दोष, अपस्मार, भूतबाधा, दरिद्रता, कुष्ठ, कृमि और विष को नष्ट करने वाली होती है ॥ २६९–२७० ॥

नोट—शंखपुष्पी का 'विष्णुक्रान्ता' यह भेद अन्य निघण्टुकारों ने दिया है। भावप्रकाशकार ने 'विष्णुक्रान्ता' यह अपराजिता का पर्याय दिया है। वास्तव में विष्णुक्रान्ता यह अपराजिता या नीलापराजिता नहीं है। यह नीले फूल वाली शंखपुष्पी-भेद ही होना चाहिये। अन्य निघण्टुकारों ने विष्णुक्रान्ता के नील, श्वेत, एवं रक्त ये तीन भेद दिये हैं, जिनमें रक्त पुष्प वाले भेद को सर्पाक्षी नाम दिया है। अधिकांश विद्वानों ने एह्वोल्वुलस् ॲल्सेनॉइडीस् को शङ्खपुष्पी माना है। वास्तव में इसके पुष्प नीले होते हैं। इस दृष्टि से इसे विष्णुक्रान्ता मानना अधिक उपयुक्त है। उसी वर्ग की तथा उससे मिलती-जुलती अन्य वनस्पति कन्व्हॉल्व्ह्युलस् प्लुरिकालिस् को, जिसके पुष्प श्वेत होते हैं, शंखपुष्पी मानना अधिक उपयुक्त है (ठा० बलवन्तसिंह)। कुछ विद्वानों ने 'दानकुनी' को शङ्खपुष्पी माना है जो उचित नहीं मालूम पड़ता। विष्णुक्रान्ता एवं शङ्खपुष्पी के गुण एक साथ ही दिये गये हैं तथा दानकुनी का अलग वर्णन किया गया है। शंखपुष्पी विशेष रूप से मेध्य होती है। (च० चि० अ० १)

१५९ शङ्खपुष्पी

हि०–शङ्खाहुली, शङ्खपुष्पी। ले०–*Convolvulus pluricaulis, Chois.* (कन्व्हॉल्व्ह्यु-लस् प्लुरिकॉलिस् को.); Fam. Convolvulaceae (कन्व्हॉल्व्ह्युलेसी)।

इसके क्षुप-प्रायः प्रसरणशील होते हैं। मूलस्तम्भ–काष्ठीय होता है। शाखाएं ४–१२ इञ्च लम्बी, रोमश, कुछ उठी हुई या फैली हुई रहती हैं। पत्ते–रेखाकार या नीचे की ओर के न्यूनाधिक अभिप्रासवत् एवं ·५–१·५ इञ्च लम्बे होते हैं। पुष्प–हलके गुलाबी रंग के या श्वेत होते हैं। बाह्यदल रोमश, रेखाकार प्रासवत् एवं आभ्यन्तर अंश कुप्पी के आकार का और बाहर से रोमयुक्त होता है। विष्णुक्रान्ता तथा शंखपुष्पी में अन्तर यह है कि विष्णुक्रान्ता में कुक्षिवृन्त दो और प्रायः पुनः द्विविभक्त होते हैं और शंखपुष्पी में केवल दो कुक्षियाँ होती हैं।

१६० विष्णुक्रान्ता (नील शङ्खपुष्पी)

हि०–शंखावली, शंखपुष्पी। म०–सांखवेल। गु०–शंखावली। ले०–*Evolvulus alsinoides-Linn.* (एह्वॉल्व्ह्युलस् अल्सेनाइडीस् लिन.)। Fam. Convolvulaceae (कन्व्हॉल्व्ह्युलेसी)।

यह भारत के सभी प्रदेशों में तथा हिमालय पर ६००० फीट तक होती है।

इसके क्षुप–प्रसरणशील तथा सुन्दर होते हैं। शाखाएं–मूल के ऊपर से ४–१५ इञ्च लम्बी अनेक शाखाएं निकल कर चारों ओर फैली रहती हैं। पत्ते-अखण्ड, रेखाकार से लेकर अण्डाकार तक ·२५–·५ इञ्च तक लम्बे, (कभी-कभी १ इञ्च), एवं पृष्ठलग्न तथा रेशम तुल्य मुलायम रोमों से युक्त होते हैं। पुष्प–भड़कीले नीले रंग के होते हैं और दो या तीन की संख्या में

पतले पुष्पदण्डों के अग्र पर रहते हैं। बाह्यदल रोमश और प्रासवत् होते हैं। आभ्यंतर कोश कभी-कभी श्वेत और कुछ-कुछ चन्द्राकार होते हैं। फल में २–४ फाँक होते हैं।

गुण और प्रयोग—शंखपुष्पी सारक, मेध्य, वृष्य, बल्य, कषाय, कटु, तिक्त एवं दीपन है। इसका उपयोग मानसरोग, उन्माद, अपस्मार, अनिद्रा, भ्रम एवं विष में किया जाता है।

(१) उन्माद में २–४ तोला ताजी शंखपुष्पी का स्वरस देने से दस्त साफ होता है और मद उतरता है। ज्वर में भी निद्रा के लिये एवं प्रलाप कम करने के लिये इसका फांट या इसे जीरक के साथ दूध में पीसकर देते हैं।

(२) बद्धकोष्ठ, गुल्म, आनाह आदि में इसकी जड़ देने से दस्त साफ होता है तथा शारीरिक विष निकल जाता है।

(३) इसके पत्तों का धूम्रपान जीर्णकास तथा श्वास में लाभदायक है।

(४) रक्तस्राव विशेषकर रक्तवमन में इसके स्वरस से लाभ होता है।

(५) पूयमेह, मूत्रकृच्छ्र तथा शुक्रदौर्बल्य में भी यह लाभदायक है। गर्भाशय-दौर्बल्य के कारण जिनमें गर्भधारणा नहीं होती उन्हें इससे लाभ होता है।

मात्रा—स्वरस २–४ तोला, चूर्ण ३–६ माशा। फांट ४–८ तोला।

१६१ दानकुनी (शंखपुष्पी ?)

सं०–शंखपुष्पी। हि०–संखाहुली ? बं०–दानकुनी। म०–ययोची, दण्डोत्पल। ले०–*Canscora decussata Schult* (कन्स्कोरा डिकसेटा शुल्ट)। Fam. Gentianaceae (जेन्शिआनेसी)।

यह आर्द्र स्थानों में तथा ४००० फ़ीट की ऊँचाई तक सब प्रदेशों में पायी जाती है।

यह वास्तव में शंखपुष्पी नहीं है। बंगाल के वैद्यों के द्वारा इसे शंखपुष्पी मानकर ग्रहण करने के कारण इसको कहीं-कहीं संखाहुली कह दिया जाता है।

इसके क्षुप–६–१५ इंच ऊँचे तथा चौकोर, सीधे, चिकने एवं सपक्ष काण्ड के होते हैं। पत्ते–अवृन्त, विपरीत, प्रासवत् या आयताकार–प्रासवत् ३, ३ शिराओं वाले, नीचे १ इञ्च तक लंबे किन्तु ऊपर क्रमशः छोटे होते हैं। पुष्प–श्वेत, अनियताकार और कुछ कुछ द्वयोष्ठ होते हैं। बाह्यदल सपक्ष और चार पुंकेसरों में एक बहुत बड़ा होता है। फली में बहुत बीज होते हैं। दानकुनी का स्वाद कड़वा होता है।

इसके पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह दीपन, आनुलोमक तथा मज्जातंतु के लिये बलकारक है। उन्माद में इसका स्वरस २–४ तोले की मात्रा में देने से शौच होता है एवं मद उतरता है। बद्धकोष्ठ, गुल्म एवं आनाह आदि में इसकी जड़ देने से शौच साफ होकर शारीरिक विष निकल जाता है।

मात्रा—स्वरस १–२ तोला।

अथार्कपुष्पी। तस्या नामगुणानाह

अर्कपुष्पी क्रूरकर्मा पयस्या जलकामुका। अर्कपुष्पी कृमिश्लेष्ममेहपित्तविकारजित् ॥२७१॥

अर्कपुष्पी के नाम तथा गुण—अर्कपुष्पी, क्रूरकर्मा, पयस्या और जलकामुका ये नाम अर्कपुष्पी के हैं। अर्कपुष्पी–क्रिमि, कफ, प्रमेह और पित्तविकार को दूर करने वाली होती है॥ २७१॥

नोट—अर्कपुष्पी को कुछ लोगों ने जीवन्ती-भेद माना है। रा. नि. में इसके परिचय में 'खर्णेरेति च कथ्यते' लिखा है। गुजराती में निम्नलिखित लता को खरणेर कहा जाता है।

जिसके कारण इसे श्री यादवजी ने अर्कपुष्पी माना है। डल्हण के समय में भी यह संदिग्ध ही रही है। सु. शा. अ. १० में अर्कपुष्पी की टीका में—'अर्कपुष्पी पयस्या अर्कसदृशपयःपुष्पा, श्वेतदूर्वाविशेषां केचिदाहुः, वृक्षजातिमन्ये' लिखा है। दूसरे स्थान पर इसे 'अर्कपुष्पी अर्कपत्रसदृशी लता' लिखा है।

१६२ अर्कपुष्पी

हि०—अर्कपुष्पी, मोरन अड़ा, रानी मारवी, छरिवेल । म०—खानदोडका, शिरदोडी, तुलतुली। गु०—खरणेर, खरिवेल। ले०—*Holostemma rheedianum Spreng* (होलोस्टेमा हिडियेनम् स्प्रेंग)। Fam. Asclepiadaceae (एस्क्लेपिएडेसी)।

यह हिमालय के उष्ण प्रदेश तथा पश्चिमी पेनिन्सुला में पायी जाती है।

इसकी लता—बड़ी, आरोही, चिकनी, चमकदार तथा काण्ड पोले रहते हैं। पत्ते—आयताकार लट्वाकार, गुडुच के समान, ३–७ इंच लंबे, लम्बाग्र, फलकमूल के पास बहुत भीतर की ओर धँसे हुये, कठोर एवं अधरतल पर मृदु रोमश होते हैं। पुष्प—सुगंधयुक्त, भीतर लाल बैंगनी और बाहर श्वेत या हलके गुलाबी रंग के प्रायः सचूड़ क्रम में आते हैं। फली—४–५ इञ्च लंबी आयताकार परन्तु सिरे पर क्रमशः पतली होकर कुंठिताग्र रहती है तथा उसके पृष्ठ पर दाने रहते हैं। इसकी जड़ तथा पत्तों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह स्नेहन, शीतल, मूत्रजनन तथा शोथघ्न है। इसका प्रमेह, अश्मरी, मूत्ररोग में प्रयोग किया जाता है। इसके पत्तों का शाक के रूप में भी प्रयोग होता है।

(१) नये सोजाक में इसकी जड़ का क्वाथ जीरा, मिश्री तथा दूध मिलाकर देने से पेशाब की जलन कम होती है।

(२) शुक्रमेह में इसकी जड़ तथा सफेद सेमल की जड़ घिसकर ६ माशे की मात्रा में चीनी मिलाकर दिन में दो बार देते हैं।

(३) नेत्राभिष्यंद में इसे घिसकर पलकों पर लेप करते हैं।

मात्रा—मूल चूर्ण ½ तो० क्वाथ बनाकर।

अथ लज्जालुः। तस्या नामानि गुणांश्चाह

लज्जालुः स्याच्छमीपत्रा समङ्गा जलकारिका। रक्तपादी नमस्कारी नाम्ना खदिरकेत्यपि॥
लज्जालुः शीतला तिक्ता कषाया कफपित्तजित्। रक्तपित्तमतीसारं योनिरोगान् विनाशयेत्॥

लज्जावन्ती के नाम तथा गुण—लज्जालु, शमीपत्रा, समङ्गा, जलकारिका, रक्तपादी, नमस्कारी और खदिरका ये सब नाम लज्जावन्ती के हैं। लज्जावन्ती—तिक्त तथा कषाय रस युक्त, शीतवीर्य एवम् कफ, पित्त, रक्तपित्त, अतीसार और योनिरोग को नष्ट करने वाली होती है।

नोट—अधिकांश विद्वानों ने माइमोसा प्युडिका को लज्जालु माना है। कुछ विद्वान् बायोफाइटम सेनसिटिह्वम् को लज्जालु मानते हैं। भावप्रकाशकार ने अलम्बुषा नाम से लज्जालु भेद दिया है, जिसे बायोफाइटम् मान सकते हैं। श्रीकण्ठ ने अलम्बुषा का अर्थ मुण्डितिका (गोरखमुण्डी) किया है, जो उचित नहीं मालूम पड़ता। लज्जालु, माइमोसा प्युडिका होनी चाहिये। चरक में सन्धानीय एवं पुरीषसंग्रहणीय महाकषाय में तथा सुश्रुत में प्रियङ्ग्वादिगण एवं अम्बष्ठादिगण में समङ्गा नाम से इसका उल्लेख है। इनमें लज्जालु एवं 'नमस्कारी' नाम का उल्लेख नहीं है।

अभिधानमञ्जरी में काञ्चनपुष्पी पर्याय जो दिया है वह बायोफाइटम् की दृष्टि से ठीक है, जिसे लज्जालु-भेद (अलम्बुषा) कह सकते हैं। कुछ विद्वानों ने नेप्ट्यूनिआ ओलेरॅसिआ लोर. (Neptunia oleracea Lour.; Fam. Leguminosae) को लज्जालु माना है। यह तालाबों में होता है तथा यह शीतल एवं संग्राही होता है।

१६३ लज्जालु

हि०—लज्जावन्ती, छुई-मुई, लजारू, लाजवती, लजउनी। बं०—लज्जावती, लाजक। म०—लाजाळू, लाजरी। गु०—रीसामणी। ता०—तोट्टा च्चुरंगी। ते०—मुणुगु दामरगु। ले०—*Mimosa pudica, Linn.* (माइमोसा प्युडिका लिन.)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह सम्भवतः उष्ण कटिबन्धज अमेरिका का आदिवासी है। अब यह समस्त भारत में पाया जाता है। इसको बागों में भी लगाते हैं।

इसका गुल्म—काँटेदार तथा फैला हुआ होता है। पत्रवृन्त—लम्बे होते हैं जिनसे चार पत्रक दण्ड पाणिवत् निकले रहते हैं। पत्रक—रेखाकार एवं अधिक से अधिक ½ इञ्च लम्बे, बबूल की तरह होते हैं। मुण्डक (पुष्प गुच्छ)—गुलाबी रंग के पुष्पों के मुण्डक, पत्र कोणीय पुष्पदण्डों के अग्र पर होते हैं। पुंकेशर ४ और बहुत बड़े होते हैं। फली-½–¾ इञ्च लम्बी होती है जिस पर बीजों के बीच की सन्धियों पर सूक्ष्म काँटे होते हैं। बीज—प्रत्येक में ३-४ होते हैं। शीतकाल में पुष्प आते है। जड़—चीमड़, खट्टी एवं कुछ तीती होती है। इसको स्पर्श करने से इसके पत्रक संकुचित हो जाते हैं। इसकी जड का विशेष प्रयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें माइमोसीन (Mismosine) नामक एक क्षाराभ पाया जाता है। इसकी जड़ में कषाय द्रव्य रहता है तथा इसकी राख ५½% निकलती है।

गुण और प्रयोग—यह संग्राहक है। इससे छोटी रक्तवाहिनियों का संकुचन होता है। रक्त तथा पित्तप्रधान रोगों में इसे देते हैं।

(१) इसकी जड़ का क्वाथ रक्तयुक्त आँव तथा सिकतामेह में देते हैं।

(२) अर्श में इसके पत्तों का चूर्ण दुग्ध के साथ पिलाते हैं।

मात्रा—स्वरस १–२ तोला।

अथालम्बुषा (लज्जालुभेदः)। तस्या नामगुणानाह

अलम्बुषा खरत्वक् च तथा मेदोगला स्मृता। अलम्बुषा लघुः स्वादुः क्रिमिपित्तकफापहा॥

अलम्बुषा के नाम तथा गुण—अलम्बुषा, खरत्वक् और मेदोगला ये नाम अलम्बुषा के हैं। यह लज्जावन्ती का भेद है। अलम्बुषा—लघु (हलकी), स्वादिष्ट एवं क्रिमि, पित्त तथा कफ को दूर करने वाली होती है॥ २७४॥

१६४ अलम्बुषा ? (लकजन)

हि०—लज्जालू, लकजन। म०—लाजरी। गु०—रीसामणी, झरेर। मल०—मुकुट्टी, तोणरानाझी। ले०—*Biophytum sensitivum* (*Linn.*) *DC.*। (बायोफाइटम् सेन्सिटिवम्, लिन. डीसी.)। Fam. Geraniaceae (जिरॅनिएसी)।

यह भारत के सभी उष्ण प्रदेशों में पाया जाता है।

इसके क्षुप–छोटे तथा सुन्दर होते हैं। सदलपर्ण तथा पुष्पदण्ड जमीन के बराबर ३–४ इंच लंबे, रोमश एवं कभी-कभी सशाख काण्ड के अग्र से एक साथ निकले रहते हैं। सदलपर्ण–१½–५″ लंबे, इनके अग्रस्थित दल ·३·५″ लंबे, नीचे की ओर के दल क्रमशः छोटे, अवृन्त, आयताकार या आयताकार-अभिलट्वाकार होते हैं। पुष्पदण्ड–प्रायः पत्तियों से लंबे, घन रोमश, अनेक कोणपुष्पकों एवं सवृन्त और पीले पुष्पों से युक्त रहते हैं। निद्रागति (Sleep movement) के कारण दो-दो पत्रक रात्रि में परस्पर सट जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह शीतल, तिक्त, कषाय तथा कफहर है। रक्तपित्त, अतीसार तथा योनिरोगों में इसका प्रयोग किया जाता है।

(१) मूत्राश्मरी एवं सोजाक में इसके मूल का क्वाथ देते हैं।

(२) कुकास में जड़ को मधु के साथ देते हैं।

(३) अर्श में इसे पीसकर लेप करते हैं। अंडवृद्धि में भी इसको बांधते हैं।

अथ दुग्धिका (दुद्धी)। तस्या नामानि गुणांश्चाह

दुग्धिका स्वादुपर्णी स्यात्क्षीरा विक्षीरिणी तथा। दुग्धिकोष्णा गुरू रूक्षा वातला गर्भकारिणी॥
स्वादुक्षीरा कटुस्तिक्ता सृष्टमूत्रा मलापहा। स्वादुर्विष्टम्भिनी वृष्या कफकुष्ठक्रिमिप्रणुत्॥

दुद्धी के नाम तथा गुण—दुग्धिका, स्वादुपर्णी, क्षीरा, विक्षीरिणी ये नाम दुद्धी के हैं। दुद्धी–कटु तथा तिक्तरस युक्त, उष्णवीर्य, गुरु, रूक्ष, वातकारक, गर्भकारक, स्वादिष्ट दूध युक्त, मूत्र का प्रवर्त्तन तथा मल का निवारण करने वाली, स्वादिष्ट, विष्टम्भजनक, वृष्य (वीर्यवर्धक), एवं कफ, कुष्ठ और क्रिमि को नष्ट करनेवाली होती है॥ २७५–२७६॥

नोट—दूधी के अतिरिक्त एक छोटी दूधी होती है जिसके २, ३ प्रकार पाये जाते हैं। इनका संक्षेप में स्वतंत्र वर्णन किया गया है।

१६५ दुद्धी

हि०- दुद्धी, दुधिया, दुद्धि, दूधी। **बं०**–बरा, खरूई। **म०**–मोठी नायटी। **गु०**–नागला, दुधेली, राती। **ते०**–ननबाल। **ता०**–अमूपच्छै अरिस्सि। **ले०**–*Euphorbia hirta, Linn.* (युफोर्बिया हिर्टा, लिन.); Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

यह भारत के समस्त उष्ण भागों में होती है।

इसके **क्षुप**–वर्षायु, रोमश तथा २ फीट तक ऊंचे होते हैं। **काण्ड**–प्रायः चतुष्कोणीय होते हैं। **पत्र**–अभिमुख, मध्यशिरा के दोनों ओर के खण्ड छोटे-बड़े, तीक्ष्ण दन्तुर, अण्डाकार आयताकार या आयताकार-प्रासवत्, $\frac{3}{4}$–१$\frac{1}{2}$ इञ्च तक लम्बे एवं तीक्ष्ण या संकुचित अग्रवाले होते हैं। एकाभव्यूह सूक्ष्म एवं गुच्छीकृत होता है। **फली**–छोटी एवं रोमावृत होती है जिसमें रक्ताभ भूरे रंग के छोटे बीज होते हैं। इसको तोड़ने से दूध निकलता है। पुष्प एवं फल आने पर इसे सुखा कर रखते हैं। इसके पंचांग का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इससे जलविलेय पदार्थ जैसे गॅलिक एसिड (Gallic acid), क्वेर्सेटिन (Quercetin), फिनॉलीय द्रव्य, एक ग्लाइकोसाइड तथा शर्करा पाई जाती है। इनके अतिरिक्त सुरासार विलेय द्रव्य, कुछ उड़नशील द्रव्य एवं मोम भी होता है।

गुण और प्रयोग—हृदय एवं श्वसनक्रिया पर इसका अवसादक प्रभाव पड़ता है तथा केन्द्रीय प्रभाव से श्वसनिकाओं का विस्फार होता है। आमाशय में इससे स्थानिक क्षोभ उत्पन्न

होकर अधिक मात्रा से उत्क्लेश एवं वमन होता है। इसलिये इसका प्रयोग भोजनोपरान्त अधिक जल के साथ थोड़ी-थोड़ी मात्रा में करना चाहिये।

(१) जीर्ण कफविकारों एवं तमकश्वास में इसका क्वाथ देते हैं। इसके साथ अन्य कफनिःसारक द्रव्य देने चाहिये।

(२) इसका स्वरस रक्तयुक्त आंव तथा शूल में दिया जाता है।

(३) बच्चों के कृमि, पेट के विकार तथा कफविकारों में इसे देते हैं।

(४) स्तन्यवर्धक रूप में इसका स्वरस पिलाया जाता है।

(५) वमन रोकने के लिए इसकी जड़ का प्रयोग किया जाता है।

(६) चर्मकील तथा दद्रु पर इसका दूध लगाते हैं।

मात्रा—स्वरस १०–२० बूँद; शुष्क चूर्ण २–५ रत्ती।

१६६ छोटी दूधी (१)

ले०-*Euphorbia thymifolia, Linn.* (युफोर्बिआ थाइमीफोलिया, लिन.)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

यह भी भारत के सभी मैदानों एवं छोटे पहाड़ी स्थानों पर एवं काश्मीर में ५५०० फीट तक होती है।

इसके पौधे बहुत छोटे ताम्रवर्ण के तथा फैले हुई शाखाओं से युक्त होते हैं। पत्ते-सूक्ष्म, अभिमुख, द्विपंक्ति, तिर्यक् आयताकार या गोल एवं गोलदन्तुर होते हैं। गुच्छीकृत एकामव्यूह हरित या गुलाबी तथा मृदुरोमश होते हैं।

गुण और प्रयोग—यह विशेष रेचक तथा उत्तेजक है। इसका रस दाद तथा अन्य चर्मरोगों में लगाते हैं। कफ एवं पित्त को निकालने के लिये इसका स्वरस दूध के साथ देते हैं। इसकी जड़ अनार्तव में दी जाती है।

१६७ छोटी दूधी (२)

ले०-*Euphorbia microphylla, Heyne* (युफोर्बिआ माइक्रोफाइला, हेन); Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

यह बंगाल, बुन्देलखण्ड, बिहार तथा प० प्रायद्वीप में होती है।

इसका क्षुप भी पहले की तरह होता है। यह श्वेतवर्ण का होता है। पत्ते—कुछ छोटे और कभी-कभी केवल अग्र पर दन्तुर होते हैं। इसमें एकामव्यूह चिकने होते हैं।

गुण और प्रयोग—स्तन्यवर्धक रूप में इसका प्रयोग करते हैं।

१६८ छोटी दूधी (३)

ले०-*Euphorbia hypericifolia, Linn.* (युफोर्बिआ हाइपेरिसी फोलिया, लिन.)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)। पं०—हजारदाना।

यह भारत के समस्त उष्ण भागों मे तथा ४५०० की ऊँचाई तक हिमालय पर होती है।

इसका क्षुप-करीब ६–२४ इञ्च बड़ा होता है। पत्ते—आयताकार या कुछ अभिअंडाकार, सूक्ष्म दन्तुर, एवं १.७″ से छोटे होते हैं। एकामव्यूह, छोटे, ०.०७ इञ्च बड़े होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें फेनॉलीय द्रव्य, सुगन्धि तैल एवं क्षाराभ होता है।

गुण और प्रयोग—यह संग्राही एवं मादक है।

(१) बच्चों के उदरशूल में पत्र-स्वरस दूध के साथ देते हैं ।
(२) शुष्क पत्र का फांट आंव, अतिसार, अत्यार्तव तथा श्वेतप्रदर में देते हैं ।
(३) इसका दूध चर्मकील पर लगाते हैं ।

अथ भूम्यामलकी (भुँइआमला) । तस्या नामगुणानाह

भूम्यामलकिका प्रोक्ता शिवा तामलकीति च । बहुपत्रा बहुफला बहुवीर्याऽजटाऽपि च ॥
भूधात्री वातकृत्तिक्ता कषाया मधुरा हिमा । पिपासाकासपित्तास्रकफकण्डूक्षतापहा ॥२७८॥

भुँइ आमला के नाम तथा गुण—भूम्यामलकिका, शिवा, तामलकी, बहुपत्रा, बहुफला, बहुवीर्या, अजटा और भूधात्री ये सब नाम भुँइ आमला के हैं ।

भुँइ आमला—तिक्त, कषाय एवं मधुर रस युक्त, वातकारक, शीतवीर्य एवं तृषा, खाँसी, पित्त, रक्त, कफ, खुजली और क्षत को दूर करने वाली है ॥ २७७-२७८ ॥

१६९ भूआमला

हि०-भुंई आमला, भूमि आंवरा, बं०-भुंई आम्ला । क०-किरूनेल्लि । ते०-नेल उसरि । गु०-भोंयआवली । म०-भुई आंवली । ले०-*Phyllanthus niruri, Linn.* (फाइलॅन्थस् निरुरी, लिन.) । Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी) ।

यह प्रायः सब प्रान्तों में वर्षा ऋतु में अधिक मिलती है । पहाड़ों पर यह ३००० फीट की ऊँचाई तक पाई जाती है ।

इसका क्षुप-६ से १२ इञ्च तक ऊँचा होता है । शाखाएँ-सीधी, पतली तथा देखने में पक्षवत् पत्र सदृश मालूम होती हैं । पत्ते-दीर्घवृत्ताकार, आयताकार एवं ०·१५-०·७५ इञ्च लंबे होते हैं । फूल-छोटे, हरे या श्वेताभ, प्रायः २-३ पुपुष्प एवं १ स्त्रीपुष्प पत्रकोण में रहते हैं । फल-गोल, आंवला की तरह, ०·०८-०·१२ इञ्च व्यास के ०·२-०·३ इञ्च लम्बे दण्ड पर आते हैं । बीज-भूरे रंग के, खड़ेबल में सूक्ष्म दानेदार रेखाओं से युक्त एवं आड़ेबल में महीन धारीदार होते हैं ।

इसकी एक अन्य जाति होती है जिसे Phyllanthus urinaria Linn. (फॉइलॅन्थस् युरिनॅरिआ लिन.) कहते हैं । इसमें पत्ते-०·१२-०·४ इञ्च लंबे, किसी किसी में ०·६ इञ्च तक लंबे, आयताकार या रेखाकार-आयताकार; फूल-रक्ताभ; फल-दबे हुये, गोल, ऊपर से शल्क (कीलक) युक्त; बीज-सूक्ष्म एवं आडेबल में महीन नालीदार होते हैं ।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में एक कड़ुआ द्रव्य फाइलेन्थिन (Phyllanthin) पाया जाता है ।

गुण और प्रयोग—यह कासहर, श्वासहर, शीत, मूत्रजनन, स्रंसन, दाहशामक, शोथहर, व्रणरोपण तथा नियतकालिक ज्वर प्रतिबन्धक है ।

यह कामला, मलेरिया, यकृत्-प्लीहावृद्धि, दाह, मूत्ररोग, रक्तविकार तथा व्रण में उपयोगी है ।
(१) इसके पंचांग का क्वाथ मलेरिया में दिया जाता है ।
(२) मूत्रमार्ग के विकारों तथा जलशोथ में इससे लाभ होता है । इससे मूत्र की मात्रा बढ़ती है तथा जलन कम होती है ।
(३) कामला में इसकी १ तोला जड़ दूध में पीस कर दोनों समय देते हैं ।
(४) इसके कोमल काण्ड का फाण्ट आंव में देते हैं ।

(५) व्रणशोथ तथा व्रण पर इसके पंचांग का चावल की पेया के साथ बना पोल्टिस बांधा जाता है।

(६) त्वचा के रोगों में पत्तों को नमक के साथ पीस कर बांधते हैं।

मात्रा—स्वरस १ से २ तोला; चूर्ण ३–६ माशा।

अथ ब्राह्मी मण्डूकपर्णी च। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

ब्राह्मी कपोतवङ्का च सोमवल्ली सरस्वती। मण्डूकपर्णी माण्डूकी त्वाष्ट्री दिव्या महौषधी॥
ब्राह्मी हिमासरा तिक्ता लघुर्मेध्या च शीतला। कषाया मधुरा स्वादुपाकाऽऽयुष्या रसायनी॥
स्वर्या स्मृतिप्रदा कुष्ठपाण्डुमेहास्रकासजित्। विषशोथज्वरहरी तद्वन्मण्डूकपर्णिनी॥ २८१॥

ब्राह्मी और मण्डूकपर्णी के नाम तथा गुण—ब्राह्मी, कपोतवङ्का, सोमवल्ली और सरस्वती ये नाम ब्राह्मी के हैं। मण्डूकपर्णी, माण्डूकी, त्वाष्ट्री, दिव्या और महौषधी ये नाम मण्डूकपर्णी के हैं। ब्राह्मी–शीतवीर्य, सारक (दस्तावर), तिक्त, कषाय और मधुर रसयुक्त, लघु, मेधा के लिए हितकर, शीतल, विपाक में मधुर रस युक्त, आयु को बढ़ाने वाली, रसायन, स्वर को उत्तम करने वाली, स्मरण-शक्ति को बढ़ाने वाली एवं कुष्ठ, पाण्डु, प्रमेह, रक्तविकार, खांसी, विष, शोथ तथा ज्वर को दूर करने वाली होती है। मण्डूकपर्णी–इसके भी समस्त गुण ब्राह्मी के समान ही हैं॥

नोट—भावप्रकाशकार ब्राह्मी तथा मण्डूकपर्णी दोनों के समान गुण लिखते हैं। वास्तव में ये दो भिन्न वनस्पतियाँ हैं। सुश्रुत चि० २८–४ में ब्राह्मी तथा मण्डूकपर्णी दोनों के अलग-अलग प्रयोग दिये हुये हैं। उत्तर प्रदेश के अधिकांश वैद्य जिसको ब्राह्मी मानते हैं यह वास्तव में मण्डूकपर्णी है जिसका लेटिन नाम हाइड्रोकोटाइल् एशियाटिका है। इसकी २, ३ किस्में तथा एक अन्य जाति भी पाई जाती है। इनके अतिरिक्त बंगाल के वैद्य जलनीम (हर्पेस्टिस् मोनिएरा) को ब्राह्मी मानते हैं। हो सकता है कि दोनों के गुणों में कुछ समानता पाई जाती हो और इसी कारण भावप्रकाशकार ने इनके गुण एक समान लिखे हों। इनमें से हाइड्रोकोटाइल् एशियाटिका निश्चित रूप से मण्डूकपर्णी मालूम होती है क्योंकि इसका बिहार प्रान्त का स्थानिक नाम बेंगसाग है, जिसका अर्थ मेंढक का शाक है। यहाँ दोनों का अलग-अलग वर्णन किया है।

१७० ब्राह्मी (वंगीय), जलनीम

हि०–ब्राह्मी, जलनीम, ब्रह्मी। बं०–ब्राह्मीशाक, ऊधाबिनि। म०–ब्राह्मी। ते०–शम्बनी चेट्टु। ता०–नीरब्राह्मि। अं०–Bacopa (बॅकोपा)। ले०–*Bacopa monnieri (Linn.) Pennell* (बॅकोपा मोनिएराइ (लिन.) पेन्नेल); B. monniera Wettst. (बॅ० मोनिएरा वेट); Herpestis monniera (Linn.) H. B. & K. (हर्पेस्टिस् मोनिएरा)। Fam. Scrophulariaceae (स्क्रॉफ्युलॅरिएसी)।

पानी के समीप आर्द्र स्थानों में यह सर्वत्र पाई जाती है।

इसका क्षुप–प्रसरी एवं किञ्चित् मांसल होता है। पत्ते–अभिलट्वाकार, आयताकार या सुवा के आकार के अखण्ड, अवृन्त, कुण्ठिताग्र, सूक्ष्म काले चिह्नों से युक्त एवं ६–२५ × २·५–१० मि० मि० बड़े होते हैं। पुष्प–जामुनी मिला हुआ श्वेत या गुलाबी रंग का होता है। फली–५ मि० मि० लम्बी, अण्डाकार, चिकनी तथा नुकीली होती है, जिसमें सूक्ष्म बीज होते हैं।

इसका स्वाद कडवा होने से तथा जल के समीप होने से इसे जलनीम भी कहते हैं। इसके पंचांग का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक क्षाराभ ब्राह्मीन (Brambine, 0·01–0·02%) पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसमें का क्षाराभ मेढ़क, चूहे तथा गिनीपिग आदि के लिये बहुत ही विषैला है। इससे रक्त का दबाव कम होता है। अल्प मात्रा से रक्त का दबाव कुछ बढ़ता है तथा श्वसन क्रिया को भी बल मिलता है। अत्यल्प मात्रा से भी अनैच्छिक मांसपेशियां, जैसे आन्त्र, गर्भाशय आदि उत्तेजित होती हैं। चिकित्सा की मात्रा में इसके क्षाराभ का प्रभाव स्ट्रिकनीन की तरह पड़ता है जिससे हृदय को बल मिलता है।

यह वातनाड़ी-संस्थान के लिये बल्य, मूत्रल एवं विरेचक है। इसका प्रयोग अपस्मार, उन्माद तथा स्वरभंग में किया जाता है।

(१) आमवात में इसके स्वरस का बाह्य प्रयोग करते हैं।

(२) बच्चों के सर्दी, खाँसी आदि में इसका स्वरस एक चम्मच देने से वमन तथा विरेचन होकर लाभ होता है।

(३) अवसाद, मानसिक दौर्बल्य आदि अवस्थाओं में इसके पत्तों का चूर्ण उपयोगी है।

(४) अपस्मार, हिस्टीरिया आदि में इससे बना ब्राह्मी घृत उपयोगी है।

मात्रा—स्वरस ½–१ तोला; चूर्ण ४–८ रत्ती।

१७१ मण्डूकपर्णी

हि०—ब्रह्ममाण्डूकी, ब्राह्मीभेद। **बं०**—थोलकुरी। **गु०**—खड़ब्राह्मी। **क०**—वंदेलग। **ते०**—मण्डूक ब्राह्मी। **ता०**—वल्लै। **म०**—कारिवणा। **अं०**—Indian Pennywort (इण्डियन पेनीवर्ट)। **ले०**—***Centella asiatica* (*Linn.*) *Urban*** (सेन्टेला एशियाटिका (लिन.) अरबन); Hydrocotyle asiatica, Linn. (हाइड्रोकोटाइल् एशियाटिका, लिन.)। Fam. Umbelliferae (अम्बेलीफेरी)।

यह भारत तथा लंका में आर्द्र स्थान पर ६००० फीट की ऊँचाई तक पाई जाती है। यह विदेशों में भी पाई जाती है।

इसका क्षुप—रूप में कुछ भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। काण्ड—लंबे, प्रसरी एवं ग्रन्थियों पर मूलों से युक्त होते हैं। पत्ते—गोल वृक्काकार, अखण्ड परन्तु धार पर प्रायः गोल-दन्तुर, १.३–६.३ से. मी. व्यास में एवं लंबे वृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प—ग्रन्थियों से कई पुष्पदण्ड एक साथ निकलते हैं, जिनमें लाल रंग के पुष्प संख्या में ३–५, सवृन्त मूर्धज होते हैं। फल—८ मि. मी. लंबे तथा चिपटे होते हैं, जिनमें चिपटे बीज होते हैं।

इसकी अन्य किस्में होती हैं, जिनमें एक में पत्ती बड़ी एवं फल सफेद तथा दूसरी में पत्ती छोटी तथा लाल फल होते हैं। एक अन्य जाति हा. रोटन्डिफोलिया (H. rotundifolia Roxb.) भी होती है जिसका क्षुप-बहुत कोमल, पत्ते-पतले झिल्ली के समान, स्पष्टतः ५–७ खण्डित एवं व्यास में १८ मि. मी. तक होते हैं। इसमें प्रत्येक पुष्पदंड में पुष्प १०–१५ तक एवं अवृन्त होते हैं। इसमें कोणपुष्पक सूक्ष्म होते हैं। पहला में वे स्पष्ट, प्रत्येक पुष्पदण्ड के साथ दो-दो, तथा चौड़े लट्वाकार होते हैं। इसके पत्तों एवं काण्ड का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। इसको छाया में सुखाकर चूर्ण बनाकर बन्द बोतलों में रखना चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसमें एक क्षाराभ हाइड्रोकोटिलिन (Hydrocotylin, $C_{22}H_{33}NO_8$), एक ग्लाइकोसाइड, एशियाटिकोसाइड (Asiaticoside), अल्प उड़नशील तैल, स्थिरतैल तथा रालीय द्रव्य पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त वेलेराइन (Vellarine), पेक्टिक एसिड

(Pectic acid) तथा विटामिन सी. (Ascorbic acid) पाये जाते हैं। शुष्क पौधे में सेन्टोइक् एसिड (Centoic acid-C_{30} H_{48} O_6) तथा सेन्टेलिक् एसिड (Centellic acid, C_{30} H_4 C_6) पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह रसायन, बल्य, मूत्रजनन, वयःस्थापन, मेध्य, रक्तशोधक, कुष्ठघ्न, व्रणशोधक एवं व्रणरोपक है। अधिक मात्रा में यह मादक है। इससे शिरःशूल, चक्कर आना तथा कभी-कभी संन्यास (Coma) की अवस्था भी हो जाती है। इससे त्वचा की रक्तवाहिनियों का विस्फार होता है।

इसका प्रयोग वातिक विकार, चर्मरोग एवं रक्तविकार में किया जाता है।

(१) त्वचा के विकारों में यह अच्छी लाभदायक है। कुष्ठ में इससे कुछ लाक्षणिक लाभ एवं साधारण स्वास्थ्य ठीक होता है। फिरंग की द्वितीयावस्था एवं तृतीयावस्था तथा जीर्ण आमवात में इसको देते हैं। फिरंग में इसके देने से एक सप्ताह में त्वचा मुलायम पड़कर छूटने लगती है। अन्य त्वचा रोगों में भी इससे लाभ होता है। इसका चूर्ण व्रण पर लगाते हैं तथा इसे खिलाते हैं। इसके प्रयोग से यदि कण्डू हो तो कुछ दिन इसे रोकना चाहिये तथा रेचक औषध देनी चाहिये।

(२) बच्चों के खूनी आँव में २ से ४ पत्तों का स्वरस, जीरक एवं मिश्री के साथ पिलाते हैं तथा नाभि के नीचे लेप करते हैं।

(३) बच्चों को शब्दोच्चारण ठीक करने के लिये इसे चबाने को देते हैं।

(४) स्मरणशक्ति बढ़ाने के लिये इसका चूर्ण दुग्ध के साथ दिया जाता है।

मात्रा – चूर्ण २–४ रत्ती; ताजे पत्ते ८–१२ प्रौढ़ के लिये; २–४ बालकों के लिये।

अथ द्रोणा (गूमा)। तस्या नामगुणानाह

द्रोणा च द्रोणपुष्पी च फलेपुष्पा च कीर्त्तिता। द्रोणपुष्पी गुरुः स्वादू रूक्षोष्णा वातपित्तकृत्॥
सतीक्ष्णलवणा स्वादुपाका कट्वी च भेदिनी। कफामकामलाशोथतमकश्वासजन्तुजित्॥२८३॥

गूमा के नाम तथा गुण—द्रोणा, द्रोणपुष्पी और फलेपुष्पा ये नाम गूमा के हैं। गूमा-गुरु, स्वादिष्ट, रूक्ष, उष्ण, वात-पित्त कारक, तीक्ष्ण, लवणरसयुक्त, विपाक में मधुररसयुक्त, कटु, मल को भेदन करने वाली एवं कफ, आम, कामला, शोथ, तमकश्वास और क्रिमि को दूर करती है॥ २८२–२८३॥

१७२ गूमा

हिं०—गूमा। बं०—घलघसे, हलकषा, दण्ड कलस। गु०—कुबो। म०—तुंबा। ले०—*Leucas cephalotes Spreng.* (ल्युकस् सिफॅलोटिस् स्प्रेंग.); Fam. Labiatae (लेबिएटी)।

यह प्रायः सब स्थानों में वर्षा में अधिक दिखाई पड़ती है। इसका क्षुप-आधे से २–३ फीट तक ऊँचा होता है। शाखायें चौपहल एवं रोमश होती हैं। पत्ते–२–३ इंच लंबे तथा आधा इंच चौड़े अथवा न्यूनाधिक होते हैं। ये अण्डाकार-प्रासवत या लट्वाकार, गोल एवं आरावत् दन्तुर एवं रोमश दन्तुर होते हैं। पुष्पगुच्छ–श्वेत, प्रायः अग्रज, गोल, व्यास में १–२ इंच एवं प्रायः लम्बाग्र कोणपुष्पकों से घिरे हुये रहते हैं और पुष्पगुच्छ के शीर्ष पर प्रायः दो पत्तियाँ रहती हैं। पुष्प आकृति में द्रोण के सदृश होते हैं, इसलिये इसे द्रोणपुष्पी कहते हैं। पुष्प शरद् में आते हैं तथा ग्रीष्म में यह सूख जाता है। इस प्रजाति में अनेक जातियाँ हैं जिनमें से कई एक को गूमा कहा जाता है।

इसके पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक सुगन्धित तैल तथा क्षाराभ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, कटु, स्वेदजनन, वातप्रशमन, स्रंसन एवं कफघ्न है। इसका प्रयोग प्रतिश्याय, कास, अग्निमांद्य, विषमज्वर एवं त्वचा के रोगों में किया जाता है।

(१) जुकाम में इसका फांट या स्वरस देते हैं। कफज्वर में टंकणक्षार तथा मधु के साथ इसका स्वरस देते हैं। इसके फूलों का शर्बत भी जुकाम आदि में लाभदायक है।

(२) आध्मान तथा उदरशूल में इसका स्वरस दिया जाता है।

(३) खुजली में इसका रस शरीर पर मलते हैं।

(४) सरदी से उत्पन्न शिरःशूल में इसके स्वरस का नस्य उपयोगी है।

(५) कामला में इसके पत्तों का रस नेत्रों में डालते हैं।

मात्रा—स्वरस ½–१ तोला।

अथ सुवर्चला (हुरहुर-श्वेत, पीत)। तयोर्नामगुणानाह

सुवर्चला सूर्यभक्ता वरदा बदराऽपि च। सूर्यावर्त्ता रविप्रीताऽपरा ब्रह्मसुदुर्लभा ॥२८४॥
सुवर्चला हिमा रूक्षा स्वादुपाका सरा गुरुः। अपित्तला कटुः क्षारा विष्टम्भकफवातजित् ॥
अन्या तिक्ता कषायोष्णा सरा रूक्षा लघुः कटुः। निहन्ति कफपित्तास्रश्वासकासारुचिज्वरान् ॥
विस्फोटकुष्ठमेहास्रयोनिरुक्कृमिपाण्डुताः ॥ २८६ ॥

हुरहुर तथा ब्रह्मसुवर्चला के नाम और गुण—सुवर्चला, सूर्यभक्ता, वरदा, बदरा, सूर्यावर्त्ता और रविप्रीता ये नाम हुरहुर के हैं। एक दूसरे प्रकार की भी 'हुरहुर' होती है, जिसका ब्रह्मसुदुर्लभा नाम है। हुरहुर-शीतवीर्य, रूक्ष, विपाक में मधुररसयुक्त, सारक, गुरु, किञ्चित् पित्तजनक, कटुरसयुक्त, क्षारीय एवं विष्टम्भ, कफ और वात को दूर करने वाली होती है। और **द्वितीय हुरहुर** (ब्रह्मसुदुर्लभा)-तिक्त-कषाय और कटुरसयुक्त, उष्णवीर्य, सारक, रूक्ष, लघु एवं कफ, पित्त रक्त, श्वास, कास, अरुचि, ज्वर, विस्फोटक, कुष्ठ, प्रमेह, रक्तविकार, योनिरोग, कृमि तथा पाण्डुरोग को दूर करने वाली होती है ॥ २८४–२८६ ॥

नोट—उपर्युक्त वनस्पति को अधिकांश विद्वानों ने आजकल मिलने वाली हुरहुर माना है। हुरहुर के दो भेद पाये जाते हैं। गाइनेन्ड्रोप्सिस् पेन्टाफाइला (Gynandropsis pentaphylla) नामक श्वेत हुरहुर तथा क्लिओम् विस्कोसा (Cleome viscosa) नामक पीत हुरहुर। एक अन्य क्लि० मोनोफाइला (C. monophylla Linn.) नामक बैंगनी हुरहुर भी होता है।

श्वेत हुरहुर के पत्र पर्णनाल पर सूर्य के साथ घूमते हैं, जिससे उपर्युक्त सूर्यभक्ता, सूर्यावर्ता, रविप्रीता आदि नाम इस (श्वेत हुरहुर) के लिये सार्थक मालूम पड़ते हैं। कुछ विद्वान् इसमें उग्रगन्ध होने से इसे उग्रगन्धा, अजगन्धा मानते हैं। इसका मराठी नाम तिलवण इसके तिलपर्णी होने का सन्देह पैदा करता है। कुछ ने इसे कर्णस्फोटा माना है। बंगाली वैद्य सुवर्चला नाम से इसे लेते हैं। यहाँ दोनों हुरहुर का वर्णन किया गया है। हुरहुर को शास्त्रीय सुवर्चला, अजगन्धा तिलपर्णी, आदित्यभक्ता, सूर्यमुखी या कर्णस्फोटा इनमें से क्या माना जाय यह सन्देहास्पद है। मालवा, राटंडीफोलिया (Malva rotundifolia Lill.; Fam. Malvaceae) का स्थानिक नाम सोंचल होने के कारण कुछ विद्वान् उसे सुवर्चला मानते हैं।

---

१. ब्रह्मसुवर्चला इति पाठा०।

१७३ हुरहुर (श्वेत)

हि०–हुरहुर सफेद, करेला, चमनी। को०–सेत काटाझड़ा। म०–तिलवण, माटवण, माब्ली बं०–हुरहुरिया। गु०–धोली तलवर्णा। ते०–वामिंटम्। मल०–तैवेल। ता०–कडुगु, वेलै। ले०–*Gynandropsis pentaphylla, DC.* (गाइनेन्ड्राप्सिस् पेन्टाफाइला डीसी.)। Fam. Capparidaceae (कॅपेरिडेसी)।

यह भारत के सभी उष्ण स्थानों में होता है।

इसका क्षुप १–३ फीट ऊँचा एवं दुर्गन्धयुक्त होता है। पत्ते–सपत्रक, पाणिवत, पत्रक प्रायः पाँच, अभिलट्वाकार, ग्रन्थिक रोमश एवं चिपचिपे होते हैं। पुष्प–श्वेत या बैंगनी होते हैं, जिसमें ६ नरकेसर होते हैं। फली–गोल, चिकनी, लम्बी एवं लम्बे वृन्त से युक्त होती है। बीज–राई के समान किन्तु छोटे होते हैं। इसके बीज एवं मूल का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन–इसमें एक उड़नशील तैल होता है। बीजों में क्लिओमिन (Cleomin) नामक तत्व होता है।

गुण और प्रयोग– इसके बीज राई की तरह दाहजनक, दीपन, पाचन, उत्तेजक एवं कृमिघ्न है। जड़ उत्तेजक तथा स्वेदजनन है। पत्तों को पीस कर त्वचा पर लेप करने से यह पीत हुरहुर की अपेक्षा कम रक्तिमोत्पादक है।

(१) ज्वर में कमजोरी आने पर उत्तेजना लाने के लिये समूल क्षुप का स्वरस ½–१ तो० पिलाते हैं।

(२) पूतिकर्ण एवं कर्णशूल में इसके पत्तों का रस कान में डालते हैं, किन्तु इससे जलन होकर तकलीफ होती है।

(३) ग्रन्थि बैठाने के लिये इसके पत्तों का लेप किया जाता है।

१७४ हुरहुर (पीत)

हि०–चमनी, हुरहुरपीला, केदार क्नावर (सं०)। म०–पिवली तिलवण। गु०–पीली तलवर्णा। बं०–हुरहुरिया। ले०–*Cleome viscosa, Linn.* (क्लिओम् विस्कोसा, लिन.); C. isocardia Linn. (आइसोकॅर्ड्रा लिन.)। Fam. Capparidaceae (कॅपेरिडेसी)।

यह भारत के सभी भागों में होती है। इसका क्षुप भी पहले की तरह होता है किन्तु इसमें सपत्रक पर्ण में पत्रकों की संख्या ३–५ तक होती है एवं फूल–पीले होते हैं। इसमें नरकेशर छोटे होते हैं। फली–चिपटी, रेशादार एवं छोटे वृन्त से युक्त होती है। इसके बीज एवं पत्तों का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। इसीकी एक अन्य जाति क्लि० मोनोफाइला, लिन. (C. monophylla, Linn.) होती है जिसमें पर्ण अपत्रक एवं पुष्प बैंगनी होते हैं।

रासायनिक संगठन– इसके बीजों में ०·१% विस्कोसिक अम्ल (Viscosic acid), ०·०४% विस्कोसिन (Viscosin) पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह स्वेदजनन, उत्तेजक, कोष्ठवात-प्रशमन एवं कृमिघ्न है। पत्तों का रस शोथप्रशमन एवं मूल कृमिघ्न है। इसके बीज एवं पत्तों का प्रभाव राई की तरह होता है। श्वेत की अपेक्षा इसके पत्ते अधिक दाहजनक हैं, क्योंकि इसके लेप से त्वचा त्वरित लाल हो जाती है एवं फोड़े भी हो जाते हैं।

(१) इसके बीज केंचुओं की बीमारी में देते हैं।

(२) आन्तरिक शोथ कम करने के लिये राई की अपेक्षा इसके पत्तों का लेप अधिक प्रभावशाली होता है। स्फोटोत्पादन के लिये या त्वक्-रागोत्पादन के लिये इसके पत्तों या पञ्चांग का लेप करते हैं।

(३) पूतिव्रण एवं बाधिर्य में इसके पत्तों का स्वरस तेल-मिलाकर कान में डालते हैं।

मात्रा—बीज १-३ माशा।

अथ वन्ध्याकर्कोटकी (वनककोडा)। तस्या नामानि गुणांश्चाह

वन्ध्याकर्कोटकी देवी कन्या योगीश्वरीति च। नागारिर्नक्रदमनी विषकण्टकिनी तथा॥२८७॥
वन्ध्याकर्कोटकी लघ्वी कफनुद् व्रणशोधिनी। सर्पदर्पहरी तीक्ष्णा विसर्पविषहारिणी॥२८८॥

वन ककोड़ा के नाम तथा गुण— वन्ध्याकर्कोटकी, देवी, कन्या, योगीश्वरी, नागारि, नक्रदमनी और विषकण्टकिनी ये नाम वन ककोड़ा के हैं। वनककोड़ा–लघु, कफनाशक, व्रणशोधक, साँप के अहङ्कार को दूर करने वाली (विष के प्रभाव को दूर करने वाली), तीक्ष्णवीर्य एवं विसर्प तथा विष को नष्ट करने वाली होती है॥ २८७-२८८॥

१७५ वनककोड़ा

हि०—बाँझककोड़ा, वनककोड़ा, बांझखेखसा। बं०-तित्कांकरोल। म०–वांझकर्टोली। गु०–वांझकंटोला, कंकोडीं। क०–माडहागल। ता०–पलुप्पकै। ते०–आगाकर। ले०–*Momordica dioica Roxb.* (मोमोर्डिका डायोइका राक्स.)। Fam. Cucurbitaceae (कुकुर्-बिटेसी।

यह इस देश के प्रायः सब प्रान्तों के जङ्गल झाड़ियों में उत्पन्न होती है और वर्षा ऋतु में अधिक पाई जाती है। हिमालय में ५००० फीट की ऊँचाई तक पाई जाती है।

इसकी लता, पत्र आदि खेखसा के समान ही होते हैं, केवल अन्तर यह है कि खेखसा में फल लगता है और इसमें फल नहीं लगता इसलिए इसको वन्ध्याकर्कोटकी कहते हैं। इसका कारण यह है कि यह द्विधैकलिंगक वनस्पति है, इसलिये नर और नारी पुष्पों की लतायें पृथक् होती हैं। नरपुष्पों की लता को वन्ध्याकर्कोटकी या बाँझककोड़ा और फल देने वाली नारी पुष्पों को उत्पन्न करने वाली लताएँ कर्कोटकी कही जाती हैं। इसकी लता-आरोही, चिकनी प्रायः दुर्गन्धयुक्त एवं कोनदार काण्ड वाली होती है। तन्तु निःशाख होते हैं। पत्ते–आकार में छोटे-बड़े हुआ करते हैं जो २ से ४ इञ्च के घेरे में लम्बाई युक्त गोलाकार, हृद्वत्, ३ भागों में विभक्त या अखण्ड, प्रायः लहरदार एवं दन्तुर धार वाले रहते हैं। पुष्प-बड़े, पीत वर्ण के; नर पुष्प–पतले एवं २-६ इञ्च लम्बे पुष्पदण्डों से युक्त होते हैं एवं नारीपुष्पों के दण्ड छोटे या उतने ही बड़े होते हैं। नरपुष्प में कोणपुष्पक बड़ा एवं पुष्प को आच्छादित किये रहता है तथा नारीपुष्प में यह छोटा होता है। फल–यह १-३ इञ्च लम्बा, दीर्घ वृत्ताभ और तीक्ष्णाग्र अथवा अण्डाकार होता है तथा इस पर मुलायम काँटे सदृश बाह्य वृद्धियाँ होती हैं। जड़ बहुवर्षायु एवं कन्दवत् होती है।

इसकी पत्ती एवं फल का शाकार्थ उपयोग होता है तथा कन्द एवं पत्रादि का चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है। कर्कोटकी का स्वतंत्र वर्णन (गुण, प्रयोग आदि) आगे शाकवर्ग में आया है।

रासायनिक संगठन—इसकी राख में मैंगनीज होता है। इसमें क्षाराभ भी पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह थोडीसी रक्तसंग्राहक, विषनाशक, कफघ्न एवं व्रणहर है। इसका कन्द कफनाशक एवं सभी विषों को दूर करने वाला है।

(१) इसके कन्द को भूनकर या उसका चूर्ण रक्तार्श में देते हैं।

(२) सर्पविष तथा बिच्छू के काटने पर इसका प्रयोग करते हैं। इसकी जड़ को पीस कर पिलाते हैं तथा नस्य देते हैं।

(३) ज्वर में शाक के रूप में इसका प्रयोग किया जाता है (सु० उ० ३९-१५०)। तीव्र ज्वर एवं प्रलाप में इसका बाह्य लेप किया जाता है।

(४) मूत्रकृच्छ्र में मूल को दूध के साथ पिलाते हैं।

मार्कण्डिका (सनाय)। तस्या नामगुणानाह

मार्कण्डिका भूमिवल्ली मार्कण्डी मृदुरेचनी ॥ २८९ ॥
मार्कण्डिका कुष्ठहरी ऊर्ध्वाधःकायशोधिनी। विषदुर्गन्धकासघ्नी गुल्मोदरविनाशिनी ॥

सनाय के नाम तथा गुण—मार्कण्डिका, भूमिवल्ली, मार्कण्डी और मृदुरेचनी (मृदु विरेचन करने वाली) ये नाम सनाय के हैं। सनाय—कुष्ठनाशक, ऊपर तथा नीचे से शरीर का शोधन करने वाली एवं विष, दुर्गन्ध, खांसी, गुल्म तथा उदर रोग को दूर करने वाली होती है ॥ २८९-२९० ॥

१७६ सनाय

हि०-देशी सनाय। बं०-सोनपात, सोनामुखी। म०-सोनामुखी। गु०-मीठीआकवल, सोना मुखी। ते०-नेलतेनगेड्डु। ता०-निलाविरै। अ०-सनाय मक्की। अं०-Indian or Tinnevelly Senna (इंडियन या तिनेवेली सेना)। ले०-*Cassia angustifolia, Vahl* (केशिया अँगस्टिफोलिया)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

इसका आदि स्थान अरब तथा सोमालीलैंड है। किन्तु अब इसकी खेती दक्षिण भारत में तिनेवेली, मदुरा तथा त्रिचनापल्ली जिलों में होती है। मैसूर में भी इसकी उपज का प्रयत्न किया गया है।

इसका सीधा गुल्म २-३ फीट ऊँचा होता है। पत्ते-संयुक्त होते हैं जिनमें पत्रक १-८ जोड़े होते हैं। पत्रक-अण्डाकार भालाकार, २·५-७ से० मी० लम्बे तथा ७-८ मि० मि० चौड़े (१-२ इञ्च × ०·२-०·६ इन्च) एवं चिकने होते हैं। पुष्प-पत्रकोणीय सदण्डिक (Raceme) मंजरियों में पीतवर्ण के पुष्प आते हैं। फली-चिपटी, १·४ से २·८ इन्च लम्बी, करीब ०·८ इंच चौड़ी एवं हरिताभ भूरी होती है। यह के० अॅक्यूटिफोलिया की फली से कम चौड़ी किन्तु अधिक लम्बी होती है। बीज-संख्या में ५-७, गहरे भूरे रंग के, अभिलट्वाकार एवं दबे हुए होते हैं। इसकी फली एवं पत्तों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

ब्रिटिश फारमाकोपिया (British pharmacopoeia) में दो जाति की सनाय मान्य है। एक उपर्युक्त सनाय तथा दूसरी अॅलेक्सॅण्ड्रियन सेना (Alexandrian senna) जो कि केशिया अॅक्यूटिफोलिया (Cassia acutifolia Delile) के जंगली पौधों से प्राप्त होती है। यह अफ्रीका तथा सूडान में होती है। इसको भारत में भी उगाने का प्रयत्न किया गया है। एक तीसरा भेद के० ऑब्ओहेटा (Cassia obovata (L.) Collad) होता है, जिसे इटालियन सेना (Italiansenna)

कहते हैं, सिंध, पंजाब, गुजरात, दक्षिण महाराष्ट्र एवं डेक्कन में पाया जाता है। यह देशी सनाय (Country senna) के नाम से भारतीय बाजार में सनाय के प्रतिनिधि रूप में बिकती है।

रासायनिक संगठन—इसमें हीन (Rhein, C_{14} H_5 O_2 (OH)$_2$ COOH), एलो-एमोडीन (Aloe-emodin, C_{14} H_5 O_2) (OH)$_2$ CH_2 OH), केम्फेरिन (Kaempferin), एवं आइसोहॅम्नेटिन (Isorhamnetin) मुक्त रूप में या ग्लाइकोसाइड के रूप में होते हैं। इनके अतिरिक्त केम्फेरॉल (Kaempferol), माइरिसिल् ॲल्कोहोल (Myricyl alcohol) तथा फाइटोस्टेरोलिन (Phytosterolin) भी पाये जाते हैं।

इनके अतिरिक्त इसके पत्तों में गोंद, कॅल्शियम ऑक्सॅलेट (Calcium oxalate), राळ तथा कुछ ग्लाइकोसाइड सम द्रव्य होते हैं। मेथिल ॲन्थ्रा क्विनोन (Methyl-anthraquinone) से संजात (Derivatives) कुल द्रव्य की मात्रा १-४% तक पाई गई है।

गुण और प्रयोग—यह रेचन औषध है। इसका छोटी आंतों पर प्रभाव होता है, जिससे पुरस्सरण की क्रिया बढ़ती है। सेवन के ६-१० घण्टे पश्चात् साफ शौच होता है। इसमें कुछ मरोड़ होती है जो संभवतः इसके पत्तों में के राळीय द्रव्य के कारण या पत्तों में रहने वाले एमोडीन (Emodin) के कारण होती है। इसे दूर करने के लिये तथा स्वाद ठीक करने के लिये इसके साथ सुगन्धि द्रव्य या क्षारीय विरेचन एवं मुलेठी या द्राक्षा देना चाहिये। इसका उत्सर्ग दूध द्वारा होने के कारण दूध में विरेचक गुण आ जाता है।

(१) जिनको कब्ज की शिकायत रहती है, उन्हें इसको दिया जाता है।

(२) पित्तज्वर में विरेचन के लिये इसे देने से दूषित पित्त निकल जाता है, जिससे दाह, शिरःशूल आदि कम हो जाते हैं

(३) आवेष्टन युक्त विबन्ध (Spastic constipation), या प्रक्षोभयुक्त बृहदांत्र (Irritable colon) एवं बृहदांत्र शोथ (Colitis) में इसका प्रयोग निषिद्ध है।

मात्रा—५-१५ रत्ती।

अथ देवदाली पीतदेवदाली च। खेखसा्वत्फलव्रततिः। तयोर्नामानि गुणांश्चाह

देवदाली तु वेणी स्यात्कर्कटी च गरागरी। देवताडो वृत्तकोशस्तथा जीमूत इत्यपि ॥२९१॥
पीता परा खरस्पर्शा विषघ्नी गरनाशिनी। देवदाली रसे तिक्ता कफार्शःशोफपाण्डुताः।
नाशयेद्वामनी तीक्ष्णा क्षयहिक्काकृमिज्वरान् ॥ २९२ ॥

देवदाली के नाम तथा गुण—देवदाली, वेणी, कर्कटी, गरागरी, देवताड, वृत्तकोश और जीमूत ये नाम देवदाली के हैं। दूसरी पीतदेवदाली के नाम-खरस्पर्शा, विषघ्नी और गरनाशिनी ये सब हैं। देवदाली-तिक्तरसयुक्त, वमन कराने वाली, तीक्ष्ण, एवं कफ, अर्श (बवासीर), शोथ, पाण्डुरोग, क्षय, हिचकी, कृमि तथा ज्वर को नष्ट करने वाली होती है॥ २९१-२९२॥

अथ तत्फलगुणानाह

देवदालीफलं तिक्तं कृमिश्लेष्मविनाशनम्। स्रंसनं गुल्मशूलघ्नमर्शोघ्नं वातजित्परम् ॥२९३॥

देवदाली घघरबेल के फल का गुण – यह तिक्तरसयुक्त, स्रंसन एवं कृमि, कफ, गुल्म, शूल, अर्श तथा वायु को दूर करने वाला होता है॥ २९३॥

१८७ देवदाली

हि०-देवदाली, सोनैया, बन्दाल, घघरवेल, घुसरान। बं०-बिंदाल, घोषालता, देवताड़, देयाताड़ । म०-देवडांगरी, कुकरवेल । गु०-कुकड़वेल । ते०-पनिबिर । क०-देवडंगर। अं०-Bristly Luffa (ब्रिस्टलि लफा)। ले०-*Luffa echinata Roxb.* (लुफा एचिनॅटा राक्स.) । Fam. Cucurbitaceae (कुकुरबिटेसी) ।

यह-सिन्ध, गुजरात, बिहार, देहरादून, उत्तरी अवध, बुंदेलखंड, उत्तर प्रदेश, और बङ्गाल आदि स्थानों में अधिक उत्पन्न होती है ।

इसकी लता-खेकसा (कर्कोटकी) के समान होती है, कर्कोटकी का विस्तार अधिक सघन होता है, परन्तु देवदाली का विस्तार बहुत कम होता है। इसके काण्ड पतले एवं पांच कोन वाले होते हैं। तन्तु द्विशाख शाखाओं वाले होते हैं। पत्ते-१-२½ इञ्च के घेरे में गोलाकार, वृक्काकार, लट्वाकार, पञ्च कोणाकार, अथवा पाँच भागवाले एवं गहरे कटे किनारे वाले तथा प्रत्येक भाग दन्तुर दीर्घवृत्ताभ होते हैं। पत्रदण्ड-१-२ इञ्च लम्बा होता है। पुष्प-श्वेत तथा व्यास में ½-१ इञ्च होते हैं। पुं-पुष्प-२-८ इञ्च लंबी मंजरियों में और उन्हीं पत्रकोणों में एकाकी स्त्री-पुष्प निकले रहते हैं। फल-१ से १॥ इञ्च लम्बे, लगभग आधा इञ्च मोटे, ⅙-⅓ इञ्च लंबे सघन कड़े रोम (वाह्यवृद्धि) अथवा कोमल कांटों से आच्छादित रहते हैं। फल कच्चे होते हैं, तो यह कांटे हरे रङ्ग के और सूखने पर भूरे रङ्ग के हो जाते हैं। फलों के मुँह पर सूक्ष्म ढ़कन (Lid) होता है। जब फल जाड़े में पक कर सूख जाता है, तब यह ढकन अपने आप फल से अलग हो कर गिर जाता है और फल के अन्दर के रेशेवाले तीन छिद्रों में से बीज निकलना आरम्भ होता है। इस लता का स्वाद बहुत कड़ुवा होता है। इसके फल का उपयोग किया जाता है। पंचांग का प्रयोग भी किया जा सकता है।

इसी प्रजाति की एक दूसरी लता लुफा ग्रॅविओलेन्स राक्स. (Luffa graveolens. Roxb.) होती है, जिसमें पुष्प पीले रंग के, तन्तु ३-५ शाखाओं वाले, पुंपुष्प गुच्छबद्ध, पुंकेशर पांच (देवदाली में केवल ३) किन्तु फल देवदाली की तरह कांटेदार होते हैं। कांटे कुछ मुलायम होते हैं।

पीले, लाल और सफेद फूलों के भेद से देवदाली तीन प्रकार की मानी जाती है। इसमें सफेद फूल की देवदाली अधिक मिलती है, पीले फूल की कहीं कहीं देखने में आती है और लाल फूल की देवदाली कम देखने में आती है। परन्तु गुणों में सब समान ही हैं। रक्त एवं पीत का रसायन के लिये उपयोग होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक एचिनेटिन् (Echinatin) नामक कड़वा पदार्थ तथा सॅपोनिन होता है। बीजों में तेल होता है जो कड़वा नहीं होता।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, कड़वा, मूत्रजनन, विरेचन, शिरोविरेचन, व्रणशोधक एवं व्रणरोपक है। अधिक मात्रा से हैजे की तरह वमन एवं विरेचन होता है। गर्भिणी में गर्भपात हो जाता है। इसका प्रभाव कड़वी तरोई की तरह होता है।

इसका प्रयोग कामला, जलोदर, हिक्का, कास, श्वास, क्षय, कृमि, यकृत प्लीहावृद्धि एवं आन्त्रशूल में किया जाता है।

(१) इसके एक फल को कूटकर रात में जल में भिगो दे। सुबह इसे मसल, कपड़े से छान ५-१० बूंद शिरोविरेचन के लिये नाक में डालें। इससे दिनभर पानी बहता है। कफज शिरोरोग तथा कामला में इसका प्रयोग करते हैं। कामला में इसके फल को मट्ठे के साथ

खिलाते हैं तथा इसके पंचांग के क्वाथ से नहलाते हैं। नस्य के लिये १ रत्ती चूर्ण का भी नस्य कराते हैं।

(२) इसका फांट या टिंक्चर (१ में २०), १०-२० बूँद की मात्रा में यकृत्-प्लीहावृद्धि, बाल यकृत् की प्रारंभिक अवस्था तथा इनसे उत्पन्न जलोदर में लाभदायक है। इससे मूत्र की मात्रा बढ़ती है तथा विरेचन भी होता है।

(३) इसके फांट से व्रण, दूषित व्रण आदि धोये जाते हैं।

(४) कफज्वर में अन्य कफनिःसारक द्रव्यों के साथ इसका प्रयोग लाभदायक है।

(५) चूहे के विष में दही के साथ इसको देने से लाभ होता है। (सुश्रुत)।

मात्रा—१-२ रत्ती।

अथ जलपिप्पली। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

जलपिप्पल्यभिहिता शारदी शकुलादनी।
मत्स्यादनी मत्स्यगन्धा लाङ्गलीत्यपि कीर्त्तिता॥ २९४॥
जलपिप्पलिका हृद्या चक्षुष्या शुक्रला लघुः॥ २९५॥
संग्राहिणी हिमा रूक्षा रक्तदाहव्रणापहा। कटुपाकरसा रुच्या कषाया वह्निवर्द्धिनी॥२९६॥

जलपीपल के नाम तथा गुण—जलपिप्पली, शारदी, शकुलादनी, मत्स्यादनी, मत्स्यगन्धा और लाङ्गली ये नाम जलपीपल के हैं। जलपीपल-हृदय तथा नेत्रों के लिये हितकर, शुक्रजनक, लघु, मलसंग्राहक, शीतवीर्य, रूक्ष, रक्तविकार, दाह और व्रण को नष्ट करने वाली, विपाक में कटुरस युक्त, रुचिकारक, कटु तथा कषाय रसयुक्त एवं अग्निवर्धक होती है॥ २९४-२९६॥

१७८ जलपीपल

हि०-जलपीपल, पनिसि (स)गा, भुईओकरा, बुक्कन बूटी। बं०-बुक्कन, कांचड़ा। म०-जलपिप्पली, रतवेल। गु०-रतवेलीयो। अं०-Purple Lippia (पर्पल लिपिआ)। ले०-*Lippia nodiflora Mich.* (लिप्पिआ नोडिफ्लोरा मिक्.)। Fam. Verbenaceae (वर्बिनेसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों की गीली भूमि में अधिक पाई जाती है तथा बलूचिस्तान में भी होती है।

यह प्रसर-(प्रसरी क्षुप) जाति की वनौषधि भूमि पर फैली हुई रहती है। पत्ते-अभिमुख, अभिलट्वाकार, आरावत् दन्तुर, कुंठिताग्र तथा ·५-१ इंच लंबे होते हैं। पुष्प-श्वेत रंग के छोटे पुष्प आते हैं, जो कोणपुष्पकों से युक्त, पत्रकोणीय, सदण्ड मुण्डकाकार व्यूह में आते हैं। फल-यही बाद में फल में परिवर्तित हो जाते हैं, जो पिप्पली की तरह दिखलाई पड़ते हैं। इसके स्वरस का उपयोग करते हैं। चरक में शाकवर्ग में इसका उल्लेख मिलता है

रासायनिक संगठन इसमें एक कड़वा पदार्थ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह कटु, स्नेहन, मूत्रजनन, संग्राही एवं ज्वरहर है।

(१) सूजन पर इसका पोल्टिस बांधने से जलन कम होती है तथा जल्दी पकती है।

(२) इसके पत्तों का फांट बच्चों के अजीर्ण, अतिसार, साधारण सरदी तथा प्रसूति ज्वर में दिया जाता है।

मात्रा—स्वरस ½-२ चम्मच।

अथ गोजिह्वा । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

गोजिह्वा गोजिका गोभी दार्विका खरपर्णिनी ।
गोजिह्वा वातला शीता ग्राहिणी कफपित्तनुत् ॥ २९७ ॥
हृद्या प्रमेहकासास्त्रव्रणज्वरहरी लघुः । कोमला तुवरा तिक्ता स्वादुपाकरसा स्मृता ॥२९८॥

गोजिह्वा के नाम तथा गुण—गोजिह्वा, गोजिका, गोभी, दार्विका और खरपर्णिनी ये नाम गोभी के हैं । गोजिह्वा-वातकारक, शीतवीर्य, ग्राही, कफ-पित्तनाशक, हृदय के लिये हितकर, प्रमेह-कास-रक्तविकार, व्रण तथा ज्वर को दूर करने वाली एवं लघु, कोमल, कषाय, तिक्त तथा मधुर रसयुक्त और विपाक में मधुर होती है ॥ २९७–२९८ ॥

नोट—गोजिह्वा के विषय में विद्वानों में कुछ मतभेद देखा जाता है । कुछ ने एलिफॅन्टोपस् स्केबर (Elephantopus scaber) को गोजिह्वा माना है किन्तु श्री ठा० बलवन्तसिंहजी ने इसके स्थानिक नामों के आधार पर इसे गोजिह्वा न मानकर 'मयूरशिखा' माना है । कुछ ने यूनानी में प्रचलित द्रव्य गावजवान इसे माना है, जिसका ले० नाम ओनोस्मा ब्रॅक्टिएटम् है । कुछ इसे गावजबान से भिन्न मानते हैं । कुछ ने कॅकसीनिया ग्लॉका (Caccinia glauca, Savi) को गावजवान माना है जो बलूचिस्तान में होता है तथा गुण में बल्य, मूत्रल एवं स्नेहन है तथा इसका आमवात एवं फिरंग में प्रयोग किया जाता है ।

चरक के दशेमानि में गोजिह्वा का उल्लेख नहीं है । शाक में इसका उल्लेख मिलता है, तथा विसर्प के लेपों में भी वर्णन है । चरक, सुश्रुत दोनों इसे व्रणरोपण मानते हैं । सुश्रुत में उपदंश, व्रण एवं ग्रन्थिविसर्प में तथा शाक के रूप में इसका प्रयोग मिलता है ।

यहां पर दोनों का वर्णन किया गया है ।

१७९ गोजिह्वा (१)

सं०-मयूरशिखा ? हिं०-गोभी । बं०-लता, गोजिया । म०-गोजीभ, हस्तिपत । गु०-भोंपाथरी, गलजीभी । बि०-मयूरजूटी, माराचूडा, मयूरचुटिया, मयूरशिखार । ले०-*Elephantopus scaber Linn.* (एलिफॅन्टोपस् स्केबर लिन.) । Fam. Compositae (कम्पोझिटी) ।

यह भारत के सभी उष्ण भागों में होती है । इसका क्षुप-स्वावलम्बी तथा ८–१८ इञ्च ऊँचा होता है । मूलीय पत्ते-पत्र-गुच्छों के रूप में, ४–६ इञ्च लम्बे एवं अभिलट्वाकार या अभिप्रासवत् होते हैं । काण्ड पतला, द्विविभक्त तथा रोमयुक्त होता है, जिस पर पत्ते १–३ इञ्च लंबे, अवृन्त एवं काण्डसंसक्त तथा दूर दूर होते हैं । पुष्पव्यूह-मुण्डक के रूप में आते हैं जो सूक्ष्म तथा समूहबद्ध होकर प्रायः ३, पत्रवत् एवं हृद्वत् कोणपुष्पकों के बीच में रहते हैं । प्रत्येक मुण्डक में पुष्पसंख्या प्रायः २–५ तक होती है ।

मुण्डकगुच्छ कोणपुष्पकों के साथ मयूर की शिखा के सदृश दिखलाई देते हैं । इसके आदिवासियों में प्रचलित नाम मयूरशिखा के समानार्थक हैं, जिससे इसे श्री ठा० बलवन्त सिंह जी ने शास्त्रीय मयूरशिखा माना है ।

रासायनिक संगठन—इसके पत्ते एवं काण्ड के सुरासारीय सत्त्व में प्रति जैविकीय क्रिया (Antibiotic activity) पाई गई है ।

गुण और प्रयोग—यह स्नेहन, शीतल, मूत्रजनन, बल्य एवं ज्वरनाशक है ।

(१) इसके पंचांग का क्वाथ मूत्रकृच्छ्र में पिलाते हैं ।

(२) ज्वर में इसके पंचांग को चावल की पेया में पका कर देते हैं । इससे पेट का दर्द भी दूर होता है ।

(३) रक्तातिसार तथा बच्चों के अतिसार में इसका मूल उपयोगी होता है।

(४) इसको गरी के तेल में पका कर व्रण एवं छाजन पर लगाते हैं।

(५) इसकी जड़ को वमन रोकने के लिये देते हैं तथा मिरिच के साथ चूर्ण बनाकर दन्तशूल में लगाते हैं।

१८० गोजिह्वा (२) गावजबान

सं०-गोजिह्वा, दर्वीपत्रा, वृषजिह्वा, खरपत्रा। हि०-म०-गु०-फा०-गाजबाँ, गावजबान। अ०-लिसानुस्सौर। ले०-*Onosma bracteatum Wall.* (ओनोस्मा ब्रॅक्टिएटम् वाल्.)। Fam. Boraginaceae (बोरॅजिनेसी)।

यह ईरान, अफ़गानिस्तान तथा पश्चिमी हिमालय में काश्मीर से कुमाऊँ तक ११५०० फीट तक पाया जाता है।

इसका क्षुप-१५ इञ्च ऊँचा तथा रोमश होता है। पत्र-मूलीय, ६"×१" बड़े, सवृन्त, मालाकार एवं ऊपर के २"×$\frac{3}{4}$", लम्बाग्र, अण्डाकार, मालाकार, एवं ऊपरी सतह, रोम के कारण खुरदरी होती हैं। रोम का आधार दानेदार होता है। नीचे की सतह मृदु दबे हुये रोम से युक्त होती है। पुष्प-बैंगनी रंग के गुच्छों में आते हैं जो २-३ इञ्च व्यास के तथा रोमश होते हैं। फल-१-६ इञ्च बड़े, अण्डाकार तथा नोकदार होते हैं। इसके पंचांग का व्यवहार किया जाता है। यूनानी वाले इसके पत्तों को वर्ग गावजबान एवं पुष्पों को गुलेगावजबान के नाम से व्यवहार करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों को जल में भिगोने से काफी लुआब निकलता है, जिसका स्वाद नमकीन होता है। इसकी राख में सोडियम् ९$\frac{1}{2}$%, पोटॅशियम् १४$\frac{1}{2}$%, कॅल्शियम् २७%) मॅग्नेशियम् २$\frac{3}{4}$% एवं लौह १%आदि के लवण पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह बल्य; हृद्य, मूत्रल, रसायन, स्नेहन एवं सौमनस्यजनन है। इसका प्रयोग फिरंग, आमवात, हृदय की धड़कन, मूत्रकृच्छ्र, आमाशय एवं बस्तिरक्षोभ एवं ज्वर में किया जाता है।

(१) विषमज्वर में जब ठंड लगती है तब इसे आसव के साथ देने से प्यास कम होती है तथा बेचैनी दूर होती है।

(२) फिरंग तथा सोजाक से उत्पन्न संधिशोथ में चोपचीनी के साथ इसका क्वाथ उपयोगी है।

(३) हृदय की धड़कन तथा मूत्रकृच्छ्र में इसके फॉट का प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—४-६ माशा दूध के साथ; पुष्प ३-६ माशा।

अथ नागदमनी। तस्या नामगुणानाह

विज्ञेया नागदमनी बलामोटा विषापहा। नागपुष्पी नागपत्रा महायोगेश्वरीति च॥ २९९॥
बलामोटा कटुस्तिक्ता लघुः पित्तकफापहा। मूत्रकृच्छ्रव्रणान् रक्षो नाशयेज्जालगर्दभम्॥३००॥
सर्वग्रहप्रशमनी निःशेषविषनाशिनी। जयं सर्वत्र कुरुते धनदासुमतिप्रदा॥ ३०१॥

नागदमनी के नाम तथा गुण—नागदमनी, बलामोटा, विषापहा, नागपुष्पी, नागपत्रा और महायोगेश्वरी ये नाम नागदमनी के हैं। नागदमनी—कटु तथा तिक्त रसयुक्त, लघु एवं पित्त,

कफ, मूत्रकृच्छ्र, व्रण, राक्षसबाधा, जालगर्दभ, सम्पूर्णग्रहबाधा और समस्त विष को दूर करने वाली तथा सर्वत्र जय करने वाली, धन तथा अच्छी मति को देने वाली होती है ॥ २९९-३०१ ॥

नोट—यह सन्दिग्ध द्रव्य है। मूर्वा नाम से पूर्वी भारत में प्रयुक्त सॅन्सेवेरिया राक्सबर्घियाना को कुछ लोग नागदौन मानते हैं। इसका पहले मूर्वा के साथ वर्णन किया जा चुका है। डा० वा० ग० देसाई ने सुदर्शन की एक जाति, क्राइनम् एशियाटिकम् लिन. (Crinum asiaticum Linn.) को नागदमनी लिखा हैं। कुछ ने दमनक (आर्टिमिसिआ), जिसका भावप्रकाशकार पुष्पवर्ग में स्वतन्त्र वर्णन करते हैं, नागदमन नाम से उल्लेख किया है। श्री ठा० बलवन्त सिंहजी ने 'विहार की वनस्पतियाँ' नामक पुस्तक में एक वनस्पति प्युपेलिया लेप्पासिया का उल्लेख किया है जिसे कुछ लोग नागदमनी मानते हैं। सुदर्शन एवं दमनक का आगे स्वतन्त्र वर्णन आया हुआ है। यहाँ संक्षेप में प्युपेलिया लेप्पासिया का वर्णन किया गया है।

१८१ नागदमनी ?

सं०-नागदमनी ? ले०-*Pupalia lappacea, Moq.* (प्युपेलिया लेप्पॉसिया मो०)। Fam. Amaranthaceae ॲमेरेन्थेसी)।

बिहार में यह मुंगेर, पलामू, संथाल परगना आदि स्थानों में विशेषकर पथरीली भूमि में होती है।

इसमें गुल्मक रोमश होते हैं। शाखाएँ कमजोर होती हैं। पत्ते-मृदुरोमश, अभिमुख, लट्वाकार, लट्वाकार-आयताकार या प्रासवत्, १-४ इञ्च लम्बे होते हैं। फलगुच्छ—मुण्डकाकार, व्यास में ५ इञ्च एवं उस पर टेढ़े सूक्ष्म कांटे होते हैं, जिससे सम्पर्क में आने पर ये कपड़ों में चिपट जाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसे कुछ लोगों ने सर्पविष में उपयोगी माना है।

अथ वीरतरुः। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

वेल्लन्तरो जगति वीरतरुः प्रसिद्धः श्वेतासितारुणविलोहितनीलपुष्पः।
स्याज्जातितुल्यकुसुमः शमिसूक्ष्मपत्रः स्यात्कण्टकी विजलदेशज एव वृक्षः ॥ ३०२ ॥
वेल्लन्तरो रसे पाके तिक्तस्तृष्णाकफापहः। मूत्राघाताश्मजिद्ग्राही योनिमूत्रानिलार्त्तिजित् ॥

वीरतरु के नाम तथा गुण—वेल्लन्तर और वीरतरु ये दो नाम जगत् में प्रसिद्ध हैं, इसके पुष्प-जाती (चमेली) के फूलों के समान होते हैं और वे सफेद, काले, अरुण, गाढ़े लाल तथा नीले रङ्ग के होते हैं। पत्ते-शमी के पत्तों के समान सूक्ष्म होते हैं और यह कांटेदार तथा निर्जल प्रदेशों में उत्पन्न होने वाला वृक्ष होता है। वीरतरु-विपाक तथा रस में तिक्त तथा ग्राही होता है एवं तृषा, कफ, मूत्राघात, पथरी, योनिरोग, मूत्ररोग एवं वातिक पीड़ा को नष्ट करने वाला होता है।

१८२ वीरतरु

हि०-बेलन्तर, वीरतरु, बरबेल, वरतुली। ते०-लतुग। मा०-खड़ी कंलई, कुंरात, खेरी। अजमेर०-खेड़ी। राजपुताना०-खेन। म०-सिगमकाटी। गु०-केल्लूंतरो। ता०-विड़तल्ले, वेल्लतुरू। ले०-*Dichrostachys cinerea W. & A.* (डाइकॉस्टॅचिस् सिनेरिया)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसि)।

यह पश्चिमोत्तर प्रदेश, मध्य भारत, राजपूताना, डेक्कन, दक्षिण महाराष्ट्र तथा उत्तरी कन्नड से सिलोन तक होता है। मलाया तथा उत्तरी आस्ट्रेलिया में भी यह पाया जाता है।

यह वृक्ष-झाड़दार, मध्यमाकार का या छोटे कद का कांटेदार होता है। इस पर सीधे, दृढ़, और तीखे कांटे रहते हैं। पत्ते-द्विपक्षवत् ३·२-६·३ से० मी० लम्बे होते हैं, जिसमें प्रधान पत्रदण्ड मृदुरोमश तथा प्रत्येक उपपक्ष के बीच ग्रन्थि होती है। उपपक्ष-८-१४ जोड़े, १-१·६ से० मी० लम्बे एवं दिनाल होते हैं, जिस पर सूक्ष्म, तिर्यक्, रेखाकार विनाल पत्रक-१२-२० जोड़ों की संख्या में होते हैं। सितम्बर से अक्तूबरतक इस पर २·५-३·८ से० मी० लम्बी विदण्डिक पुष्पमञ्जरी में पुष्प आते हैं। मञ्जरी का ऊपर का आधा भाग पीत एवं नीचे का आधा भाग लाल रहता है। ऊपर के पुष्पों के परागयुक्त पुंकेसर पीत रहते हैं तथा नीचे के परागरहित पुंकेसर बहुत लम्बे एवं लाल रहते हैं। फली-५-७·५ से० मी० लम्बी, ०·६-१·० से० मी० चौड़ी, चिपटी, गहरे भूरे रंग की तथा पकने पर ऐंठी हुई रहती है जिसमें ६-१० बीज होते हैं। सुश्रुत में इसका उल्लेख मिलता है।

गुण और प्रयोग—इसकी जड़ ग्राही होती है तथा आमवात, पथरी तथा वृक्क विकार में प्रयोग की जाती है। नेत्र-विकार में इसके कोमल पत्तों को पीसकर लगाते हैं।

अथ छिक्कनी (नकछिक्कनी)। तस्या नामगुणानाह

छिक्कनी क्षवकृत्तीक्ष्णा छिक्किका घ्राणदुःखदा। छिक्कनी कटुका रुच्या तीक्ष्णोष्णा वह्निपित्तकृत्।
वातरक्तहरी कुष्ठक्रिमिवातकफापहा ॥ ३०४ ॥

नकछिकनी के नाम तथा गुण—छिक्कनी, क्षवकृत, तीक्ष्णा, छिक्किका और घ्राणदुःखदा ये नाम नकछिकनी के हैं। नकछिकनी—कटुरसयुक्त, रुचिकारक, तीक्ष्ण तथा उष्णवीर्य, अग्नि तथा पित्तजनक, एवं वातरक्त, कुष्ठ, क्रिमि, वात और कफ को नष्ट करने वाली होती है ॥ ३०४ ॥

१८३ नकछिकनी

हि०-नकछिकनी छिकनी। बं०-हांचुटी, मेचिट्ट। म०-नाक शिंकणी। गु०-नाक छींकणी। ले०-*Centipeda orbicularis, Lour.* (सेंटिपीडा ऑर्बिक्युलेरिस् लोर०)। Fam. Compositae (कम्पोझिटी)।

यह प्रायः इस देश के सब प्रान्तों में विशेषकर आर्द्रभूमि में अधिक उत्पन्न होती है।

क्षुप बहुत छोटे, सुन्दर, पर जमीन पर फैले हुए रहते हैं। शाखायें-मूल के पास से निकलकर फैली हुई रहती हैं। पत्ते-बहुत छोटे, ६-१०×३-४ ५ मि० मि० बड़े, अभिप्रासवत् या अभिलट्वाकार, आयताकार और दूर-दूर दन्तुर होते हैं। पुष्प-छोटे छोटे गोल मुण्डक में आते हैं, जिनमें प्रान्तीय पुष्प-स्त्री-पुष्प कई चक्रों में और जिह्वाकार; केन्द्रीय पुष्प उभयलिंग तथा नालाकार एवं संख्या में कम होते हैं। अधःपत्रावलि दो चक्रों में रहती है।

इसका चरक तथा सुश्रुत दोनों में उल्लेख है। चरक में इसे शिरोविरेचनोपग माना है तथा शिरोरोग एवं कटुस्कंध में पाठ है और सुश्रुत में अतिसार एवं विसूचिका के लिये इसे उपयोगी बतलाया है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक क्षाराभ, अत्यल्प सॅपोनिन, एक ग्लाइकोसाइड, उड़नशील तैल एवं अम्लस्वभावी कडवा द्रव्य माइरियोगाइनिन् (Myriogynin) पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह शिरोविरेचन, दीपन, ग्राही, उष्ण, कृमिघ्न एवं वातनाशक है

(१) प्रतिश्याय, सिर के भारीपन एवं अर्धावभेदक में इसके स्वरस या चूर्ण का नस्य देते हैं, जिससे बहुत छींकें आकर आराम मिलता है।

(२) दन्तशूल में इसके पंचांग का उष्ण कल्क गालों के बाहर से लगाया जाता है।

(३) इसके बीज कृमिघ्न होते हैं।

अथ कुकुन्दरः (कुकुरवँदा)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कुकुन्दरस्ताम्रचूडः सूक्ष्मपत्रो मृदुच्छदः॥ ३०५॥
कुकुन्दरः कटुस्तिक्तो ज्वररक्तकफापहः।
तन्मूलमार्द्रं निक्षिप्तं वदने मुखशोषहृत्॥ ३०६॥

कुकरवँदा के नाम तथा गुण—कुकुन्दर, ताम्रचूड, सूक्ष्मपत्र और मृदुच्छद ये नाम कुकुरवँदा के हैं। कुकुरवँदा-कटु तथा तिक्तरसयुक्त, ज्वर, रक्त और कफ को दूर करने वाला होता है। इसकी जड़ गीली (ताजी) यदि मुख में रक्खी जाय तो मुख का सूखना बन्द हो जाता है॥ ३०५-३०६॥

१८४ कुकुरवंदा

हि०—कुकरोंदा, कुकुरवंदा, कुकुसुंगा। बं०—कुकुरनिर्मुली, भावूर्डा, भांगरूड, गंगावली। ता०—नारकरंडै। लै०—*Blumea lacera DC.* (ब्लुमिया लॅसेरा डीसी.)। Fam. Compositae (कम्पोझिटी)।

यह सब प्रान्तों में २००० फीट तक उत्पन्न होता है। इसका क्षुप-वर्षायु, धूसरवर्ण का मृदुरोमश तथा टर्पेंटाइन की जैसी तीव्रगंध युक्त होता है। पत्ते-३·८–१२·५×२·२–६·३ से. मी. बड़े, नीचे के सनाल, कटे हुए तथा ऊपर के न्यूनाधिक विनाल, दीर्घवृत्ताकार आयताकार, मृदुरोमश दन्तुर तथा आधार क्रमशः संकुचित होता है। पुष्प-पीत तथा मुण्डक में आते हैं। फल—छोटे, आयताकार तथा कुछ चतुष्कोणीय होते हैं। इसकी ३, ४ अन्य जातियाँ देखने में आती हैं। समस्त क्षुप में उग्र गंध आती है।

रासायनिक संगठन—इसमें उड़नशील तैल, तथा कपूर पाया जाता है। इससे तथा विशेषकर ब्लु. बालसमीफेरा नामक जाति से जो कपूर निकाला जाता है, उसे नागी कपूर या पत्री कपूर कहते हैं, जिसका वर्णन कर्पूर के साथ किया जा चुका है।

गुण और प्रयोग—यह कड़वा, दीपन, वायुनाशी, कफघ्न, रक्तस्तंभक तथा ज्वरनाशक है। इसके गुण कपूर से मिलते-जुलते हैं। इसका स्वरस कृमिघ्न, ग्राही, ज्वरहर, उत्तेजक एवं मूत्रल है। मूल का विसूचिका में प्रयोग किया जाता है। इसकी जड़ मुख में रखने से मुखशोथ में लाभ होता है।

(१) रक्तार्श में इसका स्वरस मिरिच के साथ देते हैं।

(२) इसके (ब्लु. बालसमीफेरा के) स्वरस में बना लौहभस्म का प्रयोग वृक्कजन्य उदर में करते हैं। मूत्र रुकने पर स्वरस देते हैं।

(३) ज्वर में इसको निर्गुण्डी-क्वाथ के साथ देने से पसीना होता है तथा कफ निकलता है।

मात्रा—पत्रचूर्ण ५–१५ रत्ती; स्वरस १ तोला।

अथ सुदर्शना । तस्या नामगुणानाह

सुदर्शना सोमवल्ली चक्राह्वा मधुपर्णिका । सुदर्शना स्वादुरुष्णा कफशोथास्रवातजित्॥२०७॥

सुदर्शन के नाम तथा गुण—सुदर्शना, सोमवल्ली, चक्राह्वा और मधुपर्णिका ये नाम सुदर्शन के हैं। सुदर्शन-स्वादिष्ट, उष्णवीर्य एवं कफ, शोथ और रक्तवात को दूर करने वाला होता है ॥२०७॥

नोट—क्राइनम् (Crinum) की विभिन्न जातियों को सुदर्शन माना जाता है। श्री डा० वा० ग० देसाई ने क्रा० एशियाटिकम् को (सं०) नागदमनी माना है, किन्तु इसका हिन्दी नाम सुदर्शन भी दिया है। कुछ ने गुडूचीभेद टिनोस्पोरा मलबारिका (Tinospora malabarica (Lam.) Miers.) जो पद्मगुडूची है, उसको सुदर्शन लिखा है। क्राइनम् की ३ जातियां पाई जाती हैं जिनमें से कुछ बागों में भी लगाई हुई मिलती हैं। यहां क्राइनम् का वर्णन किया गया है।

१८५ सुदर्शन

हि०-सुदर्शन, सुखदर्शन। बं०-सुखदर्शन। म०-गदाभी कंद, गदनीचा कांदा। ता०-विषमुंगिल। ले०-*Crinum latifolium Linn.* (क्राइनम् लॅटिफोलियम् लिन.)। Fam. Amaryllidaceae (एमेरिलिडेसी)।

यह समस्त भारत में होता है तथा बागों में लगाया हुआ भी पाया जाता है।

इसका क्षुप-बहुवर्षायु तथा २, ३ हाथ ऊँचा होता है। पत्ते-भूमि से निकलते मालूम पड़ते है, जो २॥-४ फीट तक लम्बे होते हैं एवं जिनकी चौड़ाई मध्य भाग में ३-४॥ इञ्च तक होती है। पुष्प-बैंगनीपन लिये हुवे सफेद रंग के सुगंधित सुन्दर फूल बीच में से निकलते हैं। कन्द-गोलाकार, व्यास में ५ इञ्च तक एवं उसकी मोटी गर्दन ३-५ इञ्च तक लम्बी होती है। हर साल पत्ते सूखकर नये आते हैं तथा पत्ते बड़े होने से पहले ही फूल आ जाते हैं।

इसकी अन्य जातियां क्रा० एशियाटिकम् लिन. (C. asiaticum Linn.) एवं क्रा० डेफिक्सम् केर (C.defixum Ker-Gawl) भी पाई जाती हैं।

इसके पत्र एवं कन्द का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, मधुर, तीक्ष्ण, जंतुघ्न, कुष्ठघ्न, शोथहर, वामक, कफनाशक एवं ज्वरहर है।

(१) कर्णशूल में इसके पत्तियों को गरम करके उसका स्वरस निकाल कर डालते हैं।

(२) इसके पत्तों को गरम कर तथा एरण्ड तैल लगाकर बाँधने से सभी प्रकार की सूजन, फोड़े, बवासीर आदि कम होती है। संधिशोथ पर यह उपयोगी है। त्वचा के रोगों में इसका स्वरस या इससे सिद्ध तैल लगाते हैं।

(३) कंद का प्रयोग कफज विकारों में वामक द्रव्य के रूप में किया जाता है। शुष्क द्रव्य (क्रा० एशियाटिकम्) की मात्रा दुगनी देनी पड़ती है।

मात्रा—कंदस्वरस १-२ तोला वमनार्थ।

अथाखुकर्णी (मूसाकर्णी) तस्या नामानि गुणांश्चाह

आखुकर्णी त्वाखुपर्णी पर्णिका भूदरीभवा। आखुकर्णी कटुस्तिक्ता कषाया शीतला लघुः।
विपाके कटुका मूत्रकफामयकृमिप्रणुत् ॥ २०८ ॥

मूसाकर्णी के नाम तथा गुण—आखुकर्णी, आखुपर्णी, पर्णिका और भूदरीभवा ये नाम मूसा-

कर्णी के हैं। मूसाकर्णी-कटु, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, शीतल, लघु, विपाक में कटुरसयुक्त एवं मूत्र तथा कफ-सम्बन्धी रोग और कृमि को दूर करने वाली होती है ॥ ३०८ ॥

१८६ मूसाकर्णी

हि०-मूसाकानी, चूहाकानी, मूसाकर्णी । बं०-इन्दुरकाणीपाना । म०-उन्दिरकानी। गु०-उन्दरकानी। ले०-*Ipomoea reniformis, Chois* (आईपोमिया रेनीफॉर्मिस् को०)। Fam. Convolvulaceae (कन्हॉल्व्युलेसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाई जाती है, विशेष कर उड़ीसा, बंगाल तथा दक्षिण हिन्दुस्तान में उत्पन्न होती है।

यह प्रसरी क्षुप जाति की वनस्पति प्रायः वर्षा में उत्पन्न होती है तथा सितम्बर से दिसम्बर तक फूलती-फलती है। इसकी प्रायः प्रत्येक गांठ से जड़ निकल कर यह फैलती जाती है। पत्ते—वृक्काकार, आध से १॥ इञ्च घेरे में लम्बाई की अपेक्षा चौड़ाई में अधिक, दन्तुर एवं गोल होते हैं। फूल—छोटे तथा पीले रंग के आते हैं। फल—दो-दो बीज वाले होते हैं। चिकित्सा में इसके पंचांग का व्यवहार किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह शोधन, मूत्रल, रसायन, कृमिघ्न, त्वक्-दोषहर एवं आनुलोमिक है। इसकी क्रिया मण्डूकपर्णी की तरह होती है तथा अनन्तमूल की तरह या उसके साथ इसका प्रयोग किया जाता है।

(१) इसका प्रयोग त्वचा के रोगों में किया जाता है। इससे पाखाना साफ होता है तथा शारीरिक शिथिलता दूर होती है।

(२) कृमि के लिये इसके स्वरस एवं रक्त शालि (लाल चावल) की पीठी के साथ बनी पूपलिका (पुआ) निर्धूम अंगारे पर पका कर, विडङ्ग तैल एवं लवण के साथ देने का विधान है। (चरक वि० ७-२६, सु० उ० ५४-२७)

मात्रा—५-१० रत्ती फांट बनाकर।

अथ मयूरशिखा (मोरशिखा)। तस्या नामगुणानाह

मयूराह्वशिखा प्रोक्ता सहस्राहिर्मधुच्छदा। नीलकण्ठशिखा लघ्वी पित्तश्लेष्मातिसारजित् ॥

मोरशिखा के नाम तथा गुण—मयूराह्वशिखा ('मयूर' के पर्यायवाचक शब्दों के अन्त में 'शिखा' जोड़ देने से जो शब्द बनते हैं वे सब; जैसे—नीलकण्ठशिखा आदि), सहस्राहि और मधुच्छदा ये नाम मोरशिखा के हैं। मोरशिखा-लघु एवं पित्त, कफ तथा अतिसार को नष्ट करने वाली होती है ॥ ३०९ ॥

नोट--अनेक वनस्पतियों को जो मयूरशिखा की आकृति की तरह दिखलाई देती हैं, मयूरशिखा के नाम से विभिन्न स्थानों पर प्रयुक्त किया जा रहा है। चरक-सुश्रुत में इसका वर्णन देखा नहीं जाता। भा० प्र० में इसे लघु एवं पित्त-कफनाशक तथा अतिसार में उपयोगी लिखा है।

गोजिह्वा के अन्तर्गत वर्णित एलिफॅण्टोपस् स्केबर लिन. (Elephantopus scaber Linn.) को श्री ठा० बलवन्त सिंह जी उसके स्थानिक नामों के आधार पर मयूरशिखा मानते हैं। सेलोसिआ क्रिस्टेटा (Celosia cristata) को कुछ ने मयूरशिखा माना है। कुछ ने एडिएण्टम्

कॉडेटम् (Adiantum caudatum) को तथा कुछ ने अॅक्टिनोप्टेरिस् डाइकोटोमा (Actinopteris dichotoma) को मयूरशिखा लिखा है । यहाँ संक्षेप में इनका वर्णन किया गया है।

१८७ मयूरशिखा (१)

लै०-*Actinopteris dichotoma, Bedd.* (अॅक्टिनोप्टेरिस् डाइकोटोमा बेड.); Fam. Polypodiaceae (पॉलिपोडिएसी)

यह सभी स्थानों पर विशेषतया पेनिनसुला, शुष्क पहाड़ी स्थानों में ४००० फीट तक एवं नीलगिरी पर २००० फीट तक एवं कुमाऊं में होती है ।

इसका क्षुप बहुत सुन्दर, ३–७ इञ्च ऊँचा एवं छोटे ताड़ की तरह दिखलाई देता है । बरसात में सूखी पहाड़ियों में पत्थरों के बीच में कहीं-कहीं यह दिखलाई देता है । पत्ते–व्यास में १–१·५ इञ्च, तालपत्र की तरह लम्बे पतले पत्रदण्ड पर रहते हैं जो मयूरशिखा की तरह दिखलाई देते हैं ।

गुण और प्रयोग—इसका रक्तस्तम्भक एवं कृमिघ्न रूप में प्रयोग किया जाता है ।

१८८ मयूरशिखा (२)

लै०-*Adiantum caudatum Linn.* (एडिएण्टम् कॉडेटम् लिन.) । Fam. Polypodiaceae (पॉलिपोडिएसी) ।

यह सभी स्थानों में, मैदानी भागों एवं पहाड़ियों के निचले ढालों पर पाई जाती है ।

इसका क्षुप-हंसपदी की जाति का होता है । पत्रदण्ड–६–१६ इञ्च लम्बा, मृदुरोमश तथा चमकीले बादामी रंग का होता है । पत्रक-विनाल या कुछ आयताकार तथा एक किनारा सीधा एवं दूसरा कटाहुआ होता है । अधरतल पर, किनारे पर बीजाणुकोष केवल खण्डों के अन्त में होते हैं ।

गुण और प्रयोग—इसका चर्मरोग, मधुमेह, कास तथा ज्वर में प्रयोग किया जाता है ।

१८९ मयूरशिखा (३)

हि०-लालमुर्गा । लै०-*Celosia cristata Linn.* (सेलोसिआ क्रिस्टॅटा लिन.) । Fam. Amaranthaceae (एमेरेन्थेसी) ।

यह बागों में लगायी हुई पाई जाती है एवं मैदानी भाग तथा हिमालय में ५००० फीट तक भी पाई जाती है । इसका क्षुप-मरसे के समान होता है । केवटीमोथा के अन्तर्गत वर्णित सफेद मुर्गा का यह भेद है । इसके पत्र प्रायः चौड़े होते हैं । पुष्प-छोटे तथा अत्यन्त सघन मंजरी में आते हैं ।

रासायनिक संगठन—इसके पौधे में बिटॅनिन् (Betanin) तथा नाइट्रोजन पदार्थ एवं इसके बीजों में एक स्थिर तैल पाया जाता है ।

गुण और प्रयोग—इसके पुष्प ग्राही होते हैं । इनका प्रयोग अतिसार तथा रक्तप्रदर में किया जाता है ।

इसके बीज स्नेहन हैं तथा मूत्रकृच्छ्र, कास एवं संग्रहणी में प्रयोग किये जाते हैं ।

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे पूर्वखण्डे मिश्रप्रकरणे
चतुर्थो गुडूच्यादिवर्गः समाप्तः ॥ ४ ॥

अथ पुष्पवर्गः

तत्रादौ कमलम् । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

वा पुंसि पद्मं नलिनमरविन्दं महोत्पलम् । सहस्रपत्रं कमलं शतपत्रं कुशेशयम् ॥ १ ॥
पङ्केरुहं तामरसं सारसं सरसीरुहम् । बिसप्रसूनराजीवपुष्कराम्भोरुहाणि च ॥ २ ॥
कमलं शीतलं वर्ण्यं मधुरं कफपित्तजित् । तृष्णादाहास्त्रविस्फोटविषवीसर्पनाशनम् ॥ ३ ॥

कमल के नाम—पद्म (यह नपुंसकलिङ्ग कभी २ पुंल्लिङ्ग में भी व्यवहृत होता है), नलिन, अरविन्द, महोत्पल, सहस्रपत्र, कमल, शतपत्र, कुशेशय, पङ्केरुह, तामरस, सारस, सरसीरुह, बिसप्रसून, राजीव, पुष्कर और अम्भोरुह ये सब संस्कृत में होते हैं ।

कमल—शीतल, वर्ण (शरीर के रङ्ग) को उत्तम करने वाला, मधुर रस युक्त, कफ-पित्त नाशक एवम्—तृष्णा, दाह, रक्तविकार, विस्फोट (शरीर में छोटी २ फुंसियों का होना), विष, और विसर्प को दूर करने वाला होता है ॥ १-३ ॥

अथ नामोल्लेखपूर्वकं कमलभेदाँस्तद्गुणाँश्चाह

विशेषतः सितं पद्मं पुण्डरीकमिति स्मृतम् । रक्तं कोकनदं ज्ञेयं नीलमिन्दीवरं स्मृतम् ॥४॥
धवलं कमलं शीतं मधुरं कफपित्तजित् । तस्मादल्पगुणं किञ्चिदन्यद्रक्तोत्पलादिकम् ॥५॥

कमल के भेदों के नाम—विशेष करके श्वेत कमल "पुण्डरीक" कहा जाता है । लाल कमल को "कोकनद" एवम् नीले कमल को "इन्दीवर" कहते हैं ।

श्वेतकमल—शीतल, मधुर एवम् कफ-पित्त का नाशक होता है । रक्तकमल आदि श्वेतकमल की अपेक्षा न्यूनगुणवाले होते हैं ॥ ४-५ ॥

नोट—भावप्रकाशकार कमल के ३ भेद श्वेत, रक्त तथा नील लिखते हैं । आगे श्वेत कुवलय (श्वेत कुमुद) का तथा कल्हार (रक्त कुमुद) का अलग वर्णन करते हैं । इसके अतिरिक्त एक स्थल कमल का और वर्णन करते हैं । अन्य निघण्टुओं ने वर्ण के आधार पर जो नाम दिये हैं उनमें आपस में पर्याप्त मतभिन्नता पाई जाती है । चरक, सुश्रुतादि में भी इनके कई भेदों का उल्लेख है । आधुनिक वानस्पतिक वर्गीकरण की दृष्टि से नेलंबिभम् स्पेसिओजम् में श्वेत एवं रक्त दो भेद पाये जाते हैं । इसे अधिकांश विद्वानों ने कमल माना है । इसमें नीला भेद नहीं पाया जाता । दूसरी प्रजाति (Genus) निंफिया की श्वेत, रक्त तथा नील जातियां (Species) पायी जाती हैं । इस प्रजाति को कुमुद कोई) मानते हैं । संभव है इसी प्रजाति के नील जाति (Species) को कमल का नील भेद मान लिया गया हो । गुणों की दृष्टि से दोनों (कमल एवं कुमुद) में पर्याप्त समता होने के कारण एक का दूसरे के स्थान पर प्रयोग किया जा सकता है । सभी प्रकार के कमल वर्ण्य कषाय एवं रक्तपित्तहर होते हैं । (च. सू. अ. २७)

पुण्डरीक प्रायः श्वेत कमल को, कोकनद रक्तकमल को एवं इन्दीवर नील कमल को कहा गया है ।

विकसित होने की दृष्टि से इनके दो भेद सूर्य-विकाशी एवं चन्द्र-विकाशी मानते हैं । जो प्रातः खिलते हैं तथा शाम को संकुचित हो जाते हैं उन्हें सूर्यविकाशी तथा जो रात को खिले रहते हैं तथा दिन को संकुचित रहते हैं उन्हें चन्द्र-विकाशी कहा जाता है । कमल सूर्यविकाशी तथा कुमुद प्रायः चन्द्रविकाशी होते हैं ।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कमल (नेलंबिअम् स्पेसिओजम्) में कोई जाति (Species) भेद नहीं पाया जाता है केवल वर्ण-भेद से दो प्रकार श्वेत एवं गुलाबी पाये जाते हैं। इसमें पत्तियाँ तथा पुष्प प्रायः पानी की सतह के ऊपर निकले रहते हैं। इसमें स्त्री-केशर पृथक्-पृथक् कर्णिका में इतस्ततः धंसे हुए तथा बाह्यदल (Sepals) कर्णिका के नीचे से निकले रहते हैं। इसमें दूध होता है तथा पत्र-नाल पर दूर-दूर छोटे कांटे होते हैं।

कुमुद (निंफिया) में पत्तियां तथा पुष्प प्रायः पानी की सतह तक निकले रहते हैं। इनमें स्त्री केशर चक्राकार स्थित, न्यूनाधिक परस्पर संयुक्त और कर्णिका में किंचित धंसे रहते हैं। ऊपर के कुछ बाह्यदल कर्णिका से संलग्न रहते हैं। यहाँ कमल का वर्णन किया गया है। कुमुद का आगे वर्णन किया गया है।

१ कमल

हि०-कमल, पुरइन। बं०-पद्म्। उड़ि०-पदम। म०-गु०-कमल। प०-कवलककरी। क०-बिलिया तावरे। ते०-कलावा, तम्मिपुव्वु। ता०-तामरै, अम्बल। मला०-तमर। अ०-कातिलुन्नहल। अं०-Sacred lotus (सैक्रेड लोटस्)। ले०-*Nelumbium speciosum Willd.* (नेलंबियम् स्पेसिओजम् विल्ड)। Fam. Nymphaeaceae (निंफिएसी)

यह भारत के सभी उष्ण प्रदेशों में होता है।

यह तालाबों में होने वाला विस्तृत जलीय क्षुप है। इसकी जड़ कीचड़ में फैलती है। पत्र-पतले, १-३ फूट व्यास के, चक्राकार, चिकने, चमकीले, नतोदर तथा वृन्तगोलायत (Peltate) होते हैं। पत्रनाल—बहुत लम्बा तथा उस पर दूर दूर छोटे कांटे होते हैं। फूल-एकाकी, ४-१० इंच व्यास में, श्वेत या गुलाबी, सुगंधित तथा लंबे दंड पर आता है। गर्मी तथा वर्षा काल में यह फूलते हैं।

कर्णिका (बीजाधार) स्पंज के समान एवं धूसर होती है जिसमें ½ इञ्च लंबे, गोल, काले तथा चिकने बीज रहते हैं। इन्हें (हिं) कमलगट्टा, (सं) पद्मबीज, (म) कमलकाकडी, (गु०) पवडी कहा जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके कंद तथा बीजों में राल, ग्लूकोज, मेटार्बिन (Metarbin), टैनिन, वसा तथा नेलंबिन (Nelumbine) नामक क्षाराभ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—कमल के पुष्प-(पंखुड़ियाँ) शीत, दाह प्रशमन, हृदय-बल्य, हृदय-संरक्षक, रक्तसंग्राहक, मूत्रजनन, मूत्र विरजनीय एवं ग्राही होते हैं।

इनका प्रयोग रक्तपित्त, ज्वर, मूत्रकृच्छ्र, एवं अतिसार में किया जाता है।

(१) तीव्र ज्वर में हृदय पर ज्वर का कुप्रभाव न हो तथा उसे बल मिले इस दृष्टि से इसका फांट मिश्री मिलाकर दिया जाता है। इसके साथ श्वेत तथा रक्तचंदन, वालक, मुलेठी, मुस्तक मिलाते हैं। डिजिटैलिस की तरह इसका हृदय पर प्रभाव पड़ता है जिससे धड़कन कम होकर हृदय को बल मिलता है।

(२) सगर्भावस्था में रक्तस्राव प्रारंभ होने पर इसके फांट से त्वरित लाभ होता है।

मात्रा—पंखड़ियां १-२ तो० फांट बनाकर।

अथ पद्मिनी। तस्या लक्षणनामगुणानाह

मूलनालदलोत्फुल्लफलैः समुदिता पुनः। पद्मिनी प्रोच्यते प्राज्ञैर्बिसिन्यादि च सा स्मृता॥

पद्मिनी के लक्षण—मूल, नाल, पत्र और फल से युक्त, खिले हुए कमल को विद्वान् लोग "पद्मिनी" कहते हैं।

पंचांग (पद्मिनी) के नाम—इसके विसिनी आदि भी नाम हैं ॥ ६ ॥

"आदिशब्दान्नलिनी-कमलिनीत्यादि ॥ ६ ॥

यहाँ पर-आदि पद से—नलिनी, कमलिनी इत्यादि भी नामान्तर समझना चाहिये ॥ ६ ॥

पद्मिनी शीतला गुर्वी मधुरा लवणा च सा । पित्तासृक्कफनुद्रूक्षा वातविष्टम्भकारिणी ॥ ७ ॥

पद्मिनी—शीतल, पाक में गुरु, मधुर तथा लवण रस युक्त, रूक्ष, एवम्-वातविष्टम्भ (अधो वायु का शुद्ध न खुलना) पैदा करने वाली होती है, तथा पित्त, रक्तविकार और कफ की नाशक होती है ॥ ७ ॥

अथ नवपत्रादि । तस्य नामान्याह

संवर्त्तिका नवदलं बीजकोशस्तु कर्णिका । किञ्जल्कः केशरः प्रोक्तो मकरन्दो रसः स्मृतः ।
पद्मनालं मृणालं स्यात्तथा विसमिति स्मृतम् ॥ ८ ॥

कमल के नवीन पत्ते आदि के नाम—संवर्तिका—यह कमल के नवीन पत्तों का नाम है। कर्णिका—बीजकोश (जिसमें बीज रहते हैं) का नामान्तर है। किञ्जल्क-कमल के केशर को कहते हैं।

मकरन्द—कमलपुष्प के रस का वाचक है। मृणाल तथा विस ये दो नाम कमल के नाल के हैं ॥ ८ ॥

कमल के विभिन्न अंगों के अन्य पर्यायवाची तथा विभिन्न भाषाओं के नाम—कमलकर्णिका—सं०-बीजकोश, वराटक । हिं०-कमल का छत्ता । म०-धांगुड, ढांपणी । गु०-धीतेलां, कुमडा (रात्रिविकाशी)।

कमलनाल-सं०-विस, मृणाल । हिं०-मुरार, भसींड । म० भिसें ।

कमलकन्द—सं०-शालूक, करहाटक । गु०-लोढ ।

अथ संवर्तिका (नये पत्ते) । तस्या गुणानाह

संवर्तिका हिमा तिक्ता कषाया दाहतृट्प्रणुत् । मूत्रकृच्छ्रगुदव्याधिरक्तपित्तविनाशिनी ॥ ९ ॥

संवर्तिका (कमल के नवीन पत्र)-शीतल, तिक्त तथा कषाय रस युक्त एवम्—दाह, प्यास, मूत्रकृच्छ्र, गुदासम्बन्धी रोग (अर्श आदि) और रक्तपित्त को नष्ट करने वाली होती है ॥९॥

अथ कर्णिका । तस्या गुणानाह

पद्मस्य कर्णिका तिक्ता कषाया मधुरा हिमा । मुखवैशद्यकृल्लघ्वी तृष्णाऽस्रकफपित्तनुत्॥१०॥

कर्णिका(बीज कोश)—तिक्त, कषाय तथा मधुर रस युक्त, शीतल, लघु और मुख को स्वच्छ करने वाली एवम्—तृषा, रक्तविकार, कफ तथा पित्त को नाश करने वाली होती है ॥१०॥

कमल के बीज—इसके बीज पौष्टिक, मधुर, स्नेहन, ग्राही, रक्तसंग्राहक, गर्भसंस्थापक एवं शीत होते हैं। खाद्य के रूप में भी इसका प्रयोग किया जाता है।

इसकी पेया बनाकर वमन तथा हिचकी में देने से लाभ होता है। प्रदर में भी इसे देते हैं।

31 मात्रा—½-१ तो० पेया बनाकर ।

अथ किञ्जल्कः (केशर)। तस्य गुणानाह

किञ्जल्कः शीतलो वृष्यः कषायो ग्राहकोऽपि सः।
कफपित्ततृषादाहरक्तार्शोविषशोथजित् ॥ ११ ॥

किञ्जल्क (कमल का केशर)—शीतल, वृष्य (वीर्यवर्धक), कषाय रस युक्त, ग्राही एवम्—कफ, पित्त, तृषा, दाह, रक्तार्श (खूनी बवासीर), विष और शोथ को दूर करने वाला होता है ॥ ११ ॥

कमल का केशर—यह ग्राही, शीतवीर्य, रक्तपित्तशामक एवं दाहप्रशमन होता है।

इसका चूर्ण मिश्री के साथ रक्तार्श, रक्तप्रदर तथा ऊर्ध्वग रक्तपित्त में देने से लाभ होता है।

मात्रा—चूर्ण ५-१५ रत्ती।

अथ मृणालं शालूकञ्च। तयोर्गुणानाह

मृणालं शीतलं वृष्यं पित्तदाहास्रजिद् गुरु ॥ १२ ॥
दुर्जरं स्वादुपाकञ्च स्तन्यानिलकफप्रदम्। संग्राहि मधुरं रूक्षं शालूकमपि तद्गुणम् ॥१३॥

मृणाल (कमल नाल)—शीतल, वृष्य (वीर्यवर्धक), गुरु, कठिनता से पचने वाला, रूक्ष, विपाक में मधुर, संग्राही, मधुर रस युक्त, दुग्धवर्धक, वायु तथा कफ को उत्पन्न करने वाला एवम्—पित्त, दाह और रक्त विकार को दूर करने वाला होता है।

शालूक (कमल कन्द)—यह भी गुणों में मृणाल के तुल्य ही होता है ॥ १२-१३ ॥

इसकी पेया बनाकर अतिसार, रक्तातिसार एवं कुपचन में दी जाती है। अर्श में चूर्ण का उपयोग करते हैं। चर्मरोगों में इसका लेप किया जाता है।

मात्रा—½-१ तो० पेया बनाकर।

अथ स्थलकमलम्। तस्य नामगुणानाह

पद्मचारिण्यतिचराऽव्यथा पद्मा च शारदा। पद्माऽनुष्णा कटुस्तिक्ता कषाया कफवातजित्।
मूत्रकृच्छ्राश्मशूलघ्नो श्वासकासविषापहा ॥ १४ ॥

स्थलकमल के नाम—पद्मचारिणी, अतिचरा, अव्यथा, पद्मा और शारदा ये सब हैं।

स्थलकमल—किञ्चित् उष्णवीर्य, कटु, तिक्त तथा कषाय रस युक्त एवम्—कफ, वात, मूत्रकृच्छ्र, पथरी, शूल, श्वास, कास तथा विष को दूर करने वाला है ॥ १४ ॥

नोट—इस संबंध में विद्वानों में मतभेद है। चरक; सुश्रुत तथा वाग्भट में इसका उल्लेख नहीं है। वृंद के 'सिद्धयोग' में स्थलपद्म का प्रयोग मिलता है। इसके कल्क को दूध के साथ पिलाने से प्लीहा रोग तथा सभी प्रकार के शोथ में लाभदायक माना है। श्री कण्ठ ने इसको 'माणकम्' लिखा है। इसके कहीं चार प्रकार मानते हैं—

चतुर्धा स्थलपद्मानि सेवन्ती गुलदावदी। नैपाली च गुलावश्च बकुलश्च कदम्बकः ॥ १ ॥

निम्न दो पौधों को स्थल कमल कुछ विद्वानों ने माना है।

२ स्थलपद्म (१)

ले०-*Ionidium suffruticosum* Ging. (आयोनिडिअम् सफ्रुटिकोसम्)। Fam. Violaceae (व्हायोलेसी)। हिं०-रतनपुरुष।

इसके छोटे बहुवर्षायु क्षुप बुन्देलखण्ड, आगरा, बंगाल, मद्रास, गुजरात, खानदेश तथा कर्नाटक में पाये जाते हैं। पत्ते-कुन्तल क्रम में, लगभग अवृन्त, '७-१" लंबे और भालाकार होते हैं। पुष्प-एकाकी तथा गुलाबी रंग के आते हैं। पाँच आभ्यन्तर दलों में, एक दल लम्बे दलदण्ड (Claw) और लगभग वृत्ताकार दलोत्सर (limb) से युक्त होता है। मूल तथा पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक क्षाराभ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह शीतल, स्नेहन एवं मूत्रजनन होता है। मधुमेह में इसे लाभदायक माना जाता है। बच्चों के उदरविकार में इसकी जड़ देते हैं। उष्णताजन्य शिरःशूल एवं गरमी में दाहशान्ति के लिए भी इसका उपयोग होता है।

३ स्थलपद्म (२)

ले०-*Hibiscus mutabilis Linn.* (हिबिस्कस् म्यूटेबिलिस्)। Fam. Malvaceae (माल्वेसी)। सं०-पद्मचारिणी। हिं०-गुलियाजैष। बं०-थलपद्म।

यह बागों में लगाया मिलता है। इसका आदि स्थान चीन है।

इसका वृक्ष-छोटा तथा काँटे विहीन होता है। शाखाएँ मृदुरोमश होती हैं। पत्ते-हृदयाकार, दन्तुर, ४ इञ्च व्यास में तथा ३ इञ्च लंबे दण्ड से युक्त होते हैं। पुष्प-३-४ इञ्च व्यास में आते हैं जो प्रातः खिलने पर श्वेत या गुलाबी रंग के तथा शाम तक गहरे लाल रंग के हो जाते हैं। फल-गोल, चिपटे तथा रोमश होते हैं। बीज-वृक्काकार एवं खरखरे होते हैं।

गुण और प्रयोग—मलाया तथा चीन में इसके पुष्पों को वक्ष तथा फुफ्फुस विकारों में प्रयोग करते हैं तथा इसे उत्तेजक मानते हैं। इसके पत्तों को शोथ पर बाँधते हैं।

अथ कुमुदम् "कमोदनी" इति लोके। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

श्वेतं कुवलयं प्रोक्तं कुमुदं कैरवं तथा। कुमुदं पिच्छिलं स्निग्धं मधुरं ह्लादि शीतलम् ॥१५॥

कुमुद के नाम—श्वेतकुवलय, कुमुद, कैरव ये सब संस्कृत में हैं। इसे लोक में "कमोदनी" कहते हैं।

कुमुद-पिच्छिल, स्निग्ध, मधुररसयुक्त, शीतल एवम् चित्त को आह्लादित (प्रसन्न) करने वाला है ॥ १५ ॥

अथ कुमुदिनी। तस्या नामगुणाँश्चाह

कुमुद्वती कैरविका तथा कुमुदिनीति च ॥ १६ ॥
सा तु मूलादिसर्वाङ्गैरुक्ता समुदिता बुधैः।
पद्मिन्या ये गुणाः प्रोक्ताः कुमुदिन्याश्च ते स्मृताः ॥ १७ ॥

कुमुदिनी के नाम—कुमुद्वती, कैरविका और कुमुदिनी ये सब हैं। लक्षण—मूल, नाल, पत्रादिकों के सहित जो कुमुद है उसे "कुमुदिनी" कहते हैं।

गुण—पद्मिनी के जो गुण पूर्व में कह चुके हैं वे ही सब कुमुदिनी के भी समझने चाहिये ॥ १६-१७ ॥

अथ कल्हारम् । तन्नामगुणानाह

सौगन्धिकं तु कल्हारं हल्लकं रक्तसन्ध्यकम् । कल्हारं शीतलं ग्राहि विष्टम्भि गुरु रूक्षणम् ॥

कल्हार के नाम—सौगन्धिक, कल्हार, हल्लक और रक्तसन्ध्यक ये सब कल्हार (लालकुमुद) के पर्यायवाची शब्द हैं।

कल्हार—शीतल, ग्राही, वातविष्टम्भ को उत्पन्न करने वाला, पाक में गुरु एवं रूक्ष होता है ॥ १८ ॥

नोट—कमल तथा कुमुद के संबंध में विशेष विवरण कमल के नोट के अन्तर्गत दिया जा चुका है। गुणों की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त साम्यता है। जिससे एक का दूसरे के स्थान पर प्रयोग किया जा सकता है। कुमुद (निंफिया) में वर्ण के अनुसार ४ भेद (Species) पाये जाते हैं पीत वर्ण का भेद भी विदेशों में पाया जाता है। यहाँ श्वेत कुमुद (निं० अल्बा) का वर्णन किया गया है। अन्यों का केवल संक्षेप में भेद बतलाया गया है।

४ कुमुद

हि०- कुमुद, कमोदनी, कोईं, कुईं। बं०-शालुक, सुन्दी । गु०-पोयणु । म०-कमोद । फा०-नीलूफर । अ०-अर्नबुल्मा । अं०-Water lily (वाटर लिली)। लै०-*Nymphaea alba Linn.* (निम्फिआ अल्बा लिन)। Fam. Nymphaeaceae (निम्फिएसी)।

यह काश्मीर में जलाशयों में पाया जाता है।

इसका जलीय क्षुप बहु वर्षायु होता है। इसकी जड़ें जलाशय की सतह में फैलती हैं। पत्ते-गोल, हृदयाकार, चमकीले तथा जल की सतह पर तैरते रहते हैं। पत्रनाल १० फुट तक लंबा होता है तथा पत्र फलक के मध्य में जुटा रहता है। पुष्प-श्वेत, तथा २-५ इञ्च व्यास में आते हैं। बाह्यदल—४, बाहर से कुछ हरिताभ तथा अन्दर से श्वेत होते हैं। आभ्यंतर दल—करीब २० होते हैं जो अन्दर की तरफ पुंकेशर में बदल जाते हैं। फल-स्पंज सदृश होता है जो जल के अन्दर पक्व होकर फट जाता है जिसमें से बीज बाहर निकल कर जल पर तैरते हैं। बीज-छोटे, कच्चे लाल एवं पकने पर काले होते हैं। इन्हें भेंट या बेरा कहते हैं। बिहार और बंगाल में इनका लावा बनाकर उसके लड्डू बनाते हैं। उनको वहाँ रामदाने के लड्डू कहते हैं।

अन्य जातियाँ—

(१) Nymphaea rubra Roxb. (नि. रूब्रा)। रक्त, गुलाबी या श्वेत वर्ण के ३-८ इञ्च व्यास के पुष्प इसमें आते हैं। यह सभी स्थानों पर होता है। इसमें पुष्प केवल सुबह ही खिलते हैं।

(२) N. pubescens Willd. (नि. प्यूबेसेन्स)। यह उपर्युक्त के समान ही है किन्तु इसमें पुष्प कुछ छोटे तथा पत्र अधोतल पर रोमश होते हैं।

(३) N. stelleta Willd. (नि. स्टेल्लेटा)। इसमें पुष्प नीले, हलके बैंगनी तथा ३-६ इञ्च व्यास में आते हैं। यह भी सभी उष्ण भागों में होता है।

रासायनिक संगठन—नि. अल्बा के मूलों में निम्फीन (Nymphaeine) नामक क्षाराभ तथा अन्य कषाय द्रव्य पाये जाते हैं। इस क्षाराभ का वातनाडी संस्थान के ऊपर विषैला प्रभाव पड़ता है। इसके पुष्पों में हृदय पर परिणाम करने वाला निम्फैलिन (Nymphalin) नामक

ग्लूकोसाइड पाया जाता है। इसमें के क्षाराभ का चूहा, मेढक, गिनी पिग तथा कबूतर के मस्तिष्क पर घातक परिणाम होता है तथा श्वसन संस्थान की विषाक्तता होकर मृत्यु होती है।

पुष्प एवं कंद के क्षाराभों का अल्प मात्रा में शामक (Sedative) प्रभाव पड़ता है।

गुण और प्रयोग—इसके गुणादि कमल जैसे ही होते हैं। मूल ग्राही एवं कुछ मादक होता है। पुष्प कामसादक होते हैं।

इसके मूल को प्रवाहिका में देते हैं। पुष्प तथा फल का फांट अतिसार में दिया जाता है तथा इसे स्वेदजनक मानते हैं।

अथ वारिपर्णी शैवालञ्च (जलकुम्भी—सिवार)। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

वारिपर्णी कुम्भिका स्याद्वारिमूली खमूलिका।
शैवालं जलनीली स्याच्छैवलं जलजञ्च तत्॥ १९॥
वारिपर्णी हिमा तिक्ता लघ्वी स्वाद्वी सरा कटुः।
दोषत्रयहरी रूक्षा शोणितज्वरशोषकृत्॥ २०॥
शैवालं तुवरं तिक्तं मधुरं शीतलं लघु। स्निग्धं दाहतृषापित्तरक्तज्वरहरं परम्॥ २१॥

वारिपर्णी (जलकुम्भी) के नाम—वारिपर्णी, कुम्भिका, वारिमूली, खमूलिका ये सब हैं। जलकुम्भी—शीतल, तिक्त तथा कटुरसयुक्त, स्वादिष्ट, पाकमें लघु, दस्तावर, रूक्ष, त्रिदोषनाशक एवम्-रक्तविकार, ज्वर तथा शोष को उत्पन्न करने वाली है।

शैवाल (सेवार) के नाम—शैवाल, जलनीली, शैवल और जलज ये सब हैं। सेवार-कषाय, तिक्त तथा मधुर रस युक्त, शीतल, लघु, स्निग्ध और दाह, तृषा, पित्त, रक्तविकार, और ज्वर को अत्यन्त दूर करने वाला होता है॥ १९-२१॥

नोट—मूल पाठ में श्री लाला शालिग्राम जी की टीका में इस प्रकार भेद है।

"वारिपर्णी कुम्भिका स्याच्छैवालं शैवलञ्च तत्।
वारिपर्णी हिमा तिक्ता······ज्वरहरं परम्॥"

इससे ऐसा मालूम होता है कि कुम्भिका तथा शैवाल पर्यायवाची नाम हैं किन्तु आगे दोनों के गुण अलग अलग दिये होने से यह संदेह दूर हो जाता है तथा उपर्युक्त पाठभेद गलत मालूम होता है। कुम्भिका तथा शैवाल, दो भिन्न द्रव्य हैं। अमरकोश में भी 'वारिपर्णी तु कुम्भिका' तथा जलनीली तु शैवालं शैवलः' दिया हुआ है।

वारिपर्णी (कुम्भिका) के गुणों में 'शोणित ज्वर शोषकृत' के स्थान पर हृत् होना चाहिये। सभी टीकाकारों ने गुणों में लिखा है कि यह रक्तविकार, ज्वर तथा शोष में लाभदायक है।

कुम्भिका से जलकुम्भी नामक द्रव्य लिया गया है। अन्य कुछ द्रव्यों के लिये भी यह नाम आता है। जलकुम्भी नाम चरक, सुश्रुत, रा. नि. तथा ध. नि. में नहीं मिलता। अधिकांश विद्वानों ने पिस्टिया स्ट्रेटिओटीस लिन. (Pistia stratiotes Linn.) को जलकुम्भी माना है। एक अन्य बड़ी जलकुम्भी भी पाई जाती है जो इचोर्निया क्रेसिपीस (Eichhornia crassipes Solms) है। यह विदेशी पौधा है जो संभवतः सौन्दर्य की दृष्टि से बागों आदि में लगाया जाने लगा है। इनका अलग-अलग वर्णन किया गया है। शैवाल के संबंध में जलकुम्भी के वर्णन के पश्चात् विवेचन किया गया है।

५ जलकुम्भी (वारिपर्णी) (१)

हिं०-कुम्भी, जलकुम्भी। बं०—टोका पाना। म०-प्रश्नी, गोंडाळ, शेवंळ। गु०-जल शंखला। ता०-आकाश तामरै। अं०-The wester-Lettuce (दी वेस्टर लेट्यूस)। ले०- *Pistia stratiotes Linn.* (पिस्टिया स्ट्रेटिओटीस्)। Fam. *Araceae* (एरेसी)।

यह समस्त भारत में, तालाबों तथा गढों में जहाँ जल जमा रहता है, पायी जाती है।

इसके क्षुप-जलाशयों के ऊपर तैरते रहते हैं। देखने में छोटी गोभी जैसे दिखलाई देते हैं। पत्ते-विनाल, मांसल, १-३" लंबे, अभिलट्वाकार, चक्राकार गुच्छों में आते हैं। पुष्पव्यूह-पीले या श्वेत पत्रावरण से आवृत होता है। मूल-मूल से डोरे डोरे जैसे कई उपमूल निकले रहते हैं।

इसके पंचांग, पत्ते, मूल तथा इसकी राख का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें ३१% राख होती है जिसमें से जल में घुलनशील क्षार ६% होते हैं। क्षार में पोटेशियम् क्लोराइड ७३% तथा पोटेशियम सल्फेट २२% होता है।

गुण और प्रयोग—यह शीतल, मूत्रजनन, आनुलोमिक, एवं कास शामक है। इसकी गंध से खटमल मरते हैं। इसका प्रयोग मूत्रकृच्छ्र, अर्श, गलगण्ड एवं चर्म रोग में किया जाता है।

(१) मूत्रकृच्छ्र में इसके पत्तों का क्वाथ पिलाते हैं तथा पीसकर पेडू पर बांधते हैं।

(२) अर्श पर पत्तों को पीस गरम कर बांधते हैं।

(३) सर की दाद पर इसकी राख लगाते हैं। चर्मरोगों में इसके स्वरस से बना गरी का तेल लगाते हैं।

(४) भस्म गोमूत्र के साथ गलगंड में देते हैं।[1]

मात्रा—स्वरस १-२ तोला; चूर्ण २-८ माशा।

६ जलकुम्भी (२)

हिं०-बड़ी जलकुम्भी। बं०-कचूरीपान। मल०-कोलावझा। ता०-आकाशथामरै। ते०-पिशाचिथामर। ले०-*Eichhornia crassipes Solms* (इचोर्निया क्रेसिपीस)। Fam. Pontederiaceae (पोंटेडेरियेसी)।

यह सुन्दर विदेशी पौधा भारत में समस्त जलाशयों में पाया जाता है।

इसका क्षुप-बहुवर्षायु तथा जल में तैरने वाला होता है। इसकी जड़ें-लम्बी तथा रेशेदार, रोएंदार होती हैं जो छिछले जल में कीचड़ में जम जाती हैं। पत्ते-चक्राकार गुच्छों में, चम्मच के आकार के गोल, चौड़े, २-८" व्यास में आते हैं जिनका नाल-पुंगी की तरह बहुत फूला हुआ होता है जिससे यह जल पर तैरता है। पुष्प-सुन्दर, नीलाभ बैंगनी रंग के, १-१·५ इञ्च लंबे, निवापसम (Funnel-shaped), ६-१० इञ्च लंबे पुष्पदण्ड पर आते हैं। बहुत बीज वाले फल (Capsule) आते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके ताजे पत्तों में कैरोटीन (Carotene) पाया जाता है। इसमें पोटैशियम की काफी मात्रा होने से खाद के लिये इसका उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके पुष्प घोड़ों के चर्मरोगों में उपयोगी माने जाते हैं।

---

१. जलकुम्भीकजं भस्म पक्वं गोमूत्र गालितम्।
पिबेत्कोद्रवतक्राशी गलगण्डोपशान्तये॥ (वृन्द)

७ सिवार (१)

शैवाल—जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि शैवाल तथा कुम्भिका एक द्रव्य नहीं हैं वरन् दो भिन्न द्रव्य हैं। हिन्दी का सेवार शब्द शैवाल से ही बना अपभ्रंश मालूम पड़ता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से शैवाल शब्द का अर्थ है कि जो जल में होता हो।

चरक सुश्रुतादि में शैवाल का उल्लेख है। विसर्प के लेपों में इसका अधिक उल्लेख है। ध. नि. में इसके पर्यायों में जलमुस्त शब्द आया है जिससे ऐसा मालूम होता है कि इसमें मोथे की तरह नीचे मूल का कुछ स्वरूप हो।

अपने यहाँ नदियों आदि में एक पौधा पाया जाता है जो सिरैटोफाइलम् डिमर्सम (Ceratophyllum demersum Linn.) है। यह सिरैटोफाइलेसी (Ceratophyllaceae) वर्ग का पौधा है जो वनस्पतियों के उस विभाग के अन्तर्गत आता है जिनमें पुष्प बीजादि वाली वनस्पतियाँ आती हैं। यह ॲल्गी (Algae) विभाग का नहीं है जिनमें काण्ड, पत्र तथा मूल जैसे अलग-अलग अंगों की उत्पत्ति नहीं हुआ करती। समुद्र में पाई जाने वाली कुछ ॲल्गी ऐसी होती हैं जिनको सेवार कहा जा सकता है।

नदियों में पाया जाने वाला एक अन्य क्षुप वेलिसनेरिया स्पाइरेलिस् (Vellisneria spiralis Linn.) है जिसे कुछ ने सेवाल लिखा है।

नदियों में एक सेवार पाई जाती है जिसे गरमी के दिनों में लोग भैसों आदि को खिलाते हैं। इसमें नीचे मोथे की तरह राइजोम पाये जाते हैं। ध. नि. में लिखा जलमुस्त पर्याय संभवतः इसके लिये अभिप्रेत हो। इससे जल का स्वरूप नीला सा होने से जलनीली पर्याय भी इसके लिये ठीक मालूम पड़ता है। इस सेवार का वनस्पति शास्त्र की दृष्टि से विनिश्चय अभी तक नहीं किया जा सका है।

यहां पर प्रथम दो का वर्णन किया जा रहा है जिन्हें अधिकांश विद्वानों ने सेवार लिखा है।

हिं०–सिवार, सेवार। बं०–शेओयाला। म०–शेवाल, शेवाले। गु०–शेवाल। फा०–चश्मवजग। अ०–तुहलब। ले०–*Ceratophyllum demersum Linn.* (सिरैटोफाइलम् डिमर्सम्)। Fam. Ceratophyllaceae (सिरैटोफाइलेसी)।

यह सभी जगह पाया जाता है। इसके जलीय क्षुप–८ से ३६ इंच लंबे होते हैं जिनकी शाखाएँ तथा पत्तियाँ पानी से बाहर निकालने पर आपस में गुंथकर जाल सा बन जाती हैं। पत्ते–करीब १ इंच लंबे होते हैं जिनके खण्ड जल में फैले रहते हैं। इनकी मोटाई तथा पत्र दन्त में पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। पुष्प–छोटे तथा पुं पुष्प एवं स्त्री पुष्प भिन्न दण्डों पर आते हैं।

इसके पंचांग का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन— इसके रोओं में माइरोफाइलिन (Myrophyllin) पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह शीतवीर्य तथा ज्वरहर है। पैत्तिक विकार, रक्तपित्त आदि में इसका प्रयोग करते हैं।

मात्रा—स्वरस १–२ तोला।

८ सिवार (२)

हिं०–सेवार। म०–शेवाल। गु०–जलसपोंलियन। ते०–पुनत्सू। ले०–*Vellisneria spiralis Linn.* (वेलिसनेरिया स्पाइरेलिस्)। Fam. Hydrocharitaceae (हाइड्रोचेरिटेसी)।

यह समस्त भारत में होता है। इसके क्षुप-जल में डूबे हुए, काण्डहीन तथा आपस में गुंथे हुये होते हैं। पत्ते-रेखाकार, बहुत लंबे तथा पारभासक होते हैं। पुष्प-पुं पुष्प छोटे पत्रावृत व्यूह में होते हैं और बहुत छोटे तथा संख्या में बहुत होते हैं। परिपक्व होने पर वे व्यूह से अलग हो कर जल के ऊपर आ जाते हैं तथा खिल जाते हैं। स्त्री पुष्प, लंबे कुण्डलित वृन्त से युक्त होते हैं तथा परिपक्व होने पर कुण्डल खुलकर वे ऊपर आ जाते हैं तथा परिषेचन होने पर फिर वृन्त का कुण्डल हो कर नीचे चले जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह दीपन तथा शोथघ्न है। इसका प्रयोग श्वेतप्रदर में करते हैं। फोड़े पर इसको बांधने से जलन कम होती है तथा जल्दी फूट जाता है।

अथ शतपत्री [गुलाब]। तस्या नामानि गुणांश्चाह

शतपत्री तरुण्युक्ता कर्णिका चारुकेशरा। महाकुमारी गन्धाढ्या लाक्षापुष्पा[1]ऽतिमञ्जुला॥
शतपत्री हिमा हृद्या ग्राहिणी[2] शुक्रला लघुः। दोषत्रयास्रजिद्वर्ण्या कटुर्वी तिक्ता च पाचनी॥

शतपत्री (गुलाब) के संस्कृत नाम-शतपत्री, तरुणी, कर्णिका, चारुकेशरा, महाकुमारी, गन्धाढ्या, लाक्षापुष्पा और अतिमञ्जुला ये सब हैं। शतपत्री—शीतल, हृदय को हितकर, संग्राही, शुक्रजनक, लघु, त्रिदोष तथा रक्तविकार को दूर करनेवाली, शरीर के वर्ण को उत्तमबनाने वाली, कटु तथा तिक्त रसयुक्त और पाचक होती है॥ २२-२३॥

९ गुलाब

नोट—गुलाब का फूल सुप्रसिद्ध है। चिकित्सा के अतिरिक्त सुगंध के लिए इसका बहुत उपयोग होता है। कुछ वैज्ञानिकों का अनुमान है कि यह विदेशी पौधा है। चरक सिद्धिस्थान अध्याय १० में स्वर्णयूथिका, प्रियंगु, रक्तमूली इत्यादि सांग्राहिक द्रव्यों के साथ तरुणी का भी उल्लेख है। भा० प्र० भी इसे ग्राही लिखते हैं। गुलकंद का उपयोग मृदुसारक द्रव्य के रूप में प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसलिए तरुणी शब्द गुलाब के लिए ही है अथवा अन्य किसी भिन्न द्रव्य के लिये है यह संदेह होता है। शतपत्री शब्द भी कई अर्थों में आता है।

गुलाब की कई जातियाँ तथा उनके भेद पाये जाते हैं। उत्तर-पश्चिम हिमालय तथा कश्मीर में पहाड़ों पर यह वन्य अवस्था में भी पाया जाता है। अधिकतर यह बागों में लगाया हुआ मिलता है। फूलों के वर्ण-भेद से, सुगंधभेद से, कांटों की उपस्थिति या अभाव की दृष्टि से इसके अनेक भेद पाये जाते हैं। करीब एक लाख पुष्पों से १ तोला इत्र प्राप्त होता है जिसका सुगन्ध के लिए उपयोग होता है।

हि०, म०, गु०-गुलाब। बं०-गोलाप। ता०-इराशा, गोलप्पु। क०-गुलाबि। ते०-गुलाबीपुवु। फा०-गुले सुर्ख, गुल, गुले गुलाब। अ०-वर्द, वर्दे अहमर। अं०-Rose (रोज)। ले०-*Rosa centifolia Linn.* (रोजा सेन्टिफोलिया)। Fam. Rosaceae (रोजेसी)।

यह सभी जगह बागों में लगाया हुवा मिलता है।

इसका क्षुप ५-७ फीट ऊंचा होता है। शाखाएँ-कांटों से युक्त होती हैं तथा कांटे असमान, बड़े एवं टेढ़े होते हैं। कांटों के अतिरिक्त इन पर चिपचिपे रोएँ भी होते हैं। पत्ते-संयुक्त तथा

---

१. वृष्या इति पाठा०। २. 'सरा स्त्र' इति पाठा०।

पत्रक संख्या में प्रायः ५ तथा मृदुरोमश होते हैं। पत्रदण्ड पर कांटे नहीं होते। पुष्प-प्रायः गुलाबी, बड़े, सुगंधयुक्त तथा लंबे दंड पर हिलते रहते हैं। बाह्यदल स्थायी तथा अन्तर्दल अंदर मुड़े हुये होते हैं।

सेवती गुलाब—(Rosa alba-रोजा अॅल्बा) नामक एक विशेष भेद होता है जिसमें पुष्प श्वेत होते हैं।

चिकित्सा के लिए वसंत ऋतु में उत्पन्न पुष्पों की छाया में सुखाई हुई कलिकाओं का उपयोग करना चाहिये। इसके केशर इत्यादि भागों को निकाल कर केवल पंखड़ियों का उपयोग गुलकंद बनाने में किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें उड़नशील तैल, टैनिक अम्ल, मैलिक अम्ल, तथा कुछ राल आदि द्रव्य पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—गुलाब शीतवीर्य, मृदुसारक, पाचन, त्रिदोषघ्न, पौष्टिक, हृद्य एवं वर्ण्य है।

इससे शौच साफ होकर भूख बढ़ती है तथा शरीर पुष्ट होता है। ग्रीष्म ऋतु में स्त्रियों तथा बच्चों को गुलकंद खिलाया जाता है। गुलकंद तथा गुलाबजल का अनुपान के लिए उपयोग करते हैं। नेत्रबिन्दु में गुलाबजल का उपयोग किया जाता है।

मुख व्रण में इसका स्थानिक प्रयोग हितकर है। शोथ में इसका लेप किया जाता है तथा व्रण पर इसका चूर्ण डालते हैं। इसके चूर्ण को शरीर पर मलने से स्वेदाधिक्य कम हो कर दुर्गंध दूर होती है।

सेवती गुलाब का प्रयोग ज्वर में शीतलता लाने के लिए करते हैं। इससे हृदय की धड़कन भी कम होती है।

मात्रा—गुलकंद १ से २ तोला; चूर्ण १ से ३ माशा; अर्क २ से ४ तोला।

अथ वासन्ती (नेवारी)। तस्या नामानि गुणांश्चाह

नेपाली कथिता तज्ज्ञैः सप्तला नवमालिका। वासन्ती शीतला लघ्वी तिक्ता दोषत्रयास्रजित्॥

वासन्ती (नेवारी) के संस्कृत नाम—नेपाली, सप्तला, नवमालिका और वासन्ती ये सब हैं। वासन्ती-तिक्तरसयुक्त, शीतल, लघु एवम् त्रिदोष तथा रक्तविकार को दूर करने वाली है॥ २४॥

नोट—नेवारी को कुछ विद्वानों ने जस्मिनम् आर्बोरेसेन्स माना है तथा कुछ ने आइक्जोरा आर्बोरिया (Ixora arborea Roxb.) माना है। 'वासन्ती' नाम इसके वसन्त ऋतु में पुष्पित होने का द्योतक मालूम पड़ता है। 'नेपाली' पर्याय, इसका नेपाल देश से कुछ संबंध बतलाता है। या नेपाली के स्थान पर नेवाली शब्द हो सकता है जिसका अपभ्रंश नेवारी हो गया होगा।

चमेली, बेला, जूही इत्यादि के साथ ही इसका वर्णन होने से इसके जस्मिन् जाति के ही होने की अधिक संभावना है। ज. आर्बोरेसेन्स को कुछ ने कुन्द माना है। कुन्द का आगे स्वतंत्र वर्णन किया गया है। यहां नेवारी (ज. आर्बोरेसेन्स) का वर्णन किया जा रहा है। निघंटुओं द्वारा वर्णित इन सुगंधयुक्त विभिन्न वनस्पतियों के पर्यायों में पर्याप्त मतभिन्नता पाई जाती है।

० नेवारी

हि०—नेवारी, वासन्ती, चमेली। बं०-बुराकुन्दा, नवमल्लिका। गु०-कुसर। ता०-नागमल्ली। ते०—नागमल्ले। ले०—Jasminum arborescens *Roxb.* (जस्मिनम् आर्बोरेसेन्स)। *Fam. Oleaceae* (ओलिएसी)।

यह हिमालय में ४००० फीट की ऊंचाई तक तथा बंगाल, छोटा नागपूर, उड़ीसा, मध्य तथा दक्षिण भारत एवं गंजम् और विजगापट्टम् के पहाड़ों पर होता है।

यह झाड़ीदार वृक्ष होता है। शाखाएँ-रोमश होती हैं। पत्ते-साधारण, विपरीत, ५-७·५ से. मी. लंबे, अण्डाकार या अण्डाकार-आयताकार, लम्बाग्र, तथा १-२ से. मी. लंबे पत्रनाल से युक्त होते हैं। पुष्प-अत्यंत सुगन्धित, सफेद रंग के, २·५-३·३ से. मी. व्यास में एवं मृदुरोमश होते हैं। इनके खण्ड नलिका से बड़े या बराबर होते हैं। अन्तर्दल नलिका १-१·३ से. मी. तथा खण्ड ९-१२ रहते हैं। स्त्री केशर (Carpel) १, आयताकार या अंडाकार, १·३ से. मी. लंबा एवं काला होता है।

रासायनिक संगठन—पुष्पों में एक उड़नशील तैल होता है।

गुण और प्रयोग—इसके पत्ते तिक्त, कषाय, बल्य तथा दीपन होते हैं। इसके फल बल्य माने जाते हैं।

श्वसनिकाओं में कफ जमा होने पर इसके पत्तों का स्वरस, मरिच, लहसुन तथा अन्य उ· जक औषधियों के साथ वामक औषध के रूप में देते हैं।

संथाल लोग इसका प्रयोग मासिक विकारों में करते हैं। इसकी जड़ सर्पविष में लाभदायक मानी गई है।

अथ वार्षिकी (वेला)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

श्रीपदी षट्पदानन्दा वार्षिकी मुक्तबन्धना ॥ २५ ॥
वार्षिकी शीतला लघ्वी तिक्ता दोषत्रयापहा। कर्णाक्षिमुखरोगघ्नी तत्तैलं तद्गुणं स्मृतम् ॥

वार्षिकी (वेला) के संस्कृत नाम—श्रीपदी, षट्पदानन्दा, वार्षिकी और मुक्तबन्धना ये सब हैं। वार्षिकी (वेला)—शीतल, लघु, तिक्तरसयुक्त एवम्-त्रिदोष, कान, नेत्र, मुखसम्बन्धी समस्त रोग को दूर करने वाली होती है। तथा इसके तेल के भी ये ही सब गुण हैं ॥ २५-२६ ॥

११ बेला

हि०-मोगरा, मोतिया वेला। म०-मोगरा। गु०-डोलर, मोगरो। क०-मल्लिगे। ता०-अडुक्कु मल्लि। बं०-मोतिया। ले०-Jasminum sambac Ait. (जस्मिनम् सम्बॅक्)। *Fam. Oleaceae* (ओलिएसी)।

यह भारत में सभी स्थानों पर बागों में लगाया मिलता है। अन्य उष्ण प्रदेशों में भी यह होता है।

इसका झाड़ीदार गुल्म होता है। नवीन शाखाएँ मृदुरोमश होती हैं। पत्ते-पतले, विपरीत, ३·८-११·५×२·२-६·३ से. मी., विभिन्न आकार के, प्रायः अण्डाकार, चिकने तथा ४-६ जोड़ी बगल की स्पष्ट शिराओं से युक्त होते हैं। पत्रनाल ३-६ मि. मि. लंबा तथा रोमश, होता है। पुष्प-अत्यन्त सुगन्धित, श्वेत, एकाकी अथवा ३ एक साथ रहते हैं। बाह्यदल १·३ से. मी लंबा, रोमश एवं ६-१० मि. मि. लंबे ५-९ विभागों में रहता है। अन्तर्दल नलिका १-३ से. मी. तथा उसके खण्ड नलिका के बराबर होते हैं। स्त्री केशर परिपक्व होने पर ६ मि. मि., गोल, काला तथा बाह्यदल से घिरा रहता है।

बागवानी में इसके अनेक प्रकार पाये जाते हैं। जिनमें चार मुख्य हैं। (१) मोतिया बेला—इसमें पुष्प द्विगुण एवं गोल अन्तर्दल युक्त तथा कली गोल रहती है। (२) बेला—इसमें

भी द्विगुण अन्तर्दल कुछ लंबे रहते हैं। (३) हजारा बेला—इसमें पुष्प के अन्तर्दल द्विगुण नहीं रहते हैं। (४) मोगरा—अन्तर्दल बहु चक्रों में, गोल तथा कलिका १ इञ्च व्यास में रहती है।

अन्य निघंटुओं ने जो विभिन्न भेद वार्षिकी, ग्रैष्मी, अतिमुक्ता, मल्लिका लिखे हैं वे सब इसी ज० सम्बॅक् के ही भेद हैं। वार्षिकी में वर्षाकाल में पुष्प आते हैं। ग्रैष्मी में ग्रीष्म ऋतु में फूल आते हैं। जिसमें फूल छोटे-छोटे होते हैं उसे अतिमुक्ता कहा गया है। भावप्रकाशकार गुण की दृष्टि से मल्लिका को उष्ण वीर्य लिखते हैं और वार्षिकी को शीतवीर्य। अतिमुक्ता यह पर्याय भावप्रकाशकार माधवी के लिये लिखते हैं जो दूसरी लता होती है।

इसके पत्र, पुष्प तथा मूल का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पुष्पों में एक सुगंधि उड़नशील तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह त्रिदोषघ्न, शोथघ्न, व्रणरोपक, स्तन्यनाशन एवं गर्भाशयोत्तेजक है।

(१) प्रसूता को स्तनशोथ होने पर इसके पुष्पों को पीसकर बाँधते हैं जिससे दुग्धस्राव बंद होकर शोथ कम होता है।

(२) इसकी ३ माशे जड़ का क्वाथ अनार्तव तथा अनियमितार्तव में देते हैं।

(३) रक्तप्रवाहिका में इसकी ३-४ पत्तियों को जल में पीस, छान, मिश्री मिलाकर २-३ बार में देते हैं।

(४) पुराने व्रणों पर इसकी पत्तियों का लेप किया जाता है।

मात्रा—मूल ३ माशा; पत्र ३-४।

अथ मालती स्वर्णजाती च (जाई—पीलीजाई)। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

जातिर्जाती च सुमना मालती राजपुत्रिका। चेतिका हृद्यगन्धा च सा पीता स्वर्णजातिका॥
जातीयुगं तिक्तमुष्णं तुवरं लघु दोषजित्। शिरोऽक्षिमुखदन्तार्त्तिविषकुष्ठानिलास्रजित्॥२८॥

जाई-पीलीजाई के संस्कृत नाम—जाति, जाती, सुमना, मालती, राजपुत्रिका, चेतिका और हृद्यगन्धा ये सब "जाई" के नाम हैं; यदि पीली जाई हो तो उसे "स्वर्णजातिका" कहते हैं। दोनों जाती (जाई-पीलीजाई) तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, उष्ण, लघु, दोषनाशक एवम्-शिर, आंख, मुख और दांतों के रोगों को दूर करने वाली तथा विष, कुष्ठ, वायु और रक्तविकार को नष्ट करने वाली होती हैं॥ २७-२८॥

१२ चमेली

हि०-चमेली, चम्बेली, चंबेली। बं०-चमेली, जाति। गु०-चंबेली। म०-चमेली। ता०-पिचि। ते०-जाति। अ०-यासमीन, यास मून। फा०-यास मन। अं०-Spanish Jasmine (स्पॅनिश जस्मिन)। लै०-*Jasminum grandiflorum* Linn. (जस्मिनम् ग्रेन्डिफ्लोरम्)। Fam. Oleaceae (ओलिएसी)।

यह भारत में सभी स्थानों पर बागों में लगाया मिलता है। इसका आदि स्थान उत्तर पश्चिम हिमालय मानते हैं। उत्तर प्रदेश में इसकी विस्तृत पैमाने पर खेती की जाती है।

इसके गुल्म-बड़े, आरोही तथा फैलने वाले होते हैं। शाखाएँ-धारीदार होती हैं। पत्ते-विपरीत, संयुक्त तथा २-५ इञ्च लंबे होते हैं। पत्रक संख्या में ७-११, अंतिम अग्र का पत्रक बड़ा

तथा बगल के पत्रक विनाल तथा अग्र के जोड़े का आधार मिला हुआ रहता है। पुष्प-सुगंधित सफेद, बाहर से कुछ गुलाबी तथा १॥ इञ्च तक व्यास में रहते हैं।

जाती का स्वर्णजाती भेद लिखा हुआ है जिसमें पीले रंग के पुष्प आते हैं। उपर्युक्त जाति (Species) में पीला फूल नहीं पाया जाता। किन्तु जस्मिन् की एक अन्य जाति, ज० ह्यूमाइल (J. humile) होती है जिसमें पीले सुगंधित फूल आते हैं। संभवतः यही स्वर्ण जाती हो।

कर्पूरादि वर्ग में गन्धमालती नामक एक द्रव्य का वर्णन आया है। वहाँ पर एक लता ॲॅग-नोस्मा कॅरियोफाइलॅटा का वर्णन (पृ. २६१) आया है जिसे भी मालती कहते हैं। इसमें पुष्प सफेद आते हैं किन्तु यह ॲपोसाइनेसी (Apocynaceae) वर्ग की लता है। चमेली के पुष्प तथा पत्तों का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पुष्पों में उड़नशील तैल तथा पत्तों में एक क्षाराभ एवं सेलि-सिलिक अम्ल होता है।

गुण और प्रयोग—यह शीत, तिक्त, व्रणरोपण, व्रणशोधन एवं कुष्ठघ्न है।

(१) त्वचा के विकारों में इसके पत्तों का बाह्य प्रयोग किया जाता है। मुखपाक तथा दंत-पीड़ा में पत्ते चबाने को देते हैं। पूतिकर्ण में पत्तों से बनाया तेल कान में डालते हैं। अंगुलियों के बीच का भाग सड़ने पर पत्तों को पीसकर लेप करते हैं। कॉर्न (Corn) पर ताजा रस लगाते हैं।

(२) पुष्पों का लेप नेत्ररोग, विस्फोट, शिरःशूल आदि में करते हैं। इससे बना तेल शिरः शूल तथा ठंडक के लिए लगाया जाता है।

अथ यूथिका पीतयुथिका च (जूही—सुवर्णजूही)। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

यूथिका गणिकाऽम्बष्ठा सा पीता हेमपुष्पिका। यूथीयुगं हिमं तिक्तं कटुपाकरसं लघु ॥२९॥
मधुरं तुवरं हृद्यं पित्तघ्नं कफवातलम्। व्रणास्रमुखदन्ताक्षिशिरोरोगविषापहम् ॥ ३० ॥

जूही तथा सुवर्ण जूही के संस्कृत नाम—यूथिका, गणिका, अम्बष्ठा ये नाम जूही के हैं, यदि पीली जूही हो तो उसे "हेमपुष्पिका" कहते हैं। दोनों जूही—शीतल, तिक्त-मधुर तथा कषाय रस युक्त, एवम् पाक में तथा आस्वाद में कटुरसयुक्त, लघु, हृदय को हितकर, पित्तनाशक, कफ तथा वात जनक और व्रण, रक्तविकार, मुख-दांत-नेत्र-शिरसम्बन्धी समस्त रोग तथा विष विकार को दूर करने वाली हैं ॥ २९-३० ॥

१३ जूही

हि०—जूही। **क०**—कदर मल्लिगे। **ते०**—मागधी। **ता०** उसिमल्लिगै। **ले०**—Jasminum auriculatum Vahl. (जस्मिनम् ऑरीक्युलेटम्)।

Fam. Oleaceae (ओलिएसी)।

यह दक्षिण, कर्नाटक तथा पश्चिम प्रायद्वीप में होती है। भारत के सभी स्थानों पर इसकी खेती होती है। उत्तर प्रदेश में तो व्यापारिक दृष्टिकोण से इसकी खेती करते हैं।

इसका **गुल्म**—मृदुरोमश, लता के समान आरोहणशील या फैला हुआ रहता है। पत्ते-प्रायः साधारण, कभी-कभी त्रिपत्रक जिसमें दो नीचे के पत्रक बहुत छोटे या कभी-कभी अनुपस्थित, बीच का पत्रक २–३·२ × १–१·५ से. मि., चौड़ाई लिए हुए अण्डाकार या गोल, मृदुरोमश या चिकना

होता है। पुष्प-श्वेत, सुगंधि गुच्छों में आते हैं। बाह्यदल नलिका ४ मि. मि. लम्बी तथा दन्तुर एवं अन्तर्दल नलिका १३ मि. मि. लंबी तथा उसके खण्ड ५-८ एवं ६ मि. मि. लंबे होते हैं।

यद्यपि पीतयूथिका का वर्णन भा० प्र० ने किया है तथापि, उपर्युक्त जाति में पीले फूल नहीं होते किन्तु ज. हेटेरोफाइलम् (J. heterophyllum) नामक जाति में पीले सुगंधित फूल होते हैं।

डा० देसाई ने उपर्युक्त जाति (ज. ऑरीक्युलेटम्) का वर्णन जाई के अन्तर्गत किया है।

इसके पत्ते तथा फूलों का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें सुगंधि तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके गुण चमेली की ही तरह हैं। यह भी शीतवीर्य, व्रणरोपण एवं व्रणशोधन है। (१) मुखपाक में पत्तों को चबाने को देते हैं या त्रिफला दारुहलदी के साथ इसके पत्तों के कषाय से कुल्ला कराते हैं। अंगुलियों के बीच के स्थान सड़ जाने पर पत्तों का लेप उपयोगी है। व्रण पर पत्तों को पीसकर बांधते हैं।

(२) कर्ण विकारों में इसके पत्तों से पकाया तिल का तेल कान में डालते हैं।

(३) पुष्पों को क्षय में दिया जाता है।

अथ चम्पकः (चम्पा)। तस्य नामगुणानाह

चाम्पेयश्चम्पकः प्रोक्तो हेमपुष्पश्च स स्मृतः। एतस्य कलिका गन्धफलेति कथिता बुधैः ॥३१॥
चम्पकः कटुकस्तिक्तः कषायो मधुरो हिमः। विषक्रिमिहरः कृच्छ्रकफवातास्रपित्तजित् ॥३२॥

चम्पा के संस्कृत नाम—चाम्पेय, चम्पक, हेमपुष्प ये सब हैं। इसकी कली को पण्डित लोग "गन्धफली" कहते हैं। चम्पा—कटु-तिक्त-कषाय-मधुर रस युक्त, शीतल एवम् विष, क्रिमि, मूत्रकृच्छ्र, कफ, वात, रक्तविकार या वातरक्त और पित्त को दूर करने वाला है॥ ३१-३२॥

१४ चम्पा

हि०-चम्पा। बं०-चांपा, चाम्पा। म०-सोन चांफा; पिंवळा चांफा। गु०-राय चम्पो, पीलो चम्पो। क०-संपगे। ते०-सम्पङ्गी। ता०-शंपंगि। ले०-Michelia champaca Linn. (माइकेलिया चम्पक)। *Fam. Magnoliaceae* (मॅग्नोलिएसी)।

चम्पा के वृक्ष प्रायः वाटिकाओं में रोपण किये जाते हैं किन्तु पूर्वी हिमालय में ३००० फीट तक तथा आसाम, प० घाट एवं दक्षिण भारत में यह वन्य अवस्था में भी पाया जाता है।

इसका वृक्ष छोटा करीब २० फीट ऊँचा होता है और बारहो मास हरा भरा रहता है। पत्ते-८-१० इञ्च लम्बे, २॥ से ४ इञ्च तक चौड़े, नोकीले, चिकने और चमकीले होते हैं। फूल-२ इञ्च के घेरे में घंटाकार फीके पीले या नारङ्गी रङ्ग के सुगन्धित होते हैं। फल-लंबे, १-४ धूसर बीजों से युक्त होते हैं।

नोट—चंपक के अन्य प्रकारों का भी उल्लेख मिलता है जैसे क्षीर चंपक, नागचंपक (नागकेसर), नीलचंपक (हरा चंपा) एवं भूचंपक आदि, जो विभिन्न वनस्पतियाँ हैं।

इसके पंचांग, विशेष रूप से छाल तथा पुष्पों का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पुष्प तथा छाल में उड़नशील तैल होता है। छाल का क्वाथ करने से यह तेल उड़ जाता है। इसलिये इसका फाण्ट या चूर्ण बनाकर प्रयोग करना चाहिये।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल-ज्वरहर, मूत्रल, कफहर, दीपन एवं तिक्त पौष्टिक है। पुष्प-उत्तेजक, उद्वेष्ठन निरोधी, चक्षुष्य, दाहशामक, मूत्रल, कुष्ठ, कण्डू व्रणहर एवं दीपन है। जड़ की छाल-विरेचन, आर्तवजनन, एवं शोथहर है।

इसका प्रयोग ज्वर, चर्मरोग, उपदंश, शोथ तथा आर्तव विकारों में करते हैं।

(१) विषम ज्वर में इसका फांट पिलाते हैं।

(२) उपदंश की द्वितीयावस्था में त्वचा के विकार या सन्धि में विकृति होने पर इसकी छाल का प्रयोग करते हैं।

(३) मूल की छाल अनार्तव में दी जाती है। व्रणशोथ पर इसे दही में पीसकर लगाते हैं।

(४) सोजाक में पुष्पों का फांट पिलाने से जलन कम होती है।

(५) त्वचा के रोगों में पुष्पों का प्रयोग करते हैं।

(६) तिल के तेल में पुष्पों को पीसकर शिरःशूल, अक्षि पीडा, चक्कर, आदि में सर पर बांधते हैं।

(७) पत्तों का रस शहद के साथ उदरशूल में देते हैं।

मात्रा—त्वक् चूर्ण ५-१५ रत्ती।

अथ बकुलः ("मौलसिरी" इति लोके)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

बकुलो मधुगन्धश्च सिंहकेसरकस्तथा। बकुलस्तुवरोऽनुष्णः कटुपाकरसो गुरुः॥
कफपित्तविषश्वित्रकृमिदन्तगदापहः॥ ३३॥

मौलसिरी के संस्कृत नाम—बकुल, मधुगन्ध, सिंहकेसरक ये सब हैं। मौलसिरी-कषाय-रसयुक्त, किञ्चित् उष्ण, पाक तथा रस में कटु, गुरु, एवम्—कफ, पित्त, विष, श्वेतकुष्ठ, कृमि एवं दाँतों के रोगों को दूर करने वाला है॥ ३३॥

अथ बृहद्बकुलः (बड़ी मौलसिरी)। तस्य नामगुणानाह

शिवमल्ली पाशुपत एकाष्ठीलो वको वसुः॥ ३४॥
वकोऽनुष्णः कटुस्तिक्तः कफपित्तविषापहः। योनिशूलतृषादाहकुष्ठशोथास्रनाशनः॥ ३५॥

बड़ी मौलसिरी के संस्कृत नाम—शिवमल्ली, पाशुपत, एकाष्ठील, वक, वसु ये सब हैं। बड़ी मौलसिरी-किञ्चित् उष्ण, कटु, तथा तिक्त रसयुक्त एवम्—कफ, पित्त, विष, योनिशूल, तृषा, दाह, कुष्ठ, शोथ और रक्तविकार को दूर करने वाली है॥ ३४-३५॥

नोट—भावप्रकाशकार बकुल की दो जातियों का उल्लेख करते हैं जिनमें बड़ी को शिवमल्ली, पाशुपत, एकाष्ठील, वक एवं वसु कहा गया है। वक नाम होने से इसे कुछ अगस्त मानते हैं किन्तु अगस्त का स्वतंत्र वर्णन आगे आया हुआ है। वानस्पतिक दृष्टि से बकुल की कोई भिन्न जाति (Species) का उल्लेख नहीं पाया जाता। संभव है केवल स्थानादि भेद से कहीं-कहीं बड़े आकार के वृक्ष हो जाते हों जिन्हें बृहद् बकुल कहा गया हो।

१५ मौलसिरी

हि०-मौलसिरी। बं०-बकुल। म०-बकुळ, ओवली। गु०-बोलसरी। क०-बकुल। ते०-पोगड ता०-मगिलम। ले०-Mimusops elengi Linn. (मिम्युसोप्स एलेन्गी)। *Fam. Sapotaceae* (सेपोटेसी)।

शोभा तथा सुगंध के लिए यह सभी जगह बागों में लगाया हुआ पाया जाता है। दक्षिण तथा अंडमान में अधिक होता है।

इसके वृक्ष-५० फीट तक ऊँचे, सघन, चिकने पत्तों से युक्त, झोपड़ाकार और सुहावने दिखाई पड़ते हैं तथा बारहो मास हरे भरे रहते हैं। छाल-धूसर एवं कुछ फटी हुई तथा काष्ठसार लाल रंग का होता है।

पत्ते-जामुन के पत्तों के समान ३॥ इञ्च लम्बे, १॥। इञ्च चौड़े, नोकदार एवं किनारों पर लहरदार तथा पौन इञ्च दण्ड से युक्त होते हैं। फूल-सफेद, लगभग एक इञ्च गोल चक्राकार होते हैं और उनसे अत्यन्त सुगन्धि आती है जो इनके सूखने पर भी चिरकाल तक बनी रहती है। फल-किञ्चित् लम्बाई लिये गोल, पौन इञ्च से १ इञ्च लम्बे, ऊपर से साफ, कच्ची अवस्था में हरे रङ्ग के और पकने पर पीले एवं कषाय मधुर हो जाते हैं जिनमें एक बड़ा बीज रहता है। ग्रीष्म से शरद तक यह फूलता है तथा बाद में फलता है।

इसकी छाल, फल तथा पुष्पों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—बीजों में सैपोनिन एवं एक तैल होता है। छाल में कषाय द्रव्य, रबर सदृश पदार्थ, मोम, रंजक द्रव्य, स्टार्च एवं राख होती है। फूलों में उड़नशील तैल होता है। फल में शर्करा होती है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल कषाय एवं पौष्टिक है। फल संग्राहक एवं स्नेहन हैं।

(१) दांत हिलते हों या अन्य दन्त विकारों में इसका बहुत उपयोग किया जाता है। इससे दतुअन करते हैं। छाल को या कच्चे फलों को चबाने को देते हैं। छाल के क्वाथ से गण्डूष भी कराते हैं। इससे अत्यधिक लालास्राव में भी लाभ होता है। बीजों से भी लाभ होता है।

(२) छाल का क्वाथ जीर्ण ज्वर में पौष्टिक रूप में देते हैं।

(३) सूखे फूलों का नस्य शिरःशूल में दिया जाता है।

(४) पुरानी आंव में पके फल खिलाते हैं।

अथ कदम्बः। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कदम्बः प्रियको नीपो वृत्तपुष्पो हलिप्रियः। कदम्बो मधुरः शीतः कषायो लवणो गुरुः॥
सरो विष्टम्भकृद्रूक्षः कफस्तन्यानिलप्रदः॥ ३६॥

कदम्ब के संस्कृत नाम – कदम्ब, प्रियक, नीप, वृत्तपुष्प और हलिप्रिय ये सब हैं। कदम्ब-मधुर, कषाय तथा लवण रस युक्त, शीतल, गुरु, सारक, रूक्ष, वातविष्टम्भ (वायु का न खुलना) को उत्पन्न करने वाला, कफकारक, दुग्धवर्धक और वायुजनक होता है॥ ३६॥

नोट—अन्य निघंटुओं ने इसके कई भेदों का उल्लेख किया है। इनके विभिन्न पर्यायों में से धाराकदम्ब, धूलिकदंब, भूकदंब, राजकदंब, एवं नीप मुख्य हैं। इनमें से संभवतः कुछ एक-दूसरे के पर्याय हैं तथा कुछ भेद हैं। सुप्रसिद्ध कदंब वृक्ष तो राजकदंब मालूम पड़ता है जिसका विस्तार से नीचे वर्णन किया गया है। संभवतः इसे ही नीप कहा गया है। भूकदंब तो मुण्डी है जिसका पहले (पृ० ४१३) वर्णन आ चुका है। कदंब के ही वर्ग के कुछ उससे मिलते जुलते दो अन्य वृक्ष, ले०-*Mytragyna parvifolia* Korth. (मिट्रागाइना पार्विफोलिया), हिं०-करम, कैमा एवं ले०-*Adina cordifolia* Benth. & Hook. f. (एडिना कॉर्डिफोलिया), हिं०-जातकदम, हलदू, सं०-हरिद्रु, आसा०-केलिकदंब पाये जाते हैं जो संभवतः उपर्युक्त भेदों में से हैं। इनमें से प्रथम धारा कदंब एवं द्वितीय धूलिकदंब हो सकता है।

१६ कदम

हि०-कदम, कदम्ब। बं०-कदम। म०-कलम्ब। गु०-कदम्ब। क०-कड़व। ते०-कदंबमु। ता०-येल्लइ कदम्ब। ले०-Anthocephalus cadamba Miq. (एंथोसिफेलस् कदम्ब)। Fam. Rubiaceae (रूबिएसी)। यह हिमालय के निचले भागों में नेपाल से पूर्व की तरफ वर्मा तक तथा दक्षिण में उत्तरी सरकार तथा पश्चिमी घाट में होता है। सभी स्थानों पर बागों में लगाया हुआ भी पाया जाता है।

कदम्ब का वृक्ष-४०-५० फीट ऊँचा, बड़ा और छायादार होता है। पत्ते-महुवे के पत्तों के समान लम्बाई युक्त अण्डाकार, ५-९ इञ्च लंबे होते हैं। इन पर सिरायें बहुत स्पष्ट होती हैं। पुष्प गुच्छ १-२ इञ्च के घेरे में, गोलाकार नारङ्गी रङ्ग के अनेक पुष्पगुच्छ होते हैं और उनसे विशेष कर रात्रि में सुगन्धि आती है। फल-कच्चे में हरे और पकने पर फीके नारङ्गी रङ्ग के, १-१॥ इञ्च व्यास में, गोल तथा मधुराम्ल होते हैं। चिकित्सा में फल तथा छाल का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में राख १०% रहती है जिसमें चूना रहता है। इसमें का प्रधान तत्त्व सिन्कोटैनिक अम्ल (Cinchotannic acid) की तरह है तथा इसकी छाल का रंग भी सिंकोना में के लाल द्रव्य की तरह है। इसमें का क्षाराभ हृदयावसादक है।

गुण और प्रयोग—यह तिक्त पौष्टिक, शीतवीर्य, ज्वरघ्न, मूत्र स्तंभन (Antidiuretic), व्रणरोपण, शुक्रशोधन, वेदनास्थापन, एवं विषघ्न है।

इसका प्रयोग ज्वर, रक्तातिसार, मूत्रकृच्छ्र, मूत्रदोष एवं मुखपाक में किया जाता है।

(१) इसकी छाल का रस, जीरा एवं मिश्री के साथ बच्चों के ज्वर, वमन एवं अतिसार में दिया जाता है।

(२) नेत्राभिष्यंद में अन्य औषधियों के साथ इसका रस पलकों पर लगाते हैं।

(३) मुखपाक में छाल का या पत्तों का कषाय गण्डूष के लिए दिया जाता है।

(४) फल का रस ज्वरजन्य पिपासा में उपयोगी मानते हैं।

मात्रा—त्वक् ५-१० रत्ती।

अथ कुब्जकः (कूजा)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कुब्जको भद्रतरुणी वृत्तपुष्पोऽतिकेसरः। महासहा कण्टकाढ्या नीलालिकुलसंकुला ॥३७॥
कुब्जकः सुरभिः स्वादुः कषायानुरसः सरः। त्रिदोषशमनो वृष्यः शीतहर्त्ता च स स्मृतः ॥

कूजा के संस्कृत नाम-कुब्जक, भद्रतरुणी, वृत्तपुष्प, अतिकेसर, महासहा, कण्टकाढया, नीलालिकुलसंकुला ये सब हैं। कूजा-सुगन्धयुक्त, आरम्भ में मधुर, अन्त में कषाय रसयुक्त, सारक, त्रिदोषनाशक, वृष्य (वीर्यवर्धक) और शीत को दूर करने वाला है ॥ ३७-३८ ॥

१७ कूजा

हि०-कूजा, कुजई। बं०-कूजा। ले०-*Rosa moschata Herrm* (रोजा मॉस्केटा)। Fam. Rosaceae (रोझेसी)।

यह मध्य तथा पश्चिम हिमालय के साधारण उष्ण प्रदेशों में मुरी से नेपाल तक २ हजार से ११ हजार फीट तक होता है।

गुलाब की जाति की यह इतस्ततः फैलने वाली विस्तृत लता होती है। काण्ड-५" तक मोटे तथा ५० फीट तक ऊँचे होते हैं। कांटे भूरे रंग के होते हैं। पत्ते-संयुक्त, २"-६" लंबे एवं

वृन्त पर काँटे होते हैं। पत्रक-संख्या में ५-९, अंडाकार, तीक्ष्णाग्र, दन्तुर, १-३" लंबे एवं अधर-पृष्ठ पर मृदुरोमश होते हैं। पुष्प-श्वेत, सुगंधि, १-१·५" व्यास में एवं इनके वृन्त पर काँटे नहीं होते। फल-नारंगी, रक्त या हलके लाल रंग के, गोल या अंडाकार एवं व्यास में ०·३-०·६" रहते हैं। पुष्पकाल अप्रिल से जून एवं फलोद्गम अक्तूबर से फरवरी तक।

गुण और प्रयोग—यह सारक, त्रिदोषघ्न तथा वृष्य है। इसका प्रयोग पैत्तिक विकार, दाह एवं नेत्र रोगों में किया जाता है।

अथ मल्लिका। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

मल्लिका मदयन्ती च शीतभीरुश्च भूपदी ॥ ३९ ॥
मल्लिकोष्णा लघुर्वृष्या तिक्ता च कटुका हरेत्।
वातपित्तास्यदृग्व्याधिकुष्ठारुचिविषव्रणान् ॥ ४० ॥

मल्लिका (बेला, मोतिया) के संस्कृत नाम— मल्लिका, मदयन्ती, शीतभीरु, भूपदी ये सब हैं। मल्लिका-उष्ण, लघु वृष्य, तिक्त तथा कटु रसयुक्त एवम्—वात, पित्त, मुख-नेत्र-सम्बन्धी रोग, कुष्ठ, अरुचि, विष तथा व्रण को दूर करने वाली है ॥ ३९-४० ॥

१८ मल्लिका

यह जस्मिनम् सम्बॅक् (Jasminum sambac) की ही एक जाति (Variety) है जिसका वर्णन बेला (वार्षिकी) के अन्तर्गत (पृष्ठ ४९०) किया जा चुका है। गुण की दृष्टि से यह उससे कुछ समान ही है किन्तु इसे भा० प्र० उष्णवीर्य एवं वार्षिकी को शीतवीर्य मानते हैं।

अथ माधवी (वासन्ती)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

माधवी स्यात्तु वासन्ती पुण्ड्रको मण्डकोऽपि च। अतिमुक्तो विमुक्तश्च कामुको भ्रमरोत्सवः ॥
माधवी मधुरा शीता लघ्वी दोषत्रयापहा ॥ ४१ ॥

माधवी के संस्कृत नाम—माधवी, वासन्ती, पुण्ड्रक, मण्डक, अतिमुक्त, विमुक्त, कामुक, भ्रमरोत्सव ये सब हैं। माधवी-मधुर रसयुक्त, शीतल, लघु तथा त्रिदोषनाशक है ॥ ४१ ॥

१९ माधवी

हि०—माधवी। बं०—माधवी लता। म०—मधु मालती, हलदवेल। गु०—रगतपीती, माधवी लता। ता०—अडिगम। ते०—माधवतीगे। अं०— Clustered Hiptage (क्लस्टर्ड हिप्टेज)। ले०—*Hiptage madablota Gaertn.* (हिप्टेज मेडेब्लोटा)। Fam. Malpighiaceae (मॅल्पिघिएसी)।

यह दक्षिण, सिवालिक, कुमाऊ, पूर्वीबंगाल, आसाम, नेपाल तथा अंडमान में होती है एवं बागों में भी यह लगाई जाती है।

इसकी लता-बहुत विस्तार में फैलने वाली होती है और निकटवर्ती वृक्ष पर चढ़ कर उसको ढक देती है। इसका स्तम्भ-मजबूत होता है और शाखाएं मोटी होती हैं।

पत्ते-अण्डाकार, लट्वाकार-आयताकार या आयताकार-प्रासवत्, लम्बाग्र, अभिमुख, चिकने चमकीले एवं ४-७" लंबे तथा २·५" चौड़े होते हैं। पुष्प-आकर्षक, श्वेत तथा सुगंधि रहते हैं। आभ्यंतर दल झालरदार रहते हैं जिनमें से एक दल पीला रहता है। प्रत्येक की केशर में एक
32 बड़ा और दो छोटे पक्ष (wing) होते हैं। इसकी छाल तथा पत्तों का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें हिप्टेजिन (Hiptagin) नामक एक ग्लूकोसाइड पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके पत्ते कुष्ठघ्न हैं। त्वचा के रोगों में पत्तों को पीसकर लगाया जाता है। खुजली (Scabies) में यह लाभदायक है।

इसकी छाल कड़वी तथा सुगंधि है तथा इसका जीर्ण आमवात तथा श्वास में उपयोग किया जाता है।

कमर पतली करने के लिए जड़ को मट्ठे के साथ पिलाना चाहिये। (चक्रदत्त)

अथ केतकः सुवर्णकेतकी च (केवड़ा-पीला केवड़ा) तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

केतकः सूचिकापुष्पो जम्बुकः क्रकचच्छदः। सुवर्णकेतकी त्वन्या लघुपुष्पा सुगन्धिनी॥
केतकः कटुकः स्वादुर्लघुस्तिक्तः कफापहः। उष्णा तिक्तरसा ज्ञेया चक्षुष्या हेमकेतकी॥४३॥

केवड़ा के संस्कृत नाम—केतक, सूचिकापुष्प, जम्बुक, क्रकचच्छद, ये सब हैं। पीला केवड़ा के संस्कृत नाम—सुवर्णकेतकी, लघुपुष्पा, सुगन्धिनी ये सब हैं। केवड़ा-कटु, मधुर तथा तिक्त रस युक्त, लघु, तथा कफनाशक है। पीला केवड़ा—उष्ण, तिक्तरस युक्त एवम् नेत्रों के लिये हितकर होता है॥ ४२-४३॥

२० केवड़ा

हि०—केवड़ा। बं०-केया। म०—केवडा। गु०—केवड़ो। ते०—मुगलीपुवु। ता०—तालई। क०—केदगे। फा०—गुलकेरी। अ०—कादी। अं०—Screw Pine (स्क्रू पाइन)। ले०—*Pandanus odoratissimus Roxb.* (पेन्डेनस् ओडोरेटिसिमस्)। Fam. Pandanaceae (पेन्डेनेसी)।

भारतीय प्रायद्वीप के दोनों तरफ समुद्री किनारों तथा अण्डमान में यह पाया जाता है। सभी स्थानों में बागों में लगाया हुआ भी मिलता है।

इसका गुल्म या छोटा वृक्ष करीब १०-१२ फीट ऊँचा होता है। काण्ड से वायवीयमूल निकल कर उसे सहारा देते हुए जमीन में घुसे रहते हैं। पत्ते-सघन, चमकीले, हरे, तलवार की तरह, ३-७ फीट तक लंबे, पतले तथा किनारों एवं मध्यशिरा पर तीक्ष्ण कांटों से युक्त होते हैं। पुष्प-पत्रावृत अवृन्त-काण्डज व्यूह (Spadix) में आते हैं जिनके पत्रकोश (Spathe) सुगन्धित तथा श्वेतवर्ण के होते हैं। पुं पुष्प एवं स्त्री पुष्प भिन्न-भिन्न वृक्षों पर होते हैं। पुं पुष्प व्यूह में कई गुच्छ. ५-१० × २·५-३·८ से. मी. बड़े रहते हैं किन्तु स्त्रीपुष्प व्यूह में एक ही गुच्छ, ५ से. मी. व्यास का रहता है। फल-गोल या आयताकार, १५-२५ से. मी. लंबा चौड़ा, पीत या रक्तवर्ण का होता है। वर्षा ऋतु में पुष्प एवं शरद् ऋतु में फल आते हैं।

भावप्रकाशकार इसके दो भेद मानते हैं। (१) केतक तथा (२) सुवर्ण केतकी। सुवर्णकेतकी के पुष्प कुछ छोटे, स्वर्ण वर्ण के तथा अधिक सुगन्धि वाले माने जाते हैं। आधुनिक राक्सबर्ग जैसे वैज्ञानिकों का मत है कि सुगन्ध पुं पुष्प में अधिक होती है।

पेन्डेनस की ऐसी भी कुछ जातियां (Species) पाई जाती हैं जिनके पत्तों में कांटे नहीं होते। इसके पुष्प एवं पत्तों का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पुष्पों में ०·१–०·३% सुगन्धित तैल होता है।

गुण और प्रयोग—यह सौमनस्यजनन, हृद्य, मस्तिष्क को बल देने वाला, दुर्गन्ध हर एवं कफनाशक है।

(१) इसका अर्क ज्वर में देने से पसीना आकर ताजगी मालूम पड़ती है।

(२) इसके तैल की मालिश से शिरःशूल, कटिशूल एवं आमवातादि में लाभ होता है।

(३) चर्मरोगों में पत्तों का उपयोग किया जाता है।

(४) गुल्म में इसके क्षार का प्रयोग किया जाता है। (सुश्रुत)

मात्रा—अर्क ४-६ तोला; शर्बत २-४ तो०।

अथ किङ्किरातः (गौडादौ प्रसिद्धः) तस्य नामानि गुणाँश्चाह

किङ्किरातो हेमगौरः पीतकः पीतभद्रकः ॥ ४४ ॥
किङ्किरातो हिमस्तिक्तः कषायश्च हरेदसौ। कफपित्तपिपासाऽस्रदाहशोषवमिक्रिमीन् ॥४५॥

किङ्किरात (यह गौड़ आदि देशों में प्रसिद्ध है) के संस्कृत नाम—किङ्किरात, हेमगौर, पीतक, पीतभद्रक ये सब हैं। **किङ्किरात**–तिक्त तथा कषाय रस युक्त, शीतल तथा कफ, पित्त, प्यास, रक्तविकार, दाह, शोष, वमन तथा क्रिमि को दूर करता है ॥ ४४-४५ ॥

२१ किंकिरात

आगे वटादिवर्ग में बब्बूल (किंकिरात) का वर्णन आया है। या तो इसके फूलों के महत्त्व को बतलाने के लिए इसका यहां स्वतंत्र वर्णन किया गया हो या यह बब्बूल का कोई भेद हो। पीले-पुष्प की कटसरैया को भी कुछ विद्वान् किंकिरात मानते हैं।

दक्षिण की तरफ एक बब्बूल की जाति का छोटा वृक्ष म०–देवबाभूळ, ले०–*Acacia latronum Willd.* (अकेसिया लेट्रोनम); Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी) पाया जाता है। यदि बब्बूल से भिन्न किंकिरात हो तो इसके होने की संभावना है।

यह छोटा सा वृक्ष होता है जिसका ऊपर का भाग पुराने वृक्षों में छत्र की तरह फैल जाता है। इसमें पुष्प सफेद आते हैं जो बाद में पीले हो जाते हैं।

पागल कुत्ते के काटने पर इसकी ताजी जड़, ४ तोले की मात्रा में ठंडे जल में पीस कर ७ दिन पिलाते हैं।

अथ कर्णिकारः ("पांगारा" इति महाराष्ट्रे प्रसिद्धः) तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कर्णिकारः परिव्याधः पादपोत्पल इत्यपि ॥
कर्णिकारः कटुस्तिक्तस्तुवरो शोधनो लघुः। रञ्जनः सुखदः शोथश्लेष्मास्रव्रणकुष्ठजित् ॥४६॥

कर्णिकार (यह "पांगारा" इस नाम से महाराष्ट्र में प्रसिद्ध है) के संस्कृत नाम–कर्णिकार, परिव्याध, पादपोत्पल ये सब हैं। कर्णिकार–कटु, तिक्त तथा कषाय रस युक्त, कोष्ठशोधक, लघु, रंग देने वाला, सुख पहुँचाने वाला, एवम्–शोथ, कफ, रक्तविकार, व्रण और कुष्ठ को दूर करने वाला है ॥ ४६ ॥

२२ कर्णिकार

कर्णिकार क्या है इस संबन्ध में कुछ मतभेद हैं। हरीतक्यादि वर्ग में (पृ० ६८) आरग्वध के पर्याय में कर्णिकार शब्द आया है। जैसे बब्बूल का पर्याय किंकिरात होते हुए भी उसके पुष्पों के महत्त्व की दृष्टि से उसका दो स्थानों पर स्वतंत्र वर्णन किया है वैसे ही संभवतः इसका यहां फिर से वर्णन किया गया है। ध० नि० ने कर्णिकार को आरग्वध भेद माना है। 'पांगारा', इति महाराष्ट्रे प्रसिद्धः' यह जो प्रारंभ में दिया हुआ है वह उचित नहीं मालूम पड़ता। मराठी में पांगारा यह पारिभद्र, Erythrina indica (एरिथ्रिना इण्डिका) का नाम है जिसका पहले वर्णन (पृ० ३३४) किया जा चुका है।

कुछ विद्वानों ने उलटकंबल, Abroma augusta (एब्रोमा ऑगस्टा) को कर्णिकार माना है। कुछ ने बं०-कनकचम्पा, Pterospermum acerifolium (टेरोस्पर्मम् एसेरिफोलियम्) को कर्णिकार माना है किन्तु यह तो मुचकुंद है। मुचकुंद के लिये गलती से लोगों ने Pterospermum suberifolium (टे० सुबेरिफोलियम्) नाम लिखा है।[1] मुचकुंद का आगे स्वतंत्र वर्णन आया हुआ है।

अथाशोकः। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

अशोको हेमपुष्पश्च वञ्जुलस्ताम्रपल्लवः। कङ्केलिः पिण्डपुष्पश्च गन्धपुष्पो नटस्तथा ॥४७॥
अशोकः शीतलस्तिक्तो ग्राही वर्ण्यः कषायकः। दोषापचीतृषादाहकृमिशोषविषास्रजित्[2] ॥

अशोक के संस्कृत नाम—अशोक, हेमपुष्प, वञ्जुल, ताम्रपल्लव, कङ्केलि, पिण्डपुष्प, गन्धपुष्प, नट ये सब हैं। अशोक-तिक्त तथा कषाय रस युक्त, शीतल, ग्राही, शरीर के वर्ण को उत्तम करने वाला एवम् वातादिदोष, अपची, तृषा, दाह, क्रिमि, शोष, विष और रक्तविकार को दूर करने वाला है ॥ ४७-४८ ॥

नोट—यद्यपि अशोक वृक्ष, Saraca indica Linn. (साराका इण्डिका) हैं तथापि कहीं-कहीं Polyalthia longifolia (पॉलिएल्थिया लौंगिफोलिया) को गलती से लोग अशोक मानते हैं।

असली अशोक का उपयोग रक्तप्रदर आदि गर्भाशय के विकारों में बहुत प्रचलित है किन्तु इस गुण का उल्लेख चरक, सुश्रुत, भा० प्र०, रा० नि०, ध० नि०, में देखने में नहीं आता। सुश्रुत में लोध्रादिगण में इसका पाठ है जिसमें ये द्रव्य योनिदोषों मे उपयोगी बतलाये गये हैं। चरक में वेदनास्थापनगण एवं कषायस्कंध में उल्लेख है। वृन्द ने प्रथम रक्तप्रदर में इसका उपयोग किया है।

यहाँ प्रथम असली अशोक का तथा बाद में दूसरे अशोक का संक्षेप में वर्णन किया है।

२३ अशोक (१), असली अशोक

हि०-अशोक। बं०-असोक। म०, गु०-अशोक। क०-अशोक। ता०-अचोकम्। ले०-*Saraca indica Linn.* (सराका इन्डिका)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी।

यह मध्य और पूर्वी हिमालय, पूर्व बंगाल और दक्षिण भारत में पाया जाता है तथा अनेक प्रकार की वाटिकाओं में भी देखने में आता है। बङ्गाल में इसका अधिक आदर है और प्रायः वहां के सब वाटिकाओं में देखा जाता है।

---

१. श्री ठा० बलवन्तसिंह—बिहार की वनस्पतियां, पृ. १७.
२. शोषापची······कृमिशोथविषास्रजित्। इति पाठा०।

इसका वृक्ष–बड़ा, सीधा और झोपड़ाकार होता है तथा यह बारहो मास हरा भरा दिखाई पड़ता है। लकड़ी–हलकी, किंचित् लाली युक्त भूरे रंग की होती है। पत्ते–सम-पक्षवत् एवं पत्रक–पतली २ टहनियों पर३ से ६ जोड़े रहते हैं और वे ३ से ९ इञ्च तक लम्बे, आयताकार या आयताकार प्रासवत् , चिकने, तीक्ष्ण या लम्बाग्र एवं चर्मल होते हैं। नई २ टहनियाँ नीचे की ओर झुकी हुई रहती हैं और उनके पत्ते अत्यन्त कोमल, एक दूसरे से सटे हुए, तांबे के रंग के लाल मनोहर दिखाई पड़ते हैं। इसीलिए इसको ताम्रपल्लव कहते हैं। वसन्त ऋतु में इस पर फूल तथा शरद् में फल आते हैं। पुष्प—सघन गुच्छों में आते हैं और वे नारंगी रंग से लेकर अत्यन्त रक्तवर्ण तक परम सुहावने होते हैं। इसमें कोण पुष्पक एवं बाह्यदल रंगीन होते हैं। बाह्यदल ४ तथा आयताकार होते हैं। आभ्यंतरदल नहीं रहते। पुंकेशर ७–८, करीब १ इञ्च लम्बे एवं गहरे लाल रंग के होते हैं। फलियां–६ से १० इञ्च तक लम्बी, चिपटी, १ से १॥ इञ्च चौड़ी तथा दोनों सिरों पर कुछ-कुछ टेढ़ी होती हैं। प्रत्येक फली में ४ से ८ तक बीज रहते हैं। बीज–१–१॥ इञ्च लम्बे एवं कुछ चिपटे होते हैं।

इसकी छाल–का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। यह पतली, ६ मि. मी. मोटी, बाहर से धूसराभ भूरे रंग की, कुछ चिकनी, अंदर से हलके भूरे रंग की, सूखने पर रक्ताभ भूरे रंग की, लंबाई में झुर्रीदार कठोर एवं रेशेदार होती है। इसका स्वाद कड़वा होता है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में कषाय द्रव्य (Tannins), कैटेचोल (Catechol) एवं लौहयुक्त सेन्द्रीय द्रव्य पाये जाते हैं। राख की मात्रा १०% रहती है।

गुण और प्रयोग—यह शीत, कषाय, तिक्त, वेदनास्थापन, ग्राही एवं रक्तसंग्राहक है। इससे गर्भाशय की शिथिलता दूर होती है तथा उसकी अन्तःकला एवं अण्डाशय (Ovary) पर कुछ उत्तेजक प्रभाव पड़ता है।

इसका उपयोग रक्तप्रदर–कष्टार्तव, श्वेतप्रदर, रक्तार्श, रक्तातिसार एवं गर्भाशय के विकारों में किया जाता है। अर्गट की तरह सभी प्रकार के रक्तप्रदर में इसका प्रयोग किया जा सकता है।

(१) रक्तप्रदर में इसकी छाल का क्षीरपाक करके सुबह पिलाते हैं। (चक्रदत्त)

मात्रा—१ से २ तोला (क्षीरपाक करके)।

२४ अशोक (२)

हिं०–अशोक, असोक, देवदारु। **बं०**–देव दारु। **म०**–अशोक। **ते०**–असोकमु। **क०**–पुत्रजीवी। **ले०**–*Polyalthia longifolia Benth. & Hook. f.* (पॉलीएल्थिया लौंगीफोलिया)। **Fam.** Annonaceae (अन्नोनेसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है, विशेष कर सड़कों के किनारे देखने में आता है। इसे वाटिकाओं में भी लगाते हैं।

इसका वृक्ष–सीधा खड़ा होता है। शाखाएँ–सघन नहीं होतीं। पतली-पतली टहनियों पर पत्ते विषमवर्ती रहते हैं। छाल–पतली और लकड़ी–किंचित् पीलापन युक्त सफेद होती है। पत्ते–६ से ९ इञ्च तक लंबे, किंचित् अण्डाकार, भालाकार, लहरदार धारवाले और चमकीले होते हैं। फूल–हरापन युक्त पीले रंग के अथवा पीलापन युक्त सफेद रंग के आते हैं। फल–जामुन के समान गोल होते हैं। कच्ची अवस्था में नीले रंग के और पकने पर लाल हो जाते हैं।

गुण और प्रयोग—गलती से इसकी छाल का कहीं-कहीं असली अशोक के स्थान पर प्रयोग किया जाता है। यह ज्वरनाशक होती है।

अथाम्लाटनः (बाणपुष्प इति गौडादौ प्रसिद्धः)
तस्य नामानि गुणाँश्चाह

अम्लातोऽम्लाटनः प्रोक्तस्तथाऽम्लातक इत्यपि ॥ ४९ ॥
कुरण्टको वर्णपुष्पः स एवोक्तो महासहः। अम्लाटनः कषायोष्णः स्निग्धः स्वादुश्च तिक्तकः॥

अम्लाटन (यह "बाणपुष्प" के नाम से गौड़ आदि देशों में प्रसिद्ध है) के संस्कृत नाम—अम्लात, अम्लाटन, अम्लातक, कुरण्टक, वर्णपुष्प, महासह ये सब हैं। अम्लाटन-कषाय तथा तिक्त-रस युक्त, उष्ण, स्निग्ध एवम् स्वादिष्ट है ॥ ४९-५० ॥

२५ बाणपुष्प

इसके संस्कृत पर्याय-अम्लात, अम्लाटन, अम्लातक, कुरण्टक आदि कटसरैया के बोधक हैं। इसलिये बाणपुष्प, कटसरैये का ही कोई भेद मालूम पड़ता है ॥ २५ ॥

अथ सैरेयकः (कटसरैया) तस्य नामानि भेदान् गुणाँश्चाह

सैरेयकः श्वेतपुष्पः सैरेयः कटसारिका। सहाचरः सहचरः स च भिन्द्यपि कथ्यते ॥ ५१ ॥
कुरण्टकोऽत्रपीते स्याद्रक्त कुरवकः स्मृतः। नीले बाणा द्वयोरुक्तो दासी चार्त्तगलश्च सः ॥५२॥
सैरेयः कुष्ठवातास्रकफकण्डूविषापहः। तिक्तोष्णो मधुरोऽनम्लः[1] सुस्निग्धः केशरञ्जनः॥५६॥

सफेद फूलवाली कटसरैया के संस्कृत नाम—सैरेयक, श्वेतपुष्पसैरेयक, सैरेय, कटसारिका, सहाचर, सहचर, भिन्दी ये सब हैं। पीले फूल वाली कटसरैया का संस्कृत नाम—कुरण्टक है। लाल फूलवाली का संस्कृत नाम—कुरवक है। नीले फूलवाली कटसरैया के संस्कृत नाम—वाणा, वाण, (वाण शब्द पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग दोनों में है), दासी, आतर्गल ये सब हैं। कटसरैया-तिक्त, मधुर तथा किञ्चित् अम्लरस युक्त, उष्ण, अतिस्निग्ध, केशों को रंगनेवाली होती है तथा कुष्ठ, वात-रक्त, कफ, खुजली एवं विष का नाश करती है।

नोट—सैरेयक के पुष्पों के आधार पर विभिन्न भेद किये हुए हैं। ये सब Barleria (बार्लेरिया) की विभिन्न जातियां हैं जिनके साधारण स्वरूप में साम्यता रहती है। यहां वानस्पतिक वर्णन केवल पीत का किया गया है। गुणकर्म भी सब के प्रायः समान ही होने से एक साथ ही सबका वर्णन किया गया है। निम्न भेदों का उल्लेख निघण्टुओं ने किया है।

(१) श्वेत पुष्प—सहचर, Barleria cristata Linn. (बार्लेरिया क्रिस्टेटा)।
(२) पीत ,, —कुरंटक, ,, prionitis ,, (,, प्रियोनाइटिस्)।
(३) रक्त ,, —कुरबक, ,, cristata ,, (,, क्रिस्टेटा)।
(४) नील ,, —दासी, आर्तगल, बाण, B. strigosa Willd. (,, स्ट्राइगोसा)।

B. cristata (बा. क्रिस्टेटा) में स्थानभेद से पुष्प वर्ण तथा पत्रादि में पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। इसमें श्वेत तथा गुलाबी दोनों प्रकार के फूल पाये जाते हैं। हिमालय पर होने वाले पौधों में जामुनी नील वर्ण के पुष्प होते हैं।

बार्लेरिया की अन्य अनेक जातियां भी पाई जाती हैं जिन्हें बागों में शोभा के लिए भी लगाते हैं।

---

१. दन्त्यः इति पाठा०

२६ कटसरैया

हिं०-कटसरैया, पियाबांसा । बं०-कांटाजाती । म०-कोरांटी । गु०-पीलो कांटारीयो । ले०-*Barleria prionitis Linn.* (बार्लेरिया प्रियोनाइटिस्) । Fam. Acanthaceae (अॅकेन्थेसी) ।

कटसरैया सभी उष्ण प्रान्तों में पाई जाती है तथा बागों में भी लगाई जाती है।

इसका क्षुप-झाड़दार, कांटेदार तथा २ से ५ फीट तक ऊँचा होता है। पत्ते-१.५ से ४ इञ्च लंबे, कण्टकित अग्रयुक्त, अंडाकार (शाखाओं में आयताकार-प्रासवत्), विपरीत तथा अखण्डतट वाले होते हैं। पुष्प-पीले तथा उनके दलाग्र भी कंटकित होते हैं। शीत ऋतु में ये अते हैं। डोडी-१ इञ्च लंबी होती है जिनमें दो चिपटे बीज पाये जाते हैं।

कटसरैया के पत्र एवं मूल का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—पीत सैरेयक में एक क्षाराभ पाया गया है तथा इसमें पोटॅशियम् (Potassium) काफी रहता है।

गुण और प्रयोग—सैरेयक, तिक्त, अम्ल, उष्ण, कफनिःसारक, कुछ स्वेदजनक, शोथहर, व्रणरोपण, विषघ्न एवं केशरंजक है।

इसका उपयोग कास, शोथ, दंतशोथ, चर्मरोग एवं चूहे के विष में किया जाता है।

(१) बच्चों के कफयुक्त खांसी में इसके पत्तों का स्वरस मधु या शर्करा मिलाकर देते हैं। शुष्क कास में सूखी हुई छाल का चूर्ण चटाते हैं।

(२) जलशोथ (Anasarca) में मूल की ताजी छाल या पंचांग की राख खांड के साथ देते हैं।

(३) चूहे के विष में मूल को मधु तथा चावल की धोवनके साथ देते हैं। (वाग्भट उ० ३८)।

(४) दांत हिलते हों तो नील सैरेयक के पत्तों के कषाय से गण्डूष कराते हैं (चक्र); दंतशूल में नमक के साथ पत्तों का लेप मसूड़ों पर करते हैं।

(५) ग्रन्थि, शोथ आदि में मूल का लेप, व्रण पर पंचांग सिद्ध तैल एवं बरसात में पैर न फटे इसलिये तलवे पर पत्तों का लेप किया जाता है। कुष्ठादि चर्मरोगों में इसका लेप एवं आन्तरिक प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—स्वरस ½-१ तोला; क्वाथ ५-१० तो०।

अथ कुन्दम् । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कुन्दं तु कथितं माध्यं सदापुष्पश्च तत्स्मृतम् । कुन्दं शीतं लघु श्लेष्मशिरोरुग्विषपित्तहृत् ॥

कुन्द के संस्कृत नाम—कुन्द, माध्य, सदापुष्प ये सब हैं। कुन्द-शीतल, लघु तथा कफ, शिरोरोग, विष और पित्त को दूर करने वाला है ॥ ५४ ॥

२७ कुन्द

हिं०-कुन्द, कुन्दे का वृक्ष, कुन्द फूल । बं०-कुन्द । म०-कस्तूरी मोगरा । गु०-मोगरो । ता०-मल्लिगै । ते०-कुंदमु । ले०-*Jasminum pubescens Willd.* (जसमीनम् प्युबेसेन्स) । Fam. Oleaceae (ओलिएसी) ।

यह सब स्थानों पर होता है। बागों में शोभा के लिये भी लगाते हैं।

इसका गुल्म-बड़ा, रोमश, लतासदृश आरोहणशील होता है। पत्ते-विपरीत, ३·८-७×१·६-३.८ से० मी०, अण्डाकार एवं लम्बाग्र तथा वृन्त ६-१० मि. मी. घन रोमश होता है। पुष्प-बेला के समान या उससे कुछ लंबे, गुच्छों में, श्वेत, सुगन्धित एवं दल पत्र आयताकार तथा मालाकार होते हैं। यद्यपि यह वर्ष भर फूलता है किन्तु शीत ऋतु में बहुत अधिक फूलता है।

इसके पुष्प, पत्र एवं मूल का प्रयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके पत्तों का पुल्टिस बनाकर पुराने व्रणों पर बाँधने से व्रणरोपण होने लगता है। इसकी जड़ सर्पविष में उपयोगी बतलाई गई है। पुष्प एवं पिप्पली को तण्डुलांबु के साथ श्वास में पिलाने से लाभ होता है। (सु. उ. अ. ५१-३७)।

अथ मुचुकुन्दः। (नाम्नैव प्रसिद्धः)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

मुचुकुन्दः क्षत्रवृक्षश्चित्रकः प्रतिविष्णुकः। मुचुकुन्दः शिरःपीडापित्तास्रविषनाशनः ॥ ५५॥

मुचुकुन्द (यह इसी नाम से प्रसिद्ध है) के संस्कृत नाम-मुचुकुन्द, क्षत्रवृक्ष, चित्रक, प्रतिविष्णुक, ये सब हैं। मुचुकुन्द-शिर की पीडा, पित्त, रक्तविकार एवम् विष का नाशक है ॥ ५५ ॥

२८ मुचकुन्द

हिं०, म०, बं०, गु०—मुचकुन्द। ले०-*Pterospermum acerifolium Willd.*[1] (टेरोस्पर्मम् एसेरिफोलियम्)। Fam. Sterculiaceae (स्टर्क्यूलिएसी)।

यह हिमालय में ४००० फीट तक तथा बंगाल, चटगांव, खासिया पहाड़, मणीपूर में तथा दक्षिण में विशेष रूप से बम्बई प्रान्त में लगाया हुआ मिलता है।

इसका वृक्ष-ऊँचा तथा सुन्दर होता है। पत्ते-६-१५ इञ्च बड़े, खण्डित, अखण्ड या दन्तुर, द्विद्रव, शिराविन्यास पाणिवत् तथा अधर तल पर श्वेत मृदुरोमश होते हैं। पुष्प-बड़े, श्वेत तथा सुगंधित होते हैं। आभ्यंतर दल ३½-४½ इञ्च लम्बे होते हैं। फल-लंब गोल तथा कड़े होते हैं।

इसके पुष्पों का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह त्वच्य, वेदनाहर एवं रक्तस्तंभक है।

(१) इसके फूल कांजी में पीसकर शिरःशूल में बांधने से लाभ होता है। हिमांशु तैल में यह डाला जाता है।

(२) पत्राधः रोम रक्तस्तंमक माने जाते हैं।

(३) रक्तार्श में इसका लेप एवं घृत शर्करा के साथ बनाया हलुवा उपयोगी है।

(४) चेचक के व्रणों पर इसके पुष्प एवं छाल को जलाकर कबीले के साथ मिलाकर लगाते हैं।

---

१. "ग्रन्थों में भूल से एक दूसरी जाति P. suberifolium Lam. को मुचकुंद नाम दिया हुआ मिलता है।" —ठा० बलवन्तसिंह, बिहार की वनस्पतियां, पृष्ठ १७। कुछ विद्वानों ने P. acerifolium को कर्णिकार माना है। कर्णिकार संभवतः आरग्वध है। चरक में मुचकुंद का उल्लेख नहीं मिलता। सुश्रुत में विद्रधि अध्याय (चि० १८-१०) में है।

अथ तिलकः (तिलाभपुष्पस्तिलकनाम्नैव प्रसिद्धः)।

तस्य नामानि गुणाँश्चाह

तिलकः क्षुरकः श्रीमान्पुरुषश्छिन्नपुष्पकः ॥

तिलकः कटुकः पाके रसे चोष्णो रसायनः। कफकुष्ठक्रिमीन्वस्तिमुखदन्तगदान्हरेत् ॥५६॥

तिलक (इसके फूल तिल के फूल के सदृश होते हैं अतः यह इसी नाम से प्रसिद्ध है) के संस्कृत नाम—तिलक, क्षुरक, श्रीमान् , पुरुष, छिन्नपुष्पक ये सब हैं। तिलक-पाक तथा रस में कटु, उष्ण, रसायन एवम्-कफ, कुष्ठ, क्रिमि, वस्ति-मुख-दन्त-सम्बन्धी रोगों को दूर करने वाला है ॥ ५६ ॥

२९ तिलक[1]

हिं०-तिलक, तिलिया, तिलका। संथाल-हुण्डू। ले०-*Wendlandia exerta DC.* (वेन्डलैन्डिया एक्जर्टा)। Fam. Rubiaceae (रूबिएसी)।

यह हिमालय के उष्ण प्रदेशीय शुष्क जंगलों में चेनाब से नेपाल तक, ४००० फीट की ऊंचाई तक एवं उड़ीसा, मध्यभारत कोंकण एवं उत्तरी डेक्कन में पाया जाता है।

यह खुली हुई और छोटी-छोटी वनस्पतियों से रहित भूमि जैसे नालों के ढालों पर अधिक होते हैं।

इसके वृक्ष-सुन्दर, झुके हुए तथा छोटे होते हैं। पत्ते-चर्मवत , आयताकार या लट्वाकार-प्रासवत , लम्बाग्र तथा ४-९×१-३·५ इञ्च बड़े होते हैं। शिराएँ १०-१० जोड़ी तथा उपपत्र चौड़े, प्रायः लट्वाकार एवं अग्र पर टेढ़े होते हैं। पुष्प-$\frac{1}{6}$ इञ्च व्यास में, सुगन्धित एवं श्वेत होते हैं। आभ्यंतरदल मुड़े हुए एवं उनके स्वतंत्र खण्ड आभ्यंतरनाल से बड़े होते हैं। पुष्पकाल— मार्च, अप्रैल। उस समय वृक्ष का शिखर सफेद चांदनी से ढँका मालूम पड़ता है। फल-$\frac{1}{10}$ इञ्च व्यास के, श्वेत एवं मृदुरोमावृत होते हैं। छाल-रक्ताभ होती है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल रचक तथा चबाने से लालास्राव वर्धक होती है।

अथ बन्धुजीवः (गोजुनिया)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

बन्धूको बन्धुजीवश्च रक्तो माध्याह्निकोऽपि च।
बन्धूकः कफकृद् ग्राही वातपित्तहरो लघुः ॥ ५७ ॥

दुपहरिया के संस्कृत नाम – बन्धूक, बन्धुजीव, रक्त, माध्याह्निक ये सब हैं। दुपहरिया-कफकारक, ग्राही, वात-पित्तनाशक और लघु है ॥ ५७ ॥

---

१. नोट—निघण्टुओं में वर्णित इस तिलक वृक्ष के बारे में अभी तक किसी को पता नहीं था कि यह वृक्ष कैसा होता है तथा इसका लेटिन नाम क्या है। सर्वप्रथम श्री ठा० बलवन्तसिंह जी ने अपनी पुस्तक 'बिहार की वनस्पतियां' (पृ० ६८) में अनेक प्रमाणों के आधार पर तिलक को Wendlandia exerta DC. (वेण्डलेण्डिया एक्जर्टा) सिद्ध किया है तथा इसका वैज्ञानिक वर्णन किया है। इसके जंगलों में प्रचलित स्थानिक नाम, शास्त्रीय परिचयात्मक पर्याय तथा प्रचलित गुणकर्म सभी आधारों से यह तिलक सिद्ध होता है।

३० दुपहरिया

हिं०-गुल दुपहरिया। बं०-बान्धुली। म०-तांबडी दुपारी। गु०-बपोरियो। ता०-नागपू। पं०-गुल दुपहरिया। ले०-*Pentapetes phoenicea Linn.* (पेन्टापेटिस् फीनीसिया)। Fam. Sterculiaceae (स्टर्क्युलिएसी)।

यह उत्तर पश्चिम भारत, बंगाल तथा गुजरात में पाया जाता है। सभी भागों में बागों में लगाया भी जाता है। यह प्रायः जलाशयों में तथा चावल के खेतों में होता है।

इसका क्षुप-२-५ फीट ऊँचा होता है। पत्ते-३-५ इञ्च लम्बे, प्रासवत्, तीक्ष्ण दन्तुर अथवा गोल-अभ्यारावत् तथा केवल एक शिरावाले होते हैं। पुष्प-लाल रंग के, बड़े तथा दण्ड पर दो-दो एक साथ नीचे की तरफ लटके रहते हैं। दोपहर के समय खिलने से इसे गुल दुपहरिया कहते हैं। फल-कुछ लंब गोल, खुरदरा तथा पांच विभागों से युक्त, जिनमें प्रत्येक में ८-१२ बीज रहते हैं। पुष्प काल—जुलाई में बीज बोने से सितम्बर, अक्तूबर तक फूलता है।

इसके मूल, पुष्प तथा फल का उपयोग किया जाता है।

वक्तव्य—यद्यपि राजनिघंटु ने इसके कृष्ण, श्वेत, पीत तथा रक्त चार भेद लिखे हैं तथापि केवल श्वेत भेद पाया जाता है। चरक दशेमानि में इसका उल्लेख नहीं है। विषचिकित्सा (चि. अ. २५-१७९) में इसके मूल से नस्य के लिए लिखा है। सुश्रुत इसकी जड़ ऊर्ध्वभाग हर गण में उल्लेख करते हैं। कुछ विद्वानों ने Ixora (आइक्जोरा) की जाति तथा कुछ ने Hibiscus (हिबिस्कस्) की जाति को बन्धूक लिखा है।

गुण और प्रयोग—यह विषघ्न एवं स्नेहन है। फल में स्नेहन धर्म है। मूल ऊर्ध्वभाग दोषहर है।

अथ जपापुष्पम् (गुड़हर, अढ़ौल)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

ओड्रपुष्पं जपा चाथ त्रिसन्ध्या साऽरुणा सिता।
जपा संग्राहिणी केश्या त्रिसन्ध्या कफवातजित्॥ ५८॥

अढ़ौल के नाम – ओड्रपुष्प और जपा हैं। लाल तथा सफेद फूल वाली अढ़ौल का नाम-त्रिसन्ध्या है। जपा-संग्राही और केशों का उत्तम बनाने वाला होता है। त्रिसन्ध्या-कफ तथा वायु को नाश करने वाली होती है॥ ५८॥

३१ गुड़हर

हिं०-ओड्हुल, ओ(अ)ड़हुल, अढ़ौल, गुड़हल, जवाकुसुम। बं०-जबाफुल। म०-जासुवन्द, गु०-जासुद, जासुस। ते०-दासनमु। ता०-शप्पातुप्पु। क० दासणिगे। फा०-अंगिरा हिन्दी। अं०-Shoe Flower (शू फ्लावर)। ले०-*Hibiscus rosa-sinensis Linn.* (हिबिस्कस् रोजा-साइनेन्सिस्)। Fam. Malvaceae (माल्वेसी)। यह प्रायः सब प्रान्त के बागों में रोपण किया जाता है।

इसका गुल्म-छोटा, सदाहरित, काष्ठीय, सुन्दर एवं ५-८ फीट ऊंचा होता है। पत्ते-चमकीले हरे, अंडाकार, दन्तुर तथा शहतूत के जैसे होते हैं। पुष्प-प्रायः लाल, घंटाकार, बड़े, ४-६ इञ्च व्यास में एवं जननांग बीच से बाहर निकले हुए रहते हैं। फली-गोलाकार तथा अनेक बीजों से युक्त होती है।

विविध प्रकार के फूलों जैसे इकहरे, दोहरे, तथा लाल, पीले, सफेद रंग के भेदों से यह कई प्रकार का पाया जाता है तथा हमेशा फूलता रहता है।

इसके पुष्प, कलिका तथा मूलत्वक् का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पुष्प के खाने योग्य भाग (६१.६%) में प्रति १०० ग्राम में कैल्शियम् (Calcium, 4·04), फास्फोरस् (Phosphorus, 26·68), एवं लोह (Iron, 1·69) मिलीग्राम पाया गया है। इनके अतिरिक्त थियामिन (Thiamine, 0·031 mg%), राइबोफ्लेविन Riboflavin, 0·058 mg%), नियासिन (Niacin, 0·61 mg. %) एवं विटामिन सी (Ascorbic acid 4 16 mg. %) पाये जाते हैं।

फूलों को पीसकर उससे एक रंग प्राप्त किया जाता है जिसका उपयोग बाल, भौं तथा मदिरा आदि रंगने के काम में करते हैं।

पत्तों में केरोटीन (Carotene, 7·34 mg. per. 100 g. of fresh material) पाया जाता है जिनका चारे के लिए उपयोग करते हैं।

गुण और प्रयोग—जपा ग्राही, रक्तसंग्राहक, केश्य, हृद्य एवं मस्तिष्क के लिये बलप्रद है। इसका प्रयोग प्रदर, प्रमेह एवं ज्वर में किया जाता है।

(१) काली गाय के मूत्र में फलों को पीसकर लगाने से गंजापन दूर होकर बाल बढ़ते हैं। ताजे फूलों को पीसकर लगाने से बालों का रंग सुन्दर हो जाता है।

(२) फूल की १०–१२ कलियाँ दूध में पीसकर पिलाने से तथा पथ्य में दूध देने से प्रदर अच्छा होता है।

(३) यूनानी वाले इसका शर्बत हृदय तथा मस्तिष्क की दुर्बलता, उन्माद तथा पैत्तिक ज्वर में देते हैं।

(४) इसकी जड अल्थिया (Althaea) के स्थान पर खांसी के लिए काम में लाई जाती है।

(५) मुँह के छाले में इसे चबाने से लाभ होता है।

मात्रा—पुष्प ३–६ माशा।

अथ सिन्दूरी (सेन्दुरिया)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

सिन्दूरी रक्तबीजा च रक्तपुष्पा सुकोमला। सिन्दूरी विषपित्तास्रतृष्णावान्तिहरी हिमा॥

सेन्दुरिया के संस्कृत नाम—सिन्दूरी, रक्तबीजा, रक्तपुष्पा और सुकोमला ये सब हैं। **सेन्दुरिया**—शीतल तथा विष, पित्त, रक्तविकार, तृषा, और वमन को दूर करने वाली है॥ ५९॥

३२ सिन्दुरिया

हि०—सें (सिं) दुरिया, लटकन, सदा सुहागन। बं०—लटकन। म०—शेन्द्री। ता०, ते०—जाफर। ले०—*Bixa orellana Linn.* (बिक्सा ओरिलाना)। Fam. Bixaceae (बिक्सेसी)।

सेंदुरिया—एक प्रसिद्ध फूल है जिसके वृक्ष को बागों में लगाते हैं तथा दक्षिण, बंगाल तथा आसाम में भी कहीं कहीं पाया जाता है। मैसूर में इसकी खेती भी की जाती है।

इसका वृक्ष-छोटा, शाखा प्रशाखाओं करके सघन, झाड़दार एवं सुन्दर होता है। पत्ते-हृद्वत्, लंबाग्र, चिकने, चमकीले एवं ४–६ इञ्च लम्बे होते हैं। पुष्प-छोटे, गुलाबी, पाँच अन्तर्दलवाले एवं बीच से स्त्री केशर बाहर निकला रहता है। फल-धतूरा की तरह मृदु कंटकित होता है। बीज-करीब ५०, छोटे एवं सिन्दूरवर्ण स्तर से ढके हुवे होते हैं जिनसे एक रंग तैयार किया जाता है। इसका एक अन्य प्रकार होता है जिसमें पुष्प श्वेत एवं फल हरा रहता है।

इसमें के रंग को निकालने के लिये बीजों को कूटकर गरम जल में मसलकर लकड़ी के पात्रों में कई दिन रखते हैं। फिर छानकर १ सप्ताह और रखते हैं। फिर नीचे बैठे हुवे रंग को अलग कर सुखा लेते हैं। बीजों में यह रंग अॅन्नाटो (Annatto) ४·८–६% होता है जिसका उपयोग अहितकर न होने के कारण खाद्यपदार्थों जैसे मक्खन, दूध तथा तेलों के रंगने में किया जाता है। यह तैल विलेय होता है।

चिकित्सा में पंचांग का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—बीजों में प्रधान रंजक द्रव्य बिक्सिन (Bixin, $C_{25}H_{30}O_4$) तथा स्नेह, राल तथा तिक्त पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसकी फल मज्जा ग्राही है किन्तु अधिक मात्रा में स्रंसन है। बीज एवं मूल रोचक, ज्वरघ्न एवं ग्राही हैं।

(१) मूल की छाल ज्वर में दी जाती है।

(२) बीज सोजाक में देते हैं।

(३) पत्तों का फांट कामला में दिया जाता है। **मात्रा**—छाल ३ से ६ माशे।

अथ मुनिवृक्षः (अगस्तिया)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

अथागस्त्यो वङ्गसेनो मुनिपुष्पो मुनिद्रुमः ॥ ६० ॥

अगस्तिः पित्तकफजिच्चातुर्थिकहरो हिमः। रूक्षो वातकरस्तिक्तः प्रतिश्यायनिवारणः ॥६१॥

अगस्तिया के संस्कृत नाम—अगस्त्य, वङ्गसेन, मुनिपुष्प, अगस्ति और मुनिद्रुम ये सब हैं। **अगस्तिया**-तिक्तरसयुक्त, शीतल, रूक्ष, वातकारक एवम् पित्त, कफ, चातुर्थिक (चौथिया) ज्वर और प्रतिश्याय (जुखाम) को दूर करने वाला है ॥ ६० ६१ ॥

इसके पुष्प के गुण आगे शाकवर्ग में दिये हुये हैं।

३३ अगस्त

हि०–अगस्त, हथिया, अगथिया, अगस्तिया। **बं०**–बक। **म०**–हदगा, अगस्ता। **क०**–अगचे। **गु०**– अगथियो। **ते०**–अविसी। **ता०**–अगति। **ले०**–*Sesbania grandiflora Linn.* (सेसबेनिया ग्रॅन्डीफ्लोरा)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

इसको बागों में लगाते हैं तथा दक्षिण एवं बंगाल में विशेष रूप से होता है।

इसका **वृक्ष**–१५–२० फीट ऊँचा, सीधा, तथा शीघ्र बढ़ने वाला होता है। **पत्ते**-संयुक्त, एकान्तर, ६–१२ इञ्च लंबे, शिरीष जैसे होते हैं। **पत्रक**–१६ से ३० युग्म, आयताकार, एवं कुंठिताग्र होते हैं।

पुष्प–२ से ४ इञ्च लंबे, श्वेत एवं लाल तिरछे तथा नौकाकार आते हैं। **फली**–लटकती हुई, १२–१५ इञ्च लंबी, पतली एवं चारधार वाली होती है। अगस्ततारा के उदय काल (प्रायः सितम्बर) में पुष्प लगते हैं और पौष में फली पक जाती है। पुष्प एवं कोमल पत्तों का शाक एवं अचार बनाते हैं।

इसकी छाल, पत्र, पुष्प एवं मूल का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके पुष्प वातकर एवं क्षय, कासनाशक तथा रतौंधी में लाभकर हैं। (सु. सू. अ. ४६)। मूल उष्ण, वातहर, कफघ्न एवं शोथघ्न है। पत्र आनुलोमिक एवं शिरोविरेचन हैं। छाल ग्राही है।

इसका उपयोग कास, प्रतिश्याय, ज्वर एवं नेत्ररोगों में किया जाता है।

(१) फुफ्फुसपाक में मूल त्वक पान के साथ या स्वरस १ से २ तोला मात्रा में मधु के साथ देने से कफ निकलता है तथा पसीना आकर ज्वर कम होता है।

(२) प्रतिश्याय में शिरःशूल तथा नेत्र विकार में पुष्प एवं पत्र स्वरस का नस्य देते हैं।

(३) अनार्तव में पुष्पों का साग देते हैं।

(४) मसूरिका में छाल का फांट दिया जाता है।

(५) चोट लगने पर पत्तों का लेप एवं संधिशोथ में मूल का लेप किया जाता है।

(६) दृष्टिमांद्य में पुष्प रस आंख में डालते हैं।

मात्रा—मूल स्वरस १ से २ तोला।

अथ तुलसी शुक्ला कृष्णा च। तयोर्नामगुणानाह

तुलसी सुरसा ग्राम्या सुलभा बहुमञ्जरी। अपेतराक्षसी गौरी भूतघ्नी देवदुन्दुभिः॥ ६२॥
तुलसी कटुका तिक्ता हृद्योष्णा दाहपित्तकृत्। दीपनी कुष्ठकृच्छ्रास्रपार्श्वरुक्कफवातजित्॥
शुक्ला कृष्णा च तुलसी गुणैस्तुल्या प्रकीर्त्तिता॥ ६३॥

तुलसी के संस्कृत नाम—तुलसी, सुरसा, ग्राम्या, सुलभा, बहुमञ्जरी, अपेतराक्षसी, गौरी, भूतघ्नी, देवदुन्दुभि ये सब हैं। तुलसी—कटु तथा तिक्तरस युक्त, हृदय को हितकर, उष्ण, दाह तथा पित्त कारक, अग्निदीपक एवम् कुष्ठ, मूत्रकृच्छ्र, रक्तविकार, पसली की पीड़ा, कफ और वायु को दूर करने वाली है। सफेद तथा काली तुलसी दोनों ही गुणों में समान मानी जाती हैं॥ ६२-६३॥

३४ तुलसी

हि०-तुलसी। बं०-तुलसी। गु०-तुलसी। ते०-गग्गेर चेट्टु। म०-तुलस। ता०-तुलशी। क०-एरेड तुलसी। अं०-Holy Basil (होली बेसील)। ले०-*Ocimum sanctum Linn.* (ओसीमम् सेंक्टम्)। Fam. Labiatae (लेबिटएटी)।

यह प्रायः सब गरम और साधारण प्रान्तों के वन उपवनों में आप ही उत्पन्न होती है और पवित्र मानी जाने से घर में भी लगाते हैं।

यह क्षुप जाति की वनस्पति १ से २॥ फीट तक ऊंची होती है और समस्त क्षुप से तीव्र गन्ध आती है। शाखायें सीधी और फैली हुई रहती हैं। **पत्ते**—१ से २ इञ्च तक लम्बे और अण्डाकार तथा सुगंधित होते हैं। शाखाओं के अन्त में मञ्जरी लगती है। जिसके पत्ते हरे सफेदी लिये होते हैं उसको सफेद तुलसी और जिसके पत्ते और डंडियां कालापन युक्त हरे होते हैं उसको काली तुलसी कहते हैं। तुलसी की अन्य भी कई जातियां (Species) पाई जाती है जिनमें से ऑ० ग्रेटिसिमम् (O. gratissimum Linn.) को **रामतुलसी** कहते हैं।

कृष्णतुलसी अधिक गुणकारी समझी जाती है। इसके पत्ते एवं बंजादि का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में ०.७% उड़नशील तैल पाया जाता है जो कफनिःसारक, प्रतिदूषक तथा कीड़ों को भगाता है।

गुण और प्रयोग—तुलसी के पत्र या उसका स्वरस उष्ण, रूक्ष, कफनिःसारक, शीतहर, वातहर, स्वेद जनन, दीपन, कृमिघ्न, दुर्गन्धनाशक एवं प्रतिदूषक हैं।

इसका उपयोग कास, श्वास, पार्श्वशूल, विषमज्वर, बालयकृत वृद्धि, विषविकार, एवं पाचन के विकारों में करते हैं। इसका विशेष प्रयोग इन व्याधियों में अन्य औषधि के अनुपान के रूप में किया जाता है।

इसके बीज मधुर, स्निग्ध, शीत एवं मूत्र जनन होते हैं जिनका उपयोग मूत्रकृच्छ्रादि विकारों में किया जाता है।

पत्तों के स्वरस का बाह्य उपयोग कर्णशूल, व्रण प्रक्षालन, कृमि-कीट-दंश एवं चर्मरोगों में किया जाता है।

मात्रा—स्वरस १ से २ तोला; बीज १ से २ माशा।

अथ मरुवकः (मरुआ)। तस्य नामानि गुणाश्चाह

मारुतोऽसौ मरुबको मरुन्मरुरपि स्मृतः। फणी फणिज्जकश्चापि प्रस्थपुष्पः समीरणः॥६४॥
मरुदग्निप्रदो हृद्यस्तीक्ष्णोष्णः पित्तलो लघुः॥ ६५॥
वृश्चिकादिविषश्लेष्मवातकुष्ठक्रिमिप्रणुत्। कटुपाकरसो रुच्यस्तिक्तो रूक्षः सुगन्धिकः॥६६॥

मरुवा के संस्कृत नाम—मारुत, मरुबक, मरुत, मरु, फणी, फणिज्जक, प्रस्थपुष्प, समीरण ये सब हैं। मरुआ—पाक तथा रसमें कटु, रुचिकारक, तिक्त रसयुक्त, रूक्ष, सुगन्धयुक्त, अग्निवर्धक, हृदय को हितकर, तीक्ष्ण, उष्ण, पित्तजनक, लघु एवम् बिच्छु आदि के विष, कफ, वात, कुष्ठ और क्रिमी का नाशक है॥ ६४-६६॥

३५ मरुआ

हिं०—मरुआ, मरुवा। बं०—मुरुं। म०—मरवा। गु०—मरवो। ते०—मरवमु। फा०—मरज़न, जोस। अं०—Sweet Marjoram (स्वीट मारजोरम्)। ले०—*Origanum majorana Linn.* (ऑरीगेनम् मॅजोराना)। Fam. Labiatae) (लेबिएटी)।

मरुआ प्रायः सब प्रान्तों की वाटिकाओं में रोपण किया जाता है।

यह क्षुपजाति की वनस्पति १-२ फीट ऊंची होती है और इससे सुगन्धि आती है। पत्ते-लम्बे अंडाकार किञ्चित् लालिमायुक्त सफेदी मायल एवं सुगन्धित होते हैं। उस पर तुलसी के समान मञ्जरी लगती है। सफेद और काले रंगों के भेद से यह दो प्रकार का होता है। इनमें सफेद, औषधि और काला शिव-पूजन के काम में आता है॥ ३९॥

इसके पंचांग एवं उसकी राख का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें सुगन्धितैल तथा कुछ तिक्त पदार्थ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, सुगन्धि, वातानुलोमक, स्वेदजनन, आर्तवजनन, कफनिःसारक, यकृतबल्य एवं कुष्ठघ्न है।

इसका उपयोग आध्मान, शूलादि पाचन विकार, प्रतिश्याय, अनार्तव एवं व्रण के लिये करते हैं।

(१) उदरशूल में पत्तों को सफेद हुरहुर के पत्तों के साथ देते हैं। अतिसार में फांट देते हैं।

(२) इसका स्वरस या पंचांग की राख व्रण रोपण एवं वेदनास्थापन होने से पुराने व्रण में लाभ करती है। मात्रा—स्वरस ५-१० बूंद; तैल २-६ बूंद; पंचांग ५-३० रत्ती।

अथ दमनकः (दवना)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

उक्तो दमनको दान्तो मुनिपुत्रस्तपोधनः। गन्धोत्कटो ब्रह्मजटो विनीतः कलपत्रकः॥ ६७॥
दमनस्तुवरस्तिक्तो हृद्यो वृष्यः सुगन्धिकः। ग्रहणाद् विषकुष्ठास्रक्लेदकण्डूत्रिदोषजित्॥६८॥

दवना के संस्कृत नाम—दमनक, दान्त, मुनिपुत्र, तपोधन, गन्धोत्कट, ब्रह्मजट, विनीत, कल-

पत्रक और दमन ये सब हैं। दवना-कषाय तथा तिक्त रसयुक्त, हृदय को हितकर, वृष्य (वीर्य वर्धक), सुगन्धित एवम् विष, कुष्ठ, रक्तविकार, क्लेद, खुजली तथा त्रिदोष का नाशक है॥

नोट—अनेक विद्वानों ने दमनक का ले. र आ. सिवरसियाना (A. siversiana) दिया है।

३६ दवना

हि०-दौना, दवना। बं०-दोना। म०-दवणा। गु०-डमरो। अ०-अफसंतीन। ले०-*Artemisia vulgaris Linn.* (आर्टिमिसिया वल्गॅरिस्)। Fam. Compositae (कम्पोजिटी)।

इसको वाटिकाओं में लगाते हैं। पश्चिम हिमालय, खासिया पहाड़, आबू, पश्चिम घाट, कोंकण, लंका आदि जगहों में यह आप ही आप जङ्गली उत्पन्न होता है।

इसके क्षुप-४ से ८ फीट ऊँचे एवं गंध युक्त होते हैं। पत्ते-नीचे के २-४ इञ्च लंबे, १-२ इञ्च चौड़े, सनाल, लट्वाकार, एक या दो बार पक्षाकार क्रम से विच्छिन्न, दोनों पृष्ठों पर रोमश एवं नीचे के पृष्ठ पर राख या श्वेत वर्ण के होते हैं। ऊपर के पत्ते प्रायः विनाल, रेखाकार मालाकार, सरल धार वाले, तथा तीन विच्छेदों से युक्त होते हैं। इसको डा० देसाई ने सुरपर्ण नाम दिया है तथा दमनक, आ० सिवरसियाना को माना है। इसके पंचांग का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें ०·२% उड़नशील तैल पाया जाता है। इसमें यवक्षार पर्याप्त मात्रा में रहता है।

गुण और प्रयोग—यह तिक्त, दीपन, पाचन, उद्वेष्टनरोधी, आर्तवजनन, आनुलोमिक, वामक एवं व्रणरोपण है।

इसका फांट वातरोग, उद्वेष्टनयुक्त रोग, श्वास एवं भूतोन्माद में देते हैं। बालकों की उदर सम्बन्धी व्याधियों, आध्मान, कृमि आदि में यह बहुत उपयोगी है।

इसके क्वाथ से दुष्ट व्रण प्रक्षालन किया जाता है तथा कर्णशूल में इसके स्वरस को डालते हैं।

मात्रा—स्वरस ५-१० बूंद।

अथ बर्बरी (वनतुलसी)। तस्या भेदसहितं नामानि गुणांश्चाह

बर्बरी तुवरी तुङ्गी खरपुष्पाऽजगन्धिका। पर्णाशस्तत्र कृष्णे तु कठिल्लककुठेरकौ॥ ६९॥
तत्र शुक्लेऽर्जकः प्रोक्तो वटपत्रस्ततोऽपरः। बर्बरीत्रितयं रूक्षं शीतं कटु विदाहि च॥ ७०॥
तीक्ष्णं रुचिकरं हृद्यं दीपनं लघुपाकि च। पित्तलं कफवातास्रकण्डूकृमिविषापहम्॥ ७१॥

वन तुलसी के संस्कृत नाम-बर्बरी, तुवरी, तुङ्गी, खरपुष्पा, अजगन्धिका, पर्णाश ये सब हैं। काली वन तुलसी का संस्कृत नाम—कठिल्लक और कुठेरक है। सफेद वन तुलसी का संस्कृत नाम-अर्जक है। तीसरी जाति की वन तुलसी का संस्कृत नाम-वटपत्र है। तीनों बर्बरी-रूक्ष, शीतल, कटुरसयुक्त विदाही, तीक्ष्ण, रुचिकारक, हृदय को हितकर, अग्निदीपक, पाक में लघु, पित्तजनक तथा कफ, वात, रक्तविकार, खुजली, कृमि और विष का नाशक होती है॥ ६९-७१॥

नोट—भावप्रकाशकार बर्बरी के ३ भेद लिखते हैं।

(१) कठिल्लक, कुठेरक (कृष्णपुष्प)। (२) अर्जक (श्वेतपुष्प)। (३) वट्पत्र। अन्य निघंटुओं ने भी इसी प्रकार या तो इन्हें स्वतंत्र या एक दूसरे का भेद बतलाया है। ये सभी तुलसी वर्ग के ही द्रव्य मालूम पड़ते हैं। बर्बरी यह ऑ० बेसिलिकम् (O. basilicum Linn.) है। ऑर्थोसिफॉन् ग्रेन्डिफ्लोरस् (Orthosiphon grandiflorus Boldingh) के अर्जक होने की संभावना पर विचार करने के लिये श्री ठा० बलवन्त सिंह जी ने 'बिहार की वन-

स्पतियां" में लिखा है क्योंकि इसको बनारस के आसपास अजगुर कहा भी जाता है तथा डल्हणोक्त 'अर्जकः बर्बरिकाकारो लघुमंजरीकः सूक्ष्मपत्रो निर्गंधः श्वेतकुठेरकः (सु० सू० अ० ३८-१८) वचन भी इसके लिये ठीक बैठता है।

२७ बर्बरी (सबजा)

हिं०-बबंरी, बर्बरी, वन तुलसी, वार्बर, सबजा। बं०-बाबुई तुलसी। म०-सबजा। गु०-डमरो, रान तुलसी। ते०-भू तुलसी। ता०-तिरतुत्पतची। प०-ववरि। अं०-Common-Sweet-Basil (कामन स्वीट् बेसिल्)। ले०-*Ocimum basilicum Linn.* (ऑसीमम् बेसिलीकम्)। Fam. Labiatae (लेबिएटी)।

यह भारत के गरम तथा साधारण प्रान्तों में विशेष कर पंजाब में अधिक पाई जाती है। सभी प्रान्तों में बागों में लगाई हुई भी पाई जाती है।

इसका क्षुप-सीधा, १-२फीट तक ऊँचा होता है। शाखायें-हरे रङ्ग की अथवा फीकी पीलापन युक्त हरे रङ्ग की होती हैं। पत्ते-१-२ इञ्च लम्बे, अंडाकार और नोकीले होते हैं। शाखाओं के अन्त में फूलों की मञ्जरी लगती है। उसी में बीजकोष लगते हैं। बीज-नन्हें २ काले रङ्ग के किंचित् लम्बे, एक ओर महराब का चिह्न और दूसरी ओर चिपटे तथा मोटी नोकवाले होते हैं। वे गन्धहीन होते हैं परन्तु उनका स्वाद तेलिया और कुछ चरपरा होता है। इनको पानी में भिगोने से लुवावदार से दीख पड़ते हैं। इन्हें तुख्म शर्बती कहते हैं। किसी ने इसे तुख्म रैहाँ भी लिखा है।

इसके पंचांग तथा बीज का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक सुगंधि तैल पाया जाता है। यह पीताभ हरा एवं जल से हलका होता है। रखने से यह जमकर इसके रवे बनते हैं जिन्हें बेसिल कैंफर (Basil camphor) कहते हैं।

गुण और प्रयोग—इसका स्वरस तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, वात प्रशमन, वातनाड़ी संस्थान उत्तेजक, स्वेदजनन एवं कृमिघ्न है। इसके बीज मधुर, स्निग्ध, शीतल, मूत्रजनन एवं स्तंभन हैं। इसका प्रयोग उन्माद, संन्यास, जीर्णवातिक ज्वर, कास, अजीर्ण, अतिसार, सर्प एवं वृश्चिक विष, दद्रु एवं व्रण में किया जाता है।

(१) कास में इसका स्वरस मधु के साथ पिलाते हैं। इसमें बीज का फांट भी लाभदायक है।

(२) बीज का फांट ग्राही होने के कारण आमातिसार में देते हैं।

(३) सर्पविष में इसका स्वरस ४-५ तोला, चार चार घंटे पर पिलाते हैं। बिच्छू काटने पर पत्तों को पीसकर लेप करते हैं।

(४) कर्णपीड़ा, दंतशूल आदि में स्वरस का बाह्य प्रयोग किया जाता है। सर की रूसी, दाद आदि में स्वरस लगाने से लाभ होता है। बीजों को धोकर व्रण पर बांधते हैं।

(५) सोजाक में बीजों का फांट दिया जाता है।

(६) वाजीकरण में लिये बीज १ से २ ड्राम की मात्रा में देते हैं।

मात्रा—स्वरस ½-१ चायका चम्मच; बीज ¼ से ½ तोला, दुग्ध एवं शर्करा के साथ फांट बनाकर।

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे पञ्चमः-

पुष्पवर्गः समाप्तः ॥ ५ ॥

अथ वटादिवर्गः

तत्रादौ वटः । तस्य नामानि गुणांश्चाह

वटः रक्तफलः शृङ्गी न्यग्रोधः स्कन्धजो ध्रुवः। क्षीरी वैश्रवणो वासो बहुपादो वनस्पतिः ॥१॥
वटः शीतो गुरुर्ग्राही कफपित्तव्रणापहः । वर्ण्यो विसर्पदाहघ्नः कषायो योनिदोषहृत् ॥ २ ॥

बरगद के संस्कृत नाम—वट, रक्तफल, शृङ्गी, न्यग्रोध, स्कन्धज, ध्रुव, क्षीरी, वैश्रवण, वास, बहुपाद, वनस्पति ये सब हैं। बरगद—कषाय रसयुक्त, शीतल, गुरु, ग्राही, शरीर के वर्ण को उत्तम करने वाला एवम् कफ, पित्त, व्रण, विसर्प, दाह और योनिसंबन्धी दोषों को दूर करता है ॥१-२॥

१ बड़

हिं०-बड़, बरगद। बं०-वट, बड़गाछ। म०-वड। क०-आल, आलदमारा। ते०-मर्रि। गु०-वड़। फा०-दरख्तेरीश। अ०-कबिरूल अश्जार। अं०-Banyan Tree (बनियन ट्री)। ले०-*Ficus bengalensis Linn.* (फाइकस् बेंगालेन्सिस्)। Fam. Moraceae (मोरेसी)।

यह सब प्रान्तों में उत्पन्न होता है। ग्राम के पास लोग इसको पवित्र जान कर लगाते हैं। हिमालय के जङ्गल और दक्खन के पहाड़ियों पर यह जंगली उत्पन्न होता है।

इसका वृक्ष-बहुत विशाल और शाखायें फैली हुई प्रायः भूमि की ओर नत हो जाती हैं। पत्ते-लम्बे चौड़े और मोटे होते हैं। फल-छोटे छोटे झरबेर के समान, कच्ची अवस्था में हरे रङ्ग के और पकने पर लाल हो जाते हैं। शाखाओं से लाल तथा पीले रङ्ग के अङ्कुर निकल कर भूमि की ओर बढ़ते हैं। इसको वटजटा, बरोह या बड़ की दाढ़ी कहते हैं। यह जटा बढ़ते बढ़ते पृथ्वी में घुस जाती है और खम्भे के समान दीखाई देती है।

इसके पंचांग का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—छाल में ११% टैनिन होता है।

गुण और प्रयोग—बड़ शीत, ग्राही, स्तम्भन, मूत्रसंग्रहणीय एवं व्रणरोपण है।

(१) इसका क्षीर वेदनास्थापन एवं व्रणरोपण है तथा इसको कटिपीडा, सन्धिपीड़ा एवं बरसात में होने वाले हाथ-पैर की अंगुलियों के व्रणों पर लगाते हैं। सड़े हुये दांत में लगाने से पीड़ा दूर होती है।

(२) इसकी छाल का क्वाथ बहुमूत्र में एवं फल मधुमेह में देते हैं। छाल को अतिसार तथा प्रवाहिका में भी देते हैं।

(३) वटजटा सोजाक में, वमन रोकने के लिये तथा बाह्य लेप के रूप में चर्मरोग में प्रयोग की जाती है

मात्रा—चूर्ण ३ से ६ माशा; क्वाथ ५ से १० तोला।

अथ पिप्पलः (पीपल)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

बोधिद्रुः पिप्पलोऽश्वत्थश्चलपत्रो गजाशनः। पिप्पलो दुर्जरः शीतः पित्तश्लेष्मव्रणास्रजित्।
गुरुस्तुवरको रूक्षो वर्ण्यो योनिविशोधनः ॥ ३ ॥

पीपल के संस्कृत नाम—बोधिद्रु, पिप्पल, अश्वत्थ, चलपत्र और गजाशन ये सब हैं। पीपल-कषाय रसयुक्त, कठिनता से पचने वाला, शीतल, गुरु, रूक्ष, वर्ण को उत्तम बनाने वाला, योनिका शोधन करने वाला एवम् पित्त, कफ, व्रण तथा रक्तविकार को दूर करने वाला है ॥ ३ ॥

२ पीपल

हि०-पीपल वृक्ष। बं०-अश्वत्थ। म०-पिंपळ। क०-अरलो। गु०-पीपलो। ते०-राविचेट्टु। ता०-अरशमरम्। फा०-दरख्ते लरजा। अ०-शज्रतुल मुर्त अश। ले०-*Ficus religiosa Linn.* (फाइकस् रिलीजिओसा) Fam. Moraceae (मोरेसी)।

पीपल के वृक्ष इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में लगाये हुये पाये जाते हैं और हिमालय पहाड़ के जङ्गलों, बंगाल तथा मध्य भारत में भी पाये जाते हैं। इसका वृक्ष बहुत ऊँचा होता है और खूब फैलता है। पत्ते—गोलाकार और नोकीले होते हैं। पत्रदण्ड-लम्बा होता है। इसमें भी बड़ के समान छोटे २ गोल फल लगते हैं। इसकी छाया सघन और प्रिय होती है। पीपल वृक्ष पवित्र माना जाता है ॥ २ है

इसकी छाल, छाल की राख, पत्र एवं फल का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—छाल में ४% टैनिन होता है।

गुण और प्रयोग—यह शीत, मूत्रसंग्रहणीय, रक्तसंग्राहक, पौष्टिक, स्तम्भन एवं व्रणनाशक है। इसके पत्ते एवं फल आनुलोमिक हैं। छाल का जलीय सत्व स्टेफिलोकोकस ऑरियस (Staphylococcus aureus) एवं एस्चेरिचिया कोलाई (Escherichia coli) जीवाणु रोधी हैं।

(१) वाजीकरण के लिये इसके फल, मूल, छाल एवं कोपल को दूध में पका, मधु एवं शर्करा मिलाकर पिलाते हैं। (सु. चि. अ. २६)

(२) इसकी छाल की राख पानी में डालकर ऊपर का जल पिलाने से हिक्का एवं वमन में लाभ होता है।

(३) सोजाक में कोपल दूध में पकाकर पिलाते हैं। छाल का भी प्रयोग सोजाक में किया जाता है।

(४) व्रणप्रक्षालन, उत्तरबस्ति, डूश, गण्डूष आदि के लिये इसकी छाल का क्वाथ या पञ्चवल्कल क्वाथ का प्रयोग किया जाता है जो बहुत उपयोगी है।

मात्रा—चूर्ण १ से ३ माशा; क्वाथ ५ से १० तो०।

अथ पिप्पलभेदः (गजदण्डसहोरा) इति लोके।

तस्य नामानि गुणांश्चाह

पारीषोऽन्यः पलाशश्च कपिचूतः कमण्डलुः। गर्दभाण्डः कन्दरालः कपीतनसुपार्श्वकौ ॥४॥
पारीषो दुर्जरः स्निग्धः कृमिशुक्रकफप्रदः। फलेऽम्लो मधुरो मूले कषायस्वादुमज्जकः ॥५॥

पारीष पीपल (यह पीपल का भेद है, लोक में इसी नाम से प्रसिद्ध है) के संस्कृत नाम—पारीष, पलाश, कपिचूत, कमण्डलु, गर्दभाण्ड, कन्दराल, कपीतन और सुपार्श्वक ये सब हैं।

पारीष पीपल—दुर्जर (कठिनता से पचने वाला), स्निग्ध (चिकना), कृमि, शुक्र तथा कफ को उत्पन्न करने वाला, फल में अम्ल जड़ में मधुर, मज्जा (मींगी) में कषाय रसयुक्त एवम् स्वादिष्ट होता है ॥ ४–५ ॥

३ पारीष पीपल

हि०-पारिसपीपल, पारस पीपर, गजदन्डसिहारे (सहोरा)। बं०-गज शुण्डी, पराश पिपुल। म०-भेंडी। गु०-पारस पीपलो। क०-हुविरसी। ते०-गङ्गराइवि। ता०-पूवरशु। ले०-*Thespesia populnea Soland ex Correa* (थेस्पेसिया पोपुल्निया)। Fam. Malvaceae (माल्वेसी)।

यह समुद्री किनारों के जङ्गल एवं सड़कों के किनारे लगाया हुआ अधिक पाया जाता है।

इसका वृक्ष-मध्यमाकार का सदा हरा भरा और जल्दी बढ़ने वाला होता है। पत्ते-३-५ इञ्च लंबे, २-३ इञ्च व्यास के, पीपल के पत्तों के आकार वाले और पीपल से छोटे नोकवाले होते हैं। फूल-घंटाकार, पाँच पंखडी वाले, पीले एवं मुरझाने पर प्रायः गुलाबी रङ्ग के होते हैं। फल-गूलर के समान परन्तु दृढ़ होता है। इसके अन्दर ४ बीज एरण्ड के बीज की आकृति के होते हैं परन्तु बहुत बड़े। हरे फलों को चीरने से बहुत सा स्वर्णवर्ण का पीला दूध निकलता है। फल सूखने पर हरापन छोड़ कर खाकी रंग के होकर चिटक जाते हैं परन्तु बीज अलग नहीं होते।

नोट—पारीष की गणना क्षीरी वृक्षों में की गई है इसलिये किसी किसी वटजातीय (Ficus) वृक्ष को कुछ लोग पारीष मानते हैं। इस दृष्टि से पीपल की तरह जिनके पत्ते होते हैं ऐसे फाइकस् आर्नोशियाना (F. arnottiana) एवं फाइकस् रम्फाई (F. rumphii) को पारीष माना जा सकता है। थेस्पेसिया पोपुल्निया के छाल में यद्यपि क्षीर नहीं होता तथापि उसके फल में होता है।

इसकी छाल तथा पक्व फलों का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—पुष्पदल में पोपुलिनिन (Populinin), पोपुल्नेटिन (Populnetin) एवं हर्बेसेटिन (Herbecetin) ये द्रव्य पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके फलों की राख तेल में मिला कर खुजली, दाद आदि चर्मरोगों में लगाई जाती है एवं इसकी छाल का क्वाथ पिलाते हैं।

मात्रा — त्वक् २-६ माशा।

अथ नन्दीवृक्षः (बेलिया पीपर)। तस्य नामगुणानाह

नन्दीवृक्षोऽश्वत्थभेदः प्ररोही गजपादपः। स्थालीवृक्षः क्षयतरुः क्षीरी च स्याद्वनस्पतिः॥६॥
नन्दीवृक्षो लघुः स्वादुस्तिक्तस्तुवर उष्णकः। कटुपाकरसो ग्राही विषपित्तकफास्रजित्॥७॥

बेलिया पीपर के संस्कृत नाम—नन्दीवृक्ष, अश्वत्थभेद, प्ररोही, गजपादप, स्थालीवृक्ष, क्षयतरु, क्षीरी और वनस्पति ये सब हैं।

नन्दीवृक्ष—स्वादिष्ट, तिक्त तथा कषायरस युक्त, पाक में कटु रस युक्त, लघु, ग्राही, उष्ण, एवम् विष, पित्त, कफ तथा रक्तविकार को दूर करने वाला होता है॥ ६-७॥

४ बेलिया पीपल

हि०-बेलिया पीपल (र), कामरूप। बं०-कम्रुप। ते०-येरंजुवि। गु०-नांदरुखीवड़। म०-नन्दी वृक्ष, नांद्रुक। ले०-*Ficus retusa Linn.* (फाइकस् रेटयुझा)। Fam. Moraceae (मोरेसी)।

यह छोटा नागपूर, बिहार, मध्यभारत, दक्षिण, लंका तथा सुन्दरवन में होता है।

इसका वृक्ष–साधारण ऊँचा होता है तथा प्ररोह अल्प या नहीं रहते। पत्ते–२ से ४ इञ्च लंबे एवं करीब उतने ही चौड़े, कुछ अंडाकार, चमकीले एवं छोटे वृन्त से युक्त होते हैं। फल–अंडाकार होते हैं।

इसके पत्ते एवं छाल का उपयोग किया जाता है।

नोट—नन्दीवृक्ष का अभी तक निर्णय नहीं हुआ है। कुछ विद्वानों ने संभवतः इसके गुजराती नाम नाँदरूखीवड को आधार पर इसे नन्दी वृक्ष माना है।

गुण और प्रयोग—(१) यकृत् वृद्धि में एक तोला छाल दूध में पीसकर पिलाते हैं। (२) पत्ते एवं छाल को कूटकर आमवात में संधिशोथ पर बांधते हैं। मूल एवं पत्तों से पकाया तेल व्रण तथा चोट पर लगाते हैं।

मात्रा—त्वक् ५ से १० माशा।

अथोदुम्बरः (गूलर)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

उदुम्बरो जन्तुफलो यज्ञाङ्गो हेमदुग्धकः ॥ ८ ॥

उदुम्बरो हिमो रूक्षो गुरुः पित्तकफास्रजित्। मधुरस्तुवरो वर्ण्यो व्रणशोधनरोपणः ॥ ९ ॥

गूलर के संस्कृत नाम—उदुम्बर, जन्तुफल, यज्ञाङ्ग और हेमदुग्धक ये सब हैं।

गूलर—मधुर तथा कषायरस युक्त, शीतल, रूक्ष, गुरु, वर्ण को उत्तम करने वाला, व्रन का शोधन तथा रोपण (घाव भरना) करने वाला एवम्—पित्त, कफ तथा रक्तविकार को दूर करने वाला है ॥ ८-९ ॥

५ गूलर

हि०-गूलर, गुल्लर। बं०-यज्ञ डुमुर। म०-उम्बर, उम्बराचे झाड़। गु०-उम्बरो, ऊमरडो। क०-अतिमर। अ०-ज़मीज़। ते०-अति चेट्टु। ता०-अत्तिमरम्। फा०-अंजीरे आदम, समर पिस्ता। लै०-*Ficus glomerata Roxb.* (फाइकस् ग्लोमेरॅटा)। Fam. Moraceae (मोरेसी)।

गूलर इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है। पहाड़ी भूमि और पहाड़ों पर भी इसके वृक्ष पाये जाते हैं।

इसके वृक्ष ६० फीट तक ऊँचे फैले हुये होते हैं। पत्ते–५–७ इञ्च लम्बे, अण्डाकार, गहरे हरे और चिकने चमकीले होते हैं। फल–१–२ इञ्च व्यास में सटे हुए गुच्छों में लगते हैं। कच्चे फल हरे और पकने पर लाल हो जाते हैं। फलों के भीतर प्रायः छोटे २ कीड़े होते हैं।

इसके सभी अंगो का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—छाल में १४% टैनिन होता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल स्तंभन; पक्वफल शीत, स्तम्भन एवं रक्तसंग्राहक; क्षीर शीतल, स्तंभन, रक्तसंग्राहक, पौष्टिक एवं शोथहर है।

(१) सभी प्रकार के रक्तपित्त के लिये इसके फल तथा छाल का उपयोग किया जाता है। विशेष रूप में, रक्तप्रदर, अत्यार्तव, आसन्न गर्भपात, रक्तमेह आदि में इसको देते हैं।

(२) मधुमेह में फल या मूल का रस दिया जाता है।

(३) इसका क्षीर रक्तातिसार में लाभदायक है। बच्चों के अतिसार, वमन तथा दौर्बल्य में इसको १० बूंद दूध के साथ देते हैं।

(४) मूल को आंव में देते हैं।

मात्रा—छाल ½–१ तोला; फल २ से ४; क्षीर १० से २० बूँद दुग्ध एवं शर्करा के साथ।

अथ काकोदुम्बरिका (कठूमर)। तस्या नामानि गुणांश्चाह

काकोदुम्बरिका फल्गुर्मलयूर्जवनेफला। मलयुः[1] स्तम्भकृत्तिक्ता शीतला तुवरा जयेत्।
कफपित्तव्रणश्वित्रकुष्ठपाण्ड्वर्शकामलाः॥ १०॥

कठूमर के संस्कृत नाम—काकोदुम्बरिका, फल्गु, मलयु और जघनेफला ये सब हैं।

कठूमर—तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, मलस्तम्भ करनेवाला (मल को बांधने वाला), शीतल एवम्–कफ, पित्त, व्रण, श्वेतकुष्ठ, पाण्डु, अर्श तथा कामला रोग को दूर करने वाला है॥ १०॥

६ कठूमर

हि०–कठूमर, कट (ठ) गुलरिया, कठगूलर। बं०–काठडुमुर। म०–भुई उम्बर, बोखाड़ा। गु०–टेडउँबरो। ते०–ब्रह्म मेडिचेट्टु। ता०–पेअट्टिस। ले०–*Ficus hispida Linn.* (फाइकस् हिस्पिडा)। Fam. Moraceae (मोरेसी)।

कठूमर भारतवर्ष के प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है। यह नदी नालों के किनारे अधिकतर होता है।

इसका वृक्ष–मध्यमाकार का शीघ्र बढ़ने वाला होता है। किन्तु कहीं कहीं पथरीली भूमि का वृक्ष बड़ा झाड़ सा दिखाई पड़ता है। इसकी कोमल टहनियों पर सूक्ष्म रोवें होते हैं। पत्ते–विपरीत, लम्बे, किञ्चित् अण्डाकार, जड़ की ओर गोलाकार, नोकदार और दन्तुर होते हैं। आकार में वे एक समान नहीं होते बल्कि, छोटे बड़े हुआ करते हैं। वे साधारणतः ४ इञ्च तक चौड़े तथा ९ इञ्च लम्बे होते हैं और पत्रदण्ड–१॥ इञ्च तक लम्बा होता है। नई शाखाओं के पत्ते १२ इञ्च तक लम्बे एवं सूक्ष्म रोवेंदार होते हैं। स्पर्श में वे रूखे और खुरदरे होते हैं। फल–हलके हरे या पीत हरिताभ गूलर के समान लगते हैं। इस कारण इसको "उदुम्बरफल" तथा "जङ्गली गूलर" कहते हैं। देखने में फलों का आकार अंजीर के समान होता है इस कारण इसे जङ्गली अंजीर भी कहते हैं। फलों के ऊपर सूक्ष्म रोवें होते हैं। इसकी छाल एवं फल का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में टैनिन, सैपोनिन एवं एक ग्लूकोसाइड पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके फल एवं छाल वामक तथा विरेचक हैं और छाल अल्प मात्रा में पौष्टिक है।

(१) इसका उपयोग यकृद्वृद्धि में करते हैं। इससे कामला में भी लाभ होता है।

(२) फलों को कूटकर तथा पकाकर शोथ, गांठ आदि पर बांधते हैं।

(३) विषमज्वर में छाल का चूर्ण दूध के साथ देते हैं।

(४) श्वित्र के लिए सुश्रुत (चि. अ. ९) में प्रयोग दिया है जिसमें गूलर तथा कठगूलर के मूल का सुखोष्ण क्वाथ पिलाकर रोगी को धूप में बैठाते हैं जिससे श्वित्र पर फोड़े आ जाते हैं। उनको फोड़कर उस पर चीते या हाथी का चमड़ा जला, तैल में मिलाकर लेप का विधान है।

---

१. मलपू इति पाठः.

अथ प्लक्षः (पाखर । तस्य नामानि गुणांश्चाह

प्लक्षो जटी पर्करी च पर्कटी च स्त्रियामपि ॥ ११ ॥
प्लक्षः कषायः शिशिरो व्रणयोनिगदापहः। दाहपित्तकफास्र[1]घ्नः शोथहा रक्तपित्तहृत् ॥१२॥

पाखर के संस्कृत नाम—प्लक्ष, जटी, पर्करी, पर्कटी (यह स्त्रीलिङ्ग भी होता है) ये सब हैं।

पाखर—कषाय रसयुक्त, शीतल एवम् व्रण, योनिसम्बन्धी रोग, दाह, पित्त, कफ, रक्तविकार, शोथ तथा रक्तपित्त को दूर करने वाला है ॥ ११-१२ ॥

७ पाकर

हि०-पाकर, पाखर, पिलखन, पकरिया, पकरी। बं०-पाकी, पाकुर। म०-पाईट, पिंपरी वृक्ष। गु०-पीप, पीपर। क०-बसारी। ते०-जुव्वि। ता०-कुरुगु। ले०-*Ficus infectoria Roxb.* (फाइकस् इन्फेक्टोरिया)। Fam. Moraceae (मोरेसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है।

पाकर के वृक्ष-बड़, पीपर के समान जङ्गल और ग्रामों में बड़े २ होते हैं। पत्ते-४-५ इञ्च लम्बे, आम के पत्तों के समान पर इनसे चौड़े होते हैं। इनकी शाखायें सघन और छाया उत्तम होती है। फल-पत्तों के डंडियों पर छोटे २ पीपर वृक्ष के फल के समान लगते हैं। ये पकनेपर सफेद या कुछ लाल एवं बिन्दुकित होते हैं।

गुण और प्रयोग—यह शीत, व्रणरोपक, रक्तपित्तघ्न एवं योनिरोग नाशक है।

इसकी छाल का क्वाथ गण्डूष, व्रणप्रक्षालन एवं डूश के लिए काम में लाया जाता है।

अथ शिरीषः (सिरस)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

शिरीषो भण्डिलो भण्डी भण्डीरश्च कपीतनः। शुकपुष्पः शुकतरुर्मृदुपुष्पः शुकप्रियः ॥१३॥
शिरीषो मधुरोऽनुष्णस्तिक्तश्च तुवरो लघुः। दोषशोथविसर्पघ्नः कासव्रणविषापहः ॥१४॥

सिरस के संस्कृत नाम—शिरीष, भण्डिल, भण्डी, भण्डीर, कपीतन, शुकपुष्प, शुकतरु, मृदुपुष्प और शुकप्रिय ये सब हैं।

सिरस—मधुर, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, किञ्चित् उष्ण, लघु एवम्-वातादिक दोष, शोथ, विसर्प, कास (खांसी), व्रण तथा विष को दूर करने वाला है ॥ १३–१४ ॥

८ सिरस

हि०-सिरस, सिरिस। बं०-शिरीषगाछ। म०-शिरस, चिचोला। गु०-सरसडो, कालोयो सरस। क०-बागेमर। ते०-दिरसन। ता०-वाकै। ले०-*Albizzia lebbeck Benth.* (आलबीज़िया लेबेक्)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है तथा लगाया भी जाता है।

सिरस के वृक्ष-बड़े २ और सघन होते हैं। पत्ते-इमली के पत्तों के समान; उपपक्ष (Pinnae) २ से ४ जोड़े; पत्रक-$\frac{3}{4}$-२$\frac{1}{4}$ इञ्च लम्बे, ६ से ८ जोड़े, तिर्यक्, कडे एवं छोटे वृन्त से युक्त होते हैं। प्रधान पर्णवृन्त के आधार पर एक बड़ी ग्रन्थि होती है। पुष्प-सवृन्त, हरिताभ पीत, मुण्डक (Heads) में आते हैं। फली-६ से १२ इञ्च लम्बी, $\frac{3}{4}$-१$\frac{1}{2}$ इञ्च चौड़ी, पतली, हलके पीले रंग की होती है जिनमें ६-१० बीज होते हैं।

---

१. कफामघ्नः इतिपाठा०।

इसके वृक्ष से एक प्रकार का बबूर के गोंद के समान गोंद निकलता है जो पानी में डालने से गल जाता है।

नोट—शीरीष की एक अन्य जाति होती है जिसे ले०–आ० ओडोरेटिस्सिमा (A. odoratissima), काला शिरीष कहते हैं। इसमें उपपक्ष २ से ५ जोड़े; पत्रक $\frac{1}{2}$–१$\frac{1}{2}$ इञ्च लंबे, ६ से २४ जोड़े वृन्तहीन होते हैं। इसमें प्रधान पर्णवृन्त तथा ऊपर के १–२ उपपक्ष के वृन्त के आधार पर ग्रन्थि होती है। पुष्प–धूसर, अवृन्त एवं सशाख मुण्डक में आते हैं। फली–६–१२ इञ्च लंबी, १–१$\frac{1}{2}$ इञ्च चौड़ी, पारभासक या चमकीली एवं ८–१२ बीजों से युक्त होती है।

इसका एक अन्यभेद श्वेत शिरीष पाया जाता है। यह आ० प्रोसेरा (A. procera) है। इसकी छाल श्वेत या हरित श्वेत, उपपक्ष ३–६ जोड़े एवं पत्रक ५–११ जोड़े, १ से २$\frac{1}{2}$ इञ्च लंबे होते हैं। पुष्प–मुण्डक काले शिरीष की तरह होते हैं। फली–४–८ इञ्च × $\frac{1}{2}$–१ इञ्च, भूरी एवं ८–१२ बीज युक्त होती है। इसे मराठी में किन्हइ कहते हैं तथा इसे प्राचीनों का कटभी या किणिही मानना उचित है ऐसा श्री ठा० बलवन्तसिंह जी का मत है।

शिरीष की छाल एवं बीज का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें गोंद, सेपोनिन एवं टैनिन ७–११% होता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, तिक्त, कषाय, त्रिदोषघ्न, विषघ्न, त्वक् दोषहर, कासहर, पौष्टिक, वाजीकर एवं ग्राही है।

(१) शुक्रस्तंभन के लिये पुष्पों का प्रयोग करते हैं। वीर्य गाढा करने के लिये इसके बीजों को दूध एवं शर्करा के साथ देते हैं। छाल का चूर्ण घृत के साथ शरीर को पुष्ट बनाने के लिये उपयोगी है।

(२) छाल के क्वाथ से कुल्ला करने से दांत मजबूत होते हैं।

(३) गंडमाला में बीजों का लेप किया जाता है तथा खिलाते भी हैं।

(४) रतौंधी में पत्तों का क्वाथ पिलाते हैं तथा स्वरस आंख में लगाते हैं।

मात्रा—छाल का चूर्ण ३ से ६ माशा; बीजचूर्ण १ से २ माशा; पुष्प या पत्रस्वरस १ से २ तोला।

अथ क्षीरिवृक्षपञ्चकं त्वक्पञ्चकञ्च। तयोर्लक्षणं तत्पत्रस्य च गुणांश्चाह

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थपारीषप्लक्षपादपाः। पञ्चैते क्षीरिणो वृक्षास्तेषां त्वक्पञ्चवल्कलम्॥

"क्षीरिवृक्ष—पञ्चक" से प्रसिद्ध वृक्षों के हिन्दी नाम—बरगद, गूलर, पीपल, पारीष और पाकर इन्हीं पाचों क्षीरिवृक्षों के समुदाय को क्षीरिवृक्ष–पञ्चक समझना चाहिये। एवम् इन्हीं पांचों के वल्कल को "पञ्चवल्कल" समझना चाहिये॥ १५॥

*केचित्तु पारीषस्थाने शिरीषं, वेतसं परे, वा वदन्तीति विशेषः॥ १५॥

यहाँ पर मूल में कोई विद्वान् पारीष के स्थान में शिरीष तथा और दूसरे विद्वान् वेतस का पाठ मानते हैं। यह विशेष समझना चाहिये॥ १५॥

क्षीरिवृक्षा हिमा वर्ण्या योनिरोगव्रणापहाः।
रूक्षाः कषाया मेदोघ्ना विसर्पामयनाशनाः॥ १६॥
शोथपित्तकफास्रघ्नाः स्तन्या भग्नास्थियोजकाः।
त्वक्पञ्चकं हिमं ग्राहि व्रणशोथविसर्पजित्॥ १७॥

तेषां पत्रं हिमं ग्राहि कफवातास्रनुल्लघु। विष्टम्भाध्मानजित्तिक्तं कषायं लघु लेखनम् ॥१८॥

क्षीरिवृक्ष पञ्चक—कषाय रसयुक्त, शीतल, वर्ण को उत्तम करने वाले, रूक्ष, दुग्धवर्धक, टूटी हुई हड्डियों के जोड़ने वाले एवम् योनिरोग, व्रण, मेद, विसर्प, शोथ, पित्त, कफ तथा रक्तविकार के नाशक हैं। **पञ्चवल्कल** (उक्त क्षीरिवृक्षों की छाल)—शीतल, ग्राही एवम् व्रण, शोथ तथा विसर्पनाशक है।

क्षीरिवृक्षपत्र—तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, शीतल, ग्राही, लघु, किंचित् लेखन एवम् कफ, वात, रक्तविकार, विष्टम्भ और आध्मान को दूर करने वाले होते हैं ॥ १६-१८ ॥

अथ शालः (साखू)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

शालस्तु सर्जकार्श्याश्वकर्णकाः शस्यशम्बरः। अश्वकर्णः कषायः स्याद् व्रणस्वेदकफक्रिमीन् ॥
ब्रध्नविद्रधिबाधिर्ययोनिकर्णगदान् हरेत् ॥ १९ ॥

साखू के संस्कृत नाम—शाल, सर्ज, कार्श्य, अश्वकर्णक, और शस्यशम्बर ये सब हैं।

साखू—कषायरसयुक्त एवम्—व्रण, स्वेद, कफ, क्रिमि, ब्रध्न, विद्रधि, बहरापन एवं योनि तथा कर्णसम्बन्धी रोग को दूर करने वाला है ॥ १९ ॥

९ शाल

हि०—शाल, साल, साखु, सखुआ। बं०—शालगाछ, तलूरा। म०—रालचा वृक्ष। गु०—शलवृक्ष, रालनुं झाड़। ते०—जलरि चेट्टु, इनुमद्धि। ता०—कुंगिलियम्। उरिया—सल्व। नेपा०—सकव। अं०—The Sal tree (दि साल ट्री)। ले०—*Shorea robusta Gaertn. f.* (शोरीया रोबस्टा)। Fam. Dipterocarpaceae (डिप्टेरोकार्पेसी)।

शाल के वृक्ष बहुत बड़े विशाल होते हैं। ये हिमालय पहाड़, सतलज नदी से आसाम तक, मध्य हिन्दुस्तान के पूर्वभाग, बंगाल के पश्चिमी भाग और छोटा नागपूर के जङ्गलों में होते हैं। इसके पत्ते-६-१०×४-६ इञ्च एवं बड़े अण्डाकार-आयताकार होते हैं। फूल-पीले रङ्ग के झुमकों में वसन्त ऋतु में लगते हैं और फल-छोटे होते हैं। इसकी लकड़ी बहुत मजबूत और बड़े काम की होती है। इसके गोंद को राल कहते हैं। फल वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में पक जाते हैं।

शालसार ताजा काट कर निकालने पर लाल या सफेद दोनों तरह का होता है जिनमें से श्वेत शाल अच्छा माना जाता है। शाल के निर्यास को राल कहते हैं जिसका कर्पूरादि वर्ग में वर्णन किया जा चुका है।

नोट—यद्यपि भा० प्र० में अश्वकर्ण, शाल का पर्याय एवं अजकर्ण, सर्जक का पर्याय दिया है तथापि ये चार भिन्न वृक्ष हो सकते हैं क्योंकि सुश्रुत सालसारादिगण में साल, अजकर्ण एवं अश्वकर्ण नामक ३ वृक्ष तथा चरक में कषाय स्कन्ध में साल, सर्ज, अश्वकर्ण एवं अजकर्ण नामक ४ वृक्षों का वर्णन मिलता है। इस दृष्टि से अश्वकर्ण यह डिप्टेरोकार्पस ॲलेटस् (Dipterocarpus alatus), हिं०-गर्जन एवं अजकर्ण यह टर्मिनेलिया टोमेन्टोझा (Terminalia tomentosa), हिं०-असन हो सकता है।

अथ शालभेदः (सर्जकः)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

सर्जकोऽन्योऽजकर्णः स्याच्छालो मरिचपत्रकः ॥ २० ॥
अजकर्णः कटुस्तिक्तः कषायोष्णो व्यपोहति। कफपाण्डुश्रुतिगदान् मेहकुष्ठविषव्रणान् ॥२१॥

सर्ज (यह साखू का भेद है) के संस्कृत नाम—सर्जक, अजकर्ण, शाल और मरिचपत्रक ये सब हैं।

सर्ज—कटु तिक्त तथा कषायरसयुक्त, उष्ण एवम् कफ, पाण्डु, कर्णसम्बन्धी रोग, प्रमेह, कुष्ठ, विष तथा व्रण को दूर करने वाला होता है ॥ २०-२१ ॥

१० सर्जक

हि०-बड़ा साल। बं०-कुन्द्रो। म०-सफेद डामर, चन्द्रुस। गु०-धूप। क०-दमर। ते०-तेल्लदामरमु। ता०-वेल्ल कुनुरिकम्। यूना०-संद्रस, सुंद्रस। ले०-*Vateria-indica Linn.* (वेटेरिया इण्डिका)। Fam. Dipterocarpaceae (डिप्टेरोकार्पेसी)।

यह पश्चिम भारत और दक्षिण हिन्दुस्तान के जंगलों में बहुत होता है। इसका वृक्ष बहुत हरा भरा और सुहावना दिखाई पड़ता है। पत्ते-४ से १० इञ्च तक लम्बे तथा ३॥ इञ्च तक चौड़े, जड़ की ओर गोलाकार और अण्डाकार होते हैं। फूल-आध से पौन इञ्च के घेरे में गोलाकार होते हैं। फल-२-२॥ इञ्च लम्बे गोल होते हैं।

अथ शल्लकी (सलई)। तस्या नामानि गुणांश्चाह

शल्लकी गजभक्ष्या च सुवहा सुरभी रसा। महेरुणा कुन्दुरुकी वल्लकी च बहुस्रवा ॥२२॥
शल्लकी तुवरा शीता पित्तश्लेष्मातिसारजित्। रक्तपित्तव्रणहरी पुष्टिकृत्समुदीरिता ॥२३॥

सलई के संस्कृत नाम—शल्लकी, गजभक्ष्या, सुवहा, सुरभि, रसा, महेरुणा, कुन्दुरुकी, वल्लकी और बहुस्रवा ये सब हैं।

सलई—कषाय रसयुक्त, शीतल, पुष्टिकारक एवम्-पित्त, कफ, अतिसार, रक्तपित्त तथा व्रण को दूर करने वाली कही हुई है। २२-२३ ॥

११ सालई

हि--सालई, सलई। बं०-सले। म०-सालई वृक्ष। गु०-शालेडुं, धूपडो, सालेडा। कुमाऊं-अदुंकु। गोंड-सल्ल। संताल-सालगा। क०-मादिमर ता०-कुंदुरुकम्। मा०-सेलो। ते०-परंगिसाम्राणि। ले०-*Boswellia serrata Roxb.* बॉस्वेलिया सेरेटा)। Fam. Burseraceae (बर्सेरेसी)।

यह पश्चिम हिमालय के नीचे के जंगलों में, मध्य भारत, विहार से राजपूताना तक, दक्षिण और कोंकण आदि प्रान्तों में होता है। आसाम तथा बंगाल में नहीं होता।

शालई का वृक्ष ३० फीट तक ऊँचा होता है। शाखाएँ नीचे की ओर झुकी हुई होती हैं। छाल-रक्ताभपीत या हरित श्वेत, चिकनी और कागज के समान छूटने वाली होती है। संयुक्त पत्तियां शाखाओं के अग्रपर दलबद्ध रहती हैं। पत्रक-आमने-सामने वा कुछ अन्तर देकर, ८ से १५ जोड़े होते हैं जो लम्बे, नीम के पत्तों के समान मालाकार या रेखाकार तथा दन्तमय धारवाले होते हैं। पुष्प-छोटे एवं श्वेत रङ्ग के होते हैं। पुष्प के बाह्य कोश एवं आभ्यंतरकोश के दल ५-५; पुंकेशर ५ बड़े और ५ छोटे होते हैं। फल-मांसल और तीन धार वाला होता है जो पकने पर तीन भागों में फटता है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में चीरा लगाने से एक तरह का गोंद निकलता है जिसे 'सलईगूगल' कहते हैं। प्राचीनों ने इसी को कुन्दुरु लिखा है लेकिन आजकल बाजार में बिकने

वाला कुन्दुरु इसी जाति के विदेशी वृक्ष, बॉ० फ्लोरिबंडा का गोंद है जो अरब एवं अफ्रीका से आता है। 'कुन्दुरु एवं सलई गूगल' का वर्णन पहले कर्पूरादि वर्ग में (पृष्ठ २१२) किया जा चुका है।

गुण और प्रयोग—सलई की छाल शीतल, पुष्टिकर, ग्राही तथा त्वच्य होती है।

इसका प्रयोग अतिसार, रक्तातिसार, रक्तपित्त, अर्श, कुष्ठ एवं व्रण में किया जाता है।

(१) अतिसार में इसकी छाल, शर्करा तथा मधु का उपयोग किया जाता है। रक्तातिसार में इसे दूध में घिसकर शहद मिलाकर पिलाते हैं।

(२) श्वास में इसके चूर्ण को घृत एवं मधु के साथ चटाया जाता है।

(३) अन्य द्रव्यों के साथ इसके क्वाथ से व्रण-प्रक्षालन किया जाता है।

(४) सलई के फल तथा फूल का उपयोग कफविकार, वातविकार, अर्श, कुष्ठ तथा अरुचि में किया जाता है।

मात्रा—त्वक्चूर्ण ३-६ माशा।

अथ शिंशपा (शीसम)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

शिंशपा पिच्छिला श्यामा कृष्णसारा च सा गुरुः।
कपिला सैव मुनिभिर्भस्मगर्भेतिकीर्त्तिता॥
शिंशपा कटुका तिक्ता कषाया शोषहारिणी। उष्णवीर्या हरेन्मेदःकुष्ठश्वित्रवमिक्रिमीन्॥
वस्तिरुग्व्रणदाहास्रबलासान् गर्भपातिनी॥ २५॥

शीसम के संस्कृत नाम – शिंशपा, पिच्छिला, श्यामा और कृष्णसारा ये सब हैं। यदि वही शीसम भारी एवं कपिल (भूरा) रङ्ग का हो तो उसका संस्कृत नाम—'भस्मगर्भा' है।

शीसम—कटु, तिक्त तथा कषायरसयुक्त, उष्णवीर्य, गर्भगिराने वाला एवम्-शोष, मेद, कुष्ठ, श्वेतकुष्ठ, वमन, क्रिमि, वस्तिसबन्धी रोग, व्रण, दाह, रक्तविकार और कफ का नाशक है॥

१९ शीसम

हि०-सीसम; कपिलवर्ण-शीसम, शीशो, शीसव। बं०-शिशु। म०-शिसव। गु०-सीस। क०-अगरू गिड़। ते०-सिसुप। ता०-गेट्टे। ले०-*Dalbergia sissoo Roxb.* (डालबर्गीया सिस्सू)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

सीसो के वृक्ष प्रायः सब प्रान्तों में लगाये जाते हैं तथा पश्चिम हिमालय में ४००० फीट तक, नेपाल की तराई, सिक्किम तथा ऊपरी आसाम के जंगलों में पाये जाते हैं। इसका वृक्ष बड़ा और विशाल हुआ करता है। इसकी लकड़ी मजबूत होता है। इसके लकड़ी से बहुत सुन्दर सन्दूक, पलङ्ग, प्रभृति अनेक वस्तुएं तैयार होती हैं। इसके पत्ते-गोल, नोकदार, बेर के पत्तों के समान पर इनसे कुछ बड़े तथा पाढ़ी के पत्तों के समान होते हैं। ये चिकने और ऊपर से चमकीले होते हैं। फूल-बहुत छोटे २ गुच्छों में और फली-लम्बी, पतली और चिपटी होती है। बीज-छोटे २ और चिपटे होते हैं। इसकी लकड़ी श्यामता और ललाई लिये भूरे रङ्ग की दृढ़ होती है।

इसकी एक अन्य जाति डा० लेटिफोलिया (D. latifolia Roxb.) होती है जिसकी लकड़ी भी फर्नीचर बनाने के काम में आती है जिसे अंग्रेजी में इंडियन रोजवुड (Indian Rosewood) कहते हैं।

रासायनिक संगठन—लकड़ी के सार में ५·३५% गाढा तेल होता है। फली में टैनिन २% होता है।

गुण और प्रयोग—इसकी लकड़ी चर्मरोग एवं वमन में लाभदायक है। इसके पत्तों का क्वाथ सोजाक में देते हैं। इसका तेल व्रणशोधन है एवं कुष्ठ, कृमि, वातविकार एवं कफनाशक है।

मात्रा—सार-लकड़ी ५ से ७ माशा।

अथ ककुभः (अर्जुन)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

ककुभोऽर्जुननामाख्यो नदीसर्जश्च कीर्त्तितः। इन्द्रद्रुर्वीरवृक्षश्च वीरश्च धवलः स्मृतः ॥२६॥
ककुभः शीतलो हृद्यः क्षतक्षयविषास्रजित्। मेदोमेहव्रणान् हन्ति तुवरः कफपित्तहृत् ॥२७॥

अर्जुन के संस्कृत नाम—ककुभ, अर्जुन के संज्ञावाचक सभी शब्द (जैसे अर्जुन, गाण्डीवी, पार्थ, धनञ्जय, कर्णारि आदिक), नदीसर्ज, इन्द्रद्रु, वीरवृक्ष, वीर और धवल ये सब हैं।

अर्जुन—कषाय रसयुक्त, शीतल, हृद्य (हृदय को हितकर) एवम्-क्षत, क्षय, विष, रक्तविकार, मेद, प्रमेह, व्रण (प्रमेह सम्बन्धी व्रण), कफ तथा पित्त का नाशक होता है ॥ २६–२७ ॥

१३ अर्जुन

हि०-अर्जुन, कहू, कोह। बं०-अर्जुन गाछ। म०-अर्जुन, अर्जुन सादड़ा। गु०-अर्जुन। पं०-जुमरा। ते०-तेल्लमद्दि। क०-मत्ति। ता०-मरुदमरम्। ले०-*Terminalia arjuna W. & A.* (टर्मिनेलिया अर्जुन)। Fam. Combretaceae (कॉम्ब्रेटेसी)।

यह सब प्रान्तों में कहीं न कहीं पाया जाता है किन्तु हिमालय को तराई, छोटा नागपूर, मध्यभारत, बंबई एवं मद्रास में अधिक होता है।

इसका वृक्ष—६०–७० फीट तक ऊँचा होता है। पत्ते-अमरूद के पत्ते के समान ३ से ६ इञ्च तक लम्बे, छोटी २ टहनियों पर कहीं विपरीत और कहीं एकान्तर लगे रहते हैं। हलके पीले रङ्ग के नन्हें २ फूलों के घनहरे से आते हैं। फल-कमरख के समान ५ पहल वाले, १–१॥ इञ्च लम्बे एवं कुछ अण्डाकार होते हैं॥ १३ ॥

इसकी छाल का प्रयोग किया जाता है। यह मोटी, चिकनी, गुलाबीपन लिये धूसर या श्वेताभ होती है तथा पतले परतों में छूटती है। बजार में इसके टुकड़े चपटे या कुछ मुड़े हुवे, ६ इञ्च या अधिक लंबे, ४ इञ्च चौड़े एवं ०·१–०·४ इञ्च मोटे मिलते हैं। अन्दर से यह हलकी धूसर एवं सूक्ष्म धारीदार होती है। भग्न छोटा तथा गुलाबीपन लिये हुवे; स्वाद कषाय रहता है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में जल-विलेय चूनें (Calcium) के लवण बहुत (२५%) होते हैं। इसके अतिरिक्त टैनिन १५·८%, रवेदार पदार्थ अर्जुनाइन, शर्करा, अल्प मात्रा में मैग्नेशियम् के लवण, रंजक द्रव्य एवं सेन्द्रीय अम्ल पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—अर्जुन शीतवीर्य, कफ-पित्तशामक, हृद्य, हृदयोत्तेजक, रक्तसांग्राहिक, शोणितास्थापन, शोथघ्न, संधानीय एवं व्रणरोपण है।

इसका उपयोग हृदय के विकार, क्षतक्षय, कास, विष, रक्तविकार, रक्तपित्त, प्रमेह, ज्वर एवं व्रण में किया जाता है।

(१) हृदय के सभी प्रकार के रोगों में इसकी छाल को दूध में क्षीरपाक विधि से पकाकर देना चाहिये।

(२) रक्तपित्त में इसको देने से रक्तवाहिनियों का संकोच होकर तथा इसमें के चूने के कारण रक्त का जमने का कार्य बढने से लाभ होता है।

(३) व्रण, अस्थि भग्न, शोथ आदि में इसका बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रयोग किया जाता है।

नोट—अर्जुन के कर्मों के विषय में प्राचीन एवं नवीन आचार्यों में पर्याप्त मतभिन्नता है। आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि इसका प्रभाव केवल इसमें के चूना एवं सेन्द्रीय अम्लों के कारण है। इस सम्बन्ध में विस्तृत अनुसंधान आवश्यक है। संभव है अर्जुन यह टर्मिनेलिया से अतिरिक्त अन्य कोई वृक्ष हो। इस दृष्टि से आगे तिनिश के साथ वर्णित जारूल वृक्ष के विषय में विचार आवश्यक है जिसे कहीं-कहीं अर्जुन कहा गया है।

मात्रा—त्वक् ½ से १ तोला क्षीरपाक बनाकर; चूर्ण १ से ३ माशा।

अथ बीजकः (विजयसार)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

बीजकः पीतसारश्च पीतशालक इत्यपि। बन्धूकपुष्पः प्रियकः सर्जकश्चासनः स्मृतः ॥२८॥
बीजकः कुष्ठवीसर्पश्वित्रमेहगुद क्रिमीन्[1]। हन्ति श्लेष्मास्रपित्तञ्च त्वच्यः केश्यो रसायनः॥२९॥

विजयसार के संस्कृत नाम—बीजक, पीतसार, पीतशालक, बन्धूकपुष्प, प्रियक, सर्जक और असन ये सब हैं।

विजयसार—त्वचा के लिये हितकर, बालों को उत्तम बनाने वाला, रसायन एवम्-कुष्ठ, वीसर्प, श्वेतकुष्ठ, प्रमेह, गुदा के कृमि, कफ, रक्तविकार, पित्त या रक्तपित्त को दूर करने वाला है॥

नोट—निघंटुओं ने बीजक एवं असन को एक वृक्ष माना है किन्तु ये दोनों भिन्न हैं। असन यह शाल या सर्जभेद है जिसका ले० नाम टर्मिनेलिया टोमेन्टोजा (Terminalia tomentosa) है। बंबई की तरफ 'असाना' नाम से ब्रिडेलिया मॉन्टेना (Bridelia montana Willd.) को ग्रहण किया जाता है।

१४ विजैसार

हिं०—विजयसार, विजेसार, विजैसार। **बं०**–पियाशाल, पीतशाल। **म०**–बिबला। **गु०**–बीयों। **ते०**–वेगि। **क०**–होन्नेमर। **मा०**–बिजैसार। **अ०**–दम्म उल अखवैन हिन्दी। **अं०**–Indian Kino tree (इण्डियन् काइनो ट्री)। **ले०**–*Pterocarpus marsupium Roxb.* (टेरोकार्पस् मार्सुपियम्)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह दक्षिण भारत, बिहार और पश्चिमी प्रायद्वीप में होता है।

इसका वृक्ष-सुन्दर बहुत बड़ा किन्तु अचिरस्थायी होता है। छाल-तिहाई इञ्च मोटी, पीताभ धूसर रङ्ग की खुरदरी होती है। पत्ते—पक्षवत एवं ५–७ पत्रक युक्त जो आयताकार या अण्डाकार, ३–५ इञ्च लंबे, कुण्ठित या नताग्र, ऊपरी तल पर चमकीले एवं प्रधान शिराएँ अनेक एवं स्पष्ट होती हैं। फूल-चौथाई इञ्च के घेरे में किंचित पीले या सफेद मंजरियों में आते हैं। फलियाँ–१–२ इञ्च व्यास में, गोल एवं चिपटी होती हैं जिसमें छोटे बीज होते हैं। छाल में घाव करने से लाल रस निकलता है जो कुछ दिनों में सूखकर काला और कड़ा हो जाता है। इसको उबाल कर सुखाकर काम में लाते हैं। इसको मलाबार काइनो (Malabar kino) कहते हैं।

यह गाढ़े लाल रंग के, चमकीले, पहलदार टुकड़ों में होता है। इसे किनारे से देखने से मानिक की तरह लाल पारदर्शक दिखलाई देता है। इसको तोड़ने से भूरे रंग का चूरा निकलता है

---

१. व्रणक्रिमीन् इति पाठा०।

तथा सतह चमकीली होती है। इसे चबाने से यह दांत में चिपकता है तथा लार, लाल हो जाती है। इसमें गंध नहीं होती तथा स्वाद कषाय रहता है। रखने से इसका कषायत्व कम हो जाता है। इसके गोंद एवं काष्ठसार का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—गोंद में काइनो टैनिक एसिड (Kino tannic acid) पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह शीत, कफपित्तशामक, रसायन एवं प्रमेहनाशक है। इसका उपयोग प्रमेह, कुष्ठ, चर्मरोग, रक्तपित्त एवं रक्तविकार में किया जाता है। इसका गोंद तीव्र संग्राहक है एवं छाल ग्राही है।

(१) अतिसार, प्रवाहिका में गोंद खिलाते हैं। दाँत के दर्द में दांत में इसे रखते हैं।

(२) प्रमेह में इसके काण्डसार का क्वाथ पिलाते हैं।

(३) पत्तों का लेप शोथ एवं त्वचा के रोगों पर किया जाता है।

मात्रा—गोंद २ से ८ रत्ती; चूर्ण ३ से ६ माशा; क्वाथ ५ से १० तोला।

अथ खदिरः। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

खदिरो रक्तसारश्च गायत्री दन्तधावनः। कण्टकी बालपत्रश्च बहुशल्यश्च यज्ञियः॥ ३०॥
खदिरः शीतलो दन्त्यः कण्डूकासारुचिप्रणुत्॥ ३१॥
तिक्तः कषायो मेदोघ्नः क्रिमिमेहज्वरव्रणान्। श्वित्रशोथामपित्तास्रपाण्डुकुष्ठकफान् हरेत्॥

खैर के संस्कृत नाम—खदिर, रक्तसार, गायत्री, दन्तधावन, कण्टकी, बालपत्र, बहुशल्य और यज्ञिय ये सब हैं।

खैर-तिक्त तथा कषायरसयुक्त, शीतल, दाँतों के लिए हितकर एवम् खुजली, खांसी, अरुचि, मेद, कृमि, प्रमेह, ज्वर, व्रण, श्वेतकुष्ठ, शोथ, आम, पित्त, रक्तविकार, पाण्डु, कुष्ठ तथा कफ को दूर करने वाला है॥ ३०-३२॥

१५ खैर

हि०-खैर, कत्था। ब०-खयेर गाछ। म०-खैर, काथ। गु०-खेर, काथो। ते०-चंड्र। ता०-करंगालि। अं०-Black Catechu (ब्लैक कॅटेच्यु)। लै०-*Acacia catechu Willd* (ॲकेसिया कटेच्यु)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह भारत में अनेक स्थानों पर होता है। पंजाब, उत्तर पश्चिम हिमालय, मध्यभारत, बिहार, गंजम, कोंकण एवं दक्षिण में विशेष रूप से शुष्क जंगलों में होता है।

इसका वृक्ष, मध्यम प्रमाण का, काँटेदार, होता है। छाल गहरे धूसराभ भूरे रंग की, ½ इञ्च मोटी एवं लंबे परतों में छूटने वाली तथा अन्दर से भूरी या लाल होती है। शाखाएं पतली होती हैं। काँटे युग्म, टेढे, चमकीले भूरे या काले एवं ये उपपत्रों के रूपान्तर होते हैं। पत्र-१०-१५ से मी० लंबे एवं वृन्त पर काँटे तथा ४-५ ग्रन्थियाँ होती हैं। उपपक्ष २०-६०, ३·८-५ से मी० लंबे होते हैं। पत्रक-प्रत्येक उपपक्ष पर ६०-१०० की संख्या में, ४·५-६ × १·२५ मि० मी० बड़े, रेखाकार तथा अवृन्त होते हैं। पुष्प-छोटे, श्वेताभ या हलके पीले, ५-१० से मी० लंबी मंजरियों में आते हैं। आभ्यन्तर कोश बाह्य कोश से लगभग दूना रहता है। फली-५-७·५ से० मी० लंबी, १-१·६ से० मी० चौड़ी, चिपटी, पतली, धूसर, चमकीली एवं उसका अग्र नोकीला त्रिकोणाकार एवं मूल संकुचित होकर ३-६ मि० मी० लंबा, नाल सदृश हो गया

रहता है। बीज–३–१० की संख्या में रहते हैं। इसके अन्य भेदों का वर्णन स्वतन्त्र किया गया है।

कुछ पुराने वृक्षों के काष्ठ के अन्दर दरारों में एक रवेदार या चूर्ण रूप में कृष्णाभ श्वेत पदार्थ जमा पाया जाता है जिसे **खदिरसार** (खेरसाल) कहते हैं। यह बहुत महंगा होता है तथा खांसी एवं गले के विकारों में काम में आता है।

खेर के सार (अन्दर की लकड़ी) भाग को जल के साथ उबालकर कत्था निकालते हैं जो प्रधान रूप से दो प्रकार का होता है। प्रथम धूसर रंग का खाने के या औषध के काम आता है तथा दूसरा लाली लिये भूरा या हलका नारंगी विभिन्न उद्योगों में, एक तीसरा प्रकार बम्बई की तरफ सुपाड़ी से बनाया हुआ भी मिलता है। एक चौथा कत्था विदेशी वृक्ष अंकेरिया गम्बीर (Uncaria gambir Roxb. Fam. Rubiaceae) से प्राप्त होता है।

रासायनिक संगठन—इसकी अन्दर की लकड़ी में कैटेचिन (Catechin) एवं कैटेचूटैनिक ॲसिड (Catechutannic acid) होते हैं जिनमें से इसका कषायत्व दूसरे वाले द्रव्य के कारण होता है जो कत्थे में करीब ५०% होता है।

गुण और प्रयोग—खैर शीत, ग्राही. कफ, शुक्र को सुखाने वाला, रक्तपित्त-प्रशमन एवं पाचन है। इसका प्रयोग कुष्ठ, चर्मरोग, खांसी तथा गला, मुख, मसूढ़े की शिथिलता, अतिसार, प्रमेह, रक्तविकार एवं व्रण में किया जाता है। कत्थे में भी यही गुण हैं।

(१) कुष्ठ में इसको खिलाते हैं तथा इससे स्नानादि भी कराते हैं।

(२) संग्रहणी, अतिसार तथा खट्टी डकार में कत्था उपयोगी है।

(३) खांसी विशेष रूप से शुष्क कास में इसको मुह में चूसने के लिये देते हैं। कफ युक्त खांसी में इससे कफ कम होता है।

(४) मसूढ़े से खून आता हो तो इसके क्वाथ से कुल्ला कराते हैं।

(५) मुख में छाले पड़ गये हों तब कत्थे को चूसने को देते हैं।

मात्रा—त्वक् चूर्ण १ से ३ माशा; कत्था ३ से ६ रत्ती; क्वाथ ५ से १० तोला।

अथ श्वेतखदिरः (पपरिया कत्था)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

खदिरः श्वेतसारोऽन्यः कदरः सोमवल्कलः। कदरो विशदो वर्ण्यो मुखरोगकफास्रजित्॥

सफेद खैर के संस्कृत नाम—श्वेतखदिर, श्वेतसार, कदर और सोमवल्कल ये सब हैं।

सफेद खैर—विशद गुणयुक्त, वर्ण को उत्तम बनाने वाला एवम्—मुखरोग, कफ तथा रक्त-विकार को दूर करने वाला है॥ ३३॥

१६ सफेद खैर

हि०—सफेद खैर, पपरिया खैर। बं०—श्वेत खदिर। म०—पांढ़रा खैर। गु०—गोरंड, खेर धोळ सार वाळो। क०—विलिय तर्जि, विलियर्ति। ते०—तेल चंड। ता०—कोविल। ले०—*Acacia suma Kurg.* (ॲकेसिया सुमा)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह बंगाल, बिहार एवं पश्चिम प्रायद्वीप आदि प्रान्तों में पाया जाता है।

इसका वृक्ष—खदिर वृक्ष के समान ही होता है। इसमें केवल छाल सफेद तथा शाखाएं टेढ़ी-मेढ़ी होती हैं। आभ्यन्तर कोश बाह्य कोश से अधिक बड़ा नहीं होता। सफेद खैर का एक अन्य भेद A. ferruginea (ॲ. फेरूजिनिया), गुजरात, बरार तथा दक्षिण में मिलता है।

गुण और प्रयोग—यह खदिर के समान ही होने से उसी की तरह इसके भी गुण-कर्म हैं।

अथ इरिमेदः । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

इरिमेदो विट्खदिरः कालस्कन्धोऽरिमेदकः । इरिमेदः कषायोष्णो मुखदन्तगदास्रजित् ।
हन्ति कण्डूविषश्लेष्मकृमिकुष्ठविषव्रणान् ॥ ३४ ॥

दुर्गन्ध खैर के संस्कृत नाम – इरिमेद, विट्खदिर, कालस्कन्ध और अरिमेदक ये सब हैं।

दुर्गन्ध खैर-कषायरसयुक्त, उष्ण एवम्-मुख तथा दांत सम्बन्धी रोग, रक्तविकार, खुजली, विष, कफ, कृमि, कुष्ठ, विष-व्रण को दूर करने वाला है ॥ ३४ ॥

१७ दुर्गन्ध खैर

हि०-दुर्गन्ध खैर, गन्धबबुल, गुआ-बबूल । बं०-गुया बाब्ला । म०-गुआबाभूल, घाणेरा खैर । गु०-गन्धिलो खर, इरिमेद । अं०-The Cassie Flower (दी केसी फ्लावर) । ले०-*Acacia farnesiana Willd.* (ॲकेसिया फार्नेसियाना) । Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी) ।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है तथा लगाया भी जाता है।

इसका वृक्ष छोटा या झाड़ बड़ा १५ फीट तक कांटेदार होता है। छाल-हलके भूरे रङ्ग की खरदरी होती है। कांटे मुलायम चौथाई से आध इञ्च लम्बे सीधे होते हैं। पत्ते-उपपक्ष ४-८ जोड़े, ½-१ इञ्च या १½ इञ्च लंबे और प्रत्येक उपपक्ष में पत्रक १०-२० जोड़े एवं पर्णवृन्त छोटा तथा एक ग्रंथि से युक्त होता है। पुष्प गुच्छ-१-१½ इञ्च लंबे आते हैं। पुष्प-गहरे नारंग वर्ण के सुगन्धित होते हैं। फली-२-३ इञ्च लंबी, टेढी, अस्फोटी और लम्बगोल होती है।

इसकी जड़ तथा जड़ की छाल में तीव्र दुर्गन्ध होने के कारण इसे विट्खदिर कहा जाता है। यह नवंबर से मार्च तक पुष्पित होता है तथा इसके पुष्पों का सुगंध भी निकाला जाता है। इससे गोंद भी प्राप्त होता है।

बिलायती बबूल, रेंवा (Acacia leucophloea Willd.) को भी कुछ इरिमेद मानते हैं।

रासायनिक संगठन—इसकी फली एवं छाल में टैनिन होता है। फूलों से इत्र निकाला जाता है।

गुण और प्रयोग—बबूल की तरह ही हैं। छाल ग्राही तथा स्नेहन होती है। कोमल पत्तों को पीसकर सोजाक में देते हैं। शुक्रतारल्य में छाल का प्रयोग करते हैं।

अथ रोहीतकः (रोहेडा) तस्य नामानि गुणांश्चाह

रोहीतको रोहितको रोही दाडिमपुष्पकः । रोहीतकः प्लीहघाती रुच्यो रक्तप्रसादनः ॥३५॥

रोहेडा के संस्कृत नाम—रोहीतक, रोहितक, रोही तथा दाडिमपुष्पक ये सब हैं।

रोहेडा—रुचिकारक, रक्त को साफ करने वाला एवम् प्लीहा को नष्ट करने वाला है ॥३५॥

१८ रोहेडा

हि०-रोहेडा, रोहिड़ा, रोहेड़ा । म०-रोहिड़ा । गु०-रोहिड़ो । ले०-*Tecomella undulata Seem.* (टेकोमेला अण्डयूलेटा) । Fam. Bignoniaceae (बिगनोनिएसी) ।

यह सिन्ध, पञ्जाब, गुजरात और राजपूताना से पूर्व की ओर यमुना तक पाया जाता है।

इसका वृक्ष–झाड़दार मध्यमाकार का होता है और बारहो मास हरा भरा रहता है। पत्ते–५–१२.५×१–३.२ से. मी. बड़े, लंबे आयताकार, कुण्ठिताग्र, अखण्ड एवं लहरदार धार वाले और देखने में अनारपत्र के समान मालूम पड़ते हैं। फूल–अनार के फूल के समान अत्यन्त लाल या नारंगी रंग के आते हैं। फलियां–६–७ इञ्च लम्बी, तिहाई इञ्च चौड़ी और पतली एवं कुछ टेढ़ी होती हैं। बीज–२.५×१ से० मी० (पक्षसहित) बड़े होते हैं।

इसकी छाल का प्रयोग किया जाता है। छाल–३–८ मि. मी. मोटी, कुछ मुड़ी हुई, बाहर से खुरदरी, धूसर या कुछ श्वेताभ भूरे रंग की, लंबे एवं आडे बल में फटने से विभिन्न आकार के भागों में फटी हुई सी, भीतर से चिकनी पीताभ भूरी तथा भग्न छोटा एवं अन्दर की तरफ रेशेदार होता है। इसका स्वाद कषाय तथा तिक्त होता है।

नोट—रोहितक के विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। रा० नि० ने इसके दो भेद श्वेत तथा रक्त माने हैं। इसके पर्याय दाडिम पुष्प एवं दाडिमच्छद ठीक मालूम पड़ते हैं। टे० अण्डयूलेटा के पत्ते एवं फूल अनार की तरह होते हैं। इस दृष्टि से यही शास्त्रीय रोहीतक मालूम पड़ता है।

रोहीतक नाम से व्यवहार में लाया जाने वाला अन्य वृक्ष अमूरा रोहीतक (Amoora rohituka W. & A.); मेलिएसी (Fam. Meliaceae) है। यह उत्तरप्रदेश में गोंडा से पूर्व की तरफ, बंगाल, आसाम तक एवं दक्षिण में पाया जाता है। इसका वृक्ष–छोटा, सुन्दर, शाखाएँ नीचे झुकी हुई। पत्ते-पक्षवत् १–३ फीट लंबे; पत्रक ४-७ जोड़े, ३–९×१½–४ इञ्च बड़े, अखण्ड, चिकने, तीक्ष्णाग्र, कुछ कुछ लम्बाग्र, एवम् फलकमूल तिरछा होता है। पुष्प-छोटे, श्वेत, एकलिंग होते हैं। फल–३खण्ड का पीला तथा१½ इञ्च व्यास में होता है। बीज-नारंगी लाल रङ्ग के होते हैं जिनमें तेल होता है। इस तेल को आमवात में मलने के काम में लिया जाता हैं। इसकी छाल–२ से ८ मि. मि. मोटी, बाहर से एक समान, गहरे भूरे रङ्ग की तथा अन्दर से रक्ताभ भूरी, बाहर से लंबाई में फटी हुई एवं सूक्ष्म आडी धारियों तथा कुछ उत्सेधों से युक्त होती है। इसका स्वाद कषाय होता है तथा यह ग्राही है। ध० नि० ने रोहीतक को सारक लिखा है इस दृष्टि से प्रथम टे० अण्डयूलेटा के ही रोहीतक होने की अधिक संभावना है।

बाजार में रोहीतक नाम से फरहद की छाल मिलती है। यह ५–१५ मि० मि० मोटी, खुरदरी, बाहर से भूरे या श्वेताभ और हलके पीताभ रङ्ग (Buff colour) के भागों में फटी हुई, अन्दर से पीताभभूरी एवं लंबाई में धारीदार चिकनी होती है। इसमें कोई स्वाद नहीं रहता।

चरक चि० अ० १३ में रोहितक लता का उल्लेख है जिससे ऐसा मालूम पड़ता है कि कोई ऐसी लता भी थी जिसका उपयोग रोहीतक नाम से किया जाता था।

गुण-कर्म—रोहीतक तिक्त, कषाय, शीत, कफ-पित्तशामक, सारक एवं यकृत्, प्लीहा, गुल्म एवं उदररोग को दूर करने वाली है। इसका यकृत् तथा प्लीहा वृद्धि में विशेष उपयोग किया जाता है।

मात्रा—त्वक्चूर्ण १ से ३ माशा; क्वाथ में ½–१ तोला।

अथ बब्बूलः (बबूर)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

बब्बूलः किङ्किरातः स्यात्किङ्किराटः सपीतकः॥ ३६॥
स एव कथितस्तज्ज्ञैराभाषट्पदमोदिनी। बब्बूलः कफनुद् ग्राही कुष्ठक्रिमिविषापहः॥३७॥

बबूर के संस्कृत नाम—बब्बूल, किङ्किरात, किङ्किराट, सपीतक तथा आभाषट्पदमोदिनी ये सब द्रव्य-गुण के जानने वालों ने बतलाये हैं।

बबूर—ग्राही एवम्-कफ, कुष्ठ, क्रिमि तथा विष का नाशक है ॥ ३६-३७ ॥

१९ बबूल

हि०-बबूर, बबूल, कीकर। बं०-बावला। म०-बाभूल। गु०-बावल। क०-पुलई। ते०-नल्लतुम्म। ता०-करू वेलमरम्। फा०-मुगिलाँ। अ०-अमुगिलाँ। ले०-*Acacia arabica Willd.* (अकेसिया अरेबिका)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह सिंध तथा डेक्कन का आदिवासी होते हुवे भी अब सभी स्थानों में पाया जाता है।

इसका वृक्ष—मध्यमाकार का, कंटक युक्त, होता है। छाल-गहरे भूरे या काले रंग की एवं लम्बाई में फटी हुई होती है। पत्ते-संयुक्त; उपपक्ष ४-९ जोड़े, २·५ से० मी० लम्बे; पत्रक १०-२५ जोड़े, ३-६×१·२-२ मि० मि० बड़े, रेखाकार होते हैं। पुष्प—चमकीले पीले, गोल एवं मधुर गन्धि होते हैं। फली—३-६ इञ्च लम्बी, ०·५ इञ्च चौड़ी, माला की तरह बीच-बीच में सिकुड़ी हुई, टेढ़ी, मृदु रोमश एवं ८-१२ बीजों से युक्त होती है। कांटे सीधे, नुकीले तथा पर्णवृन्त के नीचे जोड़ी में आते हैं।

इसका गोंद विभिन्न आकार एवं नाप के टुकड़ों में, भूरा, लाल या हलका पीला, गन्धहीन, स्वादहीन एवं अपने से दुगने जल में पूर्णतः घुलनशील होता है।

इसका गोंद, छाल एवं फली का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—गोंद में अॅरेबिक् अॅसिड के साथ बने चूना तथा मॅग्नेशियम् के लवण होते हैं। इसकी छाल में १२%, तथा फली में २०% तक टैनिन होता है।

गुण और प्रयोग—इसका गोंद स्नेहन, ग्राही तथा पौष्टिक है। मुख के छाले, शुष्क कास, गले का सूखना आदि में इसको चूसने से लाभ होता है। मूत्रकृच्छ्र, अतिसार तथा मधुमेह में इसको खिलाते हैं। इसकी छाल संग्राहक है। इसके क्वाथ के गण्डूष से मुखरोग, दांत हिलना तथा गले की शिथिलता में लाभ होता है।

इसकी फली का चूर्ण चीनी मिलाकर स्वप्नदोष, शीघ्रपतन आदि में देते हैं।

मात्रा—फली चूर्ण ३ से ६ माशा; गोंद ३ से ६ माशा।

अथारिष्टकः (रीठा)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

अरिष्टकस्तु मङ्गल्यः कृष्णवर्णोऽर्थसाधनः। रक्तबीजः पीतफेनः फेनिलो गर्भपातनः॥
अरिष्टकस्त्रिदोषघ्नो ग्रहजिद् गर्भपातनः॥ ३८॥

रीठा के संस्कृत नाम—अरिष्टक, मङ्गल्य, कृष्णवर्ण, अर्थसाधन, रक्तबीज, पीतफेन, फेनिल और गर्भपातन ये सब हैं।

रीठा—त्रिदोषनाशक, ग्रहबाधा को दूर करने वाला एवम् गर्भ को गिराने वाला है ॥ ३८ ॥

२० रीठा

हि०-रीठा। बं०-रीठेगाछ। म०-रीठा, रिठा। गु०-अरीठा। ते०-कुंकुडु। क०-कुकुटे कायि। ता०-पोन्नान कोट्टइ। अ०-बुन्दक हिन्दी। फा०-फुन्दुके फारसी। अं०-Soap nut Tree of North India (सोपनट ट्री ऑफ नार्थ इण्डिया)। ले०-*Sapindus mukorossi Gaertn.* (सेपिन्डस मुकोरोसी)। Fam. Sapindaceae (सेपिन्डेसी)।

उत्तर पश्चिम भारत, बंगाल तथा आसाम में इसके लगाये पेड़ पाये जाते हैं तथा हिमालय में ४००० फीट तक यह होता है।

इसका वृक्ष-सुन्दर होता है। पत्ते-संयुक्त, शाखाग्र पर समूहबद्ध एवं पत्रक १०-१६, २-६ × ३/४-२१/२ इञ्च बड़े, मालाकार, आयताकार, एकान्तर या न्यूनाधिक विपरीत, तीक्ष्णाग्र या कुंठिताग्र, चिकने एवं आधार पर तिर्यक् होते हैं। पुष्प-मंजरियों में १/४ इञ्च व्यास के एवं श्वेत या बैंगनी रंग के होते हैं। फल-मांसल, पीत या हलके भूरे, कुछ गोलाई लिये हुवे, ३/४ इञ्च व्यास के तथा पानी में डालने से फेन उत्पन्न करने वाले होते हैं।

इसकी एक जाति से० ट्राइफोलिएटस् (S. trifoliatus Linn.) दक्षिण तथा पश्चिम भारत में गाँवों के आसपास होती है और बंगाल तथा अन्य स्थानों में लगाये हुवे इसके पेड़ पाये जाते हैं। इसमें पत्रक-२-३ जोड़े, ३-७ × १-४ इञ्च, मालाकार, तीक्ष्णाग्र या लंबाग्र एवं ऊपर की ओर चमकीले होते हैं। पुष्प-मटमैले श्वेत होते हैं। फल-२-३ खण्ड युक्त, मांसल, कच्चे में रक्ताभ पीत रोमों से आवृत तथा पकने पर चिकना तथा झुर्रीदार होता है।

एक अन्य जाति से० एमार्जिनेटस् (S. emarginatus Vahl.) जिसे पहले से० ट्राइफोलिएटस् का पर्याय मानते थे अब स्वतन्त्र जाति मानी जाती है। इसके वृक्ष छायादार होते हैं। पत्रक-२ से ३ जोड़े, आयताकार या अंडाकार, कभी-कभी अभिलट्वाकार, कुंठित या द्विविभक्त अग्रवाले और २१/२-६ इञ्च लम्बे होते हैं। पुष्प-श्वेत एवं फल-पकने पर २,३ खण्डों के होते हैं।

रीठे के फलों का उपयोग रेशमी, सूनी और मूल्यवान कपड़ों के धोने के लिये किया जाता है। चिकित्सा में फलों का उपयोग करते हैं।

रासायनिक संगठन—रीठे में सॅपोनिन (Saponin) बहुत होता है।

गुण और प्रयोग—इसके फल का गूदा उष्ण, तिक्त, स्निग्ध, विषहर, कफघ्न, वामक एवं वातहर है। अधिक मात्रा में यह वामक तथा रेचन है। इससे वमन शीघ्र होता है तथा कोई नुकसान नहीं होता। यह इपीकाक का प्रतिनिधि है।

इसका लेप वेदनास्थापन तथा शोथघ्न है।

(१) श्वास, कास आदि में कफ निकालने के लिये इसको वामक रूप में देते हैं।

(२) अर्धावभेदक तथा श्वास में इसका नस्य लाभदायक है।

(३) अफीम की विषाक्तता में वमन कराने के लिये इसका पानी देते हैं।

(४) इसका लेप कुष्ठ, कण्डू, संधिशोथ, विस्फोट, गण्डमाला एवं बिच्छू, गोजर तथा मधुमक्खी काटने पर किया जाता है।

मात्रा—कफघ्न ५ से १० रत्ती; वामक १ से २ ड्राम।

अथ पुत्रजीवः (पितौंजिया)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

पुत्रजीवो गर्भकरो यष्टीपुष्पोऽर्थसाधकः ॥ ३९ ॥
पुत्रजीवो गुरुर्वृष्यो गर्भदः श्लेष्मवातहृत्। सृष्टमूत्रमलो रूक्षो हिमः स्वादुः पटुः कटुः ॥४०॥

पितौंजिया के संस्कृत नाम—पुत्रजीव, गर्भकर, यष्टीपुष्प और अर्थसाधक ये सब हैं।

पितौंजिया—स्वादिष्ट, कटु तथा लवण रस युक्त, गुरु, वृष्य (वीर्यवर्धक), गर्भदायक, मूत्र तथा मल की प्रवृत्ति कराने वाला, रूक्ष तथा शीतल है। एवम् कफ तथा वात को नष्ट करने वाला है॥ ३९-४० ॥

२१ पितौंजिया

हि०–जियापोता, पितौंजिया। बं०–जिया पुन्ता। म०–पुत्र जीव। गु०–पुत्र जीवक। क०–पुत्र जीव। ते०–कुदुरु जीवि। ले०–*Putranjiva roxburghii Wall.* (पुत्रन्जीव रॉक्सबरघाई)। Fam. Euphorbiaceae (यूफर्बिएसी)।

पितौंजिया—इस देश के गरम प्रान्तों में पाया जाता है। यह जंगली और बागों में भी लगाया हुआ पाया जाता है। इसका वृक्ष–मध्यमाकार का होता है और बारहो मास हरा भरा सुहावना दीखाई पड़ता है। शाखायें प्रायः लटकी हुई रहती हैं। छाल–कालापन युक्त खाकी रङ्ग की होती है। पत्ते–द्विपंक्ति, चमकदार, प्रासवत् या आयताकार एवं पत्रतट प्रायः लहरदार होता है। पुष्प–पुंपुष्प पीताभ तथा स्त्री पुष्प हरिताभ होते हैं। फल–झर बेर के आकार के, श्वेताभ तथा स्थायी कुक्षिवृन्त से युक्त होने के कारण नोकीले होते हैं।

जिनके लड़के पैदा होते ही मर जाया करते हैं वे लोग इसके गुठलियों की माला पहनते हैं।

गुण और प्रयोग—ज्वर तथा प्रतिश्याय में पत्र तथा फलों का क्वाथ पिलाते हैं। गुठलियों को घिसकर शिरःशूल में लगाया जाता है। फोड़े आदि पर लेप करने से वेदना कम होती है। सभी प्रकार के विषों में इसकी मज्जा को शीत जल में पीसकर बाह्याभ्यन्तर प्रयोग करते हैं।

अथेङ्गुदः (हिङ्गोट)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

इङ्गुदोऽङ्गारवृक्षश्च तिक्तकस्तापसद्रुमः। इङ्गुदः कुष्ठभूतादिग्रहव्रणविषक्रिमीन्॥
हन्त्युष्णः श्वित्रशूलघ्नस्तिक्तकः कटुपाकवान्॥ ४१॥

हिङ्गोट के संस्कृत नाम—इङ्गुद, अङ्गारवृक्ष, तिक्तक और तापसद्रुम ये सब हैं।

हिङ्गोट—तिक्तरसयुक्त, विपाक में कटुरसयुक्त, उष्ण एवम् कुष्ठ, भूतादि-ग्रहबाधा, व्रण, विष, क्रिमि, श्वेतकुष्ठ तथा शूल का नाशक है॥ ४१॥

२२ हिंगोट

हि०–हिंगोट हिंगन, इंगुवा। बं०–हिंगोन। म०–हिंगण। गु०–इङ्गोरीओ। क०–इङ्गलगिद। ते०–गरा, गारि। ता०–नन्जुन्द। ले०–*Balanites roxburghii Planch.* (बेलेनाईटीस् रॉक्सबरघाई)। Fam. Simarubaceae (सिमेरूबेसी)।

यह भारत के शुष्क भागों में दक्षिण-पूर्व पंजाब एवं दिल्ली से सिक्किम, बंगाल, मध्यभारत बम्बई तथा दक्षिण में होता है।

इसका वृक्ष या गुल्म करीब २० फीट तक होता है। शाखाओं पर मजबूत, सीधे, पर्णयुक्त, पत्रकोणीय या पत्रों के पार्श्व में कांटे होते हैं। पत्ते–द्विपत्रक एवं अवृन्त; पत्रक–अण्डाकार, अभिलट्वाकार या अभि-प्रासवत्, $\frac{3}{4}$–१$\frac{3}{4}$ इञ्च बड़े होते हैं। पुष्प–हरिताभ पीत एवं सुगन्धि होते हैं। फल–अष्ठिल, अण्डाकार, १$\frac{3}{4}$–२$\frac{3}{4}$ इञ्च लम्बे, हलकी ५ धारियों वाले एवं पकने पर हलके पीले होते हैं। गूदा मधुर, $\frac{1}{2}$ इञ्च मोटा एवं उग्रगन्धि होता है। गुठली में एक बीज तैल युक्त होता है। बीज में ४३% पीले रंग का स्वादहीन तेल होता है। इसके गूदे को खाया जाता है तथा सिल्क को साफ करने के काम आता है।

रासायनिक संगठन—फल के गूदे में ७·२% सॅपोनिन पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल तथा फल का गूदा कफघ्न, कृमिघ्न, कुष्ठघ्न एवं विरेचक होता है। अपक फल तीव्र विरेचक होता है। पुराने कफ विकारों में गूदे को खिलाते हैं। व्रण तथा अग्निदग्ध व्रण पर इसका तेल लगाते हैं।

मात्रा—गूदा १–५ रत्ती कफघ्न; १०–३० रत्ती विरेचक।

अथ जिङ्गिनी। तस्या नामानि गुणांश्चाह

जिङ्गिनी झिङ्गिनी झिङ्गी सुनिर्यासा प्रमोदिनी॥ ४२॥
जिङ्गिनी मधुरा सोष्णा कषाया योनिशोधिनी। कटुका व्रणहृद्रोगवातातीसारहृत् पटुः॥

जिङ्गिनी के संस्कृत नाम—जिङ्गिनि, झिङ्गनी, झिङ्गी, सुनिर्यासा तथा प्रमोदिनी ये सब हैं।

जिङ्गिनी—मधुर, कटु, कषाय तथा लवण रसयुक्त, उष्ण, योनि शोधक एवम्-व्रण, हृद्रोग, बात तथा अतीसार को दूर करने वाली है॥ ४२–४३॥

२३ जिंगिनी

हि०–जिंगना, जिंगन। म०–मोयी, मुयी। गु०–मवेडी, शिंपटी। क०–उडी मरम। बं०–जिओल। ते०–गमपेना। ले०–*Odina woodier Roxb.* (ओडिना वुडियर)। Fam. Anacardiaceae (ॲनाकार्डिएसी)।

यह इस देश में प्रायः गरम प्रान्तों में अधिक पाया जाता है। इसका वृक्ष–मध्यमाकार का होता है और वह अधिक दिन तक नहीं ठहरता। इसके स्तम्भ से एक प्रकार का गोंद निकलता है। पत्ते–पक्षवत्, मोटे एवं टहनियों के अग्र पर दलबद्ध रहते हैं। पत्रक–५–९, विपरीत, लम्बाग्र, लट्वाकार और तिरछे फलक मूल वाले होते हैं। पुष्प–छोटे, पीताभहरित तथा एकलिंग होते हैं एवं दोनों प्रकार के पुष्पों की मंजरियां पृथक्-पृथक् रहती हैं। फल–½ इञ्च लम्बे, टेढ़े, आयताकार, चिपटे, एवं गुठलीदार होते हैं। काण्ड में स्टार्च बहुत होता है इससे इसे हाथी बड़े चाव से खाते हैं। इसकी डालियों को गाड़ देने से लग जाती हैं।

औषध में गोंद तथा छाल का उपयोग करते हैं।

गुण और प्रयोग—इसका गोंद स्नेहन तथा संग्राहक है। छाल संग्राहक एवं व्रणरोपण है।

(१) छाल का क्वाथ पिलाने से प्यास दूर होती है। इससे कुल्ला करने से गले की शिथिलता, खांसी तथा दंतपीडा दूर होती है। इसको अतिसार में देते हैं।

(२) छाल के क्वाथ से सिद्ध तेल पुरानें व्रण पर लगाते हैं।

(३) पत्तों को उबालकर शोथ पर बांधते हैं।

(४) छाल का स्वरस हथियार से कटे व्रण पर डालनें से शीघ्र रोपण होता है।

(५) इसका गोंद अतिसार में देते हैं। मोच आदि में इसको नारियल के पानी में पीसकर लेप करते हैं।

अथ तमालः। तस्य नामानि गुणांश्चाह

तमाल उक्तस्तापिच्छः कालस्कन्धोऽसितद्रुमः।
लोकस्कन्धो नीलध्वजो नीलतालश्च स स्मृतः॥
तमालः शालवद्वेद्यो दाहविस्फोटहृत् पुनः॥ ४३॥

तमाल के संस्कृत नाम—तमाल, तापिच्छ, कालस्कन्ध, अमितद्रुम, लोकस्कन्ध, नीलध्वज और नीलताल ये सब हैं।

तमाल—गुणोंमें साखू की भाँति समझना चाहिये, किन्तु विशेषतः यह दाह तथा विस्फोट का नाशक है ॥ ४४ ॥

नोट—कर्पूरादिवर्ग में तमालपत्र का वर्णन किया जा चुका है किन्तु यह उससे भिन्न वृक्ष है। जिस वृक्ष का नीचे वर्णन किया जा रहा है उसे दक्षिण में तमाल कहते हैं। वास्तव में यही तमाल है कि नहीं इस सम्बन्ध में अभी अनुसंधान की आवश्यकता है।

२४ तमाल

हि०-तमाल। वं०-तमाल गाछ। ते०-पसुपुवर्णे। म०-तमाल वृक्ष। गु०-तमाल। ता०-पुमक्की। क०-जारिगेहुलि। अं०-Indian Gamboge Tree (इण्डियन गॅम्बोज ट्री)। ले०-*Garcinia morella Desr.* (गार्सिनिया मोरेला)। Fam. Guttiferae (गट्टिफेरी)।

तमाल—पूरब बङ्गाल के जङ्गलों में, खासिया पहाड़ एवं प० घाट में उत्तर कनारा से दक्षिण में ट्रावनकोर तक, ३००० फीट की ऊचाई तक पाया जाता है।

इसका वृक्ष छोटा तथा सदाहरित होता है और शाखायें फैली हुई होती हैं। पत्ते-३ से ५×१$\frac{1}{2}$ से २$\frac{1}{2}$ इञ्च, अण्डाकार भालाकार एवं दोनों तरफ क्रमशः संकुचित होते हैं। फूल-एकलिंगी जिनमें पुंपुष्प की अपेक्षा स्त्री पुष्प बड़े होते हैं। फल-गोल, $\frac{3}{4}$ इञ्च व्यास में, चारखण्ड युक्त एवं बीज-४, गहरे भूरे, अण्डाकार या वृक्काकार होते हैं।

गॅम्बोज (Gamboge)—तमाल वृक्ष की छाल में घाव करने से एक पीले रंग का तरल राल जैसा पदार्थ प्राप्त होता है जिसे सूखने पर गॅम्बोज (Gamboge) कहते हैं। यह भूरे पीले रंग के टुकड़ो में प्राप्त होता है तथा इसका स्वाद कुछ कटु होता है। जल के साथ इसका पीला घोल (इमल्शन) बनता है जो अमोनिया मिलाने से स्वच्छ एवं गहरे नारंग रक्त वर्ण का हो जाता है। इसे गोटगनबा भी कहा जाता है। इसकी अन्य जातियों से भी यह प्राप्त होता है किन्तु वह निकृष्ट श्रेणी का होता है।

भारत में अपने यहाँ के वृक्षों से इसका संग्रह कम किया जाता है और अधिकतर बजार में बिकने वाला गॅम्बोज स्याम, कम्बोडिया आदि से आता है। यह गा. हॅनबुरी (G. hanburyi) नामक जाति जो स्याम में होती है उससे निकाला जाता है। दस वर्ष पुराने वृक्ष की छाल में, वर्षा ऋतु में, कुन्तल (Spiral) चीरा लगाते हैं तथा नीचे बांस के टुकड़े लगा देते हैं जिसमें इसे संग्रह कर फिर पतले बांसों में १ महिना रखते हैं, जिससे यह जम जाता है। बाद में इन्हें आग पर गरम करते हैं जिससे बांस चटक कर यह अलग हो जाता है। यह २-५ से. मी. व्यास के लंबे, बेलनाकार, रक्ताभ पीत या भुरापन लिये नारंग वर्ण के टुकड़ों में होता है जिसकी सतह पर बांस के अन्दर की धारियों के निशान दिखलाई देते हैं। कभी-कभी यह अंदर से पोला होता है।

इसे बजार में **उसारे रेवन्द** कहा जाता है किन्तु यह रेवन्द चीनी (हीअम् एमोडी-Rheum emodi नामक गुल्म की मूल) का उसारा (सत्व) नहीं है। इसे कुछ विद्वान् कंकुष्ठ भी मानते हैं। औषध के अतिरिक्त इसका रंग के लिये उपयोग करते हैं।

रासायनिक संगठन—बीजों में ३०% गाढ़ा स्नेह होता है। यह भूरापन लिये पीला होता है तथा खाद्य के रूप में काम में आता है। इसके बीजावरण, काण्डत्वक्, पत्र तथा फलों में एक पीला रंजक द्रव्य मोरेलीन (Morellin, $C_{33}H_{38}O_7$) पाया जाता है जो पूयोत्पादक

दण्डाणु, माइक्रोकोकस् पायोजेनीज हेराइटी ऑरियस् (Micrococcus pyogenes var. aureus) का नाशक है। गॅम्बोज में मुख्यतया राल तथा गोंद जैसे पदार्थ होते हैं।

गुण और प्रयोग—गॅम्बोज तीक्ष्ण विरेचन है। इससे पानी जैसे पतले दस्त होते हैं। इसकी क्रिया इन्द्रायण के फल की तरह होती है। इसे कृमिघ्न भी मानते हैं। रक्ताराधिक्य में शीघ्र विरेचन कराने की आवश्यकता होने पर इसे देते हैं। जलोदर, अनार्तव तथा कृमि रोग में इसका उपयोग किया जाता है।

अधिक मात्रा से पाचन संस्थान के अंगो पर तीव्र प्रक्षोभक क्रिया होकर मरोड, वमन आदि होकर मृत्यु भी हो सकती है। १ ड्राम मात्रा से मृत्यु हुई है।

मात्रा—$\frac{1}{4}$–$\frac{1}{2}$ गुंजा सुगंधि द्रव्य के साथ।

अथ तूणी। तस्या नामगुणानाह

तूणी तुन्नक आपीनस्तुणिकः कच्छकस्तथा। कुठेरकः कान्तलको नन्दीवृक्षश्च नन्दकः ॥४५॥
तूणी रक्तः कटुः पाके कषायो मधुरो लघुः। तिक्तो ग्राही हिमो वृष्यो व्रणकुष्ठास्रपित्तजित् ॥

तून के संस्कृत नाम—तूणी, तुन्नक, आपीन, तुणिक, कच्छक, कुठेरक, कान्तलक, नन्दीवृक्ष और नन्दक ये सब हैं।

तून—कषाय, मधुर तथा तिक्त रसयुक्त, विपाक में कटु रसयुक्त, रक्तवर्ण, लघु, ग्राही, शीतल, वृष्य (वीर्यवर्धक) एवम् व्रण, कुष्ठ, रक्तविकार, पित्त या रक्तपित्त का नाशक है ॥४५ ४६॥

२५ तून

हि०–तुन, तून, तूनी, महानिम। **बं०**-तूनगाछ। **म०**-तूणी, कूरक। **गु०**-तूणी। **ता०**-तूनमरम्। **ते०**–नन्दि वृक्षमु। **क०**–बिलिगंधगिरि। **अं०**-The Toon (दि तून)। **ले०**-*Cedrela toona Roxb.* (सेड्रेला तून)। Fam. Meliaceae (मेलिएसी)।

यह हिमालय के निचले प्रदेशों में ४००० फीट तक, आसाम, बंगाल, छोटा नागपूर, पश्चिमी घाट एवं दक्षिण प्रायद्वीप में होता है।

इसका **वृक्ष**-ऊंचा या मध्यम ऊंचाई का, ७०–१०० फीट तक होता है। **पत्ते**-सदल पर्ण, १–२$\frac{1}{2}$ फीट लंबे; पत्रक ५-१२ जोड़े, मालाकार या आयताकार-मालाकार, ३–७ इञ्च लंबे, अखण्ड, सवृन्त तथा तिरछे फलक मूल वाले होते हैं। **पुष्प**–छोटे, सुगंधित तथा नवीन टहनियों पर निकलते हैं। **फली**–१ इञ्च तक लंबी आयताकार होती है। **बीज**-दोनों सिरों पर सपक्ष होते हैं। इसकी लकड़ी फर्नीचर बनाने के काम आती है। छाल तथा पुष्प का उपयोग चिकित्सा में किया जाता है।

रासायनिक संगठन—फूलों में लाल रंजक द्रव्य निकटॅन्थिन् (Nyctanthin, $C_{15}H_{18}O_3$) होता है जो पारिजाता के रंजक द्रव्य के समान होता है। छाल में टेनिक एसिड, कडुवी राल, साइट्रिक अॅसिड, स्टार्च तथा अन्य द्रव्य होते हैं। इसमें कोई क्षाराभ नहीं पाया गया है। राख में चूना (Calcium) काफी होता है। काष्ठ में ०·४४% स्वर्ण पीत रंग का उड़नशील तैल होता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल ग्राही, बल्य, पौष्टिक एवं अल्प प्रमाण में ज्वर प्रतिबंधक है। पुष्प गर्भाशय संकोचक हैं।

(१) बच्चों के जीर्ण अतिसार आदि में छाल का प्रयोग करते हैं। विषम ज्वर में दस्त होते हों तो इसको दिया जाता है।

(२) गर्भाशय की शिथिलता के कारण यदि अत्यार्तव हो तो पुष्प या छाल का फांट देते हैं।
(३) छाल का लेप या चूर्ण व्रण पर लगाने से व्रण का संकोचन अच्छा होता है।
मात्रा—छाल २½ तोला फांट बनाकर काली मिर्च के साथ।

अथ भूर्जपत्रः (भोजपत्र)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

भूर्जपत्रः स्मृतो भूर्जश्चर्मी बहुलवल्कलः। भूर्जो भूतग्रहश्लेष्मकर्णहृत्पित्तरक्तजित् ॥ ४७ ॥
कषायो राक्षसघ्नश्च मेदोविषहरः परः ॥ ४८ ॥

भोजपत्र के संस्कृत नाम—भूर्जपत्र, भूर्ज, चर्मी, तथा बहुलवल्कल ये सब हैं।

भोजपत्र—कषाय रसयुक्त एवम् भूतग्रहबाधा, कफ तथा कर्ण सम्बन्धी रोग, पित्त, रक्तविकार तथा राक्षसबाधा का नाशक है। और विशेषतः यह मेद तथा विष को दूर करने वाला है ॥ ४७–४८ ॥

२६ भोजपत्र

हि०-भोजपत्र, भूजपत्र, भोजपत्तर। बं०-भूजिपत्र। म०-भूर्जपत्र। ते०-भोजपत्रमु। अं०-Himalayan Silver Birch (हिमालयन् सिल्व्हर बर्च)। ले०-*Betula utilis D. Don* (बेटुला यूटिलिस्)। Fam. Betulaceae (बेटुलेसी)।

यह गरम हिमालय में काश्मीर में ७ से १२ हजार फीट तक और सिकम में ९ से १४ हजार फीट तक और भूटान में उत्पन्न होता है।

इसका वृक्ष-४०–६५ फीट तक ऊँचा होता है। छाल-चिकनी, चमकीली, सफेद या किञ्चित लाली युक्त सफेद, आड़े धब्बेदार (Lenticel) पर्त के पर्त, कागज के समान एक साथ सटी रहती है और वह आसानी से पृथक् पृथक् हो जाती है। पत्ते-२–३ इञ्च तक लम्बे, १½ इञ्च चौड़े, लट्वाकार, लम्बाग्र, दन्तुर एवं नये पत्ते पीत रालीय बिन्दुओं से युक्त होने के कारण चिपचिपे होते हैं। फूल-बारीक मञ्जरियों में आते हैं और फल-काष्ठवत गोल होते हैं। वृक्ष की छाल को ही भोजपत्र कहते हैं। प्राचीन काल में इनका लिखने के काम में प्रयोग किया जाता था।

इसकी एक अन्य जाति बे. अल्नाइडीस (B. alnoides Buch.) होती है जिसके पेड़ १०० फीट तक ऊंचे होते हैं। छाल मोटे परतों में छूटती है तथा धब्बे छोटे होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें बेटुलिन (Betulin) तथा उड़नशील तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल का क्वाथ वातानुलोमक एवं प्रतिदूषक होता है। इसे कामला, पैत्तिक ज्वर एवं योषापस्मार में दिया जाता है। कर्णस्राव तथा विषाक्त व्रण प्रक्षालन के लिये भी इसका उपयोग करते हैं।

इसके पत्र उत्तेजक एवं स्तम्भन माने जाते हैं। भूतबाधा एवं ग्रह दोष में इसका धूप दिया जाता है।

मात्रा—क्वाथ ५ से १० तोला; चूर्ण १–३ माशा।

अथ पलाशः (ढाक)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

पलाशः किंशुकः पर्णो यज्ञियो रक्तपुष्पकः। क्षारश्रेष्ठो वातपोथो ब्रह्मवृक्षः समिद्वरः ॥४९॥
पलाशो दीपनो वृष्यः सरोष्णो व्रणगुल्मजित्।
भग्नसंधानकृद् दोषग्रहण्यर्शः क्रिमीन् हरेत् ॥

कषायः कटुकस्तिक्तः स्निग्धो गुदजरोगजित् ॥ ५० ॥

ढाक के संस्कृत नाम—पलाश, किंशुक, पर्ण, यज्ञिय, रक्तपुष्पक, क्षारश्रेष्ठ, वातपोथ, ब्रह्मवृक्ष तथा समिद्वर ये सब हैं।

ढाक—कषाय, कटु तथा तिक्त रस युक्त, अग्निदीपक, वृष्य (वीर्यवर्धक), सारक, उष्ण, टूटी अस्थियों को जोड़ने वाला, स्निग्ध एवम्–व्रण, गुल्म, वातादिक दोष, ग्रहणी, अर्श (बवासीर), क्रिमि तथा गुदा में उत्पन्न होने वाले रोगों को दूर करता है ॥ ४८–५० ॥

अथ तत्पुष्पफलयोर्गुणानाह

तत्पुष्पं स्वादु पाके तु कटु तिक्तं कषायकम् ॥ ५१॥
वातलं कफपित्तास्रकृच्छ्रजिद् ग्राहि शीतलम् । तृड्दाहशमकं वातरक्तकुष्ठहरं परम् ॥ ५२ ॥
फलं लघूष्णं मेहार्शःक्रिमिवातकफापहम् । विपाके कटुकं रूक्षं कुष्ठं गुल्मोदरप्रणुत् ॥ ५३ ॥

ढाक के फूल—स्वादिष्ट, तिक्त तथा कषाय रस युक्त, विपाक में कटु रस युक्त, वातजनक, कफ–पित्त, रक्तविकार तथा मूत्रकृच्छ्रनाशक, ग्राही, शीतल, तृषा और दाह को शमन करने वाले एवम् वातरक्त तथा कुष्ठ को अत्यन्त दूर करने वाले होते हैं।

ढाक के फल—लघु, उष्ण, विपाक में कटु रस युक्त, रूक्ष एवम्–प्रमेह, अर्श, कृमि, वात, कफ, कुष्ठ, गुल्म तथा उदररोग के नाशक हैं ॥ ५१–५३ ॥

२७ ढाक

हि०–ढाक, पलाश, परास, टेसू। बं०–पलाश गाछ। म०–पळस। गु०–खाखरो। मु०–खाकरो। क०–मुत्तग। ते०–मोदुगु। ता०–पलासु। अं०–The Forest flame (दि फॉरेस्ट फ्लेम)। ले –Butea frondosa Koen. ex Roxb. (ब्यूटिया फ्रॉन्डोसा)। Fam. Leguminosae (लेग्यूमिनोसी)।

यह अत्यन्त शुष्क भागों को छोड़कर प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है और इसको वाटिकाओं में भी रोपण करते हैं।

इसके वृक्ष–छोटे या मध्यम ऊँचाई के होते हैं तथा समूहों में रहते हैं। पत्ते–त्रिपत्रक होते हैं। पत्रक–१० से २० से० मी० चौड़े, कर्कश, ऊपर से कुछ चिकने किन्तु नीचे मृदु रोमश तथा उभरी हुई शिराओं से युक्त होते हैं। अग्र पत्रक तिर्यगायताकार, वृन्त की तरफ कुछ पतला या अभि अंडाकार, कुण्ठिताग्र या खण्डिताग्र एवं बगल के तिर्यक् अण्डाकार होते हैं। पुष्प–बड़े, सुन्दर, नारंग रक्तवर्ण के होते हैं जो प्रायः पत्रहीन शाखाओं पर एकसाथ बहुत होते हैं। स्वरूप में ये दूर से सुग्गे की चोंच की तरह मालूम होने से इसे किंशुक कहा जाता है। फली–१२·५–२० × २·५–५ से० मी० बड़ी, अग्र की तरफ एक बीज युक्त होती है। बीज–चिपटे, वृक्काकार, २५–३८ मि० मी० लंबे, १६–२५ मि० मी० चौड़े, १·५–२·० मि० मी० मोटे, रक्ताभ भूरे, चमकीले, सिकुडनयुक्त, स्वाद में कुछ कटु एवं तिक्त तथा गंध हलकी होती है। इसका गोंद (Bengal Kino–बंगाल किनो)–रक्तवर्ण, सूखने पर कृष्णाभरक्त, भंगुर और चमकदार होता है।

इसके बीज, पुष्प तथा गोंद का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—बीजों में १८% स्वादहीन तेल, अलब्यूमिनाभ द्रव्य, शर्करा तथा पुष्पों में ग्लूकोसाइड १·५% पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके बीज कृमिघ्न, भेदन तथा कुष्ठघ्न हैं। पुष्प-मूत्रजनन हैं। गोंद उत्तम ग्राही है।

(१) इसके ताजे, कीड़ों द्वारा न खाये हुये बीज, केंचुवे (Round worm-राउण्ड वर्म) के लिये सैन्टोनिन (Santonin) की तरह लाभप्रद होते हैं। इसका स्वाद अच्छा नहीं रहता तथा कभी कभी इससे मिचली, पेट में दर्द या वमन हो सकता है। छिलका निकाल कर बीज देने से दस्त नहीं होता किन्तु छिलके के साथ देने से दस्त होता है।

(२) बीजों को नींबू के रस के साथ घिसकर दाद आदि चर्म रोगों में लगाते हैं।

(३) गोंद अतिसार, प्रवाहिका तथा भोजनोपरान्त गले में खट्टा पानी आता हो तब देते हैं।

(४) फूलों का फांट शोरे के साथ मूत्रावरोध में पिलाया जाता है तथा फूलों से पेडू, कमर आदि सेंकते हैं।

मात्रा—बीजचूर्ण ५-१० रत्ती, गोंद ५-१५ रत्ती।

अथ शाल्मलिः (सेमर)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

शाल्मलिस्तु भवेन्मोचा पिच्छिला पूरणीति च।
रक्तपुष्पा स्थिरायुश्च कण्टकाढ्या च तूलिनी ॥ ५४ ॥
शाल्मली शीतला स्वाद्वी रसे पाके रसायनी।
श्लेष्मला पित्तवातास्त्रहारिणी रक्तपित्तजित् ॥ ५५ ॥

सेमर के संस्कृत नाम—शाल्मलि, मोचा, पिच्छिला, पूरणी, रक्तपुष्पा, स्थिरायु, कण्टकाढ्या तथा तूलिनी ये सब हैं। सेमर-रस तथा विपाक में मधुर रसयुक्त, शीतल, रसायन, कफजनक एवम्-पित्त, वात, रक्तविकार या वातरक्त तथा रक्तपित्त को दूर करने वाला होता है। इसके पुष्पों के गुण आगे शाकवर्ग में दिये हुये हैं।

२८ सेमर

हि०-सेमर, सेमल। बं०-शिमुल गाछ, रक्त सिमुल। म०-कांटे सांवर, लाल सांवर। गु०-शेमलो, सीमुलो। ते०-बुरुग चेट्टु। ता०-शालवघु। मा०-शेमल, सरमलो। अं०-Silk Cotton Tree (सिल्क काटन ट्री)। ले०-*Bombax malabaricum DC.* (बॉम्बॅक्स मालाबारिकम्)। Fam. Bombacaceae (बाम्बेकेसी)।

सेमर—इस देश के प्रायः सब प्रान्तों के वन, उपवन और वाटिकाओं में उत्पन्न होता है।

इसके वृक्ष-बहुत विशाल और मोटे हुआ करते हैं। डालियों पर छोटे-छोटे नुकीले कांटे होते हैं। सतिवन के पत्तों के समान इसके पत्ते-एक एक डण्डी के अन्त में ५-७ फैले हुये होते हैं। फूल-लाल। पुष्पदल-मोटा, लुआबदार एवं २-३ इञ्च तक लम्बा होता है। फल-५-६ इञ्च लम्बे, लम्ब गोलाकार, काष्ठवत् एवं हरे होते हैं और उनके भीतर रेशम जैसी रूई तथा काले बीज होते हैं। इसके १-१॥ साल के छोटे वृक्ष के मूल निकाल कर सुखा लेते हैं जिन्हें सेमल मूसली कहा जाता है।

इसके पुष्प, गोंद तथा कंद का उपयोग किया जाता है। गोंद का आगे स्वतंत्र वर्णन किया गया है।

रासायनिक संगठन—बीजों में स्नेह २२·३% होता है।

गुण और प्रयोग—सेमल मुसली स्नेहन, संग्राहक, पौष्टिक, बृंहण तथा वयःस्थापन है। जननेन्द्रिय पर इसकी कुछ उत्तेजक क्रिया होती है।

(१) इसका १ तोला चूर्ण १ तोला चीनी के साथ १० तोले जल में घोलकर वाजीकरण के लिये पिलाते हैं।

(२) कोमल फल मूत्रजनन होते हैं तथा मूत्रकृच्छ्र में बहुत लाभ करते हैं। यह पाठा की तरह मूत्रेन्द्रिय के लिये शामक होते हैं।

(३) इसके पुष्प, पोस्ते का बीज, चीनी एवं दूध उबालकर अर्श में दिन में ३ बार पिलाते हैं।

(४) गांठों की सूजन पर पत्तों को पीसकर लगाते हैं।

(५) इसके कांटों को मुहांसे आदि पर लगाने से लाभ होता है।

मात्रा—सेमल मूसली चूर्ण ½-१ तोला; फल चूर्ण १ से ३ माशा; पुष्प १ से २ तोला।

अथ मोचरसः। तस्य नामानि गुणांश्चाह

निर्यासः शाल्मलेः पिच्छा शाल्मलीवेष्टकोऽपि च।
मोचास्रावोमोचरसो मोचनिर्यास इत्यपि ॥ ५६ ॥
मोचास्रावो हिमो ग्राही स्निग्धो वृष्यः कषायकः।
प्रवाहिकाऽतिसारामकफपित्तास्रदाहनुत् ॥ ५७ ॥

मोचरस के संस्कृत नाम—शाल्मलिनिर्यास, पिच्छा, शाल्मलीवेष्टक, मोचास्राव, मोचरस, और मोचनिर्यास ये सब हैं।

मोचरस—कषाय रसयुक्त, शीतल, ग्राही, स्निग्ध, वृष्य (वीर्यवर्धक) एवम्—प्रवाहिका अतीसार, आम, कफ, पित्त, रक्तविकार तथा दाह को दूर करने वाला होता है ॥ ५६-५७ ॥

२९ मोचरस

हि०-मोचरस, सेमर का गोंद। बं०-मोचरस, शिमुलेर आटा। म०-सांवरी चा डीक। गु०-शेमलानो गुन्द। अं०-Gum of Silk Cotton Tree (गम् आफ् सिल्क काटन ट्री)।

सेमर वृक्ष के गोंद को "मोचरस" कहते हैं। यह सेमर वृक्ष के स्तम्भ से जहां कीड़े आदि डंक से छिद्र कर देते हैं निकलता है। यह ताजेपन में भूरे रंग का, फिर लाल होता है तथा पुराना होने पर काला सीसम के रंग का हो जाता है। यह भंगुर, पोला तथा हलका होता है। जल में डालने पर यह फूलता है। इसका स्वाद कषाय होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें कॅटेचूटॅनिक असिड (Catechutannic acid) रहता है।

गुण और प्रयोग—यह कषाय, शोणितास्थापन, वेदनास्थापन, स्नेहन, जोरदार संग्राहक एवं बल्य होता है। इसका उपयोग जीर्ण अतिसार, संग्रहणी आंव तथा अत्यार्तव में किया जाता है।

मात्रा—१ से ३ माशा।

अथ कूटशाल्मलिः (कालासेमर)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

कुत्सितः शाल्मलिः प्रोक्तो रोचनः कूटशाल्मलिः।
कूटशाल्मलिकस्तिक्तः कटुकः कफवातनुद् ॥ ५८ ॥
भेद्युष्णः प्लीहजठरयकृद्गुल्मविषापहः। भूतानाहविबन्धास्रमेदःशूलकफापहः ॥ ५९ ॥

काला सेमर के संस्कृत नाम—कुत्सितशाल्मलि, रोचन, कूटशाल्मलि और कूटशाल्मलिक ये सब हैं।

काला सेमर—तिक्त तथा कटु रसयुक्त, कफ वातनाशक, मल का भेदन करने वाला, उष्ण एवम्—प्लीहा, उदररोग, यकृत, गुल्म, विष, भूतबाधा, आनाह, मलबन्ध, रक्तविकार, मेद, शूल तथा कफ का नाशक है॥ ५८–५९॥

३० कूटशाल्मली

हिं०–सफेद सेमल, हतिआन, कटन। बं०–श्वेत सेमुल। म०–पांढ़री सांवर। ते०–बुरूगु। ता०–इलवम्। क०–बिलिबूरग। अं०–White Silk Cotton Tree (व्हाइट सिल्क काटन ट्री); True Kapok Tree (ट्रू कॅपोक ट्री)। ले०–*Ceiba pentandra* (*Linn.*) *Gaertn.*; *Syn. Eriodendron anfractuosum DC.* (सेबा पेन्ट्एन्ड्रा; एरिओडेन्ड्रोन अॅन्फ्रॅक्ट्यूओज़म)। Fam. Bombacaceae (बाम्बेकेसी)।

यह पश्चिम तथा दक्षिण के उष्ण प्रदेशों के जंगलों में पाया जाता है।

इसका वृक्ष-मध्यमाकार का, ५०–१०० फीट ऊँचा होता है। शाखाएं–भूमि के समानान्तर एवं चारों तरफ फैली रहती हैं। केवल नवीन शाखाओं पर कांटे होते हैं। पत्ते–सेमर जैसे करतलाकार संयुक्त होते हैं। फूल–श्वेत रंग के आते हैं। फल–६ इञ्च लंबे, २ इञ्च व्यास के, गोलाकार लंबे होते हैं जिनके भीतर चमकीली सिल्क की तरह रुई से लिपटे काले बीज रहते हैं।

इससे गहरे लाल रंग का अपारदर्शी गोंद प्राप्त होता है जिसे दक्षिण में हत्तिमानके गोंद कहते हैं।

एक साल से कम आयु के वृक्षों की जड़ सफेद मुसली या सिमुल मुसला के नाम से बेची जाती है किन्तु वास्तविक सफेद मुसली इससे भिन्न है जिसका वर्णन पृष्ठ ३९१ पर किया गया है।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में २०–२५% हलके पीले या भूरे रंग का तेल निकलता है।

गुण और प्रयोग—इसकी मुसली मूत्रजनन, बल्य तथा वाजीकर होती है। गोंद संग्राहक होता है। कोमल पत्ते और फल स्नेहन और संग्राहक होते हैं।

(१) मुसली की पेया अतिवीर्यपात से उत्पन्न थकावट में दी जाती है। उदर तथा शोथ में भी मूत्रजनन होने के कारण देते हैं जिससे सूजन कम होती है।

(२) बच्चे रात में सोते समय पेशाब करते हैं उस अवस्था में इसका गोंद दिया जाता है। अतिसारादि में भी इसे देते हैं।

(३) सोजाक में कोमल पत्ते पीसकर देते हैं।

मात्रा—सेमर के समान।

अथ धवः (धौरा)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

धवो धटो नन्दितरुः स्थिरो गौरो धुरन्धरः। धवः शीतः प्रमेहार्शः पाण्डुपित्तकफापहः॥
मधुरस्तुवरस्तस्य फलञ्च मधुरं मनाक्॥ ६०॥

धौरा के संस्कृत नाम—धव, धट, नन्दितरु, स्थिर, गौर तथा धुरन्धर ये सब हैं।

धौरा—मधुर तथा कषाय रसयुक्त, शीतल एवम्–प्रमेह, अर्श, पाण्डु, पित्त तथा कफ का नाशक है। धौरा का फल–थोड़ा मधुर रसयुक्त होता है॥ ६०॥

३१ धौरा

हि०—धौरा, धौं, धव, धों, धववृक्ष। बं०—धाउया गाछ। म०—धावड़ा, धामोड़ा, धवल। गु०—धावड़ो। क०—दिदुंग। ते०—येल्लमद्दि। अं०—Axle-wood (ॲक्सेल-वुड)। ले०—*Anogeissus latifolia Wall.* (एनोजिस्सस् लेटीफोलिया)। Fam. Combretaceae (कॉम्ब्रेटेसी)।

यह पूर्व बंगाल तथा आसाम को छोड़कर प्रायः सब प्रान्तों में कहीं न कहीं पाया जाता है। इसका वृक्ष बड़ा या मध्यम ऊँचाई का होता है। छाल–½ इञ्च मोटा, चिकनी, श्वेताभ धूसर एवं पपड़ी छूटने के कारण कुछ गढेदार होती है। पत्ते–चौड़े, आयताकार, अंडाकार, २–४ इञ्च लंबे, कुण्ठित या गोलाग्र, सनाल एवं पृष्ठ पर बिन्दुकित होते हैं। फरवरी में गहरे लाल रंग के पत्र गिरते हैं तथा मार्च अप्रैल तक वृक्ष पर्णहीन रहता है। पुष्प–छोटे, हरिताभ, मुण्डक के रूप में सितंबर से जनवरी तक आते हैं। फल–चिपटे, द्विपक्ष, चोंचदार एवं दिसम्बर से मार्च तक पकते हैं।

इसकी लकड़ी बहुत मजबूत और लचकदार होती है और गाड़ी के धूरे तथा औजारों की मुठियां आदि बनाने के काम आती है। इसका पर्याय धुरन्धर तथा व्यापारी नाम Axle-wood इसीलिये पड़ा है।

इससे गोंद प्राप्त होता है जो बबूल के गोंद के स्थान पर प्रयोग किया जा सकता है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल तथा पत्तों में टैनिन (Tannin) बहुत होता है।

गुण और प्रयोग—यह शीत, स्तम्भन, रक्तरोधक एवं व्रणरोपक है। इसका उपयोग, अतिसार, प्रवाहिका, अर्श, रक्तपित्त, प्रमेह एवं विष में किया जाता है।

मात्रा—क्वाथ ५ से १० तोला; गोंद ५ से १० रत्ती।

अथ धन्वङ्गः (धामिन) तस्य नामानि गुणांश्चाह

धन्वङ्गस्तु धनुर्वृक्षो गोत्रवृक्षः सुतेजनः ॥ ६१ ॥
धन्वङ्गः कफपित्तास्रकासहृत्तुवरो लघुः। बृंहणो बलकृद्रूक्षः सन्धिकृद् व्रणरोपणः ॥ ६२ ॥

धामिन के संस्कृत नाम—धन्वङ्ग, धनुर्वृक्ष, गोत्रवृक्ष तथा सुतेजन ये सब हैं।

धामिन—कषाय रस युक्त, लघु, बृंहण (रस–रक्तादि–वर्धक), बलकारक, रूक्ष, सन्धानकारक (अस्थियों को टूटने पर जोड़ने वाला), व्रण का रोपण करने वाला एवम्–कफ–पित्त, रक्तविकार तथा खांसी को दूर करने वाला है ॥ ६१–६२ ॥

३२ धामिन

हि०—धामिन, धामन। म०—धामणीचा वृक्ष। गु०—धामण। बं०—धामना गाछ। ते०—चरचि। ता०—सहचि, थड़। क०—बुतले। ले०—*Grewia tiliaefolia Vahl.* (ग्रेविआ टिलीफोलिआ)। Fam. Tiliaceae (टिलीएसी)।

यह हिमालय पहाड़ के निचले भागों में जमुना से नेपाल तक, ४००० फीट की ऊँचाई तक एवं मध्यभारत, मद्रास, बिहार एवं उड़ीसा में पाया जाता है। इसका वृक्ष–मध्यमाकार का होता है। पत्ते–२ से ५ इञ्च तक लम्बे तथा १ से ४ इञ्च तक चौड़े, अण्डाकार, मध्यशिरा के दोनों ओर के भाग छोटे-बड़े, प्रायः कुण्ठिताग्र, गोल दन्तुर, आधार का भाग एक ओर अत्यधिक बढ़ा हुआ एवं १ इञ्च लंबे वृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प–सफेद रङ्ग के छोटे २ फूलों के गुच्छे लगते हैं

जिनके भीतर पीलापन झलकता है। फल-२ से ४ खण्ड के, मटर के समान एवं पकने पर काले पड़ जाते हैं। इसके फल खाने लायक खट्टे होते हैं। इसकी छाल का उपयोग किया जाता है। यह बाहर से धूसर या गहरे भूरे रंग की तथा मोटी होती है। पत्तों को बाल धोने के लिये काम में लाया जाता है। लकड़ी का भी उपयोग फर्नीचर इत्यादि बनाने के लिये किया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल कटु, मधुर, शीत, स्नेहन तथा रक्तसंग्राहिक होती है।

(१) इसके अन्तर्छाल का रस १ से २ तोले की मात्रा में रक्त युक्त आंव में पिलाया जाता है।

(२) केंवाच की फली शरीर में लगने से खुजली होने पर छाल को शरीर पर मलते हैं जिससे त्वरित आराम मिलता है।

(३) अफीम के विष को उतारने के लिये इसकी लकड़ी का कोयला वमन कराने के लिये देते हैं।

मात्रा—छाल स्वरस १ से २ तोला।

अथ करीरः। तस्य नामानि गुणांश्चाह

करीरः क्रकरीपत्रो ग्रन्थिलो मरुभूरुहः। करीरः कटुकस्तिक्त स्वेद्युष्णो भेदनः स्मृतः॥
दुर्नामकफवातामगरशोथव्रणप्रणुत्॥ ६३॥

करील के संस्कृत नाम—करीर, क्रकरीपत्र, ग्रन्थिल तथा मरुभूरुह ये सब हैं।

करील—कटु तथा तिक्त रस युक्त, स्वेदजनक, उष्ण, मल का भेदन करने वाला एवम् अर्श, कफ, वात, आम, विष, शोथ तथा व्रण को दूर करने वाला होता है॥ ६३॥

३३ करील

हि०-करीर, करील, करेल। बं०-करील। म०-नेवती, किरल, सोदद। गु०-केरडो, केर। क०-चिप्पुरी। ते०-करीरमु। फा०-सोदाब। ता०-सेंगम्। ले०-*Capparis aphylla Roth.* (कॅपेरिस् एफीला)। Fam. Capparidaceae (कॅपेरीडेसी)।

यह पंजाब, सिंध, कच्छ, प० राजपुताना, गुजरात एवं दक्षिण के उत्तरी भाग में शुष्क प्रदेशों में होता है। इसका वृक्ष-झाड़दार, कांटेदार, घना, बारीक शाखाओं से भरा हुआ एवं ६-७ फीट तक ऊँचा होता है। पत्ते-केवल नवीन शाखाओं पर होते हैं तथा ये $\frac{1}{2}$ इञ्च लम्बे, रेखाकार, नोकीले, स्वाद में कटु तथा शीघ्र ही गिर जाते हैं। फूल-गुलाबी रङ्ग के, $\frac{1}{2}$ इञ्च व्यास के गुच्छों में वसन्त ऋतु में फूलते हैं। फल-गोल $\frac{1}{2}$-$\frac{3}{4}$ इञ्च व्यास के, लाल या गुलाबी एवं छोटे से वृन्त पर आते हैं।

इसकी कली एवं फलों का अचार बनाते हैं। औषध में कली, फल तथा छाल का उपयोग करते हैं।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल तिक्त एवं स्रंसन, स्वेदजनन, अर्शोघ्न एवं शोथहर है। कोमल पत्ते तथा शाखा स्फोटजनन होते हैं। फल संग्राहक होते हैं।

(१) दंतशूल में पत्ते तथा नवीन शाखाएँ चबाने को देते हैं। सूजन, फोड़े आदि पर इसे लगाने से लाभ होता है।

(२) अतीसार तथा पुरानी आंव में फलों का अचार देते हैं।

(३) मूल तथा मूल की छाल आमवात तथा विषमज्वर में दी जाती है।

मात्रा—त्वक् चूर्ण १ से २ माशा।

अथ शाखोटः (सहोरा)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

शाखोटः पीतफलको भूतावासः खरच्छदः।
शाखोटो रक्तपित्तार्शोवातश्लेष्मातिसारजित्॥ ६४॥

सहोरा के संस्कृत नाम—शाखोट, पीतफलक, भूतावास और खरच्छद ये सब हैं। सहोरा–रक्तपित्त, अर्श, वात, कफ तथा अतिसार को दूर करने वाला होता है॥ ६४॥

३४ सिहोरा

हि०–सहोरा, सिहोड़ (ड़ा), सिहोर। बं०–शेओड़ा। म०–सहोड़, करवती। गु०–साहोड़ा। ते०–मारिगिके चेट्टु। ता०–पिरे। क०–आखोड़। ले०–*Streblus asper Lour.* (स्ट्रेब्लस् असपेर्)। Fam. Moraceae (मोरेसी)।

सहोरे के वृक्ष जांगल देशों के अधिक शुष्कभागों में रुहेलखंड से पूर्व और दक्षिण की ओर ट्रावनकोर तक तथा बंगाल, बिहार, मध्य प्रदेश आदि प्रान्तों में अधिक होते हैं। ये क्षीरी वृक्ष–अत्यन्त गठीले, झाड़दार और मध्यमाकार तथा २० फीट तक ऊँचे होते हैं। इसके पत्ते कुछ गोल, छोटे छोटे, दोनों ओर से खरदरे और २–४ इञ्च लम्बे होते हैं। उन पर छोटी २ उठी हुई बून्दे होती हैं। फूल–सफेद रङ्ग के, पुरुष और स्त्रीजाति के अलग अलग लगते हैं। फल–पीले रंग के और उनमें एक एक बीज निकलते हैं। पौष से फाल्गुन महीने तक इसके फूल लगते हैं और वैसाख से आषाढ़ तक फल पक जाते हैं। बकरी के दूध मे इसके क्षीर को डालने से दूध जम जाता है। (रा० नि०)। इसकी छाल एवं क्षीर का उपयोग करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसको छाल में तिक्त द्रव्य पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—(१) इसकी छाल का क्वाथ ज्वर, अतिसार तथा प्रवाहिका में दिया जाता है। गोमूत्र के साथ क्वाथ को श्लीपद में देते हैं।

(२) इसके मूल को पुराने व्रण तथा नाड़ी व्रण में लगाते हैं। हाथ पैर फटने पर इसका दूध लगाते हैं।

अथ वरुणः (वरना)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

वरुणो वरणः सेतुस्तिक्तशाकः कुमारकः।
वरुणः पित्तलो भेदीश्लेष्मकृच्छ्राश्ममारुतान्॥ ६५॥
निहन्ति गुल्मवातास्रकृमींश्चोष्णोऽग्निदीपनः।
कषायो मधुरस्तिक्तः कटुको रूक्षको लघुः॥ ६६॥

वरना के संस्कृत नाम—वरुण, वरण, सेतु, तिक्तशाक और कुमारक ये सब हैं।

वरना—कषाय, मधुर, तिक्त तथा कटु रस युक्त, रूक्ष लघु, पित्तजनक, मल का भेदन करने वाला, उष्ण, अग्निदीपक एवम्—कफ, मूत्रकृच्छ्र, पथरी, वायु, गुल्म, वातरक्त तथा कृमि को दूर करने वाला होता है॥ ६५–६६॥

३५ वरना

हि०–वरुन, बरना। बं०–वरुन गाछ, वरुण गाछ। म०–वायवर्णा। गु०–वरणो, कागडाकेरी। क०–नारुवे। ते०–मगलिंगम्। ता०–मरलिङ्गम। ले०–*Crataeva nurvala Buch.-Ham.* (क्रे० नुर्वाला)। Fam. Capparidaceae (कॅपेरीडेसी)।

यह मालाबार और कनारा में नदियों के आस पास पाया जाता है तथा सभी स्थानों पर लगाया हुआ भी होता है। इसका वृक्ष-मध्यमाकार का होता है और शाखाएँ-फैली हुई रहती हैं। छाल-आध इञ्च मोटी सफेद रङ्ग की होती है। टहनियों पर सफेद दाग होते हैं। पत्ते-तीन-तीन पत्रकों के पाणिवत् सदल पर्ण होते हैं जो बेल की तरह किन्तु लंबे वृन्त से युक्त दिखलाई देते हैं। पत्रक-लट्वाकार या भालाकार एवं लम्बाग्र होते हैं। पुष्प-श्वेत, पीत या गुलाबी, भिन्न-भिन्न रंग के होते हैं। फल-नीबू के आकार के तथा पकने पर लाल हो जाते हैं। पत्तों का स्वाद कड़वा तथा उन्हें मसलने से उग्र गंध आती है।

इसकी छाल, पत्ते तथा पुष्पों का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—छाल में सैपोनिन तथा टॅनिन पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह तिक्त, उष्ण, वातनाशक, दीपन, स्रंसन, मूत्रजनन, अश्मरीघ्न, एवं शोथघ्न है। ताजे पत्तों का लेप करने से त्वचा लाल हो जाती है तथा फोड़े निकल आते हैं।

(१) अश्मरी, शर्करा, बस्तिशूल, मूत्रकृच्छ्र आदि मूत्रविकारों में इसकी छाल का प्रयोग अपामार्ग, पुनर्नवा, यवक्षार, गोखरू, मुलेठी इत्यादि के साथ किया जाता है।

(२) मूल का क्वाथ मधु मिलाकर गण्डमाला तथा अपक्व विद्रधि में दिया जाता है। (च० द०)। गण्डमाला में लेप भी किया जाता है। क्वाथ में सोंठ एवं कचनार की छाल भी मिलाई जा सकती है।

(३) पेट फूलना तथा कुपचन में पत्तों का फांट बनाकर देते हैं। इससे वमन बंद होता है।

(४) पत्तों का साग मेद कम करने के लिये खिलाते हैं।

(५) पुष्प ग्राही तथा पित्तविरेचक माने जाते हैं।

मात्रा—क्वाथ ५ से १० तोला; मूल या त्वक् चूर्ण ३–६ माशा।

अथ कटभी। तस्य नामानि तत्फलस्य च गुणाँश्चाह

कटभी स्वादुपुष्पश्च मधुरेणुः कटम्भरः। कटभी तु प्रमेहार्शोनाडीव्रणविषक्रिमीन् ॥ ६७ ॥
हन्त्युष्णा कफकुष्ठघ्नी कटू रूक्षा च कीर्तिता। तत्फलं तुवरं ज्ञेयं विशेषात्कफशुक्रहृत् ॥६८॥

कटभी के संस्कृत नाम—कटभी, स्वादुपुष्प, मधुरेणु तथा कटम्भर ये सब हैं।

कटभी—कटुरसयुक्त, रूक्ष, उष्ण एवम्—प्रमेह, अर्श, नाडीव्रण (नासूर), विष, क्रिमि, कफ तथा कुष्ठ को नाश करने वाली होती है।

कटभी का फल—कषाय रस युक्त तथा विशेषतः कफ और शुक्र का नाशक होता है ॥६७-६८॥

२६ कटभी ? कुम्भी, कुम्भीर

नोट—कटभी के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। ज्योतिष्मती का नाम भी कटभी दिया हुआ है। श्री ठा० बलवन्तसिंह जी श्वेत शिरीष, आलबीजिया प्रोसेरा (Albizzia procera) को कटभी मानते हैं। श्री बापालाल शाह वैद्य कॅरेया आर्बोरिया (Careya arborea) को कटभी कुम्भी दोनों मानते हैं जिसे अन्य विद्वानों ने केवल कुम्भी माना है। शिरीष के अन्तर्गत श्वेत शिरीष का वर्णन किया जा चुका है जिसके कटभी होने की अधिक संभावना है। यहां संक्षेप में कुम्भी का भी वर्णन किया जा रहा है।

हि०, बं०-कुम्भी। म०-कुम्भा। ले०-*Careya arborea Roxb.* (कॅरेया आर्बोरिया)। Fam. Lecythidaceae (लेसीथीडेसी)।

यह हिमालय के निचले भागों में कांगड़ा से लेकर पूर्व में बंगाल तथा मध्य, पश्चिम एवं दक्षिण भारत में ५००० फ़ीट तक होता है।

इसके वृक्ष-छोटे या मध्यम ऊँचाई के होते हैं। पत्ते-बहुत बड़े, ६-१५ इञ्च लंबे, अभिलट्वाकार (ऊपर की ओर चौड़े तथा नीचे की ओर संकुचित), चिकने, गोल दन्तुर एवं टहनियों के अग्रपर समूहबद्ध होकर रहते हैं। पुष्प-श्वेत या गुलाबी, गुच्छे में रहते हैं। फल-गोलाई लिये हुये, हरे, २½-३ इञ्च व्यास के एवं शीर्षपर बाह्यनाल से युक्त रहते हैं।

इसकी छाल का प्रयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में १९% टैनीन होता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल उत्तम स्तम्भन है।

(१) सूखी खांसी में छाल के क्वाथ से कुल्ला कराते हैं तथा इसकी गोली चूसने को देते हैं। खांसी में ताजी छाल का रस या पुष्प मधु के साथ देते हैं।

(२) प्रदर में छाल को ६ से १२ रत्ती की मात्रा में घृत एवं मधु के साथ देते हैं। विस्फोटक ज्वर जैसे मसूरिका में ज्वर तथा कण्डू दूर करने के लिये छाल का प्रयोग करते हैं।

(३) पीडा युक्त शोथ तथा व्रण पर छाल को पीस कर बांधते हैं तथा व्रण प्रक्षालन के लिये इसका क्वाथ प्रयोग करते हैं।

(४) सर्प विष में छाल का रस पिलाते हैं तथा पीसकर दंश स्थान पर बांधते हैं।

मात्रा—छाल १ से ३ माशा।

अथ मोक्षः (मोखावृक्ष) पलाशवत्पर्वतवृक्षः । तस्य नामानि गुणांश्चाह

मोक्षस्तु मोक्षकोऽपि स्याद् गोलीढोगोलिहस्तथा।
क्षारश्रेष्ठः क्षारवृक्षो द्विविधः श्वेतकृष्णकः ॥ ६९ ॥
मोक्षकः कटुकस्तिक्तो ग्राह्युष्णः कफवातहृत्। विषमेदोगुल्मकण्डूबस्तिरुक्कृमिशुक्रनुत् ॥७०॥

मोखा के संस्कृत नाम—मोक्ष, मोक्षक, गोलीढ, गोलिह, क्षारश्रेष्ठ तथा क्षारवृक्ष ये सब हैं। यह सफेद तथा काले के भेद से दो प्रकार का होता है।

मोखा—कटु तथा तिक्त रसयुक्त, ग्राही, उष्ण एवम्-कफ, वात, विष, मेद, गुल्म, खुजली, बस्तिसम्बन्धी रोग, कृमि तथा शुक्र का नाशक है ॥ ६९-७० ॥

नोट—गुडूच्यादिवर्ग में पाटला के भेद में मोक्षक को बतलाया गया है किन्तु मोक्षक यह उससे भिन्न है। इसी प्रकार इसमें भी दो भेद श्वेत एवं कृष्ण, भावप्रकाशकार ने माने हैं। यहां दोनों का वर्णन किया गया है। मोक्षक अधिकतर श्वेत को कहा गया है।

३७ मोखा

सं०—मोक्षक, श्वेत मोक्षक। **हि०**—मोखा, एकसिरा। **बं०**—घण्टा पारुल। **म०**—मोखाडा। **ता०**—मगलिंगम्। **ते०**—मगलिंग। **ले०**—*Schrebera swietenioides Roxb.* (श्रेबेरा स्वीटेनियोइडिस्)। Fam. Oleaceae (ओलिएसी)।

यह कुमाऊं से पूर्व, मध्यभारत तथा राजपुताना में पाया जाता है।

इसका वृक्ष-मध्यम ऊंचाई का होता है। पत्ते-पक्षवत् सदल होते हैं। पत्रक-संख्या में ३-७, लट्वाकार, आयताकार या लट्वाकार-भालवत्, ३-७ इञ्च लंबे, फलक क्रमशः

संकुचित होकर सूक्ष्म वृन्त से युक्त और अग्र किंचित् लम्बाग्र होता है। पुष्प-श्वेताभ, बाह्यकोश घंटिकाकार, और आभ्यंतर कोश व्यस्त छत्राकार होते हैं। फल-नीचे की ओर लटका हुआ, नाशपाती के आकार का, २·५ इञ्च लंबा तथा १ इञ्च चौड़ा होता है। बीज-प्रत्येक कोष्ठ में २-४ कोनदार सपक्ष बीज होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके जड़ से सिद्ध घृत कुष्ठ में लाभदायक है। (सु० चि० अ० ९)। इसका क्षार अच्छा माना गया है तथा मुखरोग तथा ग्रहणी आदि में लाभदायक बताया गया है। बिहार में आदिवासियों में बच्चों के अण्डकोश बढ़ने पर इसके फल को कमर में बांधने की प्रथा है।

३७ (क) कालामोखा

सं—कृष्णमोक्षक ?। हि०-कालामूका, रतनगरूर। बं०-भूतपत्र, भूतकेशी। ले०-*Elæodendron glaucum Pers.* (एलिओडेन्ड्रोन् ग्लॉकम्)। Fam. Celastraceae (सिलेस्ट्रेसी)।
यह अनेक स्थानों में पाया जाता है तथा बगीचों में लगाया हुआ भी मिलता है।

इसके छोटे वृक्ष होते हैं। पत्ते-गहरे हरे रंग के, चिकने, २-६ × १-३ इञ्च बड़े, लट्वाकार, नोकीले, सवृन्त (वृन्त १ इञ्च तक) एवं गोल या नोकीले दांतों वाले होते हैं। पुष्प-हरित-श्वेत या भूरे; फल-अष्ठिल तथा ३/४ इञ्च लंबे होते हैं।

गुण और प्रयोग-इसकी छाल ग्राही एवं शोथघ्न होती है। भूतोन्माद में पत्तियों का धूआं दिया जाता है जिससे चेतना आती है तथा शिरःशूल में नस्य दिया जाता है।

अथ जलशिरीषिका (जलसिरिस-टिण्टिनी-ढाढोन इति च)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

शिरीषिका टिण्टिनिका दुर्बलाऽम्बुशिरीषिका। त्रिदोषविषकुष्ठार्शोहरी वारिशिरीषिका ॥७१॥

ढाढोन के संस्कृत नाम—शिरीषिका, टिण्टिनिका, दुर्बला, अम्बुशिरीषिका तथा वारिशिरीषिका ये सब हैं। ढाढोन—त्रिदोष, विष, कुष्ठ तथा बवासीर को दूर करने वाला होता है ॥ ७१ ॥

३८ जलसिरिस

जल शिरीष क्या है इसका निर्णय अभी नहीं किया जा सका है। संभव है शिरीष की तरह का कोई वृक्ष हो जो जल के समीप होता हो। मराठी नाम 'जल शिरसी' यह ट्राइकोडेस्मा झेलेनिकम् (Trichodesma zeylanicum R. Br.) के लिये लिखा हुआ मिलता है। अभी इसके विषय में अधिक अन्वेषण की आवश्यकता है।

अथ शमी (छोंकरा)। तस्या नामानि गुणांश्चाह

शमी शक्तुफला तुङ्गा केशहन्त्री शिवाफला।
मंगल्या च तथा लक्ष्मीः शमीरः साऽल्पिका स्मृता। ७२ ॥
शमी तिक्ता कटुः शीता कषाया रेचनी लघुः।
कफकासभ्रमश्वासकुष्ठार्शःकृमिजित् स्मृता ॥ ७३ ॥

शमी के संस्कृत नाम—शमी, शक्तुफला, तुङ्गा, केशहन्त्री, शिवाफला, मङ्गल्या तथा लक्ष्मी ये सब हैं। छोटे शमीवृक्ष का नाम 'शमीर' है।

शमी—तिक्त, कटु तथा कषाय रसयुक्त, शीतल, रेचक, लघु एवम्-कफ, कास (खांसी), भ्रमरोग श्वास, कुष्ठ, अर्श तथा कृमि का नाशक है ॥ ७२-७३ ॥

३९ छोंकर (शमी)

हि०—छोंकर, शमी छिकुर। बं०-शाई। म०-शमी। गु०-खीजड़ो, खमड़ी। ता० कलिसम्, वण्णि। ते०—जम्मि। पं०-जंड, जंडी। ले०-*Prosopis spicigera Linn.* (प्रोसोपिस् स्पिसिजेरा) Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह पञ्जाब, सिन्ध, राजपूताना, गुजरात, और बुन्देलखण्ड में अधिक होती है और इस को वाटिकाओं में भी लगाते हैं। इसका कंटीदार वृक्ष छोटा होता है और शाखायें पतली होती हैं। कांटे शंक्वाकार, सीधे तथा कुछ चिपटे होते हैं। पत्ते-द्वि-पक्षवत्, उपपक्ष प्रायः दो जोड़े, विपरीत, १–२ इञ्च लम्बे और उपपक्षों के प्रत्येक जोड़े के बीच में एक-एक ग्रंथि होती है। पत्रक ८–१२ जोड़े, अवृन्त, तिर्यगायताकार, चिकने, चमड़े जैसे कड़े एवं उनका अग्र कड़ा और तीक्ष्ण होता है। पुष्प—पीताभ, छोटे, २–३ इञ्च लम्बी मंजरी में आते हैं। फली—लटकी हुई, बीच-बीच में संकुचित तथा ५–१० इञ्च लम्बी होती है जिनमें १०–१५ बीज मधुर फलमज्जा के भीतर रहते हैं।

कच्ची फलियों का साग बनाकर मारवाड़ तथा पंजाब में खाते हैं। दशहरा को लोग इस वृक्ष का पूजन करते हैं।

इसकी छाल, पुष्प तथा फली का उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल संग्राहक एवं रक्तपित्तशामक होती है। इसकी फली केश को हानि पहुंचाने वाली होती है। (च. सू. अ. २७, सु. सू. अ. ४६)। बालों को हटाने के लिये इसकी राख को मलते हैं।

गर्भपात न हो इसलिये इसके फूलों को कूट कर मिश्री मिलाकर गर्भिणी को खिलाया जाता है।

अथ सप्तपर्णः (छतिवन–सतौना)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

सप्तपर्णो विशालत्वक् शारदो विषमच्छदः ॥ ७४ ॥
सप्तपर्णो व्रणश्लेष्मवातकुष्ठास्रजन्तुजित्। दीपनः श्वासगुल्मघ्नः स्निग्धोष्णस्तुवरः सरः ॥७५॥

छतिवन के संस्कृत नाम—सप्तपर्ण, विशालत्वक, शारद तथा विषमच्छद ये सब हैं।

छतिवन—कषायरसयुक्त, अग्निदीपक, स्निग्ध, उष्ण, सारक एवम्-व्रण, कफ, वात, कुष्ठ रक्तविकार, जन्तु, श्वास तथा गुल्म का नाशक है। ७४-७५ ॥

४० सतौना

हि०—सतौना, सतवन, छतिवन, सतिवन। बं०-छातिम। म०—सातवीण। गु०-सातवण। क०-हाले। ते०—एडाकुलरि। ता०-एलिलैप्पालै। ले०—*Alstonia scholaris R. Br.* (एल्स्टोनिया स्कोलेरिस्) Fam. Apocynaceae (एपोसाइनेसी)।

सतिवन का वृक्ष प्रायः सब आर्द्र प्रान्तों में पाया जाता है। किन्तु विशेषरूप से प० समुद्र के किनारे के जंगलों में अधिक पाया जाता है।

इसका वृक्ष-सुन्दर, विशाल, सीधा, सदाहरित एवं क्षीरयुक्त होता है। शाखाएं तथा पत्ते चक्रिक क्रम में निकले रहते हैं।

पत्ते—प्रति चक्र में ३–७, प्रायः ६, चिकने, आयताकार-भालाकार या अभिअंडाकार ऊपर से चमकीले किन्तु नीचे से श्वेताभ, ४–८ इञ्च लंबे तथा ६–१३ मि० मी० लंबे वृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प—हरिताभ श्वेत तथा गुच्छों में आते हैं। फली—दो-दो एक साथ, नीचे लटकी हुई, १–२ फीट लंबी तथा ३ मि० मी० व्यास की होती है। बीज–६ मि० मी० लंबे, चिपटे तथा रोमश होते हैं।

छाल—टहनियों की ३–४ मि० मी० मोटी, मुड़ी हुई एवं काण्ड की ७ मि० मी० मोटी होती है। बाहर से नवीन छाल गहरे धूसर या भूरे रंग की तथा पुरानी बहुत खुरदरी, असमान, फटी हुई होती है तथा उन पर अनेक गोल या आडे धूसर या सफेद धब्बे रहते हैं। अन्दर से यह भूरे-पीताभ या गहरे धूसराभ भूरे रंग की, कुछ धारीदार तथा गढ़ेदार रहती है। यह गंधहीन एवं स्वाद में तिक्त रहती है।

इसकी छाल, पत्र, पुष्प तथा दुग्ध का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—छाल में क्षाराभ की मात्रा ०·१६–०·२७% रहती है जिस में प्रधानता एचिटेमाइन (Echitamine, $C_{23} H_{28} O_4 N_2 H_2O$) की तथा अल्प मात्रा में एचिटामिडीन (Echitamidine, $C_{20} H_{26} O_3 N_2$) रहता है। इन क्षाराभों का मलेरिया के लिये कोई लाभदायक परिणाम नहीं पाया गया है। क्षीर में केउटचौक (Caoutchouc) तथा राल होती है तथा इसका स्वाद कडुवा होता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल उष्ण, तिक्त, तिक्तपौष्टिक, कषाय, स्तंभन, कृमिघ्न, स्तन्यजनन, दीपन एवं कुष्ठघ्न है। इसका उपयोग ज्वर, विषमज्वर, अतिसार, प्रवाहिका, चर्मरोग एवं कृमि में किया जाता है।

(१) इससे ज्वर कम होता है। आधुनिक परीक्षणों से देखा गया है कि मलेरिया में कोई विशेष लाभ नहीं होता, केवल ज्वर का वेग कम होता है तथा बाद में तिक्त पौष्टिक रूप में इससे लाभ होता है जिससे पाचन सुधरता है तथा मन्दज्वर भी चला जाता है।

(२) अतिसार एवं प्रवाहिका की जीर्णावस्था में समग्र त्वचा का क्वाथ लाभदायक होता है।

(३) प्रसूति के पश्चात् इसके साथ सुगंधि द्रव्य देने से दुग्ध की मात्रा बढ़ती है तथा ज्वर, नहीं आता तथा पाचन ठीक रहता है।

(४) पुराने व्रणों पर इसका लेप करते हैं। चर्मरोगों में क्षीर का लेप भी लाभदायक है।

मात्रा—त्वक् चूर्ण ४–८ माशा; क्वाथ के लिये २–४ तोला; घनसत्व $\frac{1}{2}$–$\frac{3}{4}$ तोला।

अथ तिनिशः (तिरिच्छ)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

तिनिशः स्यन्दनो नेमी रथद्रुर्वञ्जुलस्तथा। तिनिशः श्लेष्मपित्तास्रमेदःकुष्ठप्रमेहजित्॥
तुवरः श्वित्रदाहघ्नो व्रणपाण्डुकृमिप्रणुत्॥ ७६॥

तिरिच्छ के संस्कृत नाम—तिनिश, स्यन्दन, नेमी, रथद्रु तथा वञ्जुल ये सब हैं।

तिरिच्छ—कषाय रस युक्त एवम् कफ, पित्त, रक्तविकार, मेद, कुष्ठ, प्रमेह, श्वेतकुष्ठ, दाह, व्रण, पाण्डु तथा कृमि का नाशक है॥ ७६॥

नोट—तिनिश के संस्कृत पर्यायों के आधार पर यह निःसंदेह यूजिनिया डल्बर्जिओडिस् (Ougeinia dalbergioides) वृक्ष है। किन्तु गलती से कहीं-कहीं इसका नाम लाजरस्ट्रोमिया फ्लोस रेजिनी (Lagerstroemia flos-reginae) लिखा मिलता है जिसे अर्जुन भी कहा गया है। यहाँ दोनों का संक्षेप में वर्णन किया गया है।

४१ तिनिश, पानन

हि॰ सानन, पानन, सन्दन। बं॰-तिनिश। गु॰-तणछ। म॰-तिमस। ता॰-नारिवेगई। ते॰-तेल्ल मोट्टकु। ले॰-*Ougeinia dalbergioides Benth.* (यूजिनिया डल्बर्जिओइडिस्)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह हिमालय में ५००० हजार फीट तक पञ्जाब से भूटान तक एवं अवध, बुंदेलखण्ड, छोटा-नागपुर, मध्य भारत, उड़ीसा, सरकार, मध्यप्रदेश, बंबई तथा मारवाड़ में होता है।

इसके वृक्ष-छोटे तथा टेढ़े-मेढ़े होते हैं। शाखा-पतली तथा श्वेताभ होती है। पत्ते-त्रिपत्रक तथा प्रायः नीचे से कुछ रजावृत होते हैं। अग्रय पत्रक ३–६ इञ्च लंबे, अंडाकार, वृत्ताकार या अभिअंडाकार, कुण्ठिताग्र, एवं अखण्ड या गोल-दन्तुर होते हैं। पार्श्व पत्रक छोटे, विपरीत तथा तिर्यक् होते हैं। पुष्प-श्वेत या गुलाबी एवं प्रायः पुराने काण्ड से बहुत बड़ी संख्या में निकलते हैं। फली-२–४×$\frac{1}{2}$ इञ्च लंबी होती है।

इसकी लकड़ी बहुत मजबूत होने के कारण प्रायः गाड़ी के धुरों के लिए काम में लाई जाती है। इसके स्थानिक नाम तिनसा तथा सानन संस्कृत पर्याय तिनिश एवं स्यन्दन के अपभ्रंश मालूम पड़ते हैं। इसी तरह रथद्रु नाम इसका रथ में उपयोग की ओर संकेत करता है।

इसकी लकड़ी में घाव करने से एक प्रकार का गोंद भी प्राप्त होता है।

गुण और प्रयोग—यह कषाय, ग्राही, कफपित्त शामक, रसायन एवं वयस्थापन (सु॰ चि॰ अ॰ १) है। इसका उपयोग कुष्ठ (च॰ चि॰ अ॰ ७), रक्तातिसार (सु॰ उ॰ अ॰ ४०), प्रमेह, रक्तदोष एवं ज्वर में किया जाता है।

(१) इसके छाल का क्वाथ ज्वरहर माना जाता है तथा जब पेशाब का रंग गहरा होता है तब इसे पिलाते हैं।

(२) इसका गोंद अतिसार तथा प्रवाहिका में देते हैं।

४२ जारुल

हि॰—जरुल, जारुल, अर्जुन? बं॰-जरूल। म॰-ताम्हण। ता॰—कोदली। ते॰-वारगोगु। ले॰—*Lagerstroemia flos-reginae Retz.* (लाजरस्ट्रोमिया फ्लोस रेजिनी)। Fam. Lythraceae (लिथरेसी)।

यह पूरब बङ्गाल, आसाम और रत्नागिरी आदि प्रान्तों में उत्पन्न होता है।

यह प्रायः नदियों के किनारे तथा पहाड़ियों से निर्गम स्थान पर होता है। इसको शोभा के लिये बागों में लगाते भी हैं।

इसका वृक्ष-बड़ा, ३०–६० फीट तक ऊंचा होता है। पत्ते-४ से ८ इञ्च तक लम्बे कुछ चौड़े, किञ्चित अण्डाकार, आयताकार-भालाकार और नुकीले होते हैं। फूल-सुन्दर, २ ३ इञ्च के घेरे में बैंगनी युक्त लाल होते हैं। बाह्यदल श्वेत रज से आवृत होते हैं। फल-१$\frac{1}{2}$–१ इञ्च बड़े कुछ गोल होते हैं।

रासायनिक संघटन—इसके प्रत्येक भाग में विशेष करके पुराने पत्तों एवं पके फलों में इन्सुलिन (Insulin) के समान, रक्तगत शर्करा की मात्रा को कम करने वाला पदार्थ पाया गया है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल तथा पत्ते-रेचक होते हैं। बीज मादक माने जाते हैं। मूल ग्राही तथा ज्वरनाशक है। छाल का क्वाथ ज्वर में दिया जाता है। मुख के व्रणों में फल का स्थानिक उपयोग किया जाता है।

अथ भूमीसहः (सागोन)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

भूमीसहो द्वारदारुर्वरदारुः खरच्छदः। भूमीसहस्तु शिशिरो रक्तपित्तप्रसादनः ॥ ७७ ॥

सागोन के संस्कृत नाम– भूमीसह, द्वारदारु, वरदारु तथा खरच्छद ये सब हैं।

सागोन—शीतल एवं रक्तपित्त को शुद्ध करने वाला है ॥ ७७ ॥

४३ सागोन

सं०—शाक, साग। हि०-सागोन, सागवन, सागु (ग) वान। बं०-सेगुन गाछ। म०-गु०-सागवान। क०-तेगिन। ते०-तेकु। ता०-टेकु। अं०-Indian Teak Tree (इण्डियन टीक ट्री)। ले०—*Tectona grandis Linn.* (टेक्टोना ग्रैन्डिस)। Fam. Verbenaceae (वर्बिनेसी)।

इसके वृक्ष दक्षिण तथा मध्य भारत में अधिक होते हैं। यह वृक्ष-बहुत ऊँचा, सीधा और विशाल होता है। ५०-६० फीट की ऊंचाई पर शाखाएं होती हैं। इसके पत्ते-बहुत लम्बे चौड़े, ऊपर से खरदरे और नीचे से सफेद रोवेंदार होते हैं। इनको हाथ से मलने से हाथ लाल हो जाता है। फूल-सफेद रंग के गुच्छों में आते हैं। फल-छोटे, $\frac{3}{4}$ इञ्च व्यास के, गोलाकार रोमश होते हैं। सागोन एक प्रयोजनीय और प्रसिद्ध काष्ठ है। इसकी लकड़ी से तख्ते, बक्स, आलमारी इत्यादि बहुत चीजें बनाते हैं। यह हलकी, चिक्कन और टिकाऊ होती है तथा इसमें दीमक नहीं लगती। इसके सभी भागों का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके काष्ठ में क्विनीन सदृश पदार्थ टेक्टोक्विनीन (Tectoquinine), राल २.९३% जो चर्म के लिये प्रक्षोभक होती है, कुछ उड़नशील तेल तथा अन्य स्नेह पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल या काष्ठ पित्तशामक कुछ स्तम्भन एवं कृमिघ्न है। शोथ एवं शिरःशूल में इसका लेप किया जाता है। कुपचन, पित्त प्रकोप तथा पेट की जलन में इसका चूर्ण ३-१२ माशे की मात्रा में देते हैं।

इसके पुष्प तथा बीज मूत्रजनन हैं। मुत्रावरोध में फूलों से पेडू पर सेंकते हैं तथा फांट पिलाते हैं।

बीजों का तेल केशवर्धक है तथा खुजली (पामा) में लगाया जाता है।

इसके पत्तों का रस खपड़े में गरम करके विसर्प पर लगाते हैं। पत्तों को पीस कर बिसारी (Whitlow) पर बांधते हैं।

सर्प (फुरसा) दंश से रक्तस्राव होता हो तो इसके कोमल अंकुरों के रस से बंद होता है।

मात्रा—त्वक् चूर्ण ३-१२ माशा।

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे षष्ठो

वटादिवर्गः समाप्तः ॥ ६ ॥

अथ आम्रादिफलवर्गः

तत्रादावाम्रः (आम)। तस्य नामान्याह

आम्रश्चूतो रसालश्च सहकारोऽतिसौरभः। कामाङ्गो मधुदूतश्च माकन्दः पिकवल्लभः ॥ १ ॥

आम के संस्कृत नाम—आम्र, चूत, रसाल, सहकार, अतिसौरभ, कामाङ्ग, मधुदूत, माकन्द और पिकवल्लभ ये सब हैं ॥ १ ॥

अथाम्रपुष्पगुणानाह

आम्रपुष्पमतीसारकफपित्तप्रमेहनुत्। असृग्दुष्टिहरं शीतं रुचिकृद् ग्राहि वातलम् ॥ २ ॥

आमका फूल-शीतल, रुचिकारक, ग्राही, वातजनक, एवम्-अतीसार, कफ, पित प्रमेह तथा रक्तदोष को दूर करने वाला होता है ॥ २ ॥

अथामाम्रफलम् (अमिया)। तस्य गुणानाह

आमं बालं कषायाम्लं रुच्यं मारुतपित्तकृत्। तरुणं तु तदत्यम्लं रूक्षं दोषत्रयास्रकृत् ॥ ३ ॥

अमिया (आम के कच्चे फल) कषाय तथा अम्लरसयुक्त, रुचिकारक एवं वात और पित्त को उत्पन्न करने वाला होता है। प्रौढ़ आम का कच्चा फल—तो अत्यन्त अम्ल रस युक्त तथा रूक्ष होता है एवम त्रिदोष तथा रक्त विकार को उत्पन्न करने वाला होता है ॥ ३ ॥

अथ शुष्कामाम्रफलम् (अमचूर)। तस्य लक्षणगुणानाह

आम्रमामं त्वचाहीनमातपेऽतिविशोषितम्। अम्लं स्वादु कषायं स्याद्भेदनं कफवातजित ॥४॥

अमचूर के लक्षण—कच्चे आम के ऊपर का छिलका उतार कर यदि उसे धूप में डाल दिया जाय तो अत्यन्त सूख जाने पर उसे अमचूर कहते हैं। अमचूर-अम्ल तथा कषाय रस युक्त, स्वादिष्ट, मल का भेदन करने वाला एवम् कफ तथा वात को दूर करने वाला होता है ॥ ४ ॥

अथ पक्वाम्रफलम् (पका आम)। तस्य गुणानाह

पक्वं तु मधुरं वृष्यं स्निग्धं बलसुखप्रदम्। गुरु वातहरं हृद्यं वर्ण्यं शीतमपित्तलम् ॥
कषायानुरसं वह्निश्लेश्मशुक्रविवर्द्धनम् ॥ ५ ॥

पका आम का फल-आरम्भ में मधुर तथा अन्त में कषाय रसयुक्त, वृष्य (वीर्यवर्धक), स्निग्ध, बल तथा सुख को देने वाला, गुरु, वात नाशक, हृदय को हितकर, वर्ण को उत्तम करने वाला, शीतल, थोड़ा पित्तजनक एवम् जठराग्नि, कफ तथा शुक्र का बढ़ाने वाला होता है ॥ ५ ॥

अथ वृक्षपक्वाम्रफलगुणानाह

तदेव वृक्षसम्पक्वं गुरु वातहरं परम्। मधुराम्लरसं किञ्चिद्भवेत्पित्तप्रकोपणम् ॥ ६ ॥

वृक्ष ही में पका हुआ आम का फल—वृक्ष में यदि आम पका हो तो वह मधुर तथा अम्ल रस युक्त, गुरु, अत्यन्त वातनाशक तथा किञ्चित पित्त को प्रकुपित करने वाला होता है ॥ ५ ॥

अथ कृत्रिमपक्वचूषिताम्रफलगुणानाह

आम्रं कृत्रिमपक्वञ्च तद्भवेत्पित्तनाशनम्। रसस्याम्लस्य हीनत्तु माधुर्याच्च विशेपतः ॥ ७ ॥
चूषितं तत्परं रुच्यं बलवीर्यकरं लघु। शीतलं शीघ्रपाकि स्याद्वातपित्तहरं सरम् ॥ ८ ॥

कृत्रिम रीति से पकाये हुए (पाल के) आम के फल—यदि आमका फल कृत्रिम रीति से पकाया गया हो तो वह पित्तनाशक होता है क्योंकि उसमें का अम्ल रस निकल जाता है तथा मधुर रस की विशेषता हो जाती है। वह यदि चूसा जाय तो अत्यन्त रुचिजनक, बल वीर्यकारक, लघु, शीतल, शीघ्र हजम होने वाला, सारक एवम् वात-पित्त नाशक है॥ ७-८॥

अथ गालिताम्ररसगुणानाह

तद्रसो गालितो बल्यो गुरुर्वातहरः सरः। अहृद्यस्तर्पणोऽतीव बृंहणः कफवर्द्धनः॥ ९॥

निचोड़े आम का रस—बलकारक, गुरु, वातनाशक, सारक, हृदय के लिये अहितकर, अत्यन्त सन्तर्पण करने वाला, बृंहण रस रक्तादि वर्धक) एवं कफ की वृद्धि करने वाला होता है॥ ९॥

अथाम्रखण्डगुणानाह

तस्य खण्डं गुरु परं रोचनं चिरपाकि च। मधुरं बृंहणं बल्यं शीतलं वातनाशनम्॥ १०॥

पके आम के टुकड़े—गुरु, अत्यन्त रोचक, देर में हजम होने वाले, मधुर रस युक्त, बृंहण (रस रक्तादि वर्धक), बलकारक, शीतल एवम् वातनाशक होते हैं॥ १०॥

अथ दुग्धयुक्ताम्रगुणानाह

वातपित्तहरं रुच्यं बृंहणं बलवर्द्धनम्। वृष्यं वर्णकरं स्वादु दुग्धाम्रं गुरु शीतलम्॥ ११॥

दुग्धाम्र (दूध के साथ खाने पर पका आम का फल—स्वादिष्ट, वातपित्त नाशक, रोचक, बृंहण, बलवर्धक, वृष्य (वीर्यवर्धक), वर्ण को को उत्तम करने वाला, गुरु तथा शीतल होता है॥११॥

अथाम्रातियोगः (आम बहुत खाना)। तस्य दोषानाह

मन्दानलत्वं विषमज्वरं च रक्तामयं बद्धगुदोदरं च।
आम्रातियोगो नयनामयं वा करोति तस्मादति तानि नाद्यात्॥ १२॥

एतदम्लाम्रविषयं मधुराम्लपरं न तु। मधुरस्य परं नेत्रहितत्वाद्या गुणा यतः॥ १३॥

आम्रातियोग (अधिक आम खाने) के दोष—जठराग्नि की मन्दता, विषमज्वर, रक्तसम्बन्धी रोग, अत्यन्त मल का अवरोध और नेत्र सम्बन्धी रोग उत्पन्न करता है। इसलिये अधिक आम नहीं खाना चाहिये। यह निषेध अम्ल (खट्टे) आम के विषय में है नकि मधुर तथा अम्ल रस युक्त आम के विषय में है, क्योंकि मधुर रस में नेत्रों को हित पहुँचाना आदि गुण वर्तमान ही हैं॥ १२-१३॥

अथाम्रातियोगदोषनिवृत्त्युपायमाह

शुण्ठ्यम्भसोऽनुपानं स्यादाम्राणामतिभक्षणे। जीरकं वा प्रयोक्तव्यं सह सौवर्चलेन च॥१४॥

आम्रातियोग से उत्पन्न हुए दोषों की निवृत्ति का उपाय—आम अधिक खा लेने पर सोंठ के साथ जल पीना चाहिये अथवा सोंचल नोन के साथ जीरा खाना चाहिये॥ १४॥

अथाम्रावर्त्तः (अमावट)। तस्य लक्षणं गुणांश्चाह

पक्वस्य सहकारस्य पटे विस्तारितो रसः। घर्मशुष्को मुहुर्दत्त आम्रावर्त्त इति स्मृतः॥ १५॥
आम्रावर्त्तस्तृषाच्छर्दिवातपित्तहरः सरः। रुच्यः सूर्यांशुभिः पाकाल्लघुश्च स हि कीर्त्तितः॥१६॥

अमावट के लक्षण—पके आम के रस को निकाल, कपड़े पर पसार कर धूप में सुखावे, जब सूख जाय तब उसी पर पुनः रस डाले और सुखावे इसी भांति सुखा कर जो मोटी पर्त्त तैयार होती है उसी को 'अमावट' कहते हैं।

अमावट—प्यास, वमन, वात तथा पित्त का नाशक, सारक तथा रोचक होता है। एवम् सूर्य के किरणों से सूख कर परिपक्व होने से लघु होता है॥ १५-१६॥

अथाम्रबीजम् (कोइलिया)। तस्य गुणानाह

आम्रबीजं कषायं स्याच्छर्द्यतीसारनाशनम्। ईषदम्लञ्च मधुरं तथा हृदयदाहनुत्॥ १७॥

आम्रबीज (आम की गुठली की मींगी)—कषाय, मधुर एवम् किंचित् अम्ल रस युक्त तथा वमन, अतिसार एवम् हृदय के दाह को दूर करने वाला होता है॥ १७॥

अथाम्रनवपल्लवः। तस्य गुणानाह

आम्रस्य पल्लवो रुच्यः कफपित्तविनाशनः॥ १८॥

आम के नवीन पल्लव--रुचिकारक तथा कफ और पित्त के नाशक होते हैं॥ १८॥

१ आम

हिं०, बं०—आम। म०—आम्बा। गु०—आम्बो। ते०—मामिडिचेट्टु। ता०—मांगाय, मामरं। क०—अंब, अंभ। फा०—अम्बः। अ०—अम्बज। अं०—Mango Tree (मंगो ट्री)। ले०—*Mangifera indica Linn.* (मंजीफेरा इण्डिका)। Fam. Anacardiaceae (ॲनेकार्डिएसी)।

आम सर्वप्रिय और सर्वप्रसिद्ध फल है। इस देश में कोई ऐसा मनुष्य न होगा जो आम को न जानता हो। इसका वृक्ष बड़ा होता है और छोटी २ टहनियों के अन्त में पत्ते सघन लगते हैं। माघ फागुन में आम का बौर होता है और ग्रीष्म ऋतु में फल पकते हैं। फल—किंचित् लम्बाई लिये गोल होता है और उसके भीतर गुद्दी होती है जो गुठली से लिपटी हुई रहती है।

आम का वृक्ष इस देश मे प्रायः सर्वत्र लगाया हुआ पाया जाता है। संभवतः वन्य अवस्था में यह सिक्कम, आसाम के नवर जंगल, खासीया पहाड़, सत्पुरा पर्वतश्रेणी के नदियों के उद्गम स्थान तथा पश्चिम घाट में पाया जाता है। इसकी दो जाति होती है—बीजू और कलमी। बीजू-बीज से उत्पन्न होता है और कलमी-डालियों में जोड़ कलम कर के उत्पन्न किया जाता है। बीजू-वृक्ष-बड़े २ होते हैं और कलमी के वृक्ष अधिक ऊँचे नहीं होते। ये दोनों ही स्वाद के भेद से अनेक प्रकार के होते हैं। किसी का स्वाद खट्टा, किसी का खट्टा-मीठा और किसी का मीठा होता है। कलमी आम प्रायः सुस्वादु होते हैं और इसी को लोग पसन्द करते हैं। इसके फल भी छोटे और बड़े के भेद से कई प्रकार के होते हैं तथा इनके रंग भी मिश्रित हरे, पीले, गुलाबी अनेक प्रकार के होते हैं। संसार के सब फलों में उत्तम और अधिक गुणकारी आम का ही फल है. इसलिये इसको फलों का राजा कहते हैं। कवियों की कल्पना है कि जिस प्रकार स्वर्ग में अमृत है उसी प्रकार पृथ्वी में आम का फल है।

इसके फल, मज्जा, पत्ते एवं छाल का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके फल में विटामिन ए, बी, डी एवं अधिक मात्रा में सी पाया जाता है। इसके अतिरिक्त साइट्रिक एसिड एवं अल्प मात्रा में गॅल्लिक् एसिड होता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल उत्तम रक्तसंग्राहक है तथा इसका क्वाथ फुफ्फुस, आंत्र एवं गर्भाशय से रक्तस्राव होने पर दिया जाता है। रक्तार्श तथा अत्यार्तव में मज्जा १० से १५ रत्ती की मात्रा में देते हैं।

छिलके के साथ कच्चा फल पीस कर आमाशय एवं गले की शिथिलता तथा गले के अर्बुद में देते हैं।

कच्चे फल का शरबत (पन्ना) लू लगने पर पिलाते हैं।

गुठली के अन्दर की मज्जा अतिसार तथा प्रवाहिका में दी जाती है।

मात्रा—मज्जा १० से १५ रत्ती; छाल ३-६ माशा।

अथाम्रातकः (अम्बाडा)। तन्नामानि तत्पक्वापक्वफलगुणांश्चाह

आम्रातकः पीतनश्च मर्कटाम्रः कपीतनः। आम्रातमम्लं वातघ्नं गुरूष्णं रुचिकृत्सरम् ॥१९॥
पक्वन्तु तुवरं स्वादु रसे पाके हिमं स्मृतम्। तर्पणं श्लेष्मलं स्निग्धं वृष्यं विष्टम्भि बृंहणम् ॥
गुरु बल्यं मरुत्पित्तक्षतदाहक्षयास्रजित् ॥ २० ॥

अम्बाडा के संस्कृत नाम - आम्रातक, पीतन, मर्कटाम्र, कपीतन और आम्रात ये सब हैं।

अम्बाडा—अम्ल रस युक्त, वातनाशक, गुरु, उष्ण, रुचिकारक और सारक होता है।

अम्बाडा का पकाफल—कषाय रस युक्त, स्वादिष्ट, विपाक में मधुर, शीतल, सन्तर्पण करने वाला, कफजनक, स्निग्ध, वृष्य, विष्टम्भक (वायु को स्तब्ध करने वाला), बृंहण, गुरु, बलकारक, एवम् वात, पित्त, क्षत, दाह, क्षय और रक्तविकार का नाशक है ॥ १९-२० ॥

२ अम्बाडा

हि०-अम्बाडा अमड़ा, अमरा, आमड़ा। बं०-आमडा। म०-अंबाडा, ढोर आंबा। गु०-अंबेडा। क०-अंबर। ते०-अंबालमु। अं०-Indian Hog plum. (इण्डियन हॉग प्लम्)। ले०-*Spondias mangifera Willd.* (स्पॉण्डिएस् मॅञ्जीफेरा)। Fam. Anacardiaceae (ॲनेकार्डिएसी)।

अम्बाडा का वृक्ष बड़ा होता है। पत्ते-संयुक्त तथा १-१½ फीट लंबे होते हैं। पत्रक-३ से ६ इंच लम्बे, १½-२ इञ्च चौड़े, तथा चमकीले, दीर्घवृत्ताभ आयताकार, लम्बाग्र तथा किनारे के चारों ओर रहने वाली शिरा में अन्य शिराएँ मिलती हैं। पुष्प-हरिताभ, श्वेत वर्ण तथा छोटे होते हैं। वसन्त ऋतु में इसके सब पत्ते गिर जाते हैं और मञ्जरी लगती है। फल-गुच्छों में, हरिताभ एवं अण्डाकार लगते हैं। इनका अचार बनाते हैं। यह देशी और विलायती भेद से दो प्रकार का होता है। विलायती को स्पॉ० डलसिस् (S. dulcis) कहते हैं। देशी के फल कच्ची अवस्था में अम्ल किन्तु पकने पर बाहरी भाग में अम्ल तथा अंदर से मधुर होते हैं। विलायती के फल गहरे अंबर वर्ण के, अत्यन्त अम्ल एवं इसमें खराब आम के जैसी गंध आती है।

सुखाये हुये अपक्व फलों का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह ग्राही तथा रक्तपित्त शामक होते हैं। छाल अतिसार में देते हैं। कर्णशूल में पत्तों का रस डालते हैं। फल का रस पित्तप्रकोप में देते हैं।

अथ राजाम्रः (कलमी आम)। तन्नामानि तत्फलस्य गुणांश्चाह

राजाम्रस्टङ्क आम्रातः कामाङ्गो राजपुत्रकः ॥ २१ ॥
राजाम्रं तुवरं स्वादु विशदं शीतलं गुरु। ग्राहि रूक्षं विबन्धाध्मवातकृत्कफपित्तनुत् ॥ २२ ॥

कलमी आम के संस्कृत नाम—राजाम्र, टङ्क, आम्रात, कामाङ्ग तथा राजपुत्रक ये सब हैं। कलमी आम—कषाय तथा मधुर रस युक्त, विशद गुण युक्त, शीतल, गुरु, ग्राही, रूक्ष एवम्—विबन्ध, आध्मान, तथा वातकारक होता है और कफ तथा पित्त का नाशक होता है ॥ २१-२२ ॥

३ कलमी आम

सब प्रकार के कलमी आमों में लंगड़ा आम प्रसिद्ध है। हाजीपुर और बनारस का लंगड़ा आम सबसे अच्छा होता है, बम्बई का लंगड़ा मध्यम प्रकार का समझा जाता है। पूरब का गोला, लखनऊ का सुफेदा, रामपुर का फजरी, मुरादाबाद का कलमी आदि आम अच्छे होते हैं। जिस आम में रेशा बहुत कम रहता है, गूदा अधिक रहता है तथा जो स्वाद में खूब मीठा सर्वप्रिय होता है उसी को उत्तम समझना चाहिये। यह जितना मीठा होता है उतने ही उसमें गुण भी अधिक होते हैं। आम में जो पुष्टिकारक, बलकारी, वीर्य को उत्पन्न करना इत्यादि गुण हैं वे सब भली प्रकार से पके हुए और मीठे ही आम में होते हैं। अन्य वर्णन आम के साथ लिखा गया है।

अथ कोशाम्रः। तस्य नामानि तत्फलस्य च गुणाँश्चाह

कोशाम्र उक्तः क्षुद्राम्रः कृमिवृक्षः सुकोशकः। कोशाम्रः कुष्ठशोथास्रपित्तव्रणकफापहः ॥२३॥
तत्फलं ग्राहि वातघ्नमम्लोष्णं गुरु पित्तलम्। पक्वन्तु दीपनं रुच्यं लघूष्णं कफवातनुत् ॥२४॥

कोशाम्र आम के संस्कृत नाम—कोशाम्र, क्षुद्राम्र, कृमिवृक्ष तथा सुकोशक ये सब हैं।

कोशाम्र—कुष्ठ, शोथ, रक्तविकार, पित्त या रक्तपित्त, व्रण और कफ का नाशक है। कोशाम्र आम का फल-ग्राही, वातनाशक, अम्लरसयुक्त, उष्ण, गुरु तथा पित्तजनक होता है। यदि इसके फल पके हों तो अग्निदीपक, रुचिकारक, लघु, उष्ण एवं कफ तथा वात के नाशक होते हैं॥

४ कोशाम्र

हि०—कोशम्म, कुसुम, कोसम। क०—चकोत। म०—कोसिंब। ता०—पुमरम्। मल-पुपम। गु०—कोसुंब। अं०—Ceylon Oak (सिलोन् ओक्)। ले०—*Schleichera trijuga* Willd. (श्लीकेरा ट्राइज्यूगा)। Fam. Sapindaceae (सेपिण्डेसी)।

यह सतलज से नेपाल तक, दक्षिण तथा सिवालिक पहाड़ के ऊपर मध्य भारत में पाया जाता है।

इसका वृक्ष बड़ा छायादार तथा सुन्दर होता है। पत्ते—पक्षवत तथा ८-१६ इञ्च लंबे होते हैं। पत्रक—२ से ४ जोड़े, अखण्ड, ३-१० इञ्च लंबे, आयताकार, अवृन्त तथा चिकने होते हैं। नीचे वाले पत्रक ऊपर के पत्रकों की अपेक्षा छोटे होते हैं। फूल—मञ्जरी में आते हैं और वे पीलापन युक्त हरे रंग के होते हैं। फल-१½ इञ्च लम्बे गोल, दानेदार और किञ्चित् नोकीले होते हैं। बीज—१ से ३, चिकने तथा लंबगोल चिपटे होते हैं। इस पर लगी हुई लाख बहुत उत्तम मानी जाती है। बीज की गुद्दी तथा बाह्यवृद्धि (Aril) खाई जाती है। इसकी छाल-मोटी, मुलायम, बाहर से धूसर, खुरदरी तथा भीतर से फीके लाल रंग की होती है। तोड़ने से भग्न छोटा होता है। स्वाद कुछ कषाय तथा गंध हल्की। इसकी छाल तथा बीज तेल का उपयोग किया जाता है। कलकत्ते की तरफ बीजों को पक कहते हैं।

रासायनिक संगठन—बीजों में साइनोजेनेटिक ग्लूकोसाइड पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल कषाय होती है तथा पानी में घिस कर खुजली आदि चर्मरोगों पर लगाई जाती है। बीजों का तेल, जिसे **मकासर तेल** कहते हैं, खुजली पर

लगाया जाता है। इसको बालों में लगाने से बाल स्वच्छ होते हैं तथा बढ़ते हैं। बीजों का चूर्ण जानवरों के व्रणों पर डालते हैं जिससे कीड़े निकल जाते हैं।

अथ पनसः (कटहल)। तन्नामानि तत्पक्वापक्वफलगुणाँश्चाह

पनशः कण्टकिफलः पलसोऽतिबृहत्फलः। पनसं शीतलं पक्वं स्निग्धं पित्तानिलापहम्॥२५॥
तर्पणं बृंहणं स्वादु मांसलं श्लेष्मलंभृशम्। बल्यं शुक्रप्रदं हन्ति रक्तपित्तक्षतव्रणान्॥२६॥
आमं तदेव विष्टम्भि वातलं तुवरं गुरु। दाहकृन्मधुरं बल्यं कफमेदोविवर्द्धनम्॥ २७॥

कटहर के संस्कृत नाम—पनश कन्टकिफल, पलस तथा अतिबृहत्फल ये सब हैं।

कटहर के पके फल—शीतल, स्निग्ध, पित्त तथा वात के नाशक, सन्तर्पणकारक, बृंहण, स्वादिष्ट, मांस तथा कफ की अत्यन्त वृद्धि करने वाले, बलदायक, शुक्रजनक, एवम् रक्तपित्त, क्षत तथा व्रण को दूर करनेवाले होते हैं। वे ही यदि कच्चे हों तो विष्टम्भकारक, वातजनक, कषाय तथा मधुररसयुक्त, गुरु, दाहकारक, बलदायक, कफ तथा मेद की वृद्धि करने वाले होते हैं॥ २५-२७॥

अथ पनसबीजगुणानाह

पनसोद्भूतबीजानि वृष्याणि मधुराणि च। गुरूणि बद्धविट्कानि सृष्टमूत्राणि संवदेत्॥२८॥

कटहर के बीज—वृष्य (वीर्यवर्धक), मधुर रस युक्त, गुरु, मल को बांधने वाले एवम् मूत्र की प्रवृत्ति करानेवाले होते हैं॥ २८॥

अथ पनसमज्जगुणानाह

मज्जा पनसजो वृष्यो वातपित्तकफापहः। विशेषात्पनसो वर्ज्यो गुल्मिभिर्मन्दवह्निभिः॥२९॥

कठहल के बीज की मींगी—वृष्य (वीर्यवर्धक) एवम् वात, पित्त तथा कफ की नाशक होती है। विशेषरूप से कटहल खाना गुल्म तथा मन्दाग्निरोगवाले रोगियोंको छोड़ देना चाहिये।

५ कटहर

हि०—कटहर, कटहल, कठैल। बं०—कांटाल। म०—फणस। गु०—फनस। क०—हलसु। ते०—पनसकायि। ता०—पेलाकायि। अं०—Jack Tree (जैक ट्री)। ले०—*Artocarpus integrifolia Linn f.* (आर्टोकार्पस् इन्टेग्रिफोलिया)। Fam. Moraceae (मोरेसी)।

कटहर—विशेष कर गरम प्रान्तों में रोपण किया जाता है। पश्चिम घाट के जङ्गलों में यह आपही आप उत्पन्न होता है और दक्षिण, विहार तथा बंगाल में अधिक होता है।

इस का वृक्ष बड़ा होता है। छाल-खुरदरी रहती है जिससे दुधिया क्षीर निकलता है। पत्ते—४-८ इञ्च लम्बे, कुछ चौड़े, मोटे, किंचित् अण्डाकार और किंचित् कालापन युक्त हरे रङ्ग के होते हैं। स्तम्भ और मोटी शाखाओं पर फूल फल लगते हैं। फूल-२ से ६ इञ्च तक लम्बे, १-२ इञ्च गोल अण्डाकार और किंचित् पीले रङ्ग के होते हैं। फल-बहुत बड़े-बड़े, १-२ फीट एवं लम्बाई युक्त गोल होते हैं। उसके ऊपर कोमल कांटे होते हैं। गूदा-बीज के चारों तरफ लिपटा हुआ मोटा होता है जो कच्ची अवस्था में सफेद तथा पकने पर पीला हो जाता है। कच्चे फलकी तरकारी बनाते हैं तथा पके फल को खाते हैं। बीजों में स्टार्च रहता है जिन्हें पकाकर खाते हैं।

रासायनिक संगठन—फलों में विटामिन 'ए' तथा 'सी' तथा लौह, खटिक एवं फास्फोरस तथा प्रोटीन आदि द्रव्य होते हैं। बीजों में विटामिन बी$_1$ तथा बी$_2$ पाये जाते हैं। काष्ठ में पीत रंजक द्रव्य होता है। छाल में टैनिन होता है। सूखे क्षीर में रवेदार पदार्थ आर्टोस्टेनोन (Arto-

stenone $C_{30}H_{56}O$) पाया जाता है जिसका परिवर्तन आर्टोस्टेरोन (Artosterone) में किया गया है जिसमें पुंस्त्वजनक (Androgenic–ॲण्ड्रोजेनिक) गुण पर्याप्त मात्रा में होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसका पका फल गुरु, शीत, मृदु सारक, वृष्य, बृंहण, तर्पण तथा बल्य है किन्तु कच्चा विबन्धकारक होता है। पत्तों का चर्म विकारों में प्रयोग करते हैं। क्षीर का लेप फोड़े आदि पकाने के लिये करते हैं।

अथ लकुचः (बडहर)। तन्नामानि तत्पक्वफलगुणाँश्चाह

लकुचः क्षुद्रपनसो लिकुचो डहुरित्यपि। आमं लकुचमुष्णञ्च गुरु विष्टम्भकृत्तथा ॥ ३० ॥
मधुरञ्च तथाऽम्लञ्च दोषत्रितयरक्तकृत्। शुक्राग्निनाशनं वाऽपि नेत्रयोरहितं स्मृतम् ॥३१॥
सुपक्वं तत्तु मधुरमम्लं चानिलपित्तहृत्। कफवह्निकरं रुच्यं वृष्यं विष्टम्भकञ्च तत् ॥ ३२ ॥

बड़हर के संस्कृत नाम—लकुच, क्षुद्रपनस, लिकुच तथा डहु ये सब हैं।

बड़हर के कच्चे फल—उष्ण, गुरु, विष्टम्भकारक, मधुर तथा अम्लरस युक्त, त्रिदोष एवं रक्त विकार को उत्पन्न करने वाले, शुक्र और जठराग्नि को नष्ट करने वाले तथा नेत्रों के लिये अहितकर होते हैं। पके फल–मधुर तथा अम्ल रसयुक्त, वात तथा पित्त के नाशक, कफ और जठराग्नि के वर्धक, रोचक, वृष्य (वीर्यवर्धक) तथा विष्टम्भक होते हैं ॥ ३०–३२ ॥

६ बड़हल

हि०–बड़हल (र , बरहर, बरहल। **बं०**–डेओ, मादार, डेलो, डहुया। **म०**–वोटोंबा। **गु०**–लकुच। **ता०**–इलगुसम्। **ते०**–कम्मरेगु। **अं०**–Monkey Jack (मंकीजॅक)। **ले०**–*Artocarpus lakoocha Roxb.* (आर्टोकार्पस् लकूच)। Fam. Moraceae (मोरेसी)।

यह गरम प्रान्त में कुँमायू से पूरब की ओर और दक्षिण में ट्रावनकोर तक तथा अनेक प्रान्तों में उत्पन्न होता है।

बड़हर का **वृक्ष**–२० से ३० फीट ऊंचा होता है। इसके **पत्ते**–५ से १२ इञ्च लम्बे, २ से ६ इञ्च चौड़े, अंडाकृति तथा रुक्ष होते हैं। **पुष्प**–एकलिङ्गी होते हैं। **फल**–गोल गांठदार, २ से ४ इञ्च व्यास के होते हैं। कच्चे में हरे तथा स्वाद में खट्टे और पकने पर मटमैले पीले रङ्ग के और स्वाद में खट्टेमीठे होते हैं। इनके भीतर कटहर के समान रेशा और बीज होते हैं पर कटहर से छोटे होते हैं। इसलिये इसको क्षुद्रपनस भी कहते हैं। वसन्त ऋतु में यह फूलता तथा वर्षा में फलता है।

रासायनिक संगठन—छाल में ८·५% टैनिन होता है। इसके फल में रंजक द्रव्य इसकी अन्य जाति (Species) की अपेक्षा अधिक होता है।

गुण और प्रयोग—इसके बीज विरेचक होते हैं। विरेचन के लिये एक दो बीज या थोड़ासा क्षीर देते हैं। छाल का चूर्ण व्रण पर डालते हैं जिससे मवाद सूख जाता है तथा फांट से फुन्सियां तथा व्रण आदि धोते हैं।

इसके फल को अहिततम (निकृष्टतम) बतलाया गया है। (अ. हृ. सू. अ. ६)।

अथ कदली (केला)। तन्नामानि तत्पक्वापक्वफलगुणांश्चाह

कदली वारणा मोचाऽम्बुसाराऽंशुमतीफला। मोचाफलं स्वादु शीतं विष्टम्भि कफकृद्[1] गुरु ॥
स्निग्धं पित्तास्रतृड्दाहक्षतक्षयसमीरजित्। पक्वं स्वादु हिमं पाके स्वादु वृष्यञ्च बृंहणम् ॥

---

१. कफनुद् इति पाठा०।

क्षुत्तृष्णानेत्रगदहृन्मेहघ्नं रुचिमांसकृत् ॥ ३४ ॥

केला के संस्कृत नाम—कदली, वारणा, मोचा, अम्बुसारा तथा अंशुमतीफला ये सब हैं।

केला के कच्चे फल—स्वादिष्ट, शीतल, विष्टम्भक, कफकारक, गुरु, स्निग्ध एवम्-पित्त, रक्तविकार, प्यास, दाह, क्षत, क्षय, तथा वात को दूर करने वाले होते हैं।

पके फल—स्वादिष्ट, शीतल, विपाक में मधुर रसयुक्त, वृष्य (वीर्यवर्धक), बृंहण (रस-रक्तादि-वर्धक), रुचि तथा मांस को बढ़ाने वाले एवम्-भूख, प्यास, नेत्ररोग तथा प्रमेह के नाशक हैं॥

अथ कदलीभेदान् गुणनिर्देशपूर्वकमाह

माणिक्यमर्त्यामृतचम्पकाद्या भेदाः कदल्या बहवोऽपि सन्ति।
उक्ता गुणास्तेष्वधिका भवन्ति निर्दोषता स्याल्लघुता च तेषाम् ॥ ३५ ॥

केले के भेदों के नाम—माणिक्यकदली, मर्त्यकदली, अमृतकदली तथा चम्पककदली इत्यादि केले के बहुत से भेद हैं।

उक्त भेदों के गुण—जो गुण सामान्यरूप से पूर्व में केले के कह आये हैं वे सब इनमें विशेष रूप से रहते हैं तथा ये निर्दोष एवं लघु भी अपेक्षाकृत अधिक होते हैं। केले के फूल एवं कन्द के गुण आगे शाकवर्ग में दिये हुवे हैं।

७ केला

हि०-केला, कदली, केरा। बं०-केला, कला। म०-केल। गु०-केला। क०-बालि। ते०-अरटि। ता०-वालै। फा०-मोज़, मोझ। अ०-तल्ह। अं०-Plantain (प्लॅन्टेन)। ले०-*Musa sapientum Linn.* (म्यूसा सेपिएन्टम्)। Fam. Musaceae (म्यूसेसी)।

केले का वृक्ष प्रायः सब प्रान्तों में होता है। फलने पर इसका पेड़ नष्ट हो जाता है। अन्तर्भूमिशायी कन्द से अंकुर निकल वृक्ष तैयार हो जाता है। इसके बड़े बड़े लम्बे पत्ते मुलायम होते हैं। हवा के झोकों से जगह २ फट जाते हैं। इसके पत्तों पर भोजन करते हैं।

भारतवर्ष में उत्पन्न होने वाले फलों में आम के बाद केला ही है। सब प्रकार के केलों में बम्बई का लाल केला, कलकत्ते का चाटिम केला, चम्पक केला (पीला केला) प्रशंसा के योग्य हैं। पर्वती केला, काला केला, राजभोग, मानभोग, चीनिया आदि केले भी बढ़ियां गिने जाते हैं। अच्छी किस्म के फलों में बीज नहीं होते।

इसकी दो जातियां (Species) होती हैं। उपर्युक्त म्यू०सेपिएन्टम् में फल छोटे होते हैं तथा कच्चे खाये जा सकते हैं तथा दूसरी म्यू०पॅराडिसिका (Musa paradisica) जाति में फल बड़े होते हैं किन्तु केवल पकने पर ही खाये जा सकते हैं। इसके जंगली वृक्ष बिहार तथा पूर्वी हिमालय में ४००० फीट तक पाये जाते हैं।

रासायनिक संगठन—केले के पञ्चाङ्ग की राख में पोटॅशियम होता है। कच्ची अवस्था में इसमें टैनिन होते हैं। पक्व फल में शर्करा, विटामिन 'सी', कुछ 'बी', खनिज द्रव्य एवं अन्य द्रव्य होते हैं।

गुण और प्रयोग इसके पके फल बल्य, रक्तपित्त शामक, संग्राहक, तथा जीवनीय हैं। इससे रक्त की मात्रा बढ़ती है, आन्त्र की क्रिया सुधरती है तथा रक्त की अम्लता कम होती है। इसको अतिसारादि में पथ्य के रूप में देते हैं। कच्चे केले का प्रयोग अन्य द्रव्यों के साथ मधुमेह में किया जाता है। इसके फूलों का रस दही के साथ अत्यार्तव में देते हैं। फूलों की सब्जी रक्तपित्त में

तथा मधुमेह में देते हैं। काण्ड का रस अपस्मार, अपतन्त्रक आदि वातिक विकारों में देते हैं तथा यह तृषा शामक होता है। इसका शरबत खांसी में दिया जाता है।

अथ चिर्भिटम् (कचरिया, फूट)। तन्नामानि पक्वापक्वतत्फलगुणांश्चाह

चिर्भिटं धेनुदुग्धं च तथा गोरक्षकर्कटी ॥ ३६ ॥
चिर्भिटं मधुरं रूक्षं गुरु पित्तकफापहम्। अनुष्णं ग्राहि विष्टम्भि पक्वं तूष्णञ्च पित्तलम् ॥३७॥

कचरिया के संस्कृत नाम—चिर्भिट, धेनुदुग्ध तथा गोरक्षकर्कटी ये सब हैं।

कचरिया—मधुर रसयुक्त, रूक्ष, गुरु, पित्त-कफहर, किंचित् उष्ण, ग्राही, विष्टम्भी (दस्त साफ न लाने वाली) होती है एवम् पका फल-उष्ण तथा पित्तजनक होता है ॥ ३६-३७ ॥

८ फूट

हि०—फूट, फूंट। बं०—फुटि। म०—फूट। ले०—*Cucumis momordica Roxb.* (क्युक्युमिस् मोमोर्डिका)। Fam. Cucurbitaceae (कुकुरबिटेसी)।

फूट—प्रायः सब प्रान्तों की रेतीली भूमि में उत्पन्न होता है और खेतों में इसको रोपण करते हैं।

इसकी लता-होती है। पत्ते-गोलाकार, गहरे कटे किनारे वाले या प्रायः पांच भागवाले तथा बारीक दन्तुर होते हैं। फूल—छोटे-छोटे होते हैं। फल—१ से २ फीट लंबे, बेलनाकार, ३ से ६ इञ्च व्यास के, चिकने, कच्ची अवस्था में गहरे हरे रंग के तथा पकने पर नीबू जैसे पीतवर्ण के होते हैं।

इसके दो भेद होते हैं। एक वर्षा में होता है तथा दूसरा ग्रीष्म में। इसको कच्चा या पकाकर लोग खाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके बीज दाहप्रशमन माने जाते हैं।

अथ नारिकेलः (नारियल)। तन्नामानि तत्फलसाधारणगुणाँश्चाह

नारिकेलो दृढफलो लाङ्गली कूर्चशीर्षकः। तुङ्गः स्कन्धफलश्चैव तृणराजः सदाफलः ॥ ३८ ॥
नारिकेलफलं शीतं दुर्जरं बस्तिशोधनम्। विष्टम्भि बृंहणं बल्यं वातपित्तास्रदाहनुत् ॥ ३९ ॥

नारियल के संस्कृत नाम - नारिकेल, दृढफल, लाङ्गली, कूर्चशीर्षक तुङ्ग, स्कन्धफल, तृणराज तथा सदाफल ये सब हैं।

नारियल का फल—शीतल, दुर्जर (देर में हजम होने वाला), वस्तिशोधक, विष्टम्भक, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), बलकारक एवम्-वात, पित्त, रक्तविकार तथा दाह को दूर करने वाला होता है ॥ ३८-३९ ॥

अथ कोमलजीर्णतत्फलयोर्गुणानाह

विशेषतः कोमलनारिकेलं निहन्ति पित्तज्वरपित्तदोषान्।
तदेव जीर्णं गुरु पित्तकारि विदाहि विष्टम्भि मतं भिषग्भिः ॥ ४० ॥

नारियल का कोमल फल—विशेषतः पित्तज्वर तथा पित्तदोष को दूर करने वाला होता है। पुराना फल-गुरु, पित्तकारक, विदाही तथा विष्टम्भक होता है ऐसा वैद्यों का मत है ॥ ४० ॥

अथ नारिकेलजलगुणानाह

तस्याम्भः शीतलं हृद्यं दीपनं शुक्रलं लघु। पिपासापित्तजित्स्वादु वस्तिशुद्धिकरं परम् ॥४१॥

नारियल का जल – स्वादिष्ट, शीतल, हृदय को हितकर, अग्निदीपक, शुक्रजनक, लघु, अत्यन्त बस्तिशोधक एवम् प्यास तथा पित्त को शान्त करने वाला होता है ॥ ४१ ॥

अथ नारिकेलादीनां शिरोगुणानाह

नारिकेलस्य तालस्य खर्जूरस्य शिरांसि तु। कषायस्निग्धमधुरबृंहणानि गुरूणि च ॥ ४२ ॥

नारियल, ताड़ तथा खजूर के शिर (मस्तक पर होने वाला मीठा गूदा)—कषाय तथा मधुर रसयुक्त, स्निग्ध, गुरु एवम् बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक) होते हैं ॥ ४२ ॥

९ नारियल

हि०—नारियल, नरियल, गरी, गिरी। बं०—नारिकेल, डाब। म०–(फल) नारळी, नारळ, (वृक्ष) माड़। गु०—नारि(अ)यल। ते०—टकाई। ता०—तेंगाई, टेन्ना। फा०—जोज हिन्दी नारीयल, नारगील। अ०—नारजिल्। अं०—Coconut (कोकोनट्)। लै०—*Cocos nucifera Linn.* (कोकस् न्यूसीफेरा)। Fam. Palmea (पामी)।

नारियल—यह भारत के उष्ण एवं आर्द्र प्रदेशों, विशेषकर समुद्र, नदी आदि के किनारे लगाया हुआ पाया जाता है।

इसका वृक्ष-सीधा या कुछ टेढ़ा, ८० फीट या अधिक ऊँचा आधार की तरफ कुछ मोटा जहाँ से मूल निकलते हैं एवं कचित् शाखायुक्त होता है। पत्ते–६ से १८ फीट लंबे, पक्षवत् संयुक्त; पत्रक २ से ३ फीट लंबे, क्रमशः नोकदार एवं कम चौड़े होते हैं पुष्प-प्रत्येक पत्र के कोण से ४ से ६ फीट लंबा, नारंग या तृण वर्ण का कोशावृत पुष्प व्यूह निकलता है जिसमें स्त्रीपुष्प नीचे की तरफ, संख्या में कम, १ इंच लंबे तथा गोल होते हैं और पुंपुष्प, अधिक, छोटे मधुर गन्ध वाले एवं अग्रभाग पर होते हैं फल-अंडाकार, त्रिकोण युक्त, ६ से १२ इंच लंबा तथा एक बीज युक्त होता है। फलभित्ति का बाह्यस्तर मोटा तथा रेशेदार होता है जो कठोर अन्तस्तर को घेरे रहता है। अन्तस्तर के अन्दर बीज रहता है। अन्तस्तर के एक सिरे पर ३ छिद्र रहते हैं जिनमें से किसी एक से बीजोद्भेद के समय अंकुर निकलता है। गरी के अन्दर अपक्व अवस्था में बहुत पानी रहता है किन्तु पक्वावस्था में यह कम हो जाता है।

नारियल के अनेक प्रकार (Varieties) होते हैं जिनमें से कुछ के पेड़ छोटे तथा कुछ के ऊंचे रहते हैं। फलों का रंग, आकार तथा संख्या के अनुसार भी अनेक प्रकार पाये जाते हैं।

इसके सभी अंगों का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—ताजी १०० ग्राम गरी में आर्द्रता ३६·३, प्रोटीन ४·५, तेल ४१·६, कर्बोज १३, रेशा ३·६, चूना ·०१ तथा फास्फोरस ·२४ ग्राम और लोह १·७ मि० ग्रा०, विटामिन 'सी' १ मि० ग्रा० बी'₁ १५ एकक, अत्यल्प 'ए', तथा 'ई' ·२ मि० ग्रा० एवं कुछ ताम्र भी रहता है।

सूखे गरी में तेल ५७-७५% रहता है जो अन्य तैलों की अपेक्षा अधिक सुपाच्य होता है। इसे आसानी से चर्म सोख लेता है तथा इसमें जल भी पर्याप्त मिल पाता है इसलिए मलहम आदि बनाने में इसका उपयोग करते हैं।

डाव (हरा नारियल) के जल में सोडियम् १०५, पोटॅशियम ३१२, कॅल्शियम २९, मॅग्नेशियम् ३०, लोह ·१०, ताम्र ·०४, फॉस्फोरस ३७, गंधक २४, क्लोरीन १८३, विटामिन 'सी' २·२–३·७, मि० ग्रा० प्रति १०० ग्राम में एवं विटामिन 'बी' अल्प रहता है। एक डाब में करीब १ औंस तक शर्करा रहती है।

इसकी ताजी मीठी ताडी में शर्करा बहुत रहती है तथा १०० सी० सी० में विटामिन 'सी' १६–३० मि० ग्रा० रहता है।

गुण और प्रयोग– नारियल मधुर, वृष्य, बृंहण, बल्य शीत एवं बस्तिशोधक है। (१) डाब का पानी शीत, मूत्रजनन, तृष्णा निग्रहण एवं ज्वरघ्न है। इसे ज्वर, सोजाक तथा हैजे में देते हैं। (२) इसका तेल केश्य एवं व्रणरोपक होता है। क्षय में इसका उपयोग काडलिवर आईल की तरह करते हैं। (३) इसकी ताड़ी या उससे बना मद्य दाहशामक, मूत्रल, बल्य, सौमनस्यजनन, निद्राजनन, वाजीकरण एवं बृंहण होता है। (४) इसके पुष्प ग्राही होते हैं। (५) चिपटे कृमि के लिये एक नारियल की गरी खिलाते हैं किन्तु साथ में विरेचन देना आवश्यक है। (६) इसका मूल मूत्रल एवं कषाय है तथा अश्मरी, प्रमेह एवं अत्यार्तव में इसका क्वाथ देते हैं। (७) इसके कवच को जलाकर निकाला तेल चर्मरोगों में बाहर से प्रयुक्त होता है। (८) नारियल का दूध क्षय, दुर्बलता आदि में तथा शस्त्रक्रिया के पूर्व एवं पश्चात् पिलाते हैं जिससे 'शाक' एवं रक्तस्राव का भय नहीं रहता।

अथ कालिन्दम् (तरबूज)। तन्नामानि पक्वापक्वतत्फलगुणांश्चाह

कालिन्दं कृष्णबीजं स्यात्कालिङ्गञ्च सुवर्तुलम्। कालिन्दं ग्राहि दृक्पित्त शुक्र हृच्छीतलं गुरु॥
पक्वन्तु सोष्णं सक्षारं पित्तलं कफवातजित्॥ ४३॥

तरबूज के संस्कृत नाम—कालिन्द, कृष्णबीज, कालिङ्ग तथा सुवर्त्तुल ये सब हैं।

तरबूज के कच्चे फल– ग्राही, शीतल, गुरु एवम्–दृष्टि की शक्ति, पित्त तथा शुक्र नष्ट करने वाले होते हैं। पके फल–उष्ण, क्षारयुक्त, पित्तजनक एवम्–कफ तथा वात को दूर करने वाले होते हैं॥ ४३॥

१० तरबूज

हि०–तरबूज, तरबूजा। **बं०**–तरमुज। **म०**–कलिंगड। **गु०**–तडबूज। **ता०**–कोंमाट्टि। **ते०**–पुच्चकाया, तरबूजं। **फा०**–हिन्दवाना, हिन्ददानह। **अ०**–बतिख हिन्दी, ज़ुकी। **अं०**–Watermelon (वाटर मेलन्)। **ले०**–*Citrullus vulgaris Schrad* (सिट्र्युलस् वल्गॅरिस्)। Fam. Cucurbitaceae (कुकुरबिटेसी)।

प्रायः सब प्रान्तों में इसकी खेती की जाती है। नदियों के किनारे, दियारे पर एवं रेतीली भूमि में अच्छा फल लगता है।

इसकी खुरदरी लता–खेतों में पसरी हुई रहती है। पत्ते–इन्द्रायन के पत्तों के समान गहरे कटे किनारे वाले होते हैं। फूल–एक इंच के घेरे में गोलाकार होते हैं। फल–बड़े बड़े पेठे और कोहडे के आकार वाले होते हैं। गूदी–लाल या सफेद होती है। बीज–चिपटे, लाल, भूरे या काले होते हैं॥ ११॥

रासायनिक संगठन—बीजों में २० से ४०% पीले रंग का तेल होता है। फल में काफी मात्रा में पेक्टिन तथा रस में सिट्र्युलिन ०·१७% होता है।

गुण और प्रयोग—बीज शीतल, मूत्रजनन तथा बल्य होते हैं। बीजों का तेल बादाम के तेल के स्थान में उपयोग में आता है। फल मूत्रल तथा शीतल होता है।

अथ खर्बूजम् (खर्बूजा) । तन्नामानि तत्फलगुणाँश्चाह

दशाङ्गुलं तु खर्बूजं कथ्यन्ते तद्गुणा अथ ॥ ४४ ॥

खर्बूजं मूत्रलं बल्यं कोष्ठशुद्धिकरं गुरु। स्निग्धं स्वादुतरं शीतं वृष्यं पित्तानिलापहम् ॥४५॥
तेषु यच्चाम्लमधुरं सक्षारञ्च रसाद्भवेत्। रक्तपित्तकरं तत्तु मूत्रकृच्छ्रकरं परम् ॥ ४६ ॥

खर्बूजा के संस्कृत नाम—दशाङ्गुल और खर्बूजा ये हैं। खर्बूजा के फल-अत्यन्त स्वादिष्ट, मूत्रजनक, बलकारक, कोष्ठशुद्धि करनेवाले, गुरु, स्निग्ध, शीतल, वृष्य (वीर्यवर्धक) एवम्-पित्त तथा वायु को दूर करने वाले होते हैं। इनमें जो अम्ल, मधुर एवम् क्षार रसयुक्त होते हैं वे रक्तपित्त तथा मूत्रकृच्छ्र को अत्यन्त करने वाले होते हैं। ॥ ४४ ॥

११ खरबूजा

हि०—खरबूज, खरबूजा, खर्बूजा, चिबुड। बं०—खरमुज। म०—खरबूज। गु०—तलिया शकर टेटी, तलियाभीमड़ा। ते०—खरबूज। क०—षड्भुजा। फा०—खरपुजह, खरपुजा। अ०—बितिख, खर्पुजह, खरपुजाह। अं०—Melon (मेलन्)। ले०—*Cucumis melo Linn.* (क्युक्युमिस् मेलो)। Fam. Cucurbitaceae (कुकुरबिटेसी)।

प्रायः सब प्रान्तों के खेतों में यह रोपण किया जाता है। उत्तर पश्चिमी उष्ण तथा शुष्क प्रदेशों में अधिक रोपण किया जाता है। नदियों के किनारे रेतीली भूमि में यह अधिक उत्पन्न होता है।

इसकी लता-भूमि पर पसरी हुई रहती है। पत्ते-रोमश, गोलाकार एवं उनमें कहीं कहीं नोक-सा निकला रहता है। फूल-पीले रङ्ग के आते हैं। फल-गोलाकार कुछ चिपटे रहते हैं। पकने पर वे किञ्चित् हरापन युक्त पीले रंग के या सफेदी मायल हो जाते हैं। उनके चारों ओर रेखायें रहती हैं जो नीले रंग की होती हैं। गूदी के भीतर बीजों के समूह का लसीला गोला रहता है। बीज-लम्बाई युक्त चिपटे होते हैं। बीजों का चिकित्सा में प्रयोग करते हैं।

रासायनिक संगठन—बीजों में तेल होता है। फल में खटिक, ताम्र, फॉस्फोरस, लोह तथा विटामिन 'ए', 'बी$_1$', 'बी$_2$' तथा 'सी' आदि द्रव्य होते हैं।

गुण और प्रयोग—बीज शीतल, मूत्रजनन एवं बल्य हैं; फल शीतल हैं तथा पुराने एक्जीमा के लिए लाभदायक माने जाते हैं। मूत्रकृच्छ्र में बीज देते हैं।

अथ त्रपुसम् (खीरा, बालमखीरा) । तस्य नामानि पक्वापक्वतत्फलतद्बीजगुणाँश्चाह

त्रपुसं कण्टकिफलं सुधावासः सुशीतलम्। त्रपुसं लघु नीलञ्च नवं तृट्क्लमदाहजित् ॥४७॥
स्वादु पित्तापहं शीतं रक्तपित्तहरं परम्। तत्पक्वमम्लमुष्णं स्यात्पित्तलं कफवातनुत् ॥४८॥

तद्बीजं मूत्रलं शीतं रूक्षं पित्तास्रकृच्छ्रजित् ॥ ४८ ॥

खीरा के संस्कृत नाम—त्रपुस, कण्टकिफल, सुधावास तथा सुशीतल ये सब हैं। खीरे के छोटे, नीले तथा नवीन फल-स्वादिष्ट, शीतल एवम्—प्यास, क्लान्ति, दाह तथा पित्त को दूर

करनेवाले होते हैं और रक्तपित्त को तो अत्यन्त नष्ट करनेवाले होते हैं। खीरे के पके फल-अम्लरसयुक्त, उष्ण, पित्तजनक एवम्-कफ तथा वात को नष्ट करनेवाले होते हैं। खीरे के बीज-मूत्रजनक, शीतल, रूक्ष एवम्-पित्त, रक्तविकार तथा मूत्रकृच्छ्र को दूर करनेवाले होते हैं ॥४७-४८॥

१२ खीरा

हि०-खीरा, बालमखीरा। बं०-क्षीरा, शशा। म०-तौसे। क०-तसेयकायि। गु०-तांसली। ते०-दोसकाई। ता०-मुल्लुवेल्लेरी। फा०-खियार खुर्द, खयार, वावरङ्ग। अ०-कंशद। अं०-Cucumber (क्युकुम्बर)। ले०-Cucumis sativus Linn. (क्युक्युमिस सटाइवस्)। *Fam. Cucurbitaceae* (कुकुर्बिटेसी)।

प्रायः सब प्रान्तों में इसकी खेती की जाती है।

इसकी बेल-खेतों में फैली हुई रहती है। पत्ते-५-६ इञ्च के घेरे में गोलाकार और पाँच कोण वाले होते हैं। फूल-पीले रङ्ग के आते हैं। फल-६ से १२ इञ्च तक लम्बे होते हैं और उनमें ककड़ी के समान बीज होते हैं। एक बड़ी जाति का खीरा होता है जिसको-बालम खीरा-कहते हैं। इसकी लम्बाई अधिक होती है। इसका एक प्रकार 'मुंडोसा' मद्रास की तरफ अधिक प्रचलित है जिसके फलों पर छोटे काँटे होते हैं।

रासायनिक संगठनः—इसके फलों में खटिक, फास्फोरस, लौह, विटामिन सी तथा विटामिन बी$_1$ पाया जाता है। बीजों में तेल होता है। बीजों की राख में फॉस्फेट अधिक (P_2O_5, ०·६२%) रहते हैं।

गुण और प्रयोग—यह शोथहर है। शोथ पर, इसको काटकर उसमें नमक डालकर बांधने से सूजन कम होती है तथा पूय एक स्थान पर इकट्ठा हो जाता है। बीज का उपयोग बस्तिशूल में करते हैं।

अथ गुवाकः (सुपारी)। तन्नामानि तत्फलनामगुणाँश्चाह

घोरण्टः पूगी पूगश्च गुवाकः क्रमुकोऽस्य तु। फलं पूगीफलं प्रोक्तमुद्वेगं च तदीरितम् ॥ ४९ ॥
पूगं गुरु हिमं रूक्षं कषायं कफपित्तजित्। मोहनं दीपनं रुच्यमास्यवैरस्यनाशनम् ॥ ५० ॥

सुपारी के संस्कृत नाम—घोरण्ट, पूगी, पूग, गुवाक तथा क्रमुक ये सब हैं।

इसके फल के संस्कृत नाम—पूगीफल तथा उद्वेग हैं।

सुपारी-कषाय रसयुक्त, गुरु, शीतल, रूक्ष, मोहजनक, अग्निदीपक, रोचक एवम्-कफ, पित्त तथा मुख की विरसता को दूर करने वाली होती है ॥ ४९-५० ॥

अथार्द्रस्विन्नतत्फलगुणानाह

आर्द्रं तद् गुर्वभिष्यन्दि वह्निदृष्टिहरं स्मृतम्।
स्विन्नं दोषत्रयच्छेदि दृढमध्यं तदुत्तमम् ॥ ५१ ॥

कच्ची सुपारी-गुरु, अभिष्यन्दी एवम्-जठराग्नि तथा दृष्टि को मन्द करनेवाली होती है। स्विन्न (चिकनी) सुपारी-त्रिदोषनाशक होती है तथा जिसका मध्यभाग दृढ़ हो वह सुपारी उत्तम होती है ॥ ५१ ॥

१३ सुपारी

हि०-सुपारी, सोपारी, सुपाडी, कसेली। बं०-गुवारी, सुपारी। म०-सुपारी, पोफल (फल)। गु०-सोपारी। ता०-कमुगु। क०-कडि, अडिके। ते०-पोका। फा०-पोपिल। अ०-

फोफिल। अं०–Betel Nut Palm (बेटल् नट् पाम) । ले०–*Areca catechu Linn.* (एरेका कॅटेचु) । Fam. Palmae (पामी) ।

सुपारी एक बहुत प्रसिद्ध वस्तु है जो प्रतिदिन के व्यवहार में पान के साथ या अकेली खाने के काम आती है। इसके वृक्ष बङ्गाल, आसाम, सिलहट, मैसूर, कनारा, मलाबार तथा दक्षिण हिन्दुस्तान के कई प्रान्तों में तटीय प्रदेशों में लगाये हुये पाये जाते हैं।

यह वृक्ष ताड और नारियल के समान ऊँचा (४०-६० फीट) पर बाँस के समान पतला होता है। पत्ते–बड़े २, पक्षवत, नारियल के पत्तों के समान ४ से ६ फीट लम्बे, जिनमें ऊपर के उपपक्ष (Pinnae) मिले हुये तथा वृन्त का नीचे का भाग चौड़ा तथा फैला हुआ होता है। फूल–पत्रकोशावृत गुच्छ में, जिन में पुंपुष्प छोटे, अधिक तथा स्त्रीपुष्प बड़े रहते हैं। फल–अंडाकार, १½–२" चौड़ा तथा २–२½" लम्बा एवं पकने पर चमकीले नारंगी रंग का होता है जिसके अन्दर सुपारी (बीज) रहती है।

सुपारी आकार, नाप तथा स्वाद आदि के अनुसार अनेक प्रकार की होती है। परन्तु एक साधारण सुपारी (धूसर भूरे रङ्ग की) और दूसरी (लाल सुपारी) दक्षिणी सुपारी ये ही दो प्रसिद्ध हैं। इनमें से दूसरी उबाल कर बनाते हैं। पकने से कुछ पूर्व सुपारी को निकाल कर जल तथा पूर्व वर्ष के तैयार 'घन' (छोगारू) में उबालते हैं। नया क्वाथ बनाना हो तो जामुन, लाल चंदन, पीपल इत्यादि की छाल से बनाते हैं। इससे स्वाद, टिकाऊपन तथा रंग अच्छा हो जाता है तथा इसके दोष दूर हो जाते हैं। बालू में भूनकर खाने से भी दोष दूर हो जाते हैं।

रासायनिक संगठन—साधारण सुपारी में टैनिन २१ से ३०% किन्तु चिकनी सुपारी में ९ से १५% रहता है। इसमें खटिक फॉस्फोरस, लौह तथा अनेक क्षाराभ जिनमें से मुख्य ऍरेकोलिन (Arecoline, $C_6 H_{11} O_2 N$, ०·१%) है, पाये जाते हैं। यह क्षाराभ वात नाड़ी संस्थान के लिये विषैला है जिससे आक्षेप तथा अंगघात होता है। इसकी क्रिया पाइलोकार्पिन (Pilocarpine) की तरह होती है। इसके लवण के इन्जेक्शन घोड़ों के पेट फूलकर पीड़ा होने में देते हैं जिससे विरेचन होता है। जानवरों के चिपटे कृमि में भी इसे देते हैं। मनुष्यों में इसका उपयोग नहीं करते हैं। इसमें एक लाल रंग पाया जाता है जो क्षारीय खौलते जल में घुलता है तथा अम्ल से प्रक्षेपित हो जाता है। छोगारू का कत्थे जैसा उपयोग भी किया जाता है।

गुण और प्रयोग - यह शीत रूक्ष, कषाय, मुखशुद्धिकर, वृष्य एवं कृमिघ्न होती है। ताजी मादक एवं कभी-कभी चक्कर लाने वाली होती है। इसे वातनाडियों के लिये बल्य तथा आर्तवप्रवर्तक भी मानते हैं। इसको चबाने से कुछ उत्तेजना आती है तथा मन प्रसन्न होता है। इसका उपयोग अतिसार, कृमि तथा मूत्रविकार आदि में करते हैं। इसको जलाकर मंजन भी बनाते हैं।

(१) चिपटे कृमि के लिये एक कच्ची सुपारी दूध में पीस कर पिलाते हैं।

(२) रक्तमिश्रित आंव में ¼–½ सुपारी का चूर्ण दिया जाता है।

विष प्रभाव—अधिक मात्रा में यह विषैली होने के कारण केवल जानवरों के कृमि में ही इसका उपयोग अब किया जाता है। हमेशा चबाने से कैन्सर होने की संभावना व्यक्त की गई है।

अथ तालः (ताड)। तन्नामानि तत्पक्वफलमज्जगुणाँश्चाह

तालस्तु लेख्यपत्रः स्यात्तृणराजो महोन्नतः ॥ ५२॥

पक्वं तालफलं पित्तरक्तश्लेष्मविवर्द्धनम् । दुर्जरं बहुमूत्रञ्च तन्द्राऽभिष्यन्दशुक्रदम् ॥ ५३ ॥

तालमज्जा तु तरुणः किञ्चिन्मदकरो लघुः। श्लेष्मलो वातपित्तघ्नः सस्नेहो मधुरः सरः॥५४॥

ताड़ के संस्कृत नाम-ताल, लेख्यपत्र, तृणराज तथा महोन्नत ये सब हैं। पका ताड़ का फल-पित्त, रक्त तथा कफ की वृद्धि करनेवाला, देरमें हजम होनेवाला, मूत्र की अत्यन्त प्रवृत्ति करनेवाला एवम्-तन्द्रा, अभिष्यन्द तथा शुक्र को उत्पन्न करनेवाला होता है। ताड़ की मींगी जो कि खूब तैयार होगई हो वह किञ्चित् मदकारक, लघु, कफजनक, स्नेहयुक्त, मधुर, सारक एवम्-वात तथा पित्त का नाशक होती है॥ ५२-५४॥

अथ तालरसः (ताडी)। नवीनस्य प्राचीनस्य च नामानि गुणाँश्चाह

तालजं तरुणं तोयमतीव मदकृन्मतम्। अम्लीभूतं तदा तु स्यात्पित्तकृद्वातदोषहृत्॥५५॥

ताड़ का ताजाजल (ताड़ी)-अत्यन्त मदकारक होता है। यदि वही पुराना होने से खट्टा होगया हो तो पित्तकारक एवम्-वात दोष को दूर करने वाला होता है॥ ५५॥

१५ ताड़

हि०-ताड़, ताल, तार। **बं०**-ताल। **म०**-ताड़। **ता०**-पनै मरम। **क०**-तालिमारा। **ते०**-ताति। **गु०**-तड़। **फा०**-ताल। **अ०**-तार। **अं०**-The Palmyra Palm (दी पामीरा पाम्)। **ले०**-*Borassus flabellifer Linn.* (बोरेसस् फ्लेबेलिफेर)। Fam. Palmae (पामी)।

यह प्रायः सभी स्थानों पर विशेषकर शुष्क प्रदेशों में, पेनिनशुला के तटीय प्रदेशों, बंगाल तथा बिहार में होता है।

ताड़ का वृक्ष-१०० फीट तक ऊँचा होता है और उसके स्तम्भ की गोलाई ३½-७ फीट तक होती है। स्तम्भ के सिरे पर ३ से ५ फीट के घेरे में ३०-४० पत्ते एक साथ सटे हुये गोलाकार, और कटे हुए किनारेदार होते हैं। पत्रदंड-३ से ४ फीट का होता है। यह पुरुष और स्त्री जाति के भेद सेदो प्रकार का होता है। स्त्री जाति पर नारियल के फल के समान फल लगते हैं और पुरुष जाति पर बाल आते हैं। पुंपुष्पव्यूह का गलती से **गजपिप्पली** के स्थान पर प्रयोग किया जाता है। फल बड़े तथा रेशेदार होते हैं जिनके भीतर तीन खण्ड होते हैं जिनमें से प्रत्येक में बीज होता है। इसके पुष्पित अक्ष को चीरा लगाने से रस प्राप्त होता है जिसे ताजे अवस्था में नीरा तथा बाद में ताड़ी कहते हैं। इसको पकाकर **गुड़** तथा मिश्री प्राप्त की जाती है।

रासायनिक संगठन—नीरा में शर्करा तथा यीस्ट (Yeast) रहता है। यीस्ट से विटामिन बी प्राप्त होता है। पुंजाति से प्राप्त नीरा में शर्करा कुछ अधिक होती है। नीरा को रखने से स्वतः संधान प्रारम्भ हो जाता है तथा ६ से ८ घंटे के अन्दर इसमें ३% तक मद्यसार एवं ०·१% अम्ल तैयार हो जाता है। बाद में मद्यसार की मात्रा ५% तक बढ़ कर रुक जाती है। तत्पश्चात् अम्ल की वृद्धि होकर सिरका बन जाता है।

गुण और प्रयोग—इसका फल मधुर, शीत, बल्य, बृंहण तथा पित्तहर है। बीज मूत्रल तथा वातपित्तशामक है। इसके नूतन पुष्पित भाग की राख अम्लतानाशक एवं विषमज्वरहर होती है। इसका उपयोग अम्लपित्त में तथा विषमज्वर में विशेषकर यकृत प्लीहावृद्धि होने पर करते हैं तथा चावल का मांड के साथ लेप भी करते हैं। इससे त्वचा लाल होकर फोड़े आते हैं।

नीरा उत्तेजक, कफनाशक एवं मूत्रल होती है तथा इसे आल्हाद कारक पेय के रूप में पीते हैं। **तालमिश्री** कास, वक्ष के विकार तथा बालकों के लिये सारक रूप में प्रयोग में आती है।

अथ बिल्वः (बेल)। तन्नामानि तद्बालफलनामगुणाँश्चाह

बिल्वः शाण्डिल्यशैलूषौ मालूरश्रीफलावपि। बालं बिल्वफलं बिल्वकर्कटी बिल्वपेशिका॥
ग्राहिणी कफवातामशूलघ्नी बिल्वपेषिका ॥ ५६ ॥

बेल के संस्कृत नाम—बिल्व, शाण्डिल्य, शैलूष, मालूर तथा श्रीफल ये सब हैं। बेल के कच्चे फल के संस्कृत नाम—बालबिल्वफल, बिल्वकर्कटी तथा बिल्वपेशिका ये सब हैं।

बेल के कच्चे फल—ग्राही एवम् कफ, वात, आम तथा शूल को नष्ट करने वाले होते हैं ॥५६॥

अन्यच्च

बालं बिल्वफलं ग्राहि दीपनं पाचनं कटु। कषायोष्णं लघु स्निग्धं तिक्तं वातकफापहम् ॥

ग्रन्थान्तर में कहे हुये कच्चे बेल के फल के गुण—यह ग्राही, अग्निदीपक, पाचक, कटु-तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, उष्ण, लघु, स्निग्ध एवम् वात तथा कफ को दूर करने वाले होते हैं ॥ ५७ ॥

अथ पक्वतत्फलगुणानाह

पक्वं गुरु त्रिदोषं स्याद् दुर्जरं पूतिमारुतम्। विदाहि विष्टम्भकरं मधुरं वह्निमान्द्यकृत् ॥५८॥

बेल का पका फल—मधुर रसयुक्त, गुरु, त्रिदोषजनक, देर में हजम होने वाला, दुर्गन्धयुक्त अधोवायु को करने वाला, विदाही, विष्टम्भ तथा अग्निमन्दता को उत्पन्न करने वाला होता है ॥ ५८ ॥

अथ पक्वापेक्षया बालस्य बिल्वफलस्य गुणाधिक्यमाह

फलेषु परिपक्वं यद् गुणवत्तदुदाहृतम् ॥ ५९ ॥
बिल्वादन्यत्र विज्ञेयमामं तद्धि गुणाधिकम्। द्राक्षाबिल्वशिवाऽऽदीनां फलं शुष्कं गुणाधिकम् ॥

पके फल की अपेक्षा बेल के कच्चे फल के गुणाधिक्य का वर्णन—सामान्यरूप से फलों में पका फल ही अधिक गुणकारी कहा गया है किन्तु यह नियम बेल के फल के लिये नहीं है ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि बेल का कच्चा फल ही विशेष गुणकारी होता है।

एवम्—द्राक्षा (दाख), बेल तथा हरड़ आदि के फल यदि सूखे हों तो अधिक गुणकारी होते हैं ॥ ५९-६० ॥

१५ बेल का फल

नोट—बेल के सम्बन्ध में अन्य वर्णन गुडूच्यादिवर्ग में पृ० २७४-२७६) किया जा चुका है।

अथ कपित्थः (कैथ)। तन्नामानि तत्पक्वापक्वफलगुणाँश्चाह

कपित्थस्तु दधित्थः स्यात्तथा पुष्पफलः स्मृतः। कपिप्रियो दधिफलस्तथा दन्तशठोऽपि च ॥
कपित्थमामं संग्राहि कषायं लघु लेखनम्। पक्वं गुरु तृषाहिक्काशमनं वातपित्तजित् ॥
स्यादम्लं तुवरं कण्ठशोधनं ग्राहि दुर्जरम् ॥ ६२ ॥

कैथ के संस्कृत नाम—कपित्थ, दधित्थ, पुष्पफल, कपिप्रिय, दधिफल तथा दन्तशठ ये सब हैं। कैथ का कच्चा फल—कषाय रसयुक्त, संग्राही, लघु तथा लेखन होता है। पका फल—अम्ल तथा कषाय रसयुक्त, गुरु, कण्ठ को साफ करने वाला, ग्राही, देर में हजम होने वाला एवम्—प्यास तथा हिक्का को शमन करने वाला और वात तथा पित्त को दूर करने वाला होता है ॥

१६ कैंथ

हिं०—कै(कैं)थ, कैथा, कैंत, कइंत। **बं०**—कयेद्, कयेत् वेल। **म०**—कंवठ। **गु०**—कोठ। **क०**—बेललु। **ते०**—वेलग। **ता०**—बलामरं। **अं०**—Wood Apple (वुड अॅपल), Elephant Apple (एलिफेन्ट अॅपल्)। **ले०**—*Feronia elephantum Correa* (फेरोनिया एलिफॅन्टम्)। Fam. Rutaceae (रूटेसी)।

यह इस देश के प्रायः सूखे प्रान्तों में अधिक उत्पन्न होता है तथा दक्षिण में वन्य अवस्थाओं में पाया जाता है।

इसका **वृक्ष**—बहुत बड़ा होता है और उस पर सीधे कांटे होते हैं। वृक्ष से बबूर के गोंद के समान एक प्रकार का गोंद निकलता है। **पत्ते**—संयुक्त, सदलपर्ण, ३ से ४ इञ्च लंबे होते हैं। **पत्रक**—अंडाकार या अभिअंडाकार, छोटे छोटे, एक-एक सींक पर तीन तीन अथवा ५ या ७-७ रहते हैं। **फूल**—फीके लाल रंग के होते हैं। **फल**—२-३ इञ्च के घेरे में गोल होते हैं और छिलका कठोर होता है। भीतर सुगंधित, स्वादु, खाने लायक गूदी होती है और गूदी में छोटे-छोटे अनेक चिपटे बीज होते हैं। इसमें एक आश्चर्यजनक गुण यह है कि यदि हाथी कैंत के फल को खाजावे तो इसका गूदा हाथी के पेट में रह जाता है और गूदा रहित अखंडित फल मल के साथ बाहर निकल आता है। इसके दो भेद होते हैं। एक में फल छोटे तथा अम्ल होते हैं। तथा दूसरे में फल बड़े तथा मीठे होते हैं। पक्व फल को चीनी के साथ या शरबत बनाकर या चटनी के रूप में खाया जाता है। इसकी जेली भी बनाई जाती है। इसके पत्र, गोंद तथा फल का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—फल में खनिज तत्व विशेषकर खटिक, फॉस्फोरस तथा लोह अधिक होते हैं। इसके अतिरिक्त राइबोफ्लेविन (Riboflavine) तथा विटामिन 'सी', एवं पेक्टिन (Pectin 3 to 5%) होता है। इसके पत्तों में उड़नशीलतैल ०·७३% होता है जिसमें मुख्य भाग एस्ट्रेगॉल (Estragol, $C_{10}H_{12}O$) का होता है।

गुण और प्रयोग—इसका फल-गुणों में बेल की तरह होता है। यह विशेष रूप से रक्तपित्त-शामक होता है। पत्ते वातानुलोमक होते हैं

(१) इसका फल रक्तपित्त, अतिसार तथा प्रवाहिका में दिया जाता है। इसके गोंद से उदर की मरोड़ कम होती है।

(२) बच्चों के अजीर्ण में पत्तों का उपयोग करते हैं।

अथ नारङ्गः (नारङ्गी)। तन्नामानि मधुराम्लनारङ्गयोगु

नारङ्गो नागरङ्गः स्यात्त्वक्सुगन्धो मुखप्रियः ॥ ६३ ॥
नारङ्गो मधुराम्लः स्याद्रोचनो वातनाशनः। अपरं त्वम्लमत्युष्णं दुर्जरं वातहृत् स ॥६४॥

नारङ्गी के संस्कृत नाम —नारङ्ग, नागरङ्ग, त्वक्सुगन्ध तथा मुखप्रिय ये सब हैं।

नारङ्गी—मधुर तथा अम्लरसयुक्त, रोचक एवम् वातनाशक होती है और दूसरी जाति की नारङ्गी अम्लरसयुक्त, अत्यन्त उष्ण, देर में हजम होने वाली, सारक तथा वातनाशक होती है॥

१७ नारङ्गी

हिं०—नारङ्गी, संतरा, संत्रा। **बं०**—कमलानेबु। **म०**—नारिंग, संत्रा। **गु०**—नारङ्गी। **फा०**—किस्मे अज नारंज, नारंज। **अ०**—नारंज। **अं०**—Orange (ऑरेंज)। **ले०**—*Citrus reticulata Blanco* (साइट्रस रेटिक्युलेटा)। Fam. Rutaceae (रूटेसी)।

यह सब प्रान्तों की वाटिकाओं में रोपण किया जाता है। आसाम, सिक्किम, मध्य भारत, पंजाब तथा कुर्ग में इसकी अधिक खेती की जाती है।

इसका वृक्ष–छोटा होता है। पत्ते–चिकने ४–५ इञ्च लम्बे नीबू के पत्ते के आकार वाले होते हैं। पर्णवृन्त करीब-करीब पक्षहीन होता है। फूल–सफेद रंग के आते हैं और उनसे सुगन्ध आती है। फल–२ इञ्च के घेरे में गोलाकार और दोनों ओर दबे हुए होते हैं, पकने पर वे नारङ्गी रङ्ग के हो जाते हैं।

इसकी एक अन्य जाति होती है जिसमें फल बहुत खट्टा होता है उसे सा. ऑरॅन्शिअम् लिन. (C. aurantium Linn.) कहते हैं। इसका चिकित्सा की दृष्टि से यह महत्त्व है कि इसमें विटामिन 'ए' का पूर्वरूप एवं विटामिन बी बहुत होता है तथा इसके छिलके कुछ दीपन एवं सुगंधि के लिये काम में आते हैं।

संतरे के स्थान, स्वरूप आदि भेद से अनेक भेद पाये जाते हैं।

रासायनिक संगठन—छिलके में एक तेल होता है जिसमें लिमोनेन (Limonene) बहुत होता है। इसको शाखा तथा पत्तों से पेटिट्ग्रेन आईल (Petitgrain oil) प्राप्त किया जाता है। फल में विटामिन 'सी', 'बी', 'ए' एवं खनिज द्रव्य, शर्करा, अम्ल द्रव्य एवं पेक्टिन आदि द्रव्य होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसका रस ज्वरहर, तृषाशामक, दुर्जर, हृद्य, रुचिकारक एवं वातघ्न है।

अथ तिन्दुकः (तेंदू)। तन्नामानि पक्वापक्वतत्फलगुणाँश्चाह

तिन्दुकः स्फूर्जकः कालस्कन्धश्चासितकारकः। स्यादामं तिन्दुकं ग्राहि वातलं शीतलं लघु ॥
पक्वं पित्तप्रमेहास्रश्लेष्मघ्नं मधुरं गुरु ॥ ६५ ॥

तेंदू के संस्कृत नाम—तिन्दुक, स्फूर्जक, कालस्कन्ध तथा असितकारक ये सब हैं।

तेंदू का कच्चा फल–ग्राही, वातजनक, शीतल एवम् लघु होता है। पकाफल–मधुर रसयुक्त, गुरु एवम्–पित्त, प्रमेह, रक्तविकार तथा कफ का नाशक होता है।

१८ तेंदू

हि०–तेंदू, गाब, गाम। बं०–गाब। म०–टेंबुरणी। गु०–टींबरू। ते०–तुम्बिकि। ता०–तुम्बिक। अं०–Gaub Persimon (गॉब पर्सिमॉन्)। ले०–*Diospyros embryopteris Pers.* (डायोस्पाईरॉस एम्ब्रीओप्टेरिस्)। Fam. Ebenaceae (एबेनेसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है। विशेष कर बङ्गाल में अधिक होता है।

इसका वृक्ष–मध्यमाकार का, शाखा-प्रशाखा करके सघन और बारहोमास हरा-भरा रहता है। छाल–भूरे रंग की होती है। पत्ते–२ इञ्च चौड़े, ५–९ इञ्च तक लम्बे, किंचित् अण्डाकार, आयताकार, चिकने, चर्मसदृश और चमकीले होते हैं। फूल–सफेद, पत्रदण्ड के पास झुमकों में आते हैं। फल–२–३ इञ्च के घेरे में गोलाकार और पकने पर कुछ पीले रंग के हो जाते हैं। ये रक्तकिट्टवरण से ढके रहते हैं। इसके भीतर लसीली गूदी होती है। मल्लाह लोग सन के साथ इसकी गूदी को मिला कर नाव के छेदों को बन्द करते हैं। बीज–४ से ८ रहते हैं। इसको बंदर बहुत खाते हैं। इस आधार पर इसे 'मर्कटतिन्दुक' एवं इसकी अन्य जाति डॉ० मेलॅनोक्जाइलोन (D. melanoxylon, Roxb.) को तिन्दुक श्री ठा० बलवन्तसिंह जी ने माना है।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में तेल होता है। छाल तथा फल में टैनिन होता है। फलों में पेक्टिन बहुत होता है। इसके ईथरीय सत्त्व में, ईस्चेरिचिया कोलाई (Escherichia coli) जीवाणुनाशक शक्ति होती है।

गुण और प्रयोग—इसकी गुद्दी अच्छी संग्राहक होती है। इसको जीर्ण अतिसार तथा प्रवाहिका में देते हैं। बीजों का तेल भी अतिसारादि में दिया जाता है। विषम ज्वर में छाल देते हैं। मुखपाक में फल के फांट से कुल्ला कराते हैं तथा व्रण एवं क्षत पर स्वरस लगाते हैं।

मात्रा—शुष्क गुद्दी १ से ५ रत्ती।

अथ कुपीलुः। यस्य फलं कुचिला इति लोके 'मकरतेंदुआ' इति च। तन्नामानि तत्फलगुणाँश्चाह

तिन्दुको यस्तु कथितो जलदो दीर्घपत्रकः॥ ६६॥
कुपीलुः कुलकः काकतिन्दुकः काकपीलुकः। काकेन्दुर्विषतिन्दुश्च तथा मर्कटतिन्दुकः॥६७॥
कुपीलुः शीतलं तिक्तं वातलं मदकृल्लघु। परं व्यथाहरं ग्राहि कफपित्तास्रनाशनम्॥६८॥

कुपीलु (जिसके फल को लोक में 'कुचिला' कहते हैं तथा जो 'मकरतेंदुआ' भी कहलाता है) के संस्कृत नाम – तिन्दुक, जलद, दीर्घपत्रक, कुपीलु, कुलक, काकतिन्दुक, काकपीलुक, काकेन्दु, विषतिन्दु तथा मर्कटतिन्दुक ये सब हैं।

कुचिला–तिक्तरसयुक्त, शीतल, वातजनक, मदकारक, लघु, अत्यन्त व्यथा को दूर करने वाला, ग्राही एवम्–कफ, पित्त तथा रक्तविकार को दूर करने वाला होता है॥ ६६–६८॥

१९ कुचला

हि०–कुचला, कुचिला। बं०–कुँचिला। म०–काजरा। गु०–झेर कोचला। क०–कंजि, हेमुष्टि, कासर। ते०–मुसिडे। ता०–एट्टेमारं, काकोठीं। फा०–कुचूला, फुलूसंमाही, इजराकी। अ०–हब्बुलगुराब, अजराकि, खानेकूउल् केल्ला। अं०–Poison-nut tree (पॉइजन नट ट्री); Nux-vomica tree (नक्स-वोमिका ट्री)। ले०–*Strychnos nux-vomica Linn.* (स्ट्रिक्नॉस नक्स वोमिका)। Loganiaceae (लोगेनिएसी)।

यह गोरखपूर, बिहार, उड़िसा तथा विशेष रूप से दक्षिण में पाया जाता है।

इसका वृक्ष–बड़ा होता है एवं किसी किसी में कांटे भी होते हैं। स्तम्भ–मोटा और सीधा रहता है। पत्ते–३ से ६ इञ्च तक लंबे, $1\frac{3}{4}$–३ इंच चौड़े, दीर्घवृत्ताकार, चिकने चमकीले तथा ५ शिराओं से युक्त जिनमें पार्श्व की शिराएँ अस्पष्ट रहती हैं। फूल–छोटे-छोटे हरापन युक्त सफेद आते हैं। फूला हुआ वृक्ष बहुत सुहावना दिखाई पड़ता है। फल–गोल, चिकने, नारङ्गी के बराबर १ से ३ इञ्च व्यास में और उसी रङ्ग में आते हैं। इसके भीतर एक प्रकार का कड़वा सफेदकोमल पदार्थ (गूदी) भरा रहता है जिसमें अनेक बीज रहते हैं। बीज–$\frac{3}{4}$ इञ्च के घेरे में, चिपटे, गोल, एक तरफ से उन्नतोदर तथा दूसरी तरफ से नतोदर और चमकीले सफेद मखमली रेशों से भरे रहते हैं।

इसके बीज, छाल, पत्ते, काष्ठ आदि का उपयोग किया जाता है। बीजों का ही अधिक उपयोग होता है।

शोधन—बीजों को शोधन करके व्यवहार करना चाहिये। सात दिन गोमूत्र में रखकर छिलके निकाल कर, गोदुग्ध में उबाले। फिर गाय के घी में भून कर चूर्ण बना प्रयोग करें।

रासायनिक संगठन—इसके समस्त भागों में प्रधान रूप से स्ट्रिकनीन् (Strychnine) तथा ब्रूसीन (Brucine) एवं अल्प अन्य क्षाराभ पाये जाते हैं। छाल में ब्रूसीन ही अधिक होता है। बीज में १·५३–३·४२% क्षाराभ होता है जिसमें करीब आधा स्ट्रिकनीन होता है। बीजों में एक ग्लूकोसाइड, लोगॅनिन् (Loganin) एवं अत्यल्प ताम्र पाया जाता है। अन्य जाति के बीजों की मिलावट से इसके क्षाराभों की मात्रा में कमी हो जाती है अन्यथा बीजों को रखने से इसमें परिवर्तन नहीं होता।

गुण और प्रयोग—यह कटु, तिक्त, उष्ण, दीपन, पाचन, उत्तेजक, बल्य एवं बाजीकर है। इसका उपयोग, पाचन के विकार, वातरोग तथा हृदय की दुर्बलता में किया जाता है।

यह केन्द्रीय वातनाड़ी संस्थान, विशेष कर सुषुम्ना तथा प्रेरक केन्द्रों को उत्तेजित करता है।

(१) इसका चूर्ण देने से भूख बढ़ती है तथा पाचक रसों की वृद्धि होती है। इसके टिंचर से आंत्र की गति बढ़ती है इसलिये इसे जीर्ण विबंध में अन्य मृदुविरेचन औषधियों के साथ देते हैं। कुपचन, शूल आदि विकारों में इससे लाभ होता है।

(२) वातिक संस्थान के लिए उत्तेजक होने के कारण अनेक वातविकारों जैसे अर्दित, अर्धांग, गतिभ्रंश, ज्ञानभ्रंश, पेशीशोष, कंप, नाड़ीशूल, बाधिर्य, घटसर्प से उत्पन्न या अधिक बोलने से उत्पन्न आवाज न निकलना एवं तंबाकू के अधिक सेवन से उत्पन्न आन्ध्य आदि में इससे लाभ होता है।

(३) बच्चों के शय्यामूत्र, हस्तमैथुन या अतिमैथुन से उत्पन्न नपुंसकता में इसे देते हैं। वार्धक्य में बाजीकरण के लिये कुचला, लोह तथा काली मिरिच देते हैं।

(४) हृदय तथा श्वसन-संस्थान की दुर्बलता में इसके देने से उन-उन अंगों को बल मिलता है। इसके साथ अन्य औषधियों को देना पड़ता है।

(५) इसके जड़ की छाल को नींबू के रस में घोंटकर बनाई गोली विसूचिका में दी जाती है। कृमियुक्त व्रण में पत्तों का पुल्टिस लगाया जाता है। गाय को पत्ते खिलाने से दूध में कडुवाहट आती है तथा वह अधिक सुपाच्य या पाच्य माना जाता है। कुछ पक्षी, जानवर इसके फल को खाते हैं। जानवरों को मारने के लिये भी इसका उपयोग करते हैं।

विषलक्षण एवं चिकित्सा—इसको अधिक मात्रा में देने से मृत्यु हो सकती है इसलिये इसका प्रयोग सावधानी से करना चाहिये। प्रारम्भ में इससे बेचैनी, घबड़ाहट, प्रतिवर्तों (Reflex) का बढ़ना, पेशीस्फुरण, गले एवं चलने में भारीपन एवं एकाएक किसी अंग में क्षिप आदि लक्षण होते हैं। ये लक्षण १५ से २० मिनट में प्रारम्भ होते हैं। कभी कभी एक घंटे बाद भी होते हैं किन्तु एकाएक तीव्र रूप में। बाद में स्फुरण, कंप तथा धनुर्वात जैसे आक्षेप आने लगते हैं। मृत्यु श्वासावरोध से होती है। चिकित्सा में प्रथम वमन कराना, जिसके लिये अर्कमूलत्वचा, मैनफल, झिंक सल्फेट का उपयोग या नलिका द्वारा आमाशय-प्रक्षालन कराना चाहिये। फिर दूध में गाय का घी या अंडे की सफेदी, या शोधित कोयला का चूर्ण या पोटॅशियम् परमॅंग्नेट आदि द्रव्य खिलाना चाहिये। पेशियों को शिथिल करने वाले द्रव्य जैसे अफीम, बेलाडोना, कपूर, गाँजा, तंबाकू आदि का उपयोग मुख द्वारा या सूचिकाभरण से करना चाहिये। इसके लिये क्लोरोफार्म या ईथर सुंघाना ज्यादा अच्छा है। बारबिटोन श्रेणी की औषधियों का शिरा द्वारा सूचिकाभरण शिथिलता तथा नींद लाने के लिये अच्छा है। इसकी साधारण घातक मात्रा, बीजों की ११·५५ से ४८·३८ ग्रेन तथा स्ट्रिकनीन की १·५४ ग्रेन है। इससे कम से भी मृत्यु हुई है तथा इससे बहुत अधिक मात्रा के सेवन के पश्चात् भी चिकित्सा से रोगी बचाये गये हैं।

मात्रा—१ से ४ ग्रेन (½–२ रत्ती)।

अथ राजजम्बू (बड़ी जामुन)। तन्नामानि तत्फलगुणाँश्चाह

फलेन्द्रा कथिता नन्दी राजजम्बूर्महाफला। तथा सुरभिपत्रा च महाजम्बूरपि स्मृता।
राजजम्बूफलं स्वादु विष्टम्भि गुरु रोचनम् ॥ ६९ ॥

बड़ी जामुन के संस्कृत नाम—फलेन्द्रा, नंदी, राजजम्बू , महाफला, सुरभिपत्रा और महाजम्बू ये सब हैं।

बड़ी जामुन का फल—स्वादिष्ट, विष्टम्भक, गुरु तथा रोचक होता है ॥ ६९ ॥

२० बड़ीजामुन

हि०-बड़ी जामुन, फरेन्द्र (न), फड़ेना, फलेन्द्रा, राजजामुन। बं०-बड़जाम, कालजाम। म०-जाम्भूल। गु०-जाम्बुन। क०-दोड्डनिरलु, दोदुनिरली (लु)। ते०-पेद्दनेरडि, नेरडु चेट्टु। ता०-नागँ, सम्बल। अं०-Jambul Tree (जाम्बुल ट्री)। ले०-*Eugenia jambolana Lam.* (युजेनिया जम्बोलेना)। Syzygium cumini Skeels (सिझिजियम क्यूमिनाइ)। Fam. Myrtaceae (मिर्टेसी)।

यह अत्यन्त शुष्क भागों को छोड़कर सब प्रान्तों में पायी जाती है। इसका वृक्ष बड़ा होता है और वह सदा हरा भरा रहता है। पत्ते-विपरीत, दीर्घवृत्ताकार, दीर्घवृत्ताकार भालाकार, अंडाकार या आयताकार, लम्बाग्र या कुण्ठिताग्र, चिकने, चमकीले, ३ से ६ इञ्च लंबे तथा ½ से १ इञ्च लंबेवृन्त से युक्त होते हैं। फूलों की मञ्जरियाँ किञ्चित् हरापन युक्त सफेद होती हैं और उससे सुगन्ध आती है। फल-आध से डेढ इञ्च तक लम्बे, गोल, पकने पर बैंगनीयुक्त काले रङ्ग के हो जाते हैं। उसमें गुद्दी होती है।

जाति-जामुन की कई जातियाँ होती हैं। भावप्रकाश में आगे जलजम्बू का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त क्षुद्रजम्बू , काकजम्बू , भूमिजम्बू (E. operculata), गुलाबजामुन (E. jambos) आदि भेद पाये जाते हैं। राजजंबू का वर्णन ऊपर किया गया है जो सबमें श्रेष्ठ है। जलजम्बू या क्षुद्रजम्बू का आगे वर्णन किया गया है।

जामुन के फल, मज्जा, छाल तथा पत्तों का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—बीजों में एल्लेजिक् ॲसिड (Ellagic acid), सुगन्धितैल, स्थिरतैल, तथा राल होती है।

गुण और प्रयोग–जामुन वातजनक, कफपित्तशामक, ग्राही, मूत्रसंग्रहणीय तथा पत्ते वमनरोधक हैं।

(१) इसकी छाल कषाय एवं स्तंभन होने के कारण इसके क्वाथ का उपयोग गण्डूष तथा व्रण प्रक्षालन के लिये तथा अतिसार आदि में करते हैं। इसका ताजा रस बकरी के दूध में मिलाकर बच्चों के अतिसार में देते हैं।

(२) बीज मधुमेह के लिये उपयोगी समझे जाते हैं। कुत्तों में इसके जलीय सत्व के सूचिकाभरण से रक्तगत शर्करा का प्रमाण कम हो जाता है किन्तु मुख द्वारा प्रयोग से यह प्रभाव नहीं दिखाई देता।

(३) पत्तों का रस रक्तातिसार तथा अत्यार्तव में दिया जाता है।

(४) पत्तों को पीसकर लोहचूर्ण में मिलाकर रखने से एक उत्तम प्रकार का लोह क्षार तैयार होता है जिसे पांडु तथा स्त्रियों के पांडु सहित अतिसार में देते हैं।

(५) इसका सिरका तथा आसव दीपन, पाचन होता है तथा उसे मधुमेह, अतिसार आदि में देते हैं।

मात्रा—बीजचूर्ण १ से ३ माशा; स्वरस १ से २ तोला।

अथ जलजम्बुका (छोटी जामुन, नदी जामुन)।
तस्या नामानि गुणाँश्चाह

क्षुद्रजम्बुः सूक्ष्मपत्रा नादेयी जलजम्बुका। जम्बूः संग्राहिणी रूक्षा कफपित्तास्रदाहजित्॥

छोटी जामुन के संस्कृत नाम—क्षुद्रजम्बू, सूक्ष्मपत्रा, नादेयी तथा जलजम्बुका ये सब हैं। छोटी जामुन-संग्राही, रूक्ष एवम्-कफ, पित्त, रक्तविकार तथा दाह को दूर करने वाली होती है॥ ७०॥

२१ छोटी जामुन

हि०-छोटी जामुन, कठ जामुन, वन जामुन। ले०-*Eugenia heyneana Wall.* (यूजेनिया हेनियाना)। Fam. Myrtaceae (मिर्टेसी)।

इसके छोटे-छोटे गुल्मवत् वृक्ष या गुल्म होते हैं। यह जामुन का ही भेद है। यह नदी नालों के किनारे अधिक होता है। अन्य भेदों का उल्लेख जामुन के साथ किया जा चुका है।

अथ बदरी (बेर)। तस्या नामान्याह

पुंसि स्त्रियाञ्च कर्कन्धूर्बदरी कोलमित्यपि॥ ७१॥
फेनिलं कुवलं घोण्टा सौवीरं बदरं महत्। अजप्रिया कुहा कोली विषमोऽभयकण्टका॥७२॥

छोटे बेर के संस्कृत नाम—कर्कन्धू (यह पुंल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग में होता है), बदरी, अजप्रिया कुहा, कोली, विषमा तथा अभयकण्टका ये सब हैं।

बड़े बेर के संस्कृत नाम—फेनिल, कुवल, घोण्टा और सौवीर ये सब हैं।

बड़े बेर से कुछ छोटा जो होता है उसे कोल कहते हैं॥ ७१-७२॥

तत्र बदरविशेषाणां लक्षणानि गुणांश्चाह

पच्यमानं सुमधुरं सौवीरं बदरं महत्। सौवीरं बदरं शीतं भेदनं गुरु शुक्रलम्॥ ७३॥
बृंहणं पित्तदाहास्रक्षयतृष्णानिवारणम्। सौवीरं लघु सम्पक्वं मधुरं कोलमुच्यते॥ ७४॥
कोलन्तु बदरं ग्राहि रुच्यमुष्णञ्च वातहृत्। कफपित्तकरं चापि गुरु सारकमीरितम्॥ ७५॥
कर्कन्धूः क्षुद्रबदरं कथितं पूर्वसूरिभिः। अम्लं स्यात्क्षुद्रबदरं कषायं मधुरं मनाक्॥ ७६॥
स्निग्धं गुरु च तिक्तञ्च वातपित्तापहं स्मृतम्।
शुष्कं भेद्यग्निकृत्सर्वं लघु तृष्णाक्लमास्रजित्॥ ७७॥

बेर के भेद तथा उनके लक्षण और गुण--सौवीर के लक्षण-जो बेर, पका हुआ अत्यन्त मीठा और बड़ा हो उसे सौवीर कहते हैं। सौवीर (बेर)---शीतल, मल का भेदन करने वाला, गुरु, शुक्रजनक, बृंहण (रस-रक्तादि वर्धक) एवम् पित्त, दाह, रक्तविकार, क्षय तथा प्यास को दूर करने वाला होता है।

कोल के लक्षण—जो सौवीर नामक बेर छोटा, मधुर तथा पका हुआ हो उसे कोल समझना चाहिये। कोल (बेर)—ग्राही, रोचक, उष्ण, कफ तथा पित्तजनक, गुरु, सारक एवम् वातनाशक होता है।

कर्कन्धू के लक्षण—छोटे बेर को कर्कन्धू कहते हैं। कर्कन्धू—अम्ल, तिक्त, कषाय तथा किञ्चित मधुर रसयुक्त, स्निग्ध, गुरु एवम्–वात तथा पित्त नाशक है।

सभी प्रकार के बेर यदि सूखे हों तो वे—मलभेदक, जठराग्निवर्धक, लघु एवम् प्यास, क्लान्ति तथा रक्तविकार के नाशक होते हैं॥ ७३-७७॥

नोट—भावप्रकाशकार बेर के तीन भेद सौवीर, कोल तथा कर्कन्धू लिखते हैं जो क्रमशः एक-दूसरे से छोटा होता है। सौवीर सबसे बड़ा है जिसे उन्नाव या राजबदर कहा जाता है। इसका उपयोग करना चाहिये। दूसरा कोल है जो साधारण बेर होता है। तीसरा सबसे छोटा कर्कन्धू है जिसे झड़बेरी, झडबेर कहते हैं। राजनिघंटु ने चौथा भेद घोण्टा (Zizyphus xylopyra, Willd—झिझीफस् क्साइलोपाइरा) लिखा है जिसे काठ-बेर कहते हैं। भावप्रकाशकार ने इसे सौवीर का पर्याय बतलाया है। एक अन्य वल्ली बदर (Z. oenoplia–झि. इनोप्लिया) एवं अन्य भेद भी होते हैं। यहाँ संक्षेप में मुख्य भेदों का वर्णन किया गया है।

२२ उन्नाव (सौवीर, राजबदर)

सं०–सौवीर, राजबदर। हि०–उन्नाव। अं०–Jujube (जुजुब)। ले०–*Zizyphus sativa Gaertn.* (झिझीफस् सटाइवा); Z. vulgaris Lam. (झि० वल्गेरिस्)। Fam. Rhamnaceae (हॅम्नेसी)।

यह पंजाब, हिमालय में ६५०० फीट तक, पूर्व में बङ्गाल तक, उत्तरपश्चिम सीमांत प्रदेश तथा बलूचिस्तान में होता हैं। अधिकतर चीन, ईरान आदि देशों से यह आते हैं।

इसका वृक्ष–छोटा तथा कांटेदार होता है। पत्ते–अंडाकार या गोल होते हैं। पुष्प–सितम्बर के अन्त में छोटे हरिताभ श्वेत आते हैं। फल–लाल, बहुत झुर्रीदार, १ से १॥ इञ्च लंबा, १ इञ्च चौड़ा, बेर की तरह गोल रहता है जिसका गूदा गुठली से चिपका हुआ, मीठा, पीला तथा हलका होता है। गुठली लंबी, कड़ी तथा झुर्रीदार होती है।

इसके पत्तों को चबाने से सभी प्रकार के स्वाद का ज्ञान ५ से २० मिनट के लिये समाप्त हो जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें शर्करा तथा लबाब रहता है।

गुण और प्रयोग—यह मधुर, स्नेहन तथा कफशामक है। छाल ग्राही, व्रणरोपण तथा व्रणशोधन है।

(१) इसका शरबत खांसी में दिया जाता है। सूखी खांसी में उन्नाव, गोंद, चीनी तथा गुलाब पत्ती को पकाकर तैयार की गई गोली मुँह में रखकर चूसते हैं।

(२) पत्तों को पीसकर बिच्छू काटने पर बाँधते हैं।

(३) छाल का क्वाथ शीतज्वर में अतिसार तथा शिथिलता आने पर देते हैं। इससे व्रण प्रक्षालन भी किया जाता है। मात्रा—५ से ७ बेर।

२३ बेर (कोल, बदर)

हि०–बेर, बैर, बदर। बं०–कुल बेर। म०–बोर; बोरीचे झाड़। गु०–बोर। ता०–इलंदै। ते०–रेगु चेट्टु। अ०–सिदर नबक़। अं०–Plum (प्लम)। ले०–*Zizyphus Jujuba Lam.* (झिझिफस् जुजुबा)। Fam. Rhamnaceae (हॅम्नेसी)।

बेर प्रायः सब प्रान्तों में होता है। यह जंगलों में आपही आप उत्पन्न होता है और बागों में रोपण किया जाता है।

इसका वृक्ष-मध्यमाकार का होता है और शाखायें बहुत होती हैं। वृक्ष और शाखायें छोटे-छोटे तीक्ष्ण काँटों से भरी रहती हैं। पत्ते-१-२॥ इञ्च के घेरे में गोलाई लिये लम्बे होते हैं। फूल-हरापन युक्त सफेद आते हैं। फल-संख्या में बहुत, अण्डाकार, पकने पर फीके पीले या नारंगी रंग के होते हैं। गुठली—कठोर होती है।

गुण और प्रयोग—इसके फल स्नेहन, रक्तस्तम्भक, पाचन, रक्तशोधन, हृद्य, उदर्द प्रशमन, श्रमहर एवं वातसंशमन हैं। इसके बीज हिक्का निग्रहण एवं नेत्र्य हैं। इसका पत्रलेप ज्वर एवं दाहनाशक है। इसकी छाल, विस्फोट शामक तथा अतिसार में लाभदायक है।

२४ झड़बेर (कर्कन्धू, क्षुद्रबदर)

हि०-झड़बेर, झरबेर, झड़बेरी। पं०-कोकनबेर। म०-जंगलीबोर। गु०-चणीआंबोर, चणीबोर। ले०-*Zizyphus nummularia W. & A.* (झिझीफस् न्युम्मूलेरिया)। Fam. Rhamnaceae (ह्रॅम्नेसी)।

यह शुष्क मार्गों में प्रायः सभी जगह पाया जाता है।

इसका वृक्ष-झाड़ के समान एक गज तक ऊँचा और शाखायें-सूक्ष्म काँटों से भरी हुई पतली-पतली भूमि की ओर नत रहती हैं। पत्ते-उक्त बेर के पत्तों के आकार के परन्तु उनसे छोटे होते हैं। फल-छोटे-छोटे उन्नाव के समान होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके फल शीतल ग्राही एवं पित्तशामक होते हैं। इसकी पत्तियाँ पामा तथा फोड़े पर लगाई जाती हैं।

अथ प्राचीनामलकम् (पानी आंवला)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

प्राचीनामलकं लोके पानीयामलकं स्मृतम्। प्राचीनामलकं दोषत्रयजिज्ज्वरघाति च ॥७८॥

पानी आँवला के संस्कृत नाम—प्राचीनामलक तथा पानीयामलक हैं। **पानी आँवला**—त्रिदोष तथा ज्वर को दूर करने वाला होता है ॥ ७८ ॥

२५ पानी आमला

हि०-पानी आमला, पानी आंवड़ (रा), पनियाला। बं०-पानिआमला। म०-पान आंवळा, तांबर। गु०-तालिसपत्र। अं०-Puneala plum (पनियाला प्लम्)। ले०-*Flacourtia cataphracta Roxb.* (फ्लाकोर्शिया कॅटाफ्रॅक्टा)। Fam. Flacourtiaceae (फ्लाकोर्शियेसी)।

यह बङ्गाल, आसाम, चट्टगांव, कोंकण आदि प्रान्तों में पाया जाता है।

इसका वृक्ष—छोटे कद का होता है और शाखाओं पर लंबे एवं बहुविभक्त काँटे होते हैं। पत्ते-३ से ५ इञ्च लम्बे, आयताकार या आयताकार-भालाकार, लम्बाग्र, चिकने एवं गोल या आरावत दन्तुर होते हैं। फूल-बहुत छोटे २ बेर के समान होते हैं। फल-झरबेर के समान गोलाकार, व्यास में ·८-१ इंच, खानेलायक और पकने पर लाल हो जाते हैं। इसके फल में विशेष गंध रहती है। गुद्दी भूरापन लिये हरी तथा रसदार रहती है।

रासायनिक संगठन—बीजों में तेल होता है।

गुण और प्रयोग—यह पित्तशामक है। पित्तप्रकोप में इसको देते हैं। इससे वमन तथा विरेचन रुक जाता है। दंतशूल तथा मसूढे से खून आता हो तो इसके पत्ते तथा छाल के क्वाथ से कुल्ला कराते हैं।

अथ लवली (हरफारेवडी)। तस्या नामानि तत्फलगुणांश्चाह

सुगन्धमूला लवली पाण्डुः कोमलवल्कला ॥ ७९ ॥
लवलीफलमश्मार्शःकफपित्तहरं गुरु। विशदं रोचनं रूक्षं स्वाद्वम्लं तुवरं रसे ॥ ८० ॥

हरफारेवड़ी के संस्कृत नाम—सुगन्धमूला, लवली, पाण्डु तथा कोमलवल्कला ये सब हैं।

हरफारेवड़ी का फल—विशद गुणयुक्त, रोचक, रूक्ष, गुरु, स्वादिष्ट, अम्ल तथा कषाय रस-युक्त एवम्–पथरी, अर्श, कफ तथा पित्त को नष्ट करनेवाली होती है ॥ ७९ ८० ॥

२६ हरफारेवड़ी

हि०-हरफारेवड़ी (री), लवली, हरफरौरी। बं०-नोयाल, हरफल। म०-रायआँवळा। गु०-खाटी आंवळ। ता०-अरिनेल्लि। ते०-राचयुसरिके। क०-करिनेल्लि। अं०-Star gooseberry (स्टार गूजबेरी), Country gooseberry (कन्ट्री गूजबेरी)। ले०—*Cicca acida* (*Linn.*) *Merrill* (सिक्का ॲसिड़ा); Syn. Phyllanthus distichus Muell. Skells (फाइलेन्थस् डिस्टिकस्)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

प्रायः यह सब प्रान्त की वाटिकाओं में लगाई हुई देखने में आती है।

इसका वृक्ष-मध्यमाकार का, २० फीट ऊँचा तथा सुहावना दिखाई पड़ता है। पत्ते-कसौंदी के पत्तों के आकार वाले, सींकों के दोनों ओर एकान्तर लगते हैं। देखने में ये यद्यपि पक्षवत सपत्रक मालूम होते हैं तथापि ये अपत्रक होते हैं। बसन्त ऋतु में इस पर फूल लगते हैं। फूल-बारीक गुलाबी रङ्ग के गुच्छों में मोटी मोटी डालियों पर आते हैं। फल-खट्टे, नतशीर्ष, गोल, सतह पर ८ से १० नालिओं से युक्त एवं खानें लायक होते हैं। इसको कच्चा या पकाकर, खाते हैं तथा अचार, मुरब्बा आदि भी बनाते हैं। पत्तों का साग बनाते हैं।

रासायनिक संगठन—फलों में ॲसेटिक ॲसिड होता है। मूल की छाल में टैनिन्, सॅपोनिन्, गॅलिक् ॲसिड तथा एक रवेदार पदार्थ होता है।

गुण और प्रयोग—फल अम्ल तथा ग्राही है। मूल तथा बीज विरेचक होते हैं। पत्ते तथा मूल का सर्पविष में प्रयोग किया जाता है। इसके मूल की छाल का रस विषैला रहता है तथा इससे सर में दर्द, सुस्ती, तीव्र उदर शूल तथा मृत्यु होती है।

अथ करमर्दः, करमर्दिका च (करौंदा–करौंदी)। तयोर्नामानि पक्वापक्वतत्फलगुणाँश्चाह

करमर्दः सुषेणः स्यात्कृष्णपाकफलस्तथा। तस्माल्लघुफला या तु सा ज्ञेया करमर्दिका ॥८१॥
करमर्दद्वयं त्वाममम्लं गुरु तृषाहरम्। उष्णं रुचिकरं प्रोक्तं रक्तपित्तकफप्रदम् ॥
तत्पक्वं मधुरं रुच्यं लघु पित्तसमीरजित् ॥ ८२ ॥

करौंदा के संस्कृत नाम—करमर्द, सुषेण तथा कृष्णपाकफल ये सब हैं। इसकी अपेक्षा छोटे फल जिसके हों उसे संस्कृत में 'करमर्दिका' कहते हैं।

दोनों प्रकार के करौंदे के कच्चे फल-अम्ल (खट्टे), पाक में गुरु, तृष्णानाशक, उष्ण, रुचिजनक तथा रक्तपित्त और कफ के वर्धक होते हैं। पके फल-मीठे, रुचिजनक, लघु, एवम्-पित्त तथा वायु के नाशक होते हैं ॥ ८१-८२ ॥

२७ करौंदा

हि०-करौंदा, करौंदा । बं०-करमचा । म०-करवंद । गु०-करमदां । क०-करिजिगे । ते०-वाका, करवन्दे । ता०-कलक्के । ले०-*Carissa carandas* *Linn.* (केरिसा कॅरण्डस्)। Fam. Apocynaceae (एपोसाइनेसी)।

यह प्रायः बाग-बगीचों में रोपण किया जाता है तथा सभी भागों में होता है।

इसका वृक्ष-छोटा, झाड़दार और सदा हरा भरा रहता है। इस पर तीक्ष्ण युग्म कांटे होते हैं। पत्ते-१॥-२ इञ्च लम्बे, १-१॥ इञ्च चौड़े नीबू के पत्तों के समान होते हैं। फूल-सफेद रङ्ग के आते हैं और उनसे सुगन्ध आती है। फल-झरबेर के आकारवाले, ३/४-१ इञ्च लम्बे, काले या सफेदी युक्त लाल रङ्ग के होते हैं इनका स्वाद अत्यन्त खट्टा होता है। इसकी अन्य दो तीन जातियाँ होती हैं जिनमें से एक दक्षिण की तरफ होती है जिसमें फल बड़े होते हैं तथा अन्य छोटे फल वाली सभी स्थानों पर होती है जिसे मूल में करमर्दिका कहा गया है।

गुण और प्रयोग -इसके फल, मूल तथा पत्तों का उपयोग किया जाता है। यह शीतल, रक्तपित्तशामक एवं हृद्य है। यह प्रशीताद नामक मसूढ़े के रोग में जिसमें मसूढ़े से खून आता है, लाभदायक हैं।

इसकी जड़ कटु, तिक्त, वामक एवं मूत्रजनन है। इसका उपयोग सर्प ने काटा है या नहीं इसकी परीक्षा के लिये करते हैं। इसको शीत जल में घिसकर पिलाते हैं। यदि सांपने काटा है तो वमन नहीं होता। नींबू के रस में कपूर के साथ इसे घिसकर बच्चों को होने वाले सफेद पानीदार फोड़ों पर लेप करते हैं। विषमज्वर में पत्तों का क्वाथ पिलाते हैं।

अथ प्रियालः (चिरौंजी)। तस्य नामानि तत्फलस्य च गुणाँश्चाह

प्रियालस्तु खरस्कन्धश्चारो बहुलवल्कलः। राजादनस्तापसेष्टः सन्नकद्रुर्धनुष्पटः ॥८३॥
चारः पित्तकफास्रघ्नस्तत्फलं मधुरं गुरु। स्निग्धं सरं मरुत्पित्तदाहज्वरतृषाऽपहम् ॥८४॥

चिरौंजी के संस्कृत नाम प्रियाल, खरस्कन्ध, चार, बहुलवल्कल, राजादन, तापसेष्ट, सन्नकद्रु और धनुष्पट ये सब हैं।

चिरौंजी-पित्त, कफ तथा रक्तविकार को दूर करने वाली होती है। चिरौंजी के फल-मधुर, गुरु, स्निग्ध, मल-सारक एवम्-वात, पित्त, दाह, ज्वर तथा तृषा को दूर करने वाले होते हैं।।

अथ तन्मज्जगुणानाह

प्रियालमज्जा मधुरो वृष्यः पित्तानिलापहः। हृद्योऽतिदुर्जरः स्निग्धो विष्टम्भी चामवर्द्धनः॥

चिरौंजी की मींगी—मधुर रसयुक्त, वृष्य (वीर्यवर्धक), हृदय को हितकर, अत्यन्त देर में पचने वाली, स्निग्ध, मल का विष्टम्भ करने वाली, आम को बढ़ानेवाली तथा पित्त और वायु को नष्ट करने वाली होती है ॥ ८५ ॥

२८ चिरौंजी

हि०-चिरोंजी, चिरौंजी। बं०-चिरौंजी, पियाल। म०, गु०-चारोळी। क०-चारबीज, नरकल ते०-सारुपपु। ता०-मुडइमा। फा०-नुकले खाजा, नुकुलखाजह। अ०-हब्बुरसमाना,

हब्बुल समनह । ले०-*Buchanania latifolia Roxb.* (बुचनॅनिया लेटिफोलिया)। Fam Anacardiaceae (ॲनेकार्डिएसी)।

यह इस देश के गरम और सूखे प्रान्तों में अधिक पाई जाती है।

चिरोंजी का वृक्ष मध्यमाकार का होता है। कहीं कहीं ५० फीट तक ऊँचा वृक्ष देखा जाता है। छाल-मोटी, गहरे धूसर वर्ण की एवं चौकोर आकार में फटी हुई होने से मगर के चमड़े की तरह दिखलाई देती है। पत्ते-कड़े, अखण्ड, आयताकार या लट्वाकार-आयताकार एवं ६-१० इञ्च लंबे होते हैं। फूल-श्वेत एवं मञ्जरियों में चौथाई इञ्च के घेरे में गोलाकार होते हैं। फल-लम्बाई युक्त गोलाकार दबे हुए, ½ इञ्च व्यास के, एक बीजयुक्त तथा काले रंग के होते हैं। फल तथा उसके भीतर की मज्जा जिसे चिरौंजी कहते हैं खाई जाती है। इसके वृक्ष से गोंद भी निकलता है।

रासायनिक संगठन—मज्जा में ५१·८% तेल, २१·६% प्रोटिन तथा ५% शर्करा होती है। तेल हलके पीले रंग का, सुगंधित तथा बादाम या जैतून के तेल सदृश होता है। छाल में टैनिन होता है।

गुण और प्रयोग—चिरौंजी बहुत अच्छी पौष्टिक एवं बृंहण है। इसको बादाम के स्थान पर उपयोग में ला सकते हैं। इसकी पेया खांसी में दी जाती है। बालों को काला बनाने के लिये तेल का उपयोग करते हैं। त्वचा के रोगों में इसका उबटन बनाकर लगाते हैं।

गोंद का उपयोग अतिसार में करते हैं।

अथ राजादनः (खिरनी)। तस्य नामानि तत्फलगुणाँश्चाह

राजादनः फलाध्यक्षो राजन्या क्षीरिकाऽपि च ॥ ८६ ॥

क्षीरिकायाः फलं वृष्यं बल्यं स्निग्धं हिमं गुरु। तृष्णामूर्च्छामदभ्रान्तिक्षयदोषत्रयास्रजित्॥

खिरनी के संस्कृत नाम—राजादन, फलाध्यक्ष, राजन्या तथा क्षीरिका ये सब हैं।

खिरनी के फल—वृष्य, बलकारक, स्निग्ध, शीतल, गुरु एवम्—तृषा, मूर्च्छा मद, भ्रान्ति, क्षय, त्रिदोष तथा रक्तविकार को दूर करने वाले होते हैं॥ ८६-८७॥

२९ खिरनी

हि०—खिरनी, खिर्नी, खिन्नी। बं०—क्षीर खेजूर, म०—खिरणी, रांजण। गु०—रायण काकडिआ। क०—खिरणी मारा। ता०—पल, पले। ते०—पालमानु। ले०—*Mimusops hexandra Roxb.* (माइमुसोप्स हेक्सँड्रा)। Fam. Sapotaceae (सॅपोटेसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पायी जाती है। विशेषकर दक्खन से गुजरात तक और बान्दा में अधिक मिलती है।

इसके वृक्ष कहीं बड़े और कहीं छोटे दिखाई पड़ते हैं। पत्ते-२-३ इञ्च लम्बे, १-१॥ इञ्च चौड़े अण्डाकार होते हैं और वे टहनियों के अन्त में सघन रहते हैं। फूल-चक्राकार, छोटे-छोटे सफेद या फीके पीले रङ्ग के आते हैं। फल-आध इञ्च तक लम्बे, चिपटे और पकने पर पीले हो जाते हैं। इसकी लकड़ी कड़ी होती है। इसके फल खाये जाते हैं। छाल तथा बीज तैल का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके फल में फल शर्करा ७०% होती है। बीजों में तेल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—छाल संग्राही है एवं तेल बल्य तथा स्नेहन होता है। छाल का प्रयोग बकुल की छाल की तरह किया जाता है।

अथ विकङ्कतः (कण्टाई)। तस्य नामानि तत्पक्वफलगुणाँश्चाह

विकङ्कतः स्रुवावृक्षो ग्रन्थिलः स्वादुकण्टकः। स एव यज्ञवृक्षश्च कण्टकी व्याघ्रपादपि॥
विकङ्कतफलं पक्वं मधुरं सर्वदोषजित्॥ ८८॥

कण्टाई के संस्कृत नाम—विकङ्कत, स्रुवावृक्ष, ग्रन्थिल, स्वादुकण्टक, यज्ञवृक्ष, कण्टकी तथा व्याघ्रपाद ये सब हैं। कण्टाई के फल –यदि पके हों तो वे मधुर रसयुक्त सभी दोषों को दूर करने वाले होते हैं। ८८॥

३० विकंकत (कंटाई)

हि०–कंटाई, विलंगरा, कंजू। बं०–बइञ्चि गाछ, बैंची, । म०–वेहकल काकेर। गु०–कांकोड। क०–हलुमाणिका। ते०–कानवेगु चेट्टु। ता०–सोट्टैकला। अं०–Governor's Plum (गवर्नर्स प्लम)। लै०–*Flacourtia ramontchi L' Herit* (फ्लेकोर्शिया रामोंशी)। Fam. Flacourtiaceae (फ्लेकोर्शियेसी)।

यह हिमालय, बिहार, मध्यभारत, दक्खन, कोंकण आदि प्रदेशों में उत्पन्न होता है।

इसका वृक्ष छोटा होता है। शाखाओं पर काँटे रहते हैं। पत्ते–विभिन्न आकार के, चमकीले, प्रायः ४ इञ्च से कम लंबे, वृत्ताकार या आयताकार-अभिलट्वाकार, कुंठिताग्र एवं गोल या आरावत दन्तुर होते हैं। फूल–पीताभ हरित और बारीक होते हैं। फल–आध इञ्च के घेरे में गोलाकार, गूदेदार, चिकने और पकने पर गहरे बैंगनी या लाल हो जाते हैं। बीज–अनेक तथा छोटे २ होते हैं। इसके कई भेद पाये जाते हैं। फलों का स्वाद तीक्ष्ण किंतु मधुर होता है तथा गंध भी अच्छी होती है।

गुण और प्रयोग—फल दीपन एवं पाचन होते हैं। कामला एवं प्लीहा वृद्धि में फल देते हैं। छाल कषाय एवं मूत्रल होती है।

अथ पद्माक्षम् (कमलगट्टा)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

पद्मबीजं तु पद्माक्षं गालोड्यं पद्मकर्कटी। पद्मबीजं हिमं स्वादु कषायं तिक्तकं गुरु॥ ८९॥
विष्टम्भि वृष्यं रूक्षञ्च गर्भसंस्थापकं परम्। कफवातकरं बल्यं ग्राहि पित्तास्रदाहनुत्॥ ९०॥

कमलगट्टा के संस्कृत नाम—पद्मबीज, पद्माक्ष, गालोड्य, तथा पद्मकर्कटी ये सब हैं। कमलगट्टा–स्वादिष्ट, कषाय तथा तिक्तरसयुक्त, शीतल, गुरु, विष्टम्भक, वृष्य (वीर्यवर्धक), रूक्ष, गर्भ को विशेषतः स्थापित करनेवाला, कफ तथा वातजनक, बलदायक, ग्राही एवम् पित्त, रक्तविकार या रक्तपित्त और दाह को दूर करने वाला होता है॥ ८९–९०॥

३१ कमलगट्टा

हि०—कमलगट्टा, कमल के बीज। बं० पद्म बीचि। म०—कमलाक्ष, कमळाचे बीज। गु० -कमल काकड़ी, पबड़ी। क०-तावड़े बीज, पद्माक्ष। ते०-तामरकारा, तामरकाई। यू०-गुल्हार। अ०-वालके कुवति।

कमल के बीजों को कमलगट्टा कहते हैं। यह रीठे की गुठली के समान परन्तु लम्बाई युक्त गोल तथा चिकना होता है और कमलकोष के भीतर से निकलता है। छिलका–कठोर होता है और गिरी सफेद होती है। गिरी के बीच में हरे रङ्ग की पत्ती रहती है। उसको निकाल कर व्यवहार में लाना चाहिये।

37 नोट—अन्य वर्णन कमल के साथ (पृष्ठ ४८८) किया गया है।

अथ मखान्नम् (मखाना)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

मखान्नं पद्मबीजाभं पानीयफलमित्यपि। मखान्नं पद्मबीजस्य गुणैस्तुल्यं विनिर्दिशेत् ॥९१॥

मखाना के संस्कृत नाम— मखान्न, पद्मबीजाभ तथा पानीयफल ये सब हैं।

मखाना–गुणों में कमलगट्टा के समान ही समझना चाहिये ॥ ९१ ॥

३२ मखाना

हि०–मखाना, मखान्ना। बं०–माखाना। गु०–मखाणा। म०–मखाणे, मकाणे। ते०–मेल्लुनिपद्ममु। प०–जवेर। अ०–Fox nut (फॉक्स नट), Gorgon fruit (जार्गन फ्रूट)। ले०–*Euryale ferox Salisb.* (युरीएल फेराक्स)। Fam. Nymphaeaceae (निम्फिएसी)।

यह उत्तर, मध्य तथा पश्चिम भारत के स्वच्छ पानी के तालाबों तथा झीलों में होता है।

इसका क्षुप–कांडहीन, काँटेदार तथा कमल के समान् जल में होता है। पत्ते–कमल के समान, तैरते हुये, गोलाकार, १ से ४ फीट व्यास में, ऊपर से हरे किन्तु नीचे से लाल या बैंगनी, मृदुरोमश एवं शिराओं पर काँटों से युक्त होते हैं फूल–१ २ इञ्च लम्बे, भीतर की ओर लाल चमकीले और बाहर से हरे रङ्ग के होते हैं। फल–दो से चार इञ्च के घेरे में गोलाकार एवं काँटेदार होते हैं। बीज–मटर या मटर से कुछ बड़े होते हैं। यह संख्या में ८ से २० एवं काले रहते हैं। इन्हें कच्चे या भूनकर खाते हैं। बालू में भूनने से ये फूल जाते हैं जिन्हें मखाना कहा जाता है। इसका आटा अरारूट के समान होता है।

रासायनिक संगठन—सौ भाग मखाने में प्रोटीन ९.७, आर्द्रता १२.८, कार्बोहाइड्रेट ७६.९, स्नेह ०.१; लोह १.४ मि० ग्रा० १०० ग्राम में, एवं अल्प खटिक, फॉस्फोरस तथा कॅरोटीन आदि द्रव्य पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—मखाना बल्य, वाजीकर एवं ग्राही है। इसको प्रसवान्त दौर्बल्य, शुक्रस्राव एवं वीर्याल्पता में दूध में पकाकर खिलाते हैं। यह सुपाच्य होता है तथा आहार के रूप में इसका उपयोग किया जा सकता है।

अथ शृङ्गाटकम् (सिंघाड़ा)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

शृङ्गाटकं जलफलं त्रिकोणफलमित्यपि ॥ ९२ ॥

शृङ्गाटकं हिमं स्वादु गुरु वृष्यं कषायकम्। ग्राही शुक्रानिलश्लेष्मप्रदं पित्तास्रदाहनुत् ॥९३॥

सिंघाड़ा के संस्कृत नाम—शृङ्गाटक, जलफल तथा त्रिकोणफल ये सब हैं।

सिंघाड़ा—स्वादिष्ट तथा कषायरसयुक्त, शीतल, गुरु, वृष्य (वीर्यवर्धक), ग्राही, शुक्र, वात तथा कफजनक एवम्–पित्त, रक्तविकार और दाह को दूर करने वाला होता है ॥ ९२-९३ ॥

३३ सिंघाड़ा

हि०–सिंघाड़ा(रा), सिंहाड़ा(रा)। बं०–पानिफल, सिंगाड़े। म०–शिंघाड़े, शेंगाडा। गु०–शींघोड़ा। क०–सिंगाड़े। ते०–परिकिगड्डु। अं०–Water caltrops (वाटर कॅलट्रॉप्स्); Water Chestnut (वाटर चेस्टनट)। ले०–*Trapa bispinosa Roxb.* (ट्रॅपा बाइस्पाइनोसा)। Fam. Onagraceae (ओनेग्रेसी)।

सिंघाड़ा—प्रसिद्ध पानीय फल अनेक प्रान्तों के बड़े छोटे ताल तलैयों में उत्पन्न होता है। इसका जलीय क्षुप–जलकुम्भी के समान पानी के ऊपर फैला रहता है। पत्ते–जलकुम्भी के

समान होते हैं परन्तु वे त्रिकोणाकार होते हैं। फूल-सफेद आते हैं जो शाम को फूलते हैं। फल-त्रिधारे होते हैं और उनके ऊपर २ काँटे होते हैं जो देखने में बैल के सिर की तरह दिखलाई देते हैं। छिलका-मोटा होता है और गुदी सफेद होती है। फल को उबाल कर या कच्चा ही छिलका निकाल कर आहार के रूप में खाया जाता है। काश्मीर में एक बिना काँटे की जाति पाई जाती है।

रासायनिक संगठन—इसमें मँगनीज तथा स्टार्च होता है।

गुण और प्रयोग—यह शीत, पौष्टिक, वृष्य, शोणितास्थापन ग्राही, दीपन, दाहहर एवं श्रमहर है।

इसकी पेया अतिसार, आंव एवं प्रदर में दी जाती है। पित्त प्रकृति वालों को तथा गर्भिणी को इससे लाभ होता है।

अथ कैरविणीफलम् (भेंट) तस्य नामानि गुणाँश्चाह

उक्तं कुमुदबीजन्तु बुधैः कैरविणीफलम्। भवेत्कुमुद्वतीबीजं स्वादु रूक्षं हिमं गुरु॥ ९४॥

कुमुदनी बीज के संस्कृत नाम—कुमुद्वतीबीज, कैरविणीफल तथा कुमुदबीज ये सब विद्वानों ने बताये हैं।

कुमुदनी के बीज—स्वादिष्ट, रूक्ष, शीतल तथा पाकमें गुरु होते हैं॥ ९४॥

३४ कैरविणीफल (बेरा)

हि०-बेरी, कुमुद के बीज, कुमुदबीज, बेरा, घंघोल के दाने, भटबेरा, भेटबेरा। बं०-हेलाबीज, सुन्दी बीज। गु०-पोयणानाबीज। फा०-तुख्म नीलोफर। अ०-करनबुल् माय।

कुमुद फूल के बीज को कैरविणीफल कहते हैं। इसके संबंध में अन्य वर्णन पुष्पवर्ग में कुमुद के अन्तर्गत (पृष्ठ ४८४) किया जा चुका है।

अथ मधूकः (महुआ, बनमहुआ)।
तस्य नामानि तत्पुष्पफलगुणाँश्चाह

मधूको गुडपुष्पः स्यान्मधुपुष्पो मधुस्रवः। वानप्रस्थो मधुष्ठीलो जलजेऽत्र मधूलकः॥९५॥
मधूकपुष्पं मधुरं शीतलं गुरु बृंहणम्। बलशुक्रकरं प्रोक्तं वातपित्तविनाशनम्॥ ९६॥
फलं शीतं गुरु स्वादु शुक्रलं वातपित्तनुत्। अहृद्यं हन्ति तृष्णाऽस्रदाहश्वासक्षतक्षयान्॥९७॥

महुआ के संस्कृत नाम—मधूक, गुडपुष्प, मधुपुष्प, मधुस्रव, वानप्रस्थ तथा मधुष्ठील ये सब हैं। जो महुआ जल में होता है उसे "मधूलक" कहते हैं।

महुवे के फूल—मधुर, शीतल, गुरु, बृंहण (रसरक्तादि-वर्धक), बल तथा शुक्रजनक एवम्-वात और पित्त को दूर करने वाले होते हैं।

महुवे के फल—स्वादिष्ट, शीतल, गुरु, शुक्रजनक, हृदय के लिए अहितकर, वात तथा पित्त को दूर करने वाले एवम्-तृषा, रक्तविकार, दाह, श्वास, क्षत तथा क्षय नाशक हैं॥ ९५-९७॥

३५ महुआ

हि०-महुआ, महुया, महुवा। बं०-मौल, मउल। म०-मोहड। गु०-महुडो। क०-इप्पे-मरा। ते०-इपा. पित्रा, इप्प। ता०-कट्टइलुपि। फा०-गुलचकां। ले०-*Bassia latifolia Roxb.* (बेसिया लॅटिफोलिया)। Fam. Sapotaceae (सॅपोटेसी)।

यह बंगाल, बिहार, युक्तप्रान्त, मध्यभारत, दक्षिण आदि प्रान्तों में लगाया हुवा पाया जाता है और कुमाऊँ की तराइयों में आप ही अ र जंगली उत्पन्न होता है।

इसका वृक्ष-बड़ा हुआ करता है और सदा हराभरा रहता है। पत्ते-५ से ९ इंच तक लम्बे, चर्मवत्, दीर्घवृत्ताभ, या आयताकार-दीर्घवृत्ताभ, किंचित् लम्बाग्र, आकार गोल या संकुचित, १० से १४ शिराओं से युक्त टहनियों के अन्त में एक साथ गुच्छों में रहते हैं। फूल-सफेद रङ्ग के गूदेदार छोटी २ शाखाओं के अन्त में गुच्छों में आते हैं और वे सूखने पर दाख के समान हो जाते हैं। फल-१ से २ इञ्च लंबे, अण्डाकार, नुकीले, गूदेदार तथा हरिताभ पीत रङ्ग के होते हैं। बीज-किञ्चित् लाली युक्त बीज होते हैं। उनके भीतर सफेद गूदी होती है। गूदी से तेल निकाला जाता है। रसदार फूलों (Corollas-अन्तर्दल) को आटे में मिलाकर रोटी बनाकर गरीब लोग खाते हैं। इसके तेल का उपयोग किया जाता है। इसके फूलों से मद्य बनाया जाता है। थोड़ा सा तैयार मद्य फूलों में रहता है जिससे इनको खाने से कुछ नशा हो जाता है। इसका मद्य स्वाद में तेलिया, कषाय एवं धूएँ जैसा दुर्गन्धी रहता है जो रखने से कुछ सुधरता है।

रासायनिक संगठन—इसमें सॅपोनिन तथा अन्य क्षाराभ होता है।

गुण और प्रयोग—इसका नया मद्य अहितकारक होना है तथा इससे आमाशय में दाह, अनिद्रा, शिरःशूल, बेचैनी एवं मानसिक विकार होते हैं। पुराना मद्य काम में लाया जा सकता है। इसके फूल शीत, बल्य, पौष्टिक एवं स्नेहन होने के कारण इनका क्वाथ ज्वर एवं कास में देते हैं। अंडशोथ में फूलों से सेकते हैं। इनको घी में भूनकर अर्शवालों को देते हैं। इसकी छाल का खुजली और सन्धिवात में उपयोग किया जाता है। तैल वातनाशक होता है।

३६ जलमहुआ

हि०-जलमहुआ। बं०-जल मउल। म०-जलमोहा। क०-तोरे इप्पे। ते०-पिन्ना। गु०-जलमहुडो। क०-जल महे। ता०-इल्लपि। ले०-*Bassia longifolia Linn.* (बेसिया लोंगीफोलिया)। Fam. Sapotaceae (सॅपोटेसी)।

जलमहुआ—नदी नालों के किनारे या आर्द्र जङ्गलों में उत्पन्न होता है। यह दक्षिण में अधिक होता है। इसके वृक्ष पत्ते आदि महुवे के समान होते हैं पर उनसे छोटे होते हैं।

नोट—उपर्युक्त वृक्ष के गुण धर्म महुवे के सदृश ही होते हैं। इसे भावप्रकाश में जल में होने वाला लिखा है किन्तु यह जल के अन्दर नहीं होता।

अथ परूषकम् (फालसा)। तस्य नामानि तत्पक्वापक्वफलगुणाँश्चाह

परूषकं तु परुषमल्पास्थि च परापरम्। परूषकं कषायाम्लमामं पित्तकरं लघु॥ ९८॥
तत्पक्वं मधुरं पाके शीतं विष्टम्भि बृंहणम्। हृद्यन्तु पित्तदाहास्रज्वरक्षयसमीरहृत्॥ ९९॥

फालसा के संस्कृत नाम—परूषक, परुष, अल्पास्थि तथा परापर ये सब हैं।

फालसा के कच्चे फल—कषाय तथा अम्ल रसयुक्त, पित्तकारक तथा लघु होते हैं। पके फल-विपाक में मधुर रसयुक्त, शीतल, विष्टम्भक, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), हृदय के लिए हितकर एवम् पित्त, दाह, रक्तविकार, ज्वर, क्षय तथा वात को दूर करने वाले होते हैं॥ ९८-९९॥

३७ फालसा

हि०-फालसा। बं०-फलूसा। म०-फालसा। क०-बेट्टहा, दागल। ते०-चिट्टित। गु०-फालसा। फा०-फालसा, पालसह। अ०-फालसह। ले०-*Grewia asiatica Linn.* (ग्रिविया एशियाटिका)। Fam. Tiliaceae (टिलिएसी)।

इसको अनेक प्रान्तों के लोग बागों में रोपण करते हैं। इसकी अन्य जातियों को भी फालसा कहा जाता है।

इसका वृक्ष-छोटा होता है। पत्ते-४-५ इञ्च लम्बे, २-२॥ इञ्च चौड़े गोलाकार एवं दंतुर होते हैं। दन्त अनियमित होते हैं तथा आधार की तरफ कुछ तिरछे होते हैं। फूल-झूमकों में पीले रंग के आते हैं। फल-मटर के समान गोल, कच्ची अवस्था में हरे रङ्ग के और पकने पर जामुनी रङ्ग के हो जाते हैं। इसका स्वाद खट्टा तथा कुछ मधुर होता है। इसका शरबत बनाकर लोग गरमी के दिनों में पीते हैं।

रासायनिक संगठन—फल में साइट्रिक अम्ल, शर्करा तथा अल्प विटामिन 'सी' होता है।

गुण और प्रयोग—इसके पके फल शीत, विष्टम्भि, पित्तशामक, हृद्य एवं तृष्णाशामक हैं।

(१) इनका उपयोग हृद्रोग, पित्तप्रकोप, ज्वर एवं दाह आदि में शरबत बनाकर करते हैं।

(२) इसके मूल की छाल आमवात में लाभप्रद मानी जाती है।

(३) पत्तों को पूय युक्त फुन्सियों पर लगाते हैं। इसके पत्तों के ईथरीय सत्व में पूयजनक जीवाणु (Staphylococcus aureus and Escherichia coli-स्टॅफिलोकोकस ऑरिअस् एवं एस्चेरिचिया कोलाई) नाशक शक्ति पाई गई है।

(४) इसकी अन्तर्छाल को जल में भिगोकर, मसलकर, छानकर पीने से मधुमेह में लाभ होता है।

अथ तूतः (सहतूत)। तस्य नामानि तत्पक्कापक्कफलगुणाँश्चाह

तूतस्तूलश्च पूगश्च क्रमुको ब्रह्मदारु च। तूतं पक्कं गुरु स्वादु हिमं पित्तानिलापहम्॥
तदेवामं गुरु सरमम्लोष्णं रक्तपित्तकृत्॥ १००॥

सहतूत के संस्कृत नाम—तूत, तूल, पूग, क्रमुक तथा ब्रह्मदारु ये सब हैं।

सहतूत के पके फल—स्वादिष्ट, गुरु, शीतल एवम्-पित्त तथा वात के नाशक होते हैं।

यदि कच्चे फल हों तो वे-अम्ल रसयुक्त, उष्ण, पाक में गुरु एवम्-रक्तपित्त को उत्पन्न करने वाले होते हैं॥ १००॥

३८ तूत

हि०-सहतूत, तूत। शाहतूत। **बं०**-तूँत। **म०**-तूते। **गु०**-शेतूर। **ते०**-पुतिका। **ता०**-कम्बली। **फा०**-शाहतूत, तूततुर्श। **अ०**-तूत, तूद हामीज। **अं०**-Mulberry (मलबेरी)। **ले०**-*Morus indica Griff.* (मोरस् इण्डिका)। Fam. Moraceae (मोरेसी)।

तूत—आसाम, बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश आदि प्रान्तों में उत्पन्न होता है तथा बागों में लगाया भी जाता है।

इसका वृक्ष-मध्यमाकार का होता है। पत्ते-२ से ५ इञ्च लम्बे, २-३ इञ्च चौड़े, अंडाकार, अञ्जीर के पत्तों के समान कटे हुए होते हैं। फूल-मंजरियों में आते हैं।

तूत की दो-तीन जातियाँ होती हैं जिनके पत्ते आदि एक समान होते हैं। इसके पत्ते को रेशम के कीड़े बड़े चाव से खाते हैं। इसलिए रेशम के कीड़े पालने वाले प्रायः इसका वृक्ष रोपण कर रखते हैं।

इनमें से एक के फल पीताभ श्वेत एवं मीठे तथा दूसरे के मधुराम्ल एवं रक्ताभ कृष्ण होते हैं। वन्य तथा ग्राम्य भेद से भी इसके भेद होते हैं।

इसकी एक जाति मो० लिविगेटा (M. laevigata Wall.) सिक्किम की तराई में प्रायः वन्य अवस्था में मिलती है जिसका नेपाली नाम किमू या किम्बू होता है। तूत के पर्याय में क्रमुक आया है और क्रमुक से लोग पूग (सुपाड़ी) का ग्रहण करते हैं किन्तु चरकोक्त चार त्वगासवयोनि वृक्षों में क्रमुक के स्थान पर पूग का ग्रहण उचित नहीं जान पड़ता। वहां तो क्रमुक से कोई ऐसी छाल अभिप्रेत है जिसमें अन्य द्रव्यों के समान रेचन गुण हो। इन आधारों पर श्री ठा० बलवन्तसिंहजी ने चरकोक्त त्वगासवयोनि वृक्षों में के क्रमुक को पूग न मानकर इस तूद के भेद को माना है। (बिहार की वनस्पतियां, पृष्ठ १२३)।

गुण और प्रयोग—इसका रस दाहशामक, पिपासाहर एवं कुछ कफघ्न है। इसका ज्वर में प्रयोग करते हैं। इसकी छाल कृमिघ्न तथा विरेचक होती है। इसके पत्तों के क्वाथ से स्वरभंग में गण्डूष कराते हैं। इसकी जड़ कृमिघ्न तथा ग्राही होती है।

मात्रा—त्वक्क्वाथ ५ से १० तोला; फलस्वरस २ से ५ तोला।

अथ दाडिमः (अनार)। तस्य नामानि तत्फलभेदाँश्चाह

दाडिमः करको दन्तबीजो लोहितपुष्पकः। तत्फलं त्रिविधं स्वादु स्वाद्वम्लं केवलाम्लकम् ॥

अनार के संस्कृत नाम—दाडिम, करक, दन्तबीज तथा लोहितपुष्पक ये सब हैं।

फल के भेद—अनार के फल स्वाद में तीन प्रकार के होते हैं। (१) कोई मधुर रसयुक्त, (२) कोई मधुर तथा अम्ल रसयुक्त (३) और कोई केवल अम्ल ही होते हैं ॥ १०१ ॥

अथ तत्फलभेदानां गुणानाह

तत्तु स्वादु त्रिदोषघ्नं तृड्दाहज्वरनाशनम्। हृत्कण्ठमुखगन्धघ्नं तर्पणं शुक्रलं लघु ॥ १०२ ॥
कषायानुरसं ग्राहि स्निग्धं मेधाबलावहम् ॥ १०३ ॥
स्वाद्वम्लं दीपनं रुच्यं किञ्चित्पित्तकरं लघु। अम्लन्तु पित्तजनकमामं वातकफापहम् ॥१०४॥

मीठे अनार—आरम्भ में मीठे अन्त में कसैले, सन्तर्पण करने वाले, शुक्रजनक, लघु, ग्राही, स्निग्ध, मेधा तथा बलवर्धक एवम्—त्रिदोष, तृषा, दाह, ज्वर, हृदय तथा कण्ठ-सम्बन्धी रोग, और मुख के दुर्गन्ध को दूर करने वाले होते हैं।

कुछ मीठे कुछ खट्टे अनार—अग्निदीपक, रुचिजनक, लघु तथा किंचित् पित्तकारक होते हैं। **खट्टे अनार**—अम्ल रसयुक्त, पित्तजनक एवम्-आम, वात तथा कफ के नाशक होते हैं॥

३९ अनार

हि०—अनार, दाड़िम। **बं०**—दाड़िम, डालिम गाछ। **म०**—डाळिम्ब। **गु०**—दाड़म। **क०**—दालिम्ब। **ते०**—दालिम्बकाया। **ता०**—मादलै, मडलै, मडलम। **अं०**—Pomegranate (पोमेग्रेनेट्)। **ले०**—*Punica granatum Linn.* (प्युनिका ग्रॅनेटम्)। Fam. Punicaceae (प्युनिकेसी)।

प्रायः सब प्रान्त की वाटिकाओं में अनार के वृक्ष लगाये जाते हैं। यह हिमालय में ३ से ६ हजार फीट तक तथा अफगानिस्तान एवं फारस में वन्य रूप में पाया जाता है। इसका वृक्ष छोटा अनेक शाखा प्रशाखा करके झाड़दार होता है। पत्ते-विपरीत या न्यूनाधिक त्रिपरीत या समूहबद्ध, अत्यन्त सूक्ष्म पारभासक छींटों से युक्त, १–२॥ इञ्च लम्बे, आयताकार या अभिलट्वाकार, चिकने एवं आधार की तरफ छोटे वृन्त से युक्त रहते हैं। फूल-अत्यन्त लाल रङ्ग के होते हैं। फल-गोल और छिलका मोटा होता है। फलों में सफेदीयुक्त लाल अथवा गुलाबी रङ्ग के अगणित

नोकदार दाने होते हैं। सूखने पर वह अनारदाना कहलाता है। इसके संपूर्ण फल, जड़ या कांड की छाल, फल की छाल एवं स्वरस आदि का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—फल के छिलके में पीतरंजक पदार्थ एवं गॅलोटॅनिक अम्ल (Gallo-tannic acid 28%) रहता है। मूल की छाल में ०·५–०·९% तथा काण्डत्वक् में ०·५% क्षाराभ पाये जाते हैं जिनमें पेलेटीराइन (Pelletierine) मुख्य हैं। इनमें गॅलोटॅनिक अम्ल २२% होता है।

गुण और प्रयोग—अनार हृद्य, ग्राही, रोचक, रक्तशोधक एवं शीतल है। (१) इसकी छाल अत्यन्त ग्राही एवं कृमिघ्न होती है। यह विशेष रूप से स्फीत कृमि (Tape worm) में लाभ-दायक होती है। कृमि के लिए १ छटाक ताजी छाल को २० छटाक जल में उबाल कर, आधा शेष रहने पर, छानकर १, १ छटाक प्रत्येक आधे घंटे पर, ४ बार खाली पेट पिलावें तथा बाद में एरंडतैल दें। अतिसार तथा संग्रहणी में भी छाल का उपयोग किया जाता है। (२) फल का छिलका अत्यन्त ग्राही होने से, अतिसार प्रवाहिका में इसका क्वाथ पिलाते हैं। संपूर्ण फल को जरा भूनकर, कूटकर, रस निकाल उसका भी उपयोग इनमें करते हैं।

मात्रा—फल का छिलका, मूलत्वक् १ से २ माशा।

अथ बहुवारः (लिसोड़ा)। तस्य नामानि तत्पक्वापक्वफलस्य च गुणाँश्चाह

बहुवारस्तु शीतः स्यादुद्दालो बहुवारकः। शेलुः श्लेष्मातकश्चापि पिच्छिलो भूतवृक्षकः॥
बहुवारो विषस्फोटव्रणवीसर्पकुष्ठनुत्। मधुरस्तुवरस्तिक्तः केश्यश्च कफपित्तहृत्॥ १०६॥
फलमामन्तु विष्टम्भि रूक्षं पित्तकफास्रजित्। तत्पक्वं मधुरं स्निग्धं श्लेष्मलं शीतलं गुरु॥

लिसोड़ा के संस्कृत नाम—बहुवार, शीत, उद्दाल, बहुवारक, शेलु, श्लेष्मातक, पिच्छिल तथा भूतवृक्षक ये सब हैं।

लिसोड़ा—विष, विस्फोट, व्रण, वीसर्प, कुष्ठ, कफ तथा पित्त का नाश करने वाला, केशों के लिये हितकर एवम्—मधुर, कषाय तथा तिक्त रसयुक्त होता है।

लिसोड़ा के कच्चे फल—विष्टम्भक, रूक्ष तथा पित्त, कफ और रक्तविकार को दूर करनेवाले है। पके फल-मधुर, स्निग्ध, कफजनक, शीतल तथा गुरु होते हैं।॥ १०५–१०७॥

४० लिसोड़ा

हि०–लिसोड़ा, लिसोरा, छोटा लसोरा। बं०–बहुवार। म०–भोंकर। गु०–गूंदा, गुंदा वड। क०–चल्ले कायि। ते०–चिन्न नक्केरू। ता०–नरिविली। फा०–सपिस्तां, सिपिस्तां। अ०–सपिस्तां दबक। अं०–(फलनाम) Sebestan (सेबेस्टान्)। ले०–*Cordia myxa Roxb.* (कॉर्डिया मिक्सा); C. dichotoma Forst. f. (कॉ० डाइकोटोमा)। Fam. Boraginaceae (बोरेजिनेसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों के वन उपवनों में तथा लगाया हुआ पाया जाता है।

इसका वृक्ष–४०–५० फीट तक ऊँचा होता है। डालियाँ-टेढ़ी-मेढ़ी कुबड़ी सी होती हैं। पत्ते–१ से ४–५ इञ्च के घेरे में गोलाकार और शाखाओं पर विषमवर्त्ती लगते हैं। फल–०·५ से १ इञ्च बड़े, पीताभ भूरे एवं पकने पर गुलाबी या कुछ काले होते हैं जिनके भीतर बीच की गुठली के बाहर एक गाढ़ा, मधुर एवं पारदर्शक गूदा होता है। इसे लोग खाते हैं।

इसका एक भेद बड़ा लसोड़ा नाम का गुजरात, उत्तरी कनारा एवं दक्खिन में होता है जिसका लेटिन नाम कॉ. वालिशिआई (C. wallichii G. Don.) है। इसके फल कफनिःसारक, ग्राही तथा स्नेहन होते हैं।

एक अन्य भेद गोंदी नाम का होता है। इसका लेटिन नाम कॉ. रोथाई (C rothii Roem & Schult) है। इसका वृक्ष-छोटा; फल-अंडाकार १ से १.३ से. मी. बड़े, लंबाई में धारीदार, पकने पर पीत या रक्ताभ भूरे एवं खाने लायक होते हैं। यह पंजाब, सिंध, गुजरात, दक्खिन तथा लंका में होता है।

लिसोड़ा के फल, छाल, पत्र एवं बीजमज्जा का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—छाल में टॅनिन होता है।

गुण और प्रयोग—इसके फल शीत, ग्राही, कृमिघ्न, विषघ्न, मूत्रल, स्नेहन एवं कफनिःसारक हैं। इनके क्वाथ का उपयोग कफ ढीला करने के लिये, मूत्र की जलन कम करने के लिये तथा अतिसार में करते हैं।

छाल का उपयोग जीर्णज्वर एवं कुपचन में करते हैं। इसके बीज की मज्जा का लेप दद्रु में लाभदायक माना जाता है।

अथ कतकः (निर्मली)। तस्य नामानि तत्फलगुणांश्चाह

पयःप्रसादी कतकः कतकं तत्फलं च तत्। कतकस्य फलं नेत्र्यं जलनिर्मलताकरम्॥
वातश्लेष्महरं शीतं मधुरं तुवरं गुरु॥ १०८॥

निर्मली के संस्कृत नाम—पयःप्रसादी और कतक ये हैं। इसके फल को भी 'कतक' ही कहते हैं किन्तु यह नपुंसकलिङ्ग में होता है।

निर्मली के फल—मधुर तथा कषाय रस युक्त, नेत्रों के लिये हितकर, जल को निर्मल करने वाले, गुरु एवम्—वात तथा कफ को दूर करने वाले होते हैं॥ १०८॥

५१ निर्मली

हि०-निर्मली। बं०-निर्मली। म०-निर्मळी। गु०-निर्मली, कतकछो। क०-चिल्लिकायि। ता०-तेतन कोट्टई। ते०-कतकमु। ले०-*Strychnos potatorum Linn.* (स्ट्रिक्नोस पोटेटोरम)। Fam. Loganiaceae (लोगेनिएसी)।

इसका वृक्ष सोन नदी के किनारे, मध्यभारत तथा दक्षिण की ओर पाया जाता है। यह ४० फीट तक ऊँचा होता है। पत्ते-प्रायः २॥ इञ्च लम्बे, एक इञ्च चौड़े अंडाकर होते हैं। फूल-सफेद रङ्ग के आते हैं और उनसे सुगन्ध आती है। फल-गोल, पकने पर काले रङ्ग के होते हैं। इसमें गोल कुछ चिपटे बीज होते हैं जो चिमड़े होते हैं।

गुण और प्रयोग—निर्मली के बीजों में विष नहीं रहता। इसका उपयोग जल साफ करने के लिये करते हैं। इसके बीजों को काटकर मिट्टी के घड़े के अन्दर रगड़ते हैं, फिर पानी भरते हैं। इससे पानी की गन्दगी नीचे बैठ जाती है।

नेत्राभिष्यन्द में बीजों को जल में घिस कर अञ्जन करते हैं।

सोजाक, मधुमेह तथा जीर्ण अतिसार में बीजों का उपयोग किया जाता है। जीर्ण अतिसार में आधा बीज मट्ठे में घिसकर पिलाते हैं।

अथ द्राक्षा (दाख)। तस्या नामानि तत्पक्वापक्वफलस्य तद्भेदानां च गुणाँश्चाह

द्राक्षा स्वादुफला प्रोक्ता तथा मधुरसाऽपि च। मृद्वीका हारहूरा च गोस्तनी चापि कीर्त्तिता॥
द्राक्षा पक्वा सरा शीता चक्षुष्या बृंहणी गुरुः। स्वादुपाकरसा स्वर्या तुवरा सृष्टमूत्रविट्॥
कोष्ठमारुतकृद् वृष्या कफपुष्टिरुचिप्रदा॥ १११॥
हन्ति तृष्णाज्वरश्वासवातवातास्रकामलाः। कृच्छ्रास्रपित्तसंमोहदाहशोषमदात्ययान्॥११२॥
आमा स्वल्पगुणा गुर्वी सैवाम्ला रक्तपित्तकृत्।
वृष्या स्याद् गोस्तनी द्राक्षा गुर्वी च कफपित्तनुत्॥

दाख के संस्कृत नाम—द्राक्षा, स्वादुफला, मधुरसा, मृद्वीका, हारहूरा और गोस्तनी ये सब हैं

दाख के पके फल—मधुर तथा कषाय रसयुक्त, विपाक में मधुर रसयुक्त, सारक, शीतल, नेत्रों के लिये हितकर, बृंहण, गुरु, स्वर को उत्तम करने वाले, मूत्र तथा मल की प्रवृत्ति कराने वाले, कोष्ठ में वातकारक, वृष्य, कफ-पुष्टि तथा रुचि के उत्पन्न करने वाले एवम्—तृषा, ज्वर, श्वास, वात, वातरक्त, कामला, मूत्रकृच्छ्र, रक्तपित्त, मोह, दाह, शोष तथा मदात्यय रोग को दूर करने वाले होते हैं। कच्चे दाख के फल-पके की अपेक्षा अल्प गुण वाले एवम् गुरु होते हैं। वे ही यदि खट्टे हों तो रक्तपित्त कारक होते हैं।

गोस्तनी-दाख (मुनक्का)—वीर्यवर्धक, गुरु तथा कफ और पित्त का नाशक होती है॥

*गोस्तनी 'मुनक्का' इति लोके॥ १०९-११३॥

यहाँ पर "मूल में गोस्तनी पद से मुनक्का का बोध लोक में होता है" ऐसा समझना चाहिये॥ १०९-११३॥

*अबीजाऽन्या स्वल्पतरा गोस्तनीसदृशी गुणैः।
द्राक्षा पर्वतजा लघ्वी साऽम्ला श्लेष्माम्लपित्तकृत्॥
द्राक्षा पर्वतजा यादृक् तादृशी करमर्दिका॥ ११४॥

दूसरी जाति की जो थोड़े बीजवाली दाख होती है वह—यद्यपि गुणों में मुनक्का के ही समान होती है तथापि उसमें अपेक्षाकृत स्वल्प गुण होते हैं।

पर्वत पर उत्पन्न होने वाली जो दाख है उसे "पर्वतजा" द्राक्षा कहते हैं। वह—पाक में लघु होती है। किन्तु यदि खट्टी हो तो वह—कफ तथा अम्लपित्त को उत्पन्न करने वाली होती है।

करमर्दिका के गुण—जिस भाँति "पर्वतजा" दाख के होते हैं वैसे ही इसके भी होते हैं॥११४॥

*अबीजा = ईषद्बीजा 'किसमिस' इति लोके। पर्वतजा = 'पहाड़ी' इति लोके। करमर्दिका = 'करौंदी' इति लोके॥ ११४॥

यहां पर मूल में "अबीजा" पद से 'थोड़े बीज वाली" यह अर्थ समझना चाहिये इसी को लोक में "किसमिस" कहते हैं। "पर्वतजा" को पहाड़ीदाख" तथा "करमर्दिका" को लोक में "करौंदी" दाख कहते हैं॥ ११४॥

४२ दाख

हि०—दाख, मुनक्का, अंगूर। बं०—मनेका। म०—अंगूर, द्राक्ष। गु०—धराख, दराख। क०—द्राक्षे। ते०—द्राक्षा। ता०—कोट्टन फा०—अंगूर, मवेझ (सूखा)। अ०—हबुस् सजीब। अं०—Grapes (ग्रेप्स)। ले०—*Vitis vinifera Linn.* (विटिस् विनिफेरा)। Fam. Vitaceae (विटेसी)।

अंगूर, किसमिस, दाख, बड़ी दाख सब एक ही जाति की लताओं के फल हैं। कच्चे, पके, बीज-हीन तथा छोटे, बड़े, सूखे आदि फलों के भेद से यह भिन्न भिन्न नामों से पुकारे जाते हैं।

यह लता जाति की वनस्पति फ़ारस, अफ़गानिस्तान आदि विदेशों के सिवा इस देश में भी कई जगह किन्तु विशेषरूप से उत्तर पश्चिमी भागों में अधिक उत्पन्न होती है। पत्ते-गोलाकार, पांच दल तथा कटे किनारे वाले और कंगूरेदार होते हैं। फूल-हरे रङ्ग के सुगन्धित होते हैं। फूल तथा फल गुच्छों में आते हैं।

अफ़गानिस्तान और फारस आदि देशों के अंगूर अच्छे होते हैं। काश्मीर में किसमिस, मुनक्का, होसानी और मस्का नामक कई जातियों के अंगूर उत्पन्न होते हैं। औरङ्गाबाद का अंगूर लाल और स्वादिष्ट होता है। दौलताबाद के अंगूर देश देशान्तरों में भेजे जाते हैं। सब जगह की जलवायु भिन्न होती है इस कारण प्रत्येक स्थान के फलों में कुछ न कुछ भेद होता है।

रासायनिक संगठन—पक्व फल में शर्करा, कुछ सेन्द्रीय अम्ल द्रव्य जैसे मॅलिक्, टार्टरिक्, रेसेमिक् अम्ल तथा आर्सेनिक् (१०० सी० सी० रस में ०·०५ मि० ग्रा०); कच्चे फल में आक्झेलिक् अम्ल एवं बीज में स्थिर तैल होता है। इससे आसव, अरिष्ट, सिरका, ब्रॉन्डी आदि बनाई जाती है इसके फलों का अधिक उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—पक्व फल शीतल, संतर्पण, पाचन, स्रंसन, बल्य, कण्ठ्य, रक्तपित्त शामक है। सूखे फल शीतल, स्नेहन, कफ शामक, स्रंसन हैं। अपक्व फल का रस बहुत ग्राही होता है। गर्मी के दिनों में इसको काटने से एक रस बहता है जो त्वग्दोषहर है।

रक्तपित्त, पांडु दौर्बल्य आदि में अंगूर से लाभ होता है। ज्वर में इससे दाह एवं तृषा शांत होती है तथा मूत्र भी साफ होता है। मुनक्का का उपयोग खांसी, पेशाब की जलन, तथा शौच साफ होने के लिये करते हैं।

अथ क्षुद्रखजूरी–पिण्डखर्जूरी–छोहारा च। तासां नामानि गुणाँश्चाह

भूमिखर्जूरीका स्वाद्वी दुरारोहा मृदुच्छदा। तथा स्कन्धफला काककर्कटी स्वादुमस्तका ॥११५॥
पिण्डखर्जूरिका त्वन्या सा देशे पश्चिमे भवेत्। खर्जूरी गोस्तनाकारा परद्वीपादिहागता ॥११६॥
जायते पश्चिमे देशे सा छोहारेति कीर्त्यते। खर्जूरीत्रितयं शीतं मधुरं रसपाकयोः ॥ ११७॥
स्निग्धं रुचिकरं हृद्यं क्षतक्षयहरं गुरु। तर्पणं रक्तपित्तघ्नं पुष्टिविष्टम्भशुक्रदम् ॥ ११८॥
कोष्ठमारुतहृद् बल्यं वान्तिवातकफापहम्। ज्वरातिसारक्षुत्तृष्णाकासश्वासनिवारकम् ११९
मदमूर्च्छामरुत्पित्तमद्योद्भूतगदान्तकृत्। महतीभ्यां गुणैरल्पा स्वल्पखर्जूरिका स्मृता ॥१२०॥

खजूर के संस्कृत नाम—भूमिखर्जूरिका, स्वाद्वी, दुरारोहा, मृदुच्छदा, स्कन्धफला, काककर्कटी तथा स्वादुमस्तका ये सब हैं। और दूसरी जाति का जो खजूर है वह पश्चिम (काबुल आदि) देशों में उत्पन्न होता है उसका संस्कृत नाम—पिण्डखर्जूरिका (हिन्दी नाम—पिण्डखजूर है)। एवम्–तीसरी जाति का जो खजूर है जो कि आकार में गौ के स्तन की भाँति होता है तथा दूसरे द्वीप से इस भारतवर्ष में आया है उसको लोग "छुहारा" कहते हैं। और वह भी पश्चिम के देशों में उत्पन्न होता है।

उक्त तीनों प्रकार के खजूर–रस में तथा विपाक में मधुर रसयुक्त, शीतल, स्निग्ध, रुचिकर, हृदय को हितकर, गुरु, सन्तर्पणकारक, बलवर्धक एवम्–क्षत, क्षय, रक्तपित्त, कोष्ठस्थित-वायु, वमन, वात, कफ, ज्वर, अतिसार, भूख, प्यास, कास, श्वास, मद, मूर्च्छा, वातपित्त, मद्य से उत्पन्न रोग

को दूर करने वाले होते हैं। दोनों बड़े खजूर (पिण्डखजूर, छुहारा) से गुण में कम होने से खजूर को स्वल्पखर्जूरिका कहते हैं ॥ ११५-१२० ॥

अथ खर्जूरीतरुतोयगुणानाह

खर्जूरीतरुतोयं तु मदपित्तकरं भवेत्। वातश्लेष्महरं रुच्यं दीपनं बलशुक्रकृत् ॥ १२१ ॥

खजूर के वृक्षों के जल—रुचिकारक, अग्निदीपक, मद, पित्त, बल तथा शुक्र को उत्पन्न करने वाले एवम्—वात तथा कफ के नाशक होते हैं ॥ १२१ ॥

अथ पिण्डखर्जूरीभेदः (सुलेमानी खजूर)। तस्य नामगुणानाह

सुलेमानी तु मृदुला दलहीनफला च सा। सुलेमानी श्रमभ्रान्तिदाहमूर्च्छाऽस्रपित्तहृत् ॥

सुलेमानी खजूर (यह "पिण्ड खजूर" का भेद है) के संस्कृत नाम—सुलेमानी, खर्जूरी, मृदुला तथा दलहीनफला ये सब हैं।

सुलेमानी खजूर-श्रम, भ्रान्ति, दाह, मूर्च्छा तथा रक्तपित्त को दूर करने वाला होता है ॥१२२॥

४३ खर्जूरी-पिण्ड खर्जूरी (खजूर)

हि०-खजूर, देशी खजूर, खिजूर। बं०-खेजूर गाछ। म०-शिन्दी। क०-इचुली। ते०-इण्टाचेट्टु पेड्डयिता। गु०-खजूर। फा०-तमर रुतब, खुरमाय हिन्दी। अ०-खुरमातर, रतब हिन्दी। अं०-Date (डेट)। ले०-*Phoenix sylvestris Roxb.* (फोनिक्स सिल्वेस्ट्रिस)। Fam. Palmae (पामी)।

देशी खजूर इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में उत्पन्न होता है। इसका वृक्ष—ताड़वृक्ष के समान होता है किन्तु इसकी ऊंचाई कम होती है। पत्ते-६ से ७ फीट लम्बे तथा पक्षाकार होते हैं। पत्रक-६ से १२ इञ्च लंबे, एक इञ्च चौड़े, तीक्ष्णाग्र, विपरीत एवं अग्र में एक पत्रक रहता है। पुष्प-एकलिंगी भिन्न-भिन्न वृक्षों पर आते हैं। कृत्रिम परागण की इसमें आवश्यकता होती है। फल-१ से १½ इञ्च लंबा, गोलाकार, पीत एवं पकने पर रक्ताभ रहता है। फल के अन्दर बीज रहता है। प्रायः पुष्प एवं फल काल के समय घोर वर्षा हुआ करती है जिसमें फल बनने में बहुत कठिनाई होती है।

इसके वृक्ष से जो रस निकलता है उसे खजूरी कहते हैं। इससे मद्य बनता है तथा गुड़ भी बनाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके फल बल्य एवं पौष्टिक होते हैं। इसके वृक्ष का रस शीतल मूत्रजनन तथा पौष्टिक पेय माना जाता है। इसकी जड़ दंतशूल में उपयोगी है। इसका मद्य दीपन, पाचन तथा उत्तेजक होता है। यह अन्य विदेशी मद्यों की अपेक्षा अधिक अच्छा होता है। इसकी शर्करा अधिक पौष्टिक तथा सारक है।

४४ छुहारा, ४५ पिण्ड खजूर

हि०-पिंडखजूर, छुहारा, छोहारा। बं०-सोहारा। म०-खारीक। गु०-खारेक। कं०-इचुल, करिइंचुली, करिइंचुलु। ते०-खजूरपुपण्डु। फा०-खुर्मा, खुर्मा खुष्क। अ०-तमर। अं०-Date Palm (डेट पाम)। ले०-*Phoenix dactylifera Linn* (फोनिक्स डॅक्टिलिफेरा)। Fam. Palmae (पामी)।

छुहारा—ईरान, फारस, काबुल आदि देशों में उत्पन्न होता है और इस देश के पञ्जाब सिन्ध प्रान्तों में रोपण किया जाता है।

इसके वृक्ष—ताड़ और नारियल के वृक्षों के समान होते हैं और पत्ते-खजूर के पत्तों के समान पर उनसे कुछ बड़े होते हैं। फल-भी खजूर से बड़ा होता है।

जिस प्रकार अंगूर, किसमिस, मुनक्के आदि एक ही जाति के लताओं के फल हैं और कच्चे, पके, बीजहीन, छोटे, बड़े, सूखे आदि फलों के भेद से वे भिन्न भिन्न नामों से पुकारे जाते हैं उसी प्रकार खजूर, छोहारा, पिण्डखजूर आदि एक ही जाति के वृक्षों के फल हैं। इस देश में होने से उसको देशी खजूर कहते हैं और वह गुण में हीन होता है। जिस प्रकार काबुल, फारस आदि देशों के अंगूर, अनार, नासपाती आदि फल इस देश में उत्पन्न हुये फलों की अपेक्षा सुस्वादु और वीर्यवर्द्धक होते हैं उसी प्रकार काबुल फारस प्रभृति देशों के खजूर सुस्वादु और अधिक गुणवान् होते हैं। अधपके सूखे फल को छुहारा और पके हुये फलों को पिण्ड खजूर या खजूर कहते हैं। इसके सिवा सुलेमानी खजूर, पिण्डखजूर का ही भेद है।

रासायनिक संगठन—फलों में विटामिन ए, बी, डी, तथा प्रशीताद (Scurvy-स्कर्वी) नाशक विटामिन होते हैं।

गुण और प्रयोग—खजूर शीतल, स्नेहन, वृष्य, तर्पण, गुरु, वातपित्तहर एवं कफनिःसारक है। इसका उपयोग क्षय, क्षतक्षय, कास, श्वास, दाह एवं रक्तपित्त में किया जाता है।

इसका गोंद अतिसार तथा मूत्रविकारों में लाभदायक है। इसके वृक्ष का रस शीतल तथा सारक होता है।

अथ वातादः (बादाम)। तस्य नामानि तन्मज्जगुणाँश्चाह

वातादो वातवैरी स्यान्नेत्रोपमफलस्तथा। वातादः उष्णः सुस्निग्धो वातघ्नः शुक्रकृद् गुरुः।
वातादमज्जा मधुरो वृष्यः पित्तानिलापहः।
स्निग्धोष्णः कफकृन्नेष्टो रक्तपित्तविकारिणाम् ॥ १२४ ॥

बादाम के संस्कृत नाम—वाताद, वातवैरी तथा नेत्रोपमफल ये सब हैं।

बादाम - उष्ण, स्निग्ध, शुक्रकारक, गुरु एवम्-वातनाशक होता है।

बादाम की मींगी—मधुर, वीर्यवर्धक, स्निग्ध, उष्ण, कफकारक एवम्-पित्त तथा वात को दूर करने वाली होती है तथा रक्तपित्त के रोगियों को हितकर नही होती है॥ १२३-१२४।

४६ बादाम

हि०-बादाम बदाम। बं०-बादाम। म०-बदाम। गु०-बदाम। ते०-बदाम। ता०-वडुमै। फा०-बदाम। अ०-लोजल। अं०-Almond (ऑल्मन्ड)। ले०-*Prunus amygdalus Batsch.* (प्रुनस् एमिग्डेलस्)। Fam. Rosaceae (रोसेसी)।

भारत के पंजाब एवं कश्मीर के शीतल प्रान्तों में इसकी उपज की जाती है। यह अफगानिस्तान, ईरान तथा युरोप में भी होता है।

इसका वृक्ष-मध्यमाकार का होता है। टहनियों के अन्त में पत्ते गुच्छों में रहते हैं। पत्ते-मालाकार और बारीक कंगूरेदार होते हैं। फूल—सफेद रङ्ग के आते हैं जिनपर लाल रङ्ग के धब्बे रहते हैं। फल—लम्बाई युक्त गोल होते हैं। बीज -अण्डाकार और चिपटे होते हैं। कच्चे फलों का कश्मीर में साग बनाकर खाते हैं। कच्चे फल खट्टे और पके फल खटमीठे होते हैं।

बादाम के दो प्रकार पाये जाते हैं। एक की मींगी मधुर तथा दूसरे की कड़वी होती है। बदाम की स्थान भेद से अनेक जातियाँ पाई जाती हैं। मीठा बादाम खाने के योग्य होता है। कड़वा अत्यन्त विषैला होता है।

रासायनिक संगठन—कड़वे बादाम में अत्यन्त विषैला तत्व हाइड्रोसायेनिक एसिड होता है। करीब ६० कड़वे बदाम में वयस्क मनुष्य के लिये घातक प्रमाण में विष होता है। यह विष उसके उड़नशील तैल में होता है।

मीठे बदाम में स्थिर तैल ३५-६२% होता है। यह विष इसमें यदि हो तो बहुत ही कम होता है।

गुण और प्रयोग—बदाम मधुर, गुरु, स्निग्ध, उष्ण, बृंहण, बल्य, वातहर, वातनाड़ी बल्य, उत्तेजक एवं कफपित्तकर है।

बदाम को रातभर गरम पानी में भिगोकर दूसरे दिन थोड़ी देर पकाकर उसकी पेया बनाते हैं। यह श्वसन एवं मूत्रजननेन्द्रिय संस्थान के रोगों, मधुमेह तथा स्त्रियों के कटिशूल एवं श्वेत प्रदर में देते हैं।

मात्रा—पेया २ से ४ तोला।

नोट—देशी बादाम (जंगली बादाम), ले०-टर्मिनेलिया कॅटेप्पा, कॉम्ब्रेटॅसी (*Terminalia catappa Linn. Fam. Combretaceae*) नामक एक अन्य वृक्ष भी पाया जाता है। इसमें बादाम सदृश बीज पाया जाता है तथा बीज तैल का प्रयोग बादाम के तेल के स्थान पर भी करते हैं। इसकी छाल संग्राही होती है एवं पत्तों का मलहम चर्मरोगों में काम में लाया जाता है।

अथ सेवम्। तस्य नामगुणानाह

मुष्टिप्रमाणं बदरं सेवं सिवितिकाफलम्[1] ॥ १२५ ॥
सेवं समीरपित्तघ्नं बृंहणं कफकृद् गुरु। रसे पाके च मधुरं शिशिरं रुचिशुक्रकृत् ॥ १२६ ॥

सेव के संस्कृत नाम मुष्टिप्रमाण, बदर अथवा मुष्टिप्रमाणबदर, सेव तथा सिवितिकाफल ये सब हैं।

सेव-रस तथा विपाक में मधुरस युक्त, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), कफकारक, गुरु, शीतल, रुचि तथा शुक्र को उत्पन्न करने वाला होता है ॥ १२५-१२६ ॥

४७ सेव

हि०-सेव, सेव। बं०-सेव। म०, गु०-सफरचंद। क०-सेबु। अ०-तुफाह। फा०-सेब, सिब। अं०-Apple Tree (ॲपल् ट्री)। ले०-*Pyrus malus Linn.* (पाइरस मॅलस्)। Fam. Rosaceae (रोझेसी)।

हिमालय, पंजाब, सिंध, उत्तर पश्चिम सीमांत प्रदेश, मध्यभारत एवं डेक्कन में इसकी उपज की जाती है। उत्तर पश्चिम हिमालय में वन्य भी पाया जाता है।

इसका वृक्ष-३० फीट से अधिक ऊँचा नहीं होता। नयी शाखा, पत्र का अधर पृष्ठ, एवं पुष्प व्यूह, श्वेताभ रजावरण से ढके रहते हैं। पत्ते-२ से ३ इञ्च, अंडाकार, गोल दन्तुर एवं कुछ लम्बाग्र होते हैं। पुष्प-१½-२ इञ्च व्यास के एवं गुलाबी होते हैं। फल-गोल, छोटे डंठल एवं

---

१. सिम्वि(ब्वि)तिका इति पाठा.।

स्थाई बाह्यदल से युक्त एवं दोनों तरफ से अन्दर धंसा हुआ होता है। खट्टा तथा मीठा ऐसे दो भेद पाये जाते हैं। पके फल को लोग खाते हैं तथा उसका मुरब्बा भी बनाते हैं।

इसकी छाल एवं मूल का भी उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—पत्ते एवं छाल में एक ग्लूकोसाइड फ्लोरिजिन् (Phlorizin) होता है। बीजों में ॲमिग्डॅलिन पाया जाता है। फ्लोरिजिन् के प्रयोग से वृक्क द्वारा शर्करा का अधिक उत्सर्ग होने लगता है। फल में मॅलिक अम्ल, खटिक, फॉस्फेट आदि होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके फल मधुर, शीत, ग्राही, शुक्रल, बृंहण, कफकर, एवं वातपित्तहर होते हैं। यह हृदय, मस्तिष्क, यकृत एवं आमाशय को शक्ति देनेवाला है। रक्तातिसार तथा आमातिसार में सेव का मुरब्बा देते हैं। विबंध में भी इसका उपयोग होता है।

इसकी छाल का क्वाथ पार्यायिक ज्वर में दिया जाता है।

इसकी जड़ कृमिघ्न, दाहशामक एवं निद्राजनक है।

अथामृतफलम् (यद् बदक्सान-काबिल-प्रभृतिषु देशेषु "नाशपाती" तिनाम्ना प्रसिद्धम्) तस्य गुणानाह

अमृतफलं लघु वृष्यं सुस्वादु त्रीन्हरेद्दोषान्। देशेषु मुद्गलानां-बहुलं तल्लभ्यते लोकैः १२७

अमृत फल—यह बदक्सान तथा काबिल आदि देशों में "नाशपाती" नाम से प्रसिद्ध है।

नाशपाती-लघु, वृष्य (वीर्यवर्धक), अत्यन्त स्वादिष्ट एवम् तीनों दोषों को दूर करने वाली होती है और मुगलों के देश में इसे बहुलता से लोग पाते हैं ॥ १२७ ॥

४८ नाशपाती

सं०-टङ्क। हिं०-नाशपाती। म०-नास्पती। ता०-पेरिक्के। ते०-बेरिकाय। अं०-Pear (पीअर)। ले०-*Pyrus communis Linn.* (पाइरस कम्युनिस्)। Fam. Rosaceae (रोझेसी)।

उत्तर पश्चिम हिमालय में इसकी बहुत उपज की जाती है। यह कश्मीर, ईरान एवं अफगानिस्तान आदि में भी होती है।

इसका वृक्ष मध्यमाकार का होता है तथा नये वृक्षों की टहनियों पर कुछ कांटे होते हैं। पत्ते-चौड़ाई लिये हुए अंडाकार, अखण्ड या कुण्ठित दन्तुर एवं पतले और पत्र बराबर लंबे वृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प-श्वेत आते हैं। फल-यह स्थान भेद से अनेक आकार प्रकार का होता होता है। काश्मीर आदि की नासपाती अधिक मुलायम रहती है। स्वाद में यह मधुर होती है। इसकी कलम करके सुधारी हुई जाति को नाक कहा जाता है जो अधिक मधुर तथा मुलायम होता है।

गुण और प्रयोग—यह कषाय, मधुर, गुरु, शीतवीर्य, वातकर एवं ज्वरहर है।

कुछ पक्व फल को काटकर, सुखाकर उसका चूर्ण बना, आटे में मिला रोगी को पथ्यरूप में दिया जाता है।

इसके बीज, जिन्हें अंच् या अंचक कहते हैं, उनकी मज्जा पौष्टिक मानी जाती है।

अथ पीलुः। तस्य नामानि तत्फलगुणाँश्चाह

पीलुर्गुडफलः स्रंसी तथा शीतफलोऽपि च। पीलु श्लेष्मसमीरघ्नं पित्तलं भेदि गुल्मनुत्॥
स्वादु तिक्तञ्च यत्पीलु तन्नात्युष्णं त्रिदोषहृत्॥ १२८ ॥

पीलू के संस्कृत नाम—पीलु, गुडफल, स्रंसी तथा शीतफल ये सब हैं।

पीलु—मल का भेदन करने वाला, पित्तजनक एवम् कफ, वायु तथा गुल्म को दूर करने वाला है। जो पीलू-स्वादिष्ट तथा तिक्तरस युक्त होता है वह अत्यन्त उष्ण नहीं होता तथा त्रिदोषनाशक होता है ॥ १२८ ॥

४९ पीलु

हि०-पीलु, छोटा पीलु, खरजाल। बं०-पीलुगाछ। म०-पिलु। गु०-पीलु, खारी जाल क०-गेनुमर। ते०-गोगु। ता०-पेरुन्गोलि। फा०-दरख्ते मिस्वाक्। अ०-अराक। पं०-पीलु, जाल, वण। राजपु० झाल। ले०-*Salvadora persica Linn.* (साल्वेडोरा पर्सिका)। Fam. Salvadoraceae (साल्वेडोरेसी)।

यह राजपुताना, बिहार, कोंकण, सरकार, डेक्कन, कर्नाटक, बलूचिस्तान, सिंध आदि स्थानों में शुष्क प्रदेशों में होता है।

इसका वृक्ष-छोटा एवं सदा हरा भरा रहता है। स्तम्भ-टेढ़ा मेढ़ा होता है और शाखायें नीचे झुकी हुई और दुर्बल होती हैं। पत्ते-विपरीत, चर्मसदृश या मांसल, अण्डाकार, आयताकार, १।-२ इञ्च लंबे तथा दोनों सिरों पर गोल होते हैं। इस पर छोटे-छोटे फूल बारहो मास आते रहते हैं और वे हरापन युक्त सफेद होते हैं। फल-आध इञ्च गोल, चिकने और पकने पर लाल हो जाते हैं। सूंघने पर इनमें राई आदि के समान तीक्ष्ण गंध आती है तथा इसमें एक बीज होता है। एक दूसरा बड़ा पीलु होता है जिसको लॅटिन में-Salvadora oleoides Dcne. (साल्वेडोरा ओलीओडीस्) कहते हैं। इसके फल पकने पर पीले, सूखने पर लाली लिये भूरे रङ्ग के होते हैं।

रासायनिक संगठन—पीलु में एक क्षाराभ ट्राइमेथिलामाइन (Trimethylamine) पाया जाता है। बड़े पीलु में भी यह क्षाराभ होता है तथा बीज में दोनों प्रकार के तेल होते हैं।

गुण और प्रयोग—लघु पीलु के पत्ते विरेचक होते हैं तथा कास में दिये जाते हैं। इसके बीजों का तेल राई के तेल की तरह होता है तथा आमवातादि में लगाया जाता है। इसके जड़की छाल उत्तेजक, स्वेदजनन एवं कुछ मूत्रजनन है। इसका क्वाथ ज्वर में दौर्बल्य तथा प्रलाप दूर करने के लिये देते हैं। इसको गर्भिणी को न दें।

वृद्धपीलु के पत्ते वातनाशक होने के कारण उनको गरम करके पीड़ायुक्त स्थानों को सेंकते हैं। छाल उत्तेजक एवं उष्ण होने के कारण ज्वर में दौर्बल्य होने पर तथा आर्तव रुक जाने पर देते हैं। फल-उष्ण, दीपन, वातहर एवं मूत्रजनक हैं। इनमें शर्करा बहुत रहती है। संधिवात एवं प्लीहा वृद्धि में फल देते हैं। बीज आनुलोमिक एवं विपाचन हैं। सर्पविष में इनका उपयोग करते हैं। बीजों का तेल स्वेदजनन एवं उत्तेजक होने के कारण पुराने सन्धिरोगों में इसकी मालिश की जाती है। इस तेल को किंकणेल या खिकणेल कहते हैं।

अथाक्षोटः (अखरोट) तस्य नामगुणानाह

पीलुः शैलभवोऽक्षोटः कर्पराळश्च कीर्तितः। अक्षोटकोऽपि वाताद्सदृशः कफपित्तकृत् ॥१२९॥

अखरोट के संस्कृत नाम—शैलभव पीलु अक्षोट तथा कर्पराल ये सब हैं। (जो पीलू पर्वत पर उत्पन्न होता है उस को "अखरोट" कहते हैं)।

अखरोट- गुणों में बादाम के सदृश होता है एवम् कफ तथा पित्त का वर्धक होता है ॥ १२९

५० अखरोट

हि०–अखरोट, अक्षोट, पहाडी पीलु। **बं०**–आखरोट। **पं०**–अखरोट। **म०**–अक्रोड। **गु०**–अखरोड। **ते०**–अक्षोलमु। **ता०**–अक्रोटु। **क०**–आखोट। **आसा०**–कवसिंग। **फा०**–चार मग्ज़, जिर्दगां। **अ०**–ज़ोज़ हिन्दी, जोज़ेजुल हिन्द, जोज़। **अफगा०**–उप्पस्। **अं०**–Walnut (वालनट) **ले०**–*Juglans regia Linn.* (जग्लान्स रेजीया)। Fam. Juglandaceae (जग्लैन्डेसी)।

यह हिमालय के उष्ण भागों में ३ से १० हजार फीट तक एवं खासिया पर्वत तथा बलुचिस्तान में होता हैं। कश्मीर में इसकी बहुत उपज की जाती है।

इसका वृक्ष ऊंचा होता है तथा छाल धूसर एवं लम्बाई में फटी होती है। शाखाओं पर मृदु रजावरण होता है। पत्ते–असम पक्षवत्, एकान्तर तथा ६ से १५ इञ्च लम्बे होते हैं। पत्रक-संख्या में ५-१३, दीर्घवृत्ताभ से लेकर आयताकार भालाकार, ३-८ × १·५-४ इञ्च बड़े, न्यूनाधिक विनाल एवं प्रायः अखण्ड होते हैं। पुष्प–छोटे, पीताभ हरे एवं एक लिंगी होते हैं। फल–कुछ लंबाई लिये हुये गोल एवं २ इञ्च व्यास में एवं बाह्यस्तर (Exocarp) हरा तथा चर्मवत् रहता है। इसके अन्दर अन्तस्तर कठोर काष्ठीय, सिकुडनदार एवं दो कोष्ठ युक्त होता है जिसमें ४ खण्डवाला तैल से भरा हुआ, टेढ़ा मेढ़ा धूसर श्वेत रंग का बीज होता है। इन्हीं बीजों को लोग खाते हैं।

स्थान भेद से अन्तस्तर (Endocarp) के स्वरूप के अनुसार इसके कई प्रकार होते हैं। इसमें सबसे अच्छा **कागजी अखरोट** होता है जो बड़ा, अन्तस्तर पतला तथा उसकी मींगी श्वेत तथा अधिक स्वादिष्ट रहती है। इसकी छाल डण्डासा के नाम से बिकती है जिसको दांत साफ करने के लिये तथा चबाकर होंठ लाल करने के लिये उपयोग में लाते हैं। बाल रंगने के लिये हरे फल के छिलकों का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें तैल, अनेक पोषक तत्व, विटामिन 'बी', 'ए', 'सी', लेसिथिन तथा अनेक खनिज होते हैं। खनिज में लोह, ताम्र, खटिक, फास्फोरस, यशद, कोबाल्ट, मैगनेशियम, आर्सेनिक, गंधक, आयोडिन, मैंगेनीज, पोटेशियम् तथा सोडियम् होते हैं। इनके अतिरिक्त कच्चे फलों में विटामिन 'सी' बहुत होता है। पत्तों में विटामिन 'सी' एवं उड़नशील तैल रहता है। इनका जलीय सत्व अनेक जीवाणु के लिये घातक होता है।

गुण और प्रयोग—इसकी मींगी, पौष्टिक, बल्य, बृंहण, क्षतक्षयनाशक एवं आमवातहर होती है। आमवात, वातरक्त आदि में इसका उपयोग करते हैं। इसके पत्ते पौष्टिक एवं कृमिघ्न होते हैं। इनका क्वाथ गंडमाला में लाभदायक होता है। इसकीछाल को पीसकर शोथपर लगाते हैं। इसका तैल स्फीतकृमि में लाभदायक माना जाता है।

नोट—एक **जङ्गली अखरोट** होता है जो आसाम तथा विशेषरूप से दक्षिण में होता है। यह एल्यूराइटिस् मोलुक्केना (Aleurites moluccana, Willd.), युफोर्बिएसी (Fam. Euphorbiaceae) है। इसके फल अंडाकार, दो इञ्च व्यास के होते हैं जिसके अन्दर दो बीज अखरोट जैसे निकलते हैं। इसमें तैल होता है। यह १ से २ औंस की मात्रा में विरेचक होता है। बीजों को भूनकर खाया जाता है जिसमें कुछ विरेचक गुण रहता है। इन्हें बिना भूने नहीं खाना चाहिये क्योंकि इसमें एक विषैला तत्व होता है जो भूनने से नष्ट हो जाता है। बीजों की बत्ती बनाकर जलाते हैं जिससे इसे 'दी कैंडल नट ट्री' (The candle nut tree) भी कहते हैं।

भावप्रकाशकार अखरोट को पर्वत पर होने वाला पीलु कहते हैं किन्तु इसके स्वरूपादि से इनमें कोई साम्य नहीं मालूम पड़ता।

अथ बीजपूरः (बिजौरा)। तस्य नामानि तत्फलगुणाँश्चाह

बीजपूरो मातुलुङ्गो रुचकः फलपूरकः। बीजपूरफलं स्वादु रसेऽम्लं दीपनं लघु ॥ १३० ॥
रक्तपित्तहरं कण्ठजिह्वाहृदयशोधनम्। श्वासकासारुचिहरं हृद्यं तृष्णाहरं स्मृतम् ॥ १३१ ॥

बिजौरा नीबू के संस्कृत नाम—बीजपूर, मातुलुङ्ग, रुचक तथा फलपूरक ये सब हैं।

बिजौरा के फल – स्वादिष्ट, अम्लरसयुक्त, अग्निदीपक, लघु, हृदय के लिये हितकर, कण्ठ-जिह्वा तथा हृदय को शोधन करने वाले एवम्- रक्तपित्त श्वास-कास-अरुचि तथा तृषा को दूर करने वाले होते हैं ॥ १३०-१३१ ॥

५१ बिजोरा

हि०-बिजोरा नींबु, तुरंज। बं०-टावालेबु, छोलोंगनेबु, वेगपूर। म०-महाळुङ्ग। गु०-बिजोरू। क०-मादळ। ता०-मादलम्। ते०-लुंगमु, मादिफलमु। फा०-तुरंज, तरंज। अ०-उत्तरञ्ज, उतरज। अं०-Citron (सिट्रोन)। ले०-Citrus medica Linn. (साइट्रस मेडिका)। Fam. Rutaceae (रूटेसी)।

इसके वृक्ष छोटे, करीब १० फीट ऊँचे होते हैं और वाटिकाओं में लगाये जाते हैं। चटगांव तथा सिताकुंड, खासिया एवं गारो पहाड़ों पर तथा कुमाऊँ में सरजू के किनारे यह वन्य भी पाया जाता है। शाखाएँ—मोटी, छोटी, कंटीली एवं इतस्ततः फैली होती हैं। इसके पत्ते—नीबू के पत्ते के आकार वाले परन्तु लम्बाई चौड़ाई में उनसे बड़े होते हैं। वृन्त—इस प्रजाति में वृन्त प्रायः पक्षयुक्त हुआ करता है किन्तु इस जाति में यह पक्षहीन या अल्प किनारेदार तथा छोटा होता है। फूल—सफेद आते हैं। फल—लम्बाई युक्त गोल, ४–६ इंच व्यास में और नोकदार सा होता है। इसका छिलका मोटा, खुरदरा, उभारदार एवं पकने पर पीले रंग का होता है। इसकी गुद्दी हलकी पीली, अल्प, साधारण अम्ल या मधुराभ किन्तु स्वादहीन होती है। इसके दो वर्ग मुख्यरूप से किये जाते हैं। एक मीठे तथा दूसरे खट्टे। इसके कई उपभेद पाये जाते हैं जिनमें ये मुख्य हैं।

(१) छांगुरा–गुद्दीहीन तथा छोटे फल। (२) तुरंज–बड़े फल, अम्ल किन्तु छिलका मधुराभ। (३) बजौरा–छोटे, अम्ल, रस से भरे एवं पतले छिलके वाले फल। (४) एक विशेष प्रकार उत्तर पश्चिम भारत में होता है जिसमें फल का स्वरूप मुड़ी हुई अंगुलियों से युक्त करतल के समान दिखलाई देता है।

रासायनिक संगठन – छिलके में अत्यंत सुगंधित तेल होता है जिसे सिट्रोन तेल (Citron oil) कहते हैं।

गुण और प्रयोग—यह अम्ल, दीपन, हृद्य, वमनरोधक, अरुचिनाशक एवं शोणिता स्थापन है।

इसका छिलका ग्राही, सुगंधि तथा तिक्त पौष्टिक होता है। पुष्प तथा कलियां अल्प स्वप्नजनन एवं ग्राही होती हैं। मूल को पीसकर कृमि, वमन तथा मूत्राश्मरी में देते हैं। ज्वर में पत्तों का फांट पिलाते हैं।

अथ मधुकर्कटो (बिजौराभेद, चकोतरा)। तस्या नामगुणानाह

बीजपूरोऽपरः प्रोक्तो मधुरो मधुकर्कटी ॥ १३२ ॥
मधुकर्कटिका स्वाद्वी रोचनी शीतला गुरुः। रक्तपित्तक्षयश्वासकासहिक्काभ्रमापहा ॥ १३३ ॥

चकोतरा नीबू के संस्कृत नाम—दूसरी जाति का जो बिजौरा होता है उसे मधुर तथा मधु-कर्कटी कहते हैं।

चकोतरा (नीबू)—स्वादिष्ट, रोचक, शीतल, गुरु, एवम् रक्तपित्त, क्षय, श्वास, कास, हिक्का तथा भ्रमरोग को दूर करता है ॥ १३२–१३३ ॥

५२ चकोतरा

हिं०, बं०—चकोतरा, महानिबू । म०—पोपनस । गु०—ओबकोतक । ते०—पंपरंनासा । ता०—पंबालेमस्रु । क०—सकोतरे, सक्कोटा । अं०—Shaddock (शेडॉक्), Pummelo (प्यूमेलो)। ले०—*Citrus decumana Linn.* (साइट्रस डेक्युमैना) । Fam. Rutaceae (रूटेसी) ।

इसको बागों में लगाते हैं । इसका वृक्ष—छोटा, करीब १५ फीट ऊँचा होता है और सदा हरा भरा रहता है । पत्ते—गहरे हरे, बिजोरे से भी बड़े २ होते हैं । वृन्त—चौड़े पक्षयुक्त होते हैं। फूल—सफेद रंग के आते हैं। फल—बड़े २, गोल एवं ६–८ इंच व्यास के फल भी देखने में आते हैं जो पकने पर फीके पीले रंग के होते हैं । इसके गूदी के दाने फीके गुलाबी या श्वेत रंग के होते हैं और स्वाद में मीठे होते हैं । इसके बीजयुक्त, बीजहीन एवं छोटे, बड़े आदि भेद होते हैं। पतले छिलके वाला बंबई का चकोतरा सबसे अच्छा होता है । ग्रेपफ्रूट (Grape fruit) नामक जाति सा. पॅरॅडिसि (C. paradisi) के फल की अपेक्षा ये बड़े, छिलका मोटा तथा कड़ा, गूदा ठोस एवं अलग अलग फल पेड़ पर लगते हैं ।

रासायनिक संगठन—छिलके में सुगन्धित तैल पाया जाता है ।

गुण और प्रयोग—फल पोषक, हृद्य एवं तृषाशामक होता है । इसके पत्ते अपस्मार, कंपवात तथा आक्षेपयुक्त कास में दिये जाते हैं ।

अथ जम्बीरद्वयम् । तस्य नामानि तत्फलगुणाँश्चाह

स्याज्जम्बीरो दन्तशठो जम्भजम्भीरजम्भलाः । जम्बीरमुष्णं गुर्वम्लं वातश्लेष्मविबन्धनुत् ॥

शूलकासकफोत्क्लेशच्छर्दितृष्णाऽऽमदोषजित् ।

आस्यवैरस्यहृत्पीडावह्निमान्द्यक्रिमीन् हरेत् ॥

स्वल्पजम्बीरिका तद्वत्तृष्णाच्छर्दिनिवारिणी ॥ १३५ ॥

जम्बीरीनीबू के संस्कृत नाम—जम्बीर, दन्तशठ, जम्भ, जम्भीर तथा जम्भल ये सब हैं ।

जमीरीनीबू—उष्ण, गुरु, अम्लरसयुक्त एवम्—वात-कफ-मल का विबन्ध-शूल-कास-कफोत्क्लेश-वमन-तृषा-आमसम्बन्धी दोष-मुख की विरसता-हृदय की पीड़ा-अग्नि की मन्दता तथा क्रिमि को दूर करने वाला होता है । छोटा जमीरीनीबू का संस्कृत नाम-स्वल्पजम्बीरिका है । यह यद्यपि गुणों में जमीरीनीबू के समान है परन्तु विशेषतः तृषा तथा वमन का नाशक है ॥ १३४–१३५ ॥

५३ जमीरीनीबू

हिं०—जमीरीनीबू, बड़ानीबू, पहाड़ीकागजी । बं०—जामीरालेबू, गोंडा लेंबु, । म०—ईड लिंबु । गु०—गोदडिया लिंबु, दोडिंगा । क०—काडलिम्बे ; ते०—जांमिर निम्म । ता०—पेरिययेलुमिच्चई । अं०—Lemon (लेमन) । ले०—*Citrus limon Linn.* (साइट्रस् लिमन्) । Fam. Rutaceae (रुटेसी) ।

उत्तरप्रदेश, मैसूर, मद्रास तथा बंबई में इसे लोग अपने बगीचों में लगाते हैं । इसका वृक्ष—झाड़ीदार, छोटा, १०–१२ फीट ऊँचा एवं कंटकित होता है । पर्णवृन्त या तो पक्षहीन रहता है या पक्ष बहुत छोटे होते हैं : पुष्प—एकाकी या कभी-कभी युग्म, १॥–२ इञ्च व्यास के होते हैं ।

फल-आयताकार, अंडाकार, अग्र कुछ बाहर निकला हुआ, चमकीले पीले रंग का, छिलका मोटा एवं अन्दर से हलका पीला तथा स्वाद में खट्टा होता है। इसका एक प्रकार पठानकोट के पास गलगल नाम का होता है। अन्य विदेशी प्रकार भी पाये जाते हैं जिनमें बीज नहीं रहता है।

रासायनिक संगठन—इसमें विटामिन 'सी' नीबू की अपेक्षा अधिक रहता है। इसके अतिरिक्त विटामिन 'बी' १, कॅरोटीन तथा साइट्रिक अम्ल आदि द्रव्य पाये जाते हैं। रस में न्यूमोनिया रोधी तत्व एवं तृणाणुनाशक तत्व होते हैं। छिलके में सुगंधी तैल एवं तिक्त द्रव्य होता है।

गुण और प्रयोग—यह अम्ल, वातकफनाशक, दीपन, पाचन एवं तृष्णा निवारक है। अतिसार, संग्रहणी आदि में इसे देते हैं। इसका शरबत बनाकर पीते हैं तथा अन्य पदार्थों में खटाई के लिये इसका उपयोग किया जाता है।

अथ निम्बूकम् (कागजी नीबू)। तस्य नामगुणानाह

निम्बूः स्त्री निम्बुकं क्लीबे निम्बूकमपि कीर्त्तितम्। निम्बूकमम्लं वातघ्नं दीपनं पाचनं लघु॥

कागजी नीबू के संस्कृत नाम—निम्बू (यह स्त्रीलिङ्गी है), निम्बुक (यह नपुंसकलिङ्गी है) तथा निम्बूक ये सब हैं।

कागजीनीबू—अम्लरसयुक्त, अग्निदीपक, पाचक, लघु तथा वातनाशक होता है॥ १२६॥

अन्यच्च

निम्बुकं कृमिसमूहनाशनं-तीक्ष्णमम्लमुदरग्रहापहम्।
वातपित्तकफशूलिने हितं-कष्टनष्टरुचिरोचनं परम्॥ १२७॥
त्रिदोषवह्निक्षयवातरोग-निपीडितानां विषविह्वलानाम्।
मन्दानले बद्धगुदे प्रदेयं-विषूचिकायां मुनयो वदन्ति॥ १२८॥

अन्य कहे हुए कागजी नीबू के और भी गुण—कागजी नीबू—कृमिसमूह का नाशक, तीक्ष्ण, अम्लरसयुक्त, उदरपीड़ा तथा ग्रहबाधा को दूर करनेवाला, वात-पित्त तथा कफ सम्बन्धी शूलरोगवालों के लिए हितकर, कष्ट से जिनकी अन्न की रुचि नष्ट हो गई है उसे पुनः उत्पन्न करने वाला होता है और त्रिदोष अग्निक्षीणता तथा वातरोग से पीड़ित, विष से विह्वल, मन्दाग्नि, मलबन्ध तथा हैजा रोग से युक्त रोगियों को कागजीनीबू खिलाना हितकर है ऐसा मुनियों का मत है॥

५४ नींबू

हि०-कागजी नीबु, नींबू। बं०-कागदी लेंबु, पति लेंबु। म०-लिंबु। गु०-लींबु, कागदी लीम्बु। ता०-एलुमिच्चै। क०-लिम्बे। ते०-निम्म पंडु। फा०-लिमुने तुर्श, लींबू, लीमूं। अ०-लिमुने हाजिम, लेमू हाज़िम। अं०-Lime (लाइम्)। ले०-*Citrus medica var. acida* (साइट्रस् मेडिका भेद ॲसिडा)। Fam. Rutaceae (रूटेसी)।

इसकी सभी स्थानों पर, ४००० फीट की ऊँचाई तक उपज की जाती है तथा हिमालय की उष्ण घाटियों में यह वन्य अवस्था में भी पाया जाता है।

इसके वृक्ष-छोटे, ५-१० फीट ऊंचे, कंटकित झाड़ीदार होते हैं। पत्ते-वृन्त थोड़ा सा पक्षयुक्त होता है। पुष्प-छोटे, आधा इंच व्यास में, एक साथ ३ से १० की संख्या में पत्रकोण में आते हैं। फल-गोल, १-१॥ इञ्च व्यास में, चिकना या झुर्रीदार; छिलका पतला तथा गूदी से लगा हुआ,

हरा तथा पकने पर कुछ पीत; गुद्दी पीत हरित, अम्ल, सुगंधि एवं अंदर की कली छोटी तथा चमकीली रहती है।

इसके भी अनेक कृषित उपभेद पाये जाते हैं।

रासायनिक संगठन—रस में साइट्रिक अम्ल, विटामिन 'सी' एवं छिलके में उड़नशील तैल होता है।

गुण और प्रयोग—यह दीपन, पाचन, किंचित उष्ण, चक्षुष्य, हृद्य, रक्तपित्तप्रशमन, तृष्णानिग्रहण, ज्वरहर एवं मूत्रजनन है।

रक्तपित्त, आमवात, ज्वर, अतिसार, वमन तथा पित्त के विकारों में इसका रस दिया जाता है। खटाई के लिये भी इसका उपयोग करते हैं।

अथ मिष्टनिम्बूफलम् (मीठा नींबू)। तस्य गुणानाह

मिष्टनिम्बूफलं स्वादु गुरु मारुतपित्तनुत् ॥ १३९ ॥
गलरोगविषध्वंसिकफोत्क्लेशि च रक्तहृत्। शोषारुचितृषाच्छर्दिहरं बलयञ्च बृंहणम् ॥१४०॥

मीठे नीबू का संस्कृत नाम—मिष्टनिम्बू है।

मीठा नीबू—स्वादिष्ट, गुरु, बलकारक, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), कफ सम्बन्धी रोगों को उत्पन्न करने वाला एवम् वात-पित्त-गले के रोग-विष-रक्तविकार-शोष-अरुचि-तृषा तथा वमन को दूर करने वाला होता है ॥ १३९-१४० ॥

५५ मीठा नींबू

हि०-मीठानीबू, शरबती नींबू। **बं०**-मींठा लेंबू। **म०**-साखरलिंबू। **गु०**-मीठालिम्बू। **ता०**-कोलुमिचंगै। **ते०**-गजनिम्मा। **क०**-इम्बे। **फा०**-लिमुने शिरी। **अ०**-लिमू नेहुलु। **अं०**-Sweet Lime (स्वीट लाइम्)। **लै०**-*Citrus limettioides Tanaka* (साइट्रस् लिमेटि-ओइडिस्)। Fam. Rutaceae (रुटेसी)।

मध्य तथा उत्तरीभारत में इसकी उपज की जाती है।

इसका वृक्ष—छोटा तथा कागजी नींबू जैसा होता है। पत्ते—संतरे के पत्ते जितने बड़े किन्तु हलके रंग के तथा तैल ग्रन्थियाँ अधिक स्पष्ट रहती हैं। वृन्त पक्षयुक्त होते हैं। पुष्प—बड़े तथा श्वेत होते हैं। फल-गोल, ३-५ इञ्च व्यास में, हलके पीले या हलके हरे रंग के; छिलका पतला एवं चिकना; गुद्दी मधुर या स्वादहीन रहती है। यह बरसात के अंत में फलता है जब कि अन्य नींबू कम मिलते हैं।

रासायनिक संगठन—छिलके में जंबीरनीबू जैसी गंध का तेल होता है।

गुण और प्रयोग—फल को कामला तथा ज्वर में देते हैं। इसको लोग खाते भी हैं।

५६ मोसंबी

नोट—यद्यपि यह भारत एवं चीन का आदिवासी है तथापि भावप्रकाशकार इसका उल्लेख नहीं करते। इसी प्रजाति का यह उपयोगी फल होने के कारण संक्षेप में यहाँ इसका वर्णन किया जा रहा है।

हि०, बं०, म०, गु०-मोसंबी। **अं०**-Mozambique Orange (मोझंबीक आरेंज); Sweet Orange (स्वीट आरेंज)। **लै०**-*Citrus sinensis* (*Linn.*) *Osbeck.* (साइट्रस साइनेन्सिस्)

अनेक प्रान्तों में इसकी उपज की जाती है। इसका वृक्ष-२० फीट तक ऊँचा, फैला हुआ होता है। पर्णवृन्त का पक्ष कम चौड़ा रहता है। फल-गोल, स्वर्णपीत या नारंगी वर्ण का; छिलका मोटा अंदर गुद्दी में चिपका हुआ; गुद्दी पीत, नारंग या रक्ताभ एवं स्वाद मधुर या अम्ल रहता है।

रासायनिक संगठन—इसके फल में प्रशीताद विरोधी विटामिन रहता है। फूलों से प्राप्त नेरोली तेल (Neroli oil) एवं पत्तों से प्राप्त पेटिटग्रेन तेल (Petitgrain oil) का उपयोग सुगंधि इत्रों के लिए करते हैं।

गुण और प्रयोग—फल का रस ज्वर, तृष्णा, प्रतिश्याय, क्षुधानाश, पैत्तिक विकार एवं पैत्तिक अतिसार में दिया जाता है। छिलका दीपन एवं बल्य होता है। मुहांसे पर छिलके को रगड़ने से लाभ होता है।

अथ कर्मरङ्गम् (कमरख)। तस्य नामगुणानाह

कर्मरङ्गं शिरालं च बृहदम्लं रुजाकरम्। कर्मरङ्गं हिमं ग्राहि स्वाद्वम्लं कफवातहृत् ॥ १४१ ॥

कमरख के संस्कृत नाम—कर्मरङ्ग, विशाल, बृहदम्ल तथा रुजाकर ये सब हैं।

कमरख—स्वादिष्ट तथा अम्ल रसयुक्त, शीतल, ग्राही एवम्—कफ तथा वात को दूर करने वाला होता है। १४१ ॥

५७ कमरख

हि०-कमरख। बं०-काम रांगा। म०-कमळर, कर्मर। क०-दारेहुळि। गु०-कमरख। ते०-तमर्ता। ता०-तमर्तं। अं०-Carambola (करम्बोला)। ले०-*Averrhoa carambola Linn.* (एवेहोआ कॅरेम्बोला)। Fam. Oxalidaceae (ऑक्सेलिडेसी)।

यह गरम प्रान्तों की वाटिकाओं में रोपण किया जाता है। इसका वृक्ष-छोटा, १५-३० फीट ऊँचा एवं सदाहरित होता है और शाखायें बहुत होती हैं। पत्ते-कसौंदी के पत्तों के समान अण्डाकार और नुकीले होते हैं। फूल-छोटे-छोटे सफेद या किञ्चित् लाली लिये आते हैं। फल-३-४ इञ्च लम्बे, पाँच कोनेवाले, गूदेदार, सुगंधि, हरे रंग के एवं पकने पर पीले रंग के होते हैं। कच्ची अवस्था में इनका स्वाद कषाय रहता है किन्तु पकने पर किंचित् मधुराम अम्ल हो जाता है।

इसके दो प्रकार खट्टे एवं मीठे पाये जाते हैं जिनमें से मीठा बंगाल की तरफ होता है।

इसका साग, चटनी, अचार एवं शर्बत बनाया जाता है। इससे लोहे इत्यादि धातुओं में लगी जंग छुड़ाई जाती है।

रासायनिक संगठन—इसमें विटामिन 'ए', १०० ग्राम में २४० एकक होता है तथा एसिड पोटेशियम् आक्सॅलेट (Acid potassium oxalate) भी पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—पका फल शीतल, बल्य, रोचक एवं रक्तशोधक है। इसका शरबत बनाकर ज्वर, रक्तपित्त, रक्तार्श एवं तृष्णा आदि में पिलाते हैं।

अथाम्लिका (इमली)। तस्या नामानि तत्पक्वफलगुणाँश्चाह

अम्लिका चुक्रिकाऽम्ली च चुक्रा दन्तशठाऽपि च।
अम्ला च चिञ्चिका चिञ्चा तिन्तिडीका च तिन्तिडी ॥ १४२ ॥

अम्लिकाऽम्ला गुरुर्वातहरी पित्तकफास्रकृत्। पक्वा तु दीपनी रूक्षा सरोष्णा कफवातनुत् ॥

इमली के संस्कृत नाम—अम्लिका, चुक्रिका, अम्ली, चुक्रा, दन्तशठा, अम्ला, चिञ्चिका, चिञ्चा, तिन्तिडीका तथा तिन्तिडी ये सब हैं।

कच्ची इमली—अम्ल रसयुक्त, गुरु, वातनाशक, एवम् पित्त-कफ तथा रुधिरविकार को करने वाली होती है। पकी इमली-अग्निदीपक, रूक्ष, सारक, उष्ण एवम्—कफ तथा वातनाशक होती है॥ १४२-१४३॥

५८ इमली

हि०-इमली। बं०-तेंतुल। म०-चिञ्च। क०-हुणिसे। गु०-आंवली। ते०-चिंत। ता०-पुळि। फा०-तिमिर हिन्दी। अ०-तमर हिन्दी। अं०-Tamarind Tree (टेमरिंड ट्री)। ले०-*Tamarindus indica Linn.* (टेमरीण्डस् इण्डिका)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

इमली के वृक्ष प्रायः सब प्रान्तों में उत्पन्न होते हैं। इसका वृक्ष-बहुत बड़ा होता है और सदा हरा भरा रहता है। शाखायें-बहुत फैली हुई होती हैं। पत्ते-२ से ५ इञ्च लम्बे, संयुक्त पक्षाकार होते हैं। पत्रक-संख्या में १० से २० जोड़े, ८-३०×५-८ मि. मी. बड़े, आयताकार कुण्ठिताग्र, चिकने एवं शिराविन्यास जालीदार होता है। फूल-लाली युक्त पीले रंग के आते हैं। फलियां-३ से ८ इञ्च लंबी, १ इञ्च चौड़ी, ०·४ इञ्च मोटी कुछ टेढ़ी एवं भूरे रंग की होती हैं। बीज-३ से १२, चिकने, चमकीले, चिपटे तथा भूरे रंग के होते हैं। इमली का स्वाद अम्ल एवं मधुर रहता है तथा इसमें सुगंध रहती है।

इसके फल, बीज, पत्र, पुष्प एवं क्षार का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। खटाई के लिये भी इसका उपयोग करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें साइट्रिक ॲसिड (Citric acid), टार्टरिक् ॲसिड (Tartaric acid), पोटॅशियम बाइटार्टरेट (Potassium bitartrate) एवं शर्करा आदि द्रव्य होते हैं।

गुण और प्रयोग—फलमज्जा तृषाशामक, रोचक, एवं सौम्य विरेचक होती है। ज्वर में विबन्ध एवं दाह होने पर इसका पन्ना बनाकर देते हैं। विबन्ध में सनाय आदि के साथ इसको देते हैं यद्यपि रालीय विरेचक द्रव्यों के कार्य को यह कम करती है।

फली की शुष्क त्वचा की राख (क्षार) पेट के दर्द एवं मन्दाग्नि में दी जाती है। इसके छाल की राख क्षारीय एवं मूत्रजनन होती है तथा सोजाक में दी जाती है।

पत्तों को पीसकर व्रणशोथ में बांधते हैं। इसके बीज प्रमेह में लाभदायक होते हैं।

मात्रा—फल ४ से ३० माशा, बीजचूर्ण १ से ३ माशा, क्षार ५-१५ रत्ती।

नोट—इमली का पर्याय तिन्तिडीका दिया हुआ है किन्तु तिन्तिडीक एक अन्य द्रव्य है। मसूर जैसे लाल रंग के खट्टे दाने (फल) सम्माक दाने के नाम से मिलते हैं। यूनानी चिकित्सक इनके छिल्कों का उपयोग करते हैं। यह ले०-*Rhus parviflora. Roxb.* (हस् पार्विफ्लोरा); Fam. Anacardiaceae (ॲनाकार्डिएसी) के फल हैं। नमक मिलाकर इमली की तरह इनका भी उपयोग किया जाता है।

यह ग्राही, हृद्य, दीपन, शीत एवं रक्तपित्तशामक होते हैं। इनको पैत्तिक अतिसार, रक्तातिसार, वमन एवं हृल्लास में देते हैं। ज्वर में दाह एवं तृषा कम करने के लिये इनका उपयोग किया जाता है।

अथाम्लवेतसः (अमलबेंत)। तस्य नामानि तत्फलगुणांश्चाह

स्यादम्लवेतसश्चुक्रं शतवेधि सहस्रनुत्। अम्लवेतसमत्यम्लं भेदनं लघु दीपनम् ॥ १४४ ॥
हृद्रोगशूलगुल्मघ्नं पित्तलं लोमहर्षणम्। रूक्षं विण्मूत्रदोषघ्नं प्लीहोदावर्त्तनाशनम् ॥१४५॥
हिक्काऽऽनाहारुचिश्वासकासाजीर्णवमिप्रणुत्॥
कफवातामयध्वंसिच्छागमांसद्रवत्वकृत्। चणकाम्लगुणं ज्ञेयं लोहसूचीद्रवत्वकृत् ॥ १४६ ॥

अम्लवेतस के संस्कृत नाम—अम्लवेतस, चुक्र, शतवेधि तथा सहस्रनुत ये सब हैं।

अम्लवेतस-अत्यन्त अम्ल रसयुक्त, मलभेदक, लघु, अग्निदीपक, पित्तजनक, खाने से रोमाञ्च करने वाला, रूक्ष, बकरे के मांस को पकाने के समय डालने से शीघ्र गलाने वाला, लोहे की सूई को गलानेवाला, गुणों में चनाखार के समान एवम्-हृद्रोग-शूल-गुल्म-मल तथा मूत्रगत दोष-प्लीहा-उदावर्त्त-हिचकी-आनाह (अफरा)-अरुचि-श्वास-कास (खांसी)-अजीर्ण-वमन-कफ तथा वातसम्बन्धी रोग इन सबों को नष्ट करने वाला होता है ॥ १४४-१४६ ॥

५९ अम्लवेतस्

अम्लवेतस क्या द्रव्य है इस संबन्ध में विद्वानों में मतभेद है। यहाँ इसका फलवर्ग में पाठ किया गया है जिससे यह कोई फल ही है ऐसा अनुमान होता है। चरक (सू० अ० २५) में इसका भेदनीय, दीपनीय आनुलोमिक, वातश्लेष्महर, हृद्य, श्वासहर एवं दीपनीय महाकषाय (च० सू० अ० ४) में पाठ है। निम्न द्रव्यों को अम्लवेतस माना जा रहा है जिनमें से थैकल या निम्बु प्रजाति (Citrus) के किसी खट्टे फल की अम्लवेतस होने की अधिक संभावना है।

(१) रेवंद चीनी क्षुप (Rheum emodi Wall.)-हीयम् एमोडी; Fam. Polygonaceae -पोलीगोनेसी) की सुखाई हुई शाखाएँ- यह देखने में चोटी की तरह गुँथी हुई अमलबेत के नाम से बाजार में बिकती हैं। इनका स्वाद कुछ खट्टा होता है। (यादवजी-द्रव्यगुणविज्ञान उ० पृ० १२९)। इसकी पीली जड़ का उपयोग विरेचक गुण के लिये रेवाचीनी के नाम से किया जाता है।

(२) थैकल—यह आसाम की तरफ होने वाले एक वृक्ष गार्सिनिया पेडंक्युलेटा (Garcinia pedunculata Roxb.; Fam. Guttiferae-वर्ग, गट्टीफेरी) के फल हैं। यह गोल, ३-४'५ इञ्च व्यास के, पीत रंग के, खट्टे एवं स्वादिष्ट होते हैं। इनका उपयोग नींबू या जमीरी नींबू की तरह किया जाता है और इसीके अम्लवेतस होने की अधिक संभावना है।

(३) चुक्र—यह चूका साग, रूमेक्स वेसिकेरियस् (Rumex vesicarius Linn.) है जिसका वर्णन आगे शाकवर्ग में आया है।

(४) निम्बु (साइट्रस-Citrus) प्रजाति के फल—कुछ विद्वानों ने चकोतरा को अम्लवेतस माना है किन्तु चकोतरा इतना खट्टा नहीं होता। इस प्रजाति में अनेक प्रकार के खट्टे फल अवश्य पाये जाते हैं। संभव है कि इनमें से कोई अत्यम्ल फल अम्लवेतस सिद्ध हो।

अथ वृक्षाम्लकम् (विषाम्बिल, कोकम)। तस्य नामानि तत्पक्वापक्वफलगुणांश्चाह

वृक्षाम्लं तिन्तिडीकञ्चुक्रं स्यादम्लवृक्षकम्। वृक्षाम्लमाममम्लोष्णं वातघ्नं कफपित्तलम् ॥
पक्वन्तु गुरु संग्राहि कटुकं तुवरं लघु ॥ १४८ ॥

अम्लोष्णं रोचनं रूक्षं दीपनं कफवातकृत्। तृष्णाऽर्शोग्रहणीगुल्मशूलहृद्रोगजन्तुजित् ॥१४९॥

कोकम के संस्कृत नाम—वृक्षाम्ल, तिन्तिडीक, चुक्र तथा अम्लवृक्षक ये सब हैं।

कोकम का कच्चा फल—अम्लरसयुक्त, उष्ण, कफ तथा पित्त को उत्पन्न करने वाला एवम् वात नाशक होता है।

पका फल—कटु, थोड़ा कषाय तथा अम्लरसयुक्त, गुरु, संग्राही, उष्ण, रोचक, रूक्ष, अग्नि-दीपक, तथा कफवातकारक एवम्—तृषा-अर्श-ग्रहणी-गुल्म-शूल-हृद्रोग तथा जन्तु नाशक होता है ॥ १४७-१४९ ॥

६० कोकम

हि०-कोकम। **म०**-अमसूल, कोकम, रतांबि, भिरंड, वीरंड। **गु०**-कोकम। **क०**-मुर्गिन हुळि। **गोवा०**-भिंडाओ। **ता०**-मुर्गल। **अं०**-Kokam Butter Tree (कोकम बटर ट्री)। **ले०**-*Garcinia indica Chois.* (गार्सिनिया इण्डिका)। Fam. Guttiferae (गट्टिफेरी)।

कोंकण, कनारा आदि दक्षिणी प्रान्तों में यह पाया जाता है। इसका वृक्ष-छोटा होता है। शाखायें झुकी हुई रहती हैं। पत्ते-अंडाकार, आयताकार-भालाकार, २·५-३·५ इञ्च लम्बे, १-१·५ इञ्च चौड़े और ऊपर से गहरे हरे किन्तु नीचे से हलके रंग के होते हैं। फल-गोल, १-१·५ इञ्च व्यास के तथा पकने पर जामुनी लाल रंग के होते हैं जिनमें ५-८ बड़े-बड़े बीज होते हैं। बीज निकाले हुए सुखाये हुए फल को अमसूल या कोकम कहा जाता है। बीजों से तेल निकलता है जो मोम जैसा जम जाता है। इसे कोकम का घी या तेल कहते हैं। कोकम का स्वाद मधुराम्ल रहता है तथा इसको खटाई के लिये लोग काम में लाते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें मॅलिक् अम्ल एवं अल्प चिंचाम्ल या निम्बुकाम्ल रहता है। बीजों में गाढ़ा मोम जैसा तेल होता है।

गुण और प्रयोग—यह हृद्य, ग्राही, उष्ण, वातकफनाशक एवं रक्तपित्तप्रशमन है। छाल स्तम्भन है। तेल स्तम्भन एवं व्रणरोपण है। पैत्तिक रोगों में पके फल का शरबत पिलाते हैं। अतिसार, रक्तातिसार, संग्रहणी आदि में कोकम का फांट पिलाते हैं। इनमें पुटपाक करके निकाला पत्तों का रस भी देते हैं।

बरसात या शीतऋतु में हाथ-पैर फटते हैं उसमें इसका तेल गरम करके लगाते हैं।

अथ चतुरम्लं पञ्चाम्लं च। तयोर्लक्षणमाह

अम्लवेतसवृक्षाम्लबृहज्जम्बीरनिम्बुकैः। चतुरम्लं हि पञ्चाम्लं बीजपूरयुतैर्भवेत् ॥ १५० ॥

चतुरम्ल के लक्षण—अम्लवेतस, कोकम, जमीरी नीबू (बड़ा) और कागजी नीबू इन चारों के योग को "चतुरम्ल" कहते हैं।

पञ्चाम्ल के लक्षण—यदि चतुरम्ल (अम्लवेतस, कोकम, जमीरी नीबू, कागजी नीबू) में बिजौरा नीबू का और योग कर दिया जाय तो "पञ्चाम्ल" हो जाता है ॥ १५० ॥

अथ परिभाषामाह

फलेषु परिपक्वं यद् गुणवत्तदुदाहृतम्। बिल्वादन्यत्र विज्ञेयमामं तद्धि गुणाधिकम् ॥
फलेषु सरसं यत्स्याद् गुणवत्तदुदाहृतम् ॥ १५१ ॥
द्राक्षाबिल्वशिवाऽऽदीनां फलं शुष्कं गुणाधिकम्। फलतुल्यगुणं सर्वं मज्जानमपि निर्दिशेत्॥

फलं हिमाग्निदुर्वातव्यालकीटादिदूषितम् । अकालजं कुभूमीजं पाकातीतं न भक्षयेत् ॥१५३॥
***पाकातीतं = पाकमतिक्रम्य स्थितम् ॥ १५३ ॥**

फल विषयक परिभाषा—फलों में जो पका होता है वह कच्चे की अपेक्षा अधिक गुणकारी होता है किन्तु यह नियम बेल के फल के लिये नहीं है क्योंकि बेल का फल कचा ही अधिक गुणकारी होता है। फलों में जो सरस होता है वह सूखे की अपेक्षा अधिक गुणकारी होता है किन्तु दाख, बेल तथा हरड़ आदि के फल सूखे ही अधिक गुणकारी होते हैं। फल के गुण के समान उसकी मींगी के भी गुण समझना चाहिये। जो फल—पाला, अग्नि, आँधी, सर्प तथा कीड़े आदि से खराब हो गये हों तथा अकाल अथवा दुष्टभूमि में उत्पन्न हुये हों एवम् अधिक पक जाने से खराब हो गये हों उन्हें कभी नहीं खाना चाहिये ॥ १५१–१५३ ॥

यहाँ पर मूल में "पाकातीत" पद का "पकने की मर्यादा को लांघ गये हों" अर्थात् अधिक पक जाने से खराब हो गये हों ऐसा अर्थ समझना चाहिये ॥ १५१–१५३ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे
सप्तम आम्रादिफलवर्गः समाप्तः ॥ ७ ॥

अथाष्टमो धात्वादिवर्गापरनामको धातूपधातुरसोपरसरत्नोपरत्नविषोपविषवर्गः

तत्र धातूनां लक्षणानि गुणांश्चाह

तत्रादौ धातुसंख्यामाह

स्वर्णं रूप्यञ्च ताम्रं च रङ्गं यशदमेव च । सीसं लौहञ्च सप्तैते धातवो गिरिसम्भवः ॥ १ ॥

धातुओं की संख्या—सोना, चांदी, तांबा, रांगा, जस्ता, सीसा और लोहा ये सात ७ धातु पर्वत में उत्पन्न होने (खान से निकलने) वाले हैं ॥ १ ॥

अथ धातुशब्दस्य निरुक्तिमाह

वलीपलितखालित्यकार्श्याबल्यजरामयान् । निवार्य देहं दधति नृणां तद्धातवो मताः ॥ २ ॥

धातु शब्द की निरुक्ति—मनुष्यों के वली, पलित, खालित्य (शिर से बाल झड़जाना), कृशता, निर्बलता, बुढ़ापा, रोग इन सब को दूर करके जो देह को स्थिर (कार्य करने में समर्थ) रखते हैं वे "धातु" कहलाते हैं ॥ २ ॥

तत्रादौ सुवर्णस्योत्पत्तिनामान्याह

पुरा निजाश्रमस्थानां सप्तर्षीणां जितात्मनाम् । पत्नीर्विलोक्य लावण्यलक्ष्मीसम्पन्नयौवनाः॥
कन्दर्पदर्पविध्वस्तचेतसो जातवेदसः । पतितं यद्धरापृष्ठे रेतस्तद्धेमतामगात् ॥
कृत्रिमञ्चापि भवति तद्रसेन्द्रस्य वेधतः ॥ ४ ॥

सोने की उत्पत्ति—पहले एक समय जितेन्द्रिय सप्तर्षिगण अपने आश्रम में बैठे हुये थे, उस समय लावण्य तथा शोभा से पूर्ण यौवन वाली उनकी पत्नियों को देखकर कामदेव से जितेन्द्रियपने का अभिमान नष्ट हो जाने से (कामपीडित होने से) अग्निदेव का जो वीर्य स्खलित होकर धरातल पर पड़ा वही सोना हुआ अर्थात् तभी से सोने की उत्पत्ति हुई और पारे के वेध से कृत्रिम सोना भी होता है ॥ ३-४ ॥

*मरीचिरङ्गिरा अत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः । वसिष्ठश्चेति सप्तैते कीर्त्तिताः परमर्षयः ॥३-४॥

यहाँ पर मूल में "सप्तर्षि" पद से १ मरीचि, २ अङ्गिरा ३ अत्रि, ४ पुलस्त्य, ५ पुलह, ६ क्रतु ७ वशिष्ठ ये ७ परमर्षियों का बोध करना चाहिये ॥ ३-४ ॥

स्वर्णं सुवर्णं कनकं हिरण्यं हेम हाटकम् ॥ ५ ॥
तपनीयं च गाङ्गेयं कलधौतञ्च काञ्चनम् । चामीकरं शातकुम्भं तथा कार्त्तस्वरं च तत् ॥६॥
जाम्बूनदं जातरूपं महारजतमित्यपि ॥ ७ ॥

सोना के संस्कृत नाम—स्वर्ण, सुवर्ण, कनक, हिरण्य, हेम, हाटक, तपनीय, गाङ्गेय, कलधौत, काञ्चन, चामीकर, शातकुम्भ, कार्त्तस्वर, जाम्बूनद, जातरूप तथा महारजत ये सब हैं ॥ ५-७ ॥

अथोत्तमसुवर्णलक्षणमाह

दाहे रक्तं सितं छेदे निकषे कुङ्कुमप्रभम्। तारशुल्बोज्झितं स्निग्धं कोमलं गुरु हेम सत् ॥८॥

उत्तम सुवर्ण के लक्षण—जो सुवर्ण तपाने में लाल, काटने में सफेद, कसौटी (कसने) में केशर के समान, चाँदी तथा तांबा से रहित, स्निग्ध, कोमल तथा तौल में भारी हो तो उसे उत्तम समझना चाहिये ॥ ८ ॥

*सद् = उत्तमम् ॥ ८ ॥

यहां पर मूल में "सत्" पद से "उत्तम" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ८ ॥

अथ निकृष्टसुवर्णलक्षणमाह

तच्छ्वेतं कठिनं रूक्षं विवर्णं समलं दलम्। दाहे छेदेऽसितं श्वेतं कषे त्याज्यं लघु स्फुटम् ॥

निकृष्ट सुवर्ण के लक्षण—जो सुवर्ण देखने में कुछ सफेद, कठिन, रूखा, खराब वर्णवाला, मैल के सहित, जोर वाला (गांठ के सदृश), तापने तथा काटने में काला, कसने में सफेद, तौल में हलका तथा घन की चोट से टूटने वाला हो उसे निकृष्ट समझ कर औषध के कार्य में त्याग कर देना चाहिये ॥ ९ ॥

*दलं = "जोर" इति लोके। स्फुटं = यद्घनाहतं स्फुटति ॥ ९ ॥

यहां पर मूल में "दल" पद का "जोर" यह लोक प्रसिद्ध अर्थ तथा "स्फुट" का 'घन की चोट से टूटने वाला' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ९ ॥

अथ सम्यङ्मारितसुवर्णगुणानाह

सुवर्णं शीतलं वृष्यं बल्यं गुरु रसायनम्। स्वादु तिक्तं च तुवरं पाके च स्वादु पिच्छिलम् ॥
पवित्रं बृंहणं नेत्र्यं मेधास्मृतिमतिप्रदम्। हृद्यमायुष्करं कान्तिवाग्विशुद्धिस्थिरत्वकृत्।
विषद्वयक्षयोन्मादत्रिदोषज्वरशोषजित् ॥ ११ ॥

अच्छे प्रकार से भस्म किया हुआ सुवर्ण—मधुर, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, विपाक में मधुर, पिच्छिल, पवित्र, बृंहण (रस-रक्तादिवर्द्धक), नेत्र के लिये हितकर, शीतल, वीर्यवर्द्धक, बलकारक, गुरु, रसायन, हृदय को हितकर, मेधा (धारणशक्ति), स्मृति, बुद्धि, आयु, कान्ति, वाणी की शुद्धि तथा स्थिरता को करने वाला एवम्-दोनों प्रकार के (स्थावर-जङ्गम) विष, क्षय, उन्माद, त्रिदोष, ज्वर तथा शोष को दूर करने वाला होता है ॥ १०-११ ॥

अथासम्यङ्मारितसुवर्णदोषानाह

बलं सवीर्यं हरते नराणां रोगव्रजान् पोषयतीह काये।
असौख्यकृच्चापि सदा सुवर्णमशुद्धमेतन्मरणञ्च कुर्यात् ॥ १२ ॥
असम्यङ्मारितं स्वर्णं बलं वीर्यञ्च नाशयेत।
करोति रोगान् मृत्युं च तद्धन्याद्यत्नतस्ततः ॥ १३ ॥

ठीक से भस्म न किये हुये सुवर्ण के दोष-अशुद्ध सुवर्ण भस्म-मनुष्यों के बल तथा वीर्य को नष्ट करता है तथा शरीर में रोगों को पुष्ट करता है, सदा दुःख पहुंचाता है और अन्त में मृत्यु भी कर देता है। अच्छी तरह से बिना शोधे भस्म किया हुआ सुवर्ण—बल तथा वीर्य को नष्ट करता है एवम् रोग तथा मृत्यु को देता है अतएव यत्नपूर्वक उसकी भस्म बनानी चाहिये ॥ १२-१३ ॥

अथ रूप्यम् । तस्योत्पत्तिमाह

त्रिपुरस्य वधार्थाय निर्निमेषैर्विलोचनैः । निरीक्षयामास शिवः क्रोधेन परिपूरितः ॥ १४ ॥
अग्निस्तत्कालमपतत्तस्यकस्माद्विलोचनात् । ततो रुद्रः समभवद् वैश्वानर इव ज्वलन् ॥१५॥
द्वितीयादपतन्नेत्रादश्रुबिन्दुस्तु वामकात् । तस्माद्रजतमुत्पन्नमुक्तकर्मसु योजयेत् ॥ १६ ॥

चांदी की उत्पत्ति—त्रिपुरासुर के वध के लिए क्रोध से युक्त होकर शिवजी निर्निमेष-दृष्टि से जब उसे देखने लगे तब उसी समय उनके एक नेत्र से अग्नि निकली उस से अग्नि के समान रुद्र भगवान् प्रज्वलित हो उठे, और दूसरे बाएँ नेत्र से आंसू की बूंदें निकलीं उन्हीं से चांदी की उत्पत्ति हुई, जिसका वैद्यक शास्त्रानुकूल कर्म में उपयोग लेना चाहिये ॥ १६ ॥

अथ कृत्रिमरूप्योत्पत्तिमाह

कृत्रिमं च भवेत्तद्धि वङ्गादिरसयोगतः ॥ १७ ॥

कृत्रिम (बनावटी) चांदी की उत्पत्ति—कृत्रिम चांदी उसे कहते हैं जोकि—वङ्ग आदि में पारा का योग करने से तैयार की जाती है ॥ १७ ॥

अथ रूप्यनामान्याह

रूप्यं तु रजतं तारं चन्द्रकान्ति सितप्रभम् ॥ १८ ॥

चांदी के संस्कृत नाम—रूप्य, रजत, तार, चन्द्रकान्ति तथा सितप्रभ ये सब हैं ॥ १८ ॥

अथोत्तमाधमयो रूप्ययोर्लक्षणान्याह

गुरु स्निग्धं मृदु श्वेतं दाहे छेदे घनक्षमम् । वर्णाढ्यं चन्द्रवत्स्वच्छं रूप्यं नवगुणं शुभम् ॥
कठिनं कृत्रिमं रूक्षं रक्तं पीतदलं लघु । दाहच्छेदघनैर्नष्टं रूप्यं दुष्टं प्रकीर्तितम् ॥ १९ ॥

उत्तम चांदी के लक्षण—जो चांदी तौल में भारी, स्निग्ध, कोमल, तपाने तथा काटने में सफेद, घन की चोट को सहने वाली अर्थात् टुकड़े २ न होने वाली, उत्तम वर्णवाली, चन्द्रमा के समान स्वच्छ कान्ति युक्त होती है अर्थात् इन नव गुणों से युक्त होती है वह उत्तम समझी जाती है ।

निकृष्ट चांदी के लक्षण—जो चांदी कठिन, कृत्रिम (बनावटी), रूक्ष, लाल, पीले दल (जोर) वाली, तौल में हल्की, तपाने, काटने तथा घन की चोट मारने पर जो अलग २ बिखर जाने वाली होती है वह खराब समझी जाती है ॥ १९ ॥

अथ सम्यङ्मारितरूप्यगुणानाह

रूप्यं शीतं कषायाम्लं स्वादुपाकरसं सरम् । वयसः स्थापनं स्निग्धं लेखनं वातपित्तजित् ।
प्रमेहादिकरोगांश्च नाशयत्यचिराद् ध्रुवम् ॥ २० ॥

अच्छी तरह से शुद्धकर भस्म किये हुये चांदी के गुण—चांदी भस्म—कषाय, अम्ल तथा मधुर रस युक्त एवम्—विपाक में भी मधुर रस युक्त, शीतल, सारक, युवावस्था को स्थिर रखने वाला, स्निग्ध, लेखन एवम्—वात—पित्त तथा प्रमेहादि रोगों को शीघ्र तथा निश्चित रूपसे दूर करने वाला है ॥ २० ॥

अथासम्यङ्मारितरूप्यदोषानाह

तारं शरीरस्य करोति तापं विध्वंसनं यच्छति शुक्रनाशम् ।
वीर्यं बलं हन्ति तनोश्च पुष्टिं महागदान्पोषयति ह्यशुद्धम् ॥ २१ ॥

विना अच्छी तरह से शोधी हुई एवम् कची चांदी के भस्म के दोष-अशुद्ध चांदी शरीर को संतप्त तथा नष्ट करने वाली, शुक्रनाशक एवम्-शरीर के वीर्य, बल तथा पुष्टि को नष्ट करने वाली और महारोगों की वृद्धि करने वाली होती है ॥ २१ ॥

अथ ताम्रम् । तस्योत्पत्तिमाह

शुक्रं यत् कार्त्तिकेयस्य पतितं धरणीतले । तस्मात्ताम्रं समुत्पन्नमिदमाहुः पुराविदः ॥ २२ ॥

तांबा की उत्पत्ति-कर्त्तिकेय भगवान् का जो शुक्र पृथ्वीतल पर गिरा उसी से तांबे की उत्पत्ति हुई ऐसा पुराणज्ञ लोग कहते हैं ॥ २२ ॥

अथ ताम्रनामान्याह

ताम्रमौदुम्बरं शुल्वमुदुम्बरमपि स्मृतम् । रविप्रियं म्लेच्छमुखं सूर्यपर्यायनामकम् ॥ २३ ॥

तांबा के संस्कृत नाम—ताम्र, औदुम्बर, शुल्व, उदुम्बर, रविप्रिय, म्लेच्छमुख तथा सूर्य के पर्याय वाची (अर्क-तपन-भास्कर-भास्कर इत्यादि सभी) शब्द ये सब हैं ॥ २३ ॥

अथोत्तमताम्रलक्षणान्याह

जपाकुसुमसङ्काशं स्निग्धं मृदु घनक्षमम् । लौहनागोज्झितं ताम्रं मारणाय प्रशस्यते ॥१४॥

उत्तम तांबा के लक्षण—भस्म करने के लिये वही तांबा उत्तम होता है जो कि—अढ़ौल के फूल के समान लाल वर्ण वाला, स्निग्ध, कोमल, घन की चोट सहने वाला, लोहा तथा सीसा से रहित होता है ॥ २४ ॥

अथाधमताम्रलक्षणान्याह

कृष्णं रूक्षमतिस्तब्धं श्वेतञ्चापि घनासहम् । लौहनागयुतञ्चेति शुल्वं दुष्टं प्रकीर्त्तितम् ॥

निकृष्ट तांबा के लक्षण—जो तांबा—काला, रूखा, अत्यन्त कठिन, सफेद, घन की चोट न सहने वाला, लोहा तथा सीसा से युक्त होता है उसे निकृष्ट अर्थात् भस्म करने के अयोग्य समझना चाहिये ॥ २५ ॥

अथ सम्यङ्मारितताम्रगुणानाह

ताम्रं कषायं मधुरं च तिक्तमम्लं च पाके कटु सारकं च ।
पित्तापहं श्लेष्महरं च शीतं तद्रोपणं स्याल्लघु लेखनञ्च ॥ २६ ॥
पाण्डूदरार्शोज्वरकुष्ठकासश्वासक्षयान् पीनसमम्लपित्तम् ।
शोथं कृमिं शूलमपाकरोति प्राहुः परे बृंहणमल्पमेतत् ॥ २७ ॥

अच्छी प्रकार से भस्म किये हुये तांबे के गुण—उत्तम ताम्रभस्म—कषाय, मधुर, तिक्त तथा अम्लरस युक्त, विपाक में कटु रस युक्त, सारक, पित्त तथा कफ नाशक, शीतल, रोपण (घाव भरने वाला), लघु, लेखन एवम्—पाण्डु तथा उदर रोग, अर्श, ज्वर, कुष्ठ, कास, श्वास, क्षय, पीनस, अम्लपित्त, शोथ, क्रिमि तथा शूलका नाश करने वाला होता है। और कोई २ इसे थोड़ा बृंहण (रस रक्तादिवर्धक) भी मानते हैं ॥ २६–२७ ॥

अथसम्यङ्मारितताम्रस्य दोषाष्टकमाह

एको दोषो विषे ताम्रेत्वसम्यङ्मारितेऽष्ट ते । दाहः स्वेदोऽरुचिर्मूर्च्छाक्लेदो रेको वमिर्भ्रमः ॥

अच्छे प्रकार से भस्म न किये हुये तांबे के आठ दोष—विष में तो केवल एक ही दोष है किन्तु

अच्छे प्रकार से भस्म न किये हुए तांबे में १ दाह, २ स्वेद (पसीना), ३ अरुचि, ४ मूर्च्छा ५ क्लेद (शरीर की आर्द्रता), ६ विरेचन, ७ वमन तथा ८ भ्रम का होना ये ८ दोष होते हैं अर्थात् उसके सेवन से उक्त दोष उत्पन्न होते हैं ॥ २८ ॥

ॐ रेकः = विरेकः ॥ २८ ॥

यहां पर मूल में "रेक" पदसे विरेक अर्थात् विरेचन अर्थ समझना चाहिये ॥ २८ ॥

अथ रङ्गम् (रांगा) । तस्य नामानि भेदांश्चाह

रङ्गं वङ्गं त्रपु प्रोक्तं तथा पिच्चटमित्यपि । खुरकं मिश्रकं चापि द्विविधं वङ्ग मुच्यते ॥ २९ ॥
उत्तमं खुरकं तत्र मिश्रकं त्ववरं मतम् ॥ ३० ॥

रांगा के संस्कृत नाम — रङ्ग, वङ्ग, त्रपु तथा पिच्चट ये सब हैं । रांगा के भेद-क्षुरक तथा मिश्रक ये दो भेद रांगा के होते हैं । इसमें "क्षुरक" उत्तम होता है एवम् "मिश्रक" निकृष्ट होता है ऐसा विद्वानों का मत है ॥ २९-३० ॥

अथ सम्यङ्मारितरङ्गगुणानाह

रङ्गं लघु सरं रूक्षमुष्णं मेहकफक्रिमीन् । निहन्ति पाण्डुं सश्वासं चक्षुष्यं पित्तलं मनाक् ॥
सिंहो यथा हस्तिगणं निहन्ति तथैव वङ्गोऽखिलमेहवर्गम् ।
देहस्य सौख्यं प्रबलेन्द्रियत्वं नरस्य पुष्टिं विदधाति नूनम् ॥ ३२ ॥

अच्छे प्रकार से भस्म किये हुये रांगे के गुण—रांगा का उत्तम भस्म—लघु, सारक, रूक्ष, उष्ण, नेत्रों के लिये हितकर, किञ्चित् पित्तजनक एवम्-प्रमेह, कफ, क्रिमि, पाण्डु और श्वास रोग को दूर करता है । और जिस प्रकार सिंह हाथियों के झुण्ड को नष्ट कर डालता है उसी प्रकार वंग (रांगा) भी सभी प्रकार के प्रमेहों को नष्ट कर डालता है । और देह सम्बन्धी सुख, इन्द्रियों की प्रबलता और पुष्टि ये सब सेवन करने वाले लोगों को निश्चित रूप से करता है ॥ ३१-३२ ॥

अथ यशदम् (जस्ता) । तस्य नामगुणानाह

यशदं रङ्गसदृशं रीतिहेतुश्च तन्मतम् । यशदं तुवरं तिक्तं शीतलं कफपित्तहृत् ।
चक्षुष्यं परमं मेहान् पाण्डुं श्वासं च नाशयेत् ॥ ३३ ॥

जस्ता के संस्कृत नाम — यशज, रङ्गसदृश और रीतिहेतु ये सब हैं ।

जस्ता-कषाय तथा तिक्तरसयुक्त, शीतल, नेत्रों के लिये परम हितकर-एवम्-कफ-पित्त-समस्त प्रमेह-पाण्डु और श्वास को दूर करता है ॥ ३३ ॥

अथ सीसम् । तस्योत्पत्तिं नामानि चाह

दृष्ट्वा भोगिसुतां रम्यां वासुकिस्तु मुमोच यत् । वीर्यं जातस्ततो नागः सर्वरोगापहा नृणाम् ।
सीसं ब्रध्नं च वप्रं च योगेष्टं नागनामकम् ॥ ३५ ॥

सीसा की उत्पत्ति—एक समय वासुकिनामक सर्पराज का किसी सुन्दरी नागकन्या को देखकर कामपीड़ित होने से जो शुक्र स्खलित हुआ उसी से मनुष्यों के सम्पूर्ण रोगों को नष्ट करने वाले सीसे की उत्पत्ति हुई इसी से इसे "नाग" कहते हैं ॥

सीसा के संस्कृत नाम — सीस, ब्रध्न, वप्र, योगेष्ट और नागनामक (नाग के पर्यायवाची) शब्द, ये सब हैं ॥ ३४-३५ ॥

*नागनामकम्=नागो भुजङ्ग इत्यादि ॥ ३५ ॥

यहां पर मूल में "नागनामक" पद से नाग के पर्यायवाची-नाग-भुजङ्ग-सर्प-उरग-द्विजिह्व इत्यादि सभी शब्द समझना चाहिये ॥ ३४-३५ ॥

अथ सीसस्य गुणानाह

सीसं रङ्गगुणं ज्ञेयं विशेषान्मेहनाशनम् ॥ ३६ ॥
नागस्तु नागशततुल्यबलं ददाति व्याधिं विनाशयति जीवनमातनोति ।
वह्निं प्रदीपयति कामबलं करोति मृत्युं च नाशयति सन्ततसेवितः सः ॥ ३७ ॥

सीसा—सीसा गुणों में रांगा के समान ही है किन्तु विशेषतः यह प्रमेह नाशक होता है। और यदि निरन्तर सेवन किया जाय तो नाग (सीसा) सौ नाग (हाथी) के समान बल देता है, व्याधि नाश करता है, जीवन की वृद्धि करता है, जठराग्नि को प्रदीप्त करता है, कामदेव सम्बन्धी बल को बढ़ाता है तथा मृत्यु को भी नष्ट करता है अर्थात् अनियत विपाक वाले मृत्यु से रक्षा करता है ॥ ३६-३७ ॥

अथाशुद्धवङ्गनागयोर्दोषानाह

पाकेन हीनौ किल वङ्गनागौ कुष्ठानि गुल्मांश्च तथाऽतिकष्टान् ।
कण्डूप्रमेहानिलसादशोथभगन्दरादीन् कुरुतः प्रयुक्तौ ॥ ३८ ॥

अशुद्ध वंग (रांगा) तथा सीसा के दोष—भलीभांति से यदि भस्म न किये गये हों तो प्रयोग करने से रांगा तथा सीसा ये दोनों कुष्ठ-गुल्म, अत्यन्त कष्ट, खुजली, प्रमेह, वायुरोग, शरीर का अवसन्न होना, शोथ, भगन्दर, आदि रोगों को उत्पन्न करते हैं ॥ ३८ ॥

अथ लोहम् । तस्योत्पत्तिं नामानि चाह

पुरा लोमिनदैत्यानां निहतानां सुरैर्युधि । उत्पन्नानि शरीरेभ्यो लोहानि विविधानि च ॥
लोहोऽस्त्री शस्त्रकं तीक्ष्णं पिण्डं कालायसायसी ॥ ३९ ॥

लोहा की उत्पत्ति—पहले समय में एक बार युद्ध में देवताओं द्वारा मारे हुये लोमिन नामक दैत्यों के शरीर से अनेक प्रकार के लोहा उत्पन्न हुये ।

लोहा के संस्कृत नाम—लोह (यह स्त्रीलिङ्ग को छोड़ कर अन्य सभी लिङ्गों में होता है), शस्त्रक, तीक्ष्ण, पिण्ड, कालायस तथा अयस् ये सब हैं ॥ ३९ ॥

अथ लोहस्य सप्तदोषानाह

गुरुता दृढतोत्क्लेदः कश्मलं दाहकारिता । अश्मदोषः सुदुर्गन्धो दोषाः सप्तायसस्य तु ॥४०॥

लोहा के सात ७ दोष—गुरुता, दृढता, उत्क्लेद (वमन होने के समान मालूम होना), कश्मल (मूर्छा), दाह उत्पन्न करना, खान में रहने से पत्थर सम्बन्धी दोष, अत्यन्त दुर्गन्ध ये सब हैं ॥ ४० ॥

अथ लोहगुणानाह

लोहं तिक्तं सरं शीतं मधुरं तुवरं गुरु । रूक्षं वयस्यं चक्षुष्यं लेखनं वातलं जयेत् ॥ ४१ ॥
कफं पित्तं गरं शूलं शोथार्शः प्लीहपाण्डुताः । मेदोमेहक्रिमीन् कुष्ठं तत्किट्टं तद्वदेव हि ॥४२॥

लोहा के गुण—लोहा-तिक्त-मधुर तथा कषायरस युक्त, सारक, शीतल, गुरु, रूक्ष, आयु को स्थिर रखने वाला, नेत्रों के लिये हितकर, लेखन गुण विशिष्ट, वातजनक एवम्-कफ-पित्त-विष-शूल-शोथ, अर्श, प्लीहा, पाण्डु, मेद, प्रमेह, क्रिमि तथा कुष्ठ को दूर करनेवाला होता है। लोहा के किट्ट (मैल) के गुण—लोहकिट्ट के भी गुण लोहे के समान ही होते हैं ॥ ४२ ॥

अथाशुद्धलोहदोषानाह

षण्ढत्वकुष्ठामयमृत्युदं भवेद्हृद्रोगशूलौ कुरुतेऽश्मरीञ्च।
नानारुजानाञ्च तथा प्रकोपं करोति हृल्लासमशुद्धलोहम् ॥ ४३ ॥
जीवहारि मदकारि चायसं चेदशुद्धिमदसंस्कृतं ध्रुवम्।
पाटवं न तनुते शरीरके दारुणां हृदि रुजाञ्च यच्छति ॥ ४४ ॥

अशुद्ध लोहा के दोष—नपुंसकता, कुष्ठरोग, मृत्यु, हृद्रोग, शूल, पथरी, अनेक प्रकार के रोगों का प्रकोप, हृल्लास (उबकाई) ये सब बिना शुद्ध किये हुये लोहे के भस्म के सेवन से होते हैं। और यदि लोहे का शोधन तथा संस्कार न किया गया हो तो उसका भस्म जीवन को नष्ट करने वाला, मदकारक, शरीर में फुर्तीपन का अभाव तथा हृदय में असह्य पीड़ा का करने वाला होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ४३-४४ ॥

अथ लोहसेविनां त्याज्यपदार्थानाह

कूष्माण्डं तिलतैलञ्च माषान्नं राजिकां तथा। मद्यमम्लरसं चापि त्यजेल्लोहस्य सेवकः ॥४५॥

लोहा सेवन करने वाले लोगों के लिये त्याग करने योग्य पदार्थ—सफेद कोंहड़ा, तिल का तैल, उरद के बने हुये पदार्थ, राई, मद्य, अम्लरस युक्त पदार्थ (खटाई आदि), इन सब को लोह सेवन करने वाला व्यक्ति छोड देवे ॥ ४५ ॥

अथ सारलोहस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

क्ष्माभृच्छिखराकाराण्यङ्गान्यम्लेन लेपिते। लौहे स्युर्यत्र सूक्ष्माणि तत्सारमभिधीयते ॥
लौहं साराह्वयं हन्याद् ग्रहणीमतिसारकम् ॥ ४६ ॥
अर्द्धं सर्वाङ्गजं वातं शूलं च परिणामजम्। छर्दिं च पीनसं पित्तं श्वासं कासं व्यपोहति ॥४७॥

सारलोह के लक्षण—जिस लोहे के ऊपर अम्ल (खट्टे पदार्थ) रस का लेपन करने से पर्वत के शिखर की भाँति आकारवाले सूक्ष्म २ अङ्ग उत्पन्न हो जायं उसे सारलोह समझना चाहिये।

सारलोह-ग्रहणी, अतिसार, अर्धाङ्ग तथा सर्वाङ्गवात, परिणामशूल, वमन, पीनस, पित्त, श्वास तथा कास को दूर करने वाला होता है ॥ ४६-४७ ॥

अथ कान्तलौहस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

यत्पात्रे न प्रसरति जले तैलविन्दुः प्रतप्ते-हिङ्गुर्गन्धं त्यजति च निजं तिक्ततां निम्बवल्कः।
तप्तं दुग्धं भवति शिखराकारकं नैति भूमिं-कृष्णाङ्गः स्यात् सजलचणकः कान्तलोहं तदुक्तम् ॥
गुल्मोदरार्शःशूलाममामवातं भगन्दरम्। कामलाशोथकुष्ठानि क्षयं कान्तमयो हरेत् ॥४९॥
प्लीहानमम्लपित्तञ्च यकृच्चापि शिरोरुजम् ॥ ५० ॥
सर्वान् रोगान् विजयते कान्तलोहं न संशयः। बलं वीर्यं वपुःपुष्टिं कुरुतेऽग्निं विवर्द्धयेत् ॥५१॥

कान्तलोह के लक्षण—जिस लोहे के पात्र में जल रखकर उसमें तेल का बूंद डालने से यदि वह न फैले, तथा जिसके तपाये पात्र में गरम करने से हींग अपने गन्ध को छोड़ दे, और नीम की छाल गरम करने से अपनी कड़वाहट को छोड़ दे, एवम् जिसमें दूध खौलाने से जोरों से उबाल आने पर भी वह भूमिपर न गिरे और जिसमे चने भिगोने से काले हो जायं उसे कान्तलोह समझना चाहिये।

कान्तलौह—गुल्म, उदररोग, अर्श, शूल, आम, आमवात, भगन्दर, कामला, शोथ, कुष्ठ, क्षय, प्लीहा, अम्लपित्त, यकृत् तथा शिर के रोग इत्यादि सभी रोगों को निःसन्देह दूर करता है। और शरीर में बल, वीर्य की वृद्धि तथा पुष्टि करता है एवम् अग्निवर्द्धक होता है॥ ४८–५१॥

अथ किट्टी। तस्या नामगुणानाह

ध्मायमानस्य लोहस्य मलं मण्डूरमुच्यते।
लोहसिंहानिका किट्टी सिंहानञ्च निगद्यते। यल्लोहं यद्गुणं प्रोक्तं तत्किट्टमपि तद्गुणम्॥५२॥

किट्टी के लक्षण—लोह को अग्नि में धौंकाने से जो मल निकलता है उसे मण्डूर (किट्टी) कहते हैं। संस्कृत नाम–लोहसिंहानिका, किट्टी, सिंहान तथा मण्डूर ये सब हैं।

किट्टी–जिस लोहे के जो गुण हैं उसके मैल (किट्टी) के भी वे ही गुण होते हैं।

अथोपधातवः। तेषां संख्यामाह

सप्तोपधातवः स्वर्णमाक्षिकं तारमाक्षिकं। तुत्थं कांस्यं च रीतिश्च सिन्दूरञ्च शिलाजतुः॥५३॥

उपधातुओं की संख्या—१ सोनामाखी, २ रूपामाखी, ३ तूतिया, ४ कांसा, ५ पीतल, ६ सिन्दूर, ७ शिलाजीत ये सात उपधातु हैं॥ ५३॥

* उपधातवः–गौणा धातवः॥ ५३॥

यहां पर "उपधातु" से "गौणधातु" यह अर्थ समझना चाहिये॥ ५३॥

अथोपधातुष्वपि तत्तत्प्रधानधातुगुणाः स्वल्पमात्रया सन्तीत्याह

उपधातुषु सर्वेषु तत्तद्धातुगुणा अपि। सन्ति किन्त्वेषु ते गौणास्तत्तदंशाल्पभावतः॥५४॥

उपर्युक्त सभी उपधातुओं में जिनके जो प्रधान धातु हैं उनके भी गुण उनमें रहते हैं किन्तु प्रधान के गुण गौणभाव से (थोड़ी मात्रा में ही) रहते हैं क्योंकि—धातु का अंश उपधातु में बहुत थोड़ा रहता है॥ ५४॥

तत्र सुवर्णमाक्षिकम् (सोनामाखी)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

स्वर्णमाक्षिकमाख्यातं तापीजं मधुमाक्षिकम्॥ ५५॥
ताप्यं माक्षिकधातुश्च मधुधातुश्च स स्मृतः। किञ्चित्सुवर्णं साहित्यात्स्वर्णमाक्षिकमीरितम्॥
उपधातुः सुवर्णस्य किञ्चित्स्वर्णगुणान्वितम्। तथा च काञ्चनाभावे दीयते स्वर्णमाक्षिकम्॥
किन्तु तस्यानुकल्पत्वात्किञ्चिदूनगुणास्ततः। न केवलं स्वर्णगुणा वर्त्तन्ते स्वर्णमाक्षिके॥५८॥
द्रव्यान्तरस्य संसर्गात्सन्त्यन्येऽपि गुणा यतः। सुवर्णमाक्षिकं स्वादु तिक्तं वृष्यं रसायनम्॥
चक्षुष्यं वस्तिरुक्कुष्ठपाण्डुमेहविषोदरान्। अर्शः शोथं विषं कण्डूं त्रिदोषमपि नाशयेत्॥६०॥

सोनामाखी के संस्कृत नाम—स्वर्णमाक्षिक, तापीज, मधुमाक्षिक, ताप्य, माक्षिकधातु और मधुधातु ये सब हैं।

सोनामाखी—थोड़े सोने की भी मिलावट होने से किंचित् सोने के गुणों से युक्त 'सोनामाखी' को सोने का उपधातु कहते हैं। तथा सोने के अभाव में इसे देते भी हैं किन्तु सोने का अनुकल्प होने से इसमें सोने की अपेक्षा कम गुण रहता है और इसमें केवल सोने के ही गुण नहीं रहते हैं किन्तु दूसरे भी द्रव्यों का संयोग होने से अन्यों के भी गुण रहते हैं। सोनामाखी मधुर तथा तिक्त रसयुक्त, वृष्य (वीर्यवर्धक), रसायन, नेत्रों के लिए हितकर एवम्-वस्ति (मूत्राशय) सम्बन्धी रोग, कुष्ठ, पाण्डु, प्रमेह, विष, उदररोग, अर्श, शोथ, खुजली तथा त्रिदोषनाशक है॥

अथाशुद्धसुवर्णमाक्षिकदोषानाह

मन्दानलत्वं बलहानिमुग्रां विष्टम्भितां नेत्रगदान्सकुष्ठान्।
तथैव मालां व्रणपूर्विकां च करोति तापीजमशुद्धमेतत्॥ ६१॥

अशुद्ध सोनामाखी के दोष—यदि यह सोनामाखी शोधी हुई न हो तो अग्नि की मन्दता, बल की हानि, अत्यन्त विष्टम्भ, नेत्ररोग, कुष्ठ तथा व्रणमाला (कण्ठमाला) आदि रोगों को उत्पन्न करने वाली होती है॥ ६१॥

अथ तारमाक्षिकम् (रूपामाखी) तस्य नामानि गुणाँश्चाह

तारमाक्षिकमन्यत्तु तद्भवेद् रजतोपमम्। किञ्चिद्रजतसाहित्यात्तारमाक्षिकमीरितम्॥६२॥
अनुकल्पतया तस्य ततो हीनगुणाः स्मृताः। न केवलं रूप्यगुणा यतः स्यात्तारमाक्षिकम्॥
स्वादु पाके रसे किञ्चित्तिक्तं वृष्यं रसायनम्। चक्षुष्यं बस्तिरुक्कुष्ठपाण्डुमेहविषोदरान्।
अर्शः शोथं क्षयं कण्डूं त्रिदोषमपि नाशयेत्॥ ६४॥

रूपामाखी के संस्कृत नाम—तारमाक्षिक, रौप्यमाक्षिक आदि हैं।

रूपामाखी—दूसरा जो रूपामाखी है वह गुण में चाँदी के तुल्य ही होता है और कुछ चाँदी का संयोग होने से इसे 'रूपामाखी' कहते हैं। चाँदी का अनुकल्प होने से उसकी अपेक्षा इसके गुन स्वल्प होते हैं। और इसमें केवल चांदी ही के गुण नहीं रहते हैं बल्कि दूसरे द्रव्यों का भी योग होने से औरों के भी गुण आ जाते हैं। रूपामाखी-विपाक में मधुर रसयुक्त तथा मधुर एवं किञ्चित तिक्तरसयुक्त, वीर्यवर्धक, रसायन, नेत्रों के लिये हितकर एवम् बस्ति (मूत्राशय) सम्बन्धी रोग, कुष्ठ, पाण्डु, प्रमेह, विष, उदररोग, अर्श, शोथ, क्षय, खुजली तथा त्रिदोष को दूर करता है॥

अथाशुद्धतारमाक्षिकदोषानाह

मन्दानलत्वं बलहानिमुग्रां विष्टम्भितां नेत्रगदान्सकुष्ठान्।
तथैव मालां व्रणपूर्विकाञ्च करोति तापीजमिदञ्च तद्वत्॥ ६५॥

अशुद्ध रूपामाखी के दोष—यह भी सोनामाखी की भांति यदि शोधी हुई न हो तो अग्नि की मन्दता, बल की हानि, अत्यन्त विष्टम्भ, नेत्ररोग, कुष्ठ तथा व्रणमाला (गण्डमाला आदि) रोगों को उत्पन्न करती है॥ ६५॥

अथ तुत्थम् (तूतिया) खर्परञ्च (खपरिया)
तुत्थनामगुणान् खर्परगुणाँश्चाह

तुत्थं वितुन्नकं चापि शिखीग्रीवं मयूरकम्। तुत्थं ताम्रोपधातुर्हि किञ्चित्ताम्रेण तद्भवेत्॥६६॥
किञ्चित्ताम्रगुणं तस्माद्वक्ष्यमाणगुणं च तत्। तुत्थकं कटुकं क्षारं कषायं वामकं लघु॥६७॥

लेखनं भेदनं शीतं चक्षुष्यं कफपित्तहृत्। विषाश्मकुष्ठकण्डूघ्नं खर्परं चापि तद्गुणम् ॥६८॥

तूतिया के संस्कृत नाम—तुत्थ, वितुन्नक, शिखिग्रीव तथा मयूरक ये सब हैं।

तूतिया—यह ताँबे का उपधातु है, इससे कुछ ताँबा का भी अंश इसमें रहता है अतः कुछ ताँबे के गुण और अन्य द्रव्यों के संयोग से आगे कहे हुए गुण इसमें होते हैं। तूतिया–कटु तथा कषायरस युक्त, क्षार, वमन कराने वाला, लघु, लेखन, मलभेदक, शीतल, नेत्रों के लिए हितकर, एवं कफ-पित्त-विष-पथरी-कुष्ठ तथा खुजली को दूर करने वाला होता है। खपरिया—खपरिया भी तूतिया के समान गुण वाली होती है ॥ ६६–६८ ॥

अथ कांस्यम् (काँसा)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

ताम्रत्रपुजमाख्यातं कांस्यं घोषं च कंसकम्। उपधातुर्भवेत्कांस्यं द्वयोस्तरणिरङ्गयोः ॥६९॥
कांस्यस्य तु गुणा ज्ञेयाः स्वयोनिसदृशाजनैः। संयोगजप्रभावेण तस्यान्येऽपि गुणाः स्मृता ॥
कांस्यं कषायं तिक्तोष्णं लेखनं विशदं सरम्। गुरु नेत्रहितं रूक्षं कफपित्तहरं परम् ॥ ७१ ॥

कांसा के संस्कृत नाम—ताम्रत्रपुज, कांस्य, घोष तथा कंसक ये सब हैं।

काँसा—तांबा तथा रांगा इन दोनों का उपधातु कांसा होता है। अतः अपनी उत्पत्ति का मूल-कारण तांबा तथा रांगा के होनें से लोग कांसा को उपर्युक्त धातुओं (तांबा तथा रांगा) के सदृश गुणवाला बतलाते हैं, अर्थात् जो तांबा तथा रांगा के गुण हैं वे ही कांसा के भी होते हैं परन्तु स्वल्पमात्रा में, अन्य द्रव्यों का भी संयोग होने से अन्यों के भी गुण होते हैं। कांसा–कषाय तथा तिक्त रसयुक्त, उष्ण, लेखन, विशद गुणयुक्त, सारक, गुरु, नेत्रों के लिए हितकर, रूक्ष तथा कफ और पित्त का नाशक होता है ॥ ६९–७१ ॥

अथारकूटम् (पीतल–कच्चापीतल)। तस्यनामगुणानाह

पित्तलं त्वारकूटं स्यादारो रीतिश्च कथ्यते। राजरीतिर्ब्रह्मरीतिः कपिला पिङ्गलापि च ॥७२॥
रीतिरप्युपधातुः स्यात्ताम्रस्य यशदस्य च। पित्तलस्य गुणा ज्ञेयाः स्वयोनिसदृशा जनैः॥७३॥
संयोगजप्रभावेण तस्याप्यन्ये गुणाः स्मृताः ॥ ७५ ॥
रीतिकायुगलं रूक्षं तिक्तञ्च लवणं रसे। शोधनं पाण्डुरोगघ्नं कृमिघ्नं नातिलेखनम् ॥ ७५ ॥

पीतल के संस्कृत नाम—पित्तल, आरकूट, आर एवं रीति हैं। इसके दूसरे भेद के नाम—राजरीति, ब्रह्मरीति, कपिला तथा पिङ्गला ये सब हैं।

पीतल—तांबा तथा जस्ता का उपधातु है, इससे अपने मूलकारण (तांबा तथा जस्ता) के सदृश ही इसके भी गुण लोगों ने बतलाये हैं। और अन्य द्रव्यों के संयोग से इसमें अन्यों के भी गुण रहते हैं। दोनों प्रकार के पीतल–तिक्त तथा लवण रसयुक्त, रूक्ष, शोधक, अत्यन्त लेखन नहीं अर्थात् किञ्चित् लेखन एवम्-पाण्डु और कृमिरोग के नाशक हैं ॥ ७२-७५ ॥

सिन्दूरम्। तस्य नामगुणानाह

सिन्दूरं रक्तरेणुश्च नागगर्भश्च सीसजम्। सीसोपधातुः सिन्दूरं गुणैस्तत्सीसवन्मतम् ॥७६॥
संयोगजप्रभावेण तस्यान्येऽपि गुणाः स्मृताः। सिन्दूरमुष्णं वीसर्पकुष्ठकण्डूविषापहम्।
भग्नसन्धानजननं व्रणशोधनरोपणम् ॥ ७७ ॥

सिन्दूर के संस्कृत नाम—सिन्दूर, रक्तरेणु, नागगर्भ तथा सीसज ये सब हैं। सिन्दूर–सीसा का उपधातु सिन्दूर है, अतः सीसा के समान इसके भी गुण हैं, अन्य द्रव्यों के संयोग-प्रभाव से इसके

अन्य भी गुण होते हैं। सिन्दूर-उष्ण एवम् वीसर्प, कुष्ठ, खुजली तथा विष का नाशक है तथा टूटी अस्थियों को जोड़ने वाला, व्रण का शोधन और रोपण (पूरा) करने वाला होता है ॥७६-७७॥

अथ शिलाजतु (शिलाजीत) तस्योत्पत्तिं भेदान् नामानि गुणांश्चाह

निदाघे घर्मसन्तप्ता धातुसारं धराधराः। निर्यासवत्प्रमुञ्चन्ति तच्छिलाजतु कीर्त्तितम् ॥७८॥
सौवर्णं राजतं ताम्रमायसं तच्चतुर्विधम्। शिलाजत्वद्रिजतु च शैलनिर्यास इत्यपि ॥७९॥
गैरेयमश्मजं चापि गिरिजं शैलधातुजम्। शिलाजं कटु तिक्तोष्णं कटुपाकं रसायनम् ॥८०॥
छेदि योगवहं हन्ति कफमे[1]हाश्मशर्कराः। मूत्रकृच्छ्रं क्षयं श्वासं वातार्शांसि च पाण्डुताम् ॥
अपस्मारं तथोन्मादं शोथकुष्ठोदरक्रिमीन् ॥ ८२ ॥

शिलाजीत की उत्पत्ति—ग्रीष्म ऋतु में धूप से तप्त होकर पर्वत धातुओं के सार भाग को गोंद की भांति छोड़ते हैं अर्थात् पर्वतों पर गर्मी में जो धातुओं का सार पिघल कर पत्थरों से निकलता है—उसे "शिलाजीत" कहते हैं। भेद-१ सौवर्ण (सोने का), २ राजत (चांदी का), ३ ताम्र (तांबे का), ४ आयस (लोहेका) इस भांति शिलाजीत के ४ भेद हैं।

संस्कृत नाम—शिलाजतु, अद्रिजतु, शैलनिर्यास, गैरेय, अश्मज, गिरिज तथा शैलधातुज ये सब हैं।

शिलाजीत—कटु तथा तिक्त रस युक्त, पाक में कटु, रसायन, मलों का छेदन करने वाला, योगवाही एवम्-कफ, प्रमेह, पथरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र, क्षय, श्वास, वादी बवासीर, पाण्डुरोग, अपस्मार, उन्माद, शोथ, कुष्ठ तथा उदर के क्रिमि इन सबों को नष्ट करने वाला होता है ॥७८-८२॥

अथ गुणलक्षणसहिताँस्तद्भेदानाह

सौवर्णं तु जपापुष्पवर्णं भवति तद्रसात्। मधुरं कटु तिक्तं च शीतलं कटुपाकि च ॥ ८३ ॥
राजतं पाण्डुरं शीतं कटुकं स्वादुपाकि च। ताम्रं मयूरकण्ठाभं तीक्ष्णमुष्णं च जायते ॥८४॥
लौहं जटायुपक्षाभं सतिक्तं लवणं भवेत्। विपाके कटुकं शीतं सर्वश्रेष्ठमुदाहृतम् ॥८५॥

सौवर्णं (सोने का) शिलाजीत के लक्षण— यह जपा (अढ़ौल) के पुष्प के समान लाल वर्ण का होता है। सौवर्णशिलाजीत-यह मधुर, कटु तथा तिक्त रस युक्त, विपाक में कटु रस युक्त तथा शीतल होता है।

राजत (चांदी का) शिलाजीत के लक्षण— यह पाण्डुर वर्ण का होता है। राजत शिलाजीत-यह कटु रस युक्त, विपाक में मधुर रस युक्त तथा शीतल होता है।

ताम्र (तांबे का) शिलाजीत के लक्षण— यह मयूर के कण्ठ के समान वर्ण वाला होता है। ताम्रशिलाजीत-यह तीक्ष्ण तथा उष्ण होता है।

लौह (लोहे का) शिलाजीत के लक्षण—यह जटायु (गिद्ध) के पक्ष के सदृश वर्ण वाला होता है। लौह शिलाजीत-यह तिक्त तथा लवण रसयुक्त, विपाक में कटु रस युक्त तथा शीतल होता है और यही सर्वश्रेष्ठ होता है ॥ ८३-८५ ॥

अथ रसः। तत्र रसशब्दस्य निरुक्तिमाह

रसायनार्थिभिर्लोकैः पारदो रस्यते यतः। ततो रस इति प्रोक्तः स च धातुरपि स्मृतः ॥

रस शब्द की निरुक्ति—रसायन को चाहने वाले लोग इस पारे का सेवन (भक्षण) करते हैं

---

१. मेदोश्मशर्कराः इति पाठा०।

इससे यह 'रस' कहलाता है। और शरीर का पोषण करने से 'धातु' भी कहलाता है अर्थात् रस तथा धातु पद से पारे का बोध किया जाता है ॥ ८६ ॥

अथ पारदः। तस्योत्पत्तिं भेदानाह

शिवाङ्गात्प्रच्युतं रेतः पतितं धरणीतले। तद्देहसारजातत्वाच्छुक्लमच्छमभूच्च तत् ॥८७॥
क्षेत्रभेदेन विज्ञेयं शिववीर्यं चतुर्विधम्। श्वेतं रक्तं तथा पीतं कृष्णं तत् तु भवेत्क्रमात् ॥
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्च खलु जातितः ॥ ८८ ॥
श्वेतं शस्तं रुजां नाशे रक्तं किल रसायने। धातुवादे तु तत्पीतं खे गतौ कृष्णमेव च ॥८९॥

पारे की उत्पत्ति—श्री शिवजी के अङ्ग से स्खलित होकर जो वीर्य पृथ्वी पर गिरा वही 'पारा' हुआ। और देह के सारभाग (वीर्य) से उत्पन्न होने से वह सफेद तथा स्वच्छ हुआ। भेद-क्षेत्र-भेद से शिववीर्य (पारा) चार प्रकार का होता है। जैसे—सफेद, लाल, पीला तथा काला और ये क्रम से ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र ४ जाति के कहलाते हैं अर्थात् ब्राह्मण जाति का पारा सफेद वर्ण का, क्षत्रिय जाति का—लाल वर्ण का, वैश्य जाति का—पीले वर्ण का, और शूद्र जाति का—काले वर्ण का होता है। उपर्युक्त भेदों का उपयोग-सफेद वर्ण का पारा-रोगों के नाश करने में उत्तम होता है। लाल वर्ण का पारा-रसायन के कार्य में, पीले वर्ण का पारा-धातुवाद अर्थात् सोना चांदी आदि बनाने के कार्य में और काले वर्ण का पारा आकाश गमन के कार्य में उत्तम होता है ॥ ८७-८९ ॥

अथ पारदस्य नामगुणानाह

पारदो रसधातुश्च रसेन्द्रश्च महारसः ॥ ९० ॥
चपलः शिववीर्यश्च रसः सूतः शिवाह्वयः। पारदः षड्रसः स्निग्धस्त्रिदोषघ्नो रसायनः ॥ ९१ ॥
योगवाही महावृष्यः सदा दृष्टिबलप्रदः। सर्वामयहरः प्रोक्तो विशेषात्सर्वकुष्ठनुत् ॥ ९२ ॥

पारा के संस्कृत नाम—पारद, रसधातु, रसेन्द्र, महारस, चपल, शिववीर्य, रस, सूत, शिवजी के नामवाचक सभी शब्द (जैसे—शिव, रुद्र, हर, धूर्जटि इत्यादि) ये सब हैं।

पारद—पारा मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय तथा तिक्त इन छ रसों से युक्त, स्निग्ध, त्रिदोष नाशक, रसायन, योगवाही, अत्यन्त वीर्यवर्धक, सदा नेत्रों की शक्ति तथा बल को देने वाला, सम्पूर्ण रोगों को दूर करने वाला तथा विशेष रूप से कुष्ठ का नाशक होता है ॥ ९०-९२ ॥

अथ पारदस्यावस्थाभेदेन नामानि सर्वश्रेष्ठतां चाह

स्वस्थो रसो भवेद् ब्रह्मा बद्धो ज्ञेयो जनार्दनः। रञ्जितः [1]कामितश्चापि साक्षाद्देवो महेश्वरः ॥
मूर्च्छितो हरति रुजं बन्धनमनुभूय खे गतिं कुरुते।
अजरीकरोति हि मृतः कोऽन्यः करुणाऽऽकरः सूतात् ॥ ९४ ॥
असाध्यो यो भवेद्रोगो यस्य नास्ति चिकित्सितम् ॥
रसेन्द्रो हन्ति तं रोगं नरकुञ्जरवाजिनाम् ॥ ९५ ॥

पारे का अवस्था भेद से नाम—स्वस्थ पारा-ब्रह्मा, बद्ध (बंधा हुआ) पारा-जनार्दन (विष्णु), रञ्जित तथा कामित पारा-साक्षात् महेश्वर संज्ञक होता है।

---

१. क्रामित इति पाठा०।

पारे की सर्वश्रेष्ठता–पारा–मूर्च्छित होकर रोगों को दूर करता है और बन्धन का अनुभव करके अर्थात् बद्धपारा–आकाश में चलने की शक्ति देता है और मरा हुआ होकर अर्थात् मृतपारा–मनुष्यों को अजर (वृद्धावस्थाशून्य) करता है, अतः पारे से बढ़ कर कोई दूसरा कृपासागर नहीं हो सकता है। मनुष्य, हाथी तथा घोड़ों के जो रोग असाध्य हो गये हों अथवा जिन रोगों की चिकित्सा नहीं हो सकती है ऐसे रोगों को केवल पारा ही दूर कर देता है ॥ ९३–९५ ॥

अथ फलनिर्देशपूर्वकं पारदस्थितदोषानाह

मलं विषं वह्निगिरित्वचापलं नैसर्गिकं दोषमुशन्ति पारदे।
उपाधिजौ द्वौ त्रपुनागयोगजौ दोषौ रसेन्द्रे कथितौ मुनीश्वरैः ॥ ९६ ॥
मलेन मूर्च्छा मरणं विषेण दाहोऽग्निना कष्टतरः शरीरे।
देहस्य जाड्यं गिरिणा सदा स्युश्चाञ्चल्यतो वीर्यहृतिश्च पुंसाम्।
वङ्गेन कुष्ठं भुजगेन षण्ढो भवेदतोऽसौ परिशोधनीयः ॥ ९७ ॥
वह्निर्विषं मलं चेति मुख्या दोषास्त्रयो रसे। एते कुर्वन्ति सन्तापं मृतिं मूर्च्छां नृणांक्रमात्॥९८॥
अन्येऽपि कथिता दोषा भिषग्भिः पारदे यदि। तथाऽप्येते त्रयो दोषा हरणीया विशेषतः॥९९॥

पारे के स्वाभाविक दोष—मल, विष, अग्नि, गिरिदोष, चपलता ये सब हैं और आगन्तुक दोष–रांगा और सीसा के योग से होने वाले अन्य दो हैं। इस भांति से पारे के सब ७ दोष मुनीश्वरों ने कहे हैं।

उक्त दोषों के फल–मल से मूर्च्छा, विष से मरण, अग्नि से शरीर में अत्यन्त कष्टकर दाह, गिरि से सदा शरीर की जड़ता, चपलता से पुरुषों का वीर्यनाश, वङ्ग (रांगा) से कुष्ठ, भुजग अर्थात् नाग से नपुंसकता ये सब क्रम से होते हैं। अतः पारे का शोधन उक्त दोष की निवृत्ति के लिये परमावश्यक है। मुख्यरूप से तो पारा में–१ अग्नि–२ विष तथा ३ मल ये ही तीन दोष होते हैं। ये तीनों क्रम से मनुष्यों को १ सन्ताप–२ मरण–३ मूर्च्छा करने वाले होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी दोष यद्यपि पारे में ऋषियों ने कहे हैं तथापि पारे के ये ३ दोष ही विशेषरूप से दूर करने योग्य हैं ॥ ९७–९९ ॥

अथासंस्कृतपारदसेवननिषेधमाह

संस्कारहीनं खलु सूतराजं यः सेवते तस्य करोति बाधाम्।
देहस्य नाशं विदधाति नूनं कष्टांश्च रोगाञ्जनयेन्नराणाम् ॥ १०० ॥

असंस्कृत पारे के सेवन का निषेध—जो कोई विना संस्कार किये हुये ही पारे का सेवन करता है तो वह उस (सेवन करने वाले) को पीड़ा पहुंचाता है, देह का नाश कर देता है, निश्चित रूप से मनुष्यों के रोगों को उत्पन्न करता है। तात्पर्य यह है कि भूल कर भी असंस्कृत पारे का सेवन नहीं करना चाहिये अन्यथा कष्टाधिक्य से मृत्यु तक हो जाती है ॥ १०० ॥

अथोपरसाः। तेषां संख्यामाह

गन्धो हिङ्गुलमभ्रतालकशिलाः स्रोतोऽञ्जनं टङ्कणं
राजावर्तकचुम्बकौ स्फटिकया शङ्खः खटी गैरिकम्।
कासीसं रसकं कपर्दसिकताबोलाश्च कुङ्कुष्ठकं
सौराष्ट्री च मता अमी उपरसाः सूतस्य किञ्चिद्गुणैः ॥ १०१ ॥

उपरसों की संख्या—गन्धक, हिङ्गुल, अभ्रक, हरताल, मैनशिल, सुरमा, सुहागा, राजावर्तक, चुम्बक, फिटकरी, शंख, खरिया, गेरू, कसीस, खपरिया, कौड़ी, बालु, बोल, कङ्कुष्ठ एवं सोरठी माटी ये सब उपरस कहे जाते हैं क्योंकि ये कुछ रस (पारा) के गुणों से युक्त होते हैं ॥ १०१ ॥

अथ हिङ्गुलम् । तस्य नामानि सलक्षणभेदान् गुणांश्चाह

हिङ्गुल दरदं म्लेच्छमिङ्गुलं स्चूर्णपारदम् । दरदस्त्रिविधः प्रोक्तश्चर्मारः शुकतुण्डकः ॥ १०२ ॥
हंसपादस्तृतीयः स्याद् गुणवानुत्तरोत्तरम् ॥ १०३ ॥
चर्मारः शुक्लवर्णः स्यात्स पीतः शुकतुण्डकः । जपाकुसुमसङ्काशो हंसपादो महोत्तमः ॥१०४॥
तिक्तं कषायं कटु हिङ्गुलं स्यान्नेत्रामयघ्नं कफपित्तहारि ।
हृल्लासकुष्ठज्वरकामलाश्च प्लीहामवातौ च गरं निहन्ति ॥ १०५ ॥

हिङ्गुल के संस्कृत नाम—हिङ्गुल, दरद, म्लेच्छ, इङ्गुल और चूर्णपारद ये सब हैं। भेद—हिङ्गुल तीन प्रकार का होता है। १ चर्मार, २ शुकतुण्डक, ३ हंसपाद। इनमें से एक दूसरे की अपेक्षा उत्तरोत्तर गुणवान् होता है जैसे—चर्मार की अपेक्षा शुकतुण्ड और शुकतुण्ड की अपेक्षा हंसपाद अधिक गुणवान् होता है ॥

उक्त भेदों के लक्षण—चर्मार-सफेद वर्ण का होता है, शुकतुण्ड-पीले वर्ण का एवम् हंसपाद जो कि सर्वोत्तम है वह जपाकुसुम (अढ़ौल के फूल) के समान लाल वर्ण का होता है।

हिङ्गुल—तिक्त, कषाय, कटुरस युक्त एवम्-नेत्रसंबन्धी-रोग, कफ, पित्त, हृल्लास (उबकाई), कुष्ठ, ज्वर, कामला, प्लीहा, आमवात और विष को दूर करने वाला होता है ॥

अथ हिङ्गुलोत्थं पारदं शुद्धमित्याह

उद्ध्र्वपातनयुक्त्या तु डमरुयंत्रपाचितम् । हिङ्गुलं तस्य सूतं तु शुद्धमेव न शोधयेत् ॥

हिंगुल से निकाले हुये पारे की शुद्धि की अनावश्यकता—उर्ध्वपातन की युक्ति से डमरूयन्त्र में पकाया हुआ जो हिंगुल है, उससे निकाला हुआ जो पारा है वह स्वयं शुद्ध होता है अतः उसकी पुनः शुद्धी करने की आवश्यकता नहीं रहती है ॥ १०६ ॥

अथ गन्धकः । तस्योत्पत्तिं नामानि भेदाश्चाह

श्वेतद्वीपे पुरा देव्याः क्रीडन्त्या रजसाऽऽप्लुतम् । दुकूलं तेन वस्त्रेण स्नातायाः क्षीरनीरधौ ॥
प्रसृतं यद्रजस्तस्माद्गन्धकः समभूत्ततः । गन्धको गन्धिकश्चापि गन्धपाषाण इत्यपि ॥१०८॥
सौगन्धिकश्च कथितो बलिर्बलरसोऽपि च । चतुर्धा गन्धकः प्रोक्तो रक्तः पीतः सितोऽसितः ॥

गन्धक की उत्पत्ति—पहले एक समय श्वेतद्वीप में क्रीड़ा करती हुई श्री पार्वती जी का वस्त्र रजोधर्म होने से रज से भीग गया तब उसी समय क्षीर समुद्र में स्नान करने से जो रज इधर उधर फैला उसी से गन्धक की उत्पत्ति हुई। गन्धक के संस्कृत नाम—गन्धक, गन्धिक, गन्धपाषाण, सौगन्धिक, बलि तथा बलरस ये सब हैं।

भेद—गन्धक ४ प्रकार का होता है। १ रक्तवर्ण का, २ पीत वर्ण का, ३ श्वेत वर्ण का, ४ कृष्णवर्ण का होता है ॥ १०७–१०९ ॥

अथ गन्धकभेदानामुपयोगविषयानाह

रक्तो हेमक्रियासूक्तः पीतश्चैव रसायने। व्रणादिलेपने श्वेतः कृष्णः श्रेष्ठः सुदुर्लभः ॥११०॥

गन्धक के उक्त भेदों के उपयोग—रक्तवर्ण का गन्धक-सोना बनाने के कार्य में उपयुक्त होता है, पीत वर्ण का गन्धक-रसायन के कार्य में आता है, श्वेत वर्ण का गन्धक-व्रण आदि के ऊपर लेप करने के लिये उपयोगी होता है एवं कृष्णवर्ण का गन्धक-पूर्वोक्त सभी कार्यों में में श्रेष्ठ होता है किन्तु यह अत्यन्त दुर्लभ होता है ॥ ११० ॥

छश्रेष्ठः = हेमक्रियाऽऽदिषु सर्वत्र प्रशस्ततरः ॥ ११० ॥

यहाँ पर "श्रेष्ठ" पद से "हेमक्रिया (सोना बनाने) आदि पूर्वोक्त सभी कार्यों में अत्यन्त प्रशस्त होता है" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ११० ॥

अथ गन्धकगुणानाह

गन्धकः कटुकस्तिक्तो वीर्योष्णस्तुवरः सरः। पित्तलः कटुकः पाके जन्तुकण्डूविसर्पजित्।
हन्ति कुष्ठक्षयप्लीहकफवातान् रसायनः ॥ १११ ॥

गन्धक—कटु, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, विपाक में कटु रसयुक्त, उष्णवीर्य, सारक, पित्तजनक, रसायन एवम्-क्रिमि, खुजली, विसर्प, कुष्ठ, क्षय, प्लीहा, कफ तथा वात को दूर करने वाला होता है ॥ १११ ॥

अथाशुद्धगन्धकदोषानाह

अशोधितो गन्धक एष कुष्ठं करोति तापं विषमं शरीरे।
सौख्यं च रूपं च बलं तथौजः शुक्रं निहन्त्येव करोति चास्रम् ॥ ११२ ॥

अशुद्ध गन्धक के दोष—बिना शोधा हुआ गन्धक यदि भक्षण किया जाय तो वह कुष्ठ, शरीर में विषम ज्वर तथा रक्तविकार को करता है एवम्—सुख, रूप, बल, ओज एवं शुक्र को नष्ट करता है ॥ ११२ ॥

अथाभ्रकम्। तस्योत्पत्तिमाह

पुरा वधाय वृत्रस्य वज्रिणा वज्रमुद्धृतम्। विस्फुलिङ्गास्ततस्तस्य गगने परिसर्पिताः ॥११३॥
ते निपेतुर्घनध्वानाच्छिखरेषु महीभृताम्। तेभ्य एव समुत्पन्नं तत्तद्गिरिषु चाभ्रकम् ॥१०४॥
तद्वज्रं वज्रजातत्वादभ्रमभ्ररवोद्भवात्। गगनात्स्खलितं यस्माद्गगनं च ततो मतम् ॥ ११५ ॥

अभ्रक की उत्पत्ति—पहले एक समय जब इन्द्र ने वृत्रासुर के वध के लिए वज्र उठाया तब उससे उसकी चिनगारियाँ निकल कर आकाश में फैल गईं। और उसके बाद वे सब मेघ का शब्द होने पर पर्वतों के शिखरों पर जाकर गिर पड़ीं और जिन २ पर्वतों पर वे गिरी थीं उन्हीं २ पर्वतों पर उन चिनगारियों से अभ्रक की उत्पत्ति हुई।

अभ्रक के कतिपय नामों के पड़ने का हेतु—वज्र से उत्पन्न होने से इसे 'वज्र', अभ्र अर्थात् मेघ के शब्द होने से उत्पत्ति हुई अतः 'अभ्रक' और गगन अर्थात्—आकाश से गिरा अतएव इसे 'गगन' भी कहते हैं ॥ ११३-११५ ॥

अथाभ्रकभेदाँस्तेषामुपयोगविषयानाह

विप्रक्षत्रियविट्शूद्रभेदात्तस्याच्चतुर्विधम् । क्रमेणैव सितं रक्तं पीतं कृष्णं च वर्णतः ॥११६॥
प्रशस्यते सितं तारे रक्तं तत्तु रसायने । पीतं हेमनि कृष्णं तु गदेषु द्रुतयेऽपि च ॥११७॥

अभ्रक के भेद—१ ब्राह्मण-२ क्षत्रिय, ३ वैश्य तथा ४ शूद्र ये ४ जातियाँ अभ्रक की होती हैं। उनके जाति वर्ण—क्रम से अर्थात् ब्राह्मण जाति का अभ्रक सफेद रङ्ग का, क्षत्रिय जाति का लाल रंग का, वैश्य जाति का पीले रंग का और शूद्र जाति का काले रंग का होता है।

उक्त भेदों के उपयोग—चाँदी बनाने के कार्य में सफेद अभ्रक का, रसायन के कार्य में लाल अभ्रक का, सोना बनाने में पीले अभ्रक का और रोग नष्ट करने में काले अभ्रक का उपयोग किया जाता है ॥ ११६-११७ ॥

अथाभ्रकस्यान्यानपि भेदाँल्लक्षणगुणनिर्देशपूर्वकमाह

पिनाकं दर्दुरं नागं वज्रं चेति चतुर्विधम् । मुञ्चत्यग्नौ विनिक्षिप्तं पिनाकं दलसञ्चयम् ॥११८॥
अज्ञानाद्भक्षणं तस्य महाकुष्ठप्रदायकम् । दर्दुरं त्वग्निनिक्षिप्तं कुरुते दर्दुरध्वनिम् ॥ ११९ ॥
गोलकान्बहुशः कृत्वा स स्यान्मृत्युप्रदायकः । नागं तु नागवद्वह्नौ फूत्कारं परिमुञ्चति ॥
तद्भक्षितमवश्यं तु विदधाति भगन्दरम् । वज्रं तु वज्रवत्तिष्ठेत्तन्नाग्नौ विकृतिं व्रजेत् ॥१२१॥
सर्वाभ्रेषु वरं वज्रं व्याधिवार्द्धक्यमृत्युहृत् ॥ १२२ ॥

अभ्रक के और भी भेदों के नाम—१ पिनाक, २ दर्दुर, ३ नाग, ४ वज्र, ये ४ भेद अभ्रक के हैं। उक्त भेदों के लक्षण—पिनाक नामक अभ्रक के लक्षण—अग्नि में डाल देने पर जिससे परत निकल-निकल कर अलग होने लगें उसे 'पिनाक' समझना चाहिये।

पिनाक—यदि अज्ञान से खा लिया जाय तो महाकुष्ठ हो जाता है।

दर्दुर के लक्षण—जो अग्नि में छोड़ने पर मेढक की भाँति शब्द करे वह 'दर्दुर' कहलाता है। दर्दुर-इसे खा लेने से शरीर में बहुत सी गांठों की उत्पत्ति होकर मृत्यु हो जाती है।

नागनामक अभ्रक के लक्षण अग्नि में डालने पर जिससे साँप के समान फुंकार निकले उसे 'नाग' समझना चाहिये। नाग-इसके खाने से भगन्दर अवश्य हो जाता है।

वज्र के लक्षण—जो कि अग्नि में डालने पर किसी तरह की विकृति को न प्राप्त होकर वज्र की भांति स्थिर रहता है वह "वज्र" नामक अभ्रक कहलाता है। वज्र-सम्पूर्ण अभ्रकों में वज्र नामक ही अभ्रक सर्वश्रेष्ठ होता है, क्योंकि यह रोग, बुढ़ापा तथा मृत्यु को भी दूर करने वाला होता है ॥ ११८-१२२ ॥

अथोत्पत्तिस्थानभेदेनाभ्रकस्य गुणभेदानाह

अभ्रमुत्तरशैलोत्थं बहुसत्त्वं गुणाधिकम् । दक्षिणाद्रिभवं स्वल्पसत्त्वमल्पगुणप्रदम् ॥ १२३ ॥

उत्पत्ति स्थान के भेद से अभ्रक के गुणों में भेद-उत्तर के पर्वतों पर उत्पन्न होने वाला अभ्रक—अत्यन्त वीर्यशाली अतएव अधिक गुणकारी होता है और दक्षिण के पर्वतों पर उत्पन्न होने वाला अभ्रक—स्वल्प वीर्यवाला अतएव स्वल्प गुणकारी होता है ॥ १२३ ॥

अथ मृताभ्रकगुणानाह

अभ्रं कषायं मधुरं सुशीतमायुष्करं धातुविवर्द्धनं च ।
हन्यात्त्रिदोषं व्रणमेहकुष्ठप्लीहोदरग्रन्थिविषक्रिमींश्च ॥ १२४ ॥

रोगान्हन्ति द्रढयति वपुर्वीर्यंवृद्धिं विधत्ते तारुण्याढ्यं रमयति शतं योषितां नित्यमेव।
दीर्घायुष्कांञ्जनयति सुतान्विक्रमैःसिंहतुल्यान् मृत्योर्भीतिं हरति सततं सेव्यमानं मृताभ्रम्॥

अभ्रक भस्म (मृत अभ्रक)—यह कषाय तथा मधुर रसयुक्त, अत्यन्त शीतल, आयु को बढ़ाने वाला, धातुवर्धक एवम्-त्रिदोष, व्रण, प्रमेह, कुष्ठ, प्लीहा, उदररोग, ग्रन्थि (गिल्टी), विष तथा क्रिमि को दूर करने वाला होता है।

यदि मृत अभ्रक (अभ्रक भस्म) का नित्य सेवन किया जाय तो वह—रोगों को दूर करता है तथा शरीर को दृढ़ और वीर्य की वृद्धि करता है और नित्य तरुणाई से भरा हुआ सौ स्त्रियों से रमण करने की शक्ति देता है तथा सिंह के समान पराक्रमी, दीर्घ आयु वाले पुत्रों को उत्पन्न करता है और मृत्यु के भय को दूर करता है॥ १२४-१२५॥

अथाशुद्धाभ्रकदोषानाह

पीडां विधत्ते विविधां नराणां कुष्ठं क्षयं पाण्डुगदं च शोथम्।
हृत्पार्श्वपीडां च करोत्यशुद्धमभ्रं त्वसिद्धं गुरु तापदं स्यात्॥ १२६॥

अशुद्ध अभ्रक के दोष—बिना शोधन किया हुआ अभ्रक-सेवन करने से मनुष्यों को अनेक प्रकार की पीड़ा करता है एवम्—कुष्ठ, क्षय, पाण्डुरोग, शोथ, हृदय तथा पार्श्व (पसुली) में पीड़ा करता है।

असिद्ध अभ्रक के दोष—यदि अभ्रक भस्म असिद्ध (कच्ची) हो तो सेवन करने से अत्यन्त ताप देने वाला होता है॥ १२६॥

अथ हरितालम्। तस्य गुणलक्षणसहितान् भेदान् गुणाँश्चाह

हरितालं तु तालं स्यादालं तालकमित्यपि। हरितालं द्विधा प्रोक्तं पत्राख्यं पिण्डसंज्ञकम्॥
तयोराद्यं गुणैः श्रेष्ठं ततो हीनगुणं परम्। स्वर्णवर्णं गुरु स्निग्धं सपत्रं चाभ्रपत्रवत्॥१२८॥
पत्राख्यं तालकं विद्याद् गुणाढ्यं तद्रसायनम्। निष्पत्रं पिण्डसदृशं स्वल्पसत्त्वं तथा गुरु॥
स्त्रीपुष्पहारकं स्वल्पगुणं तत्पिण्डतालकम्। हरितालं कटु स्निग्धं कषायोष्णं हरेद्विषम्।
कण्डूकुष्ठास्यरोगास्रकफपित्तकचव्रणान्॥ १३०॥

हरताल के संस्कृत नाम-हरिताल, ताल, आल और तालक ये सब हैं। भेद—हरताल दो प्रकार का होता है। १ पत्राख्य (तबकिया) हरताल, २ पिण्डसंज्ञक हरताल। इन में से पहला जो पत्राख्य (तबकिया) हरताल है वह गुणों में श्रेष्ठ होता है और दूसरा जो पिण्डसंज्ञक हरताल है वह हीन गुणवाला होता है। पत्राख्य (तबकिया) हरताल के लक्षण-सोने के समान वर्ण वाला, गुरु, स्निग्ध, अभ्रक के पत्र के समान पत्रवाला जो पत्राख्य (तबकिया) हरताल होता है, वह गुणों से युक्त तथा रसायन होता है। और जो पत्र से रहित पिण्ड के समान पिण्डहरताल होता है, वह स्वल्प वीर्यशाली, गुरु, स्त्री के पुष्प को नष्ट करने वाला एवं अल्प गुणयुक्त होता है। हरताल—कटु तथा कषाय रसयुक्त, स्निग्ध, उष्ण होता है एवम्-विष, खुजली, कुष्ठ, मुख के रोग, रक्तविकार, कफ, पित्त, केश तथा व्रण (घाव) को नष्ट करनेवाला होता है॥ १२७-१३०॥

अथाशुद्धस्यासम्यङ्मारितस्य च हरितालस्य दोषानाह

हरति च हरितालं चारुतां देहजातां सृजति च बहुतापञ्चाङ्गसङ्कोचपीडाम्।
वितरति कफवातौ कुष्ठरोगं विदध्या दिदमशितमशुद्धं मारितं चाप्यसम्यक्॥ १३१॥

बिना शोधा हुआ दोनों प्रकार का हरताल—भक्षण करने से शरीर की सुन्दरता को दूर करता है, अत्यन्त ताप को उत्पन्न करता है, अङ्गों में सङ्कोच की पीड़ा देता है एवम्—कफ, वात तथा कुष्ठ को करता है ॥ १३१ ॥

अथ मनःशिला (मैनसिल)। तस्या नामानि गुणांश्चाह

मनःशिला मनोगुप्ता मनोह्वा नागजिह्विका । नैपाली कुनटी गोला शिला दिव्यौषधिः स्मृता ॥
मनःशिला गुरुर्वर्ण्या सरोष्णा लेखनी कटुः । तिक्ता स्निग्धा विषश्वासकासभूतकफास्रनुत् ॥

मैनशिल के संस्कृत नाम—मनःशिला, मनोगुप्ता, मनोह्वा, नागजिह्विका, नैपाली, कुनटी, गोला, शिला तथा दिव्यौषधि ये सब हैं।

मैनशिल—यह कटु तथा तिक्त रसयुक्त, गुरु, शरीर के वर्ण को उत्तम बनाने वाली, सारक, उष्ण, लेखन तथा स्निग्ध होती है एवम्—विष, श्वास, कास, भूतबाधा, कफ तथा रक्तविकार को दूर करने वाली होती है ॥ १३२-१३३ ॥

अथाशुद्धायास्तस्यादोषानाह

मनः शिला मन्दबलं करोति जन्तुं ध्रुवं शोधनमन्तरेण ।
मलानुबन्धं किल मूत्ररोधं सशर्करं कृच्छ्रगदं च कुर्यात् ॥ १३४ ॥

अशुद्ध मैनशिल के दोष—बिना शोधी हुई मैनशिल-सेवन करने वाले मनुष्य के बल को मन्द करने वाली तथा मल का अनुबन्ध (दस्त की रुकावट), मूत्ररोध और शर्करायुक्त मूत्रकृच्छ्र रोग को पैदा करती है ॥ १३४ ॥

अथ स्रोतोऽञ्जनं सौवीरं च (काला, सफेद सुरमा)। तयोर्नामलक्षणगुणानाह

अञ्जनं यामुनंचापि कापोताञ्जनमित्यपि । तत्तु स्रोतोऽञ्जनं कृष्णं सौवीरं श्वेतमीरितम् ॥
वल्मीकशिखराकारे भिन्नमञ्जनसन्निभम् । घृष्टं तु गैरिकाकारमेतत्स्रोतोऽञ्जनं स्मृतम् ॥
स्रोतोऽञ्जनसमं ज्ञेयं सौवीरं तत्तु पाण्डुरम् । स्रोतोऽञ्जनं स्मृत स्वादु चक्षुष्यं कफपित्तनुत् ॥
कषायं लेखनं स्निग्धं ग्राहि च्छर्दिविषापहम् । सिध्मक्षयास्रहृच्छीतं सेवनीयं सदा बुधैः ॥
स्रोतोऽञ्जनगुणाः सर्वे सौवीरेऽपिमता बुधः। किन्तु द्वयोरञ्जनयोः श्रेष्ठं स्रोतोऽञ्जनं स्मृतम् ॥

सुरमा के साधारण संस्कृत नाम—अञ्जन, यामुन तथा कापोताञ्जन ये सब हैं।

भेद और उनके लक्षण— सुरमा में जो काला होता है उसे संस्कृत में "स्रोतोऽञ्जन" कहते हैं और जो सफेद होता है उसे "सौवीर" कहते हैं। लक्षण—स्रोतोऽञ्जन (काला सुरमा)—यह वल्मीक (बांबी) के शिखर के समान आकारवाला, तोड़ने पर अञ्जन के टुकड़ों के समान एवं घिसने पर "गेरू" के समान होता है।

सौवीर (सफेद सुरमा)—यह पाण्डुर वर्ण का तथा गुणों में काले सुरमे के समान ही होता है।

काला सुरमा—स्वादिष्ट, कषाय रसयुक्त, नेत्रों के लिये हितकर, लेखन, स्निग्ध, ग्राही, तथा शीतल होता है एवम्—कफ, पित्त, वमन, विष, सिध्म (क्षुद्रकुष्ठ के भेद), क्षय, तथा रक्तविकार को दूर करने वाला होता है। अतएव बुद्धिमानों को सदा इसे सेवन करना चाहिये। काले सुरमे में जो गुण हैं वे ही सब सफेद सुरमे में भी रहते हैं ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं।

किन्तु इन दोनों अञ्जनों में श्रेष्ठ 'स्रोतोऽञ्जन' काला सुरमा ही समझा जाता है ॥१२५-१२९॥

अथ टङ्कणः (सोहागा)। तस्य गुणानाह

टङ्कणोऽग्निकरो रूक्षः कफघ्नो वातपित्तकृत् ॥ १४० ॥

सुहागा—अग्निकारक, रूक्ष, कफनाशक त। वात और पित्त को उत्पन्न करने वाला होता है ॥ १४० ॥

* अयमुपरसत्वात् पुनरुक्तः ॥ १४० ॥

यहां पर यह समझना चाहिये कि—यह उपरस होने से पुनः यहां पर कहा गया है ॥ १४० ॥

अथ स्फटिका (फटकिरी)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

स्फटी च स्फटिका प्रोक्ता श्वेता शुभ्रा च रङ्गदा। दृढरङ्गा रङ्गदृढा रङ्गाङ्गाऽपि च कथ्यते ॥
स्फटिका तु कषायोष्णा वातपित्तकफव्रणान्। निहन्ति श्वित्रवीसर्पान् योनिसङ्कोचकारिणी ॥

फटकिरी के संस्कृत नाम—स्फटी, स्फटिका, श्वेता, शुभ्रा, रङ्गदा, दृढ़रङ्गा, रङ्गदृढा, रङ्गाङ्गा ये सब हैं।

फिटकिरी—कषाय रस युक्त, उष्ण, योनिमार्ग को संकुचित करने वाली एवम्—वात, पित्त, कफ, व्रण (घाव), श्वेत कुष्ठ तथा विसर्प को दूर करने वाली होती है ॥ १४१-१४२ ॥

अथ राजावर्त्तः (रेवटी)। तस्य नामगुणानाह

राजावर्त्तो नृपावर्त्तो राजन्यावर्त्तकस्तथा। आवर्त्तमणिसंज्ञश्च ह्यावर्त्तोऽपि तथैव च ॥१४३॥
राजावर्त्तः कटुस्तिक्तः शिशिरः पित्तनाशनः। राजावर्त्तः प्रमेहघ्नश्छर्दिहिक्कानिवारणः ॥१४४॥

रेवटी के संस्कृत नाम—राजावर्त्त, नृपावर्त्त, राजन्यावर्त्तक, आवर्त्तमणिसंज्ञक, आवर्त्त (आवर्त्तक) ये सब हैं। राजावर्त्त-कटु तथा तिक्त रसयुक्त, शीतल, पित्तनाशक एवम्—प्रमेह, वमन तथा हिचकी को दूर करने वाली होती है ॥ १४३-१४४ ॥

अथ चुम्बकः। तस्य नामगुणानाह

चुम्बकः कान्तपाषाणोऽयस्कान्तो लौहकर्षकः। चुम्बको लेखनः शीतो मेदोविषगरापहः ॥

चुम्बक के संस्कृत नाम—चुम्बक, कान्तपाषाण, अयस्कान्त और लौहकर्षक ये सब हैं।

चुम्बक—लेखन, शीतल तथा मेद, विष और गर (उपविष) को नष्ट करने वाला होता है। यहां पर-नानाप्राण्यङ्गजमलविरुद्धौषधभस्मनाम्। विषाणाञ्चाल्पवीर्याणां योगो गर इति स्मृतः ॥ १ ॥

अर्थ—अनेक प्रकार के प्राणियों के अङ्गों का मल, विरुद्ध औषधों के भस्म, अल्पवीर्य वाले विषों के परस्पर योग को 'गर' कहते हैं। यह गर का विशेष अर्थ समझना चाहिये ॥ १४५ ॥

अथ गैरिकं सुवर्णगैरिकं च (गेरू-सोनागेरू)। तयोर्नामगुणानाह

गैरिकं रक्तधातुश्च गैरेयं गिरिजं तथा। सुवर्णगैरिकं त्वन्यत्ततो रक्ततरं हि तत् ॥ १४६ ॥
गैरिकद्वितयं स्निग्धं मधुरं तुवरं हिमम्। चक्षुष्यं दाहपित्तास्रकफहिक्काविषापहम् ॥ १४७ ॥

गेरू के संस्कृत नाम—गैरिक, रक्तधातु, गैरेय, गिरिज ये सब हैं।

गेरू के भेद—गेरू से भिन्न एक प्रकार का और भी गेरू होता है जो इसकी अपेक्षा अत्यन्त लाल रङ्ग का होता है उसे संस्कृत में 'स्वर्णगैरिक' कहते हैं। दोनों गेरू (गेरू-

सोना गेरू)—यह मधुर तथा कषाय रस युक्त, स्निग्ध, शीतल, नेत्रों के लिये हितकर एवम्-दाह-पित्त-रक्तविकार-कफ-हिचकी तथा विष इन सबों को दूर करने वाले होते हैं ॥ १४६-१४७ ॥

अथ खटिका गौरखटिका च (खड़िया, गौरखरिया)। तयोर्नामगुणानाह

खटिका कठिनी चापि लेखनी च निगद्यते। खटी दाहास्रजिच्छीता मधुरा विषशोथजित् ॥
लेपादेतद्गुणा प्रोक्ता भक्षिता मृत्तिकासमा। खटी गौरखटी द्वे च गुणैस्तुल्ये प्रकीर्त्तिते ॥

खड़िया के संस्कृत नाम—खटिका, कठिनी तथा लेखनी ये सब हैं।

खड़िया—मधुर रस युक्त, शीतल एवम्-दाह-रक्तविकार-विष तथा शोथ को दूर करने वाली होती है। लेप करने से ही उक्त गुण खड़िया के ज्ञात होते हैं। खाने पर तो मिट्टी के समान गुण वाली होती है। खड़िया तथा गौर खरिया ये दोनों ही-गुणों में समान ही मानी जाती हैं ॥

अथ वालुका (बालू)। तस्या नामगुणानाह

वालुका सिकता प्रोक्ता शर्करा रेतजाऽपि च। वालुका लेखनी शीता व्रणोरःक्षतनाशिनी ॥

बालू के संस्कृत नाम—वालुका, सिकता, शर्करा और रेतजा ये सब हैं।

बालू—लेखन, शीतल तथा व्रण और उरःक्षत को दूर करने वाली होती है ॥ १५० ॥

अथ तुत्थभेदः खर्परी (खपरिया) तस्या नामगुणानाह

खर्परी तुत्थकं तुत्थादन्यत्तद्रसकं स्मृतम्। ये गुणास्तुत्थके प्रोक्तास्ते गुणा रसके स्मृताः ॥

खपरिया के संस्कृत नाम—खर्परी, तुत्थक, रसक, तुत्थभेद ये सब हैं।

खपरिया—जो गुण तूतिया के कहे हुये हैं वे ही सब इसके भी होते हैं ॥ १५१ ॥

अथ काशीशम् (कसीस)। तस्य नामानि भेदान् गुणाँश्चाह

काशीशं धातुकाशीशं पांशुकाशीशमित्यपि। तदेव किञ्चित्पीतं तु पुष्पकाशीशमुच्यते ॥ १५२॥
काशीशमम्लमुष्णं च तिक्तञ्च तुवरं तथा। वातश्लेष्महरं केश्यं नेत्रकण्डूविषप्रणुत् ॥
मूत्रकृच्छ्राश्मरीश्वित्रनाशनं परिकीर्तितम् ॥ १५३ ॥

कसीस के संस्कृत नाम—काशीश, धातुकाशीश, पांशुकाशीश ये सब हैं। भेद—कसीस यदि थोड़ा पीला हो तो उसका संस्कृत नाम—पुष्पकाशीश होता है। कसीस-अम्ल, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, उष्ण (गरम), बालों के लिये हितकर, वात, कफ, नेत्रों की खुजली, विष, मूत्र-कृच्छ्र, पथरी तथा श्वेत कुष्ठ को दूर करने वाला होता है ॥ १५२-१५३ ॥

अथ सौराष्ट्री मृत्तिका (सोरठी माटी)। तस्या नामगुणानाह

सौराष्ट्री तुवरी काली मृत्तालकसुराष्ट्रजे ॥ १५४ ॥
आढकी चापि सा ख्याता मृत्स्ना च सुरमृत्तिका। स्फटिकाया गुणाः सर्वे सौराष्ट्र्या अपि कीर्त्तिताः

सोरठी माटी के संस्कृत नाम—सौराष्ट्री, तुवरी, काली, मृत्तालक, सुराष्ट्रज, आढकी, मृत्स्ना तथा सुरमृत्तिका ये सब हैं। सोरठी माटी—फिटकिरी के जितने गुण कह आये हैं वे सब सोरठी माटी के भी होते हैं ॥ १५४-१५५ ॥

अथ कृष्णमृत्तिका (काली मिट्टी) तस्य नामगुणानाह

मृन्मृदा मृत्तिका मृत्स्ना क्षेत्रजा कृष्णमृत्तिका।
कृष्णमृत् क्षतदाहास्रप्रदरश्लेष्मपित्तनुत् ॥ १५६ ॥

काली मिट्टी के संस्कृत नाम—मृद्, मृदा, मृत्तिका, मृत्स्ना, क्षेत्रजा, कृष्णमृत्तिका और कृष्णमृत् ये सब हैं। काली मिट्टी—क्षत, दाह, रक्तप्रदर या रक्तविकार, प्रदररोग, कफ तथा पित्त को दूर करने वाली होती है ॥ १५६ ॥

अथ कर्दमः (कीचड़) तस्यगुणानाह

पङ्कस्तु जलकल्कश्च चुलुकः कर्दमो मलः। चिकिलः पलितो द्रापः पल्लश्च निषद्वरः ॥
कर्दमो दाहपित्तास्रशोथघ्नः शीतलः सरः ॥ १५७ ॥

कीचड़ के संस्कृत नाम—पङ्क, जलकल्क, चुलुक, कर्दम, मल, चिकिल, पलित, द्राप, पल्ल तथा निषद्वर ये सब हैं। कीचड़–शीतल तथा सारक होता है एवम्–दाह, पित्त, रक्तविकार और शोथ को नष्ट करने वाला होता है ॥ १५७ ॥

अथ कपर्दकम् (कौड़ी)। तस्य नामगुणानाह

कपर्दको वराटश्च कपर्दी च वराटिका। कपर्दिका हिमा नेत्रहिता स्फोटक्षयापहा ॥
कर्णस्रावाग्निमान्द्यघ्नो पित्तास्रकफनाशिनी ॥ १५८ ॥

कौड़ी के संस्कृत नाम--कपर्दक, वराट, कपर्दी, वराटिका तथा कपर्दिका ये सब हैं।

कौड़ी—शीतल, नेत्रों के लिये हितकर, विस्फोट, क्षय, कर्णस्राव, अग्नि की मन्दता, पित्त, रक्तविकार तथा कफ को नष्ट करने वाली होती है ॥ १५८ ॥

अथ शङ्खः। तस्य नामगुणानाह

शङ्खः समुद्रजः कम्बुः सुनादः पावनध्वनिः।
शङ्खो नेत्र्यो हिमः शीतो लघुः पित्तकफास्रजित् ॥ १५९ ॥

शङ्ख के संस्कृत नाम--शंख, समुद्रज, कम्बु, सुनाद तथा पावनध्वनि ये सब हैं।

शङ्ख--नेत्रों के लिये हितकर, शीतल, लघु एवम्--पित्त, कफ तथा रक्तविकार को दूर करने वाला होता है ॥ १५९ ॥

अथ बोलम्। तस्य नामानि गुणांश्चाह

बोलगन्धरसप्राणपिण्डगोपरसाः समाः। बोलं रक्तहरं शीतं मेध्यं दीपनपाचनम् ॥
मधुरं कटु तिक्तं च दाहस्वेदत्रिदोषजित्। ज्वरापस्मारकुष्ठघ्नं गर्भाशयविशुद्धिकृत् ॥ १६० ॥

बोल के संस्कृत नाम–बोल, गन्धरस, प्राण, पिण्ड तथा गोपरस ये सब हैं। बोल–मधुर, कटु तथा तिक्तसयुक्त, रुधिरविकार नाशक, शीतल, मेधाशक्ति के लिये हितकर, अग्निदीपक, एवम्—दाह, स्वेद (पसीना), त्रिदोष, ज्वर, अपस्मार (मिर्गी) तथा कुष्ठ को दूर करने वाला होता है ॥ १६० ॥

बोल, हीराबोल

हिं०–बोल, हीराबोल। बंब–करम, बंदरकरम। अं०–Myrrh (मिर्ह)। ले०–*Commiphora myrrha Holmes* (कॉम्मिफोरा मिर्ह)। Fam. Burseraceae (बर्सेरेसी)।

इसका वृक्ष उत्तर पूर्व अफ्रीका तथा अरब में पाया जाता है। यह करीब १० फीट ऊँचा होता है। इसकी अन्य प्रजातियाँ भी होती हैं जो २५-३० फीट तक ऊँची होती हैं।

यह उपर्युक्त वृक्ष का निर्यास है। इसका संग्रह सोमालीलॅण्ड में होता है। वहाँ से यह अदन को भेजा जाता है जहाँ से बंबई के रास्ते या सीधे इसका यूरोप में निर्यात होता है।

अधिकतर यह अपने आप ही निकला हुआ पाया जाता है किन्तु कभी-कभी वृक्षों में चीरा लगाकर भी इसे प्राप्त करते हैं। यह पीताभ श्वेत गाढ़ा तरल पदार्थ होता है जो वृक्ष से निकलते ही गरमी से सूखकर रक्ताभ भूरा हो जाता है।

स्वरूप—इसके विभिन्न नाप के टुकड़े या गोल दाने १-४ इञ्च व्यास के होते हैं। यह बाहर से रक्ताभ भूरा या रक्ताभ पीला तथा चूर्णावृत दिखलाई पड़ता है। यह आसानी से तोड़ा जा सकता है तथा तोड़ने पर अंदर से यह गहरा भूरा तैलीय एवं कभी-कभी श्वेत चिह्नों से युक्त होता है। इसमें विशिष्ट गंध एवं स्वाद, सुगंधि, तिक्त एवं कटु होता है।

परीक्षा—(१) जल के साथ घोटने से इसका पीला इमल्शन बनता है। (२) ईथरीय सत्व को सुखाकर उसका संयोग शोरे के तेजाब के धूएँ या ब्रोमीन के धूएँ से करने पर गहरा बैंगनी रंग इसमें आता है। (३) इसमें मद्यसार में अघुलनशील भाग ७०% से अधिक न हो तथा राख ५% से अधिक न हो।

इसका एक भेद **बीसाबोल** होता है जो अन्य वृक्ष से निकलता है। वह अधिक गंधयुक्त होता है। उपर्युक्त परीक्षा से इसे अलग किया जा सकता है। संग्रह करते समय इसके साथ ही गोंद, गुग्गुल आदि का भी संग्रह होने के कारण बोल में इनकी भी मिलावट होती है।

रासायनिक संगठन—इसमें उड़नशील तैल, राल, गोंद आदि द्रव्य पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह आर्तवजनन, श्लेष्मलकला के लिये उत्तेजक, प्रतिदूषक, कफनाशक एवं दीपन है।

इसका प्रयोग अनार्तव, गर्भाशय शैथिल्य, श्वेतप्रदर, बस्तिशोथ, कास, श्वास एवं कुपचन में करते हैं।

मुख पाक, गले की खराश एवं मसूड़े की सूजन में इसके द्रव से कुल्ला (गण्डूश) करने से लाभ होता है। इसका लेप व्रण पर किया जाता है। दंत मंजन में इसे डालते हैं। सुगंध के लिये धूप में इसका उपयोग होता है। मात्रा—½-२ रत्ती।

अथ कङ्कुष्ठः। तस्योत्पत्तिं भेदांश्चाह

हिमवत्पादशिखरे कङ्कुष्ठमुपजायते। तत्रैकं रक्तकालं स्यात्तदन्यदण्डकं स्मृतम्॥ १६१॥

कंकुष्ठ की उत्पत्ति—हिमालय के पास के पर्वतों के शिखर पर कंकुष्ठ की उत्पत्ति होती है।
भेद—इसके दो भेद हैं। पहला रक्तकाल, दूसरा अण्डक-ये दोनों संस्कृत नाम हैं॥१६१॥

*हिमवत्पादशिखरे = हिमवतः प्रत्यन्तपर्वतानां शिखरे॥ १६१॥

यहाँ पर मूल में 'हिमवत्पादशिखरे' इस पद का 'हिमालय के पास के पर्वतों के शिखर पर' यह अर्थ समझना चाहिये॥ १६१॥

अथोत्तमाधमकङ्कुष्ठयोर्लक्षणमाह

पीतप्रभं गुरु स्निग्धं श्रेष्ठं कङ्कुष्ठमादिमम्। श्यामं पीतं लघु त्यक्तसत्त्वं नेष्टं तथाऽण्डकम्॥

उत्तम कंकुष्ठ के लक्षण—इस में जो पहला भेद (रक्तकाल-संज्ञक) है, वह पीले रङ्गकी कान्तिवाला गुरु तथा स्निग्ध होता है और वही उत्तम होता है।

अधम कंकुष्ठ के लक्षण—जो अण्डक संज्ञक भेद होता है वह सांवला तथा पीला होता है एवम् लघु और निःसार होता है अतः यह निकृष्ट समझा जाता है ॥ १६२ ॥

अथ कङ्कुष्ठस्य नामगुणानाह

कङ्कुष्ठं काककुष्ठं च विरङ्गं कोलकाकुलम् ॥ १६३ ॥
कङ्कुष्ठं रेचनं तिक्तं कटूष्णं वर्णकारकम् । कृमिशोथोदराध्मानगुल्मानाहकफापहम् ॥ १६४ ॥

कंकुष्ठ के संस्कृत नाम—कङ्कुष्ठ, काककुष्ठ, विरङ्ग तथा कोलकाकुल ये सब हैं।

कंकुष्ठ—यह तिक्त तथा कटुरस युक्त, रेचक, उष्ण, वर्णकारक एवम्—कृमि, शोथ, उदररोग, आध्मान, गुल्म, आनाह (अफरा) तथा कफ को दूर करने वाला होता है ॥ १६३-१६४ ॥

कंकुष्ठ क्या है इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद रहा है। भावप्रकाशकार इसके दो भेद मानते हैं तथा उत्पत्ति हिमालय में मानते हैं। रसरत्नसमुच्चय में भी इसके दो भेद 'नलिकाख्य' एवं 'रेणुक' दिये हैं। यह पीतवर्ण का तीव्र विरेचक पदार्थ है जिसकी यवमात्रा (½ रत्ती) से विरेचन होता है तथा यह सत्वरूप होने के कारण इसका सत्व नहीं निकाला जाता ऐसा भी उल्लेख है।

उपर्युक्त शास्त्रीय वर्णन के आधार पर अनेक विद्वानों ने 'गम्बोज' को कंकुष्ठ माना है जो उचित मालूम पड़ता है। इसका वर्णन वटादिवर्ग (पृष्ठ ५३२) में किया जा चुका है।

अन्य मतों में कुछ इसे तत्काल जन्मे हुवे हाथी के बच्चे की विष्ठा, कुछ घोड़े के बच्चे की नाल, कुछ मुर्दासंग (सीसे का यौगिक), स्वर्णक्षीरी, रेवंदचीनी, इत्यादि पदार्थ मानते हैं जिनमें से रेवंदचीनी को कंकुष्ठ माना जा सकता है। रेवंदचीनी की जड़ गॅम्बोज के जितनी तीव्र विरेचक नहीं होती। इसका संक्षेप में वर्णन आगे दिया जा रहा है। गॅम्बोज को बाजार में उसारे रेवन्द (रेवंदचीनी का सत) कहते हैं किन्तु यह रेवंदचीनी का उसारा (सत) नहीं है। गॅम्बोज (उसारे रेवंद) यह एक वृक्ष का निर्यास है और रेवंदचीनी यह एक गुल्म की जड़ है। रेवंदचीनी की जड़ के सत्व की तरह गॅम्बोज में गुण होने के कारण संभवतः गॅम्बोज को भी उसारे रेवंद कहा जाता होगा।

रेवंदचीनी

सं०-पीतमूला, अम्लपर्णी। हि०-रेवंदचीनी। नेपा०-पदमचल। गढ़-अचुं। अं०, फा०-रेवंद, रेवास। अं०-Rhubarb (रुबार्ब)। लै०-*Rheum emodi Wall.* (हिअम् एमोडी)। Fam. Polygonaceae (पॉलिगोनेसी)।

यह हिमालय, नेपाल, सिक्किम में ११ से १२ हजार फीट की ऊँचाई तक एवं सिमला, कांगड़ा जिला तथा चीन तिब्बत आदि देशों में होती है।

इसका पौधा दृढ़ होता है। काण्ड-पर्णवत्, मजबूत, ४-५ फीट लम्बा, हरी एवं भूरी धारीयों से युक्त होता है। मूलपत्र-बहुत बड़े, लम्बे वृन्त से युक्त, गोलाकार या चौड़ाई लिये अंडाकार, आधार हृदयाकार, ५-७ शिराओं से युक्त, नीचे से मृदुरोमश किन्तु ऊपरी सतह कुछ खुरदरी होती है। पुष्प-छोटे एवं गहरे बैंगनी एवं फल-बैंगनी, ½ इञ्च लम्बे, अंडाकार-आयताकार होते हैं। इसकी शाखा एवं पत्ती जो अम्ल होती हैं, सुखाकर, वेणी की तरह गूथकर अमलवेत के नाम से बेची जाती है।

इसकी अन्य जाति हि० वेब्बिआनम् (R. *webbianum* Royle) में पुष्प हलके पीताभ, छोटे एवं फल भी छोटे होते हैं। यह नेपाल से काश्मीर तक १०-१४ हजार फीट तक पाई जाती है।

इस प्रजाति की विभिन्न जातियों के मूल का रेवंदचीनी के नाम से व्यवहार होता है। ६-७ वर्ष पुराने पौधे की मूल का पुष्पोद्गम के पूर्व संग्रह किया जाता है।

इसके टुकड़े भूरे पीले रंग के लंबगोल, १ से ८ इञ्च लंबे, ½ से ३ इञ्च तक व्यास के, लंबाई में झुर्रीदार तथा धारीदार होते हैं। इसका स्वाद तिक्त एवं कषाय तथा इसमें विशेष गन्ध रहती है। इसे चबाने से इसमें के कैल्शियम् ऑक्जेलेट के कारण करकरापन मालूम होता है तथा इससे लार पीली हो जाती है।

रासायनिक संगठन—इसमें मुख्य रूप से अॅन्थ्रॅक्विनोन (Anthraquinone) से व्युत्पन्न द्रव्य पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह अल्प मात्रा (½-४ रत्ती) में तिक्त, दीपन एवं ग्राही है। अधिक मात्रा (१-२ माशा) से इसका प्रभाव बृहदांत्र पर होकर ६ से ८ घंटे में विरेचन होता है जो इसमें के ग्राही तत्व के कारण अपने आप बाद में रुक जाता है। मृदु विरेचक रूप में तथा अजीर्ण से उत्पन्न अतिसार में इसे देते हैं। जीर्ण विबन्ध में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। इससे मूत्र का रंग गहरा हो जाता है। इसके साथ सोंठ, सौंफ आदि सुगंध द्रव्य देने से मरोड़ नहीं होती।

इसको जल में पीसकर लेप करने से सूजन कम होती है।

अथ रत्नम्। तस्य निरुक्तिमाह

धनार्थिनो जनाः सर्वे रमन्तेऽस्मिन्नतीवयत्। ततो रत्नमिति प्रोक्तं शब्दशास्त्रविशारदैः॥१६५॥

रत्न शब्द की निरुक्ति—धन को चाहने वाले सभी लोग इसमें अत्यन्त रमण करते हैं अर्थात् अधिक आनन्दित हो अपना चित्त लगाते हैं—इससे शब्दशास्त्र के जानने वालों ने इसे 'रत्न' कहा है॥ १६५॥

अथ रत्ननामान्याह

रत्नं क्लीबे मणिः पुंसि स्त्रियामपि निगद्यते। तत्तु पाषाणभेदोऽस्ति मुक्तादि च तदुच्यते॥

रत्न के संस्कृत नाम—रत्न (यह नपुंसकलिङ्गी होता है), मणि (यह पुंल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग दोनों में होता है) ये दोनों हैं। यह (रत्न) पत्थर के भेद हीरा आदि का तथा मोती आदि का बोधक होता है॥ १६६।

तथा चामरसिंहः—

रत्नं मणिर्द्वयोरश्मजातौ मुक्ताऽऽदिकेऽपि च॥ १६६॥

यहाँ पर अमरसिंह ने भी अमरकोश में इसी बात को कहा है कि—"रत्न (नपुंसकलिङ्गी) तथा मणि (यह पुंलिङ्गी तथा स्त्रीलिङ्गी भी है) ये दोनों शब्द पत्थर की जाति हीरा आदि और मोती आदि के वाचक हैं।" यह समझना चाहिये॥ १६६॥

अथ रत्नानां संख्यामाह

रत्नं गारुत्मतं पुष्परागो माणिक्यमेव च। इन्द्रनीलश्च गोमेदस्तथा वैदूर्यमित्यपि॥
मौक्तिकं विद्रुमश्चेति रत्नान्युक्तानि वै नव॥ १६७॥

रत्नों की संख्या—रत्न (हीरा), गारुत्मत (पन्ना), पुष्पराग (पुखराज), माणिक्य (मानिक), इन्द्रनील (नीलम), गोमेद, वैदूर्य (लहसुनिया), मौक्तिक (मोती), विद्रुम (मूंगा) ये नव रत्न कहे हुये हैं॥ १६७॥

अथ विष्णुधर्मोत्तरेऽपि नवरत्ननिरूपणमाह

मुक्ताफलं हीरकं च वैदूर्यं पद्मरागकम् ॥ १६८ ॥
पुष्परागं च गोमेदं नीलं गारुत्मतं तथा । प्रवालयुक्तान्येतानि महारत्नानि वै नव ॥१६९॥

विष्णुधर्मोत्तर में भी नवरत्न का निरूपण इस प्रकार है कि—१ मोती, २ हीरा, ३ लहसुनिया, ४ मानिक, ५ पोखराज, ६ गोमेद, ७ नीलम, ८ पन्ना, ९ मूंगा ये नव महारत्न हैं ॥ १६८-१६९ ॥

तत्र हीरकः । तस्य नामानि सलक्षणान् भेदानाह

हीरकः पुंसि वज्रोऽस्त्री चन्द्रो मणिवरश्च सः । स तु श्वेतः स्मृतो विप्रो लोहितः क्षत्रियः स्मृतः ।
पीतो वैश्योऽसितः शूद्रश्चतुर्वर्णात्मकश्च सः ॥ १७० ॥

हीरा के संस्कृत नाम—हीरक (पुंलिङ्गी), वज्र (पुंलिङ्गी तथा नपुंसकलिङ्गी), चन्द्र और मणिवर ये सब हैं । भेदों के लक्षण—जो हीरा सफेद रङ्ग का होता है वह—ब्राह्मण, लाल रङ्ग का—क्षत्रिय, पीले रङ्ग का—वैश्य, असित रंग का शूद्र वर्ण का होता है, इस भांति से हीरा की ४ जातियां होती हैं ॥ १७० ॥

अथ तद्भेदानां गुणानाह

रसायने मतो विप्रः सर्वसिद्धिप्रदायकः । क्षत्रियो व्याधिविध्वंसी जरामृत्युहरः स्मृतः ॥
वैश्यो धनप्रदः प्रोक्तस्तथा देहस्यदार्ढ्यकृत् । शूद्रो नाशयति व्याधीन् वयःस्तम्भं करोति च ॥

हीरा के भेदों के गुण—ब्राह्मण वर्ण का हीरा—रसायन के लिये उपयोगी तथा सर्वसिद्धियों का देनेवाला होता है । क्षत्रिय वर्ण का हीरा—रोगों को नष्ट करने वाला एवम् जरा (बुढ़ापा) तथा मृत्यु को दूर करने वाला होता है । वैश्यवर्ण का हीरा धन देनेवाला तथा देह को दृढ़ करने वाला होता है । शूद्रवर्ण का हीरा—रोगों को नाश करने वाला तथा आयु को स्थिर रखने वाला अर्थात् शरीर में वृद्धावस्थाजन्य क्षीणता को नहीं आने देने वाला होता है ॥ १७१-१७२ ॥

अथ पुंस्त्रीनपुंसकभेदात् त्रिविधस्य तस्य लक्षणानिगुणानुपयोगविषयाँश्चाह

पुंस्त्रीनपुंसकानीह लक्षणीयानि लक्षणैः । सुवृत्ताः फलसम्पूर्णास्तेजोयुक्ता बृहत्तराः ॥
पुरुषास्ते समाख्याता रेखाविन्दु विवर्जिताः । रेखाबिन्दुसमायुक्ताः षडस्रास्ते स्त्रियः स्मृताः ॥

हीरे के अन्य प्रकार से तीन भेद—हीरे के पुरुष, स्त्री तथा नपुंसक ये तीन भेद होते हैं जो आगे कहे जाने वाले लक्षणों से पहचाने जाते हैं । लक्षण—पुरुष जाति के जो हीरे होते हैं वे भली भाँति गोलाकार, फल से पूर्ण, तेज से युक्त, अत्यन्त बड़े एवम् रेखा तथा विन्दु से रहित होते हैं । स्त्री जाति के हीरे—पूर्वोक्त गुणों से युक्त होते हुये केवल रेखा बिन्दुओंसे युक्त तथा ६ कोण वाले होते हैं ॥ १७३-१७४ ॥

❀ षडस्रा=षट्कोणा ॥ १७३-१७४ ॥

यहाँ पर मूल में "षडस्राः" पद से ६ कोण वाले यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १७३-१७४ ॥

त्रिकोणाश्च सुदीर्घास्ते विज्ञेयाश्च नपुंसकाः । तेषु स्युः पुरुषाः श्रेष्ठा रसबन्धनकारिणः ॥
स्त्रियः कुर्वन्ति कायस्य कान्ति स्त्रीणां सुखप्रदाः । नपुंसकास्त्ववीर्याः स्युरकामा सत्ववर्जिताः
स्त्रियः स्त्रीभ्यः प्रदातव्याः क्लीवंक्लीबे प्रयोजयेत् । सर्वेभ्यः सर्वदादेयाःपुरुषा वीर्यवर्धना ॥

नपुंसक जाति के हीरे—त्रिकोण युक्त तथा अधिक लम्बे होते हैं ।

गुण—इनमें पुरुष-जाति के हीरे-श्रेष्ठ तथा रस के बन्धन करने वाले होते हैं। स्त्री-जाति के हीरे-शरीर की कान्ति को बढ़ाने वाले एवम् विशेष रूप से स्त्रियों के लिये सुखदायी होते हैं। नपुंसकजाति के हीरे—वीर्यहीन, काम ह्रासक तथा शक्ति से रहित होते हैं।

उपयोग के विषय—स्त्री जाति के हीरे—स्त्रियों के लिये, नपुंसक जाति के हीरे—नपुंसकों के लिये देने चाहिये एवं वीर्यवर्धक पुरुष जाति के हीरे—सभी के लिये सदा देने योग्य होते हैं ॥ १७५-१७७ ॥

अथाशुद्धहीरकदोषानाह

अशुद्धं कुरुते वज्रं कुष्ठं पार्श्वव्यथां तथा। पाण्डुतां पङ्गुलत्वं च तस्मात्संशोध्य मारयेत् ॥

अशुद्ध हीरा के दोष—बिना शोधन किया हुआ हीरा—कुष्ठ, पसलियों में पीड़ा, पाण्डु तथा पङ्गु रोग (पङ्गुल) को उत्पन्न करने वाला होता है अत एव शोधन करके भस्म करना उचित है १७८ ॥

अथ मारितस्य वज्रस्य गुणानाह

आयुः पुष्टिं बलं वीर्यं वर्णं सौख्यं करोति च। सेवितं सर्वरोगघ्नं मृतं वज्रं न संशयः ॥

भली भाँति शुद्ध हीरे के भस्म के गुण—हीराभस्म—आयु, पुष्टि, बल, वीर्य, शरीर का सुन्दर वर्ण तथा सुख की वृद्धि करता है। अतः सेवन करने से वह सम्पूर्ण रोगों को दूर करने वाला होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ १७९ ॥

अथ गारुत्मतम् (पन्ना इति लोके)। तस्य नामान्याह

गारुत्मतं मरकतमश्मगर्भो हरिन्मणिः ॥ १८० ॥

पन्ना के संस्कृत नाम-गारुत्मत, मरकत, अश्मगर्भ और हरिन्मणि ये सब हैं।

अथ माणिक्यम् (चुन्नी)। तस्य नामान्याह

माणिक्यं पद्मरागः स्याच्छोणरत्नञ्च लोहितम् ॥ १८१ ॥

मानिक के संस्कृत नाम—माणिक्य, पद्मराग, शोणरत्न और लोहित ये सब हैं ॥ १८१ ॥

अथ पुष्परागः (पुखराज)। तस्य नामान्याह

पुष्परागो मञ्जुमणिः स्याद्वाचस्पतिवल्लभः ॥ १८२ ॥

पोखराज के संस्कृत नाम—पुष्पराग, मन्जुमणि तथा वाचस्पतिवल्लभ ये सब हैं ॥ १८२ ॥

अथेन्द्रनीलं गोमेदश्च (नीलम और गोमेदमणि)। तयोर्नामान्याह

नीलं तथेन्द्रनीलञ्च गोमेदः पीतरत्नकम् ॥ १८३ ॥

नीलम के संस्कृत नाम—नील और इन्द्रनील ये सब हैं।

गोमेद के संस्कृत नाम—गोमेद तथा पीतरत्नक ये सब हैं ॥ १८३ ॥

अथ वैदूर्यम् (लहसुनिया)। तस्य नामान्याह

वैदूर्यं दूरजं रत्नं स्यात्केतुग्रहवल्लभम् ॥ १८४ ॥

लहसुनिया के संस्कृत नाम—वैदूर्य, दूरज रत्न तथा केतुग्रहवल्लभ ये सब हैं ॥ १८४ ॥

अथ मौक्तिकम् । तस्य नामान्युद्भवस्थानानि गुणाँश्चाह

मौक्तिकं शौक्तिकं मुक्ता तथा मुक्ताफलञ्च तत् । शुक्तिः शङ्खो गजः क्रोडः फणी मत्स्यश्च दर्दुरः ॥
वेणुरेते समाख्यातास्तज्ज्ञैर्मौक्तिकयोनयः । मौक्तिकं शीतलं वृष्यं चक्षुष्यं बलपुष्टिदम् ॥

मोती के संस्कृत नाम—मौक्तिक, शौक्तिक, मुक्ता तथा मुक्ताफल ये सब हैं। मोती के उत्पत्ति स्थान—सीप, शङ्ख, हाथी, सूअर, साँप, मछली, मेढक और बाँस ये आठ मोतियों के निकलने के स्थान मोतियों के विषय में अभिज्ञ लोगों ने बतलाये हैं ॥

मोती—शीतल, वीर्यवर्धक, नेत्रों के लिये हितकर, बल तथा पुष्टि को देने वाला होता है ॥ १८५ ॥

अथ प्रवालः (मूँगा) । तस्य नामान्याह

पुंसि क्लीबे प्रवालः स्यात्पुमानेव तु विद्रुमः ॥ १८६ ॥

मूँगा के संस्कृत नाम—प्रवाल (यह पुँल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग में होता है) तथा विद्रुम (यह केवल पुँल्लिङ्ग में होता है) ये सब हैं ॥ १८६ ॥

अथ रत्नानां गुणानाह

रत्नानि भस्मितानि स्युर्मधुराणि सराणि च । चक्षुष्याणि च शीतानि विषघ्नानि धृतानि च ॥
मङ्गल्यानि मनोज्ञानि ग्रहदोषहराणि च ॥ १८७ ॥

रत्नों के गुण—पूर्वोक्त रत्नों के भस्म खाने पर मधुर रसयुक्त, सारक, नेत्रों के लिये हितकर, शीतल तथा विषनाशक होते हैं। और धारण करने पर-मङ्गलदायक, सुन्दरता को बढ़ाने वाले तथा ग्रह सम्बन्धी दोषों को दूर करने वाले होते हैं ॥ १८७ ॥

किं रत्नं कस्य ग्रहस्य प्रीतिकारित्वेन दोषहरं भवतीति प्रश्ने तदुत्तरमाह, रत्नमालायाम्—

माणिक्यं तरणेः सुजातममलं मुक्ताफलं शीतगो-
र्माहेयस्य तु विद्रुमो निगदितः सौम्यस्य गारुत्मतम् ।
देवेज्यस्य च पुष्परागमसुराचार्यस्य वज्रं शने-
र्नीलं निर्मलमन्ययोर्निगदिते गोमेदवैदूर्यके ॥ १८८ ॥

"कौन रत्न किस ग्रह की प्रसन्नता उत्पन्न करने से उसके दोष को दूर करने वाले होते हैं" इस प्रश्न का उत्तर "रत्नमाला" में इस प्रकार दिया हुआ है—

मानिक—सूर्य का, अच्छी जाति का निर्मल मोती-चन्द्रमा का, मूंगा-मङ्गल का, पन्ना-बुध का, पोखराज-बृहस्पति का, हीरा-शुक्र का, निर्मल नीलम-शनि का, गोमेद और लहसुनिया ये दोनों-क्रम से राहु तथा केतु के रत्न कहे हुये हैं। अतः इनके धारण करने से उन उन ग्रहों के दोष दूर होते हैं ॥ १८८ ॥

अथोपरत्नानि । तेषां निरूपणमाह

उपरत्नानि काचश्च कर्पूराश्मा तथैव च । मुक्ताशुक्तिस्तथा शङ्ख इत्यादीनि बहून्यपि ॥१८९॥

उपरत्नों का निरूपण—काच, कपूरनिया, सीप तथा शंख इत्यादि बहुत से उपरत्न हैं ॥१८९ ॥

*उपरत्नानि = गौणरत्नानि । कर्पूराश्मा = कर्पूरा, कपूरनिया । मुक्ताशुक्तिः = 'सीप' इति लोके प्रसिद्धा ॥ १८९ ॥

यहां पर मूल में—"उपरत्न" से गौणरत्न अर्थ समझना चाहिये। "कर्पूराश्मा" से कर्पूरा कर्पूरनिया, "मुक्ताशुक्ति" से "सीप" अर्थ समझना चाहिये ॥ १८९ ॥

अथ तेषां गुणानाह

गुणा यथैव रत्नानामुपरत्नेषु ते तथा। किन्तु किञ्चित्ततो हीना विशेषोऽयमुदाहृतः ॥१९०॥

उपरत्नों के गुण—रत्नों में जो गुण होते हैं वे ही गुण उपरत्नों में भी होते हैं किन्तु विशेषता यह है कि रत्नों की अपेक्षा इनमें स्वल्प होते हैं ॥ १९० ॥

अथ विषम्। तस्य नाम भेदानाह

विषं तु गरलः क्ष्वेडस्तस्य भेदानुदाहरे। वत्सनाभः सहारिद्रः सक्तुकश्च प्रदीपनः ॥
सौराष्ट्रिकः शृङ्गिकश्च कालकूटस्तथैव च। हालाहलो ब्रह्मपुत्रो विषभेदा अमी नव ॥ १

विष के संस्कृत नाम—विष (नपुंसकलिङ्गी), गरल तथा क्ष्वेड ये सब हैं।

भेद–१ वत्सनाभ, २ हारिद्र, ३ सक्तुक, ४ प्रदीपन, ५ सौराष्ट्रिक, ६ शृङ्गिक, ७ का ८ हालाहल, ९ ब्रह्मपुत्र ये ९ भेद स्थावर विष के होते हैं ॥ १९१ ॥

विषवर्ग

वक्तव्य—यहां पर विषों के ९ भेद बतलाये गये हैं जिनमें से वत्सनाभ एवं शृङ्गिक व्य में प्रयोग में लाये जाते हैं। अन्य विषों का व्यावहारिक ज्ञान लुप्तप्राय है। वत्सनाभ एवं के नाम से जिन द्रव्यों का व्यवहार में उपयोग किया जाता है वह एकोनाइट (Aconite विभिन्न जातियों (Species) के मूल हैं किन्तु इनका जो स्वरूप निम्न मूल श्लोः किया गया है वह एकोनाइट से पूर्ण रूप से मेल नहीं खाता। चूंकि एकोनाइट व अनेक विषैली जातियां पाई जाती हैं इसलिये संभव है कि उपर्युक्त विषों में से कुछ अन्य इन्हीं में से हों। इस संबन्ध में व्यापक अनुसंधान की आवश्यकता है।

तत्र वत्सनाभः। तस्य स्वरूपनिरूपणमाह

सिन्दुवारसदृक्पत्रो वत्सनाभ्याकृतिस्तथा। यत्पार्श्वे न तरोर्वृद्धिर्वत्सनाभः स भाषि

वत्सनाभ विष के स्वरूप का वर्णन–जिसके पत्ते संभालू के पत्तों के समान हों तथा बछड़े की नाभि के समान हो और जिसके नजदीक दूसरे वृक्षों की वृद्धि न हो सकती हो 'वत्सनाभ' समझना चाहिये ॥ १९२ ॥

वक्तव्य—व्यवहार में जिस द्रव्य का उपयोग किया जाता है उससे उपर्युक्त वर्णन मेल खाता।

वत्सनाभ

हि०–विष, मीठा विष, वच्छनाग, वचनाग, तेलिया विष। बं०-कठ विष, वत्सना विष। म०–बचनाग। गु०–बच्छनाग, वसनाग। क०–वत्सनाभी। ते०–नाभि, वसनाभि मीठा विष। ता०–वत्सनाभि। अ०–विष। फा०–बिषनाग, जहर। अं०–Aconit नाइट)। ले०–*Aconitum ferox Wall.* (एकोनाइटम फेरॉक्स)। Fam. Ranun (रेनन्क्यूलेसी)।

यह हिमालय की चोटियों पर, नेपाल तथा आसाम में उत्पन्न होता है। इसका क्षुप-१-२ हाथ ऊँचा होता है। पत्ते-करतलाकार एवं अनेक भागों में विभक्त होते हैं। पुष्प-लंबे पुष्पदण्ड पर नीले पुष्प आते हैं। मूल-युग्म एवं कंदसदृश होता है जिसमें नये वर्ष का कन्द १-$1\frac{1}{2}$ इञ्च लम्बा $\frac{3}{5}$-$\frac{3}{4}$ इञ्च मोटा, अंडाकार आयताकर से लेकर दीर्घवृत्ताकार, कुछ सूत्राकार उपमूलों से युक्त एवं तोड़ने पर कुछ पिष्टमय पीताभ होता है। तथा पहले वर्ष का कन्द बहुत सिकुड़ा हुआ एवं झुर्रीदार होता है। इसमें गन्ध नहीं होती और स्वाद में पहले मीठा और फिर कुछ कड़ुवा जान पड़ता है। चबाने से थोड़ी देर बाद चिनचिनाहट और शून्यता मालूम होती है जो कुछ समय तक बनी रहती है।

वक्तव्य—भारत में एकोनाइट (Aconite) की २४ जातियां (Species) पाई जाती हैं। एकोनाइटम नेपेल्लस (Aconitum napellus Linn.) जो ब्रिटिश फार्माकोपिया में मान्य है अपने यहां नहीं होता। उसका प्रतिनिधि ए. चॅस्मेन्थम् है जिसका विस्तृत वर्णन आगे शृङ्गिक के अन्तर्गत किया गया है। यह ए. नेपेल्लस से अधिक वीर्यवाला होता है। यह भी बाजार में कम आता है। ए. फेराक्स के नाम से बाजार में इसके साथ ए. डिनोह्राइझम (A. deinorrhizum Stapf) एवं ए. बालफोराई (A. balfourii Stapf) के मूल अधिक मात्रा में आते हैं। इसमें ए. लेसिनिएटम (A. laciniatum Stapf) एवं ए. स्पाइकेटम (A. spicatum Stapf) के मूलों का भी मिश्रण रहता है। इन्हीं में से सफेद जाति के नाम से ए. डिनोह्राइझम तथा ए. बालफोराई के मूल बिकते हैं। वत्सनाभ तथा शृङ्गिक इन्हीं विभिन्न जातियों में से हैं तथा इनके गुणकर्मों में समानता होने के कारण एक का दूसरे के स्थान पर प्रयोग होता है। शृङ्ग के समान मूल वैसे तो कुछ-कुछ सभी जातियों का है किन्तु ए. डिनोह्राइझम का कुछ अधिक शृङ्ग समान मालूम होता है। मूलों को काला बनाने के लिये व्यापारी कई प्रक्रियाओं को करते हैं। एक में इन्हें कसीस के साथ गोमूत्र में भिगोकर उबालते हैं तथा बाद में सुखाकर ऊपर से सरसों का तेल लगा देते हैं। ऐसी धारणा है कि इस विधि से इसमें कीड़े नहीं लगते।

उपर्युक्त विषैली जातियों के अतिरिक्त एकोनाइट की कुछ ऐसी भी जातियां हैं जिनमें विषैला-पन नहीं होता जैसे अतिविषा एवं प्रतिविषा। इनको मुख में रखने से चुनचुनाहट नहीं होती जैसी विषैली जातियों में होती है। इनका वर्णन पहले हरीतक्यादि वर्ग में (पृष्ठ १८७) किया गया है। इन विषैली जातियों के गुणधर्मों में समानता होने के कारण इसके गुण, प्रयोग आदि आगे शृङ्गिक के साथ ही दिये गये हैं।

अथ हारिद्रः। तस्य स्वरूपनिरूपणमाह

हरिद्रातुल्यमूलो यो हारिद्रः स उदाहृतः॥ १९३॥

हारिद्र विष का स्वरूप—हल्दी के तुल्य जिसकी जड़ हो उसे "हारिद्र विष' कहते हैं॥१९३॥

अथ सक्तुकः। तस्य स्वरूपमाह

यद्ग्रन्थिः सक्तुकेनैव पूर्णमध्यः स सक्तुकः॥ १९४॥

सक्तुक का स्वरूप-जिसकी गाँठें भीतर से सत्तू के समान चूर्ण से युक्त हों वह "सक्तुक" विष कहलाता है॥ १९४॥

अथ प्रदीपनः । तस्य स्वरूपमाह

वर्णतो लोहितो यः स्याद्दीप्तिमान् दहनप्रभः। महादाहकरः पूर्वैः कथितः स प्रदीपनः ॥१९५॥

प्रदीपन विष का स्वरूप— जिसका वर्ण लाल हो तथा जो अग्नि के समान कान्ति वाला एवम् अत्यन्त दाहकारक हो उसे "प्रदीपन" विष पूर्व के विद्वानों ने कहा है ॥ १९५ ॥

अथ सौराष्ट्रिकः । तस्य स्वरूपमाह

सुराष्ट्रविषये यः स्यात्स सौराष्ट्रिक उच्यते ॥ १९६ ॥

सौराष्ट्रिक विष का स्वरूप— सुराष्ट्र (गुजरात) देश में जो उत्पन्न होने वाला विष है उसे "सौराष्ट्रिक" कहते हैं ॥ १९६ ॥

अथ शृङ्गिकः । तस्य स्वरूपमाह

यस्मिन् गोशृङ्गके बद्धे दुग्धं भवति लोहितम्। स शृङ्गिक इति प्रोक्तो द्रव्यतत्त्वविशारदैः ॥

शृङ्गिक का स्वरूप—द्रव्यों के तत्त्व को जानने वाले पण्डितों ने उसे "शृङ्गिक" कहा है जिसे गौ के सींग में बांध देने से उसका दूध लाल वर्ण का हो जाता हो ॥ १९७ ॥

शृङ्गिक विष

वक्तव्य—इससे संबंधित वक्तव्य पहले विषवर्ग एवं वत्सनाभ के साथ लिखा गया है जिसे पाठक वहीं देखें। एकोनाइट की एक महत्त्व की जाति का वर्णन, गुण, प्रयोग आदि यहाँ दिया जा रहा है जो सभी विषैली एकोनाइट के लिये सामान्य है। वत्सनाभ से निम्न जाति अधिक वीर्यवान् होने के कारण ग्रन्थोक्त प्रमाण से इसको आधी मात्रा में योगों में डालना चाहिये।

सं०-शृङ्गिक (जो रोग को नष्ट करे या जो शृङ्ग के सदृश हो)। हिं—मोहरी, पिकं, सिंगिया विष। कश्मी०-बनबलनग, मोहरी। अं०-Indian Aconite (इण्डियन एकोनाइट)। ले०-*Aconitum chasmanthum Stapf ex Holmes* (एकोनाइटम चेस्मेन्थम)। Fam. Ranunculaceae (रेनन्क्यूलेसी)।

यह पश्चिम हिमालय के चित्राल एवं हजारा से कश्मीर तक, ७००० से १२००० फीट की ऊंचाई तक पाया जाता है।

इसका क्षुप—द्विवर्षायु एवं २ से ४ फीट ऊंचा होता है। पत्ते—अनेक, नीचे के अधिक लंबे वृन्त युक्त फलक १$\frac{3}{5}$-२$\frac{3}{5}$ इञ्च लंबा एवं २-३$\frac{3}{5}$ इञ्च चौड़ा, करतलाकार त्रिखण्डित जिनके खण्ड अनेक रेखाकार भागों में विभक्त रहते हैं। पुष्प—नीले या नील मिश्रित श्वेताभ प्रायः १ फीट लंबे गुच्छ में आते हैं। फल-फलियां कंगूरेदार होती हैं।

मूल-युग्म एवं कन्दसदृश होता है। नये वर्ष का कन्द शंकाकार, शंकाकार-बेलनाकार, आधार की तरफ चौड़ा, क्वचित् २ इंच तक लंबा एवं $\frac{1}{2}$-$\frac{3}{7}$ इञ्च मोटा, गहरे भूरे या कृष्णाभ भूरे रंग का, चिकना किन्तु सूखनेपर झुर्रीदार एवं अनेक उपमूलों या टूटे हुये उनके चिन्हों से युक्त होता है। तोड़ने पर भग्न उपास्थिसदृश (Cartilaginous), कठोर, बाह्य भाग में भूरापन लिये हुवे एवं भीतर श्वेत होता है। प्रथमवर्ष का कंद सिकुड़ा हुआ, एवं गहरी झुर्रीयों से युक्त होता है। यह बाहर से कृष्ण एवं अन्दर संपूर्ण भूरा होता है। इनका स्वाद प्रारंभ में कुछ कड़वा तथा बाद में चुनचुनाहट बनी रहती है। इनका संग्रह सितंबर के अंत में किया जाता है।

शोधन—इन्हीं मूलों का शोधन के पश्चात् चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। इनको टुकड़े टुकड़े कर, ३ दिन ताजे गोमूत्र में भिगोकर, चौथे दिन गाय के दूध में दोलायंत्र में ३ घंटे मंद आँच पर पकावे। फिर उष्णजल से धोकर छाया में सुखा लें। इस विधि से इनका विषैलापन कम हो जाता है। बाह्य प्रयोग के लिये अशोधित द्रव्य का उपयोग किया जा सकता है।

रासायनिक संगठन—इसमें इन्डेकोनाइटीन (Indaconitine, C_{34} H_{47} O_{10} N) नामक विषैला क्षाराम ४.३% होता है। यह क्षाराम की मात्रा ब्रिटिश फार्माकोपिया में मान्य द्रव्य ए. नेपेल्लस से १० गुना अधिक है किन्तु एकोनाइटीन से केवल ०.७ गुना कार्यकर है। इसके विलयन की अत्यल्प मात्रा को जिह्वाग्र पर लगाने से उसी की तरह चुनचुनाहट होती है। इसके अतिरिक्त इसमें एकोनाइटिक एसिड एवं स्टार्च पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, व्यवायि, ज्वरघ्न, स्वेदजनन, हृदयोत्तेजक, पीडाशामक, शोथहर, कफवातहर एवं बल्य है। यह अत्यन्त विषैला होनेके कारण इसका सावधानी के साथ प्रयोग करना चाहिये। आधुनिक मत के अनुसार इसके प्रयोग से वातनाडियों के परिसरीय अंतिम भागों की क्रिया कम हो जाती है। अल्प मात्रा में इसका हृदय पर कोई परिणाम नहीं होता है किन्तु अधिक मात्रा से नाडी की गति तथा शक्ति कम होती है जिससे रक्त का दबाव भी कम हो जाता है। हृदय के विकारों में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

आयुर्वेद में इसका प्रयोग अन्य औषधियों के साथ ज्वर, अतिसार, अग्निमांद्य, ग्रहणी, कास, श्वास एवं वातरोगों में किया जाता है। शोथ के कारण जब ज्वर हो तथा शरीर के किसी अंग में पीडा हो तो इससे अच्छा लाभ होता है।

शरीर के किसी अंग में जब पीडा रहती है तब इसका बाह्य लेप भी करते हैं। इसका प्रचूषण चर्म से भी होने के कारण बाह्य लेप में भी सावधानी आवश्यक है। (विस्तृत प्रयोगों के लिये रसरत्नसमुच्चय अ० २९ देखें)।

विषलक्षण—अधिक मात्रा से विषैले लक्षण उत्पन्न होते हैं। अंगुलियों में शून्यता तथा बाद में चुनचुनाहट एक विशिष्ट लक्षण है। पेट में गरमी का अनुभव, हृल्लास, श्वास तथा नाडी की मन्द गति तथा चर्म शीतल एवं आर्द्र आदि लक्षण विषाक्तता के द्योतक हैं।

विष चिकित्सा—इसमें रोगी को लेटाकर रखना, उष्णता पहुंचाना, वमन कराना या आमाशय प्रक्षालन कराना एवं आवश्यक होने पर कृत्रिम श्वसन कराना आदि उपाय करने चाहिये। उत्तेजक औषधियां जैसे स्ट्रिकनीन, एट्रोपीन, कोरामीन, डिजिटॅलिस आदि का आवश्यकतानुसार प्रयोग करना चाहिये। गाय के घृत में सोहागा मिलाकर पिलाने से या घृत एवं शहद के साथ अर्जुन की छाल का चूर्ण चटाने से भी विष प्रभाव दूर होता है (रसकामधेनु)।

मात्रा—$\frac{1}{16}$ से $\frac{1}{8}$ रत्ती।

अथ कालकूटः। तस्योत्पत्ति स्वरूपञ्चाह

देवासुररणे देवैर्हतस्य पृथुमालिनः। दैत्यस्य रुधिराज्जातस्तरुरश्वत्थसन्निभः॥
निर्यासः कालकूटोऽस्य मुनिभिः परिकीर्त्तितः। सोऽहिच्छेत्रे शृङ्गवेरे कोङ्कणे मलये भवेत्॥

कालकूट विष का उत्पत्तिस्थान—देवता तथा असुरों के युद्ध में जब देवताओं ने पृथुमाली नामक दैत्य को मारा तब उसके रुधिर से जो पीपल के समान वृक्ष उत्पन्न हुआ, उसी के गोंद को मुनियों ने "कालकूट" कहा है। वह अहिक्षेत्र, शृङ्गबेर, कोंकण तथा मलय देश में उत्पन्न होता है॥१९८॥

अथ हालाहलः। तस्य स्वरूपमुत्पत्तिं चाह

गोस्तनाभफलो गुच्छस्तालपत्रच्छदस्तथा। तेजसा यस्य दह्यन्ते समीपस्था द्रुमादयः॥
असौ हालाहलो ज्ञेयः किष्किन्धायां हिमालये। दक्षिणाब्धितटे देशे कोङ्कणेऽपि च जायते॥

हालाहल विष का स्वरूप—जिसके फलों के गुच्छे—दाख के फलों के गुच्छों के समान हों तथा पत्ते—ताल के पत्तों के समान हों, एवम्—जिसके तेज से समीप के पेड़ जल जाते हों, उसे "हालाहल" विष समझना चाहिये। यह—किष्किन्धा, हिमालय पर्वत, दक्षिण समुद्रतट के देश तथा कोंकण में उत्पन्न होता है॥ १९९॥

अथ ब्रह्मपुत्रः। तस्य स्वरूपमाह

वर्णतः कपिलो यः स्यात्तथा भवति सारतः। ब्रह्मपुत्रः सविज्ञेयो जायते मलयाचले॥

ब्रह्मपुत्र विष का स्वरूप—जिसका वर्ण कपिल रङ्ग का हो तथा जिसका सार भाग भी कपिल वर्ण का हो उसे "ब्रह्मपुत्र विष" जानना चाहिये और वह मलय पर्वत पर उत्पन्न होता है॥२००॥

अथ विषस्य लक्षणोपयोगसहितान् भेदानाह

ब्राह्मणः पाण्डुरस्तेषु क्षत्रियो लोहितप्रभः। वैश्यः पीतोऽसितः शूद्रो विष उक्तश्चतुर्विधः॥
रसायने विषं विप्रं क्षत्रियं देहपुष्टये। वैश्यं कुष्ठविनाशाय शूद्रं दद्याद्वधाय हि॥ २०२॥

विष के भेद—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये ४ भेद विष के हैं। उनके लक्षण—इनमें ब्राह्मण जाति का विष—पाण्डुर (श्वेत) वर्ण का, क्षत्रिय जाति का विष—रक्तवर्ण का, वैश्य जाति का विष—पीले वर्ण का तथा शूद्र जाति का विष—काले वर्ण का होता है।

उपयोग—इनमें ब्राह्मण जाति का विष—रसायन के कार्य में, क्षत्रिय जाति का विष—शरीर को पुष्ट करके के लिये, वैश्य जाति का विष—कुष्ठ दूर करके के लिये तथा शूद्र जाति का विष—वध करने के कार्य में उपयोगी होता है॥ २०१-२०२॥

अथ विषस्य दुर्गुणानाह

विषं प्राणहरं प्रोक्तं व्यवायि च विकाशि च। आग्नेयं वातकफहृद्योगवाहि मदावहम्॥२०३॥

विष के दुर्गुण—विष—प्राणनाशक, व्यवायी, विकाशी, आग्नेय, वात तथा कफ नाशक, योगवाही तथा मदावह होता है॥ २०३॥

*व्यवायि = सकलकायगुणव्यापनपूर्वकं पाकगमनशीलम्। विकाशि = ओजःशोषपूर्वकं सन्धिबन्धशिथिलीकरणशीलम्। आग्नेयम् = अधिकाग्न्यंशम्। योगवाहि = सङ्गिगुणग्राहकम्। मदावहं = तमोगुणाधिक्येन बुद्धिविध्वंसकम्॥ २०३॥

यहां पर मूल में "व्यवायि" का "प्रथम सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर तत्पश्चात् पचने वाला" यह अर्थ समझना चाहिये और "विकाशि" पद का 'शरीर में स्थित ओज को सुखाता हुआ सारे सन्धिबन्धनों को शिथिल करने वाला'; "आग्नेयम्" पद का "अधिक अग्नि के अंश से युक्त"; "योगवाहि" पद का "अपने साथी के गुणों को उत्तेजित करने वाला" तथा "मदावहम्" पद का "तमो गुण की अधिकता से बुद्धि का विध्वंस करने वाला" यह अर्थ समझना चाहिये॥ २०३॥

अथ शोधितविषस्य गुणानाह

तदेव युक्तियुक्तं तु प्राणदायि रसायनम् । योगवाहि त्रिदोषघ्नं बृंहणं वीर्यवर्द्धनम् ॥ २०४ ॥

शुद्ध किया हुआ विष—यदि पूर्वोक्त विषों को युक्ति युक्त करके अर्थात् शास्त्रानुकूल शुद्ध करके खाया जाय तो वे ही प्राण शक्ति को बढ़ाने वाले, रसायन (जरा-अपमृत्यु को दूर करने वाले), योगवाही, त्रिदोषनाशक, बृंहण (रस रक्तादि वर्धक) एवं वीर्यवर्धक हो जाते हैं ॥ २०४ ॥

अथ विषशोधनस्यावश्यकतामाह

ये दुर्गुणा विषेऽशुद्धे ते स्युर्हीना विशोधनात् । तस्माद्विषं प्रयोगेषु शोधयित्वा प्रयोजयेत् ॥

विषों के शोधने की आवश्यकता—जो दुर्गुण अशुद्ध (बिना शोधे हुए) विष में कहे हुये हैं, वे सब शोधन करने से अत्यन्त कम हो जाते हैं। अतः औषधियों में विष का शोधन करके ही प्रयोग करना उचित है ॥ २०५ ॥

अथोपविषाः । तेषां निरूपणमाह

अर्कक्षीरं स्नुहीक्षीरं लाङ्गली करवीरकः । गुञ्जाऽहिफेनो धत्तूरः सप्तोपविषजातयः ॥ २०६ ॥

उपविषों का निरूपण—(१) मदार का दूध, (२) थूहर का दूध, (३) कलिहारी, (४) कनेर, (५) घुंमची, (६) अफीम एवं (७) धतूरा ये सात उपविष की जातियां हैं ॥ २०० ॥

*उपविषाः = गौणविषाः । एषां गुणास्तत्र तत्र द्रष्टव्याः ॥ २०६ ॥

यहां पर मूल में "उपविष" का "गौणविष" यह अर्थ समझना चाहिये और इन सब के गुण जहां २ पर पहले उल्लिखित हों वहां २ पर कृपया देख लें, जैसे—

मदार के	दूधका गुण—	गुडूच्यादिवर्ग—	पृ० ३०३
थूहर के	"	"	" ३०७
कलिहारीका	गुण	"	" ३१२
कनेर का	"	"	" ३१४
गुञ्जा का	"	"	" ३५४
अफीम का	"	हरीतक्यादिवर्ग—	" १४७
धतूरे का	"	गुडूच्यादिवर्ग—	" ३१७

इन सब स्थानों पर देख लें ॥ २०६ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचितेभावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे
अष्टमं धात्वादिवर्गः समाप्तः ॥ ८ ॥

अथ नवमो धान्यवर्गः

तत्र धान्यानां भेदाः । तानाह

शालिधान्यं व्रीहिधान्यं शूकधान्यं तृतीयकम् ।
शिम्बीधान्यं क्षुद्रधान्यमित्युक्तं धान्यपञ्चकम् ॥ १ ॥

धान्यों के भेद— १ शालिधान्य, २ व्रीहिधान्य, ३ शूकधान्य, ४ शिम्बीधान्य, ५ क्षुद्रधान्य ये ५ भेद हैं ॥ १ ॥

अथ शाल्यादीनां भेदानाह

शालयो रक्तशाल्याद्या व्रीहयः षष्टिकादयः । यवादिकं शूकधान्यं मुद्गाद्यं शिम्बिधान्यकम् ॥
कङ्ग्वादिकं क्षुद्रधान्यं तृणधान्यञ्च तत्स्मृतम् ॥ २ ॥

शालिधान्य आदि के भेद—शालिधान्य के-रक्तशालि (लाल चावल) आदि, व्रीहिधान्य के-षष्टिक (साठी) आदि, शूकधान्य के-जौ आदि, शिम्बीधान्य के-मूंग आदि, क्षुद्रधान्यके कंगुनी आदि भेद हैं और क्षुद्रधान्य का नामान्तर तृणधान्य भी हैं ॥ २ ॥

अथ शालिधान्यम् तस्य लक्षणमाह

कण्डनेन विना शुक्ला हैमन्ताः शालयः स्मृताः ॥ ३ ॥

शालिधान्य के लक्षण—बिना कूटे ही जो सुफेद होते हों तथा हेमन्त ऋतु में उत्पन्न हों वे शालिधान्य (जड़हन) कहलाते हैं ॥ ३ ॥

अथ शालयः (चावल) । तेषां जातिभेदेन नामान्याह

रक्तशालिः सकलमः पाण्डुकः शकुनाहृतः । सुगन्धकः कर्दमको महाशालिश्च दूषकः ॥ ४ ॥
पुष्पाण्डकः पुण्डरीकस्तथा महिषमस्तकः । दीर्घशूकः काञ्चनको हायनो लोध्रपुष्पकः ॥ ५ ॥
इत्याद्याः शालयः सन्ति बहवो बहुदेशजाः ।
ग्रन्थविस्तरभीतेस्ते समस्ता नात्र भाषिताः ॥ ६ ॥

शाली (चावलों) के जातिभेद से नाम—रक्तशालि, कलम, पाण्डुक, शकुनाहृत, सुगन्धक, कर्दमक, महाशालि, दूषक, पुष्पाण्डक, पुण्डरीक, महिषमस्तक, दीर्घशूक, काञ्चनक, हायन और लोध्रपुष्पक इत्यादि शालि (चावल) बहुत से देशों में उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकार के होते हैं, जिनका यहां पर पूर्ण वर्णन ग्रन्थ के बढ़ जाने के भय से नहीं किया जारहा है ॥ ४-६ ॥

अथ शालीनां गुणानाह

शालयो मधुराः स्निग्धा बल्या बद्धाल्पवर्चसः । कषाया लघवो रुच्याः स्वर्या वृष्याश्च बृंहणाः ॥
अल्पानिलकफाः शीताः पित्तघ्ना मूत्रलास्तथा ॥ ७ ॥

शालियों (अगहनी चावलों) के गुण—शालि (अगहनी चावल)-मधुर तथा कषाय रसयुक्त, स्निग्ध, बलकारक, थोड़ी मात्रा में बंधे हुये मल को निकालने वाले, लघु, रुचिकारक, कण्ठ स्वर को

उत्तम बनाने वाले, वृष्य (वीर्यवर्धक), बृंहण (रसरक्तादिवर्धक), किंचित् वात तथा कफ कारक, शीतल, पित्तनाशक और मूत्रल (मूत्र को अधिक मात्रा में उत्पन्न करने वाले) होते हैं ॥ ७ ॥

अथ दग्धमृज्जातशालिगुणानाह

शालयो दग्धमृज्जाताः कषाया लघुपाकिनः । सृष्टमूत्रपुरीषाश्च रूक्षाः श्लेष्मापकर्षणाः ॥८॥

जली हुई मिट्टी में उत्पन्न होने वाले शालि के गुण—जो शालि (अगहनी चावल)-जली हुई मिट्टी में उत्पन्न हुये हैं वे कषाय रसयुक्त, लघुपाकी (शीघ्र पचनेवाले), मूत्र तथा मल को निकालने वाले, रूक्ष तथा कफ का अपकर्षण करने वाले अर्थात् बढ़े हुये कफ को कम करने वाले होते हैं ॥८॥

अथ कैदारजशालिगुणानाह

कैदारा वातपित्तघ्ना गुरवः कफशुक्रलाः । कषायाश्चाल्पवर्चस्का मेध्याश्चैव बलावहाः ॥९॥

केदार (जुते हुये खेत) में बोने से उत्पन्न हुए जो चावल होते हैं वे-कषाय रसयुक्त, वात-पित्त नाशक, गुरु, कफ तथा शुक्र की वृद्धि करने वाले, थोड़ी मात्रा में मल को निकालने वाले, मेधाशक्ति के लिये हितकर तथा बलकारक होते हैं ॥ ९ ॥

※कैदाराः = कृष्टक्षेत्रजा उप्ताः ॥ ९ ॥

यहां पर मूल में 'कैदार' पद से 'जुते हुए खेत में बोने से उत्पन्न हुये चावल' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ९ ॥

अथ स्थलजशालिगुणानाह

स्थलजाः स्वादवः पित्तकफघ्ना वातवह्निदाः ।
किञ्चित्तिक्ताः कषायाश्च विपाके कटुका अपि ॥ १० ॥

स्थलज शालि के गुण - स्थलज (बिना जुती हुई भूमि में उत्पन्न हुये अर्थात् बिना जोते बोये स्वयम् उत्पन्न हुये) जो शालि होते हैं वे-स्वादिष्ट, पित्त तथा कफ नाशक, वात तथा जठराग्निवर्धक, किंचित् तिक्त रसयुक्त, कसैले तथा विपाक में कटु रसयुक्त होते हैं ॥ १० ॥

※स्थलजाः = अकृष्टभूमिजाताः स्वयं जाताः ॥ १० ॥

यहां पर मूल में 'स्थलज' पद से 'बिना जुती हुई भूमि में उत्पन्न हुये अर्थात् बिना जोते बोये स्वयम् उत्पन्न हुये' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १० ॥

अथ वापितशालिगुणानाह

वापिता मधुरा वृष्या बल्याः पित्तप्रणाशनाः ।
श्लेष्मलाश्चाल्पवर्चस्काः कषाया गुरवो हिमाः ॥ ११ ॥

※वापिताः = कृष्टक्षेत्रेऽकृष्टक्षेत्रे च ॥ ११ ॥

बोये हुये शालि के गुण—वापित (जुते हुये या बिना जुते हुये खेत में बोने से उत्पन्न हुये) जो शालि (अगहनी चावल) हैं वे-मधुर तथा कषाय रसयुक्त, वीर्यवर्द्धक, बलकारक, पित्तनाशक, कफ जनक, थोड़ी मात्रा में मल को निकालने वाले, गुरु तथा शीतल होते हैं ॥ ११ ॥

अथावापितशालिगुणानाह

वापितेभ्यो गुणैः किञ्चिद्धीनाः प्रोक्ता अवापिताः ॥ १२ ॥

अवापित शालि के गुण—वापित की अपेक्षा अवापित शालि गुणों में कुछ न्यून होते हैं ॥ १२ ॥

*कृष्टक्षेत्रेऽकृष्टक्षेत्रे वा ॥ १२ ॥

यहां पर भी मूल में 'अवापित' पद का वापित की भांति ही जुते तथा बिना जुते खेत में बिना बोने से उत्पन्न हुये (अगहनी चावल)' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १२ ॥

अथ नव–पुराण–रोपित–शालिगुणानाह

रोपितास्तु नवा वृष्याः पुराणा लघवः स्मृताः ।
तेभ्यस्तुरोपिता भूयः शीघ्रपाका गुणाधिकाः ॥ १३ ॥

रोपण किये शालि (चावल) यदि नये हों तो-वीर्यवर्धक और यदि पुराने हों तो लघु होते हैं। और उन्हीं से पुनः रोपण किये हुये शालि (चावल)—शीघ्र पचनेवाले तथा अधिक गुणकारी होते हैं॥१३॥

अथ छिन्नरूढशालिगुणानाह

छिन्नरूढा हिमा रूक्षा बल्याः पित्तकफापहाः ।
बद्धविट्काः कषायाश्च लघवश्चाल्पतिक्तकाः ॥ १४ ॥

जो काटने के पश्चात् पुनः उगे हुये शालि (चावल) होते हैं वे—शीतल, रूक्ष, बलकारक, पित्त तथा कफ नाशक, मलको बांधने वाले, कसैले, लघु तथा किञ्चित् तिक्त रसयुक्त होते हैं ॥ १४ ॥

अथ रक्तशालिः । तस्य गुणानाह

रक्तशालिर्वरस्तेषु बल्यो वर्ण्यस्त्रिदोषजित् । चक्षुष्यो मूत्रलः स्वर्यः शुक्रलस्तृड्ज्वरापहः॥१५॥
विषव्रणश्वासकासदाहनुद् वह्निपुष्टिदः तस्मादल्पान्तरगुणाः शालयो महदादयः ॥ १६ ॥

रक्तशालि—यह सभी शालिधान्यों में श्रेष्ठ होता है तथा बलकारक, शरीर के वर्ण को उत्तम करने वाला, त्रिदोषनाशक, नेत्रों के लिये हितकर, मूत्रजनक, कण्ठ स्वर को उत्तम करने वाला, शुक्रजनक, जठराग्नि को पुष्ट करने वाला, एवम् तृषा, ज्वर, विष, व्रण, श्वास, कास, तथा दाह को दूर करने वाला होता है और इसकी अपेक्षा महाशालि आदि जो दूसरे शालि (चावल) हैं वे स्वल्प गुण वाले होते हैं ॥ १५–१६ ॥

*रक्तशालिः 'दाऊदखानी' इति लोके मगधदेशे प्रसिद्धः ॥ १५–१६ ॥

यहां पर मूल में "रक्तशालि" से मगध देश में "दाऊदखानी" नाम से प्रसिद्ध चावल समझना चाहिये ॥ १५–१६ ॥

अथ व्रीहिधान्यम् तस्य लक्षणसहितान् भेदान् गुणाँश्चाह

वार्षिकाः कण्डिताः शुक्ला व्रीहयश्चिरपाकिनः । कृष्णव्रीहिः पाटलश्च कुक्कुटाण्डक इत्यपि ॥
शालामुखो जतुमुख इत्याद्या व्रीहयः स्मृताः । कृष्णव्रीहिःस विज्ञेयो यस्कृष्णतुषतण्डुलः ॥
पाटलः पाटलापुष्पवर्णको व्रीहिरुच्यते । कुक्कुटाण्डाकृतिर्व्रीहिः कुक्कुटाण्डक उच्यते ॥१९॥
शालामुखः कृष्णशूकः कृष्णतण्डुल उच्यते। लाक्षावर्णं मुखं यस्य ज्ञेयो जतुमुखस्तु सः ॥२०॥
व्रीहयः कथिताः पाके मधुरा वीर्यतो हिमाः । अल्पाभिष्यन्दिनो बद्धवर्चस्काः षष्टिकैः समाः॥

कृष्णव्रीहिर्वरस्तेषां तस्मादल्पगुणाः परे ॥ २१ ॥

व्रीहिधान्य के लक्षण—जो चावल वर्षा ऋतु में पैदा होते है अर्थात् पक कर तैयार होते हैं एवम् ओखली में छांटने से जो सफेद होते हैं तथा देर में पकते हैं वे व्रीहिधान्य कहलाते हैं। व्रीहिधान्य के भेद—कृष्णव्रीहि, पाटल, कुक्कुटाण्डक, शालामुख और जतुमुख ये सब व्रीहि धान्य के भेद हैं।

कृष्णव्रीहि के लक्षण—जिसकी भूसी तथा चावल दोनों काले हों वे "कृष्णव्रीहि" कहलाते हैं।

पाटल (व्रीहि) के लक्षण—जिसका रङ्ग पाटला (पाढ़ल) के पुष्प के सदृश हो वह पाटल (व्रीहि) कहलता है।

कुक्कुटाण्डक (व्रीहि) के लक्षण—आकार में जो मुर्गे के अण्डे के समान होता है उसे कुक्कुटाण्डक (व्रीहि) कहते हैं।

शालामुख (व्रीहि) के लक्षण—जिसके शूक (धान्य के मुख पर रहने वाला सूक्ष्म, लम्बा कांटा) तथा चावल दोनों कृष्णवर्ण के हों उसे शालामुख (व्रीहि) समझना चाहिये।

जतुमुख (व्रीहि) के लक्षण—जिसका मुख लाख के सदृश लाल रङ्ग का हो उसे जतुमुख (व्रीहि) समझना चाहिये॥

व्रीहिधान्य—पाक में मधुर, शीतवीर्य, किञ्चित अभिष्यन्दी, मल को बांधने वाले, गुण में षष्टिक (साठी चावल) के समान होते हैं। इन व्रीहियों में कृष्णव्रीहि सर्वोत्तम होता है और इसकी अपेक्षा अन्य व्रीहिधान्य न्यून गुणवाले होते हैं॥ १७–२१ ॥

अथ षष्टिकाः (साठीचावल)। तेषां लक्षणमाह

गर्भस्था एव ये पाकं यान्ति ते षष्टिका मताः ॥ २२ ॥

षष्टिक (साठी चावल) के लक्षण—जो धान्य-गर्भ में ही अर्थात् बिना फूटे ही पक जाते हैं, वे-षष्टिक धान्य कहलाते हैं (और ६० दिन में पक कर तैयार होने वाले धान को भी षष्टिक कहते हैं)॥ २२ ॥

अथ तेषां नामान्याह

षष्टिकः शतपुष्पश्च प्रमोदकमुकुन्दकौ। महाषष्टिक इत्याद्याः षष्टिकाः समुदाहृताः।
एतेऽपि व्रीहयः प्रोक्ता व्रीहिलक्षणदर्शनात्॥ २३ ॥

षष्टिक (साठी धान्य) के भेद—षष्टिक, शतपुष्प, प्रमोदक, मुकुन्दक और महाषष्टिक ये सब षष्टिक के भेद हैं। और ये भी व्रीहि कहलाते हैं क्योंकि इनमें व्रीहि के लक्षण-वर्षा ऋतु में पक कर तैयार होना आदि देखे जाते हैं॥ २३ ॥

अथ तेषां गुणानाह

षष्टिका मधुरा शीता लघवो बद्धवर्चसः। वातपित्तप्रशमनाः शालिभिः सदृशा गुणैः ॥२४॥

षष्टिकधान्य मात्र—मधुर, शीतल, लघु, मल को बाँधने वाले, वात तथा पित्त को शमन करने वाले और गुणों में शालिधान्य के सदृश होते हैं॥ २४ ॥

तत्र षष्टिकाया गुणानाह

षष्टिका प्रवरा तेषां लघ्वी स्निग्धा त्रिदोषजित् ॥ २५ ॥
स्वाद्वी मृद्वी ग्राहिणी च बलदा ज्वरहारिणी ।
रक्तशालिगुणैस्तुल्या ततः स्वल्पगुणाः परे ॥ २६ ॥

षष्टिक नामक षष्टिक धान्य के गुण—षष्टिक-सम्पूर्ण षष्टिक धान्यो में उत्तम होता है और लघु, स्निग्ध, त्रिदोषनाशक, स्वादिष्ट, मृदु, ग्राही, बलदायक तथा ज्वर को दूर करने वाला और गुणों में रक्तशालि के समान होता है। शेष षष्टिकधान्य इसकी अपेक्षा स्वल्प गुणवाले होते हैं ॥ २५-२६ ।

१ चावल (धान)

हिं०-चावल, धान। म०-तांदूल, मात। गु०-मात, चोरवा। बं०-धान, चावल। ता०-अरशी, नेल्लु। ते०-धान्यमु, ओदलु। क०-भट्टा। अं०-Rice (राइस), Paddy (पॅडी-धान)। ले०-*Oryza sativa Linn.* (ओरिझा सटाइवा)। Fam. Gramineae. (ग्रेमिनी)।

यह सभी स्थानों पर कृषित होता है। इसका क्षुप-छोटा, जलीय, वर्षायु होता है। काण्ड गोल एवं पोला होता है। पत्ते-बहुत, खुरदरे, पतले तथा मालाकार होते हैं। पुष्प-गुच्छ के रूप में, अनेक शाखायुक्त तथा झुके हुवे रहते हैं जिनमें पुंकेशर ६ तथा स्त्रीकेशर की कुक्षि पंखसदृश एवं संख्या में २ होती हैं। लाल चावल में स्त्रीकेशर लाल रहते हैं।

यद्यपि चावल की एक ही जाति (Species) है तथापि इसके सैकड़ों प्रकार पाये जाते हैं। भावप्रकाशकार भी इससे सहमत होते हुए इसके मुख्य ४ भेद, १ शालि, २ रक्तशालि, ३ व्रीहि एवं ४ षष्टिक करते हैं। इनमें से प्रथम हेमन्त ऋतु में पककर तैयार होता है। दूसरा लाल रंग का होता है। तीसरा वर्षाकाल में पककर तैयार होता है। चौथा ६० दिन में या जल्दी तैयार होता है। अधिकतर प्रथम ही होता है।

स्थानभेद, पकने के ऋतु के भेद, पकने के काल (अवधि) भेद, चावल के अन्दर रहने वाले पिष्टमय पदार्थ, चावल या धान के रंग, आकार, नाप, शूक रहित या शूक युक्त भेद से इसके अनेक प्रकार मिलते हैं।

घटिया किस्म में अधिकतर लाल चावल के प्रकार पाये जाते हैं। यह लाली बहुत अन्दर तक नहीं रहती। किसी-किसी अच्छे प्रकार में भी लाल चावल होते हैं तथा उनका स्वाद भी अच्छा होता है। इसीलिए कहीं-कहीं चावल को रंग देते हैं किन्तु यह रंग जल से धोने पर निकल जाता है।

नये चावल की अपेक्षा पुराना चावल सुपाच्य होता है। परीक्षणों से देखा गया है कि नये चावल की पचन क्षमता पुराने की अपेक्षा आधी से कम होती है। रखने से इसमें के स्टार्च मे परिवर्तन होने से यह प्रभाव देखा जाता है। पकाने में भी नये का भात चिपचिपा तथा गोला सा हो जाता है किन्तु पुराने का बहुत अच्छा बनता है।

चावल साफ करने की विधि के अनुसार भी चावल के पोषक तत्वों में परिवर्तन हो जाता है। कुछ उबाल कर फिर धान छुड़ाये हुए भुजिया चावल (Paraboiled-पैराबॉइल्ड) में तथा हाथ कुटे चावल में, मिल से साफ किये हुये की अपेक्षा नाइट्रोजन द्रव्य अधिक रहते हैं।

निम्न तालिका से इसका अन्तर साफ मालूम होता है।

रासायनिक संगठन—

— — —	जल	अलब्यूमिनाम द्रव्य	स्नेह	कार्बोहाइड्रेट	रेशा	राख
हाथ कुटा चावल	१२·२	८·५	०·६	७८·०	०·१	०·७
मिल का साफ किया हुआ चावल	१३·०	६·९	०·४	७९·२	०	०·५
भुजिया, हाथकुटा चावल	१२·६	८·५	०·६	७७·४	०	०·९
भुजिया, मिल का साफ किया हुआ चावल	१३·३	६·४	०·४	७९·१	०	०·८
लावा	१४·७	७·५	०·१	७४·३	०	३·४
चिउड़ा	१२·२	६·६	१ २	७८·२	०	१·८

गुण और प्रयोग—प्रधान भोजन के रूप में अनेक प्रान्तों में इसका उपयोग किया जाता है।

इसको अधिक जल में पतला पकाकर अतिसार, संग्रहणी तथा अन्य पाचन के विकारों में देते हैं।

चावल की धोवन दाहशामक तथा स्नेहन होने से ज्वर, दाह एवं आन्त्रिकप्रदाह आदि में दी जाती है।

अथ शूकधान्यानि। तत्र यवभेदानाह

यवस्तु सितशूकः स्यान्निःशूकोऽतियवः स्मृतः।
तोक्यस्तद्वत्स हरितस्ततः स्वल्पश्च कीर्त्तितः॥ २७॥

शूक धान्यों में जौ के लक्षण सहित भेद—जौ-यह सफेद शूक (सूई या टूंड) से युक्त होता है। अतियव-इसमें शूक नहीं होता है। तोक्य-यह शूक से रहित, हरे रङ्ग का तथा छोटा होता है॥ २७॥

*शूकधान्यानि तेषु यवः प्रसिद्धः। अतियवो निःशूकः कृष्णारुणवर्णो यवः। तोक्यो हरितो निःशूकः स्वल्पो यवः "जई" इति प्रसिद्धः॥ २७॥

यहाँ पर "शूकधान्यों में "जव" प्रसिद्ध है। अतियव-यह शूक रहित काले तथा अरुण (लाल) रङ्ग का होता है। तोक्य-यह हरे रङ्ग का शूक रहित छोटा जव होता है और "जई" इस नाम से लोक में प्रसिद्ध है।"

अथ तेषां गुणानाह

यवः कषायो मधुरः शीतलो लेखनो मृदुः। व्रणेषु तिलवत्पथ्यो रूक्षो मेधाऽग्निवर्धनः॥
कटुपाकोऽनभिष्यन्दी स्वर्यो बलकरो गुरुः। बहुवातमलो वर्णस्थैर्यकारी च पिच्छिलः॥२९॥
कण्ठत्वगामयश्लेष्मपित्तमेदःप्रणाशनः। पीनसश्वासकासोरुस्तम्भलोहिततृट्प्रणुत्॥
अस्मादतियवो न्यूनस्तोक्यो न्यूनतरस्ततः॥ ३०॥

जौ—कषाय तथा मधुर रस युक्त, विपाक में कटु रसयुक्त, शीतल, लेखन, कोमल, व्रणों में तिल के समान पथ्य, रूक्ष, मेधा तथा जठराग्नि को बढ़ाने वाला, किंचित् अभिष्यन्दी, कण्ठ स्वर को

उत्तम करने वाला, बलकारक, गुरु, अधिक रूप से वात तथा मल को करने वाला, शरीर के वर्ण को स्थिर रखने वाला, पिच्छिल एवम्— कण्ठ तथा चर्म सम्बन्धी रोग, कफ, पित्त, मेद, पीनस, श्वास, कास, ऊरुस्तम्भ, रक्तविकार तथा तृषा को दूर करने वाला है।

अतियव—यह जौ की अपेक्षा न्यून गुणवाला होता है।

जई—यह अतियव से भी न्यून गुण वाला होता है॥ २८-२९॥

२ जव

हि०-जव, जो, जौ। म०-जव। क०-जवेगोधी। ता०-वार्लि अरिसि। ते०-यव धान्य। फा०-जव, जओ। अ०-शईर, शईर। ब०-जव। अं-Barley (बारली)। ले०-*Hordeum vulgare Linn.* (हॉरडीयम् वल्गेयर)। Fam. Gramineae (ग्रेमिनी)।

इसकी खेती उत्तर भारत में विशेष होती है। उपज का ८०% भाग उत्तरप्रदेश, बिहार तथा उड़ीसा में होता है। पंजाब में १३% एवं अन्य प्रान्तों में मिलाकर ७% उपज होती है। दक्षिण में बहुत ही नाममात्र खेती की जाती है।

इसका क्षुप-वर्षायु तथा २-३ फीट ऊंचा होता है। मूल-बहुत तथा रेशेदार होते हैं। पत्ते-रेखाकार भालाकार, ९-१२ इञ्च लंबे तथा $\frac{1}{3}$-$\frac{5}{7}$ इञ्च चौड़े एवं मध्यपर्शुक श्वेत रहती हैं। बाली शूकयुक्त होती है। सपुष्पशल्क (Lemma-लेम्मा) पर शूक रहता है। यह शल्क एवं शल्की वृन्तपत्रक (Palea) दाने से लगा रहता है। इसके कई प्रकार पाये जाते हैं। जई (तोक्य) यह यव का भेद या भारतीय ओट (Indian oat) जिसका लेटिन नाम एवेना बाइजेंटिना (Avena byzantina C. Koch) है, हो सकता है।

गेहूँ के आटे में मिलाकर इसकी रोटी बनाई जाती है। इससे माल्ट तथा मद्य बनाये जाते हैं। जिसमें स्टार्च अधिक रहता है उसको माल्ट बनाने के काम में लाते हैं जिसमें प्रोटीन अधिक रहता है उसको खाने के काम में लिया जाता है। विशेष पद्धति से ऊपर का छिलका साफ करके पर्ल बार्ली (Pearl Barley) बनाते हैं। जव का सत्तू बनाकर खाया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें कार्बोहाइड्रेट ६९.३ भाग, प्रोटीन ११.५, खनिज १.५ जिनमें खटिक, लोह एवं विटामिन 'सी' को छोड़कर अन्य थोड़ी मात्रा में होते हैं। इसके प्रोटीन का 'जैव मूल्य' ६४ है जब कि गेहूँ का ६७ रहता है।

गुण और प्रयोग—यह सुपाच्य होता है तथा भूनकर पीसकर इसकी मण्ड, पेया इत्यादि बनाकर रोगी को पथ्य के रूप में देते हैं। कुपचन, ज्वर, अतिसार, मूत्रकृच्छ्र तथा प्रदाह युक्त विकारों में यवमण्ड का उपयोग किया जाता है।

इसके क्षार का वर्णन पहले हरीतक्यादिवर्ग (पृष्ठ १६३) में किया जा चुका है।

अथ गोधूमः (गेहूँ)। तस्य नामानि सलक्षणभेदानाह

गोधूमः सुमनोऽपि स्यात्त्रिविधः स च कीर्त्तितः। महागोधूम इत्याख्यः पश्चाद्देशात्समागतः॥

गेहूं के संस्कृत नाम—गोधूम तथा सुमन हैं। भेद-१ महागोधूम, २ मधूली, ३ दीर्घगोधूम इन भेदों से यह ३ प्रकार का होता है।

महागोधूम—यह पश्चिम के देशों (पंजाब आदि) से आता है॥ ३१॥

मधूली तु ततः किञ्चिदल्पा सा मध्यदेशजा। निःशूको दीर्घगोधूमः क्वचिन्नन्दीमुखाभिधः॥

मधूली— यह "बड़ा गेहूं" की अपेक्षा कुछ छोटा होता है, और मध्यदेश (आगरा-मथुरा आदि) में उत्पन्न होता है।

दीर्घगोधूम— यह शूक (टूंड़) रहित होता है तथा इसे कहीं २ नन्दीमुख भी कहते हैं।३२॥

अथ गोधूमगुणानाह

गोधूम मधुरः शीतो वातपित्तहरो गुरुः। कफशुक्रप्रदो बल्यः स्निग्धः सन्धानकृत्सरः॥३३॥
जीवनो बृंहणो वर्ण्यो व्रण्यो रुच्यः स्थिरत्वकृत्॥३४॥

गेहूं— यह मधुर, शीतल, गुरु, कफप्रद (कफ को पैदा करने वाला), वीर्यजनक, बलकारक, स्निग्ध, सन्धानकारक (टूटी अस्थियों को जोड़ने वाला), सारक, जीवनी शक्ति को बढ़ाने वाला, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), वर्ण को उत्तम करने वाला, व्रण के लिये हितकर, रुचिकारक, स्थिरता को करने वाला एवम् वात तथा पित्त नाशक होता है॥ ३३-३४॥

•कफप्रदो नवीनो न तु पुराणः।
"पुराणयवगोधूमक्षौद्रजाङ्गलशूलभुग्"॥
इति वाग्भटेन वसन्ते गृहीतत्वात्॥ ३३-३४॥

यहां पर—"कफप्रद" पद होने से "नवीन गेहूं कफ को बढ़ाने वाला होता है न कि पुराना" यह समझना चाहिये। क्योंकि-यदि पुराना गेहूं भी कफप्रद होता तो वाग्भट वसन्तऋतु के पथ्य में—पुराना जौ तथा गेहूं, मधु, जङ्गलीजीवों के मांस का कबाब इत्यादि के मध्य में गेहूं का नाम न लेते॥ ३३-३४॥

अथ मधूलीनन्दीमुखयोर्गुणानाह

मधूली शीतला स्निग्धा पित्तघ्नी मधुरा लघुः। शुक्रला बृंहणी पथ्या तद्वन्नन्दीमुखः स्मृतः॥३५॥

मधूली (गेहूं)—मधुर रसयुक्त, शीतल, स्निग्ध, लघु, शुक्रजनक, बृंहण (रसरक्तादिवर्धक), पथ्य और पित्तनाशक होता है।

नन्दीमुख (गेहूं) यह भी पूर्वोक्त मधूली के समान गुणों में होता है॥ ३५॥

२ गेहूं

हि०—गेहूं। बं०—गम। म०—गहूं। गु०—घउ, घेऊ। क०—गोधी। ते०—गोदुमेलु। फा०—गंदुम। ता-गोदूमै। अ०—हिन्ता,। अं०—Wheat (ह्वीट)। ले०—*Triticum sativum Lam.* (ट्राइटिकम् सटाइवम्)। Fam. Gramineae (ग्रेमिनी)।

अनेक प्रान्तों में इसकी खेती की जाती है। संसार भर में अन्न के लिये इसकी उपज की जाती है। यह मैसूर, मद्रास में कम होता है। उत्तरभारत में यह अधिक होता है।

इसके पौधे जव के समान होते हैं। यद्यपि इसकी ३-४ जातियां होती हैं तथापि उपर्युक्त जाति ही अधिक बोई जाती हैं। इसके अनेक प्रकार होते हैं। इनमें भी शूक युक्त या विहीन भेद पाये जाते हैं। कड़ा, मुलायम तथा लाल एवं श्वेत आदि दाने के भेद होते हैं। खाने के लिये कड़े दाने वाला तथा स्टार्च के लिये मुलायम गेहूँ काम में लाया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें प्रोटीन द्रव्य ८ से २४ भाग, कार्बोहाइड्रेट ६८-७०, स्नेह १-२ तथा राख १·५-२ भाग रहती है। मुलायम गेहूँ में प्रोटीन कम रहता है। इसमें लोह, ताम्र, यशद, मैंगनीज एवं मेगनेशियम् खनिज होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसको अन्न के रूप में उपयोग में लाया जाता है। चोकरयुक्त आटे की रोटी विबंध में लाभदायक रहती है।

अथ शिम्बीधान्यम्। तत्रादौ तस्य नामान्याह

शमीजाः शिम्बिजाः शिम्बीभवाः सूप्याश्च वैदलाः॥ ३६॥

शिम्बीधान्य के संस्कृत नाम—शमीज, शिम्बिज, शिम्बीभव, सूप्य और वैदल ये सब हैं॥३६॥

अथ शिम्बीधान्यस्य गुणानाह

वैदला मधुरा रूक्षाः कषायाः कटुपाकिनः। वातलाः कफपित्तघ्ना बद्धमूत्रमला हिमाः॥
ऋते मुद्गमसूराभ्यामन्ये त्वाध्मानकारिणः॥ ३७॥

शिम्बीधान्य—मधुर तथा कषाय रसयुक्त, रूक्ष, विपाक में कटुरसयुक्त, वातजनक, कफ तथा पित्त-नाशक, मूत्र तथा मल को बांधने वाले और शीतल होते हैं। और शिम्बीधान्यों में मूंग तथा मसूर को छोड़कर शेष सभी आध्मान (अफरा) करने वाले होते हैं॥ ३७॥

*मुद्गमसूरयोराध्मानकारित्वमन्यवैदलापेक्षया, न तु सर्वथा, एतयोरपि किञ्चिदाध्मानकारित्वदर्शनात्॥ ३७॥

"अन्य शिम्बी धान्यों की अपेक्षा मूंग और मसूर आध्मान करने वाले नहीं होते न कि सर्वथा आध्मान करने वाले नहीं होते, क्योंकि ये दोनों भी किंचित् मात्र आध्मान करनेवाले होते हैं, ऐसा देखा गया है"॥ ३७॥

अथ मुद्गः (मूँग) सभेदस्य तस्य गुणानाह

मुद्गो रूक्षो लघुर्ग्राही कफपित्तहरो हिमः। स्वादुरल्पानिलो नेत्र्यो ज्वरघ्नो वनजस्तथा॥
मुद्गो बहुविधः श्यामो हरितः पीतकस्तथा। श्वेतो रक्तश्च तेषान्तु पूर्वः पूर्वो लघुः स्मृतः॥
सुश्रुतेन पुनः प्रोक्तो हरितः प्रवरो गुणैः। चरकादिभिरप्युक्त एष एव गुणाधिकः॥ ४०॥

मूंग—स्वादिष्ट, रूक्ष, लघु, ग्राही, कफ तथा पित्तनाशक, शीतल, किंचित् वायुकारक, नेत्र के लिये हितकर तथा ज्वरनाशक है और जंगल में उत्पन्न होने वाली मूंग गुणों में मूंग के समान ही है।

मूंग के भेद और उनके गुण—श्याम, हरी, पीली, सफेद तथा लाल इन भेदों से मूंग कई प्रकार की होती है। और इनमें एक दूसरी की अपेक्षा पूर्व २ लघु होती है। (अर्थात्-लाल की अपेक्षा सुफेद, सुफेद से पीली, पीली से हरी, हरी से श्याम लघु होती है।) किन्तु सुश्रुत ने तो विशेषतः और मूंगों की अपेक्षा हरीमूंग को गुणों में श्रेष्ठ बतलाया है। और चरकादि महर्षियों ने भी इसी को (हरी मूंगको) अधिक गुणकारी बतलाया है॥ ३८-४०॥

४ मूंग

हिं०—मूंग, मुंग। बं०—मुग। म०—मूग, हिरवे मूग। गु०—मग, कच्छी। ता०—पच्चैयमेरू। क०—हेसरु। ते०—पच्चापेसलु। फा०—बुनुमाष, बनोमाश, माष। अ०—मजमाश, माष मज। अं०—Green Gram (ग्रीन् ग्राम)। ले०—*Phaseolus aureus Roxb.* (फेसीओलस् ऑरियस्)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

यह इस देश के खेतों में बोई जाती है और पश्चिमोत्तर हिमालय के ६ हजार फीट ऊँची भूमि में भी जङ्गली उत्पन्न होती है। इसका क्षुप-१-२ फुट ऊँचा होता है। इसके पत्ते-उड़द के

समान होते हैं। समस्त क्षुप पर रेशमवत् बारीक रोवें होते हैं। फूल-पीले आते हैं। फलियां-१॥-२ इञ्च लम्बी और कुछ टेढ़ी होती हैं।

बीज—हरे रंग के होते हैं। अन्दर की दाल पीले रंग की होती है।

रासायनिक संगठन—इसमें प्रोटीन २२ भाग, कार्बोहाइड्रेट ५४-५६, स्नेह १·३-२·७, रेशा ४·१-५·८ एवं राख ३·६-४·४ भाग रहती है।

गुण और प्रयोग—यह अन्य दालों की अपेक्षा हल्की एवं सुपाच्य होती है। मुद्ग यूष का उपयोग पथ्य के रूप में करते हैं।

अथ माषः (उरद) तस्य गुणानाह

माषो गुरुः स्वादुपाकः स्निग्धो रुच्योऽनिलापहः। स्रंसनस्तर्पणो बल्यः शुक्रलो बृंहणः परः॥
भिन्नमूत्रमलः स्तन्यो मेदःपित्तकफप्रदः। गुदकीलार्दितश्वासपक्तिशूलानि नाशयेत्॥ ४२॥
कफपित्तकरा माषाः कफपित्तकरं दधि। कफपित्तकरा मत्स्या वृन्ताकं कफपित्तकृत्॥ ४३॥

उरद-गुरु, विपाक में मधुररसयुक्त, स्निग्ध, रुचिकारक, वातनाशक, स्रंसन, सन्तर्पण करने वाला, बलकारक, शुक्र-जनक, अत्यन्त बृंहण, (रस-रक्तादि वर्धक), मूत्र तथा मल का भेदन करने वाला, दुग्धवर्धक, मेद-पित्त-कफ को बढ़ाने वाला एवम्-गुदकील-अर्दितवात (मुँह का लकवा)-श्वास-पक्तिशूल (अन्न के पचने पर शूल होना) इन सब रोगों को दूर करने वाला होता है।

कफ तथा पित्त कारक द्रव्य चतुष्टय-उरद, दही, मछली और बैंगन ये चारों द्रव्य कफ तथा पित्त को बढ़ाने वाले होते हैं॥ ४१-४३॥

५ उड़द

हि०-उड़द, उड़िद, उरद, उरिद, उर्दी। **बं०**-माष कलाय। **म०**-उड़ीद। **ता०**-उलुंडु। **गु०**-अडद। **क०**-उड्डु। **ते०**-उटट्टुलु। **फा०**-माष। **अ०**-माषा। **अं०**-Black Gram (ब्लॅक् ग्राम्)। **ले०**-*Phaseolus mungo Linn.* (फेसीओलस् मुंगो)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

उड़द इस देश में बहुत प्रसिद्ध है। इसकी उपज हर प्रान्त में होती है। इससे दाल, बड़े इत्यादि बनते हैं।

इसका क्षुप-झाड़ीदार फैला हुआ, एक फीट ऊंचा, अनेक शाखायुक्त एवं रोमावृत होता है। पुष्प-पीले होते हैं। फली-पतली, गोल, १½-२½ इञ्च लंबी एवं बीजों के बीच-बीच में भीतर दबी हुई होती है। बीज-८ से १५, काले या गहरे भूरे या कभी-कभी हरे होते हैं। ये हरे होते हुवे भी मूंग की तरह अन्दर से पीले न होकर सफेद होते हैं।

भावप्रकाश इसके दो भेद माष एवं महामाष या राजमाष (श्वेत, रक्त, कृष्ण) लिखते हैं। उपर्युक्त उडद के छोटे तथा बड़े पाये भी भेद जाते हैं जिनमें बड़े में दाने कुछ काले तथा अच्छे होते हैं। ये दोनों भिन्न-भिन्न काल में बोये जाते हैं। संभव है भावप्रकाशोक्त महामाष बड़े काले रंग की उड़द का प्रकार हो या जिसका आगे लोबिया के नाम से वर्णन किया गया है वह हो।

रासायनिक संगठन—इसमें फॉस्फोरिक ॲसिड की मात्रा अन्य दालों की अपेक्षा ५ से १० गुना अधिक रहती है। इसमें प्रोटीन २२, कार्बोहाइड्रेट ५५, तेल १ एवं राख ४ भाग रहती है। इसके प्रोटीन भी अन्य दालों की तरह न होकर कुछ मांस के समान होते हैं।

गुण और प्रयोग—यह मधुर, बल्य, वृष्य, बृंहण, उष्ण, वातनाशक, कफपित्त वर्धक एवं स्तन्यजनन है। वातविकार एवं संधिरोग में इसका क्वाथ देते हैं। हड्डियों में पीड़ा होने से यदि

निद्रानाश हो तो इसकी जड़ देते हैं। यह मादक होती है। वातविकारों में बाह्याभ्यन्तर उड़द का उपयोग किया जाता है। उड़द के लड्डू नाडी संस्थान के लिये बल्य हैं।

अथ राजमाषः (बोड़ा)। यस्य च "वेरातरा—लोबिया" इत्यादयो भेदाः। तस्य नामानि तद्भेदगुणाँश्चाह

राजमाषो महामाषश्चपलश्च बलः स्मृतः। राजमाषो गुरुः स्वादुस्तुवरस्तर्पणः सरः ॥४४॥
रूक्षो वातकरो रुच्यः स्तन्यो भूरिबलप्रदः। श्वेतो रक्तस्तथा कृष्णस्त्रिविधः स प्रकीर्त्तितः॥
यो महांस्तेषु भवति स एवोक्तो गुणाधिकः ॥ ४५ ॥

राजमाष के संस्कृत नाम—राजमाष, महामाष, चपल तथा बल ये सब हैं। इसी के "वेरातरा", "लोबिया" इत्यादि लोक में भेद होते हैं। राजमाष-गुरु, स्वादिष्ट तथा कषाय रस युक्त, सन्तर्पण करने वाला, सारक, रूक्ष, वातकारक, रुचिकारक, दुग्धवर्धक तथा अत्यन्त बलकारक होता है।

भेद—सफेद, लाल तथा काला इन भेदों से यह तीन प्रकार का होता है। गुण—इनमें जो बड़ा होता है वही सबसे अधिक गुणशाली समझा जाता है॥ ४४-४५ ॥

नोट—राजमाष से कुछ लोग लोबिया का ग्रहण करते हैं तथा कुछ पूर्वोक्त उड़द का काले रंग का बड़ा भेद लेते हैं। यहाँ लोबिया का वर्णन किया जा रहा है।

९ राजमाष (लोबिया)

हि०—राजमाष, बोड़ा, चौरा, लोबिया। बं०—बरबटी कलाय, बर्बटी। म०—चवळया, अलसंदे। गु०—चोळा। क०—अलसंदे। ते०—अलसन्दलु। ता०—करामणि। फा०—लोबह, लोबिया। अ०—फरिका, फिरीका। अं०—Chinese Beans (चाइनीज् बीन); Cowpeas (काउपीज्)। ले०—*Vigna catiang* Walp. (विग्ना कॅटियङ्ग)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

इसकी अनेक स्थानों पर खेती की जाती है।

यह वर्षायु, अनेक मांसल पतले काण्ड के द्वारा जमीन पर फैलने वाला क्षुप है। पत्ते—त्रिपत्रक एवं लंबेवृन्तवाले; पत्रक, बड़े, गहरे हरे एवं अण्डाकार होते हैं। पुष्प—पर्व से ३-६ एक साथ, एक इञ्च व्यास के, श्वेत, हलके गुलाबी, हलके नीले रंगों के भेद से २, ३ प्रकार के होते हैं जो मुरझाने के समय भीतर से पीले हो जाते हैं। फली—पतली, गोल एवं विभिन्न प्रकार के अनुसार भिन्न-भिन्न लम्बाई की होती है। लम्बी १८ इंच से २ फीट तक एवं छोटी ४ से ५ इञ्च तक हुआ करती है। बीज—फली के अनुसार छोटे तथा बड़े एवं रंग में प्रकार के अनुसार क्रीम जैसे, भूरे, फीके लाल, हलके बैंगनी या काले हुआ करते हैं।

रासायनिक संगठन—बीजों में प्रोटीन २४·६, कार्बोहाइड्रेट ५५·७, स्नेह ०·७, रेशा ३·८, राख ३·२ एवं आर्द्रता १८ भाग रहती है।

गुण और प्रयोग—इसके बीज मूत्रल तथा आमाशय बलप्रद एवं कृमिनाशक हैं। यह अच्छा पोषक द्रव्य है।

अथ निष्पावः । स तु राजशिम्बीबीजम् [भटवाँसु] इति लोके । तस्यनामानि गुणाँश्चाह

निष्पावो राजशिम्बिः स्याद्वल्लकः श्वेतशिम्बिकः ।
निष्पावो मधुरो रूक्षो विपाकेऽम्लो गुरुः सरः ॥ ४६ ॥
कषायः स्तन्यपित्तास्रमूत्रवातविबन्धकृत् । विदाह्युष्णो विषश्लेष्मशोथहृच्छुक्रनाशनः ॥

निष्पाव यह लोक में राजशिम्बी का बीज अथवा भटवांसु इस नाम से प्रसिद्ध हैं। इसके संस्कृत नाम-निष्पाव, राजशिम्बि, वल्लक तथा श्वेतशिम्बिक ये सब हैं। निष्पाव—मधुर तथा कषाय रसयुक्त, विपाक में अम्लरसयुक्त, रूक्ष, गुरु, सारक, विदाही, उष्ण और दुग्ध-पित्त तथा रक्त को बढाने वाला, मूत्र तथा वात का विबन्ध करने वाला एवम्-विष-कफ-शोथ तथा शुक्र का नाशक होता है ॥ ४६-४७ ॥

७ निष्पाव

हि०-निष्पाव, भटवासु, वल्लार, सेम । बं०-मखानसिम । म०-पावटे, वाल । गु०-ओलीया, ओलियवाल । क०-अवरे । ते०-अनुमुल । ता०-मोचै । अं०-Flat Bean (फ्लॅट बीन)। ले०-*Dolichos lablab Linn.* (डोलिकोस् लबलब्) । Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी) ।

यह जंगली तथा कृषित दोनों प्रकार का सभी स्थानों पर होता है । दक्षिण में विशेष रूप से मैसूर में यह अधिक होता है ।

इसकी लता होती है। पत्ते-त्रिपत्रक होते हैं। पुष्प-सीधे दण्ड पर विभिन्न रंगों के किन्तु विशेष रूप से गुलाबी और श्वेत रहते हैं । फली-आयताकार, ३ इञ्च लम्बी तथा ४ से ६ बीज युक्त होती है । हरी फलियों के ऊपर की तैल ग्रन्थियों से दुर्गंधयुक्त तैल निकलता है। इसके अनेक प्रकार, बीजों के रंग, आकार आदि के अनुसार होते हैं ।

रासायनिक संगठन—अखंड बीज में जल १४.६, प्रोटीन १७.१, स्नेह २.२, कार्बोहाइड्रेट ५७.४, रेशा ५.० एवं राख ३.६ भाग रहती है । दाल में जल १२.१, प्रोटीन २४.४, स्नेह १.५, कार्बोहाइड्रेट ५७.८, रेशा १.२ एवं राख ३ भाग रहती है ।

गुण और प्रयोग—इसकी हरी फलियों का साग खाया जाता है। कफज विकारों में इसे देते हैं । मूल विषैले माने जाते हैं ।

अथ वनमुद्गः [मोठ] । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

मकुष्ठो वनमुद्गः स्यान्मकुष्ठकमुकुष्ठकौ ॥ ४८ ॥
मकुष्ठो वातलो ग्राही कफपित्तहरो लघुः । वह्निजिन्मधुरः पाके क्रमिकृज्ज्वरनाशनः ॥ ४९ ॥

मोठ के संस्कृत नाम—मकुष्ठ, वनमुद्ग, मकुष्ठक और मुकुष्ठक ये सब हैं ।

मोठ—वातकारक, ग्राही, कफ तथा पित्त की नाशक, लघु, अग्नि को जीतने वाली, पाक में मधुर रसयुक्त, कृमिकारक तथा ज्वरनाशक होती है ॥ ४८-४९ ॥

८ मोठ

हि०-मोठ, मोट । बं०-वनमूग । म०-मटकी, मठ । गु०-मठ । क०-मडकी । ते०-वनमुद्ग चेट्टु । ता०-तुरुकप्यारै । फा०-माषहिन्दी, माशहिन्दी । अं०-Aconite Leaved Kidney

Bean (एकोनाईट लीव्ड कीडनी बीन)। ले०-*Phaseolus aconitefolius Jacq.* (फेसीओलस एकोनाइटीफोलीयस्)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह भी अनेक प्रान्तों में होती है। इसका क्षुप-मुद्गपर्णी की तरह फैला हुआ तथा अल्प रोमश होता है। पत्ते-त्रिपत्रक होते हैं। पुष्प-छोटे होते हैं। फली-दृढ़ तथा बीज बड़े होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें प्रोटीन २३, कार्बोहाइड्रेट ५६, अत्यल्प तेल, रेशा ४ तथा राख ३½ भाग रहती है।

गुण और प्रयोग—आहार के रूप में दाल का उपयोग किया जाता है। इसको ज्वर में देते हैं। मूल मादक होता है।

अथ मसूरः (मसूरी)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

मङ्गल्यको मसूरः स्यान्मङ्गल्या च मसूरिका। मसूरो मधुरः पाके संग्राही शीतलो लघुः॥
कफपित्तास्रजिद्रूक्षो वातलो ज्वरनाशनः॥ ५०॥

मसूरी के संस्कृत नाम—मङ्गल्यक, मसूर, मङ्गल्या तथा मसूरिका ये सब हैं।

मसूरी—विपाक में मधुर रसयुक्त, ग्राही, शीतल, लघु, वातकारक, रूक्ष एवम्-कफ-पित्त-रक्तविकार तथा ज्वर को दूर करने वाली होती है॥ ५०॥

९ मसूर

हि०-मसूर, मसूरक, मसूरी। बं०-मसुरि। म०-मसुर। गु०-मसूर। क०-चणगि। ता०-मिसुर। ते०-मसूर पप्पु। फा०-दुनो सुर्ख, नेव सुर्ख, विसुक, मरजूनक। अ०-अदस्। अं०-Lentil (लेंटिल्)। ले०-*Ervum lens Linn.* एवम् लेन्स); Lens culinaris Medic (लेन्स कलिनेरिस्)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)

यह समस्त भारत में शीतऋतु में बोया जाता है। इसका क्षुप-१ से २ फीट ऊँचा, सीधा, झाड़ीदार एवं चने की तरह होता है। पत्ते-संयुक्त, पक्षवत् एवं अग्र सूत्रसम होता है। पत्रक-४ से ६ जोड़े, अवृन्त, मालाकार एवं छोटे होते हैं। पुष्प-सफेद, बैंगनी या गुलाबी, विभिन्न प्रकार के भेदानुसार होते हैं। फली-छोटी, ½ इञ्च लम्बी एवं २ बीज युक्त होती है। बीज-गोल, किंचित चिपटे तथा भूरे रंग के होते हैं। दाल-लाल रंग की होती है।

रासायनिक संगठन—दाल में प्रोटीन २५, कार्बोहाइड्रेट ६०, स्नेह १ तथा राख २ भाग रहती है।

गुण और प्रयोग—दाल की तरह इसे खाते हैं। यह पौष्टिक किन्तु उष्ण मानी जाती है। विबंध में इसको देते हैं। पुराने व्रण में इसको पीसकर लगाते हैं।

अथाऽढकी (अरहर)। तस्य नामगुणानाह

आढकी तुवरी चापि सा प्रोक्ता शणपुष्पिका॥ ५१॥
आढकी तुवरा रूक्षा मधुरा शीतला लघुः। ग्राहिणी वातजननी वर्ण्या पित्तकफास्रजित्॥५२॥

अरहर के संस्कृत नाम—आढकी, तुवरी और शणपुष्पिका ये सब हैं।

अरहर—कषाय तथा मधुर रसयुक्त, रूक्ष, शीतल, लघु, ग्राही, वातजनक, शरीर के वर्ण को उत्तम करने वाली एवम् पित्त-कफ तथा रक्तविकार को दूर करने वाली है॥ ५१-५२॥

१० अरहर

हि०-अरहड़, अड़हर, रहर, रहरी, रहड़, तूर। बं०-आहरी, अडर। म०-तुरी, तूर। गु०-तुरदाल्य, तुवर। क०-तोगरि। ते०-कंदुलु। ता०-तोवरै। फा०-शाखक। अ०-शाखुल, शांज। अं०-Pigeon Pea (पीजन् पी); Red Gram (रेड ग्राम)। ले०-*Cajanus indicus* Spreng. (केजेनस् इन्डीकस्)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में इसकी खेती की जाती है। इसका वृक्ष-४-१० फीट ऊंचा एवं झाड़दार होता है। पत्ते-त्रिपत्रक रहते हैं। पत्रक-१॥-२ इञ्च लम्बे एवं आयताकार मालाकार होते हैं। इनके अधःपृष्ठ पर सूक्ष्म ग्रन्थियां होती हैं। पुष्प-पीले एवं बैंगनी धारीयुक्त होते हैं। फलियां-२-४ इंच लम्बी होती हैं। प्रत्येक फली में ३ से ५ तक बीज रहते हैं। बीज को ही अरहर कहते हैं। यद्यपि इसके अनेकों भेदोपभेद होते हैं तथापि इनके दो प्रकार (Variety), अरहर एवं तूर (var. bicolor; var. flavus) होते हैं। प्रथम का वर्णन ऊपर दिया हुआ है। द्वितीय में क्षुप छोटा, पुष्प पीत, फली छोटी एवं २ से ३ बीजयुक्त हुआ करती है। यह जल्दी परिपक होती है। बीजों से दाल बनाने की दो विधियां प्रचलित हैं। एक में आर्द्र करके बनाते हैं तथा दूसरे में वैसे ही दल कर बनाते हैं। दल कर बनाने में दाल अच्छी होती है तथा जल्दी पकती है किन्तु दलने में टूटने से मंहगी पड़ती है। भिगो कर बनाने में अधिक दाल निकलती है किन्तु यह देर में पकती है। अच्छी दाल मोटी, छोटी तथा गोल होती है तथा दूसरी चिपटी, बीच में छोटे गर्तदार, पतली तथा बड़ी होती है जो जल्दी नहीं पकती।

रासायनिक संगठन—दाल में प्रोटीन २२·३, स्नेह १·७, खनिज ३·६, कार्बोहाइड्रेट ५७·२ भाग एवं खटिक, फास्फोरस, विटामिन 'ए' तथा 'बी' १ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसका भोजन में बहुत उपयोग किया जाता है। इसके पत्ते तथा दाल को पीसकर, गरम करके स्तन पर दूध बंद करने के लिये बांधते हैं। दाल के लेप से शोथ कम होता है कामला में पत्तों का रस जरासा सैंधव मिलाकर पिलाते हैं।

अथ चणकः (चना)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

चणको हरिमन्थः स्यात्सकलप्रिय इत्यपि। चणकः शीतलो रूक्षः पित्तरक्तकफापहः।
लघुः कषायो विष्टम्भी वातलो ज्वरनाशनः ॥ ५३ ॥

चना के संस्कृत नाम - चणक, हरिमन्थ और सकलप्रिय ये सब हैं।

चना—कषायरसयुक्त, शीतल, रूक्ष, लघु, विष्टम्भक, वातकारक एवम् पित्त-रक्तविकार-कफ तथा ज्वर का नाशक है॥ ५३ ॥

अथ भर्जनादिभेदेन तस्य गुणभेदानाह

स चाङ्गारेण सम्भृष्टस्तैलभृष्टश्च तद्गुणः। आर्द्रभृष्टो बलकरो रोचनश्च प्रकीर्त्तितः॥ ५४ ॥
शुष्कभृष्टोऽतिरूक्षश्च वातकुष्ठप्रकोपणः। स्विन्नः पित्तकफं हन्यात् सूपः क्षोभकरो मतः॥५५॥
आर्द्रोऽतिकोमलो रुच्यः पित्तशुक्रहरो हिमः। कषायो वातलो ग्राही कफपित्तहरो लघुः॥

भुने हुए आदि भेदों से चने के गुणों में भेद—अङ्गारे (केवल अग्नि) से भुने हुये चने के गुण—यदि चना केवल अग्नि से भुना हुआ हो तो पूर्वोक्त गुणों से युक्त होता है। तेल में भुना हुआ चना भी पूर्वोक्त गुणों से युक्त होता है। गीला भुना हुआ चना—बलदायक तथा रुचिकारक होता है। सूखा भुना हुआ चना—अत्यन्त रूक्ष एवं वात तथा कुष्ठ को कुपित करने वाला होता

है। उबाला हुआ चना-पित्त तथा कफ का नाशक होता है। चने की रांधी हुई दाल-क्षोभ उत्पन्न करने वाली होती है। भिगोया हुआ चना—कषाय रसयुक्त, अत्यन्त कोमल, रुचिकारक, शीतल, वातजनक, ग्राही, लघु, एवम्-पित्त, शुक्र तथा कफ-पित्त को नष्ट करने वाला होता है। इसके पत्तों के गुण आगे शाकवर्ग में दिये हुवे हैं ॥ ५४-५६ ॥

११ चना

हि०—चने, छोला, रहिला, बूंट। म०—हरबरा, चणें। बं०-छोला। गु०—चण्या, चणा। क०—कडले। ता०—कडलै। ते०—सनगलु। फा०—नखूद। अ०—हमस। पं०—छोले। अं०—Gram (ग्राम); Bengal Gram (बेंगाल ग्राम); Chick Pea (चिक् पी)। ले०-*Cicer arietinum Linn* (सीसर् एरीएटीनम्)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में प्रतिवर्ष इसकी खेती की जाती है। इसका क्षुप—सीधा या फैला हुआ, अनेक शाखायुक्त, १ से १½ फीट ऊंचा एवं रोमश होता है। पत्ते-पक्षवत होते हैं जिनके पत्रक दीर्घवृत्ताभ, ६ मि० मी० लम्बे, ४ मि० मी० चौडे, दन्तुर एवं ग्रन्थियुक्त रोमों से आवृत रहते हैं। पुष्प-छोटे, एकाकी तथा पत्रकोण में आते हैं जो विभिन्न प्रकारों में भिन्न-भिन्न रंग एवं नाप के होते हैं। फली-आयताकार, ¾-१ इञ्च लम्बी तथा प्रायः दो बीजों से युक्त होती है। बीज-गोल, नोकदार, ०·२-०·४ इञ्च व्यास के, चिकने या सिकुड़नदार, भूरे, पीले या श्वेत रंग के होते हैं। पत्तों पर रहने वाले रोम ग्रन्थियों से एक प्रकार का अम्ल स्राव होता है जिसका पहले हरीतक्यादि वर्ग (पृ० १६२) में 'चणकाम्ल' के नाम से वर्णन किया जा चुका है। चने के रंग तथा नाप के अनुसार कई भेद किये गए हैं जिनमें मुख्य दो वर्ग हैं। प्रथम में सभी रंगों के चने आते हैं। दूसरे में काबुली आते हैं जो सफेद एवं बहुत बड़े होते हैं। कुछ विद्वानों ने काबुली के क्षुप को भिन्न जाति (Species) का माना है।

रासायनिक संगठन—चने में प्रोटीन १७·१, स्नेह ५·३, खनिज २·७, रेशा ३·९, कार्बोहाइड्रेट ६१·२, खटिक, फास्फोरस, विटामिन 'ए' तथा बी१ एवं आर्द्रता ९·८ रहती है। छिलके निकाले भुने हुये चने में प्रोटीन २२·५, स्नेह ५·२, खनिज २·२, रेशा ०, कार्बोहाइड्रेट ५८·९, खटिक, फास्फोरस एवं आर्द्रता ११·२ रहती है।

गुण और प्रयोग—चने का विभिन्न रूपों में आहार द्रव्य के रूप में उपयोग किया जाता है।

अथ कलायः (मटर)। तस्य नामगुणानाह

कलायो वर्त्तुलः प्रोक्तः सतीनश्च हरेणुकः। कलायो मधुरः स्वादुः पाके रूक्षश्च शीतलः ॥५७॥

मटर के संस्कृत नाम—कलाय, वर्त्तुल, सतीन तथा हरेणुक ये सब हैं।

मटर - मधुर रसयुक्त, विपाक में भी मधुर, रूक्ष तथा शीतल होता है। इसके साग का वर्णन आगे शाकवर्ग में दिया हुआ है ॥ ५७ ॥

१२ मटर

हिं०—मटर, मट्टर। बं०—मटर। म०—वाटाणे। गु०—मटाणा, वटाणा। क०—बटाणि। ते०—गुंडुसानगलु। ता०—पटाणी। फा०—जलबान, कसंग। अ०—खलज, हुब्बुल बकर। अं०—Field Pea (फील्ड पी); Garden Pea (गार्डन् पी)। ले०—*Pisum sativum Linn.* (पाइसम् सॅटिवम्)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

मटर—एक प्रसिद्ध खाद्य अन्न प्रायः सब प्रान्तों में प्रतिवर्ष बोया जाता है।

इसका क्षुप-वर्षायु तथा सूत्रों के द्वारा आरोहणशील होता है। पत्ते-पक्षवत्, पत्रक १ से ३ जोड़, अंतिम सूत्रों में परिवर्तित तथा पत्राधार फूला हुआ होता है। पुष्प-अनियमिताकार द्विलिंगी एवं अपने वर्गविशिष्ट स्वरूप का होता है। फली-अनेक बीजों से युक्त, चिपटी, लंबी तथा अग्र पर कुछ टेढ़ा नोकदार होती है। इसके अनेक प्रकार पाये जाते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें प्रोटीन २२, कार्बोहाइड्रेट ५४, स्नेह १, रेशा ५ एवं राख २ भाग रहती है। इसमें ट्राइगोनेल्लीन (Trigonelline) नामक क्षाराभ पाया जाता है। परिपक्व बीजों के तेल में लैंगिक हारमोन विरोधी गुण रहता है। इससे पौरुष हारमोन निष्क्रिय होकर वन्ध्यत्व प्राप्त होता है।

गुण और प्रयोग—कच्चे मटर से दस्त होते हैं। आहार में इसको अन्न की तरह व्यवहार में लाते हैं।

अथ त्रिपुटः (खेसारी)। तस्य नामगुणानाह

त्रिपुटः खण्डिकोऽपि स्यात्कथ्यन्ते तद्गुणा अथ। त्रिपुटो मधुरस्तिक्तस्तुवरो रूक्षणो भृशम्॥
कफपित्तहरो रुच्यो ग्राहकः शीतलस्तथा। किन्तु खञ्जत्वपङ्गुत्वकारी वातातिकोपनः ॥५९॥

खेसारी के संस्कृत नाम—त्रिपुट तथा खण्डिक ये दो हैं।

खेसारी- मधुर, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, अत्यन्त रूक्ष, रुचिकारक, ग्राही, शीतल एवम् कफ तथा पित्त को नष्ट करनेवाली होती है और सेवन करने से लंगड़ा तथा पंगुला बना देने वाली और वायु को अत्यन्त कुपित करनेवाली होती है ॥ ५८-५९ ॥

१३ खेसारी

हि-खेसारी, खिसारी, कसूर, मटरभेद। बं०-खेसारी। म०-लाग। गु०-लांग। फा०-मासंग। अ०-हबुल बकर, खलज। अं०-Chickling Vetch (चिक्लिंग वेच)। ले०-*Lathyrus sativus Linn.* (लेथीरस् सेटीवस्)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

प्रायः सब प्रान्तों में इसकी खेती की जाती है और उत्तर भारत में अधिक उत्पन्न होती है। इसकी शाखायें पंखदार होती हैं। पत्ते-पक्षवत् तथा अग्र २ या ३ सूत्रों में विभाजित रहते हैं। पत्रक पतले, १-२½ इञ्च लंबे, रेखाकार-भालाकार, लम्बाग्र एवं संख्या में २-४ रहते हैं। फूल-नीलापन युक्त लाल या श्वेत होते हैं। फलियां-१-१½ इञ्च लम्बी, एक किनारे पर पंखदार तथा ४ से ५ बीजों से युक्त होती हैं। अकाल के समय गरीब इसकी दाल खाते हैं। इसका चारे के रूप में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—बीजों में एक विषैला पदार्थ होता है।

गुण और प्रयोग—बीजों का तेल तीव्र तथा हानिकारक विरेचक होता है। इसकी दाल खाने से लकवा जैसा लॅथिरिज्म (Lathyrism) नामक रोग होता है। यह रोग जानवरों को भी होता है। कुछ विद्वानों के मत से इसके साथ मिले अन्य द्रव्यों के कारण यह रोग होता है।

अथ कुलत्थः (कुलथी)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कुलत्थिका कुलत्थश्च कथ्यन्ते तद्गुणा अथ ॥ ६० ॥
कुलत्थः कटुकः पाके कषायः पित्तरक्तकृत्। लघुर्विदाही वीर्योष्णः श्वासकासकफानिलान् ॥
हन्ति हिक्काऽश्मरीशुक्रदाहानाहान् सपीनसान्। स्वेदसंग्राहको मेदोज्वरक्रिमिहरः सरः ॥

कुलथी के संस्कृत नाम—कुलत्थिका तथा कुलत्थ ये दो हैं।

कुलथी—कषायरसयुक्त, विपाक में कटुरसयुक्त, पित्त तथा रुधिर विकार को करने वाली, लघु, विदाही, उष्णवीर्य, पसीने को रोकने वाली, सारक एवम्-श्वास, कास, कफ, वायु, हिचकी, पथरी, शुक्र, दाह, आनाह (अफरा), पीनस, मेद, ज्वर तथा क्रिमिको दूर करने वाली होती है॥

१४ कुलथी

हि०-कुरथी, कुलथी। म०-कुळीथ। क०-हुरूली। ते०-उलवलु। गु० कुलथी। ता०-कोळ्लु। फा० किलत, माश'हिन्दी, हब्बुल्कतल। अं०-Horse-gram (हॉर्स ग्राम)। ले०-*Dolichos biflorus Linn.* (डोलिकोस् बाईफ्लोरस्)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

कुलथी- इस देश में प्रायः सर्वत्र होती है। दक्षिण में जानवरों को खिलाने के लिये इसकी बहुत खेती की जाती है।

इसका क्षुप—झाड़ीदार, आरोहणशील, पतला, धूसर रोमश, १२ से १८ इञ्च ऊंचा एवं मूल से अनेक पतली शाखाओं से युक्त होता है। पत्ते-त्रिपत्रक एवं २ इञ्च लंबे वृन्तयुक्त होते हैं। पत्रक-पीताभ हरे, १½ इञ्च लम्बे, तिर्यक् अंडाकार एवं अग्र तीक्ष्ण और रोमश होता है। पुष्प-छोटे पीताभ श्वेत रंग के आते हैं। फली-चिपटी, १½-२ इञ्च लम्बी, ¼ इञ्च चौड़ी तथा कुछ टेढ़ी होती है। बीज-५-६ हलके लाल, काले चितकबरे, चिपटे, ⅛-¼ इंच बड़े एवं चमकीले होते हैं। इसको विशेष रूप से घोड़ों को खिलाते हैं। इसको बिना दाल बनाये ही उपयोग में लाते हैं। गरीब इसको खाते हैं।

रासायनिक संगठन—बीजों में प्रोटीन २२, स्नेह ०.५, खनिज ३.१, रेशा ५.३, कार्बोहाइड्रेट ५७.३, खटिक ०.२८, फास्फोरस ०.३९%, लोह ७.६ मि० ग्रा०, निकोटिनिक् ॲसिड १.५ मि० ग्रा० एवं विटामिन 'ए' ११९ एकक प्रति १०० ग्राम में पाया जाता है। इसमें युरिएस् (Urease) काफी होता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, मूत्रल, वात-कफनाशक, मेदहर एवं अश्मरीघ्न है। इसका क्वाथ अश्मरी, श्वास, कास एवं श्वेतप्रदर में दिया जाता है।

मात्रा—३ से ६ माशा।

अथ तिलः। तस्य तद्भेदानां च गुणानाह

तिलः कृष्णः सितो रक्तः सवन्योऽल्पतिलः स्मृतः। तिलो रसे कटुस्तिक्तो मधुरस्तुवरो गुरुः॥
विपाके कटुकः स्वादुः स्निग्धोष्णः कफपित्तनुत्।
बल्यः केश्यो हिमस्पर्शस्त्वच्यः स्तन्यो व्रणे हितः॥ ६४॥
दन्त्योऽल्पमूत्रकृद् ग्राही वातघ्नोऽग्निमतिप्रदः। कृष्णः श्रेष्ठतमस्तेषु शुक्लो मध्यमः सितः॥
अन्ये हीनतराः प्रोक्तास्तज्ज्ञै रक्तादयस्तिलाः॥ ६५॥

तिल का संस्कृत नाम—तिल ही है। भेद—काले, सफेद तथा लाल रङ्गों के भेद से तिल ३ प्रकार के होते हैं। जो तिल जङ्गलों में होता है वह वन्यतिल और अल्पतिल नाम से प्रसिद्ध है।

तिल—कटु, तिक्त, मधुर तथा कषाय रसयुक्त, विपाक में कटुरस युक्त, स्वादिष्ट, गुरु, स्निग्ध, उष्ण, कफ तथा पित्तनाशक, बलकारक, केशों के लिये हितकर, स्पर्श में शीतल, त्वचा के लिये हितकर, दुग्धवर्धक, व्रण में लाभ पहुँचाने वाला, दाँतों के विकारों को दूर करनेवाला, थोड़ा

मूत्रकारक, ग्राही, वातनाशक, जठराग्नि तथा बुद्धि को बढ़ाने वाला होता है। तिलों में काला तिल--वीर्यवर्धक तथा सर्वोत्तम होता है। सफेद तिल--गुणों में मध्यम होता है। इससे अन्य जो लाल वगैरे तिल हैं वे गुणों में अत्यन्त हीन हैं ऐसा निघण्टु के विद्वानों का मत है॥ ६६-६५॥

१५ तिल

हि०-तिल, तील, तिली। बं०-तिलगाछ। म०-तीळ। गु०-तल। क०-बुरलेल्लु। ते०-नुव्वुलु। ता०-एल्लु। फा०-कुंजद। अ०-सिमासिम, बजरुलखुल खामुलवरीं। अं०-Gingelli (जिंजेल्ली), Sesame (सीसेम)। ले०-*Sesamum indicum* Linn. (सिसेमम् इंडिकम्)। Fam. Pedaliaceae (पेडालिएसी)।

इसकी प्रायः सभी प्रान्तों में खेती की जाती है। इसका क्षुप-२½ से ४½ फीट ऊँचा, काण्ड चौपहल एवं अनेक शाखायुक्त होता है। पत्ते-नीचे से ऊपर विभिन्न प्रकार के, दन्तुर या अखण्ड होते हैं। पुष्प-विभिन्न रंगों के, श्वेत से लेकर गहरे बैंगनी रंग के एवं नलिकाकार द्वयोष्ठ होते हैं। फली-१½ से २ इञ्च लंबी, करीब ½-१ इञ्च गोलाई में एवं अनेक बीजों से युक्त होती है। बीज-विभिन्न प्रकार के अनुसार श्वेत, मन्दश्वेत, हलके भूरे, गहरे भूरे या काले रंग के हुआ करते हैं। ये चिपटे, अंडाकार तथा एक इञ्च की लम्बाई में ६ से ८ तथा चौड़ाई में १० से १२ आते हैं। विभिन्न ऋतुओं में बोने के अनुसार इनके भेद हुआ करते हैं।

रासायनिक संगठन—इनमें प्रकार तथा स्थानभेद से तेल की मात्रा ३७-५७% एवं कार्बोहाइडेट १४ से २२% एवं प्रोटीन २१ से २६% पाया जाता है। काले तिल में प्रोटीन अधिक तथा कार्बोहाइड्रेट कम रहता है। भूरे की अपेक्षा श्वेत में प्रोटीन अधिक पाया जाता है। ताजे पत्तों में काफी लुआब रहता है।

गुण और प्रयोग - तिल का तथा इसके तेल का उपयोग नित्य के व्यवहार में किया जाता है। यह स्नेहन, आनुलोमिक, मूत्रजनन, वाजीकर, आर्तवजनन, स्तन्यजनन, बल्य, व्रणशोधन रोपण तथा केशवर्धन है।

(१) अर्श में इसको मक्खन के साथ खिलाते हैं तथा पीसकर गरमकर इससे सेकते हैं।

(२) मछली खाकर अजीर्ण हो तो इसके पंचांग का क्षार देते हैं। उदर शूल में तिल को सुगंधि पदार्थ के साथ पीसकर गोली बनाकर देते हैं। तिल से दांत मजबूत रहते हैं।

(३) खांसी में तिल का क्वाथ, चीनी मिलाकर पिलाते हैं। सूखी खांसी में ताजे पत्तों का हिम थोड़ा थोड़ा पिलाते हैं।

(४) मूत्राश्मरी में तिलक्षार दूध तथा शहद के साथ देते हैं।

(५) इसका गर्भाशय पर संकोचक प्रभाव होने से अनार्तव इत्यादि में से इसका उपयोग करते हैं।

(६) इसका पुल्टिस व्रण पर बांधते हैं। तेल का भी उपयोग व्रण पर लगाने के लिये करते हैं।

मात्रा—बीज १ से २ तोला; पंचांगक्षार ५ से १५ रत्ती।

अथातसी (तीसी)। तस्या नामगुणानाह

अतसी नीलपुष्पी च पार्वती स्यादुमा क्षुमा॥ ६६॥
अतसी मधुरा तिक्ता स्निग्धा पाके कटुर्गुरुः। उष्णा दृक्शुक्रवातघ्नी कफपित्तविनाशिनी॥

तीसी के संस्कृत नाम—अतसी, नीलपुष्पी पार्वती, उमा तथा क्षुमा ये सब हैं।

तीसी—मधुर तथा तिक्त रसयुक्त, स्निग्ध, विपाक में कटुरसयुक्त, गुरु, उष्ण एवम् नेत्रों की शक्ति, शुक्र, वात, कफ तथा पित्त को दूर करनेवाली होती है ॥ ६६-६७ ॥

१६ तीसी

हि०-तीसी, तिसी, अलसी, मसीना। बं०-तिसी, मसीना। म०-जवस, अळशी। गु०-अलशी। क०-अगसि। ते०-अविसि। ता०-अलिविराई। फा०-तुख्मे कतान, बजुरग, बजुर्ग। अ०-बजरूल कतान, बजरूल कुनान, बज्रुलकतां। अं०-Common Flax (कामन फ्लेक्स), Linseed (लिन्सीड) ले०-*Linum usitatissimum Linn.* (लीनम् यूसिटेटिसिमम्)। Fam. Linaceae (लिनेसी)।

तीसी—प्रायः सब प्रान्तों के खेतों में बोई जाती है। इसका पौधा-१॥-२ फीट ऊँचा होता है। पत्ते-छोटे, रेखाकार या भालाकार एवं ३ शिराओं से युक्त होते हैं। फूल-नीले रङ्ग के घंटाकार; फल-गोल घुंडी सा ऊपर को नोकीला एवं ५ कोषयुक्त होता है। बीज-प्रत्येक कोष में १० के करीब, चिपटे, चिकने, गहरे भूरे एवं चमकीले होते हैं।

पीले एवं श्वेत रंग के बीजों के भेद मध्यभारत तथा राजपुताना में होते हैं जिनमें तेल अधिक मात्रा में तथा कुछ हलके रंग का निकलता है। भूरे में भी छोटे बड़े भेद होते हैं। बड़े में तेल अधिक रहता है। इसके बीज एवं तेल का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। तेल का वार्निश, पेन्ट आदि में उपयोग करते हैं। कांड से लिनेन (Linen) तन्तु बनाते हैं जिसके कपड़े बनाये जाते हैं।

रासायनिक संगठन—तीसी में तेल ३८ से ४५% रहता है। घानी से निकालने में २५-३०% ही प्राप्त होता है। इसमें प्रोटीन २०-२५%, पिच्छिल द्रव्य ६%, मोम, राल, फास्फेट, शर्करा १८% एवं अल्प ग्लाइकोसाइड, लिनामेरिन (Linamarin) रहता है। इसके पुष्प एवं अपक्व बीजों में हाइड्रोसाइनिक् अम्ल ०·६१% तक एवं क्षाराभ लिपरीन (Liparine) रहता है।

गुण और प्रयोग-इसके बीज, स्नेहन, मार्दवकर, बल्य, वेदनास्थापन, मूत्रजनन एवं वातहर हैं। तेल विरेचन एवं व्रणरोपण है।

(१) इसके तेल को या बीजों को सौम्यविरेचक रूप में देते हैं। (२) बीजों को कूटकर, पानी मिलाकर, पकाकर, पुल्टिस के रूप में शोथ आदि पर बाँधने से नवीन शोथ दब जाता है या पककर जल्दी फूट जाता है। इसका तेल तथा चूने का पानी मिला जले पर लगाते हैं। (३) इसके बीजों का फाँट खाँसी में देते हैं।

मात्रा—तेल २ से ४ ड्राम; बीज १ बड़ा चम्मच।

अथ तुवरी ("तोरी, तोडिस" इति लोके)। तस्या गुणानाह

तुवरी ग्राहिणी प्रोक्ता लघ्वी कफविषास्रजित्। तीक्ष्णोष्णा वह्निदा कण्डूकुष्ठकोष्ठक्रिमिप्रणुत् ॥

तुवरी (जिसे लोक में तोरी या तोडिस कहते हैं) के गुण—तोरी-ग्राही, लघु, तीक्ष्ण, उष्ण, जठराग्निवर्धक एवम्—कफ, विष, रक्तविकार, खुजली, कुष्ठ तथा कोष्ठस्थित क्रिमि को दूर करनेवाली होती है ॥ ६८ ॥

१७ तोरी

हि०-तोरी, तीरा, लाही, तारा मिरा, सिओहा, तिउरा। पं०-अमू, तारा। बं०-श्वेतसरिषा। अं०-Rocket Salad (राकेट सलाद)। ले०-*Eruca sativa Mill.* (एरुका सटाइवा)। Fam. Cruciferae (क्रुसीफेरी)।

यह पश्चिम हिमालय में १० हजार फीट की ऊँचाई तक होती है। उत्तरभारत में इसकी खेती की जाती है। पंजाब एवं अल्पमात्रा में उत्तरप्रदेश तथा ग्वालियर में शीतकालीन फसलों के साथ इसको बोते है।

इसका क्षुप--सरसों के जैसा होता है। यह २ से ४ फीट ऊंचा होता है। पत्ते ३ से ७ इञ्च लम्बे, मांसल, दन्तुर, आधे से अधिक पक्षवत खण्डित एवं खण्ड प्रायः रेखाकार-आयताकार होते हैं। पुष्प-बड़े, श्वेताभ या पीताभ एवं बैंगनी शिराओं से युक्त होते हैं। फली एक इञ्च लंबी, सीधी, ऊपर की ओर उठी हुई एवं काण्ड से लगी हुई होती है। बीज-अनेक, छोटे, हलके रक्ताभ भूरे, अंडाकार, चिकने एवं प्रत्येक कोष्ठ में दो कतारों में रहते हैं। राई, सरसों में इसकी मिलावट की जाती है। इसके तेल को लोग जलाने, खाने एवं मालिश इत्यादि के काम में लाते हैं।

रासायनिक संगठन—बीजों में से २०% हलके पीले रंग का, कुछ कड़वा एवं तीक्ष्ण गंध का तेल प्राप्त होता है। उत्तरप्रदेश के बीजों का तेल पंजाब की अपेक्षा कम तीक्ष्ण होता है। यह तेल ५, ६ महिने रखने से उसकी तीक्ष्णता कम हो जाती है। इसमें एक तीक्ष्ण गंध का उड़नशील तेल भी होता है जिसे चर्म पर लगाने से दाह होता है।

गुण और प्रयोग—इसके नये पत्ते दीपन एवं मूत्रल होते हैं इसके बीज सरसों की तरह प्रतिक्षोभक होते हैं। चर्मरोगों में तेल का उपयोग किया जाता है। कोमल पौधों का साग बनाते हैं।

अथ सर्षपो रक्तः—पीतश्च (लाल सरसों और पीली सरसों)। तयोर्नामगुणानाह

सर्षपः कटुकः स्नेहस्तुन्तुभश्च कदम्बकः। गौरस्तु सर्षपः प्राज्ञैः सिद्धार्थ इति कथ्यते ॥६९॥
सर्षपस्तु रसे पाके कटुः स्निग्धः सतिक्तकः। तीक्ष्णोष्णः कफवातघ्नो रक्तपित्ताग्निवर्धनः॥
रक्षोहरो जयेत्कण्डूं कुष्ठकोष्ठक्रिमिग्रहान्। यथा रक्तस्तथा गौरः किन्तु गौरो वरो मतः ॥७१॥

सरसो (लाल सरसो) के संस्कृत नाम—सर्षप, कटुक, स्नेह, तुन्तुभ और कदम्बक ये सब हैं। सफेद सरसो (पीली सरसो) का संस्कृत नाम—गौर सर्षप और सिद्धार्थ है। सरसो-विपाक में कटुरस युक्त, स्निग्ध, कटु तथा तिक्त रसयुक्त, तीक्ष्ण, उष्ण, कफ और वात का नाशक, रक्तपित्त तथा जठराग्नि को बढ़ाने वाला, रक्षों की बाधा को दूर करनेवाला एवम् खुजली, कुष्ठ, कोष्ठस्थित क्रिमि तथा ग्रहबाधा को नष्ट करनेवाला होता है। सफेद सरसो, गुणों में यद्यपि लाल सरसो के समान ही है तथापि अपेक्षाकृत सफेद ही उत्तम होता है। सरसो के शाक का वर्णन आगे शाकवर्ग में दिया हुआ है ॥ ६९-७१ ॥

१८ सरसों

हि०-सरसों, सरिसो, सर्सो। बं०-सरीसा। म०-शिरशी। गु०-शरशव, सरशव। क०-सासवे। ते०-आवालु। ता०-कडुगु। फा०-सर्पक, सरशफ, सिपन्दान। अ०-उर्फे अबीयद, खर्दले अबयज़, हुर्फ। अं०-Yellow Sarson (यलो सरसों); Indian Colza (इण्डियन् कोलझा।

ले०-*Brassica campestris var. sarson Prain* (ब्रासिका केम्पेस्ट्रिस् वेराइटी सरसों)। Fam. Cruciferae (क्रूसीफेरी)।

इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में इसकी खेती की जाती है। बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश एवं पंजाब में यह अधिक होती है। इसका क्षुप-२ से ५ फीट तक ऊँचा होता है। पत्ते-काण्ड को जड़ से सटे हुए, लम्बे, गहरे कटे किनारे वाले और चिकने होते हैं। फूल-अत्यन्त सुहावने पीले रङ्ग के आते हैं। फलियाँ-२-३ इञ्च लम्बी और गोल होती हैं। इनमें से जो पीले रङ्ग के बीज निकलते हैं उन्हीं को सरसों कहते हैं।

इसके कई प्रकार पाये जाते हैं। रंग भेद से पीला तथा भूरा, फली में के कोष्ठ की संख्यानुसार (२, ३, ४), फली की काण्ड के साथ की स्थिति, लटकी हुई या सीधी खड़ी के अनुसार ये भेद होते हैं। इससे 'सरसों का तेल' निकालते हैं सरसों के खाने के तेल में इसकी अन्य जातियों के बीजों का तेल भी मिला रहता है।

रासायनिक संगठन - इसमें ३५ से ४८% स्थिर तैल, ०.२७% उड़नशील तैल एवं प्रोटीन २०% एवं एरूसिक् एसिड (Erucic acid) रहता है।

गुण और प्रयोग—इसका तेल खाने एवं मालिश के काम आता है। आमवातादि में कपूर मिलाकर इससे मालिश की जाती है। गरम जल में इसको मिलाकर पुलटिस के रूप में इसका प्रयोग करते हैं। इसमें का उड़नशील तैल प्रतिक्षोभक होता है एवं इसको चर्म पर लगाने से फोड़े आ सकते हैं।

अथ राजिका कृष्णराजिका च (राई, कृष्णराई)। तयोर्नामानि गुणांश्चाह

राजीतु राजिका तीक्ष्णगन्धा क्षुज्जनिकाऽऽसुरी। क्षवः क्षुताभिजनकः कृष्णीका कृष्णसर्षपः ॥
राजिका कफपित्तघ्नी तीक्ष्णोष्णा रक्तपित्तकृत्। किञ्चित् रूक्षाऽग्निदा कण्डूकुष्ठकोष्ठक्रिमीन्हरेत् ॥
अतितीक्ष्णा विशेषेण तद्वत्कृष्णाऽपि राजिका ॥ ७३ ॥

राई के संस्कृत नाम—राजी, राजिका, तीक्ष्णगन्धा, क्षुज्जनिका तथा आसुरी ये सब हैं। काली राई के संस्कृत नाम—क्षव, क्षुताभिजनक, कृष्णिका तथा कृष्णसर्षप ये सब हैं।

राई—कफ तथा पित्तनाशक, तीक्ष्ण, उष्ण, रक्तपित्तकारक, किञ्चित् रूक्ष, जठराग्निवर्धक एवम् खुजली, कुष्ठ तथा कोष्ठस्थित क्रिमि को दूर करनेवाली होती है।

काली राई यह वैसे तो गुणों में राई ही के समान होती है किन्तु उसकी अपेक्षा विशेषतः अत्यन्त तीक्ष्ण होती है॥ ७२ ७३ ॥

१९ राई

हि०-राई, लाल राई, माकड़ा राई। बं०-राइ, सरिषा। म०-राई। गु०-राई। क०-सासि। ते०-आवालु। ता०-कडुगु। अ०-खरदल, खर्दल। फा०-सर्शप। अं०-Indian Mustard (इंडियन मस्टर्ड)। ले०-*Brassica juncea Linn.* (ब्रासीका जून्सिआ)। Fam. Cruciferae (क्रूसीफेरी)।

राई-सरसों के समान खेतों में बोई जाती है। क्षुप-सरसों के समान होता है। पत्ते-साधारण, एकान्तर, मूलीय एवं काण्डीय तथा गहरे कटे हुये होते हैं। पुष्प-चमकीले पीले होते हैं। फली—

पतली एवं आधार से फट जाती है। बीज-रक्ताभ भूरे, सरसों से छोटे एवं सिकुड़नदार होते हैं। इनसे भी तेल निकाला जाता है।

एक बनारसी राई और होती है जिसका ले० नाम *Brassica nigra Linn.* (ब्रासिका नाइग्रा) है। इसके बीजों पर सूक्ष्म जाली दिखलाई देती है। इनसे तेल नहीं निकालते किन्तु चटनी-अचार इत्यादि में इसे डालते हैं।

रासायनिक संगठन--राई में तेल ३५·५, प्रोटीन २४·६, रेशा ८ एवं राख ५·३ भाग रहती है। इसका तेल अधिक स्वच्छ तथा सरसों के जैसी गंध इसमें नहीं होती।

गुण और प्रयोग--कम मात्रा में यह दीपन, पाचन, उत्तेजक तथा स्वेदजनन है। अधिक मात्रा (४-८ माशा) से वमन होता है। इससे वमन कराने से बाद में थकावट नहीं आती।

इसका बाह्य प्रयोग लेप के रूपमें आन्तरिक शोथ में करते हैं। इससे त्वचा लाल होकर अधिक देर रखने से फोड़े भी होजाते हैं। इसे एक घंटे से अधिक कदापि न रखे। प्रतीश्याय में इसकातेल नाक एवं पावों पर मलते हैं।

अथ क्षुद्रधान्यम्। तस्य नामगुणानाह

क्षुद्रधान्यं कुधान्यं च तृणधान्यमिति स्मृतम्। क्षुद्रधान्यमनुष्णं स्यात्कषायं लघु लेखनम्॥
मधुरं कटुकं पाके रूक्षं चक्लेदशोषकम्। वातकृद् बद्धविट्कं च पित्तरक्तकफापहम्॥ ७५॥

क्षुद्रधान्य के संस्कृत नाम—क्षुद्रधान्य, कुधान्य तथा तृणधान्य ये सब हैं।

क्षुद्रधान्य—किञ्चित उष्ण, कषाय तथा मधुर रस युक्त, लघु, लेखन, विपाक में कटु रसयुक्त, रूक्ष, क्लेद (आर्द्रता) को सुखाने वाला, वातकारक, मल को बांधने वाला एवम्-पित्त, रक्तविकार तथा कफ का नाशक होता है॥ ७४-७५॥

अथ कङ्गुः (कङ्गुनी) तस्य नामभेदगुणानाह

स्त्रियां कङ्गुप्रियङ्गु द्वे कृष्णारक्ता सिता तथा। पीता चतुर्विधा कङ्गुस्तासां पीता वरा स्मृता।
कङ्गुस्तु भग्नसन्धानवातकृद् बृंहणी गुरुः। रूक्षा श्लेष्महराऽतीव वाजिनां गुणकृद् भृशम्॥

कङ्गुनी का संस्कृत नाम—कङ्गु तथा प्रियङ्गु (ये दोनों स्त्रीलिङ्गी हैं) हैं। भेद--काली, लाल, सफेद तथा पीली इन भेदों से कङ्गुनी ४ प्रकार की होती है। इनमें से पीली कंगुनी ही सर्वोत्तम होती है।

कंगुनी—टूटी हुई अस्थियों को जोड़ने वाली, वातकारक, बृंहण (रसरक्तादि वर्धक), गुरु, रूक्ष, अत्यन्त कफनाशक और घोड़ों के लिये विशेषरूप से गुण करनेवाली होती है॥७६ ७७॥

२० कंगुनी

हि०-कंगुनी, कगनी, टंगुनी। बं०-कांगुनी। म०-कांग। ता०-तेनई। गु०-कांग। क०-नवणे। ते०-कोरलु। फा०-गाल, अरज़ुन। अ०-दुख्न। ले०-*Setaria italica Beauv.* (सेटारिया इटेलिका)। Fam. Gramineae (ग्रेमिनी)।

कंगुनी की खेती प्रायः सब प्रान्तों में होती है। यह ६ हजार फीट की ऊंचाई तक हो सकने के कारण हिमालय के तराई प्रदेश में भी इसे लोग बोते हैं। इसकी सालभर तक पैदावर की जा सकती है तथा यह १०० दिन में तैयार हो जाती है। अधिकतर वर्षा के प्रारम्भ में इसे बोते हैं।

इसका क्षुप–३–३½ फीट ऊंचा, पतला एवं बाल के बोझ से झुका हुआ होता है। पत्ते–१२–१८ इञ्च लम्बे, ½ इञ्च चौड़े, हलके हरे एवं रेखाकार मालाकार होते हैं। पुष्पव्यूह–अवृन्त काण्डज (Spike-स्पाइक्), ६–१२ इञ्च लम्बा, ¾–१½ इञ्च व्यास का तथा शूकयुक्त होता है। बाल–बाजरे के समान किन्तु उससे छोटे प्रायः ६ इञ्च लम्बे एवं ½–१½ इञ्च व्यास के होते हैं। भेद के अनुसार ये लंबे भी होते हैं।

धान्य विभिन्न रंगों के हुआ करते हैं। ये चिकने चमकीले, पीले, श्वेत, मलाई के रंग के नारंग रक्त, बैंगनी, काले, हरिताभ श्वेत एवं हलके पीत रंगों के होते हैं। बालों में से जो बारीक दाने निकलते हैं। उन्हीं को कंगुनी कहते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें प्रोटीन ११, स्नेह ४, कार्बोहाइड्रेट ७०, रेशा ५ एवं राख ३ भाग रहती है। इसमें एक विषैला ग्लूकोसाइड तथा तैलीय क्षाराभ पाया गया है।

गुण और प्रयोग—चावल की तरह इसे लोग खाते हैं। प्रसवपीडा को कम करने के लिये इसका उपयोग करते हैं। आमवात में इसका लेप किया जाता है।

अथ चीनाकः (चीना) तस्य नामगुणानाह

चीनाकः काककङ्गुश्च सुश्लक्ष्णः श्लक्ष्णकः स्मृतः।
चीनाकः कङ्गुभेदोऽस्ति स ज्ञेयः कङ्गुवद् गुणैः ॥ ७८ ॥

चीना के संस्कृत नाम—चीनाक, काककंगु, सुश्लक्ष्ण, श्लक्ष्णक तथा कंगुभेद ये सब हैं।
चीना—कङ्गुनी का भेद है अतः इसके भी गुण कंगुनी के समान ही समझने चाहिये ॥ ७८ ॥

२१ चीना

हि०–चीना, चिन्ना, चैना। बं०-चिने। म०–वरिवव। गु०–चीणे, चीणा। क०–बरगु। ता०–पनिवरगु। ते०–वरिगलु। अं०–Indian Millet (इंडियन मिलेट)। ले०–*Panicum miliaceum Linn.* (पेनीकम मिलिएसिअम्)। Fam. Gramineae (ग्रेमिनी)।

सभी स्थानों पर इसकी खेती की जाती है। यह शीघ्र होनेवाला क्षुद्र धान्य है। क्षुप–सीधा, वर्षायु एवं १८–२४ इञ्च ऊंचा होता है। पत्ते–पतले, रेखाकार तथा पर्व को घेरे रहते हैं। पुष्पव्यूह–अनेक शाखायुक्त तथा शाखाग्र पर शूचिकायें (Spikelets) एक या दो-दो रहती हैं। अंतिम या चतुर्थ बुसपत्र (Glume-ग्लूम) पर पुष्प रहता है जो धान्य में परिवर्तित होता है। धूसर, पीले, चमकीले हलके पीले आदि रंगों के भेद से यह कई प्रकार का होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें प्रोटीन १३, स्नेह १, कार्बोहाइड्रेट ६९, रेशा २, राख ३ एवं आर्द्रता १२ भाग रहती है।

गुण और प्रयोग—क्षुप का सोजाक में उपयोग करते हैं। धान्य को पकाकर या पीसकर उपयोग में लाते हैं।

अथ श्यामाकः (सामा)। तस्य नामगुणानाह

श्यामाकः श्यामकः श्यामस्त्रिबीजः स्याद्‌विप्रियः। सुकुमारो राजधान्यं तृणबीजोत्तमश्च सः॥
श्यामाकः शोषणो रूक्षो वातलः कफपित्तहृत् ॥ ७९ ॥

सामा के संस्कृत नाम—श्यामाक, श्यामक, श्याम, त्रिबीज, अविप्रिय, सुकुमार, राजधान्य, तथा तृणबीजोत्तम ये सब हैं। सामा-शोषण करने वाला, रूक्ष, वातजनक एवम् कफ तथा पित्त को दूर करने वाला होता है ॥ ७९ ॥

२२ सावाँ

हि०-सांवा, सावाँ। बं०-सावा, शामुला, श्यामाधान। म०-जंगली सामा, सामुल। गु०-सामो, सामोधास। ते०-ओड्डुलु। ता०-कुद्रैवलि पिल्लु। क०-समे, सवे। अं०-Japanese Barnyard Millet (जापानीज बार्नयार्ड मिलेट)। ले०-*Echinochloa frumentacea Link* (एचिनोच्लोआ फ्रूमेन्टेसिआ)। Fam. Gramineae (ग्रेमिनी)।

सभी स्थानों पर इसकी खेती की जाती है। वर्षा के प्रारम्भ में अन्य धान्यों के साथ इसे बोते हैं। यह बहुत जल्दी (६ सप्ताह) तैयार हो सकता है।

इसका क्षुप-वर्षायु, २ से ४ फीट ऊंचा, पत्ते चौड़े, शूचिकायें बड़ी एवं बीज छोटे, चिकने, चमकीले, आधार पर गोल एवं अग्र नोकीला रहता है।

रासायनिक संगठन—इसमें प्रोटीन ६, स्नेह २, खनिज ४, रेशा १०, कार्बोहाइड्रेट ६६ तथा आर्द्रता १२ भाग रहती है। इसमें विटामिन 'बी' १ पर्याप्त रहता है।

गुण और प्रयोग—इसका पंचांग पैत्तिक विकार तथा विबंध में लाभदायक माना जाता है। इस धान्य को गरीब खाते हैं। इसको उबाल कर या कुछ भूनकर खाया जाता है।

अथ कोद्रवः वनकोद्रवश्च (कोदो-वनकोदो)। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

कोद्रवः कोरदूषः स्यादुद्दालो वनकोद्रवः। कोद्रवो वातलो ग्राही हिमः पित्तकफापहः॥
उद्दालस्तु भवेदुष्णो ग्राही वातकरो भृशम् ॥ ८० ॥

कोदो के संस्कृत नाम—कोद्रव तथा कोरदूष ये सब हैं। वनकोदो के संस्कृत नाम—उद्दाल तथा वनकोद्रव ये सब हैं।

कोदो—वायुकारक, ग्राही शीतल एवम् पित्त तथा कफ का नाशक होता है।

वनकोदो—गरम, ग्राही तथा अत्यन्त वातकारक होता है ॥ ८० ॥

२३ कोदो

हि०-कोदो धान, कोदव, कोदो। बं०-कोदो आधान। म०-कोद्र, हरिक, कोद्रु। गु०-कोदरा। क०-हरक। ते०-अरिकेलु। ता०-वरगु। अ०-कोद्रु। फा०-कोदिरम। ले०-*Paspalum scrobiculatum Linn.* (पास्पेलम् स्क्रोबिक्यूलेटम्)। Fam. Gramineae (ग्रेमिनी)।

सभी भागों में यह वन्य अथवा कृषितरूप में होता है।

कोदो—एक प्रकार का तृणजातीय धान्य वर्षाकाल के आरम्भ ही में रोपण किया जाता है और आश्विन कार्तिक में काट लिया जाता है। इसका क्षुप-वर्षायु, सीधा खड़ा एवं १½-२ फीट तक ऊँचा होता है। इसके पत्ते-पतले, घास के समान लम्बे होते हैं। इसकी मंजरी बाहर नहीं निकलती बल्कि सींकों के बीच में ही रह कर पक जाती है। इसके बीज सरसों के समान, छिलका सहित काले रङ्ग के और भूसी निकालने पर किंचित् पीलापन युक्त सफेद रङ्ग के होते हैं। इस अन्न में

विशेषता यह है कि–भूसी सहित रखने से यह पचासों वर्ष तक नहीं बिगड़ता। इसको भूसी निकाल कर गरीब कृषक खाते हैं। इसमें आटा भी कम निकलता है तथा भूसी हटाने में भी कठिनाई रहती है। इसके कई प्रकार पाये गये हैं।

रासायनिक संगठन—इसके भूसी निकाले धान्य में प्रोटीन १२, कार्बोहाइड्रेट ७७, रेशा १ एवं राख १ भाग रहती है। कभी-कभी इसके पौधे तथा धान्य में मादक तत्व उत्पन्न हो जाते हैं जिससे चक्कर आदि आने लगते हैं।

गुण और प्रयोग—मधुमेह से पीडित व्यक्ति के लिये चावल के स्थान पर इसको दिया जाता है।

अथ चारुकः (शरबीज)। तस्य नामगुणानाह

चारुकः शरबीजः स्यात्कथ्यन्ते तद्गुणा अथ। चारुको मधुरो रूक्षो रक्तपित्तकफापहः॥
शीतलो लघुर्वृष्यश्च कषायो वातकोपनः॥ ८१॥

शरबीज (सरपत के बीज) का संस्कृत नाम—चारुक तथा शरबीज है।

शरबीज—मधुर तथा कषाय रसयुक्त, रूक्ष, शीतल, लघु, वीर्यवर्धक, वात को कुपित करने वाले एवम् रक्तपित्त तथा कफ के नाशक होते हैं।

२४ शरबीज

इसका विवरण पहले गुडूच्यादिवर्ग (पृष्ठ ३८०) में किया गया है।

अथ वंशयवाः (बांस के बीज)। तेषां गुणानाह

यवा वंशभवा रूक्षाः कषायाः कटुपाकिनः। बद्धमूत्राः कफघ्नाश्च वातपित्तकराः सराः॥८२॥

बांस के बीज के संस्कृत नाम—वंशयव तथा वंशबीज हैं।

बांस के बीज—कषाय रसयुक्त, रूक्ष, विपाक में कटु रसयुक्त, मूत्र का विबन्ध (रुकावट) करने वाले, वात तथा पित्तकारक, सारक-एवम् कफनाशक होते हैं।

२५ वंशयव

इसका विवरण पहले गुडूच्यादिवर्ग में पृष्ठ ३७७ पर किया गया है।

अथ कुसुम्भबीजम् (कुसुम के बीज, बर्रे)। तस्य नामगुणानाह

कुसुम्भबीजं वरटा सैव प्रोक्ता वरट्टिका॥ ८३॥
वरटा मधुरा स्निग्धा रक्तपित्तकफापहा। कषाया शीतला गुर्वी स्यादवृष्याऽनिलापहा॥८४॥

कुसुम के बीज (करें, बर्रे) के संस्कृत नाम—कुसुम्भबीज, वरटा, तथा वरट्टिका ये सब हैं।

कुसुम के बीज—मधुर तथा कषाय रस युक्त, स्निग्ध, शीतल, गुरु, किंचित वीर्यवर्धक एवम्-रक्तपित्त-कफ तथा वात को दूर करने वाले होते हैं॥ ८३-८४॥

२६ कुसुम के बीज

इसका विवरण हरीतक्य दिवर्ग में पृष्ठ ११२ पर दिया गया है।

अथ गवेधुका (गरहेडुआ)। तस्या नामगुणानाह

गवेधुका तु विद्वद्भिर्गवेधुः कथिता स्त्रियाम् । गवेधुःकटुका स्वाद्वी कार्श्यकृत्कफनाशिनी ॥८५॥

गरहेडुआ के संस्कृत नाम—गवेधुका और गवेधु (यह स्त्री लिङ्ग है) ये दो विद्वानों ने बतलाये हैं। गरहेडुआ-कटुरस युक्त, स्वादिष्ट, कृशता करने वाला एवम्-कफनाशक होता है ॥ ८५ ॥

२७ गरहेडुवा

हि०-गरहेडुआ, गरहेडु (डु) वा, सन्कु । बं०-गड़गड़, देधान, गुरगुड़ । म०-कसई । गु०-कसई । अं०- Adlay (अॅडले); Jobs Tears (जॉब्स टियर्स) ले०-*Coix lachryma jobi Linn.* (कोइक्स लेक्रिमा जोबी)। Fam. Gramineae (ग्रेमिनी)।

यह बङ्गाल के गड़हों और चावल के खेतों में उत्पन्न होता है तथा अन्य प्रान्तो में भी पाया जाता है।

इसका पौधा-३ से ६ फीट तक ऊँचा होता है। पत्ते-४ से १८ इञ्च तक लम्बे, १–१॥ इञ्च चौड़े, रेखाकार प्रासवत् एवं उनका किनारा तीक्ष्ण तथा कठोर होता है। पुष्प दण्ड-१ से २½ इञ्च लम्बे, चिपटे या ३ पहलवाले एवं पत्रकोण से एकसाथ कई निकले रहते हैं। फल-अण्डाकार या नाशपाती के आकार का या अश्रुक स्वरूप का, ०·३ इञ्च लम्बा तथा चमकीला होता है जिसके अन्दर सफेद या हलके भूरे रंग का चावल जैसा दाना (वास्तविक फल) निकलता है। इसके नाप, आकार, रंग, कठोरता के भेद से कई प्रकार पाये जाते हैं। इसके फल तथा मूल का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें प्रोटीन १०–२०, कार्बोहाइड्रेट ७३–७४, स्नेह ३-४ एवं आर्द्रता १० भाग रहती है। इसमें खनिज अन्य धान्यों की अपेक्षा कम रहते हैं। कोइसीन (Coicin) नामक एक प्रोलेमीन (Prolamine) इससे प्राप्त किया गया है जिसमें ल्यूसिन (Leucine) तथा ग्लूटेमिक ॲसिड (Glutamic acid) काफी रहता है।

गुण और प्रयोग—इसका चावल की तरह उपयोग किया जा सकता है। इसका क्वाथ मूत्रजनन होने से मूत्रकृच्छ्र में दिया जाता है। मूल का उपयोग पीड़ितार्तव में करते हैं। इसकी रोटी खाने से चरबी कम होती है।

अथ नीवारः (तीनी)। तस्य नामगुणानाह

प्रसाधिका तु नीवारस्तृणान्नमिति च स्मृतम् । नीवारः शीतलो ग्राही पित्तघ्नः कफवातकृत् ॥

तीनी के संस्कृत नाम—प्रसाधिका, नीवार और तृणान्न ये सब हैं।

तीनी—शीतल, ग्राही, पित्तनाशक एवम् कफ तथा वातकारक है ॥ ८६ ॥

२८ तीनी

हि०-तीनि, तीन्नी, जंगलीदाल । बं०-उडिधान्य । म०-देवभात । गु०-वंटो । क०-न्नर-हुमेधे । ते०-निवरीवट्टु । ता०-वद्दीपुल्लु । आसा०-फुटकी । ले०-*Hygroryza aristata Nees.* (हाइग्रोहाइझा एरिस्टेटा)। Fam. Gramineae (ग्रेमिनी)।

समस्त भारत में यह पाया है। यह एक जलीय घास की जाति का पौधा है जो तालाबों या जलीय भूमि पर फैला हुआ रहता है। वर्षा ऋतु में आसाम में चावल के खेतों पर यह फैला हुआ

पाया जाता है। काण्ड १ से १½ फीट लम्बे होते हैं। इसके चावल को गरीब लोग खाते हैं। इस घास को जानवर खाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके चावल शीतल, ग्राही, सुपाच्य एवं पित्तशामक माने जाते हैं।

अथ यावनालः (पनेरा, जुआर) तस्य गुणानाह

यावनालो हिमः स्वादुर्लोहितः श्लेष्मपित्तजित्। अवृष्यस्तुवरो रूक्षः क्लेदकृत्कथितो लघुः ॥

जुआर (पनेरा) का संस्कृत नाम यावनाल है।

जुआर—स्वादिष्ट, कषाय रसयुक्त, शीतल, किंचित वीर्यवर्द्धक, रूक्ष, क्लेदकारक, लघु एवम् रक्त विकार, कफ तथा पित्त को नष्ट करने वाला होता है॥ ८७॥

२९ जुआर

हि०-जुआर, ज्वार, जुवार। बं०-जुयारा, जोयार। म०-जोंधळे, ज्वारी। गु०-जुवार। क०-जोला ते०-जोन्नलु। ता०-चोलं। फा०-जुरेमका, जिरंहमका, गावरस हिन्दी। अ०-हंताकमिया खंदरूस, हिन्तये रूमिया। ले०-*Sorghum vulgare (Linn.) Pers.* (सोर्घम् वल्गेर्। Fam. Gramineae (ग्रेमिनी)।

सब प्रान्तों में इसकी खेती की जाती है। क्षुप-वर्षायु, १० से १५ फीट ऊंचा; काण्ड ½-२½ इञ्च मोटा; पत्ते-२ से ३½ इञ्च लम्बे, १-३ इञ्च चौड़े, चिकने, किनारा खुरदरा तथा मध्य शिरा श्वेत; बाल-विभिन्न स्वरूप का रहता है।

इसके अनेक भेदोपभेद होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें प्रोटीन ९, कार्बोहाइड्रेट ७२, स्नेह २, रेशा २, राख २ तथा तथा आर्द्रता १३ रहती है। इसके पत्तों में हाइड्रोसायनिक ॲसिड पाया जाता है। बीजों में ग्लूकोसाइड धुरिन (Dhurin) पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसका अन्न के रूप में उपयोग किया जाता है। यह मूत्रजनन तथा कुछ वृष्य होता है।

अथ परिभाषामाह

धान्यं सर्वं नवं स्वादु गुरु श्लेष्मकरं स्मृतम्। तत्तु वर्षोषितं पथ्यं यतो लघुतरं हि तत्॥
वर्षोषितं सर्वधान्यं गौरवं परिमुञ्चति। न तु त्यजति वीर्यं स्वं क्रमान्मुञ्चत्यतः परम् ॥८९॥
एतेषु यवगोधूमतिलमाषा नवा हिताः। पुराणा विरसा रूक्षा न तथा गुणकारिणः॥ ९०॥

धान्यविषयक परिभाषा-सभी प्रकार के धान्य यदि नवीन हों तो वे स्वादिष्ट, गुरु तथा कफकारक होते हैं। यदि वे वर्ष भर के रक्खे पुराने हों तो पथ्य होते हैं क्योंकि वे अत्यन्त लघु हो जाते हैं। वर्ष भर के रक्खे पुराने सभी धान्य गुरुता छोड़ देते हैं किन्तु अपने वीर्य को नहीं छोड़ते हैं। वर्ष भर के बाद जैसे २ वे पुराने होते जाते हैं वैसे २ अपने २ वीर्य को क्रम से थोड़ी-२ मात्रा में छोड़ते जाते हैं। किन्तु-जव, गेहूं, तिल, उरद ये नवीन ही अवस्था में अपने २ गुणों से युक्त रहते हैं और हितकर होते हैं। पुराने होने पर वे विरस तथा रूक्ष हो जाते हैं तथा उतने गुणकारी नहीं होते हैं॥ ८८-९०॥

* पुराणा वर्षद्वयादुपरि स्थिताः। यवादयो नवाः स्वस्थान् प्रति हिताः। पथ्याशिनां तु पुराणा हिताः।

"पुराणयवगोधूमक्षौद्रजाङ्गलशूल्यभुग्।"

इति वसन्ते वाग्भटेनोक्तत्वात् ॥ ९० ॥

यहां पर मूल में "पुराण" पद से दो वर्ष के ऊपर के रक्खे हुए जो धान्य हों वे पुराने कहलाते हैं। और जव आदि धान्य यदि नवीन हों तो वे स्वस्थ मनुष्यों के लिये ही हितकर होते हैं। पथ्य रखने वाले रोगियों के लिये तो पुराने अर्थात् दो वर्ष के अन्दर तक हितकर होते हैं और उनके लिये नवीन हितकर नहीं होते हैं। क्योंकि-वसन्त में पथ्य द्रव्यों के वर्णन में वाग्भट ने "पुराणयवगोधूम०—" इत्यादि से 'पुराना जव तथा गेहूं, मधु, जंगली जीवों के मांस का कबाब खाना हितकर है" ऐसा कह कर पुराना जव, गेहूं पथ्य बतलाया है ॥ ८८-९० ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे

नवमो धान्यवर्गः समाप्तः ॥ ९ ॥

अथ शाकवर्गः

तत्र शाकनिरूपणमाह

पत्रं पुष्पं फलं नालं कन्दं संस्वेदजं तथा। शाकं षड्विधमुद्दिष्टं गुरुं विद्याद्यथोत्तरम् ॥ १ ॥

शाक का निरूपण—१ पत्र, २ पुष्प, ३ फल, ४ नाल, ५ कन्द और ६ संस्वेदज ये ६ प्रकार के शाक माने गये हैं, इनमें एक दूसरे की अपेक्षा उत्तरोत्तर गुरु समझना चाहिये। जैसे—पत्र की अपेक्षा पुष्पशाक गुरु होता है उसकी अपेक्षा फल शाक अधिक गुरु होता है इत्यादि क्रम से उत्तरोत्तर गुरु होते हैं ॥ १ ॥

अथ शाकानां गुणानाह

प्रायः शाकानि सर्वाणि विष्टम्भीनि गुरूणि च। रूक्षाणि बहुवर्चांसि सृष्टविण्मारुतानि च ॥१॥

शाकं भिनत्ति वपुरस्थि निहन्ति नेत्रं वर्णं विनाशयति रक्तमथापि शुक्रम्।

प्रज्ञाक्षयं च कुरुते पलितं च नूनं हन्ति स्मृतिं गतिमिति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ २ ॥

शाकेषु सर्वेषु वसन्ति रोगास्ते हेतवो देहविनाशनाय।

तस्माद् बुधः शाकविवर्जनं तु कुर्यात्तथाऽम्लेषु स एव दोषः ॥ ४ ॥

सभी प्रकार के शाकों के सामान्यरूप से गुण—प्रायः सभी शाक (पत्र-पुष्पादिक ६ प्रकार के)-विष्टम्भक, गुरु, रूक्ष, विशेष रूप से मल निकालने वाले अर्थात् अधिक टट्टी निकालने वाले, मल तथा अधोवायु की प्रवृत्ति कराने वाले होते हैं और द्रव्यगुण जानने वाले विद्वान् लोग शाक के विषय में यह भी कहते हैं कि-शाक-शरीरस्थित हड्डियों का भेदन करने वाला अर्थात् उनकी सारताको नष्ट करने वाला, नेत्रों की शक्ति, रक्त, शुक्र, बुद्धि, स्मरणशक्ति तथा गति (चलने की शक्ति) को नष्ट करने वाला एवम्—पलित (अकाल में बालों का सफेद होना) को करने वाला होता है।

सभी शाकों में रोग रहते हैं और वे ही रोग देह के नष्टकरने में हेतु होते हैं। इससे समझदार लोगों को चाहिये कि—शाक का खाना छोड़ दें और अम्ल (खट्टे) पदार्थों में भी पूर्वोक्त दोष होने से उनका सेवन परित्याग करना उचित है ॥ २—४ ॥

*एतानि शाकनिन्दकानि वचनानि सामान्यानि ॥ २—४ ॥

यहां पर इतना और समझना चाहिये कि—ये सब शाक की निन्दा करनेवाले पूर्वोक्त वचन सामान्य रूप से हैं ॥ २—४ ॥

अथ शाकेषु विशिष्टानि। तत्र पत्रशाकानि।

तत्रापि वास्तूकद्वयम् (दोनों बथुआ)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

वास्तूकं वास्तुकं च स्यात्क्षारपत्रं च शाकराट्। तदेव तु बृहत्पत्रं रक्तं स्याद्गौडवास्तुकम् ॥
प्रायशो यवमध्ये स्याद्यवशाकमतः स्मृतम्। वास्तूकद्वितयं स्वादु क्षारं पाके कटूदितम् ॥
दीपनं पाचनं रुच्यं लघु शुक्रबलप्रदम्। सरं प्लीहास्रपित्तार्शः कृमिदोषत्रयापहम् ॥ ७ ॥

शाक के विषय में विशेष वचन निम्नलिखित ये हैं—शाकों में प्रथम पत्रशाक का वर्णन करते हैं। उसमें भी प्रथम दोनों प्रकार के बथुवा के विषय में विशेष वचनों का उल्लेख करते हैं। बथुवा के संस्कृत नाम—वास्तूक, वास्तुक, क्षारपत्र और शाकराट् ये सब हैं।

बड़ा बथुआ का लक्षण तथा संस्कृत नाम—जो बथुआ बड़े पत्तों वाला एवम् रक्तवर्ण का होता है, उसे "गौड़ वास्तुक" कहते हैं। बथुआ अधिकतर जव के खेत में होता है, अतः संस्कृत में इसे "यवशाक" भी कहते हैं। दोनों बथुआ-स्वादिष्ट, क्षारयुक्त, विपाक में कटुरस युक्त, अग्निदीपक, पाचक, रुचिकारक, लघु, शुक्र तथा बल को बढ़ाने वाले, सारक एवम् प्लीहा, रक्तपित्त, बवासीर, कृमि तथा त्रिदोष के नाशक हैं॥ ५–७॥

१ बथुआ

हि०–बथुआ, बथुया, चिल्लीशाक। बं०–वेतुया, वेतोशाक। म०–चाकवत, चकवत। गु०–टांको, बथवों, बाथरो, चीलो। ता०–परुपुकिरै। क०–विलिय चिल्लीके। फा०–मुसेलेसा, सरमक, सलमह। अ०–रोक् बतुल बजामेल, कुतुफ, कतफ। अं०–Lambs Quarters (लैम्बस् क्वार्टरस्)। ले०–*Chenopodium album Linn.* (चिनोपोडियम् एलबम्)। Fam. Chenopodiaceae (चिनोपोडिएसी)।

भारतवर्ष के प्रायः सब प्रान्तों के खेतों में यह बहुलता से पाया जाता है विशेष कर यह आपही आप बिना बोये उत्पन्न होता है।

इसका क्षुप-गंधहीन, सीधा या झुका हुआ, १–१½ फीट तक ऊँचा होता है। पत्ते- आकार में छोटे-बड़े त्रिकोणाकार, नुकीले एवं कई प्रकार के होते हैं। डण्डियों के अन्त में बारीक पुष्प और बीजकोषों के गुच्छे लगते हैं। इसके श्वेत, हरित एवं कुछ लाल ऐसे तीन प्रकार (Varieties) पाये जाते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें कॅरोटीन (Carotene) तथा विटामिन 'सी' होता है।

गुण और प्रयोग—यह सारक एवं कृमिघ्न है। जलने पर इसके पत्तों का लेप दाह शान्ति के लिये लगाते हैं। कुपचन में इसका साग देते हैं।

२ सुगन्धवास्तुक

एक सुगन्धवास्तूक (C. ambrosioides–चि. एम्ब्रोसिओइडिस्) नामक अन्य जाति होती है जो बंगाल, सिलहट, दक्षिण एवं बिहार में पाई जाती है। इसका क्षुप–२ से ४ फीट ऊंचा, सुगन्धित ग्रन्थिरोमश; पत्ते–आयताकार या प्रासवत, कुण्ठताग्र तथा नीचे के लहरदार एवं दन्तुर; पुष्प-छोटे, हरित, असंख्य एवं लम्बी मंजरीमें गुच्छबद्ध होकर निकले हुये; फल–गोल, कुछ दबे हुये एवं फलभित्ती से आवृत बीज–छोटे, वृक्काकार, $\frac{1}{20}$ इञ्च व्यास के, भूरे, चिकने, चमकीले एवं स्वाद में कटुतिक्त रहते हैं। समग्र वनस्पति में तीव्र गंध आती है।

रासायनिक संगठन—पुष्प एवं फल आने पर मूल को छोड़कर बाकी भाग से एक उड़नशील तेल (०·१७%) निकाला जाता है जो अमेरिका के इसके एक प्रकार से पाये जाने वाले तेल, चिनोपोडियम ऑइल (Chenopodium oil) का भारतीय प्रतिनिधि है। इस तेल का मुख्य कृमिघ्न तत्व एस्कॅरिडॉल् (Ascaridol) भारतीय तेल में ४०–४५% रहता है जब कि अमेरिकी तेल में यह ६०% तक रहता है। इसलिए इसे अधिक मात्रा (५–२० मिनिम) में देना पड़ता है। इस पौधे के सभी अंगों में सॅपोनिन रहता है जो मूल में अधिक रहता है। इसके अतिरिक्त इसमें विटामिन 'सी' एवं मॅग्नेशियम् फॉस्फेट पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इस तेल का उपयोग बहुत सावधानी के साथ आंत्रस्थ कृमियों के लिये स्वतंत्र या अन्य औषध के साथ करते हैं। अंकुश कृमि (Hookworm–हुक्वर्म) के लिये यह बहुत

उपयोगी है। विशेष विवरण आदि आधुनिक डाक्टरी ग्रन्थों में देखें। इसके बीज ५ से २० रत्ती की मात्रा में चीनी के साथ कृमि विकार के लिये खिलाते हैं।

अथ पोतकी (पोई)। तस्या नामगुणानाह

पोतक्युपोदिका सा तु मालवाऽमृतवल्लरी। पोतकी शीतला स्निग्धा श्लेष्मला वातपित्तनुत्॥
अकण्ठ्या पिच्छिला निद्राशुक्रदा रक्तपित्तजित्। बलदा रुचिकृत्पथ्या बृंहणी तृप्तिकारिणी॥

पोई के संस्कृत नाम—पोतकी, उपोदिका, मालवा तथा अमृतवल्लरी ये सब हैं।

पोई—शीतल, स्निग्ध, कफजनक, वात तथा पित्तनाशक, किञ्चित् कण्ठ के लिये हितकर, पिच्छिल, निद्रा तथा शुक्र को देनेवाली, रक्तपित्त को दूर करनेवाली, बलदायक, रुचिकारक, पथ्य, बृंहण (रस—रक्तादिवर्धक) एवम् तृप्तिकारक होती है॥ ८-९॥

३ पोय

हिं०-पोय (शाक), पोय का साग, पोई का साग। बं०-पूंई, पुईशाक। म०-मायाळ। गु०-पोथी। क०-बसळे। ते०-बचलि। ता०-बसलक्किरै। अं०-Indian Spinach (इण्डियन् स्पाइनॅक)। ले०-*Basella rubra Linn.* बेसिला रुब्रा)। Fam. Basellaceae (बेसेलेसी)।

यह इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में बोई जाती है तथा वन्य भी पाई जाती है।

इसका क्षुप—बहुवर्षायु, फैलनेवाला लतासदृश होता है। पत्ते-शीशम के पत्ते के समान गोलाकार परन्तु उनसे मोटे, ५ × ३ इञ्च बड़े और गूदेदार होते हैं। पत्रदण्ड से कोमल सींक निकल कर उस पर क्रमशः लाल मिश्रित सफेद रङ्ग के फूल आते हैं। फल-छोटे २ गोल, किञ्चित् नोकीले एवं पकने पर कालापन युक्त बैंगनी रङ्ग के हो जाते हैं। सफेद और लाल कांड के भेद से यह दो प्रकार की होती है।

रासायनिक संगठन—इसमें खटिक, लोह तथा विटामिन 'ए', 'बी$_1$', 'बी$_2$' एवं प्रोटीन रहता है।

गुण और प्रयोग—यह शीतल तथा स्नेहन है। इसका स्वरस, उदर्द एवं गर्भिणी तथा बालकों के विबंध में देते हैं। सोजाक में भी इसे दिया जाता है। उदर्द में इसको शरीर पर मलते भी हैं।

अथ श्वेतरक्तमारिषौ (सफेद व लाल मरसा)। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

मारिषो वाष्पको मार्ष श्वेतो रक्तश्च सस्मृतः। मारिषो मधुरः शीतो विष्टम्भी पित्तनुद् गुरुः॥
वातश्लेष्मकरो रक्तपित्तनुद् विषमाग्निजित्। रक्तमार्षो गुरुर्नाति सक्षारो मधुरः सरः।
श्लेष्मलः कटुकः पाके स्वल्पदोष उदीरितः॥ ११॥

मरसा के संस्कृत नाम—मारिष, वाष्पक और मार्ष ये सब हैं। भेद-सफेद तथा रक्तवर्ण के भेद से मरसा दो प्रकार का होता है।

मरसा (सफेद)—मधुर रसयुक्त, शीतल, विष्टम्भजनक, पित्तनाशक, गुरु, वात तथा कफकारक एवम्-रक्तपित्त तथा विषमाग्नि को शमन करने वाला होता है।

लाल मरसा—किंचित् गुरु, क्षारयुक्त मधुर रस वाला, सारक, कफजनक, पाक में कटुरसयुक्त तथा स्वल्प दोषवाला कहा हुआ है॥ १०-११॥

४ सफेद मरसा

हि०-मरसा। बं०-सादानटे। गु०-डांभो। ता०- तन्डुकिरई। ते०-टोटाकुड़ा। म०-भाजी, माठाची भाजी। ले०-*Amaranthus blitum var. oleracea Duthie* (ॲमॅरेन्थस् ब्लाइटम वेर ओलेरेसिआ)। Fam. Amaranthaceae (ॲमॅरेन्थेसी)।

सभी भागों में इसकी उपज की जाती है।

इसका क्षुप गूदेदार तथा सीधा होता है। पत्ते आयताकार होते हैं। इसके बीजों को भी भूनकर खाते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें प्रोटीन २·९% एवं लोह अधिक मात्रा में (१८·१८ मि० ग्रा० प्रति १०० ग्राम में) रहता है।

गुण और प्रयोग—यह शीत, पित्तशामक एवं रक्तपित्तशामक है। इसका साग खाते हैं।

५ लाल मरसा

हि०-लाल मरसा, लाल साग। बं०-डेंगुआ। म०-माठ। क०-दन्तु। ते०-टोटाकु:। ले०-*Amaranthus gangeticus. Linn.* (ॲमॅरेन्थस् गॅंजेटिकस्)। Fam. Amaranthaceae (ॲमॅरेन्थेसी)।

प्रायः सब प्रान्तों के खेतों में इसका रोपण करते हैं।

इसका क्षुप-२-३ फुट ऊँचा और हरिताभ या गहरा लाल होता है। पत्ते-उक्त मरसे के आकार वाले, प्रकार के अनुसार किंचित् हरापनयुक्त लाल या नीलापन युक्त लाल अथवा चमकिले लाल रङ्ग के एवं विभिन्न आकारवाले होते हैं। डण्डियों के चारों ओर सघन गुलाबी रङ्ग के बारीक फूलों के गुच्छे लगते हैं। बीज-उक्त मरसा के समान होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके कोमल काण्ड में प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, खनिज एवं विटामिन 'ए', 'बी१' तथा 'सी' पाये जाते हैं। बीजों में सॅपोनिन् रहता है जो अल्प विषैला रहता है।

गुण और प्रयोग—यह रक्तपित्तशामक एवं व्रणरोपण है। अतिसार, रक्तातिसार एवं रक्तप्रदर में इसको देते हैं। व्रण प्रक्षालन एवं मुखपाक में इसका उपयोग करते हैं।

अथ तण्डुलीयः (चौलाई)। तस्य नामगुणानाह

तण्डुलीयो मेघनादः काण्डेरस्तण्डुलेरकः। भण्डीरस्तण्डुलीबीजो विषघ्नश्चाल्पमारिषः॥
तण्डुलीयो लघुः शीतो रूक्षः पित्तकफास्रजित्। सृष्टमूत्रमलो रुच्यो दीपनो विषहारकः॥

चौलाई के संस्कृत नाम— तण्डुलीय, मेघनाद, काण्डेर, तण्डुलेरक, भण्डीर, तण्डुलीबीज, विषघ्न तथा अल्पमारिष ये सब हैं।

चौलाई—लघु, शीतल, रूक्ष, मूत्र तथा मल को निकालने वाली, रुचिकारक, अग्निदीपक एवम् पित्त, कफ, रक्तविकार तथा विष को दूर करने वाली होती है॥ १२-१३॥

६ चौलाई

हि०-चौलाई का शाक, चौराई का साग, कटैली चवलाई। बं०-कांटा नटे। म०-काटेमाठ। गु०-कांटालो डांभो। क०-मुल्लुहरिवेसोप्पु। ते०-मोला टोटा कुरा। ता०-मुलुकोरै। अं०-Prickly Amaranth (प्रिक्ली ॲमॅरेन्थ)। ले०-*Amaranthus spinosus Linn.* (ॲमॅरेन्थस् स्पाईनोसस्)। Fam. Amaranthaceae (ॲमॅरेन्थेसी)।

यह इस देश के प्रायः सब प्रान्तों के खेत, बाग, बगीचों में और वीरान भूमि में आप ही आप उत्पन्न होती है। इसका क्षुप–२ फीट तक ऊँचा और शाखाएं झाड़ीदार होती हैं। पत्ते–१॥–२ इंच लम्बे, चौड़े मालाकार किन्तु नोकरहित होते हैं। पत्तों की जड़ में महीन तीक्ष्ण काँटे होते हैं। काण्ड पर बारीक फूलों के गुच्छे रहते हैं। इनमें से बारीक काले रङ्ग के गोल चमकीले बीज निकलते हैं।

काँटे वाली, विना काँटे वाली, हरे पत्ते की, लाल पत्ते की और नीलापन युक्त लाल अथवा लालीयुक्त नीले पत्ते की, इस प्रकार चौलाई कई प्रकार की होती है।

रासायनिक संगठन—इसमें काफी पोषक तत्व रहते हैं। इसमें प्रोटीन ३, स्नेह ०·३, कार्बोहाइड्रेट ८, खनिज ३·६, खटिक ०·८, लोह २३ मि० ग्रा० प्रति १०० ग्राम में रहता है।

गुण और प्रयोग—यह शीतल, मूत्रजनन, स्नेहन एवं गर्भाशय के लिये वेदनास्थापन तथा शक्तिदायक और स्तन्यजनन है।

(१) इसकी जड़ का क्वाथ मुलेठी तथा अपामार्ग के साथ सोजाक में दिया जाता है।

(२) रक्तप्रदर के लिये इसका बहुत उपयोग करते हैं। इसमें इसके मूल के साथ आंवला, अशोक की छाल एवं दारुहल्दी का उपयोग किया जाता है। इससे पीड़ा भी कम होती है तथा रक्तस्राव बंद होता है। श्वेतप्रदर में इसके साथ हिराबोल देते हैं। इससे गर्भपात की आदत दूर होती है। मासिक के काल के समय गर्भिणी को इसे ३–४ दिन देते हैं।

(३) स्तन्यवृद्धि के लिये इसके पंचांग को अरहर की दाल के साथ पकाकर देते हैं। जानवरों में भी इसका उपयोग करते हैं।

(४) गांठ, फोड़े आदि जल्दी पकाने के लिये मूल का लेप करते हैं। विसर्प तथा अन्य दाहयुक्त चर्मरोग में दाहशांति के लिये इसके पत्तों को पीसकर लेप करते हैं।

अथ पानीयतण्डुलीयम् (जलचौलाई)। (चौलाईभेदो जलतण्डुलीयं शास्त्रे कञ्चटमिति प्रसिद्धम्)। तस्य नामगुणानाह

पानीयतण्डुलीयं तु कञ्चटं समुदाहृतम्। कञ्चटं तिक्तकं रक्तपित्तानिलहरं लघु ॥ १४ ॥

जल चौलाई (यह चौलाई का भेद है और शास्त्र में "कञ्चट" नाम से प्रसिद्ध है) के संस्कृत नाम—पानीयतण्डुलीय, जलतण्डुलीय तथा कञ्चट ये सब हैं।

जल चौलाई—तिक्त रस युक्त, लघु एवम्–रक्तपित्त तथा वायुदोष को नष्ट करने वाली होती है ॥ १४ ॥

७ जलचौलाई

यह भी ॲमॅरेन्थस् की जल के समीप होने वाली कोई जाति (Species) है।

८ रामदाना

रामदाना—इस नामके बीज इसकी एक जाति ॲ० कॉडेटस् (A. caudatus Linn.) से प्राप्त होते हैं जो श्वेत या पीले एवं गोल मोटे किनारेदार होते हैं। इसके क्षुप–ऊँचे; पत्ते–लम्बे वृन्त युक्त, दीर्घवृत्ताभ; पुष्प–चमकीले पीत या गहरे रक्त लटकी हुई मंजरी में आते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में आक्जेलिक ॲसिड रहता है।

गुण और प्रयोग—रामदाने में पौष्टिक तत्व रहते हैं। इसका पंचांग मूत्रल एवं रक्तशोधक है। इसे अर्श तथा मूत्रकृच्छ्र में देते हैं। गण्डमाला में भी इसे देते हैं तथा बाहर से लेप करते हैं।

अथ पलक्या (पालक)। तस्या नामानि गुणांश्चाह

पलक्या वास्तुकाकारा छुरिका चीरितच्छदा ॥
पलक्या वातला शीता श्लेष्मला भेदिनी गुरुः। विष्टम्भिनी मदश्वासपित्तरक्तकफापहा ॥१६॥

पालक के संस्कृत नाम— पलक्या, वास्तुकाकारा, छुरिका तथा चीरितच्छदा ये सब हैं।

पालक—वातजनक, शीतल, कफकारक, मलभेदक, गुरु, विष्टम्भ उत्पन्न करने वाला-एवम् मद (नशा), श्वास, पित्त, रक्त तथा कफ को दूर करने वाला होता है।

९ पालक

हि०-पालक शाक, पला। बं०-पालंग शाक। म०-पालख, पालक। गु०-पालखनी भाजी। क०-पालक्य। ता०-वसैइलकिरै। ते०-मट्टुरवच्चलि। अं०-Spsinach (स्पाइनॅक्)। ले०-*Spinacia oleracea Linn.* (स्पाइनेसिया ओलेरेसिया)। Fam. Chenopodiaceae (चिनोपोडिएसी)।

सभी प्रान्तों में इसको लगाया जाता है। इसका क्षुप-करीब १ फूट ऊँचा रहता है। काण्ड-पोला तथा कोणयुक्त रहता है। पत्ते-मोटे, मांसल, हरे, कुछ त्रिकोणाकार एवं लंबेवृंत से युक्त होते हैं। पुष्प-बहुत छोटे गुच्छों में आते हैं। पुंजाति के क्षुप में पुष्प काण्ड के अंत में एवं स्त्रीजाति के पुष्प पत्र कोण में आते हैं। इसमें एक प्रकार गोल पत्तों एवं चिकने बीजों वाला होता है। प्रथम में बीज कांटेदार होते हैं।

इसके बीज एवं पत्तों का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें आयोडीन (Iodine), लेसिथिन् (Lecithin), कॅरोटिन् (Carotin), आक्जेलिक ॲसिड (Oxalic acid) एवं आर्सेनिक् (Arsenic) होता है।

गुण और प्रयोग—यह शीत, मूत्रजनन, रोचन, शोधघ्न एवं दाहशामक है।

(१) पंचांग का क्वाथ शोथयुक्त ज्वरों में देते हैं।

(२) आंत्रविकारों में इसका साग उपयोगी है।

(३) अश्मरी में पत्तों का रस या क्वाथ पिलाते हैं।

(३) इसके बीज सारक एवं शीतल हैं तथा यकृतशोथ, कामला एवं श्वासकृच्छ्र में दिये जाते हैं।

अथ कालशाकम् (नाडीका शाक)। तस्या नामगुणानाह

नाडिकं कालशाकं च श्राद्धशाकं च कालकम्। कालशाकं सरं रुच्यं वातकृत्कफशोथहृत्।
बल्यं रुचिकरं मेध्यं रक्तपित्तहरं हिमम् ॥ १७ ॥

नाडीका शाक के संस्कृत नाम - नाडिक, कालशाक, श्राद्धशाक और कालक ये सब हैं।

नाडीका शाक—सारक, रोचक, वातकारक, कफ तथा शोथ नाशक, बलदायक, रुचि को उत्पन्न करने वाला, मेधा के लिये हितकर अथवा पवित्र, शीतल एवम्-रक्तपित्तनाशक है ॥ १७ ॥

१० कालशाक (नाड़ीका शाक)

हि०-नरिचा, नाड़ी का शाक, तीता पाट। बं०—नालिता शाक, तितपाट, चिनल्तेपात, नची। म०-चोंचे, सण। गु०-छूंछ। ले०-*Corchorus capsularis Linn.* (कोर्कोरस कॅपसुलेरिस्)। Fam. Tiliaceae (टिलिएसी)।

यह गरम प्रदेशों में अधिक उत्पन्न होता है। इसका क्षुप-३-४ फीट तक ऊँचा होता है। पत्ते-२-४ इञ्च लम्बे, आध से पौन इञ्च चौड़े, प्रासवत् अथवा आयताकार, लम्बाग्र एवं आरावत् दन्तुर होते हैं। फूल-पीले रङ्ग के आते हैं। फल-गोलाकार पाँच भाग वाले तथा पृष्ठ पर दानेदार होते हैं। बीज-ताम्ररंग के होते हैं। इसके कृषित भेद में यह १०।१२ फीट तक ऊँचा होता है।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में कॅपसूलेरिन् (Capsularin) नामक एक क्षाराभ पाया गया है।

गुण और प्रयोग—इसके पत्तों का फांट ज्वर में देने से मूत्र एवं स्वेद अधिक आता है तथा मुँह का सूखना कम होता है। कुपचन, अतिसार तथा आंव में पत्तों का हिम देते हैं। इसके बीज विरेचन हैं।

अथ पट्टशाकः (पटुआ शाक)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

पट्टशाकस्तु नाडीको नाडीशाकश्च स स्मृतः। नाडीको रक्तपित्तघ्नो विष्टम्भो वातकोपनः॥

पटुआ शाक के संस्कृत नाम—पट्टशाक, नाडीक और नाडीशाक ये सब हैं। पटुआशाक-रक्तपित्तनाशक, विष्टम्भजनक एवम् वात को कुपित करने वाला होता है॥ १८॥

११ पट्टशाक (पटुआ शाक)

हि०-पटुआ, पटवा, पटुए का शाक, कोष्ट। बं०-मीठा पाट, कॅलिता पाट। म०-मोठे चोंचे। गु०-मोटी छूँछ। लै०-*Corchorus olitorius Linn.* (कोर्कोरस् ओलिटोरियस्)। Fam. Tiliaceae (टिलिएसी)।

वह कई प्रान्तों में आप ही आप जङ्गली उत्पन्न होता है किन्तु बंगाल में नहीं होता।

इसका क्षुप-३ फीट तक ऊँचा होता है। पत्ते-२-४ इञ्च लम्बे, १-२ इञ्च चौड़े, चिकने, अण्डाकार और पर्णमूल के पास दो पुच्छ सदृश रचनाओं से युक्त होते हैं। फूल-बड़े तथा गहरे पीले रङ्ग के आते हैं। फल-१-२ इञ्च लम्बे होते हैं। बीज-धूसराभ हरित या नीलाभ कृष्ण तथा कालशाक की अपेक्षा छोटे होते हैं। इसके पत्ते तथा कोमल काण्ड लोग खाते हैं।

इसका कृषित भेद कालशाक से भी ऊँचा जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके फलों में विटामिन 'सी' पाया गया है।

गुण और प्रयोग—इसके पत्ते स्नेहन, दाहशामक, संग्राहक, मूत्रजनन एवं बल्य हैं। इसके पत्तों का फांट बल्य तथा ज्वर शामक मानते हैं। इसके बीज विरेचन होते हैं।

अथ कलम्बी (कलमी शाक)। तस्या नामगुणानाह

कलम्बी शतपर्वी च कथ्यन्ते तद्गुणा अथ। कलम्बी स्तन्यदा प्रोक्ता मधुरा शुक्रकारिणी॥

कलमी शाक का संस्कृत नाम—कलम्बी और शतपर्वी है।

कलमी शाक—मधुर रसयुक्त, दुग्धवर्धक तथा शुक्र को उत्पन्न करने वाला होता है॥ १९॥

१२ कलम्बी

हि०-कलंबी शाक, करमी, कलमी का साग, करेमु। बं०-करमी शाक। ते०-तोमे बचलि। म०-नालीची भाजी। गु०-नाळीनी भाजी। अं०-Swamp Cabbage (स्वॅम्प कॅबेज)। लै०-*Ipomoea aquatica Forsk.* (आइपोमिया ॲक्वेटिका)। Fam. Convolvulaceae (कन्हॉल्व्ह्युलेसी)।

यह लता जाति की वनस्पति प्रायः सब प्रान्तों के सजल स्थान में जल के ऊपर तैरती हुई या समीप की भूमि पर फैली हुई दिखाई देती है। पर्व से इसकी जड़ निकलकर कीचड़ में फैलती है। डंडी पोली होती है। पत्ते–२ से ६ इञ्च लम्बे, दीर्घवृत्ताभ या अंडाकार-आयताकार, आधार की तरफ हृदयाकार या दो कोनें निकले हुये (Hastate) एवं लम्बे वृन्त से युक्त होते हैं। फूल–नलिकाकार, १-२ इञ्च लम्बे, निसोत के समान, श्वेत या हलके जामुनी (कंठ में गाढे जामुनी) रंग के तथा एकाकी या ५ के समूह में आते हैं। फल–०·८ से. मी. व्यास में, गोलाभ, चिकना तथा २ से ४ घनरोमश बीज युक्त होता है। इसकी नवीन शाखाओं तथा पत्तों का शाक होता है।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में पर्याप्त खनिज तथा विटामिन 'ए', 'बी', 'सी', तथा 'ई' पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसका स्वरस संखिया तथा अफीम की विषाक्तता में वमन कराने के लिये देते हैं। इसका सुखाया हुआ स्वरस विरेचक होता है। स्त्रियों के शारीरिक एवं तन्त्रिकीय (Nervous) दुस्वास्थ्य में इसका उपयोग किया जाता है। इसको अर्श में भी देते हैं। कलिकाओं को दाद पर लगाते हैं।

अथ लोणी बृहल्लोणी च (नोनिया, बड़ा नोनिया-कुल्फा)। तयोर्नामगुणानाह

लोणाल्लोणी च कथिता बृहल्लोणी तु घोटिका। लोणी रूक्षा स्मृता गुर्वी वातश्लेष्महरी पटुः॥
अर्शोघ्नी दीपनी चाम्ला मन्दाग्निविषनाशिनी।
घोटिकाऽम्ला सराचोष्णा वातकृत्कफपित्तहृत् ॥ २१ ॥
वाग्दोषव्रणगुल्मघ्नी श्वासकासप्रमेहनुत्। शोथे लोचनरोगे च हिता तज्ज्ञैरुदाहृता ॥ २२ ॥

नोनिया का संस्कृत नाम—लोणा तथा लोणी हैं। बड़ी नोनियां का संस्कृत नाम—बृहल्लोणी और घोटिका हैं। **नोनिया**—लवण तथा अम्लरसयुक्त, रूक्ष, गुरु, अग्निदीपक एवम् वात, कफ, अर्श (बवासीर) अग्नि की मन्दता तथा विष का नाश करने वाली है।

बड़ी नोनिया—इसके गुण के जानने वालों द्वारा इसे अम्लरसयुक्त, सारक, उष्ण, वातकारक एवम्—कफ, पित्त, वाणी दोष (बोलने में हकलाना आदि दोष) व्रण, गुल्म, श्वास, खांसी और प्रमेह को दूर करने वाली तथा शोथ और नेत्ररोग में हितकर बतलायी गयी है ॥ २०–२२ ॥

१३ छोटी लोणा

हि०–छोटीलोणा, नोनीसाग, छोटी लोनिया, जंगलीलोनिया। बं–क्षुद्रे नुनी, बननुनी। म०–भुई घोळ, लहान घोळ। गु०–लुणी। क०–गोलि। ते०–पइल कुर। ता०–कोरिल कीरई। अ०–बुल्क तुलहमका। ले०–*Portulaca quadrifida Linn.* (पोर्टुलेका काड्रीफीडा)। Fam. Portulacaceae (पोर्टुलेकेसी)।

छोटी लोणा एक प्रसिद्ध शाक है जो सब जगह होता है। यह जमीन पर फैला हुआ होता है। शाखा-सूत जैसी पतली तथा सन्धि से मूल निकले हुवे रहते हैं। पत्ते–$\frac{1}{6}$–$\frac{1}{3}$ इंच, विपरीत, अंडाकार या अंडाकार-भालाकार एवं अल्पवृन्त युक्त होते हैं। पुष्प-पीले होते हैं। यह ललाई लिये हुरे रंग की एवं स्वाद में खारी और खट्टी होती है।

गुण और प्रयोग—इसके ताजे पत्तों का लेप विसर्प में लगाया जाता है। इसका फांट मूत्रकृच्छ्र में एवं बीज कृमिघ्न रूप में प्रयोग में लाये जाते हैं।

१४ बड़ी लोणा

हि०-बड़ी लोणा, लोणाशाक, कुल्फा। बं०-बड़लुनी। म०-घोळ। गु०-लुणी, म्होटो। फा०-खुल्फ़ा, ख़ुर्फ़ा। अ०-बक़ुलुल हुनका। अं०-*Garden purslane* (गार्डन पर्सलेन)। ले०-*Portulaca oleracea Linn.* (पोर्टुलेका ओलेरेसीया)। Fam. Portulacaceae (पोर्टुलेकेसी)।

कुल्फा—यह प्रसिद्ध साग सीधा या जमीन पर फैला हुआ सभी स्थानों पर होता है। पत्ते-स्फानवत्-आयताकार, गोलखण्डिताग्र एवं ½-१½ इञ्च लम्बे होते हैं। पुष्प-पीले होते। बीज-दानेदार होते हैं। इसका साग बनाते हैं। इसमें कुछ अम्लता रहती है।

रासायनिक संगठन—इसमें पिच्छिल पदार्थ एवं पोटॅशियम् ऑक्जेलेट पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह शीतल, शोथहर एवं रक्तशोधक है। इसके बीज स्नेहन, मूत्रजनन एवं कृमिघ्न हैं।

वृक्कशोथ, बस्तिशोथ में इसका साग तथा बीज देते हैं। इसका स्वरस सभी प्रकार के रक्तपित्त में तथा ज्वर में लाभदायक है। अर्श में इसका साग देते हैं। इसको ताजा पीसकर विसर्प, मोच, चोट, सूजन एवं हाथ पैर की जलन आदि में दाह एवं शोथ कम करने के लिये बांधते हैं।

अथ चांगेरी (तिनपतिया)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

चाङ्गेरी चुक्रिका दन्तशठाम्बष्ठाऽम्ललोणिका। अश्मन्तकस्तु शफरी कुशली चाम्लपत्रकः॥
चाङ्गेरी दीपनी रुच्या रूक्षोष्णा कफवातनुत्। पित्तलाऽम्ला ग्रहण्यर्शःकुष्ठातीसारनाशिनी॥

तिनपतिया के संस्कृत नाम—चाङ्गेरी, चुक्रिका, दन्तशठा, अम्बष्ठा, अम्ललोणिका, अश्मन्तक, शफरी, कुशली और अम्लपत्रक ये सब हैं।

चांगेरी—अम्लरसयुक्त, अग्निदीपक, रुचिकारक, रूक्ष, ऊष्ण, पित्तजनक एवम्—कफ, वात ग्रहणी, अर्श, कुष्ठ तथा अतीसार को दूर करने वाली है॥ २३-२४॥

१५ चाङ्गेरी

हि०-चांगेरी, तिनपतिया, अंबिलोना। प०-खटकल, खट्टी बूटी। बं०-अमरूल। म०-आंबटी, अंबुटी, भुईसर्पटी। गु०-आम्बोती। क०-सिवर्गी। ते०-पुलि चिंत। ता०-पुळियोरे। अं०-Indian Sorrel (इण्डियन सॉरेल)। ले०-*Oxalis corniculata Linn.* (ऑक्झेलिस् कोर्नीक्युलेटा)। Fam. Oxalidaceae (आग्झेलिडेसी)।

यह प्रायः सभी गरम प्रान्तों की ऊसर भूमि, खंडहर तथा घरों के आसपास आप ही आप जङ्गली उत्पन्न होती है। यह प्रसरी वनस्पति जमीन पर फैली हुई रहती है। ग्रंथियों से आगन्तुकमूल निकले रहते हैं। पत्ते-त्रिपत्रक एवं लंबे वृन्त से युक्त होते हैं। पत्रक-अभिहृदवत् होते हैं। उपपत्र-आयताकार एवं वृन्तलग्न रहते हैं। पुष्प-पीले रंग के पुष्प, पत्तों से छोटे दण्ड पर प्रायः दो-दो आते हैं। फली-मृदु रोमश अनेक बीज युक्त एवं पकने पर अपने आप फूटती है।

इसका स्वाद खट्टा होता है तथा इसका साग बनाते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें ॲसिड पोटॅशियम ऑग्जेलेट पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह अम्ल, रोचक, उष्ण, दीपन, ग्राही, अर्शोघ्न एवं वातकफ नाशक है। इससे छोटी धमनियों का संकोचन होकर रक्तस्राव रुकता है।

कुपचन में अन्न में अम्लता लाने के लिये इसका उपयोग करते हैं। खूनी आँव तथा गुदभ्रंश में इसे देते हैं। शोथ पर इसको पीसकर बांधने से पीड़ा एवं दाह कम होकर सूजन उतरती है। धतूरे के विष के निवारण के लिये इसका रस पिलाते हैं।

अथ चुक्रिका (चूक)। तस्या नामगुणानाह

चुक्रिका स्यात्तु पत्राम्ला रोचनी शतवेधिनी ॥ २५ ॥
चुक्रा त्वम्लतरा स्वाद्वी वातघ्नी कफपित्तकृत्। रुच्या लघुतरा पाके वृन्ताकेनातिरोचनी॥

चूक के संस्कृत नाम—चुक्रिका, पत्राम्ला, रोचनी तथा शतवेधिनी ये सब हैं। चूक-अत्यन्त अम्ल रसयुक्त (अत्यन्त खट्टा), स्वादिष्ट, वातनाशक, कफ तथा पित्त को उत्पन्न करनेवाला, रुचिकारी, विपाक में अत्यन्त लघु तथा बैगन के साथ खाने में अत्यन्त रुचिकारक है ॥ २५-२६ ॥

१६ चूका

हि०—चूका (शाक)। बं०—चुका, पालंग। म०—चुका, आंबट चुका। गु०—चुको, खारी भाजी। क०—हुलीचकोत। फा०—तुरश्क बड़ा, तुर्श खुरासानी, तरह हिरा साई। अ०—हुम्माज बुक्लेहा मेजा, बुल्फ येह मिज़ई। अं०—Bladder Dock (ब्लॅडर डॉक्)। ले०—*Rumex vesicarius Linn.* (रूमेक्स वेसिकेरियस्)। Fam. Polygonaceae (पॉलिगोनेसी)।

यह पश्चिम पञ्जाब और सिन्ध नदी के आस पास पहाड़ी ज़मीन में अधिक होता है और दूसरे प्रान्त में भी कहीं कहीं पाया जाता है। इसका क्षुप—६ से १२ इञ्च तक ऊँचा, पाण्डुर हरित, कुछ मांसल एवं मूल के पास से ही दो भागों में बँटा रहता है। पत्ते-अंडाकार-लट्वाकार या आयताकार, १ से ३ इञ्च लंबे, आधार स्फानवत् या हृदवत् या दो कोने निकले हुवे तथा लम्बे वृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प—श्वेत या गुलाबी होते हैं। इसके बीज यूनानी वैद्यक में तुख्म हुम्माज नाम से व्यवहार में आते हैं। इसका साग बनाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह दीपन, रुचिकर, सारक, शोथघ्न एवं वेदना स्थापन है। पचन नलिका के विकार में इसका साग देते हैं। आमाशय में दाह, आंव, वमन एवं क्षुधा नाश आदि में इसे देते हैं।

इसके बीज शीतल, ग्राही, लेसदार तथा दाह शामक होते हैं। इनका उपयोग पित्त विकार, पित्तातिसार, मूत्र मार्ग में दाह एवं आमाशय शोथ में करते हैं।

पत्तों का लेप सूजन पर तथा कीटदंश पर करते हैं। दंतशूल में भी रस लगाते हैं।

अथ चञ्चुकी (भाफली) तस्या नामगुणानाह

चिञ्चा चञ्चुश्चञ्चुकी च दीर्घपत्रा सतिक्तका। चञ्चुः शीता सरा रुच्या स्वाद्वी दोषत्रयापहा ॥
धातुपुष्टिकरी बल्या मेध्या पिच्छिलका स्मृता ॥ २७ ॥

चञ्चुकी के संस्कृत नाम—चिञ्चा, चञ्चु, चञ्चुकी, दीर्घपत्रा तथा सतिक्तका ये सब हैं।

चंचु—स्वादिष्ट, शीतल, सारक, रुचिकारक, त्रिदोषनाशक, धातु को पुष्ट करनेवाला, बलदायक, मेधा के लिये हितकर तथा पिच्छिल है ॥ २७ ॥

१७ चंचु

हि०—चंचु शाक, चोंच, (बा) माफली। बं०—बिलनलिता। म०—हरणखुरी, मगरमिठी। गु०—उमी बहुफली, छुंछडो। ले०—*Corchorus fascicularis Lam.* (कोर्कोरस् फॅसीक्यूलेरिस्)। Fam. Tiliaceae (टिलिएसी)।

यह गरम प्रान्तों में अधिक उत्पन्न होता है। इसका क्षुप-एक फुट ऊंचा, प्रसरणशील एवं वर्षायु होता है। पत्ते-१-२ इञ्च लम्बे, पाव से आध इञ्च तक चौड़े, एकान्तर, आयताकार-भालाकार तथा दन्तुर होते हैं। फूल-पीले रङ्ग के, २ से ५ एक वृन्त पर पत्तों के सामने आते हैं। फलियाँ-मृदुरोमश, करीब ½ इञ्च लम्बी, ३-४ एक साथ एवं प्रत्येक ३-४ कोष्ठ युक्त होती हैं। बीज-अनेक, काले एवं कोनयुक्त होते हैं।

इसके पंचांग का उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह उत्तम स्नेहन एवं वस्य है। इसका क्वाथ सोजाक में देते हैं जिससे पेशाब की मात्रा बढ़कर जलन इत्यादि कम होती है।

मात्रा—½ से १ तोला।

अथ हिलमोचिका (हरकुच)। तस्य नामगुणानाह

ब्राह्मी शङ्खधराऽऽचारी मत्स्याक्षी हिलमोचिका। शोथं कुष्ठं कफं पित्तं हरते हिलमोचिका॥

हरकुच के संस्कृत नाम—ब्राह्मी, शङ्खधरा, आचारी, मत्स्याक्षी तथा हिलमोचिका ये सब हैं।

हरकुच—शोथ, कुष्ठ, कफ तथा पित्त का नाशक है॥ २८॥

१८ हरकुच शाक

हि०-हरकुच। बं०-हिलैंचा शाक, हिंलंचशाक, हिंगचा। ले०-*Enhydra fluctuans Lour.* (एन्हाइड्रा फ्लक्चुएन्स)। Fam. Compositae (कम्पोझिटी)।

यह आसाम, बिहार और बङ्गाल में पाया जाता है।

यह जल के निकटवर्त्ती स्थान और दलदल में उत्पन्न होने वाली प्रसरणशील वनस्पति है। इसकी शाखा १-२ फीट लम्बी, मांसल, रोमश, भूमि पर पसरी हुई रहती है और गाँठों से मूल निकल कर भूमि में घुस जाते हैं। पत्ते-विपरीत, अवृन्त, रेखाकार-आयताकार १ से ३ इञ्च लंबे और दन्तुर होते हैं। फूल (मुण्डक)-पीले, दण्डरहित, व्यास में ३ से ७ इञ्च एवं विषमलिंग होते हैं। इनमें प्रान्तीय पुष्प स्त्रीलिंग, जिह्वाकार एवं कई चक्रों में तथा केन्द्रीय पुष्प उभयलिंग होते हैं। अधःपत्रावलि के पत्र केवल चार होते हैं।

इसके पत्ते कुछ कड़वे होते हैं तथा बंगाल में इसका साग बनाते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके शुष्क पौधे में उड़नशील तेल, स्टिग्मॅस्टेराल् (Stigmasterol) एवं अत्यल्प कडवा पदार्थ होता है।

गुण और प्रयोग—यह मृदुसारक, पित्तशामक, स्नेहन तथा त्वचा एवं वातिक विकारों में लाभदायक है।

(१) त्वचा के रोग तथा वातिक विकारों में इसका स्वरस १ तोले की मात्रा में पिलाते हैं।

(२) यकृत् का कार्य ठीक न होता हो तो चावल की मांड़ में इसको उबालकर सैंधव तथा सरसों का तेल डालकर देते हैं।

नोट—टीकाकारों ने हिलमोचिका को कहीं कहीं हुरहुर लिखा है जो वास्तव में इससे भिन्न है।

अथ शितिवारः (चौपतिया)। तस्य नामलक्षणगुणानाह

शितिवारः शितिवरः स्वस्तिकः सुनिषण्णकः। श्रीवारकः सूचिपत्रः पर्णकः कुक्कुटः शिखी॥
चाङ्गेरीसदृशः पत्रैश्चतुर्दल इतीरितः। शाको जलाम्बिते देशे चतुष्पत्रीति चोच्यते॥ ३०॥

सुनिषण्णो हिमो ग्राही मेदोदोषत्रयापहः ॥ ३१ ॥
अविदाही लघुः स्वादुः कषायो रूक्षदीपनः । वृष्यो रुच्योज्वरश्वासमेहकुष्ठभ्रमप्रणुत् ॥३२॥

चौपतिया के संस्कृत नाम—शितिवार, शितिवर, स्वस्तिक, सुनिषण्णक, श्रीवारक, सूचिपत्र, पर्णक, कुक्कुट और शिखी ये सब हैं।

लक्षण—चौपतिया के पत्ते चांगेरी (तिनपतिया) के पत्तों के समान होते हैं और इसके पत्र-दण्ड में ४ पत्रक रहते हैं इसी से इसको चतुष्पत्री अर्थात् चौपतिया कहते हैं। यह शाक जलयुक्त देश में उत्पन्न होता है।

चौपतिया—मधुर तथा कषाय रसयुक्त, शीतल, ग्राही, किंचित् विदाही, लघु, रूक्ष, अग्निदीपक, वीर्यवर्धक, रुचिकारक एवं-मेद, त्रिदोष, ज्वर, श्वास, प्रमेह, कुष्ठ तथा भ्रम रोग नाशक है ॥ २९-३२ ॥

नोट—शितिवार तथा सुनिषण्णक वास्तव में दो भिन्न द्रव्य हैं जब कि यहां इन्हें पर्यायों में लिखा गया है। यहां जिसका स्वरूप वर्णन श्लोक में आया है वह चौपतिया साग है। शितिवार इससे भिन्न है जिसका वर्णन पहले कर्पूरादिवर्ग (पृष्ठ २६४) में कैवर्तमुस्तक के अन्तर्गत किया जा चुका है।

१९ चौपतिया

हि०-चौपतिया, सुनसुनिया साग। बं०-सुसुनी शाक, शुनिशाक, शुशुनो शाक। ले०-*Marsilea minuta Linn.* (मार्सिलिया माइन्यूटा)। Fam. Rhizocarpeae (राइझोकार्पी)।

यह शाकवर्गीय वनस्पति भारतवर्ष के प्रायः सब प्रान्तों के सजल स्थान में कहीं न कहीं पायी जाती है। वर्षा ऋतु में यह अधिक उत्पन्न होती है। इसमें नीचे विसर्पी, पतला, एवं सशाख काण्ड होता है। इसके छत्ते-पानी के ऊपर तैरते हुए दिखाई पड़ते हैं। प्रत्येक पत्रदण्ड पर चार-चार पत्ते स्वस्तिक क्रम में निकले रहते हैं, इस कारण इसे चतुष्पत्री या चौपतिया भी कहते हैं। पत्ते और दण्ड आकार में छोटे बड़े हुआ करते हैं। पत्ते-चांगेरी के पत्तों के समान किन्तु उनसे बड़े होते हैं। बीजाणुकोष एक विशेष प्रकार की अण्डाकार परन्तु कुछ-कुछ चिपटी रचना के अन्दर रहते हैं जो फल की तरह मालूम होती है।

गुण और प्रयोग—इसका साग निद्राजनक तथा दीपन होता है। निद्रा लाने के लिये तथा अग्निमांद्य में इसका उपयोग करते हैं।

अथ मूलकपत्रम् (मुरई का पत्ता)। तस्य गुणानाह

पाचनं लघु रुच्योष्णं पत्रं मूलकजं नवम्। स्नेहसिद्धं त्रिदोषघ्नमसिद्धं कफपित्तकृत् ॥ ३३ ॥

नवीन मुरई के पत्ते का शाक—पाचक, लघु (हलका), रुचिकारक तथा उष्ण होता है। तेल में भुना हुआ शाक-त्रिदोष-नाशक होता है। बिना भुना हुआ—कफ तथा पित्त-कारक होता है ॥ ३३ ॥

२० मूली के पत्ते

इसका परिचय कंदशाक वर्ग में दिया जायगा।

अथ द्रोणपुष्पी पत्रम् (गूमा का पत्ता)। तस्य गुणानाह

द्रोणपुष्पीदलं स्वादु रूक्षं गुरु च पित्तकृत्। भेदनं कामलाशोथमेहज्वरहरं कटु ॥ ३४ ॥

गुमा के पत्ते का शाक—स्वादिष्ट, कटुरसयुक्त, रूक्ष, गुरु, पित्तकारक, मलभेदक एवं—कामला, शोथ, प्रमेह तथा ज्वर को दूर करनेवाला होता है ॥ ३४ ॥

२१ गूमा

इसका पूर्ण विवरण गुडूच्यादि वर्ग (पृष्ठ ४६१) में दिया गया है।

अथ यवानीशाकम् (अजवाइन का शाक)। तस्य गुणानाह

यवानीशाकमाग्नेयं रुच्यं वातकफप्रणुत्। उष्णं कटु च तिक्तं च पित्तलं लघु शूलहृत् ॥३५॥

अजवाइन के पत्ते का शाक-आग्नेय (अग्नि के गुणों से युक्त), रुचिकारक, उष्ण, कटु तथा तिक्त रसयुक्त, पित्तजनक, लघु एवम्-वात, कफ तथा शूल को दूर करनेवाला होता है ॥

२२ अजवाइन

इसका पूर्ण परिचय हरीतक्यादि वर्ग (पृष्ठ २५) में दिया जा चुका है।

अथ दद्रुघ्नपत्रम् (पमार, चकवड़ शाक)। तस्य गुणानाह

दद्रुघ्नपत्रं दोषघ्नमम्लं वातकफापहम्। कण्डूकासक्रिमिश्वासदद्रुकुष्ठप्रणुल्लघु ॥ ३६ ॥

चकवड़ के पत्ते-दोषनाशक, लघु, अम्लरस युक्त, वात, कफ, खुजली, खांसी, क्रिमि, श्वास, दाद और कुष्ठ को दूर करनेवाले होते हैं ॥ ३६ ॥

२३ चकवड़

इसका पूर्ण विवरण हरीतक्यादि वर्ग (पृष्ठ १२५) में दिया गया है।

अथ सेहुण्डः (थूहर)। तत्पत्रस्य गुणानाह

सेहुण्डस्य दलं तीक्ष्णं दीपनं रेचनं हरेत्। आध्मानाष्ठीलिकागुल्मशूलशोथोदराणि च ॥३७॥

थूहर के पत्ते—तीक्ष्ण, अग्निदीपक, रेचक (दस्तावर) एवम्—आध्मान (अफरा), अष्ठीलिका, गुल्म, शूल, शोथ तथा उदररोग को दूर करने वाले होते हैं ॥ ३७ ॥

२४ थूहर

इसका पूर्ण परिचय गुडूच्यादि वर्ग (पृष्ठ ३०७) में दिया गया है।

अथ पर्पटः (पित्तपापड़ा)। तस्य गुणानाह

पर्पटो हन्ति पित्तास्रज्वरतृष्णाकफभ्रमान्। संग्राही शीतलस्तिक्तो दाहनुद्वातलो लघुः ॥

पित्तपापड़ा—तिक्त रस युक्त, ग्राही, शीतल, वातजनक, लघु एवम्—पित्त, रक्तविकार, ज्वर, प्यास, कफ, भ्रमरोग तथा दाह को दूर करने वाला होता है ॥ ३८ ॥

२५ पित्तपापड़ा

इसका पूर्ण विवरण गुडूच्यादि वर्ग (पृष्ठ १२४) में दिया गया है।

अथ गोजिह्वा । तस्या गुणानाह

गोजिह्वा कुष्ठमेहास्रकृच्छ्रज्वरहरी लघुः ॥ ३९ ॥

गोजिह्वा के पत्ते—लघु एवम् कुष्ठ, प्रमेह, रक्तविकार, मूत्रकृच्छ्र तथा ज्वर को दूर करने वाले होते हैं ॥ ३९ ॥

२६ गोजिह्वा

इसका पूर्ण वर्णन गुडूच्यादि वर्ग (पृष्ठ ४७१) में दिया गया है।

अथ पटोलपत्रम् । तस्य गुणानाह

पटोलपत्रं पित्तघ्नं दीपनं पाचनं लघु। स्निग्धं वृष्यं तथोष्णं च ज्वरकासक्रिमिप्रणुत् ॥ ४० ॥

परवर के पत्ते—पित्तनाशक, अग्निदीपक, पाचक, लघु, स्निग्ध, वीर्यवर्धक, उष्ण, एवम्—ज्वर, खांसी तथा क्रिमि को नष्ट करने वाले होते हैं ॥ ४० ॥

२७ पटोल-पत्र

इसका परिचय आगे फलशाक वर्ग में लिखा गया है।

अथ गुडूचीपत्रम् (गिलोयशाक) । तस्य गुणानाह

गुडूचीपत्रमाग्नेयं सर्वज्वरहरं लघु। कषायं कटु तिक्तं च स्वादुपाकं रसायनम् ॥ ४१ ॥
बल्यमुष्णं च संग्राहि हन्याद्दोषत्रयं तृषाम् । दाहप्रमेहवातासृक्कामलाकुष्ठपाण्डुताः ॥४२॥

गिलोय के पत्ते—आग्नेय (अग्नि के गुणों से युक्त), सर्व प्रकार के ज्वर को दूर करने वाले, लघु, कषाय, कटु तथा तिक्त रसयुक्त, विपाक में मधुर रस युक्त, रसायन, बलकारक, उष्ण, ग्राही, एवम्—त्रिदोष, तृषा, दाह, प्रमेह, वात, रक्तविकार या वातरक्त, कामला, कुष्ठ तथा पाण्डु रोग को दूर करने वाले होते हैं ॥ ४१-४२ ॥

२८ गिलोय शाक

इसका विस्तृत वर्णन गुडूच्यादि वर्ग (पृष्ठ २६९) में किया गया है।

अथ कासमर्दः (कसौंदी शाक) । तस्य नामानि तत्पत्रस्य गुणांश्चाह

कासमर्दोऽरिमर्दश्च कासारिः कर्कशस्तथा । कासमर्ददलं रुच्यं वृष्यं कासविषास्रनुत् ॥ ४३ ॥
मधुरं कफवातघ्नं पाचनं कण्ठशोधनम् । विशेषतः कासहरं पित्तघ्नं ग्राहकं लघु ॥ ४४ ॥

कसौंदी के संस्कृत नाम—कासमर्द, अरिमर्द, कासारि तथा कर्कश ये सब हैं। कासमर्द के पत्ते—मधुर रसयुक्त, रुचिकारक, वीर्यवर्धक, पाचक, कण्ठ को शुद्ध करने वाले, लघु, ग्राही, एवम्—खांसी, विष, रक्तविकार, कफ तथा वात को नाश करने वाले होते हैं और विशेषतः ये कासनाशक तथा पित्त को दूर करने वाले होते हैं ॥ ४३-४४ ॥

२९ कसौंदी

हि०—कसोंदी, कसौंदी। बं०—कालकासुन्दा। म०—कासविंदा। गु०—कासोंदरो। क०—डोड्डुतगचे। ते०—कसिं। मला०—पोन्ना वीर। ता०—पैदाविरै। अं०—The Negro Coffee

(दी निग्रो कॉफी)। ले०–*Cassia occidentalis Linn.* (कॅसीआ ऑक्सीडेन्टॅलिस्)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

कसौंदी–क्षुप जाति की वनस्पति वर्षा ऋतु में अधिक होती है। इसका क्षुप–३–४ फीट तक ऊँचा तथा कुछ दुर्गन्ध युक्त होता है। कांड–कुछ नालीदार होता है। पत्ते–संयुक्त एवं ६ से १२ इञ्च लम्बे तथा वृन्त के आधार पर एक ग्रन्थि युक्त होते हैं। पत्रक-लट्वाकार, लट्वाकार-आयताकार या लट्वाकार-प्रासवत, १½ से ४ इञ्च लम्बे, मुलायम एवं प्रायः लम्बाग्र होते हैं। पुष्प–पीले रङ्ग के होते हैं। फली–४–५ इञ्च लम्बी तथा चिपटी होती है।

इसके पत्र, मूल तथा बीजों का उपयोग किया जाता है। बीजों को भूनकर कॉफी की तरह व्यवहार में लाते हैं।

भेद—इसका एक अन्य भेद कॅसोफेरा (C. sophera) होता है। इसके क्षुप–४ से ७ फीट ऊँचे; पत्रक ६ से १२ जोड़े, प्रायः १ से ३ इञ्च लम्बे, लम्बे प्रासवत, तीक्ष्णाग्र या लम्बाग्र एवं वृन्त आधारीय ग्रंथि एक किन्तु भिन्न आकार की होती है।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में टॅनिक् ॲसिड, म्यूसिलेज, तेल, एमोडिन (Emodin), टॉक्सअल्ब्यूमिन (Toxalbumin) एवं क्राइसोरॉबिन (Chrysorobin) पाया जाता है। विरेचन द्रव्य इनको भूनने से नष्ट हो जाते हैं। यह विरेचन द्रव्य सनाय जैसे इसके पत्तों में भी होते हैं।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, कण्ठशोधन, कफघ्न, स्रंसन, ज्वरहर एवं कुष्ठघ्न है। इसकी जड़ मूत्रजनन है। इसका पंचांग विरेचन है। पत्र एवं बीज ज्वरहर हैं।

(१) कफज्वर, कुकास, श्वास आदि में पत्रस्वरस मधु के साथ देते हैं। इससे वमन तथा विरेचन भी होता है।

(२) पंचांग के क्वाथ से वायु का अनुलोमन होता है तथा शौच साफ होता है।

(३) पत्तों का लेप व्रणशोथ, विसर्प आदि दाहयुक्त चर्म रोगों में किया जाता है। त्वचा के रोगों में मूल तथा पत्तों का क्वाथ एवं लेप उपयोगी है।

(४) उदर तथा जलशोथ में मूल का उपयोग करते हैं।

मात्रा–स्वरस ½ से १ तोला; पंचांग ३ से ६ माशा; फल ३ से ६ माशा।

कासमर्द भेद—इसमें एमोडिन तथा क्राइसोफेनिक ॲसिड पाया जाता है। इसके भी गुण कासमर्द के समान हैं। इसके पत्तों का बाह्य प्रयोग दाद में करते हैं। पंचांग का क्वाथ खांसी में दिया जाता है।

अथ चणकशाकम् (चने का शाक)। तस्य गुणानाह

रुच्यं चणकशाकं स्याद् दुर्जरं कफवातकृत्। अम्लं विष्टम्भजनकं पित्तनुद्दन्तशोथहृत्॥४५॥

चने का शाक—रुचिकारक, देर में हजम होने वाला, कफ तथा वातकारक, अम्लरस युक्त, विष्टम्भ पैदा करने वाला एवम्—पित्त तथा दांतों के शोथ को दूर करने वाला होता है॥ ४५॥

३० चना

चने का वर्णन शिम्बीधान्य वर्ग (पृष्ठ ६४९) में किया गया है।

अथ कलायशाकम् (मटर का शाक)। तस्य गुणानाह

कलायशाकं भेदि स्याल्लघु तिक्तं त्रिदोषजित् ॥ ४६ ॥

मटर का शाक—मल का भेदन करने वाला, लघु, तिक्तरस युक्त, एवम् त्रिदोष-नाशक होता है ॥ ४६ ॥

३१ मटर

इसका परिचय शिम्बीधान्य वर्ग (पृष्ठ ६४९) में दिया गया है।

अथ सार्षपं शाकम् (सरसों का शाक)। तस्य गुणानाह

कटुकं सार्षपं शाकं बहुमूत्रमलं गुरु।
अम्लपाकं विदाहि स्यादुष्णं रूक्षं त्रिदोषकृत्। सक्षारलवणं तीक्ष्णं स्वादु शाकेषु निन्दितम् ॥

सरसों का शाक—कटुरस युक्त, बहुत मूत्र तथा मल को करने वाला, गुरु, विपाक में अम्लरस युक्त, विदाही, उष्ण, रूक्ष, त्रिदोष कारक, क्षार युक्त लवण रस वाला, तीक्ष्ण और स्वादिष्ट होता है। एवम् यह शाकों में निन्दनीय होता है ॥ ४७ ॥

३२ सरसों

इसका वर्णन शिम्बीधान्य वर्ग (पृष्ठ ६५४) में किया गया है।

इति पत्रशाकानि ॥

अथ पुष्पशाकानि। तत्रागस्तिपुष्पस्य गुणानाह

अगस्तिकुसुमं शीतं चातुर्थिकनिवारणम्।
नक्तान्ध्यनाशनं तिक्तं कषायं कटुपाकि च। पीनसश्लेष्मपित्तघ्नं वातघ्नं मुनिभिर्मतम् ॥४८॥

अगस्त का पुष्प—तिक्त तथा कषायरस युक्त, विपाक में कटुरस युक्त, शीतल एवम् चौथिया ज्वर, नक्तान्ध्य (रतौंधी), पीनस, कफ, पित्त तथा वात को नष्ट करने वाला होता है ऐसा मुनि लोग मानते हैं ॥ ४८ ॥

३३ अगस्त

इसका विवरण पुष्पवर्ग (पृष्ठ ५०८) में दिया गया है।

अथ कदलीपुष्पम् (केले का फूल)। तस्य गुणानाह

कदल्याः कुसुमं स्निग्धं मधुरं तुवरं गुरु। वातपित्तहरं शीतं रक्तपित्तक्षयप्रणुत् ॥ ४९ ॥

केले का फूल—मधुर तथा कषायरस युक्त, स्निग्ध, गुरु, शीतल एवम्—वात-पित्त, रक्तपित्त तथा क्षय को दूर करने वाला होता है ॥ ४९ ॥

३४ केला

इसका परिचय फलवर्ग (पृष्ठ ५५७) में दिया गया है।

अथ शिग्रोः मधुशिग्रोः च पुष्पं (सहजना एवं उसके भेद के फूल)। तयोर्गुणानाह

शिग्रोः पुष्पं तु कटुकं तीक्ष्णोष्णं स्नायुशोथनुत्।
कृमिहृत्कफवातघ्नं विद्रधिप्लीहगुल्मजित्। मधुशिग्रोस्तत्तथा हितं रक्तपित्तप्रसादनम् ॥ ५० ॥

सहजन का फूल—कटुरस युक्त, तीक्ष्ण, उष्ण, स्नायुगत शोथ को दूर करने वाला एवम् कृमि, कफ, वात, विद्रधि, प्लीहा तथा गुल्म को नष्ट करने वाला होता है।

मधुशिग्रु (सहजन भेद) का फूल—नेत्रों के लिये हितकर तथा रक्तपित्त को दूर करने वाला होता है ॥ ५० ॥

३५ सहजना

इसका विवरण गुडूच्यादि वर्ग (पृष्ठ ३४०) में किया गया है।

अथ शाल्मलीपुष्पम् (सेमल के फूल)। तस्य गुणानाह

शाल्मलीपुष्पशाकं तु घृतसैन्धवसाधितम्। प्रदरं नाशयत्येव दुःसाध्यं च न संशयः ॥५१॥
रसे पाके च मधुरं कषायं शीतलं गुरु। कफपित्तास्रजिद् ग्राहि वातलं च प्रकीर्तितम् ॥५२॥

सेमल के फूल का शाक—यदि यह घी तथा सेन्धा निमक डाल कर बनाया जाय तो सेवन करने से दुःसाध्य प्रदर को दूर करता है इसमें कोई संशय नहीं है। और यह कषाय तथा मधुररस युक्त, विपाक में मधुररस युक्त, शीतल, गुरु, ग्राही, वातजनक एवम् कफ, पित्त तथा रक्तविकार को दूर करने वाला होता है ॥ ५१-५२ ॥

३६ सेमर

इसका विवरण वटादिवर्ग (पृष्ठ ५३७) में दिया गया है।

इति पुष्पशाकानि।

अथ फलशाकानि। तत्रकूष्माण्डम् (पेठा)। तस्य नामानि तद्बाल-मध्यम-वृद्धफलानां च गुणानाह

कूष्माण्डं स्यात्पुष्पफलं पीतपुष्पं बृहत्फलम् ॥ ५३ ॥

कूष्माण्डं बृंहणं वृष्यं गुरु पित्तास्रवातनुत्। बालं पित्तापहं शीतं मध्यमं कफकारकम् ॥५४॥
वृद्धं नातिहिमं स्वादु सक्षारं दीपनं लघु। बस्तिशुद्धिकरं चेतोरोगहृत्सर्वदोषजित् ॥ ५५ ॥

पेठा के नाम—कूष्माण्ड, पुष्पफल, पीतपुष्प तथा बृहत्फल ये सब हैं। पेठा—बृंहण (बलवर्धक), वृष्य (वीर्यवर्धक), गुरु एवम् पित्त, रक्तविकार तथा वात को नष्ट करने वाला होता है। कच्चा पेठा—शीतल तथा पित्तनाशक होता है।

मध्यम अवस्था का पेठा—कफकारक होता है। पका पेठा—स्वादिष्ट, क्षारयुक्त, किंचित् शीतल, अग्निदीपक, लघु, बस्ति (मूत्राशय) का शोधन करने वाला, मानसिक रोग (उन्माद आदि) तथा सम्पूर्ण दोषों को दूर करने वाला होता है ॥ ५४-५५ ॥

३७ पेठा

हिं०—पेठा, भूरा कुम्हड़ा, भतुआ, रकसा कोंहडा। बं०—कुमड़ा। म०—कोहळा। गु०—भुरुं कोहळुं। क०—दार कोहोला। ता०—पुशनीकै। ते०—गुम्मडि। फा०—पजदाब, पदुव। अ०—महद्द्वः। अं०—The Ash Gourd (दी ॲश गोर्ड)। ले०—*Benincasa cerifera Savi* (बेनिन्कॅसा सेरीफेरा)। Fam. Cucurbitaceae (कुकुरबिटेसी)।

पेठा–प्रायः सब प्रान्तों में रोपण किया जाता है। इसकी लता–मचान आदि के सहारे खूब फैलती है। पत्ते–कद्दू के समान ४–६ इञ्च के घेरे में गोलाकार, कटे किनारे वाले या ५ भाग वाले होते हैं। फूल–पीले रङ्ग के आते हैं। फल–गोलाई युक्त, किञ्चित् लम्बे तथा लम्बाई में १ से १·५ फीट होते हैं। इसकी गुद्दी सफेद रहती है। बीज–अनेक, चिपटे एवं किनारेदार होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके फल में आर्द्रता ९६, प्रोटीन ०·४, स्नेह ०·१, कार्बोहाइड्रेट ३·२, खनिज ०·३ भाग तथा विटामिन बी$_1$ २१ अ. एकक प्रति १०० ग्राम में रहता है।

गुण और प्रयोग—इसका फल मूत्रजनन, सौम्य विरेचक, बल्य, पौष्टिक, पित्तशामक, रक्तपित्त प्रशमन एवं रक्त संग्राहक है।

इसका उपयोग रक्तपित्त, रक्तष्ठीवन, आन्तरिक रक्तस्राव, पागलपन, अपस्मार, मूत्रकृच्छ्र, तृष्णा एवं प्रमेह में किया जाता है।

इससे रक्ताभिसरण की तेजी कम होती है। अधिक मात्रा में शौच साफ होकर नींद आती है।

(१) उन्माद में इसका रस पिलाते हैं जिससे शौच साफ होकर नींद आती है।

(२) राजयक्ष्मा में रक्तष्ठीवन होने पर इसका रस देते हैं।

(३) अर्श में कूष्मांडपाक देते हैं।

(४) इसके बीज तथा बीजों का तेल चिपटे कृमियों के उपसर्ग में लाभदायक है।

मात्रा—स्वरस २ से ४ औंस; बीजचूर्ण ३ से ६ माशा।

अथ कूष्माण्डी (कुम्हड़ी)। तस्यानामगुणानाह

कूष्माण्डी तु भृशं लघ्वी कर्कारुरपि कीर्तिता।
कर्कारुर्ग्राहिणी शीता रक्तपित्तहरा गुरुः। पक्वा तिक्ताऽग्निजननी सक्षारा कफवातनुत्॥

कुम्हड़ी का संस्कृत नाम—अत्यन्त लघु पेठे को "कूष्माण्डी" कहते हैं, इसी का नाम "कर्कारु" भी है।

कुम्हड़ी—ग्राही, शीतल, रक्तपित्त नाशक तथा गुरु होती है। पकी कुम्हड़ी–तिक्तरस युक्त, अग्निवर्धक, क्षार युक्त एवम्—कफ तथा वात को दूर करने वाली होती है॥ ५६॥

३८ कुष्माण्डी (कोहला)

हि०–कुम्हरा, सफेद कद्दू। बं–सादा कुम्हरा। म०–कोला। ता०–सुरईकई। अं०–Vegetable Marrow (वेजिटेबुल मॅरो); Field Pumpkin (फील्ड पम्पकिन)। ले०–*Cucurbita pepo Linn.* (कुकुरबिटा पेपो)। Fam. Cucurbitaceae (कुकुरबिटेसी)।

यह सभी प्रान्तों में कृषित अवस्था में होता है। इसकी लता–वर्षायु, दृढ़ एवं खरदरी से रोमश होती है। पत्ते–गोलाकार, अल्प खण्डित एवं वृन्त तीक्ष्ण, रोमश होते हैं। पुष्प–पीले रङ्ग के आते हैं। फल–कई प्रकार के किन्तु सामान्यतः नाशपाती के आकार वाले या कुछ आयताकार होते हैं। इसका डण्ठल कड़ा, अनेक गहरी धारियों से युक्त एवं फल के आधारीय भाग में फूला हुआ नहीं रहता।

इसके अनेक प्रकार होते हैं। गुद्दी हलके रंग की एवं गंधहीन होती है। बीजों को तथा उसके तेल को खाने के काम में लाते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें आर्द्रता ९५, प्रोटीन ०·५, स्नेह ०·१, कार्बोहाइड्रेट ४, एवं खनिजों में लोह तथा अत्यल्प खटिक, आर्सेनिक और विटामिन 'सी' १०० ग्राम में १८ मि० ग्रा० रहता है।

बीजमज्जा में प्रोटीन, तैल (३८%), राळीय द्रव्य एवं सॅक्सिलिक् ॲसिड आदि द्रव्य होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके ताजे बीज, चिपटे कृमियों (Taenicide) में लाभदायक हैं। ३० से ६० ग्राम बीजों को कूटकर दूध एवं मधु मिलाकर खालीपेट पिलाते हैं। बाद में विरेचन देते हैं। इसके पत्तों का लेप जलने पर करते हैं।

नोट-कुम्हड़े के निम्नलिखित अन्य भेद भी पाये जाते हैं।

(क) हि०—लाल कुम्हडा, सीताफल। अं०—Red Gourd (रेड गोर्ड); Squash (स्कॅश)। ले०— C. maxima Duchesne (कु. मॅक्सिमा)। इसमें भी फल विभिन्न नाप के होते हैं एवं डंठल न तो धारीदार रहता है न फल से लगा भाग बढ़ा हुआ रहता है। इसका गूदा पकने पर पीताभ या रक्ताभ रहता है। इसके बीज श्वेत या भूरे तथा उनके किनारे भी उसी तरह होते हैं। इसके पत्र, पुष्प, फल एवं बीज का उपयोग खाद्य रूप में किया जाता है। बीज कृमिघ्न, मूत्रल तथा बल्य होते हैं।

(ख) ले०—*C. moschata Duchesne ex Poir.* (कु. मास्केटा)। इसमें के फल का डंठल धारीदार एवं फल से लगाभाग बढ़ा हुआ रहता है। इसमें बीज धूसराभ श्वेत या पीताभ किन्तु किनारे गहरे रंग के होते हैं। इसके अन्य भाषा नाम एवं इसका व्यवहार (क) की तरह ही होता है।

अथ अलाबूर्दीर्घा-वर्त्तुला च तस्या नामानि भेदांस्तत्फलगुणाँश्चाह

अलाबूः कथिता तुम्बी द्विधा दीर्घा च वर्तुला ॥ ५७ ॥
मिष्टतुम्बीफलं हृद्यं पित्तश्लेष्मापहं गुरु। वृष्यं रुचिकरं प्रोक्तं धातु पुष्टिविवर्धनम् ॥ ५८ ॥

लौकी का संस्कृत नाम—अलाबू तथा तुम्बी है। भेद-लम्बी तथा गोल भेद से लौकी दो प्रकार की होती है अर्थात्-१ दीर्घा अलाबू, २ वर्त्तुला अलाबू।

मीठी लौकी का फल—गुरु, रुचिकारक, वीर्यवर्धक, हृदय के लिये हितकर, पित्त तथा कफ नाशक एवम् धातु की पुष्टि को विशेष रूप से करने वाला होता है ॥ ५७-५८ ॥

३९ अलाबू (लौकी)

हि०—तुम्बी, लौआ, लौकी, कद्दू, कदुआ, मीठी तोम्बी, लम्बाकद्दू। बं०—लाउ। म०—दुध्या भोंपळा। गु०—दुधियुं, तुंबड़ी। क०—उवलकाई। ते०—अलबुबु, आनपकाया। फा०—कदु शीरिन्। अ०—युक्तिनेहुलकुरा। अं०—White Gourd (ह्वाइट गोर्ड)। ले०—*Lagenaria vulgaris Ser* (लॅगेनेरिया वल्गॅरिस्)। Fam. Cucurbitaceae (कुकुरबिटेसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में रोपण की जाती है। खेत, बाग, मचान, छप्पर आदि पर फैली हुई इसकी बेल देखने में आती है। इसके पत्ते-मृदुरोमश, ६-७ इञ्च के घेरे में गोलाकार, पञ्च कोणाकार या पांच खण्डवाले होते हैं। फूल-सफेद रङ्ग के आते हैं। फल-१-२ हाथ लम्बा गोल या गोल अथवा चिपटा गोल विभिन्न आकार का होता है। कृषिजन्य इसके अनेक आकार होते हैं। कृषिजन्य की गुद्दी मीठी होती है तथा वन्य की कडवी होती है।

गुण और प्रयोग—इसके कृषित प्रकार को लोग सब्जी इत्यादि के काम में लाते हैं। वन्य-भेद जो स्वाद में कडवा होता है उसका चिकित्सा में उपयोग होता है जिसका आगे वर्णन दिया गया है।

अथ कटुतुम्बी (कड़वी लौकी)। तस्या नामगुणानाह

इक्ष्वाकुः कटुतुम्बी स्यात्सा तुम्बी च महाफला।
कटुतुम्बी हिमा हृद्या पित्तकासविषापहा। तिक्ता कटुर्विपाके च वातपित्तज्वरान्तकृत् ॥५९॥

कड़वी तुम्बी के संस्कृत नाम— इक्ष्वाकु, कटुतुम्बी, तुम्बी और महाफला ये सब हैं।

कड़वी तुम्बी—तिक्तरसयुक्त, विपाक में कटु रसयुक्त, शीतल, हृदय के लिए हितकर एवम्-पित्त, खांसी, विष, वात तथा पित्तज्वर को नष्ट करने वाली होती है ॥ ५९ ॥

४० कटुतुम्बी (कड़वी तुम्बी)

हि०—कटुलौकी, कड़वी तोंबी, तित लौकी, तितुआ लौका, तुमरी, तुम्री। बं०—तितलाउ, तित लाओ। म०—कडु भोपळा। गु०—कड़वी तुम्बरी। क०—कहि सोरे। फा०—कदूय तल्ख। अ०—कर अउल् मुर, करअव् मुर। अं०—Bitter Gourd (बिटर गोर्ड)। ले०—*Lagenaria vulgaris Ser.* (लॅगेनेरिया वल्गेरिस्)। Fam. Cucurbitaceae (कुकुरबिटेसी)।

कड़वी तुम्बी—इसके लता-पत्र-पुष्पादि सब उक्त अलाबू के समान होते हैं। फल—यह बहुत कड़वा होता है। यह इसका वन्य भेद है।

रासायनिक संगठन—बीजों में सॅपोनिन् होता है।

गुण और प्रयोग—इसकी गुद्दी अत्यन्त कडवी, वामक एवं भेदन होती है। इन्द्रायण की तरह इसका प्रभाव है। इससे हैजे जैसी अवस्था होती है।

प्राचीन ग्रन्थों में वमन कराने के लिये इसका उपयोग लिखा है। अल्प मात्रा में इससे मिचली आकर कफ निकलता है तथा शौच साफ होता है। कामला तथा कास श्वास में इसे देते हैं। कामला में पत्तों का क्वाथ देते हैं। यह भी विरेचन होता है। दाह एवं शोथ पर गुद्दी को लगाते हैं। पत्तों से सिद्ध तैल गंडमाला, गांठ या बद आदि पर मलते हैं।

अथ कर्कटी (ककडी)। तस्या नामानि तत्पक्कापक्कफलगुणांश्चाह

एर्वारुः कर्कटी प्रोक्ता कथ्यन्ते तद्गुणा अथ ॥ ६० ॥
कर्कटी शीतला रूक्षा ग्राहिणी मधुरा गुरुः। रुच्या पित्तहरा सामा पक्का तृष्णाऽग्निपित्तकृत् ॥

ककड़ी का संस्कृत नाम—एर्वारु तथा कर्कटी है।

कच्ची ककड़ी—मधुररस युक्त, शीतल, रूक्ष, ग्राही, गुरु, रुचिकारक तथा पित्तनाशक होती है। पकी ककड़ी—तृषा, जठराग्नि तथा पित्त को बढ़ाने वाली होती है ॥ ६०-६१ ॥

४१ ककड़ी

हि०—ककड़ी (री)। बं०—कांकुड़। म०—कांकडी। क०—सौते। ते०—दोसकाया। ता०—वेळ-रिक्कै। फा०—ख्यार जाव, ख्यार दराज। अ०—किस्सा कदस। अं०—Snake Cucumber (स्नेक् कुकुम्बर)। ले०—*Cucumis utilissimus Roxb.* (कुकुमिस युटिलिसिसमस्)। Fam Cucurbitaceae (कुकुरबिटेसी)।

यह युक्तप्रान्त, पञ्जाब आदि प्रान्तों में अधिक उत्पन्न होती है। इसकी लता खूब फैलती है। पत्ते—पञ्च कोणाकार और दन्तुर होते हैं। फूल—पीले रङ्ग के आते हैं। फल—कुछ इञ्चों से लेकर ३ फीट तक लंबे होते हैं। यह हलके या गहरे हरे रंग के एवं कोमल अवस्था में मृदु रोमश होते हैं। बीज—छोटे छोटे होते हैं।

इसके अनेक प्रकार पाये जाते हैं जिनमें कडवा भेद भी होता है। गरमी के दिनों में इसे लोग कच्चा या सब्जी के रूप में खाते हैं।

गुण और प्रयोग—ककड़ी शीत, पाचन एवं मूत्रजनन है। बीज शीत, मूत्रजनन एवं बल्य हैं। पत्तों की राख कफ निस्सारक है।

(१) बीजों का उपयोग मूत्रकृच्छ्र तथा मूत्राघात में करते हैं। इसमें बीज ४ भाग, दारु हल्दी १ भाग, मुलेठी १ भाग इनको पीसकर चावल की मांड के साथ पिलाते हैं।

(२) गेहूँ, मकई, अरहर, मूंग आदि प्रोटीन युक्त आहार से उत्पन्न कुपचन में ककड़ी का उपयोग किया जाता है। इसे भोजन के साथ या भोजनोत्तर देते हैं। अजीर्ण से वमन हो तो बीजों को मट्ठे में पीसकर पिलाते हैं।

(३) श्वास नलिकाओं में कफ जमा हो तो पत्तों की राख देते हैं।

अथ चिचिण्डः (चिचिण्डा)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

चिचिण्डः श्वेतराजिः स्यात्सुदीर्घो गृहकूलकः।
चिचिण्डो वातपित्तघ्नो बल्यः पथ्यो रुचिप्रदः। शोषणोऽतिहितः किञ्चिद् गुणैर्न्यूनः पटोलतः॥

चचेंड़ा के संस्कृत नाम—चिचिण्ड, श्वेतराजि, सुदीर्घ तथा गृहकूलक ये सब हैं।

चचेंड़ा—वात तथा पित्त नाशक, बलदायक, पथ्य, रुचिकारक तथा शोष (क्षय) रोगी के लिये अत्यन्त हितकर होता है। एवम्—यह गुणों में परवल से कुछ कम होता है॥ ६२॥

४२ चचेण्डा

हि०—चचेंडा, चिचिंडा चिचेंडा। बं०—चिचिंगा। म०—पड़वळ। गु०—पंडोलुं। ते०—पोटल काया। अं०—Snake Gourd (स्नेक गोर्ड)। ले०—*Trichosanthes anguina Linn.* (ट्रॉइकोसेंथीस् ऐंग्विना)। Fam. Cucurbitaceae (कुकुरबिटेसी)।

चिचेंडा-खेतों में बोया जाता है। इसकी लता-विस्तार से फैलती है। पत्ते-कटे किनारे वाले पंचकोणाकार होते हैं। फूल-पीले रङ्ग के आते हैं। फल-ककड़ी के समान लम्बा होता है परन्तु इसके दोनों छोर पतले होते हैं और इस पर लम्बी सफेद धारियां होती हैं। इसकी सब्जी लोग खाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके बीज शीतल होते हैं।

अथ कारवेल्लं कारवेल्ली च (करेला, करेली) तयोर्नामानि गुणांश्चाह

कारवेल्लं कटिल्लं स्यात्कारवेल्ली ततो लघुः। कारवेल्लं हिमं भेदि लघु तिक्तमवातलम्॥६३॥
ज्वरपित्तकफास्रघ्नं पाण्डुमेहकृमीन् हरेत्। तद्गुणा कारवेल्ली स्याद्विशेषाद्दीपनी लघुः॥६४॥

करेला के संस्कृत नाम—कारवेल्ल तथा कठिल्ल हैं। करेली का संस्कृत नाम-कारवेल्ली है। यह करेला की अपेक्षा छोटी होती है। करेला-तिक्त रसयुक्त, शीतल, मलभेदक, लघु, किंचिद् वातजनक होता है और ज्वर, पित्त, कफ, रक्तविकार, पाण्डु, प्रमेह तथा कृमि का नाशक होता है।

करेली—इसके गुण उक्त करेला के भाँति होते हैं किन्तु विशेष कर यह अग्निदीपक तथा लघु होती है॥ ६३-६४॥

४३ करेला

हि०—करेला, करैला, करइला, करेली। बं०—करोला, बड़ा मसिया, उच्छे। म०—कारलें, कारली। गु०—कारेला, करेलुं। क०—हागल। ते०—काकर। ता०—पागल। फा०—कारेलाह। अं०—

किस्सा उश्दिमार, कसायुल ह्मिमार। अं०–Carilla Fruit (कॅरिला फ्रूट); Bitter Gourd (बिटर गोर्ड)। ले–*Momordica charantia Linn.* (मोमोर्डिका चेरण्टिआ)। Fam. Cucurbitaceae (कुकुरबिटेसी)।

प्रायः सब प्रान्तों में इसे रोपण करते हैं। इसकी लता–मृदुरोमश होती है। पत्ते–१ से ५ इञ्च के घेरे में गोलाकार, गहरे कटे किनारे वाले एवं ५–७ भागों में विभक्त रहते हैं। फूल–चमकीले पीले रङ्ग के आते हैं। फल–१ से ५ इञ्च लंबे, बीच में मोटे तथा दोनों तरफ नोकीले, त्रिकोणाकृति उभारों के कारण ऊबड़ खाबड़, हरे किन्तु पकने पर पीले रंग के हो जाते हैं। बीज–चिपटे होते हैं।

इसके कृषिजन्य अनेक प्रकार, आकार तथा नाप के अनुसार पाये जाते हैं जिनमें से छोटे फल को करेली कहते हैं। इसके कड़वे स्वाद को कम करने के लिये सब्जी बनाने के पूर्व नमक के जल में इसे भिगोकर रखते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें गंधयुक्त उड़नशील तैल, कॅरोटीन, ग्लूकोसाइड, सॅपोनिन् एवं मोमोरिडिसाइन (Momoridicine) नामक क्षाराभ पाया जाता है। बीजों में ३२% विरेचक तैल होता है।

गुण और प्रयोग – इसके फल पित्तशामक, आनुलोमिक, कृमिघ्न एवं मूत्रजनन हैं। वृन्तयुक्त कोमल पत्ते कड़वे, मूत्रजनन, वामक एवं विरेचक हैं। कभी-कभी इससे वमन विरेचन अधिक होता है उस समय उसके निवारण के लिये घी भात खिलाना चाहिये। प्रयोग से देखा गया है कि खरगोश में इससे रक्तगत शर्करा की मात्रा कम हो जाती है। इस आधार पर इसके मधुमेह में लाभदायक सिद्ध होने की संभावना है।

(१) यकृत् प्लीहावृद्धि के साथ जलोदर हो तथा विषम ज्वर हो तब इसके पत्तों का रस देते हैं।

(२) पित्तप्रकोप, श्वसनिका शोथ आदि में वमन कराने के लिये पत्र रस दिया जाता है। केंचुवे की बीमारी में इसे गरम जल के साथ देते हैं।

(३) आमवात, वातरक्त, यकृत् प्लीहा वृद्धि एवं जीर्ण त्वचा के रोगो में बिना कड़वापन दूर किये फल की सब्जी लाभदायक होती है।

(४) पुराने त्वचा के रोगों में पत्तों का लेप किया जाता है।

(५) इसकी जड़ के क्वाथ से गर्भपात हो सकता है।

मात्रा—स्वरस १ से २ ड्राम; बच्चों को ½–१ ड्राम।

अथ महाकोशातकी (नेनुआ)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

महाकोशातकी प्रोक्ता हस्तिघोषा महाफला ॥ ६५ ॥
धामार्गवो घोषकश्च हस्तिपर्णश्च स स्मृतः। महाकोशातकी स्निग्धा रक्तपित्तानिलापहा॥६६॥

नेनुआ के संस्कृत नाम—महाकोशातकी, हस्तिघोषा, महाफला, धामार्गव, घोषक तथा हस्तिपर्ण ये सब हैं। नेनुआ–स्निग्ध एवम् रक्तपित्त तथा वायु को नष्ट करनेवाली होती है ॥ ६५–६६ ॥

४४ नेनुआ

हि०–नेनुआ, बड़ी तोरई, घिया तोरई। बं०–धुंधुल, धुन्धुल। म०–घोसाळें। गु०–गुलका। क०–अरहिरे तुप्पिरी। ता०–पिचुक्कु। ते०–नेति बीर, बीर काया। फा०–खियार अं०–Sponge

Gourd (स्पंज गोर्ड)। ले०-*Luffa aegyptiaca Mill ex Hook f.* (लूफा एजिप्टिएका)। Fam. Cucurbitaceae (कुकुर्बिटेसी)।

नेनुआ—एक बहुत प्रसिद्ध तरकारी प्रायः सब प्रान्तों में उत्पन्न होती है। इसकी लता विस्तार में फैलने वाली होती है। पत्ते–४–६ इंच के घेरे में, गोलाकार, ५ या क्वचित् ७ भाग वाले होते हैं। फूल-पीले रङ्ग के एवं हरी शिराओं से युक्त होते हैं। फल–५ से १२ इञ्च लंबे एवं लंबाई में धारीदार होते हैं। बीज –धूसर या काले, $\frac{3}{8}$–$\frac{1}{2}$ इञ्च, चिपटे एवं अल्प पंखयुक्त होते हैं।

इसके कृषित एवं वन्य भेद होते हैं। कृषित की सब्जी बनाई जाती है। इसके पके फल का जाला स्पंज की तरह काम में आता है।

रासायनिक संगठन—इसके वन्य भेद में एक रक्तसंस्रायी सॅपोनिन तथा कड़वा विषैला पदार्थ रहता है।

गुण और प्रयोग– वन्य भेद के पत्तों का रस तथा बीज विरेचक एवं वामक होते हैं। सभी प्रकार के व्रण पर इसके पत्र स्वरस से बनाया मलहम लाभदायक होता है। गांठ आदि पर पत्तों के रस में गुड़, चूना या सिंदूर मिलाकर लेप करते हैं।

अथ राजकोशातकी (तोरई)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

धामार्गवः पीतपुष्पो जालिनी कृतवेधना। राजकोशातकी चेति तथोक्ता राजिमत्फला ॥६७॥
राजकोशातकी शीता मधुरा कफवातकृत्। पितघ्नी दीपनी श्वासज्वरकासकृमिप्रणुत् ॥६८॥

तोरई के संस्कृत नाम— धामार्गव, पीतपुष्प, जालिनी, कृतवेधना, राजकोशातकी तथा राजिमत्फला ये सब हैं। तोरई–मधुर रसयुक्त, शीतल, अग्निदीपक, कफ तथा वातकारक एवम्–पित्त, श्वास, ज्वर, खांसी तथा कृमि को दूर करने वाली होती है॥ ६७–६८॥

४५ तोरई

हि०–तोरई, तरोई, तुरई। बं०–घोषा लता, झिंगा। म०–दोडका, शिराळें। गु०–तुरिया, घिसोडां, तुरया। क०– हीरे। ते०–बीर। ता०–मीकुं। ले०–*Luffa acutangula Roxb.* (लूफा एक्यूटँगुला)। *Fam. Cucurbitaceae* (कुकुर्बिटेसी)।

तोरई–सभी प्रान्तों में रोपण की जाती है तथा वन्य भी पाई जाती है। इसकी लता और पत्ते नेनुआ के समान होते हैं। फूल-पीले किन्तु पुंकेशर ३ रहते हैं जब कि नेनुआ में ५ रहते हैं। फल–६ से १२ इञ्च लंबे, आधार की तरफ संकुचित एवं १० धारीदार होते हैं। इसमें कभी-कभी कड़वे फल होते हैं। वह वास्तव में जंगली प्रकार नहीं है। जंगली प्रकार का स्वतंत्र आगे वर्णन किया गया है।

रासायनिक संगठन—फल में कड़वा द्रव्य एवं बीजों में तैल रहता है। कुत्तों में इस तैल से वमन, विरेचन एवं लालास्राव की वृद्धि होती है।

गुण और प्रयोग—इसके बीज वामक तथा विरेचक हैं। इसका साग बनाते हैं। रोहा में इसके ताजे पत्तों का रस आंख में डालते हैं। पत्तों का लेप प्लीहा वृद्धि, अर्श एवं कुष्ठ में किया जाता है।

४६ जंगली तोरई

हि०–कड़वी तरोई। ले०–लू. एक्यूटँगुला प्रकार अमारा (L. acutangula (Linn.) Roxb. var. amara Clarke)। वह पश्चिम की तरफ अधिक होती है।

इसके पत्ते तथा पुष्प तोरई के जैसे होते हैं। इसके पत्ते उसकी अपेक्षा छोटे, भूरे रङ्ग के, नये कोमल अवस्था के उनकी तरह मुलायम किन्तु बाद में खुरदरे हो जाते हैं। फल-२ से ४ इञ्च लंबा, १ से १½ इञ्च मोटा, तोरई जैसा १० धारीदार किन्तु कड़वा होता है। इसके सभी अंग कड़वे होते हैं।

रासायनिक संगठन—बीजों में तेल होता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, वामक, विरेचक, मूत्रजनन, व्रणशोधन एवं विषघ्न है। अल्पमात्रा में इससे भूख बढ़ती है, शौच साफ होता है तथा उदर के सभी इन्द्रियों का कार्य ठीक होता हैं। अधिक मात्रा से वमन विरेचन होता है।

(१) यकृत, प्लीहा वृद्धि से उत्पन्न जलोदर में इसके पंचांग का टिंचर (१ : २०) लाभदायक है।

(२) सड़ने लगे व्रण को धोने के लिये इसका हिम (दो फल + शीतजल १ पाइंट) उपयोग में लाते हैं।

मात्रा—टिंचर १० से २० बूँद।

अथ पटोलः (परवल)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

पटोलः कुलकस्तिक्तः पाण्डुकः कर्कशच्छदः। राजीफलः पाण्डुफलो राजेयश्चामृतफलः ॥६९॥
बीजगर्भः प्रतीकश्च कुष्ठहा कासभञ्जनः। पटोलं पाचनं हृद्यं वृष्यं लघ्वग्निदीपनम् ॥
स्निग्धोष्णं हन्ति कासास्रज्वरदोषत्रयक्रिमीन् ॥ ७० ॥

परवर के संस्कृत नाम—पटोल, कुलक, तिक्त, पाण्डुक, कर्कशच्छद, राजीफल, पाण्डुफल, राजेय, अमृतफल, बीजगर्भ, प्रतीक, कुष्ठहा तथा कासभञ्जन ये सब हैं।

परवर—पाचक, हृदय के लिये हितकर, वीर्यवर्धक, लघु, अग्निदीपक, स्निग्ध, उष्ण एवम्—खांसी, रक्तविकार, ज्वर, त्रिदोष तथा क्रिमि को नष्ट करने वाला होता है ॥ ६९-७० ॥

अथ पटोलस्य मूल–नाल–पत्र–फलानां गुणानाह

पटोलस्य भवेन्मूलं विरेचनकरं सुखात् ॥ ७१ ॥
नालं श्लेष्महरं पत्रं पित्तहारी फलं पुनः। दोषत्रयहरं प्रोक्तं तद्वत्तिक्ता पटोलिका ॥ ७२ ॥

परवर की जड़—सुखपूर्वक विरेचन करने वाली होती है।

परवर की डंडी (नाल)-कफनाशक है। परवर के पत्ते-पित्तनाशक होते हैं। परवल का फल—त्रिदोषनाशक होता है। कड़वे परवर के भी गुण पूर्वोक्त परवर की भाँति ही होते हैं। संस्कृत में इसे "पटोलिका" कहते हैं। यह तिक्तरसयुक्त होती है ॥ ७१-७२ ॥

४७ परवल

हि०—परवर, परवल, पलवल, परोर, परोरा। बं०—पटोल, पलता। म०—परवल। क०—पडवल। ता०—पुड़लै। ते० पोटल, आडर। गु०—पटोल। ले०—*Trichosanthes dioica Roxb.* (ट्राइकोसेन्थिस् डाओइका)। *Fam. Cucurbitaceae* (कुकुरबिटेसी)।

यह उत्तर भारत के मैदानी प्रदेश में तथा आसाम एवं पूर्वबङ्गाल तक होता है। इसकी खेती भी की जाती है। इसकी लता होती है। काण्ड रोमश होते हैं। पत्ते-२ × ३ इञ्च बड़े, अंडाकार आयताकार, हृदयाकार, तीक्ष्णाग्र, लहरदार दन्तुर एवं रूखे होते हैं। फूल-सफेद रङ्ग के आते हैं। फल-२-३ इंच लंबे, आयताकार या गोलाभ और पकने पर नारंगी रक्त हो जाते हैं।

इसका एक वन्य प्रकार होता है वह कडवा होता है। कृषित के फल साग के लिये काम में लाये जाते हैं। चिकित्सा में वन्य के पंचांग का उपयोग करते हैं। उपर्युक्त वन्य प्रकार के अतिरिक्त एक जाति ट्रा. कुकुमेरिना (T. cucumerina) के फल भी कड़वे होते हैं। यह १ से ३ इञ्च लम्बे, दीर्घवृत्ताभ-तर्क्वाकार एवं दोनों तरफ चोंच की तरह नोकदार होते हैं। यह कच्ची अवस्था में हरे, सफेद धारियों से युक्त एवं पकने पर गहरे लाल हो जाते हैं। इनका भी तिक्त पटोल के स्थान पर उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—मूल में सॅपोनिन, इन्द्रायण की तरह कडवा पदार्थ, कुछ उड़नशील तेल तथा स्थिर तेल पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—कडवा परवर उष्ण, पित्त को न बढ़ाने वाला, वृष्य, कफघ्न, ज्वरनाशक एवं रेचन है। यह कामला, उदर, रक्तविकार, कण्डू, कुष्ठ, जीर्णज्वर एवं दाह में लाभदायक है। पित्तप्रधान रोग में रेचन के लिये पटोल का उपयोग करते हैं।

इसकी जड़ तीव्र रेचक होती है। हरे फल की गुद्दी भी रेचक होती है। पत्ते दीपन, पाचन, बल्य, तिक्त पौष्टिक एवं अधिक मात्रा में वामक एवं रेचक हैं।

इसके पत्ते तथा धनियां का क्वाथ पित्तज्वर में देते हैं। त्वचा के रोगों में इसे गुडूची के साथ देते हैं तथा पत्तों का रस लगाते हैं।

मात्रा—गुद्दी १ से २ रत्ती।

अथ बिम्बी (कुन्दुरी, कन्दूरी)। तस्य नामानि तत्फलगुणांश्चाह

बिम्बी रक्तफला तुण्डीतुण्डीकेरी च बिम्बिका। ओष्ठोपमफला प्रोक्ता पीलुपर्णी च कथ्यते॥
बिम्बीफलं स्वादु शीतं गुरु पित्तास्रवातजित्। स्तम्भनं लेखनं रुच्यं विबन्धाध्मानकारकम्॥

कन्दूरी के संस्कृत नाम - बिम्बी, रक्तफला, तुण्डी, तुण्डीकेरी, बिम्बिका, ओष्ठोपमफला और पीलुपर्णी ये सब हैं। कन्दूरी का फल-स्वादिष्ट, शीतल, गुरु, स्तम्भन, लेखन, रुचिकारक तथा विबन्ध और आध्मान (अफरा) को करनेवाला एवम्-पित्त, रक्तविकार तथा वात को दूर करने वाला होता है॥ ७३-७४॥

४८ कन्दूरी (कुन्दरू)

हिं०-कन्दूरी, कुनली, कुनरी, कुन्दरी, कुन्दुरू। बं०-तेला कुचा। म०-तोंडली। गु०-घोलां, घोली, टिंडोरॉं। क०-तोंडे। ता०-कोवै। ते०-द डा तिगे। अं०- Ivy-gourd (आइवी-गोर्ड)। ले०-*Coccinia indica W. & A.* (कोक्सीनिया इण्डिका)। Fam. Cucurbitaceae (कुकुर्बिटेसी)।

यह सभी प्रान्तों में होती है। इसकी लता-आरोही, बहुवर्षायु, निःशाख तन्तुओं से युक्त एवं मूल लम्बे कन्दवत् होते हैं। काण्ड-पांच कोण युक्त होता है। पत्ते-प्रायः १½-३½ इञ्च बड़े, लट्वाकार या वृत्ताकार, ३ से ५ खण्ड या कोणयुक्त, चिकने एवं दूर-दूर पर किञ्चित् दन्तुर होते हैं। पुष्प-श्वेत होते हैं। फल-मांसल, दीर्घवृत्ताभ या बेलनाकार, १-२ इञ्च लम्बे, ½-१ इञ्च व्यास के, कच्ची अवस्था में १० श्वेत धारियों से युक्त, चिकने, चमकीले हरे तथा पकने पर गहरे लाल रङ्ग के रहते हैं।

इसके कई प्रकार होते हैं जिनमें जङ्गली कड़वी होती है। चिकित्सा में पंचांग का एवं शाकार्थ फल का उपयोग होता है।

रासायनिक संगठन—इसके कोमल फलों में आर्द्रता ९३·१, प्रोटीन १·२, स्नेह ०·१, रेशा १·६, कार्बोहाइड्रेट ३·५, खनिज ०·५, खटिक ·०४, फास्फोरस् ०·०३%, लोह १·४ मि. ग्रा. प्रति १०० ग्राम, विटामिन 'ए' २६० अ. एकक प्र. १०० ग्रा. एवं विटामिन 'सी' २८ मि. ग्रा. प्र. १०० ग्रा. रहता है। इसके रस में अमाइलेस् पाया जाता है। इनके अतिरिक्त एक किण्व, हारमोन एवं क्षाराभ भी पाये गये हैं।

गुण और प्रयोग—यह स्नेहन, मूत्रसंग्रहणीय, कफनाशक एवं व्रणरोपक है।

इसका उपयोग मधुमेह, सोजाक, प्रदर, कास तथा व्रण में किया जाता है।

(१) मधुमेह में लता का स्वरस वसंत कुसुमाकर आदि रस योगों के अनुपान के लिये देते हैं। इसमें मूल का स्वरस १ तो० या चूर्ण ½-¼ तोला, वंगेश्वर या सोमनाथ रस के साथ दिया जाता है। साथ में शाकार्थ फल भी देते हैं। कर्नल चोपरा के प्रयोगों में इसे मधुमेह के लिये निरुपयोगी बतलाया गया है।

(२) व्रण एवं त्वचा के रोगों में पत्तों का स्वरस लगाते हैं। जीभ में छाले होने पर फल को चबाते हैं।

अथ शिम्बीः—पुस्तशिम्बी च (सेम-सेमभेद)। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

शिम्बिः शिम्बी पुस्तशिम्बी तथा पुस्तकशिम्बिका। शिम्बीद्वयं च मधुरं रसे पाके हिमं गुरु॥
बल्यं दाहकरं प्रोक्तं श्लेष्मलं वातपित्तजित्॥ ७५॥

सेम का संस्कृत नाम—शिम्बी तथा शिम्बी है। सेम भेद का संस्कृत नाम—पुस्तशिम्बि तथा पुस्तकशिम्बिका है। उक्त दोनों प्रकार की सेम—रस तथा विपाक में मधुर (मीठी), शीतल, गुरु, बलकारक तथा दाह और कफ को उत्पन्न करने वाली एवम् वात और पित्त को दूर करने वाली होती है॥ ७५॥

४९ सेम

सेम को अनेक प्रकार होते हैं। धान्यवर्ग में निष्पाव के अन्तर्गत एक सेम का उल्लेख किया गया है जिसके अनेक प्रकार पाये जाते हैं। उन्हीं भेदोपभेदों में से उपर्युक्त शिम्बी के भेद हो सकते हैं।

अथ कोलशिम्बिः तस्या नामानि गुणाँश्चाह

कोलशिम्बिः कृष्णफला तथा पर्यङ्कपट्टिका॥ ७६॥
कोलशिम्बिः समीरघ्नी गुर्व्युष्णा कफपित्तकृत्। शुक्राग्निसादकृद् वृष्या रुचिकृद् बद्धविड् गुरुः॥

कोलशिम्बि के संस्कृत नाम—कोलशिम्बि, कृष्णफला तथा पर्यङ्कपट्टिका ये सब हैं। कोलशिम्बि—वातनाशक, अधिक उष्ण, कफ तथा पित्त कारक, वीर्यवर्धक, रुचिकारक, मल को बाँधने वाली, गुरु एवम् शुक्र तथा जठराग्नि को क्षीण करने वाली होती है॥ ७६-७७॥

५० कोलशिम्बि

यह भी प्रथमोक्त सेम के भेदों में से हो सकती है या अन्य लता हि०-पड़ासेम; बं०-माखन सेम; ले०-कॅनॅवेलिया ग्लेडिएटा (*Canavalia gladiata* (*Jacq.*) *DC.*) हो सकती है। इसके भी कई प्रकार सेम की लम्बाई तथा बीजों की संख्या के अनुसार होते हैं। इसकी लता-बड़ी होती है। फूल-श्वेत तथा गुलाबी होते हैं। फली-८-१२ इञ्च लम्बी, १-१½ इञ्च चौड़ी,

तलवार के आकार की होती है। बीज-गुलाबी, धूसर या श्वेत होते हैं। इसकी कोमल फलियों का शाकार्थ उपयोग किया जाता है। केंवाच की एक अन्य जाति होती है जिसकी फली का भी सेम के नाम से व्यवहार किया जाता है।

अथ शोभाञ्जनफलम् (सहेजन की फली)। तस्य गुणानाह

शोभाञ्जनफलं स्वादु कषायं कफपित्तनुत्। शूलकुष्ठक्षयश्वासगुल्महृद् दीपनं परम् ॥ ७८ ॥

सहेजन की फली—स्वादिष्ट, कषाय रस युक्त, अत्यन्त अग्निदीपक, एवम्—कफ, पित्त, शूल, कुष्ठ, क्षय, श्वास तथा गुल्म को दूर करने वाली होती है ॥ ७८ ॥

५१ सहेजन की फली

सहिजन का परिचय गुडूच्यादि वर्ग (पृष्ठ ३४०) में दिया गया है ॥ ५१ ॥

अथ वृन्ताकम् (बैंगन, भण्टा)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

वृन्ताकं स्त्री तु वार्त्ताकुर्भण्टाकी भाण्टिकाऽपि च।
वृन्ताकं स्वादु तीक्ष्णोष्णं कटुपाकमपित्तलम् ॥
ज्वरवातबलासघ्नं दीपनं शुक्रलं लघु।

बैंगन के संस्कृत नाम—वृन्ताक, वार्त्ताकु (स्त्रीलिङ्गी), भण्टाकी तथा भाण्टिका ये सब हैं। बैंगन-स्वादिष्ट, विपाक में कटुरस युक्त, तीक्ष्ण, उष्ण तथा किञ्चित् पित्तजनक, ज्वर, वायु तथा कफ को नष्ट करने वाला, अग्निदीपक, शुक्रजनक और लघु होता है ॥ ७९ ॥

अथ तद्बालवृद्धफलयोर्गुणानाह

तद्बालं कफपित्तघ्नं वृद्धं पित्तकरं गुरु ॥ ८० ॥

बैंगन का छोटा फल-कफ तथा पित्तनाशक होता है। बड़ा फल—गुरु तथा पित्तकारक होता है ॥ ८० ॥

अथाङ्गारपरिपाचितवृन्ताकफलगुणानाह

वृन्ताकं पित्तलं किञ्चिदङ्गारपरिपाचितम्। कफमेदोऽनिलामघ्नमत्यर्थं लघु दीपनम् ॥ ८१ ॥

अङ्गारे पर भुना हुआ बैंगन—किञ्चित् पित्तजनक, अत्यन्त लघु, अग्निदीपक एवम्—कफ-मेद-वायु तथा आम को दूर करने वाला होता है ॥ ८१ ॥

अथ तैललवणान्वितवृन्ताकफलस्य श्वेतवृन्ताकस्य च गुणानाह

तदेव हि गुरु स्निग्धं सतैलं लवणान्वितम्। अपरं श्वेतवृन्ताकं कुक्कुटाण्डसमं भवेत्।
तदर्शःसु विशेषेण हितं हीनं च पूर्वतः ॥ ८२ ॥

अङ्गारे पर भुने हुए उसी बैंगन में यदि तेल तथा निमक डाल दिया जाय तो वह-गुरु तथा स्निग्ध होता है। भेद—एक दूसरे प्रकार का और बैंगन होता है जिसे संस्कृत में "श्वेतवृन्ताक" तथा हिन्दी में "सफेद बैंगन" कहते हैं। वह आकार में मुर्गे के अण्डे के समान होता है। सफेद बैंगन—अर्श में विशेष करके हितकर होता है और पूर्वोक्त बैंगन की अपेक्षा यह हीन गुण वाला होता है ॥ ८२ ॥

५२ भंटा

हि०—भंटा, बैगन, बैगुन। बं०—बेगुन। म०—वांगे, वांगी। गु०—रिङ्गणा, वेंगण, वंताक। क०—बदने। ते०—वंकाया। ता०—कत्तरिक्काइ। फा०—बादंगान। अ०—बादं जान, बादंजान, बाजं बान। अं०—Bringal (ब्रिंजल); Egg-Plant (एग प्लैन्ट)। ले०—*Solanum melongena Linn.* (सोलेनम् मेलोंगेना)। Fam. Solanaceae (सोलेनेसी)।

यह गुडूच्यादि वर्गोक्त बृहती के अन्तर्गत वर्णित एक जाति का कृषित प्रकार है। यह प्रसिद्ध फल शाक प्रायः सब प्रान्तों में उत्पन्न होता है। इसका क्षुप–३ फुट तक ऊँचा होता है। पत्ते–वन भांटे के समान परन्तु इनसे लम्बे चौड़े होते हैं। फूल–कंटकारी के समान बैगनी रङ्ग के और फल–गोल लम्बे होते हैं। किसी के फल गोल, हरे और बैंगनी रङ्ग के, किसी के गोलाई लिये लम्बे सफेद होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके वन्य प्रकार का बृहती की तरह उपयोग होता है। कृषित का शाकार्थ उपयोग करते हैं।

अथ डिण्डिशः (टिंडा) तस्य नामगुणानाह

डिण्डिशो रोमशफलो मुनिनिर्मित इत्यपि॥ ८३॥

डिण्डिशो रुचिकृद्भेदी पित्तश्लेष्मापहः स्मृतः। सुशीतो वातलो रूक्षो मूत्रलश्चाश्मरीहरः॥

टिंडा के संस्कृत नाम—डिण्डिश, रोमशफल तथा मुनिनिर्मित ये सब हैं।

टिंडा–रुचिकारक, मलभेदक, अत्यन्त शीतल, वातजनक, रूक्ष, मूत्र लाने वाला एवम् पित्त, कफ तथा पथरी को दूर करने वाला होता है ८३–८४॥

५३ टिंडा

हि०—ढेंड़स, टिंडा। म०—ढेंढसे, ढिंढशी। ले०—*Citrullus vulgaris var. fistulosus* (सिट्रुलस् वल्गेरिस् प्रकार फिस्चुलोसस्)। Fam. Cucurbitaceae (कुकुर्बिटेसी)।

उत्तरप्रदेश, पंजाब तथा बम्बई में इसकी उपज की जाती है।

इसका क्षुप आरोही या प्रसरणशील होता है तथा काण्ड दृढ़ होता है। इसके फल–छोटे, बड़े, २–३ इञ्च व्यास के गोल, हलके या गहरे हरे रंग के होते हैं। बीज–कुछ कृष्णाभ होते हैं। इनमें से हलके रंग के फल अधिक अच्छे होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें आर्द्रता ९२·३, प्रोटीन १·७, स्नेह ०·१, खनिज ०·६, कार्बोहाइड्रेट ५·३, खटिक ०·०२, फास्फोरस ०·०३%, लोह ०·९ मि० ग्राम प्र० १०० ग्रा०, विटामिन 'ए' २८ अ० एकक् प्रति १०० ग्रा० आदि पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसका फल शाकार्थ व्यवहार में लाते हैं। बीजों को सुखाकर भूनकर उपयोग में लाते हैं।

अथ पिण्डारम् (पिण्डार)। तस्य गुणानाह

पिण्डारं शीतलं बल्यं पित्तघ्नं रुचिकारकम्। पाके लघु विशेषेण विषशान्तिकरं स्मृतम्॥

पिण्डालू—शीतल, बलकारक, पित्तनाशक, रुचिकारक, विपाक में लघु होता है। एवम् यह विशेष करके विष का शमन करने वाला होता है॥ ८५॥

५४ पिंडार

हि०—पिंडार, पिंडारी, पिंडारू, पिंडालु । बं०—पिरालो । गु०—गंगेडा । म०—पेंडर, पेंडारी, पेंढू, पेंदूर । क०—पेराळु । ते०, ता०—नलैक । ले०—*Randia uliginosa* DC. (रॅन्डिया युलिजिनोसा) Fam. Rubiaceae (रूबिएसी) ।

यह पूर्व, मध्य, पश्चिम तथा दक्षिण भारत में होता है । उत्तर में कम होता है ।

इसके वृक्ष—छोटे; टहनियां मोटी और कृष्णाभ; कांटे कम; पत्ते—अण्डाकार, आयताकार या कभी कभी अभिलट्वाकार, २–८×१–४ इञ्च बड़े, टहनियों पर गुच्छाकार क्रम में निकले हुये; पुष्प—१–२ इञ्च व्यास के बड़े, श्वेत, सुगंधि; फल—मांसल, दीर्घवृत्ताभ, २–२·५ इञ्च व्यास के, पकने पर पीले, चिकने तथा अमरूद की तरह दिखलाई देते हैं । कच्चे फल का शाकार्थ उपयोग करते हैं ।

नोट—पिंडार नाम एक अन्य वृक्ष ट्रेविआ न्यूडिफ्लोरा (Trewia nudiflora Linn.) को भी लिखा मिलता है जिसका गंभारी के स्थान पर कहीं कहीं प्रयोग किया जाता है। उसका वर्णन पृष्ठ २७८ पर किया जा चुका है । यहां शाकवर्ग में जिसका वर्णन आया है वह उपर्युक्त रॅ. युलिजिनोसा है । इसके गुणों में विषघ्न गुण भी लिखा हुआ है । इस वृक्ष का स्थानिक नाम 'गद पिंडार' भी मिलता है जो इसके अगद के रूप में व्यवहार का द्योतक है । शाकार्थ इस के फल का उपयोग भी करते हैं । डा० देसाई ने इसे 'गांगेरुक' लिखा है ।

गुण और प्रयोग—इसका पका फल मधुर, शीतल एवं मूत्रजनन है । कच्चा फल स्तंभन है । कच्चे फल को आग में भूनकर ऊपर का भाग अतिसार एवं आंव में देते हैं । अन्दर का बीज का भाग नहीं देते ।

अथ कर्कोटी (ककोडा, खेखसा) । तस्या नामानि गुणांश्चाह

कर्कोटकी पीतपुष्पा महाजालीति चोच्यते । कर्कोटी मलहृत्कुष्ठहृल्लासारुचिनाशिनी ।
श्वासकासज्वरान्हन्ति कटुपाका च दीपनी ॥ ८६ ॥

ककोड़ा के संस्कृत नाम—कर्कोटकी, पीतपुष्पा और महाजाली ये सब हैं । ककोडा—विपाक में कटुरस युक्त, अग्निदीपक, मलनाशक एवम्—कुष्ठ, हृल्लास (जी मचलाना), अरुचि, श्वास, खांसी तथा ज्वर का नाशक है ॥ ८६ ॥

५५ ककोड़ा (खेकसा)

हि०—खेकसा, खेखसा, ककोड़ा, ककोरा । बं०—बनकरेला । म०—कर्टोली, कांटोलें । गु०—कंटोला, कोडा । ते०—आगाकर । क०—माडहा । ता०—एगारवल्लि । ले०—*Momordica dioica, Roxb.* (मोमोर्डिका डायोइका) । Fam. Cucurbitaceae (कुकुर्बिटेसी) ।

सभी प्रान्तों में यह होता है । इसकी लता—आरोहणशील, चिकनी एवं प्रायः दुर्गंधयुक्त होती है । काण्ड-कोनदार होते हैं । तन्तु बिना शाखा के होते हैं । पत्ते—हृदयाकार, लट्वाकार, अखण्ड या ३ खण्ड वाले, प्रायः लहरदार दन्तुर किनारेवाले एवं २–४½ इञ्च व्यास के होते हैं । पुष्प—पीले होते हैं । इसमें नर एवं नारी पुष्पों की लताएँ अलग-अलग होती हैं । नर पुष्प की लता में फल न लगने के कारण उसे बांझ खेखसा, या वन्ध्याकर्कोटकी कहा जाता है । फल देने वाली, नारीपुष्प की लता होती है जिसे कर्कोटकी कहते हैं । नरपुष्प पतले एवं २ से ६ इञ्च लंबे दण्ड से युक्त तथा नारीपुष्प के दण्ड छोटे या उतने ही बड़े होते हैं । फल—१ से ३ इञ्च

लंबा, दीर्घ वृत्ताभ एवं तीक्ष्णाग्र या अण्डाकार होता है तथा इस पर मुलायम कांटे सदृश उभार होते हैं। इसमें नीचे कन्दवत् बहुवर्षायु मूल होता है जो शलगम की तरह किन्तु लंबा, पीताभ श्वेत, गोल कंकणाकृति चिन्हों से युक्त एवं स्वाद में कसैला होता है।

इसकी स्त्री जाति की लता के कंद का उपयोग चिकित्सा में करते हैं।

गुण और प्रयोग—इसका कंद कुछ रक्तसंग्राहक होता है। इसे रक्तार्श में देते हैं। मधुमेह में कंदचूर्ण वंगभस्म के साथ देते हैं। इसकी अधिक मात्रा से वमन होता है।

इसको पीसकर इसका लेप ज्वर एवं प्रलाप में शरीर पर किया जाता है। इसके फल का चूर्ण या फांट का नस्य के लिये उपयोग करते हैं।

मात्रा—१ से ५ ड्राम शर्करा के साथ।

अथ डोडिका। तस्या नामानि गुणांश्चाह

डोडिका विषमुष्टिश्च डोडिस्यपि सुमुष्टिका ॥ ८७ ॥

डोडिका पुष्टिदा वृष्या रुच्या वह्निप्रदा लघुः। हन्ति पित्तकफार्शांसि कृमिगुल्मविषामयान्॥

डोडिका के संस्कृत नाम—डोडिका, विषमुष्टि, डोडी और सुमुष्टिका ये सब हैं। डोडिका—पुष्टिदायक, वीर्यवर्धक, रुचिकारक, जठराग्नि को दीप्त करने वाला, लघु एवम्—पित्त, कफ, अर्श, कृमि, गुल्म तथा विषरोग को दूर करने वाला है ॥ ८७-८८ ॥

५६ डोडिका

नोट—इसके सम्बन्ध में मतभेद है। कोई इसे करेरुआ मानते हैं। कोई जीवन्ती शाक मानते हैं। अधिक संभावना जीवन्ती शाक की है जिसका वर्णन पहले गुडूच्यादि वर्ग (पृष्ठ २९५) में किया जा चुका है।

अथ कण्टकारीफलं (कटेरी का फल)। तस्य गुणानाह

कण्टकारीफलं तिक्तं कटुकं दीपनं लघु। रूक्षोष्णं श्वासकासघ्नं ज्वरानिलकफापहम् ॥ ८९ ॥

कटेरी का फल—तिक्त तथा कटुरसयुक्त, अग्निदीपक, लघु, रूक्ष, उष्ण एवम्—श्वास, खांसी, ज्वर, वायु तथा कफ को दूर करने वाला होता है ॥ ८९ ॥

५७ कंटकारी फल

कंटकारी का पूर्ण परिचय गुडूच्यादि वर्ग (पृष्ठ २९०) में दिया गया है।

इति फलशाकानि।

अथ नालशाकानि। तत्र सार्षपनालगुणानाह

तीक्ष्णोष्णं सार्षपं नालं वातश्लेष्मव्रणापहम्। कण्डूकृमिहरं दद्रुकुष्ठघ्नं रुचिकारकम् ॥९०॥

सरसों का नाल—तीक्ष्ण, उष्ण, रुचिकारक एवम्-वात, कफ, व्रण, खुजली, कृमि, दाद तथा कुष्ठ को दूर करने वाला होता है।

५८ सरसों का नाल

सरसों का विवरण शिम्बीधान्य वर्ग (पृष्ठ ६५४) में किया गया है।

इति नालशाकानि

अथ कन्दशाकानि । तत्र सूरणम् (जमीकन्द) । तस्य नामानि गुणांश्चाह

सूरणः कन्द ओलश्च कन्दलोऽर्शोघ्न इत्यपि । सूरणो दीपनो रूक्षः कषायः कण्डुकृत् कटुः ॥
विष्टम्भी विशदो रुच्यः कफार्शः कृन्तनो लघुः । विशेषादर्शसे पथ्यः प्लीहगुल्मविनाशनः ॥
सर्वेषां कन्दशाकानां सूरणः श्रेष्ठ उच्यते । दद्रूणां कुष्ठिनां रक्तपित्तिनां न हितो हि सः ।
सन्धानयोगं सम्प्राप्तः सूरणो गुणवत्तरः ॥ ९३ ॥

कन्द शाकों में सूरन (जिमीकन्द) के संस्कृत नाम—सूरन, कन्द, ओल, कन्दल तथा अर्शोघ्न ये सब हैं।

सूरन—कषाय तथा कटुरसयुक्त, अग्निदीपक, रूक्ष, खुजली पैदा करने वाला, विष्टम्भक, विशद गुण युक्त, रुचिकारक, लघु एवम्–कफ तथा अर्श को नष्ट करने वाला होता है। और यह विशेष रूप से अर्श के रोगियों के लिये पथ्य है तथा प्लीहा और गुल्म का नाशक है।

सम्पूर्ण कन्दशाकों में सूरन श्रेष्ठ समझा जाता है किन्तु यह दाद, कुष्ठ तथा रक्तपित्त के रोगियों के लिये हितकर नहीं होता है।

और यदि सूरन का सन्धान के साथ योग हो अर्थात् इसका अचार आदि बनाया जाय तो विशेष गुणकारी हो जाता है ॥ ९१–९३ ॥

५९ सूरन कन्द

हि०-सूरन कन्द, जमी कन्द, जिमिकन्द, जिमीकन्द, ओल । बं०-ओल । म०-सुरण । गु०-सूरण । क०-सूरण, सूर्णगड्ड । ते०-कन्द । ता०-करुणैकिलंगु । फा०-ओला । ले०-*Amorphophallus campanulatus Blume.* (एमोर्फोफेलस् कम्पॅनुलेटस्) । Fam. Araceae (ॲरेसी) ।

यह प्रायः सब प्रान्तों में उत्पन्न होता है। कहीं इसको रोपण करते हैं, कहीं आप ही आप उगता है। इसका क्षुप दृढ़ होता है। इसके नीचे बड़े बड़े कन्द होते हैं। पत्र–पुष्पित होने के बहुत बाद आता है। पत्रफलक १ से ३ फीट चौड़ा, अनेक भागों में विभक्त, हरे रंग का एवं छत्र की तरह फैला हुआ रहता है। पत्रवृन्त २ से ३ फीट लंबा, दृढ़, कुछ कांटों जैसे उभारों से खुरदरा, हरे रंग का तथा हलके रंग के धब्बों से युक्त होता है। यह ऊपर ३ भागों में विभक्त हो जाता है जिसमें कटे हुए पत्रक लगे होते हैं। पुष्पव्यूह–पत्रावृत अवृन्त काण्डज (Spadix) स्वरूप का तथा हरिताभ बैंगनी रंग का होता है। पुं एवं स्त्री पुष्पव्यूह अलग-अलग होते हैं। फल–लाल तथा २ से ३ बीजों से युक्त होता है। कन्द (Corm)–शीर्ष पर धंसा हुआ, गोलार्ध के सदृश, ८ से १० इञ्च व्यास का तथा हलके भूरे रंग का होता है।

इसके अनेक प्रकार वन्य एवं कृषित होते हैं। वन्य के कन्द बहुत प्रक्षोभक तथा रक्ताभ श्वेत होते हैं क्योंकि उसमें कॅल्शियम् आक्झेलेट (Calcium oxalate) के रवे होते हैं। कृषित (प्रायः श्वेत) में खुजली कम होती है। चिकित्सा में प्रायः वन्य कन्द का एवं शाकार्थ कृषित का उपयोग करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें आर्द्रता ७८·७, प्रोटीन १·२, स्नेह ८०.१, कार्बोहाइड्रेट १८·४, खनिज ०·८, खटिक ०·०५, फॉस्फोरस् ०·०२%, लोह ०·४ मि० ग्रा०, विटामिन 'ए' ४३४ अ० एकक एवं विटामिन 'बी$_1$', २० अ० ए० प्रति १०० ग्राम रहता है।

गुण और प्रयोग—यह कटु, वातहर, दीपन, पाचन एवं रुचिकर है। इसका उपयोग अर्श, कास, श्वास, प्लीहावृद्धि, गुल्म, आमवात एवं आन्त्र के रोगों में किया जाता है। कन्दशाक में इसे श्रेष्ठ मानते हैं।

(१) अर्श में इसका बहुत उपयोग किया जाता है। इससे यकृत की क्रिया ठीक होती है, शौच साफ होता है तथा अर्श की रक्तवाहिनियों का संकोचन होता है। इसका पुटपाक करके फिर साग बनाना चाहिये या चूर्ण करके रखना चाहिये। कांजी में संधान करके रखने से यह अधिक गुण वाला होता है। पर्याप्त धोने से तथा अधिक पकाने से भी इसका दोष दूर होता है। कच्चे सूरण के प्रयोग से मुह में खुजली आदि होती है जिसके निवारण के लिए इमली आदि अम्ल पदार्थ का उपयोग करना चाहिये।

(२) आंत्र के रोगों में इसका शाक देते हैं।

मात्रा—चूर्ण १ से ३ माशा।

अथालुकम् (आलुक)। तस्य नामानि भेदांश्चाह

आरूकं वीरसेनञ्च वीरं वीरारुकं तथा। आरुकमप्यालुकं तत्कथितं वीरसेनकम् ॥ ९४ ॥
काष्ठालुकशङ्खालुकहस्त्यालुकानि कथ्यन्ते। पिण्डालुकमध्वालुक[1] रक्तालुकानि चोक्तानि ॥

आलुक के संस्कृत नाम—आरूक, वीरसेन, वीर, वीरारुक, आरुक, आलुक तथा वीरसेनक ये सब हैं। भेद—१ काष्ठालुक, २ शंखालुक, ३ हस्त्यालुक, ४ पिण्डालुक, ५ मध्वालुक, ६ रक्तालुक ये सब आलू के भेद हैं ॥ ९४-९५ ॥

*काष्ठालुकं=काठिन्ययुक्तम् (कठालू)। शङ्खालुकं=श्वेततायुक्तम् (शङ्खालू)। हस्त्यालुकं=दीर्घतायुक्तं महाशरीरम्। पिण्डालुकं=वर्त्तुलम् (सुथनी, पिण्डालू)। मध्वालुकं= मधुरतायुक्तं रोमान्वितम् (दीर्घसुथनी)। रक्तालुकम्=("रक्तालू, रतालू, रतण्डा" इति च) ॥ ९४-९५ ॥

यहाँ पर काष्ठालुक आदि का निम्नलिखित अर्थ समझना चाहिये।

काष्ठालुक—यह कठिनतायुक्त होता है। इसे हिन्दी में "कठालू" कहते हैं।

शंखालुक—यह सफेदी लिये हुये होता है, इसका हिन्दी नाम "शंखालू" है।

हस्त्यालुक—यह लम्बाई लिये हुये आकार में अत्यन्त बड़ा होता है।

पिण्डालुक—यह गोल होता है, इसे लोक में सुथनी या पिण्डालू कहते हैं।

मध्वालुक—यह मीठापन लिये हुये होता है तथा इसके ऊपर लम्बे-लम्बे रोवें होते हैं। हिन्दी में इसे "दीर्घ सुथनी" कहते हैं।

रक्तालुक—यह लाल रंग का होता है, इसे लोक में "रक्तालू-रतालू या रतण्डा" कहते हैं ॥

अथालुकमात्रगुणानाह

आलुकं शीतलं सर्वं विष्टम्भि मधुरं गुरु ॥ ९६ ॥
सृष्टमूत्रमलं रूक्षं दुर्जरं रक्तपित्तनुत्। कफानिलकरं बल्यं वृष्यं स्वल्पाग्निवर्द्धनम्[2] ॥ ९७ ॥

सभी प्रकारके आलुक—शीतल, विष्टम्भजनक, मधुर रसयुक्त, गुरु, मूत्र तथा मल को निकालने वाले, रूक्ष, देर में हज़म होने वाले, कफ तथा वायु को उत्पन्न करने वाले, बलकारक, वीर्यवर्धक, किंचित् जठराग्नि को बढ़ानेवाले एवम् रक्तपित्त को नष्ट करने वाले होते हैं ॥९६-९७॥

---

१. सप्तालुक इति पाठा०। २. स्तम्भविवर्धनम् इति पाठा०।

६० आलुकभेद

अं०-Yam (यॅम्) । ले०-*Dioscorea sp.* (डायोस्कोरिआ जातियां)। Fam. Dioscoreaceae (डायोस्कोरिएसी) ।

इस प्रजाति (Genus) में अनेक जातियां होती हैं। भारत में करीब ५० जातियां (Species) पाई जाती हैं जिनमें कुछ वन्य एवं कुछ कृषित होती हैं । इनमें दो मुख्य प्रकार की लताएं होती हैं । एक वामावर्त तथा दूसरी दक्षिणावर्त ।

ये वर्षायु लताएं होती हैं जिनमें से कृषित के कन्दों का उपयोग खाने के लिये किया जाता है। भावप्रकाशकार इसके आकार, रंग, स्वाद आदि के आधार पर अनेक भेद लिखते हैं। जितनी जातियां भारत में होती हैं उनमें अनेक प्रकार के कन्द पाये भी जाते हैं। इनमें बहुत बड़े, लम्बे गोल, बहुत गहराई में होने वाले, सतह के पास होने वाले, एकाकी, गुच्छों में अनेक, मुलायम, कठोर, रोएँदार, बिना रोएँदार आदि प्रकार पाये जाते हैं । इनमें से कुछ वन्य जातियों को जानवर भी खाते हैं। कुछ कन्दों में क्षाराभ (Dioscorine-डायोस्कोरिन), सॅपोनिन् एवं टैनिन् आदि होने से ये विषैले एवं अस्वादु होते हैं ।

कुछ लताओं में ऊपर पत्रकोणों में छोटी कन्दवत् रचनाएं भी पाई जाती हैं ।

इन्हीं कंदों में से वाराहीकंद है जिसका गुडूच्यादिवर्ग (पृष्ठ ३८६) में वर्णन किया गया है ।

रासायनिक संगठन—इनमें स्टार्च, विटामिन बी एवं कॅल्शियम् आग्झेलेट काफी रहता है। प्रोटीन, खटिक एवं लोह कम रहता है । इसकी विभिन्न जातियों में डायोस्कोरिन् (Dioscorine, C_3, H_1, O_2, N) क्षाराभ की मात्रा कम या अधिक रहती है। इससे युक्त कन्दों के अधिक सेवन से श्वसनाघात हो सकता है। सॅपोनिन (Saponin) युक्त कन्दों का उपयोग सिल्क, ऊन आदि धोने के लिये किया जाता है । इनकी कुछ अमेरिकी जातियों से कॉर्टिजोन (Cortisone) जैसे संधिवात में उपयोगी द्रव्य निर्माण के लिये आवश्यक प्रारम्भिक द्रव्य प्राप्त किये गये हैं । मद्यसार बनाने के लिये भी इनका उपयोग किया जाता है ।

गुण और प्रयोग—इनमें से कुछ कन्दों का आलू की तरह भोज्य द्रव्य के रूप में प्रयोग किया जाता है । अकाल आदि के समय पहाडी लोग इनका उपयोग करते हैं । इनको काफी धोकर, पकाकर या भूनकर प्रयोग करते हैं जिससे विषैलापन निकल जाता है तथा खाने से गले में खुजली आदि नहीं होने पाती । कच्चा खाने से इसमें के कॅल्शियम् आग्झेलेट से गले में खराश आदि हो जाती है

नोट—नित्य व्यवहार में लाये जाने वाला आलू इससे भिन्न सोलॅनम् ट्युबरोसम् (Solanum tuberosum) के कन्द हैं। इसी प्रकार शकरकंद भी इससे भिन्न आइपोमिया बटाटास् (Ipomoea batatas Lam.) के कन्द हैं ।

अथालुकी रक्तालुभेदः । तस्या लक्षणं गुणाँश्चाह

रक्तालुभेदो या दीर्घा तन्वी च प्रथिताऽऽलुकी ।
आलुकी बलकृस्निग्धा गुर्वी हृत्कफनाशिनी ॥
विष्टम्भकारिणी तैले तलिताऽतिरुचिप्रदा ॥ ९८ ॥

रक्तालू के भेद का संस्कृत नाम आलुकी है। लक्षण-यह रतालु का भेद है एवं इससे लम्बी तथा पतली होती है। आलुकी—बलकारक, स्निग्ध, गुरु, हृद्गत कफ को दूर करने वाली, एवम् विष्टम्भजनक होती है और तेल में तली हुई अत्यन्त रुचिकारक होती है ॥ ९८ ॥

नोट—रक्तालु भेद लिखने के कारण इनके पूर्वोक्त आलुक भेदों में से किसी लता के कन्द होने की अधिक सम्भावना है। प्रसंगतः अरूई का वर्णन यहां दिया जा रहा है।

६१ अरूई

हिं०—अरुई, अरई, घुइयां। बं०—काचू। म०—अळवाचा कान्दा, आलु। गु०—अलवी। क०—केसवे। ता०—शिमेळं। ते०—चम्मडुम्पा। अ०—कुयाकळकास, कलकलास। ले०—*Colocasia antiquorum Schott.* (कोलोकेसिया ऐन्टीकोरम्)। Fam. Araceae (ॲरेसी)।

यह नदी, तालाब, दलदल आदि के किनारे तथा जंगलों के छायादार, आर्द्र स्थानों में वन्य अवस्था में होती है। अनेक स्थानों पर इसकी खेती भी की जाती है।

इसका क्षुप-बहु वर्षायु होता है। पर्णवृन्त १½ से ७ फीट तक लंबा होता है। पत्ते-बहुत बड़े एवं हृदयाकार होते हैं। कन्द-विभिन्न नाप एवं आकार के होते हैं। ये ½ से १ इञ्च व्यास के गोल आकृति से लेकर ६ इञ्च व्यास एवं २४ इञ्च तक लम्बे होते हैं। किसी में एक समान थोड़े कन्द होते हैं तो किसी में विभिन्न नाप के अनेक कन्द होते हैं। इसके अन्दर के रंग के आधार से भी पीले, नारंगी, लाल या बैंगनी प्रकार होते हैं। वैसे तो इसके अनेक प्रकार होते हैं तथापि इसके दो वर्ग दिखलाई देते हैं। एक में पत्ते एवं वृन्त गहरे बैंगनी तथा दूसरे में हरे होते हैं। गहरे बैंगनी का चिकित्सा में उपयोग करते हैं। इसके स्वाद में कुछ चरपरापन रहता है जो प्रकार के अनुसार कम या अधिक होता है।

रासायनिक संगठन—इसके कन्द के रस में अमाइलेस (Amylase) रहता है। इसमें कार्बोहाइड्रेट तथा प्रोटीन काफी रहता है तथा यह आलू की अपेक्षा १½ गुना अधिक पोषक है। अन्य स्टार्च युक्त खाद्यद्रव्य की अपेक्षा यह अधिक सुपाच्य है तथा इसमें विटामिन ए, 'बी'१ एवं खटिक तथा फॉस्फोरस भी काफी रहता है। इसके पत्तों में भी विटामिन 'ए' का पूर्व भाग एवं विटामिन 'सी' रहता है। इसमें के कॅल्शियम् आग्झेलेट के कारण यह गले में लगता है जिसके लिये इसको पकाकर तथा पकते समय थोड़ा 'पकाने का सोडा' डाल कर प्रयोग में लाते हैं। इसके स्टार्च के कण छोटे होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके कन्द तथा कोमल पत्तों का शाकार्थ उपयोग करते हैं।

इसके पर्णवृन्त का स्वरस रक्तस्तम्भक होता है। क्षत पर लगाने से रक्तस्राव रुककर जल्दी व्रणपूरण होता है। गांठ आदि पर पर्णवृन्त को नमक के साथ पीस कर बांधते हैं।

यकृत् वृद्धि एवं अर्श में अरुई के कन्दों का साग खिलाते हैं।

अथ मूलकद्वयम् (मूली, बड़ी मूली)।
तस्य नामानि भेदान् गुणाँश्चाह

मूलकं द्विविधं प्रोक्तं तत्रैकं लघुमूलकम्। शालामर्कटकं विस्रं शालेयं मरुसम्भवम् ॥ ९९ ॥
चाणक्यमूलकं तीक्ष्णं तथा मूलकपोतिका। नेपालमूलकं चान्यत्तद्भवेद्गजदन्तवत् ॥१००॥
लघुमूलं कटूष्णं स्याद्रुच्यं लघु च पाचनम्। दोषत्रयहरं स्वर्यं ज्वरश्वासविनाशनम् ॥१०१॥
नासिकाकण्ठरोगघ्नं नयनामयनाशनम् ॥ १०२ ॥
महत्तदेव रूक्षोष्णं गुरु दोषत्रयप्रदम्। स्नेहसिद्धं तदेव स्याद् दोषत्रयविनाशनम् ॥ १०३ ॥

मूली के भेद—१ मूली, २ बड़ी मूली, इस प्रकार से मूली के दो भेद होते हैं। इनमें जो पहिली मूली अर्थात् छोटी मूली होती है उसके संस्कृत नाम-लघुमूलक, शालामर्कटक, विस्र,

शालेय, मरुसंभव, चाणक्यमूलक, तीक्ष्ण तथा मूलकपोतिका ये सब हैं। दूसरी जो हाथी के दाँत की तरह बड़ी मूली होती है, उसका संस्कृत नाम—नेपालमूलक है।

छोटी मूली—कटु रसयुक्त, रुचिकारक, लघु, पाचक, त्रिदोषनाशक, कण्ठस्वर को उत्तम करने वाली एवम्—ज्वर, श्वास, नाक, कण्ठ तथा नेत्र के रोगों को दूर करने वाली होती है।

बड़ी मूली—रूक्ष, उष्ण, गुरु एवं त्रिदोषकारक होती है।

यही मूली यदि तेल में भूनी हुई हो तो भी त्रिदोषनाशक होती है॥ ९९-१०३॥

६२ मूली

हि०-मूली, मुरई। बं०-मूला। म०-मुळा। गु०-मूळा। क०-मुलङ्गी। ता०-मुलंगि। ते०-मुलङ्गि। फा०-तुख, तुर्बं। अ०-फ़ज़्ल, फुज़्ल। अं०-Radish (रॅडिश्)। ले०-*Raphanus sativus Linn.* (रॅफेनस् सेटाइवस्)। Fam. Cruciferae (क्रुसीफेरी)।

मूली सभी प्रांतों में बोई जाती है। इसका कन्द-गाजर के समान पर सफेद होता है। पत्ते-नवीन सरसों के पत्तों के समान; फूल-सफेद सरसों के फूल के आकार के और फल-भी सरसों ही के समान किन्तु उससे कुछ मोटा और लगभग १-२ इञ्च लंबा होता है। बीज-सरसों से बड़े होते हैं।

भावप्रकाशकार इसके दो भेद छोटी मूली-चाणक्यमूलक तथा बड़ी मूली—नेपालमूलक लिखते हैं। बड़ी मूली नेपाल इत्यादि की तरफ होती है। इसमें गंध कम होती है। छोटी मूली के भी आकार के अनुसार, लंबी, दीर्घवृत्ताभ एवं शलजमाकार ये ३ भेद होते हैं। इसके पंचांग का शाकार्थ एवं कन्दस्वरस और बीज का चिकित्सार्थ प्रयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में उड़नशील तैल होता है। कन्द में आर्सेनिक ·०१ मि० ग्रा० प्र० १०० ग्राम में रहता है। मूल तथा बीज में स्थिर तैल भी पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—कच्ची (कोमल) मूली त्रिदोषहर एवं परिपक्व, बिना पकाये खाने से त्रिदोषकारक तथा पकाकर खाने से त्रिदोषहर एवं सूखी त्रिदोषहर है। इसके पत्तों का स्वरस मूत्रल एवं मृदुविरेचक होता है। आनाह, शूल, अर्श एवं अश्मरी में इसको देते हैं।

इसके बीज कफनिःसारक, पाचन, वातानुलोमन मूत्रल एवं मृदुविरेचक हैं। अनार्तव में बीज खिलाते हैं।

मूली के कन्द का नित्य शाकार्थ प्रयोग करने से पुराना विबंध दूर होता है। अन्य सूखे शाकों की तरह यह विष्टम्भ एवं वातकारक नहीं है (सु० सू० अ० ४६)। यह पाचन एवं वातानुलोमक है।

मात्रा—स्वरस २ से ४ तोला; बीज चूर्ण १ से ३ माशा।

अथ गृञ्जनम् (गाजर)। तस्य नामगुणानाह

गृञ्जनं गाजरं प्रोक्तं तथा नारङ्गवर्णकम्। गाजरं मधुरं तीक्ष्णं तिक्तोष्णं दीपनं लघु।
संग्राहि रक्तपित्तार्शोग्रहणीकफवातजित्॥ १०४॥

गाजर के संस्कृत नाम—गृञ्जन, गाजर और नारङ्गवर्णक ये सब हैं। गाजर-मधुर तथा तिक्त रसयुक्त, तीक्ष्ण, उष्ण, अग्निदीपक, लघु, ग्राही एवम्-रक्तपित्त, अर्श, ग्रहणी, कफ तथा वात को दूर करने वाला होता है॥ १०४॥

६३ गाजर

हि०, म०, बं०, गु०—गाजर । **क०**—गर्जरि । **ते०, ता०**—गाजार । **फा०**-ज़र्दक । **अ०**-जज़र । **अं०**-Carrot (कॅरट्) । **ले०**-*Daucus carota var. sativa DC.* (डॅकस् कॅरोटा प्रकार सटाइवा) । Fam. Umbelliferae (अम्बेलिफेरी) ।

यह इस देश के प्रायः सब प्रान्तों के खेतों में रोपण किया जाता है ।

इसका क्षुप-वर्षायु या द्विवर्षायु, सीधा अनेक शाखा युक्त एवं १ से ४ फीट ऊंचा होता है। पत्ते-पक्षवत् अनेक भागों में विभक्त होते हैं । पुष्प-श्वेत या पीताभ होते हैं जो गोलाभ छत्राकार गुच्छ में आते हैं । फल-⅛ इञ्च लम्बे, आयताकार एवं रोमश होते हैं । मूल-२ से १२ इञ्च लम्बा एवं मांसल होता है । इसके अनेक प्रकार रंग एवं आकार के अनुसार होते हैं । चिकना, कोमल, चमकीला लाल या नारंगी रंग का गाजर अच्छा माना जाता है ।

उपर्युक्त प्रकार यह कृषित प्रकार है । वन्य भेद में कन्द पतले, लम्बे, काष्ठीय, प्रायः नोकीले, तीव्र गन्ध वाले एवं अस्वादु, चरपरे तथा कुछ कड़वे होते हैं । अधिकतर बोने के लिये इसके बीज यूरोप तथा अमेरिका से आते हैं यद्यपि अपने यहां बीजों की प्राप्ति का प्रयत्न कश्मीर, कुलू आदि में किया जा रहा है ।

गाजर का उपयोग शाक, सलाद, अचार, हलुवा, मुरब्बा आदि के रूप में किया जाता है। मक्खन आदि रंगने के लिये इसका रस काम में लाते हैं ।

रासायनिक संगठन—गाजर में आर्द्रता ८६, प्रोटीन ०.९, स्नेह ०.१, कार्बोहाइड्रेट १०.७ रेशा १.२, खनिज १.१, खटिक ०.०८, फास्फोरस् ०.०३%, लोह १.५ मि० ग्रा० प्र० १०० ग्राम, कॅरोटीन (विटामिन 'ए' का पूर्वरूप) २००० से ४३०० ए० प्र० १०० ग्रा० एवं विटामिन 'बी', 'डी' तथा 'सी' रहते हैं ।

वृद्धि के साथ इसके प्रोटीन की मात्रा कम होती है तथा शर्करा की मात्रा बढ़ती है। कॅरोटीन की मात्रा भी वृद्धि के साथ बढ़ती है । यह श्वेत गाजर में नहीं रहता । पेट्रोल तथा ईथर के द्वारा प्राप्त इसके पीतसत्व के सूचिकाभरण से रक्तगत शर्करा की मात्रा कम होती है ।

इसको पकाने से इसके पौष्टिक तत्व बहुत कम हो जाते हैं । बाष्प द्वारा पकाने से इतना ह्रास नहीं होता । कॅरोटीन का शोषण गाजर को महीन पीसकर या कसकर खाने से होता है ।

इसके बीजों में सुगन्धि तैल तथा स्थिर तैल होता है । पत्तों में भी उडनशील तैल होता है ।

गुण और प्रयोग—यह मूत्रजनन, बल्य एवं पोषक है। इसमें के कॅरोटीन के कारण जो विटामिन 'ए' का पूर्वरूप (Precursor) है, इसका अधिक उपयोग किया जाता है।

इसके बीज सुगंधि, मूत्रजनन, गर्भाशय उत्तेजक, बल्य एवं वृष्य हैं ।

गाजर को कसकर के सूत्रकृमि में खिलाते हैं । कामला में इसका क्वाथ देते हैं । गाजर को कसकर, गरम कर लेप करने से शोथ, व्रण, दग्धव्रण आदि में लाभ होता है ।

इसके बीजों का उपयोग सर्वांगशोफ एवं वृक्करोग में करते हैं । गर्भाशय की पीड़ा एवं प्रसव के समय बीजों को देते हैं । इससे गर्भपात की संभावना रहती है ।

अथ कदलीकन्दः (केलाकन्द) । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

शीतलः कदलीकन्दो बल्यः केश्योऽम्लपित्तजित् ।
वह्निकृद्दाहहारी च मधुरो रुचिकारकः ॥ १०५ ॥

केले का कन्द—शीतल, बलकारक, बालों के लिये हितकर, जठराग्निवर्धक, मधुर रस युक्त, रुचिकारक एवम् अम्लपित्त तथा दाह को नष्ट करने वाला होता है ॥ १०५ ॥

६४ कदली कन्द

केले का विवरण आम्रादि फल वर्ग (पृष्ठ ५५७) में दिया गया है ॥ ७० ॥

अथ मानकन्दः । तस्य नामगुणानाह

मानकः स्यान्महापत्रः कथ्यन्ते तद्गुणा अथ । मानकः शोथहृच्छीतो रक्तपित्तहरो लघुः ॥

मानकन्द का संस्कृत नाम—मानकन्द और महापत्र है। मानकन्द-शीतल, लघु एवम्-शोथ तथा रक्तपित्त को दूर करने वाला होता है ॥ १०६ ॥

६५ मानकन्द

हिं०-मानकन्द । बं०-मानकचू । म०-कांसाळू । अं०-Giant taro (जायन्ट टारो) । ले०-*Alocasia indica* (*Roxb.*) *Schott.* (एलोकेसिया इंडिका) । Fam. Araceae (एरॅसी) ।

प्रायः इसको बागों में लगाते हैं और आसाम तथा बंगाल में इसकी उपज की जाती है। इसका क्षुप-अरुई की तरह किन्तु उससे बड़ा एवं ३ से ६ फीट ऊँचा होता है। स्कंध-मांसल, फूला हुआ, ४ से ८ इञ्च व्यास का होता है। पत्ते-२ से ३ फीट लंबे, पुंखवत् त्रिभुजाकार होते हैं। इसके अग्र खण्ड त्रिभुजाकार एवं पार्श्व खण्ड लट्वाकार होते हैं। पुष्प-पुं पुष्प एवं स्त्री पुष्प पत्रावृत व्यूह में पृथक पृथक, ४ से ८ इञ्च लंबे वृन्त पर आते हैं। फल-बाली के रूप में आते हैं जिसमें दाने (फल) लाल होते हैं। स्कन्ध से मूल निकले रहते हैं एवं मूल स्तम्भ से निकले हुए मूलों के अग्र कन्द सदृश होते हैं। स्कन्ध तथा छोटे कन्द खाये जाते हैं। इसके कई भेदोपभेद पाये जाते हैं जिनमें एक मीठा तथा दूसरा कड़वा होता है। मीठे का उपयोग किया जाता है। इसको प्रयोग के पूर्व उबाल कर धोना पड़ता है।

रासायनिक संगठन—इसमें स्टार्च काफी होता है। इसमें कॅल्शियम् आग्झेलेट भी होता है। इसका आटा चावल की अपेक्षा अधिक सुपाच्य होता है।

गुण और प्रयोग—मानकन्द सुपाच्य, पौष्टिक, मूत्रजनन, अल्प मृदुविरेचन एवं स्कंध स्वरस रक्तसंग्राहक एवं कषाय है।

इसके सूखे कंद के चूर्ण को चावल की मांड़ के साथ पकाकर, छानकर देने से शोथ और जलोदर में लाभ होता है। उस समय आहार में और कोई पदार्थ नहीं दिया जाता।

कंद का साग पुराने विबंध एवं उससे उत्पन्न अर्शों में दिया जाता है।

कर्णस्राव में इसके स्कंध को भूनकर निकाला स्वरस डालने से लाभ होता है। मूल को कूट कर गरम करके उससे सन्धिशोथ में सेंकते हैं।

मात्रा—मूल चूर्ण १ से २ तोला।

अथ वाराहीकन्दः (गेंठी) । तस्य गुणानाह

वाराही पित्तला बल्या कट्वी तिक्ता रसायनी । आयुःशुक्राग्निकृन्मेहकफकुष्ठानिलापहा ॥

वाराहीकन्द—कटु तथा तिक्त रस युक्त, पित्तजनक, बलकारक, रसायन तथा आयु, शुक्र

और जठराग्नि को बढ़ाने वाला एवम्—प्रमेह, कफ, कुष्ठ और वायु को नष्ट करने वाला होता है ॥ १०७ ॥

६६ वाराही कन्द

इसका विवरण गुडूच्यादिवर्ग (पृष्ठ ३८६) में एवं आलुक के वर्णन के साथ इसी वर्ग (पृष्ठ ६९५) में किया जा चुका है।

अथ हस्तिकर्णा । तस्यास्तत्कन्दस्य च गुणानाह

गजकर्णा तु तिक्तोष्णा तथा वातकफाञ्जयेत् । शीतज्वरहरी स्वादुः पाके तस्यास्तु कन्दकः॥
पाण्डुशोथकृमिप्लीहगुल्मानाहोदरापहः । ग्रहण्यर्शोविकारघ्नी वनसूरणकन्दवत् ॥ १०९ ॥

हस्तिकर्ण के संस्कृत नाम—गजकर्णा और हस्तिकर्णा इसके संस्कृत नाम हैं।

हस्तिकर्ण—तिक्तरसयुक्त, उष्ण, विपाक में मधुर रसयुक्त एवम्–वात–कफ तथा शीतज्वर को दूर करने वाला होता है।

इसका कन्द—जङ्गली सूरन के कन्द की भांति, पाण्डु, शोथ, कृमि, प्लीहा, गुल्म, आनाह (अफरा), उदररोग, ग्रहणी तथा अर्श के विकारों को नष्ट करने वाला होता है ॥ १०८–१०९ ॥

नोट—टीकाकारों ने इसे भूपलाश, रक्तएरण्ड तथा कुछ ने मानकन्द का बड़ा भेद लिखा है किन्तु निम्न वर्णित क्षुप ही हस्तिकर्ण है।

६७ हस्तिकर्ण

हि०–हत्कन, हस्तिकर्ण पलाश, समुद्रक। बं०–ढोलसमुद्र। म०–दिंडा। ले०–*Leea macrophylla Horn.* (लिआ मॅक्रोफाइला)। Fam. Vitaceae (विटेसी)।

भारत के समस्त उष्णप्रदेश एवं आसाम में यह होता है।

इसका क्षुप–१ से ३ फीट ऊंचा, मोटा तथा बहुवर्षायु कन्द से प्रात वर्ष निकलता है। पत्ते–हाथी के कान की तरह बहुत बड़े, १ से २ फीट लम्बे एवं लट्वाकार-हृद्वत् होते हैं। उपपत्र बहुत बड़े होते हैं। पुष्प–श्वेत होते हैं। फल–काले एवं झुमकेदार होते हैं। इसके कन्द का उपयोग चिकित्सा में किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह ग्राही, वेदनास्थापक एवं रक्तस्कन्दक है।

कन्द को पीसकर व्रण, दाद एवं नारूकृमि पर लगाते हैं। इससे वेदना कम होती है और स्थानिक रक्तस्राव भी रुकता है।

कहीं-कहीं क्षय में भी इसका उपयोग किया जाता है।

अथ केमुकम् (केमुआं)। तस्य गुणानाह

केमुकं कटुकं पाके तिक्तं ग्राहि हिमं लघु ॥ ११० ॥
दीपनं पाचनं हृद्यं कफपित्तज्वरापहम् । कुष्ठकासप्रमेहास्रनाशनं वातलं कटु ॥ १११ ॥

केमुक—विपाक में कटुरसयुक्त, स्वाद में तिक्त तथा कटुरसयुक्त, ग्राही, शीतल, लघु, अग्निदीपक, पाचक, हृदय के लिये हितकर, वातजनक एवम् कफ, पित्त, ज्वर, कुष्ठ, कास, प्रमेह तथा रक्तविकार को दूर करने वाला होता है ॥ ११०–१११ ॥

६८ केमुक

हि०—केमुआ, केमुक, केवुक कन्द, केवा। म०—पेवा। ते०, क०—चेंगलवकोष्टू। बं०—केऊ। ले०—*Costus speciosus (Koen) Sm.* (कोस्टस् स्पेसिओसस्)। Fam. Zingiberaceae (जिंजिबेरेसी)।

यह प्रायः सभी स्थानों पर किन्तु विशेष रूप से बंगाल तथा कोंकण में होता है। इसे शोभा के लिए बागों में भी लगाते हैं। आर्द्र तथा छायादार स्थानों में वर्षा में यह अधिक होता है।

इसका क्षुप—२ से ६ फीट ऊँचा होता है। मूलस्तम्भ कन्दवत् तथा अदरख के समान होता है। पत्ते—मालाकार, ६ से १२ इंच लंबे एवं अधर तल पर रोमश होते हैं। पुष्प—कांड के अग्र पर, सफेद, ३-४ इञ्च बड़े, निर्गन्ध पुष्प, व्यूह में आते हैं जिनके कोणपुष्पक भड़कीले लाल होते हैं। इसके कन्द को पकाकर खाते हैं। यह निर्गंध, कुछ कसैला एवं कुछ लुआबदार होता है।

नोट—गलती से इसे कहीं-कहीं कलिहारी माना जाता है। इसी प्रकार कुष्ठ के नाम से भी इसका गलत उपयोग, विशेष रूप से दक्षिण में होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें स्टार्च होता है।

गुण और प्रयोग—इसे बल्य, कुछ विरेचन, रक्तशोधक एवं कृमिनाशक मानते हैं। इसके ताजे कंदों का मुरब्बा रुचिकारक एवं पौष्टिक मानते हैं। हड्डियों में पीड़ा होने पर इसका उपयोग करते हैं।

नवीन प्रयोगों से देखा गया है कि कलिहारी की तुलना में इसमें गर्भाशय संकोचक गुण अधिक होता है (कु० प्रे० तिवारी तथा अन्य; आ० अनु० पत्रिका, भाग १, अंक २)।

अथ कसेरू, चिचोढं च। तयोर्गुणानाह

कसेरु द्विविधं तत्तु महद्राजकसेरुकम्। मुस्ताकृति लघु स्याद्यत्तच्चिचोढमिति स्मृतम्॥११२॥
कसेरुकद्वयं शीतं मधुरं तुवरं गुरु। पित्तशोणितदाहघ्नं नयनामयनाशनम्।
ग्राहि शुक्रानिलश्लेष्मारुचिस्तन्यकरं स्मृतम्॥ ११३॥

कसेरू के भेद—१ बड़ा, २ छोटा, भेद से कसेरू दो प्रकार का होता। उनके संस्कृत नाम—जो बड़ा कसेरू होता है उसे "राजकसेरुक" कहते हैं और छोटा मोथे के समान आकार वाला होता है उसे "चिचोढ़" कहते हैं।

दोनों प्रकार के कसेरू—शीतल, मधुर तथा कषाय रसयुक्त, गुरु, ग्राही एवम्—शुक्र, वायु कफ, अरुचि तथा दुग्धवर्धक होते हैं और पित्त, रक्तविकार, दाह, नेत्ररोग इन सबका नाश करने वाले होते हैं॥ ११२-११३॥

६९ कसेरू

हि०—कसेरू। बं०—केसूर। म०—कचरा। अं०—Water chestnut (वाटर चेस्टनट)। ले०—*Scirpus kysoor Roxb.* (स्किर्पस् कायसूर)। Fam. Cyperaceae (साइपेरेसी)।

सभी प्रान्तों में यह होता है।

इसके पौधे-तालाबों में प्रायः एक फुट या अधिक गहरे पानी में होते हैं। काण्ड—४ से ६ फीट ऊँचा तथा ३ पहल का होता है। पत्ते—एक इञ्च चौड़े तथा काण्ड के बराबर या कुछ कम लंबे होते हैं। पुष्प मंजरी—करीब-करीब ३ फीट लंबी होती है। फल—छोटे, धूसर या कृष्णवर्ण के होते

हैं। कन्द–ऊपर से काले रंग के, अंदर से श्वेत, जायफल इतने बड़े एवं कुछ गोलाई लिये हुवे होते हैं। इनका स्वाद कुछ मधुर एवं सुगन्धित होता है।

स्कि० आर्टिक्युलेटस् (S. articulatus Linn.) तथा साइपेरस् एस्क्यूलेन्टस् (Cyperus esculentus Linn.) के कन्दों को जो कसेरू जैसे ही होते हैं 'चिचोडा' कहा जाता है जो भावप्रकाशोक्त चिचोढ हैं।

कसेरू को भून कर, उबाल कर या वैसे ही खाया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें कार्बोहाइड्रेट ६३, प्रोटीन ७, गोंद ७, रेशा ६ एवं राख २·५ भाग होती है।

गुण और प्रयोग—यह मधुर, शीत, ग्राही, कफ-वातवर्धक, शुक्रल तथा स्तन्य है।

इसका उपयोग तृषा, दाह, अतिसार एवं वमन में किया जाता है। गर्भावस्था में गर्भपात की संभावना होने पर तथा प्रसूता को दुग्धवृद्धि के लिये इसे देते हैं। हैजे में इसे गुलाबजल में पीस कर पिलाते हैं जिससे प्यास कम होती है, दस्त एवं वमन कम होता है तथा हृदय को बल भी मिलता है।

अथ शालूकम् भिस्साण्डश्च। तयोर्नामानि गुणांश्चाह

पद्मादिकन्दः शालूकं करहाटश्च कथ्यते ॥ १२४ ॥
मृणालमूलं भिस्साण्डं [1]जलालूकश्च कथ्यते। शालूकं शीतलं वृष्यं पित्तदाहास्रनुद् गुरु ११५॥
दुर्जरं स्वादुपाकश्च स्तन्यानिलकफप्रदम्। संग्राहि मधुरं रूक्षं भिस्साण्डमपि तद्गुणम्॥११६॥

कमल आदि के कन्दों के संस्कृत नाम—कमलकन्द, शालूक तथा करहाट ये सब हैं। मृणाल (कमल के नाल) के मूल भाग के संस्कृत नाम—मृणालमूल, भिस्साण्ड और जलालूक ये सब हैं। **कमलकन्द**—शीतल, वीर्यवर्धक, गुरु, कठिनता से हजम होने वाला, दुग्ध, वायु तथा कफ को करने वाला, ग्राही, रूक्ष, मधुर रसयुक्त, विपाक में भी मधुर एवम्-पित्त, दाह और रक्तविकार को दूर करने वाला होता है।

भसींडा—गुणों में कमल कन्द के ही समान होता है ॥ ११४–११६ ॥

७० कमलकन्द, भसींडा

वास्तव में भसींडा यह कमल के नाल का आधारीय भाग है जो मोटा तथा लंबा होता है एवं कुमुद में आधारीय भाग कन्दवत् होता है। कमल का पूर्ण परिचय पुष्पादिवर्ग (पृष्ठ ४७१) में दिया गया है ॥

अथ निषिद्धशाकान्याह

बालं ह्यनार्त्तवं जीर्णं व्याधितं कृमिभक्षितम्। कन्दं विवर्जयेत्सर्वं यद्वाऽग्न्यादिविदूषितम्।
अतिजीर्णमकालोत्थं रूक्षसिद्धमदेशजम् ॥ ११७ ॥
कर्कशं कोमलं चातिशीतव्यालादिदूषितम्। संशुष्कं सकलं शाकं नाश्नीयान्मूलकं विना ११८

निषिद्ध (न खाने योग्य) शाक—जो कन्द-कच्चा, बिना ऋतु के (असमय में) होने वाला, पुराना, रोगयुक्त, कीड़ों से खाया हुआ अर्थात् जिसमें कीड़े आदि पड़े हों या खाये हों अथवा अग्नि आदि से दूषित हो गये हों उन सबों को त्याग देना चाहिये।

---

१. जलालूवं इति पाठः।

जो शाक—अत्यन्त पुराना, अकाल में उत्पन्न हुआ, विना तेल आदि के पकाया हुआ, अशुभ स्थान श्मशान आदि में उत्पन्न हुआ, कठिन, कोमल, अत्यन्त शीत पड़ने तथा सर्पादि से दूषित हुआ हो उसे त्याग देना चाहिये।

एवम्—सभी सूखे शाक नहीं खाने चाहिये, किन्तु मूली के लिये यह नियम नहीं है, उसे सूखी भी खा सकते हैं ॥ ११७-११८ ॥

छरूक्षसिद्धम् = अतैलादिसिद्धम् । अदेशजम् = अशुभस्थानजम् ॥ ११८-११८ ॥

यहाँ पर मूल में "रूक्षसिद्ध" पद का "विना तेल आदि के पकाया हुआ" तथा "अदेशज" पद का "अशुभ स्थान श्मशान आदि में उत्पन्न हुआ" अर्थ समझना चाहिये ॥ ११७-११८ ॥

इति कन्दशाकानि ।

अथ संस्वेदजशाकानि । तेषां नामानि गुणानाह

उक्तं संस्वेदजं शाकं भूमिच्छत्रं शिलीन्ध्रकम् । क्षितिगोमयकाष्ठेषु वृक्षादिषु तदुद्भवेत् ॥११९॥
सर्वे संस्वेदजाः शीता दोषलाः पिच्छिलाश्च ते । गुरवश्छर्द्यतीसारज्वरश्लेष्मामयप्रदाः ॥१२०॥
श्वेताशुचिस्थलीकाष्ठवंशगोमयसम्भवाः । नातिदोषकराएते स्युः शेषास्तेभ्यो विगर्हिताः ॥

संस्वेदज शाक के संस्कृत नाम—संस्वेदज, भूमिच्छत्र और शिलीन्ध्रक ये सब हैं।

उत्पत्ति स्थान—संस्वेदज शाक-पृथ्वी, गोबर, काष्ठ तथा वृक्षादिकों पर उत्पन्न होता है।

संस्वेदज शाक-शीतल, दोषकारक, पिच्छिल, गुरु एवम्-वमन, अतिसार, ज्वर और कफ सम्बन्धी रोगों को उत्पन्न करने वाले होते हैं।

किन्तु जो संस्वेदज शाक-श्वेत वर्णवाले, पवित्र स्थान, काष्ठ, बांस तथा गोबर पर उत्पन्न होने वाले होते हैं, वे अत्यन्त दोषकारक नहीं (साधारण दोषकारक) होते हैं। शेष अर्थात् इनसे अन्य स्थान में उत्पन्न होने वाले संस्वेदज शाक निन्दित (त्याज्य) होते हैं ॥ ११९-१२१ ॥

७१ छत्रक

हि०-भुइं छत्ता, भुइं फोड़ छत्ता छतोना, छाता, सांप की छत्री, खुमी, धरतीफूल। बं०-कोड़क छाता, व्यांगेर छाता, छातकुड़, भुई छाति, छात कुण्ड। पं०-ब्लेओफोरे। सि०-खुम्मी। म०-अळम्बे। गु०-बिलाडीनो रोम। अं०-Mush-room (मशरूम)। लै०-*Agaricus campestris Linn.* (एगेरिकस् कॅम्पेस्ट्रिस्)। Fam. Agaricaceae (एगेरिकेसी)।

यह सभी प्रांतों में होता है किंतु पंजाब में अधिक होता है।

भुइं छत्ता-वर्षा ऋतु में आप ही आप जमीन फोड़कर उत्पन्न होता है। यह खाद की ढेरी पर अधिक होता है। इसका क्षुप-६-७ इञ्च ऊँचा होता है और इसमें कोई डाली नहीं होती, केवल एक डण्डी जो जमीन फोड़ कर निकलती है उस पर गोल छत्ते के आकार का एक छत्र होता है।

छत्र के नीचे की सतह से पतले परदे लटकते हैं जिन्हें गिल (Gill) कहा जाता है जिसमें अनेक बीजाणु (Spores) रहते हैं।

छत्रक के अनेक प्रकार होते हैं जिनमें से कुछ विषैले होते हैं। निम्नलिखित लक्षणों से यद्यपि इसका ज्ञान हो सकता है तथापि अनुभव के आधार पर ही इसका आसानी से ज्ञान होता है। जब तक निश्चित ज्ञान न हो तब तक इनका प्रयोग उचित नहीं है। इनकी उपज भी की जाती है।

निर्विष के लक्षण – छोटे, शीर्ष का भाग २ से ४ इञ्च चौड़ा, दुर्गंधहीन, श्वेत या गुलाबी, गिल गुलाबी, कांड से अलग तथा बीजाणु गहरे बैंगनी, ठोस, घास या कचरे के ढेर पर होने वाले, छत्र के नीचे कांड पर वलययुक्त प्रायः विषैले नहीं होते।

विषैले छत्रक—बहुत भंगुर या कड़े, छत्र चमकीला, पतला, गिल समान लंबाई के, गढ़े में उत्पन्न, कृमि द्वारा खाये हुए, तोड़ने पर नीले रंग के, दुर्गंधयुक्त, स्वाद में कड़वे, अम्ल, खराब, डण्ठल के आधार भाग पर कटोरी जैसी रचना युक्त, पकाने पर चमकीले पीले हो जाने वाले, छायादार स्थान में होने वाले एवं दुग्ध जैसे रसयुक्त अखाद्य होते हैं।

गुण और प्रयोग—यह पौष्टिक एवं कामवर्धक होते हैं। मांस के समान यह पौष्टिक है। इसका साग आमाशय की दुर्बलता से उत्पन्न दुर्बलता तथा कृशता में दिया जाता है। क्षय में दूध तथा शर्करा के साथ इसे उबालकर देते हैं।

मात्रा—५ से १० तोला।

इति श्रीलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे
दशमः शाकवर्गः समाप्तः ॥ १० ॥

अथैकादशो मांसवर्गः

अथ मांसम् । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

मांसं तु पिशितं क्रव्यमामिषं पललं पलम् । मांसं वातहरं सर्वं बृंहणं बलपुष्टिकृत् ॥
प्रीणनं गुरु हृद्यञ्च मधुरं रसपाकयोः ॥ १ ॥

मांसवर्ग में प्रथम मांस के संस्कृत नाम—मांस, पिशित, क्रव्य, आमिष, पलल तथा पल ये हैं। सभी मांस-रस तथा विपाक में मधुर रसयुक्त, बृंहण (रस रक्तादि वर्धक), बल तथा पुष्टि के करने वाले, सन्तर्पण कारक, गुरु, हृदय के लिये हितकर तथा वातनाशक होते हैं ॥ १ ॥

अथ मांसभेदानाह

मांसवर्गो द्विधा ज्ञेयो जाङ्गलानूपभेदतः ॥ २ ॥

मांस के भेद—मांसवर्ग दो भागों में विभक्त है, १—जाङ्गल (जङ्गली जीवों के) मांस २—आनूप (जल के समीप या जल में रहने वाले जीवों के) मांस ॥ २ ॥

अथ जाङ्गलमांसस्य भेदान् गुणाँश्चाह

मांसवर्गेऽत्र जङ्घाला बिलस्थाश्च गुहाशयाः । तथा पर्णमृगा ज्ञेया विष्किराः प्रतुदस्तथा ॥
प्रसहा अथ च ग्राम्या अष्टौ जाङ्गलजातयः । जाङ्गला मधुरा रूक्षास्तुवरा लघवस्तथा ॥४॥
बल्यास्ते बृंहणं वृष्या दीपना दोषहारिणः । मूकतां मिन्मिनत्वं च गद्गदत्वार्दिते तथा ॥५॥
बाधिर्यमरुचिच्छर्दिप्रमेहमुखजान् गदान् । श्लीपदं गलगण्डञ्च नाशयन्त्यनिलामयान् ॥६॥

जाङ्गल मांस के भेद—इस मांसवर्ग में—१-जङ्घाल (जङ्घा के बल से चलने वाले), २-बिलस्थ (बिल में रहने वाले), ३-गुहाशय (गुफा में सोने वाले), ४-पर्णमृग (वृक्षों पर चढ़ने वाले), ५—विष्किर (कुरेद २ कर खाने वाले), ६—प्रतुद (चोंच से पदार्थ को निकाल कर खाने वाले) ७—प्रसह (जबरदस्ती से छीन कर खाने वाले), ८—ग्राम्य (ग्राम में रहने वाले) ये ८ जातियां "जाङ्गल" होती हैं। इन्हीं का मांस "जाङ्गल" मांस कहलाता है।

जाङ्गल मांस—मधुर तथा कषाय रसयुक्त, रूक्ष, लघु, बलकारक, बृंहण (रसरक्तादि वर्धक), वीर्यवर्धक, अग्निदीपक, दोषनाशक एवम्—मूकता (गूंगापन), मिन्मिनापन, तोतलापन, अर्दितवात (मुंह का लकवा), बहिरापन, अरुचि, वमन, प्रमेह, मुख में होने वाले रोग, श्लीपद (फीलपांव), गलगण्ड और वातसम्बन्धी रोग को दूरकरने वाला होता है ॥ ३-६ ॥

अथानूपमांसस्य भेदान् गुणाँश्चाह

कूलेचराः प्लवाश्चापि कोशस्थाः पादिनस्तथा । मत्स्या एते समाख्याताः पञ्चधाऽनूपजातयः॥
अनूपा मधुराः स्निग्धा गुरवो वह्निसादनाः । श्लेष्मलाः पिच्छिलाश्चापि मांसपुष्टिप्रदा भृशम् ॥
तथाऽभिष्यन्दिनस्ते हि प्रायः पथ्यतमाः स्मृताः ॥ ८ ॥

आनूप मांस के भेद—१ कूलेचर (नदी आदि के किनारे पर चलने वाले), २ प्लव (जल के ऊपर तैरने वाले पक्षी), ३ कोशस्थ (ढकने के मध्य में रहने वाले), ४ पादी (पांव वाले जल के जीव), ५ मत्स्य (मछली), ये ५ प्रकार की जातियां आनूप कहलाती हैं।

आनूपमांस—मधुररसयुक्त, स्निग्ध, गुरु, जठराग्नि को मन्द करने वाला, कफ उत्पन्न करने वाला, पिच्छिल, मांस को अत्यन्त पुष्ट करने वाला, अभिष्यन्दी तथा प्रायः करके अत्यन्त पथ्य होता है ॥ ७–८ ॥

अथ जाङ्गलाः। तत्र जङ्घालानां गणनां लक्षणानि विशिष्टगुणाँश्चाह

हरिणैणकुरङ्गर्ष्यपृषतन्यङ्कुशम्बराः ॥ ९ ॥
राजीवोऽपि च मुण्डी चेत्याद्या जङ्घालसंज्ञकाः।
हरिणस्ताम्रवर्णः स्यादेणः कृष्णः प्रकीर्त्तितः ॥ १० ॥
कुरङ्गईषत्ताम्रः स्यादेणतुल्याकृतिर्महान्। ऋष्यो नीलाङ्गको लोके स रोझ इति कीर्त्तितः ॥
पृषतश्चन्द्रबिन्दुः स्याद्धरिणात्किञ्चिदल्पकः। न्यङ्कुर्बहुविषाणोऽथ शम्बरो गवयो महान् ॥
राजीवस्तु मृगो ज्ञेयो राजिभिः परितोवृतः। यो मृगः शृङ्गहीनः स्यात्स मुण्डीति निगद्यते ॥
जङ्घालाः प्रायशः सर्वे पित्तश्लेष्महराः स्मृताः। किञ्चिद्वातकराश्चापि लघवो बलवर्द्धनाः ॥

जाङ्गल जीवों में प्रथम जङ्घाल संज्ञक जीवों की गणना—हरिण, एण, कुरङ्ग, ऋष्य, पृषत, न्यङ्कु, शम्बर, राजीव और मुण्डी इत्यादि जंघालसंज्ञक जीव हैं।

लक्षण—हरिण–यह तांबे के समान वर्णवाला मृग होता है। एण–यह कृष्ण वर्ण का मृग होता है। कुरङ्ग–यह किंचित् तांबे में समान वर्ण वाला, आकार में एण मृग के समान किन्तु उससे बड़ा होता है। ऋष्य–यह नीले वर्ण का होता है, इसे लोक में "रोझ" कहते हैं। पृषत–इसके ऊपर चन्द्र के समान बिन्दु होते हैं और यह हरिण से कुछ छोटा होता है। न्यङ्कु–इसके बहुत से झाड़दार सींग होते हैं, इसे "बारहसिंगा" कहते हैं। शम्बर–यह गवय (गौ के समान पशु-विशेष-नीलगाय) की अपेक्षा बड़ा होता है। राजीव–वह मृग कहलाता है जिसके शरीर पर बहुत सी रेखायें हों। मुण्डी–यह मृग (हरिण) सींग से रहित होता है।

जङ्घाल जीवों के मांस–प्रायः करके पित्त तथा कफ नाशक, किंचित् वातकारक, लघु तथा बलवर्धक होते हैं ॥ ९–१४ ॥

अथ बिलेशयः (बिलनिवासी प्राणी) तेषां गणनां गुणांश्चाह

गोधाशशभुजङ्गाखुशल्लक्याद्या बिलेशयाः। बिलेशया वातहरा मधुरा रसपाकयोः ॥
बृंहणा बद्धविण्मूत्रा वीर्योष्णाश्च प्रकीर्त्तिताः ॥ १५ ॥

बिलेशय (बिल के रहने वाले) प्राणियों की गणना—गोह, खरगोश, सांप, मूसा, साही आदि जीव बिलेशय कहलाते हैं।

बिलेशय जीवों का मांस—वात नाशक, रस तथा विपाक में मधुर, बृंहण (रस-रक्तादि वर्धक), उष्णवीर्य, मल तथा मूत्र का विबन्ध करने वाला होता है ॥ १५ ॥

अथ गुहाशयाः (गुफानिवासी प्राणी)। तेषां गणनां गुणांश्चाह

सिंहव्याघ्रवृका ऋक्षतरक्षुद्वीपिनस्तथा। बभ्रुजम्बूकमार्जारा इत्याद्याः स्युर्गुहाशयाः ॥१६॥

गुहाशय (गुफा में रहने वाले) जीवों की गणना—सिंह, बाघ, भेड़िया, भालु, तरस (लकड़बग्घा), चित्रव्याघ्र (चीता), बभ्रु (नेवला), गीदड़, बिलार इत्यादि गुहाशय जीव हैं ॥ १६ ॥

*तरक्षुः—"तेंदुआबाघ" इति लोके। द्वीपी = "चित्रव्याघ्र" इति लोके।

स्थूलपुच्छो रक्तनेत्रो बभ्रुदेहः स नाकुलः ॥ १६ ॥

यहां पर मूल में "तरक्षु" से "तेंदुआबाघ" और "द्वीपी" से "चित्रव्याघ्र" (चीता) समझना चाहिये और "बभ्रु" से स्थूल पुंछ तथा लाल नेत्रों वाला, पीले रंग का जो जीव (नेवला) होता है उसका ग्रहण करना चाहिये ॥ १६ ॥

गुहाशया वातहरा गुरूष्णा मधुराश्च ते। स्निग्धा बल्या हिता नित्यं नेत्रगुदविकारिणाम् ॥

गुहाशय जीवों का मांस—वातनाशक, गुरु, उष्ण, मधुर, स्निग्ध, बलकारक तथा नेत्र और गुदा रोग (अर्श) वालों के लिये नित्य हितकर होता है ॥ १७ ॥

अथ पर्णमृगाः (वृक्षों पर चढ़ने वाले प्राणी)।
तेषां गणनां गुणाँश्चाह

वनौका वृक्षमार्जारो वृक्षमर्कटिकाऽऽदयः। एते पर्णमृगाः प्रोक्ताः सुश्रुताद्यैर्महर्षिभिः ॥१८॥

पर्णमृग (वृक्ष पर चढ़ने वाले) जीवों की गणना—वानर, वृक्षविडाल (वन बिलाव), रूषी वानर आदि को सुश्रुतादि महर्षियों ने "पर्णमृग" संज्ञक बतलाया है ॥ १८ ॥

*वनौका = वानरः। वृक्षमार्जारो = वृक्षविडालः। वृक्षमर्कटिका = 'रूषी वानर' इति लोके ॥ १८ ॥

यहां पर मूल में—"वनौका" से "वानर" तथा "वृक्षमार्जार" से वृक्षविडाल अर्थात् पेड़ पर रहने वाले वन बिलाव और "वृक्षमर्कटिका" से "रूषी वानर" नाम से लोक में प्रसिद्ध जीव का ग्रहण करना चाहिये ॥ १८ ॥

स्मृताः पर्णमृगा वृष्याश्चक्षुष्या शोषिणे हिताः। श्वासार्शःकासशमनाः सृष्टमूत्रपुरीषकाः ॥

पर्णमृग संज्ञक जीवों का मांस—वीर्यवर्धक, नेत्रों के लिये हितकर, शोष (क्षय) रोगियों के लिये हितकारी, मूत्र तथा मल को निकालने वाला एवम्—श्वास, अर्श (बवासीर) और खांसी को दूर करने वाला होता है ॥ १९ ॥

अथ विष्किराः (विष्किरपक्षी)। तेषां गणनां गुणांश्चाह

वर्त्तका लाववर्त्तीरकपिञ्जलकतित्तिराः। कुलिङ्गकुक्कुटाद्याश्च विष्किरा समुदाहृताः ॥ २० ॥
विकीर्य भक्षयन्त्येते यस्मात्तस्माद्धि विष्किराः। कपिञ्जल इति प्राज्ञै कथितो गौरतित्तिरिः ॥

विष्किरा मधुराः शीताः कषायाः कटुपाकिनः।
बल्या वृष्यास्त्रिदोषघ्नाः पथ्यास्ते लघवः स्मृताः ॥ २२ ॥

विष्किर (कुरेद २ कर खाने वाले) पक्षियों की गणना—वर्त्तका, (बटेर-जङ्गली गौरैया), लाव (लवा), वर्त्तीर (कपिञ्जल के सदृश पक्षिविशेष), कपिञ्जलक (गौर तीतर), तीतर, कुलिङ्ग (गौरैया) और मुर्गा इत्यादि पक्षी विष्किर कहलाते हैं। विष्किर शब्द की निरुक्ति—जो पक्षी पहले चोंच आदि से बिखेर कर पीछे खाते हैं इसीसे वे "विष्किर" कहलाते हैं और कपिञ्जल को विद्वान् लोग "गौरतित्तिरि" कहते हैं।

विष्किर पक्षियों का मांस—मधुर, शीतल, कषाय (कसैला), विपाक में कटु रस युक्त, बलकारक, वीर्यवर्धक, त्रिदोषनाशक, पथ्य तथा लघु होता है ॥ २०-२२ ॥

अथ प्रतुदाः (चोंच से खानेवाले पक्षी)। तेषां गणनां गुणांश्चाह

कालकण्ठकहारीतकपोतशतपत्रकाः।
पारावतः खञ्जरीटः पिकाद्याः प्रतुदाः स्मृताः।
प्रतुद्य भक्षयन्त्येते तुण्डेन प्रतुदास्ततः॥ २३॥

प्रतुद पक्षियों की गणना—कालकण्ठक (धूयें के रंग का जलकौवा), हरियल, पडुखी (कपोत भेद), शतपत्रक (कठफोरा), पारावत (कबूतर), खिड़रिच, कोयल आदि पक्षी "प्रतुद" कहलाते हैं।

प्रतुद शब्द की निरुक्ति—जो पक्षी चोंच से निखोर कर खाते हैं इसीसे वे "प्रतुद" कहे जाते हैं॥ २३॥

*हारीतः="हरियल" इति लोके। कपोतो धवलः पाण्डुः। शतपत्रो वृहच्चुञ्चुः। "दार्वाघाटः" इत्यमरः। 'कठफोरा' इति लोके॥ २३॥

यहां पर "हारीत" से लोक प्रसिद्ध "हरियल" तथा कपोत पद से उसीका भेद शुक्लपीत वर्ण की पडुखी एवम् "शतपत्रक" से अमरकोश के प्रमाण से दार्वाघाट अर्थात् लोकप्रसिद्ध "कठफोरा" का बोध करना चाहिये॥ २३॥

प्रतुदा मधुराः पित्तकफघ्नास्तुवरा हिमाः। लघवो बद्धवर्चस्काः किञ्चिद्वातकराः स्मृताः॥

प्रतुद संज्ञक पक्षियों के मांस—मधुर तथा कषाय रसयुक्त, पित्त, तथा कफनाशक, शीतल, लघु, मल को गाढ़ा करने वाले तथा किञ्चित् वातकारक होते हैं॥ २४॥

अथ प्रसहाः (दूसरे से छीनकर खानेवाले पक्षी)। तेषां गणनां गुणांश्चाह

काको गृध्र उलूकश्च चिल्लश्च शशघातकः। चाषो भासश्च कुरर इत्याद्याः प्रसहाः स्मृताः॥

प्रसह संज्ञक (दूसरे से जबरदस्ती छीन कर खानेवाले) पक्षियों की गणना—कौवा, गीध, उल्लू, चील्ह, बाज, नीलकण्ठ, भास (गीध का भेद) और कुरांकुर या कर्रांकुल इत्यादि पक्षी प्रसह संज्ञक हैं॥ २५॥

*शशघातकः="बाज" इति लोके। चाषः="नीलकण्ठ" इति लोके। भासः= गृध्रविशेषः स्यात्। कुररः="कुरांकुर" इति लोके॥ २५॥

यहां पर "शशघातक" का लोकप्रसिद्ध "बाज" पक्षी, "चाष" का "नीलकण्ठ" इस नाम से लोकप्रसिद्ध पक्षी, "भास" का गीध के भेद का पक्षी, "कुरर" का "कुरांकुर" इस नाम से लोकप्रसिद्ध पक्षी का ग्रहण करना चाहिये॥ २५॥

प्रसहाः कीर्त्तिता एते प्रसह्याच्छिद्य भक्षणात्॥ २६॥

"प्रसह" शब्द की निरुक्ति—जो पक्षी दूसरे से जबरदस्ती छीनकर खाते हैं इससे वे "प्रसह" कहलाते हैं॥ २६॥

प्रसहाः खलु वीर्योष्णास्तन्मांसं भक्षयन्ति ये। तेशोषभस्मकोन्मादशुक्रक्षीणा भवन्ति हि॥

प्रसह संज्ञक के मांस—ये सब उष्णवीर्य होते हैं, अतः जो उनके मांस को खाते हैं उनको शोष (क्षय), भस्मक रोग, पागलपन तथा शुक्रक्षीणता हो जाती है॥ २७॥

अथ ग्राम्याः (ग्राम्यपशु) । तेषां गणनां गुणांश्चाह

छागमेषवृषाश्वाद्या ग्राम्याः प्रोक्ता महर्षिभिः । ग्राम्या वातहराः सर्वे दीपनाः कफपित्तलाः ।
मधुरा रसपाकाभ्यां बृंहणा बलवर्द्धनाः ॥ २८ ॥

ग्राम्य (गांव के अन्दर रहने वाले) पशुओं की गणना—बकरा, भेड़ा (भेढ़ा), बैल (गोजाति), घोड़ा आदि पशुओं को महर्षियों ने "ग्राम्य" संज्ञक कहा है।

ग्राम्य पशुओं का मांस—वातनाशक, अग्निदीपक, कफ तथा पित्तकारक, रस तथा विपाक में मधुर रसयुक्त, बृंहण (रस-रक्तादि वर्द्धक) एवम् बल को बढ़ाने वाला होता है ॥ २८ ॥

अथानूपाः । तत्र कूलेचराणां गणनां गुणांश्चाह

लुलायगण्डवाराहचमरीवारणादयः । एते कूलेचराः प्रोक्ता यतः कूले चरन्त्यपाम् ॥ २९ ॥

आनूप जाति के जीवों में कूलेचर संज्ञक जीवों की गणना—भैंसा, गैंडा, सूअर, चमरी (Yak-याक्) जाति की गाय और हाथी ये "कूलेचर" संज्ञक जीव कहलाते हैं।

"कूलेचर" शब्द की निरुक्ति-जो जीव नदी आदि जलाशयों के तट पर चरने वाले होते हैं उन्हें "कूलेचर" कहा जाता है ॥ २९ ॥

⊛ लुलायो = महिषः । गण्डः = खड्गः । चमरी = चमरपुच्छी गौः ॥ २९ ॥

यहां पर मूल में "लुलाय" से भैंसा, "गण्ड" से गैंडा, चमरी से जिस गोजाति के पशु की पूंछ से चमर बनाया जाता है उस चमरी जाति का ग्रहण करना चाहिये ॥ २९ ॥

कूलेचरा मरुत्पित्तहरा वृष्या बलावहाः । मधुराः शीतलाः स्निग्धा मूत्रलाः श्लेष्मवर्धनाः ॥

कूलेचर संज्ञक जीवों का मांस—वात तथा पित्त को दूर करने वाला, वीर्यवर्धक, बलकारक, मधुर रसयुक्त, शीतल, स्निग्ध, मूत्रकारक तथा कफ को बढ़ाने वाला होता है ॥ ३० ॥

अथ प्लवाः (जलपर तैरने वाले पक्षी) । तेषां गणनां गुणांश्चाह

हंससारसकारण्डवकक्रौञ्चशरारिकाः ॥ ३१ ॥
नन्दीमुखी सकादम्बा बलाकाद्याः प्लवाः स्मृताः ।
प्लवन्ति सलिले यस्मादेते तस्मात्प्लवा स्मृताः ॥ ३२ ॥

प्लवसंज्ञक पक्षियों की गणना—हंस, सारस, कारण्ड (करंड), बगला, क्रौञ्च, शरारिका, नन्दीमुखी, कादम्ब, बगुली आदि ये सब "प्लव" संज्ञक हैं।

प्लव शब्द की निरुक्ति-जो पक्षी जल पर तैरने वाले होते हैं वे "प्लव" कहे जाते हैं ॥ ३१-३२ ॥

⊛ कारण्डः = कपर्दिकाक्षो बृहद्धंसभेदः । क्रौञ्चः = शरद्विहङ्गः स्याद्-"टेंक" इति लोके । शरारिका = "सिन्धु" इति लोके ॥

स्थूला कठोरा वृत्ता च यस्याश्चञ्चूपरि स्थिता । गुटिका जम्बुसदृशी प्रोक्ता नन्दीमुखीति सा ॥

⊛ कादम्बः = "करवा" इति लोके । बलाका = "बगुली" इति लोके ॥ ३१-३२ ॥

यहां पर मूल में—"कारण्ड" पद से 'कपर्दिकाक्ष", बड़े हंस का भेद, काले रंग के बड़े २ पैर वाले पक्षी; "क्रौञ्च" से शरद ऋतु का पक्षी, "टेंक" नाम से प्रसिद्ध; "शरारिका" से "सिन्धू" नाम से लोक प्रसिद्ध पक्षी का ग्रहण करना चाहिये । "नन्दीमुखी" से उस पक्षीका ग्रहण करना चाहिये कि जिसके चोंच के ऊपर मोटी, कठोर, गोल, जामुन के फल के समान गुटिका हो और "कादम्ब" से लोक प्रसिद्ध करवा अर्थात् बत्तख का तथा "बलाका" से "बगुली" का बोध करना चाहिये ॥३१-३२॥

प्लवाः पित्तहराः स्निग्धा मधुरा गुरवो हिमाः। वातश्लेष्मप्रदाश्चापि बलशुक्रकराः सराः॥३३॥

प्लव संज्ञक पक्षियों का मांस—पित्तनाशक, स्निग्ध, मधुररसयुक्त, गुरु, शीतल, वात तथा कफ को उत्पन्न करने वाला, बल तथा शुक्रवर्धक एवम् सारक होता है॥ ३३॥

अथ कोशस्थाः (ढकनेके मध्यमें रहनेवाले प्राणी)। तेषां गणनां गुणांश्चाह

शङ्खः शङ्खनखश्चापि शुक्तिशम्बूककर्कटाः। जीवा एवंविधाश्चान्येकोशस्थाः परिकीर्त्तिताः॥३४॥

कोशस्थ (ढकने के मध्य में रहने वाले) प्राणियों की गणना—शंख, क्षुद्रशंख (छोटे शंख), सितुही, घोंघा, केकड़ा, (यहां पर सु० सू० ४६ अ० में कोशस्थ जीवों में "भल्लुक" का पाठ है अतः "कर्कट" पाठ ठीक नहीं मालूम पड़ता है अत एव "भल्लुक" से बड़ी "कौड़ी" का ग्रहण करना चाहिये) ये सब तथा इसी प्रकार के अन्य भी जो जीव हैं वे सब "कोशस्थ" कहलाते हैं॥ ३४॥

*शङ्खनखः = क्षुद्रशङ्खः॥ ३४॥

यहां पर "शङ्खनख'' से क्षुद्रशङ्ख अर्थात् "छोटे शङ्ख" का ग्रहण करना चाहिये॥ ३४॥

कोशस्था मधुराः स्निग्धा वातपित्तहरा हिमाः। बृंहणा बहुवर्चस्का वृष्याश्च बलवर्द्धनाः॥३५॥

कोशस्थ जीवों का मांस—मधुर रस युक्त, स्निग्ध, वात तथा पित्त नाशक, शीतल, बृंहण (रस रक्त-मांसादि वर्धक), अधिक मात्रा में मल निकालने वाला, वीर्यवर्धक तथा बलवर्धक होता है॥३५॥

अथ पादिनः (पांवोंके प्राणी)। तेषां गणनां गुणाँश्चाह

कुम्भीरकूर्मनक्राश्च गोधामकरशङ्कव। घण्टिकः शिशुमारश्चेत्यादयः पादिनः स्मृताः॥३६॥

पादी अर्थात् पांव वाले प्राणियों की गणना—कुम्भीर, कछुआ, नाक, गोह, मगर, शाकुचा, घड़ियाल, सूस इत्यादि जीव पादी (पांव वाले) कहलाते हैं॥ ३६॥

*कुम्भीरो = मारको जलजन्तुः। कूर्मः = कच्छपः। नक्रः = "नाकः" इति लोके (सरय्वादिनदीषु बहुलः)। गोधा = 'गोहि" जलजन्तुः। मकरः = "मगर" इति लोके। शङ्कुः = "शाकुचा'' इति लोके। घण्टिकः = "घड़ियाल" इति लोके। शिशुमारः = "सूस" इति लोके॥ ३६॥

यहां पर मूल में—"कुम्भीर" से मारने वाला नाक के भेद का जीव विशेष; "कूर्म" से कछवा; "नक्र" के लोक प्रसिद्ध-नाक (सरयू आदि नदियों में अधिक रूप से रहने वाला); "गोधा" से गोह नामक जल का जीव; "मकर" से मगर नाम से प्रसिद्ध जीव; "शंकु" से शाकुचा नामक जीव; "घण्टिक" से घड़ियाल; "शिशुमार" से सूस नाम से प्रसिद्ध जीव समझना चाहिये॥३६॥

पादिनोऽपि च ये ते तु कोशस्थानां गुणैः समाः॥ ३६॥

पादी अर्थात् पांव वाले जीवों का मांस—गुणों में उपर्युक्त कोशस्थ जीवों के मांस के समान होता है॥ ३७॥

अथ मत्स्याः (मछली)। तेषां नामानि गुणांश्चाह

मत्स्यो मीनो विसारश्च झषो वैसारिणोऽण्डजः। शकुली पृथुरोमा च स सुदर्शन इत्यपि॥
रोहिताद्यास्तु ये जीवास्ते मत्स्याः परिकीर्त्तिताः। मत्स्याः स्निग्धोष्णमधुरा गुरवः कफपित्तलाः।
वातघ्नाबृंहणा वृष्या रोचका बलवर्द्धनाः। मद्यव्यवायसक्तानां दीप्ताग्नीनाञ्च पूजिताः॥४०॥

मछलियों के संस्कृत नाम—मत्स्य, मीन, विसार, झष, वैसारिण, अण्डज, शकुली, पृथुरोमा और सुदर्शन ये सब हैं।

मछलियों की गणना—रोहू आदि जो जीव हैं (जिनका आगे वर्णन आने वाला है) उनकी गणना मत्स्यों (मछलियों) के अन्तर्गत समझनी चाहिये।

मछली का मांस—स्निग्ध, उष्ण, मधुर रस युक्त, गुरु, कफ तथा पित्तजनक, वातनाशक, बृंहण, वृष्य, रोचक, बलवर्द्धक तथा मद्य (शराब) पीने तथा मैथुन करने में आसक्त चित्त वालों एवम् प्रदीप्त जठराग्नि वालों के लिये हितकर होता है ॥ ३८-४० ॥

अथ जङ्घालाः (जांघ के बल से चलने वाले प्राणी)।

तत्र हरिणस्य मांसगुणानाह

हरिणः शीतलो बद्धविण्मूत्रो दीपनो लघुः। रसे पाके च मधुरः सुगन्धिः सन्निपातहा ॥

हरिन का मांस—शीतल, मल तथा मूत्र का विबन्ध करने वाला, अग्निदीपक, लघु, रस तथा विपाक में मधुर रस युक्त, अच्छे गन्ध वाला तथा सन्निपातनाशक होता है ॥ ४१ ॥

अथैणहरिणः (कालाहरिण)। तस्य मांसगुणानाह

एणः कषायो मधुरः पित्तासृक्कफवातहृत्। संग्राही रोचनो बल्यो ज्वरप्रशमनः स्मृतः ॥२२॥

काले हरिण का मांस—कषाय तथा मधुर रस युक्त, संग्राही, रोचक, बलकारक एवम्—पित्त, रक्तविकार, कफ, वात तथा ज्वर का नाशक होता है ॥ ४२ ॥

अथ कुरङ्गः। तस्य मांसगुणानाह

कुरङ्गो बृंहणो बल्यः शीतलः पित्तहृद् गुरुः। मधुरो वातहृद् ग्राही किञ्चित्कफकरः स्मृतः ॥

कुरङ्गनामक मृग का मांस—बृंहण (रस—रक्तादिवर्धक), बलकारक, शीतल, पित्तनाशक, गुरु, मधुररसयुक्त, वातनाशक, ग्राही तथा किंचित् कफ करने वाला होता है ॥ ४३ ॥

अथ ऋष्यः (रोझ)। तस्य नामानि मांसगुणाँश्चाह

ऋष्यो नीलाण्डकश्चापि गवयो रोझ इत्यपि। गवयो मधुरो बल्यः स्निग्धोष्णः कफपित्तलः ॥

ऋष्य (रोझ) नामक मृग के संस्कृत नाम—ऋष्य, नीलाण्डक, गवय, रोझ ये सब हैं। (यहां पर "रोझ" संस्कृत का नाम नहीं मालूम पड़ता है, ग्रन्थानुरोध से लिख दिया गया है)।

रोझ का मांस—मधुर रस युक्त, बलकारक, स्निग्ध, उष्ण, एवम् कफ तथा पित्त जनक होता है ॥ ४४ ॥

अथ पृषतः (चित्तलमृग)। तस्य मांसगुणानाह

पृषतस्तु भवेत्स्वादुर्ग्राहकः शीतलो लघुः। दीपनो रोचनः श्वासज्वरदोषत्रयास्रजित् ॥ ४५ ॥

चित्तल मृग का मांस—स्वादिष्ट, ग्राही, शीतल, लघु, अग्निदीपक, रोचक एवम्—श्वास (दमा), ज्वर, त्रिदोष तथा रक्तविकार को दूर करने वाला होता है ॥ ४५ ॥

अथ न्यङ्कुः (बारहसिंगा)। तस्य मांसगुणानाह

न्यङ्कुः स्वादुर्लघुर्बल्यो वृष्यो दोषत्रयापहः ॥ ४६ ॥

न्यङ्कुसंज्ञक मृग का मांस—स्वादिष्ट, लघु, बलकारक, वीर्यवर्धक तथा त्रिदोषनाशक होता है ॥ ४६ ॥

अथ साम्बरम् । तस्य मांसगुणानाह

साबरं पललं स्निग्धं शीतलं गुरु च स्मृतम् । रसे पाके च मधुरं कफदं रक्तपित्तहृत् ॥ ४७ ॥

सांबर मृग का मांस—स्निग्ध, शीतल, गुरु, रस तथा विपाक में मधुर रस युक्त, कफजनक एवम्—रक्तपित्त को दूर करने वाला होता है ॥ ४७ ॥

अथ राजीवः । तस्य मांसगुणानाह

राजीवस्तु गुणैर्ज्ञेयः पृषतेन समो जनैः ॥ ४८ ॥

राजीव मृग का मांस—गुणों में चित्तलमृग के मांस के समान ही होता है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ४८ ॥

अथ मुण्डी । तस्य मांसगुणानाह

मुण्डी तु ज्वरकासास्रक्षयश्वासापहो हिमः ॥ ४९ ॥

मुण्डी मृग का मांस—शीतल तथा ज्वर, खांसी, रक्तविकार, क्षय और श्वास को दूर करने वाला होता है ॥ ४९ ॥

अथ बिलेशयाः । तत्र शशः (खरगोश) । तस्य नामानि मांसगुणांश्चाह

लम्बकर्णः शशः शूली लोमकर्णो बिलेशयः । शशः शीतो लघुर्ग्राही रूक्षः स्वादुः सदा हितः ।
वह्निकृत्कफपित्तघ्नो वातसाधारणः स्मृतः । ज्वरातीसारशोषास्रश्वासामयहरश्च सः ॥ ५० ॥

बिलेशय संज्ञक जीवों में खरगोश के संस्कृत नाम—लम्बकर्ण, शश, शूली, लोमकर्ण तथा बिलेशय ये सब हैं ।

खरगोश का मांस—शीतल, लघु, ग्राही, रूक्ष, स्वादिष्ट, सभी ऋतुओं में हितकर, जठराग्नि को प्रज्वलित करने वाला, कफ तथा पित्त नाशक, साधारण वात कारक एवम्—ज्वर, अतीसार, शोष, रक्तविकार तथा दमा को दूर करने वाला होता है ॥ ५० ॥

अथ सेधा (सेह, साही) । तस्या नामानि मांसगुणांश्चाह

सेधा तु शल्यकः श्वावित्कथ्यन्ते तद्गुणा अथ । शल्यकः श्वासकासास्रशोषदोषत्रयापहः ॥

साही के संस्कृत नाम—सेधा, शल्यक और श्वावित ये सब हैं ।

साही का मांस—श्वास, खांसी, रक्तविकार, शोष तथा त्रिदोष को दूर करनेवाला होता है ॥ ५१ ॥

अथ पक्षिणः (पक्षी) । तेषां नामानि मांसगुणांश्चाह

पक्षी खगो विहङ्गश्च विहगश्च विहङ्गमः । शकुनिर्विः पतत्री च विष्किरो विकिरोऽण्डजः ।
धान्याङ्कुरचरा येऽत्र तेषां मांसं लघूत्तमम् । आनूपं बलकृन्मांसं स्निग्धं गुरुतरं स्मृतम् ॥५२॥

पक्षी के संस्कृत नाम—पक्षी, खग, विहङ्ग, विहग, विहङ्गम, शकुनि, वि, पतत्री, विष्किर, विकिर तथा अण्डज ये सब है ।

पक्षियों में जो धान के अङ्कुर चरने वाले हैं, उनका मांस—हलका तथा उत्तम होता है । आनूप अर्थात् जल के किनारे रहने वाले पक्षियों का मांस—बलकारक, स्निग्ध तथा अत्यन्त गुरु होता है ॥ ५२ ॥

अथ तेषु विष्किरेषु वर्त्तकः (बटेर)। तस्य नामानि मांसगुणाँश्चाह

वर्तीको वर्त्तकश्चित्रस्ततोऽन्या वर्त्तका स्मृता।
वर्त्तकोऽग्निकरः शीतो ज्वरदोषत्रयापहः। सुरुच्यः शुक्रदो बल्यो वर्त्तकाऽल्पगुणा ततः॥५३॥

पूर्वोक्त विष्किर संज्ञक पक्षियों में वर्त्तक अर्थात् बटेर के संस्कृत नाम— वर्त्तीक, वर्त्तक तथा चित्र ये सब हैं। इससे अन्य प्रकार का एक बटेर होता है जिसे संस्कृत में "वर्त्तका" कहते हैं।

बटेर का मांस—जठराग्निकारक, शीतल, सुरुचिकारक, शुक्र उत्पन्न करने वाला, बलकारक एवम्—ज्वर तथा त्रिदोष को नष्ट करने वाला होता है। और दूसरे प्रकार का जो बटेर है उसका मांस—पूर्वोक्त बटेर के मांस की अपेक्षा स्वल्प गुण वाला होता हैं॥ ५३॥

अथ लावः (लवा)। तस्य मांसगुणसहितान् भेदान् मांसगुणाँश्चाह

लावा विष्किरवर्गेषु ते चतुर्धा मता बुधैः॥ ५४॥
पांशुलो गौरकोऽन्यस्तु पौण्ड्रको दर्भरस्तथा।
लावा वह्निकराः स्निग्धा गरघ्ना ग्राहका हिताः॥ ५५॥
पांशुलःश्लेष्मलस्तेषु वीर्योऽष्णोनिलनाशनः। गौरो लघुतरो रूक्षो वह्निकारी त्रिदोषजित्॥५६॥
पौण्ड्रकः पित्तकृत्किञ्चिल्लघुर्वातकफापहः। दर्भरो रक्तपित्तघ्नो हृद्‌रामयहरो हिमः॥५७॥

विष्किर वर्ग के पक्षियों में जो लवा है, उसके ४ भेद पण्डितोंने कहे हैं। उसमें प्रथम—पांशुल, दूसरा—गौरक, तीसरा—पौण्ड्रक एवं चौथा—दर्भर भेद है।

लवा पक्षियों का मांस—अग्निकारक, स्निग्ध, विषनाशक, ग्राही तथा हितकर(पथ्य) होता है। पांशुल संज्ञक लवा का मांस-कफकारक, उष्णवीर्य तथा वातनाशक होता है। गौरक संज्ञक लवा का मांस-अत्यन्त लघु, रूक्ष, अग्नि वृद्धिकारक एवम् त्रिदोषनाशक होता है। पौण्ड्रक संज्ञक लवा का मांस—पित्तकारक, किञ्चित् लघु, वात तथा कफनाशक होता है। दर्भर संज्ञक लवा का मांस-रक्तपित्तनाशक, हृद्रोगको दूर करनेवाला तथा शीतल होता है॥ ५४-५७॥

अथ वार्त्तीकः (बगेरा, बटेरा)। तस्य नामानि मांसगुणानाह

वर्त्तीको वर्त्तिचटको वार्त्तीकश्चैव स स्मृतः। वर्त्तीको मधुरः शीतो रूक्षश्च कफपित्तनुत्॥५८॥

बगेरा के संस्कृत नाम—वर्त्तीक, वर्त्तिचटक तथा वार्त्तीक ये सब हैं।

बगेरा का मांस—मधुर रस युक्त, शीतल, रूक्ष एवम् कफ तथा पित्तनाशक होता है॥ ५८॥

अथ कृष्णतित्तिरिर्गौरतित्तिरिश्च (तीतर)। तयोर्नामानि मांसगुणाँश्चाह

तित्तिरिः कृष्णवर्णः स्यात्स तु गौरः कपिञ्जलः। तित्तिरिर्बलदो ग्राही हिक्कादोषत्रयापहः॥
श्वासकासज्वरहरस्तस्माद्गौरोऽधिको गुणैः॥ ५९॥

तीतर के भेद और लक्षण—तीतर २ प्रकार का होता है। १ तीतर, २ गौर तीतर। काले रङ्ग का जो तीतर होता है उसे कृष्णतित्तिरि, या तित्तिरि, संस्कृत में कहते हैं। यदि वही तीतर गौर वर्ण का हो तो उसे संस्कृत में गौरतित्तिरि या कपिञ्जल कहते हैं। तीतर का मांस-बलदायक, ग्राही एवम्—हिचकी, त्रिदोष, श्वास, खांसी तथा ज्वर को दूर करने वाला होता है। गौर तीतर का मांस—तीनर के मांस की अपेक्षा अधिक गुणकारी होता है॥ ५९॥

अथ चटकः (गौरैया, चिडा)। तस्य नामानि मांसगुणानाह

चटकः कलविङ्कः स्यात्कुलिङ्गः कालकण्ठकः ॥ ६० ॥
कुलिङ्गः शीतलः स्निग्धः स्वादुः शुक्रकफप्रदः। सन्निपातहरो वेश्मचटकश्चातिशुक्रलः ॥६१॥

गौरैया के संस्कृत नाम—चटक, कलविङ्क, कुलिङ्ग और कालकण्ठक ये सब हैं।

गौरैया का मांस—शीतल, स्निग्ध, स्वादिष्ट, शुक्र तथा कफ को उत्पन्न करने वाला एवम् सन्निपात को दूर करने वाला होता है। घर में रहने वाले गौरैया का मांस—अत्यन्त शुक्र को उत्पन्न करने वाला होता है ॥ ६०–६१ ॥

अथ कुक्कुटो वनकुक्कुटश्च (मुरगा–वनमुरगा)। तयोर्नामानि मांसगुणाँश्चाह

कुक्कुटः कृकवाकुः स्यात्कालज्ञश्चरणायुधः। ताम्रचूडस्तथा दक्षो यामनादी शिखण्डिकः ॥६२॥
कुक्कुटो बृंहणः स्निग्धो वीर्योष्णोऽनिलहृद् गुरुः। चक्षुष्यः शुक्रकफकृद् बल्यो वृष्यः कषायकः॥
आरण्यकुक्कुटः स्निग्धो बृंहणः श्लेष्मलो गुरुः। वातपित्तक्षयवमिविषमज्वरनाशनः ॥ ६४ ॥

मुरगा का संस्कृत नाम—कुक्कुट, कृकवाकु, कालज्ञ, चरणायुध, ताम्रचूड, दक्ष, यामनादी तथा शिखण्डिक ये सब हैं। वनमुरगा का संस्कृत नाम—वनकुक्कुट तथा आरण्यकुक्कुट आदि है।

मुरगा का मांस—बृंहण (रस—रक्तादि वर्धक), स्निग्ध, उष्णवीर्य, वायु को नष्ट करने वाला, गुरु, नेत्रों के लिये हितकर, शुक्र तथा कफकारक, बलदायक, वृष्य (वीर्यवर्धक) तथा कषाय रसयुक्त होता है। **वनमुरगा का मांस**—स्निग्ध, बृंहण (रस रक्तादि वर्धक), कफजनक, गुरु, एवम् वात, पित्त, क्षय, वमन तथा विषमज्वर को दूर करने वाला होता है ॥ ६२–६४ ॥

अथ प्रतुदाः तत्र हारीतः (हरियल)। तस्य नामानि मांसगुणांश्चाह

हारीतो रक्तपीतः स्याद्धरितोऽपि स कथ्यते।
हारीतो रूक्ष उष्णश्च रक्तपित्तकफापहः। स्वेदस्वरकरः प्रोक्तः ईषद्वातकरश्च सः ॥ ६५ ॥

प्रतुद जाति के पक्षियों में हरियल के संस्कृत नाम—हारीत, रक्तपीत और हरित ये सब हैं।

हरियल का मांस—रूक्ष, उष्ण, रक्तपित्त तथा कफनाशक, स्वेद (पसीना) लाने वाला, स्वर को उत्तम करने वाला एवम् किञ्चित् वातकारक होता है ॥ ६५ ॥

अथ पाण्डुर्धवलपाण्डुश्च (पण्डुक)। तयोर्नामानि मांसगुणांश्चाह

पाण्डुस्तु द्विविधो ज्ञेयश्चित्रपक्षः कलध्वनिः ॥ ६६ ॥
द्वितीयो धवलः प्रोक्तः स कपोतः स्फुटध्वनिः। चित्रपक्षः कफहरो वातघ्नो ग्रहणीप्रणुत् ॥६७॥
धवलः पाण्डुरुद्दिष्टो रक्तपित्तहरो हिमः। रसे पाके च मधुरः संग्राही वातशान्तिकृत् ॥६८॥

पंडुक का भेद एवं नाम—पंडुक दो प्रकार का होता है, उसमें जो अनेक प्रकार के रङ्गों से युक्त पङ्खवाला तथा अस्फुट एवम् मधुर ध्वनि करने वाला पंडु होता है उसे संस्कृत में चित्रपक्ष, पाण्डु तथा कलध्वनि कहते हैं। दूसरा पंडु जो (सफेद) है उसे धवल पाण्डु संस्कृत में कहते हैं। यह स्फुट शब्द करने वाला कबूतर है।

चित्रपक्ष का मांस—कफ को दूर करने वाला, वातनाशक एवम् ग्रहणी रोग को नष्ट करने वाला होता है। **धवलपाण्डु**—रक्तपित्त को दूर करने वाला, शीतल, रस तथा विपाक में मधुर रसयुक्त, संग्राही एवम् वायु को शमन करने वाला होता है ॥ ६६–६८ ॥

अथ मयूरः (मोर)। तस्य नामानि मांसगुणाँश्चाह

मयूरश्चन्द्रकी केकी मेघरावो भुजङ्गभुक् । शिखी शिखावलो बर्हीं शिखण्डी नीलकण्ठकः ॥
शुक्लापाङ्गः कलापी च मेघनादानुलास्यपि। रसे पाके च मधुरः संग्राही वातशान्तिकृत्॥७०॥

मोर के संस्कृत नाम—मयूर, चन्द्रकी, केकी, मेघराव, भुजङ्गभुक्, शिखी, शिखावल, बर्हीं, शिखण्डी, नीलकण्ठक, शुक्लापाङ्ग, कलापी तथा मेघनादानुलासी ये सब हैं।

मोर का मांस—रस तथा विपाक में मधुर रसयुक्त, संग्राही तथा वायु को शमन करने वाला होता है ॥ ६९-७० ॥

अथ पारावतः (कबूतर, परेवा)। तस्य नामानि मांसगुणाँश्चाह

पारावतः कलरवः कपोतो रक्तलोचनः।
पारावतो गुरुः स्निग्धो रक्तपित्तानिलापहः। संग्राही शीतलस्तज्ज्ञैः कथितो वीर्यवर्द्धनः ॥७१॥

परेवा के संस्कृत नाम—पारावत, कलरव, कपोत तथा रक्तलोचन ये सब हैं।

परेवा का मांस—गुरु, स्निग्ध, रक्तपित्त तथा वायुनाशक, संग्राही, शीतल तथा वीर्य को बढ़ाने वाला होता है, ऐसा द्रव्य गुण के विद्वानों ने कहा है ॥ ७१ ॥

अथ पक्ष्यण्डानि (पक्षियोंके अण्डे)। तेषां गुणानाह

नातिस्निग्धानि वृष्याणि स्वादुपाकरसानि च।
वातघ्नान्यतिशुक्राणि गुरूण्यण्डानि पक्षिणाम् ॥

पक्षियों के अण्डे—अत्यन्त स्निग्ध नहीं (किञ्चित् स्निग्ध) होते हैं और वृष्य (वीर्यवर्धक), विपाक तथा रस में मधुर रस युक्त, वातनाशक तथा अत्यन्त शुक्र को उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥ ७२ ॥

अथ ग्राम्याः। तत्र छागः (बकरा)। तस्य नामानि मांसगुणाँश्चाह

छागलो बर्करश्छागो बस्तोऽजश्छेलकः स्तुभः ॥ ७३ ॥
अजा छागी स्तुभा चापि छेलिका च गलस्तनी।
छागमांसं लघु स्निग्धं स्वादुपाकं त्रिदोषनुत् ॥ ७४ ॥
नातिशीतमदाहि स्यात्स्वादु पीनसनाशनम्। परं बलकरं रुच्यं बृंहणं वीर्यवर्द्धनम् ॥ ७५ ॥

ग्राम्य पशुओं में बकरा के संस्कृत नाम—छागल, बर्कर, छाग, बस्त, अज, छेलक तथा स्तुभ ये सब हैं। बकरी के संस्कृत नाम—अजा, छागी तथा स्तुभा ये सब हैं। जिस के गले में स्तन के समान मांस लटकता हो उस बकरी को संस्कृत में—गलस्तनी तथा छेलिका कहते हैं।

बकरे का मांस—लघु, स्निग्ध, विपाक में मधुर रस युक्त, त्रिदोषनाशक, अत्यन्त शीतल नहीं (किञ्चित् शीतल), दाह न पैदा करने वाला, स्वादिष्ट, पीनस रोग को दूर करने वाला, अत्यन्त बलकारक, रोचक, बृंहण तथा वीर्यवर्धक होता है ॥ ७३-७५ ॥

अथाप्रसूताजाया बालकाजासुतस्य च मांसगुणानाह

अजायास्त्वप्रसूताया मांसं पीनसनाशनम्। शुष्ककासेऽरुचौ शोषे हितमग्नेश्च दीपनम् ॥७६॥
अजासुतस्य बालस्य मांसं लघुतरं स्मृतम्। हृद्यं ज्वरहरं श्रेष्ठं सुखदं बलदं भृशम् ॥ ७७ ॥

बिना ब्याई हुई बकरी का मांस—पीनस रोगनाशक, सूखी खांसी, अरुचि तथा शोष रोग में हितकारक एवम् अग्निदीपक होता है।

बकरी के छोटे बच्चों का मांस—अत्यन्त लघु, हृदय को हितकर, ज्वरनाशक, अत्यन्त सुख तथा बल को देने वाला अतएव श्रेष्ठ होता है ॥ ७६-७७ ॥

अथ निष्कासिताण्ड–वृद्ध–व्याधिमृतानां छागानां मांसस्य छागमुण्डस्य च गुणानाह

मांसं निष्कासिताण्डस्य छागस्य कफकृद् गुरु । स्रोतःशुद्धिकरं बल्यं मांसदं वातपित्तनुत्॥७८॥
वृद्धस्य वातलं रूक्षं तथा व्याधिमृतस्य च । ऊर्ध्वजत्रुविकारघ्नं छागमुण्डं रुचिप्रदम् ॥७९॥

जिस बकरे के अण्ड-कोश निकाल लिये गये हैं उसके अर्थात् बधिया किये हुए बकरे का **मांस**—कफकारक, गुरु, स्रोतों की शुद्धि करने वाला, बलकारक, मांसवर्धक, वात तथा पित्त नाशक होता है। **बुड्ढे बकरे का मांस**—वायु को उत्पन्न करने वाला तथा रूक्ष होता है। **रोग से पीड़ित हो कर मरे हुए बकरे का मांस**—भी वात कारक तथा रूक्ष होता है। **बकरे का मुण्ड (शिर)**—जत्रु [कांख तथा कन्धे के सन्धि स्थान] के ऊपर भाग में होने वाले रोगों को दूर करने वाला तथा रुचिजनक होता है ॥ ७८-७९ ॥

अथ मेषः (मेढा) । तस्य नामान्यण्डविहीनस्य तस्य च मांसगुणाँश्चाह

मेढ्रो मेढो हुडो मेष उरणोऽप्येडकोऽपि च । अविर्वृष्णिस्तथोर्णायुः कथ्यन्ते तद्गुणा अथ ॥८०॥
मेषस्य मांसं पुष्टौ स्यात्पित्तश्लेष्मकरं गुरु । तस्यैवाण्डविहीनस्य मांसं किञ्चिल्लघु स्मृतम् ॥

मेढा के संस्कृत नाम—मेढ्र, मेढ, हुड, मेष, उरण, एडक, अवि, वृष्णि और ऊर्णायु ये सब हैं।

मेढ़े का मांस—पुष्टि के लिये उत्तम, पित्त तथा कफ को उत्पन्न करने वाला एवम् गुरु होता है। **अण्डकोश निकाले हुये (बधिया किये हुये) मेढ़े का मांस**—किञ्चित् लघु होता है और शेष गुण पूर्वोक्त होते हैं ॥ ८०-८१ ॥

अथैडकः । (दुम्बा मेढा) । तस्य नामानि तद्भेदस्य च मांसगुणाँश्चाह

एडकः पृथुश्रृङ्गः स्यान्मेदःपुच्छस्तु दुम्बकः । एडकस्य पलं ज्ञेयं मेषामिषसमं गुणैः ॥ ८२ ॥
मेदःपुच्छोद्भवं मांसं हृद्यं वृष्यं श्रमापहम् । पित्तश्लेष्मकरं किञ्चिद्वातव्याधिविनाशनम् ॥८३॥

एडक अर्थात् मोटी सींग वाले मेढा का सं० नाम–एडक और पृथुश्रृङ्ग है। इसकी सींग बड़ी मोटी होती है। दुम्बा मेढ़ा का संस्कृत नाम—मेदःपुच्छ तथा दुम्बक है। इसकी पूँछ मेद बढ़ जाने से बड़ी चौड़ी हो जाती है। **एडक संज्ञक मेढ़े का मांस**–गुणों में पूर्वोक्त मेढ़े के मांस के समान ही समझना चाहिये। **दुम्बा मेढे का मांस**—हृदय को हितकर, वीर्यवर्धक, श्रम को दूर करने वाला, पित्त तथा कफ कारक एवम् किञ्चित् वातरोग को नष्ट करने वाला होता है ॥ ८२-८३ ॥

अथ वृषभः (बैल) । तस्य नामानि मांसगुणानाह

बलीवर्दस्तु वृषभः ऋषभश्च तथा वृषः । अनड्वान्सौरभेयोऽपि गौरुक्षा भद्र इत्यपि ॥ ८४ ॥
सुरभिः सौरभेयी च माहेयी गौरुदाहृता । गोमांसं सुगुरु स्निग्धं पित्तश्लेष्मविवर्धनम् ।
बृंहणं वातहृत् बल्यमपथ्यं पीनसप्रणुत् ॥ ८५ ॥

बैल के संस्कृत नाम—बलीवर्द, वृषभ, ऋषभ, वृष, अनड्वान् (अनडुह), सौरभेय, गौः (गो), उक्षा (उक्षन्) तथा भद्र ये सब हैं । गौ के संस्कृत नाम—सुरभि, सौरभेयी, माहेयी तथा गौः (गो) ये सब कहे हुये हैं ।

गोमांस—अत्यन्त गुरु, स्निग्ध, पित्त तथा कफ को बढ़ानेवाला, बृंहण (रस-रक्तादि वर्धक), वात को दूर करने वाला, बलकारक, अस्वस्थों के लिये अपथ्य तथा पीनस रोग नाशक होता है ॥ ८४-८५ ॥

अथाश्वः (घोड़ा) । तस्य नामानि मांसगुणाँश्चाह

घोटकेऽप्यश्वतुरगास्तुरङ्गमाश्च तुरङ्गाः । वाजिवाहार्वगन्धर्वहयसैन्धवसप्तयः ॥ ८६ ॥
अश्वमांसन्तु तुवरं वह्निकृत्कफपित्तलम् । वातहृद् बृंहणं बल्यं चक्षुष्यं मधुरं लघु ॥ ८७ ॥

घोड़े के संस्कृत नाम—घोटक, अश्व, तुरग, तुरङ्ग, तुरङ्गम, वाजि, वाह, अर्व (अर्वन्), गन्धर्व, हय, सैन्धव तथा सप्ति ये सब हैं ।

घोड़े का मांस—कषाय तथा मधुर रस युक्त, अग्निकारक, कफ तथा पित्त को उत्पन्न करने वाला, वातनाशक, बृंहण (रस—रक्तादि वर्धक), बलकारक, नेत्रों के लिये हितकर तथा लघु होता है ॥ ८६-८७ ॥

अथ कूलेचराः । तत्रः महिषः (भैंसा) । तस्य नामानि मांसगुणांश्चाह

महिषो घोटकारिः स्यात्कासरश्च रजस्वलः ॥ ८८ ॥
पीनस्कन्धः कृष्णकायो लुलायो यमवाहनः । महिषस्यामिषं स्वादु स्निग्धोष्णं वातनाशनम् ॥
निद्राशुक्रप्रदं बल्यं तनुदार्ढ्यकरं गुरु । वृष्यञ्च सृष्टविण्मूत्रं वातपित्तास्रनाशनम् ॥ ९० ॥

कूलेचर संज्ञक पशुओं में भैंसा के संस्कृत नाम—महिष, घोटकारि, कासर, रजस्वल, पीनस्कन्ध, कृष्णकाय, लुलाय और यमवाहन ये सब हैं ॥

भैंसे का मांस—स्वादिष्ट, स्निग्ध, उष्ण, वातनाशक, निद्रा तथा शुक्र को उत्पन्न करने वाला, बलकारक, शरीर को पुष्ट करने वाला, गुरु, वीर्यवर्धक, मूत्र तथा मल को निकालने वाला एवम् वातपित्त तथा रक्तविकार को दूर करने वाला होता है ॥ ८८-९० ॥

अथ मण्डूकः (मेंढक) । तस्य नामानि मांसगुणाँश्चाह

मण्डूकः प्लवगो भेको वर्षाभूर्दर्दुरो हरिः । मण्डूकः श्लेष्मलो नातिपित्तलो बलकारकः ॥९१॥

मेढक के संस्कृत नाम—मण्डूक, प्लवग, भेक, वर्षाभू, दर्दुर तथा हरि ये सब हैं ।

मेढक का मांस—कफ पैदा करने वाला, अत्यन्त पित्तकारक नहीं (थोड़ा पित्तकारक), तथा बलकारक होता है ॥ ९१ ॥

अथ पादिनः । तत्र कच्छपः (कछुआ) । तस्य नामानि मांसगुणाँश्चाह

कच्छपो गूढपात्कूर्मः कमठो दृढपृष्ठकः । कच्छपो बलदो वातपित्तनुत्पुंस्त्वकारकः ॥ ९२ ॥

कूलेचरों के अन्तर्गत पादी अर्थात् पांववाले जीवों में कछुये का संस्कृत नाम—कच्छप, गूढपाद, कूर्म, कमठ, तथा दृढपृष्ठक ये सब हैं ।

कछुये का मांस—बलदायक, वात-पित्त को दूर करने वाला एवम् पुंस्त्व (मैथुनशक्ति) बढ़ाने वाला है ॥ ९२ ॥

अथ विशेषाः । तत्र सद्योहतस्य मांसगुणानाह

सद्योहतस्य मांसं स्याद्व्याधिघाति यथाऽमृतम् । वयस्यं बृंहणं सात्म्यमन्यथा तद् विवर्जयेत्॥

मांस विषयक विशेष बातों में तत्काल मारे गये जीवों के मांस का गुण—अमृत के समान व्याधि को दूर करने वाला, आयु को स्थिर करने वाला, बृंहण (रस-रक्तादि वर्धक) तथा हितकर होता है। यदि तत्काल का मारा हुआ जीव न हो तो उसका मांस नहीं खाना चाहिये ॥ ९३ ॥

अथ स्वयं मृतस्य मांसगुणानाह

स्वयं मृतस्य चाबल्यमतीसारकरं गुरु ॥ ९४ ॥

स्वयं मरे हुये जीवों का मांस—बलकारक नहीं होता है अर्थात् निर्बलता-कारक, अतीसार को उत्पन्न करने वाला तथा गुरु होता है ॥ ९४ ॥

अथ वृद्धबालयोर्मांसगुणानाह

वृद्धानां दोषलं मांसं बालानां बलदं लघु ॥ ९५ ॥

बुड्ढे जीवों का मांस—दोषों को बढ़ाने वाला होता है। बच्चे जीवों का मांस—बलकारक तथा लघु होता है ॥ ९५ ॥

अथ सर्पव्यालदष्टयोर्मांसयोः शुष्कमांसस्य च गुणानाह

सर्पदष्टस्य मांसञ्च शुष्कमांसं त्रिदोषकृत् । त्रिदोषकृद् व्यालदष्टं शुष्कं शूलकरं परम् ॥ ९६ ॥

सर्प के काटने से मरे हुए जीवों का मांस—त्रिदोषकारक तथा उसी का सूखा मांस भी त्रिदोषकारक होता है। और हिंस्र जीव व्याघ्रादिकों से काटे हुये जीवों का मांस भी त्रिदोषकारक ही होता है किन्तु-सूखा मांस अत्यन्त शूलकारक होता है ॥ ९६ ॥

अथ विषादिमृतस्य मांसगुणानाह

विषाम्बुरुङ्मृतस्यैतन्मृत्युदोषरुजाकरम् ।
क्लिन्नमुत्क्लेशजनकं कृशं वातप्रकोपणम् । तोयपूर्णं शिराराजं मृतमप्सु त्रिदोषकृत् ॥ ९७ ॥

विष से, जल में डूब कर अथवा रोग से पीड़ित होकर मरे जीवों का मांस—मृत्युदायक, दोषकारक तथा रोगों को उत्पन्न करने वाला होता है। क्लिन्न (सड़ा गला) मांस—उत्क्लेश (वमन की इच्छा) को उत्पन्न करने वाला होता है। कृश (दुर्बल) जीवों का मांस—वायु को प्रकुपित करने वाला होता है। जल में मरे हुये जीवों का मांस—त्रिदोषकारक होता है क्योंकि उसकी जितनी शिरायें (नाड़ियां) होती हैं वे सब जल से पूर्ण रहती हैं ॥ ९७ ॥

अथ जात्यादिपरत्वेन मांसस्य गुणानाह

विहङ्गेषु पुमाञ्छ्रेष्ठः स्त्री चतुष्पदजातिषु ।
परार्द्धं लघु पुंसां स्यात्स्त्रीणां पूर्वार्द्धमादिशेत् । देहमध्यं गुरुप्रायं सर्वेषां प्राणिनां स्मृतम् ॥
पक्षोत्क्षेपाद्विहङ्गानां तदेव लघु कथ्यते । गुरूण्यण्डानि सर्वेषां गुर्वी ग्रीवा च पक्षिणाम् ॥९९॥

उरःस्कन्धोदरं कुक्षी पादौ पाणी कटी तथा । पृष्ठत्वग्यकृदन्त्राणि गुरूणीह यथोत्तरम् ॥१००॥
लघुवातकरं मांसंखगानां धान्यचारिणाम् । मत्स्याशिनां पित्तकरं वातघ्नं गुरु कीर्त्तितम् १०१॥
फलाशिनां श्लेष्मकरं लघु रूक्षमुदीरितम् । बृंहणं गुरु वातघ्नं तेषामेव पलाशिनाम् ॥१०२॥
तुल्यजातिष्वल्पदेहा महादेहेषु पूजिताः । अल्पदेहेषु शस्यन्ते तथैव स्थूलदेहिनाः ॥१०३ ॥

जीवों के जाति आदि की प्रधानता से मांस का गुण—जाति की प्रधानता–पक्षियों में पुरुष जाति के जीवों का मांस–श्रेष्ठ होता है तथा चौपायों (बकरा आदि) में स्त्री जाति के जीवों का मांस–श्रेष्ठ होता है । अङ्ग की प्रधानता–पुरुष संज्ञक जीवों के शरीर में नीचे भाग का मांस–लघु होता है । तथा स्त्रीसंज्ञक जीवों के ऊपरी भाग का मांस लघु होता है । सम्पूर्ण जीवों के शरीर में मध्य भाग का मांस—प्रायः करके गुरु होता है किन्तु पक्षियों का वही (मध्यभाग का मांस) पंखों के बराबर इधर उधर हिलाने से लघु होता है । सम्पूर्ण पक्षियों के अण्डे तथा गर्दन गुरु होते हैं । छाती, कन्धा, उदर, दोनों कोख, दोनों पैर, दोनों हाथ, कमर, पीठ, त्वचा, यकृत (जिगर) और आंत ये सब एक दूसरे की अपेक्षा उत्तरोत्तर गुरु होते हैं । भोजन की प्रधानता—धान्य भोजन करने वाले पक्षियों का मांस – लघु तथा वातकारक होता है । मछली भोजन करने वाले पक्षियों का मांस—पित्तकारक, वातनाशक तथा गुरु होता है । फलभोजी पक्षियों का मांस—कफ कारक, लघु तथा रूक्ष होता है । मांसभोजी पक्षियों का मांस—बृंहण (रस–रक्तादिवर्धक), गुरु तथा वातनाशक होता है ।

सजातियों में शरीर की छुटाई बड़ाई की प्रधानता—समान जाति वाले जीवों में यदि में वे बड़े शरीर वाले हैं तो उनमें जो अपेक्षाकृत छोटे शरीरवाले हैं उनका मांस श्रेष्ठ होता है । एवम्—समान जाति के छोटे शरीरवाले जीवों में जो अपेक्षाकृत स्थूल शरीर वाले हैं उनका मांस—श्रेष्ठ होता है ॥ ९८–१०३ ॥

अथ मत्स्याः । तत्र रोहितः (रोहू) । तस्य लक्षणं मांसमुण्डयोर्गुणाँश्चाह

रक्तोदरो रक्तमुखो रक्ताक्षो रक्तपक्षतिः । कृष्णपुच्छो झषः श्रेष्ठो रोहितः कथितो बुधैः ॥१०४॥
रोहितः सर्वमत्स्यानां वरो वृष्योऽर्दितार्त्तिजित् ।
कषायानुरसः स्वादुर्वातघ्नो नातिपित्तकृत् । ऊर्ध्वजत्रुगतान् रोगान् हन्याद्रोहितमुण्डकम् ॥

मछलियों में रोहू मछली के लक्षण—जिस मछली का उदर, मुख, नेत्र तथा अगल बगल के छोटे छोटे पंख ये सब रक्तवर्ण के हों एवम्—पूंछ काली हो तो पण्डित लोग उसे "रोहू मछली" कहते हैं ।

सम्पूर्ण मछलियों में रोहू नामक मछली ही श्रेष्ठ होती है । रोहू का मांस–वीर्यवर्धक अर्दित-वात (मुंह का लकवा) को दूर करने वाला, आरम्भ में स्वादिष्ट, अन्त में कषायरसयुक्त, वात-नाशक और अत्यन्त पित्तकारक नहीं (किञ्चित् पित्तकारक) होता है । रोहू का मुण्ड – जत्रु (कन्धा तथा कोख की सन्धि) से ऊपर के भागों में होने वाले रोगों को दूर करने वाला होता है ॥ १०४–१०५ ॥

अथ शिलीन्ध्रः । तस्य मांसगुणानाह

शिलीन्ध्रः श्लेष्मलो बल्यो विपाके मधुरो गुरुः । वातपित्तहरो हृद्यः आमवातकरश्च सः ॥

शिलीन्ध्र मछली का मांस—कफकारक, बलदायक, विपाक में मधुर रसयुक्त, गुरु, वात-पित्तनाशक, हृदय के लिये हितकर तथा आमवात कारक होता है ॥ १०६ ॥

अथ भाकुरः। तस्य मांसगुणानाह

भाकुरो मधुरः शीतो वृष्यः श्लेष्मकरो गुरुः। विष्टम्भजनकश्चापि रक्तपित्तहरः स्मृतः॥१०७॥

भाकुर मछली का मांस—मधुररसयुक्त, शीतल, वीर्यवर्धक, कफकारक, गुरु, विष्टम्भ उत्पन्न करने वाला तथा रक्तपित्त नाशक होता है॥ १०७॥

अथ मोचिका। तस्यां मांसगुणानाह

मोचिका वातहृद् बल्या बृंहणी मधुरा गुरुः। पित्तहृत्कफकृद्रुच्या वृष्या दीप्ताग्नये हिता॥

मोचिका मछली का मांस—वात को दूर करनेवाला, बलकारक, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), मधुर रसयुक्त, गुरु, पित्तनाशक, कफकारक, रोचक, वीर्यवर्धक एवम् दीप्त अग्निवाले पुरुषों के लिये हितकर होता है॥ १०८॥

अथ पाठीनः। तस्य मांसगुणानाह

पाठीनः श्लेष्मलो बल्यो निद्रालुः पिशिताशनः। दूषयेद्रुधिरं पित्तं कुष्ठरोगं करोति च॥

पाठीन मछली का मांस—कफकारक, बलदायक, निद्रा को लाने वाला होता है। यह मछली मांस खाने वाली होती है अतः इसका मांस रुधिर को दूषित करने वाला एवम् पित्त तथा कुष्ठ रोग को उत्पन्न करने वाला होता है॥ १०९॥

अथ शृङ्गी (सींगी)। तस्या मांसगुणानाह

शृङ्गी तु वातशमनी स्निग्धा श्लेष्मप्रकोपणी। रसे तिक्ता कषाया च लघ्वी रुच्या स्मृताबुधैः॥

शृङ्गी मछली का मांस—वायु को शमन करने वाला, स्निग्ध, कफ को प्रकुपित करने वाला, तिक्त तथा कषाय रस युक्त, लघु तथा रुचिकारक होता है॥ ११०॥

अथेल्लीसः (हिल्सा)। तस्य मांसगुणानाह

इल्लीसो मधुरः स्निग्धो रोचनो वह्निवर्द्धनः। पित्तहृत्कफकृत्किञ्चिल्लघुर्वृष्योऽनिलापहः॥

हिल्सा मछली का मांस—मधुर रस युक्त, स्निग्ध, रोचक, अग्निवर्धक, पित्त को दूर करने वाला, कफकारक, किंचित् लघु, वीर्यवर्धक तथा वायुनाशक होता है॥ १११॥

अथ शष्कुली (सौरी)। तस्या मांसगुणानाह

शष्कुली ग्राहिणी हृद्या मधुरा तुवरा स्मृता॥ ११२॥

सौरी मछली का मांस—ग्राही, हृदय के लिये हितकर और मधुर तथा कषाय रस युक्त होता है॥ ११२॥

अथ गर्गरः (गर्गरा)। तस्य मांसगुणानाह

गर्गरः पित्तलः किञ्चिद्वातजित्कफकोपनः॥ ११३॥

गर्गरा मछली का मांस—पित्तजनक, किञ्चित् वातनाशक, एवम् कफ को कुपित करने वाला होता है॥ ११३॥

अथ कविका । तस्या मांसगुणानाह

कविका मधुरा स्निग्धा कफघ्नी रुचिकारिणी ।
कञ्चित्पित्तकरी वातनाशिनी वह्निवर्द्धिनी ॥ ११४ ॥

कविका मछली का मांस—मधुर रस युक्त, स्निग्ध, कफनाशक, रुचिकारक, किञ्चित् पित्त-कारक, वातनाशक एवम् जठराग्नि को बढ़ाने वाला होता है ॥ ११४ ॥

अथ वर्मिमत्स्यः (वर्मी) । तस्य मांसगुणानाह

वर्मिमत्स्यो हरेद्वातं पित्तं रुचिकरो लघुः ॥ ११५ ॥

वर्मी मछली का मांस—वात तथा पित्त को दूर करने वाला, रुचिकारक एवम् लघु होता है ॥ ११५ ॥

अथ दण्डमत्स्यः । तस्य मांसगुणानाह

दण्डमत्स्यो रसे तिक्तः पित्तरक्तं कफं हरेत् । वातसाधारणः प्रोक्तः शुक्रलो बलवर्द्धनः ॥११६॥

दण्ड मछली का मांस—तिक्त रस युक्त, पित्तरक्त तथा कफ को दूर करने वाला, वायु के लिये साधारण, शुक्रजनक तथा बलवर्द्धक होता है ॥ ११६ ॥

अथैरङ्गः । तस्य मांसगुणानाह

एरङ्गो मधुरः स्निग्धो विष्टम्भी शीतलो लघुः ॥ ११७ ॥

एरङ्ग मछली का मांस—मधुर रस युक्त, स्निग्ध, विष्टम्भ करने वाला, शीतल तथा लघु होता है ॥ ११७ ॥

अथ महाशफरः (पपता) । तस्य मांसगुणानाह

महाशफरसंज्ञस्तु तिक्तः पित्तकफापहः । शिशिरो मधुरो रुच्यो वातसाधारणः स्मृतः ॥११८॥

महाशफरी मछली का मांस—तिक्त तथा मधुर रसयुक्त, पित्त तथा कफनाशक, शीतल, रुचिकारक एवम् वात के लिये साधारण होता है ॥ ११८ ॥

अथ गरघ्नी । तस्या मांसगुणानाह

गरघ्नी मधुरा तिक्ता तुवरा वातपित्तहृत् । कफघ्नी रुचिकृल्लघ्वी दीपनी बलवीर्यकृत् ॥११९॥

गरघ्नी मछली का मांस—मधुर-तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, वात पित्त तथा कफ नाशक, रुचिकारक, लघु, अग्निदीपक एवम् बल तथा वीर्य को उत्पन्न करने वाला होता है ॥ ११९ ॥

अथ मद्गुरः । तस्य मांसगुणानाह

मद्गुरो वातहृद् बल्यो वृष्यः कफकरो लघुः ॥ १२० ॥

मद्गुर मछली का मांस—वातनाशक, बलकारक, वीर्यवर्धक, कफकारक एवम् लघु होता है ॥ १२० ॥

अथ सपादमत्स्यः (टेंगरा)। तस्य मांसगुणानाह

सपादमत्स्यो मेधाकृन्मेदःक्षयकरश्च सः। वातपित्तकरश्चापि रुचिकृत्परमो मतः॥१२१॥

सपाद मछली का मांस—मेधा शक्ति को बढ़ाने वाला, मेदोवृद्धि को दूर करनेवाला, वात तथा पित्तकारक एवं रुचि को अत्यन्त उत्पन्न करनेवाला होता है॥ १२१॥

अथ प्रोष्ठी। तस्या मांसगुणानाह

प्रोष्ठी तिक्ता कटुः स्वादुः शुक्रदा कफवातजित्।
स्निग्धाऽऽस्यकण्ठरोगघ्नी रोचनी च लघुः स्मृता॥ १२२॥

प्रोष्ठी मछली का मांस—तिक्त तथा कटुरस युक्त, स्वादिष्ट, शुक्रजनक, कफ तथा वात नाशक, स्निग्ध, मुख और कण्ठ सम्बन्धी रोगों को दूर करने वाला, रोचक एवम् लघु होता है॥

अथ क्षुद्रमत्स्याः। तेषां मांसगुणानाह

क्षुद्रमत्स्याः स्वादुरसा दोषत्रयविनाशनाः। लघुपाका रुचिकरा बलदास्ते हिता मताः॥

छोटी मछलियों का मांस—स्वादिष्ट, त्रिदोष नाशक, विपाक में लघु, रुचिकारक तथा बलदायक होता है॥ १२३॥

अथातिक्षुद्रमत्स्याः। तेषां मांसगुणानाह

अतिसूक्ष्माः पुंस्त्वहरा रुच्याः कासानिलापहाः॥ १२४॥

अत्यन्त छोटी मछलियों का मांस—पुंस्त्व (रमण करने की शक्ति) को दूर करनेवाला, रुचिकारक एवम् खांसी तथा वायु को दूर करने वाला होता है॥ १२४॥

अथ मत्स्यगर्भः (मत्स्याण्डः)। तस्य गुणानाह

मत्स्यगर्भो भृशं वृष्यः स्निग्धः पुष्टिकरो लघुः। कफमेदःप्रदो बल्यो ग्लानिकृन्मेहनाशनः॥

मछली के अण्डे—अत्यन्त वीर्यवर्धक, स्निग्ध, पुष्टिकारक, लघु, कफ तथा मेदा को बढ़ानेवाले, बलकारक, ग्लानि उत्पन्न करनेवाले एवम् प्रमेह को नष्ट करने वाले होते हैं॥ १२५॥

अथ शुष्कमत्स्याः (सूखी मछली)। तेषां मांसगुणानाह

शुष्कमत्स्या नवा बल्या दुर्जरा विड्विबन्धिनः॥ १२६॥

सूखी मछलियां—ये यदि नई हों तो बलकारक, देर में हजम होनेवाली, एवम् मल का विबन्ध करने वाली होती हैं॥ १२६॥

अथ दग्धमत्स्यः (भूंजी मछली)। तस्य मांसगुणानाह

दग्धमत्स्यो गुणैः श्रेष्ठः पुष्टिकृद् बलवर्द्धनः॥ १२७॥

भूंजी मछली—गुणों में श्रेष्ठ, पुष्टिकारक तथा बलको बढ़ाने वाली होती है॥ १२७॥

अथ कूपजादिमत्स्याः। तेषां मांसगुणानाह

कौपमत्स्याः शुक्रमूत्रकुष्ठश्लेष्मविवर्द्धनाः। सरोजा मधुराः स्निग्धा बल्या वातविनाशनाः॥
नादेया बृंहणा मत्स्या गुरवोऽनिलनाशनाः। रक्तपित्तकरा वृष्याः स्निग्धाल्पाः स्वल्पवर्चसः॥

चौण्ड्याः पित्तकराः स्निग्धा मधुरा लघवो हिमाः । तडागा गुरवो वृष्याः शीतला मलमूत्रदाः ॥
ताडागवन्निर्झरजा बलायुर्मतिदृक्कराः ॥ १२८ ॥

कुयें में रहने वाली मछलियों का मांस—शुक्र, मूत्र, कुष्ठ तथा कफ को बढ़ानेवाला होता है।

सरोवर में रहनेवाली मछलियों का मांस—मधुर रसयुक्त, स्निग्ध, बलकारक तथा वायु को नष्ट करने वाला होता है।

नदियों में रहने वाली मछलियों का मांस—बृंहण (रस—रक्तादिवर्धक), गुरु, वातनाशक, रक्तपित्तकारक, वीर्यवर्धक, स्निग्ध, उष्ण एवं स्वल्प मात्रा में मल को निकालने वाला होता है।

चौंडा या हौज में रहने वाली मछलियों का मांस—पित्तकारक, स्निग्ध, मधुर रसयुक्त, लघु तथा शीतल होता है।

तालाब की मछलियों का मांस—गुरु, वीर्यवर्धक, शीतल, मल तथा मूत्र को निकालने वाला होता है।

झरनों में रहनेवाली मछलियों का मांस—गुणों में तालाबों में रहनेवाली मछलियों के समान ही होता है किन्तु विशेष करके बल, आयु, बुद्धि तथा दृष्टि शक्ति को बढ़ानेवाला होता है ॥ १२४ ॥

अथर्त्तुविशेषे मत्स्यविशेषाणां मांसगुणानाह

हेमन्ते कूपजा मत्स्याः शिशिरे सारसा हिताः । वसन्ते ते तु नादेया ग्रीष्मे चौण्ड्यसमुद्भवाः ॥
तडागजाता वर्षासु तास्वपथ्या नदीभवाः । नैर्झरा शरदि श्रेष्ठा विशेषोऽयमुदाहृतः ॥१२९॥

विशेष २ ऋतुओं में विशेष २ मछलियों के मांस का गुण—हेमन्त ऋतु (अगहन-पूसमास) में-कूप में रहने वाली मछलियों का मांस; शिशिर ऋतु (माघ-फागुनमास) में—सरोवर में रहनेवाली मछलियों का मांस; वसन्त ऋतु (चैत-वैशाख मास) में—नदीमें रहने वाली मछलियों का मांस और ग्रीष्म ऋतु (जेठ-आषाढ़ मास) में-चौंड़ा या हौज की मछलियों का मांस हितकर होता है। वर्षा ऋतु (सावन-भादो मास) में-तालाब की मछलियों का मांस-हितकर और नदी की मछलियों का मांस अपथ्य (अहितकर) होता है। शरद् ऋतु (क्वार-कातिक मास) में—झरनों की मछलियों का मांस—उत्तम होता है। इस प्रकार से मछलियों के मांस के सम्बन्ध में जो विशेषतायें थीं उनका वर्णन कर दिया गया है ॥ १२६ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभाव विरचिते भावप्रकाशे

मिश्रप्रकरणे एकादशो मांसवर्गः समाप्तः ॥

अथ द्वादशः कृतान्नवर्गः

तत्रान्नानां साधनप्रकारान् सिद्धानां गुणाँश्चाह । तत्र परिभाषामाह

समवायिनि हेतौ ये मुनिभिर्गणिता गुणाः । कार्येऽपि तेऽखिलाज्ञेयाः परिभाषेति भाषिताः ॥
क्वचित्संस्कारभेदेन गुणभेदो भवेद्यतः । भक्तं लघु पुराणस्य शालेस्तच्चिपिटो गुरुः ॥ २ ॥
क्वचिद्योगप्रभावेण गुणान्तरमपेक्षते । कदन्नं गुरु सर्पिश्च तद्युक्तं सुपचं भवेत् ॥ ३ ॥

अब इस कृतान्न वर्ग में अन्नों को सिद्ध करने का प्रकार तथा सिद्ध हुये अन्नों का गुण कहते हैं। उसमें प्रथम परिभाषायें कहते हैं—

परिभाषा—समवायिकरण (अन्नादि द्रव्यों) में जो गुण मुनियों ने गिनाये हैं वे सभी गुण, कार्य अन्नादि द्रव्यों से बने हुये पदार्थ भात आदि में भी होते हैं ऐसा समझना चाहिये। यह परिभाषा सामान्यरूप से मुनियों ने कही है। किन्तु कहीं कहीं संस्कार भेद से गुण में भी भेद हो जाता है अर्थात् समवायिकारण का गुण कार्य में पूर्ण रूप से नहीं आता है। जैसे कि—पुराने शालि (जड़हन) चावल का भात हलका होता है किन्तु उसी (जड़हन) का चिउड़ा गुरु होता है। यहाँ पर संस्कार भेद से गुण में भेद हुआ है। और कहीं-कहीं संयोग के प्रभाव से भी गुणों में अन्तर पड़ जाता है। जैसे-पृथक् २ स्वयं कदन्न (खराब अन्न) तथा घी दोनों ही गुरु होते हैं किन्तु यदि इन दोनों का संयोग हो जाय तो जल्दी हजम होने वाले हो जाते हैं। यहाँ पर परस्पर संयोग के प्रभाव से गुण में अन्तर हुआ है ॥ १-३ ॥

अथ भक्तम् (भात) । तस्य नामानि साधनं गुणाँश्चाह

भक्तमन्नं तथाऽन्धश्च क्वचित्कूरं च कीर्त्तितम् । ओदनोऽस्त्री स्त्रियां भिस्सा दीदिविः पुंसि भाषितः ॥
सुधौतांस्तण्डुलान् स्फीतांस्तोये पञ्चगुणे पचेत् । तदुक्तं प्रस्रुतं चोष्णं विशदं गुणवन्मतम् ॥
भक्तं वह्निकरं पथ्यं तर्पणं रोचनं लघु । अधौतमस्रुतं शीतं गुर्वरुच्यं कफप्रदम् ॥ ६ ॥

भात के संस्कृत नाम-भक्त, अन्न, अन्ध (अन्धस्), कूर (कहीं २ यह भात का नाम कहा है), ओदन (यह स्त्रीलिङ्ग को छोड़ कर शेष लिंगों में होता है), भिस्सा (यह केवल स्त्रीलिङ्ग में होता है) और दीदिवि (यह केवल पुँलिङ्ग में होता है) ये सब हैं।

निर्माणविधि—प्रथम चावलों को उत्तम रीति से धो डाले, पश्चात् कुछ क्षण के बाद जब वह कुछ फूल जाय तब उसे ५ गुने जल में पकावे। सिद्ध होने पर उतार कर उसीमें से मांड़ निकाल लेवे, यह माड़ निकाला हुआ गरम भात विशद गुणयुक्त अत्यन्त गुणकारी होता है।

भात—अग्निकारक, पथ्य, संतर्पण करने वाला, रोचक तथा लघु होता है। यदि यही भात बिना धोये तथा मांड़ निकाले ही सिद्ध किया हुआ हो एवं शीतल हो तो गुरु, अरुचि उत्पन्न करने वाला तथा कफकारक होता है ॥ ४-६ ॥

अथ दाली (दाल) । तस्या नामानि साधनगुणांश्चाह

दलितन्तु शमीधान्यं दालिर्दाली स्त्रियामुभे । दाली तु सलिले सिद्धा लवणार्द्रकहिङ्गुभिः ॥
संयुक्ता सूपनाम्नी स्यात्कथ्यन्ते तद्गुणा अथ । सूपो विष्टम्भको रूक्षः शीतस्तु स विशेषतः ।
निस्तुषो भृष्टससिद्धो लाघवं सुतरां व्रजेत् ॥ ८ ॥

दाल के लक्षण—शमीधान्य (मूंग, उरद, अरहर आदि) को दल देने से दाल बनती है। संस्कृत नाम—दालि और दाली ये दो हैं। ये दोनों शब्द स्त्रीलिङ्गी हैं।

निर्माण विधि—दाल को जल में पकावे और उसमें सेंधानमक, अदरक तथा हींग आवश्यकतानुसार डाल दे तो उस सिद्ध हुई दाल को संस्कृत में "सूप" कहते हैं।

सूप (दाल)—विष्टम्भकारक, रूक्ष तथा विशेषतः शीतल होती है और वही दाल यदि प्रथम भून कर छिलका निकाल कर पश्चात् बनाई जाय तो अत्यन्त लघु होती है॥ ७-८॥

अथ कृशरा (खिचड़ी)। तस्याः साधनं गुणाँश्चाह

तण्डुला दालिसंमिश्रा लवणार्द्रकहिङ्गुभिः। संयुक्ताः सलिले सिद्धाः कृशरा कथिता बुधैः॥
कृशरा शुक्रला बल्या गुरुः पित्तकफप्रदा। दुर्जरा बुद्धिविष्टम्भमलमूत्रकरी स्मृता॥ १०॥

खिचड़ी बनाने की विधि—चावलों में बराबर की दाल मिलाकर यदि जल में पकाई जाय और उसमें आवश्यकतानुसार सेंधा निमक, अदरख तथा हींग डाल दिया जाय तो सिद्ध होने पर उसे पण्डित लोग संस्कृत में 'कृशरा' कहते हैं।

खिचड़ी—शुक्रजनक, बलकारक, गुरु, पित्त तथा कफकारक, देर में हजम होने वाली एवम् बुद्धि बढ़ाने वाली, विष्टम्भ करने वाली तथा मल एवं मूत्र को कराने वाली होती है॥९-१०॥

अथ तापहरी। तस्याः साधनं गुणाँश्चाह

वृते हरिद्रासंयुक्ते माषजा भर्जयेद्वटीम्॥ ११॥
तण्डुलांश्चापि निर्धौतान्सहैव परिभर्जयेत्। सिद्धयोग्यं जलं तत्र प्रक्षिप्य कुशलः पचेत्॥
लवणार्द्रकहिङ्गूनि मात्रया तत्र निक्षिपेत्। एषा सिद्धि समायाता प्रोक्ता तापहरी बुधैः॥
भवेत्तापहरी बल्या वृष्या श्लेष्माणमाचरेत्। बृंहणी तर्पणी रुच्या गुर्वी पित्तहरी स्मृता॥

तापहरी बनाने की विधि—प्रथम उरद को पीस कर उसकी बरी बनाले, पश्चात् उसे हल्दी पड़े हुये घी में खूब भूने और उसी के साथ ही साथ धुले हुये चावलों को भी भूने। पश्चात् उसमें पक जाने योग्य जल डाल कर चतुरता के साथ पकावे और उसमें आवश्यकतानुसार सेंधा निमक, अदरख तथा हींग डाल दे। जब सिद्ध हो जाय तो उतार ले, इसी को पण्डित लोग "तापहरी" कहते हैं। तापहरी—बलकारक, वीर्यवर्धक, कफकारक, बृंहण (रस-रक्तादि वर्धक), संतर्पण कारक, रोचक, गुरु तथा पित्तनाशक होती है॥ ११—१४॥

अथ क्षीरिका (खीर)। तस्या नामानि साधनं गुणाँश्चाह

पायसं परमान्नं स्यात्क्षीरिकाऽपि तदुच्यते। शुद्धेऽर्द्धपक्वे दुग्धे तु घृताक्तांस्तण्डुलान्पचेत्॥
ते सिद्धाः क्षीरिका ख्याता ससिताऽऽज्ययुतोत्तमा।
क्षीरिका दुर्जरा प्रोक्ता बृंहणी बलवर्द्धिनी॥
विष्टम्भिनी हरेत् पित्तं रक्तपित्ताग्निमारुतान्॥ १६॥

खीर के संस्कृत नाम—पायस, परमान्न तथा क्षीरिका ये सब हैं।

निर्माणविधि—शुद्ध आधे औंटाये हुये दूध में प्रथम घी में भुजे हुये चावलों को डालकर पकावे और उसमें चीनी (शक्कर) तथा घी भी उचित मात्रा में डाल दे, पश्चात् सिद्ध होने पर उतार ले इसी को क्षीरिका (खीर) कहते हैं।

खीर—देर में हजम होने वाली, बृंहण (रस-रक्तादि वर्धक), बल बढ़ाने वाली, विष्टम्भ करने वाली एवम्—पित्त, रक्तपित्त तथा वायु को दूर करने वाली और अग्नि को मन्द करने वाली होती है ॥ १५-१६ ॥

अथ नारिकेरक्षीरी (नारियल की खीर) । तस्याः साधनं गुणाँश्चाह

नारिकेरं तनूकृत्य छिन्नं पयसि गोः क्षिपेत् । सितागव्याज्यसंयुक्तं तत्पचेन्मृदुनाऽग्निना ॥
नारिकेरोद्भवा क्षीरी स्निग्धा शीताऽतिपुष्टिदा । गुर्वी सुमधुरावृष्या रक्तपित्तानिलापहा ॥

नारिकेरक्षीरी (नारियल की खीर) बनाने की विधि—नारियल को छीलकर उसकी गिरी के छोटे २ टुकड़ों को साफ चीनी (शक्कर) तथा गाय के घी के साथ उचित मात्रा में दूध में डाल कर मन्द अग्नि से धीरे २ पकावे । जब सिद्ध हो जाय तब उतार ले । इसी को नारियल की खीर कहते हैं । नारियल की खीर—स्निग्ध, शीतल, अत्यन्त पुष्टिकारक, गुरु, मधुर, वीर्यवर्धक एवम्—रक्तपित्त तथा वायु को नष्ट करने वाली होती है ॥१६—१८ ॥

अथ सेविका (सेमई) । तस्याः साधनं गुणाँश्चाह

समितावर्त्तिकाः कृत्वा सुसूक्ष्मा यवसन्निभा । शुष्काः क्षीरेणसंसाध्या भोज्याघृतसिताऽन्विताः ॥
सेविका तर्पणी बल्या गुर्वी पित्तानिलापहा । ग्राहिणी सन्धिकृद्रुच्या तां खादेन्नातिमात्रया ॥

सेमई बनाने की विधि—मैदा की अत्यन्त पतली २ यव के समान बत्ती बना करके सुखावे । पश्चात् उसे दूध में पकावे और घी तथा चीनी मिलाकर भोजन करे ।

सेमई—तृप्तिकारक, बलदायक, गुरु, ग्राही, भग्न सन्धानकारक (टूटी हुई हड्डियों को अथवा उखड़ी हुई सन्धियों को जोड़ने वाली), रुचिकारक, एवम् पित्त तथा वायु को नष्ट करने वाली होती है । किन्तु इसे अधिक मात्रा में नहीं खाना चाहिये ॥ १९-२० ॥

अथ समिता (मैदा) । तस्याः साधनमाह

गोधूमा धवला धौताः कुट्टिताः शोषितास्ततः । प्रोक्षितायन्त्रनिष्पिष्टाश्चालिताः समिताः स्मृताः ॥

मैदा बनाने की विधि—प्रथम सफेद गेहूं लेकर उसे धो डाले और ओखली में कूट कर सुखा डाले । पश्चात् फटक कर खूब महीन जाता में पिसवाकर बारीक चलनी या पतले कपड़े में रखकर चलवा डाले । इसी आटा को मैदा कहते हैं ॥ २१ ॥

अथ मण्डकः (मण्डा) । तस्य साधनमाह

वारिणा कोमलां कृत्वा समितां साधु मर्दयेत् । हस्तचालनया तस्या लोप्त्रीं सम्यक्प्रसारयेत् ॥
अधोमुखघटस्यैतद्विस्तृतं प्रक्षिपेद् बहिः । मृदुना वह्निना साध्या सिद्धो मण्डक उच्यते ॥

मण्डा बनाने की विधि—मैदा को जल से अच्छी तरह माड़ कर मुलायम कर ले, पश्चात् उसकी लोई बनाकर उसे हाथ से बढ़ा २ कर रोटी के समान करले, पुनः उसे औंधे मुख वाले घड़ा के पेंदी पर रखकर मन्द आंच से पकावे, जब सिद्ध हो जाय तब उतार ले, इसी को मण्डक (मण्डा) कहते हैं ॥ २२-२३ ॥

*लोप्त्री (लोई) इति लोके ॥ २२-२३ ॥
यहां पर मूल में "लोप्त्रीं" पद से लोक में प्रसिद्ध "लोई" का ग्रहण करना चाहिये ॥२२-२३॥

अथ सानुपानं मण्डकगुणानाह

दुग्धेन साज्यखण्डेन मण्डकं भक्षयेन्नरः। अथवा सिद्धमांसेन सतक्रवटकेन वा ॥ २४ ॥
मण्डको बृंहणो वृष्यो बल्यो रुचिकरो भृशम्। पाकेऽपि मधुरो ग्राही लघुर्दोषत्रयापहः ॥

अनुपान के सहित मण्डा के गुण—अनुपान—मनुष्य को चाहिये कि मण्डा को घी और खांड़ मिले हुये दूध के साथ अथवा पकाये हुए मांस के साथ या दही बड़े के साथ खावे॥

मण्डा—बृंहण (रस रक्तादि वर्धक), वीर्यवर्धक, बलकारक, अत्यन्त रोचक, विपाक में मधुर रस युक्त, ग्राही, लघु एवम् त्रिदोषनाशक होता है॥ २४-२५ ॥

अथ पोलिका (मैदे की रोटी)। तस्याः साधनं गुणाँश्चाह

कुर्यात्समितयाऽतीव तन्वीं पर्पटिका ततः ॥ २६ ॥
स्वेदयेत्तप्तके तां तु पोलिकां जगदुर्बुधाः। तां खादेल्लप्सिकायुक्तां तस्या मण्डकवद् गुणाः ॥

पोलिका (रोटी) के बनाने की विधि—मैदा को गूद कर उसकी अत्यन्त पतली पापड़ के समान रोटी बना ले, पश्चात् उसे तवे पर रख कर सेंक डाले, सिद्ध हो जाने पर इसे पण्डित लोग पोलिका कहते हैं।

अनुपान—इसे लप्सी के साथ खाना चाहिये।

पोलिका—इसके गुण पूर्वोक्त मण्डा के समान होते हैं॥ २६—२७ ॥

अथ लप्सिका (लप्सी)। तस्याः साधनं गुणाँश्चाह

समितां सर्पिषा भृष्टां शर्करां पयसि क्षिपेत्। तस्मिन्घनीकृते न्यस्येल्लवङ्गं मरिचादिकम्।
सिद्धैषा लप्सिका ख्याता गुणानस्या वदाम्यहम् ॥ २८ ॥
लप्सिका बृंहणी वृष्या बल्या पित्तानिलापहा। स्निग्धा श्लेष्मकरी गुर्वी रोचनी तर्पणी परम्॥

लप्सी बनाने की विधि—प्रथम मैदा को लेकर घी में भून डाले पश्चात् मात्राऽनुसार शक्कर के साथ पानी में डालकर पकावे, जब गाढ़ा हो जाय तब उसमें लौंग, मरिच आदि डाल कर उतार ले। इसी को "लप्सी" कहते हैं।

लप्सी—बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), वीर्यवर्धक, बलदायक, स्निग्ध, कफकारक, गुरु, रोचक, अत्यन्त तृप्तिकारक एवम् पित्त तथा वायुनाशक होती है॥ २८-२९ ॥

अथ रोटिका (रोटी)। तस्याः साधनं गुणाँश्चाह

शुष्कगोधूमचूर्णेन किञ्चित्पुष्टाञ्च पोलिकाम् ॥ ३० ॥
तप्तके स्वेदयेत्कृत्वा भूयोऽङ्गारेऽपि तां पचेत्। सिद्धैषा रोटिका प्रोक्ता गुणानस्याः प्रचक्ष्महे॥ ३१॥
रोटिका बलकृद्रुच्या बृंहणी धातुवर्द्धनी। वातघ्नी कफकृद् गुर्वी दीप्ताग्नीनां प्रपूजिता॥ ३२॥

रोटी बनाने की विधि—सूखे गेहूं के आटे को जल से खूब गूंधकर उस सूखे आटा का पलेथन लगा २ कर पूर्वोक्त पूरी से कुछ मोटी रोटी बेलकर बनाले पश्चात् उसे तवा पर रख कर मामूली तरह से सेंक कर पुनः बहुत से अँगारों पर रखकर पका ले, जब वह सिद्ध हो जाय तब उसे रोटी कहते हैं। रोटी—बलकारक, रुचिजनक, बृंहण, धातुवर्धक वातनाशक, कफकारक तथा गुरु होती है। यह प्रदीप्त अग्निवालों के लिये उत्तम होती है॥ ३०-३२ ॥

*तप्तकं="तावा" इति लोके ॥ ३०-३२ ॥

यहां पर मूल में "तप्तक" से "तावा" का बोध करना चाहिये॥ ३०-३२ ॥

अथाङ्गारकर्कटी (बाटी)। तस्याः साधनं गुणांश्चाह

शुष्कगोधूमचूर्णन्तु साम्बु गाढं विमर्दयेत्। विधाय वटकाकारं निर्धूमेऽग्नौ शनैः पचेत ॥३३॥
अङ्गारकर्कटी ह्येषा बृंहणी शुक्रला लघुः। दीपनी कफकृद्बल्या पीनसश्वासकासजित् ॥ ३४ ॥

बाटी बनाने की विधि—सूखे गेहूं के आटे में जल डाल कर खूब कड़ा मांड कर उसकी गोलाकार कुछ चिपटी लोई बना ले पश्चात् उसे निर्धूम आग पर धीरे २ खूब सेंक ले, यही तैयार हो जाने पर बाटी कहलाती है। बाटी—बृंहण (रस—रक्तादिवर्धक), शुक्रजनन, लघु, अग्निदीपक, कफकारक, बलदायक एवम्—पीनस, श्वास तथा खांसी को दूर करने वाली होती है ॥ ३३-३४ ॥

अथ यवरोटिका। तस्या गुणानाह

यवजा रोटिका रुच्या मधुरा विशदा लघुः। मलशुक्रानिलकरी बल्या हन्ति कफामयान् ॥३५॥

जौ की रोटी—रुचिकारक, मधुररसयुक्त, विशद गुण वाली, लघु, मल, शुक्र, वायु तथा बल को करने वाली एवम् कफ सम्बन्धी रोगों को दूर करने वाली होती है ॥ ३५ ॥

अथ बलभद्रिका (चमसीरोटिका) (छिल्केदार उरद की रोटी)। तस्याः साधनं गुणाँश्चाह

चूर्णं यच्छुष्कमाषाणां चमसी साऽभिधीयते।
चमसीरचिता रोटी कथ्यते बलभद्रिका। रूक्षोष्णा वातला बल्या दीप्ताग्नीनां सुपूजिता ॥

चमसी बनाने की विधि—सूखे उरद को पीस कर जो चूर्ण (आटा) तैयार होता है उसे चमसी कहते हैं।

चमसी की बनी हुई रोटी का संस्कृत नाम—बलभद्रिका है। चमसी की रोटी-रूक्ष, उष्ण, वायु को उत्पन्न करने वाली, बलकारक, एवम् प्रदीप्त अग्नि वालों के लिये अत्यन्त उत्तम होती है ॥ ३६ ॥

अथ धूमसी (धुआँस)। तस्याः साधनविधिमाह

माषाणां दालयस्तोये स्थापितास्त्यक्तकञ्चुकाः। आतपे शोषिता यन्त्रे पिष्टास्ता धूमसी स्मृता॥

धुआंस बनाने की विधि—उरद की दाल को प्रथम जल में भिगो दे, पश्चात् उसके छिलके को निकाल कर उसे धूप में डाल दे, जब सूख जाय तब चक्की में पीस कर आँटा तैयार कर ले, इसी को धुआंस कहते हैं ॥ ३७ ॥

अथ झर्झरी। तस्याः साधनं गुणाँश्चाह

धूमसीरचिता चैव प्रोक्ता झर्झरिका बुधैः। झर्झरी कफपित्तघ्नी किञ्चिद्वातकरी स्मृता ॥३८॥

झर्झरी (धुआंस की रोटी) बनाने की विधि—धुआंस को गूंध कर जो रोटी बनायी जाती है उसे संस्कृत में "झर्झरी" कहते हैं। झर्झरी—कफ तथा पित्त नाशक एवम् किंचित् वातकारक होती है ॥ ३८ ॥

अथ चणकरोटिका (चने की रोटी)। तस्या गुणानाह

चणक्या रोटिका रूक्षा श्लेष्मपित्तास्रनुद्गुरुः। विष्टम्भिनी न चक्षुष्या तद्गुणा चापि शष्कुली॥

चने की रोटी—चने के आटे की जो रोटी बनाई जाती है, वह—रूक्ष, गुरु, विष्टम्भ करने

वाली, नेत्रों के लिये हित न करने वाली, एवम्—कफ पित्त तथा रक्तविकार को दूर करने वाली होती है।

चने की पूड़ी—यह भी गुणों में चने की रोटी के समान ही होती है ॥ ३९ ॥

अथ पिष्टिका (पीठी)। तस्या निर्माणप्रकारमाह

दालिः संस्थापिता तोये ततोऽपहृतकञ्चुका। शिलायां साधु सम्पिष्टा पिष्टिका कथिता बुधैः ॥

पीठी बनाने की विधि—हर एक प्रकार के दाल को जल के भिगोने के बाद उसके छिलके को अलग कर के सिल पर अच्छी तरह से पीस देने से पीठी तैयार होती है। इसी को संस्कृत में पण्डित लोग "पिष्टिका" कहते हैं ॥ ४० ॥

अथ बेढमिका (बेढई)। तस्याः साधनं गुणांश्चाह

माषपिष्टिकया पूर्णगर्भा गोधूमचूर्णतः। रचिता रोटिका सैव प्रोक्ता बेढमिका बुधैः ॥ ४१ ॥
भवेद्वेढमिका बल्या वृष्या रुच्याऽनिलापहा। उष्णा सन्तर्पणी गुर्वी बृंहणी शुक्रला परम् ॥
भिन्नमूत्रमला स्तन्यमेदःपित्तकफप्रदा। गुदकीलार्दितश्वासपक्तिशूलानि नाशयेत् ॥ ४३ ॥

वेढ़ई बनाने की विधि—गेहूं के आटे को गूंथकर उसके लोई के अन्दर उरद की पीठी भर कर जो रोटी बनाई जाती है उसी को पण्डित लोग संस्कृत में 'बेढमिका' कहते हैं।

बेढई—बलदायक, वीर्यवर्धक, रुचिकारक, वातनाशक, उष्ण, सन्तर्पण कारक, गुरु, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), अत्यन्त शुक्रजनक, मूत्र तथा मल का भेदन करने वाली, दुग्धवर्धक, मेद, पित्त तथा कफ कारक एवम् गुदकील, अर्दित बात (मुंह का लकवा), श्वास तथा परिणामशूल को नष्ट करने वाली है ॥ ४१-४३ ॥

अथ पर्पटः (पापड)। तत्र माषोद्भवस्य तस्य साधनं गुणांश्चाह

धूमसीरचिता हिङ्गुहरिद्रालवणैर्युताः। जीरकस्वर्जिकाभ्याञ्च तनूकृत्य च वेल्लिताः ॥ ४४ ॥
पर्पटाएते सदाऽङ्गारभृष्टाः परमरोचकाः। दीपनाः पाचनाः रूक्षा गुरवः किञ्चिदीरिताः ॥४५॥

पापड़ बनाने की विधि—धुआंस को जल के साथ भली-भांति गूथकर उसमें मात्राऽनुसार हींग, हरदी, सेंधा नमक, जीरा और सज्जीखार डाल कर लोई बनावे और उसे बेलन से पतला बेल कर रोटी के समान बना ले, इसी को पर्पट (पापड़) कहते हैं। उक्त पापड़—सदा आग पर भूंज कर खाने से अत्यन्त रोचक, अग्निदीपक, पाचक, रूक्ष, तथा किंचित् गुरु होते हैं ॥४४-४५॥

अथ मुद्ग-चणकोद्भव-स्नेहभृष्टानां पर्पटानां गुणानाह

मौद्गाश्च तद्गुणाः प्रोक्ता विशेषाल्लघवो हिताः ॥ ४६ ॥
चणकस्य गुणैर्युक्ताः पर्पटाश्चणकोद्भवाः। स्नेहभृष्टास्तु ते सर्वे भवेयुर्मध्यमा गुणैः ॥ ४७ ॥

मूंग के पापड़—यद्यपि गुणों से उड़द के पापड़ के समान होते हैं तथापि विशेष कर यह लघु तथा हितकर होते हैं।

चने के बने हुए पापड़—गुणों में चने के समान ही होते हैं।

स्नेह (तैल आदि) में भुने हुए सभी पापड़—पूर्वोक्त अपने २ गुणों की अपेक्षा मध्यम गुण वाले होते हैं। अर्थात् जो उरद-मूंग आदि के पापड़ों के गुण कहे हुये हैं उनकी अपेक्षा इस में न्यून गुण होते है ॥ ४६-४७ ॥

अथ पूरिका तैलपक्वा घृतपक्वा च (तेल व घी में पकी हुई कचौरी)। तयोः साधनं गुणांश्चाह

माषाणां पिष्टिकां पूर्यां लवणार्द्रकहिङ्गुभिः । तया पिष्टिकया पूर्णा समिता कृतपोलिका ॥४८॥
ततस्तैलेन पक्वा सा पूरिका कथिता बुधैः। रुच्या स्वादी गुरुः स्निग्धा बल्या पितास्रदूषिका ॥
चक्षुस्तेजोहरी चोष्णा पाके वातविनाशिनी । तथैव घृतपक्वाऽपि चक्षुष्या रक्तपित्तहृत् ॥५०॥

तेल की पूरी बनाने की विधि—उरद की पीठी में मात्रानुसार सेंधानिमक, अदरक तथा हींग डालकर उसे मैदा की लोई के अन्दर रख कर उस को बेलकर बारीक रोटी बना ले, उसके बाद उसे तेल में पका डाले, सिद्ध होने पर उसी को पण्डित लोग संस्कृत में पूरिका कहते हैं। तेल की कचौरी—रुचिकारक, स्वादिष्ट, गुरु, स्निग्ध, बलकारक, पित्त तथा रक्त को दूषित करने वाली, नेत्रों के तेज को हरण करने वाली, पाक में उष्ण एवम् वातनाशक होती है।

घी की कचौरी—यह भी गुणों में उक्त कचौरी के समान ही होती है किन्तु विशेषकर नेत्रों के लिये हितकर तथा रक्तपित्त-नाशक होती है ॥ ४८–५० ॥

अथ वटकः शुष्कः सरसश्च (सूखा व रसदार बरा)। तयोः साधनं गुणांश्चाह

माषाणां पिष्टिकां युक्तां लवणार्द्रकहिङ्गुभिः। कृत्वा विदध्याद्वटकांस्तांस्तैलेषु पचेच्छनैः॥५१॥
विशुष्का वटका बल्या बृंहणा वीर्यवर्द्धनाः। वातामयहरा रुच्या विशेषादर्दितापहाः ॥५२॥
विबन्धभेदिनः श्लेष्मकारिणोऽत्यग्निपूजिताः। संचूर्ण्य निक्षिपेत्तक्रे भृष्टं जीरकहिङ्गु च ॥५३॥
लवणं तत्र वटकान्सकलानपि मज्जयेत्। शुक्रलस्तत्र वटको बलकृद्रोचनो गुरुः ॥ ५४ ॥
विबन्धहृद्विदाही च श्लेष्मलः पवनापहः। राज्यक्तयाऽतिरोचन्या पाचन्या तांस्तु भक्षयेत् ॥

उरद का सूखा बरा बनाने की विधि—उरद की पीठी में मात्रानुसार सेंधानिमक, अदरक, तथा हींग डालकर खूब फेंटकर उसकी बड़ी २ गोली बनाले, पश्चात् तेल में डालकर धीरे २ मन्द आंच से पकावे. जब सिद्ध हो जाय तब उतार ले, यही सूखा बरा कहलाता है।

उरद का सूखा बरा—बलकारक, बृंहण, वीर्यवर्धक, वात सम्बन्धी रोगों को दूर करने वाला, रुचिकारक, विशेष करके अर्दितवात (मुंहके लकवे) को दूर करने वाला, विबन्धनाशक, कफकारक एवम् अत्यन्त दीप्त अग्नि वालों के लिये उत्तम होता है।

रसदार बरा बनाने की विधि—भूना हुआ जीरा तथा हींग का चूर्ण और सेंधानिमक तक्र (मट्ठा) में डालकर उसी में सूखे बरे को डुबो देने से वे ही रसदार बरे कहलाते हैं।

रसदार बरा—शुक्रजनक, बलकारक, रोचक, गुरु, विबन्ध को दूर करने वाला, विदाही, कफकारक तथा वातनाशक होता है।

यदि इसे रायता में डालकर भक्षण करे तो अत्यन्त रोचक और पाचक होता है ॥ ५१–५५ ॥

*राज्यक्ता (राइता) इति लोके ॥ ५१–५५ ॥

यहां पर मूल में "राज्यक्ता" से राइता का ग्रहण करना चाहिये ॥ ५१–५५ ॥

अथ काञ्जिकावटकः (काञ्जी बरा)। तस्य साधनं गुणांश्चाह

मन्थनी नूतना धार्या कटुतैलेन लेपिता। निर्मलेनाम्बुनाऽऽपूर्य तस्यां चूर्णं विनिक्षिपेत् ॥
राजिकाजीरकलवणहिङ्गुशुण्ठीनिशाकृतम् ॥ ५६ ॥

निक्षिपेद्वटकांस्तत्र भाण्डस्यास्यञ्च मुद्रयेत्। ततो दिनत्रयादूर्ध्वमम्लाः स्युर्वटका ध्रुवम् ॥५७॥
काञ्जिकावटको रुच्यो वातघ्नः श्लेष्मकारकः। शूलघ्नोऽजीर्णदाहनुद् नेत्ररोगे तु नो हितः ॥५८॥

काञ्जी बरा बनाने की विधि—एक नवीन मिट्टी का मजबूत पात्र (हांडी) लेकर उसके अन्दर कडुवा तैल चुपड़ कर उस में स्वच्छ जल भर दे, तब पश्चात् मात्रानुसार राई, जीरा, सेंधानिमक, हींग, सोंठ और हल्दी का चूर्ण उसमें डालकर बाद में उरद के बरों को उसी में डुबो दे और पात्र का मुख बन्दकर दे, पुनः जब तीन दिन बीत जाय तब चौथे दिन बरे सब खट्टे हो जायेंगे तब पात्र का मुख खोल दे। यही बरे काञ्जी के बरे कहलाते हैं। काञ्जी के बरे—रुचिकारक, वातनाशक, कफकारक, शूलनाशक, एवम्—अजीर्ण तथा दाह को दूर करनेवाले और नेत्ररोग में अहितकर होते हैं ॥ ५६–५८ ॥

अथाम्लिकावटकाः (इमलीके बरे)। तेषां साधनं गुणांश्चाह

अम्लिकां स्वेदयित्वा तु जलेन सह मर्दयेत्। तन्नीरे कृतसंस्कारे वटकान्मज्जयेज्जनः ॥५९॥
अम्लिकावटकास्ते तु रुच्या वह्निप्रदीपनाः। वटकस्य गुणैः पूर्वैरेतेऽपि च समन्विताः ॥६०॥

इमली के बरे बनाने की विधि– इमली को उबालकर जल के साथ मलकर के उसका रस तैयार करले, पुनः उसका संस्कार करके अर्थात् सरसों, हींग, जीरा, सेंधानिमक, सोंठ, हरदी आदि मसाला डाल करके पीछे से उरद के सूखे बरों को उसीमें भिगो दे, जब भीग जायं तब उन्हें कार्य में ले, ये ही इमली के बरे कहलाते हैं। इमली के बरे—रुचिकारक, अग्नि को प्रदीप्त करने वाले एवम् पूर्वोक्त उरद के सूखे बरों के गुणों से युक्त होते हैं ॥ ५९–६० ॥

अथ मुद्गवटकाः (मूंग के बरे)। तक्रमज्जितानां च तेषां गुणानाह

मुद्गानां वटकास्तक्रे मज्जिता लघवो हिमाः। संस्कारजप्रभावेण त्रिदोषशमना हिताः ॥६१॥

मूंग के बरे बनाने की विधि—उरद के बरों की भांति मूंग के भी बरे बनाकर तक्र (मट्ठे) में भिगो दे और पूर्वोक्त भुना जीरा तथा हींग और सेंधानिमक का चूर्ण उसमें डाल दे, भीगने पर ये ही मूंग के बरे कहलाते हैं। मूंगके बरे—लघु, शीतल एवम् संस्कार के प्रभाव से अर्थात् मसाला आदि डालने से त्रिदोष को शमन करने वाले तथा हितकर होते हैं ॥ ६१ ॥

अथ माषवटिकाः (उरदकी बरी)। तेषां साधनं गुणांश्चाह

माषाणां पिष्टिका हिङ्गुलवणार्द्रकसंस्कृता। तथा विरचिता वस्त्रे वटिकाः साधु शोषिताः ॥
भर्जितास्तप्ततैलैस्ता अथवाऽम्बुप्रयोगतः। वटकस्य गुणैर्युक्ता ज्ञातव्या रोचना भृशम् ॥

उरद की बरी बनाने की विधि—उरद की पीठी को पीस कर उसमें मात्राऽनुसार हींग, सेंधा निमक तथा अदरक आदि डालकर खूब फेंटे पश्चात् उसकी छोटी २ बरी बना कर कपड़े पर रखकर धूप में खूब सुखा डाले और सूख जाने पर उसे तेल में भून कर अथवा पानी में उबालकर सिद्ध करले, इसी को उरद की बरी कहते हैं। उरद की बरी—गुणों में पूर्वोक्त उरद के बरों के समान होती है और अत्यन्त रुचिकर होती है ॥ ६२-६३ ॥

अथ कूष्माण्डकवटी (पेठे की बरी)। तस्या गुणानाह

कूष्माण्डकवटी ज्ञेया पूर्वोक्तवटिकागुणा। विशेषात्पित्तरक्तघ्नी लघ्वी च कथिता बुधैः ॥६४॥

पेठे की बरी (कोहड़ौरी) बनाने की विधि—पूर्वोक्त उरद की बरी बनाने के समय पीठी में पेठे के छोटे २ बारीक टुकड़े कद्दूकश से तैयार करके डाले और पूर्वोक्त मसाला डालकर कपड़े पर

सुखाले। यही पेठे की बरी कहलाती है। पेठे की बरी—गुणों में उरद की बरी के समान होती है किन्तु विशेष करके यह पित्त तथा रक्तविकार को दूर करने वाली एवम् लघु होती है ऐसा विद्वानों का मत है ॥ ६४ ॥

अथ मुद्गवटी (मूंगकी बरी)। तस्या गुणानाह

मुद्गानां वटिका तद्वद्रचिता साधिता तथा। पथ्या रुच्या तथा लघ्वी मुद्गसूपगुणा स्मृता॥

मूंग की बरी बनाने की विधि—मूंग की बरी, उरद की बरी के समान ही बनाई तथा पकाई जाती है। मूंग की बरी—पथ्य, रुचिकारक तथा लघु होती है एवम् मूंग के दाल के जो गुण पूर्व में कह आये हैं वे सभी इसमें रहते हैं ॥ ६५ ॥

आथालीकमत्स्यः। तस्य साधनप्रकारमाह

माषपिष्टिकया लिप्तं नागवल्लीदलं महत् ॥ ६६ ॥

तत्तु संस्वेदयेद्युक्त्या स्थाल्यामास्तारकोपरि।ततो निष्काश्य तं खण्डयं ततस्तैलेन भर्जयेत् ॥

अलीकमत्स्य (यह खाने में मछली के समान होता है) बनाने की विधि—बड़े २ पान के पत्तों को लेकर उनके ऊपर उरद की पीठी लपेट दे और एक बटुलोई में जल भरकर उनके मुख पर वस्त्र बांधकर उसी के ऊपर उन सबों को रख कर आंच पर रख दे और युक्ति से इस तरह भाफ से उबाले कि वे सब सिद्ध हो जायं, पुनः उतारकर उनके टुकड़े-टुकड़े कर डाले, तत्पश्चात् तेल में पका डाले ॥ ६६–६७ ॥

*खण्डयं= खण्डन योग्यमिति यावत् ॥ ६६–६७ ॥

यहाँ पर "खण्ड्य" पद का—"टुकड़े टुकड़े कर डाले" यह अर्थ समझना चाहिये ॥६६-६७॥

अलीकमत्स्य उक्तोऽयं प्रकारः पाकपण्डितैः। तं वृन्ताकभर्टित्रेण वास्तूकेन च भक्षयेत् ॥६८॥

अलीक मत्स्य बनाने का यही पूर्वोक्त प्रकार पाकविद्या के विद्वानों ने बतलाया है। इसे बैगन के कबाब (लोहे के सीक में खोंस कर आग पर भुने हुये बैगन) के साथ या बैगन के भर्ते के साथ अथवा बथुआ के साथ खावे ॥ ६८ ॥

अथ क्वथिता (कढी)। तस्याः साधनं गुणाश्चाह

स्थाल्यां घृते वा तैले वा हरिद्रां हिङ्गु भर्जयेत्।

अवलेहनसंयुक्तं तक्रं तत्रैव निक्षिपेत्। एषा सिद्धा समरिचा क्वथिता कथिता बुधैः ॥ ६९ ॥

कढ़ी बनाने की विधि—कढ़ाई या बटुलोई में घी अथवा तेल डालकर उसमें हींग तथा हरदी डाल कर प्रथम भून डाले तत्पश्चात् उसमें अरिहन अर्थात् जल में घोला हुआ बेसन और उसी के साथ तक्र (मट्ठा) भी मिलाकर डालकर पकावे और काली मिर्च तथा मात्राऽनुसार सेंधानिमक भी डाल दे, जब यह सिद्ध होजाय तो उतार ले, इसी को विद्वान् लोग कढ़ी कहते हैं ॥ ६९ ॥

*अवलेहनम् "अरिहन" इति लोके ॥ ६९ ॥

यहां पर 'अवलेहनम्" पद से लोक प्रसिद्ध "अरिहन" लेना चाहिये ॥ ६९ ॥

क्वथिता पाचनी रुच्या लघ्वी वह्निप्रदीपनी। कफानिलाविबन्धघ्नी किञ्चित्पित्तप्रकोपणी॥७०॥

कढ़ी—पाचक, रुचिकारक, लघु, अग्निदीपक, किञ्चित् पित्त को प्रकुपित करने वाली एवम्—कफ, वायु तथा विबन्ध को दूर करने वाली होती है ॥ ७० ॥

अलीकमत्स्यस्य गुणानाह

अलीकमत्स्याः शुष्का वा किं वा क्वथितया पुनः। बृंहणा रोचना वृष्या बल्या वातगदापहः॥७१॥
कोष्ठशुद्धिकराः शुष्काः किञ्चित्पित्तप्रकोपणाः। अर्दिते सहनुस्तम्भे विशेषेण हिताः स्मृताः॥

अलीक मत्स्य—अलीक मत्स्य चाहे सूखे हों या कढ़ी में भिगोये हुये हों दोनों ही बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), रोचक, वीर्यवर्धक, बलकारक, वातरोग-नाशक तथा कोष्ठ की शुद्धि करने वाले होते हैं। सूखे अलीक मत्स्य—विशेष करके किञ्चित् पित्त को प्रकुपित करने वाले और अर्दितवात (मुंह का लकवा) तथा हनुस्तम्भ रोग में विशेष हितकर होते हैं॥ ७१-७२॥

अथ मुद्गार्द्रवटकाः (अदरक बड़ा)। तेषां साधनं गुणांश्चाह

मुद्गपिष्टीविरचितान् वटकांस्तैलपाचितान्। हस्तेन चूर्णयेत्सम्यक् तस्मिंश्चूर्णं विनिक्षिपेत्॥
भृष्टं हिङ्ग्वार्द्रकं सूक्ष्मं मरिचं जीरकं तथा। निम्बूरसं यवानीं च युक्त्या सर्वं विमिश्रयेत्॥
मुद्गपिष्टिं पचेत्सम्यक् स्थाल्यामास्तारकोपरि। तस्यास्तु गोलकं कुर्यात्तन्मध्ये पूरणं क्षिपेत्॥
तैले तान्गोलकान्पक्त्वा क्वथितायां निमज्जयेत्। गोलकाःपाचकैःप्रोक्तास्ते स्वार्द्रकवटा अपि॥
मुद्गार्द्रकवटा रुच्या लघ्वो बलकारकाः। दीपनास्तर्पणाः पथ्यास्त्रिषु दोषेषु पूजिताः॥ ७७॥

अदरक का बड़ा बनाने की विधि—प्रथम मूंग की पीठी के बरे बनाकर तेल में पका डाले, पश्चात् उसे हाथ से मसल कर चूर्ण कर डाले। पुनः उसमें—भुना हुआ हींग, अदरख के पतले २ छोटे २ टुकड़े, मरिच, जीरा, नीबू के रस, अजवाइन इन सबों को युक्तिपूर्वक यथायोग्य चूर्ण करके मिला दे। और मूंग की पीठी को बटुलोई में जल भर कर उसके ऊपर कपड़ा रख कर उसी के ऊपर रख कर भाप से सिद्ध कर ले। जब तैयार हो जाय तब उसके बड़े-बड़े गोले कर, बरे बनाकर उसी के अन्दर पूर्वोक्त चूर्ण किये हुये पदार्थों को भर तैल में पका डाले, जब तैयार हो जाय तब कढ़ी में भिगो दे। भींग जाने पर इसी को पाकविद्या में कुशल लोग अदरक बड़ा कहते हैं।

अदरक बड़ा—रुचिकारक, लघु, बलकारक, अग्निदीपक, तृप्तिकारक, पथ्य तथा तीनों दोषों में ही उत्तम होता है अर्थात् हानिकारक नहीं होता है॥ ७३-७७॥

अथ वेसनम् (वेसन)। तस्य साधनमाह

दालयश्चणकानां तु निस्तुषा यन्त्रपेषिताः। तच्चूर्णं वेसनं प्रोक्तं पाकशास्त्रविशारदैः॥ ७८॥

वेसन बनाने की विधि—बिना छिलके की चने की दाल को चक्की में पीसकर आटा तैयार करले। इसी को पाकशास्त्र (रसोई बनाने की विद्या) में निपुण लोग वेसन कहते हैं॥ ७८॥

अथ वेसनवटिका (फुलौरी)। तस्या साधनं गुणांश्चाह

वटिकावेसनस्यापि क्वथितायां निमज्जिता। रुच्या विष्टम्भजननी बल्या पुष्टिकरी स्मृता॥७९॥

फुलौरी बनाने की विधि—वेसन की बरी बनाकर यदि कढ़ी में भिगो दी जाय तो उसे फुलौरी कहते हैं।

फुलौरी—रुचिकारक, विष्टम्भजनक, बल तथा पुष्टि करने वाली होती है॥ ७९॥

*एवमन्येऽपि वेसनभवाः प्रकाराः खण्डनखण्डप्रभृतयो बोद्धव्याः॥ ७९॥

इस प्रकार से अन्य भी वेसन से बनाये जाने वाले खण्डन आदि पदार्थों के बनाने की विधियां होती हैं। उन्हें स्वयं समझ लेना चाहिये। ग्रन्थ बढ जाने के भय से नहीं लिखी जा रही हैं॥७९॥

अथ मांसस्य प्रकाराः । तत्र शुद्धमांसम् । तस्य प्रकारमाह

पाकपात्रे घृतं दद्यात्तैलञ्च तदभावतः । तत्र हिङ्गु हरिद्रां च भर्जयेत्तदनन्तरम् ॥ ८० ॥
छागादेरस्थिरहितं मांसं तत्खण्डितं ध्रुवम् । धौतं निर्गालितं तस्मिन्घृते तद्भर्जयेच्छनैः ॥
सिद्धयोग्यं जलं दत्त्वा लवणन्तु पचेत्ततः । सिद्धे जलेन सम्पिष्य वेशवारं परिक्षिपेत् ॥ ८२ ॥

मांस बनाने के प्रकारों में प्रथम शुद्ध मांस बनाने की विधि—मांस बनाने के पात्र में प्रथम घी अथवा अभाव में तेल ही डाल कर उस में हींग और हरदी डाल कर भूने, तत्पश्चात् बकरे आदि का मांस लेकर उस के टुकड़े कर डाले, यदि हड्डियां हों तो उन्हें फेंक दे, पुनः उन टुकड़ों को धोकर तथा जल खूब नितारकर उपर्युक्त घी अथवा तेल में धीरे २ भूने, और सिद्ध होने योग्य जल छोड़ कर तथा सेंधा निमक मात्राऽनुसार डालकर पकावे, जब पक जाय तब जल के साथ वेशवार पीस कर उसी में छोड़ दे ॥ ८०-८२ ॥

अथ वेशवारः (पिसा हुआ मसाला)। तद्द्रव्याण्याह

द्रव्याणि वेशवारस्य नागवल्लीदलानि च । तण्डुलाश्च लवङ्गानि मरिचानि समासतः ॥८३॥

वेशवार के द्रव्य—पान के पत्ते, चावल, लौंग, मरिच ये सब संक्षेप में वेशवार में पड़ने वाले द्रव्य हैं ॥ ८३ ॥

***वेशवारः "वेगर" इति लोके ॥ ८३ ॥**

यहां पर "वेशवार" से लोक प्रसिद्ध "वेगर" समझना चाहिये ॥ ८३ ॥

अथ शुद्धमांसस्य गुणानाह

अनेन विधिना सिद्धं शुद्धमांसमिति स्मृतम् ॥ ८४ ॥
शुद्धमांसं परं वृष्यं बल्यं रुच्यञ्च बृंहणम् । त्रिदोषशमनं श्रेष्ठं दीपनं धातुवर्द्धनम् ॥ ८५ ॥

शुद्ध मांस—इस पूर्वोक्त विधि से सिद्ध किया हुआ मांस "शुद्ध-मांस" कहलाता है। यह अत्यन्त वीर्यवर्धक, बलकारक, रोचक, बृंहण (रस-रक्तादि वर्धक), त्रिदोष को शमन करने वाला, अत्यन्त अग्निदीपक तथा धातुवर्धक होता है ॥ ८४-८५ ॥

अथ सहद्रकम् ("सेहण्डुक, सहवांसु" इति लोके)। तस्य साधनं गुणांश्चाह

छागादेर्मांसमूर्वादेः कुट्टितं खण्डितं पुनः । शुद्धमांसविधानेन पचेदेतत्सहद्रकम् ।
सहद्रकं गुणैर्ग्रन्थे शुद्धमांसगुणं स्मृतम् ॥ ८६ ॥

सहद्रक (इसे लोक में-सेहुण्डक या सहवांसु-कहते हैं) बनाने की विधि-बकरे आदि के ऊरु आदि स्थानों के मांस को कूट २ कर खूब टुकड़े करके पूर्वोक्त शुद्ध मांस बनाने की विधि के अनुसार पका डाले, इसको सहद्रक कहते हैं। सहद्रक—द्रव्य-गुण-ग्रन्थों में इसके गुण शुद्ध मांस के समान ही कहे हुए हैं ॥ ८६ ॥

अथ तक्रमांसम् (अखनी)। तस्य साधनं गुणांश्चाह

पाकपात्रे घृतं दत्त्वा हरिद्रां हिङ्गु भर्जयेत् । छागादेः सकलस्यापि खण्डान्यपि च भर्जयेत् ॥
सिद्धयोग्यं जलं दत्त्वा पचेन्मृदुतरं तथा । जीरकादियुते तक्रे मांसखण्डानि भावयेत् ॥८८॥
तक्रमांसन्तु वातघ्नं लघु रुच्यं बलप्रदम् । कफघ्नं पित्तलं किञ्चित्सर्वाहारस्य पाचनम् ॥८९॥

अखनी बनाने की विधि—पाक बनाने के बर्त्तन में घी डाल कर उसमें हल्दी तथा हींग को प्रथम भून डाले, तत्पश्चात् उसी में बकरे आदि के सम्पूर्ण अङ्गों के मांस के टुकड़ों को भून डाले, तत्पश्चात् उसमें सिद्ध होने योग्य जल डाल कर पुनः मन्द २ अग्नि से पकावे। पश्चात् जीरा आदि पड़े हुये तक्र (मट्ठा) में उन मांस के टुकड़े को डाले। यही 'अखनी' कहलाती है।

अखनी—वातनाशक, लघु, रुचिकारक, बलकारक, कफनाशक, किञ्चित् पित्तजनक तथा सम्पूर्ण खाये हुए पदार्थों को पचाने वाली होती है ॥ ८७-८९ ॥

अथ हरीसा (आसा) । तस्य साधनं गुणांश्चाह

पाकपात्रे तु बृहति मांसखण्डानि निक्षिपेत्। पानीयं प्रचुरं सर्पिः प्रभूतं हिङ्गु जीरकम् ॥
हरिद्रामार्द्रकं शुण्ठीं लवणं मरिचानि च। तण्डुलांश्चापि गोधूमाञ्जम्बीराणां रसान् बहून् ॥
यथा सर्वाणि वस्तूनि सुपक्वानि भवन्ति हि। तथा पचेत्तु निपुणो बहुमण्डस्थितिर्यथा ॥
एषा हरीसा बलकृद्वातपित्तापहा गुरुः। शीतोष्णा शुक्रदा स्निग्धा सरा सन्धानकारिणी ॥

हरीसा (आस) बनाने की विधि—एक बहुत बड़े पात्र में मांस के टुकड़ों को डाल कर उसी में अधिक मात्रा में जल तथा घी और हींग, जीरा, हल्दी अदरख, सोंठ, सेंधा निमक, मरिच, चावल, गेहूँ और जमीरी नीबू का रस इन सबों को डाले, तथा इस भांति चतुरता से पकावे कि उपर्युक्त सब वस्तुयें भली भांति पक भी जायें और अधिक मात्रा में मांड (रस) भी रह जाय। इसी को-हरीसा-कहते हैं। हरीसा—बलकारक, वात तथा पित्तनाशक गुरु, शीतोष्ण, शुक्रजनक, स्निग्ध, सारक (मल को निकालने वाला) तथा सन्धान-कारक (टूटी हुई हड्डियों को जोड़ने वाला) होता है ॥ ९०-९३ ॥

अथ तलितमांसम् (तला हुआ मांस) । तस्य साधनं गुणांश्चाह

शुद्धमांसविधानेन मांसं सम्यक्प्रसाधितम्। पुनस्तदाज्ये सम्भृष्टं तलितं प्रोच्यते बुधैः ॥
तलितं बलमेधाऽग्निमांसौजःशुक्रवृद्धिकृत्। तर्पणं लघु सुस्निग्धं रोचनं दृढताकरम् ॥ ९५ ॥

तलित मांस (तला हुआ मांस) बनाने की विधि—पूर्वोक्त शुद्ध मांस बनाने की विधि के अनुसार भली भांति सिद्ध किये हुए मांस को पुनः घी में डाल कर जो अच्छी तरह से भूना जाता है, उसे पण्डित लोग तलित मांस अर्थात् तला हुआ मांस कहते हैं। तलित मांस (तला हुआ मांस)—बल, मेधाशक्ति, अग्नि, मांस, ओज तथा शुक्र की वृद्धि करने वाला, तृप्तिकारक, लघु, अत्यन्त स्निग्ध, रोचक, तथा शरीर को दृढ़ करने वाला होता है ॥ ९४-९५ ॥

अथ शूल्यपलम् (कबाब) । तस्य साधनं गुणांश्चाह

कालखण्डादिमांसानि ग्रथितानि शलाकया। घृतं सलवणं दत्त्वा निर्धूमे दहने पचेत् ॥ ९६ ॥
तत्तु शूल्यमिति प्रोक्तं पाककर्मविचक्षणैः ॥ ९७ ॥
शूल्यं पलं सुधातुल्यं रुच्यं वह्निकरं लघु। कफवातहरं बल्यं किञ्चित्पित्तकरं हि तत् ॥ ९८ ॥

शूल्य पल (कबाब) बनाने की विधि—कलेजे आदि अङ्गों के मांस को कूट कर उस में घी तथा निमक मिला कर लोहे की सलाई पर लपेट कर या उसी में गूँथ कर निर्धूम (बिना धूयें की) अग्नि पर कुछ ऊँचाई से रख कर धीरे २ पकावे, इसी को पाक करने में निपुण लोग शूल्य पल (कबाब) कहते हैं।

कबाब—अमृत के तुल्य स्वादिष्ट, रुचिकारक, अग्नि को प्रदीप्त करने वाला, लघु, कफ तथा वातनाशक, बलकारक, एवम्—किञ्चित् पित्तकारक होता है ॥ ९६-९८ ॥

अथ मांसशृङ्गाटकम् (मांस का सिंगाड़ा)। तस्य साधनं गुणांश्चाह

शुद्धमांसं तनूकृत्य कर्त्तितं स्वेदितं जले। लवङ्गहिङ्गुलवणमरिचार्द्रकसंयुतम्॥ ९९॥
एलाजीरकधान्याकनिम्बूरससमन्वितम्। घृते सुगन्धे तद् भृष्टं पूरणं प्रोच्यते बुधैः॥१००॥
शृङ्गाटकं समितया कृतं पूरणपूरितम्। पुनः सर्पिषि सम्भृष्टं मांसशृङ्गाटकं वदेत्॥ १०१॥
मांसशृङ्गाटकं रुच्यं बृंहणं बलकृद् गुरु। वातपित्तहरं वृष्यं कफघ्नं वीर्यवर्धनम्॥ १०२॥

मांस का सिंगाड़ा बनाने की विधि—शुद्ध मांस के पतले २ तथा छोटे २ टुकड़े करके उसे जल में उबाले। पश्चात् उसमें—लौंग, हींग, सेन्धानिमक, मरिच, अदरख, छोटी इलायची, जीरा, धनिया इन सबों का यथायोग्य चूर्ण और नीबू का रस डाल करके सुगन्धित घी में भून डाले, इसी को पण्डित लोग पूरण (मैदा के सिंगाड़ा के अन्दर भरे जाने वाला द्रव्य) कहते हैं। इसके उपरान्त मैदा को जल में सान कर उसकी लोई के अन्दर उक्त पूरण संज्ञक द्रव्यों को भर कर सिंगाड़ा के आकार का बना ले और उसे घी में भून ले, इसी को मांस का सिंगाड़ा कहते हैं।

मांस का सिंगाड़ा—रुचिकारक, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), बलकारक, गुरु, वात तथा पित्तनाशक, वृष्य, कफनाशक तथा अत्यन्त वीर्यवर्धक होता है॥ ९९-१०२॥

अथ सिद्धमांसरसः (सुरुवा)। तस्य गुणानाह

सिद्धमांसरसो रुच्यः श्रमश्वासक्षयापहः। प्रीणनो वातपित्तघ्नः क्षीणानामल्परेतसाम्॥
विश्लिष्टभग्नसन्धीनां शुद्धानां शुद्धिकाङ्क्षिणाम्॥ १०३॥
स्मृत्योजोबलहीनानां ज्वरक्षीणक्षतोरसाम्। शस्यते स्वरहीनानां दृष्ट्यायुःश्रवणार्थिनाम्॥
प्रकाराः कथिताः सन्ति बहवो मांससम्भवाः। ग्रन्थविस्तरभीतेस्ते मया नात्र प्रकीर्त्तिताः॥

सिद्धमांसरस (सुरुवा) रुचिकारक, श्रम, श्वास तथा क्षय को दूर करने वाला, तृप्तिदायक, वात तथा पित्तनाशक होता है; एवम् क्षीण, अल्पवीर्य या जिनकी सन्धियां उखड़ गई हैं या टूट गई हैं, या जो वमन विरेचनादि से शुद्ध हुये हैं अथवा वमन विरेचनादि से शोधन करना चाहते हैं, किंवा स्मरणशक्ति ओज तथा बल से हीन हैं, या ज्वर से क्षीण अथवा उरःक्षत रोग से पीड़ित हैं, या जिनका स्वर हीन हो गया है अथवा दृष्टिशक्ति आयु तथा श्रवणशक्ति की वृद्धि चाहने वाले जो लोग हैं उनके लिये उत्तम होता है। इस प्रकार से बहुत से मांस बनाने के प्रकार अन्यत्र कहे हुये हैं किन्तु ग्रन्थ के बढ़ जाने के भय से यहां पर उन सबका वर्णन नहीं किया जा रहा है॥ १०३-१०५॥

अथ शाकपाकविधिः। तामाह

हिङ्गुजीरयुते तैले क्षिपेच्छाकं सुखण्डितम्॥ १०६॥
लवणं चात्र चूर्णादि सिद्धं हिङ्गूदकं क्षिपेत्। इत्येवं सर्वशाकानां साधनेऽभिहितो विधिः॥

शाक बनाने की विधि—शाक को पहले टुकड़े २ करके और धो करके पीछे तेल में हींग तथा जीरा का तड़का दे करके उसी में डाल दे, जब गल जाय तब उसमें सेंधा निमक, खटाई का चूर्ण तथा हींग घोला हुआ जल छोड़ कर पक जाने पर उतार ले। हर एक शाकों को बनाने के लिये प्रायः करके यही विधि काम में ली जाती है॥ १०६-१०७॥

अथ पच्यान्नसाधनविधिमाह । तत्र मण्ठकः ("मठरी" इति लोके) । तस्य साधनविधिमाह

समितां मर्दयेदाज्यैर्जलेनापि च सन्नयेत् । तस्यास्तु वटिकां कृत्वा पचेत्सर्पिषि नीरसम् ॥
एलालवङ्गकर्पूरमरिचाद्यैरलङ्कृते ॥ १०८ ॥
मज्जयित्वा सितापाके ततस्तञ्च समुद्धरेत् । अयं प्रकारः संसिद्धौ मण्ठ इत्यभिधीयते ॥

पकवान बनाने की विधियों में प्रथम मण्ठक (लोकप्रसिद्ध मठरी) बनाने की विधि कहते हैं–प्रथम मैदा को घी तथा जल से खूब मर्दन करे, पश्चात् उसको टिकिया बनाकर घी में खूब तल ले, फिर चीनी की चाशनी बना कर उसमें छोटी इलायची, लौंग, कपूर, मरिच आदि डालकर उसीमें उक्त टिकियों को डुबो दे, जब खूब भींग जाय तब निकाल कर काम में ले, इस प्रकार से तैयार हुये पकवान को मण्ठ अर्थात् मठरी कहते हैं ॥ १०८–१०९ ॥

ॐसन्नयेत् = मर्दयेत् ॥ १०८–१०९ ॥
यहाँ पर मूल में "सन्नयेत्" पद का "खूब मर्दन करे" यह अर्थ समझना चाहिए ॥

अथ मण्ठस्य गुणानाह

मण्ठस्तु बृंहणो वृष्यो बल्यः सुमधुरो गुरुः । पित्तानिलहरो रुच्यो दीप्ताग्नीनां सुपूजितः ॥
समिताशर्करासर्पिर्निर्मिता अपरेऽपि ये । प्रकारा अमुना तुल्यास्तेऽपि चेत्तद्गुणाः स्मृताः ॥

मठरी—बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), वृष्य, बलकारक, अत्यन्त मधुर, गुरु, पित्त तथा वायु को दूर करने वाली, रुचिकारक तथा प्रदीप्त अग्नि वालों के लिये अत्युत्तम होती है।

इसी के समान मैदा, शक्कर तथा घी के योग से बने हुये अन्य प्रकार के भी जो पकवान्न बालू-साही आदि हैं, उसके भी ये ही सब गुण होते हैं ॥ ११०–१११ ॥

अथ सम्पावः (गुजिया) । तस्य साधनं गुणांश्चाह

पर्पटचः साज्यसमितानिर्मिता घृतभर्जिताः । कुट्टिताश्चालिताः शुद्धशर्कराभिर्विमर्दिताः ॥
तत्र चूर्णं क्षिपेदेलालवङ्गमरिचानि च । नारिकेरं सकर्पूरं चारबीजान्यनेकधा ॥ ११२ ॥
घृताक्तसमिता पुष्टरोटिका रचिता ततः । तस्यान्तःपूरणं तस्य कुर्यान्मुद्रां दृढां सुधीः ॥
सर्पिषि प्रचुरे तान्तु सुपचेन्निपुणो जनः । प्रकारज्ञैः प्रकारोऽयं सम्पाव इति कीर्त्तितः ॥
मण्ठकेन समो ज्ञेयः सम्पावोऽपि गुणैर्जनैः ॥ ११६ ॥

गुजिया बनाने की विधि—घी का मोयन देकर मैदा की पतली २ रोटी बेल कर उसे घी में खरंरी तल करके पश्चात् कूट कर चलनी से चाल ले और उसमें अन्दाज से बूरा मिला कर खूब मर्दन करे। पुनः इलायची, लौंग, मरिच, नारियल की मींगी का बुरादा (बारीक २ टुकड़े), कपूर, चिरौंजी आदि द्रव्यों का चूर्ण मिलाकर घी का मोयन देकर मांड़े हुये मैदे की मोटी रोटी बेल कर उसके अन्दर (पूर्वोक्त चूर्ण किये हुये द्रव्यों को) भरकर उसका मुख दृढ़ता से युक्तिपूर्वक बन्द कर दे, तत्पश्चात्, अधिक घी कढ़ाई में डाल कर उसमें अच्छी तरह से पकावे। पकवान बनाने की विधियों के जानने वाले लोगों ने इस प्रकार से बने हुये पदार्थ को "सम्पाव" अर्थात् गुजिया कहा है।

47 गुजिया—गुणों में मठरी के समान ही होती है ऐसा पाकशास्त्रज्ञों का मत है।

अथ कर्पूरनालिका । तस्याः साधनं गुणांश्चाह

घृताढ्यया समितया लम्बं कृत्वा पुटं ततः । लवङ्गोषणकर्पूरयुतया सितयाऽन्वितम् ॥
पचेदाज्येन सिद्धैषा ज्ञेया कर्पूरनालिका । सम्पावसदृशा ज्ञेया गुणैः कर्पूरनालिका ॥ ११८ ॥

कर्पूरनालिका बनाने की विधि—घी का मोयन देकर मड़े हुये मैदा की लोई बेलकर लम्बा सम्पुट बनाकर उसके अन्दर लौंग, मरिच तथा कपूर का चूर्ण और बूरा (दानेदार चीनी) भरकर उस का मुख दृढ़ता से बन्द करके घी में पकावे, सिद्ध होने पर इसी को "कर्पूरनालिका कहते हैं ।

कर्पूरनालिका—गुणों में गुजिया के समान ही होती है ॥ ११७-११८ ॥

अथ फेनिका (फेनी) । तस्याः साधनं गुणांश्चाह

समिताया घृताढ्याया वर्त्तीर्दीर्घाः समाचरेत् । तास्तु सन्निहिता दीर्घाः पीठस्योपरि धारयेत् ॥
वेल्लयेद्वेल्लनेनैता यथैका पर्पटी भवेत । ततश्छुरिकया तान्तु संलग्नामेव कर्त्तयेत ॥ १२० ॥
ततस्तु वेल्लयेद्भूयः सट्टकेन च लेपयेत् । शालिचूर्णं घृतं तोयं मिश्रितं सट्टकं वदेत ॥
ततः संवृत्य तल्लोप्त्रीं विदधीत पृथक्पृथक् । पुनस्तां वेल्लयेल्लोप्त्रीं यथा स्यान्मण्डलाकृतिः ॥
ततस्तां सुपचेदाज्ये भवेयुश्च स्फुटाः स्फुटाः । सुगन्धया शर्करया तद्धूलन चरेत ॥
सिद्धैषा फेनिकानाम्नी मण्ठकेन समा गुणैः । ततः किञ्चिल्लघुरियं विशेषोऽयमुदाहृतः ॥

फेनी बनाने की विधि—घी का मोयन देकर मड़े हुये मैदा की लम्बी २ बत्ती बना कर उसे चकला पर पास २ सटाकर रखकर लम्बाई की तरफ से बेलन से ऐसा बेले कि जिसमें एक रोटी की तरह हो जाय, उसके बाद छूरी से एक दूसरे से लगी हुई को काट २ कर, उसको पुनः अलग २ बेल और उन पर चावल का चूर्ण, घी और जल को खूब मिलाने से जो सट्टक तैयार होता है, उसका लेप करे । फिर उन सबों को अलग २ समेट कर लोई बनाकर ऐसा बेले कि जिसमें चक्राकार रोटी बन जाय । तत्पश्चात घी में उन सबको अच्छी तरह से पकावे, तैयार होने पर उसमें फुटका-फुटका सा पड़ आयगा ।

पुनः सुगन्धित शक्कर में उन सबों को सान दे अथवा चाशनी से डुबोकर निकाल ले । इस प्रकार से तैयार हुई पकवान को फेनी कहते हैं ।

फेनी—गुणों में मठरी के समान होती है, किन्तु विशेषकर उसकी अपेक्षा किञ्चित लघु होती है ॥ ११९-१२४ ॥

*वेल्लयेत् = प्रसारयेत् । वेल्लनः = 'बेलन' इति लोके । पर्पटी = रोटी । लोप्त्री 'लोई' इति लोके ॥ ११९-१२४ ॥

यहाँ पर मूल में "वेल्लयेत" का "बेले", "वेल्लन" पद का लोक प्रसिद्ध "बेलन", "पर्पटी" का "रोटी" और "लोप्त्री" का "लोई" अर्थ समझना चाहिये ॥ ११९-१२४ ॥

अथ शष्कुली (खस्तापूरी) । तस्याः साधनं गुणांश्चाह

समिताया घृताढ्याया लोप्त्रीं कृत्वा च वेल्लयेत् । आज्ये तां भर्जयेत्सिद्धा शष्कुली फेनिकागुणा ॥

खस्ता पूरी बनाने की विधि—घी का मोयन देकर मैदा माड़ कर उसकी लोई बना डाले, पश्चात उन सबों को बेल कर घी में पका डाले, सिद्ध होने पर इसी को संस्कृत में—"शष्कुली" कहते हैं ।

खस्ता पूरी-गुणों में फेनी के समान होती है ॥ १२५ ॥

अथ सेविकामोदकाः (सेव के लड्डू) । तेषां साधनं गुणांश्चाह

घृताढ्यया समितया कृत्वा सूत्राणि तानि तु । निपुणो भर्जयेदाज्ये खण्डपाकेन योजयेत् ॥
युक्तेन मोदकान् कुर्यात्ते गुणैर्मण्ठका यथा ॥ १२६ ॥

सेव के लड्डू बनाने की विधि—घी का मोयन देकर मैदा माड़ कर उसके सूत्र अर्थात् सेव बना ले और उसे घी में भून ले, जब सिक जाय तब उतार कर शक्कर की चाशनी में डुबो कर उस का लड्डू बांध ले, उसी को सेव का लड्डू कहते हैं।

यह—गुण में मठरी के समान ही होता है ॥ १२६ ॥

अथ मुक्तामोदका मुद्गमोदका वा (बूँदी के लड्डू) । तेषां साधनं गुणांश्चाह

मुद्गानां धूमसीं सम्यग्घोलयेन्निर्मलाऽम्बुना ॥ १२७ ॥
कटाहस्थ घृतस्योर्ध्वं झर्झरं स्थापयेत्ततः । धूमसीन्तु द्रवीभूतां प्रक्षिपेज्झर्झरोपरि ॥ १२८ ॥
पतन्ति बिन्दवस्तस्मात्तान्सुपक्वान्समुद्धरेत् । सितापाकेन संयोज्य कुर्याद्युक्तेन मोदकान् ॥ १२९ ॥
लघुर्ग्राही त्रिदोषघ्नः स्वादुः शीतो रुचिप्रदः । चक्षुष्यो ज्वरहृद्बल्यस्तर्पणो मुद्गमोदकः ॥१३०॥

बूंदी के लड्डू बनाने की विधि—मूंग की धुंवास को साफ जल में गाढ़ा २ घोल कर खूब फेंट डाले, फिर कढ़ाई में ज्यादा घी रखकर उसे आग पर चढ़ा दे और कढ़ाई के ऊपर झरनी रखकर उस पर पूर्वोक्त घोले हुये धुंवास को धीरे २ डाले तो जो बूंद के समान कढ़ाई में गिरें उन सबों को सिक जाने पर निकाल २ कर चीनी की चासनी में मिलाता जाय, बाद को सबों को चासनी में से निकाल कर हाथ से लड्डू बना ले। इसी को बूंदी के लड्डू कहते हैं।

बून्दी के लड्डू—लघु, ग्राही, त्रिदोषनाशक, स्वादिष्ट, शीतल, रुचिकारक, नेत्रों के लिये हितकर, ज्वरनाशक, बलकारक तथा तृप्तिदायक होते हैं ॥ १२७–१३० ॥

*"झर्झरं झर्झरा"वेति लोके ॥ १२७–१३० ॥

यहां पर मूल में झर्झर या झर्झरा से लोकप्रसिद्ध झरनी का बोध करना चाहिये ॥१२७–१३०॥

अथ वेसनमोदकाः (मोतीचूर के लड्डू) । तेषां साधनं गुणांश्चाह

एवमेव प्रकारेण कार्या वेसनमोदकाः ॥ १३१ ॥
ते बल्या लघवः शीताः किञ्चिद्वातकरास्तथा । विष्टम्भिनो ज्वरघ्नाश्च पित्तरक्तकफापहाः ॥

मोतीचूर के लड्डू बनाने की विधि—इसी प्रकार से अर्थात् उपर्युक्त बूंदी के समान बेसन के भी लड्डू बनाने चाहिये। बेसन के लड्डू—बलकारक, लघु, शीतल, किञ्चिद् वायु उत्पन्न करने वाले, विष्टम्भकारक, ज्वरनाशक तथा पित्त, रक्तविकार और कफ को दूर करने वाले होते हैं ॥

अथ दुग्धकूपिका । तस्याः साधनं गुणांश्चाह

तण्डुलचूर्णविमिश्रितनष्टक्षीरेण सान्द्रपिष्टेन । दृढकूपिकां विदध्यात्ताञ्च पचेत्सर्पिषा सम्यक् ॥
अथ तां कोरितमध्यां घनपयसा पूर्णगर्भाञ्च । सट्टकमुद्रितवदनां तप्तघृते सुपक्ववदनाञ्च ॥
अथ पाण्डुखण्डपाके स्नपयेत्कर्पूरवासिते कुशलः ।
अथ दुग्धकूपिका सा बल्या पित्तानिलापहा चैव ॥ १३४ ॥
वृष्या शीता गुर्वी शुक्रकरी च तर्पणी रुच्या । विदधाति कायपुष्टिं दृष्टिं दूरप्रसारिणीं सुचिरम् ॥

दुग्धकूपिका बनाने की विधि—चावलों के चूर्ण में छेना (दूध को खटाई आदि डाल कर फाड़ देने से जो घन भाग अलग हो जाता है उसे छेना कहते हैं) मिलाकर खूब मर्दन करे, तत्पश्चात् उसकी मजबूत कुप्पी बना ले और उसे घी में पका ले, उसके बाद कूपी के मध्य भाग में छेद करके गाढे दूध से उसे भर दे, पश्चात् पूर्वोक्त सट्टक से उसका मुख दृढ़ता से बन्द कर दे, पश्चात् पुनः घी में पका दे, जब इसका मुख सिक जाय तब कपूर से सुवासित सफेद चीनी की चाशनी में उसे भिंगो दे। इसी को पाकशास्त्र में कुशल लोग-दुग्धकूपिका कहते हैं।

दुग्धकूपिका—बलकारक, पित्त तथा वायु को नष्ट करनेवाली, वृष्य, शीतल, गुरु, शुक्रजनक, तृप्तिकारक, रुचिजनक एवम्—शरीर की पुष्टि तथा चिर काल तक दूर तक देखने की शक्ति को करने वाली होती है ॥ १३३-१३६ ॥

अथ कुण्डलिनी ("जलेबी" इति लोके)। तस्याः साधनं गुणांश्चाह

नूतनं घटमानीय तस्यान्तः कुशलो जनः। प्रस्थार्द्धपरिमाणेन दध्नाऽम्लेन प्रलेपयेत् ॥१३७॥
द्विप्रस्थां समितां तत्र दध्यम्लं प्रस्थसम्मितम्। घृतमर्द्धशरावञ्च घोलयित्वा घटे क्षिपेत् ॥
आतपे स्थापयेत्तावद् यावद्याति तदम्लताम्। ततस्तत्प्रक्षिपेत्पात्रे सच्छिद्रे भाजने तु तत् ॥
परिभ्राम्य परिभ्राम्य सुसन्तप्ते घृते क्षिपेत्। पुनःपुनस्तदावृत्त्या विदध्यान्मण्डलाकृतिम् ॥
तां सुपक्वां घृतान्नीत्वा सितापाके तनुद्रवे। कर्पूरादिसुगन्धे च स्नापयित्वोद्धरेत्ततः ॥१४१॥
एषा कुण्डलिनी नाम्ना पुष्टिकान्तिबलप्रदा। धातुवृद्धिकरी वृष्या रुच्या चेन्द्रियतर्पणी ॥

जलेबी बनाने की विधि—पाकविद्या में जो निपुण हो, वह एक नवीन घड़ा लेकर उसके अन्दर आधा प्रस्थ (३२ रुपये भर) खट्टा दही लेकर उससे चारो तरफ लेप कर दे, उसके बाद २ प्रस्थ (१२८ रुपये भर अर्थात् १ सेर ९ छटाक ३) भर) मैदा, १ प्रस्थ (६ छटाक २) भर खट्टा दही, आधा शराव (३ छटाक १) भर) घी, इन सबों को खूब घोल कर उक्त घड़े मे रख कर धूप में जब तक उक्त पदार्थ खट्टे न हो जायं तब तक रहने दे। खट्टे हो जाने के बाद घड़े में से निकाल कर उक्त पदार्थों को जिसमें एक छिद्र कनिष्ठिका अंगुली जाने लायक से कुछ छोटा हो, उस पात्र में रखकर खौलते हुए घी की कढ़ाई में पात्र को घुमा २ कर मण्डलाकार एक मण्डल के भीतर दूसरा मण्डल इस भांति से जैसा छोटा या बड़ा बनाना हो, वैसा मण्डल बना ले, और जब वह पक जाय तब निकाल कर पतली चीनी की चाशनी में डुबो दे और ऊपर से कपूर आदि सुगन्धित पदार्थों का चूर्ण बुरका दे, तत्पश्चात् धीरे से निकाल कर अलग पात्र में रख दे, इसी को जलेबी कहते हैं ॥

जलेबी—पुष्टि, कान्ति तथा बल को देने वाली, धातुवर्धक, र्यवर्धक, रुचिकारक तथा इन्द्रिय अर्थात् रसनेन्द्रिय को तृप्त करने वाली होती है ॥ १३७-१४२ ॥

अथ पश्चात् परिवेष्याणि। तत्र रसाला (श्रीखण्ड)। तस्याः साधनं सेवनार्हजनान् गुणाँश्चाह

आदौ माहिषमम्लमम्बुरहितं दध्याढकं शर्करां
शुभ्रां प्रस्थयुगोन्मितां शुचिपटे किञ्चिच्च किञ्चित्क्षिपेत्।
दुग्धेनार्द्धघटेन मृण्मयनवस्थाल्यां दृढं स्रावये-
देलाबीजलवङ्गचन्द्रमरिचैर्योग्यैश्च तद्योजयेत् ॥
भीमेन प्रियभोजनेन रचिता नाम्ना रसाला स्वयं
श्रीकृष्णेन पुरा पुनः पुनरियं प्रीत्या समास्वादिता।

एषा येन वसन्तवर्जितदिने संसेव्यते नित्यश-
स्तस्य स्यादतिवीर्यवृद्धिरनिशं सर्वेन्द्रियाणां बलम् ॥ १४४ ॥
ग्रीष्मे तथाशरदि ये रविशोषिताङ्गा ये च प्रमत्तवनितासुरतातिखिन्नाः ।
ये चापि मार्गपरिसर्पणशीर्णगात्रा-स्तेषामियं वपुषि पोषणमाशु कुर्यात् ॥ १४५ ॥
रसाला शुक्रला बल्या रोचनी वातपित्तजित् ॥ १४६ ॥
दीपनी बृंहणी स्निग्धा मधुरा शिशिरा सरा । रक्तपित्तं तृषां दाहं प्रतिश्यायं विनाशयेत् ॥

भोजन के पश्चात् परोसने योग्य पदार्थों में प्रथम श्रीखण्ड बनाने की विधि कहते हैं—प्रथम भैंस का जल रहित खट्टा दही १ आढक (३ सेर ३ छटाक १) भर), सफेद शक्कर का बूरा २ प्रस्थ (१ सेर ९ छटाक ३) भर), और आधा घट (२ आढक अर्थात् ५ सेर ६ छटाक २) भर) दूध लेकर इन सबको एक साफ कपड़े पर धीरे २ डाल कर खूब मसल कर के नीचे एक मिट्टी के पात्र में छान ले, पश्चात् उसमें छोटी इलायची के बीज, लौंग, कपूर, मरिच इत्यादि द्रव्यों का चूर्ण आवश्यकताऽनुसार डाल दे । इसी को श्रीखण्ड कहते हैं, इसे सर्वप्रथम उत्तम भोजन करने तथा बनाने वाले कुन्तीपुत्र भीम ने बनाया था और इसे स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने अत्यन्त स्वादिष्ट होने से बारम्बार लेकर प्रीतिपूर्वक खाया था, तथा इसे जो कोई वसन्त ऋतु के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं में प्रतिदिन खाता है, उसके वीर्य की अत्यन्त वृद्धि और सम्पूर्ण इन्द्रियों में बल की वृद्धि होती है । एवम् ग्रीष्म तथा शरद् ऋतु में सूर्य की किरणों से जिनके शरीर सूख गये हैं, जो काम मद से मतवाली स्त्रियों के साथ रमण करने से अत्यन्त खिन्न हो गये हैं तथा अत्यन्त मार्ग चलने से जिनके शरीर शिथिल हो गये हैं, उन लोगों के लिये यह श्रीखण्ड तत्काल शरीर की पुष्टि करने वाला होता है ।

श्रीखण्ड—शुक्रजनक, बलकारक, रोचक, वात तथा पित्तनाशक, अग्निदीपक, बृंहण, स्निग्ध, मधुर, शीतल, सारक एवम् रक्तपित्त, तृषा, दाह और जुकाम को दूर करने वाला होता है ॥ १४३ १४७ ॥

अथ शर्करोदकम् (सरबत) । तस्य साधनं गुणांश्चाह

जलेन शीतलेनैव घोलिता शुभ्रशर्करा । एलालवङ्गकर्पूरमरिचैश्च समन्विता ॥ १४८ ॥
शर्करोदकनाम्ना तत्प्रसिद्धं विदुषां मुखैः । शर्करोदकमाख्यातं शुक्रलं शिशिरं सरम् ॥१४९॥
बल्यं रुच्यं लघु स्वादु वातपित्तप्रणाशनम् । मूर्च्छाछर्दितृषादाहज्वरशान्तिकरं परम् ॥१५०॥

शर्बत बनाने की विधि—सफेद चीनी को शीतल जल में घोलकर उसमें इलायची, लौंग, कपूर, तथा मरिच पीस कर डाल दे, पश्चात् छान कर पीवे, इसी को पण्डित लोग शर्बत कहते हैं ।

शर्बत—शुक्रजनक, शीतल, सारक, बलकारक, रोचक, लघु, स्वादिष्ट, वात तथा पित्तनाशक एवम्–मूर्च्छा, वमन, प्यास, दाह तथा ज्वर को अत्यन्त शान्त करने वाला होता है । १४८–१५०॥

अथ प्रपाणकानि (सरबत) । तत्राम्रफलप्रपाणकम् । तस्य साधनं गुणांश्चाह

आम्रमामं जले स्विन्नं मर्दितं दृढपाणिना । सिताशीताम्बुसंयुक्तं कर्पूरमरिचान्वितम् ॥१५१॥
प्रपाणकमिदं श्रेष्ठं भीमसेनेन निर्मितम् । सद्यो रुचिकरं बल्यं शीघ्रमिन्द्रियतर्पणम् ॥१५२॥

प्रपाणक अर्थात् सरबत अथवा पना में प्रथम आमका पना बनाने की विधि—कच्चा आम जल में उबाल कर हाथ से खूब मसलकर उसका रस निकाल ले और उसमें सफेद चीनी, शीतल जल मात्राऽनुसार डाल कर पुनः कपूर तथा मरिच का चूर्ण मिला दे।

इसी को आम का पना कहते हैं, यह उत्तम होता है। इसे भीमसेन ने सर्वप्रथम बनाया था। यह पीने से तत्काल ही रुचि को बढ़ाने वाला, बलकारक तथा शीघ्र इन्द्रियों को तृप्त करने वाला होता है॥ १५१-१५२॥

अथाम्लिकाफलपानकम्। तस्य साधनं गुणांश्चाह

अम्लिकायाः फलं पक्वं मर्दितं वारिणा दृढम्। शर्करामरिचैर्मिश्रं लवङ्गेन्दुसुवासितम्॥१५३॥
अम्लिकाफलसम्भूतं पानकं वातनाशनम्। पित्तश्लेष्मकरं किञ्चित्सुरुच्यं वह्निबोधनम्॥

इमली का पना बनाने की विधि—इमली के पके फलों को प्रथम जल में भिगो दे, तत्पश्चात् हाथ से खूब मसल कर छानकर उसमें साफ शक्कर, मरिच, लवङ्ग तथा कपूर का चूर्ण मिला दे।

इमली का पना—वातनाशक, एवम् किञ्चित् पित्त तथा कफकारक, अत्यन्त रोचक और जठराग्नि को उद्दीप्त करने वाला होता है॥ १५३-१५४॥

अथ निम्बुकफलपानकम्। तस्य साधनं गुणांश्चाह

भागैकं निम्बुजं तोयं षड्भागं शर्करोदकम्। लवङ्गमरिचैर्मिश्रं पानं पानकमुत्तमम्॥१५५॥
निम्बूकफलभवं पानमत्यम्लं वातनाशनम्। वह्निदीप्तिकरं रुच्यं समस्ताहारपाचकम्॥१५६॥

नीम्बू का पानक बनाने की विधि—निम्बू का रस १ भाग, चीनी का शर्बत ६ भाग, इन दोनों को एकत्र कर उसमें लवङ्ग तथा मरिच मात्राऽनुसार मिला देने से पीने योग्य उत्तम पानक तैयार होता है। निम्बू का पानक—अत्यन्त अम्ल रसयुक्त, वातनाशक, अग्नि को प्रदीप्त करने वाला, रोचक तथा सभी प्रकार के आहार को पचाने वाला होता है १५५-१५६॥

अथ धान्याकपानकम्। तस्य साधनं गुणांश्चाह

शिलायां साधु सम्पिष्टं धान्याकं वस्त्रगालितम्।
शर्करोदकसंयुक्तं कर्पूरादिसुसंस्कृतम्। नूतने मृण्मये पात्रे स्थितं पित्तहरं परम्॥ १५७॥

धनियें का पानक बनाने की विधि तथा गुण—धनियें को प्रथम सिल पर भली भाँति पीस कर वस्त्र से छान ले, पश्चात् उसमें मात्राऽनुसार चीनी का शर्बत मिलाकर तथा कपूर आदि सुगन्धित द्रव्यों से सुगन्धित करके नवीन मिट्टी के पात्र में रख दे, पश्चात् इच्छानुसार पीने से यह पित्त को अत्यन्त नष्ट करता है॥ १५७॥

अथ काञ्जी। तस्यागुणानाह

काञ्जिकं रोचनं रुच्यं पाचनं वह्निदीपनम्॥ १५८॥
शूलाजीर्णविबन्धघ्नं कोष्ठशुद्धिकरं परम्। न भवेत्काञ्जिकं यत्र तत्र जालिः प्रदीयते॥१५९॥

काञ्जी—रोचक, तथा स्वयं रुचने वाली, पाचक, अग्निदीपक एवम् शूल, अजीर्ण तथा विबन्ध (मलबन्ध) को नष्ट करने वाली एवम् कोष्ठ को अत्यन्त शुद्ध रखने वाली होती है।

यदि काञ्जी न मिले तो उसके अभाव में निम्नलिखित जाली का प्रयोग करना चाहिये॥

*काञ्जीविधिर्वटकावसरे लिखितः॥ १५८-१५९॥

यहां पर यह और भी समझ लेना चाहिये कि—काञ्जी बनाने की विधि पूर्व में वटक बनाने की विधि में कह आये हैं अतः पुनः उल्लेख नहीं किया गया ॥ १५८–१५९ ॥

अथ जालिः । तस्य साधनं गुणांश्चाह

आममाम्रफलं पिष्टं राजिकालवणान्वितम् । भृष्टहिङ्गुयुतं पूतं घोलितं जालिरुच्यते ॥१६०॥
जालिर्हरति जिह्वायाः कुण्ठत्वं कण्ठशोधिनी । मन्दं मन्दन्तु पीता सा रोचनी वह्निबोधिनी ॥

जाली बनाने की विधि—आम के कच्चे फल को पीसकर उसमें मात्राऽनुसार राई तथा सेंधा नमक मिलाकर घोल ले, पश्चात् छान कर उसमें भुने हुए हींग का चूर्ण मिला दे। इसी को जाली कहते हैं।

जाली—जीभ की जड़ता को दूर करने वाली तथा कण्ठ को शुद्ध करने वाली होती है। एवम् यदि इसे धीरे २ पिया जाय तो यह रोचक तथा अग्नि को बढ़ाने वाली होती है ॥१६०–१६१॥

अथ तक्रम् (छाछ)। तस्य साधनं गुणांश्चाह

तुर्यांशेन जलेन संयुतमतिस्थूलं सदम्लं दधि
प्रायोमाहिषमम्बुकेन विमले मृद्भाजने गालयेत् ।
भृष्टं हिंगुच जीरकञ्चलवणं राजीञ्च किञ्चिन्मितां
पिष्टां तत्र विमिश्रयेद्भवति तत्तक्रं न कस्य प्रियम् ॥

तक्रं रुचिकरं वह्निदीपनं पाचनं परम् । उदरे ये गदास्तेषां नाशनं तृप्तिकारकम् ॥ १६२ ॥

छाछ बनाने की विधि—प्रायः करके अत्यन्त गाढ़ा तथा खट्टा भैंस का दही लेकर उसमें चतुर्थांश जल मिला कर मथ डाले, तत्पश्चात् वस्त्र से स्वच्छ मिट्टी के पात्र में छान ले और उसमें मात्राऽनुसार भुनी हुई हींग, भुना हुआ जीरा, सेंधानिमक, इन सब का चूर्ण तथा थोड़ी मात्रा में राई पीसकर मिला देनेसे छाछ तैयार हो जाता है, जो किसको प्रिय नहीं लगता है अर्थात् सभी लोग इसे रुचि से पीते हैं।

छाछ—रुचिकारक, अग्निदीपक, अत्यन्त पाचक एवम् उदरसम्बन्धी जितने रोग हैं सभी को नष्ट करने वाला तथा तृप्ति देने वाला होता है ॥ १६२ ॥

अथ दुग्धम् (दूध)। तस्य भोजनान्ते पानगुणानाह

विदाहीन्यन्नपानानि यानि भुङ्क्ते हि मानवः । तद्विदाहप्रशान्त्यर्थं भोजनान्ते पयः पिबेत् ॥

भोजन के अन्त में दूध पीने के गुण-यदि मनुष्य भोजन में विदाही (दाहकारक) अन्न पानादि का प्रयोग करे तो उसे उचित है कि-उससे उत्पन्न होने वाले दाह की शान्ति के लिये भोजन के अन्त में दुग्धपान अवश्य करे ॥ १६४ ॥

दुग्धस्यापरे गुणा उक्ता एव दुग्धवर्गे ॥ १६४ ॥

यहां पर यह भी समझना चाहिये कि इसके अतिरिक्त दुग्ध के अन्य जो गुण हैं, वे आगे दुग्ध-वर्ग में कहे जायेंगे। अतः यहां उनका उल्लेख नहीं किया गया ॥ १६४ ॥

अथ सक्तवः (सत्तू)। तस्य साधनविधिमाह

धान्यानि भ्राष्ट्रभृष्टानि यन्त्रपिष्टानि सक्तवः ॥ १६५ ॥

सत्तू बनाने की विधि—भाड़ में भूजे हुये चावल जौ आदि धान्यों को यदि चक्की में पीस दिया जाय तो वे सत्तू कहलाते हैं ॥ १६५ ॥

तत्र यवसक्तवः। तेषां गुणानाह

यवजाः सक्तवः शीता दीपना लघवः सराः। कफपित्तहरा रूक्षा लेखनाश्च प्रकीर्त्तिताः॥१६६॥
ते पीता बलदा वृष्या बृंहणा भेदनास्तथा। तर्पणा मधुरा रुच्याः परिणामे बलावहाः॥१६७॥
कफपित्तश्रमक्षुत्तृड्व्रणनेत्रामयापहाः। प्रशस्ता घर्मदाहाध्वव्यायामार्त्तशरीरिणाम्॥१६८॥

जौ का सत्तू—शीतल, अग्निदीपक, लघु, सारक, कफ तथा पित्त नाशक, रूक्ष तथा लेखन गुण युक्त होता है। यदि सत्तू को जल में घोल कर पीया जाय तो वह बलदायक, वीर्यवर्धक, बृंहण, मल का भेदन करने वाला, तृप्तिकारक, मधुर, रुचनेवाला, परिणाम में (पचने पर) बल देने वाला एवम् कफ, पित्त, श्रम, भूख, प्यास, व्रण तथा नेत्ररोग को दूर करने वाला होता है। और धूप, दाह, चलने की थकावट, व्यायाम इनसे पीड़ित लोगों के लिये हितकर है॥१६६-१६८॥

अथ चणकयवसक्तवः। तेषां साधनं गुणाँश्चाह

निस्तुषैश्चणकैर्भृष्टैस्तुर्यांशैश्च यवैः कृताः। सक्तवः शर्करासर्पिर्युक्ता ग्रीष्मेऽतिपूजिताः॥१६९॥

जौ मिले हुए चनों का सत्तू बनाने की विधि—चने को भून कर उसके छिलके को अलग कर के उस में भुने जौ को चने की अपेक्षा चतुर्थांश मिला कर पीस कर तैयार करने से जो सत्तू होता है उसे यव मिश्रित चने का सत्तू कहते हैं।

यवमिश्रित चने का सत्तू—यदि शक्कर तथा घी मिला कर ग्रीष्म ऋतु में खाया जाय तो अत्युत्तम होता है॥ १६९॥

अथ शालिसक्तवः। तेषां गुणानाह

सक्तवः शालिसम्भूता वह्निदा लघवो हिमाः। मधुरा ग्राहिणो रुच्याः पथ्याश्च बलशुक्रदाः॥

चावल का सत्तू—अग्निकारक, लघु, शीतल, मधुर रसयुक्त, ग्राही, स्वयं रुचिकर, पथ्य, एवम् बल तथा शुक्र को उत्पन्न करने वाला होता है॥ १७०॥

अथ सक्तुविषये सामान्यपरिभाषामाह

न भुक्त्वा न रदैश्छित्वा न निशायां न वा बहून्। न जलान्तरितानद्भिः सक्तूनद्यान्न केवलान्॥
पृथक्पानं पुनर्दानं सामिषं पयसा निशि। दन्तच्छेदनमुष्णञ्च सप्त सक्तुषु वर्जयेत्॥ १७०॥

सत्तू के विषय में सामान्य परिभाषायें—भोजन करने के उपरान्त या दाँतों से काट २ कर वा रात्रि में, अथवा अधिकमात्रा में, किंवा सत्तू खाने के बीच में बार २ जल पीपी कर या जल के साथ केवल सत्तू को कभी नहीं खाना चाहिये।

सत्तू के सम्बन्ध में त्याग करने योग्य ७ बातें—१ सत्तू खाने के समय पृथक् जल पान करना, २ एक बार सत्तू जिसने खा लिया पुनः उसी समय दुबारा उसे सत्तू देना, ३ मांस के साथ सत्तू खाना, ४ केवल जल के साथ सत्तू खाना, ५ रात्रि में सत्तू भोजन करना, ६ दाँतों से काट २ कर खाना, ७ गरम करके खाना, ये ७ बातें सत्तू के विषय में त्याग करने योग्य हैं॥ १७१-१७२॥

अथ धानाः (बहुरी) तासां साधनं गुणाँश्चाह

यवास्तु निस्तुषा भृष्टाः स्मृता धाना इति स्त्रियाम्।
धानाः स्युर्दुर्जरा रूक्षास्तृट्प्रदा गुरवश्च ताः। तथा मेहकफच्छर्दिनाशिन्यः सम्प्रकीर्तिताः॥

बहुरी बनाने की विधि—जौ को कूट कर तथा भूसी अलग कर जो भाड़ में भूना जाता है उसे "बहुरी" कहते हैं। इसे संस्कृत में "धाना" कहते हैं। धाना शब्द स्त्रीलिङ्ग में होता है।

बहुरी—देर में हजम होने वाली, रूक्ष, प्यास लगाने वाली, गुरु एवम्-प्रमेह, कफ तथा वमन को नष्ट करने वाली होती है॥ १७३॥

अथ लाजाः (खील)। तेषां साधनं गुणाँश्चाह

येषां स्युस्तण्डुलास्तानि धान्यानि सतुषाणि च। भृष्टानि स्फुटितान्याहुर्लाजा इति मनीषिणः॥
लाजाः स्युर्मधुराः शीता लघवो दीपनाश्च ते। स्वल्पमूत्रमला रूक्षा बल्याः पित्तकफच्छिदः॥
छर्द्यतीसारदाहास्रमेहमेदस्तृषाऽपहाः॥ १७५॥

खील बनाने की विधि—जिन धान्यों के चावल होते हैं वे धान्य भूसी (छिल्के) के साथ ही अर्थात् बिना कूटे ही यदि भून दिये जायं तो खिल जाते हैं। उन्हीं को पण्डित लोग संस्कृत में "लाजाः" कहते हैं। (इस का प्रयोग नित्य पुंल्लिङ्ग बहुवचन में ही होता है) और हिन्दी में "खील" कहते हैं।

खील—मधुर रस युक्त, शीतल, लघु, अग्निदीपक, स्वल्प मूत्र तथा मल को लाने वाले, रूक्ष, बलकारक, एवम्—पित्त, कफ, वमन, अतिसार, दाह, रक्तविकार, प्रमेह, मेद तथा तृषा को दूर करने वाले होते हैं॥ १७४-१७५॥

अथ चिपिटाः (चिउडा)। तेषां साधनं नामानि गुणाँश्चाह

शालयः सतुषा आर्द्रा भृष्टा अस्फुटितास्ततः। कुट्टिताश्चिपिटाःप्रोक्तास्ते स्मृताः पृथुका अपि॥
पृथुका गुरवो वातनाशनाः श्लेष्मला अपि। सक्षीरा बृंहणा वृष्या बल्या भिन्नमलाश्च ते॥

चिउडा बनाने की विधि—शालि (जड़हन) धान्य भूसी के सहित ही भिगो कर गीले ही यदि भून दिये जायं और खिलने न पावे तो उसे उखल में कूट कर पश्चात् भूसी अलग कर देने से वे ही संस्कृत में 'चिपिट' और हिन्दी में चिउड़ा" कहे जाते हैं और 'पृथुक' भी संस्कृत नाम इन्हीं का है।

चिउड़ा—गुरु, वातनाशक, कफकारक, क्षारयुक्त, बृंहण (रस रक्तादिवर्धक), वीर्यवर्धक, बलकारक, तथा मल भेदन करने वाला होता है॥ १७६-१७७॥

अथ होलकः (होरहा)। तस्य साधनं गुणाँश्चाह

अर्द्धपक्वैः शमीधान्यैस्तृणभृष्टैश्च होलकः। होलकोऽल्पानिलो मेदःकफदोषत्रयापहः॥
भवेद् यो होलको यस्य स च तत्तद्गुणो भवेत्॥ १७८॥

होरहा बनाने की विधि—अधपके, शमी धान्य चना आदि को तृण की अग्नि में भून देने से वे होरहा कहलाते हैं। संस्कृत में इसी को "होलक" कहते हैं।

होरहा—किञ्चित् वातकारक तथा मेद, कफ और त्रिदोष को नष्ट करने वाला होता है। और शेष गुण होरहा जिस अन्न का बनाया जाय उसी के समान होते हैं॥ १७८॥

अथ ऊची (ऊंवी)। तस्या साधनं गुणाँश्चाह

मञ्जरी स्वर्द्धपक्वा या यवगोधूमयोर्भवेद्। तृणानलेन संभृष्टा बुधैरूचीति सा स्मृता॥
ऊची कफप्रदा बल्या लघ्वी पित्तानिलापहा॥ १७९॥

ऊंवी बनाने की विधि—जव या गेहूं की अधपकी जो मञ्जरी होती है, वह यदि तृण की अग्नि में भून दी जाय तो उसे पंडित लोग संस्कृत में ऊची कहते हैं।

ऊंबी—कफकारक, बलदायक, लघु एवम् पित्त तथा वायु को नष्ट करने वाली होती है ॥ १७९ ॥

ॐ ऊबी = "उम्बी, उमिया" इति लोके ॥ १७९ ॥

ऊबी को लोक में "उम्बी या उमिया" कहते हैं ॥ १७९ ॥

अथ कुल्माषाः (घुघुरी)। तेषां साधनं गुणाँश्चाह

अर्धस्विन्नास्तु गोधूमा अन्येऽपि चणकादयः ॥ १८९ ॥

कुल्माषा इति कथ्यन्ते शब्दशास्त्रेषु पण्डितैः । कुल्माषागुरवो रूक्षा वातला भिन्नवर्चसः ॥

घुघुरी बनाने की विधि – गेहूं, इसके अतिरिक्त चना आदि जो अन्न हैं वे यदि आधे सीजा कर दिये जायं तो शब्दशास्त्र के विद्वान् लोग उसे संस्कृत में "कुल्माष" कहते हैं ।

घुघुरी—गुरु, रूक्ष, वात-कारक तथा मल का भेदन करने वाली होती है ॥ १८०–१८१ ॥

अथ पललम् (तिलकुट)। तस्य नामानि साधनं गुणाँश्चाह

पललन्तु समाख्यातं सैत्तवं तिलपिष्टकम् । पललं मलकृद् वृष्यं वातघ्नं कफपित्तकृत् ॥

बृंहणं च गुरु स्निग्धं मूत्राधिक्यनिवर्त्तकम् ॥ १८२ ॥

तिलकुट बनाने की विधि—यदि तिलों को कूट कर उसमें गुड या शक्कर मिला दिया जाय तो उसे संस्कृत में "पलल" कहते हैं ।

तिलकुट—मलकारक, वीर्यवर्धक, वातनाशक, कफ तथा पित्त-दारक, बृंहण (रस-रक्तादि वर्धक), गुरु, स्निग्ध, एवम् मूत्र की यदि अधिक प्रवृत्ति होती हो तो उसे रोकने वाला होता है ॥ १८२ ॥

अथ पिण्याकः (तिलकी खली)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

तिलकिट्टन्तु पिण्याकस्तथा तिलखलिः स्मृता । पिण्याको लेखनो रूक्षो विष्टम्भी दृष्टिदूषणः ॥

तिल की खली के संस्कृत नाम—तिलकिट्ट, पिण्याक तथा तिलखलि ये सब हैं ।

तिल की खली—लेखन गुण युक्त, रूक्ष, विष्टम्भकारक, एवम् दृष्टि को दूषित करने वाली होती है ॥ १८३ ॥

अथ तण्डुलः (चावल)। तस्य गुणानाह

तण्डुलो मेहजन्तुघ्नः स नवस्त्वतिदुर्जरः ॥ १८४ ॥

चावल—प्रमेह तथा जन्तुओं का नाशक होता है। परन्तु यदि वही नवीन हो तो अत्यन्त दुर्जर (देर में हजम होने वाला) होता है ॥ १८४ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभाव विरचिते भावप्रकाशे

मिश्रप्रकरणे द्वादशः कृतान्नवर्गः समाप्तः ॥ १२ ॥

अथ वारिवर्गः

तत्र पानीयस्य नामानि गुणाँश्चाह

पानीयं सलिलं नीरं कीलालं जलमम्बु च। आपो वार्वारि कं तोयं पयः पाथस्तथोदकम्॥
जीवनं वनमम्भोऽर्णोऽमृतं घनरसोऽपि च॥ १॥
पानीयं श्रमनाशनं क्लमहरं मूर्च्छापिपासापहं-
तन्द्राच्छर्दिविबन्धहृद्बलकरं निद्राहरं तर्पणम्।
हृद्यं गुप्तरसं ह्यजीर्णशमकं नित्यं हितं शीतलं-
लघ्वच्छं रसकारणं निगदितं पीयूषवज्जीवनम्॥ २॥

जल के संस्कृत नाम—पानीय, सलिल, नीर, कीलाल, जल, अम्बु, आपः (अप् यह नित्य बहुवचनान्त है) वार्, वारि, क, तोय, पयः (पयस्), पाथः (पाथस्), उदक, जीवन, वन, अम्भः (अम्भस्), अर्णः (अर्णस्), अमृत तथा घनरस ये सब हैं।

जल—श्रम को दूर करने वाला, क्लान्तिनाशक, मूर्च्छा तथा प्यास को नष्ट करने वाला एवम् तन्द्रा, वमन और विबन्ध को हटाने वाला, बलकारक, निद्रा को दूर करने वाला, तृप्तिदायक, हृदय के लिये हितकर, अव्यक्त रस वाला, अजीर्ण का शमन करने वाला, सदा हितकारक, शीतल, लघु, स्वच्छ, सम्पूर्ण मधुरादि रसों का कारण एवम् अमृत के समान जीवनदाता शास्त्रों में कहा हुआ है॥ १-२॥

अथ पानीयस्य भेदानाह

पानीयं मुनिभिः प्रोक्तं दिव्यं भौममिति द्विधा।
दिव्यं चतुर्विधं प्रोक्तं धाराजं करकाभवम्। तौषारञ्च तथा हैमं तेषु धारं गुणाधिकम्॥४॥

जल के भेद—मुनियों ने दिव्य तथा भौम इन भेदों से जल दो प्रकार का कहा है। इस में दिव्य जल—१ धाराज, २ करकाभव, ३ तौषार, ४ हैम इन भेदों से ४ प्रकार का कहा हुआ है। इन में धार अर्थात् धाराज जो जल है वह अन्य की अपेक्षा अधिक गुणकारी होता है॥ ३-४॥

अथ धाराजलस्य लक्षणानि गुणांश्चाह

धाराभिः पतितं तोयं गृहीतं स्फीतवाससा। शिलायां वसुधायां वा धौतायां पतितञ्च तत्॥
सौवर्णे राजते ताम्रे स्फाटिके काचनिर्मिते। भाजने मृण्मये वाऽपि स्थापितं धारमुच्यते॥६॥
धारं नीरं त्रिदोषघ्नमनिर्देश्यरसं लघु। सौम्यं रसायनं बल्यं तर्पणं ह्लादि जीवनम्॥७॥
पाचनं मतिकृन्मूर्च्छातन्द्रादाहश्रमक्लमान्। तृष्णां हरति तत् पथ्यं विशेषात्प्रावृषि स्मृतम्॥

धार जल के लक्षण—धारा रूप से आकाश से गिरा हुआ जल यदि धुली हुई स्वच्छ शिला या पृथ्वी पर गिरा हो तो उसे लेकर स्वच्छ मोटे वस्त्र से छान कर सोना, चांदी, तांबा, स्फटिक, कांच अथवा मिट्टी इनमें से चाहे जिस किसी के बने हुये वर्त्तन में रख दे, इसीको धारसंज्ञक जल कहते हैं।

धारजल—त्रिदोषनाशक तथा अनिर्देश्यरस वाला है (इस में कौन सा रस है इसका जिह्वा के द्वारा ठीक २ निर्णय नहीं हो सकता अतः इसे अनिर्देश्यरस वाला कहते हैं), लघु,

सौम्य (सोमगुण युक्त), रसायन, बलकारक, तृप्तिदायक, आह्लाद उत्पन्न करने वाला, जीवन स्वरूप, पाचक, बुद्धिवर्द्धक, एवम्-मूर्च्छा, तन्द्रा, दाह, श्रम, क्लान्ति, प्यास इन सबों को दूर करने वाला तथा वर्षा ऋतु का विशेषतः पथ्य होता है ॥ ५-८ ॥

अथ धाराजलस्य भेदानाह

धाराजलं च द्विविधं गाङ्गसामुद्रभेदतः ॥ ९ ॥

धाराजल के भेद—गाङ्ग तथा सामुद्र इन भेदों से धाराजल दो प्रकार का होता है ॥ ९ ॥

अथ गाङ्गसामुद्रयोर्जलयोर्लक्षणं गुणांश्चाह

आकाशगङ्गासम्बन्धिजलमादाय दिग्गजाः । मेघैरन्तरिता वृष्टिं कुर्वन्तीति वचः सताम् ॥
गाङ्गमाश्वयुजे मासि प्रायो वर्षति वारिदः । सर्वथा तज्जलं ज्ञेयं तथव चरके वचः ॥ ११ ॥
स्थापिते हेमजे पात्रे राजते मृण्मयेऽपि वा । शाल्यन्नं येन संक्लिन्नं भवेदक्लेदि वर्णवत् ॥
तद्गाङ्गं सर्वदोषघ्नं ज्ञेयं सामुद्रमन्यथा । तत्तु सक्षारलवणं शुक्रदृष्टिबलापहम् ॥ १२ ॥
विस्रञ्च दोषलं तीक्ष्णं सर्वकर्मसु नो हितम् । सामुद्रं त्वाश्विने मासि गुणैर्गाङ्गवदादि त् ॥

गाङ्गजल के लक्षण—सत्पुरुषों का यह कथन है कि—दिग्गज लोग आकाश गङ्गा । जल लेकर मेघों के द्वारा छिपे हुये होकर बरसाते हैं । प्रायः करके मेघ आश्विन (क्वार) मास में जो जल बरसाता है उसे सर्वथा (निश्चित रूप से) उक्त गङ्गाजल ही समझना चाहिये । चरक में भी इसके विषय में वचन मिलता है कि—सोना-चांदी अथवा मिट्टी के वर्त्तन में रखते हुए जिस धारा जल में भिगोया हुआ शालि धान्य का चावल क्लिन्न तथा विवर्ण न हो जाय अर्थात् जैसा का तैसा बना रह जाय तो उसे सम्पूर्ण दोषों को नष्ट करने वाला गाङ्गसंज्ञक धाराजल समझना चाहिये ।

सामुद्रसंज्ञक धाराजल के लक्षण—यदि उक्त क्रम से भिगोया हुआ चावल अन्यथा अर्थात् क्लिन्न तथा विवर्ण हो जाय (फूल जाने से रङ्ग बदल जाय) तो उसे सामुद्र (धाराजल) समझना चाहिये ।

सामुद्र संज्ञक धाराजल—क्षार तथा लवण रस युक्त, शुक्र तथा दृष्टिशक्ति (या दृष्टि शक्ति और बल) नाशक, विस्र (दुर्गन्ध युक्त), दोषकारक तथा तीक्ष्ण होता है । एवम् यह सम्पूर्ण कार्यों में अहितकर होता है अर्थात् किसी भी कार्य में हितकर नहीं होता है । किन्तु यदि यही सामुद्रसंज्ञक धाराजल आश्विन मास का बरसा हुआ संग्रहीत हो तो गुणों में गाङ्गजल के तुल्य ही हितकर होता है ऐसा समझना चाहिये ॥ १०-१४ ॥

अथ शरदि वर्षासु च जलस्य निर्विषत्वे च हेतुमाह

यतोऽगस्त्यस्य दिव्यैरुदयात्सकलं जलम् । निर्मलं निर्विषं स्वादु शुक्रलं स्याददोषलम् ॥

शरत् तथा वर्षा ऋतु में क्रम से जल के निर्विष तथा सविष होने का कारण यह है कि—उस समय (आश्विन मास शरद् ऋतु में) आकाश में अगस्त्य नामक तारा के उदय होने से सम्पूर्ण जल निर्मल, निर्विष, स्वादिष्ट तथा शुक्रजनक होता है, एवम् दोषजनक भी नहीं होता है ॥

अत एवाह

फूत्कारविषवातेन नागानां व्योमचारिणाम् । वर्षासु सविषं तोयं दिव्यमप्याश्विनं विना ॥

अत एव शास्त्र में कहा है कि—वर्षाऋतु में आकाशचारी नागों (दिव्य-सर्पों) के फूत्कार (फुफकार) सम्बन्धी विषयुक्त वायु से दूषित हो जाने से दिव्य (आकाश-सम्बन्धी) जल विषयुक्त

हो जाता है। किन्तु वही (दिव्यजल) आश्विन में विषयुक्त नहीं होता है। अतः आश्विन का जल सर्वोत्तम तथा ग्राह्य होता है ॥ १६ ॥

अथानार्त्तवजलस्य लक्षणं गुणानाह

अनार्त्तवं प्रमुञ्चन्ति वारि वारिधरास्तु यत्। तत्त्रिदोषाय सर्वेषां देहिनां परिकीर्त्तितम् ॥१७॥

अनार्तवसंज्ञक धाराजल—मेघ जो अनार्तव (बिना ऋतु के) जल बरसाते हैं वह सभी प्राणियों के लिये त्रिदोषकारक होता है।

*अनार्त्तवं पौषादिमासचतुष्टयविषयम् ॥ १७ ॥

यहां पर मूल में "अनार्त्तव" शब्द से बिना ऋतु के अर्थात् पूस आदि (पूस, माघ, फागुन, चैत) ४ मासों में" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १७ ॥

अथ करकाजलस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

दिव्यवाय्वग्निसंयोगात् संहताः खात् पतन्ति याः।
पाषाणखण्डवच्चापस्ताः कारक्योऽमृतोपमाः ॥ १८ ॥

करकाजं जलं रूक्षं विशदं गुरु च स्थिरम्। दारुणं शीतलं सान्द्रं पित्तहृत्कफवातकृत् ॥ १९ ॥

करकाजल के लक्षण—आकाशस्थ वायु तथा अग्नि के संयोग से घन होकर जो पत्थर के टुकड़े की भांति जल (ओला) गिरता है वह करका या कारकी अर्थात् करका (ओला) सम्बन्धी जल कहलाता है तथा वह अमृत के समान स्वादिष्ट होता है।

करका जल—रूक्ष, विशद, गुरु, स्थिर, शीतल तथा सान्द्र इन गुणों से युक्त, कठिन, पित्तनाशक तथा कफ और वात को उत्पन्न करने वाला होता है ॥ १८–१९ ॥

अथ तौषारजलस्य लक्षणं गुणांश्चाह

अपि नद्याः समुद्रान्ते वह्निरापस्तदुद्भवाः। धूमावयवनिर्मुक्तास्तुषाराख्यास्तु ताः स्मृताः ॥

तौषार (तुषार सम्बन्धी) जल के लक्षण—नदी से लेकर समुद्र पर्यन्त तक के जल में जो अग्नि रहता है, उससे अर्थात् अग्नि से उत्पन्न होने वाले धूम के अंश से रहित जो जल है वह तुषार संज्ञक कहलाता है ॥ २० ॥

*अपि नद्याः समुद्रान्ते वह्निः = नदीमारभ्य समुद्रपर्यन्ते वह्निरास्ते। तदुद्भवाः-वह्निभवाः, धूमावयवनिर्मुक्ताः = धूमांशरहिताः, आपः = तुषाराख्याः। "तुष" इति लोके "तुषार" इति च ॥ २० ॥

यहां पर मूल में—"अपि नद्याः समुद्रान्ते वह्निः" इन पदों का "नदी से लेकर समुद्र पर्यन्त तक के जल में जो अग्नि रहती है" "तदुद्भवाः" पद का—"उससे अर्थात् अग्नि से उत्पन्न होने वाले"; "धूमावयवनिर्मुक्ताः" पद का "धूम के अंश से रहित" यह अर्थ समझना चाहिए। तथा लोक में "तुष-" तथा "तुषार" ये दो नाम तुषार के प्रसिद्ध हैं यह भी समझना चाहिये।

अपथ्याः प्राणिनां प्रायो भूरुहाणान्तु ता हिताः।
तुषाराम्बु हिमं रूक्षं स्याद्वातलमपित्तलम्। कफोरुस्तम्भकण्ठाग्निमेहगण्डादिरोगकृत् ॥

उक्त तुषार सम्बन्धी जल प्राणि मात्र के लिये अपथ्य है किन्तु केवल वृक्षों के लिये हितकर होता है।

तुषार सम्बन्धी जल—शीतल, रूक्ष, वातजनक, किञ्चित् पित्तकारक एवम्—कफ, ऊरुस्तम्भ, कण्ठ तथा अग्नि सम्बन्धी रोग, प्रमेह तथा गलगण्डादि रोग को दूर करने वाला होता है ॥ २१ ॥

अथ हैमजलस्य लक्षणं गुणांश्चाह

हिमवच्छिखरादिभ्यो द्रवीभूयाभिवर्षति ।
यत्तदेव हिमं हैमं जलमाहुर्मनीषिणः । हिमाम्बु शीतं पित्तघ्नं गुरु वातविवर्द्धनम् ॥ २२ ॥

हैम (हिम सम्बन्धी) जल के लक्षण—हिमालय के शिखर आदि स्थानों से द्रवीभूत होकर (पिघल कर) जो हिम (बर्फ) बरसता है अर्थात् आकाश से वायु द्वारा उड़ २ कर इधर उधर गिरता है उसी को हिम कहते हैं और उसके सम्बन्धी जल को पण्डित लोग संस्कृत में "हैमजल" कहते हैं ।

हिम सम्बन्धी जल—शीतल, पित्तनाशक, गुरु एवम् वायु को बढ़ाने वाला होता है ॥२२॥

हैमं जलम् = कुहेलजलम् ॥ २२ ॥

यहां पर "हैम जल" से लोक प्रसिद्ध "कुहेला का जल" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २२ ॥

अन्ये तु

औपीनजपूर्वेरितमम्बु समुद्रस्य यद्घनीभूतम् ।
पवनानीतमुदीच्यां तद्धिममिति कथ्यते सद्भिः ॥ २३ ॥

अन्य आचार्य लोग तो यह कहते हैं कि—पवनादिक के पूर्व से प्रेरित होकर जो समुद्र का जल वायु द्वारा उत्तर दिशा में पहुंचाये जाने पर घनभाव को प्राप्त हो जाता है उसे पण्डित लोग हिम कहते हैं ॥ २३ ॥

*हिमं = "कुहेसा" इति लोके ॥ २४ ॥

यहां पर मूलमें "हिम" पदका लोक प्रसिद्ध "कुहेसा" अर्थ समझना चाहिये ॥ २१ ॥

हिमन्तु शीतलं रूक्षं दारुणं सूक्ष्ममित्यपि ।
न तद् दूषयते वातं न च पित्तं न वा कफम् ॥ २४ ॥

हिम—शीतल तथा रूक्ष होता है एवम् दारुण (कठिन), तथा सूक्ष्म भी होता है। और यह न तो पित्त न वात, और न कफ किसी को भी दूषित करता है ॥ २४ ॥

अथ भौमजलस्य भेदानाह

भौममम्भो निगदितं प्रथमं त्रिविधं बुधैः । जाङ्गलं परमानूपं ततः साधारणं क्रमात् ॥ २५ ॥

भौम (भूमि सम्बन्धी) जल के भेद—विद्वानों ने भौम जल को प्रथम—जाङ्गल, आनूप और साधारण इन भेदों से तीन प्रकार का माना है। इनके लक्षण तथा गुण क्रम से आगे कहते हैं ॥२५॥

अथ भौमभेदस्य जाङ्गलादिजलत्रयस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

अल्पोदकोऽल्पवृक्षश्च पित्तरक्तामयान्वितः । ज्ञातव्यो जाङ्गलो देशस्तत्रत्यं जाङ्गलं जलम् ॥
बह्वम्बुर्बहुवृक्षश्च वातश्लेष्मामयान्वितः । देशोऽनूप इति ख्यात आनूपं तद्भवं जलम् ॥२७॥
मिश्रचिह्नस्तु यो देशः सहि साधारणः स्मृतः । तस्मिन्देशे यदुदकं तत्तु साधारणं स्मृतम् ॥
जाङ्गलं सलिलं रूक्षं लवणं लघु पित्तनुत् । वह्निकृत्कफहृत्पथ्यं विकारान्हरते बहून् ॥ २९ ॥

आनूपं वार्यभिष्यन्दि स्वादु स्निग्धं घनं गुरु । वह्निहृत्कफकृद्‌हृद्यं विकारान्कुरुते बहून् ॥
साधारणं तु मधुरं दीपनं शीतलं लघु । तर्पणं रोचनं तृष्णादाहदोषत्रयप्रणुत् ॥ ३१ ॥

भौम जल के भेदों में जो जाङ्गल आदि जल के ३ भेद हैं उनके क्रम से प्रथम केवल लक्षण तत्पश्चात् क्रम से गुण ये हैं—जाङ्गल जल के लक्षण—जहाँ पर थोड़े जल तथा थोड़े वृक्ष होते हों और पित्त तथा रक्त सम्बन्धी विकार अधिक उत्पन्न होते हों उसे जाङ्गल देश तथा वहां के जल को जाङ्गल जल समझना चाहिये ।

आनूप जल के लक्षण—जहाँ पर अधिक रूप से जल तथा वृक्ष होते हों और वात तथा कफ सम्बन्धी रोग भी अधिक रूप से होते हों उसे अनूप देश तथा वहां के जल को आनूप जल समझना चाहिये ।

साधारण जल के लक्षण—जहाँ पर जाङ्गल तथा अनूप दोनों देशों के चिह्न मिले हुये मिलते हों तो उसे साधारण देश तथा वहाँ के जल को साधारण जल समझना चाहिये ।

जाङ्गल जल—रूक्ष, लवणरसयुक्त, लघु, पित्तनाशक, अग्निवर्धक, कफनाशक, पथ्य एवम् अनेक प्रकार के विकारों को नष्ट करने वाला होता है ।

आनूप जल—अभिष्यन्दी, स्वादिष्ट, स्निग्ध, घन, गुरु, अग्नि को नष्ट करने वाला (मन्दाग्नि कारक), कफकारक, हृदय के लिये हितकर एवम् बहुत से रोगों को उत्पन्न करने वाला होता है ।

साधारण जल—मधुररसयुक्त, अग्निदीपक, शीतल, लघु, तृप्तिकारक, रोचक एवम् प्यास, दाह तथा त्रिदोष को दूर करने वाला होता है ॥ २९–३१ ॥

अथ भौमानामेव नादेयादीनां लक्षणानि गुणांश्च ।
तत्र नादेयस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

नद्या नदस्य वा नीरं नादेयमिति कीर्त्तितम् ॥ ३२ ॥
नादेयमुदकं रूक्षं वातलं लघु दीपनम् । अनभिष्यन्दि विशदं कटुकं कफपित्तनुत् ॥ ३३ ॥

भौम जल के अन्य प्रकार से नादेयादि भेदों के लक्षण तथा गुण क्रम से ये हैं । नादेय के लक्षण—नदी या नद के जल को "नादेय" कहते हैं । नादेय जल—रूक्ष, वातजनक, लघु, अग्निदीपक, ईषत् अभिष्यन्दी, विशद गुण युक्त, कटु रस युक्त एवम्—कफ तथा पित्त को दूर करने वाला होता है ॥ ३२–३३ ॥

अथ शीघ्रवहत्वादिभेदेन च नादेयजलानां गुणभेदानाह

नद्यः शीघ्रवहा लघ्व्यः सर्वा याश्चामलोदकाः । गुर्व्यः शैवलसंछन्ना मन्दगाः कलुषाश्च याः ॥
हिमवत्प्रभवाः पथ्या नद्योऽश्माहतपाथसः । गङ्गाशतद्रुसरयूयमुनाऽऽद्या गुणोत्तमाः ॥३५॥
सह्यशैलभवा नद्यो वेणागोदावरीमुखाः । कुर्वन्ति प्रायशः कुष्ठमीषद्वातकफावहाः ॥३६॥

शीघ्र तथा मन्द गति से बहने के भेद से एवम्-देश भेद से नदियों के जलों में जो गुणभेद होते हैं वे ये हैं—शीघ्रगति से बहने वाली—ऐसी जितनी नदियां होती हैं उन सबों का जल लघु तथा स्वच्छ होता है । मन्द गति से बहने वाली या सेवार से ढके हुये जल वाली किंवा मलिन जल वाली—ऐसी जो नदियां हैं उन सबों का जल गुरु होता है ।

हिमालय से निकल कर बहने वाली या पत्थरों से टकर खानेवाली-ऐसी जो गङ्गा, शतद्रू (सतलज), सरयू तथा यमुना आदि नदियां हैं उनका जल पथ्य एवम् गुणों में उत्तम होता है ।

सह्यपर्वत से निकल कर बहने वाली—ऐसी जो वेणा तथा गोदावरी आदि नदियां हैं उन

सर्वो का जल प्रायः करके कुष्ठ रोग उत्पन्न करने वाला एवम् किञ्चित् वात तथा कफ कारक होता है ॥ ३४-३६ ॥

परिभाषा

नदीसरस्तडागस्थे कूपप्रस्रवणादिजे । उदके देशभेदेन गुणान्दोषांश्च लक्षयेत् ॥ ३७ ॥

परिभाषा—नदी, सरोवर, तालाब, कूआं तथा झरना आदि ये सब जैसे जाङ्गल आदि देशों में स्थित हों उनके अनुसार इनके जलों के गुण तथा दोष समझने चाहिये ॥ ३७ ॥

अथौद्भिदजलस्य लक्षणं गुणांश्चाह

विदार्य भूमिं निम्नां यन्महत्या धारया स्रवेत् ।
यत्तोयमौद्भिदं नाम वदन्तीति महर्षयः ॥ ३८ ॥

औद्भिदं वारि पित्तघ्नमविदाह्यतिशीतलम् । प्रीणनं मधुरं बल्यमीषद्वातकरं लघु ॥ ३९ ॥

औद्भिद जल के लक्षण—नीची जमीन को फोड़कर जो बड़ी धारा से निकल कर बहे उस जल को महर्षि लोग औद्भिदसंज्ञक कहते हैं ।

औद्भिद जल—पित्तनाशक, अविदाही, अतिशीतल, तृप्तिकारक, मधुररसयुक्त, बलकारक, एवम् किञ्चित् वातकारक तथा लघु होता है ॥ ३८-३९ ॥

अथ नैर्झरजलस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

शैलसानुस्रवद्वारिप्रवाहो निर्झरो झरः । स तु प्रस्रवणश्चापि तत्रस्थं नैर्झरं जलम् ॥ ४० ॥
नैर्झरं रुचिकृज्जीरं कफघ्नं दीपनं लघु । मधुरं कटुपाकं च वातलं स्यादपित्तलम् ॥ ४१ ॥

नैर्झर जल के लक्षण—पर्वत के शिखर से गिरते हुये जल के प्रवाह को संस्कृत में निर्झर, झर तथा प्रस्रवण (हिन्दी में झरना) कहते हैं । एवम् उसी के जल को नैर्झर जल (झरने का जल) कहते हैं ।

नैर्झर जल—रुचिकारक, कफनाशक, अग्निदीपक, लघु, मधुर रसयुक्त, विपाक में कटु-रसयुक्त, वातकारक तथा ईषत् पित्तकारक (पाठान्तर में पित्तकारक) होता है ॥ ४०-४१ ॥

अथ सारसजलस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

नद्याः शैलाभिरुद्धाया यत्र संस्रुत्य तिष्ठति । तत्सरो जलजच्छन्नं तदम्भः सारसं स्मृतम् ॥४२॥
सारसं सलिलं बल्यं तृष्णाघ्नं मधुरं लघु । रोचनं तुवरं रूक्षं बद्धमूत्रमलं स्मृतम् ॥ ४३ ॥

सारस जल के लक्षण—नदी का जल जहां पर पर्वत आदि से रोके जाने पर झर २ के संचित होता जाता है और कमल के पत्तों से वहां पर ढका रहता है उस संचित जल युक्त प्रदेश को सर कहते है तथा उसके जल को सारस जल कहते हैं । सारस जल—बलकारक, प्यास को शान्त करने वाला, मधुर तथा कषाय रस युक्त, लघु, रोचक, रूक्ष, मूत्र तथा मल का विबन्ध करने वाला होता है ॥ ४२-४३ ॥

अथ ताडागजलस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

प्रशस्तभूमिभागस्थो बहुसंवत्सरोषितः । जलाशयस्तडागः स्यात्ताडागं तज्जलं स्मृतम् ॥४४॥
ताडागमुदकं स्वादु कषायं कटुपाकि च । वातलं बद्धविण्मूत्रमसृक्पित्तकफापहम् ॥ ४५ ॥

ताडाग जल के लक्षण—प्रशस्त (उत्तम) भूमि का जो भाग है उस पर स्थित अनेक वर्षों का पुराना जो जलाशय है उसे "तड़ाग" कहते हैं। और तत्सम्बन्धी जल को "ताडाग जल" कहते हैं।

ताडाग जल (तालाब का जल)—स्वादिष्ट, कषाय रसयुक्त, विपाक में कटुरसयुक्त, वात-जनक, मल मूत्र का विबन्ध करने वाला एवम् रक्तपित्त तथा कफ को दूर करने वाला होता है ॥४४-४५॥

अथ वाप्य जलस्य लक्षणं क्षारमिष्टयोस्तयोर्गुणांश्चाह

पाषाणैरिष्टकाभिर्वा बद्धः कूपो बृहत्तरः। ससोपानो भवेद्वापी तज्जलं वाप्यमुच्यते ॥ ४६ ॥
वाप्यं वारि यदि क्षारं पित्तकृत्कफवातहृत्। तदेव मिष्टं कफकृद्वातपित्तहरं भवेत् ॥ ४७ ॥

वाप्य जल के लक्षण-जो कुआं पत्थर तथा ईंटों से बँधा हुआ हो तथा बहुत बड़ा हो और जिस में उतरने के लिए सीढ़ियां भी बनी हों तो उसे वापी (बावड़ी) कहते हैं। और उस के जल को "वाप्य जल" कहते हैं।

वाप्य जल (बावड़ी का जल)—यदि खारा हो तो पित्तकारक एवम् कफ तथा वात को दूर करने वाला होता है। और यदि वही (जल) मीठा हो तो कफकारक एवम् वात तथा पित्त नाशक होता है ॥ ४६-४७ ॥

अथ कौपजलस्य लक्षणं स्वादुक्षारयोस्तयोर्गुणाँश्चाह

भूमौ खातोऽल्पविस्तारो गम्भीरो मण्डलाकृतिः। बद्धोऽबद्धः सकूपः स्यात्तदम्भः कौपमुच्यते॥
कौपं पयो यदि स्वादु त्रिदोषघ्नं हितं लघु। तत्क्षारं कफवातघ्नं दीपनं पित्तकृत्परम् ॥४९॥

कौप जल के लक्षण—जो गड्ढा थोड़े विस्तार का अर्थात् कम चौड़ा मण्डलाकार (गोलाकार मुंह वाला), गहरा होता है एवम् वह चाहे ईंटे आदि से बंधा हो या न बंधा हो तो उसे कूप अर्थात् कूंआ कहते हैं। और उसी के जल को "कौप जल" कहते हैं।

कौपजल (कूयें का जल)—यदि स्वादिष्ट हो तो त्रिदोषनाशक, हितकारी तथा लघु होता है। और यदि खारा हो तो कफ तथा वात नाशक, अग्निदीपक और अत्यन्त पित्तकारक होता है ॥ ४८-४९ ॥

अथ चौञ्ज्यजलस्य लक्षणं गुणांश्चाह

शिलाकीर्णं स्वयं श्वभ्रं नीलाञ्जनसमोदकम्। लतावितानसंछन्नं चौञ्ज्यमित्यभिधीयते
अश्मादिभिरबद्धं यत्तच्चौञ्ज्यमिति वा परे। यत्रस्थमुदकं चौञ्ज्यं मुनिभिस्तदुदाहृतम्॥
चौञ्ज्यं वह्निकरं नीरं रूक्षं कफहरं लघु। मधुरं पित्तनुद्रुच्यं पाचनं विशदं स्मृतम् ॥ ५२ ॥

चौञ्ज्य जल के लक्षण—जो गड्ढा अपने आप हो गया हो और जिस में पत्थर के टुकड़े हों, एवं जल नीले अञ्जन के समान हो तथा लताओं के विस्तार से ढका हो तो उसे संस्कृत में चौञ्ज्य (चोंड़ा) कहते हैं। अन्य आचार्यों का मत है कि जो गड्ढा पत्थर आदि से न बांधा हुआ हो उसे चौञ्ज्य कहते हैं। और इस के जल को मुनि लोग "चौञ्ज्य जल" कहते हैं।

चौञ्ज्यजल—अग्निकारक, रूक्ष, कफनाशक, लघु, मधुर रस युक्त, पित्तनाशक, रोचक, पाचक तथा विशद गुण युक्त होता है ॥ ५०-५२ ॥

अथ पाल्वलजलस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

अल्पं सरः पल्वलं स्याद्यत्र चन्द्रर्क्षगे रवौ ॥ ५३ ॥
न तिष्ठति जलं किञ्चित्तत्रस्थं वारि पाल्वलम् । पाल्वलं वार्यभिष्यन्दि गुरु स्वादु त्रिदोषकृत् ॥

पाल्वल जल के लक्षण—सूर्य जब चन्द्रमा के नक्षत्र पर हों तब जिस में कुछ भी जल न रहता हो ऐसे छोटे २ तलैये को पल्वल कहते हैं। और इस के जल को पाल्वल जल कहते हैं।

पाल्वल जल—अभिष्यन्दी, गुरु, स्वादिष्ट तथा त्रिदोषकारक होता है ॥ ५३-५४ ॥

*रवौ = सूर्ये, चन्द्रर्क्षगे = कर्कटराशिस्थे, श्रावणे मासीति यावत् । अत्र चन्द्रर्क्षं मृगशिरस्तत्रग इति मुख्यार्थः ॥ ५३-५४ ॥

यहां पर "रवि" से सूर्य, तथा "चन्द्रर्क्षग" पद से-"चन्द्र की राशि कर्क में स्थित अर्थात् श्रावण मास में—" यह अर्थ समझना चाहिये, किन्तु वस्तुतः यह अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि श्रावण वर्षा ऋतु में सर्वत्र वर्षा का जल रहता ही है। अतः उक्त पद्य का चन्द्र नक्षत्र मृगशिर पर स्थित अर्थात् वृष राशि पर स्थित अर्थ समझना चाहिये जो ज्येष्ठ मास में पड़ता है—उस समय जिस में जल न ठहरता हो यह अर्थ युक्तियुक्त है ॥ ५३-५४ ॥

अथ विकिरजलस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

नद्यादिनिकटे भूमिर्या भवेद्वालुकामयी । उद्धाव्यते ततो यत्तु तज्जलं विकिरं विदुः ॥ ५५ ॥
विकिरं शीतलं स्वच्छं निर्दोषं लघु च स्मृतम् । तुवरं स्वादु पित्तघ्नं क्षारं तत्पित्तलं मनाक् ॥

विकिर जल के लक्षण—नदी आदि के निकट जो बालुकामय भूमि हो वहां पर जो जल खन कर निकाला जाता है उसे विकिर-जल कहते हैं। विकिर जल शीतल, स्वच्छ, निर्दोष, लघु, कषाय तथा मधुररस युक्त एवम् पित्तनाशक होता है। यदि वही जल खारा हो तो किञ्चित् पित्त-कारक होता है ॥ ५५-५६ ॥

अथ कैदारजलस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

केदारः क्षेत्रमुद्दिष्टं कैदारं तज्जलं स्मृतम् । कैदारं वार्यभिष्यन्दि मधुरं गुरु दोषकृत् ॥ ५७ ॥

कैदार जल के लक्षण—केदार—यह शब्द क्षेत्र (खेत) का पर्यायवाची है, अतः इस के जल को कैदार जल कहते हैं। कैदार जल—अभिष्यन्दी, मधुर रस युक्त, गुरु तथा वातादि-दोष कारक होता है ॥ ५७ ॥

अथ वृष्टिजलस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

वार्षिकं तदहर्वृष्टं भूमिस्थमहितं जलम् । त्रिरात्रमुषितं तत्तु प्रसन्नममृतोपमम् ॥ ५८ ॥

वृष्टि जल (वर्षा के जल) के लक्षण—तत्काल वर्षा होकर जो जल पृथ्वी पर जमा रहता है उसे वार्षिक जल (वृष्टि का जल) कहते हैं, यह अहितकारक होता है। किन्तु यही ३ रात्रि के बाद मिट्टी बैठ जाने से यदि स्वच्छ हो तो अमृत के समान गुणकारी होता है ॥ ५८ ॥

अथ हेमन्तादिकालविशेषे विहितं जलविशेषमाह

हेमन्ते सारसं तोयं ताडागं वा हितं स्मृतम् । हेमन्ते विहितं तोयं शिशिरेऽपि प्रशस्यते ॥
वसन्तग्रीष्मयोः कौपं वाप्यं वा नैर्झरं जलम् । नादेयं वारि नादेयं वसन्तग्रीष्मयोर्बुधैः ॥
विषवल्लीनवृक्षाणां पत्राद्यैर्दूषितं यतः । औद्भिदं वाऽऽन्तरिक्षं वा कौपं वा प्रावृषि स्मृतम् ।

शस्तं शरदि नादेयं नीरमंशूदकं परम् ॥ ६१ ॥

हेमन्तादि काल विशेष में जलविशेष का विधान—हेमन्त (अगहन-पूस) ऋतु में सरोवर या तालाब का जल विशेष हितकर होता है और जो जल हेमन्त में हितकर कहा गया है वही (सरोवर या तालाब का जल) शिशिर (माघ-फाल्गुन) में भी उत्तम होता है। वसन्त (चैत-वैशाख) तथा ग्रीष्म (जेठ-आषाढ़) ऋतु में कूंआ, बावड़ी या झरना का जल उत्तम होता है। वसन्त तथा ग्रीष्म ऋतु में नदी का जल पीने के लिये बुद्धिमान् व्यक्ति को कभी नहीं लेना चाहिये, क्योंकि उस समय वह (नदी का जल) जंगली वृक्षों के पत्तों के पड़ने से दूषित होकर विषैला हो जाता है। औद्भिद, आकाश से उत्तम भूमि पर गिरा हुआ या कूयें का जल वर्षा ऋतु में उत्तम होता है। शरद (क्वार-कार्तिक) ऋतु में नदी का अथवा अंशूदक संज्ञक जल अति हितकर होता है ॥५९-६१॥

अथांशूदकजलस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

दिवा रविकरैर्जुष्टं निशि शीतकरांशुभिः। ज्ञेयमंशूदकं नाम स्निग्धं दोषत्रयापहम् ॥ ६२ ॥
अनभिष्यन्दि निर्दोषमान्तरिक्षजलोपमम्। बल्यं रसायनं मेध्यं शीतं लघु सुधासमम् ॥

अंशूदक जल के लक्षण—जिस जल के ऊपर दिन में सूर्य की किरणें और रात में चन्द्रमा की किरणें पड़ी हों उसे "अंशूदक" कहते हैं। अंशूदक—स्निग्ध गुणयुक्त, त्रिदोषनाशक, अनभिष्यन्दी (अभिष्यन्दी नहीं), निर्दोष, आंतरिक्ष जल के समान, बलकारक, रसायन, मेधा के लिये हितकर, शीतल, लघु तथा अमृत के समान होता है ॥ ६२-६३ ॥

*रविकरैर्जुष्टमित्युक्ते दिवापदं समस्तदिवसप्राप्त्यर्थं, शीतकरांशुभिर्जुष्टमित्युक्ते निशीतिपदं समस्तरात्रिप्राप्त्यर्थम् ॥६२॥

यहां पर "रविकरैर्जुष्टम्" ऐसा कहने पर पुनः "दिवा" पद का उल्लेख करने से "सारा दिन सूर्य की किरणें पड़ी हों" तथा "शीतकरांशुभिर्जुष्टम्" ऐसा कहने पर पुनः "निशा" पद का उल्लेख करने से "सारी रात चन्द्रमा की किरणें पड़ी हों" ऐसा अर्थ समझना चाहिए ॥ ६२-६३ ॥

अन्यच्च

शरदि स्वच्छमुदयादगस्त्यस्याखिलं हितम् ॥ ६४ ॥

इसके अतिरिक्त अन्य वचन—शरद ऋतु में अगस्त्य तारा के उदय होने से सभी प्रकार के जल स्वच्छ हो जाते हैं अतः वे सभी हितकारी होते हैं ॥ ६४ ॥

वृद्धसुश्रुतस्तु

पौषे वारि सरोजातं माघे तत्तु तडागजम्। फाल्गुने कूपसम्भूतं चैत्रे चौण्ड्यं हितम् मतम् ॥
वैशाखे नैर्झरं नीरं ज्येष्ठे शस्तं तथौद्भिदम्। आषाढे शस्यते कौपं श्रावणे दिव्यमेव च ॥६६॥
भाद्रे कौपं पयः शस्तमाश्विने चौण्ड्यमेव च। कार्त्तिके मार्गशीर्षे च जलमात्रं प्रशस्यते ॥

वृद्ध सुश्रुत के तो इस विषय में ये वचन हैं कि—पूस मास में-सरोवर का जल, माघ मास में-तालाब का जल, फागुन मास में-कूयें का जल, चैत मास में—चौण्ड्य (चौंड़े का) जल, वैशाख मास में-झरने का जल, जेठ मास में औद्भिद जल, आषाढ़ मास में - कूयें का जल, श्रावण मास में-आकाश (वर्षा) का जल, भादो मास में-कूयें का जल, क्वार मास में—चौण्ड्य (चौंड़े का) जल, कार्त्तिक तथा अगहन मास में—सम्पूर्ण जल प्रशस्त होता है ॥ ६५-६७ ॥

अथ जलग्रहणस्य समयमाह

भौमानामम्भसां प्रायो ग्रहणं प्रातरिष्यते । शीतत्वं निर्मलत्वञ्च यतस्तेषां मतो गुणः ॥६८॥

जल ग्रहण करने का समय—सभी प्रकार के भौम (भूमि सम्बन्धी) जलों के ग्रहण करने का समय प्रायः करके प्रातःकाल उत्तम होता है क्योंकि उस समय वे निर्मल तथा शीतल रहते हैं। अत एव और समयों की अपेक्षा अधिक गुणकारी होते हैं ॥ ६८ ॥

अथ जलस्य पानविधिमाह

अत्यम्बुपानान्न विपच्यतेऽन्नं निरम्बुपानाच्च स एव दोषः ।
तस्मान्नरो वह्निविवर्द्धनाय मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि ॥ ६९ ॥

जल पीने की विधि—भोजन के समय अधिक जल पीने से अन्न नहीं पचता है, और एकदम कुछ भी जल न पीने से भी उक्त दोष होता है अर्थात् अन्न नहीं पचता है। अतएव मनुष्य को चाहिये कि उक्त समय में अग्नि बढ़ाने के लिए थोड़ा २ कर के बारम्बार जल पीवे ॥ ६९ ॥

अथ शीतलजलपानस्य विषयानाह

मूर्च्छापित्तोष्णदाहेषु विषे रक्ते मदात्यये । श्रमे भ्रमे विदग्धेऽन्ने तमके वमथौ तथा ।
ऊर्ध्वगे रक्तपित्ते च शीतमम्भः प्रशस्यते ॥ ७० ॥

शीतल जलपान के विषय (योग्य लोग)-मूर्च्छा, पित्त सम्बन्धी रोग, गरमी, दाह, विष, रक्तविकार, मदात्यय, श्रम, भ्रमरोग, तमक श्वास, वमन, ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त इन सब रोगवालों के लिये तथा जिनका अन्न न पचा हुआ हो ऐसे लोगों के लिये शीतल जल पीना हितकर होता है ॥ ७० ॥

अथ शीतलजलपानस्य निषेधविषयानाह

पार्श्वशूले प्रतिश्याये वातरोगे गलग्रहे । आध्माने स्तिमिते कोष्ठे सद्यःशुद्धौ नवज्वरे ॥७१॥
अरुचिग्रहणीगुल्मश्वासकासेषु विद्रधौ । हिक्कायां स्नेहपाने च शीताम्बु परिवर्जयेत् ॥७२॥

शीतल जलपान के निषेध के विषय—अर्थात् शीतल जल पीना जिन रोगों में निषिद्ध है उनका निर्देश—पार्श्वशूल (पसली का दर्द), जुकाम, वातरोग, गलग्रह, अफारा, बद्धकोष्ठ, तथा वमन विरेचनादि द्वारा शोधन कर्म करने के तत्काल बाद में एवम् नवीन ज्वर, अरुचि, ग्रहणी, गुल्म, श्वास, खांसी, विद्रधि, हिचकी तथा स्नेहपान (तैल आदि पीने पर) इन सबों में शीतल जल पीना त्याग कर देना चाहिये ॥ ७१-७२ ॥

अथाल्पजलपानस्य विषयानाह

अरोचके प्रतिश्याये मन्देऽग्नौ श्वयथौ क्षये । मुखप्रसेके जठरे कुष्ठे नेत्रामये ज्वरे ।
व्रणे च मधुमेहे च पिबेत्पानीयमल्पकम् ॥ ७३ ॥

थोडे जलपान के विषय अर्थात् जिन में थोड़ा जल पीना उचित है उन रोगों का निर्देश—अरुचि, जुकाम, मन्दाग्नि, शोथ, क्षय, मुखप्रसेक (मुख में जल भर आना), उदररोग, कुष्ठ, नेत्रविकार, ज्वर, व्रण और मधुमेह इन रोगों में रोगी को थोड़ा जल पीना उचित है ॥ ७३ ॥

अथ जलपानस्यावश्यकतामाह

जीवनं जीविनां जीवो जगत् सर्वन्तु तन्मयम् । नातोऽत्यन्तनिषेधेन कदाचिद्वारि वार्य्यते ॥

जलपान की आवश्यकता—जीवन (जल) प्राणियों का जीवन स्वरूप है और सम्पूर्ण जगत

जलमय है। अतः जल का अत्यन्त निषेध के साथ कभी नहीं निवारण करे अर्थात् एक दम से जल पीने का निषेध कभी नहीं करना चाहिये किन्तु अति स्वल्पमात्रा में देना ही चाहिये ॥ ७४ ॥

हारीतश्च

तृष्णा गरीयसी घोरा सद्यःप्राणविनाशिनी । तस्माद् देयं तृषाऽऽर्त्ताय पानीयं प्राणधारणम् ॥
तृषितो मोहमायाति मोहात्प्राणान्विमुञ्चति । अतः सर्वास्ववस्थासु न क्वचिद्वारि वारयेत् ॥

इस विषय में "हारीत" भी कहते हैं कि—अत्यन्त प्यास बड़ी भयंकर होती है क्योंकि उससे सद्यः प्राण निकल जाता है, इसलिये जो अत्यन्त प्यास से पीड़ित हो उसे प्राण धारण करने का प्रधान साधन जल अवश्य पीने के लिये देना चाहिये । और जो प्यासा होता है उसे अन्त में मूर्च्छा हो जाती है और मूर्च्छा होने से अन्त में वह प्राणों को छोड़ देता है, अतः सभी अवस्थाओं में कभी भी जल पीने का निषेध नहीं करना चाहिये ॥ ७५-७६ ॥

अथ गुणवतस्तोयस्य लक्षणान्याह

अगन्धमव्यक्तरसं सुशीतं तर्षनाशनम् । स्वच्छं लघु च हृद्यञ्च तोयं गुणवदुच्यते ॥ ७७ ॥

गुणकारी जल के लक्षण—जो जल गन्धरहित हो तथा जिसका रस पूर्ण रूप से न मालूम पड़ता हो एवं जो अति शीतल, पीने से शीघ्र प्यास को शान्त करने वाला, स्वच्छ, लघु तथा हृदय के लिये हितकर या हृदय को प्रिय हो तो उसे प्रशस्त गुणवाला अर्थात् उत्तम जल समझना चाहिये ॥ ७७ ॥

अथागुणकारिजलस्य लक्षणानि दुर्गुणाँश्चाह

पिच्छिलं कृमिलं क्लिन्नं पर्णशैवालकर्दमैः। विवर्णं विरसं सान्द्रं दुर्गन्धं न हितं जलम् ॥७८॥
कलुषं छन्नमम्भोजपर्णनीलीतृणादिभिः । दुःस्पर्शमस्पृष्टं सौरचान्द्रमरीचिभिः ॥ ७९ ॥
अनार्त्तवं वार्षिकं तु प्रथमं तच्च भूमिगम् । व्यापन्नं परिहर्त्तव्यं सर्वदोषप्रकोपणम् ॥ ८० ॥

तत् कुर्यात्स्नानपानाभ्यां तृष्णाऽऽध्मानचिरज्वरान् ।
कासाग्निमान्द्याभिष्यन्दकण्डूगण्डादिकं तथा ॥ ८१ ॥

अवगुण करने वाले जल के लक्षण—जो जल-पिच्छिल, कृमियुक्त और पत्ते, सेवार तथा कीचड़ से खराब हो गया हो, एवम् विकृत वर्ण का, विरस, गाढ़ा तथा दुर्गन्ध युक्त हो गया हो वह हितकारी नहीं होता है । और जो जल—गंदला तथा कमल के पत्ते, सेवार तथा तृण आदि से ढंका हुआ, एवं जिसके स्पर्श से खुजली होने लगे और जिस पर सूर्य तथा चन्द्रमा की किरणें कभी न पड़ती हों, और जो अनार्त्तव (पूस, माघ, फागुन, चैत इन ४ मासों में वर्षा का), और प्रथम वर्षा का भूमि पर स्थित जल हो तथा दूषित हो तो ऐसा जल पीने के लिये सर्वथा त्याग करने योग्य होता है क्योंकि वह सब दोषों को प्रकुपित करने वाला होता है । और उक्त जल को जो कोई पीने तथा नहाने के कार्य में लेता है तो उसे तृषा, अफारा, जीर्णज्वर, खांसी, अग्नि की मन्दता, अभिष्यन्द, खुजली तथा गलगण्ड आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ७८-८१ ॥

अथ दूषितजलस्य निर्दोषीकरणोपायमाह

निन्दितं चापि पानीयं क्वथितं सूर्यतापितम् । सुवर्णं रजतं लौहं पाषाणं सिकतामपि ॥८२॥
भृशं सन्ताप्य निर्वाप्य सप्तधा साधितं तथा । कर्पूरजातिपुन्नागपाटलादिसुवासितम् ॥८३॥

शुचिसान्द्रपटस्त्रावि क्षुद्रजन्तुविवर्जितम् । स्वच्छं कनकमुक्ताऽऽद्यैः शुद्धं स्याद्दोषवर्जितम् ॥
पर्णमूलबिसग्रन्थिमुक्ताकनकशैवलैः । गोमेदेन च वस्त्रेण कुर्य्यादम्बुप्रसादनम् ॥ ८५ ॥

दूषित जल को निर्दोष (शुद्ध) करने का उपाय—जो जल उक्त प्रकार से निन्दित हो उसे काढ़े की भांति पकावे, या सूर्य की किरणों से गरम कर दे अर्थात् धूप में रख दे, वा सोना, चांदी, लोहा, पत्थर, वालू को खूब गरम कर २ के सात बार उक्त जल में बुझा दे, तदुपरांत कपूर, चमेली का पुष्प, सुलतानचम्पा का पुष्प, पाढ़ल पुष्प आदि से सुवासित कर दे, और स्वच्छ तथा गाढे वस्त्र से छान दे जिस से छोटे २ कृमि दूर हो जायं, इस प्रकार से स्वच्छ किया हुआ अथवा सोना या मोती आदि के द्वारा शुद्ध किया हुआ जल स्वच्छ तथा दोष रहित हो जाता है । पत्ते, मूल, बिसग्रन्थि (कमल का मूल), मोती, सोना, सेवार, गोमेदमणि तथा वस्त्र इन सबों से जल को स्वच्छ करना चाहिये ॥ ८२-८५ ॥

अथ पीतजलस्य परिपाककालानाह

पीतं जलं जीर्य्यति यामयुग्माद्यामैकमात्राच्छृतशीतलञ्च ।
तदर्धमात्रेण शृतं कदुष्णं पयःप्रपाके त्रय एव कालाः ॥ ८६ ॥

पीये हुये जलके पचने में समय का परिमाण—पीया हुआ साधारण जल दो प्रहर (६ घण्टे) में पच जाता है ।

औंटा कर ठंढा किया हुआ जल पीने से वह १ प्रहर (३ घण्टा) में पचता है । और औंटा कर किंचित् गरम जल पीने से आधे प्रहर (१॥ घण्टे) में पच जाता है । इस भांति से जल के पचने में ३ प्रकार के समय के परिमाण हैं ॥ ८६ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे
मिश्रप्रकरणे त्रयोदशो वारिवर्गः समाप्तः ॥ १३ ॥

अथ दुग्धवर्गः

अथ दुग्धस्य नामानि गुणाँश्चाह

दुग्धं क्षीरं पयः स्तन्यं बालजीवनमित्यपि । दुग्धं सुमधुरं स्निग्धं वातपित्तहरं सरम् ॥ १ ॥
सद्यःशुक्रकरं शीतं सात्म्यं सर्वशरीरिणाम् । जीवनं बृंहणं बल्यं मेध्यं वाजीकरं परम् ॥
वयःस्थापनमायुष्यं सन्धिकारि रसायनम् ॥ २ ॥

दूध के संस्कृत नाम—दुग्ध, क्षीर, पयः (पयस्), स्तन्य तथा बालजीवन ये सब हैं।

दूध—मधुररसयुक्त, स्निग्ध, वात तथा पित्त को दूर करने वाला, सारक, तत्काल शुक्र को उत्पन्न करने वाला, शीतल, सम्पूर्ण प्राणियों के लिये सात्म्य (अनुकूल), जीवनी शक्ति को देने वाला, बृंहण (रस-रक्तादि वर्धक), बलकारक, मेधा शक्ति के लिये हितकर, अत्यन्त वाजीकरण, अवस्था को स्थिर रखने वाला, आयु को बढ़ाने वाला, सन्धानकारक तथा रसायन है ॥ १–२ ॥

अथ दुग्धपानार्हजनानाह

विरेकवान्तिवस्तीनां सेव्यमोजोविवर्द्धनम् ॥ ३ ॥
जीर्णज्वरे मनोरोगे शोषमूर्च्छाभ्रमेषु च। ग्रहण्यां पाण्डुरोगे च दाहे तृषि हृदामये ॥ ४ ॥
शूलोदावर्त्तगुल्मेषु वस्तिरोगे गुदाङ्कुरे । रक्तपित्तेऽतिसारे च योनिरोगे श्रमे क्लमे ॥ ५ ॥
गर्भस्रावे च सततं हितं मुनिवरैः स्मृतम् । बालवृद्धक्षतक्षीणाः क्षुद्व्यवायकृशाश्च ये ॥
तेभ्यः सदाऽतिशयितं हितमेतदुदाहृतम् ॥ ६ ॥

दूध पीने के योग्य लोग—जिन्होंने विरेचन, वमन तथा वस्ति का प्रयोग किया है, ऐसे लोगों के लिये दूध सेवन करने के योग्य और ओजोवर्धक है। तथा जीर्णज्वर, मानसिकरोग, शोष, मूर्च्छा, भ्रम, ग्रहणी, पाण्डुरोग, दाह, तृषा, हृद्रोग, शूल, उदावर्त्त, गुल्म, वस्तिरोग, अर्श, रक्त-पित्त, अतिसार, योनिरोग, श्रम, क्लान्ति, गर्भस्राव, इन सब रोगों में दूध पीना सर्वदा हितकर होता है, ऐसा मुनियों का मत है और जो बालक, वृद्ध तथा क्षतक्षीण हैं या भूख और मैथुन से कृश हो गये हैं ऐसे लोगों के लिये यह (दूध) सदा अत्यन्त हितकर कहा हुआ है ॥ ३—६ ॥

अथ गोदुग्धस्य गुणानाह

गव्यं दुग्धं विशेषेण मधुरं रसपाकयोः। दोषधातुमलस्रोतःकिञ्चित्क्लेदकरं गुरु ॥ ७ ॥
शीतलं स्तन्यकृत्स्निग्धं वातपित्तास्रनाशनम्। जरासमस्तरोगाणां शान्तिकृत् सेविनां सदा॥

गाय के दूध के गुण—गाय का दूध विशेष कर स्वाद तथा विपाक में मधुर रसयुक्त, शीतल, दुग्धवर्धक, स्निग्ध, वात-पित्त तथा रक्तविकार को नष्ट करने वाला, दोष-धातुमल तथा-नाडियोंमें किञ्चित् क्लेद (आर्द्रता) उत्पन्न करने वाला, गुरु एवम् निरन्तर सेवन करने वालों की वृद्धावस्था तथा समस्तरोगों को शमन करने वाला होता है ॥ ७-८ ॥

अथ कृष्णाऽऽदीनां गवां दुग्धस्य गुणानाह

कृष्णाया गोर्भवेद् दुग्धं वातहारि गुणाधिकम् ॥ ९ ॥
पीताया हरते पित्तं तथा वातहरं भवेत् । श्लेष्मलं गुरु शुक्लाया रक्ता चित्रा च वातहृत्॥

काली गाय का दूध—वातनाशक, औरों की अपेक्षा अधिक गुणकारी होता है। पीली गायका दूध-पित्त तथा वातनाशक होता है। सफेद गाय का दूध—कफकारक तथा गुरु होता है। लाल तथा चितकबरी गाय का दूध—वातनाशक होता है॥ ९-१०॥

अथ सद्यः प्रसूताया विवत्सायाश्च गोर्दुग्धगुणानाह

बालवत्सविवत्सानां गवां दुग्धं त्रिदोषकृत्॥ ११॥

हाल की ब्याई हुई अर्थात् छोटे बछड़े वाली तथा जिसके बच्चे मर गये हैं ऐसी गायों का दूध—त्रिदोषकारक होता है॥ ११॥

अथ वष्कयिण्या गोः (बाखरीगाय के) दुग्धगुणानाह

वष्कयिण्यास्त्रिदोषघ्नं तर्पणं बलकृत्पयः॥ १२॥

बाखरी (बकेन) गाय का दूध—त्रिदोषनाशक, तृप्तिकारक तथा बलकारक होता है॥१॥

अथ देशविशेषेण गोदुग्धगुणानाह

जाङ्गलानूपशैलेषु चरन्तीनां यथोत्तरम्। पयो गुरुतरं स्नेहो यथाऽऽहारं प्रवर्त्तते॥ १३॥

देश विशेष से गाय का दूध—जाङ्गल देश, आनूप देश तथा पर्वतों पर चरने वाली गायों का दूध उत्तरोत्तर एक दूसरे की अपेक्षा अधिक गुरु होता है अर्थात् जाङ्गल देश में चरने वाली गाय की अपेक्षा आनूप देश में चरने वाली का दूध अधिक गुरु होता है, उसकी अपेक्षा पर्वत पर चरनेवाली गाय का दूध अधिक गुरु होता है, क्योंकि आहार के अनुसार ही दूध में स्नेहपदार्थ (घी) रहता है और उसी के न्यूनाधिक्य से न्यून तथा अधिक गुरु दूध होता है अर्थात् जिसमें अधिक स्नेह भाग रहेगा वह दूध अधिक गुरु होगा, जिसमें कम रहेगा वह कम गुरु होगा॥ १३॥

अथाहारविशेषेण गोदुग्धस्य गुणविशेषानाह

स्वल्पान्नभक्षणाज्जातं क्षीरं गुरु कफप्रदम्। तत्तु बल्यं परं वृष्यं स्वस्थानां गुणदायकम्।
पलालतृणकार्पासबीजजं रोगिणे हितम्॥ १४॥

आहार विशेष से गाय का दूध—जो गाय चारे के साथ थोड़ा अन्न भी खाती हैं उससे जो उन्हें दूध उतरता है वह गुरु, कफकारक, बलदायक तथा अत्यन्त वृष्य (वीर्यवर्धक) होता है। अत एव वह स्वस्थ लोगों के लिये गुणदायक होता है। और जो गाय पैरा (भूसा), घास तथा कपास का बीज खाकर दूध देती हैं उन का दूध—रोगियों के लिये हितकर होता है॥ १४॥

अथ माहिषदुग्धस्य गुणानाह

माहिषं मधुरं गव्यात्स्निग्धं शुक्रकरं गुरु। निद्राकरमभिष्यन्दि क्षुधाऽऽधिक्यहरं हिमम्॥१५॥

भैंस का दूध—गाय के दूध की अपेक्षा अधिक मधुर, स्निग्ध (स्नेहपदार्थ युक्त), शुक्रकारक, गुरु, निद्रा लाने वाला, अभिष्यन्दी (कफवर्धक), भूख को अधिकरूप से नष्ट करने वाला तथा शीतल होता है॥ १५॥

अथाजादुग्धस्य गुणानाह

छागं कषायं मधुरं शीतं ग्राहि तथा लघु। रक्तपित्तातिसारघ्नं क्षयकासज्वरापहम्॥ १६॥
अजानामल्पकायत्वात्कटुतिक्तनिषेवणात्। स्तोकाम्बुपानाद्व्यायामात्सर्वरोगापहं पयः॥१७॥

विभिन्न दुग्ध एवं मट्ठा आदि का पोषणात्मक संगठन

पदार्थ	प्रतिशत %							प्रति १०० ग्राम जीवतिक्ति (Vitamin)				
	प्रोभूजिन	स्नेहांश	कार्बोज	कॅल्शियम्	फॉस्फोरस	लौह	कॅलरीमान	ए अ ई.	बी₁ माइ. ग्रा.	निकोटिनिक एसिड मि. ग्रा.	रिबोफ्लेविन माइ. ग्रा.	सी मि. ग्रा.
दुग्ध-मातृ	१·०	३·९	७·०	०·०२	०·०१	०·२	६७	२·८	—	—	३०	—
„ गाय	३·३	३·६	४·८	०·१२	०·०९	०·२	६५	१८०	५१	०·१	२००	२
„ भैंस	४·३	८.८	५·१	०·२१	०·१३	०·२	११७	१६२	—	०·१	—	—
„ बकरी	३·७	५·६	४·७	०·१७	०·१२	०·३	८४	१८२	—	—	४०	—
„ गदही	१·६-२·०	१·१-१·५	६·२७-६·८	—	—	—	—	—	—	—	—	—
„ घोड़ी	२·१-२·५	१·६-१·८	६·०-८·५	—	—	—	—	—	—	—	—	—
„ भेड़	१·५०	२	१·४१	—	—	—	३०	+	+	+	+	+
„ मक्खन निकाला	२·५	०·१	४·६	०·१२	०·०९	०·२	२९	—	—	०·१	—	१
मट्ठा	०·८	१·१	०·५	०·०३	०·०३	०·८	१५	लेश	—	—	—	—
दही	२·९	२·९	३ ३	०·१२	०·०९	०·३	५१	१३०	—	—	६०	—
मक्खन	१·८५	८१·५	—	—	—	—	७६२	—	—	—	—	—
घी	—	१००	—	—	—	—	९००	—	—	—	—	—
मलाई	२·५	३०	४·५	—	—	—	५७५	—	—	—	—	—

बकरी का दूध—कषाय तथा मधुर रसयुक्त, शीतल, ग्राही, लघु, एवम्—रक्तपित्त, अतिसार, क्षय, खांसी तथा ज्वर को दूर करने वाला होता है। बकरियाँ शरीर से छोटी होती हैं, और कटु तथा तिक्तरसयुक्त पत्ते आदि खाती हैं, थोड़ा जल पीती हैं एवम् व्यायाम (चलना, फिरना) अधिक करती हैं अतः उनका दूध सर्वरोगनाशक होता है ॥ १६-१७ ॥

अथ मृग्यादिदुग्धस्य गुणानाह

मृगीणां जाङ्गलोत्थानामजाक्षीरगुणं पयः ॥ १८ ॥

जाङ्गल देश की हरिणियों का दूध—बकरी के दूध के समान गुणों से युक्त होता है ॥१८॥

तत्राविकदुग्धस्य गुणानाह

आविकं लवणं स्वादु स्निग्धोष्णं चाश्मरीप्रणुत्। अहृद्यं तर्पणं केश्यं[1] शुक्रपित्तकफप्रदम् ॥
गुरु कासानिलोद्भूते केवले चानिले वरम् ॥ १९ ॥

भेड़ी का दूध—लवण तथा मधुर रसयुक्त, स्निग्ध, उष्ण, अश्मरीनाशक, हृदय के लिये अहितकर, तृप्तिकारक, केशों के लिये हितकर, शुक्र-पित्त तथा कफ को उत्पन्न करनेवाला तथा गुरु होता है। एवम् वात से उत्पन्न होनेवाली खांसी तथा केवल वातरोग में हितकर होता है ॥१९॥

अथ घोटकीदुग्धस्य गुणानाह

रूक्षोष्णं वडवाक्षीरं बल्यं शोषानिलापहम्। अम्लं पटु लघु स्वादु सर्वमेकशफं तथा ॥२०॥

घोड़ी का दूध—रूक्ष, उष्ण, बलकारक, शोष तथा वायु को नष्ट करने वाला, अम्ल तथा लवण रसयुक्त, लघु और स्वादिष्ट होता है। एवम् घोड़े की भांति जितने एक शफ अर्थात् अखण्डित खुर वाले हैं उनके भी दूध पूर्वोक्त गुणवाले होते हैं ॥ २० ॥

अथौष्ट्रदुग्धस्य गुणानाह

औष्ट्रं दुग्धं लघु स्वादु लवणं दीपनं तथा। कृमिकुष्ठकफानाहशोथोदरहरं सरम् ॥ २१ ॥

ऊंटिनी का दूध—लघु, मधुर तथा लवण रसयुक्त, अग्निदीपक, सारक एवम्—कृमि, कुष्ठ, कफ, अफरा, शोथ तथा उदर विकार को दूर करने वाला होता है ॥ २१ ॥

अथ हस्तिनीदुग्धस्य गुणानाह

बृंहणं हस्तिनीदुग्धं मधुरं तुवरं गुरु। वृष्यं बल्यं हिमं स्निग्धं चक्षुष्यं स्थिरताकरम् ॥२२॥

हथिनी का दूध—मधुर तथा कषाय रसयुक्त, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), गुरु, वीर्यवर्धक, बलकारक, शीतल, स्निग्ध, नेत्रों के लिये हितकर तथा शरीर को दृढ़ करने वाला होता है ॥२२॥

अथ नारीदुग्धस्य गुणानाह

नार्या लघु पयः शीतं दीपनं वातपित्तजित्। चक्षुःशूलाभिघातघ्नं नस्याश्च्योतनयोर्वरम् ॥

स्त्री का दूध—लघु, शीतल, अग्निदीपक, एवम् वात, पित्त, नेत्रों का शूल तथा अभिघात को दूर करने वाला होता है, एवम् नस्य तथा आश्च्योतन कर्म के लिये उत्तम होता है ॥ २३ ॥

---

१. वृष्य इति पाठा०।

अथ धारोष्णादिदुग्धस्य गुणानाह

धारोष्णं गोपयो बल्यं लघु शीतं सुधासमम् । दीपनञ्च त्रिदोषघ्नं तद्धाराशिशिरं त्यजेत् ॥
धारोष्णं शस्यते गव्यं धाराशीतन्तु माहिषम् । शृतोष्णमाविकं पथ्यं शृतशीतमजापयः ॥२५॥
आमं क्षीरमभिष्यन्दि गुरु श्लेष्मामवर्द्धनम् । ज्ञेयं सर्वमपथ्यं तु गव्यमाहिषवर्जितम् ॥२६॥
नारीक्षीरं त्वाममेव हितं न तु शृतं हितम् । शृतोष्णं कफवातघ्नं शृतशीतन्तु पित्तनुत् ॥२७॥
अर्द्धोदकं क्षीरशिष्टमामाल्लघुतरं पयः । जलेन रहितं दुग्धमतिपक्वं यथा यथा ।
तथा तथा गुरु स्निग्धं वृष्यं बलविवर्धनम् ॥ २८ ॥

गाय का धारोष्ण दूध—बलकारक, लघु, शीतल, अमृत के समान, अग्निदीपक तथा त्रिदोषनाशक होता है। किन्तु यदि वह (गाय का दूध) धाराशीतल अर्थात् दुहने के बाद देर तक रखने से शीतल हो गया हो तो उसे छोड़ देना चाहिये अर्थात् धारोष्ण का पूर्वोक्त गुण न होने से नहीं पीना चाहिये, यदि पीना हो तो गरम करके पीवे।

धारोष्ण (दुहने के समय जो उष्णता रहती है उससे युक्त) दूध—गाय का उत्तम होता है।

धाराशीत (दुहने के समय जो उष्णता रहती है उसके निकल जाने के बाद शीतल हुआ) दूध—भैंस का उत्तम होता है।

उबाला हुआ गरम २ दूध—भेड़ का पथ्य होता है।

उबाल कर शीतल किया हुआ दूध—बकरी का पथ्य होता है।

गाय तथा भैंस के दूध को छोड़ कर शेष सभी के कच्चे दूध को अभिष्यन्दी, गुरु, कफ तथा आम को बढ़ाने वाला तथा अपथ्य समझना चाहिये किन्तु स्त्री का दूध तो कच्चा ही हितकर होता है। यदि वही औटाया हुआ हो तो हितकर नहीं होता है।

साधारण रूप से औंटाया हुआ गरम दूध—कफ तथा वातनाशक होता है और औंटाकर शीतल किया हुआ-पित्तनाशक होता है। दूध में यदि आधा भाग जल मिलाकर औंटाया जाय और जब पानी जल कर केवल दूध का भाग शेष रह जाय तब उतार ले—यह दूध कच्चे की अपेक्षा अधिक लघु होता है।

बिना जल छोड़े दूध को जितना ही अधिक औंटाया जायगा उतना ही अधिक उत्तरोत्तर गुरु, स्निग्ध, वीर्य तथा बल को बढ़ाने वाला होता जायगा ॥ २४-२८ ॥

अथ पीयूष-किलाट-क्षीरशाक-तक्रपिण्ड-मोरटानां-लक्षणानि गुणाँश्चाह

क्षीरं तत्कालसूताया घनं पीयूषमुच्यते । नष्टदुग्धस्य पक्वस्य पिण्डः प्रोक्तः किलाटकः ॥२९॥

पीयूष,किलाट,क्षीरशाक,तक्रपिण्ड तथा मोरट के लक्षण और गुण—पीयूष के लक्षण—तत्काल की ब्याई हुई गाय, भैंस आदि के गाढ़े दूध को "पीयूष" कहते हैं।

किलाटक के लक्षण—बिगड़े हुये दूध को यदि औंटाते २ गाढ़ा करके पिण्डाकार बना लिया जाय तो उसे किलाटक कहते हैं ॥ २९ ॥

*पीयूषं "पेवस" इति लोके। किलाटकः 'खरेटा' "गिजिरी" वा इति लोके ॥ २९ ॥

यहां पर मूल में—"पीयूष" से लोकप्रसिद्ध "पेवस" का तथा "किलाटक" से लोकप्रसिद्ध "खरेटा—या—गिजिरी" का बोध करना चाहिये ॥ २९ ॥

अपक्वमेव यन्नष्टं क्षीरशाकं हि तत्पयः ॥ ३० ॥

क्षीरशाक के लक्षण—जो दूध बिना औटाये ही (कच्चा ही) फट गया हो उसे क्षीरशाक कहते हैं ॥ ३० ॥

*क्षीरशाकं 'तुषिभरा' वा 'खिरिसा' इति लोके ॥ ३० ॥

यहां पर "क्षीरशाक" से लोकप्रसिद्ध "तुषिभरा—या—खिरिसा" का बोध करना चाहिये ॥ ३० ॥

दध्ना तक्रेण वा नष्टं दुग्धं बद्धं सुवाससा । द्रवभावेन सहितं तक्रपिण्डः स उच्यते ॥३१॥
नष्टदुग्धभवं नीरं मोरटं जेज्जटोऽब्रवीत । पीयूषश्च किलाटश्च क्षीरशाकं तथैव च ॥३२॥
तक्रपिण्ड इमे वृष्या बृंहणा बलवर्द्धनाः । गुरवः श्लेष्मला हृद्या वातपित्तविनाशनाः ॥३३॥
दीप्ताग्नीनां विनिद्राणां विद्रधौ चाभिपूजिताः । मुखशोषतृषादाहरक्तपित्तज्वरप्रणुत् ॥
लघुर्बलकरो हृद्यो मोरटः स्यात्सितायुतः ॥ ३४ ॥

तक्रपिण्ड के लक्षण—जो दूध-दही अथवा तक्र (छाछ) के संयोग से फट गया हो अथवा फाड़ा गया हो उसे यदि वस्त्र में बांध कर लटका दिया जाय तो द्रवपदार्थ हीन होने पर अर्थात् पानी का भाग निकल जाने पर उसे "तक्रपिण्ड" कहते हैं ।

मोरट के लक्षण—उक्त प्रकार से दूध के फट जाने के बाद वस्त्र में बाँधने पर जो जल टपक कर गिरता है उसे "मोरट" कहते हैं, ऐसा "जेज्जट" आचार्य का कथन है ॥

पीयूष-किलाट-क्षीरशाक तथा तक्रपिण्ड ये सब—वीर्यवर्धक, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), बलको बढ़ाने वाले, गुरु, कफकारक, हृदय को हितकर, वात तथा पित्तनाशक, दीप्त अग्निवाले तथा जिन्हें नींद नहीं आती है ऐसे लोगों के लिये एवं विद्रधि रोग वालों के लिये अत्युत्तम होते हैं । और मोरट यदि बूरा से युक्त हो तो-लघु, बलकारक, रुचिजनक एवम् मुखशोष, प्यास, दाह, रक्तपित्त तथा ज्वर को दूर करने वाला होता है ॥ ३१-३४ ॥

अथ सन्तानिका (मलाई)गुणानाह

सन्तानिका गुरुः शीता वृष्या पित्तास्रवातनुत् । तर्पणी बृंहणी स्निग्धा बलासबलशुक्रला ॥३५

मलाई—गुरु, शीतल, वीर्यवर्धक, तृप्तिकारक, बृंहण (रस-रक्तादि वर्धक), स्निग्ध, कफ, बल तथा शुक्र को उत्पन्न करने वाली एवम् पित्त-रक्तविकार तथा वात को दूर करने वाली होती है ॥ ३५ ॥

अथ खण्डादियुक्तस्य दुग्धस्य गुणानाह

खण्डेन सहितं दुग्धं कफकृत्पवनापहम् । सितासितोपलायुक्तं शुक्रलं त्रिमलापहम् ।
सगुडं मूत्रकृच्छ्रघ्नं पित्तश्लेष्मकरं परम् ॥ ३६ ॥

खांड पड़ा हुआ दूध—कफकारक तथा वातनाशक होता है ।
बूरा या मिश्री पड़ा हुआ दूध-शुक्रजनक तथा त्रिदोषनाशक होता है । गुड़ पड़ा हुआ दूध-मूत्र-कृच्छ्रनाशक एवम् पित्त तथा कफ को अधिक उत्पन्न करने वाला होता है ॥ ३६ ॥

अथ प्रभातादिभवस्य दुग्धस्य गुणानाह

रात्रौ चन्द्रगुणाधिक्याद्व्यायामाकरणात्तथा । प्राभातिकं पयः प्रायः प्रादोषाद् गुरु शीतलम् ॥
दिवाकरकराघाताद्व्यायामानिलसेवनात् । प्राभातिकात्त प्रादोषं लघु वातकफापहम् ॥३८॥

प्रातः आदि समयों के दूध का गुण—प्रातःकाल का दूध प्रायः करके सायंकाल के दूध की अपेक्षा अधिक गुरु तथा शीतल होता है क्योंकि–रात्रि में चन्द्रमा के गुणों की अधिकता रहती है तथा व्यायाम (चलने फिरने का श्रम) नहीं किया जाता है। और सायंकाल का दूध प्रातःकाल के दूध की अपेक्षा लघु एवम् वात तथा कफनाशक होता है, क्योंकि-दिन में शरीर पर सूर्य की किरणें पड़ती रहती हैं एवम् व्यायाम (चलने फिरने का श्रम) तथा वायु सेवन होता रहता है॥ ३७-३८॥

अथ दुग्धसेवनस्य समयविशेषेण गुणविशेषानाह

वृष्यं बृंहणमग्निदीपनकरं पूर्वाह्णकाले पयो मध्याह्ने तु बलावहं कफहरं पित्तापहं दीपनम्।
बाले वृद्धिकरं क्षयेऽक्षयकरं वृद्धेषु रेतोवहं रात्रौ पथ्यमनेकदोषशमनं चक्षुर्हितं संस्मृतम्॥
वदन्ति पेयं निशि केवलं पयो भोज्यं न तेनेह सहौदनादिकम्।
भवत्यजीर्णं न शयीत शर्वरीं क्षीरस्य पीतस्य न शेषमुत्सृजेत्॥ ४०॥
विदाहीन्यन्नपानानि दिवा भुङ्क्ते हि यन्नरः। तद्विदाहप्रशान्त्यर्थं रात्रौ क्षीरं सदा पिबेत्॥
दीप्तानले कृशे पुंसि बाले वृद्धे पयःप्रिये। सतं हिततमं दुग्धं सद्यःशुक्रकरं यतः॥ ४२॥

समय विशेष में दूध पीने के विशेष गुण—दिन के पूर्व भाग (सुबह से १० बजे तक) में दुग्धपान (दूध पीना) वीर्यवर्धक, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक) तथा अग्नि को दीप्त करने वाला होता है। मध्याह्न काल में दुग्धपान बलकारक, कफ तथा पित्त को दूर करने वाला एवम् अग्नि-दीपक होता है।

बाल्यावस्था में दुग्धपान-शरीर की वृद्धि करने वाला होता है।

क्षय अवस्था में—क्षय का निवारण करने वाला और वृद्धावस्था में दुग्धपान शुक्र की रक्षा करने वाला होता है।

रात्रि में दुग्धपान-पथ्य (हितकर), अनेक दोषों को शमन करने वाला एवम् नेत्रों के लिये हितकर ऋषियों द्वारा कहा गया है।

और कोई आचार्य यह कहते हैं कि—रात्रि में केवल दूध पीना चाहिये, उसके साथ भात आदि नहीं खाना चाहिये, क्योंकि इससे अजीर्ण होता है, और रात्रि में नींद भी नहीं आती है, और दूध पीने के बाद पात्र में कुछ शेष भाग न रख छोड़े अर्थात् जितना पीना हो उतना ही दूध लेकर पीवे अथवा दूध यदि कुछ अधिक हो जाय तो भी पीने से हानि नहीं हो सकती अतः दूध कभी पीकर नहीं छोड़ देना चाहिये।

मनुष्य दिन में जो कुछ विदाही (दाह पैदा करने वाले) अन्न-पान आदि का सेवन करता है उससे होने वाले दाह की शान्ति के लिये रात्रि में उसे प्रतिदिन दूध अवश्य पीना चाहिये। जिनकी अग्नि प्रदीप्त है या जो कृश हैं उन सभी के लिये एवम् बालक, वृद्ध तथा जिन्हें दूध प्रिय हो ऐसे लोगों के लिये दुग्ध पान अत्यन्त हितकर होता है क्योंकि यह (दुग्धपान) तत्काल (पीते ही पीते) शुक्र की वृद्धि करने वाला होता है॥ ३९-४२॥

अथ मथितदुग्धस्य गुणानाह

क्षीरं गव्यमथाजं वा कोष्णं दण्डाहतं पिबेत्। लघु वृष्यं ज्वरहरं वातपित्तकफापहम्॥४३॥

मथे हुये दूध के गुण—गाय अथवा बकरी का दूध यदि औटाया हुआ मथानी से मथ कर किञ्चित् उष्ण रहते ही पीवे तो वह लघु, वीर्यवर्धक, एवम्—ज्वर, वात, पित्त तथा कफ को दूर करने वाला होता है॥ ४३॥

अथ दुग्धफेनम् (झाग)। तस्य गुणानाह

गोदुग्धप्रभवं किं वा छागीदुग्धसमुद्भवम्। भवेत् फेनं त्रिदोषघ्नं रोचनं बलवर्द्धनम् ॥४४॥
वह्निवृद्धिकरं वृष्यं सद्यस्तृप्तिकरं लघु। अतीसारेऽग्निमान्द्ये च ज्वरे जीर्णे प्रशस्यते ॥ ४५ ॥

गाय अथवा बकरी के दूध का फेन—त्रिदोषनाशक, रोचक, बलवर्धक, अग्नि की वृद्धि करने वाला, वीर्यवर्धक, तत्काल तृप्ति देने वाला, लघु एवम् अतीसार, अग्नि की मन्दता तथा पुराने ज्वर में हितकर होता है ॥ ४४-४५ ॥

अथ निन्दितदुग्धस्य लक्षणमाह

विवर्णं विरसं चाम्लं दुर्गन्धं ग्रथितं पयः। वर्जयेदम्ललवणयुक्तं कुष्ठादिकृद् यतः ॥ ४६ ॥

निन्दित दूध के लक्षण—जो दूध-विवर्ण (बदरङ्ग हो गया हो), विरस (खराब स्वाद वाला), खट्टा, दुर्गन्धयुक्त, ग्रन्थि पड़ा हुआ (फटा हुआ) एवम् खटाई या निमक पड़ा हुआ हो उसे छोड़ देना चाहिये अर्थात् न पीवे, क्योंकि उक्त दूध के पीने से कुष्ठ आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभाव विरचिते भावप्रकाशे
मिश्रप्रकरणे चतुर्दशो दुग्धवर्गः समाप्तः ॥ १४ ॥

अथ दधिवर्गः

तत्र दध्नो गुणानाह

दध्युष्णं दीपनं स्निग्धं कषायानुरसं गुरु। पाकेऽम्लं ग्राहि [1]पित्तास्रशोथमेदःकफप्रदम्॥ १॥
मूत्रकृच्छ्रे प्रतिश्याये शीतके विषमज्वरे। अतीसारेऽरुचौ कार्श्ये शस्यते बलशुक्रकृत्॥ २॥

दही—उष्ण, अग्निदीपक, स्निग्ध, किञ्चित् कषाय रस युक्त, गुरु, विपाक में अम्लरसयुक्त, ग्राही एवम् पित्त, रक्तविकार, शोथ, मेद और कफ को उत्पन्न करने वाला होता है। और मूत्रकृच्छ्र, जुखाम, शीत विषमज्वर, अतीसार, अरुचि तथा कृशता में उत्तम होता है और बल तथा शुक्र को बढ़ाने वाला होता है॥ १–२॥

अथ दधिभेदानाह

आदौ मन्दं ततः स्वादु स्वाद्वम्लञ्च ततः परम्। अम्लं चतुर्थमत्यम्लं पञ्चमं दधि पञ्चधा॥

दही के भेद—१ मन्द, २ स्वादु, ३ स्वाद्वम्ल, ४ अम्ल, ५ अत्यम्ल इस भांति से दही के पांच भेद होते हैं॥ ३॥

अथ मन्दादिदध्नो लक्षणं गुणांश्चाह

मन्दं दुग्धवदव्यक्तरसं किञ्चिद्घनं भवेत्। मन्दं स्यात्सृष्टविण्मूत्रं दोषत्रयविदाहकृत्॥ ४॥
यत्सम्यग्घनतां यातं व्यक्तस्वादुरसं भवेत्। अव्यक्ताम्लरसं तत्तु स्वादु विज्ञैरुदाहृतम्॥ ५॥
स्वादु स्यादत्यभिष्यन्दि वृष्यं मेदःकफावहम्। वातघ्नं मधुरं पाके रक्तपित्तप्रसादनम्॥६॥
स्वाद्वम्लं सान्द्रमधुरं कषायानुरसं भवेत्। स्वाद्वम्लस्य गुणा ज्ञेया सामान्यदधिवज्जनैः॥
यत्तिरोहितमाधुर्यं व्यक्ताम्लत्वं तदम्लकम्। अम्लं तु दीपनं पित्तरक्तश्लेष्मविवर्द्धनम्॥ ८॥
तदत्यम्लं दन्तरोमहर्षकण्ठादिदाहकृत्। अत्यम्लं दीपनं रक्तवातपित्तकरं परम्॥ ९॥

मन्द दही के लक्षण—जो दही—दूध के समान (ठीक से नहीं जमा हुआ), अव्यक्त रस-वाला तथा कुछ गाढ़ा होता है उसे "मन्द" कहते हैं।

मन्द दही—मल तथा मूत्र की प्रवृत्ति करने वाला, त्रिदोष और दाह को उत्पन्न करने वाला होता है।

स्वादु दही के लक्षण—जो दही भली भांति गाढ़ा हो गया हो और जिस का स्वादु (मधुर) रस अच्छी तरह प्रगट हो रहा हो तथा अम्लरस अव्यक्त हो (ठीक से नहीं मालूम पड़ता हो) उसे विद्वानों ने "स्वादु" संज्ञक दही बताया है।

स्वादु संज्ञक दही—अत्यन्त अभिष्यन्दी, वीर्यवर्धक, मेद तथा कफ को उत्पन्न करने वाला, वातनाशक, विपाक में मधुर रसयुक्त तथा रक्तपित्त को शांत करने वाला होता है।

स्वाद्वम्ल संज्ञक दही के लक्षण—गाढ़ा, मधुर रसयुक्त तथा अन्त में कषाय रस युक्त दही को "स्वाद्वम्ल" संज्ञक दही कहते हैं।

---

१. श्वास इति पाठा०।

स्वाद्वम्लसंज्ञक दही—गुणों में साधारण दही के समान होता है ऐसा विद्वानों का मत है। अम्लसंज्ञक दही के लक्षण—जिस दही में मधुर रस छिपा हुआ हो और अम्ल रस प्रगट हो रहा हो उसे "अम्ल" संज्ञक दही समझना चाहिये। अम्लसंज्ञक दही—अग्निदीपक एवम् पित्त, रक्तविकार तथा कफ को बढ़ाने वाला होता है।

अत्यम्ल संज्ञक दही के लक्षण—जिस दही के खाने से दांत हर्षित हो जायं तथा रोंगटे खड़े हो जायं और कण्ठ आदि में दाह होने लगे उसे "अत्यम्ल" संज्ञक दही जानना चाहिये।

अत्यम्ल संज्ञक दही—अग्निदीपक एवम् रक्तविकार, वात तथा पित्त को अत्यन्त उत्पन्न करने वाला होता है ॥ ४-९ ॥

अथ गोदधिगुणानाह

गव्यं दधि विशेषेण स्वाद्वम्लं च रुचिप्रदम्। पवित्रं दीपनं हृद्यं पुष्टिकृत्पवनापहम्।
उक्तं दध्नामशेषाणां मध्ये गव्यं गुणाधिकम् ॥ १० ॥

गाय का दही—विशेष रूप से मधुर तथा अम्लरसयुक्त, रुचि उत्पन्न करने वाला, पवित्र, अग्निदीपक, हृदय के लिये हितकर, पुष्टिकारक तथा वातनाशक होता है और सम्पूर्ण दहियों के बीच में गाय का ही दही अधिक गुण करने वाला कहा हुआ है ॥ १० ॥

अथ माहिषदधिगुणानाह

माहिषं दधि सुस्निग्धं श्लेष्मलं वातपित्तनुत्।
स्वादुपाकमभिष्यन्दि वृष्यं गुर्वस्रदूषकम् ॥ ११ ॥

भैंस का दही—अत्यन्त स्निग्ध, कफजनक, वात तथा पित्त नाशक, विपाक में मधुररसयुक्त, अभिष्यन्दी, वीर्यवर्धक, गुरु तथा रक्त को दूषित करने वाला होता है ॥ ११ ॥

अथाजदधिगुणानाह

आजं दध्युत्तमं ग्राहि लघु दोषत्रयापहम्। शस्यते श्वासकासार्शःक्षयकार्श्येषु दीपनम् ॥१२॥

बकरी का दही—उत्तम, ग्राही, लघु, त्रिदोषनाशक, अग्निदीपक एवम्—श्वास, खांसी, अर्श, क्षय तथा कृशता में हितकर होता है ॥ १२ ॥

अथ पक्वदुग्धजातस्य दध्नो गुणानाह

पक्वदुग्धभवं रुच्यं दधि स्निग्धं गुणोत्तमम्। पित्तानिलापहं सर्वधात्वग्निबलवर्द्धनम् ॥ १३ ॥

पकाये हुये दूध से तैयार किया हुआ दही—रुचिकारक, स्निग्ध, उत्तम गुणवाला, पित्त तथा वात को दूर करने वाला एवम्—सम्पूर्ण धातु, अग्नि तथा बल को बढ़ाने वाला होता है ॥ १३ ॥

अथ निःसारदुग्धजनितदध्नो गुणानाह

असारं दधि सङ्ग्राहि शीतलं वातलं लघु। विष्टम्भि दीपनं रुच्यं ग्रहणीरोगनाशनम् ॥१४॥

निःसार दूध का दही—संग्राही, शीतल, वातजनक, लघु, विष्टम्भकारक, अग्निदीपक, रुचिकारक एवम्—ग्रहणीरोग को नष्ट करने वाला होता है ॥ १४ ॥

अथ गालितदध्नो गुणानाह

गालितं दधि सुस्निग्धं वातघ्नं कफकृद् गुरु। बलपुष्टिकरं रुच्यं मधुरं नातिपित्तकृत् ॥ १५ ॥

गालित (वस्त्र से छाने हुये) दही—अति स्निग्ध, वातनाशक, कफकारक, गुरु, बल तथा पुष्टि को करने वाला, रुचिजनक, मधुररसयुक्त तथा अत्यन्त पित्तकारक नहीं होता है अर्थात् किञ्चित् पित्त करने वाला होता है ॥ १५ ॥

अथ शर्कराऽऽदिसहितस्य दध्नो गुणानाह

सशर्करं दधि श्रेष्ठं तृष्णापित्तास्रदाहजित्। सगुडं वातनुद् वृष्यं बृंहणं तर्पणं गुरु ॥ १६ ॥

शक्कर मिला हुआ दही—श्रेष्ठ होता है एवम् तृष्णा (प्यास), पित्त, रक्तविकार तथा दाह को नष्ट करने वाला होता है।

गुड़ मिला हुआ दही—वातनाशक, वीर्यवर्धक, बृंहण (रस रक्तादिवर्धक), तृप्तिकारक तथा गुरु होता है ॥ १६ ॥

अथ रात्रौ दधिभक्षणस्य निषेधमाह

न नक्तं दधि भुञ्जीत न चाप्यघृतशर्करम्। नामुद्गसूपं नाक्षौद्रं नोष्णं नामलकैर्विना॥ १७ ॥

रात्रि में दही खाने का निषेध—रात्रिमें दही नहीं खाना चाहिये, और बिना घी तथा शक्कर के या बिना मूंगकी दाल के वा बिना मधुके अथवा गरम किंवा बिना आंवला के दही नहीं खाना चाहिये ॥ १७ ॥

❀ अयमर्थः

रात्रौ दधि न भुञ्जीत, भुञ्जीत चेत्तदा—अघृतशर्करममुद्गसूपमक्षौद्रमुष्णं विनाऽऽमलकैश्च दधि न भुञ्जीत। तेन घृतशर्कराऽऽदियुक्तं दधि रात्रावपि भुञ्जीतेत्यर्थः।

यहां पर उपर्युक्त श्लोक का वास्तविक अर्थ यह समझना चाहिये कि—रात्रि में दही कभी नहीं खाना चाहिये, यदि खाना ही हो तो घी, शक्कर, या मूंग की दाल वा शहद किंवा आंवला के बिना अथवा गरम न खाय, इससे यह सिद्ध हुआ कि—घी, शक्कर आदि से युक्त दही रात्रि में भी खायें।

❀ तथा च

शस्यते दधि नो रात्रौ शस्तं चाम्बुघृतान्वितम्। रक्तपित्तकफोत्थेषु विकारेषु तु नैव तत् ॥१॥

तथा इसी विषय में और भी कहा है कि—रात्रि में दही खाना उचित नहीं है किन्तु यदि जल तथा घी मिला हुआ हो तो खाना उचित है। किन्तु रक्त, पित्त तथा कफ सम्बन्धी विकारों में वह भी अर्थात् जल तथा घी से मिला हुआ भी दही खाना उचित नहीं होता है अर्थात् अहितकर होता है ॥ १ ॥

तद् = अम्बुघृतान्वितमपि (॥ १ ॥) ॥ १७ ॥

यहां पर "तत्" पद का "वह भी अर्थात् जल तथा घी से मिला भी दही" यह अर्थ समझना चाहिये (॥ १ ॥) ॥ १७ ॥

अथ ऋतुविशेषेण दध्नो विधिनिषेधावाह

हेमन्ते शिशिरे चापि वर्षासु दधि शस्यते । शरद्ग्रीष्मवसन्तेषु प्रायशस्तद्विगर्हितम् ॥१८॥

ऋतु विशेष से दही खाने की विधि तथा निषेध—हेमन्त (अगहन-पूस), शिशिर (माघ-फागुन) तथा वर्षा (सावन-भादो) ऋतु में दही खाना उत्तम है। शरद् (क्वार-कार्त्तिक), ग्रीष्म (जेठ-आषाढ़) तथा वसन्त (चैत-वैशाख) ऋतु में दही खाना प्रायः करके निन्दित है अर्थात् निषिद्ध है ॥ १८ ॥

अथ विधिमन्तरेण दधिसेवने दुर्गुणानाह

ज्वरासृक्पित्तवीसर्पकुष्ठपाण्ड्वामयभ्रमान् । प्राप्नुयात्कामलां चोग्रां विधिं हित्वा दधिप्रियः ॥

विना विधि के दही सेवन करने के दुर्गुण—जो दही का प्रेमी व्यक्ति विधि को छोड़ कर अर्थात् जब जिस भाँति दही खाने की विधि है उसके विरुद्ध सदा दही खाता रहता है तो उसे ज्वर, रक्त-पित्त, विसर्प, कुष्ठ, पाण्डु तथा भ्रम रोग एवम् प्रचण्ड रूप से कामला रोग उत्पन्न हो जाता है। अतः विधिपूर्वक दही खाना चाहिये ॥ १९ ॥

अथ दध्नः सरमस्तुनोर्लक्षणं गुणाँश्चाह

दध्नस्तूपरि यो भागो घनः स्नेहसमन्वितः । स लोके सर इत्युक्तो दध्नो मण्डस्तु मस्विति॥
सरः स्वादुर्गुरुर्वृष्यो वातवह्निप्रणाशनः । सोऽम्लो वस्तिप्रशमनः पित्तश्लेष्मविवर्द्धनः ॥२१॥
मस्तु क्लमहरं बल्यं लघु भक्ताभिलाषकृत् ॥ २२ ॥
स्रोतोविशोधनं ह्लादि कफतृष्णानिलापहम् । अवृष्यं प्रीणनं शीघ्रं भिनत्ति मलसञ्चयम् ॥

सर के लक्षण—दही के ऊपर जो गाढ़ा तथा स्नेह (घी) से युक्त भाग होता है उसे लोक में सर (साढ़ी) कहते हैं।

मस्तु के लक्षण—और दही के मांड (पानी) को मस्तु (दही का तोड़) कहते हैं।

सर—जो सर स्वादिष्ट होता है वह गुरु, वीर्य वर्धक, वात तथा जठराग्नि नाशक होता है और यदि वह (सर) अम्ल रस युक्त होता है, तो वस्ति के रोगों का प्रशमन करता है एवम्-पित्त तथा कफ को बढ़ाता है।

मस्तु (दही का तोड़)—क्लान्ति को दूर करने वाला, बलदायक, लघु, अन्न खाने की अभि-लाषा को उत्पन्न करने वाला, स्रोतोमार्ग (नाड़ियों के मार्ग) को शुद्ध करने वाला, आह्लादजनक एवम् कफ, तृषा तथा वायु को नष्ट करने वाला, अवृष्य (किञ्चित् वीर्यवर्धक) तथा शीघ्र संचित मल का भेदन करने वाला होता है। २०–२३ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे
पञ्चदशो दधिवर्गः समाप्तः ॥ १५ ॥

अथ तक्रवर्गः

तत्र तक्रस्य पृथक्पृथङ् नामानि लक्षणं गुणाँश्चाह

घोलं तु मथितं तक्रमुदश्विच्छच्छिकाऽपि च। ससरं निर्जलं घोलं मथितं त्वसरोदकम् ॥१॥
तक्रं पादजलं प्रोक्तमुदश्विरर्द्धवारिकम्। छच्छिका सारहीना स्यात्स्वच्छा प्रचुरवारिका॥
घोलं तु शर्करायुक्तं गुणैर्ज्ञेयं रसालवत् ॥ २ ॥

तक्र (मट्ठा) के भिन्न २ लक्षणों के अनुसार भिन्न २ संस्कृत नाम—घोल, मथित, तक्र, उदश्वित और छच्छिका ये सब हैं। अर्थात् उक्त ५ भेद तक्र के होते हैं।

लक्षण—घोल—विना जल मिलाये यदि मलाई के सहित दही को मथा जाय तो उसे "घोल" कहते हैं। मथित—यदि दही की मलाई अलग कर विना जल मिलाये ही मथ दिया जाय तो उसे "मथित" कहते हैं। तक्र—जिस दही में चतुर्थांश जल मिला कर मथा जाय तो उसे तक्र कहते हैं।

उदश्वित्—जिस दही में आधा जल मिलाकर मथा जाय उसे "उदश्वित" कहते हैं।

छच्छिका—जिस दही में से प्रथम मथ कर मक्खन निकाल लिया हो पुनः उसी में अधिक मात्रा में स्वच्छ जल डालकर फिर मथा जाय तो उसे "छच्छिका" कहते हैं ॥ १–२ ॥

*मथितम् = 'महुया' वा 'मथुवा' इति लोके। छच्छिका "छाछ" = इति लोके ॥१–२॥

यहां पर—"मथितम्" से लोकप्रसिद्ध "महुया" या "मथुवा" का तथा "छच्छिका" से लोकप्रसिद्ध "छाछ" का ग्रहण करना चाहिये ॥ १–२ ॥

घोलं तु शर्करायुक्तं गुणैर्ज्ञेयं रसालवत्। वातपित्तहरं ह्लादि मथितं कफपित्तनुत् ॥ ३ ॥
तक्रं ग्राहि कषायाम्लं स्वादुपाकरसं लघु। वीर्योष्णं दीपनं वृष्यं प्रीणनं वातनाशनम् ॥४॥
ग्रहण्यादिमतां पथ्यं भवेत्संग्राहि लाघवात्। किञ्च स्वादुविपाकित्वान्न च पित्तप्रकोपणम् ॥५॥
अम्लोष्णं दीपनं वृष्यं प्रीणनं वातनाशनम्। कषायोष्णविकाशित्वाद्रौक्ष्याच्चापि कफापहम् ॥
न तक्रसेवी व्यथते कदाचिन्न तक्रदग्धाः प्रभवन्ति रोगाः।
यथा सुराणाममृतं सुखाय तथा नराणां भुवि तक्रमाहुः ॥ ७ ॥
उदश्वित् कफकृद् बल्यमामघ्नं परमं मतम्। छच्छिका शीतला लघ्वी पित्तश्रमतृषाहरी ॥
वातनुत् कफकृत् सा तु दीपनी लवणान्विता ॥ ८ ॥

घोल—घोल में यदि शक्कर मिला हुआ हो तो वह गुणों में रसाल (सिखरन) के समान होता है एवम् वात तथा पित्तनाशक और आह्लादजनक होता है।

मथित—यह कफ तथा पित्तनाशक होता है। तक्र—यह कषाय तथा मधुर रस युक्त, विपाक में मधुर रस युक्त, ग्राही, लघु, उष्णवीर्य, अग्निदीपक, वीर्यवर्धक, तृप्तिकारक तथा वातनाशक होता है।

ग्रहणी आदि के रोगियों को तक्र हितकर होता है क्योंकि यह लघु होने से मल का संग्राहक होता है और विपाक में मधुर रस युक्त होने से पित्त को प्रकुपित भी नहीं करता है एवम् अम्लरस युक्त, उष्णवीर्य, अग्निदीपक, वीर्यवर्धक तथा तृप्तिकारक होने से यह वातनाशक होता है और कषाय रसयुक्त, उष्णवीर्य, विकाशी तथा रूक्ष होने से यह कफनाशक होता है। तक्र का सेवन

करने वाला व्यक्ति कभी भी बीमार नहीं पड़ता है, और तक्र के प्रभाव से नष्ट हुये रोग पुनः कभी उत्पन्न नहीं हो सकते, अस्तु जिस प्रकार से देवताओं के लिये सुखकारी अमृत है उसी भांति पृथ्वी तल में मनुष्यों के लिये तक्र सुखकारी, ऋषियों ने बताया है।

उदश्वित्—कफकारक, बलवर्धक तथा अत्यन्त आमनाशक होता है।

छाछ—शीतल, लघु एवम् पित्त, श्रम तथा तृषा को दूर करने वाला, वातनाशक तथा कफ कारक होता है और यदि इसमें सेंधानिमक मिला हो तो अग्निदीपक होता है ॥ ३–८ ॥

अथोद्धृतस्तोकोद्धृतानुद्धृतघृतानां तक्राणां गुणानाह

समुद्धृतघृतं तक्रं पथ्यं लघु विशेषतः ॥ ९ ॥
स्तोकोद्धृतघृतं तस्माद् गुरु वृष्यं कफापहम्। अनुद्धृतघृतं सान्द्रं गुरु पुष्टिकफप्रदम् ॥१०॥

घी निकाला हुआ तक्र—पथ्य (रोगियों के लिये हितकर) तथा लघु होता है। यदि कुछ घी निकाल लिया गया हो और कुछ अंश घी का रह गया हो तो ऐसा तक्र—उपर्युक्त तक्र (घी निकाले हुये तक्र) की अपेक्षा गुरु, वीर्यवर्धक तथा कफनाशक होता है। और यदि घी न निकाला हुआ हो तथा गाढा हो तो ऐसा तक्र–गुरु एवम् पुष्टिकारक तथा कफजनक होता है ॥ ९–१० ॥

अथ दोषविशेषे व्याधिविशेषे च तक्रविशेषानाह

वातेऽम्लं शस्यते तक्रं शुण्ठीसैन्धवसंयुतम्। पित्ते स्वादु सितायुक्तं व्योषक्षारयुतं कफे ॥
हिङ्गुजीरयुतं घोलं सैन्धवेन च संयुतम्। भवेदतीव वातघ्नमर्शोऽतीसारहृत्परम् ॥ १२ ॥
रुचिदं पुष्टिदं बल्यं वस्तिशूलविनाशनम्। मूत्रकृच्छ्रे तु सगुडं पाण्डुरोगे सचित्रकम् ॥ १३ ॥

दोषविशेष में तथा रोगविशेष में विशेष २ तक्रों का प्रयोग—वातदोष की अधिकता में—अम्लरसयुक्त एवम् सोंठ तथा सेन्धा निमक मिला हुआ तक्र उत्तम अर्थात् हितकारी होता है। पित्त की अधिकता में—मधुर रसयुक्त तथा चीनी मिश्रित तक्र उत्तम हितकारी होता है। कफ की अधिकता में—सोंठ, मिरच तथा पीपर मिश्रित तक्र उत्तम हितकारी होता है।

हींग, जीरा (ये दोनों भुने हुये हों,) तथा सेंधा निमक से युक्त घोल—अत्यन्त वातनाशक, अर्श तथा अतिसार को अत्यन्त दूर करने वाला, रुचिजनक, पुष्टिकारक, बलदायक एवं वस्तिशूल नाशक होता है। गुड़युक्त घोल—मूत्रकृच्छ्र में एवम् चित्रक (चीता) मिश्रित घोल—पांडुरोग में देना हितकर है।

अथ पक्वापक्वतक्रयोर्गुणानाह

तक्रमामं कफं कोष्ठे हन्ति कण्ठे करोति च। पीनसश्वासकासादौ पक्वमेव प्रयुज्यते ॥ १४ ॥

कच्चा (बिना पकाया हुआ) तक्र-कोष्ठ स्थित कफ को नष्ट करता है तथा कण्ठ में कफ करने वाला होता है। अतः पकाये हुए तक्र का ही—पीनस, श्वास तथा कास आदि में प्रयोग करना उचित है क्योंकि हितकर होता है ॥ १४ ॥

अथ तक्रसेवनविषयानाह

शीतकालेऽग्निमान्द्ये च तथा वातामयेषु च। अरुचौ स्रोतसां रोधे तक्रं स्यादमृतोपमम् ॥
तत् हन्ति गरच्छर्दिप्रसेकविषमज्वरान्। पाण्डुमेदोग्रहण्यर्शोमूत्रग्रहभगन्दरान् ॥१५॥
मेहं गुल्ममतीसारं शूलप्लीहोदरारुचीः। श्वित्रकोष्ठगतव्याधीन् कुष्ठशोथतृषाकृमीन् ॥१६॥

तक्र सेवन करने के विषय—शीतकाल में तथा अग्नि की मन्दता, वातरोग, अरुचि तथा नाड़ियों के अवरोध में तक्र अमृत के समान गुणकारी होता है। और यह—गर (संयोगज विष), वमन, प्रसेक (कफजन्य लार आदि गिरना), विषमज्वर, पाण्डुरोग, मेदरोग, ग्रहणी, अर्श (बवासीर), मूत्रग्रह (मूत्र का बन्द होना), भगन्दर, प्रमेह, गुल्म, अतीसार, शूल, प्लीहा, उदररोग, अरुचि, श्वित्र (श्वेतकुष्ठ), कोष्ठगत रोग, कुष्ठ, शोथ, तृषा, तथा कृमिरोग को नष्ट करने वाला होता है ॥ १४-१६ ॥

अथ तक्रस्य निषेधविषयानाह

नैव तक्रं चये[1] दद्यान्नोष्णकाले न दुर्बले। न मूर्च्छाभ्रमदाहेषु न रोगे रक्तपित्तजे ॥ १७ ॥

तक्र निषेध के विषय—तक्र—क्षय रोग में तथा ग्रीष्म ऋतु में एवम् दुर्बल व्यक्ति तथा मूर्च्छा, भ्रम, दाह तथा रक्तपित्त रोग युक्त व्यक्ति को नहीं देना चाहिये। अर्थात् देना अहितकर होता है ॥ १७ ॥

अथ गव्यादीनां त्रिशिष्टतक्राणां गुणानाह

यान्युक्तानि दधीन्यष्टौ तद्गुणं तक्रमादिशेत् ॥ १८ ॥

गाय आदि के दूध के दही से बने हुये तक्र के गुण—जो पूर्व में (दधिवर्ग में) गाय आदि के दूध के बने हुए आठ प्रकार के दहियों के गुण कह आये हैं वेही सब गुण उन दहियों से बने हुये तक्र के भी होते हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥ १८ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे
षोडशस्तक्रवर्गः समाप्तः ॥ १६ ॥

---

१. क्षते इति पाठा० ।

अथ नवनीतवर्गः

तत्र नवनीतस्य नामगुणानाह

म्रक्षणं सरजं हैयङ्गवीनं नवनीतकम् । नवनीतं हितं गव्यं वृष्यं वर्णबलाग्निकृत् ॥ १ ॥
संग्राहि वातपित्तासृक्क्षयार्शोऽर्दितकासहृत् । तद्धितं बालके वृद्धे विशेषादमृतं शिशोः ॥ २ ॥

मक्खन के संस्कृत नाम—म्रक्षण, सरज, हैयङ्गवीन तथा नवनीतक ये सब हैं ।

गाय का मक्खन—हितकर, वीर्यवर्धक, वर्ण को उत्तम करने वाला, बल तथा अग्नि को बढ़ाने वाला, मलसंग्राही, एवम् वात, पित्त, रक्तविकार, क्षय, अर्श, अर्दित वात तथा कास को दूर करने वाला होता है । तथा यह—बालक और वृद्ध के लिये हितकर एवम् विशेषकर के शिशु (अत्यन्त छोटे बच्चों) के लिये अमृत के समान गुणकारी होता है ॥ १-२ ॥

अथ माहिषनवनीतस्य गुणानाह

नवनीतं महिष्यास्तु वातश्लेष्मकरं गुरु । दाहपित्तश्रमहरं मेदःशुक्रविवर्द्धनम् ॥ ३ ॥

भैंस का मक्खन—वात तथा कफ कारक, गुरु एवम् दाह, पित्त तथा श्रम को दूर करने वाला और मेद तथा शुक्र की वृद्धि करने वाला होता है ॥ ३ ॥

अथ दुग्धोत्थनवनीतस्य गुणानाह

दुग्धोत्थं नवनीतं तु चक्षुष्यं रक्तपित्तनुत् । वृष्यं बल्यमतिस्निग्धं मधुरं ग्राहि शीतलम् ॥४॥

दूध से निकला हुआ मक्खन—नेत्रों के लिये हितकर, रक्तपित्तनाशक, वीर्यवर्धक, बलकारक, अत्यन्त स्निग्ध, मधुर रसयुक्त, ग्राही तथा शीतल होता है ॥ ४ ॥

अथ सद्योनिःसारितनवनीतस्य गुणानाह

नवनीतं तु सद्यस्कं स्वादु ग्राहि हिमं लघु । मेध्यं किञ्चित्कषायाम्लमीषत्तक्रांशसङ्क्रमात् ॥५॥

तत्काल का निकाला हुआ मक्खन—स्वादिष्ट, ग्राही, शीतल, लघु, मेधा के लिये हितकर एवम् किञ्चित् तक्र का अंश मिला रहने से किञ्चित् कषाय तथा अम्ल रस से युक्त भी होता है ॥५॥

अथ चिरन्तननवनीतस्य गुणानाह

सक्षारकटुकाम्लत्वाच्छर्द्यर्शःकुष्ठकारकम् । श्लेष्मलं गुरु मेदस्यं नवनीतं चिरन्तनम् ॥ ६ ॥

पुराना मक्खन—क्षार, कटु तथा अम्ल रस युक्त होने से वमन, अर्श तथा कुष्ठ को उत्पन्न करने वाला होता है एवम् कफजनक, गुरु तथा मेद को बढ़ाने वाला होता है ॥ ६ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे
सप्तदशो नवनीतवर्गः समाप्तः ॥ १७ ॥

अथ घृतवर्गः

तत्र घृतस्य नामगुणानाह

घृतमाज्यं हविः सर्पिः कथ्यन्ते तद्गुणा अथ। घृतं रसायनं स्वादु चक्षुष्यं वह्निदीपनम् ॥१॥
शीतवीर्यं विषालक्ष्मीपापपित्तानिलापहम्। अल्पाभिष्यन्दि कान्त्योजस्तेजोलावण्यवृद्धिकृत् ॥
स्वरस्मृतिकरं मेध्यमायुष्यं बलकृद्गुरु। उदावर्त्तज्वरोन्मादशूलानाहव्रणान् हरेत्।
स्निग्धं कफकरं रक्षःक्षयवीसर्परक्तनुत् ॥ ३ ॥

घी के संस्कृत नाम—घृत, आज्य, हविस् तथा सर्पिस् ये सब हैं।

घी—रसायन, स्वादिष्ट, नेत्रों के लिये हितकर, अग्निदीपक, शीतवीर्य, किंचित् अभिष्यन्दी, कान्ति, ओज, तेज और लावण्य की वृद्धि करने वाला, स्वर को स्वच्छ करने वाला तथा स्मरण शक्ति को बढ़ाने वाला, मेधा (धारणाशक्ति) के लिये हितकर, आयु को बढ़ाने वाला, बलकारक, गुरु, स्निग्ध, कफकारक एवम् विष, अलक्ष्मी (दरिद्रता), पाप, पित्त, वायु, उदावर्त्त, ज्वर, उन्माद, शूल, आनाह (अफारा), व्रण, रक्षोग्रह, क्षय, वीसर्प तथा रक्तविकार को दूर करने वाला होता है ॥१–३॥

अथ गव्यघृतस्य गुणानाह

गव्यं घृतं विशेषेण चक्षुष्यं वृष्यमग्निकृत्। स्वादुपाककरं शीतं वातपित्तकफापहम् ॥४॥
मेधालावण्यकान्त्योजस्तेजोवृद्धिकरं परम्। अलक्ष्मीपापरक्षोघ्नं वयसः स्थापकं गुरु ॥५॥
बल्यं पवित्रमायुष्यं सुमङ्गल्यं रसायनम्। सुगन्धं रोचनं चारु सर्वाज्येषु गुणाधिकम् ॥६॥

गाय का घी—विशेष करके नेत्रों के लिये हितकर, वीर्यवर्धक, अग्निवर्धक, विपाक में मधुररसयुक्त, शीतल, वात पित्त तथा कफ को नष्ट करने वाला एवम् मेधाशक्ति, लावण्य, कान्ति, ओज तथा तेज की अत्यन्त वृद्धि करने वाला, अलक्ष्मी, पाप तथा रक्षोग्रह को दूर करने वाला, अवस्था को स्थिर रखने वाला, गुरु, बलकारक, पवित्र, आयु को बढ़ाने वाला, मङ्गलदायक, रसायन, सुगन्धयुक्त, रोचक एवम् सम्पूर्ण घृतों में उत्तम तथा अधिक गुणकारी होता है ॥ ४–६ ॥

अथ माहिषघृतस्य गुणानाह

माहिषन्तु घृतं स्वादु पित्तरक्तानिलापहम्। शीतलं श्लेष्मलं वृष्यं गुरु स्वादु विपच्यते ॥७॥

भैंस का घी—स्वादिष्ट, शीतल, कफजनक, वीर्यवर्धक, गुरु, विपाक में मधुर रसयुक्त एवम् पित्त और रक्त विकार तथा वात को नष्ट करने वाला होता है ॥ ७ ॥

अथाजघृतस्य गुणानाह

आजमाज्यं करोत्यग्निं चक्षुष्यं बलवर्द्धनम्। कासे श्वासे क्षये चापि हितं पाके भवेत् कटु ॥८॥

बकरी का घी—जठराग्निकारक, नेत्रों के लिये हितकर, बलवर्धक, कास, श्वास तथा क्षय रोग में हितकर एवम् विपाक में कटुरसयुक्त होता है ॥ ८ ॥

अथौष्ट्रघृतस्य गुणानाह

औष्ट्रं कटु घृतं पाके शोषक्रिमिविषापहम् । दीपनं कफवातघ्नं कुष्ठगुल्मोदरापहम् ॥ ९ ॥

ऊँटिनी का घी—विपाक में कटुरसयुक्त, अग्निदीपक, कफ-वात नाशक एवम् शोष, क्रिमि, विष, कुष्ठ, गुल्म तथा उदररोग को नष्ट करने वाला होता है ॥ ९ ॥

अथाविकघृतस्य गुणानाह

पाके लघ्वाविकं सर्पिः सर्वरोगविनाशनम् ॥ १० ॥

वृद्धिं करोति चास्थ्नां वा अश्मरीशर्कराऽपहम् । चक्षुष्यमग्निसंधुक्षं वातदोषनिवारणम् ॥

भेड़ी का घी—पाक में लघु, सम्पूर्ण रोगों को नष्ट करने वाला, हड्डियों की वृद्धि करने वाला, नेत्रों के लिए हितकर, जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला एवम् पथरी, शर्करा तथा वात सम्बन्धी दोषों को दूर करने वाला होता है ॥ १०–११ ॥

अथ नारीघृतस्य गुणानाह

कफेऽनिले योनिदोषे पित्ते रक्ते च तद्धितम् । चक्षुष्यमाज्यं स्त्रीणां वा सर्पिः स्यादमृतोपमम् ॥

स्त्री का घी—अमृत के समान होता है तथा यह नेत्रों के लिये हितकर, एवम् कफ, वात, योनिदोष, पित्त तथा रक्तविकार में भी हितकर होता है ॥ १२ ॥

अथ वडवाघृतस्य गुणानाह

वृद्धिं करोति देहाग्नेर्लघु पाके विषापहम् । तर्पणं नेत्ररोगघ्नं दाहनुद् वडवाघृतम् ॥ १३ ॥

घोड़ी का घी—देह तथा अग्नि की वृद्धि करने वाला, पाक में लघु, विषनाशक, तृप्तिकारक, नेत्ररोगनाशक तथा दाह को दूर करने वाला होता है ॥ १३ ॥

अथ दुग्धनिःसृतघृतस्य गुणानाह

घृतं दुग्धभवं ग्राहि शीतलं नेत्ररोगहृत् । निहन्ति पित्तदाहास्रमदमूर्च्छाभ्रमानिलान् ॥ १४ ॥

दूध से निकाला हुआ घी—ग्राही, शीतल, नेत्ररोगनाशक एवम्—पित्त, दाह, रक्तविकार, मद, मूर्च्छा, भ्रम तथा वात को दूर करने वाला होता है ॥ १४ ॥

अथ ह्यस्तनदुग्धोत्थघृतस्य गुणानाह

हविर्ह्यस्तनदुग्धोत्थं तत्स्याद्धैयङ्गवीनकम् । हैयङ्गवीनं चक्षुष्यं दीपनं रुचिकृत्परम् ।
बलकृद् बृंहणं वृष्यं विशेषाज्ज्वरनाशनम् ॥ १५ ॥

एक दिन के पहिले के दूध से निकाले हुए घी को संस्कृत में "हैयङ्गवीन" कहते हैं । हैयङ्गवीन—यह नेत्रों के लिये हितकर, अग्निदीपक, अत्यन्त रुचिकारक, बलवर्धक, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), वीर्यवर्धक तथा विशेष कर के ज्वरनाशक होता है ॥ १५ ॥

अथ पुराणघृतस्य गुणानाह

वर्षादूर्ध्वं भवेदाज्यं पुराणं तत् त्रिदोषनुत् । मूर्च्छाकुष्ठविषोन्मादापस्मारतिमिरापहम् ॥१६॥

यथा यथाऽखिलं सर्पिः पुराणमधिकं भवेत् । तथा तथा गुणैः स्वैः स्वैरधिकं तदुदाहृतम् ॥

पुराना घी—एक वर्ष से ऊपर का रक्खा हुआ घी पुराना कहलाता है। पुराना घी—त्रिदोषनाशक एवम्, मूर्छा, कुष्ठ, विष, उन्माद, मिर्गी तथा तिमिर रोग को दूर करने वाला होता है।

पूर्वोक्त सभी घृत—जैसे २ अधिक पुराने होते जायेंगे वैसे २ अपने २ गुणों को अधिक करते जायेंगे अर्थात् उत्तरोत्तर अधिक गुणकारी होते जायेंगे ॥ १६–१७ ॥

अथ नवीनघृतस्य विषयानाह

योजयेन्नवमेवाज्यं भोजने तर्पणे श्रमे। बलक्षये पाण्डुरोगे कामलानेत्ररोगयोः ॥ १८ ॥

नवीन घी के प्रयोग करने के विषय—भोजन, तर्पण, परिश्रम, बल का क्षय, पाण्डु, कामला तथा नेत्ररोग इन सबों में नवीन घृत का ही प्रयोग करना चाहिये ॥ १८ ॥

अथ घृतप्रयोगस्याविषयानाह

राजयक्ष्मणि बाले च वृद्धे श्लेष्मकृते गदे ॥ १९ ॥
रोगे सामे विषूच्यां च विबन्धे च मदात्यये। ज्वरे च दहने मन्दे न सर्पिर्बहु मन्यते ॥२०॥

घी प्रयोग करने के अविषय—बालक तथा वृद्ध लोगों के लिये, एवम् राजयक्ष्मा, कफजन्यरोग, आमयुक्त रोग, विषूचिका (हैजा), मलबन्ध, मदात्यय, ज्वर तथा अग्नि की मन्दता इन सबों में घी देना अत्यन्त प्रशस्त नहीं है ॥ १९–२० ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणेऽष्टादशो घृतवर्गः समाप्तः ॥ १८ ॥

अथ मूत्रवर्गः

तत्र गोमूत्रगुणानाह

गोमूत्रं कटु तीक्ष्णोष्णं क्षारं तिक्तकषायकम् । लघ्वग्निदीपनं मेध्यं पित्तकृत्कफवातहृत् ॥ १ ॥
शूलगुल्मोदरानाहकण्डूक्षिमुखरोगजित् । किलासगदवातामवस्तिरुक्कुष्ठनाशनम् ॥
कासश्वासापहं शोथकामलापाण्डुरोगहृत् ॥ २ ॥
कण्डूकिलासगदशूलमुखाक्षिरोगान्गुल्मातिसारमरुदामयमूत्ररोधान् ।
कासं सकुष्ठजठरक्रिमिपाण्डुरोगान्गोमूत्रमेकमपि पीतमपाकरोति ॥ ३ ॥
सर्वेष्वपि च मूत्रेषु गोमूत्रं गुणतोऽधिकम् । अतोऽविशेषात्कथने मूत्रं गोमूत्रमुच्यते ॥ ४ ॥
प्लीहोदरश्वासकासशोथवर्चोग्रहापहम् ॥ ५ ॥
शूलगुल्मरुजाऽऽनाहकामलापाण्डुरोगहृत् । कषायं तिक्ततीक्ष्णं च पूरणात्कर्णशूलहृत् ॥ ६ ॥

गोमूत्र—कटु-तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, तीक्ष्ण, उष्ण, क्षार, लघु, अग्निदीपक, मेधा के लिये हितकर, पित्तकारक, कफ तथा वातनाशक एवम् शूल, गुल्म, उदररोग, आनाह (अफारा), खुजली, नेत्र तथा मुखसम्बन्धी रोग, किलास रोग (कुष्ठभेद), वात, आम, वस्तिसम्बन्धी रोग, कुष्ठ, कास, श्वास, शोथ, कामला तथा पाण्डुरोग को नष्ट करने वाला होता है ।

और केवल एक गोमूत्र पान करने से खुजली, किलास रोग, शूल, मुख तथा नेत्र सम्बन्धी रोग, गुल्म, अतिसार, वातरोग, मूत्ररोध, कास, कुष्ठ, उदररोग, क्रिमि तथा पाण्डुरोग ये सब दूर हो जाते हैं ।

और सम्पूर्ण मूत्रों में गोमूत्र ही सबसे अधिक गुणकारी होता है, अतः जहाँ पर सामान्य रूप से केवल "मूत्र" शब्द का प्रयोग आवे वहां पर "गोमूत्र" का ही बोध करना चाहिए ।

गोमूत्र—कषाय तथा तिक्त रसयुक्त, तीक्ष्ण गुण युक्त, कान में डालने से कर्णशूलनाशक एवम्-प्लीहा, उदररोग, श्वास, कास, शोथ, मलरोध, शूल, गुल्म, आनाह (अफरा), कामला तथा पाण्डु रोग को दूर करने वाला होता है ॥ १-६ ॥

अथ मनुष्यमूत्रगुणानाह

नरमूत्रं गरं हन्ति सेवितं तद्रसायनम् । रक्तपामाहरं तीक्ष्णं सक्षारलवणं स्मृतम् ॥ ७ ॥

मनुष्य का मूत्र—तीक्ष्ण, क्षार तथा लवण रसयुक्त, गरसंज्ञक विष, रक्तविकार तथा पामारोग नाशक होता है एवम् यह सेवन करने से रसायन है ॥ ७ ॥

अथ मूत्रस्य सामान्यपरिभाषामाह

गोऽजाऽविमहिषीणां तु स्त्रीणां मूत्रं प्रशस्यते । खरोष्ट्रेभनराश्वानां पुंसां मूत्रं हितं स्मृतम् ॥

मूत्रविषयक सामान्य परिभाषा—गाय, बकरी तथा भैंस इनमें स्त्री जाति का मूत्र उत्तम होता है, तथा गदहा, ऊंट, हाथी, मनुष्य तथा घोड़ा इनमें पुरुष जाति का मूत्र हितकारक होता है अर्थात् जहां पर प्रयोग करना हो तो वहां पर उक्त मूत्रों का ही ग्रहण करना चाहिये ॥ ९ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे
एकोनविंशो मूत्रवर्गः समाप्तः ॥ १८ ॥

अथ तैलवर्गः

तत्र तैलस्य स्वरूपं गुणं चाह

तिलादिस्निग्धवस्तूनां स्नेहस्तैलमुदाहृतम् । तत्तु वातहरं सर्वं विशेषात्तिलसम्भवम् ॥ १ ॥

तेल का स्वरूप—तिल आदि स्निग्ध (स्नेहयुक्त) वस्तुओं के स्नेह भाग को मुनि लोग "तैल" कहते हैं।

तेल—सभी प्रकार के तेल यद्यपि वातनाशक होते हैं तथापि तिल का तेल विशेष रूप से वात को नष्ट करने वाला होता है ॥ १ ॥

अथ तिलतैलगुणानाह

तिलतैलं गुरु स्थैर्यबलवर्णकरं सरम् । वृष्यं विकाशि विशदं मधुरं रसपाकयोः ॥ २ ॥
सूक्ष्मं कषायानुरसं तिक्तं वातकफापहम् । वीर्येणोष्णं हिमं स्पर्शे बृंहणं रक्तपित्तकृत् ॥ ३ ॥
लेखनं बद्धविण्मूत्रं गर्भाशयविशोधनम् । दीपनं बुद्धिदं मेध्यं व्यवायि व्रणमेहनुत् ॥ ४ ॥
श्रोत्रयोनिशिरःशूलनाशनं लघुताकरम् । त्वच्यं केश्यं च चक्षुष्यमभ्यङ्गे भोजनेऽन्यथा ॥५॥
छिन्नभिन्नच्युतोत्पिष्टमथितक्षतपिच्चिते । भग्नस्फुटितविद्धाग्निदग्धविश्लिष्टदारिते ॥ ६ ॥
तथाऽभिहतनिर्भुग्नमृगव्याघ्रादिविक्षते । वस्तौ पानेऽन्नसंस्कारे नस्ये कर्णाक्षिपूरणे ॥
सेकाभ्यङ्गावगाहेषु तिलतैलं प्रशस्यते ॥ ७ ॥

तिल का तेल—गुरु, स्थिरता तथा बल कारक, वर्ण को उत्तम करने वाला, सारक, वृष्य (वीर्यवर्धक), विकाशी, विशद, रस तथा पाक में मधुर, सूक्ष्म गुण युक्त, आरम्भ में तिक्तरसयुक्त पश्चात् कषाय रस युक्त, वात तथा कफ नाशक, उष्णवीर्य, स्पर्श में शीतल, बृंहण (रस रक्तादि वर्धक), रक्तपित्तकारक, लेखन, मल तथा मूत्र को बांधने वाला, गर्भाशय का शोधन करने वाला, अग्निदीपक, बुद्धिदायक, मेधा के लिये हितकर, व्यवायि गुण युक्त, व्रण तथा मेह को दूर करने वाला, कान, योनि तथा शिर सम्बन्धी शूल नाशक, शरीर में लघुता करने वाला, अभ्यङ्ग (शरीर में मालिश) करने से त्वचा, केश तथा नेत्रों के लिये हितकर, किन्तु भोजन करने से अन्यथा होता हैं अर्थात् त्वचा, केश तथा नेत्र के लिये अहितकर होता है। एवम्-छिदजाने, भिदजाने, गिरजाने, पिसजाने, मसलजाने, घाव होजाने, पिचजाने, टूटजाने, फटजाने, बिंधजाने, अग्नि से जलजाने, हड्डियों के अपने स्थान से हटजाने, चिरजाने, चोट लगजाने, किसी अङ्ग के टेढ़े हो जाने तथा मृग या बाघ आदिसे घायल हो जाने पर तिलका तेल हितकर होता है, एवम्—वस्तिकर्म, पीने तथा अन्न के संस्कार करने (छौकने) में और नस्य (नास) लेने तथा कान व आंख में डालने में एवम् सेकने, मर्दन तथा अवगाहन करने में तिल का तेल उत्तम होता है ॥ २—७ ॥

तिल—इसका अन्य विवरण ६५२ पृष्ठ पर किया गया है।

ननु बृंहणलेखनयोः कथं समानाधिकरण्यमित्याह

रूक्षादिदुष्टः पवनः स्रोतः संकोचयेद् यदा । रसोऽसम्यग्वहन् कार्श्यं कुर्याद्रक्तान्यवर्द्धयन् ॥८॥
तेषु प्रवेष्टुं सरतासौक्ष्म्यस्निग्धत्वमार्दवैः । तैलं क्षमं रसं नेतुं कृशानां तेन बृंहणम् ॥ ९ ॥
व्यवायिसूक्ष्मतीक्ष्णोष्णसरत्वैर्मेदसः क्षयम् । शनैः प्रकुरुते तैलं तेन लेखनमीरितम् ॥१०॥
द्रुतं पुरीषं बध्नाति स्खलितं तत्प्रवर्त्तयेत् । ग्राहकं सारकञ्चापि तेन तैलमुदीरितम् ॥ ११ ॥

यहां पर यह शङ्का होती है कि—परस्पर विरुद्ध धर्म वाले बृंहण तथा लेखन ये दोनों एक साथ तिल के तेल में कैसे रहते हैं ? इसीका उत्तर देते हुये कहते हैं कि—रूक्षादि पदार्थों के सेवन करने से जब वायु दुष्ट होकर स्रोतोमार्ग को संकुचित करता है तब रस भली भांति नहीं बहने पाता और उससे रक्त की भी वृद्धि नहीं होने पाती अतः उक्त रस शरीर में कृशता करने लगता है। ऐसी स्थिति में तिलतैल—उन संकुचित स्रोतों में अपने सरता, सूक्ष्मता, स्निग्धता तथा मृदुता इन सब गुणों के द्वारा प्रवेश करने के लिये तथा रसों को सर्वत्र यथास्थान पहुंचाने के लिये समर्थ होता है, इसी से कृश (दुर्बल) लोगों के लिये बृंहण (रस-रक्त-मांसादि का वर्धक) कहा गया है। और व्यवायी, सूक्ष्म, तीक्ष्ण, उष्ण तथा सर इन सब गुणों से युक्त होने से इनके द्वारा मेदा का धीरे २ क्षय करता है, अतः तिल का तेल "लेखन" कहा गया है। और पतले मल को बांधता है तथा जो मल अपने स्थान से हट चुका है उसकी प्रवृत्ति कराता है अतः क्रमसे तेल ग्राहक तथा सारक दोनों कहा गया है ॥ ८-११ ॥

अथ घृततैलयोः परिभाषामाह

घृतमब्दात्परं पक्वं हीनवीर्यं प्रजायते। तैलं पक्वमपक्वं वा चिरस्थायि गुणाधिकम् ॥ १२ ॥

घी तथा तेल की परिभाषा—एक वर्ष से अधिक पुराना होने पर पकाया हुआ घी हीनवीर्य हो जाता है किन्तु तेल चाहे पकाया हुआ हो अथवा कच्चा ही हो जैसे २ पुराना होता जाता है वैसे २ अधिक गुणकारी होता है ॥ १२ ॥

अथ सर्षपराजिका तैलयोर्गुणानाह

दीपनं सार्षपं तैलं कटुपाकरसं लघु। लेखनं स्पर्शवीर्योष्णं तीक्ष्णं पित्तास्रदूषकम् ॥ १३ ॥
कफमेदोऽनिलार्शोघ्नं शिरःकर्णामयापहम्। कण्डूकुष्ठक्रमिश्वित्रकोठदुष्टक्रिमिप्रणुत ॥ १४ ॥
तद्वद्राजिकयोस्तैलं विशेषान्मूत्रकृच्छ्रकृत् ॥ १५ ॥

सरसों का तेल-अग्निदीपक, रस तथा विपाक में कटु रस युक्त, लघु, लेखन, स्पर्श तथा वीर्य में उष्ण, तीक्ष्ण, पित्त तथा रक्त को दूषित करने वाला एवम्—कफ, मेद, वायु, बवासीर, शिर तथा कान सम्बन्धी रोग, खुजली, कुष्ठ, कृमि, श्वेतकुष्ठ, कोठ तथा दुष्ट कृमि को नष्ट करने वाला होता है, इसी प्रकार से दोनों प्रकार के राई के तेल के भी गुण हैं—किन्तु विशेष कर उन दोनों के तेल मूत्रकृच्छ्र-कारक होते हैं ॥ १४-१५ ॥

*राजिकयोः = कृष्णराजिकारक्तराजिकयोः ॥ १५ ॥

यहां पर मूल में "राजिकयोः" पद से "दोनों प्रकार की राई अर्थात् काली राई तथा लाल राईके" यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १५ ॥

इनका अन्य विवरण पृष्ठ ६५४-६५६ पर किया गया है।

अथ तुवरीतैलगुणानाह

तीक्ष्णोष्णं तुवरीतैलं लघु ग्राहि कफास्रजित्। वह्निकृद्विषहृत्कण्डूकुष्ठकोठक्रमिप्रणुत् ॥
मेदोदोषापहं चापि व्रणशोथहरं परम् ॥ १६ ॥

तुवरी का तेल-तीक्ष्ण, उष्ण, लघु, ग्राही, कफ तथा रक्तविकार को दूर करने वाला, अग्निकारक, विषनाशक एवम्—खुजली, कुष्ठ, कोठ कृमि, तथा मेद सम्बन्धी दोष को नष्ट करने वाला, एवम् व्रण तथा शोथ को अत्यन्त दूर करने वाला होता है ॥ १६ ॥

इसका अन्य विवरण पृष्ठ ६५४ पर किया गया है।

अथातसीतैलगुणानाह

अतसीतैलमाग्नेयं स्निग्धोष्णं कफपित्तकृत्। कटुपाकमचक्षुष्यं बल्यं वातहरं गुरु ॥ १७ ॥
मलकृद्रसतः स्वादु ग्राहि त्वग्दोषहृद् घनम् ॥ १८ ॥
वस्तौ पाने तथाऽभ्यङ्गे नस्ये कर्णस्य पूरणे। अनुपानविधौ चापि प्रयोज्यं वातशान्तये ॥१९॥

अलसी का तेल—आग्नेय (अग्नि के अधिक अंशों से युक्त), स्निग्ध, उष्ण, कफ तथा पित्त कारक, विपाक में कटु रसयुक्त, नेत्रों के लिए अहितकर, बलकारक, वातनाशक, गुरु, मलकारक, मधुर-रस युक्त, ग्राही, त्वचा गत दोष को दूर करने वाला और घन है और वस्तिकर्म पीने तथा मालिश करने में एवम् नस्य (नास) लेने तथा कानमें डालने के लिये और वायु को शान्त करने के लिये अनुपान विधिमें अलसी के तेल का प्रयोग करना चाहिये ॥ १७-१९ ॥

इसका अन्य विवरण पृष्ठ ६५३ पर किया गया है।

अथ कुसुम्भतैलगुणानाह

कुसुम्भतैलमम्लं स्यादुष्णं गुरु विदाहि च। चक्षुर्ष्यामहितं बल्यं रक्तपित्तकफप्रदम् ॥ २० ॥

कुसुम का तेल—अम्लरस युक्त, उष्ण, गुरु, विदाही, नेत्रों के लिये अहितकर, बलकारक एवम् रक्तपित्त तथा कफ कारक है ॥ २० ॥

इसका अन्य विवरण पृष्ठ ११२ पर किया गया है।

अथ खसबीज (पोस्त) तैलगुणानाह

तैलं तु खसबीजानां बल्यं वृष्यं गुरुस्मृतम्। वातहृत्कफहृच्छीतं स्वादुपाकरसं च तत् ॥

पोस्ता का तेल—बलकारक, वीर्यवर्धक, गुरु, वात तथा कफ नाशक, शीतल एवम् रस तथा विपाक में मधुर होता है ॥ २१ ॥

इसका अन्य विवरण पृष्ठ १४५ पर किया गया है।

अथैरण्डतैलगुणानाह

एरण्डतैलं तीक्ष्णोष्णं दीपनं पिच्छिलं गुरु। वृष्यं त्वच्यं वयःस्थापि मेधाकान्तिबलप्रदम् ॥
कषायानुरसं सूक्ष्मं योनिशुक्रविशोधनम्। विस्रंस्वादु रसे पाके सतिक्तं कटुकं रसम् ॥२३॥
विषमज्वरहृद्रोगपृष्ठगुह्यादिशूलनुत्। हन्ति वातोदरानाहगुल्माष्ठीलाकटिग्रहान् ॥ २४ ॥
वातशोणितविड्बन्धब्रध्नशोथामविद्रधीन। आमवातगजेन्द्रस्य शरीरवनचारिणः ॥
एक एव निहन्ताऽयमेरण्डस्नेहकेसरी ॥ २५ ॥

रेंड़ी का तेल—तीक्ष्ण, उष्ण, अग्निदीपक, पिच्छिल गुण युक्त, गुरु, वीर्यवर्धक, त्वचा के लिये हितकर, अवस्था को स्थिर रखने वाला, मेधा, कान्ति तथा बल को देने वाला, मधुर, तिक्त तथा कटुरस युक्त, अन्तमें कषाय रसयुक्त, विपाक में मधुररसयुक्त, सूक्ष्म (सूक्ष्मस्रोतों में प्रवेश करने वाला), योनि तथा शुक्र का शोधन करने वाला, विस्र (दुर्गंध युक्त), सारक एवम्—विषम-ज्वर, हृद्रोग, पीठ तथा गुह्य (गुदा) आदि का शूल, वात, उदर सम्बन्धी रोग, आनाह (अफरा), गुल्म, अष्ठीला, कटिग्रह (कमर का अकड़जाना), वातरक्त, मलबन्ध, ब्रध्न, शोथ, आम और विद्रधि को दूर करने वाला होता है।

शरीररूपी जङ्गल के अन्दर विचरने वाले आमवात रूपी गजराज को अकेला ही नाश करने वाला यह रेड़ी का तेल रूपी सिंह है ॥ २२-२५ ॥

इसका अन्य विवरण पृष्ठ २९९-३०१ पर किया गया है।

अथ सर्जरसतैलगुणानाह

तैलं सर्जरसोद्भूतं विस्फोटव्रणनाशनम्। कुष्ठपामाकृमिहरं वातश्लेष्मामयापहम् ॥ २६ ॥

सर्जरस का तेल—विस्फोटक (फोड़ा), व्रण, कुष्ठ, खुजली, कृमि, वात तथा कफसम्बन्धी रोग को दूर करने वाला होता है ॥ २६ ॥

इसका अन्य विवरण पृष्ठ २११ एवं ५२० पर किया गया है।

अथ सर्व तैलानां गुणानाह

तैलं स्वयोनिगुणकृद्वाग्भटेनाखिलं मतम्। अतः शेषस्य तैलस्य गुणा ज्ञेयाः स्वयोनिवत् ॥

सभी प्रकार के तैलों के गुण—"वाग्भट" का यह मत है कि—सभी तेल अपने २ मूल द्रव्यों के अनुरूप गुणवाले होते हैं अर्थात् जिसका जो गुण होता है उसके तेल का भी वही गुण होता है। अतः अवशिष्ट तैलों के गुण उनके द्रव्यों के समान ही समझने चाहिये ॥ २७ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे विंशस्तैलवर्गः समाप्तः ॥ २० ॥

अथ सन्धानवर्गः

तत्र काञ्जिकस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

सन्धितं धान्यमण्डादि काञ्जिकं कथ्यते जनैः। काञ्जिकं भेदि तीक्ष्णोष्णं रोचनं पाचनंलघु॥
दाहज्वरहरं स्पर्शात्पानाद्वातकफापहम्। माषादिवटकैर्यत्तु क्रियते तद् गुणाधिकम्॥ २॥
लघु वातहरं तत्तु रोचनं पाचनं परम्। शूलाजीर्णविबन्धामनाशनं वस्तिशोधनम्॥ ३॥

काञ्जी के लक्षण—जो धान्य और मण्डक आदि किसी पात्र में रख कर उस में जल डाल कर उस पात्र का मुंह ३ दिन ढँक कर रक्खा रहता है उसी को कांजिक (कांजी) कहते हैं।

कांजी—मल का भेदन करने वाली, तीक्ष्ण, उष्ण, रोचक, पाचक, लघु, स्पर्श (लगाने) से दाह तथा ज्वर को दूर करने वाली, पीने से वात तथा कफ को नष्ट करने वाली होती है। और यही-कांजी—यदि उरद के बड़े आदि से तैयार की जाय तो अधिक गुणकारी होती है। अर्थात् वह—लघु, वातनाशक, रोचक तथा अत्यन्त पाचक, वस्तिशोधक एवम् शूल, अजीर्ण, विबन्ध तथा आम को नष्ट करने वाली होती है॥ १—३॥

अथ काञ्जिकसेवनायोग्यजनानाह

शोषमूर्च्छाभ्रमार्त्तानां मदकण्डूविशोषिणाम्। कुष्ठिनां रक्तपित्तिनां काञ्जिकं न प्रशस्यते॥
पाण्डुरोगे यक्ष्मणि च तथा शोषातुरेषु च। क्षतक्षीणे तथा श्रान्ते मन्दज्वरनिपीडिते॥
एतेषां न हितं प्रोक्तं काञ्जिकं दोषकारकम्॥ ५॥

काञ्जी सेवन के अयोग्य लोग—जो लोग-शोष, मूर्च्छा या भ्रम से आर्त्त हैं, अथवा-मद तथा खुजली से सूखते जाते हैं, किंवा कुष्ठ तथा रक्तपित्त रोग वाले हैं, उन लोगों के लिये कांजी उत्तम (हितकर) नहीं होती है। एवम्—पाण्डुरोग, यक्ष्मा तथा शोष रोग से पीड़ित और क्षत से क्षीण, परिश्रम से थके हुए तथा मन्दज्वर से जो पीड़ित हैं उन लोगों के लिये भी कांजी हितकर नहीं होती प्रत्युत दोषों को उत्पन्न करने वाली ही होती है॥ ४–५॥

अथ तुषोदकस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

तुषोदकं यवैरामैः सतुषैः शकलीकृतैः॥ ६॥

तुषोदक के लक्षण—कच्चे तथा भूसी के सहित जो टुकड़े २ किये हुये जौ हैं उन्हें सन्धान की रीति से यदि रख दिया जाय तो जो जल भाग है उसी को "तुषोदक" कहते हैं॥ ६॥

*यवैः = उदके संहितैः सन्धानवर्गोक्तत्वात्॥ ६॥

यहां पर "यवैः" पद से "सन्धानवर्ग" में कहे हुये होने से जल में सन्धान की रीति से रक्खे हुये जौ यह अर्थ समझना चाहिये॥ ६॥

तुषाम्बु दीपनं हृद्यं पाण्डुक्रिमिगदापहम्। तीक्ष्णोष्णं पाचनं पित्तरक्तकृद्वस्तिशूलनुत्॥ ७॥

तुषाम्बु अर्थात् तुषोदक—अग्निदीपक, हृदय के लिये हितकर, तीक्ष्ण, उष्ण, पाचक एवम् पाण्डु तथा क्रिमिरोग नाशक, पित्त तथा रक्तविकार को उत्पन्न करने वाला और वस्तिशूल नाशक होता है॥ ७॥

अथ सौवीरस्य लक्षणं गुणांश्चाह

सौवीरं तु यवैरामैः पक्वैर्वा निस्तुषैः कृतम्। गोधूमैरपि सौवीरमाचार्य्याः केचिदूचिरे ॥८॥
सौवीरं तु ग्रहण्यर्शःकफघ्नं भेदि दीपनम्। उदावर्त्ताङ्गमर्दास्थिशूलानाहेषु शस्यते ॥ ९ ॥

सौवीर के लक्षण – कच्चे अथवा पके भूसी रहित जौ के टुकड़ों से उक्त संधान की रीति से जो जल तैयार होता है उसे "सौवीर' कहते हैं। कोई २ आचार्य ऐसा कहते हैं कि—इसी भांति जो गेहूँ के टुकड़ों से तैयार किया जाता है उसे "सौवीर" कहते हैं। सौवीर—मलभेदक, अग्निदीपक तथा ग्रहणी, अर्श और कफ नाशक एवम् उदावर्त्त, अङ्गमर्द (शरीर में दर्द) हड्डियों में शूल की भाँति दर्द तथा आनाह (अफरा) में उत्तम (हितकर) होता है ॥ ८–९ ॥

अथारनालस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

आरनालं तु गोधूमैरामैः स्यान्निस्तुषीकृतैः। पक्वैर्वा सन्धितैस्तत्तु सौवीरसदृशं गुणैः ॥१०॥

आरनाल के लक्षण—कच्चे अथवा पके हुए भूसी रहित गेहूँ के टुकड़ों से सन्धान की रीति से तैयार किये हुए को "आरनाल" कहते हैं। आरनाल—गुणों में सौवीर की भाँति ही होता है ॥ १० ॥

अथ धान्याम्लस्य लक्षणं गुणांश्चाह

धान्याम्लं शालिचूर्ण च कोद्रवादिकृतं भवेत्।
धान्याम्लं धान्ययोनित्वात्प्रीणनं लघु दीपनम्।
अरुचौ वातरोगेषु सर्वेष्वास्थापने हितम् ॥ ११ ॥

धान्याम्ल के लक्षण—शालि (जड़हन) चावलों के चूर्ण अथवा कोदो आदि के चावलों के चूर्ण से सन्धान की रीति से जो तैयार होता है उसे 'धान्याम्ल" कहते हैं। धान्याम्ल—इसका योनि (उपादान कारण) धान्य होने से यह—तृप्तिकारक, लघु, अग्निदीपक एवम् अरुचि, सभी प्रकार के वातरोग तथा आस्थापन वस्ति में हितकर होता है ॥ ११ ॥

अथ शिण्डाक्या लक्षणं गुणाँश्चाह

शिण्डाकी राजिकायुक्तैः स्यान्मूलकदलद्रवैः। सर्षपस्वरसैर्वाऽपि शालिपिष्टकसंयुतैः ॥१२॥

शिण्डाकी के लक्षण—राई तथा मूली के पत्तों के रस अथवा सरसों के स्वरस और शालि (जड़हन) के चावलों के चूर्ण से सन्धान की रीति से जो तैयार होता है उसे "शिण्डाकी" कहते हैं ॥ १२ ॥

*सन्धितैरिति शेषः ॥ १२ ॥

यहाँ पर "सन्धितैः" यह विशेषण ऊपर से लगाना चाहिये जिससे "सन्धान की रीति से जो तैयार होता है" यह अर्थ निकले ॥ १२ ॥

शिण्डाकी रोचनी गुर्वी पित्तश्लेष्मकरी स्मृता ॥ १३ ॥

शिण्डाकी—रोचक, गुरु एवम् पित्त तथा कफ को उत्पन्न करने वाली होती है ॥ १३ ॥

अथ शुक्तस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

कन्दमूलफलादीनि सस्नेहलवणानि च। यत्र द्रवेऽभिषूयन्ते तच्छुक्तमभिधीयते ॥ १४ ॥
शुक्तं कफघ्नं तीक्ष्णोष्णं रोचनं पाचनं लघु। पाण्डुक्रिमिहरं रूक्षं भेदनं रक्तपित्तकृत् ॥ १५ ॥

शुक्त के लक्षण – कन्द, मूल तथा फल आदि तेल तथा निमक के सहित जिस द्रव पदार्थ में डुबोये जाकर सन्धान की रीति से बनाये जाते हैं उसे शुक्त कहते हैं।

शुक्त—कफनाशक, तीक्ष्ण, उष्ण, रोचक, पाचक, लघु, रूक्ष, मलभेदक, रक्तपित्तकारक एवम् पाण्डु तथा कृमि को दूर करने वाला होता है ॥ १४–१५ ॥

अथासुतम् (संधान)। तस्य लक्षणं गुणांश्चाह

कन्दमूलफलाढयं यत्तु विज्ञेयमासुतम्। तद्रुच्यं पाचनं वातहरं लघु विशेषतः ॥ १६ ॥

कन्द, मूल तथा फल आदि से युक्त जो कांजी है उसे "आसुत" कहते हैं। आसुत—रुचिकारक, पाचक, वातनाशक तथा विशेष कर लघु होता है ॥ १६ ॥

अथ मद्यस्य नामानि लक्षणं गुणाँश्चाह

मद्यन्तु सीधुमैरेयमिरा च मदिरा सुरा। कादम्बरी वारुणी च हालाऽपि बलवल्लभा ॥१७॥
पेयं यन्मादकं लोकैस्तन्मद्यमभिधीयते। यथाऽरिष्टं सुरा सीधुरासवाद्यमनेकधा ॥ १८ ॥
मद्यं सर्वं भवेदुष्णं पित्तकृद्वातनाशनम्। भेदनं शीघ्रपाकं च रूक्षं कफहरं परम् ॥ १९ ॥
अम्लं च दीपनं रुच्यं पाचनं चाशुकारि च। तीक्ष्णं सूक्ष्मं च विशदं व्यवायि च विकाशि च ॥

मद्य के संस्कृत नाम—मद्य, सीधु, मैरेय, इरा, मदिरा, सुरा, कादम्बरी, वारुणी, हाला तथा बलवल्लभा ये सब हैं। लक्षण–नशा लाने वाला, पीने योग्य जो द्रव्य है उसे लोग "मद्य" कहते हैं। भेद–मद्य के अरिष्ट, सुरा, सीधु तथा आसव आदि अनेक प्रकार हैं ॥

सभी प्रकार के मद्य—उष्ण, पित्तकारक, वातनाशक, मलभेदक, शीघ्र पचने वाले, रूक्ष, अत्यन्त कफनाशक, अम्ल रस युक्त, अग्निदीपक, रुचिकारक, पाचक, एवम् शीघ्रकारिता, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, विशद, व्यवायि तथा विकाशि गुणों से युक्त होते हैं ॥ १७-२० ॥

अथारिष्टस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

पक्वौषधाम्बुसिद्धं यन्मद्यं तत्स्यादरिष्टकम् ॥ २१ ॥

अरिष्ट के लक्षण—पकाई हुई औषध तथा जल से सिद्ध किया हुआ जो मद्य होता है उसे "अरिष्ट" कहते हैं ॥ २१ ॥

*अरिष्टं = मद्यमिति लोके। यथा – द्राक्षारिष्टं, दशमूलारिष्टम्, बब्बूलारिष्टमिति ॥ २१ ॥

यहां पर "अरिष्ट" पद से लोक में प्रसिद्ध "मद्य" का ग्रहण करना चाहिये। जैसे—

द्राक्षारिष्ट (दाख का अरिष्ट), दशमूलारिष्ट, बब्बूलारिष्ट इत्यादि ॥ २१ ॥

अरिष्टं लघुपाकेन सर्वतश्च गुणाधिकम्। अरिष्टस्य गुणा ज्ञेया बीजद्रव्यगुणैः समाः ॥ २२ ॥

अरिष्ट—पाक में लघु होता है एवम् सब से अधिक गुणकारी होता है। और अरिष्ट के गुण जिन द्रव्यों का वह बनाया जाता है उसके समान होते हैं ॥ २२ ॥

अथ सुराया लक्षणं गुणाँश्चाह

शालिषष्टिकपिष्टादिकृतं मद्यं सुरा स्मृता। सुरा गुर्वी बलस्तन्यपुष्टिमेदःकफप्रदा।
ग्राहिणी शोथगुल्मार्शोग्रहणीमूत्रकृच्छ्रनुत् ॥ २३ ॥

सुरा के लक्षण—शालि (जड़हन) तथा साठी के चावलों के चूर्ण आदि से जो मद्य तैयार किया जाता है उसे "सुरा" कहते हैं।

सुरा—गुरु, ग्राही तथा बल, स्तनों में दूध की वृद्धि, शरीर की पुष्टि, मेद तथा कफ को करने वाला एवम् शोथ, गुल्म, अर्श (बवासीर), ग्रहणी तथा मूत्रकृच्छ्र को दूर करने वाला होता है ॥ २३ ॥

अथ सुराभेदस्य वारुण्या लक्षणगुणानाह

पुनर्नवाशालिपिष्टिविहिता वारुणी स्मृता । संहितैस्तालखर्जूररसैर्या साऽपि वारुणी ।
सुरावद्वारुणी लघ्वी पीनसाध्मानशूलनुत् ॥ २४ ॥

सुरा का भेद वारुणी के लक्षण—पुनर्नवा तथा शालि के चावलों के चूर्ण से जो सुरा बनाई जाती है उसे "वारुणी" कहते हैं । और ताड तथा खजूर के रस को सन्धान की रीति से रखने पर जो तैयार होता है उसे भी "वारुणी" कहते हैं ।

वारुणी—गुणों में यद्यपि सुरा के समान ही होती है तथापि यह उसकी अपेक्षा लघु एवम् पीनस, आध्मान (अफरा) तथा शूल को दूर करने वाली होती है ॥ २४ ॥

तत्सुरातो भेदार्थं लघ्वीति ॥ २४ ॥

यहां पर "लघ्वी" इस पद से "सुरा" से इसका (वारुणी का) भेद दिखलाते हैं । अर्थात "सुरा" गुरु होती है और "वारुणी" लघु होती है यह समझना चाहिये ॥ २४ ॥

अथ द्विविधसीधोर्लक्षणगुणानाह

इक्षोः पक्वै रसैः सिद्धः सीधुः पक्वरसश्च सः । आमैस्तैरेव यः सीधुः स च शीतरसः स्मृतः ॥
सीधुः पक्वरसः श्रेष्ठः स्वराग्निबलवर्णकृत् । वातपित्तकरः सद्यः स्नेहनो रोचनो हरेत् ॥ २६ ॥
विबन्धमेदःशोफार्शःशोफोदरकफामयान् । तस्मादल्पगुणः शीतरसः संलेखनः स्मृतः ॥२७॥

दो प्रकार के सीधु के लक्षण-ईख के पके हुये रस से जो मद्य तैयार होता है वह "पक्वरस सीधु" कहलाता है । और जो ईख के कच्चे रस से तैयार होता है वह "शीतरस सीधु' कहलाता पक्वरस सीधु—श्रेष्ठ, ज्वर तथा वर्ण को उत्तम करने वाला, अग्नि तथा बलकारक, वात तथा पित्त को करने वाला, तत्काल स्नेहन करने वाला, रोचक एवं विबन्ध, मेद, शोथ, बवासीर, उदर का शोथ तथा कफ सम्बन्धी विकारों को नष्ट करने वाला होता है । शीतरस सीधु-यह पक्वरस सीधु की अपेक्षा अल्प गुणकारी तथा अधिक लेखन गुण विशिष्ट होता है ॥ २५-२७ ॥

अथासवस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

यदपक्वौषधाम्बुभ्यां सिद्धं मद्यं स आसवः ॥ २८ ॥

आसव के लक्षण—बिना पकाये हुये औषध तथा जलसे जो मद्य बनाया जाता है वह "आसव" कहलाता है ॥ २८ ॥

*** यथा—लोहासवादिः ॥ २८ ॥**

जैसे—"लोहासव" आदि बनता है इतना यहां पर और समझना चाहिये ॥ २८ ॥

आसवस्य गुणा ज्ञेया बीजद्रव्यगुणैः समाः ॥ २९ ॥

आसव—इसके गुण बीजद्रव्यों (जिन द्रव्यों से आसव बनाया जाता है उसे "बीजद्रव्य" समझना चाहिये) के गुणों के समान होते हैं ॥ २९ ॥

अथ नवपुराणमदिरागुणानाह

मद्यं नवमभिष्यन्दि त्रिदोषजनकं सरम् । अहृद्यं बृंहणं दाहि दुर्गन्धं विशदं गुरु ॥ ३० ॥
जीर्णं तदेव रोचिष्णु क्रिमिश्लेष्मानिलापहम् । हृद्यंसुगन्धिगुणवल्लघु स्रोतोविशोधनम् ॥

नई मदिरा—अभिष्यन्दी, त्रिदोषजनक, सारक, हृदय के लिये अहितकर, बृंहण, दाह उत्पन्न करने वाली, दुर्गन्ध तथा विशद गुण युक्त एवम् गुरु होती है।

पुरानी मदिरा—रुचि को उत्पन्न करने वाली, हृदय के लिये हितकर, सुगन्ध युक्त, गुणकारक, लघु, स्रोतोमार्ग का शोधन करने वाली एवम् क्रिमि, कफ तथा वायु को नष्ट करने वाली होती है ॥ ३०-३१ ॥

अथ सात्त्विकादिमनुष्याणां मद्येन जाताश्चेष्टा आह

सात्त्विके गीतहास्यादि राजसे साहसादिकम्। तामसे निन्द्यकर्माणि निन्द्रां च मदिराऽऽचरेत्

सात्त्विकादि मनुष्यों की मद्य से उत्पन्न हुई चेष्टायें—मदिरा सात्त्विक (सत्त्वगुणी) मनुष्योंमें पीने से गाना तथा हंसना आदि कार्यों को कराने लगती है—राजस (रजोगुणी) मनुष्यों में साहस आदि कार्यों को, तामस (तमोगुणी) मनुष्यों में निन्द्यकर्म तथा निद्रा को कराती है ॥ ३२ ॥

*आचरेत्=कुर्यात् ॥ ३२ ॥

यहां पर "आचरेत" पद से "कराने लगती है" यह भावार्थ समझना चाहिये ॥ ३२ ॥

अथ मद्यपानप्रकारमाह

विधिना मात्रया काले हितैरन्नैर्यथाबलम्। प्रहृष्टो यः पिबेन्मद्यं तस्य स्यादमृतं यथा ॥३३॥
किन्तु मद्यंस्वभावेन यथैवान्नं तथा स्मृतम्। अयुक्तियुक्तं रोगाय युक्तियुक्तंयथाऽमृतम् ॥३४॥

मद्य पीने का प्रकार—जो मनुष्य प्रसन्न होता हुआ, हितकारक अन्नों के साथ, बलानुसार यथासमय, विधिपूर्वक, मात्रा के साथ मद्य पीता है, तो उसे वह (मद्य) अमृत के समान गुणकारी होता है। क्योंकि—मद्य का स्वभाव जिस प्रकार अन्न का है ठीक वैसा ही है, जैसे अन्न—अविधिपूर्वक सेवन करने से रोग उत्पन्न करने वाला होता है और विधिपूर्वक सेवन करने से अमृत के समान गुणकारी होता है वैसे ही मद्य को भी समझना चाहिये ॥ ३३-३४ ॥

अथ मद्यगन्धस्य दूरीकरणोपायमाह

मुस्तैलवालुगदजीरकधान्यकैला यश्चर्वयन्सदसि वाचमभिव्यनक्ति।
स्वाभाविकं मुखजमुज्झति पूतिगन्धं-गन्धञ्च मद्यलशुनादिभवञ्च नूनम् ॥ ३५ ॥

मद्य के गन्ध को दूर करने का उपाय—नागरमोथा, कूठ, एलवालु जीरा, धनिया और इलायची इन सब को चबाता हुआ जो मद्य पीने वाला मनुष्य सभा के मध्य में बातचीत करता है, उसके मुख की स्वाभाविक दुर्गन्ध तथा मद्य एवम् लहसुन आदि से उत्पन्न गन्ध निश्चय दूर हो जाती है ॥३५॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे-
एकविंशः सन्धानवर्गः समाप्तः ॥ २१ ॥

अथ मधुवर्गः

तत्र मधुनो नामगुणानाह

मधु माक्षिकमाध्वीकक्षौद्रसारघमीरितम् । मक्षिकावरटीभृङ्गवान्तं पुष्परसोद्भवम् ॥ १ ॥
मधु शीतं लघु स्वादु रूक्षं ग्राहि विलेखनम् । चक्षुष्यं दीपनं स्वर्यं व्रणशोधनरोपणम् ॥ २ ॥
सौकुमार्यकरं सूक्ष्मं परं स्रोतोविशोधनम् । कषायानुरसं ह्लादि प्रसादजनकं परम् ॥ ३ ॥
वर्ण्यं मेधाकरं वृष्यं विशदं रोचनं हरेत् । कुष्ठार्शःकासपित्तास्रकफमेहक्लमक्रिमीन् ॥ ४ ॥
मेदस्तृष्णावमिश्वासहिक्काऽतीसारविड्ग्रहान् । दाहक्षतक्षयांस्तत्तु योगवाह्यल्पवातलम् ॥ ५ ॥

मधु (शहद) के संस्कृत नाम—मधु, माक्षिक, माध्वीक, क्षौद्र, सारघ, मक्षिकावान्त, वरटीवान्त, भृङ्गवान्त तथा पुष्परसोद्भव ये सब हैं ।

मधु—शीतल, लघु, स्वादिष्ट, रूक्ष, ग्राही, विलेखन, नेत्रों के लिये हितकर, अग्निदीपक, स्वर को उत्तम बनाने वाला, व्रण का शोधन तथा रोपण करने वाला, सुकुमारता करने वाला, सूक्ष्म (सूक्ष्मस्रोतोगामी), स्रोतोमार्ग का अत्यन्त शोधन करने वाला, आरम्भ में मधुर अन्त में कषायरस-युक्त, आह्लादकारक, अत्यन्त प्रसादजनक, वर्ण (शरीर के रङ्ग) को उत्तम करने वाला, मेधाशक्ति को उत्पन्न करने वाला, वीर्यवर्धक, विशद गुणयुक्त, रोचक, योगवाही (जिसके साथ इसका योग हो उसके सदृश गुण को करने वाला), थोड़ा वातजनक एवम् कुष्ठ, अर्श, कास, पित्त, रक्तविकार, कफ, प्रमेह, क्लान्ति, क्रिमि, मेद, तृषा, वमन, श्वास, हिचकी, अतीसार, मलबन्ध, दाह, क्षत और क्षय को नष्ट करने वाला होता है ॥ १–५ ॥

अथ मधुभेदानाह

माक्षिकं भ्रामरं क्षौद्रं पौत्तिकं छात्रमित्यपि । आर्घ्यमौद्दालकं दालमित्यष्टौ मधुजातयः ॥६॥

मधु के भेद—१ माक्षिक, २ भ्रामर, ३ क्षौद्र, ४ पौत्तिक, ५ छात्र, ६ आर्घ्य, ७ औद्दालक, ८ दाल, इस प्रकार से ये ८ मधु की जातियाँ हैं ॥ ६ ॥

अथ तेषां लक्षणं गुणांश्च ।

तत्र माक्षिकस्य लक्षणगुणानाह

मक्षिकाः पिङ्गवर्णास्तु महत्यो मधुमक्षिकाः । ताभिः कृतं तैलवर्णं माक्षिकं परिकीर्त्तितम् ॥
माक्षिकं मधुषु श्रेष्ठं नेत्रामयहरं लघु । कामलाऽर्शःक्षतश्वासकासक्षयविनाशनम् ॥ ८ ॥

पूर्वोक्त भेदों में प्रथम माक्षिकजातीय मधु के लक्षण—पिङ्गल वर्ण वाली जो बड़ी मधुमक्खियाँ होती हैं उनके द्वारा उत्पन्न किये हुये तेल के समान वर्णवाले मधु को "माक्षिक" कहते हैं ।

माक्षिकजातीय मधु—सभी प्रकार के मधुओं में श्रेष्ठ होता है एवम् नेत्र सम्बन्धी रोगों को दूर करने वाला, लघु तथा कामला, अर्श, क्षत, श्वास, कास और क्षय को नष्ट करने वाला होता है ॥ ७–८ ॥

अथ भ्रामरस्य लक्षणगुणानाह

किञ्चित्सूक्ष्मैः प्रसिद्धेभ्यः षट्पदेभ्योऽलिभिश्चितं। निर्मलं स्फटिकाभं यत्तन्मधु भ्रामरं स्मृतं॥
भ्रामरं रक्तपित्तघ्नं मूत्रजाड्यकरं गुरु। स्वादुपाकमभिष्यन्दि विशेषात्पिच्छिलं हिमम्॥

भ्रामरजातीय मधु के लक्षण—प्रसिद्ध, छ पैरों वाले भौरों से कुछ छोटे भ्रमरों (भौरों) से संगृहीत, स्फटिक के समान निर्मल, जो मधु होता होता है उसे "भ्रामर" कहते हैं।

भ्रामरजातीय मधु—रक्तपित्तनाशक, मूत्र में जडता उत्पन्न करने वाला, गुरु, विपाक में मधुर रस युक्त, अभिष्यन्दी, विशेष रूप से पिच्छिल और शीतवीर्य होता है॥ ९-१०॥

अथ क्षौद्रस्य लक्षणगुणानाह

माक्षिकाः कपिलाः सूक्ष्माः क्षुद्राऽऽख्यास्तत्कृतं मधु। मुनिभिः क्षौद्रमित्युक्तंतद्वर्णात्कपिलं भवेत्॥
गुणैर्माक्षिकवत्क्षौद्रं विशेषान्मेहनाशनम्॥ ११॥

क्षौद्रजातीय मधु के लक्षण—कपिल वर्ण की सूक्ष्म जो "क्षुद्रा" नामक मधुमक्खियां होती हैं उनके द्वारा बनाये गये कपिल वर्ण के मधु को मुनियों ने "क्षौद्र" कहा है।

क्षौद्रजातीय मधु—गुणों में पूर्वोक्त माक्षिक जातीय मधु के सदृश होता है, और विशेष रूप से प्रमेहनाशक होता है॥ ११॥

अथ पौत्तिकमधुनो लक्षणगुणानाह

कृष्णा या मशकोपमा लघुतराः प्रायो महापीडिका
वृक्षाणां पृथुकोटरान्तरगताः पुष्पासवं कुर्वते।
तास्तज्ज्ञैरिह पुत्तिका निगदितास्ताभिः कृतं सर्पिषा
तुल्यं यन्मधु तद्वनेचरजनैः संकीर्तितं पौत्तिकम्॥ १२॥

पौत्तिकं मधु रूक्षोष्णं पित्तदाहास्रवातकृत्। विदाहि मेहकृच्छ्रघ्नं ग्रन्थ्यादिक्षतशोषि च॥

पौत्तिकजातीय मधु के लक्षण—प्रायः करके मच्छरों के समान अत्यन्त छोटी २ काले रङ्ग की, काटने से अत्यन्त पीड़ा पहुँचाने वाली, वृक्षों के कोटरों (खोढ़रों) में रहने वाली जो मधुमक्खियां होती है, जिन्हें उनके जानने वाले लोग "पुत्तिका" कहते हैं उनके द्वारा संगृहीत, घी के समान जो मधु होता है उसे जंगली कोल, भिल्लादि लोग "पौत्तिक" कहते हैं।

पौत्तिकजातीय मधु—रूक्ष, उष्ण, पित्त-दाह-रक्तविकार तथा वात कारक, विदाही, प्रमेह तथा मूत्रकृच्छ्र को नष्ट करने वाला, एवम्—गांठ आदि तथा क्षत (घाव) को सुखाने वाला होता है॥ १२-१३॥

अथ छात्रमधुनो लक्षणं गुणांश्चाह

वरटाः कपिलाः पीताः प्रायो हिमवतो वने॥ १४॥
कुर्वन्ति छत्रकाकारं तज्जं छात्रं मधु स्मृतम्। छात्रं कपिलपीतं स्यात्पिच्छिलं शीतलं गुरु॥
स्वादुपाकं कृमिश्वित्ररक्तपित्तप्रमेहजित्। भ्रमतृण्मोहविषहृत्तर्पणञ्च गुणाधिकम्॥ १६॥

छात्रजातीय मधु के लक्षण—प्रायः करके हिमालय पर्वत के जङ्गलों में कपिल तथा पीत वर्ण की मधुमक्खियां छत्ते के आकार का घर बनाती हैं, अत एव उस छत्र से उत्पन्न हुये मधु को 'छात्र" कहते हैं।

छात्रजातीय मधु—कपिल तथा पीत वर्ण युक्त, पिच्छिल, शीतल, गुरु, विपाक में मधुर रस युक्त, तृप्तिदायक, अधिक गुणकारी एवम्—कृमि, श्वेत कुष्ठ, रक्तपित्त, प्रमेह, भ्रम, तृषा, मोह तथा विष को दूर करने वाला होता ॥ १४-१६ ॥

अथार्घ्यस्य लक्षणगुणानाह

मधूकवृक्षनिर्यासं जरत्कार्वाश्रमोद्भवम् । स्रवत्यार्घ्यं तदाख्यातं श्वेतकं मालवे पुनः ॥ १७ ॥
तीक्ष्णतुण्डास्तु याः पीता मक्षिकाः षट्पदोपमाः । अर्घ्यास्तास्तत्कृतं यत्तदार्घ्यमित्यपरे जगुः ॥
आर्घ्यं मध्वतिचक्षुष्यं कफपित्तहरं परम् । कषायं कटुकं पाके तिक्तञ्च बलपुष्टिकृत् ॥ १९ ॥

आर्घ्यजातीय मधु के लक्षण—"जरत्कारु" ऋषि के आश्रम में उत्पन्न हुये, महुये के वृक्ष से जो गोंद स्रवता है, उसे "आर्घ्य" कहते हैं तथा मालवा देश में उसी को "श्वेतक" कहते हैं। किन्तु अन्य कोई २ आचार्य ऐसा कहते हैं कि—भौरों के समान आकारवाली, पीले रंग की तथा तीक्ष्ण मुखवाली जो मधुमक्खियां होती हैं, उन्हें "अर्घ्या" कहते हैं, और उनसे संगृहीत मधु को "आर्घ्य" कहते हैं।

आर्घ्यजातीय मधु—नेत्रों के लिये अत्यन्त हितकर और विशेष रूप से कफ तथा पित्त को दूर करने वाला, कषाय तथा तिक्त रस युक्त, विपाक में कटु रस युक्त एवम्—बल तथा पुष्टिकारक होता है ॥ १७-१९ ॥

अथौद्दालकमधुनो लक्षणगुणानाह

प्रायो वल्मीकमध्यस्थाः कपिलाः स्वल्पकीटकाः । कुर्वन्ति कपिलं स्वल्पं तत्स्यादौद्दालकं मधु ॥
औद्दालकं रुचिकरं स्वर्यं कुष्ठविषापहम् । कषायमुष्णमम्लञ्च कटुपाकञ्च पित्तकृत् ॥ २१ ॥

औद्दालकजातीय मधु के लक्षण—प्रायः करके वल्मीक (विमवट) के अन्दर रहने वाले, कपिल वर्ण के छोटे २ कीड़े, जो कपिल वर्ण का थोड़ी मात्रा में मधु बनाते हैं उसी को "औद्दालक" कहते हैं।

औद्दालकजातीय मधु—रुचिकारक, स्वर को उत्तम बनाने वाला, कषाय तथा अम्ल रस युक्त, उष्ण, विपाक में कटुरसयुक्त एवम् पित्तकारक होता है ॥ २०-२१ ॥

अथ दालमधुनो लक्षणगुणानाह

संस्रुत्य पतितं पुष्पाद्यत्तु पत्रोपरि स्थितम् । मधुराम्लकषायञ्च तद्दालं मधु कीर्तितम् ॥२२॥
दालं मधु लघु प्रोक्तं दीपनीयं कफापहम् । कषायानुरसं रूक्षं रुच्यं छर्दिप्रमेहजित् ॥ २३ ॥
अधिकं मधुरं स्निग्धं बृंहणं गुरु भारिकम् ॥ २४ ॥

दालजातीय मधु के लक्षण—फूलों से टपक करके जो पुष्परस (मधु) पत्तों पर गिरता है और जो मधुर, अम्ल तथा कषाय रसयुक्त होता है उसे "दाल" कहते हैं।

दालजातीय मधु—(पाक में) लघु, अग्निदीपक, कफनाशक, अधिक मधुररसयुक्त, अन्त में कषाय रसयुक्त, रूक्ष, रुचिकारक, स्निग्ध गुण युक्त, बृंहण (रस-रक्तादि वर्धक), तौल में गुरु एवम् वमन तथा प्रमेह को दूर करने वाला होता है ॥ २२-२४ ॥

* लघु पाके । गुरु भारिकं, तुलितम् ॥ २२-२४ ॥

यहां पर मूल में "लघु" पद का "विपाक में लघु" ऐसा अर्थ समझना चाहिये।

और "गुरु भारिकम्" इस पद का "तौल में गुरु" (भारी) यह अर्थ समझना चाहिये।

अथ नवपुराणमधुगुणानाह

नवं मधु भवेत्पुष्ट्यै नातिश्लेष्महरं सरम्। पुराणं ग्राहकं रूक्षं मेदोघ्नमतिलेखनम् ॥ २५ ॥

नया मधु—पुष्टिकारक, कफ को अत्यन्त दूर करने वाला नहीं (किञ्चित कफनाशक), तथा सारक होता है।

पुराना मधु—ग्राही, रूक्ष, अत्यन्त लेखन गुण विशिष्ट एवम् मेद को दूर करने वाला होता है ॥ २५ ॥

अथ परिभाषामाह

मधुनः शर्करायाश्च गुडस्यापि विशेषतः। एकसंवत्सरे वृत्ते पुराणत्वं स्मृतं बुधैः ॥ २६ ॥

परिभाषा—मधु, शक्कर, (चीनी) तथा गुड़ इन सबों को एक वर्ष बीत जाने पर पण्डित लोग पुराना कहते हैं। अर्थात्—एक वर्ष के अन्दर के ये सब नये और बाद एक वर्ष के पुराने कहलाते हैं ॥ २६ ॥

अथ शीतलोष्णमधुनोर्गुणदोषानाह

विषपुष्पादपि रसं सविषा भ्रमरादयः। गृहीत्वा मधु कुर्वन्ति तच्छीतं गुणवन्मधु ॥ २७ ॥
विषान्वयात्तदुष्णन्तु द्रव्येणोष्णेन वा सह। उष्णार्त्तस्योष्णकाले च स्मृतं विषसमं मधु ॥

शीतल तथा उष्ण मधु की क्रम से गुणकारिता और दोषकारिता—विषैले भौंरे आदि विष के फूलों से भी रस लेकर मधु बनाते हैं, अत एव शीतल मधु ही गुणकारी होता है।

और विष के फूलों का सम्बन्ध होने से मधु यदि उष्ण या उष्ण द्रव्यों के साथ, वा उष्ण काल में वा गर्मी से दुःखी रोगियों के लिये प्रयोग किया जाता हो तो विष के समान होता है ॥२७-२८॥

अथ मधूच्छिष्टम् (मोम) तस्य नामगुणानाह

मयनं तु मधूच्छिष्टं मधुशेषं च सिक्थकम्। मध्वाधारो मदनकं मधूषितमति स्मृतम् ॥२९॥
मदनं मृदु सुस्निग्धं भूतघ्नं व्रणरोपणम्। भग्नसन्धानकृद्वातकुष्ठवीसर्परक्तजित् ॥ ३० ॥

मोमके संस्कृत नाम—मयन, मधूच्छिष्ट, मधुशेष, सिक्थक, मध्वाधार, मदनक तथा मधूषित ये सब हैं।

मोम—मृदु गुण युक्त, अत्यन्त स्निग्ध, भूतग्रहनाशक, व्रण का रोपण करने वाला, टूटे हुये अस्थियों को जोड़ने वाला एवम्-वात, कुष्ठ, वीसर्प तथा रक्तविकार को दूर करने वाला होता है ॥ २९-३० ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे
द्वाविंशो मधुवर्गः समाप्तः ॥ २२ ॥

अथ इक्षुवर्गः

तत्रादाविक्षोर्नामगुणानाह

इक्षुर्दीर्घच्छदः प्रोक्तस्तथा भूरिरसोऽपि च। गुडमूलोऽसिपत्रश्च तथा मधुतृणः स्मृतः ॥ १ ॥
इक्षवो रक्तपित्तघ्ना बल्या वृष्याः कफप्रदाः। स्वादुपाकरसाः स्निग्धा गुरवो मूत्रला हिमाः॥

ऊख के संस्कृत नाम—इक्षु, दीर्घच्छद, भूरिरस, गुडमूल, असिपत्र तथा मधुतृण ये सब हैं।

सभी प्रकार की इख—रक्तपित्तनाशक, बलकारक, वीर्यवर्धक, कफजनक, रस तथा विपाक में मधुर, स्निग्ध, गुरु, मूत्रकारक, एवम् शीतवीर्य होती हैं ॥ १-२ ॥

हि०–ईख, गन्ना। **अं०**–Sugar Cane (सुगर केन)। **ले०**–Saccharum officinarium Linn. (सेक्करम् ऑफिसिनेरम्)। *Fam. Gramineae* (ग्रॅमिनी)।

इसकी खेती भारतवर्ष के सभी उष्ण प्रदेशों में की जाती है। भावप्रकाशकार इसके १३ भेदों का उल्लेख करते हैं। आजकल भी इसके अनेक कृषित प्रकार पाये जाते हैं।

इसके काण्ड स्वरस, मूल स्वरस तथा शर्करा, राब आदि इक्षुविकारों का उपयोग किया जाता है। अनेक योगों को टिकाऊ बनाने के लिए शर्करा आदि का उपयोग करते हैं। इसमें शर्करा आदि के अतिरिक्त कॅल्शियम् ऑक्जेलेट भी पाया जाता है।

यह मधुर, शीतल, मूत्रल, सारक, बल्य, कण्ठ्य, श्रमहर, शुक्रशोधक तथा वात एवं कफवर्धक है। इसका मूल शीतल, मूत्रल एवं वृष्य है। यह मधुर होते हुये भी शीतवीर्य होने से वातवर्धक होता है (सुश्रुत)। इसको मूत्रजनन द्रव्यों में श्रेष्ठ माना गया है (चरक)। इसका उपयोग रक्तपित्त, गुल्म, उदर, कामला एवं पांडु आदि में भी किया जाता है। इसका बाह्य प्रयोग पित्ताभिष्यन्द में किया गया है।

अथेक्षुभेदानाह

पौण्ड्रको भीरुकश्चापि वंशकः शतपोरकः। कान्तारतापसेक्षुश्च काण्डेक्षुः सूचिपत्रकः॥ ३ ॥
नैपालो दीर्घपत्रश्च नीलपोरोऽथ कोशकृत्। मनोगुप्ता च इत्येता जातयस्तत्र कीर्तिताः॥४॥

ऊख के भेद—पौड्रक, भीरुक, वंशक, शतपोरक, कान्तार, तापसेक्षु, काण्डेक्षु, सूचिपत्रक, नैपाल, दीर्घपत्र, नीलपोर, कोशकृत तथा मनोगुप्ता ये सब ऊखकी जातियां मानी गई हैं ॥ ४-४ ॥

अथ श्वेतपौण्ड्रक-भीरुकेक्षुगुणानाह

वातपित्तप्रशमनो मधुरो रसपाकयोः। सुशीतो बृंहणो बल्यः पौण्ड्रको भीरुकस्तथा ॥ ५ ॥

पौण्ड्रक तथा भीरुक ये दोनों ईख—वात तथा पित्त को शमन करने वाला, रस तथा विपाकमें मधुर, अत्यन्त शीतल, बृंहण (रस–रक्तादिवर्धक) एवम् बलकारक होती हैं। ५ ॥

अथ कोशकारेक्षुः। तस्य गुणानाह

कोशकारो गुरुः शीतो रक्तपित्तक्षयापहः॥ ६ ॥

कोशकार नामक ईख—गुरु, शीतल एवम् रक्तपित्त तथा क्षय को नष्ट करने वाली होती है ॥ ६ ॥

अथ कान्तारेक्षुगुणानाह

कान्तारेक्षुर्गुरुर्वृष्यः श्लेष्मलो बृंहणः सरः ॥ ७ ॥

कान्तार संज्ञक ईख—गुरु, वीर्यवर्धक, कफजनक, बृंहण (रसरक्तादि वर्धक) तथा सारक होती है ॥ ७ ॥

अथ वंशकेक्षुगुणानाह

दीर्घपोरः सुकठिनः सक्षारो वंशकः स्मृतः ॥ ८ ॥

वंशक नामक ईख—लंबे २ पोरों वाली, अत्यन्त कठिन तथा क्षारयुक्त होती है ॥ ८ ॥

अथ शतपोरकेक्षुगुणानाह

शतपर्वा भवेत्किञ्चित्कोशकारगुणान्वितः । विशेषात्किञ्चिदुष्णश्च सक्षारः पवनापहः ॥ ९ ॥

शतपोरक संज्ञक ईख—औरों की अपेक्षा अधिक पोरोंवाली, किंचित् कोशकार संज्ञक ऊख के गुणों से युक्त, विशेष करके किंचित् उष्ण, क्षारयुक्त तथा वात नाशक होती है ॥ ९ ॥

अथ तापसेक्षुगुणानाह

तापसेक्षुर्भवेन्मृद्वी मधुरा श्लेष्मकोपनी । तर्पणी रुचिकृच्चापि वृष्या च बलकारिणी ॥१०॥

तापसेक्षु संज्ञक ईख-कोमल, मधुर रसयुक्त, कफ को कुपित करने वाली, तृप्तिकारक, रुचि को उत्पन्न करने वाली, वीर्यवर्धक, तथा बलकारक होती है ॥ १० ॥

अथ काण्डेक्षुगुणानाह

एवं गुणैस्तु काण्डेक्षुः स तु वातप्रकोपणः ॥ ११ ॥

काण्डेक्षु नामक ईख—गुणों में यद्यपि "तापसेक्षु" के समान ही होती है तथापि यह वात को विशेष रूप से कुपित करने वाली होती है ॥ ११ ॥

अथ सूचीपत्र-नीलपोर-नैपाल-दीर्घपत्राणां गुणानाह

सूचीपत्रो नीलपोरो नैपालो दीर्घपत्रकः । वातलाः कफपित्तघ्नाः सकषाया विदाहिनः ॥१२॥

सूचीपत्र, नीलपोर, नैपाल तथा दीर्घपत्रक संज्ञक ईख-वातजनक, कफ तथा पित्त नाशक, कषाय रसयुक्त तथा विदाही होती हैं ॥ १२ ॥

अथ मनोगुप्तेक्षुगुणानाह

मनोगुप्ता वातहरी तृष्णाऽऽमयविनाशिनी । सुशीता मधुराऽतीव रक्तपित्तप्रणाशिनी ॥१३॥

मनोगुप्ता संज्ञक ईख—वातनाशक, तृषा रोग को दूर करने वाली, अति शीतल, अत्यन्त मधुर एवम् रक्तपित्त को नष्ट करने वाली होती है ॥ १३ ॥

अथ बाल-तरुण-वृद्धेक्षुगुणानाह

बाल इक्षुः कफं कुर्यान्मेदोमेहकरश्च सः । युवा तु वातहृत् स्वादुरीषत्तीक्ष्णश्च पित्तनुत् ॥
रक्तपित्तहरो वृद्धः क्षतहृद् बलवीर्यकृत् ॥१४॥

बाल (कच्ची) अर्थात् थोड़े दिनों की ईख—कफकारक एवम् मेद तथा प्रमेह रोग को उत्पन्न करने वाली होती है।

युवा (अधपकी) ईख—वातनाशक, स्वादिष्ट, किंचित् तीक्ष्ण एवम् पित्तनाशक होती है।

वृद्ध (पकी) ईख—रक्तपित्त को दूर करने वाली, क्षतनाशक एवम् बल तथा वीर्य उत्पन्न करने वाली होती है॥ १४॥

अथेक्षोरङ्गभेदेन गुणभेदानाह

मूले तु मधुरोऽत्यर्थं मध्येऽपि मधुरः स्मृतः। अग्रे ग्रन्थिषु विज्ञेय इक्षुः पटुरसोजनैः॥१५॥

ईख के अङ्गभेद से गुणभेद—जड़ भाग मे अत्यन्त मधुर रसयुक्त, मध्यभाग में मधुर रसयुक्त और अग्रभाग तथा गांठों में लवण रस युक्त ईख होता है, ऐसा लोगों को जानना चाहिये॥ १५॥

अथ चूपितेक्षुगुणानाह

दन्तनिष्पीडितस्येक्षो रसः पित्तास्रनाशनः। शर्करासमवीर्यः स्यादविदाही कफप्रदः॥१६॥

दांतों से चूसे हुये ईख का रस-पित्त तथा रक्तविकार को दूर करने वाला, शक्कर के समान वीर्यवाला, अविदाही (किंचित् दाह करने वाला) एवं कफ उत्पन्न करने वाला होता है॥ १६॥

अथ यान्त्रिकेक्षुरसगुणानाह

मूलाग्रजन्तुग्रन्थ्यादिपीडनान्मलसङ्करात्। किञ्चित्कालविधृत्या च विकृतिं याति यान्त्रिकः॥
तस्माद्विदाही विष्टम्भी गुरुः स्याद्यान्त्रिको रसः॥ १७॥

कोल्हू में पिरे हुये ईख का रस—ईख का यह मूल, अग्रभाग, जन्तु एवम् गांठ आदि के कोल्हू में पिरे जाने से तथा मैल के मिल जाने से और कुछ काल तक रक्खे रहने से विकृत (खराब) हो जाता है, अत एव वह विदाही, विष्टम्भजनक तथा गुरु होता है॥ १७॥

अथ पर्युषितेक्षुरसगुणानाह

रसः पर्युषितो नेष्टो ह्यम्लो वातापहो गुरुः। कफपित्तकरः शोषी भेदनश्चातिमूत्रलः १८॥

बासी ईख का रस—हितकर नहीं होता है और यह अम्ल रस युक्त, वातनाशक, गुरु, कफ तथा पित्त कारक, शोष उत्पन्न करने वाला, मलभेदक एवम् अत्यन्त मूत्रजनक होता है॥ १८॥

अथ पक्वेक्षुरसगुणानाह

पक्वो रसो गुरुः स्निग्धः सुतीक्ष्णः कफवातनुत्। गुल्मानाहप्रशमनः किञ्चित्पित्तकरः स्मृतः॥

पकाया हुआ ईख का रस—रूक्ष, स्निग्ध, अत्यन्त तीक्ष्ण, कफ तथा वात नाशक, किंचित् पित्तकारक एवम् गुल्म तथा आनाह (अफारा) को दूर करने वाला होता है॥ १९॥

अथेक्षुरसनिर्मितपदार्थगुणानाह

इक्षोर्विकारास्तृड्दाहमूर्छापित्तास्रनाशनः। गुरवो मधुरा बल्याः स्निग्धा वातहराः सराः॥
वृष्या मोहहराः शीता बृंहणा विषहारिणः॥ २०॥

ईख के रस में बने हुए पदार्थ—तृषा, दाह, मूर्च्छा, पित्त तथा रक्तविकार को दूर करने वाले, गुरु, मधुर रसयुक्त, बलकारक, स्निग्ध, वातनाशक, सारक, वीर्यवर्धक, मोह को दूर करने वाले, शीतल, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक) तथा विषनाशक होते हैं॥ २०॥

अथ फाणितम् ("चरका, राव, छोवा" इति लोके)।

तस्य लक्षणगुणानाह

इक्षो रसस्तु यः पक्वः किञ्चिद्गाढो बहुद्रवः। स एवेक्षुविकारेषु ख्यातः फाणितसंज्ञया ॥
फाणितं गुर्वभिष्यन्दि बृंहणं कफशुक्रकृत्। वातपित्तश्रमान्हन्ति मूत्रबस्तिविशोधनम् ॥

फाणित (चरका, राब, छोवा इस नाम से लोक प्रसिद्ध) के लक्षण—ईख का जो पकाया हुआ रस कुछ गाढ़ा अंश तथा अधिक द्रव भाग से युक्त होता है वही ईख के रस से बने हुए पदार्थों में फाणित (राब) नाम से विख्यात है।

फाणित (राब)—गुरु, अभिष्यन्दी, बृंहण (रस-रक्तादि वर्धक), कफ तथा शुक्र को उत्पन्न करने वाला, वात, पित्त तथा श्रम को दूर करने वाला एवम् मूत्र तथा वस्ति का अधिक शोधन करने वाला होता है ॥ २१ ॥

अथ मत्स्यण्डी ("राबकाकब, खण्डराब" इति लोके।

तस्य लक्षणगुणानाह

इक्षो रसो यः सुपक्वो घनः किञ्चिद्द्रवान्वितः ॥ २२ ॥
मन्दं यत्स्यन्दते तस्मात्तन्मत्स्यण्डी निगद्यते। मत्स्यण्डी भेदिनी बल्या लघ्वी पित्तानिलापहा ॥
मधुरा बृंहणी वृष्या रक्तदोषापहा स्मृता ॥ २३ ॥

मत्स्यण्डी ("राब काकब, खण्डराब" इस नाम से लोक प्रसिद्ध) के लक्षण—ईख का जो पकाया हुआ रस अधिक घन भाग तथा स्वल्प द्रव भाग से युक्त होता है उसे मत्स्यण्डी कहते हैं और इससे मन्द २ रस झरता है इस कारण से इसका "मत्स्यण्डी" नाम रक्खा गया है।

मत्स्यण्डी-मलभेदक, बलकारक, लघु, पित्त तथा वात को दूर करने वाली, मधुर रसयुक्त, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), वीर्यवर्धक एवम् रक्तसंबन्धी दोष को नष्ट करने वाली होती है ॥२२-२३॥

अथ गुडस्य लक्षणं गुणांश्चाह

इक्षो रसो यः सुपक्वो जायते लोष्टवद् दृढः ॥ २४ ॥
स गुडो गौडदेशे तु मत्स्यण्ड्येव गुडो मतः। गुडो वृष्यो गुरुः स्निग्धो वातघ्नो मूत्रशोधनः।
नातिपित्तहरो मेदःकफक्रिमिबलप्रदः ॥ २५ ॥

गुड के लक्षण—ईख का जो रस पकाते २ गाढ़ा होने पर ढेले के समान बांधने से दृढ़ हो जाता है उसे "गुड़" कहते हैं। किन्तु "गौड़" देश में "मत्स्यण्डी" को ही "गुड" मानते हैं।

गुड—वीर्यवर्धक, गुरु, स्निग्ध, वातनाशक, मूत्र शोधन करने वाला, अत्यन्त पित्तनाशक नहीं (किञ्चित पित्तनाशक) एवम्—मेद, कफ, क्रिमि तथा बल को उत्पन्न करने वाला होता है ॥२४-२५॥

अथ पुराणगुडस्य गुणानाह

गुडो जीर्णो लघुः पथ्योऽनभिष्यन्द्यग्निपुष्टिकृत्। पित्तघ्नो मधुरो वृष्यो वातघ्नोऽसृक्प्रसादनः ॥

पुराना गुड़—लघु, पथ्य, अनभिष्यंदी (किञ्चित अभिष्यन्दी), अग्निजनक तथा पुष्टिवर्धक, पित्तनाशक, मधुर, वीर्यवर्धक, वातनाशक, एवम् रक्त को स्वच्छ (दोषरहित) करने वाला होता है ॥ २६ ॥

अथ नवीनगुडस्य गुणानाह

गुडो नवः कफश्वासकासक्रिमिकरोऽग्निकृत् ॥ २७ ॥

नवीन गुड़—कफ, श्वास, कास तथा कृमि को उत्पन्न करने वाला एवम् जठराग्नि को वृद्धि करने वाला होता है ।। २७ ॥

अथानुपानभेदेन गुडस्य गुणानाह

श्लेष्माणमाशु विनिहन्ति सहार्द्रकेण पित्तं निहन्ति च तदेव हरीतकीभिः ।
शुण्ठ्या समं हरति वातमशेषमित्थं दोषत्रयक्षयकराय नमो गुडाय ॥ २८ ॥

अनुपान भेद से गुड़ के गुण—गुड़ यदि अदरक के साथ सेवन किया जाय तो कफ को शीघ्र नष्ट करता है । और हरीतकी (हर्रे) के साथ सेवन करने से पित्त को दूर करता है । एवम् सोंठ के साथ गुड़ का सेवन करने से समस्त वातसम्बन्धी विकारों को दूर करता है। इस प्रकार से तीनों दोषों को दूर करने वाले गुड़ के लिये नमस्कार है अर्थात् तीनों दोषों को दूर करने से गुड़ ओषधियों में सर्वोत्तम है ॥ २८ ॥

अथ खण्डस्य गुणानाह

खण्डन्तु मधुरं वृष्यं चक्षुष्यं बृंहणं हिमम् । वातपित्तहरं स्निग्धं बल्यं वान्तिहरं परम् ॥२९॥

खण्ड—मधुर रसयुक्त, वीर्यवर्धक, नेत्रों के लिये हितकर, बृंहण (रस रक्तादि वर्धक), शीतवीर्य, वात तथा पित्त नाशक, स्निग्ध, बलकारक एवम् अत्यन्त वमन को दूर करने वाला होता है ॥ २९ ॥

* खण्डमिति प्रसिद्धं (खांड) ॥ २९ ॥

यहां पर "खण्ड" इस पद से लोक प्रसिद्ध "खांड" का ग्रहण करना चाहिये ॥ २९ ॥

अथ शर्करा ("चीनी" इति लोके) । तस्या लक्षणगुणानाह

खण्डन्तु सिकतारूपं सुश्वेतं शर्करा सिता । सिता सुमधुरा रुच्या वातपित्तास्रदाहहृत् ।
मूर्च्छाच्छर्दिज्वरान्हन्ति सुशीता शुक्रकारिणी ॥ ३० ॥

शर्करा ("चीनी" इस नाम से लोक प्रसिद्ध) के लक्षण—जो खांड़ बालू के समान तथा श्वेत हो उसे "शर्करा" अथवा "सिता" कहते हैं ।

चीनी—अति मधुर, रुचिकारक, वात, पित्त, रक्तविकार तथा दाह को दूर करने वाली, अतिशीतल, शुक्र को उत्पन्न करने वाली एवम्—मूर्च्छा, वमन तथा ज्वर को नष्ट करने वाली होती है ॥ ३० ॥

अथ पुष्पसिता सितोपला च (फूल से बनाई हुई चीनी और मिश्री) । तयोर्गुणानाह

भवेत्पुष्पसिता शीता रक्तपित्तहरी लघुः । सितोपला सरा लघ्वी वातपित्तहरी हिमा ॥ ३१ ॥

पुष्पसिता (फूलों से बनाई हुई चीनी) – शीतल, लघु एवम् रक्तपित्त को दूर करने वाली होती है ।

सितोपला (मिश्री)—सारक, लघु, शीतवीर्य एवम् वात तथा पित्त को दूर करने वाली होती है ॥ ३१ ॥

अथ मधुखण्डगुणानाह

मधुजा शर्करा रूक्षा कफपित्तहरा गुरुः । छर्द्यतीसारतृड्दाहरक्तहृत्तुवरा हिमा ॥ ३२ ॥

मधुखण्ड (शहद से बनी हुई खांड अथवा शक्कर)—रूक्ष, कफ तथा पित्त नाशक, गुरु, कषाय रसयुक्त, शीतवीर्य एवम्—वमन, अतीसार, तृषा, दाह तथा रक्तविकार को दूर करने वाली होती है ॥ ३२ ॥

अथ परिभाषामाह

यथा यथैषां नैर्मल्यं मधुरत्वं यथा यथा । स्नेहलाघवशैत्यादि सरत्वञ्च तथा तथा ॥ ३३ ॥

परिभाषा—जैसे २ इन (खांड, बूरा आदि) सब में निर्मलता तथा मधुरता (मिठास) अधिक होती जाती है वैसे २ इनमें, स्निग्धता, लघुता, शीतलता एवम्—सारकता आदि (गुण) भी बढ़ते जाते हैं, अर्थात् निर्मलता तथा मधुरता के अनुसार ही इन सब में स्निग्धता आदि गुण रहते हैं ॥ ३३ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे त्रयोविंश इक्षुवर्गः समाप्तः ॥ २३ ॥

अथ अनेकार्थनामवर्गः

वक्तव्य—प्रस्तुत अनेकार्थ वर्ग के पर्यायों को मूलनिघंटु भाग में आये पर्यायों के साथ मिलाकर अध्ययन करने से अनेक परिवर्तन देखे गये, इसलिये पादटिप्पणी में इनका स्पष्टीकरण किया गया है। कुछ पर्याय इनमें ऐसे हैं जो ठीक होते हुवे भी मूल भावप्रकाश निघंटु में नहीं हैं किन्तु अन्य निघंटुओं में हैं। कुछ पर्याय, मूल पर्यायों से कुछ ही भिन्न हैं जैसे किसी में केवल लिंगभेद है या किसी में केवल विशेषण का अन्तर है। कुछ ऐसे भी पर्याय हैं जिनका उल्लेख कहीं नहीं मिलता। इसी प्रकार संभव है कि कुछ पर्याय अनेकार्थवाची होते हुये भी यहाँ उनका उल्लेख न हुआ हो। परिशिष्ट में दी हुई संपूर्ण पर्यायों की सूची से इनका ज्ञान हो सकता है।

तत्र द्व्यर्थानि नामान्याह

दो अर्थ वाले शब्द

अश्मन्तकः—अम्ललोणिका कोविदारश्च।

१ अश्मन्तक—तिनपतिया और कचनार।

कठिल्लकः—कारवेल्लः, रक्तपुनर्नवा च।

२ कठिल्लक—करैला और लाल पुनर्नवा।

कुलकः—पटोलः, कुपीलुश्च (कुपीलुः 'कुचिला' इति लोके प्रसिद्धः)।

३ कुलक—परवर और कुचिला।

कोशातकी—महाकोशातकी, राजकोशातकी च।

४ कोशातकी—नेनुआ और तरोई।

दीप्यकः—यवानी, अजमोदा च।

५ दीप्यक—अजवाइन और अजमोद।

मरुबकः—फणिज्जकः, पिण्डीतकश्च, (फणिज्जकः='मरुआ' इति लोके, पिण्डीतकः='मैनफल' इति लोके)।

६ मरुबक—मरुआ और मैनफल।

मधूलिका—मूर्वा, जलयष्टी च।

७ मधूलिका—मूर्वा और जलमुलेठी।

रुचकम्—सौवर्चलं, बीजपूरकश्च।

८ रुचक—सोंचरनमक और बिजौरा नींबू।

लोणिका—लोणीशाकं, चाङ्गेरीशाकश्च।

९ लोणिका—नोनीशाक और चांगेरीशाक (तिनपतिया)

वसुकः—रक्तार्कः,[१] क्षारलवणं च।[२]

१० वसुक—लाल आक और रेहगवा नोन।

बाह्लीकम्—कुङ्कुमं, हिङ्गु च।

११ बाह्लीक—केशर और हींग।

वितुन्नकम्—धान्यकं, तुत्थञ्च।

१२ वितुन्नक—धनियां और नीला थोथा।

स्वादुकण्टकः—गोक्षुरः, विकङ्कतश्च।

१३ स्वादुकण्टक—गोखरू और कंटाई।

अग्निमुखी—भल्लातकी, लाङ्गली च।

१४ अग्निमुखी—भिलावा और कलिहारी।

अग्निशिखम्—कुङ्कुमं, कुसुम्भञ्च।

१५ अग्निशिखा—केसर और कुसुम (बर्रे)।

अजशृङ्गी—मेषशृङ्गी, कर्कटशृङ्गी च।

१६ अजशृङ्गी—मेढ़ाशिङ्गी और काकड़ासिङ्गी।

---

१. वसुक पर्याय श्वेतार्क (मन्दार) का होने से यहाँ रक्तार्क के स्थान पर श्वेतार्क होना चाहिये।

२. क्षारलवण के लिये वसुक पर्याय मूल में नहीं है। ध. नि. ने. वसुक पर्याय 'उद्भिदलवण' के लिये दिया है।

प्रियङ्गु— फलिनी, कङ्गुश्च ।
१७ प्रियङ्गु—फूलप्रियङ्गु और कंगुनो ।
भृङ्गः—भृङ्गराजः, त्वक् च ।
१८ भृङ्ग—भांगरा और तज ।
समङ्गा—मञ्जिष्ठा, लज्जालुश्च ।
१९ समङ्गा—मंजीठ और लजालू ।
अमोघा—विडङ्गं, पाटला च ।
२० अमोघा—वायविडंग और पाढल ।
मोचा—कदली, शाल्मलिश्च ।
२१ मोचा—केला और सेमर ।
कुटन्नटः—श्योनाकः, कैवर्तीमुस्तश्च ।
२२ कुटन्नट—सोनापाठा और केवटी मोथा ।
कुनटी—धनिका, मनःशिला च ।
२३ कुनटी—धनियां और मैनसिल ।
घोण्टा—पूगः, बदरी च ।
२४ घोण्टा—सुपारी और बेर ।
त्रिपुटा—त्रिवृत्, सूक्ष्मैला च ।
२५ त्रिपुटा—निशोथ और छोटी इलायची ।
शटी—कर्चूरः, गन्धपलाशी च ।
२६ शटी—कचूर और गन्धपलाशी (कपूर-कचरी) ।
दन्तशठः—जम्बीरः, कपित्थश्च ।
२७ दन्तशठ—जम्बीरी नीबू और कैथा ।
दन्तशठा—अम्लिका, चाङ्गेरी च ।
२८ दन्तशठा—इमली और तिनपतिया ।
अरुणम्[1]—मञ्जिष्ठा, अतिविषा च ।
२९ अरुणा—मजीठ और अतीस ।
कणा—पिप्पली, जीरकश्च ।
३० कणा—पीपल और जीरा ।
तालपर्णी[2]—मुशली, मुरा च ।
३१ तालपर्णी—मूसली और मुरा (एकाङ्गी) ।
पीलुपर्णी—मूर्वा, बिम्बी च ।
३२ पीलुपर्णी—मूर्वा और कन्दूरी ।
ब्राह्मणी—भार्ङ्गी, स्पृक्का च ।
३३ ब्राह्मणी—भारङ्गी और स्पृक्का ।
अपराजिता[3]—विष्णुक्रान्ता, शालिपर्णी च
३४ अपराजिता—कोयल और शालिपर्णी ।
आस्फोता—अपराजिता, सारिवा च ।
३५ आस्फोता—अपराजिता (कोयल) और श्वेत सारिवा (अनन्तमूल) ।
पारावतपदी—ज्योतिष्मती,काकजङ्घा च ।
३६ पारावतपदी—मालकांगुनी और काकजङ्घा ।
शारदी[4]—शारिवा, जलपिप्पली च ।
३७ शारदी—अनन्तमूल और जलपीपल ।
उग्रगन्धा—वचा, यवानी च ।
३८ उग्रगन्धा—घोडवच और अजवाइन ।
परिव्याधः—कर्णिकारः, जलवेतसश्च ।
३९ परिव्याध—कर्णिकार और जलवेतस ।
अञ्जनम्—स्रोतोञ्जनम्, सौवीरञ्च ।
४० अञ्जन—काला सुरमा और सफेद सुरमा ।
अग्निः—चित्रकः, भल्लातश्च ।
४१ अग्नि—चीता और भिलावा ।
कृमिघ्नः—विडङ्गः, हरिद्रा च ।
४२ कृमिघ्न—वायविडङ्ग और हरदी ।
तेजनः—शरः, वेणुश्च ।
४३ तेजन—सरपत और बांस ।
तेजनी—तेजस्वती, मूर्वा च ।
४४ तेजनी—तेजवल और मूर्वा ।
रोचनः—कम्पिल्लः रोचना च ।
४५ रोचन—कबीला और गोलोचन ।

---

१. मञ्जिष्ठा एवं अतिविषा का पर्याय अरुणा आया हुआ है न कि अरुणम् ।

२. तालपर्णी यह न मुशली का पर्याय है न मुरा का । अन्य निघण्टुओं में यह मिश्रेया का पर्याय दिया हुआ है । मुशली का पर्याय तालमूली मिलता है एवं मुरा का शालपर्णिका मिलता है ।

३. 'अपराजिता' यह नाम शालिपर्णी (पाठा०-शालपर्णी) के पर्यायों में नहीं आया है ।

४. 'शारदी' यह 'सारिवा' के पर्यायों में नहीं है ।

[रोचना—गोरोचना, रक्तकह्लारश्च[1]]।
४६ रोचना—गोलोचन और लाल कुमुद।
राजादनम्—क्षीरिका, प्रियालश्च।
४७ राजादन—खिरनी और चिरौंजी।
शकुलादनी—कटुका, जलपिप्पली च।
४८ शकुलादनी—कुटकी और जलपीपल।
गोलोमी—श्वेतदूर्वा, वचा च।
४९ गोलोमी—सफेद दूब और घोडवच।
पद्मा—पद्मचारिणी, भार्ङ्गी च।
५० पद्मा—स्थलकमल और भारङ्गी।
श्यामा—सारिवा, प्रियङ्गुश्च।
५१ श्यामा—अनन्तमूल और प्रियङ्गु।
उत्तमा—त्रिफला, सर्वतोभद्रा च।
५२ उत्तमा—त्रिफला और गम्भारी।
धान्यम्—धान्याकं, शाल्यादि च।
५३ धान्य—धनिया और शालि (जड़हन) आदि धान्य।
सहस्रवीर्या—नीलदूर्वा, महाशतावरी च।
५४ सहस्रवीर्या—हरी दूब और बड़ी शतावर।
सेव्यम्—उशीरं, लामज्जकश्च।
५५ सेव्य—खस और लामज्जक।
उदुम्बरः—जन्तुफलं, ताम्रञ्च।
५६ उदुम्बर—गूलर और तांबा।
ऐन्द्री—इन्द्रवारुणी, इन्द्राणी[2] च।
५७ ऐन्द्री—इन्द्रायन, निर्गुण्डी और बड़ी इलायची।
कटम्भरा—कटुका, श्योनाकश्च।
५८ कटम्भरा—कुटकी और सोनापाठा।
क्षारः—यवक्षारः स्वर्जिका च।
५९ क्षारः—जवाखार और सज्जीखार।

गण्डीरः—गण्डारी, मञ्जिष्ठा च [गण्डारी शाकविशेषो 'गण्डानी' इति लोके]।
६० गण्डीर – गण्डारी शाक (इसे लोक में 'गण्डानी' भी कहते हैं) और मंजीठ।
गान्धारी—दुरालभा गन्धपलाशी च।
६१ गान्धारी—धमासा और गन्धपलाशी[3] (कपूरकचरी)।
चित्रा—इन्द्रवारुणी, बृहद्दन्ती च।
६२ चित्रा—इन्द्रायन और बड़ी दन्ती।
तुण्डीकेरी—कार्पासी, बिम्बी च।
६३ तुण्डीकेरी—कपास और कन्दूरी।
धीरा—गुडूची, क्षीरकाकोली च।
६४ धीरा—गिलोय और क्षीरकाकोली।
बालपत्रः—खदिरः, यवासश्च[4]।
६५ बालपत्र—खैर और जवासा।
वारि—बालकम्, उदकञ्च।
६६ वारि—सुगन्धवाला और जल।
अङ्गारवल्ली—भार्ङ्गी गुञ्जा च।
६७ अङ्गारवल्ली—भारङ्गी और गुंजा (घुंघची)।
अमृणालम्—लामज्जकम्, उशीरञ्च।
६८ अमृणाल—लामज्जक और खस।
कुण्डली—गुडूची, कोविदारश्च।
६९ कुण्डली-गिलोय और कचनार।
गन्धफली—प्रियङ्गुः, चम्पककलिका च।
७० गन्धफली—प्रियङ्गु और चम्पेकी कली।
दीर्घमूलः[5]—यवासः, शालिपर्णी च।
७१ दीर्घमूल—जवासा और सरिवन।
पिच्छिला—शाल्मली शिंशपा च।
७२ पिच्छिला—सेमर और सीसम।
पुष्पफलः—कपित्थः, कूष्माण्डश्च।
७३ पुष्पफल—कैथा और पेठा।

१. कल्हार के पर्यायों में रोचना नहीं है।
२. भा. प्र. में इन्द्राणी के निर्गुण्डी तथा बृहदेला पर्याय नहीं हैं किन्तु रा. नि. ने: दिये हैं।
३. कपूरकचरी का गन्धारिका पर्याय भा. प्र. में है, गान्धारी नहीं है।
४. भा. प्र. में यवासा का बालपत्र पर्याय नहीं है किन्तु रा. नि. एवं ध. नि. में है।
५. यवासा और शालपर्णी का दीर्घमूलः पर्याय भा. प्र. में नहीं है किन्तु रा. नि. एवं ध. नि. ने यवासा के लिये दीर्घमूलः एवं शालिपर्णी के लिये दीर्घमूला पर्याय मिलते हैं।

मुद्रक : स्काई लार्क प्रिंटर्स, ११३५५, ईदगाह रोड़, नई दिल्ली-110055

पोटगलः—नलः, काशश्च ।
७४ पोटगल—नरसल और कास ।
यवफलः—कुटजः, वंशश्च ।
७५ यवफल—कुड़ा और बांस ।
देवी—मूर्वा, स्पृक्का च ।
७६ देवी—मूर्वा और स्पृक्का ।
विश्वा—शुण्ठी, अतिविषा च ।
७७ विश्वा—सोंठ और अतीस ।
शीतशिवम्—सैन्धवं, मिश्रेया[1] च ।
७८ शीतशिव—सेन्धा नमक और मिश्रेया ।
कर्कशः—काम्पिल्यः, कासमर्दश्च ।
७९ कर्कश—कबीला और कसौंदी ।
चर्मकषा—सातला, मांसरोहिणी च ।
८० चर्मकषा—सातला और मांसरोहिणी ।
नन्दिवृक्षः—अश्वत्थभेदः (अधोमुखपत्रशाखो 'वेलिया पीपर' इति लोके), तूणिश्च ।
८१ नन्दिवृक्ष—पीपलभेद (अधोमुख पत्ते तथा शाखाओं वाला 'वेलिया पीपर' इस नाम से लोकप्रसिद्ध वृक्ष) और तून ।
पयः—क्षीरम्, उदकञ्च ।
८२ पयः—दूध और जल ।
रुहा—दूर्वा, मांसरोहिणी[2] च ।
८३ रुहा—दूब और मांसरोहिणी ।
सिंही—बृहती, वासा च ।
८४ सिंही—बड़ी कटेरी और अडूसा ।
कतकम्—विडलवणम्,[3] निर्मलीफलं च ।
८५ कतक—विरिया सञ्चर नोन और निर्मली का फल ।
कण्टकाढ्या—कुब्जकः, शाल्मली च ।
८६ कण्टकाढ्या—कूजा और सेमर ।
यक्षधूपः—सरलनिर्यासः,[4] राळश्च ।
८७ यक्षधूप—गन्धाविरोजा और राल ।
द्राविडी—शटी, सूक्ष्मैला च ।
८८ द्राविडी—कचूर और छोटी इलायची ।
हट्टविलासिनी—हरिद्रा, नखी च ।
८९ हट्टविलासिनी—हरदी और नखी ।
तिलपर्णम्[5]—रक्तचन्दनम्, ग्रन्थिपर्णं च ।
९० तिलपर्ण—लालचन्दन और गठिवन ।
मधुरः—जीवकः जीवनीयगणश्च ।
९१ मधुर—जीवक और जीवनीय गण ।
लोहद्राविणी[6]—गण्डदूर्वा अम्लवेतसश्च ।
९२ लोहद्राविणी—गांडरदूब और अमलबेंत ।
नागिनी—ताम्बूली, नागपुष्पी च ।
९३ नागिनी—पान और नागपुष्पी ।
मृदुरेचनी—त्रिवृत्[7], मार्कण्डिका च ।
९४ मृदुरेचनी—निसोत और सनाय ।
नटः—श्योनाकः, अशोकश्च ।
९५ नट—सोनापाठा और अशोक ।
वनस्पतिः—वटः, नन्दिवृक्षश्च ।
९६ वनस्पति—बरगद और बेलियापीपर ।
मन्दारः—श्वेतार्कः, महानिम्बश्च ।[8]
९७ मन्दार—सफेद आक और बकायन ।

---

१. मिश्रेया के लिये शीतशीव पर्याय भा. प्र. में नहीं है किन्तु ध. नि. एवं रा. नि. में है ।
२. मांसरोहिणी का पर्याय अतिरुहा आया है नकि केवल रुहा । ध. नि. में रुहा है ।
३. विडलवण का पर्याय कृतक है नकि कतक ।
४. भा. प्र. में सरलनिर्यास के लिये वृक्षधूप आया है नकि यक्षधूप ।
५. मूल में तैलपर्णकम् यह ग्रन्थिपर्ण के लिये पर्याय आया है ।
६. गण्डदूर्वा का पर्याय लोहद्राविणी आया है एवं अम्लवेतस के लिये यह पर्याय नहीं है ।
७. त्रिवृत का रेचनी पर्याय आया है नाकि मृदुरेचनी ।
८. महानिम्ब के लिये मन्दार पर्याय नहीं है । भा. प्र. में पारिभद्र के पर्याय में मन्दार लिखा है ।

अम्बुजः—कमलम्[1], हस्तकश्च ।
९८ अम्बुज—कमल और हज्जल (समुद्रफल) ।
कबरी—बर्वरी[2], हिङ्गुपत्री च ।
९९ कबरी—बर्बरी (वनतुलसी) और हींगपत्री ।
कुमारी—घृतकुमारिका, शतपत्री[3] च ।
१०० कुमारी—घीकुवार और गुलाब ।
वरतिक्तकः—पाठा, पर्पटश्च ।
१०१ वरतिक्तक—पाढ़ी और पित्तपापड़ा ।
चित्रकः—एरण्डः,[4] अनलनामा च ।
१०२ चित्रक—एरण्ड और चिता ।
यज्ञियः—खदिरः, पलाशश्च ।
१०३ यज्ञिय—खैर और पलाश ।
रक्तबीजः—अरिष्टकः, कन्दुरी[5] च ।
१०४ रक्तबीज—रीठा और कन्दुरी ।
क्षारश्रेष्ठः—पलाशः, मोक्षकश्च ।
१०५ क्षारश्रेष्ठ—पलाश और मोखा ।
श्वेतपुष्पः—श्वेतार्कः, इन्द्रवारुणी च ।
१०६ श्वेतपुष्प—सफेद आक और इन्द्रायण
तुवरी—सौराष्ट्री, आढकी च ।
१०७ तुवरी—सोरठी माटी और अरहर ।
कुडिम्भका—कट्फलः, वारिपर्णी च ।
१०८ कुम्भिका—कायफल और जलकुम्भी ।
राजपुत्रिका—रेणुका, जाती च ।
१०९ राजपुत्रिका—रेणुका और जाई (चमेली) ।
रक्तपुष्पः—रक्तार्कः, कन्दुरी[5] च ।
११० रक्तपुष्प—लाल आक और कन्दुरी ।
सप्तला—शातला, वासन्ती च ।
१११ सप्तला—शातला और नेवारी ।
विषमुष्टिकः—महानिम्बः किंतिन्दुकश्च ।[6]
११२ विषमुष्टिक—बकायन और कुचला ।
रक्तफला—स्वर्णवल्ली, वटश्च ।
११३ रक्तफला—सोनवेल और बरगद ।
चन्द्रहासा—गुडूची, लक्ष्मणा[7] च ।
११४ चन्द्रहासा—गिलोय और लक्ष्मणा ।

इति द्व्यर्थानि नामानि ।

अथ त्र्यर्थानि नामान्याह

तीन अर्थ वाले शब्द

क्रमुकः—पूगः, तूदः, पट्टिकालोध्रश्च ।
१ क्रमुक—सुपारी, सहतूत और पठानी लोध ।
क्षुरकः—कोकिलाक्षः, गोक्षुरः, तिलकनामपुष्पविशेषश्च ।
२ क्षुरक—तालमखाना, गोखरू और तिलकनामक पुष्पविशेष ।
प्रियकः—प्रियङ्गुः,[8] कदम्बः, असनश्च ।
३ प्रियक—प्रियङ्गु, कदम और असना ।
पृथ्वीका—कालाजाजी, बृहदेला, हिङ्गुपत्री च ।

---

१. कमल के लिये अंबुज पर्याय अन्य निघंटुओं में है ।
२. बर्बरी के पर्याय में कबरी नहीं मिलता ।
३. शतपत्रा का पर्याय महाकुमारी आया है नकि कुमारी ।
४. एरण्ड का पर्याय चित्रः दिया हुआ है ।
५. कन्दुरी नाम सन्दिग्ध है । रक्तबीज यह अनार का पर्याय अन्य निघण्टु में है । अनार का रक्तपुष्प पर्याय अन्य निघण्टुओं में मिलता है ।
६. विषमुष्टिक पर्याय कुचला के लिये भा. प्र. में नहीं है ।
७. लक्ष्मणा के लिये चन्द्रहासा पर्याय भा. प्र., रा. नि., ध. नि. में नहीं है ।
८. प्रियंगु का पर्याय प्रियक नहीं मिलता ।

४ पृथ्वीका—कलौंजी, बड़ी इलायची और हिंगुपत्री।

भूतीकम्—भूनिम्बं, कत्तृणं,[1] भूस्तृणश्च।

५ भूतीक—चिरायता, रोहिष और भूतृण।

सोमवल्कः—कट्फलः, श्वेतखदिरः, घृतपूर्णकरञ्जश्च।

६ सोमवल्क—कायफर, सफेदखैर और घिया-करञ्ज।

सौगन्धिकम्—कल्हारं,[2] कतृणं, गन्धकश्च।

७ सौगन्धिक—कल्हार (लाल कुमुद), रोहिस और गन्धक।

भृङ्गः—भृङ्गराजः, त्वग्, भ्रमरश्च।

८ भृङ्ग—भांगरा, तज और भौंरा।

अरिष्टः—निम्बः, रसोनः, मद्यञ्च।

९ अरिष्ट—नीम, लहसुन और मद्य।

मर्कटी—कपिकच्छुः, अपामार्गः, करञ्जी च।

१० मर्कटी—केवांच, चिचिढ़ा और करञ्जी।

अम्बष्ठा—पाठा, चाङ्गेरी, माचिका च।

११ अम्बष्ठा—पाढ़ी, चांगेरी और माचिका।

कृष्णा—पिप्पली, कालाजाजी, नीली[3] च

१२ कृष्णा—पीपर, कलौंजी और नील।

क्षीरिणी—दुग्धिका[4] क्षीरकाकोली, श्वेत सारिवा[5] च।

१३ क्षीरिणी—दुद्धी, क्षीरकाकोली और सफेद सारिवा (अनन्तमूल)।

मधुपर्णी—गुडूची, गम्भारी, नीली च।

१४ मधुपर्णी—गिलोय, गम्भारि और नील।

मण्डूकपर्णः—श्योनाकः, स्त्रियां तु मञ्जिष्ठा, ब्रह्ममाण्डूकी च।

१५ मण्डूकपर्ण—सोनापाठा, स्त्रीलिङ्ग मण्डूकपर्णी-मजीठ और ब्रह्ममांडूकी।

श्रीपर्णी—गम्भारी, गणिकारिका, कट्फलं च।

१६ श्रीपर्णी—गम्भारि, अरनी और कायफर।

अमृता—गुडूची, हरीतकी, धात्री च।

१७ अमृता—गिलोय, हर्रा और आंवला।

अनन्ता—दुरालभा, नीलदूर्वा, लाङ्गली च

१८ अनन्ता—धमासा, हरी दूब और कलिहारी।

ऋष्यप्रोक्ता—अतिबला, महाशतावरी, कपिकच्छुश्च।

१९ ऋष्यप्रोक्ता—ककही, बड़ी शतावर और केवांच।

कृष्णवृन्ता—पाटला, गम्भारी, माषपर्णी च।

२० कृष्णवृन्ता—पाढ़ल, गम्भारि और माषपर्णी।

जीवन्ती—गुडूची, शाकविशेषः, वन्दा[6] च

२१ जीवन्ती—गिलोय, जीवन्ती शाकविशेष और वन्दा।

लता—सारिवा, प्रियङ्गुः, ज्योतिष्मती च।

२२ लता—अनन्तमूल (सारिवा), प्रियङ्गु और मालकांगुनी।

समुद्रान्ता—दुरालभा, कार्पासी, स्पृक्का च

२३ समुद्रान्ता—धमासा, कपास और स्पृक्का।

हैमवती—हरीतकी, श्वेतवचा, पीतक्षुपः सेहुण्डश्च[7] (यस्य मूलं 'चोक' इति प्रसिद्धम्)।

---

१. भूनिम्ब का पर्याय भूतीक नहीं दिखलाई देता।

२. कल्हार का सौगन्धिक पर्याय भा. प्र. में नहीं है।

३. रा. नि. में नीली का कृष्णा पर्याय है।

४. क्षीरा तथा विक्षीरिणी ये पर्याय दुग्धिका के दिये हुये हैं।

५. श्वेतसारिवा के लिये क्षीरिणी पर्याय नहीं है।

६. वन्दा का पर्याय जीवन्ती नहीं है यद्यपि जीवन्तीभेद, स्वर्ण जीवन्ती एक प्रकार का बांदा ही होता है।

७. वास्तव में यह सेहुण्ड भेद नहीं है।

२४ हैमवती—हर्रा, सफेद वच और पीले दूध का सेहुंड, मड़माड़ (इसके मूल को लोक में 'चोक' कहते हैं)।

अभया—हरीतकी, महाश्रावणी, पद्मचारिणी च।

२५ अभया-हर्रा, बड़ी गुण्डी और स्थलकमल।

षड्ग्रन्था—गन्धपलाशी, वचा, करञ्जा च।

२६ षड्ग्रन्था—कपूरकचरी, वच और करञ्जी।

वरदा—सुवर्चला ('हुरहुर' इति लोके), अश्वगन्धा, वाराही ('गेंठी'ति लोके)।

२७ वरदा—हुरहुर, असगन्ध और वाराहीकंद ('गेंठी' नाम से लोकप्रसिद्ध)।

इक्षुगन्धा—काशः, कोकिलाक्षः, क्षीरविदारी (गोक्षुरः) च।

२८ इक्षुगन्धा—कास, तालमखाना और विदारी। (और इक्षुगन्धिका=गोखरू भी है)।

कालस्कन्धः—तमालः तिन्दुकं कालखदिरश्च।[1]

२९ कालस्कन्ध—तमाल, तेन्दू और दुर्गन्धखैर।

महौषधम्—शुण्ठी, रसोनः, विषञ्च।[2]

३० महौषध-सोंठ, लहसुन और विष (वत्सनाभ)।

मधु—क्षौद्रं, पुष्परसः, मद्यञ्च।

३१ मधु—शहद, फूल का रस और मद्य।

कपीतनः—आम्रातकः, शिरीषः, गर्दभाण्डश्च।

३२ कपीतन—अम्बाडा, सिरस और पारस पीपल।

मदनः—पिण्डीतकः, धत्तूरः, सिक्थकञ्च।

३३ मदन—मैनफल, धतूर और मोम।

शतपर्वा—वंशः, दूर्वा, वचा च।

३४ शतपर्वा—बांस, दूब और वच।

सहस्रवेधी[3]-अम्लवेतसः, मृगमदः, हिङ्गु च

३५ सहस्रवेधी—अमलवेत, कस्तूरी और हींग।

ताम्रपुष्पी—धातकी, पाटला, श्यामा त्रिवृच्च।[4]

३६ ताम्रपुष्पी—धायका फूल, पाढ़लभेद और काली निशोथ।

सदापुष्पः—श्वेतार्कः, रक्तार्कः,[5] कुन्दश्च।

३७ सदापुष्प—सफेद आक, लाल आक और कुन्द।

सुरभिः—शल्लकी, मुरा, एलवालुकं[6] च।

३८ सुरभि—सालई, मुरा और एलवालुक।

लक्ष्मीः—ऋद्धिः, वृद्धिः, शमी च।

३९ लक्ष्मी—ऋद्धि, वृद्धि और शमी।

कालानुसार्यम्—कालीयकं, तगरं, शैलेयञ्च।

४० कालानुसार्य—पीला चन्दन (कलम्बक), तगर और भूरिछरीला।

चाम्पेयः-चम्पकः नागकेसरः, पद्मकेसरञ्च[7]।

४१ चाम्पेय-चंपा, नागकेशर और कमलका केसर।

नादेयी—गणिकारिका, जलजम्बूः, जलवेतसश्च।

४२ नादेयी-अग्निमंथ, जलजामुन और जलबेंतस।

पाक्यम्—बिडम्, सौवर्चलम्[8], यवक्षारश्च।

---

१. कालखदिर पर्याय भा. प्र. ने नहीं दिया है। इरिमेद (विट्खदिर) का पर्याय कालस्कन्ध दिया हुआ है।

२. ध. नि. में विष का पर्याय महौषध दिया है।

३. भा. प्र. में अम्लवेतस् के पर्याय शतवेधी एवं सहस्रनुत हैं एवं कस्तूरी का पर्याय सहस्रभित है।

४. रा. नि. ने श्यामाविशेष का ताम्रपुष्पिका पर्याय दिया है।

५. रक्तार्क के लिये सदापुष्प पर्याय नहीं दिया हुआ है।

६. भा. प्र. में एलवालुक का सुगन्धि पर्याय दिया है न कि सुरभि

७. रा. नि. ने पद्मकेसर का पर्याय चाम्पेयकं दिया है।

८. सौवर्चल का पर्याय मन्थपाकं आया है न कि पाक्यम्।

४३ पाक्य—विरिया सञ्चर नमक, काचनोन और जवाखार ।

विशल्या—काङ्गली, गुडूची लघुदन्ती च ।

४४ विशल्या—कलिहारी, गिलोय और छोटीदंती

इन्द्रद्रुः—ककुभः, देवदारुः,[1] कुटजश्च ।

४५ इन्द्रद्रु—अर्जुन, देवदार और कुड़ा ।

काश्मीरं काश्मीरी च—कुङ्कुमम्, पुष्करमूलम्, गम्भारी च ।

४६ काश्मीर और काश्मीरी—केशर, पुष्करमूल और गम्भारि ।

गुन्द्रः[2]—पटेरकः, मुञ्जः शरश्च ।

४७ गुन्द्र—गोंदपटेर, मूंज और सरपत ।

गुन्द्रा—प्रियङ्गुः, गवेधुका,[3] भद्रमुस्तकश्च

४८ गुन्द्रा—प्रियङ्गु, गर हेडुआ और नागरमोथा।

चुक्रम्-शुक्तम्, अम्लवेतसम्, वृक्षाम्लञ्च ।

४९ चुक्र—चूक, अमलबेंत और कोंकम ।

पारिभद्रः-निम्बः, पारिजातः, देवदारुश्च ।[4]

५० पारिभद्र—नीम, फरहद और देवदारु ।

पीतदारुः—हरिद्रा,[5] देवदारुः[6] सरलश्च ।[7]

५१ पीतदारु—हरदी, देवदार और धूपसरल ।

वीरः—ककुभः, वीरणं, काकोली च ।

५२ वीर—कोह, वीरण तृण और काकोली ।

वीरतरुः—ककुभः,[8] वीरणम्, शरश्च ।[9]

५३ वीरतरु—कोह, वीरण तृण और सरपत ।

मयूरः—अपामार्गः, अजमोदा, तुत्थञ्च ।

५४ मयूर—चिचिड़ा, अजमोद और तूतिया ।

रक्तसारः—रक्तचन्दनं, पतङ्गः, खदिरश्च।

५५ रक्तसार—लालचन्दन, पतङ्ग और खैर ।

बदरा[10]—सुवर्चला, अश्वगन्धा, वाराही च।

५६ बदरा—हुरहुर, असगंध और वाराहीकंद ।

वशिरः—रक्तापामार्गः, गजपिप्पली, समुद्रलवणञ्च ।

५७ वशिर—लाल अपामार्ग, गजपीपर और समुद्री नोन ।

सौवीरम्—अञ्जनभेदः, बदरम्, सन्धानभेदश्च ।

५८ सौवीर-सफेद सुरमा, बेर, कांजी का भेद ।

वञ्जुलः—अशोकः, वेतसः, तिनिशश्च ।

५९ वञ्जुल—अशोक, वेतस और तिनिस ।

शिला—मनःशिला, शिलाजतु,[11] गैरिकञ्च।[12]

६० शिला—मैनसिल, शिलाजीत और गेरू ।

सोमवल्ली—वाकुची, गुडूची, ब्राह्मी च ।

६१ सोमवल्ली—बाकुची, गिलोय और ब्राह्मी ।

अक्षीवः—शोभाञ्जनः, महानिम्बः,[13] समुद्रलवणञ्च ।

---

१. देवदारुः का पर्याय भा. प्र. ने इन्द्रदारु लिखा है ।

२. मुंज एवं शर के लिये गुन्द्रः पर्याय नहीं दिखलाई देता ।

३. गवेधुका का गुन्द्रा पर्याय नहीं मिलता किन्तु एरका का पर्याय गुन्द्रा है ।

४. देवदारु का पर्याय पारिभद्र नहीं मिलता ।

५. हरिद्रा का पर्याय पीतदारु नहीं है किन्तु दारुहरिद्रा का है ।

६. देवदारु का पर्याय पीतदारु नहीं है ।

७. सरल का पर्याय पीतवृक्ष दिया हुआ है ।

८. ककुभ का पर्याय वीरवृक्ष है । वीरतरु अन्य वृक्ष है ।

९. शर का पर्याय वीरतरु नहीं मिलता ।

१०. बदरा के स्थान पर वरदा अधिक उचित है क्योंकि अश्वगन्धा तथा वाराही का पर्याय वरदा है ।

११. शिलाजतु का पर्याय शिलाजं है ।

१२. गैरिक के पर्याय गैरेयं, गिरिजं हैं न कि शिला ।

१३. महानिम्ब का अक्षीर पर्याय अन्य निघण्टुओं में मिलता है, अक्षीव नहीं ।

६२ अजीर्ण-सज्जिन, पक्वायन और समुद्री नोन।

कारवी-कालाजाजी, शताह्वा, अजमोदा च।

६३ कारवी—कलौंजी, सोआ और अजमोदा।

आमार्गवः—रक्तापामार्गः, राजकोशातकी, महाकोशातकी च।

६४ वामार्गव-लाल अपामार्ग, तरोई और नेनुआ।

दुःस्पर्शः-यवासः, कपिकच्छूः, कण्टकारी च।

६५ दुःस्पर्श—जवासा, कौंच और भटकटैया।

पलाशः—किंशुकः, गन्धपलाशी,[1] पत्रञ्च[2]।

६६ पलाश—पलाश, कपूरकचरी और तेजपात।

कालमेषी-मञ्जिष्ठा, बाकुची, श्यामा त्रिवृच्च।

६७ कालमेषी-मजीठ, बकुची और काली निसोथ।

पलङ्कषा—गुग्गुलुः, गोक्षुरः, लाक्षा च।

६८ पलङ्कषा—गूगल, गोखरू और लाख।

मधुरसा—द्राक्षा, मूर्वा, गम्भारी च।

६९ मधुरसा—दाख, मूर्वा और गंभारि।

रसा—रास्ना, शल्लकी, पाठा च।

७० रसा—रास्ना, सलई और पाढ़ी।

श्रेयसी—हरीतकी, रास्ना, गजपिप्पली च

७१ श्रेयसी—हर्रा, रास्ना और गजपीपल।

लोहम्—अयः, कांस्यम्[3], अगुरु च।

७२ लोह—लोहा, कांसा और अगर।

सहा-मुद्गपर्णी, बलाभेदः ('ककही' इति लोके), शतपत्री[4] ('सेवती गुलाब' इति लोके)।

७३ सहा—मुगवन, बरियारा का भेद (लोक प्रसिद्ध 'ककही') और सेवती गुलाब।

सुवहा-रास्ना, नाकुली,[5] नीलपुष्पः सिन्दुवारश्च।

७४ सुवहा—रास्ना, नाकुली और नीले फूलकी मेउड़ी।

कठिल्लकः—कारवेल्लः, रक्तपुनर्नवा, कृष्णवर्वरी च।

७५ कठिल्लक—करेला, लाल गदहपुर्ना और काली बर्बरी।

मधूलिका—मूर्वा, यष्टी, जलमधूकश्च।

७६ मधूलिका—मूर्वा, मुलेठी और जल महुआ

वितुन्नकम्-धान्यकम्, तुत्थकम्, गोनर्दश्च।

७७ वितुन्नक-धनिया तूतिया और केवटी मोथा।

देवी—स्पृक्का, मूर्वा, वन्ध्याकर्कोटी च।

७८ देवी—स्पृक्का, मूर्वा और बांझ खेकसा।

वसुकः—शिवमल्ली, श्वेतार्कः, रोमक[6] च

७९ वसुक—बड़ी मौलसिरी, सफेद आक और सांभर नोन।

गण्डीरः-शाकविशेषः, मञ्जिष्ठा, गण्डदूर्वा च।

८० गण्डीर-गण्डारी नामक शाकविशेष, मंजीठ और गांडर दूब।

लाङ्गली—कलिहारी, जलपिप्पली, नारिकेलश्च।

८१ लाङ्गली-कलिहारी, जलपीपल और नारियल।

पिच्छिला-शिंशपा, शाल्मलिः, भूतवृक्षश्च।

८२ पिच्छिला—शीशम, सेमर और लिसोढ़ा।

महासहा-माषपर्णी, अम्लातकः, कुब्जकश्च।

८३ महासहा—माषपर्णी, बाणपुष्प और कूजा।

चन्द्रिका-मेथी, चन्द्रशूरः, श्वेतकण्टकारी च।

८४ चन्द्रिका-मेथी, चनसुर और सफेद भटकटैया।

इति त्र्यर्थानि नामानि।

---

१. गन्धपलाशी का पर्याय पलाशी है न कि पलाशः।

२. ध. नि. एवं रा. नि. ने पलाशी पर्याय तेजपत्र के लिये लिखा है।

३. ध. नि. एवं रा. नि. ने कांस्य का पर्याय लोह लिखा है।

४. शतपत्री का सेहा पर्याय भा. प्र., रा. नि. एवं ध. नि. में नहीं है।

५. नाकुली का सुरसा पर्याय भा. प्र. में है, सुवहा नहीं।

६ रा. नि. एवं ध. नि. में रोमक के वसुकं, वसु पर्याय मिलते हैं।

अथ चतुरर्थकानि नामान्याह

चार अर्थ वाले शब्द

श्वेतपुष्पा—इन्द्रवारुणी, सिन्धुवारः, श्वेतार्कः, सैरेयकश्च ।

१ श्वेतपुष्पा—इन्द्रायण, मेउड़ी, सफेद आक और कटसरैया ।

कारवी-पृथ्वीका[1],शतपुष्पा, कालाजाजी, अजमोदा च ।

२ कारवी—पृथ्वीका, शतपुष्पा, कलौंजी और अजमोदा ।

अम्बष्ठा-पाठा, चाङ्गेरी, माचिका, यूथिका च इति ।

३ अम्बष्ठा-पाढ़ी, चांगेरी, माचिका और जूही।

इति चतुरर्थकानि नामानि ।

अथ बह्वर्थकानि नामान्याह

बहुत अर्थवाले शब्द

अक्षशब्दः स्मृतोऽष्टासु सौवर्चलबिभीतके । कर्षपद्माक्षरुद्राक्षशकटेन्द्रियपाशके ॥ १ ॥

१ अक्ष-(१) काला नमक, (२) बहेड़ा, (३) कर्षनामक तौल (४) कमलगट्टा, (५) रुद्राक्ष, (६) गाड़ी, (७) इन्द्रिय और (८) पासा (जुआ खेलने का साधन) इन ८ अर्थों में अक्ष का प्रयोग होता है ॥ १ ॥

काकाख्यः काकमाची च काकोली काकणन्तिका। काकजङ्घा काकनासा काकोदुम्बरिकाऽपि च॥ सप्तस्वर्थेषु कथितः काकशब्दो विचक्षणैः ॥ २ ॥

२ काक-(१) कौवा, (२) मकोय, (३) काकोली, (४) लाल गुञ्जा, (५) काकजङ्घा, (६) काकनासा और (७) कठूमर इन सात अर्थों में काक शब्द का प्रयोग होता है ॥ २ ॥

सर्पद्विरदमेषेषु सीसके नागकेसरे । नागवल्ल्यां नागदन्त्यां नागशब्दः प्रयुज्यते ॥ ३ ॥

३ नाग-(१) साँप, (२) हाथी, (३) भेड़ा, (४) सीसा (धातु), (५) नागकेसर, (६) पान और (७) नागदन्ती (दन्तीभेद) इन ७ अर्थों में नाग शब्द का प्रयोग होता है ॥ ३ ॥

मांसेद्रवे चेक्षुरसे पारदे मधुरादिषु । बोले[2] रागे विषे नीरे रसो नवसु वर्तते ॥ ४ ॥

४-रसः-(१) मांस का रस, (२) द्रव पदार्थ, (३) ऊख का रस, (४) पारा, (५) मधुरादि ६ प्रकार के रस, (६) बोल, (७) राग (अनुराग), (८) विष और (९) जल इन ९ अर्थों में रस शब्द का प्रयोग होता है ॥ ४ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे चतुर्विंशोऽनेकार्थवर्गःसमाप्तः ॥२४॥

इति भावप्रकाशे पूर्वखण्डे प्रथमभागे द्रव्यगुणप्रकरणापरनामकं षष्ठं मिश्रप्रकरणं समाप्तम् ॥ ६ ॥

समाप्तश्चायं निघण्टुभागः ।

---

१. पृथ्वीका का पर्याय कारवी नहीं मिलता । पृथ्वीका, बृहदेला तथा हिंगुपत्री दोनों का पर्याय है किन्तु इनके कारवी पर्याय न होने से यहाँ दोनों में से कोई नहीं हो सकता । प. नि. में कारवी का एक अन्य पर्याय कटुतुम्बी (त्रपुसविशेष) दिया है ।

२. स्वादेति पाठा० ।

॥ श्रीः ॥

भावप्रकाशः

पूर्वखण्डे द्वितीयो भागः

तत्र सप्तमं परिभाषादिप्रकरणम् ॥ ७ ॥

अथ प्रथमं मानपरिभाषाप्रकरणम् ॥ १ ॥

तत्रादौ मानोक्तौ हेतुमाह—

न मानेन विना युक्तिर्द्रव्याणां जायते क्वचित् । अतः प्रयोगकार्यार्थं मानमत्रोच्यते मया ॥१॥

मानपरिभाषा प्रकरण आरम्भ करने के पूर्व मान (तौल) के विषय में कहने का प्रयोजन बिना मान (तौल) के द्रव्यों का किसी मे योग नहीं किया जा सकता, अतः प्रयोग में काम करने के लिये यहां मैं (ग्रन्थकार) मान (तौल) को कहता हूँ ॥ १ ॥

अथ मागधमानमाह—

चरकस्य मतं वैद्यैराद्यैर्यस्मान्मतं ततः । विहाय सर्वमानानि मागधं मानमुच्यते ॥ २ ॥
त्रसरेणुर्बुधैः प्रोक्तस्त्रिंशता परमाणुभिः । त्रसरेणुस्तु पर्यायनाम्ना वंशी निगद्यते ॥ ३ ॥
जालान्तरगतैः सूर्यकरैर्वंशी विलोक्यते । षड्वंशीभिर्मरीचिः स्यात्ताभिः षड्भिश्च राजिका ॥
तिसृभी राजिकाभिश्च सर्षपः प्रोच्यते बुधैः । यवोऽष्टसर्षपैः प्रोक्तो गुञ्जा स्याच्चतुष्टयम् ॥५॥
षड्भिस्तु रक्तिकाभिः स्यान्माषको हेमधानकौ । माषैश्चतुर्भिः शाणः स्याद्धरणः स निगद्यते॥६॥
टङ्कः स एव कथितस्तद्द्वयं कोल उच्यते । क्षुद्रको वटकश्चैव द्रङ्क्षणः स निगद्यते ॥ ७ ॥
कोलद्वयन्तु कर्षः स्यात्स प्रोक्तः पाणिमानिका । अक्षः पिचुः पाणितलं किञ्चित्पाणिश्च तिन्दुकम् ॥
बिडालपदकं चैव तथा षोडशिका मता । करमध्यो हंसपदं सुवर्णं कवलग्रहः ॥ ९ ॥
उदुम्बरञ्च पर्यायैः कर्षमेव निगद्यते । स्यात्कर्षाभ्यामर्द्धपलं शुक्तिरष्टमिका तथा ॥ १० ॥
शुक्तिभ्याञ्च पलं ज्ञेयं मुष्टिराम्रं चतुर्थिका । प्रकुञ्चः षोडशी बिल्वं पलमेवात्र कीर्त्यते ॥ ११ ॥
पलाभ्यां प्रसृतिर्ज्ञेया प्रसृतञ्च निगद्यते । प्रसृतिभ्यामञ्जलिः स्यात्कुडवोऽर्द्धशरावकः ॥ १२ ॥
अष्टमानञ्च स ज्ञेयः कुडवाभ्याञ्च मानिका । शरावोऽष्टपलं तद्वज्ज्ञेयमत्र विचक्षणैः ॥ १३ ॥
शरावाभ्यां भवेत्प्रस्थश्चतुःप्रस्थस्तथाऽऽढकः । भाजनं कांस्यपात्रं च चतुःषष्टिपलश्च सः ॥१४॥
चतुर्भिराढकैर्द्रोणः कलशो नल्वणोऽर्मणः । उन्मानञ्च घटो राशिर्द्रोणपर्यायसंज्ञितः ॥१५॥
द्रोणाभ्यां शूर्पकुम्भौ च चतुःषष्टिशरावकः । शूर्पाभ्याञ्च भवेद् द्रोणी वाहो गोणी च सा स्मृता ॥
द्रोणीचतुष्टयं खारी कथिता सूक्ष्मबुद्धिभिः । चतुःसहस्रपलिका षण्णवत्यधिका च सा ॥१७॥
पलानां द्विसहस्रञ्च भार एकः प्रकीर्त्तितः । तुलापलशतं ज्ञेयं सर्वत्रैवैष निश्चयः ॥ १८ ॥
माषटङ्काक्षबिल्वानि कुडवप्रस्थमाढकम् । राशिर्गोणी खारिकेति यथोत्तरचतुर्गुणम् ॥ १९ ॥

मागध मान--जब कि प्राचीन वैद्यों ने चरक के मत को माना है इसीसे अन्य सब मानों (तौलों) को छोड़ कर सर्वप्रथम मगध देश में प्रचलित 'मागध' नामक मान को कहता हूँ ।

पण्डितों ने ३० परमाणुओं[1] का एक 'त्रसरेणु' और त्रसरेणु का ही पर्यायवाचक शब्द 'वंशी' कहा है। जाली के अन्तर्गत सूर्य की किरणों द्वारा वंशी दिखाई पड़ती है अर्थात् उन किरणों में ध्यान से देखने पर जो सूक्ष्म रज (धूल के कण) दिखाई पड़ते हैं वे ही वंशी हैं। ६ वंशी की (त्रसरेणु) १ मरीचि होती है और ६ मरीचि की १ राजिका (राई) होती है।

३ राई का १ सरसो, ८ सरसो का १ जौ, ४ जौ की एक रत्ती, ६ रत्ती का १ मासा होता है। इसीके पर्यायवाचक शब्द हेम और धानक (धान्यक) हैं। ४ मासे का एक शाण होता है और इसीको धरण तथा टङ्क भी कहते हैं। २ शाण का १ कोल होता है और इसीको क्षुद्रक, वटक तथा द्रङ्क्षण भी कहते हैं। २ कोल का एक कर्ष होता है और कर्ष ही के पर्यायवाचक शब्द पाणिमानिका, अक्ष, पिचु, पाणितल, किञ्चित्पाणि, तिन्दुक, विडालपदक, षोडशिका, करमध्य, हंसपद, सुवर्ण, कवलग्रह तथा उदुम्बर ये सब कहे जाते हैं।

दो कर्ष का १ अर्धपल (आधा पल) होता है, इसी को शुक्ति तथा अष्टमिका कहते हैं। २ शुक्ति का १ पल होता है। इसी के नामान्तर मुष्टि, आम्र, चतुर्थिका, प्रकुञ्च, षोडशी तथा बिल्व ये सब हैं।

२ पल की १ प्रसृति होती है। इसी को प्रसृत भी कहते हैं। २ प्रसृति की १ अञ्जलि होती है। इसी के नामान्तर कुडव, अर्धशरावक तथा अष्टमान हैं। २ कुडव (अञ्जलि) की १ मानिका होती है। इसी को शराव तथा आठ पल का होने से अष्टपल भी विद्वान् लोग मानते हैं।

२ शराव का एक प्रस्थ और ४ प्रस्थ का १ आढक होता है। इसी को भाजन, कांस्यपात्र तथा ६४ पल का होने से चतुःषष्टिपल भी कहते हैं।

४ आढक का १ द्रोण होता है। इसी के पर्यायवाची शब्द कलश, नल्वण, अर्मण, उन्मान, घट तथा राशि ये सब हैं।

२ द्रोण का शूर्प होता है। इसो को कुम्भ तथा ६४ शराव का होने से चतुःषष्टिशरावक भी कहते हैं।

२ शूर्प की १ द्रोणी होती है। इसी को वाह तथा गोणी भी कहते हैं।

२ द्रोणी की १ खारी होती है। बुद्धिमान् लोग तौल में ४०९६ (चार हजार छानवे) पलों की खारी, २००० (दो हजार) पलों का एक भार तथा १०० (सौ) पलों की एक तुला कहते हैं। सर्वत्र शास्त्रों में यही निश्चित है।

माष, टङ्क, अक्ष, बिल्व, कुडव, प्रस्थ, आढक, राशि, गोणी और खारी ये सब उत्तरोत्तर एक दूसरे की अपेक्षा चौगुने होते हैं अर्थात्—

४ माष (माशे) का	१ टङ्क।	४ टङ्क का	१ अक्ष।
४ अक्ष का	१ विल्व।	४ बिल्व का	१ कुडव।
४ कुडव का	१ प्रस्थ।	४ प्रस्थ का	१ आढक।
४ आढक की	१ राशि।	४ राशि की	१ गोणी।
४ गोणी की	१ खारी समझनी चाहिये ॥ २–१९ ॥		

---

१. जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
तस्य त्रिंशत्तमो भागः परमाणुः स उच्यते ॥ १ ॥

खिड़की के राह जो सूर्य की किरणें मकान के अन्दर आती हैं उनमें जो सूक्ष्म रज दिखाई पड़ते हैं उन रजों में एक के तीसवें भाग को परमाणु कहते हैं ॥ १ ॥

*मागधपरिभाषायां षड्रक्तिको माषश्चतुर्विंशतिरक्तिकष्टङ्कः, षण्णवतिरक्तिकः कर्षः। अयं चरकसम्मतः। सुश्रुतमते तु पञ्चरक्तिको माषः, विंशतिरक्तिकष्टङ्कः, अशीतिरक्तिकः कर्षः। अयमेव कालिङ्गपरिभाषायामपि। यतस्तत्राष्टरक्तिको माषो द्वात्रिंशद्रक्तिकष्टङ्कः, सार्धटङ्कद्वयमितः कर्षः॥ २-१९॥

मागधपरिभाषा में ६ रत्ती का एक मासा, २४ रत्ती का १ टङ्क और ९६ रत्ती का १ कर्ष होता है। यह मान चरकसंमत है। सुश्रुत के मत में—५ रत्ती का १ माशा, २० रत्ती का १ टङ्क और ८० रत्ती का १ कर्ष होता है। यही कालिङ्ग परिभाषा में भी होता है। क्योंकि उसमें ८ रत्ती का १ माशा, ३२ रत्ती का १ टङ्क और २॥ टङ्क का १ कर्ष होता है॥ २-१९॥

अथ द्रवार्द्रशुष्कद्रव्याणां मानविषये परिभाषामाह—

गुञ्जाऽऽदिमानमारभ्य यावत्स्यात्कुडवस्थितिः। द्रवार्द्रशुष्कद्रव्याणां तावन्मानं समं मतम्॥
प्रस्थादिमानमारभ्य द्विगुणं तद् द्रवार्द्रयोः। मानं तथा तुलायास्तु द्विगुणं न क्वचित्स्मृतम्॥

द्रव (पानी आदि के समान), गीले तथा सूखे द्रव्यों के मान के विषय में परिभाषा—रत्ती आदि से लेकर कुडवपर्यन्त द्रव, गीले तथा सूखे पदार्थों का मान (तौल) बराबर रहता है, अर्थात् जितना और द्रव्यों का मान है उसी के समान ही इसका भी रहता है। किन्तु प्रस्थ आदि मान से द्रव तथा आर्द्र (गीले) द्रव्यों का लिखित मान द्विगुण होना आरम्भ हो जाता है। तुला का मान द्रव द्रव्य या आर्द्र द्रव्यों में भी कहीं द्विगुण नहीं किया जाता अर्थात् जैसा लिखित रहता है उतना ही लिया जाता है॥ २०-२१॥

अथ कुडवभाण्डस्य लक्षणमाह—

मृद्वृक्षवेणुलोहादेर्भाण्डं यच्चतुरङ्गुलम्। विस्तीर्णञ्च तथोच्चञ्च तन्मानं कुडवं वदेत्॥ २२॥

कुडवसंज्ञक मानपात्र का लक्षण—मिट्टी, वृक्ष, बांस या लोहा के बने हुये चार अंगुल चौड़े तथा चार ही अंगुल ऊंचे मानपात्र को 'कुडव' कहते हैं॥ २२॥

इति मागधमानं समाप्तम्।

अथ कालिङ्गमानमाह—

यतो मन्दाग्नयो ह्रस्वा हीनसत्त्वा नराः कलौ। अतस्तु मात्रा तद्योग्या प्रोच्यते सुज्ञसंमता॥
यवो द्वादशभिर्गौरसर्षपैः प्रोच्यते बुधैः। यवद्वयेन गुञ्जा स्यात्त्रिगुञ्जो वल्ल उच्यते॥ २४॥
माषो गुञ्जाभिरष्टाभिः सप्तभिर्वा भवेत्क्वचित्। चतुर्भिर्माषकैः शाणः स निष्कष्टङ्क एव च॥
गद्याणो माषकैः षड्भिः कर्षः स्याद्दशमाषकैः। चतुष्कर्षैः पलं प्रोक्तं दशशाणमितं बुधैः॥
चतुष्पलैश्च कुडवः प्रस्थाद्याः पूर्ववन्मताः। स्थितिर्नास्त्येव मात्रायाः कालमग्निं वयो बलम्॥
प्रकृतिं दोषदेशौ च दृष्ट्वा मात्रां प्रकल्पयेत्। नाल्पं हन्त्यौषधं व्याधिं यथाऽम्भोऽल्पं महानलः॥
अतिमात्रं च दोषाय यथा शस्ये बहूदकम्॥ २८॥

कालिङ्गमान—कलियुग में मनुष्य मन्द अग्नि वाले, छोटे शरीर के तथा हीन बलवाले हैं, अतः उनके योग्य विद्वानों के द्वारा स्वीकृत जो मात्रा (औषध देने में) है उसे कहते हैं।

१२ सफेद सरसों का १ जौ और दो जौ की एक रत्ती, तीन रत्ती का एक वल्ल होता है।

८ रत्ती का अथवा कहीं कहीं ७ रत्ती का भी एक माशा और चार मासे का एक शाण होता है, इसी को निष्क और टङ्क भी कहते हैं। छ माशे का एक गद्याण होता है। दस माशे का एक कर्ष और चार कर्ष का एक पल जो कि दस शाण के बराबर होता है।

४ पलों का एक कुडव होता है। इसके बाद प्रस्थादि का मान पूर्वोक्त रीति के समान ही माना गया है। वस्तुतः ओषधियों की मात्रा का कोई मर्यादा निश्चित नहीं है। अतः बुद्धिमान् वैद्य

को चाहिये कि—काल (शीतादि ऋतु और प्रातः, सायं आदि), अग्नि (मन्द , दीप्त आदि), अवस्था (बाल्यादि), बल, प्रकृति (वातादि), दोष (वातादि) और देश (जाङ्गलादि) को देखकर तदनुसार मात्रा की कल्पना करें। उचित मात्रा की अपेक्षा हीन मात्रा की ओषधि बढ़े हुये रोग को उसी प्रकार शान्त नहीं कर सकती है जैसे कि—थोड़ा जल बड़े अग्निराशि को नहीं शान्त कर सकता। यदि ओषधि की अधिक मात्रा दी जाय तो भी हानिकारक ही होती है जैसे कि—धान में भी अधिक जल हानिकारक होता है। इससे बहुत समझ बूझ कर ओषधियों की मात्रा देनी चाहिये ॥ २३–२८ ॥

मागध मान तथा कालिङ्ग मान की आधुनिक मान से तुलना—मागध मान का १ कर्ष १ तोले (१२ माशे) के बराबर तथा कालिङ्ग मान का १ कर्ष (१० माशे) एक रुपये भर का होता है। इतना ध्यान अवश्य देना चाहिये।

मागध	मान		आधुनिक मान
६ रत्ती का	१ माशा	=	६ रत्ती
४ माशे का	१ शाण (टङ्क)	=	३ माशा
२ शाण का	१ कोल	=	६ माशा (आधा तोला)
२ कोल का	१ कर्ष	=	१२ माशा (१ तोला)
२ कर्ष का	१ अर्धपल (शुक्ति)	=	२ तोले
२ शुक्ति का	१ पल	=	४ तोले
२ पल की	१ प्रसृति	=	८ तोले
२ प्रसृति की	१ अञ्जलि (कुडव)	=	१६ तोले
२ कुडव की	१ मानिका (शराव)	=	३२ तोले
२ शराव का	१ प्रस्थ	=	६४ तोले
४ प्रस्थ का	१ आढक	=	२५६ तोले
४ आढक का	१ द्रोण	=	१०२४ तोले
२ द्रोण का	१ शूर्प	=	२०४८ तोले
२ शूर्प की	१ द्रोणी	=	४०९६ तोले
४ द्रोणी की	१ खारी	=	१६३८४ तोले
२००० पल का	१ भार	=	८००० तोले
१०० पल की	१ तुला	=	४०० तोले

कालिङ्ग	मान	आधुनिक मान
८ रत्ती का	१ माशा	=८ रत्ती या १ माशा
४ मासे का	१ शाण (टङ्क)	=४ माशे
६ मासे का	१ गद्याण	=६ माशा (आधा तोला)
१० मासे का	१ कर्ष	=१) भर
४ कर्ष का	१ पल	=४) भर
४ पल का	१ कुडव	=१६) भर (३ छ० १) भर)
२ कुडव की	१ मानिका (शराव)	=३२) भर (६ छ० २) भर)
२ शराव का	१ प्रस्थ	=६४) भर (१२ छ० ४) भर)

कालिङ्ग	मान	आधुनिक मान
४ प्रस्थ का	१ आढक	=२५६) भर (३ से० ३ छ० १) भर)
४ आढक का	१ द्रोण	=१०२४) भर (१२ सेर १३ छ० ४) भर)
२ द्रोण का	१ शूर्प	=२०४८) भर (२५ सेर ९ छ० ३) भर)
२ शूर्प की	१ द्रोणी	=४०९६) भर (१ म० ११ सेर ३ छ० १) भर)
४ द्रोणी की	१ खारी	=१६३८४) भर (५मन ४ सेर १२ छ० ४) भर)
२००० पल का	१ भार	=८०००) भर (२ मन २० सेर)
१०० पल की	१ तुला	=४००) भर (५ सेर)

इति कालिङ्गमानं समाप्तम्।

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे पूर्वखण्डे परिभाषादिप्रकरणे प्रथमं मानपरिभाषाख्यं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १ ॥

अथ द्वितीयं भेषजविधानप्रकरणम् ॥ २ ॥

अथ भेषजानां विधानानि।

तत्रादौ कषायभेदानाह—

स्वरसश्च तथा कल्कः क्वाथश्च हिमफाण्टकौ। ज्ञेयाः कषायाः पञ्चैते लघवः स्युर्यथोत्तरम् ॥१॥

ओषधियों के बनाने में प्रथम कषाय के भेद—१ स्वरस, २ कल्क, ३ क्वाथ, ४ हिम और ५ फाण्ट ये ५ प्रकार के कषाय होते हैं। ये एक दूसरे की अपेक्षा उत्तरोत्तर लघु होते हैं अर्थात् स्वरस की अपेक्षा कल्क और कल्क की अपेक्षा क्वाथ लघु होता है। इसी भांति हिम और फाण्ट को भी उत्तरोत्तर लघु समझना चाहिये ॥ १ ॥

अथ स्वरसविधिमाह—

अहतात्तत्क्षणाकृष्टाद् द्रव्यात्क्षुण्णात्समुद्भवेत्। वस्त्रनिष्पीडितो यश्च स्वरसो रस उच्यते ॥२॥
कुडवं चूर्णितं द्रव्यं क्षिप्तञ्च द्विगुणे जले। अहोरात्रं स्थितं तस्माद्भवेद्वा रस उत्तमः ॥३॥

***अहताद् = शीताग्निकीटादिभिरनुपहतात्। क्षुण्णात् = संपिष्टात् ॥ २ ॥**
चूर्णितं = चूर्णीकृतम् ॥ ३ ॥

स्वरस बनाने की विधि—शीत (पाला), अग्नि तथा कीड़े आदि से खराब नहीं हुई एवं तत्काल की लाई हुई गीली और भलीभांति पीसी हुई ओषधियों से जो रस कपड़े से छान कर निकाला जाता है उसे 'स्वरस' कहते हैं। अथवा चूर्ण किये हुये १ कुडव (१६ तोले) द्रव्य को लेकर दुगुने (३२ तोले) जल में एक दिन रात भर भिगो कर रख देने के उपरान्त जो कपड़े से छान कर रस निकाला जाता है उसे भी उत्तम ही 'स्वरस' कहते हैं ॥ २-३ ॥

यहां 'अहतात्' पद का 'शीत, अग्नि तथा कीड़े आदि से खराब नहीं हुई' और 'क्षुण्णात्' पद का 'भली भांति पीसी हुई' तथा 'चूर्णितम्' इस पद का 'चूर्ण किये हुये' यह अर्थ समझना चाहिये॥

आदाय शुष्कद्रव्यं वा स्वरसानामसंभवे। जलेऽष्टगुणिते साध्यं पादशिष्टं च गृह्यते ॥ ४ ॥

अथवा जहां पर स्वरस बनाने का सम्भव न हो वहां सूखे द्रव्यों को लेकर उसे अठगुने जल के साथ हंड़ियां में रख कर औटाये किन्तु मुंह हंड़िये का खुला रखे। जब चौथाई जल शेष रहे तब उतार छान कर काम में ले ॥ ४ ॥

स्वरसस्य गुरुत्वाच्च पलमर्द्धं प्रयोजयेत् । निशोषितं चाग्निसिद्धं पलमात्रं रसं पिबेत् ॥ ५ ॥

पांच प्रकार के कषायों में स्वरस नामक कषाय गुरु होता है अतः इसकी मात्रा आधे पल (दो तोले) की देनी चाहिये । जो रातभर का रखा तथा अग्नि से सिद्ध किया हुआ अर्थात् औटाया हुआ रस हो उसकी मात्रा पीने में एक पल की देनी चाहिये ॥ ५ ॥

*** निशोषितं = निशायामुषितम् ॥ ५ ॥**

'निशोषितम्' पद का 'रातभर का रखा हुआ' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ५ ॥

सितामधुगुडक्षाराजीरकं लवणं तथा । घृतं तैलञ्च चूर्णादीन् कोलमात्रान् रसे क्षिपेत् ॥ ६ ॥

साफ किया हुआ शक्कर, मधु, गुड़, खार, जीरा, नमक, घी, तेल अथवा चूर्ण आदि यदि स्वरस में डालना हो तो एक कोल (६ माशे) डाले ॥ ६ ॥

*** कोलः = टङ्कद्वयम् ॥ ६ ॥**

'कोल' पद से दो टङ्क (६ माशे) का बोध करना चाहिये ॥ ६ ॥

अथ तण्डुलजलविधिमाह—

कण्डितं तण्डुलपलं जलेऽष्टगुणिते क्षिपेत् । भावयित्वा जलं ग्राह्यं देयं सर्वत्र कर्मसु ॥ ७ ॥

चावल के धोवन की विधि—कुटे हुये साफ चावलों को एक पल (४ तोले) लेकर अठगुने (३२ तोले) जल में डाल कर, उन्हें कोमल अर्थात् एक घण्टे तक भिगो कर नरम कर ले। पश्चात् जहां जहां आवश्यकता हो वहां वहां सभी कार्यों में चावलों को अलग कर केवल जल ग्रहण करे ॥ ७ ॥

*** भावयित्वा = कोमलीकृत्य ॥ ७ ॥**

'भावयित्वा' पद का 'कोमल कर के' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७ ॥

अथ हिमनिर्माणविधिमाह—

क्षुण्णं द्रव्यपलं सम्यक् षड्भिर्नीरपलैः प्लुतम् ।
निशोषितं हिमः स स्यात्तथा शीतकषायकः । तस्य मानं मतं पाने पलद्वयमितं बुधैः ॥८॥

हिम बनाने की विधि—अच्छी तरह से चूर्ण किये हुये एक पल (४ तोले) द्रव्य (ओषधि) को ६ पल (२४ तोले) जल में भिगो कर रात भर पड़ा रहने देने पर प्रातःकाल उस जल को हिम तथा शीतकषाय कहते हैं । इस की मात्रा पीने में पण्डितों ने २ पल (८ तोले) की मानी है ॥ ८ ॥

*** क्षुण्णं = चूर्णीकृतम् ॥ ८ ॥**

'क्षुण्णम्' पद का 'चूर्ण किये हुये' अर्थ समझना चाहिये ॥ ८ ॥

अथ मन्थनिर्माणविधिमाह—

जले चतुष्पले शीते क्षुण्णं द्रव्यपलं क्षिपेत् ।
मृत्पात्रे मन्थयेत् सम्यक् तस्माच्च द्विपलं पिबेत् ॥ ९ ॥

मन्थ बनाने की विधि—४ पल (१६ तोले) शीतल जल में चूर्ण किये हुये एक पल (४ तोले) द्रव्य को डाल दे और उसे मिट्टी के पात्र (हंड़िया) में रख कर अच्छी तरह से मथे, उस मथे हुये जल को 'मन्थ' कहते हैं । इस की मात्रा पीने में दो पल (८ तोले) की है ॥ ९ ॥

*** क्षुण्णं = चूर्णीकृतम् । मन्थयेत् = मथ्नीयात् ॥ ९ ॥**

'क्षुण्णम्' पद का 'चूर्ण किये हुये' और 'मन्थयेत्' पद का 'मथे' यह अर्थ समझना चाहिये ॥९॥

अथ फाण्टनिर्माणमाह—

क्षुण्णे द्रव्यपले सम्यग्जलमुष्णं विनिक्षिपेत् । मृत्पात्रे कुडवोन्मानं ततस्तु स्रावयेत्पटात् ॥१०॥

स स्याच्चूर्णद्रवः फाण्टस्तन्मानं द्विपलोन्मितम्। क्षौद्रं सितागुडादींस्तु कर्षमात्रान्विनिक्षिपेत्॥

'फाण्ट बनाने की विधि--अच्छी तरह से चूर्ण किये हुये एक पल (४ तोले) द्रव्य को मिट्टी के पात्र में रख कर उस में एक कुडव (१६ तोले) खूब गरम जल छोड़ कर भिगो दे जब खूब भीग जाय तब कपड़े से छान ले इसी जल को 'फाण्ट' कहते हैं। इसकी मात्रा दो पल (८ तोले) की होती है। इसमें मधु, साफ शक्कर अथवा गुड़ आदि के छोड़ने की मात्रा एक कर्ष (१ तोले) की है ॥ १०–११ ॥

क्षुण्णे = चूर्णीकृते, स चूर्णद्रवः फाण्टः स्यादित्यन्वयः ॥ १०–११ ॥

यहां 'क्षुण्णे' पद का 'चूर्ण किये हुये' यह अर्थ है और 'वह चूर्ण द्रव (चूर्ण मिश्रित छना हुआ जल) फाण्ट कहलाता है' ऐसा अन्वय है ॥ १०–११ ॥

अथ कल्कविधिमाह—

द्रव्यमार्द्रं शिलापिष्टं शुष्कं वा सजलं भवेत्। तदेव कल्को विज्ञेयस्तन्मानं कर्षसम्मितम्॥
कल्के मधुघृतं तैलं देयं द्विगुणमात्रया। सितां गुडं समं दद्याद् द्रवो देयश्चतुर्गुणः ॥ १३ ॥

कल्क (चटनी) बनाने की विधि--यदि गीला द्रव्य हो तो बिना जल के और सूखा हो तो जल के साथ सिल पर पीसा जाय तो उसे 'कल्क' कहते हैं। इस की मात्रा एक कर्ष (१ तोले) की होती है। यदि कल्क में मधु, घी, अथवा तेल मिलाना हो तो उसकी मात्रा कल्क से दूनी होनी चाहिये। यदि साफ शक्कर तथा गुड़ डालना हो तो उस की मात्रा कल्क के समान होनी चाहिये और यदि द्रव पदार्थ (जलादि) मिलाना हो तो उस की मात्रा कल्क से चौगुनी होनी चाहिये ॥

अथ चूर्णविधिमाह—

अत्यन्तशुष्कं यद् द्रव्यं सुपिष्टं वस्त्रगालितम्। तत्स्याच्चूर्णं रजः क्षोदस्तन्मात्रा कर्षसम्मिता॥
चूर्णे गुडः समो देयः शर्करा द्विगुणा मता। चूर्णेषु भर्जितं हिङ्गु देयं नोत्क्लेदकृद्भवेत् ॥१५॥
लिहेच्चूर्णं द्रवैः सर्वैर्घृताद्यैर्द्विगुणोन्मितैः। पिबेच्चतुर्गुणैरेवं चूर्णमालोडितं द्रवैः ॥ १६ ॥

चूर्ण बनाने की विधि--जो अत्यन्त सूखा द्रव्य होता है उसे खरल आदि में रख कर अत्यन्त महीन कूट कर वस्त्र से छान लिया जाय तो उसे चूर्ण कहते हैं। इसी का नामान्तर रज तथा क्षोद भी है। इस की मात्रा एक कर्ष (१ तोले) की होती है। यदि चूर्ण में गुड़ मिलाना हो तो उस की मात्रा चूर्ण के बराबर और साफ शक्कर मिलाना हो तो उसकी मात्रा चूर्ण से दुगुनी होनी चाहिये। यदि हींग मिलानी हो तो उसे घी में भून कर इतनी मात्रा में डाले कि जितनी खाने से जी न मिचलाये। यदि घृतादि द्रव पदार्थ के साथ चूर्ण चाटना हो तो घृतादि की मात्रा चूर्ण से दुगुनी लेनी चाहिये और यदि पीना हो तो चूर्ण को चौगुने जलादि द्रव पदार्थों में खूब घोल कर पीवे ॥ १४–१६ ॥

अथानुपानमाह—

चूर्णावलेहगुटिकाकल्कानामनुपानकम्। पित्तवातकफातङ्के त्रिद्व्येकपलमाहरेत् ॥ १७ ॥
यथा तैलं जले क्षिप्तं क्षणेनैव विसर्पति। अनुपानबलादङ्गे तथा सर्पति भेषजम् ॥ १८ ॥

अनुपान की मात्रा—चूर्ण, अवलेह, गोली और कल्क इनके अनुपान (दुग्धादि) की मात्रा पित्त, वात तथा कफसम्बन्धी रोगों में क्रम से तीन पल (१२ तोले), दो पल (८ तोले) और एक पल (४ तोले) की होनी चाहिये। जिस प्रकार जल में तेल छोड़ने से वह क्षण मात्र में (जल के ऊपर) चारो तरफ फैल जाता है उसी प्रकार अनुपान के बल से ओषधि भी क्षणमात्र में ही संपूर्ण अङ्गों में फैल जाती है ॥ १७–१८ ॥

अथ भावनाविधिमाह—

द्रवेण यावता सम्यक् चूर्णं सर्वं प्लुतं भवेत्। भावनायाः प्रमाणं तु चूर्णे प्रोक्तं भिषग्वरैः ॥

भावना की विधि—द्रव पदार्थों की जितनी मात्रा से सम्पूर्ण चूर्ण भली भांति डूब जाय उतनी मात्रा से चूर्ण में द्रवपदार्थों की भावना देनी चाहिये ॥ १९ ॥

अथ पुटपाकविधिमाह—

पुटपाकस्य कल्कस्य स्वरसो गृह्यते यतः । अतस्तु पुटपाकानां युक्तिरत्रोच्यते मया ॥ २० ॥
पुटपाकस्य पाकोऽयं लेपस्याङ्गारवर्णता । लेपश्च द्व्यङ्गुलं स्थूलं कुर्याद् द्व्यङ्गुलमात्रकम् ॥२१॥
काश्मरीवटजम्ब्वादिपत्रैर्वेष्टनमुत्तमम् ॥ २२ ॥
पलमात्रो रसो ग्राह्यः कर्षमात्रं मधु क्षिपेत् । कल्कचूर्णद्रवाद्यास्तु देयाः कोलमिता बुधैः ॥

पुटपाक की विधि—अनेक स्थलों पर पुटपाक की विधि से परिपक्व कल्क का स्वरस ग्रहण किया जाता है। अतः यहां मैं पुटपाक की विधि कहता हूँ। पुटपाक के परिपाक होने का लक्षण—जब ऊपर लेप की हुई मिट्टी दहकते अंगारे के समान हो जाय तब समझना चाहिये कि पुटपाक सिद्ध हो गया। पुटपाक की विधि—कल्क किये हुये द्रव्य के ऊपर खम्भारि, बरगद वा जामुन आदि के पत्तों को दो अङ्गुल मोटा खूब उत्तम रीति से लपेट कर ऊपर से दो अंगुल मोटा मिट्टी का लेप कर दे और अग्नि में डाल दे। जब मिट्टी लाल हो जाय तब निकाल ले। पश्चात् ऊपर की मिट्टी आदि अलग करके उस कल्क के रस को निचोड़ ले। इसकी मात्रा एक पल (४ तोले) की है। इसमें यदि मधु डालना हो तो एक कर्ष (१ तो०) डाले। यदि पण्डित लोग इसमें अन्य कोई कल्क, चूर्ण अथवा द्रवपदार्थ (जलादि) डालते हैं तो उसकी एक कोल (६ माशे) की मात्रा रखते हैं ॥ २०–२३ ॥

अथोष्णोदकविधिमाह—

अष्टमेनांशशेषेण चतुर्थेनार्द्धकेन वा । अथवा क्वथनेनैव सिद्धमुष्णोदकं भवेत् ॥ २४ ॥
श्लेष्मामवातमेदोघ्नं वस्तिशोधनदीपनम् । कासश्वासज्वरान् हन्ति पीतमुष्णोदकं निशि ॥

उष्णोदक (गरम जल) की विधि—जल को गरम करने पर उसका आठवां हिस्सा, चौथा हिस्सा या आधा हिस्सा शेष रहने पर अथवा केवल उबाल लेने पर ही उसे उष्णोदक कहते हैं। यदि उष्णोदक रात में पिया जाय तो कफ, आमवात तथा मेद को नष्ट करने वाला, वस्तिशोधक, अग्निदीपक एवं कास, श्वास तथा ज्वर को दूर करने वाला होता है ॥ २४–२५ ॥

अथ क्षीरपाकविधिमाह—

क्षीरमष्टगुणं द्रव्यात्क्षीरान्नीरं चतुर्गुणम् । क्षीरावशेषं तत्पीतं शूलमामोद्भवं जयेत् ॥ २६ ॥

क्षीरपाक की विधि—द्रव्य से अठगुना दूध और दूध से चौगुना जल छोड़ कर औंटाये जब केवल दूध रह जाय तब उतार ले। इसे पीने से आम से उत्पन्न हुआ शूल नष्ट होता है ॥ २६ ॥

अथ क्वाथविधिमाह—

पानीयं षोडशगुणं क्षुण्णे द्रव्यपले क्षिपेत् । मृत्पात्रे क्वाथयेद् ग्राह्यमष्टमांशावशेषितम् ॥२७॥

क्वाथ बनाने की विधि—चूर्ण किये हुए एक पल (४ तोले) द्रव्य को मिट्टी के पात्र में रख कर उसमें १६ गुना (६४ तोले) जल डालकर आग पर रख बिना ढके खौलाये जब अष्टमांश (८ तोले) जल रह जाय तब उतार ले ॥ २७ ॥

कर्षादौ तु पलं यावद् दद्यात्षोडशिकं जलम् । ततस्तु कुडवं यावत्तोयमष्टगुणं भवेत् ॥
चतुर्गुणमतश्चोर्ध्वं यावत् प्रस्थादिकं जलम् ॥ २८ ॥

परिभाषा—यदि द्रव्य की मात्रा कर्ष से लेकर पल पर्यन्त की हो तो जल १६ गुना डालना चाहिये और उससे (पल से) अधिक यदि कुडव (४ पल) पर्यन्त द्रव्य की मात्रा हो तो अठगुना जल डाले। इसके (कुडव के) उपरान्त प्रस्थ आदि पर्यन्त यदि द्रव्य की मात्रा हो तो चौगुना जल डाले ॥ २८ ॥

*षोडशिकं = षोडशगुणम् ॥ २८ ॥

यहां 'षोडशिकम्' इस पद का '१६ गुना' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २८ ॥

तज्जलं पाययेद्धीमान्कोष्णं मृद्वग्निसाधितम् । श्रृतः क्वाथः कषायश्च निर्यूहः स निगद्यते ॥

बुद्धिमान् वैद्य रोगी को उक्त जल किञ्चिद् गर्म रहते ही पिलावे और धीमी आंच से औंटा कर तैयार करे । इसीको संस्कृत में श्रृत, क्वाथ, कषाय तथा निर्यूह कहते हैं ॥ २९ ॥

अथ क्वाथपानमात्रामाह –

मात्रोत्तमा पलेन स्यात्त्रिभिरक्षैस्तु मध्यमा । जघन्या च पलार्द्धेन स्नेहक्वाथौषधेषु च ॥ ३० ॥

क्वाथ (काढ़ा) पीने की मात्रा – स्नेह (घृतादि), क्वाथ (काढ़ा) तथा औषध में देने में उत्तम मात्रा एक पल (४ तोले) की, मध्यम मात्रा—३ कर्ष (तोले) की और निकृष्टमात्रा—आधे पल (२ तोले) की कही जाती है ॥ ३० ॥

तन्त्रान्तरे –

क्वाथ्यद्रव्यपले वारि द्विरष्टगुणमिष्यते । चतुर्भागावशिष्टन्तु पेयं पलचतुष्टयम् ॥ ३१ ॥
दीप्तानलं महाकायं पाययेदञ्जलिं जलम् । अन्ये त्वर्द्धं परित्यज्य प्रसृतिं तु चिकित्सकाः ॥
क्वाथत्यागमनिच्छन्तस्त्वष्टभागावशेषितम् । पारम्पर्योपदेशेन वृद्धवैद्याः पलद्वयम् ॥ ३३ ॥

अन्य ग्रन्थों में यह लिखा है कि—जिस द्रव्य का क्वाथ बनाना हो, उसे एक पल (४ तोले) लेकर उसमें १६ गुना (१६ पल) जल डालकर औंटाये जब चतुर्थांश (४ पल) जल अवशिष्ट रह जाय तब उसे पीना चाहिये । जिसके शरीर का आकार बड़ा हो तथा अग्नि प्रदीप्त हो उसे एक अञ्जलि अर्थात् (४ पल) पिलावे । अन्य चिकित्सक लोग अञ्जलि से आधा भाग छोड़ कर केवल प्रसृति मात्र (२ पल) क्वाथ पिलाते हैं और जो वृद्ध वैद्य क्वाथ बना कर उसमें से आधा भाग पिला कर शेष आधा भाग छोड़ना नहीं चाहते वे लोग गुरुपरम्परा-प्राप्त उपदेश से पूर्वोक्त रीति से क्वाथ बनाने के समय चतुर्थांश जल अवशिष्ट न करके अष्टमांश जल अवशिष्ट रहने पर ही क्वाथ उतारते हैं ऐसी अवस्था में दो पल अवशिष्ट रहता है उसी को पिलाते हैं ॥ ३१-३३ ॥

***अष्टभागावशेषितस्य चतुर्भागावशिष्टापेक्षया गुरुत्वाद् दीप्तानलं महाकायं पलद्वयं पाययेत् । मध्यमाग्निमल्पकायं पलमात्रं पाययेत् । 'मात्रोत्तमा पलेन स्याद्' इत्यादिवचनात् ॥**

यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि—जब अष्टमांश जल अवशिष्ट रहने पर क्वाथ उतारा जायगा तब वह चतुर्थांश अवशिष्ट क्वाथ की अपेक्षा गुरु होगा अतः जिनकी जठराग्नि अत्यन्त प्रदीप्त है और शरीर भी विशाल है उन्हें ही अष्टमांशावशिष्ट दो पल की मात्रा पिलानी चाहिये । और जिनकी जठराग्नि मध्यम तथा छोटे शरीर वाले हैं उन्हें एक पल की ही मात्रा पिलानी चाहिये । क्योंकि 'एक पल की मात्रा उत्तम होती है' इत्यादि वचनों का प्रमाण भी मिलता है ॥ ३१-३३ ॥

अथ क्वाथे सितादीनां प्रक्षेपमानमाह—

क्वाथे क्षिपेत्सितामंशैश्चतुर्थाष्टमषोडशैः । वातपित्तकफातङ्के विपरीतं मधु स्मृतम् ॥ ३४ ॥
जीरकं गुग्गुलुं क्षारं लवणं च शिलाजतु । हिङ्गु त्रिकटुकञ्चैव क्वाथे शाणोन्मितं क्षिपेत् ॥३५॥
क्षीरं घृतं गुडं तैलं मूत्रं चान्यद् द्रवं तथा । कल्कं चूर्णादिकं क्वाथे निक्षिपेत् कर्षसम्मितम् ॥

क्वाथ में साफ शक्कर आदि डालने की मात्रा—क्वाथ में वात, पित्त तथा कफसम्बन्धी रोगों में क्रम से साफ शक्कर (क्वाथ के) चतुर्थांश, अष्टमांश तथा षोडशांश के बराबर छोड़ना चाहिये । किन्तु यदि शहद छोड़ना हो तो इससे विपरीत क्रम से छोड़ना चाहिये अर्थात् वातज रोगों में क्वाथ का १६ वां भाग, पित्तज में आठवां भाग और कफज में चौथा भाग शहद छोड़ना चाहिये । जीरा, गूगल, खार, नमक, शिलाजीत, हींग, त्रिकटु, (सोंठ, पीपरि, मरिच) ये सब यदि क्वाथ

में छोड़े जायें तो शाण (३ माशे) के बराबर होने चाहिये। दूध, घी, गुड़, तेल, मूत्र तथा अन्य प्रकार के द्रवपदार्थ या कल्क एवं चूर्ण आदि क्वाथ में छोड़ना हो तो उसकी मात्रा एक कर्ष (१२ माशे) की होनी चाहिये ॥ ३४-३६ ॥

अथौषधभक्षणविधिमाह—

तत्रोपविश्य विश्रान्तः प्रसन्नवदनेक्षणः। औषधं हेमरजतमृद्भाजनपरिस्थितम् ॥ ३७ ॥
पिबेत् प्रसन्नहृदयः पीत्वा पात्रमधोमुखम्। विधायाचम्य सलिलं ताम्बूलाद्युपयोजयेत् ॥३८॥

औषध भक्षण की विधि—औषध खाने के समय प्रथम सोने, चांदी अथवा मिट्टी के पात्र में औषध (क्वाथ) को रख कर थकावट दूर हो जाने पर प्रसन्नमुख तथा नेत्र होकर और सुस्थिर बैठ कर पीवे (खावे)। प्रसन्न मन से पीकर पात्र को औंधे मुख रख कर तत्पश्चात् जल से आचमन कर के पान आदि खावे ॥ ३७-३८ ॥

अथावलेहविधिमाह—

क्वाथादेर्यत्पुनः पाकाद् घनत्वं सा रसक्रिया। सोऽवलेहश्च लेहश्च तन्मात्रा स्यात्पलोन्मिता ॥
सिता चतुर्गुणा कार्या चूर्णाच्च द्विगुणो गुडः। द्रवं चतुर्गुणं दद्यादिति सर्वत्र निश्चयः ॥ ४० ॥
सुपक्वे तन्तुमत्त्वं स्यादवलेहेऽप्सु मज्जनम्। स्थिरत्वं पीडिते मुद्रा गन्धवर्णरसोद्भवः ॥४१॥
दुग्धमिक्षुरसं यूषं पञ्चमूलकषायकम्। वासाक्वाथं यथायोग्यमनुपानं प्रशस्यते ॥ ४२ ॥

अवलेह बनाने की विधि—क्वाथ आदि जो पुनः पाक करने से अत्यन्त गाढ़ा हो जाता है उसी को रसक्रिया, अवलेह तथा लेह कहते हैं। उसकी मात्रा एक पल (४ तोले) की होती है। यदि इस में साफ शक्कर डालनी हो तो चूर्ण की चौगुनी और गुड़ दुगुना डाले तथा द्रवपदार्थ चौगुना डाले। **अवलेह का परिपाकज्ञान**—अवलेह के परिपक्व होने पर उठा कर खींचने से उसमें चाशनी के समान तार निकलना, जल में डालने पर डूब जाना, रखने पर स्थिर रहना (इधर उधर न फैलना), दबाने पर अंगुली की रेखायें उस पर उमड़ आना और शास्त्रोक्त गन्ध, वर्ण तथा रस का उत्पन्न हो जाना ये सब लक्षण प्रकट हो जाते हैं। **अनुपान**—दूध, ऊख का रस, मूंग आदि का जूस, पञ्चमूल का क्वाथ और अडूसा का क्वाथ इनमें से किसी का योग्यतानुसार अवलेह में अनुपान उत्तम होता है ॥ ३९-४२ ॥

गुटिकानिर्माणविधिमाह—

वटका अथ कथ्यन्ते तन्नाम गुटिका वटी। मोदको वटिका पिण्डी गुडो वर्त्तिस्तथोच्यते ॥
लेहवत्साध्यते वह्नौ गुडो वा शर्करााऽथवा। गुग्गुलुर्वा क्षिपेत्तत्र चूर्णं तन्निर्मिता वटी ॥

गोली बनाने की विधि—गुटिका, वटी, मोदक, वटिका, पिण्डी, गुड तथा वर्त्ति ये सब नाम गोली के हैं। आग के ऊपर गुड़, शक्कर या गूगल रखकर अवलेह के समान बनावे पश्चात् उसमें औषध चूर्ण डालकर उसकी गोली बनावे ॥ ४३-४४ ॥

* तत्र = वह्निसिद्धे गुडादौ ॥ ४४ ॥

यहां 'तत्र' पद का 'आग पर रख कर सिद्ध किये हुये गुडादि में' यह अर्थ समझना चाहिये ॥

कुर्यादवह्निसिद्धेन क्वचिद् गुग्गुलुना वटीम्। द्रवेण मधुना वाऽपि गुटिकां कारयेद् बुधः ॥
सिता चतुर्गुणा देया वटीषु द्विगुणो गुडः। चूर्णे चूर्णसमः कार्यो गुग्गुलुर्मधु तत्समम् ॥४६॥

कहीं २ विद्वान् लोग बिना आग पर पकाये ही गूगल से गोली तैयार करते हैं। अथवा द्रव पदार्थ या शहद से ही गोली बना लेते हैं। गोली बनाने में चूर्ण की अपेक्षा साफ शक्कर चौगुनी, गुड़ दुगुना और गुग्गुल या मधु चूर्ण के समान डालना चाहिये ॥ ४५-४६ ॥

*तत्समं = चूर्णसमम् ॥ ४६ ॥

यहां 'तत्समम्' पदका 'चूर्ण के समान' यह अर्थ है ॥ ४५-४६ ॥

द्रवं तु द्विगुणं देयं मोदकेषु भिषग्वरैः ॥ ४७ ॥

वैद्यवरों को चाहिये कि गोली बनाने में यदि द्रवरूप पदार्थ डालना हो तो उसकी मात्रा चूर्ण से दुगुनी लेवे ॥ ४७ ॥

***द्रवं = द्रवरूपं द्रव्यम् ॥ ४७ ॥**

यहां 'द्रवम्' पद का 'द्रव रूप पदार्थ' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ४७ ॥

कर्षप्रमाणं तन्मात्रा बलं दृष्ट्वा प्रयुज्यते ॥ ४८ ॥

गोलियों की मात्रा यद्यपि एक कर्ष (१ तोले) की कही हुई है, तथापि रोगियों के बल को देख कर तदनुसार इसकी मात्रा की कल्पना करनी चाहिये ॥ ४८ ॥

***बलमिति कालादेरप्युपलक्षणम् ॥ ४८ ॥**

यहां 'बलम्' यह पद कालादि का भी उपलक्षण है इससे 'बल, काल, अवस्था, देश आदि को देख कर' ऐसा अर्थ समझना चाहिये ॥ ४८ ॥

अथ घृततैलयोर्विधिमाह—

कल्काच्चतुर्गुणीकृत्य घृतं वा तैलमेव च । चतुर्गुणद्रवे साध्यं तस्य मात्रा पलोन्मिता ॥४९॥

घृत और तेल बनाने की विधि—कल्क से चौगुना घी अथवा तेल लेकर उससे (घी तथा तेल से) चौगुने द्रव पदार्थ के साथ उसे सिद्ध करना चाहिये । जब केवल घी या तेल रह जाय तब उसे उतार लेना चाहिये, उसकी मात्रा एक पल की होती है ॥ ४९ ॥

***मात्रा पलोन्मिता भक्षणाय ॥ ४९ ॥**

यहां 'मात्रा एक पल की होती है' ऐसा जो कहा गया है वह खाने के लिये समझना चाहिये ॥

निक्षिप्य क्राथयेत्तोयं क्राथ्यद्रव्याच्चतुर्गुणम् । पादशिष्टं गृहीत्वा तु स्नेहं तेनैव साधयेत् ॥५०॥
चतुर्गुणं मृदुद्रव्ये कठिनेऽष्टगुणं जलम् । मृद्वादिक्राथ्यसंघाते दद्यादष्टगुणं पयः ॥
अत्यन्तकठिने द्रव्ये नीरं षोडशिकं मतम् ॥ ५१ ॥

जिस द्रव्य का क्राथ बनाना हो उससे चौगुना जल छोड़ कर क्राथ बनाना चाहिये और जब चतुर्थांश शेष रह जाय तब उसमें स्नेह (घृत या तेल) डालकर पकावे जब केवल स्नेह पदार्थ रह जाय तब उतार कर काम में ले । यहां चौगुना जल छोड़ना जो कहा है वह मृदु द्रव्यों के लिये कठिन द्रव्यों के लिये तो अठगुना जल छोड़ना चाहिये । जहां मृदु आदि अर्थात् क्राथ करने योग्य मृदु तथा कठिन द्रव्यों का समूह हो वहां अठगुना ही जल छोड़ना चाहिये । यदि अत्यन्त कठिन द्रव्य हो तो उसमें १६ गुना जल छोड़ना चाहिये ॥ ५०-५१ ॥

***मृदुद्रव्ये=आर्द्रद्रव्ये गुडूच्यादौ । कठिने=शुष्कद्रव्ये शुण्ठ्यादौ । अत्यन्तकठिने=चिरशुष्के देवदार्वादौ ॥ ५०-५१ ॥**

यहां 'मृदु द्रव्य' से 'गीले द्रव्य गिलोय आदि' 'कठिन द्रव्य' से 'सूखे द्रव्य सोंठ आदि' तथा 'अत्यन्त कठिन द्रव्य' से 'बहुत दिन के सूखे हुये देवदारु आदि' का बोध करना चाहिये ॥५०-५१॥

कर्षादितः पलं यावत्क्षिपेत्षोडशिकं जलम् । तदूर्ध्वं कुडवं यावद् भवेदष्टगुणं पयः ।
प्रस्थादितः क्षिपेन्नीरं खारीं यावच्चतुर्गुणम् ॥ ५२ ॥

एक कर्ष (१ तोले) से लेकर पल (४ तोले) पर्यन्त द्रव्य में १६ गुना जल डालना चाहिये । उसके उपरान्त कुडव (४ पल) पर्यन्त में ८ गुना जल डालना चाहिये । प्रस्थ (१६ पल) से लेकर खारी (४०९६ पल) पर्यन्त में चौगुना जल डालना चाहिये ॥ ५२ ॥

*पूर्वं 'चतुर्गुणं मृदुद्रव्य' इत्यादिना क्वाथ्यद्रव्यगतमृदुत्वादिगुणभेदेन जलगतपरिमाणमुक्तम्। इदानीं केचिदाचार्याः 'कर्षादितः पलं यावदि' त्यादिवचनेन क्वाथ्यद्रव्यगतपरिमाणभेदेन जलगतपरिमाणं मन्यन्ते ॥ ५२ ॥

यहां यह और समझना चाहिये कि इसके अव्यवहित पूर्व में 'चतुर्गुणं मृदुद्रव्ये' इत्यादि से जिसका क्वाथ बनाया जायगा उस द्रव्य के मृदुत्वादि गुणों के भेद से जल का तौल बतलाया है। इस समय कोई २ आचार्य 'कर्षादितः पलं यावद्' इत्यादि वचनों से क्वाथ बनाये जाने वाले द्रव्यों के तौल के भेद से जल डालने का तौल बतलाते हैं ॥ ५२ ॥

अम्बुक्वाथरसैर्यत्र पृथक् स्नेहस्य साधनम्। कल्कस्यांशं तत्र दद्याच्चतुर्थं षष्ठमष्टमम् ॥ ५३॥

जहां जल, क्वाथ तथा स्वरस के द्वारा पृथक् २ स्नेह (घी या तेल) बनाना है वहाँ क्रम से स्नेह की अपेक्षा—कल्क का चौथा, छठा तथा आठवां अंश देना चाहिये ॥ ५३ ॥

* अस्यायमर्थः—अम्बुना स्नेहसाधने कल्कं स्नेहस्य चतुर्थमंशं दद्यात्। क्वाथेन स्नेहसाधने स्नेहस्य षष्ठभागं कल्कं दद्यात्। स्वरसैः स्नेहसाधने स्नेहस्याष्टमभागं कल्कं दद्यात् ॥ ५३ ॥

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि—जल द्वारा स्नेह बनाने में स्नेह के चतुर्थांश तुल्य कल्क का अंश देना चाहिये। क्वाथ के द्वारा स्नेह बनाने में स्नेह के छठे अंश के तुल्य कल्क का अंश देना चाहिये। किसी के स्वरस से स्नेह बनाने में स्नेह के आठवें अंश के तुल्य कल्क का अंश देना चाहिये ॥५३॥

पुनर्विशेषमाह—

दुग्धे दधिन रसे तक्रे कल्को देयोऽष्टमांशकः। कल्काच्च सम्यक् पाकार्थं तोयमत्र चतुर्गुणम् ॥

पुनः विशेष उक्ति—दूध, दही, स्वरस या तक्र (चतुर्थांश जल सहित छाछ) में यदि स्नेह बनाना हो तो स्नेह का अष्टमांश कल्क देना चाहिये। अच्छी तरह से पाक तैयार होने के लिये कल्क से चौगुना जल डालना चाहिये ॥ ५४ ॥

* कल्कात् = कल्कद्रव्यात्। चतुर्गुणं तोयं पेषणार्थम् ॥ ५४ ॥

यहां 'कल्क' पद से 'कल्क जिसका बना हो उस द्रव्य' का ग्रहण करना चाहिये। 'चौगुना जल कल्क पीसने के लिये लेना चाहिये न कि ऊपर से डालने के लिये' ॥ ५४ ॥

द्रवाणि यत्र स्नेहेषु पञ्चादीनि भवन्ति हि। तत्र स्नेहसमान्याहुर्यथापूर्वं चतुर्गुणम् ॥ ५५ ॥

जिन स्नेहों में दूध आदि पांच द्रव पदार्थ पड़ते हैं उनमें वे सब प्रत्येक स्नेह के तुल्य होने चाहिये अर्थात् इन पांचों में जो २ पूर्व में हैं वे चौगुने होने चाहिये ॥ ५५ ॥

* अस्यायमर्थः—यत्र स्नेहेषु आदीनि पञ्च द्रवाणि दुग्धदधिस्वरसतक्रकल्कोपयुक्तजलानि प्रत्येकं स्नेहसमानि बोद्धव्यानि। यथापूर्वं दुग्धदधिस्वरसतक्रं समुदितं स्नेहाच्चतुर्गुणं भवति ॥ ५५ ॥

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि—जिन स्नेहों के बनाने में दूध, दही, स्वरस, तक्र और कल्क में उपयोग किया हुआ जल, इन पांचों द्रव पदार्थों का प्रयोग होता है वहां प्रत्येक वे सब तौल में स्नेह के बराबर हों ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् उन पांचों में जो २ पूर्व में हैं अर्थात् दही, दूध, स्वरस तथा तक्र वे सब चारों मिलकर स्नेह के चौगुने होने चाहिये ॥ ५५ ॥

द्रवेण केवलेनैव स्नेहपाको भवेद् यदि। तत्राम्बुपिष्टः कल्कः स्याज्जलं चात्र चतुर्गुणम् ॥५६॥
क्वाथेन केवलेनैव पाको यत्रोदितः क्वचित्। क्वाथ्यद्रव्यस्य कल्कोऽपि तत्र स्नेहे प्रयुज्यते ॥५७॥

जहां केवल द्रव्य हो से स्नेह बनाना हो वहां उस द्रव्य का कल्क जल से पीसना चाहिये। और जल कल्क द्रव्य से चौगुना लेना चाहिये। जहां केवल क्वाथ से स्नेह बनाना कहा हो वहां

यह भी समझना चाहिये कि जिस द्रव्य का क्वाथ बना है उसके कल्क का भी उस स्नेह में प्रयोग किया जाता है ॥ ५६–५७ ॥

कल्कहीनस्तु यः स्नेहः स साध्यः केवले द्रवे ॥ ५८ ॥

यदि कोई स्नेह विना कल्क ही के बनाया जाय तो वहां केवल द्रव में ही उसे सिद्ध करना चाहिये॥

*** केवले द्रवे = क्वाथेतरस्मिन् स्वरसादिरूपे ॥ ५८ ॥**

यहां 'केवल द्रव में' ऐसा कहने का यह भाव समझना चाहिये कि--क्वाथ से भिन्न स्वरसादिरूप द्रव में ॥ ५८ ॥

पुष्पकल्कस्तु यः स्नेहस्तत्र तोयं चतुर्गुणम् । स्नेहात् स्नेहाष्टमांशश्च पुष्पकल्कः प्रयुज्यते ॥

जिस स्नेह में फूलों का कल्क बनाया जाता हो वहां स्नेह का चौगुना जल और स्नेह का अष्टमांश फूलों का कल्क डालना चाहिये ॥ ५९ ॥

वर्तिवत्स्नेहकल्कः स्याद् यदाऽङ्गुल्या विवर्तितः।शब्दहीनोऽग्निनिक्षिप्तःस्नेहःसिद्धो भवेत्तदा॥
यदा फेनोद्गमस्तैले फेनशान्तिश्च सर्पिषि । वर्णगन्धरसोत्पत्तिः स्नेहः सिद्धो भवेत्तदा ॥६१॥

सिद्ध हुये स्नेह के लक्षण--जब अङ्गुली से बटने पर स्नेह के कल्क की बत्ती बन जाने लगे और स्नेह को अग्नि में छोड़ने पर उससे फट् फट् शब्द न होने लगे तब स्नेह को सिद्ध हुआ समझना चाहिये । जब तेल में फेन निकलने लगे और घी में जब फेन का निकलना बन्द होने लगे तथा दोनों के यथोक्त वर्ण, गन्ध तथा रस मालूम पड़ने लगे तब स्नेह (तेल तथा घी) को सिद्ध हुआ समझना चाहिये ॥ ६०-६१ ॥

अथ स्नेहपाकस्य लक्षणपूर्वकं त्रैविध्यमाह—

स्नेहपाकस्त्रिधा प्रोक्तो मृदुर्मध्यः खरस्तथा । ईषत्सरसकल्कस्तु स्नेहपाको मृदुर्भवेत ॥६२॥
मध्यपाकस्य सिद्धिश्च कल्के नीरसकोमले । ईषत्कठिनकल्कश्च स्नेहपाको भवेत्खरः ॥ ६३ ॥

स्नेह परिपाक के लक्षण पूर्वक ३ प्रकार—स्नेह का परिपाक तीन प्रकार का होता है। १ मृदुपाक, २ मध्यपाक और ३ खरपाक। १ **मृदुपाक**—जिस स्नेह के पाक में स्नेह कल्क के कुछ सरस रहते ही उतार लिया जाय उसे मृदुपाक कहते हैं। २ **मध्यपाक**—जिसमें कल्क के नीरस तथा कोमल रहते ही पाक बन्द कर दिया जाय उसे मध्यपाक कहते हैं। ३ **खरपाक**—जिस स्नेहपाक में कल्क कुछ कठिन हो जाता है उसे खरपाक कहते हैं ॥ ६२–६३ ॥

अथ दग्धपाकस्य निष्प्रयोजनत्वं तथाऽऽमपाकस्य दोषानाह --

तदूर्ध्वं दग्धपाकः स्याद्दाहकृन्निष्प्रयोजनः। आमपाकश्च निर्वीर्यो वह्निमान्द्यकरो गुरुः ॥ ६४ ॥

दग्धपाक तथा आमपाक के दोष—इसके ऊपर अर्थात् अधिक पाक होने से कल्क के अधिक कठिन हो जाने पर दग्धपाक (जला पाक) कहलाता है। यह दाहकारक होता है अतएव निष्प्रयोजन (किसी काम में नहीं लेने योग्य) होता है। जो आमपाक (कचा पाक) अर्थात् जिसका कल्क अधिक सरस होता है, वह निर्वीर्य, अग्नि को मन्द करने वाला और गुरु होता है ॥

अथ मृद्वादिपाकानां विषयानाह—

नस्यार्थं स्यान्मृदुः पाको मध्यमः सर्वकर्मसु ।
अभ्यङ्गार्थः खरः प्रोक्तो युञ्ज्यादेवं यथोचितम् ॥ ६५ ॥

मृदु आदि पाकों के विषय—नस्यकर्म के लिये (नास लेने के लिये) मृदुपाक स्नेह उत्तम होता है और सभी कार्यों के लिये मध्यमपाक स्नेह लेना चाहिये। मालिश करने के लिये खरपाक स्नेह लेना चाहिये। इस प्रकार जहां जैसा उचित हो वैसे पाकवाले स्नेह का प्रयोग करना चाहिये ॥ ६५ ॥

अथ घृततैलादीनामुषितत्वं गुणकारकमित्याह—

घृततैलगुडादींश्च साधयेन्नैकवासरे। प्रकुर्वन्त्युषितास्त्वेते विशेषाद् गुणसञ्चयम् ॥ ६६ ॥

घी, तेल तथा गुड़ के बासी होने की महत्ता—घी, तेल तथा गुड़ को एक ही दिन में कभी नहीं तैयार कर लेना चाहिये। क्योंकि ये बासी होने पर ही विशेष गुणकारी होते हैं ॥ ६६ ॥

अथ सन्धानविधिमाह—

द्रवेषु चिरकालस्थं द्रव्यं यत्सन्धितं भवेत्। आसवारिष्टभेदैस्तु प्रोच्यते भेषजोचितम् ॥६७॥

सन्धानविधि—किसी भी द्रव पदार्थों में यदि कोई द्रव्य चिरकाल तक रक्खा रहे तो वह सन्धान को प्राप्त हो जाता है। औषध के लिये उचित होने से उसे आसव तथा अरिष्ट के भेद से कहते हैं ॥ ६७ ॥

***भेषजेषु यदुचितं तद्भेषजोचितम् ॥ ६७ ॥**

यहां 'भेषजोचितम्' पद का 'औषध के लिये उचित होने से' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६७ ॥

अथासवारिष्टलक्षणमाह—

यदपक्वौषधाम्बुभ्यां सिद्धं मद्यं स आसवः। अरिष्टः क्वाथसाध्यः स्यात्तयोर्मानं पलोन्मितम् ॥

आसव तथा अरिष्ट के लक्षण—जो बिना पकाये हुए औषध तथा जल से मद्य सिद्ध होता है उसे 'आसव' कहते हैं और जो क्वाथ से मद्य तैयार किया जाता है उसे 'अरिष्ट' कहते हैं। इन दोनों की मात्रा एक पल (४ तोले) की होती है ॥ ६८ ॥

अथ सामान्यतोऽरिष्टविधिमाह—

अनुक्तमानारिष्टेषु द्रवाद् द्रोणं गुडात्तुलाम्। क्षौद्रं क्षिपेद् गुडादर्द्धं प्रक्षेपं दशमांशिकम् ॥

सामान्य रूप से अरिष्ट की विधि—जहां अरिष्ट के बनाने में द्रवादि पदार्थों का मान (तौल) न कहा गया हो वहां द्रव पदार्थ एक द्रोण (२५६ पल), गुड़ एक तुला (१०० पल), शहद गुड़ का आधा अर्थात् आधी तुला (५० पल) और अन्य प्रक्षेप (ऊपर से डालने योग्य) पदार्थ गुड़ का दशमांश (१० पल) डालना चाहिये ॥ ६९ ॥

*** दशमांशिकं = गुडस्यैव दशमांशम् ॥ ६९ ॥**

यहां 'दशमांशिकम्' पद का 'गुड़ का दशमांश' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६९ ॥

अथ द्विविधसीधुमाह—

ज्ञेयः शीतरसः सीधुरपक्वमधुरद्रवः। सिद्धः पक्वरसः सीधुः सम्पक्वमधुरद्रवैः ॥ ७० ॥

सीधु के दो प्रकार—बिना पकाये हुये ऊख के रस आदि मधुर द्रव पदार्थों से बने हुये मद्य विशेष को 'शीतरस सीधु' और पकाये हुए ऊख के रस आदि मधुर द्रव पदार्थों से बने हुये मद्यविशेष को 'पक्वरस सीधु' कहते हैं ॥ ७० ॥

***मधुरद्रवैः = इक्षुरसादिभिः ॥ ७० ॥**

यहां 'मधुरद्रव' पद से 'ऊख का रस आदि मधुर द्रव पदार्थों' का ग्रहण करना चाहिये ॥७०॥

अथ सुरां सुराजातिं चाह—

परिपक्वान्नसंधानात्समुत्पन्नां सुरां जगुः। सुरामण्डः प्रसन्ना स्यात्ततः कादम्बरी घना ॥७१॥
तदधो जगलो ज्ञेयो मेदको जगलाद्घनः। बक्कसो हृतसारः स्यात्सुराबीजं तु किण्वकम् ॥७२॥

सुरा तथा सुरा की जातियां—पकाये हुए अन्न का सन्धान करने से जो मद्यविशेष बनता है उसे 'सुरा', सुरा के ऊपर के पतले द्रव भाग को 'प्रसन्ना', उससे किञ्चित् घन (गाढ़े) भाग को 'कादम्बरी' तथा उससे अधिक घन भाग को 'जगल', जगल से भी अधिक घन भाग अर्थात् सबसे

नीचे के भाग को 'मेदक', सारभाग निकाल लेने पर बची हुई सीठी को 'बक्कस' और सुरा के बीज को 'किण्व' कहते हैं ॥ ७१-७२ ॥

🟊 सुराबीजं=यवगोधूमतण्डुलादि ॥ ७१-७२ ॥

यहां 'सुरा के बीज' से जौ, गेहूँ, चावल आदि का बोध करना चाहिये क्योंकि इन्हीं से सुरा बनाई जाती है अतः सुरा के नीचे स्थित इन पदार्थों को 'सुराबीज' कहते हैं ॥ ७१-७२ ॥

अथ वारुणीमाह—

यत्तालखर्जूररसैः सन्धिता सा हि वारुणी ॥ ७३ ॥

वारुणी—ताड तथा खजूर के रस का सन्धान करके जो मद्यविशेष बनता है उसे 'वारुणी' कहते हैं ॥ ७३ ॥

अथ शुक्तलक्षणमाह--

कन्दमूलफलादीनि सस्नेहलवणानि च। यत्र द्रवेऽभिषूयन्ते तच्छुक्तमभिधीयते ॥ ७४ ॥

शुक्त का लक्षण--जिस द्रव पदार्थ में तेल तथा नमक के साथ कन्द, मूल तथा फलादि को डुबोकर उसका संधान करते हैं उसे 'शुक्त' कहते हैं ॥ ७४ ॥

🟊अभिषूयन्ते = द्रवेणाप्लाव्य सन्धीयते ॥ ७४ ॥

यहाँ 'अभिषूयन्ते' पद का 'द्रव पदार्थ में डुबोकर सन्धान करते हैं' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७४ ॥

अथ चुक्रलक्षणमाह—

विनष्टमम्लतां यातं मद्यं वा मधुरद्रवः। विनष्टः सन्धितो यस्तु तच्चुक्रमभिधीयते ॥ ७५ ॥
गुडाम्बुना सतैलेन कन्दशाकफलैस्तथा। संधितं चाम्लतां यातं गुडचुक्रं प्रचक्षते ॥
एवमेव हि शुक्तं स्यान्मृद्वीकासम्भवं तथा ॥ ७६ ॥

चुक्र का लक्षण--जो मद्य विगड़ कर खट्टा हो जाय उसे और विगड़ जाने पर जिसका सन्धान किया जाय उस मधुर द्रव (ऊख के रस आदि) पदार्थ को भी 'चुक्र' कहते हैं। गुड़ का जल (गुड़मिश्रित जल), तेल तथा कन्द, शाक और फल इन सबों का सन्धान करने पर जब खट्टा हो जाय तब उसे 'गुडचुक्र' कहते हैं। इसी प्रकार दाख का भी शुक्त बनाया जाता है ॥ ७५-७६ ॥

अथ तुषोदकसौवीरारनालकाञ्जिकशिण्डाकीलक्षणान्याह--

तुषाम्बु सन्धितं ज्ञेयमामैर्विदलितैर्यवैः। यवैस्तु निस्तुषैः पक्वैः सौवीरं सधितं भवेत् ॥७७॥
आरनालन्तु गोधूमैरामैः स्यान्निस्तुषीकृतैः। पक्वैर्वा संहितं तत्तु सौवीरसदृशं गुणैः ॥ ७८ ॥
कुल्माषधान्यमण्डादिसंहितं काञ्जिकं विदुः। शिण्डाकी संहिता ज्ञेया मूलकैः सर्षपादिभिः ॥

तुषोदक, सौवीर, आरनाल, काञ्जिक (कांजी) तथा शिण्डाकी के लक्षण—कच्चे, तुष (भूसी) सहित जौ की दलिया का जो सन्धान किया जाय तो 'वह 'तुषाम्बु' और बिना भूसी के पकाये हुये जौ का जो सन्धान किया जाता है वह 'सौवीर' कहलाता है। बिना भूसी के कच्चे या पक्के गेहूं का जो सन्धान किया जाता है वह 'आरनाल' कहलाता है और वह गुणों में सौवीर के समान होता है। कुल्माष (घुघुरी), धान्य और मण्ड आदि का यदि सन्धान किया जाय तो उसे 'कांजी' तथा मूली और सरसो आदि का जो सन्धान किया जाय उसे 'शिण्डाकी' कहते हैं ॥ ७७-७९ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे परिभाषादिप्रकरणे
द्वितीयं भेषजविधानप्रकरणं समाप्तम् ॥ २ ॥

अथ तृतीयं धात्वादिशोधनमारणविधिप्रकरणम् ॥ ३ ॥

अथ धातूनां शोधनमारणविधिः ।

तत्र मारणयोग्यसुवर्णस्य लक्षणमाह—

दाहे रक्तं सितं छेदे निकषे कुङ्कुमप्रभम् । तारशुल्बोज्झितं स्निग्धं कोमलं गुरु हेम सत् ॥१॥

मारण करने के योग्य सुवर्ण का लक्षण—जो सुवर्ण आग में तपाने पर रक्तवर्ण, काटने पर सफेद, कसौटी पर कसने से केसर के समान वर्ण वाला देख पड़े और चांदी तथा तामे के मेल से रहित, स्निग्ध, कोमल एवं गुरु (वजन में भारी) हो। वह उत्तम (मारण के योग्य) होता है ॥ १ ॥

*** सत् = उत्तमम् ॥ १ ॥**

यहां 'सत्' पद का 'उत्तम' अर्थ समझना चाहिये ॥ १ ॥

अथ मारणायोग्यसुवर्णस्य लक्षणमाह—

तच्छेदे कठिनं रूक्षं विवर्णं समलं दलम् । दाहे छेदे सितं श्वेतं कषे स्फुटं लघु त्यजेत् ॥ २ ॥

मारण के अयोग्य सुवर्ण—जो सुवर्ण काटने में कठिन, रूक्ष, विवर्ण (बदरङ्ग), मल सहित, पर्त्तयुक्त, तपाने, काटने तथा कसने में सफेद, घन का चोट मारने पर फट जाने वाला एवं लघु हो, उसे त्याग देना चाहिये अर्थात् मारण के लिये नहीं लेना चाहिये ॥ २ ॥

अथ सुवर्णस्य शोधनविधिमाह—

पतलीकृतपत्राणि हेम्नो वह्नौ प्रतापयेत् । निषिञ्चेत्तप्ततप्तानि तले तक्रे च काञ्जिके ॥ ३ ॥
गोमूत्रे च कुलत्थानां कषाये तु त्रिधा त्रिधा । एवं हेम्नः परेषाञ्च धातूनां शोधनं भवेत् ॥ ४ ॥

सुवर्ण की शोधन विधि—प्रथम सोने के पतले-पतले पत्तर बना कर उन सबों को आग में तपावे खूब लाल हो जाने पर क्रम से तेल, तक्र (छांछ), कांजी, गोमूत्र तथा कुलथी का क्वाथ इन सब में अलग-अलग प्रत्येक में तीन-तीन बार बुझावे। ऐसा करने से सोने की शुद्धि होती है। इसी भांति अन्य धातुओं की भी शुद्धि होती है ॥ ३-४ ॥

अथाशुद्धसुवर्णस्य दोषानाह—

बलं सवीर्य्यं हरते नराणां रोगव्रजं पोषयतीह काये ।
असौख्यकार्येव सदा सुवर्णमशुद्धमेतन्मरणञ्च कुर्यात् ॥ ५ ॥

अशुद्ध सुवर्ण के दोष—विना शोधा हुआ सोना सेवन करने से मनुष्यों के बल तथा वीर्य को हर लेता है, तथा शरीर में अनेक प्रकार के रोगों का बढ़ाता है और सदा दुखदायी होकर अन्त में मृत्यु भी कर देता है ॥ ५ ॥

अथ सुवर्णस्य मारणविधिमाह—

स्वर्णस्य द्विगुणं सूतमम्लेन सह मर्दयेत् । तद्गोलकसमं गन्धं निदध्यादधरोत्तरम् ॥ ६ ॥

सुवर्ण के मारण की विधि—अत्यन्त पतले २ सोने के टुकड़ों के दूना पारा लेकर उसमें उन टुकड़ों को मिला कर अम्ल पदार्थ नीबू आदि के रस के साथ खूब मर्दन करे तत्पश्चात् सबों का गोला बनाकर तौल में उसी के बराबर गन्धक का चूर्ण लेकर उस गोले के नीचे, ऊपर, चारो तरफ लपेट दे ॥ ६ ॥

***स्वर्णस्य-अतितनूकृतपत्रस्य । गन्धं = गन्धकचूर्णम् ॥ ६ ॥**

यहां 'स्वर्णस्य' पदका 'अत्यन्त पतले २ सोने के टुकड़ों के' तथा 'गन्धम्' पद का 'गन्धक का चूर्ण' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६ ॥

गोलकञ्च ततो रुद्ध्वा शरावद्वयसम्पुटे। त्रिंशद्वनोपलैर्दद्यात्पुटान्येवं चतुर्दश॥
निरुत्थं जायते भस्म गन्धो देयः पुनः पुनः॥ ७॥

इस के बाद शराव (गोला रखने की घरिया) में भी गन्धक का चूर्ण बिछा कर उस के ऊपर उक्त गोला को रख कर ऊपर से दूसरा शराव औंधा कर रख दे और कपड़ा (रुई) डाल कर खूब कुटी हुई चिकनी मिट्टी से दोनों शरावों का मुख बन्द करके सुखा ले पश्चात् उसे ३० गोइठे की आग के अन्दर बीचोबीच में रखकर १४ पुट दे अर्थात् प्रथम बार जब अग्नि शान्त हो जाय तब सम्पुटित शराव को निकाल कर पुनः उस का मुख खोल कर उस के अन्दर गन्धक का चूर्ण बिछा कर पुनः कपड़मिट्टी से मुख बन्द कर तथा सुखा कर ३० गोइठे की अग्नि में पुनः पुट दे, इसी भांति १४ बार पुट दे। जब दूसरा पुट आरम्भ करे तब गन्धक का चूर्ण बराबर रखता जाय। इस प्रकार से १४ पुट देने से सोना का जो भस्म तैयार होता है वह निरुत्थ (पुनः जीवित नहीं होने वाला) होता है अर्थात् घी, सुहागा आदि मित्रपञ्चक के योग से भी पुनः अपने पूर्ववत् आकार को नहीं प्राप्त होने वाला होता है॥ ७॥

***रुद्ध्वा = सवस्त्रकुट्टितचिक्कणमृत्तिकया। वनोपलः 'गोइठा' इति लोके। निरुत्थं = यत्पुनर्न जीवति॥ ७॥**

यहां 'रुद्ध्वा' पद का 'कपड़ा (रुई) डाल कर खूब कुटी हुई चिकनी मिट्टी से दोनों शरावों का मुख बन्द करके' तथा 'वनोपल' पद का 'गोइठा' और 'निरुत्थ' पद का 'पुनः जीवित नहीं होने वाला' यह अर्थ समझना चाहिये॥ ७॥

अथ सुवर्णमारणस्य द्वितीयं विधिमाह—

काञ्चने गलिते नागं षोडशांशेन निक्षिपेत्। चूर्णयित्वा तथाऽम्लेन घृष्ट्वा कृत्वा तु गोलकम्॥
गोलकेन समं गन्धं दत्त्वा चैवाधरोत्तरम्॥ ९॥
शरावसम्पुटे धृत्वा पुटेत् त्रिंशद्वनोपलैः। एवं सप्तपुटैर्हेम निरुत्थं भस्म जायते॥ १०॥

सुवर्णमारण की दूसरी विधि—प्रथम सुवर्ण को गला कर उसके सोलहवें हिस्से के बराबर नाग (सीसा) लेकर उसमें छोड़ दे पश्चात् सबों का चूर्ण करके उसमें अम्ल पदार्थ नीबू आदि का रस डाल कर खूब मर्दन करके एक गोला बना डाले और गोले के तौल के बराबर गन्धक का चूर्ण लेकर पूर्वोक्त रीति से नीचे-ऊपर, चारों तरफ लपेट कर तथा शराव में भी रखकर ऊपर से गोले को रख शराव को संपुटित कर कपड़मिट्टी से मुख बन्द कर धूप में सुखाकर ३० गोइठा की अग्नि के अन्दर रखकर पुट दे जब अग्नि शान्त हो जाय तब पुनः पूर्वोक्त रीति से ३० गोइठे की अग्नि में पुट दे। इस भांति सात बार पुट देने से ही सोना का निरुत्थ भस्म तैयार हो जाता है॥ ८–१०॥

***अत्रापि पूर्ववद्गन्धः प्रदातव्यः॥ ८–१०॥**

यहां भी पूर्ववत् गन्धक का चूर्ण प्रत्येक पुट में देना चाहिये॥ ८–१०॥

अथ सुवर्णमारणस्य तृतीयं विधिमाह

काञ्चनाररसैर्घृष्ट्वा समसूतकगन्धयोः। कज्जलीं हेमपत्राणि लेपयेत्समया तथा॥ ११॥
काञ्चनारत्वचः कल्कैर्मूषायुग्मं प्रकल्पयेत्। धृत्वा तत्संपुटे गोलं मृन्मूषासम्पुटे च तत्॥
निधाय सन्धिरोधं च कृत्वा संशोष्य गोलकम्। वह्निं खरतरं कुर्यादेवं दत्त्वा पुटत्रयम्॥१२॥
निरुत्थं जायते भस्म सर्वकर्मसु योजयेत्। काञ्चनारप्रकारेण लाङ्गली हन्ति काञ्चनम्॥१३॥

सुवर्णमारण की तीसरी विधि—प्रथम पारा और गन्धक को समान भाग लेकर दोनों को लाल कचनार के रस से खूब घोंट कर कज्जली बना ले, तत्पश्चात् सोने के पतले २ पत्रों के बराबर तौल

की कज्जली से उन सबों के नीचे ऊपर लेप कर दे और लाल कचनार के छिल्कों को पीसकर उस की दो मूषा (सोने के पत्र रखने की घरिया) बनाकर उसके संपुट के अन्दर पूर्वोक्त सोने के पतले २ पत्रों के गोले को रख कर और गोले सहित उस संपुट को दूसरी मिट्टी की बनी हुई मूषा (घरिया) के संपुट के अन्दर रख कर उसका मुख कपड़मिट्टी से खूब बन्द कर सुखाले तत्पश्चात् अत्यन्त तीव्र अग्नि में रख कर पुट दे दे, इस भांति तीन ही पुट देने से सोने का निरुत्थ भस्म तैयार हो जाता है। यह भस्म सभी रोगों पर देने योग्य होता है। यहां लाल कचनार के स्थान पर 'कलिहारी' का भी प्रयोग उक्तरीति से करने पर सोने का निरुत्थ भस्म तैयार होता है ॥ ११–१४ ॥

*तया समया = हेमपत्रसमया, लाङ्गली = कलिहारी ॥ ११–१४ ॥

यहां 'तया समया' पदों का 'सोने के पतले २ पत्रों के बराबर तौल की कज्जली से, तथा 'लाङ्गली' पद का 'कलिहारी' अर्थ समझना चाहिये ॥ ११–१४ ॥

ज्वालामुखी तथा हन्त्यादु यथा हन्ति मनःशिला ॥ १५ ॥

जिस प्रकार मैनशिल के कल्क के अन्दर सोने का पत्र रख कर पूर्वोक्त रीति से पुट देने से सोने का निरुत्थ भस्म तैयार होता है उसी प्रकार से हुरहुर के कल्क के अन्दर भी रख कर पुट देने से निरुत्थ भस्म तैयार होता है ॥ १५ ॥

अथ सुवर्णमारणस्य चतुर्थं विधिमाह—

शिलासिन्दूरयोश्चूर्णं समयोरर्कदुग्धकैः । सप्तधा भावनां दद्याच्छोषयेच्च पुनः पुनः ॥ १६ ॥
ततस्तु गलिते हेम्नि कल्कोऽयं दीयते समः । पुनर्धमेदतितरां यथा कल्को विलीयते ॥
एवं वेलात्रयं दद्यात्कल्कं हेममृतिर्भवेत् ॥ १७ ॥

सुवर्णमारण की चौथी विधि—मैनशिल तथा सिन्दूर का समभाग चूर्ण लेकर उसमें आक के दूध की सात बार भावना देकर (भिगोकर) सुखावे। फिर उसका कल्क बनाकर सोने को गलाकर उसी में उस कल्क को सोने के बराबर तौल में लेकर डाल दे पश्चात् धौंकनी से कल्कमिश्रित सुवर्ण को खूब आंच दे, जब कल्क जल जाय तब पुनः कल्क देकर धौंके इस प्रकार तीन बार कल्क डालकर धौंकाने से सोने का मारण हो जाता है ॥ १६–१७ ॥

अथ मारितसुवर्णस्य गुणानाह—

सुवर्णं शीतलं वृष्यं बल्यं गुरु रसायनम् । स्वादु तिक्तं च तुवरं पाके च स्वादु पिच्छिलम् ॥
पवित्रं बृंहणं नेत्र्यं मेधास्मृतिमतिप्रदम् । हृद्यमायुष्करं कान्तिवाग्विशुद्धिस्थिरत्वकृत् ।
विषद्वयक्षयोन्मादत्रिदोषज्वरशोषजित् ॥ १९ ॥

मारे हुये सोने का गुण--मारा हुआ सोना शीतल, कामी पुरुषों के लिये हितकर, बलकारक, गुरु, रसायन, मधुर, तिक्त तथा कषायरससंयुक्त, विपाक में मधुररससंयुक्त, पिच्छिल, पवित्र, बृंहण (रस–रक्तादिवर्धक), नेत्र के लिये हितकर, मेधा (धारणाशक्ति), स्मृति (स्मरणशक्ति) तथा बुद्धि को बढ़ाने वाला, हृदय के लिये हितकर, आयुवर्धक, कान्ति, वाणी की शुद्धता (हकलापन आदि दोषों का दूर होना), स्थिरताकारक, एवं दोनो प्रकार के विष (स्थावर तथा जंगम), क्षय, उन्माद (पागलपन), त्रिदोष, ज्वर तथा शोष को दूर करने वाला होता है ॥ १८–१९ ॥

*वृष्यं = वृषाय कामुकाय हितम् ॥ १८–१९ ॥

यहां 'वृष्यम्' पद का 'कामी पुरुषों के लिये हितकर' यह अर्थ समझना चाहिये ॥

अथासम्यङ्मारितसुवर्णस्य दोषानाह—

असम्यङ्मारितं स्वर्णं बलं वीर्यं च नाशयेत् । करोति रोगान् मृत्युं च तद्धन्याद् यत्नतस्ततः ॥

अच्छी तरह से नहीं मारे हुए सोने के दोष—अच्छी तरह से नहीं मारा हुआ सोना-सेवन करने से बल तथा वीर्य को नष्ट करनेवाला, रोगों को उत्पन्न करने वाला एवं मृत्यु को देने वाला होता है। अतः यत्नपूर्वक (सावधानी से) सोने का मारण करना चाहिये ॥ २० ॥

अथ धात्वादिमारणोपयुक्तान् पुटप्रकारानाह, रसप्रदीपे—

तत्र महापुटस्य प्रकारमाह—

लोहादेरपुनर्भावस्तद्गुणत्वं गुणाढ्यता। सलिले तरणं चापि सिद्धिः पुटनाद्भवेत् ॥ २१ ॥
गम्भीरे विस्तृते कुण्डे द्विहस्ते चतुरस्रके। वनोपलसहस्रेण पूरिते पुटभौषधम् ॥ २२ ॥
कोष्ठे बद्धं प्रयत्नेन गोविष्ठोपरि धारयेत्। वनोपलसहस्रार्द्धं कोष्ठिकोपरि निक्षिपेत् ॥ २३ ॥
वह्निं विनिक्षिपेत्तत्र महापुटमिति स्मृतम् ॥ २४

महापुट का प्रकार—पुट के द्वारा लोहादि सम्पूर्ण धातु अच्छी तरह से भस्म किये जाने पर वे सब (धातु) फिर जीवित नहीं होते अर्थात् पुनः अपनी पूर्वावस्था को नहीं प्राप्त होते तथा पुटपाक-जनित सम्पूर्ण गुणों को प्राप्त करते हैं एवं अधिक गुणकारी होते हैं और जल में डालने पर तैरने लग जाते हैं। तथा यथोक्त कार्य सिद्ध करने वाले होते हैं। महापुटप्रकार—दो हाथ गहरा तथा दो हाथ चौड़ा, चौकोर गड्ढा बना कर उसके अन्दर एक हजार गोइठा (विनुवा कण्डा) सजा कर रख दे, उसके बाद जिसका पुट देना हो उस औषध (धातु) की मिट्टी के मूषा के अन्दर रखकर कपड़मिट्टी से उसका मुख अच्छी तरह से बन्द कर तथा सुखाकर गोवर के ऊपर रखकर कुण्ड के बीच में रख दे और ऊपर पांच सौ गोइठा (विनुआ कण्डा) पुनः रखकर आग लगा दे। इसी को 'महापुट' कहते हैं ॥ २१-२४ ॥

*** कोष्ठं=मृण्मूषा। गोविष्ठा='गोबर' इति लोके ॥ २१-२४ ॥**

यहां 'कोष्ठ' पद का 'मिट्टी का मूषा' तथा 'गोविष्ठा' पद का 'गोबर' अर्थ समझना चाहिये ॥

अथ गजपुटस्य प्रकारमाह—

सपादहस्तमानेन कुण्डे निम्ने तथाऽऽयते। वनोपलसहस्रेण पूर्णे मध्ये विधारयेत् ॥ २५ ॥
पुटनद्रव्यसंयुक्तां कोष्ठिकां मुद्रितां मुखे। अर्धोऽर्धानि करण्डानि अर्धान्युपरि निक्षिपेत् ॥
एतद्गजपुटं प्रोक्तं ख्यातं सर्वपुटोत्तमम् ॥ २६ ॥

गजपुट का प्रकार—सवा हाथ गहरा तथा सवा हाथ चौड़ा चौकोर गड्ढा बनाकर उसमें १००० गोइठा (विनुआ कण्डा) भरना चाहिये तत्पश्चात् जिसका पुट देना हो उस द्रव्य (धातु) को मिट्टी के मूषा के अन्दर भर कर उसका मुख कपड़मिट्टी से खूब दृढ़ बन्द कर सुखा कर उसे उक्त गड्ढे के अन्दर बीच में आधे ५०० गोइठा के ऊपर रख दे बाकी आधे ५०० गोइठा को उसके ऊपर रख कर आग लगा दे। इसी को 'गजपुट' कहते हैं। यह सभी पुटों में उत्तम होता है ॥

*** हस्तश्चतुर्विंशत्यङ्गुलप्रमाणः स सपादस्तेन त्रिंशदङ्गुलप्रमाणेनेत्यर्थः। अत एवोक्तम्—**
साधारणनराङ्गुल्या त्रिंशदङ्गुलको गजः ॥ २५-२६ ॥

॥ इति गजपुटम् ॥

एक हाथ २४ अङ्गुल का अतः सवा हाथ ३० अङ्गुल का होता है। इससे सवा हाथ गहरा तथा सवा हाथ चौड़ा से ३० अंगुल गहरा तथा ३० अंगुल चौड़ा समझा चाहिये। अन्यत्र भी कहा है कि--'गजपुट का मान साधारण मनुष्यों के अङ्गुल से ३० अङ्गुल का होता है' ॥२५-२६॥

अथ वाराहकौक्कुटपुटयोः प्रकारमाह—

अरत्निमात्रके कुण्डे पुटं वाराहमुच्यते। वितस्तिमात्रके खाते कथितं कौक्कुटं पुटम् ॥२७॥

वाराह तथा कौक्कुट पुट का प्रकार— एक अरत्निमात्र गहरे तथा चौड़े कुण्ड में जो पुट दिया जाता है उसे 'वाराहपुट' और एक बालिश्त मात्र गहरे तथा चौड़े कुण्ड में जो पुट दिया जाता है उसे 'कौक्कुटपुट' कहते हैं ॥ २७ ॥

*अरत्निस्तु निष्कनिष्ठेन मुष्टिने' त्यमरः। निःसृतकनिष्ठया मुष्ट्योपलक्षितो हस्तोऽरत्निरित्यर्थः ॥ २७ ॥

यहां 'अरत्नि' पद का अरत्निस्तु०' इत्यादि 'अमरकोश' के प्रमाण से मुट्ठी बाध कर कनिष्ठा (कानी) अंगुली को सीधी खुली रखने पर जो नापने में एक हाथ होता है उसी का नाम 'अरत्नि' है अतः 'अरत्निमात्र' अर्थात् अरत्नि से उपलक्षित एक हाथ मात्र यह अर्थ समझना चाहिये। करीब २१ अंगुल के अरत्नि से उपलक्षित हाथ होता है ॥ २७ ॥

अथ प्रकारान्तरेण पुनः कौक्कुटपुटस्य प्रकारमाह—

षोडशाङ्गुलके खाते कस्यचित्कौक्कुटं पुटम् ॥ २८ ॥

प्रकारान्तर से पुनः कौक्कुटपुट का प्रकार— किसी किसी के मत से १६ अंगुल गहरे तथा चौड़े गड्ढे का 'कौक्कुटपुट' होता है ॥ २८ ॥

अथ कपोतपुटप्रकारमाह—

यत्पुटं दीयते खाते ह्यष्टसंख्यैर्वनोपलैः। कपोतपुटमेतत्तु कथितं पुटपण्डितैः ॥ २९ ॥

कपोतपुट का प्रकार—जिस गड्ढे में केवल ८ गोइठे से ही पुट दिया जा सके उसे 'कपोतपुट' कहते हैं ॥ २९ ॥

अथ गोबरस्य लक्षणमाह—

गोष्ठान्तर्गोखुरक्षुण्णं शुष्कं चूर्णितगोमयम्। गोबरं तत्समाख्यातं वरिष्ठं रससाधने ॥ ३० ॥

गोबर का लक्षण— गोशाला के अन्दर गौओं के खुरों से खुना हुआ सूखा जो गोबर का चूर्ण होता है उसी को 'गोबर' कहते हैं। यह रस (पारा) के सिद्ध करने में उत्तम होता है ॥ ३० ॥

अथ गोबरपुटप्रकारमाह—

बृहद्भाण्डस्थितर्यत्र गोबरैर्दीयते पुटम्। तद् गोबरपुटं प्रोक्तं भिषग्भिः सूतभस्मने ॥ ३१ ॥

गोबर के पुट का प्रकार—किसी बड़े बर्त्तन में उक्त गोबर को रख कर जो पुट दिया जाता है, उसे 'गोबरपुट' कहते हैं। वैद्य लोग इस पुट को पारा भस्मकरने के समय काम में लाते हैं ॥३१॥

अथ भाण्डपुटस्य प्रकरमाह—

बृहद्भाण्डे तुषैः पूर्णे मध्ये मूषां विधारयेत्। क्षिप्त्वाऽग्निं मुद्रयेद्भाण्डं तद्भाण्डपुटमुच्यते ॥

भाण्डपुट का प्रकार—एक किसी बड़े पात्र में भूसी भर कर उसके मध्य में मूषा (घरिया) रख कर अग्नि लगा दे और पात्र का मुख बन्द कर दे तो वह 'भाण्डपुट' कहलाता है ॥ ३२ ॥

अथ यन्त्रप्रकारानाह—

तत्र वालुकायन्त्रमाह—

भाण्डे वितस्तिगम्भीरे मध्ये निहितकूपिके। कूपिकाकण्ठपर्यन्तं वालुकाभिश्च पूरिते ॥ ३३ ॥

भेषजं कूपिकासंस्थं वह्निना यत्र पच्यते। वालुकायन्त्रमेतद्धि यन्त्रं तत्र बुधैः स्मृतम् ॥३४॥

वालुकायन्त्र का प्रकार—एक बालिश्त चौड़े तथा गहरे पात्र के बीच में काच की कुप्पी (शीशी) रख कर और उसके गले के बराबर उक्त पात्र में बालू भर कर उसके नीचे आग लगा कर यदि उक्त काच की कुप्पी में औषध रख कर पकाया जाय तो उसे 'वालुकायन्त्र' कहते हैं ॥३४॥

अथ दोलायन्त्रमाह—

निबद्धमौषधं सूतं भूर्जे तस्त्रिगुणे वरे। रसपोटलिकां काष्ठे दृढं बद्ध्वा गुणेन हि ॥ ३५ ॥
सन्धानपूर्णकुम्भान्तःस्वावलम्बनसन्धितम्। अधस्ताज्ज्वालयेद्वह्निं तत्तत्क्रमेण हि ॥
दोलायन्त्रमिदं प्रोक्तं स्वेदनाख्यं तदेव हि ॥ ३६ ॥

दोलायन्त्र—पारा या अन्य औषध जिसका स्वेदन करना हो उसे उत्तम भोजपत्र से तीन पर्त्त करके लपेट कर उसकी पोटली बनाले पश्चात् उस पोटली को किसी लकड़ी में बीचोबीच डोरी से बांध कर एक हांडी के ऊपर उक्त लकड़ी को इस भांति रखे कि जिसमें पोटली हांड़ी के आधी दूर तक अन्दर लटकती रहे। उक्त हांड़ी के अन्दर कांजी आदि किसी पदार्थ को इस तरह रख दे कि जिसमें पोटली भीगने न पावे, फिर उक्त हांड़ी को चूल्हे पर रखकर नीचे आग लगा दे। उसके भाफ से पोटली के अन्दर स्थित औषध का स्वेदन करे। इसी को 'दोलायन्त्र' या 'स्वेदनयन्त्र' कहते हैं ॥ ३५-३६ ॥

अथ स्वेदनयन्त्रमाह—

साम्बुस्थालीमुखे बद्धे वस्त्रे स्वेद्यं निधाय च। पिधाय पच्यते तत्र तद् यन्त्रं स्वेदनं स्मृतम् ॥

स्वेदनयन्त्र—एक हांडी में जल भर कर उसके मुख पर वस्त्र बांध दे तत्पश्चात् जिसका स्वेदन करना हो उस द्रव्य को उसी वस्त्र के ऊपर रखकर हांड़ी को चूल्हे पर रख नीचे अग्नि जलादे। इस भांति उक्त द्रव्य का भाफ द्वारा स्वेदन करे। इसे भी 'स्वेदनयन्त्र' कहते हैं ॥ ३७ ॥

अथ विद्याधरयन्त्रमाह—

अधःस्थाल्यां रसं क्षिप्त्वा निदध्यात्तन्मुखोपरि।
स्थालीमूर्ध्वमुखीं सम्यङ् निरुध्य मृदुमृत्स्नया ॥ ३८ ॥
ऊर्ध्वस्थाल्यां जलं क्षिप्त्वा चुल्ल्यामारोप्य यत्नतः।
अधस्ताज्ज्वालयेद्वह्निं यावत्प्रहरपञ्चकम् ॥ ४० ॥

स्वाङ्गशीतं ततो यन्त्राद् गृह्णीयाद्रसमुत्तमम्। विद्याधराभिधं यन्त्रमेतत्तज्ज्ञैरुदाहृतम् ॥४०॥

विद्याधर यन्त्र एक हांड़ी के भीतर पारा रख कर उसके ऊपर दूसरी हांड़ी इस तरह रख दे कि जिसमें उसका मुख ऊपर की ओर रहे। पश्चात् मिट्टी से नीचे वाली हांड़ी के मुख की सन्धियों को खूब यत्नपूर्वक बन्द करके और ऊपर की हांड़ी में शीतल जल भर कर चूल्हे पर रख दे और उसके नीचे ५ प्रहर (१५ घण्टे) तक आग बराबर जलाता रहे, जब जब ऊपर की हांड़ी का जल गरम होता जाय तब तब उसे अलग कर के दूसरा शीतल जल उसके स्थान पर डालता जाय। इसके बाद ५ प्रहर बीत जाने पर आग बुझा दे और जब हांड़ी एक दम शीतल हो जाय तब ऊपर की हांड़ी के पेंदे में उड़कर चिपके हुये उत्तम पारे को निकाल कर अलग कर ले। इसी को यन्त्रविशारद वैद्यों ने 'विद्याधर' नामक यन्त्र कहा है ॥ ३८-४० ॥

अथ भूधरयन्त्रमाह—

वालुकाभिः समस्ताङ्गं गर्त्ते मूषां रसान्विताम्। दीप्तोपलैः संवृणुयाद् यन्त्रं भूधरनामकम् ॥

भूधरयन्त्र—प्रथम मूषा (घरिया) के अन्दर पारे को रख कर उसके मुख को अच्छी तरह बन्द कर दे बाद एक गड्ढे के अन्दर बालू भर कर उसी के अन्दर उक्त पारा युक्त मूषा (घरिया) को रख कर ऊपर से गोइठा से खूब ढक दे और आग लगा दे। इसी को 'भूधरयन्त्र' कहते हैं ॥ ४१ ॥

अथ डमरुयन्त्रमाह—

यन्त्रं डमरुसंज्ञं स्यात्तत्स्थाल्या मुद्रिते मुखे ॥ ४२ ॥

डमरुयन्त्र—एक हांड़ी के ऊपर दूसरी हांड़ी औंधी रख कर दोनों के मुख की सन्धियों को मिट्टी से अच्छी तरह बन्द कर देने से जो डमरू के तरह आकार हो जाता है, उसी को 'डमरु-यन्त्र' कहते हैं ॥ ४२ ॥

अथ मारणयोग्यरजतस्य लक्षणमाह—

गुरु स्निग्धं मृदु श्वेतं दाहे छेदे घनक्षमम्। वर्णाढ्यं चन्द्रवत् स्वच्छं तारं नवगुणं शुभम् ॥

मारणयोग्य चांदी के लक्षण—१ तौल में भारी, २ स्निग्ध, ३ कोमल, ४ सफेद और ५ तपाने तथा ६ काटने पर भी सफेद, ७ घन की चोट को सहने वाली, ८ वर्णयुक्त (बदरङ्ग नहीं), ९ चन्द्रमा के समान स्वच्छ कान्ति वाली इन ९ गुणों से युक्त जो चांदी होती है वही अच्छी अत एव मारणयोग्य होती है ॥ ४३ ॥

अथायोग्यरजतस्य लक्षणमाह—

कठिनं कृत्रिमं रूक्षं रक्तं पीतदलं लघु। दाहच्छेदघनैर्नष्टं रूप्यं दुष्टं प्रकीर्त्तितम् ॥ ४४ ॥

मारण के अयोग्य चांदी—कठिन, बनावटी, रूखी, लालिमा लिये हुए, पीले दल (जोर) वाली, हलकी, तपाने, काटने तथा घन की चोट से नष्ट हो जाने वाली जो चांदी होती है वह खराब समझी जाती है अत एव मारण के अयोग्य होती है ॥ ४४ ॥

अथ रजतस्य शोधनमाह—

पत्तलीकृतपत्राणि तारस्याग्नौ प्रतापयेत्। निषिञ्चेत्तप्ततप्तानि तैले तक्रे च काञ्जिके ॥४५॥
गोमूत्रे च कुलत्थानां कषाये च त्रिधा त्रिधा। एवं रजतपत्राणां विशुद्धिः संप्रजायते ॥४६॥

चांदी के शोधने की विधि—चांदी के पतले पतले पत्तरों को आग में अच्छी तरह तपाकर तेल (तिल का तेल) में बुझा दे पुनः तपाकर उसी तेल में बुझावे इसी भांति तीन बार तेल में पुनः तीन तीन बार तक्र, कांजी, गोमूत्र तथा कुलथी के क्वाथ में बुझावे। ऐसा करने से उक्त चांदी के पत्तरों की शुद्धि होती है ॥ ४५-४६ ॥

अथाशुद्धरजतस्य दोषानाह—

रूप्यं त्वशुद्धं प्रकरोति तापं विबन्धकं वीर्यबलक्षयं च।
देहस्य पुष्टिं हरते तनोति रोगांस्ततः शोधनमस्य कुर्यात् ॥ ४७ ॥

अशुद्ध चांदी के दोष—अशुद्ध चांदी-शरीर में ताप तथा मलबन्ध को उत्पन्न करने वाली एवं वीर्य तथा बल का क्षय करने वाली और देह की पुष्टता को हरण करने वाली तथा अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करने वाली होती है। अतः इसका शोधन करना चाहिये ॥ ४७ ॥

अथ रजतस्य मारणविधिमाह—

भागैकं तालकं मर्द्यं याममम्लेन केनचित्। तेन भागत्रयं तारपत्राणि परिलेपयेत् ॥ ४८ ॥
धृत्वा मूषापुटे रुद्ध्वा पुटेत्त्रिंशद्वनोपलैः। समुद्धृत्य पुनस्तालं दत्त्वा रुद्ध्वा पुटे पचेत्।
एवं चतुर्दशपुटैस्तारं भस्म प्रजायते ॥ ४९ ॥

चांदी मारने की विधि—प्रथम एक भाग तबकिया हरताल लेकर उसे एक प्रहर (३ घण्टे) तक किसी भी अम्ल पदार्थ (नीबू आदि) के रस में खरल करे, तत्पश्चात् शुद्ध किये हुये तीन भाग चांदी के पत्तरों को लेकर उन पर पूर्वोक्त खरल किये हुए हरताल का अच्छी तरह लेप चढ़ा कर मूषा (घरिया) के संपुट के अन्दर रख कर कपड़मिट्टी से सन्धियों को खूब बन्द करके और सुखा कर ३० गोइठे (विनुआ कण्डे) की आग में रखकर पुट देवे (पकाये), जब शीतल हो जाय तब निकाल कर पुनः हरताल का प्रलेप कर मूषा के अन्दर रख कर पूर्वोक्त रीति से पुट देवे। इसी भांति १४ बार पुट देने से चांदी भस्म हो जाती है ॥ ४८-४९ ॥

अथ रजतमारणस्यापरं विधिमाह—

स्नुहीक्षीरेण संपिष्टं माक्षिकं तेन लेपयेत् ॥ ५० ॥
तालकस्य प्रकारेण तारपत्राणि बुद्धिमान्। पुटेश्चतुर्दशपुटैस्तारं भस्म प्रजायते ॥ ५१ ॥

चांदी मारने की दूसरी विधि—बुद्धिमान् वैद्य पूर्वोक्त हरताल की भांति एकप्रहर (३ घण्टे) तक थूहर के दूध के साथ सोनामाखी या रूपामाखी एक भाग लेकर खरल करके ३ भाग चांदी के पत्तरों को लेकर उसी के ऊपर उक्त सोनामाखी या रूपामाखी का प्रलेप करके मूषा (घरिया) के संपुट के अन्दर रख कर मुख बन्द कर दे और सुखा कर ३० गोइठे की अग्नि में रख कर पकावे जब शीतल हो जाय तब पुनः प्रलेप करके पुट दे इस भांति १४ पुट देने से चांदी भस्म हो जाती है ॥ ५०–५१ ॥

अथ मारितरजतस्य गुणानाह—

रौप्यं शीतं कषायं च स्वादुपाकरसं सरम्। वयसः स्थापनं स्निग्धं लेखनं वातपित्तजित्॥
प्रमेहादिकरोगांश्च नाशयत्यचिराद् ध्रुवम् ॥ ५२ ॥

मारी हुई चांदी के गुण—मारी हुई चांदी-शीतल, कषाय तथा मधुररसयुक्त, विपाक में मधुर-रसयुक्त, सारक अवस्था (युवावस्था) को स्थिर रखने वाली, स्निग्ध तथा लेखनगुण-विशिष्ट, वात-पित्त नाशक एवं प्रमेहादि रोगों को शीघ्र निश्चित रूप से दूर करने वाली होती है ॥ ५२ ॥

अथ मारणयोग्यताम्रस्य लक्षणमाह—

जपाकुसुमसङ्काशं स्निग्धं गुरु घनक्षमम्। लोहनागोज्झितं ताम्रं मारणाय प्रशस्यते ॥ ५३ ॥

मारण के योग्य तामा के लक्षण जपाकुसुम (अढौल के फूल) के समान रक्तवर्ण वाला, स्निग्ध, गुरु (तौल में भारी), घन की चोट को सहने वाला, लौह तथा सीसा के मेल से रहित जो तामा होता है वह मारण के योग्य उत्तम होता है ॥ ५३ ॥

अथायोग्यताम्रस्य लक्षणमाह—

कृष्णं रूक्षमतिस्वच्छं श्वेतं चापि घनासहम्। लोहनागयुतं चेति शुल्वं दुष्टं प्रकीर्त्तितम् ॥५४॥

मारण के योग्य तामा के लक्षण—काला, रूखा, अतिस्वच्छ, सफेदी लिये हुए, घन की चोट को न सहने वाला, लोह तथा सीसा मिला हुआ जो तामा होता है वह दुष्ट कहलाता है अत एव मारण के लिये अयोग्य होता है ॥ ५४ ॥

अथ ताम्रस्य शोधनविधिमाह—

पत्तलीकृतपत्राणि ताम्रस्याग्नौ प्रतापयेत्। निषिञ्चेत्तप्ततप्तानि तैले तक्रे च काञ्जिके ॥ ५५ ॥
गोमूत्रे च कुलत्थानां कषाये च त्रिधा त्रिधा। एवं ताम्रस्य पत्राणां विशुद्धिः संप्रजायते ॥

तामा के शोधने की विधि—तामे के पतले-पतले पत्तरों को अग्नि में तपा-तपा कर तेल, तक्र, कांजी, गोमूत्र और कुलथी के क्वाथ में क्रम से प्रत्येक में तीन-तीन बार बुझावे, ऐसा करने से तामे के पत्तरों की शुद्धि हो जाती है ॥ ५५–५६ ॥

अथ ताम्रगतं दोषाष्टकमाह—

एको दोषो विषे ताम्रे त्वशुद्धेऽष्टौ भ्रमो वमिः।
विरेकःस्वेद उत्क्लेदो मूर्च्छा दाहोऽरुचिस्तथा ॥ ५७ ॥
न विषं विषमित्याहुस्ताम्रन्तु विषमुच्यते। एको दोषो विषे ताम्रे त्वष्टौ दोषाः प्रकीर्त्तिताः ॥

तामे के ८ दोष—विष में तो एक दोष रहता है किन्तु विना शोधे हुए तामे में १ भ्रम, २ वमन, ३ विरेचन, ४ पसीना, ५ उत्क्लेद (जी मचलाना), ६ मूर्च्छा, ७ दाह, ८ अरुचि ये ८ दोष रहते

हैं। विद्वान् लोग विष को वस्तुतः विष नहीं कहते हैं किन्तु तामे को विष कहते हैं। क्योंकि विष में एक ही दोष कहा हुआ है किन्तु तामे में ८ दोष कहे हुये हैं ॥ ५७-५८ ॥

अथ ताम्रस्य मारणविधिमाह—

सूक्ष्माणि ताम्रपत्राणि कृत्वा संस्वेदयेद् बुधः। वासरत्रयमम्लेन ततः खल्वे विनिक्षिपेत् ॥
पादांशं सूतकं दत्त्वा याममम्लेन मर्दयेत्। तत उद्धृत्य पत्राणि लेपयेद् द्विगुणेन च ॥६०॥
गन्धकेनाऽम्लघृष्टेन तस्य कुर्याच्च गोलकम्। ततः पिष्ट्वा च मीनाक्षीं चाङ्गेरीं वा पुनर्नवाम् ॥

तामे के मारने की विधि—प्रथम तामे के पतले-पतले पत्तरों का ३ दिन तक अम्लपदार्थ (नीबू आदि) के रस से स्वेदन करे या उसी रस में उन्हें भिगो दे, उसके बाद उन पत्तरों को खरल में रख कर उसमें पत्तरों के चौथे भाग के बराबर पारा तथा ऊपर से अम्लपदार्थ (नीबू आदि) का रस डाल कर एक प्रहर तक खूबघोटें, फिर उन पत्तरों पर अम्लपदार्थ (नीबू आदि) के रस में घिसे हुए पत्तरों से दुगुने गन्धक का प्रलेप करके सभों का एक गोला बना ले। उसके बाद मछेछी, चाङ्गेरी और पुनर्नवा को पीस कर कल्क (चटनी) बना ले ॥ ५९-६१ ॥

ॐ चाङ्गेरी = चतुष्पत्राम्ला लोणिकाभेदः ॥ ६१ ॥

यहां 'चांगेरी' से 'चार पत्तों वाली तथा खट्टी नोनिया के भेद की एक बूटी' का ग्रहण करना चाहिये ॥ ५९-६१ ॥

तत्कल्केन बहिर्गोलं लेपयेद्द्व्यङ्गुलोन्मितम्। धृत्वा तद् गोलकं भाण्डे शरावेण च रोधयेत् ॥
वालुकाभिः प्रपूर्याथ विभूतिलवणाम्बुभिः। दत्त्वा भाण्डमुखे मुद्रां ततश्चुल्ल्यां विपाचयेत् ॥
क्रमवृद्ध्याऽग्निना सम्यग् यावद्यामचतुष्टयम्। एवाङ्गशीतं समुद्धृत्य मर्दयेच्छूरणद्रवैः ॥६४॥
याममेकं गोलकं तच्च निक्षिपेच्छूरणोदरे। मृदा लेपस्तु कर्त्तव्यः सर्वतोऽङ्गुष्ठमात्रकः ॥ ६५ ॥
पाच्यं गजपुटे क्षिप्तं मृतं भवति निश्चितम् ॥ ६६ ॥
वमनं च विरेकं च भ्रमं क्लममथारुचिम्। विदाहं स्वेदमुत्क्लेदं न करोति कदाचन ॥ ६७ ॥

फिर उसी कल्क से पूर्वोक्त गोले के ऊपर दो अंगुल मोटा लेप चढ़ा कर उसे एक पात्र के अन्दर रख कर ऊपर से बालू भर कर पात्र का मुख एक शराव (कोसा) से ढक दे और राख तथा नमक को जल से सान कर उसी से सन्धियों को बन्द करके उक्त पात्र को चूल्हे पर रख कर उसके नीचे क्रम २ से आंच को तेज करते हुए ४ प्रहर (१२ घंटे) तक पकावे, उसके बाद जब स्वयं शीतल हो जाय तब उक्त तामे के गोले को निकाल कर एक प्रहर तक सूरन के रस में खरल करे पश्चात् सूरन के एक बड़े कन्द के अन्दर गड्ढा बना कर उसी के अन्दर खरल किये हुये तामे के पत्तरों को रख कर सूरन के चारों तरफ एक अंगूठे बराबर मोटा मिट्टी का लेप चढ़ा दे, और गजपुट में रख कर पकावे। ऐसा करने से तामा का निश्चय मारण हो जाता है। अत एव वह वमन, विरेचन, भ्रम, ग्लानि, अरुचि, दाह, पसीना और उत्क्लेद ये सब नहीं होने देता है ॥६२-६७॥

अथ मारितताम्रस्य गुणानाह—

ताम्रं कषायं मधुरं सतिक्तमम्लञ्च पाके कटु सारकं च।
पित्तापहं श्लेष्महरं च शीतं तद्रोपणं स्याल्लघु लेखनं च ॥ ६८ ॥
पाण्डूदराशोंज्वरकुष्ठकासश्वासक्षयान्पीनसमम्लपित्तम्।
शोथं कृमीञ्शूलमपाकरोति प्राहुर्बुधा बृंहणमल्पमेतत् ॥ ६९ ॥
एको दोषो विषे ताम्रे त्वसम्यङ्मारिते पुनः।
दाहः स्वेदोऽरुचिर्मूर्च्छोत्क्लेदो रेको वमिर्भ्रमः ॥ ७० ॥

मारे हुये तामे के गुण---मारा हुआ तामा कषाय, मधुर, तिक्त तथा अम्ल रस युक्त, विपाक में कटुरस युक्त, सारक, पित्तनाशक, कफ को दूर करने वाला, शीतल, रोपण, लघु तथा लेखन गुण-विशिष्ट और किंचित् बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक) तथा पाण्डु, उदररोग, अर्श, ज्वर, कुष्ठ, खांसी, श्वास, क्षय, पीनस, अम्लपित्त, शोथ, कृमि तथा शूल को दूर करने वाला होता है। विष में एक दोष होता है, किन्तु अच्छी तरह नहीं मारे हुये तामे में दाह, पसीना, अरुचि, मूर्च्छा, उत्क्लेद (जी मचलाना), विरेचन, वमन तथा भ्रम ये सब दोष होते हैं ॥ ६८–७० ॥

अथ वङ्गस्य स्वरूपमाह--

वङ्गं च गिरिजं तच्च खुरकं मिश्रकं द्विधा । तयोस्तु खुरकं श्रेष्ठं मिश्रकं त्वहितं मतम् ॥ ७१ ॥

रांगा का स्वरूप—वङ्ग (रांगा) पर्वत पर उत्पन्न होता है और यह १ खुरक तथा २ मिश्रक भेद से २ प्रकार का होता है। इसमें खुरक श्रेष्ठ और मिश्रक अहितकारक होता है ॥ ७१ ॥

अथाशुद्धवङ्गस्य दोषानाह—

वङ्गं विधत्ते खलु शुद्धिहीनमाक्षेपकम्पौ च किलासगुल्मौ ।
कुष्ठानि शूलं किल वातशोथं पाण्डुं प्रमेहञ्च भगन्दरञ्च ॥ ७२ ॥
विषोपमं रक्तविकारवृन्दं क्षयञ्च कृच्छ्राणि कफज्वरञ्च ।
मेहाश्मरीविद्रधिमुष्करोगान् नागोऽपि कुर्यात्कथितान्विकारान् ॥ ७३ ॥

अशुद्ध वङ्ग के दोष – बिना शोधा हुआ वङ्ग-आक्षेपक वात, कम्पवात, किलास (कुष्ठभेद), गुल्म, सभी प्रकार के कुष्ठ, शूल, वातसम्बन्धी शोथ, पाण्डु, प्रमेह, भगन्दर, विष के समान, रक्त सम्बन्धी अनेक प्रकार के विकार, क्षय, मूत्रकृच्छ्र आदि मूत्र रोग, कफज्वर, मेह, पथरी, विद्रधि और अण्डकोष सम्बन्धी रोगों को करता है। इसी भांति बिना शोधा हुआ सीसा भी पूर्वोक्त इन्हीं सब रोगों को करता है ॥ ७२–७३ ॥

अथ वङ्गनागयोः शोधनविधिमाह—

वङ्गनागौ प्रतप्तौ च गलितौ तौ निषेचयेत् ।
त्रिधा त्रिधा विशुद्धिः स्याद् रविदुग्धेऽपि च त्रिधा ॥ ७४ ॥

रांगा तथा सीसा के शोधने की विधि—रांगा तथा सीसा दोनों को अलग २ तपावे और गल जाने पर पूर्वोक्त रीति से तेल, तक्र, कांजी, गोमूत्र तथा कुलथी के क्वाथ में प्रत्येक में तीन २ बार पृथक् २ क्रम से बुझावे और उस के बाद तीन बार आक के दूध में भी बुझावे तो शुद्धि हो जाती है ॥ ७४ ॥

*निषेचयेत्-तैलतक्रकाञ्जिकगोमूत्रकुलत्थक्वाथेषु प्रत्येकं त्रिधा त्रिधा, ततोऽर्कदुग्धेऽपि त्रिधा ॥ ७४ ॥

यहां 'निषेचयेत्' पद से 'तेल, तक्र, कांजी, गोमूत्र तथा कुलथी के क्वाथ में प्रत्येक में तीन २ बार पृथक् २ क्रम से बुझावे और उस के बाद तीन बार आक के दूध में भी बुझावे' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७४ ॥

अथ वङ्गस्य मारणविधिमाह—

मृत्पात्रे द्राविते वङ्गे चिञ्चाऽश्वत्थत्वचो रजः । पिष्ट्वा वङ्गचतुर्थांशमयोदर्व्या प्रचालयेत् ॥७५॥
ततो द्वियाममात्रेण वङ्गं भस्म प्रजायते । अथ भस्मसमं तालं क्षिप्त्वाऽम्लेन विमर्दयेत् ॥७६॥
ततो गजपुटे पक्त्वा पुनरम्लेन मर्दयेत् । तालेन दशमांशेन याममेकं ततः पुटेत् ।
एवं दशपुटै पक्वं वङ्गं भवति मारितम् ॥ ७७ ॥

रांगा के मारण की विधि--मिट्टी के पात्र में गलाये हुये रांगे में इसका चतुर्थांश इमली तथा पीपल की छाल का चूर्ण डाल कर लोहे की कलछुली से चलावे। उसके बाद उक्त रीति से दो प्रहर (६ घण्टे) तक चलाने से रांगा भस्म हो जाता है। फिर उस भस्म में उसके बराबर ही हरताल डाल कर अम्लपदार्थ (नींबू आदि) के रस के साथ खूब खरल कर उसे गजपुट की आग में पकावे। पक जाने के बाद पुनः दशवां भाग हरताल डाल कर अम्लपदार्थ के रस के साथ एक प्रहर तक खरल करे, तत्पश्चात् पुनः गजपुट की आग में पकाये। इस भांति १० पुट देकर पकाने से वङ्ग (रांगा) अच्छी तरह मर जाता है॥ ७५-७७॥

❀ चिञ्चा=तिन्तिडी। रजः=चूर्णम्। अयोदर्वी=(लौहहाता)॥ ७५-७७॥

७५ वें श्लोक में 'चिञ्चा' पद से 'इमली' तथा 'रजः' पद से 'चूर्ण' और 'अयोदर्वी' पद से 'कलछुली (लौहहाता)' अर्थ समझना चाहिये॥ ७५-७७॥

अथ मारितवङ्गस्य गुणानाह—

वङ्गं लघु सरं रूक्षं कुष्ठं मेहकफक्रिमीन्। निहन्ति पाण्डुं सश्वासं नेत्र्यमीषत्तु पित्तलम्॥७८॥
सिंहो गजौघं तु यथा निहन्ति तथैव वङ्गोऽखिलमेहवर्गम्।
देहस्य सौख्यं प्रबलेन्द्रियत्वं नरस्य पुष्टिं विदधाति नूनम्॥ ७९॥

मारे हुए रांगा के गुण—मारा हुआ रांगा-लघु, सारक, रूक्ष एवं कुष्ठ, प्रमेह, कफ, कृमि, पाण्डु तथा श्वास रोग को दूर करने वाला, नेत्रों के लिये हितकर तथा किञ्चित् पित्तकारक होता है। जिस प्रकार सिंह हाथियों के समूह को नष्ट कर देता है उसी प्रकार मारा हुआ रांगा भी संपूर्ण मेह रोग के समूह को नष्ट करता है और मनुष्यों के देहसम्बन्धी सुख, पुष्टि तथा इन्द्रियों की प्रबलता को निश्चित रूप से करने वाला होता है॥ ७८-७९॥

अथ यशदस्य स्वरूपं गुणांश्चाह—

यशदं गिरिजं तस्य दोषाः शोधनमारणे। वङ्गस्येव हि बोद्धव्या गुणांस्तु गणयाम्यथ॥८०॥
यशदं च सरं तिक्तं शीतलं कफपित्तहृत्। चक्षुष्यं परमं मेहान् पाण्डुं श्वासञ्च नाशयेत्॥८१॥

सीसे का स्वरूप—जस्ता (सीसा) भी पर्वत पर ही उत्पन्न होता है। अतः इसके दोष तथा शोधन और मारण की विधि पूर्वोक्त रांगे के समान ही समझना चाहिये। सीसे के गुण—सीसा-सारक, तिक्तरसयुक्त, शीतल नेत्रों के लिये अत्यन्त हितकार एवं कफ तथा पित्त को दूर करने वाला और सभी प्रकार के मेहरोग, पाण्डु तथा श्वास को नष्ट करने वाला होता है॥ ८०-८१॥

अथ सीसकस्य शोधनविधिमाह—

तस्य साहजिका दोषा वङ्गस्येव निदर्शिताः। शोधनञ्चापि तस्यैव भिषग्भिर्गदितं पुरा॥८२॥

सीसा के शोधन विधि--सीसा के जो स्वाभाविक दोष हैं वे सब रांगा के समान ही होते हैं। अतः प्राचीन वैद्यों ने इसका शोधन भी रांगा के समान ही बतलाया है॥ ८२॥

अथ सीसकस्य मारणविधिमाह—

ताम्बूलरससम्पिष्टं शिलालेपात् पुनः पुनः। द्वात्रिंशद्भिः पुटैर्नागो निरुत्थं भस्म जायते॥८३॥

सीसा के मारने की विधि--पान के रस से मैनसिल को बारीक चटनी सा पीस ले और सीसे पर उसी का चारो तरफ प्रलेप कर गजपुट की अग्नि में पका ले। तत्पश्चात् पुनः निकाल कर उक्त मैनशिल का प्रलेप करके गजपुट में पकावे, इस प्रकार ३२ पुट देने से सीसे की निरुत्थ (पुनः नहीं जीवित होने वाली) भस्म तैयार हो जाती है॥ ८३॥

❀शिला=मनःशिलाः॥ ८३॥

यहां 'शिला' से 'मैनशिल' का ग्रहण करना चाहिये॥ ८३॥

अथापरं सीसकमारणविधिमाह—

अश्वत्थचिञ्चात्वक्चूर्णं चतुर्थांशेन निक्षिपेत्। मृत्पात्रे विद्रुतो नागो लोहदर्व्या प्रचालितः॥
यामैकेन भवेद्भस्म तत्तुल्या स्यान्मनःशिला। काञ्जिकेन द्वयं पिष्ट्वा पचेद्गजपुटेन च॥८५॥
स्वाङ्गशीतं पुनः पिष्ट्वा शिलया काञ्जिकेन च। पुनः पचेच्छरावाभ्यामेवं षष्टिपुटैर्मृतिः॥

सीसा मारने की दूसरी विधि—मिट्टी के पात्र में सीसे को गला कर उस में सीसे का चतुर्थांश पीपल तथा इमली के छाल का चूर्ण मिला कर एक पहर तक लोहे की कलछुली से चलाता रहे। ऐसा करने से सीसा भस्म हो जाता है। तत्पश्चात् उस भस्म में उस के बराबर ही मैनसिल मिला कर कांजी के साथ पीस कर गजपुट की आग में पकावे, पश्चात् स्वयं शीतल हो जाने पर निकाल कर पुनः पूर्वोक्त रीति से दो शराव (कोसा) के अन्दर रखकर मैनसिल मिला कर कांजी से पीसकर गजपुट की आग में पकावे। इसी भांति ६० पुट की आंच देने से सीसा मर जाता है॥ ८४–८६॥

अथ मारितसीसकस्य गुणानाह—

सीसं रङ्गगुणं ज्ञेयं विशेषान्मेहनाशनम्॥ ८७॥
नागस्तु नागशततुल्यबलं ददाति व्याधिं च नाशयति जीवनमातनोति।
वह्निं प्रदीपयति कामबलं करोति मृत्युञ्च नाशयति सन्ततसेवितः सः॥ ८८॥

मारे हुये सीसा के गुण—सीसा के गुण यद्यपि रांगा के समान ही होते हैं तथापि यह विशेष कर मेहरोगनाशक होता है। सीसा निरन्तर सेवन करने से सौ हाथियों के समान बल देने वाला, रोगनाशक, जीवन को बढ़ाने वाला, अग्नि को प्रदीप्त करने वाला, कामशक्ति को बढ़ाने वाला तथा मृत्यु को दूर करने वाला होता है॥ ८७–८८॥

अथाशुद्धलौहस्य दोषानाह—

खञ्जत्वकुष्ठामयमृत्युकारी हृद्रोगशूलौ कुरुतेऽश्मरीञ्च।
नानारुजानां च तथा प्रकोपं कुर्याच्च हृल्लासमशुद्धलौहम्॥ ८९॥

अशुद्ध लोहा के दोष—अशुद्ध लोहा खञ्जता (लंगड़ापन), कुष्ठरोग, मृत्यु, हृद्रोग, शूल, पथरी, हृल्लास (उबकाई) तथा अनेक प्रकार के रोगों की उत्पत्ति करता है॥ ८९॥

अथ लौहस्य दोषशान्तये शोधनविधिमाह—

पत्तलीकृतपत्राणि लौहस्याग्नौ प्रतापयेत्। निषिञ्चेत्तप्ततप्तानि तैले तक्रे च काञ्जिके॥ ९०॥
गोमूत्रे च कुलत्थानां कषाये च त्रिधा त्रिधा। एवं लौहस्य पत्राणां विशुद्धिः संप्रजायते॥

लोहा के दोष की शान्ति के लिये शोधनविधि—प्रथम लोहे के अत्यन्त पतले-पतले पत्तरों को लेकर अग्नि में पकावे, तत्पश्चात् तपे हुये उन सबों को क्रम से तिल का तेल, तक्र, कांजी, गोमूत्र तथा कुलथी के क्वाथ में प्रत्येक में तीन तीन बार तपा-तपा कर बुझावे। ऐसा करने से लोहा के पत्तरों की शुद्धि होती है॥ ९०–९१॥

अथ लौहस्य मारणविधिमाह—

शुद्धं लौहभवं चूर्णं पातालगरुडीरसैः। मर्दयित्वा पुटेद्वह्नौ दद्यादेवं पुटत्रयम्॥ ९२॥
पुटत्रयं कुमार्याश्च कुठारच्छिन्निकारसैः। पुटषट्कं ततो दद्यादेवं तीक्ष्णमृतिर्भवेत्॥ ९३॥

लोहा के मारण विधि—शुद्ध किये हुये लोहे के चूर्ण को पातालगरुडी के रस में खूब खरल करके शराव के संपुट में रख गजपुट की आग में पकावे, पुनः शीतल होने पर निकाल कर उक्त रस से मर्दन कर पुनः गजपुट की आग में पकावे इस भांति ३ बार गजपुट की आग में पकाने के

बाद पुनः घीकुवार के रस में मर्दन कर ३ बार गजपुट में पकावे इसके बाद कुठारच्छिन्निका (कोरैया) के रस में मर्दन कर ६ बार गजपुट की आग में पकाने से लोहा का मारण होता है ॥

अन्यच्च—

क्षिपेच्च द्वादशांशेन दरदं तीक्ष्णचूर्णतः। मर्दयेत्कन्यकाद्रावैर्यामयुग्मं ततः पुटेत्।
एवं सप्तपुटैर्मृत्युं लौहचूर्णमवाप्नुयात् ॥ ९४ ॥

लोह मारण का दूसरा प्रकार—लोहे के चूर्ण में बारहवां भाग सिंगरफ डाल कर घीकुवार के रस में २ प्रहर (६ घंटे) तक खूब खरल करे, उसके बाद गजपुट में रख फूँक दे इस प्रकार सातवार फूँकने से लोहा का मारण हो जाता है ॥ ९४ ॥

लोहमारणस्य तृतीयं विधिमाह—

सत्योऽनुभूतो योगेन्द्रैः क्रमोऽन्यो लोहमारणे। कथ्यते रामराजेन कौतूहलधियाऽधुना ॥९५॥
सूतकाद् द्विगुणं गन्धं दत्त्वा कुर्याच्च कज्जलीम्। द्वयोः समं लौहचूर्णं मर्दयेत्कन्यकाद्रवैः ॥९६॥
यामयुग्मं ततः पिण्डं कृत्वा ताम्रस्य पात्रके। घर्मे धृत्वा रुबूकस्य पत्रैराच्छादयेद् बुधः ॥९७॥
यामत्रयाद्भवेदुष्णं धान्यराशौ न्यसेत्ततः। दत्त्वोपरि शरावं तु त्रिदिनान्ते समुद्धरेत् ॥९८॥
पिष्ट्वा च गालयेद्वस्त्रादेवं वारितरं भवेत्। दाडिमस्य दलं पिष्ट्वा तच्चतुर्गुणवारिणा ॥९९॥
तद्रसेनायसं चूर्णं सम्यक् प्लावयेदिति। आतपे शोषयेत्तच्च पुटेदेवं पुनः पुनः ॥ १०० ॥
एकविंशतिवारैस्तन्म्रियते नात्र संशयः। एवं सर्वाणि लोहानि स्वर्णादीन्यपि मारयेत् ॥१०१॥

लोहामारण की तीसरी विधि—लोहा के मारण करने में बड़े-बड़े योगियों के द्वारा सचमुच अनुभव किया हुआ एक विधि और है जिसे कि इस समय कौतुकबुद्धि से रामराज नामक वैद्य कह रहे हैं। पारा से दूना गन्धक लेकर उसकी कज्जली बना ले तत्पश्चात् उस कज्जली में उसके बराबर शुद्ध लोहे का चूर्ण मिलाकर घीकुवार के रस में २ प्रहर (६ घंटे) तक खरल करे उसके बाद उन सबों का एक पिण्ड बना कर तामे के बर्त्तन में रख एरण्ड के पत्ते से उसे ढक कर घाम (धूप) में २ प्रहर (६ घंटे) तक रख दे फिर धूप से गर्म हुये उसके ऊपर पत्तों को हटा कर शराव रखकर मुख बन्द कर धान्य की राशि के अन्दर गाड़ दे, जब तीन दिन हो जाय तब निकाल कर उक्त पिण्ड को पीस कर कपड़े से छान ले। यह लोहे का चूर्ण ऐसा हलका हो जाता है कि जल पर तैरने लगता है। इसके बाद चूर्ण को चौगुने जल में पिसे हुए अनार के पत्तों के रस से खूब भिगोकर धूप में सुखावे तत्पश्चात् गजपुट में फूंक दे। शीतल हो जाने पर निकाल कर पुनः उक्त रस में भिगो कर धूप में सुखाकर गजपुट में फूँके। इस तरह २१ बार पुट में रखकर फूंकने से सभी प्रकार के लोहा तथा सोना आदि भी मर जाते हैं। इसमें कोई संशय नहीं ॥

अथ मारितलौहस्य गुणानाह—

लौहं तिक्तं सरं शीतं कषायं मधुरं गुरु। रूक्षं वयस्यं चक्षुष्यं लेखनं वातलं जयेत् ॥ १०२ ॥
कफं पित्तं गरं शूलं शोफार्शःप्लीहपाण्डुताः। मेदोमेहक्रिमीन् कुष्ठं तत्किट्टं तद्वदेव हि ॥

मारे हुए लोहे के गुण = मारा हुआ लोहा—तिक्त, कषाय तथा मधुररसयुक्त, सारक, शीतल, गुरु, रूक्ष, अवस्था को स्थिर रखने वाला, नेत्रों के लिये हितकर, लेखन, वातकारक एवं कफ, पित्त, गरसंज्ञक विष, शूल, शोथ, बवासीर, प्लीहा, पाण्डु, मेद, प्रमेह, क्रिमि तथा कुष्ठ को नष्ट करने वाला होता है। इसी प्रकार लोहे के कीट (मण्डूर) में भी ये सब गुण रहते हैं ॥१०२-१०३॥

अथ लौहभस्मभक्षणे मात्रामाह—

गुञ्जामेकां समारभ्य यावत्स्युर्नवरक्तिकाः। तावल्लोहं समश्नीयाद्यथादोषानलं नरः ॥१०४॥

लौहभस्म खाने की मात्रा—एक रत्ती से आरम्भ कर बढ़ाते २ नौ रत्ती तक मनुष्य दोष तथा अग्नि के अनुसार विचार कर यथायोग्य लौह भस्म का सेवन करे ॥ १०४ ॥

अथ लौहसेवनसमये वर्जनीयद्रव्याण्याह—

कूष्माण्डं तिलतैलं च माषान्नं राजिकां तथा। मद्यमम्लरसञ्चैव वर्जयेल्लौहसेवकः ॥१०५॥

लौहभस्म खाने के समय त्याग करने योग्य द्रव्य – पेठा तिल का तेल, उड़द, राई, मद्य, अम्लरस युक्त पदार्थ (इमली आदि) इन सबों का लौहभस्म खाने वाला व्यक्ति परित्याग कर देवे ॥

अथ सर्वधातूनां मारणे साधारणविधिमाह—

शिलागन्धार्कदुग्धाक्ताः स्वर्णाद्याः सर्वधातवः। म्रियन्ते द्वादशपुटैः सत्यं गुरुवचो यथा ॥

सब धातुओं के मारने की साधारण विधि—सोना आदि सभी धातु यदि मैनसिल तथा गन्धक को आक के दूध में महीन पीसकर और उसी कल्क से लपेट कर गजपुट में रख कर फूंक दिये जावें और शीतल होने पर पुनः उक्त कल्क से लपेट कर फूंके जावें तो इसी भांति १२ बार फूंकने से मर जाते हैं। जैसे सद्‌गुरु का वचन सत्य होता है वैसे ही यह भी सत्य है ॥ १०६ ॥

अथोपधातूनां मारणप्रकारमाह—

तत्राशुद्धस्वर्णमाक्षिकस्य दोषानाह—

मन्दानलत्वं बलहानिमुग्रां विष्टम्भितां नेत्रगदान् सकुष्ठान्।
मालां तथैव व्रणपूर्विकाञ्च कुर्यादशुद्धं खलु माक्षिकञ्च ॥ १०७ ॥

अशुद्ध 'स्वर्णमाक्षिक' (सोनामाखी) के दोष—अशुद्ध सोनामाखी-अग्नि की मन्दता, बल की हानि, अत्यन्त विष्टम्भ, नेत्रसम्बन्धी रोग, कुष्ठ, गन्धमाला तथा अनेक प्रकार के व्रणों को उत्पन्न करने वाली होती है ॥ १०७ ॥

अथ स्वर्णमाक्षिकस्य शोधनविधिमाह—

माक्षिकस्य त्रयो भागा भागैकं सैन्धवस्य च। मातुलुङ्गद्रवैर्वाऽथ जम्बीरस्य द्रवैः पचेत् ॥
चालयेल्लौहजे पात्रे यावत्पात्रं सुलोहितम्। भवेत्ततस्तु संशुद्धिं स्वर्णमाक्षिकमृच्छति ॥१०९॥

सोनामाखी शोधने की विधि–३ भाग सोनामाखी और एक भाग सेन्धानमक लेकर दोनों को बिजौरा अथवा जमीरी नीबू के रस के साथ लोहे के पात्र में रख कर पकावे और तब तक लोहे की करछुली से चलाता रहे जब तक लोहे का पात्र अच्छी तरह लाल न हो जाय। तदुपरान्त उतार कर सोनामाखी को अलग कर ले। ऐसा करने से सोनामाखी शुद्ध हो जाती है ॥१०८-१०९॥

अथ स्वर्णमाक्षिकस्य मारणविधिमाह—

कुलत्थस्य कषायेण घृष्ट्वा तैलेन वा पुटेत्। तक्रेण वाऽऽजमूत्रेण म्रियते स्वर्णमाक्षिकम् ॥

सोनामाखी मारने की विधि शुद्ध सोनामाखी को कुलथी के क्वाथ, तिल का तेल, तक्र (छाछ) या बकरे के मूत्र में घिस (खरल) कर अग्नि की पुट देवे तो वह (सोनामाखी) मर जाती है ॥ ११० ॥

अथ तारमाक्षिकस्य शोधनविधिमाह—

स्वर्णमाक्षिकवद्दोषा विज्ञेयास्तारमाक्षिके। अतस्तद्दोषशान्त्यर्थं शोधनं तस्य कथ्यते ॥१११॥
कर्कोटीमेषशृङ्ग्युत्थैर्द्रवैर्जम्बीरजैर्दिनम्। भावयेदातपे तीव्रे विमला शुद्ध्यति ध्रुवम् ॥११२॥

रूपामाखी शोधने की विधि—सोनामाखी के जो दोष कहे हुए हैं वे ही रूपामाखी के भी समझने चाहिये। अतः उन सब दोषों को शान्त करने के लिये रूपामाखी के शोधने की विधि कहते हैं। रूपामाखी को एक दिन तक खेखसा, मेढ़ासिं (शृ) ङ्गी तथा जमीरी नीबू के रस से भावना देकर तीव्र धूप में सुखाने से रूपामाखी शुद्ध हो जाती है ॥ १११-११२ ॥

*कर्कोटी = खेखसा। मेषशृङ्गी = मेढ़ाशृङ्गी। विमला = तारमाक्षिका॥ १११-११२॥

यहां 'कर्कोटी' पद से 'खेखसा' और 'मेषशृङ्गी' से 'मेढ़ाशृङ्गी' तथा 'विमला' पद से 'रूपामाखी का' ग्रहण करना चाहिये॥ १११-११२॥

अथ तारमाक्षिकस्य मारणविधिमाह—

कुलत्थस्य कषायेण घृष्ट्वा तैलेन वा पुटेत्। मरतं वाऽजमूत्रेण तारमाक्षिकमृच्छति॥११३॥

रूपामाखी के मारने की विधि—कुलथी का क्वाथ, तिल का तेल, तक्र या बकरे के मूत्र से रूपामाखी को घिस (खरल) करके अग्नि की आंच देने से रूपामाखी मर जाती है॥ ११३॥

अथ स्वर्णमाक्षिकरूप्यमाक्षिकयोर्विशेषगुणानाह—

न केवलं स्वर्णरूप्यगुणास्तावपीजयोर्मताः। द्रव्यान्तरस्य संसर्गात्सन्त्यन्येऽपि गुणास्तयोः॥
माक्षिकं मधुरं तिक्तं स्वर्यं वृष्यं रसायनम्॥ ११५॥
चक्षुष्यं बस्तिरुक्कुष्ठपाण्डुमेहविषोदरम्। अर्शः शोफं क्षयं कण्डूं त्रिदोषञ्च नियच्छति॥

सोनामाखी तथा रूपामाखी के विशेष गुण—केवल सोना तथा चांदी के ही गुण क्रम से सोनामाखी तथा रूपामाखी में नहीं रहते हैं किन्तु दूसरे दूसरे द्रव्यों का भी संयोग होने से उनके भी गुण रहते हैं। गुण—सोनामाखी तथा रूपामाखी–मधुर तथा तिक्तरसयुक्त, स्वर को उत्तम करने वाली, वीर्यवर्धक, रसायन, नेत्रों के लिये हितकर एवं बस्तिसम्बन्धी रोग, कुष्ठ, पाण्डु, मेहरोग, विष, उदररोग, बवासीर, शोथ, क्षय, खुजली तथा त्रिदोष को नष्ट करने वाली होती है॥

अथाशुद्धतुत्थस्य शोधनविधिमाह—

विष्ठया मर्दयेत्तुत्थं मार्जारककपोतयोः। दशांशं टङ्कणं दत्त्वा पचेल्लघुपुटे ततः।
पुटं दध्ना पुटं क्षौद्रैर्देयं तुत्थविशुद्धये॥ ११७॥

अशुद्ध तूतिया के शोधन की विधि—बिल्ली और कबूतर की विष्ठा के साथ तूतिया को खरल कर उसी में दशवां भाग सुहागा भी डाल कर खरल कर हलकी आग की पुट देवे तदुपरान्त पहले दही के साथ और अन्त में शहद के साथ भी खरल करके पुट देने से तूतिया शुद्ध हो जाता है॥ ११७॥

अथ शुद्धतुत्थखर्परयोर्गुणानाह—

तुत्थकं कटुकं क्षारं कषायं वामकं लघु॥ ११८॥
लेखनं भेदनं शीतं चक्षुष्यं कफपित्तहृत्। विषाश्मकुष्ठकण्डूघ्नं तद्गुणं खर्परं मतम्॥११९॥

शुद्ध तूतिया के गुण—शुद्धतूतिया–कटु तथा कषायरसयुक्त, खारा, वमन कराने वाला, लघु, लेखन, मल का भेदन करने वाला, शीतल, नेत्रों के लिये हितकर एवं कफ, पित्त, विष, पथरी, कुष्ठ तथा खुजली को दूर करने वाला होता है इसी प्रकार शुद्ध खपरिया के भी ये ही सब गुण हैं॥ ११८-११९॥

अथ कांस्यपित्तलयोः शोधनविधिमाह—

पत्तलीकृतपत्राणि कांस्यस्याग्नौ प्रतापयेत्। निषिञ्चेत्तप्ततप्तानि तैले तक्रे च काञ्जिके॥१२०॥
गोमूत्रे च कुलत्थानां कषायेऽत्र त्रिधा त्रिधा। एवं कांस्यस्य रीतेश्च विशुद्धिः सम्प्रजायते॥

कांसा तथा पीतल के शोधन की विधि—कांसा के पतले २ पत्तरों को प्रथम आग में तपाले, पश्चात् उन्हें तपा २ कर तिल का तेल, तक्र, कांजी, गोमूत्र तथा कुलथी के क्वाथ में क्रम से प्रत्येक में तीन २ बार बुझावे, ऐसा करने से कांसे की शुद्धि हो जाती है। इसी प्रकार पीतल के पत्तरों की भी शुद्धि की जाती है॥ १२०-१२१॥

अथ तयोर्मारणविधिमाह—

अर्कक्षीरेण सम्पिष्टो गन्धकस्तेन लेपयेत्। समेन कांस्यपत्राणि शुद्धान्यम्लद्रवैर्मुहुः ॥१२२॥
ततो मूषापुटे धृत्वा पचेद्गजपुटेन च। एवं पुटद्वयात् कांस्यं रीतिश्च म्रियते ध्रुवम् ॥ १२३ ॥

कांसा तथा पीतल के मारने की विधि - प्रथम आक के दूध में पिसे हुये गन्धक के तौल के बराबर कांसे के शुद्ध किये हुये पत्तरों को लेकर अम्ल पदार्थ नीबू आदि के रस से बारम्बार लगा कर खूब साफ कर ले पश्चात् उन सबों पर उक्त गन्धक का लेप कर के मूषा (घरिया) के संपुट के अन्दर रख कर सन्धियों को कपड़मिट्टी से बन्द कर और सुखा कर गजपुट की आंच में पकावे, इस तरह दो बार पुट देने से कांसा मर जाता है। इसी भांति शुद्ध पीतल के पत्तरों का भी मारण होता है ॥ १२२–१२३ ॥

अथ मारितकांस्यरीत्योर्गुणानाह—

कांस्यं कषायं तीक्ष्णोष्णं लेखनं विशदं सरम्। गुरु नेत्रहितं रूक्षं कफपित्तहरं परम् ॥१२४॥
रीतिका तु भवेद् रूक्षा सतिक्ता लवणा रसे। शोधनी पाण्डुरोगघ्नी कृमिघ्नानातिलेखनी ॥

मारे हुये कांसा तथा पीतल के गुण—कांसा—कषायरसयुक्त, तीक्ष्ण, उष्ण, लेखन तथा विशद-गुणयुक्त, सारक, गुरु, नेत्रों के लिये हितकर, रूक्ष एवं कफ तथा पित्त का अत्यन्त नाशक होता है। पीतल—तिक्त तथा लवणरसयुक्त, रूक्ष, देह का शोधन करने वाला, पाण्डुरोगनाशक, कृमि को दूर करने वाला एवं अत्यन्त लेखनगुणयुक्त नहीं होता अर्थात् किंचित् लेखन गुण युक्त होता है ॥ १२४–१२५ ॥

अथ सिन्दूरस्य शोधनविधिमाह—

दुग्धाम्लयोगतस्तस्य विशुद्धिर्गदिता बुधैः ॥ १२६ ॥

सिन्दूर के शोधने की विधि—सिन्दूर को दूध तथा अम्लपदार्थ नीबू आदि के रस में दो प्रहर तक अलग अलग खरल करने से उसकी शुद्धि होती है ॥ १२६ ॥

अथ सिन्दूरस्य गुणानाह—

सिन्दूर उष्णो वीसर्पकुष्ठकण्डूविषापहः। भग्नसन्धानजननो व्रणशोधनरोपणः ॥ १२७ ॥

सिन्दूर के गुण—शुद्ध सिन्दूर-उष्ण, वीसर्प, कुष्ठ, खुजली तथा विष को दूर करने वाला, टूटी हुई हड्डियों को जोड़ने वाला तथा व्रण का शोधन एवं रोपण करने वाला होता है ॥ १२७ ॥

अथ शिलाजतुनो लक्षणं शोधनविधिञ्चाह—

गोमूत्रगन्धवत्कृष्णं स्निग्धं मृदु तथा गुरु। तिक्तं कषायं शीतञ्च सर्वश्रेष्ठं तदायसम् ॥ १२८॥

शिलाजीत के लक्षण—जिस में गोमूत्र के समान गन्ध हो तथा जो देखने में काले रङ्ग का हो एवं स्निग्ध, कोमल, गुरु, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त और शीतल हो ऐसे शिलाजीत को उत्तम समझना चाहिये। यह लोहे का उपधातु है ॥ १२८ ॥

***आयसम् = अयउपधातुसम्बन्धि ॥ १२८ ॥**

यहां 'आयसम्' पद का 'लोहे का उपधातु' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १२८ ॥

विन्ध्यादौ बहुलं तत्तु यत्र लोहं यतोऽधिकम्। तच्छोधनमृते व्यर्थमनेकमलमेलनात् ॥१२९॥
शिलाजतु समानीय सूक्ष्मं खण्डं विधाय च। निक्षिप्यात्युष्णपानीये यामैकं स्थापयेत्सुधीः ॥
मर्दयित्वा ततो नीरं गृह्णीयाद्वस्त्रगालितम्। स्थापयित्वा च मृत्पात्रे धारयेदातपे बुधः ॥१३१॥
उपरिस्थं घनं यत्स्यात्तत्क्षिपेदन्यपात्रके। एवं पुनः पुनर्नीतं द्विमासाभ्यां शिलाजतु ॥ १३२ ॥
भवेत्कार्यक्षमं वह्नौ क्षिप्तं लिङ्गोपमं भवेत्। निर्धूमञ्च ततः शुद्धं सर्वकर्मसु योजयेत् ॥ १३३॥

शोधनविधि—यह (शिलाजीत) विन्ध्य आदि पहाड़ों पर अधिकतर पाया जाता है, क्योंकि वहां लोहा अधिक रूप से होता है। शिलाजीत में अनेक प्रकार के मलों का मेल होने से बिना शोधन किये हुए कार्य में लेने योग्य नहीं होता है। अतः प्रथम शिलाजीत को लाकर उसके छोटे २ टुकड़े कर अत्यन्त गरम जल में एक प्रहर तक रहने दे पश्चात् उसी जल में उसे खूब मल कर कपड़े से छान ले और छने हुए जल को मिट्टी के पात्र में रख कर धूप में रख दे। तत्पश्चात् जो उसके ऊपर उतराया हुआ घन भाग हो उसे धीरे से निकाल कर एक दूसरे पात्र में रख दे इस तरह से बारम्बार ऊपर तैरते हुये मलाई के समान घन भाग को निकाल कर एक दूसरे पात्र में रखता जाय, इस भांति दो मास तक करने से जब ऊपर की मलाई पड़नी बन्द हो जाय तब नीचे के काले बैठे हुये भाग को निकाल लेना चाहिये। यही भाग शिलाजीत का कार्य में लेने योग्य होता है और वह आग में डालने से लिङ्ग के समान हो जाता है तथा उससे धूआं नहीं निकलता। ऐसा जब शिलाजीत हो जाता है तब उसे शुद्ध समझना चाहिये और हर एक कार्य में उसका प्रयोग करना चाहिये ॥ १२९-१३३ ॥

अथान्यं प्रकारमाह—

तत्र प्रथमतस्तस्य बहिर्मलमपाकर्त्तुं केवलजलेन प्रक्षालनं कर्त्तव्यं, ततस्तदन्तर्गतमृत्तिकासिकतादिदोषदूरीकरणाय वक्ष्यमाणक्वाथेन तत्र भावना देयेत्यत्र वाग्भटस्य मतमाह,

तद्यथा—

व्याधिव्याधितसात्म्यं समनुसरन् भावयेदयःपात्रे ।
प्राक् केवलजलधौतं शुष्कं क्वाथैस्ततो भाव्यम् ॥ १३४ ॥
तुल्यं गिरिजेन जले वसुगुणिते भावनौषधं क्वाथ्यम् ।
तत्क्वाथे पादांशे पूतोष्णे प्रक्षिपेद् गिरिजम् ॥ १३५ ॥

तत्समरसतां यातं संशुष्कं प्रक्षिपेद्रसे भूयः । स्वैः स्वैरेवं क्वाथैर्भाव्यं वारान् भवेत् सप्त ॥
अथ स्निग्धस्य शुद्धस्य घृतं तिक्तकसाधितम् । त्र्यहं युञ्जीत गिरिजमेकैकेन तथा त्र्यहम् ॥
फलत्रयस्य यूषेण पटोल्या मधुकस्य च शिलाजमेवं देहस्य भवत्यत्युपकारकम् ॥ १३८ ॥

शिलाजीत शोधने की दूसरी विधि—प्रथम शिलाजीत के बाहरी मल को दूर करने के लिये उसे केवल जल से धोवे, उसके बाद उसके अन्दर रहने वाली मिट्टी, बालू आदि दोष को दूर करने के लिये आगे कहे जाने वाले क्वाथ से उसमें भावना देनी चाहिये। इसी विषय में 'वाग्भट' का मत यह है कि—रोग तथा रोगी के लिये जो सात्म्य अर्थात् हितकर द्रव्य हो उसका विचार करते हुये उसी द्रव्य के क्वाथ से शिलाजीत को लोहे के पात्र में रख कर भावना देनी चाहिये। उस का प्रकार यह है कि—प्रथम केवल जल से शिलाजीत को धोकर सुखा ले पश्चात् क्वाथ से भावना देवे और उस क्वाथ के बनाने में जिस द्रव्य का क्वाथ बनाना हो उसे शिलाजीत के बराबर भाग में लेकर अठगुने जल में पकावे और जब चतुर्थांश जल शेष रह जाय तब छान कर गरम २ रहते ही उसमें शिलाजीत को छोड़ दे। जब वह पानी में खूब घुल जाय तब सुखा डाले, पश्चात् पुनः उक्त प्रकार से दूसरा क्वाथ बना कर उसमें फिर से सूखे पूर्वोक्त शिलाजीत को डाल कर घुल जाने पर सुखा डाले इस प्रकार कुल सात भावना क्वाथ से दे। उसके बाद रोगी को स्निग्ध पदार्थों के द्वारा स्नेहन तथा विरेचनादि से शोधन करके उसे तिक्तक (अडूसा, नीम, गिलोय, कटेरी तथा परवल) द्रव्यों के कल्क से सिद्ध किया हुआ घी तीन दिन तक खिलावे तत्पश्चात् एक दिन त्रिफला के क्वाथ के साथ शिलाजीत खिलावे, दूसरे दिन परवर के जूस के साथ, तीसरे दिन मुलेठीके क्वाथ

के साथ शिलाजीत खिलावे। इस तरह यदि शिलाजीत का प्रयोग किया जाय तो वह शरीर के लिये अत्यन्त उपकारक होता है ॥ १३४-१३८ ॥

अथ क्वाथ्यद्रव्याणां भावनाफलञ्चाह हारीतः—

लोहस्थितं निम्बगुडूचिसर्पिर्यवैर्यथावत्परिभावयेत्तत्।
सन्तानिकाकीटपतङ्गदंशदुष्टौषधीदोषनिवारणाय ॥ १३९ ॥

जिन द्रव्यों का क्वाथ बनाया जाता है उनकी भावना देने के फल के विषय में 'हारीत' का मत—शिलाजीत के बाहर भाग में लगी हुई मिट्टी आदि की बनी हुई मलाई, कीट, पतङ्ग (फतिङ्गा), डांस, मच्छर आदि तथा दुष्ट ओषधियों के दोष को दूर करने के लिये लोह के पात्र में शिलाजीत को रख कर नीम, गिलोय और जौ का क्वाथ एवं घी की यथोक्त रूप से भावना देवे ॥ १३९ ॥

*सन्तानिका = तद्बहिःसंलग्नमृत्तिकादिमयी ॥ १३९ ॥

यहां 'सन्तानिका' पद का 'शिलाजीत के बाहर भाग में लगी हुई मिट्टी आदि की बनी हुई मलाई' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १३९ ॥

एवं भावनां दत्त्वा संशोष्य केवलेन जलेन शोधनं कर्त्तव्यं तत्प्रकारमाहाग्निवेशः—

उष्णे च काले रवितापयुक्ते व्यभ्रे निवाते समभूमिभागे।
चत्वारि पात्राण्यसितायसानि न्यस्यातपे तत्र कृतावधानः ॥ १४० ॥
शिलाजतु श्रेष्ठमवाप्य पात्रे प्रक्षिप्य तस्माद् द्विगुणञ्च तोयम्।
उष्णं तदूर्ध्वं क्वथितञ्च दत्त्वा विशोधयेत्तन्मृदितं यथावत् ॥ १४१ ॥
ततस्तु यत्कृष्णमुपैति चोर्ध्वं सन्तानिकावद्रविरश्मितप्तम्।
पात्रे तदन्यत्र ततो निदध्यात्तत्रापरं कोष्णजलं क्षिपेच्च ॥ १४२ ॥
पुनश्च तस्मादपरत्र पात्रे पश्चाच्च पात्रादपरत्र भूयः।
यदा विशुद्धं जलमेवमूर्ध्वं कृष्णं समस्तं मलमेत्यधस्तात्।
तदा त्यजेत्तत्सलिलं मलञ्च शिलाजतु स्याज्जलशुद्धमेतत् ॥ १४३ ॥

इस प्रकार भावना देकर और सुखा कर पश्चात केवल जल से साफ करना चाहिये, उसका प्रकार 'अग्निवेश' महर्षि कहते हैं कि—ग्रीष्मऋतु में जब सूर्य का ताप (धूप) अधिक हो, आकाश मेघ से रहित दीख पड़ता हो तथा हवा न चलती हो ऐसे समय में किसी समतल भूमि पर धूप में काले लोहे के पात्र रख कर एक में उत्तम शिलाजीत सावधानी से लाकर रख दे और उसी में जो जलते-जलते आधा शेप रह गया हो ऐसा दूना गरम जल छोड़ दे तथा इसमें शिलाजीत को खूब मल कर मिला दे इसके बाद जो सूर्य की किरणों से तप कर ऊपर काली सी मलाई पड़ जावे उसे धीरे से उठा कर दूसरे लोहे के पात्र में रख कर पुनः उसमें गरम जल थोड़ा छोड़ दे फिर उसमें भी जब मलाई पड़ जाय तो उसे निकाल कर तीसरे लोहे के पात्र में रख कर पुनः उसमें भी गरम जल थोड़ा छोड़ दे, जब इसमें भी मलाई पड़ जाय तो उसे निकाल कर चौथे लोहे के पात्र में रख कर ऊपर से गरम जल कुछ छोड़ दे ऐसा करते-करते ऊपर केवल उत्तम निर्मल जल रह जाता है और काला मल नीचे बैठ जाता है। ऐसा जब हो जाय तब जल को निकाल कर फेंक दे और नीचे बैठा हुआ जो काला सा पदार्थ होता है वही जल से शुद्ध शिलाजीत होता है ॥ १४०-१४३ ॥

अथ शोधितशिलाजतुनो गुणानाह—

शिलाजतु स्मृतं तिक्तं कटूष्णं कटुपाकि च। रसायनं योगवाहि श्लेष्ममेहाश्मशर्कराः ॥१४४॥
मूत्रकृच्छ्रं क्षयं श्वासं शोथमर्शांसि पाण्डुताम्। वातरक्तं तथा कुष्ठपस्मारोदरं हरेत् ॥१४५॥

शुद्ध किये हुये शिलाजीत के गुण—शोधित शिलाजीत तिक्त तथा कटु रसयुक्त, उष्ण, विपाक में कटुरसयुक्त, रसायन, योगवाही और कफ, मेदरोग, पथरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र, क्षय, श्वास, शोथ, बवासीर, पाण्डुरोग, वातरक्त, कुष्ठ, मिर्गी तथा उदर रोग को दूर करने वाला होता है ॥१४४-१४५॥

अथ रसस्य शोधनविधिमाह।

तत्रादौ स्वेदनमाह—

नानाधान्यैर्यथाप्राप्तैस्तुषवर्जैर्जलान्वितैः। मृद्भाण्डं पूरितं रक्षेद्यावदम्लत्वमाप्नुयात् ॥१४६॥
तन्मध्ये भृङ्गराड् मुण्डी विष्णुक्रान्ता पुनर्नवा। मीनाक्षी चैव सर्पाक्षी सहदेवी शतावरी ॥
त्रिफला गिरिकर्णी च हंसपादी च चित्रकम्। समूलं कुट्टयित्वा तु यथालाभं विनिक्षिपेत् ॥

रस के शोधने की विधियों में प्रथम स्वेदन की विधि—एक मिट्टी के पात्र में जितने धान्य उस समय मिल सकें उन सबों की भूसी अलग कर केवल धान्यों को रखकर ऊपर से जल भी पूर्ण रूप से भर कर तब तक रख दे जब तक खट्टापन न आजावे अर्थात् कांजी न बन जाय पश्चात् उस कांजी युक्त पात्र में भांगरा, गोरखमुण्डी, कोयल, पुनर्नवा, मछेछी, सरहटी, सहदेई, शतावर, त्रिफला (हरड़, बहेरा, आंवला), सफेद फूल की कोयल, हंसराज और चीता इन सबों को जहां तक मिल सके वहां तक जड़ के सहित ही कूट कर डाल दे ॥ १४६–१४८ ॥

*विष्णुक्रान्ता गिरिकर्णी चापराजितैव श्वेतनीलपुष्पभेदात् ॥ १४६–१४८ ॥

यहां 'विष्णुक्रान्ता तथा गिरिकर्णी' इन दोनों से श्वेत तथा नील फूलों के भेद से जो दो प्रकार की अपराजिता (कोयल) होती है उसी का ग्रहण करना चाहिये ॥ १४६–१४८ ॥

पूर्वाम्लभाण्डमध्ये तु धान्याम्लकमिदं स्मृतम्। स्वेदनादिषु सर्वत्र रसराजस्य योजयेत्।
अत्यम्लमारनालं वा तदभावे प्रयोजयेत् ॥ १४९ ॥

पूर्वोक्त कांजी युक्त पात्र में उक्त ओषधियों के छोड़ने से उस कांजी का नाम 'धान्याम्लक' होता है। उसका पारा के स्वेदन आदि कार्यों में सर्वत्र प्रयोग किया जाता है। धान्याम्ल के अभाव में अत्यन्त खट्टी कांजी का भी प्रयोग किया जाता है ॥ १४९ ॥

*तदभावे = धान्याम्लाभावे ॥ १४९ ॥

यहां 'तदभावे' पद का 'धान्याम्ल के अभाव में' यह अर्थ करना चाहिये ॥ १४९ ॥

त्र्यूषणं लवणं राजी रजनी त्रिफलाऽऽर्द्रकम्। महाबला नागबला मेघनादः पुनर्नवा ॥१५०॥
मेषशृङ्गी चित्रकञ्च नवसारं समं समम्। एतत्समस्तं व्यस्तं वा पूर्वाम्लेनैव पेषयेत् ॥१५१॥
प्रलिम्पेत् तेन कल्केन वस्त्रमङ्गुलमात्रकम् ॥ १५२ ॥
तन्मध्ये निक्षिपेत्सूतं बद्ध्वा तस्त्रिदिनं पचेत्। दोलायन्त्रेऽम्लसंयुक्ते जायते स्वेदितो रसः ॥

इस के बाद सोंठ, पीपर, मिर्च, सेंधा नमक, राई, हरदी, त्रिफला (हरड़, बहेरा, आंवला), अदरक, महाबला (सहदेई , नागबला (गंगेरन), चौलाई (शाक), पुनर्नवा, मेढ़ाशृङ्गी, चीता, नवसादर इन सबों को समान भाग लेकर एकत्र अथवा अलग २ उक्त धान्याम्लक से पीस कर कल्क सा बना ले और उसी कल्क से एक वस्त्र के ऊपर एक अंगुल मोटा लेप करके उसी के अन्दर पारे को बांध कर कांजी भरे हुये दोलायन्त्र में लटका कर तीन दिन तक पकावे, ऐसा करने से पारे का स्वेदन होता है ॥ १५०–१५३ ॥

*मेघनादः = 'चौलाई' इति शाकविशेषः। मेषशृङ्गी (मेढ़ाशृङ्गी), तदभावे 'कर्कटशृङ्गी' ग्राह्या। नवसारं = नवसादरम् ॥ १५०–१५३ ॥

यहां 'मेघनाद' पद का 'चौलाई (शाकविशेष)' तथा 'मेषशृङ्गी' पद का 'मेढ़ाशृङ्गी' अर्थ समझना चाहिये। इसके अभाव में 'काकड़ाशिंगी' लेना चाहिये एवं 'नवसारम्' पद से 'नवसादर' समझना चाहिये ॥ १५०–१५३ ॥

अन्यच्च—

मूलकानलसिन्धूत्थव्यूषणार्द्रकराजिकाः । रसस्य षोडशांशेन द्रव्यं युञ्ज्यात् पृथक्पृथक् ॥
द्रव्येष्वनुक्तमानेषु मतं मानमितं बुधैः । पट्टावृतेषु चैतेषु सूतं प्रक्षिप्य काञ्जिके ॥ १५५ ॥
स्वेदयेद्दिनमेकञ्च दोलायन्त्रेण बुद्धिमान् । स्वेदात्तीव्रो भवेत्सूतो मर्दनाच्च सुनिर्मलः ॥१५६॥

अन्य प्रकार—मूली, चीता, सेंधा नमक, सोंठ, पीपर, मिर्च, अदरख और राई इनमें से प्रत्येक पदार्थ पारे से सोलहवां भाग लेकर कल्क (चटनी) के समान बना डाले, 'जहां द्रव्यों का मान (तौल) न लिखा हो वहां जितने मान में द्रव्य लेने से कार्य ठीक हो उतना लेना चाहिये' यह परिभाषा सर्वत्र समझनी चाहिये, विशेषतः रसकर्म में तो अवश्य ही। पश्चात् उक्त कल्क का एक वस्त्र के ऊपर लेप करके उस के अन्दर पारा को रख कर और पोटली बना कर एक पात्र में कांजी रख कर उसी में दोला की भांति उक्त पोटली को लटका कर दोलायन्त्र से एक दिन तक बुद्धिमान वैद्य स्वेदन करे। इस प्रकार स्वेदन कर्म करने से पारा तीव्र हो जाता है तथा आगे लिखी हुई रीति से मर्दन करने से अति निर्मल हो जाता है ॥ १५४-१५६ ॥

*मूलकम् 'मुरई, मूली' वा इति लोके। अनलं=चित्रकम् । व्यूषणं=त्रिकटु । राजिका (राई) ॥ १५४-१५६ ॥

यहां 'मूलकम्' पद से 'मुरई या मूली' इस नाम से लोकप्रसिद्ध वस्तु तथा 'अनल' से चित्रक (चीता)'। 'त्र्यूषणम्' से 'त्रिकटु (सोंठ, पीपर, मिर्च)' और 'राजिका' से 'राई' का ग्रहण करना चाहिये ॥ १५४-१५६ ॥

अथ मर्दनविधिमाह—

इष्टिकाचूर्णचूर्णाभ्यामादौ मर्द्यो रसस्ततः । दध्ना गुडेन सिन्धूत्थराजिकागृहधूमकैः ॥१५७॥

मर्दन की विधि स्वेदन के पश्चात् ईंट का चूर्ण तथा चूना से प्रथम पारे का खूब मर्दन करे उसके बाद जल से धोकर दही, गुड़, सेंधा नमक, राई और घर का धूआं इन सबों से अलग २ क्रम से मर्दन करे ॥ १५७ ॥

अन्यच्च—

कुमारिकाचित्रकरक्तसर्षपैः कृतैः कषायैर्बृहतीविमिश्रितैः ।
फलत्रिकेणापि विमर्दितो रसो दिनत्रयं सर्वमलैर्विमुच्यते ॥ १५८ ॥

अथवा—घीकुवार, चीता, लाल सरसों, कटेरी इनके क्वाथ से तथा त्रिफला के क्वाथ से तीन दिन तक पारे का खूब मर्दन करने से वह सम्पूर्ण मलों से छूटकर स्वच्छ हो जाता है ॥ १५८ ॥

अथ मूर्च्छनविधिमाह—

त्र्यूषणत्रिफलावन्ध्याकन्दैः क्षुद्राद्वयान्वितैः । चित्रकोर्णानिशाक्षारकन्याऽर्ककनकद्रवैः ॥
सूतं कृतेन यूषेण वारान्सप्त विमर्दयेत् । इत्थं संमूर्च्छितः सूतस्त्यजेत्सप्तापि कञ्चुकान् ॥

मूर्च्छन विधि—सोंठ, पीपल, मिर्च, हरड़, बहेड़ा, आंवला, बांझककोड़े का कन्द, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, चीता, भेड़ की ऊन, हरदी, जवाखार, घीकुवार, आक के पत्तों का रस, धतूरे के पत्तों का रस इन सबों के क्वाथ से सात बार मर्दन करने से पारा मूर्च्छित हो जाता है तथा सात प्रकार के कञ्चुक दोषों से रहित हो जाता है ॥ १५९-१६० ॥

*वन्ध्याकन्दः=बान्दु खेखसाकन्दः (बांझ कांकुड)। क्षुद्राद्वयम् (छोटीकटाई, बड़ी कटाई)। ऊर्णा (मेषकी ऊन)। निशा=हरिद्रा। क्षारः=यवक्षारः। कन्या=कुमारिका। अर्कः=अर्कपत्ररसः। कनकद्रवः=धत्तूरपत्ररसः ॥ १५९-१६० ॥

यहां 'वन्ध्याकन्द' से 'बांझककोड़े का कन्द'। 'क्षुद्राद्वयम्' से 'छोटी तथा बड़ी कटेरी'। 'ऊर्णा'

से 'मेष (भेड़) की ऊन'। 'निशा' से 'हरदी'। 'क्षार' से 'जवाखार'। 'कन्या' से 'घीकुवार'। 'अर्क' 'आक' से 'आक के पत्तों का रस'। 'कनकद्रव' से 'धतूरे के पत्तों का रस' समझना चाहिये॥

अथोर्ध्वपातनविधिमाह—

मयूरग्रीवताप्याभ्यां नष्टपिष्टीकृतस्य च। यन्त्रे विद्याधरे कुर्याद्रसेन्द्रस्योर्ध्वपातनम् ॥१६१॥

ऊर्ध्वपातन विधि—नीलाथोथा तथा सोनामाखी इन दोनों के साथ पारे को मिलाकर घीकुवार के रस के साथ तब तक खरल करे जब तक पारा अलग न देख पड़े। पश्चात् उसे डमरुयन्त्र में रख कर भाफ द्वारा पारे को उड़ा ले। इसी को पारे का ऊर्ध्वपातन (ऊपर उड़ाना) कहते हैं॥ १६१॥

ताप्यम् = सुवर्णमाक्षिकम्। नष्टपिष्टीकृतस्य = कुमारिकाद्रवयोगेन तावन्मर्दनं कर्तव्यं यावत् पारदः पृथक् न दृश्यत इत्यर्थः। विद्याधरयन्त्रे = डमरुयन्त्रे॥ १६१॥

यहां 'ताप्यं' पद का 'सोनामाखी' तथा 'नष्टपिष्टीकृतस्य' पद का 'घीकुवार के रसके साथ तब तक खरल करे जब तक पारा अलग न देख पडे' एवं 'विद्याधरयन्त्र' पद का 'डमरुयन्त्र' अर्थ समझना चाहिये॥ १६१॥

अथाधःपातनविधिमाह—

त्रिफलाशिग्रुशिखिभिर्लवणासुरिसंयुतैः। नष्टपिष्टं रसं कृत्वा लेपयेदूर्ध्वभाजनम्॥ १६२॥
ततो दीप्तैरधः पातमुपलैस्तस्य कारयेत्। यन्त्रे भूधरसंज्ञे तु ततः सूतो विशुद्ध्यति॥१६३॥
स्वेदनादिक्रियाभिस्तु शोधितोऽसौ यदा भवेत्। तदा कार्याणि कुरुते प्रयोज्यः सर्वकर्मसु॥

अधःपातन विधि—त्रिफला (हरड़, बहेरा, आंवला), सहिजना, चीता, सेंधा नमक और राई इन सबों को पारे के साथ घीकुवार के रस में तब तक खरल करे जब तक पारा अलग न दिखाई पड़े। पश्चात् उन सबों को ऊपर की हांडी में लेप कर भूधरयन्त्र में रख ऊपर से दहकते हुए उपलों को रख कर पारे को नीचे की हांड़ी में गिरावे। इसी को पारे का अधःपातन कहते हैं। इससे पारा शुद्ध हो जाता है और स्वेदन आदि (स्वेदन, मूर्च्छन, ऊर्ध्वपातन, अधःपातन) क्रियाओं से जब पारा का शोधन हो जाय तब पारे को सब कामों में लेवे। अन्यथा वह अनिष्टकर होता है॥ १६२–१६४॥

अथ मुख्यदोषहरणार्थं शोधनविधिमाह—

गृहकन्या हरति मलं त्रिफलाऽग्निं चित्रको विषं हन्ति। तस्मादेभिर्मिश्रैर्वारान् संमूर्च्छयेत्सप्त॥

पारा के मुख्य दोषों के दूर करने की विधि—घीकुवार-पारा के मलदोष को दूर करता है, त्रिफला-अग्निदोष को तथा चीता-विषदोष को दूर करता है। अतः इन सबों को एकत्र कर इनमें ७ बार पारे को खरल कर मूर्च्छित करे अर्थात् एक बार का डाला रस जब खरल करते-करते सूख जाय तब पुनः रस डालकर खरल करे। इस भांति ७ बार करे॥ १६५॥

अथ सर्वदोषहरसंक्षिप्तशोधनविधिमाह—

कुमारिकाचित्रकरक्तसर्षपैः कृतैः कषायैर्बृहतीविमिश्रितैः।
फलत्रिकेणापि विमर्दितो रसो दिनत्रयं सर्वमलैर्विमुच्यते॥ १६६॥
कुमार्या च निशाचूर्णैर्दिनं सूतं विमर्दयेत्। एवं कदर्थितः सूतः षण्ढो भवति निश्चितम्॥
बह्वौषधिकषायेण स्वेदितः स बली भवेत्। सर्पाक्षीचिञ्चिकाबन्ध्याभृङ्गाद्यैः स्वेदितो बली।
ततः स पावकद्रावैः स्विन्नः स्यादतिदीप्तिमान्॥ १६८॥

पारा के सम्पूर्ण दोषों को दूर करने के लिये संक्षिप्त शोधन विधि—घीकुवार, चीता, लाल सरसों और कटेरी के क्वाथ के साथ तीन दिन तक खरल करने से तथा त्रिफला के क्वाथ से भी

३ दिन तक खरल करने से पारा सब मलों से रहित हो जाता है। तत्पश्चात् घीकुवार का रस और हरदी के चूर्ण के साथ एक दिन खरल करने से पारा निश्चय नपुंसक हो जाता है। उसके बाद बहुत सी ओषधियों के क्वाथ से पारे का स्वेदन करने से वह बली हो जाता है जैसे—नागफनी, इमली, बांझककोड़ा, भांगरा और नागरमोथा इन सबों के क्वाथ से दोलायन्त्र में रख कर स्वेदन करने से पारा बली हो जाता है। चीता के क्वाथ से पुनः स्वेदन करने से पारा अत्यन्त दीप्तिमान् हो जाता है ॥ १६६–१६८ ॥

छसर्पाक्षी (नागफनी), चिञ्चिका (इमली), वन्ध्या (बांझ ककोड़ा), भृङ्गः=भृङ्गराज, अब्दः=मुस्ता, पावकः=चित्रकम् ॥ १६६–१६८ ॥

यहां 'सर्पाक्षी' से 'नागफनी'। 'चिञ्चिका' से 'इमली'। 'वन्ध्या' से 'बांझ ककोड़ा'। 'भृङ्ग' से 'भृङ्गराज (भांगरा)'। 'अब्द' से 'मुस्ता (नागरमोथा) और 'पावक' से 'चीता' का बोध करना चाहिये ॥ १६६–१६८ ॥

अथ पारदस्य मारणविधिमाह—

धूमसारं रसं तोरीं गन्धकं नवसादरम् । यामैकं मर्दयेदम्लैर्भागं कृत्वा समं समम् ॥१६९॥
काचकूप्यां विनिक्षिप्य तां च मृद्वस्त्रमुद्रया । विलिप्य परितो वक्त्रे मुद्रां दत्त्वा विशोषयेत् ॥
अधः सच्छिद्रपिठरीमध्ये कूपीं निवेशयेत । पिठरीं वालुकापूरैर्भृत्वा चाकूपिकागलम् ॥१७१॥
निवेश्य चुल्ल्यां तदधो वह्निं कुर्याच्छनैः शनैः । तस्मादप्यधिकं किञ्चित्पावकं ज्वालयेत्क्रमात् ॥
एवं द्वादशभिर्यामैर्म्रियते रस उत्तमः । स्फोटयेत्स्वाङ्गशीतं तमूर्ध्वगं गन्धकं त्यजेत् ॥ १७३ ॥
अधःस्थञ्च मृतं सूतं गृह्णीयात्तं तु मात्रया । यथोचितानुपानेन सर्वकर्मसु योजयेत् ॥ १७४ ॥

पारा के मारने की विधि—घर का धुआं, पारा, फिटकिरी, गन्धक, नवसादर इन सबों को समान भाग लेकर अम्ल पदार्थ नीबू आदि के रस में एक प्रहर (३ घण्टे) तक खरल करे। तत्पश्चात् काच की कूपी के चारो तरफ कपरौटी (मिट्टी लिपटे वस्त्र द्वारा लपेट) कर और उसे धूप में रख कर सुखा डाले। फिर उसी काच की कूपी में उपर्युक्त खरल किये द्रव्यों को रख कर कूपी का मुख बन्द करके सुखा लेने के बाद एक मिट्टी के पात्र के तल भाग में छिद्र करके उसी छिद्र के ऊपर उक्त कूपी को रख उसके गले तक उक्त पात्र में बालू भर कर उसे चूल्हे पर रख दे और उसके नीचे धीरे धीरे आंच अधिक करता जाय अर्थात् प्रथम मृदु पुनः मध्यम तदनन्तर तीव्र आंच करे। इस तरह १२ प्रहर (३६ घण्टे) तक आंच देने से उत्तम रीति से पारा मर जाता है। पुनः स्वयं शीतल हो जाने पर सावधानी से कूपी को फोड़ कर ऊपर लगे हुये गन्धक को छोड़ कर शेष नीचे स्थित मरे हुये पारे को निकाल ले और उसे मात्रानुसार यथोचित अनुपान से जहां जहां आवश्यकता हो वहां वहां प्रयोग में लेवे ॥ १६९–१७४ ॥

अथ पारदमारणेऽपरं विधिमाह—

अपामार्गस्य बीजानां मूषायुग्मं प्रकल्पयेत् । तत्सम्पुटे क्षिपेत्सूतं मलयूदुग्धमिश्रितम् ॥
द्रोणपुष्पीप्रसूनानि विडङ्गमरिमेदकः । एतच्चूर्णमधश्चोर्ध्वं दत्त्वा मुद्रा प्रदीयते ॥ १७६ ॥
तद्गोलं स्थापयेत्सम्यङ् मृन्मूषासम्पुटे पचेत् ॥ १७७ ॥
एवमेकपुटेनैव सूतकं भस्म जायते । तत्प्रयोज्यं यथास्थाने यथामात्रं यथाविधि ॥ १७८ ॥

पारा मारने की दूसरी विधि—प्रथम चिचिड़ा के बीजों को पीस कर उसके दो मूषे (घरिया) बना ले, फिर पारा को कठूमर (कठगूलर) के दूध में खूब खरल करके उसे उक्त मूषा के सम्पुट के अन्दर नीचे गूमा के फूल, वायविडङ्ग अरिमेद (दुर्गन्ध खैर) इन सबों का चूर्ण रख कर उसके ऊपर रख कर पुनः उसी चूर्ण को ऊपर से भी रखकर मूषा का मुख बन्द कर दे। पुनः एक दूसरे

मिट्टी के मूषा के अन्दर उक्त मूषा के सम्पुट को रख कर मुख बन्द कर तथा सुखा कर अग्नि की पुट देवे। इस तरह एक ही पुट में पारा भस्म हो जाता है। फिर जब जहां आवश्यकता हो वहां विधि के अनुसार यथोचित मात्रा में उस भस्म का प्रयोग करे ॥ १७५-१७८ ॥

*मलयूः = काकोदुम्बरिका ॥ १७५-१७८ ॥

यहां 'मलयू' पद से 'कठूमर' का बोध करना चाहिये ॥ १७५-१७८ ॥

अथ पारदमारणे तृतीयं विधिमाह—

काकोदुम्बरिकादुग्धै रसं किञ्चिद्विमर्दयेत्। तद्दुग्धघृष्टहिङ्गोश्च मूषायुग्मं प्रकल्पयेत् ॥१७९॥
क्षिप्त्वा तत्संपुटे सूतं तत्र मुद्रां प्रदापयेत्। धृत्वा तद् गोलकं प्राज्ञो मृन्मूषासम्पुटेऽधिके॥
पचेद् गजपुटेनैव सूतकं याति भस्मताम् ॥ १८० ॥

पारा मारने की तीसरी विधि—प्रथम कठूमर के दूध के साथ पारे को किञ्चित् खरल कर ले पश्चात् उसी के दूध के साथ हींग को पीस कर उसकी दो मूषा बना कर उसी के सम्पुट के अन्दर उक्त पारे को रख कर सन्धि भली भांति से बन्द कर दे फिर एक दूसरे मिट्टी के बने मूषे (घरिया) के सम्पुट के अन्दर उक्त मूषा-सम्पुट को रखकर कपड़मिट्टी द्वारा मुख दृढ़ता से बन्द कर तथा सुखाकर गजपुट की आग में रख कर पकावे। इस भांति एक ही पुट देने से पारा भस्म हो जाता है ॥ १७९-१८० ॥

अथ पारदमारणे चतुर्थं विधिमाह—

नागवल्लीरसैर्घृष्टः कर्कोटीकन्दगर्भितः। मृन्मूषासम्पुटे पक्वं सूतो यात्येव भस्मताम् ॥१८१॥

पारा मारने की चौथी विधि—प्रथम पारे को पान के रस में खरल कर ले पश्चात् उसे बांझ-ककोड़ा के कन्द के अन्दर रख दे पुनः उक्त कन्द को मिट्टी के मूषा (घरिया) के सम्पुट के अन्दर रखकर कपड़मिट्टी से मुख बन्द कर सुखा दे पश्चात् गजपुट की आंच में पका डाले। इस भांति एक ही पुट में पारा भस्म हो जाता है ॥ १८१ ॥

अथ रसकर्पूरनिर्माणविधिमाह—

तत्र पारदस्य संक्षिप्तं शोधनं कर्त्तव्यम्।

शुद्धसूतसमं कुर्यात्प्रत्येकं गैरिकं सुधीः। इष्टिकां खटिकां तद्वत्स्फटिकां सिन्धुजन्म च॥
वल्मीकं क्षारलवणं भाण्डरञ्जकमृत्तिकाम्। सर्वाण्येतानि संचूर्ण्य वाससा चापि शोधयेत्॥
एभिश्चूर्णैर्युतं सूतं यावद्यामं विमर्दयेत्। तच्चूर्णसहितं सूतं स्थालीमध्ये परिक्षिपेत् ॥ १८४ ॥
तस्याः स्थाल्या मुखे स्थालीमपरां धारयेत्समाम्। सवस्त्रकुट्टितमृदा मुद्रयेदनयोर्मुखम्॥
संशोष्य मुद्रयेद्भूयो भूयः संशोष्य मुद्रयेत्। सम्यग्विशोष्य मुद्रां तां स्थालीं चुल्ल्यां विधारयेत्॥
अग्निं निरन्तरं दद्याद्यावद्दिनचतुष्टयम्। अङ्गारोपरि तद्यन्त्रं रक्षेद्यत्नादहर्निशम् ॥ १८७ ॥
शनैरुद्घाटयेद्यन्त्रमूर्ध्वस्थालीगतं रसम्। कर्पूरवत्सुविमलं गृह्णीयाद् गुणवत्तरम् ॥ १८८ ॥
तद्देवकुसुमचन्दनकस्तूरीकुङ्कुमैर्युक्तम्। खादन् हरति फिरङ्गं व्याधिं सोपद्रवं सपदि ॥१८९॥
विन्दति वह्नेर्दीप्तिं पुष्टिं वीर्यं बलं विपुलम्। रमयति रमणीशतकं रसकर्पूरस्य सेवकः सततम्॥

'रसकर्पूर' बनाने की विधि—रसकपूर बनाने के समय प्रथम पारे का संक्षिप्त शोधन विधि के अनुसार शोधन करे तत्पश्चात् शुद्ध पारा के समान भाग में गेरू, ईंटा, खड़ी, फिटकिरी, सेंधा नमक, वमई की मिट्टी, खारीनोन, वर्तन रंगने की मिट्टी (काबिस) इन सबों को पृथक् २ लेकर सबों का चूर्ण कर कपड़े से छान कर उसके साथ उक्त पारे को एक प्रहर तक खरल करे, पश्चात् उसे एक मिट्टी की हंड़िया के अन्दर रख कर ऊपर से दूसरी हांड़ी औंधा कर दोनों का मुख कपड़ा या रुई डाल कर कुटी हुई मिट्टी से बन्द कर धूप में सुखा दे पश्चात् पुनः उक्त मिट्टी का

लेप कर सुखा डाले इस के बाद फिर मिट्टी का लेप कर और सुखा कर उसे चूल्हे पर चढ़ा दे और ४ दिन तक बराबर आंच देता रहे। जब तक आग पर रखा रहे तब तक दिन-रात यत्नपूर्वक उसकी रक्षा करता रहे। स्वयं शीतल हो जाने पर धीरे से हांड़ी का मुख खोल कर ऊपर की हांडी में लगे हुये अत्यन्त गुणकारी कपूर के समान परम उज्ज्वल पारे को निकाल ले और उसे लौंग, सफेद चन्दन, कस्तूरी तथा केशर के साथ मिला कर यदि खाया जाय तो उपद्रव से युक्त बढ़ा हुआ फिरङ्ग नामक रोग शीघ्र नष्ट हो जाता है और अग्नि प्रदीप्त होता है तथा शरीर की पुष्टि, वीर्य एवं बल की वृद्धि होती है। इस रसकपूंर का निरन्तर सेवन करने वाला पुरुष १०० स्त्रियों के साथ रमण कर सकता है॥ १८२-१९०॥

ॐ खटिका [खड़ी]। स्फटिका [फिट्किरी]। सिन्धुजन्म=सैन्धवम्। वल्मीकम्= 'बमई' इति लोके। क्षारलवणम् [खारीनोन]। भाण्डरञ्जकमृत्तिका [काविस] ॥१८२-१९०॥

यहां 'खटिका' का 'खड़ी', 'स्फटिका' का 'फिट्किरी', 'सिन्धुजन्म' का 'सेंधानमक' 'वल्मीक' का लोकप्रसिद्ध 'बमई की मिट्टी', 'क्षारलवण' का 'खारी नोन' और 'भाण्डरञ्जक मृत्तिका' का 'काविस' यह अर्थ समझना चाहिये॥ १८२-१९०॥

अथ सिन्दूररसविधिमाह—

शुद्धसूतस्य गृह्णीयाद्भिषग्भागचतुष्टयम्। शुद्धगन्धस्य भागैकं तावत्कृत्रिमगन्धकम् ॥१९१॥
अथवा पारदस्यार्द्धं शुद्धगन्धकमेव हि। तयोः कज्जलिकां कुर्यादिनमेकं विमर्दयेत् ॥१९२॥
मृत्तिकां वाससा सार्द्धं कुट्टयेदतियत्नतः। तया वारत्रयं सम्यक्काचकूपीं प्रलेपयेत् ॥१९३॥
मृत्तिकां शोषयित्वा तु कूप्यां कज्जलिकां क्षिपेत्। तां कूपीं वालुकायन्त्रे स्थापयित्वा रसं पचेत्।
अग्निं निरन्तरं दद्याद्यावद्दिनचतुष्टयम्। गृह्णीयादूर्ध्वसंलग्नं सिन्दूरसदृशं रसम् ॥१९५॥

सिन्दूररस बनाने की विधि—सिन्दूररस बनाने के समय वैद्य को चाहिये कि वह शुद्ध पारा ४ भाग, शुद्ध गन्धक १ भाग तथा बनाया हुआ गन्धक १ भाग अथवा शुद्ध पारा आधा भाग तथा शुद्ध गन्धक आधा भाग ले और इनकी कज्जली एकदिन तक खरल करके बना ले। पश्चात् कपड़ा या रुई डाल कर मिट्टी को खूब कूट २ कर सान ले और उसको एक बार कांच की शीशी के चारो तरफ सर्वत्र लेप कर सुखा डाले, इस भाँति तीन लेप चढ़ा कर सुखावे। फिर उक्त कज्जली को उक्त शीशी के अन्दर रख दे और शीशी को बालुकायन्त्र के अन्दर रख कर रस (पारा) को पकावे। ४ दिन तक बराबर आंच देता रहे। पश्चात् स्वयं शीतल हो जाने पर ऊपर लगे हुये सिन्दूर के सदृश दिखाई पड़ते हुये रस को धीरे से युक्तिपूर्वक निकाल ले। यही सिन्दूररस कहलाता है॥ १९१-१९५॥

इति सिन्दूररसः।

अथ मारितमूर्च्छितपारदयोर्गुणानाह—

पारदः कृमिकुष्ठघ्नो जयदो दृष्टिकृत्सरः। मृत्युहृच्च महावीर्यो योगवाही ज्वरापहः ॥१९६॥
स्मृत्योजोरूपदो वृष्यो वृद्धिकृद्धातुवर्द्धनः। षण्ढत्वनाशनः शूरः खेचरः सिद्धिदः परः॥१९७॥

पारदः सकलरोगहा स्मृतः षड्रसो निखिलयोगवाहकः।
पञ्चभूतमय एव कीर्त्तितस्तेन तद्गुणगणैर्विराजते ॥ १९८॥

उक्त प्रकार से मारे हुए तथा मूर्च्छित किये हुए पारा के गुण—उक्त प्रकार का पारा-कृमि तथा कुष्ठ नाशक, जय देने वाला (कार्य सिद्ध करने वाला), दृष्टिशक्ति को बढ़ाने वाला, सारक, अकाल मृत्यु को दूर करने वाला, महावीर्यशाली, योगवाही (जिसके साथ दिया जाय उसके गुण को बढ़ाने वाला), ज्वरनाशक, स्मृति, ओज तथा रूप को देने वाला, कामी पुरुषों के लिये

हितकर, वृद्धिकारक, धातुवर्धक, नपुंसकता को दूर करने वाला, शूरता, आकाश में उड़ने की शक्ति तथा अनेक प्रकार की सिद्धियों को देने वाला होता है। शुद्ध पारा सम्पूर्ण रोगों को नष्ट करने वाला, मधुरादि ६ रसों से युक्त, तथा निखिल योगवाहक (सभी रोगों के सभी ओषधियों के साथ योग कर देने से उसकी शक्ति को बढ़ाने वाला) है एवं पञ्च महाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) मय होने से उन सबों के प्रत्येक गुणों से युक्त होता है ॥ १९६-१९८ ॥

उक्तञ्च रसामृते—

यस्य रोगस्य यो योगस्तेनैव सह योजितः। रसेन्द्रो हन्ति तं रोगं नरकुञ्जरवाजिनाम्॥१९९॥

'रसामृत' में भी कहा हुआ है कि जिस रोग का जो भी योग (औषध) हो, उसके साथ योग कर देने से पारा मनुष्य, हाथी तथा घोड़ा इन सभों के रोगों को दूर करने वाला होता है॥

अथोपरसानां शोधनविधिमाह—

तत्र हिङ्गुलस्य गुणानाह—

मेषीक्षीरेण दरदमम्लवर्गैश्च भावितम्। सप्तवारान्प्रयत्नेन शुद्धिमायाति निश्चितम् ॥२००॥

हिङ्गुल (सिंगरफ) की शोधन विधि—भेड़ का दूध और [1]अम्लवर्गोक्त अमलवेंत, जम्बीरी नीबू आदि पदार्थों के रस की यत्नपूर्वक ७ बार भावना देने से सिंगरफ निश्चय शुद्ध हो जाता है॥

अथ शोधितहिङ्गुलस्य गुणानाह—

तिक्तं कषायं कटु हिङ्गुलं स्यान्नेत्रामयघ्नं कफपित्तहारि।
हृल्लासकण्डूज्वरकामलांश्च प्लीहामवातौ च गरं निहन्ति ॥ २०१ ॥

शुद्ध किये हुये सिंगरफ के गुण—शुद्ध सिंगरफ-तिक्त, कषाय तथा कटुरसयुक्त, नेत्ररोगनाशक, कफ तथा पित्त को दूर करने वाला एवं हृल्लास (उबकाई), खुजली, ज्वर, कामला, प्लीहा, आमवात तथा गरसंज्ञक विष (कृत्रिम विष) को नष्ट करने वाला होता है ॥ २०१ ॥

अथ हिङ्गुलात्पारदनिष्कर्षणविधिमाह—

निम्बूरसैर्निम्बपत्ररसैर्वा याममात्रकम्। घृष्ट्वा दरदमूर्ध्वन्तु पातयेत्सूतयुक्तिवत् ॥२०२॥
तत्रोर्ध्वपिठरीलग्नं गृह्णीयाद्रसमुत्तमम्। शुद्धमेव हि तं सूतं सर्वकर्मसु योजयेत् ॥२०३॥

सिंगरफ से पारा निकालने की विधि—नीबू के रस के अथवा नीम के पत्तों के रस के साथ सिंगरफ को एक प्रहर (३ घण्टे) तक खरल करके ऊर्ध्वपातन यन्त्र में पारे की भांति रख कर उड़ाने से ऊपर की हांड़ी में लगे हुये उत्तम पारे को निकाल लेना चाहिये। यह पारा स्वयं शुद्ध होता है अतः इसे हर एक कार्यों में लेना चाहिये ॥ २०२-२०३ ॥

अथाशुद्धगन्धकस्य दोषानाह—

अशुद्धो गन्धकः कुर्यात्कुष्ठं पित्तरुजां भ्रमम्। हन्ति वीर्यं बलं रूपं तस्माच्छुद्धः प्रयुज्यते॥

अशुद्ध गन्धक के दोष—अशुद्ध गन्धक कुष्ठ, पित्तसम्बन्धी रोग तथा भ्रमरोग को उत्पन्न करने वाला एवं वीर्य, बल, तथा रूप को नष्ट करने वाला होता है। अतः शुद्ध गन्धक का ही प्रयोग करना चाहिये ॥ २०४ ॥

अथ गन्धकस्य शोधनविधिमाह—

लौहपात्रे विनिक्षिप्य घृतमग्नौ प्रतापयेत्। तप्ते घृते तत्समानं क्षिपेद् गन्धकजं रजः ॥२०५॥

---

१. अम्लवेतसजम्बीरलुङ्गाम्लचणकाम्लकाः। नागरङ्गं तिन्तिडी च चिञ्चापत्रं च निम्बुकम् ॥
चाङ्गेरी दाडिमं चैव करमर्दं तथैव च। एष चाम्लगणः प्रोक्तो वेतसाम्लसमायुतः ॥

अर्थ—अम्लवेत, जम्बीरी नीबू, बिजौरा नीबू, चनाखार, नारङ्गी (खट्टी), इमली के फल और पत्ते, नीबू, चांगेरी, अनार (खट्टा), करौंदा ये सब अम्लगण (अम्लवर्ग) कहलाते हैं।

विद्रुतं गन्धकं दृष्ट्वा तनुवस्त्रे विनिक्षिपेत्। यथा वस्त्राद्विनिःसृत्य दुग्धमध्येऽखिलं पतेत्।
एवं स गन्धकः शुद्धः सर्वकर्मोचितो भवेत्॥ २०६॥

गन्धक के शोधने की विधि—लोहे की कढ़ाई में घी डाल कर आग पर रख कर तपावे, जब घी खूब तप जाय तब उसी के बराबर गन्धक का चूर्ण उस में डाल दे, और गन्धक को टिघला हुआ देख कर पतले वस्त्र के ऊपर उसे उड़ेल दे और दूध भरे पात्र में उस टिघले गन्धक को चुवावे, जब वस्त्र से सारा गन्धक छन कर दूध में गिर जाय तब उसे निकाल ले। इस प्रकार गन्धक को शुद्ध करके सम्पूर्ण कार्यों में प्रयोग करे॥ २०५-२०६॥

अथ शुद्धगन्धकस्य गुणानाह—

गन्धकः कटुकस्तिक्तो वीर्य्योष्णस्तुवरः सरः॥ २०७॥
पित्तलः कटुकः पाके कण्डूवीसर्पजन्तुजित्। हन्ति कुष्ठक्षयप्लीहकफवातान् रसायनः॥२०८॥

शुद्ध गन्धक के गुण– शुद्ध गन्धक–कटु, तिक्त तथा कषायरसयुक्त, उष्णवीर्य, सारक, पित्तजनक, विपाक में कटुरसयुक्त, रसायन एवं खुजली, वीसर्प, कृमि, कुष्ठ, क्षय, प्लीहा, कफ तथा वात को नष्ट करने वाला होता है॥ २०७-२०८॥

अथाशुद्धाभ्रकस्य दोषानाह—

पीडां विधत्ते विविधां नराणां कुष्ठं क्षयं पाण्डुगदञ्च कुर्य्यात्।
हृत्पार्श्वपीडां च करोत्यसह्यामशुद्धमभ्रं गुरु वह्निहृत्स्यात्॥ २०९॥

अशुद्ध अभ्रक के दोष—अशुद्ध अभ्रक–मनुष्यों को अनेक प्रकार की पीड़ा देने वाला, कुष्ठ, क्षय, पाण्डुरोग, हृदय तथा पसुलियों में असह्य पीड़ा उत्पन्न करने वाला, गुरु तथा जठराग्नि को नष्ट करने वाला होता है॥ २०९॥

अथाभ्रकस्य शोधनविधिमाह—

कृष्णाभ्रकं धमेद्वह्नौ ततः क्षीरे विनिक्षिपेत्। भिन्नपत्रं तु तत्कृत्वा तण्डुलीयाम्लयोर्द्रवैः।
भावयेदष्टयामं तदेवमभ्रं विशुद्ध्यति॥ २१०॥

अभ्रक के शोधने की विधि—काले अभ्रक को प्रथम आग में डाल कर खूब तपावे जब लाल हो जाय तब उसे दूध में डाल कर बुझावे, तत्पश्चात् उसके प्रत्येक पत्र (पत्तर) अलग २ करके उन सबों को चौलाई तथा अम्ल पदार्थ नीबू आदि के रस से आठ पहर तक भावना दे। ऐसा करने से अभ्रक शुद्ध हो जाता है॥ २१०॥

अथाभ्रकस्य मारणविधिमाह—

कृत्वा धान्याभ्रकं तथा शोषयित्वाऽथ मर्दयेत्। अर्कक्षीरैर्दिनं खल्वे चक्राकारं च कारयेत्॥
वेष्टयेदर्कपत्रैश्च सम्यग्गजपुटे पचेत्। पुनर्मर्द्यं पुनः पाच्यं सप्तवारान् पुनः पुनः॥ २१२॥
ततो वटजटाक्वाथैस्तद्वद्देयं पुटत्रयम्। म्रियते नात्र सन्देहः प्रयोज्यं सर्वकर्मसु॥ २१३॥
तुल्यं घृतं मृताभ्रेण लोहपात्रे विपाचयेत्। घृते जीर्णे तदभ्रन्तु सर्वयोगेषु योजयेत्॥ २१४॥

अभ्रक के मारने की विधि—प्रथम शुद्ध अभ्रक को लेकर उससे आगे लिखी विधि के अनुसार धान्याभ्रक तैयार कर उसे सुखा कर एक दिन तक आक के दूध के साथ खल में रख खरल करे पश्चात् उसकी चक्के के आकार की गोल टिकिया बना कर उन सबों के ऊपर आक के पत्ते अच्छी तरह से लपेट कर गजपुट की आग में रख कर पकावे। पुनः निकाल कर पूर्वोक्त रीति से आक के दूध के साथ खरल करके टिकिया बना कर आक के पत्ते लपेट कर गजपुट की आग में रख कर पकावे। इसी प्रकार जब सात पुट हो जाय तब बरगद की जटा (बरोंह) के क्वाथ के साथ खरल करके और टिकिया बना कर पूर्वोक्त रीति की भांति गजपुट की आग में रख कर पकावे इसी

भांति तीन पुट हो जाने पर अभ्रक निःसन्देह मर जाता है और सभी कार्यों में प्रयोग करने योग्य हो जाता है। उक्त रीति से मारे हुये अभ्रक को समान भाग घी में डाल कर लोहे की कढ़ाई में रख कर पकावे, जब घी जल जाय तब उतार कर उस अभ्रक को हर एक योगों में मिलावे ॥ २१४ ॥

अथ धान्याभ्रकस्य विधिमाह—

पादांशशालिसंयुक्तमभ्रं बद्ध्वाऽथ कम्बले। त्रिरात्रं स्थापयेन्नीरे तत्क्लिन्नं मर्दयेत्करैः ॥२१५॥
कम्बलाद्गलितं सूक्ष्मं वालुकारहितञ्च यत्। तद्धान्याभ्रमिति प्रोक्तमभ्रमारणसिद्धये ॥२१६॥

धान्याभ्रक बनाने की विधि—अभ्रक का चतुर्थांश शालि (जड़हन) धान्य मिला कर अभ्रक को कम्बल में बांध कर जल में तीन दिन तक भींगा रहने दे, पश्चात् उसे निकाल कर हाथों में खूब रगड़े और कम्बल से छन २ कर सूक्ष्म जो बालू से रहित अभ्रक के कण गिरे हों उन्हें एकत्र करले, वे ही 'धान्याभ्र' कहलाते हैं तथा अभ्रक के मारण के समय कार्य में आते हैं ॥ २१५-२१६ ॥

अथ मारिताभ्रकस्य गुणानाह—

अभ्रं कषायं मधुरं सुशीतमायुष्करं धातुविवर्द्धनञ्च।
हन्यात् त्रिदोषं व्रणमेहकुष्ठं प्लीहोदरं ग्रन्थिविषक्रिमींश्च ॥ २१७ ॥
रोगान् हन्ति द्रढयति वपुर्वीर्यवृद्धिं विधत्ते, तारुण्याढ्यं रमयति शतं योषितां नित्यमेव।
दीर्घायुष्कान्जनयति सुतान् सिंहतुल्यप्रभावान्,
मृत्योर्भीतिं हरति सुतरां सेव्यमानं मृताभ्रम् ॥ १८ ॥

मारे हुये अभ्रक के गुण—मारा हुआ अभ्रक-कषाय तथा मधुर रसयुक्त, शीतल, आयु को बढ़ाने वाला, धातुवर्धक एवं त्रिदोष, व्रण, मेह, कुष्ठ, प्लीहा, उदररोग, ग्रन्थि (गांठ), विष तथा क्रिमि को नष्ट करने वाला होता है। यह सेवन करने से रोगों को दूर करता है, शरीर को दृढ़ रखता है, वीर्य की वृद्धि करता है और सौ १०० युवती स्त्रियों के साथ रमण करने की शक्ति देता है तथा सिंह के समान पराक्रमी और दीर्घ आयु वाले पुत्रों को उत्पन्न करता है एवं अपमृत्यु के भय को दूर करता है ॥ २१७-२१८ ॥

अथाशुद्धहरितालस्य दोषानाह—

अशुद्धं तालमायुर्हृत्कफमारुतमेहकृत्। तापस्फोटाङ्गसङ्कोचं कुरुते तेन शोधयेत् ॥ २१९ ॥

अशुद्ध हरताल के दोष—अशुद्ध हरताल-आयु नाशक, कफ, वायु तथा मेहरोग कारक एवं शरीर में ताप, स्फोट तथा अङ्ग को संकुचित करने वाला होता है। अतः इस का शोधन करना आवश्यक है ॥ २१९ ॥

अथ हरितालस्य शोधनविधिमाह—

तालकं कणशः कृत्वा तच्चूर्णं काञ्जिके पचेत्। दोलायन्त्रेण यामैकं ततः कूष्माण्डजैर्द्रवैः ॥
तिलतैले पचेद्यामं यामञ्च त्रिफलाजले। एवं यन्त्रे चतुर्यामं पक्वं शुद्ध्यति तालकम् ॥२२१॥

हरताल शोधने की विधि—तबकिया हरताल का मोटा चूर्ण कर उसे कांजी से भरे दोलायन्त्र में रख १ प्रहर (३ घण्टा) तक पकावे, उसके बाद क्रम से पेठा का रस, तिल का तेल तथा त्रिफला का जल भरे दोलायन्त्र में उक्त हरताल को रख अलग एक २ प्रहर तक पकावे, इस भांति चार प्रहर तक दोलायन्त्र में रख कर पकाने से हरताल शुद्ध हो जाता है ॥ २२०-२२१ ॥

अथ हरितालस्य मारणविधिमाह—

सदलं तालकं शुद्धं पौनर्नवरसेन तु। खल्वे विमर्दयेदेकं दिनं पश्चाद्विशोषयेत् ॥ २२२ ॥
ततः पुनर्नवाक्षारैः स्थाल्यामर्द्धं प्रपूरयेत्। तत्र तद्गोलकं कृत्वा पुनस्तेनैव पूरयेत् ॥ २२३ ॥

आकण्ठं पिठरं तस्य पिधानं धारयेन्मुखे । स्थालीं चुल्ल्यां समारोप्य क्रमाद्वह्निं विवर्धयेत् ॥
दिनान्यन्तरशून्यानि पञ्च वह्निं प्रदापयेत् ॥ २२५ ॥
एवं तन्म्रियते तालं मात्रा तस्यैकरक्तिका । अनुपानान्यनेकानि यथायोग्यं प्रयोजयेत् ॥२२६॥

हरताल मारने की विधि—शुद्ध किये हुये दलयुक्त तबकिया हरताल को लेकर पुनर्नवा (सफेद) के रस के साथ खल में रख कर एक दिन तक खरल करे पश्चात् गोला बना कर तथा सुखा कर एक हांडी में आधे दूर तक सफेद पुनर्नवा का खार भर कर उसके ऊपर उक्त हरताल के गोले को रख कर ऊपर से पुनः सफेद पुनर्नवा का खार हांडी के गले तक भर रख दे और ऊपर से हांडी का मुख वन्द कर चूल्हे पर रख कर नीचे आग जला दे और आंच धीरे २ तेज करता जाय, इस तरह पांच दिन तथा पांच रात तक अखण्ड आंच देने से हरताल मर जाता है। इसकी मात्रा १ रत्ती की होती है तथा अनेक प्रकार के अनुपानों में जहाँ जिसकी योग्यता हो रोगादि के अनुसार उस अनुपान के साथ इसका प्रयोग करना चाहिये ॥ २२२–२२६ ॥

अथ शोधितमारितहरितालयोर्गुणानाह—

हरितालं कटु स्निग्धं कषायोष्णं हरेद्विषम् । कण्डूकुष्ठास्यरोगास्रकफपित्तकचव्रणान् ॥२२७॥

शुद्ध किये हुये और मारे हुये हरताल के गुण—उक्त प्रकार का हरताल-कटु तथा कषायरस युक्त, स्निग्ध, उष्ण एवं विष, खुजली, कुष्ठ, मुख सम्बन्धी रोग, रक्तविकार, कफ, पित्त, बाल तथा व्रण को नष्ट करने वाला होता है ॥ २२७ ॥

अन्यच्च—

तालकं हरते रोगान्कुष्ठमृत्युज्वरापहम् । शोधितं कुरुते कान्ति वीर्यंवृद्धि तथाऽऽयुषम् ॥

और भी कहा है कि-शोधित हरताल-रोगनाशक, शरीर की कान्ति तथा वीर्य की वृद्धि करने वाला, आयु को बढ़ाने वाला एवं कुष्ठ, अकाल मृत्यु तथा ज्वर को दूर करने वाला होता है ॥

अथाशुद्धमनःशिलाया दोषानाह—

तालकस्यैव भेदोऽस्ति मनोगुप्तैतदन्तरम् । तालकं स्वतिपीतं स्याद्भवेद्रक्ता मनःशिला ॥
मनःशिला मन्दबलं करोति जन्तुं ध्रुवं शोधनमन्तरेण ।
मलस्य बन्धं किल मूत्ररोधं सशर्करं कृच्छ्रगदञ्च कुर्यात् ॥ २३० ॥

अशुद्ध मैनसिल का स्वरूप—हरताल के एक भेद को ही मैनसिल कहते हैं। क्योंकि इन दोनों में केवल यही अन्तर है कि हरताल का रङ्ग अत्यन्त पीला होता है और मैनसिल का रङ्ग लाल होता है। अशुद्ध मैनसिल के दोष—विना शोधा हुआ मैनसिल सेवन करने से मनुष्य को मन्द बलवाला कर देती है और दुर्बलता, क्रिमि, मल का विबन्ध, मूत्र का अवरोध तथा शर्करा युक्त मूत्रकृच्छ्र करने वाली होती है ॥ २२९–२३० ॥

अथ मनःशिलायाः शोधनविधिमाह—

पचेत्त्र्यहमजामूत्रे दोलायन्त्रे मनःशिलाम् । भावयेत्सप्तधा पित्तैरजायाः सा विशुद्ध्यति ॥

मैनसिल शोधने की विधि—मैनसिल को ३ दिन तक बकरी के मूत्र से भरे दोलायन्त्र में रख कर पकावे, पश्चात् बकरी के पित्त से सात वार भावना देनेसे मैनसिल शुद्ध हो जाती है ॥२३१॥

अथ शोधितमनःशिलाया गुणानाह—

गुर्वी मनःशिला वर्ण्या सरोष्णा लेखनी कटुः । तिक्ता स्निग्धा विषश्वासकासभूतकफास्रनुत् ॥

शुद्ध की हुई मैनसिल के गुण—शुद्ध मैनसिल-गुरु, वर्ण को उत्तम करने वाली, सारक, उष्ण, लेखन गुण युक्त, कटु तथा तिक्त रसयुक्त, स्निग्ध, एवं विष, श्वास, कास, भूतबाधा, कफ तथा रक्त-विकार को दूर करने वाली होती है ॥ २३२ ॥

अथ खर्परस्तुत्थभेदस्तस्य शोधनविधिमाह—

नरमूत्रे च गोमूत्रे सप्ताहं रसकं पचेत्। दोलायन्त्रेण शुद्धः स्यात्ततः कार्येषु योजयेत्॥

तूतिया का भेद जो खपरिया है उसके शोधन की विधि—खपरिया को मनुष्य के मूत्र से भरे दोलायन्त्र में रख कर सात दिन तक पकावे फिर गोमूत्र से भरे दोलायन्त्र में रख कर ७ दिन तक पकावे। ऐसा करने से वह शुद्ध हो जाती है और इसके बाद कार्य में लेने योग्य होती है॥

अथ शुद्धखर्परस्य गुणानाह—

खर्परं कटुकं क्षारं कषायं वामकं लघु। लेखनं भेदनं शीतं चक्षुष्यं कफपित्तहृत्॥
विषाश्मकुष्ठकण्डूनां नाशनं परमं मतम्॥ २३४॥

शुद्ध खपरिया के गुण—शुद्ध खपरिया–कटु तथा कषायरसयुक्त, खारी, वमन कराने वाली, लघु, लेखनगुणयुक्त, मलभेदक, शीतल, नेत्रों के लिये हितकर, कफ तथा पित्त को दूर करनेवाली एवं विष, पथरी, कुष्ठ तथा खुजली को अत्यन्त नष्ट करने वाली होती है॥ २३४॥

अथ सर्वोपरसानां साधारणशोधनविधिमाह—

सूर्यावर्त्तो वज्रकन्दः कदली देवदालिका। शिग्रुः कोशातकी वन्ध्या काकमाची च वालकम्॥
एषामेकरसेनैव त्रिक्षारैर्लवणैः सह। भावयेदम्लवर्गैश्च दिनमेकं प्रयत्नतः॥२३६॥
ततः पचेच्च तद्द्रावैर्दोलायन्त्रे दिनं सुधीः। एवं शुद्ध्यन्ति ते सर्वे प्रोक्ता उपरसा हि ये॥

सम्पूर्ण उपरसों के शोधने की साधारण विधि–हुरहुर, वज्रकन्द (जंगली सूरन), केला, देवदाली (सनैया), सहंजना, तोरई, बाँझककोड़ा, मकोय, सुगन्धबाला इन सबों में से किसी एक का रस, क्षारत्रय[1] (जवाखार, सुहागा, सज्जीखार), पांचो[2] नोन तथा अम्लवर्गोक्त (अमलवेत, जम्बीरी नीबू आदि) पदार्थों का रस इन सबों से एक दिन तक भावना दे उसके बाद उपर्युक्त इन्हीं रसों से भरे दोलायन्त्र में उपरसों को रख कर एक दिन तक पकावे। ऐसा करने से जितने उपरस कहे हुए हैं वे सभी शुद्ध हो जाते हैं॥ २३५–२३७॥

अथ विशेषशुद्धिमाह—

कङ्कुष्ठं गैरिकं शङ्खः कासीसं टङ्कणं तथा। नीलाञ्जनं शुक्तिभेदाः क्षुल्लकाः सवराटकाः॥२३८॥
जम्बीरवारिणा स्विन्नाः क्षालिताः कोष्णवारिणा।
शुद्धिमायान्त्यमी योज्या भिषग्भिर्योगसिद्धये॥ २३९॥

विशेष शुद्धि—मुरदासंग, गेरू, शङ्ख, कासीस, सुहागा, काला सुरमा, सितुही के सभी भेद, छोटे शङ्ख, कौड़ी ये सब जम्बीरी नींबू से भरे दोलायन्त्र में रख कर पकाने के बाद किंचित गर्म जल से धो लेने पर शुद्ध हो जाते हैं। उसके बाद हर एक योगों में इन सबों का प्रयोग करना वैद्यों के लिये उचित है॥ २३८–२३९॥

*** एवं शोधितानामुपरसानां पृथग्गुणा गुणग्रन्थे द्रष्टव्याः॥ २३८–२३९॥**

इस प्रकार शुद्ध किये हुये उपरसों के पृथक् २ गुण जहां पर इनके गुण लिखे हुये हैं वहां देखना चाहिये॥ २३८–२३९॥

अथ रत्नानां शोधनमारणविधिमाह—

तत्राशुद्धवज्रस्य दोषानाह—

अशुद्धं कुरुते वज्रं कुष्ठं पार्श्वव्यथां तथा। पाण्डुत्वं पङ्गुलत्वञ्च तस्मात्संशोध्य मारयेत्॥

---

१. स्वर्जिका च यवक्षारष्टङ्कणक्षार एव च। क्षारत्रयं समाख्यातं त्रिक्षारः स च कथ्यते॥
अर्थ—सज्जीखार, जवाखार, सुहागा ये तीनों मिलकर क्षारत्रय या त्रिक्षार कहलाते हैं।

२. सैन्धवं रुचकं चैव विडमौद्भिदमेव च। सामुद्रेण समायुक्तं ज्ञेयं लवणपञ्चकम्॥

अशुद्ध (बिना शोधे हुए) हीरे के दोष—अशुद्ध हीरा-कुष्ठ, पसुलियों में पीड़ा तथा पाण्डु रोग उत्पन्न करने वाला एवं मनुष्य को पङ्गु बना देता है अतः उसका सर्व प्रथम शोधन करके बाद में मारण करना चाहिये ॥ २४० ॥

अथ वज्रस्य शोधनविधिमाह—

कुलत्थकोद्रवक्वाथे दोलायन्त्रे विपाचयेत्। व्याघ्रीकन्दगतं वज्रं त्रिदिनात्तद्विशुद्ध्यति ॥२४१॥

हीरा शोधने की विधि—कटेरी के कन्द के अन्दर रखे हुए हीरे को कुलथी तथा कोदो के क्वाथ से भरे हुए दोलायन्त्र में रख कर ३ दिन तक पकाने से हीरा शुद्ध हो जाता है ॥ २४१ ॥

अथान्यं शोधनविधिमाह—

गृहीत्वाऽह्नि शुभे वज्रं व्याघ्रीकन्दोदरे क्षिपेत्। महिषीविष्ठया लिप्त्वा कारीषाग्नौ विपाचयेत् ॥
त्रियामायां चतुर्यामं याम्निन्यन्तेऽश्वमूत्रके। सेचयेत्पाचयेदेवं सप्तरात्रेण शुद्ध्यति ॥ २४३ ॥

हीरे के शोधने की दूसरी विधि—किसी शुभ दिन में हीरे को लेकर कटेरी के कन्द के अन्दर रख कर उसके ऊपर भैंस का गोबर लपेट कर और सुखा कर रात्रि में ४ प्रहर (१२ घण्टे) तक गोहरे के आग में पकावे और प्रातःकाल घोड़े के मूत्र में बुझा दे। इस भांति ७ रात्रि तक पकाने तथा बुझाने से हीरा शुद्ध हो जाता है ॥ २४२-२४३ ॥

-व्याघ्री = कण्टकारिका ॥ २४२-२४३ ॥

यहां 'व्याघ्री' पद से 'कटेरी' का बोध करना चाहिये ॥ २४२-२४३ ॥

अथ वज्रस्य मारणविधिमाह—

हिंगुसैन्धवसंयुक्ते क्षिपेत्क्वाथे कुलत्थजे। तप्तं तप्तं पुनर्वज्रं भवेद्भस्म त्रिसप्तधा ॥ २४४ ॥

हीरा मारने की विधि—हींग और सेंधा नमक से युक्त कुलथी के क्वाथ में खूब तपे हुए हीरे को बुझावें, इस भांति २१ बार तपा-तपा कर बुझाने से हीरा का भस्म तैयार हो जाता है।।२४४।।

अथान्यं विधिमाह—

मेषशृङ्गभुजङ्गास्थिकूर्मपृष्ठाम्लवेतसान् ॥ २४५ ॥
शशदन्तं समं पिष्ट्वा वज्रीक्षीरेण गोलकम्। कृत्वा तन्मध्यगं वज्रं म्रियते ध्मातमेव हि ॥

हीरा मारने की दूसरी विधि—भेड़े की सींग, सांप की हड्डी, कछुये की पीठ, अमलवेंत तथा खरहे के दांत इन सबों को सम भाग लेकर थूहर के दूध में पीस कर गोलाकार बना कर उसके बीच में हीरे को रख कर तेज आग में पकाने से हीरा भस्म हो जाता है ॥ २४५-२४६ ॥

अथ मारितवज्रस्य गुणानाह—

आयुः पुष्टिं बलं वीर्यं वर्णं सौख्यं करोति च। सेवितं सर्वरोगघ्नं मृतं वज्रं न संशयः ॥२४७॥

मारे हुये हीरे के गुण—मरा हुआ हीरा (भस्म)-सेवन करने से आयु, पुष्टि, बल, वीर्य, सुन्दर वर्ण तथा सुख की वृद्धि करता है और सम्पूर्ण रोगों को नष्ट करता है। इसमें कोई संशय नहीं है ॥ २४७ ॥

अथ शेषरत्नानां शोधनमारणविधिमाह—

वज्रवत्सर्वरत्नानि शोधयेन्मारयेत्तथा। शुद्धानां मारितानाञ्च तेषां शृणु गुणानपि ॥ २४८ ॥
मणयो वीर्यतः शीता मधुरास्तुवरा रसात्। चक्षुष्या लेखनाश्चापि सारका विषहारकाः ॥
धारणात्ते तु कुर्वन्त्या ग्रहदृष्टिहरा अपि ॥ २४९ ॥

अर्थ—सेंधा नमक, कालानोन, विरिया सञ्चर नोन, औद्भिद (रेहगवा नोन), समुद्रीनोन इन सबों के योग को लवणपञ्चक कहते हैं।

शेष अन्य रत्नों के शोधन तथा मारण की विधि—हीरे के समान ही शेष सभी रत्नों का भी शोधन तथा मारण करना चाहिये। शोधन तथा मारण किये हुये सभी रत्न-शीतवीर्य, मधुर तथा कषायरसयुक्त, नेत्रों के लिये हितकर, लेखन, सारक, विष को हरण करने वाले, धारण करने से मङ्गल को देने वाले और ग्रह के दोषों को दूर करने वाले होते हैं॥ २४८-२४९॥

*उपरत्नानां शोधनमारणविधिश्चिन्त्यः॥ २४८-२४९॥

यहां उपरत्नों के शोधन तथा मारण की विधि विचार करके स्थिर कर लेनी चाहिये॥

अथ विषोपविषाणां शोधनविधिमाह—

तत्र वत्सनाभस्य स्वरूपमाह—

सिन्धुवारसदृक्पत्रो वत्सनाभ्याकृतिस्तथा। यत्पार्श्वे न तरोर्वृद्धिर्वत्सनाभः स भाषितः॥

वत्सनाभ विष के लक्षण—जिसके पत्ते संभालू के पत्तों के समान हों तथा आकार में जो बछड़े की नाभि के समान हो एवं जिसके समीप में अन्य वृक्षों की वृद्धि न होती हो उसे वत्सनाभ विष कहते हैं॥ २५०॥

अथ विषस्य शोधनविधिमाह—

गोमूत्रे त्रिदिनं स्थाप्यं विषं तेन विशुद्ध्यति। रक्तसर्षपतैलाक्ते तथा धार्यञ्च वाससि॥२५१॥
ये गुणा गरले प्रोक्तास्ते स्युर्हीना विशोधनात्। तस्माद्विषं प्रयोगे तु शोधयित्वा प्रयोजयेत्॥

विष शोधने की विधि—तीन दिन तक विष को गोमूत्र में भिगो कर रखने के बाद उसे लाल सरसो के तेल में भीगे हुये कपड़े के अन्दर रख दे, ऐसा करने से विष शुद्ध हो जाता है। जो प्राण हरण करना आदि दोष विष के कहे हुये हैं वे सब शोधन करने से ही (कम) हो जाते हैं। अतः विष को शोधन करके ओषधियों के काम में लावे॥ २५१-२५२॥

अथ विषस्य गुणानाह—

विषं प्राणहरं प्रोक्तं व्यवायि च विकाशि च। आग्नेयं वातकफहृद्योगवाहि मदावहम्॥२५३॥

विष के गुण—विष-प्राणनाशक, व्यवायी, विकाशी, आग्नेय, वात-कफ नाशक, योगवाही तथा मदावह होता है॥ २५३॥

***व्यवायि = सकलकायगुणव्यापनपूर्वकं पाकगमनशीलम्। विकाशि = ओजःशोषणपूर्वकं सन्धिबन्धशिथिलीकरणशीलम्। आग्नेयम् = अग्निकाग्न्यंशम्। योगवाहि = सङ्गिगुणग्राहकम्। मदावहम् = तमोगुणप्राधान्येन बुद्धिविध्वंसकम्॥ २५३॥**

यहां 'व्यवायि' पद का 'प्रथम सम्पूर्ण शरीर में अपने गुणों को व्याप्त कर के पश्चात् पचने वाला', 'विकाशि' पद का 'ओज को सुखाता हुआ सन्धि के बन्धनों को शिथिल करने वाला', 'आग्नेय' पद का 'अग्नि के अधिक अंशों से युक्त', 'योगवाहि' पद का 'जिसके साथ योग हो उसके गुणों को ग्रहण करने वाला' और 'मदावह' पद का 'तमोगुण की प्रधानता से बुद्धि को विध्वंस करने वाला' अर्थ समझना चाहिये॥ २५३॥

तदेव युक्तियुक्तन्तु प्राणदायि रसायनम्। योगवाहि परं वातश्लेष्मजित्सन्निपातहृत्॥२५४॥

इस प्रकार प्राणनाशक आदि दुर्गुणों से युक्त होता हुआ भी विष यदि युक्तिपूर्वक सेवन किया जाय तो प्राणशक्ति को देने वाला, रसायन, परम योगवाही, वात-कफनाशक एवं सन्निपात को दूर करने वाला होता है॥ २५४॥

अथोपविषाणां निरूपणमाह—

अर्कक्षीरं स्नुहीक्षीरं लाङ्गली करवीरकः। गुञ्जाऽहिफेनो धत्तूरः सप्तोपविषजातयः॥ २५५॥

उपविषों का निरूपण—आक का दूध, थूहर का दूध, कलिहारी, कनेर, गुञ्जा, अफीम, धतूर ये सात उपविष की जातियां हैं ॥ २५५ ॥

*एतेषां शोधनं चिन्त्यम् । गुणास्तत्र तत्र द्रष्टव्याः ॥ २५५ ॥

यहां इन सबों के शोधन करने की विधि स्वयं विचार लेना चाहिये । जहां २ इनका द्रव्यगुण प्रकरण में उल्लेख है, वहां २ इनके गुण देख लेने चाहिये ॥ २५५ ॥

अथ द्रव्याणां गुणवतामवधिमाह—

गुणहीनं भवेद्वर्षादूर्ध्वं तद्रूपमौषधम् । मासद्वयात्तथा चूर्णं लभते हीनवीर्यताम् ॥ २५६ ॥

हीनत्वं गुटिकालेहौ लभेते वत्सरं यदि । हीनाः स्युर्घृततैलाद्याश्चतुर्मासाधिकास्तथा ॥२५७॥

द्रव्यों के पूर्ण गुणयुक्त रहने की अवधि—जिस काष्ठौषधि का जैसा आकार है, उसी रूप में यदि वह रखा रह जाय तो १ वर्ष के बाद, यदि चूर्ण रूप में हो तो दो मास के बाद, गोली तथा अवलेह के रूप में हो तो एक वर्ष के बाद और घृत तथा तेल आदि के रूप में हो तो १ वर्ष ४ मास के बाद गुणहीन हो जाता है ॥ २५६–२५७ ॥

*घृततैलाद्या इति योगविशेषणम् । चतुर्मासाधिकाः = वत्सरादुपरि चत्वारो मासा-अधिका येषु ते ॥ २५६–२५७ ॥

यहां 'घृततैलाद्याः' यह योग विशेषण है अर्थात् जो ओषधि डालकर घी वा तेल बनाये जाते हैं, उनका ग्रहण करना चाहिये । न कि केवल घी या तेल का तथा 'चतुर्मासाधिकाः' इस पद का 'एक वर्ष से ऊपर ४ मास अधिक हो गये हैं जिस में अर्थात् एक वर्ष ४ मास के बाद' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २५६–२५७ ॥

'अथ ग्रन्थान्तराद् घृततैलयोर्विशेषमाह—

घृतमब्दात्परं पक्वं हीनवीर्यत्वमाप्नुयात् । तैलं पक्वमपक्वञ्च चिरस्थायि गुणाधिकम् ॥२५८॥

ग्रन्थान्तर से घी तथा तेल के विषय में विशेषता—एक वर्ष के बाद पकाया हुआ घी हीनवीर्य हो जाता है और तेल चाहे पकाया या न पकाया हुआ हो जैसे २ अधिक दिन का होता है वैसे २ अधिक गुणकारी होता है ॥ २५८ ॥

*तदपि षोडशमासाभ्यन्तरीणं पक्वं तैलं गुणाधिकं बोद्धव्यम् ॥ २५८ ॥

यहां तेल के विषय में इतना और समझ लेना चाहिये कि–१६ मास के अन्दर तक ही पकाया हुआ तैल उत्तरोत्तर अधिक गुणकारी होता है, बाद में नहीं ॥ २५८ ॥

ओषध्यो लघुपाकाः स्युर्निर्वीर्या वत्सरात्परम् । पुराणाः स्युर्गुणैर्युक्ता आसवा धातवो रसाः ॥

जल्दी ही पक कर तैयार हो जाने वाले धान्यादि एक वर्ष के बाद निर्वीर्य हो जाते हैं और आसव, धातु (सोना आदि) तथा रस (रससिन्दूरादि) जितने ही अधिक पुराने होते जाते हैं, उतने ही अधिक गुणकारी होते हैं ॥ २५९ ॥

*ओषध्यः = धान्यादयः । लघुपाकाः = शीघ्रपाकाः । निर्वीर्याः स्युः ॥ २५९ ॥

यहां 'ओषध्यः' पद का 'धान्यादि' । 'लघुपाकाः' पद का 'शीघ्र पक कर तैयार हो जाने वाले, हीनवीर्य हो जाते हैं' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २५९ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे परिभाषादिप्रकरणे तृतीयं धात्वादिशोधनमारणविधिप्रकरणं समाप्तम् ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थं स्नेहपानविधिप्रकरणम् ॥ ४ ॥

तत्र स्नेहस्य भेदान् विशेषनामानि चाह--

स्नेहश्चतुर्विधः प्रोक्तो घृतं तैलं वसा तथा । मज्जा च तं पिबेन्मर्त्यः किञ्चिदभ्युदिते रवौ ॥१॥
स्थावरो जङ्गमश्चैव द्वियोनिः स्नेह उच्यते । तिलतैलं स्थावरेषु जङ्गमेषु घृतं वरम् ॥
द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिर्वा यमकस्त्रिवृतो महान् ॥ २ ॥

स्नेह के भेद तथा विशेष नाम—स्नेह चार प्रकार का होता है। १. घी, २. तेल, ३. चर्वी और ४. मज्जा। स्नेह को थोड़ा सूर्य उदय हो जाने पर पीना चाहिये। इनकी दो योनियां हैं। एक स्थावर, दूसरी जङ्गम अर्थात् तेल स्थावर स्नेह और घी, चर्वी तथा मज्जा ये सब जङ्गम स्नेह कहलाते हैं। इससे स्नेह द्वियोनि कहलाता है। स्थावर स्नेहों में तिल का तेल और जङ्गम स्नेहों में घी उत्तम होता है। दो स्नेहों के मिलने से यमक, तीन के मिलने से त्रिवृत और चार के मिलने से महान् संज्ञक स्नेह होता है ॥ १-२ ॥

ॐअस्यायमर्थः--द्वाभ्यां स्नेहाभ्यां घृततैलाभ्यां यमकाख्यः स्नेहः स्यात्। त्रिभिः स्नेहैर्घृततैलवसारूपैस्त्रिवृताख्यः स्यात्। चतुर्भिर्घृततैलवसामज्जभिर्महान् = महास्नेहः स्यादित्यर्थः ॥ १-२ ॥

यहां 'द्वाभ्याम्' इत्यादि पदों का यह अर्थ समझना चाहिये कि-'दो स्नेह अर्थात् घी और तेल के मिलने से 'यमक' नामक स्नेह होता है। तीन स्नेह अर्थात् घी, तेल तथा चर्वी के मिलने से 'त्रिवृत' अर्थात् 'महास्नेह' कहलाते हैं ॥ १-२ ॥

पिबेत् त्र्यहं चतुरहं पञ्चाहं षडहानि वा ॥ ३ ॥

तीन दिन, चार दिन, पांच दिन या छ दिन तक स्नेह पीना चाहिये ॥ ३ ॥

ॐमृदुमध्यक्रूरकोष्ठापेक्षया त्र्यहं चतुरहं पञ्चाहं षडहानि चेति।

यहां 'मृदु, मध्य तथा क्रूर कोष्ठ की अपेक्षा से तीन दिन, चार दिन, पांच दिन तथा छ दिन पीने को कहा है अर्थात् मृदुकोष्ठ वाला पुरुष तीन दिन तक, मध्य कोष्ठ वाला चार दिन तक इत्यादि क्रम से पीवे।'

यदुक्तम्—

मृदुकोष्ठस्त्रिरात्रेण स्निग्धस्स्नेहोपसेवया। मध्यकोष्ठश्चतुर्भिश्च दिवसैः स्निह्यति ध्रुवम् ॥ १ ॥
पञ्चभिर्वाऽथ षड्भिर्वा दिनैः क्रूरो विशुद्ध्यति। सप्तरात्रात्परं स्नेहः सात्मीभवति सेवितः ॥

क्योंकि कहा भी है कि—तीन रात्रि तक स्नेह का सेवन करने (पीने) से मृदुकोष्ठ वाला पुरुष स्निग्ध होता है। मध्य कोष्ठ वाला पुरुष चार दिन तक स्नेह सेवन करने से निश्चय स्निग्ध होता है और क्रूर कोष्ठवाला पांच या छ दिन तक स्नेह सेवन करने से शुद्ध होता है। स्नेह का सेवन करते हुए जब सात रात्रि बीत जाती है, तब वह सात्म्य (शरीर के अनुकूल) हो जाता है ॥

ॐमृदुमध्यक्रूरकोष्ठानां सर्वेषां सप्तरात्रात्परं सात्मीभवति। वातानुलोम्यवह्निदीप्तिकोष्ठशुद्धिमृदुस्निग्धाङ्गलाघवधातुपुष्टिदृढदार्ढ्यनिर्जरताबलवर्णकारी भवति। न तु भक्तद्वेषग्लान्यादीन् करोति ॥ ३ ॥

यहां यह भी समझना चाहिये कि—मृदु, मध्य तथा क्रूर कोष्ठ वाले सभों को ही सात रात्रि के बाद स्नेहसेवन सात्म्य हो जाता है। इससे वायु का अनुलोमन (अपने स्वाभाविक स्थिति पर

रहना), अग्नि प्रदीप्त होना, कोष्ठ की शुद्धि, अङ्ग, स्वर आदि की मृदुता तथा स्निग्धता, अङ्गों की लघुता, धातुओं की पुष्टि, दांतों की दृढ़ता, वृद्धावस्था से रहित होना, बल की वृद्धि तथा वर्ण की उज्ज्वलता होती है। किन्तु अन्न से द्वेष होना तथा ग्लानि आदि नहीं करता है॥ १–२॥ ३॥

दोषकालवयोवह्निबलान्यालोक्य योजयेत्। हीनाञ्च मध्यमां ज्येष्ठां मात्रां स्नेहस्य बुद्धिमान्॥
अमात्रया तथाऽकाले मिथ्याऽऽहारविहारतः। स्नेहः करोति शोथार्शस्तन्द्रानिद्राविसंज्ञताः॥

बुद्धिमान वैद्य को चाहिये कि वह--दोष (वातादि), काल (वसन्तादि ऋतु तथा प्रातः, मध्याह्न आदि), रोगों की अवस्था, अग्नि तथा बल को देख कर तदनुसार हीन, मध्यम तथा ज्येष्ठ मात्रा स्नेह की दे। बिना मात्रा के तथा असमय में एवं मिथ्या आहार-विहार करने के साथ-साथ स्नेह का सेवन करना मनुष्य को शोथ, अर्श, तन्द्रा, निद्रा तथा बेहोशी उत्पन्न करने वाला होता है॥ ४–५॥

देया दीप्ताग्नये मात्रा स्नेहस्यैकपलोन्मिता। मध्यमाय त्रिकर्षा स्याज्जघन्याय द्विकार्षिकी॥

दीप्त अग्नि वाले पुरुषों के लिये स्नेह पीने की मात्रा १ पल (चार तोले) की देनी चाहिये। मध्यम अग्नि वालों के लिये ३ कर्ष (३ तोले) की मात्रा और हीन अग्नि वालों के लिये दो कर्ष (२ तोले) की मात्रा स्नेह पीने को देनी चाहिये॥ ६॥

***मध्यमाय = मध्यमाग्नये। जघन्याय = हीनाग्नये॥ ६॥**

यहां 'मध्यमाय' पद का 'मध्यम अग्नि वालों के लिये' तथा 'जघन्याय' पद का 'हीन अग्नि वालों के लिये' यह अर्थ समझना चाहिये॥ ६॥

अथवा स्नेहमात्राः स्युस्तिस्रोऽन्याः सर्वसम्मताः। अहोरात्रेण महती जीर्यत्यह्नि तु मध्यमा॥
जीर्यत्यल्पा दिनार्द्धेन सा विज्ञेया सुखावहा॥ ७॥

अथवा सभी वैद्यों को अभिमत इनसे अन्य तीन प्रकार की मात्रायें और होती हैं--एक दिन तथा एक रात्रि में पचने वाली जो स्नेहमात्रा होती है वह 'महती', दिन भर में पचने वाली मात्रा 'मध्यमा' और आधे दिन में ही पचने वाली मात्रा 'अल्पा (कनिष्ठा)' कहलाती है और वह (अल्प मात्रा) सुख देने वाली भी होती है॥ ७॥

***अयमर्थः--याऽहोरात्रेण जीर्यति सा मात्रा महती। एवं मध्यमा कनिष्ठा च ज्ञेया॥७॥**

यहां यह अर्थ समझना चाहिये कि--जो एक दिन तथा एक रात्रि में पचने वाली होती है वह 'महती' नामक मात्रा होती है। इसी भांति से मध्यमा तथा कनिष्ठा मात्रा को भी समझ लेना चाहिए॥ ७॥

अल्पा स्याद्दीपनी वृष्या स्वल्पदोषे प्रपूजिता॥ ८॥
मध्यमा स्नेहनी ज्ञेया बृंहणी भ्रमहारिणी। ज्येष्ठा कुष्ठविषोन्मादग्रहापस्मारनाशिनी॥ ९॥

अल्पा (कनिष्ठा) मात्रा अग्निदीपक तथा वीर्यवर्धक होती है और अल्प दोष वाले पुरुषों के लिये उत्तम होती है, 'मध्यमा' मात्रा स्नेहन करने वाली, बृंहण (रस-रक्तादि वर्धक) तथा भ्रमरोग नाशक होती है एवं 'ज्येष्ठा' मात्रा कुष्ठ, विष, उन्माद, ग्रहबाधा तथा मिर्गी को दूर करने वाली होती है॥ ८–९॥

सुश्रुतः पुनरेवमाह—

या मात्रा प्रथमे यामे गते जीर्यति वासरे। सा मात्रा दीपयत्यग्निमल्पदोषे च पूजिता॥१०॥
या मात्रा वासरस्यार्द्धे व्यतीते परिजीर्यति। सा वृष्या बृंहणी च स्यान्मध्यदोषे प्रपूजिता॥
या मात्रा चरमे यामे स्थितेऽह्नः परिजीर्यति। सा मात्रा स्नेहनी ज्ञेया बहुदोषेषु पूजिता॥१२॥
केवलं पैत्तिके सर्पिर्वातिके लवणान्वितम्। देयं बहुकफे वह्निव्योषक्षारसमन्वितम्॥ १३॥

मात्रा के विषय में सुश्रुत का मत—जो स्नेह की मात्रा दिन का एक प्रहर बीत जाने पर ही पच जाने वाली होती है, वह अग्नि को प्रदीप्त करने वाली तथा अल्प दोष वाले रोगियों के लिये उत्तम होती है। जो मात्रा दिन के आधा भाग बीत जाने पर पच जाने वाली होती है वह वीर्यवर्धक, बृंहण (रस-रक्तादि वर्धक) तथा मध्यम दोष वालों के लिये उत्तम होती है। और जो मात्रा दिन के अन्तिम प्रहर में पचने वाली होती है वह स्नेहन करने वाली तथा अधिक दोष वाले रोगियों के लिये उत्तम होती है। पित्त की अधिकता में केवल घृत-पान करने को देना चाहिये, वात की अधिकता में सेंधा नमक मिला कर घी देना चाहिये और कफ की अधिकता में चीता, सोंठ, पीपर, मिरच, क्षार (जवाखार आदि) मिला कर घी पीने के लिये देना चाहिये ॥ १०–१३ ॥

अथ सर्पिष्पानार्हजनानाह—

रूक्षक्षतविषार्त्तानां वातपित्तविकारिणाम्। हीनमेधास्मृतीनां च सर्पिष्पानं प्रशस्यते ॥१४॥

घी पिलाने योग्य लोग—जो रूक्षता, क्षत (घाव) तथा विष से आर्त्त हों तथा जो वात और पित्तसम्बन्धी रोग से पीड़ित हों एवं जिनकी मेधा (धारण) शक्ति तथा स्मरण शक्ति हीन हो गई हो, ऐसे लोगों के लिये घी पिलाना उत्तम है ॥ १४ ॥

अथ वसापानार्हजनानाह—

क्रिमिकोष्ठानिलाविष्टाः प्रवृद्धकफमेदसः। पिबेयुस्तैलसात्म्याश्च तलं दार्ढ्यार्थिनस्तु ये ॥१५॥
व्यायामकर्षिताः शुष्करेतोरक्ता महारुजः। महाग्निमारुतप्राणा वसायोग्या नराः स्मृताः ॥

तेल पिलाने योग्य लोग—जिनके कोष्ठ में कृमि पड़ गये हों या जो वातपीड़ित हों वा जिनका कफ तथा मेदा बढ़ गया हो अथवा जिन्हें तेल पीना सात्म्य (प्रकृति के अनुकूल) हो या शरीर को दृढ़ रखने की इच्छा हो ऐसे लोगों को तेल पिलाना (पीना) उचित है। वसा (चर्बी) पिलाने योग्य लोग—जो लोग व्यायाम (कसरत आदि) करने से कृश हो गये हों या जिनका वीर्य तथा रक्त सूख रहा हो या जो बड़े रोगी हों या जिनका जठराग्नि या वायु प्रबल हो या प्राण (बल) अधिक हो तो ऐसे लोग वसा पिलाने योग्य होते हैं ॥ १५–१६ ॥

अथ मज्ज्ञः सर्पिषोऽपि पानार्हजनानाह—

क्रूराशयाः क्लेशसहा वातार्त्ता दीप्तवह्नयः। मज्जानञ्च पिबेयुस्ते सर्पिर्वा सर्वतो हितम् ॥

मज्जा तथा घी पिलाने योग्य लोग—जो क्रूर कोष्ठ वाले या क्लेश सहने वाले या वायु रोग से पीड़ित रहने वाले हैं, किं वा जिनकी जठराग्नि प्रदीप्त हो ऐसे लोगों को अन्य सभी स्नेहों से अधिक हितकर समझ कर मज्जा या घी पिलाना उचित है ॥ १७ ॥

क्रूराशयाः = क्रूरकोष्ठाः। सर्वतः = सर्वस्मात्स्नेहात् ॥ १७ ॥

यहाँ 'क्रूराशयाः' पद का 'क्रूर कोष्ठ वाले' तथा 'सर्वतः' पद का 'सभी स्नेहों से अधिक' अर्थ समझना चाहिये ॥ १७ ॥

अथ शीतादिकालवातादिदोषभेदाभ्यां स्नेहपानसमयभेदानाह

शीतकाले दिवा स्नेहमुष्णकाले पिबेन्निशि। वातपित्ताधिके रात्रौ वातश्लेष्माधिके दिवा ॥

शीतादि समयों तथा वातादि दोषों के भेद से स्नेह पीने के समयों में भेद—शीत काल में दिन के समय और ग्रीष्म काल में रात्रि के समय स्नेह पिलाना (पीना) उचित है। वात-पित्त की अधिकता रहने पर रात्रि में तथा वात-कफ की अधिकता रहने पर दिन में स्नेह पिलाना उचित है ॥ १८ ॥

अथ नस्यादिषु तैलघृतयोः प्रयोगे नियममाह—

नस्याभ्यञ्जनगण्डूषमूर्द्धकर्णाक्षितर्पणे । तैलं घृतं वा युञ्जीत दृष्ट्वा दोषबलाबलम् ॥ १९ ॥

नस्य (नास) आदि लेने में तेल तथा घृत का प्रयोग—नस्य (नास) लेना, शरीर में मालिस करना, कुल्ला करना या सिर, कान तथा आंखों में डालना हो तो दोषों के बलाबल का विचार कर घी अथवा तेल का प्रयोग करना उचित है ।। १९ ।।

अथ घृतादिपानेऽनुपानान्याह—

घृते कोष्णं जलं पेयं तैले यूषः प्रशस्यते । वसामज्ज्ञोः पिबेन्मण्डमनुपानं सुखावहम् ॥२०॥

घी आदि के पीने में अनुपान--घी पीने पर ऊपर से गर्म जल, तेल पीने पर बाद में जूस और वसा तथा मज्जा पीने पर बादमें माड़ पीना उचित है। क्योंकि उक्त अनुपान सुखकारक होते हैं ॥ २० ॥

अथ स्नेहद्वेषिणां स्नेहपानविधिमाह--

स्नेहद्विषः शिशून्वृद्धान्सुकुमारान्कृशानपि । तृष्णालुंश्चानुष्णकाले सह भक्तेन पाययेत् ॥२१॥

स्नेह से द्वेष रखने वाले को स्नेह पिलाने की विधि--जो स्वतः स्नेह से द्वेष रखने वाले हैं अर्थात् जिन्हें स्नेह से अरुचि हो तथा जो बालक, वृद्ध, सुकुमार तथा कृश शरीर वाले या ग्रीष्म ऋतु में जिन्हें अधिक प्यास लगती हो ऐसे लोगों को भात के साथ स्नेहपान कराना चाहिये।।२१।।

अथ स्नेहकारीणि पदार्थान्तराण्याह--

सर्पिष्मती बहुतिला यवागूः स्वल्पतण्डुका । सुखोष्णा सेव्यमाना तु सद्यः स्नेहनकारिणी ॥

शर्कराचूर्णसंयुक्ते दोहनस्थे घृते तु गाम् । दुग्ध्वा क्षीरं पिबेद्रूक्षः सद्यः स्नेहनमुत्तमम् ॥

स्नेहन करने वाले अन्य भी पदार्थ—जो यवागू बहुत तिलों तथा थोड़े चावलों से बनी हुई हो और उसमें घी भी पड़ा हो उसे थोड़ा २ गर्म रहते ही यदि खाया जाय तो वह तत्काल ही स्नेहन करने वाली होती है और यदि दोहनी (दूध दुहने का पात्र) में घी, साफ शक्कर का बूरा रखकर (ऊपर से पात्र के मुख पर वस्त्र रख कर) उसमें गौ का दूध दुहा जाय और दुहने के बाद उसे तुरन्त ही पी लिया जाय तो ऐसा दूध भी रूक्ष शरीर वाले पुरुष के लिये तत्काल स्नेहन करने वाले पदार्थों में उत्तम समझा जाता है ।। २२-२३ ।।

अथ स्नेहाजीर्णे कर्तव्यकर्माण्याह--

मिथ्याऽऽचाराद् बहुत्वाद्वा यस्य स्नेहो न जीर्यति ।
विष्टभ्य वाऽपि जीर्येत वारिणोष्णेन वामयेत् ॥ २४ ॥

स्नेह के न पचने पर कर्त्तव्य--मिथ्या (अयोग्य) आहार, विहार करने से या अधिक मात्रा हो जाने से, जिस मनुष्य को स्नेह न पचता हो अथवा विष्टम्भ हो कर पचता हो उसे गर्म जल पिला कर वमन कराना चाहिये ।। २४ ।।

अथ स्नेहाजीर्णशङ्कायां कर्त्तव्यकर्माण्याह—

स्नेहस्याजीर्णशङ्कायां पिबेदुष्णोदकं नरः । तेनोद्गारो भवेच्छुद्धो भक्तं प्रति रुचिस्तथा ॥२५॥

स्नेह के न पचने की आशङ्का होने पर कर्त्तव्य कर्म--यदि किसी मनुष्य को स्नेह के न पचने की आशङ्का हो तो वह गर्म जल पीवे, इससे शुद्ध उद्गार (डकार) होता है तथा अन्न खाने की रुचि उत्पन्न होती है ।। २५ ।।

अथ स्नेहपानजतृष्णायाः प्रशमोपायमाह--

स्नेहेन पैत्तिकस्याग्निर्यदा तीव्रतरीकृतः । तदाऽस्योदीरयेत् तृष्णां विषमां तस्य पाययेत् ।
शीतलं पायसं तेन तृष्णा तस्य प्रशाम्यति ॥ २६ ॥

स्नेह पीने से उत्पन्न हुई प्यास की शान्ति का उपाय—स्नेह पीने से पित्त प्रकृति वाले मनुष्य की जब जठराग्नि अत्यन्त तीक्ष्ण हो जाती है तब उसे अधिक प्यास लगती है, ऐसी अवस्था में उसे शीतल खीर खिलानी चाहिये जिससे कि प्यास शान्त हो जाय ॥ २६ ॥

अथ स्नेहपानायोग्यजनानाह—

अजीर्णी वर्जयेत्स्नेहमुदरी तरुणज्वरी। दुर्बलोऽरोचकी स्थूलो मूर्च्छालो मेहपीडितः ॥२७॥
दत्तबस्तिर्विरिक्तश्च वान्तस्तृष्णाश्रमान्वितः। अकालप्रसवा नारी दुर्दिने च विवर्जयेत् ॥

स्नेह पीने के अयोग्य लोग—जिन लोगों को अजीर्ण अथवा उदरसम्बन्धी रोग हो या जो नवीन ज्वर के रोगी हों या दुर्बल हों किं वा जिन्हें अरुचि हो वा जो मोटे हों किं वा मूर्च्छा या मेहरोग से पीड़ित हों अथवा जिन्हें बस्ति या विरेचन दिया गया हो वा वमन कराया गया हो या प्यास लगी हो अथवा जो परिश्रम से थक गये हों और जिस स्त्री को असमय में प्रसव हुआ हो ऐसे लोगों को स्नेह पिलाना या पीना उचित नहीं है। दुर्दिन अर्थात् जिस दिन आकाश मेघों से घिरा हो उस दिन भी स्नेहपान कराना अनुचित होता है ॥ २७-२८ ॥

अथ स्नेहपानयोग्यजनानाह—

स्वेद्यसंशोध्यमद्यस्त्रीव्यायामासक्तचित्तकाः ॥ २९ ॥
वृद्धबालकृशा रूक्षाः क्षीणास्राः क्षीणरेतसः। वातार्त्तास्तिमिरार्त्ता ये तेषां स्नेहनमुत्तमम् ॥

स्नेहपान के योग्य लोग—जिन्हें स्वेद देना हो या जिनका विरेचनादि द्वारा शोधन करना हो अथवा जो मद्य (शराब), स्त्री, व्यायाम (कसरत आदि) में आसक्त चित्तवाले हों किं वा वृद्ध, बालक, दुर्बल या रूक्ष शरीर वाले हों अथवा जिनका रक्त या वीर्य क्षीण हो गया हो और जो वातरोग या तिमिररोग से पीड़ित हों ऐसे लोगों को स्नेहपान द्वारा स्नेहन कराना उत्तम होता है ॥ २९-३० ॥

अथ सम्यक्स्निग्धस्य लक्षणान्याह—

वातानुलोम्यं दीप्ताग्निर्वर्चः स्निग्धमसंहतम्। मृदुस्निग्धाङ्गताऽग्लानिः स्नेहद्वेषोऽथ लाघवम्।
विमलेन्द्रियता सम्यक्स्निग्धे रूक्षे विपर्ययः ॥ ३१ ॥

स्नेहपान द्वारा भली भांति स्निग्ध हुये लोगों के लक्षण—वायु का अनुलोमन होना (अधो-वायु आदि का यथोक्त रीति से होना , जठराग्नि का प्रदीप्त होना, चिकनाई लिये मल का अलग २ निकलना, शरीर का कोमल तथा स्निग्ध होना, ग्लानि न मालूम पड़ना, स्नेह पीने से द्वेष होना, शरीर में हल्कापन, इन्द्रियों में निर्मलता ये सब लक्षण स्नेहपान से भलीभांति स्निग्ध होने पर लोगों में उत्पन्न होते हैं और रूक्षता रहने पर इस से विपरीत लक्षण रहते हैं ॥ ३१ ॥

अथातिस्निग्धस्य लक्षणान्याह—

भक्तद्वेषो मुखस्रावो गुदे दाहः प्रवाहिका। तन्द्राऽतीसारपाण्डुत्वं भृशं स्निग्धस्य लक्षणम् ॥

अधिक मात्रा में स्निग्ध हुए लोगों के लक्षण—अन्न से द्वेष होना, मुख से स्राव होना (लार गिरना), गुदा में दाह, प्रवाहिका (मल का पतला होकर बहना), तन्द्रा तथा अतीसार का होना एवं शरीर का पीला पड़ जाना ये सब लक्षण अधिक मात्रा में स्निग्ध हो जाने पर लोगों में उत्पन्न होते हैं ॥ ३२ ॥

अथ रूक्षातिस्निग्धयोर्जनयोः कर्त्तव्यकर्माण्याह—

रूक्षस्य स्नेहनं स्नेहैरतिस्निग्धस्य रूक्षणम्। श्यामाकचणकाद्यैश्च तक्रपिण्याकशक्तुभिः ॥३३॥

रूक्ष तथा अत्यन्त स्निग्ध हुए लोगों के लिये कर्त्तव्य कर्म—जो लोग रूक्ष हों उन्हें स्नेहपान

द्वारा स्नेहन कराना चाहिये और जो अधिक स्निग्ध हो गये हों तो उन्हें सांवा, चना आदि तथा तक्र (चतुर्थांश जलयुक्त छाछ), खली और सत्तू आदि खिला कर रूक्ष बनाना चाहिये ॥३३॥

अथ स्नेहसेवनस्य गुणानाह—

दीप्ताग्निः शुद्धकोष्ठश्च पुष्टधातुर्दृढेन्द्रियः। निर्जरो बलवर्णाढ्यः स्नेहसेवी भवेन्नरः ॥ ३४ ॥

स्नेह सेवन करने के गुण—स्नेह का सेवन करने वाले मनुष्य की अग्नि प्रदीप्त होती है, कोष्ठ शुद्ध रहता है तथा धातु पुष्ट होता है, इन्द्रियां दृढ होती हैं एवं वह वृद्धावस्था से रहित तथा बल से युक्त होता है। उसके शरीर की कान्ति उत्तम होती है ॥ ३४ ॥

अथ स्नेहसेवने त्याज्यकर्माण्याह—

स्नेहे व्यायामसंशीतवेगाघातप्रजागरान्। दिवास्वप्नमभिष्यन्दि रूक्षान्नञ्च विवर्जयेत् ॥३५॥

स्नेह का सेवन करने के समय त्याग करने योग्य कार्य—स्नेह सेवन करने के समय मनुष्य को उचित है कि व्यायाम (कसरत आदि) करना, अधिक शीत में रहना, मल-मूत्रादि के वेगों का रोकना, रात में अधिक जागना, दिन में सोना, अभिष्यन्दी (दही आदि) पदार्थ तथा रूक्ष अन्न का खाना इन सब कार्यों को छोड़ दे ॥ ३५ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे परिभाषादिप्रकरणे
चतुर्थं स्नेहपानविधिप्रकरणं समाप्तम् ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमं पञ्चकर्मविधिप्रकरणम् ॥ ५ ॥

अथ पञ्चकर्मनामान्याह—

प्रथमं वमनं पश्चाद्विरेकश्चानुवासनम्। एतानि पञ्चकर्माणि निरूहो नावनं तथा ॥ १ ॥

पञ्चकर्म के नाम—१ वमन, २ विरेचन, ३ अनुवासन, ४ निरूह, ५ नावन ये पांच कर्म हैं और पञ्चकर्म से इन्हीं पाचों का बोध होता है ॥ १ ॥

अथ वमनम्।

तत्रादौ वमनार्हसमयजनानाह—

शरत्काले वसन्ते च प्रावृट्काले च देहिनाम्। वमनं रेचनं चैव कारयेत्कुशलो भिषक् ॥ २ ॥
बलवन्तं कफव्याप्तं हृल्लासादिनिपीडितम्। तथा वमनसात्म्यञ्च धीरचित्तञ्च वामयेत् ॥३॥
विषदोषे स्तन्यरोगे मन्देऽग्नौ श्लीपदेऽर्बुदे। हृद्रोगे कुष्ठवीसर्पमेहाजीर्णभ्रमेषु च ॥ ४ ॥
विदारिकाऽपचीकासश्वासपीनसवृद्धिषु। अपस्मारे ज्वरोन्मादे तथा रक्तातिसारिषु ॥ ५ ॥
नासाताल्वोष्ठपाकेषु कर्णस्रावेऽधिजिह्वके। गलशुण्ड्यामतीसारे पित्तश्लेष्मगदे तथा ॥
मेदोगदेऽरुचौ चैव वमनं कारयेद्भिषक् ॥ ६ ॥

वमन कर्म में प्रथम वमन के योग्य समय और रोगियों का निर्देश—चतुर वैद्य को चाहिये कि वह शरत् (क्वार, कार्त्तिक) ऋतु, वसन्त (चैत, वैशाख) ऋतु तथा वर्षा (सावन, भादो) ऋतु इन समयों में मनुष्यों को वमन करावे तथा रेचन (जुलाब) दे। जो मनुष्य बलवान हो या कफ से व्याप्त हो वा हृल्लास (उबकाई) आदि रोग से पीड़ित हो तथा धीर चित्त वाला हो और जिसे वमन कराना प्रकृति के अनुकूल पड़ता हो उसे वमन करावे। विषदोष (विषसम्बन्धी

दोष), स्तन्य रोग (दूषित दुग्ध पीने से उत्पन्न हुआ बालकों का रोग) तथा अग्नि मन्द होने पर एवं श्लीपद (फीलपांव), अर्बुद, हृद्रोग, कुष्ठ, वीसर्प, मेदरोग, अजीर्ण, भ्रम, विदारिका, अपची, खांसी, श्वास (दमा), पीनस, वृद्धि (अण्डकोश वृद्धि), मिर्गी, ज्वर, उन्माद, रक्तातिसार इन रोगों में नासिका (नाक) तालु तथा ओष्ठ के पकने पर, कर्णस्राव (कान बहना), अधिजिह्वक, गलशुण्डी, अतीसार, पित्त तथा कफ सम्बन्धी रोग, मेदरोग और अरुचि इन सब रोगों में रोगी को वमन करावे ॥ २-६ ॥

*स्तन्यरोगे = दुष्टदुग्धजनिते बालस्य रोगे ॥ २-६ ॥

यहां 'स्तन्यरोग' पद का 'दूषित दुग्ध पीने से उत्पन्न हुआ बालकों का रोग' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २-६ ॥

अथ वमनानर्हजनानाह—

न वामनीयस्तिमिरी न गुल्मी नोदरी कृशः। नातिवृद्धो गर्भिणी च न स्थूलो न क्षतातुरः॥
मदार्त्तो बालको रूक्षः क्षुधितश्च निरूहितः। उदावर्त्यूर्ध्वरक्ती च दुश्छर्दः केवलानिली॥
पाण्डुरोगी कृमिव्याप्तः पवनास्स्वरघातवान्॥ ९॥
एतेऽप्यजीर्णव्यथिता वाम्या ये विषपीडिताः। कफव्याप्ताश्च ते वाम्या मधुकक्काथपानतः॥

वमन कराने के अयोग्य लोगों का निर्देश—जो लोग तिमिर, गुल्म तथा उदर रोग वाले हों या कृश (दुर्बल) शरीर तथा अत्यन्त वृद्ध हों एवं गर्भिणी स्त्री, स्थूल शरीर वाले, क्षत (घाव) से व्याकुल, मद से पीड़ित, बालक, रूक्ष शरीरवाले या भूखे हों और जिन्हें निरूहण बस्ति दी गई हो या जो उदावर्त्त रोग वाले हों या जिनके नाक, आंख, कान तथा मुख की राह से रक्त गिरता हो या जो रूक्ष तथा कठिन द्रव्य खा लिये हों अथवा जो केवल वातरोग से पीड़ित हों या पाण्डुरोगी हों वा जिनके उदर में क्रिमि पड़ गये हों तथा वायु से जिनका स्वरभङ्ग हो गया हो ऐसे लोगों को वमन कराना उचित नहीं है।

किन्तु ऐसे लोग भी यदि अजीर्ण होने से या विष से पीड़ित हों अथवा कफ से व्याप्त हों अर्थात् कफ की अधिकता हो तो मुलेठी का क्काथ पिलाने के द्वारा वमन कराने के योग्य होते हैं॥

*ऊर्ध्वरक्ती = यस्य नासाक्षिकर्णास्यमार्गे रक्तं प्रवर्त्तते सः। भक्तरूक्षकर्कशद्रव्यो-'दुश्छर्दः'। मधुकस्थाने मधूकेति द्वितीयः पाठः॥ ७-१०॥

यहां 'ऊर्ध्वरक्ती' पद का 'जिनके नाक, आंख, कान तथा मुख की राह से रक्त गिरता हो' 'दुश्छर्दः' पद का 'जो रूक्ष तथा कठिन द्रव्य खा लिये हों' यह अर्थ तथा 'मधुक' पद के स्थान में मधूक (महुआ)' यह दूसरा पाठ है यह भी समझना चाहिये ॥ ७-१० ॥

अथ वमनविधिमाह—

सुकुमारं कृशं बालं वृद्धं भीरुञ्च वामयेत्। पाययित्वा यवागूं वा क्षीरतक्रदधीनि च ॥११॥
असात्म्यैः श्लेष्मलैर्भोज्यैर्दोषानुत्क्लेश्य देहिनाम्। स्निग्धस्विन्नाय वमनं दत्तं सम्यक्प्रवर्त्तते॥
वमनेषु च सर्वेषु सैन्धवं मधु वा हितम्। बीभत्सं वमनं दद्याद्विपरीतं विरेचनम्॥ १३॥

वमन कराने की विधि—जो लोग सुकुमार, कृश, बालक, वृद्ध या भीरु (वमन से डरने वाले) हों, उन्हें यवागू या दूध तक्र (छाछ) अथवा दही पिलाकर वमन कराना चाहिये। प्राणियों को यदि प्रथम असात्म्य (प्रकृति के अननुकूल) तथा कफकारक भोज्य पदार्थ खिलाने के द्वारा दोषों को बाहर निकालने के लिये उन्मुख करके स्नेहन करा चुकने पर वमन कराया जाय तो वमन अच्छी तरह से होता है, संपूर्ण वमन कराने वाली औषधियों में सेंधा नमक तथा मधु हितकर होता है। वमन कराने वाली जो औषधियां दी जांय वे अरुचिकर होनी चाहिये किन्तु विरेचन कराने वाली इसके विपरीत (रुचिकर) होनी चाहिये ॥ ११-१३ ॥

*बीभत्सम् = अरुच्यम्। विपरीतं = रुच्यम् ॥ ११–१३ ॥

यहां 'बीभत्स' पद का 'अरुचिकर'। 'विपरीत' पद का 'रुचिकर' अर्थ समझना चाहिये ॥ ११–१३ ॥

क्वाथद्रव्यस्य कुडवं श्रपयित्वा जलाढके। अर्द्धभागावशिष्टञ्च वमनेष्ववचारयेत् ॥ १४ ॥
क्वाथपाने नवप्रस्था ज्येष्ठा मात्रा प्रकीर्तिता। मध्यमा षण्मिता प्रोक्ता त्रिप्रस्था च कनीयसी ॥
वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे। अर्द्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः ॥ १६ ॥

जिस वामक द्रव्य का क्वाथ बनाना हो उसे १ कुडव (१६) भर) लेकर एक आढक (३ सेर ३ छ० १) भर) जल में क्वाथ बनाकर आधा (१ सेर ९ छ० १) भर) शेष रह जाने पर वमन कराने के लिये देना चाहिये। वमन के लिये क्वाथ पिलाने में ९ प्रस्थ (२ सेर १४ छ० ४) भर) की मात्रा 'ज्येष्ठा' (बड़ी) कहलाती है। ६ प्रस्थ (१ सेर १५ छ० १) भर) की 'मध्यमा' (औसत) तथा ३ प्रस्थ (१५ छ० ३) भर) की 'कनिष्ठा' (छोटी) मात्रा कहलाती है और वमन, विरेचन तथा रक्तमोक्षण (रक्त निकलवाने) में पण्डित लोग एक प्रस्थ को ६॥ पलों के बराबर मानते हैं ॥ १४–१६ ॥

*अर्द्धत्रयोदशपलं = सार्द्धषट्कम् ॥ १४–१६ ॥

यहां 'अर्द्धत्रयोदशपलम्' पदका '६॥ साढ़े छ पल' अर्थ समझना चाहिये ॥ १४–१६॥

कल्कचूर्णावलेहानां त्रिपलं मात्रयोत्तमम्। मध्यमं द्विपलं विद्यात्कनीयस्तु पलं भवेत् ॥ १७ ॥
वमने चाष्टवेगाः स्युः पित्तान्ता उत्तमास्तु ते। षड् वेगा मध्यमा वेगाश्चत्वारस्त्ववरे मताः ॥
कफं कटुकतीक्ष्णोष्णैः पित्तं स्वादुहिमैर्जयेत्। सुस्वादुलवणाम्लोष्णैः संसृष्टं वायुना कफम् ॥
कृष्णां राठफलं सिन्धुं कफे कोष्णजलैः पिबेत्। पटोलवासानिम्बांश्च पित्ते शीतजलैः पिबेत् ॥

कल्क, चूर्ण तथा अवलेह की मात्रा तीन पल (१२) भर) की उत्तम, दो पल (८) भर) की मध्यम, एवं एक पल (४) भर) की कनिष्ठ होती है। वमन में ८ वेग हो तथा अन्त में पित्त निकलने लगे तो उत्तम वमन का वेग, ६ वेग होने से मध्यम तथा ४ वेग होने से कनिष्ठ समझना चाहिये। वमन कराने वाले को कटु, तीक्ष्ण तथा उष्ण द्रव्यों से कफ का दोष शान्त करना चाहिये। स्वादिष्ट तथा शीतल द्रव्यों से पित्त का और अत्यन्त स्वादिष्ट, लवण तथा अम्लरसयुक्त उष्ण द्रव्यों द्वारा वायुयुक्त कफ का दोष दूर करना चाहिये। कफ में पीपल, मयनफल, सेंधा चूर्ण को कुछ गर्म जल के साथ और पित्त में परवल, अडूसा तथा नीम के चूर्ण को शीतल जल के साथ पीवे अर्थात् इनके द्वारा वमन करावे ॥ १७–२० ॥

*राठफलम् = मदनफलम् ॥ १७–२० ॥

यहां 'राठफल' पद का 'मयन फल' अर्थ समझना चाहिये ॥ १७–२० ॥

सश्लेष्मवातपीडायां सक्षीरं मदनं पिबेत्। अजीर्णे कोष्णपानीयं सिन्धुं पीत्वा वमेत्सुधीः ॥

कफयुक्त-वातसम्बन्धी पीड़ा में मयनफल के चूर्ण के साथ दूध पिलाकर तथा अजीर्ण होने पर किंचित् गर्म जल में सेंधा नमक छोड़कर उसे पिलाकर वमन करावे ॥ २१ ॥

*मदनं = मयनफलम् ॥ २१ ॥

यहां 'मदन' पद का 'मैनफल' अर्थ समझना चाहिये ॥ २१ ॥

वमनं पाययित्वा तु जानुमात्रासने स्थितम्। कण्ठमेरण्डनालेन स्पृशन्तं वामयेद्भिषक् ॥२२॥
प्रसेको हृद्ग्रहः कोठः कण्डूर्दुश्छर्दिते भवेत्।
अतिवान्ते भवेत्तृष्णा हिक्कोद्गारो विसंज्ञिता ॥ २३ ॥
जिह्वानिःसरणं चाक्ष्णोर्व्यावृत्तिर्हनुसंहतिः। रक्तच्छर्दिः ष्ठीवनञ्च कण्ठपीडा च जायते ॥२४॥

वैद्य को चाहिये कि वह रोगी को प्रथम वमन कराने वाली ओषधि को पिलाकर उकरू बिठलावे। उसके बाद उसके गले के अन्दर उसीके हाथ से एरण्ड के नाल को धीरे-धीरे डालकर वमन करावे। ठीक से वमन न होने पर मुख से पानी गिरना, हृद्ग्रह (हृदय का जकड़ना या हृदय में पीड़ा होना), शरीर में चकत्ते पड़ना, खुजली और ये सब लक्षण प्रकट होते हैं। अधिक वमन होने पर—प्यास लगना, हिचकी तथा डकार का आना, बेहोशी, जीभ का बाहर निकलना, आंखों की पुतलियों के ऊपर की ओर चढ़ जाना, दोनों जबड़ों का न मिलना (मुख का न बन्द होना), वमन के साथ रक्त का निकलना या थूक के साथ रक्त दिखाई पड़ना और गले में पीड़ा होना ये सब लक्षण दिखाई पड़ते हैं॥ २२-२४॥

***हनुसंहतिः = हन्वोरमिलनम्॥ २२-२४॥**

यहां 'हनुसंहतिः' पद का 'दोनों जबड़ों का न मिलना (मुख का न बन्द होना)' यह अर्थ समझना चाहिये॥ २२-२४॥

वमनस्यातियोगे तु मृदु कुर्याद्विरेचनम्। वमनेन प्रविष्टायां जिह्वायां कवलग्रहाः।
स्निग्धाम्ललवणैर्युक्तैर्घृतक्षीररसैर्हिताः॥ २५॥

वमन अधिक हो जाने पर मृदु विरेचन (दस्त) कराना चाहिये। यदि अधिक वमन होने से जीभ अन्दर बैठ गई हो अर्थात् उससे लार न गिरता हो तो स्निग्ध, अम्ल तथा लवण रसयुक्त घी, दूध तथा मांसरस (शुरवा) का कुल्ला कराना हितकर होता है॥ २५॥

***रसैः = मांसरसैः॥ २५॥**

यहां 'रस' पद का मांसरस (शुरवा) का अर्थ समझना चाहिये॥ २५॥

फलान्यम्लानि खादेयुस्तस्य चान्येऽग्रतो नराः।
निःसृतान्तु तिलद्राक्षाकल्कलिप्तां प्रवेशयेत्॥ २६॥

उसके देखते हुए उसीके सामने किसी दूसरे मनुष्य को अम्ल रसयुक्त नीबू आदि फल खिलाना चाहिये। यदि जीभ बाहर निकल आई हो तो निकली हुई जीभ के ऊपर तिल और मुनक्का की चटनी का लेप करके उसे अन्दर पैठा देना चाहिये॥ २६॥

***निःसृतां जिह्वाम्॥ २६॥**

यहां 'निःसृताम्' पद 'जिह्वा' का विशेषण है अतः 'निकली हुई जीभ के ऊपर' अर्थ समझना समझना चाहिये॥ २६॥

व्यावृत्तेऽक्षिणि घृताभ्यक्तेपीडनञ्च शनैः शनैः। हनुमोक्षे स्मृतः स्वेदो नस्यञ्च श्लेष्मवातहृत्॥
रक्तपित्तविधानेन रक्तष्ठीवमुपाचरेत्। धात्रीरसाञ्जनोशीरलाजाचन्दनवारिभिः॥ २८॥
मन्थं कृत्वा पाययेच्च सघृतं क्षौद्रशर्करम्। शाम्यन्त्यनेन तृष्णाऽऽद्या रोगाश्छर्दिसमुद्भवाः॥
हृत्कण्ठशिरसां शुद्धिर्दीप्ताग्नित्वञ्च लाघवम्। कफपित्तविनाशश्च सम्यग्वान्तस्य लक्षणम्॥
ततोऽपराह्णे दीप्ताग्निं मुद्गषष्टिकशालिभिः। हृद्यैश्च जाङ्गलरसैः कृत्वा यूषञ्च भोजयेत्॥३१॥
तन्द्रा निद्राऽऽस्यदौर्गन्ध्यं कण्डूश्च ग्रहणी विषम्। सुवान्तस्य न पीडायै भवन्त्येते कदाचन॥
अजीर्णं शीतपानीयं व्यायामं मैथुनं तथा। स्नेहाभ्यङ्गञ्च रोषञ्च दिनमेकं सुधीस्त्यजेत्॥

यदि आंख की पुतलियां ऊपर की ओर चढ़ गई हों तो आंखों में घी लगाकर धीरे-धीरे भीतर को दबाना चाहिये। यदि दोनों जबड़े एक में न मिलते हों अर्थात् मुख फैल गया हो तो स्वेदन कराना चाहिये तथा कफ और वातनाशक ओषधियों का नास देना चाहिये अर्थात् नाक में डालना चाहिये। यदि थूक के साथ रक्त दिखाई पड़ता हो तो रक्तपित्त वाले रोगी की जैसी चिकित्सा की जाती है वैसी करनी चाहिये। आमला, रसवत, खस और धान का लावा इन

सबों को सफेद चन्दन मिश्रित जल के साथ खूब मथ कर उस में घी, शक्कर तथा शहद डाल कर पिलाया जाय तो इससे अति वमन होने से उत्पन्न हुये पूर्वोक्त प्यास आदि रोग (उपद्रव) शान्त हो जाते हैं। उत्तम रीति से वमन होने पर—हृदय, गला तथा सिर की शुद्धि (हलका तथा साफ होना), अग्नि का प्रदीप्त होना, शरीर हल्का मालूम पड़ना और कफ तथा पित्त का दोष नष्ट हो जाना ये सब लक्षण उत्पन्न होते हैं। उसके बाद (उत्तम रीति से वमन हो जाने के बाद) अपराह्न (२ बजे के बाद) में प्रदीप्त अग्नि वाले पुरुष को मूंग की दाल, साठी या अगहनी धानका चावल तथा हृदय के लिये हितकर (रुचिकारी) जङ्गली जीवों का मांस का रस (सुरुवा) इन सबों का जूस बनाकर भोजन के लिये देना चाहिये। जिसे भली भांति वमन हुआ है उसके लिये तन्द्रा, मुख से दुर्गन्ध निकलना, खुजली, संग्रहणी और विष ये सब कभी पीड़ा देने वाले नहीं होते। बुद्धिमान मनुष्य को चाहिये कि वह वमन करने पर एक दिन तक अजीर्ण भोजन, शीतल जल, व्यायाम (कसरत आदि), मैथुन (स्त्रीसङ्ग), तेल की मालिश और क्रोध इन सबों को छोड़ दे॥ २७-३३॥

इति वमनाधिकारः

अथ विरेचनम्

तत्रादौ विरेचनार्हसमयजनानाह—

स्निग्धस्विन्नाय वान्ताय दद्यात्सम्यग्विरेचनम्। अवान्तस्य त्वधःस्रस्तो ग्रहणीं छादयेत्कफः॥
मन्दाग्निं गौरवं कुर्याज्जनयेद्वा प्रवाहिकाम्। अथ वा पाचनैरामं बलासं परिपाचयेत्॥
ऋतौ वसन्ते शरदि देहशुद्धौ विरेचयेत्। अन्यदाऽऽत्ययिके कार्ये शोधनं शीलयेद् बुधः॥

विरेचन के योग्य समय तथा व्यक्ति का निर्देश—प्रथम मनुष्य को स्नेहपान तथा स्वेदन करा कर वमन करा चुकने पर उत्तम रीति से विरेचन दे क्योंकि बिना वमन कराये ही विरेचन देने पर उस मनुष्य का कफ नीचे खिसक कर ग्रहणी को ढक लेता है और उससे मन्दाग्नि तथा शरीर में गुरुता उत्पन्न हो जाती है अथवा प्रवाहिका रोग हो जाता है। यदि वमन न कराया हो तो प्रथम अपरिपक्व कफ का पाचन ओषधियों के द्वारा करावे। वसन्त तथा शरद् ऋतु में ही देहस्थित दोषों की शुद्धि के लिये विरेचन लेना उचित है। यदि प्राण सङ्कट में हो अर्थात् शोधन करना उस समय अत्यावश्यक हो तो बुद्धिमान मनुष्य वसन्तादि से अन्य ऋतुओं में भी विरेचनादि द्वारा देहशोधन कर ले॥ ३४-३६॥

*आत्ययिके = प्राणसंकटे॥ ३४-३६॥

यहां 'आत्ययिके' पद का 'प्राण-सङ्कट में' यह अर्थ समझना चाहिये॥ ३४-३६॥

पित्ते विरेचनं युञ्ज्यादामोद्भूते गदे तथा। उदरे च तथाऽऽध्माने कोष्ठशुद्धौ विशेषतः॥
दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः। शोधनैः शोधिता ये तु न तेषां पुनरुद्भवः॥
बालो वृद्धो भृशं स्निग्धः क्षतक्षीणो भयान्वितः।
श्रान्तस्तृषाऽऽर्त्तः स्थूलश्च गर्भिणी च नवज्वरी॥ ३९॥
नवप्रसूता नारी च मन्दाग्निश्च मदात्ययी। शल्यार्दितश्च रूक्षश्च न विरेच्या विजानता॥
जीर्णज्वरी गरव्याप्तो वातरोगी भगन्दरी। अर्शःपाण्डूदरग्रन्थिहृद्रोगारुचिपीडिताः॥ ४१॥
योनिरोगप्रमेहार्त्ता गुल्मप्लीहव्रणार्दिताः। विद्रधिच्छर्दिविस्फोटविसूचीकुष्ठसंयुताः॥ ४२॥
कर्णनासाशिरोवक्त्रगुदमेढ्रामयान्विताः। प्लीहशोथाक्षिरोगार्त्ताः कृमिक्षारानिलार्दिताः॥४३॥
शूलिनो मूत्रघातार्त्ता विरेकार्हा नरा मताः॥ ४४॥

पित्त की अधिकता, आमसम्बन्धी रोग, उदररोग तथा आध्मान (अफारा) होने पर एवं विशेषतः कोष्ठ की शुद्धि के लिये विरेचन अवश्य लेना चाहिये। केवल लङ्घन तथा पाचनद्वारा ही शान्त किये गये वातादि दोष सम्भव है कि किसी समय पुनः कुपित हो जायं, किन्तु जो शोधन (विरेचनादि) द्वारा शुद्ध किये गये हैं उनकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् पुनः वे प्रकुपित नहीं होते हैं। बालक, वृद्ध, स्नेहपानद्वारा अत्यन्त स्निग्ध हुये, क्षत (घाव) से क्षीण, भय से युक्त, परिश्रम करने से थके हुये, प्यास से दुःखी, स्थूल शरीर वाले, गर्भिणी स्त्री, नवीन ज्वर वाले रोगी, तत्काल प्रसव जिसे हुआ हो ऐसी स्त्री, मन्दाग्निवाले, मदात्यय रोग युक्त, शल्य (बाण आदि) लगने से पीडित तथा रूक्ष शरीर वाले जो हों उन्हें बुद्धिमान वैद्य कभी विरेचन न देवे। पुराने ज्वर वाले, विष से व्याप्त शरीर वाले, वातरोगी, भगन्दर, अर्श, पाण्डु, उदररोग, ग्रन्थि (गिल्टी), हृद्रोग तथा अरुचि से पीड़ित, योनिसम्बन्धी रोग से पीड़ित स्त्री, प्रमेह, गुल्म, प्लीहा तथा व्रण से पीड़ित, विद्रधि, वमन, विस्फोट, हैजा तथा कुष्ठ से युक्त, कान, नाक, सिर, मुख, गुदा तथा शिश्न (मूत्रेन्द्रिय) सम्बन्धी रोग वाले, प्लीहाजन्य शोथ तथा नेत्रसम्बन्धी रोग से युक्त, कृमि, क्षार तथा वायु से पीड़ित, शूल रोग वाले तथा मूत्राघात से दुःखी जो हों वे विरेचन देने के योग्य माने गये हैं ॥ ३७–४४ ॥

अथ मृदुमध्यमक्रूरकोष्ठाँस्तद्योग्यमात्राद्रव्यादीनि चाह—

बहुपित्तो मृदुः कोष्ठो बहुश्लेष्मा च मध्यमः। बहुवातः क्रूरकोष्ठो दुर्विरेच्यः स कथ्यते॥४५॥
मृद्वी मात्रा मृदौ कोष्ठे मध्यकोष्ठे च मध्यमा। क्रूरे तीक्ष्णा मता द्रव्यैर्मृदुमध्यमतीक्ष्णकैः॥४६॥
मृदुर्द्राक्षापयश्चञ्चुतैलैरपि विरिच्यते। मध्यमस्त्रिवृत्तातिक्ताराजवृक्षैर्विरिच्यते।
क्रूरः स्नुक्पयसा हेमक्षीरीदन्तीफलादिभिः॥ ४७॥

मृदु, मध्यम तथा क्रूर कोष्ठ वाले मनुष्यों तथा उनके योग्य मात्रा एवं द्रव्यों का वर्णन—अधिक पित्त वालों का कोष्ठ मृदु, अधिक कफ वालों का मध्यम तथा अधिक वात वालों का क्रूर होता है और इनका विरेचन बड़ी कठिनता से होता है। अतएव यह दुर्विरेच्य कहलाते हैं। मृदु कोष्ठ होने पर रोगी के लिये विरेचन द्रव्यों की मात्रा मृदु, मध्यम कोष्ठ होने पर मध्यम तथा क्रूर कोष्ठ होने पर तीक्ष्ण मात्रा देनी उचित है। मृदु, मध्य तथा क्रूर कोष्ठ वाले रोगियों को क्रम से मृदु, मध्यम तथा तीक्ष्ण वीर्य वाले द्रव्यों से विरेचन कराना उचित है। मृदु कोष्ठ वालों को दाख, दूध तथा एरण्ड के तेल के द्वारा, मध्यम कोष्ठ वालों को निशोथ, कुटकी तथा धनबहेरा (अमलतास) के द्वारा और क्रूर कोष्ठ वालों को थूहर का दूध, चोक तथा बड़ी दन्ती के फल (जमालगोटा) के द्वारा विरेचन कराना उचित होता है ॥ ४५–४७ ॥

चञ्चुतैलम् = एरण्डतैलम्। राजवृक्षः=धनबहेरा। हेमक्षीरी (चोक)। दन्तीफलं= बृहद्दन्तीफलम्, जयपालेति प्रसिद्धम् ॥ ४५–४७ ॥

यहाँ 'चञ्चुतैल' से 'एरण्ड का तैल', 'राजवृक्ष' से 'धनबहेरा' (अमलतास)', 'हेमक्षीरी' से 'चोक' तथा 'दन्तीफल' से 'बड़ी दन्ती का फल लोकप्रसिद्ध जमालगोटा' का बोध करना चाहिये ॥ ४५–४७ ॥

मात्रोत्तमा विरेकस्य त्रिंशद्वेगैः कफान्तिका। वेगैर्विंशतिभिर्मध्या हीनोक्ता दशवेगिका॥
द्विपलं श्रेष्ठमाख्यातं मध्यमं च पलं भवेत्। पलार्द्धं च कषायाणां कनीयस्तु विरेचनम्॥४९॥
कल्कमोदकचूर्णानां कर्षो मध्वाज्यलेहतः। कर्षद्वयं पलं वाऽपि वयोरोगाद्यपेक्षया॥५०॥
पित्तोत्तरे त्रिवृच्चूर्णं द्राक्षाक्राथादिभिः पिबेत्। त्रिफलाक्वाथगोमूत्रैः पिबेद् व्योषं कफार्दितः॥
त्रिवृत्सैन्धवशुण्ठीनां चूर्णमम्लैः पिबेन्नरः। वातार्दितो विरेकाय जाङ्गलानां रसेन वा॥५२॥

विरेचन की जब उत्तम मात्रा होती है तब विरेचन का वेग ३० बार होता है तथा अन्त में कफ निकलने लगता है। मध्यम मात्रा में विरेचन का वेग २० बार और हीन मात्रा में विरेचन का वेग १० बार होता है। जब क्वाथ द्वारा विरेचन कराया जाता है तब उसकी २ पल (८ भर) की मात्रा श्रेष्ठ, १ पल (४ भर) की मात्रा मध्यम तथा आधे पल (२ भर) की मात्रा कनिष्ठ कहलाती है। रोगी की अवस्था तथा रोग के अनुसार विचार कर मधु तथा गौ के घी के साथ मिला कर कल्क, मोदक या चूर्ण के द्वारा विरेचन कराने में इनकी मात्रा १ कर्ष (१ भर), २ कर्ष (२ भर) या १ पल (४ भर) की देनी चाहिये। जब पित्त की अधिकता हो तब दाख के क्वाथ आदि के साथ निसोथ का चूर्ण विरेचन के लिये खिलाना चाहिये। जब कफ की अधिकता हो तब विरेचन के लिये रोगी को त्रिफला का क्वाथ तथा गोमूत्र के साथ त्रिकटु (सोंठ, पीपर, मिर्च) का चूर्ण खिलाना चाहिये। वात से पीड़ित रोगी को अम्ल पदार्थों के रस के साथ अथवा जांगल जीवों के मांसरस के साथ निसोथ, सेंधा नमक तथा सोंठ का चूर्ण खिला कर विरेचन कराना चाहिये ॥ ४८–५२ ॥

एरण्डतैलं त्रिफलाक्वाथेन द्विगुणेन वा। युक्तं पीतं पयोभिर्वा न चिरेण विरिच्यते ॥५३॥

यदि एरण्ड का तेल दुगुने त्रिफला (आंवला, हर्रा, बहेरा) के क्वाथ के साथ अथवा दूध के साथ मिला कर पिलाया जाय तो विरेचन देर में नहीं होता है ॥ ५३ ॥

ॐशीघ्रमेव विरिच्यत इत्यर्थः ॥ ५३ ॥

यहाँ 'विरेचन देर में नहीं होता' इसका अर्थ यह समझना चाहिये कि 'शीघ्र ही विरेचन होता है' ॥ ५३ ॥

अथर्तुभेदेन विरेकद्रव्यभेदानाह—

त्रिवृता कौटजं बीजं पिप्पली विश्वभेषजम्। समृद्वीकारसं क्षौद्रं वर्षाकाले विरेचनम् ॥५४॥
त्रिवृद्दुरालभामुस्तशर्करोदीच्यचन्दनम्। द्राक्षाऽम्बुना सयष्ट्याह्वं शीतलञ्च घनात्यये॥५५॥

ऋतु भेद से विरेचन द्रव्यों में भेद—वर्षाऋतु में दाख का रस तथा शहद के साथ निसोथ, इन्द्रजौ, पीपर तथा सोंठ का चूर्ण खिला कर विरेचन कराना चाहिये। शरद् ऋतु में दाख के क्वाथ को शीतल करके उसके साथ निसोथ, धमासा, नागरमोथा, साफ शक्कर, सुगन्धवाला तथा मुलेठी का चूर्ण खिला कर विरेचन कराना चाहिये ॥ ५४–५५ ॥

ॐउदीच्यं = बाला। घनात्यये = शरदि ॥ ५४–५५ ॥

यहाँ 'उदीच्यम्' पद का 'सुगन्धवाला' तथा 'घनात्यये' पद का 'शरद् ऋतु में' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ५४–५५ ॥

त्रिवृता चित्रकं पाठामजाजीं सरलं वचाम्। हेमक्षीरीं हेमन्ते तु चूर्णमुष्णाम्बुना पिबेत्॥५६॥
पिप्पलीं नागरं सिन्धुं श्यामां त्रिवृतया सह। लिह्यात्क्षौद्रेण शिशिरे वसन्ते च विरेचनम् ॥
त्रिवृता शर्करा तुल्या ग्रीष्मकाले विरेचनम् ॥ ५८ ॥

हेमन्त ऋतु में गर्म जल के साथ निसोथ, चीता, पाढ़, जीरा, धूप, बालवच तथा चोक का चूर्ण खिला कर, शिशिर तथा वसन्त ऋतु में शहद के साथ पीपर, सोंठ, सेंधानमक, सारिवा और निसोथ का चूर्ण चटा कर और ग्रीष्म ऋतु में केवल निसोथ के चूर्ण में सम भाग साफ शक्कर खिलाकर विरेचन कराना चाहिये ॥ ५६–५८ ॥

० श्यामा (सारिवा) ॥ ५६–५८ ॥

यहाँ 'श्यामा' पद का 'सारिवा' अर्थ समझना चाहिये ॥ ५६–५८ ॥

अथाभयादिमोदकः—

अभया मरिचं शुण्ठीविडङ्गामलकानि च। पिप्पली पिप्पलीमूलं त्वक्पत्रं मुस्तमेव च ॥५९॥
एतानि समभागानि दन्ती तु त्रिगुणा भवेत्। त्रिवृताऽष्टगुणा ज्ञेया षड्गुणा चात्र शर्करा ॥
मधुना मोदकान्कृत्वा कर्षमात्रान्प्रमाणतः। एकैकं भक्षयेत् प्रातः शीतञ्चानु पिबेज्जलम् ॥
तावद्विरिच्यते जन्तुर्यावदुष्णं न सेवते। पानाहारविहारेषु भवेन्निर्यन्त्रणः सदा ॥ ६२ ॥
विषमज्वरमन्दाग्निपाण्डुकासभगन्दरान्। दुर्नामकुष्ठगुल्मार्शोगलगण्डोदरभ्रमान् ॥ ६३ ॥
विदाहप्लीहमेहांश्च यक्ष्माणं नयनामयान्। वातरोगांस्तथाऽऽध्मानं मूत्रकृच्छ्रादि चाश्मरीम्॥
पृष्ठपार्श्वोरुजघनजङ्घोदररुजं जयेत्। स्नेहाभ्यङ्गञ्च रोषञ्च दिनमेकं सुधीस्त्यजेत् ॥ ६५ ॥
सततं शीलनादेव पलितानि प्रणाशयेत्। अभयामोदका ह्येते रसायनवराः स्मृताः ॥ ६६ ॥

अभयादिमोदक—बड़ी हर्रें, मरिच, सोंठ, वायबिडङ्ग, आमला, पीपर, पिपरामूल, तज, तेजपात और नागरमोथा इन सभों का चूर्ण सम भाग एकत्र कर उसमें ३ गुना दन्ती के जड़ का चूर्ण, ८ गुना निसोथ का चूर्ण और ६ गुना साफ शक्कर मिला कर शहद के साथ १ कर्ष (१ भर) के बराबर-बराबर लड्डू बनाकर रख ले, उसमें से एक-एक लड्डू प्रतिदिन प्रातः काल खाकर ऊपर से शीतल जल पी ले, इससे तब तक विरेचन होता रहेगा जब तक गर्म जल या गर्म अन्न न खावे। इसके सेवन करने के समय सदा खाने, पीने तथा चलने-फिरने आदि में किसी तरह का नियम नहीं करना पड़ता है। सेवन करने से यह विषमज्वर, मन्दाग्नि, पाण्डु, कास, भगन्दर, बवासीर, कुष्ठ, गुल्म, गलगण्ड, उदररोग, भ्रमरोग, विदाह, प्लीहा, मेहरोग, यक्ष्मा, नेत्र तथा वातसम्बन्धी रोग, अफरा, मूत्रकृच्छ्रादि मूत्रसम्बन्धी रोग, पथरी एवं पीठ, पंसुली, ऊरु, जङ्घा तथा उदर की पीड़ा को दूर करता है। बुद्धिमान मनुष्य को चाहिये कि वह जिस दिन इसका सेवन करे उस दिन तेल की मालिश और क्रोध करना छोड़ दे। इसका निरन्तर सेवन करने से पलित (अकाल में बाल पक जाना) रोग नष्ट हो जाता है। अतएव यह अभयामोदक रसायनों में उत्तम रसायन माना गया है ॥ ५९–६६ ॥

अथ विरेकोत्तरकर्माण्याह—

पीत्वा विरेचनं शीतजलैः संसिच्य चक्षुषी। सुगन्धि किञ्चिदाघ्राय ताम्बूलं शीलयेद् बुधः ॥
निर्वातस्थो न वेगांश्च धारयेन्न शयीत च। शीताम्बु न स्पृशेत्क्वापि कोष्णनीरं पिबेन्मुहुः ॥
बलासौषधपित्तानि वायुर्वान्ते यथा व्रजेत्। रेकात्तथा मलं पित्तं भेषजञ्च कफो व्रजेत् ॥६९॥

विरेचन लेने के बाद कर्त्तव्य कर्म—विरेचन ओषधि पीने के बाद दोनों आंखों में शीतल जल का छींटा देकर और कोई सुगन्धित पदार्थ इत्र आदि थोड़ा सूंघ कर पान खाना चाहिये और वायुरहित स्थान में बैठना चाहिये। शौच का वेग रोकना, सोना तथा शीतल जल का स्पर्श कभी भी नहीं करना चाहिये बल्कि किञ्चित् गर्म जल बारम्बार पीना चाहिये। वमन करने पर जिस तरह से कफ, औषध, पित्त तथा वायु मुख की राह से निकलता हैं, उसी तरह से विरेचन लेने पर गुदा की राह से मल, पित्त, औषध तथा कफ निकलता है ॥ ६७–६९ ॥

अथ दुर्विरिक्तातिविरिक्तयोर्लक्षणानि भेषजं चाह—

दुर्विरिक्तस्य नाभेस्तु स्तब्धता कुक्षिशूलरुक्। पुरीषवातसङ्गश्च कण्डूमण्डलगौरवम् ॥ ७० ॥
विदाहोऽरुचिराध्मानं भ्रमश्छर्दिश्च जायते। तं पुनः पाचनैः स्नेहैः पक्त्वा स्निग्धं तु रेचयेत्॥
तेनास्योपद्रवा यान्ति दीप्ताग्निर्लघुता भवेत्। ७१ ॥
विरेकस्यातियोगेन मूर्च्छा भ्रंशो गुदस्य च। शूलं कफातियोगः स्यान्मांसधावनसन्निभम् ॥
मेदोनिभं जलाभासं रक्तञ्चापि विरिच्यते। तस्य शीताम्बुभिः सिक्त्वा शरीरं तण्डुलाम्बुभिः॥

मधुमिश्रैस्तथा शीतैः कारयेद्वमनं मृदु । सहकारत्वचः कल्को दध्ना सौवीरकेण वा ॥७४॥
पिष्ट्वा नाभिप्रलेपेन हन्त्यतीसारमुल्वणम् । सौवीरं तु यवैरामैः पक्वैर्वा निस्तुषीकृतैः ॥७५॥

जिसे भली भांति विरेचन नहीं हुआ या अधिक विरेचन हुआ है उसके क्रम से लक्षण तथा औषध—जिसे भली भांति विरेचन नहीं हुआ है उसकी नाभि का स्तब्ध होना, कोख में शूल तथा पीड़ा होना, मल तथा अधोवायु का रुक जाना, देह में खुजली होना तथा चकत्ते पड़ जाना, गुरुता (शरीर भारी मालूम पड़ना), दाह, अरुचि, अफारा, भ्रम तथा वमन का होना ये सब लक्षण होते हैं। उपचार-ऐसे लक्षण वाले को पाचन ओषधिद्वारा प्रथम आम का पाचन करके पश्चात् स्नेहपान द्वारा स्निग्ध करके पुनः विरेचन औषध देकर रेचन करावे, ऐसा करने से पूर्वोक्त सब उपद्रव शान्त हो जाते हैं एवं अग्नि प्रदीप्त होती है तथा शरीर में लघुता उत्पन्न होती है।

जिसे आवश्यकता से अधिक विरेचन हुआ है उसके मूर्च्छा, गुदभ्रंश (कांच का निकल आना), शूल, कफ का अधिक निकलना और मांस के धोवन के समान या मेद के समान अथवा जल के समान गुदा से रक्त का निकलना ये सब लक्षण प्रकट होते हैं। उपचार-उक्त लक्षणयुक्त मनुष्य को उस समय उसके शरीर को शीतल जल से सींचकर शीतल चावल के धोवन में शहद मिलाकर पिलाने के द्वारा मृदु (थोड़ा) वमन करावे और आम के पेड़ की छाल को दही अथवा सौवीर के साथ चटनी के समान पीस कर नाभि पर लेप करावे, इस से उग्र अतीसार भी नष्ट हो जाता है और कच्चे तथा पक्के भूसी रहित जौ के द्वारा सौवीर बनता है ॥ ७०-७५ ॥

*सौवीरं = सन्धानम् ॥ ७३ ॥

यहां 'सौवीर बनता है' इसका अर्थ 'सन्धान करने से सौवीर बनता है' यह समझना चाहिये ॥ ७०-७५ ॥

अजाक्षीरं रसञ्चापि वैष्किरं हारिणं तथा । शालिभिः षष्टिकैस्तुल्यैर्मसूरैर्वापि भोजयेत्॥७६॥

शालि (जड़हन) या साठी धान के चावल के साथ उसके बराबर बकरी का दूध, विष्किर पक्षियों के या हरिण के मांस का रस अथवा मसूर के जूस के साथ भोजन के लिये देना चाहिये ॥ ७६ ॥

*वर्त्तकालावविकिरकपिञ्जलकतित्तिराः । चकोरक्रकराद्याश्च विष्किराः समुदाहृताः ।
कपिञ्जल इति ख्यातो लोके कपिशतित्तिरः ॥
क्रकरः 'कराट' इति लोके । हरिणस्ताम्रवर्णः स्याद् मृगः ॥ ७६ ॥

यहां 'विष्किर पक्षियों' से बटेर, लवा, तीतर, कपिञ्जल, (कबरा-काला मिश्रित पीले वर्ण का) तीतर, चकोर, क्रकर (लोकप्रसिद्ध कराट) इन सबों का बोध करना चाहिये और 'हरिण' से 'तामे के समान वर्ण वाले मृग' को समझना चाहिये ॥ ७६ ॥

शीतैः संग्राहिभिर्द्रव्यैः कुर्यात्संग्रहणं भिषक् । लाघवे मनसस्तुष्टावनुलोमं गतेऽनिले ॥७७॥
सुविरिक्तं नरं ज्ञात्वा पाचनं पाययेन्निशि । इन्द्रियाणां बलं बुद्धेः प्रसादो वह्निदीप्तता ॥७८॥
धातुस्थैर्यं वयःस्थैर्यं भवेद्रेचनसेवनात् । प्रवातसेवां शीताम्बुस्नेहाभ्यङ्गमजीर्णताम् ॥७९॥
व्यायामं मैथुनञ्चैव न सेवेत विरेचितः । शालिषष्टिकमुद्गाद्यैर्यवागूं भोजयेत्कृताम् ॥८०॥

वैद्य को चाहिये कि वह अधिक दस्त आने पर रोकने वाली शीतल ओषधियों से दस्त बन्द करे और जब रोगी के शरीर में लघुता मालूम पड़ने लगे तथा मन में प्रसन्नता एवं वायु का अनुलोमन अर्थात् अधोवायु यथावत् रीति से होने लगे तब उसका विरेचन बहुत अच्छी रीति से हुआ है यह समझ कर उसे रात्रि में पाचन ओषधि देवे। उचित विरेचन लेने से मनुष्य की

इन्द्रियों में बल आता है, बुद्धि स्वच्छ होती है, अग्नि प्रदीप्त होती है, धातुओं की तथा आयु की स्थिरता है।

विरेचन लेने वाला मनुष्य—अधिक वायु में रहना, शीतल जल, तेल की मालिश, अजीर्ण पैदा करने वाला भोजन, व्यायाम (कसरत आदि), मैथुन (स्त्री-सहवास) और शालि (जड़हन) या साठी धान का चावल, मूंग आदि की दाल से बनाई गई यवागू का सेवन करे ॥ ७७-८० ॥

जङ्गालविष्किराणां वा रसैः शाल्योदनं हितम् ॥ ८१ ॥

अथवा जंघालसंज्ञक जीवों का तथा विष्किरसंज्ञक पक्षियों के मांसरस (सुरुवा) के साथ शालि (जड़हन) धान का चावल खाय क्योंकि यह हितकारी होता है ॥ ८१ ॥

***हरिणैणकुरङ्गर्ष्यवातायुमृगमात्रकाः। राजीवः पृषतश्चैव जङ्घालाः शरभादयः ॥८१॥**

यहां 'जङ्घाल' पद से 'हरिण, काला हरिण, कुरङ्ग हरिण, रोज हरिण, वातायु, राजीव तथा चित्तल हरिण आदि मृग जाति के जीव मात्र तथा शरभ आदि पशुओं' का बोध करना चाहिये ॥

इति विरेकाधिकारः।

अथानुवासनम्।

तत्रादावनुवासननिरूहयोर्भेदमाह—

वस्तिर्द्विधाऽनुवासाख्यो निरूहश्च ततः परम्। यः स्नेहो दीयते स स्यादनुवासननामकः॥
कषायक्षीरतैलैर्यो निरूहः स निगद्यते। वस्तिभिर्दीयते यस्मात्तस्माद्वस्तिरिति स्मृतः ॥८३॥

अनुवासन तथा निरूह के भेद—वस्ति दो प्रकार की होती है १ अनुवासन और २ निरूह। **अनुवासन**—जहां केवल स्नेह पदार्थ की वस्ति दी जाती है उसे 'अनुवासन' कहते हैं। **निरूह**—जहां क्वाथ, दूध तथा तेल मिलाकर वस्ति दी जाती है उसे 'निरूह' कहते हैं। अनुवासन तथा निरूह में तैलादि का प्रयोग 'वस्ति' के द्वारा किया जाता है अतएव ये दोनों वस्ति कहलाते हैं ॥ ८२-८३ ॥

***वस्तिभिः=मृगादीनां मूत्राशयैः ॥ ८२-८३ ॥**

यहां 'वस्ति' पद से 'मृग आदि के मूत्राशय' का बोध करना चाहिये, क्योंकि—मूत्राशय का नामान्तर 'वस्ति' है ॥ ८२-८३ ॥

अथ स्नेहवस्तिविधिमाह—

तत्रानुवासनाख्यो हि वस्तिर्यः सोऽत्र कथ्यते। अनुवासनभेदश्च मात्रावस्तिरुदीरितः ॥८४॥
पलद्वयं तस्य मात्रा तस्मादर्द्धाऽपि वा भवेत्। अनुवास्यस्तु रूक्षः स्यात्तीक्ष्णाग्निः केवलानिली॥
नानुवास्यस्तु कुष्ठी स्यान्मेही स्थूलस्तथोदरी। नास्थाप्या नानुवास्याश्च जीर्णोन्मादतृडर्दिताः॥
शोथमूर्च्छाऽरुचिभयश्वासकासक्षयातुराः ॥ ८६ ॥

स्नेहवस्ति (अनुवासन) की विधि—ऊपर कही हुई वस्तियों में जो अनुवासन नामक वस्ति है उसी के विषय में कहते हैं। अनुवासन वस्ति का ही भेद 'मात्रावस्ति' है। मात्रावस्ति में स्नेह की मात्रा दो पल (८ तोले) या इसकी आधी एक पल (४ तोले) की होती है। जो मनुष्य रूक्ष शरीर वाला तथा तीक्ष्ण अग्नि वाला हो एवं केवल वातरोगी हो वह अनुवासनवस्ति देने योग्य होता है। जो कुष्ठ तथा मेहरोग से पीड़ित हो या स्थूल शरीर वाला अथवा उदर रोग से युक्त हो वह अनुवासन वस्ति के योग्य नहीं होता। जो जीर्ण शरीर वाला तथा उन्माद, तृषा, शोथ, मूर्च्छा, अरुचि, भय, श्वास (दमा) या क्षय रोग से पीड़ित हों वे निरूहवस्ति तथा अनुवासन वस्ति दोनों ही के योग्य नहीं होते हैं ॥ ८४-८६ ॥

नेत्रं कार्यं सुवर्णादिधातुभिर्वृक्षवेणुभिः। नलैर्दन्तैर्विषाणाग्रैर्मणिभिर्वा विधीयते ॥ ८७ ॥

वस्ति देने की नली—सोने आदि धातुओं की या वृक्ष, बांस, नरसल, हाथी आदि जीवों का दांत, सींग का अग्रभाग तथा मणि इन सबों में से किसी एक की बना लेनी चाहिये ॥ ८७ ॥

***नेत्रं = नाडी। तथा चोक्तं विश्वप्रकाशे—**

'नेत्रं मन्थगुणे वस्त्र तरुमूले विलोचने। नेत्रबन्धे च नाड्यां च नेत्रो नेतरि भेद्यवद्'इति ॥८७॥

यहां 'नेत्र' पद का 'नाड़ी अर्थात् नली' यह अर्थ समझना चाहिये। क्योंकि 'विश्वप्रकाश कोश' में यह कहा हुआ है कि—नेत्र शब्द दूध या दही मथने की मथानी की डोरी, वस्त्र, वृक्ष का मूल भाग, आंख, नेत्र का बन्ध तथा नाड़ी (नल) इन अर्थों में नपुंसकलिङ्गी होता है। तथा नेता (ले जाने वाला) इस अर्थ में विशेष्य पद के अनुसार तीनों लिङ्ग में होता है ॥ ८७ ॥

एकवर्षात्तु षड्वर्षाद्यावन्मानं षडङ्गुलम्। ततो द्वादशकं यावन्मानं स्यादष्टसम्मितम् ॥८८॥
ततः परं द्वादशभिरङ्गुलैर्नेत्रदीर्घता। मुद्गच्छिद्रं कलायाभं छिद्रं कोलास्थिसन्निभम् ॥ ८९ ॥
यथासंख्यं भवेन्नेत्रं श्लक्ष्णं गोपुच्छसन्निभम्। गोपुच्छसन्निभं मूले स्थूलं तस्मात् क्रमात् कृशम् ॥

एक वर्ष से लेकर ६ वर्ष तक के बालक को यदि वस्ति देनी हो तो वस्ति की लम्बाई ६ अङ्गुल की होनी चाहिये। ६ वर्ष से लेकर १२ वर्ष तक के लिये ८ अंगुल तथा १२ वर्ष से ऊपर की अवस्था वाले मनुष्य के लिये १२ अंगुल की होनी चाहिये। पूर्वोक्त ६–८–१२ अंगुल की लम्बी तीनों नलियों का छिद्र क्रम से मूंग, मटर तथा बेर की गुठली जाने लायक होना चाहिये। और वे नलियां चिकनी तथा गो के पूंछ की समान मूल भाग में अपेक्षाकृत मोटी होती हुई उत्तरोत्तर क्रम से पतली होनी चाहिये ॥ ८८–९० ॥

***मुद्गच्छिद्रादिप्रमाणं नेत्रं क्रमेण षड्वर्षाय द्वादशवर्षाय तदूर्ध्ववर्षाय ज्ञेयम् ॥८८–९०॥**

यहां 'मूंग आदि के जाने लायक जो नलियों के छिद्र का तीन प्रकार का प्रमाण कहा गया है उसे क्रम से ६ वर्ष तथा १२ वर्ष तक एवं उससे ऊपर की अवस्था वालों के लिये समझना चाहिये। अर्थात् ६ वर्ष तक वालों के लिये जो नली हो उसका छिद्र मूंग जाने लायक हो, १२ वर्ष तक वालों के लिये मटर जाने लायक और उससे ऊपर वालों के लिये बेर की गुठली जाने लायक नली का छिद्र हो' यह समझना चाहिये ॥ ८८–९० ॥

आतुराङ्गुष्ठमानेन मूले स्थूलं निधीयते। कनिष्ठिकापरीणाहमग्रे च गुटिकामुखम् ॥ ९१ ॥
तन्मूले कर्णिके द्वे च कार्ये भागाच्चतुर्थकात् ॥ ९२ ॥
योजयेत्तत्र वस्तिञ्च बन्धद्वयविधानतः। मृगाजशूकरगवां महिषस्यापि वा भवेत् ॥ ९३ ॥

जिसे वस्ति देना हो उस रोगी के अंगूठे की मोटाई बराबर वस्ति की नली के मूल भाग की मुटाई होनी चाहिये और मूल भाग से ऊपर की ओर की मुटाई रोगी के कनिष्ठिका अङ्गुली के बराबर होनी चाहिये तथा वस्तिमुख पर गोली की भांति गोल आकार बना होना चाहिये। वस्ति की नली के ऊपर की ओर तीन हिस्सा छोड़कर बाकी नीचे चौथे भाग रूप मूल में दो कर्णिका बनानी चाहिये। उसके बाद उन्हीं दोनों कर्णिकाओं में वस्ति (मूत्राशय की कोथली) के दोनों सिराओं को दुहरा गांठ लगा कर मजबूती से बांध दे। वस्ति मृग, बकरा, शूअर वा बैल की होनी चाहिये ॥ ९१–९३ ॥

***परीणाहोऽत्र स्थौल्यम् ॥**

यहाँ 'परीणाह' पद का 'मुटाई' अर्थ समझना चाहिये।

***कर्णिका = यवादिकर्णवत्।**

यहाँ 'कर्णिका बनानी चाहिये' इसका गाय आदि के कान के समान कर्णिका बनानी चाहिये–यह अर्थ समझना चाहिये।

***वस्तिरिति शेषः ॥ ९१–९३ ॥**

यहां 'वस्ति' पद मूलमें न होने से उसका योग्यतावश 'ऊपर से अध्याहार किया गया है'।

मूत्रकोषस्य बस्तिस्तु तदलाभे तु चर्मणः। कषायरक्तः स मृदुर्वस्तिः स्निग्धो दृढो हितः ॥९४॥
व्रणवस्तेस्तु नेत्रं स्यात्श्लक्ष्णमष्टाङ्गुलोन्मितम्। मुद्गच्छिद्रं गृध्रपक्षनलिकापरिणाहि च ॥९५॥
शरीरोपचयं वर्णं बलमारोग्यमायुषः। कुरुते परिवृद्धिं च वस्तिः सम्यगुपासितः ॥ ९६ ॥
दिवा शीते वसन्ते च स्नेहबस्तिः प्रदीयते। ग्रीष्मवर्षाशरत्काले रात्रौ स्यादनुवासनम् ॥९७॥

वस्ति उक्त जीवों के मूत्राशय की होनी चाहिये यदि मूत्राशय की न हो तो चमड़े की बना लेनी चाहिये। बस्ति कषाय (कसैले) रङ्ग से रङ्गी हुई, कोमल, चिक्कन तथा दृढ़ हो तो हितकर होती है। व्रण (घाव) में यदि बस्ति देनी हो तो उसकी नली चिकनी, आठ अङ्गुल लम्बी, मूंग जाने लायक छिद्रवाली तथा गिद्ध के पंख की नली के समान होनी चाहिये। यदि बस्ति भली भांति दी जाय तो उससे शरीर, वर्ण (शरीर का रङ्ग), बल, आरोग्य तथा आयु की वृद्धि होती है। शीत तथा वसन्त ऋतु में दिन के समय स्नेह की बस्ति उत्तम होती है। ग्रीष्म, वर्षा तथा शरद् ऋतु में रात्रि के समय बस्ति देनी चाहिए ॥ ९४–९७ ॥

न चातिस्निग्धमशनं भोजयित्वाऽनुवासयेत्। मदं मूर्च्छां च जनयेद् द्विधा स्नेहः प्रयोजितः ॥९८॥

रोगी को अतिस्निग्ध (अत्यन्त स्नेहयुक्त) पदार्थ भोजन कराकर अनुवासन (स्नेह-वस्ति) नहीं देना चाहिये। क्योंकि भोजन तथा बस्ति दोनों ही में स्नेह का प्रयोग करने से रोगी को मद तथा मूर्च्छा उत्पन्न होती है ॥ ९८ ॥

***द्विधा = भोजने वस्तौ च ॥ ९८ ॥**

यहां 'द्विधा' पद का 'भोजन तथा वस्ति दोनों ही में' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ९८ ॥

रूक्षभुक्तवतोऽत्यन्तं बलं वर्णं च हापयेत्। युक्तस्नेहमतो जन्तुं भोजयित्वाऽनुवासयेत् ॥९९॥

अत्यन्त रूखा अन्न जिसने भोजन किया है उसे यदि बस्ति दी जाय तो उससे भी बल तथा वर्ण की हानि होती है। अतः रोगी को यथोचित स्नेह (घी) युक्त भोज्य पदार्थ भोजन कराकर अनुवासन (स्नेहबस्ति) देना चाहिये ॥ ९९ ॥

***युक्तस्नेहं = यथोचितस्नेहं भोज्यं भोजयित्वेत्यर्थः ॥ ९९ ॥**

यहां 'युक्तस्नेह' पद का 'यथोचित स्नेह (घी) युक्त भोज्य पदार्थ' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ९९ ॥

हीनमात्रावुभौ वस्ती नातिकार्यकरौ स्मृतौ। अतिमात्रौ तथाऽऽनाहक्लमातीसारकारकौ ॥१००॥

अनुवासन तथा निरूह नामक ये दोनों बस्ति यदि हीन मात्रा में दी जायँ तो वे अत्यन्त उपकारक नहीं होती हैं और यदि अधिक मात्रा में दी जायँ तो अफारा, क्लान्ति तथा अतीसार उत्पन्न करने वाली होती हैं ॥ १०० ॥

***उभौ वस्ती = अनुवासननिरूहाख्यौ ॥ १०० ॥**

यहां 'उभौ वस्ती' का 'अनुवासन तथा निरूह नामक, ये दोनों वस्ति' यह अर्थ समझना चाहिये ॥

उत्तमा स्यात्पलैः षड्भिर्मध्यमा स्यात्पलैस्त्रिभिः। पलार्ध्यर्द्धेन हीना स्यादुक्ता मात्राऽनुवासने ॥
शताह्वासैन्धवाभ्यां च देयं स्नेहे च चूर्णकम्। तन्मात्रोत्तममध्यान्त्या षट्चतुर्द्वयमाषकैः ॥
विरेचनात्सप्तरात्रे गते जातबलाय च। भुक्तान्नायानुवास्याय वस्तिर्देयोऽनुवासनः ॥१०३॥

(स्नेहवस्ति) देने में ६ पल (२४ तो०) की मात्रा उत्तम, ३ पल (१२ तो०) की मध्यम

और १॥ पल (६ तो०) की मात्रा हीन कही हुई है। वस्ति देने के लिये जो स्नेह हो उसमें सौंफ तथा सेन्धा नमक का चूर्ण डालना चाहिये और उस (चूर्ण) की मात्रा ६ माशे की उत्तम, ४ माशे की मध्यम तथा २ माशे को हीन समझी जाती है। जिसे अनुवासन (स्नेहवस्ति) देना हो उसे विरेचन लिये हुये जब सात रात्रि व्यतीत हो जाय तथा जब उसे बल आ जाय तब भोजन कराने के बाद अनुवासन वस्ति देनी चाहिये। १०१-१०३॥

तथाऽनुवास्यं स्वभ्यक्तमुष्णाम्बुस्वेदितं शनैः।
भोजयित्वा यथाशास्त्रं कृतचङ्क्रमणं ततः। उत्सृष्टानिलविण्मूत्रं योजयेत्स्नेहवस्तिना ॥१०४॥

अनुवासन वस्ति देने योग्य रोगी को प्रथम भलीभाँति तेल की मालिश करके धीरे-धीरे गर्म जल से स्नान करा चुकने पर भोजन कराकर शास्त्रानुसार धीरे-धीरे टहला कर, मल, मूत्र तथा वायु का त्याग कराकर अन्त में स्नेहवस्ति देनी चाहिये ॥ १०४॥

*उष्णाम्बुस्वेदितम् = उष्णाम्बुना स्नपितम् ॥ १०४॥

यहाँ 'उष्णाम्बुस्वेदितम्' पद का 'गर्म जल से स्नान करा चुकने पर' यह भावार्थ समझना चाहिये ॥ १०४॥

सुप्तस्य वामपार्श्वेन वामजङ्घाप्रसारिणः। कुञ्चितापरजङ्घस्य नेत्रं स्निग्धे गुदे न्यसेत् ॥१०५॥
बद्ध्वा वस्तिमुखं सूत्रैर्वामहस्तेन धारयेत्। पीडयेद्दक्षिणेनैव मध्यवेगेन धीरधीः ॥ १०६॥
जृम्भाकासक्षवादींश्च वस्तिकाले न कारयेत्। त्रिंशन्मात्रामितः कालः प्रोक्तो वस्तेस्तु पीडने ॥
ततः प्रणिहिते स्नेह–उत्तानो वाक्शतं भवेत्। प्रसारितः सर्वगात्रैर्यथावीर्यं प्रसर्पति ॥१०८॥
स्वजानुनः करावर्त्तं कुर्याच्छोटिकया युतः। एषा मात्रा भवेदेका सर्वत्रैवैष निश्चयः ॥१०९॥
निमेषोन्मेषणं पुंसामङ्गुल्या छोटिकाऽथ वा। गुर्वक्षरोच्चारणं वा स्यान्मात्रेयं स्मृता बुधैः ॥

बायें करवट से सोये हुवे तथा बाईं जंघा पसारे हुये एवं दाहिनी जंघा सिकोड़े हुये रोगी की एरण्डादि तैल से चिकनी की हुई गुदा के अन्दर वस्ति की नली को रख और उसके बाद डोरे से बंधे हुये वस्ति के मुखको बायें हाथ से पकड़ ले और दहिने हाथ से मध्यम वेग से दाब दे। वस्ति देने के समय रोगी को जम्भाई लेना, खांसना तथा छींकना ये सब कार्य करने के लिये मना कर दे। वस्ति को दबाये रहने का समय ३० मात्रा तक कहा हुआ है। उसके बाद उक्तरीति से बस्ति स्नेह ले चुकने पर १ से १०० तक गिन्ती गिनने के समय तक रोगी को हाथ-पैर फैलवा कर उत्तान लेटा रहने दे ऐसा करने से उसके शरीर में स्नेहादि का यथोचित प्रभाव सर्वत्र फैल जाता है। अपने घुटने के ऊपर एकबार हाथ फिराकर चुटकी बजाने में जितना समय लगता है उसे १ मात्रा का काल कहते हैं। अथवा जितना समय पुरुषों के पलक बन्द कर खोलने में लगता है या चुटकी बजाने में किंवा गुरु अक्षर (आ आदि) के उच्चारण करने में लगता है उतने समय के सदृश काल को विद्वान् लोग 'मात्रा' कहते हैं ॥ १०५-११० ॥

*यथावीर्यं स्नेहादि ॥ १०५-११० ॥

यहां 'यथावीर्यम्' पद का 'स्नेहादि यथावीर्य' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १०५-११० ॥

ताडयेत्तलयोरेनं त्रींस्त्रीन्वाराञ्छनैः शनैः। स्फिजोश्चैव तथा श्रोणीं शय्यां चैवोत्क्षिपेत्ततः॥
स्फिजोश्चैनं स्वपाणिभ्यां पूर्ववत्ताडयेद् बुधः ॥ ११२ ॥
शय्याञ्च पादतस्तस्य त्रीन्वारानुत्क्षिपेत्ततः। जाते विधाने तु ततः कुर्यान्निद्रां यथासुखम् ॥

इसके बाद रोगी के दोनों पैर के तलुओं में तीन तीन बार धीरे २ हाथ से ठोके और इसी भाँति दोनों कूल्हों पर भी तीन-तीन बार ठोके। उसके बाद पैताने के तरफ से शय्या को तथा कटि (कमर) को तीन बार उचकावे, पुनः दोनों कूल्हों पर पूर्व की भाँति अपने हाथों से तीन बार

ढोके और पैताने के तरफ की शय्या को तीन बार उचकावे। इस प्रकार उक्त विधि के कर चुकने पर रोगी को सुखपूर्वक सोने के लिये कह दें॥ १११-११३॥

सानिलः सपुरीषश्च स्नेहः प्रत्येति यस्य तु। उपद्रवं विना शीघ्रं स सम्यगनुवासितः॥११४॥

जिस रोगी के अधोवायु तथा मल के साथ विना उपद्रव के वस्ति द्वारा दिया हुआ स्नेह (तेल) यदि गुदा के मार्ग से बाहर निकल आवे तो उसे 'उत्तम रीति से अनुवासनवस्ति दी गई' ऐसा समझना चाहिये॥ ११४॥

*उपद्रवस्थाने 'ओषचोषावि'ति सुश्रुते पाठः॥ ११४॥

यहाँ 'उपद्रवम्' के स्थान पर 'ओषचोषौ' ऐसा पाठ सुश्रुत में मिलता है॥ ११४॥

जीर्णान्नमथ सायाह्ने स्नेहे प्रत्यागते पुनः। लघ्वन्नं भोजयेत्कामं दीप्ताग्निस्तु नरो यदि॥११५॥

गुदामार्ग से स्नेह के बाहर निकल आने पर और भोजन किये हुये अन्न के पच जाने पर यदि रोगी की अग्नि प्रदीप्त हो तो उसे रुचि के अनुसार लघु (जल्दी पच जाने वाला) अन्न भोजन करावे॥ ११५॥

अनुवासिताय दातव्यमितरेऽह्नि सुखोदकम्। धान्यशुण्ठीकषायं वा स्नेहव्यापत्तिनाशनम्॥

इस भाँति जिसे अनुवासन वस्ति दी गई हो उसे दूसरे दिन गर्म जल अथवा धनिया तथा सोंठ का क्वाथ स्नेहसम्बन्धी व्याधियों (विकारों) को दूर करने के लिये पिलाना चाहिये॥११६॥

*सुखोदकम् = उष्णोदकम्। व्यापत्तिः = व्याधिः॥ ११६॥

यहाँ 'सुखोदकम्' का 'गर्म जल' तथा 'व्यापत्ति' का 'व्याधि (विकार)' अर्थ समझना चाहिये॥

अनेन विधिना षड्वा सप्त चाष्टौ नवापि वा। विधेया वस्तयस्तेषामन्ते चैव निरूहणम्॥११७॥

दत्तस्तु प्रथमो बस्तिः स्नेहयेद्बस्तिवङ्क्षणौ। सम्यग्दत्तो द्वितीयस्तु मूर्द्धस्थमनिलं जयेत्॥११८॥

बलं वर्णञ्च जनयेत्तृतीयस्तु प्रयोजितः। चतुर्थपञ्चमौ दत्तौ स्नेहयेतां रसासृजी॥ ११९॥

षष्ठो मांसं स्नेहयति सप्तमो मेद एव च। अष्टमो नवमश्चापि मज्जानञ्च यथाक्रमम्॥१२०॥

इस प्रकार (पूर्वोक्त विधि के अनुसार) रोगी को योग्यतानुसार ६, ७, ८ या ९ बार तक अनुवासन वस्ति दे चुकनेपर अन्त में निरूहण वस्ति देनी चाहिये। रोगी को उत्तम रीति से प्रथम बार अनुवासन वस्ति देने पर उसके मूत्राशय तथा पेड़ू का स्नेहन होता है। दूसरी बार की वस्ति (अनुवासन) से मस्तक की वायु का शमन होता है। तीसरी बार की वस्ति से बल तथा वर्ण की उत्पत्ति होती है। चौथी तथा पाँचवीं बार की वस्ति से रस तथा रक्त का, छठीं बार की वस्ति से मांस का, सातवीं बार की वस्ति से मेदा का, आठवीं बार की वस्ति से अस्थियों का एवं नवीं बार की वस्ति से मज्जा का स्नेहन होता है॥ ११७-१२०॥

*यथाक्रममिति वचनादष्टमोऽस्थि स्नेहयेत्॥ ११७-१२०॥

यहाँ 'यथाक्रमम्' पद से 'आठवीं बार की वस्ति से अस्थियों का स्नेहन होता है' यह अर्थ समझना चाहिये॥ ११७-१२०॥

एवं शुक्रगतान्दोषान्द्विगुणः साधु साधयेत्॥ १२१॥

इस प्रकार अट्ठारह दिन तक अट्ठारह वस्ति भली भाँति से लेने पर शुक्रगत सभी दोष दूर हो जाते हैं॥ १२१॥

*द्विगुणः = अष्टादशदिवसावधिको वस्तिः॥ १२१॥

यहाँ 'द्विगुणः' पद का 'अट्ठारह दिन तक अट्ठारह वस्ति' यह अर्थ समझना चाहिये॥१२१॥

अष्टादशाष्टादशकान्दिनायो ना निषेवते। स कुञ्जरबलोऽश्वस्य जवतुल्योऽमरप्रभः॥ १२२॥

जो पुरुष १८ दिन में १८ वस्तियों का सेवन करता है वह हाथी के समान बलवान, घोड़े के समान वेगवान तथा देवता के समान कान्तिमान होता है॥ १२२॥

रूक्षाय बहुवाताय स्नेहबस्तिं दिने दिने।
दद्याद्वैद्यस्तथाऽन्येषामग्न्याबाधभयात् त्र्यहात्। स्नेहोऽल्पमात्रो रूक्षाणां दीर्घकालमनत्ययः॥

जो मनुष्य रूक्ष शरीर वाला और अधिक वातसम्बन्धी दोष से पीड़ित हो उसे नित्य बस्ति देवे। इससे अन्य पुरुषों को तो अग्नि का बाध (मन्दता) होने के भय से तीन तीन दिन पर अनुवासन बस्ति देनी चाहिये। रूक्ष शरीर वालों के लिये थोड़ी मात्रा में अनुवासन बस्ति दीर्घकाल तक भी दी जाय तो कोई हानिकारक नहीं होती॥ १२३॥

ॐअनत्ययः=अबाधः॥ १२३॥

यहां 'अनत्यय' पद का 'अबाध' अर्थात् कोई हानिकारक नहीं होती है—यह अर्थ समझना चाहिये॥ १२३॥

तथा निरूहः स्निग्धानामल्पमात्रः प्रशस्यते।
अथ वा यस्य तत्कालं स्नेहो निर्याति केवलः। तस्याप्यल्पतरो देयो न हि स्निग्धेऽवतिष्ठते॥

स्निग्ध शरीर वालों के लिये थोड़ी मात्रा में निरूहबस्ति देना उचित होता है। अथवा जिस रोगी को स्नेह बस्ति देने पर तत्काल ही केवल स्नेह (तेल) गुदा के मार्ग से बाहर निकल आता हो उसके लिये अत्यन्त थोड़ी मात्रा स्नेह की बस्ति देने में लेनी चाहिये। क्योंकि स्निग्ध शरीर में बस्ति द्वारा दिया हुआ स्नेह नहीं ठहरता॥ १२४॥

ॐ अवतिष्ठते बस्तः स्नेह इति शेषः॥ १२४॥

यहां 'बस्ति द्वारा दिया हुआ स्नेह' यह ऊपर से समझ लिया जाता है॥ १२४॥

अशुद्धस्य मलोन्मिश्रः स्नेहो नैति यदा पुनः। तदाऽङ्गसदनाध्मानै शूलं श्वासश्च जायते॥
पक्वाशये गुरुत्वञ्च तत्र दद्यान्निरूहणम्। तीक्ष्णं तीक्ष्णौषधैर्युक्तं फलवर्त्तिमथापि वा॥१२६॥
यथाऽनुलोमनो वायुर्मलः स्नेहश्च जायते। तथा विरेचनं दद्यात्तीक्ष्णं नस्यञ्च शस्यते॥१२७॥
यस्य नोपद्रवं कुर्यात्स्नेहबस्तिरनिःसृतः। सर्वोऽल्पो व्यावृतो रौक्ष्यादुपेक्ष्यः स विजानता॥
अनायातं त्वहोरात्रे स्नेहं संशोधनैर्हरेत्। स्नेहबस्तावनायाते नान्यः स्नेहो विधीयते॥१२९॥

जिसकी अच्छी तरह से शुद्धि नहीं हुई है ऐसे मनुष्य का मल से मिला हुआ स्नेह जब पुनः बाहर नहीं निकलता तब उसके अङ्गों में शिथिलता आ जाती है तथा अफारा, शूल और श्वास उत्पन्न हो जाता है और पक्वाशय में गुरुता होती है। ऐसी अवस्था होने पर तीक्ष्ण ओषधियों से युक्त तीक्ष्ण निरूह बस्ति देनी चाहिये। अथवा वस्त्रादि में औषध लपेट कर उसकी बत्ती बनाकर गुदा में देनी चाहिये जिससे कि वायु का अनुलोमन होकर मल के सहित स्नेह बाहर निकल आवे। उक्त अवस्था में विरेचन एवं नस्य भी देना उत्तम होता है। स्नेहबस्ति देने पर यदि वह बाहर न निकलने से कोई उपद्रव न करे तो यह समझना चाहिये कि उसके शरीर में रूक्षता होने से सम्पूर्ण अथवा थोड़ा स्नेह शरीर ने सोख लिया है अतः चतुर वैद्य उसकी उपेक्षा कर दे। अर्थात् उस स्नेह को बाहर निकालने का यत्न न करे। यदि एक दिन एक रात्रि व्यतीत हो जाने पर भी स्नेह बाहर न निकले तो उसे संशोधन के उपाय द्वारा बाहर निकाले। न कि उसे निकालने के लिये पुनः दुबारा स्नेह बस्ति का प्रयोग करे॥ १२५–१२९॥

गुडूच्येरण्डपूतीकभार्ङ्गीवृषकरोहिषम्। शतावरीसहचरौ काकनासां पलोन्मितान्॥१३०॥
यवमाषातसीकोलकुलत्थान्प्रसृतोन्मितान्। चतुर्द्रोणेऽम्भसः पक्त्वा द्रोणशेषेण तेन च॥
पचेत्तैलाढकं सर्वैर्जीवनीयैः पलोन्मितैः। अनुवासनमेतद्धि सर्ववातविकारनुत्॥ १३२॥

सभी प्रकार के वातसम्बन्धी विकारों को दूर करने वाली अनुवासन बस्ति—गिलोय, एरण्ड, (रेंड़ी), करञ्ज, भारङ्गी, अडूसा, रोहिस घास, शतावर, कटसरैया, काकनासा, इन सबों को एक

एक पल (चार चार तोले) लेकर और जौ, उड़द, अलसी, बेर की गुठली, कुलथी इन सबों को दो दो पल लेकर ४ द्रोण जल में पकावे जब एक द्रोण जल शेष रह जाय तब उतार ले पुनः इस क्वाथ में जीवनीय[1] गण की ओषधियाँ एक एक पल लेकर उनका कल्क पीस कर डाल दे और एक आढक (६४ पल) तेल के साथ पकावे जब केवल स्नेह भाग शेष रह जाय तब उतार ले। इस स्नेह से अनुवासन वस्ति देने से सभी प्रकार के वातरोगों का नाश होता है ॥ १३०-१३२ ॥

***पूतीकः = करञ्जः । रौहिषम् = ईषत्सुगन्धतृणविशेषः । काकनासा (कौआठोंठी)। प्रसृतम् = पलद्वयम् ॥ १३०-१३२ ॥**

यहां 'पूतीक' से 'करञ्ज'। 'रौहिष' से 'किञ्चित् सुगन्ध युक्त तृण विशेष (रोहिसघास)'। 'काकनासा' से 'कौआ ठोंठी'। 'प्रसृत' से 'दो पल' का ग्रहण करना चाहिये ॥ १३०-१३२ ॥

षट्सप्ततिश्च्यापदस्तु जायन्ते वस्तिकर्मणः । दूषितात् समुदायेन ताश्चिकित्स्यास्तु सुश्रुतात् ॥

वस्तिकर्म का ठीक ठीक उपयोग यदि न हो तो दूषित हो जाने से उससे छिहत्तर रोग उत्पन्न होते हैं, अतः समुचित नली आदि सामग्री से सुश्रुतोक्त रीति के अनुसार उन रोगों की चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १३३ ॥

***समुदायेन = समुचितनेत्रादिसामग्र्या ॥ १३३ ॥**

यहां 'समुदायेन' पद का—समुचित नली आदि सामग्री से—यह अर्थ समझना चाहिये ॥१३३॥

पानाहारविहाराश्च परिहाराश्च कृत्स्नशः । स्नेहपानसमाः कार्या नात्र कार्या विचारणा ॥

स्नेहपान विधि में जैसा जो कुछ पान (पीना), आहार (खाना), विहार (रहन-सहन) तथा परिहार (परहेज) कहा हुआ है ठीक वैसा ही सब कुछ स्नेहवस्ति में भी करना चाहिये, इस विषय में कुछ विचार करने की आवश्यकता नहीं ॥ १३४ ॥

अथ निरूहः ।

अथ निरूहवस्तिविधिमाह—

निरूहवस्तिर्बहुधा भिद्यते कारणान्तरैः । तरेव तस्य नामानि कृतानि मुनिपुङ्गवैः ॥ १३५ ॥

निरूह वस्ति की विधि—समवायि कारण के भेद से (पृथक्-पृथक् ओषधियों द्वारा कराने से) निरूह बस्ति के अनेक भेद होते हैं। इसीलिये ऋषियों ने उन वस्तियों के अलग-अलग नामकरण किये हैं ॥ १३५ ॥

***कारणान्तरैः = समवायिकारणभेदैः ॥ १३५ ॥**

यहां 'कारणान्तरैः' पद का समवायिकारण के भेद से' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १३५ ॥

निरूहस्यापरं नाम प्रोक्तमास्थापनं बुधैः । स्वस्थाने स्थापनाद्दोषधातूनां स्थापनं मतम् ॥
निरूहस्य प्रमाणं तु प्रस्थं पादोत्तरं परम् । मध्यमं प्रस्थमुद्दिष्टं हीनश्च कुडवास्त्रयः ॥१३७॥

विद्वानों ने निरूह वस्ति का दूसरा नाम आस्थापन बस्ति कहा है क्योंकि आस्थापन से दोषों तथा धातुओं का अपने-अपने स्थान में स्थापन होता है। निरूह बस्ति की मात्रा का प्रमाण सवाप्रस्थ (१ सेर) का श्रेष्ठ होता है। एक प्रस्थ (१२ छ० ४ भर) की मात्रा मध्यम तथा तीन कुडव (९ छ० ३ भर) की मात्रा निकृष्ट समझनी चाहिये ॥ १३६-१३७ ॥

---

१. जीवनीयगणो यथा चरके—जीवकर्षभकौ, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती, मधुकमिति दशेमानि जीवनीयानि भवन्तीति ।

अर्थ—जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुगवन, मषवन, जीवन्ती, मुलेठी ये १० ओषधियां जीवनीय होती हैं अतः ये जीवनीयगण की कहलाती हैं ।

* परं = श्रेष्ठम् ॥ १३६-१३७ ॥

यहां 'पर' का 'श्रेष्ठ' अर्थ समझना चाहिये ॥ १३६-१३७ ॥

अतिस्निग्धोऽक्लिष्टदोषः क्षतोरस्कः कृशस्तथा। आध्मानच्छर्दिहिक्काऽर्शःकासश्वासप्रपीडितः॥
गुदशोफातिसारार्त्तो विसूचीकुष्ठसंयुतः। गर्भिणी मधुमेही च नास्थाप्यश्च जलोदरी ॥१३९॥

अत्यन्त स्निग्ध शरीर वाला, उत्क्लेशजनक आहारादि द्वारा जिसके दोष बाहर निकलने के लिये उन्मुख न हुए हों, उरःक्षत का रोगी, दुर्बल मनुष्य, अफारा, वमन, हिचकी, बवासीर, खांसी और दमा से पीडित, गुदासम्बन्धी शोथ, अतिसार, विसूचिका तथा कुष्ठरोग से युक्त मनुष्य, गर्भिणी स्त्री, मधुमेह का रोगी और जलोदर वाले रोगी को आस्थापन वस्ति नहीं देनी चाहिये ॥

*अक्लिष्टदोषः = अदत्तोत्क्लेशन इति यावत्। क्षतोरस्कः = उरःक्षतवान् ॥ १३८-१३९ ॥

यहां 'अक्लिष्टदोषः' पद का 'उत्क्लेशजनक आहारादि द्वारा जिसके दोष बाहर निकलने के लिये उन्मुख न हुये हों' और 'क्षतोरस्कः' पद का 'उरःक्षत का रोगी' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १३८-१३९ ॥

वातव्याधावुदावर्त्ते वातासृग्विषमज्वरे। मूर्च्छातृष्णोदरानाहमूत्रकृच्छ्राश्मरीषु च ॥ १४० ॥
वृद्ध्यसृग्दरमन्दाग्निप्रमेहेषु निरूहणम्। शूलेऽम्लपित्ते हृद्रोगे योजयेद्विधिवद् बुधः ॥ १४१ ॥

वातसम्बन्धी व्याधि, उदावर्त्त, वातरक्त, विषम ज्वर, मूर्च्छा, तृष्णा, उदर रोग, आनाह, मूत्रकृच्छ्र, पथरी, अण्डवृद्धि, रक्तप्रदर, मन्दाग्नि प्रमेह, शूल, अम्लपित्त और हृद्रोग इन सबों में बुद्धिमान वैद्य को विधिपूर्वक निरूह वस्ति देनी चाहिये ॥ १४०-१४१ ॥

उत्सृष्टानिलविण्मूत्रं स्निग्धं स्विन्नमभोजितम्। मध्याह्ने गृहमध्ये च यथायोग्यं निरूहयेत् ॥

जो अधोवायु तथा मल-मूत्र को त्याग कर चुका हो, जो स्निग्ध तथा स्विन्न हो चुका हो एवं जो विना भोजन किये हुये हो ऐसे मनुष्य को घर के अन्दर दो पहर के समय यथायोग्य निरूह वस्ति देनी चाहिये ॥ १४२ ॥

*स्निग्धम् = स्वभ्यक्तम्। स्विन्नम् = उष्णाम्बुस्नपितम् ॥ १४२ ॥

यहां 'स्निग्ध' का 'स्नेह द्वारा जिसका स्नेहन हुआ हो' तथा 'स्विन्न' का 'गर्म जल से जिसे स्नान कराया गया हो' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १४२ ॥

स्नेहवस्तिविधानेन बुधः कुर्यान्निरूहणम् ॥ १४३ ॥
जाते निरूहे च ततो भवेदुत्कटकासनः। तिष्ठेन्मुहूर्त्तमात्रन्तु निरूहागमनेच्छया ॥ १४४ ॥

बुद्धिमान् वैद्य स्नेहवस्ति के विधान से निरूहवस्ति दे और निरूहण हो जाने पर निरूह द्रव के बाहर निकालने की इच्छा से रोगी मुहूर्त्तमात्र उत्कटकासन (उकरूं) वैठे ॥ १४३-१४४ ॥

*अत्र मुहूर्त्तमात्रशब्देनैतदपि बोधितम्। निरूहप्रत्यागमनकालो मुहूर्त्तमात्रः ॥१४३-१४४॥

यहां 'मुहूर्त्तमात्र' पद से यह समझना चाहिये कि जितने समय में निरूह द्रव बाहर निकलता है उतने समय का नाम मुहूर्त्तमात्र है ॥ १४३-१४४ ॥

अनायातं मुहूर्त्तं तु निरूहं शोधनैर्हरेत्। निरूहैरेव मतिमान्क्षारसूत्राम्लसैन्धवैः ॥ १४५ ॥
यस्य क्रमेण गच्छन्ति विट्पित्तकफवायवः। लाघवं चोपजायेत सुनिरूढं तमादिशेत् ॥१४६॥

मुहूर्त्त भर प्रतीक्षा करने पर यदि निरूह वस्ति में प्रयुक्त द्रव्य बाहर न निकले तो जवाखार, गोमूत्र, अम्ल, सेंधा नमक के निरूहण द्वारा निरूह वस्ति के द्रव्य को बाहर निकाले। जिस मनुष्य के क्रमानुसार मल, पित्त, कफ तथा वायु निकलते हैं तथा शरीर में लघुता मालूम होती है उस मनुष्य को सुनिरूढ (भली भांति निरूहण हुआ) कहते हैं ॥ १४५-१४६ ॥

यस्य स्याद्वस्तिरल्पाल्पवेगो हीनमलानिलः। मूर्च्छाऽऽर्त्तिजाड्यारुचिमान्दुर्निरूढं तमादिशेत् ॥

जिस मनुष्य को वस्ति बहुत धीरे निकले, मल तथा वायु बहुत कम निकले और जो मूर्च्छा, पीडा, जडता और अरुचि से युक्त हो उसे दुर्निरूह (खराब निरूहण हुआ) कहते हैं ॥ १४७ ॥

विविक्तता मनस्तुष्टिः स्निग्धता व्याधिनिग्रहः। आस्थापनस्नेहवस्त्योः सम्यग्दाने तु लक्षणम्॥

दी हुई औषधियों का बाहर निकल जाना, मन की प्रसन्नता, स्निग्धता, व्याधिनिग्रह (रोग में कमी) ये सब आस्थापन तथा स्नेह वस्ति के भली भांति दिये जाने के लक्षण हैं ॥ १४८ ॥

***विविक्तता = दत्तौषधनिःसरणम् ॥ १४८ ॥**

यहां 'विविक्तता' का 'दी हुई ओषधियों का बाहर निकल जाना' यह अर्थ समझना चाहिये ॥

अनेन विधिना युञ्ज्यान्निरूहं बस्तिदानवित्। द्वितीयं वा तृतीयं वा चतुर्थं वा यथोचितम् ॥ स्नेहः एकः पवने पित्ते द्वौ पयसा सह। कषायकटुमूत्राद्याः कफेऽत्युष्णास्त्रयो हिताः ॥१५०॥ पित्तश्लेष्मानिलाविष्टं क्षीरयूषरसैः क्रमात्। निरूढं भोजयित्वा च ततस्तमनुवासयेत् ॥१५१॥ सुकुमारस्य वृद्धस्य बालस्य च मृदुर्हितः। बस्तिस्तीक्ष्णः प्रयुक्तस्तु तेषां हन्याद्बलायुषी॥ दद्यादुत्क्लेशनं पूर्वं मध्ये दोषहरं ततः। पश्चात्संशमनीयञ्च दद्याद्बस्तिं विचक्षणः ॥ १५३॥

वस्ति देने में चतुर वैद्य इस प्रकार से निरूह वस्ति दे, यदि उचित हो तो दूसरी वार, तीसरी वार और चौथी वार भी दे। वात रोग में स्नेह वाली एक वस्ति, पित्त रोग में दूध के साथ दो वस्ति तथा कफ रोग हो तो गर्म कषाय तथा कटु रसयुक्त पदार्थ तथा गोमूत्र आदि पदार्थों की तीन वस्ति देनी उत्तम होती है। पित्त, कफ तथा वायु से आक्रान्त हुये मनुष्य को क्रम से दूध की, मूंग के रस तथा मांसरस की वस्ति देनी चाहिये। जिसको निरूह वस्ति दी गई हो उसे भोजन के पश्चात् अनुवासन वस्ति देनी चाहिये। सुकुमार शरीर वाले को, वृद्ध को तथा बालक को मृदु वस्ति हितकर है। यदि इन्हें तीक्ष्ण वस्ति दी जाय तो इनके बल तथा आयु का नाश होता है। चतुर वैद्य प्रथम उत्क्लेशन वस्ति तत्पश्चात् दोषहर वस्ति पुनः संशमनीय वस्ति दे ॥ १४९-१५३ ॥

अथोत्क्लेशनवस्तिमाह—

एरण्डबीजं मधुकं पिप्पली सैन्धवं वचा। हवुषाफलकल्कश्च बस्तिरुत्क्लेशनः स्मृतः ॥१५४॥

उत्क्लेशन वस्ति—रेड़ के बीज, मुलेठी, पीपल, सेंधानमक, वच और हाऊबेर के फल का कल्क, इनकी वस्ति को उत्क्लेशन (दोषों को बहिर्गमनोन्मुख करने वाली) वस्ति कहते हैं ॥ १५४ ॥

अथ दोषहरवस्तिमाह—

शताह्वा मधुकं बिल्वं कौटजं फलमेव च। सकाञ्जिकः सगोमूत्रो बस्तिर्दोषहरः स्मृतः ॥

दोषहर बस्ति-शतावरी, मुलेठी, वेल का गूदा, इन्द्रजौ इनको कांजी तथा गोमूत्र में पीस कर उससे जो वस्ति दी जाती है उसे दोषहर वस्ति कहते हैं ॥ १५५ ॥

अथ शमनवस्तिमाह—

प्रियङ्गुर्मधुकं मुस्ता तथैव च रसाञ्जनम्। सक्षीरः शस्यते बस्तिर्दोषाणां शमनः स्मृतः ॥

शमन वस्ति—फूल प्रियङ्गु, मुलेठी, नागरमोथा और रसौत इन सबको दूध में पीस कर जो वस्ति दी जाती है उसे संशमनीय वस्ति कहते हैं। इस वस्ति से दोषों का शमन होता है ॥१५६॥

अथ लेखनवस्तिमाह—

त्रिफलाक्वाथगोमूत्रक्षौद्रक्षारसमायुतः। [1]ऊषकादिप्रतीवापैर्बस्तयो लेखनाः स्मृताः ॥१५७॥

लेखन वस्ति—हरड़, बहेड़ा, आंवला के क्वाथ, गोमूत्र, शहद, जवाखार, ऊषकादि गणोक्त (खारी मिट्टी, तूतिया, हींग, दो प्रकार के कसीस, सेंधानमक, शिलाजीत) चूर्ण के प्रक्षेप युक्त जो वस्ति दी जाती है वह लेखन वस्ति कहलाती है ॥ १५७ ॥

---

१. ऊषकादिगणस्तु—ऊषकस्तुत्थको हिङ्गुकासीसद्वयसैन्धवम्। सशिलाजतु (वा० सू० अ० १५)।

*ऊषकादिप्रतीवापाः = ऊषकादिगणविशेषचूर्णप्रक्षेपाः ॥ १५७ ॥

यहाँ 'ऊषकादिप्रतीवापाः' पद का 'ऊषकादि गणोक्त चूर्ण का प्रक्षेप' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १५७ ॥

अथ बृंहणवस्तिमाह—

बृंहणद्रव्यनिष्क्वाथैः कल्कैर्मधुरकैर्युताः । सर्पिर्मांसरसोपेता वस्तयो बृंहणाः स्मृताः ॥१५८॥

बृंहणवस्ति—धातुओं के बढ़ाने वाले द्रव्यों के क्वाथों से तथा मधुर पदार्थों के कल्क, घी एवं मांसरस से जो वस्ति दी जाती है उसे बृंहण वस्ति कहते हैं । इस वस्ति से धातुओं की वृद्धि होती है ॥ १५८ ॥

अथ पिच्छिलवस्तिमाह—

बदर्यैरावतीशेलुशाल्मलीपुष्पजाङ्कुराः । क्षीरसिद्धाः क्षौद्रयुक्ता नाम्ना पिच्छिलसंज्ञिताः ॥१५९॥
अजोरभ्रैणरुधिरैर्युक्ता देया विचक्षणैः । मात्रा पिच्छिलवस्तीनां पलैर्द्वादशभिर्मता ॥१६०॥

पिच्छिलवस्ति—बेर, नारङ्गी, लिसोरा, सेमर के फूलों के अङ्कुर इनको दूध में पकाकर मधु डाल कर बकरा, भेड़ तथा काले मृग के रक्त के साथ जो वस्ति दी जाती है उसे पिच्छिल वस्ति कहते हैं । पिच्छिल वस्ति की मात्रा बारह पल की कही गई है ॥ १५९-१६० ॥

*अजः = छागः, उरभ्रः = मेषः, एणः = कृष्णमृगः ॥ १५९-१६० ॥

यहाँ 'अज' से 'बकरा', 'उरभ्र' से 'भेड़ा', 'एण' से 'काले मृग' का बोध करना चाहिये ॥

अथ निरूहमात्राविधिमाह—

दत्त्वादौ सैन्धवस्याक्षं मधुनः प्रसृतिद्वयम् । विनिर्मथ्य ततो दद्यात्स्नेहस्य प्रसृतित्रयम् ॥
एकीभूते ततः स्नेहे कल्कस्य प्रसृतिं क्षिपेत् । सम्मूर्च्छिते कषायन्तु चतुःप्रसृतिसम्मितम् ॥
गृह्णीयाच्च तदा वाऽऽवपमन्ते द्विप्रसृतोन्मितम् । क्षिप्त्वा विमथ्य दद्याच्च निरूहं कुशलो भिषक् ॥
एवं प्रकल्पितो वस्तिर्द्वादशप्रसृतिर्भवेत् । वाते चतुष्पलं क्षौद्रं दद्यात् स्नेहस्य षट्पलम् ॥
पित्ते चतुष्पलं क्षौद्रं स्नेहं दद्यात्पलत्रयम् । कफे तु षट्पलं क्षौद्रं क्षिपेत् स्नेहं चतुष्पलम् ॥१६५॥

निरूह वस्ति की मात्रा—पहले एक तोला सेंधा नमक लेकर दो प्रसृति (१६ तोला) मधु डालकर खूब घोटे । इसके बाद उसमें तीन प्रसृति (२४ तोला) स्नेह देकर सबको मर्दन करके खूब मिलाले जब सब एक में मिल जाय तो उसमें एक प्रसृति (८ तोला) ओषधि कल्क डालकर घोटे फिर चार प्रसृति (३२ तोला) क्वाथ और उसके बाद दो प्रसृति (१६ तोला) प्रक्षेप्य द्रव्य का उत्तम चूर्ण डालकर तथा सबको भली भाँति मर्दन कर विद्वान् वैद्य निरूह वस्ति दे । इस प्रकार तैयार की हुई वस्ति परिमाण में बारह प्रसृति (९६ तोला) होती है । विशेष वक्तव्य यह है कि—वातरोग में चार पल (१६ तोला) मधु और छ पल (२४ तोला) स्नेह डाले । पित्तजन्य विकार में चार पल (१६ तोला) मधु और तीन पल (१२ तोला) स्नेह डाले । यदि कफसम्बन्धी रोग हो तो छ पल (२४ तोला) मधु और चार पल (१६ तोला) स्नेह डालना चाहिये ॥ १६१-१६५ ॥

अथ मधुतैलकवस्तिमाह—

एरण्डक्वाथतुल्यांशं मधुतैलं पलाष्टकम् । शतपुष्पापलार्द्धेन सैन्धवार्द्धेन संयुतम् ॥
मधुतैलकसंज्ञोऽयं वस्तिर्दारुविलोडितः ॥ १६६ ॥
मेदोगुल्मकृमिप्लीहमलोदावर्तनाशनः । बलवर्णकरश्चैव वृष्यो दीपनबृंहणः ॥ १६७ ॥

मधुतैलकवस्ति—आठ पल (३२ तोला) रेंड़ की जड़ का क्वाथ करके उसमें चार पल (१६ तोला) मधु तथा चार पल तिल का तेल, आधा पल (२ तोला) सौंफ और आधा पल

सेंधा नमक डालकर सबको लकड़ी से मिलावे। यह मधुतैलकवस्ति कहलाती है। गुण-यह वस्ति मेद, गुल्म, कृमि, प्लीहा, मल तथा उदावर्त का नाश करती है, बल को बढ़ाती हैं, वर्ण को उत्तम करती है, वृष्य होती है, अग्नि को प्रदीप्त करती है और धातुओं को बढ़ाती है ॥ १६६-१६७ ॥

अथ यापनवस्तिमाह—

क्षौद्राज्यक्षीरतैलानां प्रसृतं प्रसृतं भवेत्। हवुषासैन्धवाक्षांशो वस्तिः स्याद्यापनः परः ॥१६८॥

यापनवस्ति—मधु, घृत, दुग्ध तथा तैल इनको एक-एक प्रसृत अर्थात् आठ-आठ तोले लेकर उसमें एक तोला हाऊबेर और एक तोला सेंधा नमक डाल कर घोटें। इसकी जो वस्ति दी जाती है उसको यापनवस्ति कहते हैं। यह वस्ति मलसारक है ॥ १६८ ॥

*यापनः = सारकः ॥ १६८ ॥

यहाँ 'यापन' का 'मलसारक' अर्थ समझना चाहिये ॥ १६८ ॥

अथ युक्तरथवस्तिमाह—

एरण्डमूलनिक्वाथो मधुतैलंससैन्धवम्। एष युक्तरथो वस्तिः सवचापिप्पलीफलः ॥ १६९ ॥

युक्तरथवस्ति—एरण्ड की जड़ के क्वाथ में मधु, तैल, सेंधानमक, वच, पीपल को डाल कर जो वस्ति दी जाती है वह युक्तरथवस्ति कहलाती है ॥ १६९ ॥

अथ सिद्धवस्तिमाह—

पञ्चमूलस्य निक्वाथैस्तैलं मागधिका मधु। ससैन्धवः सयष्ट्याह्वः सिद्धवस्तिरिति स्मृतः ॥
स्नानमुष्णोदकैः कुर्याद्दिवास्वप्नमजीर्णताम्। वर्जयेदपरं सर्वमाचरेत्स्नेहवस्तिवत् ॥ १७१ ॥

सिद्धवस्ति—पञ्चमूल के क्वाथ में तैल, पीपल, मधु, सेंधानमक और मुलहठी डालकर जो वस्ति दी जाती है वह सिद्धवस्ति कहलाती है। सिद्धवस्ति लेने वाले को उष्ण जल से स्नान करना, दिन में सोना और अजीर्णकारक पदार्थों का भोजन त्याग देना चाहिये और स्नेहवस्ति के समान सब आचरण करना चाहिये ॥ १७०-१७१ ॥

अथोत्तरवस्तिविधिमाह—

अतः परं प्रवक्ष्यामि वस्तिमुत्तरसंज्ञितम्। निरूहादुत्तरो यस्मात्तस्मादुत्तरसंज्ञकः ॥१७२॥
द्वादशाङ्गुलकं नेत्रं मध्ये च कृतकर्णिकम्। मालतीपुष्पवृन्ताभं छिद्रं सर्षपनिर्गमम् ॥ १७३ ॥
पञ्चविंशतिवर्षाणामधोमात्रा द्विकार्षिकी। तदूर्ध्वं पलमात्रा च स्नेहस्योक्ता भिषग्वरैः ॥
अथास्थापनशुद्धस्य तृप्तस्य स्नानभोजनैः। स्थितस्य जानुमात्रे च पीठे स्निग्धे शलाकया ॥
स्निग्धया मेढ्रमार्गे तु ततो नेत्रं नियोजयेत्। शनैःशनैर्घृताभ्यक्तं मेढ्ररन्ध्राङ्गुलानि षट् ॥१७६॥
ततोऽवपीडयेद्वस्तिं शनैर्नेत्रं विनिर्हरेत्। ततः प्रत्यागते स्नेहे स्नेहवस्तिक्रमो हितः ॥१७७॥
स्त्रीणां कनिष्ठिकास्थूलं नेत्रं कुर्याद् दशाङ्गुलम्। मुद्गप्रवेशयोग्यञ्च योन्यन्तश्चतुरङ्गुलम् ॥

इसके बाद उत्तरवस्ति कहता हूँ यह वस्ति निरूहवस्ति के बाद दी जाती है अतएव इसको उत्तरवस्ति कहते हैं। बीच में गौ के कान के समान कर्णिका वाली मालती के फूल के डंठल के समान, सरसों निकलने भर छेद वाली बारह अङ्गुल की एक नली बनानी चाहिये। पचीस वर्ष से कम अवस्था वालों के लिये इस वस्ति में स्नेह की मात्रा दो तोले की है और पचीस वर्ष से अधिक अवस्था वालों के लिये एक पल (४ तोले) की मात्रा देनी चाहिये। इसके बाद निरूह वस्ति द्वारा शुद्ध तथा स्नान और भोजन से तृप्त हुए मनुष्य को जानु बराबर ऊँची चिकनी चौकी पर उकुरू बैठाकर तथा स्नेह लगी हुई सलाई से उसके मूत्रमार्ग को स्वच्छ करके घृत लगी हुई छः अङ्गुल की नली लिङ्ग के छिद्र में डाले। तत्पश्चात् वस्ति को दबाकर धीरे से नली को

बाहर निकल ले तत्पश्चात् स्नेह के बाहर निकल आने पर पूर्वोक्त स्नेह बस्ति की भांति उपचार करना हितकर है।

स्त्रियों की योनि में उत्तरवस्ति की क्रिया करनी हो तो कनिष्ठिका अङ्गुली के समान मोटी और जिससे मूंग निकल जाय उतने छिद्र वाली दश अङ्गुल की सूक्ष्म नली लेकर योनि के अन्दर चार अङ्गुल डाले ॥ १७२–१७८ ॥

द्व्यङ्गुलं मूत्रमार्गे च सूक्ष्मं नेत्रं नियोजयेत्। मूत्रकृच्छ्रविकारेषु बालानां त्वेकमङ्गुलम् ॥१७९॥
शनैर्निष्कम्पमाधेयं सूक्ष्मं नेत्रं विचक्षणैः। मालतीपुष्पवृन्ताभं नेत्रमित्युदितं पुनः ॥ १८० ॥

यदि मूत्रकृच्छ्र रोगवाली स्त्री के मूत्रमार्ग में डालनी हो तो दो अङ्गुल डाले और बालकों के मूत्रकृच्छ्र विकार में इससे भी सूक्ष्म हाथ को कांपने से रोककर धीरे धीरे लिङ्ग के भीतर एक अङ्गुल डाले। यह नली मालती के फूल की डंडी के समान होनी चाहिये, ऐसा ही ऊपर कह आये हैं ॥ १७९–१८० ॥

***सूक्ष्मशब्दाभिधानं–बालानां ततोऽपि नेत्रस्य सूक्ष्मताबोधनार्थम् ॥ १७९–१८० ॥**

यहां 'सूक्ष्म' पद का प्रयोग 'बालकों के लिये उससे भी सूक्ष्म नली होनी चाहिये' इसको जनाने के लिये किया गया है ॥ १७९–१८० ॥

योनिमार्गेषु नारीणां स्नेहमात्रा द्विपालिकी। मूत्रमार्गे पलोन्माना बालानां च द्विकार्षिकी ॥
उत्तानायै स्त्रियै दद्यादूर्ध्वजान्वै विचक्षणः। अप्रत्यागच्छति भिषग् वस्तावुत्तरसंज्ञिते ॥१८२॥
भूयो बस्तिं विदध्याच्च संयुक्तं शोधनैर्गुणैः। फलवर्त्तिं विदध्याद् वा योनिमार्गे दृढां भिषक् ॥
सूत्रैर्विनिर्मितां स्निग्धां शोधनद्रव्यसंयुताम् ॥ १८४ ॥

स्त्रियों के योनिमार्ग में स्नेह की मात्रा आठ तोले की और मूत्रमार्ग में चार तोले की है। बालकों के लिङ्ग में दो तोले की मात्रा लेनी चाहिये। विद्वान वैद्य स्त्री को उत्तान (चित्त) लेटाकर घुटने को ऊपर करके बस्ति दे, यदि उत्तर बस्ति बाहर न निकले तो वैद्य शोधन गुण वाली दूसरी वस्ति दे अथवा योनिद्वार में शोधन पदार्थों को मिलाकर सूत से बनी चिकनी दृढ़ फलवर्त्ति प्रवेश करे ॥ १८१–१८४ ॥

दह्यमाने तथा वस्तौ दद्याद्बस्तिं विशारदः। क्षीरिवृक्षकषायेण पयसा शीतलेन वा ॥ १८५ ॥

जिस स्थान में वस्ति दी गई हो उसमें दाह हो तो बुद्धिमान वैद्य दूध वाले वृक्षों के क्वाथ से अथवा शीतल जल से दूसरी वस्ति दे ॥ १८५ ॥

***दह्यमाने वस्तौ – यस्मिन् स्थाने वस्तिर्दत्तस्तस्मिन् दह्यमाने ॥ १८५ ॥**

यहाँ 'दह्यमाने वस्तौ' इन पदों का 'जिस स्थान में बस्ति दी गई हो उसमें दाह हो तो' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १८५ ॥

वस्तिः शुक्रजान् पुंसां स्त्रीणामार्त्तवजान् रुजः। हन्यादुत्तरवस्तिस्तु नोचितो मेहिने क्वचित् ॥
सम्यग्दत्तस्य लिङ्गानि व्यापदः क्रम एव च। वस्तेरुत्तरसंज्ञस्य समानाः स्नेहवस्तिना ॥१८७॥

उत्तरवस्ति पुरुषों के शुक्रसम्बन्धी रोगों को तथा स्त्रियों के ऋतु-सम्बन्धी दोषों को नष्ट करता है, किन्तु यह उत्तरवस्ति प्रमेह के रोगी को देना कभी उचित नहीं है। उत्तरवस्ति से भलीभाँति देने के लक्षण, उत्तम रीति से न देने से उत्पन्न उपद्रव अन्य समस्त क्रम स्नेहवस्ति के समान ही जानने चाहिये ॥ १८६–१८७ ॥

अथ फलवर्त्तिविधिमाह—

घृताभ्यक्ते गुदे क्षिप्ता श्लक्ष्णा स्वाङ्गुष्ठसन्निभा। मलप्रवर्त्तिनी वर्त्तिः फलवर्त्तिश्च सा स्मृता ॥

फलवर्त्ति की विधि—मल निःसरण के लिये गुदा में घी चुपड़ कर रोगी के अंगूठे के समान मोटी और चिकनी वर्त्ति प्रविष्ट करे इसको वैद्यजन फलवर्त्ति कहते हैं ॥ १८८ ॥

अथ नावनम्

अथ नस्यग्रहणविधिमाह—

नस्यं तत्कथ्यते धीरैर्नासाग्राह्यं यदौषधम् । नावनं नस्यकर्मेति तस्य नामद्वयं मतम् ॥१८९॥

नस्यग्रहण की विधि—नासिका से जो ग्राह्य ओषधि होती है उसको बुद्धिमान लोग नस्य कहते हैं । इसके नावन तथा नस्यकर्म ये दो नाम हैं ॥ १८९ ॥

***नस्यकर्म = नासिकायां कर्म चिकित्सा येन तद् नस्यकर्म ॥ १८९ ॥**

इससे नाक की चिकित्सा होती है इस कारण इसको नस्यकर्म कहते हैं ॥ १८९ ॥

नस्यभेदो द्विधा प्रोक्तो रेचनं स्नेहनं तथा । रेचनं कर्षणं प्रोक्तं स्नेहनं बृंहणं मतम् ॥ १९० ॥

रेचन तथा स्नेहन ये दोनों भेद नस्य के कहे गये हैं । जिस नस्य से अन्तःस्थ पदार्थों की हीनता हो वह रेचन तथा जिस नस्य से भीतर के पदार्थों की वृद्धि की जाती है वह स्नेहन कहलाती है ॥

कफपित्तानिलध्वंसि पूर्वमध्यापराह्णके । दिनस्य गृह्यते नस्यं रात्रावप्युत्कटे गदे ॥ १९१ ॥

यदि कफ को नष्ट करना हो तो पूर्वाह्ण में, पित्त को नष्ट करना हो तो मध्याह्न में तथा वात को नष्ट करना हो तो अपराह्ण में नस्य देना चाहिये । यदि रोग भयङ्कर हो तो रात्रि में भी नस्य देना चाहिये ॥ १९१ ॥

***दिनस्य त्रिधा विभक्तस्य पूर्वभागादौ ॥ १९१ ॥**

यहां वर्त्तमान दिन के तीन भाग क्रम से पूर्वाह्ण आदि समझना चाहिये ॥ १९१ ॥

नस्यं त्यजेद्भोजनान्ते दुर्दिने चापतर्पितः । तथा नवप्रतिश्यायी गर्भिणी गरदूषितः ।
अजीर्णी दत्तबस्तिश्च पीतस्नेहोदकासवः ॥ १९२ ॥
क्रुद्धः शोकाभिभूतश्च तृषार्त्तो वृद्धबालकौ । वेगावरोधि श्रान्तश्च स्नातुकामश्च वर्जयेत् ॥

भोजन करने के पश्चात् तथा मेघ से घिरे दिन में नस्य लेना त्याग कर दे, एवं लंघन किए हुए, नवीन प्रतिश्याय के रोगी, गर्भिणी स्त्री, गर (कृत्रिम विष) से दूषित हुए, अजीर्ण रोगी, जिसको वस्ति दी गई हो, जिसने स्नेह, जल अथवा आसव तुरन्त पिया हो, क्रुद्ध, शोकाकुल, प्यासे, वृद्ध, बालक, मल-मूत्र के वेग को रोकने वाले, परिश्रमी, जिसे स्नान करने की इच्छा हो ऐसे लोगों को नस्य देना वर्जित है ॥ १९२-१९३ ॥

*** नस्यमिति शेषः ॥ १९२-१९३ ॥**

यहाँ 'नस्य' पद अन्तिम श्लोक में यद्यपि नहीं हैं तथापि ऊपर से योग्यतावश लाकर अर्थ किया गया है ॥ १९२-१९३ ॥

अष्टवर्षस्य बालस्य नस्यकर्म समाचरेत् । अशीतिवर्षादूर्ध्वञ्च नावनं नैव दीयते ॥ १९४ ॥

बालक जब तक आठ वर्ष का न हो तब तक उसको नस्य नहीं देना चाहिये तथा अस्सी वर्ष के ऊपर अवस्था वाले वृद्ध को भी नस्य नहीं देना चाहिये ॥ १९४ ॥

अथ रेचनस्य मात्रामाह—

अथ वैरेचनं नस्यं ग्राह्यं तैलैः सुतीक्ष्णकैः । तीक्ष्णं भेषजसिद्धैर्वा स्नेहैः क्वाथै रसैस्तथा ॥

रेचन नस्य की मात्रा—तीक्ष्ण तैलों से, तीक्ष्ण ओषधियों द्वारा पकाये हुये स्नेहों से, क्वाथों तथा रसों से रेचन नस्य देना चाहिये ॥ १९५ ॥

अथ रेचननस्यविधिमाह—

नासिकारन्ध्रयोरष्टौ षट् चत्वारश्च बिन्दवः। प्रत्येकं रेचनं योग्यं मुख्यमध्याल्पमात्रया॥

रेचन नस्य की विधि—नासिका के दोनों छिद्रों में रेचन नस्य देना चाहिये। प्रत्येक छिद्र में आठ-आठ बूँद की मात्रा उत्तम, छः छः बूँद की मात्रा मध्यम तथा चार-चार बूँद की मात्रा कनिष्ठ होती है॥ १९६॥

अथ नस्यौषधप्रमाणमाह—

नस्यकर्मणि दातव्यं शाणैकं तीक्ष्णमौषधम्। हिङ्गु स्याद्यवमात्रन्तु माषैकं सैन्धवं मतम्॥१९७॥
क्षीरं चैवाष्टशाणं स्यात्पानीयञ्च त्रिकार्षिकम्। कार्षिकं मधुरद्रव्यं नस्यकर्मणि योजयेत्॥

नस्य औषध का प्रमाण—नस्य कर्म में तीक्ष्ण ओषधि एक शाण (४ माशे), हींग यवभर, सेंधा नमक एक माशा, दूध आठ शाण (३२ माशे), पानी तीन तोले और और मधुर द्रव्य एक तोला लेना चाहिये॥ १९७-१९८॥

अथ रेचननस्यस्य भेदद्वयमाह—

अवपीडः प्रधमनं द्वौ भेदावपरौ स्मृतौ। शिरोविरेचनस्याथ तौ तु देयौ यथायथम्॥१९९॥

रेचन नस्य के भेद—रेचन नस्य के अवपीड तथा प्रधमन नामक दो भेद हैं। शिरोविरेचन के लिये योग्य रीति से इन भेदों का उपयोग करना चाहिये॥ १९९॥

अथ रेचनस्य भेदद्वयस्य लक्षणमाह—

कल्कीकृतादौषधाद्यः पीडितो ऽनिःसृतो रसः। सोऽवपीडः समुद्दिष्टस्तीक्ष्णद्रव्यसमुद्भवः॥
षडङ्गुला द्विवक्त्रा या नाडी चूर्णं तथा धमेत्। तीक्ष्णं कोलमितं वक्त्रवातैः प्रधमनं हितम्॥

रेचन नस्य के भेदों के लक्षण—जिसके साथ तीक्ष्ण पदार्थ संयुक्त हों ऐसी ओषधि का कल्क करके उसको निचोड़ कर जो रस निकाला जाता है वह अवपीड और छः अङ्गुल लम्बी, दो मुख वाली नली में आधा तीक्ष्ण चूर्ण भर कर मुख से फूक कर जो चूर्ण नाक में चढ़ाया जाता है, उसको प्रधमन कहते हैं॥ २००-२०१॥

अथ रेचनस्नेहननस्योपयोगमाह—

ऊर्ध्वजत्रुगते रोगे कफजे स्वरसंक्षये। अरोचके प्रतिश्याये शिरःशूले च पीनसे॥ २०२॥
शोफापस्मारकुष्ठेषु नस्यं वै रेचनं हितम्। भीरुस्त्रीकृशबालानां नस्यं स्नेहेन शस्यते॥२०३॥
गलरोगे सन्निपाते निद्रायां विषमज्वरे। मनोविकारे कृमिषु युज्यते चावपीडनम्॥ २०४॥
अत्यन्तोत्कटदोषेषु विसंज्ञेषु च दीयते। चूर्णं प्रधमनं धीरैस्तद्धि तीक्ष्णतरं यतः॥२०५॥

रेचन तथा स्नेहन नस्य के उपयोग—ऊर्ध्व जत्रुगत अर्थात् गले से ऊपर के रोगों में, कफ से उत्पन्न रोगों में, स्वरक्षय (गला बैठ जाने) में एवं अरुचि, प्रतिश्याय (जुखाम), शिरःशूल, शोथ, अपस्मार तथा कुष्ठ रोगों में रेचन नस्य हितकर है। डरने वाले व्यक्ति, स्त्री, कृश मनुष्य और बालक इन सबों को स्नेह से नस्य देना हितकर होता है। गले के रोग में, सन्निपात में, निद्रा में, विषमज्वर में, मनोविकार (उन्मादादि) में और कृमि रोग में अवपीडन नस्य देना उत्तम है। अत्यन्त उत्कट दोषों में, जिनमें ज्ञान नष्ट हो जाय ऐसे रोगों में धीर वैद्य चूर्ण का प्रधमन नस्य दे क्योंकि यह अत्यन्त तीक्ष्ण होता है॥ २०२-२०५॥

अथ वैरेचननस्यौषधिगुणानाह—

नस्यं स्याद् गुडशुण्ठीभ्यां पिप्पलीसैन्धवेन वा। जलपिष्टेन कर्णाक्षिनासामूर्द्धभवा गदाः॥
मन्याहनुगलोद्भूता नश्यन्ति भुजपृष्ठजाः। मधूकसारकृष्णाभ्यां वचामरिचसैन्धवैः॥
नस्यं कोष्णाम्भसा पिष्टं दद्यात्संज्ञाप्रबोधनम्। अपस्मारे तथोन्मादे सन्निपातेऽपतन्त्रके॥

रेचन ओषधियों के गुण—सोंठ का चूर्ण तथा गुण को एकत्र कर अथवा पीपल अथवा सेंधा नमक को पानी में पीस कर यदि नस्य दे तो कान, नेत्र, नासिका, सिर, गरदन, दाढ़, गला, बाहु और पीठ के रोग नष्ट हो जाते हैं। महुआ का रस, पीपल, वच, मिरिच और सेंधा नमक को थोड़े-थोड़े गरम जल से पीसकर नस्य देने से मृगी, उन्माद, सन्निपात तथा अपतन्त्रक नष्ट होता है ॥ २०६–२०८ ॥

अथ रेचननस्यस्यापरविधिमाह—

सैन्धवं श्वेतमरिचं सर्षपाः कुष्ठमेव च। बस्तमूत्रेण संपिष्टं नस्यं तन्द्रानिवारणम् ॥ २०९ ॥

रेचन नस्य का दूसरा प्रकार—सेंधा नमक, श्वेत मरिच (सहजने के बीज), सरसों तथा कूठ को बकरे के मूत्र में पीसकर नस्य देने से तन्द्रा नष्ट होती है ॥ २०९ ॥

अथ प्रधमननस्यस्यौषधिमाह—

रोहितस्य च पित्तेन भावितं मरिचं वचा। कट्फलं चेति तच्चूर्णं देयं प्रधमनं बुधैः ॥२१०॥

प्रधमन नस्य की ओषधियाँ—मिर्च, वच तथा कायफल का चूर्ण करके रोहू मछली के पित्त की भावना देकर नली द्वारा प्रधमन नस्य देना चाहिये ॥ २१० ॥

अथ बृंहणस्नेहननस्यस्य कल्पनामाह—

अथ बृंहणनस्यस्य कल्पना कथ्यतेऽधुना। मर्शश्च प्रतिमर्शश्च द्वौ भेदौ स्नेहने मतौ ॥२११॥
मर्शस्य तर्पणी मात्रा मुख्या शाणैः स्मृताऽष्टभिः। मध्यमा तु चतुःशाणैर्हीना शाणमिता मता॥
एकैकस्मिंस्तु मात्रेयं देया नासापुटे बुधैः ॥ २१२ ॥

स्नेहननस्य की कल्पना—स्नेहननस्य के मर्श और प्रतिमर्श दो भेद होते हैं। प्रत्येक नासापुट में आठ आठ शाण (३२ माशा) मर्श डाली जाय तो यह मर्श की मात्रा उत्तम होती है एवं चार शाण (१६ माशे) की मात्रा मध्यम तथा एक एक शाण (४ माशे) की मात्रा कनिष्ठ मात्रा कही जाती है ॥ २११–२१२ ॥

मर्शस्य द्वित्रिवेलं वा वीक्ष्य दोषबलाबलम्।
एकान्तरं द्व्यन्तरं वा नस्यं दद्याद्विचक्षणः ॥ २१४ ॥

बुद्धिमान वैद्य दोषों का बलाबल देख कर एक दिन में दो-तीन बार या एक दिन के अन्तर से अथवा दो दिन के अन्तर से मर्श नस्य का उपयोग करावे ॥ २१४ ॥

***एकान्तरम् = एकं दिनमन्तरं नस्यशून्यं यत्र तदेकान्तरम् ॥ २१४ ॥**

यहाँ 'एकान्तरम्' पद का 'एक दिन अन्तर नस्य देने से शून्य है जिसमें ऐसा नस्य अर्थात् एक दिन के अन्तर से नस्य' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २१४ ॥

त्र्यहं पञ्चाहमथवा सप्ताहं वा सुयन्त्रितः ॥ २१५ ॥

तीन या पाँच अथवा सात दिन तक बराबर सावधानी से नस्य का उपयोग करे ॥ २१५ ॥

***अथवा त्र्यहम् = त्रीण्यहानि यावत्, प्रतिदिनम्। एवं पञ्चाहं सप्ताहं च। सुयन्त्रितः = सावधानः। यथा उच्छिक्कं न भवति ॥ २१५ ॥**

यहाँ 'त्र्यहम्' पद का 'तीन दिन तक प्रतिदिन (बराबर)' और इसी भांति 'पञ्चाह और सप्ताह' का भी 'पाँच या सात दिन तक प्रतिदिन' यह अर्थ समझना चाहिये। 'सुयन्त्रितः' का 'सावधानी से नस्य दे कि जिसमें छींक इत्यादि न आवे' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २१५ ॥

मर्शे शिरोविरेके च व्यापदो विविधाः स्मृताः। दोषोत्क्लेशात्क्षयाच्चैव विज्ञेयास्ता यथाक्रमम्॥
दोषोत्क्लेशनिमित्तासु युञ्ज्याच्छमनशोधनम् ॥ २१६ ॥

मर्श नस्य देने के समय यदि स्थानभ्रष्ट दोष कुपित हुये हों तो उससे और शिरो-विरेचनार्थ रेचन नस्य के उपयोग से, धात्वादि के क्षय से विविध प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। यदि स्थान-भ्रष्ट दोष के प्रकोप से रोग उत्पन्न हो जाय तो वमनरूप शोधन का प्रयोग करना उचित है ॥ २१६ ॥

*वमनशोधनम् = वमनरूपं शोधनम् ॥ २१६ ॥

यहां 'वमनशोधनम्' का 'वमनरूप शोधन' अर्थ समझना चाहिये ॥ २१६ ॥

अथ क्षयनिमित्तासु यथास्वं बृंहणं हितम् । शिरोनासाऽक्षिरोगेषु सूर्यावर्त्तार्द्धभेदके ॥२१७॥
दन्तरोगे बले हीने मन्याबाह्वंसजे गदे । मुखशोषे कर्णनादे वातपित्तगदे तथा ॥२१८॥
अकालपलिते चैव केशश्मश्रुप्रपातने । पूज्यते बृंहणं नस्यं स्नेहैर्वा मधुरद्रवैः ॥२१९॥

यदि धात्वादि के क्षय से रोग उत्पन्न हुये हों तो तत्तद्धातुवर्धक बृंहण (स्नेहन) नस्य का उपयोग हितकर होता है। शिरोविकार, नासिका के रोग, नेत्ररोग, सूर्यावर्त, आधा शीशी, (अधकपारी), दन्तरोग, बलक्षय, गर्दन, भुजा तथा कन्धा इनके रोगों में, मुखशोष, कर्णनाद, वातपित्त-सम्बन्धी विकार, अकाल में बालों का श्वेत हो जाना एवं जिसमें दाढ़ी-मूछ बिल्कुल गिर पड़े ऐसे रोगों में स्नेहों से अथवा मधुर पदार्थों के रस से बृंहण (स्नेहन) नस्य देना उत्तम है ॥

अथ बृंहणनस्यस्य विधिमाह—

सशर्करं पयःपिष्टं भृष्टमाज्येन कुङ्कुमम् । नस्यप्रयोगतो हन्याद्वातरक्तभवा रुजः ॥
भ्रूशङ्खाक्षिशिरःकर्णसूर्यावर्त्तार्द्धभेदकान् ॥ २२० ॥

बृंहण नस्य की विधि—शर्करा संयुक्त दूध में घी से भुनी केशर को पीस कर नस्य देने से वातरक्तजन्य पीडा नष्ट होती है। इसी प्रकार भौंह, कपाल, नेत्र, मस्तक तथा कान के रोग, सूर्यावर्त तथा आधा शीशी (अधकपारी) ये भी नस्य से नष्ट होते हैं ॥ २२० ॥

नस्यं स्यादणुतैलेन तथा नारायणेन वा । माषादिना वा सर्पिर्भिस्तत्तद्भेषजसाधितैः ॥२२१॥

अणु तेल, नारायण तेल, माषादि तेल अथवा तत्तद्रोगनाशक ओषधियों से पकाये हुये घी से भी बृंहण नस्य देना चाहिये ॥ २२१ ॥

*अणुतैलमुक्तं सुश्रुतेन । तद्यथा—'तिलपरिपीडनोपकरणकाष्ठान्याहृत्य यैरनल्पकालं तिलाः परिपीडितास्तान्यणूनि खण्डशः कल्पयित्वा उलूखले संकुट्य कटाहे पानीये वाप्लाव्य क्वाथयेत् ततस्तैलं निःसरति तत्तैलं शीतलं हस्तेन जलाद्भिःसार्य वातघ्नौषधकल्केन पचेत् । तदणुतैलमिति । तद्वातरोगहरम्' इति ॥ २२१ ॥

अणुतैल सुश्रुत में इस प्रकार कहा है-जिससे बहुत दिनों तक तेल पेरा गया हो ऐसे तेल पेरने के कोल्हू के लकड़ी को लाकर उसके सूक्ष्म-सूक्ष्म टुकड़े काट कर ओखली में कूट ले और पानी से भरी कड़ाही में डाल कर आंच पर चढ़ा दे जब उससे तेल निकले तो उस तेल को हथेली से निकाल ले तत्पश्चात् वातनाशक ओषधियों के कल्क के साथ उसे पकावे इसको अणुतैल कहते हैं, यह वातसम्बन्धी रोगों को नष्ट करता है ॥ २२१ ॥

अथ नस्यस्यान्यं विधिमाह—

तैलं कफे स्याद्वाते च केवले पवने वसाम् । दद्यात्सदा पित्ते सर्पिर्मज्जानमेव च ॥
माषात्मगुप्तारास्नाभिर्बलारुबुकरौहिषैः । कृतोऽश्वगन्धया क्वाथो हिङ्गुसैन्धवसंयुतः ॥२२३॥
कोष्णो नस्यप्रयोगेण पक्षाघातं सकम्पनम् । जयेदर्दितवातञ्च मन्यास्तम्भावबाहुकौ ॥२२४॥

नस्य का दूसरा प्रकार—कफ, वातसम्बन्धी रोगों में तेल और केवल वात रोग में वसा का नस्य देना चाहिये। पित्त रोग हो तो सर्वदा घी और मज्जा का नस्य देना चाहिये। उड़द, केवांच

के बीज, रास्ना, बला, एरण्ड की जड़, रोहिष तृण और असगन्ध का क्वाथ करके उसमें हींग तथा सेंधा नमक डालकर कुछ गरम रहते हुए नस्य देने से कम्पसहित पक्षाघात (अर्द्धाङ्गवात), अर्दित (लकवा), मन्यास्तम्भ और अवबाहुक रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ २२२–२२४ ॥

अथ प्रतिमर्शस्य मात्राविषये आह—

प्रतिमर्शस्य मात्रा तु द्वित्रिबिन्दुमिता मता । प्रत्येकशो नासिकया स्नेहनेति विनिश्चितम् ॥
स्नेहे ग्रन्थिद्वयं यावन्निमग्ना चोद्धृता ततः । तर्जनी यं स्रवेद्बिन्दुं सा मात्रा बिन्दुसंज्ञिता ॥
एवंविधैर्बिन्दुसंज्ञैरष्टाभिः शाण उच्यते । स ज्ञेयो मर्शनस्येषु प्रतिमर्शो द्विबिन्दुकः ॥२२७॥

प्रतिमर्श की मात्रा—प्रत्येक नासापुट में स्नेह की दो, तीन बूंद डाले इसको प्रतिमर्श कहते हैं। तर्जनी अंगुली को स्नेह में दो पोर तक डुबो कर निकाल ले, उस अंगुली से जो बूंद टपके वह बिन्दुरूप मात्रा कहलाती है। इसी प्रकार आठ बूंदों से शाण नामक मात्रा होती है जिसका मर्श संज्ञक नस्य में उपयोग होता है। दो-दो बूँदकी मात्रा जिस नस्य में दी जाय वह प्रतिमर्श कहलाता है॥

अथ प्रतिमर्शस्य समयमाह—

समयाः प्रतिमर्शस्य बुधैः प्रोक्ताश्चतुर्दश । प्रभाते दन्तकाष्ठान्ते गृहान्निर्गमने तथा ॥ २२८ ॥
व्यायामाध्वव्यवायान्ते विण्मूत्रान्तेऽञ्जने कृते । कवलान्ते भोजनान्ते दिवास्वप्नोत्थिते तथा ॥
वमनान्ते तथा सायं प्रतिमर्शः प्रयुज्यते ॥ २३० ॥

प्रतिमर्श का समय–विद्वानों ने प्रतिमर्श नस्य देने के निम्न चौदह समय कहे हैं—

१. प्रभात काल, २. दतौन के पश्चात्, ३. घर से बाहर निकलते समय, ४. व्यायाम करने के बाद, ५. मार्ग चलकर आने के पश्चात, ६. मैथुन के बाद, ७. मल त्यागने के पश्चात, ८. मूत्र के पश्चात, ९. अञ्जन लगाने के पश्चात, १०. कवल खाने के पश्चात, ११. भोजन के पश्चात, १२. दिन में सोने के पीछे १३. वमन करने के पीछे और १४. सायंकाल ॥ २२८–२३० ॥

ईषदुच्छिङ्घनात्स्नेहो यथा वक्त्रं प्रपद्यते । नस्ये निषिक्तं तं विद्यात्प्रतिमर्शप्रमाणतः ॥२३१॥
उच्छिष्टं न पिबेन्नैव निष्ठीवेन्मुखमागतम् ॥ २३२ ॥

कुछ छींक आजाने पर नाक में डाला हुआ पदार्थ यदि मुख में आजाय तो जानना चाहिये कि प्रतिमर्श की उचित मात्रा हो चुकी है। नाक से मुख में आये हुए पदार्थ को पीना नहीं चाहिये बल्कि तुरन्त थूक देना चाहिये ॥ २३१–२३२ ॥

प्रमाणतः = मात्रायुक्तम् । उच्छिष्टम् = नस्यावशिष्टम् ॥ २३१–२३२ ॥

यहां 'प्रमाणतः' पद का 'उचित मात्रा हो चुकी है' और 'उच्छिष्टम्' पद का 'नस्य लेने पर नाक में बचा हुआ' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २३१–२३२ ॥

अथ प्रतिमर्शस्य विषयान् गुणांश्चाह—

क्षीणे तृष्णाऽऽस्यशोषार्त्ते बाले वृद्धे च पूज्यते । प्रतिमर्शान्न जायन्ते रोगाश्चैवोर्ध्वजत्रुजाः ।
वलीपलितनाशश्च बलमिन्द्रियजं भवेत् ॥ २३३ ॥

प्रतिमर्श के विषय तथा गुण—क्षीण, प्यास तथा मुखशोष से व्याकुल रोगी, बालक तथा वृद्ध को प्रतिमर्श हितकर होता है। प्रतिमर्श के उपयोग करते रहने से ऊर्ध्व जत्रुगत रोग नहीं उत्पन्न होते, देह में झुर्रियों का पड़ना तथा पलित का नाश होता है और इन्द्रियों की शक्ति उत्तम होती है॥

बिभीतनिम्बौ गाम्भारी शिवा शेलुश्च काकिनी । एकैकतैलनस्येन पलितं नश्यति ध्रुवम् ॥

बहेड़ा, नीम, खंभार, हरड़, लिसोढ़ा और मालकांगनी में से हर एक पदार्थ के तेल का नस्य लेने के अभ्यास से अवश्य पलित (अकाल में बालों का श्वेत होना) नष्ट हो जाता है ॥ २३४ ॥

अथ नस्यस्य सामान्यविधिमाह—

अथ नस्यविधिं वक्ष्ये नस्यग्रहणहेतवे। देशे वातरजोमुक्ते कृतदन्तनिघर्षणम् ॥ २३५ ॥
विशुद्धं धूमपानेन स्विन्नभालगलं तथा। उत्तानशायिनं किञ्चित्प्रलम्बशिरसं नरम् ॥२३६॥
आस्तीर्णहस्तपादञ्च वस्त्राच्छादितलोचनम्। समुन्नामितनासाऽग्रं वैद्यो नस्येन योजयेत् ॥

नस्य की सामान्य विधि—वायु तथा धूल से रहित प्रदेश में दतौन कराने के पश्चात्, धूम्रपान करने से विशुद्ध होने के पीछे, कपाल तथा गले को स्वेदित कराने के बाद चित्त सुला कर मस्तक को कुछ नीचा कर दे तथा हाथ और पैरों को लम्बा फैलवा दे, तत्पश्चात् नेत्रों को वस्त्र से ढक कर नाक की नोक को ऊंची करके वैद्य रोगी को नस्य देवे ॥ २३५–२३७ ॥

कोष्णेनाच्छिन्नधारेण हेमताराद्शुक्तिभिः।
शुक्त्या वा यन्त्रयुक्त्या वा प्लोतैर्वा नस्यमाचरेत् ॥ २३८ ॥

सुवर्ण अथवा चांदी आदि की चमची या सीप या किसी यन्त्र से या कपड़े अथवा रूई के फोहे से बीच में धार न टूटे इस प्रकार कुछ गर्म नस्य नाक में डाले ॥ २३८ ॥

* प्लोतैर्वस्त्रैस्तदुपलक्षितैस्तूलैरपि ॥ २३८ ॥

यहां 'प्लोतैः' पद का 'कपड़े अथवा उससे उपलक्षित रूई के फोहे से' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २३८ ॥

नस्येष्वासिच्यमानेषु शिरो नैव प्रकम्पयेत्। न कुप्येन्न प्रभाषेत नोच्छिङ्क्वेन्न हसेत्तथा ॥
एतैर्हि विहितः स्नेहो नैवान्तं सम्प्रपद्यते। ततः कासप्रतिश्यायशिरोऽक्षिगदसम्भवः ॥२४०॥

नस्य जिस समय नाक में डाला जाता है उस समय रोगी को शिर हिलाना, क्रोध करना, किसी से बोलना, छींकना तथा हंसना वर्जित है। क्योंकि ऐसा करने से नस्य भीतर नहीं पहुँचता है और कास, प्रतिश्याय, शिरःशूल तथा नेत्रपीड़ा उत्पन्न हो जाती है ॥ २३९–२४० ॥

शृङ्गाटकमभिव्याप्य स्थापयेन्न गिलेद् द्रवम्। पञ्च सप्त दशैव स्युर्मात्राः स्नेहस्य धारणे ॥
उपविश्याथ निष्ठीवेन्नासावक्त्रागतं द्रवम्। वामदक्षिणपार्श्वाभ्यां निष्ठीवेत्संमुखं न हि ॥

नस्य को शृङ्गाटक पर्यन्त पहुँच जाने तक स्थिर रखे जिससे नस्य निकल न जाय। पांच, सात, अथवा दश गुरु अक्षरों के उच्चारण काल तक नस्य को धारण करना चाहिये। तत्पश्चात् बैठ कर नाक से मुख में आये हुये द्रव को दाहिनी अथवा बाईं ओर थूक दे, किन्तु सामने न थूके ॥

अथ नस्यदानानन्तरमकर्त्तव्यानि कर्माण्याह—

नीते नस्ये मनस्तापं रजःक्रोधञ्च सन्त्यजेत्। शयीत निद्रां त्यक्त्वा च प्रोत्तानो वाक्छतं नरः ॥

नस्य दान के पश्चात् निषिद्ध कर्म—नस्य देने के पश्चात् मनस्ताप, धूल तथा क्रोध का त्याग कर देना चाहिये। जब तक सौ गुरु अक्षरों का उच्चारण काल हो तब तक चित्त लेटा रहे नींद से नहीं सोये ॥ २४३ ॥

तथा शिरोविरेकान्ते धूमो वा कवलो हितः। नस्ये त्रीण्युपदिष्टानि लक्षणानि प्रयोगतः ॥
शुद्धहीनातियोगा हि विज्ञेयाः शास्त्रचिन्तकैः। लाघवं मलसंशुद्धिः स्रोतसां व्याधिसंक्षयः ॥
चित्तेन्द्रियप्रसादश्च शिरसः शुद्धिलक्षणम् ॥ २४५ ॥

शिरोविरेचन के पश्चात् धूम्रपान करना चाहिये या कवल खाना चाहिये यह हितकारक है।

नस्य प्रयोग करने के पश्चात् वैधक शास्त्र के चिन्तक वैद्यों को शुद्धयोग, हीनयोग और अतियोग की परीक्षा करनी चाहिये। उत्तम शुद्धि हो जाने पर शरीर में लघुता होती है, स्रोतों के मल साफ हो जाते हैं, शिरसम्बन्धी व्याधि का नाश और चित्त तथा इन्द्रियों में प्रसन्नता होती है ॥२४४–२४५॥

कण्डूः प्रदेहो गुरुता स्रोतसां कफसंस्रवः। मूर्ध्नि हीनाविशुद्धेस्तु लक्षणं परिकीर्त्तितम् ॥२४६॥

नस्य के अल्प प्रयोग से सिर की उत्तम शुद्धि न होने पर खुजली, शरीर में चिकनापन तथा गुरुता होती है और स्रोतो में कफ बढ़ता है ॥ २४६ ॥

*हीनाविशुद्धे = हीननस्येनाविशुद्धेः ॥ २४६ ॥

यहां 'हीनाविशुद्धेः' पद का 'हीनयोग होने से अर्थात् नस्य के अल्प प्रयोग से सिर की उत्तम शुद्धि न होने पर' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २४६ ॥

मस्तुलुङ्गागमो वातवृद्धिरिन्द्रियविभ्रमः । शून्यता शिरसश्चापि मूर्ध्नि गाढं विरेचिते ॥२४७॥

यदि शुद्धि का अतियोग हो गया हो तो नासिका से सिर की वसा गिरने लगती है और वात की वृद्धि, इन्द्रियों का अपने अपने विषयों को भली भांति ग्रहण न करना और मस्तक का शून्य हो जाना ये सब होते हैं ॥ २४७ ॥

*मस्तुलुङ्गम् = मस्तकान्तःस्नेहः । इन्द्रियविभ्रमः=इन्द्रियाणामयथाविषयग्रहः ॥२४७॥

यहां 'मस्तुलुङ्ग' पद का 'सिर की वसा अर्थात् अन्दर का स्नेह' और 'इन्द्रियविभ्रम' पद का 'इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों को भली भांति ग्रहण न करना' यह अर्थ समझना चाहिये ॥२४७॥

अथ नस्यहीनयोगचिकित्सामाह—

हीनातिशुद्धे शिरसि कफवातघ्नमाचरेत् । तत्र हीनेन नस्येन शुद्धे वातघ्नमाचरेत् ।२४८॥
सम्यग्विशुद्धे शिरसि सर्पिर्नस्येन दीयते । कफप्रसेकः शिरसो गुरुतेन्द्रियविभ्रमः ॥२४९॥
लक्षणं तदतिस्निग्धे तत्र रूक्षं प्रदापयेत् । भोजयेच्चानभिष्यन्दि नस्ये वातिकमादिशेत् ॥२५०॥

नस्य के हीनयोग तथा अतियोग की चिकित्सा—यदि नस्य का हीनयोग तथा अतियोग हो गया हो तो कफ-वातघ्न और केवल नस्य का हीनयोग हुआ हो तो वातघ्न उपचार करना चाहिये। यदि रेचन नस्य से सिर बहुत शून्य हो गया हो तो फिर घी का नस्य देना चाहिये । स्नेहन नस्य से सिर बहुत स्निग्ध हो गया हो तो कफ का स्राव होता है, शिर में गुरुता तथा इन्द्रियों में भ्रम होता है। यदि इस प्रकार अतिस्निग्ध के लक्षण प्रतीत हों तो रूक्ष पदार्थों का नस्य देना चाहिये। अभिष्यन्दी पदार्थों का सेवन न करे तथा वात-वर्द्धक क्रियाओं का नस्य में उपयोग करे ॥२४८-२५०॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे परिभाषाऽऽदिप्रकरणे पञ्चमं पञ्चकर्मविधिप्रकरणं समाप्तम् ॥ ५ ॥

अथ षष्ठं धूमपानादिविधिप्रकरणम् ॥ ६ ॥

तत्रादौ धूमपानविधिमाह—

धूमस्तु षड्विधः प्रोक्तः शमनो बृंहणस्तथा । रेचनः कासहा चैव वामनो व्रणधूपनः ॥१॥
शमनस्य तु पर्यायौ मध्यः प्रायोगिकस्तथा । बृंहणस्य च पर्यायौ स्नेहनो मृदुरेव च ॥२॥
रेचनस्यापि पर्यायौ शोधनस्तीक्ष्ण एव च । अधूमार्हाश्च खल्वेते श्रान्तो भीतश्च दुःखितः ॥३॥
दत्तबस्तिर्विरिक्तश्च रात्रौ जागरितस्तथा । पिपासितश्च दाहार्त्तस्तालुशोषी तथोदरी ॥४॥
शिरोऽभितापी तिमिरी छर्द्याध्मानप्रपीडितः । क्षतोरस्कः प्रमेहार्त्तः पाण्डुरोगी च गर्भिणी॥५॥
रूक्षः क्षीणोऽभ्यवहृतक्षीरक्षौद्रघृतासवः । भुक्तान्नदधिमत्स्यश्च बालो वृद्धः कृशस्तथा ॥६॥
अकाले चातिपीतश्च धूमः कुर्यादुपद्रवान् । तत्रेष्टं सर्पिषः पानं नावनाञ्जनतर्पणम् ॥७॥
सर्पिरिक्षुरसं द्राक्षां पयो वा शर्कराऽम्बु वा । मधुराम्लौ रसौ वाऽपि वमनाय प्रदापयेत् ॥८॥

धूमस्तु द्वादशाद्वर्षाद् गृह्यतेऽशीतिकाश्च च। कासश्वासप्रतिश्यायान् मन्याहनुशिरोरुजः॥९॥
वातश्लेष्मविकारांश्च हन्याद्धूमः सुयोजितः। धूमोपयोगात्पुरुषः प्रसन्नेन्द्रियवाङ्मनाः॥
दृढकेशद्विजश्मश्रुः सुगन्धिवदनो भवेत्॥ १०॥

धूमपान की विधि धूम छः प्रकार के होते हैं–१-शमन (दोषों को शान्त करने वाला), २-बृंहण (धातुओं को बढ़ाने वाला), ३-रेचन (दोषों को निकालने वाला), ४-कासघ्न (कास-नाशक), ५-वामन (वमन कराने वाला) और ६-व्रणधूपन (व्रण को धूपित करने वाला)। इनमें शमन के मध्य तथा प्रायोगिक और बृंहण के स्नेहन तथा मृदु एवं रेचन के शोधन तथा तीक्ष्ण ये पर्याय हैं।

धूमपान के अयोग्य व्यक्ति—जो व्यक्ति थका हुआ या डरा हुआ किंवा दुःखित हो अथवा जिसे वस्ति दी गई हो या विरेचन दिया गया हो या जो रात्रि में जागा हुआ हो या प्यासा हुआ वा दाह से दुःखी हो या जिसका तालु सूखता हो किंवा जो उदर रोगी हो या जिसका शिर तप्त हो रहा हो वा तिमिर, वमन या अफारा से जो पीड़ित हो अथवा उरःक्षत, प्रमेह या पाण्डु रोग से युक्त हो और गर्भिणी स्त्री, रूक्ष तथा क्षीण शरीर वाला एवं दूध, शहद, घी या आसव का जिसने पान किया हो अथवा अन्न, दही या मछली जिसने खाई हो किंवा जो बालक, वृद्ध या कृश शरीर वाला हो तो वे सभी निश्चय धूमपान के अयोग्य समझे जाते हैं। असमय में तथा अधिक मात्रा में धूमपान करना अनेक उपद्रवों को उत्पन्न करने वाला होता है। ऐसे समय में उपद्रवों को शान्त करने के लिये घी पिलाना, नस देना, आंखों में अञ्जन लगाना, सन्तर्पण करना उत्तम होता है। घी, ऊख का रस, मुनक्का, दूध, चीनी का शर्बत, मधुर या अम्ल पदार्थों का रस वमन कराने में देना चाहिये। धूमपान बारह वर्ष की अवस्था से लेकर अस्सी वर्ष की अवस्था तक करना चाहिये, बारह से पहले और अस्सी के बाद नहीं करना चाहिये। यदि धूमपान का प्रयोग उत्तम रीति से किया जाय तो खांसी, दमा, जुखाम, मन्या (गर्दन की शिरा का) स्तम्भ, हनु (जबड़े का) स्तम्भ, सिर की पीड़ा, वात तथा कफसम्बन्धी विकार ये सब नष्ट हो जाते हैं। धूम का उपयोग करने वाले पुरुष की इन्द्रियां तथा मन प्रसन्न रहता है और वाणी स्वच्छ होती है। सिर, दाढ़ी तथा मूछ के बाल एवं दांत दृढ़ होते हैं और मुख सुगन्धित रहता है॥ १–१०॥

अथ धूमपाननलिकामानमाह—.

धूमनाडी भवेत्तत्र त्रिखण्डा च त्रिपर्विका। कनिष्ठिकापरीणाहा राजमाषागमान्तरा॥११॥

धूमपान की नली का मान—धूमपान करने में उसकी नली तीन टुकड़ों तथा तीन पर्व वाली एवं कनिष्ठिका अंगुली के समान मोटी और राजमाष (बोड़ा) जाने योग्य छिद्र वाली होनी चाहिये॥ ११॥

*राजमाषागमा समस्ता नाडी॥ ११॥

यहां 'राजमाषागमा' पद से 'राजमाष (बोड़ा) जाने योग्य छिद्रवाली सम्पूर्ण नली' का बोध करना चाहिये॥ ११॥

धूमपानी भवेद्दीर्घा शमने रोगिणोऽङ्गुलैः। चत्वारिंशन्मितैस्तद्वद् द्वात्रिंशद्भिर्मृदौ मता॥१२॥

शमनसंज्ञक धूमपान में उसकी नली की लम्बाई रोगी के अंगुल से ४० अंगुल की होनी चाहिये और बृंहणसंज्ञक धूमपान में नली की लम्बाई ३२ अंगुल की होनी चाहिये॥ १२॥

*मृदौ = बृंहणे॥ १२॥

यहां 'मृदौ' पद का 'बृंहणसंज्ञक धूमपान में' यह अर्थ समझना चाहिये॥ १२॥

तीक्ष्णे चतुर्विंशतिभिः कासघ्ने षोडशोन्मितैः ॥ १३ ॥

रेचनसंज्ञक धूमपान में २४ अंगुली की तथा कासनाशक धूमपान में १६ अंगुल की नली की लम्बाई होनी चाहिये ॥ १३ ॥

***तीक्ष्णे = रेचने ॥ १३ ॥**

यहां 'तीक्ष्णे' पद का 'रेचनसंज्ञक धूमपान में' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १३ ॥

दशाङ्गुलैर्वामनीये तथा स्याद् व्रणनाडिका । कलायमण्डलस्थूला कुलत्थागमरन्ध्रिका ॥१४॥

वमन कराने वाले धूमपान में तथा व्रण को धूपित करने में नली की लम्बाई १० अंगुल की होनी चाहिये और मुटाई मटर के बराबर तथा उसके छिद्र की चौड़ाई कुलथी जाने लायक होनी चाहिये ॥ १४ ॥

***तथा = दशाङ्गुलमिता ॥ १४ ॥**

यहां 'तथा' पद से '१० अंगुल की' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १४ ॥

अथ धूमपानविधिमाह—

अथेषिकां प्रलिम्पेच्च सुश्लक्ष्णां द्वादशाङ्गुलाम् । धूमद्रव्यस्य कल्केन लेपश्चाष्टाङ्गुलः स्मृतः ॥

धूमपान की विधि—धूमपान की नली (हुक्का) तैयार कर चुकने के बाद एक अत्यन्त चिकनी शरकण्डे की १२ अंगुल लम्बी सलाई लेकर उसे जिस द्रव्य का धूम पीना हो उसके महीन कल्क (चटनी) से लपेट दे किन्तु इतना ध्यान अवश्य रहे कि लेप केवल आठ अंगुल तक ही सलाई पर रहे ॥ १५ ॥

***इषिकाम् = शरकाण्डम् ॥ १५ ॥**

यहां 'ईषिका' पद से 'सरकण्डे की सलाई' का बोध करना चाहिये ॥ १५ ॥

कल्कं कर्षमितं लिप्त्वा छायाशुष्कश्च कारयेत् । ईषिकामपनीयाथ स्नेहाक्तां वर्त्तिमादरात् ॥१६॥
अङ्गारैर्दीपितां कृत्वा घृत्वा नेत्रस्य रन्ध्रके । वदनेन पिबेद् धूमं वदनेनैव संत्यजेत् ॥१७॥
नासिकाभ्यां ततः पीत्वा मुखेनैव वमेत्सुधीः । शरावसम्पुटे क्षिप्त्वा कल्कमङ्गारदीपितम् ॥
छिद्रे नेत्रं निवेश्याथ व्रणं तेनैव धूपयेत् ॥ १८ ॥

एक तोला मात्र कल्क का सलाई के ऊपर लेप करके उसे छाया में सुखावे, जब सूख जाय तब सावधानी से सलाई को सूखे कल्क से अलग कर उक्त सूखे कल्क की बत्ती को घृत से तर करके उसके एक सिरे पर आग लगा कर दूसरे सिरे को धूमपान की नली के छिद्र के अन्दर रख दे तत्पश्चात् बुद्धिमान् को चाहिये कि मुख से पीये और मुख से ही धूम बाहर निकाले । यदि किसी व्रण को धूम देना हो तो उसकी ओषधि के उक्त रीति से बने कल्क को घृतयुक्त करके तत्पश्चात् उसमें आग लगा कर उसे एक शराव (कसोरा) के सम्पुट के अन्दर रख कर ऊपर के कसोरे में एक छिद्र कर दे और उस छिद्र के अन्दर धूम लेने की नली को घुसा कर रख दे, उसके बाद नली के द्वारा निकले हुए धूम से व्रण को धूपित करे ॥ १६-१८ ॥

अथ धूमपानौषधिकल्कमाह—

एलादिकल्कं शमने स्निग्ध सर्जरसं मृदौ ॥ १९ ॥
रेचने तीक्ष्णकल्कञ्च श्वासघ्ने क्षुद्रकोषणम् । वामने स्नायुचर्माद्यं दद्याद् धूमस्य पानकम् ॥२०॥
व्रणे निम्बवचाद्यैश्च धूपनं संप्रशस्यते । अन्येऽपि धूमा गेहेषु कर्त्तव्या रोगशान्तये ॥२१॥

धूमपान में ओषधि का कल्क—शमनसंज्ञक धूमपान में छोटी इलायची आदि का, बृंहण संज्ञक धूमपान में घृतादि युक्त राल का, रेचन संज्ञक धूमपान में तीक्ष्ण द्रव्यों का, श्वास (कास) नाशक धूमपान में कटेरी तथा काली मिरिच का और वामनसंज्ञक धूमपान में स्नायु तथा चमड़े के

कल्क का धूमपान कराना चाहिये । व्रण में नीम, वच आदि के कल्क का धूम देना उचित होता है । इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के भी धूम का प्रयोग रोग-शान्ति के लिये गृह में करना चाहिये ॥ १९-२१ ॥

अथ गृहदेयधूममाह—

मयूरपिच्छं निम्बस्य पत्राणि बृहतीफलम् । मरिचं हिङ्गु मांसी च बीजं कार्पाससम्भवम् ॥
छागरोमाहिनिर्मोको विष्ठा वैडालिकी तथा । गजदन्तश्च तच्चूर्णं किञ्चिद्घृतविमिश्रितम् ॥
गेहेषु धूपनं दत्तं सर्वान् बालग्रहान् हरेत् । पिशाचान् राक्षसान् हत्वा सर्वज्वरहरं भवेत् ॥

गृह में देने योग्य धूम—मयूर का पंख, नीम के पत्ते, बड़ी कटेरी के फल, काली मिरिच, हींग, जटामांसी, कपास के बीज (बिनौला), बकरे का बाल, सांप की केंचुल, बिल्ली की विष्ठा, हाथीदांत, इन सबों का चूर्ण करके उसमें थोड़ा घी मिलाकर गृह में धूनी देने से सभी प्रकार के बालकों के ग्रह दूर होते हैं तथा यह धूनी पिशाच तथा राक्षस सम्बन्धी बाधा को दूर कर सम्पूर्ण ज्वर को नष्ट करती है । इसीका नाम 'अपराजित धूम' है ॥ २२-२४ ॥

ॐ अहिनिर्मोकः = सर्पकञ्चुकः ॥ २२-२४ ॥

यहां 'अहिनिर्मोक' पद का 'सांप की केंचुल' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २२-२४ ॥

इत्यपराजितो धूमः ।

अथ धूमपाने त्याज्यकार्याण्याह—

मनस्तापं रजःक्रोधौ धूमपाने निवारयेत् । नेत्राणि धातुजान्याहुर्नलवंशादिजान्यपि ॥ २५ ॥

धूमपान में त्याग करने योग कार्य -धूमपान करने पर मन में सन्ताप नहीं होने देना चाहिये तथा धूलि से दूर रहना चाहिये और क्रोध नहीं करना चाहिये। धूमपान की नली या तो तामा आदि धातु की अथवा नरसल या बांस की बनानी चाहिये ॥ २५ ॥

अथ गण्डूषकवलप्रतिसारणविधिमाह ।

तत्र गण्डूषविधिमाह—

स्नेहक्षीरकषायाद्यैर्द्रवैः सम्पूर्णमाननम् । आपूर्य स्थीयते तावद्विधिर्गण्डूषधारणे ॥ २६ ॥
कफपूर्णास्यता यावच्छेदो दोषस्य वा भवेत् । नेत्रघ्राणस्रुतिर्यावत्तावद्गण्डूषधारणम् ॥२७॥
गण्डूषान् सुस्थितः कुर्यात्स्विन्नभालगलादिकः ।
मनुष्यस्त्रींस्तथा पञ्च सप्त वाऽऽदोषनाशनात् ॥ २८ ॥

गण्डूष की विधि—स्नेह (घृतादि), दूध, क्वाथ आदि द्रव पदार्थों से मुख को पूर्ण रीति से भर कर जब तक रखने की विधि हो तब तक रखना यही गण्डूषधारण (कुल्ले करने) की विधि है । गण्डूष (कुल्ला) मुख में धारण करने का समय—जब तक कफ से मुख न भर जाय या दोष नष्ट न हो जाय अथवा आँख तथा नाक से पानी न झरने लगे तब तक मुख में गण्डूष धारण करना चाहिये । मनुष्य को चाहिये कि वह स्थिर आसन से बैठ कर जब तक कपाल, गला, गण्डस्थल तथा गालों पर पसीना न आ जाय अथवा जब तक दोष दूर न हो जाय तब तक ३, ५ अथवा ७ कुल्ले करे ।। २६-२८ ॥

ॐगलादिकः = इत्यादिशब्देन गण्डकपोलौ गृह्येते सुश्रुतोक्तत्वात् ॥ २६-२८ ॥

यहाँ सुश्रुत महर्षि के वचनानुसार 'गलादिक' में आदि शब्द से 'गण्डस्थल तथा कपोल का भी ग्रहण किया गया है' ॥ २६-२८ ॥

अथ गण्डूषभेदानाह—

चतुर्विधः स्याद् गण्डूषः स्नेहनः शमनस्तथा। शोधनो रोपणश्चैव कवलश्चापि तादृशः॥
स्निग्धोष्णैः स्नैहिको वाते स्वादुशीतैः प्रसादनः। पित्ते कट्वम्ललवणैरुष्णैः संशोधनः कफे।
कषायतिक्तमधुरैः कटूष्णो रोपणो व्रणे॥ ३०॥

गण्डूष के भेद—१-स्नेहन, २-शमन- ३-शोधन और ४-रोपण इन भेदों से गण्डूष और इसी भांति कवल भी चार प्रकार का होता है। वातसम्बन्धी दोष में स्निग्ध तथा उष्ण द्रवपदार्थों के द्वारा जो गण्डूष धारण किया जाता है उसे स्नैहिक (स्नेहन) कहते हैं। पित्त सम्बन्धी दोष में स्वादिष्ट तथा शीतल द्रव पदार्थों से गण्डूष धारण किया जाता है उसे प्रसादन (शमन) और कफसम्बन्धी दोष में कटु, अम्ल तथा लवणरसयुक्त उष्ण द्रवपदार्थों से जो गण्डूष धारण किया जाता है उसे संशोधन एवं व्रण में कषाय, तिक्त तथा मधुर रसयुक्त किञ्चित् उष्ण द्रव पदार्थों से जो गण्डूष धारण किया जाता है उसे रोपणसंज्ञक गण्डूष कहते हैं॥ २९-३०॥

अथ गण्डूषकवलौषधमानमाह—

दद्याद् द्रव्येषु चूर्णञ्च गण्डूषे कोलमात्रकम्। कर्षप्रमाणः कल्कश्च कवले दीयते बुधैः॥३१॥

गण्डूष तथा कवल की ओषधियों का मान—गण्डूष धारण करना हो तो द्रव पदार्थों में डालने के लिये चूर्ण की मात्रा १ कोल (४ माशे) की होनी चाहिये। यदि कवल लेना हो तो उसमें कल्क की मात्रा १ कर्ष (१ तोला) की होनी चाहिये॥ ३१॥

अथ गण्डूषकवलयोरवस्थामर्यादामाह—

धार्यन्ते पञ्चमाद्वर्षाद्गण्डूषाः कवलादयः॥ ३२॥

गण्डूष तथा कवल धारण करने में अवस्था की मर्यादा—५ वर्ष की अवस्था हो जाने के बाद गण्डूष तथा कवल आदि धारण करना उचित होता है॥ ३२॥

व्याधेरपचयस्तुष्टिर्वैशद्यं वक्त्रलाघवम्। इन्द्रियाणां प्रसादश्च गण्डूषे विधृते भवेत्॥३३॥
हरेदास्यस्य वैरस्यं शोषं पाकं व्रणं तृषाम्। दन्तचालञ्च गण्डूषो वैशद्यं तु करोति हि॥३४॥

गण्डूष धारण के गुण—गण्डूष धारण करने पर व्याधियों का नाश, चित्त में सन्तोष, स्वच्छता, मुख में लघुता तथा इन्द्रियों की प्रसन्नता ये सब उत्पन्न होते हैं और मुख की विरसता, शोष (मुख का सूखना) तथा पाक (मुख का पक जाना) दूर होता है एवं व्रण, तृषा और दांतों का हिलना ये सब नष्ट हो जाते हैं और मुखादि की स्वच्छता भी होती है॥ ३३-३४॥

अथ कवलविधिमाह—

वातपित्तकफघ्नस्य द्रव्यस्य कवलं मुखे। अर्द्धं निक्षिप्य संचर्व्य निष्ठीवेत्कवले विधिः॥
कवलः कुरुते काङ्क्षां भक्ष्येषु हरते कफम्। तृष्णां शोषञ्च वैरस्यं दन्तचालञ्च नाशयेत्॥

कवलधारण की विधि—योग्यतानुसार वात, पित्त तथा कफनाशक ओषधियों का कवल (ग्रास) मुख के अर्ध भाग में रखकर और उसे चबा कर थूक देना चाहिये। इसी को कवलधारण की विधि कहते हैं। कवल धारण के गुण—कवलधारण करने से भक्ष्य पदार्थों के खाने में रुचि उत्पन्न होती है और कफ नष्ट होता है एवं तृषा, मुख का शोष (सूखना) तथा विरसता और दांतों का हिलना दूर हो जाता है॥ ३५-३६॥

अथ प्रतिसारणविधिमाह—

दन्त जिह्वामुखानां यच्चूर्णकल्कावलेहकैः। शनैर्घर्षणमङ्गुल्या तदुक्तं प्रतिसारणम्॥३७॥

**वैरस्यं मुखदौर्गन्ध्यं मुखशोषं तथा तृषाम्। अरुचिं दन्तपीडाञ्च निहन्ति प्रतिसारणम्॥
हीने जाड्यकफोत्क्लेशावरसज्ञानमेव च। अतियोगान्मुखे पाकः शोषस्तृष्णावमिः क्लमः॥**

प्रतिसारण की विधि—चूर्ण, कल्क अथवा अवलेह द्वारा अंगुली से दांत, जीभ तथा मुख को जो धीरे-धीरे घिसा जाता है अर्थात् मञ्जन किया जाता है उसी को प्रतिसारण कहते हैं। प्रतिसारण (मञ्जन) करने से मुख की विरसता, दुर्गन्ध तथा शोष (मुख का सूखना) नष्ट होता है और तृषा, अरुचि तथा दांतों की पीड़ा दूर होती है। यदि प्रतिसारण हीन मात्रा में किया जाय तो जड़ता, कफ का प्रकोप तथा मधुरादि रसों का परिज्ञान न होना ये सब लक्षण प्रकट होते हैं। यदि अधिक मात्रा में प्रतिसारण किया जाय तो मुख का पाक (पक जाना) तथा शोष (सूखना) एवं तृषा, वमन तथा ग्लानि ये सब उत्पन्न होते हैं॥ ३७–३९॥

अथ स्वेदविधिमाह—

स्वेदश्चतुर्विधः प्रोक्तस्तापोष्मस्वेदसंज्ञितः। उपनाहो द्रवः स्वेदः सर्वे वातार्त्तिहारिणः॥४०॥

स्वेद की विधि—स्वेद (पसीना निकलना) के ४ भेद होते हैं—१ तापस्वेद, २ उष्मस्वेद, ३ उपनाहस्वेद और ४ द्रवस्वेद। ये चारो स्वेद वातसम्बन्धी पीड़ा को नष्ट करने वाले होते हैं॥ ४०॥

***तापस्वेद उष्मस्वेदश्च ताभ्यां संज्ञितः। उपनाहः = उपनाहस्वेद इत्यर्थः॥ ४०॥**

यहां 'तापोष्मस्वेदसंज्ञितः' पद का 'तापस्वेद तथा उष्मस्वेद नाम से प्रसिद्ध' और 'उपनाह' पद का 'उपनाह स्वेद' यह अर्थ समझना चाहिये॥ ४०॥

स्वेदौ तापोष्मजौ प्रायः श्लेष्मघ्नौ समुदीरितौ। उपनाहस्तु वातघ्नः पित्तसङ्गे द्रवो हितः॥

उक्त ४ प्रकार के स्वेदों में तापस्वेद तथा ऊष्मस्वेद कफनाशक और उपनाह स्वेद वातनाशक कहा हुआ है। जहां पित्त का विशेष सम्बन्ध होता है वहां द्रवस्वेद हितकर कहा हुआ है॥ ४१॥

***द्रवो हि द्रवस्वेदः॥ ४१॥**

यहां 'द्रव' पद से 'द्रवस्वेद' का ग्रहण किया जाता है॥ ४१॥

**महाबले महाव्याधौ शीते स्वेदो महान् स्मृतः। दुर्बले दुर्बलः स्वेदो मध्यमे मध्यमो मतः।
बलासे रूक्षणः स्वेदो रूक्षस्निग्धः कफानिले॥ ४२॥**

यदि रोगी महाबलवान् हो और व्याधि भी बड़ी हो और शीत काल हो तो प्रबल स्वेद कराना चाहिये। यदि रोगी तथा व्याधि दुर्बल हो तो दुर्बल स्वेद कराना उचित है। मध्यम बलवाला रोगी या व्याधि हो तो मध्यम स्वेद कराना चाहिये। कफसम्बन्धी रोगों में रूक्षण (रूक्षता करने वाला) स्वेद कराना चाहिये। कफयुक्त वायुसम्बन्धी रोगों में रूक्ष तथा स्निग्ध स्वेद कराना चाहिये॥ ४२॥

***रूक्षणः = रूक्षयतीति रूक्षणः। नन्द्यादित्वाल्ल्युट् प्रत्ययः॥ ४२॥**

यहां 'रूक्षण' पद का 'रूक्षता करने वाला' यह अर्थ समझना चाहिये। और 'रूक्ष्' धातु से 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' इस सूत्र से नन्द्यादि के अन्दर पाठ होने से ल्यु प्रत्यय हुआ और ल की इत्संज्ञा होने के बाद यु को न हुआ है तथा नकार को णकार होकर सु विभक्ति आई और रुत्व विसर्ग होकर 'रूक्षणः' यह पद सिद्ध होता है॥ ४२॥

**कफमेदोवृते वाते कोष्णं गेहं रवेः करान्। नियुद्धं मार्गगमनं गुरु प्रावरणं ध्रुवम्॥ ४३॥
चिन्ताव्यायामभारांश्च सेवेतामयमुक्तये। येषां नस्यं प्रदातव्यं वस्तिश्चापि हि देहिनाम्॥४४॥
शोधनीयाश्च ये केचित् पूर्वं स्वेद्याश्च ते मताः। स्वेद्या ऊर्ध्वं त्रयोऽपीह भगन्दर्यर्शसस्तथा॥
अश्मर्या चातुरो जन्तुः शयवेच्छस्त्रकर्मणः॥ ४६॥**

कफ तथा मेद से युक्त यदि वायुसम्बन्धी रोग हो तो उसकी निवृत्ति के लिये रोगी को किंचिद् गर्म गृह में रखना, सूर्य की किरणों का सेवन कराना एवं मल्ल युद्ध (कुश्ती लड़ना), पैदल रास्ता चलना, भारी मोटा वस्त्र ओढ़ना, चिन्ता करना, व्यायाम (कसरत) तथा भार उठाना इन सबों को यथायोग्य कराना चाहिये। जिन रोगियों को नस्य (नास) या वस्ति देना हो अथवा वमन-विरेचन द्वारा शोधन करना हो उन सबों को सर्व प्रथम स्वेद देना चाहिये। भगन्दर, अर्श तथा पथरी से पीड़ित रोगी शस्त्रकर्म (चीर-फार) के पहले तथा पीछे स्वेद देने के योग्य होते हैं ॥ ४३-४६ ॥

*शस्त्रकर्मण ऊर्ध्वं पश्चाच्चेति सुश्रुते ॥ ४३-४६ ॥

यहां 'शस्त्रकर्म के पहले तथा पीछे स्वेद देना' यह सुश्रुत में कहा हुआ है ॥ ४३-४६ ॥

पश्चात्स्वेद्या हृते शल्ये मूढगर्भगदे तथा। काले प्रजाताऽकाले वा पश्चात्स्वेद्या नितम्बिनी ॥
सर्वान्स्वेदान्निवाते च जीर्णेऽन्ने वाऽवचारयेत्। स्वेदाद्धातुस्थिता दोषाः स्नेहक्लिन्नस्य देहिनः॥
द्रवत्वं प्राप्य कोष्ठान्तर्गत्वा यान्ति विरेकताम्।
स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य शीतैराच्छाद्य चक्षुषी। स्वेद्यमानशरीरस्य हृदयं शीतलैः स्पृशेत् ॥४९॥

स्त्री के मूढगर्भ रोग में, शल्य निकाल लेने के पश्चात् स्वेद देना उचित होता है एवं समय होने पर या असमय में ही प्रसव होने के बाद प्रसूता स्त्री को स्वेद देना चाहिये। भोजन किये हुये अन्न के पच जाने पर वायुरहित स्थान में पूर्वोक्त सभी स्वेद देना चाहिये। स्नेह (तैलादि) से अभ्यङ्ग (मालिश) कर चुकने पर रोगी को स्वेद देने से धातु (रस—रक्तादि) गत वातादि दोष द्रवित होकर कोठे के अन्दर जाकर विरेकता को प्राप्त होते हैं अर्थात् सम्पूर्ण दोष बाहर निकल जाते हैं। रोगी के शरीर में प्रथम स्नेह (तैलादि) की खूब मालिश करके पश्चात् उसके दोनों नेत्रों को शीतल गीले वस्त्र आदि से ढक कर स्वेद देना चाहिये। स्वेद देते समय उसके हृदय को भी शीतल गीले वस्त्रादि से स्पर्श कराते रहना चाहिये ॥ ४७-४९ ॥

*शीतलैः = आर्द्रवस्त्रादिभिः ॥ ४९ ॥

यहाँ 'शीतलैः' पद का 'शीतल गीले वस्त्र आदि से' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ४७-४९ ॥

अजीर्णी दुर्बली मेही क्षतक्षीणः पिपासितः ॥ ५० ॥
अतिसारी रक्तपित्ती पाण्डुरोगी तथोदरी। मेदस्वी गर्भिणी चैव न हि स्वेद्या विजानता ॥

स्वेद के अयोग्य व्यक्ति—जिसे अजीर्ण हुआ हो या जो दुर्बल, मेहरोग युक्त, क्षत से क्षीण, प्यासा, अतीसार, रक्तपित्त, पाण्डुरोग, उदररोग किंवा मेदरोग से पीड़ित हो अथवा जो गर्भिणी स्त्री हो उसे जान बूझ कर कभी भी स्वेद नहीं देना चाहिये ॥ ५०-५१ ॥

स्वेदादेषां याति देहो विनाशं, नो साध्यत्वं यान्ति तेषां विकाराः ॥ ५२ ॥
एतानपि मृदुस्वेदैः स्वेदसाध्यानुपाचरेत्। मृदुस्वेदं प्रयुञ्जीत तथा हृन्मुष्कदृष्टिषु ॥ ५३ ॥
अतिस्वेदात्सन्धिपीडा दाहस्तृष्णा क्लमो भ्रमः। पित्तासृक्पिडिकाकोपस्तत्र शीतैरुपाचरेत्॥

उक्त रोगियों को यदि स्वेद दिया जाय तो उनका शरीर नष्ट हो जाता है तथा उन सबों के रोग भी साध्य कोटि के (शीघ्र अच्छे होने योग्य) नहीं रह जाते हैं। यदि इन लोगों को स्वेद द्वारा शान्त होने योग्य रोग उत्पन्न हो जायं तो मृदु स्वेद द्वारा उनका उपचार करना उचित होता है। हृदय, अण्डकोश तथा नेत्र इनमें यदि स्वेद देना हो तो मृदु स्वेद देना चाहिये। अधिक स्वेद देने से सन्धियों में पीड़ा, दाह, प्यास, क्लान्ति, भ्रम, पित्त तथा रक्त के प्रकोप से उत्पन्न हुये फोड़े ये सब हो जाते हैं। उस समय शीतल उपचार आर्द्र वस्त्रादि द्वारा करना उचित होता है। अतः भली भांति से स्वेद देना चाहिये ॥ ५२-५४ ॥

अथ तापस्वेदविधिमाह—

तेषु तापाभिधः स्वेदो बालुकावस्त्रपाणिभिः । कपालकन्दुकाङ्गारैर्यथायोग्यं हि जायते ॥५५॥

तापस्वेद की विधि—उक्त स्वेदों में ताप नामक स्वेद वह कहलाता है जिसमें योग्यतानुसार बालू, वस्त्र, हाथ, ठीकरा, कपड़े की गेंद के आकार की पोटली या अङ्गार द्वारा स्वेद दिया जाता है ॥ ५५ ॥

अथोष्मस्वेदविधिमाह—

प्रतप्तैरम्लसिक्तैश्च कायेऽलक्तकवेष्टिते ॥

ऊष्मस्वेदः प्रयोक्तव्यो लोहपिण्डेष्टकादिभिः । अथवा वातनिर्णाशिद्रव्यक्वाथरसादिभिः ॥

उष्णैर्घटं पूरयित्वा पार्श्वे छिद्रं विधाय च । विमुद्रयास्यं त्रिखण्डां च धातुजां काष्ठजामुत ॥

षडङ्गुलास्यां गोपुच्छां नाडीं युञ्ज्याद् द्विहस्तकाम् ।

सुखोपविष्टं स्वभ्यक्तं गुरुप्रावरणावृतम् । हस्तिशुण्डिकया नाड्या स्वेदयेद्वातरोगिणम् ॥५८॥

ऊष्मस्वेद की विधि—रोगी के शरीर को लाख के रस से रंगे हुये वस्त्र से लपेट कर अत्यन्त तपाये हुये लोहे के पिण्ड अथवा पक्के मिट्टी के ईंटों को कांजी से बुझाते हुये उनसे जो स्वेद दिया जाता है उसे 'ऊष्मस्वेद' कहते हैं। अथवा गर्म वातनाशक द्रव्यों के क्वाथ या रस से एक घड़े को भर कर उसके बगल में एक छिद्र कर दे और घड़े के मुख को एक शराव (कसोरा) से खूब बन्द कर दे तत्पश्चात् तीन संधि वाली, या धातु या काठ की बनी हुई, भीतर छिद्र युक्त नली जो कि मूल भाग से ६ अंगुल चौड़ी मुख वाली, गौ के पूछ के समान क्रम से पतली तथा दो हाथ लम्बी हो, उसे उक्त छिद्र के अन्दर डाल कर सन्धियों को बन्द कर दे तत्पश्चात् भली भांति तेल की मालिश करके सुखपूर्वक बैठे हुये वातरोगी को भारी रजाई आदि वस्त्र उढ़ा कर हाथी की शूंड के समान क्रम से पतली उक्त नली द्वारा जो स्वेद दिया जाता है उसे भी 'ऊष्म-स्वेद' कहते हैं ॥ ५६–५८ ॥

त्रिखण्डामिति स्वेदसौकर्यार्थम् । षडङ्गुलास्यामिति मूले षडङ्गुलविशालमुखीं गोपुच्छमिव क्रमकृशाम् । तेनाग्रे गोपुच्छाग्रपरिमाणेन कृशाम् । नाडीम् = अन्तः सरन्ध्राम् । द्विहस्तकां = हस्तद्वयपरिमाणाम् । हस्तिशुण्डिकयेति हस्तिशुण्डेव क्रमकृशत्वान्नाड्या इयं संज्ञा ॥ ५६–५८ ॥

यहां 'स्वेद देने में सुविधा होने के लिये 'त्रिखण्डाम्—तीन सन्धियों वाली' यह विशेषण नली का दिया गया है। 'षडङ्गुलास्याम्' पद का 'मूल में ६ अंगुल चौड़े मुखवाली' तथा 'गोपुच्छाम्' पद का 'गौ के पूछ के समान क्रम से पतली' अर्थात्–अग्रभाग में गौ के पूछ के अग्रभाग के समान पतली और 'नाडीम्' पद का 'भीतर छिद्र युक्त नली' एवं 'द्विहस्तकाम्' पद का 'दो हाथ लम्बी' तथा 'हस्तिशुण्डिकया' पदसे 'हाथी की शूंड के समान क्रम से पतली होने से नली का 'हस्ति-शुण्डिका' यह नाम है' ऐसा समझना चाहिये ॥ ५६–५८ ॥

पुरुषायाममात्रां वा भूमिं सम्मार्ज्य खादिरैः । काष्ठैर्दग्ध्वा तथाऽभ्युक्ष्य क्षीरधान्याम्लवारिभिः ॥

वातघ्नपत्रैराच्छाद्य शयानं स्वेदयेन्नरम् । एवं माषादिभिः स्विन्नैः शयानं स्वेदमाचरेत् ॥६०॥

अथवा रोगी की लम्बाई तथा चौड़ाई के बराबर लम्बी तथा चौड़ी भूमि को झाड़ू से बहार कर उस पर खैर की लकड़ी रख कर जला दे तत्पश्चात् राख को अलग कर उस तपी भूमि पर दूध वा पूर्वोक्त धान्याम्ल (कांजी) का जल छिड़क कर उसके ऊपर वातनाशक एरण्ड आदि के पत्रों को बिछा दे और उन्हीं पत्रों पर रोगी को सुला कर तथा मोटे वस्त्र से ओढ़ा कर जो स्वेद दिया जाता है उसे भी ऊष्मस्वेद कहते हैं। इसी तरह उबाले हुए उड़द आदि के ऊपर रोगी को सुला कर जो स्वेद दिया जाता है वह भी ऊष्मस्वेद कहलाता है ॥ ५९–६० ॥

अथोपनाहस्वेदविधिमाह—

अथोपनाहस्वेदञ्च कुर्याद्वातहरौषधैः । प्रदिह्य देहं वातार्त्तं क्षीरमांसरसादिभिः ॥ ६१ ॥
अम्लपिष्टैः सलवणैः सुखोष्णैः स्नेहसंयुतैः । अथ ग्राम्यानूपमांसैर्जीवनीयगणेन च ॥ ६२ ॥
दधिसौवीरकक्षीरैर्वीरतर्वादिना तथा । कुलत्थमाषगोधूमैरतसीतिलसर्षपैः ॥ ६३ ॥
शतपुष्पादेवदार्वशेफालीस्थूलजीरकैः । एरण्डमूलजीरैश्च रास्नामूलकशिग्रुभिः ॥ ६४ ॥
मिसिकृष्णाकुठेरैश्च लवणैरम्लसंयुतैः । प्रसारण्यश्वगन्धाभ्यां बलाभिर्दशमूलकैः ॥ ६५ ॥
गुडूच्या वानरीबीजैर्यथालाभसमाहृतैः । चूर्णैः स्विन्नैश्च वस्त्रेण बद्धैः संस्वेदयेन्नरम् ॥ ६६ ॥
महाशाल्वणसंज्ञोऽयं योगः सर्वानिलार्त्तिहृत् ॥ ६७ ॥

उपनाहस्वेद की विधि—वातनाशक द्रव्यों को कांजी या छाछ आदि अम्ल पदार्थों के द्वारा पीस कर उसमें सेन्धा नमक, स्नेह (घी या तेल), दूध, मांसरस (सुरुवा) मिला कर गर्म करके सहन करने योग्य होने पर रोगी के जिस अङ्ग में वात की पीड़ा होती हो वहां पर पूर्वोक्त कल्क का लेप करके जो स्वेद दिया जाता है वह 'उपनाहस्वेद' कहलाता है। इस प्रकार ग्राम में रहने वाले तथा आनूप (जल के समीप या जल में रहने वाले) जीवों के मांस द्वारा, जीवनीय गण में कहे हुए द्रव्यों के द्वारा, दही, दूध तथा सौवीर के साथ वीरतर्वादि[1] गण में कहे हुये (शर, नील तथा पीत फूल की कटसरैया, दाभ, वांदा, गोंदपटेर, नल, कुश, काश, पाखानभेद, अरणी, मूर्वा, हुरहुर, सोनापाठा, कोरैया, नीलकमल, ब्राह्मी, गोखरू) द्रव्यों के द्वारा एवं कुलथी, उड़द, गेहूँ, अलसी, तिल, सरसो, सौंफ, देवदारु, निर्गुण्डी, कलौंजी, एरण्ड की जड़, जीरा, रास्ना, मूली, संइजन, जटामांसी, पीपल, वनतुलसी, गन्धप्रसारणी, असगन्ध, बलचतुष्टय (चार प्रकार की बला), दशमूल, गुरुच, कौंच के बीज, इन सबों में जितने मिल सकें उन सबों को सिल पर पीस कर उसमें पञ्चलवण (पाँचों नमक) तथा अम्ल पदार्थ कांजी आदि मिला कर गर्म कर ले तत्पश्चात् उसे कपड़े में बांध कर जो स्वेद दिया जाता है वह भी एक प्रकार का 'ऊष्मस्वेद' कहलाता है। इस योग का नाम 'महाशाल्वण' है अर्थात् इसे 'महाशाल्वण' संज्ञक उपनाह स्वेद कहते हैं। यह सम्पूर्ण वातसम्बन्धी पीड़ा को दूर करने वाला होता है ॥ ६१–६७ ॥

*अस्यायमर्थः = उपनाहस्वेदञ्च कुर्यात् । केन प्रकारेण ? इत्याकाङ्क्षायां तत्प्रकारमाह-वातहरौषधैः । कथम्भूतैः ? अम्लपिष्टैः = अम्लेन काञ्जिकतक्रादिना पिष्टैः । सलवणैः । स्नेह-संयुतैः । क्षीरमांसरसान्वितैः । सुखोष्णैः । वातार्त्तं देहं प्रदिह्य प्रलिप्य स्वेदयेदित्यर्थः ॥

यहाँ खण्डान्वय से इसका अर्थ यह समझना चाहिये कि उपनाह स्वेद करे। 'किस प्रकार करे' ऐसी आकाङ्क्षा होने पर उपनाह स्वेद के प्रकार को कहते हैं—वातनाशक द्रव्यों से, ये किस प्रकार के हों ? तो वे अम्लपदार्थ कांजी, छाछ आदि से पिसे हुए हों तथा सेंधानमक और स्नेह (घी तेल) से युक्त हों एवं दूध, सुरुवा आदि से युक्त तथा सहने योग्य गर्म हों, इस प्रकार के द्रव्यों से वात से पीड़ित अङ्गों को प्रलिप्त करके स्वेदन देना चाहिये ॥ ६१–६७ ॥

अथवाऽम्लेन सम्पिष्टैः कोष्णैः सूक्ष्मपटस्थितैः ।
भेषजैः स्वेदयेत् किं वा स्विन्नैः कोष्णैः पटस्थितैः ॥

अथवा वातनाशक द्रव्यों को अम्लपदार्थ कांजी आदि के साथ पीस कर गर्म कर पतले कपड़े

---

१. वीरतरुसहचरद्वयदर्भवृक्षादनीगुन्द्रानलकुशकाशाश्मभेदकाग्निमन्थमोरटावसिरभल्लूककुरुण्ट-केन्दीवरकपोनवङ्काः श्वदंष्ट्रा चेति । गणोऽयं वातघ्नः । अश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्राघातरुजाहरश्च ।
(सु० सू० ३८ अ०)

में रख सहने योग्य गर्म रहते स्वेद दिया जाय किंवा कुटे हुये औषध द्रव्यों को उबाल कर सहने योग्य गर्म रहते कपड़े में रख कर यदि इससे स्वेद दिया जाय तो वह उपनाह स्वेद कहलाता है ॥

अथ द्रवस्वेदविधिमाह—

द्रवस्वेदस्तु वातघ्नद्रव्यक्काथेन पूरिते। कटाहे कोष्ठके वाऽपि सूपविष्टोऽवगाहयेत् ॥ ६९ ॥
सौवर्णं राजतं वापि ताम्रं लौहञ्च दारुजम्।
कोष्ठकं तत्र कुर्वीतोच्छ्राये षड्विंशदङ्गुलम्। आयामे वा तदेव स्याच्चतुष्कोणन्तु चिक्कणम् ॥

द्रवस्वेद की विधि—वातनाशक द्रव्यों के काथ से गले तक भरे हुए कराह अथवा कोष्ठक (टब) में रोगी को स्थिर बैठा कर यदि स्नान करवाकर जो स्वेद दिया जाता है वह द्रवस्वेद कहलाता है। सोना, चांदी, तामा, लोहा अथवा लकड़ी का टब बनवाना चाहिये जो ऊंचाई और चौड़ाई में २६ अङ्गुल का हो एवं चिकनी तथा चौकोर भी हो ॥ ६९-७० ॥

***अयमर्थः—प्रथमतो वातघ्नद्रव्यक्काथेन कण्ठपूरिते कोष्ठके कटाहे वा सूपविष्टस्तिष्ठेत् ॥**

वातनाशक द्रव्यों के काथ से गले तक भरे हुये कराह अथवा टब में सुस्थिर बैठकर स्नान करने द्वारा स्वेद लेना प्रथम द्रवस्वेद है ॥ ६९-७० ॥

पक्षान्तरमाह—

नाभेः षडङ्गुलं यावन्मग्नं क्काथस्य धारया। कोष्णया स्कन्धयोः सिक्तस्तिष्ठेत्स्निग्धतनुर्नरः ॥

द्रवस्वेद की दूसरी विधि—अथवा रोगी को उक्त टब में नाभि से ऊपर छ अङ्गुल तक काथ में डूबा हुआ बैठावे और किंचिद गर्म-गर्म काथ की धारा उसके कन्धों पर गिरावे एवं टब में बैठने के पहले तेल की मालिश कर दे ॥ ७१ ॥

***अथवा नाभेः षडङ्गुलमूर्ध्वं यावत् क्काथे मग्न उपविष्टः। पश्चात् क्काथस्य धारया स्कन्धयोः सिच्यमानस्तिष्ठेद्। यावत् कोष्ठकं परिपूर्णं भवतीत्यर्थः। क्काथपक्षे प्रथमतः स्नेहाभ्यक्ततनुरुपविशेत् ॥ ७१ ॥**

यहां इसका अर्थ यह समझना चाहिये कि—अथवा नाभि से ६ अङ्गुल ऊपर तक काथ में डूबा हुआ टब में बैठे, उसके बाद काथ की धारा से दोनों कन्धों के ऊपर सींचा जाता हुआ तब तक बैठा रहे जब तक टब पूर्ण रीति से भर न जाय। काथ के पक्ष में पहले तेल की मालिश शरीर में कर ले तब टब में बैठे ॥ ७१ ॥

मुहूर्त्तकं समारभ्य यावत्स्यात्तच्चतुष्टयम्। तावत्तदवगाहेत यावदारोग्यनिश्चयः ॥ ७२ ॥

एक मुहूर्त्त (२ घड़ी = ४८ मिनट) से लेकर ४ मुहूर्त (लगभग ३। घण्टे) तक उक्त रीति से द्रवस्वेद दिया जाना चाहिये अथवा जब तक आरोग्य लाभ न हो तब तक देना चाहिये ॥ ७२ ॥

एवं तैलेन दुग्धेन सर्पिषा स्वेदयेन्नरम्। एकान्तरो द्व्यन्तरो वा युक्तः स्नेहोऽवगाहने ॥ ७३ ॥

इसी प्रकार तेल, दूध अथवा घी से रोगी को द्रवस्वेद देना चाहिये। किन्तु उक्त रीति से स्नान करने में स्नेह (घी वा तेल) का प्रतिदिन उपयोग करना उचित नहीं होता। अतः एक दिन वा दो दिन का अन्तर देकर स्नेहद्वारा स्नान करना चाहिए ॥ ७३ ॥

***एतावता क्काथो दुग्धञ्च नित्यमेव युज्यते। स्नेहस्तु दिनमेकं द्वे वा दिने गमयित्वा युक्तः। अग्निमान्द्याशङ्कयेति भावः ॥ ७३ ॥**

यहां यह भी समझना चाहिये कि-ऐसा कहने से अर्थात् स्नेह का नाम लेने से उक्त रीति से स्नान करने में काथ तथा दूध का नित्य ही उपयोग किया जाय तो योग्य होता है। स्नेह का उपयोग तो एक या दो दिन बिता कर करना उचित है। क्योंकि यदि ऐसा न किया जाय तो प्रतिदिन स्नेह का उपयोग करने से अग्नि मन्द होने की आशंका हो जाती है ॥ ७३ ॥

सिरामुखैर्लोमकूपैर्धमनीभिश्च तर्पयेत् । शरीरे बलमाधत्ते युक्तः स्नेहोऽवगाहने ॥ ७४ ॥
जलसिक्तस्य वर्द्धन्ते यथा मूलेऽङ्कुरादयः । तथैव धातुवृद्धिर्हि स्नेहसिक्तस्य जायते ॥ ७५ ॥
नातः परतरः कश्चिदुपायो वातनाशनः । शीतशूलव्युपरमे स्तम्भगौरवनिग्रहे ॥ ७६ ॥
दीप्तेऽग्नौ मार्दवे जाते स्वेदनाद्विरतिर्मता ॥ ७७ ॥

उक्त रीति से स्नान करने में स्नेह (घी वा तेल) का उपयोग करने से वह सिराओं के मुख, रोमकूप तथा धमनियों के द्वारा अन्दर प्रविष्ट होकर शरीर को तर्पित करता है तथा शरीर में बल उत्पन्न करता है । जिस तरह वृक्ष के मूलभाग में जल सींचने से अंकुर आदि बढ़ते हैं उसी तरह स्नेह से सींचे हुये (स्नान किये हुये) रोगी के धातुओं की वृद्धि होती है इससे बढ़ कर और दूसरा कोई उपाय वातसम्बन्धी पीड़ा दूर करने के लिये नहीं है । शीत तथा शूल के नष्ट हो जाने पर तथा शरीर की स्तब्धता (जकड़ जाना) और गुरुता (भारी हो जाना) के दूर हो जाने पर एवं अग्नि के प्रदीप्त तथा शरीर के कोमल हो जाने पर ही स्वेद देने से विरत होना उचित होता है ॥ ७४-७७ ॥

अथ मूर्द्धतैलविधिमाह—

अभ्यङ्गः परिषेकश्च पिचुर्बस्तिरिति क्रमात् । मूर्द्धतैलं चतुर्द्धा स्याद्बलवत्तद्यथोत्तरम् ॥ ७८ ॥

मूर्द्धतैल (सिर में तेल डालने) की विधि—१ अभ्यङ्ग, २ परिषेक, ३ पिचु, ४ बस्ति इस प्रकार मूर्द्धतैल के ४ भेद होते हैं और ये क्रम से एक दूसरे की अपेक्षा उत्तरोत्तर बलवान् होते हैं ॥ ७८ ॥

अभ्यङ्गः = तैलेन शिरसो मर्दनम् । परिषेकः = शिरसि धारापातनम् । पिचुः = तैलाक्तं तूलं 'फोहा' इति लोके । बस्तिर्वक्ष्यमाणः ॥ ७८ ॥

यहां तेल से सिर मालिश करना 'अभ्यङ्ग', सिर के ऊपर तेल की धारा गिराना 'परिषेक', सिर के ऊपर तेल से भीगी हुई रूई अर्थात् लोकप्रसिद्ध 'फोहा' रखना 'पिचु' समझना चाहिये। और 'बस्ति' का विवरण आगे जो दिया जायगा उससे समझ लेना चाहिये ॥ ७८ ॥

त्रयोऽभ्यङ्गादयः पूर्वे प्रसिद्धाः सर्वतः स्मृताः । शिरोबस्तिविधिश्चात्र प्रोच्यते सुज्ञसम्मतः ॥
शिरोबस्तिश्चर्मणः स्याद् द्विमुखो द्वादशाङ्गुलः । शिरःप्रमाणस्तं बद्ध्वा मस्तके माषपिष्टकैः ॥
सन्धिरोधं विधायाशु स्नेहैः कोष्णैः प्रपूरयेत् । तावद्धार्यस्तु यावत्स्यान्नासाकर्णमुखस्रुतिः ॥
वेदनोपशमो वाऽपि मात्राणां वा सहस्रकम् । स्वजानुनः करावर्त्तं कुर्याच्छोटिकया युतम् ॥
एषा मात्रा भवेदेका सर्वत्रैवैष निश्चयः । विना भोजनमेवात्र शिरोबस्तिः प्रशस्यते ॥ ८३ ॥
प्रयोज्यस्तु शिरोबस्तिः पञ्च सप्त दिनानि वा । विमोच्य शिरसो बस्तिं गृह्णीयाच्च समन्ततः ॥
ऊर्ध्वकायं ततः कोष्णे नीरे स्नानं समाचरेत् ।
अनेन दुर्जया रोगा वातजा यान्ति संक्षयम् । शिरःकम्पादयस्तेन सर्वकालेषु युज्यते ॥८५॥

इनमें से पहले के अभ्यङ्गादि (अभ्यङ्ग, परिषेक, पिचु) तीन सर्वत्र प्रसिद्ध ही हैं अतः उनका व्याख्यान न करके यहां केवल शिरोवस्ति (सिर में तेल से बस्ति देने) की विधि कहते हैं, जो विद्वानों को अभिमत है । शिरोवस्ति चमड़े की बनानी चाहिये अर्थात् वह टोपी के आकार की १२ अंगुल ऊंची सिर के नाप की बनानी चाहिये इसके दोनों तरफ मुख होना चाहिये, तत्पश्चात् उसे रोगी के सिर में बांध कर सन्धियों को उरद के आटा को जल में सान कर उसी से खूब बन्द कर देना चाहिये और तत्काल किंचिद् गर्म स्नेह (तेल) से पूर्वोक्त टोपी को भर देना चाहिये । यही शिरोवस्ति देने की विधि है । तब तक सिर पर उसे रहने देना चाहिये जब तक नाक, कान तथा मुख से पानी न झरने लगे अथवा जब तक पीड़ा की शान्ति न हो, या जब तक १००० एक-

हजार मात्रा का काल पूरा न हो। यहां सर्वत्र निश्चित एक मात्रा का काल उसे समझना चाहिये। जो अपने जानु (घुटना) पर एक बार हाथ फिरा कर चुटकी बजाने में काल लगता है। यह शिरोवस्ति उसी समय दी जाती है जब रोगी भोजन न किया हो। इसका प्रयोग ५ या ७ दिन तक नित्य किया जाता है। शिरोवस्ति ले चुकने के बाद उक्त टोपी को सावधानी से उतार कर तेल को सिर के चारो तरफ से बटोर कर अलग कर देना चाहिये जिसमें इधर-उधर फैलने न पावे। इसके बाद किंचिद् गर्म जल से रोगी के शरीर के ऊपरी भाग को अच्छी तरह से धुला दे। इस प्रकार यदि शिरोवस्ति का प्रयोग किया जाय तो उससे दुर्जय वातसम्बन्धी शिरःकम्प (सिर का कांपना) इत्यादि रोग दूर हो जाते हैं। अतएव इसका प्रयोग सभी समयों में करना चाहिये ॥ ७९-८५ ॥

पञ्च सप्त दिनानि वेत्युक्त्वा सर्वकालेष्विति शिरःकम्पादिरोगानुवृत्तौ ज्ञेयम् ॥ ७९-८५ ॥

यहां 'पांच या सात दिन तक शिरोवस्ति देनी चाहिये' ऐसा कह करके भी जो 'सभी समयों में इसका प्रयोग करना चाहिये' यह पुनः कहा गया उसका भाव यह समझना चाहिये कि—शिरःकम्प आदि रोग जब तक बने रहें तब तक देना चाहिये अतः अन्त में ५ या ७ दिन की अवधि का नियम तोड़ दिया गया ॥ ७९-८५ ॥

अथ कर्णपूरणविधिमाह—

स्वेदयेत्कर्णदेशन्तु किञ्चिन्नुः पार्श्वशायिनः। मूत्रैः स्नेहै रसैरुष्णैः श्रोत्ररन्ध्रं प्रपूरयेत् ॥८६॥
कर्णं च पूरितं रक्षेच्छतं पञ्च शतानि वा। सहस्रं वापि मात्राणां श्रोत्रकण्ठशिरोगदे ॥ ८७ ॥
मूत्राद्यैः पूरणं कर्णे भोजनात्प्राक्प्रशस्यते। तैलाद्यैः पूरणं कर्णे भास्करेऽस्तमुपागते ॥ ८८ ॥

कर्णपूरण (कान में तेल डालने) की विधि—रोगी को प्रथम एक करवट सुला कर उसके कान के भाग का किञ्चित् स्वेदन करे तत्पश्चात् गर्म किये हुये मूत्र, स्नेह (घी का तेल) या स्वरस इनमें से योग्यतानुसार किसी से उसके कान के छिद्र को भर दे। यदि कान-सम्बन्धी रोग से युक्त हो तो सौ मात्रा तक, कण्ठसम्बन्धी रोग वाला हो तो पांच सौ मात्रा तक तथा सिरसम्बन्धी रोग से पीड़ित हो तो एक हजार मात्रा तक उक्त मूत्रादि ओषधियों को उसके कान में पड़ा रहने दे, अर्थात् तब तक गिरने से बचाता रहे। यदि रोगी के कान में मूत्र आदि डालना हो तो उसके भोजन करने के पहले ही डालना उत्तम होता है। स्नेह आदि डालना हो तो सूर्य के अस्त हो जाने पर ही उचित होता है ॥ ८६-८८ ॥

तद्यथा—

कर्णे शूलाकुले कोष्णं बस्तमूत्रं ससैन्धवम्। निक्षिपेत्तेन शाम्यन्ति शूलपाकादिजा रुजः ॥८९॥
शृङ्गवेरञ्च मधुकं सैन्धवं तैलमेव च। कदुष्णं कर्णयोर्देयमेतत्स्याद्वेदनाऽपहम् ॥ ९० ॥
पीतार्कपत्रमाज्येन लिप्तं वह्नौ प्रतापयेत्। तद्रसः श्रवणे क्षिप्तः कर्णशूलहरः परः ॥ ९१ ॥

कान के शूल (दर्द) से व्याकुल रोगी के कान में बकरे का मूत्र सेंधानमक का चूर्ण मिला कर डालना हो तो उसे भोजन के प्रथम ही डालना चाहिये। इसके प्रयोग करने से कर्णशूल (कान का दर्द), कर्णपाक (कान का पक जाना) आदि कान के रोग नष्ट हो जाते हैं। यदि अदरख का रस, शहद (या मुलेठी का चूर्ण) और सेंधा नमक के चूर्ण को किञ्चिद् गर्म करके कानों में डालना हो तो सूर्य के अस्त होने पर डालना चाहिये। इसका प्रयोग कान की पीड़ा को शान्त करने वाला होता है। आक के पीले पत्तों के ऊपर चारो तरफ घी का लेप करके और आग पर तपा कर यदि उनका रस कान में डालना हो तो सूर्य के अस्त होने पर डालना चाहिये। इसका प्रयोग कान के शूल (दर्द) को दूर करने में श्रेष्ठ होता है ॥ ८९-९१ ॥

अथ लेपविधिमाह—

आलेपस्य तु नामानि लेपो लेपनलिप्तकौ। दोषघ्नो विषहा वर्ण्यः स च लेपस्त्रिधा मतः॥
त्रिप्रमाणश्चतुर्भागत्रिभागार्द्धाङ्गुलोन्नतः। आर्द्रो व्याधिहरः स्याच्छुष्को दूषयति च्छविम्॥

लेप की विधि—आलेप, लेप, लेपन तथा लिप्तक, लेप के ये चार नाम हैं। दोषघ्न (दोष को नष्ट करने वाला), विषहा (विष-नाशक) और वर्ण्य (वर्ण को उत्तम करने वाला) इस प्रकार लेप के तीन भेद हैं। चौथाई अङ्गुल ऊँचा (¼ अङ्गुल), तिहाई अङ्गुल ऊँचा (⅓ अङ्गुल) और आधा अङ्गुल ऊँचा (½ अङ्गुल) इस प्रकार लेप की ऊँचाई के भेद से लेप का प्रमाण तीन प्रकार का होता है। गीला लेप रोगनाशक तथा सूखा लेप कान्ति को नष्ट करने वाला होता है॥९२-९३॥

***चतुर्भागत्रिभागार्द्धाङ्गुलोन्नतः, एवं त्रिप्रमाणः॥ ९३॥**

यहां 'लेप का प्रमाण तीन प्रकार का होता है' यह जो कहा है वह इस प्रकार से समझना चाहिये कि—'१ चौथाई अङ्गुल का, २ तिहाई अङ्गुल का, ३ आधा अङ्गुल का ऊँचा लेप'॥९२-९३॥

दोषघ्नो लेपो यथा—

शोथघ्नीदारुसिद्धार्थशुण्ठीशोभाञ्जनत्वचाम्। आरनालेन पिष्टानां प्रलेपः सर्वशोथहा॥९४॥

दोषघ्न लेप—गदहपुरना, देवदारु, सरसों, सोंठ और सहजन की छाल इन पांच ओषधियों को कांजी में पीस कर लेप करने से सभी प्रकार की सूजन नष्ट हो जाती है। यह दोषघ्न लेप है॥ ९४॥

*** शोथघ्नी = पुनर्नवा॥ ९४॥**

यहाँ पर 'शोथघ्नी' से 'गदहपुर्ना' समझना चाहिये॥ ९४॥

शिरीषं मधुयष्टी च तगरं रक्तचन्दनम्। एला मांसी निशायुग्मं कुष्ठं बालकमेव च॥ ९५॥
इति सञ्चूर्ण्य लेपोऽयं षष्ठमांशघृतप्लुतः। जलेन क्रियते सुज्ञैर्दशाङ्ग इति संज्ञितः॥ ९६॥
वीसर्पांश्च विषस्फोटाञ्छोथदुष्टव्रणाञ्जयेत्॥ ९७॥

दशाङ्गलेप—शिरीष की छाल, मुलहठी, तगर, लाल चन्दन, इलायची, जटामांसी, हल्दी, दारुहल्दी, कूठ और नेत्रबाला इन पदार्थों का चूर्ण बना कर उसमें ⅙ भाग घी डाल कर पानी से लेप करे। इससे विसर्प, विस्फोटक, सूजन और दुष्ट व्रणों का क्षय होता है। विद्वान् लोग इसको दशाङ्ग लेप कहते हैं॥ ९५-९७॥

विषहा लेपो यथा—

अजादुग्धतिलैर्लेपो नवनीतेन संयुतः। शोथमाखुकरं हन्ति लेपो वा कृष्णमार्त्तिकः॥ ९८॥

विषहा लेप—बकरी के दूध में तिल पीस कर और उसमें भैंस का मक्खन मिला कर लेप करने से अथवा काली मिट्टी का लेप करने से मिलावे इत्यादि से हुई सूजन नष्ट होती है। इस लेप को वैद्य लोग विषहा लेप कहते हैं॥ ९८॥

***नवनीतेनात्र माहिषेणार्द्धिकेन। कृष्णमार्त्तिकः = कृष्णमृत्तिकाकृतः॥ ९८॥**

यहाँ 'नवनीत' पद से 'भैंस का मक्खन कल्क के आधे भाग बराबर' यह अर्थ समझना चाहिये तथा 'कृष्णमार्त्तिक' का 'काली मिट्टी का' यह अर्थ समझना चाहिये॥ ९८॥

अपरः कृमिविषापहलेपो यथा—

लाङ्गल्यतिविषाऽलाबूजालिनीबीजमूलकैः। लेपो धान्याम्लसम्पिष्टः कीटविस्फोटनाशनः॥९९॥

दूसरा कृमिसम्बन्धी विष को नष्ट करने वाला लेप—कलिहारी, अतीस, कड़वी तोंबी, घियातरोई के बीज और मूली को कांजी में पीस कर लेप करने से विषैले कीड़ों से उत्पन्न हुआ विस्फोट नष्ट होता है॥ ९९॥

मुखकान्तिदो लेपो यथा—

रक्तचन्दनमञ्जिष्ठालोध्रकुष्ठप्रियङ्गवः । वटाङ्कुरा मसूराश्च व्यङ्गघ्ना मुखकान्तिदाः ॥ १०० ॥

मुखकान्तिदायक लेप—लाल चन्दन, मजीठ, लोध, कूठ, प्रियङ्गु, वट के अंकुर और मसूर का लेप करने से मुख के ऊपर की झाई नष्ट होती है और मुख की कान्ति उत्तम होती है ॥ १०० ॥

अथ लेपविधिश्चैव प्रोच्यते सुज्ञसम्मतः । आलेपश्च प्रदेहश्च द्वौ भेदौ तस्य भाषितौ ॥१०१॥

चर्मार्द्रं माहिषं यद्वत्प्रोन्नतं सा मितिस्तयोः । शीतस्तनुर्विशोषी च प्रलेपः पित्तहृन्मतः ॥१०२॥

आर्द्रो घनस्तथोष्णः स्यात्प्रदेहः श्लेष्मवातहा । न रात्रौ लेपनं कुर्याच्छुष्यमाणं न धारयेत् ॥

शुष्यमाणमुपेक्षेत प्रदेहं पीडनं प्रति ॥ १०३ ॥

लेप के दो भेद—आलेप और प्रदेह कहे गये हैं। इन दोनों की मुटाई भैंस के गीले चमड़े के बराबर रखनी चाहिये। जो लेप शीतल, पतला और जल्द सूख जाने वाला होता है वह 'प्रलेप' कहलाता है। प्रलेप से पित्त नष्ट होता है। जो लेप तुरन्त नहीं सूखता एवं गाढ़ा और गरम रहता है वह 'प्रदेह' कहलाता है। प्रदेह से वात और कफ नष्ट होता है। रात्रि में लेप नहीं करना चाहिये और न सूखे हुए लेप को शरीर पर धारण करना चाहिये। किन्तु पीडन-सञ्ज्ञक प्रदेह अर्थात् फोड़ा इत्यादि को बैठाने के लिये जो लेप किया जाता है उसे रहने देना चाहिये ॥ १०३ ॥

तमसा पिहितो ह्यूष्मा लोमकूपमुखे स्थितः । विना लेपेन निर्याति रात्रौ नालेपयेदतः ॥

रोमकूपों के मुख में रहने वाली गरमी रात्रि के अन्धकार से ढक जाती है इस लिये रात्रि में प्रलेप नहीं करना चाहिये। यदि लेप किया होता है तो वह गर्मी रोमों के अन्दर रह जाती है जिससे रोग उत्पन्न हो जाने की आशङ्का रहती है ॥ १०४ ॥

*तमसा = रात्र्यन्धकारेण ॥ १०४ ॥

यहां 'तमसा' पद का 'रात्रि के अन्धकार से' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १०४ ॥

रात्रावपि प्रलेपादिर्व्रणे देयो विचक्षणैः । अपाकिन्यतिगम्भीरे रक्तश्लेष्मसमुद्भवे ॥ १०५ ॥

जो व्रण न पकता हो, अत्यन्त गम्भीर हो तथा रुधिर और कफ से उत्पन्न हुआ हो उस पर विद्वान वैद्य को रात्रि में भी लेपादि करना चाहिये ॥ १०५ ॥

प्रलेपो यथा—

मधुकं चन्दनं मूर्वा नलमूलञ्च पर्पटम् । उशीरं बालकं पद्मं प्रलेपः पित्तशोथहृत् ॥ १०६ ॥

प्रलेप—मुलहठी, चन्दन, मूर्वा, खस की जड़, पित्तपापड़ा, खश, सुगन्धवाला और कमल इनका प्रलेप्र पित्तजन्य सूजन को नष्ट करता है ॥ १०६ ॥

प्रदेहो यथा—

बीजपूरजटा हिंस्रा देवदारु महौषधम् । रास्नाऽरणिः प्रदेहोऽयं वातशोथविनाशनः ॥ १०७ ॥

प्रदेह—बिनौरे की जड़, जटामांसी, देवदारु, सोंठ, रासन और अरनी इनका प्रदेह वातजन्य शोथ को नष्ट करता है ॥ १०७ ॥

*अरणिः = अग्निमन्थः ॥ १०७ ॥

यहां 'अरणि' पद का 'अग्निमन्थ अर्थात् अरनी' अर्थ समझना चाहिये ॥ १०७ ॥

कृष्णापुराणपिण्याकशिग्रुत्वक्सिकताशिवाः । गोमूत्रपिष्टः कोष्णोऽयं प्रदेहः श्लेष्मशोथहा ॥

पीपल, पुरानी खली, सहजन की छाल, खांड़ और हरड़ को गोमूत्र में पीसकर किञ्चित् उष्ण प्रदेह करने से कफसम्बन्धी शोथ नष्ट हो जाता है ॥ १०८ ॥

अथ शोणितस्रावण (फस्त) विधिमाह—

शोणितं स्रावयेज्जन्तोरामयं प्रसमीक्ष्य च । प्रस्थं प्रस्थार्द्धमथ वा प्रस्थार्द्धार्द्धमथापि वा ॥१०९॥

शरत्काले स्वभावेन शोणितं स्रावयेन्नरः। त्वग्दोषग्रन्थिशोथाद्या नश्यन्ति रुधिरोद्भवाः॥
अभ्रे वर्षासु विध्येत शीते ग्रीष्मे शरद्यपि। मध्याह्ने शीतकाले च रुधिरं स्रावयेद् बुधः॥
अनुष्णाशीतं मधुरं स्निग्धं रक्तञ्च वर्णतः। शोणितं गुरु विस्रं स्याद् विदाहश्चास्य पित्तवत्॥
विस्रता द्रवता रागश्चलनं विलयस्तथा। भूम्यादिपञ्चभूतानामेते रक्ते गुणाः स्मृताः॥११३॥
रक्ते दुष्टे भवेच्छोथो रक्तमण्डलमेव च। व्यथा दाहश्च पाकश्च कण्डूश्च पिडकोद्गमः॥ ११४॥
वृद्धे रक्ताङ्गनेत्रत्वं सिराणां पूर्णता तथा। गात्राणां गौरवं निद्रा मोहो दाहश्च जायते॥११५॥

शोणित स्राव (फस्त) की विधि—रोगी के रोग को देख कर तदनुसार एक प्रस्थ (६॥ पल), आधा प्रस्थ (३। पल) अथवा चौथाई प्रस्थ (६।। तोला) रक्त निकाले। शरद्ऋतु में मनुष्य को स्वभावतः रक्त निकलवाना चाहिये, इससे रुधिरदोष से उत्पन्न हुये चर्म रोग, गाँठ, सूजन आदि विकार नष्ट हो जाते हैं। जिस दिन आकाश में बादल न हो, वर्षाऋतु में, ग्रीष्मऋतु में, शरद् ऋतु में, मध्याह्न के समय और शीतकाल में विद्वान वैद्य रोग तथा रोगी पर ध्यान देकर रुधिर निकाले। रुधिर अनुष्णाशीत (उष्णता, शीतलता रहित), स्वाद में मधुर, वर्ण में लाल, भारी, चिकना, कच्चे मांस के समान गन्धवाला तथा पित्त के सदृश दाहशक्ति वाला होता है। रुधिर में जो गन्ध है वह पृथ्वी का गुण है, द्रवता जल का गुण है, रक्तता तेज का गुण है, चलन वायु का गुण है और शब्द आकाश का गुण है इस प्रकार रक्त में पाँचों महाभूतों के गुण हैं। रक्त के दुष्ट होने पर शोथ, लाल चकत्ते, शरीर में पीड़ा, दाह, शरीर का पक जाना, खुजली और फुन्सियाँ होती हैं। शरीर में रक्त के बढ़ जाने पर अङ्ग तथा नेत्र लाल हो जाते हैं, सिरायें रक्त से भरकर फूल जाती हैं, अङ्गों में भारीपन, निद्रा, मोह और दाह उत्पन्न होने लगता है।

क्षीणेऽस्रे मधुराकाङ्क्षा मूर्च्छा च त्वचि रूक्षता। शैथिल्यं च सिराणां स्याद्वाताद्दुन्मार्गगामिता॥

शरीर में रक्त की कमी होने पर मधुर पदार्थों के खाने की इच्छा, मूर्च्छा, त्वचा में रूक्षता, एवं रक्तक्षीणताजन्य वात से सिराओं का शिथिल हो जाना तथा अयोग्य मार्ग में चलना ये सब लक्षण उत्पन्न होते हैं॥ ११६॥

* वाताद्रक्तक्षैण्यजनितात्॥ ११६॥

यहाँ 'वाताद्' पद का 'रक्तक्षीणता जन्य वात से' यह अर्थ समझना चाहिये॥ ११६॥

अरुणं फेनिलं रूक्षं परुषं तनु शीघ्रगम्। आस्कन्दि सूचीनिस्तोदि रक्तं स्याद्वातदूषितम्॥
पित्तेन पीतं हरितं नीलं श्यावं च विस्रकम्। अस्रवादूष्णं मक्षिकाणां पिपीलीनामनिष्टकम्॥
शीतलं बहुलं स्निग्धं गैरिकोदकसन्निभम्। मांसपेशीप्रभं स्कन्दि मन्दगं कफदूषितम्॥११९॥
द्विदोषदुष्टं संसृष्टं त्रिदुष्टं पूतिगन्धकम्। सर्वलक्षणसंयुक्तं काञ्जिकाभं च जायते॥ १२०॥
विषदुष्टं भवेच्छ्यावं नासिकोन्मार्गगं तथा। विस्रं काञ्जिकसंकाशं सर्वकुष्ठकरं तथा॥१२१॥

वातादि से दूषित रक्तों के लक्षण—वात से दूषित हुआ रक्त—लाल, झाग युक्त, रूक्ष, कठोर, पतला, शीघ्र चलने वाला, आस्कन्दी तथा सूई चुभने की सी पीड़ा करने वाला होता है। पित्त से दूषित हुआ रक्त—शीतल, अत्यन्त स्निग्ध, गेरू के पानी के समान कान्ति वाला, मांस की पेशियों के समान घनीभूत एवं मन्दगामी होता है। दो दोषों से दूषित रक्त—जिन २ दोषों से दूषित होता है उन २ दोषों के लक्षणों से युक्त होता है। तीन दोषों से दूषित रक्त—दुर्गन्धयुक्त, हर एक दोषों के लक्षणों से मिला हुआ, काञ्जी के समान होता है। विष से दूषित रक्त—काला, नाक की राह से निकलने वाला, कच्चे मांस के समान गन्ध वाला, काञ्जी के समान तथा सर्व प्रकार के कुष्ठों को उत्पन्न करने वाला होता है॥ ११७-१२१॥

अथ शुद्धरक्तस्य लक्षणमाह—

इन्द्रगोपप्रभं ज्ञेयं प्रकृतिस्थमसंहतम्॥ १२२॥

शुद्ध रक्त के लक्षण—जो शुद्ध रक्त होता है वह इन्द्रगोप (बीरबहूटी) कीड़े के समान देखने में लाल तथा पतला होता है ॥ १२२ ॥

अथ रक्तस्रावस्य विषयानाह—

शोथे दाहेऽङ्गपाके च रक्तवर्णेऽसृजः स्रुतौ ॥
वातरक्ते तथा कुष्ठे सपीडे दुर्जयेऽनिले । पाण्डुरोगे श्लीपदे च विषदुष्टे च शोणिते ॥१२३॥
ग्रन्थ्यर्बुदापचीक्षुद्ररोगाधिमन्थकाभिधे । विदारीस्तनरोगेषु गात्राणां सादगौरवे ॥ १२४ ॥
रक्ताभिष्यन्दतन्द्रायां पूतिघ्राणास्यदाहके । यकृत्प्लीहविसर्पेषु विद्रधौ पिडकोद्गमे ॥१२५॥
कर्णौष्ठघ्राणवक्त्राणां पाके दाहे शिरोरुजि । उपदंशे रक्तपित्ते रक्तस्रावः प्रशस्यते ॥ १२६ ॥

रक्तस्राव के विषय—शोथ, दाह, अङ्गों का पकना तथा लाल रङ्ग का होना, नाक आदि से रक्त का गिरना, वातरक्त, कुष्ठ, पीड़ा के सहित वायु का दुर्जय होना, पाण्डुरोग, फीलपांव, विष से रक्त का दूषित हो जाना, गांठ, अर्बुद, अपची नामक गले की गांठ, क्षुद्ररोग, अधिमन्थ, विदारी, स्तनसम्बन्धी रोग, अङ्गों में शिथिलता तथा गुरुता होना, रक्तसम्बन्धी अभिष्यन्द, तन्द्रा, नाक से दुर्गन्ध निकलना, मुख में दाह होना, यकृत्, प्लीहा, विसर्प, विद्रधि, पिडका (फुंसी) निकलना, कान, ओंठ, नाक या मुख का पकना या इनमें दाह होना, सिरदर्द, उपदंश (गर्मी) तथा रक्तपित्त इन सब रोगों में रोगी का रक्त निकालना उत्तम होता है ॥ १२३–१२६ ॥

अथ रक्तस्रावस्य साधनान्याह—

एषु रोगेषु शृङ्गैर्वा जलौकाऽलाबुकैरपि । अथवापि सिरामोक्षैः कारयेद्रक्तपातनम् ॥ १२७ ॥

रक्तस्राव के साधन—उपर्युक्त सब रोगों में सींग, जोंक या तुम्बी लगवाकर अथवा सिरामोक्षण कराकर (नस कटवा कर) रक्त निकालना चाहिये ॥ १२७ ॥

अथ सिरामोक्षानर्हजमानाह—

न कुर्वीत सिरामोक्षं कृशस्यातिव्यवायिनः । क्लीबस्य भीरोर्गर्भिण्याः सूतायाः पाण्डुरोगिणः ॥
पञ्चकर्मविशुद्धस्य पीतस्नेहस्य चार्शसाम् । सर्वाङ्गशोथयुक्तानामुदरिश्वासकासिनाम् ॥१२९॥
छर्द्यतीसारजुष्टानामतिस्विन्नतनोरपि । ऊनषोडशवर्षस्य गतसप्ततिकस्य च ॥ १३० ॥
आघातात्स्रुतरक्तस्य सिरामोक्षो न शस्यते ॥ १३१ ॥

सिरामोक्षण के अयोग्य जन—जो लोग कृश शरीर वाले अथवा अधिक मैथुन करने वाले हों या नपुंसक वा डरपोक हों अथवा जो गर्भिणी या प्रसूता स्त्री हो किं वा जो पाण्डु रोगी हों या वमनादि पञ्चकर्म द्वारा शुद्ध हुए हों वा स्नेहपान किये हों वा जो अर्श (बवासीर), सर्वाङ्गशोथ, उदररोग, श्वास, खांसी, वमन तथा अतीसार इनमें से किसी से युक्त हों या जिनको अधिक स्वेदन दिया जा चुका हो अथवा जो १६ वर्ष से कम या ७० वर्ष से अधिक अवस्था वाले हों किं वा जिनका चोट आदि लगने से रक्त निकल गया हो, ऐसे लोगों का सिरामोक्षण करना उचित नहीं होता है ॥ १२८–१३१ ॥

ॐआघातात् स्रुतरक्तस्य = रक्तपित्तादिना च गतरक्तस्य ॥ १२८–१३१ ॥

यहाँ 'जिन्हें चोट आदि लगने से रक्त निकल गया हो' ऐसा कहने से—'रक्तपित्त आदि से भी जिनका रक्त निकल गया हो' उनका भी बोध करना चाहिये ॥ १२८–१३१ ॥

एवं चात्ययिके रोगे जलौकाभिर्विनिर्हरेत् । तथा च विषजुष्टानां सिरामोक्षो न शस्यते ॥१३२॥
गोशृङ्गेण जलौकाभिरलाबूभिरपि त्रिधा । वातपित्तकफैर्दुष्टं शोणितं स्रावयेद् बुधः ॥ १३३ ॥
द्विदोषाभ्यां तु दुष्टं यत्त्रिदोषैरपि दूषितम् । शोणितं स्रावयेत्पुरुषा सिरामोक्षैः पदैस्तथा ॥१३४॥

गृह्णाति शोणितं शृङ्गं दशाङ्गुलमितं बलात्। जलौका हस्तमात्रं तु तुम्बी तु द्वादशाङ्गुलम्॥१३५॥
पदमङ्गुलमात्रस्य सिरा सर्वाङ्गशोधिनी। शीते निरन्ने मूर्च्छार्त्तनिद्राभीतिमदश्रमैः ॥१३६॥
युक्तानां न स्रवेद्रक्तं तथा विण्मूत्रसङ्गिनाम्। शोणिते चाप्रवृत्ते तु कुष्ठत्रिकटुसैन्धवैः ॥१३७॥
मर्दयेद् व्रणवक्त्रञ्च तेन रक्तं प्रवर्त्तते। तस्माच्च शीते नात्युष्णे नास्विन्ने नातितापिते॥१३८॥
पीत्वा यवागूं तृप्तस्य स्रावयेच्छोणितं बुधः। अतिस्विन्नस्योष्णकाले तथैवातिसिराव्यधात्॥
अतिप्रवर्त्तते रक्तं तत्र कुर्यात्प्रतिक्रियाम्। अतिप्रवृत्ते रक्ते तु लोध्रसर्जरसाञ्जनैः ॥१४०॥
यवगोधूमचूर्णश्च धवधन्वनगैरिकैः। सर्पनिर्मोकचूर्णैर्वा भस्मना क्षौमवस्त्रयोः ॥१४१॥
मुखं व्रणस्य बद्ध्वा च शीतैश्चोपचरेद् व्रणम्। विध्येदूर्ध्वसिरां तावद्दहेत्क्षारेण वह्निना ॥१४२॥
व्रणं कषायः सन्धत्ते रक्तं स्कन्दयते हिमम्। व्रणास्यं पाचयेत्क्षारो दाहः सङ्कोचयेत्सिराः॥
रक्ते दुष्टेऽवशिष्टेऽपि व्याधिर्नैव प्रकुप्यति। अतो रक्तेऽल्पावशेषं रक्तं नातिस्रुतिर्हिता ॥१४४॥

इन सब रोगों में यदि रक्त निकालना अत्यन्त आवश्यक हो तो जोंक के द्वारा ही निकालना चाहिये। विष से युक्त रोगी को भी सिरामोक्षण करना उचित नहीं है। विद्वान् वैद्य को उचित है कि वह वात, पित्त तथा कफ से दूषित रुधिर को क्रम से गौ के सींग, जोंक तथा तुम्बी; इन तीन साधनों से निकाले। दो दोषों से या तीन दोषों से यदि रुधिर दूपित हो तो उसे युक्तिपूर्वक गौ के सींग आदि से या सिरामोक्षण से या पछना लगाने के द्वारा निकाल दे। सींगी-बलपूर्वक १० अङ्गुल तक का रक्त खींच लेती है, जोंक-एक हाथ तक का, तुम्बी-१२ अङ्गुल तक का, पछना-लगाना-एक अङ्गुल तक का एवं सिरामोक्षण-सर्वाङ्ग का रक्त निकाल कर शुद्ध करता है। शीतकाल में तथा अन्न भोजन न करने पर रक्तस्राव भली भांति नहीं होता है। मूर्च्छा, निद्रा, भय, मद तथा श्रम से युक्त होने पर या मल तथा मूत्र के वेग का अवरोध होने पर भी रुधिरस्राव भली भांति नहीं होता है। ऐसी अवस्था में कूठ, सोंठ, पीपर, मरिच, सेंधा नमक का बारीक चूर्ण घाव के मुख पर रगड़ देने से रक्तस्राव उत्तम रीति से होने लगता है। अतएव जब अत्यन्त शीत अथवा अत्यन्त गर्मी पड़ती हो तब रक्तस्राव कराना उचित नहीं होता है। जिसे स्वेद न दिया गया हो तथा जिसका शरीर अत्यन्त तप्त किया हो उसे भी रक्तस्राव कराना निषिद्ध है। रोगी को यवागू पिलाकर तृप्त कर चुकने के बाद बुद्धिमान वैद्य रक्त निकालना प्रारम्भ करे। अत्यन्त स्वेदन जिसका हुआ हो या गर्मी का ऋतु हो अथवा अत्यन्त जिसके सिराओं का वेध हुआ हो अर्थात् अधिक नस कटा हो उसे अत्यन्त रुधिर बहने लगता है, उस समय उसे रोकने के लिये उपाय करना चाहिये। उपाय-अधिक रक्त का प्रवाह होने पर लोध, राल, रसौत के चूर्ण से वा जौ तथा गेहूँ के आटा से किं वा धाय, धामिन तथा गेरू के चूर्ण से अथवा सांप की केंचुल के चूर्ण से या महीन सूती वस्त्र वा रेशमी वस्त्र के भस्म से व्रण के मुख को रूंध कर शीतल उपचार करे। जिस सिरा से रक्त अधिक बह रहा हो उससे ऊपर की सिरा का पुनः वेध कर दे अर्थात् काट दे अथवा रक्त निकलने वाले स्थान को क्षारद्वारा या अग्निद्वारा जला दे। विधे हुये स्थान पर कषाय रसयुक्त ओषधि का प्रयोग करने से व्रण का मुख बन्द हो जाता है। शीतल उपचार से रक्त जम जाता है। क्षार का प्रयोग करने से व्रण का मुख पक जाता है। जलाने से सिराओं का मुख सङ्कुचित हो जाता है। यदि उक्त रीति से रक्त निकालने पर भी कुछ दूषित रक्त अवशिष्ट रह जाय तो उससे व्याधि पुनः प्रकुपित नहीं हो सकती है, अतः दूषित रक्त का कुछ अवशिष्ट रहना उचित ही होता है, क्योंकि अत्यन्त रक्त का निकलना हितकर नहीं होता॥

अथातिस्रुतरक्तस्य दोषानाह—

आन्ध्यमाक्षेपकं तृष्णां तिमिरं शिरसो रुजः। पक्षाघातं श्वासकासौ हिक्कादाहौ च पाण्डुताम्॥
कुरुतेऽतिस्रुतं रक्तं मरणं वा करोति च ॥ १४५ ॥

अधिक रक्त निकलने के दोष—अधिक रक्त निकलने पर अन्धापन, आक्षेपकवात, प्यास, तिमिर रोग, सिर-सम्बन्धी रोग, पक्षाघात, श्वास, कास, हिचकी, दाह तथा पाण्डुरोग ये सब उत्पन्न होते हैं, अन्त में मृत्यु तक भी हो जाती है ॥ १४५ ॥

अथासृग्रक्षणे हेतुमाह—

देहस्योत्पत्तिरसृजा देहस्तेनैव धार्यते। रक्तं जीवस्य चाधारस्तस्माद्रक्षेदसृग्बुधः ॥ १४६ ॥

रुधिर की रक्षा करने का कारण-शरीर की उत्पत्ति रक्त से ही हुई है तथा रक्त ही शरीर को धारण किये रहता है तथा यही जीवन का आधार भी है, अतः बुद्धिमान पुरुष को इसकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये ॥ १४६ ॥

अथ स्रुतरक्तस्य कुपिते वायौ चिकित्सामाह—

शीतोपचारैः कुपिते स्रुतरक्तस्य मारुते। कोष्णेन सर्पिषा शोथं सव्यथं परिषेचयेत् ॥ १४७ ॥
क्षीणस्यैणशशोरभ्रहरिणच्छागमांसजः। रसः समुचितः पाने क्षीरं षष्टिकया हितम् ॥१४८॥

रक्त के अधिक निकल जाने पर वायु के कुपित होने की चिकित्सा—रक्त के अधिक निकलने पर उसे बन्द करने के लिये शीतल उपचार करने से वायु के कुपित होने पर पीड़ा युक्त शोथ के ऊपर किंचिद् गर्म २ घृत का सेचन करना चाहिये। रक्तस्राव होने से क्षीण हुये रोगी को काला हरिन, खरगोश, मेंढ़, हरिन तथा बकरे का मांसरस (शुरवा) पिलाना एवं साठी चावल के साथ भोजन में दूध देना हितकर होता है ॥ १४७–१४८ ॥

अथ सम्यङ्निःस्रुतरक्तवतो लक्षणमाह—

पीडाशान्तिर्लघुत्वं च व्याध्युपद्रवसंक्षयः। मनःस्वास्थ्यं भवेच्चिह्नं सम्यङ्निःस्राविते॒ऽसृजि॥

उत्तम रीति से रक्तस्राव के लक्षण—पीडा का शान्त होना, शरीर हल्का होना, रोग के उपद्रवों का नाश तथा मन का स्वस्थ होना, ये सब लक्षण रक्त के उचित रीति से निकालने पर प्रकट होते हैं ॥ १४९ ॥

रक्तस्राविणां वर्ज्यविषयानाह—

व्यायाममैथुनक्रोधशीतस्नानप्रवातकान्। एकाशनं दिवानिद्रां क्षाराम्लकटुभोजनम् ॥१५०॥
शोकं वादमजीर्णञ्च त्यजेदा बलदर्शनात् ॥ १५१ ॥

जिसे रक्तस्राव कराया गया है उसके लिये त्याग करने योग्य कार्य—कसरत, मैथुन, क्रोध, शीतल जल से स्नान, अधिक वायु के झोके का सेवन, एक समय भोजन करना, दिन में सोना, खारा, खट्टा तथा कटु रस युक्त पदार्थों का भोजन, शोक, वाद-विवाद (बहस), अजीर्ण (अपरिपक्व भोजन अथवा अजीर्ण होना) इन सबों को रक्तस्राव कराने पर जब तक भली भांति शरीर में बल का संचार न हो जाय तब तक के लिये छोड़ देना चाहिये ॥ १५०–१५१ ॥

अथ नेत्रस्वच्छकारिणीः क्रिया आह—

सेक आश्च्योतनं पिण्डी बिडालस्तर्पणं तथा। पुटपाकोऽञ्जनं चैभिः कल्पैर्नेत्रमुपाचरेत् ॥

नेत्र को स्वच्छ करने की क्रियायें—१ सेक (नेत्र के ऊपर जल आदि का धारा डालना), २ आश्च्योतन (ओषधियों के रस की बूंदें डालना), ३ पिण्डी (ओषधियों की लुगदी बांधना), ४ बिडाल (लेप करना), ५ तर्पण (तृप्त करने के लिये नेत्रों में घी आदि भरना), ६ पुटपाक (पुटपाक की रीति से परिपक्व ओषधियों का रस नेत्र में डालना), ७ अञ्जन (सुरमे आदि का आंजन देना) इन सब विधानों से नेत्र की चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १५२ ॥

तत्रादौ सेकविधिमाह—

सेकस्तु सूक्ष्मधाराभिः सर्वस्मिन्नयने हितः। मीलिताक्षस्य मर्त्यस्य प्रदेयश्चतुरङ्गुलः ॥१५३॥

स सस्नेहो भवेद्वाते पित्ते रक्ते च रोपणः। लेखनस्तु कफे कार्यस्तस्य मात्राऽभिधीयते ॥१५४॥
षड्भिर्वाचां शतैः स्नेहे चतुर्भिश्चैव रोपणे। तैस्त्रिभिर्लेखने कार्यः सेको नेत्रप्रसादने ॥१५५॥
निमेषोन्मेषणं पुंसामङ्गुल्या च्छोटिकाऽथ वा। गुर्वक्षरोच्चारणं वा वाङ्मात्रेयं स्मृता बुधैः ॥
सेकस्तु दिवसे कार्यो रात्रौ चात्ययिके गदे। एरण्डस्य दलैः सिद्धं पक्वमाजं पयो हितम् ॥
सुखोष्णं नेत्रयोः सिक्तं वाताभिष्यन्दनाशनम् ॥ १५७ ॥

सेक करने की विधि—पलक बन्द किये हुये रोगी के नेत्रों के ऊपर चार अङ्गुल के ऊपर से पतली धार छोड़ते रहने को 'सेक' कहते हैं, यह सर्वत्र नेत्रों के लिये हितकर होता है। यह सेक वातजनित नेत्रविकारों में स्नेह (घृतादि) से करना चाहिये और पित्त तथा रक्तजन्य विकारों का रोपणकारक पदार्थों के रस से एवं कफजन्य विकारों में लेखनकारक पदार्थों के रस से सेक करना चाहिये। स्नेह पदार्थों से यदि सेक करना हो तो छ सौ वाङ्मात्रा तक, रोपण सेक में चार सौ वाङ्मात्रा तक एवं लेखन सेक में तीन सौ वाङ्मात्रा तक सेक करना चाहिये। उस समय तक सेक करने से नेत्र स्वच्छ हो जाता है। पण्डितों ने वाङ्मात्रा का काल इस प्रकार कहा है कि पुरुष जितने समय में पलक बन्द कर पुनः खोलता है या चुटकी बजाता है अथवा एक गुरु (आ आदि) अक्षर का उच्चारण करता है, उतने समय को 'वाङ्मात्रा' समझनी चाहिये अर्थात् पलक बन्द आदि करने में जितना समय लगता है, उतने ही समय की एक वाङ्मात्रा होती है। सेक सर्वदा दिन में ही करना चाहिये, किन्तु यदि प्राण को सङ्कट में डालने वाला रोग हो तो रात्रि में भी कर लेना चाहिये। एरण्ड के पत्तों का कल्क बनाकर उसके साथ बकरी का दूध पकावे, पश्चात् किंचित् २ गर्म रहते ही उक्त दूध से दोनों नेत्रों में सेक (सेचन) करने से वातसम्बन्धी अभिष्यन्द (नेत्र रोग) दूर होता है, अत एव उक्त दूध का सेक अत्यन्त हितकर होता है ॥ १५३–१५७ ॥

अथाश्च्योतनविधिमाह—

क्वाथक्षौद्रासवस्नेहबिन्दूनां यत्तु पातनम्। द्व्यङ्गुलोन्मीलिते नेत्रे प्रोक्तमाश्च्योतनं हितम् ॥
बिन्दवोऽष्टौ लेखनेषु रोपणे दश बिन्दवः। स्नेहने द्वादश प्रोक्तास्ते शीते कोष्णरूपिणः ॥
उष्णे तु शीतरूपाः स्युः सर्वत्रैवैष निश्चयः। वाते तिक्तं तथा स्निग्धं पित्ते मधुरशीतलम् ॥
कफे तिक्तोष्णरूक्षं च क्रमादाश्च्योतनं हितम्।
आश्च्योतनानां सर्वेषां मात्रा स्याद्वाक्शतोन्मिता ॥ १६१ ॥
ततः परं लोचनाभ्यां भेषजानामयोगतः। आश्च्योतनं न कर्तव्यं निशायां केनचित्क्वचित् ॥

आश्च्योतन की विधि—रोगी के नेत्रों को दो अंगुल चौड़ा खोल कर उसमें क्वाथ, शहद, आसव वा स्नेह (घृत) को बूंद २ कर जो डाला जाता है, उसी को 'आश्च्योतन' कहते हैं। यह नेत्ररोग में हितकर होता है। यदि लेखन क्रिया करनी हो तो आश्च्योतन की मात्रा आठ बूंद की है। रोपण क्रिया में दश बूंद की एवं स्नेहन क्रिया में बारह बूंद की आश्च्योतन की मात्रा है। शीत के कारण से यदि नेत्ररोग हुआ तो किञ्चित् किञ्चित् गर्म क्वाथ आदि की बूंदें डालनी चाहिये और यदि गर्मी के कारण से हुआ हो तो शीतल क्वाथ की बूंदें डालनी चाहिये। यह नियम सर्वत्र के लिये निश्चित है। वात सम्बन्धी नेत्ररोग में तिक्त रसयुक्त तथा स्नेह पदार्थों का आश्च्योतन हितकर होता है। पित्तसम्बन्धी नेत्ररोग में मधुर रसयुक्त तथा शीतल पदार्थों का आश्च्योतन एवं कफसम्बन्धी नेत्ररोग में तिक्त रसयुक्त, उष्ण तथा रूक्ष पदार्थों का आश्च्योतन हितकर है। प्रत्येक आश्च्योतन की मात्रा जितने समय में १०० गुरु अक्षरों का उच्चारण होता है, उतने समय की जाननी चाहिये। इसके बाद अर्थात् १०० मात्रा का समय बीत जाने पर आश्च्योतन

करना नेत्रों के लिये अयोग्य होता है। किसी भी वैद्य को यह उचित नहीं है कि वह रात्रि में कभी भी आश्च्योतन करे ॥ १५८–१६२ ॥

तद्यथा—

बिल्वादिपञ्चमूलेन बृहत्यैरण्डशिग्रुभिः । क्वाथ आश्च्योतने कोष्णो वाताभिष्यन्दनाशनः ॥

आश्च्योतन की ओषधियां जैसे कि बेल आदि पञ्चमूल, कटेरी, एरण्ड तथा सहिजन का क्वाथ बना कर किञ्चित् गर्म रहते ही उसका आश्च्योतन में प्रयोग करना वातसम्बन्धी अभिष्यन्द (नेत्ररोगविशेष) को दूर करने वाला होता है ॥ १६३ ॥

अथ पिण्डिकाविधिमाह—

युक्तभेषजकल्कस्य पिण्डी कवलमात्रया । वस्त्रखण्डेन सम्बद्ध्या नेत्रेऽभिष्यन्दनाशिनी ॥
स्निग्धोष्णा पिण्डिका वाते पित्ते सा शीतला मता ।
रूक्षोष्णा श्लेष्मणि प्रोक्ता विधिरुक्तो बुधैरयम् ॥ १६५ ॥

पिण्डी की विधि—यथायोग्य ओषधियों का कल्क बनाकर उससे एक ग्रास की मात्रा लेकर टिकिया बना ले। पश्चात् उस टिकिये को एक वस्त्र के टुकड़े से आंखों पर बांध देने को 'पिण्डी' कहते हैं। यह अभिष्यन्द को दूर करने वाली होती है। वात-सम्बन्धी नेत्र रोग में स्निग्ध तथा उष्ण, पित्त सम्बन्धी रोग में शीतल एवं कफ सम्बन्धी नेत्ररोग में रूक्ष तथा उष्ण पिण्डी (टिकिया) बांधने की विधि पण्डितों ने बताई है ॥ १६४–१६५ ॥

सा यथा—

एरण्डपत्रमूलत्वङ्निर्मिता वातनाशिनी । धात्रीविरचिता पित्ते शिग्रुपत्रकृता कफे ॥ १६६ ॥

पिण्डी बनाने की ओषधियां—वात-सम्बन्धी नेत्ररोग में एरण्ड के पत्ते, मूल तथा छिलकों की पिण्डी, पित्तसम्बन्धी नेत्ररोग में आंवले की एवं कफ सम्बन्धी नेत्ररोग में सँहजने के पत्तों की पिण्डी बनानी चाहिये ॥ १६५ ॥

अथ विडालकविधिमाह—

विडालको बहिर्लेपो नेत्रपक्ष्मविवर्जितः । तस्य मात्रा परिज्ञेया मुखालेपविधानवत् ॥१६७॥
यष्टीगैरिकसिन्धूत्थदार्वीतार्क्ष्यैः समांशकैः । जलपिष्टैर्बहिर्लेपः सर्वनेत्रामयापहः ॥ १६८ ॥

विडालकविधि—पलकों को छोड़कर नेत्र के बाहरी भाग पर जो ओषधियों का लेप किया जाता है, उसी को 'विडालक' कहते हैं। इस (विडालक) लेप की मात्रा मुख पर जो लेप किया जाता है, उसके समान ही समझनी चाहिये। मुलहठी, गेरू, सेंधानमक, दारु हलदी, रसवत, इन सबों की समान भाग में लेकर जल के साथ पीस कर नेत्र के बाहरी भाग पर लेप करने से सम्पूर्ण नेत्र सम्बन्धी रोग नष्ट होते हैं ॥ १६७–१६८ ॥

अथ तर्पणविधिमाह—

वातातपरजोहीने वेश्मन्युत्तानशायिनः । अभितो माषचूर्णेन क्लिन्नेन परिपिण्डितौ ॥१६९॥
समौ दृढावसम्बाधौ कर्तव्यौ नेत्रकोशयोः । पूरयेद् घृतमण्डेन विलीनेन सुखोदकैः ॥१७०॥
सर्पिषा शतधौतेन क्षीरजेन घृतेन वा । निमग्नान्यक्षिपक्ष्माणि यावत्स्युस्तावदेव हि ॥१७१॥
पूरयेन्मीलिते नेत्रे तत उन्मीलयेच्छनैः । भिषग्भिरेष विख्यातस्तर्पणस्योदितो विधिः ॥१७२॥

तर्पण विधि—जिसमें हवा का झोंका न लगता हो तथा धूप एवं धूलि न आती हो, ऐसे स्वच्छ गृह में रोगी को उत्तान (चित्त) लिटाकर सने हुये उड़द के आटा की सीधी मजबूत मेंड़री (घेरा) दोनों नेत्रों के चारो तरफ बना दे, उसके बाद रोगी के आंखों को बन्द करा कर उष्ण जल से पिघलाये हुये घी, सौ बार के धुले हुये घी अथवा दूध से निकाले हुये घी को पिघलाकर

इतनी मात्रा में घेरे के अन्दर छोड़े कि जिसमें आंख की पलकें डूब जांय, उसके बाद धीरे से पलक को खुलवा दे । इसी को वैद्यों ने प्रसिद्ध तर्पण की विधि बतलाई है ॥ १६९–१७२ ॥

अथ तर्पणार्हनेत्राणां लक्षणान्याह—

यद्रूक्षं परिस्यन्दि नेत्रं कुटिलमाविलम् । शीर्णपक्ष्मसिरोत्पातकृच्छ्रोन्मीलनसंयुतम् ॥१७३॥
तिमिरार्जुनशुक्राद्यैरभिष्यन्दाधिमन्थकैः । शुष्काक्षिपाकशोथाभ्यां युतं वातविपर्ययैः ॥
तन्नेत्रं तर्पयेत्सम्यङ् नेत्ररोगविशारदः ॥ १७४ ॥

तर्पण के योग्य नेत्रों के लक्षण—जो नेत्र रूक्ष हो गये हों या जिनसे पानी झरता हो वा कुटिल वा मटमैले हो गये हों तथा जिनके पलकों के रोयें गिर गये हों वा जो सिरा (नस) सम्बन्धी उत्पात से युक्त हों अर्थात् जिनकी नसें लाल होकर अत्यन्त पीड़ा करती हों या जिनकी पलकें बड़ी कठिनता से खुलती हों एवं जिन नेत्रों में तिमिर, अर्जुन, शुक्ल, अभिष्यन्द, अधिमन्थ, शुष्कनेत्र, नेत्रपाक, नेत्रशोथ, वातविपर्यय आदि रोग हो गये हों उन सबों में नेत्ररोग के ज्ञाता वैद्यजन भली भांति तर्पण विधि करें ॥ १७३–१७४ ॥

अथ रोगभेदेन तर्पणधारणकालभेदमाह—

तर्पणं धारयेद्वर्त्मरोगे वाचां शतं बुधः । स्वस्थे कफे सन्धिरोगे वाचां पञ्च शतानि च ॥
षट्शतानि कफे कृष्णरोगे सप्त शतानि हि । दृष्टिरोगे शतान्यष्टावधिमन्थे सहस्रकम् ॥१७६॥
सहस्रं वातरोगेषु धार्यमेव हि तर्पणम् ॥ १७७ ॥

रोगभेद से तर्पण धारण करने के काल का भेद—वर्त्म (बरौनी) गत रोग में जब तक १०० गुरु अक्षरों का उच्चारण हो तब तक, स्वस्थ कफ तथा सन्धि रोग में ५०० गुरु अक्षरों के उच्चारण तक, कफ में ६०० तक, कृष्ण (काली पुतली) गत रोग में ७०० तक, दृष्टिरोग में ८०० तक, अधिमन्थ तथा वातसम्बन्धी नेत्ररोग में १००० गुरु अक्षरों के उच्चारण तक तर्पण धारण कराना चाहिये ॥ १७५–१७७ ॥

पूर्णे चापाङ्गमार्गेण स्रावयित्वाऽक्षि शोधयेत् । स्विन्नेन यवपिष्टेन स्नेहवीर्येरितं ततः ॥१७८॥
यथास्वं धूमपानेन कफमस्य विरेचयेत् । एकाहं वा त्र्यहं वापि पञ्चाहं तर्पणं चरेत् ॥ १७९ ॥

जब तर्पणधारण करने का काल पूर्ण हो जाय तब नेत्र के प्रान्त (कोर) मार्ग से भरे हुये घृतादि को गिरा दे, उसके बाद गूंदकर गर्म किये हुए जौ के आटे की पिण्डी से नेत्रों को पोंछ कर साफ कर डाले । तत्पश्चात् स्नेह के प्रयोग करने के प्रभाव से बढ़े हुये कफ का यथायोग्य औषधियों के धूमपान द्वारा विरेचन करे । अर्थात् उसे निकाल देवे । इसभांति एक दिन, तीन दिन या पांच दिन तक तर्पण क्रिया करे ॥ १७८–१७९ ॥

अथ यथार्थतर्पणचिह्नमाह—

तर्पणे तृप्तिलिङ्गानि नेत्रस्यैतानि लक्षयेत् । सुखस्वप्नावबोधत्वं वैशद्यं नेत्रपाटवम् ॥
निर्वृतिर्व्याधिशान्तिश्च क्रियालाघवमेव च ॥ १८० ॥

यथार्थ तर्पण के चिह्न—उचित रीति से तर्पण क्रिया होने पर सुखपूर्वक नींद आना तथा सुखपूर्वक जग जाना, नेत्रों में स्वच्छता तथा सामर्थ्य का होना एवं सुख मिलना, नेत्ररोग-शान्ति तथा नेत्रों की क्रिया में लघुता होना; ये सब नेत्रों के तृप्तिबोधक लक्षण प्रकट होते हैं ॥ १८० ॥

*निर्वृतिः = सुखम् । क्रियालाघवं = नेत्रस्य क्रियायां निमेषोन्मेषादौ लघुता ॥ १८० ॥

यहां 'निर्वृति' पद का 'सुख मिलना' तथा 'क्रियालाघव' पद का 'नेत्रों की क्रिया में अर्थात् पलक बन्द करने तथा खोलने में लघुता होना' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १८० ॥

अथातितर्पितहीनतर्पितयोर्लक्षणं प्रतीकारमयोग्यसमयं चाह—

गुर्वाविलमतिस्निग्धमश्रुकण्डूपदेहवत् । घर्षतोदयुतं नेत्रमतितर्पितमादिशेत् ॥ १८१ ॥
शास्रावशोफरोगाढ्यमुपदेहसमाकुलम् । रूक्षमस्रावमरुणं नेत्रस्याद्धीनतर्पितम् ॥ १८२ ॥

अतितर्पित नेत्र के लक्षण—यदि तर्पण क्रिया करने पर नेत्रों में भारीपन, मैलापन तथा अत्यन्त स्निग्धता हो और आंसू बहना, खुजली होना तथा कफ से लिपटा हुआ मालूम पड़ना एवं घिसने के समान या सुई चुभने के समान पीड़ा होना; ये सब लक्षण प्रकट हों तो नेत्रों का अधिक मात्रा में तर्पण हुआ समझना चाहिये । हीनतर्पित नेत्र के लक्षण—यदि तर्पण क्रिया करने पर नेत्रों से पानी झरना, शोथ तथा पीडा अधिक होना, कफ से अधिक लिपटा हुआ मालूम पड़ना, रूक्षता, गीलापन न रहना तथा अधिक लाल रहना, ये सब लक्षण प्रकट हों तो तर्पण-क्रिया हीनमात्रा में हुई है, यह समझना चाहिये ॥ १८१–१८२ ॥

अनयोर्दोषबाहुल्यात्प्रयतेत चिकित्सिते । रूक्षस्निग्धोपचाराभ्यामनयोः स्यात्प्रतिक्रिया ॥

अतितर्पित तथा हीनतर्पित नेत्रों का प्रतीकार—अतितर्पित तथा हीनतर्पित नेत्रों में दोषों की अधिकता होने से दोनों की चिकित्सा करने में विशेष प्रयत्नशील होना चाहिये । इन दोनों का प्रतीकार-क्रम से अतितर्पित नेत्र का रूक्षताकारक तथा हीनतर्पित नेत्र का स्निग्धताकारक उपचारों से करना चाहिये ॥ १८३ ॥

***अनयोः = अतितर्पितहीनतर्पितयोः ॥ १८३ ॥**

यहां 'अनयोः' पद का 'अतितर्पित तथा हीनतर्पित नेत्रों में' यह अर्थ समझना चाहिये ॥१८३॥

दुर्दिनात्युष्णशीतेषु चिन्तायां संभ्रमेषु च । अशान्तोपद्रवे चापिण तर्पणं न प्रशस्यते ॥

तर्पण क्रिया करने के लिये अयोग्य समय-जब बादल घिरे हुए हों या अत्यन्त गर्मी या सर्दी पड़ती हो वा रोगी के चित्त में चिन्ता या भय हो तथा उपद्रव शान्त होने के पहले नेत्रों में तर्पण क्रिया करना उचित नहीं होता है ॥ १८४ ॥

अथ पुटपाकविधिमाह—

द्वे बिल्वे स्निग्धमांसस्य परद्रव्यपलं मतम् । द्रवस्य कुडवोन्मानं सर्वमेकत्र पेषयेत् ॥ १८५ ॥
तदेकत्र समालोड्य पत्रैः सुपरिवेष्टितम् । पुटपाकविधानेन तत्पक्त्वा तद्रसं बुधः ॥ १८६ ॥
तर्पणोक्तेन विधिना यथावदवधारयेत् । दृष्टिमध्ये निषेक्तव्यः स्याद्धितमुत्तानशायिनः ॥१८७॥

पुटपाक की विधि—स्नेह युक्त मांस २ पल (८ तो०), अन्य ओषधियां १ पल (४ तो०), द्रवपदार्थ ४ पल (१६ तो०) लेकर इन सबों को एकत्र पीस डाले पश्चात् गोला बनाकर उसके चारो तरफ पत्ते लपेट कर पुटपाक की विधि से अग्नि में रख पका डाले, उसके बाद वैद्य उक्त परिपक्व ओषधियों का रस निचोड़ कर तर्पण क्रिया में कही हुई विधि के अनुसार नेत्रों में भली प्रकार उक्त रस का प्रयोग करे, अर्थात् रोगी को उत्तान लिटाकर नेत्रों में उक्त रस को डाल कर जब तक उचित हो तब तक पड़ा रहने दे ॥ १८५–१८७ ॥

अथ पुटपाकस्य भेदानाह—

स्नेहनो लेखनश्चैव रोपणश्चेति स त्रिधा । हितः स्निग्धोऽतिरूक्षस्य स्निग्धस्य स तु लेखनः ॥
दृष्टेर्बलार्थमितरः पित्तासृग्व्रणवातनुत् ॥ १८९ ॥

पुटपाक के भेद—पुटपाक तीन प्रकार का होता है—१ स्नेहन, २ लेखन, ३ रोपण । इनमें स्नेहन पुटपाक अत्यन्त रूक्ष नेत्रों के लिये और लेखन पुटपाक अत्यन्त स्निग्ध नेत्रों के लिये हितकारी होता है एवं रोपण पुटपाक दृष्टिशक्ति को बलवान् करने के लिये तथा पित्त और रक्त संबन्धी नेत्रविकार, व्रण एवं तथा नेत्रगत वात दोष को दूर करने के लिये उत्तम होता है १८८-१८९

*इतरः=रोपणः ॥ १८८–१८९ ॥

यहां 'इतर' पद का 'रोपण-पुटपाक' अर्थ समझना चाहिये ॥ १८८–१८९ ॥

अथ स्नेहनादिपुटपाकानां धारणकालानाह—

स्नेहमांसवसामज्जमेदःस्वाद्वौषधैः कृतः । स्नेहनः पुटपाकः स्याद्धार्यो द्वे वाक्छते तु सः ॥
जाङ्गलानां यकृन्मांसैर्लेखनद्रव्यसंयुतैः । कृष्णलोहरजस्ताम्रशङ्खविद्रुमसिन्धुजैः ॥ १९१ ॥
समुद्रफेनकासीसस्रोतोऽजदधिमस्तुभिः । लेखनो वाक्छतं तस्य परं धारणमिष्यते ॥१९२॥
स्तन्यजाङ्गलमध्वाज्यतिक्तद्रव्यविपाचितः । लेखनात्त्रिगुणो धार्यः पुटपाकस्तु रोपणः ॥१९३॥

स्नेहनादि पुटपाकों के धारण काल की अवधि—स्नेह, मांस, वसा, मज्जा, मेद तथा मधुर रस युक्त ओषधियों से बना हुआ जो पुटपाक होता है, वह स्नेहन कहलाता है, इसे २०० गुरु अक्षरों के उच्चारण काल तक धारण करना चाहिये। जंगली जीवों का कलेजा तथा मांस, लेखनकारी ओषधियां, काले लोहे का सूक्ष्म चूर्ण, तामा, शंख तथा मूंगा का चूर्ण, सेंधा नमक, समुद्रफेन, कसीस, काला सुरमा, बकरी के दही का पानी इन सब से बना हुआ जो पुटपाक होता है, वह लेखन कहलाता है, इसके धारण काल की अवधि १०० गुरु अक्षरों के उच्चारण करने तक की है। स्त्री का दूध, जाङ्गल जीवों का मांस, शहद, गाय का घी तथा पञ्चतिक्तक गणोक्त ओषधियां इन सबों से बने हुये पुटपाक को रोपण कहते हैं। इसके धारण काल की अवधि लेखन पुटपाक से तिगुनी है अर्थात् ३०० गुरु अक्षरों के उच्चारण करने तक की है ॥ १९०–१९३ ॥

अथ तिक्तद्रव्याण्याह—

निम्बामृतावृषपटोलनिदिग्धिकाभिः स्यात्पञ्चतिक्तक इति प्रथितो गणोऽयम् ॥ १९४ ॥

तिक्तक द्रव्य—नीम, गिलोय, अडूसा, परवल और कटेरी, इनके गण पञ्चतिक्तक नाम से प्रसिद्ध हैं, रोपण पुटपाक में इसी का प्रयोग होता है ॥ १९४ ॥

आचरेत्तर्पणोक्तां तु क्रियां व्यापत्तिदर्शने ॥ १९५ ॥

उचित रीति से पुटपाक का प्रयोग न होने से उत्पन्न हुए रोग दिखाई पड़ने पर पूर्वोक्त तर्पण क्रिया की भांति चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १९५ ॥

*व्यापत्तिदर्शने=मिथ्याकृतपुटपाकजनितव्याधिदर्शने ॥ १९५ ॥

यहां 'व्यापत्तिदर्शने' पद का 'उचित रीति से पुटपाक का प्रयोग न होने से उत्पन्न हुये रोग दिखलाई पड़ने पर' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १९५ ॥

अथ तर्पणपुटपाकवतस्त्याज्यविषयानाह—

तेजांस्यनिलमाकाशमादर्शं भास्वराणि च । नेक्षेत तर्पिते नेत्रे यश्च वा पुटपाकवान् ॥१९६॥

तर्पण तथा पुटपाक धारण किये हुये लोगों के लिये त्याग करने योग्य कार्य—जिनकी आंखों में तर्पण तथा पुटपाक क्रिया का प्रयोग हुआ हो वे तेज से युक्त पदार्थ, आकाश, दर्पण (शीशा) तथा चमकीली वस्तु की ओर एवं हवा जिस ओर से आती हो उस ओर भी न देखें ॥ १९६ ॥

अथाञ्जनविधिमाह—

अथ सम्पक्वदोषस्य प्राप्तमञ्जनमाचरेत् । अञ्जनं क्रियते येन तद् द्रव्यं चाञ्जनं मतम् ॥

अञ्जन की विधि—दोषों के पक जाने पर नेत्रों में योग्य अञ्जन लगाना चाहिये। नेत्रों में जो आंजा जाता है वह अञ्जन कहलाता है ॥ १९७ ॥

तद्यथा—

रसो वटी तथा चूर्णमिति त्रिविधमञ्जनम् । यथापूर्वं बलं तेषु स्नेहमाहुर्मनीषिणः ॥
तत्प्रत्येकं त्रिधा प्रोक्तं लेखनं रोपणं तथा । स्नेहनं चेति लिङ्गानि तेषां विस्तरतः शृणु ॥

लेखनं क्षारतीक्ष्णाम्लरसैरञ्जनमुच्यते। नेत्रवर्त्मसिराजालस्रोतःशृङ्गाटकस्थितम् ॥ १९९ ॥
मुखनासाऽक्षिभिर्दोषमुत्क्लिश्य स्रावयेच्च तत्। कषायं तिक्तकं चापि सस्नेहं रोपणं मतम् ॥
स्नेहस्य शैत्याद्वर्ण्यं स्याद् दृष्टेश्च बलवर्द्धनम्। मधुरं स्नेहमण्डं तदञ्जनं स्यात्प्रसादनम् ॥
दृष्टिदोषप्रसादार्थं स्नेहनार्थञ्च तद्धितम्। हरेणुमात्रावर्तिस्तु लेखनी स्यात्प्रमाणतः ॥२०१॥
सार्द्धहरेणुकमिता रोपणी वर्तिरिष्यते। क्रियते स्नेहनी वर्तिर्द्विहरेणुकमात्रया ॥ २०३ ॥

अञ्जन के तीन भेद हैं। रसरूप, वर्तिरूप और चूर्णरूप इनमें चूर्ण से वर्ति और वर्ति से रस बलवान है प्रत्येक अञ्जन के लेखन, रोपण तथा स्नेहन, इस भांति तीन २ भेद हैं। इनमें जो खारा, तीक्ष्ण तथा खट्टे रस वाला अञ्जन होता है वह लेखन अञ्जन कहलाता है। यह अञ्जन नेत्रों में, पलकों में, सिराओं में, कान में और कपाल की हड्डी में स्थित दोषों को स्थान से गिरा कर मुख, नाक और नेत्रों से निकाल देता है। कषाय, कटु रस वाला और स्नेहयुक्त जो अञ्जन होता है; वह रोपण कहलाता है। यह स्नेह-स्निग्ध तथा शीतल होने के कारण वर्ण को उत्तम करता है और दृष्टि के बल को बढ़ाता है। मधुर रस वाला तथा स्नेहयुक्त जो अञ्जन होता है वह प्रसादन कहलाता है। स्नेहन अञ्जन दृष्टि-दोष को शुद्ध करने के लिये तथा दृष्टि को स्निग्ध करने के लिये उपयोगी है। लेखनी वर्ति एक मटर के बराबर और रोपणी वर्ति डेढ़ मटर के बराबर तथा स्नेहनी वर्ति दो मटर के बराबर बनानी चाहिये ॥ १९८-२०३ ॥

रसाञ्जनस्य मात्रा तु पिष्टवर्तिमिता मता। चूर्णं तु लेखनं वैद्यैर्द्विशलाकं प्रदीयते ॥
रोपणं त्रिशलाकं स्याच्चतस्रः स्नेहनाञ्जने ॥ २०४ ॥

रसरूप अञ्जन की मात्रा एक पिष्टवर्ति के बराबर बनानी चाहिये। यदि वैद्य को लेखन चूर्ण आँजना हो तो दो सलाई आँजना चाहिये। रोपण चूर्ण तीन सलाई और स्नेहन चूर्ण चार सलाई आँजना चाहिये ॥ २०४ ॥

*चतस्रः शलाकाः स्नेहनाञ्जने चूर्णे ॥ २०४ ॥

यहाँ 'चतस्रः स्नेहनाञ्जने' पदों का 'स्नेहन चूर्ण चार सलाई आंजनी चाहिये' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २०४ ॥

मुखयोर्मुकुलाकारा कलायपरिमण्डला। अष्टाङ्गुला शलाका स्यादश्मजा धातुजाऽथ वा ॥

अञ्जन लगाने की सलाई—दोनों सिरों में कली के समान आकार वाली, आगे के भाग में मटर के समान गोल, आठ अंगुल लम्बी, पत्थर की या धातु की होनी चाहिये ॥ २०५ ॥

*कलायपरिमण्डला = अग्रे कलायवद्वर्तुला ॥ २०५ ॥

यहां 'कलायपरिमण्डला' पद का 'आगे के भाग में मटर के समान गोल' यह अर्थ करना चाहिये ॥ २०४ ॥

ताम्रलोहाश्मसञ्जाता शलाका लेखने मता। सुवर्णरजतोद्भूता स्नेहने समुदाहृता ॥२०६॥
अङ्गुली च मृदुत्वेन रोपणे सम्प्रयुज्यते। कृष्णभागादधो लिम्पेदपाङ्गं यावदञ्जनम् ॥२०७॥
हेमन्ते शिशिरे चैव मध्याह्नेऽञ्जनमिष्यते। पूर्वाह्णे वाऽपराह्णे वा ग्रीष्मे शरदि चेष्यते ॥
वर्षास्वनभ्रे नात्युष्णे वसन्ते तु सदैव हि। अथ वा सर्वदा प्रातः सायं वाऽञ्जनमाचरेत् ॥
नातिशीतोष्णवाताभ्रवेलायां तत्प्रयुज्यते। श्रान्तेऽथ रुदिते भीते पीतमद्ये नवज्वरे ॥ २१० ॥
अजीर्णे वेगघाते च नाञ्जनं सम्प्रयुज्यते। रागोपदेहौ तिमिरं शूलं संरम्भमेव च ॥ २११ ॥
निद्राक्षयञ्च कुरुते निषिद्धे युक्तमञ्जनम् ॥ २१२ ॥

यदि लेखन चूर्ण लगाना हो तो तांबे की या लोहे की अथवा पत्थर की सलाई होनी चाहिये। स्नेहन चूर्ण आँजना हो तो सोने की अथवा चांदी की सलाई होनी चाहिये। रोपण चूर्ण आँजना

हो तो अंगुली से आँजना चाहिये क्योंकि अङ्गुली कोमल होती है। अञ्जन लगाना हो तो काली पुतली के नीचे से नेत्र के कोने तक आँजे। हेमन्त और शिशिर ऋतु में मध्याह्न के समय अञ्जन आँजना चाहिये। ग्रीष्म ऋतु और शरद् ऋतु में पूर्वाह्न समय अथवा अपराह्न समय में अञ्जन आंजना चाहिये। वर्षा ऋतु में जिस समय बादल न हो और बहुत गरमी न हो उस समय आँजना चाहिये। वसन्त ऋतु में जब इच्छा हो तब अञ्जन लगावे। अथवा सर्वदा प्रातः-सायं अञ्जन लगाना चाहिये। अत्यन्त शीतलता, उष्णता, वायु तथा बादल के समय अञ्जन नहीं लगाना चाहिये। थका हुआ, रुदन किया हुआ, डरा हुआ, मदिरा पीया हुआ, नवीन ज्वरवाला, अजीर्ण युक्त और जिसने मलमूत्र के वेग को रोका हो; इन सब को अञ्जन नहीं लगाना चाहिये। यदि उपर्युक्त व्यक्ति अञ्जन लगावें तो उनके नेत्रों में लाली होती है, नेत्रों में सूजन आ जाती है, तिमिर, शूल तथा दोषों का कोप होता है और निद्रा का नाश होता है ॥ २०६-२१२ ॥

अथ लेखनकारिणीं वर्त्तिमाह—

शङ्खनाभिर्विभीतस्य मज्जा पथ्या मनःशिला। पिप्पली मरिचं कुष्ठं वचा चेति समांशकम्।
छागक्षीरेण सम्पिष्य वर्त्तिं कुर्याद्यवोन्मिताम्। हरेणुमात्रां संपिष्य जलैः कुर्याद्यथाऽञ्जनम्॥
तिमिरं मांसवृद्धिञ्च काचं पटलमर्बुदम्। रात्र्यन्धं वार्षिकं पुष्पं वर्त्तिश्चन्द्रोदया हरेत् ॥२१५॥

इति चन्द्रोदया वर्त्तिर्लेखनी।

लेखनकारिणी वर्त्ति—शंख की नाभि, बहेड़े की मींगी, हरड़, मैनशिल, पीपरि, काली मिर्च, कूठ और बच समान भाग लेकर बकरी के दूध में पीस कर जौ के समान बत्ती बनावे। इस बत्ती को पानी में घिसकर योग्य रीति से आँजने से तिमिर, मांसवृद्धि, काच, पटल, अर्बुद, रतौंधी और एक वर्ष का फूला नष्ट हो जाता है। इस बत्ती का नाम चन्द्रोदया वर्त्ति है। यह लेखन कारिणी है ॥ २१२–२१५ ॥

अशीतिस्तिलपुष्पाणि षष्टिः पिप्पलितण्डुलाः। जातीपुष्पाणि पञ्चाशन्मरिचानि तु षोडश॥
सूक्ष्मं पिष्ट्वाऽम्बुना वर्त्तिः कृता कुसुमिकाऽभिधा। तिमिरार्जुनशुक्रानां नाशिनी मांसवृद्धिनुत्।
एतस्या अञ्जने प्रोक्ता मात्रा सार्धहरेणुका ॥ २१७ ॥

रोपणकारिणी वर्त्ति—८० तिल के फूल, ६० पीपल के बीज, ५० चमेली के फूल और १६ दाने मिर्च पानी में बारीक पीस कर जो बत्ती बनाई जाती है, वह कुसुमिका वर्त्ति कहलाती है। यह वर्ति-तिमिर, अर्जुन तथा फूला और मांसवृद्धि को दूर करती है। इस वर्त्ति की आँजने में डेढ़ मटर के बराबर मात्रा कही गई है। यह कुसुमिका वर्ति रोपणकारिणी है २१६–२१७ ॥

अथ स्नेहनकारिणीं वर्त्तिमाह—

धात्र्यक्षपथ्याबीजानि एकद्वित्रिगुणानि च। पिष्ट्वा वर्त्तिं जलैः कुर्यादञ्जनं द्विहरेणुकम् २१८
नेत्रस्रावं हरत्याशु वातरक्तरुजं तथा ॥ २१९ ॥

स्नेहनकारिणी वर्ति—आंवले की मींगी १ भाग, बहेड़े की मींगी २ भाग, हर्रे की मींगी ३ भाग, इनको पानी में पीसकर दो मटर के बराबर नेत्रों में लगावे। इसके प्रयोग से नेत्रों से पानी गिरना तथा वातरक्तजन्य विकार नष्ट हो जाते हैं ॥ २१८–२१९ ॥

अथ लेखनकारिणी रसक्रियामाह—

तुत्थमाक्षिकसिन्धूत्थाः सिताशङ्खमनःशिलाः। गैरिकं सिन्धुफेनञ्च मरिचं चेति चूर्णयेत् २२०
संयोज्य मधुना कुर्यादञ्जनार्थं रसक्रियाम्। वर्त्मरोगार्मतिमिरकाचशुक्लहरीं पराम् ॥२२१॥

लेखनकारिणी रसक्रिया—नीलाथोथा (तूतिया), सोनामाखी, सेंधानमक, शक्कर, शंख का

चूर्ण, मैनशिल, गेरू, समुद्रफेन और काली मिर्च; इनको खूब पीसकर मधु में मिलाकर आँजने से पलकों के रोग, अर्म, तिमिर, काच और शुक्ल रोग का बहुत शीघ्र नाश होता है ॥ २२०-२२१ ॥

अथ रोपणीं रसक्रियामाह—

रसाञ्जनं सर्जरसो जातिपुष्पं मनःशिला। समुद्रफेनो लवणं गैरिकं मरिचं तथा ॥ २२२ ॥
एतत्समांशं मधुना पिष्टं प्रक्लिन्नवर्त्मने। अञ्जनं क्लेदकण्डूघ्नं पक्ष्मणाञ्च प्ररोहणम् २२३ ॥

रोपणी रसक्रिया—रसौत, राल, चमेली के फूल, मैनशिल, समुद्रफेन, सेंधा नमक, गेरू और कालीमिर्च; इन सबको समान भाग लेकर शहद में खूब बारीक पीसकर पलकों पर लगाने से पलकों का गीलापन तथा खुजली नष्ट होती है और पलकों के गिरे बाल फिर से उगने लगते हैं ॥ २२२-२२३ ॥

अथ स्नेहनकारिणीं रसक्रियामाह--

कतकस्य फलं घृष्ट्वा मधुना नेत्रमञ्जयेत्। ईषत्कर्पूरसहितं स्मृतं नेत्रप्रसादनम् ॥ २२४ ॥

स्नेहनकारिणी रसक्रिया--निर्मली के फल तथा थोड़े कपूर को शहद में घिसकर आंजने से नेत्र स्निग्धतापूर्वक स्वच्छ हो जाते हैं ॥ २२४ ॥

अथ लेखनचूर्णमाह--

दक्षाण्डत्वक्शिलाकाचशङ्खचन्दनसैन्धवैः। अञ्जनं हरते नित्यं सर्वान्विकारान्बलात् ॥२२५॥

लेखन चूर्ण—मुरगे के अण्डे का छिलका, मैनशिल, काच, शंख, चन्दन तथा सेंधानमक का चूर्ण करके नित्य आँजने से लाचार होकर सम्पूर्ण नेत्रविकार नष्ट हो जाते हैं ॥ २२५ ॥

दक्षः = कुक्कुटः। तथा च निघण्टुः—

'कृकवाकुस्तथा दक्षः कालज्ञोऽथ शिखण्डिकः' इति ॥ २२५ ॥

यहां 'दक्ष' पद का 'कुक्कुट' अर्थात् 'मुरगा' अर्थ समझना चाहिये। क्योंकि निघण्टु में 'कृकवाकु' आदि मुरगे के संस्कृत नामों के मध्य में 'दक्ष' का पाठ है २२५ ॥

अथ रोपणचूर्णमाह—

शिलायां रसकं पिष्ट्वा सम्यगाप्लाव्य वारिणा। गृहीत्वा तज्जलं सर्वं त्यजेच्चूर्णमधोगतम् २२६
शुष्कं तच्च जलं सर्वं पर्पटीसन्निभं भवेत्। विचूर्ण्य भावयेत्सम्यक्त्रिवेलं त्रिफलारसैः ॥२२७॥
कर्पूरस्य रजस्तत्र दशांशेन निक्षिपेत्। अञ्जयेन्नयनं तेन सर्वदोषप्रशान्तये।
समस्तनेत्ररोगघ्नं चूर्णमेतन्न संशयः ॥ २२८ ॥

रोपण चूर्ण—पत्थर के खरल में खपरिया को घोंट कर पानी में भली भांति भिगो दे, तत्पश्चात् उसके ऊपर के जल को निथार ले तथा नीचे के चूर्ण को फेंक दे इस जल को सुखावे जब यह पपड़ी के समान हो जाय तब उसका चूर्ण कर ले फिर हर्रा, बहेड़ा और आँवले की तीन भावना दे और फिर दशमांश कपूर का चूर्ण मिला दे। इस चूर्ण के आंजने से सम्पूर्ण दोषों की शान्ति होती है तथा नेत्रों के सम्पूर्ण रोग निःसन्देह नष्ट हो जाते हैं ॥ २२६-२२८ ॥

अथ स्नेहनचूर्णमाह—

अग्नितप्तं हि सौवीरं निषिक्तं त्रिफलारसैः। सप्तवेलं तथा स्तन्यैः स्त्रीणां सिक्तं विचूर्णितम् २२९
अञ्जयेत्तेन नयने प्रत्यहं चक्षुषोर्हितम्। सर्वान्नेत्रविकारांस्तु हन्यादेतन्न संशयः ॥ २३० ॥

स्नेहन चूर्ण—सफेद सुरमे को अग्नि में तपा तपा कर सात बार त्रिफला के रस में तथा सात बार स्त्री के दूध में बुझावे। इस प्रकार यह शुद्ध सुरमे का अञ्जन नेत्रों को हितकारी होता है तथा नेत्रसम्बन्धी सम्पूर्ण विकारों का निःसन्देह नाश करता है ॥२२९-२३०॥

⊛सौवीरं = श्वेतमञ्जनम् ॥ २२९-२३० ॥

यहां 'सौवीर' पद का 'सुफेद सुरमा' अर्थ समझना चाहिये ॥२२९-२३०॥

अथ प्रत्यञ्जनसेवनविधिमाह—

गतदोषमपेताश्रु प्रपश्यत्सम्यगम्भसि । प्रक्षाल्याक्षि यथादोषं कार्यं प्रत्यञ्जनं ततः ॥२३१॥
न वा निर्वातदोषेऽक्षिधावनं सम्प्रयोजयेत् । प्रत्यञ्जनं तत्र दद्याच्चूर्णं तीक्ष्णप्रसादनम् ॥२३२॥

प्रत्यञ्जन सेवन विधि—नेत्रों के दोष दूर होने के पश्चात् आँसू निकल जाने पर तथा नेत्रों में देखने की शक्ति आ जाने पर नेत्रों को जल से धो डालना चाहिये। तत्पश्चात् दोषों को निःशेष करने के लिये उसी दोष के अनुसार प्रत्यञ्जन (पुनः अञ्जन) करे। नेत्रों के दोष जबतक दूर न हो जांय नेत्रों को न धोवे। धोने के पश्चात् नेत्रों में प्रत्यञ्जन आंजने से तीक्ष्ण औषधियों के प्रयोग से हुआ नेत्रों का ताप नष्ट हो जाता है ॥ २३१-२३२ ॥

अथ नयनामृतचूर्णमाह, तद्यथा—

शुद्धे नागे द्रुते तुल्यं शुद्धं सूतं विनिक्षिपेत् । कृष्णाञ्जनं तयोस्तुल्यं सर्वमेकत्र चूर्णयेत् २३३
दशमांशेन कर्पूरं तस्मिंश्चूर्णे विनिक्षिपेत् । एतत्प्रत्यञ्जनं नेत्रगदजिन्नयनामृतम् ॥ २३४ ॥

इति नयनामृतं प्रत्यञ्जनम् ।

नयनामृत चूर्ण—शुद्ध शीसे को पिघला कर उसमें उसके बराबर ही शुद्ध पारा डाले तथा इन दोनों के बराबर काला सुरमा डाले तत्पश्चात् इन सबका एकत्र चूर्ण करके उसमें उसका दशवां भाग कपूर डाले। इसका नेत्रों में प्रत्यञ्जन करने से नेत्र के रोग निःशेष हो जाते हैं। इसको 'नयनामृताञ्जन' कहते हैं ॥ २३३-२३४ ॥

⊛कृष्णाञ्जनं = स्रोतोऽञ्जनम् । तथा च मदनपालः—

'स्रोतोऽञ्जनन्तु तद्विद्यादञ्जनाभं यदञ्जनम्' ॥ २३३-२३४ ॥

यहां 'कृष्णाञ्जन' का 'काला सुरमा' अर्थ समझना चाहिये। क्योंकि मदनपाल निघण्टु में लिखा है कि—जो सुरमा काजल के समान काला होता है वह स्रोतोञ्जन अर्थात् काला सुरमा कहलाता है ॥ २३३-२३४ ॥

अथ दृष्टिस्वच्छकारिणीं शलाकामाह—

त्रिफलाभृङ्गशुण्ठीनां रसैस्तद्वच्च सर्पिषा । गोमूत्रमध्वजाक्षीरैः सिक्तो नागः प्रतापितः॥२३५॥
तच्छलाका हरत्येव सर्वानक्षिभवान्गदान् ॥ २३६ ॥

दृष्टि को स्वच्छ करने वाली शलाका—शुद्ध सीसे को बार बार तपा कर त्रिफला के रस में, घी में, गोमूत्र में, शहद में और बकरी के दूध में बुझावे। फिर इस सीसे की सलाई बना कर नेत्रों में फेरने से नेत्रसम्बन्धी सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ २३५-२३६ ॥

इति भेषजानां विधानानि ।

अथ भेषजभक्षणसमयः ।

तस्य पाञ्चविध्यमाह—

भैषज्यमभ्यवहरेत्प्रभाते प्रायशो बुधः । कषायांस्तु विशेषेण तत्र भेदस्तु दर्शितः ॥ २३७ ॥
ज्ञेयः पञ्चविधः कालो भैषज्यग्रहणे नृणाम् । किञ्चित्सूर्योदये जाते तथा दिवसभोजने ॥
सायन्तने भोजने च मुहुश्चापि तथा निशि ॥ २३८ ॥

औषध खाने के पांच समय—बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि औषधियों को प्रायः प्रातःकाल में खावे, उसमें यदि क्वाथ पीना हो तो प्रातःकाल में ही पीवे। औषध खाने के समय पांच हैं—

१-कुछ सूर्योदय होने के पश्चात्, २-दिन में भोजन करने के समय, ३-सायंकाल के भोजन करने के समय, ४-बारम्बार तथा ५-रात्रि में। इस प्रकार मनुष्यों के ओषधि खाने के पांच समय हैं॥

तत्र प्रथमकालस्य विषयानाह—

प्रायः पित्तकफोद्रेके विरेकवमनार्थयोः। लेखनार्थे च भैषज्यं प्रभातेऽनन्नमाहरेत्॥ २३९॥

ओषधि सेवन का प्रथम काल—पित्त तथा कफ की अधिकता में विरेचन, वमन तथा लेखन करना हो तो प्रातःकाल विना भोजन किये ओषधि का उपयोग करना चाहिये॥ २३९॥

अथ द्वितीयकालस्य विषयानाह—

भैषज्यं विगुणेऽपाने भोजनाग्रे प्रशस्यते। अरुचौ चित्रभोज्यैश्च मिश्रं रुचिरमाहरेत्॥ २४०॥
समानवाते विगुणे मन्देऽग्नावतिदीपनम्। दद्याद्भोजनमध्ये च भैषज्यं कुशलो भिषक्॥२४१॥
व्यानकोपे तु भैषज्यं भोजनान्ते समाहरेत्। हिक्काऽऽक्षेपककम्पेषु पूर्वमन्ते च भोजनात्॥

द्वितीय काल—अपान वायुके दुष्ट होने पर दिन के भोजन से कुछ पहले ओषधि लेनी चाहिये। अरुचि में भोजन के विचित्र पदार्थों के साथ खाने से रुचि होती है। यदि रोगी की नाभि में रहने वाली समान वायु दूषित हो और मन्दाग्नि हो तो बुद्धिमान् वैद्य अग्निदीपक ओषधियों को भोजन के मध्य में खिलावे। यदि सर्व शरीर में व्यापक व्यान वायु बिगड़ी हो तो भोजन के अन्त में ओषधि खिलानी चाहिये। हिचकी, आक्षेपक वायु या कम्प वायु की अधिकता हो तो भोजन के पहले और पीछे भी ओषधि खिलानी चाहिये॥ २४०–२४२॥

अथ तृतीयकालस्य विषयानाह—

उदाने कुपिते वाते स्वरभङ्गादिकारिणि। ग्रासग्रासान्तरे देयं भैषज्यं सान्ध्यभोजने॥२४३॥
प्राणे प्रदुष्टे सान्ध्यस्य भुक्तस्यान्ते प्रदीयते। औषधं प्रायशो धीरैः कालोऽयं स्यात्तृतीयकः॥

तृतीय काल—स्वरभङ्ग इत्यादि को करने वाले गले में स्थित उदान वायु का यदि कोप हो तो सायङ्काल में भोजन के प्रत्येक ग्रास के साथ ओषधि देनी चाहिये। यदि हृदयस्थित प्राण वायु कुपित हो तो बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि प्रायः सायंकाल के भोजन के पश्चात् ओषधि का सेवन करावे॥ २४३–२४४॥

अथ चतुर्थकालस्य विषयानाह—

मुहुर्मुहुश्च तृट्छर्दिहिक्काश्वासगरेषु च। सान्नञ्च भेषजं दद्यादिति कालश्चतुर्थकः॥ २४५॥

चतुर्थ काल—प्यास, वमन, हिचकी, श्वास अथवा विषजन्य पीड़ा होने पर अन्न के साथ या बारम्बार और सायंकाल में ओषधि का सेवन करावें॥ २४५॥

अथ पञ्चमकालस्य विषयानाह—

ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु लेखने बृंहणे तथा। पाचने शमने देयमनन्नं भेषजं निशि॥ २४६॥

पञ्चम काल—ऊर्ध्व जत्रुगत विकार में एवं लेखनक्रिया, बृंहणक्रिया, पाचनक्रिया तथा शमनक्रियाओं में रात्रि में विना भोजन किये ही ओषधि सेवन करानी चाहिये॥ २४६॥

अथ निरन्नकोष्ठ ओषधिसेवनगुणानाह—

वीर्याधिकं भवति भेषजमन्नहीनं हन्यात्तथाऽऽमयमसंशयमाशु चैव।
तद्बालवृद्धयुवतीमृदवश्च पीतं ग्लानिं परां नयति चाशु बलक्षयञ्च॥ २४७॥

निरन्न कोष्ठ ओषधि सेवन के गुण—विना भोजन किये जिस ओषधि का सेवन करता है उस ओषधि की शक्ति अधिक होती है। तथा वह ओषधि अवश्य तथा रोग को नष्ट करती है। किन्तु यदि बालक, वृद्ध, युवती स्त्रियों अथवा मृदु प्रकृति वाले मनुष्य निरन्नकोष्ठ (खाली पेट) ओषधि का सेवन करें तो उन्हें तुरन्त ग्लानि होती है तथा शरीर के बल का नाश होता है॥

अथान्नेन सहौषधसेवनगुणानाह—

शीघ्रं विपाकमुपयाति बलं न हिंस्यादन्नावृतं न च मुहुर्वदनान्निरेति ।
एतद्धितं स्थविरबालकृशाङ्गनाभ्यः प्राग्भोजनाद्यदशितं किल तच्च तद्वत् ॥ २४८ ॥
औषधशेषे भुक्तं भोजनशेषे यदौषधं पीतम् । न करोति गदोपशमं प्रकोपयत्यन्यरोगांश्च ॥

अन्न के साथ औषधि सेवन के गुण—अन्न में मिलाकर जिस ओषधि का सेवन किया जाता है वह तुरन्त पच जाती है, बल का नाश नहीं करती तथा मुख से बारम्बार निकलती भी नहीं है। वृद्ध, बालक, दुर्बल शरीर वालों को तथा स्त्रियों को इस प्रकार ओषधि का सेवन कराना हितकर है। भोजन के पहले जो ओषधि सेवन की जाती है वह गुणों में उसके सदृश ही होती है अर्थात् भोजन के साथ खाई हुई ओषधि के समान ही गुण करती है। ओषधि कुछ शेष रहने पर भोजन करे या भोजन कुछ शेष रहने पर ओषधि का सेवन करे तो वह ओषधि रोगों को निवृत्त नहीं करती तथा अन्य रोगों को कुपित करती हैं ॥ २४८–२४९ ॥

*तद्वद्=अन्नावृतवद्, भेषजमिति शेषः। पीतमित्युपलक्षणं लीढादिकं च ॥२४८–२४९॥

यहां 'तद्वत्' पद का 'उसके सदृश ही होती है अर्थात् भोजन के साथ खाई हुई ओषधि के समान ही गुण करती है' यह अर्थ समझना चाहिये। और 'ओषधि' पद को प्रकरणवश ऊपर से समझना चाहिये। यहां 'पीतम्'पद उपलक्षण है अतः'पीवे या खावे' सभी का बोध करना चाहिये, इसी से सेवन करे, यह अर्थ किया गया है ॥ २४८–२४९ ॥

अथौषधपाकापाकयोश्चिह्नमाह—

अनुलोमोऽनिलः स्वास्थ्यं क्षुत्तृष्णासुमनस्कताः। लघुत्वमिन्द्रियोद्गारशुद्धिर्जीर्णौषधाकृतिः॥
क्लमो दाहोऽङ्गसदनं भ्रमो मूर्च्छा शिरोरुजाः। अरतिर्बलहानिश्च सावशेषौषधाकृतिः॥ २५१ ॥

ओषधि के पाकापाक (पचने न पचने) का लक्षण—रोगी की यदि ओषधि पच जाती है तो वायु का अनुलोमन होता है, स्वस्थता आती है, भूख तथा प्यास लगती है, मन में प्रसन्नता होती है, शरीर में लघुता होती है और डकार शुद्ध आता है तथा यदि रोगी को ओषधि नहीं पची होती है तो ग्लानि, दाह, अङ्ग में पीडा, भ्रम, मूर्च्छा, सिर में दर्द, अरुचि तथा बलक्षय होता है ॥ २५०–२५१ ॥

अथ चरकोक्तौषधसेवनविधिमाह—

देवान्गुरूंस्तथा विप्रान्पूजयित्वा प्रणम्य च। आशिषश्च समादाय श्रद्धया भेषजं भजेत् ॥
रसायनमिवर्षीणां देवानाममृतं यथा। सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते ॥ २५३ ॥
ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानलाः। देवाश्च सौषधिग्रामा भूमिदेवाश्च पान्तु वः ॥२५४॥
औषधं हेमरजतमृद्भाजनपरिस्थितम्। पिबेदाप्तजनस्याग्रे प्रसन्नवदनेक्षणः ॥ २५५ ॥
प्रशान्तस्तूपविश्याथ पीत्वा पात्रमधोमुखम्। निक्षिप्याचम्य सलिलं ताम्बूलाद्युपयोजयेत् ॥

चरकोक्त ओषधि सेवन विधि—देवता, गुरु तथा ब्राह्मण की पूजा करने के बाद प्रणाम करके उनका आशीर्वाद लेकर श्रद्धा से ओषधि का सेवन करे और गुरु तथा ब्राह्मण रोगी को यह आशीर्वाद दें कि-जिस प्रकार रसायन ऋषियों को तथा अमृत देवताओं और नागों को रोगरहित तथा बलवान करता है उसी प्रकार यह ओषधि तुम्हें रोगरहित तथा बलवान बनावे। और ब्रह्मा, दक्ष, अश्विनीकुमार, रुद्र, इन्द्र, पृथ्वी, चन्द्रमा, सूर्य, वायु, अग्नि आदि देवता ओषधियों का समूह तथा ब्राह्मण तुम्हारी रक्षा करें। तदुपरान्त रोगी अपने मुख तथा नेत्रों को प्रसन्न रखता हुआ शान्तरूप से बैठ कर अपने प्रेमी तथा भले मनुष्यों के आगे सोने, चांदी अथवा मिट्टी के

पात्र में रखी हुई ओषधि का सेवन करे। ओषधियों के लेने के पश्चात् ओषधि के पात्र को पृथ्वी पर औंधा डाल कर रख दे तत्पश्चात् जल से आचमन करके पान इत्यादि का सेवन करे॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमन्मिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे परिभाषादिप्रकरणे षष्ठं धूमपानादिविधिप्रकरणं समाप्तम्॥ ६॥

अथ सप्तमं रोगिपरीक्षाप्रकरणम्॥ ७॥

अथ चिकित्सार्थं रोगिणो वाग्भटोक्तपरीक्षामाह—

दर्शनस्पर्शनप्रश्नैस्तं परीक्षेत रोगिणम्। आयुरादि दृशा स्पर्शाच्छीतादि प्रश्नतः परम्॥१॥

वाग्भटोक्त रोगी की परीक्षा—दर्शन (देखना), स्पर्श (छूना) और प्रश्न (पूछना) के द्वारा रोगी की परीक्षा करनी चाहिये। इनमें दर्शन के द्वारा आयु आदि की, स्पर्शन के द्वारा शीतादि की तथा प्रश्न के द्वारा अन्य शेष विषयों की परीक्षा करनी चाहिये॥ १॥

आयुरादि = आदिशब्दात्साध्यत्वादि। दृशा = दर्शनेन, अत्र 'सम्पदादिभ्यश्चे'ति भावे क्विप्। स्पर्शात् = स्पर्शनं। शीतादि = शीतोष्णमृदुकठिनत्वादि, नाडीपरीक्षणं च। प्रश्नतः = उदरलाघवगौरवतृषाऽतृषाबुभुक्षाबलाऽबलादि॥ १॥

यहां 'आयुरादि' पद में पठित 'आदि' शब्द से रोग के साध्यत्व तथा असाध्यत्व आदि का भी बोध करना चाहिये अर्थात् रोगी के मल-मूत्रादि तथा नेत्र, जिह्वा और मुखादि को देखकर आयु की तथा रोग के साध्यत्व-असाध्यत्व की परीक्षा करनी चाहिये। 'दृशा' पद का 'दर्शन' द्वारा यह अर्थ समझना चाहिये। दृशिर् ('दृशि-प्रेक्षणे') धातु से 'सम्पदादिभ्यश्च' इस सूत्र से भाव में 'क्विप्' प्रत्यय करने से क्विप् का सर्वापहार लोप होकर प्रातिपदिक-संज्ञक दृश् शब्द से टा विभक्ति होने पर 'दृशा' की सिद्धि होती है। 'स्पर्शात्' पद का 'स्पर्शन द्वारा'। 'शीतादि' पद का 'शीत या उष्ण, मृदु (कोमल) या कठिन आदि एवं नाडी की परीक्षा करना' यह समझना चाहिये अर्थात् इन सबों की स्पर्शन द्वारा ही परीक्षा होती है। 'प्रश्नतः' पद का 'पेट की लघुता तथा गुरुता, तृषा मालूम पड़ना या न मालूम पड़ना, भूख लगनी या न लगनी, दुर्बलता या सबलता की प्रश्न द्वारा परीक्षा करनी चाहिये' यह अर्थ होता है॥ १॥

मिथ्यादृष्टा विकारा हि दुराख्यातास्तथैव च। तथा दुष्परिदृष्टाश्च मोहयेयुश्चिकित्सकान्॥

जो रोग यथार्थ रूप से नेत्रादि तथा नाड़ी आदि की परीक्षा करके नहीं देखे गये हैं तथा जिनका भली भांति रोगी के तरफ से वर्णन न किया गया हो एवं जिनमें रोगी से पेट की गुरुता या लघुता आदि के विषय में वैद्य द्वारा प्रश्न न किया गया हो तो ऐसे रोगी की चिकित्सा करने में वैद्यों को भ्रम हो जाता है। अतः भली भांति से देख, सुन तथा पूछ कर रोगी की चिकित्सा करनी चाहिये॥ २॥

तत्र दर्शनं नेत्रजिह्वामूत्रादीनां कर्त्तव्यम्।

इसमें प्रथम दर्शन (देखना) द्वारा जो परीक्षा की जाती है उसमें रोगी के नेत्र, जिह्वा तथा मूत्र आदि को देखकर परीक्षा करनी चाहिये।

तत्र नेत्रपरीक्षामाह—

नेत्रं स्यात्पवनाद्रूक्षं धूम्रवर्णं तथाऽरुणम्। कोटरान्तःप्रविष्टं च तथा स्तब्धविलोकनम्॥ ३॥

हरिद्राखण्डवर्णं वा रक्तं वा हरितं तथा। दीपद्वेषि सदाहञ्च नेत्रं स्यात्पित्तकोपतः ॥ ४ ॥
चक्षुर्बलासबाहुल्यात्स्निग्धं स्यात्सलिलप्लुतम्। तथा धवलवर्णञ्च ज्योतिर्हीनं बलान्वितम् ॥
नेत्रं द्विदोषबाहुल्यात्स्याद्दोषद्वयलक्षणम्। त्रिदोषलिङ्गसङ्गेन तं मारयति रोगिणम् ॥ ६ ॥
त्रिदोषदूषितं नेत्रमन्तर्मग्नं भृशं भवेत्। त्रिलिङ्गं सलिलस्रावि प्रान्तेनोन्मीलयत्यपि ॥ ७ ॥

नेत्र की परीक्षा—यदि वायु का प्रकोप हो तो रोगी के नेत्र रूक्ष, धूयें के समान वर्ण वाले तथा लाल, भीतर के तरफ घुसे हुये, स्तब्ध स्वरूप से देखने वाले होते हैं और यदि पित्त का प्रकोप हो तो नेत्र हरदी के टुकड़ों के सदृश पीले वर्ण या रक्त वर्ण वा हरे रंग के होते हैं एवं दीपक की तरफ न देख सकने वाले अर्थात् विशेष प्रकाश को न सह सकने वाले तथा दाह युक्त होते हैं एवं कफ की अधिकता हो तो नेत्र स्निग्ध, जल से व्याप्त, सफेद रंग के, तेज से रहित तथा दृढता युक्त होते हैं।

यदि दो दोषों की अधिकता हो तो नेत्र दो दोषों के लक्षणों से और तीन दोषों की अधिकता हो तो तीन दोषों के लक्षणों से युक्त होते हैं किन्तु यदि तीन दोषों के लक्षणों से युक्त नेत्र होते हैं तो रोगी की मृत्यु कर देते हैं। जो नेत्र तीन दोषों से दूषित हो गये हैं वे भीतर की तरफ अधिक घुसे हुये होते हैं तथा उनसे अधिक जल गिरता है तथा नेत्र के प्रान्त भाग की तरफ से खुलने वाले होते हैं ॥ ४–७ ॥

अथ जिह्वापरीक्षामाह—

शाकपत्रप्रभा रूक्षा स्फुटिता रसनाऽनिलात्। रक्ता श्यावा भवेत्पित्तात्लिप्ताऽऽर्द्रा धवला कफात् ॥
परिदग्धा खरस्पर्शा कृष्णा दोषत्रयेऽधिके। सैव दोषद्वयाधिक्ये दोषद्वितयलक्षणा ॥ ९ ॥

जिह्वा की परीक्षा—वायुदोष की अधिकता से रोगी की जिह्वा, सागोन के पत्तों के समान रूखी तथा फटी हुई होती है। पित्तदोष की अधिकता होने से जिह्वा, रक्त तथा श्याव (सफेदी लिये काले) वर्ण की होती है। एवं कफदोष की अधिकता हो तो जिह्वा कफ से लिपटी हुई, गीली तथा सफेद होती है। और तीनों दोषों की अधिकता होने से जिह्वा जली हुई की समान तथा काली एवं स्पर्श में खरखरी होती है। किन्तु यदि दो दोषों की ही अधिकता हो तो जिन दोषों की अधिकता हो उनके लक्षणों से युक्त होती है ॥ ८–९ ॥

अथ मूत्रपरीक्षामाह—

वातेन पाण्डुरं मूत्रं रक्तं नीलञ्च पित्ततः। रक्तमेव भवेद्रक्ताद्धवलं फेनिलं कफात् ॥ १० ॥

मूत्र की परीक्षा—वात की अधिकता से रोगी का मूत्र पाण्डुर (सफेद मिश्रित पीला) वर्ण का होता है। पित्त की अधिकता से लाल तथा नीला होता है। रक्त के प्रकुपित होने से रक्त ही की भांति लाल होता है एवं कफ की अधिकता से फेनयुक्त सफेद होता है ॥ १० ॥

अथ शरीरस्य शैत्योष्णत्वादिज्ञानार्थं स्पर्शनं कार्यम्।

तत्र नाडीपरीक्षामाह—

पुंसो दक्षिणहस्तस्य स्त्रियो वामकरस्य तु। अङ्गुष्ठमूलगां नाडीं परीक्षेत भिषग्वरः ॥ ११ ॥
अङ्गुलीभिस्तु तिसृभिर्नाडीमवहितः स्पृशेत्। तच्चेष्टया सुखं दुःखं जानीयात्कुशलोऽखिलम् ॥
सद्यःस्नातस्य सुप्तस्य क्षुत्तृष्णाऽऽतपशीलिनः। व्यायामश्रान्तदेहस्य सम्यङ्नाडी न बुध्यते ॥
वातेऽधिके भवेन्नाडी प्रव्यक्ता तर्जनीतले। पित्ते व्यक्ता मध्यमायां तृतीयाङ्गुलिगा कफे ॥
तर्जनीमध्यमामध्ये वातपित्ताधिके स्फुटा। अनामिकायां तर्जन्यां व्यक्ता वातकफे भवेत् ॥
मध्यमाऽनामिकामध्ये स्फुटा पित्तकफेऽधिके। अङ्गुलित्रितयेऽपि स्यात्प्रव्यक्ता सन्निपाततः ॥
वाताद्वक्रगतिं धत्ते पित्तात्कुलिङ्गस्य गामिनी। कफान्मन्दगतिर्ज्ञेया सन्निपातादतिद्रुता ॥१७॥

वक्रमुत्प्लुत्य चलति धमनी वातपित्ततः। वहेद्वक्रश्च मन्दञ्च वातश्लेष्माधिकत्वतः ॥ १८ ॥
उत्प्लुत्य मन्दं चलति नाडी पित्तकफेऽधिके। कामात्क्रोधाद्वेगवहा क्षीणा चिन्ताभयप्लुता ॥
स्थित्वा स्थित्वा चलेद्या सा हन्ति स्थानच्युता तथा।
अतिक्षीणा च शीता च प्राणान्हन्ति न संशयः ॥ २० ॥
ज्वरकोपेन धमनी सोष्णा वेगवती भवेत्। मन्दाग्नेः क्षीणधातोश्च सैव मन्दतरा मता ॥२१॥
चपला क्षुधितस्य स्यात्तृप्तस्य भवति स्थिरा। सुखिनोऽपि स्थिरा ज्ञेया तथा बलवती मता॥२२॥

स्पर्शद्वारा नाड़ी की परीक्षा—श्रेष्ठ वैद्य रोगी यदि पुरुष हो तो उसके दाहिने हाथ के तथा स्त्री हो तो उसके बायें हाथ के अंगूठे के मूलभाग के नीचे जो नाड़ी है, उसे सावधानी से तीन अंगुलियों से छूवे, उसके बाद उसकी जैसी चेष्टा (गति) हो उसके अनुसार रोगी के सुख-दुःख को समझे। जो रोगी तत्काल स्नान किया हो अथवा सोया हुआ हो या भूखा या प्यासा हो किंवा धूप में रहकर आया हो या व्यायाम (कसरत) आदि करने से थका हुआ हो उस समय उसकी नाड़ी की परीक्षा करने से रोगविषयक ज्ञान यथार्थ नहीं होता है। वायुदोष की अधिकता में तर्जनी अंगुली के नीचे, पित्त की अधिकता में मध्यमा अंगुली के नीचे एवं कफ की अधिकता में तीसरी अर्थात् अनामिका अंगुली के नीचे नाड़ी की गति विशेष मालूम पड़ती है। वातपित्त की अधिकता में तर्जनी तथा मध्यमा के मध्य में और वातकफ की अधिकता में तर्जनी तथा अनामिका अंगुली के नीचे तथा पित्तकफ की अधिकता में मध्यमा तथा अनामिका के मध्य में नाड़ी की गति मालूम होती है, एवं सन्निपात (वातादि तीनों दोषों का प्रकोप) होने से तर्जनी आदि तीनों अंगुलियों के नीचे नाड़ी की गति प्रतीत होती है। वात की नाड़ी वक्रगति से, पित्तकी नाड़ी उछल २ कर एवं कफ की नाड़ी मन्द गति से और सन्निपात की नाड़ी अत्यन्त द्रुत गति से चलती है एवं वातपित्त की नाड़ी वक्रगति से तथा उछल २ कर, वातकफ की नाड़ी वक्र तथा मन्दगति से और पित्तकफ की नाड़ी उछल २ कर तथा मन्दगति से चलती है। काम तथा क्रोध से युक्त होने पर रोगी की नाड़ी वेगयुक्त और चिन्ता तथा भय से युक्त होने पर क्षीण हुई चलती है। जिसकी नाड़ी रुक २ कर चलती हो या अपने स्थान से हटकर चलती हो या अत्यन्त क्षीण या अत्यन्त शीतल हो गई हो उस रोगी के प्राण जाने में कोई सन्देह नहीं करना चाहिये। ज्वर के कोप से नाड़ी गर्म तथा वेगयुक्त चलती है किन्तु जिसकी अग्नि मन्द पड़ गई है तथा जिसके धातु क्षीण हो गये हैं उसकी नाड़ी अत्यन्त मन्द गति से चलती है। भूखे लोगों की नाड़ी चञ्चल होती है तथा तृप्त हुये लोगों की नाड़ी स्थिर होती है और सुखी (रोगरहित) लोगों की भी नाड़ी स्थिर तथा बलवती होती है ॥ २१-२२ ॥

अथ येन येन रोगाणां ज्ञानं स्यात्तत्तदाह—

हेतुस्तदनु सम्प्राप्तिः पूर्वरूपञ्च लक्षणम्। तथैवोपशयः पञ्च रोगविज्ञानहेतवः ॥ २३ ॥

रोग जानने के कारण—१ हेतु, २ सम्प्राप्ति, ३ पूर्वरूप, ४ लक्षण, ५ उपशय ये रोगों के जानने के ५ कारण हैं अर्थात् इन्हीं पाचों से वैद्यों को रोगों का यथार्थ ज्ञान होता है ॥ २३ ॥

तत्र हेतोर्लक्षणमाह—

यत्तु न स्याद्विना येन तस्य तद्धेतुरुच्यते। शास्त्रे संव्यवहाराय तत्पर्यायान्प्रचक्ष्महे ॥२४॥
निदानं कारणं हेतुर्निमित्तं च निबन्धनम्। मूलमायतनं तत्र प्रत्ययोऽपि निगद्यते ॥ २५ ॥

हेतु का लक्षण—जिसके विना जो (रोग) नहीं होता वह उस (रोग) का हेतु अर्थात् कारण कहलाता है। वैद्यकशास्त्र में सर्वत्र व्यवहार करने के लिये उसके (हेतुके) पर्यायवाचक शब्द ये हैं—निदान, कारण, हेतु, निमित्त, निबन्धन, मूल, आयतन तथा प्रत्यय ॥ २४-२५ ॥

*तत्र हेतुः । व्याधीनां ज्ञानाय हेतुर्यथा-वर्षारूक्षश्रमहिमानशनानि मैथुनशोकचिन्ता-भयादयो वातप्रकोपहेतवो वातजान् व्याधीन् बोधयन्ति । शरत्कट्वम्लोष्णतीक्ष्णक्रोध-तृषाक्षुधाऽभिघातातपादयः पित्तप्रकोपहेतवः पित्तजान् व्याधीन् बोधयन्ति । वसन्तमधुर-स्निग्धशीतादयः कफप्रकोपहेतवः कफजान् व्याधीन् बोधयन्ति ॥ २४-२५ ॥

यहां यह और समझना चाहिये कि—उक्त पांच प्रकार के रोगों के जानने के कारणों में जो प्रथम 'हेतु' नामक कारण है, उससे व्याधियों का ज्ञान होता है, जैसे कि—वर्षा ऋतु, रूक्ष पदार्थ, परिश्रम, हिम (अत्यन्त सर्दी), अनशन (भोजन न करना), मैथुन, शोक, चिन्ता तथा भय आदि ये सब वायु को प्रकुपित करने में हेतु हैं, अतः इन सबों से वायुसम्बन्धी रोगों का ज्ञान होता है । शरद् ऋतु, कटु तथा अम्लरस युक्त पदार्थ, उष्ण तथा तीक्ष्ण पदार्थ, क्रोध, प्यास, भूख, चोट लगना तथा धूप आदि ये सब पित्त को प्रकुपित करने में हेतु हैं, अतः इनसे पित्तजन्य रोगों का ज्ञान होता है । वसन्त ऋतु, मधुर तथा स्निग्ध पदार्थ तथा शीत आदि ये सब कफ को प्रकुपित करने में हेतु हैं, अतः इनसे कफजन्य रोगों का ज्ञान होता है ॥ २४-२५ ॥

अथ सम्प्राप्तिलक्षणमाह—

यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता । उत्पत्तिरामयस्यासौ सम्प्राप्तिर्जातिरागतिः ॥ २६ ॥

संप्राप्ति के लक्षण—दुष्ट हुये तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर फैलते हुए दोषों से रोगों की जो उत्पत्ति होती है, उसी को 'संप्राप्ति' कहते हैं । इसी के पर्यायवाचक शब्द जाति तथा आगति भी हैं ॥ २६ ॥

*यथा दुष्टेन दोषेण = यथा कारणभेदेन दुष्टेन दोषेण, यथा चानुविसर्पता = अनेकधा दोषाणां विसर्पणमूर्ध्वाधस्तिर्यगादिगतिभेदेन तथा च विसर्पता, आमयस्य या उत्पत्तिः, असौ सम्प्राप्तिः । शास्त्रे व्यवहाराय सम्प्राप्तेः पर्यायानाह—जातिरागतिरिति । सम्प्राप्तिर्व्याधीनां ज्ञानाय हेतुः । यथा-मिथ्याऽऽहारविहारकुपितवातादयामाशयगमनरसदूषणकोष्ठाग्निबहिर्नि-रसनरूपं ज्वरोत्पत्तिप्रकारं बोधयति । तथा व्याधीनां संख्यादोषांशकल्पनाप्राधान्यकालांश्च बोधयति । तेषु ज्ञातेषु चिकित्साविशेषश्च स्यात् ॥ २६ ॥

यहां 'यथा दुष्टेन दोषेण' पदों का जिस प्रकार के कारण विशेष से दुष्ट होने से दोष रोग उत्पन्न करने में समर्थ होता है उसी प्रकार के कारण विशेष से वातादिक दोष दुष्ट होकर' । 'यथा चानुविसर्पता' पदों का 'एवं ऊपर नीचे तथा तिरछे आदि जिस प्रकार के गतिविशेष से गमन करके रोग उत्पन्न कर सकता है उसी प्रकार के गतिविशेष से वातादि दोष गमन करके' । एवं 'उत्पत्तिरामयस्यासौ संप्राप्तिः' पदों का 'रोगों की जो उत्पत्ति करता है, उसी उत्पत्ति को 'संप्राप्ति' कहते हैं' यह अर्थ समझना चाहिये । तात्पर्य यह है कि-संप्राप्ति द्वारा रोगों के उत्पादक वातादि दोषों के दुष्ट होने के कारणविशेष का तथा उनके दुष्ट होने पर ऊपर नीचे या तिरछे आदि गति से गमन करने का ज्ञान होता है । वैद्यक शास्त्र में व्यवहार करने के लिये आये हुये 'संप्राप्ति' के पर्यायवाचक शब्दों को कहते हैं—'जाति तथा आगति' यह और समझ लेना चाहिये । और यहां यह भी समझना आवश्यक है कि—रोगों के जानने में 'संप्राप्ति' भी कारण है, जैसे कि संप्राप्ति—मिथ्या आहार-विहार से कुपित वातादि दोषों का आमाशय में जाना, वहां रस को दूषित करना तथा कोठे में स्थित अग्नि को बाहर निकालना रूप जो ज्वर के उत्पन्न होने का प्रकार है उसको बतलाती है तथा रोगों की संख्या, दोषों के अंशों की कल्पना तथा रोगों का प्राधान्य या अप्राधान्य, रोगों की सबलता या निर्बलता एवं उनकी उत्पत्ति का काल इन सबों को भी संप्राप्ति ही बतलाती है । इन सबों का ज्ञान होने पर रोगों की विशेषरूप से चिकित्सा भी होती है ॥ २६ ॥

संख्याविकल्पप्राधान्यबलकालविशेषतः। सा भिद्यते यथाऽत्रैव वक्ष्यन्तेऽष्टौ ज्वरा इति॥२७॥

संप्राप्ति के औपाधिक भेद—संख्या विशेष, विकल्प विशेष, प्राधान्य विशेष, बल विशेष तथा काल विशेष से पूर्वोक्त संप्राप्ति भेदयुक्त होती है अर्थात् १ संख्यासंप्राप्ति, २ विकल्पसंप्राप्ति, ३ प्राधान्यसंप्राप्ति, ४ बलसंप्राप्ति, ५ कालसंप्राप्ति इस प्रकार संप्राप्ति के ५ भेद होते हैं। इनमें जैसे 'ज्वर आठ प्रकार का होता है' ऐसा इसी ग्रन्थ में आगे ज्वर की संख्यासंप्राप्ति कहेंगे ॥ २७ ॥

***संख्यादिरूपा ये विशेषास्तेभ्यः सा संप्राप्तिर्भिद्यते = भेदवती क्रियत इत्यर्थः। तत्र संख्यां विवृणोति। यथा-ज्वरोऽष्टधा, अतीसारः षड्विध इत्यादि ॥ २७ ॥**

यहां 'संख्या विकल्प' इत्यादि पदों का 'संख्या-विकल्पादि जो विशेष हैं उनसे पूर्वोक्त संप्राप्ति भेदयुक्त होती है' यह अर्थ समझना चाहिये और उन संख्यादि ५ प्रकार की संप्राप्तियों में से प्रथम संख्यासंप्राप्ति का विवरण करते हैं-जैसे कि-ज्वर आठ प्रकार का, अतीसार छ प्रकार का होता है॥

अथ विकल्पव्याख्यानमाह—

दोषाणां समवेतानां विकल्पोंऽशांशकल्पना ॥ २८ ॥

विकल्पसंप्राप्ति-एकत्र हुये दोषों की जो अंशांश कल्पना है उसी को 'विकल्प' कहते हैं ॥२८॥

***समवेतानां = समुदितानां दोषाणाम्। अंशांशकल्पना = हीनमध्याधिकभेदैर्भागकल्पना विकल्पः ॥ २८ ॥**

यहां 'समवेतानां दोषाणाम्' पदोंका 'एकत्र हुये दोषों की' तथा 'अंशांशकल्पना विकल्पः' पदों का 'एकत्र हुये दोषों में से कौन दोष सबसे हीन, कौन मध्यम और कौन दोष सबसे अधिक है इसप्रकार दोषों के भागों की जो कल्पना है उसी को विकल्प कहते हैं' यह समझना चाहिये ॥

अथ प्राधान्यव्याख्यानमाह—

स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यां व्याधेः प्राधान्यमादिशेत् ॥ २९ ॥

प्राधान्यसंप्राप्ति—रोगों की स्वतन्त्रता तथा परतन्त्रता से प्राधान्यसंप्राप्ति कहनी चाहिये ॥२९॥

***व्याधेः स्वातन्त्र्येण प्राधान्यं, पारतन्त्र्येणाप्राधान्यञ्च वदेदित्यर्थः। यथा स्वतन्त्रस्य ज्वरस्य प्राधान्यं, ज्वराधीनानां श्वासादीनामप्राधान्यम् ॥ २९ ॥**

यहां यह समझना चाहिये कि—रोगों की स्वतन्त्रता से प्राधान्य तथा परतन्त्रता से रोगों का अप्राधान्य कहना चाहिये। जैसे—स्वतन्त्र ज्वर में उसकी प्रधानता और उसके अधीन श्वास आदि रोगों की अप्रधानता कही जाती है ॥ २९ ॥

अथ बलव्याख्यानमाह—

हेत्वादिकार्त्स्न्यावयवैर्बलाबलविशेषणम् ॥ ३० ॥

बलसंप्राप्ति—रोगों के हेतु, पूर्वरूप तथा रूप (लक्षण) इनके सम्पूर्ण अंशों तथा कतिपय अंशों के द्वारा जो रोगों की सबलता तथा निर्बलता का विशेषरूप से ज्ञान है उसीको 'बलसम्प्राप्ति' कहते हैं ॥

***अत्रापि व्याधेरित्यनुवर्त्तते। हेत्वादेः = हेतुपूर्वरूपरूपाणाम्, कार्त्स्न्येन = साकल्येन, अवयवैः = एकदेशेन, व्याधेर्बलाबलयोर्विशेषणं = विशेषबोधः ॥ ३० ॥**

यहां यह भी समझना चाहिये कि—अव्यवहित पूर्व में जैसे 'प्राधान्यसंप्राप्ति' में 'व्याधेः' पद का उल्लेख है वैसे ही यद्यपि यहां उसका उल्लेख नहीं है तथापि योग्यतावश ऊपर से उसका अनुवर्त्तन कर लेना चाहिये और 'हेत्वादेः' पदका 'हेतु, पूर्वरूप तथा रूप (लक्षण) इनके' 'कार्त्स्न्येन' पदका 'सम्पूर्ण अंशोंसे' तथा 'अवयवैः'पदका 'कतिपय अंशों से' एवं 'बलाबलविशेषणम्' पदका 'रोगों की सबलता तथा निर्बलता का विशेषरूप से जो ज्ञान है उसी को 'बलसम्प्राप्ति' कहते हैं ॥

अथ कालव्याख्यानमाह—

नक्तंदिनर्तुभुक्तांशैर्व्याधिकालो यथामलम् ॥ ३१ ॥

कालसंप्राप्ति का व्याख्यान—रात्रि, दिन, ऋतु तथा भोजन किये हुये अन्न का परिपाक इनके अंशों के द्वारा दोषों की भांति ही व्याधियों के काल का जो ज्ञान है उसी को 'कालसंप्राप्ति' कहते हैं॥

*नक्तमत्राऽव्ययं रात्रिवाचकम्। एतेनैतदुक्तं यस्मिन्नक्तादेरंशे यस्य दोषस्य प्रकोप उक्तोऽस्ति सोंऽशस्तस्य दोषजस्य व्याधेः काल इत्यर्थः॥ ३१॥

यहां 'नक्तम्' पद 'अव्यय है तथा रात्रिवाचक है' और 'नक्तंदिनर्तु' इत्यादि से यह कहा गया कि—'रात्रि आदि के जिस अंश में जिस दोष का प्रकोप कहा गया है वह अंश उस दोष से उत्पन्न हुये रोग के भी प्रकोप का काल होता है।' यह और समझ लेना चाहिये॥ ३१॥

नक्तादेरंशेषु वातादिप्रकोप उक्तो वाग्भटेन—

ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः।
वयोऽहोरात्रिभुक्तानामन्तमध्यादिगाः क्रमात्॥ ३२॥ इति।

रात्रि आदि के किस अंश में किस दोष का प्रकोप होता है, इस विषय में 'वाग्भट' ने यह कहा है कि—यद्यपि वात, पित्त तथा कफ ये सब सारे शरीर में व्याप्त होकर रहने वाले हैं तथापि वे क्रम से विशेष करके हृदय तथा नाभि के नीचे, मध्य तथा ऊपर के भाग में रहते हैं अर्थात् नाभि के नीचे भाग में वायु, हृदय तथा नाभि के मध्य में पित्त और हृदय के ऊपर भाग में कफ रहता है। एवं मनुष्यों की अवस्था (बाल्य, यौवन, वृद्धता), दिन, रात्रि, भुक्त (भोजन किये हुये अन्न का परिपाक) इन सबों के अन्त, मध्य तथा आदि के भाग क्रम से वातादि के प्रकोप के काल हैं, अर्थात् अवस्था का अन्तिम भाग (वृद्धावस्था), दिन का अन्तिम भाग (२–६ बजे तक), रात्रि का अन्त्यभाग (२–६ बजे तक), भुक्त (अन्न के पचने) का अन्तिम काल वायु के प्रकोप होने का है। अवस्था का मध्यभाग (युवावस्था), दिन का मध्यभाग (१०–२ बजे तक), रात्रि का मध्य भाग (१०–२ बजे तक), भुक्त (अन्न के पचने) का मध्यकाल पित्त के प्रकोप होने का है, एवं अवस्था का आदि भाग (बाल्यावस्था), दिन का प्रथम भाग (६–१० बजे तक), रात्रि का प्रथम भाग (६–१० बजे तक), भुक्त (अन्न पचने) का आदि काल कफ के प्रकोप का काल है॥

*ते=वातपित्तकफाः॥ ३२॥

यहां 'ते' पद का 'वायु, पित्त तथा कफ' यह अर्थ समझना चाहिये॥ ३२॥

ऋतुषु वातादिकोपो यथा—

वर्षासु शिशिरे वायुः पित्तं शरदि चोष्णके। वसन्ते तु कफः कुप्येदेवा प्रकृतिरार्तवी॥३३॥

वातादि दोषों में कौन दोष किस ऋतु में प्रकुपित होता है उसे कहते हैं—वर्षा (श्रावण-भाद्रपद) तथा शिशिर ऋतु (माघ-फाल्गुन) में वायु, शरद् (क्वार-कार्तिक) तथा ग्रीष्म ऋतु (ज्येष्ठ-आषाढ़) में पित्त एवं वसन्त ऋतु (चैत्र-वैशाख) में कफ प्रकुपित होता है, इन समयों में वातादि दोष जो प्रकुपित होते हैं वह ऋतु के स्वभाववश होते हैं॥ ३३॥

अथ पूर्वरूपस्य लक्षणमाह—

पूर्वरूपन्तु तद्येन विज्ञायाविर्भविष्यन्। सामान्यं च विशिष्टञ्च द्विविधं तदुदाहृतम्॥
सामान्यं तत्र दोषाणां विशेषैरनधिष्ठितम्। विशिष्टमीषद्व्यक्तं स्याद् विशेषैश्च समन्वितम्॥

पूर्वरूप के लक्षण—जिसके द्वारा भविष्य काल में होने वाले रोग का ज्ञान हो उसे 'पूर्वरूप' कहते हैं। वह (पूर्वरूप) दो प्रकार का होता है, १–सामान्य पूर्वरूप, २–विशिष्ट पूर्वरूप। उसमें सामान्य पूर्वरूप वह कहलाता है—जिसमें वातादि दोषों के विशेष लक्षण न मिले हुये हों और विशिष्ट पूर्वरूप वह कहलाता है जिसमें रोगों के सामान्य लक्षणों के साथ २ दोषों के भी विशेष लक्षण किंचित् प्रकट रूप से मिले हुये हों॥ ३४॥

*दोषाणां विशेषाः=ऊष्माऽसितशयनेन्द्राद्याभिलाषादयः। तत्र पूर्वरूपं व्याधीनां

ज्ञानाय हेतुः। यथा—श्रमादयो भाविनं ज्वरं बोधयन्ति। अथ च त एव श्रमादयोऽतिशयितजृम्भायुक्ता भाविनं वातज्वरं, नेत्रदाहयुक्ता भाविनं पित्तज्वरं, वह्निमान्द्ययुक्ता भाविनं कफज्वरं बोधयन्ति ॥ ३४ ॥

यहां यह और भी समझ लेना चाहिये कि-दोषों के विशेषलक्षण-अत्यन्त जँभाई होना, नेत्रों में दाह (जलन) होना, जठराग्नि का मन्द होना ये सब क्रम से वायु, पित्त तथा कफ के हैं तथा पूर्वोक्त हेत्वादि में पूर्वरूप भी रोगों को जानने के लिये कारण हैं, जैसे कि-श्रम आदि लक्षणों का प्रकट होना होने वाले ज्वर का बोधक होता है, किन्तु यदि उन्हीं श्रमादि के साथ २ अत्यन्त जंभाई होना यह लक्षण भी मिला हो तो होने वाले वातज्वर का बोधक होता है और यदि नेत्रों में दाह होना यह लक्षण मिला हो तो होने वाले पित्तज्वर का बोधक होता है, इसी भांति अग्नि का मन्द होना यह लक्षण मिला हो तो होने वाले कफज्वर का बोधक होता है ॥ ३४ ॥

अथ लक्षणस्य लक्षणमाह—

पूर्वरूपं विशिष्टं यद्व्यक्तं तल्लक्षणं स्मृतम्। संस्थानं लिङ्गं चिह्नञ्च व्यञ्जनं रूपमाकृतिः ॥

लक्षण के लक्षण—उपर्युक्त विशिष्ट पूर्वरूप में यदि वातादि दोषों के विशेष लक्षण (अत्यन्त जृम्भादि) पूर्णरूप से प्रकट हो जांय तो वे ही लक्षण कहलाते हैं। इसके पर्यायवाचक शब्द-संस्थान, लिङ्ग, चिह्न, व्यञ्जन, रूप तथा आकृति ये सब हैं ॥ ३५ ॥

***विशिष्टं पूर्वरूपम् ईषद्व्यक्तरूपं, तदेव सम्यग्व्यक्तं लक्षणं स्मृतम्। तस्य शास्त्रे व्यवहाराय पर्यायानाह-संस्थानमित्यादि। लक्षणं व्याधेर्ज्ञानाय हेतुर्यथा—**

स्वेदावरोधः सन्तापः सर्वाङ्गग्रहणं तथा। युगपद्यत्र रोगे तु स ज्वरः परिकीर्त्तितः (१)

यहां यह समझना चाहिये कि—विशिष्ट पूर्वरूप मे जो दोषों के विशेष लक्षण किञ्चित् प्रकट हुये हैं वे ही यदि पूर्णरूप से प्रकट हो जायँ तो विशिष्ट पूर्वरूप न कहे जाकर 'लक्षण' नाम से व्यवहृत होते हैं। शास्त्रों में व्यवहार के लिये लक्षण के पर्यायवाचक शब्दों को 'संस्थान' इत्यादि से कहते हैं। रोगों को जानने के लिये लक्षण भी कारण हैं। जैसे कि-पसीना न निकलना, शरीर सन्तप्त (गर्म) होना, सर्वाङ्ग जकड़ जाना, ये सब लक्षण एक साथ ही जिस रोग में प्रकट हों उसे 'ज्वर' कहते हैं ॥ १ ॥

***युगपदेतल्लक्षणं ज्वरं बोधयति (१) ॥ ३५ ॥**

यहां 'युगपद्' पद का 'पसीना न निकलना आदि ये सब लक्षण एक साथ ही न कि अलग अलग ज्वर के बोधक होते हैं' यह अर्थ समझना चाहिये (१) ॥ ३५ ॥

अथोपशयस्य लक्षणमाह—

औषधान्नविहाराणामुपयोगं सुखावहम्। विद्यादुपशयं व्याधेः स हि सात्म्यमिति स्मृतः ॥३६॥

उपशय के लक्षण—रोगी को औषध, अन्न तथा विहार (रहन-सहन) का उपयोग यदि सुखकारक हो तो उसे 'उपशय' समझना चाहिये। इसी को 'सात्म्य' भी कहते हैं ॥ ३६ ॥

***उपशयो व्याधेर्ज्ञानाय हेतुर्यत उक्तं चरकेण—**

'गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत' इति। तथा च सुश्रुते—

'अभ्यङ्गस्वेदनस्नेहैर्विकारो यातिकस्तु यः।

न शाम्येद् तत्र विज्ञेयं रक्तमत्रादित दूषितम्' इति ॥ ३६ ॥

यहां यह और समझना चाहिये कि—'उपशय' भी रोग-ज्ञान में हेतु है क्योंकि चरकाचार्य ने कहा है कि—'जिस रोग के लक्षण छिपे हों या जहां अन्य रोगों के भी लक्षण मिले हुये हों वहां उपशय तथा अनुपशय के द्वारा रोग की परीक्षा करनी चाहिये'। ऐसे सुश्रुत में भी कहा है कि—अभ्यङ्ग (तेल की मालिश), स्वेदन (पसीना निकलना) तथा स्नेह के द्वारा भी यदि

वातसम्बन्धी विकार नष्ट नहीं होता है तो वहां 'रक्त दूषित हुआ है' यह समझना चाहिये। अर्थात् वातसम्बन्धी विकार नहीं है किन्तु रक्तसम्बन्धी विकार है ऐसा समझना चाहिये। इति ॥३६॥

तत्र वायोरुपशयमाह—

मधुरलवणसाम्लस्निग्धनस्योष्णनिद्रा–गुरुरविकरबस्तिस्वेदसंमर्दनानि।
दधिघृततिलतैलाभ्यङ्गसन्तर्पणानि–प्रकुपितपवमानं शान्तमेतानि कुर्युः॥ ३७॥

वायु के उपशय—मधुर, लवण तथा अम्लरसयुक्त पदार्थ, स्निग्ध पदार्थ, नस्य लेना, उष्ण पदार्थ, निद्रा, गुरु (भारी) द्रव्य, सूर्य की किरणें (धूप), बस्तिकर्म, स्वेदन, शरीर का मर्दन, दही, घी, तिल, तेल की मालिश, सन्तर्पण इन सबों का सेवन करने से प्रकुपित वायु का शमन होता है अर्थात् ये सब वायु के उपशय हैं॥ ३७॥

अथ पित्तस्योपशयमाह—

तिक्तस्वादुकषायशीतपवनच्छायानिशावीजनं ज्योत्स्नाभूगृहयन्त्रवारिजलजं स्त्रीगात्रसंस्पर्शनम्।
सर्पिःक्षीरविरेकसेकरुधिरस्रावप्रदेहादिकं–पानाहारविहारभेषजमिदं पित्तप्रशान्तिं नयेत्॥३८॥

पित्त के उपशय—तिक्त, मधुर तथा कषाय रसयुक्त पदार्थ, शीतल पदार्थ, वायु (शीतल वायु), छाया, रात्रि का समय, पंखे की वायु, चांदनी, पृथ्वी के अन्दर बने हुये गृह (तहखाना), फुहारे का जल, कमल, युवती स्त्रियों के अङ्गों का स्पर्श, घी, दूध, विरेचन लेना, जल के द्वारा सेचन, रुधिर निकलवाना, शीतल पदार्थों का लेप आदि एवं शीतल पान, आहार, विहार तथा औषध का सेवन ये सब यथायोग्य पान, आहार, विहार तथा औषध पित्त को शान्त करने वाले होते हैं॥३८॥

अथ कफस्योपशयमाह—

रूक्षक्षारकषायतिक्तकटुकव्यायामनिष्ठीवनं–धूमात्युष्णशिरोविरेकवमनस्वेदोपवासादिकम्॥
तृड्वाताध्वनियुद्धजागरजलक्रीडाऽङ्गनासेवनं–पानाहारविहारभेषजमिदं श्लेष्माणमुग्रं हरेत्॥

कफ के उपशय—रूक्ष तथा क्षार पदार्थ एवं कषाय, तिक्त तथा कटुरस युक्त पदार्थ, व्यायाम (कसरत), ओषधियों को चबा कर थूकना, धूमपान, अत्यन्त उष्ण, मस्तक का विरेचन कर्म, वमन तथा स्वेदन कर्म, उपवास आदि प्यासे रहना, वायु सेवन, पैदल चलना, मल्लयुद्ध, जागना, जलक्रीडा तथा स्त्रीप्रसङ्ग करना ये सब यथायोग्य पान, आहार, विहार तथा औषध सेवन करने से उग्र कफ को नाश करने वाले होते हैं॥ ३९॥

***जलक्रीडा कफं कथं हरति तदाह—जलक्रीडाजनितशैत्येनावरुद्धोष्मा पङ्कलिप्तोऽग्निः पाकाग्निरिवोग्रो भूत्वा कफं शोषयतीति समाधिः॥ ३९॥**

यहां 'जलक्रीडा' कैसे कफ को दूर करती है इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार कहते हैं कि जलक्रीडा करने से उत्पन्न शीतलता से रुकी हुई शरीर के अन्दर की गर्मी चारों तरफ कीचड़ से लिपटे हुये पुटपाक की अग्नि की भांति उग्र होकर कफ को सुखा डालती है अतः 'जलक्रीडा को कफनाशक कहना उचित ही है' यह और भी समझ लेना चाहिये॥ ३९॥

अथ रोगनिदानविवेचनमाह—

सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः। तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहितसेवनम्॥४०॥

रोगों के निदान का विवेचन—सम्पूर्ण रोगों का कारण दोषों का कुपित होना है और दोषों के कुपित होने के कारण तो अनेक प्रकार के जो अहितकारक आहार-विहारादि हैं उनका सेवन करना ही कहा हुआ है॥ ४०॥

***सर्वेषां रोगाणां निदानं सन्निकृष्टं कारणं, कुपिताः=स्वहेतुदुष्टा मला वातपित्तकफा एवेत्यन्वयः। तथा च वाग्भटः—'दोषा एव हि सर्वेषां रोगाणामेककारणम्' इति।**

ननु आगन्तुजव्याधिषु व्यभिचारः स्यात्। तन्न, तत्राप्युत्पत्त्यनन्तरं दोषप्रकोपस्यावश्यम्भावित्वाद्, उत्पन्नद्रव्येषु गुणयोगस्येव। उक्तञ्च चरके—

'आगन्तुर्हि व्यथापूर्वो जायते पश्चाज्जिर्दोषैरनुबध्यत' इति।

तत्प्रकोपस्य तु = दोषप्रकोपस्य तु निदानम्, विविधाहितसेवनम् = विविधानि नानाविधानि यान्यहितान्यसात्म्यान्याहारादीनि तेषां सेवनम् ॥ ४० ॥

यहां 'सम्पूर्ण रोगों का निदान अर्थात् सन्निकृष्ट (नजदीक) कारण-कुपित अर्थात् अपने अपने कारणों से दुष्ट हुये मल (वात, पित्त तथा कफ ये तीनों दोष) ही हैं' ऐसा अन्वय समझना चाहिये। रोगों के उत्पन्न होने में कारण दोष ही हैं इस विषय में 'वाग्भट' ने भी कहा है कि—'सम्पूर्ण रोगों के एक मात्र कारण वातादि दोष ही होते हैं'।

अब यहां यह शङ्का होती है कि—आगन्तुक रोगों में वाग्भट के इस वचन का व्यभिचार होता है तो उसका उत्तर यह है कि—व्यभिचार नहीं होता क्योंकि वहां भी आगन्तुक रोगों की उत्पत्ति होने के बाद दोषों का प्रकोप अवश्य रहता है, जैसे कि द्रव्यों के उत्पन्न होने के बाद उनमें उनके कारणों के जो गुण हैं वे अवश्य रहते हैं। इसी विषय में चरकाचार्य ने भी कहा है कि—'आगन्तुक व्याधि प्रथम व्यथापूर्वक उत्पन्न होती है, पश्चात् अपने वातादि दोषों से युक्त होती है' यह भी समझना चाहिये। तथा 'तत्प्रकोपस्य तु' पदों का 'दोषों के प्रकुपित होने के कारण तो' यह अर्थ समझना चाहिये एवं 'विविधाहितसेवनम्' इस पद का 'अनेक प्रकार के जो अहितकारक अर्थात् असात्म्य आहारादिक हैं उनका सेवन करना' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ४० ॥

अथ वायोः प्रकोपस्य कारणान्याह—

नीवारत्रिपुटः सतीनचणकश्यामाकमुद्गाढकी, निष्पावाश्च मकुष्ठकश्च वरटी मङ्गल्यकः कोद्रवः। यद् द्रव्यं कटुकं सतिक्ततुवरं शीतञ्च रूक्षं लघु, स्वल्पाशो विषमाशनं निरशनं भुक्तेऽप्यजीर्णेऽशनञ्च भुक्तं जीर्णतरं परिश्रमभरो गर्त्तादिकोष्णं(ल्लं)घनं, बाहुभ्यां तरणं तरोः प्रपतनं मार्गेऽतियानं पदा दण्डादिप्रहतिस्तथोच्चपतनं धातुक्षयो जागरो, मार्गस्यावरणं व्यवायभृशता वाताधिवेगाहतिः॥

अत्यर्थं वमनं विरेचनमतिस्रावोऽधिकश्चासृजो-
रोगान्मांसविहीनताऽतिमदनश्चिन्ता च शोको भयम्।
वर्षा वै शिशिरो दिनस्य रजनेर्भागौ तृतीयौ घनाः-
प्राग्वातस्तुहिनं शरीरमरुतो दुष्टेरमी हेतवः ॥ ४२ ॥

वायु के प्रकुपित होने के कारण—तीनी, खेसारी, मटर, चना, सांवा, मूंग, रहर, राजशिम्बी के बीज, वनमूंग, बर्रे (कुसुम का बीज), मसूर, कोदो एवं जो कटु, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त पदार्थ तथा शीतल, रूक्ष और लघु पदार्थ हैं वे सब, स्वल्प भोजन, विषम भोजन, उपवास, भोजन के ऊपर वा खाये हुये अन्न के न पचने पर भी पुनः भोजन, भोजन किये हुये अन्न का अधिक परिपाक, अधिक परिश्रम, गड्ढे आदि में की घनी गर्मी (या गड्ढे आदि का लांघना), हाथों से जल में तैरना, पेड़ से गिर पड़ना, रास्ते में अधिक पैदल चलना, डण्डे आदि का चोट लगना, ऊंचे स्थान से कूदना, धातुक्षीणता रात्रि में जागना, मार्गों (स्रोतोमार्गों) का रुकना, अत्यन्त मैथुन, अधोवायु आदि के वेगों को रोकना, अत्यन्त वमन तथा विरेचन होना, रक्त का अधिक स्राव होना, रोग से मांस रहित होना, अत्यन्त काम का उदय होना, चिन्ता, शोक, भय, वर्षा तथा शिशिर ऋतु, दिन तथा रात्रि के अन्तिम भाग (२-६ बजे तक), मेघ का उदय, पूर्व दिशा की वायु, बर्फ पड़ना (या अत्यन्त सर्दी लग जाना) ये सब शरीरस्थित वायु को प्रकुपित करने के कारण हैं ॥

नीवारः = प्रसाधिका, 'तीनी' इति लोके। त्रिपुटः 'खेसारी' इति लोके। सतीनः =

वर्तुलकलायः। निष्पावः=कोलशिम्बीसदृशफला राजशिम्बिस्तस्या बीजमन्नं भवति। वरटी=वराटिका, कुसुम्भबीजम्, 'बरें' इति लोके। मङ्गल्यकः=मसूरः। विषमाशनम्—

'बहु स्तोकमकाले वा भुक्तं तद्विषमाशनम्'

तरोः प्रपतनम्, तरोरित्युपलक्षणम्। अतियानं=पदाभ्यामतिचलनम्। जागरो रात्रौ। वातादिवेगाहतिः=आदिशब्देन विण्मूत्रहिक्कोद्गारच्छर्दिशुक्रक्षुत्तृषोच्छ्वासनिद्राः संगृह्यन्ते। दिनस्य त्रिधा विभक्तस्य। एवं रजनेश्च। यस्य यस्य पुनरुक्तिस्तेन तेन वातस्यातिदुष्टिर्बोद्धव्या॥ ४१–४३॥

यहां 'नीवार' पद का 'लोकप्रसिद्ध 'तीनी'। 'त्रिपुट' का लोकप्रसिद्ध 'खेसारी'। 'सतीन' का 'गोल मटर'। 'निष्पाव' का 'सूअरा सेम के समान फल वाली राजशिम्बी का बीज (यह एक प्रकार का अन्न ही है)' 'वरटी' का लोक प्रसिद्ध बरें (कुसुम का बीज)'। 'मङ्गल्यक' का 'मसूर' यह अर्थ समझना चाहिये। तथा 'विषमाशन (विषम भोजन)' पद से अधिक भोजन करने वाले पुरुष का थोड़ा भोजन करना, स्वल्प भोजन करने वाले का अधिक भोजन करना तथा असमय में भोजन करना जो 'विषमाशन' नाम से शास्त्रों में प्रसिद्ध है उसका ग्रहण करना चाहिये। और 'पेड़ से गिर पड़ना' यहाँ 'पेड़' यह उपलक्षण है, अतः 'पेड़ से या ऊंचे स्थान से गिर पड़ना' यह भाव समझना चाहिये। 'अतियानम्' पद का 'पैरों से अत्यन्त चलना'। 'जागर' पद का 'रात्रि में जागना'। 'वातादिवेगाहतिः' पद में पठित 'आदि' पद से 'मल, मूत्र, हिचकी, डकार, वमन, वीर्य, भूख, प्यास तथा नींद इन सबों का भी ग्रहण किया जाता है अतः इन सबों के वेग को रोकना भी वायु के प्रकुपित होने का कारण है' यह समझना चाहिये। दिन का तीन भाग कर उसके अन्तिम भाग को वायु के प्रकोप का कारण समझना चाहिये। इसी प्रकार रात्रि के विषय में भी समझना चाहिये। यहां 'जिसकी पुनरुक्ति हो उससे वायु अत्यन्त दूषित होती है' यह समझना चाहिये॥ ४१–४३॥

अथ पित्तस्य प्रकोपकारणान्याह—

कट्वम्लोष्णविदाहितीक्ष्णलवणक्रोधोपवासातप-
स्त्रीसम्भोगतृषाक्षुधाऽभिहननव्यायाममद्यादिभिः।
भुक्ते जीर्यति भोजने च शरदि ग्रीष्मे तथा प्राणिनां
मध्याह्ने च तथाऽर्द्धरात्रिसमये पित्तप्रकोपो भवेत्॥ ४४॥

पित्त के प्रकुपित होने के कारण—कटु, अम्ल तथा लवण रसयुक्त पदार्थ एवं उष्ण, विदाही तथा तीक्ष्ण पदार्थ, क्रोध, उपवास, धूप, स्त्रीसंभोग प्यास तथा भूख का रोकना, व्यायाम (कसरत) तथा मद्य आदि के सेवन करने से पित्त प्रकुपित होता है। एवं भोजन किये हुये अन्न के पचने के समय में, शरद् तथा ग्रीष्म ऋतु में, मध्याह्न में (१०–२ बजे दिन तक) तथा अर्द्धरात्रि (१०–२ बजे रात्रि तक) प्राणियों का पित्त प्रकुपित होता है॥ ४४॥

अथ विदाहिलक्षणमाह—

विदाहि द्रव्यमुद्गारमम्लं कुर्यात्तथा तृषाम्। हृदि दाहञ्च जनयेत्पाकं गच्छति तच्चिरात्॥४५॥

विदाही के लक्षण—जिसके सेवन से अम्ल उद्गार (डकार) आवे, प्यास लगे, हृदय में दाह तथा परिपाक देर में हो उसे विदाही द्रव्य कहते हैं॥ ४५॥

अन्यच्च—

माषैस्तिलैः कुलत्थैश्च मत्स्यैर्मेषामिषेण च। गव्येन दधितक्रेण नृणां पित्तं प्रकुप्यति॥ ४६॥

पित्तप्रकोप के कारणान्तर—उड़द, तिल, कुलथी, मछली तथा भेड़ का मांस, गाय की दही या मट्ठा के सेवन से भी मनुष्यों का पित्त प्रकुपित हो जाता है॥ ४६॥

अथ कफप्रकोपस्य कारणान्याह—

गुरुपटुमधुराम्लस्निग्धमापैस्तिलैश्च-द्रवदधिदिननिद्राशीतसर्पिःप्रपूरैः ।
प्रथमदिवसभागे रात्रिभागेऽपि चाद्ये-भवति हि कफकोपो भुक्तमात्रे वसन्ते ॥ ४७ ॥

कफ के प्रकुपित होने के कारण—गुरु पदार्थ, लवण, मधुर तथा अम्ल रस युक्त पदार्थ, स्निग्धपदार्थ, उड़द, तिल, द्रवपदार्थ, दहीं, दिन में सोना, शीत (सर्दी) और घी का प्रचुर भोजन (पाठान्तर में निश्चेष्टता) करने से तथा दिन और रात्रि का पहला भाग (६–१० बजे तक), भोजन करने के उपरान्त का समय एवं वसन्त ऋतु में कफ का प्रकोप होता है ॥ ४७ ॥

***प्रथमदिवसभागे त्रिधा विभक्तस्य दिवसस्य प्रथमभागे, एवं रात्रेश्चाद्यभागे ॥ ४७ ॥**

यहां 'दिन तथा रात्रि का पहला भाग' कहने से 'दिन तथा रात्रि के तीन भाग करके उनमें से दोनों का पहला भाग' समझना चाहिये ॥ ४७ ॥

अथैको रोगोऽन्यरोगनिमित्तमित्याह—

ननु सर्वेषां रोगाणां निदानं दुष्टा दोषा एव किमन्यदप्यस्तीति संशये चरक आह—
निदानार्थकरो रोगो रोगस्याप्युपलभ्यते ॥ ४८ ॥

'दुष्ट हुये वातादि दोष ही संपूर्ण रोगों के उत्पन्न होने के कारण हैं ? अथवा उनसे अन्य भी कोई कारण हैं ? इस संशय के उत्तर में चरक ने कहा है कि—रोग के उत्पन्न करने में निदान (कारण) का कार्य करने वाला वातादि दोषों की भांति रोग भी देखा जाता है ॥ ४८ ॥

* रोगस्य निदानार्थकरो रोगोऽप्युपलभ्यते = दृश्यते । अत्र दृष्टान्तमाह—

* तद्यथा ज्वरसन्तापाद्रक्तपित्तमुदीर्यते । रक्तपित्ताज्ज्वरस्ताभ्यां श्वासश्चाप्युपजायते ।
प्लीहाभिवृद्धया जठरं जठराच्छोफ एव च ॥ ३ ॥
अर्शोभ्यो जाठरं दुःखं गुल्मश्चाप्युपजायते । प्रतिश्यायादथो कासः कासात्सञ्जायते क्षयः ॥

अन्ये त्वाहुर्मधुकोशे-रोगस्य रोगश्चेन्निदानं तदा निदानमित्येवोच्येत, तद्विहाय 'निदानार्थकर' इति वचनमेतद्बोधयति । रोगस्य रोगो निदानार्थकरः = निदानकार्यकरणे सहायः । निदानन्तु रक्तपित्तादीन्कतिचिद्रोगान्प्रति ज्वरादिरेव हेतुरिति सिद्धान्तः । अत एवाग्रे स्पष्टमेवाह चरकः—'कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वे'ति । प्रथमस्य रोगस्य ज्वरादेर्यो दुष्टो दोषो हेतुः स एव पश्चाद्भाविनो रक्तपित्तादेरपि रोगस्य हेतुः ।

'सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः' इति नियमात् । तन्न । तदा रक्तपित्तादेरुपद्रवलक्षण एव योगेन रोगत्वविघातः स्यात्ततः सर्वेषामिति वचनं सामान्यम् । 'निदानार्थकर' इति विशेषवचनात् ॥ ४८ ॥

यहां 'उपलक्ष्यते' पद का 'देखा जाता है' यह अर्थ समझना चाहिये । 'रोग भी रोग के उत्पन्न करने में कारण होता है' इस विषय में दृष्टान्त कहते हैं कि—ज्वर के सन्ताप (गर्मी) से भी रक्तपित्त और रक्तपित्त से भी ज्वर होता है तथा इन दोनों (रक्तपित्त तथा ज्वर) से भी श्वास रोग उत्पन्न होता है । एवं प्लीहा के अत्यन्त बढ़ने से भी जठर रोग तथा जठर रोग से शोथ रोग होता है और अर्श रोग (बवासीर) से भी दुःखप्रद जठर तथा गुल्म रोग होता है एवं जुखाम से खांसी तथा खांसी से क्षयरोग होता है ।

इस विषय में अन्य लोगों का कथन 'मधुकोष' में इस प्रकार कहा हुआ है कि—यदि रोग भी रोग का निदान (कारण) होता तो चरकाचार्य अपने उपर्युक्त वचन में केवल 'निदान' पद का ही प्रयोग करते, किन्तु ऐसा न करके उन्होंने 'निदानार्थकर' इसी पद का प्रयोग किया है, जिससे यह समझा जाता है कि—रोग का रोग निदानार्थकर है अर्थात् निदान के कार्य करने में सहायक है वस्तुतः स्वयं निदान नहीं है । हां यदि (निदान) होता है तो केवल कतिपय रोगों के प्रति,

क्योंकि 'रक्तपित्तादि कतिपय रोगों के प्रति ज्वरादि ही हेतु (निदान) है' ऐसा सिद्धान्त है अत एव आगे स्पष्ट रूप से ही चरकाचार्य ने कहा है कि—'कोई रोग किसी रोग का हेतु होकर' इत्यादि। कुपित मल (वातादि दोष) संपूर्ण रोगों ही के निदान (कारण) होते हैं' इस नियम से यदि यह कहें कि—दुष्ट हुआ वातादि दोष जो प्रथम उत्पन्न हुए ज्वरादि का कारण है वही पीछे से उत्पन्न हुये रक्तपित्तादि रोग का भी कारण है न कि ज्वरादिक, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि यदि ज्वर के पीछे होने वाले रक्तपित्तादि का कारण ज्वरादि को नहीं माना जाय तो उसे (रक्तपित्तादि को) उसके (ज्वर के) उपद्रव के लक्षणों के अन्दर मानने से रक्तपित्तादि को स्वतंत्र रोग मानना ही नष्ट हो जायगा, अतः 'कुपित मल (वातादि दोष) सम्पूर्ण रोगों ही के कारण होते हैं' यह सामान्य वचन है इसका 'निदानार्थकर' इत्यादि अर्थात् पूर्वोक्त 'रोग के निदान कार्य को करने वाला रोग भी देखा जाता है' इस विशेष वचन से बाध होता है ॥ ४८ ॥

अथ रोगस्य हेतो रोगस्य वैचित्र्यमाह—

कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति ॥ ४९ ॥

*** यथा ज्वरो रक्तपित्तमुत्पाद्य स्वयं प्रशाम्यति। ननु येन दोषोद्रेकेण ज्वरो रक्तपित्त-मुत्पादितवांस्तस्मिन् सति स तु ज्वरः कथं शाम्यति ? तत्र व्याधिस्वभाव एव कारणमिति न दोषः ॥ ४९ ॥**

रोग के कारण स्वरूप रोग की विचित्रता —'कोई रोग किसी रोग का कारण होकर अर्थात् उसे उत्पन्न करके स्वयं नष्ट हो जाता है। जैसे ज्वर रक्तपित्त को उत्पन्न करके स्वयं नष्ट हो जाता है। यहां यह शङ्का होती है कि—जिस वातादि दोष के कुपित होने से उत्पन्न हुआ ज्वर रक्तपित्त को उत्पन्न किया, उस दोष के कुपित रहते हुये वह ज्वर कैसे नष्ट हो जाता है, क्योंकि जब कारण है तब कार्य का रहना आवश्यक है। इसका समाधान यह है कि—वहां जो वैसा होता है उसमें कारण केवल व्याधि का स्वभाव ही है, अतः कोई दोष नहीं है ॥ ४९ ॥

न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेत्वर्थं कुरुतेऽपि च ॥ ५० ॥

कोई रोग हेतु के अर्थ को अर्थात् किसी रोग को उत्पन्न भी करता है किन्तु स्वयं शान्त (नष्ट) भी नहीं होता ॥ ५० ॥

*** अन्यो हेत्वर्थमपि कुरुते स्वयञ्च न प्रशाम्यति। यथा प्रतिश्यायः कासं करोति स्व-यञ्च न प्रशाम्यति। तथाऽर्शो जठरगुल्मं करोति स्वयञ्च न निवर्त्तत इति ॥ ५० ॥**

यहां यह समझना चाहिये कि 'अन्य अर्थात् कोई रोग किसी रोग के हेतु के अर्थ को करता है अर्थात् रोग की उत्पत्ति करता है किन्तु पूर्व की भांति स्वयं शान्त भी नहीं होता है–जैसे कि जुखाम आदि रोग कास रोग को उत्पन्न करता है किन्तु स्वयं शान्त नहीं होता। तथा अर्श (बवा-सीर) रोग जठर तथा गुल्मरोग को उत्पन्न करता है किन्तु स्वयं निवृत्त नहीं होता है ॥ ५० ॥

अथ वृद्धक्षीणानां दोषधातुमलानां सुश्रुतोक्तचिकित्सामाह—

अत्यन्तकुत्सितावेतौ सदा स्थूलकृशौ नरौ। श्रेष्ठो मध्यशरीरस्तु स्थूलः क्षीणो न पूजितः ॥
कर्षयेद् बृंहयेच्चापि सदा स्थूलकृशौ नरौ। रक्षणञ्चापि मध्यस्य कुर्वीत कुशलो भिषक् ॥५१॥

बढ़े तथा क्षीण हुये दोष, धातु तथा मल की सुश्रुतोक्त चिकित्सा–सर्वदा स्थूल (मोटा) या कृश (दुबला) शरीर वाले मनुष्य अत्यन्त कुत्सित समझे जाते हैं अर्थात् ये दोनों रोगी की भांति चिकित्सा करने योग्य होते हैं। किन्तु जो मध्यम शरीर वाला अर्थात् न स्थूल तथा न कृश होता है वह उत्तम (स्वास्थ्यवान्) समझा जाता है। स्थूल तथा क्षीण शरीर वाला उत्तम नहीं समझा जाता है अत एव निपुण वैद्य को स्थूल तथा कृश शरीर वाले मनुष्यों की क्रम से स्थूल के लिये

कर्षण चिकित्सा तथा कृश के लिये बृंहण चिकित्सा करनी चाहिये। और मध्यम शरीर वाले की चिकित्सा से सदा रक्षा करनी चाहिये जिससे वह स्थूल तथा कृश न होने पावे ॥ ५१ ॥

अन्यच्च—

क्षपयेद् बृंहयेच्चापि दोषधातुमलान्भिषक्। नरो रोगान्वितो यावद्रोगेण रहितो भवेत् ॥५२॥

और भी कहा है कि-जब तक रोगी रोग से रहित न हो जाय तब तक वैद्य को चाहिये कि वह रोगी के दोष, धातु तथा मल की योग्यतानुसार कर्षण तथा बृंहण क्रिया करता रहे ॥ ५२ ॥

क्षपयेद् = अतिप्रवृद्धान्दोषधातुमलांस्तत्र क्षैण्यहेतुभिरौषधान्नविहारैर्ह्रासयित्वा समीकुर्यात्। बृंहयेत् = क्षीणान्दोषादींस्तद्वृद्धिहेतुभिरौषधान्नविहारैर्वर्द्धयित्वा समीकुर्यात् ॥

यहां 'क्षपयेत्' पद का 'कर्षण क्रिया करता रहे अर्थात् यदि दोष, धातु या मल इनमें से जो भी अत्यन्त बढ़े हुए हों तो वहां दोषादि के क्षीण करने वाले औषध, अन्न तथा विहार का सेवन द्वारा उनको कम करके समभाव में रखता रहे' तथा 'बृंहयेत्' पद का 'बृंहण क्रिया करता रहे अर्थात् क्षीण हुये दोषादि को उनकी वृद्धि करने वाले जो औषध, अन्न तथा विहार हों उनके सेवन द्वारा बढ़ाकर समभाव में रखता रहे' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ५२ ॥

अस्वस्थो येन विधिना स्वस्थो भवति मानवः। तमेव कारयेद्वैद्यो यतः स्वास्थ्यं सदेप्सितम् ॥

जिस विधि के करने से अस्वस्थ मनुष्य स्वस्थ हो, वैद्य को उचित है कि वह उसी विधि को मनुष्य से करावे, क्योंकि सभी को स्वास्थ्य सदा ईप्सित रहता है ॥ ५३ ॥

अथ स्वस्थस्य लक्षणमाह—

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः। प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥ ५४ ॥

स्वस्थ मनुष्य के लक्षण—जिस मनुष्य के दोष समभाव में हों अर्थात् न बढ़े हों और न कम हों, जठराग्नि भी सम (न तीक्ष्ण और न मन्द) हो, धातु, मल और क्रियायें सभी सम हों तथा शरीर, इन्द्रिय और मन प्रसन्न हों वही स्वस्थ मनुष्य कहलाता है ॥ ५४ ॥

समक्रियः = शरीरानुरूपकर्मा। आत्माऽत्र शरीरम् ॥ ५४ ॥

यहां 'समक्रिय' पद का 'क्रियायें सम हों अर्थात् शरीर के अनुरूप कर्म (क्रियायें) होते हों' तथा 'आत्मा' पद का 'शरीर' अर्थ समझना चाहिये ॥ ५४ ॥

तन्त्रान्तरेऽपि—

विण्मूत्राखिलदोषधातुसमता काङ्क्षाऽन्नपाने रुचि-
र्भुक्तं जीर्यति पुष्टये परिणतिः स्वप्नावबोधौ सुखम् ॥
गृह्णीते विषयान्यथास्वमुचितान्वृत्तिं मनोवृत्तितः।
स्वस्थस्याभिहितं चतुर्दशविधं जन्तोरिदं लक्षणम् ॥ ५५ ॥

ग्रन्थान्तर में भी कहा है कि—मल, मूत्र, सम्पूर्ण दोष तथा संपूर्ण धातु इन सबों का समभाव में रहना, अन्न-पान (खाने-पीने) की इच्छा, शरीर की कान्ति, भोजन किये हुए अन्न का पचना, अन्न पचने के परिणामस्वरूप देह का पुष्ट होना, सुखपूर्वक सोना तथा सुखपूर्वक जागना, जिन इन्द्रियों के जो विषय हों उनका उचित रीति से ग्रहण करना, मनोवृत्ति के अनुसार ठीक-ठीक काम कर लेना ये १४ लक्षण स्वस्थ मनुष्य के कहे हुये हैं ॥ ५५ ॥

रुचिः = शरीरकान्तिः। ननु—अहर्निशर्तुभुक्तवस्तु दोषाणां वृद्धेः कथं समदोषता? उच्यते = अहोरात्रप्रथमभागादिषु तत्तद्दोषवृद्धेः स्वस्थवृत्तोक्तविधिभिरुपशमात्समदोषतेति न दोषः। किञ्च—

अपरसमत्वं हि दोषाणां भिषग्भिरवधार्यते। न तत्स्वास्थ्यं विना वक्तुं शक्यमन्येन हेतुना ॥

ॐ तेन समदोषस्वस्थयोर्लक्षणमन्योऽन्यापेक्षया स्वस्थः समदोषः, समदोषः स्वस्थः, स्वस्थेभ्यो हितं च—तद्दोषधातुमलानां स्वप्रमाणस्थितानां साम्यानुवृत्तिहेतुर्यद्द्रव्यापवच स्वस्थानुवृत्तिं करोति, ऋतुचर्याऽध्याये सेव्यत्वेनोक्तम्, तथा मात्राशितीयेऽध्याये रक्तशालिषष्टिकयवगोधूमजाङ्गलमांसजीवन्तीशाकादिमोदकक्षीरादि, तथा यदोजस्करं रसायनं वाजीकरणं सर्वदा शीलनीयत्वेन निर्दिष्टम् ॥ ५५ ॥

यहां 'रुचि' पद का 'शरीर की कान्ति' यह अर्थ समझना चाहिये। यहां यह जो शंका होती है कि 'दिन, रात्रि, ऋतु तथा भोजन के प्रथम भागादि काल विशेष में स्वभावतः वातादि दोषों की वृद्धि हुआ ही करती है अतः दोषों की समता कैसे हो सकती है'? तो इसके समाधान में यह कहते हैं कि—दिन-रात्रि आदि के प्रथम आदि भागों में जिन जिन दोषों की वृद्धि होती है उस समय उन उन दोषों को स्वस्थवृत्त में कही हुई विधियों से शान्त कर देने पर दोषों की समता हो सकती है, अतः दोषों की समता होने में कोई दोष नहीं है। वैद्यों ने जो दोषों की समता कही है वह समता स्वस्थता के विना किसी अन्य हेतु से नहीं कही जा सकती है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि—समदोष तथा स्वस्थ के लक्षण परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा रखने वाले होते हैं अर्थात् समदोष का लक्षण स्वस्थ के लक्षण की और स्वस्थ का लक्षण समदोष के लक्षण की अपेक्षा करता है, इन दोनों में कोई निरपेक्ष नहीं है। अत एव जो मनुष्य स्वस्थ है वही समदोषों वाला और जो समदोषों वाला है वही स्वस्थ कहलाता है।

जो अपने २ प्रमाण में स्थित-दोष, धातु तथा मल को समभाव में रखने का हेतु (रखने वाला) है, और जो रोग को नहीं उत्पन्न करने वाला एवं जो स्वस्थ रखने वाला है, तथा जो ऋतुचर्याध्याय में सेवन करने के योग्य कहे हुये हैं वे सब स्वस्थ पुरुषों के लिये हितकर होते हैं। 'मात्राशितीय अध्याय' में कहे हुये जो रक्तशालि (लाल जड़हन) तथा साठी चावल, जौ, गेहूं, जङ्गली जीवों का मांस, जीवन्ती शाक आदि तथा मोदक (लड्डू), दूध आदि हैं तथा जो ओज को उत्पन्न करने वाले रसायन, वाजीकरण एवं सर्वदा सेवन करने योग्य कहे हुये हैं, वे सब स्वस्थ पुरुषों के लिये हितकर होते हैं' यह और समझना चाहिये ॥ ५५ ॥

अथ दोषधातुमलानां वृद्धेर्निदानान्याह—

तत्तद्वृद्धिकराहारविहारातिनिषेवणात्। दोषधातुमलानां हि वृद्धिरुक्ता भिषग्वरैः ॥ ५६ ॥

दोष, धातु तथा मल वृद्धि के कारण—वैद्यवरों ने कहा है कि दोष, धातु तथा मल की वृद्धि वाले आहार तथा विहार का अत्यन्त सेवन करने से दोषादि की वृद्धि हुआ करती है ॥ ५६ ॥

अथातिवृद्धानां तेषां लक्षणान्याह—

वाते वृद्धे भवेत्कार्श्यं पारुष्यं चोष्णकामिता। गाढं मलं बलह्रासः स्वप्नं गात्रस्फूर्तिर्विनिद्रता।
विण्मूत्रनेत्रगात्राणां पीतत्वं क्षीणमिन्द्रियम्। शीतेच्छातापमूर्च्छाः स्युः पित्ते वृद्धेऽल्पमूत्रता॥
विडादिशौक्ल्यं शीतत्वं गौरवञ्चातिनिद्रता। सन्धिशैथिल्यमुत्क्लेदो मुखसेकः कफेऽधिके॥
रसे वृद्धेऽन्नविद्वेषो जायते गात्रगौरवम्। लालाप्रसेकश्छर्दिश्च मूर्च्छा सादो भ्रमः कफः॥
प्रवृद्धं रुधिरं कुर्याद् गात्रमारक्तवर्णकम्। लोचनञ्च तथा रक्तं सिराः पूरयतेऽपि च ॥६०॥

अत्यन्त बढ़े हुए दोषादि के लक्षण—वायु की वृद्धि होने पर-शरीर की कृशता, कठोरता, गर्मी की इच्छा, मल का गाढ़ा होना, बल की कमी, अङ्गों का फड़कना और नींद न आना ये सब लक्षण प्रकट होते हैं। पित्त की वृद्धि होने पर-मल, मूत्र, नेत्र तथा शरीर का पीला होना, इन्द्रियों की क्षीणता, शीत की इच्छा, ताप, मूर्च्छा तथा मूत्र का स्वल्प मात्रा में होना ये सब लक्षण होते हैं। कफ की वृद्धि होने पर—मल, मूत्र, नेत्र तथा शरीर का सफेद होना, शरीर में शीतलता तथा गुरुता मालूम पड़ना, अत्यन्त निद्रा होना, सन्धिस्थानों में शिथिलता, उत्क्लेद

(वमन की इच्छा) और मुख से पानी गिरना ये सब लक्षण होते हैं। रस की वृद्धि होने पर—अन्न से द्वेष होना, शरीर में गुरुता, लार गिरना; वमन, मूर्च्छा, शरीर में ग्लानि, भ्रम तथा कफ निकलना ये सब लक्षण होते हैं और रक्त की वृद्धि होने पर—शरीर तथा नेत्र का रक्तवर्ण होना तथा सिराओं का रक्त से पूर्ण होना ये सब लक्षण प्रकट होते हैं ॥ ५७-६० ॥

अन्यच्च—

रक्तन्तु कुरुते वृद्धं विसर्पप्लीहविद्रधीन्। कुष्ठं वातास्रकं गुल्मं सिरापूर्णत्वकामले ॥ ६१ ॥
गात्राणां गौरवं निद्रा मदो दाहश्च जायते। व्यङ्गाग्निसादसंमोहरक्तत्वङ्नेत्रमूत्रताः ॥ ६२ ॥
गुदमेढ्रास्यपाकार्शःपिडकामशकास्तथा। इन्द्रलुप्ताङ्गमर्दासृग्दरांस्तापं कराङ्घ्रिषु ॥ ६३ ॥
शमयेद्रक्तवृद्ध्युत्थान् रक्तस्रुतिविरेचनैः।
मांसं वृद्धन्तु गण्डौष्ठस्फिगुपस्थोरुबाहुषु। जङ्घयोः कुरुते वृद्धिं तथा गात्रस्य गौरवम् ॥६४॥
उदरे पार्श्वयोर्वृद्धिः कासश्वासादयस्तथा। दौर्गन्ध्यं स्निग्धता गात्रे मेदोवृद्धौ भवेदिति॥६५॥

रक्तवृद्धि के अन्य लक्षण—रक्त की वृद्धि होने पर-विसर्प, प्लीहा, विद्रधि, कुष्ठ, वातरक्त, गुल्म, सिराओं का रक्त से परिपूर्ण होना, कामला, अङ्गों की गुरुता, निद्रा, मद, दाह, व्यङ्ग (झांई), अग्नि की मन्दता, संमोह, त्वचा, नेत्र तथा मूत्र का रक्तवर्ण होना, गुदा, लिङ्ग या योनि तथा मुख का पकना, अर्श (खूनी बवासीर), फुन्सी, मसा, इन्द्रलुप्त रोग, अङ्गों का टूटना, रक्तप्रदर, हाथ तथा पैर में ताप होना ये सब लक्षण रक्त की वृद्धि होने पर प्रकट होते हैं। रक्त की वृद्धि होने से उत्पन्न हुये रोगों को रक्तस्राव तथा विरेचन द्वारा शान्त करना चाहिये। मांस की वृद्धि होने पर—गण्डस्थल, ओष्ठ, कूल्हा, लिङ्ग, जङ्घा, बाहु और पिण्डरी इन सबों में मांस की वृद्धि तथा शरीर में गुरुता ये सब लक्षण होते हैं और मेदा की वृद्धि होने पर—उदर तथा पार्श्व की वृद्धि, कास तथा श्वास आदि रोग, शरीर में दुर्गन्धता तथा स्निग्धता ये सब लक्षण होते हैं॥

अन्यच्च—

प्रवृद्धं कुरुते मेदः श्रममल्पेऽपि चेष्टिते। तृट्स्वेदगलगण्डौष्ठरोगमेहादिजन्म च ॥ ६६ ॥
श्वासं स्फिग्जठरग्रीवास्तनानां लम्बनं तथा। वृद्धान्यस्थीनि कुर्वन्ति अस्थीन्यन्यानि चास्थिषु ॥
आचरन्ति तथा दन्तान्विकटान्महतस्तथा। मज्जा वृद्धः समस्ताङ्गनेत्रगौरवमाचरेत् ॥६८॥
शुक्राश्मरी शुक्रवृद्धौ शुक्रस्यातिप्रवर्त्तनम्। मलप्रवृद्धावाटोपो जायते जठरे व्यथा ॥ ६९ ॥
मूत्रे वृद्धे मुहुर्मूत्रमाध्मानं बस्तिवेदना। स्वेदे वृद्धे तु दौर्गन्ध्यं त्वचि कण्डूश्च जायते ॥७०॥
आर्त्तवातिप्रवृत्तिः स्याद्दौर्गन्ध्यं चार्त्तवे भवेत्। अङ्गमर्दश्च जायेत लिङ्गं स्याद्यार्त्तवेऽधिके ॥७१॥
स्तनयोरतिपीनत्वं क्षीरस्रावो मुहुर्मुहुः। तोदश्च तत्र भवति स्तन्याधिक्यस्य लक्षणम् ॥७२॥
उदरादिप्रवृद्धिस्तु वृद्धे गर्भेऽभिजायते। स्वेदश्च गर्भवत्याः स्यात्प्रसवे व्यसनं महत् ॥७३॥

मेदा वृद्धि के अन्य लक्षण—मेदा की वृद्धि होने पर-थोड़े से भी परिश्रम करने में अधिक थकावट तथा अधिक प्यास मालूम पड़ना, पसीना अधिक निकलना, गला, गण्डस्थल तथा ओष्ठ-सम्बन्धी रोग तथा प्रमेहादि रोगों का होना, श्वास रोग एवं कूल्हा, उदर, गर्दन तथा स्तनों का लटक पड़ना, ये सब लक्षण होते हैं। अस्थि की वृद्धि होने पर-अस्थियों के ऊपर दूसरी अस्थियों का उत्पन्न होना एवं दांतों का विकट तथा बड़ा हो जाना ये सब लक्षण होते हैं। मज्जा की वृद्धि होने पर—सम्पूर्ण अङ्गों तथा नेत्रों में गुरुता होना यह लक्षण होता है। शुक्र की वृद्धि होने पर—शुक्राश्मरी नामक पथरी रोग तथा शुक्र की अत्यन्त प्रवृत्ति (स्राव) होना ये सब लक्षण होते हैं। मल की वृद्धि होने पर—आटोप (पेट में पीड़ा के साथ गुड़गुड़ शब्द होना) तथा उदर में व्यथा ये सब लक्षण होते हैं। मूत्र की वृद्धि होने पर—बारम्बार मूत्र होना,

आध्मान (अफारा) तथा बस्तिस्थान में पीड़ा होना ये सब लक्षण होते हैं। **स्वेद (पसीना) की वृद्धि होने पर**—शरीर में दुर्गन्ध होना तथा त्वचा में खुजली होना ये सब लक्षण होते हैं। **आर्त्तव (रज) की वृद्धि होने पर**—आर्त्तव का अत्यन्त स्राव होना, आर्त्तव में दुर्गन्धता तथा अङ्गों का टूटना ये सब लक्षण होते हैं। **स्तनों में दूध की अधिक वृद्धि**—स्तनों का अत्यन्त मोटा हो जाना, दूध का बारम्बार स्राव होना एवं स्तनों में सूई चुभोने की सी पीड़ा होना ये सब लक्षण होते हैं और **गर्भिणी स्त्रियों के गर्भ की वृद्धि होने पर**—उदर आदि अङ्गों का अत्यन्त बढ़ जाना, स्वेद अधिक निकलना तथा प्रसव के समय अधिक पीड़ा होना ये सब लक्षण प्रकट होते हैं ॥ ६६–७३ ॥

अथातिवृद्धानां दोषधातुमलानां ह्रासनमाह—

तत्तद्ध्रासकराहारविहारपरिषेवणात्। दोषधातुमलानां हि ह्रासो निगदितो नृणाम् ॥७४॥
पूर्वः पूर्वोऽतिवृद्धत्वाद् वर्द्धयेद्धि परम्परम्। तस्मादतिप्रवृद्धानां धातूनां ह्रासनं हितम् ॥७५॥

अत्यन्त बढ़े हुये दोष, धातु तथा मलों के कम करने का प्रकार—मनुष्यों के दोष, धातु तथा मल इनमें से जो बढ़े हुए हों उन सब को करने वाले जो आहार तथा विहार हों उनके सेवन करने से दोषादि का कम करना कहा हुआ है। क्योंकि दोष, धातु तथा मल इनमें से पूर्व २ के अत्यन्त बढ़ने से परस्पर एक दूसरे को बढ़ाते रहते हैं। अत एव अत्यन्त बढ़े हुये धातुओं का ह्रास (कम) करना हितकर होता है ॥ ७४–७५ ॥

अथ दोषधातुमलानां क्षयस्य निदानान्याह—

असात्म्यान्नसदाक्रोधशोकचिन्ताभयश्रमैः। अतिव्यवायानशनात्यर्थसंशोधनैरपि ॥ ७६ ॥
वेगानां धारणाच्चापि साहसाद्विघाततः। दोषाणामथ धातूनां मलानाञ्च भवेत्क्षयः ॥ ७७ ॥

दोष-धातु तथा मलों के क्षय होने के कारण—असात्म्य (अहितकारक) अन्न का सेवन, सर्वदा क्रोध, शोक, चिन्ता, भय तथा श्रम का करना, अत्यन्त मैथुन तथा उपवास, अत्यन्त संशोधन कर्म (वमन, विरेचनादि) करना, मल-मूत्रादि के वेगों का रोकना, अत्यन्त साहसकर्म तथा दण्डप्रहार आदि अभिघात से दोष, धातु तथा मलों का क्षय होता है ॥ ७६–७७ ॥

अथ क्षीणानां तेषां लक्षणान्याह—

वातक्षयेऽल्पचेष्टत्वं मन्दवाक्यं विसंज्ञता। पित्तक्षयेऽधिकः श्लेष्मा वह्निमान्द्यं प्रभाक्षयः ॥
सन्धयः शिथिला मूर्च्छा रौक्ष्यं दाहः कफक्षये। हृत्पीडा कण्ठशोषो त्वक्शून्यता तृट् च रसक्षये ॥
सिराः श्लथा हिमाम्लेच्छा त्वक्पारुष्यं क्षयेऽसृजः। गण्डौष्ठकन्धराकक्षवक्षोजठरसन्धिषु ॥
उपस्थस्रोथपिण्डीषु शुष्कता गात्ररूक्षता। तोदो धमन्यः शिथिला भवेयुर्मांससंक्षये ॥ ८१ ॥
प्लीहाभिवृद्धिः सन्धीनां शून्यता तनुरूक्षता। प्रार्थना स्निग्धमांसस्य लिङ्गं स्यान्मेदसः क्षये ॥
अस्थिशूलं तनौ रौक्ष्यं नखदन्तत्रुटिस्तथा। अस्थिक्षये लिङ्गमेतद्वैद्यैः सर्वैरुदाहृतम् ॥ ८३ ॥
शुक्राल्पत्वं पर्वभेदस्तोदः शून्यत्वमस्थिनि। लिङ्गान्येतानि जायन्ते नराणां मज्जसंक्षये ॥८४॥
शुक्रक्षये रतेऽशक्तिर्व्यथा शेफसि मुष्कयोः। चिरेण शुक्रसेकः स्यात्सेके रक्ताल्पशुक्रता ॥८५॥

क्षीण हुये दोषादि के लक्षण—**वायु का क्षय होने पर**—शरीर में अल्प चेष्टा होना, थोड़ा बोल सकना तथा संज्ञाहीन होना ये सब लक्षण होते हैं। **पित्त का क्षय होने पर**—अधिक कफ निकलना, अग्नि की मन्दता तथा शरीर की कान्ति का क्षय होना ये सब लक्षण प्रकट होते हैं। **कफ का क्षय होने पर**—सन्धियों की शिथिलता, मूर्च्छा, शरीर में रूक्षता तथा दाह होना ये सब लक्षण होते हैं। **रस का क्षय होने पर**—हृदय में पीड़ा, कण्ठ सूखना, त्वचा का शून्य होना तथा प्यास अधिक लगना ये सब लक्षण प्रकट होते हैं। **रक्त का क्षय होने पर**—सिराओं का शिथिल हो जाना, शीतल तथा अम्ल पदार्थ खाने की इच्छा होना तथा त्वचा का कठोर होना

ये सब लक्षण होते हैं। **मांस का क्षय होने पर**—गण्डस्थल, ओष्ठ, गर्दन, कन्धे, छाती, पेट, सन्धियाँ, लिङ्ग का शोथ (चैतन्य होने पर मोटापन) और पिंडरी का सूख जाना, शरीर में रूक्षता तथा सूई चुभोने के समान पीड़ा होना, धमनियों का शिथिल हो जाना ये सब लक्षण होते हैं। **मेदा का क्षय होने पर**—प्लीहा की वृद्धि, सन्धियों का शून्य हो जाना, शरीर में रूक्षता तथा स्निग्ध (स्नेहयुक्त) मांस खाने की इच्छा होना ये सब लक्षण होते हैं। **अस्थि का क्षय होने पर**—अस्थियों में शूल (अत्यन्त पीड़ा), शरीर में रूक्षता, नख तथा दांतों का टूटना ये सब लक्षण होते हैं। **मज्जा का क्षय होने पर**—शुक्र की अल्पता, पर्वभेद (पोरों में टूटने की सी पीडा), सूई चुभोने की सी पीड़ा तथा अस्थियों में शून्यता ये सब लक्षण होते हैं और **शुक्र का क्षय होने पर**—स्त्री के साथ रति (मैथुन) करने में शक्ति न रहना, लिङ्ग तथा अण्डकोश में पीडा होना, बहुत देर में शुक्र का निकलना तथा शुक्र निकलने पर उसकी मात्रा थोड़ी होना तथा रक्त भी मिला रहना ये सब लक्षण प्रकट होते हैं॥ ७८-८५॥

अथौजःक्षयस्य निदानमाह—

ओजः संक्षीयते कोपाच्चिन्ताशोकश्रमादिभिः। रूक्षतीक्ष्णोष्णकटुकैः कर्षणैरपरैरपि॥ ८६॥

ओज के क्षय होने का कारण—अधिक कोप, चिन्ता, शोक तथा श्रम आदि करने से एवं रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण तथा कटुरसयुक्त पदार्थों का विशेष सेवन करने से तथा अन्यान्य कर्षणकारक (उपवासादि) व्यापारों से भी ओज का क्षय होता है॥ ८६॥

अथ क्षीणौजसो लक्षणमाह—

बिभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं चिन्तयेद्व्यथितेन्द्रियः।
अभ्युत्थायोन्मना रूक्षः क्षामः स्यादोजसः क्षये॥ ८७॥

ओज के क्षय होने के लक्षण—ओज का क्षय होने पर मनुष्य सर्वत्र भय करता है, सदा दुर्बल रहता है तथा चिन्ता करने से उसकी इन्द्रियाँ व्यथित रहती हैं, उत्साह करके फिर हतोत्साह हो जाता है और रूक्ष तथा क्षीण शरीर वाला हो जाता है॥ ८७॥

अथ मलक्षयस्य लक्षणमाह—

पुरीषस्य क्षये पार्श्वे हृदये च व्यथा भवेत्। सशब्दस्यानिलस्योर्ध्वगमनं कुक्षिसंवृतिः॥८८॥

मल के क्षय होने के लक्षण-मल (विष्ठा) के क्षय होने पर मनुष्य की पंसुली तथा हृदय में पीड़ा होती है और पेट में शब्द करता हुआ वायु ऊपर को चढ़ता है तथा उदर संकुचित हो जाता है॥

*** कुक्षिसंवृतिः = उदरसङ्कोचः॥ ८८॥**

यहां 'कुक्षिसंवृतिः' पद का 'उदरसङ्कोच अर्थ समझना चाहिये॥ ८८॥

अथ मूत्रादीनां क्षयस्य लक्षणमाह—

मूत्रक्षयेऽल्पमूत्रत्वं वस्तौ तोदश्च जायते। स्वेदनाशस्त्वचो रौक्ष्यं चक्षुषोरपि रूक्षता॥ ८९॥
स्तब्धाश्च रोमकूपाः स्युर्लिङ्गं स्वेदक्षये भवेत्। आर्त्तवस्य स्वकाले चाभावस्तस्याल्पताऽथ वा॥
जायते वेदना योनौ लिङ्गं स्यादार्त्तवक्षये। अभावः स्वल्पता वा स्यात्स्तन्यस्य भवतस्तथा॥
म्लानौ पयोधरावेतल्लक्षणं स्तन्यसंक्षये। अनुन्नतो भवेत्कुक्षिर्गर्भस्याल्पस्पन्दनं तथा॥
इति गर्भक्षये प्राज्ञैर्लक्षणं समुदाहृतम्॥ ९२॥

मूत्रादि के क्षय होने के लक्षण—**मूत्र का क्षय होने पर**—थोड़ा मूत्र होना तथा वस्ति में सूई चुभने की सी पीड़ा होना ये सब लक्षण होते हैं। **स्वेद का क्षय होने पर**—स्वेद (पसीना) का न निकलना, त्वचा तथा नेत्रों में रूक्षता, रोमकूपों में स्तब्धता ये सब लक्षण उत्पन्न होते हैं। **आर्त्तव (रज) का क्षय होने पर**—स्त्रियों को ऋतुकाल का समय होने पर भी आर्त्तव का

स्राव एक दम से न होना अथवा थोड़ी मात्रा में स्राव होना एवं योनि में पीड़ा होना ये सब लक्षण होते हैं। **स्तनों में दूध का क्षय होने पर**—स्तनों में दूध का अत्यन्ताभाव या बहुत कम निकलना तथा स्तनों का म्लान हो जाना ये सब लक्षण होते हैं और **गर्भ का क्षय होने पर**—'गर्भिणी स्त्रियों के कोख का पचक जाना तथा गर्भ का न फड़कना ये लक्षण होते हैं ॥ ८९–९२ ॥

अथ क्षीणधातुदोषमलानां वर्द्धनविधिमाह—

तत्तत्संवर्द्धनाहारविहारातिनिषेवणात्। तत्तत्प्राप्य नरः शीघ्रं तत्तत्क्षयमपोहति ॥ ९३ ॥
ओजस्तु वर्द्धते नृणां सुस्निग्धैः स्वादुभिस्तथा। वृष्यैरन्यैर्विशेषात्तु क्षीरमांसरसादिभिः ॥

क्षीण हुये दोष, धातु तथा मलों को बढ़ाने की विधि—दोष, धातु तथा मल इनमें से जो जो क्षीण हुये हों उन-उन सबों की वृद्धि करने वाले आहार-विहार का अत्यन्त सेवन के द्वारा उन सबों को पुनः प्राप्त करके मनुष्य दोषादि की क्षीणता को शीघ्र दूर करता है। जिनके ओज क्षीण हो गये हों ऐसे मनुष्यों का ओज अत्यन्त स्निग्ध तथा मधुर रसयुक्त एवं अन्यान्य (वीर्यवर्धक) तथा विशेषतः दूध और मांसरस आदि पदार्थों के खाने से पुनः बढ़ने लगता है ॥ ९३–९४ ॥

अन्यच्च—

दोषधातुमलक्षीणो बलक्षीणोऽपि मानवः। तत्तत्संवर्द्धनं यत्तदन्नपानं प्रकाङ्क्षति ॥ ९५ ॥
यद्यदाहारजातन्तु क्षीणः प्रार्थयते नरः। तस्य तस्य स लाभेन तत्तत्क्षयमपोहति ॥ ९६ ॥

और भी कहा है—दोष, धातु, मल तथा बल से क्षीण हुआ मनुष्य दोषादि में से जो-जो क्षीण होते हैं। उन सबों के बढ़ाने वाले जो-जो अन्न-पान (खान-पान) हैं उन्हीं सबों की इच्छा करता है और क्षीण पुरुष जिन २ दोषों के आहारों को पाने के लिये प्रार्थना करता है उन्हीं-उन्हीं आहारों के पाने से उन्हीं उन्हीं दोषादि की क्षीणता को दूर करता ॥ ९५–९६ ॥

तत्र केन क्षीणः किं काङ्क्षतीत्याकाङ्क्षायामाह—

कषायकटुतिक्तानि रूक्षशीतलघूनि च। यवमुद्गप्रियङ्गूंश्च वातक्षीणोऽभिकाङ्क्षति ॥ ९७ ॥
तिलमाषकुलत्थादिपिष्टान्नविकृतिं तथा। मस्तुशुक्ताम्लतक्राणि काञ्जिकञ्च तथा दधि ॥ ९८ ॥
कट्वम्ललवणोष्णानि तीक्ष्णं क्रोधं विदाहि च। समयं देशमुष्णञ्च पित्तक्षीणोऽभिकाङ्क्षति ॥
मधुरस्निग्धशीतानि लवणाम्लगुरूणि च। दधि क्षीरं दिवास्वप्नं कफक्षीणोऽभिकाङ्क्षति ॥
रसक्षीणो नरः काङ्क्षत्यम्भोऽतिशिशिरं मुहुः। रात्रिनिद्रां हिमं चन्द्रं भोक्तुञ्च मधुरं रसम् ॥
इक्षुं मांसरसं मन्थं मधु सर्पिर्गुडोदकम् ॥ १०२ ॥
द्राक्षादाडिमशुक्तानि सस्नेहलवणानि च। रक्तसिद्धानि मांसानि रक्तक्षीणोऽभिकाङ्क्षति ॥

वात से क्षीण हुआ मनुष्य—कषाय, कटु तथा तिक्तरस युक्त, रूक्ष, शीतल तथा लघु पदार्थ, जौ, मूंग एवं कंगुनी की इच्छा करता है। **पित्त से क्षीण हुआ मनुष्य**—तिल, उड़द तथा कुलथी, आदि तथा पिसे हुए अन्न के बने पदार्थ, दही की मलाई, शुक्त (कांजी विशेष), खट्टा तक्र (छाछ), कांजी, दही एवं कटु, अम्ल तथा लवण रसयुक्त, गर्म, तीक्ष्ण तथा विदाही पदार्थ, क्रोध करना, गर्म स्थान तथा गर्मी की इच्छा करता है। **कफ से क्षीण हुआ मनुष्य**—मधुर, लवण तथा अम्ल रसयुक्त पदार्थ एवं स्निग्ध (स्नेहयुक्त), शीतल तथा गुरु पदार्थ, दही, दूध तथा दिन में सोने की इच्छा करता है। **रस से क्षीण हुआ मनुष्य**—पीने के लिये वारम्वार अत्यन्त शीतल जल, रात्रि में सोना, हिम (अत्यन्त शीतल पदार्थ बर्फ आदि), चन्द्रमा और खाने के लिये मधुर रसयुक्त पदार्थ, ईख, मांसरस (शुरवा), मन्थ (तक्रविशेष), शहद, घी तथा गुड़ मिला जल की इच्छा करता है और **रक्त से क्षीण हुआ मनुष्य**—दाख, अनार, शुक्त (कांजी विशेष), स्नेहयुक्त तथा लवणरसयुक्त पदार्थ एवं रक्त के साथ पकाया हुआ मांस की इच्छा करता है ॥ ९७–१०३ ॥

अन्नानि दधिसिद्धानि षाडवांश्च बहूनपि । स्थूलक्रव्यादमांसानि मांसक्षीणोऽभिकाङ्क्षति ॥

मांस से क्षीण हुआ मनुष्य—दही के साथ पकाये हुये अन्न तथा बहुत से 'षाडव' संज्ञक पदार्थ एवं मोटे मांसभक्षी जीवों के मांस की इच्छा करता है ॥ १०४ ॥

* षाडवाः = मधुराम्लादिरससंयोगपाचिता गुडावप्रभृतयः ॥ १०४ ॥

यहां 'षाडव' पद से 'षाडव' संज्ञक मधुर तथा अम्ल आदि रसों से युक्त पदार्थों के रस के संयोग से पकाये हुये, 'गुडाव' आदि पदार्थों का ग्रहण करना चाहिये ॥ १०४ ॥

मेदःसिद्धानि मांसानि ग्राम्यानूपौदकानि च । सक्षाराणि विशेषेण मेदःक्षीणोऽभिकाङ्क्षति ॥
अस्थिक्षीणस्तथा मांसं मज्जास्थिस्नेहसंयुतम् । स्वाद्वम्लसंयुतं द्रव्यं मज्जाक्षीणोऽभिकाङ्क्षति ॥
शिखिनः कुक्कुटस्याण्डं हंससारसयोस्तथा । ग्राम्यानूपौदकानाञ्च शुक्रक्षीणोऽभिकाङ्क्षति॥१०७॥
यवान्नं यवकाञ्चैव शाकानि विविधानि च । मसूरमाषयूषञ्च मलक्षीणोऽभिकाङ्क्षति॥१०८॥
पेयमिक्षुरसं क्षीरं सगुडं बदरोदकम् । मूत्रक्षीणोऽभिलषति त्रपुसैर्वारुकाणि च ॥ १०९ ॥
अभ्यङ्गोद्वर्त्तने मद्यं निवातशयनासने । गुरु प्रावरणं चैव स्वेदक्षीणोऽभिकाङ्क्षति ॥ ११० ॥
कट्वम्ललवणोष्णानि विदाहीनि गुरूणि च । फलशाकानि पानानि स्त्री काङ्क्षत्यार्त्तवक्षये ॥
सुराशाल्यन्नमांसानि गोक्षीरं शर्करां तथा । आसवं दधि हृद्यानि स्तन्यक्षीणाऽभिवाञ्छति ॥
मृगाजाविवराहाणां गर्भान्वाञ्छति संस्कृतान् । वसाशूल्यप्रकारादीन्भोक्तुं गर्भपरिक्षये ॥

मेद से क्षीण हुआ मनुष्य—मेद के साथ पकाये हुये मांस तथा ग्राम और आनूप प्रदेश में रहने वाले एवं जलचर जीवों का मांस और विशेषतः क्षारयुक्त मांस की इच्छा करता है। अस्थि से क्षीण हुआ मनुष्य—मज्जा, अस्थि तथा स्नेह से युक्त मांस खाने की इच्छा करता है। मज्जा से क्षीण हुआ मनुष्य—मधुर तथा अम्लरसयुक्त पदार्थों की इच्छा करता है। शुक्र से क्षीण हुआ मनुष्य—मोर, मुर्गा, हंस, सारस एवं ग्राम, आनूप प्रदेश तथा जल में रहने वाले पक्षी के अण्डों की इच्छा करता है। मल से क्षीण हुआ मनुष्य—जौ, जई (क्षुद्रयव), अनेक प्रकार के शाक एवं मसूर तथा उड़द के जूस की इच्छा करता है। मूत्र से क्षीण हुआ मनुष्य—पेय (पीने योग्य) पदार्थ, ईख का रस, दूध, गुड़ के सहित बेर का जल, खीरा और ककड़ी की इच्छा करता है। स्वेद से क्षीण हुआ मनुष्य—मालिश करना, उबटन लगवाना, मद्य, वायुरहित प्रदेश में सोना-बैठना एवं मोटे भारी वस्त्र (रजाई आदि) ओढ़ने की इच्छा करता है। आर्त्तव (रज) से क्षीण हुई स्त्री—कटु, अम्ल तथा लवण रस युक्त पदार्थ एवं उष्ण, विदाही तथा गुरु पदार्थ, फलों (लौकी, कोंहड़ा आदि) का शाक तथा पान (शर्बत) की इच्छा करती है। स्तनों में दूध से क्षीण हुई स्त्री—मदिरा, शालि (अगहनी) धान्य का चावल, मांस, गौका दूध, शक्कर, आसव, दही तथा हृदय के लिये हितकारक पदार्थ की इच्छा करती है और गर्भ से क्षीण हुई स्त्री—हरिण, बकरी, भेड़ तथा सूअर के गर्भों (गर्भस्थित बच्चों) को सविधि पका कर खाने की इच्छा करती है एवं वसा तथा मांस के अनेक प्रकार से बने हुए कबाब आदि पदार्थों को खाने की इच्छा करती है ॥ १०५-११३ ॥

अथ सुश्रुतोक्तबललक्षणमाह—

रसादिशुक्रपर्यन्तं धातुपुष्टिनिमित्तकम् । चेष्टासु पाटवं यत्तु बलं तदभिधीयते ॥ ११४ ॥

सुश्रुतोक्त बल लक्षण—रस से लेकर शुक्र पर्यन्त जो ७ धातुयें हैं उन सबों की पुष्टता के कारण उत्पन्न हुई जो चेष्टा करने में शरीर का सामर्थ्य है उसी को 'बल' कहते हैं ॥ ११४ ॥

अथ बलक्षयस्य निदानमाह—

अभिघातात्क्षयात्कोपाच्छोकाच्चिन्तया च परिश्रमात् । धातूनां संक्षयाच्छोकाद् बलं संक्षीयते नृणाम् ॥

बल का क्षय होने में कारण—अभिघात (चोट), भय, क्रोध, चिन्ता, परिश्रम, रस-रक्तादि ७ धातुओं का क्षय तथा शोक इन सबों के होने से मनुष्यों का बल क्षीण हो जाता है॥ ११५॥

अथ बलक्षयस्य लक्षणमाह—

गौरवं स्तब्धता गात्रे मुखग्लानिर्विवर्णता। तन्द्रा निद्रा वातशोथो बलव्यापत्तिलक्षणम्॥

बलक्षय के लक्षण—शरीर में गुरुता तथा स्तब्धता (जकड़ाहट) का होना, मुख की मलिनता, शरीर की विवर्णता (वर्ण का बिगड़ जाना), तन्द्रा, निद्रा तथा वातसम्बन्धी शोथ ये सब लक्षण बलक्षय होने पर प्रकट होते हैं॥ ११६॥

अथ बलवृद्धेर्निदानमाह—

दोषसाम्यकरं यत्तु वह्निसाम्यकरं च यत्। धातुपुष्टिकरं द्रव्यं बलं तदभिवर्द्धयेत्॥ ११७॥

बलवृद्धि के कारण—जो पदार्थ वातादि दोषों को तथा जठराग्नि को समभाव में रखने वाले हैं, एवं धातुओं को पुष्ट करने वाले हैं वे सब बल के बढ़ाने वाले होते हैं॥ ११७॥

अथ बलाबललक्षणमाह—

कृशोऽपि बलवान्कश्चित् स्थूलोऽप्यल्पबलो यतः। तस्माच्चेष्टापटुत्वेन बलवन्तं विदुर्बुधाः॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनय-श्रीमन्मिश्रभावविरचिते श्रीभावप्रकाशे पूर्वखण्डे परिभाषादिप्रकरणे सप्तमं रोगिपरीक्षाप्रकरणं समाप्तम्॥ ७॥

बलवान् तथा निर्बल के प्रधान लक्षण—कोई मनुष्य कृश शरीर वाला होकर भी बलवान् है और कोई स्थूल शरीर वाला होकर भी स्वल्प बलवाला दिखाई पड़ता है। अतः विद्वानों ने यह निश्चय किया कि—सबल तथा निर्बल होने में शरीर की स्थूलता तथा कृशता कारण नहीं है बल्कि चेष्टा (शारीरिक कार्य) करने में सामर्थ्य होने से मनुष्य को सबल और न होने से निर्बल समझना चाहिये॥ ११८॥

इति श्रीमन्मध्वसम्प्रदायाचार्य-गोस्वामिश्रीदामोदरशास्त्रिणामन्तेवासिना मिश्रोपाह्वश्रीब्रह्मशङ्कर-शर्मणा विरचितायां 'विद्योतिनी' हिन्दीटीकायां पूर्वखण्डे परिभाषादिप्रकरणे सप्तमं रोगिपरीक्षाप्रकरणं समाप्तम्॥ ७॥

इति पूर्वखण्डं समाप्तम्

परिशिष्ट १

अस्थियों के विषय में—संक्षिप्त विवरण

अस्थियों के विषय में प्राचीन तथा आधुनिक गणना में कुछ मतभेद दिखाई देता है। इसका १ कारण यह है कि प्राचीन महर्षियों ने दांत तथा तरुणास्थियों को भी अस्थिरूप में गिना है और आजकल के शरीररचना-विज्ञान (Anatomy) के अनुसार उनका परिगणन अस्थियों से पृथक् होता है। तथा कुछ ऐसी भी अस्थियां हैं जो बाल्यावस्था में पृथक् पृथक् रहती हैं पर अवस्था के अधिक होने पर जुड़ जाती हैं। और अस्थियों में स्थालक (अस्थि का वह प्रदेश जहां वह दूसरी अस्थिसे मिलती हैं। Articular facit), अर्बुद (Tubercle अस्थि का वह प्रदेश जो अन्य भाग की अपेक्षा उभरा हुआ हो) आदि के पृथक् परिगणन से भी उनकी संख्या में भेद हो सकता है। और कई स्थानों पर सूक्तियों को भी अस्थिरूप में परिगणन किया है। जैसे चरक पर्शुकास्थियों की संख्या ७२ मानते हैं। २४ पर्शुकायें, २४ उनके स्थालक तथा २४ अर्बुद कुल ७२ होते हैं। विषय में प्रथम सुश्रुत का मत लिखा जा रहा है जो कि यह है—

त्रीणि सषष्टीन्यस्थिशतानि वेदवादिनो भाषन्ते। शल्यतन्त्रे तु त्रीण्येव शतानि। तेषां सविंशमस्थिशतं शाखासु, सप्तदशोत्तरं शतं श्रोणिपार्श्वपृष्ठोरःसु, ग्रीवायां प्रत्यूर्ध्वं त्रिषष्टिः, एवमस्थ्नां त्रीणि शतानि पूर्यन्ते।

अर्थात्—अग्निवेश प्रभृति शास्त्रवादी ३६० अस्थियां शरीर में मानते हैं किन्तु शल्यतन्त्र में ३०० अस्थियों का ही वर्णन है। उसमें शाखाओं में १२० अस्थियां, श्रोणि, पार्श्व, पीठ और वक्षःस्थल में मिलाकर ११७ अस्थियां हैं और ग्रीवा तथा इससे ऊपर ६३ अस्थियां हैं। इस तरह अस्थियों की संख्या (१२०+११७+६३ = ३००) पूरी होती है।

'एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि तानि पञ्चदश, तलकूर्चगुल्फसंश्रितानि दश, पार्ष्ण्यामेकं जङ्घायां द्वे, जानुन्येकम्, एकमूराविति त्रिंशदेवमेकस्मिन्सक्थ्नि भवन्ति। एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ॥'

पैर की एक अंगुलियों में ३-३ अस्थियां इस तरह अंगुलियों में १५ अस्थियां हुईं। तल, कूर्च, गुल्फ की १० अस्थियां, पार्ष्णि में एक तथा जंघा में दो, जानु में एक तथा ऊरु में एक, इस प्रकार एक टांग में ३० अस्थियां तथा दूसरी टांग और दोनों बाहु में मिलाकर कुल १२० अस्थियां हुईं।

'श्रोण्यां पञ्च तेषां गुदभगनितम्बेषु चत्वारि, त्रिकसंश्रितमेकम्, पार्श्वे षट्त्रिंशदेकस्मिन्। द्वितीयेऽप्येवम्, पृष्ठे त्रिंशदष्टावुरसि, द्वे अंसफलके'।

श्रोणि प्रान्त में ५ अस्थियां होती हैं इनमें गुदा, भग तथा दोनों नितम्बों में मिलकर चार तथा त्रिक में एक, पार्श्व में ३६ इतना ही दूसरे पार्श्व में, छाती में आठ तथा अंसफलक (Scapula) में दो अस्थियां होती हैं।

'ग्रीवायां, नव, कण्ठनाड्यां चत्वारि, द्वे हन्वोः, दन्ता द्वात्रिंशत्, नासायां, त्रीणि, एकं तालुनि, गण्डकर्णशङ्खेष्वेकैकं, षट् शिरसीति।

ग्रीवा में ९, कण्ठनाड़ी में ४, हनु में दो अस्थियां, दांत ३२, नाक में ३, तालु में एक, गण्ड, कर्ण तथा शंख इनमें एक एक (इस तरह दोनों तरफ के कुल मिला कर ६) तथा ६ अस्थियां सिर में होती हैं।

अस्थियों का जो आधुनिक परिगणन किया जाता है उसमें दांत तथा तरुणास्थियों का परिगणन नहीं होता है, किन्तु ४० से ५० वर्ष पूर्व परिगणन किया जाता था, इनकी संख्या निम्न प्रकार से होती है। सिर या करोटि में अस्थियां एक मंजूषा (सन्दूक) की तरह रचना बनाती हैं जिसके भीतर शारीरिक साम्राज्य का अधिपति मस्तिष्क (Brain) सुरक्षित रहता है।

सिर की ८ अस्थियां

संमुखकपालास्थि (Frontal bone)	१	शंखास्थि (Temporal)	२
पार्श्वकपालास्थि (Parietal)	२	झर्झरास्थि (Ethmoid)	१
पश्चात्कपालास्थि (Occipital)	१	जतुकास्थि (Sphenoid)	१

सब मिलाकर आठ अस्थियां सिर में होती हैं।

मुख की १४ अस्थियां

२ नासास्थि (Nasal)	२ तात्वस्थि (Palatal)
२ ऊर्ध्वहन्विकास्थि (Maxilla)	२ नासाफलकास्थि (Inferior Nasalconcha)
२ गण्डास्थि (Malar or cheeck bones)	१ हलाकार-अस्थि (Vomer)
२ अश्रुविका (Lachrymal)	१ अधोहन्विका (Mandible or Inferior Maxillary

योग १४

ऊर्ध्वशाखा Uppar limbs की ६४ अस्थियां—

जिह्वामूलकास्थि (Hyoid)	१	प्रगण्डिका (Humerus)	२
अक्षक (Clavicle)	२	अन्तःप्रकोष्ठास्थि (Ulna)	२
अंसफलक (Scapula)	२	बहिः प्रकोष्ठास्थि (Radius)	२

मणिबन्ध की अस्थियां (Wrist or Carpal bones) १६

करमास्थियां (हस्ततल में) (Meta Carpal bones) १०

अंगुलियों में (Phalanges) में २८ (३ × ४ = १२ अंगुलियों में तथा २ अंगूठे में = १४ एक हाथ में १४ + २ = २८ दोनों हाथों में मिलाकर)

योग ६४

अधः शाखा की ६२ अस्थियां—

श्रोणिफलक या नितम्बास्थि (Hip bone or ossa innaminata) २

उर्विका (Femur)	२	गुल्फ देश में (Tarsal bones)	१४
जानुकपालास्थि या जानुचक्रास्थि (Fatella)	२	प्रपद या पादतल की अस्थियां (Meta tarsal bones)	१०
अन्तर्जङ्घिका (Tibia)	२		
बहिर्जङ्घिका (Fibula)	२	अङ्गुलियों में (Phalanges)	२८

अधः शाखा की अस्थियां कुल ६२ हुई

पृष्ठवंश में २६ अस्थियां हैं इनके बीच में एक गोल छिद्र होता है जिसमें सुषुम्णा (spinal chord) रहती है उन अस्थियों के ५ समूह होते हैं।

पृष्ठवंश की अस्थियां कशेरुकायें (Vertebra) कही जाती हैं।

पृष्ठवंश की २६ अस्थियां—

ग्रीवा की (Cervical) कशेरुका (Vertebrae)	७	त्रिकप्रदेश में त्रिकास्थियां (Sacrum)	१
पीठ की (Thoracic) कशेरुका	१२	गुदा प्रदेश में पुच्छास्थि (Coccyx)	१
कटि की (Lumber) कशेरुका	५		
योग	२६		

त्रिकास्थियां (Sacrum) अस्थि की परीक्षा करने पर वह ५ कशेरुकों के मिलने से बनी मालूम होती है इसी प्रकार पुच्छास्थि (Coccyx) भी ४ अस्थियों से मिलकर बनी है।

वक्ष की २५ अस्थियां—

उरोऽस्थि (Sternum) १ । पर्शुकायें (Rids) २४

योग २५

कान के भीतर मध्यकर्ण में ६ छोटी छोटी अस्थियां रहती हैं। प्रत्येक कर्ण के भीतर मध्य कर्ण में ३-३ अस्थियां होती हैं। जिनके नाम ये हैं।

कान की ६ अस्थियां—

धर्मिकास्थि (इङ्कस) २ मुद्गरास्थि (मैलियस) २ रकाबास्थि (स्टैपीज) २ योग ६।

इस प्रकार सामान्य २०६ अस्थियां मानी जाती हैं।

अस्थियों के प्रकार

जैसा कि सुश्रुत लिखते हैं :—

'एतानि पञ्चविधानि भवन्ति तद्यथा—कपालरुचकतरुणवलयनलकसंज्ञकानि'

अर्थात् १ कपाल, २ रुचक, ३ तरुण, ४ वलय, ५ नलक इस भांति से पांच प्रकार की अस्थियां होती हैं।

१ कपाल।

२ रुचक—(दांत) ये आज से प्रायः ५० वर्ष पूर्व अस्थि में ही पाश्चात्य सिद्धान्त के अनुसार भी गिने जाते थे किन्तु आजकल अस्थियों की रचना से इनकी रचना भिन्न होने के कारण अस्थि से पृथक् गिने जाते हैं।

३ तरुण-आजकल पाश्चात्य विज्ञान के अनुसार इनको सक्थि (Cartilage) कहा जाता है। ये भी अस्थियों से पृथक् माने जाते हैं।

४ वलय-पर्शुका आदि मुड़ी हुई अस्थियां इसके अन्दर आती हैं।

५ नलक-Long bones दीर्घ अस्थियां।

अस्थियों की स्थिति—

'तेषां जानुनितम्बांसगण्डतालुशङ्खशिरःसु कपालानि, दशनास्तु रुचकानि, घ्राणकर्णग्रीवाक्षिकोषेषु तरुणानि, पार्श्वपृष्ठोरःसु वलयानि, शेषाणि नलकसंज्ञकानि'

(सु. शा. अ. ५)

जानु, नितम्ब, स्कन्ध, कपोल, तालु, शंख तथा सिर नें कपालास्थियां (Flats bones) हैं। दांत रुचकास्थियों से निर्मित हैं। नासिका, कर्ण, ग्रीवा तथा अक्षिकोष में तरुणास्थियां हैं। पार्श्व, पृष्ठ तथा वक्ष में वलयास्थियां हैं। इनके अतिरिक्त अन्य (हाथ-पैर आदि) भागों में नलक (Long bones) हैं।

भोज ने भी लिखा है:—

'हस्तपादाङ्गुलितले कूर्चेषु मणिबन्धयोः।
बाहुजङ्घाद्वये चापि जानीयान्नलकानि तु॥'

हाथ-पैर की अंगुलियों और पादतल तथा पाणितल, कूर्च, मणिबन्ध तथा जंघाओं में नलक अस्थियां होती हैं।

अस्थियों के कार्य—

अस्थियां शरीर के सुदृढ़ होने में कारणभूत हैं। इनके कारण ही शरीर अपनी एक आकृति विशेष में स्थित रहता है। अन्यथा दबाव आदि के कारण इनका भी आकार परिवर्त्तित होना संभव था। तथा शरीर के बोझ को संभालने के लिये भी किसी दृढ़ वस्तु की आवश्यकता थी।

इसके अतिरिक्त हाथ, पैर आदि अंगों में जो गति होती है उसका कारण मांसपेशियां हैं तथा ये मांसपेशियां अस्थियों पर ही लगी हुई हैं।

कोमल अङ्गों की रक्षा करना भी अस्थियों का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। वक्ष के भीतर के हृदय तथा फुफ्फुस और उदरगुहा के यकृत तथा प्लीहा प्रभृति कोमल अंग पसलियों द्वारा पूर्णतः सुरक्षित हैं। मस्तिष्क जैसे सुकोमल अंग के लिये प्रकृति ने सिर की अस्थियों की जो सुन्दर मञ्जूषा (सन्दूक) बनाई है वैसा कौन कारीगर बना सकता है? ये ही सब अस्थियों के साधारणतः कार्य हैं।

कार्य के विषय में सुश्रुत लिखते हैं—

'अभ्यन्तरगतैः सारैर्यथा तिष्ठन्ति भूरुहाः।
अस्थिसारैस्तथा देहा ध्रियन्ते देहिनां ध्रुवम् ॥
तस्माच्चिरविनष्टेषु त्वङ्मांसेषु शरीरिणाम्।
अस्थीनि न विनश्यन्ति साराण्येतानि देहिनाम् ॥
मांसान्यत्र निबद्धानि सिराभिः स्नायुभिस्तथा।
अस्थीन्यालम्बनं कृत्वा न शीर्यन्ते पतन्ति वा ॥

जिस प्रकार अन्तःस्थित सार के द्वारा वृक्ष स्थिर रहते हैं, उसी भांति यह मानव शरीर अस्थियों द्वारा धारण किया जाता है। ये अस्थियां शरीर की सारभूत हैं। ये कठिन होने के कारण त्वचा तथा मांसादि के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होतीं। इन्हीं अस्थियों के साथ मांसपेशियां सिरा तथा स्नायुओं के द्वारा बंधी हुई हैं। अस्थि पर आश्रित होने ही के कारण वे कभी नष्ट तथा स्थान से भ्रष्ट नहीं होती हैं।

अस्थियों को भी सजीव अङ्ग होने के कारण पोषण की आवश्यकता होती है। उनके भीतर सूक्ष्म धमनियों द्वारा रक्तप्रवाह होता रहता है। अस्थियां वास्तव में घन तथा सुषिर पर्तों द्वारा बनी हुई हैं। बाहर की तरफ घन भाग तथा भीतर की तरफ अस्थि का कुछ सुषिर भाग होता है। अस्थि के बीच में अस्थिमज्जा पाई जाती है। बड़ी अस्थियों की लाल मज्जा में रक्त के लाल कणों की उत्पत्ति होती है।

मांस धातु—

शरीर में ७ धातुयें ऋषियों ने मानी हैं यथा—

रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः।

रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र ये सात धातुयें हैं। जो आहार प्रतिदिन किया जाता है उसका प्रथम रस बनता है, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा तथा मज्जा से शुक्र का निर्माण होता है। इस प्रकार मांसपेशियां रस से ही बनती हैं। किन्तु मांस के आहार से रस-रक्तादि की अपेक्षा मांस अधिक बनता है। शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न आकार के मांस का समूह रहता है। उन्हें हम पेशियां कहते हैं।

मांसपेशियों का कार्य—

सिरास्नाय्वस्थिपर्वाणि सन्धयश्च शरीरिणाम्।
पेशीभिः संवृतान्यत्र बलवन्ति भवन्त्यतः ॥ सु. शारीर. अ ५.

शरीर की सिरायें, स्नायु, अस्थियों के पर्व तथा सन्धियां, पेशियों से भलाभांति आवृत हैं। अतः वे (सिरा आदि) बलवती होती हैं।

शरीर में चलने-फिरने, उठने-बैठने आदि में गति होती है। इसके अतिरिक्त हाथ को हिलाना, पलकों को चलाना, बोलना, श्वास, मैथुन आदि जितनी भी गतियां शरीर में होती हैं मांस ही सब का कारण है। विना मांस के किसी भी स्थान में गति नहीं होती। इस प्रकार किसी प्रकार की गति के लिये मांस आवश्यक है। इन में सङ्कुचित तथा विस्तृत होने का खास गुण होता है।

सारे शरीर के मांसों को पाश्चात्त्य विज्ञान के अनुसार दो भागों में विभाजित किया जाता है।

१—ऐच्छिक मांसपेशियां। २—अनैच्छिक मांसपेशियां।

१—ऐच्छिक पेशियां वे हैं जिन पर अपना अधिकार है जिनका इच्छानुसार संकोच तथा विस्तार कर सकते हैं, प्रायः अस्थियों पर लगी हुई पेशियां इसी समूह की होती हैं।

२—अनैच्छिक मांसपेशियां वे हैं जिन में अपनी इच्छा के अनुसार संकोच या विस्तार आदि कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकते, आन्त्र आदि शरीर के भीतरी अङ्ग इन्हीं पेशियों से निर्मित हैं।

पेशियों की संख्या

'पञ्च पेशीशतानि भवन्ति, तासां चत्वारि शतानि शाखासु, कोष्ठे षट्षष्टिः, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं चतुस्त्रिंशत्' ॥ सुश्रुत शारीर० अ० ५ ॥

पेशियां ५०० होती हैं, उनमें शाखा में ४००, कोष्ठों में ६६ तथा ग्रीवा में ३४ ये मिलकर ५०० होती हैं।

'एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां तिस्रस्तिस्रस्ताः पञ्चदश, दश प्रपदे, पादोपरि कूर्चसन्निविष्टास्तावत्य एव, दश गुल्फतलयोः, गुल्फजान्वन्तरे विंशतिः, पञ्च जानुनि, विंशतिरूरौ, दश वङ्क्षणे, शतमेवमेकस्मिन्सक्थ्नि भवन्ति। एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ'।

पैर की १०० मांसपेशियां—

प्रत्येक पैर की अङ्गुलियों में ३-३ (३+५) १५ पेशियां

पैर के अगले प्रान्त (प्रपद) में	१०	गुल्फ तथा जानु (घुटने) के भीतर	२०
(प्रपदं पादाग्रमिति डल्हणः)		जानु में	५
पैर के ऊपर कूर्च स्थान में लगी हुई पेशियां	१०	ऊरु (जांघ) में	२०
गुल्फ (टखना) पादतल में मिलकर	१०	वङ्क्षण सन्धि में	१०

योग १००

इस प्रकार कुल शाखाओं में (१००×४) ४०० मांसपेशियां हुईं।

कोष्ठ की ६६ मांसपेशियां—

तिस्रः पायौ, एका मेढ्रे, सेवन्यां चापरा, द्वे वृषणयोः, स्फिचोः, पञ्च पञ्च, द्वे वस्तिशिरसि, पञ्चोदरे, नाभ्यामेका, पृष्ठोर्ध्वसन्निविष्टाः पञ्च पञ्च दीर्घाः, षट् पार्श्वयोः, दश वक्षसि, अक्षकांसौ प्रति समन्तात् सप्त, द्वे हृदयामाशययोः, षड् यकृत्प्लीहोण्डुकेषु।

गुदा में ३ पेशियां, लिङ्ग में १, सीवनी में १, अण्डों में २, चूतड़ के दोनों ओर की ५-५ मिलाकर १०, वस्ति के ऊपरी भाग में २, उदर में ५, नाभि में १, पृष्ठ के ऊर्ध्व भाग में लगी हुई दीर्घ पेशियां (प्रत्येक ओर ५-५) १०, पार्श्व में ६, वक्ष में १०, अक्षक तथा स्कन्ध के चारों ओर मिलाकर ७, हृदय तथा आमाशय में २, यकृत, प्लीहा तथा उण्डुक [मलाशय] में ६।

कोष्ठ की कुल पेशियों का योग ६६

ग्रीवा की ३४ पेशियां—

ग्रीवायां चतस्रः, अष्टौ हन्वोः, एकैका काकलकगलयोः, द्वे तालुनि, एका जिह्वायाम्, ओष्ठयोर्द्वे, नासायां द्वे, द्वे नेत्रयोः, गण्डयोश्चतस्रः, कर्णयोर्द्वे, चतस्रो ललाटे, एका शिरसीति पञ्च पेशीशतानि ।

ग्रीवा में ४, दोनों हनु में ८, काकलक (घांटी) में १, गले के भीतर १, तालु में २, जिह्वा में १, ओष्ठों में २, नासिका में २, नेत्रों में २, कपोल में ४, कान में २, ललाट में ४, सिर में १।

ग्रीवा की कुल पेशियों का योग ३४

शाखाओं की पेशियां ४००

मध्य कोष्ठ की कुल पेशियां ६६

ग्रीवा से ऊपर ३४

इस भांति कुल पेशियों का योग ५०० होता है।

आधुनिक शरीर-शास्त्रज्ञ पेशियों की संख्या ५१९ मानते हैं।

इन ५१९ पेशियों में से प्रायः ४५० अस्थियों पर लगती हैं तथा उनके गति की प्रवर्त्तक होते हैं शेष ६९ स्वरयंत्र, जिह्वा, तालु, कण्ठ, नेत्र तथा कर्ण आदि में लगी रहती हैं।

प्रायः शरीर की मध्य रेखा के दोनों तरफ दायें तथा बायें समूह में पेशियां होती हैं।

आधुनिक मत से मांसपेशियों की संख्या—

ऊर्ध्व शाखा की मांसपेशियां (५९—५९) = ११८

अधः शाखा " " " (५९—५९) = ११८

मध्य शरीर (धड़) " " (६७—६७) = १३४

सिर तथा ग्रीवा " " (४०—४०) = ८०

योग ४५०

वक्षोदर मध्यस्था पेशी	**१.**	**स्वरयन्त्र-की विशेष पेशियां**	**५.**
गले की मांसपेशियां	**५.**	**बाह्य कर्ण " "**	**६.**
जिह्वा की विशेष पेशियां	**४.**	**मध्य कर्ण " "**	**२.**
तालु " "	**४.**	**अक्षिगोलक तथा ऊपरी पलक**	**७.**

योग ३४

यह एक ओर का हुआ दोनों भीतर तथा बाहर के ओर की पेशियों की संख्या = (३४ × २)= ६८ इस प्रकार ४५०

६८ ग्रीवा तथा नेत्र गोलक आदि की पेशियां

१ वक्षोदर मध्यस्था

कुल पेशियां ५१९

पेशियों की स्थिति तथा कार्य के अनुसार विविध नाम उनके दिये गये हैं। जो कि प्रसंग बढ़ जाने के भय से यहां नहीं लिखे जा सकते।

नारी-जननेन्द्रियों का संक्षिप्त विवरण—

सुश्रुत ने योनि की जो परिभाषा लिखी है उसके अनुसार आजकल के भग (Vulba), योनि (Vagina) तथा गर्भाशय (Uterus) ये सभी अङ्ग आ जाते हैं। सुश्रुत लिखते हैं—

शङ्खनाभ्याकृतिर्योनिस्त्र्यावर्त्ता सा प्रकीर्त्तिता। तस्यास्तृतीये त्वावर्त्ते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता॥

यथा रोहितमत्स्यस्य मुखं भवति रूपतः। तत्संस्थानां तथारूपां गर्भशय्यां विदुर्बुधाः॥
(सुश्रुतसंहिता)

इससे स्पष्ट विदित होता है कि योनि के भीतरी भाग को ही वे गर्भाशय मानते हैं। इस विषय में आधुनिक वैज्ञानिकों का जो वर्णन मिलता है संक्षेप में उसकी चर्चा अनावश्यक न होगी। वे उत्पादक अङ्गों (Genaratine Organs) को दो भागों में विभाजित करते हैं—

१ बाह्य जननेन्द्रियां तथा २ आभ्यन्तरिक जननेन्द्रियां।

१ बाह्य जननेन्द्रियां-वे हैं जो बाहर से देखी जाती हैं। इनके समूह को (Vulba) कहते हैं।

२ आभ्यन्तरिक जननेन्द्रियां-वे हैं जो कि वस्तिगुहा (Pelvic cavity) के अन्दर रहती हैं।

बाह्यजननेन्द्रियां—इनमें निम्न भाग आते हैं।

१ कामाद्रि (Mous veneres)	२ बृहद् भगोष्ठ (Labia majora)
३ क्षुद्रभगोष्ठ (Lmiaibnora)	४ भगाङ्कुर (Clitoris)
५ योनिद्वार (Vaginal orifice)	६ मूत्रद्वार (Urethral orifice)

७ योनिच्छद (Hyman).

इनमें से प्रत्येक का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है :—

१ कामाद्रि (Mous veneres)—भग के ऊर्ध्वप्रदेश में होता है। तथा विटपसन्धि की सीध में होता है। इस स्थान में नीचे की ओर वसा (fat) रहती है। युवावस्था (Puberty) के आने पर इस स्थान पर लोम उगते हैं।

२ बृहद् भगोष्ठ (Labia majora)– ये दो होते हैं। १-वाम बृहद् भगोष्ठ तथा दक्षिण बृहद् भगोष्ठ। ये योनिद्वार (Vaginal orifice) के दोनों ओर होते हैं। इनके नीचे वसा (fat) होती है। युवावस्था में इन पर लोम उगते हैं। बाल्यावस्था में ये दोनों बृहद्भगोष्ठ परस्पर मिले रहते हैं। मैथुन वा प्रसव होने के बाद ये दोनों पृथक् हो जाते हैं।

३ क्षुद्रभगोष्ठ—ये भी संख्या में दो होते हैं और बृहद्भगोष्ठों (Labia majora) के भीतर तथा योनिद्वारों के आस पास होते हैं। इनमें वसा कम होती है अतः ये पतले होते हैं। ये जिस समय भगांकुर के पास पहुंचते हैं उस समय दो भागों में विभाजित हो जाते हैं।

४ भगाङ्कुर (Clitoris)—ऊपर की तरफ, जहां पर दोनों बृहद्भगोष्ठ मिलते हैं, उसके प्रायः आधा इंच के नीचे होता है। यह लचकीला होता है। मैथुन के समय यह उत्तेजित हो जाता है और शिश्न की भांति स्पर्श में कठिन प्रतीत होता है।

५ योनिद्वार (Vaginal orifice)—यह बृहद् तथा क्षुद्र भगोष्ठों के मध्य में छिपा हुआ होता है। यदि अंगुलियों द्वारा भगोष्ठों को पृथक् करें तो भग के निचले भाग में योनिद्वार दिखाई देगा।

६ मूत्रद्वार (Vaginal orifice) यह योनिद्वार (Urethral orifice) के आधे इञ्च ऊपर होता है।

७ योनिच्छद (Hyman)—यह एक झिल्ली (Membrane) है जो कि योनिद्वार (Vaginal orifice) को बन्द किये रहती है। इसके बीच में छोटा-सा छिद्र होता है जिससे कि युवावस्था में आर्तव निकला करता है। प्रथम-सम्भोग में यह झिल्ली फट जाती है। कभी-कभी आघात के कारण भी योनिच्छद फट जाता है। योनिच्छद की उपस्थिति स्त्री-सतीत्व की अक्षुण्णता को प्रमाणित करती है। कभी-कभी मैथुन के समय योनिच्छद नहीं फटता इस अवस्था में पशुवत् अधिक बल प्रयोग न करके शस्त्रकर्म (Operation) द्वारा उसे कटवा देना चाहिये।

आभ्यन्तरिक जननेन्द्रियां—इसमें निम्न अङ्ग आते हैं ।

१ योनि (Vagina)	३ डिम्बप्रणाली (Fallopian tube)
२ गर्भाशय (Uterus)	४ डिम्बग्रन्थि (Ovary)

इनके संक्षिप्त विवरण नीचे दिये जा रहे हैं ।

१ योनि—

यह एक नलिका है जो भग से गर्भाशय के बीच में रहती है। इसकी अग्रिम भित्ति (anterior wall) २ से ३ इञ्च लम्बी तथा पश्चिम भित्ति ३ से ४ इञ्च लम्बी होती है। इसके सामने की ओर मूत्रप्रणाली (Urethra) और मूत्राशय (Bladder) तथा पीछे की ओर मलाशय (Rectum) रहता है। इसकी पूर्व तथा पश्चिम भित्तियां परस्पर मिली रहती हैं। यह नलिका आवश्यकता पड़ने पर (जैसे प्रसव के समय) बढ़ तथा फैल सकती है। गर्भाशय-ग्रीवा (Cervix) का कुछ भाग योनि में आता है। इस प्रकार योनि में चार कोण (Fornix) बन जाते हैं। जो ग्रीवा के सामने होता है वह अग्रकोण (anterior fornix), जो पीछे होता है वह पश्चात् कोण (Posterior fornix) तथा जो पार्श्व में २ कोण बनते हैं उन्हें (Lateral fornices) कहते हैं। पश्चात् कोण (Posterior fornix) सबसे अधिक गहरा है। योनि से एक विशिष्ट स्राव निकला करता है इसकी प्रतिक्रिया आम्लिक होती है। योनि में उपस्थित एक विशेष प्रकार के कीटाणु (डोडरलीन के जीवाणु) तक्राम्ल (Lactic acid) पैदा करते हैं जो कि प्रायः अन्य जीवाणुओं के लिये घातक होता है। इस प्रकार बाहर से किसी प्रकार विकार उत्पन्न करने वाले जीवाणु वहां पहुंच जायें तो भी वे इस तक्राम्ल (Lactic acid) के कारण नष्ट कर दिये जाते हैं।

२ गर्भाशय—

योनि के ऊपरी भाग से इसका प्रारम्भ होता है। इसके सामने की ओर मूत्राशय (Bladder तथा पीछे की ओर मलाशय होता है। यह बड़े अमरूद के आकार का किन्तु सामने तथा पीछे की ओर चपटा होता है। सुश्रुत ने रोहित-मत्स्य के मुख से गर्भाशय की उपमा दी है।

यथा रोहितमत्स्यस्य मुखं भवति रूपतः।
तत्संस्थानां तथारूपां गर्भशय्यां विदुर्बुधाः।

गर्भाशय में ही गर्भ का पोषण होता है, यहीं गर्भ अपनी पूर्ण वृद्धि तक पहुंचता है तथा प्रसव के समय बाहर निकलता है। गर्भाशय के तीन भाग हैं—

ऊपर का भाग मुण्ड १ (Lundus). मध्य का भाग गात्र (Body) तथा इससे नीचे का भाग ग्रीवा (Cervix) है।

गर्भाशय की श्लैष्मिक कला (Endometrium) में नलिकाकार ग्रन्थियां (Tubular glands) होती हैं जिनसे क्षारीय स्राव निकलता रहता है। गर्भाशय के दोनों ओर दो विस्तृत स्नायु (Broad ligaments) होते हैं तथा पीछे की तरफ दो बन्धन होते हैं उन्हें गर्भत्रिक स्नायु (Uterosa cialligaments) कहते हैं, वे पीछे की तरफ त्रिकास्थि के उभरे हुये भाग (Promontry) पर लगे हुये हैं। गोलबन्धन (Roundligaments) ये भी संख्या में दो होते हैं। ये इतने ढीले होते हैं कि यह कहना कि गर्भाशय को उसके स्थान से भ्रंश होने से बचाते हैं अधिक उचित नहीं प्रतीत होता। हां गर्भाशय-भ्रंश को ठीक करने में अवश्य सहायक होते हैं। साधारण स्थिति में गर्भाशय कुछ मूत्राशय की तरफ को झुका रहता है तथा जिस स्थान पर गात्र ग्रीवा से मिलता है वहां पर गर्भाशय अपने ही ऊपर कुछ मुड़ा होता है इस प्रकार गर्भाशय (Slightly anteverted and antifixed) रहता है।

उदर की परिविस्तृत कला (Feritoneum) मूत्राशय के ऊपर से होकर गर्भाशय की पूर्व भित्ति पर पहुँचती है। इस प्रकार मूत्राशय की पश्चिम भित्ति (Posterior wall) तथा गर्भाशय की पूर्व भित्ति (anterior wall) के बीच एक खात बनता है 'इसका नाम (Uterovasical ponch) है। इसके बाद परिविस्तृत कला गर्भाशय के पश्चात् भित्ति से होकर फिर मलाशय पर चली जाती है और मलाशय से आगे आन्त्रनिबन्धन-कला (mesentry) से मिल जाती है। इस प्रकार मलाशय तथा मूत्राशय के बीच एक खात उत्पन्न होता है उसे (Rectal uterin ponch or Ponch of Douglas) कहते हैं।

गर्भाशय की आकृति तथा तौल, तथा इसके बन्धन, उदर का दाब (intra abdominal pressure) तथा वस्ति गुहा की नीचे की भित्ति (Pelvicflore) ये सब मिलकर गर्भाशय को अपनी स्थिति में रखते हैं। इनके विकार से गर्भाशय की स्थान से विच्युति (displacement) होती है।

३ डिम्ब प्रणाली (Fallopian tube)—

ये गर्भाशय के पार्श्विक कोणों से प्रारम्भ होती हैं। दोनों तरफ दो डिम्बप्रणालियां होती हैं तथा विस्तृत स्नायु (Broad ligaments) के ऊपरी भाग से आच्छादित रहती हैं। इनकी लम्बाई ४ इञ्च है। इस नलिका के चार भाग किये जाते हैं।

१ प्रथम—गर्भाशय के अन्दर रहने वाला भाग (Interstetial)

२ दूसरा—इसके आगे का संकीर्ण भाग (Esthmus)

३ तीसरा—इसके आगे का अपेक्षा कृत विस्तृत भाग (Infundibulum)

४ चौथा—इस नलिका के झालरदार सिरे का भाग (Fimbriated end) कहा जाता है।

दोनों नलिकायें (Infundibul pelvic fragments) के द्वारा वस्तिगुहा के पार्श्विक भाग से सम्बन्धित हैं।

४ डिम्बग्रन्थि (Ovary)—

ये बदाम के आकार की दो ग्रन्थि हैं जो कि विस्तृत स्नायु के पश्चिम भित्ति पर लगी हुई हैं। ये $1\frac{1}{2}$ डेढ़ इञ्च लम्बी तथा $\frac{3}{4}$ पौन इञ्च चौड़ी तथा $\frac{1}{2}$ आधी इञ्च मोटी होती हैं। प्रत्येक डिम्बग्रन्थि में अनेक डिम्बकोष (Craffian folliole) होते हैं तथा इन डिम्बकोषों में एक एक डिम्ब (Ovum) होता है। जिस समय डिम्ब परिपक्व (Ripe) होता है उस समय डिम्बकोष (Graffian folliole) फट जाता है और (Ovum) डिम्बप्रणाली (Fallopian tube) में प्रविष्ट होता है। इस प्रकार डिम्बप्रणाली ही में शुक्र से उसका सम्पर्क होता है तथा वहां भ्रूण की वृद्धि ६ दिन तक होती है। इसके उपरान्त भ्रूण गर्भाशय में प्रवेश करता है तथा नवम मास पर्यन्त वहीं बढ़ता रहता है। डिम्बकोष के फटने पर रिक्त डिम्बकोष में रक्त एकत्र होता है जो कुछ समय में एक पीतवर्ण के पिण्ड में परिवर्तित हो जाता है। इसे (Corpus luteum) कहते हैं। गर्भाधान हो जाने पर इसमें कुछ और परिवर्तन होते हैं तथा यह बढ़ता है। किन्तु गर्भाधान न हुआ तो यह मुरझा कर श्वेत वर्ण का हो जाता है।

डिम्ब—(Ovum) – यह एक गोल तन्तु (Cell) है इसका व्यास $\frac{1}{120}$ इञ्च है।

नारियों के स्तन का विवरण—

स्तन—इनका जननेन्द्रियों में परिगणन नहीं है किन्तु जननेन्द्रियों से इनका सम्बन्ध अवश्य है। स्तन के स्पर्श से वहां की नाड़ी में किसी प्रकार उत्तेजना से गर्भाशय में संकोच प्रारम्भ हो

जाता है तथा स्त्री एक विशेष आनन्द का अनुभव करती है। उत्तेजना की अवस्था में स्तन दृढ़ तथा चूचुक कड़े हो जाते हैं।

ये स्तन वक्ष में ऊपर की ओर द्वितीय पर्शुका से लेकर नीचे छठीं पर्शुका तक होते हैं। तथा सामने से पीछे की ओर वक्षिका (Slesunm) के किनारे से लेकर मध्यकक्षीयरेखा (Midaxillary line) तक होते हैं। ये अर्द्धवृत्ताकार होते हैं, इनके ऊपरी भाग में एक वर्तुल उभार होता है जिसे चूचुक (Nipple) कहते हैं। इसमें १२ से २० छिद्र होते हैं जिनसे कि दुग्ध-स्रोतों द्वारा दुग्ध निकलता है। चूचुक के चारों ओर एक गहरे रङ्ग का मण्डल होता है इसे **स्तनमण्डल** (Areola) कहते हैं। स्तन के भीतर अनेक दुग्धग्रन्थियां (Lactals) होती हैं तथा वसा भी उपस्थित रहती है। ये दुग्धवाहिनियां रथ के चक्र की भांति (Jupiradiating manner) स्तन में स्थित हैं।

पुरुष-जननेन्द्रियों का संक्षिप्त विवरण—

इसमें १—**अण्ड** (scrotum)। २—**उपाण्ड**। ३—**अण्डरज्जु** (Spermatic cord)। ४—**शुक्राशय**। ५—**शिश्न** ये अङ्ग जाते हैं।

१ अण्ड—

ये संख्या में दो होते हैं। यहां का चर्म एक प्रकार के थैले की भांति रचना बनाता है। इस प्रकार—दो थैलों में दो अण्ड रहते हैं, इनकी उत्पत्ति उदरगुहा में होती है। भ्रूण के आठवें मास के अन्त में ये उदरगुहा से निकल कर अपने निवासस्थानभूत थैले में पहुँच जाते हैं। उदरगुहा से ये अण्डकोश **अण्डरज्जु** (Spermatic cord) द्वारा लटकते रहते हैं। इनके ऊपर एक आवरण होता है उसे **अण्डवेष्ट** (Tunica vaginalis) कहते हैं। इसके स्तरों के बीच में कुछ द्रव रहता है जब इस द्रव की मात्रा अधिक बढ़ जाती है तो उसे **अण्डतरलातिवृद्धि** (Hydrooyl) कहते हैं। इन अण्डों के तन्तुओं (सेलों) द्वारा शुक्र (Semen) का निर्माण होता है।

२ उपाण्ड—

ये अण्डों के ऊपर चिपके हुये रहते हैं इनके निचले भाग से अण्डरज्जु प्रारम्भ होते हैं।

३ अण्डरज्जु—

ये रस्सी की भांति होते हैं। उनमें एक अत्यन्त सूक्ष्म आलपीन के नोक के समान एक सूक्ष्म छिद्र होता है इसी के द्वारा शुक्र शुक्राशय को जाता है। ये उपाण्ड से प्रारम्भ होकर उदर में (Through the external abdominal ring. ingoinal canal and internal abdominal ring.) प्रवेश करते हैं, वहां से जाकर वे नीचे की तरफ घूम कर मलाशय तथा मूत्राशय के बीच में स्थित शुक्राशय में खुलते हैं।

४ शुक्राशय—

ये अत्यन्त घूमे हुये होते हैं। मलाशय तथा मूत्राशय के बीच में इनकी स्थिति होने के कारण मलाशय तथा मूत्राशय के भरे रहने पर इन पर दाब पड़ता है। इस प्रकार मूत्र तथा मल से तथोक्त आशयों के भरे होने पर स्वप्न में शुक्रमेह की सम्भावना अधिक होती है। जैसा कि नाम से ही प्रकट है। अण्डों द्वारा बना हुआ शुक्र इन्हीं में आता है। ये आगे चलकर पतली नलिका (इजोकुलेटरी डक्ट) में समाप्त होते हैं जो कि (नलिका) मूत्रमार्ग में जाकर खुलती है।

५ अष्ठीलाग्रन्थि (प्रोस्टेट)—

यह युवावस्था में मूत्रनलिका के प्रारम्भिक १ से १। इञ्च भाग को चारो तरफ से आवृत किये रहती है। मैथुन के समय इसका स्राव भी शुक्र में मिल जाता है।

६ शिश्न—

यह मांसपेशियों के ३ दण्डिकाओं से निर्मित है, दो दण्डिकायें पार्श्व तथा कुछ ऊपर की ओर तथा एक दण्डिका नीचे की तरफ होती है, ऊपर के दण्डिकाओं में केशिकाओं की अत्यन्त अधिकता है तथा इनमें कोई छिद्र नहीं होता है। नीचे का दण्ड पोला होता है। इसमें एक नलिका होती है जिसके द्वारा शुक्र तथा मूत्र निकलते हैं। ऊपर की दोनों दण्डिकायें शिश्नमुण्ड के पास पहुंचने के पूर्व ही समाप्त हो जाती हैं, केवल नीचे की दण्डिका आगे चल कर छत्र की भांति विस्तृत हो जाती है इसे ही **शिश्नमुण्ड** कहते हैं। इसमें एक छिद्र होता है। जिसके द्वारा शुक्र तथा मूत्र बाहर निकलते हैं। ये तीनों शिश्न दण्डिकायें परस्पर संयुक्त रहती हैं। इनके ऊपर त्वचाओं का आवरण रहता है। शिश्न अचैतन्यावस्था में ३ से ४ इञ्च लम्बा होता है और मृदु होता है किन्तु चैतन्यावस्था में उपरोक्त शिश्न-दण्डिका ही फूल कर मोटी हो जाती है और शिश्न अपेक्षाकृत अधिक लम्बा (६ से ९ इञ्च तक) तथा कठिन हो जाता है। इसका कारण यह है कि पूर्व कही हुई दोनों शिश्न-दण्डिकाओं की रचना ऐसी है कि उसमें बहुत से कोष्ठक हैं और इन कोष्ठकों में सूक्ष्म केशिकाओं का जाल-सा बिछा हुआ है। जब किसी प्रकार उत्तेजना होती है तो ये केशिकायें रक्त से परिपूर्ण हो जाती हैं। अतः यही रक्त-परिपूर्णता शिश्न के काठिन्य में कारण है; कार्य-निवृत्ति के अनन्तर तथोक्त केशिकाओं से रक्त लौटकर पुनः स्वस्थान में (समीपस्थ रक्तवाहिनी धमनियों तथा सिराओं में) पहुँच जाता है अतः शिश्न पुनः शिथिल हो जाता है। जननेन्द्रिय का विषय अत्यन्त विस्तृत है। उसका संक्षेपातिसंक्षेप में यहां वर्णन किया गया है। पाठक अधिक विवरण के लिये जननेन्द्रिय-सम्बन्धी पाश्चात्य विद्वानों द्वारा रचित ग्रन्थों का अध्ययन करें।

आर्त्तव-गर्भाधान तथा बन्ध्यात्व का संक्षिप्त विवरण—

Menstruation is the periodicflow of blood and mucusgrom the Uterus commences at puberty (Ten Teachers.)

योनि से प्रतिमास रक्तयुक्त श्लेष्मा का स्राव होता है, इसी का नाम आर्त्तव है। यह भारत में प्रायः १२ से १४ वर्ष की आयु में प्रारम्भ होता है तथा ४०-५० वर्ष की आयु में समाप्त होता है। इस अवस्था को रजोनिवृत्ति वा (Menopause) कहते हैं। यह रक्तस्राव गर्भाशय से आता है। जिस समय सर्वप्रथम आर्त्तव होता है उसे रजोदर्शन कहते हैं। आर्त्तव प्रारम्भ होने के दिन से १६ दिन पर्यन्त ऋतुकाल कहा जाता है। आर्त्तव का होना यह सूचित करता है कि कन्या अब युवती हो गई तथा गर्भाधान के सर्वथा योग्य हो गई है। इसके प्रारम्भ होने का समय १२ से १९ वर्ष तक हो सकता है।

आर्त्तव पर निम्न बातों का प्रभाव पड़ता है—

जलवायु :—शीत प्रधान देशों की अपेक्षा उष्ण प्रधान देशों में रजोदर्शन शीघ्र होता है।

जाति—भिन्न-भिन्न जातियों के रजोदर्शन के समय में कुछ भिन्नता होती है।

सामाजिक आहार-विहार—पौष्टिक तथा उत्तेजना उत्पन्न करने वाले आहार, परिश्रम न करना, उपन्यास आदि अधिक पढ़ना तथा विलासिता पूर्ण जीवन ये सब कारण आर्त्तव को शीघ्र पैदा करते हैं। आर्त्तव प्रारम्भ होने के समय स्त्री में शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन होते हैं। स्तनों की वृद्धि होती है। स्त्री इस समय अपूर्व लावण्य से सुशोभित हो जाती है, उसका वर्ण पहले की अपेक्षा अधिक निखर आता है तथा उसे जननेन्द्रिय-सम्बन्धी उत्तेजनाओं का अनुभव होने लगता है। आर्त्तव के लिये दो शब्दों का प्रयोग होता है।

आर्त्तवकालान्तर—(Menstrula type)—दो आर्त्तवों के अन्तर का समय आर्त्तव काल कहा जाता है। साधारणतः यह २८ दिन का होता है। किसी-किसी स्त्रियों में यह २१ से ३० दिन के अन्तर पर भी होता है किन्तु यदि नियत समय पर आर्त्तवस्राव होता रहे तो उसे साधारण समझना चाहिये किन्तु यदि आर्त्तव होने के समय में अनियमितता (Irregularity) हो तो वह किसी विकृति का निदर्शक है।

आर्त्तवस्रावकाल (Menstrula habit)—यह प्रायः ४ से ५ दिन तक होता रहता है। कभी-कभी यह कुछ घण्टे से ८–१० दिन तक भी जारी रहता है। आर्त्तव के विषय में सुश्रुत ने लिखा है—

तथा च—

तद्वर्षाद् द्वादशादूर्ध्वं वर्त्तमानमसृक् पुनः। जरापक्वशरीराणां याति पञ्चाशतः क्षयम्॥

पूर्व में कहा जा चुका है कि आर्त्तव के प्रथम दिन से १६ दिन पर्यन्त ऋतुकाल होता है यही ऋतुकाल गर्भाधान के योग्य कहा जाता है।

जैसा कि सुश्रुत लिखते हैं—

'आर्त्तवस्रावदिवसादृतुः षोडश रात्रयः। गर्भग्रहणयोग्यस्तु स एव समयः स्मृतः॥

किन्तु कभी-कभी आर्त्तवस्राव के विना भी ऋतुकाल होता है जैसे कि दुग्धकाल में, किन्तु गर्भाधान उस समय भी हो सकता है।

विना आर्त्तव के ऋतुकाल का ज्ञान करने के लिये लक्षण दिये जा रहे हैं—

'पीनप्रसन्नवदनां प्रक्लिन्नात्ममुखद्विजाम्। नरकामां प्रियकथां स्रस्तकुक्षिमूर्द्धजाम्॥
स्फुरद्भुजकुचश्रोणिनाभ्यूरुजघनस्फिचम्। हर्षौत्सुक्यपरां चापि विद्यादृतुमतीमपि॥

इस प्रकार आर्त्तवचक्र प्रवर्तित होता रहता है। इस चक्र की ४ अवस्थायें होती हैं।

प्रथम अवस्था (Premenstrual congestion)

यह आर्त्तव निकलने के ४ या ५ दिन पूर्व प्रारम्भ होती है, गर्भाशय की कला में रक्ताधिक्य होता है अतः वह पहले से मोटी और मुलायम हो जाती है।

द्वितीय अवस्था:—यह ४–५ दिन तक रहती है। इस अवस्था में केशिकाओं में और भी अधिक रक्त आता है तथा केशिकाओं से निकल कर गर्भाशय की श्लैष्मिक कला के नीचे इकट्ठा होता है। इसके उपरान्त श्लैष्मिक कला फटती है तथा उसके नीचे जो रक्त इकट्ठा हो रहा था वह अब गर्भाशय में आता है तथा योनि से बाहर निकलने लगता है। इस रक्त में साधारण रक्त से कुछ भिन्नता होती है। इसमें श्लेष्मा मिला रहता है तथा खटिक लवणों की साधारण रक्त की अपेक्षा अधिकता होती है। किन्तु रक्त को जमाने वाले विशेष द्रव्य फाइब्रिन (Fibrin) के अभाव के कारण रक्त जमता नहीं। साधारण रक्त ज्योंही बाह्य धातु के सम्पर्क में आता है त्योंही जम जाता है। उसके जमाने में फाइब्रिन का मुख्य भाग रहता है। आर्त्तव के रक्त में एक विशेष प्रकार का गन्ध होता है तथा इसकी प्रतिक्रिया क्षारीय होती हैं।

तृतीय अवस्था (Postmenstrual evolution)—यह भी सात दिन तक रहती है। इसमें गर्भाशय की केशिकायें, श्लैष्मिककला आदि अपनी पूर्व अवस्था को प्राप्त होती है।

चतुर्थ अवस्था (Interval)—यह आर्त्तव की तृतीया अवस्था है इसको गर्भाशय के विश्राम की अवस्था कह सकते हैं।

जिन चार अवस्थाओं का वर्णन ऊपर किया गया है, वे परिवर्त्तन गर्भाशय (Uterus) के गात्र (Body) में होते हैं। इसके अतिरिक्त गर्भाशय, ग्रीवा (Cervix) तथा डिम्ब-प्रणाली

(Fallopian tube) में रक्ताधिक्य होता है। गर्भाशय, ग्रीवा, योनि (Vagina) तथा भग (Vulba) से एक प्रकार का रस निकलता है, इसे (Meustrual molimina) कहते हैं। आर्त्तव जब प्रारम्भ होने को होता है उस समय स्त्री आलस्य, अरुचि एवं कटि तथा उदर के निचले भाग (पेड़ू) में पीड़ा, भारीपन तथा स्वभाव में कुछ चिड़चिड़ापन इनका अनुभव करती है।

आर्त्तव और डिम्ब परिपक्व होना—

आर्त्तव होने के ५–१४ दिन के अनन्तर डिम्ब (Ovum) डिम्बग्रन्थि (Ovary) से निकलता है, वहाँ से डिम्बप्रणाली से होता हुआ गर्भाशय की ओर चल पड़ता है। शुक्रकीट इस डिम्ब का डिम्बप्रणाली में ही पहुंच कर गर्भित (Fertilize) करता है। अतः गर्भाधान के ख्याल से आर्त्तव के बाद के १०–१५ दिन उपयुक्त हैं। इतने समय में यदि डिम्ब से शुक्रकीट (Spermatozoon) का संसर्ग नहीं होता तो डिम्ब मृत हो जाता है।

डिम्बग्रन्थि Overy तथा डिम्ब का परिपक्व होना (Ovulation)—

गर्भाशय के दोनों ओर दो ग्रन्थियां बादाम के आकार की होती हैं। इसके भीतर अनेक डिम्ब होते हैं। इस ग्रन्थि का नाम Overy है। युवावस्था प्रारम्भ होने पर ये डिम्ब बढ़ते हैं, इनके पूर्ण वृद्धि प्राप्त करने पर डिम्बप्रणाली का इनके निकट का प्रदेश फट जाता है और वहां से डिम्ब बाहर निकलता है। डिम्ब के पक कर बाहर निकलने की इस क्रिया को Ovulation कहते है। आर्त्तव के समय गर्भाशय की कला (Endometrium) में रक्ताधिक्य होता है तथा वह मुलायम हो जाती है जिससे कि भ्रूण वहां पर चिपक सके। आर्त्तव के रक्त में खटिक की अधिकता होती है यह पहले कहा जा चुका है। स्त्री के रक्त में इस खटिक (Calcium) की भ्रूण की वृद्धि के लिये आवश्यकता होती है। गर्भाधान न होने पर रक्त का बढ़ा हुआ खटिक द्रव्य आर्त्तव द्वारा निकल जाता है। इसके साथ ही साथ गर्भाशय कला भी फट जाती है तथा उसके टुकड़े रक्त के साथ निकलते हैं।

'Graen Armytaga' ने लिखा है।

'Menstruation is unfertile Abortion of the unpregnant descidua it is the Uterus weeping for the death of the an unfertilized ovum'.

जब गर्भाधान हो जाता है तब खटिक का उपयोग भ्रूण के शरीर बनने में होता है अतः गर्भावस्था में आर्त्तव बन्द होता है।

पूर्व में कहा जा चुका है कि–आर्त्तव साधारणतः १३ वर्ष से प्रारम्भ होता है और ४० से ५० वर्ष की आयु में बन्द हो जाता है। आर्त्तव जिस समय बन्द होने को होता है (रजोनिवृत्ति के समय) कभी-कभी पाचनसंस्थान, रक्तवाहक संस्थान तथा नाड़ीसंस्थान के कुछ विकार प्रकट होते हैं। पाचनशक्ति में विकृति हो जाती है तथा स्वभाव कुछ चिड़चिड़ा हो जाता है। और कभी-कभी शरीर पर उष्णता की लहरों का प्रवाह सा मालूम होता है। आर्त्तव कभी-कभी थोड़ा-थोड़ा होता रहता है और शनैः शनैः बन्द हो जाता। कभी २ आर्त्तव एकाएक बन्द होता है। स्त्री इस अवस्था में कुछ स्थूल हो जाती है। उदर में मेद बढ़ जाता है। किसी-किसी स्त्री के चेहरे पर झुर्रियां, पुरुषों की तरह रोम उग आते हैं। यह देखा गया है कि यह अवस्था (Menopause) बाल्यावस्था में विवाह हो गया हो तो और भी शीघ्र प्रकट होती है। यदि गर्भाशय या डिम्बग्रन्थि (Ovary) को शस्त्र-कर्म द्वारा निकाल दिया जाय तो आर्त्तव के समय में ही (४० वर्ष के पूर्व ही जिस समय ovary या Uterus को निकाला गया है) रजोनिवृत्ति (Menopause) हो जायगी इसे कृत्रिमरजोनिवृत्ति या (Artificial menopause) कहते हैं।

वास्तव में आर्त्तव प्रारम्भ होने के समय से आर्त्तव बन्द होने के बीच का ही समय सन्तानोत्पत्ति के लिए अच्छा है। प्रायः रजोदर्शन के पूर्व तथा रजोनिवृत्ति (Menopause) के पश्चात् गर्भाधान नहीं होता। आर्तव काल में स्राव की मात्रा २ से ८ औंस तक हो सकती है इससे कम या अधिक स्राव का निकलना किसी विकृति की ओर ध्यान आकर्षित कराता है।

आर्त्तव का रक्त गर्भाशय में जमा हुआ थक्के के रूप में होता है। वह थक्का शनैः शनैः घुल कर द्रवरूप में परिणत होता है इसी को आर्त्तव कहते हैं। यह द्रव होने की क्रिया गर्भाशय में स्थित ग्रन्थियों (uterinegland) के उद्रेचन (Secretion) द्वारा निकले हुए फाइब्रिनोलाइसिन (Fibrinolysin) के कारण होती है। इस फाइब्रिनोलाइसिन का कार्य है कि गर्भाशय के अन्दर जमे हुये रक्त को द्रवरूप में परिणत करे। यथा टेनटीचर (Tenteacher) स्वरचित मिडवाइफरी (Midwifery) में लिखते हैं :—

White house attributes the clotting to throwbokinase derived from the endometrial tissues thrown of during menstruation.

White house Contends that menstruating uterus Normally always contains a clot and this clot gradually eid producing the Fluid which is known as menstrual blood.

'While the solution of the clot, he believes is brought about by fibrinolysin Containd in the secretion of the uterine glands.'

Midwifery by Tenteachers.

आर्त्तव के विकार—

आर्त्तव की अधिक प्रवृत्ति वा आर्त्तवकालानन्तर में भी प्रवृत्ति को रक्तप्रदर या असृग्दर (Excessive and irregular menstruation) कहते हैं। जैसा कि सुश्रुत ने लिखा है :—

'तदेवातिप्रसङ्गेन प्रवृत्तमनृतावपि। असृग्दरं विजानीयादतोऽन्यद्रक्तलक्षणात्' ॥

आधुनिक शास्त्रज्ञ इस रक्तस्राव के लिये दो पृथक् पृथक् संज्ञाओं का व्यवहार करते हैं। यदि आर्त्तवकाल में ही अधिक आर्त्तवस्राव हो तो उसे मेनोरेजिया (Menerrhagia) कहते हैं। तथा यदि आर्त्तवकालानन्तर में भी आर्त्तव दिखाई पड़े तो उसे मेट्रोरेजिया (Metrorrhagia) कहते हैं। सुश्रुत ने आर्त्तव के विकार का वर्णन करते हुए शरीर के दूसरे अध्याय में आर्त्तवनाश का भी वर्णन किया है। आधुनिक परिभाषा के अनुसार उसे एमनोरिया (Amenorhoea) कहेंगे। सुश्रुत ने आर्त्तव-विकार तथा शुक्र के विकार को वन्ध्यात्व का कारण माना है। ऋतुकाल में तथा जिस समय गर्भाशय शुद्ध हो उस अवस्था में यदि स्त्री-पुरुष मैथुन में प्रवृत्त हों तो निश्चित गर्भाधान होता है। सुश्रुत शारीर में लिखते हैं :—

'ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्याद् गर्भः स्याद्विधिपूर्वकः। ऋतुक्षेत्राम्बुबीजानां सामग्र्यादङ्कुरो यथा ॥'

जिस प्रकार उचित ऋतु (अंकुर निकलने के लिये उपयुक्त समय), क्षेत्र (भूमि), जल तथा बीज इन चारों के संसर्ग से अंकुर उत्पन्न होता है उसी प्रकार ऋतु (ऋतुकाल), क्षेत्र (गर्भाशय), अम्बु (आहार रस) तथा बीज (शुक्र) इनके संयोग होने पर निश्चित गर्भाधान होता है। यदि आर्त्तव शब्द से—आजकल के डिम्ब (Ovum) का ग्रहण कर लिया जाय जैसा कि उचित भी प्रतीत होता है तो आधुनिक शास्त्रज्ञों के मत में भी भिन्नता नहीं पड़ती। उनके मत में भी आर्त्तव के बाद के १० दिनों में ही गर्भाधान की अधिक सम्भावना होती है। नारी-जननेन्द्रियों के वर्णन के समय, डिम्बग्रन्थि तथा ट्यूब का वर्णन किया जा चुका है। डिम्बग्रन्थि से पका हुआ डिम्ब

(Mature Ovum) बाहर निकल कर डिम्बप्रणाली में प्रवेश करता है उसी दशा में शुक्रकीट (sperm) वहां पहुँच कर डिम्ब से संयुक्त होता है, इस प्रकार गर्भाधान फेलोपियन ट्यूब में होता है, वहां से वह शनैः शनैः गर्भाशय की तरफ प्रस्थान करता है तथा प्रायः छठे दिन के पश्चात् वह गर्भाशय में प्रविष्ट होता है। तथा तब तक गर्भाशय भी अपने आने वाले मेहमान की अभ्यर्थना के लिये सुसज्जित रहता है। गर्भाशय की कला (Endometrium) पहले की अपेक्षा अधिक मोटी हो जाती है और उसका रक्तसंचार भी बहुत बढ़ जाता है। जिस समय डिम्ब गर्भित (Fertilized) हो जाता है उसकी वृद्धि प्रारम्भ हो जाती है तथा वह शनैः शनैः गर्भाशय की तरफ प्रस्थान भी करता रहता है यह ऊपर कहा जा चुका है। गर्भाशय में प्रविष्ट होने पर यह सुकोमल गर्भाशय कला के सम्पर्क में आता है, उससे चिपक जाता है। भ्रूण (Chrionicviliu) के शरीर से बाहर की तरफ कुछ अंकुर निकले रहते हैं (Chorionic viliu) वे जिस धातु के सम्पर्क में आते हैं उसे खाते जाते हैं। इस प्रकार वे गर्भकला को खाकर उसमें एक खात की तरह रचना उपस्थित कर देते हैं। गर्भाशय की श्लैष्मिक कला इस समय तक डिम्ब को पूर्णतया आच्छादित कर लेती है। अब भ्रूण गर्भकला के अन्दर ही अन्दर बढ़ता है। भ्रूण के अंकुरों (Chorionic viliu) में दो तरह के अंकुर होते हैं—एक तो वे जिनके सहारे वह (भ्रूण) गर्भाशय में लटकता रहता है, दूसरे वे जो कि समीपवर्ती धातु से रक्त को ग्रहण करते हैं। बाद में इन्हीं अंकुरों में रक्तवाहिनियां बनती हैं। यह आधुनिक शास्त्रज्ञों का मत है। अब हम यदि सुश्रुत के पूर्वोक्त श्लोक पर विचार करें तो दोनों की एकवाक्यता सुस्पष्ट हो जाती है। यदि डिम्ब पक कर जब शक्ति-सम्पन्न (जो गर्भाधान योग्य हो) शुक्र से संयुक्त होता है तभी गर्भ धारण हो सकता है। तथा यदि शुक्र तथा डिम्ब का उचित सम्पर्क भी हुआ तो भी यदि क्षेत्र अर्थात् गर्भाशय में कोई विकृति (यथा Metritis वा Endometritis प्रभृति गर्भाशय की शोथयुक्त अवस्था) है तो गर्भाधान नहीं होगा। तथा यदि क्षेत्र निर्मल है किन्तु वहां पर रस अर्थात् पर्याप्त पोषक रक्त की अनुपस्थिति हो तो भी गर्भधारण होना कभी सम्भव नहीं। अतः १ शक्ति-सम्पन्न शुक्र, २ पूर्णता पर पहुँचे हुये डिम्ब, ३ स्वस्थ गर्भाशय तथा ४ वहां पर उचित रक्तसञ्चार इन चारों वस्तुओं के सम्यग्योग से गर्भाधान होता है। इसी को ध्यान में रखते हुये परम वैज्ञानिक सुश्रुत ने 'ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्याद्० इत्यादि लिखा है—

प्राचीन ऋषियों के मत में उपर्युक्त चारो वस्तुओं के संयोग होने पर भी आत्मा का संयोग होना अपेक्षित है बिना आत्मा के गर्भोत्पत्ति नहीं होती। पूर्वजन्म के कर्मफल के अनुसार मन के सहित आत्मा दूसरे शरीर को ग्रहण करता है। महर्षि चरक ने भी लिखा है—

'शुक्रासृगात्माशयकालसम्पद्यस्योपचाराश्च हितैस्तथार्थैः।
गर्भश्च काले च सुखी सुखं च सञ्जायते संपरिपूर्णदेहः ॥' (चरक शारीर)

शुक्र, आर्त्तव, आत्मा, काल (ऋतु) तथा हितकर आहार-विहार इनके सम्यग् योग से गर्भ समय में (नवम वा दशम वा एकादश मास में) सुखपूर्वक तथा सम्पूर्ण अवयवों से युक्त उत्पन्न होता है। कुछ स्वस्थ स्त्रियों को भी गर्भ देर से होता है। इसका कारण है-माता का अहितकर (विरुद्ध) आहार-विहार। चरक में लिखा है :—

योनिप्रदोषान्मनसोऽभितापाच्छुक्रासृगाहारविहारदोषात्।
अकालयोगाद् बलसंक्षयाच्च गर्भं चिराद्विन्दति सप्रजाऽपि ॥

अर्थात्—यदि योनि में किसी प्रकार का दोष उपस्थित हो तथा सहवास के समय मन एकाग्र न हो एवं शुक्र, आर्त्तव अथवा माता के आहार-विहार के दोष से, अकाल में (ऋतुकाल से

भिन्न समय में) तथा दौर्बल्य की स्थिति में मैथुन करने से प्रकृतिस्थ (बन्ध्यात्वरहित) स्त्रियों में भी सन्तानोत्पत्ति देर से होती है।

ऋतुकाल वह समय होता है जिस समय डिम्बग्रन्थि से डिम्ब पक कर निकलता है। यदि उचित समय पर उससे शुक्रकीट का सम्पर्क न हो तो वह मर जाता है। अतः आर्त्तव के बाद के १० दिन मैथुन के लिये अधिक उपयुक्त हैं। सुश्रुत लिखते हैं—

'नियतं दिवसेऽतीते सङ्कुचत्यम्बुजं यथा। ऋतौ व्यतीते नार्यास्तु योनिः संव्रियते तथा ॥'

यमल गर्भ (Twin pregnancy)—

गर्भाशय के बीज का वायु के द्वारा जब दो भागों में विभाजन हो जाता है तब उस समय दो गर्भ उत्पन्न होते हैं, ऐसी प्राचीन आचार्यों की सम्मति है। जैसा कि सुश्रुत अपने शारीर-स्थान में लिखते हैं—

'बीजेऽन्तर्वायुना भिन्ने द्वौ जीवौ कुक्षिमागतौ।
यमावित्यभिधीयेते धर्मेतरपुरःसरौ' ॥ (सुश्रुत शारीर)

यमल गर्भ के कारण के विषय में महर्षि चरक भी बीज (आर्त्तव तथा शुक्र) की दो भागों में विभक्ति होने से यमल गर्भ की उत्पत्ति मानते हैं। तथा वायु जिस समय शुक्रार्त्तव को कई भागों में विभाजित कर देती है उस समय, कई सन्तति (Multiple pregnancy) उत्पन्न होती है। आधुनिक शास्त्रज्ञ वायु के द्वारा शुक्रार्त्तव के विभाजन को यमल वा अनेक गर्भ का कारण नहीं मानते। उनका यह कथन है कि एकबार गर्भाधान के कुछ काल बाद ही यदि दूसरा मैथुन किया जाय तो कभी-कभी गर्भ धारण हो जाता है। ऐसा देखा गया है कि एक आंग्लदेशीया महिला को दो सन्तति एक साथ उत्पन्न हुई जिसमें एक का वर्ण गौर तथा दूसरी का वर्ण श्याम था। अन्वेषण से पता चला कि जिस समय तथोक्त महिला के पति ने सहवास किया था उसके कुछ समय बाद उसके एक हबसी भृत्य ने भी मैथुन किया था, इस प्रकार एक सन्तान गौर वर्ण की तथा दूसरी श्याम वर्ण की उत्पन्न हुई। अब विचारणा यह है कि क्या एक ही डिम्ब को दो शुक्रकीट पहुंच कर यमल गर्भ उत्पन्न करते हैं या कोई अन्य कारण यमल गर्भ की उत्पत्ति में सहायक होता है। वास्तव में साधारण नियम के अनुसार जिस समय आर्त्तव प्रारम्भ होता है उसके १४ वें दिन डिम्बग्रन्थि से परिपक्व डिम्ब निकलता है। प्रायः एक मास में एक ही डिम्ब निकलता है। जैसे-यदि एक मास में बाईं ओर की डिम्ब ग्रन्थि Ovary से डिम्ब आया तो दूसरे मास में दाहिनी ओर की डिम्बग्रन्थि से डिम्ब आयेगा। पर कभी-कभी इस नियम के अपवाद स्वरूप दोनों ओर की डिम्ब ग्रन्थियों से एक ही मास में दो डिम्ब पकते हैं तथा वे ही भिन्न-भिन्न शुक्रकीटों (Sperms) द्वारा संयुक्त होकर यमल गर्भ उत्पन्न करते हैं तथा कभी-कभी ऐसा देखा गया है कि एक बार गर्भाधान होने के बाद भी दूसरे महीने में दूसरी ओर की डिम्बग्रन्थि से एक डिम्ब आ जाता है उस समय भी यदि प्रसङ्ग किया गया तो पुनः गर्भाधान होकर यमल गर्भ उत्पन्न होता है। एक ही आर्त्तवकाल में यदि दो डिम्ब पृथक् पृथक् शुक्र कीट से मिलकर यमल गर्भ उत्पन्न करें तो उसे Superfoecundation कहते हैं और यदि दो आर्त्तव कालों (Menstrual type) में अलग-अलग सम्भोग से यमल गर्भ उत्पन्न हो तो उसे Superfoetation कहते हैं।

यमलगर्भ में लैङ्गिक विभेद :—

आयुर्वेदज्ञ यह मानते हैं कि—गर्भाधान के समय यदि आर्त्तव की अधिकता हो तो कन्या तथा शुक्र की अधिकता हो तो पुत्र की उत्पत्ति होती है। शुक्रार्त्तव के वायु द्वारा विभाजित होने पर जिस

ओर के विभाग में शुक्र की अधिकता हो उस ओर से पुत्र और जिस ओर आर्त्तव की अधिकता हो उस ओर से कन्या उत्पन्न होगी, यदि दोनों ही ओर शुक्र की अधिकता होगी तो दोनों ही पुत्र होंगे और यदि दोनों ओर के ही विभाग में आर्त्तव-बाहुल्य रहा हो तो दो कन्यायें उत्पन्न होंगी।

जैसा कि चरक में भगवान् पतञ्जलि ने लिखा है—

'रक्तेन कन्यामधिकेन पुत्रं शुक्रेण तेन द्विविधीकृतेन।
बीजेन कन्याञ्च सुतं च सूते यथास्वबीजान्यतराधिकेन॥'

शिशु की विकृति के कारणः—

माता के आहार-विहार के व्यतिक्रम से दोष प्रकुपित होते हैं और ये प्रकुपित दोष भ्रूण की विकृति के कारण होते हैं। तथा कुछ लोग पूर्वजन्म के कर्मफल को भी विकृति का कारण मानते हैं। आजकल के वैज्ञानिक विभजन से ही सन्तान की वृद्धि मानते हैं। इसी विभजन द्वारा जब एक भाग अधिक बढ़ जाता है वा अविकसित रह जाता है उस समय तत्तत्स्थलों में विकृति उत्पन्न होती है।

वन्ध्यत्व—

यदि पुरुषों के शुक्र में उत्पादन की शक्ति न हो तो उस पुरुष को 'वन्ध्य' कहते हैं तथा यदि स्त्री का आर्त्तव उत्पादन शक्ति से विहीन हो तो उस स्त्री को 'वन्ध्या' कहते हैं। वन्ध्य पुरुष वा वन्ध्या स्त्री के संयोग से चाहे वह ऋतुकाल में ही किया गया हो संतान उत्पन्न होना असम्भव है। जब तक कि चिकित्सा द्वारा वन्ध्यत्व दूर न किया जाय। यदि स्त्री तथा पुरुष दोनों स्वस्थ, तथा युवा हों और उनके दाम्पत्य जीवन के चार साल में भी यदि सन्तान उत्पन्न न हो तो अवश्य दम्पति की परीक्षा करके चिकित्सा में प्रवृत्त होना चाहिये।

आधुनिक शास्त्रज्ञ स्त्रियों के वन्ध्यात्व कारण को दो भागों में विभाजित करते हैं। प्रथम विभाग वह है जिसमें स्त्रियों के जननेन्द्रिय में कुछ विकृति उपस्थित होती है। इस समूह के अन्दर निम्न विकार आते हैं—

१—डिम्ब ग्रन्थियों (Ovary) **के रोग**—इससे स्वस्थ तथा पके हुये डिम्ब ही नहीं तैयार होंगे। अतः गर्भ होना कैसे सम्भव हो सकता है। किन्तु यदि विकृति एक तरफ की डिम्बग्रन्थि तक ही सीमित हो तो दूसरी अविकृत ग्रन्थि से परिपक्व डिम्ब निकलता है और सन्तानोत्पत्ति होती है।

२—डिम्बप्रणाली या फैलोपियन ट्यूब के विकार, यथा सल्पिंजाइटिस (Sulpingitis)—यह प्रायः दोनों तरफ की नलिकाओं में (Bilateral) होती है। इस अवस्था में स्त्री के गर्भाधान का अवसर अत्यन्त कम होता है। यह निश्चित है कि संक्रमण के द्वारा डिम्बप्रणाली का झालरदार किनारा (Abdominal osteum) बन्द हो जाता है अतः डिम्ब को डिम्बप्रणाली में आने का कोई मार्ग नहीं मिलता। अतः सन्तानोत्पादन इस अवस्था में असम्भव है। पूयमेह (Gonorrhea) और गर्भपात व प्रसव के अनन्तर जो वन्ध्यात्व हो जाता है उसका सब से मुख्य कारण डिम्बप्रणाली शोथ (Sutpingitis) है।

३—गर्भाशय में अर्बुद (Fibroid specially and interstetial variy and submucus) उपस्थित हो तो भी वन्ध्यात्व हो जाता है। स्मरण रखना चाहिये कि ये अर्बुद (fibroid) ३० वर्ष की अवस्था के पूर्व गर्भाशय की श्लैष्मिक कला के चिरकालीन शोथ के कारण भी वन्ध्या-

त्व हो जाता है। भग (Valba) तथा योनि (Vaginal) के रोग तथा श्वेतप्रदर (Laueorrhalal discharges) ये सब भी बन्ध्यात्व उत्पन्न करते हैं।

बन्ध्यात्व के कारण के दूसरे विभाग में स्त्रियों की जननेन्द्रियां यद्यपि स्वस्थ प्रतीत होती हैं किन्तु डिम्ब में ही यह सामर्थ्य नहीं होता कि वह शुक्रकीट (Sperm) से मिल कर एक हो जाय या वृद्धि प्रारम्भ कर दे। कभी २ पशुओं पर प्रयोग करके देखा गया है कि एक मादा में एक नर से गर्भाधान नहीं होता किन्तु दूसरे नर से हो जाता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि मनुष्य जाति भी इस नियम के लिये अपवाद नहीं है। बन्ध्यात्व का सन्देह होने पर पूर्ण परीक्षा कर अविलम्ब चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिये।

आर्त्तव तथा उसके रोग और गर्भाधान तथा बन्ध्यात्व के विषय में प्राच्य, पाश्चात्य विद्वानों का संक्षिप्त समन्वय इस प्रकार समाप्त होता है।

इति भावप्रकाशे पूर्वखण्डे प्रथमं परिशिष्टं समाप्तम्।

परिशिष्ट २

अकारादि-क्रमानुसार निघण्टुभाग-स्थित द्रव्यों के व्यवहारोपयोगी अङ्ग तथा उनकी मात्रायें

द्रव्य	अङ्ग	मात्रा
अंकोट	छाल	१/२ माशे
अधःपुष्पी	पत्ते, बीज	२–३
अकरकरा	जड़	३ माशे
अखरोट	फल की गूदी	१–२ तोले
अगर	लकड़ी	६ रत्ती से ३ माशे
अगस्त	छाल, फूल	३ से ६ माशे छाल
अजमोदा	बीज	२ से ८ माशे
अडूसा	जड़ की छाल, पत्ते	१ से ४ माशे
अतीस	जड़	६ रत्ती से १॥ माशे
अदरक	कन्द-स्वरस	२ माशे से १ तो०
अनन्तमूल	जड़	३ माशे से १ तो०
अनार	दाना, छिलका	६ माशे से १॥ तो०
अपराजिता	जड़-बीज	३॥ से ५ रत्ती
अफीम	फल-रस	१/८ से १ रत्ती
अबरक	भस्म	१ से ३ रत्ती
अमरबेल	लता	६ माशे से १ तो०
अमरूद	फल-पत्ते-छाल	६ मा० से २ तो०
अमलतास	फल की गूदी	१–२ तोले
अमलबेत	गूदी	१ से ३ माशे
अरनी	छाल	६ मा० से २ तो०
अर्जुन	छाल	६ मा० से १॥ तो०
अशोक	छाल	१ तो० से ३ तो०
अष्टवर्ग	कन्द	६ मा० से १ तो०
असगन्ध	जड़	३ मा० से १ तो०
आक	जड़ की छाल, फूल,	१–३ मा०
आम	फल, छाल	६ मा० से १ तो०
आमला	फल का छिलका	५ मा० से १ तो०
आमाहलदी	जड़ की गाँठ	१ से ४ माशे
आम्रातक	फल, पत्ते	४ से ९ माशे
इनारुन	फल, जड़	१ से ३ मा०
इन्द्रयव	बीज	५ रत्ती से ३ मा०

द्रव्य	अङ्ग	मात्रा
इमली	फल	१ से ३ तो०
इलायची छोटी	बीज	२–४ मा०
इलायची बड़ी	बीज	३–५ मा०
एकांगी	जड़	३–६ मा०
एरंड	जड़	६ मा० से २ तो०
	बीज	२ से ७ दाने
	तेल	६ मा०–१॥तो०
औंगा	पंचांग	१–२ तो०
	बीज	३–६ मा०
औषर लवण	नमक	३–९ मा०
कंटकारी	जड़ पंचांग	२–६ मा०
ककड़ी	बीज	३–९ माशे
ककही	जड़, जड़ की छाल, बीज	५–१० माशे
कचनार	छाल	६ मा० से २ तो०
कचूर	जड़	२–३ माशे
कटसरैया	पञ्चाङ्ग-पत्ते	३–८ माशे
कठूमर	फल–छाल	३ मा० से १ तो०
कद्दू	बीज	६–९ माशे
कनेर	जड़, विषैला	६ र० से २ माशे
कपास	जड़	१–२ तोले
	बीन	२–६ माशे
कपूर	गोंद, सत्त्व	१/८–१/४ रत्ती
कबीला	लालरज	१–२ माशे
कमल	बीन, फूल, जल	३–४ मा०
करञ्ज	छाल, बीज	१–६ मा०
कलम्बी	पत्ते-स्वरस	३–९ मा०
कलिहारी	जड़ (विष)	१–४ रत्ती
कुसुम	फूल, बीज	३–१० मा०
कसेरू	जड़	६ माशे से १ तो०
कसौंदी	जड़, बीज	३–६ मा०

द्रव्य	अङ्ग	मात्रा
कस्तूरी	मृगमद	½ से २ रत्ती
काकजंघा	पञ्चाङ्ग-पत्ते	८–९ मा०
काकड़ाशिङ्गी	फल	१–३ मा०
कायफर	छाल	३–७ मा०
काला जीरा	बीज	६–७ मा०
कालादाना	बीज	२–६ मा०
कालीजीरी	बीज	२–३ मा०
कास	जड़	१–२ तोले
किवाछ	जड़, बीज	६–९ मा०
कुकरवदा	पत्ते जड़	६–९ मा०
कुचला	बीज(विष)शुद्ध	१–२ रत्ती
कुटकी	जड़	२॥–३ मा०
कुन्दरु	गोंद	२–४ मा०
कुमुद	फूल	६ से १० मा०
	बीज	५ से ६ मा०
कुलञ्जन	जड़	३–९ मा०
कुशा	जड़	१–२ तो०
कूठ	जड़	३–९ मा०
कूड़ा	छाल	६ माशे से १ तो०
केला	स्तम्भरस	१–२ तो०
केसर	फूल	२–६ रत्ती
कोलकन्द	कन्द (सविष)	½ से १॥ रत्ती
खजूर	फल	१–२ तो०
खपरिया	शुद्ध भस्म	१–४ रत्ती
खरबूजा	बीज	६–९ मा०
खस	जड़	३–६ मा०
खीरा	बीज	६–९ मा०
खुरासानी अजवायन, खुरासानी अजमोद	बीज	१–२ माशा
खेखसा	जड़	आवश्यकतानुसार
खैर	छाल	१–२ तोले
	कत्था	१–३ मा०
गंगेरन (नागबला)	जड़, छाल	६ मा० से १ तो०
गंधकआंवलासार	शुद्ध	१–७ मा०

द्रव्य	अङ्ग	मात्रा
गम्भारी	छाल	६ मा० से २ तो०
गजपीपल	फल	१–३ मा०
गंधपलासी (कपूरकचरी)	जड़	१–३ मा०
गंधप्रसारणी (प्रसारणी)	पञ्चांग	१–२ तो०
गाजर	बीज	३–७ मा०
गिलोय	डण्डी	४–९ मा०
	सत्व	१–२ मा०
गुञ्जा	बीज (विषयुक्त)	४ रत्ती से १ मा०
गुलाब	फूल	६ मा० से १॥ तो०
गूगल	गोंद	१–३ मा०
गूमा (द्रोणपुष्पी)	पंचांग	३ मा० से १ तो०
गूलर	फल, छाल, पत्ते	१–२ तो०
गोखरू	पञ्चाङ्ग, फल	६ माशे से १ तो०
गोलोचन		१–२ रत्ती
घीकुआर	पाठा	१–२ तो०
चकवड़(पमार)	बीज	१–२ मा०
चनसुर	बीज	३–६ मा०
चन्दन	लकड़ी	३–४ मा०
	तेल	१–२ मा०
चव्य	डंठल	३–८ मा०
चीता	पंचाङ्ग, जड़	
	जड़ की छाल	१–३ मा०
चोपचीनी	जड़	३–४ मा०
चौलाई	जड़	६–९ मा०
चौहाड़कोड़ा (सोंचरनमक)	नमक	१–३ मा०
छुहारा	फल	१–२ तो०
जटामांसी	जड़	१–४ मा०
जमालगोटा	बीज (शुद्ध)	½ से १॥ रत्ती
जलकुम्भी	पञ्चाङ्ग	६ मा० से १ तो०
जलनीम, जलब्राह्मी	पञ्चाङ्ग	२–६ मा०
जवाखार	नमक	१–३ मा०
जवासा	पञ्चाङ्ग	१–४ मा०
जस्ता	शुद्ध भस्म	१–३ रत्ती

द्रव्य	अङ्ग	मात्रा
जामुन	छाल	१-२ तो०
जायफल	बीज	२ से ६ माशे
जावित्री	फूल	१ से ३ माशे
जीरा सफेद	बीज	३ से ७ माशे
जीवन्ती	पंचांग	३ से ६ माशे
झरबेर	फल	१०-२० माशे
ढाक (पलाश)	फूल	६ मा० से १ तो०
	बीज	१-३ मा०
	गोंद	१ से ३ माशे
तगर	जड़	२ से ५ माशे
तज	छाल	३ से ६ माशे
तरबूज	बीज	६ मा० से १ तो०
तामा	शुद्ध भस्म	१ चावल से १ र०
तालमखाना	बीज	३ से ७ माशे
तालीसपत्र	पत्ते	१ से ३ माशे
तिनिश	छाल, गोंद	१ से ४ माशे
तिल	बीज	५ मा० से १ तो०
तीसी	बीज	५ से १० मा०
तुम्बुल	छाल बीज	३ से ६ मा०
तुलसी	स्वरस,पत्ते,बीज	३ मा० से १ तो०
तूतिया	शुद्ध भस्म	½ से १ रत्ती
तून	छाल	१ से २ तोला
तेंदू	फल का रस	३ से ६ मा०
तेजपात	पत्ते	१ से ४ मा०
तेजबल	छाल	३ से ६ मा०
त्रायमाण	पञ्चांग	२ से ६ मा०
त्रिफला	फल के छिलके	३ मा० से १ तो०
थूहर	दूध	२ से ६ रत्ती
दंती	जड़	१ से ३ मा०
दवना	पञ्चाङ्ग	३ से ७ मा०
दशमूल	छाल,जड़,पञ्चांग	२-२॥ तोले
दारुहल्दी	जड़, जड़ की छाल, लकड़ी	१-३ मा०
दालचीनी	छाल	१-६ मा०
दुद्धी	पञ्चाङ्ग	३ मा०-१ तो०
दूब	पञ्चाङ्ग	२ से ६ मा०
देवदारु	लकड़ी	१-४ मा०
देवदाली(बन्दाल)	फल	१-३ मा०
धतूरा	शुद्ध बीज	½ से २ रत्ती

द्रव्य	अङ्ग	मात्रा
धनियाँ	बीज	६ मा०-१ तो०
धातकी	फूल	२-३ मा०
नकछिकनी	पञ्चाङ्ग	१-३ रत्ती
नकुलकन्द	जड़	१-३ मा०
नवसादर	पिंड चूर्ण	४-६ रत्ती
नागकेसर	फूल की केसर	१-२ मा०
नागदवन	पञ्चाङ्ग	२-६ मा०
नागरमोथा	जड़	२-६ मा०
नारियल	गिरी	१-१॥ तो०
निर्गुण्डी (सम्भालु)	पत्ते, बीज	३-६ मा०
निर्मली	बीज	३-६ मा०
निसोत(त्रिवृत्)	जड़	३-५ मा०
नीम	छाल, पत्ते, फूल, फल	३ मा०-१ तो०
नील	पञ्चाङ्ग	२-४ मा०
पाठानीलोध	छाल	१-३ मा०
पतंग	लकड़ी	१-४ मा०
पद्माक	ककड़ी	१-३ मा०
पाङ्गा नमक	नमक	१-३ मा०
पाकर	छाल	९ मा०-१॥ तो०
पाठा	जड़	६-९ मा०
पाढ़र	छाल	½-१॥ तो०
पातालगरुड़ी	जड़	६-९ मा०
पान	पत्ते-स्वरस	३-६ मा०
पारा	शुद्ध भस्म	½ रत्ती से २ रत्ती
पाषाणभेद	जड़	१-३ मा०
पिठवन	जड़ पंचांग	६ मा० १॥ तो०
पित्तपापड़ा	पंञ्चाङ्ग	६-९ मा०
पीतचन्दन	लकड़ी	२-३ मा०
पीतल	शुद्ध भस्म	१-२ रत्ती
पीपल	फली	१-३ मा०
पीपलामूल	जड़	३-४ मा०
पुनर्नवा	जड़	६ मा०-१॥ तो०
पुष्करमूल	जड़	२-४ मा०
पेठा	फल	१-२ तो०
	बीज	½ से १ तो०
पोस्त	डोडी-छिलका	३-६ मा०

द्रव्य	अङ्ग	मात्रा
पोस्तदाना	बीज	६ मा०–१ तो०
प्रियङ्गु	पञ्चाङ्ग-फल	३–६ मा०
फिटकरी	पिंड–शुद्ध	½–१ मा०
फिरोजा	पत्थर-भस्म	१–३ रत्ती
वंशलोचन	श्वेतपिंड चूर्ण	३–६ मा०
बकायन	छाल	६ मा०–१ तो०
बच	जड़	१–३ मा०
बड़	छाल, दूध	६–९ मा०
बथुआ	बीज	३–५ मा०
बनभंटा (बृहती)	पञ्चाङ्ग, जड़	३–६ मा०
बनमूंग	पञ्चाङ्ग	६ मा० से १ तो०
बबूर	छाल,पत्ते,फली	३–९ मा०
बरियार	जड़-बीज	४–१० मा०
बरुन	छाल पत्ते	४–मा० से १ तो०
बबंरी	पञ्चाङ्ग, बीज	३–६ मा०
बहेड़ा	फल का छिलका	५–१० मा०
बाकुची	बीज	१–२ मा०
बादाम	तेल	३–६ मा०
बायविडंग	बीज	५–१० मा०
बाराहीकन्द	कन्द	३–६ मा०
बिजैसार	छाल लकड़ी	३–४ मा०
बिदारीकंद	कंद	६ मा०–१ तोला
बिधारा	जड़	६ मा०–१ तोला
विषांबिल (वृक्षाम्ल)	फल-गूदी	३–४ मा०
बेल	सूखी-गूदी	१–२ तोले
ब्रह्मदण्डी	पञ्चाङ्ग	३–७ मा०
ब्राह्मी	पञ्चांग, पत्ते	६ मा०–१ तो०
भांग	पत्ते-बीज	१–१० रत्ती
भांगरा	पञ्चाङ्ग	६ मा० से १ तो०
भारंगी	जड़ की छाल	३–६ मा०
भिलावा	फल (विषयुक्त)	१–२॥ मा०
	तेल	४ रत्ती से १ मा०
भुइं आंवला	पञ्चाङ्ग	३–५ मा०
भूतृण	जड़	१–२ मा०
मङ्करेला	बीज	२–५ मा०
मण्डूकपर्णी	पञ्चाङ्ग-पत्ते	६ मा० से १ तो०
मण्डूक	शुद्धभस्म	१–३ रत्ती
मकोय	फल	६–९ मा०
मखाना	भुने	६ मा० से १ तो०
मछेछी	पञ्चाङ्ग	१–१॥ तो०
मजीठ	लकड़ी	१–३ मा०
मधु	आर्द्र	½–३ तो०
मयनसिल	शुद्ध (विषयुक्त)	१–४ रत्ती
मरिच(काली)	बीज	१–४ मा०
मरुआ	पचाङ्ग	३–७ मा०
मषवन (माषपर्णी)	पञ्चाङ्ग	६–१० मा०
मांसरोहिणी (रोहिणी)	छाल	६–१० मा०
मानकन्द	कन्द	६ मा० से १ तो०
मानफल	फल	१–४ मा०
मालकांगुनी	बीज	१–२ मा०
मुण्डी	फल-पञ्चाङ्ग	२ मा०–१ तो०
मुचकुन्द	फूल	६–९ मा०
मुनक्का	फल	१०–१५ दाने
मुरदाशंख	खनिजशुद्ध	४ रत्ती से १ मा०
मुलेठी	लकड़ी	६–९ मा०
मुसब्बर	पिण्ड	१–३ मा०
मूंगा	समुद्री लाल पत्थर शुद्ध भस्म	२–६ रत्ती
मूंज	जड़	२–६ मा०
मूर्वा	पञ्चाङ्ग	६–७ मा०
मूली	कन्द-स्वरस	१–५ तो०
मूसली	जड़	३–मा०
मूसाकानी	सर्वाङ्ग	२–३ मा०
मेढ़ाशिंगी	पञ्चाङ्ग	३–६ मा०
मेथी	बीज	२–५ मा०
मैनफल	फल	२–३ मा०
मोचरस	गोंद	२–४ मा०
मोथा	जड़	३–४ मा०
मोम	पिण्ड	३ रत्ती–१॥ मा०
मौलसिरी	छाल,फूल,फल	३ मा० से १ तो०
रक्तचन्दन	लकड़ी	२–४ मा०
रसकपूर	पिण्ड(विष)शुद्ध	½ से १ रत्ती
रसोत	घनसत्त्व	१–३ मा०

द्रव्य	अङ्ग	मात्रा
रांगा	शुद्ध भस्म	१–२ रत्ती
राई	बीज	३–६ मा०
रासना	मूल	२–५ मा०
रीठा	फल-छाल	१–३ मा०
रुद्रवंती	पञ्चाङ्ग	१–३ मा०
रेणुक	बीज	१–३ मा०
रेवतचीनी	जड़	२–५ मा०
रोहिड़ा (रोहितक)	छाल	६ मा० से १ तो०
रोहिस घास	पञ्चाङ्ग, जड़	१–३ मा०
लज्जालु	जड़, पत्ते	६ मा० से १ तो०
लताकरञ्ज	बीज-मींगी	२–७ रत्ती
लताकस्तूरी	बीज	१–२ मा०
लहसुन	कन्द	१–३ मा०
लक्ष्मणा	पञ्चाङ्ग, कन्द	१–२ मा०
लाख	(लाक्षा)	२–४ मा०
लालमरिच	फल	१–२ मा०
लिसोरा	फल	१५–२० दाने
लोध	छाल	१–३ मा०
लोहबान	गोंद	२–६ मा०
लोहा	शुद्ध-भस्म	१–२ रत्ती
लौंग	फूल	१–४ मा०
वत्सनाभ	विष-शुद्ध	१/३२ से १/४ रत्ती
शंख	भस्म	३ रत्ती से १ मा०
शाल	छाल	१–३ मा०
शिलाजीत	शुद्ध	१ रत्ती से १ मा०
शिवलिङ्गी	पञ्चाङ्ग-बीज	३–९ दाने
शीतलचीनी	फल	२–४ मा०
शीशा	धातु,शुद्धभस्म	१–२ रत्ती
संखाहुली (शंखपुष्पी)	पञ्चाङ्ग	६ मा० से १॥ तो०
संखिया	महाविषभस्म	१/३२ रत्ती से १/२ र०
संगजराहत	पत्थर शुद्धभस्म	३–८ रत्ती
सज्जीखार	क्षार	२–८ रत्ती
सतावर	जड़	६ मा० से १ तो०
सतिवन(सप्तपर्ण)	छाल	१–२ मा०
सत्यानाशी (स्वर्णक्षीर)	जड़-बीज	२–४ मा०

द्रव्य	अङ्ग	मात्रा
सनाय	पत्ते	३ मा० से १ तो०
समुद्रफल	फल	१/४ से १/२ फल
समुद्रफेन	शुष्कफल	१–२ रत्ती
समुद्रशोष	बीज	१–२ मा०
सम्भालु	बीज	१–३ मा०
सरफोंका	जड़,पञ्चाङ्ग,पत्ते	३–६ मा०
सरसों	बीज	३–६ मा०
सरिवन	जड़, पञ्चाङ्ग	३–९ मा०
सहदेई	पञ्चाङ्ग	३–६ मा०
सहिजना	छाल, बीज	३–६ मा०
सांभरनोन	लवण	३–९ मा०
सिंगरफ	भस्म	१/२ से २ रत्ती
सिरस	छाल, बीज	३ मा० से १ तो०
सुपारी	फल	१–४ मा०
सुहागा	श्वेतपिण्ड-शुद्ध	१–३ मा०
सेमर	मूसला,छाल,फूल	३–९ मा०
सेंधानोन	लवण	३–८ मा०
सोंठ	कन्द	३–७ मा०
सोआ	बीज	२–३ मा०
सोना	धातु शुद्धभस्म	१/२ से १ रत्ती
सोनापाठा	छाल	४–१० मा०
सोनामक्खी	धातु शुद्धभस्म	१–३ रत्ती
सोमलता	पञ्चाङ्ग	३–६ मा०
सोरा	क्षार	१–२ मा०
सौंफ	बीज	६ मा० १ तो०
हंसपदि	पञ्चाङ्ग	३ मा० से १ तो०
हड़जोरी	पञ्चाङ्ग	१–२ मा०
हरड़	फल-छिलका	४ मा० से १॥ तो०
हरताल	शुद्ध भस्म	१/२–२ रत्ती
हलदी	जड़	२–६ मा०
हाऊबेर	फल	३–६ मा०
हाथीशुंडी	पञ्चाङ्ग	२–१० मा०
हारसिंगार	पत्ते, फूल	१–३ मा०
हिंगोट	पञ्चाङ्ग,बीजगिरी	१–१५ रत्ती
हींग	गोंद	२ रत्ती से १ मा०
हुरहुर	पत्ते, बीज	२–४ मा०

टीकाकृदन्वयप्रशस्तिः

वन्दे स्वपूर्वजमहर्षिवरं मुनीन्द्रं—श्रीगोतमं गुरुतमं तमतीव नम्रः ।
येनेश्वरत्वपरिसिद्धिनिमित्तभूतं न्यायाह्वशास्त्रमनुशिष्टमधिक्षितीष्टम् ॥ १ ॥
यस्यान्वये धृततनुः श्रुतिसम्प्रदायि-श्रीपङ्क्तिपावनपदाभिधभूसुरेज्यः ।
मिश्रेत्युपाधिक इहाधिकधर्ममूर्त्तिः—स्फूर्तिं धियो दधदधिव्यसनं विमानः ॥ २ ॥
आलोकिताशकमनीययशा य आसीद्-दासीकृताखिलजनः सुभगप्रकृत्या ।
नाम्ना श्रुतो हरदयालुरनीतिवीतो-लोकैरुदारचरितो हरवद्दयालुः ॥ ३ ॥
अश्वेषुवस्ववनि(१८५७) संमित ईशवीये-वर्षेऽधिबद्दित शिशुवन्त्यवनीशकाले ।
मन्त्रित्वमाश्रितवताऽप्यवता तदानीं-पौराजनान् विपदितानपि राजकीयान् ॥ ४ ॥
राष्ट्रोश्वविप्लवनिवृत्तिवशात् प्रसन्न-श्रीभारतेश्वरसमर्पितभूरिभूमिम् ।
सम्मानपूर्वकमवाप्तवता तु येन-स्वस्वामिनोऽपि च निजस्य यशो व्यतानि ॥ ५ ॥
तज्ज्येष्ठसूनुरभवन्नृपनीतिनिष्ठः-श्रीमुक्तिनाथ इति मन्त्रिपदप्रतिष्ठः ।
नारायणान्त उदितो न धिया कनिष्ठः-पुत्रः कनिष्ठ उदितोऽधिजगद्वलिष्ठः ॥ ६ ॥
बस्तीनराधिपतिदत्तधराविभागं-मिश्रालियाऽऽवसथ आवसतस्तु तस्मात् ।
देवद्विजादिपदपद्मयुगे रताया-मौदार्यमार्जवमनारतमाश्रितायाम् ॥ ७ ॥
तस्यां सतीसमसतीत्वसमन्वितायां-स्त्रीसर्वसद्गुणपदे ह्यधिदेवकीव ।
पत्न्यां प्रसूप्रसवितृप्रियतास्वरूपं-जातं सुतद्वयमिहाद्वयरत्नरूपम् ॥ ८ ॥
एकस्तु तत्र बलरामसमः समानः-सद्गीतिकाव्यकुशलो नृपवल्लभोऽति ।
नाम्ना द्विजेश-बलराम इति प्रसिद्धः-स्वस्मिन् कुले कमलिनोपतिवत् प्रतापी ॥ ९ ॥
अन्योऽप्यनन्यकमनीयकुशाग्रबुद्धि-र्विद्वाननेकविषयं स्वरतालजालम् ।
विश्वव्रजाविरतमोहन इङ्गितज्ञो-मोहादिदोषरहितो व्रजमोहनाह्वः ॥ १० ॥
योऽभूदभूमिरधिभूमि नृशंसतायाः-स्थानं सदा सदुदितैकमनुष्यतायाः ।
तस्मादजायत य आयतिमुत्तमां स्वां-कर्तुं व्युदस्य जननीमपि जन्मभूमिम् ॥ ११ ॥
ब्रह्मादिवन्दितपदाब्जयुगस्य शम्भोः-क्षेत्रेऽविमुक्तपदभाजि शुभेऽधिकाशि ।
श्रीरामसंयुतचरित्रमणेरुदार-चूडामणेर्निजपितृस्वसुरीश्वरस्य ॥ १२ ॥
पक्वेष्टकाऽऽदिरचितेऽभिनवेऽतिभव्ये-गेहे वसंस्तदुपदेशविशेषवश्यः ।
सानन्दमेव निजबाल्यवयो निनीय-प्राधीतवान् सपदि पाणिनिशब्दशास्त्रम् ॥ १३ ॥
स 'ब्रह्मशङ्कर' इति प्रथितो जनोऽयं-लक्ष्म्यादिशङ्कर-पदाह्वनिजानुजे तु ।
विन्यस्य वैषयिककार्यभरं सभार्यः-काश्यां पुनः प्रतिवसन्ननु यौवनेऽपि ॥ १४ ॥
दामोदरं गुरुवरं विदुषां वरेण्यं-गोस्वामिसत्तमसत्तमसं श्रितः सन् ।
साहित्यदर्शनविमर्शनशक्तचेता-श्चैतन्यचन्द्रपदयोर्मनसो विनेता ॥ १५ ॥
श्रीश्रेष्ठिवर्य'जयकृष्ण'पदादिदासे-नावेदितो जगति 'भावप्रकाश'संज्ञे ।
सर्वाङ्गसुन्दर उदारभिषग्वरेज्ये-ग्रन्थेऽन्तवासिजनजीवन आद्यखण्डे ॥ १६ ॥
श्रीवैक्रमेऽब्द इषुनन्दनवेन्दुसंख्ये विख्येऽहि दाशरथिजन्मतिथीत्यभिख्ये ।
'विद्योतिनी' त्यभिधयाऽधिकृतः प्रसिद्धां-व्याख्यां व्यधादतनुभात्मगिरा निबद्धाम् ॥ १७
यद्येनया कथमपि क्वचनोपकारः—कश्चिद् भवेदिह बुभुत्सुनृणां तदाऽयम् ।
सर्वं श्रमं सफलमात्मन एव विद्वा-नानन्दनीरधिनिमग्नमनाः सदा स्यात् ॥ १८ ॥

वितरक :

चौखम्भा ओरियन्टालिया

बंग्लो रोड, ९-यू० बी०

जवाहर नगर

(निकट किरोड़ीमल कालेज)

दिल्ली-११०००७

फोन : २९११६१७, २३८७१०